॥ श्रीहरिः ॥

कल्याण

शक्ति-अङ्क

[नवें वर्षका विशेषाङ्क]

गीताप्रेस, गोरखपुर

शक्ति-अङ्क

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा-रमा-ब्रह्माणी जय जय, राधा-सीता-रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवाशिव जानकिराम। गौरीशंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥

सं० २०७६ अठारहवाँ पुनर्मुद्रण २,०००
कुल मुद्रण १,०८,१००

❖ मूल्य— ₹ २००
(दो सौ रुपये)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालय के लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

web: **gitapress.org** | e-mail : **booksales@gitapress.org** | © (0551) 2334721, 2331250, 2331251

॥ श्रीहरिः ॥

निवेदन

महाशक्ति ही परब्रह्म परमात्मा हैं, जो विभिन्न रूपोंमें विविध लीलाएँ करती हैं। इन्हींकी शक्तिसे ब्रह्मा विश्वकी उत्पत्ति करते हैं, इन्हींकी शक्तिसे विष्णु विश्वका पालन करते हैं और शिव जगत्‌का संहार करते हैं, अर्थात् ये ही सृजन-पालन-संहार करनेवाली आद्या नारायणी शक्ति हैं। ये ही महाशक्ति नवदुर्गा, दस महाविद्या हैं, ये ही अन्नपूर्णा, जगद्धात्री, कात्यायनी और ललिताम्बा हैं। गायत्री, भुवनेश्वरी, काली, तारा, बगला, षोडशी, त्रिपुरा, धूमावती, मातङ्गी, कमला, पद्मावती, दुर्गा तथा काली इन्हींके रूप हैं। ये ही शक्तिमान् और ये ही शक्ति हैं। ये ही नर और नारी हैं और ये ही माता, धाता तथा पितामह भी हैं।

अपने यहाँ सर्वव्यापी चेतन सत्ता अर्थात् अपने उपास्यकी उपासना मातृरूपसे, पितृरूपसे अथवा स्वामीरूपसे किसी भी रूपसे की जा सकती है, किंतु वह होनी चाहिये भावपूर्ण और अनन्य। लोकमें सम्पूर्ण जीवोंके लिये मातृभावकी महिमा विशेष है। व्यक्ति अपनी सर्वाधिक श्रद्धा स्वभावतः माँके चरणोंमें अर्पित करता है, क्योंकि माँकी गोदमें ही सर्वप्रथम उसे लोकदर्शनका सौभाग्य प्राप्त होता है, इस प्रकार माता ही सबकी आदि गुरु है। उसीकी दया और अनुग्रहपर बालकोंका ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण निर्भर करता है। इसीलिये 'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव', 'आचार्यदेवो भव'—इन मन्त्रोंमें सर्वप्रथम स्थान माताको ही दिया गया। जो भगवती महाशक्ति-स्वरूपिणी देवी, समष्टिरूपिणी माता और सारे जगत्‌की माता है, वही अपने समस्त बालकों (अर्थात् समस्त संसार)-के लिये कल्याणपथ-प्रदर्शिका, ज्ञानगुरु है।

वस्तुतः परमात्मरूपा महाशक्ति ही विविध शक्तियोंके रूपमें सर्वत्र क्रीडा कर रही हैं—'शक्तिक्रीडा जगत्सर्वम्' जहाँ शक्ति नहीं वहाँ शून्यता ही है। शक्तिहीनका कहीं भी समादर नहीं होता। ध्रुव और प्रह्लाद भक्तिशक्तिके कारण पूजित हैं। गोपियाँ प्रेमशक्तिके कारण जगत्पूज्य हुई हैं। हनुमान् और भीष्मकी ब्रह्मचर्यशक्ति, व्यास और वाल्मीकिकी कवित्वशक्ति, भीम और अर्जुनकी शौर्यशक्ति, हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिरकी सत्यशक्ति, प्रताप और शिवाजीकी वीरशक्ति ही सबको श्रद्धा और समादरका पात्र बनाती है। सर्वत्र शक्तिकी ही प्रधानता है। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है—'समस्त विश्व महाशक्तिका ही विलास है।' देवीभागवतमें स्वयं भगवती कहती हैं—'सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम्।' अर्थात् समस्त विश्व मैं ही हूँ, मुझसे अतिरिक्त दूसरा कोई सनातन या अविनाशी तत्त्व नहीं है।

कल्याणने अपने नवें वर्ष सं० १९९१ (सन् १९३५)-में विशेषाङ्करूपमें शक्ति-अङ्कका प्रकाशन किया था; जिसमें शक्ति-मीमांसासे सम्बन्धित तात्त्विक निबन्धोंके साथ शास्त्रोंमें शक्तिके विविध स्वरूप, शक्ति-उपासनाकी विधाएँ, महाशक्तिके विविध स्वरूपोंका विवेचन, भारतीय संस्कृतिके आधार प्राचीन आर्षग्रन्थोंमें वर्णित शक्ति-उपासनाका दिग्दर्शन, शक्ति-उपासनाकी पद्धति, शक्तिके उपासक सिद्ध-साधक-संत और भक्तोंका परिचय, शक्तिसे सम्बद्ध पौराणिक कथाओंका यथासाध्य संकलन, शक्ति-साहित्य-सम्बन्धी दुर्लभ सामग्रियोंका संकलन आदि प्रस्तुत करनेकी चेष्टा की गयी है।

बहुत समयसे कल्याणके प्रेमी पाठकों तथा भक्त महानुभावोंद्वारा इस विशेषाङ्कके पुनर्मुद्रणके लिये विशेषरूपसे निरन्तर आग्रह होता आ रहा था, कार्याधिक्यके कारण यह सम्भव नहीं हो सका। भगवती पराम्बाकी कृपासे इसको पुनः प्रकाशित कर जनता-जनार्दनकी सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है सब लोग इससे लाभान्वित होंगे।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीशक्ति-अङ्क और परिशिष्टाङ्ककी विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या

परिशिष्टाङ्क (भाद्रपदका अङ्क)

पद्य

संगृहीत लेख और कविताएँ

चित्र-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या

इकरङ्गे-सादे चित्र

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

प्रसिद्धान् सिद्धान् वा शिशुतरुणवृद्धानपि जनानुदारान् वा दाराननवरतमाराधनपरान्।
चिदानन्दात्मेयं भुवनजननी संविदमला हरन्ती हृच्छल्यान्नयति किल कल्याणपदवीम्॥

वर्ष ९ } गोरखपुर, श्रावण १९९१, अगस्त १९३४ { संख्या १
पूर्ण संख्या ९७

नमामि यामिनीनाथलेखालङ्कृतकुन्तलाम्।
भवानीं भवसन्तापनिर्वापणसुधानदीम्॥

(स० र० उपनिषद्)

शङ्करकृत भवानी-स्तुति

भवानि स्तोतुं त्वां प्रभवति चतुर्भिर्न वदनैः
प्रजानामीशानस्त्रिपुरमथनः पञ्चभिरपि।
न षड्भिः सेनानीर्दशशतमुखैरप्यहिपति-
स्तदान्येषां केषां कथय कथमस्मिन्नवसरः॥ १॥

'हे भवानी! औरोंकी तो बात ही क्या, अखिल सृष्टिके रचयिता प्रजापति ब्रह्माजी अपने चारों मुखोंसे भी तुम्हारी स्तुति नहीं कर सकते; त्रिपुरहर शङ्कर पाँच मुख रहते हुए भी इस विषयमें मूक होकर रह जाते हैं, छः मुखवाले कार्तिकेय भी मन मारकर बैठ जाते हैं। इन सबकी कौन कहे, हजार मुखवाले शेषजी भी मन मसोसकर रह जाते हैं, परन्तु तुम्हारी स्तुति नहीं कर पाते। कोई करे भी तो कैसे? तुम्हारे गुणोंका थाह पावे तब न। फिर मेरे-जैसे जीवोंकी तो सामर्थ्य ही क्या जो इस काममें हाथ डालनेका दुःसाहस करे।'

त्वदन्यः पाणिभ्यामभयवरदो दैवतगण-
स्त्वमेका नैवासि प्रकटितवराभीत्यभिनया।
भयात्त्रातुं दातुं फलमपि च वाञ्छासमधिकं
शरण्ये लोकानां तव हि चरणावेव निपुणौ॥ २॥

'हे शरणार्थियोंको शरण देनेवाली! तुम्हें छोड़कर जितने दूसरे देवता हैं वे अपने हाथोंसे ही अभय और वरदानका काम लेते हैं, इसीसे तो उन्होंने अपने हाथोंमें अभय और वरद मुद्रा धारण कर रखी है। तुम्हीं एक ऐसी हो जो इन दोनों ही मुद्राओंके धारण करनेका स्वाँग नहीं रचतीं। रचने भी क्यों लगीं, तुम्हें इसकी आवश्यकता ही क्या है? तुम्हारे दोनों चरण ही आश्रितोंको सब प्रकारके भयोंसे मुक्त करने तथा उन्हें इच्छित फलसे अधिक देनेमें समर्थ हैं। तुम्हारे हाथ सदा शत्रुसंहारके काममें ही लगे रहते हैं। भक्तोंके लिये तो तुम्हारे चरण ही पर्याप्त हैं।'

निमेषोन्मेषाभ्यां प्रलयमुदयं याति जगती
तवेत्याहुः सन्तो धरणिधरराजन्यतनये।
तदुन्मेषाज्जातं जगदिदमशेषं प्रलयतः
परित्रातुं शङ्के परिहृतनिमषास्तव दृशः॥ ३॥

'हे शैलेन्द्रतनये! शास्त्र एवं सन्त यह कहते हैं कि तुम्हारे पलक मारते ही यह संसार प्रलयके गर्भमें लीन हो जाता है और पलक खोलते ही यह फिरसे प्रकट हो जाता है, संसारका बनना और बिगड़ना तुम्हारे लिये एक पलकका खेल है। तुम्हारे एक बार पलक उघाड़नेसे जो यह संसार खड़ा हो गया है वह एकबारगी नष्ट न हो जाय, मालूम होता है, इसीलिये तुम कभी पलक गिराती नहीं, सदा निर्निमेष दृष्टिसे अपने भक्तोंकी ओर निहारती रहती हो।'

दृशा द्राघीयस्या दरदलितनीलोत्पलरुचा
दवीयांसं दीनं स्नपय कृपया मामपि शिवे।
अनेनायं धन्यो भवति न च ते हानिरियता
वने वा हर्म्ये वा समकरनिपातो हिमकरः॥ ४॥

'हे शिवे! अधखिले नीलकमलके समान कान्तिवाले अपने विशाल नेत्रोंसे तुम्हारे सुरमुनिदुर्लभ चरणोंसे बहुत दूर पड़े हुए मुझ दीनपर भी अपने कृपापीयूषकी वर्षा करो। तुम्हारे ऐसा करनेसे मैं तो कृतार्थ हो जाऊँगा और तुम्हारा कुछ बिगड़ेगा नहीं; क्योंकि तुम्हारी कृपाका भण्डार अटूट है, मुझपर कुछ छींटे डाल देनेसे उसका दिवाला नहीं निकलेगा। फिर तुम इतनी कंजूसी किसलिये करती हो, क्यों नहीं मुझे एक बार ही सदाके लिये निहाल कर देती। चन्द्रमा अपनी शीतल किरणोंसे सभी जगह समानरूपसे अमृतवर्षा करता है। उसकी दृष्टिमें एक वीरान जंगल और किसी राजाधिराजकी गगनचुम्बिनी अट्टालिकामें कोई अन्तर नहीं है। फिर तुम्हीं मुझ दीनपर क्यों नहीं ढरतीं, मुझसे इतना अलगाव क्यों कर रखा है? क्या इस प्रकारका वैभव तुम्हें शोभा देता है? नहीं, नहीं, कदापि नहीं। अब कृपया शीघ्र इस दीनको अपनाकर अपने शीतल चरणतलमें आश्रय दो, जिससे यह सदाके लिये तुम्हारा क्रीतदास बन जाय, तुम्हें छोड़कर दूसरी ओर कभी भूलकर भी न ताके।'

घृतक्षीरद्राक्षामधुमधुरिमा कैरपि पदै-
र्विशिष्यानाख्येयो भवति रसनामात्रविषयः।
तथा ते सौन्दर्यं परमशिवदृङ्मात्रविषयः
कथङ्कारं ब्रूमः सकलनिगमागोचरगुणे॥ ५॥

'घी, दूध, अंगूर अथवा शहदका स्वाद कैसा है और उनके स्वादमें क्या-क्या अन्तर है—इसे हम शब्दोंद्वारा अलग-अलग करके किसी प्रकार भी नहीं समझा सकते, चाहे हम कितने ही पण्डित और

शब्दशास्त्री क्यों न हों। इसका तो हम रसनेन्द्रियके द्वारा अनुभव ही कर सकते हैं, दूसरेको समझा नहीं सकते। इसी प्रकार, हे देवि! तुम्हारी अनुपम छविका कोई वर्णन नहीं कर सकता; वह तो केवल परमशिवके प्रत्यक्षका ही विषय है। सौन्दर्यकी तो बात ही क्या, तुम्हारे और-और गुणोंका भी कोई वर्णन नहीं कर सकता। वेद और उपनिषद् भी हार मान जाते हैं और 'नेति, नेति' कहकर ही अपना पिण्ड छुड़ाते हैं।'

सपर्णामाकीर्णां कतिपयगुणैः सादरमिह
श्रयन्त्यन्ये वल्लीं मम तु मतिरेवं विलसति।
अपर्णैका सेव्या जगति सकलैर्यत्परिवृतः
पुराणोऽपि स्थाणुः फलति किल कैवल्यपदवीम्॥ ६॥

'संसारमें लोग अनेक प्रकारके गुणोंसे युक्त, पत्तोंवाली लताका ही आदरपूर्वक सेवन करते हैं; परन्तु मेरा अपना मत तो यह है कि जगत्में सब लोगोंको अपर्णा (बिना पत्तोंकी बेल अर्थात् देवी पार्वती, जो इस नामसे प्रसिद्ध हैं)-का ही सेवन करना चाहिये, जिनके संसर्गसे पुराना स्थाणु (ठूँठ अर्थात् देवाधिदेव महादेव, जो संसारके आदिकारण होनेसे सबसे पुराने तथा सर्वगत, अक्रिय, अपरिणामी एवं निर्विकार होनेके कारण 'स्थाणु' अर्थात् अविचल कहलाते हैं) भी मोक्षरूपी फल देने लगता है। तात्पर्य यह है कि 'सदाशिव' नामसे अभिहित निर्गुण परमात्मा सर्वथा क्रियाशून्य होनेसे उनके द्वारा अथवा उनकी कृपासे मोक्ष आदि फलकी प्राप्ति असम्भव है, उनके शक्तिसमन्वित अर्थात् सगुण एवं सक्रिय होनेपर ही उनके द्वारा इस प्रकार आदान-प्रदानकी क्रिया सम्भव है।'

कृपापाङ्गालोकं वितर तरसासाधुचरिते
न ते युक्तोपेक्षा मयि शरणदीक्षामुपगते।
न चेदिष्टं दद्यादनुपदमहो कल्पलतिका
विशेषः सामान्यैः कथमितरवल्लीपरिकरैः॥ ७॥

'हे देवि! मुझ शरणागतपर शीघ्र ही अपने कृपाकटाक्षका निक्षेप कर मुझे कृतकृत्य करो। माना कि मेरे आचरण साधुओंके-से नहीं हैं, किन्तु मैं तुम्हारी शरणमें तो चला आया हूँ। क्या शरणमें आये हुएकी तुम्हें उपेक्षा करनी चाहिये? यदि शरणमें चले आनेपर भी शरणार्थीके सम्बन्धमें तुम यह विचार करोगी कि उसके आचरण उत्तम हैं या नहीं और मुझ-जैसे मन्द आचरणवालोंसे बेरुखीका बर्ताव करोगी तो फिर तुममें और दूसरे देवताओंमें अन्तर ही क्या रहा? कल्पवृक्षके नीचे चले जानेपर भी यदि किसीकी इच्छा पूरी न हो तो फिर उसमें और साधारण वृक्षोंमें क्या अन्तर है? कल्पवृक्षका धर्म ही है अर्थार्थीकी कामनाको पूर्ण करना। फिर तुम अपने धर्मको कैसे छोड़ सकती हो। तुम्हें अपने विरदकी रक्षाके लिये ही मेरी बाँह पकड़नी होगी, मुझे अपनी शरणमें लेना होगा। यदि मेरा परित्याग करती हो तो साथ-ही-साथ अपनी शरणागतवत्सलताका बाना भी छोड़ना होगा।'

महान्तं विश्वासं तव चरणपङ्केरुहयुगे
निधायान्यन्नैवाश्रितमिह मया दैवतमुमे।
तथापि त्वच्चेतो यदि मयि न जायेत सदयं
निरालम्बो लम्बोदरजननि कं यामि शरणम्॥ ८॥

'हे उमे! हे लम्बोदरजननि! मुझे तुम्हारे चरणकमलोंका ही पूरा-पूरा भरोसा है, अन्य किसी देवताका सहारा नहीं है। फिर भी तुम्हारा हृदय यदि मेरे प्रति दयार्द्र नहीं होता तो मैं अवलम्बहीन किसकी शरणमें जाऊँगा। सब ओरसे मुँह मोड़कर तो तुम्हारा आश्रय ग्रहण किया है, तुम्हीं यदि मुझे दुत्कार दोगी तो फिर मुझे कौन अपनी शरणमें लेगा। अतः मुझ निराश्रयको आश्रय देना ही होगा।'

अयःस्पर्शे लग्नं सपदि लभते हेमपदवीं
यथा रथ्यापाथः शुचि भवति गङ्गौघमिलितम्।
तथा तत्तत्पापैरतिमलिनमन्तर्मम यदि
त्वयि प्रेम्णासक्तं कथमिव न जायेत विमलम्॥ ९॥

'पारसमणिका स्पर्श पाते ही लोहा तत्काल सोना बन जाता है और नालेका गन्दा पानी भी जगत्पावनी गङ्गाजीकी धारामें मिलकर स्वयं जगत्पावन हो जाता है। फिर अनेक प्रकारके पापोंसे कलुषित हुआ मेरा मन क्या तुम्हारे प्रेमको प्राप्त करके भी निर्मल नहीं होगा, अवश्य होगा।' महात्मा सूरदासजीने भी अपने एक पदमें इसी प्रकारके उद्गार प्रकट किये हैं। वे कहते हैं—

एक नदिया, एक नाल कहावत, मैलो नीर भरो।
दोउ मिलकै जब एक बरन भयो, सुरसरि नाम परो॥
एक लोहा पूजामें राख्यो, एक घर बधिक परो।
पारस गुन-अवगुन नहि चितवै, कंचन करत खरो॥

त्वदन्यस्मादिच्छाविषयफललाभे न नियम-
स्त्वमज्ञानामिच्छाधिकमपि समर्था वितरणे।

इति प्राहुः प्राञ्चः कमलभवनाद्यास्त्वयि मन-
स्त्वदासक्तं नक्तन्दिवमुचितमीशानि कुरु तत्॥ १०॥

'तुम्हारे अतिरिक्त जो दूसरे देवता हैं उनके द्वारा उनके उपासकोंको इच्छित फलकी प्राप्ति हो ही, ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि प्रथम तो वे सर्वसमर्थ नहीं हैं, वे अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार ही अपने उपासकोंकी इच्छाको पूर्ण कर सकते हैं। अपनी सामर्थ्यसे अधिक वे नहीं दे सकते। फिर जो कुछ भी वे देते हैं उसके लिये मूल्य भी पूरा-पूरा वसूल करते हैं। मूल्य पूरा अदा न करनेसे अथवा साधनमें किसी प्रकारकी त्रुटि रह जानेपर अथवा विधिमें वैगुण्य होनेसे वे इच्छित फल, सामर्थ्य होनेपर भी, नहीं देते। तुम्हारी बात कुछ दूसरी ही है। तुम तो अपने भक्तोंको उनकी इच्छासे अधिक भी दे सकती हो।' किसी भक्तने अपने भगवान्‌के प्रति कहा है—

'हो तृषित आकुल अमित प्रभु, चाहता जो तुमसे नीर।
तुम तृषाहारी अनोखे उसे देते सुधाक्षीर॥'

बात यह है कि हम अल्पज्ञ जीव तुम्हारी अतुल सामर्थ्यको न जानकर तुमसे बहुत छोटी-छोटी चीजें माँग बैठते हैं, किन्तु तुम इतनी दयालु हो कि हमें आशातीत फल प्रदान करती हो। तुम सर्वज्ञ हो, अतः हमारी आवश्यकताओंको भलीभाँति समझकर हमारे लिये जो उचित होता है वही करती हो। और देवता तो हमारी सांसारिक इच्छाओंको पूर्ण करके ही अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझ लेते हैं, किन्तु तुम हमारी सांसारिक कामनाओंको भी पूर्ण करती हो और साथ-ही-साथ अपनी विमल भक्ति भी देती हो। गीतामें भगवान्‌ने भी कहा है—'**मद्भक्ता यान्ति मामपि**'। ब्रह्मादिक पूर्वजोंने तुममें और अन्य देवताओंमें यही अन्तर बताया है। इसीलिये मेरा मन रात-दिन तुम्हारा ही चिन्तन करता रहता है, तुम्हींसे लौ लगाये हुए है। हे परमेश्वरि! अब जैसा उचित समझो करो। चाहे तारो चाहे मारो, मैं तो तुम्हारी ही शरणमें पड़ा हूँ। तुम्हें छोड़कर कहाँ जाऊँ, किसकी शरण लूँ? मुझ-जैसे अधमोंको और कहाँ ठिकाना है। आश्रयहीनको आश्रय देनेवाला तुमसे बढ़कर कहाँ पाऊँगा, तुम्हीं बताओ।

निवासः कैलासे विधिशतमखाद्याः स्तुतिकराः
कुटुम्बं त्रैलोक्यं कृतकरपुटः सिद्धिनिकरः।
महेशः प्राणेशस्तदवनिधराधीशतनये
न ते सौभाग्यस्य क्वचिदपि मनागस्ति तुलना॥ ११॥

'कैलासमें तुम्हारा घर है, जो सारी समृद्धियोंकी खान है तथा जहाँकी शोभाको स्वर्गादि लोक भी नहीं पा सकते; ब्रह्मा और इन्द्र आदि देवगण, जिनसे बढ़कर इस संसारमें कोई नहीं है, बन्दीजनोंकी भाँति तुम्हारी विरदावलीका बखान करते रहते हैं; सारी त्रिलोकी तुम्हारा कुटुम्ब है, तुम्हारी दृष्टिमें कोई पराया है ही नहीं; आठों सिद्धियाँ हाथ जोड़े तुम्हारे दरवाजेपर खड़ी रहती हैं और तुम्हारी आज्ञाकी प्रतीक्षा करती रहती हैं। स्वयं देवाधिदेव महादेव, जो सारे संसारके स्वामी हैं और साक्षात् परब्रह्मस्वरूप हैं, तुम्हारे प्राणपति हैं और नगाधिराज हिमालय तुम्हारे पिता हैं। तुम्हारी महिमाकी भला कौन समता कर सकता है?'

वृषो वृद्धो यानं विषमशनमाशा निवसनं
श्मशानं क्रीडाभूर्भुजगनिवहो भूषणविधिः।
समग्रा सामग्री जगति विदितैव स्मररिपो-
र्यदेतस्यैश्वर्यं तव जननि सौभाग्यमहिमा॥ १२॥

'यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि स्वयं महादेवजीके पास तो एक फूटी कौड़ी भी नहीं है। बूढ़े बैलपर तो वे सवारी करते हैं, भाँग-धतूरा खाते हैं, कभी-कभी हलाहल भी चढ़ा जाते हैं, नंग-धड़ंग दिगम्बरवेशमें रहते हैं, श्मशानमें विचरते रहते हैं, विषधर सर्पोंको अपने अंगोंमें लिपटाये रहते हैं और भस्मसे अपने शरीरको सजाये रखते हैं। स्वयं उनका तो यह हाल है, जो जगजाहिर है; फिर उनके घरमें इतनी समृद्धि कहाँसे आयी! यह सब तुम्हारा ही प्रभाव है, तुम्हारी ही महिमा है।'

अशेषब्रह्माण्डप्रलयविधिनैसर्गिकमतिः
श्मशानेष्वासीनः कृतभसितलेपः पशुपतिः।
दधौ कण्ठे हालाहलमखिलभूगोलकृपया
भवत्याः सङ्गत्याः फलमिति च कल्याणि कलये॥ १३॥

जो भगवान् शङ्कर अखिल ब्रह्माण्डके संहारमें स्वभावसे ही रत हैं और जो श्मशानमें रहते हैं तथा चिता-भस्म रमाये रहते हैं उन्होंने समस्त भूमण्डलपर कृपा करके भयङ्कर हलाहलको गलेमें धारण कर लिया—यह हे मङ्गलमयि! तुम्हारे ही साथ रहनेका फल है; नहीं तो सारे संसारको ग्रसनेवाले महाकालरूप भगवान्‌में इतनी दया कहाँसे आती?

—चिम्मनलाल गोस्वामी

श्रीदेव्यथर्वशीर्ष, उसका महत्त्व और अर्थ

(लेखक—पं० श्रीअनन्त यज्ञेश्वर शास्त्री धुपकर, विद्यालंकार)

श्रीदेव्यथर्वशीर्षम्

(भाषाटीकासमेतम्)

१—ॐ सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः कासि त्वं महादेवीति।

अर्थ—सभी देव, देवीके समीप रहकर, नम्रतासे प्रार्थना करने लगे कि हे महादेवि! तुम कौन हो?

२—साब्रवीत्—अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्। शून्यं चाशून्यं च।

अर्थ—उसने कहा, मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ। मुझसे प्रकृति-पुरुषात्मक सद्रूप और असद्रूप जगत् उत्पन्न हुआ है।

३—अहमानन्दानानन्दौ। अहं विज्ञानाविज्ञाने। अहं ब्रह्माब्रह्मणी वेदितव्ये। अहं पञ्चभूतान्यपञ्चभूतानि। अहमखिलं जगत्।

अर्थ—मैं आनन्द और अनानन्दरूपा हूँ। मैं विज्ञान और अविज्ञानरूपा हूँ। अवश्य जाननेयोग्य ब्रह्म और अब्रह्म भी मैं ही हूँ। पञ्चीकृत और अपञ्चीकृत महाभूत भी मैं ही हूँ। यह सारा दृश्य जगत् मैं ही हूँ।

४—वेदोऽहमवेदोऽहम्। विद्याहमविद्याहम्। अजाहमनजाहम्। अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक्चाहम्।

अर्थ—वेद और अवेद भी मैं हूँ। विद्या और अविद्या मैं, अजा और अनजा भी मैं, नीचे-ऊपर, अगल-बगल भी मैं ही हूँ।

५—अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि। अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणावुभौ बिभर्मि। अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ।

अर्थ—मैं रुद्रों और वसुओंके रूपमें सञ्चार करती हूँ। मैं आदित्यों और विश्वेदेवोंके रूपमें फिरा करती हूँ। मैं दोनों मित्रावरुणका, इन्द्राग्निका और दोनों अश्विनी-कुमारोंका पोषण करती हूँ।

६—अहं सोमं त्वष्टारं पूषणं भगं दधामि। अहं विष्णुमुरुक्रमं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि।

अर्थ—मैं सोम, त्वष्टा, पूषा और भगको धारण करती हूँ। त्रैलोक्यको आक्रमण करनेके लिये विस्तीर्ण पादक्षेप करनेवाले विष्णु, ब्रह्मदेव और प्रजापतिको मैं ही धारण करती हूँ।

७—अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते। अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्। अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे। य एवं वेद। स दैवीं सम्पदमाप्नोति।

अर्थ—देवोंको उत्तम हवि पहुँचानेवाले और सोमरस निकालनेवाले यजमानके लिये हविर्द्रव्योंसे युक्त धन धारण करती हूँ। मैं सम्पूर्ण जगत्की ईश्वरी, उपासकोंको धन देनेवाली, ब्रह्मरूप और यज्ञार्होंमें (यजन करने योग्य देवोंमें) मुख्य हूँ। मैं आत्मस्वरूपपर आकाशादि निर्माण करती हूँ। मेरा स्थान आत्मस्वरूपको धारण करनेवाली बुद्धिवृत्तिमें है। जो इस प्रकार जानता है वह दैवी सम्पत्ति लाभ करता है।

८—ते देवा अब्रुवन्—नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः। नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्म ताम्॥

अर्थ—तब देवोंने कहा, देवीको नमस्कार है। बड़े-बड़ोंको अपने-अपने कर्तव्यमें प्रवृत्त करनेवाली कल्याणकर्त्रीको सदा नमस्कार है। गुणसाम्यावस्थारूपिणी मङ्गलमयी देवीको नमस्कार है। नियमयुक्त होकर हम उन्हें प्रणाम करते हैं।

९—तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं
वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम्।
दुर्गां देवीं शरणं प्रपद्या-
महेऽसुरान्नाशयित्र्यै ते नमः॥

अर्थ—उन अग्निके-से वर्णवाली, ज्ञानसे जगमगानेवाली, दीप्तिमती, कर्मफलप्राप्तिके हेतु सेवन की जानेवाली दुर्गादेवीकी हम शरणमें हैं। असुरोंका नाश करनेवाली देवी! तुम्हें नमस्कार है।

१०—देवीं वाचमजनयन्त देवा-
स्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना
धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥

अर्थ—प्राणरूप देवोंने जिस प्रकाशमान वैखरी वाणीको उत्पन्न किया उसको अनेक प्रकारके प्राणी

बोलते हैं। वह कामधेनुतुल्य आनन्ददायक और अन्न और बल देनेवाली वाग्रूपिणी भगवती उत्तम स्तुतिसे सन्तुष्ट होकर हमारे समीप आयें।

११—कालरात्रीं ब्रह्मस्तुतां वैष्णवीं स्कन्दमातरम्। सरस्वतीमदितिं दक्षदुहितरं नमामः पावनां शिवाम्॥

अर्थ—कालका भी नाश करनेवाली, वेदोंद्वारा स्तुत हुई विष्णुशक्ति, स्कन्दमाता (शिवशक्ति), सरस्वती (ब्रह्मशक्ति), देवमाता अदिति और दक्ष-कन्या (सती), पापनाशिनी कल्याणकारिणी भगवतीको हम प्रणाम करते हैं।

१२—महालक्ष्म्यै च विद्महे सर्वशक्त्यै च धीमहि। तन्नो देवी प्रचोदयात्॥

अर्थ—हम महालक्ष्मीको जानते हैं और उन सर्वशक्तिरूपिणीका ही ध्यान करते हैं। वह देवी हमें उस विषयमें (ज्ञान-ध्यानमें) प्रवृत्त करें।

१३—अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः॥

अर्थ—हे दक्ष! आपकी जो कन्या अदिति है वह प्रसूता हुई और उनके स्तुत्यर्ह और मृत्युरहित देव उत्पन्न हुए।

१४—कामो योनिः कमला वज्रपाणि-
र्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः।
पुनर्गुहा सकला मायया च
पुरूच्यैषा विश्वमातादिविद्योम्॥

अर्थ—काम (क), योनि (ए), कमला (ई), वज्रपाणि—इन्द्र (ल), गुहा (ह्रीं)। ह, स—वर्ण, मातरिश्वा—वायु (क), अभ्र (ह), इन्द्र (ल), पुनः गुहा (ह्रीं)। स, क, ल—वर्ण, और माया (ह्रीं), यह सर्वात्मिका जगन्माताकी मूल विद्या है और यह ब्रह्मरूपिणी है।

[शिवशक्त्यभेदरूपा, ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मिका, सरस्वती-लक्ष्मी-गौरीरूपा, अशुद्ध-मिश्र-शुद्धोपासकात्मिका, समरसीभूत शिवशक्त्यात्मक ब्रह्मस्वरूपका निर्विकल्प ज्ञान देनेवाली, सर्वतत्त्वात्मिका, महात्रिपुरसुन्दरी—यही इस मन्त्रका भावार्थ है। यह मन्त्र सब मन्त्रोंका मुकुटमणि है और मन्त्रशास्त्रमें पञ्चदशी कादि श्रीविद्याके नामसे प्रसिद्ध है। इसके छः प्रकारके अर्थ अर्थात् भावार्थ, वाच्यार्थ, सम्प्रदायार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ और तत्त्वार्थ 'नित्याषोडशिकार्णव' ग्रन्थमें बताये हैं। इसी प्रकार 'वरिवस्यारहस्य' आदि ग्रन्थोंमें इसके और भी अनेक अर्थ दरसाये हैं। श्रुतिमें भी ये मन्त्र इस प्रकारसे अर्थात् क्वचित् स्वरूपोच्चार, क्वचित् लक्षणा और लक्षित लक्षणासे और कहीं वर्णके पृथक्-पृथक् अवयव दरसाकर जानबूझकर विशृंखल-रूपसे कहे गये हैं। इससे यह मालूम होगा कि ये मन्त्र कितने गोपनीय और महत्त्वपूर्ण हैं।]

१५—एषाऽऽत्मशक्तिः। एषा विश्वमोहिनी। पाशाङ्कुशधनुर्बाणधरा। एषा श्रीमहाविद्या। य एवं वेद स शोकं तरति।

अर्थ—ये परमात्माकी शक्ति हैं। ये विश्वमोहिनी हैं। पाश, अङ्कुश, धनुष और बाण धारण करनेवाली हैं। ये 'श्रीमहाविद्या' हैं। जो ऐसा जानता है वह शोकको पार कर जाता है।

१६—नमस्ते अस्तु भगवति मातरस्मान् पाहि सर्वतः।

अर्थ—हे भगवती, तुम्हें नमस्कार है। हे माता! सब प्रकारसे हमारी रक्षा करो।

१७—सैषाष्टौ वसवः। सैषैकादश रुद्राः। सैषाद्वादशादित्याः। सैषा विश्वेदेवाः सोमपा असोमपाश्च। सैषा यातुधाना असुरा रक्षांसि पिशाचा यक्षाः सिद्धाः। सैषा सत्त्वरजस्तमांसि। सैषा ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपिणी। सैषा प्रजापतीन्द्रमनवः। सैषा ग्रहनक्षत्रज्योतींषि। कलाकाष्ठादि-कालरूपिणी। तामहं प्रणौमि नित्यम्॥

पापापहारिणीं देवीं भुक्तिमुक्तिप्रदायिनीम्।
अनन्तां विजयां शुद्धां शरण्यां शिवदां शिवाम्॥

अर्थ—(मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहते हैं—) वही ये अष्ट वसु हैं; वही ये एकादश रुद्र हैं; वही ये द्वादश आदित्य हैं; वही ये सोमपान करनेवाले और न करनेवाले विश्वेदेव हैं; वही ये यातुधान (एक प्रकारके राक्षस), असुर, राक्षस, पिशाच, यक्ष और सिद्ध हैं; वही ये सत्त्व-रज-तम हैं; वही ये ब्रह्म-विष्णु-रुद्ररूपिणी हैं; वही ये प्रजापति-इन्द्र-मनु हैं; वही ये ग्रह, नक्षत्र और तारा हैं; वही कलाकाष्ठादि कालरूपिणी हैं; पाप नाश करनेवाली, भोग-मोक्ष देनेवाली, अन्तरहित, विजयाधिष्ठात्री, निर्दोष, शरण लेने योग्य, कल्याणदात्री और मङ्गलरूपिणी उन देवीको हम सदा प्रणाम करते हैं।

१८—वियदीकारसंयुक्तं वीतिहोत्रसमन्वितम्।
अर्धेन्दुलसितं देव्या बीजं सर्वार्थसाधकम्॥

१९—एवमेकाक्षरं ब्रह्म यतयः शुद्धचेतसः।
ध्यायन्ति परमानन्दमया ज्ञानाम्बुराशयः॥

अर्थ—वियत्—आकाश (ह) तथा 'ई' कारसे युक्त, वीतिहोत्र—अग्नि (र) सहित, अर्धचन्द्र (ँ)-से अलंकृत जो देवीका बीज है वह सब मनोरथ पूर्ण करनेवाला है। इस एकाकार ब्रह्मका ऐसे यति ध्यान करते हैं जिनका चित्त शुद्ध है, जो निरतिशयानन्दपूर्ण हैं और जो ज्ञानके सागर हैं। (यह मन्त्र देवीप्रणव माना जाता है। ॐकारके समान ही यह प्रणव भी व्यापक अर्थसे भरा हुआ है। संक्षेपमें इसका अर्थ इच्छा-ज्ञान-क्रिया-धार, अद्वैत, अखण्ड, सच्चिदानन्द समरसीभूत शिवशक्तिस्फुरण है।)

२०—वाङ्माया ब्रह्मसूस्तस्मात् षष्ठं वक्त्रसमन्वितम्।
सूर्योऽवामश्रोत्रबिन्दुसंयुक्तष्टात्तृतीयकः ॥
नारायणेन संमिश्रो वायुश्चाधरयुक् ततः।
विच्चे नवार्णकोऽर्णः स्यान्महदानन्ददायकः॥

अर्थ—वाक्‌वाणी (ऐं), माया (ह्रीं), ब्रह्मसू—काम (क्लीं), इसके आगे छठा व्यञ्जन अर्थात् च, वही वक्त्र अर्थात् आकारसे युक्त (चा), सूर्य (म), 'अवाम श्रोत्र'—दक्षिण कर्ण (उ) और बिन्दु अर्थात् अनुस्वारसे युक्त (मुं), टकारसे तीसरा ड, वही नारायण अर्थात् 'आ' से मिश्र (डा), वायु (य), वही अधर अर्थात् 'ऐ' से युक्त (यै) और 'विच्चे' यह नवार्णमन्त्र उपासकोंको आनन्द और ब्रह्मसायुज्य देनेवाला है।

[इस मन्त्रका अर्थ—हे चित्स्वरूपिणी महासरस्वती! हे सद्रूपिणी महालक्ष्मी! हे आनन्दरूपिणी महाकाली! ब्रह्मविद्या पानेके लिये हम सब समय तुम्हारा ध्यान करते हैं। हे महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वतीस्वरूपिणी चण्डिके! तुम्हें नमस्कार है। अविद्यारूप रज्जुकी दृढ़ ग्रन्थिको खोलकर मुझे मुक्त करो।]

२१—हृत्पुण्डरीकमध्यस्थां प्रातःसूर्यसमप्रभाम्।
पाशाङ्कुशधरां सौम्यां वरदाभयहस्तकाम्।
त्रिनेत्रां रक्तवसनां भक्तकामदुघां भजे॥

अर्थ—हृत्कमलके मध्यमें रहनेवाली, प्रातःकालीन सूर्यके समान प्रभावाली, पाश और अङ्कुश धारण करनेवाली, मनोहर रूपवाली, वरद और अभयमुद्रा धारण किये हुए हाथोंवाली, तीन नेत्रोंवाली, रक्तवस्त्र परिधान करनेवाली और भक्तोंके मनोरथ पूर्ण करनेवाली देवीको मैं भजता हूँ।

२२—नमामि त्वां महादेवीं महाभयविनाशिनीम्।
महादुर्गप्रशमनीं महाकारुण्यरूपिणीम्॥

अर्थ—महाभयका नाश करनेवाली, महासङ्कटको शान्त करनेवाली और महान् करुणाकी साक्षात् मूर्ति तुम महादेवीको मैं नमस्कार करता हूँ।

२३—यस्याः स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति तस्मादुच्यते अज्ञेया। यस्या अन्तो न लभ्यते तस्मादुच्यते अनन्ता। यस्या लक्ष्यं नोपलक्ष्यते तस्मादुच्यते अलक्ष्या। यस्या जननं नोपलभ्यते तस्मादुच्यते अजा। एकैव सर्वत्र वर्तते तस्मादुच्यते एका। एकैव विश्वरूपिणी तस्मादुच्यते नैका। अत एवोच्यते अज्ञेयानन्तालक्ष्याजैका नैकेति॥

अर्थ—जिसका स्वरूप ब्रह्मादिक नहीं जानते—इसलिये जिसे अज्ञेया कहते हैं, जिसका अन्त नहीं मिलता—इसलिये जिसे अनन्ता कहते हैं, जिसका लक्ष्य दीख नहीं पड़ता—इसलिये जिसे अलक्ष्या कहते हैं, जिसका जन्म समझमें नहीं आता—इसलिये जिसे अजा कहते हैं, जो अकेली ही सर्वत्र है—इसलिये जिसे एका कहते हैं, जो अकेली ही विश्वरूपमें सजी हुई है—इसलिये जिसे नैका कहते हैं, वह इसीलिये अज्ञेया, अनन्ता, अजा, एका और नैका कहाती हैं।

२४—मन्त्राणां मातृका देवी शब्दानां ज्ञानरूपिणी।
ज्ञानानां चिन्मयातीता* शून्यानां शून्यसाक्षिणी।
यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता॥

अर्थ—सब मन्त्रोंमें 'मातृका'—मूलाक्षररूपसे रहनेवाली, शब्दोंमें ज्ञान—अर्थरूपसे रहनेवाली, ज्ञानोंमें 'चिन्मयातीता', शून्योंमें 'शून्यसाक्षिणी' तथा जिनसे और कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है वह दुर्गा नामसे प्रसिद्ध हैं।

२५—तां दुर्गां दुर्गमां देवीं दुराचारविघातिनीम्।
नमामि भवभीतोऽहं संसारार्णवतारिणीम्॥

अर्थ—उन दुर्विज्ञेय, दुराचारनाशक और संसार-सागरसे तारनेवाली दुर्गा देवीको संसारसे डरा हुआ मैं नमस्कार करता हूँ।

२६—इदमथर्वशीर्षं योऽधीते स पञ्चाथर्वशीर्षजपफलमाप्नोति। इदमथर्वशीर्षमज्ञात्वा योऽर्चां स्थापयति—शतलक्षं प्रजप्त्वापि सोऽर्चासिद्धिं न विन्दति। शतमष्टोत्तरं चास्य पुरश्चर्याविधिः स्मृतः।
दशवारं पठेद्यस्तु सद्यः पापैः प्रमुच्यते।
महादुर्गाणि तरति महादेव्याः प्रसादतः॥

अर्थ—इस अथर्वशीर्षका जो अध्ययन करता है,

* 'चिन्मयानन्दा' भी एक पाठ है और वह ठीक ही मालूम होता है।

उसे पाँचों अथर्वशीर्षोंके जपका फल प्राप्त होता है। इस अथर्वशीर्षको न जानकर जो प्रतिमास्थापन करता है, वह सैकड़ों लाख जप करके भी अर्चासिद्धि नहीं प्राप्त करता। अष्टोत्तरशत (१०८ बार) जप (इत्यादि) इसकी पुरश्चरणविधि है। जो इसका दस बार पाठ करता है वह उसी क्षण पापोंसे मुक्त हो जाता है और महादेवीके प्रसादसे बड़े दुस्तर संकटोंको पार कर जाता है।

सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायं प्रातः प्रयुञ्जानो अपापो भवति। निशीथे तुरीयसन्ध्यायां जप्त्वा वाक्सिद्धिर्भवति। नूतनायां प्रतिमायां जप्त्वा देवतासान्निध्यं भवति। प्राणप्रतिष्ठायां जप्त्वा प्राणानां प्रतिष्ठा भवति। भौमाश्विन्यां महादेवीसन्निधौ जप्त्वा महामृत्युं तरति। स महामृत्युं तरति य एवं वेद। इत्युपनिषत्॥

अर्थ—इसका सायंकालमें अध्ययन करनेवाला दिनमें किये हुए पापोंका नाश करता है, प्रात:कालमें अध्ययन करनेवाला रात्रिमें किये हुए पापोंका नाश करता है। दोनों समय अध्ययन करनेवाला निष्पाप होता है। मध्यरात्रिमें तुरीय* सन्ध्याके समय जप करनेसे वाक्सिद्धि प्राप्त होती है। नयी प्रतिमापर जप करनेसे देवतासान्निध्य प्राप्त होता है। प्राणप्रतिष्ठाके समय जप करनेसे प्राणोंकी प्रतिष्ठा होती है। भौमाश्विनी (अमृतसिद्धि) योगमें महादेवीकी सन्निधिमें जप करनेसे महामृत्युसे तर जाता है। जो इस प्रकार जानता है वह महामृत्युसे तर जाता है। इस प्रकार यह अविद्यानाशिनी ब्रह्मविद्या है।

(१) पदार्थमात्र यद्यपि ब्रह्मरूप ही है, तथापि भक्तचित्तावलम्बनार्थ परमात्माने अनेक विभूतियाँ कल्पित की हैं। इन सब विभूतियोंमें सच्चिद्रूप ब्रह्म यद्यपि समरूपसे ही स्थित है, तथापि दर्पण, मणि, जल आदि उपाधियोंके शुद्धितारतम्यके अनुसार प्रतिबिम्बधर्ममें भी तारतम्य हुआ करता है। जिस प्रकार तरतमभाव उपाधिमें भी होता है, उसी प्रकार ब्रह्मत्वके स्फुरण-तारतम्यके अनुसार विभूतियोंमें भी तरतमभाव उत्पन्न हुआ करता है—ऐसा शास्त्रसिद्धान्त है, और इसलिये उपास्यतर एकैकगुणोपाधि ब्रह्मविष्ण्वादिकोंसे भी गुणत्रयसाम्यावस्थोपाधिक भगवती महामाया ही सर्वोत्तम विभूति हैं। अर्थात् उनकी उपासना ही मुख्य है। और इसीलिये सब आगमशास्त्रोंमें उन्हींका बड़ा विस्तार है। इसी प्रकार अखिल भारतवर्षमें देवीकी उपासनाका सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन और प्रबल है। यही नहीं, प्रत्युत शैव, वैष्णव आदि अन्य सम्प्रदायोंमें भी शक्तिकी उपासना अखण्डरूपसे अनुस्यूत है—यह बात सूक्ष्म अवलोकन करनेसे स्पष्ट ही देख पड़ेगी।

(२) प्रस्तुत विषयका साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन करनेवाले पुराणतन्त्रादि अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं, तो भी चिच्छक्ति महामायाके सगुण, निर्गुण स्वरूपका यथावत् निरूपण करके उसका ध्यान, मन्त्र और स्तोत्रका भी वर्णन करनेवाला, कण्ठ करनेयोग्य, सरल और सुगम, मनोहर और फिर साक्षात् श्रुतिका शिरोभाग होनेके कारण निर्बाधप्रामाण्यस्वरूप 'देव्यथर्वशीर्ष' एक अमूल्य तेजस्वी रत्न है—यही कहना चाहिये।

(३) 'अथर्वशीर्ष' याने अथर्ववेदका शिरोभाग। वेदके संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक—ये तीन भाग होते हैं। उपनिषद् प्रायः तीसरे भागमें ही आते हैं। अथर्वशीर्ष उपनिषद् ही हैं और अथर्ववेदके अन्तमें आते हैं। ये सर्वविद्याशिरोभूत ब्रह्मविद्याके प्रतिपादक होनेके कारण यथार्थ 'अथर्वशीर्ष' कहाते हैं। अथर्वशीर्ष मुख्यतः पाँच हैं। इनमें सबसे श्रेष्ठ 'देव्यथर्वशीर्ष' ही है। कारण, इस एकके पाठसे पाँचों अथर्वशीर्षोंके पठनका फल प्राप्त होता है—यह श्रुतिने ही बताया है। सर्वपापनाश, महासङ्कटमोक्ष, वाक्सिद्धि, देवतासान्निध्य इत्यादि अन्य फल भी इसके बड़े महत्त्वके हैं। मृत्युतक टालनेकी सामर्थ्य इसमें है, यह बात फलश्रुतिसे ज्ञात हो ही जायगी।

(४) शक्ति-उपासनाको अवैदिक कहनेवालोंके लिये तो यह अथर्वशीर्ष '**मूले कुठारः**' ही प्रतीत होगा। कई पाश्चात्त्यविद्याविभूषित आधुनिक विद्वान् यह कहा करते हैं कि अथर्ववेद अर्वाचीन रचना है और अथर्वशीर्ष तो बिलकुल ही नये हैं, इनको वेद या श्रुति कहना ही भूल है। पर इन लोगोंका यह कथन इनके केवल परप्रत्ययनेयबुद्धित्वका फल है। कारण, अत्रि (६। ३), शंख (११। ४) और वसिष्ठ (२८। १४) इन परममान्य स्मृतिकारोंने **'शतरुद्रीयमथर्वशिरस्त्रिसुपर्णं महाव्रतम्'** कहकर रुद्र आदिके साथ ही अथर्वशीर्षका भी निर्देश

* श्रीविद्याके उपासकोंके लिये चार सन्ध्याएँ आवश्यक हैं। इनमें तुरीय सन्ध्या मध्यरात्रिमें होती है। उसकी विधि हमने अपनी संस्कृत-टीकामें दी है।

किया है। इसी प्रकार महर्षि गौतमके धर्मसूत्रोंमें भी **'अघमर्षणमथर्वशिरोरुद्रः'** (३। १। १२) इस प्रकार उल्लेख है। और अथर्ववेदका तो ऋग्वेदके ही **'ऋचां त्वः पोषमास्ते०'** (८। २। २४) इस मन्त्रमें उल्लेख है। अस्तु। केवल प्रकृत देव्यथर्वशीर्षकी ही बातको सोचें तो श्रीमच्छङ्कराचार्यसे भी पूर्वकालीन श्रीहंसयोगीने अपने गीताभाष्यमें देव्यथर्वशीर्षसे नामनिर्देशके साथ प्रमाण उद्धृत किये हैं। इसी प्रकार देवीभागवत (स्कन्ध ७ अ० ३१)-में इसके कुछ मन्त्र ज्यों-के-त्यों आये हैं तथा सप्तशतीस्तोत्रमें भी इसका एक मन्त्र मिलता है। इसलिये यह अर्वाचीन तो नहीं है। इसमें जो **'कामो योनिः'** इत्यादि पञ्चदशी-मन्त्रोद्धार-पद्धति है उससे यदि कोई इसे अर्वाचीन कहे तो उसको यह जानना चाहिये कि यही मन्त्र **'चत्वार ईं बिभ्रति क्षेमयन्तो०'** (ऋ० सं० ४। ३। १। ४) इस ऋग्वेदमन्त्रमें भी उद्धृत है, यह बात मन्त्रशास्त्रवेत्ताओंको ज्ञात ही है। इसलिये कम-से-कम आस्तिकोंके लिये तो इसके प्राचीनत्व और प्रामाण्यके विषयमें सन्देह करनेका कोई भी कारण नहीं है।

(५) इस प्रकार अथर्वशीर्षकी बड़ी महिमा होनेपर भी मूल आथर्वणशाखाका उच्छेद होनेके कारण इसकी अध्ययनपरम्परा ही गड़बड़ा गयी और इसका पाठ शुद्ध बना रखनेका भार सर्वथा अर्थज्ञानपर ही आ पड़ा। वैदिकोंमें अर्थज्ञानका प्रायः अभाव होनेसे इसमें अशुद्ध पाठोंकी रेल-पेल हो गयी। पीछे मुद्रण आरम्भ होनेपर संशोधनके अवसरोंमें मन्त्रशास्त्रानभिज्ञ पण्डितोंने जो अपनी बुद्धिमत्ता उसमें खर्च की उससे और फिर **'मुद्राराक्षस'** (Printer's devil) की भी कृपासे इस अथर्वशीर्षकी जो विडम्बना हुई उसे निर्णयसागरके ब्रह्मकर्म, उपनिषद्संग्रह, सदाशिव प्रसाद इत्यादिकोंमें, हमारी इस शुद्ध प्रतिके साथ मिलानकर कोई भी देख सकते हैं। उदाहरण देकर निष्कारण स्थानको छेंकना इस अवसरमें उचित नहीं प्रतीत होता। अस्तु।

(६) इस अथर्वशीर्षके लिखित और मुद्रित ग्रन्थोंमें ऐसी दुरवस्था देखकर तथा अनेक वैदिकोंके मुखसे भी वैसे ही अशुद्धभूयिष्ठ पाठ सुनकर बहुत दिनोंसे हमारे मनमें यह बात थी कि भगवतीके उपासकोंके लिये देव्यथर्वशीर्षकी कोई सम्प्रदायशुद्ध प्रति प्रकाशित की जाय और तदनुसार हम उसे प्रकाशित करनेवाले भी थे। परन्तु इसी बीच हमें जो एक विलक्षण कटु अनुभव हुआ उससे इस कार्यकी दिशा ही बदल गयी। संक्षेपमें, बात यह हुई कि एक नामी छापेखानेके लिये सटीक शाङ्करभाष्यसहित गीताका संशोधन करते हुए उपोद्घातभाष्यकी टीकामें ही जहाँ **'विग्रहपरिग्रहद्वारेण'** होना चाहिये वहाँ भिन्न-भिन्न प्रेसोंकी सभी प्रतियोंमें 'निग्रह-परिग्रह……' छपा हुआ देखा। हमने अपने संशोधनमें उसे शुद्ध करके भेजा, पर प्रेसके शास्त्रिमण्डलने उसे फिर ज्यों-का-त्यों करके अशुद्ध पाठ ही छापा और पूछनेपर यह उत्तर भी दे डाला कि सभी प्रतियोंमें वैसा ही पाठ है! पीछे अर्थकी चर्चा करनेपर उन्हें मेरा कहना स्वीकार हुआ और शुद्धिपत्रकी तंग गलीसे किसी प्रकार वह शुद्ध पाठ पुस्तकमें प्रविष्ट हो पाया। तात्पर्य, देव्यथर्वशीर्षको यदि शुद्ध रीतिसे छापना है तो उसके अर्थकी चर्चा भी करनी होगी, अन्यथा हमारी इस प्रतिको अन्य प्रतियोंसे मिलाकर देखनेका पण्डितोंको व्यर्थ ही कष्ट देना है, यही सोचकर देव्यथर्वशीर्षपर हमने एक विस्तृत संस्कृत टीका लिखना आरम्भ किया। यह टीका अब बहुत कुछ लिखी जा चुकी है। श्रीजगदम्बाकी कृपासे वह शीघ्र ही जानकारोंकी सेवामें सादर समुपस्थित की जायगी। पर वह ग्रन्थ बड़ा होगा और केवल संस्कृतज्ञोंके ही कामका होगा, इसलिये कुछ मित्रोंने यह सूचना की कि सर्वसामान्यजनोंके लिये भी कुछ होना चाहिये। इतनेहीमें गुणग्रामाभिसंवादि नाम धारण करनेवाले सुप्रसिद्ध 'कल्याण' मासिकका 'शक्ति-अङ्क' का प्रस्ताव विदित हुआ। तब यह विचार किया कि पहले यह अथर्वशीर्ष अर्थसहित इसी अङ्कमें दिया जाय जिससे सहस्रों मनुष्य उससे लाभ उठा सकेंगे। 'कल्याण'-सम्पादकने बड़े प्रेमसे हमारा यह प्रस्ताव स्वीकार किया। उससे बड़ा प्रोत्साहन मिला और अन्य कार्योंको स्थगित करके इसे प्राकृत भाषान्तरके साथ लिखकर तैयार किया। इससे, हमें यह आशा है कि भगवतीके सर्वसाधारण उपासकों तथा अन्य लोगोंके इस दिव्य अथर्वशीर्षका भावार्थ जाननेमें बहुत कुछ सहायता मिलेगी।

मूलके प्रत्येक पद और मन्त्रका साधार विस्तृत अर्थ, अनेक मन्त्रार्थ, शाक्तमन्त्रप्रक्रिया, यह सब विषय संस्कृत-टीकामें होगा। प्रस्तुत लेख और इस भाषाटीकाको अपने अत्यन्त लोकप्रिय मासिकमें स्थान देकर हमारे चिरन्तन उद्देश्यको इस प्रकार मूर्तिमान् जिन 'कल्याण'-सम्पादकने किया उन्हें जितने भी धन्यवाद दिये जायँ, थोड़े ही हैं।

श्रीजगदम्बार्पणमस्तु।

श्रीजगदम्बिकादिव्याष्टोत्तरशताभिनवनामावलीप्रारम्भः

अथ ध्यानम्

सिन्दूरारुणविग्रहां त्रिनयनां माणिक्यमौलिस्फुरत्तारानायकशेखरां स्मितमुखीमापीनवक्षोरुहाम्।
पाणिभ्यामतिपूर्णरत्नचषकं रक्तोत्पलं बिभ्रतीं सौम्यां रत्नघटस्थरक्तचरणां ध्यायेत्परामम्बिकाम्॥

श्लोकोऽनुष्टुप्

रजताचलशृङ्गाग्रमध्यस्थायै नमो नमः।
हिमाचलमहावंशपावनायै नमो नमः॥ १ ॥
शङ्करार्द्धाङ्गसौन्दर्यशरीरायै नमो नमः।
लसन्मरकतस्वच्छविग्रहायै नमो नमः॥ २ ॥
महातिशयसौन्दर्यलावण्यायै नमो नमः।
शशाङ्कशेखरप्राणवल्लभायै नमो नमः॥ ३ ॥
सदा पञ्चदशात्मैक्यस्वरूपायै नमो नमः।
वज्रमाणिक्यकटककिरीटायै नमो नमः॥ ४ ॥
कस्तूरीतिलकीभूतनिटिलायै नमो नमः।
भस्मरेखाङ्कितलसन्मस्तकायै नमो नमः॥ ५ ॥
विकचाम्भोरुहदललोचनायै नमो नमः।
शरच्चाम्पेयपुष्पाभनासिकायै नमो नमः॥ ६ ॥
लसत्काञ्चनताटङ्कयुगलायै नमो नमः।
मणिदर्पणसंकाशकपोलायै नमो नमः॥ ७ ॥
ताम्बूलपूरितस्मेरवदनायै नमो नमः।
सुपक्व दाडिमीबीजरदनायै नमो नमः॥ ८ ॥
कम्बुपूगसमच्छायकन्धरायै नमो नमः।
स्थूलमुक्ताफलोदारसुहारायै नमो नमः॥ ९ ॥
गिरीशबद्धमाङ्गल्यमङ्गलायै नमो नमः।
पद्मपाशाङ्कुशलसत्कराब्जायै नमो नमः॥ १० ॥
पद्मकैरवमन्दारसुमालिन्यै नमो नमः।
सुवर्णकुम्भयुग्माभसुकुचायै नमो नमः॥ ११ ॥
रमणीयचतुर्बाहुसंयुक्तायै नमो नमः।
कनकाङ्गदकेयूरभूषितायै नमो नमः॥ १२ ॥
बृहत्सौवर्णसौन्दर्यवसनायै नमो नमः।
बृहन्नितम्बविलसज्जघनायै नमो नमः॥ १३ ॥
सौभाग्यजातशृङ्गारमध्यमायै नमो नमः।
दिव्यभूषणसन्दोहराजितायै नमो नमः॥ १४ ॥
पारिजातगुणाधिक्यपदाब्जायै नमो नमः।
सुपद्मरागसङ्काशचरणायै नमो नमः॥ १५ ॥
कामकोटिमहापद्मपीठस्थायै नमो नमः।
श्रीकण्ठनेत्रकुमुदचन्द्रिकायै नमो नमः॥ १६ ॥
सचामररमावाणीवीजितायै नमो नमः।
भक्तरक्षणदाक्षिण्यकटाक्षायै नमो नमः॥ १७ ॥
भूतेशालिङ्गनोद्भूतपुलकाङ्ग्यै नमो नमः।
अनङ्गजनकापाङ्गवीक्षणायै नमो नमः॥ १८ ॥
ब्रह्मोपेन्द्रशिरोरत्नरञ्जितायै नमो नमः।
शचीमुखामरवधूसेवितायै नमो नमः॥ १९ ॥
लीलाकल्पितब्रह्माण्डमण्डितायै नमो नमः।
अमृतादिमहाशक्तिसंवृतायै नमो नमः॥ २० ॥
एकातपत्रसाम्राज्यदायिकायै नमो नमः।
सनकादिसमाराध्यपादुकायै नमो नमः॥ २१ ॥
देवर्षिभिः स्तूयमानवैभवायै नमो नमः।
कलशोद्भवदुर्वासःपूजितायै नमो नमः॥ २२ ॥
मत्तेभवक्त्रषड्वक्त्रवत्सलायै नमो नमः।
चक्रराजमहायन्त्रमध्यवर्त्यै नमो नमः॥ २३ ॥
चिदग्निकुण्डसम्भूतसुदेहायै नमो नमः।
शशाङ्कखण्डसंयुक्तमुकुटायै नमो नमः॥ २४ ॥
मत्तहंसवधूमन्दगमनायै नमो नमः।
वन्दारुजनसन्दोहवन्दितायै नमो नमः॥ २५ ॥
अन्तर्मुखजनानन्दफलदायै नमो नमः।
पतिव्रताङ्गनाभीष्टफलदायै नमो नमः॥ २६ ॥
अव्याजकरुणापूरपूरितायै नमो नमः।
नितान्तसच्चिदानन्दसंयुक्तायै नमो नमः॥ २७ ॥
सहस्त्रसूर्यसंयुक्तप्रकाशायै नमो नमः।
रत्नचिन्तामणिगृहमध्यस्थायै नमो नमः॥ २८ ॥
हानिवृद्धिगुणाधिक्यरहितायै नमो नमः।
महापद्माटवीमध्यभागस्थायै नमो नमः॥ २९ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनां साक्षिभूत्यै नमो नमः।
महातापौघपापानां विनाशिन्यै नमो नमः॥ ३० ॥
दुष्टभीतिमहाभीतिभञ्जनायै नमो नमः।
समस्तदेवदनुजप्रेरकायै नमो नमः॥ ३१ ॥
समस्तहृदयाम्भोजनिलयायै नमो नमः।
अनाहतमहापद्ममन्दिरायै नमो नमः॥ ३२ ॥
सहस्त्रारसरोजातवासितायै नमो नमः।
पुनरावृत्तिरहितपुरस्थायै नमो नमः॥ ३३ ॥

वाणीगायत्रिसावित्रीसन्नुतायै	नमो	नमः।
रमाभूमिसुताराध्यपदाब्जायै	नमो	नमः॥ ३४॥
लोपामुद्रार्चितश्रीमच्चरणायै	नमो	नमः।
सहस्त्ररतिसौन्दर्यशरीरायै	नमो	नमः॥ ३५॥
भावनामात्रसन्तुष्टहृदयायै	नमो	नमः।
सत्यसम्पूर्णविज्ञानसिद्धिदायै	नमो	नमः॥ ३६॥
त्रिलोचनकृतोल्लासफलदायै	नमो	नमः।
श्रीसुधाब्धिमणिद्वीपमध्यगायै	नमो	नमः॥ ३७॥
दक्षाध्वरविनिर्भेदसाधनायै	नमो	नमः।
श्रीनाथसोदरीभूतशोभितायै	नमो	नमः॥ ३८॥
चन्द्रशेखरभक्तार्तिभञ्जनायै	नमो	नमः।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तचैतन्यायै	नमो	नमः॥ ३९॥
नामपारायणाभीष्टफलदायै	नमो	नमः।
सृष्टिस्थितितिरोधानसंकल्पायै	नमो	नमः॥ ४०॥
श्रीषोडशाक्षरीमन्त्रमध्यगायै	नमो	नमः।
अनाद्यन्तस्वयंभूतदिव्यमूर्त्यै	नमो	नमः॥ ४१॥
भक्तहंसपरीमुख्यवियोगायै	नमो	नमः।
मातृमण्डलसंयुक्तललितायै	नमो	नमः॥ ४२॥
भण्डदैत्यमहासत्त्वनाशनायै	नमो	नमः।
क्रूरभण्डशिरच्छेदनिपुणायै	नमो	नमः॥ ४३॥
धात्रच्युतसुराधीशसुखदायै	नमो	नमः।
चण्डमुण्डनिशुम्भादिखण्डनायै	नमो	नमः॥ ४४॥
रक्ताक्षरक्तजिह्वादिशिक्षणायै	नमो	नमः।
महिषासुरदोर्वीर्यनिग्रहायै	नमो	नमः॥ ४५॥
अभ्रकेशमहोत्साहकरणायै	नमो	नमः।
महेशयुक्तनटनतत्परायै	नमो	नमः॥ ४६॥
निजभर्तृमुखाम्भोजचिन्तनायै	नमो	नमः।
वृषभध्वजविज्ञानभावनायै	नमो	नमः॥ ४७॥
जन्ममृत्युजरारोगभञ्जनायै	नमो	नमः।
विदेहमुक्तिविज्ञानसिद्धिदायै	नमो	नमः॥ ४८॥
कामक्रोधादिषड्वर्गनाशनायै	नमो	नमः।
राजराजार्चितपदसरोजायै	नमो	नमः॥ ४९॥
सर्ववेदान्तसंसिद्धसुतत्त्वायै	नमो	नमः।
श्रीवीरभक्तविज्ञानविन्दनायै	नमो	नमः॥ ५०॥
अशेषदुष्टदनुजसूदनायै	नमो	नमः।
साक्षाच्छ्रीदक्षिणामूर्तिमनोज्ञायै	नमो	नमः॥ ५१॥
महामेधाग्रसम्पूज्यमहिमायै	नमो	नमः।
दक्षप्रजापतिसुतावेषाढ्यायै	नमो	नमः॥ ५२॥
सुमबाणेक्षुकोदण्डमण्डितायै	नमो	नमः।
नित्ययौवनमाङ्गल्यमङ्गलायै	नमो	नमः॥ ५३॥
महादेवसमायुक्तमहादेव्यै	नमो	नमः।
चतुर्विंशतितत्त्वैकस्वरूपायै	नमो	नमः॥ ५४॥

(श्रीजगदम्बार्पणमस्तु)

सगुणब्रह्म और त्रिशक्तितत्त्वस्वरूपमीमांसा

(लेखक—श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री १९०८ श्रीभारतीकृष्णतीर्थ स्वामीजी महाराज)

कनकजठरमादौ यो विधायाथ तस्मै
निखिलभुवनधात्रे प्राहिणोद्वेदपूगम्।
प्रथमगुरुवरेण्यं स्वात्मबुद्धिप्रकाशं
शरणममरमेनं मोक्षकांक्षी प्रपद्ये॥
दारान्विधेरुदारान् करुणापूरान् कराब्जधृतकीरान्।
हीरालङ्कृतहाराञ्जगदाधारान् विभावये धीरान्॥
सरसगुणनिकायां सच्चिदानन्दकायां
सकलसुजनगेयां संयमीन्द्रैर्विचेयाम्।
सरसिजजनिजायां सर्वलोकाप्रमेयां
सततमहमुपेयां संहृताशेषमायाम्॥
त्रिकोणनिलयस्थितां त्रिनयनक्रुधाप्लोषित-
त्रिविक्रमसुतासुदां त्रिपथगासपत्नीं शिवाम्।
त्रिविक्रमसहोद्भवां त्रिविधतापनिर्मूलिनीं
त्रिलोचनकुटुम्बिनीं त्रिपुरसुन्दरीमाश्रये॥
त्रिकालमुत सन्ततं त्रिकरणीविशुद्ध्यार्चित-
स्त्रिलोकजननीमुमां त्रिपथगापवित्राङ्घ्रिकान्।
त्रिलोचननवाकृतींस्त्रिभुवनेड्यकीर्तीन् गुरूं-
स्त्रिविक्रमसमाह्वयांस्त्रिगुणहैन्यसिद्ध्यै श्रये॥

भूमिका

परमात्मा, जीवात्मा और जगत्के बाह्य रूपोंमें औपाधिक अर्थात् व्यावहारिक दृष्टिसे अनन्तानन्तकोटि भेदोंके होते हुए भी, इन तीनोंका जो पारमार्थिक दृष्टिसे नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्दघनस्वरूपी यथार्थ-स्वरूपभूत लक्षण वेदान्तशास्त्रमें बताया गया है, उसका हमने 'कल्याण' के 'ईश्वराङ्क' में वेदान्त, बाइबिल, युक्तियों और विज्ञानशास्त्रोंके आधारपर विस्तृत निरूपण

किया था, और परमात्मा, जीवात्मा और जगत्के वस्तुतत्त्वकी दृष्टिसे पारमार्थिक तथा आत्यन्तिक अभेदको सिद्ध किया था। तत्पश्चात् हमने उसी परमात्माकी ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूपी तीनों मूर्तियोंके पारस्परिक सम्बन्धका 'कल्याण' के शिवाङ्कमें विवरण किया था। इस बार तो हमें और आगे बढ़कर 'कल्याण' के इस शक्त्यङ्कके लिये इस लेखमें इन तीनों मूर्तियोंके अपने-अपने कार्यक्षेत्रमें जो लीलाएँ हुआ करती हैं, उन सबकी प्रेरणा करनेवाली और उनको भलीभाँति सम्पन्न करानेवाली अर्थात् जगन्मातारूपी परमेश्वरी भगवती महामाया श्रीभगवच्छक्तिके सम्बन्धमें हमारे वेदान्तसिद्धान्तके सारांशका कुछ दिग्दर्शनरूपी उल्लेख करना है।

अवतरणिका

आजकल कुछ लोग इतने बड़े जबरदस्त ज्ञानी और वेदान्ती निकल पड़े हैं कि वे साधारण अद्वैत-सिद्धान्त (अर्थात् विवर्तवाद)-से तृप्त न होते हुए, भगवान् जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य महाराजजीके परमगुरु स्वामी श्रीगौडपादाचार्यकी माण्डूक्यकारिकामें बताये हुए अजातवादसे भी तृप्त न होते हुए, ईश्वरके परिच्छिन्न अर्थात् सगुण और साकार रूपोंको न मानते हुए, अखण्ड, अपरिच्छिन्न, निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी परमात्माका ही सर्वदा (अर्थात् व्यवहारदशामें भी) वाङ्मात्रसे स्वीकार एवं वर्णन करते हुए, श्रीमद्भगवद्गीताप्रतिपादित यथार्थ साम्यवादका अनर्थ, अयथार्थ और उलटा अर्थ बताते हुए, सनातनधर्मके मूलस्तम्भरूपी वर्णाश्रमव्यवस्थाको तोड़ना चाहते हैं और इसी अतिसुलभ उपायसे अपने बड़े भारी वेदान्तीपन या ज्ञानीपनको सिद्ध करनेमें लगे हुए हैं।

यथार्थ सिद्धान्त

इस विषयके यथार्थ तत्त्वावधानके लिये हमें सनातनधर्मके मूलग्रन्थोंसे—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।

—इत्यादि अनेकों लम्बे-चौड़े वचनोंको उद्धृत करके उनके विस्तृत विवरणके द्वारा यह सिद्धान्त बतलानेकी आवश्यकता नहीं है कि जो चैतन्यरूपी पदार्थ मूलस्वरूपमें और पारमार्थिक दृष्टिसे एक ही है और अखण्ड अपरिच्छिन्न सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी है, वही घट-घटमें जीवरूपसे तथा अनन्तकोटि ब्रह्माण्डरूपी जगत्रूपसे भी संख्यातीत खण्ड परिच्छिन्न रूपोंको धारण करता है और उपासनाके लिये सगुण मूर्ति ही उपयुक्त होती है, अर्थात् खण्डसे ही अखण्ड, परिच्छिन्नसे ही अपरिच्छिन्न, सगुणसे ही निर्गुण, साकारसे ही निराकार और एकदेशव्यापी छोटी मूर्तिसे ही सर्वव्यापी परमात्मस्वरूपकी साक्षात्काररूपी प्राप्ति हो सकती है।

श्रीमद्भगवद्गीताकी गवाही

क्योंकि इन विषयोंका हम 'रामायणाङ्क', 'श्रीकृष्णाङ्क', 'ईश्वराङ्क' और 'शिवाङ्क' में बहुत विस्तारके साथ विवरण कर चुके हैं, अतः अब उनका पुनर्निरूपण नहीं करते। परन्तु इस लेखके प्रस्तुत विषयके खास उद्देश्यकी पूर्तिके लिये श्रीमद्भगवद्गीतासे, जो—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

—इस प्रमाणके अनुसार, सनातनधर्मके मूलप्रमाणरूपी वेदभगवान्के मुकुटस्वरूपी वेदान्तशास्त्रका हृदय या सारांश बतानेवाली है, एक ही ऐसे छोटे प्रसङ्गका वर्णन करना पर्याप्त समझते हैं जिससे इस विषयमें हमारा सिद्धान्त अपने-आप और अति सुलभतासे सुस्पष्ट हो सकता है।

अर्जुनका प्रश्न

श्रीपरमात्माके पूर्णावतार आनन्दकन्द भगवान् श्रीजगद्गुरु श्रीकृष्णचन्द्रने अपनी गीताके तीसरे अध्यायमें अर्जुनको निष्काम कर्मयोगका उपदेश देनेके बाद, चौथे अध्यायका आरम्भ करते हुए कहा कि—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥

अर्थात् 'हमने जगत्के आरम्भके समयमें इस शाश्वत कर्मयोगका सूर्यको उपदेश दिया था। उसने अपने पुत्र (वैवस्वत) मनुको दिया था और (वैवस्वत) मनुने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकुको दिया था। इस प्रकार

परम्परासे आये हुए इस कर्मयोगको राजर्षिगण जानते थे, परन्तु बहुत समयसे यह विद्या विच्छिन्न हो गयी है और इसीका हमने अब तुम्हें पुनरुपदेश किया है।' तब अर्जुनने श्रीभगवान्‌से पूछा—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥

'आप तो अबके हैं और सूर्यनारायण तो पूर्वसे हैं। फिर मैं आपकी इस बातको कैसे मानूँ कि आपने ही कल्पारम्भमें इस कर्मयोगविद्याका सूर्यको उपदेश दिया था?'

श्रीभगवान्‌का उत्तर

अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान्‌ने कहा—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥

'हे अर्जुन! जैसे बहुत-से जन्म तेरे हुए हैं वैसे ही मेरे भी हुए हैं। विशेषता केवल इस बातकी है कि तू उन सबको नहीं जानता, परन्तु मैं जानता हूँ।' श्रीभगवान्‌के इस स्पष्ट उत्तरको सुनकर अर्जुनने इस विषयमें श्रीभगवान्‌से और कुछ भी नहीं पूछा; परन्तु अर्जुन तो हम समस्त नरोंकी ओरसे एक प्रतिनिधि ही था और गीताजीका उपदेश अर्जुनरूपी केवल एक ही नरके लिये नहीं था बल्कि सारे संसारके सभी नरोंके प्रयोजनके लिये था। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने अपनी सर्वज्ञताके कारण हम कलियुगी पुरुषोंकी बुद्धिमें आनेवाली शङ्काओं और कुयुक्तियोंको भी अपने हिसाबमें लेकर, यद्यपि इनका अर्जुनने तनिक भी, नामतकका भी जिक्र नहीं किया था, हमलोगोंके कल्याणके लिये अपने-आप शङ्कासमाधान और कुयुक्तिनिरसन किया।

सुधारकोंका खास प्रश्न

अवतारवादका विरोध करते हुए आजकलके सुधारक तो यही पूछते हैं कि जो भगवान् 'अज' अर्थात् (जन्म-रहित) है वह जन्म कैसे ले सकता है? और सुधारकोंके मनमें यही धारणा रहा करती है कि इस आक्षेपरूपी युक्तिवादका कोई युक्तियुक्त उत्तर हो ही नहीं सकता। परन्तु यह तो कुछ नयी आपत्ति नहीं है जिसका सुधारकोंने अपनी ही अद्भुत मेधाशक्ति या प्रतिभाके बलसे नया आविष्कार किया हो, क्योंकि श्रीभगवान्‌ने तो अर्जुनके द्वारा भी न पूछे हुए इसी खास प्रश्नका पर्याप्त और अति सुन्दर उत्तर देते हुए, अपने-आप कहा—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

अर्थात् अज (जन्मरहित) होते हुए भी, निर्विकार-स्वरूप होते हुए भी, समस्त भूतोंके ईश्वर होते हुए भी, हम अपनी प्रकृतिके जबरदस्त आधारपर स्थित होकर अपनी मायाके बलसे जन्म लिया करते हैं।

मायाका स्वरूप

अब प्रश्न यह है कि जिस मायाके बलसे भगवान् अवतार धारण किया करते हैं, वह कौन-सी चीज है, उसका क्या स्वरूप है, उसका लक्षण क्या है और उसका तत्त्व एवं रहस्य क्या है। श्रीभगवान्‌के उपर्युक्त वचनसे ही स्पष्ट हो गया है और—

अजायमानो बहुधा विजायते।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

—इत्यादि अनेक वेदमन्त्रोंसे भी स्पष्ट होता है कि अपनी जिस शक्तिके बलसे श्रीभगवान् '**बहु स्यां प्रजायेय**' इस अपने सङ्कल्पके अनुसार एकदम नाना जगत्‌रूपी रूपोंको धारण करते हुए जगत्‌की सृष्टि करनेवाले कहलाते हैं, उसीका नाम माया है। यहाँतक मायाशक्तिका निर्वचन करनेके पश्चात् आगे बढ़कर शास्त्रोंने यह भी सिद्ध किया है कि भगवान्‌की मायाशक्ति जगत्‌की केवल सृष्टि ही करनेवाली नहीं है बल्कि पालन और संहार भी करनेवाली है।

त्रिमूर्ति और त्रिशक्ति

सनातनधर्मका इसके सम्बन्धमें यही सिद्धान्त है, जिसका हम 'कल्याण' के 'शिवाङ्क' में श्रीमद्भागवतके बहुत-से लम्बे-लम्बे प्रमाणोंसे सिद्ध कर चुके हैं कि एक ही परमात्मा, जो निर्गुण, निष्क्रिय, निराकार और निरञ्जन (निर्लिप्त) है, वही अपनी त्रिगुणात्मक, त्रिशक्त्यात्मक मायाशक्तिसे शंबलित होकर जगत्‌की सृष्टि, पालन और संहाररूपी तीन प्रकारके कार्यके भेदसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—इन तीनों नामोंको और मूर्तियोंको धारण करता है, और जिन तीन प्रकारकी शक्तियोंसे शंबलित होकर त्रिमूर्तिरूपमें आता है उन्हींके नाम महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली हैं। अर्थात् ब्रह्माजीकी शक्ति, जिससे सृष्टि होती है, वह महासरस्वती है; विष्णुशक्ति, जो पालन करती-कराती है, महालक्ष्मी है; और रुद्रशक्ति,

जिससे संहार होता है, उसका नाम महाकाली है। इसीलिये भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने भी कहा है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्॥

(भगवान् अपनी शक्तिसे शंबलित होकर ही अपना काम करनेमें समर्थ होते हैं, नहीं तो नहीं।) इससे स्पष्ट है कि असलमें (अर्थात् अपने मूलस्वरूपमें) भगवान् निरञ्जन अतएव निष्क्रिय होते हुए भी अपनी मायाशक्तिसे शंबलित होकर जगदीश्वर होते हैं, अर्थात् जगत्स्रष्टा, जगत्पालक और जगत्संहर्ता होते हैं।

तीनों कार्योंका ऐतिहासिक दृष्टिसे क्रम

इन कार्योंके क्रमका दो प्रकारसे विचार किया जा सकता है। एक है ऐतिहासिक क्रम (Historical and Chronological Sequence), जिसमें इस दृष्टिसे विचार होता है कि सबसे पहले हर एक चीजकी सृष्टि की जाती है, उसके बाद उसकी स्थिति होती है और अन्तमें उसका नाश हो जाता है। इसी कारण 'ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र'—ये तीनों नाम हमारे ग्रन्थोंमें इसी क्रमसे पाये जाते हैं।

उनका आध्यात्मिक साधनकी दृष्टिसे क्रम

इन तीनों कार्योंके क्रमका दूसरे प्रकारका विचार साधककी आध्यात्मिक दृष्टिसे (from the psychological standpoint of the Spiritual Aspirant) होता है। इसमें अवधूतराज श्रीसदाशिवब्रह्मेन्द्र-सरस्वती महाराजकृत वर्णनके अनुसार—

'जनिविपरीतक्रमतः'

—विपरीत क्रमसे अर्थात् लयके क्रमसे गणना होती है, सृष्टिके क्रमसे नहीं। इसी कारण 'महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती' ये तीनों नाम उपासनाकाण्डके ग्रन्थोंमें इसी नियत क्रमसे आते हैं।

व्याधिकी चिकित्साका दृष्टान्त

लौकिक व्यवहारमें सर्वसाधारणके अनुभवसे सिद्ध एक दृष्टान्तसे इस क्रमका तात्पर्य और आवश्यकता स्पष्ट होगी। व्याधिकी चिकित्सामें वैद्य या डाक्टरका पहला कर्तव्य है व्याधिका मूलसे संहार। अतः उस समयपर, वह वैद्य रुद्रका काम करता है। परन्तु रुद्रका यह काम करते हुए व्याधिको जड़से काट डालनेके समय उसे ऐसी अत्यन्त जागरूकता और सावधानीके साथ काम करना पड़ता है जिससे सिर्फ बीमारी ही नष्ट हो, न कि साथ-साथ बीमार भी चल बसे। इस कारण वह प्राणका पालन या विष्णुका भी काम करता है। और जब व्याधि जड़से कट गयी और जान बच गयी तब शरीरमें खूब ताकत लानेवाली औषध (Tonic), पोषक आहार आदि चीजोंको देते हुए, वही वैद्य नयी सृष्टि या ब्रह्माका भी काम करता है।

अज्ञाननिवारणका दृष्टान्त

इसी प्रकारसे गुरुके सम्बन्धमें कही हुई—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुरेव महेश्वरः।

—यह बात भी चरितार्थ होती है, क्योंकि जब गुरु अपने शिष्यके अन्यथाभानरूपी अज्ञान (या गलत समझ)-का निवारण करता है तब वह संहार या रुद्रका काम करता है। प्रामादिक ज्ञानको काटते हुए, साथ-साथ जब वह शिष्यके मनमें जो यथार्थ ज्ञान है उसकी रक्षा करता है तब वह पालन या विष्णुका काम करता है, और जब अज्ञानको हटाते हुए और ज्ञानकी रक्षा करते हुए वह नयी बातोंको सिखाता है तब वह सृष्टि या ब्रह्माका काम कर रहा है।

अन्यान्य दृष्टान्त

इस प्रकारसे और-और दृष्टान्तोंको लेकर, पाठक अपने-आप सोच सकते हैं और निश्चय कर सकते हैं कि शारीरिक, बौद्धिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि प्रत्येक कार्यक्षेत्रमें इसी प्रकारसे साधना हुआ करती है। अर्थात् सबसे पहले बुरी चीजों, गुणों और आदतोंका संहार करना चाहिये, साथ-ही-साथ अच्छी चीजों, गुणों और अभ्यासोंको सुरक्षित रखना चाहिये, और जब बुरी चीजें निकल जायँ और प्राण बच जायँ तब अच्छी चीजोंका क्रमशः पोषण और वर्धन करते जाना चाहिये। सारांश यह कि संहार, पालन और सृष्टिकी सभी प्रकारके साधकोंको आवश्यकता है और इसी क्रमसे महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती—इन तीनों नामोंका शास्त्रसिद्ध अनुक्रम स्पष्ट है।

तीनों शक्तियों और मूर्तियोंका पारस्परिक सम्बन्ध

इन तीनों मूर्तियों और शक्तियोंके इस प्रकारसे कर्तव्यक्षेत्र सिद्ध हुए हैं कि महाकाली-शक्तिसहित रुद्र संहार करता है, महालक्ष्मी-शक्तिसहित विष्णु पालन करता है और महासरस्वती-शक्तिसहित ब्रह्मा सृष्टि करता है। अब और आगे बढ़कर देखना है कि इनका

आपसका सम्बन्ध क्या है। शास्त्रोंका विचार करनेपर यह बड़े चमत्कारकी बात होती है कि त्रिमूर्तियोंमेंसे किसी एक मूर्तिको लेकर विचार करें तो शेष दोनोंमेंसे एक उसका साला होता है और दूसरा उसका बहनोई होता है। प्रकारान्तरसे देखें और त्रिशक्तियोंमेंसे किसी एक शक्तिको लेकर विचार करें तो शेष दोनोंमेंसे एक उसकी ननद बनती है और दूसरी उसकी भावज बनती है, क्योंकि संहार करनेवाले रुद्रकी शक्ति महाकालीका भाई है पालन करनेवाला विष्णु, उसकी शक्ति महालक्ष्मीका भाई है सृष्टि करनेवाला ब्रह्मा और उसकी शक्ति महासरस्वतीका भाई है संहार करनेवाला रुद्र।

इनका आध्यात्मिक रहस्य

इन तीनों शक्तियों और मूर्तियोंके रूप, अवयव, आयुध, रंग आदि सब पदार्थोंके सम्बन्धमें उपासनाकाण्डके ग्रन्थोंमें जो अत्यन्त विस्तारके साथ वर्णन मिलते हैं, उनमेंसे एक छोटी-से-छोटी बात भी ऐसी नहीं है जो अनेक अत्युपयोगी तत्त्वोंसे भरी हुई न हो और जो जिज्ञासुओं एवं साधकोंके लिये अत्युत्तम आध्यात्मिक शिक्षा देनेवाली न हो। परन्तु समयके संकोचके कारण उन सब बातोंका यहाँ विवरण किया नहीं जा सकता। तो भी स्थालीपुलाकन्यायके अनुसार इन चमत्कारोंके दृष्टान्तरूपसे और केवल दिग्दर्शनार्थ इन त्रिशक्तियों और त्रिमूर्तियोंके रंगोंके बारेमें कुछ उल्लेख किया जाता है—

तीन प्रकारके रंग

इनके रंगोंके सम्बन्धमें चमत्कार इस बातका है कि संहार करनेवाला रुद्र तथा उसकी बहिन महासरस्वती सफेद हैं। पालन करनेवाला विष्णु एवं उसकी बहिन महाकाली नीले रंगके हैं और सृष्टि करनेवाला ब्रह्मा एवं उसकी बहिन महालक्ष्मी स्वर्णवर्णके हैं। यह तो बिलकुल ठीक है, स्वाभाविक है और मुनासिब भी है कि कोई भी शक्ति अपने पतिके रंगकी नहीं होती और सब-की-सब अपने भाईके रंगकी होती हैं। परन्तु इस बातपर ध्यान देना है कि इन तीनों रंगोंका जो इनमें विभाग हुआ है, उसका आध्यात्मिक तत्त्व क्या है? शास्त्रोंने इसके सम्बन्धमें यह सिद्धान्त बतलाया है कि इन तीनों मूर्तियोंके कार्योंमें कोई परस्पर विरोध नहीं है, बल्कि ये परस्पर सहायक ही हैं। अत: त्रिमूर्तियोंका भी इसी तरहका आपसमें सम्बन्ध है।

आपसका सम्बन्ध

जो यह समझते हैं कि पालन करनेवाले और संहार करनेवाले परस्परविरुद्ध काम करनेवाले हैं, अत: हरि और हरका अवश्य ही अत्यन्त विरोध और शत्रुत्व हो सकता है, वे केवल ऊपर-ऊपरसे ही विचार कर, पालन और संहारके भीतरी अर्थको न सोचकर बड़ी भारी गलती कर रहे हैं। यह ठीक है कि यदि हरि और हर एक ही वस्तुके पालक और संहारक होते तो उनका आपसमें शत्रुत्व ही हो सकता, परन्तु यह बात नहीं है। जिस पदार्थकी रक्षा करनी होती हो, उसके शत्रुका संहार जब हरसे होता है, तब विरोध कहाँ है? मसलन, बीमारके प्राणोंकी रक्षाके लिये जब वैद्य शस्त्रका प्रयोग (surgical operation) करता है और व्याधिका संहार करता है, तब तो एक ही आदमीसे हरि और हर दोनोंके काम होनेकी बात है। यही सम्बन्ध पालक हरि और संहारक हरका है।

महाकाली और रुद्रका काम

तीनों शक्तियोंके रंगों और कार्योंका यह चमत्कारी सम्बन्ध है कि रुद्रको जो संहाररूपी काम करना है उसे करानेवाली महाकालीरूपी रुद्रशक्ति अपने भयङ्कर कार्यके अनुरूप और योग्य काले रंगकी होती है। परन्तु वह संहारका काम संहारके लिये नहीं, बल्कि सारे संसारके रक्षण और कल्याणके लिये होता है। इसलिये वह खराब हिस्सेका संहार करके, अपने पतिका काम पूरा करके, खराबीसे अपनी बचायी हुई असली चीजको अपने भाई अर्थात् विष्णुके हाथमें सौंपकर कहती है कि 'भाईजी! मैंने अपने पति श्रीमहादेव—रुद्रकी शक्तिकी हैसियतसे खराबीका संहार कर दिया। अतएव हमारा दम्पतिका काम पूरा हो गया है। अब तुम इस चीजको लेकर, अपना जो पालनेका काम है उसे करो।'

राजनीतिक्षेत्रमें शिक्षा

इससे राजनीतिक्षेत्रमें भी यह स्पष्ट शिक्षा हमें मिलती है कि प्रजाकी रक्षा ही राजाका प्रधान कर्तव्य है। अतएव भगवान् मनुने कहा है—

तस्मात्स्वविषये रक्षा कर्तव्या भूतिमिच्छता।
यज्ञेनावाप्यते स्वर्गो रक्षणात्प्राप्यते यथा॥

इसपर आक्षेपरूपसे पूछा जा सकता है कि ऐसा हो तो फिर राजा दुष्टोंको दण्ड क्यों देते हैं और फिर उन्हीं

भगवान् मनुने ऐसा क्यों कहा है कि—

अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति निरयं चापि गच्छति॥

इस शङ्काका समाधान यह है कि प्रजाकी रक्षा और दुष्टोंका दमन—ये दोनों ही काम राजाके हैं, परन्तु इनमेंसे दूसरा (दुष्टोंको दण्ड देनेका) जो काम है वह दण्ड देनेके लिये नहीं है, बल्कि सज्जनोंकी रक्षारूपी असली राजधर्मकी पूर्तिके लिये एक अनिवार्य (unavoidable) अङ्ग या साधनरूपी काम है। अतएव पाश्चात्त्य राजनीतिके ग्रन्थकारोंने भी "Doctrine of Vindictive punishment" (बदला लेनेके लिये सजा देनेके सिद्धान्त)-को छोड़कर अब यह स्वीकार कर लिया है कि "The King's Punitive Function is there, only as a means towards the adequate fulfilment of his Protective Function." (अर्थात् दण्ड देना भी प्रजाकी रक्षाके अङ्गरूपसे ही राजाका कर्तव्य है।)

अवतारोंका प्रयोजन

इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने गीताजीमें अपने अवतारोंका उद्देश्य और प्रयोजन बतलाते हुए, पहले कहा—

'परित्राणाय साधूनाम्'

और तत्पश्चात् कहा—

'विनाशाय च दुष्कृताम्।'

अर्थात्, जैसे बीमारकी सड़ी हुई एक अँगुलीके जहरको सारे शरीरमें फैलनेसे रोकनेके लिये वैद्य शस्त्र (operation)-से काटते हैं, इसी प्रकार भगवान् श्रीरुद्र संहारका जो काम करते हैं, वह जगत्के पालनके लिये है और किसी प्रयोजनके लिये नहीं ।

महालक्ष्मी और विष्णुका काम

विष्णुको जो पालनरूपी काम करना है, उसे करानेवाली महालक्ष्मीरूपी विष्णुशक्ति अपने पालनात्मक कार्यके अनुरूप और योग्य स्वर्णवर्णकी होती है। परन्तु वह पालनका काम सिर्फ पालन करके छोड़ देनेके लिये नहीं, बल्कि पोषण और वर्धन करनेके उद्देश्यसे किया जाता है। इसलिये वह पालनका काम करके, अपने पतिके कार्यको पूर्ण करके, अपनी पाली हुई उस चीजको अपने भ्राता अर्थात् ब्रह्माके हाथमें सौंपकर कहती है कि 'भाईजी, मैंने अपने पति श्रीमहाविष्णुकी शक्तिकी हैसियतसे इस चीजको पाला है। इससे अब हमारा दम्पतिका काम पूरा हो गया है। अब तुम इसे लेकर अपना कार्य, जो नयी चीजोंको उत्पन्न करना, अर्थात् पोषण और वर्धन करनेका है, सो करो।'

महासरस्वती और ब्रह्माका काम

ब्रह्माको जो नयी चीजोंका आविष्कार या सृष्टिरूपी काम करना है, उसे करानेवाली महासरस्वतीरूपी ब्रह्मशक्ति अपने सृष्ट्यात्मक कार्यके अनुरूप और योग्य सफेद रंगकी होती है। परन्तु वह पोषण एवं वर्धनका काम आगे-आगे बढ़ाते जानेके ही मतलबसे नहीं है, बल्कि पोषण और वर्धन करनेके समय जो बुरे या अनिष्ट पदार्थ भी उसके साथ सम्मिलित हो जाया करते हैं उनको दूर हटाकर ठीक कर लेनेके उद्देश्यसे ही होता है। इसलिये, वह वर्धनके कामके हो जानेके बाद, अपनी बढ़ायी हुई चीजको अपने भ्राता अर्थात् रुद्रके हाथमें देकर कहती है कि 'भाईजी, मैंने अपने पति श्रीहिरण्यगर्भ ब्रह्माकी शक्तिकी हैसियतसे इस चीजका पोषण और वर्धन किया है। इससे अब हमारा दम्पतिका काम पूरा हो गया है। अब इसके पोषण और वर्धनके समयमें इसमें जो खराबियाँ और त्रुटियाँ आ गयी हों उनका संहार करनेका काम हमारा नहीं है—तुम्हारा है। इसलिये इन्हें हाथमें लेकर, खूब मार-मारकर सीधा करो।'

एवं प्रवर्तितं चक्रम्

इस प्रकारसे एक ही परमात्मा जगदीश्वर महाप्रभु सृष्टि, पालन और संहार—इन तीनों कर्मोंके चक्रको लगातार चलाते हुए, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—इन तीनों नामोंसे दुनियामें प्रसिद्ध होता है और उसके इन तीनों कामोंको करानेवाली जगन्माता भगवती महामायाके अन्तर्गत जो सृष्टिशक्ति, पालनशक्ति और संहारशक्ति हैं उन्हींके नाम (पूर्वोक्त कारणसे, उलटे क्रमसे) महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती हैं।

पञ्चीकरण और त्रिवृत्करण

हर एक काममें सभी पदार्थोंका समावेश रहता है, जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—इन पाँच भूतोंमेंसे प्रत्येक भूतके साथ बाकी चार भूत भी मिले हुए रहते हैं और सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण—इन तीन गुणोंमेंसे प्रत्येक गुणके साथ बाकी दो गुण भी सम्मिलित रहते हैं, इसीसे व्यवहारमें किसी भूत या गुणका नाम

लिये जानेपर मतलब इतना ही होता है कि उस प्रकृत पदार्थमें वह भूत या गुण अधिक है, अतएव वेदान्तसूत्रोंमें भगवान् वेदव्यासने कहा है—

वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वादः।

इसी प्रकार हर एक काममें बाकी कामोंका भी समावेश होता रहता है और हर एक साधनके साथ बाकी साधनोंकी भी आवश्यकता हुआ करती है, तो भी व्यवहारमें प्रत्येक काम या साधनके नाममें उसी पदार्थका जिक्र किया जाता है जिसका उसमें अधिक समावेश किया गया हो।

साधनोंका विचार

सिद्धान्तरूपसे यही मानना होगा कि तीनों शक्तियोंमें तीनों शक्तियाँ हैं और सब साधन भी हैं, परन्तु ऊपर बताये हुए—

वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वादः।

—इस न्यायके अनुसार, शास्त्रका यह सिद्धान्त भी ठीक है कि संहार, पालन और सृष्टिके लिये भयङ्कर बल, पर्याप्त स्वर्ण (अर्थात् धन) और स्वच्छ विद्या ही यथासंख्य (respectively) मुख्य साधन हैं। इसलिये महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती शक्ति, स्वर्ण और विद्याकी अधिष्ठात्री देवियाँ हैं और उनके रंग भी इसीलिये काले, पीले और सफेद हैं।

इन दम्पतियोंका अभेद्य सम्बन्ध

क्योंकि '**मातरिश्वा अपो ददाति**' इत्यादि ज्ञानकाण्ड भी यही बताता है कि ईश्वर असली स्वरूपमें निष्क्रिय है और चलनात्मक वायुरूपी सङ्कल्प-विकल्पकी पूर्तिके लिये शक्तिशम्बलित होकर ही औपाधिक सक्रियताको प्राप्त करता है, इसीलिये उपासनाकाण्डमें स्पष्ट किया गया है कि शक्ति और शिवको अलग करके उनमेंसे सिर्फ एककी उपासना नहीं करनी चाहिये। ईशावास्योपनिषद्के 'सम्भूति' और 'असम्भूति'-सम्बन्धी मन्त्रोंसे भी यही तात्पर्य निकलता है और उपासनाकाण्डके ग्रन्थोंमें तो भगवती और भगवान्‌की अलग-अलग उपासनाका स्पष्ट निषेध है।

भगवान्‌के बिना भगवती?

भगवान्‌के बिना सिर्फ भगवतीकी उपासना करनेका जो फल या परिणाम होगा, उसके बारेमें श्रीलक्ष्मीनारायणहृदय नामके उपासनाग्रन्थमें स्पष्ट कहा है कि ऐसी उपासनासे—

'लक्ष्मीः क्रुध्यति सर्वदा'

(अर्थात्, जिस भगवान्‌को छोड़कर केवल भगवतीकी उपासना की गयी है वह भगवान् रुष्ट नहीं होता, बल्कि उसे छोड़कर जिस भगवतीकी उपासना की गयी है वही देवी जगन्माता रुष्ट हो जाती है।) फिर इससे बढ़कर भयङ्कर अनर्थ क्या हो सकता है?

भगवतीरहित भगवान्?

इस दृष्टान्तसे स्पष्ट हो गया कि भगवान्‌को छोड़कर केवल भगवतीकी उपासना नहीं करनी चाहिये। अब अगला प्रश्न यह है कि क्या भगवतीको छोड़कर सिर्फ भगवान्‌की उपासना की जा सकती है? नहीं, वह भी मना है। इसमें भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।

—इस वचनके अतिरिक्त अन्य प्रमाणकी आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती, क्योंकि जब शक्तिके बिना ईश्वरसे कुछ भी नहीं बन सकता तब ऐसेकी उपासना तो व्यर्थ ही है।

दक्षयज्ञका दृष्टान्त

इस प्रसङ्गमें दक्षयज्ञवाला उपाख्यान विचारणीय है। शङ्करके तिरस्कारसे भगवती दाक्षायणीको क्रोध हुआ और उसके क्रुद्ध होकर अपने प्राणोंको त्यागनेपर रुद्रगणाग्रणी वीरभद्र आदिके हाथोंसे यक्षयज्ञका विध्वंस हो गया। इससे हमें यह सुन्दर शिक्षा मिलती है कि ईश्वरके तिरस्कारसे शक्तिका नाश होता है और शक्तिका नाश होनेपर हमारे सब काम सिर्फ बिगड़ ही नहीं जाते, बल्कि बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।

ज्ञानोपदेशक गुरु कौन हैं?

असलमें तो हमारे शास्त्रोंका सिद्धान्त यह है कि परमात्माका ज्ञान भगवतीके अनुग्रहसे ही हो सकता है, अन्य किसी तरहसे नहीं। केनोपनिषद्में जो यज्ञका प्रसङ्ग आता है, उसमें कथासन्दर्भ यह है कि जब इन्द्र, अग्नि, वायु आदि देवता असुरोंको युद्धमें हराकर, यह न जानकर कि भगवान्‌के दिये हुए अनेक प्रकारके बलोंसे यह विजय प्राप्त हुई है, अहङ्कारी हो जाते हैं और समझने लगते हैं कि हमने अपने ही बलसे असुरोंको हरा दिया है, तब उनके उस गर्वका भङ्ग करके उनको यथार्थ तत्त्व सिखानेके लिये भगवान् एक बड़े भयङ्कर यक्षरूपसे प्रकट होते हैं, और उनको पता नहीं

लगता कि यह कौन है? पश्चात् भगवच्छक्तिरूपिणी उमा आकर उनको वास्तविक सिद्धान्त सिखाती है। इस कथासन्दर्भसे स्पष्ट है कि भगवती परमेश्वरी जगदम्बा ही हमें परमात्माका ज्ञान दे सकती है और यह तो लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे भी स्वाभाविक और मुनासिब ही है कि बच्चे तो केवल अपनी माताको ही जानते हैं और उस मातासे ही उन्हें यह पता लगा करता है कि हमारा पिता कौन है?

माताका गुरुत्व

(१) मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव॥
(२) मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद॥

—इत्यादि मन्त्रोंमें माताको ही सबसे पहला स्थान दिया गया है। इसका भी यही कारण है कि माता ही आदिगुरु है और उसीकी दया और अनुग्रहके ऊपर बच्चोंका ऐहिक, पारलौकिक और पारमार्थिक कल्याण निर्भर रहता है।

जगन्माताका जगद्गुरुत्व

जब एक-एक व्यष्टिरूपिणी माता भी इस प्रकार अपने-अपने बच्चोंके लिये श्रेयोमार्गप्रदर्शक और ज्ञानगुरु होती है, तब कैमुतिकन्यायसे अपने-आप ही सिद्ध होता है कि जो भगवती महाशक्तिस्वरूपिणी देवी समष्टिरूपिणी माता है और सारे जगत्की माता है वही अपने बच्चों (अर्थात् समस्त संसार)-के लिये कल्याणपथप्रदर्शक ज्ञानगुरु होती है। अर्थात् जगन्माता जगद्गुरु होती है, और दुनियामें जितने अन्य गुरु होते हैं वे सब-के-सब इसी जगन्माताकी एक कलारूपसे ज्ञानोपदेशका काम करते हैं। अतएव भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने भी देवीकी स्तुति करते हुए उसे—

देशिकरूपेण दर्शिताभ्युदयाम्॥

—'गुरुरूपसे आकर अभ्युदयका मार्ग दिखानेवाली' बताया है।

इसीलिये शैव, वैष्णव आदि सब उपासनाग्रन्थोंमें यह नियम मिलता है कि भगवती जगन्माताके द्वारा ही भगवान् जगत्पिताके पास पहुँचा जा सकता है।

पाश्चात्त्योंका वृथा आडम्बर

हमें इस लेखमें पाश्चात्त्योंकी सभ्यता और हमारी प्राचीन सभ्यताकी तुलना या तारतम्य विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है; परन्तु एक विषयमें, जो इस लेखके इस प्रकृत प्रसङ्गके साथ खूब घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है, कुछ जरूर लिखना है और यह दिखलाना है कि इस विषयपर पाश्चात्त्योंके किये हुए असत्यपूर्ण प्रचारोंके कारण हमारी साधारण जनताके हृदयमें एक बड़ा भारी भ्रम पैदा हो गया और वह स्थिर होकर इतना गहरा बैठ गया है कि जिसका निवारण करना आज हमारे परम कर्तव्योंमेंसे एक प्रधान कर्तव्य हो गया है।

भ्रमका स्वरूप

पाश्चात्त्योंका हमारी भारतीय प्रजाके मनमें भ्रम उत्पन्न करनेवाला वह वृथा और मिथ्या आडम्बर यह है कि वे सनातनधर्मी सामाजिक व्यवस्थाकी निन्दा करते हुए और खास करके भगवान् मनुको खूब गालियाँ देते हुए कहा करते हैं कि 'मनुस्मृति आदि सनातनियोंके शास्त्र स्त्रीजातिके शत्रु हैं, परन्तु हमारी ईसाई या क्रिस्तान (Christian) सभ्यता (civilisation) स्त्रीको समाजमें बहुत उच्च और प्रतिष्ठित पद देती है।' अब हमें देखना है कि हमारे धर्मशास्त्रोंकी और हमारी सभ्यताकी यह शिकायत कहाँतक सच्ची है।

स्त्रीजातिका जन्म

पहले यह देखना चाहिये कि हमारे और उनके शास्त्र स्त्रीजातिकी उत्पत्तिके बारेमें क्या इतिहास बताते हैं। हमारे श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंमें ऐतिहासिक वर्णन यह मिलता है कि—

कस्य कायमभूद्द्वेधा।

भगवान्ने जिस प्रथम मनुकी सृष्टि की थी, उसके शरीरका दक्षिण भाग स्वायम्भुवमनुरूपी पुरुष बना और वाम भाग शतरूपा नामकी स्त्री बना। इससे स्पष्ट है कि हमारे शास्त्रोंके अनुसार स्त्री और पुरुष मिलकर एक शरीर होते हैं। स्त्री अर्धाङ्गिनी है, इसीलिये भगवान् शङ्कर अर्धनारीश्वर हैं, इत्यादि।

बाइबिलमें इस विषयका वर्णन

अब आगे चलकर, तुलनात्मक अनुशीलनके लिये देखना है कि जो पाश्चात्त्य महानुभाव स्त्रीको सिर्फ अर्धाङ्गिनी बतानेसे तृप्त न होकर उसे Better Half (श्रेष्ठ अर्ध) बतानेका आडम्बर दिखाते हैं, उनके धर्मग्रन्थमें स्त्रीकी उत्पत्ति किस प्रकार बतायी गयी है। लम्बे-चौड़े वर्णनोंकी आवश्यकता नहीं है। सारांश बताना पर्याप्त है कि उनके बाइबिल (Bible) नामके

घण्टाशूलहलानि शङ्खमुसले चक्रं धनुः सायकं हस्ताब्जैर्दधतीं घनान्तविलसच्छीतांशुतुल्यप्रभाम्।
गौरीदेहसमुद्भवां त्रिजगतामाधारभूतां महापूर्वामत्र सरस्वतीमनुभजे शुम्भादिदैत्यार्दिनीम्॥

देवी कात्यायनी

चन्द्रहासोज्ज्वलकरा शार्दूलवरवाहना।

उद्यद्भानुसहस्त्रकान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिकां रक्तालिप्तपयोधरां जपवटीं विद्यामभीतिं वरम्।
हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियं देवीं बद्धहिमांशुरत्नमुकुटां वन्देऽरविन्दस्थिताम्॥

सिंहासनगता नित्यं पद्माश्रितकरद्वया।
शुभदास्तु सदा देवी स्कन्दमाता यशस्विनी॥
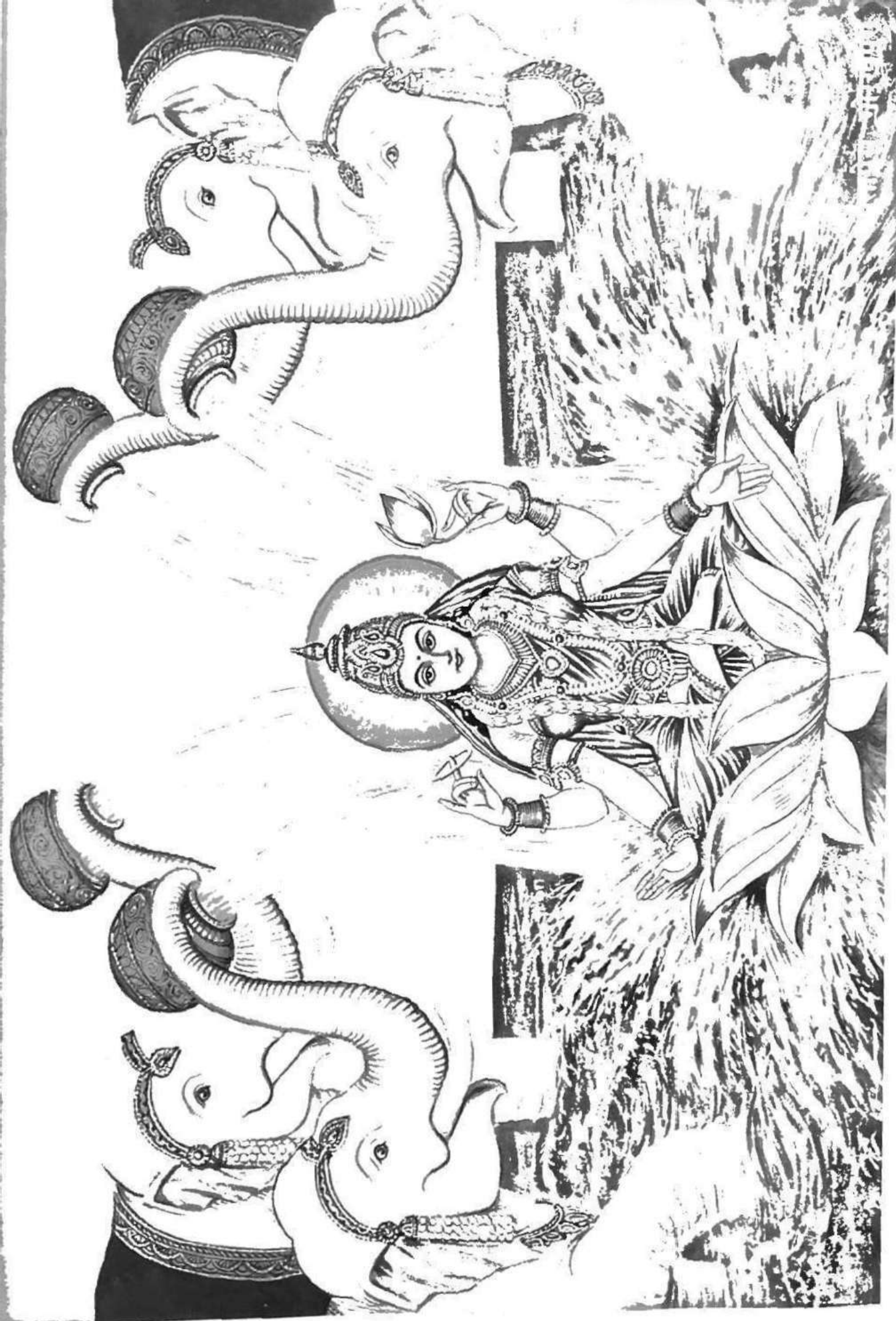
श्रीकमला

श्रीराधाकृष्ण

एकमात्र धर्मग्रन्थके पहले हिस्से (Old Testament)-की पहली पुस्तक Genesis के पहले अध्यायमें जगत्‌की सृष्टिका क्रम बताया है कि 'ईश्वरने सारी दुनियाकी और सब चीजोंकी सृष्टि (God said: "Let there be light" and there was light, इत्यादि क्रमसे) अपने सङ्कल्पसे ही करनेके बाद, अन्तमें अपने सङ्कल्पसे ही और In His own image (अपनी ही मूर्तिके प्रतिबिम्बरूपसे) मनुष्यको बनाकर, उसके बाद उसे गाढ़ निद्रामें डालकर, अपने सुलाये हुए मनुष्यके पृष्ठवंश (backbone)-से एक हड्डीको निकालकर, उससे स्त्रीको बनाया।' इससे स्पष्ट है कि बाइबिलके सिद्धान्तके अनुसार केवल पुरुषजातिको नहीं, बल्कि पशु-पक्षी, कृमि, कीट, वृक्ष, पत्थर आदि सारी दुनियाको भी ईश्वरने अपने सङ्कल्पसे ही अर्थात् अपनी की हुई मानस सृष्टिसे बनाया, लेकिन सिर्फ एक स्त्रीजातिको अपने सङ्कल्पसे न बनाकर पुरुषके शरीरके अन्तर्गत एक हड्डीसे बना डाला।

मुसलमान आदिका सिद्धान्त

चूँकि मुसलमान आदि अन्यान्य धर्मवाले भी बाइबिलके बताये हुए इसी इतिहासको मानते हैं, अत: पाठक अपने-आप जान सकते हैं कि सनातनधर्ममें स्त्रीका उत्पत्तिसे ही मनुष्यसमाजमें कितना मान है तथा अन्य मतोंमें स्त्रीजातिका उत्पत्तिसे ही कितना घृणित स्थान है।

सनातन वैवाहिक मन्त्र

एक और अंशमें तुलना करनेके लिये, अब देखना है कि हममें और उनमें स्त्रीको विवाहसे किस प्रकारका स्थान मिलता है। हमारे वैवाहिक मन्त्रोंसे ही स्पष्ट है कि स्त्रीको अपने पतिके घरमें सर्वोत्तम अधिकार दिया जाता है, क्योंकि विवाह करनेवाला पुरुष अपनी धर्मपत्नीसे कहता है—

'सम्राज्ञी भव'

'मेरे घरकी रानी या महारानी नहीं बल्कि सम्राज्ञी अर्थात् सार्वभौमिक चक्रवर्तिनी बनो।' इसमें स्त्रीको अपने पतिके घरमें कोई हीन पदवी नहीं मिलती, बल्कि सर्वोत्तम पदवी ही मिलती है।

पाश्चात्त्य वैवाहिक पद्धति

पाश्चात्त्योंमें विवाहके समय पुरुष कहता है कि 'I shall love and cherish thee till death doth us part.' (मैं तबतक तुझसे प्रेम और तेरा पालन करूँगा जबतक मृत्यु आकर हम दोनोंको अलग न कर दे।) परन्तु स्त्रीको कहना पड़ता है कि 'I shall love and obey thee till Death doth us part' (मैं तबतक तुझसे प्रेम और तेरी आज्ञाका पालन करूँगी जबतक मृत्यु आकर हम दोनोंको अलग न कर दे)। इसीसे स्पष्ट है कि Equality of the Sexes (स्त्री और पुरुषकी समानता)-का आडम्बर दिखानेवाले और हो-हल्ला मचानेवाले पाश्चात्त्योंमें यथार्थमें समानताका भाव नहीं है, बल्कि भेदका है।

व्यवहारसम्बन्धी विवेचन

व्यवहारके सम्बन्धमें भी विवेचन करनेपर यही सिद्ध होता है कि सनातनधर्मका इस विषयमें भी अत्युत्तम सिद्धान्त और आदर्श है। बाइबिलमें तो ईसाई (Jesus Christ) के greatest Propagandist (सर्वश्रेष्ठ प्रचारक) St. Paul महाशयने स्त्रीजातिको घृणित शब्दोंसे डाँटते हुए उसके अधिकारोंको अति संकुचित किया है, मगर हमारे शास्त्रकारोंने उसे सिर्फ अर्धाङ्गिनी ही नहीं माना, बल्कि—

'गृहिणी गृहमुच्यते'

—इत्यादि वचनोंसे कहा है कि गृहिणी (अर्थात् स्त्री)-से घर होता है, गृहस्थ अर्थात् पुरुषसे नहीं। गृहस्थाश्रमका नियम है कि जब किसी कार्यवश पुरुषको बाहर जाना पड़ता है तब स्त्री गार्हस्थ्य-अग्निको पूज-पाल सकती है, मगर जब पत्नी घरमें नहीं होती तब पुरुषको गार्हस्थ्यके औपासनकी अग्निको पूजनेका अधिकार नहीं है। इसी प्रकार यह भी हमारे शास्त्रोंकी विधि है कि स्त्रीको छोड़कर पुरुष अकेले तीर्थयात्रादि कार्य न करे, जब पुरुष दान-धर्म आदि पुण्यकर्म करता है तब स्त्रीके हाथसे उस पैसे या दूसरी चीजपर एक आचमनी जलके डाले जानेपर ही वह दान शास्त्रीय विधिके अनुसार साङ्ग होता है, इत्यादि-इत्यादि।

मान, सत्कार और पूजा

बड़े खेदकी बात है कि आजकल मिथ्या प्रचारोंसे अपना स्वार्थ साधन करनेवाले इन विधर्मी प्रचारकोंके जालमें फँसकर हमारे सुधारक भाई भी कहने लगे हैं कि हिन्दू-धर्मशास्त्र स्त्रीजातिका बड़ा अपमान करता है। यथार्थ तो यह है कि जिस महापुरुषके बारेमें श्रुति स्वयं

कहती है कि—

'यद्यन्मनुरब्रवीत्तद्भेषजम्'

'मनुने जो-जो कहा है वह सब जगत्‌का कल्याण करनेवाला है' और जिसको महाकवि श्रीकालिदासने भी '**माननीयो मनीषिणाम्**' बताया है मगर जिसे आजकलके सुधारक स्त्रीजातिका खास दुश्मन बताते हैं, उसी मनीषि माननीय भगवान् मनुने स्त्रियोंके सम्बन्धमें मान, सत्कार आदि साधारण शब्दोंका नहीं बल्कि 'पूजा' शब्दका ही प्रयोग करते हुए कहा है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

'जहाँ स्त्रियाँ पूजी जाती हैं वहाँ देवता रमते हैं' और जहाँ स्त्रियाँ दुःखी रहती हैं, वहाँ महालक्ष्मी आदि देवता नहीं बसते। तब मान और सत्कार तो बहुत छोटी बात है। अन्यान्य धर्मशास्त्रोंमें कई स्थानोंमें यहाँतक भी कहा गया है—

यत्र नार्यो न पूज्यन्ते श्मशानं तत्र वै गृहम्।

'जहाँ स्त्रियाँ नहीं पूजी जातीं वह तो घर नहीं है, श्मशान है' इत्यादि। ऐसी परिस्थितिमें यह कैसी भयानक भूल, अन्याय और जुल्म है कि ऐसे भगवान् मनुको और ऐसे धर्मशास्त्रोंको स्वार्थी विधर्मप्रचारकोंके शिष्य बनकर हमारे भारतीय सुधारक भी—

'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'

—इस न्यायसे स्त्रीजातिके शत्रु बताया करते हैं।

स्त्रीमात्रका मातृस्वरूप

हमारे शास्त्र तो यहाँतक पहुँचे हुए हैं कि वे इतना ही नहीं कहते कि जगन्माता भगवतीको जगद्गुरु मानो और पूजो, परन्तु वे कहते हैं कि स्त्रीमात्रको जगन्माता और जगद्गुरु मानो और पूजो—

'सर्वस्त्रीनिलया'

'जगदम्बामयं पश्य स्त्रीमात्रमविशेषतः॥'

इत्यादि अनेक प्रमाणोंसे यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि स्त्रीमात्र जगदम्बा भगवतीका चर और प्रत्यक्ष रूप है, अतः उसके प्रति मनुष्यको अत्यन्त मान, आदर और सत्कारकी भावना रखनी चाहिये।

स्त्रीनिन्दा आदिका निषेध

स्त्रीसत्कारकी विधिके साथ स्त्रीतिरस्कारका निषेध भी शास्त्रमें स्पष्ट शब्दोंसे किया गया है। इस बातके समर्थनके लिये एक ही प्रमाण पर्याप्त होगा—

स्त्रीणां निन्दां प्रहारं च कौटिल्यं चाप्रियं वचः।
आत्मनो हितमन्विच्छन्देवीभक्तो विवर्जयेत्॥

'अर्थात् देवीका भक्त होकर, अपना हित चाहनेवाला, स्त्रियोंकी निन्दा करने, उनको मारने, ठगने और उनका दिल दुखानेवाली बातें कहने आदिसे बचे।'

देवीभक्त कौन है?

इसपर यह पूर्वपक्ष किया जा सकता है कि हम तो शिव, विष्णु आदि दूसरे किसी देवताके भक्त हैं, तुम्हारी देवीके नहीं हैं, इसलिये उपर्युक्त वचन हमारे लिये लागू नहीं है। इस आक्षेपका उत्तर यह है कि द्विजमात्र गायत्रीके उपासक हैं और गायत्री त्रिगुणात्मक त्रिशक्त्यात्मक महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती-रूपिणी देवी ही है। अतएव द्विजमात्र प्रत्यक्ष देवीभक्त ही हैं और जो गायत्री-उपासना न करते हुए, शिव, विष्णु आदिके ही उपासक हैं, उनके लिये भी तो पूर्वोक्त सब प्रमाण मौजूद हैं कि बिना शक्ति ईश्वरकी प्रभुता ही नहीं होती। जो-जो अन्य देवताओंके उपासक होते हैं, उन सबको भी देवीकी उपासना बलात् करनी ही पड़ती है और उसके अनुग्रहका पात्र बननेके लिये, उपर्युक्त वचनके अनुसार, स्त्रीनिन्दा आदि पातकोंसे अवश्य बचना चाहिये। नहीं तो, उनको देवीका अनुग्रह नहीं मिल सकता। स्त्री-निन्दासे देवीका क्रोधपात्र बनना पड़ता है और उससे अपने सारे हितका नाश होता है।

ईश्वरका स्वरूप

इस विषयके विचारके प्रसङ्गमें यह भी चमत्कार देखना है कि जो लोग Equality of the Sexes (स्त्री-पुरुषोंकी समानता) सिद्धान्तके मौखिक आडम्बरसे पक्षपाती, प्रचारक और ठेकेदार हैं, उनके मतमें अखण्ड, अपरिच्छिन्न सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी सर्वस्वरूपी ईश्वरके बारेमें सिर्फ Fatherhood of God का सिद्धान्त है। 'अर्थात् परमात्मा केवल जगत्पिता ही माना जाता है,' परन्तु स्त्रीजातिके शत्रु बताये जानेवाले सनातनधर्ममें तो सिद्धान्त है—

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव'

'माता धाता पितामहः।'

'भगवान् हमारी माता भी हैं और पिता भी' और भगवान्‌के अवतारोंमें स्त्रीरूपसे मोहिनी अवतार

भी गिना जाता है।

मातृभूतेश्वर

दक्षिणमें त्रिशिरःपुरी (Trichinopoly)-में मातृभूतेश्वरका बड़ा प्राचीन और प्रसिद्ध मन्दिर भी है, जो भगवान्‌के मातारूपसे किये हुए अवतारके उपाख्यानके आधारपर अति प्राचीन समयका बना हुआ है, जिसके साथ विभीषण आदिका भी ऐतिहासिक सम्बन्ध है और जिसका प्राचीन स्थापत्य, शिलालेख आदिके विज्ञाता विद्वान् (Archaeologists and Epigraphists) बड़े आश्चर्यके साथ दर्शन आदि किया करते हैं। यह सनातनधर्मकी खास विशेषता है कि इसमें भगवान्‌के भीतर सिर्फ त्रिमूर्तियोंको ही नहीं, त्रिशक्तियोंको भी गिना गया है और प्रत्येक देवके साथ शक्तिरूपिणी एक देवी जरूर रहती है, जिसकी उपासनाके बिना केवल पुरुषरूपी देवताकी उपासना हो ही नहीं सकती। हम पाश्चात्त्य दुनियाको Challenge देकर पूछते हैं कि क्या तुम्हारे धर्मग्रन्थोंमें Motherhood of God (ईश्वरके मातृत्व)-का भाव किसी एक स्थानमें भी मिलता है? अगर मिलता हो तो कहो।

देवताओंके नाम

इसीलिये हमारे उपासनाकाण्डमें गौरीशङ्कर, लक्ष्मीनारायण, सीताराम, राधाकृष्ण इत्यादि दम्पतियोंकी उपासनाकी विधि मिलती है और इनको अलग करना मना है। इस परिस्थितिके मुकाबिलेमें, पाश्चात्त्योंके बारेमें यह कहना अन्याय या अनुचित न होगा कि उनमें तो स्त्रीके विवाह होनेपर उसका असली नाम भी छूट जाता है और वह Mrs अमुक बन जाती है और हमारे देशमें भी बड़े खेदके साथ देखा जाता है कि आजकल Mrs अमुकका व्यवहार अंग्रेजी शिक्षा पानेका एक खास और अत्यन्त आवश्यक निशान माना जाने लगा है। रामायण, महाभारत आदिमें सीताजीका Mrs राघव, रुक्मिणीजीका Mrs यादव, द्रौपदीका Mrs पाण्डव इत्यादि वर्णन किसीने कभी भी कहीं भी पाया हो तो दिखावें।

समानता और स्वतन्त्रताका ढोंग

जहाँ ईश्वरस्वरूपमें एक छोटे अंगरूपसे भी स्त्रीके सन्निवेशका भावतक नहीं है और जहाँ विवाह हो जानेपर स्त्रीका नामतक नहीं रह सकता, वहाँसे Equality of the Sexes (स्त्री-पुरुषोंकी समानता), Independence of woman (स्त्रीकी स्वतन्त्रता) आदि बड़े-बड़े सुन्दर सिद्धान्तोंका हो-हल्ला यहाँ हिन्दुस्थानमें आया करे, इससे बढ़कर धोखे और ढोंगकी बात क्या हो सकती है?

स्त्री-पुरुषका यथार्थ सम्बन्ध

पाश्चात्त्य और भारतीय सुधारक Equality (समानता) का नाम लेकर हो-हल्ला मचाते रहें। ईश्वरकी सृष्टिमें तो स्त्री-पुरुषोंकी समानता है नहीं, कभी थी नहीं और कभी हो सकती भी नहीं, क्योंकि ये दोनों समान हों तो इनकी अलग-अलग सृष्टिकी ही क्या जरूरत थी? सनातनधर्म और विज्ञानशास्त्र (अर्थात् प्रत्यक्ष प्रकृति)-का भी कहना यह है कि the Sexes are not equal but only Complementary and Supplementary (अर्थात् स्त्री और पुरुष समान नहीं हैं, बल्कि दोनों मिलकर एक सम्पूर्ण पदार्थ होते हैं)। इसी सिद्धान्तके अनुसार, जो प्रकृति या सृष्टिके यथार्थ और अनुभवसिद्ध क्रमके अनुकूल है, हमारे शास्त्रोंने सिर्फ हमारे मानवसमाजमें ही नहीं, बल्कि देवतासमाजमें भी स्त्री-पुरुषके कर्तव्य आदि विषयोंका विस्तारसे प्रतिपादन किया है।

अधिष्ठान और शक्ति

भगवान् शक्तिके अधिष्ठान हैं, इसलिये आधाररूपी ईश्वरके बिना शक्ति रह ही नहीं सकती, और जिसके अन्दर इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति—इन तीनों शक्तियोंका समावेश है उस अपनी शक्तिके बिना ईश्वर भी कुछ नहीं कर सकता। इसलिये भगवान् और शक्ति परस्पर Complementary और Supplementary हैं।

रथी और सारथिका सम्बन्ध

कठोपनिषद्‌के—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

—इत्यादि मन्त्रोंके साथ, भगवान् श्रीशङ्कराचार्य महाराजके किये हुए श्रीशिवमानसपूजास्तोत्रके—

'आत्मा त्वं गिरिजा मतिः'

—इस वचनका समन्वय करनेपर यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि जैसे हमारे शरीररूपी रथमें रहनेवाले

आत्मा और बुद्धि रथी और सारथिका सम्बन्ध रखते हैं, वैसे ही ईश्वर और भगवतीमें रथी और सारथिका सम्बन्ध होता है। क्योंकि भगवती ही भगवान्‌की प्रेरिका होकर उनकी गाड़ीको चलाती हुई उनके सब काम कराती हैं।

मनुष्यदम्पतियोंमें भी यही सम्बन्ध

देवी और भगवान्‌के इस सम्बन्धसे हम अपने-आप समझ सकते हैं कि मनुष्यजातिमें भी धर्मपत्नी और पतिका आपसमें यही सम्बन्ध होना चाहिये कि धर्मपत्नी दूसरा कोई खयाल न करती हुई पतिके सब प्रकारसे सुख, शान्ति, आराम और कल्याणकी ही चिन्ता करे और काम करे। अर्थात् उसकी सारथि बने। अर्जुन और श्रीकृष्णके रथोंका सुभद्राजी और सत्यभामाजीने जो सारथ्य किया था उससे भी इसी तत्त्वकी हमलोगोंके लिये बड़ी रोचक तथा उज्ज्वल दृष्टान्तरूपी शिक्षा मिलती है कि पति और पत्नीका सम्बन्ध रथी और सारथिका है।

सच्चा ऐक्य

इसीका नाम हमारे शास्त्रोंमें ऐक्य है। कलह बढ़ानेवाली समानता आदि बातोंसे कोई लाभ नहीं है, प्रत्युत नुकसान ही है। फायदेका रास्ता यह है कि स्त्री और पुरुष आपसमें अत्यन्त प्रेमका सम्बन्ध रखते हुए अपने-अपने विभिन्न अधिकारमें अपना-अपना काम करते हुए, दोनोंके इस प्रकारके मेलसे दोनोंके योग-क्षेमके साधन बनें।

शिवशक्त्यैक्य

इसी हिसाबसे 'शिवशक्त्यैक्यरूपिणी' नामसे श्रीललितासहस्रनाममें देवीके विशेष्यरूपी नामोंका उपसंहाररूपी वर्णन करके, अन्तिम नाम विशेषणरूपी 'ललिताम्बिका' दिया गया है। इसका मतलब यह है कि विशेष्यरूपी ललिताम्बिका देवीके जो विशेषणरूपी 'श्रीमाता' 'श्रीमहाराज्ञी' आदि ९९८ नाम पहले दिये गये हैं, उन सबका 'शिवशक्त्यैक्यरूपिणी' इस (९९९) एक नामके भीतर अन्तर्भाव, उपसंहार, घनीकरण और क्रोडीकरण किया गया है।

भगवच्छक्तिके चार अर्थ

अबतक ऊपर बताये हुए सब विषयोंकी समालोचना और अनुसन्धानसे स्पष्ट होगा कि इस लेखका आरम्भ करते हुए हमने पहले वाक्यमें जिस 'भगवच्छक्ति' शब्दका प्रयोग किया है, उसके चार अर्थ होते हैं और इन चारों अर्थोंका हम सबको मनन करना चाहिये।

पहिला अर्थ

'भगवतः शक्तिः भगवच्छक्तिः'—इस षष्ठी तत्पुरुषसमासवाली व्युत्पत्तिसे हमें जानना है कि भगवती भगवान्‌की शक्ति है, वही ललितात्रिशती आदिमें बताये हुए 'ईश्वरप्रेरणकरी' नामको यथार्थ तथा चरितार्थ करती हुई, ईश्वरकी प्रेरणा करनेवाली और उसके सब काम करवानेवाली है।

दूसरा अर्थ

'भगवति शक्तिः भगवच्छक्तिः'—इस सप्तमी तत्पुरुषसमासवाली व्युपत्तिसे हमें जानना है कि भगवान्‌में जो शक्ति है उसीका नाम देवी है और उसकी उपासनाके बिना भगवान्‌की उपासना नहीं हो सकती।

तीसरा अर्थ

'भगवती चासौ शक्तिश्च भगवच्छक्तिः'—इस कर्मधारयसमासवाली व्युत्पत्तिसे हमें जानना है कि शक्तिरूपिणी देवी भगवती है। अर्थात् षड्गुणैश्वर्यादिसे विभूषित है और उसकी उपासनासे उपासकोंको सब प्रकारकी ऐश्वर्यादि विभूतियाँ अनायास मिल सकती हैं।

चौथा अर्थ

'भगवांश्चासौ शक्तिश्च भगवच्छक्तिः'—इस कर्मधारयसमासवाली एक और व्युत्पत्तिसे हमें पता लगता है कि देवी और भगवान्‌में भेद नहीं है, बल्कि ऐक्य है।

देवीमहिमाकी अनन्तता

ऐसी जगन्माता भगवतीकी उपासनाकी आवश्यकता और महिमाके विषयपर कितना भी कहते चलें, सब थोड़ा है। कविकुलतिलक श्रीकालिदासने अपने रघुवंश महाकाव्यके दसवें सर्गमें भगवान्‌के बारेमें जो कहा है—

महिमानं मदुत्कीर्त्य तव संह्रियते वचः॥
श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया॥

—वह यहाँ भी ठीक-ठीक लागू होता है। भेद इतना है कि हम उस प्रकरणमें और इस प्रकरणमें—

'श्रमेण तदशक्त्या वा'

—इस पाठको पसन्द न करते हुए, उसकी जगहपर—

'श्रमेण तदशक्त्या च'

—इस प्रकारका संशोधन करते हुए, साफ-साफ कहेंगे कि भगवती और भगवान्‌की महिमाके सब वर्णनोंका जो उपसंहार अवश्य हुआ करता है, वह इसलिये नहीं कि उनकी महिमाका पर्याप्त या तृप्तिजनक वर्णन हो चुका है, बल्कि इसलिये कि उनकी महिमाका पर्याप्त या तृप्तिजनक वर्णन किसीसे और कभी भी हो ही नहीं सकता। जब श्रीअनन्तनाग आदिकी भी यही दुर्गति है तब कैमुतिकन्यायसे देवीमहिमाका यहाँतक कुछ दिङ्मात्र दर्शन किसी प्रकारसे करके—

'श्रमेण तदशक्त्या च'

—कालिदासकी उक्तिके इस संशोधित पाठके अनुसार हम उपसंहार करनेको विवश होते हैं।

उपसंहार

उपसंहार करनेके समय वे ही दो खास प्रसङ्ग बार-बार याद आते हैं जिनमें क्षीराब्धिवासी शेषशायी भगवान् श्रीपुण्डरीकाक्षके अपनी योगनिद्रामें सोते रहनेके समय उनके नाभिकमलसे उत्पन्न छोटे बच्चे ब्रह्माजीके कच्चे मांसको खा जानेके लिये उपस्थित दोनों भयङ्कर असुरों (मधु और कैटभ)-का भगवती महामाया जगन्माता, ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर, उन्हीं सोये हुए श्रीनारायणसे संहार करवा देती हैं।

अन्तिम आश्रय

जो जगन्माता—**'न केवल साधारणेषु सर्वेषु सुप्तेषु जागर्ति, अपि तु सुप्तेऽपि जगन्नाथे जागर्ति'** अर्थात् 'केवल साधारण सब जीवोंके ही नहीं, बल्कि जगत्पिताके सोते रहनेपर भी जो अपने बच्चोंकी रक्षा और कल्याणके लिये दिन-रात सदा-सर्वदा जागती रहती है, जिसका इसी प्रसङ्गके कारण चण्डीपाठ सप्तशतीके एक ध्यान-श्लोकमें वर्णन है—

'यामस्तौत्स्वपिते हरौ कमलजो हन्तुं मधुं कैटभम्॥'

और जिसको शङ्करावतार और यतिसार्वभौम भगवान् जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य महाराजजीने भी अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिप्रेमसे भरे हुए भावके साथ—

'देशिकरूपेण दर्शिताभ्युदयाम्'

इत्यादि वर्णनोंसे सिर्फ जगन्माता ही नहीं बल्कि यथार्थ जगद्गुरु बताया है, उस जगन्माता भगवतीको छोड़कर आजकलके अति विकट सङ्कटके समयमें हम और किसका आश्रय लें। उसी जगन्माता और जगद्गुरु (rolled togather) के श्रीचरणोंके शरणागत होकर, उन्हीं श्रीचरणोंको पकड़कर, हमें अपने हृदयोद्गार और प्रार्थनाको पेश करना है।

हृदयोद्गार

हमारे हृदयसे अब यही उद्गार और प्रार्थना उमड़ रही है कि—

'हे जगन्मातः! उस समय मधु-कैटभसे तुम्हारे ही बचाये हुए उसी ब्रह्माके द्वारा और इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्तिरूपिणी शब्दब्रह्मरूपिणी तुम्हारी ही प्रेरणा और शक्तिसे भगवान्‌ने जिस सनातन वैदिक धर्मका दुनियाको उपदेश दिया, आज उसका केवल नाश ही नहीं बल्कि निर्मूलन करनेके लिये दो ही मधु-कैटभ नहीं बल्कि हजारों, लाखों और करोड़ों असुर कोने-कोनेसे उपस्थित हो रहे हैं। जगत्पिताजी, जो दुनियाकी इस बड़ी बुरी दशामें भी बहुत समयसे चुपचाप सोये पड़े मालूम देते हैं, अब चातुर्मास्यके समयमें, जब योगनिद्रामें सोते रहनेका नियम भी है, उनके जागनेकी हमें क्या आशा हो सकती है? परन्तु उनकी योगनिद्राके समयमें उनके परम भक्त श्रीमान् प्रातःस्मरणीय राजर्षि अम्बरीषको उन्हींके सुदर्शनचक्रने महामुनि दुर्वासासे बचाया था। अवश्य ही जैसे अम्बरीषके पास वह चक्र था वैसे हम तुम्हारे आर्त बच्चोंके पास कोई आयुध नहीं है। तो भी, तुम तो हमेशा जागती रहनेवाली हो और भगवान्‌की योगनिद्राके समयमें तुम्हींने तो मधु और कैटभसे ब्रह्माजीकी रक्षा की थी! अब हम तुम्हारे शरणागतोंके इस बड़े जबरदस्त सङ्कटके समयपर क्या तुम भी सो गयीं? फिर हम तुम्हारे शरणागत और अनन्यशरण बच्चोंकी क्या गति होगी? माता! तुम तो जगत्‌के प्रलयके बाद और उसकी पुनः सृष्टितक ही सोनेवाली हो। जगत्‌की सृष्टि और प्रलयके बीचमें तो तुम कभी सोती नहीं। और भगवान् जागते रहें या सोते रहें, उनकी शक्तिकी हैसियतसे तुमपर ही जगत्‌के पालनका भार रहता है। इसलिये अगर जगत्‌के प्रलयका समय आ गया हो, तब तो चुपचाप रहो। नहीं तो केवल अति शीघ्र नहीं, बल्कि एकदम उठ जाओ और हे शरणागत-दीनार्तपरित्राणपरायणे! अपने शरणागत दीन और आर्त सनातनधर्मियोंकी रक्षारूपी अपने कर्तव्यको सँभालो।

भक्तिप्रेमोपहाररूपी स्तोत्र और प्रार्थना

निजाङ्घ्रिसरसीरुहद्वयपरागधात्रीप्सिता-
खिलार्थततिदायकत्रिदशसद्मधात्रीरुहम् ।
पदाब्जनतिकृत्कृते निजकरस्थधात्रीफली-
कृताखिलनयव्रजं हृदि दधामि धात्रीगुरुम्॥
करधात्रीकृतनतजनकरधात्रीकृतपरात्मपरविद्याम्।
धात्रीधात्रीमेकां जगतीधात्रीं भजे जगद्धात्रीम्॥
सुप्ते स्वयोगनिद्रावशतो विष्णौ तदीयनाभिजनिम्।
डिम्भं जिघांसतोर्द्राक्कारितहननां भजे जगद्धात्रीम्॥
सुप्तेऽपि जगज्जनके या त्वं जगतीसवित्रि? जागर्षि।
शरणागतरक्षाकृतिनिजकृतिकृतये भजे जगद्धात्रीम्॥
इत्थं मधुकैटभतो रक्षितशिशवे हिरण्यगर्भाय।
भगवन्मुखतः श्रावितसमस्तवेदां भजे जगद्धात्रीम्॥
या ब्रह्माणं पूर्वं विधाय तस्मै हिनोति वेदांस्ताम्।
हैरण्यगर्भदेशिकरूपां देवीं भजे जगद्धात्रीम्॥
पातीति पात्री पिबतीति पात्री
व्युत्पत्तिरेवं द्विविधा भवन्ती।
पीयूषपात्री शरणैकपात्री
द्वेधापि पात्रीभवती भवन्ती॥
बुद्धिर्मे कुण्ठिता मातः समाप्ता मम युक्तयः।
नान्यत् किञ्चिद्विजानामि त्वमेव शरणं मम॥
धात्री पात्री हर्त्री वेत्री चाम्ब त्वमस्य लोकस्य।
दात्री सकलार्थानां पात्रीकुरु मां त्वदीयकरुणायाः॥
ॐ तत्सत्।

शक्ति

सर्वशक्तिमयी महालक्ष्मी

(श्रीकाञ्ची-प्रतिवादिभयङ्करमठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीभगवद्रामानुजसम्प्रदायाचार्य श्री ११०८ श्रीअनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज)

'शक्ति' शब्दके अनेक अर्थ कोशग्रन्थोंमें बतलाये गये हैं।

'कासूसामर्थ्ययोश्शक्तिः' (अमर)
'शक्तिः पराक्रमः प्राणः' (,,)
'षड्गुणाश्शक्तयस्तिस्त्रः' (,,)

—इत्यादि कोशवचन इसके प्रमाण हैं। इनके अतिरिक्त और भी कई अर्थ हैं, जो दार्शनिक और तान्त्रिकोंके अभिमत हैं।

'शक्ति' शब्दकी व्याख्या

'शक्लृशक्तौ' धातुसे **'क्तिन्'** प्रत्यय करनेपर 'शक्ति' शब्द सिद्ध होता है। कारण, वस्तुमें जो कार्योत्पादनोपयोगी अपृथक्सिद्ध धर्मविशेष है, उसीको 'शक्ति' कहते हैं। उदाहरणके लिये हम अग्निकी दाहशक्तिको ले सकते हैं। साधारणतया अग्नि दाह उत्पन्न करता है, यह हमलोग जानते हैं। परन्तु कहीं-कहीं ऐसा भी देखा गया है कि अग्निका स्पर्श होनेपर भी दाह नहीं होता। भारतमें इसके उदाहरण बहुत-से मिलेंगे। दक्षिण भारतमें देवी-देवताओंकी मन्नत मानकर धधकती हुई आगमें कूदनेकी प्रथा आज भी विद्यमान है। जादूगर लोग तपाये हुए लाल लोहेको अपने हाथोंमें उठा लेते हैं। इससे उनके हाथ-पैर नहीं जलते। चिरकालसे यह बात मानी जाती है कि मणि, मन्त्र और ओषधिके प्रभावसे अग्निका स्पर्श होनेपर भी दाह उत्पन्न नहीं होता। अतएव अग्निमें दाहोपयोगी एक ऐसी शक्तिको मानना पड़ेगा, जो मणिमन्त्रौषध्यादिके प्रभावसे नष्ट हो सकती है और उनके अभावमें उत्पन्न होती है। मीमांसक लोग इस प्रकारकी शक्ति माननेवालोंमें प्रधान हैं। अर्थात् 'शक्ति' वह चीज है जो कारणके साथ अपृथक्सिद्ध रहकर कार्योत्पादनमें उपयोगी होती है।

अनेक शक्तियाँ

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥
(वि० पु० ६। ७। ६१)

इस श्लोकमें तीन शक्तियोंका उल्लेख है—परा विष्णु- शक्ति, अपरा क्षेत्रज्ञशक्ति और तीसरा अविद्या—कर्म नामक शक्ति। जीवात्माको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। तीसरी शक्ति कर्म है। इसीका नामान्तर अविद्या भी है। इसी अविद्याख्य कर्मशक्तिसे वेष्टित होकर क्षेत्रज्ञ नाना प्रकारके संसारतापोंको प्राप्त होता है और नाना योनियोंमें जाता है। जैसा कि विष्णुपुराणमें कहा गया है—

यथा क्षेत्रज्ञशक्तिस्सा वेष्टिता नृप सर्वगा।
संसारतापानखिलानवाप्नोत्यतिसन्ततान्॥
(६। ७। ६२)

'सर्वगा' का अर्थ है 'जो सर्व योनियोंमें जाती है।'

केवल ये तीन ही शक्तियाँ नहीं हैं, बल्कि प्रत्येक भावपदार्थमें अलग-अलग शक्ति है। यह बात भी विष्णुपुराणमें ही कही गयी है। जैसे—

शक्तयस्सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः।
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता॥

(१। ३। २, ३)

अर्थात् सभी भावोंमें भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं, जिनका हम न तो चिन्तन कर सकते हैं और न वे हमारे ज्ञानका विषय ही हो सकती हैं। जैसे अग्निकी उष्णता और जलकी शीतलता आदि। अग्नि उष्ण क्यों है, कहाँसे उसमें उष्णता आयी इत्यादि चिन्तन हमलोग नहीं कर सकते, चिन्तन करनेपर भी उष्णता आदि हमारे ज्ञानका विषय नहीं हो सकतीं। इसी प्रकार ब्रह्मकी भी सर्गादि अनेक शक्तियाँ हैं।

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।'

(श्वेता० ६। ८)

—इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें परमात्माकी नानाविध पराशक्तियाँ कही गयी हैं।

एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।
परस्य ब्रह्मणश्शक्तिस्तयेदमखिलं जगत्॥

(वि० पु० १। २२। ५६)

—इत्यादि पुराणवचन समस्त जगत्को ब्रह्मकी शक्ति कहते हैं।

अहंताशक्ति

इस तरहकी अनेक शक्तियोंमें श्रीमहाविष्णुकी अहंता नामकी एक शक्ति है। यही महालक्ष्मी है।

तस्य या परमा शक्तिर्ज्योत्स्नेव हिमदीधितेः।
सर्वावस्थां गता देवी स्वात्मभूतानपायिनी।
अहन्तां ब्रह्मणस्तस्य साहमस्मि सनातनी॥

(लक्ष्मीतन्त्र २। ११-१२)

अर्थात् महालक्ष्मी इन्द्रके प्रति कहती हैं कि उस परब्रह्मकी जो चन्द्रमाकी चाँदनीकी भाँति समस्त अवस्थाओंमें साथ देनेवाली देवी स्वात्मभूता अनपायिनी अहंता नामकी परमाशक्ति है, वह सनातनी शक्ति मैं ही हूँ। इस शक्तिका दूसरा नाम नारायणी भी है। यह बात भी उसी तन्त्रमें कही गयी है—

नित्यनिर्दोषनिस्सीमकल्याणगुणशालिनी।
अहं नारायणी नाम सा सत्ता वैष्णवी परा॥

(लक्ष्मी० अ० ३। १)

अर्थात् महालक्ष्मी कहती हैं कि मैं नित्य, निर्दोष, सीमारहित, कल्याणगुणोंवाली नारायणी नामवाली वैष्णवी परासत्ता हूँ।

ऊपर 'शक्ति' शब्दकी व्याख्या हो चुकी है। कारणोंमें अपृथक्सिद्ध रहनेवाला कार्योपयोगी धर्म ही शक्ति है। वह शक्ति दो प्रकारकी है—कुछ तो केवल धर्ममात्र है, और कुछ धर्म और धर्मी उभयरूप है। अग्न्यादि भावोंकी उष्णता आदि शक्तियाँ केवल धर्म हैं। क्षेत्रज्ञ-शक्ति धर्म और धर्मी उभयरूप है। क्षेत्रज्ञ ईश्वरके प्रति विशेषण होकर धर्म बनते हुए भी स्वयं अनेक धर्मोंवाला है, शक्तिमान् भी है।

इन दो प्रकारकी शक्तियोंमें भी श्रीमहालक्ष्मी द्वितीय कोटिकी शक्ति है। स्वयं परमात्माका विशेषण होती हुई धर्म होकर भी वह अनेक गुणधर्मवती एवं शक्तिमती भी है। पहले जो **'विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता'** इत्यादि विष्णुपुराणके वचन उद्धृत किये थे, उनमें जो 'विष्णुशक्ति' कही गयी है वह क्या है? इस विषयमें व्याख्याकारोंने नाना प्रकारके मत प्रदर्शित किये हैं, किन्तु हम यह समझते हैं कि वह विष्णुशक्ति ही 'अहंता' नामवाली महालक्ष्मी है। उस वचनमें अपराशक्ति और अविद्याशक्तिके विषयमें जैसा स्पष्टीकरण किया गया है वैसा स्पष्टीकरण विष्णुशक्तिके विषयमें नहीं किया गया है, केवल एक विष्णुशक्तिका उल्लेखमात्र कर दिया गया है। किन्तु इसका स्पष्टीकरण अहिर्बुध्न्यसंहिताके निम्नलिखित वचनसे हो जाता है। अहिर्बुध्न्यसंहिताके तीसरे अध्यायमें—

'तस्य शक्तिश्च का नाम'

अर्थात् उस परब्रह्मकी शक्तिका क्या नाम है?

नारदके इस प्रश्नका उत्तर देते हुए अहिर्बुध्न्य कहते हैं—

शक्तयस्सर्वभावानामचिन्त्या अपृथक्स्थिताः।
स्वरूपे नैव दृश्यन्ते दृश्यन्ते कार्यतस्तु ताः॥ २॥
सूक्ष्मावस्था हि सा तेषां सर्वभावानुगामिनी।
इदन्तया विधातुं सा न निषेद्धुं च शक्यते॥ ३॥
सर्वैरननुयोज्या हि शक्तयो भावगोचराः।
एवं भगवतस्तस्य परस्य ब्रह्मणो मुने॥ ४॥

सर्वभावानुगा शक्तिर्ज्योत्स्नेव हिमदीधितेः।
भावाभावानुगा तस्य सर्वकार्यकरी विभोः॥ ५॥

अर्थात् समस्त भावोंकी अपृथक्स्थित शक्तियाँ अचिन्त्य हैं। पदार्थोंकी शक्तियाँ कार्यद्वारा ही दृश्यमान होती हैं स्वरूपतः नहीं। यह समस्त भावोंके साथ-साथ रहनेवाली सूक्ष्मावस्था है। उसको 'यह है वह शक्ति' इस तरह दिखला कर सिद्ध नहीं कर सकते, किन्तु 'नाहीं' भी नहीं कर सकते। भावोंमें रहनेवाली शक्तियाँ तर्कका विषय नहीं हैं, इसी प्रकार परमात्माकी शक्ति भी चन्द्रमाके साथ चाँदनीकी भाँति सर्व भावोंमें रहती है। भावरूप और अभावरूप पदार्थोंमें रहनेवाली परमात्माकी वह शक्ति ही समस्त कार्योंको करती है। इस प्रकार सामान्यतया निरूपण करनेके पश्चात्—

जगत्तया लक्ष्यमाणा सा लक्ष्मीरिति गीयते।
श्रयन्ती वैष्णवं भावं सा श्रीरिति निगद्यते॥ ९ ॥
अव्यक्तकालपुंभावात्सा पद्मा पद्ममालिनी।
कामदानाच्च कमला पार्थायसुखयोगतः॥ १०॥
विष्णोस्सामर्थ्यरूपत्वाद्विष्णुशक्तिः प्रगीयते॥ ११॥

इन श्लोकोंमें उसी परब्रह्म शक्तिके लक्ष्मी, श्री, पद्मा, पद्ममालिनी, कमला इत्यादि नाम निर्वचनपूर्वक बताकर उसीको विष्णुशक्ति बताया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि विष्णुपुराणोक्त परा विष्णुशक्ति श्रीमहालक्ष्मी ही हैं, जिनके कमला, पद्मा, श्री इत्यादि नामान्तर भी हैं। वही अहंता नामसे भी कही जाती हैं।

शक्तिका उपयोग

शक्ति-पदार्थकी व्याख्या करते हुए पहले बताया था कि कारणमें अपृथक्सिद्ध होकर रहनेवाला कार्योपयोगी धर्म या विशेषण ही शक्ति है। अब यह विचार करना है कि महालक्ष्मीजी यदि शक्ति हैं तो उनमें यह लक्षण समन्वित होता है या नहीं। परब्रह्म परमात्मा जगत्की सृष्टि, स्थिति और संहारके कारण हैं—यह वेदान्तशास्त्रसिद्ध विषय है। उस परमात्माके उन कार्योंमें उपयुक्त होनेवाली श्रीमहालक्ष्मीजीके उस परमात्माका अपृथक्सिद्ध विशेषण होनेके कारण उनमें शक्तिलक्षण ठीक समन्वित हो जाता है।

भगवच्छक्तिरूप श्रीमहालक्ष्मीजीके पाँच कार्य हैं—तिरोभाव, सृष्टि, स्थिति, संहार और अनुग्रह।

शक्तिर्नारायणस्याहं नित्या देवी सदोदिता।
तस्या मे पञ्च कर्माणि नित्यानि त्रिदशेश्वर॥
तिरोभावस्तथा सृष्टिस्स्थितिस्संहतिरेव च।
अनुग्रह इति प्रोक्तं मदीयं कर्मपञ्चकम्॥

(लक्ष्मीतन्त्र अ० १२)

सृष्टि, स्थिति और संहार सुप्रसिद्ध हैं। तिरोभाव कहते हैं जीवात्माके कर्मरूप अविद्यासे तिरोहित या आच्छादित होनेको। अनुग्रह मोक्षको कहते हैं। यद्यपि ये पाँच कर्म शक्तिरूप लक्ष्मीजीके बताये गये हैं, किन्तु वास्तवमें ये हैं परमात्माके ही कर्म। परमात्माके सृष्ट्यादि कार्योंमें शक्तिका उपयोग होनेके कारण ही ये शक्तिके कार्य कहे गये हैं। यह बात लक्ष्मीतन्त्रमें ही एक जगह स्पष्ट कर दी गयी है—

निर्दोषो निरधिष्ठेयो निरवद्यस्सनातनः।
विष्णुर्नारायणः श्रीमान् परमात्मा सनातनः॥
षाड्गुण्यविग्रहो नित्यं परं ब्रह्माक्षरं परम्।
तस्य मां परमां शक्तिं नित्यं तद्धर्मधर्मिणीम्॥
सर्वभावानुगां विद्धि निर्दोषामनपायिनीम्।
सर्वकार्यकरी साहं विष्णोरव्ययरूपिणः॥

××× ××× ×××

व्यापारस्तस्य देवस्य साहमस्मि न संशयः।
मया कृतं हि यत्कर्म तेन तत्कृतमुच्यते॥

अर्थात् महालक्ष्मीजी कहती हैं कि मैं नित्य, निर्दोष, निरवयव परब्रह्म परमात्मा श्रीमन्नारायणकी शक्ति हूँ। उनके सब कार्य मैं ही करती हूँ। मैं उनका व्यापाररूप हूँ। अतएव मैं जो कार्य करती हूँ वह उन्हींका किया हुआ कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि अग्निका दाहरूपी कार्य जैसे अग्निगत दाहशक्तिके कारण होता है, वैसे ही परमात्माके सृष्ट्यादि कार्य परमात्मगत शक्तिरूप महालक्ष्मीजीके कारण होते हैं।

मोक्षलाभमें महालक्ष्मीजीका उपयोग

यह पहले बतलाया जा चुका है कि ईश्वरीय सृष्ट्यादि समस्त कार्योंमें तच्छक्तिरूप महालक्ष्मीजीका उपयोग है। परन्तु मोक्षदानरूप कार्यमें तो श्रीमहालक्ष्मीजीका विशिष्टरूपसे उपयोग है। जीवोंको मोक्षलाभ श्रीमहालक्ष्मीजीके कारण ही होता है।

लक्ष्म्या सह हृषीकेशो देव्या कारुण्यरूपया।
रक्षकस्सर्वसिद्धान्ते वेदान्तेषु च गीयते॥

यहाँपर 'रक्षा' शब्दसे मोक्षदान ही अभिप्रेत है। परमात्मा मोक्षप्रद हैं, यह सर्वशास्त्रसिद्धान्त है। किन्तु वह मोक्षप्रदत्व लक्ष्मीसहित नारायणका है, केवल

नारायणका नहीं। मोक्षदानमें मुख्य कर्तृव्य हृषीकेशका होनेपर भी उसमें लक्ष्मीका साथ प्रयोजकरूपमें अन्तर्भूत है। लक्ष्मीके बिना मोक्षदान असम्भव हो जाता है। भगवच्छरणागतिमें लक्ष्मीजीका पुरुषकारत्व अवश्यापेक्षित है। उसके बिना शरणागति कार्यकरी नहीं होती।

यह बात सर्वतोभावेन शास्त्रज्ञोंने स्वीकार की है कि ईश्वरकी दया ही मोक्षलाभका मुख्य कारण है, जीवके सब प्रयत्न उसके बिना निरर्थक हैं। उस दयाके होनेपर जीवप्रयत्न अनावश्यक है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

अर्थात् परमात्मा श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि किसी भी उपायसे लभ्य नहीं हैं। किन्तु वह परमात्मा जिसको अपनाते हैं उसीको मिलते हैं। उसीके सामनेसे वह माया तिरस्करिणी हटती है।

वह परमात्माकी दया निर्हेतुकी दया होती है। ईश्वरीय दया किसपर होगी, कब होगी, यह जानना अशक्य है। दयामय परमात्माके सामने जब यह अनाद्यनन्त पापराशियोंसे भरा हुआ जीव श्रीमहालक्ष्मीजीको पुरुषकार बनाकर '**अकिञ्चनोऽनन्यगतिश्शरण्यं त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये**' कहता हुआ जा गिरता है, उस समय अनन्यपराधीन अनियाम्य सर्वस्वतन्त्र सर्वकर्मफलप्रद परमात्माकी दयाको उद्बोधित करके उस जीवको दयाका पात्र बनानेवाली श्रीमहालक्ष्मीजीके सिवा दूसरी कौन है? अन्यथा सर्वस्वतन्त्र सर्वकर्मफलप्रद परमात्मासे दयाभिक्षा माँगनेवाले जीवात्माको परमात्मा यदि नियमानुसार कर्मफल भुगताने लग जायँ तो क्या हो सकता है? ऐसे समयमें सर्वजगन्माता कारुण्यमूर्त्ति श्रीमहालक्ष्मीजी नाना उपायोंसे दण्डधर परमात्माकी दयाको जागृतकर जीवकी रक्षा कराती हैं। यही उनका मातृत्व है।

श्रीपराशरभट्टारकने क्या ही सुन्दर कहा है—

पितेव त्वत्प्रेयाञ्जननि परिपूर्णागसि जने
हितस्त्रोतोवृत्त्या भवति च कदाचित्कलुषधीः।
किमेतन्निर्दोषः क इह जगतीति त्वमुचितै-
रुपायैर्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः॥

अर्थात् हे माता महालक्ष्मी! आपके पति जब कभी पूर्णापराध जीवके ऊपर पिताके समान हितकी दृष्टिसे क्रोधित हो जाते हैं, उस समय आप ही 'यह क्या? इस जगत्में निर्दोष है ही कौन?' इत्यादि रूपसे उपदेश कर उनके क्रोधको शान्त करवाके दयाको जागृतकर अपनाती हैं, तभी तो आप हमारी माता हैं।

सर्वशक्तिमयी, विशेषतः अनुग्रहमयी श्रीमहालक्ष्मीजीके पुरुषकारत्व और जीवरक्षणतत्परताके उदाहरण हमें श्रीजानकीजीके अवतारमें स्पष्ट मिलते हैं। रावणकी प्रेरणासे नानाविध कष्ट पहुँचानेवाली राक्षसियाँ जब त्रिजटाके स्वप्नवृत्तान्तसे अवश्यम्भावी राक्षसवधको जानकर भयभीत हुईं, तब आप-ही-आप उनको अभयदान देकर '**भवेयं शरणं हि वः**' कहनेवाली श्रीजानकीजीकी यह जीवदया किसके मनमें आश्चर्य उत्पन्न नहीं करती? रावणवधानन्तर राक्षसियोंको दण्ड देनेकी इच्छा करनेवाले श्रीहनुमान्‌जीसे—

कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति।

—आदि कहकर उन राक्षसियोंको छुड़ानेवाली श्रीजानकीजीकी वह दया किसको आश्चर्यचकित न करेगी?

श्रीपराशरभट्टारकस्वामीजीने क्या ही सुन्दर कहा है—

मातर्मैथिलि राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया
रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठी कृता।
काकं तं च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः
सा नस्सान्द्रमहागसस्सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी॥

आचार्य कहते हैं कि श्रीरामने विभीषण और काककी रक्षा की तो क्या किया? वे दोनों तो शरणागत हुए थे। श्रीजानकीजीने तो राक्षसियोंके बिना कुछ किये ही, अपने-आप हनुमान्-जैसे हठीसे लड़-झगड़कर तत्काल अपराध करनेवाली राक्षसियोंको छुड़ाकर उनकी रक्षा की, यही तो महत्त्वकी बात है। श्रीजानकीजीने श्रीरामगोष्ठीको भी अपने कार्यसे छोटा बना दिया।

श्रीमहालक्ष्मीजीका गुणवर्णन इस छोटे-से लेखमें नहीं हो सकता। उसके लिये समय मिलनेपर स्वतन्त्र लेख लिखनेका प्रयत्न करेंगे, अभी तो इतना ही। जय सर्वशक्तिमयी महालक्ष्मीजीकी।

शक्तिस्तवन

(लेखक—आचार्य पं० श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी)

धाता-स्वरूप धरिकै रचि सृष्टि सारी,
पालौ प्रजा अखिल अच्युत-भेष-धारी।
नाशौ बहोरि सब शंकर-अंक आई,
लीला अपार तव अंब न जाय गाई॥ १॥
भावी, अतीत अरु संप्रति काल ज्ञाता,
तू ही सतोरज-तमोगुण-पूर्ण-गाता।
आद्यंतहीन, अखिलेश्वरि तूहि एका,
है तूहि जाहि जपते तपसो अनेका॥ २॥

सप्रेम पूजि जिनको नर नेमधारी
पावें कवीन्द्रपद पावन कीर्तिकारी।
नावें नृदेव जिन पायन पै स्वमाथा
दंडप्रणाम तिनको मम जोरि हाथा॥ ३॥
ब्रह्मा, महेन्द्र, निधिनायक नीरनाथा,
सानंद जासु गुण गावत जोरि हाथा।
सत्कीर्ति तासु यह पामर ज्ञानहीना
हा! हा!! कहे किमि महामतिमंद दीना॥ ४॥

पीयूषपूर्ण दृग तू जननी हमारी
संतापतप्ततन बालक मैं दुखारी।
संबंध सत्य अस मातु हिये बिचारी
कीजै यथा उचित देवि! हमें निहारी॥ ५॥ ['देवीस्तुतिशतक' से]

शक्तितत्त्व

(पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके विचार)

प्र०—शक्तितत्त्व क्या है?

उ०—जो निर्विशेष शुद्ध तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका आधार है उसीको पुंस्त्वदृष्टिसे 'चित्' और स्त्रीत्वदृष्टिसे 'चिति' कहते हैं। शुद्ध चेतन और शुद्ध चिति—ये एक ही तत्त्वके दो नाम हैं। मायामें प्रतिबिम्बित उसी तत्त्वकी जब पुरुषरूपसे उपासना की जाती है तब उसे ईश्वर, शिव अथवा भगवान् आदि नामोंसे पुकारते हैं, और जब स्त्रीरूपसे उसकी उपासना करते हैं तो उसीको ईश्वरी, दुर्गा अथवा भगवती कहते हैं। इस प्रकार शिव-गौरी, कृष्ण-राधा, राम-सीता तथा विष्णु और महालक्ष्मी—ये परस्पर अभिन्न ही हैं। इनमें वस्तुतः कुछ भी भेद नहीं है, केवल उपासकोंके दृष्टि-भेदसे ही इनके नाम और रूपोंमें भेद माना जाता है।

प्र०—शक्त्युपासनाका अधिकारी कौन है? और उसका अन्तिम फल क्या है?

उ०—शक्तिकी उपासना प्रायः सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये की जाती है। तन्त्रशास्त्रका मुख्य उद्देश्य सिद्धि-लाभ ही है। आसुरी प्रकृतिके पुरुष उसे मद्य-मांस आदिसे पूजते हैं, जिससे उन्हें मारण-उच्चाटन आदि आसुरी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं; तथा दैवी प्रकृतिके पुरुष गन्ध-पुष्प आदि सात्त्विक पदार्थोंसे, जिससे वे नाना प्रकारकी दिव्य सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार यद्यपि शक्तिके उपासक प्रायः सकाम पुरुष ही होते हैं, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसके निष्काम उपासक होते ही नहीं। परमहंस रामकृष्ण ऐसे ही निष्काम उपासक थे। ऐसे उपासक तो सब प्रकारकी सिद्धियोंको ठुकराकर उसी परम पदको प्राप्त होते हैं जो परमहंसोंका गन्तव्य स्थान है। और यही शक्त्युपासनाका चरम फल है। दुर्गासप्तशतीमें जिस प्रकार देवीको '**स्वर्गप्रदा**' बतलाया है उसी प्रकार उसे '**अपवर्गदा**' भी कहा है। यथा—

स्वर्गापवर्गदे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते॥

प्र०—शक्त्युपासनाका महत्त्व सूचित करनेवाली कोई सच्ची घटना सुनाइये।

उ०—प्रायः सवा सौ वर्ष हुए जगन्नाथपुरीके पास एक जमींदार थे। लोग उन्हें 'कर्ताजी' कहकर पुकारा करते थे। उन्होंने एक पण्डितजीसे वैष्णवधर्मकी दीक्षा ली। पण्डितजी ऊपरसे तो वैष्णव बने हुए थे, परन्तु वास्तवमें श्यामा (काली)-के उपासक थे। वस्तुतः उनकी दृष्टिमें श्याम और श्यामामें कोई भेद नहीं था।

इधर कुछ लोगोंने कर्ताजीसे उनकी शिकायत करनी आरम्भ कर दी। परन्तु कर्ताजीको अपने गुरुजीसे इस विषयमें कोई प्रश्न करनेका साहस नहीं हुआ। उस देशके लोग अपने गुरुका बहुत अधिक गौरव मानते हैं। पण्डितजी रात्रिके समय काली माँकी उपासना किया करते थे। अतः कुछ लोगोंने कर्ताजीको निश्चय करानेके लिये उन्हें रात्रिको—जिस समय पण्डितजी पूजामें बैठते

थे—ले जानेका आयोजन किया। एक दिन जिस समय पण्डितजी माताकी पूजा कर रहे थे वे अकस्मात् कर्ताजीको लेकर आ धमके। कर्ताजीको आये देख पण्डितजी कुछ सहमे और उन्होंने जगदम्बासे प्रार्थना की कि 'माँ! यदि तेरे चरणोंमें मेरा अनन्य प्रेम है तो तू श्यामासे श्याम हो जा।' पण्डितजीकी प्रार्थनासे वह मूर्ति कर्ताजीके सहित अन्य सब दर्शकोंको श्रीकृष्णरूप ही दिखलायी दी। इस प्रकार अपने भक्तकी प्रार्थना स्वीकारकर भगवतीने भगवान्‌के साथ अपना अभेद सिद्ध कर दिया।

स्वरूप-शक्ति

(लेखक—श्रीबिन्दु ब्रह्मचारीजी)

सीता-सुधा

पद-कमलनकी धूलि ही जाके श्री विख्यात।
जा छाया ही छबि अहै जयति जनकजा मात॥ १ ॥
श्रीभूलीलाह्लादिनी आदिशक्तियनि-रानि।
नाद-वेद जननी जयति सिय गुण-शोभा-खानि॥ २ ॥
भेद-अभेद विलास जेहि उद्भवादि जेहि हास।
ब्रह्माकार प्रकास जेहि करैं सो सिय हिय बास॥ ३ ॥
निर्गुणहूकौ सगुण जो करति अदृश्यहु दृश्य।
जय सिय-शक्ति परात्परा जेहि चिंतत मुनि-ऋष्य॥ ४ ॥
अगुण-सगुण सौं रामकौ जो परचाव दिखाव।
जय परप्रज्ञा ईक्षणा सिय बहुबिध श्रुति गाव॥ ५ ॥
जय स्वरूप-शक्ती शुभा 'बिन्दु' रेफरूपाहि।
जामैं भासत जगत सो जननि जानकी पाहि॥ ६ ॥
बीज कृशानु-सुवासिनी भानु-प्रकासिनी जोय।
'बिन्दु' इंदु लौं भासिनी जयति जनकजा सोय॥ ७ ॥
प्रकृति-रमित चिति-शक्ति जो रेफाश्रित सीताहि।
कर्षण अनुसंधान करि प्रगट्यो जनक सुताहि॥ ८ ॥
रेफ-सुहल-हल्यात्म-भुवि जनक ब्रह्मविद-द्वार।
प्रगटति ब्रह्मविभूतिपर अजहूँ सीताकार॥ ९ ॥
अहै प्रकृति ही पुरुषकौ निजी रहस्य विशेष।
तेहि अनगोचरकौ अहै शक्ति विहार-प्रदेश॥ १० ॥
बसत प्राणि-वैशेष्य है तासु स्वभावहि माँहि।
नाना जन्महु कर्म लौं मूल छटा नहिं जाहि॥ ११ ॥
जेहि मनकौ आकार जो सोई तासु स्वभाव।
'बिन्दु' सत्त्व-संबद्ध सो आत्म-विलास-विभाव॥ १२ ॥
पुरुषोत्तम श्रीरामकी प्रकृति द्विधा सुप्रमान।
सहजा सहज स्वरूपकी वैकारिकी जु आन॥ १३ ॥
अपरिणामि सहजा-सहित विरहित योग-वियोग।
भासमान परिणामिसौं वैकारिकी-सुयोग॥ १४ ॥
चेतन-तोय-तरंग-सी वैकारिकी सुभाय।
लीलाकारा प्रकृति सो चारु चपल चित चाय॥ १५ ॥
सहजा सहज स्वरूपकी सीताऽभिधा उदार।
ता माया वैकारिकी राजित ईहाकार॥ १६ ॥
नित स्वरूपगत रहति सिय अग्नि-बीज-कृतवास।
जाकी इच्छा-शक्ति ही माया छाया भास॥ १७ ॥
सिय-भ्रूभंगीपै नटति घटति विश्व-ब्रह्मांड।
छन-कन मैं ही देति करि उद्भवादि सब कांड॥ १८ ॥
अपरा-परा-परात्परा चतुष्पादमयि मानि।
यहि विध पुनि हरिकी अहै प्रकृति त्रिधा गुणखानि॥ १९ ॥
अपरा अचिद तमस्विनी परा सुचिद हेमाहि।
उभय-विधायिनि शक्ति जो परात्परा सो आहि॥ २० ॥
पराऽपराको क्षेत्र है प्रकृतिपाद-विस्तार।
त्यों त्रिपाद-राजेश्वरी सीय प्रकृतिपर-पार॥ २१ ॥
चिदचिद्-मिलित पराऽपरा लोकत्रयी रहिं खेलि।
शुद्ध चिन्मयी एकरस परात्परा हरि-बेलि॥ २२ ॥
चिद्धात्री चिति-शक्ति ही भाँति-भाँति प्रतिभाति।
अचिद-शक्तिहू शुद्ध ह्वै चिदसौं हिलिमिलि जाति॥ २३ ॥
सहज सच्चिदानन्दमयि सहजामैं ह्वै लीन।
लहति ब्रह्म आकार सो झीनहुतैं अति झीन॥ २४ ॥
अहै अचित्त्व अनित्य जो अपरा-गुण-सुप्रधान।
एक सचेतन तत्त्व तजि नहीं कहीं कछु आन॥ २५ ॥
विकृति अनित्या ही अहै प्रकृति-विकल्प सुभाय।
जोइ अनित्य असत्य सोइ उपजै और बिलाय॥ २६ ॥
बहति जाति है प्रकृति-सरि पुरुषोत्तमकी ओर।
अंतर्गत करि चर-अचर छन-छन लेति हिलोर॥ २७ ॥
जा सत्ता भासत जगत 'अस्ति' रेफ रामेंदु।
अरु जातैं रमणीयता भाति 'भाति' सिय बिंदु॥ २८ ॥
सीता लक्ष्मण-संगहू होय तन्निहित त्योंहि।
रमत राम चर-अचरमैं प्रकृति-बीच गुण ज्योंहि॥ २९ ॥
जौहु मूर्त्तित्रय संग नित तौहु स्वतंत्र अकेल।
लसत राम निरपेक्षहू केवल तत्त्व अमेल॥ ३० ॥
तन्मत तद्गत ह्वै तबौं रहति सीय अविच्छिन्न।
जो स्वरूप-शक्तिहि अहै होय सकति किमि भिन्न॥ ३१ ॥
राम सीय सिय राम हैं लीलाहेतु द्विभास।
जोइ विषय आश्रय सोई जोइ अकाश अवकाश॥ ३२ ॥

चिदभिमानि दैवत लखन राम-तेज अनुकूल।
जेहि महिमामैं लसत सो सिय चिति-शक्ति सुमूल॥ ३३॥
मातृ-पितृ अरु पुत्रसौं वै अंगी वै अंग।
अविच्छिन्न-संबंध नित रहत संग ही संग॥ ३४॥
प्रकृति पुरुषतैं भिन्न नहिं शक्तिहि शक्तीमान।
यहि बिध एक अभेदकौ अहै भेद सब जान॥ ३५॥
एकहि प्रकृति विकृति तेहि अमित अचिंत्य विचित्र।
एकहि अद्वय पुरुषकी महिमा सो सुपवित्र॥ ३६॥
केवल पुरुष अकेलि जो सोई अहै सकेलि।
निज महिमा बिस्तारिकै रहत खेल बहु खेलि॥ ३७॥
जाहि योगमाया कहत शक्ति संधिनी सोय।
क्रियाशक्तिहू कहत तेहि महिमा पुरुष अदोय॥ ३८॥
जो महिमा माया अजा सोई शक्ति कहाय।
सोई पुनः प्रकृति अहै पुरुषाभिन्न सुभाय॥ ३९॥
अजा अनादिरु सांत है त्रिगुणमयी जेहि भाँति।
त्योंहि सच्चिदानंदगुण-खानि सीय सुविभाति॥ ४०॥
नित्य अनादि अनंत सिय सकल-शक्ति श्रीखानि।
रामकेर गुण-धर्म जे तेइ सियकेहु अहानि॥ ४१॥
नाद-बीजकोशा नलिनि सिय कले[1]-दल कमनीय।
सगुणागुण रस-सुरभि जेहि राम-तत्त्व रमणीय॥ ४२॥
प्रकृत-प्रकृति सिय प्रकृति[2] लसि विकृति विभक्ति-प्रसार।
अर्थ-राम अनुहरि छटा धारति विविध अकार॥ ४३॥
शब्द-ब्रह्मकौ जगद् ब्रह्म करि जौन दिखावति।
नाद-बिंदुकौ निज महिमा मैं जौन खेलावति॥
अव्यक्तहुको व्यक्त व्यक्त अव्यक्त बनावति।
ध्वनिरु ज्योति अनुचरिन-संग खेलति सुख पावति॥
जाकी महिमामैं जगद-बीज उगत फूलत-फलत।
जय सिय जा वात्सल्य-पय वत्स 'बिन्दु' हू पी पलत॥ १ ॥

निज जन देखत ही मातु-चित्त द्रवि उठै,
स्त्रवि उठैं अँसुवाहू अँखियाँ भरति हैं।
इंदु-सिंधु-न्याय वातसल्यरस अमियकी,
कोटि-कोटि वीचि हिये-बीच उमरति है।
'बिन्दु' सैं कपूतहूकौ करति कृतार्थ, गोद,
मोदसौं भरति दुःख दोषन हरति है।
जैसे रामभद्र-छटा समता सरति अहै,
तैसे सिय-छवि मंजु ममता ढरति है॥ १॥
सकिलि त्रिलोकन तैं शारदी जुन्हाई आई,
देखि सिय-शोभा शुभा हिम ह्वै गरति है।
होंहि सप्त-सिंधु जौ सुधाके वसुधाके बीच,
तौहू ताके शीलकी न उपमा पुरति है।
विश्व-कल्प वनमैं रमैं जो कोटि कामधेनु,
तबौं न उदारताकी समता धरति है।
'बिन्दु' रामचंद्रजूकी सुधाकी सी लसी सीय,
छन-छन छवि-छोह-निर्झरी झरति है॥ २॥
जाकी ही महततासैं दृश्य और अदृश्य लसैं,
दिव्यहू अदिव्य सृष्टि-सतता फुरति है।
निज भ्रूविलासतैं जो सहजै विपुल विश्व,
करति-धरति त्यों भरतिहू हरति है।
ब्रह्म-सार-तत्त्व जो अगम्य है महत्त्व जासु,
सर्वशक्ति-सत्त्व राम-हिय विहरति है।
जाके एक 'बिन्दु' ही तैं कोटि ब्रह्मांडनकी,
कोटि-कोटि भाँति सुख-सुषमा सरति है॥ ३॥
जाकी रंच द्युति लहि दामिनी है दमकति,
चमकति चाँदनीहू कुमुद खिलत हैं।
कलिंद-चंद उडुवृंद दिव्यलोक जेते ते,
जाकी आकरषणीमैं फूलत-फलत हैं।
गंध धरा धारै तेज अनल सम्हारै अरु,
अनिल चलतु वारि 'बिन्दु' उछलत है।
लसैं अग जग सब जाकी ही महत्ता माहि,
बिनु सिय-सत्ता एक पत्ता ना हिलत है॥ ४॥
जड होत चेतन चेतन जड होत छन,
जाकी भौंह-भंगीतैं होत लय-विकास है।
परा अरु अपराहू जोहति रहति मुख,
उमा-रमा-गिरा जाकी शक्तिको विलास हैं।
अमृत-क्षेम-अभय-त्रिपादकी अधीश्वरी,
प्रकृतिलौं चारिहू विभूति जा प्रकास हैं।
मिथिलेश-दुलारी सुकुमारी राम-प्यारी जो,
मातासो हमारी 'बिन्दु' पूरै सब आस है॥ ५॥
चैतन्य-साम्राज्य-लक्ष्मी-सी प्रभा छिटकति,
अंगहि अंग छवि-घन लहलहात है।
हिम-धारा-धोई लई राकाहूकौ जीति कांति,
हीरकके हीरतैं अधिक अवदात है।
दृगतैं प्रसाद-सुधा-धारा-सी रहति बहि,
मुख-कंजहूतैं मधु माधुर्य रसात है।
सिय-तन-सौरभतैं पारिजात हारि जात,
माधुरी पै 'बिन्दु' वारिजात वारि जात हैं॥ ६॥

प्रकृति-तुला तेहि मानदंड विभु विष्णु पुरुषपर।
दिशि गुण[3]पल[4] भुवितलहु अपर पुनि विलसत अंबर।
तौल्यो विधिनैं विधिवत विधु अरु सिय-मुख सुंदर।
छवि-दबि भुवि सिय-सुमुख रह्यो उठि गयो नभ चंदर।
अतिशय छविचय कहै को आदिज्योति सुषमातमा।
जय-जय सिय सर्वेश्वरी रामवल्लभा 'बिन्दु'-मा॥ २ ॥
खींचि लई सब अवनिनैं स्वर्ग-सुछवि अनयास।
प्रगटयो तेहि सिय-रूपमैं भयो सून आकास॥ ४४॥

१—कला। २—शब्द। ३—डोर। ४—पलड़ा।

तन्त्र और वेदान्त

(लेखक—श्रीअरविन्द)

भारतवर्षमें अब भी एक विशेष प्रकारकी ऐसी योगपद्धति प्रचलित है जो स्वभावसे ही समन्वयात्मक है और जिसका प्रवर्तन प्रकृतिके एक महान् केन्द्रस्थ तत्त्वसे—प्रकृतिकी एक प्रचण्ड वेगवती शक्तिसे होता है। पर यह है एक पृथक् योग ही, अन्य योगप्रणालियोंका समन्वय नहीं। यह योगपद्धति तन्त्रकी योगपद्धति है। तन्त्रमें पीछेसे आकर कई ऐसी बातें जुट गयी हैं जिनके कारण तन्त्र उन लोगोंमें बदनाम-सा हो गया है जो कि तान्त्रिक नहीं हैं। विशेषकर तन्त्रके वाममार्गमें ऐसी-ऐसी बातें आ गयीं जिनसे न केवल अच्छे-बुरेका, पाप-पुण्यका कोई विचार न रहा प्रत्युत पाप-पुण्यादि द्वन्द्वोंके स्थानमें स्वभावनियत सद्धर्मकी स्थापना होनेके बजाय अनियन्त्रित कामाचार, असंयत सामाजिक व्यभिचार—दुराचारका मानो एक पन्थ ही चल गया। तथापि मूलतः तन्त्र एक बड़ी चीज थी, बड़ी बलवती योगपद्धति थी और उसके मूलमें ऐसी भावनाएँ थीं जो कम-से-कम अंशतः सत्य थीं। इसके दक्षिण और वाम—दोनों ही मार्ग एक बड़ी गम्भीर अनुभूतिके फल थे। दक्षिण और वाम—इन शब्दोंके जो प्राचीन लाक्षणिक अर्थ हैं वे यही हैं कि एक है ज्ञानका मार्ग और दूसरा आनन्दका मार्ग। मनुष्यमें जो प्रकृति है उसका अपनी शक्तियों, अपने हृत्तत्त्वों और सम्भावनाओंके बलसञ्चय और प्रयोगमें विवेकसे चलना और इस प्रकार अपने-आपको मुक्त करना ज्ञानमार्ग (दक्षिणमार्ग) है, और उस प्रकृतिका अपनी शक्तियों, अपने हृत्तत्त्वों और सम्भावनाओंके बलसञ्चय और प्रयोगमें आनन्दकी स्थिति बनाये रहना और इस प्रकार अपने-आपको मुक्त करना आनन्दमार्ग (वाममार्ग) है। पर इन दोनों मार्गोंमें यही हुआ कि अन्तमें मूलके सिद्धान्त ही लोग भूल गये, उनके रूप बिगड़ गये और अधःपतन हुआ।

अब यदि हम तन्त्रके बाह्याङ्गों और विशिष्ट कर्म प्रणालियोंका विचार छोड़कर उसके मूलभूत सिद्धान्तकी ओर देखें तो सबसे पहली बात सामने यह आती है कि योगके जो वैदिक मार्ग हैं उनसे तन्त्र सर्वथा भिन्न है। वैदिक सम्प्रदाय जितने हैं उन सबके मूल सिद्धान्त वेद-वेदान्तके ही हैं; उनकी शक्ति ज्ञान है, मार्ग भी ज्ञान ही है, यद्यपि ज्ञानसे तात्पर्य सर्वत्र बुद्धिद्वारा विवेकका नहीं है प्रत्युत कहीं उस हृदयगत ज्ञानसे अभिप्राय है जो प्रेम और श्रद्धाके रूपमें प्रकट होता है और कहीं सङ्कल्पका कर्मरूपसे फलीभूत होना ही ज्ञानका अभिप्राय है। इन सभी योगोंमें योगेश्वर वही चिन्मय पुरुष है जो जानता, देखता, अपनी ओर खींचता और शासन करता है। परन्तु तन्त्रमें योगेश्वरका ध्यान नहीं प्रत्युत योगेश्वरीका ध्यान है, योगेश्वरी स्वयं प्रकृति, प्रकृतिदेवी, शक्ति, शक्तिमयी, सङ्कल्परूपिणी,सर्गस्थितिप्रलयरूप संसारकी अधिष्ठात्री विधात्री हैं। इन सर्वसमर्थ सङ्कल्पशक्तिका रहस्य, उनकी कार्यपद्धति, उनका तन्त्र जानकर और उसका प्रयोग करके ही तान्त्रिक योगियोंने प्रभुता, पूर्णता, मुक्ति और परमानन्द प्राप्त करनेके लिये वैसी साधना की। नामरूपात्मक जगद्रूप प्रकृति और उसकी कठिनाइयोंसे विरक्त होकर पीछे हटनेके बजाय उन्होंने उनका सामना किया, उनको पकड़ा और उन्हें जीत लिया। परन्तु अन्तमें, प्रकृतिके सामान्य स्वभावानुसार तान्त्रिक योगका मूलभूत सिद्धान्त उसके आडम्बरमें लुप्त हो गया, केवल कुछ विधिविधान और गुप्त विद्याके कुछ यन्त्र रह गये । इन विधिविधानों और यन्त्रोंसे यदि ठीक तरहसे काम लिया जाय तो आज भी इनकी शक्ति प्रत्यक्ष है पर तान्त्रिक योगका जो मूल हेतु था उससे तो ये च्युत ही हो गये हैं।

तन्त्रशास्त्रका मुख्य सिद्धान्त सत्यका एक पहलू अर्थात् शक्तिपूजा है। शक्ति ही सब कुछ प्राप्त करानेवाली एकमात्र अमोघ शक्ति है। यह एक छोरकी बात है। दूसरे छोरकी बात वेदान्तके महावाक्योंमें मिलती है अर्थात् शक्ति केवल माया-मरीचिका है और इस कर्मरूप प्रकृतिकी धोखेधड़ीसे मुक्त होनेका साधन अचल अकर्ता पुरुषकी ही खोज करना है। परन्तु ये दोनों ही बातें अपूर्ण हैं। इनका पूर्णत्व यह है कि ज्ञानस्वरूप आत्मदेव प्रभु हैं और प्रकृति देवी उनकी कर्मशक्ति हैं। पुरुष सत्स्वरूप अर्थात् विशुद्ध और अनन्त ज्ञानघन आत्मसत्तारूप है; और प्रकृति—शक्ति चिद्रूपा है, यह पुरुषकी ज्ञानघन विशुद्ध अनन्त आत्मसत्ताकी शक्ति है। इन दोनोंका जो

परस्पर सम्बन्ध है वह विश्राम और कर्मरूप दो ध्रुवोंके बीचमें है। जब ज्ञानस्वरूप परमानन्दमें प्रकृति समा जाती है तब वह है विश्रान्ति; और जब पुरुष अपनी प्रकृतिके कर्ममें अपने-आपको डाल देता है तब वह है कर्म, सृष्टिकर्म और उसका आनन्दभोग या भवानन्द। परन्तु आनन्द जैसे विसर्गमात्रका स्रष्टा और उत्पादक है, वैसे ही उसका साधन है पुरुषके आत्मचैतन्यकी तपःशक्ति या कर्मशक्ति। यह कर्मशक्ति उसकी अनन्त घटनाशक्तिमें सदा ही रहती है और उससे उन भावनाओंके अथवा उस वास्तविक भाव या विज्ञानके सद्रूप प्रकट होते हैं, जो निकलते हैं, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् आत्मसत्तासे ही; और इसलिये जिनका पूर्ण होना असन्दिग्ध रहता है और जिनके अन्दर ही उनके जीवभूत होने अर्थात् मन, प्राण और शरीर धारण करनेकी प्रकृति और उसके नियम समाये हुए रहते हैं। तपकी निश्चय फलदायिनी सर्वशक्तिमत्ता और भावनाकी कभी न चूकनेवाली पूर्णताप्राप्तिसामर्थ्य सभी योगोंका मूल आधार है। मनुष्यमें इन्हीं दो वस्तुओंको हम सङ्कल्प और विश्वासके रूपमें पाते हैं—सङ्कल्प यानी ऐसा सङ्कल्प कि जो ज्ञानका ही ढला होनेसे पूर्ण होनेमें स्वतः समर्थ है और विश्वास यानी वह विश्वास जो निम्नागत चैतन्यमें उस सत्यका ही प्रतिबिम्ब है जो अभी नामरूपात्मक जगत्में अभिव्यक्त नहीं हुआ है। भावनाकी यह जो स्वतःसिद्ध निश्चयावस्था है, इसीको गीतामें इस प्रकार कहा है—

'यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥'

'मनुष्यकी जो श्रद्धा अर्थात् निःसंशय भावना होती है, वही वह होता है'

(प्रेषक—नलिनीकान्त गुप्त)

शक्तितत्त्व

(लेखक—श्रीमन्माध्वसम्प्रदायाचार्य दार्शनिकसार्वभौम साहित्यदर्शनाद्याचार्य तर्करत्न-न्यायरत्न गोस्वामी श्रीदामोदरजी शास्त्री)

ह्लादिनी सन्धिनी संविदभिधानान्तरङ्गिका।
तटस्था बहिरङ्गा च जयन्ति प्रभुशक्तयः॥

आज 'कल्याण' के शक्त्यङ्कमें शक्तिसम्बद्ध ही कुछ उपहार लेकर कल्याणार्थियोंके समक्ष उपस्थित होना अवसरोचित जान पड़ता है।

परन्तु शक्तितत्त्व तो पूर्वतत्त्वोंकी अपेक्षासे भी नितान्त ही निगूढ़ है, भरोसा है तो केवल इतना ही कि सर्वशक्तिमान् अवश्य स्वशक्तियोंकी सेवामें स्वशक्तिको यथाशक्ति प्रवृत्त होनेकी शक्ति प्रदान करेंगे।

यद्यपि 'शक्ति' शब्दसे शास्त्रोंमें तथा लोकमें अनेक वस्तुएँ समझी जाती हैं तथापि यहाँ सामर्थ्यरूप अर्थ लेकर कुछ चर्चा की जाय तो असम्बद्ध कथन न होगा, क्योंकि सर्वत्र ही फलतः पर्यवसान यहाँ ही विश्रान्त होता है।

किन्तु 'सामर्थ्य' शब्द साकाङ्क्ष अर्थका बोधक है अर्थात् 'किस कार्यमें सामर्थ्य' यह जिज्ञासा साथ ही होती है तो भी किसी विशेषका प्रकरण न रहनेसे समस्त कार्योंमें सामर्थ्य जिज्ञासित ठहरेगा एवं ऐसा सामर्थ्यशाली कौन है इस अंशमें भी जिज्ञासा होगी ही, दोनोंका ही उत्तर एक यही है कि—'सर्व कार्योंमें सामर्थ्यवान् जगदीश्वर है' सुतरां—इसीकी शक्ति प्रकृतमें विवेचनीय है।

जब शक्ति और शक्तिमान् सामान्यरूपसे विदित हुए जो कि परस्पर सम्बन्धी हैं, तब इनका क्या सम्बन्ध है? यह प्रश्न आवेगा।

इसका उत्तर प्रायः सब शास्त्र यही देते हैं कि वह सम्बन्ध 'तादात्म्य' है। तादात्म्यका लक्षण शास्त्रोंमें 'भेद-सहिष्णु अभेद' किया है अर्थात् भेद रहते हुए अभेदको तादात्म्य कहते हैं। जैसे—गृहमें दीप्यमान दीपशिखाका गृहमें फैले हुए प्रकाशके साथ जो सम्बन्ध है यह उक्त लक्षणका लक्ष्य होता है क्योंकि दीपशिखा और तत्प्रकाश-मिथः सर्वथा भिन्न नहीं हैं। यदि भिन्न होते तो दीपशिखा हटानेसे प्रकाश न हटता। जैसे—घट-पट परस्पर भिन्न हैं; अतः घट हटानेसे पट नहीं हटता है। तब क्या दीपशिखा और तत्प्रकाश अभिन्न हैं? यह भी नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो दीपशिखामें हाथ लगानेसे हाथमें फफोला पड़ जाता है, किन्तु हाथपर प्रकाश आनेसे वह दोष नहीं होता। सुतरां सर्वथा अभेद भी नहीं कहा जाता। इससे भेद-अभेद दोनों ही माने जायँगे। अतः तादात्म्य सिद्ध हो गया। यहाँ प्रकाश शक्ति है और दीपज्योति ही शक्तिवाली

है। इन शक्ति-शक्तिमानोंका व्यवहार जब व्यवहर्त्ता भेदपूर्वक करता है तब दीपका प्रकाश है—ऐसा कहता है एवं जब अभेदसे व्यवहार करता है तब प्रकाश है—इतना ही कहता है। तथा व्यवहाराधीन प्रतीतियोंमें भी प्रथममें भेदका भान होता है दूसरीमें भेद भासमान नहीं होता।

इसी भाँति सर्वशक्तिमान् भगवान् और उनकी शक्तियोंमें भी तादात्म्य निर्विवाद है। उपासक अपनी रुचिके अनुसार भेदसे भी उपासना करता है और अभेदसे भी करता है, प्रभु भी '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**' के अनुसार उसके मनोरथ पूर्ण करते हैं।

विलक्षणता केवल इतनी ही है कि दृष्टान्तमें दीपक-प्रकाश जड होनेसे प्राकृतिक नियमानुसार दीपसे पृथक् होनेकी योग्यता नहीं रखता। दार्ष्टान्तिकमें ईश्वर 'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं क्षम' हैं, सुतरां स्वकीय शक्तिरूपमें भी ईश्वर ही हैं। इस लीलाका ही अवलम्बन करके 'शक्त्यद्वैतवाद' का उत्थान है।

यह बात और है कि उपासनाकी प्राणस्वरूपा अनन्यताके अनुरोधसे साधकका चित्त अप्राकृत नामरूपविशेषमें आसक्त रहे।

इससे उसकी तो उत्तरोत्तर उन्नति ही है, अज्ञ, भ्रान्त वा कलुषितचेता लोग मनमाना प्रलाप किया करें इससे होता ही क्या है?

भगवान्की शक्तियाँ अनन्त होनेपर भी शास्त्रोंमें उनको त्रिविध कहा है—१-अन्तरङ्गा, २-तटस्था, ३-बहिरङ्गा। इनमें अन्तरङ्गाको ही स्वरूपशक्ति भी कहते हैं। यह 'स्वरूपशक्ति' इसलिये है कि शक्तिमान्में जो प्रभाव हैं वह इसमें भी हैं और स्वरूपात्मक होनेसे ही अन्तरङ्गा भी उचित ही है।

यह शक्ति भी तीन भाँतिकी है—१-ह्लादिनी, २-संवित्, ३-सन्धिनी। तात्पर्य यह है कि जैसे—पाचक, दाहक, प्रकाशक एक ही अग्निमें पाचकता, दाहकता, प्रकाशकता मिथोविलक्षण तीन शक्तियाँ हैं वैसे ही एक ही सच्चिदानन्दमूर्ति भगवान्में आनन्दांशकी ह्लादिनी, चिदंशकी संवित् और सदंशकी सन्धिनी शक्तियाँ हैं। इन तीनोंकी ही स्वरूपत: नित्य पूर्णता है परन्तु सूर्यकिरणवत् प्रत्येककी गुणप्रधानभावसे अनन्त शक्तियाँ हैं। और जिस प्रकार भगवान्की पूर्णतमता सनातनी है किन्तु लीलानुरोधसे स्वरूपप्रकाशमें तारतम्यके कारण स्थूलमति स्वरूपमें भी तारतम्य समझ लेते हैं इसी प्रकार उक्त तीनों स्वरूपशक्तियोंकी नित्य पूर्णता सर्वदा एकरस रहनेपर भी स्वकर्त्तव्यानुरोधवश अपेक्षित वैभवका ही प्रकाशन किया जाता है जिससे यहाँ भी स्थूलदर्शी लोग गुरु-लघु भावकी कल्पना कर बैठते हैं।

भगवान्की तटस्था शक्ति अनन्त असंख्य समस्त जीवगण हैं। भाव यह कि, भगवान् नित्यसिद्ध अगणित शक्तियोंके आश्रय होनेसे समुद्रवत् परम महान् हैं और जीवगण सच्चिदानन्दकणरूप होनेसे विन्दुतुल्य हैं। अत: इस अंशसे विभिन्न होते हुए भी सच्चिदानन्दस्वरूपतासे तत्त्वत: एकजातीय भी हैं। सुतरां स्वरूपात्मक भी नहीं और सर्वथा विजातीय भी नहीं हैं, इससे तटस्था कहलाते हैं।

और विकारगणसहित अर्थात् महत्तत्त्वसे लेकर महाभूत एवं भौतिक वस्तुओंसहित प्रकृति बहिरङ्गा शक्ति कहलाती है; क्योंकि जड़ होनेसे सर्वथा विजातीय है जो कि दृश्यादृश्य प्राकृत जगत् है।

ये तीनों शक्तियाँ ऐसी हैं जैसे असीम तेज:पुञ्ज सूर्य एक वस्तु है और किरणें सूर्यसे कुछ मिलती और कुछ भिन्न अपर वस्तु हैं और छाया सूर्यसे विलक्षण हो करके भी सूर्याधीन सत्तावाली होनेसे तदीय शक्ति कहानेयोग्य तीसरी वस्तु है। इसी भाँति पूर्वोक्त भगवच्छक्तियोंको भी समझना चाहिये।

इसी बहिरङ्गा शक्तिका निखिल प्रपञ्च शास्त्रोंमें पादविभूति कहाता है।

यद्यपि भगवद्वैभव परिमाणशून्य है तथापि वेद प्रभृति शास्त्रोंने हम अज्ञोंको समझानेके लिये उसके तीन चरणात्मक और एक चरणात्मक द्विविध भाग बतलाये हैं।

एक और तीन कल्पनाका उद्देश्य इतना ही है कि एक भागसे दूसरा भाग अत्यन्त अधिक है जिसमें केवल स्वरूपशक्तिका निष्प्रत्यूह अनन्त स्वच्छन्द विलास है।

दोनों भाग दो विरुद्ध शक्तियोंके क्रीडाधाम हैं और तटस्थाका सञ्चार तो अधिकारानुसार दोनोंहीमें रहा है, रहता है और रहेगा। उन दोनोंमें मिथोवैजात्य-जैसा है ऐसा उनके साथ इसका नहीं है। यह भी तटस्था कहनेका बीज है।

इस प्रकार प्रभेदत्रययुक्त स्वरूपशक्ति, तटस्था शक्ति

और बहिरङ्गा शक्तिमें ही सब प्रमेय आ गया, इनसे बाहर वस्तुसत्ता नहीं हो सकती।

इस भाँति शास्त्रोक्त शक्तितत्त्वका मूल दिग्दर्शन यथामति दिखलाया गया।

अब मैं आपलोगोंसे विदा होता हूँ। यदि सर्वशक्तिमान्‌की इच्छा है तो फिर कोई नवीन उपहार लेकर उपस्थित होनेकी आशा करता हूँ।

यह लेख किसी एकदेशीय दृष्टिसे नहीं लिखा गया प्रत्युत 'सर्वसिद्धान्तसमन्वयसाम्राज्य' के घण्टापथमें ऐकमत्यका डिण्डिमस्वरूप है।

इस लेखमें यदि किसीको कुछ वक्तव्य वा प्रष्टव्य होवे तो मुझे सूचना देनेका श्रम स्वीकार करें।

अपने लिखितांशके उत्तर देनेको मैं सर्वदा एवं सर्वथा सन्नद्ध हूँ।

भगवती शक्तिका ही भजन करता हूँ

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

सुनते हैं कि एक बार पूज्यपाद भगवान् भाष्यकार शाक्त-मतका खण्डन करनेके लिये काश्मीर गये, वहाँ जाते ही उनको इतने दस्त आये कि उनमें उठने-बैठनेकी तो क्या बोलनेतककी शक्ति नहीं रह गयी। तदनन्तर एक बारह वर्षकी सर्व-सौन्दर्य-सम्पन्ना कन्या उनके समीप आकर धीरे-धीरे उनके कानमें इस प्रकार कहने लगी—

'हे शङ्कर! क्या आप शाक्त-मतका खण्डन और अद्वैत-मतका मण्डन कर सकते हैं?'

शङ्करने निर्बलताके कारण धीरेसे कहा—'देवि! मैं आया तो इसी विचारसे हूँ, परन्तु इस समय मुझमें बोलनेकी शक्ति नहीं है, जब मुझमें शक्ति आ जायगी, तभी मैं कुछ कर सकूँगा। बिना शक्तिके कुछ भी नहीं कर सकता।' 'हे विद्वत्तम! जब आप शक्तिबिना कुछ कर नहीं सकते तब शाक्त-मतका खण्डन और अद्वैत-मतका मण्डन कैसे करेंगे? हे सुज्ञ! मैं शिवकी शक्ति शिवा हूँ, शिव तो एक, अद्वितीय, अचल, ध्रुव, कूटस्थ और एकरस हैं, उनमें किसी प्रकारकी क्रिया नहीं हो सकती। क्रिया न होनेसे शिवको कोई जान नहीं सकता और शिव भी किसीको नहीं जान सकते। अपनेको जतलाने और दूसरेको जाननेके लिये ही शिवने मुझ शक्तिको रचा है, यह बात आप जानते हैं, फिर मैं जो शिवके द्वारा रची गयी हूँ, उसका खण्डन आप कैसे कर सकते हैं? खण्डन अथवा मण्डन तो मैं ही करूँगी। शिव तो कुछ करेंगे नहीं। जिसके बिना आप कुछ भी नहीं कर सकते, उसका आप खण्डन नहीं कर सकते। यद्यपि मैं शिवसे भिन्न नहीं हूँ, क्योंकि शिवको छोड़कर मेरी सत्ता ही नहीं है, फिर भी शिवको, अपनेको और जगत्-जीवको मैं ही तो सिद्ध करती हूँ, इसलिये मुझ सबकी सिद्धि करनेवालीका खण्डन आपको नहीं करना चाहिये। संसारमें संसारी, मुमुक्ष और मुक्त तीन प्रकारके मनुष्य हैं, संसारियोंके लिये मैं सच्ची हूँ, मुमुक्षुओंके लिये अनिर्वचनीय हूँ और मुक्त पुरुषोंकी दृष्टिमें मैं शिवसे अभिन्न हूँ। अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार सब ठीक ही कहते हैं। आप आचार्य हैं, आपको कर्मी पुरुषोंकी बुद्धिमें भेद उत्पन्न नहीं करना चाहिये। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्ग अधिकारियोंके भेदसे भिन्न-भिन्न हैं।'

भवानीके वचनोंसे आचार्यजीका समाधान हो गया और वे काश्मीरसे लौट आये। जिसके वचनोंसे जगद्‌गुरुको सन्तोष हो गया, मैं उस भगवती शक्तिका ही भजन करता हूँ।

वह देवी एक होकर भी द्वैतरूपिणी, द्वैताद्वैतरूपिणी और अद्वैतरूपिणी यों तीन रूपवाली हो जाती है, परमेश्वरकी जो अद्भुत शक्ति लौकिक व्यवहार करते समय द्वैतरूपसे प्रतीत होती है, यानी जगत्‌रूप कार्य अथवा सत्य भासती है; साधन-कालमें जो द्वैताद्वैतरूपसे प्रतीत होने लगती है यानी अनेक भी और एक भी भासने लगती है, और समाधिकालमें अथवा मोक्ष-अवस्थामें जो केवल अद्वैत यानी अखण्डरूपसे प्रतीत होने लगती है, परमात्माकी ऐसी अद्भुतस्वरूपा भगवती शक्तिका ही मैं भजन करता हूँ।

वह कौन है? किसकी है? कहाँसे आयी है? उसको किसने रचा है? किसके लिये रचा है? कहाँ

रचा है? कैसे रचा है? और कब रचा है? इत्यादि कुछ भी निर्णय जिसके विषयमें नहीं हो सकता, शिवकी उस अद्भुत भगवती शक्तिका ही भजन करता हूँ। भाव यह है कि अनादि कालसे आजतक जितने विद्वान् हुए हैं, उनमेंसे कोई भी शक्तिके रूपका निर्णय नहीं कर सका। विद्वानोंकी इस पराधीनताको देखकर मुझसे तो इतना ही बन सकता है कि मैं मौन होकर उस अपूर्व, अद्भुत, आश्चर्यरूप शिवशक्तिको प्रणाम ही कर लूँ और अपने मूक नमस्कारोंकी ऐसी झड़ी लगा दूँ जिससे वह देवी अपने स्वरूपको मुझपर प्रकट करनेके लिये रीझ जाय! अल्प शक्तिवाला तो इतना ही कर सकता है, अतएव शक्तिका स्वरूप जाननेके लिये मैं उस भगवती शक्तिका ही भजन करता हूँ।

जगत्‌की उत्पत्ति आदि सब क्रियाओंके कर्ता शिव हैं, भोगोंके भोगनेवाले शिव हैं, ज्ञाता शिव हैं और इस जगत्‌को नियममें रखनेवाले भी शिव हैं, क्योंकि अचेतन शक्तिमें कर्तृत्व आदि धर्म रह ही नहीं सकते, फिर भी जिस अनोखी शक्तिकी सहायतासे इस असङ्ग परमात्मा शिवमें ये सब कर्तृत्व आदि धर्म प्रतीत होने लगते हैं, जो शक्ति केवल निमित्तमात्र हो जाया करती है, निमित्तमात्र होनेपर जो अपने प्रभावसे असंग आत्मा शिवको कर्ता बना डालती है, उस अद्भुत भगवती शक्तिका ही भजन करता हूँ।

शिव स्वरूपसे असङ्ग, अनङ्ग, निर्विकार, अच्युत, भूमा, निष्कल, निरञ्जन, अद्वितीय हैं, ऐसे शिवमें किसी प्रकारकी क्रिया सम्भव ही नहीं है, इसलिये जो स्वयं करनेवाली है, स्वयं भोगनेवाली है, स्वयं जाननेवाली है और स्वयं ही परमेश्वरी बनी बैठी है, शिव तो जिसके केवल साक्षीमात्र हैं, शिवकी उस परम अद्भुत भगवती शक्तिका ही भजन करता हूँ।

परमार्थसे महादेव अपरिच्छिन्नस्वरूप हैं। अपरिच्छिन्न-स्वरूपवाले महादेवमें जो शक्ति अपरिच्छिन्नरूपसे ही विद्यमान रहती है और साधक भी जिसको अपरिच्छिन्न आदि लक्षणोंसे पहचानते हैं, महादेवकी उस अद्भुत भगवती शक्तिका ही भजन करता हूँ।

उपासकोंके लिये महादेव साकाररूप हैं, साकाररूप महादेवमें जो शक्ति साकाररूपसे विद्यमान रहती है और साधक मुमुक्षु जिस शक्तिको साकाररूपसे ही पहचानते हैं, महादेवकी उस विलक्षण परमाद्भुत भगवती शक्तिका ही भजन करता हूँ।

जो शक्ति निर्गुण महादेवमें निर्गुणरूपसे विद्यमान रहती हुई भी मुमुक्षुओंसे लक्षणोंके बिना ही लक्षणावृत्तिसे पहचानी जाती है, महादेवकी उस अद्भुत शक्तिका ही भजन करता हूँ।

मान लो कि कोई एक ऐसा चेतन है, जो चेत्य (चेतन किये हुए) पदार्थोंसे रहित है, वह बेचारा अचेतन-सा ही तो पड़ा होगा, अचेतनके समान पड़े हुए उस चेतनमें जो चेतना उत्पन्न कर देती है, उस अद्भुत शक्तिका ही भजन करता हूँ। भाव यह है कि जबतक आत्मा शिव विषयोंको प्रकाशित नहीं करता, तबतक आत्मा शिवकी स्थिति अचेतन लोष्ठ आदिके समान रहती है, क्योंकि उस चितिसे जाननेयोग्य कोई भी पदार्थ नहीं रहता, इसलिये उस समय अचेतनके समान प्रतीत होते हुए उस आत्मामें जिस शक्तिके कारण विषयोंको प्रकाश करनेवाली चेतना उत्पन्न हो आती है और ऐसा होनेसे संसारी लोगोंको भी उस आत्माके चेतन होनेका निश्चय हो जाता है, उस विस्मयकारिणी भगवती शक्तिका ही भजन करता हूँ।

शिवरूप आत्माका निर्विकल्पक स्वरूप तो किसीका भी प्रकाश करनेमें उपयोगी नहीं हो सकता, इसलिये जो शक्ति स्वयं सविकल्पस्वरूप चेतनसे ही प्रकाशित होती है, उस शक्तिको प्रकाशित करनेसे प्रथम प्रकाशयितव्य पदार्थोंके विद्यमान न होनेसे उस चेतनकी अवस्था किसी शून्य घरमें जलते हुए निष्फल प्रकाशवाले दीपककी-सी हुआ करती है, इसलिये उस समय शिवरूप आत्मा चेत्य पदार्थोंसे रहित चिन्मात्ररूपी ही रहता है। जो शक्ति उस चिन्मात्र शिवरूप आत्मामें व्यावहारिक विषयोंको प्रकाशित करनेवाली चेतनाको उत्पन्न कर देती है, उस आश्चर्यकारिणी भगवती शक्तिका ही भजन करता हूँ।

जिस शिवके पास शक्ति है ही नहीं, ऐसा बिना शक्तिका असक्त शिव कर ही क्या सकता है? जिस शक्तिके सहारेसे यह असङ्ग सच्चिदानन्द आत्मस्वरूप शिव अपने कार्योंको करनेमें समर्थ होता है, उस अद्भुत अघटन-घटना-पटीयसी भगवती शक्तिका ही भजन करता हूँ।

जो शक्ति शक्तिवाले पदार्थमें रहकर ही अपने कार्योंके करनेमें समर्थ होती है, शक्तिवाले पदार्थमें रहे बिना कुछ नहीं कर सकती, शिवरूप आश्रयको छोड़ते ही जो शक्ति असमर्थ होकर क्षणभरमें जगद्व्यापारको बन्द कर देती है, शिवकी अनन्य भक्ता उस भगवती शक्तिका ही भजन करता हूँ।

निर्विकल्प आत्मस्वरूप शिवके प्राप्त होते ही न तो कोई शक्ति रहती है और न कोई शक्तिमान्, यानी अव्याकृत नामक शबल आत्मा ही रहता है, क्योंकि उस निर्विकल्प अवस्थाके आनेपर वह शक्ति शिवमें समरसता यानी एकताको प्राप्त हो जाती है, समरसताको प्राप्त हुई उस अद्भुत शक्तिका ही भजन करता हूँ।

श्रेयाभिलाषी, आत्मप्रेमी, शिवभक्त, शिवारक्त भावुक लोग जब इस प्रकार शिव और शक्तिके स्वरूपका विचार करेंगे, तब उनके गङ्गा-नीरके समान स्वच्छ हृदयमें स्वभावसे ही कैलास-पर्वतके समान शिव और शिवा दोनों क्रीडा करने लगेंगे और सहजमें ही सामरस्यका यानी एकताका अर्थात् अखण्डानन्दका समुद्र उमड़ पड़ेगा, अखण्डानन्दके समुद्रमें अथवा अखण्डानन्दरूप समुद्रमें लीन हुई एकरस, शान्तरस, स्वयंसिद्धरस, स्वयंज्योतिरस, पूर्णानन्दरस, अद्वितीयरस, अवर्णनीयरस, चिन्मात्ररस, रसातीतरसरूप सुखदायिनी, शिवकी भवानी भगवती शक्तिका ही भजन करता हूँ।

जो शक्ति भगवद्भक्तमें भक्तिके रूपमें निवास करती है, अज्ञानी पुरुषोंमें अज्ञानरूपसे रहती है, आत्मज्ञानियोंमें आत्मविद्यारूपसे विद्यमान रहती है, जगत्की उत्पत्तिके समयमें ब्रह्मारूपसे प्रकट हो जाती है, जगत्की स्थितिमें हरिका रूप धारण कर लेती है, जगत्के संहार-कालमें रुद्र-मूर्ति बन जाती है, जगत्के उत्पन्न करनेके सङ्कल्पसे प्रथम केवल चैतन्यस्वरूपमें रहती है, जीवोंमें अनेक प्रकारके विषयोंकी वासनाके रूपसे वास करती है, जड़ काष्ठ आदिमें घोर अज्ञानरूपसे दृष्टिगोचर होती है, उस शक्तिका यहाँतक संसारी रूपोंमें ध्यान करके अब मैं उस अद्भुत शक्तिको ध्यानमें लाता हूँ, जो शक्ति अव्याकृतसे परे है, जिसको वेदवेत्ता अधिष्ठान चैतन्य बताते हैं, उससे परे जो शुद्ध निर्विकार परमपद है, उस परमपदमें पहुँचकर जो अपनी आनन्द-लीला करने लगती है, उस भगवती शक्तिका ही भजन करता हूँ।

कोई सङ्गीत-प्रेमी दिन-रात ताल-ठप्पे उड़ाता हुआ मोद मानता है, कोई गाना सुननेका व्यसनी सर्वदा राग-रागिनियाँ सुनता हुआ मग्न रहता है, कोई कोमल गद्दे-तकियोंमें प्रीति करनेवाला निरन्तर कोमल रेशमी वस्त्रोंके नित्य नये गद्दे-तकिये बनवाकर उनके ऊपर लोट लगाता हुआ और यथासम्भव कठिन भूमिमें पैर न रखता हुआ अपनेको धन्य मानता है, कोई मेले-तमाशे देखनेमें, कोई देश-विदेशकी सैर करनेमें, कोई अजायबघरोंमें जाकर उनके चित्र उतारनेमें अपना सौभाग्य समझता है, किसीको मीठे-सलोने छप्पन प्रकारके भोजन अच्छे लगते हैं, नित्य-नये भोजन करनेमें ही वह मनुष्यत्वको सफल मानता है और कोई बढ़ियासे भी बढ़िया इतर सूँघना और सुगन्धित पुष्पोंकी वाटिकामें ही बैठा रहना चाहता है। इन पाँचों विषयोंसे जो आनन्द होता है, उस आनन्दका नाम विषयानन्द है, मूर्ख पामर लोग इस विषयानन्दको चाहा करते हैं, ये विषयानन्द पूर्णानन्दके अति तुच्छ कण हैं, ऐसे इन विषयानन्द नामके सम्पूर्ण आनन्दोंको तीव्र वैराग्यसे छोड़कर ब्रह्मानन्दके स्वरूपको बतानेवाली, उपनिषदोंमें वर्णन किये हुए आनन्दकी सीमाकी परम अवधि बनी हुई, आनन्दस्वरूपमें तन्मय हुई उस भगवती शक्तिका ही भजन करता हूँ।

पाठक! शक्तिका एक उपासक उपर्युक्त प्रकारसे शिव और शक्तिका विचार करके दोनोंके तत्त्वको जानकर परम सुखी हुआ। आशा है, अन्य भी जो कोई इसका विचार करेगा, वह भी सुखी होगा। सबका सार यह है—

कुं०—शिवशक्तीमें भेद है, अथवा नाहीं भेद।
भेद जिसे ऐसा मिला, सो ना पाता खेद॥
सो ना पाता खेद, शक्तिशिवमय जग जाने।
शिवको जगसे भिन्न, शुद्ध अच्युत पहिचाने॥
भोला! विश्व न देख, ब्रह्ममें लय कर वृत्ती।
रहे न रंचक भेद, एक होवें शिवशक्ती॥

सर्वोपरि महाशक्ति

(लेखक—श्रीस्वामी पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज श्रीजानकीघाट, अयोध्याजी)

चकाराराधनं तस्य मन्त्रराजेन भक्तितः।
कदाचिच्छ्रीशिवो रूपं ज्ञातुमिच्छुर्हरेः परम्॥
दिव्यवर्षशतं वेदविधिना विधिवेदिना।
जजाप परमं जाप्यं रहस्ये स्थितचेतसा॥
प्रसन्नोऽभूत्तदा देवः श्रीरामः करुणाकरः।
मन्त्राराध्येन रूपेण भजनीयः सतां प्रभुः॥

श्रीराम उवाच

द्रष्टुमिच्छसि यद्रूपं मदीयं भावनास्पदम्।
आह्लादिनीं परां शक्तिं स्तूयाः सात्वतसम्मताम्॥
तदाराध्यस्तदारामस्तदधीनस्तया विना।
तिष्ठामि न क्षणं शम्भो जीवनं परमं मम॥
इत्युक्त्वा देवदेवेशो वशीकरणमात्मनः।
पश्यतस्तस्य रूपं स्वमन्तर्धानं दधौ प्रभुः॥
श्रुत्वा रूपं तदा शम्भुस्तस्याः श्रीहरिवक्त्रतः।
अचिन्तयत्समाधाय मनः कारणमात्मनः॥
अस्फुरत्कृपया तस्य रूपं तस्याः परात्परम्।
दुर्निरीक्ष्यं दुराराध्यं सात्वतां हृदयङ्गमम्॥
आश्रयं सर्वलोकानां ध्येयं योगविदां तथा।
आराध्यं मुनिमुख्यानां सेव्यं संयमिनां सताम्॥
दृष्ट्वाश्चर्यमयं सर्वं रूपं तस्याः सुरेश्वरः।
तुष्टाव जानकीं भक्त्या मूर्तिमतीं प्रभाविणीम्॥
वन्दे विदेहतनयापदपुण्डरीकं
कैशोरसौरभसमाहृतयोगिचित्तम्।
हन्तुं त्रितापमनिशं मुनिहंससेव्यं
सन्मानसालिपरिपीतपरागपुञ्जम्॥

(अगस्त्यसंहिता)

अर्थात्—'श्रीरामजीके पर रूपको जाननेकी इच्छा करनेवाले श्रीशिवजीने किसी समय श्रीरामजीका मन्त्रराजसे आराधन किया।'

'श्रीशिवजीने एकान्तमें स्थिर चित्तसे आचार्यद्वारा जानी हुई विधिसे तथा वेदविधिसे दिव्य सौ वर्षतक परम जाप्य (श्रीराममन्त्रराज)-का जप किया, तब भक्तोंसे भजनीय प्रभु करुणाकर श्रीरामदेवजी मन्त्राराध्य-रूपसे प्रसन्न हुए।'

श्रीरामजी बोले—'अगर मेरे भावनास्पद (भावनाके स्थान)-रूपको देखनेकी इच्छा करते हो तो भक्तजन-सम्मत मेरी आह्लादिनी पराशक्तिकी स्तुति करो।'

'हे शम्भो! मैं उनके सहित आराध्य हूँ; उन्हींसे मुझको आराम है; उन्हींके मैं आधीन हूँ; उनके बिना मैं एक क्षण भी नहीं रह सकता, क्योंकि वे मेरा परम जीवन हैं।'

'देवाधिदेव महादेवके ईश प्रभु श्रीरामजीने अपने वशीभूत होनेका उपाय कहकर उन श्रीशिवजीके देखते-देखते अपने रूपको अन्तर्धान कर लिया।'

'तब श्रीशिवजीने उन श्रीजानकीजीके रूपको श्रीरामजीके मुखसे सुनकर अपने कारणरूप मनको एकत्र कर चिन्तन अर्थात् ध्यान किया!'

'जिसका दर्शन और आराधन कठिन अर्थात् कष्टसाध्य है, जिसका भक्तोंके हृदयमें निवास है, जो सब लोकोंका आश्रय है, जो योगियोंका ध्येय है, जो मुख्य-मुख्य मुनियोंका आराध्य एवं संयमी भक्तोंका सेव्य है, ऐसा श्रीजानकीजीका परात्पररूप उनकी कृपासे श्रीशिवजीको प्रत्यक्ष हुआ।'

'देवताओंके ईश्वर श्रीशिवजी मूर्तिमती और प्रभाव-शालिनी श्रीजानकीजीके आश्चर्यमय नखशिख समग्र रूपको देखकर उनकी भक्तिसे स्तुति करने लगे।'

'अति नवीन सुगन्धसे योगियोंके चित्तको हरने-वाला, रात-दिन मुनिरूपी हंसोंसे सेवनीय, भक्तोंके मानसरूपी भ्रमरोंसे भले प्रकार पान किये हुए पराग-वाले श्रीविदेहराजकुमारीजीके चरणकमलोंकी मैं तीनों तापोंको दूर करनेके लिये वन्दना करता हूँ।'

श्रीअगस्त्यसंहिताके उपर्युक्त अवतरणसे यह स्पष्ट है कि महाशक्ति ही सर्वोपरि है, ब्रह्म शक्तिके सहित ही आराध्य है। जैसे पुष्पसे गन्ध पृथक् नहीं किया जा सकता, वह उसीमें सन्निहित है, उससे अभिन्न है, उसी तरह ब्रह्म और शक्ति कथनमात्रके लिये दो हैं, वस्तुतः वे परस्पर अभिन्न ही हैं। जैसे गन्ध ही चतुर्दिक्में व्याप्त होकर पुष्पविशेषका परिचय देता है उसी तरह शक्ति ही ब्रह्मतत्त्वका बोध कराती है।

श्रीदेव्यपराधक्षमापनस्तोत्र

(लेखक—पं० श्रीरमाशंकरजी मिश्र 'श्रीपति')

(१)

न मंत्रोंको जाना नहिं यतन आती स्तुति नहीं,
न आता है माता तव स्मरण आह्वान स्तुति ही,
न मुद्राएँ आतीं जननि नहिं आता विलपना,
हमें आता तेरा अनुसरण ही क्लेशहर जो।

(२)

न आती पूजाकी विधि न धन आलस्ययुत मैं,
रहा कर्तव्योंसे विमुख चरणोंमें रति नहीं,
क्षमा दो हे माता अयि सकल उद्धारिणि शिवा!
कुपुत्रोंको देखा कबहुँक कुमाता नहिं सुनी।

(३)

धरित्रीमें माता सरल शिशु तेरे बहुत हैं,
उन्हींमें तो मैं भी सरल शिशु तेरा जननि हूँ,
अतः हे कल्याणी समुचित नहीं मोहिं तजना,
कुपुत्रोंको देखा कबहुँक कुमाता नहिं सुनी।

(४)

जगन्माता अंबे तव चरणसेवा नहिं रची,
तुम्हारी पूजामें नहिं प्रचुर द्रव्यादिक दिया,
अहो! तो भी माता तुम अमित स्नेहार्द्र रहतीं,
कुपुत्रोंको देखा कबहुँक कुमाता नहिं सुनी।

(५)

सुरोंकी सेवाएँ विविध विधिकी, हैं सब तजी,
पचासीसे भी हे जननि वय बीती अधिक है,
नहीं होती तेरी मुझपर कृपा तो अब भला,
निरालंबी लंबोदर-जननि जाएँ हम कहाँ?

(६)

मनोहारी वाणी अधम जन चांडाल लहते,
दरिद्री होते हैं अभय बहु द्रव्यादिक भरे,
अपर्णे कर्णोंमें यह फल जनोंके प्रविशता,
अहो! तो भी आती जपविधि किसे है जननि हे!

(७)

चिताभस्मालेपी गरल अशनी दिक्पट धरे,
जटाधारी कंठे भुजगपति माला पशुपति,
कपाली पाते हैं इह जग जगन्नाथपदवी,
शिवे! तेरी पाणिग्रहण परिपाटी फल यही।

(८)

न है मोक्षाकांक्षा नहिं विभववाञ्छा हृदयमें,
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छा अब नहीं,
यही यांचा मेरी निज तनयको रक्षित करो,
मृडानी रुद्राणी शिव शिव भवानी जपति जो।

(९)

नाना प्रकार उपचार किए नहीं हैं,
रूखा न चिंतन किया वचसा कभी भी,
श्यामे! अनाथ मुझको लख जो कृपा हो,
तो है यही उचित अंब! तुम्हें सदा ही।

(१०)

आपत्तिसे व्यथित हो तुमको भजूँ मैं,
करो कृपा हे करुणार्णवे! शिवे!!
मेरे शठत्वपर आप न ध्यान देना,
क्षुधा तृषार्ता जननी पुकारते।

(११)

जगदंब विचित्र यह क्या, परिपूर्ण करुणा यदि करो,
अपराध करे तनय तो, जननी नहिं अनादर करे।

(१२)

अघहारी तो सम नहीं, मो सम पापी नाहिं।
जननी यह जिय जानिकै, जो भावै करु सोय॥

शक्तिका रहस्य

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

शक्तिके विषयमें कुछ लिखनेके लिये भाई हनुमानप्रसाद पोद्दारने प्रेरणा की, किन्तु 'शक्ति' शब्द बहुव्यापक होनेके कारण इसके रहस्यको समझनेकी मैं अपनेमें शक्ति नहीं देखता; तथापि उनके आग्रहसे अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार यत्किञ्चित् लिख रहा हूँ।

शक्तिके रूपमें ब्रह्मकी उपासना

शास्त्रोंमें 'शक्ति' शब्दके प्रसङ्गानुसार अलग-अलग अर्थ किये गये हैं। तान्त्रिक लोग इसीको पराशक्ति कहते हैं और इसीको विज्ञानानन्दघन ब्रह्म मानते हैं। वेद, शास्त्र, उपनिषद्, पुराण आदिमें भी 'शक्ति' शब्दका प्रयोग देवी, पराशक्ति, ईश्वरी, मूलप्रकृति आदि नामोंसे विज्ञानानन्दघन निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्मके लिये भी किया गया है। विज्ञानानन्दघन ब्रह्मका तत्त्व अति सूक्ष्म एवं गुह्य होनेके कारण शास्त्रोंमें उसे नाना प्रकारसे समझानेकी चेष्टा की गयी है। इसलिये 'शक्ति' नामसे ब्रह्मकी उपासना करनेसे भी परमात्माकी ही प्राप्ति होती है। एक ही परमात्मतत्त्वकी निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, देव, देवी, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, राम, कृष्ण आदि अनेक नामरूपसे भक्तलोग उपासना करते हैं। रहस्यको जानकर शास्त्र और आचार्योंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार उपासना करनेवाले सभी भक्तोंको उसकी प्राप्ति हो सकती है। उस दयासागर प्रेममय सगुण, निर्गुणरूप परमेश्वरको सर्वोपरि, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण गुणाधार, निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा समझकर श्रद्धापूर्वक निष्काम प्रेमसे उपासना करना ही उसके रहस्यको जानकर उपासना करना है, इसलिये श्रद्धा और प्रेमपूर्वक उस विज्ञानानन्दस्वरूपा महाशक्ति भगवती देवीकी उपासना करनी चाहिये। वह निर्गुणस्वरूपा देवी जीवोंपर दया करके स्वयं ही सगुणभावको प्राप्त होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपसे उत्पत्ति, पालन और संहारकार्य करती है।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं—

त्वमेव सर्वजननी मूलप्रकृतिरीश्वरी।
त्वमेवाद्या सृष्टिविधौ स्वेच्छया त्रिगुणात्मिका॥
कार्यार्थे सगुणा त्वं च वस्तुतो निर्गुणा स्वयम्।
परब्रह्मस्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी॥
तेजःस्वरूपा परमा भक्तानुग्रहविग्रहा।
सर्वस्वरूपा सर्वेशा सर्वाधारा परात्परा॥
सर्वबीजस्वरूपा च सर्वपूज्या निराश्रया।
सर्वज्ञा सर्वतोभद्रा सर्वमङ्गलमङ्गला॥

(ब्रह्मवैवर्तपु० प्रकृति० २। ६६। ७—१०)

तुम्हीं विश्वजननी मूलप्रकृति ईश्वरी हो, तुम्हीं सृष्टिकी उत्पत्तिके समय आद्याशक्तिके रूपमें विराजमान रहती हो और स्वेच्छासे त्रिगुणात्मिका बन जाती हो। यद्यपि वस्तुतः तुम स्वयं निर्गुण हो तथापि प्रयोजनवश सगुण हो जाती हो। तुम परब्रह्मस्वरूप, सत्य, नित्य एवं सनातनी हो। परमतेजस्वरूप और भक्तोंपर अनुग्रह करनेके हेतु शरीर धारण करती हो। तुम सर्वस्वरूपा, सर्वेश्वरी, सर्वाधार एवं परात्पर हो। तुम सर्वबीजस्वरूप, सर्वपूज्या एवं आश्रयरहित हो। तुम सर्वज्ञ, सर्वप्रकारसे मङ्गल करनेवाली एवं सर्वमङ्गलोंकी भी मङ्गल हो।

उस ब्रह्मरूप चेतनशक्तिके दो स्वरूप हैं—एक निर्गुण और दूसरा सगुण। सगुणके भी दो भेद हैं—एक निराकार और दूसरा साकार। इसीसे सारे संसारकी उत्पत्ति होती है। उपनिषदोंमें इसीको पराशक्तिके नामसे कहा गया है।

तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्। सर्वे मरुद्गणा अजीजनन्। गन्धर्वाप्सरसः किन्नरा वादित्रवादिनः समन्तादजीजनन्। भोग्यमजीजनत्। सर्वमजीजनत्। सर्वं शाक्तमजीजनत्। अण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जं जरायुजं यत्किञ्चैतत्प्राणि स्थावरजङ्गमं मनुष्यमजीजनत्। सैषा पराशक्तिः।

(बह्वृचोपनिषद्)

उस पराशक्तिसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र उत्पन्न हुए। उसीसे सब मरुद्गण, गन्धर्व, अप्सराएँ और बाजा बजानेवाले किन्नर सब ओरसे उत्पन्न हुए। समस्त भोग्य-पदार्थ और अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, जरायुज जो कुछ भी स्थावर, जङ्गम मनुष्यादि प्राणीमात्र उसी पराशक्तिसे उत्पन्न हुए (ऐसी वह पराशक्ति है)।

ऋग्वेदमें भगवती कहती है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यह-
मादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यह-
मिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥

(ऋग्वेद० अष्टक ८।७।११)

अर्थात् 'मैं रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वेदेवोंके रूपमें विचरती हूँ। वैसे ही मित्र, वरुण, इन्द, अग्नि और अश्विनीकुमारोंके रूपको धारण करती हूँ।'

ब्रह्मसूत्रमें भी कहा है कि—

'सर्वोपेता तद्दर्शनात्' (द्वि० अ० प्रथमपाद)

'वह पराशक्ति सर्वसामर्थ्यसे युक्त है क्योंकि यह प्रत्यक्ष देखा जाता है।'

यहाँ भी ब्रह्मका वाचक स्त्रीलिङ्ग शब्द आया है। ब्रह्मकी व्याख्या शास्त्रोंमें स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग आदि सभी लिङ्गोंमें की गयी है। इसलिये महाशक्तिके नामसे भी ब्रह्मकी उपासना की जा सकती है। बंगालमें श्रीरामकृष्ण परमहंसने माँ, भगवती, शक्तिके रूपमें ब्रह्मकी उपासना की थी। वे परमेश्वरको माँ, तारा, काली आदि नामोंसे पुकारा करते थे। और भी बहुत-से महात्मा पुरुषोंने स्त्रीवाचक नामोंसे विज्ञानानन्दघन परमात्माकी उपासना की है। ब्रह्मकी महाशक्तिके रूपमें श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावसे उपासना करनेसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

शक्ति और शक्तिमान्‌की उपासना

बहुत-से सज्जन इसको भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति मानते हैं। महेश्वरी, जगदीश्वरी, परमेश्वरी भी इसीको कहते हैं। लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, राधा, सीता आदि सभी इस शक्तिके ही रूप हैं। माया, महामाया, मूलप्रकृति, विद्या, अविद्या आदि भी इसीके रूप हैं। परमेश्वर शक्तिमान् है और भगवती परमेश्वरी उसकी शक्ति है। शक्तिमान्‌से शक्ति अलग होनेपर भी अलग नहीं समझी जाती। जैसे अग्निकी दाहिका शक्ति अग्निसे भिन्न नहीं है। यह सारा संसार शक्ति और शक्तिमान्‌से परिपूर्ण है और उसीसे इसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं। इस प्रकार समझकर वे लोग शक्तिमान् और शक्ति युगलकी उपासना करते हैं। प्रेमस्वरूपा भगवती ही भगवान्‌को सुगमतासे मिला सकती है। इस प्रकार समझकर कोई-कोई केवल भगवतीकी ही उपासना करते हैं। इतिहास-पुराणादिमें सब प्रकारके उपासकोंके लिये प्रमाण भी मिलते हैं।

इस महाशक्तिरूपा जगज्जननीकी उपासना लोग नाना प्रकारसे करते हैं। कोई तो इस महेश्वरीको ईश्वरसे भिन्न समझते हैं और कोई अभिन्न मानते हैं। वास्तवमें तत्त्वको समझ लेना चाहिये फिर चाहे जिस प्रकार उपासना करे कोई हानि नहीं है। तत्त्वको समझकर श्रद्धाभक्तिपूर्वक उपासना करनेसे सभी उस एक प्रेमास्पद परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं।

सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी उपासना

श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहासादि शास्त्रोंमें इस गुणमयी विद्या-अविद्यारूपा मायाशक्तिको प्रकृति, मूलप्रकृति, महामाया, योगमाया आदि अनेक नामोंसे कहा है। उस मायाशक्तिकी व्यक्त और अव्यक्त यानी साम्यावस्था तथा विकृतावस्था दो अवस्थाएँ हैं। उसे कार्य, कारण एवं व्याकृत, अव्याकृत भी कहते हैं। तेईस तत्त्वोंके विस्तारवाला यह सारा संसार तो उसका व्यक्त स्वरूप है। जिससे सारा संसार उत्पन्न होता है और जिसमें यह लीन हो जाता है वह उसका अव्यक्त स्वरूप है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

(गीता ८।१८)

अर्थात् 'सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेश-कालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेश-कालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं'।

संसारकी उत्पत्तिका कारण कोई परमात्माको और कोई प्रकृतिको तथा कोई प्रकृति और परमात्मा दोनोंको बतलाते हैं। विचार करके देखनेसे सभीका कहना ठीक है। जहाँ संसारकी रचयिता प्रकृति है वहाँ समझना चाहिये कि पुरुषके सकाशसे ही गुणमयी प्रकृति संसारको रचती है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

(गीता ९।१०)

अर्थात् 'हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित सर्व जगत्‌को रचती है और इस ऊपर कहे हुए हेतुसे ही यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है।'

जहाँ संसारका रचयिता परमेश्वर है वहाँ सृष्टिके रचनेमें प्रकृति द्वार है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥

(गीता ९। ८)

अर्थात् 'अपनी त्रिगुणमयी मायाको अङ्गीकार करके स्वभावके वशसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको बारम्बार उनके कर्मोंके अनुसार रचता हूँ।'

वास्तवमें प्रकृति और पुरुष दोनोंके संयोगसे ही चराचर संसारकी उत्पत्ति होती है।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

(गीता १४। ३)

अर्थात् 'हे अर्जुन! मेरी महद्ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापन करता हूँ। उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है।'

क्योंकि विज्ञानानन्दघन, गुणातीत परमात्मा निर्विकार होनेके कारण उसमें क्रियाका अभाव है और त्रिगुणमयी माया जड होनेके कारण उसमें भी क्रियाका अभाव है। इसलिये परमात्माके सकाशसे जब प्रकृतिमें स्पन्द होता है तभी संसारकी उत्पत्ति होती है। अतएव प्रकृति और परमात्माके संयोगसे ही संसारकी उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं। महाप्रलयमें कार्यसहित तीनों गुण कारणमें लय हो जाते हैं तब उस प्रकृतिकी अव्यक्तस्वरूप साम्यावस्था हो जाती है। उस समय सारे जीव, स्वभाव, कर्म और वासनासहित उस मूल प्रकृतिमें अव्यक्तरूपसे स्थित रहते हैं। प्रलयकालकी अवधि समाप्त होनेपर उस मायाशक्तिमें ईश्वरके सकाशसे स्फूर्ति होती है तब विकृत अवस्थाको प्राप्त हुई प्रकृति तेईस तत्त्वोंके रूपमें परिणत हो जाती है तब उसे व्यक्त कहते हैं। फिर ईश्वरके सकाशसे ही वह गुण, कर्म और वासनाके अनुसार फल भोगनेके लिये चराचर जगत्को रचती है।

त्रिगुणमयी प्रकृति और परमात्माका परस्पर आधेय और आधार एवं व्याप्यव्यापकसम्बन्ध है। प्रकृति आधेय और परमात्मा आधार है। प्रकृति व्याप्य और परमात्मा व्यापक है। नित्य चेतन, विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी एक अंशमें चराचर जगत्के सहित प्रकृति है। जैसे तेज, जल, पृथिवी आदिके सहित वायु आकाशके आधार है वैसे ही यह परमात्माके आधार है। जैसे बादल आकाशसे व्याप्त है वैसे ही परमात्मासे प्रकृतिसहित यह सारा संसार व्याप्त है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

(गीता ९। ६)

अर्थात् 'जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही मेरे सङ्कल्पद्वारा उत्पत्तिवाले होनेसे सम्पूर्ण भूत मेरेमें स्थित हैं—ऐसे जान।'

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०। ४२)

अर्थात् 'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

ईशावास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(ईश० १)

अर्थात् 'त्रिगुणमयी मायामें स्थित यह सारा चराचर जगत् ईश्वरसे व्याप्त है।'

किन्तु उस त्रिगुणमयी मायासे वह लिपायमान नहीं होता। क्योंकि विज्ञानानन्दघन परमात्मा गुणातीत केवल और सबका साक्षी है।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

(श्वेता० ६। ११)

अर्थात् 'जो देव सब भूतोंमें छिपा हुआ, सर्वव्यापक, सर्व भूतोंका अन्तरात्मा (अन्तर्यामी आत्मा), कर्मोंका अधिष्ठाता, सब भूतोंका आश्रय, सबका साक्षी, चेतन, केवल और निर्गुण यानी सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंसे परे है वह एक है।'

इस प्रकार गुणोंसे रहित परमात्माको अच्छी प्रकार जानकर मनुष्य इस संसारके सारे दुःखों और क्लेशोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इसके जाननेके

लिये सबसे सहज उपाय उस परमेश्वरकी अनन्य शरण है। इसलिये उस सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सच्चिदानन्द परमात्माकी सर्व प्रकारसे शरण होना चाहिये।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७। १४)

अर्थात् 'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है परन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

विद्या-अविद्यारूप त्रिगुणमयी यह महामाया बड़ी विचित्र है। इसे कोई अनादि, अनन्त और कोई अनादि-सान्त मानते हैं। तथा कोई इसको सत् और कोई असत् कहते हैं एवं कोई इसको ब्रह्मसे अभिन्न और कोई इसे ब्रह्मसे भिन्न बतलाते हैं। वस्तुतः यह माया बड़ी विलक्षण है इसलिये इसको अनिर्वचनीय कहा है।

अविद्या—दुराचार, दुर्गुणरूप आसुरी, राक्षसी, मोहिनी प्रकृति, महत्तत्त्वका कार्यरूप यह सारा दृश्यवर्ग इसीका विस्तार है।

विद्या—भक्ति, पराभक्ति, ज्ञान, विज्ञान, योग, योगमाया, समष्टि बुद्धि, शुद्ध बुद्धि, सूक्ष्म बुद्धि, सदाचार, सद्गुणरूप दैवी सम्पदा—यह सब इसीका विस्तार है।

जैसे ईंधनको भस्म करके अग्नि स्वतः शान्त हो जाती है वैसे ही अविद्याका नाश करके विद्या स्वतः भी शान्त हो जाती है, ऐसे मानकर यदि मायाको अनादि-सान्त बतलाया जाय तो यह दोष आता है कि यह माया आजसे पहले ही सान्त हो जानी चाहिये थी। यदि कहें भविष्यमें सान्त होनेवाली है तो फिर इससे छूटनेके लिये प्रयत्न करनेकी क्या आवश्यकता है? इसके सान्त होनेपर सारे जीव अपने-आप ही मुक्त हो जायँगे। फिर भगवान् किसलिये कहते हैं कि यह त्रिगुणमयी मेरी माया तरनेमें बड़ी दुस्तर है किन्तु जो मेरी शरण हो जाते हैं वे इस मायाको तर जाते हैं।

यदि इस मायाको अनादि, अनन्त बतलाया जाय तो इसका सम्बन्ध भी अनादि, अनन्त होना चाहिये। सम्बन्ध अनादि, अनन्त मान लेनेसे जीवका कभी छुटकारा हो ही नहीं सकता और भगवान् कहते हैं कि क्षेत्र, क्षेत्रज्ञके अन्तरको तत्त्वसे समझ लेनेपर जीव मुक्त हो जाता है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

(गीता १३। ३४)

अर्थात् 'इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको* तथा विकारसहित प्रकृतिसे छूटनेके उपायको जो पुरुष ज्ञान-नेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं वे महात्माजन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

इसलिये इस मायाको अनादि, अनन्त भी नहीं माना जा सकता। इसे न तो सत् ही कहा जा सकता है और न असत् ही। असत् तो इसलिये नहीं कहा जा सकता कि इसका विकाररूप यह सारा संसार प्रत्यक्ष प्रतीत होता है और सत् इसलिये नहीं बतलाया जाता कि यह दृश्य जडवर्ग सर्वथा परिवर्तनशील होनेके कारण इसकी नित्य सम स्थिति नहीं देखी जाती।

इस मायाको परमेश्वरसे अभिन्न भी नहीं कह सकते क्योंकि माया यानी प्रकृति जड, दृश्य, दुःखरूप विकारी है और परमात्मा चेतन, द्रष्टा, नित्य, आनन्दरूप और निर्विकार हैं। दोनों अनादि होनेपर भी परस्पर इनका बड़ा भारी अन्तर है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

(श्वेता० ४। १०)

त्रिगुणमयी मायाको तो प्रकृति (तेईस तत्त्व जडवर्गका कारण) तथा मायापतिको महेश्वर जानना चाहिये।

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते
विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या
विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

(श्वेता० ५। १)

जिस सर्वव्यापी, अनन्त, अविनाशी, परब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मामें विद्या, अविद्या दोनों स्थित हैं। अविद्या क्षर है, विद्या अमृत है (क्योंकि विद्यासे अविद्याका नाश होता है) तथा विद्या, अविद्यापर शासन करनेवाला वह परमात्मा दोनोंसे ही अलग है।

* क्षेत्रको जड, विकारी, क्षणिक और नाशवान् तथा क्षेत्रज्ञको नित्य, चेतन, अविकारी और अविनाशी जानना ही उनके भेदको जानना है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

(गीता १५। १८)

अर्थात् 'क्योंकि मैं नाशवान् जडवर्ग क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और मायामें स्थित अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

इसलिये इस मायाको परमेश्वरसे अभिन्न नहीं कह सकते। वेद और शास्त्रोंमें इसे ब्रह्मका रूप बतलाया है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

'वासुदेवः सर्वमिति' (गीता ७। १९)

'सदसच्चाहमर्जुन' (गीता ९। १९)

तथा माया ईश्वरकी शक्ति है और शक्तिमान्से शक्ति अभिन्न होती है। जैसे अग्निकी दाहिका शक्ति अग्निसे अभिन्न है इसलिये परमात्मासे इसे भिन्न भी नहीं कह सकते ।

चाहे जैसे हो तत्त्वको समझकर उस परमात्माकी उपासना करनी चाहिये। तत्त्वको समझकर की हुई उपासना ही सर्वोत्तम है। जो उस परमेश्वरको तत्त्वसे समझ जाता है वह उसको एक क्षण भी नहीं भूल सकता, क्योंकि सब कुछ परमात्मा ही है, इस प्रकार समझनेवाला परमात्माको कैसे भूल सकता है? अथवा जो परमात्माको सारे संसारसे उत्तम समझता है वह भी परमात्माको छोड़कर दूसरी वस्तुको कैसे भज सकता है? यदि भजता है तो परमात्माके तत्त्वको नहीं जानता। क्योंकि यह नियम है कि मनुष्य जिसको उत्तम समझता है उसीको भजता है यानी ग्रहण करता है।

मान लीजिये एक पहाड़ है। उसमें लोहे, ताँबे, शीशे और सोनेकी चार खानें हैं। किसी ठेकेदारने परिमित समयके लिये उन खानोंको ठेकेपर ले लिया और वह उससे माल निकालना चाहता है तथा चारों धातुओंमेंसे किसीको भी निकालो, समय करीब-करीब बराबर ही लगता है। उन चारोंमें सोना सर्वोत्तम है। इन चारोंकी क़ीमतको जाननेवाला ठेकेदार सोनेके रहते हुए, सोनेको छोड़कर क्या लोहा, ताँबा, शीशा निकालनेके लिये अपना समय लगा सकता है? कभी नहीं। सर्व प्रकारसे वह तो केवल सुवर्ण ही निकालेगा। वैसे ही माया और परमेश्वरके तत्त्वको जाननेवाला परमेश्वरको छोड़कर नाशवान्, क्षणभङ्गुर भोग और अर्थके लिये अपने अमूल्य समयको कभी नहीं लगा सकता। वह सब प्रकारसे निरन्तर परमात्माको ही भजेगा।

गीतामें भी कहा है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

अर्थात् 'हे अर्जुन! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

इस प्रकार ईश्वरकी अनन्य भक्ति करनेसे मनुष्य परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है। इसलिये श्रद्धापूर्वक निष्काम, प्रेमभावसे नित्य-निरन्तर परमेश्वरका भजन, ध्यान करनेके लिये प्राणपर्यन्त प्रयत्नशील रहना चाहिये।

शक्तिसामर्थ्य

(लेखक—स्वामी श्रीविद्यानन्दजी महाराज, गीतामन्दिर करनाली)

प्रकृतिके साम्राज्यमें याने दुनियाके तख्तेपर कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसमें कोई-न-कोई शक्ति न हो। आकार-प्रकारमें किसी पदार्थके छोटे-बड़े होनेके कारण उसमें शक्ति भी न्यूनाधिक होगी, यह नियम नहीं है। अधिक लोहखण्डकी अपेक्षा स्वल्प स्वर्णखण्डमें शक्ति अधिक मानी गयी है। जो मनुष्य पदार्थोंकी शक्तिसे जितना परिचित और उनका जितना प्रयोग करना जानता है वह उतना ही उन्नत और उच्च समझा जाता है। दस-बीस रुपये लागतके लम्बे-चौड़े, टेढ़े-तिरछे, छोटे-बड़े भिन्न-भिन्न आकारके लोहेके टुकड़ोंके साथ उचित स्थान और परिमाणमें जल, अग्निका संयोग करके जब शक्तिका ज्ञाता पुरुष एक इञ्जनके आकारमें उसे सर्वसाधारणके समक्ष उपस्थित कर देता है, तब वह स्वल्प मूल्यका लोहा पचास हजारकी कीमतका बनकर सैकड़ों मनुष्योंद्वारा महीनोंमें होनेवाले कार्यको अनायास घण्टों या मिनटोंमें करके रख देता है। शक्तिज्ञान और

उसके प्रयोगसे भूचर मनुष्य खेचर बन जाता है और सुदूरदेशस्थ शब्द चाहे जहाँ सुन लेता है। यह सब शक्तिका प्रभाव है, वह शक्ति हमारी जगन्माता भगवती देवी है। यतः—

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

इस सप्तशतीस्थ मन्त्रमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तापत्रयकी शान्तिके लिये उपनिषदोंके त्रिरावृत्त 'शान्ति' शब्दकी तरह '**नमस्तस्यै**' शब्दका तीन बार पाठ किया गया है।

मनुष्य उन्नतिशील प्राणी है पर यह अनायास ही उन्नत नहीं हो जाता। इसे बड़े-बड़े अन्तरायोंका सामना करना पड़ता है। शत्रु, चोर, राजा, शस्त्र, अग्नि और जलादि प्राणियोंके सर्वस्वका नाश कर सकते हैं। मनुष्य ही मनुष्यका अधिकांशमें विरोधी बन जाता है, इत्यादि। विपत्तिसागरको शक्तिशाली पुरुष ही तैरकर पार हो सकता है। क्योंकि शक्तिकी उपासनासे—

शत्रुतो न भयं तस्य दस्युतो वा न राजतः।
न शस्त्रानलतोयौघात्कदाचित्सम्भविष्यति॥

शक्तिमान् मनुष्य जब चाहे तब संसारका मानचित्र बदल दे, उसके शत्रु अपने कन्धेपर कबतक सिर धरे फिर सकते हैं? शक्तिशाली पुरुष फूँसकी झोपड़ीमें बैठा पत्तेपर रूखा टुकड़ा खाता हुआ जिस महत्त्वका अनुभव कर सकता है उसके शतांशका भी अनुभव ऊँचे महलोंमें बैठे सोनेकी थालीमें खीर खानेवाला दुर्बल प्राणी नहीं कर सकता। संसारके पदार्थोंका सच्चा उत्तराधिकारी बलवान् है। जगत्की सब वस्तु उसकी पूजाकी सामग्री हैं, संसारकी सब मर्यादा पालन करानेका सामर्थ्य उसीमें है।

संग्रह करना अच्छा है या त्याग देना ठीक है? इन प्रश्नोंको लेकर अनेक विज्ञजनोंका बहुत कालसे विवाद होता चला आ रहा है। मनुष्य यदि संग्रह ही करता रहे तो परस्पर ऐसा संघर्ष उत्पन्न हो जाय और उससे ऐसी अशान्ति मचे कि दिन काटना मुश्किल हो जाय। और यदि केवल त्यागको ही अङ्गीकार कर लिया जाय तो लोकसंग्रह नष्ट हो जानेसे हम उन उत्तम पदार्थों तथा उन महापुरुषोंसे वञ्चित हो जायँ, जो हमें मनुष्यताका पाठ पढ़ानेमें समर्थ हो सकते हैं। इस प्रकार इन प्रश्नोंका उत्तर कठिन होनेपर भी शक्तिका पुजारी अनायास दे सकता है। वह कहता है कि केवल 'संग्रह' या 'त्याग' के पीछे मत दौड़ो किन्तु पदार्थोंका सदुपयोग करना सीखो, यदि तुम घृत या तैलमें वस्त्र धोना, दूधमें स्नान करना, आटेको बिछाना, आगसे खेलना, पानीमें दौड़ना या रहना चाहो तो रह सकते हो, पर यह तुम्हारा उचित प्रयोग नहीं है, उचित प्रयोग किये बिना हानि होगी, लाभ नहीं। पर उचित प्रयोग तभी किया जा सकता है जब उन वस्तुओंकी शक्तिसे परिचय हो। अतः शक्तिज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो गया, प्रत्येक पदार्थमें सूक्ष्मदृष्ट्या उस तत्त्वका अनुसन्धान करना चाहिये, जिसके कारण पदार्थमें पदार्थत्व रहता है।

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः।
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम्॥

भगवती शक्ति ही जगत्का पालन कर रही है। वह धर्मात्माओंके घरमें साक्षात् लक्ष्मी है। धर्माधर्मका परिचय ज्ञान बिना नहीं हो सकता, समर्थ ही ज्ञानी हो सकता है। '**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**' जो दुर्बल है, जिसका इन्द्रियोंपर अधिकार नहीं है, जो प्राकृतिक आघात-प्रत्याघातोंसे विचलित हो जाता है, उस मुमूर्षुको क्या ज्ञान होगा? अर्थात् सामर्थ्यसे सम्पन्न ज्ञानपूर्वक धर्मार्जन करनेवाले मनुष्योंके घर द्रव्य, पुत्र, स्त्री, पशु, सौख्य और लक्ष्मीसे कभी रिक्त नहीं हो सकते। इसी प्रकार पापियोंके घरमें वह भगवती दरिद्रताके रूपमें, विद्वानोंके हृदयमें बुद्धिरूपसे, सज्जन लोगोंमें श्रद्धा होकर और कुलीनोंमें लज्जाके रूपमें निवास करती है।

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्
का ते स्तुतिः स्तव्यपरापरोक्तिः॥

जगत्की सम्पूर्ण विद्या (परा, अपरा या चतुर्दश) भगवती शक्तिके ही भेद हैं और सम्पूर्ण स्त्रियाँ भी उसीका अङ्ग हैं।

ॐकारं पितृरूपेण गायत्रीं मातरं तथा।
पितरौ यो न जानाति स विप्रस्त्वन्यरेतसः॥

'मातृदेवो भव'

आराध्या परमा शक्तिः सर्वैरपि सुरासुरैः।
मातुः परतरं किञ्चिन्नाधिकं भुवनत्रये॥

—इत्यादि वचनोंसे भगवती शक्तिकी उपासनाका महत्त्व दिखाया गया है। देवीभागवतके तृतीय स्कन्धके २९ वें अध्यायमें बताया गया है कि नारदके उपदेशसे श्रीरामचन्द्रजीने भगवती शक्तिकी उपासनासे रावणद्वारा अपहृत सीताको प्राप्त किया था। ठीक ही है, बिना शक्तिके किसकी सामर्थ्य है जो शत्रुओंसे अपनी गृहलक्ष्मीको बचा सके?

अनादिकालसे आर्योंके साथ दस्युओंका, सात्त्विक वृत्तियोंके साथ तामस वृत्तियोंका, देवताओंके साथ असुरोंका संघर्ष होता चला आ रहा है। जिसकी शक्ति बढ़ गयी वह विजयी हो गया। यही भाव दुर्गासप्तशती नामक ग्रन्थमें लिखा गया है। देवताओंको असुरोंने परास्तकर स्वाधिकारसे च्युत कर दिया, देवोंने बहुत यत्न किया पर सफल न हुए, अन्तमें शक्ति-सञ्चय करनेसे ही सफलता मिली। सब देवताओंने अपनी उपयोगी वस्तुओंका त्याग किया यानी जिस देवताके पास जो-जो उत्तम वस्तु थी वे सब एक जगह संग्रह की गयीं। इस 'संघशक्ति' से प्रबल हुई शक्तिने विरोधी बलको निर्मूल कर दिया।

महाभारतमें दुर्गादेवीको परम पूज्या माना गया है। शक्ति यानी दुर्गाकी भक्ति महाभारतकालमें खूब की जाती थी, सौतिने भारतीय युद्ध प्रारम्भ होनेके पहले दुर्गाकी भक्तिका उपदेश दिया है। वहाँ दुर्गाका स्मरण करके श्रीकृष्णने अर्जुनको उसके स्तोत्र-पाठ करनेकी आज्ञा दी है, भीष्मपर्व अ० ३३ में दुर्गास्तोत्रका उल्लेख है। इस स्तोत्रमें दुर्गाकी शक्तिका जैसा पराक्रम वर्णन किया गया है ऐसा ही स्कन्दपुराणमें वर्णित है। यहाँपर विन्ध्यवासिनीका वर्णन करते हुए दुर्गाका सरस्वतीके साथ एकताका भाव दिखाया गया है। विराटपर्वके आदिमें दुर्गाका बहुत सुन्दर स्तोत्र है, इसे यशोदाके पेटसे उत्पन्न, पत्थरपर पछाड़ते हुए कंसके हाथसे निकली हुई कंसके मारनेवाले श्रीकृष्णकी बहिन बताया गया है। हरिवंशपुराण तथा अन्य पुराणोंमें भी ऐसे बहुत-से महत्त्वपूर्ण वर्णन हैं, तन्त्रग्रन्थोंमें तो भगवतीसम्बन्धी सभी विषयोंका साङ्गोपाङ्ग वर्णन कर दिया गया है।

इतिहासप्रसिद्ध गुरु श्रीगोविन्दसिंहजीने प्रथम भगवती शक्तिकी ही उपासना करके यवन-सम्राट्का मुकाबला किया था। महाराणा प्रताप और शिवाजी शक्तिके परमोपासक थे। क्यों न हो, बिना शक्तिकी उपासनाके कोई भी आत्माभिमानी धर्म या देशका सिर ऊँचा कैसे कर सकता है?

जडवादी यूरोप आदि देश वस्तुसञ्चय या उसके प्रयोगसे शक्तिशाली होनेका दावा करते हैं। पर आस्तिक भारतीय सर्व पदार्थोंकी अधिष्ठात्री एक चेतन देवीको मानता है। जैसे यूरोपके विद्वान् कहते हैं कि पृथिवीकी छाया पड़नेसे सूर्यादि ग्रहण लगते हैं किन्तु भारतीय आस्तिक पण्डितोंका कहना है कि छाया जड पदार्थ है, वह स्वयं कुछ नहीं कर सकती। हाँ, उसके अधिष्ठातृदेवता चेतनके आक्रमणसे ग्रहण लगता है जिसे राहु कहते हैं। विदेशी विद्वान् हिमालयके ऊपरसे गङ्गाका आना बताते हैं। भारतीय पण्डित शिवजीके मस्तकसे गङ्गाका गिरना कहते हैं। इसका अभिप्राय भी यही है कि हिमालय सबसे ऊँचा होनेके कारण भगवान् विराट्का शिरःस्थानीय है। जब संसार विराट् भगवान्का अङ्ग है तो उसके सबसे उन्नत भागको मस्तक मानना चाहिये, अतएव सब पदार्थोंमें चेतनशक्ति विद्यमान है।

उस शक्तिको सर्वसाधारण तथा कल्याणके लिये भक्तजनोंने मातृरूपसे व्यवहृत किया है (यद्यपि वह सर्वरूपा है) उसके नानारूप बहुत-सी भुजाएँ, अनेक वाहन और नाना शस्त्रास्त्र दिखाये गये हैं। सिंहवाहिनी शस्त्रास्त्रधारिणी भगवतीकी महिमाको जाननेवाला पुरुष सिंहका कान पकड़कर उसके दाँत गिन सकता है। वे शक्तिके कायर भक्त हैं जो दुर्बल अजापुत्रको (बकरेको) उसके नामपर बलि चढ़ा देते हैं। स्वार्थ और बलप्रयोगको पशु कहा गया है। स्वार्थ और जबरदस्तीको बलि चढ़ाओ और शत्रुरूप सिंहका कान पकड़कर उसे शिक्षा दो। भगवती शक्तिके उपासक संसारके शान्ति तथा मर्यादानाशक जीवोंकी बलि चढ़ाकर उसे प्रसन्न करके जगत्के सुखके कारण बनते हैं। शक्तिसे सुख है और उसीमें सब कुछ है।

किं तत्कार्यं जगत्यस्मिन् यत्तु शक्त्या न सिद्ध्यति॥

माता शक्तिकी पूजा

(लेखक—स्वामी श्रीअभेदानन्दजी पी-एच०डी०)

वेदोंके प्रागैतिहासिक कालसे लेकर आजतक हिन्दू-धर्म सगुण परमात्माकी माता और पिताके रूपमें उपासना करता आया है, हिन्दूधर्म हमें यह भी सिखलाता है कि इन दो भावोंमेंसे किसी एकका आश्रय लेकर हम धर्मके परमोच्च आदर्शतक पहुँच सकते हैं। ऋग्वेदमें ईश्वरका पितृरूप 'प्रजापति' कहलाया—जिसका अर्थ है समस्त जीवोंके प्रभु और पिता। दशम मण्डल १२१वें सूक्तमें इन प्रजापतिका बहुत ही सुन्दर वर्णन है। इस सूक्तमें सगुण परमात्माका जैसा निरूपण किया गया है उससे अधिक सुन्दर निरूपणता गत पाँच हजार वर्षोंमें किसी अन्य जातिके धर्मग्रन्थोंमें नहीं हुआ। प्राचीन वैदिक युगके किसी मन्त्रद्रष्टा ऋषिसे यह पूछा गया कि हमें कौन-से देवताकी स्तुति एवं पूजा करनी चाहिये (**'कस्मै देवाय हविषा विधेम'?**) उन्होंने दस ऋचाओंमें इस प्रश्नका उत्तर दिया जिनमेंसे दो ऋचाएँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुते मां
तस्मै देवाय हविषा विधेम॥
य आत्मदा बलदा यस्य विश्व
उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्यु-
स्तस्मै देवाय हविषा विधेम॥

'आरम्भमें प्रजापति हुए जो समस्त भूतोंके पूर्वज एवं स्वामी थे। वे अपनी शक्तिसे पृथ्वी और आकाशको धारण करते हैं। हमें चाहिये कि उन्हींकी स्तुति और पूजा करें।' 'जो समस्त भूतोंको जीवन तथा शक्ति प्रदान करते हैं, जिनके शरीरसे अग्निमेंसे स्फुलिङ्गके समान जीव प्रकट होते हैं, जो समस्त जीवोंको पावन करनेवाले हैं, जिनकी आज्ञाका सभी प्राणी आदरपूर्वक पालन करते हैं, मृत्यु और अमृतत्व जिनकी छाया है—उन्हीं (प्रजापति)-की हमलोग स्तुति एवं पूजा करें।'

इन्हीं प्रजापतिको जो विश्वके सच्चे एवं धर्मपरायण न्यायशील प्रभु हैं—जो देवाधिदेव हैं—ऋग्वेदमें एक स्थानपर **'द्यौः पिता'** कहा गया है, जिसका अर्थ है स्वर्गमें रहनेवाला पिता और सबका रक्षक। ऋग्वेदके द्वितीय मण्डलके तीसरे अध्यायके २०वें मन्त्र (सूक्त १६४। ३३)-में आता है—

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।

अर्थात् 'वह ज्योतिर्मय, स्वप्रकाश आत्मा जिसका निवास स्वर्गमें है, मेरा पिता और रक्षक, मेरा जन्मदाता है और वही सबका कारण है।' आगे चलकर वही **'द्यौः पिता'** यूनानके पुराणग्रन्थोंमें 'ज्यूपितर' (Zeus-pitar) अथवा जूपिटर (Jupiter) कहलाये। वही यहूदियोंके 'जेहोवा' (Jehova) और ईसाइयोंके 'यवेह' (Yaveh स्वर्गमें रहनेवाला पिता) हो गये।

ईश्वरके मातृरूपको ऋग्वेदमें 'अदिति' कहा गया है, जो विश्वका अटल, अचल आधार है। ऋग्वेदके एक दूसरे सूक्तमें उसका यों वर्णन है—

'अदिति स्वर्गमें है, तथा स्वर्ग और भूलोकके बीचका जो द्युलोक (अन्तरिक्ष) है वहाँ भी विद्यमान है। वह समस्त देवताओंकी जननी है और चराचर भूतोंकी रचनेवाली है। सबकी पिता एवं रक्षक भी वही है। वह स्रष्टा और सृष्टि दोनों है। अपने उपासकोंकी आत्माओंको वह अपनी अनुकम्पाद्वारा पापोंसे मुक्त कर देती है। वह अपनी सन्तानको देनेलायक सभी कुछ दे डालती है। वह सभी देवताओं अथवा दिव्य आत्माओंके विग्रहमें निवास करती है। भूत एवं भव्य सब कुछ उसीका रूप है। वही सब कुछ है। (ऋ० २। ६। १७) इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतमें प्राचीनकालमें ईश्वरकी भावना विश्वके माता और पिता दोनों रूपोंमें हुई है। सगुण परमात्माका जगत्के माता-पिता तथा निमित्त एवं उपादान कारण दोनों रूपोंमें वर्णन वेदके सिवा किसी भी ग्रन्थमें और हिन्दूधर्मके सिवा किसी धर्ममें नहीं हुआ है।

जबतक ईश्वरको विश्वातीत एवं निष्क्रिय प्रकृतिसे भिन्न एवं बाहर मानते हैं तबतक उसकी जगत्के पिता अथवा निमित्त कारणके रूपमें प्रतीति होती है और प्रकृतिकी उसके उपादान कारणके रूपमें प्रतीति होती है। परन्तु ज्यों-ज्यों हमारी समझमें यह आता जायगा कि

ईश्वर प्रकृतिमें ओत-प्रोत एवं प्रकृतिसे अभिन्न हैं उतना ही स्पष्ट रूपमें हम समझने लगेंगे कि ईश्वर हमारी माता भी है और पिता भी। जब हमें इस बातका अनुभव हो जायगा कि जगत्‌की उपादानभूता प्रकृति अथवा ईश्वरका नारीरूप ईश्वरके व्यक्त स्वरूपका ही एक अंश है और विराट्‌पुरुष अथवा परमात्माके पुरुषरूपसे सर्वथा अभिन्न है, तब यह बात हमारी समझमें आ जायगी कि ईश्वर इस जगत्‌की रचना बढ़ई अथवा कुम्हारकी भाँति ऐसे उपादानोंसे नहीं करता जो उसके शरीरसे बाहर हैं अपितु वह एक मकड़ीकी भाँति सब कुछ अपने शरीरमेंसे ही निकालता है और संसारके सभी पदार्थ और शक्तियाँ उसके शरीरमें ही विद्यमान रहती हैं। उपर्युक्त सिद्धान्त विश्वव्यापिनी शक्तिके वैज्ञानिक स्वरूपके साथ भी पूरा-पूरा मेल खाता है।

आधुनिक विज्ञान सनातनशक्तिको ही समस्त बाह्य प्रपञ्चका कारण मानता है। विकासवादका सिद्धान्त तथा शक्तियोंके परस्पर सम्बन्ध एवं शक्तिकी नित्यता आदि सिद्धान्तोंसे यह बात स्पष्टतया प्रमाणित होती है कि अखिल विश्वकी स्थूल घटनाएँ तथा बाह्य एवं आन्तरिक जगत्‌की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ एक सनातन शक्तिकी अभिव्यक्तिमात्र हैं। विकासवादका सिद्धान्त तो केवल उस प्रक्रियाका निदर्शन करता है जिसके अनुसार वह सनातन शक्ति इस बाह्य प्रपञ्चको रचती है। विज्ञानने इस प्राचीन मतवादका खण्डन कर दिया है कि एक विश्वातीत परमात्माकी आज्ञासे—शून्यसे जगत्‌की उत्पत्ति हुई है और इस बातको प्रमाणित कर दिया है कि अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। विज्ञान हमें सिखलाता है कि विश्व उस आदिशक्तिके अन्दर अव्यक्तरूपमें विद्यमान था और धीरे-धीरे विकास-क्रमसे जो कुछ अव्यक्त था वह व्यक्त हो गया, प्रकट हो गया।

वह सनातन शक्ति जड़ अथवा अचेतन नहीं है, चेतन है। बाह्य अथवा अभ्यन्तर जगत्‌में जहाँ कहीं हमारी दृष्टि जाती है वहाँ हम स्थूल पदार्थों तथा जड़शक्तियोंके आकस्मिक संयोगका ही विलास नहीं पाते, अपि तु एक निश्चित उद्देश्यके अनुकूल नियमोंकी क्रियाको देखते हैं। यह जगत् अव्यवस्थित नहीं है, अपि तु एक सुव्यवस्थित एवं सुसङ्गठित संस्था है। यह परिवर्तनोंकी एक निरुद्देश्य शृङ्खलामात्र नहीं है जिसे हम विकास कहते हैं, प्रत्युत विकासके पग-पगपर एक सुनियमित उद्‌देश्य छिपा हुआ है। इसीसे वह शक्ति ज्ञानसम्पन्न कही जाती है। हम इस स्वतन्त्र, ज्ञानसम्पन्न, सनातन विराट् शक्तिको विश्वकी जननी कह सकते हैं। वह अनन्त शक्तियों और अनन्त प्राकृतिक घटनाओंका मूलस्रोत है। इस सनातन शक्तिको संस्कृतमें 'प्रकृति' और लैटिन भाषामें प्रोक्रियेट्रिक्स (Procreatrix) कहते हैं जिसका अर्थ है—विश्वकी उत्पादिका शक्ति।

हिन्दूशास्त्रोंमें उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

त्वं परा प्रकृतिः साक्षाद् ब्रह्मणः परमात्मनः।
त्वत्तो जातं जगत्सर्वं त्वं जगज्जननी शिवे॥

'हे शिवे! तुम्हीं परब्रह्म परमात्माकी परा प्रकृति हो, तुम्हींसे सारे जगत्‌की उत्पत्ति हुई है, तुम्हीं विश्वकी जननी हो।'

प्रकृतिकी जितनी भी शक्तियाँ हैं वे सब ईश्वरीय शक्तिकी ही अभिव्यक्तियाँ हैं। इसीसे उस मूलशक्तिको सर्व सामर्थ्ययुक्त कहा गया है। विश्वमें जहाँ कहीं शक्तिका स्फुरण दीखता है वहाँ सनातन प्रकृति अथवा जगदम्बाकी ही सत्ता है। उस शक्तिको पिता न कहकर माता कहना अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है, क्योंकि जननीकी भाँति वह सृष्टिको विकासके पूर्व अपने उदरमें रखती है। उसकी वृद्धि एवं पोषण करती है, उसका प्रसार करती है तथा उत्पन्न हो जानेपर उसकी रक्षा करती है। वह ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी जननी है। वह समस्त क्रियाकी मूल है। वही क्रियाशील 'शक्ति' है। सृष्टिकर्ता अपनी सृजनकारिणी शक्तिसे हीन होनेपर सृष्टिकर्ता नहीं रह जाता। उत्पादिका शक्ति भी उस परम सनातन शक्तिकी अभिव्यक्ति मात्र है, इसीलिये हिन्दूधर्मशास्त्र सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, सृष्टिपालक विष्णु एवं सृष्टिसंहारक रुद्रको उस जगज्जननीसे उत्पन्न हुए मानते हैं।

ऋग्वेदके दशम मण्डलके १२५वें सूक्तमें आदिशक्ति जगदम्बा कहती हैं—

'मैं ब्रह्माण्डकी अधीश्वरी हूँ। मैं ही सारे कर्मोंका फल भुगतानेवाली और ऐश्वर्य देनेवाली हूँ। मैं चेतन एवं सर्वज्ञ हूँ। मैं एक होते हुए भी अपनी शक्तिसे नानारूप भासती हूँ। मैं मानवजातिकी रक्षाके लिये युद्ध ठानती हूँ और शत्रुका संहारकर पृथ्वीपर शान्तिकी स्थापना

करती हूँ। मैं ही भूलोक और स्वर्गलोकका विस्तार करती हूँ। मैं जनककी भी जननी हूँ। जैसे वायु अपने-आप चलती है वैसे ही मैं भी अपनी इच्छासे समस्त विश्वकी स्वयं रचना करती हूँ। मैं सर्वथा स्वतन्त्र हूँ। मुझपर किसीका प्रभुत्व नहीं है। मैं आकाश और पृथ्वीसे परे हूँ। अखिल विश्व मेरी विभूति है। मैं अपनी शक्तिसे यह सब कुछ हूँ।'

इस प्रकार जगदम्बाको सब कुछ कहा गया है। उस जगज्जननीके अन्दर ही हम जीवन धारण करते हैं, चलते-फिरते हैं और अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। ईश्वरीय शक्ति अपनी लीलाका संवरण कर ले तो फिर किसकी मजाल है जो क्षणभर भी जीवित रह सके। संसारमें जो कुछ होता है वह सब उसीकी प्रेरणासे होता है। एक आदमी भला मालूम होता है तथा आध्यात्मिक एवं ईश्वरीय गुणोंसे युक्त प्रतीत होता है, और इसके विपरीत दूसरा दुरात्मा एवं पापी नजर आता है। यह सब उसीका खेल है क्योंकि सत्पुरुषको सत्कर्म करनेकी और दुष्कृतिको दुष्कर्म करनेकी शक्ति यही देती है। परन्तु यह सब होते हुए भी वह स्वयं सत्-असत्से परे है, पाप-पुण्यसे अलग है। उसकी शक्तियाँ न तो अच्छी हैं और न बुरी ही हैं। हमें अपने-अपने दृष्टिकोणसे तथा आपेक्षिक दृष्टिसे वे भली-बुरी प्रतीत होती हैं।

जब वह सर्वव्यापिनी ईश्वरीय शक्ति अपनेको अभिव्यक्त करती है तब वह दो परस्परविरोधी शक्तियोंके रूपमें प्रकट होती है। उनमेंसे एक शक्ति ईश्वरोन्मुख होती है; इसे संस्कृतमें 'विद्या' कहते हैं; दूसरी शक्ति संसारप्रवण होती है और 'अविद्या' कहलाती है। पहली मोक्ष और आनन्दकी देनेवाली है और दूसरी बन्धन और दुःखका कारण होती है।

विद्याशक्तिको ही हिन्दू लोग जगज्जननी मानकर दुर्गा, काली, भवानी आदि विभिन्न रूपोंमें और विभिन्न नामोंसे पूजते हैं। अविद्याशक्ति उस विद्याशक्तिकी अनुचरी एवं अधीनवर्तिनी मानी जाती है। जो लोग जगज्जननीकी पूजा करते हैं वे निम्नलिखित शब्दोंमें उसकी स्तुति करते हैं—

'हे जगज्जननी! तुम्हीं सनातन शक्ति हो, तुम्हीं विश्वके अनन्तकी मूलस्रोत हो। व्यक्त अनेक नामरूपोंमें तुम्हारी ही शक्ति अभिव्यक्त हो रही है। तुम्हारी अविद्याशक्तिसे मोहित होकर हम तुम्हें भूल जाते हैं और संसारके तुच्छ पदार्थोंमें सुखका अनुभव करने लगते हैं। परन्तु जब हम तुम्हारी पूजा करते हैं और तुम्हारी शरण आते हैं तब तुम हमें अज्ञानसे एवं संसारकी आसक्तिसे मुक्त कर देती हो और अपने बच्चोंको शाश्वत सुख प्रदान करती हो।'

शक्ति शक्तिमान्से पृथक् नहीं है

(लेखक—स्वामी श्रीतपोवनजी महाराज)

वैशेषिक-मतके माननेवाले आरम्भवादी तथा कुछ और दूसरे मतवाले शक्ति-पदार्थको नहीं मानते, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि शक्ति गगनकुसुमके समान है ही नहीं। उनका इस शक्तितत्त्वको निषेध करना प्रामाणिक नहीं है। वे प्रमाणके द्वारा शक्तितत्त्वका निषेध नहीं कर सकते। जो तत्त्व शब्द, अनुमान आदि प्रमाणोंसे सिद्ध है उसे कौन किस प्रकार, केवल साहसमात्रसे निषेध कर सकता है? निश्चय ही शक्ति नामक पदार्थ है। अग्निशक्ति, पुरुषशक्ति इत्यादिरूपमें लोकमें शक्ति-पदार्थ प्रसिद्ध ही है। अग्निस्वरूपके अतिरिक्त अग्निशक्ति और पुरुषस्वरूपके अतिरिक्त पुरुषशक्ति यद्यपि प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं होती, तथापि इतनेसे ही उसका अभाव नहीं सिद्ध होता। प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्राप्त न होनेपर भी अनुमानादिके द्वारा उसकी प्राप्ति होती है। स्फोट आदि कार्यके द्वारा सबको निश्चयपूर्वक अग्निशक्तिका अनुमान होता है। और उसी प्रकार युद्ध आदि कार्योंके द्वारा पुरुषशक्तिका अनुमान होता है। अपि च मणिमन्त्रादिके द्वारा शक्तिस्तम्भन करनेसे शक्तिके कार्य स्फोटादिका अवरोध हो जाता है, इससे उन स्फोटादिका अग्न्यादि शक्तिका कार्य होना प्रसिद्ध है। अग्न्यादि स्वरूपोंके प्रत्यक्ष सिद्ध होनेके कारण उनके प्रतिबन्धकी सम्भावना करना उचित नहीं, उससे अतिरिक्त शक्तियोंका ही प्रतिबन्ध मणिमन्त्रादिके द्वारा होता है, तथा इसीलिये दहनादि व्यापार उन-उन शक्तिके ही कार्य हैं, अग्न्यादि

स्वरूपके नहीं, यह सब भलीभाँति सिद्ध होता है केवल पुराने आचार्य ही इस प्रकार अनुमानादिके द्वारा शक्तितत्त्वका समर्थन नहीं करते बल्कि आजकलके दार्शनिक भी वैज्ञानिक रीतिसे तत्तत्कार्यकरणसामर्थ्यरूपा शक्ति अग्नि आदि तत्तत् लौकिक पदार्थोंमें है, ऐसा सप्रमाण सिद्ध करते हैं—यह बात आजकल सर्वसम्मत हो गयी है।

जिस प्रकार लौकिक पदार्थोंमें स्फोटादि कार्यजनिका ज्वलन आदि उनकी शक्तियाँ होती हैं, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्ममें सर्व जगत्की उपादानभूता महान् अलौकिक शक्ति वर्तमान है, इसमें तनिक भी अनुपपत्ति नहीं है। असङ्ग कूटस्थ चिन्मात्रस्वरूप परमात्मा कभी जगदुत्पत्तिका कारण नहीं हो सकता, उसमें रहनेवाली कोई शक्ति ही जगत्सर्जनादि सब क्रियाओंमें समर्थ सृष्टिका उपादान है, यह उसके सामर्थ्यसे जाना जाता है। इसी प्रकार अग्नि आदि लौकिक शक्तिके समान पराशक्ति भी परमात्माके समाश्रित होकर प्रत्यक्षसे अनुपलब्ध होते हुए भी प्रपञ्चरूप कार्यसे अनुमान की जाती है, उसकी सत्तामें लेशमात्र भी शङ्काका अवसर नहीं है। सांख्यकारिकामें कहा भी है—

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्कार्यतस्तदुपलब्धेः ।

अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण जगत्के उपादानस्वरूप उस शक्तिकी प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती, उसके असत् होनेके कारण नहीं; क्योंकि जगद्रूप कार्यके द्वारा उस कारणात्मिकाका ज्ञान नियमपूर्वक सबको होता है—यही उपर्युक्त कारिकाका अर्थ है। परमात्मशक्तिकी सिद्धिमें जो यहाँ कार्यलिङ्गयुक्त अनुमान प्रदर्शित किया गया है वह स्वतन्त्र नहीं है, बल्कि प्रबल श्रुतिमूलक है, इसलिये उसकी अप्रतिष्ठामें लेशमात्र भी शङ्काका अवसर नहीं है।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

जगत्के काल-स्वभावादि कारण हैं, इन सिद्धान्तोंमें दोष देखनेवाले मुनियोंने जगत्के कारणके जाननेकी अभिलाषासे ध्यानयोगमें स्थित होकर द्युतिमान् स्वप्रकाश चिदात्मा परमात्माकी शक्तिको स्वगुणोंसे आवृतरूपमें प्रत्यक्ष किया था, और वह निश्चय किया था कि जगत्का उपादान कारण केवल परमात्मशक्ति ही है, कोई दूसरा नहीं। तथा—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥ (श्वेता०)

ब्रह्मकी जगत्कारणरूप परमोत्कृष्ट शक्ति ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि रूपसे अनेक प्रकारकी है—ऐसा श्रुतियोंने वर्णन किया है।

इस प्रकार श्रुति और युक्तिके अवलम्बनसे परमात्मशक्ति जगत्का उपादान कारण है— इसे बहुतेरे मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं, इसलिये इस सिद्धान्तको उच्छृङ्खल तर्कमूलक माननेके लिये लेशमात्र भी शङ्काका अवसर नहीं है। यही परब्रह्ममें रहनेवाली परा प्रकृति-शक्ति 'महामाया', 'प्रकृति', 'प्रधान' आदि विभिन्न नामोंसे विभिन्न शास्त्रोंमें पुकारी जाती है। विचित्र कार्य करनेके कारण 'महामाया', सब जगत्का प्रकृष्ट निधान (आश्रय) होनेके कारण 'प्रधान' और सब जगत्का उपादान कारण होनेसे 'प्रकृति' नाम प्रसिद्ध है। प्रकृति शब्दकी इसी प्रकारकी व्याख्या देवीभागवतमें भी है, इस अर्थग्रहणके समर्थनमें उसका अवतरण यहाँ दिया जाता है—

प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥

सृष्टिमें जो प्रकृष्ट है अर्थात् मुख्यरूपसे जो सब जगत्की सृष्टिकर्त्री है, वही प्रकृति है।

परन्तु यद्यपि उस शक्तिका यहाँ परमात्मस्वरूपसे अलग वर्णन किया गया है तथापि जिस प्रकार घट पटसे अथवा अश्व महिषसे अत्यन्त भिन्न होता है उस प्रकार वह परमात्मासे अत्यन्त भिन्न नहीं है। जिस प्रकार घट पटस्वरूपके अतिरिक्त स्वतन्त्ररूपसे स्थित हो सकता है, उस प्रकार शक्ति शक्तिमान्के स्वरूपसे अलग स्वतन्त्र सत्तामें स्थित नहीं हो सकती। अतः शक्ति परमार्थतः शक्तिमान्का स्वरूप ही है, उससे अतिरिक्त वस्तु नहीं है। शक्ति कभी शक्तके बिना नहीं रह सकती। शक्ति शक्तके ही आधारपर ठहरी है, कहीं केवल शक्तिमात्र बिना आधारके नहीं रह सकती। इसीलिये विद्यारण्य स्वामीने कहा है—

सर्वथा शक्तिमात्रस्य न पृथग्गणना क्वचित्।

कहीं भी, किसी प्रकार भी शक्तिमात्रकी पृथग्वस्तुके

रूपमें गणना नहीं होती। शक्ति निश्चयपूर्वक शक्तस्वरूपा है—यही आचार्य विद्यारण्य स्वामीका आशय है। अग्निशक्ति अग्निस्वरूपके आश्रयके बिना स्वतन्त्ररूपसे नहीं रहती और न अग्निसे पृथक् उसकी गणना होती है, अत: वह अग्निस्वरूपा ही है; इसी प्रकार पुरुषशक्ति पुरुषस्वरूपके आश्रयके बिना नहीं रहती, और न पुरुषसे पृथक् उसकी गणना ही होती है अत: वह पुरुषस्वरूपा ही है। इसलिये शक्तिके बिना शक्तिमान् तथा शक्तिमान्के बिना शक्ति नहीं है, फलत: शक्ति और शक्तिमान्में अभेद है। शक्ति और शक्त इन दोनों वाचकोंमें ही भेद है, वाच्यमें भेद नहीं है—यह सिद्धान्त निश्चित हुआ।

उपर्युक्त रीतिसे यदि शक्ति शक्तके आश्रयके बिना नहीं रहती, तो वह शक्तस्वरूपिणी ही है; इसी प्रकार पराशक्ति भी शक्तिमान् परमेश्वरके बिना अपनी सत्तासे स्थित नहीं हो सकती, अत: यह सिद्ध होता है कि वह परब्रह्मस्वरूपिणी ही है।

'अव्यक्तात्पुरुष: पर:।' (कठोपनिषद्)

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'।

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्कले सम्प्रलीयते।

(विष्णुपुराण)

इस प्रकार शतश: श्रुति-स्मृतिके वाक्य अव्यक्त मायापदवाच्य जगत्की मूलभूता प्रकृति-शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ताका प्रतिषेध कर उसे परम पुरुषके आश्रित वर्णन करते हैं। इसलिये सांख्योंका स्वतन्त्रप्रधानवाद भ्रान्तिविलासमात्र है। इस प्रकार परशक्ति और परशक्तकी सप्रमाण अपृथक्ता सिद्ध होनेपर, सच्चिदानन्दत्व, जगन्नियामकत्व, जगदुदयस्थितिभङ्गकर्तृत्व, सर्वकर्मफलप्रदत्व आदि ब्रह्मके धर्म शक्तिमें भी पूर्णतया घटित होते हैं, इसमें तनिक भी अनुपपत्ति नहीं है। इसीलिये शक्तिपरक ग्रन्थ श्रीदेवी-उपनिषद्, श्रीदेवीभागवत आदिमें तथा अन्य तन्त्रग्रन्थोंमें जगत्सर्जनरक्षणसंहरण आदि क्रियाको देवीकी लीलाके रूपमें वर्णित देखा जाता है। यदि शक्ति ब्रह्मस्वरूपिणी न होती, ब्रह्मसे पृथक् होती तो इस प्रकारके वर्णन अर्थशून्य उन्मत्तप्रलापवत् परित्याज्य होते। देवी-उपनिषद्में ऐसा ही कहा गया है—

सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थु:, कासि त्वं महादेवि। साब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी। अजाहमनजाहं अधश्चोर्ध्वञ्च तिर्यक्चाहम्।

ब्रह्मादि सब देवता देवीके समीप जाकर पूछने लगे—'हे देवि! तुम्हारा स्वरूप क्या है?' देवीने कहा—'मैं परब्रह्मस्वरूपिणी हूँ। परमार्थत: अजन्मा होते हुए भी व्यवहारत: नाना देवदेवीरूपमें मैं जन्म लेती हूँ; मैं ही ऊपर, नीचे, बगलमें सर्वत्र पूर्ण हूँ तथा देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न हूँ, यह आपलोग जान लें'—यही उपनिषद्वाक्यका अर्थ है।

यदि शक्ति शक्तब्रह्मस्वरूपिणी है, ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं है, तो वही निश्चयपूर्वक सर्व जगत्के रूपमें, सर्व देव-देवीके रूपमें स्थित है, उसके सिवा कुछ भी नहीं है—यह बात निर्विवाद है। यही बात सीतोपनिषद्में कही गयी है—

सा सर्ववेदमयी सर्वदेवमयी सर्वलोकमयी।

इत्यादि

परन्तु यद्यपि उपर्युक्त रीतिसे प्रकृत शक्तिके ब्रह्ममूर्ति तथा सर्वात्मिका होनेपर भी जिस प्रकार शक्तमें पुरुषत्व, ईश्वरत्व, जगत्पितृत्व कल्पित होता है उसी प्रकार शक्तिमें स्त्रीत्व, ईश्वरीत्व तथा जगन्मातृत्वकी कल्पना कर महालक्ष्मी, महाकाली, महासरस्वती, सीता, राधा आदि विभिन्न रूपोंमें, जिनका भेद तत्तदुपाधिप्रयुक्त अर्थात् तत्तत् निमित्तको लेकर है, उस एक एवं अद्वितीया पराशक्तिकी ही लोग उपासना करते हैं।

श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्दकारिणी।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम्।
सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता॥

(सीतोपनिषद्)

—इस श्लोकका अर्थ स्पष्ट होनेके कारण नहीं लिखा जाता है। साकारभावको प्राप्त परब्रह्मकी ही मूर्ति दाशरथि, वासुदेव, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरादि देवविशेषके सम्बन्धसे देवीभावमें स्थित वही शक्ति सीता, राधा, सरस्वती, लक्ष्मी, महेश्वरी आदि विविध नाम-रूपोंमें विभिन्न उपासकोंके द्वारा आराधित होती है। एक ही देवीके निमित्तभेदसे विभिन्न नाम-रूप कल्पित करके लोग उपासना करते हैं, यह बात श्रुति-स्मृतिके जाननेवालोंको अविदित नहीं है।

दुर्गात्संत्रायते यस्माद्देवी दुर्गेति कथ्यते।

(देवी-उपनिषद्)

मुख्य शक्तिके जो तत्तद् उपासकोंके प्रिय काली, लक्ष्मी आदि गौण साकार स्वरूप हैं, वे भी गौणशक्त अर्थात् शिव, विष्णु आदिसे अलग नहीं हैं। गौण जितने शक्तिमान् हैं सभी मुख्य शक्त परमात्माके स्वरूप ही हैं। इसी प्रकार गौणशक्तिके भेद भी सभी मुख्य शक्त परमात्माके स्वरूप हैं। केवल मुख्य शक्तिका ही नहीं, बल्कि गौण शक्तियोंका अर्थात् विभिन्न उपासकोंकी उपास्य विभिन्न देवियोंका भी, जगत्‌की उत्पत्ति आदिके कारण, सर्वज्ञ, सर्वशक्त, मुक्त पुरुषोंके द्वारा प्राप्य, नित्य, कूटस्थ, सुखघनात्मा परमात्माके साथ तनिक भी भेद नहीं है। इस प्रकार शक्ति, शक्तिमान्‌का अभेद सब प्रकारसे सिद्ध होता है, और यही इस निबन्धका प्रकृत विषय है तथा यह निबन्ध इसी बातको सिद्ध करनेके इच्छासे लिखा गया है। तथा च जिज्ञासु और मुमुक्षु गौण शक्तिभेदोंसे देवीके किसी खास रूपकी भी अनन्य भक्तिद्वारा सच्चिदानन्द ब्रह्मरूपसे आराधना—उपासना कर सकते हैं, तथा ऐसे उपासक भी धन्य-धन्य और कृतकृत्य होते हैं—इस विषयमें विशेष लिखना अनावश्यक है।

इस प्रकार सरस्वती, लक्ष्मी, राधा, सीता आदि सभी शक्तिके भेद शक्तिस्वरूप तथा शक्तिपदवाच्य ही हैं—ऐसी स्थितिमें भी शक्ति शब्द आजकल रूढ़िसे महाकालीके अर्थमें ही प्रयुक्त होता है, यह सर्वविदित है। इस विषयमें विचारवान् पुरुष यह अनुमान करते हैं कि कालीके उपासक तान्त्रिकोंके शाक्तमतका भारतवर्षमें सर्वत्र व्यापकरूपसे प्रचार ही इस रूढ़िका मूल है तथा उन कालीके उपासकोंके समयसे ही शक्तिपद केवल कालीवाचक हो गया। यह विश्वविदित शाक्तमत कब, कैसे और किसके द्वारा प्रचलित हुआ—इसका अनुसन्धान हमारे निबन्धके प्रकरणसे बाहर है, इससे इसपर विचार नहीं किया जाता। परन्तु शक्ति (काली)-पूजकोंके कुछ भ्रान्तिमूलक आचरण श्रेयोमार्गके लिये अत्यन्त ही प्रतिबन्धक हैं, ऐसा समझकर उस विषयमें कुछ कहकर इस निबन्धका उपसंहार किया जायगा।

कालीशक्ति मांसप्रिया तथा मांसभक्षण करनेवाली है, ऐसा मानना लोगोंका दुर्विचार है। साक्षाद्ब्रह्मस्वरूपिणी जगन्माता, सर्वभूतोंके हितमें रत रहनेवाली कारुण्यमूर्ति, अपने सन्तानभूत प्राणियोंकी हिंसा तथा उनके मांसास्वादनकी रसिका कैसे हो गयी, यह समझमें नहीं आता। शक्तिसिद्धान्तके पण्डितोंके द्वारा बलिदानादिसे शक्तिकी परितृप्तिमें जिन हेतुओंका वर्णन किया जाता है, उनका उद्धरण करने अथवा उनके उद्देश्यकी समीक्षा करनेमें लेखविस्तारभयसे मैं प्रवृत्त नहीं होना चाहता। बलिदानसे ही शक्ति प्रसन्न होती है, अन्य उपायसे नहीं—यह विश्वास चाहे जिस कारणसे शाक्तोंमें बद्धमूल हुआ हो, परन्तु यह भ्रमरूप एवं महान् अनर्थकारी; इसलिये यहाँ केवल बलिदानादि क्रियाका निषेध किया जाता है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अनादिकालसे प्रचलित बलिदानादि धार्मिक कर्मोंका प्रतिषेध क्यों और किस कारणसे किया जाता है? बात यह है कि प्राणिहिंसा चाहे घरमें हो, बाजारमें हो अथवा देवालयमें हो, वह प्राणिहिंसा ही होगी। प्राणिहिंसा तथा मांसभक्षणमें नाना प्रकारके दोष हैं, यह विचारशील पुरुषोंको अविदित नहीं। ऐसी दशामें यह प्रश्न हो सकता है कि कल्याणकी बहुमूल्य पंक्तियोंको मैं व्यर्थ क्यों रोकता हूँ। यदि ऐसा कहें कि शक्ति बलिदानसे ही सन्तुष्ट होती है, अन्य क्रियासे नहीं—इसमें शास्त्र और शिष्टाचार प्रमाण हैं, तो मैं कहूँगा कि यह मांसप्रेमियोंका महामोह है। पुराणादिमें जहाँ कहीं भी मांसादिसे देवताओंको तृप्त करनेका वर्णन मिलता है वहाँ उनका वैसा तात्पर्य कदापि नहीं है। उनसे निवृत्ति ही महाफल प्रदान करती है, अत: विवेकशील पुरुषोंके लिये ये वाक्य नहीं हैं, यह बात हम संक्षेपसे नि:शङ्क होकर कह सकते हैं। रही शिष्टाचारकी बात, तो मेरी समझसे शिष्ट पुरुष मांसप्रेमी नहीं थे। परन्तु कोई मान भी ले तो सिद्धान्त यह है कि सभी शिष्टकर्म शिष्टाचारके रूपमें सदा प्रमाणयुक्त नहीं होते—यह विषय विद्वानोंको अज्ञात नहीं है। शिष्ट पुरुष जिन निर्दोष प्रमाणसिद्ध कर्मोंको करते हैं उन्हींका आचरण दूसरोंको करना चाहिये, निर्विशेषरूपसे सबका नहीं।

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि।

—इस तैत्तिरीय श्रुतिका अनुसन्धान यहाँ करना चाहिये। यही बात मधुसूदन स्वामीने भी गीताकी टीकामें लिखी है—

शिष्टैर्धर्मबुद्ध्यानुष्ठीयमानस्यालौकिकव्यवहारस्यैव तदाचारत्वात्, अन्यथा निष्ठीवनादेरप्यनुष्ठानप्रसङ्गात्।

'शिष्टपुरुष धर्मबुद्धिसे जो अनुष्ठान करते हैं, वही

सदाचार समझा जाता है, न कि निष्ठीवन (थूकना) आदि उनके द्वारा किये जानेवाले लौकिक कर्म।' तथा शिष्ट पुरुष धर्मकी भ्रान्तिसे जो अनुष्ठान करते हैं वह भी भ्रान्तिरूप होनेके कारण शिष्टाचारमें नहीं गिना ज़ा सकता। अत: पूर्वकालके पुरुषोंके जिस किसी काममें भी शिष्टाचारकी कल्पना करना अथवा शिष्टाचारके वेषमें अधर्माचरणको धर्म कल्पित करना विवेकयुक्त नहीं है, बल्कि महान् अनर्थका कारण है। इसे भावुक और श्रेय:साधनकी इच्छावाले पुरुषको बिलकुल ही सत्य मानना चाहिये।

भूमण्डलमें, सर्वोत्तम हिमगिरिशिखर-देशमें, सुर-सरित्प्रवाहसे पवित्र उत्तर खण्डमें अहिंसानिधि महर्षियोंकी प्रियतर आवासभूमि थी। आजकल भी वहाँ बहुत-से अहिंसक परमहंस महात्मा विचरण करते तथा निवास करते हैं, तथापि अत्यन्त शोकका विषय है कि वहाँ भी देवताके समीप बलिदान आदिका घृणित आचरण प्रचलित है—यह अत्यन्त लज्जाकी बात है। हाय! अज, महिष आदि निर्दोष पशुओंके मरणक्रन्दनसे तथा उनके कण्ठसे निकली हुई रक्तधारासे पवित्रतम उत्तराखण्डकी वसुन्धराके उत्तरकाशी आदि पुण्यक्षेत्र अत्यन्त कलुषित किये जाते हैं, इसे अनेकों बार देखकर वहाँ रहते समय मेरे मनमें भी अत्यन्त ही पीड़ा होती थी। वहाँके लोगोंके लिये इसके निषेधका उपदेश भी ऊसर भूमिमें वृष्टिके समान कुछ भी लाभदायक नहीं होता। दु:खका विषय है कि यह बुद्धिहीन व्यापार वहाँ दृढ़मूल हो गया है। तथापि उस प्रान्तमें 'कल्याण' के बहुतेरे पाठक हैं, अत: इस विषयके विविध सुन्दर विचारोंसे युक्त श्रीशक्ति-अङ्क पाठकोंके द्वारा वहाँ रहनेवाले पुरुषोंके मनमें सद्‌बुद्धिका उदय करे, जिससे मूढ़परम्परासे प्रचलित इस घृणित कर्ममें लोगोंको घृणा उत्पन्न हो, और शीघ्र ही वहाँके मांसरक्तभोजी देवता तादृश तामस अन्नोंको त्यागकर फल-मूल-तण्डुल-दुग्धादि सात्त्विक अन्नोंकी ओर प्रवृत्त होवें—ऐसी आशा है।

'ॐश्रीमूलशक्त्यै नमः'

शिव और शक्ति

(लेखक—स्वामी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती)

शिव, जो शक्तिमान् हैं, उनसे शक्ति भिन्न नहीं है। अधिष्ठानसे अध्यस्तकी सत्ता भिन्न नहीं होती, वह तो अधिष्ठानरूप ही है। शिव एकरस, अपरिणामी हैं और शक्ति परिणामी है। यह जगत् परिणामी शक्तिका ही विलास है। शिवसे शक्तिका आविर्भाव होते ही तीनों लोक और चौदहों भुवन उत्पन्न होते हैं और शक्तिका तिरोभाव होते ही जगत्‌का अत्यन्त अभाव हो जाता है। वेदान्तसे नीचेके श्लोकमें इसी बातको स्पष्ट किया गया है—

शक्तिजातं हि संसारं तस्मिन् सति जगत्त्रयम्।
तस्मिन् क्षीणे जगत् क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः॥

अर्थात् शक्तिका कार्य यह संसार है। शक्तिके आविर्भावसे तीनों ही जगत् उत्पन्न होते हैं और शक्तिका तिरोभाव होनेपर जगत्‌का अत्यन्त अभाव हो जाता है। इस कारण उसी (शक्ति)-का विचार करना चाहिये।

चित्त-विलास प्रपंच यह, चिद्-विवर्त चिद्‌रूप।
ऐसी जाकी दृष्टि है, सो विद्वान अनूप॥

शिवकी आद्यस्पन्दरूपा अव्यक्त शक्ति भक्तोंके भावनानुसार अनेक व्यक्त (प्रकट) रूपोंको धारण करती है; जैसे दुर्गा, महाकाली, राधा, ललिता, त्रिपुरा, महालक्ष्मी, महासरस्वती, अन्नपूर्णा इत्यादि। क्रियाके अनुसार शक्तिके अनेक नाम हैं; चूँकि शिवसे इसकी भिन्न सत्ता नहीं है, इस कारण इसको शिवकी शक्ति कहते हैं; संसारको उत्पन्न करनेकी विशेष क्रिया इसमें है, इस कारण इसे प्रकृति कहते हैं; यह इन्द्रजालके समान अनेक पदार्थोंको क्षणभरमें बना देती है, इस कारण इसे अघटनघटनापटीयसी माया भी कहते हैं; जहाँ कोई पदार्थ विद्यमान नहीं है वहाँ यह क्षणभरमें अनेक पदार्थ विद्यमान कर देती है, इस कारण इसे अविद्या भी कहते हैं।

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति-
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते॥

भगवान् शङ्कराचार्यजी कहते हैं कि 'परमात्माकी अव्यक्त नामवाली शक्ति, जिसने इस समस्त संसारको उत्पन्न किया है, अनादि, अविद्या, त्रिगुणात्मिका और जगद्रूपी कार्यके परे है। कार्यरूप जगत्को देखकर ही शक्तिरूपी मायाकी सिद्धि होती है।' बालक माताके उदरमें नौ मास रहता है; पिता तो एक क्षणमें वीर्य प्रदान कर देता है। दीर्घकालतक उदरमें तो माता ही रखती है। इस लौकिक दृष्टान्तके समान ही तीनों लोक, चौदहों भुवन और समस्त दृश्यमान संसार शक्तिरूपी माताके उदरमें स्थित है, वही हमारा पालन-पोषण करती है। यही बात श्रीकृष्ण भगवान्‌ने गीताके निम्नलिखित श्लोकोंमें कही है—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥
यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥

श्रीकृष्णभगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन! मेरी शक्तिरूपी योनि गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीज स्थापित करता हूँ। इन दोनोंके संयोगसे संसारकी उत्पत्ति होती है। अनेक प्रकारकी योनियोंमें जितने शरीरादि आकारवाले पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनमें त्रिगुणमयी शक्ति तो गर्भ धारण करनेवाली माता है और मैं बीजका स्थापन करनेवाला पिता हूँ। मुझ अधिष्ठानके सकाशसे मेरी शक्ति चराचर संसारको उत्पन्न करती है; इसी कारण यह संसार जन्म-मरणरूपी चक्रमें घूमता रहता है। जितना स्थावर-जङ्गम संसार दीख पड़ता है, वह सब क्षेत्रज्ञ और क्षेत्रके संयोगसे उत्पन्न हुआ है।' विद्यारण्य मुनि भी यही बात कहते हैं—

न केवलं ब्रह्मैव जगत्कारणं निर्विकारत्वात्। नापि केवलं शक्तिः कारणं स्वातन्त्र्याभावात्। तस्मादुभयं मिलित्वैव जगत्कारणं भवति।

'केवल ब्रह्म जगत्का कारण नहीं, क्योंकि वह निर्विकार है; और केवल शक्ति भी जगत्का कारण नहीं, क्योंकि उसमें स्वतन्त्रताका अभाव है। इस कारण ब्रह्म और शक्ति—दोनोंके संयोगसे संसार उत्पन्न होता है।' उपनिषद् भी शक्तिकी महिमासे भरे पड़े हैं। नीचेके कुछ मन्त्रोंसे यह स्पष्ट हो जायगा। लेख बढ़ जानेके भयसे अधिक प्रमाण नहीं दिये जाते।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥

अर्थात् 'मायाको प्रकृति जानो; मायाका अधिपति और प्रेरक महेश्वर है। महेश्वरके अवयवरूप भूतोंसे यह जगत् भरा पड़ा है। महेश्वर और मायाको व्यापक समझो। ब्रह्मका न कोई कार्य है, न करण, न उसके समान कोई है, न कोई अधिक है। परमात्माकी शक्ति नाना प्रकारकी सुनी जाती है, शक्तिमें ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक है। मुनियोंने ध्यानके बलसे अपने ही गुणोंसे निगूढ़ आत्मशक्ति (प्रकृति) और ईश्वरको देखा, जो काल-स्वभावादि कारणोंके भी कारणरूपमें एक होकर अधिष्ठित है।' मुनियोंने योगबलसे यह सिद्धान्त निकाला कि इस जगत्के कारण शिव और शक्ति दोनों हैं।

दुर्गासप्तशतीमें भी शिवकी अव्यक्ता स्पन्दरूपा शक्तिदेवीने अनेक रूप धारण किये हैं। पाँचवें अध्यायमें शक्तिरूपी देवीकी विलक्षण शक्तियोंका खूब स्पष्ट वर्णन आया है। जैसे—

यह शिवकी शक्ति अव्यक्तरूपसे दृश्यमात्र जगत्में और सब शरीरोंमें विष्णुकी माया, चेतना, बुद्धि, शक्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्मृति आदि नामोंसे आप ही स्थित है, दृश्यमान जगत्की और सब इन्द्रियोंकी अधिष्ठात्री है और दृश्य-अदृश्य जगन्मात्रमें व्याप्त है और चेतनरूप है। ऐसी जगन्माता देवीको बारंबार प्रणाम है। यही शक्तिरूपी देवी अव्यक्तरूपसे ऊपरके नामोंको धारण करती है और भक्तोंकी भावनाके अनुसार अव्यक्त होकर भी व्यक्त (प्रकट) रूपोंको धारण करती है। दुर्गा,

महाकाली, राधा, अन्नपूर्णा, महासरस्वती, महालक्ष्मी, तारा इत्यादि अनेक रूपोंको धारण करती है। देवीमें अनन्त सामर्थ्य है। जैसे बीजसे अङ्कुर भिन्न नहीं है, वैसे ही शक्तिमान्‌से शक्ति भिन्न नहीं है; सूर्यकी किरणें जैसे सूर्यसे भिन्न नहीं, वैसे ही शिवसे शक्ति भिन्न नहीं। सूर्यकी किरणोंका आश्रय लेकर हम सूर्यमें लीन हो सकते हैं, वैसे ही शक्तिकी उपासनारूपी आश्रय लेकर हम ब्रह्ममें लीन हो सकते हैं; सविकल्प समाधिका आश्रय लेकर हम निर्विकल्प समाधि प्राप्त कर लेते हैं। सविकल्प समाधि साधनरूप है, निर्विकल्प उसका फल है; वैसे ही शक्तिकी उपासना साधनरूप है, ब्रह्ममें लीन होना उसका फल है। अव्यक्तरूपा शक्ति सब शरीरोंमें कुलकुण्डलिनीके नामसे स्थित है, वह सब इन्द्रियोंकी अधिष्ठात्री है। योगी लोग कुण्डलिनीकी उपासना करके उसको पूर्णतया जागृत करते हैं। कुण्डलिनीके जाग्रत् होनेपर सम्यक् ब्रह्मज्ञान करामलकवत् हो जाता है और साधक संसाररूपी जालसे छूटकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है। अगर सब साधकलोग कुण्डलिनी शक्तिकी उपासना करें तो पृथिवीभरमें मत-मतान्तर रहें ही नहीं। घेरण्डसंहितामें शक्तिकी उपासना करनेकी जरूरत बतलायी गयी है।

मूलाधारचक्रमें कुण्डलिनीरूप परमात्माकी शक्ति साढ़े तीन लपेटे लेकर सर्पाकारमें सुप्त है। उसको जबतक जागृत नहीं किया जाता तबतक मनुष्यका ज्ञान पशुवत् भ्रमात्मक रहता है, सम्यक् ज्ञान होता ही नहीं, चाहे योगके दूसरे करोड़ों साधन क्यों न किये जायँ। योगमें सर्वोत्तम साधन कुण्डलिनीको जागृत करना ही है। जैसे कुंजीसे ताला खुल जाता है, वैसे ही कुण्डलिनीको जागृत करनेसे ब्रह्मद्वार खुलकर ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है और मुक्ति हो जाती है। इसी कारण शक्तिकी उपासनाकी अत्यन्त आवश्यकता है। मुमुक्षुजनोंको ब्रह्मसाक्षात्कारार्थ शक्तिकी उपासना अवश्य करनी चाहिये। सच्ची भावनावालोंको देवी मायाके पदार्थ भी अवश्यमेव देती है।

शक्तिसाधना

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०)

जो विचारशील हैं तथा साधनराज्यमें जो प्रविष्ट हैं, वे जानते हैं कि साधनामात्र ही शक्तिकी आराधना है। क्योंकि किसी भी मनुष्यकी अन्तर्दृष्टिके सम्मुख चाहे कैसा भी आदर्श लक्ष्यरूपमें प्रतिष्ठित क्यों न हो, यदि वह शक्ति सञ्चय करते हुए अपनी दुर्बलताका परिहार न कर सके तो सम्यक्-रूपसे उस आदर्शकी उपलब्धि कर उसे आत्मस्वरूपमें परिणत करनेमें वह समर्थ न होगा। समस्त सिद्धियाँ शक्तिसापेक्ष हैं। अतएव साधकको चाहे जैसी सिद्धि अभीष्ट हो, उसका आत्मशक्तिके अनुशीलन बिना प्राप्त होना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार विचार करनेसे स्पष्ट समझमें आ जाता है कि शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य अथवा अन्य किसी भी देवताकी उपासना मूलतः शक्तिकी ही उपासना है। इस प्रकारसे वैष्णवादि समस्त सम्प्रदायोंकी सारी साधनाएँ शक्तिसाधनाके अन्तर्गत हैं। इसके अतिरिक्त साक्षात् भावसे भी शक्तिकी साधना हो सकती है। हम इस प्रबन्धमें इस साक्षात् शक्तिसाधनाके सम्बन्धमें ही संक्षेपमें कुछ आलोचना करेंगे।

हम इन्द्रियद्वारमें रूप, रसादि जिस पाञ्चभौतिक स्थूल जगत्‌का अनुभव करते हैं, वह इन्द्रियोंकी उपशान्त अवस्थामें तद्रूपमें वर्तमान नहीं रहता। वस्तुतः एक तरहसे बाह्य जगत् इन्द्रियोंका ही बहिर्विलासमात्र है। चक्षुसे ही रूपका विकास होता है, तथा चक्षु ही पुनः उस रूपका दर्शन करता है। समष्टिचक्षु रूपका स्रष्टा है और व्यष्टिचक्षु उसका भोक्ता है। इसी प्रकार अन्यान्य इन्द्रियोंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये। अतएव समष्टिभावापन्न पञ्चेन्द्रियसे भौतिक जगत्‌का विकास होता है तथा व्यष्टिगत पञ्चेन्द्रिय उस जगत्‌का सम्भोग करती हैं। इन्द्रियोंका प्रत्याहार करके मूल स्थानमें लीन कर सकनेसे एक ओर जहाँ बाह्य जगत्‌का लोप हो जाता है, उसी प्रकार दूसरी ओर इन्द्रियोंके अभावके कारण उनकी सम्भोगसम्भावना भी निवृत्त हो जाती है। यदि पहलेसे ही चित्तक्षेत्रमें ज्ञानका सञ्चार हो तो इस अवस्थामें विशुद्ध अन्तःकरणका आविर्भाव होता है, तथा

साथ-ही-साथ अन्तर्जगत्का स्फुरण होता है। बाह्य जगत्की भाँति अन्तर्जगत्में भी समष्टिभूत अन्त:करण स्रष्टा है, तथा व्यष्टि-अन्त:करण उसका भोक्ता है। जिसे अन्तर्जगत् या अतिवाहिक जगत्के नामसे वर्णन करते हैं, वह वस्तुत: विशुद्ध अन्त:करणका बाह्य विकासमात्र है। बाह्य इन्द्रियोंकी भाँति अन्त:करण भी निरुद्धवृत्तिक अवस्थाको प्राप्त होनेपर अन्तर्जगत्का लोप हो जाता है। तब अतिवाहिक जगत्का कोई भोक्ता भी नहीं रह जाता। इसके पश्चात् जीव शुद्ध कारणभूमिमें स्थान पाता है। तब समष्टिकारणबिन्दुका स्फुरणात्मक कारण जगत् ही दृश्य होता है और व्यष्टिकारणबिन्दु तदात्मकभावमें उस दृश्यका दर्शन करता है। सौभाग्यवश यदि कोई भाग्यवान् जीव इस मूल ग्रन्थिको भेद कर पाता है तो वह मूल अविद्याके विलासस्वरूप इस मिथ्या प्रपञ्चके पाशजालसे सदाके लिये छुटकारा पा जाता है।

उपर्युक्त आलोचनासे यह प्रतीत होता है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत् तदनुरूप शक्तिके ही विकासमात्र हैं। शक्तिके इन तीन विभागों अर्थात् आत्मा, देवता तथा भूतरूपमें शक्तिकी तीन प्रकारकी अवस्थितिका अनुसरण करते हुए उसका परिणामस्वरूप जगत् भी कारणादि त्रिविध रूपमें प्रकटित होता है। शक्तिके बहिर्मुख होकर घनीभाव तथा स्थूलत्वको प्राप्त करनेपर एक ओर जहाँ भौतिक तत्त्वोंका आविर्भाव होता है, दूसरी ओर उसी प्रकार वह क्रमश: विरल होते-होते अन्त:सङ्कोच अवस्थाको प्राप्तकर 'आत्मा' अथवा 'बिन्दु' पदवाच्य हो जाती है। अतएव तथाकथित आत्मा, देवता और भूत एक ही आद्याशक्तिकी त्रिविध अवस्थामात्र हैं। वैसे ही कारण, लिङ्ग तथा स्थूल—यह त्रिविध जगत् भी एक ही मूल सत्ताके तीन प्रकारके परिणामके सिवा और कुछ नहीं है। शक्तिके साथ सत्ताका क्या सम्बन्ध है, सम्प्रति हम उसकी आलोचना नहीं करेंगे। परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि दोनोंके वैषम्यसे ही जगत्की सृष्टि तथा सम्भोग, अर्थात् ईश्वरभाव और जीवभावका उन्मेष होता है। किन्तु जब साम्य-अवस्था उदय होती है तब एक ओर जहाँ जीव और ईश्वरका पारस्परिक भेद तिरोहित हो जाता है उसी प्रकार दूसरी ओर सृष्टि और दृष्टि एकार्थबोधक व्यापार हो जाते हैं। तब भूमिभेदके अनुसार साम्यकी उपलब्धि होते-होते, त्रिविध साम्यके बाद स्वाभाविक नियमसे परमाद्वैत अथवा महासाम्यका आविर्भाव होता है। जो शक्ति और सत्ता स्थूलभूमिमें आत्मप्रकाश किये हुए हैं, उनका साम्य ही प्रथम साम्य है। उसी प्रकार सूक्ष्म और कारण जगत्के सम्पर्कमें रहनेवाली शक्ति और सत्ताका साम्य क्रमश: द्वितीय और तृतीय साम्यके नामसे पुकारा जाता है। यह त्रिविध साम्य पारस्परिक भेदका परिहार कर जिस महासाम्यमें एकत्व लाभ करता है वही परमाद्वैत या ब्रह्मतत्त्व है। महाशक्तिके उद्बोधनके बिना इस अद्वैततत्त्वमें स्थिति लाभ करना तो दूर रहा, प्रवेशाधिकार पानेकी भी सम्भावना नहीं है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि भूमिभेदसे प्रत्येक स्तरमें शक्तिके उद्बोधनकी आवश्यकता है। नहीं तो तत्तत् भूमिकी सत्ता अचेतनभावको त्यागकर स्वयंप्रकाश चैतन्यके साथ एकीभूत नहीं हो सकती। क्योंकि अनुद्बुद्ध शक्ति सत्ताकी प्रकाशक नहीं होती और अप्रकाशमान सत्ता कभी चिद्भावापन्न नहीं हो सकती। वह असत्कल्प एवं जडताका ही नामान्तरमात्र होती है।

उपर्युक्त विश्लेषणसे समझा जा सकता है कि शक्तिकी आराधनाके बिना एक ओर जिस प्रकार स्थूलभावको आयत्त नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार दूसरी ओर आत्मसत्ताकी भी उपलब्धि नहीं हो सकती। पृथ्वीमें जितने प्रकारके धर्मसम्प्रदाय हैं, जानमें हो या अनजानमें अथवा साक्षात्रूपसे हो या पारम्परिकभावसे हो, शक्तिकी आराधना किये बिना किसीका काम नहीं चलता।

यह अनन्त वैचित्र्यमय विश्व, जिसे हम निरन्तर नाना प्रकारसे अनुभव करते हैं, वस्तुत: शक्तिके आत्मप्रकाशके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सुसूक्ष्म कारण-जगत्, लिङ्गात्मक सूक्ष्म-जगत् और इन्द्रियगोचर स्थूल-जगत् शक्तिके ही विभिन्न विकासमात्र हैं। इस विश्वके मूलमें जो पूर्ण सत्ता पारमार्थिक रूपमें वर्तमान है वही शक्तिका परमरूप है। विशुद्ध चैतन्यके नामसे वर्णन करनेपर भी इसका ठीक परिचय नहीं दिया जा सकता, सच्चिदानन्द शब्दसे वर्णन करनेपर भी इसका ठीक-ठीक निर्देश नहीं किया जा सकता। इस वाणी और मनके अगोचर अनिर्देश्य अवर्णनीय परमार्थसत्ताको ही शास्त्रमें 'परम पद' कहा गया है। यह सत् है या असत्—यह विषय लौकिक विचारके विषयीभूत न

होनेपर भी विचारदृष्टिसे देखनेपर आलोचनाप्रसङ्गसे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसमें प्रकाश और विमर्श— ये दोनों अंश अविनाभूतरूपमें वर्तमान हैं। प्रकाशके बिना जिस प्रकार विमर्श असम्भव है, उसी प्रकार विमर्शको त्यागकर प्रकाशकी स्थिति भी सम्भव नहीं है। यह शिवशक्तिस्वरूप प्रकाश और विमर्शका नित्य सम्बन्ध ही चैतन्यरूपसे महापुरुषोंकी अनुभूतिमें आता है तथा शास्त्रमें प्रचारित होता है। परन्तु चैतन्य होनेपर भी वह प्रकाश और विमर्शकी साम्यावस्थामें अव्यक्त ही रह जाता है। इसी अवस्थाका दूसरा नाम 'परम पद' है, इसमें सन्देह नहीं। इस साम्यावस्थामें महाशक्तिस्वरूपा अनादिशक्ति परम शिवके साथ सामरस्य भावापन्न होकर अद्वयरूपमें विराजमान रहती है। स्वरूपदृष्टिसे इस अवस्थाको एक प्रकारसे परब्रह्मभावका ही नामान्तर कहा जा सकता है, परन्तु इसमें इसके स्वरूपभूत स्वातन्त्र्यके नित्य वर्तमान रहनेके कारण यह ब्रह्मतत्त्वसे विलक्षण ही है। महाशक्तिस्वरूप इस परम पदकी जो बात यहाँ कही गयी है उससे कोई भ्रमवश यह न समझे कि यही निष्कल अथवा पूर्णसकल परमेश्वर है। क्योंकि निष्कल, निष्कल सकल तथा स-कल—ये विश्वकी ही तीन अवस्थाएँ हैं। परन्तु महाशक्ति सर्वातीत होनेके कारण विश्वात्मक होते हुए भी वस्तुत: विश्वोत्तीर्ण है। इस विश्वातीत परम पदसे इसीके स्वातन्त्र्यस्वरूप आत्मविलाससे नित्य साम्यके भग्न न होते हुए भी एक प्रकारकी भग्नवत् अवस्थाका उद्भव होता है, तथा इस वैषम्यके फलस्वरूप गुणप्रधान भावमें छत्तीस तत्त्वसमन्वित विश्वका आविर्भाव होता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि अखण्ड परमार्थस्वरूप शिवशक्तिसे अभिन्न रूप होते हुए भी स्वातन्त्र्यजनित विक्षोभके कारण उसके द्वारा अथवा उसीमें भेदमय विश्वप्रपञ्चका उदय होता है। अतएव त्रिविधविभागविशिष्ट समस्त विश्व मूलत: शक्तिका ही विकास है, यह सुनिश्चित है।

जब वह पराशक्ति आत्मगर्भस्थ एवं अपने साथ एकीभूत विश्वको अर्थात् प्रकाशको देखनेके लिये उन्मुख होती है, तब मात्रावच्छिन्न शक्ति और शिव साम्यभावापन्न होकर एक विन्दुरूपमें परिणत होते हैं, जिससे पारमार्थिक चैतन्य प्रतिफलित होकर ज्योतिर्लिङ्गरूपमें प्रकटित होता है। यही विन्दु तान्त्रिक परिभाषामें 'कामरूपपीठ' के नामसे प्रसिद्ध है। और इस पीठमें अभिव्यक्त चैतन्य स्वम्भूलिङ्गके नामसे परिचित है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह शक्तिपीठ एक मात्रा शक्ति-अंश और एक मात्रा शिवांशको समभावमें लेकर संघटित होती है। शक्ति और शिवके इस अंशद्वयको शान्ताशक्ति और अम्बिकाशक्तिके नामसे आचार्यगण वर्णन करते हैं। इस पीठमें महाशक्तिका आत्मप्रकाश परावाक्रूपमें प्रख्यात है। जिन्होंने तन्त्रानुमोदित योगसाधनका यथाविधि अभ्यास किया है वे जानते हैं कि यहींसे शब्दराज्यकी सूचना होती है। यही प्रणवका परम रूप अथवा वेदका स्वरूप है। इसके पश्चात् शक्तिके क्रमिक विकासके होते-होते शान्ताशक्ति 'इच्छा' रूपमें परिणत होती है, तथा शिवांश अम्बिकाशक्ति भी 'वामा' रूपमें आविर्भूत होती है। इन दोनों शक्तियोंके पारस्परिक वैषम्यका परिहार होनेपर जिस अद्वय सामरस्यमय बिन्दुका आविर्भाव होता है, उससे तदनुरूप चैतन्यका स्फुरण होता है। इस विन्दुको 'पूर्णगिरिपीठ' एवं इस चिद्विकासको वाणलिङ्गके नामसे समझना चाहिये। शास्त्रीय दृष्टिसे यह 'पश्यन्ती वाक्' की अवस्था है। पराशक्ति शब्दकी प्रथम भूमिमें अथवा कामरूप पीठमें आत्मगर्भस्थ विश्वको नित्य वर्तमानरूपमें देखती है। यहाँ अतीत और अनागतरूप खण्डकालकी सत्ता नहीं है, तथा दूर और निकटका व्यवधान भी नहीं है। कार्य और कारणका कठोर नियम यहाँ अपरिज्ञात है। इस नित्य मण्डलमें किसी प्रकारका आवरण नहीं है और न किसी प्रकारका विक्षोभ या चाञ्चल्य देखा जाता है। यह शान्तिमय अवस्था है। इसके बाद इच्छाशक्तिके उन्मेषके साथ-साथ शब्दके द्वितीय स्तरमें सृष्टिका विकास होता है। जिसे नित्यमण्डल कहा गया है, वह शक्तिगर्भस्थ बीजभूत विश्व है। इच्छाके प्रभावसे जब उसकी गर्भके एक देशसे विसृष्टि होती है, तभी उसे सृष्टि नाम प्राप्त होता है। इस भूमिसे ही कालका प्रभाव प्रारम्भ होनेके कारण यह सृष्टिक्रिया एक साथ न होकर क्रमानुसार होती है। इसी प्रकार देश और कार्यकारणभावका स्फुरण भी यहींसे समझना चाहिये। इसकी परावस्थामें इच्छाशक्तिके उपराम होनेपर ज्ञानशक्तिका उदय होता है, तथा वह शिवांश ज्येष्ठाशक्तिके साथ अद्वैतभावमें मिलित होकर 'जालन्धरपीठ' रूप सामरस्य विन्दुकी सृष्टि करता है। इस विन्दुसे अभिव्यक्त चैतन्य इतरलिङ्ग नामसे प्रसिद्ध है। शक्तिके इस स्तरमें 'मध्यमा वाक्' आविर्भूत होती है, और इसके प्रभावसे सृष्ट जगत् तत्तद्भावमें स्थित होता

है। जब स्थितिशक्ति क्षीण हो जाती है, तब स्वभावके नियमसे ही अन्तर्मुख आकर्षणकी प्रबलता होनेके कारण संहारशक्तिकी क्रिया आरम्भ होती है। तब ज्ञानशक्ति क्रियाशक्तिके रूपमें परिणत होकर शिवांश रौद्री शक्तिके साथ साम्यभावको प्राप्त हो जाती है। और उसके फलस्वरूप जिस अद्वैत विन्दुका आविर्भाव होता है, उसे 'उड्डीयानपीठ' कहते हैं। इस विन्दुसे चिच्छक्ति महातेज:सम्पन्न परलिङ्गरूपमें अभिव्यक्त होती है। यह शब्दकी 'वैखरी' नामक चतुर्थभूमि है। हम जिस संहार-शील क्षयधर्मक जगत्का अनुभव करते हैं वह इस वैखरी शब्दकी ही विभूति है।

पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, शब्दकी जिन तीन अवस्थाओंके विषयमें कहा गया है वही प्रणवके 'अ'कार, 'उ'कार और 'म'कार हैं, अथवा, ऋक्, यजु और साम—इस वेदत्रयरूपमें ज्ञानीकी दृष्टिमें प्रतिभात होती हैं। त्रिलोक, त्रिदेवता, त्रिकाल प्रभृति अखण्ड परावाक् अथवा तुरीयवाक्का ही त्रिविध परिणाममात्र हैं। विन्दुगर्भित जो महात्रिकोण समस्त विश्वब्रह्माण्डके मूलरूपमें शास्त्रोंमें सर्वत्र व्याख्यात हुआ है वह इसी चतुर्विध शब्दके सम्बन्धसे प्रकटित होता है। इस त्रिकोणकी तीन रेखाएँ पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरीरूप तीन प्रकारके शब्द; सृष्टि, स्थिति और संहाररूप तीन प्रकारके व्यापार; वामा, ज्येष्ठा और रौद्री किंवा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप तीन प्रकारके शिवांश; अथवा इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप तीन शक्त्यंशके प्रतिनिधिमात्र हैं। त्रिकोणका मध्यविन्दु परावाक् अथवा अम्बिका और शान्ता इन दो शिवशक्त्यंशका साम्यभावापन्न स्वरूप है। यद्यपि विन्दुमें शिव और शक्ति दोनोंका ही अंश है, एवं त्रिकोणमें भी वही है, तथापि विन्दु प्रधानत: 'शिव' रूपमें, एवं इसी प्रकार त्रिकोण भी 'शक्ति' वा 'योनि' रूपमें परिणत हो जाता है। इस विन्दुसमन्वित त्रिकोणमण्डलसे समस्त बाह्य जगत्का आविर्भाव होता है।

आद्याशक्ति तत्त्वातीत होते हुए भी सर्वतत्त्वमयी और प्रपञ्चरूपा है। वह नित्या, परमानन्दस्वरूपिणी तथा चराचर जगत्की बीजस्वरूपा है। वह प्रकाशात्मक शिवके स्वरूपज्ञानका उद्बोधक दर्पणस्वरूप है। अहंज्ञान ही शिवका स्वरूपज्ञान है। आद्याशक्तिका आश्रय लिये बिना इस आत्मज्ञानका प्रकाश नहीं हो सकता। आगमविद्गण कहते हैं कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने सामने स्थित स्वच्छ दर्पणमें अपने प्रतिबिम्बको देखकर उस प्रतिबिम्बको 'अहं' रूपमें पहचान लेता है, उसी प्रकार परमेश्वर अपनी अधीन स्वकीया शक्तिको देखकर अपने स्वरूपकी उपलब्धि करते हैं। आत्मशक्तिका दर्शन एवं आत्मस्वरूपकी उपलब्धि और आस्वादन एक ही वस्तु है। यही पूर्णाहन्ता चमत्कार अथवा सच्चिदानन्दकी घनीभूत अभिव्यक्ति है। 'मैं पूर्ण हूँ'—यह ज्ञान ही नित्य सिद्ध आत्मज्ञानका प्रकृत स्वरूप है। वस्तुका सामीप्य सम्बन्ध न होनेपर जैसे दर्पण प्रतिबिम्बको ग्रहण नहीं कर सकता अथवा वस्तुका सान्निध्य होनेपर भी प्रकाशके अभावसे दर्पणमें स्थित प्रतिबिम्ब जैसे प्रतिबिम्बरूपमें नहीं भासता, उसी प्रकार पराशक्ति भी प्रकाशस्वरूप परम शिवके सान्निध्यके बिना अपने अन्त:स्थित विश्वप्रपञ्चको प्रकटित करनेमें समर्थ नहीं होती। इसी कारण शुद्धशिव अथवा शुद्धशक्ति परस्पर सम्बन्धरहित होकर अकेले जगत्के निर्माणका कार्य नहीं कर सकते। दोनोंकी आपेक्षिक सहकारिताके बिना सृष्टिकार्य असम्भव है। सारे तत्त्व इन दोनोंके पारस्परिक सम्बन्धसे ही उद्भूत होते हैं। इससे कोई यह न समझे कि शिव और शक्ति अथवा प्रकाश और विमर्श परस्पर विभिन्न और स्वतन्त्र पदार्थ हैं।

शिवशक्तिरिति ह्येकं तत्त्वमाहुर्मनीषिण:।

—शास्त्रका यही अन्तिम सिद्धान्त है। तथापि संहारकार्यमें शिवका और सृष्टिकार्यमें शक्तिका प्राधान्य स्वीकार करना होगा। पराशक्ति स्वतन्त्र होनेके कारण परावाक् प्रभृति क्रमका अवलम्बन कर विश्वसृष्टिका कार्य सम्पादन करती है और तदनन्तर सृष्टि विश्वके केन्द्रस्थानमें अवस्थित होकर उसका नियमन करती है। यही स्वातन्त्र्य उपर्युक्त रीतिसे क्रमश: इच्छा, ज्ञान और क्रियाका आकार प्राप्तकर वैचित्र्यका आविर्भाव करता है और विश्वरूप धारण करता है। शिव तटस्थ और उदासीन रहकर निरपेक्ष साक्षिरूपमें आत्मशक्तिकी यह लीला देखा करते हैं। यह नाना तत्त्वमय विश्वसृष्टि ही पराशक्तिका स्फुरण है। अतएव शक्तिकी एक अव्यक्त वा प्रलीन अवस्था है जहाँ शक्ति शिवके साथ एकाकार होकर शिवरूपमें ही विराजमान रहती है, तथा उसकी एक अभिव्यक्त अवस्था भी है जिसमें उसमें और उसके द्वारा तत्त्वमय विश्व या देवताचक्र एक साथ ही एवं क्रमश: आविर्भूत होते हैं। पराशक्तिद्वारा अपने

स्फुरणका दर्शन और विश्वका आविर्भाव एक ही बात है। क्योंकि इस आदिम भूमिमें दृष्टि और सृष्टि समानार्थक हैं। परन्तु इस क्रमिक आविर्भावकी एक प्रणाली है।

सृष्टिके आदिमें अनादिकालसे जो अव्यक्त, पूर्ण, निराकार और शून्यस्वरूप वस्तु विराजमान है वह तत्त्वातीत, प्रपञ्चातीत तथा व्यवहारपथके भी अतीत है। वही शाक्तोंकी महाशक्ति हैं और शैवोंके परम शिव हैं। वाणी और मनके अगोचर होनेके कारण ही इसे अनुत्तर कहा जाता है। वस्तुतः इसका वर्णन न तो कोई कभी कर सका है और न आगे कर सकनेकी ही सम्भावना है। इसे विशुद्ध प्रकाश कहें तो अन्तर्लीन विमर्शके कारण यह अप्रकाशमान है। अतएव इसमें स्वयंप्रकाशभाव है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार इसे विशुद्ध विमर्श भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि प्रकाशहीन विमर्श असत्कल्प है। इस तत्त्वातीत और अनुत्तर अवस्थाके लिये शास्त्रमें वाचकरूपमें आदिवर्ण 'अ' कारका प्रयोग होता है। इसके बाद दोनोंकी सामरस्य अवस्था है, 'अ' काररूप प्रकाशके साथ 'ह' काररूप विमर्शका अर्थात् अग्निके साथ सोमका साम्यभाव ही 'काम' अथवा 'रवि' नामसे प्रसिद्ध है। शास्त्रमें जिस अग्निषोमात्मक बिन्दुका उल्लेख पाया जाता है, वह भी यही है। शिव ही 'अ' और शक्ति ही 'ह' है—विन्दुरूपमें यही 'अहं' अथवा पूर्णाहन्ता हैं। साम्यभङ्ग होनेपर यह विन्दु प्रस्पन्दित होकर शुक्ल और रक्त विन्दुरूपमें आविर्भूत होता है। इस प्रस्पन्दन-कार्यसे जो अभिव्यक्त होता है उसे ही शास्त्रमें संवित् अथवा चैतन्यके नामसे वर्णन किया जाता है। इसीका दूसरा नाम चित्कला है। अग्निके सम्पर्कसे घृत जिस प्रकार गलकर धारारूपमें बहने लगता है, उसी प्रकार प्रकाशात्मक शिवके सम्पर्कसे विमर्शरूपा पराशक्ति द्रुत होती है तथा उससे एक परमानन्दमय अमृतकी धाराका स्राव होता है। यही धारा एक प्रकारसे उपर्युक्त चित्कला एवं दूसरे प्रकारसे ब्रह्मानन्दका स्वरूप है। निष्कल चैतन्यमें कलाका आरोप सम्भवनीय नहीं है। अतएव यह चित्कला महाशक्तिके स्वातन्त्र्यके उन्मेषके कारण शिवशक्तिके आपेक्षिक वैषम्यसे उत्पन्न शक्तिभावके प्राधान्यसे प्रकाशांश और विमर्शांशके घनीभूत संश्लेषणसे उद्भूत होती है। शुद्ध प्रकाश किंवा शुद्ध विमर्श विन्दुपद-वाच्य नहीं है। जिस विमर्शशक्तिमें निखिल प्रपञ्च विलीन रहता है, उसके संसर्गसे अनुत्तर अक्षरस्वरूप प्रकाश विन्दुरूप धारण करता है। यह संसर्ग विमर्शशक्तिमें प्रकाशके अनुप्रवेशके सिवा और कुछ नहीं है। इस विन्दुका नामान्तर प्रकाशविन्दु है, जो विमर्शशक्तिके गर्भमें स्थित रहता है। इसके पश्चात् विमर्शशक्तिके प्रकाशविन्दुमें अनुप्रविष्ट होनेपर यह विन्दु उच्छून हो जाता है अर्थात् पुष्टिलाभ करता है, तब उससे तेजोमय बीजस्वरूप नाद निर्गत होता है। इस नादमें समस्त तत्त्व सूक्ष्मरूपसे निहित रहते हैं। नाद निर्गत होकर त्रिकोणाकार रूप धारण करता है। यही 'अहम्' नामक विन्दुनादात्मक प्रकाश विमर्शका शरीर है। इसमें प्रकाश शुक्लविन्दु है और विमर्श रक्तविन्दु है, तथा दोनोंका पारस्परिक अनुप्रवेशात्मक साम्य मिश्रविन्दु है। इसी साम्यका दूसरा नाम परमात्मा है। इसीको 'रवि' या 'काम' के नामसे पुकारते हैं, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। अग्नि और सोम इसी कामके कला-विशेष हैं। अतएव कामकला कहनेसे तीनों बिन्दुओंका बोध होता है। इन तीन विन्दुओंका समष्टिभूत महात्रिकोण ही दिव्याक्षरस्वरूपा आद्याशक्तिका अपना रूप है। इसके मध्यमें रविविन्दु देवीके मुखरूपमें, अग्नि और सोमविन्दु स्तनद्वयरूपमें तथा 'ह' कारकी अर्धकला अथवा हार्धकला योनिरूपमें कल्पित होती है। यह हार्धकला अति रहस्यमय गुह्य तत्त्व है, इसका विशेष विवरण इस निबन्धमें देना अनावश्यक है। तथापि सम्प्रति जिज्ञासु साधककी तृप्तिके लिये इतना कहा जा सकता है कि शिवशक्तिके मिलनसे उत्पन्न अमृतकी धारा प्रवाहित होनेपर उससे जिस लीलारूप तरङ्गकी उत्पत्ति होती है वही तान्त्रिक परिभाषामें हार्धकलाके नामसे विख्यात है। यह जो त्रिकोणके विषयमें कहा गया है, वह पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन त्रिविध शब्दोंका परस्पर संश्लेषात्मक सम्मिलित स्वरूप है। और इसका केन्द्रस्थित विन्दु, जिसका स्वरूप अहंरूपमें वर्णित हुआ है, वह परमातृकाका विलासक्षेत्र सदाशिवतत्त्वका स्वरूप है। मध्यविन्दु तथा मूल त्रिकोणसे समस्त तत्त्वोंकी और पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है। चाहे किसी भी देवता या किसी भी स्तरके मूलतत्त्वका अनुसन्धान करो, उसकी चरमावस्थामें यह लिङ्गयोनिका समन्वयरूप त्रिकोणमध्यस्थ विन्दु अथवा विन्दुगर्भित त्रिकोण दिखलायी देगा। इसी कारण तन्त्रशास्त्रमें जिस किसी भी देवताके चक्रका वर्णन आया है, उसमें सर्वत्र ही यह विन्दु और त्रिकोण मूलस्थानमें साधारणभावसे वर्तमान है। चतुरस्र प्रभृति

पीठका वर्णन होनेपर भी अन्तर्दृष्टिसे देखनेपर उनके भी मूलमें त्रिकोणकी सत्ता अवस्थित देखी जाती है। त्रिकोणके विभिन्न स्पन्दनसे वासनाकी विचित्रता तथा तदनुरूप चक्रकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ निष्पन्न होती हैं। वर्तमान प्रबन्धमें उसकी आलोचना प्रासङ्गिक न होगी।

महाविन्दु अनन्त कलाकी समष्टि होनेपर भी तत्तद् ब्रह्माण्डके अभिव्यक्त उपादानकी मात्राके अनुसार निर्दिष्टसंख्यक कलाद्वारा गठित होकर अव्यक्त-गर्भसे अहंरूपमें आविर्भूत होता है। यह दर्शनशास्त्रका एक गम्भीरतम रहस्य है। वेदान्तादि निखिल शास्त्र—निष्कल अव्यक्त सत्ता किस प्रकारसे 'अहम्' रूपमें आत्मप्रकाश करता है, इसे अनादिसिद्ध स्वीकार करते हैं। किन्तु इस 'अहम्' की उत्पत्तिप्रणाली और तिरोभावप्रणाली योगसम्पत्तिसम्पन्न तान्त्रिक द्रष्टाके सिवा अन्य किसी साधकको अपरोक्षभावसे अनुभूत नहीं होती। व्यष्टि, समष्टि एवं महासमष्टि—सर्वत्र एक ही प्रणालीकी क्रिया देखनेमें आती है। कलाकी निरन्तर और क्रमिक पूर्णतासे एक ओर जिस प्रकार विन्दुरूप पूर्णकला अथवा अहंतत्त्वका विकास होता है, उसी प्रकार उसके निरन्तर और क्रमिक क्षयसे क्रमश: शून्यस्वरूप अहंभाववर्जित आत्मभावका आविर्भाव होता है। दोनोंमें ही पूर्णकलाकी एक कला नित्य साक्षीरूपमें प्रपञ्चके लय होनेके बाद भी जाग्रत् रहती है। यही एक कला निर्वाणकलारूपमें जीवकी उन्मनी अवस्थामें रहती है। इसकी भी निवृत्ति हो जानेपर जिस निष्कल अवस्थाका विकास होता है, वही शिवशक्तितत्त्व है, वही महाविन्दु है; अतएव यह शिवत्व सदाशिवका नाममात्र है। ब्रह्माण्डकी चरमावस्था जिस प्रकार अस्मितामें पर्यवसित होती है, जो प्रकृति और पुरुषका अवलम्बन करके आत्मलाभ करती है, उसी प्रकार समस्त विश्वके पर्यवसानमें इस विराट् अस्मिरूप अर्थात् विन्दुस्वरूप सदाशिवतत्त्वका आविर्भाव होता है, जिसमें अधिष्ठित होकर शिवशक्तिरूप मूलवस्तु लीलामय भावमें आत्मप्रकाश करती है। अतएव विन्दुरूप अहङ्कारके आत्मसमर्पणके बिना महाविन्दु या पूर्णाहन्ताके स्वरूपकी उपलब्धि सम्भवनीय नहीं है। इस उपलब्धिमें पञ्चदशकलात्मक संसारी जीव, एवं षोडश अथवा निर्वाणकलात्मक मुक्त जीव, किसीकी सत्ता नहीं रहती। यह जीवभाव-विनिर्मुक्त शिवभाव है, यह पहले ही कहा जा चुका है। पाशजालसे मुक्त होकर जीव जबतक शिवरूपमें प्रकाशित नहीं होता तबतक पूर्णस्वरूपा महाशक्तिका यथार्थ सन्धान पाना बहुत ही कठिन है। शिवभाव प्राप्त होनेपर भी शवरूपमें परिणत हो शवासन परिग्रह न कर सकनेपर अपने भीतर महाशक्तिका उन्मेष नहीं प्राप्त हो सकता।

स्थूल जगत्, जिसे हम सर्वदा अनुभव करते हैं, दीपकलिकासे विकीर्ण प्रभामण्डलकी भाँति एक विन्दुका बाह्य प्रसारण अथवा विकिरण मात्र है। इन्द्रियोंके प्रत्याहारसे इस रश्मिमालाको उपसंहृत कर सकनेपर बाह्य जगत् स्वभावत: बाह्य विन्दुमें विलीन हो जाता है। इसी प्रकार लिङ्गात्मक आभ्यन्तरिक जगत् भी विक्षुब्ध अन्त:करणका बाह्य विलासमात्र है तथा वह भी विलीन होनेपर तदनुरूप विन्दुस्वरूपमें अव्यक्त हो जाता है। इसी प्रकार कारणजगत् उपसंहारको प्राप्त होकर कारणविन्दुमें पर्यवसित होता है। यह तीनों जगत् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाके द्योतक हैं। अतएव स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीनों विन्दु ही त्रिकोणके तीन प्रान्तोंके तीन विन्दु हैं। इन्हें 'अकार', 'उकार' और 'मकार' के नामसे भी साङ्केतिक भाषामें निर्देश किया जा सकता है। अन्तर्मुख प्रेरणासे जब ये तीनों विन्दु रेखारूपमें भीतरकी ओर प्रवाहित होकर एक महाविन्दुरूपमें पर्यवसानको प्राप्त होते हैं तो वही तुरीय विन्दु अथवा महाकारणरूपमें अभिहित होनेके योग्य होते हैं। यही त्रिकोणका अन्त:स्थित मध्यविन्दु है, जिसके विषयमें पहले कहा जा चुका है। इस विन्दुमें अनादिकालसे दिव्य मिथुन शिव-शक्तिका अथवा परमपुरुष और पराप्रकृतिके शृङ्गारादि अनन्त भावोंका विलास चलता रहता है। राधाकृष्णका युगलमिलन, आदि बुद्धि एवं प्रज्ञापारमिताका युगनद्धस्वरूप, God the Father तथा God the Son का Holy Ghost के अभ्यन्तर पारस्परिक सम्मिलन इसीका द्योतन करते हैं। यह त्रिकोण ही प्रणवका स्वरूप है। सार्धत्रिवलयाकारा भुजङ्गविग्रहा सुषुप्ता कुण्डलिनी शक्ति भी इसीका नामान्तर है। कुण्डलिनीका प्रबुद्ध भाव सम्यक्रूपसे सिद्ध होनेपर शिव-शक्तिका भेद विगलित हो जाता है तथा साथ-ही-साथ जीवके साथ शिवका अथवा शक्तिका पार्थक्य तिरोहित हो जाता है, तब चक्र या यन्त्र अव्यक्तगर्भमें विलीन हो जाता है। विन्दु एवं त्रिकोणका भेद दूर होनेके कारण विन्दुका विन्दुत्व तथा त्रिकोणका त्रिकोणत्व कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। जो रहता है उसका किसी

नामरूपद्वारा निर्देश नहीं होता। वह सब तत्त्वोंका मूलकारण होनेपर भी किसी विशिष्ट तत्त्वके रूपमें अभिहित होनेके योग्य नहीं रहता। वह चित्, अचित् और ईश्वरका अनादिभूत आदिकारण होनेपर भी चित्, अचित् वा ईश्वर किसी भी नामसे वर्णित नहीं हो सकता।

शक्तिसाधनाका मूलसूत्र नादानुसन्धान अथवा शब्दका क्रमिक उच्चारण है। विन्दु या कुण्डलिनी विक्षुब्ध होकर नादका विकास करती है। पूर्ण परमेश्वरकी स्वातन्त्र्यशक्तिसे विन्दुका विक्षोभकार्य सम्पन्न होता है। इसीका दूसरा नाम गुरुकृपा या परमेश्वरका अनुग्रह है। इस चिदाकाशस्वरूप विन्दुको दूसरी कोई निम्नभूमिस्थ शक्ति विक्षुब्ध नहीं कर सकती। कुण्डलिनी जब मूलाधारके नीचे ऊर्ध्वमुख सहस्रार अथवा अकूलकमलमें विराजमान रहती है तब वह अव्यक्त नामसे विश्वोत्तीर्ण अवस्थाके अन्तर्गत रहती है। परन्तु स्वातन्त्र्यवश उसकी अभिव्यक्ति होनेपर मूलाधारमें ही उसकी अनुभूति होती है। निराधार निरालम्ब सत्तासे यहींसे आधारभावकी सूचना होती है। क्रमशः इस शक्तिके उद्बोधनकी मात्राके अनुसार आधारभाव पुनः क्षीण हो जाता है एवं परिशेषमें सर्वतोभावेन तिरोहित होकर ऊर्ध्वस्थ अधोमुख सहस्रदल कमलमें पुनः अकूल सागरमें निमग्न हो जाता है। अकूलसे ही शक्तिका उद्बोधन और अकूलमें ही उसका लय होता है, मध्यस्थ व्यापार केवल पूर्ण चैतन्य-सम्पत्तिकी प्राप्तिके लिये हैं। जो अनन्त गर्भमें अचेतनभावसे अनादिकालसे सुषुप्तावस्थामें था वह पूर्णरूपमें प्रबुद्ध होकर चैतन्यस्वरूप-अवलम्बनपूर्वक पुनः उस अनन्त गर्भमें प्रविष्ट हो जाता है। यह एक अकूलसे दूसरे अकूलपर्यन्त जो मार्ग है वही विश्वजगत्का मूलीभूत चक्र है। वृत्ताकार मार्गमें मनुष्य जिस स्थानसे चलता है, निरन्तर सरलतापूर्वक आगे बढ़ता जाय तो वह पुनः उसी स्थानपर लौट आता है। मध्यका आवरण चक्रका स्वरूप है। इस प्रकारके चक्र कितने हैं, इसका संख्याद्वारा निर्णय नहीं किया जा सकता। तथापि साधकजन अपने-अपने प्रयोजन और उद्देश्यके अनुसार उनका कुछ निर्देश कर गये हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध लम्बिकाग्र और आज्ञा—ये सब अज्ञानराज्यके अन्तर्गत हैं। यद्यपि अधोवर्ती चक्रकी अपेक्षा ऊर्ध्ववर्ती चक्रमें शक्तिकी सूक्ष्मता तथा निर्मलताका विकास अधिक है तथापि ये अज्ञानकी सीमाके अन्तर्गत हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। ज्ञानके सञ्चारके साथ-साथ ही आज्ञाचक्रका भेदन हो जाता है, अथवा दूसरे प्रकारसे यह कह सकते हैं कि आज्ञाचक्रका भेदन करनेसे ज्ञानका उदय होता है। आज्ञाचक्रके बाद ही विन्दुस्थान है, यही विन्दु योगियोंका तृतीय नेत्र अथवा ज्ञानचक्षु कहलाता है। इसी विन्दुसे ज्ञानभूमिकी सूचना मिलती है। चित्तको एकाग्र करके उपसंहृत किये बिना, अर्थात् विक्षिप्त अवस्थामें, विन्दुमें स्थिति नहीं हो सकती। विन्दु-अवस्थामें स्थिति होनेपर भी यथार्थ लक्ष्यकी प्राप्तिमें अनेकों व्यवधान रह जाते हैं। यद्यपि विन्दुभूमिमें साधक अहंभावमें प्रतिष्ठित होकर आपेक्षिक द्रष्टा बनकर निम्नवर्ती समस्त प्रपञ्चको निरपेक्षभावसे देखनेमें समर्थ होता है, तथापि जबतक वह विन्दु पूर्णतः तिरोहित नहीं हो जाता, अर्थात् पूर्णतः अहंभावका विसर्जन अथवा आत्मसमर्पण नहीं होता, तबतक महाविन्दु अथवा शिवभावकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इसीलिये विन्दुभावको प्राप्त होकर साधकको क्रमशः कलाक्षय करते-करते पूर्णतया विगतकल अवस्थामें उपनीत होना पड़ता है। विन्दुके बाद उल्लेखयोग्य प्रधान चक्र विन्दु-अर्ध अथवा अर्धचन्द्रके नामसे प्रसिद्ध है। विन्दुको चन्द्रविन्दु कहा जाता है, इसीलिये यह अवस्था अर्धचन्द्र नामसे वर्णित होती है। इसी अवस्थामें अष्टकला शक्तिका विकास होता है। इसके आगे अर्थात् शक्तिकी नव कलाके क्षीण होनेपर एक अवरोधमय घोर आवरणस्वरूप विलक्षण अवस्थाका उदय होता है। बड़े-बड़े देवताओंके लिये भी इस स्तरका भेदन करके ऊपर उठना कठिन है। परन्तु अनुग्रह-शक्तिके विशिष्ट प्रभावसे भाग्यवान् साधक इस चक्रका भेदनकर ऊपर उठनेमें समर्थ होता है। शास्त्रमें यह अवस्था 'रोधिनी' नामसे प्रसिद्ध है। इस आवरणका भेदन करनेसे ही साधक नादभूमिमें उपनीत होता है। नाद चैतन्यका अभिव्यञ्जक है, अतः इस अवस्थामें चित्शक्ति क्रमशः अधिकतर स्पष्ट हो जाती है। ब्रह्मरन्ध्रके जिस स्थानमें नादका लय होता है, यह वही स्थान है इसके बाद साक्षात् चित्-शक्तिका आविर्भाव होता है। इसी शक्तिसे समस्त भुवन विधृत हो रहे हैं। इस अवस्थाके आगे त्रिकोणस्वरूपा 'व्यापिका' है, वह विन्दुके विलासस्वरूप वामादि शक्तित्रयसे सङ्घटित है। तदनन्तर सर्वकारणभूता समनाशक्तिका आविर्भाव होता है। यह शिवाधिष्ठित है और समस्त ब्रह्माण्डोंकी

भरणशीला है। एतदारूढ़ शिव ही परम कारण और पञ्चकृत्यकारी हैं। यह चिदानन्दरूपा पराशक्ति है, यहीं मनोराज्यका अन्त होता है। इसके आगे मन, काल, देश, तत्त्व, देवता तथा कार्यकारणभाव सभी सदाके लिये तिरोहित हो जाते हैं। जो जपादि क्रियाके द्वारा नादके उत्थानका अभ्यास करते हैं, वे जानते हैं कि आज्ञाचक्रपर्यन्त अर्थात् जहाँतक अक्षमाला वा वर्णमालाका आवर्तन होता है वहाँतक उच्चारण अथवा ऊर्ध्वचालनका काल एक मात्रासे न्यून नहीं हो सकता। विन्दुमें वह अर्धमात्रामें पर्यवसित होता है। इसके बाद वह क्रमशः क्षीण होते-होते समनाभूमिमें एक क्षण रूपमें परिणत होता है। इसके आगे मनके स्पन्दनशून्य हो जानेके कारण देश, काल नहीं रह जाते तथा समस्त मानसिक विक्षोभ या कल्पनाजालके उपशान्त होनेपर निर्विकल्पक निवृत्तिभावका उदय होता है। यह निवृत्तिभाव होनेपर भी—देश, काल और निमित्तके अतीत तथा मनोभूमिके अगोचर होनेपर भी—वस्तुतः नितान्त निष्कल अवस्था नहीं है। क्योंकि इस अवस्थामें इसमें विशुद्ध चिद्रूपा एक कला शेष रहती है, जो निर्वाणकलारूपसे शास्त्रमें प्रसिद्ध है तथा योगिजन जिसे द्रष्टा या साक्षिचैतन्यके नामसे पुकारते हैं। सांख्यका कैवल्य इसी अवस्थाकी सूचना देता है। क्योंकि सांख्यकी प्रकृति पञ्चदशकलात्मिका है और उसका पुरुष षोडशी या निर्वाणकलाका स्वरूप है।

पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम्।

इस कलासे ऊपर उठे बिना महाविन्दु वा परमात्मस्वरूप शिवतत्त्वकी उपलब्धि नहीं हो सकती। सांख्यभूमिसे अग्रसर होनेपर वेदान्तकी साधना होती है,—इस एक कलामात्रावशिष्ट निर्वाणभूमि वा उन्मनाभूमिको पार कर महाविन्दुरूप पूर्णाहन्तामय अवस्थामें पदार्पण करना भी वही है। पूर्णाहन्तास्वरूप शिवभावकी स्फूर्ति होनेपर जब इसका भी परिहार होता है—जब विन्दुका क्रमशः क्षय होते-होते उन्मनी अवस्थाका अवसान होनेपर विन्दु शून्य हो जाता है, तब पूर्णस्वरूप महाशक्तिका आविर्भाव होता है। अर्थात् महाविन्दुके पूर्ण रूपमें स्थित होनेपर उसमें पराशक्तिकी नित्य अभिव्यक्ति होती है। पक्षान्तरमें महाविन्दुके रिक्त हो जानेपर परमशिवका आविर्भाव होता है। वस्तुतः शिव-शक्तिके विभिन्न न होनेके कारण तथा महाविन्दुकी पूर्ण और रिक्त अवस्था भी नित्य-सिद्ध होनेके कारण शून्य और पूर्णत्वका आविर्भाव नित्य ही मानना होगा। जो रिक्त दिशा है, लौकिक दृष्टिसे वही अमावस्या है और जो पूर्ण दिशा है वही पूर्णिमा है। महाशक्तिके प्राधान्यको अङ्गीकार कर अमावस्याकी ओर जो उसकी स्फूर्ति होती है वही कालीरूपमें तथा जो पूर्णिमाकी ओर स्फूर्ति होती है वही षोडशी, त्रिपुरसुन्दरी या श्रीविद्याके रूपसे साधकसमाजमें परिचित होती है। कालीकुल और श्रीकुलका यही गुप्त रहस्य है। मध्यपथमें तारा वा तारिणी विद्या है। यहाँ उसकी आलोचना नहीं करनी है। हमने जो कुछ कहा है वह महाशक्तिका प्राधान्य अङ्गीकार करके ही कहा है। परन्तु प्रकाश या शिवस्वरूपका प्राधान्य अङ्गीकार करनेपर इस अवस्थामें कुछ भी कहनेको नहीं रह जाता।

स-कल, निष्कल और मिश्र-शक्तिकी ये तीन अवस्थाएँ हैं, अतः शक्तिकी उपासना भी स्वभावतः इन तीन श्रेणियोंमें ही अन्तर्भुक्त हो जाती है। उपासनाके क्रमसे स-कल भावकी उपासना निकृष्ट है, मिश्रभावकी उपासना मध्यम है एवं निष्कल उपासना ही श्रेष्ठ है। परन्तु हमलोग जिसे साधारणतः उपासना कहते हैं वह इन तीन श्रेणियोंमेंसे किसीके अन्तर्गत नहीं है। क्योंकि जबतक गुरुकी कृपादृष्टिसे कुण्डलिनी शक्तिका उद्बोधन तथा सुषुम्नाके मार्गमें प्रवेश नहीं हो जाता तबतक उपासनाका अधिकार नहीं उत्पन्न होता। मूलाधारसे आज्ञाचक्रपर्यन्त चक्रेश्वरीरूपमें शक्तिकी आराधना ही निकृष्ट उपासना है। परन्तु जो साधक इन्द्रिय और प्राणकी गतिका अवरोध कर कुलपथमें प्रविष्ट नहीं हो सकता उसके लिये देवीकी अधम उपासना भी सम्भव नहीं है। साधक क्रमशः अधमभूमिसे यथाविधि साधनाद्वारा निर्मलचित्त होकर मध्यम भूमिकी उपासनाका अधिकारी होता है। तदनन्तर उत्तम अधिकार प्राप्तकर भगवतीकी अद्वैत उपासनासे सिद्धिलाभ करता है। मनुष्य जबतक द्वन्द्वमय भेदराज्यमें वर्तमान रहता है तबतक उसके लिये निम्नभूमिकी उपासना ही स्वाभाविक है। कर्म ही इसका रूप है। चतुरस्रसे वैन्दवचक्रपर्यन्त अथवा मूलाधारसे सहस्रदलकमलपर्यन्त सदल आवरणदेवतादिसहित समग्र देवीचक्रकी उपासना ही कर्मात्मक अपरा पूजा है। इस पूजा अर्थात् षट्चक्रके क्रियारूप अनुष्ठानका अवलम्बन कर अग्रसर न हो सकनेसे चित्तमें कदापि अभेदज्ञानका उदय नहीं हो सकता। स्वयं शङ्कर भी भगवतीकी अपरा पूजा किया करते हैं। यह महाजनोंका सिद्धान्त है।

इसीलिये ज्ञानीके लिये भी चक्रपूजा उपेक्षणीय नहीं है। साधक अपनी देहमें विभिन्न प्रकारके गणेश, ग्रह, नक्षत्र, राशि, योगिनी एवं पीठका विधिपूर्वक न्यास वा स्थापन कर सकनेपर केवल इसीके प्रभावसे साक्षात् परमेश्वरतुल्य अवस्था प्राप्त कर सकते हैं।*

निम्नभूमिकी उपासनाके प्रभावसे साधकका अधिकारबल बढ़ जानेपर वह मध्यम भूमिमें उपनीत होकर भेदाभेद-अवस्थाको उपलब्ध करता है। तब समुचित ज्ञान और कर्मका आविर्भाव होता है और आन्तर अद्वैतधाममें क्रमशः बाह्य चक्रादिका लय हो जाता है। इसके बाद जब ज्ञानमें कर्मकी परिसमाप्ति हो जाती है तब अभेद या अद्वैतभूमिकी स्फूर्ति होती है और साधक परापूजाका नित्य अधिकार स्वभावतः ही प्राप्त कर लेता है। एकमात्र परमशिवकी स्फूर्ति वा ब्रह्मज्ञान ही परापूजाका नामान्तर है। इस ज्ञान अथवा परम तत्त्वके विकासको लौकिक जगत्‌में कोई समझ नहीं सकता।

अधोमुख श्वेतवर्ण सहस्रदलकमल वा अकूल कमलकी अन्तर्कलिकामें वाग्भव नामक एक प्रसिद्ध त्रिकोण है। इस त्रिकोणसे परादिक्रमसे चार प्रकारके वाक् वा शब्द उत्पन्न होनेके कारण इसका नाम वाग्भव है। इस त्रिकोणके मध्यमें विश्वगुरु परम शिवकी पादुका है। वह प्रकाश, विमर्श तथा इन दोनोंके सामरस्य-भेदसे तीन प्रकारकी है। इस पादुकासे निरन्तर परमामृत निकलता रहता है—इस स्निग्ध अमृतमय चन्द्ररश्मिद्वारा समस्त विश्वका सञ्जीवन, माधुर्यसम्पादन और तृप्ति होती है। यह पादुका समस्त जीवोंका आत्मस्वरूप है। इसके बाद शिवाद्वैतभावनारूप प्रसादको ग्रहण करनेसे समस्त तत्त्व विशुद्ध होकर विमल आनन्दका उदय होता है। तत्त्वशुद्धि और आनन्दसञ्चारके पश्चात् हृदयाकाशमें जिस परम नादका उदय होता है उसका चिन्तन करनेपर आद्याशक्तिके आनन्दमय रूपकी उपलब्धि होती है। साधकके हृदयमें इस प्रकारके नादकी अभिव्यक्ति ही आन्तर जप या मानस जपके नामसे प्रसिद्ध है। चित्तके बाह्य प्रदेशसे लौटकर अन्तर्मुखमें एकाग्र होनेपर इसका अनुभव होता है। इससे अश्रु, पुलक, स्वेद, कम्प प्रभृति सात्त्विक विकारोंका उन्मेष होता है। इस आन्तर जप या नादानुसन्धानके समय इन्द्रियसञ्चार नहीं रहता, इसीलिये इसे बाह्य जप नहीं कहा जा सकता। बाह्य जप विकल्पका ही प्रकारभेद है। परन्तु आन्तर जपमें विकल्पका व्यापार शून्य हो जाता है। यही निष्कल चिन्तन अथवा ध्यानका स्वरूप है। वस्तुतः यह चित्तकी निरन्तर अन्तर्मुखताके सिवा और कुछ भी नहीं है। इस प्रकारका चिन्तन तबतक उदित नहीं हो सकता जबतक शुद्ध चैतन्यका सङ्कोचभाव दूर नहीं हो जाता। पर चित्कला महाशक्तिका उल्लास होनेपर स्वतः ही इस सङ्कोचका नाश हो जाता है। तब पूर्णाहन्ता स्वयमेव विकसित हो जाती है। इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाले शब्द, स्पर्श प्रभृतिके द्वारा आत्मदेवताकी जो पूजा होती है, उसे स्वाभाविक पूजा वा सहज उपासना कहकर महायज्ञरूपसे शास्त्रमें उसकी प्रशंसा की गयी है। विषयानुभवजन्य आनन्द महानन्दके साथ मिलनेपर जिस वैषम्यहीन अवस्थाका उदय होता है वही भगवतीकी उत्तम उपासनाका प्रकृत तत्त्व है।

हमने अत्यन्त संक्षेपमें शक्तिसाधनाके साधारण तत्त्वके सम्बन्धमें कुछ निवेदन किया। द्वैत, द्वैताद्वैत, अद्वैत—यह त्रिविध उपासनाएँ शक्तिसाधनाके ही अन्तर्गत हैं। अतः समस्त देवताओंकी साधना तथा योग, कर्म प्रभृति सब इसके अन्तर्गत हैं। काली, तारा प्रभृति भेदसे साधनाके प्रकारभेद अप्रासङ्गिक समझकर यहाँ आलोचित नहीं हुए हैं। बीजतत्त्व और मन्त्रविज्ञान, नादविन्दुकलाका स्वरूपालोचन, मन्त्रोद्धार और मन्त्रचैतन्य प्रभृति क्रियाएँ, दीक्षा और गुरुतत्त्व, दीक्षातत्त्व, अध्वशुद्धि, भूत और चित्तकी शोधनक्रिया, मातृका और पीठविचार, न्यास और प्राणप्रतिष्ठा—इस प्रकार अनेकों विषय शाक्त साधनाकी विस्तृत आलोचनासूचीके अन्तर्गत हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि शक्ति-उपासनाके सम्बन्धमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेके लिये इन सब प्रासङ्गिक विषयोंका भी ज्ञान होना आवश्यक है।

---

* जिन्होंने सत्य-सत्य ही स्वदेहमें देवताओंका न्यास करना सीख लिया है, उनके सामर्थ्यकी तुलना नहीं हो सकती। इस प्रकारका मनुष्य यदि न्यासरहित साधारण मनुष्यको प्रणाम कर ले तो उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है।

तत्त्व

(लेखक—श्री सर जॉन वुडरफ)

मन्त्रशास्त्रके ज्ञानके लिये छत्तीस शैव-शाक्ततत्त्वोंका समझना भी आवश्यक है। उदाहरणत: यह कहा जाता है कि शक्तितत्त्वके अन्दर शक्ति है, सदाख्यतत्त्वके अन्दर नाद है, ईश्वरतत्त्वके अन्दर बिन्दु है। तब प्रश्न यह होता है कि ये तत्त्व क्या हैं जिनका उल्लेख शैव एवं शाक्त दोनों प्रकारके तन्त्रोंमें मिलता है? तत्त्वोंको पूरी तरहसे समझे बिना मन्त्रशास्त्रके ज्ञानमें प्रगति नहीं हो सकती।

शैवशाक्तशास्त्रमें शक्तिके रूपमें प्रमा (ज्ञान)-को विमर्श शब्दसे अभिहित किया गया है। प्रमाके दो अंश हैं—अहमंश और इदमंश, जिनमें पहला आत्माका ग्राहक अंश है और दूसरा ग्राह्य। क्योंकि यह बात ध्यानमें रहे कि एक आत्मा ही मायारूप उपाधिके कारण द्रष्टारूप अपनी ही दृष्टिमें अपनेसे भिन्न-अनात्म अथवा दृश्यरूपमें भासता है। मूलमें प्रमेय वस्तु प्रमातासे भिन्न नहीं है, यद्यपि इस बातका अनुभव तबतक नहीं होता जबतक प्रमाता और प्रमेयकी भेदप्रतीतिका कारणभूत मायारूप बन्धन शिथिल नहीं हो जाता। प्रमा अथवा प्रतीतिका अहमंश वह है जिसमें आत्मा दूसरेकी तरफ न देखता हुआ अपने ही प्रकाशमें स्थित रहता है (**अनन्योन्मुखोऽहंप्रत्ययः**)। इसी प्रकार दूसरेकी ओर देखनेवाला विमर्श 'इदं प्रत्यय' कहलाता है (**यस्त्वन्योन्मुखः स इदमिति प्रत्ययः**)। परन्तु यह 'दूसरा' भी आत्मा ही है, क्योंकि वास्तवमें एक आत्माके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। हाँ, इसकी प्रतीति अवश्य ही भेदरूपसे होती है। परमावस्थामें आत्माका यह इदंरूप उसके अहमंशके साथ घुलामिला—सम्पृक्त होकर रहता है। शुद्ध अवस्थामें, जो परमावस्था और मायाके बीचकी अवस्था है, इस 'दूसरे' की आत्माके अंशरूपमें ही प्रतीति होती है। अशुद्ध अवस्थामें, जिसमें मायाका आधिपत्य होता है, प्रमेय वस्तु परिच्छिन्न आत्मासे भिन्न प्रतीत होती है।

प्रतीति अथवा ज्ञानकी भी दो कोटियाँ हैं—(१) पूर्ण (सकल) विश्वका सकल ज्ञान, और (२) त्रिविध जगत्का परिच्छिन्न ज्ञान। इन दो कोटियोंके बीच ज्ञानकी माध्यमिक अवस्थाएँ भी हैं, जिनके द्वारा एक शुद्ध चैतन्य अथवा आत्मा जड प्रकृतिमें आबद्ध होता है। हरमीज (Hermes) नामक पाश्चात्य विद्वान्का एक आभाणक प्रसिद्ध है:- 'As above, so below.' अर्थात् जो ऊपर है वही नीचे भी है। इसी प्रकार विश्वसारतन्त्रमें भी लिखा है—'जो यहाँ है सो वहाँ भी है, जो यहाँ नहीं है वह कहीं नहीं है' (**यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्**)। शैवसिद्धान्त भी यही कहता है—'बाहर जो कुछ दीखता है वह इसीलिये दीखता है कि भीतर भी वही है।'

वर्त्तमानावभासानां भावानामवभासनम्।
अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना॥

'जो वस्तुएँ इस समय दिखायी देती हैं वे बाह्य पदार्थोंके रूपमें इसीलिये अवभासित होती हैं कि वे भीतर भी हैं।' इसलिये परमात्मासे प्रादुर्भूत हमारे ज्ञानमें जो पदार्थ है वह परम ज्ञानमें भी है, चाहे किसी दूसरे ही प्रकारसे क्यों न हो। परम ज्ञान, जिसे 'परा संवित्' कहते हैं, निरा सूक्ष्म निर्विषय ज्ञान नहीं है। वह तो 'अहम्' और 'इदम्' अर्थात् शिव और परा अव्यक्त शक्तिका अखण्ड ऐकात्म्य है—एकरूपता है। पहला अर्थात् 'अहम्' प्रकाश अथवा ग्राहकरूप है और दूसरा विमर्श अथवा ग्राह्यरूप। परन्तु इस स्थितिमें दोनों इस प्रकारसे घुले-मिले हैं कि उनका पृथक्रूपसे भान नहीं होता। इस परासंवित्में संवेदन (feeling) की अपरोक्षता (immediacy) रहती है। यही आनन्द है, जिसे 'स्वरूपविश्रान्ति' कहा गया है। मायिक जगत्में आत्माका सम्बन्ध उसीसे रहता है जिसे वह भूलसे अनात्म समझ लेता है। यहाँ जगत्, जो शिवके ज्ञानका विषय है, पूर्ण जगत् अर्थात् पराशक्ति है जो अपने ही ज्ञानस्वरूपकी दूसरी दिशा है। 'पराप्रवेशिका' नामक ग्रन्थमें उसे 'परमेश्वरका हृदय' (**हृदयं परमेशितुः**) कहा गया है। क्योंकि मायिक प्रमाताके लिये विश्व अपनेसे भिन्नरूपमें दृश्यमान पदार्थोंका व्यक्त जगत् ही है। परम शिव और शक्ति परस्पर आश्लिष्ट एवं प्रणयबद्ध होकर रहते हैं। निरतिशय प्रेमका ही नाम आनन्द है

(**निरतिशयप्रेमास्पदत्वमानन्दत्वम्**)। इस परम अवस्थाका बृहदारण्यक-उपनिषद्‌में इस प्रकार वर्णन आया है—'वह आनन्दमें ऐसा विभोर था जैसे स्त्री और पुरुष परस्पर आश्लिष्ट होकर रहते हैं' (**स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ**)। उस समय भीतर और बाहरका भेद नहीं रह जाता और प्रेमी, प्रेमास्पद एवं प्रेमकी त्रिपुटी एकताके आनन्दमें लीन हो जाती है। वह अनुभूति देशकालसे शून्य, पूर्ण, सर्वग्राहिणी एवं सर्वशक्तिशालिनी होती है। यह निष्कल अथवा परमशिवकी अवस्था है। यह तत्त्वातीत परा संवित् है, पूर्ण जगत्‌के रूपमें इसकी 'परनाद' एवं 'परा वाक्' संज्ञा होती है। परम शिव पूर्ण जगत् अर्थात् परनादकी ही अनुभूति है। इस प्रकार जगत् शुद्ध शक्तिस्वरूप होता है।

हमारा प्रापञ्चिक ज्ञान मानो इन सबका मायाके कारणरूप जलपर पड़ा हुआ उलटा प्रतिबिम्ब है। मायाशक्ति वह भेदबुद्धि है जिसके वशीभूत होकर पुरुष द्रष्टाके रूपमें जगत्‌को अपनेसे बाह्य एवं पृथक् असंख्य पदार्थोंके सहित देखता है। मायिक जगत्‌में प्रत्येक आत्मा अन्य सभी आत्माओंसे पृथक् सत्ता रखता है। परम अनुभूतिकी अवस्थामें एक ही आत्मा स्वयं अपना ही अनुभव करता है। माया एवं पञ्चकञ्चुकोंके अधीनस्थ चैतन्यका नाम ही पुरुष है; ये पञ्चकञ्चुक वे परिच्छेदक अथवा उपाधिभूत शक्तियाँ हैं जो आत्माकी नैसर्गिक पूर्णताको संकुचित कर देती हैं। इस प्रकार पूर्णावस्था आकृतिशून्य होती है, प्रपञ्चावस्था साकार होती है; पूर्णावस्था देशकालसे शून्य एवं सर्वव्यापिनी होती है, प्रपञ्चावस्था इससे विपरीत गुणवाली होती है। कालके द्वारा समयका आकलन—विभाग होता है। नियति स्वतन्त्रताकी संहारक होती है और पुरुषके लिये यह व्यवस्था कर देती है कि अमुक समयमें उसे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। परम अवस्था पूर्णावस्था है, उसमें किसी बातकी त्रुटि नहीं रहती। राग-कञ्चुक पदार्थोंमें अनात्मरूपसे राग उत्पन्न कर कामना उत्पन्न करता है। परमशिवकी सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता विद्या और कलाके व्यापारसे परिच्छिन्न हो जाती हैं और पुरुष 'अल्पज्ञ' और 'अल्पकर्ता' बन जाता है।

मध्यवर्ती तत्त्वोंके द्वारा, जिनका आगे वर्णन किया जायगा, इस बातका स्पष्टीकरण होता है कि परा संवित्—पूर्ण अनुभूतिके सर्गात्मक (सकल) रूपसे किस प्रकार अपूर्ण प्रपञ्चज्ञानकी उत्पत्ति होती है। शिवके दो रूप हैं—(१) विश्वातीत (Transcendental) तथा (२) विश्वोत्पादक (Creative) एवं विश्वात्मक (Immanent)। निष्कल परम शिवके सकल रूपको शिवतत्त्व कहते हैं, जो उन्मनी शक्तिका अधिष्ठान है। अपने सकलरूपमें क्रियाशील होकर शिव व्यक्त जगत्‌के रूपमें अपना ही प्रमेय अथवा ज्ञेय बन जाता है। क्योंकि वास्तवमें परम शिवके अतिरिक्त किसी वस्तुकी सत्ता ही नहीं है। शिवतत्त्व निस्पन्द परमशिवका प्रथम स्पन्द है। शक्तितत्त्व शिवतत्त्वका एकमात्र निषेधक रूप है। निषेध ही शक्तिका व्यापार है (**निषेधव्यापाररूपा शक्तिः**)। चैतन्यरूपा वह स्वयं अपना ही निषेध करती है—प्रत्याख्यान करती है। अर्थात् प्रमा (ज्ञान) को ग्राह्यत्वांशसे शून्य कर देती है, जो अपना ही पराशक्तिरूप है। इस प्रकार ज्ञानकी दूसरी दिशा ही बच रहती है, जो प्रकाशमात्र है अर्थात् जिसे हम अहमिदमात्मक ज्ञानका अहमंश कह सकते हैं, चूँकि इस ज्ञानमें ग्राह्यता (Objectivity) का लेश भी नहीं है। चाहे वह व्यक्त अथवा अव्यक्तरूपसे परा संवित्‌में रहनेवाली हो अथवा उससे नीचेके कार्यरूप (derived) ज्ञानमें रहनेवाली हो, इसलिये शिवतत्त्वको शून्यातिशून्य कहते हैं। यह वह ज्ञान है जिसमें आत्मा अपनेसे अन्य किसीकी ओर नहीं देखता (**अनन्योन्मुखोऽहं प्रत्ययः**)। ज्ञानका ग्राह्य स्वरूप एक प्रकारसे निरा निषेधात्मक है। ग्राह्य स्वरूपसे शून्य होनेके कारण ही उसकी 'शून्य' संज्ञा है। शक्तितत्त्वको शिवकी अव्यक्त एवं सन्ततसमवायिनी इच्छा भी कहते हैं।

शक्तिके व्यापारका यह वर्णन अत्यधिक सूक्ष्म एवं गहन है, क्योंकि उससे इस बातका स्पष्टीकरण होता है कि परम ऐकात्म्यज्ञान अथवा अभेदज्ञान ही भेद अथवा द्वैतज्ञानका भी मूलकारण है। इस प्रकारका द्वैतज्ञान तथा उसके पूर्ण विकासकी श्रेणियाँ तभी प्रादुर्भूत हो सकती हैं जब हम एक ऐसी अवस्था स्वीकार करें जिसमें ऐकात्म्यज्ञान विशकलित हो जाता है—छिन्न-भिन्न हो जाता है। ऐसा करनेके लिये सर्वप्रथम परा संवित्‌मेंसे उसके विषय अर्थात् पूर्णजगत् (पराशक्ति, परनाद) को

निकालना होता है, जिससे केवल ग्राहकतामात्र रह जाती है। ग्राहकताके इस प्रकार उन्मुक्त हो जानेपर—निखर जानेपर विश्वका फिरसे धीरे-धीरे उन्मेष अथवा विकास होता है, पहले अव्यक्तरूपमें और पीछे मायाके द्वारा व्यक्त शक्तिके रूपमें। परा संवित्‌में 'अहम्' और 'इदम्' एकरूप होकर विद्यमान थे—घुलेमिले-से थे। शिवतत्त्वमें सम्बद्ध शक्तितत्त्वके व्यापारसे ज्ञानका इदमंश निकल जाता है और केवल अहंविमर्श शेष रह जाता है। इस अहंविमर्शके साथ 'इदम्' अथवा जगत् फिरसे धीरे-धीरे सम्पर्कमें आता है। उस समय 'अहम्' और 'इदम्' का ऐकात्म्य नहीं रहता, किन्तु दोनों अलग-अलग आत्माके अंशरूपमें रहते हैं। अन्ततोगत्वा 'अहम्' और 'इदम्' का यह समुदितरूप छिन्न-भिन्न हो जाता है, 'अहम्' और 'इदम्' अलग-अलग हो जाते हैं। अवशिष्ट तत्त्वोंके वर्णनसे इस पार्थक्यकी प्रक्रिया भी समझमें आ जायगी। शिवशक्तितत्त्व कार्यरूप नहीं है क्योंकि सृष्टि अथवा प्रलयमें भी वह एकरस रहता है। वह अखिल ब्रह्माण्डका बीज एवं योनि है।

ज्ञानके प्रथम आभासको 'सदाख्य' अथवा 'सदाशिव' तत्त्व कहते हैं। यहाँ यह बात ध्यान देनेकी है कि कारण कार्यमें भिन्नरूप भासता हुआ भी सदा एकरूप, एकरस रहता है। परा संवित् अपने सकल (सर्गात्मक) रूपमें जगत्‌की उत्पादिका होनेपर भी सदा निर्विकार—अपरिणामिनी रहती है। यह आभास मायावादियोंके विवर्तसे मिलता-जुलता-सा है, अन्तर केवल इतना ही है कि आभासवादियोंके मतमें कार्य सत् है और मायावादियोंके मतमें वह असत् है। यह अन्तर 'सत्ता' के लक्षणपर भी निर्भर करता है।

यथार्थ परिणाम—जिसके अनुसार एक वस्तु दूसरी वस्तुमें परिणत हो जानेपर अपने प्राक्तनरूपमें नहीं रहती, अपना पूर्वरूप खो बैठती है—जड जगत्‌के मिश्रित (Compounded) पदार्थोंमें ही होता है।

सदाशिव-तत्त्वमें सङ्कल्पोंकी आदिम अन्तर्मुखी रचना प्रारम्भ होती है। इसकी 'निमेष' संज्ञा है और ज्ञानकी इसके आगेकी अवस्था, जो इससे विपरीत होती है, 'उन्मेष' कहलाती है; निमेषावस्थामें शक्तिरूप विश्वकी झलकमात्र दिखायी देती है। यहाँ आत्मा अपनेको ग्राह्यरूपमें अस्पष्टतया अनुभव करता है। सृष्टि अथवा विकासकी यह पहली सीढ़ी है और प्रलय अथवा सङ्कोचका अन्तिम सोपान है। जगत्‌के स्फुटत्व एवं बाह्यत्वको 'उन्मेष' कहते हैं। 'अहम्' 'इदम्' की एक ही आत्माके अंशरूपमें बहुत ही अस्पष्ट झलक पाता है, इसलिये विमर्शके अहमंशकी प्रधानता रहती है। सदाशिव वही हैं जिन्हें वैष्णव विष्णुके नामसे पुकारते हैं और बौद्ध अवलोकितेश्वर कहते हैं, जो सबपर समानरूपसे करुणाकी वृष्टि करते हैं। शास्त्रपरम्पराके अनुसार अवतारोंके बीज यही हैं। मन्त्रशास्त्रमें जिसे नादशक्ति कहते हैं वह इसी तत्त्वमें निवास करती है।

विकासोन्मुख ज्ञानकी तीसरी अवस्थाको ईश्वरतत्त्व कहते हैं, जो सदाशिव-तत्त्वका बाह्यत्व अथवा बाह्य रूप है। 'अहम्' जगत् ('इदम्') का स्पष्टरूपसे किन्तु एक आत्माके अंशरूपमें आत्मासे अभिन्नरूपमें अनुभव करता है। जिस प्रकार पिछले विमर्शमें 'अहम्' की प्रधानता थी उसी प्रकार यहाँ 'इदम्' की प्रधानता है। मन्त्रशास्त्रमें इसे 'बिन्दु' तत्त्व कहते हैं। इसका कारण यह है कि यहाँ ज्ञानका अव्यक्त 'इदम्' के रूपमें जगत्‌के साथ पूर्ण अभेद हो जाता है और इस प्रकार जगत् ग्राहकरूप बन जाता है और ज्ञान उसके साथ मिलकर एक ज्ञानबिन्दुके रूपमें परिणत हो जाता है। उदाहरणार्थ मन पूर्णतया ग्राहकरूप हो जाता है और हम सबके लिये एक गणितके बिन्दुरूपमें अवस्थित रहता है, यद्यपि शरीर, जिस हदतक वह ग्राहकरूप नहीं बन जाता, ग्राह्य अथवा परिमाणवाली वस्तु दीख पड़ता है।

चतुर्थ तत्त्वको 'विद्या', 'सद्विद्या' अथवा 'शुद्धविद्या' भी कहते हैं। ज्ञानकी इस अवस्थामें 'अहम्' और 'इदम्' का सामानाधिकरण्य होता है अर्थात् दोनोंकी समानरूपमें स्थिति रहती है। शिवतत्त्वमें अहंविमर्श होता है, सदाशिव-तत्त्वमें अहमिदंविमर्श होता है और ईश्वरतत्त्वमें इदमहंविमर्श होता है। इनमेंसे प्रत्येक स्थलमें प्रथम पदकी प्रधानता रहती है। विद्यातत्त्वमें विमर्शके अन्दर दोनों पदोंकी समानता रहती है। इस विमर्शमें 'अहम्' और 'इदम्' के सच्चे सम्बन्धका ज्ञान होता है, जिसका स्वरूप है दोनोंका एक ही अधिकरणपर—न कि मायाके वशीभूत लोगोंके अनुभवके अनुसार दो भिन्न-भिन्न अधिकरणोंपर—सङ्गमन (मेल) और जिसके द्वारा इस अनुभवमें रहनेवाले द्वैतका बाध हो जाता है।

'अहम्' और 'इदम्' की समानतासे इस विमर्शमें अगली अवस्थाकी तैयारी होती है, जिसमें उक्त दोनों अलग-अलग हो जाते हैं। शुद्ध और अशुद्ध सृष्टिके

बीचकी अवस्था होनेके कारण सद्विद्याको 'परापरदशा' कहते हैं। इसे भेदाभेदविमर्शनात्मक मन्त्ररूप भी कहते हैं। इसे भेदविमर्श इसलिये कहते हैं कि 'इदम्' 'अहम्' से अलग हो जाता है और अभेद-विमर्श इसलिये कि ये दोनों अलग-अलग होनेपर भी एक ही आत्माके अंश माने जाते हैं। इस विमर्शकी द्वैतवादियोंके ईश्वरसे तुलना की जाती है, जो जगत्को अपनेसे भिन्नरूपमें देखता हुआ भी उसे अपना ही अंश एवं अपनेसे सम्बद्ध मानता है। 'यह सब कुछ मेरा ही विभाव है, मेरी ही विभूति है (**सर्वो ममायं विभावः**),' इस विमर्शको मन्त्ररूप इसलिये कहते हैं कि यहाँ हम शुद्ध आध्यात्मिक भावराज्यमें रहते हैं। अबतक हमारे जगत्में ऐसी बाह्य अभिव्यक्ति नहीं दृष्टिगोचर होती। इस तत्त्वके नीचे, कहते हैं, आठ पुद्गलों अर्थात् विज्ञानरूप जीवोंकी सृष्टि हुई और इसके अनन्तर सात करोड़ मन्त्रों और उनके मण्डलोंकी रचना हुई।

इस अवसरपर मायाशक्तिका प्रादुर्भाव होता है, जो 'अहम्' और 'इदम्' को पृथक् कर देती है और कञ्चुक—अर्थात् चैतन्य (ज्ञान)-की नैसर्गिक पूर्णताको परिच्छिन्न करनेवाली उपाधियाँ—उसे देश और काल, जन्म-मरण, परिच्छिन्नता और विषयवासनाके वशीभूत कर देती हैं और इन्हें अब यह अपनेसे भिन्न मनुष्यों और पदार्थोंके रूपमें देखने-समझने लगता है। यही पुरुष-प्रकृति-तत्त्व है। शैव-शाक्तदर्शनमें माया तथा कञ्चुकोंके वशीभूत आत्मा अथवा शिवको ही पुरुष कहते हैं। (कञ्चुक उन उपाधियोंको कहते हैं जिनके संसर्गसे शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा अपनी नैसर्गिक पूर्णताको खो बैठता है।)

प्रकृति संकुचितरूपमें रहनेवाली शिवकी शान्त शक्ति है जो गुणोंकी साम्यावस्थाके रूपमें रहती है। ये गुण स्वयं इच्छा, क्रिया और ज्ञानशक्तियोंके स्थूल रूप हैं। सभी पदार्थ पुञ्जीभूत होकर उस भावमयीके अन्दर रहते हैं। पुरुष भोक्ता है और प्रकृति उसकी भोग्या है। यह प्रकृति प्रारम्भमें केवल ग्राह्यत्वरूपमें रहती है और पुरुष-रूप प्रमाता—आत्मासे भिन्नरूपमें दृष्टिगोचर होती है। इसके अनन्तर वह अन्तःकरण, इन्द्रिय एवं भूतोंमें, जो हमारे जगत्के उपादान हैं, विभक्त हो जाती है।

पुरुषका अर्थ केवल मनुष्य अथवा जीव नहीं है। जगत्की प्रत्येक वस्तु ही पुरुष है। उदाहरणतः एक सूक्ष्म रजःकण भी पुरुष अथवा चैतन्यरूप है, जो पृथिवीके साथ एकरूप होकर आणवी स्मृतिके रूपमें अथवा अन्य प्रकारसे अपनी परिच्छिन्न चेतनताको अभिव्यक्त करता है। चैतन्य अथवा ज्ञान जिस वस्तुका चिन्तन करता है अर्थात् जिस वस्तुके साथ तादात्म्यभावना करता है उसीके आकारका बन जाता है।

सारांश यह है कि परा संवित्का एक सर्गात्मक रूप (शिव-शक्ति-तत्त्व) भी होता है। इसीको 'अहंविमर्श' कहते हैं, जो धीरे-धीरे जगत् (इदम्)-को अपने ही अंशरूपमें अनुभव करने लगता है—पहले अस्पष्टरूपसे जिसमें 'अहम्' की प्रधानता रहती है और पीछे स्पष्टरूपसे जिसमें 'इदम्' की प्रधानता रहती है और अन्तमें 'अहम्' और 'इदम्' की समानताके रूपमें जब दोनों मायाके द्वारा पृथक् होनेको तैयार रहते हैं। इसके अनन्तर मायाके द्वारा ज्ञानके दो विभाग हो जाते हैं और इस प्रकार ग्राहक और ग्राह्यका द्वैत स्थापित हो जाता है, यद्यपि ग्राह्य आत्मासे भिन्न नहीं होता—आत्मा ही स्वयं अपना ग्राह्य बन जाता है। अन्तमें शक्ति प्रकृतिरूपसे बहुसंख्यक भूतोंमें विभक्त हो जाती है, जिनसे यह विश्व बना है। परन्तु आदिसे अन्ततक एक एवं अद्वितीय शिवकी ही सत्ता दण्डायमान रहती है, चाहे वह परा संवित्के रूपमें हो, चाहे स्थूल भौतिक विग्रहको धारण किये हुए चैतन्यके रूपमें। मन्त्रशास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार, जिसमें शब्दकी उत्पत्तिका विचार किया गया है, शक्ति, नाद और बिन्दु ही शक्तितत्त्व, सदाख्यतत्त्व और ईश्वरतत्त्व (जिसका इस निबन्धमें वर्णन हुआ है) हैं।

तत्त्वोंके साथ कलाओंका भी सम्बन्ध है। ये कलाएँ शक्तिरूपमें तत्त्वोंकी क्रियाएँ हैं। उदाहरणतः सृष्टि ब्रह्माकी कला है, पालन विष्णुकी कला है और मृत्यु रुद्रकी कला है। परन्तु इन उदाहरणोंमें जैसे कलाओंका सम्बन्ध तत्तत् तत्त्वोंके साथ स्पष्टतया परिलक्षित होता है उसी प्रकार सर्वत्र कलाओंका खास-खास तत्त्वोंके साथ सम्बन्ध निर्देश करना कठिन है। शाक्ततन्त्रोंमें चौरानबे कलाओंका उल्लेख मिलता है, जिनमेंसे उन्नीस कलाएँ सदाशिवकी, छः ईश्वरकी, ग्यारह रुद्रकी, दस विष्णुकी, दस ही ब्रह्माकी, उतना ही अग्निकी, बारह सूर्यकी और

सोलह चन्द्रमाकी मानी गयी हैं। 'सौभाग्यरत्नाकर' नामक ग्रन्थके अनुसार निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति, इन्धिका, दीपिका, रेचिका, मोचिका, परा, सूक्ष्मा, सूक्ष्मामृता, ज्ञानामृता, अमृता, आप्यायिनी, व्यापिनी, व्योमरूपा, मूलविद्यामन्त्रकला, महामन्त्रकला और ज्योतिषकला—ये उन्नीस कलाएँ सदाशिवकी हैं। पीता, श्वेता, नित्या, अरुणा, असिता और अनन्ता—ये छः कलाएँ ईश्वरकी हैं; तीक्ष्णा, रौद्री, भया, निद्रा, तन्द्रा, क्षुधा, क्रोधिनी, क्रिया, उद्गारी, अमाया और मृत्यु—ये ग्यारह रुद्रकी कलाएँ हैं। जडा, पालिनी, शान्ति, ईश्वरी, रति, कामिका, वरदा, ह्लादिनी, प्रीति और दीक्षा—ये दस विष्णुकी कलाएँ हैं। सृष्टि, ऋद्धि, स्मृति, मेधा, कान्ति, लक्ष्मी, द्युति, स्थिरा, स्थिति और सिद्धि—ये दस ब्रह्माकी कलाएँ हैं। धूम्रार्चि, ऊष्मा, ज्वलिनी, ज्वालिनी, विस्फुलिङ्गिनी, सुश्री, सुरूपा, कपिला, हव्यवहा और कव्यवहा—ये दस कलाएँ अग्निकी हैं। तपिनी, तापिनी, धूम्रा, मरीचि, ज्वालिनी, रुचि, सुषुम्णा, भोगदा, विश्वा, बोधिनी, धारिणी और क्षमा—ये बारह सूर्यकी कलाएँ हैं। अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति, शशिनी, चन्द्रिका, कान्ति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अङ्गदा, पूर्णा और पूर्णामृता—ये सोलह कलाएँ चन्द्रमाकी हैं। इन चौरानबे कलाओंमेंसे पचास मातृका-कलाएँ हैं, जो पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी भावोंके द्वारा स्थूल वर्णोंके रूपमें अभिव्यक्त होती हैं। उसी प्रसङ्गमें पचास मातृका-कलाओंके नाम इस प्रकार दिये गये हैं—निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति, इन्धिका, दीपिका, रेचिक, मोचिका, परा, सूक्ष्मा, सूक्ष्मामृता, ज्ञानामृता, आप्यायिनी, व्यापिनी, व्योमरूपा, अनन्ता, सृष्टि, ऋद्धि, स्मृति, मेधा, कान्ति, लक्ष्मी, द्युति, स्थिरा, स्थिति, सिद्धि, जडा, पालिनी, शान्ति, ऐश्वर्या, रति, कामिका, वरदा, ह्लादिनी, प्रीति, दीर्घा, तीक्ष्णा, रौद्री, भया, निद्रा, तन्द्रा, क्षुधा, क्रोधिनी, क्रिया, उद्गारी, मृत्युरूपा, पीता, श्वेता, असिता और अनन्ता—इन चौरानबे कलाओंका उस सुराकुम्भमें पूजन होता है जिसमें तारा द्रवमयी निवास करती हैं। इनका नाम संवित्कला है। यही बात योगिनीहृदय-तन्त्रमें कही गयी है*—

देशकालपदार्थात्मा यद्यद्वस्तु यथा यथा।
तत्तद्रूपेण या भाति तां श्रये संविदं कलाम्॥

षट् शक्ति

(लेखक—पं० श्रीभवानीशंकरजी)

महेश्वर केवल पराशक्तिद्वारा ही प्रकाशित होते हैं, अन्यथा कदापि नहीं। समाधिनिष्ठ महर्षि भी इस महाविद्याशक्तिके प्रकाशके बिना न महेश्वरको देख सकते हैं और न पा सकते हैं। पराशक्ति ही महेश्वरका दिव्य ज्योतिःस्वरूप है।

अतएव सौन्दर्यलहरीमें इसी शक्तिको सम्बोधित करके ठीक ही कहा गया है—

'त्वया हृत्वा वामं वपुरपरितृप्तेन मनसाशरीरार्द्धं शम्भोः।'

इसी शक्तिको गायत्री कहते हैं अर्थात् **'गायन्तं त्रायते इति गायत्री'**-जिसका अर्थ है, वह गान करनेवालेका त्राण करती हैं। गायत्री त्रिपाद है और प्रत्येक पादमें आठ अक्षर हैं। यह आठ दोका घन अर्थात् क्यूब (Cube) है। इस दोका भाव है-(१) ज्योति (रूप) और (२) नाम। यह **'ज्योतिषां ज्योति'** और परमा विद्या तथा जीव और चिच्छक्तिका मूल है और इसके भीतर नाम अर्थात् शब्दब्रह्म है, जो अनादि और अव्यय है एवं जिसका बाह्य रूप प्रणव है। घन अर्थात् क्यूब व्यक्त किये जानेपर चतुष्कोण (Square) होता है। इस कारण दोके तीन घन व्यक्त होनेपर छः चतुष्कोण हुए अर्थात् त्रिपादसे चतुष्पाद हुआ। प्रत्येक पादमें चार अक्षर होनेसे गायत्रीमें चौबीस अक्षर हुए। ये छः चतुष्कोण छः शक्तियाँ हैं, जिनके नाम हैं-(१) पराशक्ति, (२) ज्ञानशक्ति, (३), इच्छाशक्ति, (४) क्रियाशक्ति, (५) कुण्डलिनीशक्ति और (६) मातृका शक्ति।

---

* सर जॉन वुडरफ महोदय शक्ति-तत्त्वके बड़े अनुभवी विद्वान् माने जाते हैं। शरीरमें लकवा हो जानेके कारण वे खास तौरपर शक्ति-अंकमें नहीं लिख सके। उनकी आज्ञासे उनका यह लेख "Garland of Letters" नामक पुस्तकसे अनुवादित किया गया है। अँग्रेजी जाननेवाले शक्तितत्त्व-प्रेमी पाठकोंको वुडरफ साहबके ग्रन्थ गणेश एण्ड कम्पनी, मद्राससे मँगवाकर पढ़ने चाहिये।

(१) **पराशक्ति**—सब शक्तियोंका मूल और आधार है तथा यह परम ज्योतिरूपा है।

(२) **ज्ञानशक्ति**—यह यथार्थमें विज्ञानमूलक होनेके कारण सब विद्याओंका आधार है। इसके दो रूप हैं—(क) पाञ्चभौतिक उपाधिसे संयुक्त होनेपर यह मन, चित्त, बुद्धि और अहङ्कारका रूप धारण कर लेती है, जो मनुष्यका मनुष्यत्व है और क्रियामात्रका कारण है। (ख) पाञ्चभौतिक उपाधिके रज-तम-भावसे मुक्त होनेपर इसके द्वारा दूरदर्शन, अन्तर्ज्ञान, अन्तर्दृष्टि आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

(३) **इच्छाशक्ति**—इसके द्वारा शरीरके स्नायु-मण्डलमें लहरें उत्पन्न होती हैं, जिससे कर्मेन्द्रियाँ इच्छित कार्यके करनेके निमित्त सञ्चालित होती हैं। उच्च कक्षामें सत्त्वगुणकी वृद्धि होनेपर इस शक्तिके द्वारा बाह्य और अन्तरमें समान भाव उत्पन्न होकर सुख और शान्तिकी वृद्धि होती है और इसके द्वारा उपयोगी तथा लोकहितैषी कार्य होते हैं।

(४) **क्रियाशक्ति**—यह आभ्यन्तरिक विज्ञानशक्ति है। इसके द्वारा सात्त्विक इच्छाशक्ति कार्यरूपमें परिणत होकर व्यक्त फल उत्पन्न करती है। एकाग्रताकी शक्ति प्राप्त होनेपर इस शक्तिके द्वारा इच्छित विशेष मनोरथ भी सफल हो जाता है। योगियोंकी सिद्धियाँ इन्हीं सात्त्विक और आध्यात्मिक इच्छा एवं क्रियाशक्ति-द्वारा व्यक्त होती हैं।

(५) **कुण्डलिनीशक्ति**—इसके समष्टि और व्यष्टि दो रूप हैं। सृष्टिमें यह प्राण अर्थात् जीवनी-शक्ति है, जो समष्टिरूपमें सर्वत्र नाना रूपोंमें वर्तमान है। आकर्षण और विश्लेषण दोनों इसके रूप हैं। विद्युत् और आन्तरिक तेज भी इसीके रूपान्तर हैं। प्रारब्धकर्मानुसार यही शक्ति बाह्याभ्यन्तरमें समानता सम्पादन करती है और इसीके कारण पुनर्जन्म भी होता है।

व्यष्टिरूपमें मनुष्यके शरीरके भीतर यह तेजोमयी शक्ति है। यह पञ्चप्राण अर्थात् जीवनी शक्तिका मूल है, जिन प्राणोंके द्वारा ही इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। इसी शक्तिके द्वारा मन भी सञ्चालित होता है। इस शक्तिके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेसे अर्थात् इसको अपनी सात्त्विक इच्छाके अनुसार शिवोन्मुख सञ्चालित करनेसे ही मायाके बन्धनसे मुक्ति मिलती है। साधारण मनुष्यके लिये, जिसने इस शक्तिके साथ साक्षात् सम्बन्ध स्थापित नहीं किया है, यह शक्ति प्रसुप्तकी भाँति है। हृदय-चक्रकी साधनासे यह शक्ति जाग्रत् होती है। यह सर्पाकार शक्ति है। जो मनुष्य हृदयके विकार—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, मत्सर आदिको दूर किये बिना, और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान आदिसे हृदयको परिप्लुत किये बिना ही केवल बाह्य क्रियाद्वारा (जैसे हठयोगकी साधना) इस शक्तिको जागृत करना चाहता है, वह किञ्चित् चमत्कारिक सिद्धियाँ भले ही प्राप्त कर ले, किन्तु अध्यात्मदृष्टिसे उसका अवश्य अधःपतन होता है। उसके दुर्गुण और विकार बढ़ जाते हैं, जिस तरह पवित्र हृदयवाले साधकके सद्‌गुण इस शक्तिकी जागृतिसे वृद्धि पाते हैं। ऐसे अपवित्र हठी साधक हृदयमें अष्टदल कमल देखते हैं, जहाँ महाविद्याका यथार्थ वासस्थान नहीं है। किन्तु राजयोगी, पवित्रात्मा उपासक साधक श्रीसद्‌गुरुकी कृपासे हृदयमें अष्टदल कमलके चक्रको देखता है जो विद्याशक्तिका ठीक वासस्थान है और उनकी कृपा प्राप्तकर तथा अविद्यान्धकार पारकर वह शिवमें संयोजित होता है।

(६) **मातृकाशक्ति**—यह अक्षर, बीजाक्षर, शब्द, वाक्य तथा यथार्थ गानविद्याकी भी शक्ति है। मन्त्र-शास्त्रके मन्त्रोंका प्रभाव इसी शक्तिपर निर्भर करता है। इसी शक्तिकी सहायतासे इच्छाशक्ति अथवा क्रियाशक्ति फलप्रदा होती है। कुण्डलिनीशक्तिका आध्यात्मिक भाव भी न तो इस शक्तिकी सहायताके बिना जागृत होता है और न लाभदायक ही। जब सात्त्विक साधकके निरन्तर सात्त्विक मन्त्रका जप करने और ध्यानका अभ्यास करनेसे मन्त्रकी सिद्धि होती है तब उसकी इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और कुण्डलिनीशक्ति भी स्वयं अनुसरण करती हैं। अतएव यह मन्त्रशक्ति सब शक्तियोंका मूल है। क्योंकि शब्द ही सृष्टिका कारण है। सृष्टिके सब नाम इसी शक्तिके रूपान्तर हैं और रूप भी इसीके अधीन हैं। बीजमन्त्र इसी शक्तिका व्यक्त रूप भूलोकमें है। मन्त्र सिद्ध हो जानेपर वह पवित्रात्माका उद्धार माताकी भाँति करता है, किन्तु अपवित्रात्मा और कामासक्तको अधोगति देता है।

शक्ति और शक्तिमान्‌की अभिन्नता

(लेखक—श्रीआनन्दस्वरूपजी 'साहेबजी महाराज', दयालबाग)

जाड़ेका दिन था और प्रात:कालकी बेला। उषाकी लाल-लाल कोमल किरणें क्षितिजपर खेल रही थीं। प्रभातमें नवजीवनके सञ्चारके साथ-साथ पशु, पक्षी, मनुष्यमें भी एक नवीन चेतनाका आविर्भाव हो रहा था। शीघ्र ही हवामें संगीत, तुमुल ध्वनि और हास्य भर गया! प्राचीका महामहिम अधिपति आकाशमें अपने चमकते हुए सोनेके रथपर आरूढ़ दिखलायी दिया। प्रकृति माताने हँसते हुए उनका अभिवादन किया—उन्होंने अपनी सुनहरी किरणें फैला दीं, उसे प्यारसे चूम लिया, सहलाया। माता प्रकृति प्रेममें खिलखिलाकर हँस पड़ी—और फिर अन्य जीवों, पशु, पक्षी, मनुष्यका क्या कहना!

'प्यारे भोले पक्षियो! प्राचीका यह महान् सम्राट् 'कौन है?'—मैंने पूछा।'

वे केवल चहचहाते रहे।

'पशुओ! तुम बतलाओगे?'

वे केवल रँभाते रहे।

'माँ, प्यारी माँ! तुम मेरी सहायता करोगी?'

'वह मेरा प्रेमी है'—'कुछ सकुचाते हुए, शर्माते हुए माँने कहा।'

'क्या तुम उसकी रानी नहीं हो?'

'ऊ हूँ; यदि मैं उनकी रानी होती, वह रातदिन मेरे महलमें बसते!'

'परन्तु ....'

'मैं व्यस्त हूँ—परन्तु-वरन्तुके लिये समय नहीं'—माँने बीचमें ही जरा तेजीसे रोक दिया।

सुनहला रथ धीरे-धीरे पश्चिमकी ओर बढ़ता चला और माँ उदास, उद्विग्न और खिन्न हो गयी।

मैंने कहा, ''पशुओ और पक्षियो! नित्य प्रात:काल तुम 'देवता' को देखते हो, उसकी कृपाका आस्वादन करते हो, चहचहाते हो, रँभाते हो............और फिर भूल जाते हो! और माँ! तुम भी उसका नित्यप्रति अभिवादन किया करती हो, उसके प्यार और स्नेहको पीती हो और पुनः उसे भूल जाती हो!''

'हम सभी बहुत अधिक व्यस्त हैं'—वे एक साथ बोल उठे, मेरी ओर पीठ फेरकर और मुझे आश्चर्यमें छोड़कर चल दिये, मैं रोता रहा।

मैं एकान्तमें सोचता रहा, ''तो क्या मनुष्यके ही हिस्से 'अपरिचित' के लिये अमर उत्कण्ठा मिली है? शेष सभी—माता प्रकृति भी व्यस्त है—केवल मनुष्यको अवकाश प्राप्त है! परन्तु इसका कारण? प्रभुकी इस दैनमें कोई विशेष प्रयोजन होगा। हमें आँखें मिली हैं और सामने प्रकृतिके अमित सौन्दर्यका भाण्डार खुला पड़ा है—देखनेके लिये और आनन्द लूटनेके लिये! रसास्वादनके लिये हमें जिह्वा मिली है और साथ ही प्रकृतिका सुस्वादु, सरस उपकरण भी—जिसका हम आस्वादन कर सकें! इसके साथ ही, इसी प्रकार प्रभुने कृपाकर जिज्ञासाकी कुतूहलपूर्ण वृत्तिकी दैन दी है, उसकी भूख-प्यास मिटानेके लिये भी तो कुछ विधान अवश्य होगा। परन्तु केवल सूर्यके लिये ही हमारी जिज्ञासा क्यों हो? आकाशमें इसके समान तो करोड़ों ज्योति:पुञ्ज हैं और यह ब्रह्माण्डके विराट् विस्तारका एक छोटा-सा विन्दुमात्र है। क्यों न विश्वके कर्त्ता-धर्ताको ही जाननेकी लालसा रखें? क्यों न हम उस महान् अज्ञात तत्त्वको जाननेके लिये उत्सुक हों? सहसा मुझे एक हलके आघातका अनुभव हुआ—जिसने मुझे रोक दिया! मैं रुका और अह! हृदयके अन्तस्‌से एक ध्वनि आयी!''

'यदि तुम वैसा करो तो तुम वस्तुतः सर्वोचित बात करोगे'—उस वाणीके ये कोमल शब्द थे। कितने कोमल, फिर भी कितने दृढ़तापूर्ण!

मेरे अधरोंपर एक मन्द मुसकान जग उठी! न चाहते हुए भी मैं मुसकाया। मैंने इसे रोका और अपनेमें लौटनेकी शीघ्र चेष्टा करने लगा। परन्तु विश्वका कर्त्ता और धर्त्ता है कौन? न पक्षी, न पशु और न मनुष्य ही! जहाँ क्रिया है वहाँ शक्ति अवश्य होनी चाहिये। 'वह' शक्तिका अगाध महासागर होगा।

'इससे काम न चलेगा'—अन्तस्‌की वाणीने अधिकारपूर्ण शब्दोंमें कहा।

'वह' परम चिद्घन शक्तिका समुद्र होगा।

'फिर चेष्टा करो'—भीतरकी वाणीने कहा। 'वह' परम आध्यात्मिक शक्तिका अनन्त निर्झर होगा।

'बस'—उस वाणीने कहा। इस विश्वका कर्त्ता-धर्त्ता परम आध्यात्मिक शक्तिका एक अनन्त निर्झर है! और इसी हेतु कि वह शक्तिका अजस्र निर्झर है—सृष्टिके आदिमें उसमेंसे एक आध्यात्मिक धारा फूट निकली होगी, क्योंकि क्रियाशील शक्तिका अत्यधिक उपचय सदैव प्रखर प्रवाहका रूप धारण कर लेता है।

नम्रतापूर्वक धीरेसे संकेतरूपमें अन्तस्‌की वाणी बोली—'समुद्र और समुद्रकी लहर एक ही वस्तु हैं।'

हाँ, समुद्र और लहर अभिन्न और अनन्य हैं। एक ही वस्तुके दो रूप हैं। यही बात परम आध्यात्मिक शक्तिके अनन्त निर्झर और सृष्टिके आदिमें उससे निकले हुए अनन्त आध्यात्मिक स्रोतके सम्बन्धमें होनी चाहिये। एक ही परम आध्यात्मिक तत्त्वके दो रूप—परम आध्यात्मिक शक्तिका अनन्त निर्झर और आध्यात्मिक शक्तिका स्रोत। एक स्थिरताका बोधक है और दूसरा है गतिशीलताका। 'शक्ति' के निर्झरमें उपप्लव हुए बिना उसमेंसे शक्तिकी धारा प्रवाहित नहीं हो सकती। अस्तु, परम आध्यात्मिक शक्तिके अनन्त निर्झरमें भी एक बार उफान आया, उपप्लव हुआ; और इसी उफान अथवा उपप्लवसे परम आध्यात्मिक स्रोतका आविर्भाव हुआ!

'यह धारा ही 'राधा' है, वह ह्रद है 'स्वामी'!'—उस वाणीने धीरेसे कहा।

अस्तु 'राधा' और 'स्वामी' एक ही तत्त्वके दो रूप हैं। राधा शक्ति है, स्वामी शक्तिमान्। धन्य है 'राधास्वामी' का नाम।

कल्याण

सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वमय, समस्तगुणाधार, निर्विकार, नित्य, निरञ्जन, सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता, संहारकर्त्ता, विज्ञानानन्दघन, सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं। वे एक ही अनेक भावों और अनेक रूपोंमें लीला करते हैं। हम अपने समझनेके लिये मोटे रूपसे उनके आठ रूपोंका भेद कर सकते हैं। एक-नित्य, विज्ञानानन्दघन, निर्गुण, निराकार, मायारहित, एकरस ब्रह्म; दूसरे—सगुण, सनातन, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, अव्यक्त निराकार परमात्मा; तीसरे—सृष्टिकर्त्ता प्रजापति ब्रह्मा; चौथे—पालनकर्त्ता भगवान् विष्णु; पाँचवें—संहारकर्त्ता भगवान् रुद्र; छठे—श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीदुर्गा, काली आदि साकाररूपोंमें अवतरित रूप; सातवें—असंख्य जीवात्मारूपसे विभिन्न जीवशरीरोंमें व्याप्त और आठवें—विश्व-ब्रह्माण्डरूप विराट्। ये आठों रूप एक ही परमात्माके हैं। इन्हीं समग्ररूप प्रभुको रुचिवैचित्र्यके कारण संसारमें लोग ब्रह्म, सदाशिव, महाविष्णु, ब्रह्मा, महाशक्ति, राम, कृष्ण, गणेश, सूर्य, अल्लाह, गॉड आदि भिन्न-भिन्न नामरूपोंमें विभिन्न प्रकारसे पूजते हैं। वे सच्चिदानन्दघन अनिर्वचनीय प्रभु एक ही हैं, लीलाभेदसे उनके नामरूपोंमें भेद है। और इसी भेदभावके कारण उपासनामें भेद है। यद्यपि उपासकको अपने इष्टदेवके नाम-रूपमें ही अनन्यता रखनी चाहिये तथा उसीकी पूजा शास्त्रोक्त पूजन-पद्धतिके अनुसार करनी चाहिये, परन्तु इतना निरन्तर स्मरण रखना चाहिये कि शेष सभी रूप और नाम भी उसीके इष्टदेवके हैं। उसीके प्रभु इतने विभिन्न नामरूपोंमें समस्त विश्वके द्वारा पूजित होते हैं। उनके अतिरिक्त अन्य कोई है ही नहीं। तमाम जगत्‌में वस्तुतः एक वही फैले हुए हैं। जो विष्णुको पूजता है वह अपने-आप ही शिव, ब्रह्मा, राम, कृष्ण आदिको पूजता है और जो राम, कृष्णको पूजता है वह ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदिको। एकको पूजासे स्वाभाविक ही सभीकी पूजा हो जाती है, क्योंकि एक ही सब बने हुए हैं, परन्तु जो किसी एक रूपसे अन्य समस्त रूपोंको अलग मानकर औरोंकी अवज्ञा करके केवल अपने इष्ट एक ही रूपको अपनी ही सीमामें आबद्ध रखकर पूजता है वह अपने परमेश्वरको छोटा बना लेता है, उनको सर्वेश्वरत्वके आसनसे नीचे उतारता है। इसलिये उसकी पूजा सर्वोपरि सर्वमय भगवान्‌की न होकर एकदेशनिवासी स्वल्प देव-विशेषकी होती है और उसे वैसा ही उसका अल्प फल भी मिलता है। अतएव

पूजो एक ही रूपको, परन्तु शेष सब रूपोंको समझो उसी एकके वैसे ही शक्तिसम्पन्न अनेक रूप।

××× ××× ×××

असलमें वह एक महाशक्ति ही परमात्मा हैं जो विभिन्न रूपोंमें विविध लीलाएँ करती हैं। परमात्माके पुरुषवाचक सभी स्वरूप इन्हीं अनादि, अविनाशिनी, अनिर्वचनीया, सर्वशक्तिमयी, परमेश्वरी आद्यामहाशक्तिके ही हैं। यही महाशक्ति अपनी मायाशक्तिको जब अपने अन्दर छिपाये रखती हैं, उससे कोई क्रिया नहीं करतीं, तब निष्क्रिय, शुद्ध ब्रह्म कहलाती हैं। यही जब उसे विकासोन्मुख करके एकसे अनेक होनेका संकल्प करती हैं तब स्वयं ही पुरुषरूपसे मानो अपनी ही प्रकृतिरूप योनिमें संकल्पद्वारा चेतनरूप बीज स्थापन करके सगुण, निराकार परमात्मा बन जाती हैं। इसीकी अपनी शक्तिसे, गर्भाशयमें वीर्यस्थापनसे होनेवाले विकारकी भाँति उस प्रकृतिमें क्रमशः सात विकृति होती हैं (महत्तत्त्व—समष्टि बुद्धि, अहंकार और सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राएँ—मूल प्रकृतिके विकार होनेसे इन्हें विकृति कहते हैं; परन्तु इनसे अन्य सोलह विकारोंकी उत्पत्ति होनेके कारण इन सातोंके समुदायको प्रकृति भी कहते हैं) फिर अहंकारसे मन और दस (ज्ञानकर्मरूप) इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्रासे पञ्च महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। (इसीलिये इन दोनोंके समुदायका नाम प्रकृतिविकृति है। मूलप्रकृतिके सात विकार, सप्तधा विकाररूपा प्रकृतिसे उत्पन्न सोलह विकार और स्वयं मूलप्रकृति—ये कुल मिलाकर चौबीस तत्त्व हैं) यों वह महाशक्ति ही अपनी प्रकृतिसहित चौबीस तत्त्वोंके रूपमें यह स्थूल संसार बन जाती हैं और जीवरूपसे स्वयं पचीसवें तत्त्वरूपमें प्रविष्ट होकर खेल खेलती हैं। चेतन परमात्मरूपिणी महाशक्तिके बिना जड प्रकृतिसे यह सारा कार्य कदापि सम्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार महाशक्ति विश्वरूप विराट् पुरुष बनती हैं और इस सृष्टिके निर्माणमें स्थूल निर्माता प्रजापतिके रूपमें आप ही अंशावतारके भावसे ब्रह्मा और पालनकर्त्ताके रूपमें विष्णु और संहारकर्त्ताके रूपमें रुद्र बन जाती हैं। और ये ब्रह्मा, विष्णु, शिव प्रभृति अंशावतार भी किसी कल्पमें दुर्गारूपसे होते हैं, किसीमें महाविष्णुरूपसे, किसीमें महाशिवरूपसे, किसीमें श्रीराम-रूपसे और किसीमें श्रीकृष्णरूपसे। एक ही शक्ति विभिन्न कल्पोंमें विभिन्न नामरूपोंसे सृष्टिरचना करती हैं। इस विभिन्नताका कारण और रहस्य भी उन्हींको ज्ञात है। यों अनन्त ब्रह्माण्डोंमें महाशक्ति असंख्य ब्रह्मा, विष्णु, महेश बनी हुई हैं। और अपनी मायाशक्तिसे अपनेको ढँककर आप ही जीवसंज्ञाको प्राप्त हैं। ईश्वर, जीव, जगत् तीनों आप ही हैं। भोक्ता, भोग्य और भोग तीनों आप ही हैं। इन तीनोंको अपनेहीसे निर्माण करनेवाली, तीनोंमें व्याप्त रहनेवाली भी आप ही हैं।

××× ××× ×××

परमात्मरूपा यह महाशक्ति स्वयं अपरिणामिनी हैं, परन्तु इन्हींकी मायाशक्तिसे सारे परिणाम होते हैं। यह स्वभावसे ही सत्ता देकर अपनी मायाशक्तिको क्रीडाशीला अर्थात् क्रियाशीला बनाती हैं, इसलिये इनके शुद्ध विज्ञानानन्दघन नित्य अविनाशी एकरस परमात्मरूपमें कदापि कोई परिवर्तन न होनेपर भी इनमें परिणाम दीखता है। क्योंकि इनकी अपनी शक्ति मायाका विकसित स्वरूप नित्य क्रीडामय होनेके कारण सदा बदलता ही रहता है और वह मायाशक्ति सदा इन महाशक्तिसे अभिन्न रहती है। वह महाशक्तिकी ही स्व-शक्ति है, और शक्तिमान्से शक्ति कभी पृथक् नहीं हो सकती, चाहे वह पृथक् दीखे भले ही। अतएव शक्तिका परिणाम स्वयमेव ही शक्तिमान्पर आरोपित हो जाता है, इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म या महाशक्तिमें परिणामवाद सिद्ध होता है।

××× ××× ×××

और चूँकि संसाररूपसे व्यक्त होनेवाली यह समस्त क्रीडा महाशक्तिकी अपनी शक्ति मायाका ही खेल है और मायाशक्ति उनसे अलग नहीं, इसलिये यह सारा उन्हींका ऐश्वर्य है। उनको छोड़कर जगत्में और कोई वस्तु ही नहीं; दृश्य, द्रष्टा और दर्शन तीनों वह आप ही हैं, अतएव जगत्को मायिक बतलानेवाला मायावाद भी इस हिसाबसे ठीक ही है।

××× ××× ×××

इसी प्रकार महाशक्ति ही अपने मायारूपी दर्पणमें अपने विविध शृङ्गारों और भावोंको देखकर जीवरूपसे आप ही मोहित होती हैं। इससे आभासवाद भी सत्य है।

××× ××× ×××

परमात्मरूप महाशक्तिकी उपर्युक्त मायाशक्तिको

अनादि और सान्त कहते हैं। सो उसका अनादि होना तो ठीक ही है, क्योंकि वह शक्तिमयी महाशक्तिकी अपनी शक्ति होनेसे उसीकी भाँति अनादि है। परन्तु शक्तिमयी महाशक्ति तो नित्य अविनाशिनी है, फिर उसकी शक्ति माया अन्तवाली कैसे होगी? इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें वह अन्तवाली नहीं है। अनादि, अनन्त, नित्य, अविनाशी परमात्मरूपा महाशक्तिकी भाँति उसकी शक्तिका भी कभी विनाश नहीं हो सकता। परन्तु जिस समय वह कार्यकरण-विस्ताररूप समस्त संसारसहित महाशक्तिके सनातन अव्यक्त परमात्मरूपमें लीन रहती है, क्रियाहीना रहती है, तबतकके लिये वह अदृश्य या शान्त हो जाती है और इसीसे उसे सान्त कहते हैं। इस दृष्टिसे उसको सान्त कहना सत्य ही है।

××× ××× ×××

कोई-कोई परमात्मरूपा महाशक्तिकी इस माया-शक्तिको अनिर्वचनीय कहते हैं, सो भी ठीक ही है। क्योंकि यह शक्ति उस सर्वशक्तिमती महाशक्तिकी अपनी ही तो शक्ति है। जब वह अनिर्वचनीय है, तब उसकी अपनी शक्ति अनिर्वचनीय क्यों न होगी?

××× ××× ×××

कोई-कोई कहते हैं कि इस मायाशक्तिका ही नाम महाशक्ति, प्रकृति, विद्या, अविद्या, ज्ञान, अज्ञान आदि है, महाशक्ति अलग वस्तु नहीं है। सो उनका यह कथन भी एक दृष्टिसे सत्य ही है। क्योंकि मायाशक्ति परमात्मरूपा महाशक्तिकी ही शक्ति है, और वही जीवोंके बाँधनेके लिये अज्ञान या अविद्यारूपसे और उनकी बन्धन-मुक्तिके लिये ज्ञान या विद्यारूपसे अपना स्वरूप प्रकट करती है, तब इनसे भिन्न कैसे रही? हाँ, जो मायाशक्तिको ही शक्ति मानते हैं और महाशक्तिका कोई अस्तित्व ही नहीं मानते वे तो मायाके अधिष्ठान ब्रह्मको ही अस्वीकार करते हैं, इसलिये वे अवश्य ही मायाके चक्करमें पड़े हुए हैं।

××× ××× ×××

कोई इस परमात्मरूपा महाशक्तिको निर्गुण कहते हैं और कोई सगुण! ये दोनों बातें भी ठीक हैं, क्योंकि उस एकके ही तो ये दो नाम हैं। जब मायाशक्ति क्रियाशीला रहती है तब उसका अधिष्ठान महाशक्ति सगुण कहलाती हैं। और जब वह महाशक्तिमें मिली रहती है तब महाशक्ति निर्गुण हैं। इस अनिर्वचनीया परमात्मरूपा महाशक्तिमें परस्पर विरोधी गुणोंका नित्य सामञ्जस्य है। वह जिस समय निर्गुण हैं उस समय भी उनमें गुणमयी मायाशक्ति छिपी हुई मौजूद है और जब वह सगुण कहलाती है उस समय भी वह गुणमयी मायाशक्तिकी अधीश्वरी और सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होनेसे वस्तुतः निर्गुण ही हैं। उनमें निर्गुण और सगुण दोनों लक्षण सभी समय वर्तमान हैं। जो जिस भावसे उन्हें देखता है, उसको उनका वैसा ही रूप भान होता है। असलमें वह कैसी हैं, क्या हैं इस बातको वही जानती हैं!

××× ××× ×××

कोई-कोई कहते हैं कि शुद्धब्रह्ममें मायाशक्ति नहीं रह सकती, माया रही तो वह शुद्ध कैसे? बात समझनेकी है। शक्ति कभी शक्तिमान्‌से पृथक् नहीं रह सकती। यदि शक्ति नहीं है तो उसका शक्तिमान् नाम नहीं हो सकता, और शक्तिमान् न हो तो शक्ति रहे कहाँ? अतएव शक्ति सदा ही शक्तिमान्‌में रहती है। शक्ति नहीं होती तो सृष्टिके समय शुद्धब्रह्ममें एकसे अनेक होनेका संकल्प कहाँसे और कैसे होता? इसपर कोई यदि यह कहे कि 'जिस समय संकल्प हुआ उस समय शक्ति आ गयी, पहले नहीं थी।' 'अच्छी बात है; पर बताओ, वह शक्ति कहाँसे आ गयी? ब्रह्मके सिवा कहाँ जगह थी जहाँ वह अबतक छिपी बैठी थी? इसका क्या उत्तर है?' 'अजी, ब्रह्ममें कभी संकल्प ही नहीं हुआ, यह सब असत् कल्पनाएँ हैं, मिथ्या स्वप्नकी-सी बातें हैं।' अच्छी बात है, पर यह मिथ्या कल्पनाएँ किसने किस शक्तिसे की और मिथ्या स्वप्नको किसने किस सामर्थ्यसे देखा? और मान भी लिया जाय कि यह सब मिथ्या है तो इतना तो मानना ही पड़ेगा कि शुद्ध ब्रह्मका अस्तित्व किससे है? जिससे वह अस्तित्व है वही उसकी शक्ति है। क्या जीवनीशक्ति बिना भी कोई जीवित रह सकता है? अवश्य ही ब्रह्मकी वह जीवनीशक्ति ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। वही जीवनशक्ति अन्यान्य समस्त शक्तियोंकी जननी है, वही परमात्मरूपा महाशक्ति है। अन्यान्य सारी शक्तियाँ अव्यक्तरूपसे उन्हींमें छिपी रहती हैं—और जब वह चाहती हैं तब उनको प्रकट करके काम लेती हैं। हनूमान्‌में समुद्र

लाँघनेकी शक्ति थी पर वह अव्यक्त थी, जाम्बवान्के याद दिलाते ही हनूमान्ने उसे व्यक्त रूप दे दिया। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान् परमात्मा या परमाशक्ति भी नित्य शक्तिमान् हैं; हाँ, कभी वह शक्ति उनमें अव्यक्त रहती है और कभी व्यक्त। अवश्य ही भगवान्की शक्तिको व्यक्त रूप भगवान् स्वयं ही देते हैं, यहाँ किसी जाम्बवान्की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु शक्ति नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसीसे ऋषि-मुनियोंने इस शक्तिमान् परमात्माको महाशक्तिके रूपमें देखा।

××× ××× ×××

इन्हीं सगुण-निर्गुणरूप भगवान् या भगवतीसे उपर्युक्त प्रकारसे कभी महादेवीरूपके द्वारा, कभी महाशिवरूपके द्वारा, कभी महाविष्णुरूपके द्वारा, कभी श्रीकृष्णरूपके द्वारा, कभी श्रीरामरूपके द्वारा सृष्टिकी उत्पत्ति होती है, और यही परमात्मरूपा महाशक्ति पुरुष और नारीरूपमें विविध अवतारोंमें प्रकट होती हैं। अपने पुरुषरूप अवतारोंमें स्वयं महाशक्ति ही लीलाके लिये उन्हींके अनुसार रूपोंमें उनकी पत्नी बन जाती हैं। ऐसे बहुत-से इतिहास मिलते हैं जिनमें महाविष्णुने लक्ष्मीसे, श्रीकृष्णने राधासे, श्रीसदाशिवने उमासे और श्रीरामने सीतासे, एवं इसी प्रकार श्रीलक्ष्मी, राधा, उमा और सीताने महाविष्णु, श्रीकृष्ण, श्रीसदाशिव और श्रीरामसे कहा है कि हम दोनों सर्वथा अभिन्न हैं, एकके ही दो रूप हैं, सिर्फ लीलाके लिये एकके दो रूप बन गये हैं, वस्तुतः हम दोनोंमें कोई भी अन्तर नहीं है।

××× ××× ×××

यही आदिके तीन जोड़े उत्पन्न करनेवाली महालक्ष्मी हैं; इन्हींकी शक्तिसे ब्रह्मादि देवता बनते हैं, जिनसे विश्वकी उत्पत्ति होती है। इन्हींकी शक्तिसे विष्णु और शिव प्रकट होकर विश्वका पालन और संहार करते हैं। दया, क्षमा, निद्रा, स्मृति, क्षुधा, तृष्णा, तृप्ति, श्रद्धा, भक्ति, धृति, मति, तुष्टि, पुष्टि, शान्ति, कान्ति, लज्जा आदि इन्हीं महाशक्तिकी शक्तियाँ हैं। यही गोलोकमें श्रीराधा, साकेतमें श्रीसीता, क्षीरोदसागरमें लक्ष्मी, दक्षकन्या सती, दुर्गति-नाशिनी मेनकापुत्री दुर्गा हैं; यही वाणी, विद्या, सरस्वती, सावित्री और गायत्री हैं। यही सूर्यकी प्रभाशक्ति, पूर्णचन्द्रकी सुधावर्षिणी शोभाशक्ति, अग्निकी दाहिका शक्ति, वायुकी वहनशक्ति, जलकी शीतलताशक्ति, धराकी धारणाशक्ति, और शस्यकी प्रसूतिशक्ति हैं। यही तपस्वियोंका तप, ब्रह्मचारियोंका ब्रह्मतेज, गृहस्थोंकी सर्वाश्रम-आश्रयता, वानप्रस्थोंकी संयमशीलता, संन्यासियोंका त्याग, महापुरुषोंकी महत्ता और मुक्त पुरुषोंकी मुक्ति हैं। यही शूरोंका बल, दानियोंकी उदारता, मातापिताका वात्सल्य, गुरुकी गुरुता, पुत्र और शिष्यकी गुरुजनभक्ति, साधुओंकी साधुता, चतुरोंकी चातुरी और मायावियोंकी माया हैं। यही लेखकोंकी लेखनशक्ति, वाग्मियोंकी वक्तृत्वशक्ति, न्यायी नरेशोंकी प्रजापालनशक्ति और प्रजाकी राजभक्ति हैं। यही सदाचारियोंकी दैवी सम्पत्ति, मुमुक्षुओंकी षट्सम्पत्ति, धनवानोंकी अर्थ-सम्पत्ति और विद्वानोंकी विद्यासम्पत्ति हैं। यही ज्ञानियोंकी ज्ञानशक्ति, प्रेमियोंकी प्रेमशक्ति, वैराग्यवानोंकी विरागशक्ति और भक्तोंकी भक्तिशक्ति हैं। यही राजाओंकी राजलक्ष्मी, वणिकोंकी सौभाग्यलक्ष्मी, सज्जनोंकी शोभालक्ष्मी और श्रेयार्थियोंकी श्री हैं। यही पतिकी पत्नीप्रीति और पत्नीकी पतिव्रताशक्ति हैं। सारांश यह कि जगत्में तमाम जगह परमात्मरूपा महाशक्ति ही विविध शक्तियोंके रूपमें खेल रही हैं। तमाम जगह स्वाभाविक ही शक्तिकी पूजा हो रही है। जहाँ शक्ति नहीं है वहीं शून्यता है। शक्तिहीनकी कहीं कोई पूछ नहीं। प्रह्लाद, ध्रुव भक्तिशक्तिके कारण पूजित हैं। गोपी प्रेमशक्तिके कारण जगत्पूज्य हैं। भीष्म, हनुमान्की ब्रह्मचर्यशक्ति; व्यास, वाल्मीकिकी कवित्व-शक्ति; भीम, अर्जुनकी शौर्यशक्ति; युधिष्ठिर, हरिश्चन्द्रकी सत्यशक्ति; शङ्कर, रामानुजकी विज्ञानशक्ति; शिवाजी, प्रतापकी वीरशक्ति, इस प्रकार जहाँ देखो वहीं शक्तिके कारण ही सबकी शोभा और पूजा है। सर्वत्र शक्तिका ही समादर और बोलबाला है। शक्तिहीन वस्तु जगत्में टिक ही नहीं सकती! सारा जगत् अनादिकालसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे निरन्तर केवल शक्तिकी ही उपासनामें लग रहा है और सदा लगा रहेगा।

××× ××× ×××

यह महाशक्ति ही सर्वकारणरूप प्रकृतिकी आधारभूता होनेसे महाकारण हैं, यही मायाधीश्वरी हैं, यही सृजन-पालन-संहारकारिणी आद्या नारायणीशक्ति हैं, और यही प्रकृतिके विस्तारके समय भर्ता, भोक्ता और महेश्वर होती हैं। परा और अपरा दोनों प्रकृतियाँ इन्हींकी हैं अथवा यही दो प्रकृतियोंके रूपमें प्रकाशित होती हैं। इनमें द्वैताद्वैत दोनोंका समावेश है। यही वैष्णवोंकी श्रीनारायण

और महालक्ष्मी, श्रीराम और सीता, श्रीकृष्ण और राधा, शैवोंकी श्रीशङ्कर और उमा, गाणपत्योंकी श्रीगणेश और ऋद्धि-सिद्धि, सौरोंकी श्रीसूर्य और उषा, ब्रह्मवादियोंकी शुद्धब्रह्म और अविद्या हैं और शाक्तोंकी महादेवी हैं। यही पञ्चमहाशक्ति, दशमहाविद्या, नवदुर्गा हैं। यही अन्नपूर्णा, जगद्धात्री, कात्यायनी, ललिताम्बा हैं। यही शक्तिमान् हैं, यही शक्ति हैं, यही नर हैं, यही नारी हैं। यही माता, धाता, पितामह हैं; सब कुछ यही हैं। सबको सर्वतोभावसे इन्हींके शरण जाना चाहिये।

××× ××× ×××

जो श्रीकृष्णरूपकी उपासना करते हैं वे भी इन्हींकी करते हैं। जो श्रीराम, शिव या गणेशरूपकी उपासना करते हैं वे भी इन्हींकी करते हैं। और इसी प्रकार जो श्री, लक्ष्मी, विद्या, काली, तारा, षोडशी आदि रूपोंमें उपासना करते हैं वे भी इन्हींकी करते हैं। श्रीकृष्ण ही काली हैं, माँ काली ही श्रीकृष्ण हैं। इसलिये जो जिस रूपकी उपासना करते हों, उन्हें उस उपासनाको छोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ, इतना अवश्य निश्चय कर लेना चाहिये कि 'मैं जिन भगवान् या भगवतीकी उपासना कर रहा हूँ, वही सर्वदेवमय और सर्वरूपमय हैं, सर्वशक्तिमान् और सर्वोपरि हैं। दूसरोंके सभी इष्टदेव इन्हींके विभिन्न स्वरूप हैं।' हाँ, पूजामें भगवान्के अन्यान्य रूपोंका यदि कहीं विरोध हो या उनसे द्वेषभाव हो तो उसे जरूर निकाल देना चाहिये। साथ ही किसी तामसिक पद्धतिका अवलम्बन किया हुआ हो तो उसे भी अवश्य ही छोड़ देना चाहिये।

××× ××× ×××

तामसिक देवता, तामसिक पूजा, तामसिक आचार सभी नरकोंमें ले जानेवाले हैं, चाहे उनसे थोड़े कालके लिये सुख मिलता हुआ-सा प्रतीत भले ही हो। देवता वस्तुतः तामसिक नहीं होते, पूजक अपनी भावनाके अनुसार उन्हें तामसिक बना लेते हैं। जो देवता अल्प सीमामें आबद्ध हों, जिनको तामसिक वस्तुएँ प्रिय हों, जो मांस-मद्य आदिसे प्रसन्न होते हों, पशुबलि चाहते हों, जिनकी पूजामें तामसिक गन्दी वस्तुओंका प्रयोग आवश्यक हो, जिनके लिये पूजा करनेवालेको तामसिक आचारकी प्रयोजनीयता प्रतीत होती हो, वह देवता, उनकी पूजा और उन पूजकोंके आचार तामसी हैं और तामसी पापाचारीको बार-बार नरकोंकी प्राप्ति होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं।

यद्यपि तन्त्रशास्त्र समस्त श्रेष्ठ साधनशास्त्रोंमें एक बहुत उत्तम शास्त्र है, उसमें अधिकांश बातें सर्वथा अभिनन्दनीय और साधकको परमसिद्धि—मोक्ष प्रदान करानेवाली हैं, तथापि सुन्दर बगीचेमें भी जिस प्रकार असावधानीसे कुछ जहरीले पौधे उत्पन्न हो जाया करते और फूलने-फलने भी लगते हैं, इसी प्रकार तन्त्रमें भी बहुत-सी अवाञ्छनीय गन्दगी आ गयी है। यह विषयी कामान्ध मनुष्यों और मांसाहारी मद्यलोलुप अनाचारियोंकी ही काली करतूत मालूम होती है, नहीं तो श्रीशिव और ऋषिप्रणीत मोक्षप्रदायक पवित्र तन्त्रशास्त्रमें ऐसी बातें कहाँसे और क्यों आतीं? जिस शास्त्रमें अमुक-अमुक जातिकी स्त्रियोंका नाम ले-लेकर व्यभिचारकी आज्ञा दी गयी हो और उसे धर्म तथा साधन बताया गया हो, जिस शास्त्रमें पूजाकी पद्धतिमें बहुत ही गन्दी वस्तुएँ पूजासामग्रीके रूपमें आवश्यक बतायी गयी हों, जिस शास्त्रके माननेवाले साधक (?) हजार स्त्रियोंके साथ व्यभिचारको, और अष्टोत्तरशत नरबालकोंकी बलिको अनुष्ठानकी सिद्धिमें कारण मानते हों वह शास्त्र तो सर्वथा अशास्त्र और शास्त्रके नामको कलङ्कित करनेवाला ही है। व्यभिचारकी आज्ञा देनेवाले तन्त्रोंके अवतरण 'शिव' ने पढ़े हैं और तन्त्रके नामपर व्यभिचार और नरबलि करनेवाले मनुष्योंके घृणित गाथाएँ विश्वस्त सूत्रसे सुनी हैं। ऐसे महान् तामसिक कार्योंको शास्त्रसम्मत मानकर भलाईकी इच्छासे इन्हें करना सर्वथा भ्रम है, भारी भूल है और ऐसी भूलमें कोई पड़े हुए हों तो उन्हें तुरन्त ही इससे निकल जाना चाहिये। और जो जान-बूझकर धर्मके नामपर व्यभिचार, हिंसा आदि करते हों, उनको तो जब माँ चण्डीका भीषण दण्ड प्राप्त होगा, तभी उनके होश ठिकाने आवेंगे। दयामयी माँ अपनी भूली हुई सन्तानको क्षमा करें और उसे रास्तेपर लावें, यही प्रार्थना है।

××× ××× ×××

इसके अतिरिक्त पञ्चमकारके नामपर भी बड़ा अन्याय-अनाचार हुआ तथा अब भी बहुत जगह हो रहा है, उससे भी सतर्कतासे बचना चाहिये। बलिदान तथा मद्यप्रदान भी सर्वथा त्याज्य हैं। माताकी जो सन्तान, अपनी भलाईके लिये—मातासे ही अपनी कामना पूरी

करानेके लिये, उसी माताकी प्यारी भोली-भाली सन्तानकी हत्या करके उसके खूनसे माँको पूजती है, जो माँके बच्चोंके खूनसे माँके मन्दिरको अपवित्र और कलङ्कित करता है, उसपर माँ कैसे प्रसन्न हो सकती हैं? माँ दुर्गा काली जगज्जननी विश्वमाता हैं। स्वार्थी मनुष्य अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये—धन-पुत्र, स्वार्थ, वैभव, सिद्धि या मोक्षके लिये भ्रमवश निरीह बकरे, भैंसे और अन्यान्य पशु-पक्षियोंके गलेपर छुरी फेरकर मातासे सफलताका वरदान चाहता है, यह कैसी असंगत और असम्भव बात है। निरपराध प्राणियोंकी नृशंसतापूर्वक हत्या करने-करानेवाला कभी सुखी हो सकता है? उसे कभी शान्ति मिल सकती है? कदापि नहीं। दयाहीन मांसलोलुप मनुष्योंने ही इस प्रकारकी प्रथा चलायी है। जिसका शीघ्र ही अन्त हो जाना चाहिये। जो दूसरे निर्दोष प्राणियोंकी गर्दन काटकर अपना भला मनावेगा, उसका यथार्थ भला कभी नहीं हो सकता। यह बात स्मरण रखनी चाहिये। खयाल करो। तुम्हें खूँटेसे बाँधकर यदि कोई मारे या तुम्हारे गलेपर छुरी फेरे तो तुम्हें कितना कष्ट होगा? नन्हीं-सी सुई या काँटा चुभ जानेपर ही तलमला उठते हो। फिर इस पापी पेटके लिये और राक्षसोंकी भाँति मांससे जीभको तृप्त करनेके लिये गरीब पशु-पक्षियोंको धर्मके नामपर—अरे, माताके भोगके नामपर मारते तुम्हें शरम नहीं आती? मानो उन्हें कोई कष्ट ही नहीं होता। याद रखो, वे सब तुम्हारा बदला लेंगे। और तब तुम्हें अपनी करनीपर निरुपाय होकर हायतोबा करना पड़ेगा। अतएव सावधान! माताके नामपर गरीब निरीह पशु-पक्षियोंको बलि देना तुरन्त बन्द कर दो, माताके पवित्र मन्दिरोंको उसीकी प्यारी सन्तानके खूनसे रँगकर माँके अकृपाभाजन मत बनो।

बलिदान जरूर करो, परन्तु करो अपने स्वार्थका और अपने दोषोंका। माँके नामपर माँकी दुखी सन्तानके लिये अपना न्यायोपार्जित धन दानकर धनका बलिदान करो; माँकी दुखी सन्तानका दुःख दूर करनेके लिये अपने सारे सुखोंकी, और अपने प्यारे शरीरकी भी बलि चढ़ा दो। न्योछावर कर दो निष्कामभावसे माँके चरणोंपर अपना सारा धन, जन, बुद्धि, बल, ऐश्वर्य, सत्ता और साधन, उसकी दीन, हीन, दुखी, दलित सन्तानको सुखी करनेके लिये! तुमपर माँकी कृपा होगी। माँके पुलकित हृदयसे जो आशीर्वाद मिलेगा, माँकी गद्‌गदवाणी तुम्हें अपने दुखी भाइयोंकी सेवा करते देखकर जो स्वाभाविक वरदान देगी उससे तुम निहाल हो जाओगे। तुम्हारे लोक, परलोक दोनों बन जायँगे। तुम प्रेय और श्रेय दोनोंको अनायास पा जाओगे, माँ तुम्हें गोदमें लेकर तुम्हारा मुख चूमेंगी और फिर तुम कभी उनकी शीतल सुखद नित्यानन्दमय परमधाममय गोदसे नीचे नहीं उतरोगे!

बलिदान करना है तो बलि चढ़ाओ—कामकी, क्रोधकी, लोभकी, हिंसाकी, असत्यकी और इन्द्रिय-विषयासक्तिकी; माँ तुम्हारी इन चीजोंको नष्ट कर दे, ऐसी माँसे प्रार्थना करो। माँके चरणरजरूपी तीक्ष्णधार तलवारसे इन दुर्गुणरूपी असुरोंकी बलि चढ़ा दो। अथवा प्रेमकी कटारीसे ममत्व और अभिमानरूपी राक्षसोंकी बलि दे दो! तुम कहोगे 'फिर माँके हाथमें नरमुण्ड क्यों है? माँ भैंसेको क्यों मार रही हैं? माँ राक्षसोंका नाश क्यों कर रही हैं? क्या वे माँके बच्चे नहीं हैं? उन अपने बच्चोंकी बलि माँ क्यों स्वीकार करती हैं?' तुम इसका रहस्य नहीं समझते। उनकी बलि दूसरा कोई चढ़ाता नहीं, वे स्वयं आकर बलि चढ़ जाते हैं। अवश्य ही वे भी माँके बच्चे हैं, परन्तु वे ऐसे दुष्ट हैं कि माँके दूसरे असंख्य निरपराध बच्चोंको दुःख देकर, उन्हें पीड़ा पहुँचाकर, उनका स्वत्व छीनकर, उनके गले काटकर स्वयं राजा बने रहना चाहते हैं। स्वयं माँ लक्ष्मीको अपनी भोग्या बनाकर मातृगामी होना चाहते हैं, माँ उमासे विवाह करना चाहते हैं, ऐसे दुष्टोंको भी माँ मारना नहीं चाहती, शिवको दूत बनाकर उनके समझानेके लिये भेजती। पर जब वे किसी प्रकार नहीं मानते तब दयापरवश हो उनका उद्धार करनेके लिये उनको बलिके लिये आह्वान करती हैं और वे आकर जलती हुई अग्निमें पतङ्गकी भाँति माँके चरणोंपर चढ़ जाते हैं। माँ दूसरे सीधे बालकोंको आश्वासन देने और ऐसे दुष्टोंको शासनमें रखनेके लिये ही मुण्डमाला धारण करती हैं। मारकर भी उनका उद्धार करती हैं। इन असुरोंकी इस बलिके साथ तुम्हारी आजकी यह स्वार्थपूर्ण बकरे और पक्षियोंकी निर्दयता और कायरतापूर्ण बलिसे कोई तुलना नहीं हो सकती। हाँ, यह तुम्हारा आसुरीपन राक्षसीपन अवश्य है। और इसका फल तुम्हें भोगना पड़ेगा। अतएव राक्षस न बनो, माँकी प्यारी, दुलारी सन्तान बनकर उसकी सुखद गोदमें चढ़नेका प्रयत्न करो।

××× ××× ×××

रागद्वेषपूर्वक किसीका बुरा करनेके लिये माँकी

आराधना कभी न करो। याद रखो, माँ तुम्हारे कहनेसे अपनी सन्तानका बुरा नहीं कर सकतीं। जो दूसरेका बुरा चाहेगा, उसकी अपनी बुराई होगी। स्त्रीवशीकरण, मारण, मोहन, उच्चाटन आदिके लिये भी उनको मत पूजो, उन्हें पूजो दैवी-गुणोंकी उत्पत्तिके लिये, सबकी भलाईके लिये अथवा मोक्षके लिये।

××× ××× ×××

सच तो यह है, परमात्मरूपिणी माँकी उपासना करके उनसे कुछ भी मत माँगो। ऐसी दयामयी सर्वेश्वरी जननीसे जो कुछ भी तुम माँगोगे, उसीमें ठगा जाओगे। तुम्हारा वास्तविक कल्याण किस बातमें है—इस बातको तुम नहीं समझते, माँ समझती हैं। तुम्हारी दृष्टि बहुत ही छोटी सीमामें आबद्ध है। माँकी दूरदृष्टि ही नहीं है, वह ईश्वरी माता, वह श्रीकृष्ण और श्रीरामरूपा माता, वह दुर्गा, सीता, उमा, राधा, काली, तारा सर्वज्ञ हैं। तुम्हारे लिये जो भविष्य है, उनके लिये सभी वर्तमान है। फिर उनका हृदय दयाका अनन्त समुद्र है। वह दयामयी माता तुम्हारे लिये जो कुछ मंगलमय होगा—कल्याणकारी होगा, उसीका विधान करेंगी, स्वयं सोचेंगी और करेंगी; तुम तो बस, निश्चिन्त और निर्भय होकर अबोध शिशुकी भाँति उसका पवित्र आँचल पकड़े उनके वात्सल्यभरे मुखकी ओर ताकते रहो। डरना नहीं, काली, तारा तुम्हारे लिये भयावनी नहीं हैं, वह भयदायिनी राक्षसोंके लिये हैं। भगवान् नृसिंहदेव सबके लिये भयानक थे परन्तु प्रह्लादके लिये भयानक नहीं थे। फिर, मातृरूप तो कैसा भी हो, अपने बच्चेके लिये कभी भयावना होता ही नहीं, सिंहनीका बच्चा अपनी माँसे कभी नहीं डरता। अतः उनकी गोदसे कभी न हटो, उनका आश्रय पकड़े रहो। माँ अपना काम आप करेंगी। माँगोगे, उसीमें धोखा खाओगे। पता नहीं, तुम्हें कहीं राज्य मिलनेकी बात सोची जा रही हो और तुम मोहवश कौड़ी ही माँग बैठो। असलमें तो तुम्हें माँगनेकी बात याद ही क्यों आनी चाहिये? तुम्हारे मनमें अभावका ही—कमीका ही बोध क्यों होना चाहिये, जब कि तुम त्रिभुवनेश्वरी अनन्त ऐश्वर्यमयी माँकी दुलारी सन्तान हो?' माँका सारा खजाना तो तुम्हारा ही है। परन्तु तुम्हें खजानेसे भी क्यों सरोकार होना चाहिये। छोटा बच्चा खजाने और धन-दौलतको नहीं जानता, वह तो जानता है केवल माँकी गोदको, माँके आँचलको और माँके दूधभरे स्तनोंको। बस, इससे अधिक उसे और क्या चाहिये? माँ बहुत ही मूल्यवान् वस्तु देकर भी उसे अपनेसे अलग करना चाहे तब भी वह अलग नहीं होगा। वह उस बहुमूल्य वस्तुको—भोग और मोक्षको तृणवत् फेंक देगा। परन्तु माँका पल्ला कभी छोड़ना नहीं चाहेगा। ऐसी हालतमें राजराजेश्वरी सर्वलोकमहेश्वरी माँ भी उसे कभी नहीं छोड़ सकतीं। इसके सिवा शिशु सन्तानको और क्या चाहिये? अतएव तुम भी माँके छोटे भोले-भाले बच्चे बन जाओ। खबरदार, कभी माँके सामने सयाने बननेकी कल्पना भी मनमें न आने पावे!

××× ××× ×××

कुण्डलिनी और षट्चक्रोंकी बात भी सब ठीक है, परन्तु वर्तमान समयमें योगसाधन बड़ा कठिन है। उपयुक्त अनुभवी गुरु भी प्रायः नहीं मिलते। इस स्थितिमें योगके चक्करमें न पड़कर सरल शिशुपनसे आत्मसमर्पणभावसे उपासना करके माँको स्नेहसूत्रमें बाँध लो। माँकी कृपासे सारी योगसिद्धियाँ तुम्हारे चरणोंपर बिना ही बुलाये आ-आकर लोटने लगेंगी। मुक्ति तो पीछे-पीछे फिरेगी, इस आशासे कि तुम उसे स्वीकार कर लो; परन्तु तुम माताकी सेवामें ही सुख माननेवाले उसकी ओर नजर उठाकर ताकना भी नहीं चाहोगे!

××× ××× ×××

तुम्हें माँ विचित्र-विचित्र लीलाएँ दिखलावेंगी—अपनी लीलाका एक पात्र बना लेंगी। कभी तुम व्रजकी गोपी बनोगे तो कभी मिथिलाकी सीतासखी; कभी उमाकी सहचरी बनोगे तो कभी माँ लक्ष्मीकी चिरसङ्गिनी सहेली। कभी सुदामा-श्रीकृष्ण बनोगे तो कभी लक्ष्मण-हनुमान्; कभी वीरभद्र-नान्दी बनोगे तो कभी नारद और सनत्कुमार और कभी चामुण्डा बनोगे तो कभी चण्डिका! मतलब यह कि तुम माँकी विश्वमोहिनी लीलामें लीलारूप बन जाओगे—फिर तुम्हें मोक्षसे प्रयोजन ही नहीं रहेगा, क्योंकि मोक्षका अधिकार तो माँकी लीलासे अलग रहनेवाले लोगोंको ही है। मोक्ष तुम्हारे लिये तरसेगा; परन्तु तुमको महेश्वर-महेश्वरीका ताण्डव-लास्य, राधेश्यामका नाच-गान, देखनेसे और डमरूध्वनि या मुरलीकी मधुर तान सुननेसे ही कभी फुरसत नहीं मिलेगी। इससे बढ़कर धन्यजीवन और परम सुख और कौन-सा होगा?

××× ××× ×××

माँकी कृपासे मिलनेवाले इस आत्यन्तिकसे भी

परेके श्रेष्ठतम सुखको छोड़कर जो केवल सांसारिक रूप, धन और यशके फेरमें पड़ा रहता है और उन्हें पानेके लिये ही माँकी आराधना करता है वह तो बड़ा ही भोला है। और वह तो अधम ही है जो इन सुखोंके लिये माँकी पूजाके नामपर पापाचार करता है और दूसरे प्राणियोंको पीड़ा पहुँचाकर लाभ उठाना चाहता है।

××× ××× ×××

सौन्दर्यकी—रूपकी धधकती आगमें पड़कर खाक हो जानेवाले पतङ्गे नरनारियो! सोचो, तुम्हारी कल्पनाके रूपमें कहाँ सौन्दर्य है? हाड़, मांस, मेद, मज्जा, चमड़ी, विष्ठा, मूत्र, केश, नख आदिमें कौन-सी वस्तु सुन्दर है? क्या गठीला शरीर सुन्दर है! अरे, चार दिन खूनके पचास-पचास दस्त हो जायँ तो वह हड्डियोंका ढाँचा रह जायगा। काले केश सुन्दर हैं! बुढ़ापा आने दो, चाँदीकी-सी शक्ल उनकी हो जायगी। ऊपरकी चिकनाईमें सुन्दरता है तो अन्दर देखो—पेटके थैलेमें और नसोंमें मलमूत्र और रक्त भरा है, कीड़े किलबला रहे हैं। कोढ़ीके शरीरके घावोंको देखो, वही तुम्हारे भीतरका असली नमूना है। देखते ही घिन होती है, नाक सिकुड़ जाती है, आँखें फिर जाती हैं। मरनेके बाद एक ही दिनमें शरीरसे असहनीय दुर्गन्ध निकलने लगती है। तुम क्यों इस लौकिक मिथ्या रूपकी झूठी कल्पनापर पागल हो रहे हो? रूपके मोहको छोड़ दो और उस अपरूप रूपमाधुरीका सेवन करो जो सारे रूपोंका अनन्त, सनातन और नित्य समुद्र है।

यही हाल धनका है। संसारमें कौन-सा धनी शान्त है और सुखी है? धनकी लालसा कभी मिटती नहीं। ज्यों-ज्यों धन बढ़ेगा त्यों-ही-त्यों कामना और लालसा बढ़ेगी और त्यों-ही-त्यों दुःख भी बढ़ेगा। पाप, अभिमान आदि प्रायः धनसे ही होते हैं। खुशामदी लुच्चे बदमाश धनपर ही, मैलेपर मक्खियोंकी भाँति मँडराया करते हैं और धनवानोंको सदा बुरे मार्गपर ले जानेकी कोशिश करते रहते हैं। धनवान्‌को असली महात्माका सत्संग मिलना तो बहुत ही कठिन होता है, क्योंकि वह तो धनके मदमें कहीं जानेमें अपनी पोजीशनकी हानि समझता है और खुशामदियों, चाटुकारों और चीनीपर चिपटे हुए चींटोंकी भाँति धन चूसनेवाले लोगोंसे घिरे हुए उसके पास कोई निःस्वार्थी असली महात्मा क्यों जाने लगे? यदि कभी कोई कृपावश चले भी जाते हैं तो धनीसे उनका मिलना कठिन होता है और यदि मिलना भी हुआ तो वह उन्हें कोई भिखमंगा समझकर तिरस्कार करता है, क्योंकि उसके पास प्रायः ऐसे ही लोग आया करते हैं; इससे उसको सभी वैसे ही दिखायी देते हैं। झंझटोंका तो धनियोंके पार नहीं रहता, निकम्मे कामोंसे कभी उन्हें फुरसत ही नहीं मिलती। नरककी सामग्री भोगोंका वहाँ बाहुल्य रहता है, जिससे नरकका मार्ग क्रमशः अधिकाधिक साफ होता रहता है। अतएव धनके लोभको छोड़ दो और परमधनरूप माँकी सेवामें लग जाओ। यदि पार्थिव धन पास हो तो उसको अपना मानकर अभिमान न करो और कुसंगतिसे पिण्ड छुड़ाकर उस धनको माताकी पूजाकी सामग्री समझकर उसे माँकी यथार्थ पूजा—उसकी दुखी सन्तानको सुख पहुँचानेके कार्यमें लगाकर माँके कृपाभाजन बनो!

××× ××× ×××

पद-प्रतिष्ठा और मान-बड़ाई तो बहुत ही हानिकर है। जो मान-बड़ाईके मोहमें फँस गया, उसके धर्म, कर्म, साधना, पुरुषार्थ 'सब भाँगके भाड़ेमें' चले गये। उसने मानो परमधन परमात्मप्रेमको विषपूर्ण स्वर्णकलशरूप मान-बड़ाईके बदलेमें खो दिया। अतएव रूप, धन, पद-प्रतिष्ठा, मान-बड़ाई आदिके लिये चिन्तित न होओ और न इनकी प्राप्ति चाहो। ये परमार्थका साधन नष्ट करनेवाले महान् दुःखदायी और नरकप्रद हैं! माँकी उपासना करके उसके बदलेमें तो इन्हें कभी माँगो ही मत। अमृतके बदले जहर पीनेके समान ऐसी मूर्खता कभी न करो। माँसे माँगो सच्चा प्रेम, माँका वात्सल्य, माँकी कृपा, माँका नित्य आश्रय और माँकी सुखमयी गोद! माँसे माँगकर वैराग्यशक्ति ले लो और उससे विषयासक्तिरूप वैरीको मार भगाओ। याद रखो, वैराग्य-शक्तिमें अद्भुत सामर्थ्य है। जिन विषयोंके प्रलोभनोंमें बड़े-बड़े धीर, वीर और विद्वान् पुरुष फँस जाते हैं, वैराग्यवान् पुरुष उनकी ओर ताकता भी नहीं।

××× ××× ×××

इसी प्रकार सदाचार-शक्ति और दैवी सम्पद्-शक्तिको बढ़ाओ। जिसकी सदाचार और दैवी सम्पद्-शक्ति जितनी बढ़ी हुई होगी वह उतना ही अधिक परमात्मरूपा माँका प्रियपात्र होगा और उतना ही अधिक शीघ्र माँके दर्शनका अधिकारी होगा। स्मरण रखो, माँके विभिन्न रूप केवल कल्पना नहीं हैं, सत्य हैं और तुम्हें माँकी

कृपासे उनके साक्षात् दर्शन हो सकते हैं।

×××　　×××　　×××

माँके दर्शनका सर्वोत्तम उपाय है—दर्शनके लिये व्याकुल होना। जैसे छोटा बच्चा जब किसी वस्तुमें न भूलकर एकमात्र माँके लिये व्याकुल होकर रोने लगता है, केवल माँ-माँ पुकारता हो और किसी बातको सुनना ही नहीं चाहता, तब माँ हजार जरूरी कामोंको छोड़कर उसके पास दौड़ी आती है और उसके आँसू पोंछकर उसे तुरन्त अपनी गोदमें छिपाकर मुँह चूमने लगती है। इसी प्रकार वह परमात्मरूपा जगज्जननी माँ काली या माँ श्रीकृष्ण भी तुम्हारा रोना सुनकर—पुकार सुनकर तुम्हारे पास आये बिना नहीं रहेंगे। अतएव उत्कण्ठित हृदयसे व्याकुल होकर रोओ—अपने करुणक्रन्दनसे करुणामयी माँके हृदयको हिला दो—पिघला दो। राम, कृष्ण, हरि, शङ्कर, दुर्गा, काली, तारा, राधा, सीता आदि नामोंकी निर्मल और ऊँची पुकारसे आकाशको गुँजा दो। भगवती माँ तुम्हें जरूर दर्शन देंगी। करुणापूर्ण नामकीर्तन माँको बुलानेका परम साधन है। समस्त मन्त्रोंमें यह नाममन्त्र मन्त्रराज है, और इसमें कोई विधिनिषेध नहीं है, कोई भय नहीं है। हम-सरीखे बच्चोंके लिये तो यही माँको बाँध रखनेकी मजबूत और कोमल रेशमकी डोरी है।

×××　　×××　　×××

माँके उपदेशोंपर ध्यान दो। उनके सारे उपदेश तुम्हारी भलाईके लिये ही हैं। देवीभागवतमें ऐसे बहुत-से उपदेश हैं। भगवती गीता ऐसे उपदेशोंका सुन्दर संग्रह है। और न हो तो, माँके ही श्रीकृष्णरूपसे उपदिष्ट भगवद्गीताको माँके उपदेशोंका खजाना समझो—उसीको आदर्श बनाओ, पथदर्शक बनाओ, उसीके उज्ज्वल और निर्दोष प्रकाशके सहारे माँका अनन्य आश्रय लिये हुए, माँके नामोंका रटन करते हुए माँको पुकारो—माँकी सेवा करो। गीता-शक्तिमें भगवतीकी सारी शक्ति निहित है।

×××　　×××　　×××

श्रद्धा-शक्तिको बढ़ाओ, झूठे तर्क न करो, तर्कोंसे कभी भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती, माता-पिताके लिये तर्क करना उनका अपमान करना है। अतएव तर्क छोड़कर माँके भक्तोंकी वाणीपर विश्वास करो और श्रद्धापूर्वक माँकी सेवामें लगे रहो। इसका यह अर्थ नहीं है कि शुद्ध बुद्धि-शक्तिका तिरस्कार करो। जो भगवान्‌में अविश्वास उत्पन्न कराती है वह तो बुद्धि ही नहीं है, बुद्धि—शुद्ध बुद्धि तो वही है जिससे परमात्माका निश्चय होता है और उनके भजनमें मन लगता है। ऐसी शुद्ध बुद्धि-शक्तिको बढ़ाओ। इस बुद्धि-शक्तिकी अधिष्ठात्री देवता सरस्वतीजी हैं; बुद्धिके साथ ही माँकी सेवाके लिये धन भी चाहिये—अतएव न्यायपूर्वक सत्य-शक्तिका आश्रय लिये हुए धनोपार्जन भी करो, धनकी अधिष्ठात्री देवता लक्ष्मीजी हैं। और साथ ही शारीरिक शक्तिका भी विकास करो, शरीरकी अधिष्ठात्री देवी कालीजी हैं। अतएव बुद्धि, धन और शरीरकी रक्षा और स्वस्थताके लिये महाशक्तिके त्रिरूप महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकालीकी श्रद्धापूर्वक उपासना करो। परन्तु इस बातको स्मरण रखो कि बुद्धि, धन और शरीरकी आवश्यकता भी केवल माताकी निष्काम सेवाके लिये ही है, सांसारिक-इहलोक और परलोकके सुखोपभोग-के लिये कदापि नहीं!

×××　　×××　　×××

मानसिक शक्तिको बढ़ाओ, तुम्हारी मानसिक शक्ति शुद्ध होकर बढ़ जायगी तो तुम इच्छामात्रसे जगत्‌का बड़ा उपकार कर सकोगे। शारीरिक शक्तिको बढ़ाओ, शरीर बलवान् और स्वस्थ रहेगा तो उसके द्वारा कर्म करके तुम जगत्‌की बड़ी सेवा कर सकोगे। इसी प्रकार बुद्धिको भी बढ़ाओ, शुद्ध प्रखरबुद्धिसे संसारकी सेवाएँ करनेमें बड़ी सुविधा होगी। इच्छा, क्रिया और ज्ञान अर्थात् मानसिक शक्ति, शारीरिक शक्ति और बुद्धिशक्ति तीनोंकी ही जगज्जननी माँकी सेवाके लिये आवश्यकता है। और माँसे ही यह तीनों मिल सकती हैं। परन्तु इनका उपयोग केवल माँकी सेवाके लिये ही होना चाहिये, कहीं दुरुपयोग हुआ, कहीं भोग और परपीड़ाके लिये इनका प्रयोग किया गया तो सब शक्तियोंके मूलस्रोत महाशक्तिकी ईश्वरी-शक्ति इन सारी शक्तियोंको तुरन्त हरण कर लेगी।

×××　　×××　　×××

पशुबल, मानवबल, असुरबल और देवबल ये चारों ही बल ईश्वरी-शक्तिके सामने नहीं ठहर सकते। महिषासुरमें विशाल पशुबल था, कौरवोंमें मानवशक्तिकी प्रचुरता थी, रावणादिमें असुरबल अपार था और इन्द्रादि देवता देवबलसे सदा बलीयान् रहते हैं। परन्तु ईश्वरीय-शक्तिने चारोंको परास्त कर दिया। महिषासुरका साक्षात् ईश्वरीने वध किया, कौरवोंको भगवान् श्रीकृष्णके

आश्रित पाण्डवोंने नष्ट कर दिया, रावणका भगवान् श्रीरामने स्वयं संहार किया और भगवान् श्रीकृष्णके तेजके सामने इन्द्रको हार माननी पड़ी। इन चारोंमें पशुबल और असुरबल तो सर्वथा त्याज्य हैं। मनुष्यबल और देवबल ईश्वराश्रित होनेपर ग्राह्य हैं। परम बल तो परमात्म-बल है। वह बल समस्त जीवोंमें छिपा हुआ है। आत्मा परमात्माका सनातन अंश है। उस आत्माको जागृत करो, आत्मबलका उद्बोधन करो, अपनेको जड शरीर मत समझो, चेतन विपुल शक्तिमान् आत्मा समझो, याद रखो, तुममें अपार शक्ति है। तुम्हारा अणु-अणु शक्तिसे भरा है। पुरुषार्थ करके उस शक्तिके भण्डारका द्वार खोल लो। अपनेको हीन, पापी समझकर निराश मत होओ। शक्ति-माताकी अपार शक्ति तुममें निहित है। उस शक्तिको जगाओ, शक्तिकी उपासना करो, शक्तिका समादर करो, शक्तिको क्रियाशीला बनाओ। फिर शक्तिकी कृपासे तुम जो चाहो सो कर सकते हो।

××× ××× ×××

तुम नर हो या नारी हो—भगवान् या भगवतीके रूप हो। नारी नरका अपमान न करे और नर नारीका कभी न करे। दोनोंको शुद्ध प्रेमभावसे एक-दूसरेकी यथार्थ उन्नति और सुखसाधनामें लगे रहना चाहिये। इसीमें दोनोंका कल्याण है। जगत्की सारी नारियोंमें देवी भगवतीकी भावना करो। समस्त स्त्रियोंको माँकी साक्षात् मूर्ति समझकर उनका आदर करो, उन्हें सुख पहुँचाओ, उन्हें भोग्य पदार्थ न समझकर दुर्गा समझो। किसी भी नारीको कभी मत सताओ! शास्त्रोंमें कुमारीपूजाका बड़ा माहात्म्य लिखा है। लड़कीको लड़केके समान ही आदरसे पालो, घरमें उसका भी स्वत्व समझो, उसे दुत्कारो मत, उसका अपमान न करो।

××× ××× ×××

विलाससामग्रीका सब्जबाग दिखलाकर नारीको विलासमयी बनाना, भोगकी ओर प्रवृत्त करना और पवित्र सतीधर्मसे च्युत करना भी उसका अपमान ही है। नारीका अपमान माँ दुर्गाका अपमान है। इससे सदा सावधान रहो।

××× ××× ×××

विधवा नारीको तो साक्षात् दुर्गा समझकर उसका सम्मान करो, आदरपूर्वक हृदयसे उसकी पूजा करो; वह त्यागकी मूर्ति है। उसे विषयका प्रलोभन कभी मत दो, उसे ब्रह्मचर्यसे डिगाओ मत, सताओ मत, दुखी न करो; माँ विधवाके शापसे तुम्हारा सर्वनाश और उसके आशीर्वादसे तुम्हारा परम कल्याण हो सकता है।

××× ××× ×××

नारीजातिको विलासमें मत लगाओ, इससे नारी-शक्तिका ह्रास होगा। नारी-शक्तिका उद्बोधन करो। नारियो! तुम भी सजग रहो, विलासी पुरुषोंके वाक्जालमें मत फँसो। संयम और त्यागके अपने परम पवित्र अति सुन्दर देवपूज्य स्वरूपको कभी न छोड़ो। इन्द्र तुमसे काँपते थे, सूर्य तुम्हारी जबानपर रुक जाते थे, ब्रह्मा, विष्णु, महेश तुम्हारे सामने शिशु होकर खेलते थे, रावण-से दुर्वृत्त राक्षस तुमसे थर्राते थे। तुम साक्षात् भगवती हो। संयम और त्यागको भूलकर भी न छोड़ो। पुरुषोंके मिथ्या प्रलोभनोंमें मत फँसो। उनको सावधान कर दो। आज विवाह और कल सम्बन्धत्याग, इस पातकी आदर्शको कभी न अपनाओ, जीवनकी अखण्ड पवित्रताको दृढ़तापूर्वक सुरक्षित रखो। संसारके मिथ्या सुखोंमें कभी न भूलो। अपनी शक्तिको प्रकट करो। त्याग, प्रेम, शौर्य और वात्सल्यकी सबको शिक्षा दो। जो तुम्हारी भक्ति करे, तुम्हें देवीके रूपमें देखे, उसके लिये लक्ष्मी और सरस्वती बनकर उसका पालन करो। और जो दुष्ट तुम्हारी तरफ बुरी नजर करे, उसके लिये साक्षात् रणरङ्गिणी काली और चण्डीका स्वरूप प्रकाश करो, जिससे तुम्हें देखते ही वह डर जाय, उसके होश ठिकाने आ जायँ।

××× ××× ×××

शक्ति ही जीवन है, शक्ति ही धर्म है, शक्ति ही गति है, शक्ति ही आश्रय है, शक्ति ही सर्वस्व है, यह समझकर परमात्मरूपा महाशक्तिका अनन्यरूपसे आश्रय ग्रहण करो। परन्तु किसी भी दूसरेकी इष्टशक्तिका अपमान कभी न करो। गरीब, दुखी प्राणियोंकी अपनी शक्तिभर तन-मन-धनसे सेवाकर महाशक्तिकी प्रसन्नता प्राप्त करो। पापाचार, अनाचार, व्यभिचार, लौकिक पञ्चमकार आदिको सर्वथा त्यागकर माताकी विशुद्ध निष्काम भक्ति करो। इसीमें अपना कल्याण समझो। मेरी माँ दुर्गा सबका कल्याण करें। **'शिव'**

शक्ति-उपासना

(लेखक—श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया)

सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिभूते सनातनि। गुणाश्रये गुणमये नारायणि नमोऽस्तु ते॥

शक्ति-उपासना प्राचीन है। अवश्य ही वर्तमानकालीन शक्ति-उपासनामें, मध्ययुगकी उपासनाके अनुसार अति प्राचीन कालकी उपासनासे बहुत कुछ भिन्नता आ गयी है। काली, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, योगमाया तथा अन्य किसी भी देवीकी उपासना साधारणत: शक्तिकी उपासना कही जाती है। हाँ, अपने भाव और उद्देश्यके भेदके अनुसार पूजाविधिमें भेद है, वैदिक, पौराणिक तथा तान्त्रिक उपासनामें भी भेद है। मैं यहाँ पूजाके भेदोंकी विस्तारसे समालोचना करना नहीं चाहता, पर यह अवश्य है कि आधुनिक शक्ति-उपासनामें प्राय: कई बड़े दोष आ गये हैं और वे मध्ययुगकी तान्त्रिक उपासनाकी रीतिपर अभीतक चल रहे हैं। यद्यपि इधर उनमें कई प्रकारके हेरफेर हुए हैं, परन्तु हिंसात्मक विधि अभीतक बनी ही हुई है। उदाहरणत: देवीपूजामें जहाँ-तहाँ बकरे, महिष तथा अन्य पशुओंकी बलिकी रीति अभीतक प्रचलित पायी जाती है। मध्ययुगकालमें यह बलिप्रथा यहाँतक बढ़ गयी थी कि पूजा और धर्मके नामपर नरबलितक भी की जाती थी। वह प्रथा यद्यपि अब नहीं है, पर पशुओंकी बलि रागद्वेष और भोगकामनाके वशीभूत होकर मन्दिर और देवस्थानोंमें अब भी दी जा रही है। हाँ, कुछ प्रदेशोंमें और कुछ जातियोंमें आज भी वैदिक, पौराणिक रीत्यनुसार बिना पशुबलिके शक्तिपूजा होती दिखायी देती है, परन्तु ऐसे स्थल बहुत ही कम हैं। बड़े खेदकी बात है कि मातृपूजाके लिये पशुओंकी हत्या करनेमें अच्छे-अच्छे विद्वान् पण्डित भी सम्मत हैं और शास्त्रोंमें भी पशुबलिकी सम्मति और निषेध दोनों प्रकारके वचन मिलते हैं। ऐसी अवस्थामें शक्ति-उपासक भाई यदि उदार हृदयसे निस्स्वार्थ भावसे इस विषयपर गम्भीर विचार करें तो यह उनके समझमें आ जायगा कि ऐसी हिंसात्मक रीति निस्सन्देह अवैध और अयौक्तिक है। धर्मके नामपर ऐसे अनाचार सर्वथा त्याज्य हैं। महात्मा बुद्धदेवके अवतरणके पूर्व पशुहिंसायुक्त उपासनाका प्रचलन था और उन्होंने इस अनाचारको सर्व प्रकार अकल्याणकारी समझकर इसके मूलोच्छेदनके लिये भगीरथप्रयत्न किया था और उसमें उन्हें सफलता भी मिली थी। उन्होंने सारे जगत्में उस समय '**अहिंसा परमो धर्मः**' सिद्धान्तका प्रचार किया था और करोड़ोंकी संख्यामें इस धर्मके माननेवाले हो गये थे। परन्तु अफसोस! समयके परिवर्तनके साथ-साथ मनुष्योंकी भोगलोलुपताकी पुन: वृद्धि हुई और फिर देव-देवीकी पूजाके नामपर अपनी रसनेन्द्रियको चरितार्थ करनेवाली हिंसात्मक पूजा बढ़ने लगी। कोई भी हृदयवान् पुरुष इसको युक्तिसंगत कहनेका साहस नहीं करेगा। यह केवल उन्हीं लोगोंद्वारा प्रतिष्ठित है जो आमिषभोजी हैं और वही अपने स्वार्थवश इसका समर्थन भी करते हैं। इस बातको सभी स्वीकार करेंगे कि देव और देवी उसीको कहेंगे जो दैवी सम्पदासे पूर्ण हो और दैवी सम्पदाका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायके १, २, ३ श्लोकमें इस प्रकार किया गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

इन छब्बीस प्रकारके गुणोंमें अभय, सत्त्वसंशुद्धि, अहिंसा, भूतेषु दया, अलोलुपता, मार्दव—ये विशेष विचारणीय हैं। 'अभय' से यहाँ स्वयं निर्भय होना और अन्य सब जीवोंको अपनी ओरसे अभयदान देना अभिप्रेत है। 'सत्त्वसंशुद्धि' से यहाँ 'अन्त:करणकी सब प्रकारकी निर्मलता' समझनी चाहिये। 'अहिंसा' से यहाँ बतलाते हैं कि मन, वाणी और शरीरसे किसी भी जीवको कष्ट नहीं पहुँचाना। 'भूतेषु दया' का अर्थ है सब जीवोंके प्रति निस्स्वार्थभावसे दया करना। 'अलोलुपता' का मतलब है भोग तथा लोलुपताका अभाव। 'मार्दव' का अर्थ हृदयकी कोमलता है।

प्रिय पाठकगण! आप स्वयं ही सोच सकते हैं कि कोई देवी या देवता अपने लिये पूजाके बहाने किसी

जीवकी हत्या करनेसे प्रसन्न होगा, या बलिदानको अङ्गीकार करेगा? जो देवी चराचर जगत्की माता है वह अपने लिये जीवहिंसाकी स्वीकृति कैसे दे सकती है? पाठकगण यह न समझें कि मैं देवी-उपासनाका विरोधी हूँ या उसे निन्दनीय समझता हूँ, मैं तो शक्ति-उपासनाका पक्षपाती ही हूँ। हाँ, उपर्युक्त हिंसात्मक विधिसे मेरी सहानुभूति नहीं है, कोई भी कल्याणकामी शक्ति-उपासनामें इस प्रथाको पसन्द नहीं करेगा। यह प्रथा आमिषभोजी उपासकोंने अपनी वासनासे ही प्रचलित की है। सभी कल्याणकामी भाइयोंसे मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि शक्ति-उपासनामें जीवहिंसात्मक प्रथाको सर्वथा निकालकर शुद्ध सात्त्विक पूजा करें और यदि बलि देना है तो माताके सम्मुख आत्माभिमानका बलिदान दें। माताका सच्चा सेवक वही है जो जगत्की ममता और अभिमानको बलि देकर माताकी आज्ञानुसार अथवा माता जैसे चलाती है वैसे चलता है। जैसे परमहंस श्रीरामकृष्णजी महाराज अपने लिये कहा करते थे, '**तुमि यन्त्री आमि यन्त्र, तुमि गृही आमि घर, तोमार कर्म तुमि करो माँ लोके बोले करि आमि**'। अर्थात् 'मैं बाजा हूँ, आप बजानेवाली हैं; मैं घर हूँ, आप घरमें रहनेवाली मालकिन हैं; आप ही सब कुछ कर रही हैं, अज्ञानतासे लोग अपनेको कर्त्ता मानते हैं।' भाव यह है कि जैसे माता चलावें वैसे ही चले। अपना कर्तृत्वाभिमान जरा भी न रखे, इसीको आत्मबलिदान कहते हैं। यह बलिदान कल्याणमार्गमें अवश्य सहायक है। यदि कोई भाई ऐसा प्रश्न करें कि कल्याणकामीको पशुहिंसा नहीं करनी चाहिये पर सांसारिक भोगसुखके चाहनेवाले यदि ऐसा करें तो क्या हानि है? उत्तरमें मेरा यह निवेदन है कि संसारके सुख प्रारब्धसे अतिरिक्त हिंसात्मक कृत्यसे कभी नहीं मिल सकते, और फिर उन्हें देगा ही कौन? क्योंकि कोई देव या देवी तो हिंसा चाहते नहीं। हिंसा तो एक आसुरी कृत्य है, फिर जो अचिन्त्य असीम शक्ति है जो सबके शुभाशुभ कार्योंके फलको देनेवाली है। वह शक्तिमाता ऐसी हिंसात्मक आसुरी पूजा क्योंकर स्वीकार करेगी? अधिकन्तु हिंसाका फल दुःख और कष्ट ही मिलता है। अतएव माताके नामपर कोई भाई भी ऐसी भूल न करें। जगत्में कोई कैसा भी बलवान्, धनी, विद्वान्, सामर्थ्यवान् क्यों न हो, ईश्वरीय न्याय-राज्यमें उसे पापका फल दुःख और कष्ट तथा धर्मका फल सुख और आनन्द भोगना ही पड़ता है। उस अमित शक्तिके सामने सभीको झुक जाना पड़ता है। उसके न्यायके विरुद्ध कोई कुछ भी नहीं कर सकता। आप लोग जानते हैं, सब धर्मोंने अहिंसाको परम धर्म माना है और सभी शास्त्र और ऋषियोंने भी इसे स्वीकार किया है। जो लोग अहिंसाधर्मका पालन करनेवाले हैं उनसे कोई भी धर्माचरण बाकी नहीं रह जाता। सब धर्म इसके अन्दर आ जाते हैं।

मैं तो यही कहूँगा कि जो लोग माताके नामपर हिंसाके पक्षपाती हैं वे केवल परम्परागत प्रथा, भोगलालसा और अज्ञानके वशीभूत होकर ऐसा करते हैं। आधुनिक युगमें इस रहस्यको जाननेवाले कई ऐसे शक्तिके अनन्य उपासक हो गये हैं जिनके पास हिंसाकी गन्ध भी नहीं थी, तथापि उन्होंने उस अचिन्त्यशक्तिरूपा देवीका साक्षात् दर्शन और उससे सम्भाषण किया था। उनकी कृपासे अनेक जीवोंका हित हुआ है और अब भी हो रहा है। यद्यपि वे लोग पाञ्चभौतिक शरीरसे इस समय वर्तमान नहीं हैं, परन्तु उनके उपदेश और आचरण सदैव चिरस्मरणीय हैं। ऐसे महापुरुषोंके दो एक नाम आपलोगोंके सम्मुख मैं प्रकट करूँगा, जिनकी कृपावर्षा भारतमें ही नहीं बल्कि भारतसे बाहर भी हो रही है! परम श्रद्धेय पूज्यपाद परमहंस श्रीरामकृष्णदेव तथा भक्तशिरोमणि रामप्रसाद महात्माको कौन नहीं जानता? बङ्गालमें तो घर-घरमें इनकी गुणगाथा गायी जाती है। ऐसे तत्त्ववेत्ता ज्ञानियोंकी पूजा परिच्छिन्न नहीं थी। वे लोग अनन्त चेतनशक्तिकी ही देवीरूपसे उपासना करते थे। कल्याणकामी उपासकको चाहिये कि अपने उपास्यमें कभी भी परिच्छिन्न भाव न आने दें। उपासना चाहे किसी भी रूपकी क्यों न हो और किसी भी भावसे क्यों न हो, इसमें कोई आपत्ति नहीं। गीतामें कहा है—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्सामयजुरेव च॥

मैं ही इस सम्पूर्ण जगत्का धाता अर्थात् धारण-पोषण करनेवाला एवं कर्मोंके फलको देनेवाला तथा पिता, माता और पितामह हूँ और जाननेयोग्य पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। यहाँपर यह दिखलाया गया है कि उस सर्वव्यापी

एकोऽहं पञ्चधा भिन्नः क्रीडार्थं भुवनेऽखिले॥

'वर्षाका जल जिस प्रकार चारों ओरसे आकर समुद्रमें गिरता है, उसी प्रकार गाणपत्य, सौर, वैष्णव, शैव और शाक्त सभी आकर मुझे ही प्राप्त होते हैं। मैं ही लीलाके लिये जगत्में पाँच रूपोंमें विभक्त हो रहा हूँ।'

इसीसे साधकप्रवर पुष्पदन्त कहते हैं—वेद, सांख्य, योग, पाशुपत और वैष्णवमत प्रभृति भिन्न-भिन्न भावोंमें तुम्हारी ही व्याख्या करते हैं। मनुष्य अपनी-अपनी रुचिके अनुसार कोई सरल, कोई वक्र, नानाविध मार्गोंका अवलम्बन कर एकमात्र तुम्हें ही लक्ष्य करके चलते हैं। जिस प्रकार नाना नदियोंका पथ विभिन्न होते हुए भी अन्तमें सब एक ही समुद्रमें आकर गिरती हैं, उसी प्रकार जिस-किसी मार्गमें होकर कोई जाय, अन्तमें सब कोई भगवान्के चरणतलमें ही जा पहुँचेंगे।

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

इसीलिये शास्त्र जीवको उपदेश देते हैं—

यो ब्रह्मा स हरिः प्रोक्तो यो हरिः स महेश्वरः।
या काली सैव कृष्णः स्याद् यः कृष्णः सैव कालिका॥
देवदेवीं समुद्दिश्य न कुर्यादन्तरं क्वचित्।
तत्तद्भेदो न मन्तव्यः शिवशक्तिमयं जगत्॥

अर्थात् जो ब्रह्मा हैं वही हरि हैं, जो हरि हैं वही महेश्वर हैं। जो काली हैं वही कृष्ण हैं, जो कृष्ण हैं, वही काली हैं। देव-देवीको लक्ष्य करके कभी मनमें भेदभाव उत्पन्न होने देना उचित नहीं है। देवताके चाहे जितने नाम और रूप हों, सभी एक हैं। यह जगत् शिवशक्तिमय ही है।

श्रीमद्भागवतके चतुर्थ स्कन्धमें भी कहा गया है कि—

त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति॥

'तीन भावों (शिव, शक्ति, विष्णु)-में किसी भावको जो पृथक् नहीं समझते, वही उसका सर्व-भूतात्माके रूपमें दर्शन कर सकते हैं और वही शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।'

इस प्रकार यद्यपि पञ्चदेवता उस एक ही भगवान्के विभिन्न स्फुरणमात्र हैं, तथापि मनुष्य अपने मनमाने तौरपर उपास्य देवताका ग्रहण नहीं कर सकता, करनेसे ठीक नहीं होता। शास्त्रविधिके अनुसार ही सब कार्य होने आवश्यक हैं। सद्गुरु ही जीवकी प्रकृतिका विचार कर उसके उपास्य देवताका निर्देश कर सकते हैं। भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी जिस प्रकार भिन्न-भिन्न रसमें आसक्ति होती है, उसी प्रकार जीवकी भी प्राक्तन कर्म और स्वभावके वश भिन्न-भिन्न देवतामें आसक्ति होती है तथा अपने-अपने स्वभावके अनुसार ही किसी जीवकी पुरुष देवताके प्रति, किसीकी स्त्री देवताके प्रति एवं उन देवताओंके विविध वर्णोंके प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इन सब बातोंका कुछ भी विचार न करके देवताका नामजप और रूपध्यान करनेसे साधक शुभ फलको प्राप्त नहीं कर सकता। तन्त्रशास्त्रमें इस विषयके बहुत-से विचार और सिद्धान्तोंका वर्णन है।

तन्त्रके मतसे देवीकी उपासना ही एकमात्र शक्ति-उपासना नहीं है। गाणपत्य, सौर, वैष्णव, शैव और शाक्त सभी शक्तिके उपासक हैं। पुरुष निर्गुण है, निर्गुणकी उपासना नहीं होती। उपास्य देवता पुरुष होनेपर भी वास्तवमें वहाँ भी उसकी शक्तिकी ही उपासना होती है। शक्ति ही हमारे ज्ञानका विषय होती है; शक्तिमान् या पुरुष ज्ञानातीत सत्तामात्र है, वह किसी समय किसीके बोध (ज्ञान)-का विषय नहीं होता।

वेद और तन्त्रमें ब्रह्मको सच्चिदानन्द कहा गया है। इसमें सदंश ही पुरुषभाव या निर्गुणभाव है तथा चित् और आनन्दांश ही गुणयुक्त भाव अर्थात् प्रकृति है—इस प्रकृतिके द्वारा ही पुरुषका परिचय मिलता है।

सांख्यदर्शन पुरुष और प्रकृतिका ही विचार करता है। यहाँ सांख्यदर्शनोक्त कुछ विचारोंका उल्लेख किया जाता है, जिससे तन्त्रोक्त प्रकृति-पुरुषरहस्यके समझनेमें कुछ सुविधा होगी।

सांख्यके मतसे दुःखके अत्यन्त विनाशको ही मुक्ति कहते हैं। सुखदुःखादि बुद्ध्यादिके स्वभाव हैं। स्वभाव किसी प्रकार नष्ट नहीं हो सकता। अतः बुद्धिके अतिरिक्त किसी सत्ताको स्वीकार न करनेसे दुःखादिसे

मुक्तिलाभ करना असम्भव है। इसीलिये बुद्धिके अतिरिक्त सुखदुःखादिरहित एक अतिरिक्त वस्तु या आत्माको स्वीकार करना पड़ता है। यह आत्मा ही सुखदुःखादि-रहित निर्गुण पुरुष है। बुद्ध्यादिके सुखदुःखादि धर्म पुरुषमें आरोपित होते हैं। इस आरोपित सुखदुःखादि धर्मके अपगत होनेपर ही मुक्तिलाभ होता है। बुद्ध्यादि अचेतन पदार्थ हैं, चेतनके सान्निध्यसे इनकी प्रवृत्ति देखनेमें आती है। यह चेतन अधिष्ठाता ही पुरुष है। बुद्ध्यादि समस्त जड पदार्थ भोग्य पदार्थ हैं, परन्तु भोक्ताके बिना भोग्य सिद्ध नहीं होता। भोग्य पदार्थमात्रका अनुभव होता है और जो अनुभव करता है या भोग करता है वही पुरुष है।

सांख्यकारिकामें पुरुषके सम्बन्धमें कहा गया है—

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्त्तृभावश्च॥

त्रिगुणादिके विपर्यास अर्थात् विपरीत धर्म हैं—अत्रिगुणत्व, विवेकित्व, अविषयत्व, असाधारणत्व, चेतनत्व और अप्रसवधर्मित्व। पुरुष चेतन और अविषय है, इसलिये वह साक्षी और द्रष्टा हो सकता है। अचेतन द्रष्टा नहीं हो सकता। चेतन ही द्रष्टा होता है। जिसके उद्देश्यसे जिसको प्रकृति शब्दादि विषयोंका दर्शन कराती है, वह पुरुष ही साक्षी है। अचेतन विषयके लिये विषयका प्रदर्शन नहीं किया जा सकता, अतः पुरुष विषयके अतिरिक्त साक्षीस्वरूप है। पुरुषमें गुणत्रयके अभाववश ही सुखदुःखादि नहीं रहते, एवं सुखदुःखादि पुरुषमें नहीं होनेसे ही उसे कैवल्यलाभ होता है। यह कैवल्य पुरुषके लिये प्रयत्नसाध्य नहीं है, बल्कि स्वभावसिद्ध है। पुरुष त्रैगुण्यरहित होनेके कारण ही मध्यस्थ अर्थात् अपक्षपाती है। उसे सुखमें तृप्ति नहीं होती और दुःखमें द्वेष नहीं होता, वह विवेकी है अर्थात् मिलित होकर कार्य नहीं करता; वह अप्रसवधर्मी है, अतः कर्त्ता नहीं है।

उपर्युक्त युक्तिद्वारा चेतन कर्त्ता नहीं है, यह सिद्ध हुआ। अतएव चैतन्यरहित 'महत्' प्रभृति पुरुषके सान्निध्यसे चेतनके समान होते हैं तथा विकाररहित उदासीन पुरुष 'महत्'—बुद्ध्यादिके कर्तृत्वमें कर्त्ताके सदृश होता है। कारिकामें लिखा है—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः॥

इसी प्रकार प्रकृति और पुरुषके संयोगद्वारा चराचर विश्व उत्पन्न हुआ है। गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥

हे भरतर्षभ! जो कुछ स्थावर-जङ्गम सत्त्व उत्पन्न होते हैं, वह सब क्षेत्रक्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न होते हैं यह जान।

सांख्यके मतसे चेतन निर्विकार कूटस्थ पुरुष कोई कार्य नहीं कर सकता। बुद्धि यद्यपि क्रियाशक्तिविशिष्ट है तथापि जड है। जड कर्त्ता नहीं हो सकता। दोनों मिलित होनेपर ही कार्यक्षम होते हैं। प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं; तथा इनका संयोग अनादि होनेके कारण ही यह जगल्लीला अनादिकालसे चली आती है।

पुरुषके बिना प्रकृतिका परिणाम बुद्ध्यादिका ज्ञान नहीं होता और प्रकृतिके बिना पुरुषकी मुक्ति नहीं होती—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।

प्रकृतिके साथ संयुक्त होकर पुरुष बद्ध होता है। बद्धावस्थामें विविध सन्तापोंसे क्लिष्ट होकर वह मुक्तिका उपाय खोजता है। परन्तु पुरुषके इस दुःख ग्रहण करनेका हेतु क्या है? इसका उत्तर 'पुरुषका अज्ञान' नहीं कहा जा सकता। यह संयोग अनादि बतलाया जाता है, तो क्या पुरुष अनादिकालसे अज्ञानमें है? विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि इस संयोगके होते हुए भी पुरुष विकारी नहीं है।

प्रधान अर्थात् प्रकृतिके कार्यको जब पुरुष देखता है तभी भोक्तृभोग्यसम्बन्ध होता है। अतएव प्रकृति जब भोग्या होती है तभी उसे भोक्ता पुरुषकी अपेक्षा होती है। और जब प्रकृति अनादि है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

—तब अनादिभोग्या प्रकृतिके भोक्ताका भी अनादि होना अनिवार्य है। दोनोंके संयोगका यही कारण है। इसके बाद यह प्रश्न आता है कि जब पुरुषप्रकृतिका भोक्ताभोग्य सम्बन्ध अनादि है तब उसकी दूसरे प्रकारकी प्रवृत्ति अर्थात् मुक्तिकी इच्छा कैसे होती है?

जो हो, इस प्रकार प्रकृतिके साथ सम्बन्धयुक्त होकर पुरुषको प्रकृति सुख नहीं मिलता, प्रकृतिके धर्म दुःखत्रयको अपना मानकर उसके द्वारा पुरुष अपनेको

अत्यन्त निपीडित समझता है। तब उससे मुक्तिलाभ करनेकी उसे इच्छा होती है, परन्तु यह मुक्ति मिले किस उपायसे? सांख्यशास्त्र कहता है कि बुद्धि (प्रकृतिका कार्यरूप बुद्धि) और पुरुषके भेदका साक्षात्कार होनेसे ही मुक्ति होती है। यही ज्ञान है। सांख्यके मतसे दु:खनिवृत्तिका एकमात्र उपाय ज्ञान ही है—

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।

(सां० का०)

व्यक्त विकृति, अव्यक्त प्रकृति और ज्ञ पुरुष है। शास्त्रमें अन्यान्य उपाय भी बतलाये गये हैं; परन्तु वे सब उपाय पापादि दोषसे दूषित हैं, इनसे विपरीत जो हैं वह पापादि दोषसे दूषित नहीं हैं। प्रकृति-पुरुषके भेदका साक्षात्कार ही वह श्रेष्ठ उपाय है। वह ज्ञान क्या वस्तु है? व्यक्त अर्थात् विकृति, अव्यक्त प्रकृति, और ज्ञ अर्थात् पुरुष—इनका विशेषरूपसे ज्ञान होनेपर ही प्रकृति-पुरुषका विवेकरूप ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

सांख्यके मतसे पुरुषके संयोगद्वारा अचेतन बुद्ध्यादि चेतनके समान हो जाते हैं तथा बुद्ध्यादिके संयोगसे अकर्त्ता पुरुष कर्त्ताके समान हो जाता है। सांख्यके पुरुष-प्रकृति कोई भी पारस्परिक साहाय्यके बिना स्वयं संसारी रचनामें समर्थ नहीं होते। किन्तु इसमें भगवत्-इच्छाका कोई प्रयोजन नहीं होता। परन्तु यह बात तन्त्रमें स्वीकृत नहीं हुई है। इसकी आलोचना आगे की जायगी। यहाँ यह दिखलाना है कि सांख्यका यह अभिमत उपनिषद् और पुराणसम्मत भी नहीं है। प्रकृति और पुरुषको इनमेंसे कोई चरम पदार्थ नहीं मानते। श्वेताश्वतर उपनिषद्में आता है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः।

क्षर प्रधान (प्रकृति) है, अक्षर अमृत (पुरुष) है, जो अद्वितीय देवता क्षर और आत्माका प्रभु है वही ईश्वर वा परमात्मा है। प्रश्नोपनिषद्में है—

तस्मै स होवाच—प्रजाकामो वै प्रजापतिः, स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते रयिञ्च प्राणञ्चेति एतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति।

पिप्पलाद ऋषिने उपर्युक्त प्रश्न करनेवाले कबन्धीसे कहा कि—'प्रजापतिने प्रजाकी कामनासे तपस्या की और तपस्या करके सृष्टिके साधन रयि (अन्न-जीवभोग्य अन्नादि चन्द्रकिरणसे पुष्टिलाभ करते हैं, इसी कारण चन्द्रको भी भोग्य कहा गया है) और प्राण—अर्थात् अग्निरूप भोक्ता, इस मिथुनकी सृष्टि की। यही भोक्ता और भोग्य (सूर्य और चन्द्र) हमारे प्रजागणको अनेक प्रकारसे परिणत करेंगे।'

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च; तस्मान्मूर्तिरेव रयिः। (प्रश्नोपनिषद् १।५)

उनमें आदित्य ही प्राण, भोक्ता, अग्निस्वरूप है, और चन्द्र ही रयि अर्थात् सोम वा अन्नस्वरूप है। अत: यह भोक्ता और अन्न दोनों ही एक प्रजापतिस्वरूप हैं। मिथुन (दोनों ही) एक हैं परन्तु इन दोनोंमें भोक्ता और भोग्यभावके कारण ही भेद होता है। जो मूर्त्त है वह स्थूल है और जो अमूर्त्त है वह सूक्ष्म है। अमूर्त्त पदार्थसे पृथक् जो मूर्त्तरूप है वही रयि है अर्थात् मूर्त्तमात्र ही अमूर्त्तके उपभोग्य हैं।

इन रयि और प्राण अर्थात् चन्द्र और सूर्य, क्षर और अक्षर—दोनोंका मिश्रण ही जगत् है। यह क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष दोनों प्रलयके समय पुरुषोत्तममें लीन हो जाते हैं। पुन: सृष्टिकालमें मातरिश्वा या हिरण्यगर्भ उन्हींकी सहायतासे जीवकी प्राणधारणादि समस्त क्रिया और क्रियाफल सम्पादन करते हैं। यह मातरिश्वा ही सूत्रात्मा वायु है, यही विश्वविधाता या हिरण्यगर्भ है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

क्षर और अक्षर—दो प्रकारके पुरुष लोकमें प्रसिद्ध हैं। उनमें समस्त भूत क्षर पुरुष हैं, और कूटस्थ अक्षर पुरुष। इनके सिवा और भी एक उत्तम पुरुष है, जिसे परमात्मा कहा जाता है। वही ईश्वर है। वह निर्विकार होते हुए भी लोकत्रयमें प्रविष्ट होकर ब्रह्माण्डका परिपालन करता है। गीताके मतसे यह भगवान् पुरुषोत्तम ही चरम तत्त्व हैं। प्रकृति और पुरुष—दोनों इनकी शक्तिमात्र हैं। श्रीमन्मधुसूदन सरस्वती गीताके चौदहवें अध्यायके प्रथम श्लोककी टीकामें कहते हैं कि निरीश्वर सांख्यमतके निवारणके लिये ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगका ईश्वराधीन होना भगवान्ने यहाँ बतलाया है।

तत्र निरीश्वरसांख्यमतनिराकरणेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगस्य ईश्वराधीनत्वं वक्तव्यम्।

श्रीभगवान् गीताके चौदहवें अध्यायमें कहते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

'हे भारत! महद्ब्रह्म (प्रकृति) मेरी योनि अर्थात् परमेश्वरका गर्भाधानस्थान है। उसमें मैं गर्भ अर्थात् जगत्-विस्तारके लिये चिदाभास निक्षेप करता हूँ। इसीसे सर्व भूतोंकी उत्पत्ति होती है। हे कौन्तेय! मनुष्यादि सब योनियोंमें जो स्थावरजङ्गमात्मक मूर्तियाँ उद्भूत होती हैं, उन सबमें महद्ब्रह्म अथवा मातृस्थानीया प्रकृति है और मैं गर्भाधानकर्त्ता पिता हूँ।'

श्रीमद्भागवत (३। २६। १९) में भी लिखा है—

दैवात्क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम्॥

'(हे माता!) जीवके अदृष्टके कारण प्रकृतिके सब गुणोंके क्षुब्ध होनेपर परम पुरुष अपने प्रकाशस्थानरूप प्रकृति—योनिमें अपने वीर्यका आधान करते हैं, तब उस प्रकृतिसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है।'

तन्त्रोक्त प्रकृति

तन्त्रोक्त प्रकृति भी सांख्यकी प्रकृतिकी तरह जड नहीं है, वह पूर्ण चैतन्यमयी है। तन्त्रके मतसे शिव साक्षात् परब्रह्म हैं, वह जाग्रदवस्थाभिमानी, स्वप्नावस्थाभिमानी तथा सुषुप्त्य-वस्थाभिमानी पुरुषविशेष नहीं हैं। वह तुरीय ब्रह्म हैं। शारदातिलक नामक तन्त्रग्रन्थमें लिखा है—

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः॥
सच्चिदानन्दविभवात् सकलात्परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः॥

शिव साक्षात् परम ब्रह्म हैं। उनके दो विभाव हैं—सगुण और निर्गुण। मायोपहित परब्रह्म ही सगुण हैं तथा वह ब्रह्म जब मायासे अनुपहित होते हैं, तब वह निर्गुण हैं। सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्मके मायासे उपहित होनेपर ही उनमें शक्तिका आविर्भाव होता है, उस शक्तिसे नाद या महत्तत्त्व और नादसे विन्दु या अहङ्कारतत्त्व उत्पन्न होता है।

प्रकृति और ब्रह्म भिन्न वस्तु नहीं है, ब्रह्मकी व्यक्तावस्था ही प्रकृति है

तन्त्रकी प्रकृति जड़ नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है। एक ब्रह्मके अतिरिक्त जब दूसरा पदार्थ विद्यमान ही नहीं है तब 'प्रकृति' कोई आगन्तुक शक्ति नहीं है। श्रुति कहती है—**'नेह नानास्ति किञ्चन'**—ब्रह्ममें नानात्व नहीं है। किन्तु **'यो देवो एको बहुधा शक्तियोगात्'** इत्यादि। यह बहुशक्ति कहाँसे आती? वह ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। उसकी अनन्त शक्ति उसमें सर्वदा विद्यमान रहती है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

'जो असत् है वह अनात्मधर्म होनेके कारण सदा ही अविद्यमान है, और जो सत् आत्मा है उसकी अविद्यमानता कभी नहीं होती।' परन्तु ये शक्तियाँ उस प्रकारसे असत् पदार्थ नहीं हैं। श्रुति कहती है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।

'इस ब्रह्मकी बहुतेरी श्रेष्ठ शक्तियाँ हैं, यह बात सुनी जाती है।' वह सारी शक्तियाँ हैं—

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

इसलिये शक्ति उसमें नहीं है, अथवा शक्ति कोई पृथक् वस्तु है, यह बात ठीक नहीं है। उसे हम देख सकें चाहे न देख सकें, परन्तु उसकी अनेक शक्ति और क्रियाओंका निदर्शन हमें सर्वदा प्राप्त होता है। उसीकी शक्तिसे यह अखिल विश्व सदा परिव्याप्त रहता है।

यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा॥

(देवीभागवत)

'जगत्में नित्य या अनित्य जो कोई भी वस्तु जिस किसी स्थानमें है, उनके समुदायमें जो शक्ति है वह तुम्हीं हो, तब फिर तुम्हारा स्तवन करके तुम्हारी महिमाका कैसे वर्णन किया जायगा?

इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानाञ्चाखिलेषु या।
भूतेषु सततं तस्यै व्याप्तिदेव्यै नमो नमः॥
चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

'जो प्राणिमात्रमें क्षित्यादि पञ्चभूत, ज्ञानकर्मात्मिका एकादश इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री सूर्यादि देवताओंकी अधिष्ठात्री है, उस विश्वव्यापिका ब्राह्मी शक्ति-

रूपी देवीको नमस्कार! जो देवी कूटस्थ चैतन्यरूपमें इस सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त होकर अवस्थित है, उसको नमस्कार!'

इस शक्तिको अस्वीकार करके शक्तिमान्‌को स्वीकार करना अथवा शून्यको स्वीकार करना एक ही बात है। जगदादिरूपमें, जीवरूपमें तथा अत्यन्त सूक्ष्मभावमें उसकी शक्तिका प्रकाश तो नित्य विद्यमान है ही— परन्तु समय-समयपर जडातीत नित्या चिन्मयी शक्तिका प्रत्यक्ष प्रकाश होता है, जीव बड़े ही भाग्यसे उस शक्तिका दर्शन कर जीवनको धन्य कर सकता है।

नित्यैव सा जगन्मूर्त्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम॥

'वह देवी नित्या अर्थात् उत्पत्तिनाशरहिता है; यह जगत् ही उसकी मूर्ति है, वही चिन्मयीरूपसे समस्त जगत्‌को व्याप्त किये हुए है। तथापि उसके अनेकों प्रकारके आविर्भावके विषयमें मुझसे सुनो।

भोगवासनाद्वारा चित्तके मलिन होनेके कारण इस स्थूल भूतादिके आड़में दीनजननी जगन्माताकी जो नित्य विद्यमान चिन्मयी सत्ता है, उसे हम देख नहीं पाते। प्रह्लादके समान जो समस्त ऐश्वर्य-मानादिकी उपेक्षा कर अन्य किसी भी पार्थिव आश्रयका अवलम्बन बिना लिये एकमात्र उनकी ओर देखते हुए हृदय विदीर्ण कर रो सकते हैं, प्रह्लादको जैसे उन्होंने स्तम्भ फाड़कर दर्शन दिया था उसी प्रकार दीन आर्त्त भक्तकी वह रक्षा करती है, कभी उपेक्षा नहीं कर सकती। वह कहाँ है, कहाँ नहीं है—यह सारी बातें विवेचनीय नहीं हैं। यदि मर्मभेद करके उसे हम पुकार सकें, यदि शास्त्रादेशसम्मत साधनप्रणालीका अवलम्बन कर अकपटभावसे हम परिश्रम कर सकें तो हमारी माँ, जो सर्वव्यापिनी है, सब जगहसे हमारी चित्तकी आकुलताको आकृष्ट कर इस धरणीकी धूलके प्रत्येक अणुसे अपनेको प्रकाशित कर सकती है। हमारा सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही है कि जो सर्वत्र व्याप्त है उसे न देखकर न मालूम हम कितनी ही अविश्वासकी बातें करते हैं! विद्युत्-विकासके समान उसके अस्तित्वका हम समय-समयपर पता नहीं पाते हैं, ऐसी बात नहीं; परन्तु हमारा चित्त विषयोंसे निवृत्त नहीं हुआ है, इसी कारण वह परिशुद्ध नहीं है। यदि किसी प्रकारसे यह जीवप्रकृति शुद्ध हो जाय तो मेघाडम्बरहीन अनन्त नीलाकाशमें जिस प्रकार चन्द्रमण्डलकी स्निग्ध कौमुदी छिटक पड़ती है, उसी प्रकार हमलोगोंके शुद्ध अचञ्चल चित्तमें जगज्जननीके नित्य चिन्मयी रूपकी प्रतिछबि प्रतिबिम्बित हो सकती है।

वस्तुतः इतना बड़ा मनुष्यजीवन हम किसलिये नष्ट कर रहे हैं? हम एक बार भी तो प्राण भरकर उसे नहीं पुकारते। तुम हमारी सर्वस्व हो, तुम हमारी सर्वश्रेष्ठ निधि हो, ऐसा उसके लिये एक बार भी तो नहीं विचार करते—फिर हमारे नेत्रोंके सामने धूल-ही-धूल न दीखे तो और क्या दीखे? ऐसे नेत्रोंके सामने क्या जगन्माताका चिन्मयी भाव आ सकता है? परन्तु वास्तवमें यह धूल—माटी भी मिट्टी नहीं है, यह हमारी माँ है—

आधारभूता जगतस्त्वमेका
महीस्वरूपेण यतः स्थितासि।

माँ! तुम्हीं तो महीरूपमें विराजमान हो, एकमात्र तुम्हीं तो जगत्‌की आधारभूता हो!

परन्तु शक्तिका इस प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन बड़े भाग्यसे ही जीव कर सकता है। हम जो सम्मोहित होकर शुद्ध चैतन्यको भूल गये हैं, इसीसे शोकार्त्त जीवोंका हाहाकार आज जगत्‌को विदीर्ण कर रहा है। चैतन्यमें लक्ष्य न होनेके कारण ही प्राण स्पन्दित होकर मनको सचञ्चल कर रहे हैं और मनका यह चाञ्चल्यविक्षेप आज समस्त जगत्‌को नृत्यशीला बालिकाके समान बोध होता है। इस चित्स्वरूपमें लक्ष्य रख सकनेसे ही हम स्थिर होकर निविष्ट चित्तसे उस चिन्मयी माताको स्पर्श कर सकेंगे। इसीलिये आज सब काम छोड़कर हमको उसे प्रसन्न करनेके कार्यमें लगना चाहिये। उसके प्रसन्न होकर हमारे ऊपर कृपादृष्टि किये बिना मेरा मोहबन्धन नहीं छूटेगा—'**त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः**' तुम्हारे प्रसन्न होनेपर ही संसारमें मुक्तिपथ दिखलायी देता है।

निर्गुण ब्रह्मके सगुणरूपमें आनेपर ही उसकी कृपा समझमें आती है, उसकी प्रसन्नताका ज्ञान होता है। इसीलिये शास्त्रोंमें गुणमयी ब्रह्ममूर्तिकी उपासनाका आदेश है। यह मूर्ति किसीके द्वारा कल्पित नहीं है—'**साधकानां हितार्थाय**' ब्रह्म स्वयमेव अपनी रूपकल्पना करते हैं। यही अरूपका रूप है, 'रूप' होनेपर भी वह शुद्ध चिन्मात्र हैं। सगुणभावमें शक्ति सुप्रकट रहती है, निर्गुण अवस्थामें ब्रह्मशक्ति ब्रह्ममें तल्लीन रहती है, उसका स्फुरण नहीं होता। बहुतेरे शक्तिकी इस सुप्तावस्था निर्गुणभावको ही अधिक उच्चतर अवस्था बतलाते हैं। यही भाव सर्वोच्च भाव है या नहीं, इस विषयमें हम

कुछ भी नहीं कह सकते। परन्तु इस अवस्थामें जब शक्ति तल्लीन रहती है, तब सृष्ट्यादि कार्य नहीं होते हैं, अतः त्रिगुण या तज्जनित त्रिताप भी वहाँ अविद्यमान रहते हैं। यह अवस्था नित्य त्रितापसन्तप्त व्यक्तिके लिये अत्यन्त लोभनीय होगी, इसमें तो सन्देश ही क्या है? परन्तु उसका प्रत्यक्ष भाव भी कम लोभनीय नहीं है। परमब्रह्म तो अवाङ्मनसगोचर है, परन्तु उसकी चिच्छक्ति भी सर्वदा प्रकाशिता नहीं है। यह शक्ति जब भाग्यवश प्रकाशित होती है, तब जीवजगत् मुग्ध हो जाता है। हाथ जोड़कर, नतमस्तक हो देव-दानव, ऋषि-मुनि उसकी महिमा प्रकट करते हुए दिव्य स्तुतिसे स्तवन करते हैं। भारतवर्षमें इस प्रकारके प्रकाशके दृष्टान्त इस घोर कलिकालमें भी अनेकों स्थलोंपर मिलते हैं। इसकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें नानाविध उपदेश और साधनाएँ वर्णित हैं। वह अप्रकट शक्ति समय-समयपर प्रकटित होती है, इसका उल्लेख शास्त्रोंमें अनेक स्थलोंमें हम देखते हैं। मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत चण्डीमें लिखा है—

देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते॥

वह जब देवताओंकी कार्यसिद्धिके लिये आविर्भूत होती है, तब नित्या होनेपर भी वह जगत्में 'उत्पन्न हुई' कहलाती है। वस्तुतः जब ब्रह्म ही उत्पत्तिविनाशरहित है, तब उसकी स्वकीया शक्तिकी ही नये रूपमें किस प्रकार उत्पत्ति हो सकती है? परन्तु जब वह अव्यक्तरूपा रहती है, तब निराकारा रहती है, और भक्तके भक्तिस्रोतमें प्रदीप्त हो उठनेपर अथवा साधकके साधनफलदातृरूपमें प्रकाशित होनेपर उसका दिव्य रूप देखनेमें आता है।

इस परम तत्त्वके उपदेष्टा भी असाधारण मनस्वी हैं। श्रुति कहती है—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।

विवेकहीन साधारण पुरुष यदि इस परम तत्त्वका उपदेश करे तो उससे यह परमार्थज्ञान परिस्फुट नहीं होता, क्योंकि इसका अनेकों प्रकारसे चिन्तन होता है।

बाह्य युक्तितर्कद्वारा भगवत्-अस्तित्वका निरूपण करने जाना केवल अनर्गल वाग्विलासमात्र है, उससे कुछ निश्चय नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार 'न' कहा जाता है, उसी प्रकार 'हाँ' भी कहा जाता है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।

जो उसे अपना जीवनसर्वस्व समझकर सब छोड़कर एकमात्र उसे ही वरण कर लेता है, वही उसे पाता है। शास्त्र आदेश करते हैं—'**श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैहि।**' श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योगादि अभ्यासोंके द्वारा उसे अवगत करो।

इस श्रद्धा-भक्तिद्वारा ब्रह्मकी शक्ति ही अवगत होती है। ब्रह्म निर्गुण है, उसकी केवल सत्तारूपता ही बोधका विषय है। परन्तु जब वह प्रकृतिको ग्रहण करता है अर्थात् उसके भीतर जो इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति है वह जब किसी इच्छावश नहीं, स्वतः ही स्फुटनोन्मुख होती है तभी मानो ब्रह्म प्रकृतिको ग्रहण करता है। किन्तु वह शक्ति उसके अपने भीतर ही वर्तमान रहती है, कहीं अन्यत्रसे उसे लाना नहीं पड़ता।

प्रकृतिके साथ ब्रह्मका अविनाभाव सम्बन्ध है अर्थात् प्रकृतिके बिना ब्रह्म नहीं रहता तथा ब्रह्मके बिना प्रकृति भी नहीं रह सकती। प्रकृतिका आश्रय ब्रह्म है और ब्रह्मकी अघटनघटनापटीयसी शक्ति ही प्रकृति है। तिलमें तेलकी तरह प्रकृति ब्रह्ममें सदा अनुलिप्त, अभेद्य सम्बन्धमें जड़ित रहती है। यह प्रकृति जब उसमें तल्लीन रहती तब ब्रह्म निर्गुण कहलाता है। तब वह केवल चिन्मात्र, मनबुद्धिसे अतीत, समाधिबोधगम्यमात्र होता है। जब उसमें प्रकृति जाग उठती है तब वह केवल बोधमात्र या शून्यमात्र नहीं रहता, तब वह जडातीत होते हुए भी जडके मध्यमें आकर प्रकाशित होता है। इस प्रकट भावको ही भगवत्कृपा या अनुग्रह कहा जाता है। उस समय मानो चैतन्य और कर्तृत्व दोनों उसमें एक साथ दृष्ट होते हैं। इसीलिये कहीं-कहीं निर्गुण ब्रह्मको (पुरुषको) केवल चैतन्यमात्र कहा गया है और उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वको अस्वीकार किया गया है परन्तु पुरुष प्रकृति-युक्त होनेपर ही सगुण ब्रह्मके नामसे कीर्तित होता है, उस समय उसमें चैतन्य और कर्तृत्व दोनों वर्तमान रहते हैं। किन्तु इस अवस्थाका अभाव होनेपर फिर उसका ईश्वरत्व नहीं रह जाता। ईश्वरत्वके स्थायी भावमें प्रकृतिपुरुषयुक्त भाव ही अनादि हैं, यही तन्त्र स्वीकार करते हैं। इस अवस्थाकी कभी किसी कालमें विच्युति नहीं होती। परन्तु निर्विकल्प समाधिकी अवस्थामें जो भाव रहता है उसे निर्गुण भाव कहनेपर भी उस समय

उसमें ईशित्व नहीं है, ऐसी बात नहीं है, अवश्य ही वह तल्लीनरूपमें रहता है।

तुरीय ब्रह्म ही निर्गुण ब्रह्म है, मूलप्रकृति उसमें स्वतः विद्यमान रहनेपर भी तुरीयावस्थामें प्रकृति उसमें तल्लीन रहती है—कृष्णमें राधा अपने-आपको विलीन कर देती है—उसका तब कोई कार्य नहीं रह जाता। फिर निर्विशेष निर्गुण ब्रह्म जब मायाको अङ्गीकार कर सगुण ब्रह्म या महेश्वर बनता है, तभी उसमें सृष्टिकी इच्छाका उदय होता है। तब—

स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम्।

उसी ईक्षणसे प्रकृतिमें प्राणका स्पन्दन होता है और उस स्पन्दनसे सृष्टिके मूल पञ्चतत्त्व उत्पन्न होते हैं—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।
आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।

(तैत्तिरीय०)

यह प्रकृति ही मानो ब्रह्मका अधिष्ठान है। यह हमारा शरीर जिस प्रकार हमारे आत्माका अधिष्ठान है, इस देहके बिना आत्मा रहता ही नहीं, यह बात नहीं है, परन्तु उस समय उसका प्रकाश नहीं रहता, जिस प्रकार इस प्रकाशका क्षेत्र देह है उसी प्रकार प्रकृति ही ब्रह्मका अधिष्ठान या लीलाभूमि है। तुरीय ब्रह्मके साथ इस मूल प्रकृतिका साक्षात् सम्बन्ध है। वह जिस प्रकार चेतन स्वभाववाला है वैसे ही प्रकृति भी चेतन स्वभाववाली है। यह उससे कोई पृथक् सत्ता नहीं है। यही उसकी—'**मम योनिर्महद्ब्रह्म**'—यही उसकी जीवभूता, प्राणरूपा परमा प्रकृति है, यह उसके साथ नित्ययुक्ता, अच्छेद्यभावसे मिलती है।

प्रकृतिके ब्रह्ममें लीन होनेका अर्थ यह है कि उस समय ब्रह्मकी लीलाशक्ति ब्रह्ममें संकुचित हो जाती है, अर्थात् तब उसकी प्रकाशशक्ति या लीला रह नहीं जाती। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंके द्वारा ही तो विश्वका खेल होता है, गुणत्रयके न रहनेपर फिर विश्वका खेल ही कहाँ होगा? मूलप्रकृति इस गुणत्रयकी जननी अर्थात् गुणत्रयका निद्रास्थान है। गुणक्षोभ होनेपर अर्थात् ब्रह्मकी सृष्टि करनेकी इच्छा होनेपर उसकी प्रकृतिमें चाञ्चल्य समुत्थित होता है, इस चाञ्चल्यसे ही त्रिगुणोंकी उत्पत्ति होती है। तब तामसिक अंशसे महेश्वर और महाकाली, राजसिक अंशसे ब्रह्मा और महासरस्वती, तथा सात्त्विक अंशसे विष्णु और महालक्ष्मी प्रकट होते हैं।

ब्रह्मके साथ इनका पारस्परिक सम्बन्ध है। उपनिषदोंके साथ इनका क्रम मिलाकर देखिये।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥

चक्षु, कर्ण आदि स्थूल इन्द्रियोंसे शब्द, स्पर्श, रूप आदि श्रेष्ठ अर्थात् सूक्ष्म हैं, इन्द्रियविषयसे विषयको ग्रहण करनेवाली शक्ति मन श्रेष्ठ अर्थात् सूक्ष्म है, मनसे निश्चयात्मिका वृत्ति या विचारशक्ति—बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे महान् आत्मा अर्थात् समष्टि जीवात्मा या हिरण्यगर्भ श्रेष्ठ है, हिरण्यगर्भसे अव्यक्त प्रकृति श्रेष्ठ है, प्रकृतिसे परब्रह्म या पुरुष श्रेष्ठ है। उससे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है। वही काष्ठा या अन्तिम सीमा है और वही श्रेष्ठ गति है, क्योंकि वहाँसे फिर पुनरावृत्ति नहीं होती।

इससे समझा जा सकता है कि शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धात्मक सूक्ष्म भूतादि या तन्मात्रा जो जगत्के साक्षात् प्रकाशक हैं, स्थूल जगदादि जाग्रत्भावसे श्रेष्ठ हैं, उनसे सङ्कल्पात्मक मन (सृष्टिकी उन्मुखता या चाञ्चल्य, स्वप्नावस्था या सूक्ष्मशरीर) सूक्ष्म है; पुनः इस अवस्थासे सूक्ष्म सङ्कल्पका कारणभूत बीजरूप कारणशरीर या सुषुप्तावस्था श्रेष्ठ है। उससे भी सूक्ष्म समष्टि जीवात्मा या हिरण्यगर्भ है, एवं हिरण्यगर्भसे सूक्ष्म उसका कारण अव्यक्त प्रकृति श्रेष्ठ है, तथा प्रकृतिसे भी श्रेष्ठ आत्मा है। प्रलयकालमें प्रकृति ब्रह्ममें लीन हो जाती है, परन्तु उससे जीवको मुक्ति नहीं मिल जाती। प्रकृतिके उत्थानके साथ जीवको पुनः जगत्में आना पड़ता है। परन्तु ब्रह्म अन्तिम सीमा या अवधि है, वहाँ जो पहुँच जाता है, उसकी फिर पुनरावृत्ति नहीं होती।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्मके साथ जब प्रकृतिका अविना या नित्य सम्बन्ध है तब प्रकृतिलीन जीवोंकी पुनरावृत्तिका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि जिन जीवोंको ज्ञानोत्पन्न नहीं होता वे प्रलयकालमें अपरा प्रकृतिमें प्रसुप्त हो जाते हैं, वह अपरा प्रकृति परमा प्रकृतिका ही एक अंश है। जिस प्रकार हम गम्भीर निद्राके समय जगत्को भूल जाते हैं, अपनेको भी भूल जाते हैं, परन्तु जाग करके फिर पूर्व-

स्मृतिके अनुसार जगत्‌के कार्य सम्पादन करते हैं। पर जो ब्रह्मलीन हो गये हैं, वे फिर नहीं जगते, इस देहमें पुनः नहीं लौटते। क्योंकि ज्ञानके कारण उनका कर्म नष्ट हो जाता है, और कोई स्मृति नहीं होती, अतएव कर्मचेष्टा भी नहीं होती। इसीलिये उन्हें शरीर ग्रहण करके फिर कर्मक्षेत्रमें विवश होकर लौटना नहीं पड़ता। हम जो प्रतिदिन निद्राके समय सब कुछ भूल जाते हैं, यह अज्ञान-लीन अवस्था है, ज्ञान-लीन नहीं।

प्रकृतिके गुणक्षोभसे जिस प्रकार सत्त्वादि समस्त गुण पृथक्-पृथक् रूपमें भासित हो उठते हैं, उसी प्रकार सर्वप्रथम मूल प्रकृति भी शुद्ध और अशुद्ध भेदसे दो अंशोंमें विभक्त हो जाती है। शुद्ध अंशका नाम परा प्रकृति या विद्या है और अशुद्ध अंशका नाम अपरा प्रकृति या अज्ञान है। मूल प्रकृति ही महामाया या महाविद्या है। इस महामायासे उद्भूत विद्याशक्तियोंको भी महाविद्या कहा जाता है, क्योंकि उस चैतन्योपहित मूला प्रकृतिसे ये महाविद्याएँ अलग नहीं हैं। निर्गुण ब्रह्मके चैतन्यभावद्वारा परा प्रकृतिमें उपहित होनेपर जो शक्ति उत्पन्न होती है वही सर्वशक्तिमान् शिव या सर्वज्ञ ईश्वर हैं। इसी कारण महादेवीको शिवकी शक्ति भी कहा जाता है तथा उसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव-प्रसविनी भी कहते हैं।

यह शिव-शक्ति-सम्मिलित तत्त्व ही हिरण्यगर्भ या ईश्वर है, सांख्यके मतसे प्रकृति और पुरुष यह दोनों मूलतत्त्व हैं। यद्यपि हिरण्यगर्भको सर्वविद् और सर्वकर्ता कहा गया है—'**स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता**'—तथापि वह जन्य ईश्वर है।

किन्तु तन्त्रमें इसे जन्य ईश्वर नहीं कहा गया है। ब्रह्मकी सिसृक्षासे उसमें स्थित शक्ति स्पन्दित होकर उस निर्गुण ब्रह्मके चैतन्यभाव और उसके साथ शक्तिके विकास (जो उसमें विलीन थी) से जो परम ऐश्वर्यमय शक्ति विकसित होती है वह न ब्रह्म ही है, न मूलप्रकृति ही; परन्तु ब्रह्म और प्रकृतिका सम्मिलन होकर (जिस प्रकार माता-पिताके सम्मिलनसे उत्पन्न पुत्र न वह माता है न पिता) जिस एक अद्भुतकर्मा शक्तिका विकास होता है वही इस जगत्-सृष्टिका मूल (Direct cause) है। इसीको उपलक्ष्यकर महानिर्वाणतन्त्रमें कहा गया है—

नमः सर्वस्वरूपिण्यै जगद्धात्र्यै नमो नमः।
आद्यायै कालिकायै ते कर्त्र्यै हर्त्र्यै नमो नमः॥

सृष्टेरादौ त्वमेवासीस्तमोरूपमगोचरम्।
त्वत्तो जातं जगत्सर्वं परब्रह्मसिसृक्षया॥
महत्तत्त्वादिभूतान्तं त्वया सृष्टमिदं जगत्।
निमित्तमात्रं तद्ब्रह्म सर्वकारणकारणम्॥

× × ×

सत्यं ज्ञानमनाद्यन्तं अवाङ्मनसगोचरम्॥
तस्येच्छामात्रमालम्ब्य त्वं महायोगिनी परा।
करोषि पासि हंस्यन्ते जगदेतच्चराचरम्॥
तव रूपं महाकालो जगत्संहारकारकः।
महासंहारसमये कालः सर्वं प्रसिद्ध्यति॥
कलनात्सर्वभूतानां महाकालः प्रकीर्तितः।
महाकालस्य कलनात्त्वमाद्या कालिका परा॥
कालसंग्रसनात्काली सर्वेषामादिरूपिणी।
कालत्वादादिभूतत्वादाद्याकालीति गीयसे॥
पुनः स्वरूपमासाद्य तमोरूपं निराकृतिः।
वाचातीतं मनोऽगम्यं त्वमेकैवावशिष्यसे॥
साकारापि निराकारा मायया बहुरूपिणी।
त्वं सर्वादिरनादिस्त्वं कर्त्री हर्त्री च पालिका॥

सृष्टिके पूर्व एकमात्र तुम ही तमोरूपमें विद्यमान थी, तुम्हारा वह अव्यक्त रूप मन और वाणीकी पहुँचके परे है। पश्चात् परब्रह्मकी (अर्थात् मूल प्रकृतिके साथ तादात्म्यप्राप्त तुरीय ब्रह्मकी) सिसृक्षाके अनुसार तुम्हारे ही (अन्य रूपमें) तमोरूप शक्तिसे निखिल जगत्‌की सृष्टि होती है। महत्तत्त्वसे लेकर पञ्चमहाभूतपर्यन्त यह समस्त जगत् तुम्हींसे सृष्ट होता है। सब कारणोंका कारण वह ब्रह्म तो केवल निमित्तमात्र है। वह ब्रह्म सत्त्वस्वरूप और ज्ञानस्वरूप है, वह अनादि, अनन्त और मन-वाणीके अगोचर है। हे महायोगिनी! तुम उसकी इच्छामात्रका अवलम्बन कर इस चराचर जगत्‌की सृष्टि, पालन और संहार करती हो। जगत्-संहारकारी महाकाल तुम्हारा ही रूपमात्र है। प्रलयकालमें यह महाकाल समस्त जगत्‌को ग्रास करेगा। सब प्राणियोंको कलन अर्थात् ग्रास करनेके कारण वह महाकाल नामसे प्रकीर्तित होता है। तुम उस महाकालका भी कलन अर्थात् ग्रास कर जाती हो, इसीलिये तुम्हारा नाम आद्याकालिका है। कालको ग्रास करनेके कारण तुम्हीं सबकी आदिभूता या कारणरूपा हो, इसीसे तुम्हें सब आद्याकाली कहते हैं। फिर महाप्रलयकालमें वाणी और

मनसे अतीत तमोमय निराकार, अव्यक्तस्वरूप अवलम्बन करके एकमात्र तुम्हीं विद्यमान रहती हो। तुम मायाके द्वारा बहुत रूप ग्रहण करती हो, अत: तुम साकार होते हुए भी निराकारा हो। तुम सबकी आदि हो, परन्तु स्वयं अनादि हो। तुम्हीं सबकी सृष्टि करनेवाली, पालन करनेवाली और संहार करनेवाली हो।

इससे यह समझा जा सकता है कि मूल प्रकृतिसे उपहित ब्रह्म अथवा ब्रह्मके साथ अङ्गाङ्गीभावसे मिलित प्रकृति ही आद्याकाली हैं।

जीवके समष्टि अदृश्यसे उत्पन्न भोगकालके उपस्थित होनेसे ही आद्याशक्ति (प्रकृति) में गुणक्षोभ होता है, उस समय सर्वप्रथम तमोगुणका आविर्भाव होता है। चैतन्ययुक्त शक्ति जब इस तमोगुणमें अनुप्रविष्ट होती है तो उसे महाकाल कहते हैं। प्रलयकाल उपस्थित होनेपर सत्त्वगुण रजोगुणमें और रजोगुण तमोगुणमें लय हो जाता है और तमोगुण प्रकृतिमें लीन हो जाता है। पुन: सृष्टिकालमें आद्याकाली महाकालीको प्रसवकर उसमें अनुप्रविष्ट हो जाती है, यही कालीकी विपरीतरतातुरा मूर्ति है। आद्याशक्ति यदि तमोगुणमें प्रविष्ट न हो तो जगत्की उत्पत्ति ही कैसे हो? स्त्री-पुरुषके सहयोगसे जिस प्रकार जीवोत्पत्ति होती है, महाकाल और आद्याशक्तिके सहयोगसे उसी प्रकार यह जगत् उत्पन्न होता है।

इस आद्याशक्तिको राधाशक्ति भी कहते हैं। ब्रह्मवैवर्त्तपुराणके मतसे गोलोकके रासमण्डलमें राधिकाने एक डिम्ब प्रसव किया था, उस डिम्बसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर उत्पन्न हुए। यह डिम्ब ही महत्तत्त्व है। महत्तत्त्व ही त्रिगुण भेदसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरका रूप धारण करता है। वैष्णवलोग इसी कारण राधाकी इतनी भक्ति, इतना सम्मान करते हैं; वस्तुतः इस राधाके बिना रास-रसलीला होनेका दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। और इसके बिना जगत्-सृष्टिकी भी सम्भावना नहीं है। आद्याशक्तिके अनुप्रविष्ट न होनेसे महाकाल तो तमोभूत जडमात्र है, वह सृष्टिलीलाके लिये कुछ भी नहीं कर सकता। इसीलिये सुरसिक वैष्णव साधक कहते हैं—

राधासङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः।
अन्यथा विश्वमोहोऽपि स्वयं मदनमोहितः॥

यह कृष्णवर्ण तमोगुण ही नवीन-नीरद श्यामसुन्दर हैं, यही महाकाल हैं। गीतामें लिखा है—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।

इस प्रकार तत्त्वकी दृष्टिसे देखनेपर तन्त्रमतानुसार सच्चिदानन्द ब्रह्मयुक्त आद्याशक्तिसे नाद (महत्तत्त्व) की उत्पत्ति होती है, नादसे विन्दु (अहङ्कार-तत्त्व) की उत्पत्ति होती है। अहङ्कार सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे तीन प्रकारका है। इन तीन विन्दुओं (सात्त्विक, राजसिक और तामसिक अहङ्कार) की समष्टिका नाम ही परम विन्दु है। सात्त्विक विन्दुका नाम विन्दु, तामसिक विन्दुका नाम बीज और राजसिक विन्दुका नाम नाद है। इन विन्दु, बीज और नादमें विन्दु शिवस्वरूप या चिन्मय है, बीज शक्तिस्वरूप या प्रकृतिमय है, एवं नाद उभयात्मक या शिवशक्तिमय है।

विन्दुः शिवात्मकस्तत्र बीजं शक्त्यात्मकं स्मृतम्।
तयोर्योगेऽभवन्नादास्तेभ्यो जातास्त्रिशक्तयः॥

विन्दु शिवात्मक है, बीज शक्त्यात्मक है, एवं इन दोनोंके योगमें नाद है, अत: वह शिवशक्त्यात्मक है। इससे त्रिशक्ति अर्थात् ज्ञान, इच्छा और क्रियाशक्ति उत्पन्न होती है। यह ज्ञान, इच्छा और क्रियाशक्ति ही क्रमशः रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु नामसे आख्यात हैं।

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इन तीनोंकी समष्टि ही महत्तत्त्व या परमविन्दु है। यही जगत्की सृष्टि, स्थिति और लयके कर्ता अथवा ईश्वर हैं। यही सांख्योक्त—'**स हि सर्वविद् सर्वकर्ता**' है। वेदमें भी कहा गया है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

हिरण्यगर्भ सबसे पहले उत्पन्न होकर समस्त विश्वको उत्पन्न करते हैं और उसके पति या प्रभु बनते हैं। जबतक यह विश्व रहता है, वह तबतक इसके प्रभु बने रहते हैं। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं सृष्टि, स्थिति और लयके कर्ता हैं। उन्हें कोई-कोई ब्रह्मा भी कहते हैं, परन्तु वस्तुतः वह त्रिशक्तिमय ब्रह्मा, विष्णु, शिवरूप अथवा सगुण ईश्वर हैं। वही योगदर्शनके '**पूर्वेषामपि गुरुः**' हैं। अर्थात् कपिल, नारद, वसिष्ठादि श्रेष्ठतम और प्राचीनतम आचार्योंके भी वह गुरु हैं। इस ईश्वरके प्रणिधानसे निश्चय ही समाधि-सिद्धि या योगकी प्राप्ति होती है। योगदर्शनके भाष्यमें महर्षि व्यास कहते हैं—

प्रणिधानाद्भक्तिविशेषाद् आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिधानमात्रेण—

प्रणिधान अर्थात् भक्तिविशेषसे उसको आत्मसमर्पण करनेपर ईश्वर अभिध्यानके द्वारा उस योगीके ऊपर अनुग्रह करते हैं।

इस उपास्य देवता या परमात्मशक्तिकी सात्त्विकादि गुणभेदसे उपासनाकी भिन्नता तन्त्रमें देखी जाती है। और उसी प्रकार साधक और साधनाकी भी तीन श्रेणियाँ मानी जाती हैं।

अधिकारी-भेदसे यह साधनकी भिन्नता हिन्दुओंकी विशेषता है। अन्यान्य धर्मावलम्बियोंके धर्मसाधनके उपाय और निष्ठाकी बात तत्तद् धर्मशास्त्रोंमें एक ही प्रकारकी बतलायी गयी हैं। सबके लिये एक ही नियम निश्चित किया गया है, परन्तु वस्तुतः हम सबकी मनुष्याकृति होनेपर भी हम सभी मनुष्य नहीं हैं। जिनको यथार्थ सूक्ष्म दृष्टि (Insight) प्राप्त है, वे इस बातको समझ सकते हैं। वर्तमान युगमें हमलोग 'सबका अधिकार समान है' इस प्रकारकी डींग हाँकते हैं, परन्तु वस्तुतः यह ठीक नहीं है। हम देखते हैं कि एक ही श्रेणीके पाँच छात्र एक ही शिक्षकके द्वारा शिक्षित होते हैं, तथापि उनमें बुद्धिका तारतम्य दिखलायी देता है। और उसीके अनुसार परीक्षामें कोई प्रथम होता है, कोई मध्यम, कोई सबसे निम्न रहता है; तथा कोई तो उत्तीर्ण ही नहीं हो पाता। अतः सिर्फ सीनाज़ोरीसे हम इस अधिकारकी भिन्नता अथवा भेदकी उपेक्षा नहीं कर सकते। गिलहरीके बिलमें सियार और बाघ नहीं रह सकते। प्राचीन कालके ऋषि इस बातको समझते थे, इसीलिये उन्होंने साधकोंकी योग्यताके अनुसार साधनाके स्तर और भेदोंको निश्चय किया था। तन्त्रमें लिखा है— जो ज्ञान-वैराग्ययुक्त पुरुष हैं वे ब्रह्मका स्वरूप इस प्रकार देखते हैं—

सत्तामात्रं निर्विशेषं अवाङ्मनसगोचरम्।
समाधियोगैस्तद्वेद्यं सर्वत्र समदृष्टिभिः॥
ततो विश्वं समुद्भूतं येन जातञ्च तिष्ठति।
यस्मिन्सर्वाणि लीयन्ते ज्ञेयं तद्ब्रह्मलक्षणैः॥

जिससे अखिल विश्व उत्पन्न हुआ है, और उत्पन्न होकर जिसमें अवस्थान करता है, फिर प्रलयकालमें जिसमें लयको प्राप्त होता है, वही ब्रह्म है। वह सत्तामात्र, निर्विशेष, वाणी और मनके अगोचर है, समदृष्टिसम्पन्न पुरुषको समाधियोगद्वारा इस ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान होता है।

बहिरन्तर्यथाकाशं सर्वेषामेव वस्तुनाम्।
तथैव भाति सद्रूपो ह्यात्मा साक्षीस्वरूपतः॥

(महानिर्वाण १०। १८। १९)

जिस प्रकार सब वस्तुओंके भीतर और बाहर आकाश रहता है, उसी प्रकार सत्स्वरूप और साक्षीस्वरूप आत्मा स्वरूपतः सर्वत्र ही विद्यमान रहता है।

ज्ञानमात्मैव चिद्रूपो ज्ञेयमात्मैव चिन्मयः।
विज्ञाता स्वयमेवात्मा यो जानाति स आत्मवित्॥

(महानिर्वाणतन्त्र)

चिन्मय आत्मा ही ज्ञान है, चिन्मय ही ज्ञेय है, आत्मा ही स्वयं ज्ञाता है, जो इसे जानते हैं वही आत्मविद् हैं।

ब्रह्मादितृणपर्यन्तं मायया कल्पितं जगत्।
सत्यमेकं परं ब्रह्म विदित्वैवं सुखी भवेत्॥
विहाय नामरूपाणि नित्ये ब्रह्मणि निश्चले।
परिनिश्चिततत्त्वो यः स मुक्तः कर्मबन्धनात्॥

ब्रह्मसे लेकर तृणपर्यन्त समस्त जगत् मायाकल्पित है, एकमात्र परब्रह्म ही सत्य है। यह जानकर मनुष्य सुखी हो जाता है। जो नामरूप परित्यागकर नित्य निश्चल ब्रह्मका याथार्थ्य निर्णय कर सकते हैं वही कर्मबन्धनसे मुक्त होते हैं।

ज्ञानं तत्त्वविचारेण निष्कामेनापि कर्मणा।
जायते क्षीणतमसां विदुषां निर्मलात्मनाम्॥

तत्त्वविचार एवं निष्काम कर्मानुष्ठानद्वारा तमोराशिके क्षय होनेपर तथा हृदयाकाशके निर्मल होनेपर तत्त्वज्ञानका उदय होता है।

परन्तु साधारणतः कलिदूषित चित्तमें इस प्रकारके ज्ञानका उदय हो ही नहीं सकता। अतः कलिदोषदूषित जनोंके लिये तन्त्रमें जो उपाय वर्णित हैं उनकी ही यहाँ आलोचना की जायगी। अब कलिकी अवस्था देखिये—

आयाते पापिनि कलौ सर्वधर्मविलोपिनि।
दुराचारे दुष्प्रपञ्चे दुष्टकर्मप्रवर्त्तके॥
न वेदा प्रभवस्तत्र स्मृतीनां स्मरणं कुतः।
तदा लोको भविष्यन्ति धर्मकर्मबहिर्मुखाः॥
उच्छृङ्खला मदोन्मत्ताः पापकर्मरताः सदा।
कामुका लोलुपाः क्रूरा निष्ठुरा दुर्मुखाः शठाः॥

स्वल्पायुर्मन्दमतयो रोगशोकसमाकुलाः।
निःश्रीका निर्बला नीचा नीचाचारपरायणाः॥
नीचसंसर्गनिरताः परवित्तापहारकाः।
परनिन्दापरद्रोहपरिवादपराः खलाः॥
परस्त्रीहरणे पापशंकाभयविवर्जिताः।
निर्धना मलिना दीना दरिद्राश्चिररोगिणः॥
विप्राः शूद्रसमाचाराः सन्ध्यावन्दनवर्जिताः॥

इत्यादि।

ब्राह्मण्यचिह्नमेतावत् केवलं सूत्रधारणम्।
नैव पानादिनियमो भक्ष्याभक्ष्यविवेचनम्।
धर्मशास्त्रे सदा निन्दा साधुद्रोहो निरन्तरम्॥

इत्यादि।

अतः इस प्रकारके कलियुगमें (१) दिव्यभाव (२) पशुभाव और (३) वीरभावकी साधना असम्भव है। कलिकालमें पशुभाव ही होना कठिन है-'**पशुभाव कलौ नास्ति**', फिर दिव्यभावकी तो बात ही क्या है? दिव्यभावापन्न व्यक्तिको सदा देवताके समान शुद्ध अन्तःकरण, द्वन्द्वसहिष्णु, रागद्वेषवर्जित, क्षमाशील और समदर्शी होना चाहिये। इस कलियुगमें ऐसा होना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि लतासाधन आदिके द्वारा शीघ्र ही कुछ सिद्धि प्राप्त हो सकती है, किन्तु सदा अस्थिर-चित्त, निद्रालस्य और प्रमादग्रस्त कलिदोषदूषित जीवोंके लिये यह सब साधन अत्यन्त ही विघ्नमय हैं। वीर साधनके लिये पञ्चमकाररूपी पाँच तत्त्व अपरिहार्य हैं किन्तु कलिकालके शिश्नोदरपरायण लुब्ध जीव इन पञ्चतत्त्वोंको लेकर साधन तो करेंगे नहीं, उलटे लोभवश इनमें आसक्त होकर ज्ञानशून्य पापाचारपरायण हो जायँगे। पञ्चतत्त्वकी दुहाई देकर दुर्बलचेता, पापिष्ठ मनुष्य अगम्या-गमन करनेमें भी मुँह न मोड़ेंगे। इसी कारण कलियुगमें इस प्रकारके साधनका शिवजीने निषेध किया है। यह सारे साधन तीक्ष्णधार तलवारके साथ खेल करनेके समान हैं। एक बार गिर गये तो फिर कहीं भी खड़े होनेतकको जगह नहीं है। जिनके चित्त कलिदोष-दूषित नहीं हैं, जो अत्यन्त ही संयत और भगवद्भजनशील, सत्यव्रत और सत्यपरायण हैं वे यद्यपि इन सब प्रणालियोंके द्वारा शीघ्र सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं तथापि इस युगके लिये तो इस प्रकारकी साधना विषका काम करेगी। कलियुगमें द्रव्य, मन्त्र और ब्राह्मणशुद्धिके अभावमें श्रौत और स्मार्त कर्मादि भी पूर्वकी भाँति फलप्रद नहीं होते।

निर्वीर्याः श्रौतजातीया विषहीनोरगा इव।

समस्त वैदिक मन्त्र विषयहीन सर्पके समान निर्वीर्य हो गये हैं। कलिकालमें वैदिक आचारोंकी रक्षा करनेमें प्रायः सभी असमर्थ हैं। इसका कारण द्रव्यादि शुद्धिका अभाव है। अतः पद-पदपर सबको आचारभ्रष्ट होना पड़ता है। और आचारभ्रष्ट होनेपर कोई वेदफल प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् मनु कहते हैं—

आचाराद्धि च्युतो विप्रः न वेदफलमश्नुते।

यही क्यों शूद्रराज्यमें बसनेपर ही वैदिक कर्मोंका पालन नहीं हो सकता। मनुभगवान् कहते हैं—

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते।

इन सब विषयोंका विचार करके कलिग्रस्त जीवोंके लिये शिवजी ब्रह्मदीक्षाका उपदेश करते हैं। महानिर्वाण-तन्त्रमें लिखा है—

कलौ पापयुगे घोरे तपोहीनेऽतिदुस्तरे।
निस्तारबीजमेतावत् ब्रह्ममन्त्रस्य साधनम्॥
कलौ नास्त्येव नास्त्येव सत्यं सत्यं मयोच्यते।
ब्रह्मदीक्षां विना देवि कैवल्याय सुखाय च॥

तपस्याविहीन, पापमय, अति दुस्तर इस घोर कलियुगमें ब्रह्ममन्त्रकी साधना ही एकमात्र निस्तारका उपाय है। हे देवि! मैं सत्य-सत्य कहता हूँ कि कलियुगमें सुख और मुक्ति प्रदान करनेवाला साधन ब्रह्मदीक्षाके अतिरिक्त दूसरा नहीं है।

अनेकों साधनाकी बातें तन्त्रमें होते हुए भी कलिके जीवोंके लिये शिव कहते हैं—'**कलौ दुर्बलजीवानां असाध्यानि महेश्वरि!**'—कलिके दुर्बल जीवोंके लिये अन्य समस्त साधन असाध्य हैं।

किसी बाह्य अनुष्ठानके बिना केवल ब्रह्मचिन्तनके अभ्यासके द्वारा ब्रह्मसाधना सिद्ध होती है, केवल सत्यासत्यनिर्णयके चिन्तनद्वारा ही ब्रह्मसाधना अनुकूल होती है, इसी कारण अन्यान्य साधनोंकी अपेक्षा यह सुखसम्पाद्य है।

परन्तु इस ब्रह्मसाधनाकी बात कहकर देवीके प्रश्नानुसार पुनः सदाशिव देवीकी उपासनाकी बात कहते हैं—यही कुलाचारसम्मत साधना है। ब्रह्मसाधनाके पश्चात् पुनः पञ्चतत्त्वोंके द्वारा साधना मुक्तिप्रदानकारिणी है, ऐसा क्यों कहा गया है, यह अवश्य विचारणीय विषय है।

इसमें शिवजीका क्या उद्देश्य है, इसे बिना समझे तन्त्रोक्त साधनाका मर्म नहीं जाना जा सकता।

यह ठीक है कि ब्रह्मसाधना और भगवतीकी साधनामें तत्त्वत: वैसा कोई भेद नहीं है, क्योंकि ब्रह्मसाधनामें जिसकी उपासना होती है, भगवती आद्याशक्तिकी साधनामें भी उसीकी उपासना होती है। क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि निर्गुण ब्रह्मकी साधना होती ही नहीं। होती है मूलप्रकृतिसे उपहित निर्गुण ब्रह्मकी साधना अथवा निर्गुण ब्रह्म उपहित मूलप्रकृतिकी। इसमें प्रथम उपासनाका नाम है ब्रह्मोपासना और दूसरी उपासनाका नाम आद्याशक्ति या भगवतीकी उपासना। इसीलिये वस्तुत: ये दोनों ही उपासना ब्रह्मोपासना हैं। फल भी दोनोंका समान ही है। परन्तु दोनों उपासनाकी प्रणालियोंमें बड़ा भारी भेद है। ब्रह्मोपासना और मूलप्रकृतिकी उपासनाकी फल-साम्यताके विषयमें कुछ कहना नहीं है, क्योंकि सदाशिव कहते हैं—

शृणु देवि महाभागे तवाराधनकारणम्।
तव साधनतो येन ब्रह्मसायुज्यमश्नुते॥
त्वं परा प्रकृतिः साक्षाद् ब्रह्मणः परमात्मनः।
त्वत्तो जातं जगत्सर्वं त्वं जगज्जननी शिवे॥

हे देवि! तुम्हारी आराधना क्यों करनी चाहिये, तथा तुम्हारी आराधनाके द्वारा क्यों ब्रह्मसायुज्य प्राप्त होता है—इसका कारण सुनो। साक्षात् ब्रह्म या परमात्माकी तुम्हीं परा प्रकृति हो, अत: केवल तुम्हारे ही साथ उसका साक्षात् और नित्य सम्बन्ध है। हे देवि! तुमसे ही समस्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है, अतएव तुम्हीं अखिल विश्वकी एकमात्र जननी हो।

यदि दोनोंकी उपासना एक ही है तो विभिन्न प्रणाली क्यों प्रचलित हुई है? जो कुछ स्थूल-सूक्ष्म है सभी तो ब्रह्म और प्रकृतिविशिष्ट है, अतएव सब कुछ ब्रह्म-शरीर है। ब्रह्म नामसे जो पहले निर्गुण निराकार था उसे 'माँ' सम्बोधन करते ही मानो वह इन्द्रियबोधगम्य होने लगा। क्रमश: यह समझमें आने लगा कि जो स्थूल है वही सूक्ष्म है, तथा जो सूक्ष्म है, वही स्थूल है। जो निराकार और इन्द्रियोंके लिये अगम्य था वही साकार होकर इन्द्रियज्ञानका विषय बन गया। जो वाष्पाकार था वह घन होकर जल और अन्तमें तुषाराकार हो गया। परन्तु इस साकार और निराकारमें तत्त्वत: कुछ भी भेद नहीं है। हम सोचते हैं कि वह हमें इन नेत्रोंसे नहीं दीख सकता, परन्तु इस विश्वरूपमें हमें किसकी मूर्ति दीखती है? क्या इस रूपमें कोई दूसरा है? क्या यह वही नहीं है? इस स्थूलरूपमें भी वही है। इसीसे कवि कहता है—

चोखे धूला आर माटी-
प्राण-रसनाय देख रे चेखे रसेर सँगे खाँटी।

जिसे इन नेत्रोंसे धूल-मिट्टी समझकर उपेक्षा करते हो, एक बार प्राणकी जीभसे उसे चखकर तो देखो, तुम्हें इन धूलके कणोंमें उसीका दिव्य रूप सुशोभित दीखेगा। इसीलिये श्रुति कहती है—'**मधुमत्पार्थिवं रजः**'—एक बार मधुका आस्वादन पा लेनेपर फिर समस्त ज्ञानद्वारोंसे केवल मधु ही झरने लगता है, सारी वस्तुएँ मधुमय दीखने लगती हैं। परन्तु हमें दृष्टिदोषका संशोधन करना होगा, इसीका नाम साधना है। हिरण्यकशिपुने इस विश्वमें कहीं भगवान्‌को नहीं पाया, यह ठीक है, परन्तु ब्रह्मदृष्टिसम्पन्न प्रह्लादकी दृष्टिमें तो वह कहीं नहीं छिप सका, उसने सब जगह उसीको देखा। इसी देखनेको दिव्यदृष्टि या साधनदृष्टि कहते हैं। इस प्रकार भगवान् इन्द्रियोंके लिये अगोचर होते हुए भी ज्ञानियोंके ज्ञाननेत्रमें और भक्तोंके शुद्धान्त:करणमें—'**रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम्**'—भगवान्‌की दिव्य कमनीय मनोमुग्धकारी दु:खनाशक मूर्ति प्रकट हो जाती है। यही बात महानिर्वाणतन्त्रमें भगवान् शिवजी कहते हैं—

उपासकानां कार्यार्थं श्रेयसे जगतामपि।
दानवानां विनाशाय धत्से नानाविधास्तनूः॥

उपासकोंकी कार्यसिद्धिके लिये, जगत्‌के मङ्गलके लिये तथा दानवोंके विनाशके लिये तुम समय-समयपर अनेकों प्रकारके शरीर धारण करते हो।

जब भाफ और बरफ एक ही वस्तु है, तब यदि बरफको देखकर ज्ञानकी स्पष्टता बढ़ती है तो फिर बरफ देखनेको नीचा क्यों माना जाय? जड़ जड़ नहीं है, वह भी चेतन है। जडभावापन्न अकवि पुरुष उसे साकार कहें या निराकार बतलावें, उनके चित्तमें कोई भावना नहीं जम सकती। क्योंकि वहाँ उस दिव्यदृष्टिका अभाव है। और जहाँ प्राण है, वास्तविक प्रेम है वहाँ परमात्मा बालिका कन्याका वेश धारणकर पिताके सांसारिक कार्यमें भी सहायता करने आते हैं। यह एक अपूर्व

भावराज्यकी बात है, यह उपेक्षा करनेकी वस्तु नहीं है। रामप्रसादके जीवनमें इसका प्रमाण मिलता है।

देश, काल और अधिकार-भेदसे नाना प्रकारके आचार और भावके भेद दिखलायी देते हैं। इसलिये जो जिस प्रकारकी साधनाका अधिकारी है वह यदि उसी प्रकारके मार्गका अवलम्बन करे तो उससे ठीक फलका भागी होकर संसारसागरसे पार हो सकता है।

कौलाचार

यह घोर कलिकालका समय है ऐसी अवस्थामें जो साधना सुगम है उसीका तन्त्रमें उपदेश दिया गया है। वह कौलाचार कहलाता है और वह ब्रह्मसाधनाके ही समान है। बहुतेरे इसपर सोचने लगेंगे कि तब क्या अन्यान्य साधना कलियुगमें निष्फल है? ऐसी बात नहीं है, यदि यही बात होती तो युगभेदसे होनेवाला साधनभेद भगवान् श्रीमद्-भगवद्गीतामें अवश्य बतलाते। यहाँतक कि, भगवद्गीताके परवर्ती भगवान्के उपदेश उत्तरगीता, देवीगीता तथा ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रमें सर्वत्र ही ज्ञानका उत्कर्ष स्वीकृत किया गया है। एवं ज्ञानप्राप्तिके उपायस्वरूप योगादि यागोंका बारम्बार उल्लेख किया गया है। तन्त्रमें भी इसके विपरीत मार्गका अवलम्बन नहीं किया गया है। तन्त्रमें आध्यात्मिक मार्गके उपायरूपसे चार प्रकारके मार्गोंका उल्लेख किया गया है—

(१) पश्वाचार (२) वीराचार (३) दिव्याचार (४) कौलाचार। इनमें वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचारमें उपदिष्ट आचारका अवलम्बनकर जो साधना की जाती है वही पश्वाचार है। अज्ञानपाशमें बद्ध जीवको पशु कहा गया है। अर्थात् ऐसे साधक अत्यन्त संसारासक्त, सकामी होते हुए भी आस्तिक्यबुद्धिसम्पन्न और आचारनिष्ठ होते हैं। इनकी पूजाका उद्देश्य नित्यक्रियाके अनुकूल परलोकमें स्वर्गफलकी प्राप्ति और इहलोकमें सांसारिक विषयोंमें उन्नतिलाभ करना होता है। इसमें आत्मा या आत्मज्ञानके सम्बन्धमें अथवा भगवान्को निजबोध करनेमें तनिक भी उत्कण्ठा नहीं होती। यह देहाभिमानके पाशसे बद्ध संसारासक्त जीवकी संसारगति प्राप्तिका मार्ग है, अतएव यह बद्धभाव है—अज्ञान—मोहरूपी फाँसीसे बँधा भाव है। यह उत्कृष्ट मार्ग नहीं है, इसे विशेषरूपसे समझानेकी आवश्यकता नहीं। इसमें पञ्चतत्त्वोंके गौणभावसे देवताकी आराधना होती है। पञ्चतत्त्वके मत्स्य, मांस, मुद्रा, मद्य और मैथुन—इन शब्दोंके आध्यात्मिक अर्थ अथवा मुख्यार्थ हैं। तथा इनके गौण अर्थ भी हैं। बहुतेरे यह समझनेमें बड़ी भूल करते हैं कि इन शब्दोंद्वारा जिन बाह्य विषयोंकी भावना होती है, वही इनके मुख्यार्थ हैं। परन्तु यह बात नहीं है, वह तो अपेक्षाकृत गौण है। क्योंकि इन वस्तुओंका सेवन करनेवाला निम्नाधिकारी साधन करनेके लिये बैठे तो अभ्यास न होनेके कारण उचित समयतक बैठकर साधन करनेमें वह समर्थ न होगा। इसी कारण गुरुके सम्मुख गुरुके आदेशके द्वारा इन गौण द्रव्योंका मर्यादित व्यवहार करके साधन करना होता है। इससे वृत्तिका संयम होता है और कुछ-न-कुछ फलकी प्राप्ति भी होती ही है। किन्तु जो लोग इन पदार्थोंको लेकर अपनी जघन्यवृत्तिको चरितार्थ करनेकी इच्छा करेंगे, ऐसे शिष्यको गुरु गुरुचक्रसे दूर कर देंगे। यदि इसीकी मुख्यता स्वीकार की जाय तो महानिर्वाण-तन्त्रगत देवीके मुखारविन्दसे निकले हुए इन व्याकुलता-पूर्ण शब्दोंका क्या अभिप्राय होगा? देवी कहती हैं—

कलिकल्मषयुक्तानां सर्वदाऽस्थिरचेतसाम्।
निद्रालस्यप्रसक्तानां भावशुद्धिः कथं भवेत्॥
वीरसाधनकर्माणि पञ्चतत्त्वोदितानि च।
मद्यं मांसं तथा मत्स्यं मुद्रा मैथुनमेव च।
एतानि पञ्चतत्त्वानि त्वया प्रोक्तानि शङ्कर॥
कलिजा मानवा लुब्धाः शिश्नोदरपरायणाः।
लोभात्तत्र पतिष्यन्ति न करिष्यन्ति साधनम्॥
इन्द्रियाणां सुखार्थाय पीत्वा च बहुलं मधु।
भविष्यन्ति मदोन्मत्ता हिताहितविवर्जिताः॥
परस्त्रीधर्षकाः केचिद् दस्यवो बहवो भुवि।
न करिष्यन्ति ते मर्त्याः पापा योनिविचारणम्॥

पापोंसे कलुषित, सर्वदा अस्थिरचित्त, निद्रालस्यपरायण कलिके जीवोंकी भावशुद्धि कैसे होगी? वीरसाधनके विषयमें आपने पञ्चतत्त्वोंको अपरिहार्य बतलाया है, परन्तु कलिकालके मनुष्य लोभी और शिश्नोदरपरायण होते हैं। वे लोभवश होकर इन पञ्चतत्त्वोंमें पतित और आसक्त हो जायँगे, कुछ भी साधनादि न करेंगे। केवल इन्द्रियसुखके लिये अपरिमित मद्यपान करके मदोन्मत्त हो हिताहितज्ञानसे रहित हो जायँगे। उनमेंसे कोई-कोई मदोन्मत्त होकर परस्त्रीके सतीत्वको नष्ट करेंगे, तथा कोई-कोई दस्युवृत्तिमें प्रवृत्त होंगे। वे पापिष्ठ मत्त होकर

गम्य और अगम्य योनिका विचार न करेंगे।

इससे समझा जा सकता है कि मद्यपान इस साधनाके उद्देश्यका साधक कदापि नहीं हो सकता, तथापि इनमें जो कुछ गौण उद्देश्य था उसे यहाँ व्यक्त किया गया है।

साधनके गौणरूपमें सहायक इन वस्तुओंके ग्रहणकी जो विधि है, उससे यह समझ लेना ठीक न होगा कि तन्त्रमें इन्हीं वस्तुओंको साधनका एकमात्र मुख्य उपाय माना गया है। साधन करना ही साधकका लक्ष्य है, उस साधनामें कुछ सहायता करनेके उद्देश्यसे ही पञ्चतत्त्व गृहीत हुए हैं, परन्तु जिस साधककी साधनामें ये सहायता न करके विघ्न उत्पादन करते हैं, उस साधकके लिये ये सर्वथा अस्पृश्य और उपेक्षणीय हैं।

वीर साधकोंके लिये ये साधनाके अङ्गरूपमें क्यों गृहीत हुए हैं; इसपर तनिक स्थिरभावसे विचार करनेपर इसका उद्देश्य समझमें आ सकता है। वीर साधकका वीरत्व ही यही है कि वह तेजधार तलवार लेकर खेलका कौशल दिखलावे, परन्तु कहीं उससे तनिक भी चोट न खा जाय। तलवारको लेकर खेल करते-करते जिसने अपने सारे शरीरको ही लहू-लुहान कर दिया, फिर वह वीर ही कैसा? उसका तो इन वस्तुओंको लेकर खेल करना मूर्खता ही है। जिसमें सामर्थ्य है, जो वीर है उसीके लिये इस प्रकारका खेल दिखलाना शोभाजनक है। तन्त्रोक्त वीर साधकको भी जब ये पञ्चतत्त्व तनिक भी विचलित नहीं कर सकें तभी समझना चाहिये कि वह वीर है, और इस प्रकारकी साधना उसे कभी पथभ्रष्ट या लक्ष्यभ्रष्ट नहीं कर सकती। जब ये सारी उन्माद पैदा करनेवाली वस्तुएँ भी मनुष्यके चित्तको विक्षिप्त और उन्मत्त नहीं कर सकें तभी समझा जा सकता है कि वह यथार्थ वीर है, तथा उसकी साधनाका उपकरण भी यथार्थ वीरके समान ही होगा।

साधारणतः ये वस्तुएँ मनुष्यको उन्मत्त करती हैं, इसीलिये साधारण मनुष्यके लिये इनका अस्पृश्य होना विचारसंगत है। परन्तु सदा ही यदि ये मनुष्यको आकर्षण करके मोहकूपमें गिराती रहें, तथा सदा ही मनुष्य इनके भयसे यदि अधीर रहे; तो वह कभी भी इन प्रवृत्तियोंसे ऊपर नहीं उठ सकेगा। यदि मनुष्य यथेष्ट साधन-भजन करनेपर भी इन वस्तुओंके देखते ही इनके लिये लोलुप हो उठता है, तो साधनाकी उच्चावस्था प्राप्त करनेकी सम्भावना उसके लिये कैसे हो सकती है? तब तो शिक्षा, दीक्षा, साधना सभी वृथा हो जायगी। अपनेमें जो कच्चापन था, वह तो बना ही रहा, जल लगनेमात्रसे हम गल गये। इस प्रकारसे तो काम नहीं चलेगा। इसीलिये जब साधक पक्के हो जाते हैं, तब ये तत्त्व उनको आकर्षण नहीं कर सकते, वरं इनके द्वारा वे कितने ही सामयिक कार्योंको सिद्ध कर सकते हैं। अतएव जिनका चित्त इन तत्त्वोंके संसर्गमें आकर गल नहीं जाता, उन्हें ही वीर साधक समझना चाहिये। किन्तु केवल मुँहसे वीर कहनेमात्रसे ही काम न चलेगा, परीक्षा देनी पड़ेगी।

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः।

—यदि साधककी चित्तवृत्ति विकारका कारण उपस्थित होनेपर भी विकृत न हो तभी उन्हें धीर कहा जा सकता है।

कापुरुषके समान कोई-कोई कह सकते हैं कि जिस पथमें भय है, उसमें जानेका प्रयोजन ही क्या है? निश्चय ही भयके मार्गमें न जानेसे स्थूल भयके दर्शनसे तो हम वञ्चित रह जाते हैं, परन्तु मनकी भयशून्यतारूप अभयभावको तो प्राप्त नहीं होते; हमारे मनसे भयका संस्कार तो दूर नहीं हो जाता। हम यदि सदा ही माता-पिताकी गोदपर चढ़े रहें तो इसमें आराम अवश्य मिलेगा, पैदल चलनेमें गिरनेका डर है इस भयसे चलनेका अभ्यास न करनेपर गिरनेसे तो हम बचेंगे परन्तु इससे हम सदाके लिये पंगु ही बने रह जायँगे। चलनेलायक कभी नहीं होंगे।

इस पंगुत्वसे, इस विभीषिकासे जीवको अभय करनेके लिये ही तन्त्रकी इस अद्भुत साधनाका आविष्कार हुआ है। तन्त्रके अतिरिक्त अन्यान्य शास्त्र-ग्रन्थोंमें भी वीर साधककी प्रशंसा दिखलायी देती है। शास्त्रान्तरमें लिखा है—

पुङ्खानुपुङ्खविषयानुपसेवमानो
धीरो न मुञ्चति मुकुन्दपदारविन्दम्।
संगीतवाद्यपरिनृत्तवशं गतापि
मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव ॥

धीर व्यक्ति बारम्बार विषयसेवन करते हुए भी मुकुन्द-पदारविन्दसे पृथक् नहीं होते। जिनका मन गोविन्द-चरणारविन्दमें रत हो गया है, उनका मन बाह्य विषयोंके उपभोगकालमें भी भगवान्‌के चरणाम्बुजमें लगा ही रहता है। वह सहस्रों कर्मोंमें लगे रहनेपर भी मुख्य लक्ष्यको कभी नहीं भूलते। जिस प्रकार नटी यद्यपि घड़ा मस्तकपर रखकर अनेकों हाव-भावसे नृत्य करती है तथा उसके संगीतका तान भी अनवरत अटूटभावसे चलता है, तथापि सिरके घड़ेके ऊपर उसका अटल लक्ष्य बना रहता है—वैसा न होनेसे उसका घड़ा सिरसे गिर जाता। इसी प्रकार जो साधक संसारके सब कर्मोंमें लिप्त रहते हुए भी गोविन्दको कभी नहीं भूलते, वे ही यथार्थ धीर हैं और ये ही धीर यथार्थ वीर साधक हैं। ये वीर साधक इस प्रकार मस्तकपर अग्नि लेकर, दोनों हाथोंमें तलवार लेकर जिस प्रकार अपने विविधरूपसे अङ्ग-सञ्चालनके द्वारा खेल दिखलाते हैं, तन्त्रोक्त वीर साधक भी उसी प्रकार विमुग्धकारिणी वस्तु लेकर साधन करते हैं, तथापि वे वस्तुएँ उन्हें कभी लक्ष्यभ्रष्ट नहीं करतीं। समय-समयपर युग-युगमें अनेक वीर साधकोंके चरणस्पर्शसे यह धरणी पवित्र हुई है। विचारपूर्वक देखनेसे मालूम हो जायगा कि हमारे पुराणोंमें वर्णित ध्रुव-प्रह्लाद आदि सभी वीर साधक थे। प्रह्लादके सामने सहस्रों प्रलोभन आये, ध्रुवके सम्मुख कितने भीषण दृश्य आये—तथापि उनको अच्युतचरणसे विच्युत करनेका सामर्थ्य किसीमें न हुआ। यदि वे इन सब भयङ्कर और मोहक द्रव्योंमें परीक्षा देनेका अवसर न पाते, तो क्या उनकी सात्त्विक शक्तिका परिचय जगत्‌को कभी मिलता?

दिव्याचार—जो दिव्य भावके साधक हैं वे इसकी अपेक्षा भी उच्चावस्था-सम्पन्न पुरुष हैं, उनको नीचा दिखला सकनेकी शक्ति किसी सांसारिक वस्तुमें नहीं है। कोई भी प्रलोभन उन्हें मुग्ध या विचलित नहीं कर सकता। दिव्य भावापन्न साधक नरदेव हैं। वे निरन्तर सन्तोषी, द्वन्द्वसहिष्णु, रागद्वेष-विवर्जित, क्षमाशील और समदर्शी होते हैं। गीताके बारहवें अध्यायके उच्चतम भक्तके लक्षणोंके साथ उनके सारे लक्षण मिल जाते हैं। वीर साधकोंके समान उनको अपनी असाधारण शक्ति प्रदर्शन करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। वे अपने शत्रुओंको सहज ही अपने ऐसे सेवक बना लेते हैं, मानो वे उनके घरके सदासे जाने-पहचाने हुए पुराने नौकर ही हों।

बाघको दबाकर उसे पराक्रम प्रकाशित न करने देना, अथवा उसके दोनों पैरोंको पकड़कर चक्रवत् घुमाकर तमाशा दिखलाना असाधारण शक्तिका परिचायक अवश्य है, परन्तु वह व्यक्तिविशेषका वीरत्वमात्र है, उसे देवत्व नहीं कह सकते। जब देवभाव विकसित होता है तब बाह्य बल-विक्रम या योगशक्तिका प्रभाव दिखलानेका प्रयोजन नहीं रह जाता। वह तो सर्वदा उसे दिव्य शक्तिद्वारा विमण्डित कर रखता है, इसीसे उसका हृदय सर्वदा प्रशान्त रहता है, उसमें लेशमात्र भी उद्वेग या आशङ्का नहीं रहती। उसमें एक ऐसा अपनेको भुला देनेवाला भाव रहता है, समस्त विश्वको अपना लेनेका एक ऐसा स्वाभाविक प्रेम उसके अन्तरमें उत्पन्न होता है, जिससे व्याघ्र-सिंह आदि जीव भी उसे देखकर अपने स्वाभाविक हिंस्रभावको भूलकर देवभावमें निमग्न हो जाते हैं। यही समाधिमग्न योगीका परम दिव्य भाव—आत्मसाक्षात्कार ज्ञानीकी अपरोक्षानुभूतिकी चरम सीमा है। इसकी साधना कौलाचारकी मानसपूजामें प्रारम्भ होती है, तथा दिव्य समरसमें निमज्जित हो जाना ही इसका अवसान है। यहाँ उसी दिव्याचारकी प्रारम्भिक मानसपूजाकी विधि शास्त्रानुसार उद्धृत की जाती है।

हृत्पद्ममासनं दद्यात् सहस्रारच्युतामृतैः।
पाद्यं चरणयोर्दद्यान् मनस्त्वर्घ्यं निवेदयेत्॥
तेनामृतेनाचमनीयं स्नानीयं तेन च स्मृतम्।
आकाशतत्त्वं वस्त्रं स्याद् गन्धः स्याद्गन्धतत्त्वकम्॥
चित्तं प्रकल्पयेत्पुष्पं धूपं प्राणान्नियोजयेत्।
तेजस्तत्त्वञ्च दीपार्थं नैवेद्यं स्यात्सुधाम्बुधिः॥
अनाहतध्वनिर्घण्टा वायुतत्त्वञ्च चामरम्।
सहस्रारं भवेच्छत्रं शब्दतत्त्वञ्च गीतकम्॥
नृत्यमिन्द्रियकर्माणि चाञ्चल्यं मनसस्तथा।
सुमेखलां पद्ममालां पुष्पं नानाविधं तथा॥
अमायाद्यैर्भावपुष्पैरर्चयेद्भावगोचरम्।
अमायमनहङ्कारं अरागममदं तथा॥
अमोहकमदम्भञ्चाद्वेषाक्षोभकौ तथा।
अमात्सर्यमलोभञ्च दशपुष्पं विदुर्बुधाः॥
अहिंसा परमं पुष्पं पुष्पमिन्द्रियनिग्रहः।
दया पुष्पं क्षमा पुष्पं ज्ञानपुष्पञ्च पञ्चमम्॥

इति पञ्चदशैर्भावपुष्पैः सम्पूजयेच्छिवम्।
कामक्रोधौ छागवाहौ बलिं दत्त्वा प्रपूजयेत्॥

इस मानसपूजापर विचार करनेसे समझमें आ जा सकता है कि दिव्य भावद्वारा परिपूर्ण पुरुषके लिये मांसाहार करने या मदोन्मत्त होनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है। मुखसे केवल यह कहकर कि 'अपने हृदयपद्मको तुम्हारे आसनरूपमें मैंने दिया' मन्त्र पढ़ देनेसे ही आसन देना नहीं बनता। साधकको अनुभव करना पड़ेगा कि हमारे हृदयासनपर भगवान् बैठे हैं। हृदयमें दूसरी कोई झलक न उठे और न दूसरी कोई आशा ही जागृत हो। जो अपने हृदयके अधीश्वर हैं, भक्त केवल उन्हींको हृदयमें अनुभव करते हैं। इसी अवस्थामें हृदयासन उनके लिये अर्पित होता है। उसी प्रकार सहस्रारच्युत अमृत पाद्यरूपमें देना पड़ता है। किन्तु इसकी केवल मनमें कल्पना कर देनेसे ही काम न चलेगा। जब यथार्थरूपसे साधकके सहस्रारसे सुधा स्रवित होती है, तब उसके द्वारा साधक भगवान्‌के चरण प्रक्षालन करता है। वे चरण भी अद्भुत हैं और उनका प्रक्षालन भी एक अद्भुत रहस्य है। तत्पश्चात् मनको अर्घ्य बनाकर उन्हें समर्पण करना होगा। जो वस्तु दे दी जाती है, वह फिर अपनी नहीं रह जाती—इस मनको अर्घ्यरूपमें निवेदन कर देना होगा, जिससे वह फिर हमारे सङ्कल्पोंका वाहक नहीं रह जायगा। तब मन सदाके लिये विष्णुके परमपदमें अपने-आपको लीन कर देगा। फिर इस पूजाके लिये पुष्प भी कितने सुन्दर हैं! दयापुष्प, क्षमापुष्प, ज्ञानपुष्प, अहिंसा, इन्द्रियनिग्रहरूप परम पुष्प—और भी अनहङ्कार, अनासक्ति, अमद, अदम्भ, अद्वेष, अक्षोभ, अमात्सर्य, अलोभ आदि कितने सुन्दर-सुन्दर पुष्प हैं! इन पुष्पोंका चयन किये बिना इस पूजाका आयोजन ही कैसे होगा? इसीलिये सर्वत्र चरित्रबल, साधनबलकी प्राप्ति होनेपर इस पूजाका पुजारी बना जा सकता है। यही दिव्याचारका मार्ग है।

कौलाचार—यह कौलाचार एक बड़ा ही जटिल विषय है। परन्तु तन्त्रमें इसकी बड़ी प्रशंसा पायी जाती है। इसकी साधना वीराचारके ही समान है। परन्तु इसमें वीरता दिखानेकी अपेक्षा वीर बननेकी साधनाकी ओर ही विशेष लक्ष्य रखा जाता है। वीराचारकी साधनामें पहले ही कुछ वीर होना, कुछ प्रकृत वीरत्वका होना परमावश्यक है, नहीं तो पतन अवश्यम्भावी हो जायगा। कुलाचारकी प्रणालीमें भी पञ्चतत्त्वोंका व्यवहार प्रचलित है अवश्य, परन्तु वह मत्स्य-मांसासक्त व्यक्तिको संयम-पथमें लानेकी एक चेष्टामात्र है। जो साधनहीन पुरुष इन पञ्च मकारोंमें डूबे हुए हैं, उनके उस घोर नशेको उतारनेके लिये, उन्हें और भी उच्चतर श्रेष्ठतर दिव्य मदका मार्ग दिखलानेके लिये जीवोंके प्रति भगवान् सदाशिवकी अद्भुत करुणा इस साधनामें प्रकाशित होती है।

भोगोंके पीछे पागल हुए मनुष्योंको भोगोंसे छुड़ाकर मोक्षसुखका स्वाद चखानेके लिये ही ऐसी व्यवस्था की जाती है।

भोग-वारुणीके साथ मोक्षकी शान्ति सुधा मिला दी जाती है, इसी कारण कौलाचारको भोग-मोक्षपथके नामसे पुकारते हैं। लक्ष्य तो केवल मोक्ष है, और भोग केवल उपलक्ष्यमात्र है; मोक्ष लक्ष्य या उपेय है और भोग उसका उपाय या साधन है। जो बालक ओषधि नहीं खाना चाहता, उसे जिस प्रकार वैद्यराज खाँड या लड्डूका लोभ दिखलाकर ओषधि लेनेके लिये प्रलुब्ध करते हैं—यह भी प्रायः वैसी ही बात है। मोक्षकी इच्छामें भोगके उपकरणद्वारा भोगको संयत करना ही इसका उद्देश्य है। तन्त्रमें कुलाचारके सम्बन्धमें लिखा है—

यत्रास्ति भोगबाहुल्यं तत्र योगस्य का कथा।
योगेऽपि भोगविरतः कौलस्तूभयमश्नुते॥

जहाँ भोगबाहुल्य है, वहाँ फिर योगप्राप्ति सम्भव नहीं है, फिर जहाँ योगानुष्ठान है, वहाँ भोग नहीं रह सकता। परन्तु कुलाचारमें प्रवृत्त होनेपर साधक भोग और योग दोनोंको प्राप्त करते हैं। इसी कारण यह पथ अपेक्षाकृत सहज और इस युगके लिये उपयोगी माना जाता है। इसमें पञ्चतत्त्वोंका स्थूलभावमें ग्रहण करनेपर भी इनके व्यवहारके जो नियम हैं (अर्थात् पञ्चतत्त्व-शोधन करके व्यवहार करनेकी प्रणाली) तथा उसकी शोधनप्रणाली भी इस प्रकार साधनाङ्गके साथ जोड़ दी गयी है कि उसमें भोगका नाममात्र ही रह जाता है—भोगवासना तृप्त करनेका अवसर ही नहीं रह जाता। पहले यह बात कही जा चुकी है कि इन तत्त्वोंके द्वारा जो साधनाका अनुष्ठान है वह भोगार्थ नहीं है, इन प्रवृत्तियोंसे छूट जाना ही इस साधनाका उद्देश्य है। महानिर्वाणतन्त्रमें लिखा है—

कुलाचारगता बुद्धिर्भवेदाशु सुनिर्मला।
तदाद्याचरणाम्भोजे मतिस्तेषां प्रजायते॥

'कुलाचारके अनुवर्ती होनेपर बुद्धि शीघ्र ही निर्मल हो जाती है, तथा बुद्धिकी निर्मलतासे जगज्जननी आद्याके चरण-कमलमें स्थिरबुद्धि अर्थात् दृढ़मति उत्पन्न होती है।'

इससे समझा जा सकता है कि बुद्धिको निर्मला और ब्रह्ममुखी करनेके लिये ही भोगके द्वारा मोक्षका द्वार खोलना इस साधनाका उद्देश्य है। परन्तु इन तत्त्वोंका इच्छानुसार व्यवहार नहीं करना होगा। उपयुक्त गुरुके सम्मुख बैठकर यह अनुष्ठान करने पड़ते हैं। उपयुक्त गुरुके न मिलनेपर साधकको इन वस्तुओंको लेकर खेल नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेपर उससे लाभकी जगह हानि ही होगी। यदि कोई प्रश्न करे कि क्या इन कुपथ्योंके द्वारा कभी भवरोग नष्ट हो सकता है? उत्तर यह है कि हाँ हो सकता है। भगवान्ने इस जगत्की प्रत्येक वस्तुको इस कुशलतासे बनाया है कि उनके व्यवहारका यथार्थ ज्ञान होनेसे उनसे अमृतकी प्राप्ति हो सकती है, और व्यवहारदोषसे उन्हींसे विष भी उत्पन्न हो सकता है।

येनैव विषखण्डेन म्रियन्ते सर्वजन्तवः।
तेनैव विषखण्डेन भिषग् नाशयते रुजम्॥

'जिस विषके खानेसे जीवकी मृत्यु होती है उसी विषके द्वारा वैद्य रोगीका रोग नाश करते हैं।'

इसलिये गुरु ऐसा होना चाहिये जो यथार्थ भव-रोगका वैद्य हो। कुलाचार जीवोंके भवबन्धन नष्ट करनेकी ही चेष्टा करता है। जीवको मद्यपी या लम्पट बनानेके उद्देश्यसे शास्त्रविधिकी रचना नहीं हुई है।

स्त्रीके द्वारा कुलाचारका साधन होता है, परन्तु उस स्त्रीको भोगकी वस्तु नहीं समझना होगा, उसे साक्षात् इष्टदेवीस्वरूपिणी समझे बिना कोई तन्त्रोक्त साधनामें सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। चण्डीमें भी लिखा है—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्
का ते स्तुतिः स्तव्यपरा परोक्तिः॥

'हे देवि! सारी विद्याएँ तुम्हारा अंशमात्र हैं। संसारकी सारी स्त्रियाँ तुम्हारा ही रूप हैं। एकमात्र तुम्हीं मातृरूपमें इस जगत्के बाहर-भीतर व्याप्त हो रही हो।'

अतएव तन्त्र इन तत्त्वोंको साधारण दृष्टिसे नहीं देखता। बुद्धि मलिन होनेके कारण ही हम पवित्रभावसे तन्त्रोंको नहीं देख सकते। महानिर्वाणके सप्तमोल्लासके अन्तमें इसी कारण इसके व्यवहारके सम्बन्धमें सावधान कर दिया गया है—

असंस्कृतञ्च यत्तत्त्वं मोहदं भ्रमकारणम्।
विवादरोगजननं त्याज्यं कौलैः सदा प्रिये॥

ये पञ्चतत्त्व विधिपूर्वक शोधित न होनेपर केवल मोह और भ्रमका कारण बनते हैं, विवाद और रोग भी उत्पन्न करते हैं— अतः कौलोंको असंस्कृत तत्त्वोंका सर्वतोभावेन त्याग करना चाहिये।

तन्त्रोक्त साधनामें बहुत शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। जो सिद्धिलाभके लिये समुत्सुक हैं वे ही तन्त्रोक्त प्रणालीसे साधन करनेमें अग्रसर हो सकते हैं। परन्तु इससे साधनसिद्धि जैसे थोड़े ही दिनोंमें हो जाती है, इसी प्रकार इसमें उसी परिमाणमें साधनाकी उत्कटता भी अत्यन्त अधिक होती है। यह उत्कटभावकी साधना क्यों गृहीत हुई, इसपर विचार नहीं करना है, क्योंकि यह किसी मनुष्यविशेषके चिन्तनका फल नहीं है। यह साधकोंके साधनसे प्राप्त अनुभवके द्वारा आविष्कृत हुआ है—जिस अवस्थामें उन साधकोंको इसका ज्ञान हुआ है, उसको सदाशिवकी उक्तिके सिवा और क्या कहा जा सकता है? तन्त्रोक्त साधनाके स्थान और कालके विषयमें विचार करके देखिये। वह जीवके साधारणभावमें स्थित चित्तके द्वारा हो ही नहीं सकता। पहले सोचिये, साधनाका स्थान ही कैसा भयङ्कर है, वहाँ दिनमें भी जानेमें भय होता है। जहाँ नरकंकाल, नरमुण्ड और विच्छिन्न कंकालराशि इधर-उधर बिखरे पड़े हों, निर्जन, दुर्गन्धिसे परिपूर्ण, सियारोंकी चिल्लाहटसे विभिषिकामय बने हुए श्मशानक्षेत्रमें अमावास्याके घोर अन्धकारमें मृतदेहके वक्षःस्थलपर बैठकर साधन करना होता है! बतलाइये, इसमें साधकके लिये कितने असीम साहसकी आवश्यकता है। इसीके लिये इसीके उपयोगी तत्त्वोंका भी प्रयोजन होता है।

जिनका इस मार्गमें अनुराग नहीं है, जिन्हें इन वस्तुओंसे यथेष्ट घृणा है, जानना चाहिये कि उनके लिये यह मार्ग कदापि नहीं है। क्योंकि शास्त्र जीवोंकी प्रकृतिकी विचित्रताका विचार करके ही नाना प्रकारके

मार्गोंका उल्लेख करते हैं। जीवके रुचिभेदसे भिन्न-भिन्न भावमय उपास्य देवता और उनकी साधनप्रणालीमें भेद होते हुए भी चाहे जिस मार्गका अवलम्बन किया जाय, साधकके लिये लक्ष्यस्थानपर पहुँचनेमें असुविधा नहीं होती, तथा सब साधनाओंके चरम लक्ष्य भगवान् भी पृथक्-पृथक् नहीं हो जाते। अतएव साधनाकी प्रणाली चाहे जो हो भगवत्प्राप्तिके विषयमें कोई वैलक्षण्य नहीं घटता। पद्मपुराणमें लिखा है—

सौराश्च शैवगाणेशाः वैष्णवाः शक्तिपूजकाः।
मामेव ते प्रपद्यन्ते वर्षाम्भः सागरं यथा॥

पुनः यह भी विचार रखना होगा कि समस्त शास्त्र ऋषिप्रणीत हैं। हमारे-जैसे अज्ञ पुरुष शास्त्ररचना नहीं कर सकते, इसलिये साधनके पथ भिन्न हों, विकट हों, वा बीभत्स हों, हम उनकी निन्दा या उपहास नहीं कर सकते। जीव जिस प्रकार त्रिगुणान्वित है उनकी साधनपद्धति भी उसी प्रकार गुणभेदसे विभिन्न प्रकारकी होगी। ऋषिप्रोक्त शास्त्रोंकी यथार्थ महिमा ही यही है कि साधनपथ बाह्य दृष्टिसे चाहे जितना विकट और बीभत्स हो, साधक यदि यथार्थमें भगवान्‌को लक्ष्यकर अकपट भावसे साधनामें अग्रसर होता है, तो अन्तमें साधनाका अन्तिम फल भगवत्प्राप्ति उसे होगी ही। स्थूल दृष्टिसे किसी-किसी तन्त्रोक्त साधनप्रणालीको चाहे हम कितना ही हेय क्यों न समझें, प्रकृत साधकके निकट वह हेय नहीं हो सकती।

यहाँतक तन्त्रोक्त स्थूल अनुष्ठान-पद्धतिकी ही आलोचना की गयी है। अब इसके परम रमणीय आध्यात्मिक साधनके विषयमें कुछ लिखा जाता है।

तन्त्रमें साधकके बाह्य भावका उल्लेख करके उसके अन्तर्भावको जागृत करनेके लिये संकेत किया गया है, इस बातपर तनिक विशेष ध्यान देना होगा।

आद्यतत्त्वं विद्धि तेजो द्वितीयं पवनं प्रिये।
अपस्तृतीयं जानीहि चतुर्थं पृथिवीं शिवे॥
पञ्चमं जगदाधारं वियद्विद्धि वरानने।
इत्थं ज्ञात्वा कुलेशानि कुलं तत्त्वानि पञ्च च।
आचारं कुलधर्मस्य जीवन्मुक्तो भवेन्नरः॥

महादेव पार्वतीसे कहते हैं कि 'हे प्रिये, तेज ही आद्य तत्त्व, पवन द्वितीय तत्त्व, जल तृतीय तत्त्व, पृथिवी चतुर्थ तत्त्व तथा जगदाधार आकाश पञ्चम तत्त्व है। हे कुलेश्वरि! कुलधर्मके आचार तथा पञ्चतत्त्व जिस साधकको इस प्रकार विज्ञात है वह निश्चय ही जीवन्मुक्त है, इसमें सन्देह नहीं।'

इससे समझमें आ सकता है कि ये तत्त्व साधनाकी उन्नतिके साथ-साथ फिर उस प्रकार स्थूलभावमें नहीं लिये जाते। इस अन्तर्लक्ष्यकी ओर गये बिना कोई भी साधक अन्तमें परम उच्चावस्थाको प्राप्त नहीं हो सकता। इसी अन्तर्लक्ष्यकी आलोचना अब की जायगी। तेज नहीं रहनेसे साधनमें उत्साह नहीं रहता, परन्तु जिस साधकको विषय विषवत् बोध होते हैं, परमात्मा स्वादुबोध होते हैं उसको भगवत्पथमें चलनेके लिये किसी बाह्य उत्तेजक पदार्थकी आवश्यकता नहीं होती। प्रियतम आत्मा या भगवान्‌को चाहे जैसे हो प्राप्त करना ही होगा, जिसके मनमें भगवत्प्राप्तिकी ऐसी प्रबल इच्छा है, उसकी प्रबल इच्छा या तेज ही भगवत्प्राप्तिके मार्गमें उसके अन्दर असीम उत्साह उत्पन्न कर देता है। अतएव भगवत्प्राप्तिकी प्रबल इच्छा ही प्रथम तत्त्व है। यही भक्ति है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति॥

जब फलकी इच्छा नहीं होती तथा कोई विघ्न-बाधा जिसे प्रतिरोध नहीं कर सकती उसी साधकका चित्त परमानन्दमें अवस्थान करता है, एवं इसी प्रकारकी भगवद्भक्ति ही जीवका परम धर्म है।

साधनामें यही तेज आवश्यक है, यही प्रथम तत्त्व मद्य है।

द्वितीय तत्त्व पवन, अर्थात् प्राण तत्त्व है। प्राण जबतक चञ्चल रहेगा, तबतक अन्तःकरण शुद्ध नहीं होगा, इसलिये श्वासपर विजय प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। श्वासपर विजय प्राप्त करनेसे उसीके साथ मन भी स्थिर हो जायगा। इस प्रकारके प्रयत्नके फलस्वरूप आत्म-साक्षात्कार-लाभ हो सकता है। अतएव यह द्वितीय प्रयोजनीय वस्तु है। तृतीय तत्त्व है जल या रस। जिन वस्तुओंमें रस प्रतीत होता है, उन्हीं वस्तुओंके लिये मनमें स्वाभाविक आकर्षण होता है। जब प्राणकी स्थिरताके साथ मनकी स्थिरता आ जाती है, तब एक अनिर्वचनीय रस या आनन्दका अनुभव होता है। इस आनन्दके प्राप्त होते ही जीवको विषयोंसे

वैराग्य हो जाता है। चतुर्थ तत्त्व है पृथिवी अर्थात् मूलाधार ग्रन्थि। इस ग्रन्थिको बिना भेद किये जीवकी पार्थिव वस्तु अन्नपानादि, नाना प्रकारके भोग और दृश्य पदार्थके प्रति आसक्ति नहीं जाती। साधनाकी उच्चावस्था प्राप्त होनेपर भी जागतिक आकर्षण नहीं मिटता—इस पृथिवीतत्त्वके जय होनेपर फिर वस्तुओंके स्थूलत्वके प्रति आकर्षण नहीं रह जाता, तब वे स्थूल पदार्थ उसके निकट स्थूल जड पिण्डमय पदार्थ न रहकर मानो सभी चिन्मय हो उठते हैं। इस अवस्थामें साधकको स्थूल वस्तु या बाह्य रूप मुग्ध नहीं कर सकते। तत्पश्चात् पञ्चम तत्त्व आकाश है—जब साधकका चित्त समाधिमग्न होकर जगत्को भूल जाता है तब साधकका मन और उसके साथ ही जितनी ज्ञेय वस्तु हैं सब आकाश हो जाती हैं। तब साधक बाह्य आकर्षण या मोहकी सीमासे बाहर आ जाता है। मन महाशून्यमें या परम व्योममें मिल जाता है। तब चैतन्यप्राप्त साधक ब्रह्मानन्दमें विभोर हो उठता है।

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्॥

तब फिर उसके ज्ञाननेत्रोंके सामने—'**नेह नानास्ति किञ्चन**' रह जाता है। तन्त्रके मतसे यही शिवशक्तिके सहयोगमें समरस बोध है।

पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु
इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः।

आत्माको जानकर जिनकी कामनाएँ निवृत्त हो गयी हैं, तथा अविद्याको अतिक्रमकर जो कृतात्मा अर्थात् शुद्धात्मा हो गये हैं, उनकी इसी जन्ममें सारी कामनाएँ अर्थात् कामनाओंके बीज नष्ट हो जाते हैं। इस पञ्चतत्त्वसे ही जगत्—ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति होती है।

ये पञ्चतत्त्व जैसे स्थूल हैं, वैसे ही सूक्ष्म सृष्टिके भी मूल हैं। प्रत्येक जीवमें ये पञ्चतत्त्व विद्यमान हैं। यदि जीव कभी मुक्तिपदपर आरूढ़ होता है तब भी इन पञ्चतत्त्वोंकी सहायतासे ही वह अपनी स्वरूपावस्थाको प्राप्त करता है। ये पञ्चतत्त्व ही स्थूलरूपमें भोगदेह हैं और पञ्चमकारद्वारा ही साधन प्रारम्भ किया जाता है। परन्तु दुःखकी बात है कि हमारी बुद्धि इतनी स्थूल हो गयी है कि पञ्चतत्त्वके यथार्थ तत्त्वको हम नहीं समझ पाते। इन पञ्चतत्त्वोंका सूक्ष्म उपादान जीवके मेरुदण्डके भीतर सुषुम्नाके अन्तर्गत चक्रके मध्यमें प्रसुप्त रहता है। इसी कारण सुषुम्नाका उत्थान हुए बिना जीवको ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति नहीं होती, मुक्ति नहीं मिलती, जीवका बन्धन नहीं छूटता। इसलिये साधक सुषुम्ना-स्थित शक्तिको जाग्रत् करनेकी चेष्टा करते हैं। योगीके योगसाधनका मूल लक्ष्य यही है। तन्त्रोक्त योगी इस मेरुदण्डको ही कुलवृक्ष कहते हैं, तथा उसके मध्यमें स्थित विद्युज्ज्वालाके समान प्रकाशमयी कुलकुण्डलिनीको परमशिवके साथ संयुक्त करना ही तन्त्रोक्त योगरहस्य है। इसीको लतासाधन भी कहते हैं। कुलकुण्डलिनी ही लता है। हमारे यहाँ साँपको लता कहते हैं। कुलकुण्डलिनी भी सर्पाकार है, जान पड़ता है इसी कारण लता नामसे प्रसिद्ध है। इस मूल वृक्षका अवलम्बन करके साधनाभ्यास सुदृढ़ होनेपर—'**तदुपरि जाय लता गोलोक वृन्दावन**' अर्थात् कुलकुण्डलिनी शक्ति मस्तकस्थित सहस्रारमें परम पुरुषके साथ मिल जाती है। यहीं साधनाकी परिसमाप्ति है।

तन्त्र कुलका क्या अर्थ करते हैं, देखिये—

न कुलं कुलमित्याहुः कुलं ब्रह्म सनातनम्।

'वंशपरम्पराको कुल नहीं कहते, सनातन ब्रह्म ही कुल शब्दवाच्य है।' इस ब्रह्मतत्त्वको वस्तुतः जानकर जो पुरुष मोहशून्य या निर्विकार हो सकते हैं वे कुलतत्त्वज्ञ हैं। जो इस साधनाके साधक हैं वे ही कुल-साधक या कौल हैं। इसी कौलकी तन्त्रमें बड़ी प्रशंसा की गयी है।

श्वपचोऽपि कुलज्ञानी ब्राह्मणादतिरिच्यते।

चाण्डाल भी यदि कुलतत्त्वज्ञ हो तो वह ब्राह्मणसे भी श्रेष्ठ है।' अतएव तन्त्रका कुलतत्त्व कोई सहज बात नहीं है तथा कौल बन जाना कोई मामूली बात नहीं है। तन्त्रमें लिखा है—

कुलं कुण्डलिनी शक्तिरकुलं तु महेश्वरः।

'कुण्डलिनी शक्ति ही कुलशब्दवाच्य है तथा महेश्वरको ही अकुल कहा जाता है।' कहनेकी आवश्यकता नहीं कि कुण्डलिनीतत्त्वका ज्ञान होनेपर साधक ब्रह्मज्ञ हो जाता है और यही तन्त्रोक्त साधनाका मर्मस्थान है।

कुण्डलिनी ही जीवतत्त्व या मुख्य प्राण है। यही यथार्थतः 'अध्यात्म या परा प्रकृति' है। जगत्को यही धारण करती है।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

योगीलोग इसीको प्राणशक्ति कहते हैं।

प्राणो हि भगवानीशः प्राणो विष्णुः पितामहः।

प्राणेन धार्यते लोकः सर्वं प्राणमयं जगत्॥

'प्राण ही ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मक है, प्राण ही जगत्का धारण करनेवाला है। समस्त जगत् ही प्राणमय है।' जो महाशक्ति ब्रह्मस्वरूपसे विकसित होकर स्थूलसे स्थूलतर जगदादिरूपमें परिणत होती है, वह विश्वका मूल या आदिशक्ति बीज ही प्राण या कुण्डलिनी है।

राधावक्षःस्थलस्थित पुरुष ही श्रीकृष्ण या पुरुषोत्तम हैं। श्रीकृष्णको जाननेके लिये सबसे पहले राधाको जानना होगा। वैष्णवजन कहते हैं कि श्रीकृष्णको पानेके लिये श्रीराधिकाका अनुगत होकर भजन करना होगा। यह परम सत्य है। योगी और तन्त्रोक्त उपासक भी यही कहते हैं कि कुण्डलिनी ही चैतन्यशक्ति है, उसकी कृपाके बिना कोई शुद्ध चैतन्य या निर्गुण ब्रह्मको नहीं जान सकता।

कुलसाधनाके द्वारा ही यह परम तत्त्व अवगत हो जाता है। यही जीवात्माके साथ परमात्माका संयोग साधन है, श्रीराधाके साथ श्रीकृष्णका मिलन आनन्द है। इसीको रेतस्के साथ रजका मिलन भी कहते हैं। वास्तविक तत्त्वको बिना समझे ही कुछ मूर्खोंने इस साधनाकी आड़ लेकर न मालूम कितनी अद्भुत और घृणित साधनाओंका आविष्कार कर डाला है।

योगी इसे चन्द्र-सूर्यका मिलन वा प्राणापानका गतिरोध या प्राणके साथ मनका मिलन कहते हैं। यही नादब्रह्मके साथ विन्दुका योग है। यथार्थ शक्तिसाधना यही है।

अब योगतत्त्वके साथ पञ्चमकारकी साधनाका उल्लेख कर इस लेखको समाप्त करना है।

पञ्चतत्त्वोंके निगूढ़ तत्त्व आगमसारमें किस प्रकार व्याख्यात हुए हैं, यहाँ वे उद्धृत किये जाते हैं। यथार्थ सत्य क्या है?

सोमधारा क्षरेद् या तु ब्रह्मरन्ध्राद्वरानने।
पीत्वानन्दमयस्तां यः स एव मद्यसाधकः॥

भगवान् महादेवजी श्रीजगदम्बासे कहते हैं कि 'हे वरानने! ब्रह्मरन्ध्रसे क्षरित अमृतधाराका नाम मद्य है, जो साधक उसे पानकर आनन्दित होता है वही मद्यसाधक है।' कैवल्यतन्त्रमें लिखा है—

यदुक्तं परमं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम्।
तस्मिन् प्रमदनं ज्ञानं तन्मद्यं परिकीर्तितम्॥

निर्विकार-निर्गुण परब्रह्ममें जो प्रमदन है वही ज्ञान है—एवं यह ज्ञान जगत्को भुला देता है, इसी कारण इसे मद्य कहते हैं। योगी कहते हैं कि नाभिदेशमें सूर्य हैं तथा तालुमूलमें चन्द्र हैं। सूर्यको योगाभ्यासके बलसे तालुमूलमें आकर्षण कर लानेसे ही चन्द्र-सूर्यका समागम होता है। चन्द्र-सूर्यके इस समागममें साधकको अमृतस्वरूप अनिल या सुधावायुकी अनुभूति होती है। यही मद्यका कार्य करता है। साधक इस अवस्थामें भगवान्के नशेमें चूर हो जाता है, मदोन्मत्तके समान बाह्य ज्ञानशून्य हो जाता है।

मांसके सम्बन्धमें आगमसारमें लिखा है—

मा शब्दाद् रसना ज्ञेया तदंसाद् रसनं प्रिये।
सदा यो भक्षयेद्देवी स एव मांससाधकः॥

'हे प्रिये! मा शब्दसे जिह्वा जानो, और अंस शब्दसे उसके रसन अर्थात् वाक्यको समझो। हे देवि, जो साधक इस मांसका भोजन करते हैं अर्थात् जो वाक्यसंयमी मौनी हैं वही मांससाधक हैं।' जिह्वाको तालुमूलमें प्रवेश करानेसे ही अपने-आप वाक्यसंयम होता है और वाक्यसंयमसे ही इच्छाका नाश होता है।

मत्स्य—

गंगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स एव मत्स्यसाधकः॥

'गंगा और यमुना अर्थात् इडा और पिङ्गलाके मध्यमें श्वास-प्रश्वासरूपी दो मत्स्य विचरण करते हैं, इन दो मत्स्योंको जो भक्षण करते हैं वही मत्स्यसाधक हैं, अर्थात् जो प्राणायामादि अभ्यासद्वारा प्राणवायुका निरोध कर समाधिस्थ हो सकते हैं वही यथार्थ मत्स्यसाधक हैं।'

मुद्रा—

सहस्रारमहापद्मे कर्णिका मुद्रिता च यत्।
आत्मा तत्रैव देवेशि केवलं पारदोपमम्॥
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम्।
अतीव कमनीयञ्च महाकुण्डलिनीयुतम्॥
यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक उच्यते॥

'हे देवेशि! सहस्रार महापद्ममें मुद्रित कर्णिकाके मध्यमें आत्मा पारदके समान अवस्थित रहता है। उसका तेज कोटि सूर्यके समान दीप्तियुक्त है तथा कोटि चन्द्रके समान वह सुशीतल और अत्यन्त रमणीय है। उस महाकुण्डलिनीसे युक्त आत्माको जो अनुभव करते हैं वही मुद्रासाधक हैं।'

स्वशरीरस्थ सहस्रदलकमलके अन्तर्गत कर्णिकाके

मध्य स्थित कूटस्थके अन्दर पारदके समान निर्मल शुभ्रवर्ण महाकुण्डलिनीयुक्त आत्मा रहता है। उसकी प्रभा चन्द्र-सूर्यकी प्रभाकी अपेक्षा भी अधिक दीप्तिशाली और कमनीय है। वह कुण्डलिनी प्राणवायुके रूपमें देहमें रहती है। रुद्रयामलतन्त्रमें लिखा है—

सा देवी वायवी शक्तिः।

'यह वायवी शक्ति या प्राण ही सूत्रात्मा है। उपनिषद्‌में लिखा है—

वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति। तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्त्रंसिषतास्याङ्गानीति। वायुना हि गौतम सूत्रेण सन्दृब्धानि भवन्ति।

'हे गौतम! सूक्ष्म वायु ही वह तुम्हारा (पूछा हुआ) सूत्र है। हे गौतम! वायुके सूत्रद्वारा इहलोक, परलोक तथा समस्त भूतगण ग्रथित रहते हैं। हे गौतम! इसीलिये लोकमें मृत व्यक्तिको देखकर कहा जाता है कि उसके अङ्ग-समूह विस्रंसित (शिथिलभूत) हो गये हैं। क्योंकि वायुरूप सूत्रद्वारा ही तो समस्त अंग विधृत होते हैं।'

यह प्राण ही इन्द्रियरूप तथा इन्द्रियभोग्यवस्तुरूपमें दृष्ट होता है। श्रुतिमें लिखा है—

अयं वै नः श्रेष्ठो यः सञ्चरंश्चासञ्चरंश्च न व्यथते यो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति। एतस्यैव सर्वे रूपमभवंस्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति।

'इन्द्रियोंने उसे जाननेके लिये मनोनिवेश किया, उन्हें ज्ञात हुआ कि वह हमसे श्रेष्ठ है—वह कार्य करते या न करते हुए कभी श्रान्त नहीं होता, विनष्ट नहीं होता। अहो! हम सब उसीका रूप धारण करती हैं। हम सब उसका ही स्वरूप बन गयीं अर्थात् सबने प्राणके रूपको ही आत्मरूपसे ग्रहण कर लिया। इसी कारण इन्द्रियाँ उसीके नामसे अभिहित होती हैं। इन्द्रियोंका व्यापार प्राण-व्यापारके ही अधीन है। इसी कारण प्राण और मनके एक साथ स्पन्दित होनेसे प्राणके संयमसे मनका भी संयम हो जाता है। योगवासिष्ठमें लिखा है—

यः प्राणपवनस्पन्दः चित्तस्पन्दः स एव हि।
प्राणस्पन्दक्षये यत्नः कर्त्तव्यो धीमतोच्चकैः॥

'प्राणवायुके स्पन्दनको ही चित्तके स्पन्दनके नामसे पुकारते हैं।' अतएव धीमान् व्यक्तिको प्राणस्पन्द-निरोधके लिये यत्न करना चाहिये। अमृतनादोपनिषद्‌में लिखा है—

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते दहनान्मलाः।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात्॥

'धातुको दहन करनेसे जैसे उसका मल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियकृत दोष प्राणनिग्रहके द्वारा नष्ट हो जाते हैं।'

बाह्य प्राणस्पन्दन ही जगत्-व्यापारकी मूल अविद्याशक्ति है। प्राणस्पन्दनके रहते चित्त निरुद्ध नहीं होता, और चित्तके निरुद्ध हुए बिना विषयासक्ति दूर नहीं होती, तथा विषयासक्तिके रहते सुख-दुःखातीत ब्रह्मस्वरूपमें कोई प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः।
सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन् महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये॥

'जिस अवस्थामें प्रकृतिप्रवाहके निवृत्त होनेपर पुरुष अखण्ड अव्यवधान (ध्याता और ध्येयके भेदसे रहित) आत्माका दर्शन करता है, तथा चित्तवृत्तिकी चरम निवृत्तिसे सुख-दुःखसे अतीत महिमामें (ब्रह्मस्वरूपमें) प्रतिष्ठित होता है।'

मैथुन—

मैथुनं परमं तत्त्वं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम्।
मैथुनाज्जायते सिद्धिर्ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम्॥
रेफस्तु कुङ्कुमाभासः कुण्डमध्ये व्यवस्थितः।
मकारो बिन्दुरूपश्च महायोनौ स्थितः प्रिये॥
आकारो हंसमारुह्य एकतश्च यदा भवेत्।
तदा जातं महानन्दं ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम्॥
आत्मनि रमते यस्मादात्मा रामस्तदुच्यते।
ब्रह्माण्डं जायते यस्मात्तस्माद्ब्रह्म प्रकीर्तितम्॥
अतएव रामनाम तारकं ब्रह्म निश्चितम्।
मृत्युकाले महेशानि स्मरेद्रामाक्षरद्वयम्॥
सर्वकर्माणि सन्त्यज्य स्वयं ब्रह्ममयो भवेत्।
इदं तु मैथुनं तत्त्वं तव स्नेहात्प्रकाशितम्॥
मैथुनं परमं तत्त्वं तत्त्वज्ञानस्य कारणम्।
सर्वपूजामयं तत्त्वं जपादीनां फलप्रदम्॥
षडङ्गं पूजयेद्देवि सर्वमन्त्रं प्रसीदति।

'मैथुन-तत्त्व परम गुह्य तत्त्व है, यही सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कारण है। इसीके द्वारा सिद्धि और सुदुर्लभ ब्रह्मज्ञान-लाभ हो सकता है। कुण्डके मध्यमें

कुङ्कुमवर्णयुक्त रेफ और बिन्दुरूप मकार महायोनिमें स्थित रहता है। हंसमें आरोहण करके आकार जब एकीभूत हो जाता है तब सुदुर्लभ ब्रह्मज्ञान और परमानन्द उत्पन्न होता है। आत्मामें रमण करनेके कारण ही वह आत्माराम कहलाता है और उसीसे ब्रह्माण्डका उद्भव होनेके कारण वह ब्रह्म कहलाता है। अत: यह रामनाम ही निश्चयपूर्वक तारक ब्रह्म है। हे महेशानि! मृत्युकालमें 'राम' इन दो अक्षरोंका स्मरण करनेसे जीवका कर्मबन्धन छूट जाता है तथा वह स्वयं ब्रह्ममय हो जाता है। यह मैथुन-तत्त्व परम गुह्य और तत्त्वज्ञानका कारणस्वरूप है। सब पूजाका सारतत्त्व और जपादिका समस्त फल इससे प्राप्त होता है। हे देवि! षडङ्गपूजाके अनुष्ठान करनेसे सब मन्त्र प्रसन्न होते हैं।'

संस्कृत-श्लोकोंका उपर्युक्त अर्थ करनेसे ठीक मर्म ध्यानमें नहीं आता। इनका अर्थ भी विशेषभावसे ज्ञातव्य है। कुण्डमध्यमें कुङ्कुमवर्णयुक्त रेफ और बिन्दुरूप मकार महायोनिमें स्थित है—इसका भावार्थ यह है कि शरीरके भीतर नाभिचक्रमें कुङ्कुमकी आभाके समान रक्तवर्ण तेजस्तत्त्व रहता है—यही 'रं' बीज है। उसी तेजस्तत्त्वके साथ महायोनिमें बिन्दुरूप मकार रहता है। अर्थात् ब्रह्मयोनि—कूटस्थज्योतिर्मण्डलके मध्य जो बिन्दु रहता है वही मकार है। यहाँ पूर्वोक्त 'रं' बीज वा तेजस्तत्त्वके साथ एक 'आ' कार संयुक्त करना होगा, तब दोनोंके योगसे 'राम' नाम उत्पन्न होगा और यही रामनाम तारक ब्रह्म है। उसका आकार क्या है? वह हंसपर आरूढ़ है—हंस अर्थात् अजपारूपमें श्वास-प्रश्वास। इसी श्वास-प्रश्वासमें लक्ष्य या मनको लगाकर साधन करनेसे नाभिचक्रस्थित तेजस्तत्त्वरूप 'र'कारके साथ आज्ञाचक्रस्थित बिन्दुरूप 'म'कारका मिलन होता है। इस प्रकार प्राणापानकी गति रुद्ध होनेपर श्वास मस्तकमें स्थिर होता है। इस प्रकारकी स्थितिलाभ होनेपर परमानन्दकी प्राप्ति होती है, जीवका यही तारक मन्त्र है—

नि:श्वासोश्वासरूपेण मन्त्रोऽयं वर्त्तते प्रिये।

'इस नि:श्वास और श्वास वायुकी सहायतासे मन्त्रका मनन नहीं करनेसे वास्तविक मन्त्र चैतन्य नहीं होता।' प्राणायामद्वारा वायवी वा प्राणशक्ति कुण्डलिनी जब सहस्रारमें जाकर सहस्रारस्थित महेश्वरके साथ सम्मिलित होती है, तभी जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती है। यही बात देवीस्तवनमें है—

राज्यं तस्य प्रतिष्ठा च लक्ष्मीस्तस्य सदा स्थिरा।
प्रभुत्वं तस्य सामर्थ्यं यस्य त्वं मस्तकोपरि॥
निर्वाच्यो निर्गुणो वापि सत्त्वेन परिवर्जितः।
परं पौरुषमाप्नोति यावत्त्वं मस्तकोपरि॥

गौतमीय तन्त्रशास्त्रमें लिखा है—

मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता प्रभो।
एतत्किञ्चिन्न सिद्ध्येत्तु यन्त्रमन्त्रार्चनादिकम्॥
जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः।
तदा सप्रसवा यान्ति यन्त्रमन्त्रार्चनादयः॥

'जबतक मूलपद्मविलासिनी कुलकुण्डलिनी शक्ति निद्रिता है तबतक माताका मन्त्र, जप, अर्चनादि कुछ भी किसी रूपमें फलप्रद नहीं होता।' किन्तु भाग्यवश यदि वह जाग्रत् हो जायँ तो यन्त्र, मन्त्र, जप, अर्चनादि सब अनुष्ठान सुन्दर फल प्रदान करते हैं।

वस्तुत: देवीकी शक्तिके बिना स्वतन्त्रभावसे किसीमें कुछ करनेकी शक्ति नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु, शिवसे लेकर जितने देवगण, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, भृङ्ग, लता, तृण आदि जीव हैं, कोई उस निखिल ब्रह्माण्डकी अधीश्वरीकी आज्ञाके बिना स्वाधीनतापूर्वक कुछ भी नहीं कर सकता। माँ! तुम प्रसन्न होकर जब साधकके मस्तकपर प्रतिष्ठित होती हो तब वह क्या नहीं कर सकता? जो अति निन्दित सब सत्त्वोंसे विवर्जित पशुतुल्य जीव है वह भी तुम्हारी कृपासे निर्वाणमुक्ति लाभ कर सकता है। तुम नाना आकारसे, नाना आधारसे जगत्के शुभाशुभ समस्त कर्मोंको निष्पन्न करती हो। हम मूर्ख अज्ञ जीव समझते हैं कि सब कुछ हमीं करते हैं। तुम कालरात्रिरूपमें जगत्के जीवोंको भीत—सन्त्रस्त करके मृत्युरूपसे ग्रास करती हो, फिर जगदाधिष्ठात्री जगद्धात्री-रूपमें जगत्की माँ होकर जगज्जीवका परिपालन करती हो। तुम चामुण्डारूपमें दुष्ट दैत्योंके दर्पको ध्वंस करके उनका रुधिर पान करती हो। फिर भुवनमोहिनी शिवसीमन्तिनी गौरीरूपमें विश्वब्रह्माण्डको विमुग्ध कर रखती हो! तुम कृपा करके जीवकी अशेष दुर्गतिको दूर करके त्रिलोक-पूज्या दुर्गारूपमें जीवोंके शान्तिविधानके लिये उन्हें परम शान्ति-रूपा मुक्ति-ऐश्वर्य प्रदान करती हो। माँ अभये! हम अनेकों शत्रुओंके फेरमें पड़कर दिन-रात उत्पीड़ित हो रहे हैं। एक बार '**मा भैः मा भैः**' रवसे दिङ्मण्डलको कम्पित करती हुई हमें अभय दान करो।

यह माँ भगवती ही समस्त विश्वका प्राण है। जब माँ शक्तिरूपमें जगद्व्यापारमें रत होती हैं तब निर्गुण ब्रह्म अचैतन्यभावसे माँके पैरोंके तले पड़ जाते हैं, तभी ब्रह्माण्डका पुनः-पुनः सृजन, पालन और ध्वंस होता है। पुनः जब उसमें पुरुषभाव जाग्रत् हो उठता है तब प्रकृति पुरुषमें आत्मसमर्पण करती है। यही शिव-शक्ति-सम्मिलन है। यह मिलन ही महासमाधिकी अवस्था है। योगीकी समाधि और ब्रह्माण्डका महाप्रलय एक ही वस्तु है।

सारे ही जगज्जीव पुरुष-प्रकृतिमय हैं। यह दोनों शक्तियाँ मिलकर 'राम' बन जाती हैं। यह रामनाम ही जीवका तारक मन्त्र है। परन्तु हम सभी सहज अवस्थासे च्युत हो गये हैं, इससे हम 'राम-राम' नहीं बोल सकते—'मरा-मरा' बोलते हैं। परन्तु इस 'मरा-मरा' (देहेन्द्रियादि)-के द्वारा ही 'राम' में (आत्मचैतन्यमें) पहुँचना होगा। यही उलटा नाम है—इस उलटे नामकी साधना ही प्रचलित है। श्वासके बहिर्गमनागमनमें जगद्दृष्टि नहीं ठहरती, इसपर ध्यान देनेसे, इस 'मरा-मरा' के जप करते रहनेसे श्वास ऊर्ध्व हो जायगा, इसका बहिर्गमनागमन बन्द होते ही प्राण सुषुम्नामें प्रवाहित होने लगेंगे, तभी जीवनमें परमानन्दकी प्राप्ति होगी।

योगशास्त्रमें लिखा है—

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।
तदा समरसत्वञ्च समाधिरभिधीयते॥

'प्राण क्षीण होकर मनके लय होनेपर जिस समरस-भावका उदय होता है उसीका नाम समाधि है।' वही तारक ब्रह्मनाम है। तन्त्रका यही सारांश है।

विजयिनी शक्ति

(रचयिता—कविसम्राट् श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध')

चतुष्पद

जिसे है मानवताका ज्ञान।
नहीं पशुतासे जिसकी प्रीति।
बिना त्यागे विनयनका पंथ।
लोकनियमन है जिसकी नीति।१।

क्रोध जिसका है शान्तिनिकेत।
लोभ जिसका लालसाविहीन।
मोह जिसका है महिमावान।
काम जिसका अकामनाधीन।२।

न मदमें मादकताका नाम।
न तनमें अतनतापका लेश।
रूप जिसका है लोकललाम।
अवनिरंजन है जिसका वेश।३।

न मस्तकपर कलंकका अंक।
न जिसका लहू भरा है हाथ।
निहरती रहती है सब काल।
लोकलालनता जिसके साथ।४।

जलदसम कर जन-जनको सिक्त।
बरसती रस जिसकी अनुरक्ति।
भरा है जिसमें भवका प्यार।
वही है विश्वविजयिनी शक्ति।५।

कोमलतम शक्ति

चतुष्पद

प्रेमका वह अनुपम उद्यान।
जहाँ थे भावकुसुम कमनीय।
सुरभि थी जिसकी भुवन-विभूति।
मंजुता भव जन अनुभवनीय।१।

हो रहा है वह क्यों छविहीन।
छिना क्यों उसका सरस विकास।
बना क्यों अमनोरंजन हेतु।
विमोहक उसका विविध विलास।२।

रहा जो मानस शुचिताधाम।
रहे बहते जिसमें रससोत।
मिले जिसमें मोती अनमोल।
भर रहे हैं उसमें क्यों पोत।३।

वचन जो करते बहुत विमुग्ध।
सुधारसका था जिसमें वास।
मिल रहा है उसमें क्यों नित्य।
अवाञ्छित असरसता आभास।४।

सरलता मृदुता मंजुल बेलि।
हृदयरंजन था जिसका रंग।
बन रही है किसलिये अकांत।
मंजु मन मधु-ऋतुका तज संग।५।

हो गयी गरलवलित क्यों आज।
सुधासिञ्चित सुन्दर अनुरक्ति।
बनी क्यों कुसुमसमान कठोर।
कुसुम-जैसी कोमलतम शक्ति।६।

दस महाविद्या

(लेखक—पं० श्रीमोतीलालजी शर्मा गौड़, सम्पादक, 'शतपथब्राह्मण')

जिसकी अनुकम्पासे चतुर्मुख ब्रह्मा सृष्टिरचनामें समर्थ होते हैं, विष्णु जिसके कृपा-कटाक्षसे विश्वका पालन करनेमें समर्थ होते हैं, रुद्र जिसके बलसे विश्वसंहार करनेमें समर्थ होते हैं, आज उसी सर्वेश्वरी जगन्माता महामायाके दस स्वरूपोंका संक्षिप्त वैज्ञानिक चरित्र कल्याणेप्सु पाठकोंके समक्ष उपस्थित किया जाता है। शिव 'कल्याण' के अधिष्ठाता हैं। परन्तु कल्याण-मूर्ति शिवका कल्याण शक्ति-सत्तापर निर्भर है। अतएव जहाँ कल्याणको अपने स्वरूप-परिचयके लिये शिवाङ्क निकालना पड़ा, वहीं उसे शिव-स्वरूप-रक्षाके लिये शक्त्युपासनाकी भी आवश्यकता प्रतीत हुई। उसीका फलस्वरूप शक्त्यङ्क आज आपके सामने उपस्थित है, पढ़िये। मनन करिये। शक्ति-सञ्चय कर शिव-तत्त्वको सुरक्षित रखते हुए कल्याणके भागी बनिये।

आजका युग वैज्ञानिक युग है। विगत शताब्दियोंकी तरह आजके इस विज्ञानप्रधान युगमें अन्धविश्वासको स्थान नहीं मिल सकता। 'हमारे महर्षियोंने ऐसा कहा है, इसलिये उसमें जरा भी नच-नुच किये उसे नतमस्तक होकर मान लेनेमें ही हमारा कल्याण है'—सहस्रों रुपये व्यय करके जीवनके सारभागको विश्व-विद्यालयोंके अर्पण करनेवाला, अपने-आपको सत्यशोधक समझनेका गर्व रखनेवाला पाश्चात्त्य शिक्षादीक्षित आजका भारतीय समाज आज हमारी ऐसी बातें सुनना पसन्द नहीं करता। धर्मके नामसे आज उनकी भौंहें तन जाती हैं। 'विज्ञानशून्य भारतीय धर्मने देशका सर्वनाश कर डाला है। भारतकी उन्नतिका बाधक अन्धविश्वासकी भित्तिपर टिका हुआ एकमात्र धर्म ही है। ऐसे धर्मको न माननेमें ही देश एवं जातिका कल्याण है'—ये हैं आजके सुशिक्षित भारतीयोंके भारतीय धर्मके प्रति स्पष्ट उद्गार। क्या सचमुच भारतीय धर्म ऐसा ही है? नहीं? सर्वथा नहीं!! '**नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म,**' '**ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः**' आदि श्रौत-स्मार्त-वचन धर्म-सृष्टिके प्रवर्त्तक मूलभूत ज्ञानमूर्ति ब्रह्म-तत्त्वको जब नित्य विज्ञानमय बतलाते हैं, तो ऐसी अवस्थामें भारतीय धर्मको विज्ञानशून्य बतलाना दुःसाहस है। अनधिकार चेष्टा है। अपराध है। अपराध ही नहीं, अक्षम्य अपराध है। हम उन महानुभावोंको यह बतला देना चाहते हैं कि जिस धर्म-तत्त्वको वे विज्ञानशून्य अतएव अनुपादेय समझते हैं, वह सर्वथा विज्ञानघन होता हुआ सम्पूर्ण विश्वकी प्रतिष्ठा है। वस्तुके वास्तविक स्वरूपको स्व-स्वरूपमें सुरक्षित रखकर जो शक्ति उस वस्तुद्वारा धृत रहती है, वही शक्ति-तत्त्व शास्त्रोंमें 'धर्म' शब्दसे व्यवहृत हुआ है। ताप अग्निका धर्म है। प्रकाश सूर्यका धर्म है। प्रतिष्ठा पृथिवीका धर्म है। जबतक इनमें ताप, प्रकाश, प्रतिष्ठा है तभीतक इनकी स्वरूपसत्ता है। जिस दिन इनके तापादि स्वरूपधर्म उच्छिन्न हो जायँगे उसी दिन इनकी सत्ता उच्छिन्न हो जायगी। वस्तुकी सत्ता तभीतक है जबतक उसकी शक्ति (स्वरूपधर्म) उसमें प्रतिष्ठित है। शक्तिसत्तामें कल्याणभावको प्राप्त होता हुआ पदार्थ शिव है। निदान-सिद्धान्तके अनुसार 'इ' अक्षरसे व्यवहृत शक्तिके बिना वह पदार्थ शव है—मुर्दा है। शक्तिशब्दापरपर्यायक धर्मशब्दकी पूर्वोक्त सूक्ष्म व्याख्यासे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि धर्म ही धर्मीकी प्रतिष्ठा है। जिस दिन धर्म न रहेगा, धर्मी न रहेगा। यही सामान्य व्यवस्था मनुष्यधर्म, वर्ण-धर्म, जाति-धर्म, कुल-धर्म, देश-धर्म आदिके विषयमें समझनी चाहिये। मनुष्य तभीतक मनुष्य है जबतक उसमें मनुष्य-धर्म है। अन्यथा वह पशु है। पूर्वोक्त अवान्तर सारे धर्मोंके समुच्चयका ही नाम 'हिन्दूधर्म' किंवा भारतीय धर्म है। जबतक हिन्दू-धर्म है, तभीतक हिन्दूजाति स्वरूपमें प्रतिष्ठित है। जिस दिन हिन्दूजाति अपने धर्मको छोड़ देगी, विश्वास कीजिये उस दिन वह अपना हिन्दूपना ही खो देगी। ऐसी अवस्थामें जातिरक्षा एवं देशकी सभ्यताकी रक्षाके लिये धर्मको अपनानेकी नितान्त आवश्यकता है। अब प्रश्न बच जाता है केवल ढोंगका। आजके युगके विचारसे सनातनधर्म केवल ब्राह्मणोंकी स्वार्थ-लीला है। इसके उत्तरमें हम अधिक कुछ न कह केवल यही कहना चाहते हैं कि जो महानुभाव भारतीय धर्मको अवैज्ञानिक समझते हैं वे भारतीय धर्मके गंभीरतम मौलिक सिद्धान्तोंसे सर्वथा अपरिचित ही हैं। उन्हें

स्मरण रखना चाहिये कि भारतीय धर्म अपना नाम सनातन-धर्म रखता है। सनातन-शब्दका अर्थ है सदा रहनेवाला। सदा रहनेवाला धर्म केवल प्राकृतिक (प्रकृतिसिद्ध नित्य-धर्म) ही हो सकता है। इस प्रकार सुतरां सनातन-धर्मका वैज्ञानिकत्व अतएव उपादेयत्व सिद्ध हो जाता है। आजके इस छोटे-से निबन्धमें हम सर्वधर्ममूलभूत अतएव महाशक्ति-नामसे प्रसिद्ध महाविद्या नामके शक्तितत्त्वका ही संक्षिप्त वैज्ञानिक स्वरूप पाठकोंकी सेवामें उपस्थित करेंगे और बतलायेंगे कि भारतीयधर्म कितने गहरे विज्ञानसे सम्बन्ध रखता है।

आगम-निगम-रहस्य

विचार-कक्षाके अन्तस्तलपर पहुँचे हुए विदितवेदितव्य महामहिमशाली महामहर्षियोंने सम्पूर्ण शब्दराशिको आगम-निगम-भेदसे दो भागोंमें विभक्त किया है। कारण इसका यही है कि प्रकृतिसिद्ध नित्य-शब्द ब्रह्म इन्हीं दो भागोंमें विभक्त है। यद्यपि '**अथो वागेवेदं सर्वम्**' (ऐ० आ० ३। १। ६) '**वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता**' (तै० ब्रा० २। ८। ८। ४। ५) इत्यादि श्रौत-सिद्धान्तोंके अनुसार वाक्-तत्त्वसे प्रादुर्भूत होनेवाले शब्द-प्रपञ्चसे कोई भी स्थान खाली नहीं है, तथापि स्तम्बरूप तमोविशालसर्ग; कृमि, कीट, पक्षी, पशु, मनुष्य-भेदभिन्न पञ्चविध रजोविशालसर्ग; यक्ष, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, पित्र्य, ऐन्द्र, प्राजापत्य, ब्राह्म-भेदभिन्न अष्टविध सत्त्वविशालसर्ग नामसे प्रसिद्ध १४ प्रकारके भूतसर्गके साथ प्रधानरूपसे अग्निवाक् और इन्द्रवाक्का ही सम्बन्ध है। '**यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी**' (शत० १४। ९। ७। २०) के अनुसार पृथिवी अग्निमयी है। द्युलोकोपलक्षित सूर्य इन्द्रमय है। यद्यपि इन दोनों लोकोंसे अतिरिक्त तीसरा अन्तरिक्ष (भुव:) लोक और है। भू: (पृथिवी), भुव: (अन्तरिक्ष), स्व: (द्यौ:-सूर्य) इन तीनों लोकोंसे प्रजा-निर्माण होता है। पृथिवीमें अग्निकी सत्ता है। इससे मनुष्य-प्रजाका सम्बन्ध है। अतएव पृथिवीको मनुष्यलोक कहा जाता है। अन्तरिक्षमें चन्द्रमाकी सत्ता है। इससे पितर*-प्रजाका सम्बन्ध है। इसी आधारपर '**विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति**' (सिद्धान्त-शिरोमणि) यह कहा जाता है। यही दूसरा पितृलोक है। द्युलोकमें सूर्यकी सत्ता है। इससे देव-प्रजाका सम्बन्ध है। इसी आधारपर '**चित्रं देवानामुदगात्**' यह कहा जाता है। यही तीसरा देवलोक है। तीनों ही '**वागिति पृथिवी**' (जै० उ० ४। २२। ११) '**वाग्घ चन्द्रमा भूत्वोपरिष्टात्तस्थौ**' (शत० ८। १। २। ७) '**सा या सा वाक्—असौ स आदित्य:**' (शत० १०। ५। १। ४) के अनुसार वाङ्मय है। तथापि प्रधानता पृथिवी और सूर्य-वाक्की ही मानी जाती है। कारण इसका यही है कि पार्थिव एवं सौर अग्नि अन्नाद (अन्न खानेवाले) हैं। मध्यपतित चान्द्र-सोम—'**एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमा:**' (श० १। ६। ४। ५)-के अनुसार इन अग्नियोंका अन्न बन रहा है। अन्न जब अन्नादके उदरमें चला जाता है तो केवल अन्नादसत्ता ही रह जाती है। अन्नकी स्वतन्त्रता हट जाती है। जैसा कि श्रुति कहती है—

'द्वयं वा इदम्-अत्ता चैवाद्यञ्च। तद्यदोभयं समागच्छति-अत्तैवाख्यायते नाद्यम्। स वै य: सोऽत्ताग्निरेव स:।'

(शत० १०। ६। ३। १) इति।

इसीलिये त्रैलोक्यके लिये '**द्यावापृथिवी**' व्यवहार ही होता है। इस प्रकार प्रधानरूपसे पृथिवीलोक, सूर्यलोक, दो ही लोक रह जाते हैं। दोनों अग्निमय हैं। पार्थिवाग्नि गायत्राग्नि है। सौर-अग्नि सावित्राग्नि है। '**तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्**' (श० १०। ५१। १) के अनुसार दोनों ही अग्नियोंको हम 'वाक्' कहनेके लिये तैयार हैं। वैज्ञानिक परिभाषानुसार पृथिवीकी 'वाक्' 'अनुष्टुप्' कहलाती है। सूर्यकी वाक् 'बृहती' कहलाती है। अनुष्टुप् वाक्से क-च-ट-त-प आदिरूपा वर्णवाक्का प्रादुर्भाव होता है। बृहतीवाक्से अ-आ-इ आदिरूपा स्वरवाक्का विकास होता है। दूसरे शब्दोंमें वर्णवाक् अनुष्टुप् है। स्वरवाक् बृहती है। '**स्वरोऽक्षरम्**' (प्रातिशाख्य) के अनुसार स्वर अक्षर है। अविनाशी है। वर्ण क्षर है। विनाशी है। अर्थ-सृष्टिमें भौतिक क्षरकूटकी प्रतिष्ठा जैसे अक्षर तत्त्व है, एवमेव—

शाब्दे ब्रह्मणि निष्णात: परं ब्रह्माधिगच्छति।

—के अनुसार अर्थ-ब्रह्मकी समान धारामें प्रवाहित होनेवाले शब्द-ब्रह्ममें भी क्षररूप वर्णकी प्रतिष्ठा अक्षररूप स्वरतत्त्व ही है। अर्थ-ब्रह्ममें जैसे अक्षररूप सूर्य-सत्ताको छोड़कर क्षररूपा पृथिवी स्व-स्वरूपमें प्रतिष्ठित

* चन्द्रमामें पितर रहते हैं, इस विषयका विशद निरूपण हमारे लिखे हुए 'श्राद्ध वैज्ञानिकता' नामके निबन्धमें देखना चाहिये।

नहीं रह सकती, एवमेव सूर्यवाङ्मूलक स्वरतत्त्वके बिना पृथिवी मूलिका वर्णराशि भी स्व-स्वरूपमें प्रतिष्ठित नहीं रह सकती। बिना स्वरके सहारे आप कथमपि व्यञ्जनका उच्चारण नहीं कर सकते। बस, स्वरमूलक इस सूर्यविद्याका ही नाम त्रयीविद्या है, सूर्यबिम्ब ऋग्वेद है। सूर्यका अर्चिमण्डल (रश्मिमण्डल) सामवेद है। सूर्यमें रहनेवाला अग्निपुरुष यजुर्वेद है। सूर्य क्या तप रहा है, त्रयीविद्या तप रही है। इसी आधारपर '**सैषा त्रय्येव विद्या तपति**' (शत० १०। ५। २। २) यह कहा जाता है। '**त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः**' का भी यही रहस्य है। यह वेदतत्त्व नित्यतत्त्व है। स्वयं प्रादुर्भूत है। स्वयं ब्रह्मके मुखसे विनिर्गत है। अतएव ऋषियोंने इसे 'निगम' नाम से व्यवहृत किया है। निर्गत ही परोक्षभावसे निगम कहा जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि त्रयीविद्या नामसे प्रसिद्ध सूर्यविद्याका नाम ही 'निगम-विद्या' है। दूसरी आगम-विद्या। शनि, मङ्गल, बृहस्पति, शुक्र, बुध, पृथिवी आदि सूर्यके उपग्रह हैं। सूर्यका ही प्रवर्ग्य-भाग (अलग निकला हुआ भाग) शनि आदि रूपमें परिणत होकर सूर्यके चारों ओर घूम रहा है। सूर्य-विद्याका अंशभूत पृथिवीलोक सूर्यके चारों ओर घूम रहा है। पृथिवी-विद्या सूर्यविद्यासे आयी है। इसी रहस्यको समझानेके लिये ऋषियोंने पृथिवी-विद्याका नाम 'आगम' रखा है। सूर्य-विद्यावत् पृथिवीविद्या स्वयं निर्गत नहीं है। अपितु निगमसे आयी हैं, अतएव '**निगमात् आगतः**' इस व्युत्पत्तिसे पृथिवीविद्या 'आगम' नामसे प्रसिद्ध हुई। हम बतला आये हैं कि पृथिवीकी वाक् वर्णवाक् है। स्वरसे भिन्न है। अतएव आगमशास्त्रोक्त प्रयोगोंका उदात्तादि स्वरोंसे विशेष सम्बन्ध नहीं माना जाता। वहाँ केवल शब्दकी आवृत्ति (जप)-से ही सिद्धि हो जाती है। परन्तु निगमविद्या (वेदविद्या)-में यह बात नहीं है। वहाँ स्वरवाक्की प्रधानता है। अतएव निगमोक्त (वैदिक) प्रयोगोंमें उदात्त-अनुदात्तादि स्वरोंपर पूरा ध्यान रखना पड़ता है।

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

—के अनुसार बिना स्वरके निगमकाण्ड निरर्थक है। अनिष्टकर है। क्यों स्वरवाक् ही उसका मूल है। सूर्यविद्या निगमविद्या है, पृथिवीविद्या आगमविद्या है, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि निगममें केवल सूर्यका ही निरूपण है, आगमविद्यामें केवल पृथिवीका ही निरूपण है। अपितु दोनोंमें सारे विश्वका निरूपण है। लक्ष्यभेदमात्र है। निगमशास्त्र सूर्यको प्रधान मानकर सारे विश्वका निरूपण करता है, एवं आगमशास्त्र पृथिवीको मूल मानकर आगे चलता है। '**द्यौष्पितः पृथिवि मातः**' (ऋक्० ४। ८। ११) के अनुसार द्युलोकोपलक्षित सूर्य पिता है। पृथिवी माता है। पिता पुरुष है। माता प्रकृति है। पुरुष रेतोधा है। प्रकृति योनि है। पुरुष-शास्त्र निगम है। अतएव निगमको वेद-पुरुष कहा जाता है। प्रकृति-शास्त्र आगम है। अतएव आगमको आगमविद्या कहा जाता है। बिना अगमके निगम अप्रतिष्ठित है। जैसा कि अनुपदमें ही स्पष्ट होनेवाला है। निगममें भी आगमका साम्राज्य है। अतएव पुरुष-वेदको वेदविद्या भी कहा जाता है। सूर्य साक्षात् रुद्र है। एवं सूर्यकी अनन्त रश्मियाँ अनन्त रुद्र हैं। अनन्तर रुद्र विट्रुद्र (प्रजारुद्र) हैं। सूर्यरुद्र क्षत्ररुद्र हैं। जहाँ वैज्ञानिक रश्मिगत त्रैलोक्य-व्यापक अनन्त रुद्रोंका—

'**असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्राः**', '**ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः**'

—इत्यादि रूपसे निरूपण करते हैं, वहाँ उस सूर्यरूप एकाकी क्षत्ररुद्रको लक्ष्यमें रखकर—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।

(श्वेता० ३। २)

—यह कहते हैं इस रुद्ररूप सौर-अग्निके-'**अग्निर्वा रुद्रः। तस्यैते द्वौ तन्वे घोरान्या च शिवान्या च।**' के अनुसार घोर-शिव-भेदसे दो शरीर हैं। आप अपने अध्यात्म-जगत्में दोनों मूर्तियोंका साक्षात्कार कर सकते हैं। प्रारम्भमें अग्निको अन्नाद बतलाया गया है। अन्न खाना अग्निका स्वाभाविक धर्म है। अग्नि प्रज्वलित हो रहा है। जबतक आप उसमें काष्ठान्न देते रहेंगे तभीतक वह स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित रहेगा। अग्निका इन्धन (प्रज्वलन) काष्ठाहुतिपर निर्भर है। अतएव काष्ठको इन्धन (ईंधन) कहा जाता है। यही अवस्था शरीराग्निकी है। लोम, केश, नखोंके अग्रभागको छोड़कर सर्वाङ्ग शरीरमें वैश्वानर-

अग्नि धधक रहा है। जहाँ स्पर्श करते हैं, वहीं ऊष्मा पाते हैं। यही इस अग्निका प्रत्यक्ष दर्शन है। नाक, कान बन्द कर लेनेपर जो नाद सुनायी पड़ता है, वही इसकी श्रुति है। इस अन्नाद-अग्निकी सत्ताके लिये सायं-प्रातः अन्न खाना पड़ता है। बस, जबतक इस अन्नादमें अन्नकी आहुति रहती है तबतक शरीर स्वस्थ रहता है। कारण इसका यही है कि अन्न सोमतत्त्व है। सोम शान्ततत्त्व है। इसकी आहुतिसे रुद्राग्नि शान्त होता हुआ शिव बन जाता है। यदि अन्नाहुति बन्द कर दी जाती है तो वह रुद्र घोर-रूपमें परिणत होकर पहले रसासृग्मांसमेदादि शरीर-धातुओंको खाने लगता है। एवं उनके नष्ट हो जानेपर स्वयं भी उत्क्रान्त हो जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि अन्नाहुतिसे रुद्र-तनू शिवभावमें परिणत होकर पालन करती है, एवं अन्नाभावमें वही घोर-तनू बनकर नाशका कारण बनती है। हम जो प्रतिदिन अन्न खाते हैं, उससे उग्र रुद्र शान्त होते हैं। इसीलिये वैज्ञानिकोंने इस अन्नका नाम 'शान्तदेवत्य' किंवा शान्तरुद्रिय (जिस अन्नसे रुद्र-देवता शान्त होते हैं वह अन्न) रखा है। परोक्षप्रिय देवताओंकी परोक्ष भाषामें वह शान्तरुद्रिय अन्न 'शतरुद्रिय' नामसे प्रसिद्ध है, इसी पूर्व-विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर याज्ञवल्क्य कहते हैं—

अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः। स एषोऽत्र रुद्रो देवता। स दीप्यमानोऽतिष्ठदन्नमिच्छमानः। तस्माद्देवा अबिभयुः—यद्वै नोऽयं न हिंस्यात् इति। तस्मै एनदन्नं समभरत् शान्तदेवत्यम्। तेनैनमशमयन्। शान्तदेवत्यं ह वै शतरुद्रियमित्याचक्षते परोक्षम्। परोक्षकामा हि देवाः।

(श० ९। १। १। १)

माताके गर्भाशयमें अग्निकी क्रमिक चितिसे क्रमशः प्रवृद्ध होनेवाला गर्भ नौ मासके अनन्तर जब पूर्णभावको प्राप्त हो जाता है तो सर्वात्मना संस्कृत रुद्राग्निके आघातसे, एवयामरुत्की प्रेरणासे गर्भ गर्भाशयसे जननेन्द्रियद्वारा बाहर निकल पड़ता है। उस समय सारे इन्द्रिय-देवता डरने लगते हैं। अपनी रक्षाके लिये वे उसमें अन्नाहुति डालते हैं। अन्नके आहुत होते ही रुद्राग्नि-सन्तापसे रोता हुआ शिशु चुप हो जाता है। इस प्रकार वही रुद्राग्नि अन्न-सम्बन्धसे शिव बनकर संसारकी रक्षा करते हैं। अन्नाभावमें वही नाशके कारण बन जाते हैं। यही दोनों भाव सूर्यमें समझिये। सूर्य साक्षात् रुद्र है। प्राणियोंको सन्तप्त करनेवाला है। परन्तु पार्थिव ओषधि, वनस्पत्यादि अन्न इसमें निरन्तर आहुत होते रहते हैं। पार्थिव रसको सूर्य रश्मियोंद्वारा लिया करता है। अतएव वह शिव बन रहा है। पूर्वकथनानुसार पृथिवी माता है, शक्ति है। सूर्य पिता है, शिव है। परन्तु इस शिवका शिवत्व शक्ति-समन्वयपर ही निर्भर है। जिस दिन पार्थिवान्न-सम्बन्ध हट जायगा सूर्य-रुद्र घोररूपमें परिणत होता हुआ सम्पूर्ण विश्वको भस्मसात् कर डालेगा। सौर-तेज हिरण्मय है। इसकी सत्ता सोमपर (अन्नपर) निर्भर है। इसमें प्रविष्ट महदक्षररूपा चित्-शक्ति ही हैमवती उमा है। वाल्लभ इसे ही भगवच्छक्ति कहते हैं। यही अद्वैतवादियोंकी माया है। उपासकोंकी राधा है। रामानुजियोंकी लक्ष्मी है। वैज्ञानिकोंकी हैमवती उमा है। '**मम योनिर्महद् ब्रह्म**' के अनुसार पारमेष्ठ्य महत् सोम ही चिदात्मा (अव्यय पुरुष)-की प्रतिष्ठा है। वह सोम सौर-मण्डलमें आकर हैमवती चिच्छक्तिसे युक्त हो जाता है। अतएव '**उमासहितस्तत्त्वः**' के अनुसार वह परमेष्ठ्य तत्त्व 'सोम' कहलाने लगता है। यही उमा ब्राह्मणग्रन्थोंमें विषयभेदसे अम्बिका, अम्बा, माता, जनि, धारा, जाया, आप आदि नामोंसे व्यवहृत हुई है। सौर इन्द्र शिव है। इसकी शक्ति पार्थिव प्राज्ञ-सोमरूपा हैमवती उमा है। सोम स्वस्वरूपसे कृष्ण है। परन्तु सौर-विज्ञान-मण्डलमें आकर अग्निदाहकतासे वही चमकीला बन जाता है। आप सूर्यमें जो प्रकार देख रहे हैं, वह इसी सोमाहुतिका प्रभाव है। इसी आधारपर '**त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ**' (ऋक्० १। ९१। २२) कहा जाता है। '**त्वमा ततन्थोर्वान्तरिक्षम्**' (ऋक्० १। ९१। २२)-के अनुसार वह सोम विशाल आकाशमें सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। यह सोममयी शक्ति उसी चिद्घन अव्यय पुरुषकी प्रकृति है। इन्द्रादि देवताओंको उसका ज्ञान आकाशस्थ इसी महामायाकी कृपासे होता है। बिना शक्तिको आगे किये ब्रह्मज्ञान असम्भव है। इसी शक्ति-विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर उपनिषच्छ्रुति कहती है—

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीम्। ताꣳहोवाच किमेतद्यक्षमिति॥ सा ब्रह्मेति होवाच। ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति। ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति॥ (केन० ३। १२; ४। १)

उपनिषद्-विद्याका सारभूत गीताशास्त्र भी ब्रह्मज्ञानके लिये शक्तिकी आराधनाको ही प्रधान बतलाया है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(७। १४)

—से स्पष्ट ही शक्तिवादकी प्रधानता सिद्ध है। युद्धकालमें विजय-प्राप्त्यर्थ अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके आदेशसे पहले उस शक्तिकी आराधना करता है। यह है शिव-शक्तिका मौलिक रहस्य। सौरप्राणकी प्रधानतासे पुरुष-सृष्टि होती है। चान्द्रसोमगर्भित पार्थिव प्राणकी प्रधानतासे स्त्री-सृष्टि होती है। सम्पूर्ण स्त्रियाँ शक्तिरूपा हैं। सम्पूर्ण पुरुष शिवरूप हैं। सारा विश्व शिव-शक्तिमय है, दोनों अविनाभूत हैं। चूँकि आगमशास्त्र माता पृथिवीसे सम्बन्ध रखता है, अतएव उसमें शक्तिकी ही प्रधानता है। आज इसी आगमविद्याकी ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

विद्या-शब्द-रहस्य*

हम बतला आये हैं कि आगमका आगमन निगमसे हुआ है। यही कारण है कि आगमके सारे सिद्धान्त निगम-सिद्धान्तोंपर प्रतिष्ठित हैं। जैसे निगमशास्त्रके लिये निगमाचार्योंने '**सैषा त्रयी विद्या**' इत्यादि रूपसे विद्या-शब्द प्रयुक्त किया है, एवमेव आगमाचार्योंने '**विद्यासि सा भगवती**' इत्यादि रूपसे आगमके लिये भी विद्या-शब्दका प्रयोग किया है। इस प्रकरणमें विद्या-शब्दका ही निर्वचन किया जायगा।

निगममें '**त्रयं ब्रह्म**', **त्रयी विद्या**', '**त्रयी वेदाः**' इत्यादि रूपसे ब्रह्म, विद्या, वेद तीनोंको अभिन्नार्थक माना है। परमार्थ-दृष्टिसे तीनों अभिन्न हैं। विश्वदृष्ट्या तीनों भिन्न हैं। शक्तितत्त्व 'विद्या' किंवा 'महाविद्या' शब्दसे क्यों व्यवहृत हुआ? इसका उत्तर इन्हीं तीनोंके स्वरूप-ज्ञानपर निर्भर है। अनन्त ज्ञानघन, क्रियाघन, अर्थघन तत्त्वविशेषका नाम ही अक्षर ब्रह्म है। वह सर्वज्ञानमय है, सर्वक्रियामय है, सर्वार्थमय है। दूसरे शब्दोंमें वह अक्षरतत्त्व मन:प्राण वाङ्मय है। जैसे क्षर पुरुषका आलम्बन अक्षर पुरुष है, एवमेव सबका आलम्बन पुरुषोत्तम-नामसे प्रसिद्ध अव्यय पुरुष है। वह स्वयं ज्ञान-क्रिया-अर्थशक्तिरूप है। अव्ययकी ज्ञान-शक्तिका उक्थ (प्रभव) मन है। क्रिया-शक्तिका उक्थ प्राण है। अर्थ-शक्तिका उक्थ वाक् है। इन तीन कलाओंके अतिरिक्त आनन्द-विज्ञान नामकी दो कलाएँ और हैं। इन पाँचों कलाओंमें पाँचवीं वाक्कला उपनिषदोंमें '**अन्नब्रह्म**' नामसे प्रसिद्ध है। तैत्तिरीय उपनिषद्में इन पाँचों (आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, अन्न) ब्रह्मकोषोंका विस्तारसे निरूपण किया गया है। सुप्रसिद्ध आनन्दादि अव्यय पुरुषकी पाँच कलाएँ हैं। दूसरे शब्दोंमें वह अव्यय पञ्चकल है। पञ्चकलात्मक वह अव्यय पुरुष स्वयं शक्तिरूप है। '**सामान्ये सामान्याभावः**' के अनुसार आनन्दमें आनन्द नहीं। विज्ञानमें विज्ञान नहीं। मनमें मन नहीं। प्राणमें प्राण नहीं। वाक्में वाक् नहीं। अतएव अक्षरसे भी परे रहनेवाले इस तत्त्वका—

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥

(मुण्डक० २। १। २)

—इत्यादि रूपसे निरूपण किया जाता है। अप्राण एवं अमनमें क्रिया नहीं, अतएव वह अव्यय पुरुष कर्तृत्व-करणत्वादि धर्मोंसे रहित हुआ सृष्टिविद्याके बहिर्भूत है। न वह करता है, न लिप्त होता है। इसी भावका निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

(श्वेता० ६। ८)

इन्हीं कारणोंसे हम अव्यय पुरुषको निर्धर्मक माननेके लिये तैयार हैं। अव्यय पुरुष है। पुरुष चेतन है। चिदात्मा है। ज्ञानमूर्ति है। अतएव निष्क्रिय है। अतएव च क्रियासापेक्ष सक्रिय विश्वकी निर्माण-प्रक्रियासे बहिर्भूत है। सृष्टि संसृष्टि है। योषा, वृषा नामसे प्रसिद्ध रयि, प्राण नामके दो तत्त्वोंका रासायनिक संयोग ही संसृष्टि है। संसर्ग व्यापार है। व्यापार क्रिया है। इसका उसमें अभाव है। अतएव वह अकर्ता है। यद्यपि पञ्चकलाव्यय पुरुष प्राणरूप होनेसे क्रियाशून्य नहीं कहा जा सकता, परन्तु कोरी क्रिया कुछ नहीं कर सकती। क्रिया क्रियावान् कर सकता है। अव्यय क्रियावान् नहीं, क्रियारूप है। क्रियावान् है वही पूर्वोक्त अक्षर पुरुष। यह अक्षर पुरुष ही अव्यक्त, परा प्रकृति, परमब्रह्म आदि

* इस विषयका विशद निरूपण श्रीगुरु (श्रीमधुसूदनजी ओझा)-प्रणीत 'वेदसमीक्षा' में देखना चाहिये।

नामोंसे प्रसिद्ध है। वह पुरुष इस प्रकृतिके साथ समन्वित होता है। **'तत्तु समन्वयात्'** (शारीरकदर्शन-व्याससूत्र)-के अनुसार इस प्रकृति-पुरुषके समन्वयसे ही विश्वरचना होती है। इस समन्वयसे अव्ययकी शक्तियाँ अक्षरमें संक्रान्त हो जाती हैं। उसकी शक्तियोंसे अक्षर शक्तिमान् बन जाता है। अतएव हम अक्षरको आनन्दवान्, विज्ञानवान्, मनस्वी, क्रियावान्, अर्थवान् माननेके लिये तैयार हैं। अक्षर शक्तिमान् है, सक्रिय है। एक बात और। पूर्वोक्त अव्यय-कलाओंमें आनन्द प्रसिद्ध है। विज्ञान चित् है। मन, प्राण, वाक्की समष्टि सत् है। सत्, चित्, आनन्दकी समष्टि ही सच्चिदानन्द ब्रह्म है। अक्षर तीनोंसे युक्त है। अतएव हम इसे अवश्य ही आनन्दवान्, विज्ञानवान् कह सकते हैं। आनन्दविज्ञान मुक्तिसाक्षी अव्यय है। प्राणवाक् सृष्टि-साक्षी अव्यय है। मध्यपतित **'उभयात्मकं मनः'** के अनुसार दोनों ओर जाता है। मुक्तिका सम्बन्ध आनन्द, विज्ञान, मनसे है; सृष्टिका सम्बन्ध मन, प्राण, वाक्से है। अतएव सृष्टि-साक्षी आत्माको **'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः'** इत्यादि रूपसे मनःप्राणवाङ्मय ही बतलाया जाता है। सृष्टि-साक्षी अव्ययमें हमने ज्ञानघन मन, क्रियाघन प्राण, अर्थघन वाक्की सत्ता बतलायी है। इन तीनोंमें ज्ञानकलाका विकास स्वयं अव्यय पुरुष है। उसमें इसी कलाकी प्रधानता है। क्रियाका विकास अक्षर-पुरुष है। अर्थका विकास क्षर-पुरुष है। अर्थप्रधान क्षर-पुरुष भी निष्क्रिय है। ज्ञानप्रधान अव्यय पुरुष भी निष्क्रिय है। सक्रिय है मध्यपतित एकमात्र अक्षर-पुरुष। क्रिया करना एकमात्र अक्षरका ही धर्म है। अतः हम तीनों पुरुषोंमेंसे एकमात्र अक्षरको ही सृष्टिकर्ता माननेके लिये तैयार हैं। अव्यक्त अक्षर प्रकृति ही विश्वका प्रभव, प्रतिष्ठा, परायण है। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर श्रुति कहती है—

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति॥

(मुण्डक० २। १। १)

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

(गीता ८। १८)

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

(गीता २। २८)

—आदि स्मार्त-वचन भी इसी भावको प्रकट करते हैं। जैसे प्रजापति (कुम्भकार) भूपृष्ठपर बैठकर समुदायरूपसे सर्वथा गतिशून्य अवयवरूपसे सर्वथा गतिशील चक्रपर मिट्टी रखकर घट निर्माण किया करता है, एवमेव अक्षरप्रजापतिरूप कुम्हार आनन्द-विज्ञानमनोघन मुक्तिसाक्षी अव्ययरूप धरातलपर बैठकर मनःप्राणवाग्घन सृष्टिसाक्षी अव्ययरूप चक्रपर क्षररूप मिट्टीसे उख्य त्रिलोकीरूप घटका निर्माण किया करता है। त्रिभुवन-विधाता उस अक्षर प्रजापतिमें और बुध्न (पेंदा), उदर, मुखरूप त्रैलोक्यभावापन्न घट निर्माण करनेवाले मनुष्य प्रजापतिमें निरन्तर स्पर्धा होती रहती है। जो क्रम घट-सृष्टिका है, वही उस ईश्वर प्रजापतिका है। इसी विद्याको समझानेके लिये ऋषियोंने कुम्भकारकी 'प्रजापति' संज्ञा रखी है। पूर्वोक्त क्षर पुरुष उस अव्यय पुरुषकी अपरा प्रकृति है। अक्षर पुरुष परा प्रकृति है। अव्यय आलम्बन कारण है। अक्षर असमवायि (निमित्त) कारण है। क्षर समवायि (उपादान) कारण है। तीनोंमें कर्ता अक्षर है। क्योंकि वही क्रियामय है। एक ओरसे चिदात्मा अव्ययके ज्ञानभागको लेकर वह सर्वज्ञ बन रहा है, दूसरी ओरसे क्षररूप अर्थको लेकर सर्ववित् बन रहा है। क्षर उपादान होनेसे 'ब्रह्म' कहलाता है। इसी अभिप्रायसे **'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'** यह कहा जाता है। अक्षरसे ही क्षरब्रह्म प्रादुर्भूत होता है। इसीको अवर-ब्रह्म भी कहा जाता है। अक्षर पुरुष क्षरापेक्षया पर और अव्ययापेक्षया अवर होनेसे परावर कहलाता है। व्यक्त क्षर, अव्यक्त अक्षर दोनोंसे पर होनेके कारण अव्यय 'पर' कहलाता है। मध्य-पतित परावर अक्षरमें परसम्पत्ति (अव्ययसम्पत्ति) भी है, एवं ब्रह्मसम्पत्ति (क्षर सम्पत्ति) भी है। अतएव इसे हम 'पर' 'ब्रह्म'—दोनों कह सकते हैं। इसके ज्ञानसे सब कुछ गतार्थ हो जाता है। इसी अभिप्रायसे श्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

(कठ० १। २। १६)

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ इति॥
(मुण्डक० २। २। ८)

दस महाविद्याओंके द्वारा सृष्टितत्त्वका निरूपण किया गया है। अतएव अप्रासङ्गिक होनेपर भी प्रकरण-सङ्गतिके लिये सृष्टिकर्ताका स्वरूप बतलाना पड़ा। अव्यय एवं क्षरानुगृहीत अक्षर ही सृष्टिकर्ता है—यह सिद्ध हो चुका। यद्यपि अक्षर ज्ञान, क्रिया, अर्थ तीनोंसे ही युक्त है, तथापि क्रिया और अर्थका पूर्ण विकास क्रियार्थघन विश्वमें ही होता है। सृष्टिसे पहले केवल ज्ञानकी ही प्रधानता रहती है। इसीलिये अक्षरके तपको (क्रियाको) ज्ञानमय ही बतलाया जाता है। इसीलिये अक्षर 'चेतना' नामसे प्रसिद्ध है। अव्यय, क्षराविनाभूत अतएव सर्वज्ञ, सर्ववित् इस अक्षरके ज्ञानमय तपसे उत्पन्न होनेवाली सृष्टिका क्या स्वरूप है? इसका समाधान करती हुई श्रुति कहती है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥
(मुण्डक० १। १। ९)

प्रतिष्ठा* ज्योति, यज्ञका ही नाम क्रमशः ब्रह्म, नामरूप, अन्न है। इन तीनोंमें सम्पूर्ण सृष्टिका अन्तर्भाव है। अक्षर पुरुष सर्वप्रथम इन्हीं तीन रूपोंमें विकसित होता है। प्रतिष्ठातत्त्वका नाम ब्रह्मा है। ज्योतितत्त्वका नाम इन्द्र है। यज्ञतत्त्वका नाम विष्णु, अग्नि, सोम है। प्रत्येक पदार्थमें आप जो एक ठहराव देखते हैं, स्थिति देखते हैं, अस्तित्व देखते हैं, वही प्रतिष्ठा है। यही तत्त्व सृष्टिका मूलाधार है। स्थिरभावमें ही सृष्टि-क्रिया हो सकती है। गतिकी प्रतिष्ठा प्रतिष्ठा (स्थिति) ही है। बीजको भूगर्भमें प्रतिष्ठित करो, तभी अङ्कुर-सृष्टि होगी। शुक्रको गर्भाशयमें प्रतिष्ठित करो, तभी प्रजा-सृष्टि होगी। उत्पन्न होनेवाली वस्तुओंमें उत्पत्तिरूप क्रियाका आधारभूत पहले प्रतिष्ठाब्रह्म ही उत्पन्न होता है। वस्तुमात्रमें पहले जन्म धारण करनेवाला एवं वस्तुमात्रका आधारभूत यही तत्त्व है। इसी आधारपर वस्तु-सृष्टि होती है। '**ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा**', '**ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्**' (शत० ६। १। १), '**ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।**' आदि वचन इसीको मुख्य बतलाते हैं। यह ब्रह्मा किंवा प्रतिष्ठा है क्या? इसका उत्तर है गतिसमुच्चय। सर्वतोदिग्गति अथवा दिग्द्वयगतिका समन्वय ही स्थिति है। अतएव समान बलवाले दो मल्लोंके विरुद्ध दिग्गति-बलसे रस्सा स्थिर हो जाता है। यही पहली सृष्टि है। इसीके लिये '**तस्मादेतद् ब्रह्म**' कहा है। दूसरी सृष्टि है नामरूपात्मिका। नामरूपको कर्मका उपलक्षण समझना चाहिये। प्रत्येक वस्तुमें पहले उसकी प्रतिष्ठाका जन्म होता है। अनन्तर नाम-रूप-कर्म तीनोंके सम्बन्धसे वस्तुस्वरूप सम्पन्न हो जाता है। नाम-रूपके बिना वस्तु अन्धकारमें है। नाम-रूप ही वस्तु-भान (ज्ञान)-का कारण है। यह भाति ही ज्योति है। यह ज्योति ('**अयं घटः**' इत्याकारक वस्तुस्वरूपप्रकाश) साक्षात् इन्द्र है। '**रूपं रूपं मघवा बोभवीति**' (ऋक्संहिता), '**इन्द्रो रूपाणि करीकृदचरत्**' (ऋक्संहिता) इत्यादि श्रुतियाँ इन्द्रको रूपज्योतिर्मय बतलाती हैं। अतएव इस नामरूपात्मिका ज्योतिःसृष्टिको हम अवश्य ही इन्द्र कहनेके लिये तैयार हैं। वस्तुस्वरूप सम्पन्न हो गया। सम्पन्न होते ही उसमें अन्नादानविसर्गात्मक यज्ञ प्रारम्भ हो जाता है। जड हो या चेतन सभी पदार्थ अन्न खाते हैं। सबमें निरन्तर अन्नकी आहुति होती रहती है। बस, जो सूत्र अन्न खींचता है उसीका नाम विष्णु है। यह अन्न-यज्ञ विष्णुद्वारा होता है, अतएव '**यज्ञो वै विष्णुः**', '**विष्णुर्वै यज्ञः** इत्यादि रूपसे यज्ञ और विष्णुका अभेद माना जाता है। अन्न खींचनेवाला, अन्न एवं जिसमें अन्न आहुत होता है वह—इस प्रकार तीन शक्तियोंके मेलसे यज्ञस्वरूप सम्पन्न होता है। अन्न खींचनेवाली शक्ति विष्णु है। अन्न सोम है। जिसमें अन्नाहुति होती है वह अग्नि है। इस प्रकार अन्नरूप यज्ञमें विष्णु, अग्नि, सोम तीन देवताओंका अन्तर्भाव सिद्ध हो जाता है। यही तीसरी सृष्टि है। अक्षरको हमने क्रिया-घन बतलाया है। क्रिया गति है। अतएव अक्षरको हम गति-तत्त्व माननेके लिये तैयार हैं। वही गति पूर्वोक्त पाँच रूप धारण कर लेती है। अक्षररूप गति-तत्त्व समुच्चितभावमें स्थिति है। वही ब्रह्मा है। विक्षेपण-भावमें (गति-भावमें) वही इन्द्र है। आकर्षण (आगति)-भावमें वही विष्णु है। यदि गति, आगति स्वतन्त्र हैं तब तो दोनों क्रमशः इन्द्र, विष्णु हैं। यदि दोनों स्थितिरूप ब्रह्म-तत्त्वके गर्भमें चली जाती हैं तो यही अग्नि सोम-

* इस विषयका विस्तृत विवेचन हमारे लिखे हुए 'कठ' के भाषाभाष्यमें देखना चाहिये।

रूपमें परिणत हो जाती है। स्थिति-गर्भित गति (इन्द्र) अग्नि है। स्थिति-गर्भित आगति (विष्णु) सोम है। इस प्रकार एक ही गत्यात्मक अक्षरतत्त्व* गतिसमुच्चय, शुद्ध गति, शुद्ध आगति, स्थितिगर्भिता गति, स्थितिगर्भिता आगति, इन पाँच भावोंमें परिणत होकर ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, अग्नि, सोम नाम धारण कर लेता है। एक ही अक्षर गति-तारतम्यसे पञ्चाक्षर बन जाता है। जिस प्रकार शब्द-सृष्टि अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच अक्षरोंसे होती है उसी प्रकार अर्थसृष्टि पूर्वोक्त पाँच अक्षरोंसे होती है। जो क्रम शब्द-सृष्टिका है वही अर्थ-सृष्टिका है। शब्द-ब्रह्मको पहचान लो, अर्थब्रह्म गतार्थ है। शब्दार्थका अभिन्न सम्बन्ध है। उत्पन्नसृष्ट नहीं अपितु उत्पत्ति-सृष्ट सम्बन्ध है। ब्रह्मा सृष्टि-कर्त्ता हैं। इन्द्र (रुद्र) संहारक हैं। विष्णु पालक हैं। अग्नीषोम उपादान हैं। जबतक इस त्रिमूर्त्तिके साथ अग्नीषोमात्मक यज्ञका सम्बन्ध रहता है तबतक इन्द्र (रुद्र) शिव बने रहते हैं। अग्नीषोमात्मक यज्ञके उच्छिन्न होनेपर वही इन्द्र घोररूपमें परिणत होकर विश्वका संहार कर डालते हैं। बारह प्रकारके आदित्य-प्राणोंमेंसे शासक, सर्व व्यापक, अमृतरूप अन्यतम प्राणका ही नाम इन्द्र है। अतएव द्वादशादित्य-घन सूर्यको त्वष्टा, भग, पूषा आदि और-और आदित्योंके नामसे व्यवहृत न कर '**अथ' यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः** (शत० ८।५।३।२), '**एष वा इन्द्रो य एष तपति**' (शत० २।३।४।१२) के अनुसार इन्द्र-शब्दसे ही व्यवहृत किया जाता है। यह सूर्यरूप इन्द्र, अग्नि, सोम (चन्द्रमा) तीनों ज्योतिर्मय पदार्थ हैं। तीनोंसे विश्व प्रकाशित है। इन तीनोंकी समष्टि ही शिव है। अन्न-यज्ञपर शिवस्वरूप प्रतिष्ठित है। अग्नीषोमके समन्वयका ही नाम यज्ञ है। पुराणशास्त्र ब्रह्मा, विष्णु, शिव इस त्रित्व-विज्ञानको प्रधान मानता है। एवं निगमशास्त्र ब्रह्मादि पञ्चाक्षर-विज्ञानपर प्रतिष्ठित है। निरूपणी या शैलीमात्रमें भेद है। बात एक ही है। पुराण—इन्द्र, अग्नि, सोमके भेदको उन्मुग्ध मानकर तीनोंका शिव शब्दसे निरूपण करता है। वेद तीनोंका उद्बुद्धरूपसे निरूपण करता है। सारे प्रपञ्चका निष्कर्ष यही हुआ कि वह अक्षरतत्त्व सृष्टि-कामुक बनकर अपने ज्ञानमय तपसे ब्रह्म, नाम-रूप, अन्न; दूसरे शब्दोंमें प्रतिष्ठा, ज्योति, यज्ञ; तीसरे शब्दोंमें ब्रह्मादि पञ्चाक्षररूपमें परिणत होता है। इन पाँचों अक्षरोंमें ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र तीनों वस्तुके हृदय (केन्द्र)-में प्रतिष्ठित होकर उसका सञ्चालन करते हुए अन्तर्यामी नामसे प्रसिद्ध होते हैं। एवं अग्नीषोमसे वस्तुस्वरूप बनता है। इसी आधारपर '**अग्नीषोमात्मकं जगत्**' यह कहा जाता है। पाँच अक्षरोंमें परिणत होना अक्षरकी पहली सृष्टि है।

पञ्चाक्षर-सृष्टि	ब्रह्म = प्रतिष्ठा = ब्रह्मा	अक्षरकी पहली सृष्टि
	नामरूप = ज्योति = इन्द्र	
	अन्न = यज्ञ = विष्णु, अग्नि, सोम	

प्रजा-सृष्टिका अधिष्ठाता होनेके कारण पूर्वोक्त अक्षर-तत्त्व 'प्रजापति' कहलाता है। '**अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्**' (शत० १०।१।३।१) के अनुसार उस प्रजापतिका आधा भाग अमृत है। वह कभी विकृत नहीं होता। वह सर्वथा अविपरिणामी है। आधा भाग मर्त्य है। उसीसे विकार-सृष्टि होती है। यही दोनों भाग अक्षर, क्षर हैं। प्रजापतिका अमृत-भाग अक्षर है। मर्त्य भाग क्षर है। इसीसे विश्व उत्पन्न होता है। यही उपादान है। जो ब्रह्मादि पाँच कलाएँ अक्षरकी हैं, वे ही इस क्षरकी हैं। अक्षरके व्यापारसे इन ब्रह्मादि पाँचों क्षर कलाओंसे क्रमशः प्राण, आप, वाक्, अन्नाद, अन्न इन पाँच विकारोंका जन्म होता है। वैकारिकी सृष्टि इन्हींसे होती है। अतएव इनको 'विश्वसृट्' कहा जाता है। इन पाँचोंके सर्वहुतयज्ञसे (जो कि सर्वहुतयज्ञप्रक्रियादर्शनमें 'पञ्चीकरण' नामसे प्रसिद्ध है) पञ्चजन उत्पन्न होते हैं। आधेमें प्राण, आधेमें शेष चारों, आधेमें आप, आधेमें शेष चारों, इस क्रमसे प्राणादि पाँचोंकी पाँचोंमें आहुति होनेसे जो पञ्चीकृत प्राणादि उत्पन्न होते हैं, वही पञ्चजन नामसे प्रसिद्ध हैं। '**वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः**' (व्याससूत्र—शा० द०) के अनुसार इनके नाम प्राण, आप, वाक् आदि ही रहते हैं। इन पाँचों पञ्चजनोंसे आगे जाकर क्रमशः वेद, लोक, प्रजा, भूत, पशु ये पाँच पुरञ्जन उत्पन्न होते हैं। इन्हींसे ब्रह्मपुररूप विश्वका स्वरूप बननेवाला है, अतएव इन्हें 'पुरञ्जन' कहा जाता है। इन पाँचों पुरञ्जनोंमें सबका मूलाधार प्रथमज वेद नामका पुरञ्जन ही है। विश्वपुरका प्रथमाधार वेद ही है। इसी आधारपर '**वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे**' (मनु)—यह कहा जाता है। इन पूर्वोक्त पाँचों पुरञ्जनोंसे क्रमशः

* इस गतिविज्ञानका विशद निरूपण 'शतपथ' के प्रथम वर्षमें निकल चुका है। अधिक जिज्ञासा रखनेवालोंको वहीं देखना चाहिये।

स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा इन पाँच पुरोंका प्रादुर्भाव होता है। अपने क्षरभागसे विश्वसृट्, पञ्चजन, पुरञ्जन, क्रमसे इन पाँचों पुरोंको उत्पन्नकर '**तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' के अनुसार अव्ययक्षरानुगृहीत वह अक्षरात्मा इनमें प्रविष्ट हो जाता है, अतएव '**विशत्यस्मिन्नात्मा**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार पञ्चब्रह्मपुर-समष्टिका नाम 'विश्व' होता है। आनन्दविज्ञान मनःप्राणवाक्भेदभिन्न पञ्चकल अव्यय, अमृतब्रह्मादि-भेदभिन्न पञ्चकल अक्षर, मर्त्यब्रह्मादिभेदभिन्न पञ्चकल आत्मक्षर एवं विश्वातीत-परात्पर—इन चारोंकी समष्टि ही षोडशकल प्रजापति है। इस षोडशी प्रजापतिका क्षरभाग ही विश्व बना है, अतएव हम कह सकते हैं कि प्रजापतिके अतिरिक्त विश्वमें कुछ नहीं है। इसी प्राजापत्य विज्ञानका निरूपण करते हुए वेद-पुरुष कहते हैं—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तुवयꣳस्याम पतयोरयीणाम्॥

(ऋ० १०।१२१४)

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतिꣳषि सचते स षोडशी।

(यजु० ८।३६)

पूर्वोक्त सारा विषय निम्नलिखित तालिकासे स्पष्ट हो जाता है—

विश्वेश्वर प्रजापतिकी कलाएँ

		षोडशी प्रजापतिः			विश्वम्		
१	५ अव्यय	५ अक्षर	५ आत्मक्षर	विश्वसृट्	पञ्चजन	पुरञ्जन	पुर
१ विश्वातीत परात्पर	१ आनन्द	अमृत ब्रह्मा	मर्त्य ब्रह्मा	शुद्ध प्राण	पञ्चीकृत प्राण	वेद	स्वयम्भू
	२ विज्ञान	,, विष्णु	,, विष्णु	,, आप	,, आप	लोक	परमेष्ठी
	३ मन	,, इन्द्र	,, इन्द्र	,, वाक्	,, वाक्	प्रजा	सूर्य
	४ प्राण	,, अग्नि	,, अग्नि	,, अन्नाद	,, अन्नाद	भूत	पृथिवी
	५ वाक्	,, सोम	,, सोम	,, अन्न	,, अन्न	पशु	चन्द्रमा

ज्ञानघन वह 'षोडशी' प्रजापति, विश्वमें संसृष्ट होकर सोपाधिक बनता हुआ वेद, ब्रह्म, विद्या—इन तीन स्वरूपोंमें परिणत हो जाता है। एक ही सौरप्रकाश हरित, नील, रक्तवर्णके आदर्श (काच)-भेदसे सोपाधिक बनता हुआ जैसे भिन्न-भिन्न तीन वर्णोंमें परिणत हो जाता है, एवमेव वह ज्ञानघन अक्षरप्रधान प्रजापति वेदादि उपाधिभेदसे तीन स्वरूप धारण कर लेता है। विश्वसृष्टिमें वेद, ब्रह्म, विद्या—इन तीन तत्त्वोंका ही साम्राज्य है। शब्दब्रह्म वेदतत्त्व है। विषयब्रह्म ब्रह्मतत्त्व है एवं संस्कारब्रह्म विद्यातत्त्व है। उदाहरणरूपसे प्रजापतिके अंशभूत जीवप्रजापतिको सामने रखिये। राम, कृष्ण, देवीदत्त, घट, पट, गृह आदि अनेक प्रकारके शब्द आप सुनते रहते हैं। साथहीमें अश्व, गज, मनुष्य, वन, उपवन आदि अनेक प्रकारके पदार्थ भी देखते रहते हैं। शब्द सुननेसे भी आपको ज्ञान होता है। पदार्थोंको देखनेसे भी ज्ञान होता है। गो-शब्दके सुननेसे आपका ज्ञान गो-शब्दाकाराकारित हो जाता है। गो-पशु देखनेसे भी ज्ञान तदाकाराकारित हो जाता है। इस प्रकार शब्द-विषय-भेदसे ज्ञान दो भागोंमें विभक्त है। बस, इन दोनोंमेंसे शब्दावच्छिन्न ज्ञानका ही नाम 'वेद' है। एवं विषयावच्छिन्न ज्ञानका ही नाम ब्रह्म है। इन दोनोंसे अतिरिक्त एक तीसरा ज्ञान और है। शब्द सुननेसे और विषय देखनेसे सामान्यज्ञान होता है। यही सामान्यज्ञान आगे जाकर विशेषरूपमें परिणत हो जाता है। इसीका नाम संस्कार है। शब्द, विषय—दोनों ही सामान्यज्ञान करवाके लीन हो जाते हैं। यही सामान्यज्ञान अनुभवद्वारा आगे जाकर

* सृष्टि-विद्या-सम्बन्धी इन सारे पदार्थोंका अतिविस्तृत वैज्ञानिक निरूपण हमारे लिखे हुए 'ईशोपनिषत्' के भाषाभाष्यमें देखना चाहिये। यह ग्रन्थ अभी मुद्रणसापेक्ष है।

विशेष भावको प्राप्त होता हुआ आत्मामें खचित हो जाता है। इसीको दार्शनिक परिभाषामें अनुभवाहित-संस्कार कहते हैं। वैज्ञानिक परिभाषानुसार यही विद्या-नामसे प्रसिद्ध है। इसीसे आगेका व्यवहार-मार्ग चलता है। जबतक संस्कार है तभीतक आप स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित हैं। संस्काराभावमें आप विश्वातीत हैं। मुक्त हैं। विश्वसत्ता संस्कारसत्तापर ही निर्भर है। अतएव शब्दरूप वेद, विषयरूप ब्रह्मकी अपेक्षा हम संस्काररूपा विद्याको ही प्रधानरूपसे विश्वकी स्वरूप-सम्पादिका माननेके लिये तैयार हैं। उसी ज्ञानपर चितिक्रमसे संस्कारपुट लगनेसे विश्व बन गया है । जैसे हमारा विश्व हमारा संस्कार है तथैव यह महाविश्व उसका संस्कार है, अतएव हम विश्वको अवश्य ही विद्यारूप कहनेके लिये तैयार हैं। बस, संस्कारावच्छिन्न होता हुआ वह ज्ञान-मूर्ति विद्या है; शब्दावच्छिन्न होता हुआ वही वेद है एवं विषयावच्छिन्न बनकर वही ब्रह्म है। सृष्टिका सम्बन्ध पूर्वकथनानुसार विद्यासे ही है। निगम-आगम दोनों ही विश्वका निरूपण करते हैं। अतएव दोनों ही शास्त्र-विद्या नामसे प्रसिद्ध हुए। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, ओषधि, वनस्पति, कृमि, कीट, पक्षी, पशु, मनुष्य, धातु, रस, विष आदि प्रत्येक पदार्थ एक-एक विद्या है। ये सब विश्वान्तर्गता क्षुद्र विद्याएँ हैं। एवं सम्पूर्ण विश्व-विद्या महाविद्या है। उस महाविश्व-विद्याको सृष्टि-क्रमके अनुसार ऋषियोंने दस भागोंमें विभक्त माना है। निगममें वह दसावयवविद्या 'विराड्विद्या' नामसे प्रसिद्ध है। एवं आगममें वही 'महाविद्या' नामसे प्रसिद्ध है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। विश्व कैसे उत्पन्न हुआ? उत्पन्न विश्वका क्या स्वरूप है? उस विश्व-विद्याको समझनेसे हमारा क्या लाभ है? बस, आगमाचार्योंने दस महा-विद्याओंके द्वारा इन्हीं प्रश्नोंका समाधान किया है। आगमोक्त शक्तितत्त्वको 'महाविद्या' क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर हो चुका। अब प्रकृतका अनुसरण किया जाता है।

१० संख्या-रहस्य

पूर्व प्रकरणमें पुरुष-प्रकृतिके समन्वयसे विश्वरचना बतलायी गयी है। उस पुरुषके काल एवं यज्ञ-भेदसे दो विवर्त हैं। काल-पुरुष अनादि है, व्यापक है। यज्ञ-पुरुष सादि है, परिच्छिन्न है। व्यापक काल-पुरुषका ही यत्किञ्चित् प्रदेश परिच्छिन्न होकर यज्ञ-पुरुष कहलाने लगता है। काल-पुरुष सृष्टिका प्रथम प्रवर्त्तक है। स्वयं यज्ञ-पुरुष भी काल-पुरुषका सहारा लेकर ही विश्व-निर्माणमें समर्थ होता है। उस महाकालके उदरमें अनन्त विश्वचक्र भ्रमण कर रहे हैं। मन्त्र-संहिताओंमें 'काल' नामसे प्रसिद्ध तत्त्व उपनिषदोंमें 'परात्पर' नामसे प्रसिद्ध है। सर्वमृत्युघन अमृततत्त्वका नाम ही परात्पर है। अमृततत्त्व सत् है। मृत्युतत्त्व असत् है।

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।

(श० १०।५।२)

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(ईश० ५)

—के अनुसार दोनों दोनोंमें ओतप्रोत हैं। एक निरञ्जन, निर्गुण, शान्त, शाश्वत, अभय, पूर्ण, मृत्युलक्षण है तो दूसरा साञ्जन, सगुण, अशान्त, अशाश्वत, सभय, स्वलक्षण है। तमःप्रकाशवत् परस्परमें अत्यन्त विरुद्ध होते हुए भी दोनों अविनाभूत हैं। दोनोंमें कौन आधार है, कौन आधेय है—यह नहीं कहा जा सकता। अँगुलीमें क्रिया है या क्रियामें अँगुली है, इसका निर्णय करना कठिन है। दोनोंमें सर्वथा एक सत् ही है। उसका कभी विनाश नहीं। दूसरा सर्वथा असत् ही है। विनाश ही उसका स्वरूप है। सदसद्रूप अमृत-मृत्युकी समष्टि ही वह काल-पुरुष है। इसी आधारपर **'अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।'** (गीता)—यह कहा जाता है। वह केवल असत् ही नहीं है, इसलिये तो उसे असत् नहीं कहा जा सकता; एवं न केवल सत् ही है, इसलिये सत् भी नहीं कहा जा सकता। सत् और असत्में परस्पर विरोध है, इसलिये उसे सदसत् भी नहीं कहा जा सकता। फिर वह है क्या? इसका उत्तर देते हुए वेदपुरुष कहते हैं—

नैव* वा इदमग्रेऽसदासीत्, नैव सदासीत्। आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत्। तस्मादेतद् ऋषिणाऽभ्यनुक्तं—नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् इति।

(शत० १०।४।१)

बस, इसी विलक्षण तत्त्वका नाम परात्पर है। यही काल-पुरुष है। उस असीम परात्परमें प्रतिक्षण विलक्षण-धर्मा मायाबलोंका उदय होता रहता है। जैसे दिग्देशकालसे अनन्त किन्तु संख्यामें एक महासमुद्रमें दिग्देशकालसे सान्त किन्तु संख्यामें अनन्त बुद्बुद उत्पन्न होते रहते हैं एवं क्षणानन्तर उसीमें विलीन होते रहते हैं, एवमेव

* इस विषयका निरूपण श्रीगुरुप्रणीत दशवादान्तर्गत 'सदसद्वाद' नामके ग्रन्थमें देखना चाहिये।

दिग्देशकालसे अनन्त किन्तु संख्यामें एक उस अमृत*-समुद्रमें दिग्देशकालसे सान्त किन्तु संख्यामें अनन्त सीमाभाव पैदा करनेवाले अनन्त मायाबल प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहते हैं। एवं क्षणानन्तर उसीमें विलीन होते रहते हैं। शान्तरस नित्य अशान्तिसे युक्त है। अशान्तिगर्भित नित्यशान्ति ही उसका स्वरूप है। शान्त अमृततत्त्वकी अपेक्षा वह सर्वथा कम्परहित है, बिलकुल स्थिर है। अशान्त मृत्युतत्त्वकी अपेक्षा वह सर्वथा कम्परूप है, गतिरूप है। उसके इसी अचिन्त्यरूपका निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(ईशावस्योपनिषद् ४-५)

जो मायाबल उस असीमको ससीम बना डालता है, जिसके प्रभावसे वह विश्वातीत विश्वचर और विश्व बन जाता है, जो शक्ति (बल) कालको यज्ञरूपमें परिणत कर डालती है, उसी महामायाका नाम प्रकृति है। इसीके समन्वयसे वह कालपुरुष अपने यत्किञ्चित् प्रदेशसे सीमित बनकर कामनाके चक्रमें फँस जाता है। एक-एक मायासे एक-एक विश्वचक्र उत्पन्न होता है। मायाबल अनन्त है। अतएव उसमें अनन्तविश्वचक्र हैं। उसके रोम-रोममें एक-एक ब्रह्माण्ड है। अनन्तविश्वाधिष्ठाता वह कालपुरुष नियति-रूप खड्ग हाथमें लिये सबपर शासन कर रहा है। सात लोक, चौदह भूतसर्ग, सारे विश्वचक्र सब उसीसे उत्पन्न हुए हैं। वह पूर्णपुरुष सबपर प्रतिष्ठित है। इसी सर्वेसर्वा कालपुरुषका निरूपण करती हुई अथर्वश्रुति कहती है—

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः
सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः॥
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चित-
स्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥

××× ××× ×××

स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत्
कालः स ईयते प्रथमो नु देवः॥

××× ××× ×××

स एव सं भुवनान्याभरत्
स एव सं भुवनानि पर्यैत्॥
पिता सन्नभवत् पुत्र एषाँ
तस्माद्वै नान्यत् परमस्ति तेजः॥
कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत।
कालेह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते॥

××× ××× ×××

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः॥
कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्।
स्वयम्भूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत॥

××× ××× ×××

कालेयमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधि तिष्ठतः।
इमञ्च लोकं परमञ्च लोकं
पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः।
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः
स ईयते परमो नु देव इत्यादि॥

(अथर्व सं० १९। ६। ५३-५४)

अनुपाख्य, अनिरुक्त, निरुक्त-भेदसे 'तम' तीन प्रकारका है। काला रंग, कोयला, डामर आदि निरुक्त-क्रम है। आप इनका भलीभाँति निर्वचन कर सकते हैं। रात्रिका अन्धकार, आँख मीचनेपर होनेवाला अन्धकार अनिरुक्त तम है। इसका प्रत्यक्षमात्र होता है। किन्तु निर्वचन नहीं हो सकता। निरुक्त विश्व-सत्ता है, अहः काल है, सृष्टि है। अनिरुक्त रात्रिकाल है, प्रलय है। अहोरात्रि दोनोंकी समष्टि विश्व है। विश्वाभाव 'अनुपाख्य' तम है। यह अनुपाख्य तम प्रलयकालमें अनिरुक्त-तमसे आवृत रहता है। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर अनिरुक्त-तमसे आवृत अनुपाख्य-तमका निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥

(ऋ० ७। १२९। ३)

यह विश्वातीत अनुपाख्यतम ही हमारा सुपरिचित

* इस विषयका विशद विवेचन श्रीगुरुप्रणीत 'अमृतमृत्युवाद' में देखना चाहिये।

कालपुरुष है। वह विश्वाभावरूप है। अतएव सद्रूप होनेपर भी हमारे ज्ञानचक्षुसे अतीत होनेके कारण ऋषि उसे 'असत्' कहते हैं। असत्का अर्थ अभाव नहीं है। अपितु इस विश्वकालमें वह इससे विलक्षण किन्तु सत् है—यही तात्पर्य है। इसी अभिप्रायसे—

असदेवेदमग्र आसीत्। तत् सदासीत्। कथमसतः सज्जायेत। तत् समभवत्। तद् आण्डं निरवर्त्तत।

—इत्यादि कहा जाता है। वही असत् किन्तु सत् कालपुरुष महामायासे परिच्छिन्न हो जाता है। अपरिमितमें किसीका अभाव नहीं। वह आप्तकाम है। अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिके लिये कामना होती है। उस व्यापकमें सब कुछ है। अतएव उसमें कामनाका अभाव है। परन्तु उसीका मायी प्रदेश सीमित बनकर अनाप्तकाम होता हुआ काममय बन जाता है। उसकी कामनाका '**एकोऽहं बहु स्याम्**' यही रूप है। माया-बलके अव्यवहितोत्तर-कालमें ही उसमें हृदयबल (केन्द्रशक्ति) उत्पन्न हो जाता है। बस, केन्द्रस्थ वही रसबलात्मक तत्त्व कामनामय होता हुआ 'मन' नाम धारण कर लेता है। कामना मनका ही व्यापार है। एवं '**हृत्प्रतिष्ठम्**' (यजुः) के अनुसार मन हृदयमें ही प्रतिष्ठित रहता है। सबसे पहले इस मनसे विश्वरेत-(उपादानभूत शुक्र) भूत कामनाका ही उदय होता है। जैसा कि ऋषि कहते हैं—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधिमनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।

(ऋक्० १०। १२९। ४)

उसकी इन कामनासे पूर्वोक्त पञ्चजनादि क्रमसे प्रथम वेद नामके पुरञ्जनका ही प्रादुर्भाव होता है। ऋक्, यजुः, साम, अथर्व-भेदसे वेद चार प्रकारका है। त्रयीवेद अग्निवेद है। अथर्व सोमवेद है। त्रयी-ब्रह्म स्वायम्भुवब्रह्म है। अथर्व पारमेष्ठ्य सुब्रह्म है। ब्रह्म आग्नेय होनेसे पुरुष है। सुब्रह्म सौम्य होनेसे स्त्री है। त्रयी-ब्रह्मके मध्यपतित 'यजुः' भागमें यत्-जू दो तत्त्व हैं। यत् गतितत्त्व है, यही प्राण और वायु-नामसे प्रसिद्ध है। जू स्थितितत्त्व है। यही वाक्, आकाश नामसे प्रसिद्ध है। प्राणवाक्, किंवा वाय्वाकाशरूप स्थिति-गतितत्त्वकी समष्टि ही यजुर्वेद है। प्राणरूप यत्के काम, तप, श्रमसे वाक्रूप जू-भागसे सर्वप्रथम पानी ही उत्पन्न होता है। इसी आधारपर '**सोऽपसृजत वाच एव लोकात्—वागेव सासृज्यत**' (शत० ६। १। १), '**अप एव ससर्जादौ**' (मनु० १। ८)-यह कहा जाता है। त्रयी-ब्रह्मके वाक्भागसे उत्पन्न इसी आपतत्त्वका नाम अथर्ववेद है। यजुरूप स्वायम्भुव ब्रह्मका पसीना ही 'अथर्वरूप सुब्रह्म है' (देखो गोपथ १। १। १)। पूर्वोक्त यजुके यत्-जूका निर्वचन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—'**अयमेवाकाशो जूः—यदिदमन्तरिक्षम्। तदेतद्यजुर्वा-युश्चान्तरिक्षञ्च, यच्च जूश्च तस्माद्यजुः। तदेतद्यजुर्ऋक्सामयोः प्रतिष्ठा। ऋक्सामे वहतः**' (शत० १०। २। ३। ६। १)। इस प्रकार ऋक्, साम, यत्, जू-भेदसे अग्निवेद चतुष्कल हो जाता है। दूसरा है आपोमय सोम (अथर्व) वेद। यह भृगु, अङ्गिरा-भेदसे दो भागोंमें विभक्त है। घन, तरल, विरल इन तीन अवस्थाओंके कारण भृगु—आप, वायु सोम इन तीन अवस्थाओंमें परिणत हो जाता है। एवं अङ्गिरा—अग्नि, यम, आदित्य तीन अवस्थाओंमें परिणत हो जाता है। इस प्रकार आपोवेद षट्कल हो जाता है। भृग्वङ्गिरारूप आपोवेदके साथ चतुष्कल त्रयीवेदका समन्वय होता है। इसी विज्ञानको लक्ष्यमें रखकर श्रुति कहती है—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः॥

पूर्वोक्त षट्कलसुब्रह्म, सौम्य होनेसे स्त्री है। चतुष्कलत्रयी-ब्रह्म आग्नेय होनेसे पुरुष है। दोनोंके समन्वयसे ब्रह्म-सुब्रह्मात्मक विराट् पुरुषका जन्म होता है। वह वेदमूर्ति पूर्ण पुरुष अपने-आपको इन्हीं दो भागोंमें विभक्त कर विराट्को उत्पन्न करता है। इसी अभिप्रायसे मनु कहते हैं—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥

(मनु० १। ३२)

ऋक्, साम, यत्, जू, आप, वायु, सोम, अग्नि, यम, आदित्य-भेदसे वह विराट् दशकल है। पूर्वोक्त वही अक्षर प्रजापति वेदरूपमें परिणत होकर दशकल बन जाता है। इसी आधारपर '**दशाक्षरा वै विराट्**' (शत० १। १। २) यह कहा जाता है। अग्निषोमरूप ब्रह्म-सुब्रह्मके समन्वयसे उत्पन्न होनेवाले इस विराट्पुरुषको हम अवश्य ही यज्ञपुरुष कहनेके लिये तैयार हैं। क्योंकि अग्नीषोमके सम्बन्धका ही नाम यज्ञ है। उस कालपुरुषका

अवयवभूत **'तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्त्रष्टारं द्विजसत्तमाः'** (मनु० १। ३३) के अनुसार सृष्टिकर्ता दशाक्षर विराट्पुरुष ही दूसरा यज्ञपुरुष है। इसीसे सारी प्रजा उत्पन्न होती है। अतएव हम इसे प्रजापति कहनेके लिये तैयार हैं। विश्वका प्रत्येक पदार्थ यज्ञपुरुष है। अग्नीषोमात्मक है। विराट्रूप है। अतएव प्रजापतिस्वरूप है। वह विश्वरूप विराट्प्रजापति चूँकि दशावयव है, अतएव इस प्राजापत्या विश्वविद्याको पूर्वोक्त निगम-विद्याके आधारपर हम अवश्य ही दशावयव माननेके लिये तैयार हैं। इसीको दशहोता, दशाह आदि नामोंसे भी व्यवहृत करते हैं। यही सारे विश्वकी प्रतिष्ठा है। जैसा कि निम्नलिखित निगम-अनुगम श्रुतियोंसे स्पष्ट हो जाता है—

१—**यज्ञो वै दशहोता** (तै० ब्रा० २। २। १। ६)

२—**विराड् वा एषा समृद्धा यद्दशाहानि** (तां० ब्रा० ४। ८। ६)

३—**विराट् वै यज्ञः** (शत० १। १। १)

४—**दशाक्षरा वै विराट्** (शत० १। १। १)

५—**यज्ञ उ वै प्रजापतिः** (कौ० ब्रा० १०। १)

६—**प्रजापतिर्वै दशहोता** (तै० ब्रा० २। २। १। ६)

७—**अन्तो वा एष यज्ञस्य यद्दशममहः** (तै० ब्रा० २। २। ६। १)

८—**प्रतिष्ठा दशमहः** (कौ० ब्रा० २७। २)

९—**एतद्वै कृत्स्नमन्नाद्यं यद् विराट्** (कौ० १४। २)

१०—**विराड् विरमणाद् विराजनाद्वा** (दे० ३। १२) इत्यादि।

'न्यूनाद्वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते' (११। १। २। ४) इस श्रौत-सिद्धान्तके अनुसार न्यून विराट्से ही सृष्टि होती है। पुरुष-पुरुषके संयोगसे, स्त्री-स्त्रीके संयोगसे कभी सृष्टि सम्भव नहीं। पुरुष-स्त्रीके समन्वयसे ही सृष्टि होती है। स्त्री सौम्या होनेसे भोग्य है। पुरुष आग्नेय होनेसे भोक्ता है। अतएव वह स्त्रीसे प्रबल है। स्त्री पुरुषापेक्षया न्यून है। इस न्यून सम्बन्धसे ही प्रजोत्पत्ति होती है। उधर हमारे विराट्में भी त्रयी-ब्रह्म आग्नेय होनेसे भोक्ता है। सुब्रह्म सौम्य होनेसे भोग्य है। ब्रह्म प्राण है। सुब्रह्म रयि है। प्रश्नोपनिषद्में* रयि-प्राण शब्दसे ही दोनोंको व्यवहृत किया है। कहना यही है कि दशाक्षरपूर्ण विराट्से सृष्टि नहीं होती, ९ अक्षरके न्यून विराट्से ही सृष्टि होती है। **'न वै एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम्'** -इस श्रौत-सिद्धान्तके अनुसार एक अक्षर कम हो जानेपर भी विराट्का विराट्पना अक्षत रहता है। सबसे पहले कुछ न था। शून्य विन्दु था। विन्दुका अर्थ शून्य नहीं है, अपितु पूर्ण है। अतएव ज्योतिष-विज्ञान शून्यको पूर्ण कहता है। यह उस ब्रह्माक्षरका पहला उन्मुग्धरूप है। उससे ९ अक्षरका ही विराट् उत्पन्न होता है। यत्-जूको उन्मुग्ध माननेसे पूर्वोक्त विराट् ९ अक्षरका ही रह जाता है। ९ ही प्रधान है। इसी रहस्यको बतलानेके लिये ९ संख्याको ही प्रधानता दी गयी है। असली संख्या ९ ही है। पहले शून्य विन्दु था। उससे क्रमशः १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९ इन ९ संख्याओंका विकास हुआ। ९ पर संख्या समाप्त हो गयी। ९ के समाप्त होनेपर शून्यके साथ एकका सम्बन्ध हो जाता है। वही १० है। पुनः ११, १२ इत्यादि क्रमसे १९ पर समाप्ति है। अनन्तर उस शून्यका २ से सम्बन्ध हो जाता है, वही २० है। २९ पर इसकी समाप्ति है। इस क्रमसे ९ पर ही संख्याका अवसान होता है। यही कारण है कि ९ संख्याको छोड़कर १, २, ३ आदि किसी संख्याका सङ्कलन-फल समान नहीं आता। ९ मेंसे एकको पृथक् कीजिये, ८ संख्या जोड़िये, १८ हो जायँगे। २ में ७, ३ में ६, ४ में ५, ५ में ४, ६ में ३, ७ में २, ८ में १, इस क्रमसे अन्तमें ९ ही बचते हैं। ९+९=१८ होते हैं। १+८=९ हैं। ९ मिलानेसे २७ हैं। २+७=९ हैं। और ९ मिलानेसे ३६ होते हैं। ३+६=९ हैं। यही क्रम आगे समझिये। अन्ततोगत्वा ९ ही शेष रह जाते हैं। १० वाँ वही पूर्णरूप है। वही महाकाल नामका विश्वातीत परात्पर है। उस शून्यरूप पूर्णपुरुषके पेटमें ९ वाँ अक्षर विराट्रूप यज्ञपुरुष समा रहा है। उसी पूर्णरूपको १० वाँ प्रतिष्ठा नामका **'अहः'** बतलाया गया है। इसी पूर्णेश्वरका निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक-
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥

१० संख्यामें एकका स्वतन्त्र विभाग है। वही विन्दु है। ९ का स्वतन्त्र विभाग है। वही विराट् है। नीचे लिखी तालिकासे पूर्वोक्त संख्याविज्ञान स्पष्ट हो जाता है—

* रयि-प्राणका विशद विज्ञान हमारे लिखे हुए प्रश्नोपनिषद्के वैज्ञानिक भाषाभाष्यमें देखना चाहिये।

० पूर्णब्रह्म=कालपुरुष
१+८=१८-९
२+७=२७-९
३+६=३६-९
४+५=४५-९
५+४=५४-९
६+३=६३-९
७+२=७२-९
८+१=८१-९
९+०=९०-९

विश्वेश्वर ब्रह्म

इस दससंख्याविज्ञानसे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि वास्तवमें निगमोक्ता सृष्टिविद्या १० भागोंमें विभक्त है। एक ही पुरुष १० भागोंमें विभक्त हो रहा है। एक पुरुष १० पुरुष बन रहा है। पुरुष प्रकृतिसे अविनाभूत है। बस, निगम-मूलक आगम-शास्त्र सृष्टिविद्यारूपा इन्हीं १० शक्तियोंका निरूपण करता है। वही शक्तिप्रपञ्च १० महाविद्या-नामसे प्रसिद्ध है। वे दसों महाविद्याएँ—१ महाकाली, २ उग्रतारा, ३ षोडशी, ४ भुवनेश्वरी, ५ छिन्नमस्ता, ६ भैरवी, ७ धूमावती, ८ वगलामुखी, ९ मातङ्गी, १० कमला—इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। इन सबमेंसे महाकालीके स्वरूपकी ओर ही पाठकोंका ध्यान आकर्षित किया जाता है—

महाकाल-पुरुष और उसकी शक्ति 'महाकाली' १

परात्पर-नामसे प्रसिद्ध विश्वातीत महाकाल-पुरुषकी शक्तिका ही नाम महाकाली है। शक्ति शक्तिमान्से अभिन्न है। अतएव अद्वैतवाद अक्षुण्ण रहता है। अग्निकी दाहकशक्ति जैसे अग्निसे अभिन्न है, प्रकाश-शक्ति जैसे सूर्यसे अभिन्न है, तथैव चिदात्माकी शक्ति चिदात्मासे अभिन्न है। वह एक ही तत्त्व शिव-शक्तिरूपमें परिणत हो रहा है। अर्द्धनारीश्वरकी उपासनाका यही मौलिक रहस्य है। शक्ति-शक्तिमान्में स्त्री-पुंभाव-भेद मानना अनुचित है। इसी आधारपर रहस्य-शास्त्र कहता है—

सा च ब्रह्मस्वरूपा च नित्या सा च सनातनी।
यथात्मा च तथा शक्तिर्यथाग्नौ दाहिका स्थिता॥
अत एव हि योगीन्द्रैः स्त्रीपुम्भेदो न मन्यते।
सर्वं ब्रह्ममयं ब्रह्मन् शश्वत् सदपि नारद॥

(दे० भा० ९। १। १०-११)

अपि च—

अहमेवास पूर्वं तु नान्यत् किञ्चिन्नगाधिप!
तदात्मरूपं चित्संवित् परब्रह्मैकनामकम्॥
तस्य काचित् स्वतःसिद्धा शक्तिर्मायेति विश्रुता।
पावकस्योष्णतेवेयमुष्णांशोरिव दीधितिः॥
स्वशक्तेश्च समायोगादहं बीजात्मतां गता।

(दे० भा० ७। ३२। ६)

मन्मायाशक्तिसंक्लृप्तं जगत् सर्वं चराचरम्।
सापि मत्तः पृथङ् माया नास्त्येव परमार्थतः॥

(दे० भा० ७। ३३। ५)

हम कह आये हैं कि जब कुछ न था, उस समय केवल अनुपाख्य तम था। उसी स्थितिका निरूपण करते हुए भगवान् मनु कहते हैं—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

(मनु० १। ५)

वह अप्रज्ञात, अलक्षण, अप्रतर्क्य, अनिर्देश्य तत्त्व ही महाकाल है। उसीकी शक्ति महाकाली है। सृष्टिसे पहले इसी महाविद्याका साम्राज्य रहता है। वह पहला स्वरूप है। अतएव महाकाली आगमशास्त्रमें प्रथमा, आद्या आदि नामोंसे व्यवहृत हुई है। रात्रि प्रलयकालका स्वरूप है। उसमें भी रात्रिके १२ बजेका समय तो घोरतम है। यही महाकाली है। सूर्योदयसे पहले, रात्रिके १२ बजेसे बीचका सारा समय महाकाली है। उत्तरोत्तर तमका ह्रास है। इतने समयको तमके तारतम्यके कारण ऋषियोंने ८४ विभागोंमें विभक्त किया है। वही महाकालीके ८४ अवान्तर विभाग हैं। प्रत्येकका स्वरूप भिन्न-भिन्न है। शक्तिके उन्हीं स्वरूपोंको समझानेके लिये निदान-विद्याके आधारपर ऋषियोंने उनकी मूर्त्तियोंका निर्माण किया है। सभी शक्तियाँ अचिन्त्या हैं। निर्गुण हैं। प्रत्यक्षसे परे हैं। परन्तु—

अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

—इस आर्ष-सिद्धान्तके अनुसार उनके स्वरूप-ज्ञान एवं उपासनाके लिये उनकी कल्पित मूर्त्तियाँ बनायी गयी हैं। धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, रहस्य, गाथा आदिवत् दुर्भाग्यसे आज निदानशास्त्र भी लुप्त हो गया है। मूर्त्तियोंके रचना-वैचित्र्यपर आज जो सन्देह हो रहे हैं, उसका मूलकारण निदानविद्याका लोप है। दस महाविद्याओंके स्वरूपका निदानसे सम्बन्ध है, अतः संक्षेपसे निदान-शब्दका निर्वचन कर देना अनुचित न होगा—

सङ्केतका ही नाम निदान है। अमुकको अमुक समझो, यही निदान है। इहलौकिक एवं पारलौकिक दोनों भावोंमें निदानका समान सम्बन्ध है। शोकका निदान काला वस्त्र है। खतरेका निदान लाल वस्त्र है। निरुपद्रवताका निदान हरित वस्त्र है। कीर्त्तिका निदान श्वेत वस्त्र है।

पृथिवीका निदान कमल है। मोहशक्तिका निदान 'सुरा' है। लक्ष्मीका निदान हस्ती है। विजयका निदान ध्वज है। संहारशक्तिका निदान कटा मस्तक है। न केवल भारतीय ही, अपितु संसारके मनुष्यमात्र हमारी इस निदानविद्याके उपासक हैं। पाश्चात्त्य मनुष्य शोकावसरपर काली पट्टी हाथमें बाँधते हैं। फाँसीका हुक्म सुनानेवाला जज लाल वस्त्र पहनता है। भारतीय मूर्त्ति-निर्माणपर नाक-भौं सिकोड़नेवाले उन महानुभावोंसे हम पूछते हैं कि काले वस्त्रसे शोकका क्या सम्बन्ध है? इसके उत्तरके लिये उन्हें भारतीय निदानविद्याकी ही शरण लेनी पड़ेगी। परन्तु इतना अवश्य समझ लेना चाहिये कि इस निदानका सजातीय-भावसे ही सम्बन्ध रहता है। चाहे जिसपर सङ्केत-सम्बन्ध नहीं हो सकता। शोकसे ज्ञानप्रकाश मन्द हो जाता है। सारी चेतना-ज्योति शोक-सन्तापसे आवृत हो जाती है। इधर कृष्ण वस्त्र सारे प्रकाशको पी जाता है। इसी समानताको लक्ष्यमें रखकर काले वस्त्रको शोकका निदान माना गया है। कीर्त्ति मनुष्यमें रश्मिवत् निकलकर चारों ओर उस मनुष्यको प्रकाशित कर देती है। प्रकाशका रूप शुक्ल है। इधर शुक्ल वस्त्र भी शुक्ल है। साथहीमें कृष्ण वस्त्रवत् इसमें सौर-रश्मियाँ लीन न होकर प्रतिफलित होती हैं। इसी सादृश्यसे शुक्ल वस्त्रको कीर्त्तिका निदान माना गया। पानीमें रुद्रवायुके प्रवेशसे घनता आती है। वही घन पानी हरित काई बनती है। वही पुष्करपर्ण है। **'आपो वै पुष्करपर्णम्'** (शत० ६। ४। २। २) के अनुसार यह पत्ता पानीका है। यही आगे जाकर फेन, मृत्, सिकता, शर्करा, अश्मा, अय, हिरण्य इन रूपोंमें परिणत होकर पृथिवीपुररूपमें परिणत हो जाता है। पुरकर होनेसे ही इसे पुष्कर कहा जाता है। पृथिवीकी सृष्टि पुष्करपर्णसे ही हुई है। अतएव उसी पानीसे उत्पन्न होनेवाले कमलको पृथिवीका निदान माना गया। जिस देवताके हाथमें आप कमलपुष्प देखो विश्वास करो सम्पूर्ण भूमण्डलपर उस देव-प्राणका साम्राज्य है। मायाजनित मोहसे मनुष्यकी विवेक-शक्ति नष्ट हो जाती है। उधर सुराका भी यही गुण है। अतएव सुराको मोह-शक्तिका निदान माना गया। भगवतीके हाथमें सुरापात्र है, इससे ऋषि यही सिखलाते हैं कि उस महामायाने अपनी मोह-मदिरासे सबको उन्मत्त बना रखा है। फाँसी रक्तपात है, अतएव रक्त वस्त्रको इसका निदान माना गया। खूब वृष्टि होनेपर वृक्षोंमें हरियाली आ जाती है। रूक्षता जाती रहती है। सर्वत्र शान्तिका साम्राज्य हो जाता है। अतएव हरित वस्त्रको शान्तिरसका निदान माना गया। स्टेशनोंपर हरी झंडी निरुपद्रवताका निदान है। लाल झंडी खतरेकी द्योतक है। इन सब उदाहरणोंसे बतलाना यही है कि निदान अनुरूपभावसे ही सम्बन्ध रखता है। प्रकृतमें शक्ति-तत्त्व ही निरूपणीय है। अतः प्रधानरूपसे शक्तिसम्बन्धी निदानपर ही प्रकाश डाला जायगा। शक्तिप्रतिमाओंके अनेक रूप हैं। किसीके चौंसठ भुजाएँ हैं। किसीके बत्तीस, किसीके आठ, किसीके चार, किसीके दो ही। किसीने जिह्वा निकाल रखी है। किसीके हाथमें कमल है। किसीके हाथमें नरमुण्ड, किसीके कर्त्तरी (कैंची), किसीके परशु है। कोई मुर्देपर खड़ी है। कोई अट्टहास करती हुई सुरापान कर रही है। कोई नग्न है। न समझनेवाले उपहास भले ही करें; परन्तु जिस दिन उन्हें निदान-रहस्य मालूम हो जायगा, उस दिन अवश्य ही वे भारतीय संस्कृतिके सामने अपना मस्तक झुका देंगे। महाकाल-पुरुषकी महाशक्तिरूपा जिस महाकालीका पूर्वमें निरूपण किया गया है, सर्वप्रथम उसीके निदानकी ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है। तत्तद्देवताओंकी तत्तच्छक्तियोंको समझानेके लिये ऋषियोंने निदानद्वारा तत्तद्देवताओंका तत्तदनुरूप ध्यान बना डाला है। प्रत्येक देवताकी उपासना-विधिके प्रारम्भमें ही **'अथ ध्यानम्'** लिखा रहता है। ऋषि आदेश करते हैं कि जिस देवताकी तुम उपासना करने चले हो, पहले उसके स्वरूपका ध्यान करो। यदि महाकालीकी उपासना करना चाहते हो तो निम्नलिखित ध्यानानुमोदित स्वरूपपर दृष्टि डालो—

शवारूढां महाभीमां घोरदंष्ट्रां हसन्मुखीम्।
चतुर्भुजां खड्गमुण्डवराभयकरां शिवाम्॥ १॥
मुण्डमालाधरां देवीं ललज्जिह्वां दिगम्बराम्।
एवं सञ्चिन्तयेत् कालीं श्मशानालयवासिनीम्॥ २॥

(शाक्तप्रमोद—कालीतन्त्र)

'वह महाकाली मुर्देपर सवार है। उसकी शरीराकृति महा डरावनी है। उसकी दंष्ट्रा बड़ी तीक्ष्ण अतएव महा भयावह है। ऐसे महा भयानक रूपवाली वह आदिमाया हँस रही है। उसके चार हाथ हैं। एक हाथमें खड्ग है। एकमें नरमुण्ड है। एकमें अभय-मुद्रा है। एकमें वर है। गलेमें

मुण्डमाल है। जिह्वा बाहर निकल रही है। वह सर्वथा नग्न है। श्मशान ही उसकी आवासभूमि है।' पूर्वोक्त ध्यानका यही अक्षरार्थ है। अब रहस्यार्थपर दृष्टि डालिये—

हम बतला आये हैं कि महाकाली नामकी महाशक्ति प्रलयरात्रिके मध्यकालसे सम्बन्ध रखती है। संसार जबतक शक्तिमान् रहता है, तभीतक वह शिव है। शक्ति निकल जानेपर वह 'शव' बन जाता है। दूसरे शब्दोंमें, उसका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। विश्वातीत परात्पर नामसे प्रसिद्ध महाकालकी शक्तिभूता महाकालीका विकास विश्वसे पहले है। विश्वका संहार करनेवाली कालरात्रि वही है। सृष्टिकाल उसकी प्रतिष्ठा नहीं है, प्रलयकाल उसकी प्रतिष्ठा है। दूसरे शब्दोंमें शक्तिमान् विश्व उसकी प्रतिष्ठा नहीं है, अपितु शक्तिशून्य अतएव शवरूप विश्व उसका आलम्बन है। प्रलयकालमें विश्व शवरूपसे पड़ा है। उसपर वह खड़ी है। इसी रहस्यको समझानेके लिये शवको शक्तिशून्य, अतएव शवरूप विश्वका निदान माना गया। वह अनुपाख्य तमरूपा है। नाश करनेवाली है। शत्रु-संहार करनेवाले योद्धाकी आकृति महा भयावह हो जाती है। साधारण मनुष्य तो उसकी ओर देख भी नहीं सकता। बस, प्रलय-रात्रिरूपा संहारकारिणी शक्तिके इसी स्वरूपको बतलानेके लिये भयानक आकृतिको निदान माना गया। शत्रुपक्षकी सेनाको नष्टकर योद्धा अट्टहास करता है। उसका वह हँसना भीषणता लिये हुए होता है। उस समय उसीका साम्राज्य हो जाता है। यही स्थिति महाकालीकी है। अतएव उसके लिये '**हसन्मुखीम्**' कहा गया। अपि च निर्बल मनुष्यके आक्रमणोंको विफलकर सबल मनुष्य उसकी निर्बलतापर हँसा करता है। आज वही दशा इस विश्वकी है। जो विश्व एवं विश्वकी प्रजा अपने-आपको सर्वेसर्वा समझते थे आज वे उससे परास्त हैं। इस भावका निदान भी हँसना है। प्रत्येक गोल वृत्तमें ३६० अंश माने जाते हैं। उसमें ९०-९० के चार विभाग माने जाते हैं। यही उस वृत्तकी चार भुजाएँ हैं। इन्हींको 'ख स्वस्तिक' कहा जाता है। खगोलके वही चारों स्वस्तिक इन्द्रोपलक्षित चित्रा नक्षत्र, पूषोपलक्षित रेवती नक्षत्र, तार्क्ष्योपलक्षित श्रवण नक्षत्र, बृहस्पत्युपलक्षित लुब्धकबन्धु नक्षत्र, इन चार नक्षत्रोंसे सम्बन्ध है। चित्रासे श्रवण ठीक षड्भान्तरपर (१८० अंशपर) है। रेवतीसे लुब्धक इतने ही फासलेपर है। आकाशकी इन्हीं चारों भुजाओंका निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।

(यजु०)

बतलाना इससे यही है कि पूर्ण वृत्तमें चार भुजाएँ होती हैं। वह महाकाली पूर्णरूपा है—यह पूर्वोक्त संख्याविज्ञानमें स्पष्ट हो चुका है। अनन्ताकाशरूप महा अवकाशमें चतुर्भुजरूपमें परिणत होकर ही वह विश्वका संहार करती है। इसी रहस्यका निदान चार भुजाएँ हैं। नाश-शक्तिका निदान खड्ग है। नष्ट होनेवाले प्राणियोंका निदान कटा मस्तक है। स्थिति-विच्युतिका नाम कम्प है। कम्प ही भय है। यही क्षोभ है। विश्व ससीम है—अतएव वह सभय है। परन्तु व्यापकतत्त्वमें कम्परूप भयका अभाव है। उससे अतिरिक्त कोई स्थान नहीं, अतएव उसमें भय नहीं। ऐसा है एकमात्र विश्वातीत महाकाल-पुरुष। क्योंकि वह व्यापक है। '**अभयं गतो भवति**' इत्यादि रूपसे उसी परात्पर उपनिषद् अभय बतलाता है। सुतरां उसकी शक्तिकी भी अभयरूपता सिद्ध हो जाती है। वह संहार करती है, डरावनी है, घोररूपा है, सभी कुछ है। परन्तु विश्वास करो, अभय-पद-प्राप्ति भी उसीकी आराधनापर निर्भर है। अभय-मुद्रा इसीका निदान है। विश्व-सुख क्षणिक है। अतएव दुःखरूप है। परम सुख तो उसीकी आराधनासे मिल सकता है। परम शिवरूपा तो वही है। जीवित दशामें जो सबका आधार थी, प्रलयकालमें भी वही सबका आधार है। ध्वस्त विश्वके निर्जीव प्राणियोंका निर्जीव भाग भी उसीपर प्रतिष्ठित है। उस व्यापक तत्त्वसे बाहर कोई कैसे बच सकता है। इसी परायणभावका निदान 'मुण्डमाल' है। विश्वसे उस शक्तिका आवरण हो जाता है। '**तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' के अनुसार वह शक्ति विश्व निर्माण कर उसके भीतर प्रविष्ट हो जाती है। विश्व ही उसका वस्त्र है। परन्तु विश्वनाशके अनन्तर वह स्व-स्वरूपसे उल्बण है। उस स्थितिमें आवरणका अभाव है। वहाँ केवल दिशाएँ ही वस्त्र हैं। इसी अवस्थाका निदान 'नग्न' भाव है। उस महाशक्तिका पूर्ण विकास काल है विश्वका प्रलयकाल। सारा विश्व जब श्मशान बन जाता है, तब उस तमोमयीका विकास होता है।

श्मशान इसी अवस्थाका निदान है। यह है महाकालीका स्वरूप। साधारण मनुष्य इस गम्भीर भावकी आराधना करनेमें असमर्थ हैं। अतएव उनके कल्याणके लिये परम कारुणिक महर्षियोंने निदानद्वारा पूर्वोक्त प्रतिमाओंकी कल्पना की है। प्रलयकालकी कैसी स्थिति है? उसके जाननेसे हमारा क्या लाभ है? पूर्वोक्त ध्यान-विज्ञानसे सबका उत्तर हो जाता है। अन्तमें उसी परमाराध्या आद्याका स्मरण करते हुए इस प्रथमा विद्याके निरूपणको समाप्तकर दूसरी विद्याकी ओर आपका ध्यान आकर्षित करते हैं।

अक्षोभ्य पुरुष और उसकी महाशक्ति 'तारा' २

रात्रिके १२ बजेसे प्रातः ६ तक (सूर्योत्पत्तिसे पहले) चतुरशीति-(८४) भेदभिन्ना महाकालीकी सत्ता बतलायी गयी है। इसके बाद 'तारा' का साम्राज्य है। हिरण्यगर्भविद्याके अनुसार निगम-शास्त्रने सम्पूर्ण विश्वकी रचनाका आधार सूर्यको माना है। सौरमण्डल आग्नेय होनेसे हिरण्मय कहलाता है। क्योंकि अग्नि हिरण्यरेता है। उस हिरण्मय मण्डलके (आग्नेय सोलरसिस्टमके) केन्द्रमें वह सौर-ब्रह्म-तत्त्व प्रतिष्ठित है। अतएव सौर-ब्रह्मको 'हिरण्यगर्भ' कहा जाता है। भूः, भुवः, स्वः रूप रोदसी त्रिलोकीके निर्माता एवं अधिष्ठाता, स्वयम्भू परमेष्ठीरूप अमृतासृष्टि, पृथिवीचन्द्रमारूपा मर्त्यासृष्टिके विभाजक एवं सञ्चालक, विश्वकेन्द्रमें प्रतिष्ठित इन्हीं भगवान् हिरण्यगर्भका प्रादुर्भाव होता है।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(यजु० २३। १)

यह श्रुति इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करती है। जैसे विश्वातीत कालपुरुषकी शक्ति महाकाली थी, वैसे ही विश्वाधिष्ठाता इस हिरण्यगर्भ-पुरुषकी शक्ति 'तारा' है। घोर तममें दीपक-बिम्ब तारा-सदृश प्रकाशित रहता है। उस महातमके केन्द्रमें उत्पन्न होनेवाले सूर्यकी वही स्थिति है। अतएव श्रुतिमें सूर्य 'नक्षत्र' नामसे प्रसिद्ध हैं (देखो शत० २। १। २। १८)। अतएव इनकी शक्ति आगमशास्त्रमें 'तारा' नामसे प्रसिद्ध हुई। यह पुरुष तन्त्रशास्त्रमें 'अक्षोभ्य' नामसे प्रसिद्ध है। वैदिक सिद्धान्तके अनुसार सूर्य सर्वथा स्थिर है। बृहती-छन्द-नामसे प्रसिद्ध सुप्रसिद्ध विष्वद्वृत्तके ठीक मध्यमें क्षोभरहित होकर स्थिररूपसे भगवान् सूर्य तप रहे हैं—

'सूर्यो बृहतीमध्यूढस्तपति।'

'उदयास्तमनञ्चैव दर्शनादर्शनं रवेः।'

—इत्यादि वचन सूर्यको स्थिर ही बतलाते हैं। चूँकि यह क्षोभरहित है। अतएव ये 'अक्षोभ्य' नामसे प्रसिद्ध हुए। सूर्यको हमने प्रारम्भमें रुद्र कहा है। एवं शिव-घोर-भेदसे इसके दो शरीर बतलाये हैं। आपोमय पारमेष्ठ्य महासमुद्रमें घर्षणद्वारा आग्नेय परमाणु उत्पन्न हुए। अनन्तर 'श्वेतवाराह' नामसे प्रसिद्ध प्राजापत्य-वायुद्वारा उनका केन्द्रमें संघात हुआ। संघात होते-होते वह अग्नि-परमाणु-संघ पिण्डरूपमें परिणत होता हुआ सहसा प्रज्वलित हो पड़ा। उसीका नाम सूर्य हुआ। उत्पन्न होते ही इस रुद्राग्निने अन्नकी इच्छा की। क्योंकि अन्नाद अग्नि बिना अन्नाहुतिके क्षणमात्र भी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। इस अन्नाहुतिसे पहले वह सूर्य महा उग्र था। संसारको जला डालनेवाला था। बस, इस समयके उग्र सूर्यकी जो शक्ति थी वही 'उग्रतारा' नामसे प्रसिद्ध हुई। जबतक अन्नाहुति होती रहती है तबतक 'तारा' शान्त रहती है। अन्नाभावमें वही उग्र बनकर संसारका नाश कर डालती है। उसी उग्रभावका, उग्रशक्तिका निरूपण करता हुआ रहस्य कहता है—

प्रत्यालीढपदार्पिताङ्घ्रिशवहृद्घोराट्टहासा परा
खड्गेन्दीवरकर्त्रिखर्परभुजाहुङ्कारबीजोद्भवा।
खर्वा नीलविशालपिङ्गलजटाजूटैकनागैर्युता
जाड्यं न्यस्य कपालकर्तृजगतां हन्त्युग्रतारा स्वयम्॥

(शाक्तप्रमोद—तारातन्त्र)

महाकाली महाप्रलयकी अधिष्ठात्री थी, उग्रतारा सूर्यप्रलयकी अधिष्ठात्री है। प्रलय करना दोनोंका समान धर्म है। अतएव महाकाली और उग्रताराके ध्यानमें थोड़ा ही अन्तर है। इसकी चारों भुजाओंमें सर्प लिपट रहे हैं। यह शक्ति प्रलयकालमें जहरीली गैससे ही विश्वका संहार करती है। प्रलयकालमें हवा जहरीली हो जाती है। दम घुटने लगता है। जिसका यत्किञ्चित् निदर्शन बिहारके परिहारसे स्पष्ट हो रहा है। इसीका निदान सर्प है। संसार नष्ट हो जाता है। उस शक्तिकी सत्ता विश्व-केन्द्रमें बतलायी है। शवरूप विश्व-केन्द्रमें वह प्रतिष्ठित है। इसी रहस्यको बतलानेके लिये शवके हृदयपर उसे प्रतिष्ठित किया है। सौर-अग्नि अन्नाहुति बन्द होनेसे प्रबल वेग

धारण कर लेता है। सायँ-सायँ शब्द करने लगता है। इसीका निदान 'अट्टहास' है। प्रलयकालमें पृथिवी, चन्द्रमा, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सबका रस उग्र सौर-तापसे सूख जाता है। सबका रसभाग वह उग्रतारा पी जाती है। रस प्राणियोंका श्रीभाग है। यह प्रधान रूपसे शिर:कपालमें रहता है। श्री (रस) भागके रहनेके कारण ही मस्तक 'सिर' कहलाता है (देखो शत० ६। १। १)। इन्हींको आधार बनाकर वह उस रसका पान करती है। इसीका निदान खप्पर है। '**नीलग्रीवो विलोहितः**' (यजु० १६। ७) के अनुसार उग्र सूर्य नीलग्रीव है। पिङ्गल है। इसकी शक्तिका भी वही रूप है। सूर्यरूप मस्तकभागसे चारों ओर फैली हुई रश्मियोंका भी यही स्वरूप है। ये रश्मियाँ ही उसकी जटाएँ हैं। प्रति सौररश्मिमें उस महाभीषणकालमें जहरीला वायु भरा रहता है। इसी स्वरूपको बतलानेके लिये '**नीलविशालपिङ्गल-जटाजूटैकनागैर्युता**' यह कहा गया है। वह महाशक्ति इसी उग्ररूपमें परिणत होकर विश्वका संहार करती है। यही दूसरी सृष्टिधारा है। महाकालीरूप विश्वातीत तत्त्वके अनन्तर सूर्यरूपा इस दूसरी महाशक्तिका विकास होता है।

पञ्चवक्त्र शिव और उसकी महाशक्ति 'षोडशी' ३

तीसरी है षोडशी। सूर्य उत्पन्न हुआ। उसमें पारमेष्ठ्यसोमकी आहुति हुई। इससे उग्रता शान्त हो गयी। एवं रुद्रसूर्य शिव बन गया। बस, शिवभावापन्न सूर्य ही संसारका प्रभव है। शिवात्मक सूर्य ही पृथिवी, आन्तरिक्ष, द्यौरूप त्रैलोक्यका एवं उसमें रहनेवाली अमृत-मर्त्य प्रजाका निर्माण करते हैं। इसी आधारपर—

नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः। (ऋक्०)
निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च। (यजु०)
सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। (यजु०)

—इत्यादि कहा जाता है। इस शिवात्मक सूर्यशक्तिका (जो शिव-तन्त्रमें 'पञ्चवक्त्र शिव' नामसे प्रसिद्ध है) ही नाम 'षोडशी' है। रुद्र-शक्ति तारा थी, शिव-शक्ति षोडशी है। घोर सूर्यको मध्याह्नका सूर्य समझिये। शिवसूर्यको प्रात:कालका शान्त सूर्य समझिये। उसकी शक्तिको उग्र समझिये। इसकी शक्तिको शिवा समझिये। षोडशीका निदान-रहस्य बतलावें, इसके पहले प्रसङ्गागत पञ्चवक्त्र शिवसम्बन्धी निदानका संक्षिप्त स्वरूप उपस्थित करते हैं।

मुक्तापीतपयोदमौक्तिकजवावर्णैर्मुखैः पञ्चभि-
स्त्र्यक्षै रञ्चितमीशमिन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभम्।
शूलं टङ्ककृपाणवज्रदहनान् नागेन्द्रपाशाङ्कुशान्
पाशं भीतिहरं दधानममिताकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे॥

(तन्त्रसार)

शक्ति एवं कार्यभेदसे भगवान् शङ्करके अनेक रूप हो जाते हैं। एक ही शिवसूर्य पाँच दिशाओंमें व्याप्त होकर पञ्चमुख बन जाते हैं। पूर्वोक्त ध्यान उन्हीं पाँचों मूर्तियोंका स्वरूप बतलाता है। उस एकहीके वे पाँचों मुख पूर्वा, पश्चिमा, उत्तरा, दक्षिणा, ऊर्ध्वा दिग्-भेदसे क्रमशः—१ तत्पुरुष, २ सद्योजात, ३ वामदेव, ४ अघोर, ५ ईशान इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। पाँचों मुख क्रमशः चतुष्कल, अष्टकल, त्रयोदशकल, अष्टकल, पञ्चकल हैं। एवं पाँचों क्रमशः हरित, रक्त, धूम्र, नील, पीत वर्णके हैं। इस पञ्चवक्त्र शिवके १० हाथ हैं। दसोंमें १ अभय, २ टङ्क, ३ शूल, ४ वज्र, ५ पाश, ६ खड्ग, ७ अङ्कुश, ८ घण्टा, ९ नाग, १० अग्नि ये १० आयुध हैं। ये शिव सर्वज्ञ हैं। त्र्यक्षरूप हैं। अनादिबोधस्वरूप हैं। स्वतन्त्र हैं। अलुप्तशक्ति हैं। अनन्त शक्तिमान् हैं। पाँच दिशाओंमें इनकी व्याप्ति है। पाँचों ओर इनका रुख है। रुख ही मुख है। पञ्चमुख इसी भावका निदान है। इस शिवके आग्नेय, वायव्य, सौम्य तीन स्वरूपधर्म हैं। ये तीनों ही तीन-तीन प्रकारके हैं। आग्नेय-प्राणके अग्नि, वायु, इन्द्र, ये तीन भेद हैं। वायव्य-प्राणके वायु, शब्द, अग्नि ये तीन भेद हैं। एवं सौम्य-प्राणके वरुण, चन्द्र, दिक् ये तीन भेद हैं। इस प्रकार उस शिवकी ९ शक्तियाँ हो जाती हैं। ये नवों घोर हैं। उग्र हैं। एवं इन सबका आधारभूत परोरजा नामका सर्वप्रतिष्ठारूप शान्तिमय प्राजापत्य प्राण है। १० हाथ, १० आयुध इन्हीं दस शक्तियोंके निदान हैं। टङ्कसे आग्नेय-ताप सूचित किया जाता है। शूलका वायव्य-तापसे सम्बन्ध है। '**न वातेन विना शूलम्**' यह निश्चित सिद्धान्त है। वज्रसे ऐन्द्र-ताप अभिप्रेत है। पाशसे वारुण-ताप अभिप्रेत है। '**वारुण्या वा एषा यद्रज्जुः**' के अनुसार पाशके अधिष्ठाता वरुण ही हैं। खड्गका चान्द्रशक्तिसे सम्बन्ध है। अंकुशसे दिश्याहेतिका सम्बन्ध है। नागसे सञ्चर-नाड़ी और विषैले वायुकी ओर इशारा है। जिस वायुसूत्रसे रुद्र

प्रविष्ट होते हैं वही सञ्चर-नाड़ी कहलाती है। इस नाड़ीका नाक्षत्रिक सर्प-प्राणसे सम्बन्ध है। सारे ग्रह सर्पाकार हैं। इनमें वह सौर-तेज व्याप्त रहता है। सब ग्रहरूप सर्पोंके साथ रुद्र-सूर्यका भोग होता है। अतएव उनके सर्वाङ्ग शरीरमें सर्प लपेट दिये जाते हैं। इनकी दृष्टि प्रकाशरूपा है। इसीका निदान अग्नि-ज्वाला है। सोमाहुतिका निदान मस्तकस्थ इन्दु है। शान्तिरूप परोरजा:— प्राणका निदान अभयमुद्रा है। आगम-रहस्यानुसार स्वर-वाक्‌के अधिष्ठाता यही हैं। इसीका निदान घण्टा है। नीचे लिखी तालिकासे सब स्पष्ट हो जाता है।

१	**अभयम्**	**प्राजापत्यम्**	**शान्तिः**	**परोरजाः प्राणः**
२	**टङ्कः**	**आग्नेयतापः**	**अग्निः**	**आग्नेयप्राणः**
३	**शूलम्**	**वायव्यतापः**	**वायुः**	,,
४	**वज्रम्**	**ऐन्द्रतापः**	**इन्द्रः**	,,
५	**पाशः**	**वारुणहेतिः**	**वरुणः**	**सौम्यप्राणः**
६	**खड्गः**	**चान्द्रहेतिः**	**चन्द्रः**	,,
७	**अङ्कुशः**	**दिश्याहेतिः**	**दिक्**	,,
८	**घण्टा**	**ध्वनिः शब्दः**	**शब्दः**	**वायव्यप्राणः**
९	**नागः**	**सञ्चरनाडी**	**वायुः**	,,
१०	**अग्निः**	**प्रकाशः**	**अग्निः**	,,

इसी पञ्चवक्त्र शिवकी शक्तिका नाम षोडशी है। पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर परात्परकी समष्टिको पूर्वमें हमने षोडशी पुरुष बतलाया है। स्व, पर, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी इन पाँचोंमेंसे एकमात्र सूर्यमें ही उस षोडशीका पूर्ण विकास होता है। स्वयम्भू अव्यक्त है। अतएव वहाँ भी पूर्ण विकास नहीं। परमेष्ठीमें यज्ञवृत्तिके कारण विकास नहीं। वहाँ आया हुआ षोडशी अन्तर्लीन हो जाता है। परन्तु सूर्य अग्निमय होनेसे चितिधर्मा है। अतएव इसमें आया हुआ चिदात्मा पूर्णरूपसे उल्बण हो जाता है। स्वयम्भू आदि पाँचोंमें क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम इन पाँच अक्षरोंकी प्रधानता है। पाँचों इन्द्रात्मक सूर्यमें ही षोडशीका विकास है। अतएव इस सूर्यरूप इन्द्रके लिये '**इन्द्रो ह वै षोडशी**' (शत० ४। २। ५। १४) यह कहा जाता है। पञ्चकल अव्ययका सृष्टिसाक्षी भाग मन, प्राण वाग्रूप है। इसमें स्वयम्भूमें केवल वाक्‌का विकास है। परमेष्ठीमें वाक्-प्राण दोका विकास है। उधर पृथिवीमें केवल वाक्‌का विकास है। चान्द्र आन्तरिक्षमें वाक्प्राणका विकास है। परन्तु मध्यपतित चितिधर्मा सूर्यमें मन, प्राण, वाक् तीनोंका विकास है। इसी आधारपर—

१—वागिन्द्रः

२—आदित्यं मनः,

३—प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः।

—इत्यादि कहा जाता है। '**स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः**' (बृहदारण्यक)-के अनुसार सृष्टिसाक्षी आत्मा मन:प्राणवाङ्मय है। सूर्यमें तीनोंकी सत्ता है। अतएव '**सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**' इत्यादि रूपसे सूर्यको स्थावर-जङ्गमात्मक सम्पूर्ण विश्वका आत्मा बतलाया जाता है। चूँकि इसमें षोडशकल पुरुषका पूर्ण विकास है, अतएव इसको हम अवश्य ही षोडशी कहनेके लिये तैयार हैं। इसीलिये इसकी शक्तिको भी अवश्य ही 'षोडशी' कहा जा सकता है। भूः, भुवः, स्व:-रूप तीनों ब्रह्मपुर इसी महाशक्तिसे उत्पन्न हुए हैं। अतएव तन्त्रमें यह 'त्रिपुरसुन्दरी' नामसे भी प्रसिद्ध है। इसीका स्वरूप बतलाते हुए ऋषि कहते हैं—

बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहां त्रिलोचनाम्।
पाशाङ्कुशशरांश्चापं धारयन्तीं शिवां भजे॥

(शाक्तप्रमोद-षोडशीतन्त्र)

सूर्यमें प्रकाश है, ताप (अग्नि) है, आहुतसोम (चन्द्रमा) है। '**त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी**' के अनुसार उस शिव-शक्तिने इन्हीं तीन रूपोंसे विश्वको प्रकाशित कर रखा है। अतएव सूर्यको लोकचक्षु कहा जाता है। इन्हीं तीन ज्योतियोंका निदान तीन नेत्र हैं। सौरशक्ति सम्पूर्ण खगोलमें व्याप्त है। खगोल चतुर्भुज है। इसीका निदान चार भुजाएँ हैं। सोमाहुतिसे यह शान्त बन रही है। प्रात:-कालका बालसूर्य इसकी साक्षात् प्रतिकृति है। बालार्क इसी अवस्थाका निदान है। सूर्यसे उत्पन्न होनेवाली प्रजा सौर आकर्षण-सूत्रसे बद्ध रहती है। स्वयं पृथिवी भी उससे बद्ध है। अतएव वह कभी क्रान्तिवृत्तको नहीं छोड़ती। उस सौर-शक्तिने अपने आकर्षणरूप पाशसे सबको बद्ध कर रखा है। पाश इसीका निदान है। अक्षररूपा उस नियतिके डरसे सब अपना-अपना काम यथावत् कर रहे हैं। स्वयं सूर्य भी उसका लोहा मानता है।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

(कठ० २। ६। ३)

—के अनुसार वह सबपर अपना अंकुश रखती है। अंकुश इसीका निदान है। जो प्रधापराधसे शक्तिके उन अटल नियमोंका उल्लंघन करते हैं उनका वह नाश कर डालती है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ तीनों लोकोंमें व्याप्त रुद्रके अन्न, वायु, वर्षा तीन प्रकारके इषु (बाण) हैं। (यजु० १६। ६६) वे इषु असलमें इस शक्तिके इषु हैं। इन्हींके द्वारा वह संहार करती है। शर इन्हींका निदान है। सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा, पालक विष्णु, संहारक रुद्र, खण्डप्रलयके अधिष्ठाता यम, चारों देवता उसके अधीन हैं। वह चारोंपर प्रतिष्ठित है। '**चतुर्बाहाम्**' इसी अवस्थाका निदान है। पूर्वोक्त ध्यान इसी स्वरूपको प्रकट करता है।

त्र्यम्बक शिव और उनकी महाशक्ति 'भुवनेश्वरी' ४

सूर्य उत्पन्न हुआ। पारमेष्ठ्य सोमकी आहुति हुई, इससे यज्ञ हुआ। यज्ञसे त्रैलोक्य निर्माण हुआ। तीनों भुवन उत्पन्न हो गये, विश्वोत्पत्तिके उपक्रममें षोडशीकी सत्ता थी। भुवनोंको उत्पन्नकर उनका सञ्चालन करती हुई वही शक्ति आज 'भुवनेश्वरी' बन गयी। यही चौथी सृष्टिधारा है, चौथी सृष्टि-विद्या है। इसीका स्वरूप बतलाते हुए ऋषि कहते हैं—

उद्यदिनद्युतिमिन्दुकिरीटां तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्ताम्।
स्मेरमुखीं वरदाङ्कुशपाशाभीतिकरां प्रभजे भुवनेशीम्॥

(शाक्तप्रमोद—भुवनेश्वरीतन्त्र)

यदि सूर्यमें सोमाहुति न होती तो यज्ञ असम्भव था। बिना यज्ञके भुवन-रचनाका अभाव था। बिना भुवनके 'भुवनेश्वरी' उन्मुग्ध थी। सूर्यके मस्तक (ऊपर)-भागपर प्रतिष्ठित ब्राह्मणस्पत्य सोम आहुत हो रहा है। इसीसे भुवनोत्पत्ति है। इसीसे भुवनेश्वरी उद्‌बुद्ध है। 'इन्दुकिरीट' इसी अवस्थाका निदान है। तीन नेत्रोंका निदान पूर्वसे गतार्थ है। संसारमें जितनी भी प्रजा है सबको उसी त्रिभुवन-व्याप्ता भुवनेश्वरीसे अन्न मिल रहा है। ८४ लाख योनियाँ उसीसे अन्न लेकर जीवित हैं इसीका निदान वरदा है। जो भुवन प्रलय-समुद्रमें विलीन था आज वही इसी शक्तिके प्रभावसे विकसित हो रहा है। मानो वह शक्ति अपनी उग्रता छोड़कर विश्वपर कृपादृष्टि कर रही है। 'स्मेरमुखी' शब्द इसी भावका निदान है। शासनशक्तिका निदान अंकुश-पाशादि है, जैसा कि पूर्वमें बतलाया जा चुका है।

कबन्ध शिव और उसकी महाशक्ति 'छिन्नमस्ता' ५

'**पाङ्क्तो वै यज्ञः**' (श० १। १। २) के अनुसार सृष्टिका मूल यज्ञ-पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ, महायज्ञ, अतियज्ञ, शिरोयज्ञ-भेदसे पाँच भागोंमें विभक्त है। स्मार्त-यज्ञ पाकयज्ञ है। इसीको गृह्ययज्ञ, एकाग्नियज्ञ भी कहा जाता है। अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास्य, चातुर्मास्य, पशुबन्ध इत्यादि हविर्यज्ञ हैं। भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, ये पाँच महायज्ञ हैं। अग्निचयन, राजसूय, अश्वमेध, वाजपेय ये अतियज्ञ हैं। '**छिन्नशीर्षो वै यज्ञः**' इस श्रुतिके अनुसार पूर्वोक्त सारे यज्ञ छिन्नशीर्ष हैं। सबका मस्तक कटा हुआ है। सुप्रसिद्ध पौराणिक हयग्रीवोपाख्यानका (जिसमें गणपतिवाहन मूषककी कृपासे धनुषप्रत्यञ्चाभङ्ग हो जानेसे शयान विष्णुके शिरश्छेदका निरूपण है) इसी छिन्नशीर्षसे सम्बन्ध है। प्रत्येक यज्ञके अन्तमें शिरःसन्धानके लिये जो यज्ञ किया जाता है उसे ही 'शिरोयज्ञ' कहते हैं। बिना इसके किये यज्ञ बिना माथेका रहता है। यही यज्ञ ब्राह्मणग्रन्थोंमें-सम्राड्याग, प्रवर्ग्ययाग, धर्मयाग, महावीरोपासना इत्यादि अनेक नामोंसे व्यवहृत हुआ है। '**सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्**,' '**सूर्यो वा ज्योतिष्टोमः**' इत्यादिके अनुसार अग्नीषोमात्मक सूर्य यज्ञरूप है। इस यज्ञमूर्ति अतएव विष्णु नामसे प्रसिद्ध सूर्य-पुरुषका यज्ञात्मना निरूपण करते हुए वेद-पुरुष कहते हैं—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां२ आविवेश॥

(गो० ब्रा० ३। ७)

'ऋग्, यजुः, साम, अथर्व—चारों वेद इसके चार सींग हैं। प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, सायंसवन तीन सवन इसके तीन पैर हैं। ब्रह्मौदन, प्रवर्ग्य दो मस्तक हैं। मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण इन तीनोंसे वह मर्यादित है। गायत्री आदि सात छन्द उसके सात हाथ हैं। ऐसा यह यज्ञ-वृषभ विश्वमें हुङ्कार कर रहा है। यही महादेव मरणधर्मा सब प्राणियोंका आत्मा बना हुआ है। सबमें आत्मरूपसे प्रविष्ट हो रहा है।' पूर्वोक्त यज्ञावयवोंमेंसे ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्यकी ओर ही आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है। जिस वस्तुका आत्मासे नित्य सम्बन्ध रहता है वह उस आत्माका ब्रह्मौदन कहलाता है। वह अन्न उस ब्रह्मका ओदन है। सिवा उसके और कोई उसे नहीं ले सकता। एवं जो वस्तु उस आत्मासे पृथक् होकर दूसरे आत्माका अन्न बन जाती है वह प्रवर्ग्य कहलाती

है। इसीको 'उच्छिष्ट' भी कहते हैं। सूर्यका जो ताप सूर्यसे बद्ध रहता है, वह उसका ब्रह्मौदन है। परन्तु जो ताप अलग होकर ओषधि, वनस्पति, मनुष्यादिके निर्माणमें उपयुक्त हो जाता है, वह प्रवर्ग्य है। धूपमें पानी रख दीजिये, गरम हो जायगा। सूर्य अस्त हो गया, परन्तु पानी अब भी गरम है। सूर्य अपने तापको इस पानीमें छोड़ गया। हवामें छोड़ गया। रात है, परन्तु हवा गरम चल रही है। यही उसका प्रवर्ग्य-भाग है, घर्म-भाग है। घर्म ही निरुक्त-क्रमानुसार घरमरूपमें परिणत होता हुआ 'गरम' बन गया है। ताप, सौर यच्च यावत् पदार्थोंका उपलक्षण है। सब सौर-पदार्थ सूर्यसे अलग होते रहते हैं। यदि सूर्य इस उच्छिष्टको नहीं छोड़ता तो विश्वनिर्माण असम्भव था। इसी आधारपर **'उच्छिष्टात् सकलं जगत्'** यह कहा जाता है। यह प्रवर्ग्य पूर्व श्रुतिके अनुसार उस यज्ञका मस्तक है। यह अलग कट जाता है, इसी आधारपर यज्ञको छिन्नशीर्ष कहा जाता है। पार्थिव-गणपतिकी प्राणप्रतिष्ठारूप मूषकका आत्मा बननेवाला घनवायु ही अपने व्यापारसे उस प्रवर्ग्यको यज्ञसे अलग करता है। मूषकद्वारा ही यज्ञविष्णुका मस्तक कटता है। कहना यही है कि ब्रह्मौदनसे आत्मरक्षा होती है, एवं प्रवर्ग्यसे सृष्टिका स्वरूप बनता है। बस, इस प्रवर्ग्यको ही निगम-मूलक आगमशास्त्र 'कबन्ध' नामसे व्यवहृत करता है। इस कबन्ध-पुरुषकी शक्तिका नाम ही 'छिन्नमस्ता' है छिन्नमस्ता बनकर ही वह शक्ति संसार बनती है, एवं उसी रूपसे नाश भी करती है। यज्ञ-मूर्ति-सूर्यसे उत्पन्न होनेवाले जड़चेतनरूप सभी पदार्थ यज्ञमूर्ति हैं। सबमेंसे प्रवर्ग्य-भाग निकल रहा है। हम उसके प्रवर्ग्यको लेकर जीवित हैं। साथ ही हमारा प्रवर्ग्य उसमें जा रहा है। सूर्य त्रैलोक्य एवं उसकी प्रजाको प्रवर्ग्यान्न देता है। साथ ही रश्मियोंसे लेता भी रहता है। विसर्गसे जैसे उस प्रजापतिका शरीर प्रतिक्षण विस्रस्त होता रहता है, आदानसे प्रतिक्षण उसका सन्धान भी होता रहता है। इसी प्रक्रियाका नाम शिरःसन्धान है। यही प्रवर्ग्यभाग है। मस्तक कटनेसे जैसे प्राणी निर्जीव हो जाता है, वैसे ही बिना इसके यज्ञस्वरूप ही नष्ट हो जाता है। अतएव ब्रह्मौदनवत् प्रवर्ग्य-भागको भी हम अवश्य ही यज्ञका मस्तक कहनेके लिये तैयार हैं। वह मुझे देता है। साथ ही मुझे खाता है। एवं साथ ही उस खानेवालेको मैं भी निरन्तर खा रहा हूँ। वस्तुमात्रमें यह आदान-विसर्ग निरन्तर हो रहा है। जबतक आदान-विसर्गात्मक यज्ञ है तभीतक विश्वसत्ता है। इसी यज्ञ-रहस्यका निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेवमावत् अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥

मैं छिन्नशीर्ष अवश्य हूँ। परन्तु अन्नागमनरूप शिरः-सन्धान यज्ञसे स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित हूँ। परन्तु जब यह शिरः-सन्धानरूप अन्नागमन बन्द हो जायगा उस समय केवल छिन्नमस्ता ही रह जायगी। उस समय वह सर्वात्मना हमारा शोषण कर लेगी। जो महामाया षोडशी बनकर भुवनेश्वरी बनती हुई संसारका पालन करती है,, वही अन्तकालमें छिन्नमस्ता बनकर नाश कर डालती है। उसीका निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

प्रत्यालीढपदां सदैव दधतीं छिन्नं शिरः कर्तृकां
दिग्वस्त्रां स्वकबन्धशोणितसुधाधारां पिबन्तीं मुदा।
नागाबद्धशिरोमणिं त्रिनयनां हृद्युत्पलालङ्कृतां
रत्यासक्तमनोभवोपरि दृढां ध्यायेज्जवासन्निभाम्॥
दक्षे चातिसिता विमुक्तचिकुरा कर्त्री तथा खर्प्परं
हस्ताभ्यां दधती रजोगुणभवा नाम्नापि सा वर्णिनी।
देव्याश्छिन्नकबन्धतः पतदसृग्धारां पिबन्ती मुदा
नागाबद्धशिरोमणिर्मनुविदा ध्येया सदा सा सुरैः॥
प्रत्यालीढपदा कबन्धविगलद्रक्तं पिबन्ती मुदा
सैषा या प्रलये समस्तभुवनं भोक्तुं क्षमा तामसी।

××× ××× ×××

शक्तिः सापि परात्परा भगवती नाम्ना परा डाकिनी॥

(शाक्तप्रमोद-छिन्नमस्तातन्त्र)

विषय आवश्यकतासे अधिक लम्बा हो गया है, अतः आगेकी पाँच मूर्तियोंका ध्यानमात्र बतलाकर लेख समाप्त किया जाता है। पूर्वोक्त छिन्नमस्ताके ध्यानके विषयमें केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि कर्त्री, खर्पर, रक्त, नाग, दिगम्बरत्व आदि संहारशक्तिके निदान हैं।

दक्षिणामूर्ति कालभैरव और उसकी महाशक्ति 'भैरवी' ६

छिन्नमस्ताका महाप्रलयसे विशेष सम्बन्ध है, जैसा कि उसके ध्यानसे स्पष्ट हो जाता है। दूसरा है नित्य-प्रलय। प्रतिक्षण पदार्थ नष्ट होते रहते हैं। नष्ट करना रुद्रका काम है। यही विनाशोन्मुख होकर 'यम' कहलाने

लगते हैं। इसी याम्य-अग्निकी सत्ता प्रधानरूपसे दक्षिण दिशामें है। अतएव यमराजको दक्षिण दिशाका लोकपाल बतलाया जाता है। दक्षिणमें अग्निकी सत्ता है। उत्तरमें सोमका साम्राज्य है। सोम स्नेह-तत्त्व है, संकोचधर्मा है। अग्नि तेज-तत्त्व है, विशकलनधर्मा है। विशकलनक्रिया ही वस्तुका नाश करती है। यह धर्म दक्षिणाग्निका है। अतएव इस रुद्रको दक्षिणामूर्ति, कालभैरव आदि नामोंसे व्यवहृत किया जाता है। इनकी शक्तिका नाम ही भैरवी किंवा त्रिपुरभैरवी है। राजराजेश्वरी नामसे प्रसिद्ध भुवनेश्वरी जिन तीनों भुवनोंके पदार्थोंकी रक्षा करती है—यह त्रिपुरभैरवी उनका नाश करती रहती है। त्रिभुवनके पदार्थोंका क्षणिक विनाश इसी शक्तिपर निर्भर है—छिन्नमस्ता परा डाकिनी थी, यह अवरा डाकिनी है। कल्याणेच्छुकोंको उसका निम्नलिखित रूपसे निरन्तर ध्यान करना चाहिये—

उद्यद्भानुसहस्त्रकान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिकां
रक्तालिप्तपयोधरां जपपटीं विद्यामभीतिं वरम्।
हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियं
देवीं बद्धहिमांशुरत्नमुकुटां वन्दे समन्दस्मिताम्॥

(भैरवीतन्त्र)

पुरुषशून्या अतएव 'विधवा' नामसे प्रसिद्ध महाशक्ति 'धूमावती' ७

संसारमें दुःखके मूलकारण—रुद्र, यम, वरुण, निर्ऋति ये चार देवता हैं। विविध प्रकारके ज्वर, महामारी, उन्माद आदि आग्नेय (सन्ताप) सम्बन्धी रोग रुद्रकी कृपासे होते हैं। मूर्च्छा, मृत्यु, अङ्ग-भङ्ग आदि रोग यमकी कृपाका फल है। गठिया, शूल, गृध्रसी, लकवा आदिके अधिष्ठाता वरुण हैं। एवं सब रोगोंमें भयङ्कर शोक, कलह, दरिद्रता आदिकी सञ्चालिका निर्ऋति है। भिखारी, क्षतविक्षता पृथिवी, ऊसर भूमि, भग्न प्रासाद, फटे एवं जीर्ण वस्त्र, बुभुक्षा, प्यास, रुदन, वैधव्य, पुत्रसन्ताप, कलह आदि उसकी साक्षात् प्रतिमाएँ हैं। इन सबका मूल प्रधानरूपसे दरिद्रता है। अतएव **'घोरा पाप्मा वै निर्ऋतिः'** (शत० ७। २। १। १) इत्यादि रूपसे श्रुतिने उसे दरिद्रा नामसे व्यवहृत किया है। इसीको शान्त करनेके लिये 'निर्ऋति' इष्ट की जाती है। यह शक्ति यों तो सर्वत्र व्याप्त है। परन्तु इसका खजाना ज्येष्ठा नक्षत्र है। वहींसे यह 'आसुरी कलहप्रिया' शक्ति निकलती है। अतएव ज्येष्ठा-नक्षत्रमें उत्पन्न होनेवाला प्राणी जीवनभर दारिद्र्य-दुःख भोग करता है। यही हमारी साक्षात् धूमावती है। इसमें मनुष्यका पतन है। अतएव इसे 'अवरोहिणी' भी कहा जाता है। यही 'अलक्ष्मी' नामसे प्रसिद्ध है। डरावनी शकल, दाँतोंका चौड़ा होना, रूक्षता आदि इसीकी कृपाका फल है। इसी शक्तिका निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

विवर्णा चञ्चला दुष्टा दीर्घा च मलिनाम्बरा।
विमुक्तकुन्तला वै सा विधवा विरलद्विजा॥
काकध्वजरथारूढा विलम्बितपयोधरा।
शूर्पहस्तातिरूक्षाक्षा धूतहस्ता वरानना॥
प्रवृद्धघोणा तु भृशं कुटिला कुटिलेक्षणा।
क्षुत्पिपासार्दिता नित्यं भयदा कलहास्पदा॥

(शाक्तप्रमोद—धूमावतीतन्त्र)

ध्यानसे ही निदान स्पष्ट है। आप्य-प्राणको असुर कहते हैं, आग्नेय एवं ऐन्द्रप्राण देवता-नामसे प्रसिद्ध हैं। आषाढ़शुक्ला एकादशीसे वर्षाकालका प्रारम्भ माना जाता है। एवं कार्तिकशुक्ला एकादशी वर्षाकी परम अवधि मानी जाती है। इन चार महीनोंमें पृथिवीपिण्ड और सौरप्राण आपोमय रहते हैं। अतएव चातुर्मास्यमें दोनों ही प्राण-देवता आसुर आप्यप्राणकी प्रधानतासे निर्बल हो जाते हैं। इनकी शक्ति दब जाती है। अतएव चातुर्मास्य देवताओंका सुषुप्तिकाल कहलाता है। इतने दिनतक आसुर-प्राणका साम्राज्य रहता है, अतएव दिव्यप्राणकी उपासना करनेवाला भारतीय सनातन-धर्मी जगत् कोई दिव्य-कार्य (विवाह, यज्ञोपवीत, यात्रा आदि) नहीं करता। इसी चातुर्मास्यमें उस निर्ऋतिका साम्राज्य रहता है। कार्तिककृष्णा चतुर्दशी इसकी अन्तिम अवधि है। अतएव धर्माचार्योंने इसे 'नरकचतुर्दशी' नामसे व्यवहृत किया है। इसी रात्रिको दरिद्रारूपा इस अलक्ष्मीका गमन होता है, एवं दूसरे ही दिन रोहिणीरूपा कमला (लक्ष्मी)-का आगमन होता है। कार्तिककृष्ण अमाको कन्याका सूर्य रहता है। कन्याराशिगत सूर्य नीचका कहलाता है। इस दिन सौरप्राण मलिन रहता है। एवं रात्रिमें तो यह भी नहीं रहता। उधर अमाके कारण चान्द्रज्योतिका भी अभाव है। एवं चार मासकी वृष्टिसे प्राकृतिकी प्राणमयी अग्नि-ज्योति भी निर्बल हो रही है। **'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी'** के अनुसार इस अमाको तीनों ही ज्योतियोंका अभाव है। अतएव ज्योतिर्मय आत्मा इस दिन हीनवीर्य

रहता है। इसी तमभावके निराकरणके लिये, एवं साथ ही कमलागमनके उपलक्ष्यमें ऋषियोंने इस दिन वैधप्रकाश (दीपावलि) और अग्निक्रीड़ा (आतिशबाजी) करनेका आदेश दिया है। कहना यही है कि निर्ऋतिरूपा धूमावती प्रधानरूपसे चातुर्मास्यमें रहती है। लक्ष्मीकामुक मनुष्योंको सदा इसकी स्तुति करते रहना चाहिये।

एकवक्त्र महारुद्र और उसकी महाशक्ति 'वल्गामुखी' ८

प्राणियोंके शरीरमेंसे एक अथर्वा नामका प्राणसूत्र निकला करता है। प्राणरूप होनेसे हम इसे स्थूल दृष्टिसे देखनेमें असमर्थ रहते हैं। यह एक प्रकारकी वायरलेसटेलिग्राफी है। २०० कोस दूर रहनेवाले आत्मीयके दुःखसे यहाँ हमारा चित्त जिस परोक्षशक्तिसे व्याकुल हो जाता है, उसी परोक्ष सूत्रका नाम 'अथर्वा' है। इस शक्तिसूत्रके विज्ञानसे सहस्रों कोस दूरस्थित व्यक्तिका आकर्षण किया जा सकता है। परमेश्वरकी विचित्र लीला है। जैसे प्राघुणिक (पाहुना)-के आगमनका ज्ञान हमें नहीं होता, किन्तु काकको हो जाता है, उसी प्रकार जिस अथर्वासूत्रको हम नहीं पहचानते उसे श्वान पहचान लेता है। उसी शक्ति-ज्ञानके प्रभावसे कुत्ता जमीन सूँघता हुआ भागे हुए चोरका पता लगा लेता है। जिस मार्गसे चोर जाता है, उस मार्गमें उसका अथर्वा प्राण वासनारूपसे मिट्टीमें संक्रान्त हो जाता है। वस्त्र, नाखून, केश, लोम आदिमें वह प्राण वासनारूपसे प्रतिष्ठित रहता है। इन वस्तुओंके आधारपर उस व्यक्तिपर मनमाना प्रयोग किया जा सकता है। भौम-स्वर्गके अधिष्ठाता, आज दिन न्यू साइबीरिया नामसे प्रसिद्ध सौराष्ट्र नामके राष्ट्रान्तर्गत अमरावती नामके शहरमें रहनेवाले, पुराणोंमें हरिवाहन एवं वेदमें 'हरिवान' नामसे प्रसिद्ध मनुष्य इन्द्रने 'सरमा' नामकी कुत्तीकी सहायतासे बृहस्पतिकी गायोंको चुरा ले जानेवाले पणि नामके असुरोंका पता लगाया था (देखो ऋग्वेद), अपि च पुरायुगमें भौम मनुष्य-देवता इसी अथर्वासूत्रद्वारा असुरोंपर कृत्याप्रयोग (मारण-मोहन-उच्चाटन आदि) किया करते थे। अथर्ववेदके घोराङ्गिरा, अथर्वाङ्गिरा नामके दो भेद हैं; इनमें—घोराङ्गिरामें ओषधि-वनस्पति-विज्ञान है। एवं दूसरेमें—

श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन्।
वाक् शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः॥

(मनु० ११। ३३)

—के अनुसार अभिचार-प्रयोग है। इसका उसी पूर्वोक्त अथर्वासूत्रसे सम्बन्ध है। बस, अथर्वासूत्ररूपा इसी महाशक्तिका नाम 'वल्गामुखी' है। यह इसका वैदिक नाम है। जैसा कि शतपथ-श्रुति कहती है—

यदा वै कृत्यामुत्खनन्ति अथ सालसा, मोघा भवति। तथो एवैष एतद्यस्मा अत्र कश्चिद् द्विषन् भ्रातृव्यः कृत्यां वल्गां निखनति तानेवैतदुत्किरति।

(शत० ३। ५। ४। ३)

निरुक्तक्रमानुसार संस्कृत-भाषामें जैसे 'हिंस' शब्द वर्णव्यत्ययके कारण 'सिंह' बन जाता है, लौकिकी भाषामें जैसे 'मतलब' 'मतबल' बन जाता है, इसी प्रकार निगमोक्त वल्गा-शब्द आगममें 'बगला' रूपमें परिणत हो गया है। निगम-शास्त्रकी वल्गा ही आगमकी 'बगलामुखी' है। इस कृत्याशक्तिकी आराधना करनेवाला मनुष्य अपने शत्रुको मनमाना कष्ट पहुँचा सकता है। जैसा कि उसके ध्यानसे स्पष्ट हो जाता है—

जिह्वाग्रमादाय करेण देवीं वामेन शत्रून् परिपीडयन्तीम्।
गदाभिघातेन च दक्षिणेन पीताम्बराढ्यां द्विभुजां नमामि॥

(शाक्तप्रमोद-बगलामुखीतन्त्र)

मतङ्गशिव और उसकी महाशक्ति 'मातङ्गी' ९

श्यामां शुभ्रांशुभालां त्रिनयनकमलां रत्नसिंहासनस्थां
भक्ताभीष्टप्रदात्रीं सुरनिकरकरासेव्यकञ्जाङ्घ्रियुग्माम्।
नीलाम्भोजांशुकान्तिं निशिचरनिकरारण्यदावाग्निरूपां
पाशं खड्गं चतुर्भिर्वरकमलकरैः खेटकञ्चाङ्कुशञ्च॥
मातङ्गीमावहन्तीमभिमतफलदां मोदिनीं चिन्तयामि।

—इत्यादि ध्यानसे मातङ्गीका स्वरूप स्पष्ट है।

सदाशिव पुरुष और उनकी महाशक्ति 'कमला' १०

धूमावती और कमलामें प्रतिस्पर्धा है। वह ज्येष्ठा थी, यह कनिष्ठा है। वह अवरोहिणी थी, यह रोहिणी है। वह आसुरी थी यह दिव्या है। वह दरिद्रा थी, यह लक्ष्मी है। रोहिणी नक्षत्रके ठीक षड्भान्तरपर (१८० अंशपर) ज्येष्ठा है। जिसका रोहिणी-नक्षत्रमें जन्म होता है, वह समृद्ध

* इस विषयका विशद निरूपण हमारे लिखे हुए 'हिन्दू-त्यौहारोंका वैज्ञानिक रहस्य' नामकी पुस्तकमें देखना चाहिये।

होता है। इसीका निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

कान्त्या काञ्चनसन्निभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजै-
र्हस्तोत्क्षिप्तहिरण्मयामृतघटैरासिच्यमानां श्रियम्।
बिभ्राणां वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः किरीटोज्ज्वलां
क्षौमाबद्धनितम्बबिम्बवलितां वन्देऽरविन्दस्थिताम्॥

(शाक्तप्रमोद-कमलातन्त्र)

यह है दस महाविद्याओंका संक्षिप्त निदर्शन। यद्यपि इनके विषयमें अभी बहुत कुछ वक्तव्य है, परन्तु विस्तारभयसे प्रकृतमें केवल इनका आभासमात्र कराया गया है। प्रकारान्तरसे इसी सृष्टिविद्याको ऋषियोंने तीन भागोंमें विभक्त किया है। वही तीन शक्तियाँ—महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती नामसे प्रसिद्ध हैं। तमोगुणप्रधाना महाकाली कृष्णवर्णा है। यही प्रलयकाल है। रजोगुणप्रधाना महालक्ष्मी रक्तवर्णा है। यही सृष्टिकाल है। सत्त्वगुणप्रधाना महासरस्वती श्वेतवर्णा है। यही मुक्तिकाल है। उस एक ही अज पुरुषकी 'अजा' नामसे प्रसिद्धा महाशक्ति तीन रूपोंमें परिणत होकर सृष्टि, प्रलय, मुक्तिकी अधिष्ठात्री बन रही है। आगमोक्त इस त्रिरूपा शक्तिका मूल निम्नलिखित निगममन्त्र ही है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

(श्वेता० ४।५) इति।

अवान्तर क्षुद्र विद्याओंकी अपेक्षा पूर्वोक्त विद्याएँ यद्यपि अवश्य ही महाविद्याएँ हैं, परन्तु इनमें भी परस्परके तारतम्यसे भेद हो जाता है। कोई महाविद्या है। कोई सिद्धविद्या है। कोई श्रीविद्या है। कोई विद्या ही है। अहः पुरुष है। रात्रि स्त्री है, शक्ति है। अतएव ये विद्याएँ महारात्रि, कालरात्रि, मोहरात्रि, दारुणरात्रि आदि रात्रि-नामोंसे प्रसिद्ध हैं, जैसा कि निम्नलिखित तालिकासे स्पष्ट हो जाता है—

संख्या		शक्ति	नामान्तर	रात्रि	विद्या	शिव
१	०	महाकाली	+	महारात्रि	महाविद्या	महाकाल
२	१	तारा	+	क्रोधरात्रि	श्रीविद्या	अक्षोभ्य
३	२	षोडशी	त्रिपुरसुन्दरी	दिव्यरात्रि	सिद्धविद्या	पञ्चवक्त्र शिव
४	३	भुवनेश्वरी	राजराजेश्वरी	सिद्धरात्रि	सिद्धविद्या	त्र्यम्बक
५	४	छिन्नमस्ता	+	वीररात्रि	विद्या	कबन्ध
६	५	भैरवी	त्रिपुरभैरवी	कालरात्रि	सिद्धविद्या	दक्षिणामूर्ति (कालभैरव)
७	६	धूमावती	अलक्ष्मी	दारुणरात्रि	विद्या	+
८	७	वल्गामुखी	बगलामुखी	वीररात्रि	सिद्धविद्या	एकवक्त्र महारुद्र
९	८	मातङ्गी	+	मोहरात्रि	विद्या	मतङ्ग
१०	९	कमला	लक्ष्मी	महारात्रि	विद्या	सदाशिव विष्णु

अन्तमें उस जगदम्बाको उसकी '**कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति**' इस प्रतिज्ञाका स्मरण करवाते हुए उसकी कृपाभिक्षा माँगते हुए लेख समाप्त किया जाता है। ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

अम्ब-अनुकम्पा

(लेखक—स्व० पं० श्रीकृष्णशंकरजी तिवारी, एम० ए०)

दारै दुख दारिद घनेरे सरनागतके, अंब अनुकंपा उर तेरे उपजत ही।
मंदिरमैं महिमा बिराजै इंदिराकी नित, गाजै झनकार धुनि कंचन-रजत ही॥
गाज-सी परत अनसहन बिपच्छिन पै, मत्त गजराजनकी घंटा गरजत ही।
हारे हिय सारे हथियार डरि डारे देत, हारे देत हिम्मत नगारेके बजत ही॥

श्रीविद्या

(लेखक—पं० श्रीनारायणशास्त्रीजी खिस्ते)

विश्वको कल्याण-मार्ग दिखानेवाले 'कल्याण' मासिकपत्रके 'शक्ति-अङ्क' में 'श्रीविद्या' के बारेमें कुछ लिखनेके लिये मुझसे सम्पादक महोदयने अनुरोध किया है। पूज्यपाद श्रीगोपीनाथजी कविराज महोदयने भी इसके लिये विशेष आज्ञा की है। अत: 'श्रीविद्या'-जैसे गम्भीर विषयपर लेखनी उठानेकी योग्यता न रहनेपर भी यथामति कुछ लिखनेका प्रयत्न करता हूँ। यद्यपि 'श्रीविद्या' के अन्तर्गत अनेक विषय हैं और उन सबके निरूपणके बिना मुख्य विषयका यथावत् निरूपण करना अशक्यप्राय है, तथा साङ्गोपाङ्ग 'श्रीविद्या' का निरूपण तो इस अल्पकाय लेखमें हो ही नहीं सकता, तो भी सम्पादक महोदयद्वारा निर्धारित लेख-विस्तार-मर्यादाका ध्यान रखते हुए यथासम्भव 'श्रीविद्या' के स्वरूप-निरूपणका प्रयत्न करता हूँ।

'श्रीविद्या' ही ललिता, राजराजेश्वरी, महात्रिपुरसुन्दरी, बाला, पञ्चदशी और षोडशी इत्यादि नामोंसे विख्यात है। मूल-तत्त्वमें ऐक्य होते हुए भी उपरिलिखित भिन्न-भिन्न नाम अवस्था-भेदके परिचायक हैं। यह अवस्था-भेद आगे यथावसर स्पष्ट किया जायगा।

प्रसिद्ध दस महाविद्याओंमें 'षोडशी' विद्या 'श्रीविद्या' का ही परिणत स्वरूप है। सामान्यत: उपासकमात्र अपने उपास्य देवताको सर्वश्रेष्ठ तथा परब्रह्मात्मक मानता ही है। इस भावनासे यदि देखा जाय तो काली, तारा, षोडशी आदि सभी विद्याएँ समान ही हैं; तब विशेष निरूपणकी आवश्यकता ही न रहेगी। अपने उपास्य देवताको सर्वश्रेष्ठ मानना तत्तद्देवता-भक्तोंके लिये उचित ही है, तदनुसार काली-तारा-भक्तोंकी दृष्टिमें काली, तारा आदि महाविद्याओंकी सर्वश्रेष्ठता भी अनुचित नहीं कही जा सकती। परन्तु 'श्रीविद्या' के बारेमें यह बात नहीं है; उसकी महत्ता वास्तविक है, न कि केवल भक्तिकल्पित।

दस महाविद्याओंमें पहली तीन अर्थात् १-काली २-तारा और ३-षोडशी—ये ही सर्वप्रधान विद्याएँ हैं। इन तीनोंसे ही नौ विद्याएँ और एक पूरक विद्या मिलाकर दस महाविद्याएँ होती हैं। मूल एकसे ही तीन होती हैं। सर्वमूलभूत एक विद्या ही 'श्रीविद्या' है। इसीको ब्रह्मविद्या तथा ब्रह्ममयी भी कहते हैं। काली और ताराका मूल-विद्या षोडशीसे क्या सम्बन्ध है? और मूल एकसे तीन कैसे हुईं? इत्यादि प्रश्नोंका यथावत् समाधान करनेके लिये एक स्वतन्त्र लेखकी आवश्यकता है। प्रकृत लेखमें इतना सिद्धान्त मानकर ही चलना होगा।

श्रीविद्या ही ब्रह्मविद्या है

'श्रीविद्या' शब्दसे श्रीत्रिपुरसुन्दरीका मन्त्र तथा उसकी अधिष्ठात्री देवता दोनोंका बोध होता है। सामान्यत: श्री-शब्दका लक्ष्मी अर्थ ही प्रसिद्ध है; परन्तु हारितायनसंहिता, ब्रह्माण्डपुराणोत्तरखण्ड आदि पुराणेतिहासोंमें वर्णित कथाओंके अनुसार 'श्री' शब्दका मुख्यार्थ महात्रिपुरसुन्दरी ही है। श्रीमहालक्ष्मीने महात्रिपुरसुन्दरीकी चिरकाल आराधना कर जो अनेक वरदान प्राप्त किये हैं, उनमें ही 'श्री' शब्दसे ख्याति प्राप्त करनेका भी एक वरदान उनको मिला है; तबसे 'श्री' शब्दका अर्थ महालक्ष्मी होने लगा। अर्थात् 'श्री' शब्दका महालक्ष्मी अर्थ गौण है। 'श्री' अर्थात् महात्रिपुरसुन्दरीकी प्रतिपादिका विद्या—मन्त्र ही 'श्रीविद्या' है। वाच्य-वाचकका अभेद मानकर इस मन्त्रकी अधिष्ठात्री देवता भी 'श्रीविद्या' कही जाती है। सामान्यत: 'श्री' शब्द श्रेष्ठताका बोधक है। श्रेष्ठ पुरुषोंके नामोंके पहले 'श्री' शब्दका प्रयोग किया जाता है। श्रेष्ठत्वके तारतम्यानुसार ३, ४, ५, ६ बारतक 'श्री' शब्द-प्रयोगके लिये शास्त्रोंमें प्रमाण पाये जाते हैं। आजकल तो सम्प्रदायाचार्योंके नामोंके पीछे १००८ बारतक श्रीका प्रयोग किया जाता है। एतावता यह सिद्ध हुआ कि 'श्री' शब्द श्रेष्ठता तथा पूज्यताका सूचक है, सर्वश्रेष्ठ तो परब्रह्म ही है। ब्रह्मकलांशके रहनेकी सूचना ही 'श्री' शब्दद्वारा होती है। जिनमें अंशत: ब्रह्मकला प्रकट होती है वे ही 'श्री' शब्दपूर्वक तत्तन्नामोंसे व्यवहृत होते हैं, जैसे श्रीविष्णु, श्रीशिव, श्रीकाली, श्रीदुर्गा, श्रीकृष्ण इत्यादि। सर्वकारणभूता आत्मशक्ति त्रिपुरेश्वरी साक्षात् ब्रह्मस्व-रूपिणी होनेके कारण केवल 'श्री' शब्दसे ही व्यवहृत होती है। '**सा हि श्रीरमृता सताम्**' इत्यादि श्रुति भी इसी परब्रह्मस्वरूपिणी विद्याकी स्तुति करती है।

विभिन्न देवताओंकी आराधना करनेसे पशु, पुत्र,

धन, धान्य, स्वर्ग आदि फल प्राप्त होते हैं, ऐसा शास्त्रोंमें कहा है। 'श्रीविद्या' के उपासकोंको लौकिक फल तो मिलते ही हैं किन्तु साथ-ही-साथ आत्मज्ञानका जो फल श्रुतिमें '**तरति शोकमात्मवित्**'—शोकोत्तीर्णतारूप कहा है, श्रीविद्योपासकको भी वही फल '**पाशाङ्कुशधनुर्बाणा, य एनां वेद स शोकं तरति, स शोकं तरति**' इस आथर्वण देव्युपनिषच्छ्रुतिमें दो बार कहा है। अर्थात् आत्मज्ञानीको प्राप्त होनेवाली शोकोत्तीर्णता श्रीविद्योपासकको निश्चयेन प्राप्त होती है। अतः फलैक्यसे 'श्रीविद्या' ही ब्रह्मविद्या है, यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है।

यहाँपर कदाचित् यह शङ्का हो सकती है कि यदि शोकोत्तीर्णतारूप फल ही अभीष्ट है तो '**आत्मा वा अरे श्रोतव्यः**' इत्यादि श्रुत्यनुसार श्रवण-मननादि करनेका मार्ग उक्त ही है, उसीसे आत्मज्ञान होकर '**तरति शोकमात्मवित्**' के अनुसार शोकोत्तीर्णतारूप फलकी प्राप्ति भी हो ही जायगी। फिर यह श्रीविद्योपासनात्मक कर्मकाण्डके झमेलेकी आवश्यकता ही क्या है? इसका समाधान यह है कि आत्मज्ञानके लिये श्रवण-मननाद्यात्मक मार्ग यद्यपि उक्त है तथापि वह अत्यन्त कष्टसाध्य तथा प्रखर वैराग्यका मार्ग है। उसके अधिकारी करोड़ोंमें भी दुर्लभ ही हैं। 'श्रीविद्या' की क्रमिक उपासना यदि सौभाग्यसे सद्गुरुसम्प्रदायसे प्राप्त हो जाय तो सामान्य मनुष्य भी क्रमशः उपासनाके परिपाकसे तथा श्रीमातासे अभिन्न गुरुकृपासे इसी जन्ममें आत्मज्ञानी हो सकता है! श्रवण-मननात्मक मार्गमें पतनकी आशङ्का है; श्रीविद्योपासनामार्गमें श्रीगुरुरूपिणी शक्तिके अनुग्रहका अवलम्ब होनेके कारण पतनकी आशङ्का नहीं है। शोकोत्तीर्णतारूपी फल अवश्यम्भावी है। यही बात आथर्वण देव्युपनिषच्छ्रुतिने '**स शोकं तरति स शोकं तरति**' ऐसा दो बार कहकर सूचित किया है।

श्रीविद्योपासनामें और भी एक यह विशेषता है कि श्रीविद्योपासकको भोग तथा अपवर्ग दोनों प्राप्त होते हैं। जैसा कि कहा है—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो
यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥

श्रीविद्या ही आत्मशक्ति है

'श्रीविद्या' ही आत्मशक्ति है, आत्मशक्त्युपासना ही श्रीविद्योपासना है। हारितायनसंहिता-त्रिपुरारहस्य-माहात्म्यखण्डके चतुर्थ अध्यायमें महामुनि संवर्तने श्रीपरशुरामजीके 'संसार-भय-पीड़ितोंके लिये शुभ-मार्ग कौन-सा है?' इस प्रश्नका समाधान करते हुए कहा है—'गुरूपदिष्ट मार्गसे स्वात्मशक्ति महेश्वरी त्रिपुराकी आराधना कर उसकी कृपाके लेशको प्राप्त करते हुए सर्वसाम्याश्रयात्मक स्वात्मभावको प्राप्त करो। दृश्यमान सब कुछ आभासमात्र सारशक्तिविलास ही है, ऐसा समझकर जगद्गुरुसमापत्तिको प्राप्त होते हुए निर्भय तथा निःसंशय होकर, हे परशुराम! तुम भी मेरे ही समान यथेच्छ सञ्चार करो। सर्वभावोंमें स्वात्माको और स्वात्मामें सर्वभावोंको देखते हुए पिण्डाहम्भाव छोड़कर वेतृभावके आसनपर स्थिर रहो। स्वदेहको वेद्य समझते हुए वेत्तापर सर्वदा दृष्टि रखनेवालेको इस संसार-मार्गमें कुछ भी कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता।'

स्वतन्त्रतन्त्रमें कहा है—'स्वात्मा ही विश्वात्मिका ललिता देवी है, उसका विमर्श ही उसका रक्तवर्ण है और इस प्रकारकी भावना ही उसकी उपासना है।'

कामेश्वर, कामेश्वरी और उनके उपासकका स्वरूप

स्वात्मशक्ति श्रीविद्या ही ललिता-कामेश्वरी महात्रिपुरसुन्दरी है। वह महाकामेश्वरके अङ्कमें विराजमान है। उपाधिरहित शुद्ध स्वात्मा ही महाकामेश्वर है। सदानन्दरूप उपाधिपूर्ण स्वात्मा ही पर-देवता महात्रिपुरसुन्दरी ललिता है। निष्कर्ष यह है कि स्व अर्थात् उपासकका आत्मा अर्थात् अन्तर्यामी वह सदानन्द-उपाधिपूर्ण ही ललिता है; सत्त्व, चित्त्व, आनन्दत्वरूप धर्मत्रयनिर्मुक्त धर्मिमात्र वही स्वात्मा श्रीविद्या ललिताका आधारभूत महाकामेश्वर है। पर-देवता स्वात्मासे अभिन्न होनेपर भी अन्तःकरणोपाधिक आत्मा उपासक है और सदानन्दोपाधिपूर्ण आत्मा उपास्य है; सर्वथा निरुपाधिक आत्मा महाकामेश्वर है।

कामेश्वर-कामेश्वरीके रक्तवर्णकी वासना

श्रीकामेश्वर-कामेश्वरीके रक्तवर्णका ध्यान किया जाता है, उसका रहस्य यह है—'**लौहित्यमेतस्य सर्वस्य विमर्शः**' (भावनोपनिषत्-सूत्र २८)। महाकामेश्वर, ललिता और स्वयम् इन तीनोंका विमर्श अर्थात् स्वात्मामें अनुसन्धान करना ही ललिताके रक्तवर्णकी भावना है।

कामेश्वर-कामेश्वरीके रक्तवर्णकी वासनाका रहस्य

गुरुमुखैकवेद्य ही है, शब्दोंके द्वारा उसका ठीक वर्णन नहीं किया जा सकता; तो भी जहाँतक सम्भव है वहाँतक विशद करता हूँ। निरुपाधिक कहनेसे केवलत्व और सदानन्दपूर्ण कहनेसे धर्मविशिष्टत्वकी प्रतीति होती है। विशिष्ट और केवल अवयवावयविके समान अयुतसिद्ध हैं; इनका परस्पर तादात्म्य-सम्बन्ध ही हो सकता है, न कि भेदघटित संयोगादि सम्बन्ध। प्रकृतमें कामेश्वर-कामेश्वरीके विग्रहात्मक स्थूल दो रूपोंका सम्बन्ध कामेश्वरके अङ्कमें कामेश्वरीके विराजमान होनेमें पर्यवसित है। स्थूल दृष्टिमें तो यह भेदसम्बन्ध ही प्रतीत होता है, परन्तु रहस्यदृष्टिमें यह शिवशक्ति-सामरस्यात्मक है, जैसे लाक्षाद्रव और पटका सम्बन्ध है। इस प्रकारकी वासना ही रक्तवर्णकी भावना है।

शक्तिके बिना शिव शव ही है

कामेश्वर शिवकी शिवता महाशक्तिके उल्लासरूप सान्निध्यसे ही स्फुरित होती है। स्कन्दपुराणमें कहा है—

जगत्कारणमापन्नः शिवो यो मुनिसत्तमाः।
तस्यापि साऽभवच्छक्तिस्तया हीनो निरर्थकः॥

सौन्दर्यलहरीस्तोत्रमें भी कहा है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।

पञ्चप्रेतासन

श्रीविद्या राजराजेश्वरी पञ्चप्रेतासनपर विराजमान है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव—ये पञ्चमहाप्रेत हैं। इसका रहस्य इस प्रकार है। निर्विशेष ब्रह्म ही स्वशक्तिविलासके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि पञ्च आख्याओंको प्राप्त होकर वामादि तत्तच्छक्तिके सान्निध्यसे सृष्टि, स्थिति, लय, निग्रह, अनुग्रहरूप पञ्च कृत्योंको सम्पादित करता है। जब ब्रह्मादि अपनी-अपनी वामादि शक्तियोंसे रहित होकर कार्याक्षम हो जाते हैं तब वे प्रेत कहे जाते हैं। उनमें भी ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर—ये चार पाद हैं और सदाशिव फलक है; उसपर महाकामेश्वराङ्कमें महाकामेश्वरी विराजमान है।

कामेश्वरीके आयुध

कामेश्वरीके चार भुजाओंमें पाश, अंकुश, इक्षुधनु और पञ्च पुष्पबाणोंका ध्यान किया जाता है। उनका वास्तविक स्वरूप इस प्रकार है। पाश—३६ तत्त्वोंमें राग अर्थात् प्रीति नामक तत्त्व ही पाश है। बन्धकत्वधर्मके साथ साम्य होनेसे वही राग श्रीमाताने पाशरूपसे धारण किया है। '**रागः पाशः**' (भाव० सूत्र ३३)। अङ्कुश—द्वेष अर्थात् क्रोध ही अङ्कुश है। '**द्वेषोऽङ्कुशः**' (भाव० २४)। इक्षुधनु—सङ्कल्प-विकल्पात्मक क्रियारूप मन ही इक्षुधनु है। '**मन इक्षुधनुः**' (भाव० २२)। पञ्चबाण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धकी पञ्चतन्मात्राएँ ही पञ्च पुष्पबाण हैं। '**शब्दादितन्मात्राः पञ्च पुष्पबाणाः**' (भाव० २१)। उत्तरचतुःशतीशास्त्रमें इन आयुधोंका यथार्थ स्वरूप इस प्रकार कहा है—

इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम्।
क्रियाशक्तिमये बाणधनुषी दधदुज्ज्वलम्॥

अर्थात् पाश—इच्छाशक्ति, अङ्कुश—ज्ञानशक्ति तथा बाण और धनु—क्रियाशक्तिस्वरूप हैं।

रहस्य-पूजा

पूर्वोक्त प्रकारसे श्रीमहाकामेश्वरके अङ्कमें विराजमान पाशाङ्कुश-इक्षुधनुपञ्चबाणधारिणी, पञ्चप्रेतासनासीना महात्रिपुरसुन्दरीकी बाह्य पूजा—बहिर्याग तो अनेक पद्धतियोंमें अनेक प्रकारसे विहित ही है। उसके बारेमें विशेष निरूपण अनावश्यक है। रहस्यपूजाका दिग्दर्शन इस प्रकार है—पूर्ण सर्वव्यापक चिच्छक्तिकी अपने महिमामें प्रतिष्ठाकी भावना ही आसनप्रदान है। वियदादि स्थूल प्रपञ्चरूप चिच्छक्तिके चरणोंके नाम-रूपात्मक मलका सच्चिदानन्दैकरूपत्व-भावनारूप जलसे क्षालन करना ही पाद्यार्पण है। सूक्ष्म प्रपञ्चरूप करोंके नाम-रूपात्मक मलका सच्चिदानन्दैकरूपत्व-भावनारूप जलसे क्षालन करना ही अर्घ्य-प्रदान करना है। भावनारूपोंका भी जो कवलीकरण है वही आचमन-प्रदान है। अखिलावयवावच्छेदेन सत्त्वचित्त्वानन्दत्वादिभावनाजलसम्पर्क ही स्नान है। उक्त अवयवोंमें प्रसक्त भावनात्मक वृत्तिविषयताका वृत्त्यविषयत्वभावनारूप वस्त्रसे प्रोञ्छन ही देह-प्रोञ्छन है। निर्विषयत्व, निरञ्जनत्व, अजरत्व, अशोकत्व, अमृतत्वादि अनेक धर्मरूप आभरणोंमें धर्म्यभेदभावना करना ही आभरणार्पण है। स्वशरीरघटक पार्थिव भागोंकी जडता हटाते हुए उनमें चिन्मात्रभावना करना ही गन्धविलेपन है। इसी तरह स्वशरीरघटक आकाश-भागोंकी पूर्वोक्त भावना करना ही पुष्पार्पण है। वायवीय भागोंकी उक्त भावना ही धूपार्पण है। तैजस भागोंकी वैसी भावना करना ही दीपदर्शन है। अमृत-भागोंकी वैसी भावना करना नैवेद्य-निवेदन है। षोडशान्तेन्दुमण्डलकी चिन्मात्रताभावना

करना ही ताम्बूलार्पण है। परा, पश्यन्त्यादि निखिल शब्दोंका नादद्वारा ब्रह्ममें उपसंहार करनेकी भावना ही स्तुति करना है। विषयोंके तरफ दौड़नेवाली चित्तवृत्तियों-का विषयजडतानिरासपूर्वक ब्रह्ममें विलय करना ही प्रदक्षिणीकरण है। चित्तवृत्तियोंको विषयोंसे परावर्तितकर ब्रह्मैकप्रवण करना ही प्रणाम करना है।

यह दिग्दर्शनमात्र है। गुरुमुखसे अन्तर्यागका रहस्य समझकर एकान्तमें प्रतिदिन उक्त प्रकारसे चिच्छक्तिकी पूजा करनेवाला साधक साक्षात् शिव ही हो जाता है।

आत्मशक्तिके चतुर्विध रूप

भक्तोंके उपासना-सौकर्यके लिये आत्मशक्ति 'श्रीविद्या' के स्थूल, सूक्ष्म और पर—ये तीन स्वरूप प्रकट हैं। उनमें पहला अर्थात् स्थूल रूप कर-चरणादि अवयवोंसे भूषित निरतिशयसौन्दर्यशाली रूप मन्त्र-सिद्धिप्राप्त साधकोंके नेत्र तथा करके प्रत्यक्षका विषय है। वे नेत्रोंसे उस लोकोत्तराह्लादक तेजोराशिका दर्शन करते हैं, तथा हाथसे चरणस्पर्श करते हैं। दूसरा मन्त्रात्मक रूप पुण्यवान् साधकोंके कर्णेन्द्रिय तथा वागिन्द्रियके प्रत्यक्षका विषय है। जैसे 'ललितासहस्रनाम' में कहा है।

श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूपमुखपङ्कजा।

'वाग्भवकूट-पञ्चदशी-मन्त्रके प्रथम पाँच वर्ण ही जिसका मुखकमल है।' अर्थात् 'मन्त्रमयी देवता' के सिद्धान्तानुसार मन्त्रवर्णोंमें ही देवताके शरीरावयवोंकी कल्पना करनेसे वह मन्त्रात्मकस्वरूप मन्त्रध्वनिश्रवणरूपमें कर्णेन्द्रियसे तथा मन्त्रोच्चारणरूपमें वागिन्द्रियसे प्रत्यक्ष किया जाता है और सर्वमन्त्रोंका मूलभूत मातृका-सरस्वत्यात्मक रूप भी मन्त्रात्मक रूप कहा जाता है। क्योंकि कहा है—

एतस्यां साधितायां तु सिद्धा स्यान्मातृका यतः।

तीसरा वासनात्मक रूप महापुण्यवान् साधकोंके केवल मन-इन्द्रियसे ही गृहीत होता है। जैसा कि कहा है—**'चैतन्यमात्मनो रूपम्।'** आत्मशक्ति जगदम्बिकाका चैतन्य ही स्वरूप है, आत्मचैतन्यका अनुभव मनसे ही हो सकता है। उत्तम-मध्यमादि अधिकारिभेदानु-सार ये तीन रूप ही उत्तममध्यमाधम साधकोंकी उपासनाके योग्य हैं। इनसे अतिरिक्त तुरीयरूप, जो कि वाक्, मन आदि सब इन्द्रियोंसे अतीत है, उसका केवल मुक्त लोग ही अखण्ड अहन्तारूपमें अनुभव करते हैं तथा वह रूप भी अखण्ड है।

गुरु, मन्त्र तथा देवतामें अभेदभावना; गुरुके साथ अभेदभावनाका रहस्य

आत्मशक्तिरूपिणी देवता श्रीविद्या, उसका मन्त्र और उस मन्त्रके उपदेष्टा सिद्धगुरु इन तीनोंमें अभेददार्ढ्यभावना करना ही मुख्य उपासनापद्धति है। अभेददार्ढ्यभावनाकी पूर्णता होना ही परमसिद्धि-लाभ है। गुरुके साथ अभेदभावनाके महत्त्वका कारण यह है कि आदिनाथादि गुरुक्रमसम्प्रदायप्रभावसे जिसने श्रीविद्याके साथ पूर्णाभेददार्ढ्यभावनाके द्वारा पूर्ण अभेद प्राप्त किया है, ऐसे गुरुके साथ शिष्य यदि अपनी (आत्मशक्तिकी) अभेदभावना करे तो उस शिष्यको भी श्रीविद्याके साथ पूर्ण अभेद तत्क्षण प्राप्त हो जाता है। अतः श्रीविद्याके साथ पूर्ण अभेद प्राप्त करनेके लिये गुरुकृपाके सिवा दूसरा उपाय न होनेसे गुरुके साथ अभेद-भावनाकी नितान्त आवश्यकता है। सुन्दरीतापनीयमें कहा है—जैसे घट, कलश और कुम्भ, ये तीनों शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं, वैसे ही मन्त्र, देवता और गुरु, ये तीनों शब्द भी एक ही अर्थके वाचक हैं।

यथा घटश्च कलशः कुम्भश्चैकार्थवाचकाः।
तथा मन्त्रो देवता च गुरुश्चैकार्थवाचकाः॥

'श्रीविद्या' के १२ सम्प्रदाय तथा कामराजविद्याका महत्त्व

'श्रीविद्या' के १२ उपासक प्रसिद्ध हैं। १-मनु, २-चन्द्र, ३-कुबेर, ४-लोपामुद्रा, ५-मन्मथ (कामदेव), ६-अगस्ति, ७-अग्नि, ८-सूर्य, ९-इन्द्र, १०-स्कन्द (कुमार कार्तिकेय), ११-शिव और १२-क्रोधभट्टारक (दुर्वासा मुनि)।

मनुश्चन्द्रः कुबेरश्च लोपामुद्रा च मन्मथः।
अगस्तिरग्निः सूर्यश्च इन्द्रः स्कन्दः शिवस्तथा।
क्रोधभट्टारको देव्या द्वादशामी उपासकाः॥

इनमें प्रत्येकका पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय था। चतुर्थ और पञ्चम अर्थात् लोपामुद्रा और मन्थन—इन दोनोंके सम्प्रदाय वर्तमानमें प्रचलित हैं। उनमें भी अधिकतर मन्मथ-सम्प्रदाय अर्थात् कामराजविद्याका ही सर्वतोमुख प्रचार है। त्रिपुरारहस्य-माहात्म्यखण्डमें वर्णित कथाओंके अनुसार कामदेवने अपनी निर्व्याज आराधनासे श्रीमाताको प्रसन्नकर उससे अनेक दुर्लभ वर प्राप्त किये, और स्वोपासित कामराजविद्याके उपासकोंके लिये भी बहुत-

सी सुविधाएँ प्राप्त करा दीं। तबसे ही कामराजविद्याका विशेष प्रचार होने लगा।

कामराजविद्याका स्वरूप

कामराजविद्या ककारादि-पञ्चदशवर्णात्मक है। इसीको कादिविद्या भी कहते हैं। तन्त्रराजमें शिवजी देवीसे कहते हैं—'हे देवी पार्वती! कादिविद्या तुम्हारा स्वरूप ही है और उससे सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।' कादिविद्याका उद्धार आथर्वण त्रिपुरोपनिषद्में इस प्रकार है—

कामो योनिः कमला वज्रपाणि-
र्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः।
पुनर्गुहा सकला मायया च
पुरूच्यैषा विश्वमातादिविद्योम्॥

लोपामुद्रा ही हादिविद्या है। यह भी पञ्चदशवर्णात्मिका ही है। कामेश्वराङ्कस्थित कामेश्वरीके पूजामन्त्रोंमें कादि, हादि दोनों विद्याओंसे युक्त नाममन्त्रकी योजना सत्सम्प्रदायोंमें प्रचलित है। अवशिष्ट मनुचन्द्रादि दस विद्याएँ केवल आम्नायपाठमें ही उल्लिखित हैं। प्रचलित उपासना पद्धतियोंमें उनका विशेष उपयोग नहीं है।

श्रीविद्या ही त्रिपुरा है

श्रीकामराज-विद्याकी अधिष्ठात्री 'श्रीविद्या' का ही नामान्तर त्रिपुरा है। त्रि—त्रिमूर्तियोंसे पुरा—पुरातन होनेसे त्रिपुरा, अर्थात् गुणत्रयातीता त्रिगुणनियन्त्री शक्ति। गौड़-पादीय सूत्रमें भी कहा है—'**तत्त्वत्रयेण भिदा**'। त्रिपुरार्णवमें 'त्रिपुरा' शब्दकी प्रकारान्तरसे निरुक्ति की है—तीन नाडियाँ—इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा ही त्रिपुरा है। वह मन, बुद्धि और चित्तरूपी तीन पुरोंमें निवास करनेवाली शक्ति है, अतः त्रिपुरा कही जाती है।

ग्रन्थान्तरमें और भी प्रकारान्तरोंसे 'त्रिपुरा' शब्दकी निरुक्ति कही है—त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश)-की जननी होनेसे, त्रयी (ऋक्, यजुः, साम)-मयी होनेसे महाप्रलयमें त्रिलोकीको अपनेमें लीन करनेसे जगदम्बा 'श्रीविद्या' का 'त्रिपुरा' यह नाम प्रसिद्ध हुआ।

सङ्केतपद्धतिमें तथा वामकेश्वर-तन्त्रमें त्रिपुराका स्वरूप इस प्रकार कहा है—ब्रह्मा, विष्णु, ईशरूपिणी 'श्रीविद्या' के ही ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और इच्छाशक्ति—ये तीन स्वरूप हैं। इच्छाशक्ति, उसका शिरोभाग है, ज्ञानशक्ति मध्यभाग तथा क्रियाशक्ति अधोभाग है। एवं प्रकारक शक्तित्रयात्मक उसका रूप होनेसे ही वह 'त्रिपुरा' कही जाती है।

त्रिपुराम्बा आत्मशक्ति है

आत्मशक्ति ही श्रीत्रिपुराम्बा है, यह बात पहले कही गयी है। हारितायनसंहितामें श्रीदत्तात्रेय गुरुने परशुरामजीसे त्रिपुराम्बास्वरूपका निरूपण करते हुए कहा है—हे राम! उस परा-शक्तिके माहात्म्यका कौन वर्णन कर सकता है? सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, लोकेश्वर ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी अभीतक उस शक्तिका न स्वरूप जानते हैं, न स्थान ही जानते हैं। वस्तुतः 'वह शक्ति ऐसी है' ऐसे कोई भी यथार्थतः वर्णन नहीं कर सकता। वेद-शास्त्र-तन्त्र भी उसके वर्णनमें असमर्थ हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाण तो प्रमेयमात्रका ही ग्रहण करते हैं, उस शक्तिके स्वरूपतक तो उनकी पहुँच ही नहीं है। जैसे अग्निकी ज्वाला प्रज्वलित अङ्गारसमष्टियोंमें आविर्भूत होकर जब शान्त होती है तब वह कहाँ गयी, अथवा किसमें अन्तर्भूत है—यह ज्ञात नहीं होता, वैसे ही समस्त मातृमण्डलशक्तिसङ्घट्टरूपिणी महाचैतन्यात्मिका श्रीका क्या स्वरूप है, वह कैसे आविर्भूत होती है और किसमें अन्तर्भूत होती है, यह ज्ञात नहीं होता। न तो वह तर्कसे, न युक्तिसे ही ज्ञात होती है। '**अहमस्मि**' (मैं हूँ) इस प्रतीतिके सिवा उसकी उपलब्धिका दूसरा प्रमाण नहीं है। 'मैं हूँ' यह प्रतीति होना ही आत्मशक्तिका भान है। अन्तर, बहिः, सर्वदा, सर्वत्र—इस प्रकारसे आत्मशक्तिके प्रत्यक्षका अनुभव करनेवाला साधक गङ्गागर्भमें निमग्न गजके समान सर्वशीतलभावको प्राप्त हो जाता है।

'श्रीविद्या' ही चिच्छक्ति है

वही आत्मशक्तिरूपिणी 'श्रीविद्या' जब लीलासे शरीर धारण करती है, तब वेद-शास्त्र उसका निरूपण करने लगते हैं। अखिल प्रमाणोंकी प्रमात्री वही शक्ति चिच्छक्ति नामसे व्यवहृत होती है। उसके लीलाविग्रहोंका माहात्म्य भी अनन्त है।

श्रीविद्याके ध्यानकी इतर देवताओंके ध्यानसे विशेषता

प्रायः सभी देवताओंके ध्यानोंमें वराभयमुद्राएँ रहती हैं, जिनसे वे अपने भक्तोंको वर तथा अभय-दान देनेकी घोषणाएँ करती हैं। भक्त भी प्रायः ऐसे ही देवता खोजते हैं जिनसे उनको अभीष्ट वर प्राप्त हो तथा उनका भय

निवृत्त हो। श्रीविद्या तो ब्रह्ममयी है; सारे जगत्के कल्याणके लिये आविर्भूत है। उसको वराभय-प्रदानका नाटक करनेकी क्या आवश्यकता है?

श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यजीने अपने सौन्दर्यलहरी स्तोत्रमें यही बात कही है—

त्वदन्यः पाणिभ्यामभयवरदो दैवतगण-
स्त्वमेका नैवासि प्रकटितवराभीत्यभिनया।
भयात् त्रातुं दातुं फलमपि च वाञ्छासमधिकं
शरण्ये लोकानां तव हि चरणावेव निपुणौ॥

हे शरणागतरक्षिके! माँ!! तुमसे अन्य प्रायः सभी देवतागण अपने करोंसे वर तथा अभयदान देनेवाले हैं। एक तुम ही ऐसी हो जिसने वर तथा अभयदानका अभिनय नहीं किया है। तब क्या तुम्हारे भक्तोंको वर तथा अभय नहीं मिलता? नहीं, सो बात नहीं है। हे शरण्ये! माँ!! भक्त लोगोंका भयसे रक्षण करनेके लिये तथा उनको अभीष्ट वरदान देनेके लिये तुम्हारे चरण ही समर्थ हैं। जब चरणके द्वारा ही वराभयदान हो सकता है तब हाथमें वराभयमुद्रा धारण करना निरर्थक है। अर्थात्—इतर देवताएँ जो वस्तु हाथसे देती हैं, तुम वही वस्तु पैरसे देती हो; क्योंकि तुम राजराजेश्वरी ब्रह्ममयी हो।

श्रीविद्याके लीलाविग्रह

श्रीविद्याके लीलाविग्रह तो अनन्त हैं। त्रिपुरारहस्य-माहात्म्यखण्ड तथा ब्रह्माण्डपुराणोत्तरखण्ड आदि पुराणेतिहासोंमें मुख्य विग्रहोंका परिगणन इस प्रकार है—

(१) **कुमारी**—इन्द्रादि देवोंके गर्व-परिहारके लिये श्रीमाता कुमारीरूपसे प्रकट हुई थीं।

(२) **त्रिरूपा**—कारणपुरुष ब्रह्मा, विष्णु और शिवको उनके अधिकृत सृष्टिस्थितिसंहारात्मक कार्योंमें सहायता करनेके लिये श्रीमाताने वाणी, रमा तथा रुद्राणी शक्तियोंको अपने शरीरसे उत्पन्नकर उन तीनोंसे उनका विवाह करा दिया।

(३) **गौरी,** (४) **रमा**—मर्त्यलोकमें मानवोंद्वारा यज्ञ-यागादि कर्मोंके न होनेसे इन्द्रादि देव चिन्तित हुए। ब्रह्मदेवके आदेशानुसार उन लोगोंने श्रीमहालक्ष्मीकी आराधना की। श्रीमहालक्ष्मीने अपने पुत्र कामदेवको देवकार्यमें सहायता करनेके लिये भेजा। कामदेवसे और भूलोकाधिपति राजा वीरव्रतके सैनिकोंसे घोर युद्ध हुआ। कामदेवने सबको भगाया। राजा वीरव्रतने इस आपत्तिके शमनार्थ शङ्करजीकी आराधना की। शङ्करजीसे विजयप्राप्तिका वरदान पाकर राजाने कामदेवसे युद्ध करते हुए शङ्कर-प्रेषित त्रिशूलात्मक बाण कामदेवपर चलाकर उसको मार डाला। लक्ष्मीके दूतोंने कामदेवका निश्चेष्ट शरीर लक्ष्मीके पास पहुँचाया। लक्ष्मीने श्रीत्रिपुराम्बा-प्रसादसे अमृतद्वारा उसको पुनरुज्जीवित किया। शङ्करके प्रभावसे अपना पराजय तथा मृत्यु होनेका वृत्तान्त सुनकर उसी क्षणसे कामदेवके मनमें शङ्करजीके प्रति घोर द्वेषग्रन्थि पड़ गयी। त्रिपुराम्बाकी आराधनासे बल सञ्चयकर शङ्करको हरानेकी कामदेवने अपने मनमें प्रतिज्ञा की। इतनेहीमें श्रीमहालक्ष्मीने त्रिपुराम्बाकी प्रार्थना की। तदनुसार त्रिपुराम्बाद्वारा प्रेषिता गौरी वहाँपर प्रकट हुई। श्रीमहालक्ष्मीने कामदेवके पराजय तथा प्रतिज्ञा आदिका वृत्तान्त गौरीको सुनाकर उपाय पूछा। गौरीने लक्ष्मी तथा कामदेव दोनोंको समझाया कि शङ्करजी सर्वश्रेष्ठ हैं, उनसे स्पर्धा करना योग्य नहीं है; उनकी ही आराधना कर अपना अभीष्ट प्राप्त करना उचित है। गौरीकी उक्ति सुनकर कामदेव रुष्ट हुआ और शङ्करजीको जीतनेका अपना अभिप्राय उसने प्रकट किया। यह सुनकर गौरीने क्रुद्ध होकर 'तुम शिवजीके द्वारा दग्ध होगे' ऐसा कामदेवको शाप दिया। अपने प्रिय पुत्रको गौरीने शाप दिया यह सुनकर महालक्ष्मीने गौरीको शाप दिया कि 'तुम भी पतिनिन्दा सुनकर दग्ध होगी।' यह सुनकर गौरीने भी लक्ष्मीको शाप दिया कि 'तुम पतिविरहका दुःख तथा सपत्नियोंसे क्लेश प्राप्त करोगी।' अनन्तर लक्ष्मी और गौरीमें युद्ध आरम्भ हुआ। परस्परके प्रहारसे दोनों मूर्च्छित होने लगीं। ब्रह्मा और सरस्वतीकी मध्यस्थतासे किसी तरह युद्ध शान्त हुआ। शिवजीको जीतनेकी अभिलाषासे कामदेवने अपनी माता महालक्ष्मीसे त्रिपुराम्बाके सौभाग्याष्टोत्तरशतनाम-स्तोत्रका उपदेश प्राप्त किया। मन्दराचलकी गुहामें बैठकर उसने आराधना आरम्भ की। कुछ दिन बाद त्रिपुराम्बाने प्रसन्न होकर स्वप्नमें कामदेवको अत्यन्त गुप्त पञ्चदशी-विद्याका उपदेश दिया। दिव्य वर्षत्रयतक कामदेवने एकाग्रभावसे श्रीमाताकी आराधना की। भगवतीने प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष दर्शन दिया। 'हे काम! आजसे तुम अजेय हुए' ऐसा कहकर श्रीमाताने अपने धनुःशरोंसे धनुःशर उत्पन्न कर कामदेवको दिये।

दक्षयज्ञमें पतिनिन्दा श्रवणकर भस्मीभूत गौरी नभोरूपमें स्थित रही। हिमाचलकी आराधनासे प्रसन्न होकर गौरीरूपमें उसकी कन्या हुई।

तारकासुरवधमें शिवपुत्रको सेनापति बनाना आवश्यक समझकर इन्द्रने शिवतपोभङ्ग करनेके लिये कामको आज्ञा दी। गौरीके समक्ष ही शिवजीने अपने तृतीय नेत्रसे कामका दाह किया।

(५) **भारती**—ब्रह्मदेवजीकी सभामें देवर्षिद्वारा सावित्रीकी स्तुति सुनकर ब्रह्मदेवजीने उसका उपहास किया। सावित्रीने इससे अपना अपमान समझकर ब्रह्मदेवको खूब फटकार सुनायी। तब ब्रह्माजी बिगड़कर बोले—'पतिका अपमान करनेवाली तुम पत्नीत्वके अयोग्य हो, आजसे यज्ञोंमें मेरे साथ न बैठ सकोगी।' सावित्रीने भी बिगड़कर कहा कि 'यदि मैं तुम्हारी पत्नी होनेयोग्य नहीं हूँ तो शूद्रकन्या तुम्हारी पत्नी होगी।' इस प्रकार दोनोंके क्रोधसे जगत्‌में व्याकुलता देखकर हरि और हरने दोनोंको आश्वस्त किया और 'देहान्तरमें सावित्री ही शूद्रकन्या होगी' ऐसा कहा। फिर भी ब्रह्मा और सावित्री पूर्णत: शान्त नहीं हुए थे, ब्रह्माने सावित्रीको शूद्रकन्या-जन्ममें पूर्व-वृत्तान्तके स्मरण न रहनेका शाप दिया; सावित्रीने निन्द्य स्त्रीमें ब्रह्माको कामुक होनेका शाप दिया।

एकदा ब्रह्माजीने यज्ञ करनेका विचार किया। सावित्रीको बुलाया, किन्तु वह न आयी। मुहूर्त-अतिक्रमण होनेके भयसे विष्णुने भूतलसे एक गोपकन्या लाकर उससे ब्रह्माका विवाह कराया और यथाविधि यज्ञ भी समाप्त हुआ। सावित्री अत्यन्त क्रुद्ध हुई, उसके क्रोधसे त्रैलोक्य दग्ध होने लगा। तब पार्वतीकी प्रार्थनाके अनुसार त्रिपुराम्बाने आविर्भूत होकर सावित्रीको शान्त किया।

(६) **काली**—आदिदैत्य मधु और कैटभके कुलोंमें उत्पन्न शुम्भ-निशुम्भ नामके दो दैत्योंने उग्र तपस्या कर ब्रह्माजीसे पुरुषमात्रसे अजेय होनेका वर प्राप्त किया। तीनों लोकोंपर उन्होंने आक्रमण किया। सारे देवता निर्वासित किये गये। ब्रह्मा, विष्णु, शिवसहित इन्द्रादि देवोंने जाह्नवीतीरपर '**नमो देव्यै**' इस स्तोत्रसे त्रिपुराम्बाकी स्तुति की। त्रिपुराम्बाने प्रसन्न होकर गौरीको भेजा। गौरीने देवोंका वृत्तान्त सुनकर कालीरूप धारण किया और शुम्भ-निशुम्भद्वारा प्रेषित चण्ड-मुण्ड नामक दैत्योंका वध किया।

(७) **चण्डिका,** (८) **कात्यायनी**-छ:, सात, आठ—इन तीनों अवतारोंकी कथाएँ सप्तशतीस्तोत्रमें प्रसिद्ध तथा सर्वविदित हैं, अत: यहाँपर विशेष उल्लेख नहीं किया है।

(९) **दुर्गा**-महिषासुरको मारनेके लिये महालक्ष्मी—दुर्गारूपमें श्रीमाताने अवतार ग्रहण किया। यह कथा सप्तशतीके मध्यमचरित्रमें प्रसिद्ध है।

(१०) **ललिता**-पूर्वकालमें भण्ड नामके असुरने श्रीशिवजीकी आराधना की और उनसे अभयरूप वर प्राप्तकर त्रिलोकाधिपत्य करते हुए देवताओंके हविर्भागका भी स्वयमेव भोग करना आरम्भ किया। इन्द्राणी उसके डरसे गौरीके निकट आश्रयार्थ गयी। इधर भण्डने विशुक्रको पृथिवीका और विषङ्गको पातालका आधिपत्य दिया। स्वयं इन्द्रासनपर आरूढ़ होकर इन्द्रादि देवताओंको अपनी पालकी ढोनेपर नियुक्त किया। शुक्राचार्यजीने दयावश होकर इन्द्रादिकोंको इस दुर्गतिसे मुक्त किया। असुरोंकी मूल राजधानी शोणितपुरको ही मयासुरके द्वारा स्वर्गसे भी सुन्दर बनवाकर उसका नया नाम शून्यकपुर रखकर वहींपर भण्ड दैत्य राज्य करने लगा। स्वर्गको उसने नष्ट कर डाला। दिक्पालोंके स्थानमें अपने बनाये हुए दैत्योंको ही उसने बैठाया। इस प्रकार एक सौ पाँच ब्रह्माण्डोंपर उसने आक्रमण किया और उनको अपने अधिकारमें कर लिया। अनन्तर भण्ड दैत्यने फिर घोर तपस्या कर शिवजीसे अमरत्वका वरदान पाया। इन्द्राणीने गौरीका आश्रय पाया है, यह सुनकर वह कैलास गया और गणेशजीकी भर्त्सनाकर उनसे इन्द्राणीको अपने लिये माँगने लगा। गणेशजी बिगड़कर प्रमथादि गणोंको साथ लेते हुए उससे युद्ध करने लगे। पुत्रको युद्धप्रवृत्त देखकर उसकी सहायता करनेके लिये गौरी अपनी कोटि-कोटि शक्तियोंके साथ युद्धस्थलमें आकर दैत्योंसे युद्ध करने लगीं। इधर गणेशजीकी गदाके प्रहारसे मूर्च्छित होकर पुन: प्रकृतिस्थ होते ही भण्डासुरने उनको अङ्कुशाघातसे गिराया। गौरी यह देखकर बहुत क्रुद्ध हुईं और हुङ्कारसे भण्डको बाँधकर ज्यों ही मारनेके लिये उद्यत हुईं त्यों ही ब्रह्माजीने गौरीको शङ्करजीके दिए हुए अमरत्व-वर-प्रदानका स्मरण दिलाया। लाचार होकर गौरीने उसको छोड़ दिया।

इस प्रकार भण्ड दैत्यसे त्रस्त होकर इन्द्रादि देवोंने

गुरुकी आज्ञानुसार हिमाचलमें त्रिपुरादेवीके उद्देश्यसे तान्त्रिक महायाग करना आरम्भ किया। अन्तिम दिन याग समाप्तकर जब देवलोग श्रीमाताकी स्तुति कर रहे थे, इतनेहीमें ज्वालाके बीचसे महाशब्दपूर्वक अत्यन्त तेजस्विनी त्रिपुराम्बा प्रादुर्भूत हुईं। उस महाशब्दको सुनकर तथा उस लोकोत्तर प्रकाश-पुञ्जको देखकर गुरु बृहस्पतिके सिवा सब देवलोग बधिर तथा अन्धे होते हुए मूर्च्छित हो गये। गुरु तथा ब्रह्माने हर्षगद्गद स्वरसे श्रीमाताकी स्तुति की। श्रीमाताने प्रसन्न होकर उनका अभीष्ट पूछा। उन्होंने भी भण्डासुरकी कथा सुनाकर उसके नाशकी प्रार्थना की। माताने भी उसको मारना स्वीकार किया और मूर्च्छित इन्द्रादि देवोंको अपनी अमृतमय कृपा-दृष्टिसे चैतन्य करते हुए अपने दर्शनकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये उनको विशेषरूपसे तपस्या करनेकी आवश्यकता बतलायी। देवलोग भी माताकी आज्ञानुसार तपस्या करने लगे। इधर भण्डासुरने देवोंपर धावा बोल दिया। कोटि-कोटि सैनिकोंके साथ आते हुए भण्ड दैत्यको देखकर देवोंने त्रिपुराम्बाकी प्रार्थना करते हुए अपने शरीर अग्नि-कुण्डमें डाल दिये। त्रिपुराम्बाकी आज्ञानुसार ज्वालामालिनी शक्तिने देवगणोंके आसमन्तात् ज्वालामण्डल प्रकट किया। देवोंको ज्वालामें भस्मीभूत समझकर भण्ड दैत्य सैन्यके साथ वापस चला गया। दैत्यके जानेके बाद देवलोग अपने अवशिष्टाङ्गोंकी पूर्णाहुति करनेके लिये ज्यों ही उद्यत हुए त्यों ही ज्वालाके मध्यसे तडित्पुञ्जनिभा त्रिपुराम्बा आविर्भूत हुईं। देवलोगोंने जयघोषपूर्वक पूजनादिद्वारा उनको सन्तुष्ट किया। देवोंको अपना दर्शन सुलभ हो इसलिये श्रीमाताने विश्वकर्माके द्वारा सुमेरुशृङ्गपर निर्मित श्रीनगरमें सर्वदा निवास करना स्वीकार किया। उसके बाद श्रीमाताने देवोंकी प्रार्थनाके अनुसार श्रीचक्रात्मक रथपर आरूढ़ होकर भण्ड दैत्यको मारनेके लिये प्रस्थान किया। महाभयानक युद्ध हुआ। श्रीमाताके कुमार श्रीमहागणपति तथा कुमारी बालाम्बाने भी युद्धमें बहुत पराक्रम दिखाया। श्रीमाताकी मुख्य दो शक्तियाँ १-मन्त्रिणी-राजमातङ्गीश्वरी, २-दण्डिनी-वाराही और इतर अनेक शक्तियोंने अपने प्रबल पराक्रमके द्वारा दैत्य-सैन्यमें खलबली मचा दी। अन्तमें बड़ी मुश्किलसे जब श्रीमाताने महाकामेश्वरास्त्र चलाया तब सपरिवार भण्ड दैत्य मारा गया। देवोंका भय दूर हुआ।

यह कथाका संक्षेप है। विशेष जिज्ञासुओंको त्रिपुरारहस्य-माहात्म्यखण्ड देखना चाहिये।

'श्रीविद्या' के विषयमें अभी बहुत वक्तव्य अवशिष्ट है, परन्तु लेख-विस्तारके भयसे यहीं विराम करता हूँ।

श्रीमाता ललिताम्बा प्रीयताम्

शक्ति-तत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीभगवानदासजी, एम० ए०, डी० लिट०)

देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या
निःशेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या।
तामम्बिकामखिलदेवमहर्षिपूज्यां
भक्त्या नताः स्म विदधातु शुभानि सा नः॥

(सप्तशती)

दर्शन-शब्दका अर्थ आँख भी है, देखना भी है, वेदान्तप्रधान षड्दर्शन भी है। इन छः दर्शनोंका नाम दर्शन प्रायः इसी हेतुसे पड़ा होगा कि ये संसारके स्वरूपको, तत्त्वको, छः स्थानसे, छः दृष्टिसे, छः प्रकारसे देखते हैं, **'प्रस्थानभेदाद्दर्शनभेदः'**; और इनके बलसे, विशेषकर वेदान्तके, अध्यात्मशास्त्रके बलसे, अन्य सब शास्त्रोंके हृदयको, मर्मको जान लेना—पहचान लेना सम्भव हो जाता है, मानो मनुष्यको नयी आँख हो जाती है, जिससे वह सब शास्त्रों, सम्प्रदायों, मार्गों, पन्थों, धर्मोंके सारको, सत्य अंशको, तात्त्विक अंशको देखने लग जाता है।

मेधासि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा।

(सप्तशती)

इस दृष्टिसे देखनेसे ऐसा जान पड़ता है कि द्वन्द्वमय संसारके, जीवनके जैसे दो ही कारण कहिये, रूप कहिये, वैसे दो ही उपासनाके प्रकार हैं—एकरस, एकरूप, सदा केवल परमात्माकी उपासना; और अनन्तरसवती, अनन्तरूपिणी, सततपरिणामिनी मायाकी उपासना।

शक्तिशक्तिमदुत्थं हि शाक्तं शैवमिदं जगत्।
स्त्रीपुंसप्रभवं विश्वं स्त्रीपुंसात्मकमेव च॥

परमात्मा शिवः प्रोक्तः शिवा मायेति कथ्यते।
पुरुषः परमेशानः प्रकृतिः परमेश्वरी॥

(शिवपुराण)

'शेते सवशरीरेषु इति शिवः। या मा, या नास्ति किन्तु प्रतिभासते सा माया। 'या' अविद्या, भोगदा। 'मा' न—इति न—इति सर्वमूर्त्तरूपनिषेधिनी विद्या, मोक्षदा।'

या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता त्व-
मभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्त्वसारैः।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषै-
र्विद्यासि सा भगवती परमा हि देवि॥

(सप्तशती)

नींदमें सोकर सुस्ताया हुआ मनुष्य जागना चाहता है। जागते-जागते, विविध प्रकारके कर्म करते-करते और भोग भोगते-भोगते थका मनुष्य सोना चाहता है। भोग-मोक्ष, अभ्युदय-निःश्रेयस, काम-निर्वाण, शक्ति-शिव, यही पुरुषार्थका जोड़ा और उपासनाका जोड़ा, द्वन्द्व है। आत्मज्ञानरूपवाली परा विद्याकी उपासना शिवकी उपासना है। भोगसाधकज्ञानरूपवाली विद्या कहिये, अविद्या कहिये, **'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च'** की अपरा विद्याकी उपासना शक्त्युपासना है। बुभुक्षु प्रवृत्त्युन्मुख संसारप्राग्भार व्युत्थानचित्तकी इसमें रुचि होती है। मुमुक्षु निवृत्त्युन्मुख कैवल्यप्राग्भार निरोधचित्तकी दूसरीमें। **'इहैव च निजं राज्यं, अविभ्रंश्यन्यजन्मनि'** सुरथराजाने देवीसे माँगा। **'ममेत्यहमिति ज्ञानं संगविच्युतिकारकम्'** समाधि वैश्यने। यह कथा दुर्गासप्तशतीमें प्रसिद्ध है।

यह द्वन्द्वता—हाँ भी, नहीं भी; हँसना भी, रोना भी; जागना भी, सोना भी; सटना भी, हटना भी; चाहना भी, डाहना भी; शरीर ओढ़ना भी, छोड़ना भी पुरुषकी प्रकृति है। पुरुषसे भिन्न प्रकृति नहीं। पुरुषकी प्रकृति। परमात्माका स्वभाव। ब्रह्मकी माया। शिवकी शक्ति। ईश्वरभूत जीव और जीवभूत ईश्वरकी इच्छा!

तस्य चेच्छास्म्यहं दैत्य सृजामि सकलं जगत्।
स मां पश्यति विश्वात्मा तस्याहं प्रकृतिः शिवा॥

(दे० भा० ३। १६)

सगुणा निर्गुणा सा तु द्विधा प्रोक्ता मनीषिभिः।
सगुणा रागिभिः सेव्या निर्गुणा तु विरागिभिः॥

(१। ८। ४०)

केचित्तां तप इत्याहुस्तमः केचिज्जडं परे।
ज्ञानं मायां प्रधानञ्च प्रकृतिं शक्तिमप्यजाम्॥
विमर्श इति तां प्राहुः शैवशास्त्रविशारदाः।
अविद्यामितरे प्राहुर्वेदतत्त्वार्थचिन्तकाः॥

(७। ३२। ९-१०)

'इच्छा शक्तिरुमा कुमारी' (शिवसूत्रविमर्शिनी)। इच्छा ही शक्ति है, जब अन्य बलवत्तर इच्छासे व्याहत न हो। जब व्याहत हो जाय तब वही अशक्ति है। पर व्याघातसे क्रोधका रूप धारण करके वह अशक्ति ही काल पाकर नयी शक्ति बन जाती।

पीड्यन्ते दुर्बला यत्र तत्र रुद्रः प्रजायते।
प्रह्लादः सहतां क्लेशान् नृसिंहः केन वार्यते॥

'सुखानुशयी रागः', 'दुःखानुशयी द्वेषः।' ग्रहणेच्छा, आकर्षणेच्छा, उपासनेच्छाका नाम राग वा काम। त्यागेच्छा, अपकर्षणेच्छा, अपासनेच्छाका नाम द्वेष वा क्रोध। इन दोनों प्रतिद्वन्द्वियोंके सुन्दोपसुन्दवत् परस्पर संहारसे, परस्पर निषेध-प्रतिषेधसे, न-इति न-इति करके जीवन-तुलाके दोनों सुख-दुःखरूपी पल्लोंके बराबर होते रहनेसे और सार्विक पारमार्थिक दृष्टिसे सर्वकाल वा कालाभावमें सदा बराबर बने रहनेसे ही ब्रह्म परमात्माकी निष्क्रियता, अपरिणामिता, एकरसता, अखण्डता, निरञ्जनता, निर्विशेषता, शिवकी शिवता, शान्तता, शायिता, सुषुप्तता, तुरीयता सिद्ध होती हैं। इसी राग-द्वेषरूपिणी महाशक्ति इच्छाशक्ति नामक अमूर्त्त आध्यात्मिक तत्त्वके पौराणिक तान्त्रिक साम्प्रदायिक मूर्त्तरूप गौरी-काली, भवानी-भैरवी, अन्नपूर्णा-दुर्गा, उमा-चण्डी आदि हैं। इन्हींके पुरुषाकार शिव-रुद्र, भव-हर, शङ्कर-उग्र, ईशान-भीम आदि हैं। **'जिनकी रही भावना जैसी। प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी॥'** अपने अभीष्टके अनुसार, **'मननात्त्रायते इति मन्त्रः, मन्त्रमूर्तिर्देवता'** देवताकी मूर्ति भक्त लोग संकल्प कर लेते हैं और उनसे उनके अभीष्ट सुख और तदनुषक्त दुःख भी मिलते हैं। तैंतीस किंवा अनन्तकोटि मनुष्योंकी तैंतीस क्या अनन्तकोटि इच्छाके अनुसार तैंतीस अपितु अनन्तकोटि देवता। मुहम्मद पैगम्बरने भी ठीक पहचाना और कहा है कि जितने आदमी हैं उतने ही रास्ते खुदातक पहुँचनेके हैं। सब जीव, सब देह, सब उपासक, सब उपास्य, सब भक्त, सब इष्ट, एक ही परम देवता, सर्वव्यापक, प्रेरक परमात्माकी सङ्कल्पशक्ति, भावनाशक्ति, इच्छाशक्तिसे कल्पित, भावित, प्राणित हो रहे हैं, सभी उसीके रूप हैं।

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।

यह परमात्माकी 'मा-या' रूपिणी इच्छाशक्ति ही उस मूलपुरुषकी मूलप्रकृति है, पर इसके तीन अङ्ग हैं। हृदयस्थानी तो स्वयं इच्छाशक्ति है, शिर:स्थानी ज्ञानशक्ति है, हस्तपादस्थानी क्रियाशक्ति है।

मूलप्रकृतिरूपिण्याः संविदो जगदुद्भवे।
प्रादुर्भूतं शक्तियुग्मं प्राणबुद्ध्यधिदैवतम्॥
(दुर्गा तु बुद्ध्यधिष्ठात्री राधा प्राणेश्वरी मता।)
राध्नोति सकलान् कामांस्तस्माद्राधेति कीर्त्तिता॥
सर्वबुद्ध्यधिदेवीयमन्तर्यामिस्वरूपिणी।
दुर्गसङ्कटहन्त्रीति दुर्गेति प्रथिता भुवि॥

(दे० भा० ९।५०)

इच्छाको पूरा करनेका उपाय बुद्धि, ज्ञानशक्ति, ज्ञानेन्द्रियव्यापिनी बताती है और क्रियाशक्ति, प्राणशक्ति, कर्मेन्द्रियव्यापिनी उस उपायको निष्पन्न करती है। एक ही संविच्छक्ति, चेतनाशक्ति, चिच्छक्तिकी तीन कला, तीन मुख, तीन रूप व्यवहारमें, व्यावहारिक दृष्टिसे देख पड़ते हैं। पारमार्थिक दृष्टिसे निष्क्रिय, निश्चल, नि:स्पन्द होकर तीनों एकाकार संवित्के आकारमें अव्यक्त ब्रह्म, परमात्मा परमपुरुषमें सदा प्रलीन, निर्वाण हैं।

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते।
चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्।

(सप्तशती)

उसी परमप्रकृतिकी तीन आदिम विकृतियाँ यह तीन हैं, जिनके न्याय-शास्त्रोक्त आध्यात्मिक नाम ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति हैं। इन्हींके मूर्त्ताकारों प्रतिमाओंके पौराणिक नाम महासरस्वती, महाकाली, महालक्ष्मी। तान्त्रिक **ऐं, क्लीं, ह्रीं, (श्रीं)**। इन्हींके पुरुषाकारोंके पौराणिक नाम विष्णु, महेश, ब्रह्मा। आधिदैविक सांख्ययोगोक्त नाम सत्त्व, तमस्, रजस्। पारमार्थिक वेदान्तोक्त नाम चित्, आनन्द, सत्। जैसे इच्छाके दो प्रतिद्वन्द्वी रूप काम-क्रोध, वैसे ज्ञानके तथ्य-मिथ्या, और क्रियाके '**परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।**'

ज्ञानेच्छाक्रियाणां तिसृणां व्यष्टीनां महासरस्वती-महाकालीमहालक्ष्मीरिति प्रवृत्तिनिमित्तवैलक्षण्येन नाम रूपान्तराणि।............सच्चिदानन्दात्मकपरब्रह्मधर्मत्वा-देवशक्तेरपि त्रिरूपत्वम्।

महासरस्वति चिते महालक्ष्मि सदात्मिके।
महाकाल्यानन्दरूपे त्वत्तत्त्वज्ञानसिद्धये।
अनुसंदध्महे चण्डि वयं त्वां हृदयाम्बुजे॥

महालक्ष्मीर्ब्रह्मत्वं महाकाली रुद्रत्वं महासरस्वती विष्णुत्वं प्रपेदे। (सप्तशतीकी गुप्तवती टीका)

रजोगुणाधिको ब्रह्मा विष्णुः सत्त्वाधिको भवेत्।
तमोगुणाधिको रुद्रः सर्वकारणरूपधृक्॥
स्थूलदेहो भवेद् ब्रह्मा लिङ्गदेहो हरिः स्मृतः।
रुद्रस्तु कारणो देहस्तुरीयस्त्वहमेव हि॥

(दे० भा० १२।८।७२-७३)

यास्य प्रथमा रेखा सा.....क्रियाशक्तिः। यास्य द्वितीया रेखा सा.....इच्छाशक्तिः.....। यास्य तृतीया सा..... ज्ञानशक्तिः।

(कालाग्निरुद्रोपनिषत्)

शक्तिः स्वाभाविकी तस्य विद्या विश्वविलक्षणा।
एकानेकस्वरूपेण भाति भानोरिव प्रभा॥
अनन्ताः शक्तयस्तस्य इच्छाज्ञानक्रियादयः।
(इच्छाशक्तिमहेशस्य नित्या कार्यनियामिका॥)
ज्ञानशक्तिस्तु तत्कार्यं कारणं करणं तथा।
प्रयोजनं च तत्त्वेन बुद्धिरूपाध्यवस्यति॥
यथेप्सितं क्रियाशक्तिर्यथाध्यसितं जगत्।
कल्पयत्यखिलं कार्यं क्षणात् संकल्परूपिणी॥

(शिवपुराण, वायुसंहिता, उत्तरखण्ड अ० ७ अ० ८)

'**अनन्ताः शक्तयस्तस्य।**' देवीभागवतमें, सप्तशतीमें, अन्य पुराणों और तन्त्रोंमें, ललितासहस्रनाम प्रभृति स्तोत्रोंमें इनकी सूचना की है, मूर्त्तरूपोंकी भी और अमूर्त्त आध्यात्मिक भावोंके रूपोंमें भी—

सात्त्विकस्य ज्ञानशक्ती राजसस्य क्रियात्मिका।
द्रव्यशक्तिस्तामसस्य तिस्रश्च कथितास्तव॥

(दे० भा० ३।७।२६)

परमात्माकी इच्छा-शक्तियोंका ही रूपान्तर अनन्त द्रव्यशक्तियाँ हैं, इनको अर्थ-शक्ति भी कहा है।

ऋषिरे व हि जानाति द्रव्यसंयोगजान् गुणान्।

यह इच्छा-शक्ति अनन्त पदार्थों, द्रव्यों, देहों, योनियों, भूतग्रामोंके रूपका धारण और मारण करती रहती है।

मन्वानि शृणवानि पश्यानि जिघ्राणि अभिव्या-हराणि.......इति आत्मा.......मनः श्रोत्रं चक्षुः, घ्राणं वाक्.......अभवन्।

'**एकोऽहं बहु स्याम्**' इस इच्छासे, असंख्य ब्रह्माण्डोंमेंसे एक इस पृथ्वी नामक ब्रह्माण्ड, ब्रह्मके गोल अण्ड,

भूगोलपर चौरासी लाख स्थावर-जङ्गम चतुर्विध भूतग्राममें राशीकृत द्रव्यात्मक रूप धारण कर लिये। प्रत्येकमें विशेष शक्ति दूसरोंके पोषण वा शोषणकी, रञ्जन वा द्वेषणकी है। बहिर्मुखवृत्ति पाश्चात्य विज्ञानाचार्य अधिकतर इन्हींका पता लगानेमें और उनसे काम लेनेमें, इन्द्रिय-सुख-वर्धनमें, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिका उपयोग करते हैं। ओषधिजा सिद्धियोंके साधनमें व्यस्त हैं। यहाँ शक्तिदेवीकी पूजा, 'वर्शिप आफ पावर, आफ मैट' (Worship of Power, might) बहुत जोरपर है। पूर्व देशमें, भारतवर्षमें, अपनेको ऋषि-सन्तान मानने-कहनेवाले, पञ्चविध सिद्धियोंकी, '**जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः**' चर्चा तो करते हैं, पर उनके साधनमें, पुण्यक्षय और पापोदयसे पापसारभूत, पापकी एकमात्र जननी भेदबुद्धि, स्वार्थबुद्धि, दुर्बुद्धिके कारण, नितराम् अशक्त हो रहे हैं। इसीसे सब ओरसे तिरस्कार पाते हैं। कहते हैं कि हम शिवदेवकी पूजा 'वर्शिप आफ पीस' (Worship of peace), शान्तिकी, प्रशमकी पूजा करते हैं, पर न सच्ची शिवकी, न सच्ची शक्तिकी उपासना करते हैं। सच्ची उपासना यदि शक्तिमान् शिवकी की जाय तो उत्तमा शक्ति अलग नहीं रह सकती।

खुदाको पाया तो क्या न पाया, खुदा मिला तो सभी मिला है।
ज़रा तू सोचै, मिला जो ख़ालिक़ तो उसे ख़िल्क़त कभी जुदा है!

रुद्रहीनं विष्णुहीनं न वदन्ति जनाः किल।
शक्तिहीनं यथा सर्वे प्रवदन्ति नराधमम्॥

(दे० भा० ३। ६। १९)

रुद्रहीन, विष्णुहीन कहकर किसीका तिरस्कार नहीं किया जाता, शक्तिहीन—अशक्त, क्लीब—नपुंसक, निकम्मा—किसी कामका नहीं, '**किं तेन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः**', ऐसा कहकर अनादर—अवमान किया जाता है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

यह आत्मा, आत्मराज्य, बलहीन—निर्बल—दुर्बलको नहीं मिलता। बल तपस्यासे होता है। तपस्याके बलसे ब्रह्माने सृष्टि रची। तपस्याका अर्थ केवल शरीर-सुखका त्याग ही नहीं, अपितु किसी ऊँचे अच्छे परार्थी उद्देश्यसे, दृढ़ सङ्कल्पसे सदा भीतर तपते भी रहना, उसके साधनमें भी दत्तचित्त रहना। केवल पोथी पढ़ते रहना, अच्छे ज्ञानहीका केवल संग्रह भी करते रहना, यह पर्याप्त नहीं। उसके साथ-साथ तदनुसारिणी सदिच्छा और सत्क्रियाका भी होना आवश्यक है।

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः॥

'**सर्वभूतहिते रताः**' ये शब्द दो बार भगवद्गीतामें आये हैं। '**तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः**' यह भी। तथा भागवतमें वेनको ऋषियोंने जब दण्ड दिया है, उसकी कथामें—

ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः।
स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात् पयो यथा॥

दीन-दुर्बलोंका अनुचित पीड़न, ताड़न देखता हुआ जो ब्राह्मण समदृष्टि और शान्त अपनेको मान और कहकर, असलमें अपना आराम बचानेके लिये उपेक्षा कर जाता है, उसका पाया हुआ भी ब्रह्मज्ञान फूटे बर्तनमेंसे पानीके जैसा चू जाता है। विद्यारूपिणी शक्तिके और ऐसी शक्तिवाले शक्तिमान् शिवके सच्चे उपासक वे ही हैं जो मनसा, वचसा, कर्मणा सर्वभूतहिते रत हैं।

त एव मां प्राप्नुवन्ति (ये) सर्वभूतहिते रताः।

क्योंकि 'मैं' तो सर्वभूतसे अलग नहीं हूँ, सबमें बसा हूँ।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

ऐसी शङ्का मत हो कि सर्वभूतहिते रत ऋषियोंने वेनका नाश करके उसका हित तो नहीं किया। ऐसा नहीं, उसका सच्चा हित किया। नहीं तो अधिकाधिक पाप करता जाता और घोर-से-घोरतर नरकका भागी होता।

लोकान् प्रयान्तु रिपवोऽपि हि शस्त्रपूता
इत्थं मतिर्भवति तेष्वपि तेऽतिसाध्वी।
चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा
त्वय्येव देवि वरदे भुवनत्रयेऽपि॥
दुर्वृत्तवृत्तशमनं तव देवि शीलं
रूपं तथैतदविचिन्त्यमतुल्यमन्यैः।
वीर्यं च हन्तृ हृतदेवपराक्रमाणां
वैरिष्वपि प्रकटितैव दया त्वयेत्थम्॥

देव-देवियोंके तो अवतार ही इसीलिये होते हैं—

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्॥

(सप्तशती)

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ८)

भगवान् मनुकी भी आज्ञा है—

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चाधिगच्छति॥
यावानवध्यस्य वधे तावान् वध्यस्य मोक्षणे।
अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः॥

अन्यत्र कहा है—

यस्य सम्यग्धृतो दण्डः सम्यग्दण्डधरश्च यः।
तावुभौ कर्मणा तेन पूतौ स्वर्गं गमिष्यतः॥

दण्डरूपिणी शक्तिके सत्प्रयोगका ऐसा फल है।

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्।
तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

तपसे क्रियाशक्तिका सम्पादन, विद्यासे ज्ञानशक्तिका सर्वलोक-हितकी सदिच्छा-शक्तिसे जब दोनोंका प्रेरण हो तब अपने भी और लोकके भी किल्बिष—पापका नाश हो और स्वयं भी और अनुसारी लोक भी शान्ति-सुख, अभय-सुखरूपी अमृतका पान करें।

तन्त्रशास्त्रके सङ्केतमें 'इ' से शक्तिका बोधन होता है 'शिव' मेंसे 'इ' हट जाय तो 'शव' रह जाय। इसलिये शङ्कराचार्यने आनन्दलहरीमें कहा है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥

शिव और शक्तिसे बना सारा संसार है। शिव परमात्मा तो एक है। पर **'एकाकी नारमत, स आत्मानं द्वेधाऽपातयत्, पतिश्च पत्नी चाभवत्'**—द्वेधा भी, बहुधा भी, असंख्यधा भी, **'एकोऽहं बहु स्याम्।'** एक पुरुषकी नाना प्रकृति होते हुए भी एक ही पुरुष सर्वव्यापी होना चाहिये; पर अन्योन्याध्याससे एकके अनेक पुरुष, अनेकको एक प्रकृति भी, देख पड़ते हैं।

आदिम द्वन्द्व, पहला जोड़ा, पुरुष और पुरुषकी प्रकृतिका है। संसारके असंख्य, अगण्य, अनन्त, अन्य सब जोड़े इसीके अनुकरण हैं, फल हैं, कार्य हैं। मुहम्मदने इसको पहचानकर कुरानमें कहा है, **'खलक्ना मिन् कुल्ले शयीन् ज़ौजैन्'** —अल्ला परमेश्वर कहता है कि मैंने सब चीज़ जोड़ा-जोड़ा पैदा की है।

गिरामाहुर्देवीं द्रुहिणगृहिणीमागमविदो
हरेः पत्नीं पद्मां हरसहचरीमद्रितनयाम्।
तुरीया कापि त्वं दुरधिगमनिस्सीममहिमे
महामाये विश्वं भ्रमयसि परब्रह्ममहिषी॥

(आनन्दलहरी)

शङ्करः पुरुषाः सर्वे स्त्रियः सर्वा महेश्वरी।
विषयी भगवानीशो विषयः परमेश्वरी॥
मन्ता स एव विश्वात्मा मन्तव्यं तु महेश्वरी।
आकाशः शङ्करो देवः पृथिवी शङ्करप्रिया॥
समुद्रो भगवानीशो वेला शैलेन्द्रकन्यका।
वृक्षो वृषध्वजो देवो लता विश्वेश्वरप्रिया॥
शब्दजालमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा।
अर्थस्य रूपमखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः॥
यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिरुदाहृता।
सा सा विश्वेश्वरी देवी स स देवो महेश्वरः॥
पुँल्लिङ्गमखिलं धत्ते भगवान् पुरशासनः।
स्त्रीलिङ्गं चाखिलं धत्ते देवी देवमनोरमा॥
येयमुक्ता विभूतिर्वै प्राकृती साऽपरा मता।
अप्राकृतीं परामन्यां गुह्यां गुह्यविदो विदुः॥
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
अप्राकृती परा सैषा विभूतिः परमेष्ठिनः॥

(शिवपुराण वा० सं० उ० खं० अ० ५)

युवां तु विश्वस्य विभू जगतः कारणं परम्।
इयं हि प्रकृतिः सूक्ष्मा मायाशक्तिर्दुरत्यया॥
तस्या अधीश्वरः साक्षात् त्वमेव पुरुषः परः।
त्वं सर्वयज्ञ इज्येयं क्रियेयं फलभुग् भवान्॥
गुणव्यक्तिरियं देवी व्यञ्जको गुणभुग् भवान्।
त्वं हि सर्वशरीर्यात्मा श्रीः शरीरेन्द्रियाशया।
नामरूपे भगवती प्रत्ययस्त्वमपाश्रयः॥

(श्रीमद्भा० ६। १९। ११—१३)

अर्थो विष्णुरियं वाणी नीतिरेषा नयो हरिः।
बोधो विष्णुरियं बुद्धिर्धर्मोऽसौ सत्क्रिया त्वियम्॥
स्त्रष्टा विष्णुरियं सृष्टिः श्रीर्भूमिर्भूधरो हरिः।
सन्तोषो भगवाँल्लक्ष्मीस्तुष्टिर्मैत्रेय शाश्वती॥
इच्छा श्रीर्भगवान् कामो यज्ञोऽसौ दक्षिणात्वियम्।
आज्याहुतिरसौ देवी पुरोडाशो जनार्दनः॥

× × × ×

काष्ठा लक्ष्मीर्निमेषोऽसौ मुहूर्त्तोऽसौ कलात्वियम्।
ज्योत्स्ना लक्ष्मीः प्रदीपोऽसौ सर्वः सर्वेश्वरो हरिः॥

× × × ×

विभावरी श्रीर्दिवसो देवश्चक्रगदाधरः।

× × × ×

ध्वजश्च पुण्डरीकाक्षः पताका कमलालया॥
तृष्णा लक्ष्मीर्जगन्नाथो लोभो नारायणः परः।
रती रागश्च मैत्रेय लक्ष्मीर्गोविन्द एव च॥
किञ्चातिबहुनोक्तेन संक्षेपेणेदमुच्यते॥
देवतिर्यङ्मनुष्यादौ पुन्नामा भगवान् हरिः।
स्त्रीनाम्नी श्रीश्च विज्ञेया नानयोर्विद्यते परम्॥

(विष्णुपुराण अंश १ अ० ८)

वायुपुराणमें इसी अर्थको दूसरे रूपकमें कहा है। पुरुषतत्त्वका नाम शिव, स्त्री-तत्त्वका नाम विष्णु, सन्तान-तत्त्वका नाम ब्रह्मा रखा है। यथा ईसाधर्ममें 'दि फ़ादर,' 'दि सन,' 'दि होली गोस्ट'।

विष्णुरभाषत (ब्रह्माणं प्रति)

हेतुरस्यात्र जगतः पुराणः पुरुषोऽव्ययः।
प्रधानमव्ययं ज्योतिरव्यक्तं प्रकृतिस्तमः॥
अस्य चैतानि नामानि नित्यं प्रसवधर्मिणः।
यः कः स इति दुःखार्त्तैर्मृग्यते योगिभिः शिवः॥
एष बीजी भवान् बीजमहं योनिः सनातनः।
अस्मान्महत्तरं गुह्यं भूतमन्यन्न विद्यते॥

(पूर्वार्द्ध अ० २४)

शिव उवाच (विष्णुं प्रति)

प्रकाशं चाप्रकाशञ्च जङ्गमं स्थावरञ्च यत्।
विश्वरूपमिदं सर्वं रुद्रनारायणात्मकम्॥
अहमग्निर्भवान् सोमो भवान् रात्रिरहं दिनम्।
भवान् ऋतमहं सत्यं भवान् क्रतुरहं फलम्॥
भवाञ् ज्ञानमहं ज्ञेयमहं जप्यं भवाञ् जपः।
आवाभ्यां सहिता चैव गतिर्नान्या युगक्षये॥
आत्मानं प्रकृतिं विद्धि मां विद्धि पुरुषं शिवम्।
भवानर्द्धशरीरं मे त्वहं तव तथैव च॥

(अ० २५)

विष्णुके मोहिनी अवतारकी कथामें इस भावको चरितार्थ किया है।

शिवस्य हृदयं विष्णुः विष्णोश्च हृदयं शिवः।

ऐसे ही ब्रह्माका इनसे अभेद है। त्रिमूर्ति—विष्णु-ब्रह्मा-महेशकी, सरस्वती-लक्ष्मी-गौरीकी, सत्त्व-रजस्-तमस्की, ज्ञान-इच्छा-क्रियाकी सदा अभेद्य है। इन सबका समाहार शक्ति-शक्तिमान्में होता है। एवम्—

शक्तिशक्तिमदुत्थं हि शाक्तं शैवमिदं जगत्।
नमस्तस्यै नमस्तस्मै नमस्ताभ्यां नमो नमः॥

शक्ति-तत्त्व

(लेखक—'भारत-धर्म-महामण्डल' के एक महात्मा)

देवि प्रपन्नार्तिहरे शिवे त्वं
वाणीमनोबुद्धिभिरप्रमेया।
यतोऽस्यतो नैव हि कश्चिदीशः
स्तोतुं स्वशब्दैर्भवतीं कदाचित्॥
त्वं निर्गुणाकारविवर्जितापि
त्वं भावराज्याच्च बहिर्गतापि।
सर्वेन्द्रियागोचरतां गतापि
त्वेका ह्यखण्डा विभुरद्वयापि॥
स्वभक्तकल्याणविवर्द्धनाय
धृत्वा स्वरूपं सगुणं हि तेभ्यः।
निःश्रेयसं यच्छसि भावगम्या
त्रिभावरूपे भवतीं नमामः॥
त्वं सच्चिदानन्दमये स्वकीये
ब्रह्मस्वरूपे निजविज्ञभक्तान्।
तयेशरूपे च विधाप्य मात-
रुपासकान् दर्शनमात्मभक्तान्॥
निष्कामयज्ञावलिनिष्टसाधकान्
विराट् स्वरूपे च विधाप्य दर्शनम्।
श्रुतेर्महावाक्यमिदं मनोहरं
करोष्यहो 'तत्त्वमसीति' सार्थकम्॥

हे देवि! हे प्रपन्नार्तिहरे!! हे शिवे!!! तुम वाणी, मन और बुद्धिसे अगोचर हो, इस कारण इस संसारमें ऐसा कोई नहीं है जो शब्दद्वारा तुम्हारी स्तुति कर सकता हो। तुम आकाररहित, भावातीत, गुणातीत, अखण्ड, अद्वितीय, विभु और सब इन्द्रियोंके द्वारा अग्राह्य होनेपर भी अपने भक्तोंके कल्याणके अर्थ ही सगुण रूप धारण करके भावगम्य होकर उनको निःश्रेयस प्रदान करती हो। हे त्रिभावरूपिणि! तुमको प्रणाम है। तुम अपने ज्ञानी भक्तोंको सच्चिदानन्दमय ब्रह्मरूपमें दर्शन देकर, उपासक भक्तोंको ईश्वरीरूप दर्शन देकर और निष्काम यज्ञनिष्ठ भक्तोंको विराट्-रूपमें दर्शन देकर 'तत्त्वमसि' महावाक्यकी चरितार्थता करती हो।

शक्तिमान् और शक्तिमें वस्तुतः अभेद है। शक्तिमान् और शक्तिकी पृथक्-पृथक् सत्ता जबतक परोक्षानुभूति अथवा अपरोक्षानुभूतिद्वारा प्रत्यक्ष की जाती है तबतक यह मानना ही पड़ेगा कि शक्तिमान्से शक्तिका प्राधान्य है। एक गायक जिसमें अलौकिक गानशक्तिका विकास है, उसकी अपेक्षा उसकी गायनशक्तिका आदर, उपयोग और महत्त्व अधिक पाया जायगा। वह गायक यदि अपनी गानशक्तिका प्रयोग करे तो उसका दर्शन न करके भी उसकी मधुर शब्दमयी सृष्टिके विलासमें जगत् मुग्ध होता है; परन्तु जब वह अपनी शक्तिको अपनेमें अव्यक्त रखता हो उस समय उसके स्वरूपको देखकर कोई भी मुग्ध नहीं हो सकता। इसी कारण शक्ति-उपासनाका विस्तार, शक्ति-उपासनाका उपयोग और शक्ति-उपासनाका महत्त्व पुराण, तन्त्र आदि शास्त्रोंमें अधिक पाया जाता है। वस्तुतः उपासना सगुण ब्रह्मकी होती है। जबतक द्वैत-भान है तभीतक उपासनाका सम्बन्ध रह सकता है, और द्वैत-भान तभीतक रह सकता है जबतक सगुणत्व है। इसी कारण वेदसम्मत यावत् शास्त्रोंमें सगुण-उपासनाका ही अधिक विस्तार है। सगुण-उपासनाके पञ्चभेदोंमेंसे चिद्भाव-आश्रयकारी विष्णु-उपासना, सद्भाव-आश्रयकारी शिव-उपासना, भगवत्तेज-आश्रयकारी सूर्य-उपासना, भगवद्भावमयी बुद्धि-आश्रयकारी धीश-उपासना और भगवत्-शक्ति-आश्रयकारी शक्ति-उपासना है। ब्रह्मानन्द-विलासरूपी सृष्टिदशामें ब्रह्मपदसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले चित्, सत्, तेज, बुद्धि और शक्ति ये ही पाँच हैं। चित्-सत्ता जगत्को दिखाती है, सत्-सत्ता जगत्के अस्तित्वका अनुभव कराती है, तेज जगत्को ब्रह्मकी ओर आकर्षण करता है, बुद्धि सत्-ब्रह्म और असत्-जगत्का भेद बताती है और शक्ति सृष्टि-स्थिति-लय करती हुई जीवको बद्ध भी कराती है तथा मुक्त भी कराती है। इसी कारण इन पाँचोंके अवलम्बनसे सगुण पञ्चोपासनाका विज्ञान निर्णीत हुआ है। उपासक इन्हीं पाँचोंके अवलम्बनसे ब्रह्मसान्निध्य प्राप्त करके अन्तमें ब्रह्मसायुज्य प्राप्त कर लेता है। पञ्च-उपासनाओंकी पाँच गीताएँ इसी कारण अपने-अपने इष्टको जगजन्मादिकारण मानकर ब्रह्मरूपसे निर्देश करती हैं।

अनन्तकोटिब्रह्माण्डमय दृश्यप्रपञ्च ब्रह्मशक्तिका ही विलास है। ब्रह्मशक्ति ही सृष्टि-स्थिति-लय करती है, वही अविद्या बनकर जीवको बन्धन-जालमें फँसाती है और विद्या बनकर उसको ब्रह्मसाक्षात्कार कराकर मुक्त कर देती है; दूसरी ओर ब्रह्मशक्ति और ब्रह्ममें '**अहं ममेतिवत्**' भेद नहीं है। शक्तिमान्से शक्तिकी विशेषता कैसी है सो गायक और गानशक्तिके उदाहरणसे ऊपर कही ही गयी है। उसी ब्रह्मशक्तिके भेद वेद और शास्त्रोंने चार प्रकारके कहे हैं। ब्रह्ममें सर्वदा लीन रहनेवाली तुरीयाशक्ति कहलाती है, यही ब्रह्मशक्ति स्वस्वरूपप्रकाशिनी है। ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी जननी, निर्गुण ब्रह्मको सगुण दिखानेवाली, ब्रह्म-आलिङ्गित महाशक्ति कारणशक्ति कहलाती है। यही शक्ति कभी विद्या बन जाती है, कभी अविद्या बन जाती है। ब्रह्मशक्तिके सत्त्वप्रधान और तमःप्रधान पृथक्-पृथक् दो भाव ही इसके कारण हैं। ब्रह्मशक्तिका तीसरा भाव सृष्टि करानेवाली ब्राह्मी शक्ति, स्थिति करानेवाली वैष्णवी शक्ति और लय करानेवाली शैवी शक्ति समझी जाती है; ये ही तीनों सूक्ष्म शक्तियाँ कहलाती हैं। चाहे स्थावर-सृष्टि हो, चाहे जङ्गम-सृष्टि हो; चाहे ब्रह्माण्ड-सृष्टि हो, चाहे पिण्ड-सृष्टि हो; सर्वत्र सृष्टि, स्थिति और लयके क्रम एवं अस्तित्वको रखनेवाली ये ही सूक्ष्म ब्रह्मशक्तियाँ हैं। भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् शिव, जो प्रत्येक ब्रह्माण्डके नायक हैं, वे इन्हींकी सहायतासे अपना-अपना कार्य सुसम्पन्न करते हैं और उस महाशक्तिकी चतुर्थ अवस्था स्थूल-शक्ति कहलाती है। स्थूल-शक्तिका अनुभव पदार्थविद्याके द्वारा भी होता है। स्थूल जगत्की अवस्थाओंका परिवर्तन, उसका धारण आदि सब कार्य इस शक्तिके द्वारा सुसिद्ध होते रहते हैं। ताडित-शक्ति आदि इसके अनेक भेद हैं। इस कारण भी शक्ति-उपासनाका विस्तार और महत्त्व अधिक है।

समष्टि-व्यष्टिरूपी ब्रह्माण्ड-पिण्डात्मक सृष्टि ब्रह्मशक्तिका ही विलास है। वह चतुर्दशलोकमय है। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें **भूः, भुवः, स्वः** आदि सात ऊर्ध्वलोक और अतल, वितल आदि सात अधोलोक हैं। सात ऊर्ध्वलोकोंमें देवताओंका वास है और सात अधोलोकोंमें असुरोंका वास है। यह मृत्युलोकरूपी भारतवर्ष एक ब्रह्माण्डका $\frac{१}{११७९}$ वाँ अंश है। चौदह लोकोंमेंसे भूलोक एक लोक है। भूलोकके सात द्वीप हैं। उन सात द्वीपोंमेंसे जम्बूद्वीपके बारह विभाग हैं। वे ही नौ वर्ष, प्रेतलोक, नरकलोक और पितृलोक कहलाते हैं। उन बारह भागोंमेंसे एक भारतवर्ष है और वह जम्बूद्वीपका $\frac{१}{१२}$ वाँ भाग है। इस प्रकारसे १२×७=८४×१४=११७६ भाग होते हैं। इससे प्रतीत होगा कि हमारा यह मृत्युलोक अर्थात् सारी

पृथिवी चतुर्दश भुवनोंका एक छोटा-सा अंश है। ऐसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड जगज्जननी ब्रह्मशक्तिके गर्भमें निहित हैं। हमारे इस ब्रह्माण्डमेंसे हमारे इस मृत्युलोककी महिमा कर्मभूमि होनेसे अधिक बतायी गयी है। यहीं जीवोंका मातृगर्भसे जन्म होता है, अन्य लोकोंमें जीवगणका मातृगर्भसे जन्म नहीं होता। यहींके जीव अपने-अपने कर्मोंके वश होकर मृत्युके अनन्तर आतिवाहिक देहके द्वारा उन-उन लोकोंमें दैवी सहायतासे पहुँचते हैं। पिण्ड तीन श्रेणीका होता है। एक सहजपिण्ड उद्भिज्जादि योनियोंका, मानवपिण्ड मनुष्योंका और दैवपिण्ड देवता, असुर आदिका कहलाता है। मृत्युलोकके अतिरिक्त जितने लोक हैं वे सब देवलोक कहलाते हैं, उनमें दैवपिण्डधारी देवताओंका ही वास है। सहजपिण्डधारी अथवा मानवपिण्डधारी जीव अपनी इच्छासे दैवपिण्डधारी जीवोंको देख नहीं सकते। यदि देवतागण इच्छा करें तभी वे देख सकते हैं। देवलोक हमारे पार्थिवलोकसे अतीत और सूक्ष्म हैं। सुर जिस प्रकार दैवपिण्डधारी हैं उसी प्रकार असुर भी दैवपिण्डधारी हैं। भेद इतना ही है कि देवताओंमें आत्मोन्मुख-वृत्तिकी प्रधानता है और असुरोंमें इन्द्रियोन्मुख-वृत्तिकी प्रधानता है। यही कारण है कि सूक्ष्म देवलोकमें देवासुरसंग्राम प्राय: हुआ करता है। परन्तु देवतागण उन्नत अधिकारी होनेसे कदापि असुर-राज्यको छीननेकी इच्छा नहीं करते, अपने ही अधिकारके लोकमें तृप्त रहते हैं। विषयलोलुप होनेके कारण असुरोंकी प्रवृत्ति सदा दैवराज्य छीननेकी ओर बनी रहती है। यही देवासुरसंग्रामका मूल कारण है। मृत्युलोकमें भी मानवपिण्ड देवासुरसंग्रामके लिये दुर्गरूप हैं। उनको असुरगण और देवतागण अपने-अपने ढंगपर अपने-अपने अधिकारमें लानेका प्रयत्न करते रहते हैं। यही मनुष्यपिण्डमें पाप-पुण्यसे सम्बन्धयुक्त कुमति और सुमतिका युद्ध है। देवासुरसंग्राममें जब-जब असुरोंकी जय होने लगती है तब-तब ब्रह्मशक्ति महामायाकी कृपासे ही पुन: असुरोंका पराभव होकर सूक्ष्म दैवराज्यमें शान्ति स्थापित होती है। उसका उदाहरण पिण्डमें भी देखनेयोग्य है। पापमति मनुष्य जब पापपङ्कमें फँस जाता है, तब पुन: उसका उस दलदलसे निकलना कठिन होता है। ऐसे समयमें गुरुबल अथवा दैवबल—ये ही उसके सहायक होते हैं; यह सब उस अखिललोकजननी महाशक्तिकी कृपाका ही रूपान्तर है।

जगत्कारण परमात्मा ब्रह्म जिस प्रकार सत्, चित् और आनन्दरूपसे त्रिभावद्वारा जाने जाते हैं, पुन: पराभक्तिके अधिकारी भावुक भक्तगण जिस प्रकार उनके इन तीनों भावोंके अनुसार ब्रह्म, ईश्वर और विराट्रूपसे अपने हृदयमन्दिरमें पृथक्-पृथक्-भावसे उनके दर्शन करके आनन्दसागरमें अवगाहन करते हैं, वैसे ही संसारकी सब वस्तुएँ भी त्रिभावात्मक हैं। कारण, ब्रह्ममें जिस प्रकार तीन भाव हैं, उसी प्रकार कार्यब्रह्म भी त्रिभावात्मक है। इसी कारण वेद और वेदसम्मत शास्त्र भी त्रिविध अर्थमय हुआ करते हैं। इसी सर्वतन्त्र-सिद्धान्तस्वरूप प्राकृतिक नियमके अनुसार देवासुरसंग्रामके भी तीन स्वरूप हैं। देवासुरसंग्रामका अध्यात्मस्वरूप प्रत्येक पिण्डमें क्लिष्ट और अक्लिष्ट-वृत्तिके नित्य युद्धद्वारा प्रकट होता है। उस युद्धका अधिदैव स्वरूप सूक्ष्म दैवराज्यमें देवराज और असुरराजकी सेनाओंके द्वारा प्रकट होता है और उसका अधिभूत-रूप इस मृत्युलोकमें नाना सामाजिक और राजनैतिक युद्धके द्वारा प्रकट होता रहता है।

शक्ति और शक्तिमान्का '**अहं ममेतिवत्**' अभेदत्व है। उदाहरणसे यह भी दिखाया गया कि सृष्टिमें शक्तिमान्से शक्तिका ही आदर और विशेषता होती है। उपासनामें इन्हीं दोनोंके विचारसे भगवत्सान्निध्य प्राप्त करनेकी शैली बाँधी गयी है। किसी-किसी उपासनाप्रणालीमें शक्तिमान्को प्रधान रखकर उसकी शक्तिके अवलम्बनसे उपासनाकी साधनप्रणाली निर्णीत हुई है। कहीं-कहीं शक्तिको प्रधान मानकर शक्तिमान्का अनुमान करते हुए उपासनाप्रणाली बनायी गयी है। पहली दशाके उदाहरणमें वेद और शास्त्रोक्त निर्गुण तथा सगुण उपासनाके प्राय: सब भेद पाये जाते हैं। दूसरी दशा, जो अपेक्षाकृत आत्मज्ञानरहित है, उसमें केवल अनुमानबुद्धिद्वारा एक ईश्वर है—ऐसा जानकर उनके नाना गुणोंका स्मरण करके विभिन्न धर्ममतों और पन्थोंके उपासक उस सर्वजीवहितकारी भगवान्की ओर अग्रसर होकर कृतकृत्य होते हैं। पहली अवस्थामें आत्मज्ञान रहनेसे भगवत्स्वरूपका विकास यथावत् भागवतके मनोमन्दिरमें बना रहता है और दूसरी दशामें आत्मज्ञानका विकास न रहनेसे भक्त केवल भगवान्की मनोमुग्धकारिणी शक्तियोंके अवलम्बनसे मन-बुद्धिसे अगोचर परमात्माको मनोमन्दिरमें बैठानेका प्रयत्न करता है। श्रीभगवान्की मातृभावसे उपासना करनेकी अनन्त वैचित्र्यपूर्ण जो शक्ति-उपासनाकी प्रणाली है वह पूर्वोक्त उन दोनोंसे विलक्षण ही है। इस उपासना-विज्ञानमें शक्ति

और शक्तिमान्‌के अभेदका लक्ष्य सदा रखा गया है। वे ही शक्तिरूपमें उपास्य-उपासकका सम्बन्ध स्थापन करते हैं और वे ही शक्तिमान्‌रूपसे शक्तिभावापन्न भक्तको अपनेमें मिलाकर मुक्त कर देते हैं। यही इस तृतीय तथा अनुपम शैलीका मधुर और गम्भीर रहस्य है।

तन्त्रशास्त्रोंके अनुशीलन करनेसे यह सिद्ध होता है कि पञ्च-उपासनामेंसे विष्णूपासना, शिवोपासना, गणपति-उपासना और सूर्योपासना—इन चारोंके उपास्योंके ध्यान पाँच-सातसे अधिक नहीं हैं। इसी तरह अवतारोपासनाके जो भेद हैं वे सब एक ही प्रकारके हैं; परन्तु शक्ति-उपासनाके भेद अनेक हैं। दस महाविद्याओंके भेद, चतुष्षष्टियोगिनीभेद, चतुर्विंशतिप्रकरणके भेद, नवावरण-देवियोंके भेद और जितने पदधारी देवता हैं उन सबकी शक्तियोंके भेद, इस प्रकारसे शक्ति-उपासनाके उपास्योंके अनेक भेद हैं। शक्ति-उपासनाकी दूसरी विलक्षणता यह है कि अन्य चार सगुणोपासना अथवा अवतारोपासनामें केवल एक ही आचारसे पूजा होती है; परन्तु शक्ति-उपासनामें वीराचार, पश्वाचार और दिव्याचार—ये तीन आचार पृथक्-पृथक् तो माने ही गये हैं और इन तीनोंमें भी अन्तर्भावरूपसे कई-कई भेद माने गये हैं। इससे सात्त्विक, राजसिक, तामसिक अधिकारोंके कितने ही अलग-अलग अधिकारी साधक हों, सबकी तृप्ति और उन्नतिका अलग-अलग मार्ग शक्ति-उपासनामें बताया गया है। यह विलक्षणता अन्य उपासनाओंमें नहीं पायी जाती। तीसरी विलक्षणता शक्ति-उपासनाकी यह है कि अन्य उपासक-सम्प्रदायोंमें राग-द्वेषका प्रचार प्राय: देखनेमें आता है। शैव-सम्प्रदाय और वैष्णव-सम्प्रदायमें कहीं-कहीं विरोध देख पड़ता है, इसी प्रकार अवतारोपासनामें भी पक्षपातकी झलक देख पड़ती है; परन्तु शक्ति-उपासनाका दायरा इतना विशाल है और उसके अधिकारभेद इतने यथेष्ट होनेपर भी सबमें इस प्रकारका सामञ्जस्य है कि जिससे उनके आपसमें तो राग-द्वेष हो ही नहीं सकता, किन्तु अन्य सम्प्रदायवालोंसे भी उनका राग-द्वेष नहीं होता। इसका कारण यह है कि उपासना-सम्बन्धसे विभिन्न शक्तिमानोंमें शक्तिकी अद्वैत सत्ताका विचार करनेकी प्रणाली इस उपासनाके शास्त्रोंमें बतायी गयी है। शक्ति-उपासनाकी चतुर्थ विलक्षणता यह है कि अन्य उपासनाओंमें ब्रह्मसायुज्यप्राप्तिके लिये पूर्वापर-सम्बन्धका आश्रय लेना पड़ता है, यथा—अवतारोपासनामें अवतारविग्रह, भगवान् विष्णु और तदनन्तर महाविष्णुकी भावना और तदनन्तर निर्गुण स्वरूपकी उपलब्धि। इसी प्रकार विष्णूपासना और शिवोपासनामें भगवान् विष्णु या भगवान् रुद्र, तदनन्तर महाविष्णु या महारुद्र और तदनन्तर स्वस्वरूपका अवलम्बन लेना पड़ता है। परन्तु शक्ति-उपासनामें यदि साधक उपयुक्त हो तो शक्ति-शक्तिमान्‌के अभेदरूपी स्वस्वरूपका स्वानुभव तुरन्त ही प्राप्त करता है।

सगुण पञ्च-उपासनाओंमेंसे शक्ति-उपासनाके विज्ञान-शास्त्रका मौलिक सिद्धान्त यह है कि सच्चिदानन्दमय निर्गुण ब्रह्म और उनकी गुणमयी महाशक्तिमें काल्पनिक भेद है, तत्त्वत: कोई भेद नहीं। जब उनकी शक्ति उनमें अव्यक्ता रहती है तो यही उनका निर्गुणत्व है और जब उनकी शक्ति उनमें व्यक्ता होती है तो वही उनका सगुणत्व है। द्वैत-प्रपञ्चकी अवस्था और सृष्टिकी अवस्थामें उनका स्वस्वरूपका स्वानुभव प्राप्त करानेमें सहायता देनेवाली शक्ति विद्या कहलाती है और स्वस्वरूपको भुला देनेवाली शक्ति अविद्या है। वे दोनों ही ब्रह्मशक्तिके पृथक्-पृथक् रूप हैं। निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्ममें जो भेद प्रतीत कराती है वह भी ब्रह्मशक्ति महामाया ही है। सुतरां केवल ब्रह्मशक्तिकी महिमाके ही लिये ब्रह्मका सगुण और निर्गुणरूपका अनुभव होता है। वही ब्रह्मशक्ति चित्सत्ताप्रधाना होकर वैष्णव-सम्प्रदाय, सत्सत्ताप्रधाना होकर शैव-सम्प्रदाय, तेजोमयी होकर सौर-सम्प्रदाय और बुद्धिरूपा होकर गाणपत्य-सम्प्रदायकी पृथक्ता सृजन करती है और अपनी शक्तिके नाना भेदोंसे नाना अवतारोंकी महिमाका जगत्‌में प्रचार करती है, जैसा कि आद्याशक्तिका विकास कृष्णविग्रहमें, ताराशक्तिका विकास रामविग्रहमें इत्यादि। इसी प्रकार नाना देवता, ऋषि और पितरोंमें अपनी विभिन्न शक्तियोंका विकास करके उनके पृथक्-पृथक् अस्तित्वकी रक्षा करती है। वही त्रिगुणमयी महाशक्ति ब्रह्ममें व्यक्त होकर प्रथम काल और तदनन्तर देशको प्रसव करती है; तदनन्तर त्रिमूर्ति-जननी बनकर भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् शिवको प्रसव करती है। पुन: अपनी त्रिविध शक्तियोंको उन्हें देकर सृष्टि-स्थिति-लय-कार्य कराती रहती है। यही शक्तितत्त्व है।

शक्ति-तत्त्व-रहस्य

(लेखक—आचार्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी)

शक्तिविषयक आलोचना बड़ी ही रहस्यमयी है। इसके विषयमें मनुष्योंके कई प्रकारके विचार हैं। कुछ लोगोंका कहना तो यह है कि शक्तिके अतिरिक्त शक्तिमान् नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। शक्ति-समुदाय ही वस्तुरूपसे प्रतीत होता है। जैसे अग्नि एकवस्तुरूपसे ज्ञात होती है। इसमें प्रकाश, उत्ताप, दाह आदि शक्तिरूपसे अवस्थित हैं; यदि इसमेंसे ये निकाल दिये जायँ तो अग्निका कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता। इसके विपरीत दूसरे लोगोंका कहना है कि वस्तुगत धर्म ही शक्तिरूपसे प्रकाशित है, वस्तुसे पृथक् शक्तिकी कोई सत्ता ही नहीं है। जैसे प्रकाश, ताप, दाह आदि अग्निसे पृथक् प्रतीत नहीं होते। अत: शक्ति कोई वस्तु नहीं है, शक्तिमान् ही वस्तु है। यदि विचारकर देखा जाय तो यह दोनों ही मत समीचीन प्रतीत नहीं होते—दोनोंहीमें तत्त्वज्ञानकी न्यूनता उपलब्ध होती है। वस्तु तो शक्ति और शक्तिमान् दोनों ही हैं। क्योंकि दोनोंका अस्तित्व पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है, वस्तु और वस्तुकी शक्ति—ये दो शब्द दोनोंके लिये पृथक्-पृथक् व्यवहृत होते हैं।

वस्तु दो प्रकारकी होती है—एक वास्तविक वस्तु, दूसरी अवास्तविक वस्तु। आश्रय-वस्तु ही वास्तविक वस्तु है, आश्रित वस्तु अवास्तविक होती है। आश्रय-वस्तु स्वाधीन होती है, आश्रित वस्तु पराधीन होती है। शास्त्र-सिद्धान्तसे तो भगवत्-शब्द-वाच्य श्रीकृष्ण ही एकमात्र वास्तविक वस्तु हैं। श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजीने महाराज परीक्षित्से कहा है—

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमन्यद्वस्तु रूप्यताम्॥

अर्थात् प्राकृत, अप्राकृत समस्त वस्तुओंकी स्थिति श्रीकृष्ण-शक्तिमें है और उसका आश्रय भगवान् श्रीकृष्ण हैं; अतः इनसे भिन्न अन्य वस्तुका अस्तित्व किस प्रकार निरूपण हो सकता है?

श्रीकृष्णके परत्वनिरूपणकी यहाँ विशेष आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसको तो हम 'कल्याण' के गत विशेषाङ्कोंमें स्पष्ट कर आये हैं। यहाँ तो केवल श्रीकृष्ण-शक्तिके सम्बन्धमें ही कुछ आलोचना करनी है।

श्रीकृष्ण अनन्त शक्तियोंके आकर हैं। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें किन-किन शक्तियोंका कहाँ-कहाँ विकास हुआ है, यह निश्चय करना मानवी विद्या-बुद्धिके अतीत है। इस विषयमें शास्त्रोंके आधारपर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इनकी एक स्वरूप-भूता पराशक्ति है, उसीसे अनन्त शक्तियोंका विकास है। यथा—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।

अर्थात् एक ही पराशक्ति विविध प्रकारसे सुनी जाती है। इस पराशक्तिको चित्-शक्ति, अन्तरङ्गा-शक्ति, आत्ममाया या योगमाया-नामसे भी अभिहित किया गया है। '**मीयते अनया इति माया**'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार, जिससे हम उसे जान सकें उस 'ज्ञान' का नाम माया है। निघण्टुकोषमें भी ज्ञानको माया कहा गया है—'**माया वयुनं ज्ञानम्**।' परमार्थ-विषयमें जिस मायाकी निन्दा की गयी है, वह जडीय माया है—यह आत्ममाया नहीं है। कुछ लोग भ्रमवश '**सम्भवाम्यात्ममायया**' इत्यादि वाक्योंमें आये हुए 'आत्ममाया' शब्दका अर्थ भी गुणमयी 'जडमाया' जानकर भगवान्‌के अवतारोंको सगुण अर्थात् मायिकगुणवान् मान लेते हैं। उन्हें यह नहीं ज्ञात है कि भगवान् कभी मायिक गुणोंसे युक्त नहीं होते—वे तो नित्य कल्याणगुणगणोंसे अलंकृत रहते हैं। जडमाया उनकी बहिरङ्गा शक्ति होकर भी लज्जाके कारण उनके सम्मुख नहीं ठहरती।

माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना।

अर्थात् माया लज्जावती होकर भगवान्‌के सामनेसे हट जाती है।

जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार दोनों ही सूर्यकी शक्तियाँ हैं, किन्तु सूर्य अपने प्रकाशसे अन्धकारको विदूरित कर निज स्वरूपमें स्थित रहता है, इसी प्रकार भगवान् भी चित्-शक्तिद्वारा जडमायाका निराकरण कर स्वात्मामें स्थित रहते हैं। जैसा कहा है।

मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि।

इसका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के समस्त कार्य चित्-शक्ति अर्थात् आत्ममाया द्वारा ही सम्पन्न होते हैं, जडमायाके द्वारा नहीं होते। जडमायाकी क्रिया केवल

जड-जगत्के भीतर ही होती रहती है—सो भी चिन्मायाकी अधीनतामें। जडमायाके सम्बन्धमें अधिक कुछ न कहकर यहाँ हम केवल आत्ममायाका ही विवेचन करेंगे। सर्वाश्रय, सर्वशक्तिसम्पन्न श्रीकृष्ण ही एकमात्र वास्तविक वस्तु हैं। अन्य कोई वस्तु न इनके समान है, न इनसे अधिक है। इनकी एक स्वाभाविकी पराशक्ति है। इस पराशक्तिके तीन विभाव, तीन प्रभाव एवं तीन अनुभाव हैं। चित्-शक्ति, जीव-शक्ति और माया-शक्ति, ये तीन विभाव हैं। इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति, ये तीन प्रभाव हैं। सन्धिनी-शक्ति, संवित्-शक्ति और आह्लादिनी-शक्ति—ये तीन अनुभाव हैं।

विभावसे तात्पर्य यह है कि एक ही पराशक्तिके तीन विशेष भाव अर्थात् परिणाम हैं। किसी वस्तुके अन्य रूप हो जानेका नाम परिणाम है, जैसे दूध दही हो जाता है। किन्तु यह उदाहरण विकृत परिणामका है। दूधमें जब विकार होता है तब दही बनता है। श्रीकृष्ण-शक्तिमें विकार नहीं होता, वह अन्यरूपमें परिणत होनेपर भी विकृत नहीं होता। यह अविकृत परिणाम दो प्रकारका होता है—एक स्वरूप-परिणाम, दूसरा विरुद्ध परिणाम। जो धर्म वस्तुमें हैं, वही परिणाममें रहें और वस्तुमें किसी प्रकारका विकार न हो, उसे अविकृत स्वरूप-परिणाम कहते हैं। और वस्तु-धर्मके विपरीत परिणाम हो एवं वस्तु अविकृत रहे तो उसे अविकृत विरुद्ध परिणामके नामसे कहा जाता है।

यह विषय इतना जटिल है कि बिना उदाहरणके इसका समझमें आना कुछ कठिन है। अतएव यहाँ एक प्राकृतिक वैज्ञानिक दृष्टान्त देते हैं। यह बात बड़े लोग ही नहीं किन्तु छोटे बच्चेतक जानते हैं कि एक अंग्रेजीके U अक्षरके आकारका लोहेका टुकड़ा होता है, इसके सामने सुई रखनेसे यह उसे अपनी ओर खींचने लगता है। यह आकर्षण-शक्ति चुम्बकसे इसमें दी जाती है। लोहेमें लोहेको आकर्षण करनेकी शक्ति नहीं होती। एक ही चुम्बकसे अनेक लोहेके टुकड़े आकर्षण-शक्तियुक्त बनाये जानेपर भी चुम्बककी शक्तिमें कोई विकार या ह्रास नहीं होता, वह अपने स्वरूपमें ज्यों-का-त्यों बना रहता है। यही अविकृत स्वरूप-परिणाम है। इसके भी दो रूप हैं—एक पूर्णक्रियावान् परिणाम, दूसरा क्षुद्रक्रियावान् परिणाम। वस्तुके स्वरूपमें यह पूर्णक्रियाके रूपसे रहता है, वस्तुसे अतिरिक्त क्षुद्रक्रियाके रूपमें होता है। विरुद्ध परिणामका दृष्टान्त भी चुम्बकमें ही मिलता है। इसे सम्भवतः अनेक लोग नहीं जानते होंगे। बिजली उत्पन्न करनेका एक यन्त्र होता है, जिसे 'डाइनामो' कहते हैं। इस यन्त्रमें भी चुम्बक होता है, उसीसे बिजली उत्पन्न होती है। चुम्बकमें आकर्षण-शक्ति होती है एवं बिजलीमें विकर्षण-शक्ति होती है। चुम्बक अपनी आकर्षण-शक्तिके विरुद्ध विकर्षण-शक्तियुक्त बिजलीको उत्पन्न करके भी विकृत नहीं होता। इससे कितनी भी बिजली उत्पन्न होती रहे, तो भी यह वैसा ही रहता है जैसा यह होता है। यह अविकृत विरुद्ध परिणाम है।

इन दोनों दृष्टान्तोंसे परिणामका विषय भली प्रकारसे अवगत हो गया होगा। इसी प्रकार श्रीकृष्णकी पराशक्ति-के तीन अविकृत परिणाम हैं—एक पूर्णस्वरूप-परिणाम, दूसरा क्षुद्रस्वरूप-परिणाम, तीसरा विरुद्ध परिणाम। श्रीकृष्ण स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। इनकी पराशक्ति भी सच्चिदानन्दस्वरूपिणी है। इसका पूर्णस्वरूप-परिणाम चित्-शक्ति है, इसीमें सच्चिदानन्दत्व पूर्णरूपसे है। क्षुद्रस्वरूप-परिणाम जीव-शक्ति है, इसमें सच्चिदानन्दत्व स्वल्प परिमाणमें है। विरुद्ध परिणाम मायाशक्ति है। इसमें सच्चिदानन्दत्व विरुद्ध रूपमें है।

चिज्जगत्में चित्-शक्ति ही परा है और जीव-शक्ति अपरा है एवं माया-शक्ति अधमा है। श्रीविष्णुपुराणमें इनका निरूपण इस प्रकार है—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥

अर्थात् भगवान्‌की स्वरूप-शक्ति ही पराशक्ति है, और क्षेत्रज्ञ (जीव) नामकी अपराशक्ति है। इनके अतिरिक्त कर्मनामकी अविद्या—माया तीसरी शक्ति है।

इस जड-जगत्में चित्-शक्तिकी क्रिया अव्यक्त है, अतः गीतामें जीवको ही पराशक्ति एवं मायाको अपराशक्ति कहा गया है, क्योंकि जड-जगत् जीवशक्तिद्वारा ही धारण किया गया है।

प्रकर्षभावका नाम प्रभाव है। इच्छा, ज्ञान, क्रियाके बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। इनमेंसे एकका भी अभाव हो तो सभी कार्य रुक जाते हैं।

इसे भी एक उदाहरणसे ही समझिये। जैसे कि एक घड़ी है। इसकी बनावटसे यह बात स्पष्ट है कि इसके बनानेवालेमें इच्छा, ज्ञान, क्रिया—ये तीनों ही विद्यमान हैं। यदि उसकी इच्छा न होती तो घड़ी नहीं बन सकती थी; यदि उसमें घड़ी बनानेका ज्ञान न होता तो भी घड़ी नहीं बनती और यदि वह घड़ी बनानेकी क्रिया न करता तो भी घड़ीका बनना असम्भव था। अतएव किसी कर्तामें इन तीनोंका होना अत्यन्त आवश्यक है। श्रीभगवान् ही एकमात्र स्वतन्त्र कर्ता हैं। उनकी पराशक्तिमें यदि ये प्रभाव न हों तो, क्या चिज्जगत्, क्या जैव-जगत्, क्या जड-जगत्का कोई कार्य हो सकता है? पराशक्तिके इन तीनों प्रभावोंका वर्णन श्वेताश्वतर-उपनिषद्में स्पष्टरूपसे पाया जाता है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

अर्थात् इन (भगवान्)-की स्वाभाविकी पराशक्ति बल (इच्छा), ज्ञान और क्रियारूपसे विविध प्रभावकी सुनी जाती है।

श्रीभगवान्‌की चित्-शक्तिमें ये तीनों प्रभाव पूर्णरूपसे, जीव-शक्तिमें अल्परूपसे एवं मायाशक्तिमें विकृतरूपसे प्राप्त होते हैं।

प्रत्येक भावमें रहनेवाले भाव अनुभाव कहाते हैं। श्रीभगवान्‌के स्वरूपगत तीन भाव हैं—सत्, चित् और आनन्द। सत्में सन्धिनी-शक्तिरूपसे, चित्में संवित्-शक्तिरूपसे एवं आनन्दमें आह्लादिनी-शक्तिरूपसे—ये तीनों अनुभाव रहते हैं। ये भी तीनों चित्-शक्तिमें पूर्णरूपसे, जीव-शक्तिमें अल्परूपसे एवं माया-शक्तिमें विकृतरूपसे रहते हैं। इन तीनों शक्तिस्वरूप अनुभावोंका वर्णन विष्णुपुराणमें इस प्रकार है—

ह्लादिनी सन्धिनी संवित्त्वय्येके सर्वसंश्रये।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥

अर्थात् सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी—ये तीनों तुममें हैं, क्योंकि तुम्हीं सबके आश्रय हो। ह्लाद (सुख) और ताप (दुःख) इन दोनोंसे मिली हुई जो माया है, वह तुममें नहीं है, क्योंकि तुम गुणोंसे वर्जित हो।

इसका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णके समस्त कार्य पराशक्तिके इन विभाव, प्रभाव एवं अनुभावके द्वारा ही सम्पन्न होते हैं, जिनका क्रम इस प्रकार है—

विभावरूपा चित्-शक्तिके प्रभाव अर्थात् इच्छा-ज्ञानक्रियाके द्वारा चिज्जगत्का उदय हुआ है। जीव-शक्तिके इन प्रभावत्रयके द्वारा जैव-जगत् एवं माया-शक्तिके प्रभावत्रयसे मायिक जगत् प्रकट हुआ है। इनमें भी प्रत्येकमें तीन-तीन अनुभाव अर्थात् सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी—ये शक्ति-त्रयरूपसे कार्य करते हैं।

चित्-शक्तिके सन्धिनी-रूप अनुभावसे भगवद्धाम, भगवत्तनु आदि समस्त चिन्मय उपकरणोंका उदय हुआ है। भगवन्नाम, रूप, गुण एवं लीला आदि भी इसीके कार्य हैं। चित्-शक्तिके संवित्‌रूप अनुभावसे समस्त भगवत्-ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य आदिका अनुभव एवं ह्लादिनीरूप अनुभावसे प्रेमानन्दका आस्वादन होता है।

जीव-शक्तिके सन्धिनीरूप अनुभावसे जीवकी चैतन्यसत्ता, नाम एवं स्थान प्रभृति होते हैं। इसके संवित्‌रूप अनुभावसे ब्रह्मज्ञान एवं ह्लादिनीरूप अनुभावसे ब्रह्मानन्दका अनुभव होता है। अष्टाङ्गयोगगत समाधि-सुख या कैवल्यसुख भी इसीसे अनुभूत होता है।

मायाशक्तिके सन्धिनीरूप अनुभावसे समस्त मायिक विश्व-ब्रह्माण्ड एवं बद्ध जीवके देह, इन्द्रिय आदि संघटित हुए हैं। इसीसे बद्ध जीवोंके प्राकृतिक नाम, रूप, गुण, जाति आदि भी हुए हैं। इसके संवित्‌रूप अनुभावसे बद्ध जीवकी चिन्ता, आशा, कल्पना आदि समस्त विचार उत्पन्न हुए हैं। और इसके ह्लादिनीरूप अनुभावसे भौमिक, स्थूल सुख एवं स्वर्गीय सूक्ष्म सुख प्राप्त होते हैं।

इस सबका सारांश यह है कि एकमात्र श्रीकृष्ण ही पूर्ण शक्तिमान् हैं एवं उनकी पराशक्ति ही महती शक्ति है। इन शक्ति और शक्तिमान्‌में परस्पर भेद भी है, अभेद भी है और ये दोनों ही एक साथ नित्य एवं सत्य हैं। इनका सामञ्जस्य मानवी चिन्ताके अतीत है, अतः इसे अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्वके नामसे निर्देश किया गया है।

ये अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, ये आत्माराम हैं—अर्थात् अपनी आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं। ये स्वयं ही भोक्ता हैं एवं स्वयं ही भोग्य हैं। जीव जिस प्रकार अपनेसे पृथक् पदार्थोंसे सुख प्राप्त करते हैं, ये उस प्रकार नहीं करते। इसमें चिदंश भोक्ता है एवं आनन्दांश भोग्य है—अर्थात् ज्ञान ही आनन्दका अनुभव करता है। परन्तु कोई भी भोक्ता भोग्य वस्तुसे

पृथक् हुए बिना उसे भोग नहीं सकता। इससे जब उन्हें भोग्यके भोगनेकी इच्छा होती है तब वे अद्वितीय होकर भी दो रूप धारण करते हैं। यह विषय उपनिषदोंमें इस प्रकारसे वर्णित है—

स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्। सहैतावानास। यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।

अर्थात् वह रमण नहीं कर सका, क्योंकि अकेला कोई भी रमण नहीं कर सकता। उसने दूसरेकी इच्छा की। वह ऐसा था, जैसे स्त्री-पुरुष मिले हुए होते हैं। उसने अपने इस रूपके दो भाग किये, जिनसे पति और पत्नी हो गये।

ये एकके दो रूप ही श्रीकृष्ण और श्रीराधिका हैं। इन दोनोंका सम्मिलित रूप श्रीगौराङ्ग हैं। ये युगलरूप और संयुक्तरूप दोनों ही समान हैं। इनमें रूपगत भेद है, तत्त्वगत भेद नहीं है। भक्तकी भावना जिस रूपके दर्शनकी होती है, भगवान् उसी रूपसे दर्शन देते हैं।

भगवान् जब शक्तिसे पृथक् प्रतीत होते हैं, तब उनका वर्ण श्याम होता है और जब शक्तिसे सम्मिलित रहते हैं तब उनका वर्ण गौर होता है, क्योंकि उनका स्वयं वर्ण श्याम है एवं शक्तिका वर्ण गौर है। सम्मिलित रूपमें श्याम वर्ण गौर वर्णसे आवृत हो जाता है। जिन युगोंमें भगवान् अपने युगलरूपोंको प्रकाशित करते हैं, उन युगोंमें उनका रूप श्याम एवं उनकी शक्तिका स्वरूप गौर होता है। जैसे कि श्रीरामका स्वरूप श्याम एवं श्रीसीताजीका स्वरूप गौर, श्रीकृष्णका स्वरूप श्याम एवं श्रीराधिकाजीका स्वरूप गौर होता है। और जिस युगमें भगवान् अपने मिलित रूपको प्रकाशित करते हैं, उस युगमें उनका गौररूप होता है। इस कलियुगमें श्रीराधा-कृष्ण-मिलिततनु श्रीचैतन्य महाप्रभु गौररूपसे अवतीर्ण हुए थे। संक्षेपमें यही शक्ति-तत्त्वका रहस्य है।

शक्ति-तत्त्व अनन्त है, उसका सम्पूर्ण वर्णन करनेकी मुझमें शक्ति भी नहीं है। हाँ, इतनी अभिलाषा अवश्य थी कि चित्-शक्ति, जीव-शक्ति एवं माया-शक्तिका कुछ विशद स्वरूप वर्णन किया जाता तो विषय और भी स्पष्ट हो जाता; किन्तु 'कल्याण' में स्थानका सङ्कोच है, लेखक अनेक हैं। अत: मैं यहींपर लेखनीको विश्राम देता हूँ। जिन्हें इन विषयोंके जाननेकी इच्छा हो उन्हें श्रीधामवृन्दावनभजनाश्रमसे प्रकाशित एवं मेरे द्वारा सम्पादित 'श्रेय' नामक पारमार्थिक पत्रको पढ़ते रहना चाहिये।

समता

संकर सुमन है तो सुमति समान संग, सिव जो सुमन है सुगंध सुखदा-सी तू।
कामतरु कंत है तो कामलतिका 'कुमार', कामरिपु कंज है तो मधुपी पियासी[१] तू॥
तरनी[२] त्रिलोचन मरीचि-रुचिका[३]-सी चंड, चंद्रचूड़ चंद्र है तो चारु चंद्रिका-सी तू।
सुखके समंद-संभु सांति-सरिता-सी सुद्ध, ज्ञान है गिरीश सक्ति! भक्ति-मुक्तिदा-सी तू॥

विषमता

आधे अंग अमित अमोल आछे आभरन, अंबर[४] औ अंगराग अंबर[५] अमापको।
आधे अंग नंग पै मसान-भस्म मुंडमाल छाल दुरगंध देत, आप बैरी बापको[६]॥
सीसपै सिबिर[७] सौति गंगको सदा ही रहै, कहत 'कुमार' कौन कारन मिलापको।
आवत अचंभो अंब! अंतर अनंत तोपै, अद्भुत है अटल अनंत प्रेम आपको॥

—शिवकुमार केडिया 'कुमार'

१- प्यासी, तृषित। २- सूर्य। ३- किरणोंकी प्रभा। ४- वस्त्र। ५- एक बहुमूल्य सुगन्धित पदार्थ। ६- स्वयं शंकर दक्षके शत्रु हैं। ७- डेरा।

शक्ति-तत्त्व अथवा श्रीदुर्गा-तत्त्व

(लेखक—पं० श्रीसकलनारायणजी शर्मा काव्यसांख्यव्याकरणतीर्थ)

श्रीदुर्गाजीके सम्बन्धमें यह बात प्रसिद्ध है कि वे हिमालयकी पत्नी मेनकाके गर्भसे प्रकटित हुई हैं। वैदिक कोष निघण्टुके अनुसार 'मेना' 'मेनका' शब्दका अर्थ 'वाणी' और 'गिरि' 'पर्वत' आदि शब्दोंका अर्थ मेघ होता है।

वे जगन्माता हैं। माताका काम बच्चोंको दूध पिलाना है। वे जगत्को जलरूप दूध पिलाती हैं, इस काममें मेघ पिताके समान उनका सहायक हुआ। अतएव उनका नाम पार्वती और गिरिजा संस्कृत-साहित्यमें प्रसिद्ध है। हिमालयका मानी भी मेघ है, क्योंकि महर्षि यास्कने निरुक्तके छठे अध्यायके अन्तमें हिमका अर्थ जल किया है—

हिमेन उदकेन। (नि० अ० ६)

वे जगत्के प्राणियोंको दूध-जल पिलाती हैं, यह बात ऋग्वेदमें दीख पड़ती है—

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती।

(ऋ० २। ३। २२)

मातासे सन्ततिका आविर्भाव होता है। मेनका—वेदवाणीने उनका ज्ञान लोगोंको कराया। वेदने हमें सिखाया है कि परमात्मा अपनेको स्त्री और पुरुष—दो रूपोंमें रखते हैं जिससे कि प्राणियोंको ईश्वरके मातृत्व-पितृत्व दोनोंका सुख प्राप्त हो।

त्र्यम्बकं यजामहे। (यजुर्वेद)

इसका अर्थ है कि हम दुर्गासहित महादेवकी पूजा करते हैं। सामवेदके षड्विंश-ब्राह्मणने 'त्र्यम्बक' शब्दका उक्त अर्थ बतलाया है। '**स्त्री अम्बा स्वसा यस्य स त्र्यम्बकः।**'

(षड्विंश-ब्राह्मण)

सायणाचार्यने इसके भाष्यमें लिखा है कि '**पृषोदरादित्वात् स लोपः**', इसीसे 'स्त्री' शब्दका सकार त्र्यम्बक शब्दमें नहीं दीख पड़ता। श्लेषालङ्कारसे इस शब्दका अर्थ त्रिनेत्र भी होता है जिसका तात्पर्य यह होता है कि वे त्रिकालज्ञ हैं—सर्वज्ञ हैं—न कि उनके तीन आँखें हैं। षड्विंश-ब्राह्मणके अर्थसे यह ज्ञात होता है कि परमात्माके अपने दोनों रूपोंमें भाई-बहनका-सा सम्बन्ध है, क्योंकि वे दोनों पूर्णकाम हैं।

श्रीदुर्गाजी दुर्गतिनाशिनी हैं। दुर्गतिको विनष्ट करनेके लिये वीरताकी आवश्यकता है। वीर सिंह-समान शत्रुओंको भी अपने वशमें रखता है। इस बातकी शिक्षाके लिये उनका वाहन सिंह है।

तन्त्र और पुराणोंमें उनके हाथोंमें रहनेवाले अस्त्र-शस्त्रोंका वर्णन है जो वास्तवमें पापियोंको दिये जानेवाले रोग-शोकके द्योतक हैं। उनके हाथका त्रिशूल आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक पीड़ाओंको जनाता है।

प्रलयकालमें ब्रह्माण्ड श्मशान हो जाता है, जीवोंके रुण्ड-मुण्ड इधर-उधर बिखरे रहते हैं। इसलिये परमेश्वर अथवा परमेश्वरीको लोग चिता-निवासी और रुण्ड-मुण्डधारी कहते हैं। क्योंकि उस समय उनके अतिरिक्त दूसरेकी सत्ता नहीं रहती।

माताके भयसे पापी राक्षसोंके रक्त-मांस सूख जाते हैं अतएव कवियोंने कल्पना की है कि वे रक्त-मांसका उपयोग करती हैं। मार्कण्डेयपुराणमें लिखा है कि वे युद्धके समय मद्य पीती थीं। मद्य और मधुसे अभिप्राय अभिमान अथवा उन्मत्तता करनेवाले आचरणका है। ईश्वर दीनबन्धु और अभिमान-द्वेषी हैं—

ईश्वरस्याभिमानद्वेषित्वाद्दैन्यप्रियत्वाच्च।

(नारद-भक्तिसूत्र)

उनमें अभिमानकी मात्रा भी नहीं है, सर्वव्यापक होनेके कारण वे सब दिशाओंमें व्याप्त हैं, जो उनके वस्त्रके समान हैं। इसीसे उनका नाम दिगम्बरा है।

जगज्जननीका शरीर दिव्य है। उसमें पञ्चतत्त्वोंका अथवा विकारोंका संयोग नहीं है। शुद्ध तथा नित्य-शरीर होता है। यह बात महर्षि कपिलजी सांख्य-शास्त्रमें स्वीकार करते हैं—

उष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसाङ्कल्पिकसांसिद्धिकञ्चेति नियमः।

(सांख्यसूत्र)

घिसनेपर जैसे दियासलाईसे आग प्रकटित होती है वैसे ही भक्तोंके कल्याणके लिये दिव्यरूप आविर्भूत होते हैं। केनोपनिषद्में चर्चा है कि एक बार देवताओंमें विवाद हुआ कि कौन देव बड़े हैं। जब निर्णय नहीं हो सका तब यक्ष—पूजनीय परमेश्वर उनके मध्यमें चले आये। सबकी शक्ति क्षीण हो गयी, वे उन्हें नहीं

पहचान सके। उस समय उमा—दुर्गाने प्रकटित होकर कहा कि यक्ष ब्रह्म हैं। माता ही अपने बच्चोंको पिताका नाम सिखाती है। उमाजीके प्रकट होनेमें बच्चोंकी स्नेहमयी करुणा कारण है—

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं ताꣳहोवाच किमेतद्यक्षमिति।

सा ब्रह्मेति होवाच…………। (केनोपनिषद्)

देवताओंको स्वरूप धारण करनेके लिये बाहरी साधनकी आवश्यकता नहीं होती। महामहिम होनेके कारण केवल आत्माहीसे उनके सब काम हो जाते हैं—

आत्मेषवः। आत्मायुधम्। आत्मा सर्वं देवस्य।

(दैवतकाण्डनिरुक्त)

परमात्मा निराकार रहकर भी सब काम कर सकते हैं पर वे दिव्य मूर्ति धारण करते हैं कि जिसमें लोग मूर्तिपूजा कर शीघ्र हमें प्राप्त करें—

अर्चन्त प्रार्चत प्रियमेधासो। अर्चन्तु पुत्रकां उत पुरं न धृष्ण्वर्चत।

(ऋग्वेद)

इस मन्त्रमें '**पुरम्**' शब्दका अर्थ शरीर-मूर्ति है। लोग बाल-बच्चोंके साथ मूर्ति-पूजा करें। मन्त्रमें '**अर्चन**' क्रिया तीन बार व्यवहृत हुई है। जिससे कि शरीर, मन और वचनसे मूर्ति-पूजा करना उचित है। अन्तमें माता-पिता साम्बशिवसे प्रार्थना है कि संकट-दुःखरूप पापोंसे सबको बचावें। हम अनन्त प्रणाम करते हैं—

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।

(यजुर्वेद)

साधन-मार्गमें शक्ति-तत्त्व

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथजी तर्कभूषण)

शक्ति और शक्तिमान् परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न, अथवा भिन्नाभिन्न—इस विषयमें आस्तिक दर्शनोंका एकमत नहीं है। दूसरी ओर नैयायिक लोग विशेष आग्रहके साथ कहते हैं कि शक्तिका पृथक् पदार्थत्व ही नहीं है, क्योंकि उसके माने बिना भी काम चल जाता है। अतः यदि शक्ति-तत्त्वके विषयमें सम्यक् आलोचना की जाय तो एतद्विषयक विभिन्न दार्शनिकोंके प्रयुक्त प्रमाणों और युक्तियोंकी अवतारणा अत्यन्त आवश्यक हो जायगी। परन्तु मैं वैसा नहीं करना चाहता, क्योंकि वह पाठकोंको उतना रुचिकर न होगा। शक्ति-शक्तिमान्‌के भेदाभेद-विषयपर दार्शनिक पण्डित इतना अधिक विचार कर गये हैं कि उसके सङ्कलनके लिये न तो शक्त्यङ्कमें स्थान ही है और न उससे पाठकोंका ही धैर्य बना रह सकता है। अतः उस ओर न जाकर सनातन-हिन्दू-धर्मावलम्बियोंके द्वारा किसी-न-किसी आकारमें परमात्म-बुद्धिसे उपास्य शक्तिके किसी एक अवान्तर प्रकार या आकारको लेकर कुछ आवश्यक बातोंकी अवतारणा इस निबन्धमें की जाती है।

शक्तिका चाहे जो स्वरूप हो, वह लौकिक प्रत्यक्षका विषय नहीं है। केवल कुछ विशिष्ट कार्योंके द्वारा उसका अनुमान होता है। इस बातको सभी शक्तिवादी दार्शनिक मानते हैं, एक उदाहरणद्वारा यह बात स्पष्टरूपसे समझमें आ जायगी। दाहरूप कार्यके द्वारा हम अग्निकी दाहिकाशक्तिका अनुमान कर लेते हैं। जब दाह्यवस्तुका अभाव हो जाता है तो दाहिका शक्तिका पृथक् व्यपदेश नहीं रहता। जब दाहरूप कार्यकी उत्पत्ति होती है तब उसे देखकर ही लोग अग्निको दाहक वा दाहिका-शक्ति-सम्पन्न कहते हैं, नहीं तो उसे केवल अग्नि ही कहते हैं।

श्रुति परब्रह्मको अद्वय, सच्चिदानन्दस्वरूप कहती है। और फिर वही श्रुति कहती है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति तद्ब्रह्म।

अर्थात् जिससे प्राणिवर्ग जन्म ग्रहण करते हैं, जिसके द्वारा जन्म ग्रहणके उपरान्त जीते हैं और अन्तमें प्रयाण-कालमें जिसमें प्रवेश कर जाते हैं, वही ब्रह्म है।

शास्त्रवर्णित जन्म, जीवन और संप्रवेश (प्रलय), इन तीन कार्योंके द्वारा सच्चिदानन्द अद्वय परब्रह्ममें जो विश्वकी सृष्टि, स्थिति और संहारकारिणी शक्ति है, उसकी सिद्धि इस शास्त्रवाक्य तथा तन्मूलक अनुमान-प्रमाणके द्वारा होती है। किन्तु जगत्‌की जन्मस्थितिप्रलयकारिणी त्रिविधशक्ति ब्रह्मकी स्वरूप-शक्ति नहीं है, यह उनकी

अपरा अर्थात् बहिरङ्गा-शक्ति है। विष्णुपुराणमें ऐसा ही लिखा है—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥

विष्णुशक्ति ही पराशक्तिके नामसे निर्दिष्ट होती है। दूसरी शक्तिका नाम क्षेत्रज्ञ या जीव-शक्ति है। इन दोनों शक्तियोंके अतिरिक्त ब्रह्मकी एक और शक्ति है, उस तृतीय शक्तिको शास्त्रकार 'अविद्याकर्म' नामसे पुकारते हैं। अविद्या अर्थात् भ्रान्ति जिसका कर्म है—यही 'अविद्याकर्म' शब्दका अर्थ है।

किस प्रकारके कार्यद्वारा हम इस तृतीयाशक्तिके स्वरूपको जान सकते हैं यह बात भी विष्णुपुराणके उपर्युक्त श्लोकके अगले श्लोकमें स्पष्टभावसे कही गयी है।

यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्टिता नृप सर्वगा।
संसारतापानखिलानवाप्नोत्यनुसन्ततान्॥

हे नृप! इस तृतीयाशक्तिके द्वारा ही वेष्टित होकर क्षेत्रज्ञशक्ति अर्थात् समस्त जीव धारावाहिकरूपसे सदा-सर्वदा सांसारिक तापोंका अनुभव करते हैं।

संसारके सभी जीव अशेष प्रकारसे दुःख-भोग करते हैं, यह बात सर्वसम्मत है। यह परब्रह्मकी जिस शक्तिके प्रभावसे होता है उसीको अविद्या, बहिरङ्गा-शक्ति कहते हैं। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि जहाँ दुःखभोगरूपी कार्य है, वहाँ उसके मूलमें कारणरूपा कोई शक्ति अवश्य है। इस संसारमें जो कुछ कार्य है, वह सब जिस कारणसे समुद्भूत हुआ है उसे ही ब्रह्म, परमात्मा अथवा श्रीभगवान्—इन तीन शब्दोंके द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

अर्थात् 'तत्त्वज्ञ लोग जिसे ज्ञानरूप, अद्वयतत्त्व कहते हैं वही ब्रह्म, परमात्मा और श्रीभगवान् शब्दसे अभिहित होता है।' इससे यही सिद्ध होता है कि जीवोंके दुःखभोगरूप कार्यके अनुकूल जो शक्ति श्रीभगवान्में विद्यमान है, वही उनकी अपरा-शक्ति या बहिरङ्गा-शक्ति है। इसी प्रकार शक्तिका एक दूसरा नाम भी अध्यात्मशास्त्रोंमें मिलता है, वह है प्रकृति। यही बात श्रीमद्भगवद्गीतामें भी देखनेमें आती है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(गीता ७। ४-५)

हे महाबाहो (अर्जुन)! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन आठ भागोंमें मेरी अपरा-प्रकृति विभक्त है; इस अपरा-प्रकृतिसे सर्वथा विलक्षण मेरी दूसरी प्रकृति भी है। वह जीव या क्षेत्रज्ञ-शक्ति है। इसी जीव या क्षेत्रज्ञ-शक्तिके द्वारा परिदृश्यमान निखिल प्रपञ्चका धारणरूप कार्य सम्पादित होता है। यही क्षेत्रज्ञ या जीव-शक्ति भोक्तृ-प्रपञ्चका मूल तथा पूर्वनिर्दिष्ट प्रकृति वा अपरा-शक्ति—भोग्य-प्रपञ्चका निदान है। परमात्मा स्वयं अद्वय और अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप होते हुए भी अपने ही अचिन्त्य स्वभावसे अपनी दोनों बहिरङ्गा और तटस्था शक्तियोंकी सहायतासे स्वयं भोक्ता और भोग्य बनकर इस प्रपञ्च-नाट्यकी लीला वा अभिनय करते हैं, यह लीला अतीत अनादि कालसे करते आ रहे हैं और अनन्त भविष्यत् कालमें भी करते रहेंगे। यही सनातन-हिन्दू-धर्मके साधन-मार्गका अवश्य ज्ञेय सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तमें जिसका विश्वास नहीं है, इस जाज्वल्यमान प्रमाणद्वारा सम्यक् व्यवस्थापित यह सिद्धान्त जिसे सम्यक्रूपसे परिज्ञात नहीं है, वह सनातन-हिन्दूधर्मके साधन-मार्गमें प्रवेश करनेका अधिकारी नहीं है।

इन तटस्था और बहिरङ्गा-शक्तियोंके अतिरिक्त परब्रह्मकी एक और शक्ति है। उसका नाम स्वरूप-शक्ति है, जिसका परिचय हमें विष्णुपुराणमें मिलता है—

ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंश्रये।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥

हे भगवन्! तुम संसारकी सब वस्तुओंके आश्रय हो, अतः आनन्ददायिनी, सत्तादायिनी और प्रकाश या बोधकारिणी यह तीनों शक्तियाँ तुममें विद्यमान हैं। इन्हीं त्रिविध शक्तियोंका वृत्तिभेदसे भिन्न-भिन्न नामोंद्वारा प्रतिपादन किया जाता है। किन्तु वस्तुतः यह तुम्हारी स्वरूपशक्ति है। प्राकृत सुख और ताप देनेवाली सत्त्व, रज और तमोगुणमयी जो शक्ति तुम्हारी अपरा या बहिरङ्गाशक्ति

कही जाती है, उसका किसी प्रकारका प्रभाव तुम्हारे ऊपर नहीं पड़ता। क्योंकि तुम सब प्रकारके प्राकृत गुणोंसे विरहित हो। विष्णुपुराणके इस श्लोकका तात्पर्य अति गम्भीर है, अतः इसका कुछ विस्तृत विवेचन यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा।

पहले बहिरङ्गा-शक्तिके विषयमें यह कहा गया है कि वह जीवोंके सब प्रकारके क्लेशोंका निदान है, अर्थात् वह बहिरङ्गा-शक्ति परमेश्वरमें विद्यमान रहते हुए भी उनमें दुःख और मोहादिकी उत्पादिका नहीं होती, केवल जीवोंमें ही दुःख और मोहादिके उत्पादनका कारण बनती है। क्योंकि जीव अनादि अज्ञानके कारण आत्मस्वरूपको भूलकर प्राकृत प्रपञ्चके अन्दर किसी-न-किसी वस्तुमें अहंता, ममता-बुद्धिसे सम्पन्न हो जाते हैं, यही सांसारिक जीवोंका स्वभाव है। देह, इन्द्रिय और भोग्य-विषयोंमें जबतक अहंता और ममता-बुद्धि रहती है, तबतक कोई जीव इस ताप अर्थात् दुःख-भोगसे छुटकारा नहीं पा सकता। आत्माराम, अद्वय एवं सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वरमें इस प्रकारकी अहंता और ममता-बुद्धिरूपी मोहके न रहनेके कारण, उनमें अपरा या बहिरङ्गा-शक्तिके विद्यमान रहते हुए भी उस शक्तिके प्रसृत-कार्योंमें दुःख भोगना या अपनेको दुःखी माननेका अनुभव करना उनमें नहीं होता। इसीका नाम मायाका प्रभाव है। परन्तु यह सांसारिक जीवको व्याकुल या विक्षुब्ध कर डालती है, इसी कारण इस शक्तिको बहिरङ्गा-शक्ति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यह शक्ति जिसके आश्रित है, उसके ऊपर इसका कोई कार्य नहीं होता। किन्तु उससे बाहरकी ओर अर्थात् पृथक् स्वरूपमें प्रतीत होनेवाले जीव और जड-जगत्‌में ही शक्तिका कार्य प्रकाशित होता है, इसी कारण इसका नाम बहिरङ्गा-शक्ति है। इस बहिरङ्गा-शक्ति और उसके लीला-स्थान अज्ञानान्ध जीवोंसे सम्पूर्णतया पृथक् परमात्मामें एक प्रकारकी और शक्ति है, नाना प्रकारके कार्योंद्वारा नाना रूपमें प्रतीत होनेपर भी एक चित्-शक्तिके नामसे ही शास्त्रोंमें उसका वर्णन किया गया है। उसकी कार्यावलिपर ध्यान देनेसे ही इसकी त्रिविधता तथा साथ ही मूलतः एकरूपता समझमें आ सकती है।

स्वयं सत् अर्थात् एकमात्र परमार्थ-सत्तायुक्त होकर परब्रह्म अपनी जिस स्वरूप-शक्तिद्वारा उत्पत्ति और विनाशग्रस्त, सद् वा असद्रूपमें अनिर्वाच्य प्रापञ्चिक वस्तुमात्रको कुछ कालके लिये सत्तायुक्त कर देते हैं उस शक्तिका नाम सन्धिनी-शक्ति है।

स्वयं स्व-प्रकाश चित्स्वरूप ब्रह्म अपनी जिस शक्तिद्वारा अज्ञान-मोहित जीवोंको ज्ञान या प्रकाशसे सम्पन्न करके स्पर्श, रूप और रसादि भोग्य-पदार्थोंका भोक्ता या ज्ञाता बना देते हैं, उस शक्तिका नाम संवित्-शक्ति है। तात्पर्य यह है कि जो जीवकी विषय-भोग-निर्वाहिका तथा अपने अनन्त अपरिमेय स्वरूपका प्रतिक्षण स्वयं ही साक्षात्कार करानेवाली अनुकूल शक्ति है, उसको परब्रह्मकी संवित्-शक्ति या स्वरूपभूता शक्ति कहते हैं।

स्वयं अनाद्यनन्त आनन्दस्वरूप परब्रह्म जिस शक्तिके द्वारा अपने आनन्दस्वरूपको जीवोंकी अनुभूतिका विषय बनाकर स्वयं भी आत्मभूत परमानन्दका साक्षात्कार करते हैं, उस स्वरूप-शक्तिका नाम ह्लादिनी-शक्ति है।

यह अत्याश्चर्यमयी ह्लादिनी-शक्ति ही स्नेह, प्रणय, रति, प्रेम, भाव और महाभावरूपमें भगवदनुगृहीत जीवोंकी शुद्ध सत्त्वमयी निर्मल मनोवृत्तियोंमें प्रतिफलित होकर भक्ति शब्दवाच्य हो जाती है। यही कलियुगपावनावतार श्रीश्रीचैतन्यदेवके पदाङ्कानुसरणपरायण गौड़ीय वैष्णवाचार्योंका सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तका विस्तारपूर्वक विश्लेषण करना इस प्रबन्धका उद्देश्य नहीं है। परन्तु जहाँतक सम्भव होगा संक्षेपमें इसका अनुशीलन करके इस क्षुद्र प्रबन्धका उपसंहार किया जायगा।

इस संसारमें सभी जीव सुख चाहते हैं। सुख ही सब जीवोंके जीवनका चरम या परम लक्ष्य है। इस सुखका आस्वादन या भोग करनेके लिये जीव-हृदयमें जो आकांक्षा है, वही जीवकी सब प्रकारकी प्रवृत्तिका असाधारण और प्रधान कारण है। सुख ही आत्माका स्वरूप है, अथवा यों कहना चाहिये कि सब कुछ छोड़कर केवल अपने यथार्थ स्वरूपका ही निरन्तर और निरुपद्रवरूपसे आस्वादन करनेकी ऐकान्तिक इच्छा ही जीवका स्वभाव है। यही इच्छा उसे संसारमें लाती है तथा यही इच्छा उसे संसारसे मुक्तकर उसकी आत्माके आत्मभूत चिदानन्दघन परब्रह्मके स्वरूपमें पुनः विलीन कर देती है और यही उसके नर-जन्म प्राप्त करनेका चरम और परम प्रयोजन है।

देह और इन्द्रियाँ प्राकृत वस्तुओंमें 'मैं और मेरे' के अनादि और दुरपनेय भ्रान्तिके जालमें पड़कर जीव समझता है कि बाहरी उपायोंसे मुझे सुख मिल सकता है और वह सदा बना रह सकता है। परन्तु सुख बाहरकी वस्तु नहीं है, वह तो अपना ही प्रकाशमय स्वरूप है—इस बातको जीव भूल गया है। इसीसे वह संसारमें बद्ध हो रहा है और भ्रान्तिवश मरु-मरीचिकाके जलसे प्यास मिटानेके लिये उन्मत्तके समान इधर-उधर दौड़-धूप करता अविराम जन्म, मृत्यु और जरा आदिके द्वारा पीड़ित हो रहा है; उसे जब आत्मभूत अविनाशी और प्रकाशस्वरूप सुखका पता चलेगा, तभी उसकी सांसारिक गति पलट जायगी और तब वह साधनाके असली मार्गपर चलनेमें समर्थ होगा और फिर पूर्ववत् वह आत्माराम और आत्मकाम हो जायगा।

जीवको संसारमें प्रविष्ट कराकर दु:खभोगके द्वारा संसारकी अनित्यता और असारताको अच्छी तरह समझाकर, उसे सुखमय चिद्घन रसरूप आत्मस्वरूपमें सुप्रतिष्ठित करनेमें प्रधान हेतुरूप उसकी सुखानुभूतिकी जो यह ऐकान्तिक इच्छा है—यह इच्छा श्रीभगवान्‌की पूर्वनिर्दिष्ट ह्लादिनी-शक्तिकी जीवमनोवृत्तिमें अभिव्यक्त एक वृत्ति-विशेष है। यही सांसारिक जीवोंमें रति, प्रेम, प्रणय, स्नेह और अनुराग प्रभृति आसक्तिवाचक शब्दोंद्वारा सूचित होती है। पुन: श्रीभगवान्‌की कृपासे यह जब संसार-विमुख होकर आत्मानन्दमुखी होती है तभी यह भाव, प्रेम और भक्ति प्रभृति शब्दोंका वाच्य होती है। यही श्रीकृष्णचैतन्यसम्प्रदायके आचार्योंद्वारा व्याख्यात ह्लादिनी है। इसीके एक वृत्तिविशेष—भक्तिरूप प्रेमकी प्रथमावस्थाके जो भाव हैं, उसीका परिचय देते हुए श्रीरूपगोस्वामी अपने भक्तिरसामृतसिन्धु नामक ग्रन्थमें कहते हैं—

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥

इसका तात्पर्य यही है कि 'शुद्ध सत्त्वविशेष' अर्थात् श्रीभगवान्‌की स्वरूप-शक्ति ह्लादिनीकी प्रधान वृत्ति या परिणतिविशेष—भक्तिकी प्रथमावस्थारूप जो भाव है, वह शुद्धसत्त्वविशेषका ही अन्यतम स्वरूप है। यह भाव प्रेमभक्तिरूप उदयोन्मुख सूर्यका प्रथम प्रकाशमान आलोकस्वरूप है। यह भाव उदित होनेपर आनन्दमय श्रीभगवान्‌को साक्षात्कारका विषय बनानेके लिये नाना प्रकारकी सात्त्विक अभिलाषाओंको आविर्भूत कर संसार-तापसे कठिनभावापन्न मानवके अन्त:करणकी आर्द्रता सम्पादन करता है। यही भावका स्वरूप है। इसीसे तन्त्रशास्त्रमें कहा है—

प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते।
सात्त्विकाः स्वल्पमात्राः स्युरत्राश्रुपुलकादयः॥

प्रेमकी प्रथमावस्थाको ही 'भाव' कहते हैं। यह भाव जब मानव-हृदयमें समुदित या अभिव्यक्त होता है, तब सहज ही अश्रु और रोमाञ्च प्रभृति सात्त्विक भावोंका विकास हो जाता है।

यह प्रेमकी प्रथमावस्थारूप जो भाव है वह आलंकारिकोंद्वारा वर्णित अनुरागरूप मनोवृत्ति नहीं है। यह तो नित्यसिद्ध ह्लादिनीकी वृत्तिविशेष है, अत: वह भी नित्य है। तथापि इसकी अभिव्यञ्जक होनेके कारण मनुष्यकी चित्तवृत्तिविशेष भी लोगोंमें भाव और रति प्रभृति भक्तिकी अवस्थाविशेषके वाचक शब्दोंद्वारा निर्दिष्ट होती है। इसीसे श्रीरूपगोस्वामी भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहते हैं—

आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम्।
स्वयं प्रकाशमानापि भासमाना प्रकाश्यवत्॥
वस्तुतः स्वयमास्वादस्वरूपैव रतिस्त्वसौ।
कृष्णादिकर्मकास्वादहेतुत्वं प्रतिपद्यते॥

साधककी सात्त्विक मनोवृत्तिमें आविर्भूत वा अभिव्यक्त होकर यह रति या भाव उस मनोवृत्तिके समान हो जाता है; यह रति स्वयंप्रकाश-स्वाभावा है, यह मनोवृत्तिमें प्रतिफलित होकर प्रकाश्य-वस्तुके सदृश बन जाती है; किन्तु वस्तुत: यह प्रकाश्यवस्तु नहीं है बल्कि प्रकाश वा चिद्रूपता ही इसका स्वरूप है। यह रति स्वयं आस्वाद-स्वरूप हो जाती है, तथा इस प्रकार साधककी मनोवृत्तिमें अभिव्यक्त होकर भक्तद्वारा श्रीभगवान्‌के साक्षात्कारका सम्पादन करती है।

सम्पादक महाशयका यह अनुरोध है कि 'कल्याण' के शक्त्यङ्कके लिये लेख बहुत बड़ा नहीं होना चाहिये, इसलिये बाध्य होकर इस बार केवल ह्लादिनी-शक्तिका ही संक्षिप्त परिचय देकर इस प्रबन्धका उपसंहार किया जाता है।

शक्ति-तत्त्व

(लेखक—स्वामी श्रीमाधवानन्दजी महाराज)

प्रकाशमानां प्रथमे प्रयाणे
प्रतिप्रयाणेऽप्यमृतायमानाम् ।
अन्तःपदव्यामनुसञ्चरन्ती-
मानन्दरूपामबलां प्रपद्ये॥

न विद्यते बलं यस्याः समानमन्यत्रेत्यबला।

शक्ति-नामकी वस्तुका प्रत्येक मनुष्य अनुभव कर सकता है। कोई भी कार्य शक्तिके बिना नहीं हो सकता। एक मनुष्य बीमार होकर बिछौनेपर पड़ा था। प्रतिदिन बीमारी बढ़नेके कारण वह बिछौनेसे उठकर बाहर नहीं आ सकता था। एक दिन उसका एक मित्र उसे देखनेके लिये आया और घरके दरवाजेपर खड़ा होकर पुकारने लगा—'भाई! ज़रा बाहर आओ!' रोगीने शय्यापरसे ही उत्तर दिया—'हे मित्र! मुझमें शय्यासे उठकर बाहर आनेकी शक्ति नहीं है, तुम्हीं अन्दर आ जाओ।' इस प्रकार रोगी मनुष्यके कथनसे स्पष्ट जान पड़ता है कि शक्ति एक वस्तु है, जिसके बिना वह शय्यासे उठकर बाहर नहीं आ सकता। रोगी मनुष्यकी शक्ति क्षीण हो गयी है, परन्तु उसमें जीवन तो है। शक्त (रोगी मनुष्य) जीवन होते हुए भी शक्ति बिना कोई कार्य नहीं कर सकता। शक्तिके बिना बैठना-उठना, चलना-फिरना आदि साधारण क्रियाएँ भी नहीं हो सकतीं। शक्तिके द्वारा ही सब कार्य हो सकते हैं। शक्तिसे सब काम हो जाता तो शक्तकी आवश्यकता न होती, यह कथन भी सम्भव नहीं है।

चार मास बीतनेपर रोगी मनुष्य रोगसे मुक्त हो गया और उसके शरीरमें बल तथा शक्ति आ गयी। उसी समय उसका मित्र फिर मिलनेके लिये आया और दरवाज़ेपर आकर पहलेके समान उसे बाहर आनेके लिये कहने लगा। उस मनुष्यने उत्तर दिया कि—'शक्ति होते हुए भी मुझे बाहर आनेकी इच्छा नहीं है, तुम्हीं अन्दर आ जाओ।' इस कथनसे स्पष्ट जान पड़ता है कि उसमें शक्ति है, परन्तु इच्छा न होनेसे वह बाहर नहीं आता। प्रत्येक कार्यके करनेमें शक्तकी इच्छाके अनुसार बर्तना पड़ता है। शक्ति स्वतन्त्र नहीं है, तथा शक्ति बिना शक्त अकेले कोई काम नहीं कर सकता। उपर्युक्त प्रमाणसे स्पष्ट जान पड़ता है कि शक्ति और शक्तके सम्बन्धसे प्रत्येक कार्य सिद्ध होते हैं।

ब्रह्म, परमात्मा, चिति आदि शक्तके नाम हैं। मायाशक्ति, प्रकृति आदि शक्तिके नाम हैं। अग्निमें दाह-शक्ति है। उस दाह-शक्तिका अग्निके साथ जैसा सम्बन्ध है वैसा ही सम्बन्ध ब्रह्मका ब्रह्मकी शक्तिके साथ है। अग्निकी दाह-शक्ति अग्निसे पृथक् नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मकी शक्ति भी ब्रह्मसे पृथक् नहीं है। शक्ति चिदानन्दस्वरूपिणी है और परमात्माकी सत्तासे सृष्टि आदि सब कार्योंको करनेवाली है।

माया-शक्तिको अचेतन माना गया है और ब्रह्मको अक्रिय कहा जाता है। मनुष्यके समान इनमें प्रेर्य-प्रेरकभाव-सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु जिस प्रकार अक्रिय चुम्बककी समीपतासे जड़ लोहेमें चेष्टा आ जाती है, उसी प्रकार अक्रिय ब्रह्मकी समीपतासे अचेतन ब्रह्ममें प्रत्येक कार्यके करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। यह प्रकृति ब्रह्मासे लेकर स्थावर-जङ्गम प्रभृति सृष्टिकी रचना करती है। ऐसा ही शास्त्रका सिद्धान्त है।

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता ।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा॥

(पञ्चदशी १। १५)

ब्रह्म चिदानन्दस्वरूप है। उसकी प्रतिच्छायासे युक्त प्रकृति दो प्रकारकी है। सत्त्व, रज और तमोगुणकी समानावस्थाका नाम प्रकृति है। ब्रह्मकी समीपतासे जो शक्ति प्रकृतिको प्राप्त होती है उस शक्तिका नाम ही प्रतिबिम्ब या प्रतिच्छाया है।

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः॥

(पञ्चदशी १। १६)

सत्त्वकी शुद्धि तथा अविशुद्धिके भेदसे एकका नाम माया है और दूसरीका अविद्या। जब सत्त्वगुण रजस् और तमोगुणको पराभूत करता है तो वह सत्त्वगुणकी शुद्धि कहलाती है और जब रजस् और तमोगुण सत्त्वगुणको पराभूत करते हैं तो वह सत्त्वगुणकी अविशुद्धि कहलाती है। इसीलिये शुद्ध-सत्त्वप्रधान माया

कहलाती है और मलिन-सत्त्वप्रधान अविद्या कहलाती है। मायामें प्रतिफलित चिदात्मा मायाको वशमें रखता है, इससे चिदात्मामें सर्वज्ञता आदि गुण रहते हैं। इस (चिदात्मा)-का नाम ईश्वर है।

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा ।
सा कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान्॥

(पञ्चदशी १। १७)

अविद्यामें प्रतिफलित हुआ चिदात्मा अविद्याके अधीन रहता है, इससे अविद्यामें सर्वज्ञता आदि गुण नहीं रहते। इस (चिदात्मा)-का नाम जीव है। उपाधिरूप अविद्याके नाना रूप होनेके कारण जीव भी देव, मनुष्य, पशु, पक्षी प्रभृति भेदसे नाना प्रकारका होता है। यह अविद्या स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरका कारण होनेसे कारण-शरीर कहलाती है। इसलिये कारण-शरीरमें 'मैं हूँ'—इस प्रकारके अभिमानवाले जीवको प्राज्ञ कहा जाता है। उपर्युक्त प्रमाणसे ईश्वर तथा देवता प्रभृति नाना प्रकारके जीवोंका कारण मायाशक्ति ही कहलाती है।

तमःप्रधानप्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया ।
वियत्पवनतेजोऽम्बुभुवो भूतानि जज्ञिरे॥

(पञ्चदशी १। १८)

उन प्राज्ञरूप जीवोंके भोगके लिये तमोगुणप्रधान प्रकृतिसे ईश्वरकी आज्ञानुसार आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी—इन पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। पञ्चमहाभूतोंके प्रत्येक सत्त्वगुण-अंशसे श्रोत्रादिक पञ्चज्ञानेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। सम्पूर्ण पञ्चमहाभूतोंके सत्त्वगुण-अंशसे अन्तःकरणकी उत्पत्ति होती है। पञ्चमहाभूतोंके प्रत्येक रजोगुण-अंशसे वाणी आदि कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। सम्पूर्ण पञ्चमहाभूतोंके रजोगुण-अंशसे प्राणोंकी उत्पत्ति होती है। वृत्तिके भेदसे प्राणको भी प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान आदि नामोंसे पुकारते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंके मेलसे सूक्ष्म शरीरकी उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म शरीरमें 'मैं हूँ'—ऐसा अभिमानवाला जीव तैजस कहलाता है। इस जीवके भोगके लिये भोग्य पदार्थ तथा भोगके योग्य शरीरके लिये परमेश्वरने पञ्चमहाभूतोंका पञ्चीकरण किया अर्थात् एक-एकके पाँच-पाँच भेदसे पच्चीस विभाग किये, इन पच्चीस विभागोंमें विभक्त हुए पञ्चमहाभूतोंसे ब्रह्माण्डकी रचना हुई है। ब्रह्माण्डमें चतुर्दश भुवन तथा विभिन्न भुवनोंमें रहनेयोग्य स्थूल शरीरकी सृष्टि हुई। सूक्ष्म शरीरके अभिमानी तैजसको स्थूल शरीरमें अभिमानी होनेसे 'विश्व' नामसे पुकारा जाता है। कारण, सूक्ष्म और स्थूल—इन तीनों शरीरोंमें ईश्वर तथा जीव दोनोंको अभिमान होता है। ईश्वरको समष्टिमें अभिमान है और जीवको व्यष्टिमें। समष्टिका अर्थ है सब, और व्यष्टिका अर्थ है एक। समष्टि-कारण-शरीरके अभिमानवाले ईश्वरको समष्टि-सूक्ष्म-शरीरका अभिमान होनेपर हिरण्यगर्भ नामसे पुकारा जाता है और समष्टि-स्थूल-शरीरका अभिमान होनेसे वह विराट् कहलाता है। इस प्रकार ईश्वरसे लेकर सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गमका कारण मायाशक्ति ही शास्त्रमें कही गयी है।

देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब मायासे उत्पन्न हुए हैं। वेदमें शिव, विष्णु आदि परमात्माके नाम हैं। पुराणोंमें सृष्टिके कर्त्ता ब्रह्मा, स्थितिके कर्त्ता विष्णु और लयके कर्त्ता रुद्र कहे गये हैं। विष्णु आदि माया-उपाधिवाले ईश्वरकी विभूतिरूप होनेके कारण ईश्वरसे भिन्न नहीं हैं। ईश्वरका कारण माया है और माया-उपाधिके बिना ईश्वर रह नहीं सकता। इससे ईश्वरके भेदरूप विष्णु आदि भी मायाके कार्य हैं। मायासे त्रिमूर्तिकी उत्पत्ति होती है। वेदके अनुसार मायाको ही सृष्टिका कारण कहा गया है।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।

(श्वे० उ० ४। ५)

'न जायत इत्यजा।' मूल-प्रकृति माया अनादिरूप है और जन्मरहित है। इसीसे उसे अजा कहते हैं। सम्पूर्ण जगत् इसी मायासे उत्पन्न होते हैं, इसलिये यह एक ही है। वह माया त्रिगुणात्मिका है अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुणरूप है। वह देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अपने ही समान त्रिगुणात्मक प्रजाकी सृष्टि करती है। ब्रह्मकी शक्तिका नाम ही माया है, शक्ति अपने आश्रय-रूप शक्तके साथ ही रहती है। इसलिये शक्तिरूप मायामें जगत्के प्रति जो प्रकृतित्व है वह प्रकृतित्व शक्तिमान् ब्रह्ममें भी है।

ईक्षतेर्नाशब्दम्। (ब्रह्मसूत्र १। १। ५)

इस सूत्रमें जो प्रकृतिका जगत्के कारणरूपमें निषेध किया है, वह केवल प्रकृतिके लिये ही निषेध हुआ है। ईश्वराधिष्ठित प्रकृतिका यहाँ निषेध नहीं किया गया है। ईश्वराधिष्ठित मायारूप प्रकृतिको तो प्रत्येक स्थानमें सृष्टिका कारण कहा गया है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

(गी० ९। १०)

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।

(गी० ९। ८)

गीताके प्रमाणके अनुसार ईश्वराधिष्ठित प्रकृति सृष्टिका कारण कही जाती है।

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत।

(छान्दो० ६। २। ३)

इस श्रुतिमें ईश्वरकी ईक्षणपूर्वक सृष्टिका वर्णन है। मायावृत्तिरूप ईश्वरके सङ्कल्पका नाम ही ईक्षण है। प्रकृति नामकी मायाशक्ति ही सब प्रकारकी सृष्टि रचती है।

प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण २। १। ५)

'**प्र**' शब्दका अर्थ प्रकृष्ट है, '**कृति**' सृष्टिवाचक है। सृष्टिमें जिसकी प्रकृष्टता अर्थात् उत्कृष्टता है उस देवीका नाम प्रकृति है। 'प्रकृति' शब्दका ऐसा ही अर्थ अन्य पुराणोंमें कहा गया है। ईश्वरकी मायाशक्ति प्रत्येक वस्तुको नियममें रखती है और यदि वह मायाशक्ति नियममें न रखे तो जगत्में विप्लव मच जाय। परमेश्वर जिस-जिस देव तथा मनुष्य आदिकी उपाधिको धारण करते हैं, वह सब परब्रह्मस्वरूपी मायाशक्तिकी उपाधि है। परमात्मा जब सगुणरूप धारण करते हैं तब चिदानन्दस्वरूपिणी शक्ति भी सगुणरूप धारणकर परमात्माके साथ ही रहती है। उपर्युक्त नाना प्रकारके प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि समस्त सृष्टिकी रचना करनेवाला केवल शक्ति-तत्त्व है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है।

शक्ति-उपासनाकी सर्वव्यापकता

(लेखक—चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)

भारतवर्षकी आधुनिक ऐतिहासिक गवेषणाद्वारा यह सिद्ध हो गया है कि शक्ति-उपासनाका अस्तित्व अति प्राचीन कालमें भी था। सिन्धुनदीके प्रान्तमें मोहन-जो-दारोमें जो खुदाई हुई है उसमें मकानोंके सात तह निकले हैं, जिससे पता चलता है कि वहाँ एक-एक करके सात नगर बसे और ध्वंस हो गये। इस प्रकार उसके सबसे नीचेके खुदे हुए नगरके बसनेका समय अनुमानतः ईसासे पूर्व ४००० वर्ष माना गया है। उस खुदाईमें जो मूर्तियाँ निकली हैं उनमें स्वस्तिक, नन्दीपद, लिंग, योनि और शक्तिकी मूर्तियाँ हैं, जिससे सिद्ध होता है कि उस समय भी उस प्रान्तमें शक्ति-उपासना प्रचलित थी।

'**एकोऽहं बहु स्याम्**' (मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ)—यह जो सृष्टिका कारणरूप ब्रह्मका आदिसङ्कल्प है इसी सङ्कल्प अर्थात् इच्छाको आद्याशक्ति अथवा महाविद्या कहते हैं। इसी कारण वह यथार्थमें जगज्जननी जगदम्बा है। ब्रह्माण्डके त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु और शिव इस आद्यापराशक्तिसे उद्भूत हुए हैं। ऋग्वेदमें शक्तिका वर्णन स्पष्टरूपसे मिलता है। वेदमें जो उल्लेख है कि एक 'अजा' से अनेक प्रजाकी उत्पत्ति हुई, वह 'अजा' यही आद्याशक्ति हैं। विश्वकी अखिल सत्ता (अस्तित्व), चेतनता, ज्ञान, प्रकाश, आनन्द, क्रिया, सामर्थ्य आदि इसी शक्तिके कार्य हैं। केनोपनिषद्में स्वर्ण-वर्णा उमाके प्रकट होनेपर देवताओंको ज्ञात हो गया कि उसी शक्तिके प्रभावसे उन्होंने असुरोंपर विजय पायी है, तथा उनकी समस्त शक्तियाँ उसी एक परमाशक्तिसे प्राप्त हुई हैं। वेदोंकी माता तथा मुख्य अधिष्ठात्री परमोपास्या शक्ति गायत्री भी यही आद्याशक्ति हैं, जो भव-बन्धनसे त्राण कर मुक्ति प्रदान करती हैं। वेदान्त और ज्ञानमार्गकी प्रतिपाद्य 'विद्या,' जिसके द्वारा अविद्याका नाश और ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, वह भी यही आद्याशक्ति हैं। योगकी मुख्य शक्ति कुण्डलिनी भी यही आद्याशक्ति हैं। उपासना और भक्ति-मार्गकी ह्लादिनी-शक्ति तथा इष्टदेवोंकी अर्द्धाङ्गिनी—जैसे दुर्गा, सीता, राधा, लक्ष्मी, गायत्री, सरस्वती आदि—जिनकी कृपादृष्टिसे इष्टकी प्राप्ति होती है वह सब यही आद्याशक्ति हैं। श्रीअध्यात्म-रामायणमें श्रीसीताजी श्रीहनुमान्जीसे कहती हैं कि—'श्रीरामचन्द्रजी तो कुछ नहीं करते, अवतारकी सारी लीलाएँ मैंने ही की हैं।' बौद्धोंकी 'प्रज्ञापारमिता' जो ज्ञान और बोधकी देनेवाली उपास्यादेवी है, वह भी आद्याशक्ति ही हैं। उत्तर देशके बौद्ध जिस तारादेवीकी

उपासना करते हैं वह भी आद्याशक्ति ही हैं। कुरान और बाइबिलमें जो ईश्वरके श्वास (Breath) और शब्द (Word)-को सृष्टिका कारण कहा गया है, वह भी यही आद्याशक्ति हैं।

परन्तु जहाँ प्रकाश होता है वहाँ साथ ही तम भी होता है। (Light) प्रकाश और (Shade) तमके अस्तित्वको पार्थिव विज्ञानने भी माना है। सृष्टिके विकासके निमित्त इन दोनों विरुद्ध पदार्थोंकी आवश्यकता है। इसी नियमके अनुसार आद्याशक्ति अर्थात् पराशक्ति, जो चैतन्य है, उसकी दृष्टिसे अपरा प्रकृति अर्थात् नामरूपात्मक जड मूल-प्रकृति उसका दृश्य (कार्यक्षेत्रकी भाँति) हुई और इन दोनों शक्तियोंके संयोगसे सृष्टि-रचना हुई। मूल-प्रकृति योनिरूपा, त्रिगुणात्मिका, अविद्या अर्थात् अज्ञानमूलक है, और परा-प्रकृति चेतन पुरुषरूपा, सच्चिदानन्दस्वरूपिणी, विद्या और ज्ञानमूलक है। जीवात्मा तो ईश्वरका अंश है, उसकी प्रथम उपाधि कारण-शरीर है जो आनन्दमय है। उसका परा-प्रकृतिसे सम्बन्ध है। परन्तु इसके सिवा अन्य दो उपाधियाँ भी हैं जो त्रिगुणमयी अपरा-प्रकृतिके कार्य हैं—उनकी संज्ञा सूक्ष्म और स्थूल शरीर है। इन दो उपाधियोंमें तमोगुण और रजोगुणकी प्रधानता है। मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है विद्याशक्तिके गुणोंके आश्रयसे अविद्यान्धकारका नाश करना तथा रजोगुण और तमोगुणका निग्रह करके उनको शुद्ध सत्त्वमें परिणत कर पुनः त्रिगुणातीत अवस्थाको प्राप्त करना। इस प्रकार त्रिगुणमयी प्रकृतिके कार्यके साथ विद्याशक्तिके आश्रयसे सङ्घर्षणद्वारा जीवात्मामें जो ईश्वरके दिव्य गुण, सामर्थ्य आदि सन्निहित हैं वे प्रकट होकर उस जीवात्माके द्वारा संसारमें लोकहितार्थ फैलते हैं और इस प्रकार संसारका कल्याण करते हैं। इस सङ्घर्षणके बिना संसारका कल्याण नहीं हो सकता। अतएव ज्ञान, अज्ञान, परा, अपरा दोनों प्रकृतियोंकी आवश्यकता है। इसीलिये पूजामें ज्ञान और अज्ञान दोनोंकी पूजा की जाती है। अतएव त्रिगुणमयी प्रकृति अर्थात् अविद्या-शक्ति और दिव्य परा विद्या-शक्ति दोनों आवश्यक हैं। इसलिये यथार्थ शक्ति-उपासना यही है कि इस त्रिगुणमयी प्रकृतिके कार्य अथवा स्वभाव—निद्रा, आलस्य, तृष्णा (कामवासना), भ्रान्ति (अज्ञान), मोह, क्रोध (महिषासुर), काम (रक्तबीज) आदिको महाविद्याके गुण सद्बुद्धि, बोध, लज्जा, पुष्टि, तुष्टि, शान्ति, क्षान्ति*, लज्जा, श्रद्धा, कान्ति, सद्वृत्ति, धृति, उत्तम स्मृति, दया (परोपकार) आदिके द्वारा निग्रह और पराभव कर उनपर विजय-लाभ करे। इससे जीवात्मा अपने उस खोये हुए आत्मराज्यको प्राप्त करेगा, जिस राज्यसे आसुरी वृत्तियोंने उसे च्युत कर दिया था। यही देवासुर-संग्राम है जिसका क्षेत्र यह मानव-शरीर है। दुर्गासप्तशतीके पहले और पाँचवें अध्यायमें यह स्पष्टरूपसे कहा गया है कि उपर्युक्त सभी दैवी गुण श्रीभगवतीके ही गुण हैं।

मातृभाव और ब्रह्मचर्य

शक्तिकी उपासनामें मातृभाव और ब्रह्मचर्यका महत्त्व प्रधान माना जाता है। दुर्गासप्तशतीके ११ वें अध्यायमें नारायणी-स्तुतिमें लिखा है—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्
का ते स्तुतिः स्तव्यपरापरोक्तिः॥

(११।६)

हे देवि! समस्त संसारकी सब विद्याएँ तुम्हींसे निकली हैं और सब स्त्रियाँ तुम्हारी ही स्वरूप हैं; समस्त विश्व एक तुमसे ही पूरित है, अतः तुम्हारी स्तुति किस प्रकार की जाय?

शक्तिके उपासकको अपनी धर्मपत्नीके सिवा सब स्त्रियोंको जगदम्बाका रूप समझ उनमें परम पूज्य भाव रखना चाहिये। कामात्मक दृष्टिसे उन्हें कभी नहीं देखना चाहिये। सब स्त्रियोंको जगदम्बा मानना ही शक्ति-उपासनाका यथार्थ मातृभाव है, और ऐसी भावना रखनेवालेके ऊपर शक्तिकी कृपा शीघ्र ही होती है। अतएव शक्ति-उपासनामें मन, कर्म और वचनसे ब्रह्मचर्यका पालन करना परमावश्यक है। अपनी स्त्रीके संग सन्तानार्थ ऋतुकालमें कर्तव्यबुद्धिसे, पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये संगम करना ब्रह्मचर्यके विरुद्ध नहीं है ऐसी मनुकी आज्ञा है सप्तशतीमें लिखा है—

सर्वस्य बुद्धिरूपेण जनस्य हृदि संस्थिते।

हे देवि! तुम बुद्धिके रूपमें सबोंके हृदयमें स्थित हो। वस्तुतः शक्ति सबके हृदयमें विराजमान हैं; अतएव सबको हृदयस्थ शक्तिकी उपासना करनी चाहिये।

बड़े शोककी बात है कि आजकल उपासनाके मुख्य

* त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी त्वं ह्रीस्त्वं बुद्धिर्बोधलक्षणा। लज्जा पुष्टिस्तथा तुष्टिस्त्वं शान्तिः क्षान्तिरेव च॥ (दु० स० १।७९-८०)

अंग कामादि विकारोंके निग्रहकी अवज्ञा की जाती है और इसके विपरीत लोग जिह्वा, शिश्न और उदर-परायण होकर भोगात्मक विषयोंमें ही अनुरक्त हो उन्हींमें लिप्त रहते हैं तथा इसीको शक्ति-उपासनाकी साधना मानते हैं। दया (परोपकार), क्षान्ति (क्षमा), धृति (धैर्य), शान्ति (मनकी समता), तुष्टि (सर्वदा प्रसन्न रहना), पुष्टि (शरीर और मनसे स्वस्थ रहना), श्रद्धा, विद्या, सद्बुद्धि आदि महाविद्याके गुण हैं; इनके प्राप्त होनेसे ही साधक विद्याशक्तिसे सम्बन्ध स्थापित कर सकता है अन्यथा कदापि नहीं। इसके विपरीत जिनमें इन सद्गुणोंके विरुद्ध दुर्गुण—हिंसा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भोगलिप्सा, मत्सर, तृष्णा, आलस्य आदि वर्तमान हैं, उनको अनेकों प्रकारके पूजा-पाठ, जप-तप आदि करनेपर भी शक्तिकी कृपादृष्टि नहीं प्राप्त हो सकती। पाश्चात्त्य देश निवासियोंकी आजकल जो विद्या, कला-कौशल, व्यापार-वाणिज्य आदिमें विशेष रुचि देखी जाती है उसका कारण उनमें शक्तिकी तुष्टि तथा कृपाकी प्राप्तिके मुख्य साधनस्वरूप इन सद्गुणोंका कुछ-कुछ विकसित होना ही है।

पूजा-पाठ, जप-होम, ध्यान आदि भी शक्ति-उपासनाके मुख्य अङ्गोंमें हैं; परन्तु महाविद्याके सद्गुणोंके अभावमें ये व्यर्थ हैं। अतएव यथार्थ शक्ति-उपासना यही है कि पहले दिव्य गुणोंको प्राप्त करे और उनसे विभूषित होकर पूजा-पाठ, स्तव, जप-ध्यान, होम आदि कर्म करे। जिनका हृदय कलुषित, मन अपवित्र, चित्त दम्भपूर्ण, भाव कुत्सित, इन्द्रियाँ भोगपरायण तथा जिह्वा असत्यसे दग्ध है उनके पूजा-पाठ, जाप आदि कर्म प्रायः व्यर्थ ही होते हैं। कहीं-कहीं तो उलटे हानि हो जाती है, क्योंकि भयानक दुर्गुणोंको देखकर इष्टदेवता रुष्ट हो जाते हैं। लिखा है कि देवी रुष्ट होनेपर समस्त अभीष्ट कामनाओंका नाश कर देती हैं। परन्तु जो सद्गुणोंसे विभूषित हो अहङ्कार और ममता त्यागकर परम दीन और आर्तभावसे श्रीआद्याशक्तिके चरणोंमें अपनेको समर्पण कर देते हैं उनके सब कष्टों और अभावोंको मिटाकर माता उनका त्राण करती हैं। श्री-दुर्गासप्तशतीकी नारायणी-स्तुतिमें भी लिखा है—

शरणागतदीनार्त्तपरित्राणपरायणे ।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते॥

(११।१२)

श्रीदुर्गा सर्वत्र सबमें व्याप्त हैं और जो उन्हें इस प्रकार सबमें व्यापकरूपसे वर्तमान जानते हैं, वही भयसे त्राण पाते हैं। मोक्षदात्री श्रीविद्याकी प्राप्तिके लिये इन्द्रिय-निग्रह परमावश्यक है। इनमें निम्नलिखित वाक्य प्रमाण हैं—

सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते।
भयेभ्यस्त्राहि नो देवि दुर्गे देवि नमोऽस्तु ते॥

(दु० स० ११।२३)

सर्वतः पाणिपादान्ते सर्वतोऽक्षिशिरोमुखि।
सर्वतःश्रवणघ्राणे नारायणि नमोऽस्तु ते॥

या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता त्व-
मभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्त्वसारैः।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषै-
र्विद्यासि सा भगवती परमा हि देवि॥

(दु० स० ४।९)

शक्ति-स्वरूप-निरूपण

(लेखक—पं० श्रीबालकृष्णजी मिश्र)

व्यालावलीवलयिता कलितानलकीलया कापि।
शूलिप्रविदितशीला नीरदनीला[1] लता जयति॥

जगत्के निमित्त और विवर्तोपादानकारण सच्चिदानन्द पर[2]ब्रह्मकी स्वाभाविक जो पराशक्ति है, वही शक्ति-तत्त्व भगवती है।

इसके ये प्रमाण हैं—

(१) परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। (श्रुति)

(२) निर्गुणः परमात्मा तु त्वदाश्रयतया स्थितः।
तस्य भट्टारिकासि त्वं भुवनेश्वरि भोगदा॥

(शक्तिदर्शन)

(१) इस ब्रह्मकी पराशक्ति नाना प्रकारकी सुनी जाती है।

(२) हे भुवनेश्वरि! तुम्हारा आश्रय निर्गुण परमात्मा है, और तुम उसकी भोग देनेवाली भार्या हो।

जैसे ब्रह्मके औपाधिक स्वरूप शिव, विष्णु, ब्रह्मा प्रभृति हैं, वैसे ही आदिशक्तिके औपाधिक स्वरूप

१- उपादानविषयसत्ताका कार्य विवर्त्त है। २-इसके प्रमाण—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि (श्रुति), 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' (ब्रह्मसूत्र), 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (श्रुति) हैं।

पार्वती, लक्ष्मी, सरस्वती प्रभृति हैं। यह शक्ति कहीं माया-शब्दसे, कहीं प्रकृति-शब्दसे, श्रुति तथा स्मृतिमें अनेक बार प्रतिपादित है।

जैसे—

(१) इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (श्रुति)

(२) मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

(३) परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या। (मार्कण्डेयपुराण)

(१) मायासे बहुरूप परमेश्वर स्तुतिविषय किया जाता है।

(२) मायाको प्रकृति और परमेश्वरको मायाश्रय समझे।

(३) तुम प्रकृष्ट आदिप्रकृति हो।

व्यापक, नित्य सर्वात्मक होनेके कारण देश, काल, वस्तु—इन तीनोंसे यह शक्ति परिच्छेद्य नहीं है, अर्थात् किसी देशमें इसका अत्यन्ताभाव नहीं है, किसी कालमें ध्वंस नहीं है, किसी वस्तुमें भेद नहीं है। अघटित (असम्भावित)-घटना (निर्माण)-में अतिनिपुण है; यथा-चिदाभास, नाना प्रकार संसार, दर्पणमें नगर, अनेक तरहके कार्यकारणभाव, क्षणमें युगबुद्धि, स्वप्न, बीजमें वृक्ष तथा ऐन्द्रजालिक चमत्कार, इन सबोंकी रचना मायासे होती है।

मैं स्थूल हूँ, मैं अन्धा हूँ, मैं इच्छा करता हूँ, शुक्तिकामें यह रजत है, शङ्ख पीला है, शीशेमें यह मेरा मुख है, इत्यादि नाना भाँति भ्रान्तियोंको यह मायाशक्ति उत्पन्न करती है।

यह मायाशक्ति सर्वथा अबाध्य नहीं है, सत्वेन अप्रतीयमान नहीं है, और सदसदात्मक भी नहीं है, क्योंकि गोत्वअश्वत्वकी तरह अबाध्यत्व एवं सत्त्वरूपसे अज्ञायमानत्व, ये दोनों ही परस्परविरुद्ध हैं। अतएव सत्, असत् और सदसत्, इन तीनोंसे विलक्षण अनिर्वचनीय है।

अनिर्वचनीयका लक्षण देखिये—

प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः॥

(चित्सुखी)

सत्त्वसे, असत्त्वसे और सत्त्व-असत्त्व दोनोंसे विचार-मार्गको जो नहीं प्राप्त करता है, वेदान्तवेत्ता लोग उसे अनिर्वाच्य कहते हैं।

अनिर्वचनीयत्व मायाके लिये अलङ्कार है। यह सत्त्व, रजस्, तमस् गुणत्रयात्मक है। यथा—

(१) अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्। (श्रुति)

(२) हेतुस्समस्तजगतां त्रिगुणापि।

(मार्कण्डेयपुराण)

(१) लोहितसे रजस्, शुक्लसे सत्त्व और कृष्णसे तमस् लिया जाता है।

(२) तुम समस्त भुवनका कारण और त्रिगुणा हो। इसीके एकदेशके परिणाम शब्दादि पञ्चतन्मात्रा अर्थात् सूक्ष्म आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी हैं। उपादान-समानसत्ताश्रय कार्यको परिणाम कहते हैं। मायामें चैतन्यका प्रतिबिम्ब जीव है। अविद्यामें चैतन्यका प्रतिबिम्ब ईश्वर है। इस पक्षमें वे बिम्बसे भिन्न चिदाभासरूप असत्य हैं। अन्तःकरणसे या अविद्यासे अवच्छिन्न चैतन्य जीव है। मायावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है। इस पक्षमें यद्यपि जीव और ईश्वरमें चिदाभासता नहीं आती, परन्तु अवच्छेदके मायासे कल्पित होनेके कारण इन दोनोंमें मायिकत्व वियदादि प्रपञ्चवत् अनिवार्य है।

जीव एवं ईश्वरके चिदाभासत्व तथा मायिकत्वके प्रमाण ये हैं—

(१) एवमेवैषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति। (श्रुति)

(२) चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। (शक्तिसूत्र)

(३) कथं जगत् किमर्थं तत् करोषि केन हेतुना।
नाहं जानामि तद्देवि यतोऽहं हि त्वदुद्भवः॥

(शक्तिदर्शन)

(४) मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।

(शक्तितत्त्वविमर्शिनी)

(१) इसी प्रकार यह माया स्वात्मकक्षेत्र दिखाकर प्रतिबिम्बद्वारा जीव और ईश्वरकी रचना करती है।

(२) ईश्वरसे लेकर पृथ्वीपर्यन्तकी उत्पत्ति, स्थिति तथा संहारमें पराशक्तिस्वरूपा, स्वतन्त्रा, शिवात्मक पतिसे अभिन्ना चितिभगवती ही कारण है।

(३) हे देवि! तुम किस प्रकार, किसके लिये, किस हेतुसे जगत्की सृष्टि करती हो—मैं इस बातको नहीं जानता, क्योंकि मैं तुमसे उत्पन्न हूँ।

(४) मायारूप कामधेनुके जीव और ईश्वर दो बछड़े हैं।

जैसे कृशानुकी दाहकता और भानुकी प्रभा, कृशानु-भानुसे भिन्न नहीं हैं, उसी तरह मायात्मक पराशक्ति परब्रह्मसे भिन्न नहीं है। यथा—

(१) **शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति।**
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव॥

(शक्तिदर्शन)

(२) **अचिन्त्यामिताकारशक्तिस्वरूपा**
प्रतिव्यक्त्यधिष्ठानसत्तैकमूर्तिः ।
गुणातीतनिर्द्वन्द्वबोधैकगम्या
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा॥

(महाकालसंहितातन्त्र)

(३) **सदैकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदैव ममास्य च।**
योऽसौ साहमहं यासौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात्॥

(देवीभागवत)

(४) **सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः—कासि त्वं महादेवी। साब्रवीदहं ब्रह्मरूपिणी, मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगदुत्पन्नम्॥** (श्रुति)

(१) 'शक्ति शक्त्याश्रयसे अलग नहीं है, शक्ति और शक्तिमान्‌में वह्नि तथा दाहकता-शक्तिके अभेदके सदृश सर्वदा अभेद बना रहता है।'

(२) 'देवि! तुम अचिन्त्य तथा अमित आकारवाली शक्तिका स्वरूप हो, अथवा अचिन्त्य तथा अमित आकारवाला जो ब्रह्म है, उसकी शक्तिका स्वरूप हो, अथवा बड़े शिल्पियोंसे अचिन्त्य तथा अमिताकार संसारकी एक ही शक्ति हो, प्रतिव्यक्तिकी अधिष्ठान-सत्ताकी एकमात्र मूर्ति हो, अथवा ब्रह्मरूप अधिष्ठान-सत्ताकी एक ही मूर्ति हो, और गुणातीत तथा अबाधित बोधमात्रसे जानी जाती हो, अथवा निर्गुण निर्द्वन्द्व बोध-स्वरूप ब्रह्ममात्रसे गम्य हो—'**परमशिवदृङ्मात्रविषयः**' (आनन्दलहरी)। इस प्रकार तुम परब्रह्मरूपसे सिद्ध हो।'

(३) 'मैं और ब्रह्म—इन दोनोंमें सर्वथा एकत्व है, भेद कभी नहीं है; जो वह है सो मैं हूँ, और जो मैं हूँ सो वह है; भेद भ्रान्तिसे कल्पित है, वस्तुतः नहीं है।'

(४) सब देवगण भगवतीके पास गये और उन्होंने पूछा कि 'महादेवि! तुम कौन हो?' भगवतीने उत्तर दिया, 'मैं ब्रह्मरूपिणी हूँ, मुझसे ही प्रकृति-पुरुषात्मक संसार उत्पन्न हुआ है।'

अब यहाँपर यह संशय होता है कि मुक्तिमें मायाकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, किन्तु अधिष्ठानभूत ब्रह्मकी नहीं, तब मायाकी ब्रह्मके साथ एकता कैसे हुई? इस संशयको दूर करनेके पाँच उपाय हैं, जिनमें पहला यह है कि महर्षि जैमिनिके मतानुसार जीवको ईश्वरत्व प्राप्त होना ही मोक्ष है।

इसका प्रमाण यह है—

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः। (ब्रह्मसूत्र)

'मोक्षमें अपहतपापत्व, सत्यसङ्कल्पत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व प्रभृति ब्रह्मसम्बन्धी रूपोंसे जीव निष्पन्न होता है, क्योंकि श्रुतियोंमें ऐसा उपन्यास किया गया है।'

ईश्वर चिदाभास या अवच्छिन्न होनेसे मायिक है; तब ईश्वररूपसे मोक्षमें भी माया रहती ही है, उसका उच्छेद नहीं होता।

सकल ब्रह्माण्डमण्डल ब्रह्मका एक पाद है, इसके अतिरिक्त अनन्त ब्रह्मके और भी तीन पाद हैं। इसका प्रमाण यह है—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

(श्रुति)

चतुष्पाद ब्रह्ममें व्याप्त होकर माया-शक्ति ब्रह्ममें ही रहती है, जैसे समस्त अग्निमें व्याप्त दाहकता-शक्ति समस्त अग्निमें ही रहती है, न कि एकदेशमात्रमें। मोक्षमें विद्योदयसे एक पादका नाश होनेपर भी त्रिपाद ब्रह्ममें पूर्ववत् पराशक्ति बनी रहती है; उसका नाशक कोई नहीं है, आधार तो नित्य ही है।

'**तत्त्वमसि,**' '**अहं ब्रह्मास्मि**' इत्यादि अखण्डार्थक वाक्यसे जहदजहल्लक्षणाद्वारा या अभिधाद्वारा उत्पाद्य अविद्या और उसके कार्यको नहीं विषय करनेवाली, निर्विकल्पक, अपरोक्ष ब्रह्माकारा अन्तःकरणकी सात्त्विक वृत्ति 'ब्रह्मविद्या' है, जो नाम-रूपात्मक वियदादि प्रपञ्चको नष्ट कर देती है। यह मायाका परिणाम होनेसे मायात्मक है, इसका नाश मोक्षमें नहीं होता; अन्यथा श्रुतिविरोध और युक्तिविरोध हो जायगा।

देखिये श्रुति—

नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्।

'द्रष्टा अर्थात् ब्रह्मकी दृष्टि अर्थात् देखनेकी वृत्ति विलुप्त नहीं होती, क्योंकि वह अविनाशी है।'

युक्ति भी देख लीजिये—

कुछ देरके लिये मान भी लिया जाय कि मुक्ति-समयमें उक्त विद्या नहीं रहती, तो फिर उसका नाश भी किससे होता है? विद्यान्तरसे या सुन्द, उपसुन्द एवं अन्त्य, उपान्त्य शब्दके तौरपर अविद्यासे या अविद्याके

नाशसे? या कनकरजोवत् अपनेसे ही (उक्त विद्याहीसे)?

यदि विद्यान्तरसे कहा जाय तो उसका विद्यान्तरसे और उसका भी विद्यान्तरसे इस प्रकार कहनेपर अनवस्था लग जायगी और कहीं जाकर अनवस्थाकी भीतिसे विद्याको अविनाशी मानेंगे। तब प्रथम विद्याको ही विनाशी मान लेना उचित है।

विद्योत्पत्ति-क्षणमें विद्या और अविद्या दोनोंके रहनेसे, अग्रिम क्षणमें अविद्यारूप नाशकसे विद्याका, और विद्यारूप नाशकसे अविद्याका नाश स्वीकार करना भी ठीक नहीं है; क्योंकि प्रकाशसे तो तमका नाश होता है, लेकिन तमसे प्रकाशका नहीं। इसी तरह अविद्याद्वारा विद्याका नाश होना असम्भव है, परस्पर नाश्यनाशकभाव इन दोनोंमें नहीं है।

तृतीय पक्षमें अभावके निस्स्वरूप होनेके कारण नाशकता कहनेलायक ही नहीं है, कारणता भावमात्रके ऊपर रहती है। बच गया चतुर्थ पक्ष, वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि एक पदार्थमें नाश्यनाशकभाव कहीं भी सिद्ध नहीं है। जो दृष्टान्त पहले बतलाया गया था उसमें साध्य और साधन दोनोंका अभाव रहनेसे अन्वय-दृष्टान्तता हो नहीं सकती। वहाँ कनकरज नष्ट नहीं होता किन्तु मिट्टीके साथ पानीके नीचे छिप जाता है। अहेतुक नाश तो हो ही नहीं सकता, उसका प्रलाप करना भी वेदविरुद्ध ही है।

अविद्याका नाश निवृत्तिरूप मानते हैं या ध्वंसरूप या लयरूप? यदि निवृत्तिरूप हो तो कहीं-न-कहीं अविद्याकी स्थिति माननी पड़ेगी। यह निवृत्ति अन्य निवृत्तिमर्यादाका अतिक्रमण कैसे करेगी? ध्वंसरूप हो तो प्रतियोगीके अवयवमें ध्वंसकी उत्पत्ति नियत होनेसे अविद्याके अवयवको अङ्गीकार करना पड़ेगा! लयरूप हो तो भी कारणमें कार्यका लय देखा जाता है, अन्यत्र नहीं। तदनुसार लयके लिये उसका कारण मानना ही पड़ेगा, अर्थात् स्वरूपसे या अवयवरूपसे या कारणरूपसे मोक्षमें अविद्या रहती है, उसे टाल नहीं सकते।

अविद्याकी निवृत्ति यदि सत् हो तो द्वैतापत्ति हो जायगी, असत् हो तो शशशृङ्गकी तरह उसमें उत्पाद्यत्व नहीं आयेगा। व्याघात होनेके कारण सदसदात्मक मान सकते ही नहीं। अनिर्वचनीय हो तो अनिर्वचनीय सादि-पदार्थका अज्ञानोपादानकत्व एवं ज्ञाननिवर्त्यत्व नियत होनेसे उसे आविद्यक और ज्ञाननिवर्त्य मानना होगा। अतः सत्, असत्, सदसत् और अनिर्वचनीय, इन चार कोटियोंसे अलग पञ्चम प्रकार अविद्या-निवृत्ति है—यह अवश्य स्वीकार करना होगा। तब अविद्या-निवृत्तिरूपसे ही मोक्षमें माया रहती है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि मोक्षमें मायाका उच्छेद नहीं होता; किसी-न-किसी रूपमें माया बनी रहती है, वह नित्य है। अद्वैत-वेदान्त-मतसे इस मतमें यह वैलक्षण्य है। मोक्षमें मायाके रहनेपर भी वियदादिरूपेण उसका परिणाम नहीं हो सकता, क्योंकि तत्त्वज्ञानके प्रभावसे सञ्चित कर्मोंका नाश हो चुका है। सृष्टि कर्म-भोगके लिये होती है, अतएव कारणाभाव होनेसे संसार नहीं उत्पन्न हो सकेगा। बन्धावस्थामें माया बहिर्मुखी रहती है और मोक्षावस्थामें अन्तर्मुखी, अतः बद्ध और मुक्तमें वैलक्षण्य भी साबित हो गया।

इसका प्रमाण यह है—

मुक्तावन्तर्मुखैव त्वं भुवनेश्वरि! तिष्ठसि।

(शक्तिदर्शन)

'हे भुवनेश्वरि! तुम मुक्तिमें अन्तर्मुखी रहती हो।'

मोक्षमें माया माननेपर अद्वैतभङ्ग भी नहीं हो सकता, क्योंकि अनिर्वचनीय पदार्थ पारमार्थिक अद्वैतका व्याघातक नहीं है। पारमार्थिक सत्में रहनेवाला जो भेद है, उसका अप्रतियोगित्वरूप ही अद्वैतब्रह्ममें अभीष्ट है, न कि द्वितीयराहित्यमात्र। उसी तरह अद्वैतके घटनेमें माया बाधक नहीं है। बहिर्मुख माया-शून्यत्व ही कैवल्य, नामरूपविमुक्ति और अविद्यास्तमय प्रभृति शब्दोंका अर्थ है; अतएव सकल श्रुतिसामञ्जस्य भी इस मतमें हो गया।

मायानित्यत्वके प्रमाण ये हैं—

(१) माया नित्या कारणञ्च सर्वेषां सर्वदा किल।

(देवीभागवत)

(२) नित्यैव सा जगन्मूर्तिः।

(मार्कण्डेयपुराण)

(३) प्रकृतिः पुरुषश्चेति नित्यौ।

(प्रपञ्चसारतन्त्र)

अर्थ—

(१) माया नित्य है, सब पदार्थोंका कारण है।

(२) वह जगदात्मिका भगवती नित्या है।

(३) प्रकृति (माया), पुरुष (आत्मा) ये दोनों ही नित्य हैं।

यहाँतक शक्तिका निरूपण किया गया। अब यहाँ यह विचार करना है कि शक्तिकी उपासनामें जो पञ्च-मकार अर्थात् मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन तन्त्र-शास्त्रोंमें प्रतिपादित हैं, उनका क्या तात्पर्य है। विषयके बाह्य स्वरूपको देखकर निर्णय करनेवालोंके लिये तो उनके वे ही अर्थ हैं जो स्पष्टतया प्रतीत होते हैं। लेकिन यदि इस समस्याका समुचित विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि इनके अर्थ ये न होकर कुछ और ही हैं। यदि थोड़े समयके लिये यह मान भी लिया जाय कि इनके वे ही अर्थ हैं जो सामान्यरूपसे मालूम होते हैं, तो भी यही कहना होगा कि ये पञ्चमकार द्विजातिके लिये नहीं हैं, जिस प्रकार शास्त्रकारोंने सामान्य-शास्त्रका विशेष शास्त्रसे बाध माना है वही बात यहाँ भी लागू है। '**मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि**' इस सामान्य शास्त्रका '**अग्नीषोमीयं पशुमालभेत**' इस विशेष शास्त्रसे खण्डन होता है, उसी प्रकार उपासना-प्रकरणमें सामान्यरूपसे पञ्चमकार-प्रतिपादक सामान्य शास्त्रोंका उनके अनन्तर प्रत्येक वर्णके लिये विहित भिन्न-भिन्न वस्तुओंके प्रतिपादक शास्त्रसे खण्डन हो जाता है। इसलिये वर्णाश्रमोचित धर्मका विचार न कर जो लोग रक्त और मदिराका शक्ति-पूजनमें उपयोग करते हैं, उनकी अधोगति होती है—यह तन्त्र-शास्त्रका सिद्धान्त है। अगस्त्यसंहितातन्त्रमें यह वचन मिलता है—

आवाभ्यां पिशितं रक्तं सुरां वापि महेश्वरि।
वर्णाश्रमोचितं धर्ममविचार्यार्पयन्ति ये॥
भूतप्रेतपिशाचास्ते भवन्ति ब्रह्मराक्षसाः॥

ब्राह्मणादि वर्णभेदसे पूजामें द्रव्यका भेद किया गया है—

वर्णानुक्रमभेदेन द्रव्यभेदा भवन्ति वै।
(ज्ञानावितन्त्र)

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि कौन वर्ण किस चीजसे पूजन करे।

क्षीरेण ब्राह्मणैस्तर्प्या घृतेन नृपवंशजैः।
माक्षिकैर्वैश्यवर्णैस्तु आसवैः शूद्रजातिभिः॥
(भैरवीतन्त्र)

अर्थात् ब्राह्मण क्षीरसे, क्षत्रिय घृतसे, वैश्य मधुसे तथा शूद्र मद्यसे पूजा करे। इन्हीं बातोंकी पुष्टि और तन्त्रोंसे भी होती है; यथा—

विप्राः क्षोणिभुजो विशस्तदितरे क्षीराज्यमध्वासवैः।
(लघुस्तवतन्त्र)

किसी-किसी तन्त्रमें इस प्रकारका निर्णय मिलता है कि जहाँ अवश्य ही मदिराका विधान हो वहाँ ब्राह्मण ताम्रके पात्रमें मधु दे।

यत्रावश्यं विनिर्दिष्टं मदिरादानपूजनम्।
ब्राह्मणस्ताम्रपात्रे तु मधुमद्यं प्रकल्पयेत्॥
(कुलचूडामणि-तन्त्र)

इसी प्रकार दूसरे तन्त्रोंमें भी ब्राह्मणोंके लिये मदिराका निषेध बड़े जोरदार शब्दोंमें किया गया है; यथा—

ब्राह्मणो मदिरां दत्त्वा ब्राह्मण्यादेव हीयते।
स्वगात्ररुधिरं दत्त्वा ब्रह्महत्यामवाप्नुयात्॥
(हंसपारमेश्वर तथा भैरवतन्त्र)

'ब्राह्मण यदि पूजामें मदिराका प्रयोग करता है तो वह अपने ब्राह्मणत्व-धर्मसे च्युत होता है। बृहच्छ्रीक्रम-संहितातन्त्रमें यह वचन उपलब्ध होता है।'

............**विप्रस्तु मद्यं मासञ्च न भक्षयेत्।**
स्वकीयां परकीयां वा नाकृष्य ब्राह्मणो यजेत्॥

अर्थात् ब्राह्मण मद्य-मांसका सेवन न करे और अपनी तथा परायेकी स्त्रीको पूजाका साधन न बनावे।

न कर्तव्यं न कर्तव्यं न कर्तव्यं कदाचन।
इदं तु साहसं देवि न कर्तव्यं कदाचन॥
(मेरुतन्त्र)

ब्राह्मणके लिये सात्त्विक द्रव्यहीसे पूजाका आदेश है।

द्रव्येण सात्त्विकेनैव ब्राह्मणः पूजयेच्छिवाम्।

समयाचार-तन्त्रमें सौत्रामणि-यागके लिये जो मद्यबोधक वाक्य मिलता है वह भी, जिस प्रकार कलिमें गवालम्भन प्रभृति वर्जित हैं, उसी प्रकार वर्जित है। कहीं-कहींपर इस तरहकी भी बात मिलती है कि मद्यके अभावमें विजया अर्थात् भाँग देना चाहिये; लेकिन वह विजयादान भी ब्राह्मणके लिये निषिद्ध है। इसका कारण यह है कि मुख्यमें जिसका अधिकार रहता है अनुकल्पमें भी उसीका अधिकार रहता है। जिस प्रकार लक्ष्मी-पूजामें कमलपुष्पका निषेध है उसी प्रकार ब्राह्मणके लिये विजया निषिद्ध है। भैरवतन्त्रमें ब्राह्मणोंके लिये मद्यका निषेध करते हुए लिखते हैं—

मादकं सकलं वस्तु वर्जयेत् कनकादिकम्।

अर्थात् भाँग, धतूरा आदि सकल मादक द्रव्योंका ब्राह्मण परित्याग कर दे।

अब यहाँ क्रमप्राप्त मद्य-मैथुन आदिका उचित अर्थ लिखा जा रहा है। सिद्धासनमें सुप्त शेषनागसदृश विद्युत्-वर्ण अधोमुख कुण्डलिनी-शक्तिको उठाकर पञ्चचक्रकमलमार्गसे चित्रिणी-नाड़ीद्वारा सहस्रदल कमलमें परमशिवके साथ संयोग करानेपर जो शक्ति और शिवमें सामरस्य होता है, उसीको मैथुन कहते हैं। और उस सामरस्यसे जो शक्तिरसरूप अमृत उत्पन्न होता है, जिसे योगीलोग खेचरीमुद्राद्वारा पान करते हैं, वही मद्य है। इसका प्रमाण यह है—

न मद्यं माधवीमद्यं मद्यं शक्तिरसोद्भवम्।
सामरस्यामृतोल्लासं मैथुनं तत्सदाशिवम्॥ आदि।

यद्यपि यह विषय विशेषरूपसे उल्लेखनीय नहीं है, अत्यन्त गोपनीय है, तथापि अनर्थसे लोगोंको बचानेके लिये संक्षेपमें लिख दिया गया है।

वाममार्गका यथार्थ स्वरूप

(लेखक—श्रीस्वामी श्रीतारानन्दतीर्थजी, तारापुर)

तान्त्रिक धर्म आदिसे ही वैदिक धर्मका साथी है, क्योंकि दोनों हरि-हरद्वारा प्रकट हुए हैं। और जिस तरह हरि-हरमें अभेद है, उसी तरह वेद-तन्त्र (निगम-आगम)-में भी अभेद है। श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवान्‌का कथन है कि '**वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।**' अर्थात् वैदिक, तान्त्रिक तथा वेद और तन्त्रसे मिश्रित तीन प्रकारका मेरा यज्ञ है। किन्तु वैदिक और तान्त्रिकके पृथक्-पृथक् होनेसे द्वैतकी ही प्रधानता रहेगी और वेद-तन्त्रके मिश्रित हो जानेपर अद्वैतकी प्रधानता हो जायगी। इस कारण हमारे महर्षि अपनी प्रिय सन्तान 'सनातन आर्य' हिन्दू-जनताके कल्याणार्थ वेद-तन्त्रसे मिश्रित कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड, दोनों पद्धतियोंका निर्माण वेद-तन्त्रमें अभेदरूपसे कर गये हैं और दोनोंका लक्ष्य एक ज्ञानकाण्ड ही निश्चित कर गये हैं, जिससे वेद-तन्त्रमें तथा कर्मकाण्ड-उपासनाकाण्डमें परस्पर भेद-भूतका आवेश न होने पावे। अतः '**द्वितीयाद् वै भयं भवति**'—इस श्रुति-घोषित द्वैत-भूतसे सदाके लिये अलग रहना चाहिये।

किन्तु '**कालस्य कुटिला गतिः।**' आजकल तन्त्र-तत्त्वसे अनभिज्ञ जनतामें सर्वत्र एक महान् शङ्का उत्पन्न हो गयी है कि तन्त्रमें वाममार्ग है और वाममार्गमें भैरवी-चक्र तथा पञ्चमकारोंकी ही प्रधानता है। किन्तु हमलोगोंको 'वाम' शब्द मात्रसे ही भयभीत नहीं हो जाना चाहिये, उसके वास्तविक अर्थका अन्वेषण करना चाहिये। 'वाम' शब्द स्पष्टरूपमें वेदमें आया है। ऋग्विधानमें कहा है—

अस्य वामस्य सूक्तं तु जपेच्चान्यत्र वा जले।
ब्रह्महत्यादिकं दग्ध्वा विष्णुलोकं स गच्छति॥

अर्थात् इस वाम-सूक्तके पाठमात्रसे ही विष्णुलोककी प्राप्ति अर्थात् '**तद् विष्णोः परमं पदम्**' के अनुसार विष्णुपद-प्राप्तिरूपी मोक्ष मिलता है। निरुक्तमें 'वाम' शब्दका अर्थ 'प्रशस्य' लिखा है। यथा—

अस्रेमाः, अनेमाः, अनेद्यः अनवद्यः, अनभिशस्ताः, उक्थ्यः, सुनीथः, पाकः, वामः, वयुनमिति दश प्रशस्यनामानि।

यहाँ 'वाम' नाम प्रशस्यका है। प्रशस्य प्रज्ञावान् ही होते हैं। यथा—

य एव हि प्रज्ञावन्तस्त एव हि प्रशस्या भवन्ति।

(दुर्गाचार्य)

इससे सिद्ध होता है कि प्रज्ञावान् प्रशस्य योगीका नाम ही वाम है और उस योगीके मार्गका ही नाम वाममार्ग है। तन्त्रके प्रवर्तक भगवान् शिव कहते हैं—

वामो मार्गः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

अर्थात् वाममार्ग अति कठिन है और योगियोंके लिये भी अगम्य है। तो फिर वह इन्द्रियलोलुप जनताके लिये कैसे गम्य हो सकता है? शिवजीका कथन है कि '**लोलुपो नरकं व्रजेत्**'—(विषय-) लोलुप वाममार्गी नरकगामी होता है। क्योंकि वाममार्ग जितेन्द्रियके लिये है और जितेन्द्रिय ही योगी होते हैं। इस प्रकार वाममार्गके अधिकारीके लक्षण सुननेसे ही यह स्पष्ट मालूम हो जायगा कि वाममार्ग जितेन्द्रिय योगी पुरुषोंका है, न कि लोलुप लोगोंका। यथा—

परद्रव्येषु योऽधश्च परस्त्रीषु नपुंसकः।
परापवादे यो मूकः सर्वदा विजितेन्द्रियः॥

तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता।

(मेरुतन्त्र)

अर्थात् परद्रव्य, परदारा तथा परापवादसे विमुख संयमी ब्राह्मण ही वाममार्गका अधिकारी होता है। और भी—

अयं सर्वोत्तमो धर्मः शिवोक्तः सर्वसिद्धिदः।
जितेन्द्रियस्य सुलभो नान्यस्यानन्तजन्मभिः॥

(पुरश्चर्यार्णव)

अर्थात् शिवोक्त सर्वसिद्धियोंका देनेवाला वाममार्ग इन्द्रियोंको अपने वशमें रखनेवाले योगीके लिये ही सुलभ है। अनन्त जन्म लेनेपर भी वह लोलुपके लिये सुलभ नहीं हो सकता। और भी—

तन्त्राणामतिगूढत्वात्तद्भावोऽप्यतिगोपितः ।
ब्राह्मणो वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो बुद्धिमान् वशी॥
गूढतन्त्रार्थभावस्य निर्मथ्योद्धरणे क्षमः।
वाममार्गेऽधिकारी स्यादितरो दुःखभाग् भवेत्॥

(भावचूडामणि)

अर्थात् तन्त्रोंके अति गूढ़ होनेके कारण उनका भाव भी अत्यन्त गुप्त है। इसलिये वेद-शास्त्रोंके अर्थ-तत्त्वको जाननेवाला जो बुद्धिमान् और जितेन्द्रिय पुरुष गूढ़ तन्त्रार्थके भावका मथन करके उद्धार करनेमें समर्थ हो वही वाममार्गका अधिकारी हो सकता है। उसके सिवा दूसरा दुःखका ही भागी होता है।

इस तरह तन्त्र-ग्रन्थोंमें वाममार्गके अधिकारीका वर्णन बहुत जगह पाया जाता है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि इन्द्रिय-लोलुप लोगोंका वाममार्गमें कोई अधिकार नहीं, बल्कि उसका अधिकारी जितेन्द्रिय ही है।

अब जरा भैरवी-चक्रपर विचार करें। तन्त्रमें एक भैरवी-चक्रका ही नहीं किन्तु श्रीचक्र, आद्याचक्र, शिवचक्र, विष्णुचक्र इत्यादि नाना प्रकारके चक्रोंका वर्णन आता है और इनका वर्णन उपनिषदोंमें भी आता है। भावोपनिषद्, त्रिपुरातापिनी, नृसिंहतापिनी आदि उपनिषदोंमें चक्रोंकी बहुत अधिक महिमा गायी है। जैसे—

देवा ह वै भगवन्तमब्रुवन् महाचक्रनामकं नो ब्रूहीति सार्वकामिकं सर्वाराध्यं सर्वरूपं विश्वतोमुखं मोक्षद्वारम्।

(नृसिंहतापिनी)

तदेतन्महाचक्रं बालो वा युवा वा वेद स महान् भवति स गुरुर्भवति।

(नृसिंहतापिनी)

जब देवताओंने भगवान्से कहा कि महाचक्रोंके नायकका वर्णन हमें सुनाइये तो भगवान्ने कहा कि वह महाचक्रनायक सब देवताओं और ऋषियोंद्वारा आराधित, सर्वरूप, सर्वादि तथा मोक्षका द्वार है। उस चक्रको जो बालक या युवा जानता है वह महान् हो जाता है, वह गुरु होता है। ऋग्वेदमें भी लिखा है कि '**पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा।**' अर्थात् ऐसे चक्रमें, जिसमें पाँच कोण हैं, सम्पूर्ण भुवन ठहरे हुए हैं। इस तरह चक्रके विषयमें बहुत-से प्रमाण वेदोपनिषदोंमें मिलते हैं। और पञ्चमकारोंका वर्णन भी अध्यात्मिक भावसे आता है। जैसे—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकारपञ्चकं प्राहुर्योगिनां मुक्तिदायकम्॥

अर्थात् मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन—ये पाँच आध्यात्मिक मकार ही योगियोंको मोक्ष देनेवाले हैं।

व्योमपङ्कजनिष्यन्दसुधापानरतो भवेत्।
मद्यपानमिदं प्रोक्तमितरे मद्यपायिनः॥

ब्रह्मरन्ध्रसहस्रदलसे जो स्रवित होता है उसे सुधा कहते हैं। कुलकुण्डलिनीद्वारा ही योगिजन उसका पान करते हैं। इसीका नाम मद्यपान है। इसके अतिरिक्त पीनेवाला मद्यप है।

और भी—

ब्रह्मस्थानसरोजपात्रलसिता ब्रह्माण्डतृप्तिप्रदा।
या शुभ्रांशुकलासुधाविगलिता सा पानयोग्या सुरा॥

ब्रह्मरन्ध्रके सहस्रार-कमलरूपी पात्रसे जो ब्रह्माण्डको तृप्त करनेवाली विशुद्ध सुधाधारा बहती है वही पीनेयोग्य मदिरा है।

पुण्यापुण्यपशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित्।
परे लयं नयेत् चित्तं मांसाशी स निगद्यते॥

अर्थात् पुण्य-पापरूपी पशुको ज्ञानरूपी खड्गसे मारकर जो योगी मनको ब्रह्ममें लीन करता है, वही मांसाशी (मांसाहारी) है।

और भी—

कामक्रोधौ पशू तुल्यौ बलिं दत्त्वा जपं चरेत्।

× × ×

कामक्रोधसुलोभमोहपशुकांश्छित्त्वा विवेकासिना
मांसं निर्विषयं परात्मसुखदं भुञ्जन्ति तेषां बुधाः॥

(भैरवयामल)

अर्थात् विवेकी पुरुष काम, क्रोध, लोभ और मोहरूपी पशुओंको विवेकरूपी तलवारसे काटकर दूसरे प्राणियोंको सुख देनेवाले निर्विषयरूप मांसका भक्षण करते हैं—

मानसादीन्द्रियगणं संयम्यात्मनि योजयेत्।
स मीनाशी भवेद्देवि इतरे प्राणिहिंसकाः॥

'मन आदि सारी इन्द्रियोंको वशमें करके आत्मामें लगानेवालेको ही मीनाशी कहते हैं। दूसरे तो जीवहिंसक हैं।' और भी—

आशातृष्णाजुगुप्साभयविषयघृणामानलज्जाप्रकोपाः
ब्रह्माग्नावष्ट मुद्राः परसुकृतिजनः पच्यमानः समन्तात्।
नित्यं सम्भावयेत्तानवहितमनसा दिव्यभावानुरागी
योऽसौ ब्रह्माण्डभाण्डे पशुहतिविमुखो रुद्रतुल्यो महात्मा॥

(भैरवयामल)

अर्थात् आशा-तृष्णादि आठ मुद्राओंको ब्रह्मरूपी अग्निमें अच्छी तरह पकाता हुआ दिव्य भावका अनुरागी योगी सावधान मनसे भक्षण करे; पशुहिंसासे विमुख ऐसा महात्मा पुरुष संसारमें रुद्र-तुल्य होता है।

और भी—

या नाडी सूक्ष्मरूपा परमपदगता सेवनीया सुषुम्णा
सा कान्तालिङ्गनार्हा न मनुजरमणी सुन्दरी वारयोषित्।
कुर्याच्चन्द्रार्कयोगे युगपवनगते मैथुनं नैव योनौ
योगीन्द्रो विश्ववन्द्यः सुखमयभवने तां परिष्वज्य नित्यम्॥

अर्थात् परमानन्दको प्राप्त हुई सूक्ष्म रूपवाली सुषुम्णानाड़ी है; वही आलिङ्गन करनेके योग्य सेवनीया कान्ता है, न कि मानवी सुन्दरी वेश्या। सुषुम्नाका सहस्रचक्रान्तर्गत परब्रह्मके साथ संयोगका ही नाम मैथुन है, स्त्री-सम्भोगका नहीं। इस तरह भैरवयामलादि तन्त्रोंमें विस्तारके साथ वर्णन आया है।

सात्त्विक, राजस और तामस-भेदसे यह वाममार्ग भी तीन प्रकारका है। जैसे—

यदुक्तं ते मया तन्त्रं त्रिविधं त्रिगुणात्मकम्।
सात्त्विकं तत्र सम्प्रोक्तं राजसञ्चापि कुत्रचित्।
तामसञ्चापि सम्प्रोक्तं धीमांस्तस्मात्समुद्धरेत्॥

(गान्धर्व)

अर्थात् शिवजी कहते हैं, मैंने तीनों गुणोंसे युक्त तीन प्रकारके तन्त्रकी रचना की है। उनमें सात्त्विक, राजस, तामस तीनोंका समावेश है। बुद्धिमान् यथाधिकार उद्धार कर लें।

फिर इनमेंसे एक-एक करके पाँच-पाँच भेद हैं। जैसे—

कौलिकोऽङ्गुष्ठतां प्राप्तो वामः स्यात्तर्जनीसमः।
चीनः क्रमो मध्यमः स्यात् सिद्धान्ती योऽवरो भवेत्॥
कनिष्ठः शाबरो मार्ग इति वामस्तु पञ्चधा॥

(तन्त्रान्तर)

अर्थात् कौलिक, वाम, चीन, सिद्धान्ती और शाबर—ये वामके वैसे ही पाँच भेद हैं जैसे एक ही हाथमें छोटी-बड़ी पाँच अँगुलियाँ होती हैं। इनमें अङ्गुष्ठस्थानीय कौल है। (**कुले भवः कौलः**) कुलमें होनेवालेको कौल कहते हैं। जैसे—

कुलं गोत्रमिति ख्यातं तच्च शक्तिशिवोद्भवम्।
यो न मोक्षमिति ज्ञानं कौलिकः परिकीर्त्तितः॥

अर्थात् कुल नाम गोत्रका है, गोत्र शिव-शक्तिसे उत्पन्न है। शिव-शक्तिमें अभेद-ज्ञान रखनेवाला कौल है।

ब्रह्मणि ब्रह्मशक्तौ च भेदोऽभेद इतीरितः।

और भी—

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव॥
शक्तिशक्तिमतोर्यद्वदभेदः सर्वदा स्थितः।
अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् पराशक्तिः परात्मनः॥
न वह्नेर्दाहिका शक्तिर्व्यतिरिक्ता विभाव्यते।
केवलं ज्ञानसत्तायां प्रारम्भोऽयं प्रवेशने॥
शक्त्यवस्थाप्रविष्टस्य निर्विभागेन भावना।
तदासौ शिवरूपः स्याच्छैवीमुखमिहोच्यते॥

(अभिनवगुप्ताचार्य)

उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ—ये कौलिकके भी तीन भेद हैं। यथा—

अगम्यागमनं चैव धूर्तमुन्मत्तवञ्चकम्।
अनृतं पापगोष्ठीं च वर्जयेत् कौलिकोत्तमः॥

अर्थात् अगम्यागमन, धूर्त, उन्मत्त, चुगल, झूठ, पापवार्त्ताको उत्तम कौल त्याग दे।

दक्षवामक्रियायुक्तः कौलश्चोभयरूपतः। इत्यादि

चीनके भी दो भेद हैं—

निष्कलः सकलश्चेति चीनाचारो द्विधा मतः।
निष्कलो ब्राह्मणानाञ्च सकलो बुद्धगोचरः॥

(नील-तन्त्र)

सकल-निष्कल-भेदसे चीनाचार दो प्रकारका है। ब्राह्मणोंके लिये निष्कल चीनाचार है और बुद्धानुयायियोंके लिये सकल। इसके अतिरिक्त और भी तन्त्रोंमें दिव्य, वीर, पशु आदि भावोंका विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है।

रुद्रयामलमें कहा गया है—

आदौ भावं पशुं कृत्वा पश्चात् कुर्यादवश्यकम्।
वीरभावो महाभावः सर्वभावोत्तमोत्तमः॥
तत्पश्चाच्छ्रेयसां स्थानं दिव्यभावो महाफलः॥

आदिमें पशुभावको करके, उसके बाद अवश्य वीर-भावको ग्रहण करे अर्थात् वीर-वैष्णव, वीर-शैव आदि उत्तम वीर-भावोंको ग्रहण करे और उसके बाद दिव्य-भाव धारण करे। उत्तम वीर-भावका श्रेयस्कर स्थान दिव्य-भाव ही महाफल है। निर्वाणमें कहा गया है—

दिव्यभावयुतानां तु तत्त्वज्ञानं सदा भवेत्।

अर्थात् दिव्य भाववालोंको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होती है। तन्त्रोंका लक्ष्य आदिसे अन्ततक अद्वैत ही है। विस्तार-भयसे हम इस लेखको यहींपर समाप्त करते हैं।

शिवमिति।

श्रीदुर्गासप्तशती

(१)

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीहाथीभाई हरिशङ्करजी शास्त्री)

श्रीदुर्गासप्तशती मार्कण्डेयपुराणके अन्तर्गत तेरह अध्यायका शक्तिमाहात्म्यप्रदर्शक एक भाग है। जिसमें सब पुरुषार्थोंको प्रदान करनेवाली शक्तिके स्वरूप, चरित्र, उपासना तथा साधनाके उपाय आदिका सम्यक् निरूपण किया गया है।

कुछ लोग अपने-आप दुर्गासप्तशतीकी पुस्तक पढ़कर ही अनुष्ठान करने लगते हैं और इष्टसिद्धि न होनेपर भौंह चढ़ाकर कह बैठते हैं कि 'क्या रखा है, कलियुगमें मन्त्रादिकी सामर्थ्य ही नष्ट हो गयी है' तथा यों कहकर वे '**कलौ चण्डिविनायकौ**' इस वाक्यको धोखेकी बात बतलाते हैं, अतः इसके विषयमें यहाँ कुछ कहना आवश्यक है।

किसी अविच्छिन्न गुरुपरम्परासे सम्पन्न उपासकसे श्रीदुर्गासप्तशतीकी विधिपूर्वक दीक्षा लेनी चाहिये। यदि दीक्षाविधान न बन सके तो उपदेश ग्रहण करके स्वयं उसके एक सहस्र पाठ करने चाहिये, और उसका दशांश होम, उसका दशांश तर्पण और उसका दशांश मार्जन तथा उसका दशांश ब्राह्मण-भोजन कराना चाहिये। तत्पश्चात् पञ्चाङ्ग-पुरश्चरणसे मन्त्र सिद्ध करना चाहिये, साथ ही नवार्ण-मन्त्रकी दीक्षा या उपदेश ग्रहणकर वर्णलक्ष (नवलक्ष) जप करके होम, तर्पण, मार्जन, ब्राह्मण-भोजन कराकर पञ्चाङ्ग-पुरश्चरणद्वारा मन्त्र सिद्ध करना चाहिये। इस प्रकार यदि अनुष्ठान किया जाय तो निस्सन्देह शीघ्र ही अभीष्ट-सिद्धि होगी।

पाठ करनेवाला पुरुष अपने ब्राह्मकर्ममें श्रद्धावान् और कुशल हो, फिर ब्रह्मचर्यादि नियमोंका पालन करता रहे, तन्त्रोक्त विधानके अनुसार स्तोत्रके पूर्वाङ्ग और उत्तराङ्गको यथावत् जानकर उसका प्रयोग करे और एकाग्र होकर मन्त्रार्थका निरन्तर चिन्तन करते हुए नासाग्रदृष्टि होकर सम्पुट लगाकर पाठ करे। मन्त्रशास्त्रमें सहस्रसे कम संख्याके श्लोकवाले स्तोत्रका पत्र निरपेक्ष कण्ठस्थ (बिना पन्ने हाथमें लिये) पाठ करनेकी आज्ञा है। और सप्तशतीस्तोत्र तो नामसे ही सात सौ श्लोकोंका है। यदि श्लोक कण्ठ न हों तो पन्ने हाथमें रखनेकी आज्ञा है। तथापि पाठसमाप्तिपर्यन्त बीचमें चित्त कहीं अन्यत्र न जाय इसके लिये बड़ी सावधानीसे धीरे-धीरे स्पष्ट वर्णोच्चारण करते हुए पाठ करना चाहिये। यदि सब विधानोंको यथावत् समझकर और जितेन्द्रिय रहकर यथाविधि अनुष्ठान करे तो वह पराशक्तिका अनुग्रह अवश्य प्राप्त करेगा।

यहाँ 'पराशक्ति'-पद महालक्ष्मीका बोधक है, क्योंकि प्राधानिकरहस्यमें, जहाँ त्रिमूर्तिके उद्भवका प्रसङ्ग आता है, वहाँ '**सर्वस्याद्या महालक्ष्मीः**' ऐसा स्पष्ट निर्देश है। यद्यपि महिषासुरका शमन करनेके लिये देवोंके तेजोंशसे सम्भूता अष्टादश भुजावाली महालक्ष्मीका वर्णन आता है तथापि यह पराशक्ति महालक्ष्मी प्रकृतिरूपा है, और त्रिमूर्तिमें परिगणित महालक्ष्मी प्राधानिकरहस्यमें कहे हुए '**श्री पद्मे०**' इत्यादि पदमें उपस्थापित हैं।

इन्हींका तामसरूप महाकाली हैं तथा सात्त्विकरूप महासरस्वती हैं; और वह स्वयं तो त्रिगुणात्मिका, सबमें व्यापक होकर स्थित हैं।

महालक्ष्मीने मानस-सङ्कल्पसे एक युग्म सृजा, जिसमें ब्रह्मा नर और लक्ष्मी नारीरूपमें बने, फिर महाकालीने जो युग्म-सृष्टि की उसमें नीलकण्ठ पुरुष और त्रयी विद्या स्त्रीरूपमें प्रकट हुई। तथा सरस्वतीने विष्णु पुरुष और गौरी स्त्रीका युग्म सरजा। इन तीन युग्मोंमेंसे तीन मिथुन अर्थात् पति-पत्नी भावापन्न हुए ब्रह्मा और स्वरा, रुद्र और गौरी तथा विष्णु और लक्ष्मी। यहाँ युवति-शक्तियाँ स्वयं पुरुषत्वको प्राप्त होकर तीन मिथुनके रूपमें आयीं।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि युवतियाँ पुरुष-भावको प्राप्त कैसे हुईं? इसका उत्तर यह है कि सामान्य बुद्धिमें यह बात शीघ्र नहीं आयेगी। इस अर्थको विशिष्ट-बुद्धि ही ग्रहण कर सकती है, इसीलिये कहा है **'चक्षुष्मन्तोऽनुपश्यन्ति'** अर्थात् जो चक्षुष्मान् हैं, जिन्हें तत्त्वदृष्टि प्राप्त है, जिन्हें पराशक्तिका प्रभाव ज्ञात है, वही इस बातको समझ सकते हैं, दूसरे अज्ञानी पुरुष इसे नहीं समझ सकते। एकादशाध्यायमें नारायणी-स्तुति-प्रसङ्गमें कहा है कि—

विद्याः समस्तास्तव देवि! भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्
का ते स्तुतिः स्तव्यपरापरोक्तिः॥

अर्थात् हे देवि, समस्त विद्याएँ तुम्हारे ही भेद हैं— चार वेद,शिक्षादि छः वेदाङ्ग, अष्टादश पुराण, महाभारतादि इतिहास, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र इत्यादि चतुर्दश विद्या, तथा भिन्न-भिन्न भाषाएँ, आयुर्वेद, धनुर्वेदादि उपवेद, विद्युत्, विमानादि सब विद्याएँ तुम्हारे ही विभिन्न स्वरूप हैं। इसी कारण तुम महाविद्या कहलाती हो। इस सारे जगत्में अर्थात् देव, मनुष्य, नाग प्रभृति चतुर्दश भुवनमें स्थित समस्त स्त्रियाँ भी स-कला—अपनी कलाओंके सहित तुम्हारे ही विभिन्न प्रकार हैं। यहाँ कला-पदसे पुरुषोंको ही समझना चाहिये। क्योंकि चौंसठ कला और स्त्रियोंमें स्थित पातिव्रत्यादि गुण तो 'विद्या' और 'स्त्री' में ही समाविष्ट हो जाते हैं। इसलिये यहाँ कला-शब्दसे पुरुषोंका ही ग्रहण करना उचित है। इसी पद्यके तीसरे चरणमें, **'त्वया एकया अम्बया एतत् पूरितम्'** अर्थात् माँ! तुमने ही अकेले यह सारा ब्रह्माण्ड भर दिया है—ऐसा कहा गया है। यहाँ विचारनेकी बात यह है कि **'स्त्रियः'** का **'समस्ताः'** विशेषण लगानेसे समस्त स्त्रीलिङ्गसे बोधित होनेवाले प्राणियोंका बोध हो जाता है, पुनः **'सकलाः'** विशेषण भी यदि 'समस्त' अर्थमें लिया जाय तो इसमें पुनरुक्तिदोष आ जायगा। और एक ही शक्तिमें समस्त जगत् पूरित है, इसके भीतर पुरुषवर्गको न माननेसे जो अनुपपत्ति-दोष आता है, उसके परिहारके लिये 'कला' शब्दको पुरुषवर्ग-बोधक न मानें तो **'त्वयैकया'** का अभिप्राय पूरा नहीं होता।

शक्ति सर्वत्र दो प्रकारकी अनुभव-गोचर होती है। जिस प्रकार प्रयोक्ताको प्रयोगके द्वारा विद्युत्में आकर्षण और विकर्षणका प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार पराशक्ति भी अपने अनुग्रहसे प्रकट होती है। इसीलिये कहा है कि इतर प्राकृतजनोंको तुम्हारा सर्वात्मकत्व दिखलायी नहीं देता। विद्युत्के समान ही शक्तिकी द्विविधता (Positive and Negative)-मिथुनरूपता सर्वत्र व्यापक है।

जैसे पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि प्राणीवर्ग नर-नारीरूपमें प्रत्यक्ष हैं, उसी प्रकार वृक्ष-पाषाणादिमें भी नर और मादारूपमें शक्तिके दो प्रकार सर्वत्र प्रतीत होते हैं। यही पराशक्तिके सर्वात्मभावका सबसे अधिक प्रत्यक्ष परिचय है। परन्तु प्रयत्न करके इस पराशक्तिके अनुग्रहका पात्र बननेमें जितनी कठिनाई है, उससे कहीं अधिक कठिनाई उसके इस स्वरूपको हृदयङ्गम करनेमें है।

संसारमें कई ऐसे प्रश्न उठते हैं, जिनका उत्तर शीघ्र नहीं दिया जा सकता। जैसे, पहले बीज है या वृक्ष? ऐसे प्रश्न प्रायः निरुत्तर-से प्रतीत होते हैं, इनके लिये अन्तमें यही कहना पड़ता है कि दोनोंको अनादि मानो। इसी प्रकारका यह भी प्रश्न है कि पहले पुरुषकी सृष्टि होती है या स्त्रीकी?—इसके उत्तरमें भी अन्तमें दोनोंको अनादि ही कहना होगा। परन्तु अनादि कह देनेसे तो प्रश्नका उत्तर नहीं होता—प्रश्न तो ज्यों-का-त्यों बना ही रह जाता है। इस गम्भीर प्रश्नको हल करनेके लिये पूर्वोक्त महालक्ष्मीपदबोध्य पराशक्तिसे महाकाली आदि त्रितयीद्वारा मिथुनत्रयोत्पत्तिका प्रसंग संगति-दर्शक होकर समस्त जगत्की शक्तिरूपताको स्पष्ट कर देता है, और

केवल पराशक्तिको अनाद्यनन्त माननेसे सारी समस्या हल हो जाती है। इस शास्त्रीय रहस्यविद्याके अनभ्यासी आधुनिक वैज्ञानिक इस विषयमें क्या कहते हैं, यह बात भी ध्यान देनेयोग्य है—

The female is the primary and original sex; originally and normally all life centres about the female. The male, not, necessary to the scheme of life; was developed under the operation of the principle of advantage to secure organic progress through the crossing of strains.

—इस पाश्चात्त्य विद्वान्के लेखसे भी पराशक्तिका अनादित्व सिद्ध होता है। पहले तो यह मानना होगा कि व्यवहारमें जातिभेदकी आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि उस समय सिवा स्त्री आदिशक्तिके और कुछ था ही नहीं, फिर जातिकल्पनाके लिये अवसर ही कहाँसे आता। हाँ, यदि कल्पना ही करनी है तो 'प्रारम्भिक और मूलभूत जाति स्त्रीजाति है। यदि सृष्टितत्त्वकी सूक्ष्मतया आलोचना की जाय तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि प्राथमिकभावसे तथा प्रकृतिके नियमानुसार मिथुन-सृष्टिके आरम्भमें सबसे पहले नारीकी उत्पत्ति हुई। साधारणतया प्राणिमात्रकी उत्पत्ति नारीजातिपर ही अवलम्बित है। प्राणिजगत्की सृष्टिके लिये पुरुषजातिकी आवश्यकता ही नहीं थी या गौण थी। रज और वीर्यके संयोगसे उनके विभिन्न गुणोंद्वारा जीवनशक्तिको परिपुष्ट एवं प्रस्फुटित करनेके हेतु लाभकी दृष्टिसे पुरुषजातिकी पीछेसे सृष्टि हुई।'

यहाँ इस आधुनिक Occidental Evolution Theory—पाश्चात्त्य सृष्टि-क्रम-कल्पनाका अवतरण प्रमाणके रूपमें नहीं दिया गया है बल्कि इससे यही दिखलाना है कि 'अप्-टु-डेट्' विचारक लोगोंने भी स्त्री-जातिका प्राधान्य स्वीकार कर इसीके द्वारा पुरुषादि सृष्टिकी युक्तियुक्तता प्रमाणित समझी है। अतएव नारायणीस्तुतिमें कथित **'त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्'** मुनिवचनोंमें किञ्चिन्मात्र भी शङ्काके लिये अवसर नहीं है।

देवताका अनुग्रह प्राप्त करना कोई बाजारू सौदा नहीं है। 'मैंने इतना अनुष्ठान किया पर कुछ भी फल न हुआ,' ऐसा कहना ठीक नहीं है। बल्कि निरुद्विग्न होकर कर्त्तव्यपरायण होना चाहिये। यदि इष्टसिद्धिके प्रतिबन्धकोंके हटानेके लिये चेष्टा न की गयी तो अनुष्ठानमें दोष लगाना अनुचित है। क्योंकि यह न्यायका सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि कारणके साथ जब प्रतिबन्धकका अभाव होता है तभी वह कारण कार्यको उत्पन्न कर सकता है।

महर्षि मार्कण्डेयने सप्तशतीस्तोत्रके पञ्चमाध्यायके आरम्भमें लोगोंकी चित्तवृत्तिको उद्दीप्त करनेके लिये एक बड़ी रहस्यपूर्ण बात कही है—

पुरा शुम्भनिशुम्भाभ्यामसुराभ्यां शचीपतेः।
त्रैलोक्यं यज्ञभागाश्च हृता मदबलाश्रयात्॥

इस श्लोकमें मुनि कहते हैं कि 'पूर्वकालमें शुम्भ और निशुम्भ दो असुरोंने मद और बलके आश्रयसे शचीपतिके त्रैलोक्य और यज्ञ-भागोंको हर लिया।' इस श्लोक-गत विशेषणोंसे क्या रहस्य सूचित होता है? शुम्भ और निशुम्भ दोनों असुर थे—**'असून् प्राणान् रान्ति ददति इति असुरः'**—भला बतलाइये जो पुरुष अपने प्राणोंको भी बलि करनेमें नहीं हिचकता उससे अभीष्ट-सिद्धि कैसे दूर रह सकती है? यह तो ठीक है, परन्तु इन्द्रके सर्वस्व हरे जानेका कारण क्या है?—यहाँ भी मुनिने अभिधान-औचित्यका अद्भुत परिचय दिया है। अमरकोशादि अभिधान-ग्रन्थोंमें **'इन्द्रो मरुत्वान् मघवा'** आदि अनेकों नाम दिये गये हैं, परन्तु यहाँ इन सबको छोड़कर शचीपति नाम देनेका विशेष तात्पर्य है। **'रात्रिं दिवं शचीं पाति इति शचीपतिः'**—रात-दिन निरन्तर अपनी प्रिया इन्द्राणीका ही पालन करनेमें, उसीके संकेतसे सदा चलनेमें रत रहनेवालेका त्रैलोक्याधिपत्य यदि कोई हर ले जाय, और उसके यज्ञ-भागोंको मदमत्त तथा बलवान् विरोधी उठा ले जायँ तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात होगी?

तात्पर्य यह है कि स्वयं अकर्मण्य बनकर मन्त्रादिके अनुष्ठानमें लगे रहनेवालोंको ध्यान रखना चाहिये कि देवता जब अपने उपासकपर अनुग्रह करते हैं तब **'ददामि बुद्धियोगं तम्'**—इस भगवद्वचनानुसार उसे बुद्धियोग देते हैं। तत्पश्चात् प्रयत्नमें लगे रहनेपर देवताके अनुग्रहका फल प्राप्त होता है। आधुनिक युगकी तपःश्रुति-सम्पत्ति-विहीन जनताका **'प्रत्यक्षं प्राह चण्डिका'** इस वाक्यार्थकी आशा करना प्रायः दुराशामात्र है।

अतः पराशक्तिका अनुग्रह सम्पादन करनेकी चाह

रखनेवाले पुरुषको उचित है कि वह विधिपूर्वक दीक्षा या उपदेश ग्रहणकर गुरूपदिष्ट विधिसे मन्त्र सिद्ध करे, फिर स्वयं नियमबद्ध होकर यथाविधि अनुष्ठान करके प्रयत्नमें लगे, ऐसा करनेसे फिर मन्त्र और गुरु-शास्त्रादिमें अविश्वास करनेका अवसर कदापि नहीं आ सकता।

देवताके आराधनमें ये तीन बातें मुख्य हैं— १—श्रद्धा, यह अत्यन्त आवश्यक है, २—विधिका अक्षरशः पालन, इसके बिना तो काम ही नहीं चलता; लोकमें भी देखा जाता है कि यदि लिफाफेमें पाँच पैसे रखकर उसकी पुड़िया बनाकर उसे लेटरबक्समें छोड़ दें तो परिणाम यह होगा कि प्रातःकाल clearance (लेटर-बक्स खोलनेवाला) करनेवाला उस लिफाफेसे पाँच पैसे निकालकर अपनी जेबके सुपुर्द करेगा और लिफाफेको फाड़कर फेंक देगा। परन्तु यदि चिट्ठीको लिफाफेमें बन्दकर ऊपर पाँच पैसेका टिकट चिपकाकर पोस्टबक्समें डाला जाय तो वह पत्र यथासमय यथाभिमत स्थानपर पहुँच जायगा। इस उदाहरणमें विधिपूर्वक और विधि-विहीन कर्मोंका फल स्पष्ट दिखलाया गया है। अतः देवताकी आराधनामें विधिविहीनता नहीं होनी चाहिये। ३—इसी प्रकार अनुष्ठानविहीनता भी सिद्धिका प्रतिबन्धक है। प्रत्येक अनुष्ठानमें अङ्ग और उपाङ्गका क्रम रहता है। यदि इस क्रममें पूर्वापरका विपर्यय हो जाय तो उससे केवल इष्टसिद्धिमें बाधा ही नहीं होती बल्कि अनिष्टापत्तिका भी प्रसंग सम्भव हो जाता है। इसलिये गुरुकी शरणमें जाकर पहले प्रयोग-साक्षात्कार करनेकी परमावश्यकता है, अन्यथा अनुष्ठानविपर्यय होनेका भय है।

जो गुरु अध्यापन कराकर शिष्यको उसका प्रयोग करके स्वयं दिखला सकते हैं वही यथार्थ गुरु हैं, और जो शिष्य गुरुसे विद्या सीखकर उसके समक्ष यथाविधि प्रयोगकर विद्याको पूर्णतया सिद्ध कर लेता है वही यथार्थ शिष्य है। दूसरे लोग तो गुरु और शिष्यका स्वाँग भरते हैं।

(२)

(लेखक—बाबू श्रीसम्पूर्णानन्दजी)

श्रीदुर्गासप्तशती हम हिन्दुओंकी एक पूज्य पुस्तक है। दुर्भाग्यवश वह हममेंसे बहुतोंके लिये नित्य-पाठकी पोथी है। जो लोग उसे स्वयं नित्य नहीं पढ़ते उनके घर भी दोनों नवरात्रियोंमें पुरोहितजी उसका पाठ कर जाया करते हैं। लोग उसके श्लोकोंको मन्त्रकल्प मानते हैं और उनसे हवनादि करते हैं। मैं 'दुर्भाग्यवश' इसलिये कहता हूँ कि मेरी ऐसी धारणा है कि आजकल जो पुस्तक हमारे नित्य-पाठकी पोथी हो जाती है उसकी हम प्रायः दुर्गति कर डालते हैं। उसके शब्दोंको रट लेनेमें ही हमारी इतिकर्तव्यता रह जाती है। उसके अर्थ और भावसे हमें प्रायः कोई सरोकार नहीं रह जाता। मेरी निजकी धारणा है—और यह धारणा कई बारकी आवृत्तिपर अवलम्बित है—कि सप्तशतीके श्लोक मन्त्रशक्ति रखते हों या न रखते हों पर उसमें मनोविज्ञानका बड़ा अच्छा समावेश है, और वह योग और वेदान्तकी सुन्दर शिक्षाओंसे परिप्लुत है। मैं इस लेखमें सब बातोंके दिखलानेका दावा तो नहीं कर सकता पर विद्वानोंका ध्यान इस ग्रन्थ-रत्नकी ओर अवश्य आकृष्ट करना चाहता हूँ। दुःखकी बात यह है कि इतने आदमी इस पुस्तकको पढ़ते और सुनते हैं पर जिन लोगोंने इसकी व्याख्या करनेका ठीका लिया है वह इसके तत्त्वोंको या तो समझते नहीं या लोगोंके सामने रखते नहीं।

सङ्घे शक्तिः—इस सिद्धान्तको सभी मानते हैं। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जो काम एक व्यक्ति नहीं कर सकता उसे ही समुदाय कर डालता है। पर दुर्गासप्तशतीमें इसका जो सुन्दर उदाहरण और सुन्दर उपदेश दिया हुआ है उसकी ओर लोगोंका ध्यान नहीं आकर्षित किया जाता। द्वितीय अध्यायमें लिखते हैं—देवासुरयुद्धमें देवसैन्यको पराजित करके महिषासुर इन्द्रपदपर प्रतिष्ठित हुआ। देवगणमेंसे किसीमें यह सामर्थ्य न थी कि उसका सामना कर सकता। उस समय आपत्तिसे सताये हुए और निःशक्त क्रोधसे जर्जरीभूत देवोंकी अन्तरात्मा हिल उठी। ब्रह्मा आदि सभी देवोंके शरीरसे तेज निकला। उस तेजने एकत्र होकर महालक्ष्मीका स्वरूप धारण किया और महिषका मर्दन किया। जो काम पृथक्-पृथक् देवगण नहीं कर सके थे, जो काम सेनारूपसे मिलनेपर भी अपने-अपने व्यक्तित्व बने रहनेके कारण वह लोग नहीं कर सके, वही काम विपत्तिकी पराकाष्ठाकी अवस्थामें अपने व्यक्तित्वको एकमात्र दबाकर अपनी शक्तियोंको एकीभूत करके वही लोग करा सके।

विजयदायिनी शक्ति उनके भीतर ही थी, कहीं बाहरसे नहीं आयी। यह हमलोगोंके लिये बड़ी ही शिक्षादायिनी कथा है। संसारमें देखा जाता है कि जो लोग व्यवहारकुशल होते हैं उनमें वाक्‌पटुता कम होती है, वाणिज्य-व्यवसायमें लगे हुए लोग प्राय: मितभाषी होते हैं और विद्याव्यसनी लोग तो स्वभावत: प्रगल्भ होते हैं, सप्तशतीने इस मनोवैज्ञानिक अनुभवका सुन्दर चित्र खींचा है। प्रथम चरित्रमें ब्रह्माजीके स्तोत्रके उत्तरमें महाकालीने एक शब्द भी न कहा। उनका काम करके अन्तर्द्धान हो गयीं। मध्यम चरित्रमें देवगणकी स्तुतिके उत्तरमें महालक्ष्मी '**तथा**' मात्र कहकर अन्तर्हित हो गयीं। परन्तु उत्तम चरित्रमें देवगणके उत्तरमें महासरस्वती प्राय: डेढ़ अध्यायका व्याख्यान दे गयीं। संसारमें प्राय: सदैव और भारतमें आजकल विशेषरूपसे हिंसा और अहिंसाका प्रश्न समझदार मनुष्योंके हृदयको दोलायित करता रहा है। किसीके लिये हिंसाका अर्थ है शत्रुका मूलोच्छेद, किसीके लिये अहिंसाका अर्थ है शत्रुके हाथसे सब कुछ सह लेना। एक ओर स्मृतियोंका उपदेश है '**हन्यादेव आततायिन:**', दूसरी ओर महात्माजीका अहिंसाका आदेश है। ऐसी अवस्थामें साधारण मनुष्य क्या करे? व्यक्तिविशेषके लिये तो पूर्ण अहिंसा, योगदर्शनके शब्दोंमें '**देशकालसमयाद्यनवच्छिन्नसार्वभौममहाव्रत**' है; ऐसा विशेष व्यक्ति सर्वत्र, हर दशामें, हर अवस्थामें, हर समय, हर व्यक्तिके साथ पूर्ण अहिंसाका पालन करेगा। पर मध्यम मार्गपर चलनेवाले साधारण मनुष्यके लिये यह उपदेश नहीं है। उनको तो यही उपदेश श्रेयस्कर है—"Hate the sin, but love the sinner." (पापसे घृणा, पर पापीसे प्रेम करो।) सप्तशतीने इसका बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है। महिषासुरके वधके बाद चौथे अध्यायमें देवगण कहते हैं—'हे भगवती! आप तो इन शत्रुओंको यों ही भस्म कर सकती थीं, इनपर शस्त्र चलानेकी क्या आवश्यकता थी?

दृष्ट्वैव किं न भवती प्रकरोति भस्म
सर्वासुरानरिषु यत् प्रहिणोषि शस्त्रम्।

इसका उत्तर वे स्वयं यों देते हैं—'यह दुष्ट' पापकर्मा यदि यों मरते तो नरक जाते, आप चाहती थीं कि इनके उठ जानेसे संसारका कल्याण हो पर इनका भी कल्याण हो। इसीलिये शस्त्र चलाया कि लड़कर वीर-गति प्राप्त करके ये सब स्वर्ग जायँ।'

एभिर्हतैर्जगदुपैति सुखं तथैते
कुर्वन्तु नाम नरकाय चिराय पापम्।
संग्राममृत्युमधिगम्य दिवं प्रयान्तु
मत्वेति नूनमहितान् विनिहंसि देवि॥

सप्तशतीके शब्दोंमें जिसे '**चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता**' कहा है, मुझे तो साधारण मनुष्यके लिये सबसे सुन्दर व्यावहारिक नीति प्रतीति होती है चाहे उसे हिंसा कहिये चाहे अहिंसा।

वेदान्त—अद्वैतवाद—के इसमें अनेक निदर्शन हैं। दसवें अध्यायमें शुम्भ कहता है कि तुम तो इन्द्राणी आदिके बलके सहारे लड़ रही हो। इसपर भगवतीके शरीरमें ये सब ब्रह्माणी, इन्द्राणी, वैष्णवी आदि देवियाँ समा जाती हैं। अकेले एक महासरस्वतीमूर्ति रह जाती है। उस अवसरपर देवी कहती हैं—

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।

इस जगत्‌में मैं अकेली हूँ, मेरे सिवा दूसरा कौन है। जिस देवीका इसमें वर्णन है वह शाङ्करवेदान्तकी मायासे अभिन्न है, इस बातको प्रथम अध्यायमें सुमेधाने स्पष्ट कर दिया है।

महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत्।
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा॥
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।

अर्थात् भगवान्‌की यह माया जगत्‌को मोहित करती है, यह देवी ज्ञानियोंके भी चित्तको बलपूर्वक खींचकर मोहमें डाल देती है। जिस बातको वेदान्तदर्शनके द्वितीय सूत्र '**जन्माद्यस्य यत:**' के द्वारा प्रतिपादित किया गया है वही बात ब्रह्माजी प्रथम अध्यायमें कहते हैं—

........................त्वयैतत् सृज्यते जगत्।
त्वयैतत् पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा॥

'हे देवि, तू ही इस जगत्‌की सृष्टि करती है, तू ही इसका पालन करती है और अन्तमें तू ही इसको अपनेमें लीन कर लेती है।' ऋग्वेदका नासदीय सूक्त दर्शनकी पराकाष्ठा और प्रथम विवेचन है। उसकी बहुत ही सुन्दर व्याख्या सप्तशतीके प्रथम अध्यायके इन शब्दोंसे होती है—

यच्च किञ्चिद् क्वचिद् वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्ति: सा त्वम्................॥

जिनके द्वारा यह बतलाया गया है कि सद् और

असद्, दोनों प्रकारकी वस्तुओंके भीतर जो शक्ति अर्थात् सत्ता 'तत्तद्वस्तुता' है, वह भगवती ही है। व्यावहारिक वेदान्तका चौथे अध्यायमें एक बहुत ही अपूर्व उपदेश है। संसारमें प्रायः देख पड़ता है—'Truth for ever on the scaffold, wrong for ever on the throne'—अच्छे आदमी कष्ट पाते हैं और बुरे आदमी सब प्रकारका सुख भोगते हैं। इस बातको देखकर कितने ही मनुष्योंको धर्मकी ओरसे अश्रद्धा हो जाती है और कितने ही सम्प्रदायोंने अश्रद्धासे रक्षा करनेके लिये, एक ईश्वरके साथ एक शैतानकी कल्पना की है। वैदिक धर्म शैतानको नहीं मानता पर उसे भी संसारके इस अन्धेरका उत्तर तो देना ही पड़ता है। वेदान्तके अनुसार सप्तशती कितना सुन्दर उत्तर देती है। चतुर्थ अध्यायमें देवगण कहते हैं—

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः।
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम्॥

अर्थात् ''जो श्री अर्थात् महालक्ष्मी (यह स्मरण रखना चाहिये कि यह स्तोत्र महालक्ष्मीका है) स्वयं पुण्यात्माओंके घरमें अलक्ष्मी अर्थात् दारिद्र्य बनकर निवास करती है, पापी राजसिक (**कृतधियः=कर्मणि धीर्बुद्धिर्येषामिति राजसाः**) लोगोंके हृदयमें बुद्धिरूपसे निवास करती है, सत्पुरुषोंके हृदयमें श्रद्धा और कुलीनोंके हृदयमें लज्जा अर्थात् पुण्यापुण्यविवेक, अङ्गरेजी शब्दोंमें Conscience रूपसे निवास करती है, उस तुझको मैं प्रणाम करता हूँ। हे देवि, विश्वका पालन कर।'' कितना सुन्दर भाव है! सत्पुरुषके घरकी लक्ष्मी और पुण्यात्माके मस्तिष्ककी बुद्धिको भगवतीका रूप मानना तो सरल है, पर सुकृतिके घरका दारिद्र्य और दुरात्माके हृदयकी बुद्धिको भी इस रूपमें देखना वेदान्तका सच्चा आदर्श और उपदेश है*। कई वर्ष हुए, इस श्लोकके अर्थके सम्बन्धमें मुझसे कुछ सज्जनोंसे समाचारपत्रोंमें शास्त्रार्थ हो चुका है। प्राचीन टीकाकारोंने भी अन्य प्रकारसे अर्थ किया है पर मुझे यही भाव रुचता है। मैंने आरम्भमें कहा है कि इस ग्रन्थमें योगसम्बन्धी बातें भी भरी पड़ी हैं। प्रथम अध्यायमें इनकी चर्चा अधिक है। यह स्वाभाविक भी है। खण्डप्रलयके उपरान्त सन्धिकाल है। जलमयी सृष्टि है, अभी क्षिति-तत्त्व प्रकट नहीं हुआ है। जगत्पाता विष्णु योगनिद्राके वशीभूत होकर निश्चेष्ट पड़े हुए हैं। ब्रह्मा अभी-अभी समाधिसे नीचे उतरे हैं। व्युत्थान अवश्य हुआ है, उन्हें सृष्टि करनी है, पर अभी क्या करना है, इस ओर ठीक-ठीक उनका ध्यान नहीं गया है। ऐसे ही अवसरपर मधु और कैटभसे सामना पड़ जाता है। अभी समाधिसे उतरे ब्रह्मामें अहिंसाकी प्रवृत्ति प्रबल है। अपनी रक्षाके लिये हाथ-पाँव भी नहीं चलाते। उधर जगत्के हितके लिये यह आवश्यक है कि विष्णु योगनिद्राके जालसे छूटें। क्योंकि सृष्टि होते ही रक्षककी आवश्यकता पड़ जायगी। उस समय आद्याशक्ति अपने तामसी अर्थात् महाकालीरूपमें है। वह आवश्यकता देखकर और ब्रह्माकी चिन्ताका अनुभव करके विष्णुके शरीरको छोड़ देती है और फिर रजोगुणका प्राधान्य होता है। यह तो हुआ। उस समय ब्रह्माजीने भगवतीकी जो स्तुति की है वह सप्तशतीके सभी स्तोत्रोंसे सुन्दर, गम्भीर और अध्यात्मसे परिपूर्ण है। ऐसा होना भी चाहिये था, क्योंकि ब्रह्माजी अभी समाधिसे उतरे थे। उदाहरणके लिये केवल तीन-चार शब्दोंकी ओर ध्यान आकर्षित करता हूँ।

त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता............................।
अर्धमात्रात्मिका नित्या यानुच्चार्याविशेषतः॥

मैं योगी होनेका दावा नहीं करता, जो कुछ सद्गुरुओंके सत्सङ्गमें सुना है या सद्ग्रन्थोंमें पढ़ा है, उसीके आधारपर इन शब्दोंकी थोड़ी-सी व्याख्या करता हूँ। इस जगत्में पञ्चीकृत महाभूत काम कर रहे हैं। उनके एक-एक अणुमें कम्पन है। उस कम्पनसे यह जगत् शब्दायमान हो रहा है। जहाँ कम्पन है वहाँ शब्द है। सूक्ष्मभूत अपञ्चीकृत हैं पर उनके परमाणुओंमें भी कम्पन है और उस कम्पनसे एक सूक्ष्म शब्द-राशि उत्पन्न होती है। जैसा कि कबीरने कहा है—***'तत्त्व झंकार ब्रहंडमाहीं।'*** उस शब्द-राशिका नाम अनाहत नाद है,

* इसी भावको एक मुसलमान सूफीने यों व्यक्त किया था—

तू अज सौबते दौराँ मनाल शादाँ बाश। के तीरे दोस्त बपहलुए दोस्त मी आयद॥

तू संसारकी विपत्तियोंसे रो मत, प्रसन्न रह, क्योंकि जो तीर तेरी छातीमें लगता है वह मित्रका ही चलाया हुआ है।

पीछेके महात्माओंके शब्दोंमें अनहद नाद है। जिस समयतक अभ्यासी इस अनाहत नादको नहीं सुन पाता तबतक उसका अभ्यास कच्चा है। पुनः कबीरके शब्दोंमें —*'जोग जगा अनहद धुनि सुनिके।'* जब अनाहत सुन पड़ने लगा तब इसका अर्थ यह है कि योगीका धीरे-धीरे अन्तर्जगत्में प्रवेश होने लगा। वह अपने भूले हुए स्वरूपको कुछ-कुछ पहचानने लगा। शक्ति, वैभव और ज्ञानके भाण्डारकी झलक पाने लगा अर्थात् महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वतीके दर्शन पाने लगा, जो अभ्यासी वहीं उलझकर रह गया वह तो वहीं रह गया—और दुःखका विषय है कि सचमुच बहुत-से अभ्यासी इसके आगे नहीं बढ़ते; पर जो तल्लीनताके साथ बढ़ता जाता है, वह क्रमशः ऊपरके लोकोंमें प्रवेश करता जाता है। अन्तमें वह अवस्था आती है जहाँ वह आकाशकी सीमाका उल्लङ्घन करनेका अधिकारी हो जाता है। वहीं शब्दका अन्त है। पर अब लीन होते समय शब्द अनाहतके रूपमें नहीं रहता। अब वह जिस रूपमें रहता है उसका सम्पुटिक प्रतीक—अर्थात् हमारी बोलचालकी वैखरी वाणीमें सबसे अधिक-से-अधिक मिलता-जुलता रूप **'ओऽम्'** है। पहला रूप वह जो अकारसे व्यक्त होता है, उससे भी सूक्ष्म उकार और उससे भी सूक्ष्म मकार है। इन्हीं तीनोंको ब्रह्माजीने कहा है **'त्रिधा मात्रात्मिका नित्या।'** इसके परे योगीको एक ऐसे सूक्ष्म ध्वन्याभासका अनुभव होता है जो किसी प्रकार भी मनुष्योंकी भाषामें व्यक्त नहीं हो सकता। इसीको ँ से कभी-कभी अङ्कित करते हैं और यही वह पदार्थ है जिसे अर्धमात्रा कहते हैं। एतत्पश्चात् नाद अपने जनक आकाशमें लीन हो जाता है। नादके पीछे बिन्दु है, वहीं अशब्द, अनामि पद है।* यह गति योगीको षट्चक्र पार करके सहस्रदल कमलमें प्राप्त होती है। इसीको दूसरे शब्दोंमें तन्त्र और योगशास्त्र-ग्रन्थोंमें यों कहा गया है कि **'सार्द्धत्रयवलयाकृति'** अर्थात् साढ़े तीन लपेटा मारे हुए कुण्डलिनी शक्ति सोयी रहती है। जब योगी उसे जगाता है तो वह चक्र-चक्रमें चढ़ती हुई सहस्रारमें जाकर पुरुषके साथ मिलकर उसमें लीन हो जाती है। इसीका नाम शिव-शक्तियोग है। वहाँतक पहुँचा योगी फिर नीचे नहीं गिर सकता। इसीलिये ब्रह्माजीने कहा है—**'परापराणां परमा'**। यही श्वेताश्वतर-उपनिषद्का **'पतिं पतीनां परमं परस्ताद्'** है। यह केवल एक उदाहरण है। इस ग्रन्थमें, विशेषकर इस अध्यायमें योगशास्त्रके रहस्यसे पूर्ण अनेक स्थल हैं।

मैंने अभीतक केवल मूल ग्रन्थके अंशोंका उल्लेख किया है। यदि कोई मनुष्य वैदिक देवी-सूक्त और रात्रि-सूक्त और रहस्यत्रय विशेषतः प्राधानिकरहस्यकी सूक्ष्मताकी ओर ध्यान देगा तो उसको इस ग्रन्थरत्नकी महत्ताका कुछ पता चलेगा। इनके निदर्शनके लिये कई पृथक् और बृहत् निबन्ध चाहिये। जैसा कि स्वयं देवीने कहा है—इन बातोंको **'चक्षुष्मन्तः पश्यन्ति नेतरे जनाः।'** मेरा उद्देश्य केवल इतना ही रहा है कि इस पुस्तककी उत्तमता और इसके विषयकी गम्भीरताकी ओर लोगोंका ध्यान आकृष्ट करूँ। यह केवल अर्धशिक्षित पुरोहितोंद्वारा पाठ करने-करानेकी सामग्री न रह जाय। यदि इस उद्देश्यमें मुझे किञ्चिन्मात्र सफलता हुई तो मैं अपनेको धन्य समझूँगा।

(३)

(लेखक—पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम० ए०, एल-एल० बी०)

शक्तिकी उपासनाके सम्बन्धमें जितने ग्रन्थ प्रचलित हैं, उनमें सप्तशतीका बहुत विशेष महत्त्व है। आस्तिक हिन्दू बड़ी श्रद्धासे इसका पाठ किया करते हैं और उनमेंसे अधिकांशका यह विश्वास है कि सप्तशतीका पाठ प्रत्यक्ष फलदायक हुआ करता है। कुछ लोगोंका कहना है—**'कलौ चण्डिविनायकौ'** अथवा **'कलौ चण्डिमहेश्वरौ।'** इस कथनसे भी विदित होता है कि कलियुगमें चण्डीजीका विशेष महत्त्व है। और चण्डीजीके कृत्योंका उल्लेख सप्तशतीहीमें विशेष सुन्दरताके साथ मिलता है। इस दृष्टिसे भी इस ग्रन्थकी महत्ता सिद्ध होती है।

सप्तशती सात सौ श्लोकोंका संग्रह है और यह तीन भागों अथवा चरितोंमें विभक्त है। प्रथम चरितमें ब्रह्माने योगनिद्राकी स्तुति करके विष्णुको जाग्रत् कराया है और

* यही सप्तशतीके शब्दोंमें ''अनुच्चार्याविशेषतः'' है।

इस प्रकार जागृत होनेपर उनके द्वारा मधु-कैटभका नाश हुआ है। द्वितीय चरितमें महिषासुर-वधके लिये सब देवताओंकी शक्ति एकत्र हुई है और उस पुञ्जीभूत शक्तिके द्वारा महिषासुरका वध हुआ है। तृतीय चरितमें शुम्भ-निशुम्भ-वधके लिये देवताओंने प्रार्थना की, तब पार्वतीजीके शरीरसे शक्तिका प्रादुर्भाव हुआ और क्रमशः धूम्रलोचन, चण्ड-मुण्ड और रक्तबीजका वध होकर शुम्भ-निशुम्भका संहार हुआ है।

इस कथानकको यदि ध्यानपूर्वक पढ़ा जाय तो कई महत्त्वकी बातें आप-ही-आप विदित होंगी। प्रथम चरितसे हमें यह मालूम पड़ता है कि जगत्‌का कोई भी कार्य अपनी प्रसुप्त शक्तिको जागृत किये बिना कभी नहीं हो सकता। स्वयं विष्णु भी क्यों न हों, परन्तु यदि उनकी शक्ति सोयी हुई है तो वे कुछ कार्य नहीं कर सकते। फिर पाशव-शक्तिसे बुद्धि-शक्तिकी श्रेष्ठता भी इस चरित्रमें विदित होती है, क्योंकि मधु-कैटभ पशुबलमें विष्णुका मुकाबला करते रहे परन्तु जब अहङ्कारमें फूलकर वरदान देनेके लिये तैयार हो गये तब विष्णुने बुद्धि-शक्तिका प्रयोग करके उन्हींके वधका वर माँग लिया। इस चरित्रसे एक बात और भी विदित होती है, वह है वैष्णवों और शाक्तोंका अभेद। शक्ति ही यद्यपि सब कुछ मानी गयी है परन्तु वह आखिर विष्णुहीकी शक्ति है। रहस्यत्रयमें जहाँ महालक्ष्मीसे अन्य शक्तियोंकी उत्पत्ति बतलायी गयी है वहाँ भी प्रकारान्तरसे महाविष्णुहीकी महत्ता प्रतिपादित होती है।

द्वितीय चरित्रमें सङ्घशक्तिका महत्त्व प्रत्यक्ष है। एक देवकी शक्ति सम्भव है, महिषासुरके लिये पर्याप्त न होती। इसलिये सभी देवोंकी शक्तियाँ समवेत हुईं और इस प्रकार समवेत हुईं कि उनका एक ही स्वरूप बन गया। इस चरित्रमें मधुपानकी बात आयी है। यहाँपर मधुका अर्थ है उत्साहका साधक बाह्य उपकरण। अपनी शक्ति कितनी भी प्रबल हो परन्तु यदि उसके उत्साह-वर्धन और उसकी सहायताके लिये बाहरी साधन उपयोगमें न लाये जायँ तो कार्य-सिद्धिमें शिथिलता आ जाना सम्भव है।

तृतीय चरित्र हमें यह बताता है कि यदि किसी सत्कार्यके लिये कोई अकेली ही शक्ति अग्रसर हो जाय तो अन्य देवताओंकी शक्तियाँ आप-ही-आप उसकी सहायताके लिये दौड़ पड़ती हैं, जिस प्रकार अम्बिकाजीकी सहायताके लिये अन्य देवताओंकी शक्तियाँ आयी थीं। इस चरित्रसे यह भी विदित होता है कि शक्तिका उद्देश्य संहार न होना चाहिये। जगदम्बिकाने साक्षात् सदाशिवको, जो शान्तिके प्रत्यक्ष अवतार हैं, दूतकार्यके लिये भेजा था। उन्होंने अपनी ओरसे संहार-कार्य नहीं प्रारम्भ किया। राक्षसोंने ही उन्हें अपने वशमें लानेकी दुश्चेष्टा प्रारम्भ की। इतनेपर भी उन्होंने सदाशिवके द्वारा यह सन्देश भिजवाया—

यूयं प्रयात पातालं यदि जीवितुमिच्छथ।

अर्थात् यदि जीनेकी इच्छा हो तो पातालमें जाकर रहो।

दार्शनिक दृष्टिसे भी इन कथाओंका बड़ा महत्त्व है। मुनिके पास सुरथ नामक राजा और समाधि नामक वैश्य गये थे। सुरथने देवीके चरित्र सुनकर अक्षय राज्यके लिये तपस्या की और समाधिने मोक्षके लिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—द्विजातिके तीन प्रधान अङ्ग—का ऐसा सम्मेलन तथा सु-रथ (अविहत गतिवाले)-की भुक्ति-कामना और समाधिकी मुक्तिकामना मतलबसे खाली नहीं है। शक्तिके द्वारा भुक्ति भी प्राप्त हो सकती है और मुक्ति भी। आगे देखिये। मधु और कैटभ कानके मल माने गये हैं। कहनेका अर्थ यह कि वे शरीर-सम्बन्धी विकार हैं। आहार और विहार भी इसी प्रकारके शरीर-सम्बन्धी विकार हैं जिनपर पहले ही अङ्कुश लगाना पड़ता है। फिर महिषासुररूपी मोहका दमन किये बिना मानव-जीवनरूपी जगत्‌की स्थिति ही डावाँडोल रहा करती है। तदनन्तर अहङ्कार और विषय-सुखरूपी शुम्भ-निशुम्भके सेनाध्यक्ष, आलस्यरूपी धूम्रलोचन, राग-द्वेषरूपी चण्ड-मुण्ड और वासनारूपी रक्तबीजके संहारके साथ-ही-साथ स्वयं उन शुम्भ-निशुम्भका भी वध करना पड़ता है। आध्यात्मिक दृष्टिसे इन्हीं वधोंमें शक्तिकी महत्ता है। जबतक अपनी शक्ति इतना सामर्थ्य नहीं रखती तबतक वह भुक्ति अथवा मुक्तिके सच्चे फल नहीं दे सकती।

इस सप्तशतीमें चार जगह मनोरम स्तुतियाँ आयी हैं। पहली तो प्रथम चरित्रमें ब्रह्माकृत स्तुति है जो रात्रिसूक्तके नामसे प्रख्यात है। दूसरी द्वितीय चरित्रमें महिषासुर-वधके बाद देवताओंके द्वारा की गयी है।

तीसरी और चौथी स्तुतियाँ तृतीय चरित्रमें शुम्भ-निशुम्भ आदिके वधके पहले और पीछे की गयी हैं। तीसरी स्तुतिको देवीसूक्त भी कहते हैं। यों तो चारों स्तुतियाँ ही बड़ी सुन्दर और महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु रात्रिसूक्त और देवीसूक्तकी महिमा विशेष मानी गयी है, क्योंकि इन सूक्तोंमें शक्तिका महत्त्व विशेषरूपसे व्यक्त हुआ है। लोग सप्तशती-पाठके पहले रात्रिसूक्त और पाठके पीछे देवीसूक्तका स्वतन्त्र पाठ किया करते हैं। सम्यक् पाठके लिये श्रद्धालु भक्त लोग पाठके आदिमें कवच, अर्गला, कीलक, अङ्गन्यास, करन्यास और नवार्णमन्त्रका जप भी किया करते हैं तथा पाठके अन्तमें रहस्यत्रय भी पढ़ा करते हैं। ये सब उपकरण भाव-पुष्टि और आराध्य विषयकी पुष्टिके लिये ही रखे गये हैं। नियम है कि सप्तशतीका पाठ मध्यम स्वरसे शुद्ध उच्चारणपूर्वक करना चाहिये और साथ ही '**क्षमापयेज्जगद्धात्रीं मुहुर्मुहुरतन्द्रितः**' के अनुसार पद-पदपर विनम्र और जागरूक रहना चाहिये। ऐसा सर्वाङ्गसम्पूर्ण पाठ निश्चय ही परम आकर्षक होकर प्रत्यक्ष फल देनेवाला होता है।

अन्य देवताओंके अनुसार शक्तिके रूपकी कल्पना भी बहुत कलापूर्ण है। सामर्थ्यका द्योतक सिंह उनका वाहन माना गया है। प्रभुत्व स्थापित करनेवाले विविध शस्त्र उनके आयुध हैं। और ज्ञानका चिह्नस्वरूप तृतीय नयन उनके मस्तककी शोभा बढ़ाया करता है। लोग कहते हैं कि आर्योंने शक्ति-पूजा द्रविड़ोंसे अथवा अनार्योंसे ग्रहण की। इस सिद्धान्तकी सत्यतापर सन्देह करनेके लिये बहुत गुञ्जायश है, क्योंकि वेदोंमें भी शक्तिकी आराधनाके सम्बन्धमें अनेक ऋचाएँ मिलती हैं। वस्तुस्थिति जो कुछ हो; परन्तु इतना तो निश्चित है कि आर्योंने शक्तिका स्वरूप, शक्तिकी चरितावली और शक्तिपूजाके उपचारोंका जैसा उल्लेख किया है वह अवश्य ही अनूठा, अद्वितीय और परम महत्त्वपूर्ण है।

शक्तिपूजामें वामाचार भी बहुत घुस पड़ा है। मद्य, मांस, रक्त आदिके द्वारा कई लोगोंने देवीकी पूजा की है और कर रहे हैं। इस सम्बन्धके कतिपय ग्रन्थ भी हैं। इसलिये अब यह कहना बहुत कठिन हो रहा है कि इन विधानोंके आदि जन्मदाता आर्य ही थे अथवा अनार्य। परन्तु इतना तो निश्चित है कि कई ग्रन्थोंमें शक्ति-पूजाके लिये ये विधान आवश्यक नहीं बताये गये। जगन्माताके लिये क्या जपाका एक पुष्प पर्याप्त नहीं हो सकता? वह तो भावकी भूखी है; अपने ही सन्तानके—मनुष्य, बकरे, भेड़े आदिके रक्तकी भूखी कदापि नहीं है।

कई लोग तीनों चरित्रोंको क्रमशः '**ऐं ह्रीं क्लीं**' से सम्पुटित करके पढ़ा करते हैं। नवार्णमन्त्रमें ये तीनों अक्षर प्रधान बीजरूप हैं। जिस प्रकार नाद और बिन्दुसे (विद्युत्-अणुओंके—electrons के- vibration और rotation से) संसारकी सृष्टि हुई है, उसी प्रकार षट्चक्रके स्नायुतन्तुओंमें गूँजनेवाली वर्णमालाके अविनश्वर शक्तिधाम अक्षरोंके द्वारा न जाने क्या-क्या पैदा किया जा सकता है। '**ऐं ह्रीं क्लीं**' उसी वर्णमालाके बड़े महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। यदि इन शब्दोंका जप हमारे अन्तरतम प्रदेशसे हो तो ये अवश्य ही हमारे लिये कामधेनु बन सकते हैं। बोल-चालकी वाणीसे—वैखरी वाणीसे—इनका विशेष जप करते-करते ये हमारे हृदयमें बस जाते हैं और इस प्रकार अतीव लाभदायक बन सकते हैं। कई लोग इन बीजमन्त्रोंसे सम्पुटित न कर—

शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे ।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते॥

—सरीखे सप्तशतीके ही प्रधान श्लोकोंद्वारा सम्पुटित करके उसका पाठ करते हैं। ऐसा करनेसे भी फल विशेष होता है, क्योंकि इस प्रकार सम्पुटवाले प्रधान श्लोककी १४०० आवृत्तियाँ आप-ही-आप हो जाती हैं और एक पाठमें कम-से-कम १४०० बार उस प्रधान विषयपर अपना ध्यान पहुँचता रहता है। कई लोग सप्तशतीका शृंखलित पाठ करते हैं जिसमें प्रतिश्लोकके आगे-पीछे प्रधान श्लोक न कहकर केवल शृंखलारूपसे दो श्लोकोंके बीचमें कह दिया करते हैं। इसी तरहके और भी कई विधान हैं। परन्तु सबसे प्रधान पाठ तो वही है जिसमें मन, वाणी और क्रिया तीनोंका सामञ्जस्य रहे। यदि पाठकर्ताकी क्रियाएँ असंयमपूर्ण हैं, मन इधर-उधर भटक रहा है और वाणीसे शुद्धाशुद्ध सब कुछ निकलता जा रहा है तो लाभके बदले हानि भी हो सकती है।

बलिदान-रहस्य

(१)

(लेखक—स्वामी श्रीदयानन्दजी महाराज)

इष्ट-पूजाके षोडश उपचारोंमेंसे बलिदान एक प्रधान उपचार है, इसके बिना पूजा पूरी ही नहीं होती। इसका कारण यह है कि उपासकने यदि उपासनाके अन्तमें, पूजकने पूजाके अन्तमें, उपास्य—पूज्य इष्टदेवमें अपना सब कुछ बलिदान देकर उपास्यदेवसे अपना भेद-भाव मिटा न दिया, वह उपास्यमें विलीन, तन्मय होकर तद्रूप ही न हो गया, '**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**', '**शिवो भूत्वा शिवं भजेत्**' यह भाव न प्राप्त हुआ, '**दासोऽहम्**' का 'दा' नष्ट होकर '**सोऽहम्**' ही न रह गया तो पूजाकी पूर्णता ही क्या हुई? इसी कारण बलिदान पूजाका प्रधान अङ्ग है। बलिदानके बिना न जगन्माता ही प्रसन्न होती है और न भारत-माता ही प्रसन्न हो सकती है। जिस देशमें जितने बलिदान करनेवाले देश-सेवक, देश-नेता उत्पन्न होते हैं, उस देशकी उतनी ही सच्ची उन्नति होती है। यह बलिदान चार प्रकारका होता है। सबसे उत्तम कोटिका बलिदान आत्मबलिदान कहलाता है। इसमें साधक जीवात्मापनको काटकर परमात्मापर आहुति चढ़ा देता है। इस बलिदानके द्वारा परमात्मासे अज्ञानवश जीवात्माकी जो पृथक्ता दीखती थी वह एकबारगी ही नष्ट हो जाती है और साधक स्वरूप-स्थित होकर अद्वितीय ब्रह्मका साक्षात्कार करता है। जबतक यह न हो सके तबतक द्वितीय कोटिका बलिदान करना चाहिये। इसमें कामरूपी बकरे, क्रोधरूपी भेड़, मोहरूपी महिष आदिका बलिदान किया जाता है। अर्थात् षड्रिपुका बलिदान ही द्वितीय कोटिका बलिदान है। तृतीय कोटिमें, इतना न हो सकनेपर किसी-न-किसी इन्द्रिय-प्रिय वस्तुका बलिदान होता है। प्रत्येक विशेष पूजाके अन्तमें जिसको जिस वस्तुपर लोभ है उसका बलिदान अर्थात् सङ्कल्पपूर्वक त्याग कर देना चाहिये। यही तृतीय कोटिका बलिदान है। इस प्रकारसे मिठाई प्याज, लहसुन, मादक वस्तु आदिके प्रति आसक्ति छूट सकती है। यदि ऐसा भी न हो सके तो क्रमशः छुड़ानेके लिये चतुर्थ कोटिका बलिदान है।

मैथुन, मांस-भक्षण, मद्यपान—इनमें लोगोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है; इसके लिये किसीको बताना नहीं पड़ता, और न प्रेरणा ही करनी पड़ती है। मनुजीने भी '**प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्**' कहकर इसी सिद्धान्तकी पुष्टि की है। किन्तु '**निवृत्तिस्तु महाफला**'—अर्थात् मनुष्यको प्रवृत्ति छोड़कर क्रमशः मोक्षफलदायक निवृत्तिकी ओर अग्रसर होना चाहिये। इसी कारण व्यवस्था बाँधकर इन वृत्तियोंको क्रमशः नियमित करते हुए इनसे निवृत्ति करानेके अर्थ विवाह, यज्ञ और सोमपान आदिका विधान राजसिक अधिकारमें किया गया है। यही कारण है कि विवाहके समय स्त्री-पुरुष प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं कि संसारसे कामभाव उठाकर अपनेहीमें केन्द्रीभूत करके क्रमशः निवृत्तिपथके पथिक बनेंगे। राजसिक, वैदिक, तान्त्रिक यज्ञमें हिंसादिका भी यही समाधान है। अर्थात् स्वभावतः सात्त्विकप्रकृति मनुष्योंके लिये यह यज्ञ नहीं है। जो लोग मांस-मद्य आदिका सेवन पहलेसे करते हैं वे पूजादिके नियममें बँधकर क्रमशः मांसाहार छोड़ दें; जो अबाधरूपसे मांस-मद्यादिका सेवन करते हैं वे वैसा न करें और संयत होकर केवल पूजादिमें ही उनका प्रयोग करें, जिससे उनकी मांस-मद्यकी प्रवृत्ति कम होते-होते अन्तमें बिलकुल छूट जाय। यही इसका आशय है। यह सबके लिये नहीं है। परन्तु जब वेद पूर्ण ग्रन्थ है तो इसमें केवल सात्त्विक ही नहीं, किन्तु सभी प्रकारके अधिकारियोंके कल्याणके लिये विविध विधान होने चाहिये, इसी कारण राजसिक अधिकारीको क्रमशः सात्त्विक बनानेकी ये विधियाँ यज्ञरूपसे शास्त्रमें बतायी गयी हैं। ये संयमके लिये हैं, न कि यथेच्छाचारके लिये! किसीके संहार, मारण, मोहन आदिके लिये विधिहीन, अमन्त्रक पूजादि तामसिक है। पूजामें भी दक्षिणाचारके अनुकूल सात्त्विक पूजामें पशु-बलि नहीं है; उसमें कूष्माण्ड, ईख, नीबू आदिकी बलि है। केवल वामाचारके अनुकूल राजसिक पूजामें पशु-बलिका विधान है, यथा महाकाल-संहितामें—

सात्त्विको जीवहत्यां वै कदाचिदपि नाचरेत्।
इक्षुदण्डञ्च कूष्माण्डं तथा वन्यफलादिकम्॥

क्षीरपिण्डैः शालिचूर्णैः पशुं कृत्वा चरेद्बलिम्॥

'सात्त्विक अधिकारके उपासक कदापि पशु-बलि देकर जीव-हत्या नहीं करते; वे ईख, कोंहड़ा या वन्य फलोंकी बलि देते हैं। अथवा खोवा, आटा या चावलके पिण्डका पशु बनाकर बलि देते हैं।' यह सब भी रिपुओंके बलिदानका निमित्तमात्र ही है, यथा महानिर्वाणतन्त्रमें—

'कामक्रोधौ द्वौ पशू इमावेव मनसा बलिमर्पयेत्।'

'कामक्रोधौ विघ्नकृतौ बलिं दत्त्वा जपं चरेत्॥'

काम और क्रोधरूपी दोनों विघ्नकारी पशुओंका बलिदान करके उपासना करनी चाहिये। यही शास्त्रोक्त बलिदान-रहस्य है।

(२)

(लेखक—एक सेवक)

स्वयं देवीजीद्वारा पशु-बलि-निषेध

[सच्ची घटना]

मद्रास-प्रान्तके ब्राह्मण-कुमार श्रीयुत शोमयाजलू बी० ए० एक प्रतिष्ठित विद्वान् हैं। वह अनेक अंग्रेजी पत्रोंके सम्पादक और गवर्नमेण्ट तथा स्टेटके पब्लिसिटी अफसर रह चुके हैं। इस समय वह पटनेके अंग्रेजी दैनिक पत्र 'इण्डियन नेशन' के प्रधान सम्पादक हैं। हम यहाँपर उन्हींका अनुभव, जो हमने उनसे सुना है, ज्यों-का-त्यों दे रहे हैं। इस लेखको लिखते समय हमने इसे उन्हें सुना भी दिया है, जिसमें किसी तरहकी भूल न रह जाय।

जिस समय श्रीशोमयाजलू महोदय मद्रासमें बी० एल० (वकालत) की परीक्षाकी तैयारी कर रहे थे, उस समय एक दिन उन्हें अपने एक मित्रके यहाँ श्रीलक्ष्मी-पूजामें सम्मिलित होनेका सुअवसर मिला। वहाँपर उन्हें एक अपरिचित ब्राह्मणका साक्षात्कार हुआ, जो वहाँ पूजा करानेके लिये आये थे। उन ब्राह्मणने इन्हें अपने घरपर बुलाया। जब वह उनके घरपर गये तो उन ब्राह्मणने इनसे कहा कि मैं आपको श्रीशक्तिकी दीक्षा दूँगा। श्रीशोमयाजलू महोदय राजी हो गये और इस कामके लिये तिथि नियत हो गयी तथा आवश्यक सामग्रियोंकी सूची तैयार हुई। जन्मनक्षत्रके अनुसार उन ब्राह्मणने इष्टका भी निश्चय कर दिया।

यथासमय दीक्षा लेकर श्रीशोमयाजलू महाशय नियमपूर्वक जपद्वारा श्रीशक्तिकी उपासना करने लगे। इनके परिवारमें कई पुश्त पहलेसे भी श्रीशक्तिकी उपासना दक्षिण-मार्गके अनुसार होती चली आ रही थी। ये भी उसी परम्पराके अनुसार प्रतिवर्ष शारदीय नवरात्रमें विशेष पूजा करने लगे।

कुछ समय बाद एक साल जब आप शारदीय पूजा समाप्त होनेके बाद ब्राह्मण-भोजनका आयोजन करनेमें लगे थे तब इन्हें श्रीदेवीजीने साक्षात् दर्शन देकर कहा कि 'इस बार तुमको मुझे महिष-बलि देनी चाहिये।' श्रीशोमयाजलू महोदय महिष-बलिका नाम सुनते ही काँप उठे। उन्होंने बड़ी दृढ़ताके साथ श्रीदेवीजीके प्रस्तावका विरोध किया और साफ-साफ शब्दोंमें पशु-बलि देना अस्वीकार कर दिया। उन्होंने श्रीदेवीजीसे निवेदन किया, 'यदि आप पशु-बलि लेनेपर उद्यत हैं तो मैं आजसे आपकी उपासनाका ही त्याग करता हूँ।' उस दिनसे वास्तवमें उन्होंने श्रीशक्तिकी उपासना या किसी प्रकारकी पूजा करना एकदम छोड़ दिया। इस तरह दो महीने बिना उपासनाके बीत गये, भक्त अपनी बातपर दृढ़ बना रहा। तब श्रीदेवीजीने पुनः दर्शन देकर कहा—'मैंने केवल तुम्हारी परीक्षाके लिये पशु-बलि माँगी थी। मुझे इस बातसे बड़ी प्रसन्नता है कि तुम इस कठिन परीक्षामें उत्तीर्ण हुए; मेरी उपासनाको त्याग दिया किन्तु पशु-बलि देना स्वीकार न किया। धर्ममें इसी प्रकार दृढ़ रहना चाहिये और स्वयं देवताके कहनेपर भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। क्योंकि देवता इस प्रकार परीक्षा किया करते हैं, जिससे काम-लोलुप व्यक्ति धर्मसे च्युत हो जाते हैं।' इसके बाद फिर श्रीशोमयाजलू पूर्ववत् उपासना करने लगे।

श्रीशोमयाजलू महोदयके घरमें उनके पिता-पितामहादिके समयसे एक श्रीयन्त्रकी भी पूजा होती आ रही थी। उनके पिताके स्वर्गवासके बाद कुछ समयतक उनकी माताने पूजा की; किन्तु उसके बाद बन्द हो गयी। पूजा बन्द होनेके बाद श्रीयन्त्र एक ऐसे बक्समें पड़ गया जहाँ लाल मिर्च और गरम मसाले रखे थे। इनके परिवारमें

एक वृद्धा स्त्री थीं। एक समय अकस्मात् बिना किसी रोगके आक्रमणके असह्य गर्मीकी ज्वालासे वह व्याकुल हो उठीं। नाना प्रकारके शर्बत तथा अन्य ठण्डे उपचार गर्मीकी शान्तिके लिये किये गये; किन्तु कुछ भी लाभ न हुआ। मानुषी सब उद्योगोंको विफल होते देख श्रीशोमयाजलू महोदयको सन्देह हुआ कि सम्भवत: यह ज्वाला किसी दैवीप्रकोपके कारण हुई है। उन्हें एकाएक उस श्रीयन्त्रका स्मरण हो आया और उन्होंने उसकी खोज की। यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि वे प्राय: घरसे बाहर परदेशमें ही रहा करते थे और मकानपर कभी-कभी आया करते थे। उनके पूछनेपर उस यन्त्रको ढूँढ़ा गया और वह गरम मसालोंमें पड़ा हुआ मिला। तुरन्त यन्त्रको निकालकर उसे शीतल जलसे स्नान कराया गया। इधर यन्त्रका स्नान समाप्त हुआ उधर स्त्रीकी ज्वाला एकदम शान्त हो गयी!

श्रीशोमयाजलू महोदय सदा नियमपूर्वक दो घण्टे प्रात:काल और कुछ समय सन्ध्याकालमें शुद्ध जप-ध्यान करते हैं; वह अपनी पूजामें चन्दन, पुष्पादि किसी भी बाह्य सामग्रीका, यहाँतक कि जलतकका भी व्यवहार नहीं करते। किन्तु वे श्रीदेवीजीके कृपा-पात्र हैं और कभी-कभी उन्हें श्रीदेवीजीके दर्शन भी होते हैं। इस शक्ति-उपासनाके प्रभावसे उन्हें श्रीअगस्ति आदि महापुरुषोंसे सन्देश भी मिल जाते हैं। उनकी उपासनाके प्रभावसे लोगोंका कुछ उपकार भी हो जाया करता है; जैसे रोग-निवृत्ति, प्रेत-बाधा-निवृत्ति आदि।

उपर्युक्त प्रथम घटनासे साक्षात् श्रीदेवीजीके मुखसे निकले हुए वचनसे पशु-बलिके रहस्यका उद्घाटन हो जाता है। इस उदाहरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विधान केवल परीक्षाके निमित्त है, जिसमें सच्चे वीतराग उपासक दृढ़ रहते हैं। किन्तु कच्चे सकाम उपासक विचलित हो जाते हैं। श्रीदेवी तो जगन्माता हैं; वे मनुष्य, पशु, पक्षी, चर, अचर सबकी माता हैं और सबके अन्तरमें विराजमान हैं। वही माताकी भाँति सबका रक्षण, पालन, पोषण करती हैं। ऐसी सर्वव्यापिनी दयामयी माता अपनी निस्सहाय पशु-सन्तानकी क्यों बलि चाहेंगी?

उच्च तन्त्रकी परिभाषामें इन्द्रियोंके विकारको पशु कहते हैं; क्योंकि पशुओंमें केवल इन्द्रियोंका ही प्राबल्य है और इन्द्रिय-चर्या ही उनका एकमात्र जीवन है। भैंसेमें क्रोधकी प्रबलता है, अतएव क्रोधका नाम महिष है। बकरेमें जिह्वा-इन्द्रिय प्रबल है, अतएव राजसिक-तामसिक भोजनमें जो आसक्ति होती है उसे बकरा कहते हैं। कबूतर-पक्षीमें मैथुन-कामकी प्रबलता है। अतएव कामात्मक मैथुनको कबूतर कहते हैं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रिय-विकारोंकी भी ऐसी ही पशु-संज्ञाएँ हैं। इन इन्द्रिय-विकारोंकी बलि कर, इन्द्रियोंको शुद्ध बनाकर श्रीजगन्माताको समर्पण करना ही यथार्थ बलि है।

इन्द्रियोंके पशु-स्वभावका त्याग बलि है

इन्द्रियोंकी प्रकृति मनुष्योंमें पशु-जगत्से आयी है, जिसके पशु-स्वभावकी बलिद्वारा शुद्धि और परिवर्तन सबसे प्रथम आवश्यक होता है; क्योंकि जीवात्माके लिये इन्द्रियाँ ही बाह्य जगत्के सम्बन्धके द्वार हैं। इस यज्ञमें न इनका नाश करना है और न इनका बहिष्कार (त्याग); क्योंकि अनावश्यक होते तो ये जीवात्माको दिये ही नहीं जाते। पशु-जगत्में इन्द्रियाँ सर्वोपरि हैं और उन्हींका सञ्चालन वहाँ प्रधान साधन है। किन्तु मनुष्यमें जीवात्मा सर्वोपरि है, और जीवात्मा तथा इन्द्रियोंके मध्यमें अन्त:करण है। इनके पशु-स्वभावको कामात्मक स्वार्थके लिये व्यवहृत न कर ईश्वरके अनेक होनेके सङ्कल्प (**एकोऽहं बहु स्याम्**) अर्थात् इच्छा-शक्तिकी, जिसकी संज्ञा महाविद्या है, पूर्त्ति-रूपी यज्ञमें व्यवहृत होनेके लिये महाविद्याको समर्पित करना अर्थात् ईश्वरके दिव्य गुण, शक्ति, सामर्थ्य आदिके प्रकाशित करनेयोग्य बनाना ही यथार्थ पशु-बलि है। जीवात्मा-रूपी होताको सद्बुद्धिरूपी स्रुवामें इस पशु-स्वभावके साथ संयोजितकर ब्रह्माग्निमें अर्पण करना अर्थात् ब्रह्मके निमित्त सृष्टि-हितके कार्यमें प्रवृत्त करना यज्ञमें इनकी बलि करना है। मानव-जीवनका यथार्थ लक्ष्य पराप्रकृति अर्थात् महाविद्याकी प्राप्ति है, जिनकी कृपासे जीवको शिवकी प्राप्ति होती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान मत्सर आदि इन्द्रिय-विकारोंको अविद्या-जनित कार्यमें प्रयुक्त न कर, ज्ञानद्वारा दमन और शुद्ध करना विद्या-शक्तिके चरणोंमें पशु-बलि करना है, जिसके स्पर्शसे इनके विकार दूर होकर इनके पशु-स्वभाव और कार्यमें परिवर्तन होता है। फिर ये ईश्वर-प्राप्तिमें बाधक न होकर

सहायक होते हैं। काम-पशुको राजसिक विषय-भोगमें नियुक्त न कर ईश्वर-प्राप्तिके लिये विद्या-देवीके चरणोंमें प्रयुक्त करना उसकी बलि है, जिससे वह शुद्ध होकर भगवत्प्रेमका रूप धारण करता है। जिह्वा-इन्द्रियके तामसिक-राजसिक भोजनकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको दमन कर केवल सात्त्विक भोजनमें प्रयुक्त करना जिह्वा-पशु-रूपी बकरे (जिसमें जिह्वा-इन्द्रिय बड़ी प्रबल है)-की बलि करना है। वेद और तन्त्रमें भी काम-क्रोधादि विकारोंकी पशु-संज्ञा पायी जाती है और इन विकारोंके त्यागको पशु-बलि कहा है। तन्त्रके रहस्यके एक प्रसिद्ध लेखकने, जो अनेक ग्रन्थोंके प्रणेता हैं, अपने ग्रन्थमें बकरेको काम, भैंसेको क्रोध, बिलावको लोभ, भेड़को मोह और ऊँटको मात्सर्य कहा है और इन्हीं विकारोंके त्यागको पशु-बलि कहा है। बलिमें पशुका मस्तक शरीरसे पृथक् कर देवताके चरणोंमें अर्पित किया जाता है, जो इस भावका द्योतक है कि मन, बुद्धि और अहङ्काररूप मस्तक (मुण्ड)-को शरीर-रूप इन्द्रियोंके आसक्ति-सम्बन्धसे ज्ञानरूप खड्गद्वारा पृथक् कर परा-शक्ति (महाविद्या)-के हस्तमें अर्पण करना चाहिये अर्थात् उनमें संयुक्त करना चाहिये (जो कामासक्तिसे पृथक् होनेसे ही सम्भव है, अन्यथा नहीं) जिनके द्वारा अहं-भाव मुण्डमाला बनकर शिवके गलेमें शोभित होगा। अहङ्कारके अधिष्ठाता पशुपति श्रीशिव हैं और इसका स्थान शरीरमें मस्तक है। अतएव उनकी वस्तुका इन्द्रियके सम्बन्धसे पृथक् होकर उनकी शक्तिद्वारा उन्हें अर्पित होना आवश्यक है। श्रीकालीके हस्तमें और श्रीशिवके गलेमें मुण्डमालाका यही भाव है। परमार्थसारमें लिखा है कि '**मायापरिग्रहवशाद् बोधो मलिनः पुमान् पशुर्भवति**' अर्थात् मायाके कारण मलिन-बुद्धि होनेसे मनुष्य पशु-भावको प्राप्त होता है। तन्त्रका एक वचन है, '**इन्द्रियाणि पशून् हत्वा**' अर्थात् इन्द्रिय-रूप पशुका वध करे। पुरुषसूक्तमें लिखा है, '**अबध्नन् पुरुषं पशून्**'—अर्थात् ईश्वरको ही पशु मान यज्ञमें समर्पण किया, ईश्वरके अपनेको यज्ञ अथवा बलि करनेसे ही सृष्टि हुई, और ऋषि-देवता आदिने भी उन्हींकी शक्तिकी बलि अथवा प्रयोग कर सृष्टि-यज्ञ (उत्तर-सृष्टि) किया; यही आदिपशु-बलि हुई। ऐतरेय ब्राह्मणकी दूसरी पञ्चिकाके छठें अध्यायके तीसरे खण्डका वचन है—**सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्य आत्मानमालभते।**

अर्थात् यजमान सब देवताओंकी तुष्टि (जगत्के हित) के लिये अपने आत्माको बलि करता है। पाशुपत ब्रह्मोपनिषद्का वचन है—

अश्वमेधो महायज्ञकथा। तद्राज्ञो ब्रह्मचर्यमाचरन्ति। सर्वेषां पूर्वोक्तब्रह्मयज्ञक्रमं मुक्तिक्रममिति॥ ३॥

अश्वमेध बड़ा यज्ञ है, किन्तु उसके अभ्यासी ब्रह्मचर्य ही करते हैं। इस ब्रह्मचर्यात्मक ब्रह्मचर्याका सिलसिला मुक्तिका उत्तरोत्तर कारण है। गीतामें लिखा है कि मन और बुद्धिको अर्पण करना चाहिये (१२। ८); किन्तु विषयासक्त मन-बुद्धिकी संज्ञा पशु है और अर्पण ही बलि है। अतएव जीवात्माके कल्याणके लिये मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदिका निग्रह और शुद्धि करना, जो विद्यादेवीको अर्पण करनेसे ही सम्भव है, यथार्थ पशुबलि है।

(३)

(लेखक—पं० श्रीबालचन्द्रजी शास्त्री 'विद्यावाचस्पति')

प्रश्न—पशुकी बलि करनी चाहिये या नहीं?

उत्तर—पशुकी बलि नहीं करनी चाहिये। क्योंकि मांस किसी घास या पाषाणसे पैदा नहीं होता। मांस रक्तसे होता है। वह मांस हिंसाके बिना नहीं प्राप्त होता। और हिंसा करना मना है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(गीता १७। १४)

इस गीताके श्लोकमें देव-देवीकी और द्विज, गुरु, विद्वान् आदिकी पूजाकी बात कही गयी है। अब कोई यह कहे कि देवीका पूजन तो पशु-बलिसे ही होगा तो यह बात ठीक नहीं। क्योंकि इसी श्लोकमें आगे अहिंसा पद आया है। हिंसाका स्पष्ट अर्थ है किसीका प्राण-वियोग कर देना। प्राण-वियोग करना पाप है। अहिंसा तो मन, वाणी और कायासे प्राणिमात्रका वध न करना है। वेदोंमें आता है—'**श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ—**' श्रीराधा, लक्ष्मी—हे परमात्मन्! आपकी दो पत्नियाँ हैं। जब पति जगत्पति, जगत्पिता और उसकी स्त्री जगदम्बा कहलाती है तब वहाँ हिंसाका क्या काम है? बलिके वास्तविक रहस्यको लोग समझे नहीं!

अपना प्रिय जीव ही पशु है, और उसे अपने इष्टदेवको सर्वतोभावेन समर्पण कर देना ही वास्तविक बलि है। यह तो कोई करता नहीं, मांसके लोभसे बेचारे गूँगे पशु मारे जाते हैं; यह कितना घोर अन्याय है! महाभारतमें ऐसा लिखा है कि राजा शान्तनुके समयमें किसी पक्षीका भी वध नहीं होता था। राजाओंके लिये मृगया, जुआ, स्त्री-सेवा और मद्यपान ये चार दुर्व्यसन बतलाये गये हैं।

महाभारतके शान्तिपर्वमें लिखा है कि जब यज्ञका विचार किया गया और यह प्रश्न आया कि यज्ञमें पशु-हिंसा होनी चाहिये या नहीं, तो उस समय सब ब्राह्मणों और ऋषियोंने राय दी कि पशु-हिंसा नहीं होनी चाहिये। बलिके प्रसङ्गमें जो 'अज' शब्दका प्रयोग हुआ है उससे लोग 'बकरा' अर्थ ग्रहण करते हैं; किन्तु—

अजसंज्ञानि बीजानि वै त्रिवर्षोषितानि च।

तीन वर्षके बीजोंका नाम अज है। वहाँपर बकरा अर्थ तो मांसलोलुपोंने कर डाला। देखिये महाभारतमें क्या लिखा है—

मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत् प्रकीर्त्तितम्।
धूर्त्तैः प्रकल्पितञ्चैतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम्॥

मांसको लोग मान, मोह और लोभसे खाते हैं; यह लौल्य चपलता है। धूर्त्तोंने मांसप्रकरण बलि, यज्ञ आदिमें ले घुसेड़ा है। वेदोंमें हिंसाका विधान कहीं भी नहीं है।

राजा कैसा होना चाहिये। इस विषयमें देखिये अथर्ववेद क्या कहता है।

अयं राजा प्रियमिन्द्रस्य भूयात्
प्रियः पशूनामोषधीनाञ्च—इति

यह राजा इन्द्र भगवान्‌का प्रिय हो और पशुओंका प्रिय हो, ओषधियोंका प्रिय हो.........।

भला गलेमें छुरी भोकनेसे कहीं प्रिय कहलाता है? अतः पुष्प, फल या स्तवनसे ही बलि होनी चाहिये। देखिये वाल्मीकीय रामायणमें, पञ्चवटीमें लक्ष्मणजीने पुष्पोंसे बलि दी थी।

कूष्माण्ड, श्रीफल, उड़द, दधि आदिसे ही बलि देनेके लिये लिखा है। पशुओंका मारना तो पशु-भक्षियोंका विलास है।

महाशक्ति

(१)

(लेखक—'विद्यामार्तण्ड' पं० श्रीसीतारामजी शास्त्री)

महाशक्तिके समझनेके लिये प्रथम तीन पदार्थोंको समझ लेना आवश्यक है—शक्त, शक्ति और शक्य। यहाँ 'शक्त' नाम समर्थका, 'शक्ति' नाम सामर्थ्यका और 'शक्य' नाम उसका है जिसमें समर्थ अपना सामर्थ्य रखता है। जैसे अग्नि 'शक्त', दाहकत्व 'शक्ति' तथा तृण आदिका दाहकर्म उसका 'शक्य' है। फलतः 'शक्त' कारण, 'शक्ति' उसकी योग्यता और 'शक्य' उसका कार्य है। यह उपर्युक्त दृष्टान्त संसारकी प्रत्येक वस्तुमें लागू है। पृथिवी, जल, वायु, आकाश, शरीर, इन्द्रियाँ तथा अन्य स्थावर-जङ्गम कोई भी वस्तु क्यों न हो, किसी-न-किसी कार्यमें उसकी योग्यता अवश्य है; सुतरां 'शक्ति' से कोई वस्तु भी खाली नहीं। अन्नकी 'शक्ति' भूख मिटानेमें है, तो पानीकी प्यास बुझानेमें; ऐसी ही फल-फूल, ओषधि, वनस्पति आदिकी अवस्था है। चींटीसे लेकर हाथीपर्यन्त प्राणी—कीट, पतङ्ग, मनुष्य, देवता असुर, दैत्य, दानव कोई भी अपने कार्यसे शून्य नहीं है। अग्नि जलानेकी 'शक्ति' रखती है, तो तृण जलनेकी 'शक्ति' रखता है। इसी प्रकार एक कार्यमें अनेक कारण भिन्न-भिन्न प्रकारकी 'शक्ति' रखते हैं और एक-एक कारण अनेक कार्योंमें 'शक्ति' रखता है। जैसे एक ही घटरूप कार्य कुलाल, चक्र, दण्ड, सूत्र, जल, मृत्तिका, अदृष्ट, ईश्वर, ईश्वर-ज्ञान, ईश्वरेच्छा, ईश्वर-प्रयत्न आदि अनेक कारणोंकी भिन्न-भिन्न शक्तियोंका साध्य है और वह घट भी अपने प्रत्येक कारणके साथ भिन्न-भिन्न प्रकारकी साध्यताकी शक्ति रखता है। जहाँ एक कार्य अनेक कारणोंसे होता है वहाँ प्रत्येक कारणका भिन्न-भिन्न प्रकारका व्यापार तथा भिन्न-भिन्न प्रकारका उपयोग है। जहाँपर घड़ा बनता है, वहाँ कुम्हार कुछ और कर रहा है, डण्डा कुछ और, चाक कुछ और, और सूत्र कुछ और ही कर रहा है। एवं कृषकजन

अपना प्रिय जीव ही पशु है, और उसे अपने इष्टदेवको सर्वतोभावेन समर्पण कर देना ही वास्तविक बलि है। यह तो कोई करता नहीं, मांसके लोभसे बेचारे गूँगे पशु मारे जाते हैं; यह कितना घोर अन्याय है! महाभारतमें ऐसा लिखा है कि राजा शान्तनुके समयमें किसी पक्षीका भी वध नहीं होता था। राजाओंके लिये मृगया, जुआ, स्त्री-सेवा और मद्यपान ये चार दुर्व्यसन बतलाये गये हैं।

महाभारतके शान्तिपर्वमें लिखा है कि जब यज्ञका विचार किया गया और यह प्रश्न आया कि यज्ञमें पशु-हिंसा होनी चाहिये या नहीं, तो उस समय सब ब्राह्मणों और ऋषियोंने राय दी कि पशु-हिंसा नहीं होनी चाहिये। बलिके प्रसङ्गमें जो 'अज' शब्दका प्रयोग हुआ है उससे लोग 'बकरा' अर्थ ग्रहण करते हैं; किन्तु—

अजसंज्ञानि बीजानि वै त्रिवर्षोषितानि च।

तीन वर्षके बीजोंका नाम अज है। वहाँपर बकरा अर्थ तो मांसलोलुपोंने कर डाला। देखिये महाभारतमें क्या लिखा है—

मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत् प्रकीर्त्तितम्।
धूर्त्तैः प्रकल्पितञ्चैतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम्॥

मांसको लोग मान, मोह और लोभसे खाते हैं; यह लौल्य चपलता है। धूर्त्तोंने मांसप्रकरण बलि, यज्ञ आदिमें ले घुसेड़ा है। वेदोंमें हिंसाका विधान कहीं भी नहीं है।

राजा कैसा होना चाहिये। इस विषयमें देखिये अथर्ववेद क्या कहता है।

अयं राजा प्रियमिन्द्रस्य भूयात्
प्रियः पशूनामोषधीनाञ्च—इति

यह राजा इन्द्र भगवान्‌का प्रिय हो और पशुओंका प्रिय हो, ओषधियोंका प्रिय हो………।

भला गलेमें छुरी भोकनेसे कहीं प्रिय कहलाता है? अतः पुष्प, फल या स्तवनसे ही बलि होनी चाहिये। देखिये वाल्मीकीय रामायणमें, पञ्चवटीमें लक्ष्मणजीने पुष्पोंसे बलि दी थी।

कूष्माण्ड, श्रीफल, उड़द, दधि आदिसे ही बलि देनेके लिये लिखा है। पशुओंका मारना तो पशु-भक्षियोंका विलास है।

महाशक्ति

(१)

(लेखक—'विद्यामार्तण्ड' पं० श्रीसीतारामजी शास्त्री)

महाशक्तिके समझनेके लिये प्रथम तीन पदार्थोंको समझ लेना आवश्यक है—शक्त, शक्ति और शक्य। यहाँ 'शक्त' नाम समर्थका, 'शक्ति' नाम सामर्थ्यका और 'शक्य' नाम उसका है जिसमें समर्थ अपना सामर्थ्य रखता है। जैसे अग्नि 'शक्त', दाहकत्व 'शक्ति' तथा तृण आदिका दाहकर्म उसका 'शक्य' है। फलतः 'शक्त' कारण, 'शक्ति' उसकी योग्यता और 'शक्य' उसका कार्य है। यह उपर्युक्त दृष्टान्त संसारकी प्रत्येक वस्तुमें लागू है। पृथिवी, जल, वायु, आकाश, शरीर, इन्द्रियाँ तथा अन्य स्थावर-जङ्गम कोई भी वस्तु क्यों न हो, किसी-न-किसी कार्यमें उसकी योग्यता अवश्य है; सुतरां 'शक्ति' से कोई वस्तु भी खाली नहीं। अन्नकी 'शक्ति' भूख मिटानेमें है, तो पानीकी प्यास बुझानेमें; ऐसी ही फल-फूल, ओषधि, वनस्पति आदिकी अवस्था है। चींटीसे लेकर हाथीपर्यन्त प्राणी—कीट, पतङ्ग, मनुष्य, देवता असुर, दैत्य, दानव कोई भी अपने कार्यसे शून्य नहीं है। अग्नि जलानेकी 'शक्ति' रखती है, तो तृण जलनेकी 'शक्ति' रखता है। इसी प्रकार एक कार्यमें अनेक कारण भिन्न-भिन्न प्रकारकी 'शक्ति' रखते हैं और एक-एक कारण अनेक कार्योंमें 'शक्ति' रखता है। जैसे एक ही घटरूप कार्य कुलाल, चक्र, दण्ड, सूत्र, जल, मृत्तिका, अदृष्ट, ईश्वर, ईश्वर-ज्ज्ञान, ईश्वरेच्छा, ईश्वर-प्रयत्न आदि अनेक कारणोंकी भिन्न-भिन्न शक्तियोंका साध्य है और वह घट भी अपने प्रत्येक कारणके साथ भिन्न-भिन्न प्रकारकी साध्यताकी शक्ति रखता है। जहाँ एक कार्य अनेक कारणोंसे होता है वहाँ प्रत्येक कारणका भिन्न-भिन्न प्रकारका व्यापार तथा भिन्न-भिन्न प्रकारका उपयोग है। जहाँपर घड़ा बनता है, वहाँ कुम्हार कुछ और कर रहा है, डण्डा कुछ और, चाक कुछ और, और सूत्र कुछ और ही कर रहा है। एवं कृषकजन

जहाँ कूपपर खेतको सेचन करते हैं, कार्य वह एक ही होनेपर भी कोई लाव (रस्सा)-डोलको कूपमें छोड़ता है, कोई उसे खींचकर बाहर लाता है, कोई जलको यथायोग्य क्यारीमें लगाता है। उस एक ही कार्यमें सब कारण अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न शक्तिसे भिन्न-भिन्न प्रकारका उपयोग करते हैं और वह कार्य भी भिन्न-भिन्न कारणोंसे भिन्न-भिन्न प्रकारसे उपयुक्त होता है तथा भिन्न-भिन्न कारणसे उपयुक्त होनेमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी 'शक्ति' रखता है। इसी प्रकार किसी भी वस्तुपर ध्यान देते हैं तो कोई वस्तु 'शक्ति' से खाली नहीं दिखायी देती, प्रत्युत एक-एक वस्तु अनेक-अनेक प्रकारकी 'शक्ति' रखती है। एक ही अग्नि है; वह जलाती भी है, शीत निवारण करती है, पाक आदिका कार्य करती है और प्रकाश भी करती है, एवं लता, वृक्ष, वनस्पति, ओषधि आदिमें फल-फूल आदिका पाक भी करती है। इस शक्ति-तत्त्वपर जितना ही ध्यान देते हैं वह अपने विस्तारकी ओर बुद्धिको खींचे ही ले जाता है। बुद्धि उसके साथ चलते-चलते थक जाती है, किन्तु उसके विस्तारका अन्त नहीं होता।

इस कारणतारूप 'शक्ति' को नैयायिकोंने किसी-किसी वस्तुमें नहीं भी माना है। जैसे कि वे कहते हैं, '**पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्**—अणु-परिमाणसे भिन्न सभी पदार्थोंमें कारणता रहती है।' परन्तु वे भी स्व-विषयक ज्ञानके प्रति उसकी भी कारणता मानते ही हैं। प्रत्येक अवस्थामें नित्य-अनित्य सभी पदार्थ कारणता-शक्ति रखते हैं। अब हम प्रत्येक वस्तुकी 'शक्ति' से महाशक्तिकी ओर अपनी दृष्टिको ले जाते हैं, तो देखते हैं, सभी वस्तुओंमें 'शक्ति' क्यों है? कोई भी वस्तु 'शक्ति' से खाली क्यों नहीं है? और ऐसा किस प्रकार हो सकता है? तब इसका उत्तर यही मिलता है कि किसी एक व्यापक शक्तिके बिना सब छोटी-से-छोटी और मोटी-से-मोटी वस्तुओंमें शक्ति नहीं हो सकती। सुतरां कोई महासमुद्रके समान अनन्त तथा आकाशके समान व्यापक शक्ति है। उसीका सब वस्तुओंमें आपूर या फैलाव है; उसीके कारण सब पदार्थोंमें शक्ति है; उसीको सांख्यशास्त्रवाले प्रधान या मूल-प्रकृति, मीमांसक कर्म, वेदान्ती ब्रह्म, पौराणिक आदि परमात्मा, विष्णु-शक्ति, माया, प्रकृति आदि कहते हैं। इसी महाशक्तिको योगीश्वर समाधिमें ध्यान-साधना करके परमपद मोक्षकी प्राप्ति करते हैं। हम तो अपनी तुच्छ बुद्धिसे यही निश्चय करते हैं कि वह हरि ही त्रिलोकीनाथ महाशक्ति है, सब उसीके नाम हैं—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

(२)

(लेखक—स्वामी श्रीरामदासजी)

परम ईश्वर-तत्त्वसे निकली हुई अनन्तशक्तिका ही नाम 'महाशक्ति' है। जगत्के पदार्थोंका मूलकारण यही शक्ति है। असंख्य ब्रह्माण्ड और उसके कोटि-कोटि जीव और वस्तु उसी महाशक्तिके विकास हैं। उसीके अनन्त गर्भसे प्रकृतिकी क्रियात्मक शक्तियोंका प्रादुर्भाव और विकास हुआ। वह सत्य-सनातन सत्ताका आदि दैवी नारी-तत्त्व है और सदैव पुरुष-तत्त्व 'शिव' से संयुक्त है। शिव और शक्ति अलक्ष्य तथा अविज्ञेयरूपमें परम, परात्पर, सर्वोपरि ब्रह्म-सत्तामें सर्वथा 'एक' हैं। अस्तु।

महाशक्ति कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी जननी है। समस्त जीव और प्राणी उसके रूप-आकार हैं। जीवन और प्रकृतिकी सभी बाह्य तथा आभ्यन्तरिक गतिमें हमारी 'दैवी माँ' की ही प्रेरणा है—उसीकी क्रिया है। पञ्चमहाभूत (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश), इन्द्रियाँ (कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय), मन, बुद्धि तथा सृष्टिकी स्थितिके मूलमें बुद्धिसे परे जो दिव्य चेतन आत्मा है वही उसका पूर्ण स्वरूप है। विविध शक्तियाँ और उपक्रम उसकी क्रीड़ामयी शक्तिका विलास है। यह उसीकी प्रेरक शक्ति है जो सूर्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्रादि प्रकाशसे जगमगा रहे हैं। उसीकी शक्तिकी प्रेरणासे ऋतुएँ बदलती हैं और प्रकृतिकी गति-विधिमें परिवर्तन होता है। सृष्टि, विकास और प्रलय उसकी विश्वजनीन क्रीड़ाके ही चिह्न हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सभी वस्तुओंमें हमारी दैवी जननी ही नाम और रूपके द्वारा प्रकट हो रही है। अज्ञानके कारण हम व्यक्तिविशेषको

पुरुष अथवा स्त्री मान लेते हैं—वस्तुतः ये दैवी माताके ही रूप और आकार हैं। प्रत्येक व्यक्तिमें जो शक्ति काम कर रही है—चाहे वह शारीरिक हो, मानसिक हो, बौद्धिक हो अथवा आध्यात्मिक हो—वह 'माँ' की ही शक्ति है।

विश्वकी विविध विभिन्नता और सङ्कुलतामें 'माँ' की परम एकता और एकरसता ही समस्त सत्ताका सर्वोपरि रहस्य है।

सर्वशक्तिमती 'माँ' जो सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है, अपनी इच्छासे उत्पन्न व्यक्त सत्तामें अपनी क्रीडा-कुतूहल-वृत्तिको रिझाती है, जिससे आनन्दकी अजस्त्र धारा सतत प्रवाहित होती रहती है! उस अनन्त संगीतके ताल, लय और मूर्च्छनाकी सृष्टि 'माँ' के पद-सञ्चारणकी एक छोटी-सी-छोटी गतिमें भी हो रही है। सर्वत्र उसीका गौरव, उसीका प्रकाश, उसीका तेज, उसीकी शक्ति, उसीकी महत्ता—नहीं-नहीं, वही वह—सर्वेसर्वा है।

विश्व-माता निर्विकल्प, अव्यय, सर्वव्यापक शून्य 'शिव' से भिन्न नहीं है और 'माँ' की व्यक्त सत्ताका यही आधार है, यही रहस्य है। दैवी सत्ताके इन दो अमर तत्त्वोंको भिन्न-भिन्न समझना ठीक वैसा ही है जैसा कि प्रकाशको सूर्यसे भिन्न मानना अथवा धवलताको दूधसे अलग समझना। और चूँकि वही एक परमसत्य चल भी है और अचल भी है, क्रियाशील भी है और निष्क्रिय भी है, साकार भी है और निराकार भी है, दृश्य भी है, अदृश्य भी है, व्यक्त भी है और अव्यक्त भी है, मनुष्यकी सीमित बुद्धि उसे विचारकी सीमामें ला नहीं पाती, उसे सोच नहीं सकती और न शब्दोंके द्वारा उसका निर्देश ही कर सकती है।

उस सर्वगुणमयी, सर्वज्ञानमयी दैवी 'माँ' को आत्मसमर्पणके द्वारा प्राप्त करना आध्यात्मिक अनुभूतिकी पराकाष्ठापर पहुँचना है। इस दिव्य अनुभूतिमें आत्मा अनायास एक ही साथ शिव और महाशक्तिके साथ तादात्म्य और एकाकारताका अनुभव करता है। यही जीवनकी परम पूर्णता, आप्तकामता, सिद्धि और चरम लक्ष्य है। ऐ मेरी सर्वशक्तिमयी विश्वमाता! जय हो, सदा तेरी जय हो!!

शक्ति और शक्तिमान्‌का अभेद

(लेखक—प्रो० श्री एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री, एम० ए०)

ईश्वरवादका प्रभाव तभी पड़ सकता है और जनताके हृदयको स्पर्श कर सकता है जब उसका ईश्वर सर्वव्यापी भी हो और सर्वातिरिक्त भी हो। वह परम विभु अपनी पूर्णताके कारण हमसे अत्यधिक दूर हो, फिर भी उसे हम सबके, जो उसके जीव हैं, अत्यन्त समीप भी होना चाहिये; नहीं तो अधिक-से-अधिक इतना ही होगा कि ईश्वरके लिये हमारे हृदयमें प्रेम, सहानुभूति तथा सेवाके भाव न रहकर भय और श्रद्धाके भाव रहने लगेंगे। वह प्रभु जगत्‌से परे हो, क्योंकि उससे बढ़कर जगत्‌को निर्माण करनेवाला सुविज्ञ शिल्पी कौन होगा? फिर भी वह संसारका हो, नहीं तो जगत् उससे भिन्न एक विरोधी उपकरण हो जायगा। परिणाम यह होगा कि प्रभुकी पूर्णता सीमित हो जायगी, चाहे वह थोड़े ही अंशमें हो। वह निमित्त-कारण भी हो और उपादान-कारण भी। इन परस्पर-विरोधी सिद्धान्तोंका सामञ्जस्य हमारे शास्त्रोंने भारतीय दर्शनकी भिन्न-भिन्न शाखाओंके रूपमें प्रकट किया है। जो इन्द्रियातीत है उसका साक्षात् ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान आदिके द्वारा नहीं हो सकता। वह तो केवल आप्त-प्रमाणका विषय है और जब शास्त्र ईश्वरको जगत्‌का उपादान तथा निमित्त-कारण दोनों मानते हैं तो हमारा उनके निरूपणमें शङ्का करनेका कोई अधिकार नहीं है। शब्द-प्रमाणपर जो इस प्रकार जोर दिया गया है वह ठीक हो अथवा नहीं, इतना तो निश्चय है कि भारतीय दर्शनमें केवल इसी प्रमाणका आश्रय नहीं लिया गया है। तर्कद्वारा विरोधी बातोंके सामञ्जस्यकी चेष्टा बार-बार की गयी है; किन्तु तर्कका आश्रय शब्द-प्रमाणके सहायकरूपमें ही लिया गया है, उसके विरोधमें नहीं। इसी प्रकारका एक सिद्धान्त शक्ति और शक्तिमान् अथवा, इसीको और व्यापकरूपमें लें तो, धर्म और धर्मीके अभेदका सिद्धान्त है।

जब यह कहा जाता है कि ईश्वर जगत्‌का उपादान-कारण है तो इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता कि सर्वांशमें अथवा किसी एक अंशमें उसकी विकृति होती

है, क्योंकि ईश्वरमें कभी परिणाम या विकार नहीं होता और वह विरवयव है। फिर भी वह चिदचिदात्मक विश्वके रूपमें परिणत होता है, यद्यपि ऐसा होनेसे उसमें किसी प्रकारकी अपूर्णता नहीं आती।[१]

इस प्रकारके विलक्षण परिणामका कारण है प्रभुकी चित्-शक्ति अथवा प्रज्ञा-शक्ति। आरम्भमें जब सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी और उसके साथ-साथ दिन-रात, नाम-रूप, सत्-असत्का भेद नहीं था,—शिव, केवल शिव, स्वप्रकाश एवं अविनाशीरूपमें विद्यमान थे। शिवसे ही ज्ञान-शक्तिका आविर्भाव हुआ। तब प्रभुने, जिनका शरीर संसारकी सूक्ष्मावस्था है, यह सङ्कल्प किया कि मेरा शरीर नाम और रूपके द्वारा व्यक्त हो। उन्होंने अपनी सत्तासे सूक्ष्म जगत्को पृथक् किया—उसकी आत्मा बनकर उसमें प्रवेश किया और इस विविध विश्वके रूपमें अपने-आपको परिणत किया। प्रभुके कारण और कार्य-शरीरमें वही अन्तर है जो अन्तर पुरुषके शैशव और यौवनमें होता है। पहली अवस्थामें जो शक्ति प्रच्छन्नरूपमें रहती है, वही इस दूसरी अवस्थामें प्रकट हो जाती है। जो कुछ परिवर्तन होता है वह शक्तिकी व्यक्त और अव्यक्त अवस्थामें ही होता है, न कि शक्तिमान्की सत्तामें। इस हेतु मूल उपादान-कारण तो यह शक्ति या माया ही हुई। प्रभु तो केवल इसके स्वामी हैं, उस मायाके अधीश्वर और सञ्चालक हैं—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

मायामें परिवर्तन होनेसे मायापति महेश्वरमें किसी प्रकारका विकार नहीं होता। परन्तु साथ ही वे विश्वका उपादान-कारण तो बने ही रहते हैं; क्योंकि माया और मायी-शक्ति और शक्तिमान्में किसी प्रकारका भेद नहीं है[२]

शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः।
शक्तिस्तु शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न गच्छति॥
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव॥

उपादान-कारणका निमित्त-कारणके साथ अभेद स्थापित करनेमें बुद्धिको सङ्कोच हुआ। उसने एक बीचका रास्ता निकाला। वह था शक्ति-तत्त्वको स्वीकार करना और उसे ईश्वरसे भिन्न मानना। परन्तु उसी साँसमें जब यह भी कहा जाय कि शक्ति और शक्तिमान् एक हैं तो तर्कका प्रयास—उन्हें अलग-अलग दिखानेकी चेष्टा—व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। यह तो 'घट्ट-कुटी-प्रभात-वृत्तान्त' की-सी बात हुई। रातभर चुंगीसे बचनेके लिये प्रधान रास्ता छोड़कर टेढ़े-मेढ़े रास्ते खोजनेमें लगे रहे और सबेरा होनेपर क्या देखते हैं कि चुंगी-के-चुंगीपर ही मौजूद हैं। वास्तवमें ऐसा है नहीं। क्योंकि अन्तमें यह स्पष्ट हो जायगा कि पदार्थ और गुण भिन्न नहीं हैं।

लोगोंकी भ्रान्तिमूलक धारणा और तार्किकोंकी प्रचलित परिपाटीके अनुसार अवश्य ही वस्तुको गुणसे भिन्न एवं गुणका आधार माना जाता है। गुण अनेक हैं और अनित्य हैं, क्षण-क्षणमें बदलते रहते हैं; एक गुणको सब लोग उसी रूपमें नहीं देखते। यही नहीं, एक ही पुरुष सदा एक रूपमें नहीं देखता, यद्यपि उस पदार्थको जिसमें यह गुण है, निर्विवादरूपसे पहचान लिया जाता है। कुछ लोगोंकी रंग पहचाननेकी शक्ति नष्ट हो जाती है। इस प्रकारका मनुष्य लाल कपड़ेको तो देखता है, परन्तु देखता है उसे हरा। एक सुविज्ञ कलाविद् चित्रपटको देखता जरूर है, परन्तु देखता है उसे अस्पष्ट चित्रके रूपमें, पूरे चित्रके रूपमें नहीं। लाल और हरे रंग तथा कुचित्र और सुचित्रके अनुभवमें जो बात समानरूपसे विद्यमान है, वह स्थायी होनी चाहिये। वह है इन गुणोंका आधार अधिष्ठान। यह गुणोंसे भिन्न गुणी है। परन्तु क्या यह भेद ऐसा है, जिसका कभी बाध नहीं हो सकता? शैव और शाक्तोंका कथन है कि 'नहीं।' क्योंकि इसे बुद्धि स्वीकार नहीं करती। यदि इस प्रकारकी अधिष्ठानरूप वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ता मान भी ली जाय तो इसे जाना कैसे जा सकता है? प्रत्यक्ष-ज्ञान इन्द्रियोंको द्वार बनाकर ही होता है और इन्द्रियाँ जिसका प्रत्यक्ष करती हैं—चाहे वह रूप हो, शब्द हो, स्पर्श हो, रस हो या गन्ध हो—उसकी गुणोंमें ही गणना होती है। हमलोग गुणोंके अधिष्ठानको कभी नहीं देखते। यदि उसे कभी देख लिया तो उसकी 'गुण'-संज्ञा ही होगी। अनुमानसे भी काम नहीं चल सकता, क्योंकि वह भी प्रत्यक्ष किये हुए पदार्थोंकी व्याप्ति अथवा नित्य-साहचर्यपर निर्भर करता है। और ऐसी कौन-सी प्रत्यक्ष की हुई व्याप्ति होगी, जिसके बलपर हम किसी अप्रत्यक्ष वस्तुका यथार्थ अनुमान कर सकें। इस अवस्थामें हमारे लिये इसी

१-देखिये श्रीकण्ठकी ब्रह्ममीमांसा १, ४, २७।
२-देखिये श्रीकण्ठकी ब्रह्ममीमांसा १, २, १।

निर्णयपर पहुँचना अनिवार्य हो जाता है कि गुणोंसे भिन्न कोई गुणी है ही नहीं। अथवा यदि है भी तो उसका ज्ञान नहीं हो सकता—उसकी सत्ताका भी ज्ञान नहीं हो सकता। पिछली बात अनुपपन्न होनेके कारण शक्तिवादी पहली ही स्थितिको स्वीकार करते हैं। फिर पदार्थकी जो प्रतीति होती है, उसका क्या समाधान है? फिर क्या कारण है कि गुणोंकी विभिन्नता होते हुए भी हम उस वस्तुको एक ही रूपमें पहचान लेते हैं? हमारा उत्तर यह है कि अनेकतासे भिन्न एकताकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। विभिन्नतापर दृष्टिपात करनेकी यह एक रीति है।

ठीक जिस प्रकार एक ही साथ दृष्टिगोचर हुए सिपाहियोंका समूह ही 'सेना' है और एक साथ दृष्टिगोचर हुए वृक्षोंके समूहका नाम ही वन है,ठीक उसी प्रकार गुणोंका समूह ही वस्तुकी सत्ता है।

न गुणी कश्चिदर्थोऽस्ति जडो गुणसमाश्रयः।
गुणा एवानुभूयन्ते गुणिसंज्ञाश्च सङ्गताः॥[१]

इसीसे शैव और शाक्त दर्शनोंमें सांख्यकी भाँति सृष्टिके क्रममें पञ्चमहाभूतकी उत्पत्ति पञ्चतन्मात्राओंसे मानी गयी है, नहीं तो फिर पञ्चभूतरूप द्रव्योंकी उत्पत्ति तन्मात्रारूप गुणोंसे कैसे हो सकती थी?

यह बात तो सहजमें ही समझमें आ जायगी कि यह सिद्धान्त शाक्त और प्रत्यभिज्ञादर्शनोंके विज्ञानवादसे कितना मेल खाता है। यदि द्रव्य कोई ठोस और स्थायी वस्तु नहीं है, यदि उसका अस्तित्व केवल हमारे दृष्टिकोणपर ही निर्भर है तो फिर बाह्य प्रतीतिके विषय बने हुए इस वास्तविक कहलानेवाले जगत्की कल्पित स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है और वह द्रष्टाके ज्ञानपर ही आश्रित हो जाती है। इस प्रक्रियासे तो हम अन्ततोगत्वा इसी निर्णयपर पहुँचेंगे कि पदार्थ और द्रष्टा एक ही हैं। तथा छोटे-मोटे सारे भेद मायाके अथवा उस परमतत्त्वके साथ अनन्यताका ज्ञान न होनेके कारण ही हैं (जिसे प्रत्यभिज्ञादर्शनमें 'अख्याति' कहते हैं)। यह सिद्धान्त यद्यपि शैव-सम्प्रदायके दार्शनिक सिद्धान्तोंके प्रतिकूल पड़ता है, क्योंकि उक्त सम्प्रदायमें ईश्वर, जीव तथा जगत्की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गयी है, फिर भी उन्हें इस सिद्धान्तको ग्रहण करनेमें कोई आपत्ति नहीं हुई। अन्ततक अपनेको तर्ककी कसौटीपर कसनेमें असमर्थ होनेके कारण उसने इस विरोधी सिद्धान्तको स्वीकार कर लिया, जो उसके लिये एक विचित्र बात थी, अथवा उसने कुछ इनकी बात रह जाय, कुछ अपनी रह जाय, इस उद्देश्यसे मध्यमार्गका-सा अवलम्बन किया, जैसा कि वह करता आया है— इसका निर्णय करना कठिन है।[२] जो कुछ भी हो, शक्ति और शक्तिमान्के अभेदके सिद्धान्तकी तहमें एक महान् दार्शनिक तथा धार्मिक तत्त्व निहित है, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं हो सकता।[३]

श्रीसीता-स्तुति

जय हो श्रीआदिशक्ति! गति है अपार तेरी, तू ही मूलकारन श्रीसीता महारानी है।
तेरो ही बनाव ब्याप्त सकल चराचरमैं, तू ही मम मातु साँची तू ही ऋत बानी है॥
जग-प्रगटावनी औ पालन-प्रलयकारी, तू ही भुक्ति, मुक्ति पराभक्तिहूकी खानी है।
तू ही जगजानी रानी रामकी परमप्यारी; 'मोहन' के सर्व-शक्ति! तू ही मन-मानी है॥

—साह मोहनराज

१-पौष्कर-आगम पृष्ठ ४५६ (चिदम्बरम्-संस्करण)। इसी आगमके पृष्ठ ४५५—४६० तक भी उसके भाष्यके साथ देखिये।

२-इस विषयपर विशेष प्रकाशके लिये देखिये—Substance and Attribute in the Saiva Siddhanta—Journal of Oriental Research, Madras, April 1934.

३-यह सिद्धान्त उन थोड़े-से विषयोंमें है जिनके विवेचनमें श्रीकण्ठने अपनी कवित्व-प्रतिभाका परिचय दिया है। देखिये उनका 'ब्रह्ममीमांसा' १, २, १—'सकलचिदचित्प्रपञ्चमहाविभूतिरूपमहासच्चिदानन्दसत्ता देशकालादिपरिच्छेदशून्या स्वाभाविकी परमशक्तिः परब्रह्मणः शिवस्य स्वरूपञ्च गुणश्च भवति। तद्व्यतिरेकेण परब्रह्मणः सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वसर्वकारणत्वसर्वनियन्तृत्वसर्वोपास्यत्व-सर्वानुग्राहकत्वसर्वपुरुषार्थहेतुत्वादिकं न सम्भवति। किञ्च महेश्वरमहादेवरुद्रादिपरमाख्यानमभिधेयत्वञ्च न सम्भवति।'

श्रीमन्मध्वसम्प्रदायमें शक्ति-तत्त्व

(लेखक—'पण्डितभूषण' श्रीनारायणाचार्यजी बरखेडकर)

सर्वत्राखिलसच्छक्तिः स्वतन्त्रोऽशेषदर्शनः।
नित्यातादृशचिच्चेत्य यन्त्येष्टो नो रमापतिः॥

(तत्त्वोद्योत)

स्वतन्त्रमस्वतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते।
स्वतन्त्रो भगवान् विष्णुर्भावाभावौ द्विधेतरत्॥

(तत्त्वसंख्यान)

स्वतन्त्र तथा अस्वतन्त्र-भेदसे दो प्रकारके तत्त्व श्रीमन्मध्वाचार्यजीके सिद्धान्तमें माने गये हैं। उन्हें ही 'परतत्त्व' तथा 'अपरतत्त्व' भी कहते हैं। नित्यानित्य, चराचर तथा समस्त रमा-ब्रह्मादि देवताओंका भी नियमन करनेवाला तत्त्व 'परतत्त्व' अथवा 'स्वतन्त्र-तत्त्व' कहलाता है। इसी कारण वह '**अखिलसच्छक्तिः**' अर्थात् समस्त शक्तिवाला कहा जाता है। इस तत्त्वके लिये 'महाशक्ति' शब्दका भी प्रयोग 'तन्त्रसार' ग्रन्थमें किया गया है। यथा—

तत्र तत्र स्थितो विष्णुस्तत्तच्छक्तीः प्रबोधयन्।
एक एव महाशक्तिः कुरुते सर्वमञ्जसा॥

अर्थात् श्रीमन्मध्वाचार्यजीने सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भगवान् श्रीमहाविष्णुको ही 'स्वतन्त्र', 'पर' अथवा 'महाशक्ति' स्वीकार किया है। इसी महाशक्तिसे रमा, ब्रह्मा, सरस्वती, रुद्र, पार्वती, इन्द्र, शची आदि समस्त देवताओंकी शक्ति भी सञ्चालित होती है। यह तत्त्व वेद, उपनिषद्, पुराण, गीतादि प्रमाण-ग्रन्थोंमें प्रधानतया वर्णित है।

श्रुति कहती है—

(१) यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।............

(२)............**मम योनिरप्स्वन्तःसमुद्रे**..........

(३).........**परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सम्बभूव।**

ये मन्त्र ऋग्वेदके देवीसूक्तमें हैं। भगवती महालक्ष्मीजी कहती हैं कि 'मैं चाहे जिसको रुद्र, ब्रह्मा, ऋषि अथवा बुद्धि-सम्पन्न नर बना सकती हूँ', 'मेरा उत्पादक, 'नियन्त्रण' करनेवाला मेरा प्रभु समुद्रके मध्यमें निवास करता है', 'इस द्युलोक और इस पृथ्वीके परे भी वह है—यह सब उसकी महिमासे हुआ है' इत्यादि। इसी अभिप्रायको विष्णु-सूक्त तथा कठोपनिषद्में भी कहा है—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं
यः पार्थिवानि विममे रजांसि।

(विष्णुसूक्त)

इसी वेदमन्त्रका अनुवाद श्रीवेदव्यासजीने श्रीमद्भागवतमें किया है—

विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह
यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि॥

............**महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।**

(कठ० १।३।१५)

अणोरणीयान् महतो महीयान्। (कठ० १।२।२०)

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।

(कठ० १।३।९)

'कदाचित् कोई पुरुष बालूके कणोंकी गिनती करे तो कर सकता है, परन्तु विष्णुके पराक्रम—शक्तिकी गणना कोई भी नहीं कर सकता।'

'संसार-समुद्रमें, उस पार ले जानेमें सर्वथा समर्थ विष्णुशक्ति ही है।' श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने कहा है कि:—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

(९।१०)

इस वाक्यमें अपने ही द्वारा नियन्त्रित रहनेवाली प्रकृतिको, चराचर जगत्की उत्पादिका माना गया है। यद्यपि प्रकृति दो प्रकारकी है, जैसे गीता-भाष्यमें कहा गया है—

प्रकृती द्वे तु देवस्य जडा चैवाजडा मता।
अव्यक्ताख्या जडा सा च सृष्ट्या भिन्नाष्टधा पुनः॥
अवरा सा जडा श्रीश्च परेयं धार्यते तया।
चिद्रूपा सा त्वनन्ता च अनादिनिधना परा॥
नारायणस्य महिषी माता सा ब्रह्मणोऽपि हि।

—परन्तु शक्ति-तत्त्वमें इस समय प्रसक्त प्रकृतिको अधिकारी जड़ न समझें, इसलिये—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(गीता ७।५)

—इस वाक्यसे समस्त जगत्को धारण करनेवाली,

श्रेष्ठ, चेतनरूप यह प्रकृति पूर्वोक्त आठ प्रकारकी अपरा-प्रकृतिसे भिन्न है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। यदि यह प्रकृति चेतनरूप न मानी जाय तो चराचर जगत्‌का निर्माण करना तथा धारण करना अनुपपन्न हो जाता है। इसलिये यह प्रकृति चेतनरूप ही है। इसी अभिप्रायसे श्रीमद्भागवतमें—

तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं देवीं सदसदात्मिकाम्॥

—'**देवीम्**' शब्दका प्रयोग किया गया है। इसी प्रकृतिको—

यत्तत्त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं प्रकृतिं चाहुरविशेषं विशेषवत्॥

—इस भागवतके श्लोकमें त्रिगुण, अव्यक्त, प्रधान, प्रकृति, सदसदात्मिका, नित्या—ऐसा भी कहा गया है।

इसी प्रकृतिके लिये 'माया' शब्दका भी व्यवहार किया जाता है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
(श्वे० उ०)

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(गीता ७। १४)

इसी मायाका विवरण श्री, भू, दुर्गारूपमें गीतातात्पर्य नामक ग्रन्थमें श्रीमन्मध्वाचार्यजीने लिखा है—

तस्यास्तु त्रीणि रूपाणि सत्त्वं नाम रजस्तमः।
सृष्टिकाले विभज्यन्ते सत्त्वं श्रीसद्गुणप्रभा॥
रजो रञ्जनकर्तृत्वाद् भूः सा सृष्टिकरी यतः।
जीवानां ग्लपनाद्दुर्गा तम इत्येव कीर्तिता॥

भागवततात्पर्यमें भी—

श्रीर्मूलसत्त्वं विज्ञेया भूर्मूलं रज उच्यते।
मूलं तमस्तथा दुर्गा महालक्ष्मीस्त्रिमूर्तिका॥

—त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको श्री, भू, दुर्गारूपसे वर्णन किया गया है।

यद्यपि त्रिगुणात्मिका, गुणमयी इत्यादि शब्द जड प्रकृतिके ही बोधक होते हैं तथापि जडके द्वारा सृष्टि, स्थिति आदि कार्य नहीं हो सकते। इस कारणसे श्रीवेदव्यासजीने वेदान्तसूत्रोंमें '**मृदब्रवीत्**,' '**आपोऽब्रुवन्**' इत्यादि वेदवाक्योंकी उपपत्तिके लिये '**अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्**'—इस सूत्रके अनुसार जड पदार्थोंमें तदभिमानी देवताका ही ग्रहण करनेके लिये कहा है। इससे महत्, प्रकृति, त्रिगुणात्मिका, गुणमयी इत्यादि शब्दोंसे उनके अभिमानी देवताका, श्रीमहालक्ष्मीजीका ही ग्रहण होता है। श्रीमहालक्ष्मीजीको ही भागवतके दशमस्कन्धमें 'योगमाया'-शब्दसे व्यवहृत किया है तथा उनके अन्य नाम भी इस प्रकार लिखे हैं—

नामधेयानि कुर्वन्ति स्थानानि च नरा भुवि।
दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च॥
कुमुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च।
माया नारायणीशाना शारदेत्यम्बिकेति च॥

अर्थात् शक्ति-नामसे अष्टभुजा, चतुर्भुजा आदि अनेक नाम जो शास्त्र-पुराणोंमें देखे जाते हैं वे सब भगवती श्रीमहालक्ष्मीजीके ही स्वरूप मध्व-सिद्धान्तमें माने जाते हैं। श्रीमहालक्ष्मीजीका स्थान सामान्य तत्त्वोंमें दूसरा तथा 'अपर' 'अस्वतन्त्र' तत्त्वोंमें पहला माना है।

अस्वतन्त्र तत्त्वोंमें ब्रह्मा, सरस्वती, रुद्र, पार्वती, इन्द्र, शची इत्यादि समस्त तत्त्वाभिमानी देवताओंका नियन्त्रण इन्हीं भगवती महालक्ष्मीजीके अधीन है। तथा '**तदधीनत्वादर्थवत्**' इस वेदान्त-सूत्रके अनुसार, तत्त्वाभिमानी देवताओंके नामोंकी प्रवृत्तिके निमित्त श्रीमहालक्ष्मीजीके स्वाधीन होनेके कारण उनके नामोंसे भी कहीं-कहीं व्यवहार होता है। इसीसे गौरी, अम्बिका, सरस्वती, ईशाना इत्यादि नामोंसे भी व्यवहार देखनेमें आता है।

श्रीभगवती महालक्ष्मीजी अथवा 'अपर शक्ति-तत्त्व', श्रीमध्वसिद्धान्तमें, नित्यमुक्त भगवत्तत्त्व (पर-तत्त्व) के समान देशकालतः व्याप्त है। परन्तु ब्रह्मा-सरस्वती, रुद्र-पार्वती आदि तत्तद्देवताओंके गुण अत्यधिक पूर्ण होनेपर भी 'पर-तत्त्व'—भगवत्तत्त्वके गुणोंसे कई अंशमें न्यून हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

कुतः पुनर्गृणतो नाम तस्य
महत्तमैकान्तपरायणस्य।
योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो
महद्गुणत्वाद् यमनन्तमाहुः॥
एतावतालं ननु सूचितेन
गुणैरसाम्येऽनतिशायितेऽस्य।
हित्वेतरान् प्रार्थयतो विभूति-
र्यस्याङ्घ्रिरेणुं जुषतेऽनभीप्सोः॥
अथापि यत्पादनखावसृष्टं
जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः।
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात्
को नाम लोके भगवत्पदार्थः॥

इन श्लोकोंमें भगवान्‌के मधुर-सरस नामोच्चारणका महत्त्व कहते हुए सूतजी कहते हैं कि, 'जिन भगवान्‌को

मङ्गलप्रद श्रेष्ठ गुण तथा अनन्त शक्ति होनेके कारण अनन्त कहते हैं, उनके विषयमें अधिकारी पुरुषोंको इतना ही जानना पर्याप्त है कि अन्य पदार्थोंमें भगवान्के गुणोंके समान भी गुण नहीं हैं, फिर उनसे अधिक गुण होना तो दूर रहा! सकलभाग्यात्मिका महालक्ष्मीजी प्रार्थना करनेवाले ब्रह्मा-रुद्रादि देवताओंकी ओर ध्यान न देकर निःस्पृह भगवान्की ही सेवा करती हैं। ब्रह्माजीने जिसके चरण-कमल निज कमण्डलुके जलसे प्रक्षालित किये, वही जल (भगवती भागीरथी) महादेवजीसहित समस्त जगत्को पवित्र करता है तब भगवान् विष्णुके सिवा अन्य कौन-सा पदार्थ मुक्तिप्रद है जो भगवत्-शब्द-वाच्य हो अर्थात् अनन्त ऐश्वर्य, शक्ति आदि गुणोंसे पूर्ण हो।'

सारांश यह है कि ब्रह्मा-सरस्वती, रुद्र-पार्वती एवं समस्त देवतागण जो यथायोग्य तत्त्वोंके अभिमानी हैं उनकी अधिपति श्रीमहालक्ष्मीजी हैं, तथा श्रीमहालक्ष्मीजीके अधिपति भगवान् श्रीविष्णु हैं। इसलिये सर्वोत्तमत्व-भावसे भगवान् विष्णुकी तथा भगवत्परिवारके विचारसे यथायोग्य श्रीभगवती महालक्ष्मी, ब्रह्मा, रुद्र-पार्वतीजी इत्यादि देवताओंकी उपासना करनी चाहिये। यही श्रीमन्मध्वसिद्धान्तमें शक्ति-तत्त्वका सार है। यद्यपि इस विषयपर सिद्धान्तानुसार बहुत कुछ लिखा जा सकता है, परन्तु समयाभावके कारण इतना ही पर्याप्त है। इति शुभम्।

श्रीमन्नृसिंहगुरुवर्यदयाम्बुलेश-
माश्रित्य गद्यरचना विहिता सुरम्या।
प्रीतो भवत्वथ मतिं विमलां ददातु
शक्त्या युतो मुररिपुर्ह्यनया सुकृत्या॥

श्रीशक्ति

(लेखक—पं० श्रीहनूमानजी शर्मा)

(१)

जिसको वेद, पुराण और उपनिषद् जगदम्बा मानते हैं; जो सर्वेश्वरके सोनेपर भी जागती है; जिसकी सहायतासे ब्रह्मा, विष्णु और महेश सृष्टिको रचते, पालते और संहार करते हैं; जिसके इशारेसे काल, मृत्यु, गुणत्रय और पञ्चभूत प्रभाव दिखलाते हैं; जिसकी अणुमात्र इच्छासे देव, दानव, मनुष्य या पशु, पक्षी और कीटादि अपने शत्रुओंको जीतते और भरण-पोषणमें संलग्न होते हैं और जिसकी कृपासे ज्ञात-अज्ञात सभी जीव अपना अस्तित्व दिखलाते हैं उस अनन्तशक्तिका असली आभास प्रकट करनेके लिये अबतक कई प्रयत्न हुए हैं।

सामान्यरूपसे इस लेखमें भी यह लिखा जा सकता है कि तृण-कणसे लेकर कुलिशादितक, चींटीसे लेकर हाथीतक, शश-मृगसे लेकर सिंहादितक और मनुष्योंसे लेकर देवोंतक जो भी जीव, पदार्थ या देव हैं और वे जो कुछ आहार-विहार या विचरण-व्यवहार करते हैं वे सब शक्तिके स्वरूप हैं। विशेषता यह है कि देवीके चित्रों, चरित्रों या प्रतिमाओंमें जो उसके दो, चार, छः, आठ, अठारह या हजार भुजाएँ; एक, दो, चार, छः या अगणित मुख और अपद, द्विपद, चतुष्पद या बहुत पद हैं, यह तथ्य-संयुक्त और रहस्यपूर्ण है।

वह महाबली सिंहपर आरूढ़ है। श्याम, श्वेत या लाल वर्णकी है। करालवदना, हसन्मुखी या शोकविह्वला भी है। उसके जितने हाथ हैं उतने ही (या उनसे भी ज्यादा) आयुध हैं। साथ ही हल, मूसल और कुदाल भी रखती है; फिर खड्ग, खप्पर, त्रिशूल या शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मका होना तो स्वाभाविक है। ये सब भी प्रयोजनवश हैं। और अवसर आये होते भी हैं। क्यों हैं और कैसे होते हैं, यह बतलानेके लिये यहाँ 'देवी-चरित्र' और 'शक्तिके स्वरूप' संक्षेपसे बतलाये जाते हैं।

(२)

दुर्गापाठ

पहला अध्याय—सृष्टिमें सर्वत्र जल व्याप्त था। प्राणी-पदार्थ कुछ नहीं थे। स्वयं भगवान् भी योगनिद्रामें मग्न थे। केवल जगज्जननी सजग थी। अवधि बीतनेपर कर्ण-मलसे मधु-कैटभ प्रकट हुए। उन्होंने कमल-नालके ब्रह्माको ग्रसना चाहा। तब विरञ्चिने भगवतीसे कहा कि तू 'स्वाहा', 'स्वधा' सब कुछ है। मेरी रक्षा कर। तब शक्तिने भगवान्को जगा दिया। वह चैतन्य हो गये। और शक्ति पाकर मधु-कैटभको मार डाला। दूसरा

अध्याय—असुरोंसे पीड़ित होकर देवताओंने देवीकी शरण ली। वह महिषासुरको मारनेमें प्रवृत्त हुई। उस समय उसका शरीर जलते हुए पर्वत-जैसा था। प्रत्येक अङ्गमें देवताओंकी शक्तियाँ भी थीं। देवीने खड्गप्रहारसे सेनाका संहार कर दिया।

तीसरा अध्याय—सेनाके निहत होनेपर महिषासुर आया। बड़ी गर्जना की। देवीने '**गर्ज गर्ज क्षणं मूढ**' कहकर त्रिशूलसे उसका शरीर छेद दिया और खड्गसे सिर काट डाला। चौथा अध्याय—देवता बड़े प्रसन्न हुए। सबने '**शक्रादयः सुरगणाः**' से गम्भीर रहस्यके शब्दोंमें स्तुति की। पाँचवाँ अध्याय—कालान्तरमें शुम्भ-निशुम्भ पैदा हुए। उन्होंने देवताओंको राज्यहीन और भोजनविहीन बना दिया। सबने हिमालयमें जाकर विष्णुमायाका '**नमो देव्यै**' से स्तवन किया। देवी सन्तुष्ट हुई। उसने मनोहर रूप धारण किया। दैत्य मोहित हो गये। उन्होंने चण्ड-मुण्डको भेजा। तब देवीने कहा कि मुझे युद्धमें परास्त करके पा सकते हैं।

छठा अध्याय—तब हजारों दैत्य लेकर धूम्रलोचन गया। देवीने हुङ्कारसे सबको निर्जीव बना दिया। साथ ही सिंहने सेनाएँ कुचल डालीं। सातवाँ अध्याय—चण्ड-मुण्ड मारे गये। आठवाँ अध्याय—अन्तमें स्वयं दैत्यराज उपस्थित हुआ। साथमें सुसज्जित सेना भी थी। देवोंने अपने स्वरूपको दिगन्तव्यापी बना लिया और देवताओंकी दी हुई सायुध, सवाहन ब्राह्मी-माहेश्वरी आदि शक्तियोंको साथ लिया। घोर युद्ध हुआ। रक्त-बीज नामक दैत्यके खूनकी प्रत्येक बूँदसे वैसे ही बली दैत्य बनते जा रहे थे, अतः देवीने मुँह फैलाकर उसके रुधिरको पृथिवीपर नहीं पड़ने दिया और उसको निर्बीज कर मार डाला। नवाँ अध्याय—रक्तबीजरूपी प्लेगके न रहनेपर निशुम्भने युद्ध किया, वह भी मारा गया।

दसवाँ अध्याय—अन्तमें शुम्भ आया। उसने कहा कि तू अन्य शक्तियोंके सहारेसे सेना-संहार कर रही है, नहीं तो अबतक हार जाती। तब देवीने बाहरकी शक्तियोंको शरीरमें विलीन करके अकेले ही शुम्भको मार डाला। ग्यारहवाँ अध्याय—दैत्यके मरनेसे देवताओंके सङ्कट कट गये। उन्होंने बड़ी भक्तिसे शक्तिकी स्तुति की। तब देवीने कहा कि तुम निर्भय रहो, मैं रक्षा करूँगी। बारहवाँ अध्याय—अनन्तर उसने अपने प्रकट होनेके अवसर एवं पूजा-विधान बतलाये। तेरहवाँ अध्याय—और सुरथ तथा समाधिको सुख-सम्पत्ति-सन्तान और राज्य देकर अन्तर्धान हो गयी। (विशेष जाननेके लिये 'दुर्गापाठ' को साद्यन्त देखना आवश्यक है) अब विश्वेश्वरीके विश्वव्यापक बहुविध एवं वैज्ञानिक स्वरूपोंका दिग्दर्शन कराया जाता है।

(३)

बल, ताकत या सामर्थ्य शक्तिके नाम हैं और तर, स्थाम, शुश्म, प्राण, उर्व, प्रविण और पराक्रम—ये पर्याय हैं। (१) वह ईश्वरकी सम्पूर्ण इच्छाओंको गौरी या लक्ष्मीरूप होकर अकेली पूर्ण करती है। इस कारण वह 'एक' प्रकारकी शक्ति है। अंग्रेज विद्वान् भी केवल 'पावर' मानते हैं। (२) इच्छा और माया-भेदसे 'दो' प्रकारकी है। उद्भव और विनाशादिके युग्मसे या स्त्रीदेव और देवीरूपसे भी दो प्रकारकी है। 'फोर्स' और 'एनर्जी' भेदसे अंग्रेज भी दो प्रकारकी मानते हैं। (३) ब्रह्मा-विष्णु-रुद्रसंस्थित—श्वेत, रक्त, कृष्ण वर्णकी—ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्री—महासरस्वती, महालक्ष्मी, महाकाली—सात्त्विकी, राजसी और तामसीके भेदत्रयसे 'तीन' प्रकारकी है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान—अग्नि, आदित्य और वायु—आतप, आदित्य और तड़ित् अथवा लक्ष्मी, सरस्वती और गायत्रीरूपसे भी तीन प्रकारकी है। (४) तेरह वर्षसे पच्चीस वर्षतककी अप्रसूता युवतियोंमें रूप, यौवन, शील और सौभाग्यके भेदसे 'चार' प्रकारकी है। (५) कृष्ण-प्राणेश्वरी 'राधा', मुदमंगलदायिनी 'लक्ष्मी,' बुद्धि, ज्ञान और शक्तिवर्द्धक तथा दुःखहरा 'दुर्गा,' संगीतादि सभी शास्त्रोंकी मर्मज्ञा 'सरस्वती' और अखिल तेजसे संयुक्त करनेवाली 'सावित्री'-रूपसे 'पाँच' प्रकारकी है। (६) ताप, तड़ित्, चुम्बक, मध्याकर्षण, आलोक और रासायनिक-भेदोंसे 'छः' प्रकारकी है। अंग्रेज भी गतिशक्ति (Energy of Motion), क्रियमाणशक्ति (Kinetic Energy), मध्याकर्षण (Energy of Gravitation), तापशक्ति (Heat Power), स्थिति-स्थापकता (Energy of Elasticity) और तड़ित्शक्ति (Electrical Energy) रूपसे छः प्रकारकी मानते हैं। (७) पृथिवी, आकाश, तड़ित्-प्रकाश, भचक्र-भ्रमण,

दिशाएँ, जगदाधार और वायुके रूपसे 'सात' प्रकारकी शक्ति होती है। स्वर्गका प्रकाश, पृथ्वीकी दाह-पाकादि क्रिया, वृक्षादिका रसपान, ओषधियोंके गुण, वनस्पतियोंके प्रभाव, जलका उर्व और वायुकी व्यापकतामें तेज देनेसे भी सात प्रकारकी है। (८) अणिमादि अष्टसिद्धिके रूपसे या इन्द्राणी, वैष्णवी, ब्रह्माणी, कौमारी, नारसिंही, वाराही, माहेश्वरी और भैरवीरूपसे 'आठ' प्रकारकी है। (९) गौर्यादि मातृकारूपसे 'सोलह' प्रकारकी है। (१०) पीठरूपसे 'इक्यावन' प्रकारकी। नटी और कापालिकी-रूपसे या योगिनीरूपसे 'चौंसठ' प्रकारकी। कीर्ति-कान्त्यादि वैष्णवी और गुणोदरी आदि रौद्रीरूपसे 'सौ' प्रकारकी। चामुण्डेश्वरी और राजराजेश्वरीरूपसे 'एक सौ इकसठ' प्रकारकी और सृष्टिगत प्राणी या पदार्थोंके रूपसे 'अगणित' प्रकारकी है। इन सबका विज्ञानसे विचार किया जाय तो बड़ा कौतुक मालूम होता है और अलौकिक आनन्द मिलता है।

(४)

उदाहरणार्थ-(१) स्फुलिङ्ग (चिनगारी)-को ग्रहण करके उसका तृण-कणादिसे सम्पर्क कराया जाय तो वह व्यापक बनकर स्वार्थ, परमार्थ या अनर्थके अनेकों काम कर सकता है। (२) 'दीप-ज्योति' के समीपमें अंगारेपर धूप रखनेसे ज्वाला प्रकट होकर घृतादिके सम्पर्कसे अनन्त ज्वाला बन सकती है। (३) 'प्रदीप्त अग्नि' का इन्धनादिसे जितना अधिक संयोग कराया जाय उतना ही अधिक अग्निभण्डार या दावानल बन सकता है। (४) 'इन्द्र' रूप शक्तिके स्मरणसे वारिवृष्टि होकर भूमण्डलके सभी जलाशयोंकी पूर्ति हो सकती है। (५) 'वज्रपात' के एक ही प्रहारसे अनेकों प्रकारके प्रकाण्ड काण्ड हो सकते हैं। (६) 'तडित्-प्रभाव' से इन दिनों सब परिचित हैं। बिजलीघरकी एक ही धारासे हजारों प्रकारके उद्योग-धन्धे, सुख-साधन और संहारक-शक्तियाँ प्रकट रहा करती हैं। (७) 'सूर्य-दर्शन' सर्वोपरि प्रभावान् है। एक ही मूर्तिके आकाश, पाताल और भूमण्डलमें सर्वत्र दर्शन होते हैं। विशेषता यह है कि जल, चमक और आदर्श आदिमें एकसे अनेक सूर्य बन जानेपर भी वे सब कृत्रिम नहीं, वास्तविक रहते हैं। और उन सबमें भी चमक, प्रकाश, चकाचौंध और अग्निप्रद प्रभाव प्रस्तुत रहता है। (८) 'वायु-प्रवाह' अन्तरिक्षपर्यन्तमें एक होनेपर भी गुण, रूप और शक्तिमें भिन्न-भिन्न रूप रखता है। और उससे सभी पदार्थोंका पोषण, शोषण, विकसन और विनाशतक हो जाता है। और (९) 'वस्तु-व्यवहार' में अन्न, जल, धातु, वस्त्र और औषध आदि एक-एक रूपके होकर भी अनेक प्रकारसे उपकारी सिद्ध होते हैं। और ये सब शक्तिके ही स्वरूप माने जाते हैं। इन्हींके रूपमें वह एकाधिक भुज, मुख या पादादिकी मान ली जाय तो भी उस अज्ञेय स्वरूपवाली शक्तिका सम्पूर्ण प्रभाव उक्त पदार्थोंसे पृथक् नहीं होता।

(५)

उपर्युक्त स्वरूपोंमें कई स्वरूप ऐसे हैं जो सर्वसाधारणकी सामान्य दृष्टिसे दीख नहीं सकते। अतः शक्ति-उपासकोंकी सुविधा और मंगलकामनाके विचारसे त्रिकालदर्शी तत्त्वज्ञ महर्षियोंने प्रतिमा-निर्माणकी योजना और तत्सम्बन्धी पूजा-विधान नियत किये थे और उनसे प्रत्येक आशार्थी या शक्ति-भक्तको अभीष्ट फल मिलते थे।

श्रीतत्त्व-निधिमें अनेकों शक्तियों (या देवियों)-के ध्यान हैं। और उनके नामादि भी बतलाये हैं। उनसे प्रत्येक शक्तिके गुण-कर्म-स्वभाव, आयुध-वाहन-स्वरूप, वेश-भूषा, अंगविभाग और उपासनागत महा-फल आदि मालूम होते हैं। उपासक चाहें तो ध्यानानुसार सभी शक्तियोंकी प्रतिमा बनवा सकते हैं। संसारमें जितने प्रकारके चित्र, चरित्र और प्रतिमाएँ देखनेमें आती हैं वे सब ऋषिप्रणीत ध्यानोंके अनुसार ही निर्माण की गयी हैं। अस्तु।

भारतवर्षमें शक्तिपूजाके कई स्थान ऐसे प्रतिष्ठित हैं जहाँ देश-देशान्तरके अगणित यात्री जाते हैं और पूजा-पाठ-प्रयोग या महोत्सवादि मनाते हैं। उनमें कलकत्ताकी 'काली', आसामकी 'कामाक्षा', काँगड़ाकी 'ज्वालाजी', बीकानेरकी 'करणी', बम्बईकी 'मुम्बादेवी', आमेरकी 'सिलामयी माता', सीलक्याँकी 'सीतला', चौमूँकी 'आँतेरि' और गोरियाँकी 'जीणमाता' विशेष विख्यात हैं।

शक्तिका प्रभाव देखिये—आसाम-जैसे देशोंमें, वीर

क्षत्रिय, मीने और भील आदि जातियोंमें, सुप्रसिद्ध पीठस्थानोंमें, विजयादशमी-जैसे त्योहारोंमें और खड्ग, शूल एवं तोप आदि शस्त्रास्त्रोंमें शक्तिका ही प्राधान्य है। और शक्ति-साध्य कार्योंमें उसीका नाम स्मरण किया जाता है। कुछ वर्ष पहले इस देशमें शक्तिके उपासक एक या एकाधिक सर्वत्र थे। और वे मन्त्र-तन्त्र या दुर्गापाठादिके द्वारा संसारहितके सभी काम करते थे।

वर्तमानमें इंजिन या मशीन आदिसे होनेवाले कई एक काम बड़े विलक्षण माने जाते हैं। किन्तु शक्तिके सच्चे उपासक कई अंशोंमें इनसे बहुत अधिक काम करते थे। एकान्तके कोनेमें बैठकर मन्त्र-जप या दुर्गापाठ आदिके द्वारा वे उक्त शक्तियोंको साक्षात्-रूपमें प्रत्यक्ष प्रकट करनेकी क्षमता रखते थे और रोग, शत्रु, महामारी, राजभय या ईति-भीतिका निवारण और धन-पुत्र-दारा या सम्मानवृद्धि आदिकी उपलब्धि करवा सकते थे।

विशेषकर 'दुर्गापाठ' का महत्त्व अधिक मान्य था। इसके महाफलदायी शत-सहस्रायुत-चण्डी-प्रयोग आदि नानाविध प्रयोग पण्डितोंको पूर्णरूपसे ज्ञात थे। और आतुर या आशार्थियोंका भी इनकी सफलतापर पूरा विश्वास था। कई एक पण्डित इन कामोंमें इतने अधिक सिद्धहस्त या क्रियाकुशल थे कि असम्भव या कष्टसाध्य बड़े भारी कामोंको भी नियत अवधिमें यथार्थरूपसे करवा सकते थे। और अधिकांश आशार्थी भी अपने अमिट सङ्कटोंका निवारण या देव-दुर्लभ विभूतियोंकी उपलब्धि उन्हीं प्रयोगोंसे सम्भव मानते थे।

वर्तमानमें शक्ति-उपासकोंका अभ्यास शिथिलप्राय प्रतीत हो रहा है और साथ ही अनेक कारणोंसे आशार्थियोंकी श्रद्धा भी बहुत कुछ घट गयी है। फिर भी नीचे लिखे ग्रन्थोंका अनुभव, अभ्यास या अवलोकन किया जाय तो बहुतोंका हित होना सम्भव है। ग्रन्थ ये हैं—

(१) देवीपुराण, (२) पद्मपुराण, (३) कालिकापुराण+, (४) मार्कण्डेयपुराण+, (५) वाराहपुराण, (६) ब्रह्मवैवर्तपुराण, (७) हरिवंशपुराण, (८) रेवतीतन्त्र+, (९) कुब्जिकातन्त्र+, (१०) रहस्यतन्त्र+, (११) मेरुतन्त्र, (१२) कात्यायनीतन्त्र+, (१३) वाराहीतन्त्र, (१४) हरगौरीतन्त्र, (१५) क्रोडतन्त्र, (१६) रुद्रयामल+, (१७) शक्तिकागमसर्वस्व+, (१८) शब्दमाला, (१९) गुप्तरहस्य, (२०) देवीरहस्य+, (२१) शारदातिलक+, (२२) तन्त्रसार, (२३) मन्त्रमहोदधि, (२४) अनुष्ठानप्रकाश, (२५) शाक्तप्रमोद+, (२६) श्रीतत्त्वनिधि, (२७) मारीचकल्प+, (२८) कुलार्णव, (२९) कल्पवल्ली, (३०) शान्तिसार, (३१) ऋग्वेद, (३२) अथर्ववेद, (३३) श्वेताश्वतरोपनिषद्, (३४) योगवासिष्ठ, (३५) ब्रह्मसूत्र, (३६) सप्तपदार्थसंग्रह, (३७) विश्वसार, (३८) अथर्वरहस्य+, (३९) प्रपञ्चरहस्य, (४०) शक्ति-भक्ति और (४१) शक्ति-अङ्क+ द्रष्टव्य हैं।

इन सबकी अपेक्षा (४२) देवीभागवत+, (४३) शारदातिलक+, (४४) दुर्गा (सप्तशतीसर्वस्व)+, (४५) दुर्गोपासनाकल्पद्रुम+ और (४६) हिन्दी विश्वकोशका देखना नितान्त आवश्यक है। इनके अवलोकनसे शक्ति-भक्तोंको परम सन्तोष होगा और अभीष्ट फल मिलेगा। एवमस्तु।

महामाया

महामायारूपे परमविशदे शक्ति! अमले!
रमा रम्ये शान्ते सरलहृदये देवि! कमले!
जगन्मूले आद्ये कपिविबुधवन्द्ये श्रुतिनुते!
*** बिना तेरी दाया कब अमरता लोग लहते!!**

—लोचनप्रसाद पाण्डेय

+ शक्ति-विषयक बातोंका फूलीके ग्रन्थोंमें प्रधानरूपसे और बिना फूलीवालोंमें आंशिकरूपसे वर्णन है।

* कृपा तेरी अम्बे! भव-जनित-बाधा-दलनि है।

श्रीकृष्णकी शक्ति श्रीराधिका

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी भट्ट)

जयति श्रीपतिः सिद्धिराधारमणविभ्रमः।
श्रीवल्लभश्च जयति श्रीपतिस्तत्प्रकाशकः॥

सारा आस्तिक जगत् यह स्वीकार करता है कि अवश्य किसी सार्वभौम अलक्ष्यसत्ताकी कोई महामहती-शक्ति इस प्रपञ्चमें सब कार्योंको चला रही है।

जिस समय हम घट-पट आदि भेदोंकी उपेक्षा कर इस प्रपञ्चपर दृष्टि डालते हैं तो हमारे हृदयमें इस जगत्‌का एकभावापन्न अगाध अप्रमेय स्वरूप अङ्कित हो जाता है।

जल-कणोंसे ही जल बनता है, सहस्रशः एकभावापन्न जल-कणोंको ही जल कहा जाता है। और ऐसे-ऐसे कोटिशः जल जब एकत्रित होते हैं तब हम उसे समुद्र कहते हैं। उस समय यह एकभावापन्न जलराशि मनुष्यके लिये अगाध, अप्रमेय, अचिन्त्य-जैसी हो जाती है।

यही तुलना जगत्‌की है। अनन्त भेदका नाम जगत् या प्रपञ्च है। जिसका फिर टुकड़ा न हो सके, इस प्रकारके अनन्त टुकड़ोंसे और भेदोंसे यह सारा प्रपञ्च बना है और तब यह अगाध, अनन्त, अप्रमेय और अचिन्त्य-जैसा हो गया है। इतना दुर्बोध रहते भी हम यह तो देख ही रहे हैं कि प्रत्येक पलमें इस अगाध, अचिन्त्य विश्वका भी प्रत्येक लघु-से-लघु अवयव अपने एक रूपको छोड़कर दूसरे विचित्र रूपको धारण करता रहता है। यह गति रोकनेसे रुकती नहीं। कभी-कभी तो यह हाल होता है कि विश्वकी किसी छोटी-से-छोटी गतिको भी रोकनेवाला स्वयं उसी गतिके प्रवाहमें बहने लगता है। इस विश्वकी गतिको कोई समझकर भी नहीं समझ पाता। कोई-कोई सुनकर, देखकर भी नहीं समझने पाते। यह सारा जगत् किसी चतुष्पात् (चारों तरफ समान) निवास करनेवाले महाशक्तिमान्‌का एक चरण (भाग) है—**'पादोऽस्य विश्वा भूतानि।'** जिसके मान लिये हुए एक टुकड़ेका भी जब बड़े-बड़े बुद्धिमान् लोग (शिव-सनकादि) पता नहीं पा सकते, तब फिर उस सर्वांशी, सर्वेशान, **'सर्वस्य वशी'** सच्चिदानन्द भगवान्‌का पता अल्पाल्पज्ञ जीव कैसे पा सकता है?

हमारी शक्ति भी उतने ही नाप-तौलकी होती है जितने हम होते हैं। इस उदाहरणसे ही यदि काम लें तो कह सकते हैं कि उस विश्वातीत, सर्वेश्वर भगवान्‌की शक्ति भी वैसी है जैसा वह है। वह विश्वातीत है तो यह भी अप्रमेया है, वह सर्वेश्वर है तो यह भी सर्वेश्वरी है। वह सबको वशमें कर लेनेवाला है तो यह भी विश्वमोहिनी है। यदि उनकी महिमा मन-वचनोंसे अतीत है तो फिर भगवतीकी भी लीला अपरम्पार है। ऐसी दशामें हम उस अचिन्त्य शक्तिमान् और उसकी शक्तिको, जो दोनों मिलकर इस अचिन्त्य जगत्‌को चला रहे हैं, कैसे और किस रूपमें दुनियाके आगे प्रकाशित करें। हमारी सामर्थ्य नहीं है, चलो छुट्टी मिली; सोना चाहते ही थे, बिछौना मिल गया।

किन्तु यह हमारा 'कल्याण' हमें चैनसे बैठने नहीं देता। यह हमारे हृदयमें बैठा-बैठा ही सालमें एक बार तो हमें उठा ही देता है। कहता है कि कबतक ओंघते रहोगे, एक दिन तो चलना ही है; इस धर्मशालामें कितने दिन सो सकोगे? और कहीं ठिकाना नहीं हो तो फिर कल्याणके घर ही चलकर सोओ न। वहाँ पहुँचनेपर फिर आपको कोई नहीं उठा सकता।

तो क्या जबरदस्ती कल्याणके घर चलना होगा? अच्छी बात है। हम तो ऐसे पोस्ती हैं कि—

अनाहूता न यास्यामो गृहे मृत्योर्हरेरपि।

किन्तु मेरे मित्र कल्याण! तुम्हारे घरका तो हमें पता ही नहीं, कैसे पहुँचेंगे? क्या कहा? यह लकड़ी थाम लो? इसके सहारेसे पहुँच जाओगे! बहुत-से अंधे आजतक इसीसे अपना काम चला गये और बहुत-से आज भी अपना काम चला रहे हैं। अंधोंकी आँखें लकड़ी है। लकड़ीके द्वारा वे अपने घरका मार्ग तै कर लेते हैं। **'सर्वस्य लोचनं शास्त्रम्'**—अज्ञानियोंको अपना ध्येय प्राप्त करनेके लिये नेत्र शास्त्र ही है। उस परात्पर भगवान्‌की शक्तिका निरूपण करनेके लिये शास्त्र ही नेत्र-ज्योति है, हमें उसके लिये शास्त्र ही शरण है।

शक्तिका स्वरूप

भगवान्‌की शक्ति भगवान्‌से पृथक् नहीं है। वह भी भगवान् ही है। ये सच्चिदानन्द भगवान् जिस समय (सृष्टिके पूर्व) तिरोहितधर्म सुप्त-शक्ति अतएव अन्तःक्रीड, व्यापक रहते हैं उस समय उनकी यह शक्ति-महारानी भी उनके स्वरूपमें मिली हुई जागती हुई भी सोती रहती हैं, एक और व्यापक रहती हैं। और जब वे भगवान् जगत्-रूपसे अनन्त रूप धारण करते हैं तब यह शक्ति-महारानी

भी अपने अनन्त रूप बना लेती हैं।

भगवान्‌ने जगत्-रूप अपनी क्रीडाके व्यवहारोंको यथावस्थित चलानेके लिये विरुद्धाविरुद्ध अनेक रूप धारण किये हैं तो शक्ति भी इसी प्रकारसे विरुद्ध-अविरुद्ध विविध प्रकारसे प्रकट हुई है। अतएव भगवान्‌के अनन्त रूप हैं, तो उनकी शक्तियाँ भी अनन्त[1] हैं। उनमें विरुद्ध शक्तियाँ भी सप्रयोजन हैं। जिस कार्यकी अपेक्षा है उसको करनेके लिये तदनुकूल शक्तिका भी निर्माण किया गया है। विरुद्ध शक्तिके प्रादुर्भावसे कार्यको अनुकूल कर लिया जाता है। जड हो किंवा चेतन, जब किसी पदार्थकी किसी दूसरे पदार्थमें अति आसक्ति होकर क्रीडा होने लगती है और उस क्रीडासे दोष होनेकी सम्भावना होने लगती है किंवा दोष उत्पन्न होते हैं तब भगवान् उसी समय उससे विरुद्ध शक्तिको उत्पन्न कर उन आते हुए दोषोंको दूरकर पदार्थोंका समीकरण करते रहते हैं। इस तरह वे कर्मज, कालज और स्वभावज दोषोंका निवर्तन करते हैं। और मोहिनी मायासे आते हुए दोषोंको अपनी चिच्छक्तिसे दूर करते हैं। देश-दोष तो भगवान्‌में आ ही नहीं सकता। क्योंकि भगवान् अपने आत्मामें ही सर्वदा निवास करते हैं। यह अक्षर-ब्रह्मरूप भगवदात्मा सर्वधर्मोंसे अस्पृष्ट ही रहता है। इस तरह भगवान् सर्वजगद्रूप रहनेपर भी, उच्चावच सर्व प्रकारकी लीलाओंको करते रहनेपर भी अपने स्वरूपमें—लीलामें पाँचों प्रकारके दोषोंका सम्बन्ध न होने देनेके लिये विविध अनन्त शक्तियोंका आविर्भाव करते हैं।

इन अनन्त शक्तियोंमें तीन शक्तियाँ प्रधान हैं। सर्वभवनसामर्थ्य, मोहिनी और क्रिया। ये प्रधान किंवा अप्रधान सब प्रकारकी शक्तियाँ शास्त्रोंमें 'माया' शब्दसे कही गयी हैं। अतएव कभी-कभी विद्वानोंको भी मायाका अर्थ समझनेमें भूल हो जाती है।

वास्तवमें देखा जाय तो सर्वभवनसामर्थ्यरूप मायाका ही सब खेल है। सारा जगत्—जड़ या चेतन सब-का-सब इस सर्वभवनसामर्थ्यरूप मायाके द्वारा ही बनाया गया है। इसे एक[2] मशीन (साँचे)-की तरह समझिये। सुनारोंके पास जो एक ढालनेका साँचा रहता है, वे लोग सोना, चाँदी प्रभृति तैजस पदार्थोंको उस साँचेका स्पर्श कराकर अनेक पदार्थ तैयार कर लेते हैं। सुवर्ण ही उस साँचेका स्पर्श करके अनेक रूपोंमें प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार भगवान् भी उस सर्वभवनसामर्थ्य (सब कुछ होनेकी ताकत)-रूप अपनी माया-शक्तिका स्पर्श कर जब प्रकट होता है तब उस भगवान्‌को ही अल्पबुद्धि लोग जगत् कहने लगते हैं। और कितने ही उसे भगवान्‌से पृथक् ही समझते हैं। सबसे बड़ी यह शक्ति है। उत्कर्ष-अपकर्ष, समता-विषमता, भला-बुरा, सत्य-असत्य, जो कुछ दीखता है वह सब कुछ इसी माया महाशक्तिका ही सामर्थ्य है। मायाके सहारे सृष्टिका निर्माण होना यह पौराणवर्णन है, श्रौत नहीं। श्रुतिमें तो मायाके स्पर्श बिना ही भगवान् अपने-आपको जगत्-रूपमें प्रकाशित करता है—**'स आत्मानꣳस्वयमकुरुत'**, और श्रीमद्भागवतादि पुराणोंमें तो इस प्रकार वर्णन है—

स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्यागुणो विभुः॥

सबसे पहले इस सर्वसमर्थ भगवान्‌ने अपनी उच्च-नीच-स्वरूपा, अतएव गुणमयी मायाशक्तिसे इस जगत्‌को पैदा किया। भगवान् निर्दोष और अप्राकृत अनन्त गुणवाले हैं, अतएव अपने स्पर्शसे उसे गुणमयी और तत्तादृश आकृतिवाली बना देते हैं। भगवान्‌के स्पर्शसे ही वह गुणमयी हुई और अब वह जगत्‌की प्रकृति (अवान्तरमूल) हुई, अतएव उसमें आनेके बाद वे गुण प्राकृत कहलाने लगे। स्पर्श परस्पर होता है, जैसे भगवान्‌का स्पर्श मायाको हुआ, इसी प्रकार मायाका स्पर्श भगवान्‌को भी हुआ ही। किन्तु भगवद्गुण तो मायामें आये, पर भगवान्‌में मायाके गुण नहीं आये। भगवान् तो निर्गुणके निर्गुण ही रहे। इसीलिये मूलमें

---

१. भगवतस्तु बह्व्यः शक्तयः सन्त्यन्योन्यविरुद्धास्तत्तत्कार्यार्थं निर्मिताः। तत्र यस्यामेवासक्त्या क्रीडायां क्रियमाणायां तद्दोषप्रादुर्भावः सम्भाव्यते। तदैव तद्विरुद्धशक्तिप्रादुर्भावनेन पूर्वान् दूरीकरोति तथा चिच्छक्त्या मायां व्युदस्य तिष्ठतीति न मायिकदोषसम्बन्धः, देशदोषस्तु न सम्भाव्य एव। सर्वधर्मास्पृष्टे केवल आत्मनि विद्यमानत्वात्। (सुबोधिनी १। ७। २३)

२. भगवान् मायया स्वस्य शक्त्या सर्वभवनसामर्थ्यरूपया इदमात्मभूतं जगत् सृष्टवान्। सा ह्युच्चनीचसर्वप्रतिकृतिरूपा तस्यामात्मानं संयोज्य प्रकटीकुर्वन् जगद्रूपेण जायते। एवं सति सुगमा सृष्टिर्भवति। सुवर्णकाराणां प्रतिमादिनिर्माणवत्। सा हि भगवन्निकटे तिष्ठति। निद्रापि शक्तिः। सा जीवं भगवत्समीपे नयति। मायापर्यन्तं गमने स्वप्नः। भगवत्पर्यन्तं गमने सुषुप्तिः। पुनश्च सा यथास्थानमानयति। विद्या तु भगवत्समीपमेव नयति, नानयति। एवमनन्ताः शक्तयो भगवतः। वेदे तु मायासाधनराहित्येनैव स्वत एवात्मानं जगद्रूपं करोति इत्युच्यते। घटितपूरणपात्रभेदवद्वैदिकपौराणिकजगतोर्भेदः। स्वस्यानन्तगुणस्य स्पर्शेन तादृशाकृतिरूपा गुणमयी भवति। तेषामुत्तममध्यमनिकृष्टभेदेन त्रिराशित्वात्सत्त्वरजस्तमोगुणवाच्यता। अस्याः पुनः स्पर्शेन भगवति गुणाकृतित्वम्। अतः अगुणः प्राकृतगुणरहितः। कथं स्वसम्बन्धेनैव मायाया गुणवत्त्वम्। कथं वा मायायां प्रविष्टोऽपि जगद्रूपेण जातोऽप्यगुणस्तत्राह-'विभुः।'

'**विभुः**' पद दिया है। भगवान्‌में वैसी सामर्थ्य है। कमलपत्रमें ही सामर्थ्य है कि वह जलका स्पर्श होनेपर भी उससे निर्लेप रहे। इसी प्रकार भगवान् भी उस अपनी माया-शक्तिमें प्रवेश करते हैं, अपने सच्चिदानन्दादि गुणोंको मायामेंसे होकर निकालते हैं तथापि उसके धर्म भगवान्‌का अभिभव नहीं कर सकते। यह भगवान्‌का विभुत्व है।

यह माया-शक्ति उच्च-नीच आदि सर्वप्रतिकृतिरूपा है, इसलिये इसमेंसे होकर निकलनेके बाद सच्चिदानन्दादि गुण ही तीन प्रकारके होनेसे सत्त्व, रजस्, तमस् हो जाते हैं—उत्तम, मध्यम, निकृष्ट। इस तरह प्रकृतिके इन तीन गुणोंसे सारा जगत् भरा हुआ है। यह भी एक तरहकी सृष्टि है। सृष्टिके अनेक प्रकार हैं, यह हम ब्रह्मवादमें बता चुके हैं।

निद्रा भी भगवान्‌की ही शक्ति है। यह जीवको भगवान्‌के समीप ले जाती है। जब जीवको लेकर मायाके पास पहुँचती है उस समय जीवको स्वप्न होता है। और जब भगवान्‌के पास ले जाती है तब सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) होती है। निद्रा भी एक अविद्या-शक्तिकी तरङ्ग है, इसलिये उसमें वासना रहती है; उस वासनाके वश होकर निद्रा जीवको फिर अपने स्थानपर ले आती है। अविद्या, निद्रा आदिकी तरह विद्या भी भगवान्‌की शक्ति है। यह जीवको भगवान्‌के समीप ले जाती है पर दुर्वासनाओंके न रहनेसे फिर पीछे नहीं लौटाती।

स एव भूयो निजवीर्यचोदितां
स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम्।
अनामरूपात्मनि रूपनामनी
विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत्॥

सृष्टि दो प्रकारकी होती है—आत्मार्थ सृष्टि और जीवार्थ किंवा परार्थ सृष्टि। भगवान् अपने लिये भी सृष्टि करते हैं और जीवोंके लिये भी। अपने लिये जो सृष्टिका निर्माण होता है वह एक तरहकी आत्मक्रीडा-आत्मरति ही कही जा सकती है। आत्मार्थ सृष्टिमें भी जीवादि सब पदार्थोंकी सृष्टि होती है; किन्तु वह केवल अपने आनन्द या अपनी क्रीडाके ही लिये होती है, इसका कोई अन्य विशेष प्रयोजन नहीं रहता। इस आत्मसृष्टिमें सर्वरूप भगवान् ही हो जाता है। माया प्रभृतिका इसमें सम्बन्ध नहीं रहता। यह सृष्टि निखालिस ब्रह्मरूपा होती है। जीवार्थ सृष्टिमें कार्यशक्ति लानेके लिये भगवान्‌का अवतार होता है। भगवदर्थ ब्रह्मसृष्टिमें भगवान्‌के अवतारकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वहाँ भगवान् ही अकेले सब पदार्थोंके स्व-रूप हैं। जीवार्थ सृष्टिमें यह आत्मार्थ सृष्टिके भगवद्रूप आधिदैविक पदार्थ (भगवद्रूप) प्रवेश करते हैं। अर्थात् जीवार्थ सृष्टिके पदार्थोंमें आत्मशक्ति पहुँचानेके लिये भगवान्‌का अवतरण (अवतार) होता है। आत्मार्थ सृष्टिमें केवल भगवद्भोग है और जीवार्थ सृष्टिमें जीव-भोग और भगवद्भोग दोनों हैं। आत्मार्थ सृष्टिमें केवल भगवान् अपने स्वरूपका आप ही आनन्द लेते हैं और जीवार्थ सृष्टिमें भगवान् और जीव दोनों स्वरूपानुसार सृष्टिका भोग करते हैं, सुखोपभोग करते हैं।

आत्मसृष्टिमें मायाका सम्बन्ध नहीं रहता। वेदमें इस सृष्टिका ही प्रायः वर्णन है। और जीवार्थ सृष्टिमें तीनों प्रकारकी मायाका सम्बन्ध रहता है। सर्वभवनसामर्थ्यसे जीवानुकूल रूपाकार समर्पण होता है। मोहिनीसे जीवोंका व्यामोहन और क्रियारूपासे सर्वविध क्रियाएँ होती हैं। भगवन्माया-शक्ति तीन प्रकारकी है, यह हम कह चुके हैं। प्रथम* शक्ति अपनी अनन्त प्रतिकृति (तसवीर किंवा साँचे)-का स्पर्श करनेपर भगवान्‌को ही जगद्रूपसे प्रकाशित करती है और दूसरी मोहिनी माया-शक्ति जीवोंका व्यामोह करके उस जीवार्थ सृष्टिमें आसक्त कर देती है। उस समयकी यह सृष्टि जीवार्थ सृष्टि कही जाती है। अतएव उस समयकी उस भगवन्मायाका भी जीवमाया नाम हो जाता है। भगवान्‌ने जीवार्थ सृष्टि करनेके लिये इस मायाका करणत्वेन परिग्रह किया है,

* सा च माया द्विविधा—स्वप्रतिकृत्या सम्बद्धं भगवन्तं जगद्रूपेण करोति, स्वेच्छया प्रादुर्भूताञ्जीवांश्च व्यामोहयति। तदेयं सृष्टिर्जीवार्था भवति। अतो मायाया इदानींतनाया जीवमायेति नाम। तया सृष्टिप्रकारमाह। प्रकृतिं सिसृक्षतीम्। यद्यपि प्रकृतिपुरुषौ सृष्टौ तथापि पुरुषो भगवद्भागे पतित इति प्रकृतिं सिसृक्षतीमित्युक्तम्। तादृशीं मायां भगवाननुससार, तद्व्यापारानन्तरं स्वयं तदनुकूलतया पितेव मिलितवानित्यर्थः। अस्यां सृष्टौ विशेषप्रयोजनमाह—अनामरूपात्मनि रूपनामनी विधित्समानः। पूर्वसृष्टौ न भगवतोऽवतारः। न नामानि रूपाणि च। इदानीं सृष्टेर्भक्तिप्रधानत्वाद्भगवतोऽवताररूपनामान्यपेक्ष्यन्ते। अतः पूर्वमनामरूपात्मनि स्वस्मिन्निदानीं रूपनामनी विधित्समान इति। अतो जीवार्थमेव स्वस्यापि रूपनामानि करोतीत्यर्थः। किञ्च, शास्त्रकृत् वेदकर्ता। केवलनामरूपकरणे युगपदेव सर्वमुक्तिप्रसङ्गात्सृष्टिकालह्रासः प्रसज्येत। उत्पादिते तु वेदे स्वभावगुणभेदेन भिन्नेन तेन व्यामोहितेषु कश्चिदेव मुच्यत इति क्रमेण सर्वमुक्तौ सृष्टिकालस्य न ह्रासो भवेत्।

(सुबोधिनी १।१०।२२)

इसलिये इसको जगत्‌की प्रकृति भी कहा जा सकता है। उस जीवमाया (सर्वभवनसामर्थ्य) नामक प्रकृतिको जब सृष्टि तैयार करनेकी इच्छा हुई तब भगवान् भी उसके अनुकूल हो गये—'**अनुससार शास्त्रकृत्**।'

इच्छा-धर्म चेतनका है, जडका नहीं। प्रकृति जड है। यहाँ प्रकृतिको सृष्टि बनानेकी इच्छा हुई—यह कहा है, इसलिये इस विरोधको हटानेके लिये भगवान्‌ने स्वयं पुरुषरूपसे प्रकृतिको सृष्टि-रचना करनेके लिये सहारा दिया। और वास्तवमें देखा जाय तो भगवान्‌ने सृष्टि-रचना करनेके लिये ही प्रकृति और पुरुष, दो रूप धारण किये हैं। यहाँ केवल प्रकृतिका ही नाम इसलिये लिया कि पुरुष तो भगवान्‌में ही अन्तर्भूत है, इसलिये भगवान्‌के अनुसरणमें उसका अनुसरण अपने-आप आ जायगा। अतएव मूलमें कहा है—'**सिसृक्षतीं प्रकृतिं स (भगवान्) अनुससार**।'

जीवार्थ सृष्टिमें तीन विशेष बातोंकी अपेक्षा रहती है—नियत रूप, नियत नाम और उसमें भगवान्‌के अवतार (प्रवेश)-की।

जीवार्थ सृष्टिमें क्रीडाके साथ-साथ यह भी एक प्रयोजन है कि जीव भगवान्‌की भक्ति करके पुनः अपने स्थान (भगवत्पद)-को प्राप्त करे। इसलिये यह जीवार्थ सृष्टि भक्तिप्रधान है और इसीलिये इसमें नियत नाम-रूप और भगवत्प्रवेशकी आवश्यकता है। पूर्व (ब्राह्म) सृष्टिमें भगवान्‌का अवतार भी नहीं था और न नियत नाम और रूप ही थे। अतएव भक्त्यादि यज्ञ करते समय ब्रह्माको यज्ञ-सामग्रीके दर्शन ही न हुए—'**नाविदं यज्ञसम्भारान्**।' और इस समय तो जीवसे भक्ति करवानी है, इसलिये अनामरूप-स्वरूप अपने आत्मामें (स्वरूपभूत जगत्‌में) नियत रूप और नामका निर्माण करनेकी इच्छासे भगवान्‌ने अपनी प्रकृतिको सहारा दिया। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वार्थ-सृष्टिमें नाम-रूप-अवतार नहीं, किन्तु जीवार्थ सृष्टिमें ही अपने नाम-रूप और अवतार करते हैं।

यहाँ एक यह प्रश्न होता है कि केवल नाम-रूपका निर्माण करनेसे एकदम सारे जीवोंकी मुक्ति हो सकती है और इस तरह किसी समय सृष्टि-कालकी समाप्ति भी आ सकती है। इस विरोधको दूर करनेके लिये मूलमें कहा है—'**शास्त्रकृत्**', अर्थात् '**शास्त्रकृत् सन् प्रकृतिं अनुससार**।' वेदको बनाते हुए प्रकृतिका अनुसरण किया। मायाके मोहसे जीवोंके स्वभाव विभिन्न हैं। उन जीव-स्वभाव-गुणोंके अनुकूल कहीं-कहीं वेदने भी साधन-फलोंका निरूपण कर दिया है, तो ऐसी अवस्थामें माया-मोहित बुद्धि तत्तत्साधन-फलोंका परिग्रह करती रहेगी तो उनमेंसे कोई थोड़े ही क्रमसे मुक्ति पा सकेंगे और सृष्टि-कालका एकदम ह्रास नहीं हो सकेगा। इसी आशयको लेकर भगवान्‌ने गीतोपनिषद्‌में कहा है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

'हे अर्जुन! काम्य-यज्ञादि-विषयक वेद त्रिगुणात्मक साधन-फलोंका वर्णन करनेवाला है, पर तू तो निस्त्रैगुण्य—परमात्मसेवक बन।'

पाठकगण! यहाँतक हमने सर्वभवनसामर्थ्यरूप मायाशक्तिके स्वरूप और कार्यका निरूपण किया। इस शक्तिके दो ही कार्य प्रधान हैं—नियम रूप-नामका दर्शन करना और जगत्‌की विचित्रता दिखाना। यह आनन्दब्रह्मकी शक्ति है।

अब दूसरी शक्ति मोहिनी है। इसे व्यामोहिका माया किंवा केवल माया भी कहते हैं। यह चिद्ब्रह्मकी शक्ति है। सत्-चित्-आनन्द तीनों ब्रह्मांश—ब्रह्मकी तीन (सर्वभवन-सामर्थ्य, मोहिनी और क्रिया) शक्तियाँ हैं। तीन शक्तियोंके बिना जगत्‌की क्रीडा नहीं हो सकती। इन शक्तियोंसे ही जगत्-क्रीडा चल रही है। भगवान् इनको सहारा देते हैं और ये तीनों अपना-अपना कार्य कर रही हैं।

चिद्ब्रह्म भी उस सर्वमूल सच्चिदानन्द भगवान्‌का एक अंश है। अंश होनेपर भी व्यापक है। चिद्ब्रह्म भी यदि स्वरूपावस्थित अर्थात् निर्दोष और व्यापक रहा आता तो जगत्-क्रीडा होती ही नहीं। किन्तु भगवान्‌को बाह्यक्रीडा करनेकी इच्छा हुई है; इसलिये '**स नैव रेमे**', '**एकोऽहं बहु स्याम्, प्रजायेय**' इत्यादि श्रुतियोंसे स्पष्ट होता है कि क्रीडाकी इच्छासे उस सर्वमूल सच्चिदानन्द भगवान्‌ने अपने स्वरूपमें ही विभेद कर यह सारा जगत् तैयार कर लिया। सत्-सत्, चित्-चित्, आनन्द-आनन्द; सत्-चित्, चित्-आनन्द, सत्-आनन्द इत्यादि विभेदका परिगणन करनेसे ९, ८१ और अनन्त भेद हो जाते हैं। यह अनन्त भेद '**एकोऽहं बहु स्याम्**' इतने मात्र श्रुति-खण्डका अर्थ है, अभी '**प्रजायेय**' इस उत्तरार्धका अर्थ बाकी है। स्वरूप-विभेद होनेपर भी वैचित्र्यकी अपेक्षा

रहती है, वैचित्र्य बिना भी क्रीडा होना दुष्कर है। क्रीडाके लिये उन विभेदोंमें भी भगवान्‌ने उत्कर्षापकर्ष और किया। कोई भेद उत्कृष्ट (उत्तम) और कोई भेद अपकृष्ट (बुरा), इन उत्तममध्यमाधमरूप उत्कर्षापकर्षके आ जानेसे इस सच्चिदानन्द-जगत्‌में वैचित्र्य आ गया। क्रीडाकी सामग्री जो कुछ कम थी वह पूरी हो गयी। पौराण-सृष्टिमें यह वैचित्र्य उस सर्वभवनसामर्थ्यरूप मायाके सहारेसे होता है, यह हम पूर्वमें कह चुके हैं। इस सारे वैचित्र्यका आधार, उपादान किंवा आश्रय भगवान् है और उसका करण (सहारा) माया है। अर्थात् सत्-चित्-आनन्द ही मायाके सहारेसे यह व्यापक वैचित्र्यरूप जगत् हो जाता है। सर्वधर्मविशिष्ट आधार, उपादान किंवा आश्रयकी नव (९) लीलाएँ हैं। सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध और मुक्ति। आश्रय-लीला भी हो सकती है, इसलिये दस लीलाएँ भी कहीं-कहीं कही गयी हैं। आश्रयरूप सत्-चित्-आनन्द भगवान्‌में जब विभेद और वैचित्र्य आ जाता है और जब उसमें नव या दस लीलाएँ होने लगती हैं तब वह एक बड़ी भारी अनाद्यन्त क्रीडा किंवा मेला तैयार हो जाता है। उस क्रीडाके खिलाड़ी किंवा देखने या भोग करनेवाले भगवान् और जीव दोनों हैं। यह सब खेल तैयार करना उस भगवान्‌के बराबरकी सामर्थ्यवाली मायाका काम है।

मेला तैयार हुआ, क्रीडा तैयार हो गयी; किन्तु खेलनेवाला सर्वथा उदासीन रहा, देखनेवाला सर्वथा उदासीन हुआ तो मेला या क्रीडा तैयार करके भी क्या होगा। हजारों मेले होते हैं, उन्हें लाखों मनुष्य देखने जाते होंगे; किन्तु हजारों ऐसे भी होते हैं जो उन्हें देखना बिलकुल पसन्द नहीं करते, मेलेमें जाते ही नहीं। जगत् बना, भगवत्क्रीडा तैयार हो चुकी; किन्तु यदि इसमें किसीकी प्रवृत्ति ही न हो तो क्या हो। और ऐसा हो भी चुका है—

तान् बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः।
तन्नैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः॥

ब्रह्माने सनत्कुमारादि पुत्रोंसे कहा कि पुत्रो! तुम भी प्रजा-सृष्टि करो। पिताकी बात सुनकर उन्होंने निषेध कर दिया। क्योंकि वे संसारसे सर्वथा उदासीन थे और ज्ञानी थे।

तब ब्रह्माने अभिध्यान किया। इसीको सूत्रोंमें पराभिध्यान कहा है। पराभिध्यान होते ही चिद्ब्रह्मकी मोहिनी माया-शक्ति उद्बुद्ध हुई। पराभिध्यानसे चिद्ब्रह्मका ब्रह्मानन्द तिरोहित हुआ। आनन्दके पृथक् होते ही चित्* और सत् दोनों उसके सेवक हो गये। आनन्द सर्वोत्कृष्ट रहा—'**पूर्णात् (पूर्णद्वयात्सच्चिद्रूपात्) पूर्णमुत् (आनन्दः) अच्यते (सेव्यते)**।' यह रीति है कि सेवककी शक्ति सेव्यकी हो जाती है। यह न्याय यहाँ भी हुआ, सत् और चित् दोनोंकी क्रिया-शक्ति और ज्ञान-शक्ति दोनों आनन्दमें चली गयी। चिद्ब्रह्मकी ज्ञान-शक्ति (धर्मरूप ज्ञान) आनन्दमें चली जानेसे व्यामोहिका मायाने इस चिदंश चिद्ब्रह्मका मोहन किया। मायाके व्यामोहसे इसे अपने स्वरूपकी विस्मृति हुई। यद्यपि यह चिदंश ज्ञानरूप है पर आनन्दांशके पृथक् होनेसे और ज्ञानशक्तिके भी चले जानेसे इसे भूलमें ही आनन्द (भ्रान्त) आने लगा, इसलिये यह उस विस्मृतिका परित्याग नहीं करना चाहता। प्रत्युत इसे यह निश्चय हो जाता है कि इस मायाके सम्बन्धसे ही मुझे आनन्द होगा। इसलिये यह उस व्यामोहिका मायाको दृढ़ पकड़कर बैठ जाता है।

जहाँतक चिदंशके साथ कुछ थोड़ा आनन्द भी रहता है, वहाँतक उसकी शक्ति माया कही जाती है; किन्तु जब आनन्दांश तिरोहित हो जाता है तब वही चिद्ब्रह्मकी व्यामोहिका मायाशक्ति जीवशक्ति हो जाती है और अविद्या कही जाती है। इस अविद्याशक्तिका पहला पर्व (खण्ड) आत्मविस्मृति—स्वरूपविस्मृति (अपने-आपको भूल जाना) है।

अपने-आपको भूलते ही अनेक भूलें इसके साथ लग जाती हैं। सब तरहकी भूलें उस अविद्या-शक्तिकी ही छोटी-छोटी शक्तियाँ हैं। यद्यपि हैं ये छोटी-छोटी शक्तियाँ, पर बड़े-बड़े ज्ञानी, ध्यानी भीम-कायोंको भी हिला देती हैं।

---

* धर्मरूपेण भवत् इच्छारूपेणापि भवति। तत्र सदंशस्य क्रियारूपा शक्तिः। चिदंशस्य व्यामोहिका माया। आनन्दरूपस्य जगत्कारणभूता। एतत्त्रितयरूपा शक्तिः सच्चिदानन्दस्य भावत्वतलादिवाच्या। 'प्रजायेये' तीच्छया उत्कर्षापकर्षरूपेण जाताः। तत्र आनन्द उत्कृष्टः। तदेतरौ तं सेवमानौ जातौ। तदा चिदंशस्य शक्तिरानन्दे गतत्वाज्ज्ञानधर्मस्य, तं व्यामोहयति तदा तस्य जीवत्वम्। सा पुरुषं व्यामोहयित्वा जीवतामापादयति। स हि मायया व्यामोहितो व्याकुलः सन् सदानन्दकृतसृष्टौ यः सूत्रात्मक आसन्यो दशविधप्राणरूपस्तमवलम्ब्य तिष्ठति तदा जीव इत्युच्यते। 'जीव प्राणधारणे' इति धातोः कर्तरि अच् प्रत्ययः। (भागवत-सुबोधिनी २। ९। १)

स्वरूपविस्मृतिके होनेसे यह चित्खण्ड, सदानन्दकार्य आसन्य प्राणको ही अपना स्वरूप समझ लेता है। प्राणके रहनेसे मैं हूँ, प्राणके न रहनेसे मैं नहीं हूँ—बस यह दूसरी भूल (पर्व) है। यह भी उस अविद्याकी शक्ति है, इसे शास्त्रमें प्राणाध्यास कहा है। उस समयसे आजतक यह चिद्ब्रह्म किंवा चित्खण्ड जीव कहा जाता है। जीव अर्थात् प्राणोंको पकड़े रहनेका प्रयत्न करनेवाला। **'जीवप्राणधारणे।'** ज्ञानप्रधान[1] अतएव ज्ञानरूप ब्रह्मकी यह मोहिनी शक्ति उसको रमण (क्रीडा) करानेकी इच्छासे आब्रह्म-तृण-स्तम्ब-पर्यन्त सबका व्यामोह करती है। ब्रह्मादि देवता भी इससे नहीं बच पाते। रमणके लिये ही मोह है। मोह हट जाय तो यह जगद्रूप क्रीडा ही न रहे। मायाके मोहसे ही सारा जगत् चल रहा है। यह भूल (माया) ज्ञानरूप भगवान्‌की शक्ति है और उसे ही भुला देती है। देखिये, कितनी ज़बरदस्त है। यह जगत्कर्त्ता, सच्चिदानन्द अक्षरब्रह्मकी सर्वभवनसामर्थ्यरूप माया-शक्तिसे जुदी है। अक्षरब्रह्मकी ही पूर्वोक्त तीन पृथक्-पृथक् शक्तियाँ हैं। एक शक्तिका कार्य वैचित्र्य है और इस मोहिनीका कार्य है व्यामोह। वेद-स्तुतिमें वेदोंने इस मायाको ही हटानेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की है।

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणाम्।

यहाँ एक यह प्रश्न हो सकता है कि जब इसका स्वभाव ही मोह करानेका है तो पृथग्भाव होनेपर ही क्यों मोहित करती है, आश्रय-अवस्थामें ही क्यों नहीं मोह कराती? अर्थात् चित्खण्डको ही मोह क्यों कराती है, चिदाश्रयको भी मोह क्यों नहीं कराती? इसका उत्तर श्रीमद्भागवतमें यों दिया है—

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः॥

यह[2] माया आश्रयरूप परब्रह्म किंवा भगवान्‌की भार्या है, इसको भगवान्‌के साथ रमण करनेका बहुत कम मौका मिलता है; इसलिये जब भगवान् बाह्य रमण करना चाहते हैं, तब इसे रमणका मौका मिलता है। उस समय यह चाहती है कि मैं ही अकेली भगवान्‌के साथ रमण करूँ, मेरे रमणमें दूसरा कोई भागीदार न हो जाय; इसलिये दूसरोंकी बुद्धिको यह मोहित करती रहती है। इसकी इस चालाकीको भगवान् जानते हैं; इसलिये यह लज्जाके मारे कभी भगवान्‌के सामने आती ही नहीं, तो फिर उन्हें मोहित तो क्या करेगी। अतएव भगवान्‌को पीठ देकर जो इसके साथ रमण करना चाहते हैं, उन्हें ही यह मोहित करती है; भगवत्सम्मुखोंको मोहित नहीं कर सकती। जब भगवत्सम्मुख भगवदीयोंको ही मोहित नहीं कर सकती तो सर्वाश्रय भगवान्‌को मोहित करनेकी तो सम्भावना ही नहीं है। मायाके मोहमें पड़कर जीवको जगत्‌के भोगमें प्रवृत्ति होने लगी। सनकादिके अनन्तरकी सृष्टिमें जिसकी बुद्धिको मायाने मोहित किया वे सब संसारमें प्रवृत्त हुए। अब उन्हें भोगमें प्रवृत्त होनेके लिये विधिकी आवश्यकता न रही। अपने-आप रागतः जगत्‌की प्रवृत्ति उनमें प्रविष्ट हुई, और जगत्‌का प्रवाह आप्रलय इसी प्रकार चलता भी रहेगा। यह भागवत (द्वितीय) सृष्टि भगवान्‌ने अपने और जीव दोनोंके रमणके लिये किंवा भोगके लिये बनायी है, यह हम पूर्वमें कह चुके हैं।

देव[3], मनुष्य, पशु, पक्षि प्रभृति अनेक शहरोंका

१- यस्य भगवतो ज्ञानरूपस्य वशवर्तिनी काचिच्छक्तिर्मायेति। सा जगत्कर्तुर्मायातो भिन्ना। एतस्या व्यामोह एव फलम्। तस्या जयः प्राणिमात्रस्याशक्यः। इयमेव माया वेदस्तुतौ मारणीयत्वेन वेदैः प्रार्थिता। ते हि ज्ञानं बोधयन्ति। एषा तु मोहयति।
(भागवत-सुबोधिनी २। ५। १२)

२- सा हि भगवतो भार्या, स्वस्य भगवता सह निरन्तररमणार्थमन्येषां बुद्धिं मोहयति। तस्यास्तथात्वं भगवान् जानाति। अतो विलज्जमाना ईक्षापथे स्थातुं विलज्जते। अत एव ये तत्सम्मुखास्तान्न व्यामोहयति। पृष्ठतः प्रवृत्तानेव व्यामोहयति यतो धियमेव व्यामोहयति।
(भागवत-सुबोधिनी २। ५। १३)

३- इमाः देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपाः। अमूषु पूर्षु स्वयमेव शेते। इदं हि शयनं न निद्रारूपं किन्तु सम्भोगार्थमेव। अत एव दक्षिणेऽक्षिण इन्द्रः, इतरत्रेन्द्राणीत्युपाख्यानमेतत्परमेव भवति। अत्र च सुप्ता न केवलं स्पर्शमात्रमुपभुङ्क्ते किन्तु षोडशापि गुणान्। भोगेऽपि षोडशात्मको भूत्वा भुङ्क्ते। जडे शुष्के रसाभावात्। भगवान् हि व्यापक आनन्दमयश्च। तत्र स्वरूपेणैव स्वरूपानुभवे तथा रसो न भवति। स्त्रीपुरुषाद्यवयवेषु तथोपलम्भात्। अतः स्वस्थितरसाविर्भावेन स्पष्टभोगार्थं भेदरूपमात्मानं विधाय तस्मिन् स्वस्मिन् प्रविष्टे बहुधा भिन्नः सन्नन्योन्यस्य रसमनुभवति। (भागवत-सुबोधिनी २। ४। २३)

निर्माण कर उनमें आप शयन करते हैं। यह शयन निद्रारूप नहीं है, किन्तु उपभोगरूप है।

शय्यायां जायते निद्रा यदि कान्ता न लभ्यते।

—इत्यादिमें यह बात प्रसिद्ध है। भगवान्‌की शय्या यह समष्टि-व्यष्टि जगत् है, भगवान्‌की कान्ता षोडश विषय हैं। यद्यपि विषय पाँच ही हैं—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, तथापि तत्तदिन्द्रियद्वारा उन-उन स्थानोंमें सुखका स्वाद कुछ भिन्न आता है, इसलिये पञ्चतन्मात्रा और ग्यारह इन्द्रिय इन सोलह पदार्थोंको लेकर सोलह विषयोंका ही निर्देश ठीक है। ये इन्द्रियाँ किंवा मन और तन्मात्रा प्रभृति भोग्य सब पदार्थ सन्मात्र हैं, शुष्क हैं, जड़ हैं; इनमें भगवान्‌के भोग करनेलायक रस कहाँ? इसलिये आनन्दरूप भगवान् इन सबमें प्रवेश कर इन्हें रसमय बना देते हैं। भगवान् व्यापक हैं, आनन्दमय हैं; अतएव वह अप्रविष्ट भी प्रविष्ट हैं। शुष्कको रसमय बनानेपर भी रसभोग नहीं हो सकता। दोके बिना रसका स्वाद वैसा नहीं आता, इसलिये भगवान् स्वयं दो हो जाते हैं, आत्मा और परमात्मा। अपना ही रस सर्वत्र फैलाकर और आप भी दो होकर अन्यान्य पदार्थोंके रूपमें आप ही अपने रसको अनेक तरहसे भोगा करते हैं। इस अपने और जीवके आनन्दभोगार्थ भगवान्‌ने सृष्टि बनायी, और भोगके लिये ही मायाके द्वारा मोह भी करवाया। जैसे मायाके मोहके बिना जीवका भोग नहीं बन सकता, इसी तरह मायाके मोहके बिना भगवान्‌का भी भोग नहीं बन सकता—यह न्यायसिद्ध है। किन्तु यह जीवमाया किंवा व्यामोहिका माया भगवान्‌को मोह नहीं करा सकती, उनके लिये कोई उत्कृष्ट शक्ति चाहिये जो भगवान्‌को भी मोह करा सके। जगत्‌के इस सम्मिलित भोगमें यद्यपि भगवान् भी सर्व जगत्‌का भोग करते हैं; परन्तु वास्तवमें यह प्रधान भोग जीवका ही है, जीवरूपसे ही भगवान् भोग करते हैं। जीवरूपसे भोग करते हैं और अपने स्वरूपसे उसके साक्षी रहते हैं, उस भोगको व्यवस्थित रखते हैं, उसका नियमन करते हैं। इसलिये यह प्रत्यक्ष भोग नहीं किन्तु परोक्ष भोग है।

भगवान्‌का प्रत्यक्ष भोग भी है। भगवान् प्रत्यक्षमें भी भक्तोंको अपना आनन्द-भोग कराते हैं और आप भक्तोंके आनन्दका उपभोग करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी रास-लीला, द्वारका-लीला प्रभृति तथा बाल-लीला, कौमार-लीला प्रभृतिमें भगवान्‌के इसी प्रत्यक्ष भोगका वर्णन है। परोक्ष क्रीडा किंवा परोक्षभोग रूपान्तरसे करते हैं, प्रत्यक्ष क्रीडा किंवा प्रत्यक्ष भोग अपने निज स्वरूपसे करते हैं। श्रीपुरुषोत्तमका आनन्दमय स्वरूप है, वह स्वरूप श्रीकृष्णावतारमें प्रकट हुआ है। उस स्वरूपसे प्रभुने भक्तोंका प्रत्यक्ष भोग किया है। परन्तु प्रभुका भोग लौकिक कदापि नहीं है, वह अलौकिक है। भगवान् प्राकृत पदार्थका भोग नहीं करते, अपने स्वरूपका ही आप भोग करते हैं। अतएव अपने स्वरूपको सर्वत्र स्थापन करके फिर उसका भोग करते हैं। भगवान्‌का स्वरूप है 'अक्षर आनन्द', इसीको ललित-भाषामें लक्ष्मी कहते हैं। लक्ष्म अर्थात् भगवान्‌का चिह्न (स्वरूप)। लौकिक ललित-भाषामें उस अक्षरानन्दको ही लक्ष्मी कह देते हैं। अक्षर आनन्द साधारणतया नीरूप है, किन्तु जब उसका भोग करना चाहते हैं तब भगवान् उसे रूपवती स्त्रीके रूपमें प्रकट करते हैं। तब वही 'लक्ष्मी' या श्री कही जाती है। सारे जगत्‌में जो लक्ष्मी है (आनन्द देनेवाला पदार्थ है) उस सबकी यह अधि-देवता है। लक्ष्मी[1] दो प्रकारकी हैं, लोकसम्बन्धिनी आध्यात्मिकी और भगवदानन्दरूपा (अक्षरानन्दरूपा) आधिदैविकी। भगवान्‌की भोग्य लक्ष्मी अक्षर ब्रह्मानन्दरूपा हैं, आधिदैविकी हैं और भगवद्भक्ता हैं।

भगवान् आत्मार्थ और जीवार्थ दो तरहसे सृष्टि करते[2] हैं, यह मैं पूर्वमें कह चुका हूँ। उसमें जब भगवान् अपने भोगके लिये जगत् बनाते हैं, तब उस सारे-के-सारेको लक्ष्मीरूप (अक्षरात्मक) ही बनाते हैं। यह जगत् किंवा लक्ष्मी किंवा अक्षरानन्द ही भगवान्‌का भोग्य है। एक जगत् ही नहीं, किन्तु अखिल सात्वत, जगत्, लक्ष्मी और यज्ञ चारों भगवान्‌के भोग्य हैं।

१- लक्ष्मीर्द्विविधा—आध्यात्मिकी लोकसम्बन्धिनी, आधिदैविकी भगवद्भक्ता भगवदानन्दरूपा। ब्रह्मानन्दस्य नीरूपस्य रूपं सञ्जातमिति, अलौकिकार्थं वा रूपवती सा निरूप्यते। सर्वस्मिन्नेव जगति विद्यमानलक्ष्म्याः सा देवता अतो रूपिणीत्युच्यते।

(भागवत-सुबोधिनी ३। १५। २०-२१)

२- यदा भगवान् स्वभोगार्थं जगत् करोति तदा सर्वं लक्ष्मीरूपमेव करोति। अनेनावतारेषु भोग्या लक्ष्मीरूपा एवेति स्वरूपत आवेशतो वा। अखिलसात्वताः, लक्ष्मीः, यज्ञः, जगच्चेति चत्वार एते भगवद्भोग्याः। एतदनुप्रवेश एव भगवति सम्बन्ध इति सर्वत्र ज्ञेयम्।

(भागवत-सुबोधिनी २। ९। १४)

अतएव भगवान् 'अखिलसात्वतां पति' हैं, 'श्रियः पति' हैं, 'यज्ञ-पति' हैं और 'जगत्पति' हैं। इसलिये कृष्णावतार, रामावतार प्रभृति अवतारोंमें जिन-जिन श्रीराधिका, श्रीसीता प्रभृति देवियोंका भगवान्ने भोग किया है वे सब लौकिक स्त्रियाँ नहीं हैं किन्तु साक्षात् लक्ष्मी हैं, अक्षर ब्रह्मानन्द हैं। श्रीगोपीजनोंमें कहीं स्वरूपतः लक्ष्मी हैं तो कहीं आवेशतः लक्ष्मी हैं। सात्वत (ऐकान्तिक वैष्णव) लक्ष्मी, यज्ञ तथा जगत्, ये चारों भगवद्भोग्य हैं; किन्तु इनका भोग अलौकिक है, लौकिक नहीं। शरीर और मनका भगवान्में प्रवेश होनेके बाद जो प्रत्युत्तरमें भगवान्का उनके शरीरादिमें प्रवेश अर्थात् परस्पर सम्बन्ध है, सब यही भगवान्का भोग है। सूर्य सब पदार्थोंके रसको अपना रूप देकर जो अपनेमें मिला लेता है और इस तरह जो सूर्य और पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध है, यही सूर्यका भोग है। सूर्य सब पदार्थोंका भोग करता है।

जगत्का[1] निर्माण करनेके पूर्व अर्थात् सृष्टिके प्रारम्भमें भगवान् पहले धर्मरूपसे तदनन्तर शक्तिरूपसे बहुभवन करते हैं, उस समय शक्तिरूपसे भी आप ही प्रकट होते हैं। अर्थात् अपने स्वरूपको शक्ति-रूप बना लेते हैं। यह भगवान्की सिद्धिरूपा शक्तियाँ हैं। इन अनन्त शक्तियोंमें श्री (लक्ष्मी) पहली शक्ति है। यह शक्ति जगन्निर्माणके पूर्व भगवान्के स्वरूपमें ही समायी हुई रहती है। किन्तु जब भगवान् सर्वजगत्के स्वामीरूपसे प्रकाशित होते हैं तब यह लक्ष्मीशक्ति भगवान्की भोग्या होकर स्वरूप धारण करती है। यह लक्ष्मीशक्ति, जो सर्वत्र भोग्यरूपमें हाजिर रहती है, ब्रह्माक्षरकी आनन्दरूपा है। इसलिये श्रीकृष्ण आदि भगवत्स्वरूपोंके भोगको लौकिक भोग समझ लेना बड़ी भारी भूल है। वे तो अपने स्वरूपका ही भोग करते हैं।

सिद्धिरूपा शक्तियाँ भी अनन्त हैं और अनन्त प्रकारकी हैं। जिस प्रकारका भगवान् भोग करना चाहते हैं, उसी प्रकारकी शक्तियोंको स्वीकार करते हैं। भगवान्की कितनी ही सिद्धिरूपा शक्तियोंका प्रत्यक्ष होता है और कितनी ही शक्तियोंका पारोक्ष्य ही रहता है। 'श्री' प्रभृति परोक्ष शक्तियाँ हैं। और 'श्रीराधिका' प्रभृति अपरोक्ष सिद्धियाँ हैं।

'श्री' प्रभृति परोक्ष शक्तियाँ, जो भगवान्की भोग्य हैं, वे भी किसी रूपान्तरसे प्रकाशित होती हैं तब उनका भगवान् तदनुसार रूपान्तरसे भोग करते हैं। और अपरोक्ष शक्तियाँ भी जब रूपान्तरसे प्रकट होती हैं, तब भगवान् उनका भी तदनुसार रूपान्तर धारण कर भोग करते हैं।

पाठकगण! भारतवर्षमें कौन ऐसा धार्मिक पुरुष होगा जो 'श्रीराधाकृष्ण' इस पवित्र नामसे परिचित न हो। हमारा धार्मिक समाज श्रीराधाकृष्णको बड़ी ही पूज्य दृष्टिसे देखता है। प्रत्येक धार्मिक गृहस्थके घरमें श्रीराधाकृष्णका चित्र विद्यमान है। अनेक मन्दिरोंमें श्रीराधाकृष्णकी पुनीत मूर्तियाँ प्राणोंकी तरह प्रिय और पूज्यभावसे विराजित हैं।

इस युगलमूर्तिमेंसे श्रीराधिका भगवद्भोग्य भगवच्छक्ति हैं। जिस प्रकार श्रीराधा भगवच्छक्ति हैं उसी प्रकारसे यह भगवत्सिद्धि भी हैं। यह सिद्धि निरस्तसाम्यातिशया है। अर्थात् इस सिद्धिके समान कोई नहीं है और इससे बढ़कर तो कोई हो ही नहीं सकती। रस-रूप परब्रह्म अपने स्वरूपात्मक स्थानमें स्थित रहकर इस अपनी अनन्यसिद्धा सर्वोत्तम सिद्धिका अप्रत्यक्ष भोग करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें इस राधारूप सिद्धिका इस प्रकार निरूपण है।

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः॥

'जो परमपुरुष पुरुषोत्तम ऐकान्तिक भागवतोंका स्वामी है और कुयोगियोंको जिसकी दिशा भी देखनेको नहीं मिलती और जो अपने अक्षरब्रह्मरूप स्थानमें (व्यापिवैकुण्ठमें) विराजकर अपनी सर्वोत्तमा सिद्धिसे[2]

१- यदा भगवान् स्वशक्तिरूपेणाविर्भूतस्तदा शक्तीनां मध्ये श्रीः प्रथमा। सा शरीर एव बलवत् पूर्वं स्थिता। यदा भगवान् प्रभुत्वेनाविर्भूतस्तदा सापि भोग्यत्वेनाविर्भूता भार्येव। सा ह्यक्षरस्यानन्दरूपा। (भागवत-सुबोधिनी २। ९। १३)

२- काचिद्भगवतः सिद्धिरस्ति राधस्-शब्दवाच्या। न तादृशी सिद्धिः क्वचिदन्यत्र, न वा ततोऽप्यधिका। तया सिद्ध्या भगवान् स्वगृह एव रमते। तच्च अक्षरात्मकं ब्रह्म, इत्यादि।

(भागवत-सुबोधिनी द्वि० स्कं० अ० ४ श्लोक १४)

रमण करता रहता है उस परब्रह्म पुरुषोत्तमको मैं (श्रीशुकदेवजी) बारम्बार नमस्कार करता हूँ।'

पाठकगण! यह अनन्य साधारण सर्वोत्तमा सिद्धि ही भगवान्‌का भोग्य पदार्थ है। भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी सिद्धिरूपा श्रीराधिका दोनों ही अलौकिक हैं, इसलिये उनका सम्भोग भी अलौकिक है—यह हम सूर्यका दृष्टान्त देकर पूर्वमें समझा चुके हैं।

जिन्होंने वेदादि तथा श्रीमद्भागवतादि पुराण-शास्त्रोंका श्रद्धापूर्वक विचार एवं समन्वय नहीं कर पाया है वे लोग श्रीकृष्ण या श्रीराधिकाके तत्त्वको नहीं समझ सकते। जिन लोगोंके हृदयमें लौकिक भावनाएँ और भ्रष्ट विचार ही भरे हुए हैं उनके उस अपवित्र हृदयमें पवित्रतम श्रीराधाकृष्णके समझनेके लिये स्थान ही कहाँ है। अतएव वे बेसमझीसे उनपर आक्षेप करते हैं। श्रीकृष्णके स्वरूप एवं लीलाओंका विशद वर्णन श्रीमद्भागवतमें है, किन्तु परोक्ष और सूक्ष्मतम वर्णन श्रीराधिकाका भी है ही, इसका दिग्दर्शन हम पूर्व श्लोकमें करा चुके हैं। श्रीराधिका और श्रीगोपीजनोंका विशद वर्णन ब्रह्मवैवर्त आदि अन्य पुराणोंमें है। श्रीमद्भागवतके यथार्थ स्वरूपको समझानेवाली टीका या भाष्य मेरी समझमें श्रीसुबोधिनी है।

श्रीराधाकृष्णके विषयमें कुछ-कुछ अन्य भाव तो साधारण टीकाकारोंने किया है। उनसे विशेष अन्याय बेसमझ कथक्कड़ोंने एवं अविवेकी भाषान्तरकारोंने तथा सर्वतन्त्रस्वतन्त्र संस्कृतभाषारहस्यानभिज्ञ इन नयी रोशनीवाले प्रबन्ध-लेखकोंने किया है। और श्रीराधाकृष्णका सबसे बढ़कर अपमान तो आजकलके अधिकांश रासलीलावालोंने और अर्थकामी नाटक-सिनेमावालोंने और इन प्राकृत चित्रकारोंने किया है!

इसका एक ही दृष्टान्त काफी होगा। चीरहरणलीला श्रीकृष्णलीलाओंमें प्रसिद्ध लीला है, इसका मूल यहाँसे है—

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम्॥

(श्रीमद्भागवत)

मूलमें कुमारिका-शब्द है। उसका अर्थफेर कुछ अन्य टीकाकार करते हैं, भाषान्तरकार कुछ और कर देते हैं। और ये चित्रकर्ता एवं नाटक-सिनेमावाले तो कुछ-का-कुछ कर दिखाते हैं। 'कुमारिका'-शब्दका अर्थ है स्त्रीवाचक बालक। इस जगह भागवत-सुबोधिनीमें श्रीवल्लभाचार्यजी लिखते हैं **'कन्यकाः'**, जिसका अर्थ होता है सात या आठ वर्षकी छोरियाँ। अब आप उस मूल और इस टीकाको देखिये और दूसरी ओर बाजारमें बिकते हुए चीरहरणके चित्रोंको देखिये, जमीन-आसमानका भेद दिखायी पड़ेगा।

इसलिये कहना पड़ता है कि वैदेशिक भ्रष्ट सभ्यतामें रँगे हुए नेत्रोंसे श्रीराधाकृष्णको देखोगे तो कुछ-का-कुछ दीखेगा; और यदि भारतीय सभ्यता, श्रद्धा और वेदादि शास्त्रोंकी सत्य-दृष्टिसे उनका दर्शन करना चाहोगे तो फिर उन-जैसी कोई पवित्रतम मूर्ति दीखेगी ही नहीं। **'रसो वै सः'**, **'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्'**, **'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'**, **'आनन्द आत्मा'**, **'पतिश्च पत्नी चाभवताम्'** इत्यादि श्रुतियोंने यद्यपि **'परोक्षप्रिया ह वै देवाः'** इस न्यायसे परोक्षरूपसे श्रीराधाकृष्णका निरूपण कर दिया है, तथापि आज मैं इस विषयको रस-शास्त्रकी मर्यादासे प्रकाशित करना चाहता हूँ। श्रीराधिका श्रीकृष्णकी ही शक्ति और सिद्धि हैं, इसलिये कुछ थोड़ा श्रीकृष्णका भी स्वरूप निर्देश करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

अलौकिक आनन्दका ही नाम रस है, ब्रह्म है और पुरुषोत्तम है। रस, सुख और आनन्द एकार्थक हैं। रस दो प्रकारका है—लौकिक और अलौकिक। अलौकिक सुख या रस परब्रह्म है, श्रीकृष्ण है। और लौकिक सुखको ही लोकमें 'काम' कहते हैं। अलौकिक रस या आनन्द स्वार्थरहित, अगाध, निर्दोष, अमेय, अनिर्देश्य, परमपवित्र और जीवनप्रद होता है—**'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।'** किन्तु काम स्वार्थवाला, मैला, परिच्छिन्न, निर्देश्य, सदोष और नाशोन्मुख होता है।

रसके अनेक भेद हैं। किन्तु आनन्द तो सब रसोंमें व्याप्त रहता है, अतएव शास्त्रकारोंने रस-शास्त्रमें शृङ्गारको ही मूल और प्रधान माना है। यह परात्पर पूर्णपुरुषोत्तम आनन्द सर्वान्तर है, अनिर्देश्य है, केवल अनुभवैकगम्य है। इसका चाक्षुष, रासन, स्पार्शन आदि प्रत्यक्ष होना असम्भव-सा है। अनुभव ही इस रसका आधार—आश्रय है। तथापि जहाँतक उस अनुभवके साथ इन्द्रियभोग्यता न हो वहाँतक पूर्ण आनन्द नहीं आता। आँखें अच्छी हों, पूर्ण

माता श्रीराधाजी
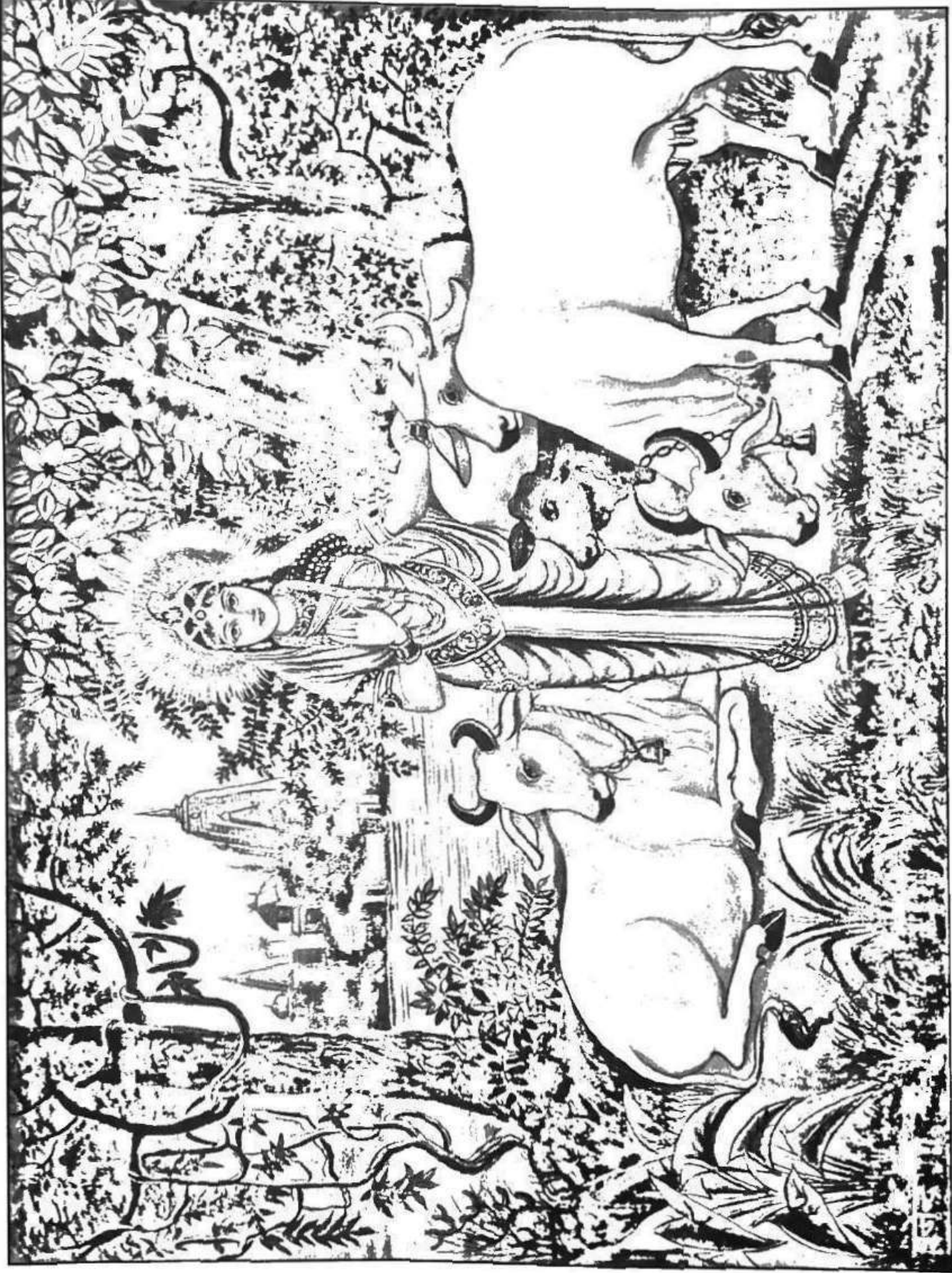
तप्तस्वर्णप्रभां राधां सर्वालङ्कारभूषिताम्।
नीलवस्त्रपरिधानां भजे वृन्दावनेश्वरीम्॥

शक्तिवाली हों, पर यदि उनकी सदा अन्धकारमें ही स्थिति रहती हो तो होना ही निष्फल है। इसी तरह पूर्ण रसकी सत्ता सर्वत्र व्याप्त है और कभी-कभी किसी-किसीको उसका अनुभव भी होता है। ठीक है, किन्तु ऐसा यह पूर्ण रस अनुभवसहित रहते भी भोग्य नहीं कहा जाता। कुल्हाड़ीका गुण किसने जाना। जङ्गलमें मोर नाचा, किसने देखा। उसका भोग किसने किया? इन्द्रियोपभोग्यता जबतक न आवे तबतक रसका पूरा भोग नहीं कहा जा सकता। इसलिये परात्पर अलौकिक रसको यह इच्छा होती है कि मैं सबका भोग्य बनूँ और मैं सबका भोग भी करूँ। सबका सम्बन्ध करना और कराना—यही उसका भोग है, और यही जगत्का उद्धार है। यही इन्द्रियवालोंका मोक्ष है। केवल अनुभव मोक्ष नहीं। और इसी प्रकारसे सारा जगत् रसमय हो सकता है; जगत्का रसमय होना ही उसका उद्धार है, मोक्ष है। इस इच्छाके होते ही वह रस* अपनी पूर्ण शक्तियोंको साथ लेकर पूर्णरूपसे लोकमें प्रकट होता है। यही श्रीकृष्णावतार कहा जाता है। श्रीकृष्ण ही रसके पूर्ण आश्रय हैं, अधिदेवता हैं—यह बात रस-शास्त्र-वेत्ताओंसे अपरिचित नहीं है।

जब वह रसरूप, रसाधिदेव भगवान् सर्व-प्रत्यक्ष होते हैं तब उसमें अनुभवैकवेद्यता रहते भी सर्वेन्द्रियोपभोग्यता आती है। उसके साथ संलाप, उसके श्रीमुखका दर्शन, उसका आश्लेष, उसका स्पर्श, उसके कूजितोंका श्रवण, उसके श्रीअङ्गकी सुगन्धका आघ्राण, उसके पास जाना और उसका ही निरन्तर चिन्तन करते रहना—बस, यही इन्द्रियवालोंका पूर्ण फल है। यही उनका उद्धार है और यही उनका मोक्ष है। इस बातको श्रीमद्भागवतमें इस प्रकारसे कहा है—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥

श्रुतिरूपा श्रीगोपीजनोंका यह वचन है। और वे ही इस रसका पूर्ण भोग करनेकी योग्यता रखती हैं। लोकमें भी हृदयस्थित रसका शब्द ही पूर्ण या अपूर्ण रीतिसे अनुभव करा सकता है।

लोकमें रसका सर्वत्र अनुभव करनेवाली स्त्रियाँ ही हैं। और यह रसरूप भगवान् लोकका पूरी तरह अनुसरण करनेकी इच्छासे प्रकट हुआ है।

अस्तु, **प्रकृतमनुसरामः**—यद्यपि रसको लौकिक शब्दके द्वारा कहना इसकी आबरू घटाना है, तथापि यदि किसीको समझाना ही पड़े तो फिर आनन्द या रसको मजा या स्वाद शब्दसे किसी तरह कह भी सकते हैं। 'मज़ा' या 'स्वाद' का आश्रय अनुभव है। रस अनुभवके बिना कभी नहीं रहता। और यह आनन्दानुभव नित्य-सिद्ध है, त्रिकालाबाधित है; इसीलिये इस परात्पर रसको शास्त्रोंमें 'सच्चिदानन्द' कहा है।

श्रुतियाँ (वेद) इस रसका निरूपण करना चाहती हैं, पर कर नहीं सकतीं, यह बात—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

—इस श्रुतिसे स्पष्ट होती है। रसका स्वरूप ही ऐसा है कि वह सम्पूर्ण रीतिसे वाणीमें नहीं आ सकता। किसी रस-शास्त्रवेत्ताने प्रेमके, जो कि रसकी ही एक किरण है, विषयमें कहा है—

आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यद्वर्धते।
पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः साम्प्रतं
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठतालाघवम्॥

कोई अपने प्रेमीसे कह रहा है कि जिस प्रेमने पैदा

* स एव परमकाष्ठापन्नः कदाचिज्जगदुद्धारार्थमखण्डः पूर्ण एव प्रादुर्भूतः कृष्ण इत्युच्यते। (त० नि०)

रसेन सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च । आश्लेषः सेवनञ्चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः।
अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्तथा॥
तत्कूजितानां श्रवणमाघ्राणञ्चापि सर्वतः । तदन्तिकगतिर्नित्यमेवं तद्भावनं सदा॥
इदमेवेन्द्रियवतां फलं मोक्षोऽपि नान्यथा । यथान्धकारे नियता स्थितिर्नाक्ष्णोः फलं भवेत्॥

तद्रसप्रवेशे निरोधः सिद्धः। अतः स्वल्पतरो गोपेषु, भोग्यगोपीव्यतिरिक्तासु, सर्वेषु च। अत एव निरोधो भक्त्यनन्तरं निरूपितः। सृष्ट्युत्पन्नानां भोग एतत्पर्यवसायी, ततो विमोचनं स्वाश्रयप्रापणं च प्रत्यापत्तिः। अन्यथा सृष्टिर्व्यर्था स्यात्। अयं पुनर्ब्रह्मानन्दभावे जाते तत्राप्याधिदैविकरूपे सम्पन्ने लक्ष्म्या इव मुख्यो रसभोगः सम्भवति, तदंशानां च क्रमेण। अतो निरोधो महाफलः। अतोऽत्र स्त्रियः प्रकरणान्ते निरूप्यन्ते भगवद्भोगानन्तरमेव भगवान् भोग्यो भवति। अत एव शुकोऽपि मुख्यतया स्त्रिय एव वर्णयति। अग्निकुमाराणामप्यत एव स्त्रीत्वम्। न हि पुरुषोऽन्योपभोग्यो भवति स्वोपभोग्यो वा। (श्रीभागवत-सुबोधिनी वेणुगीते)

होनेके दिन किसी थोड़ेसे कारणकी भी परवा न की और जो सैकड़ों अपराधोंसे कम नहीं होता और न नमस्कारादि उपचारोंसे बढ़ता है, वह प्रेम अमृतकी तरह मधुर है और त्रिभुवनके दुःखोंको दूर करनेमें समर्थ है; इतने भारी और अगाध प्रेमको मैं आज अपनी जीभपर कैसे लाऊँ। मुखसे कहनेसे उसकी लघुता हो जायगी। और भारीको लघु बना देना सर्वथा अनुचित है।

प्रेम भी अलौकिकानन्दका एकतम अंश है; जब वही वाणीमें नहीं आ सकता, तब फिर उस अप्रमेय, अगाध, अनिर्वचनीय, परात्पर रसका निरूपण श्रुतियाँ कैसे कर सकती हैं। तब सारी श्रुतियाँ मिलकर प्रभुके शरण जाती हैं और प्रार्थना करती हैं—'हे भगवन्! नित्यसिद्धा (सिद्धिरूपा) श्रीगोपीजन जिस प्रकार आपका अनुभव करती हैं उसी प्रकारसे हम भी आपका अनुभव करें, ऐसा वरदान दीजिये। आपके वरदान बिना हमारे साधनोंसे आपका अनुभव नहीं हो सकता, यह हम जान चुकी हैं।'

तब भगवान्ने आज्ञा की कि तुम लोगोंने जो वर माँगा है वह दुर्घट अवश्य है पर मैं तुम्हें दूँगा। इसी स्वरूपसे यह होना दुःशक्य और अनुचित है, मेरा नियम है कि मैं एक रूपसे अनेक कार्य नहीं करना चाहता। इसलिये इस कार्यके लिये मुझे अवतार धारण करना होगा।

सारस्वत-कल्पमें मैं श्रीनन्दरायके यहाँ श्रीयशोदासे श्रीकृष्णरूपमें प्रकट होऊँगा और वहाँ तुम भी श्रीगोपीजनरूपसे प्रकट होओगी। उस समयमें मैं तुम्हें अपने आनन्दका दान करूँगा। मेरे अनुग्रहसे वहाँ मेरा तुमसे सम्बन्ध नित्य-सिद्धाओंकी तरह होगा। जब सारस्वतकल्प आया तब वह रस श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुआ और श्रुतिगण गोपीरूपोंमें प्रकट हुईं। वहाँ उन्होंने नित्यसिद्धा गोपियोंकी (सिद्धियोंकी) तरह श्रीकृष्णका भोग सम्प्राप्त किया। यह कथा ब्रह्मवैवर्तपुराणमें प्रसिद्ध है।

पुराणादि शास्त्रोंमें श्रीगोपीजनोंके चार भेद माने हैं— नित्यसिद्धा, श्रुतिरूपा, ऋषिपुत्ररूपा और प्रकीर्णा। कहीं-कहीं इनके नामान्तर भी हैं, पर अनेक भेद होनेमें किसीको विसंवाद नहीं है। उनमें दूसरा यूथ श्रुतिरूपा गोपियोंका है। शब्द भी एक पदब्रह्मकी शक्ति है।

श्रुतियोंमें अन्यपूर्वा और अनन्यपूर्वा दो तरहकी श्रुतियाँ हैं। **'आकाश आनन्दो न स्यात्'**, **'इन्द्राय स्वाहा'**, **'इमं मे वरुणः'**, **'आपो हिष्ठा मयो'** इत्यादि श्रुतियाँ यद्यपि **'आकाशस्तल्लिङ्गात्'** आदि उत्तर-मीमांसा-सूत्रोंके सिद्धान्तानुसार रसरूप पुरुषोत्तमका ही निरूपण करती हैं तथापि वे अन्यपूर्वा हैं। क्योंकि आपाततः वरुण आदिका निरूपण करती हुईं वस्तुतः परब्रह्मका वर्णन कर रही हैं। और **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,'** **'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'** आदि श्रुतियाँ साक्षात् परब्रह्मका सीधा निरूपण करती हैं; इसलिये ये अनन्यपूर्वा हैं। पूर्वमें इन्होंने अन्यका निरूपण न करके रसका ही वर्णन किया है। इसलिये अवतारअवस्थामें इन अन्यपूर्वा और अनन्यपूर्वा दोनों प्रकारकी श्रुतियोंका गोपीरूपसे अवतार हुआ है। इसलिये अन्यपूर्वा और अनन्यपूर्वा दोनों तरहके गोपीजन प्रसिद्ध हैं। अतएव भागवतमें **'पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवा-नतिविलङ्घ्यतेऽन्त्यच्युतागताः'** इत्यादि वाक्य अन्यपूर्वा गोपिकाओंके हैं।

'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इत्यादि सूत्रोंमें श्रीवेदव्यासजीने यह सिद्धान्तित किया है कि आकाश शब्द आपाततः (ऊपरसे) लौकिक आकाशका बोधन कराता है, वास्तवमें नहीं। इसी प्रकार श्रुतिरूपा गोपियोंका जितना जो कुछ सम्बन्ध अन्य गोपोंके साथ हुआ है वह सब आपाततः है, भ्रान्त है, योगमायाका कार्य है। योगमायाका जन्म ही इसीलिये है, यह हम पहले कह चुके हैं। भगवान्की परस्पर विरुद्ध शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध कार्योंके समाधानके लिये हैं; भगवच्छक्तिके साथ अन्यका सम्बन्ध हो यह विरोध है, इसलिये इस विरोधको योगमायाशक्तिने दूर कर दिया। भ्रम कराना यह मायाशक्तिका कार्य है। लीलामें रस लानेके लिये जिस मोहकी अपेक्षा रहती है उस मोहको कर देना यह योगमायाशक्तिका कार्य है। योगमायाशक्तिके अनेक कार्य हैं, अतएव श्रीमद्भागवतमें कहा है—

विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति॥

निज-लीलामें जो काम आवे वह योगमाया। इसीने गोप-गोपी और निजका मोहन किया था। जैसे कोई शौकीन आनन्दानुभव करनेके मोहार्थ भाँग पीनेकी आवश्यकता समझता है इसी प्रकार भगवान् भी लीलामें रस लानेके लिये कभी-कभी योगमायाको आश्रय देते हैं। **'योगमायामुपाश्रितः।'**

इस प्रकार गोपी और भगवान्‌के सम्बन्धमें जितने विरोध आते हों वे सब योगमाया-शक्तिके द्वारा दूर किये जा सकते हैं। यहाँतक शब्द-शक्तिरूपा गोपियोंका निरूपण हुआ। अब नित्यसिद्धा गोपियोंका निरूपण इस प्रकार है।

नित्यसिद्धा गोपिकाएँ सिद्धिरूपा हैं। अनवतार-अवस्थाकी प्रथमा सिद्धि लक्ष्मी है। लक्ष्मी ही भगवान्‌की भोग्या है। यही भगवान्‌का रमण-स्थान है। अवतार-समयमें भी भगवान् जहाँ रमण करना चाहते हैं वहाँ श्रीलक्ष्मी-शक्तिका आविर्भाव कर लेते हैं।

अवतार-अवस्थामें पूर्वोक्त राधस् नामक सिद्धि ही श्रीराधा किंवा राधिकारूपसे प्रकट होती हैं।

रस-शास्त्रने रसको दो प्रकारका माना है—संयोग और विप्रयोग। मूलरसकी कई अवस्थाएँ हैं—शान्त, उद्‌बुद्ध, अत्युद्‌बुद्ध। रसकी प्रारम्भिक या प्रथम अवस्थाको भाव कहते हैं। यह भाव सर्वदा विद्यमान रहता है, इसलिये इसे स्थायी भाव भी कहते हैं। भावकी उद्‌बुद्ध अर्थात् मध्यावस्था संयोग-रस है। और अत्युद्‌बुद्ध या उद्वेलित-अवस्थाको विप्रयोग कहते हैं। भाव ही जब अगणित-लहरीसंवलित, उद्वेल और अप्रमेय हो जाता है तब विप्रयोग कहलाता है। तब वह एक ही सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त हो जाता है।

रस-शास्त्रमें इस रसकी अनन्त लहरियाँ, अनन्त भावनाएँ मानी गयी हैं। उद्वेलित-विप्रयोग-रसमें अनन्त भावनाएँ उठती रहती हैं। शास्त्रहीमें नहीं, लोकानुभवसे भी यह बात ठीक है।

प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
पर्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हं हो चेतःप्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः॥

'श्लिष्यति चुम्बति तिमिरमनल्पम्' इत्यादि वाक्य अनन्त भावना-निमित्तक ही हैं। यही बात अलौकिक रसमें भी समझ लेनी चाहिये। अलौकिक रस भी अनन्तभावनायुक्त है। जैसे समुद्रकी तरङ्ग, सूर्यका तेज और दीपका प्रकाश है, इसी प्रकारसे उद्वेलित शृङ्गार-रसकी भावनाएँ हैं। दोनों एक हैं। सूर्यसे तेज, दीपसे प्रकाश और समुद्रसे लहरी जुदी नहीं हैं; इसी तरह रससे भावनाएँ पृथक् नहीं हैं। उन सब भावनाओंकी अधिष्ठात्री देवता राधस् है, यह प्रथमा सिद्धि है। सिद्धि शब्दमें और राधस् किंवा राधा शब्दमें भेद नहीं है।

किसी भी पदार्थके अनुभव करनेमें तीन पदार्थोंकी अपेक्षा रहती है—ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान (समझ)। किन्तु रसरूप श्रीपुरुषोत्तम एक है, अद्वितीय है, इसलिये वह अपना अनुभव करते समय आप ही तीन बन जाता है। अनुभव करनेका विषय—आनन्द, आनन्दानुभवकर्ता, और आनन्दका अनुभव। अनुभवका विषय रस्यपदार्थ भी जब आप ही हो जाता है तब उस रूपान्तरापन्न रसनीय विषयरूप रसको ही राधस् या सिद्धि कहते हैं। व्याकरण-वेत्ताओंको मालूम है कि राध् धातुका भाव-प्रत्ययसहित 'राधा' शब्द है और उसका अर्थ है 'तद्रूप हो जाना।' सिद्धि शब्दकी भी व्युत्पत्ति वैसी ही है और अर्थ भी तद्रूपापत्ति है। राधस् कहो, राधा कहो, राधिका कहो और चाहे सिद्धि कहो, सबका एक ही अर्थ और तात्पर्य है। **'भगवतः सिद्धिः'**—भगवान्‌की सिद्धिका अर्थ राधस् या राधा ही होता है। षिध् धातुसे भावमें 'क्ति' कर देनेसे सिद्धि शब्द तैयार होता है, और उसका अर्थ भी **'रूपान्तरापत्तिः किंवा तद्रूपापत्तिः'** होता है। अब **'भगवतः'** सिद्धिका स्फुट अर्थ यह होता है कि भगवान्‌का रूपान्तर ग्रहण करना। और यही श्रीराधा हैं।

पूर्ण पुरुषोत्तमरूप वह अनिर्वचनीय अनुपम रस अपनी अनवतार-अवस्थामें अपनी आत्मसदृश इस सिद्धि-राधस्‌के द्वारा अपने ही रसका स्वाद लेता रहता है, यही बात **'राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः'** इस श्लोकमें कही है। किन्तु जब वह रस स्वेच्छया आविर्भूत (अवतरित) होता है तब अपनी उस सिद्धिको भी स्वरमणार्थ भूतलपर प्रकट करता है। जब श्रीयशोदासे (यशोदामें नहीं) अनुपम अनिर्वचनीय रसका प्रादुर्भाव हुआ तो उसके पहले उसी प्रकारसे राधाष्टमीको कीर्तिसे राधा नामक राधस्‌सिद्धिका भी आविर्भाव हुआ।

यह राधस् राधा किंवा राधिका श्रीपुरुषोत्तमकी इस प्रकार (श्रीकृष्णकी) नित्यसिद्धा प्रिया हैं।

इसी बातको यदि लौकिक रूपकसे कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि शृङ्गाररसरूप भावनामें जब पुरुष अपनी प्रियाकी भावना करता है तब वह अपने भावको ही स्त्रीरूप देता है। भावको स्त्रीरूप बनाये बिना स्त्रीकी भावना ही नहीं हो सकती। इसी प्रकार जब स्त्री अपने

प्रियकी भावना करती है तब उसे भी अपने भावको पुरुषरूप देना होता है। स्त्रीके हृदयमें भावात्मक पुरुष है और पुरुषके हृदयमें भावात्मक प्रिया है। भावपदार्थ नित्यसिद्ध है, रसरूप है; इसलिये वे तत्तद्रूपापन्न प्रिया-प्रियतम दोनों ही नित्यसिद्ध और रसरूप हैं। इस प्रकारसे दोनों एकरूप रहते भी श्रीकृष्णकी नित्यसिद्धा प्रिया श्रीराधिका हैं। श्रीराधिका प्रथमा शक्ति हैं, प्रथमा सिद्धि हैं, अतएव सर्वश्रेष्ठा हैं, सर्वेश्वरी हैं, निष्कामा हैं, प्रेममयी हैं।

श्रीराधिका यूथेश्वरी हैं, अनेकों श्रीगोपीजनोंके यूथकी स्वामिनी हैं; इसलिये इन्हें मुख्य स्वामिनी भी कहते हैं। रसकी भावना एक ही और एक ही प्रकारसे नहीं होती। शृङ्गाररसकी भावनाएँ अनेक और अनेक प्रकारसे होती हैं, इसलिये नित्यसिद्धा प्रियाएँ भी अगणित हैं। इन सबकी स्वामिनी श्रीराधिका हैं। ये सब सिद्धिरूपा नित्यसिद्धा प्रियाएँ अनन्या किंवा अनन्यपूर्वा हैं। इन गोपियोंके देहेन्द्रियादि आनन्दमय, अप्राकृत हैं और इनमें कामांश बिलकुल नहीं है।

दूसरा यूथ श्रुतिरूपा गोपिकाओंका है। उनका संक्षेपमें निरूपण पूर्वमें किया जा चुका है। ये भी शब्दरूपा होनेसे भगवान्की शक्तियाँ हैं। शब्द भी भगवान्की शक्ति है, यह वेदान्तशास्त्रसे सिद्ध है। श्रीगोपीजनोंके अनेक यूथ हैं, यह मैं अपने रासलीला-विरोध-परिहारमें अच्छी तरह प्रकाशित कर चुका हूँ। यहाँ उस विषयको पल्लवित करनेका कारण नहीं है। यहाँ तो मुझे प्रस्तावानुसार श्रीराधिकाभगवती भगवान् श्रीकृष्णकी ही एक प्रधान शक्ति हैं—इतना मात्र दिखाना था, सो मैंने दिखा दिया।

तदा तद्रूपतापत्तिर्मूललीलापरायणः।
यथा वा मूलरूपेऽपि स्वयमाविश्य सर्वतः॥
मूलरूपेण कृतवाँल्लीलास्तद्वत् स्वयं हरिः।
तथा श्रुतिषु सर्वासु भावात्मा स्वीयरूपताम्॥
सम्पाद्य मूलरूपेण रमते तादृशीषु वै।
उभयोर्भावरूपत्वं मन्तव्यं ब्रह्मवादिभिः।
मुख्यशक्तिस्वरूपं तु स्त्रीभावो हरिरुच्यते॥
तत्र स्त्र्यंशः पराशक्तिर्भावांशः कृष्णशब्दितः।
यथा हि सर्वभावात्मा कृष्णः सापि च तादृशी॥

श्रीराधा-तत्त्व

[१]

(लेखक—महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगङ्गानाथजी झा एम० ए०, डी० लिट०, एल० एल० डी०)

'**श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः।**' जहाँ कहीं श्रीकृष्णकी पूजा होती है, श्रीराधाके साथ होती है—यह तो प्रसिद्ध है। परन्तु कृष्ण-चरित्र-निरूपक ग्रन्थोंमें श्रीमद्भागवत सबसे प्रसिद्ध है—इसमें श्रीराधाकी चर्चा प्रायः नहीं-सी ही है। इससे कुछ लोगोंके मनमें यह सन्देह होने लगा है कि राधाकी उपासना (Radha-cult) कृष्णोपासनासे भी बहुत नवीन है।

जबसे पाश्चात्त्य विद्वानोंने पुराणोंको 'रद्दी', 'कपोल-कल्पित' कहकर हटा दिया, तबसे उनके शिष्य हमारे देशी भाई भी इन अमूल्य ग्रन्थ-रत्नोंकी ओर दृक्पात करना भी महापाप समझने लगे। अब (Pargiter) साहबकी कृपा पुराणोंकी ओर हुई है। उनका कहना है कि पुराणोंकी सहायताके बिना भारतवर्षके इतिहासका सङ्कलन असम्भवप्राय है। इससे अब आशा होती है कि हमारे देशी भाइयोंकी भी इन ग्रन्थोंकी ओर कृपा-दृष्टि फिरेगी।

देवीभागवत देखनेसे श्रीराधाजीका दर्जा बहुत ऊँचा हो जाता है। इस पुराणके अनुसार 'राधा' केवल बरसानानिवासी वृषभानुकी पुत्रीमात्र नहीं हैं। जैसे श्रीकृष्ण परमात्माके अवतार हैं वैसे ही श्रीराधा भी पराशक्तिकी अवतार हैं। आद्या 'प्रकृति' के पाँच रूप हैं—(१) दुर्गा, (२) राधा, (३) लक्ष्मी, (४) सरस्वती और (५) सावित्री। (देवीभागवत ९। १। १)

गणेशजननी दुर्गा राधा लक्ष्मीः सरस्वती।
सावित्री च सृष्टिविधौ प्रकृतिः पञ्चधा स्मृता॥

राधा कृष्णकी चिच्छक्ति हैं। इन्हींके संयोगसे 'ब्रह्माण्ड' की उत्पत्ति हुई। इस 'ब्रह्माण्ड' को राधाजीने जलमें डाल दिया। इसपर अप्रसन्न होकर श्रीकृष्णने शाप दिया कि 'आजसे तुम अनपत्या होगी' इत्यादि कथा नवम स्कन्धके द्वितीय अध्यायमें वर्णित है।

इस कथाको कपोलकल्पित कहिये या जो कुछ कहिये, इतना तो मानना पड़ेगा कि राधाकी उपासना बहुत आधुनिक नहीं है और राधाका दर्जा प्रधान शक्तियोंमें है। जो दर्जा लक्ष्मी, सरस्वती और पार्वतीका है वही राधाका भी।

असल बात तो यह है कि जितने 'देव' हमारे यहाँ माने गये हैं और पूजनीय समझे गये हैं, सबोंके साथ उनकी अपनी-अपनी शक्तियोंकी भी पूजा आवश्यक बतलायी गयी है। यहाँतक कि पूजन-विधिमें शक्तियोंहीका उल्लेख पहले आता है, जैसे—

श्रीगौरीशङ्कराभ्यां नमः, श्रीलक्ष्मीनारायणाभ्यां नमः, श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः, श्रीसीतारामाभ्यां नमः।

इसपर भी भारतवासी स्त्रियोंका तिरस्कर्ता कहलाता है! आश्चर्य!!

[२]

(भार्गव शिवरामकिङ्कर स्वामी श्रीयोगत्रयानन्दजीके उपदेश)

जिज्ञासु—आज श्रीराधा-तत्त्वके सम्बन्धमें कुछ उपदेश सुनानेकी प्रार्थना है।

वक्ता—श्रीराधा-तत्त्वके सम्बन्धमें तुम किन-किन विषयोंके जाननेकी इच्छा करते हो?

जिज्ञासु—श्रीराधाका प्रकृत स्वरूप क्या है, मर्त्यलोकमें उनके आविर्भावका क्या कारण है, वेदमें श्रीराधाका कोई उल्लेख पाया जाता है या नहीं, श्रीराधाके सम्बन्धमें हमें इन सब विषयोंकी विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा होती है। अच्छा, श्रीसीतोपनिषद् नामक-जैसा एक उपनिषद् है, वैसा ही राधोपनिषद् नामक कोई उपनिषद् क्यों नहीं देखनेंमें आता?

श्रीराधाका स्वरूप तथा वेदमें श्रीराधाका उल्लेख

वक्ता—सीता, राधा, दुर्गा—ये वस्तुतः भिन्न पदार्थ नहीं हैं; ये मूलतः एक ही पदार्थ हैं, उद्देश्य-भेदसे इन्होंने विभिन्न रूप धारण कर रखा है। सीतोपनिषद्में जो सीताका स्वरूप वर्णित हुआ है, वही राधाका स्वरूप है। इसलिये राधा-उपनिषद् नामक पृथक् उपनिषद् न होनेसे कोई हानि नहीं है। वेदमें राधाका उल्लेख अवश्य है। वेदमें क्या है और क्या नहीं है, इस विषयका विचार कैसे करना चाहिये—इस सम्बन्धमें इससे पूर्व तुम्हें बहुत कुछ बतला चुका हूँ, उन्हें स्मरण करो। वेद अनन्त है, 'साधु' शब्दमात्र ही वेद है। अतएव 'यह वेदमें है, यह वेदमें नहीं है'—इस प्रकारकी उक्तिका प्रयोग सावधानीसे करना ही उचित है। वेदमें सब विषय बीज-भावसे और सामान्य-भावसे ही रहते हैं, उनके देखनेके लिये विशिष्ट दृष्टि आवश्यक है। वेदमें जिनका 'उमा' नामसे गान किया गया है, वही ब्रह्मविद्या राधाका स्वरूप हैं। यह ब्रह्मविद्या सर्वदा परमात्माके साथ वर्तमान रहती हैं। यह कदापि परमात्मासे अलग होकर नहीं रह सकतीं । वेदमें अनेकों स्थानोंमें इनका उल्लेख है। यह वस्तुतः परमात्मासे भिन्न पदार्थ नहीं हैं। वेदमें गाये हुए परमात्माके 'सोम' नामके अर्थपर अच्छी तरह विचार करो। परमात्माके नित्यज्ञान अर्थात् वेदरूपिणी उमाके साथ सदा वर्तमान रहनेके कारण उन्हें 'सोम' कहा जाता है। इन्हीं उमा या ब्रह्मविद्याका तुम सीता, राधा, गौरी, सावित्री प्रभृति जो कुछ भी नाम रखना चाहो, रख सकते हो। सर्वव्यापी इस सोमको परिच्छिन्न जीव किस प्रकार जान सकता है? कृष्णयजुर्वेदके इस मन्त्रमें इसका उल्लेख किया गया है—

आक्रान्तसमुद्रः प्रथमे विधर्मन्
जनयन् प्रजा भुवनस्य राजा।
वृषापवित्रे अधि सा नो अव्ये
बृहत् सोमो वावृषे सुवान इन्द्रः॥

वेदके त्रिसुपर्ण-मन्त्रमें उमा अर्थात् ब्रह्मविद्याके साथ वर्तमान सोमका उल्लेख आता है। परमात्माने श्रीकृष्णावतारमें जो प्रेमभक्तिपरिपालिनी लीला की है, त्रिसुपर्णमन्त्रमें उसकी प्रस्फुट छवि वर्तमान है।

सीता-तत्त्वकी व्याख्याके समय तुमने सुना था कि वह श्रीविष्णु-देहके अनुरूप ही अपना देह धारण करती हैं—

कमलेयं जगन्माता लीलामानुषविग्रहा।
देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी॥
विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषात्मनस्तनुम्॥

(स्कन्दपुराण, ब्रह्म०)

विष्णुभगवान् जब लोकके उपकारार्थ लीलामें जिस प्रकारका रूप धारण करते हैं, यह भी उस समय उसीके अनुसार रूप धारण करती हैं।

सीताके समान राधा भी अयोनिसम्भवा तथा मूलप्रकृतिरूपिणी हैं। 'सीता मूलप्रकृतिरूपिणी हैं'—यह बात तुमने सीतोपनिषद्में सुन ली है। वह प्रणवरूपिणी

होनेके कारण ही मूलप्रकृतिरूपिणी हैं। सीता मूल-प्रकृति होनेके कारण जैसे सर्वदेवमयी, सर्ववेदमयी, सर्वशास्त्रमयी, सर्वलोकमयी, सर्वशक्तिमयी हैं, उसी प्रकार राधा भी मूलप्रकृतिरूपा होनेके कारण सर्ववेदमयी, सर्वदेवमयी, सर्वलोकमयी, सर्वशक्तिमयी हैं। राधा ही त्रिगुणात्मक संसार हैं, वही त्रिगुणातीता, अखण्ड सच्चिदानन्दमयी हैं।*

पुराणादि भी वेदका ही रूप है। जो ऋषिगण वेदोंके स्मारक हैं वे ही पुराणादि शास्त्रोंके प्रवक्ता हैं। अतएव वे ऐसी कोई बात नहीं कह सकते जो वेद-मूलक न हो। वेदमें जो बीजरूपसे है, वही सब लोगोंके उपकारार्थ पुराणादिमें विस्तृत हुआ है। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें राधाके स्वरूप एवं उत्पत्ति-तत्त्वका वर्णन है, वहाँ देख सकते हो—

गोलोकवासिनी सेयमत्र कृष्णाज्ञयाधुना।
अयोनिसम्भवा देवी मूलप्रकृतिरीश्वरी॥

नारदपाञ्चरात्रमें आये हुए श्रीराधाके सहस्रनामका पाठ करनेसे तुम राधाका स्वरूप जान सकोगे तथा यह भी जान सकोगे कि वह सीता और दुर्गासे अभिन्न हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें भी राधा और दुर्गाका अभेद बतलाया गया है।

× × × ×

द्वितीय प्रकाश

जिज्ञासु—कमलाका राधारूपमें आविर्भाव किस विशेष उद्देश्यके लिये हुआ है, यह जाननेकी इच्छा होती है।

वक्ता—उसे जाननेके लिये तुम्हें शक्ति-विषयक सम्बन्धाख्य-तत्त्व, रास-तत्त्व और गोपी-तत्त्व भी कुछ श्रवण करना होगा।

जिज्ञासु—तब प्रार्थना है कि सम्बन्धाख्य-तत्त्वके विषयमें कुछ उपदेश प्रदान कीजिये।

वक्ता—अभी संक्षेपमें कुछ कहता हूँ, श्रवण करो। श्री-महादेवने नारद ऋषिको इसी तत्त्वका उपदेश किया था।

सब दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्तिके साथ मोक्षरूप परमानन्दके लाभार्थ भक्ति ही उत्तम साधन है। भक्तिमार्ग निरुपद्रव है, यह अधिकारी-अनधिकारी सबके लिये प्रशस्त है। विष्णु-भक्ति ही मुक्तिदायिनी है। भक्तिके इस श्रेष्ठ रूपका जीवोंको उपदेश देनेके लिये ही कमला राधा-रूपमें आविर्भूत हुई थीं।

भक्ति-मार्गके साधनके लिये तुमने 'राधाभाव' का नाम सुना होगा, परन्तु जान पड़ता है कि राधाभावके स्वरूपसे तुम पूर्णरूपेण अवगत नहीं हो। भक्तचूड़ामणि ज्ञाननिधि महर्षि नारदके प्रति भगवान् शङ्करने जो उपदेश दिया था, उसे सुननेपर तुम्हारे समझनेमें बहुत सुविधा होगी। अगस्त्यसंहितामें यह संवाद है, उससे तुम्हें संक्षेपमें कुछ सुनाता हूँ।

× × × ×

महादेवने कहा—'हे रघुनन्दनपरायण मुनिश्रेष्ठ! तुम धन्य हो। तुमने आज मुझसे अत्यन्त श्रेष्ठ तथा गुह्य तत्त्वकी बात पूछी है। जराविहीन ऋषिगण, भक्तगण अथवा ज्ञानीगण—किसीको यह परम रहस्य ज्ञात नहीं है। साक्षात् जानकीनाथके द्वारा मुझे यह दुर्लभ तत्त्व प्राप्त हुआ है। पूर्वकालमें एक दिन मुझे करुणापात्र समझकर प्रभुने गुप्तरूपसे इस तत्त्वका उपदेश दिया था। जो जीवोंके लिये परम हितकर है, जो निखिल वेदान्तसे भी गुह्य है, जो अति दुर्लभ और अमृतमय है। हे विप्र! भावभाजन समझकर मैं तुम्हें सहजानन्ददायक सम्बन्धाख्य उसी परम तत्त्वको कहता हूँ; सुनो। उसकी प्राप्तिमात्रसे जीवोंकी श्रीरघुनाथके चरणमें अचला प्रीति हो जाती है। हे महामुने! उसके पाँच भेद हैं—(१) शान्त, (२) दास्य, (३) सख्य, (४) वात्सल्य, (५) शृङ्गारक। इनमें भी बहुतेरे भेदोपभेद हैं, जिन्हें तुम्हें अभी विस्तारपूर्वक मैं बतलाना नहीं चाहता। जो मुख्य रसस्वरूप तत्त्व है, उसीको मैं इस समय तुम्हें याथातथ्येन कहता हूँ, सुनो। क्रमानुसार साधु-सङ्ग, निरहङ्कार, निर्वेद प्रभृति विभावके द्वारा समन्वित स्थायी शान्तभाव ही शान्तरस है। क्रमशः सम्यक्शरणागतत्व,

* संसिद्ध्यर्थक राध्-धातुसे 'राधा' पद सिद्ध होता है। जो सर्व परिणामका साधन करती हैं, वह राधा हैं। इससे राधा मूल-प्रकृति हैं, यह समझमें आ जायगा। 'राधा' शब्दकी अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं, वह उनकी विभिन्न विभूतिकी वाचक हैं; परन्तु मूल-अर्थके साथ किसीका भी विरोध नहीं है। जो भक्तोंकी समस्त मङ्गल-कामनाओंको सिद्ध करती हैं, वह राधा हैं। 'आराधन', 'संराधन' प्रभृति शब्दोंका अर्थ तुम जानते ही हो। यह आराधन वा संराधन, मुक्ति वा परमानन्दकी प्राप्ति जिनका उद्देश्य है, उन्हें राधा वा मूल-प्रकृतिकी शक्तिके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। जो सबको उनका ईप्सित अर्थ प्रदान करती हैं ('रा' शब्द दानवाचक है) तथा जो मायिक लोगोंके लिये निर्वाण-मुक्ति धारण किये रहती हैं ('धा' शब्द धारणार्थक है) वही राधा हैं। शास्त्रमें 'राधा' नामकी इसी प्रकारकी व्युत्पत्ति पायी जाती है।

आज्ञाकारित्व, दैन्य प्रभृति विभाव[1] द्वारा समन्वित स्थायी आदर-भावको 'दास्य' भाव[2] कहते हैं। मधुर वचन, परिहास एवं हर्ष प्रभृति 'विभाव' द्वारा सदा युक्त स्थायी भावको 'सख्य' भाव कहते हैं। क्रमशः चापल्य, पुलक और अनिष्टशङ्का प्रभृति 'विभाव' द्वारा युक्त स्थायी वत्सलताको 'वात्सल्य' भाव कहते हैं। क्रमशः माधुर्य, भ्रुकुटिक्षेप, हर्ष प्रभृति विभावोंके द्वारा समन्वित रतिरूप स्थायी भावको 'शृङ्गार' भाव कहते हैं। उपर्युक्त पाँच प्रकारके रसोंके आश्रित भक्तोंके लक्षण आगे कहे जाते हैं। जो भक्त श्रीमान् रघुपतिको[3] सर्वपरात्पर साक्षात् ब्रह्म जानकर उनका भजन करते हैं, वह शान्तरसके आश्रय हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्र करुणासिन्धु हैं, वह सदा अपने भक्तोंकी रक्षा करते हैं—इस प्रकार जानकर जो इस श्रेष्ठ सम्बन्धसे उनका भजन करते हैं, वह दास्यरसके आश्रय हैं। जो श्रीरघुनन्दनको मित्र और प्रेमपात्र जान परम स्नेहसे उनके साथ नित्य रमण करते हैं, वह सख्यरसके आश्रय हैं। (अर्जुन प्रभृति भगवान्के सख्यभावके भक्त थे।) बालस्वरूप, परम सौन्दर्ययुक्त, कोमलाङ्ग परमानन्ददायकरूपमें भगवान् श्रीरामचन्द्रको अपना बाह्यसञ्चारी प्राण समझकर जो भजन करते हैं वह वात्सल्यरसके आश्रय हैं। माधुर्यमय, मनोहर श्रीरामचन्द्रको अपना पति जानकर जो सदा उनका भजन करते हैं वह शृङ्गाररसके आश्रय हैं।

ऊपर जो पाँच प्रकारके भावोंकी बात कही गयी है, इनमेंसे किसी एक भावसे भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही वे प्राप्त हो सकते हैं। इतने ही भाव कहे गये और अधिक क्यों नहीं कहे गये? इसका उत्तर यह है कि मनुष्यके मन (Mind)-का विश्लेषण (Analysis) करनेपर इन भावोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं पाया जाता। मनुष्यके समस्त मनोभावोंमेंसे चाहे तुम किसीको भी लो, उसका समावेश इन भावोंके अन्दर हो जायगा। संसारमें यही चिरपरिचित भाव हैं, इनके ही पूर्णभाव भगवान् हैं।

इन पाँच प्रकारके भावोंमें जो एक 'प्राकृतिक क्रम' है, उसपर भी ध्यान देना चाहिये। पहले जनक-जननीभाव है, उसके बाद आचार्यभाव (गुरुभक्ति), उसके पश्चात् सख्यभाव इत्यादि। एक भावकी साधना हो चुकनेपर दूसरा भाव स्वयं ही आ जाता है। सबके अन्तमें शृङ्गारभाव आता है। यही भक्तिका श्रेष्ठ भाव है। इसीका नाम राधाभाव है।

तृतीय प्रकाश

राधाके 'रासेश्वरी' नामकी सार्थकता

जिज्ञासु—श्रीराधाके सहस्रों नाम रहते हुए भी उनके केवल सोलह नाम ही विशेष प्रसिद्ध और साधकोंके लिये मुक्ति आदि फलके देनेवाले बतलाये गये हैं। उनमें पहले उनके 'रासेश्वरी', 'रासवासिनी', 'रसिकेश्वरी' प्रभृति नाम उक्त हुए हैं। राधाके 'रासेश्वरी' प्रभृति नामोंकी सार्थकता जाननेकी इच्छा होती है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें उक्त राधाके उत्पत्ति-तत्त्वको पढ़कर मेरे मनमें दो-चार प्रश्न उत्पन्न हुए हैं। पूर्ण, निःस्पृह, निष्काम परमात्माकी किसी विषयमें इच्छा या कामना होगी ही क्यों? उन्हें रमणकी इच्छा ही क्यों होगी?

स्वेच्छामयश्च भगवान् बभूव रमणोत्सुकः।

इस रमणेच्छाको चरितार्थ करनेके लिये ही मानो रासेश्वरी राधाकी तथा गोपीगणकी उत्पत्ति होती है। यथा—

बभूव रमणी रम्या रासेशी रमणोत्सुका।
बभूव गोपीसङ्घश्च राधाया लोमकूपतः॥

—मैं इसका अर्थ अच्छी तरह नहीं समझ सका।

वक्ता—इसके समझनेके लिये तुम्हें सृष्टि-तत्त्व तथा भगवान्का रासलीला-तत्त्व समझना होगा। यहाँ संक्षेपमें

१- 'विभाव' किसे कहते हैं? रति, हास, निर्वेद प्रभृतिके आस्वादनके कारणको 'विभाव' कहते हैं। अग्निपुराणमें लिखा है कि रत्यादि जिससे वा जिसके द्वारा विभावित, व्यक्तिविषयीकृत, प्रकटीभूत होते हैं, उसीको 'विभाव' कहते हैं—

'विभावो हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते।' (अग्निपुराण)

२- 'भाव' किसे कहते हैं? जो अन्तःकरणमें भावित या वासित होता है, उसे 'भाव' कहते हैं। अन्तःकरणकी वासना या संस्कार ही यहाँ 'भाव' शब्दसे लक्षित हुआ है।

'स्थायी भाव' किसे कहते हैं? विरुद्ध, अविरुद्ध आदि भावोंके द्वारा जिस भावका विच्छेद नहीं होता, जो भाव अन्य सब भावोंको स्वात्मभावमें लीन कर देता है, वही 'स्थायी भाव' है।

३- यहाँ 'रघुपति', 'रामचन्द्र,' 'रघुनन्दन' प्रभृति नाम वस्तुतः साम्प्रदायिक भावमें उक्त नहीं हुए हैं। भगवान्के जो नाम या रूप जिन्हें इष्ट हों, वे उन्हीं नाम और रूपोंसे विचार कर सकते हैं। जिसके जो इष्ट हैं वही उनके 'राम' हैं।

दो-चार बातें कहता हूँ। भगवान् पूर्ण एवं अकाम हैं, परन्तु जीवोंके काम ही उनके काम हैं। समष्टिभूत जीवोंके कामवशतः ही उनकी सृष्टिकी इच्छा होती है। विभिन्न जीवात्माओंके विभिन्न कामनाओंके कारण ही सृष्टि तथा भगवान्के अवतारोंमें भेद होता है। ज्ञानका परिपाक होनेपर हृदयमें प्रेमभक्तिका उदय होता है, तब ज्ञानी भक्तके प्रेमका परिपालन करनेके लिये भगवान्को लीलाकी आवश्यकता होती है, यही उनकी रासलीलाका एक मुख्य कारण है। समष्टिभूत गोपीरूप (गोपीगण वेदज्ञ ऋषियोंके या बहुशाखा वेदोंके ही रूप हैं) ही श्रीराधाका रूप है। इस बातको समझ लेनेपर ब्रह्मवैवर्तपुराणके—

बभूव गोपीसङ्घश्च राधाया लोमकूपतः॥

—इस पदका अर्थ भी समझमें आ जायगा।

चतुर्थ प्रकाश

जिज्ञासु—ज्ञानका परिपाक होनेपर भी अद्वैतज्ञानके आविर्भावसे पृथक् जीवत्वका लोप कर साधक परमात्माके साथ अभेदभावापन्न हो जाता है। रमणादि भक्तिभावकी लीला तो द्वैतभाव-सापेक्ष है।

वक्ता—अद्वैत-ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है, अद्वैतभाव ही साधनाका परम भाव है—यह बात सत्य है। भक्तिमार्गके साधनका चरमभाव भी अद्वैतभाव ही है। रासलीलामें यही भाव दृष्ट होता है। जो जिसे हृदयसे प्यार करता है, वह उससे किञ्चिन्मात्र भी दूर रहना नहीं चाहता। जो भक्तिमार्गकी साधना करते हैं, वे अवश्य ही उसे द्वैतभावसे ही प्रारम्भ करते हैं। जितनी भक्तिकी पुष्टि होती है, उतनी ही भक्तकी इच्छा भगवान्के समीपवर्ती होनेकी बढ़ती जाती है। क्रमशः ऐसी अवस्था आ जाती है कि भक्त काल और देशका व्यवधान भी सहन नहीं कर सकता, अर्थात् भक्त सर्वदा भगवान्को देखना चाहता है और जहाँतक सम्भव हो उसके समीप रहना चाहता है। (In the highest divine communion the devotee wishes to annihilate both time and space in entirety in respect of his object of devotion.) जब कुछ भी देशगत भेद नहीं रह जाता, तब उपास्यके अङ्गके साथ उपासकका अङ्ग युक्त हो जाता है। भक्तिमार्गके साधनकी पूर्णावस्थामें ऐसी दशाका होना स्वाभाविक है। उपासक और उपास्यके बीच तनिक भी भेद न रहनेपर ही दोनोंका शरीर परस्पर युक्त हो जाता है। बहुतेरे इस लीलाके तत्त्वको न समझकर इसमें लौकिक भावका आरोप कर इसकी निन्दा करते हैं। इस तत्त्वकी उपलब्धिके लिये विशिष्ट अधिकारका होना आवश्यक है। शास्त्र कहते हैं कि अनन्त गुणसागर भगवान्के गुण ही ऐसे हैं कि जिनसे सनकादि मुनिगण अद्वैत-ज्ञानमें ज्ञानी होकर भी द्वैतभावसे भगवान्की सेवा करनेकी इच्छा करते हैं—'**इत्थम्भूतगुणो हरिः।**'

पञ्चम प्रकाश

जिज्ञासु—आपने कहा है कि राधा और दुर्गा एक ही वस्तु हैं। इसको सत्य माननेपर भी मनमें एक प्रश्न उठता है कि, 'फिर राधा और दुर्गाका पृथक् नाम और रूप क्यों हुआ?'

वक्ता—तुम्हारा प्रश्न तत्त्व-जिज्ञासुका प्रश्न है, इसमें सन्देह नहीं। इसका उत्तर सम्यक्रूपसे जाननेके लिये तुम्हें शब्द, नाम एवं रूप-तत्त्वको अच्छी तरहसे जानना होगा। अभी मुझे इसके लिये अवसर नहीं है, किसी दूसरे समय इसे समझानेका विचार है। इस विषयको योगद्वारा उपलब्ध करना होगा। अभी एक बात कह देता हूँ, इसका आश्रय कर ध्यान करनेकी चेष्टा करना—

राधा=प्राणशक्ति।*

दुर्गा=बुद्धिशक्ति।

[३]

(लेखक—'कवीन्द्र श्रीदिल-दरियाव')

जयति जयति श्रीराधिके, बंदौं पद-अरबिंद।
चहत मुदित मकरंद मृदु, जेहि ब्रजचंद मलिंद॥

श्रीवृन्दावनाधीश्वरी श्रीराधारानीके चरण-कमलोंका बारम्बार सप्रेम वन्दन करता हूँ। जिन चरणारविन्दके मधुर मकरन्दको स्वयं श्रीआनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र मुग्ध मलिन्दवत् आस्वादन करनेके लिये आसक्त हो सदैव आकाङ्क्षी रहते हैं, जिनकी सेवामें सुन्दर शृङ्गारसुसज्जिता सहचरियाँ सदा संलग्न रहती हैं; इन्द्राणी, रुद्राणी, ब्रह्माणी—सभी सुररानियाँ सतत सावधानीके साथ सौरभ, गुलाबदानी आदि लिये आठों याम हरदम हाजिर-

* देवीभागवतमें इस सम्बन्धमें कुछ उपदेश है।

राधा कृष्णात्मिका नित्यं कृष्णो राधात्मको ध्रुवम्।
वृन्दावनेश्वरी राधा राधैवाराध्यते मया॥
यः कृष्णः सापि राधा च या राधा कृष्ण एव सः।
एकं ज्योतिर्द्विधाभिन्नं राधामाधवरूपकम्॥

(ब्रह्माण्डपुराण)

अर्थात् जो यह परमानन्दरूप रस है वह एक ही दो प्रकारका है और श्रीराधाकृष्णरूप है उसको नमस्कार करते हैं। राधाकी आत्मा नित्य श्रीकृष्ण हैं और कृष्णकी आत्मा नित्य श्रीराधा हैं। वृन्दावनकी ईश्वरी राधा हैं, इस कारण मैं (कृष्ण) राधाकी नित्य आराधना करता हूँ। जो कृष्ण हैं वही राधा हैं और जो राधा हैं वही कृष्ण हैं। राधा-माधवरूपसे एक ही ज्योति दो प्रकारसे प्रकट है।

येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धि-
र्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्।
देहो यथा छायया शोभमानः
शृण्वन् पठन् याति तद्धाम शुद्धम्॥

(राधातापिनी)

जो यह राधा और जो यह कृष्ण रसके सागर हैं, वह एक ही दो रूप हुए हैं। जैसे छायासे देह शोभायमान होती है, इस प्रकार दोनों हैं; उनके चरित्र पढ़ने-सुननेसे प्राणी उनके शुद्ध धामको प्राप्त होता है।

उपासकोंके हितके लिये सच्चिदानन्दघनका द्विधा स्वरूप प्रकट होता है। गौर-तेजके साथ श्याम-तेजका नित्य विहार है। और प्रत्यक्ष देखनेमें श्रीकृष्णस्वरूपान्तरगत श्रीराधाकी गौर-तेजोमयी दिव्यमूर्ति भासित होती है। उसी प्रकार श्रीराधाके स्वरूपान्तरगत श्रीकृष्णकी श्याम-तेजोमय सुन्दर सलोनी साँवली सूरत भासित होती है। जैसे—

स्यामल अंतस गौर है, गौर-सु अंतस स्याम।
जुगल जुगल छबि छलकि छकि, जुगल मुकुर छबि धाम॥

देखिये! इसी दिव्य गौर-तेजोमय रूपराशिकी महिमा श्रीशङ्करजी वर्णन करते हैं। गोपालसहस्रनाममें लिखा है—

गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत्।
जपेद्वा ध्यायते वापि स भवेत् पातकी शिवे॥

अर्थात् 'हे शिवे! गौर-तेज अर्थात् श्रीराधाके बिना श्याम-तेज श्रीकृष्णको फल-भेद अन्य-बुद्धिसे पूजन, जप तथा ध्यान करता है, वह पातकी होता है।' भगवान् स्वयं कहते हैं—

आवयोर्बुद्धिभेदं च यः करोति नराधमः।
तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

अर्थात् मुझमें (श्याम-तेजमें) और तुझमें (गौर-तेजमें) जो अधम नर भेद मानता है, वह जबतक चन्द्रमा और सूर्य रहेंगे तबतक कालसूत्रनरकमें रहेगा।

बोलो, श्रीनिकुञ्जेश्वरी वृन्दावनविहारिणी श्रीराधारानी-की जय!

अमित महिमा

जयति श्रीराधिके! सकल सुखसाधिके, तरुनि-मनि नित्त-नव-तनु-किसोरी।
कृष्ण-तनु-लीन घन-रूपकी चातकी, कृष्ण-मुख-हिमकिरनकी चकोरी।
कृष्ण-दृग-भृंग-बिस्राम-हित पद्मिनी, कृष्ण-दृग-मृगज-बंधन-सुडोरी॥
कृष्ण-अनुराग-मकरंदकी मधुकरी, कृष्ण-गुन-गान-रस-सिंधु-बोरी।
और आश्चर्य कहुँ मैं न देख्यौ सुन्यौ, चतुर चौसठ कला तदपि भोरी॥
बिमुख पर-चित्ततें, चित्त जाको सदा, करत निज नाहकी चित्त-चोरी।
प्रकृति यह 'गदाधर' कहत कैसे बनै, अमित महिमा इतै बुद्धि थोरी॥

—गदाधर

श्रीसीता-तत्त्व

[१]

(पूज्यपाद श्रीश्रीभार्गव शिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्द स्वामीजीके उपदेश)

इच्छाज्ञानक्रियाशक्तित्रयं यद्भावसाधनम्।
तद्ब्रह्मसत्तासामान्यं सीतातत्त्वमुपास्महे॥*

वक्ता—रमा! आज सीतानवमी है।

जिज्ञासु (रमा)—पञ्चाङ्गमें मैंने एक चित्र देखा है, जिसके नीचे लिखा है—'**श्रीश्रीसीतानवमीव्रतम्।**' दादा! इस महीनेकी इस तिथिको सीतादेवीने जन्म ग्रहण किया था, क्या इसीसे इसका नाम 'सीतानवमी' पड़ा है?

वक्ता—हाँ, आज ब्रह्मविद्यास्वरूपिणी, सर्ववेदमयी, सर्वदेवमयी, सर्वलोकमयी, सर्वकीर्तिमयी, सर्वधर्ममयी, सर्वाधारकार्यकारणमयी, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया-शक्तिमयी,विश्वमाता, महालक्ष्मी सीतादेवीके जगत्के हितार्थ स्थूल रूपमें पृथिवीपर अवतरित होनेका दिन है। आजका दिन जगत्के लिये क्या ही आनन्दका है! क्या ही सौभाग्यका है!! आज जगत्को विशुद्ध ज्ञान तथा भक्ति सिखानेके लिये, निखिल कोमल भावोंका विमल रूप दिखानेके लिये जगन्माताके इस दुःखमय मर्त्य-धाममें स्थूलरूपमें प्रकट होनेका दिन है। अहा! किसी अवस्थामें भी जिनका चित्त सर्वाभिराम राम-रूपको छोड़कर अन्य किसी रूपमें गमन नहीं करता; जिनके चरित्रका स्मरण करनेपर पातिव्रतकी विमल छवि नेत्रोंके सामने नाचने लगती है; पृथिवीके अन्य किसी देशमें, किसी कालमें कोई कवि जिनके आदर्श चरित्रकी पूर्ण छवि अपनी कल्पनारूपी तूलिकाद्वारा अंकित करनेमें समर्थ न हो सका; जिनके मातृभावकी उपमा नहीं, जिनके पातिव्रतकी तुलना नहीं, जिनके धैर्यकी सीमा नहीं, जिनकी कोमलताका दृष्टान्त-स्थल नहीं; जिनकी विमल तेजस्विता अनुपमेय है; शरणागत भक्तोंपर जिनका प्रेम, दुःखितोंपर जिनकी करुणा अतुलनीय है; जिनका सुस्निग्ध, सोममय हृदय देखकर अग्निको भी शीतवीर्य होना पड़ा था; जिनके समान तपस्विनी कोई त्रिलोकमें भी नहीं है; जो कृपाकर जीवको यह सिखा गयी हैं कि परमात्माको पानेके लिये जीवको किस तरह साधना करनी पड़ती है, अज्ञानका नाश करनेके लिये किस प्रकारके कठोर तपश्चरणकी आवश्यकता है; जिन्होंने यह बतलानेके लिये 'वेदवती' का रूप धारण किया था कि जगत्स्वामीको स्वामिरूपसे प्राप्त करनेके लिये किस प्रकारकी साधना करनी पड़ती है; जिन्होंने यह समझानेके लिये विविध लीलाएँ की हैं कि वेदके आश्रयसे च्युत हो जानेपर शास्त्रकी कैसी दुर्गति होती है, वेदसे छूटा हुआ शास्त्र और रामसे छूटी हुई सीता एक ही चीज़ है; जिन्होंने जगत्को यह स्पष्टरूपसे सिखा दिया है कि ऐश्वर्यमदोन्मत्त, कामोपहत, अविवेकीकी कैसी

---

* सीता-तत्त्व क्या है, यह उपर्युक्त श्लोकमें स्पष्टरूपसे बतलाया गया है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया, इस शक्तित्रयके स्वरूपके ज्ञानसे जो भाव विमल बुद्धि-दर्पणमें प्रतिफलित होता है, वह ब्रह्मसत्तासामान्य—वह अखण्ड सच्चिदानन्दमय ब्रह्मभाव ही सीता-तत्त्व है। सीता-उपनिषद्में कहा गया है—'सीता सर्ववेदमयी हैं, सर्वदेवमयी हैं, सर्वलोकमयी हैं।' कहना न होगा कि 'सीता सर्ववेदमयी हैं' इस बातका यदि अभिप्राय जानना हो तो पहले वेदका स्वरूप जानना होगा। ऋगादि वेदत्रय इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान-शक्ति-स्वरूप हैं। 'सीता'-शब्दका उच्चारण करनेपर साधारणतः लोगोंके चित्तमें जो भाव उदय होता है, उस भावसे सीताको सर्ववेदमयी समझना असम्भव है। 'सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता'—सीतोपनिषद्। 'सीताको मूलप्रकृतिसंज्ञिता भगवती जानना' सीतोपनिषद्की यह बात भी दुर्बोध्य वा अबोध्य है, इसमें भी सन्देह नहीं।

'सा देवी त्रिविधा भवति शक्त्यात्मना—इच्छाशक्तिः, क्रियाशक्तिः, साक्षात्छक्तिरिति'—सीतोपनिषद्। अर्थात् सीतादेवी शक्त्यात्मामें इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति तथा साक्षात्-शक्तिके भेदसे त्रिविधा हैं। सीतोपनिषद्में सीतादेवी मूलप्रकृति तथा प्रणवस्वरूपिणी कही गयी हैं ('मूलप्रकृतिरूपत्वात् सा सीता प्रकृतिः स्मृता। प्रणवप्रकृतिरूपत्वात् सा सीता प्रकृतिरुच्यते'—सीतोप०)। सीतादेवीको मूल-प्रकृति वा प्रणवस्वरूपिणी कहनेसे ही यह सूचित होता है कि सीतादेवी सर्ववेदमयी हैं; इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान—इन शक्तित्रयका तत्त्वज्ञान ही सीता-तत्त्वका प्रकाशक है। 'ज्ञान, क्रिया और इच्छा' ये सत्त्व, रजः और तमः—इन गुणत्रयात्मिका प्रकृतिके ही कार्य हैं। 'अथातस्त्रिगुणात्मकः संसार इत्युच्यते। सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणा भवन्ति। तादृशज्ञानेच्छाक्रियाक्रमनियमेन गुणा वेदितव्या भवन्ति॥'

(महर्षि गार्ग्यायणप्रणीत प्रणववाद)

दुर्दशा होती है; जिनकी कृपासे मृत जीवित हुए, उन सर्वविद्याशरीरिणी सीतादेवीके पृथ्वीपर स्थूलरूपमें अवतरणका आज शुभ दिन है।

जिज्ञासु (रमा)—आपने कहा है—सीतादेवी सर्व वेदमयी हैं, सीतादेवी सर्वदेवमयी हैं। आपकी इन बातोंका अर्थ क्या है? 'वेद' क्या है, सो तो मैं नहीं जानती। सुना है, स्त्री-जातिको वेदका अधिकार नहीं है। दादा! जिनको वेदका अधिकार नहीं, वे कैसे सीतादेवीको जान सकेंगे? दादा! स्त्रियोंको वेदका अधिकार क्यों नहीं है? जगन्माताने तो स्त्री-रूपमें ही अपना रूप (वेद-रूप) प्रकट किया है, वेदवती-रूप तो स्त्री-रूप ही है, तो फिर वेदका अधिकार स्त्रियोंको क्यों नहीं रहेगा? जो सर्वशक्तिमयी हैं, क्या वह अनधिकारीको अधिकारी नहीं बना सकतीं?

वक्ता—रमा! तुम्हारा प्रश्न बड़ा सुन्दर है, मैं आगे चलकर तुम्हारे इस प्रश्नका विशदरूपसे समाधान कर दूँगा। यहाँ संक्षेपमें कुछ कहता हूँ, सावधान होकर सुनो। यहाँपर मैं पहले ही यह कह रखता हूँ कि सीतादेवी केवल वेदमयी ही नहीं हैं, बल्कि सर्वशास्त्रमयी भी हैं; पुराण, इतिहास (जिनमें स्त्रियोंका भी अधिकार है, जो वेदकी ही सरल तथा मधुर व्याख्या हैं), दर्शन इत्यादि सब विद्याएँ अनुग्रहशक्तिस्वरूपिणी सीतादेवीके ही रूप हैं।

× × ×

सीतादेवी वेदशास्त्रमयी हैं। यदि तुम उनके शरणागत हो सको; यदि सर्वान्त:करणसे, सरल भावसे इस प्रकार उनके प्रति आत्मनिवेदन कर सको कि 'माँ! मैं अपराधोंका घर हूँ, मैं अकिञ्चन हूँ, मैं अगति हूँ, तुम मेरी उपायस्वरूप बनो, तुम सबकी आश्रय हो, मेरी भी आश्रय बनो, मुझको अपने सर्वाधार चरणोंमें ग्रहण करो' तो तुम कृतार्थ हो जाओगी। जो इस तरहसे सीतादेवीके चरणोंमें प्रपन्न हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं कि उनके सारे अभाव विनष्ट हो जाते हैं, सब प्रकारके तप केवल इसी एक बातसे उनके लिये पूर्ण हो जाते हैं, उन्हें उसी क्षण सब तीर्थोंमें भ्रमण करने, सब प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करने और सब तरहके दान देने आदि धर्माचरणोंकी फल-प्राप्ति हो जाती है, मोक्ष उन्हें करतलगत हो जाता है।*

जिज्ञासु (रमा)-'सीतादेवी वेदशास्त्रमयी हैं'—इस वाक्यका क्या अर्थ है? 'वेद' क्या है, 'शास्त्र' क्या है, सो तो मैं ठीक-ठीक नहीं जानती। इस सम्बन्धमें मेरी तो यही धारणा है कि 'वेद' और 'शास्त्र' ग्रन्थविशेषके नाम हैं। और मैं यह भी जानती हूँ कि सीतादेवी जनक राजाकी कन्या तथा श्रीरामचन्द्रकी पत्नी हैं। आपके मुखसे बहुत बार मैंने सुना है कि श्रीरामचन्द्र भगवान् विष्णु हैं; वे भयङ्कर दुष्ट दुर्धर्ष रावणादि राक्षसोंका वध करके धर्मस्थापन करनेके लिये, अशान्तिसागरमें मग्न, सर्वदा उत्पीड़ित लोगोंको शान्ति देनेके लिये, उन्हें निरुपद्रव करनेके लिये, इच्छानुसार मनुष्यरूपमें अवतीर्ण हुए थे। सीतादेवी साक्षात् जगन्माता कमला हैं, इन्होंने लीलासे मनुष्यरूप धारण किया था।

× × ×

वक्ता—× × × जो, जो नहीं है, वह कभी उसे यथार्थरूपसे नहीं जान सकता। सभी मनुष्य 'पूर्णमनुष्य' के स्वरूपको नहीं ग्रहण कर सकते। जिस परिमाणमें मनुष्यत्वका—मनुष्योचित धर्मका विकास होता है, मनुष्य उसी परिमाणमें 'मनुष्य'-शब्दका यथार्थ अर्थ समझनेमें समर्थ होता है। अत: जब कोई पूर्णमनुष्य होता है तभी वह 'पूर्णमनुष्य' का वास्तविक अर्थ ग्रहण कर पाता है। इसी तरह 'देवता' हुए बिना, मनुष्य-भावमें देवभाव लाये बिना कोई 'देवता'-शब्दका वास्तविक अर्थ नहीं जान सकता। यदि देवताको यथार्थरूपमें जानना हो तो देवता होना पड़ेगा। वेद और शास्त्रमें इसीलिये कहा गया है कि देवता होकर देवताकी अर्चना करो, शिव होकर शिवकी अर्चना करो, राम होकर रामकी अर्चना करो। किसी देवताकी पूजा करते समय क्या करना होता है, शास्त्रोक्त पूजा-विधिका तत्त्व क्या है, यह ज्ञान सकनेपर तुम्हें मालूम होगा कि पूजा-विधिका उपदेश देते समय शास्त्रने यही बताया है कि किस तरह पूज्य या उपास्यदेव होना पड़ता है। अत: अनन्त हुए बिना 'अनन्त'-शब्दके वास्तविक अर्थका बोध नहीं हो सकता। देवता हुए बिना कोई 'देवता'-शब्दका यथार्थ अर्थ जान नहीं सकता। स्कन्दपुराणमें कहा है—सीता कमला हैं, ये जगन्माता हैं; इन्होंने लीलासे मनुष्यमूर्ति धारण की है; ये देवत्वमें देवदेहा

* कृतान्यनेन सर्वाणि तपांसि वदतां वर। सर्वे तीर्थाः सर्वयज्ञाः सर्वदानानि च क्षणात्।
कृतान्यनेन मोक्षश्च तस्य हस्ते न संशयः॥ (अहिर्बुध्न्यसंहिता अ० १७)

(देवशरीरिणी) हैं, मनुष्यत्वमें मानुषी हैं; ये विष्णुदेहके अनुरूप अपनी देह धारण करती हैं।

कमलेयं जगन्माता लीलामानुषविग्रहा।
देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी।
विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषात्मनस्तनूम्॥

(स्क० ब्रह्म० सेतुमाहात्म्य)

× × ×

लीला-मनुष्य होकर भगवान् श्रीरामचन्द्रने तथा जगन्माता कमला, सर्ववेदमयी, सर्वलोकमयी सीतादेवीने देवता और मनुष्य दोनोंका ही कितना उपकार किया है—यह सोचनेपर हृदय अत्यन्त विस्मित हो जाता है, कृतज्ञतासे परिपूर्ण हो जाता है। मनुष्य किस तरह पूर्ण देवत्वको प्राप्त कर सकता है, यह भगवान् श्रीरामचन्द्र तथा भगवती सीतादेवी जगत्को सिखा गयी हैं। मेरा यह कथन सोलहों आने सत्य है, सीता-तत्त्वमें तुम्हें यह बात समझानेकी चेष्टा करूँगा। सीता-उपनिषद्में यह पूर्णरूपसे वर्णित है कि सीता कौन हैं। सीतोपनिषद्में सीतादेवीका स्वरूप प्रदर्शित करनेके लिये जो कुछ कहा गया है उसकी सम्यक्रूपसे व्याख्या करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। अगर सम्यक्रूपसे उसकी व्याख्या करनी हो तो वेदका स्वरूप दिखाना पड़ेगा, निखिल शास्त्र या विष्णुका स्वरूप दिखाना पड़ेगा, सब प्रकारकी शक्तियोंका तत्त्व समझाना पड़ेगा। अखण्ड सच्चिदानन्दमय ब्रह्मतत्त्व ही 'सीता-तत्त्व' है—सीतोपनिषद्ने यही समझाया है। सीता 'सर्ववेदमयी' हैं, 'सर्वदेवमयी' हैं, 'सर्वलोकमयी' हैं; सीता भगवती मूल प्रकृति हैं; सीता प्रणवस्वरूपिणी हैं; सीता इच्छा-शक्ति हैं, क्रिया-शक्ति हैं, साक्षात् शक्ति हैं; सीता त्रिगुणात्मक संसार हैं; सीता त्रिगुणातीता—अखण्डसच्चिदानन्दमयी हैं। सीतादेवी श्री अथवा महालक्ष्मी हैं; जिनपर दृष्टि पड़नेपर फिर वे उन्हें छोड़ अन्यत्र जाना नहीं चाहते, जा नहीं सकते, जो रमणीय हैं, जो सौन्दर्यका आकर हैं, जो माधुर्यकी खानि हैं, जिन्हें देखनेहीके लिये दृक्शक्ति दृक्शक्ति-रूपमें परिणत हुई है, एकमात्र जो सबका लक्ष्य हैं, जिनके आश्रयमें सब कोई वर्तमान हैं, जिनका आश्रय ग्रहण करनेकी सब किसीकी अभिलाषा है, वह लक्ष्मी हैं, वह श्री हैं; सीतादेवी वही लक्ष्यमाणा लक्ष्मी या सर्वाश्रयमयी श्री हैं।

श्रीरिति लक्ष्मीरिति लक्ष्यमाणा भवतीति विज्ञायते।

(सीतोपनिषद्)

सीतादेवी सब प्राणियोंका रोग शमन करनेवाली हैं, सीतादेवी सब प्राणियोंकी पोषिका—शक्तिरूपा हैं।

सर्वौषधीनां सर्वप्राणिनां पोषणार्थं सर्वरूपा भवति।

(सीतोपनिषद्)

सीतोपनिषद्में सीताका स्वरूप वर्णन करनेके लिये इस प्रकारकी बातें कही गयी हैं। इसीलिये मैंने कहा है कि सीतोपनिषद्में सीतादेवीके स्वरूप-प्रदर्शनार्थ जो कुछ कहा गया है, सम्यक्रूपसे उसकी व्याख्या करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है।

जिज्ञासु—तो क्या सीतादेवीका स्वरूप जाननेका कोई उपाय नहीं है?

वक्ता—सो क्यों? सीतादेवीका स्वरूप जाननेका उपाय है। मैंने तो तुम्हें वह उपाय बता दिया है।

जिज्ञासु—वह उपाय क्या है? वह तो मेरी समझमें आया ही नहीं।

वक्ता—वह उपाय है सीतादेवीके चरणोंमें प्रपन्न होना, उनके शरणागत होना। 'माँ! मैं अपराधोंका घर हूँ, मैं अकिञ्चन हूँ; माँ! मैं अगति हूँ, तुम्हें छोड़ मेरा अपना और कोई नहीं है; माँ! तुम्हीं अगतिकी गति हो, तुम्हीं निराश्रयकी आश्रय हो, तुम अकिञ्चनकी सर्वस्व हो, मैं तुम्हारे चरणोंमें अपना अहंभाव सर्वान्तःकरणसे समर्पण करता हूँ, तुम मुझे अपने सर्वाश्रय चरणोंमें ग्रहण करो। माँ! मैं तुम्हारा हूँ'—इस तरह माँके चरणोंमें आत्मनिवेदन करना ही माँको पानेका, माँको यथार्थरूपमें जाननेका एकमात्र उपाय है; इसीका नाम अविराम '**नमो नमः**' करना है। सर्ववेदमयी, सर्वशास्त्रमयी सीतादेवीने स्वयं ही अपनी प्राप्तिका, पूर्णरूपसे अपनेको जाननेका, अपने समीपवर्त्ती होनेका यह उपाय बता दिया है।××××

जिज्ञासु—करुणामयी सीतादेवीकी कृपाके बिना उन्हें जानना असम्भव है, यह बात आपकी कृपासे क्रमशः मेरी समझमें आ रही है। क्या मनुष्य मनुष्य-मात्रको ही ठीक तौरसे जान सकता है? मनुष्यमें जो देवत्व है, क्या मनुष्यमात्र ही उसे लक्ष्य करते हैं? अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि देवता हुए बिना देवताका स्वरूप देखना सम्भव नहीं। 'सीतादेवी देवत्वमें देव-देहा हैं, मनुष्यत्वमें मनुष्य-विग्रहा हैं'—स्कन्दपुराणकी यह बात कितनी सुन्दर है; किन्तु मैं इसे अनुभव करनेमें असमर्थ हूँ।

वक्ता—यह बात क्रमशः तुम्हारी समझमें आवेगी

कि स्थावर, जङ्गम पदार्थोंकी जो पृथक्-पृथक् आकृतियाँ होती हैं—इसका कोई सूक्ष्म अथवा आन्तरिक कारण है। प्रकृति सब प्रकारका रूप धारण कर सकती है; प्रकृति देवता प्रसव करती है, प्रकृति मनुष्यकी सृष्टि करती है, प्रकृतिसे धार्मिक, सौम्य, विविधगुणविशिष्ट प्रजाकी उत्पत्ति होती है, प्रकृति फिर घोर अधार्मिक, असौम्य, सर्वदोषागार, सब मनुष्योंमें क्षोभ पैदा करनेवाली कुसन्तान भी पैदा करती है। सीतोपनिषद्में सीतादेवी मूल प्रकृति बतायी गयी हैं। अतएव सीतादेवी सर्ववेदमयी हैं, सर्वदेवमयी हैं, सर्वलोकमयी हैं। मूल-प्रकृति सर्व-शक्तिमयी हैं; अत: मूल-प्रकृतिस्वरूपिणी सीतादेवी देव-देहा हैं, लीलासे मनुष्य-देह धारण करती हैं—इस बातपर विश्वास करनेमें कोई बाधा नहीं हो सकती। 'ये (सीतादेवी) विष्णुदेहके अनुरूप अपनी देह स्वीकार करती हैं; हे विष्णो! (हे रामचन्द्र!) आप जब-जब जो-जो अवतार स्वीकार करते हैं, तब-तब यह आपकी सङ्गिनी होती हैं'—स्कन्दपुराणोक्त पावक-देवकी यह बात युक्तिविरुद्ध मानकर कदापि अविश्वास करनेयोग्य नहीं है।

× × ×

जिज्ञासु—(नन्दकिशोर विद्यानन्द) आज सीतोपनिषद्‌की कुछ संक्षिप्त व्याख्या सुनना चाहता हूँ; यद्यपि सीता-तत्त्वको हृदयङ्गम करनेकी यथार्थ योग्यता मुझमें नहीं है तथापि श्रीमुखके उपदेश सुनते-सुनते कुछ तो योग्यता आ ही जायगी, ऐसी आशा है।

वक्ता—देवताओंने प्रजापतिके पास जाकर उनसे पूछा—'सीता कौन हैं? उनका स्वरूप क्या है?' प्रजापतिने कहा—'वह सीता हैं;' अर्थात् तुमलोग जिनका स्वरूप जानना चाहते हो उनका स्वरूप तो 'सीता'-शब्द ही व्यक्त कर रहा है। स, ई, त—ये तीन अक्षर ही उनके स्वरूपके वाचक हैं। सब वस्तुओंकी वह मूल-प्रकृति हैं, इसलिये 'प्रकृति' नामसे ज्ञात हैं।

मूल-प्रकृति कौन-सा पदार्थ है? जो दूसरे किसी पदार्थका कार्य नहीं हैं, जिनका और कोई मूल नहीं है, जो स्वयं अमूल हैं, जो अविकृति हैं, वह 'प्रकृति' हैं। (प्रकृति जगत्की सृष्टि-स्थिति-संहारकारिणी हैं, वह जगत्-कारण हैं।) प्रणव ही प्रकृतिका रूप है; प्रणव ईश्वरका वाचक है; प्रणव भगवान् श्रीरामचन्द्रका रूप है। जिसके द्वारा कुछ प्र-कृत होता है, उसे प्रकृति कहते हैं। विश्वजगत् किसके द्वारा प्र-कृत है? सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंके द्वारा। चूँकि 'अ'कार, 'उ'कार, 'म'कारात्मक प्रणवसे ही जगत् उत्पन्न हुआ है, इसलिये प्रणव ही प्रकृति है। मूल-प्रकृतिका स्वरूप है प्रणव अर्थात् चैतन्याधिष्ठित गुणत्रय, यह बात दो बार कही गयी है। सम्भवत: इसे पुनरुक्तिदोष कहा जा सकता है। किन्तु नहीं, मूल-प्रकृतिका स्वरूप समझानेके लिये ही द्वितीय बार इसका उल्लेख किया गया है। स-ई-त—इन वर्णत्रयात्मिका सीताको चैतन्याधिष्ठिता माया जानना चाहिये।

'विष्णुः प्रपञ्चबीजञ्च' इत्यादि—विश्व-जगत् नाना आकार धारण करता है, इसलिये इसे 'प्रपञ्च' कहते हैं; जो प्रकृष्टरूपसे पञ्चीकृत या विस्तृत होता है, उसे 'प्रपञ्च' कहते हैं। विष्णु ही प्रपञ्चबीज हैं। व्याप्त्यर्थक 'विश्' धातु-से 'विष्णु' पद सिद्ध हुआ है। विष्णु ही विश्वमें व्याप्त होते हैं।

यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महान् द्रुमः।
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्॥

-इत्यादि रामपूर्वतापनीय उपनिषद्के वाक्योंको यहाँ स्मरण करना चाहिये।

'सत्' 'चित्' और 'आनन्द'—ये सभी सीताके रूप हैं (चाहे परिच्छिन्नभावसे देखा जाय अथवा अपरिच्छिन्नभावसे)।

माँके दो रूप हैं—अव्यक्त और व्यक्त। अव्यक्तरूपिणी महामाया किस तरह व्यक्तरूप धारण करती हैं, अब यही कह रहे हैं।

'प्रथमा शब्दब्रह्ममयी स्वाध्यायकाले प्रसन्ना'—माँका प्रथम व्यक्त रूप है उनका 'शब्दब्रह्ममय' रूप, अर्थात् वेद, पुराण आदि पढ़नेके समय जिनकी कृपासे हम उन्हें (उन शास्त्रोंको) समझा करते हैं, उनको जाना करते हैं, माँका वह रूप। स्वाध्याय या वेदपाठ करते-करते (अर्थबोध तथा यथार्थ मननादिके साथ) जब पहले आनन्दानुभव होता है, तब फिर सीताका दर्शन होता है। स्वाध्याय करते-करते ऐसा खयाल होता है कि मैं अशेष पापपङ्कमें निमग्न था, अब वेदाध्ययन करके निष्पाप हुआ, मैंने सीताके रूपका दर्शन किया। यह नहीं कि केवल मैं ही एक वेदाध्ययन कर रहा हूँ और माँकी कृपासे उसकी अर्थोपलब्धि करके आनन्दलाभ कर रहा

हूँ, प्रत्युत इसके पहले भी जिस किसीने वेदाध्ययन करके आनन्दलाभ किया है, उसे भी माँकी ही कृपासे उसकी अर्थोपलब्धि हुई है और आनन्द मिला है। सबसे पहले ब्रह्मा आदिने ही माँका स्मरण किया था और वेदाध्ययन किया था।

'द्वितीया भूतले हलाग्रे समुत्पन्ना'—यही माँके अवतारका रूप है। माँका द्वितीय व्यक्तरूप वही है, जिसमें वह भूतलपर हलाग्रमें जानकीरूपसे अभिव्यक्त हुई थीं।

भूतले—आधार-शक्ति जो वस्तु है वह विष्णुकी ही शक्ति है। पृथिवीशक्ति=आधारशक्ति। सीता ही पृथिवी हैं—जिस शक्तिने जगत्‌को धारण कर रखा है। इसीलिये सीता पृथिवीस्थ होकर अवतीर्ण हुई थीं। मननशील साधकको इसमें कुछ और भी विशेष तत्त्व दिखायी देगा। सूक्ष्म किस तरह स्थूल अवस्थाको प्राप्त होता है, यहाँपर यह विचार करना चाहिये। माँका पहला व्यक्त रूप शब्दब्रह्ममय वा मातृकामय है। शब्दसे विश्व-जगत् सृष्ट हुआ है, आकारादि मातृका वर्ण ही व्यक्त जगत्‌का पूर्व रूप है, इत्यादि शास्त्रोक्तियोंको यहाँपर स्मरण करना चाहिये। तदनन्तर पाश्चात्त्य विज्ञान-द्वारा वर्णित जगत्‌के सृष्टितत्त्वको भी स्मरण करना चाहिये। नैहारिक सिद्धान्त (The Nebular Theory of Creation) पूर्णरूपसे भ्रमशून्य न होनेपर भी उसमें किञ्चित् सत्यकी छाया है। एक अविभागापन्न विश्वव्यापी वाष्पमय अवस्था किस तरह घनीभूत या सम्मूर्च्छित होकर वर्तमान दृश्यजगत्‌में परिणत हो गयी है—इसका वर्णन पाश्चात्त्य विज्ञानने किया है। सीताशक्ति पहले अपेक्षाकृत सूक्ष्म शब्दब्रह्ममयरूपमें अभिव्यक्त हुई थीं, तदनन्तर यह शक्ति क्रमशः घनीभूत या सम्मूर्च्छित (Condensed) होकर अन्तमें आधारशक्तिरूपमें—स्थूलरूपमें—पृथिवीरूपमें अभिव्यक्त हुईं। वे पृथिवीपर पड़ी हुई हैं—इस अवस्थामें जनकजीने उनको देखा।

ऊपर माँकी दो अवस्थाओंकी बात कही गयी है, ये दो ही उनके व्यक्त रूप हैं। माँका तृतीय रूप ईकाररूपिणी अव्यक्ता मूल-प्रकृतिका रूप है। यही संक्षेपमें सीताका स्वरूप है। यह शौनक ऋषिका उपदेश है।

जिज्ञासु—माँके व्यक्तावस्थाके पूर्वके रूपकी धारणा किस तरह की जा सकती है?

वक्ता—सामान्य ही विशेषका पूर्व रूप है। सामान्य दो प्रकारका है—परसामान्य और अपरसामान्य। जिसका (अथवा जिससे) और कोई सामान्य भाव नहीं है, वह परसामान्य है। 'सत्तासामान्य' शब्दके अर्थकी उपलब्धि करनेकी चेष्टा करो। सत्तासामान्यपर एक और विशेषण 'ब्रह्म' देनेसे 'ब्रह्मसत्तासामान्य' पद बनता है। इसका अर्थ है अखण्डसत्तासामान्य वा अपरिच्छिन्नसत्तासामान्य। विश्व-जगत्‌की व्यक्तावस्थाके पूर्वकी अवस्थाका वर्णन करते हुए ऋग्वेदने कहा है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास॥

(ऋग्वेदसंहिता १२९। १०। २)

अर्थात् प्रलयकालमें मृत्यु न थी, सूर्य और चन्द्रमाके अभावके कारण तब दिवा-रात्रिका ज्ञान न था, तब सर्ववेदान्तप्रसिद्ध ब्रह्मतत्त्व प्राणितवत् विद्यमान था। **'प्राणितवत्'** कहनेसे लोग निरुपाधि ब्रह्मको जीवभावापन्न, जीववत् क्रियाविशिष्ट खयाल कर सकते हैं। इसी आशङ्कासे वेदने **'अवातम्'** पदका प्रयोग किया है। उस समय (सत्त्व, रज और तम) त्रिगुणात्मिका प्रकृति या माया अपने आधार ब्रह्मके साथ अविभागापन्न होकर साम्यावस्थामें विद्यमान थी। तब क्रियाशील रजोगुणकी अनभिव्यक्तिके कारण किसी प्रकारकी क्रिया नहीं थी।

इससे तुम माँकी व्यक्तावस्थाके पहलेकी अवस्थाका कुछ अनुमान लगा सकते हो।

श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्दकारिणी।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम्॥

परमात्माकी शक्ति हैं, इसलिये सर्वदा ये उनके सान्निध्यमें रहती हैं। आनन्दमयके समीप, उनके साथ नित्ययुक्त होकर, विद्यमान हैं। अतः ये भी आनन्दमयी होंगी, इसमें सन्देह ही क्या है? आनन्दमयके साथ रहकर फिर यही जगत्‌को आनन्द देती हैं। माँके लिये ही जगत् आनन्द पाता है।

जिज्ञासु—यहाँ 'राम' शब्दके प्रयोग करनेकी आवश्यकता क्या है?

वक्ता—यहाँ 'राम' शब्दमें प्रयोगकी विशिष्ट सार्थकता है। अखण्ड सच्चिदानन्दमय परमात्माका बोध करानेके

लिये ही यहाँपर 'राम' शब्दका प्रयोग हुआ है। 'आनन्द' जो वस्तु है, वह परमात्माका निजी रूप है। माँका निजी रूप है सृष्टिस्थितिलयात्मक रूप। माँ जब भगवान्से पृथक् रूप धारण करती हैं, तब वह **'असीता'** (असिता) वा काली-रूप धारण करती हैं। माँ जब पिताके पास रहती हैं, तब वह माया होती हैं (जिसे 'उत्तमा अविद्या' कहते हैं), नहीं तो वह 'अविद्या' (अर्थात् 'अधमा अविद्या') रूपमें अवस्थान करती हैं।

'पूर्ण' कोई एक है, यह मानना ही पड़ता है। अब प्रश्न यह उठता है कि पूर्ण तो सिवा एकके दो हो नहीं सकते, फिर 'राम' और 'सीता' दो तत्त्व क्यों माने जाते हैं? वे वस्तुतः एक ही हैं। शक्ति शक्तिमान्से वास्तवमें भिन्न पदार्थ नहीं है। शक्तिमान् सदा ही शक्तियुक्त रहते हैं। बिना किसी विशेष प्रयोजनके शक्ति शक्तिमान्से पृथक् नहीं होती।

माँका स्वरूप बतलानेके लिये फिर कह रहे हैं— वह सब देहियोंकी सृष्टिस्थितिसंहारकारिणी हैं। इसलिये सीता ही काली हैं। पुराणमें जो कुछ है, वह वेदकी ही व्याख्या है। पुराणमें लिखा है—माँने सीता-रूपसे कालीरूप धारण किया था।* इसका अर्थ यही है कि काली जो पदार्थ है, सीता भी वही पदार्थ है। (कलन करके सबको अपनी गोदमें लेती हैं, इसलिये इनकी 'काली' आख्या हुई है।) 'काली' के बीजका अर्थ भी यही है। क=सृष्टि; र=संहार; ई=पालन।

सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता—जब इन तीन शक्तियोंकी समष्टिका चिन्तन किया जाता है, तब उस समय सत्त्व, रज, तमकी साम्यावस्थामें जो रूप होता है उसी रूपका अर्थात् मूल-प्रकृतिके रूपका चिन्तन होता है। प्रणव उसीका वाचक है। प्रणवका जो अर्थ है, सीताका भी वही अर्थ है; अ—उ—म वा सृष्टि—स्थिति—संहार।

'प्रणवत्वात् प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिन इति। अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति च। सा सर्ववेदमयी' इत्यादि- **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** यह नित्य-सूत्र है। ब्रह्मसूत्र नित्य-पदार्थ है। महर्षि वेदव्यास ब्रह्मसूत्रके स्मारक हैं, रचयिता नहीं। (जिज्ञासा होनेसे ही ज्ञानकी अभिव्यक्ति होती है। जिज्ञासा ज्ञानका ही पूर्वरूप है। जिज्ञासा ज्ञानके अन्तर्भूत है।) प्रणव जो (वस्तु) है, ब्रह्म जो (वस्तु) है, वही सीता है। यदि किसीको ब्रह्मजिज्ञासा हो तो क्या उन्हें सीताकी तत्त्व (ब्रह्म=तत्त्व)-जिज्ञासा हुए बिना रह सकती है? जो ब्रह्मवादी होते हैं, वे इस तत्त्वको समझ सकते हैं और वे ही इस तत्त्वको व्यक्त किया करते हैं।

जिज्ञासु—यहाँपर अकस्मात् **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** इस सूत्रकी बात क्यों छेड़ी गयी?

वक्ता—बात यह है कि ब्रह्म जो वस्तु है, यदि उसे जानना हो तो प्रणवका स्वरूप जानना होगा और यदि प्रणवका स्वरूप जानना हो तो सीताका स्वरूप जानना पड़ेगा। इसीलिये यहाँ **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** सूत्रका उल्लेख किया गया है।

सर्वदेवमयी—सब देवता प्रणवनिष्पन्न हैं **(सर्वे देवाः प्रणवनिष्पन्नाः)**। ऋग्वेदके **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।'** इत्यादि मन्त्रका स्मरण करो। यहाँ 'मयट्' प्रत्यय स्वरूपार्थमें है।

सर्वलोकमयी —अर्थात् सर्वलोकस्वरूपिणी।

सर्वकीर्त्तिमयी, सर्वधर्ममयी—पहले ही कहा गया है कि सत्, चित् और आनन्दका जो कोई रूप या अवस्था हो, वह सीताका ही रूप है।

सर्वाधारकार्यकारणमयी—आधार-शक्ति जो वस्तु है, वह विष्णुकी ही शक्ति है। आधारशक्ति=पृथिवीशक्ति। इसलिये सीता **'भूतले'** अर्थात् पृथिवीस्थ होकर अवतीर्ण हुई थीं।

देवेशस्य—परमात्मा विष्णुकी।

महालक्ष्मीर्देवेशस्य—वेदके **'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च'** इस मन्त्रको स्मरण करो।

भिन्नाभिन्नरूपा—वह परमात्मासे भिन्न तथा अभिन्न दोनों रूपोंमें ही प्रतिभात होती हैं। किसीकी दृष्टिमें शक्ति और शक्तिमान्का भेद है और किसीकी दृष्टिमें नहीं।

चेतनाचेतनात्मिका—वह चेतन तथा अचेतन दोनों रूपोंमें ही प्रतिभात होती हैं। पहलेकी तरह दृष्टि-भेद ही इसका भी कारण है।

ब्रह्मस्थावरात्मा—वह जड और अजड दोनों ही हैं।

ब्रह्मस्थावरात्मा तद्गुणकर्मविभागभेदाच्छरीररूपा— ब्रह्मासे स्थावरतक सभी उनके रूप हैं। यह जो सीता-देवी हैं, उनके जो गुण और कर्म हैं और उनके जो

* सीताने ही कालीरूप धारण करके सहस्रस्कन्ध रावणका वध किया था।

विभिन्न विभाग हैं, उन्हींसे जगत्‌में नाना रूप हुए हैं। जो कुछ जगत्‌में देख रहे हो, ये सभी सीताके गुण-भेद और कर्म-भेदसे उन्हींके रूप हैं। यहाँपर गीताके उपदेशको स्मरण करो। ('गुण' यहाँपर हैं—सत्त्व, रज और तम; कर्म हैं—ब्राह्मणादिवर्णोचित शम-दमादि कर्म। यहाँपर 'कर्म' शब्दका प्रयोग कर अनादि कर्मकी ही ओर लक्ष्य किया गया है।)

देवर्षिमनुष्य····· विज्ञायते—इसके द्वारा प्रकृतिके सारे परिणाम दिखाते हुए यह दिखाया गया है कि वही सर्व परिणामरूपा हैं और वही इन सारे परिणामोंका मूल हैं।

भूतादि—अर्थात् अहङ्कार। यह त्रिविध है—सात्त्विक, राजस और तामस।

देवर्षि—यह सात्त्विक परिणाम है।

जो कुछ होता है, शक्तिद्वारा ही होता है। सर्वशक्तिकी मूल वही हैं, अब यह बात स्पष्ट की जा रही है।

यह (सीता) देवी तीन प्रकारसे विवर्तित होती हैं। ये तीन प्रकार शक्त्यात्मामें हैं—इच्छा-शक्ति, क्रिया-शक्ति, और साक्षात्-शक्ति। इच्छा-शक्तिके तीन भेद हैं। ये जो वृक्षादि उत्पन्न होते हैं ये सोम-शक्तिके रूप हैं। सोम-शक्ति ही उद्भिद्प्रसविणी-शक्ति है। सोम-शक्ति आप्यायनशक्ति—पोषण-शक्ति है। सूर्य-शक्तिद्वारा क्रिया होती है, क्षय होता है ('Work must have waste.')। उसका सोम-शक्ति पोषण किया करती है। माँकी सोम-शक्ति ही विश्व-जगत्‌का अन्नस्वरूप है। सोम अन्न हैं और सूर्य अन्नाद। औषध भी सोम-शक्तिसे ही उत्पन्न है। रोग क्षय कर देता है, औषध उस क्षयका पोषण कर देती है। आप्यायन-शक्तिका अभाव होनेसे ही तो रोग होता है। **'यास्ते सोम'** इत्यादि मन्त्रद्वारा भेषजको अभिमन्त्रित करना पड़ता है। यह सोम-शक्ति ही अमृत-रूपमें वर्तमान है, जिसे सेवन करके देवता तृप्ति-लाभ किया करते हैं।

(अब सूर्य-शक्तिकी बात कह रहे हैं) माँ ही सकलभुवनप्रकाशिनी दिवा वा प्रकाश-शक्ति हैं।

माँ ही रात्रि हैं। दिनमें सौर-शक्तिद्वारा नाना प्रकारके कर्म करके जब लोग श्रान्त हो जाते हैं तब आरामके लिये इनके चरणोंमें शरण प्राप्त करनेकी प्रार्थना करते हैं **(प्ररमयति भूतानि इति 'रात्रिः')**। यही श्रान्त पुत्रको गोदमें लेकर सुलाती हैं।

(इसके द्वारा सृष्टि-तत्त्व दिखाया गया है। इस 'दिवा' और 'रात्रि'-शक्तिद्वारा 'सृष्टि' और 'लय'-शक्तिका रूप दिखाया गया है। रात्रि तमोगुणात्मिका है। इसके बाद फिर 'दिन' होता है, सृष्टि होती है।)

इसके बाद माँके 'काल' रूपका वर्णन किया गया है। हम कालके जितने प्रकारके रूप प्रत्यक्ष किया करते हैं, यथा—कला, निमेष, घटिका, याम, दिवस, रात्रि, पक्ष, मास, ॠतु, अयन, संवत्सर, मनुष्यकी आयु अथवा शतसंवत्सर—ये सभी माँके रूप हैं। हमलोग कहा करते हैं,यह कार्य शीघ्र सम्पन्न हुआ, यह विलम्बसे हुआ—ये जो कालके भेद हैं, ये सीताके ही रूप-भेद हैं। निमेषसे लेकर परार्धतक कालचक्र, जगच्चक्र प्रभृति चक्रवत् परिवर्तमान जिन पदार्थोंकी उपलब्धि होती है, ये 'काल' के ही विभाग विशेष हैं। काल-शक्ति प्रकाशरूपा हैं। (सीतारूपिणी (अखण्ड-) काल-शक्ति पूर्वोक्त सारे (खण्ड-) कालचक्रोंको प्रकाशित किया करती हैं।)

(इसके बाद माँके अग्निरूपकी बात कह रहे हैं।) **'अग्निरूपा अन्नपानादिप्राणिनाम्'** इत्यादि माँकी यह अग्निशक्ति अन्नाद-रूपमें, प्राणियोंकी क्षुत्तृष्णा-रूपमें, देवगणके मुखरूपमें, वनौषधोंके शीतोष्णरूपमें, काष्ठमें अन्तर्बहिः रूपमें प्रकाशित होती है। उष्णता दो प्रकारकी है, एक 'बाह्य' प्रकार है और दूसरा 'आन्तर' (बाहरसे नहीं मालूम होता है कि इसमें ताप है परन्तु भीतर वर्तमान रहता है, इस तरहका ताप)। यह अग्नि-शक्ति नित्यानित्यरूपा है। अग्नि भोक्तृ-शक्ति है; वही अन्नाद है। वही प्रकृति है, वही पुरुष है। प्राण ही अग्नि है (वेदकी भाषामें) मैत्र्युपनिषद्‌में अन्न और अन्नाद वा भोग्य-भोक्तृत्त्वका जो वर्णन है, उसे स्मरण करो। जिस तरफसे देखो, उन्हींका रूप देखोगे। प्राण-रूपसे यदि देखो तो भी सीताका ही रूप देखोगे।

(इसके पश्चात् श्रीशक्तिके त्रिविध रूपकी बात कही गयी है।) श्रीदेवी भगवान्‌के सङ्कल्पानुसार लोकरक्षाके लिये रूप धारण करती हैं। यह 'श्री' या 'लक्ष्मी' रूपमें सबकी लक्ष्यमाणा होती हैं। सौन्दर्यके लिये (जिसे देखनेसे लोगोंकी दृष्टि आबद्ध होती है, लोग आकृष्ट होते हैं) लोग जिनको लक्ष्य करते हैं, जिनको पाना चाहते हैं, जिनका आश्रय ग्रहण करना चाहते हैं वह लक्ष्मी हैं, वह श्री हैं।

तदनन्तर भूशक्तिकी बात कही गयी है। आधार-शक्तिका नाम ही 'भूदेवी' है। भूदेवी ससागराम्भः-सप्तद्वीपा वसुन्धरा-रूपा हैं (इसीलिये माँ पृथिवीसे उठी

थीं), यही चतुर्दश भुवनके आधार तथा आधेयरूपमें लक्षिता प्रणवात्मिका शक्ति हैं। (प्रणवमें अ-उ-मकार हैं; '**भू**' में भी केवल '**भू**' ही नहीं रहता, बल्कि '**भुवः**' और '**स्वः**' भी रहते हैं।) 'नीलात्मिका' शक्ति सब प्राणियोंकी पोषणरूपा है।

(इसके बाद क्रियाशक्तिकी बात कह रहे हैं।) भगवान् हरिके मुखसे पहले जो नादकी उत्पत्ति होती है, वही क्रिया-शक्तिका स्वरूप है। (इसके द्वारा वेदका स्वरूप दिखाया जा रहा है।) उससे विन्दु, उससे ओंकार और उससे रामवैखानस-पर्वतकी उत्पत्ति होती है। उससे कर्मज्ञानमयी बहुशाखाओंका आविर्भाव होता है। बहुशाखाएँ होनेपर भी प्रधान तीन ही शाखाएँ हैं, जिनका नाम 'त्रयी' है। यही आद्यशास्त्र हैं। इससे सभी अर्थोंका दर्शन होता है। अतः वेद ही सब विज्ञानोंके विज्ञान हैं, सब अर्थोंके अर्थ हैं। विशिष्ट कार्य-सिद्धिके लिये माँ चतुर्वेदका रूप धारण करती हैं, (अर्थात् अतिरिक्त अथर्ववेदका आविर्भाव होता है), नहीं तो 'त्रयी' के अन्दर ही अथर्व है। जिस दृष्टिसे ऋक्, यजुः, साम—ऐसा भाग किया गया है उस दृष्टिसे अथर्वको पृथक् करनेकी कोई आवश्यकता न होगी। अथर्ववेदका कुछ अंश अभिचारादिव्यापारविषयक है; अथर्व भी साम-ऋक्-यजुरात्मक है। ऋग्वेदकी २१, यजुर्वेदकी १०९ और सामवेदकी सहस्र शाखाएँ हैं। अथर्ववेदकी पाँच शाखाएँ हैं।

जिज्ञासु—रामवैखानसपर्वत और त्रयी—इन दोनों शब्दोंका अर्थ अच्छी तरह मेरी समझमें नहीं आया है।

वक्ता—सब शक्तियाँ 'रामवैखानसपर्वत' का आश्रय लेकर रहती हैं। 'रामवैखानस'-शब्दद्वारा सगुण ब्रह्म लक्षित होते हैं। जिसमें पर्व हैं, वह पर्वत है। यह शब्द रामरूप वेदपर्वतका बोध कराता है। वेदमें काण्ड हैं, इसलिये इसकी तुलना पर्वतके साथ की गयी है। कर्मकाण्डके लिये 'अथर्व' नामक वेदके चतुर्थभागकी कल्पना की गयी है। सामान्य लक्षणोंके अनुसार विभाग करनेपर ऋक्, यजुः और साम—तीन ही विभाग होते हैं। जिस तरह ओंकारसे वेद उत्पन्न हुए हैं, उसी तरह ओंकारसे भगवान्के सगुण रूपका आविर्भाव हुआ है।

प्रकृतिके तीन रूप हैं। चतुर्थ अवस्था साम्यावस्था है। वेदकी भी चार अवस्थाएँ हैं। जब तीन लोकोंको लेकर (अर्थात् तीन लोकके खयालसे) चिन्तन किया जाता है तब वह 'त्रयी' हैं। '**सोऽयमात्मा चतुष्पात्**'-इस उक्तिके अर्थका चिन्तन करो। प्रणव=वेद=ब्रह्म। कर्मदृष्टिसे तीन प्रकार हैं—ऋक्, यजुः और साम। जहाँ सब कुछ जाकर सम्मिलित हो जाता है, जहाँ फिर परस्पर भेद नहीं रह जाता, वही गीत है। वहाँ इतरत्व नहीं रहेगा, वैषम्य नहीं रहेगा। सम=साम=संवित्त्व। वैषम्य नहीं रहनेसे क्रिया नहीं होती।

पहले कर्म। ऋग्वेद कर्म है (ऋग्वेद प्रधानतः कर्मात्मक है)। भूर्लोक ऋग्वेदका रूप है। ऋग्वेदके न रहनेपर किसी वेदकी स्थिति नहीं रहती। पहले कर्मद्वारा चित्तशुद्धि करनी होगी। छन्दके अनुसार जो कर्म है, वही ऋक् है। चक्षुरादि इन्द्रियोंके द्वारा जो कर्म हो रहे हैं, वे ऋक्के रूप हैं। उसके बाद यजुर्वेद या भुवर्लोक है अर्थात् (बाह्य जगत्से) संस्कार लेकर मनकी अवस्थामें प्रवेश करना। यह उपासना-काण्ड है। इसके बाद ज्ञान-काण्ड है। ज्ञानकाण्डके उपासनाके साथ मिल जानेपर 'सङ्गीत' होता है। यही 'साम' है। तभी 'संवित्' होती है।

'विखान'-शब्दसे 'वैखानस'-पद उत्पन्न हुआ है। विगत हुआ है खनन जिससे, अर्थात् एक केन्द्र-अवस्था जो जागतिक विषयोंद्वारा परिच्छिन्न नहीं है।

इसके बाद उस वेदका अङ्ग-विभाग किया गया है। सीता वा वेदके कौन-कौन-से अङ्ग हैं, यह कहा गया है। तत्पश्चात् उपाङ्ग बताये गये हैं। षड्दर्शन (मीमांसा, न्याय प्रभृति) वेदके उपाङ्ग हैं। वेदद्रष्टा (जिन्होंने पूर्णरूपसे वेदको ही अवलम्बन किया था) महर्षियोंसे ही स्मृति-शास्त्र निर्गत हुआ है। इतिहास प्रभृति वेदके उपाङ्ग हैं।

तदनन्तर 'साक्षात् शक्ति' की बात विशेषरूपसे कही गयी है। (भावभेदसे 'साक्षात् शक्ति' के कई प्रकारके अर्थ होते हैं।) परमात्मा भगवान् श्रीरामचन्द्रके स्मरणमात्रसे ही—उनका ध्यान करते-करते—जो उनका आविर्भाव होता है, वह इस साक्षात् शक्तिकी क्रियासे होता है। निग्रहानुग्रहरूपा, शान्तितेजोरूपा प्रभृति इनके अनेक रूप हैं। ये भगवत्-सहचारिणी, अनपायिनी हैं। ये 'सृष्टि', 'स्थिति', 'संहार', 'तिरोधान' और 'अनुग्रह' आदि सब शक्तिके रूप हैं, इसलिये इनको 'साक्षात् शक्ति' कहा जाता है।

जिज्ञासु—साक्षात् शक्तिका स्वरूप कुछ और विशद-रूपसे समझा दीजिये।

वक्ता—पहले 'साक्षात्' शब्दको लक्ष्य करो। ये 'साक्षात्' शक्ति हैं और कोई शक्ति नहीं; यह इच्छा, ज्ञान, क्रिया आदि सब शक्ति नहीं हैं। ये 'साक्षात्' शक्ति हैं। साक्षात् शक्ति चैतन्यशक्ति या चित्शक्ति है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर जिनसे उत्पन्न हुए हैं, वे साक्षात् शक्ति हैं। साक्षात् शक्ति वह शक्ति है जो और किसी शक्तिसे उत्पन्न नहीं हुई है। इस अपरिच्छिन्न ब्रह्मशक्तिसे ही इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति निर्गत हुई हैं, अथवा ऋक्, यजु: और साम आविर्भूत हुए हैं। महालक्ष्मी, महाविष्णु, सदाशिव प्रभृति शब्दोंके द्वारा जो लक्षित होते हैं, वही 'साक्षात् शक्ति' हैं। जो सबके ऊपर हैं, उन्हींको 'साक्षात्' शक्ति कहते हैं।

फिर इच्छाशक्तिकी बात कह रहे हैं। इच्छाशक्ति त्रिविधि है।* यह इच्छाशक्ति प्रलयावस्थामें विश्रामार्थ भगवान्के दक्षिण वक्ष:स्थलमें श्रीवत्साकृतिरूपमें अवस्थान करती हैं। परमात्मा वा भगवान्को आश्रय करके उनके हृदयमें रहती हैं, इसलिये इनका 'श्री' नाम पड़ा है। सीताकी जो इच्छाशक्ति हैं, वे ही प्रलयकालमें संक्रमण करके भगवान्के हृदयमें जाकर आश्रय ग्रहण करती हैं। यही योगशक्ति हैं। बहिर्मुखवृत्ति जो (सृष्टि) शक्ति है, उससे जो (लय) शक्ति उनकी ओर ले जाती है, वही 'योगशक्ति' है। सीतादेवी सर्वदा जो कार्य कर रही हैं, वही इन बातोंद्वारा व्यक्त किया जा रहा है। वह सृष्टिकालमें बाहर निकल आती हैं, फिर (लयकालमें) भीतर प्रवेश कर जाती हैं, वहाँ जाकर विश्राम करती हैं। तुम जो योगसाधन करोगे, वह भी यही वस्तु है। तुम भगवान्से बहिर्मुख होकर (निकल) आये हो, तुमको वृत्ति-निरोध करके फिर जाकर उनके साथ मिलना पड़ेगा। यही योग है।

भोगशक्ति जो वस्तु है, वह भी वही हैं। वही भोगरूपा हैं। कल्पवृक्षादि जो कुछ हैं, वे भोगके ही उपलक्षण हैं। धनादि जो कुछ हैं, वे भगवान्के उपासकोंके पास आप ही जाकर उपस्थित हुआ करते हैं। जो भगवान्की यथार्थ उपासना किया करते हैं, उनकी इच्छामात्रसे ही शंखादि निधि उत्पन्न होते हैं। 'चिन्तामणि' उनके करतलगत हुआ करता है।

जिज्ञासु—'चिन्तामणि' का स्वरूप क्या है?

वक्ता—कहा जाता है, '**चिन्तामणौ स्वरूपेण न किञ्चिदुपलभ्यते।**' परन्तु उसमें सब किसीको अपना-अपना वाञ्छित रूप दिखायी पड़ता है। भगवान् सर्वाकार हैं, तुम उनको जिस-जिस रूपमें देखनेकी इच्छा करोगे, वह तुमको उसी-उसी रूपमें दर्शन देंगे। जो भक्तियुक्त होकर साधन करेंगे, वे चाहे इच्छा करें या न करें, विभूतियाँ आप ही उनके समीप आ पहुँचेंगी।

इसके बाद वीरशक्तिकी बात कही गयी है। वीर लक्ष्मी जो हैं, वह भी सीताका ही रूप हैं।

× × ×

वक्ता—चिदात्मासे वियुक्त होनेपर प्रकृतिकी कैसी अवस्था होती है, ज्ञानमय परमात्मासे विच्छिन्न होनेपर जीवको कैसी व्याकुलता होनी चाहिये, अज्ञान वा अविद्याद्वारा ज्ञान अपहृत होनेपर पुन: ज्ञान-प्राप्तिके लिये कैसी चेष्टा होनी चाहिये, किस प्रकार निरन्तर स्मरण होना चाहिये—जगत्को इस बातकी शिक्षा देना ही सीताके द्वितीय व्यक्त (अर्थात् हलाग्रमें जानकीरूपमें) अवतारका मुख्य प्रयोजन है।

[रावणके अन्दर ज्ञान तथा भक्तिका बीज था, परन्तु पहले वह सम्यक्‌रूपसे प्रस्फुटित नहीं हुआ था।] शिव ध्यानपरायण और तपस्यापरायण होनेपर भी रावणके हृदयमें पहले 'देवताओंपर आधिपत्य करूँगा' ऐसी ही कामना थी। तब उसे ब्रह्मविद्याकी कामना नहीं थी। जब उसने ब्रह्मविद्या (सीता)-की कामना की, तब वह धर्म (अर्थात् राघव)-निर्जित हुआ (अर्थात् धर्मद्वारा अभिभूत हुआ, अर्थात् स्वयं धर्ममय हुआ), तभी श्रीरामके हाथसे उसकी मुक्ति हुई। जभी उसने ब्रह्मविद्या (सीता)-को देखा तभी उसके अन्दर ज्ञानका कुछ उदय हुआ। [तब वह इस ब्रह्मविद्याको प्राप्त करनेके लिये, मुक्ति-प्राप्तिके लिये उद्योगशील हुआ।] सभीने कहा—(सीताको) छोड़ दो, नहीं तो सर्वनाश होगा। परन्तु उसने छोड़ना न चाहा। कहा—'सर्वनाश होनेपर भी मैं नहीं छोड़ूँगा।' रावणकी इस अवस्थाके साथ भक्तकी अवस्थाकी तुलना करो। जब भक्तके हृदयमें यथार्थ भक्तिका आविर्भाव होता है, तब भजनीयका रूप कुछ उसकी समझमें आता है, तब फिर सर्वनाश होनेपर भी वह उनको छोड़ना नहीं चाहता। (यहाँ 'सर्वनाश' का अर्थ है—सांसारिक जो कुछ है उसका नाश।)

* यथा—सृष्टि, स्थिति और संहार।

माता श्रीसीताजी
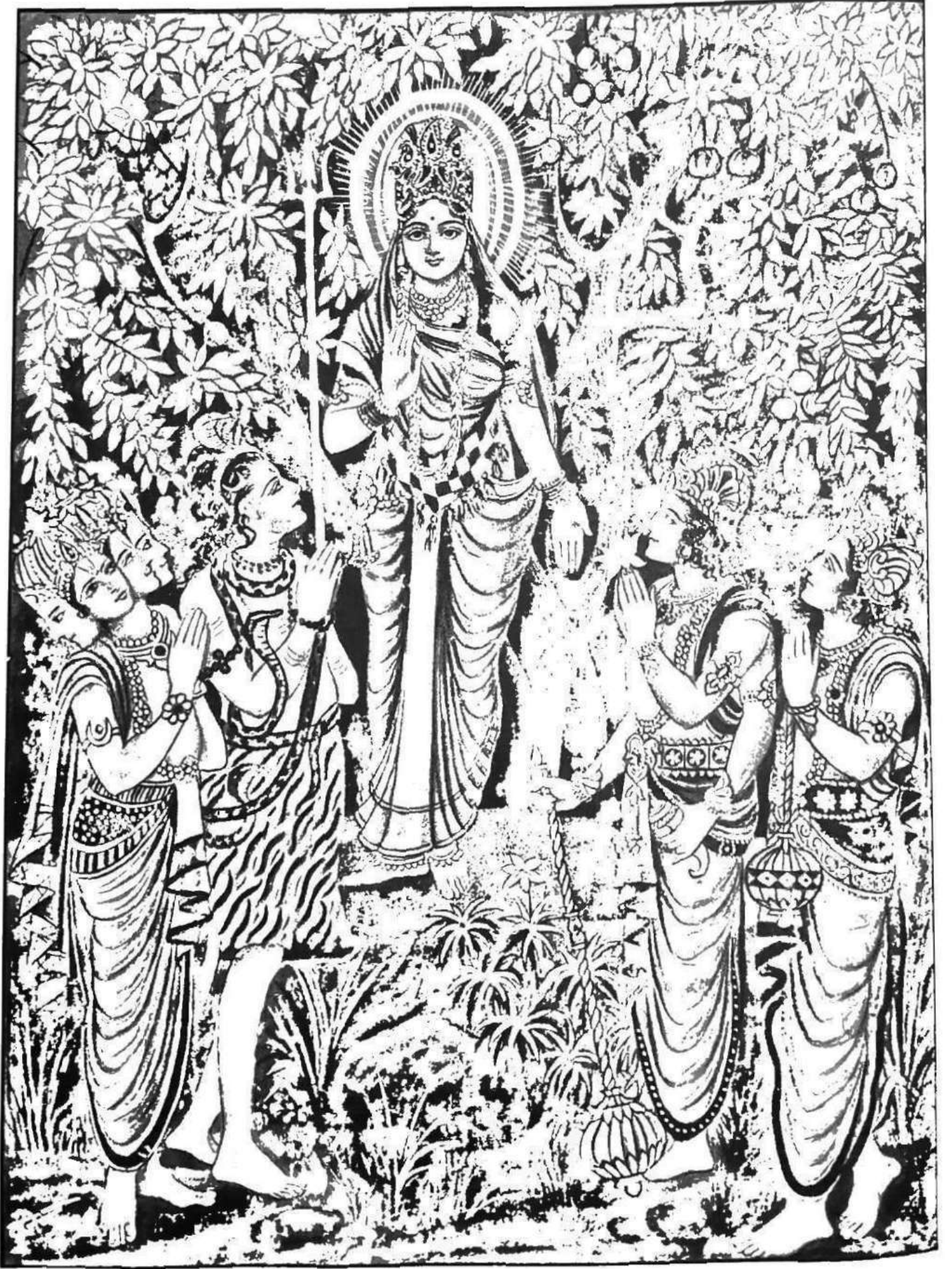
नीलाम्भोजदलाभिरामनयनां नीलाम्बरालङ्कृतां गौराङ्गीं शरदिन्दुसुन्दरमुखीं विस्मेरबिम्बाधराम्।
कारुण्यामृतवर्षिणीं हरिहरब्रह्मादिभिर्वन्दितां ध्यायेत् सर्वजनेप्सितार्थफलदां रामप्रियां जानकीम्॥

[२]

(लेखक—पं० श्रीरामदयाल मजूमदार, एम० ए०)

'कल्याण' के शक्ति-अङ्कमें श्रीजानकी-तत्त्वकी आलोचना करनेका अनुरोध कर 'कल्याण' के सम्पादक महाशयने मुझे जो विशेष सुविधा दी है, उसके लिये कृतज्ञता प्रकाश करना अपना अवश्यकर्तव्य समझकर ही प्रथम इसका उल्लेख मैं करता हूँ। ऋषियोंको भगवान् अथवा भगवतीके सम्बन्धमें कोई बात पूछनेपर वे आनन्दसे भर जाते थे, ऐसा क्यों होता था—इस कराल-कलिकालके मनुष्य होते हुए भी इसका कुछ आभास हमें मिलता है। इस विषयपर विशेष स्पष्टरूपसे कुछ न कहना ही ठीक समझकर मैंने इसे खोलकर नहीं कहा।

किन्तु श्रीराम-तत्त्व अथवा श्रीसीता-तत्त्वको कौन कह सकता है? भगवान् सनत्कुमारने दशाननसे कहा था—

'वास्तवमें रूपरहित उस मायावीका रूप कहता हूँ। वह समस्त वृक्षों तथा पर्वतोंमें तथा नद-नदियोंमें विद्यमान है। वही ओङ्कार है, वही सत्य है, वही सावित्री और वही पृथ्वी है। सारे जगत्के आधारभूत शेषनागका रूप भी वही धारण किये हुए है। सारे देवता, समुद्र, काल, सूर्य, चन्द्रमा, सूर्यके अतिरिक्त अन्य ग्रह, अहोरात्र, यमराज, वायु, अग्नि, रुद्र तथा मृत्यु, मेघ तथा अष्टावसु, ब्रह्मा, रुद्र आदि प्रधान देव तथा अन्य गौण देव तथा दानव भी उसीके रूप हैं। बिजलीके रूपमें वही चमकता है, अग्निके रूपमें वही प्रज्वलित होता है, वही विश्वको उत्पन्न करता है, वही उसका पालन करता है और वही भक्षण करता है। इस प्रकार वह सनातन अविनाशी विष्णु अनेक प्रकारसे क्रीड़ा करता है। उसीने इस समस्त चराचर विश्वको व्याप्त कर रखा है। वे भगवान् विष्णु नील कमलके समान श्यामवर्ण हैं और बिजलीके समान पीतवस्त्रको धारण किये हुए हैं, वामाङ्कमें तपाये हुए सोनेके समान आभावाली अविनाशिनी देवी लक्ष्मीजी विराजमान हैं, जिनकी ओर वे सदा देखते रहते हैं और आलिङ्गन किये रहते हैं।'

सीताराम ऐसे हैं। इनका वर्णन कौन करेगा? क्या कोई इनका वर्णन कर सकता है? श्रीमद्भागवतमें महर्षि व्यासदेवसे देवर्षि नारद कहते हैं—

इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो
यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः।
तद्धि स्वयं वेद भवांस्तथापि वै
प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम्॥

'जिनसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं, वे भगवान् ही इस विश्वके रूपमें भी हैं। ऐसा होनेपर भी वे इससे विलक्षण हैं। इस बातको आप स्वयं जानते हैं, तथापि मैंने आपको संकेतमात्र कर दिया है।'

आप मुझे भगवान्की लीलाका वर्णन करनेके लिये कहते हैं—किन्तु वह भगवान् कौन हैं? उनकी लीला क्या है? श्रीकृष्ण तो चले गये हैं, अब इस जगत्में उनकी लीला क्या है? इसके उत्तरमें देवर्षि कहते हैं, 'यह जो विश्व है, यह भगवान् ही हैं।' परन्तु भगवान् इस विश्वसे इतर—अन्य हैं, इस विश्वसे विलक्षण हैं। विश्वसे भगवान् अन्य क्यों हैं? इसीलिये कि भगवान्से ही इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और संहार होते हैं। यह सृष्टि, स्थिति और संहार ही उनकी लीला है।' भगवान् व्यासदेव कहते हैं, 'मैं उनको कितना देखता हूँ? आप जो दिखलाते हैं, मैं उसका एकदेशमात्र ही देखता हूँ।'

भगवान् ही इस विश्वरूपमें उपस्थित हैं, तथापि यह इन्द्रियगोचर विश्व वे नहीं हैं। सृष्टि, स्थिति, प्रलय ही उनकी लीला है। इसे समझनेके लिये स्थूल विश्व, सूक्ष्म संस्कार वा वासना एवं बीजस्वरूप स्पन्दन—इनसे पार होकर चित्स्वरूपका अथवा चिन्मयीका अनुसन्धान करना पड़ता है।

यह विश्व जबतक रहेगा तबतक भगवान्की सृष्टिशक्तिकी मूर्ति ब्रह्मा भी रहेंगे, अर्थात् ब्रह्माके रूपमें श्रीरामचन्द्रजी सदा ही सृष्टि-कार्यमें रत रहेंगे। वही बीजसे वृक्ष उत्पन्न करते हैं, वृक्ष-वृक्षमें फूल खिलाते हैं, फल भी वही लगाते हैं। संसारमें असंख्य नर-नारी, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गको वही लाते हैं और विष्णुरूपमें वही सब जीवोंका पालन करते हैं, पुनः विश्वमें प्रतिदिन जो लयकी लीला चल रही है उसे भी वही परमात्मा श्रीरामचन्द्र अपनी रुद्रमूर्तिद्वारा करते हैं। इन श्रीभगवान्का और इनसे अभिन्न ज्योतिःस्वरूपिणी उनकी शक्तिका एकान्तमें आत्माकी मूर्ति इष्टदेव या इष्टदेवीके रूपमें ध्यान करना होगा और साथ-ही-साथ हृदयमें या भ्रूमध्यमें उनके

चरणारविन्दमें मन एकाग्र करके बाहर उसी शक्ति-समन्वित शक्तिमान्को विश्वरूपमें चिन्तन करना होगा; तभी उपासना होगी और तभी उनके दर्शन मिलेंगे। परन्तु उनके दर्शन कैसे होंगे? शास्त्र कहते हैं—

द्रष्टुं न शक्यते कैश्चिद्देवदानवपन्नगैः।
यस्य प्रसादं कुरुते स चैनं द्रष्टुमर्हति॥

'देव, दानव, पन्नग कोई उन्हें नहीं देख सकता। फिर उपाय क्या है? वह जिसके ऊपर कृपा करते हैं वही उन्हें देख सकता है।' श्रीचण्डीमें जगन्माता कहती हैं कि 'मैं ही विद्वान्को भी मोहयुक्त कर देती हूँ।' पुनः ऋषि कहते हैं—

सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये।

उनकी पूजा, उनका स्तवन, प्रार्थना, प्रणति करनेसे वह प्रसन्न होकर मनुष्यको संसारसागरसे मुक्त कर देती हैं। सर्वदा नाम-जप करना, मानस-पूजा करना, बाह्यपूजा करना, स्तवन-प्रार्थना-नमस्कार करना आदि सब वे ही हैं, सब कुछ उनका ही है, मेरा कुछ भी नहीं—ऐसा चिन्तन करना। इस प्रकार करनेसे माँको प्रसन्न किया जा सकता है। श्रीसीतातत्त्वका प्रथम सोपान यह है कि जो सीता हैं वही श्रीराम हैं। शास्त्र यही कहते हैं—

'राम साक्षात् परमज्योति, परमधाम और परात्पर पुरुष हैं। सीता और रामकी आकृतिमें ही भेद है, वास्तवमें नहीं। राम ही सीता हैं और सीता ही राम हैं। इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है। सन्त लोग इसी तत्त्वको बुद्धिके द्वारा भलीभाँति जानकर जन्म-मरणरूपी संसारके पार पहुँच सके हैं।' (अद्भुतरामायण)

श्रीसीता श्रीरामकी ज्योति हैं, जिस प्रकार सविताका भर्ग है। राहुके सिरके समान सविता और '**वरेण्यं भर्गः**' एक ही वस्तु हैं। इसी प्रकार शिवकी ज्योति अन्नपूर्णा हैं और श्रीकृष्णकी ज्योति राधा हैं।

श्रीचण्डीमें जो महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वतीरूपमें असुरनाशिनी हैं वही रामायणमें असुरनाशिनी कालरात्रि हैं। रावणकी सभामें श्रीहनूमान्ने कहा था—

यां सीतेत्यभिजानासि येयं तिष्ठति ते गृहे।
कालरात्रीति तां विद्धि सर्वलङ्काविनाशिनीम्॥

(वा० रा० सु० ५१। ३४)

'हे रावण! जिन्हें तुम सीता समझते हो, जो आज तुम्हारे घरमें अवस्थित हैं, उन्हें तुम कालरात्रि ही समझो। वह सर्वलङ्काविनाशिनी हैं।' श्रीचण्डी भी वही कालरात्रि हैं। श्रीचण्डीके समान यही योगमाया, महामाया, जगद्धात्री हैं।

जिस प्रकार भगवान् वाल्मीकिके समान दूसरा कवि इस जगत्में नहीं, उसी प्रकार समस्त जगत्में सीता एक ही थीं, हैं और सदा रहेंगी। रामायणमें श्रीसीतारामका यशोवर्णन कर भगवान् वाल्मीकि पूर्ण हो गये। भगवान् ब्रह्माने जब सब उपादान देकर आदिकविको महाभारत-रचनाके लिये कहा तब आदिकवि बोले—मैं तो पूर्ण हो गया हूँ, अब किसलिये परिश्रम करूँ? परन्तु आपकी आज्ञानुसार मेरे पश्चात् जब व्यासदेव आवेंगे तो मैं उन्हें काव्यका बीज बतला दूँगा। यह बात बृहद्धर्मपुराणमें मिलती है। मैं भगवान्का यशोवर्णन कर पूर्ण हो गया हूँ, यह बात आधुनिक जगत्में किसी भी कवि अथवा ग्रन्थलेखकके मुखसे नहीं सुनी गयी। इसीलिये मैंने कहा है कि वाल्मीकिके समान ही श्रीसीता भी एक ही हैं। समस्त जगत्के साहित्य वा धर्ममें ऐसा दूसरा कोई नहीं है। रूप, गुण और लीलामें ऐसा दूसरा नहीं है। स्वरूपकी तो बात ही निराली है। मैं कहता हूँ कि श्रीसीता रूपमें अतुलनीया हैं। इससे अधिक कहना अनावश्यक है। अकम्पन रावणसे कहता है—

'उनकी सीता नामकी सुन्दर भार्या है जो संसारभरकी नारियोंमें श्रेष्ठ है। उनका कटिप्रदेश अत्यन्त सुन्दर है, उसके सारे अवयव सुडौल हैं। वही स्त्रियोंमें रत्नके समान है और रत्नोंसे सुसज्जित है। मनुष्यलोककी स्त्रियोंकी तो कौन कहे, देवाङ्गनाओं, गन्धर्विनियों, नागपत्नियों और अप्सराओंमें भी कोई ऐसी स्त्री नहीं है जो उसकी समता कर सके।' (वा० रा० अरण्य० ३१। २९-३०)

शूर्पणखा भी रावणसे कहती है—

'रामकी धर्मपत्नी विशाल नेत्रोंवाली, पूर्ण चन्द्रमाके समान मुखवाली तथा अपने पतिको अत्यन्त प्रिय है और सदा उसके अनुकूल आचरण एवं हितसाधनमें तत्पर रहती है। उसके सुन्दर केश हैं, सुन्दर नासिका और सुन्दर जङ्घाएँ हैं। वह अप्रतिम सुन्दरी है और उसका बड़ा यश है। हे देवदेव! वह इस वनकी मानो दूसरी लक्ष्मी है। उसका तपाये हुए सोनेके समान वर्ण है। सीता उसका नाम है, विदेहकी वह पुत्री है, उसके जघन बहुत सुन्दर हैं और कटिप्रदेश अत्यन्त क्षीण है।

मैंने वैसी सुन्दर नारी पृथिवीतलपर कहीं नहीं देखी। और तो क्या, देवाङ्गनाओं, गन्धर्विनियों, यक्षपत्नियों तथा किन्नरियोंमें भी कोई वैसी सुन्दरी नहीं है।'

इससे बढ़कर रूपका वर्णन और क्या होगा? तथापि श्रीभगवान्ने जो कुछ कहा है वह बहुत ही सुन्दर है—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः।
अयं कण्ठे बाहुः शिशिर मसृणो मौक्तिकसरः (रसः)
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥

'यह साक्षात् गृहलक्ष्मी है, मेरे नेत्रोंको जुड़ानेके लिये यह अमृतकी सलाईका काम देती है, इसका स्पर्श शरीरके लिये प्रचुर चन्दनरसके समान शीतल है, इसकी भुजलता मेरे कण्ठमें शीतल और चिकने मोतियोंके हारकी शोभा धारण करती है। इसका सब कुछ मुझे अतिशय प्रिय है, केवल इसका वियोग मेरे लिये असह्य है।'

भगवान् पुनः कहते हैं—

मध्यं केसरिभिः स्मितञ्च कुसुमैर्नेत्रं कुरङ्गीगणैः
कान्तिश्चम्पककुड्मलैः कलरुतं हा हा हृतं कोकिलैः।
वल्लीभिर्ललितं गतं करिवरैरित्थं विभक्त्याञ्जसा
कान्तारे सकलैर्विलासपटुभिर्नीतासि किं मैथिलि॥

गुणोंका मैं अधिक उल्लेख न करूँगा। स्त्रियोंका जो रमणीय गुण है उसे ही कहकर विश्राम लूँगा। जगन्माता जगदेकनाथके परमवाक्यसे व्यथित होकर श्रीलक्ष्मणसे कहती हैं—'हे सुमित्रानन्दन! मेरे लिये चिता तैयार करो। मेरे रोगकी अब यही दवा है। इस झूठे कलङ्कका टीका सिरपर लगाये मैं जीवित नहीं रह सकती।' माता उस समय भी अधोमुखस्थित पति-देवताको प्रदक्षिण और प्रणाम करना नहीं भूलती हैं। केवल स्वामीको ही नहीं, देवता और ब्राह्मणको भी नहीं भूलतीं। लिखा है कि—

मिथिलेशकुमारी देवताओं तथा ब्राह्मणोंको प्रणाम करके हाथ जोड़कर अग्निके समीप इस प्रकार कहने लगी—'यदि मेरा हृदय रघुकुलनन्दन श्रीरामके चरणोंसे क्षणभरके लिये भी दूर नहीं होता तो अखिल विश्वके साक्षी अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें। यदि रघुनन्दन मुझ निर्दोष चरित्रवालीको भी दूषित समझते हैं तो ये लोकसाक्षी अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें।'

'मेरा हृदय मेरे स्वामीसे यदि क्षणभरके लिये भी न हटा हो'—इससे अधिक स्त्रीके लिये शरीर धारण करनेका गुण शायद और कोई नहीं है। यदि और भी कहें तो कह सकते हैं कि मिथ्या लोकापवादके कारण जब श्रीभगवान्ने लक्ष्मणके द्वारा सीताका त्याग किया तब भी इस त्रिलोकजननीने भर्ताके प्रति किसी कठोर शब्दका प्रयोग नहीं किया। वनमें रोते-रोते वह बोलीं—

पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः।
प्राणैरपि प्रियं तस्माद्भर्तुः कार्यं विशेषतः॥

'स्त्रीके लिये उसका पति ही देवता है, पति ही बन्धु है और पति ही गुरु है। इसलिये स्वामीका कार्य स्त्रीके लिये प्राणोंसे भी प्यारा है।'

पातालप्रवेशकालमें सीताने कहा था—

यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥

'यदि मैं रघुनन्दनको छोड़कर किसी परपुरुषका मनसे भी चिन्तन नहीं करती तो पृथिवीदेवी मुझे अपने अन्दर स्थान दें।'

मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥

'यदि मैं मन, वाणी और कर्मसे श्रीरामका अर्चन करती हूँ तो पृथिवीदेवीको चाहिये कि वे मुझे अपने अन्दर अवकाश दें।'

यथैत्य सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात् परं न च।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥

'यदि मेरा यह कथन सत्य है कि मैं रामको छोड़कर किसी दूसरेको नहीं जानती तो देवी भूतधात्री मुझे अपने गर्भमें स्थान दें।'

रूप और गुणके विषयमें कुछ बातें कही गयीं। अब लीलाके विषयमें कुछ कहकर मैं स्वरूपका कुछ निर्देश करूँगा। सुन्दरकाण्डके आधारपर यह आलोचना की जा रही है।

भगवान् वाल्मीकिने इस काण्डका नाम सुन्दरकाण्ड क्यों रखा? बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, युद्धकाण्ड, उत्तरकाण्ड—इन नामकरणोंका कारण समझनेमें कोई कठिनाई नहीं होती; परन्तु सुन्दरकाण्ड-नामकरणमें मानो कुछ विशेषता है।

रामायणं जनमनोहरमादिकाव्यम्।

रामायण लोगोंको बहुत प्रिय है और वह आदिकाव्य

है। अध्यात्मरामायणके अन्तिम श्लोकके प्रथम चरणमें रामायणको जनमनोहर आदिकाव्य कहा गया है। समस्त रामायण ही मनोहर है, उसके अन्दर सुन्दरकाण्ड अत्यन्त मनोहर है। जिस प्रकार महाभारतका विराट्-पर्व सर्वश्रेष्ठ अंश है, उसी प्रकार रामायणमें सुन्दरकाण्ड सर्वश्रेष्ठ अंश है, इसके श्रेष्ठ होनेका कारण बतलाते हुए कहा गया है—

सुन्दरे सुन्दरो रामः सुन्दरे सुन्दरी कथा।
सुन्दरे सुन्दरी सीता सुन्दरे किन्न सुन्दरम्॥

सुन्दरकाण्डमें राम सुन्दर हैं, सुन्दरकी कथाएँ सुन्दर हैं, सुन्दरमें सीता सुन्दरी हैं, सुन्दरमें क्या सुन्दर नहीं है? सुन्दरमें रामकी कथा तो है नहीं, फिर 'सुन्दरे सुन्दरो रामः' क्यों कहा गया है?

सुन्दरकाण्डमें प्रधान चरित्र दो हैं। श्रीसीता और श्रीहनूमान्। श्रीहनूमान् तो भक्त हैं और श्रीसीता क्या हैं? पहले कहा जा चुका है कि श्रीराम-सीता अभिन्न हैं—**'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।'**

सीता शक्ति हैं और श्रीराम शक्तिमान् हैं। एक होनेपर भी शक्ति शक्तिमान्‌की भक्त हैं—सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं। क्योंकि सीताका हृदय एक क्षणके लिये भी श्रीरामको नहीं छोड़ सकता। रामके सौन्दर्यको लेकर ही सीता त्रैलोक्यसुन्दरी हैं। फलतः राम ही सीता बनकर सुन्दर हो रहे हैं।

रामतापनीय उपनिषद्‌में कहा है—

यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान्, या जानकी भूर्भुवः स्वस्तस्यै वै नमो नमः।

'श्रीरामचन्द्र साक्षात् भगवान् हैं और देवी जानकी भूर्भुवः स्वःरूप व्याहृति हैं। इसलिये उन्हें नमस्कार है, नमस्कार है।'

राम ही जानकी हैं, इसीसे रामके सौन्दर्यमें ही राम-मानस-सरो-मरालिकाका सौन्दर्य है। सुन्दरकाण्डमें जिस कुन्तलाकुल-कपोल-सुन्दरी सीताके रूप और गुणका विकास है, वह क्या जागृत और क्या स्वप्न, सर्वदा श्रीरामके चरणकमलोंमें सब कुछ समर्पण किये हुए है—इसीलिये कहा गया है—**'सुन्दरे सुन्दरो रामः।'**

हनूमान्‌ने रावणको अति तुच्छ मानकर कहा था—

न मे समा रावणकोटयोऽधमाः
रामस्य दासोऽहमपारविक्रमः।

'रावण-जैसे करोड़ों अधम मेरी समता नहीं कर सकते। मैं श्रीरामका दास हूँ, अतः मेरे पराक्रमका कोई थाह नहीं पा सकता। रामका दास होनेके कारण मुझमें अपार विक्रम है।' दास होनेसे जहाँ इतना शौर्य-वीर्य प्रस्फुटित हो उठता है, वहाँ भक्तका सौन्दर्य भगवान्‌का ही है। इसीसे **'सुन्दरे सुन्दरो रामः'** कहा गया है। 'सुन्दरे सुन्दरो रामः' का अर्थ तो समझमें आया; परन्तु सुन्दरमें सभी सुन्दर है, इसका क्या अभिप्राय है?

क्या सुन्दरमें सब सुन्दर नहीं है? शतयोजनविस्तीर्ण, भीमदर्शन, महोन्नततरङ्गसमाकुल, भीमनक्रभयङ्कर, अगाध गगनाकार सागरको लाँघना; मारुतिकी बल-परीक्षाके लिये सुरसाका विघ्न पैदा करना, मैनाककी अभ्यर्थना-याचनापर श्रीहनूमान्‌का यह कहना कि 'मैं रामकार्य करने जा रहा हूँ, इस समय मुझे भोजन करने या विश्रामके लिये कहाँ अवसर है, मुझे तो अत्यन्त शीघ्र जाना है'; सिंहिका राक्षसीके हनुमान्‌की छायापर आक्रमण कर समुद्रमें मारुतिका मार्ग रोकनेपर उसका विनाश समुद्रके दक्षिण-किनारे त्रिकूट-शिखरपर लङ्कापुरीका दर्शन, सन्ध्याकालमें सूक्ष्म देह धारणकर लङ्कामें प्रवेश करते समय राक्षसीवेशधारिणी लङ्किनीपर हनूमान्‌का चरण-प्रहार, हनूमान्‌के वाम मुष्टि-प्रहारसे लङ्किनीका रक्तवमन, लङ्किनीके द्वारा सीताका संवाद, सीताका अन्वेषण, घने शिंशपा पेड़के नीचे 'देवतामिव भूतले'—

एकवेणीं कृशां दीनां मलिनाम्बरधारिणीम्।
भूमौ शयानां शोचन्तीं रामरामेति भाषिणीम्॥

(श्रीहनूमान्‌जीने जगदम्बा जानकीजीको इस प्रकार देखा, मानो पृथिवीतलपर कोई देवाङ्गना उतर आयी हो। वे एक वेणी धारण किये हुए थीं, उनका शरीर दुर्बल था, आकृति दीन थी, मलिन वस्त्र पहने हुए थीं, पृथ्वीपर लेटी हुई थीं, शोचमें पड़ी हुई थीं और राम-रामकी रटन लगाये हुए थीं।)

—जनकनन्दिनीका दर्शन; रात्रिकालमें स्त्रीजनपरिवारित दस मुख, बीस भुजावाले नीलाञ्जन-राशिके समान रावणका सीता-दर्शन; रावण और सीताका उत्तर-प्रत्युत्तर, जानकीके परुष वाक्य श्रवणकर उनका वध करनेके लिये रावणका खड्ग उठाना, मन्दोदरीका निवारण करना, रावणके प्रस्थान करनेपर उसकी दासियोंका तर्जन-गर्जन और उत्पीड़न, त्रिजटाका स्वप्नवृत्तान्त, राक्षसीवृन्दका भयभीत तथा निद्रित होना, सीताका रुदन और प्राणत्याग करनेकी चेष्टा, वृक्षके ऊपरसे श्रीहनूमान्‌का

राम-वृत्तान्त-वर्णन, सीता और हनूमान्‌का कथोपकथन, अँगूठी प्रदान करना, अशोकवाटिकाका विध्वंस, रावणकी सेना और अक्षयकुमारका वध, इन्द्रजीतके द्वारा बन्धनमें हनूमान्‌का रावणके समीपमें लाया जाना, रावणको उपदेश, रावणका क्रोध, पूँछमें अग्निप्रदान, लङ्कादहन, पुन: सीतासे बातचीत करके सागरका लाँघना, वानरोंके साथ मिलना, मधुवनके फल खाना और उसे उजाड़ना, राम और सुग्रीवको सीताका संवाद सुनाना, रामके द्वारा हनूमान्‌का आलिङ्गन—सुन्दरकाण्डकी ये सभी कथाएँ बड़ी सुन्दर हैं।

इसके पश्चात् 'सुन्दरे सुन्दरी सीता' के विषयमें तो कहना ही क्या है? सतीके सतीत्वका तेज, सीता और हनूमान्‌के कथोपकथनमें सीताके चरित्रकी रमणीयता—इसीसे 'सुन्दरे सुन्दरी सीता' कहा है और इसीलिये कहा गया है कि 'सुन्दरे किन्न सुन्दरम्'—सुन्दरकाण्डमें असुन्दर क्या है?

[२]

नाम, रूप, गुण और लीलाकी आलोचनासे तत्त्वविचारमें रस आता है, और तत्त्वस्वरूपकी धारणा नहीं करनेसे नाम-रूप आदिमें गम्भीरता नहीं आती। हम जिनके तत्त्वकी आलोचना करते हैं वही सर्वव्यापिनी चैतन्यरूपसे भूर्भुव:स्वर्लोकमें व्याप्त हो रही हैं तथा इन सर्वव्यापी सर्वानुस्यूत चैतन्यकी घनीभूत मूर्ति ही उपासनाकी वस्तु है—इसे जाने बिना उपासना ठीक-ठीक नहीं होती। हम जिनकी उपासना करते हैं वही सर्वप्रधान हैं—यह धारणा न होनेसे अथवा हमारी उपासनाकी वस्तुसे बढ़कर भी कुछ और है, ऐसी धारणा होनेसे उपासनाका उद्देश्य सिद्ध नहीं होता।

[३]

श्रीसीताका तत्त्व क्या है, इसे मैं श्रीसीता-उपनिषद् तथा श्रीअध्यात्मरामायणसे उल्लेखकर इस लेखका उपसंहार करता हूँ। '**का सीता किं रूपमिति**—सीता कौन हैं, उनका रूप कैसा है?'—देवतालोग प्रजापतिसे पूछते हैं। ब्रह्मा कहते हैं कि मूलप्रकृतिरूपा होनेसे सीताको प्रकृति कहते हैं।

प्रणवप्रकृतिरूपत्वात् सा सीता प्रकृतिरुच्यते।

प्रणव (अ, उ, म्), नाद, विन्दु, कला और कलातीत—इस सप्ताङ्कसे जटित होनेके कारण सीता ही प्रणवरूपिणी हैं। वही सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका प्रकृति हैं। वही त्रिवर्णात्मा साक्षात् माया हैं। 'सी' में जो ईकार है वह प्रपञ्च-बीज है, वही माया है। विष्णु संसारके बीज हैं और ईकार माया है। त्रिगुणात्मिका सीता साक्षात् मायामयी हैं, वह अविद्यास्वरूपिणी हैं। साथ ही वही विद्यास्वरूपिणी भी हैं। 'स' कार सत्यका नाम है; यही अमृत, प्राप्ति और सोम हैं। और 'त' कार है रजतसौन्दर्यमण्डित विराजमान यशस्वी मणिविशेष।

ईकाररूपिणी अव्यक्तरूपिणी महामाया हैं—सोमके अमृत अवयवरूप दिव्य अलङ्कारद्वारा तथा माला-मुक्तादि अलङ्कारसे भूषिता होकर प्रकाशित होती हैं।

माताका प्रथम रूप शब्दब्रह्म प्रणव है, वही वेदपाठके समय प्रसन्न होकर उत्पन्न हुआ था। माताका द्वितीय रूप है नारीरूप—जो पृथ्वीसे हलके अग्रभागसे उत्पन्न हुआ है। तृतीय रूप है ईकाररूपिणी अव्यक्तस्वरूपा। शुनक ऋषिप्रणीत ग्रन्थमें सीता इसी रूपमें वर्णित हुई हैं।

फिर श्रीसीताजीका और कैसा रूप है? श्रीरामके निकट रहनेके कारण यह जगदानन्दकारिणी हैं और जो कुछ देहविशिष्ट है सबकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारकारिणी भी यही सीतादेवी हैं। सीता ही भगवती मूलप्रकृति हैं। ब्रह्मवादी कहते हैं कि सीता ही प्रणव होनेके कारण प्रकृति हैं। तब सीता क्या नहीं हैं?

श्रुति कहती है—'वे सर्ववेदमयी हैं, सर्वदेवमयी हैं, सर्वकीर्तिमयी हैं, सर्वधर्ममयी हैं, सबका आधार और कार्य-कारण दोनों हैं। वही महालक्ष्मी हैं, देवाधिपति भगवान्‌से भिन्न और अभिन्न दोनों हैं; चेतन भी वही हैं और अचेतन भी वही हैं। ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सबकी आत्मा वही हैं। वही प्रकृतिके गुण और कर्मविभागके पार्थक्य-हेतु शरीर बनी हुई हैं। देव, ऋषि, मनुष्य और गन्धर्व सब उन्हींके रूप हैं। दैत्य, राक्षस, भूत, प्रेत आदि भूतोंका आदिशरीर वही हैं। पञ्चमहाभूत, इन्द्रिय, मन और प्राण भी उन्हींके स्वरूप हैं।'

श्रुति फिर कहती है—सीता शक्ति हैं; वह इच्छा-शक्ति, क्रिया-शक्ति और साक्षात् शक्ति हैं। वही इच्छा-शक्तिके तीन भेद भी हैं; अर्थात् श्रीभूमि और लीलास्वरूपमें वह भद्ररूपिणी हैं, प्रभावरूपिणी हैं और सोम-सूर्य-अग्निस्वरूपिणी हैं। सोमात्मिका होनेके कारण सीता ओषधियोंके ऊपर प्रभाव विस्तार करनेवाली हैं। वह कल्पवृक्ष, पुष्प, फल, लता और गुल्मस्वरूपा हैं। फिर

औषधसे उत्पन्न औषधरूपमें वह अमृतस्वरूपा होकर देवताओंको यज्ञफल प्रदान करनेवाली हैं।

वही सीता अमृतद्वारा देवताओंको, अन्नद्वारा पशुओंको, तृणद्वारा तृणभोजी जीवोंको तृप्त करती हैं। वह सूर्यादि सब लोकोंका प्रकाश करती हैं। वही दिन-रात्रिस्वरूपिणी हैं। समयका जो प्रकाश-भेद है सब वही हैं। निमेषसे आरम्भ करके परार्द्धपर्यन्त जो कालचक्र है वही जगच्चक्र है और इस प्रकारसे सीता ही चक्रवत् परिवर्तमाना हैं। श्रुतिने कहनेमें कुछ भी शेष नहीं रखा—

वह अग्निरूप होकर समस्त जीवधारियोंकी क्षुधा और पिपासाके रूपमें स्थित हैं, देवताओंका मुखस्वरूप हैं, वनकी ओषधियोंमें शीत और उष्णरूपसे व्याप्त हैं तथा काष्ठोंके भीतर और बाहर नित्यानित्यरूपसे स्थित हैं।

श्रीदेवी लोकरक्षाके लिये रूप भी धारण करती हैं। पृथ्वीरूपसे वह त्रिभुवनको आश्रय देती हैं; प्रणवरूप भी वही हैं। समस्त ओषधि और प्राणिगणके पोषणके लिये सर्वरूपा हैं। वह क्रिया-शक्तिस्वरूप श्रीहरिके मुखसे उत्पन्न नाद हैं। नादसे ॐकार इत्यादि हैं। वह ऋग्यजुःसामरूप वेदत्रयी हैं। इक्कीस शाखाओंसे ऋग्वेद, एक सौ नव शाखाओंसे यजुर्वेद तथा सहस्र शाखासे सामवेद वही हैं। इसके अतिरिक्त पाँच शाखाओंमें अथर्ववेद भी वही हैं।

सीता-उपनिषद्में और भी बहुत-सी बातें हैं। मूल ग्रन्थमें उन्हें देखना चाहिये। अब मैं अध्यात्मरामायणसे कुछ सीता-तत्त्वका उल्लेख करता हूँ—

एको विभासि राम त्वं मायया बहुरूपया।

तथा—

योगमायापि सीतेति।

'एकमात्र सत्यवस्तु श्रीराम ही बहुरूपिणी मायाको स्वीकारकर विश्वरूपमें भासित हो रहे हैं और सीता ही वह योगमाया हैं।' लोकविमोहिनी हरिनेत्रकृतालया श्रीसीताने श्रीरामचन्द्रजीके अभिप्रायानुसार श्रीसीतारामके एक सर्वश्रेष्ठ भक्तको ज्ञानका पात्र जानकर एक बार तत्त्वज्ञान प्रदान किया था। श्रीसीताजी कहती हैं कि रामको परब्रह्म सच्चिदानन्द ही जानना चाहिये।

मां विद्धि मूलप्रकृतिं सर्गस्थित्यन्तकारिणीम्।
तस्य सन्निधिमात्रेण सृजामीदमतन्द्रिता॥

'मुझ सीताको सर्ग, स्थिति और अन्तकारिणी मूलप्रकृति जानो। उनके सान्निध्यसे ही मैं प्रमादशून्य होकर सब कुछ सृजन करती हूँ। रामायणमें जो कुछ होता है, यहाँतक कि मेरा पाणिग्रहणतक भी सब मैं ही करती हूँ। विश्वका सारा कार्य शक्तिरूपसे मैं ही करती हूँ। सदासे करती आ रही हूँ और करती रहूँगी।'

एवमादीनि कर्माणि मयैवाचरितान्यपि।
आरोपयन्ति रामेऽस्मिन्निर्विकारेऽखिलात्मनि॥

'इस प्रकारके सारे कर्म मैं ही करती हूँ। उन्हें लोग श्रीराममें, जो वास्तवमें निर्विकार एवं अखिल विश्वकी आत्मा हैं, आरोपित करते हैं।' राम कुछ भी नहीं करते, जो कुछ होता है सब मायाके गुणोंके अनुग्रहसे होता है। कलिमें अधिकांश मनुष्य हाथीके अङ्गोंके समान श्रीभगवान्के एक-एक भावको ही देखते हैं। समग्र ब्रह्मको जाननेकी इच्छा न होनेके कारण इतना दंगा-फसाद मचा रहता है। श्रीगीता कहती है—

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।

'इस नौ दरवाजोंके शरीररूपी घरमें रहता हुआ आत्मा न तो कुछ करता है और न करवाता है।'

इस निर्गुण ब्रह्मकी बात ऐसी ही है। फिर—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

'हे अर्जुन! ईश्वर समस्त भूतप्राणियोंके हृदयमें स्थित होकर देहरूपी यन्त्रपर आरूढ़ हुए उन सारे भूतोंको अपनी योगमायासे घुमाता है।'

तथा—

तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।

'मैं उन्हें मृत्युरूप संसारसागरसे पार कर देता हूँ।'

एवं—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
.........न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

'यह आत्मा न उत्पन्न होता है न मरता है। ......शरीरका वध करनेसे आत्माका वध नहीं होता।' एक ही कालमें यह सब कुछ वही है; अर्थात् समकालमें वह आप ही निर्गुण ब्रह्म, सगुण ब्रह्म, विश्वरूप, सर्वहृदिस्थ आत्मा तथा सिरसे लेकर पदोंके नखपर्यन्त सर्वसौन्दर्यसार हैं। जो साधक पूर्ण ईश्वरभावनाके द्वारा सांसारिक भावनाको चित्तसे दूर कर सकते हैं वह सहज ही इस मृत्युसंसारसागरको पारकर निरन्तर श्रीभगवान्के परमपदमें स्थित रहते हैं।

परात्परा शक्ति श्रीसीता

(लेखक—श्रीसीतारामीय श्रीमथुरादासजी महाराज)

सकलकुशलदात्रीं भक्तिमुक्तिप्रदात्रीं
त्रिभुवनजनयित्रीं दुष्टधीनाशयित्रीम्।
जनकधरणिपुत्रीं दर्पिदर्पप्रहर्त्रीं
हरिहरविधिकर्त्रीं नौमि सद्भक्तभर्त्रीम्॥

श्रीमज्जगज्जननी भगवती श्रीसीताजीकी अपार महिमा है। वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास तथा धर्म-ग्रन्थोंमें इनकी अनन्त लीलाओंका शुभ वर्णन पाया जाता है। ये भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी प्राणप्रिया आद्याशक्ति हैं। इन्हींके भ्रुकुटि-विलासमात्रसे उत्पत्ति-स्थिति-संहारादि कार्य हुआ करते हैं। श्रुतिका वाक्य है—

उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम्।
सा सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता॥

(श्रीरामतापनीय-उत्तरार्द्ध)

समस्त देहधारियोंकी उत्पत्ति, पालन तथा संहार करनेवाली आद्या शक्ति मूल-प्रकृतिसंज्ञक श्रीसीताजी ही हैं। पुनः—

निमेषोन्मेषसृष्टिस्थितिसंहारतिरोधानानुग्रहादिसर्वशक्तिसामर्थ्यात्साक्षाच्छक्तिरिति गीयते।

(श्रीसीतोपनिषद्)

जिसके नेत्रके निमेष-उन्मेषमात्रसे ही संसारकी सृष्टि, स्थिति तथा संहारादि क्रियाएँ होती हैं, वह श्रीसीताजी हैं। तिरोधान, अनुग्रहादि सर्वसामर्थ्यसम्पन्न होनेसे श्रीजानकीजी साक्षात् आद्या परात्परा शक्ति कहलाती है। पुनः—

भूर्भुवः स्वः सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोका अन्तरिक्षं सर्वे त्वयि निवसन्ति। आमोदः प्रमोदो विमोदः सम्मोदः सर्वांस्त्वं सन्धत्से। आञ्जनेयाय ब्रह्मविद्याप्रदात्रि धात्रि त्वां सर्वे वयं प्रणमामहे प्रणमामहे।

(श्रीमैथिलीमहोपनिषद्)

'हे श्रीजनकराजतनये! पृथिवी, पाताल तथा स्वर्गादि तीनों भुवन, सप्तद्वीपवती वसुन्धरा, तीनों लोक तथा आकाश—ये सब आपमें प्रतिष्ठित हैं। आमोद, प्रमोद, विमोद, संमोदादि सबको आप धारण करती हैं। अञ्जनीनन्दन पवनपुत्रको आपने ही ब्रह्मविद्याका सदुपदेश दिया था। हे जननी! हम सब महर्षिगण आपके चरणोंमें बारम्बार नमस्कार करते हैं।' पुनः—

अर्वाची सुभगे भव सीते! वन्दामहे त्वा।
यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि॥

(ऋ० ३। ८। ९)

'हे असुरोंका नाश करनेवाली श्रीसीते! हम सब आपके चरणोंकी वन्दना करते हैं, आप हमारा कल्याण करें।'

अथर्वणवेद-उत्तरार्द्धकी श्रुति है—

जनकस्य राज्ञः सद्मनि सीतोत्पन्ना सा सर्वपरानन्दमूर्तिर्गायन्ति मुनयोऽपि देवाश्च, कार्यकारणाभ्यामेव परा तथैव कार्यकारणार्थे शक्तिर्यस्याः, विधात्रीश्रीगौरीणां सैव कर्त्री, रामानन्दस्वरूपिणी सैव जनकस्य योगफलमिव भाति।

'महाराजा जनकजीके राजमहलमें जो श्रीसीताजी प्रकट हुई हैं वह सर्वपर, आनन्दमूर्ति हैं। मुनिगण और देवगण उनका गान करते हैं। कार्य-कारणसे पर और कार्य-कारण-शक्तिसम्पन्ना हैं। ब्रह्माणी, लक्ष्मी और गौरी आदि अनन्त शक्तियोंकी उत्पादिका हैं। श्रीरामानन्द-स्वरूपिणी हैं। वही श्रीजनकजीके योगफलके समान परम शोभा देती हैं।'

—इत्यादि अनन्तानन्त श्रुतियाँ भगवती श्रीसीताजीके परत्वका मुक्तकण्ठसे प्रतिपादन करती हैं। वाल्मीकिसंहितामें तो श्रीजानकीजीको श्रुतियोंकी भी माता बतलाया है। एक बार सब श्रुतियोंको यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि हमारे माता-पिता कौन हैं? इसके जाननेके लिये बहुत कुछ प्रयास किया गया। पर जब पता न लगा तब श्रुतियाँ श्रीब्रह्माजीके पास गयीं और बोलीं—

कास्माकं जननी देव, कः पितेति निबोधय।

इसके उत्तरमें श्रीब्रह्माजी कहते हैं—

तामेव जानकीं वित्त जननीमात्मनः पराम्।
श्रीरामं पितरं वित्त सत्यमेतद्वचो मम॥

'उन्हीं श्रीजानकीजीको तुम अपनी जननी समझो और श्रीरामजीको ही अपना पिता समझो, यह मैं तुमसे सत्य-सत्य वचन कहता हूँ।' इससे यह सिद्ध होता है कि श्रीसीताजी सकल श्रुतिवन्दिता परात्परा शक्ति हैं।

नित्यां निरञ्जनां शुद्धां रामाभिन्नां महेश्वरीम्।
मातरं मैथिलीं वन्दे गुणग्रामां रमारमाम्॥
आद्यां शक्तिं महादेवीं श्रीसीतां जनकात्मजाम्।

'नित्या, परमनिर्मला, परमविशुद्धा, गुण आगरी, श्रीकी भी परम श्री, आद्याशक्ति, महेश्वरी, श्रीरामजीसे अभिन्ना, श्रीजनकात्मजा, मैथिली, माता श्रीसीताजीकी मैं वन्दना करता हूँ।' श्रीशङ्करजीका भी वाक्य है—

सीतायाश्च परादेव्या लीलामात्रमिदं जगत्।

'यह परमाश्चर्योंसे परिपूर्ण जगत् परात्परा देवी श्रीसीताजीका केवल लीलामात्र ही है।'

सदाशिवसंहितामें श्रीसाकेतधामके वर्णनमें आया है—

तन्मध्ये जानकी देवी सर्वशक्तिनमस्कृता।

'उस दिव्यधामके परमरमणीय मण्डपके सिंहासनके मध्य-भागमें समस्त शक्तियोंसे नमस्कृता श्रीसीताजी विराजमान हैं।' श्रीबृहद्विष्णुपुराणान्तर्गत श्रीमिथिला-माहात्म्यमें भी—

जगद्धात्रीं महामायां ब्रह्मरूपां सनातनीम्।
दृष्ट्वा प्रमुदिताः सर्वे देवताप्सरकिन्नराः॥

'जगन्माता, महामाया, ब्रह्मरूपा, सनातनी शक्ति श्रीसीताजीको देखकर ब्रह्मादि देवगण, नारदादि मुनिगण, गन्धर्व, किन्नर और अप्सरागण परम हर्षित हुए।' श्रीमहारामायणमें भी शिव-वाक्य है—

जानक्यंशादिसम्भूताऽनेकब्रह्माण्डकारिणी ।
सा मूलप्रकृतिर्ज्ञेया महामायास्वरूपिणी॥

'श्रीजानकीजीके अंशोंद्वारा ही अनेकानेक जगत्को उत्पन्न करनेवाली शक्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। वह तो मूलप्रकृतिस्वरूपिणी महामाया आद्याशक्ति हैं।' महाशम्भुसंहितामें श्रीअगस्त्यजीने अपने प्रिय शिष्य श्रीसुतीक्ष्णजीसे कहा है—

सीताकलांशाद्बहृयश्च शक्तयः सम्भवन्ति हि।

'श्रीसीताजीके कलांशसे बहुत-सी शक्तियाँ उत्पन्न होती ही रहती हैं।' श्रीसम्प्रदायाचार्य श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजने भी भगवतीकी अपरिमित शक्तिका वर्णन करते हुए लिखा है—

ऐश्वर्यं यदपाङ्गसंश्रयमिदं भोग्यं दिगीशैर्जग-
च्चित्रं चाखिलमद्भुतं शुभगुणा वात्सल्यसीमा च या।
विद्युत्पुञ्जसमानकान्तिरमितक्षान्तिः सुपद्मेक्षणा
दत्तां नोऽखिलसम्पदो जनकजा रामप्रिया सानिशम्॥

'दिक्पालादि और लोकपालादिके ऐश्वर्य-भोग तथा आश्चर्यमय अद्भुत ब्रह्माण्ड केवल जिनकी कृपाकटाक्ष-पर ही सर्वथा अवलम्बित हैं, जो असीम वात्सल्य-रस-पूर्णा हैं वे विद्युत्पुञ्जके समान गौर तेज-सम्पन्ना परम क्षमासम्पन्ना, कमलनयना, भगवत्प्रिया, आद्याशक्ति भगवती श्रीसीताजी निरन्तर हमें मोक्षादि सम्पत्ति प्रदान करें।'

श्रीगोस्वामीजीने श्रीसीताजीका बड़ा ही महिमामय गुणगान किया है। यथा—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥

'उत्पत्ति, पालन तथा संहार करनेवाली, सर्वशक्ति-सम्पन्ना, क्लेशहारिणी, समस्त कल्याणकारिणी, श्रीराम-वल्लभा भगवती श्रीसीताजीको मैं नमस्कार करता हूँ।'

पुनः—

जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित उमा रमा ब्रह्मानी॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥

× × ×

लखा न मरमु राम बिनु काहूँ। माया सब सिय माया माहूँ॥

× × ×

जयति श्रीस्वामिनी सीय सुभ नामिनी
दामिनी कोटि निज देह दरसै।
इंदिरा आदि लै मत्त-गज-गामिनी
देव-भामिनि सबै पाँव परसै॥

(विनय-पत्रिका)

एक भक्तने जगन्माताकी स्तुति करते हुए क्या ही अच्छा कहा है—

सुराः सर्वे खर्वास्तव चरणमूले सुरतरो-
स्त्वमासीना मूलेऽनुचितमिति मत्वा सुरतरुः।
भवन्मञ्चाधस्ताद्भुवि विविधरत्नेषु बहुधा
विशन् प्रायश्चित्तं चरति बहुरूपैः परतमे॥

(श्रीजानकीचरणचामरस्तोत्र)

हे परमेश्वरी! आपके सामने बड़े-बड़े देवगण परम तुच्छ हैं, अतः वे जब आपके दरबारमें आते हैं तो आपके श्रीचरण-मूलमें आकर नम्र-भावसे बैठते हैं। यह देखकर कल्प-वृक्षने सोचा कि जिसके चरणोंकी महान् देवतागण वन्दना करते हैं वह भगवती श्रीसीताजी मेरी छायामें बैठती हैं, मैं उनके ऊपर हो जाता हूँ—यह मेरी भारी-से-भारी ढीठता है। हे अम्ब! इस अक्षम्य अपराधको क्षमा करानेके लिये ही इस रत्न-मण्डपकी स्वच्छभूमिमें

छायारूपेण प्रविष्ट होकर आपके चरणोंका बारंबार स्पर्श करके कल्पतरु अपने अपराधकी क्षमा-याचना करता है। श्रीजानकीजी तो अतुलनीय शक्ति हैं, उनकी तुलनामें अनन्त ब्रह्माण्डमें कोई भी प्राप्त नहीं हो सकता। ठीक ही कहा है—

एषा विश्वहतोपमा न तुलनां धत्ते ह्यमुष्या उमा
वाणी चापि रमा च मन्यत इयं निःसंशयं निश्चया।
इन्द्राणी विधिनन्दिनी च सकला देवाङ्गना उत्तमा
मन्यन्तेऽप्सरसोऽपि रूपरसिका अस्या हि दासीसमाः॥

'श्रीजानकीजीकी अप्रतिम महिमाने संसारकी तमाम उपमाएँ हत कर दी हैं। इनकी तुलनामें न उमा आ सकती हैं और न वाणी, न लक्ष्मी और न ब्रह्माणी; उत्तमोत्तम देवाङ्गनाएँ भी इनकी उपमामें नहीं आ सकतीं। उपर्युक्त देवियाँ तथा अप्सरादि तो इनकी दासी-समान हैं।'

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी इसी आशयपर कहा है—

जो पटतरिय तीय सम सीया। जग असि जुवति कहाँ कमनीया॥
गिरा मुखर तनु अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिय रमा सम किमि बैदेही॥

वेदान्तके प्रकाण्डवेत्ता महात्मा श्रीकाष्ठजिह्वदेव स्वामीने भी श्रीकिशोरीजीकी अद्भुत महिमा वर्णन की है—

जनक-लली-नख-द्युति सरिस, निज द्युति कहँ ना जोय।
ब्रह्म-ज्योति प्रगटत नहीं, अजहूँ लज्जित होय॥
ललित पाद-अँगुरीनकी, सोभा अति सरसाय।
पंचदेव मानौं समझि, बैठे पद ठहराय॥
सिय-कर सुखदायक समुझि, हियरे अति सुख पाय।
तीनों देवी रेख-मिस, पहुँचीं पहुँचन आय॥
सची-बिधात्री-इंदिरा भाग्य भरहिं निज भाल।
सियकी चितवनि अमिय लहि, लालहु होत निहाल॥

इस प्रकार शास्त्र और महात्मागणोंने श्रीसीताजीको ही आद्या शक्ति, परात्परा शक्ति तथा सर्वशक्तिशिरोमणि कहकर वर्णन किया है। वाल्मीकि-रामायणमें भी महर्षिजीने अन्तमें **'सीतायाश्चरितं महत्'** कहकर श्रीजानकीजीकी महत्ताका पूर्ण परिचय दिया है, इसलिये यह सिद्ध होता है कि जगदम्बा, श्रीजनकराजपुत्री, श्रीरामप्रिया, श्रीसीताजी परात्परा आद्या शक्ति हैं।

श्रीरामचरितमानसमें श्रीसीता-तत्त्व

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन', रामायणी)

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥

श्रीस्वायम्भुव मनुकी तपस्यासे नैमिषारण्यमें परमप्रभु परमेश्वरके प्रादुर्भावके प्रसङ्गमें श्रीसीता-तत्त्वका इस प्रकार विवेचन पाया जाता है—

बाम भाग शोभति अनुकूला। आदि शक्ति सब बिधि जगमूला॥
जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित उमा रमा ब्रह्मानी॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥

इन तीन चौपाइयोंमें महाशक्तिस्वरूपा श्रीसीता-तत्त्वका स्वरूप वर्णन करते हुए प्रथम चौपाईके आरम्भमें 'बामभाग' शब्द लिखकर तथा तीसरी चौपाईके अन्तिम चरणमें 'बामदिसि' शब्दका ही सम्पुट लगाकर जो ऐश्वर्य वर्णन किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि श्रीसीताजी श्रीपरमप्रभुसे सदैव अभिन्नस्वरूपा हैं। इस बातकी पुष्टि ग्रन्थगत अपर प्रसङ्गोंसे भी भलीभाँति हो रही है। उदाहरणार्थ दो-एक प्रसङ्ग यहाँ दिखलाये जाते हैं।

(१) बालकाण्डके अन्तर्गत सती-मोह-प्रसङ्गमें जब सतीजी श्रीरामजीकी परीक्षा ले लज्जित होकर शिवजीके समीप लौटी आ रही थीं, उस समय लीलास्वरूपमें यद्यपि श्रीसीताजीका रावणद्वारा हरण तथा अनलनिवासके द्वारा अन्तर्धान होनेसे स्पष्टतः श्रीरामचन्द्रजीके साथ वियोग दीखता था तथापि मार्गमें अखण्ड अभिन्न श्रीसीताजीका दर्शन श्रीरामजीके साथ-साथ सतीको होता आ रहा था—

सतीं दीख कौतुकु मग जाता। आगें रामु सहित श्री भ्राता॥
फिर चितवा पाछें, प्रभु देखा। सहित बंधु सिय सुंदर बेषा॥
देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाव एक ते एका॥

× × × ×

सती बिधात्री इंदिरा देखीं अमित अनूप।
जेहिं-जेहिं बेष अजादि सुर तेहि तेहि तन अनुरूप॥
देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। शक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते॥

× × × ×

पूजहिं प्रभुहि देव बहु बेषा। रामरूप दूसर नहिं देखा॥
अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे॥

यहाँ भी वही महत्त्व दिखलायी देता है। जिस प्रकार श्रीरघुनाथजी अनेकों शिव, विधि, विष्णुसे सेवित हो रहे हैं, उसी प्रकार श्रीसीताजी भी अमित सती, विधात्री, इन्दिरा आदिके द्वारा सेवित हो रही हैं।

(२) अवधकाण्डके अन्तर्गत वन-गमनके प्रसङ्गमें जब श्रीगङ्गाजीके तट शृङ्गवेरपुर रथ पहुँचाकर सुमन्तने श्रीरामचन्द्रजीसे महाराज दशरथजीका सन्देशा कहा—

जेहि बिधि अवध आव फिर सीया। सोइ रघुबरहि तुम्हहि करनीया॥
पितु सँदेस सुनि कृपानिधाना। सियहि दीन्ह सिख कोटि बिधाना॥

और तब श्रीमुखसे उस शिक्षाको सुनकर श्रीसीताजीने स्वयं अपनी नित्य-एकता तथा अभिन्नताके स्वरूपको इस प्रकार उपमासहित निवेदन किया—

प्रभु करुनामय परम बिबेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी॥
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई॥

यहाँ पहले 'तनु' और 'छाया' की उपमासे श्रीचक्रवर्ती दशरथजी महाराजके सन्देशकी ओर लक्ष्य कर वियोगको असम्भव बतलाया गया है। क्योंकि सन्देशमें आया है—'**जो नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई**', तो '**फेरिय प्रभु मिथिलेशकिसोरी।**' श्रीसीताजी इसीको असम्भव बतलानेके लिये कहती हैं कि कोई कितना भी प्रयत्न क्यों न करे, शरीरके जानेपर शरीरकी छायाको रोका नहीं जा सकता। ऐसी अवस्थामें रोकनेवालेका प्रयास व्यर्थ ही होगा। अतः स्पष्ट है कि यह उपमा रोकनेवाले श्रीदशरथजी तथा श्रीसुमन्तजीको ही लक्ष्य करके कही गयी है। दूसरी दो उपमाएँ श्रीरघुनाथजीके मुखसे निकली हुई, '**फिरहु तो सबकर मिटै खँभारू**'—इस आज्ञाके पालनकी असमर्थतामें दी गयी हैं। श्रीसीताजीका तात्पर्य यह है कि 'मेरी क्या सामर्थ्य है जो श्रीकृपालुसे एक क्षणके लिये भी मैं बिलग हो सकूँ। प्रभा सूर्यसे अलग होकर क्या कहीं ठिकाना पा सकती है? कदापि नहीं। क्योंकि सूर्यके ओट होते ही उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा।' तात्पर्य यह है कि श्रीरामचन्द्रजीसे अलग होकर श्रीसीताजी जीवित नहीं रह सकतीं। जहाँ सूर्य रहेंगे वहाँ प्रभा अवश्य रहेगी, यह निश्चय है। इसी प्रकार जहाँ श्रीराम हैं वहीं सीता रहेंगी। यही भाव श्रीवाल्मीकीय रामायणमें रावणके प्रति श्रीसीताजीके इस कथनमें आता है—

अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा।

इसी प्रकार चन्द्रमा और उनकी चाँदनीकी दूसरी उपमा भी इसी भावको पुष्ट करते हुए श्रीरामचन्द्रजीके साथ श्रीसीताजीके अहर्निशके वियोगको असम्भव सिद्ध कर रही है। अर्थात् जिस प्रकार सूर्यसे प्रभा दिनमें, तथा रात्रिमें चन्द्रसे चाँदनी अलग नहीं हो सकती, उसी प्रकार श्रीसीताजी दिवस-रात्रि कभी भी श्रीरामजीसे अलग नहीं हो सकतीं।

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।

अब इस विलक्षण सम्पुटके भीतर जो ऐश्वर्य सूचित किया गया है, उसपर भी किञ्चित् विचार करना चाहिये।

'**बाम भाग सोभति अनुकूला**'—यह चरण भी ऐश्वर्य-सम्बन्धी ही है। क्योंकि श्रीरामजी तथा श्रीसीताजीका जो अवताररूप माधुर्य-विग्रह स्वायम्भुव मनुको दृष्टिगोचर हो रहा है वह तो लीला-वपु ही सिद्ध है। इसका प्रमाण मनुजीका यह अभिलाष और विश्वास ही है—

ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई॥
जे यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमारि पूजहि अभिलाषा॥

इसीलिये उस प्रकट विग्रह—लीलावपुके लिये यह अन्तिम चरण दिया गया है—

राम बाम दिसि सीता सोई॥

परन्तु यह सोई कौन है? इसीको लक्ष्य करके ऊपरके पाँचों चरणोंमें ऐश्वर्यस्वरूपका वर्णन कर दोनोंका ऐक्य सिद्ध किया गया है। अतः प्रथम चरण उन्हीं आदिशक्ति, जगमूला, छबिकी खानि श्रीमहालक्ष्मीजीके लिये है जो श्रीवैकुण्ठमें साक्षात् श्रीमन्नारायणकी अनुकूला (अनुकूलस्वरूपा) होकर नित्य वामभागमें शोभित रहा करती हैं। तथा जिस प्रकार श्रीमन्नारायणसे (परस्वरूपसे) अनेकों शिव, ब्रह्मा और विष्णु अंशरूपमें उपजते हैं, जैसे—

संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥

—उसी प्रकार उन आदि-शक्ति महालक्ष्मीजीके अंशसे अगणित गुणकी खानि उमा, रमा और ब्रह्माणी उपजती रहती हैं। अतएव जिनके भ्रुकुटि-विलासमात्रसे जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार-शक्तियाँ प्रकट होती हैं, वही सर्वोपरि महाशक्ति श्रीलक्ष्मीजी श्रीसीतारूपमें श्रीरामजीके वामदिशिमें श्रीस्वायम्भुव मनुको दर्शन दे

रही हैं। यह बात आगे चलकर स्वयं श्रीरामजीने अपने श्रीमुखसे श्रीमनुशतरूपाके प्रति कही है। जैसे-

आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥

महर्षि वाल्मीकिजीके मिलन-समयके वचन भी इसके प्रमाणकी सूचना देते हैं—

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥

श्रीआलवन्दारस्तोत्रमें भी इसी सिद्धान्तको पुष्ट करनेवाले वाक्य आते हैं कि जगत्‌का ईशित्व श्रीजानकीजीको ही है। जैसे—

आकारत्रयसम्पन्नामरविन्दनिवासिनीम्।
अशेषजगदीशित्रीं वन्दे वरदवल्लभाम्॥

यहाँ जिस प्रकार आकारत्रय—अनन्यशेषत्व, अनन्यभोग्यत्व तथा अनन्यशरणत्वका लक्ष्य है, इसी प्रकार उपर्युक्त प्रथम चौपाईमें तीन ही शब्द 'आदि-शक्ति', 'छविनिधि' और 'जगमूला' का सङ्केत किया गया है। इस प्रकार विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि 'आदिशक्ति' में ही अनन्यशेषत्व सम्भव है। 'आदि-शक्ति' भगवत्-शेष न होकर दूसरा ऐसा कौन अनादि है जिसकी शेष होगी।

छबिनिधिमें ही अनन्यभोग्यत्व सम्भव है, क्योंकि छबिकी निधि श्रीजी भगवत्-भोग्य न होकर और किसकी भोग्या हो सकती हैं। यही सुन्दरकाण्डमें कहा है—

सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा॥

तथा सर्वजगत्‌की मूलस्वरूपामें ही अनन्यशरणत्व सम्भव है। जो स्वयं जगत्‌की मूल हैं वह भगवत्‌को छोड़कर अन्य किसकी शरण ले सकती हैं?

जिस प्रकार इस मनु-प्रसङ्गमें श्रीस्वायम्भुव मनुकी अभिलाषा केवल परमप्रभुके दर्शनमात्रकी पायी जाती है, जैसे-

उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद, निरुपाधि, अनूपा॥
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥

—उसके अनुसार तो ब्रह्मको केवल एक विग्रह—रामरूपमें प्रकट होकर दर्शन देना था। तब श्रीसीता और श्रीरामके दो रूपोंमें श्रीभगवान् क्यों प्रकट हुए? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि परमप्रभुके जिस स्वरूपका दर्शन मनुजी करना चाहते थे वह शक्तिरहित न होकर नित्यशक्तिसंयुक्त ही है। तात्पर्य यह कि उपर्युक्त सर्व विशेषणोंसे विशिष्ट परब्रह्म नित्य द्विधाविग्रह सशक्ति ब्रह्म ही है, शक्तिरहित ब्रह्म नहीं। इसीसे 'वासुदेव' और 'हरि' शब्दके वाच्यार्थमें परमप्रभुके श्रीलक्ष्मी-नारायण उभय दिव्यविग्रह सम्मिलित हैं।

द्वादश अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग॥
पुनि हरि हेतु करन तप लागे। बारि अधार मूल फल त्यागे॥

इसी कारण वह परम प्रभु अपने पूर्ण स्वरूपसे अर्थात् शक्तिसंयुक्त लीलातनु (अवतारस्वरूप) श्रीराम और श्रीसीताके रूपमें प्रकट हुए हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है—

नारद बचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्ति समेत अवतरिहउँ॥

इसलिये यह अकाट्य और स्पष्ट सिद्धान्त है कि ब्रह्मसे शक्ति भिन्न नहीं है—'**कहियत भिन्न न भिन्न।**' अतएव जिस प्रकार साक्षात् श्रीमन्नारायणने श्रीरामरूपमें अवतार लेकर भूभार हरने तथा धर्मस्थापन करनेके साथ-साथ अपनी मर्यादाकी सीमा दिखलाकर पुरुषोंके लिये लोक-परलोकका मार्ग प्रशस्त कर दिया है, उसी प्रकार साक्षात् श्रीलक्ष्मीजीने श्रीसीतारूपमें प्रकट होकर भूभारनिवारण आदि कार्योंके साथ महान् नारी-धर्मकी मर्यादा प्रदर्शितकर स्त्रियोंके लिये लोक-परलोकका सुन्दर मार्ग दिखला दिया है। मानवजगत्‌के सम्पूर्ण नर-नारियोंके लिये श्रीसीता-रामजी इस प्रकार आदर्श बने हैं और भक्तोंके लिये तो श्रीयुगलसरकारने अपना नाम और यश प्रदानकर कुछ अप्राप्य ही नहीं रहने दिया। नीचे इसका किञ्चित् प्रमाण देकर लेख समाप्त किया जा रहा है।

प्रथम श्रीअवधकी जिस प्रकार शोभा—

रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ।
अनिमादिक सुख संपदा रही अवध सब छाइ॥

—इस दोहेमें वर्णित है। इसी प्रकार श्रीमिथिलाकी शोभाका-

बसइ नगर जेहिं लच्छि करि कपट नारि बर बेषु।
तेहि पुर कै सोभा कहत सकुचहिं सारद सेषु॥

—इस दोहेमें वर्णन मिलता है। पुनः नारिधर्मकी शिक्षाके प्रमाण इन चौपाइयोंमें प्राप्त होते हैं—

पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभा खानि सुसील बिनीता॥
जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल मन लाई॥
जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ॥
कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबहि मानमद नाहीं॥
उमा रमा ब्रह्मानि बंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता॥
जासु कृपाकटाक्ष सुर चाहत चितवनि सोइ।
राम पदारबिंद रत करति स्वभावहि खोइ॥

सियावर रामचन्द्रकी जय!

शक्ति-रहस्य

(लेखक—पं० श्रीदुर्गादत्तजी शर्मा)

अपनी अल्पमतिके अनुसार शास्त्रसिन्धुके तटका अटन करनेसे उपलब्ध हुई बोधकणिकारूप रत्नज्योतिसे प्रकाशित बुद्धिद्वारा निश्चय हुए शक्ति-रहस्यका दिग्दर्शन पाठकोंके समक्ष उपस्थित किया जाता है।

मन-वाणीके अगोचर एक अद्वैत परतत्त्व (ब्रह्म)-में बहुरूपता (विविध नामरूपोंसे दृष्टिगोचर होनेवाले अनन्त ब्रह्माण्डसमुदायरूप)-से प्रकट होनेके स्वाभाविक सामर्थ्यको ही शास्त्रोंने माया, प्रकृति और शक्ति आदि नामोंसे सङ्केतित किया है। '**तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति**', '**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते**' इत्यादि श्रुतिवाक्यों तथा '**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया**' (गीता), '**स्वेच्छामयस्येच्छया च श्रीकृष्णस्य सिसृक्षया। साविर्बभूव सहसा मूलप्रकृतिरीश्वरी॥**' (देवीभागवत) इत्यादि वचनोंसे ब्रह्माका ईक्षण, माया और प्रकृति आदि नामोंसे प्रसिद्ध शक्तिद्वारा बहुरूपतासे प्रकट होना सिद्ध है। शक्ति शब्दकी व्युत्पत्तिसे भी यही बात सिद्ध होती है—

ऐश्वर्यवचनः शश्च क्तिः पराक्रम एव च।
तत्स्वरूपा तयोर्दात्री सा शक्तिः परिकीर्तिता॥

(देवीभा० ९। २। १०)

'श नाम ऐश्वर्यका और क्ति नाम पराक्रमका है। एवं ऐश्वर्य-पराक्रमस्वरूप और दोनोंके प्रदान करनेवालीको शक्ति कहते हैं।' इसी आदि-शक्ति प्रकृतिदेवीकी विकृति ही जगत् है। अब जिस प्रकार प्रकृति अपने विकृतिरूप जगत्की रचना करती है, यह संक्षेपमें प्रकृति शब्दके अर्थद्वारा दरसाया जाता है।

प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥
गुणे सत्त्वे प्रकृष्टे च प्रशब्दो वर्तते श्रुतः।
मध्यमे रजसि कृश्च तिशब्दस्तमसि स्मृतः॥
त्रिगुणात्मस्वरूपा या सा च शक्तिसमन्विता।
प्रधाना सृष्टिकरणे प्रकृतिस्तेन कथ्यते॥
प्रथमे वर्तते प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टेरादौ च या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥

(देवीभा० ९। १। ५—८)

'प्र' का अर्थ प्रकृष्ट (उत्कृष्ट) और 'कृति' का अर्थ सृष्टि है एवं जो सृष्टि रचनेमें प्रकृष्ट हो उसे प्रकृति कहते हैं। यह प्रकृतिका तटस्थ लक्षण है। 'प्र' शब्द प्रकृष्ट सत्त्वगुणमें बर्तता है, 'कृ' शब्द मध्यम रजोगुणमें और 'ति' शब्द तमोगुणमें बर्तता है। यह प्रकृतिका स्वरूप-लक्षण है, जैसा कि सांख्यशास्त्रमें प्रतिपादन किया है—'**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।**' इन तीन गुणोंके द्वारा ही तीन देवताओंको अर्थात् सत्त्वसे विष्णुको, रजसे ब्रह्माको और तमसे रुद्रको उत्पन्नकर भगवती जगत्का पालन, उत्पत्ति और लय करती है।

सृजसि जननि देवान् विष्णुरुद्राजमुख्यान्
तैः स्थितिलयजननं कारयस्येकरूपा॥

(देवीभागवत)

इस विषयको बह्वृचोपनिषद्में इस प्रकार वर्णन किया है।

देवी ह्येकाऽग्र आसीत्। सैव जगदण्डमसृजत्...... तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्...... सर्वमजीजनत्......। सैषा पराशक्तिः। (१, १ ख)

'सृष्टिके आदिमें एक देवी ही थी, उसने ही ब्रह्माण्ड उत्पन्न किया; उससे ही ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र उत्पन्न हुए। अन्य सब कुछ उससे ही उत्पन्न हुआ। वह ऐसी परा-शक्ति है।' प्राधानिक रहस्यमें लिखा है—

स्वरया सह सम्भूय विरिञ्चोऽण्डमजीजनत्।

पुपोष पालयामास तल्लक्ष्म्या सह केशवः।
सञ्जहार जगत् सर्वं सह गौर्या महेश्वरः॥

ब्रह्मा, विष्णु और महेश अपने अर्धाङ्गीभूत त्रिविधशक्ति—सरस्वती, लक्ष्मी और गौरीकी सहायतासे जगत्का जनन, पालन और लय करते हैं।

न हि क्षमस्तथात्मा च सृष्टिं स्त्रष्टुं तया विना।

(दे० भा० ९। २। ९)

'बिना शक्तिके आत्मदेव सृष्टि-रचना नहीं कर सकते।'

तया युक्तः सदात्मा च भगवांस्तेन कथ्यते।
स च स्वेच्छामयो देवः साकारश्च निराकृतिः॥

(दे० भा० ९। २। १२)

'ज्ञान, समृद्धि, सम्पत्ति, यश और बलवाचक 'भग' शब्दयुक्त भगवतीसे संयुक्त होनेसे आत्माका नाम भगवान् है; स्वेच्छामय होनेसे भगवान् कभी साकार और कभी निराकार होते हैं।'

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्॥

(सप्तशती)

वही जगदम्बा 'जब-जब दानवजन्य बाधा उपस्थित होगी तब-तब मैं अवतीर्ण हो दुष्टोंका नाश करूँगी'—अपनी इस प्रतिज्ञानुसार समय-समयपर दुर्गा, भीमा, शाकम्भरी आदि नामोंसे अवतार लेकर जगत्का क्षेम करती है। एवं देव-देवी, स्त्री-पुरुष आदि स्त्री-पुं-भेदसे, तथा—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

(गीता ७। ५)

—परा और अपरा प्रकृति अर्थात् जड-चेतन-भेदसे दृश्यमान समस्त विश्व शक्तिका ही विलास है। इस प्रकार शक्तिके सगुण रूपका दिग्दर्शन कर अब संक्षेपमें उसके गुणातीत स्वरूपका वर्णन किया जाता है।

एकमेवाद्वितीयं यद् ब्रह्म वेदा वदन्ति वै।
सा किं त्वं वाप्यसौ वा किं सन्देहं विनिवर्तय॥

(दे० भा० ३। ५। ४३)

'जिसे वेद एक—अद्वैत ब्रह्म कहते हैं वह तुमसे भिन्न है वा तुम्हीं ब्रह्म हो इस सन्देहको निवृत्त करो।' इस प्रकार ब्रह्माजीके प्रश्न करनेपर भगवतीने उत्तर दिया—

सदैकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदैव ममास्य च।
योऽसौ साहमहं योऽसौ भेदोऽस्ति खलु विभ्रमात्॥

(दे० भा० ३। ६। २)

'मैं और ब्रह्म सदा एक हैं, हममें भेद नहीं है; जो वह है सो मैं हूँ, जो मैं हूँ सो वह है, हममें भेद भ्रमसे भासता है।'

स्वशक्तेश्च समायोगादहं बीजात्मतां गता।
सर्वस्यान्यस्य मिथ्यात्वादसङ्गत्वं स्फुटं मम॥

'स्वशक्तिके योगसे मेरा (ब्रह्मका) जगत्कारणत्व सिद्ध है। वस्तुतः जगत्का मिथ्यात्व होनेसे मेरा असङ्गत्व स्पष्ट है। यह मेरा अलौकिक रूप है।'

अर्जुनकी शक्ति-उपासना

(१)

[विजयके लिये]

महाभारतके समय कुरुक्षेत्रमें जब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने कौरव-सेनाको युद्धके लिये उपस्थित देखा तो उन्होंने अर्जुनसे उनके हितके लिये कहा—

हे महाबाहु अर्जुन! तुम शत्रुओंको पराजित करनेके निमित्त रणाभिमुख खड़े होकर पवित्र भावसे दुर्गा (शक्ति)-का स्तवन करो।

संग्राममें बुद्धिमान् वसुदेवनन्दनके ऐसा कहनेपर अर्जुन रथसे उतर पड़े और हाथ जोड़कर दुर्गाका ध्यान करते हुए इस प्रकार स्तवन करने लगे—

हे सिद्ध-समुदायकी नेत्री आर्ये! तुम मन्दराचलके विपिनमें निवास करती हो, तुम्हारा कौमार (ब्रह्मचर्य) व्रत अक्षुण्ण है, तुम काल-शक्ति एवं कपालधारिणी हो, तुम्हारा वर्ण कपिल और कृष्णपिङ्गल है, तुम्हें मेरा नमस्कार। भद्रकाली तथा महाकालीरूपमें तुम्हें नमस्कार। अत्यन्त कुपित चण्डिकारूपमें तुम्हें प्रणाम। हे सुन्दरि! तुम्हीं सङ्कटोंसे पार करनेवाली हो; तुम्हें सादर नमस्कार। तुम मोर-पंखकी ध्वजा धारण करती हो और नाना भाँतिके आभूषणोंसे भूषित रहती हो। हे महाभागे! तुम्हीं

कात्यायनी, कराली, विजया तथा जया हो। अत्यन्त उत्कट शूल तुम्हारा शस्त्र है, तुम खड्ग तथा चर्म धारण करती हो। हे ज्येष्ठे! तुम गोपेन्द्र श्रीकृष्णजीकी छोटी बहिन और नन्दगोपके कुलकी कन्या हो। हे पीताम्बरधारिणी कौशिकि! तुम्हें महिषासुरका रक्त सदा ही प्यारा है, तुम्हारा हास उग्र और मुख गोल चक्रके समान है, हे रणप्रिये! तुम्हें नमस्कार है। उमा, शाकम्भरी, महेश्वरी, कृष्णा, कैटभनाशिनी, हिरण्याक्षी, विरूपाक्षी और धूम्राक्षी आदि रूपोंमें तुम्हें मेरा प्रणाम। हे देवि! तुम्हीं वेद-श्रवणसे होनेवाला महान् पुण्य हो, तुम वेद एवं ब्राह्मणोंकी प्रिय तथा भूतकालको जाननेवाली हो। जम्बूद्वीपकी राजधानियों और मन्दिरोंमें तुम्हारा निवास-स्थान है। हे भगवति! कार्तिकेयजननि! हे कान्तारवासिनि! दुर्गे! तुम विद्याओंमें महाविद्या और प्राणियोंमें महानिद्रा हो। हे देवि! तुम्हीं स्वाहा, स्वधा, कला, काष्ठा, सरस्वती, सावित्री, वेदमाता और वेदान्त आदि नामोंसे कही जाती हो। हे महादेवि! मैंने विशुद्ध चित्तसे तुम्हारी स्तुति की है, तुम्हारे प्रसादसे रणक्षेत्रमें मेरी सदा ही विजय हो। बीहड़ पथ, भयजनक स्थान, दुर्गम भूमि, भक्तोंके गृह तथा पाताल-लोकमें तुम निवास करती हो और संग्राममें दानवोंपर विजय पाती हो। तुम्हीं जम्भनी (तन्द्रा), मोहिनी (निद्रा), माया, लज्जा, लक्ष्मी, सन्ध्या, प्रभावती, सावित्री तथा जननी हो। तुष्टि, पुष्टि, धृति तथा सूर्य और चन्द्रमाको अधिक कान्तिमान् बनानेवाली ज्योति भी तुम्हीं हो। तुम्हीं भूतिमानोंकी भूति (ऐश्वर्य) हो और समाधिमें सिद्ध तथा चारणजन तुम्हारा ही दर्शन करते हैं।

इस प्रकार स्तुति करनेके अनन्तर मनुष्योंपर कृपा रखनेवाली भगवती दुर्गा अर्जुनकी भक्तिको समझकर भगवान् श्रीकृष्णके सामने ही आकाशमें स्थित होकर बोलीं—

हे पाण्डुनन्दन! तुम स्वयं नर हो और दुर्द्धर्ष नारायण तुम्हारे सहायक हैं; अतः तुम थोड़े ही समयमें शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लोगे। रणमें शत्रुओंकी कौन कहे साक्षात् इन्द्रके भी तुम अजेय हो।

ऐसा कहकर वह वरदायिनी देवी उसी क्षण अन्तर्हित हो गयी। (महाभारत, भीष्मपर्व)

(२)

[गुह्यतम प्रेमलीला-दर्शनके लिये]

एक समय यमुनाजीके तटपर किसी वृक्षके नीचे भगवान् देवकीनन्दनके पार्षद अर्जुन बैठे थे, उन्होंने कथाप्रसङ्गमें ही भगवान्से प्रश्न किया—

हे दयासागर प्रभो! श्रीशिव तथा ब्रह्माजी आदिने भी आपके जिस रहस्यका दर्शन अथवा श्रवण न किया हो उसीका मुझसे वर्णन कीजिये। पूर्वमें आपने कहा था कि गोप-कन्याएँ मेरी प्रेयसी हैं। वे कितने प्रकारकी और संख्यामें कितनी हैं? उनके नाम क्या-क्या हैं? उनमेंसे कौन कहाँ रहती है? हे प्रभो! उनके कौन-कौन-से कर्म हैं? तथा उनकी अवस्था क्या और वेष कैसा है? हे भगवन्! उनमेंसे किन-किनके साथ आप किस नित्य स्थानपर, जहाँका आनन्द और वैभव भी नित्य है, एकान्त-विहार करते हैं। वह परम महान् शाश्वत स्थान कहाँ और कैसा है? यदि आपकी मुझपर पूर्ण कृपा हो तो यहाँ मेरे सभी प्रश्नोंका उत्तर दीजिये। हे पीड़ितोंकी पीड़ा हरनेवाले महाभाग! आपके जिन अज्ञात रहस्योंको मैं पूछना भूल गया होऊँ उन सबोंका भी वर्णन कीजिये।

अर्जुनके प्रश्नोंको सुनकर भगवान्ने कहा—वह स्थान, वे मेरी वल्लभाएँ और उनके साथका मेरा विहार, यह मेरे प्राणप्रिय पुरुषोंके भी जाननेकी बात नहीं है। इसे तुम सच मानो। हे सखे! उसकी चर्चा कर देनेपर तुम्हें उसे देखनेकी उत्कण्ठा हो जायगी। जो रहस्य ब्रह्मा आदिके लिये भी द्रष्टव्य नहीं है वह अन्य जनोंके लिये कैसा है, यह कहनेकी बात नहीं। इसलिये हे भाई! उसके बिना तुम्हारा क्या बिगड़ता है, उसे सुननेका आग्रह छोड़ दो।

इस प्रकार भगवान्के दारुण वचन सुनकर अर्जुन दीनभावसे उनके युगल चरणारविन्दोंपर दण्डकी भाँति गिर पड़े। तब भक्तवत्सल प्रभुने हँसकर अपनी दोनों भुजाओंसे उन्हें उठाया और बड़े प्रेमके साथ उनसे कहा—

यदि तुम उस स्थानको देखना ही चाहते हो तो यहाँ उसका वर्णन करनेसे क्या लाभ? जिस देवीसे समस्त ब्रह्माण्डका आविर्भाव हुआ है, वह अब भी जिसमें स्थित है और अन्तमें जिसमें लीन होगा उसी श्रीमती

भगवती त्रिपुरसुन्दरीकी अत्यन्त भक्तिपूर्वक आराधना करके उनको आत्मसमर्पण कर दो; क्योंकि उन देवीके बिना वह स्थान दिखा देनेमें मैं कभी समर्थ नहीं हूँ।

भगवान्‌की बात सुनकर अर्जुनके नेत्र आनन्दसे भर आये और उनके आदेशानुसार वे श्रीमती त्रिपुरादेवीके पादुका-स्थानको गये। वहाँ जाकर उन्होंने चिन्तामणिकी बनी हुई वेदी देखी, जो विविध रत्नोंद्वारा निर्माण की हुई सीढ़ियोंसे अत्यन्त शोभित हो रही थी। उसपर कल्पवृक्ष देखा, जो फूलों और फलोंके भारसे झुका हुआ था। उसके किशलय सभी ऋतुओंमें कोमल रहनेवाले थे, मधु-विन्दु-वर्षी वायु-कम्पित पल्लवोंसे वह वृक्ष निर्मल प्रतीत होता था। उसपर शुक, कोयल, सारिका, कबूतर आदि रमणीय पक्षियोंका कलनाद हो रहा था। भँवरे गुंजार कर रहे थे।

कल्पवृक्षके नीचे उन्होंने बड़ा ही अद्भुत रत्ननिर्मित दिव्य मन्दिर देखा, जो प्रभायुक्त मणियोंसे देदीप्यमान एवं मनोहर था। मन्दिरके भीतर एक रत्नजटित सुवर्णमय सिंहासन था, उसपर विराजमाना प्रसन्नवदना भक्तवत्सला वरदायिनी देवीका अर्जुनने दर्शन किया। उसकी कान्ति बाल-रविके समान थी, वह भाँति-भाँतिके आभूषणोंसे भूषित थी, उसका अङ्ग अभिनव यौवनसे सम्पन्न था। चारों भुजाएँ अङ्कुश, पाश, धनुष और बाणसे सुशोभित थीं। स्वरूप आनन्दमय तथा मनोहर था। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव आदि देवताओंके मुकुटमणिकी किरणोंसे उसके चरणारविन्द प्रकाशित होते थे और अणिमा आदि आठों सिद्धियाँ उसे घेरे हुए थीं।

देवीका दर्शन पाकर पार्थका हृदय भक्तिसे भर गया और 'मेरा नाम अर्जुन है' इस प्रकार कहकर उन्होंने हाथ जोड़े हुए बारम्बार प्रणाम किया, तत्पश्चात् एकान्तमें खड़े हो गये।

भगवती अर्जुनकी उपासना तथा उनपर दयानिधिका अनुग्रह जानकर कृपापूर्वक बोली—

हे वत्स! तुमने किसी सुपात्रको क्या दुर्लभ दान दिया है? अथवा यहाँ किस यज्ञद्वारा यजन या किस तपका अनुष्ठान किया है? पूर्वकालमें भगवच्चरणोंमें तुमने कैसी निर्मल भक्ति की है? इस संसारमें कौन-सा अत्यन्त दुर्लभ शुभ कर्म तुमसे हुआ है जिससे शरणागतवत्सल भगवान्‌ने तुम्हें इस अत्यन्त गूढ़ रहस्यको जाननेका अधिकारी समझा है।

हे पुत्र! विश्वरूप भगवान्‌ने तुमपर जैसा अनुग्रह किया है, वैसा भूतलवासी अन्य मनुष्योंपर, स्वर्गवासी देवताओंपर, तपस्वी, योगी तथा अखिल भक्तोंपर भी नहीं किया है; अतः तुम यहाँ आओ, मेरे कूलकुण्ड नामक सरोवरका आश्रय लो। देखो, यह निकटवर्तिनी देवी समस्त कामनाओंको देनेवाली है, तुम इसके साथ सरोवरपर जाओ और उसमें विधिवत् स्नान करके शीघ्र ही यहाँ लौट आओ।

यह सुनकर पार्थने उसी समय जाकर सरोवरमें स्नान किया और तुरन्त लौट आये। उन्हें स्नान करके आये देखकर देवीने उनसे न्यास और मुद्रा आदि कार्य कराया और उनके दाहिने कानमें तत्काल सिद्धिदायिनी परा बालाविद्याका उपदेश किया; साथ ही उस मन्त्रका अनुष्ठान, पूजन, लक्षसंख्यक जप तथा करवीर (कनइल)-की लाख कलिकाओंद्वारा हवन आदिका यथोचित प्रयोग भी समझा दिया। तत्पश्चात् परमेश्वरीने दया करके कहा—हे वत्स! इसी विधिसे मेरी उपासना करो, इससे अनुग्रहवश जब मैं तुमपर प्रसन्न हो जाऊँगी तो तत्काल ही तुम्हारा श्रीकृष्णजीकी लीलामें अधिकार हो जायगा।

यह सुनकर अर्जुनने इसी पद्धतिसे भगवतीकी आराधना आरम्भ कर दी और पूजन तथा जप करके देवीको प्रसन्न किया। तदनन्तर उन्होंने शुभ हवन तथा विधिपूर्वक स्नान करके अपनेको कृतार्थ-सा माना और मनोरथ प्रायः प्राप्त हुआ ही समझा। उस समय समस्त सिद्धियोंको पार्थने हस्तगत ही माना।

इसी अवसरमें देवी वहाँ आयी और मुस्कुराती हुई बोली—'बेटा! इस समय तुम उस घरके अन्दर जाओ।' इतना सुनते ही पार्थ आनन्दित हो बड़े वेगसे उठे और अनन्त उल्लाससे भरकर देवीको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। फिर भगवतीकी आज्ञा पाकर उसकी सहचरीके साथ अर्जुन राधापतिके स्थानपर गये, जहाँ सिद्ध भी नहीं पहुँच सकते।

इसके बाद देवीकी सखीके उपदेशसे उन्होंने गोलोकसे ऊपर स्थित नित्य वृन्दावन-धामका दर्शन किया, जो वायुके धारण करनेपर भी स्थिर है। वह धाम नित्य, सत्य और सम्पूर्ण सुखोंका स्थान है; वहाँपर नित्य ही रास-महोत्सव हुआ करता है, वह पूर्ण प्रेमरसात्मक तथा परम गुह्य है।

सखीके वचनसे ही अपने दिव्य नेत्रोंसे उस रहस्यमय स्थानका दर्शन करके बढ़े हुए प्रेमोद्रेकसे अर्जुन विह्वल हो उठे और मोहवश मूर्छित होकर वहीं गिर पड़े। फिर कठिनतासे होशमें आनेपर सहचरीने अपनी दोनों भुजाओंसे उन्हें उठाया।

उसके आश्वासन देनेपर जब वे किसी तरह सुस्थिर हुए तो उससे पूछा, बताओ, अब और कौन-सा तप मुझे करना चाहिये?—ऐसा कहकर भगवल्लीला-दर्शनकी अत्यन्त उत्कण्ठासे कातर हो गये।

तब भगवतीकी सखी उन्हें हाथसे पकड़कर वहाँसे दक्षिण ओर एक उत्तम स्थानपर ले गयी और वहाँ जाकर कहा—

हे पार्थ! तुम इस शुभद जलराशिमें स्नानार्थ प्रवेश करो। यह सहस्रदल कमलका आकर है, इसके चारों ओर चार घाट हैं। यह सरोवर जल-जन्तुओंसे व्याप्त है, इसके भीतर प्रवेश करनेपर तुम यहाँकी विशेष बातें देख सकोगे।

यहाँसे दक्षिण-भागमें यह जो सरोवर है इसका नाम मलय-निर्झर है, वहाँ मधूकके मधुर मकरन्दका पान हुआ करता है। यह सामने जो विकसित उद्यान है यहाँ भगवान् गोविन्द वसन्त-ऋतुमें वसन्त-कुसुमोचित मदनोत्सव करते हैं। यहाँ दिन-रात भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति होती है, इसलिये इस सरोवरमें स्नान करके पूर्व-सरोवरके तटपर जाओ और उसके जलका आचमन करके अपना मनोरथ सिद्ध करो।

उसकी बात सुनकर अर्जुनने ज्यों ही जलमें प्रवेशकर डुबकी लगायी त्यों ही वह सहचरी अन्तर्धान हो गयी। और उन्होंने जलसे निकलकर अपनेको सम्भ्रममें पड़ी हुई एकाकिनी सुन्दरी रमणीके रूपमें देखा। तुरन्त तपाये हुए सोनेकी किरणोंके समान उस बालाके अङ्गकी गौर कान्ति थी। वह किशोरावस्थाकी प्रतीत होती थी। उसका मुख शरत्कालीन चन्द्रमाके समान था। रत्नसूत्रोंसे गूँथी हुई अलकावली बाँकी, चिकनी और काली थी। सीमन्त-भाग सिन्दूर-बिन्दुकी प्रभासे देदीप्यमान था। ऊपरकी ओर तनी हुई भौंहोंकी भङ्गिमासे वह कामदेवके धनुषको पराजित कर रही थी। स्निग्ध, श्यामल एवं चञ्चल नयन-खञ्जरीट विलास कर रहे थे। मणिमय कुण्डलोंकी कान्तिसे कपोलमण्डल उद्भासित होता था। कमलनाल-सी कोमल तथा शोभायमान बाहु-वल्लरी अद्भुत मालूम होती थी। शरदृतुके अरुण कमलोंकी समस्त शोभाको मानो पाणिपल्लवोंने चुरा लिया था। चतुर स्वर्णकारके बनाये हुए सुवर्णमय कटिसूत्रसे कटिप्रदेश आवृत था। झनकारते हुए मणिमय मञ्जीरोंसे उसके चरणकमल मनोहर मालूम पड़ते थे। वह रमणीजनोचित सभी सुलक्षणोंसे सम्पन्न, सम्पूर्ण आभूषणोंसे भूषित आश्चर्यजनक सुन्दरी ललना थी।

गोपीवल्लभ गोविन्दकी मायासे वह सुन्दरी अपने प्रथम शरीरकी सब बातें भूल गयी और विस्मित-भावसे किंकर्तव्यविमूढ हो जहाँ-की-तहाँ खड़ी रह गयी।

इतनेमें आकाशमें सहसा यह गम्भीर शब्द हुआ कि—'हे सुन्दरि! तुम इसी मार्गसे पूर्व-सरोवरके तटपर चली जाओ और वहाँके जलका आचमन करके अपना मनोरथ सिद्ध करो। हे वरवर्णिनि! तुम खेद न करो; वहीं तुम्हारी सखियाँ हैं, वे तुम्हारे उत्तम मनोरथको पूर्ण करेंगी।'

इस दैवी वाणीको सुनकर वह पूर्व-सरोवरके तटपर गयी। उस पोखरेमें अनेकों अपूर्व स्रोत थे, विविध भाँतिके विहङ्गमोंसे वह भरा हुआ था। कैरव, कल्हार, कमल और इन्दीवर आदि विकसित कुसुम उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। पद्मरागमणिके बने हुए उसके सोपान और घाट सुन्दर मालूम होते थे। भाँति-भाँतिके कुसुमों तथा मञ्जुल निकुञ्ज, लता और वृक्षोंसे उसके चारों तट सुशोभित थे। वह किशोरी वहाँ आचमन करके क्षणभर खड़ी रही।

इसी समय कानोंमें कूजती हुई काञ्ची तथा मञ्जीरकी मधुर ध्वनिसे मिश्रित किङ्किणीकी झनकार सुनायी देने लगी। फिर अद्भुत यौवन-सम्पन्न दिव्य वनिताओंका झुंड वहाँ आ पहुँचा। उनके आभूषण, रूप, भाषण, शरीर, विलास, विचित्र वचन, विचित्र हास और अवलोकन आदि सभी दिव्य थे। लावण्य मधुर तथा अद्भुत था, उसमें जगत्की समस्त मधुरिमा कूट-कूटकर भरी थी।

उस परम आश्चर्यदायिनी वनितावृन्दको देखकर वह मन-ही-मन कुछ सोचने लगी और पैरके अँगूठेसे जमीन खोदती हुई सिर झुकाये खड़ी रही।

इसके बाद इसे अकेली खड़ी देखकर वनिताओंने परस्पर दृष्टिपात करके विचारा कि—'बड़ी देरसे कौतूहलमें

पड़ी हुई यह कौन हमारी ही जातिकी स्त्री है?' इस तरह सबोंने उसके ऊपर दृष्टि डालकर क्षणभर परस्पर मन्त्रणा की कि 'चलकर इसे जानना चाहिये'। ऐसा सोचकर सभी कौतुकवश इसे देखने आयीं।

उनमेंसे एक प्रियमुदा नामकी मनस्विनी बाला उसके पास जाकर प्रेमपूर्वक मधुर वाणीमें बोली—तुम कौन और किसकी कन्या हो? तथा किसकी प्राणप्रिया हो? तुम्हारा जन्म कहाँ हुआ है, किसके द्वारा तुम यहाँ आयी? अथवा तुम स्वयं ही चली आयी हो? चिन्ता करनेसे कोई लाभ नहीं, हमारे प्रश्नानुसार सब बातें हमसे कह दो। इस परमानन्दमय स्थानमें भला किसीको क्या दुःख है?

इस तरह पूछनेपर उसने विनीतभावसे उनके मनोंको मोहते हुए स्पष्ट शब्दोंमें कहा—मैं कौन हूँ? किसकी कन्या अथवा प्रेयसी हूँ? मुझे यहाँ कौन लाया अथवा मैं स्वयं चली आयी?—इन बातोंको भगवतीजी जानें, मुझे कुछ भी मालूम नहीं है। फिर भी मैं कुछ कहती हूँ, यदि मेरी बातोंपर आपलोगोंको विश्वास हो तो उसे सुनें। यहाँसे दक्षिण ओर एक सरोवर है, मैं वहीं स्नान करने आयी और वहीं खड़ी रही। थोड़ी देरमें उत्कण्ठावश मैं चारों ओर निहारने लगी, इतनेमें मुझे अद्भुत आकाशवाणी सुन पड़ी—हे सुन्दरि! तुम इसी मार्गसे पूर्व-सरोवरपर चली जाओ और उसके जलका आचमन करके अपना मनोरथ सिद्ध करो; हे वरवर्णिनि! खेद न करो; वहीं तुम्हारी सखियाँ हैं, वे तुम्हारे उत्तम मनोरथको पूर्ण करेंगी।—यही सुनकर मैं वहाँसे यहाँ चली आयी हूँ। यहाँ आनेपर मैंने आचमन करके नाना भाँतिकी मधुर ध्वनि सुनी, तत्पश्चात् आपलोगोंका शुभ दर्शन मिला। बस मन, वाणी और शरीरसे इतना ही मुझे मालूम है। हे देवियो! यही मेरा कहना था। यदि आप-लोगोंको अच्छा मालूम हो तो आप भी बतावें कि आप कौन हैं, किनकी कन्याएँ हैं, कहाँ आपलोगोंकी जन्म-भूमि है? और किनकी आपलोग वल्लभाएँ हैं?

यह सुनकर प्रियमुदाने कहा—अच्छा मैं बतलाती हूँ। हे शुभे! हमलोग वृन्दावनके कलानाथ गोविन्दकी प्राणप्यारी सखियाँ तथा विहारसहचरियाँ हैं। हम आत्मानन्दमयी व्रजबालाएँ यहाँ आयी हुई हैं। ये श्रुतिगण तथा मुनिगण भी वनितारूपमें यहाँ हैं। हमलोग गोप-कन्याएँ हैं—यह स्वरूपतः तुम्हें बतला दिया। पूर्व-कालमें हममेंसे जो-जो राधापतिको अत्यन्त प्यारी थीं वे ही यहाँ उनके सङ्ग नित्यविहार करनेवाली क्रीडा-भूमिकी सहचरी हैं।

इसके अतिरिक्त अन्य सबोंका परिचय भी तुम्हें प्राप्त करना चाहिये। हे भामिनि! हमी लोगोंके साथ तुम भी यहाँ विहार करोगी। हे सखी! पूर्व-सरोवरपर चलो, वहाँ तुम्हें विधिवत् स्नान कराकर मैं सिद्धिदायक मन्त्र दूँगी।

इस प्रकार उसे ले आकर उसने विधिवत् स्नान कराया और वृन्दावनचन्द्रकी प्रेयसीके उत्तम मन्त्रका दीक्षाविधिके साथ उपदेश किया; पुरश्चरणकी विधि, ध्यान तथा होम-जपकी संख्या भी बतला दी।

सखियोंके लाये हुए कह्लार, करवीर, चम्पा तथा कमल आदि अनेकों सुगन्धित कुसुमोंसे और पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, धूप, दीप तथा भाँति-भाँतिके दिव्य नैवेद्योंसे उसने देवीकी विधिवत् पूजा करके एक लाख मन्त्र-जप किया; फिर विधिपूर्वक हवन करके पृथ्वीपर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। अनन्तर निर्निमेष दृष्टिसे देखते हुए उसने देवीकी स्तुति की।

उसकी आराधनासे प्रसन्न होकर भगवती श्रीराधिकादेवी वहाँपर प्रकट हुईं। काञ्चन तथा चम्पाके समान उनकी कमनीय कान्ति थी। प्रत्येक अङ्गमें सौन्दर्य, लावण्य और माधुर्य था; शरत्कालके कलङ्कहीन कलाधरके समान उनके मुखकी शोभा थी। स्नेहयुक्त मुग्ध-मुसकान त्रिभुवन-मोहिनी थी। वह भक्तवत्सला वरदायिनी देवी अपने शरीरकी कान्तिसे दसों दिशाओंको प्रकाशित करती हुई बोली—

हे शुभे! मेरी सखियोंकी बातें सत्य हैं, इसलिये तुम मेरी प्यारी सखी हो। उठो, चलो, मैं तुम्हारी कामना पूर्ण करती हूँ।

अर्जुनी देवीके मुखसे मनोवाञ्छित वाणी सुनकर पुलकित हो गयी और प्रेम-विह्वल हो नेत्रोंमें आँसू भरकर पुनः देवीके चरणोंपर गिर पड़ी।

तब देवीने अपनी सखी प्रियंवदासे कहा—तुम इसे हाथका अवलम्बन देकर आश्वासन देती हुई मेरे साथ ले आओ। प्रियंवदाने ऐसा ही किया। उत्तर-सरोवरके तटपर पहुँचकर विधिपूर्वक अर्जुनीको नहलाया गया।

फिर सङ्कल्पपूर्वक विधिवत् पूजन कराकर हरिवल्लभा श्रीराधादेवीने गोकुलचन्द्र श्रीकृष्णके मन्त्रका उपदेश किया। वे गोविन्दके सङ्केतको जानती थीं, अतः उसे उन्होंने अविचल भक्ति प्रदान की और मन्त्रराज मोहनका ध्यान भी बता दिया। इस अनुष्ठानमें नील कमलके समान श्यामल, अलङ्कारोंसे विभूषित, कोटि कामदेव-सदृश सौन्दर्यशाली तथा रास-रसके लिये उत्सुक श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान करना चाहिये।

उपर्युक्त बातें अर्जुनीको समझाकर राधाने पुनः प्रियंवदासे कहा—'जबतक इसका उत्तम पुरश्चरण पूर्ण न हो तबतक तुम सखियोंके साथ सावधान होकर इसकी रक्षा करना।' यह कहकर वह स्वयं तो श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंके निकट चली गयीं और प्यारी सखियोंके पास अपनी छाया रख दी।

प्रियंवदाके आदेशसे यहाँ अर्जुनीने गोरोचन, कुङ्कुम और चन्दन आदि नाना मिश्रित द्रव्योंसे अष्टदल कमलके आकारमें एक यन्त्र बनाया तथा उसमें अद्भुत मोहन-मन्त्रका न्यास किया। इसके बाद ऋतुसम्भव विविध पुष्प, चन्दन, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, मुखवास, वस्त्र, आभूषण और माला आदिसे वाहन तथा आयुधोंसहित भगवान् श्यामसुन्दरकी पूजा करके उनकी स्तुति तथा नमस्कार भी किया और मन-ही-मन उनका स्मरण करने लगी।

तब भक्तिके वशीभूत हो भगवान् श्यामसुन्दरने मुसुकान भरी दृष्टिसे सङ्केत करके राधासे कहा—'उस (अर्जुनी)-को यहाँ शीघ्र बुलाओ।' आज्ञा पाते ही देवीने अपनी सखी शारदाको भेजकर उसे तुरन्त बुला लिया।

वह रसिकशेखर श्रीकृष्णचन्द्रके सामने आते ही प्रेमविह्वल हो पृथिवीपर गिर पड़ी। उसे वहाँ सब कुछ अद्भुत दीखने लगा। उसके अङ्गोंमें स्वेद, पुलक और कम्प आदि सात्त्विक विकार होने लगे। बड़ी कठिनाईसे किसी तरह उठकर जब उसने नेत्र खोले तो सबसे प्रथम वहाँका विचित्र मनोरम स्थान दीख पड़ा। उसके बाद कल्पवृक्षपर दृष्टि पड़ी, उसके पत्ते मरकतमणिके समान और पल्लव प्रवालमय (मूँगे-से) थे। तना कोमल और सुवर्णमय था। मूल स्फटिकके समान श्वेत था। वह वृक्ष काम-सम्पदाको देनेवाला था। उसके नीचे रत्नमन्दिर था, उसमें एक रत्नमय सिंहासन रखा था। उसके ऊपर भी अष्टदल-पद्म बना हुआ था। उसमें बायें-दायेंके क्रमसे शङ्ख और पद्म-निधि रखे गये थे। चारों ओर जगह-जगह कामधेनु गौएँ थीं। सब ओर नन्दनवन था, उसमें मलयसमीर बह रहा था। वहाँ सभी ऋतुओंके कुसुमोंकी दिव्य सुगन्ध आती थी, निरन्तर मधु-बिन्दुकी वर्षासे वह उद्यान मनोहर मालूम होता था। उसका मध्यभाग मधुपानमत्त भँवरोंके झङ्कारसे सदा मुखरित रहता था। कोयल, कबूतर, सारिका, शुकी तथा अन्य विहङ्ग-वनिताओंका कलनाद वहाँ नित्य हुआ करता था। मतवाले मयूरोंके नृत्यसे व्याप्त होकर वह उपवन प्रेम-पीड़ाको बढ़ाता था।

ऐसे रमणीय स्थानमें भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान थे। उनके अङ्गकी कान्ति श्यामल थी; अलकावली स्निग्ध, असित एवं भङ्गुरित थी; उससे आँवलेकी गन्ध आती थी। मत्त मयूरोंके शिखरसे उनकी चूडा बाँधी गयी थी, बायें कानके पुष्पमय आभूषणपर भ्रमर बैठे थे, दर्पणके समान स्निग्ध कपोल चञ्चल अलकोंके प्रतिबिम्बसे शोभित हो रहे थे। मस्तकमें सुन्दर तिलक लगा था। तिलके फूल और शुककी चोंचके समान उनकी मनोहर नासिका थी। बिम्बफलके सदृश सुन्दर अरुण अधर थे। वे अपनी मन्द मुसकानसे प्रेमोद्दीपन कर रहे थे। गलेमें मनोहर वनमाला थी और सहस्त्रों मदोन्मत्त भ्रमरोंसे भरी हुई पारिजातकी सुन्दर माला दोनों स्थूल कन्धोंपर शोभायमान थी। मुक्ताहार तथा कौस्तुभमणिसे वक्षःस्थल विभूषित था, उसमें श्रीवत्सका चिह्न भी था। आजानु लम्बी भुजाएँ मनोहर थीं। नाभि गम्भीर और मध्यभाग सिंहकी कटिसे भी कहीं अधिक सुन्दर था। वे अपने लावण्यसे कोटि कन्दर्पको पराजित करते थे। वेणुके मनोहर गानसे वे त्रिभुवनको सुखके समुद्रमें निमग्न तथा मोहित कर रहे थे। उनका प्रत्येक अङ्ग प्रेमावेशसे पूर्ण और रास-रससे आलस्ययुक्त हो रहा था।

उनके मुखकी ओर दृष्टि लगाये अनेकों सेविकाएँ यथास्थान खड़ी रहकर उनके सङ्केतोंको देख रही थीं और सम्मानपूर्वक चमर, व्यजन, माला, गन्ध, चन्दन, ताम्बूल, दर्पण, पानपात्र तथा अन्य क्रीडोपयोगी विविध वस्तुओंको वे पृथक्-पृथक् रख रही थीं।

श्रीमती राधिकादेवी उनके वामभागमें विराजमान होकर प्रसन्नतापूर्वक उनकी आराधना करती हुई हँस-

हँसकर उन्हें पान देती थीं।

यह सब देखकर वह अर्जुनी प्रेमावेशसे विह्वल हो गयी। सर्वज्ञ हृषीकेशने उसके भावोंको समझ लिया और क्रीडावनमें उसकी इच्छानुसार उसे सुख दिया। तदनन्तर शारदासे कहा—'इसे शीघ्र ले जाकर पश्चिम सरोवरमें नहलाओ। '

शारदा उसे वहाँ ले गयी और क्रीडासरमें स्नान करनेको कहा। परन्तु भीतर जाते ही वह पुनः अर्जुन बन गयी। उसी समय वहाँ भगवान् श्रीकृष्णने प्रकट होकर जब अर्जुनको खिन्न तथा हताश देखा तो प्रेमपूर्वक हाथसे स्पर्श करके उन्हें फिर पूर्ववत् कर दिया और कहा—'अर्जुन! तुम मेरे प्रिय सखा हो, इस त्रिलोकीमें तुम्हारे अतिरिक्त कोई भी मेरा रहस्य नहीं जानता। देखना, इसे कहीं प्रकाशित न करना।' (पद्मपुराणसे)

श्रीतारा-रहस्य-निरूपण

(लेखक—चतुर्वेदी पं० श्रीकेशवदेवजी, शास्त्री)

अस्ति समस्तजगदुत्पत्तिपालनसंहारकर्तृभिर्ब्रह्मविष्णुमहेशैरुपसेव्यमाना, जगदाधाररूपा, संसारभयनाशिनी, अपुनरावृत्तिकारिणी, संसारतारिणी तारा नाम्नी शक्तिः परममहती।

आज परम हर्षका विषय है कि जो शक्तिविद्या बहुत प्राचीन कालसे अपरिमित तेजस्विनी होनेके कारण अनेक सम्प्रदायोंके मतभेद होते हुए भी सर्वोत्तमा थी, वैसे ही आज भी अनेक मत-मतान्तरवाले मनुष्योंद्वारा सम्मानित, संसारके आवागमनको हटानेमें सर्वश्रेष्ठ, परमपूजितरूपमें उपस्थित है।

तारा-शक्तिका रहस्य बड़ा गूढ़ है, उसे जाननेके लिये बड़े परिश्रम और अध्यवसायकी आवश्यकता है। 'शक्ति-अङ्क' के पाठकोंकी साधारण जानकारीके लिये हम इस रहस्यका कुछ थोड़ा-सा दिग्दर्शन इस लेखमें करानेका प्रयत्न करेंगे। पूरा रहस्य लिखने और उसे साङ्ग प्रस्तुत करनेमें तो एक पूरा ग्रन्थ ही उपस्थित हो जानेकी आशङ्का है, जिसके लिये यहाँ न समय है न स्थान।

हाँ, तो अब प्रस्तुत विषयपर आते हैं। यथार्थनामवती होनेके कारण ही तारा नामकी शक्ति सर्वोत्तमा शक्ति है। तारा-शक्तिका शाब्दिक अर्थ है '**तरत्यनया सा तारा**'—अर्थात् इस संसारसागरसे जो तारे, वह तारा।

ताराविद्याकी गणना दस महाविद्याओंमें है। इसके महत्त्वका दिग्दर्शन कराते हुए तन्त्र-ग्रन्थोंमें कहा है—

विना ध्यानं विना जाप्यं विना पूजादिभिः प्रिये।
विना बलिं विनाभ्यासं भूतशुद्ध्यादिभिर्विना॥
विना क्लेशादिभिर्देवि देहदुःखादिभिर्विना।
सिद्धिराशु भवेद्यस्मात्तस्मात्सर्वोत्तमा मता॥

अर्थात् बिना ध्यान, जप, पूजा, बलि, अभ्यास, भूतशुद्धि, देहदुःख, क्लेशके उठाये ही इसकी सिद्धि शीघ्र ही हो जाती है; इसीसे इसे सर्वसिद्धियोंमें सर्वोत्तम स्थान प्राप्त है।

इतनी सरलता भला किस देवताकी आराधनामें होगी? सरलता और बन्धनमुक्तिकी हद है। ऐसे निष्कण्टक सुखप्रद मार्गपर भला कौन न चलना चाहेगा? यही कारण है कि अनन्तकालसे ताराकी उपासना अबाधरूपसे होती चली आ रही है।

ताराका स्वरूप क्या है? इसके वर्णनमें कहा है—

शून्ये ब्रह्माण्डगोले तु पञ्चाशच्छून्यमध्यगे।
पञ्चशून्ये स्थिता तारा सर्वान्ते कालिका स्मृता॥

अर्थात् शून्य ब्रह्माण्ड-गोलमें पचास शून्य हैं, जिनमें पाँच शून्यपर श्रीतारा तथा शेष सबपर श्रीकालिका स्थित हैं।

अब विचारणीय विषय यह है कि पचास शून्य कुल हैं, उनमेंसे पाँच शून्यपर श्रीताराजी स्थित हैं और बाकी शून्यपर श्रीकालिकाजी विराजमान हैं और विराट्-चक्र तथा स्वराट्चक्रके भेदसे मध्यमें जो शून्य आता है उसमें ब्रह्माण्डनायिका श्रीराजराजेश्वरी श्रीमहासुन्दरी श्रीश्रीविद्याजीका स्थान है।

तन्त्रमें कहा है—

ततः शून्या परारूपा श्रीमहासुन्दरी कला।
सुन्दरी राजराजेशी महाब्रह्माण्डनायिका॥
महाशून्या ततस्तारा तद्वैगुण्यक्रमेण च।
मुक्तौ संयोज्य सर्वं तं महासुन्दर्यनन्ततः॥

इसमें श्रीमहासुन्दरीको कला और श्रीताराको शून्यरूप निर्देश किया है। अब द्रष्टव्य यह है कि शून्यरूपमें ही

सब देवता और दैवी शक्तियाँ हैं और महात्माओंका भी यही सिद्धान्त है कि संसारका शून्यरूपमेंसे उद्भव तथा शून्यमें ही पराभव है, तब निश्चय ही इन शक्तियोंको आद्यशक्ति मानना पड़ता है। संसारके इस शून्य परिणामको देखकर ही महात्मा लोग मोहादिको छोड़कर शून्यरूप निर्विकार ब्रह्मरूपमें लीन होकर मुक्तिसाधन करते हैं। इधर जितने बीजमन्त्र हैं उन सभीमें विन्दुस्वरूप शून्य है। कोई बीजमन्त्र विन्दुरहित नहीं। इसीसे उनका महत्त्व इतना श्रेष्ठ है और जितना भी इसपर विचारते हैं, अधिकाधिक ज्ञान और रहस्य दृष्टिगत होता ही जाता है।

तारा-रहस्य

(लेखक—डॉ० श्रीहीरानन्दजी शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०, डी० लिट०)

स्मृत्वा..

तरन्ति विपदस्तारां च तोयप्लवे।

(लघुस्तव)

'तारा' शब्दके अर्थ तो बहुत-से हैं परन्तु यहाँ इस पदका प्रयोग एक देवताविशेषके लिये ही किया जा रहा है, जिसे ब्राह्मण अथवा हिन्दू, बौद्ध एवं जैन लोग भी पूजते हैं। हिन्दू-धर्ममें तारा एक महाविद्या है। ये महाविद्याएँ दस हैं और इनके नाम हैं—

काली[1] तारा[2] महाविद्या षोडशी[3] भुवनेश्वरी[4]।
भैरवी[5] छिन्नमस्ता[6] च विद्या धूमवती[7] तथा।
वगला[8] सिद्धविद्या च मातङ्गी[9] कमला[10]त्मिका॥

गणनामें ताराका स्थान दूसरा होनेसे इसको द्वितीया भी कहते हैं। इसी प्रकार कालीका नाम आद्या भी है। इन दोनोंको प्रायः इन संख्याओंसे ही सूचित कर देते हैं। अन्य महाविद्याओंके लिये क्रमकी इतनी आवश्यकता नहीं। द्वितीया या तृतीया इत्यादिसे यह नहीं द्योतित होता कि गौरवमें इनका स्थान आद्यासे न्यून है। सेवकके लिये तो अपने इष्टदेवका स्थान सर्वोपरि होता है। वैसे तो दुर्गाको ही मुख्य अथवा आदिशक्ति माना जाता है। अन्यान्य शक्तियाँ उसकी 'विभूति' मानी जाती हैं। महाभारतके विराट् (अ० ६) एवं भीष्मपर्व (अ० २३)-में जहाँ युधिष्ठिर और अर्जुनने भगवतीकी स्तुति की है, उसके लिये तारिणी नामका भी प्रयोग किया गया है—

चण्डि चण्डे नमस्तुभ्यं तारिणि वरवर्णिनि।

इससे हम यह नहीं कह सकते कि इस स्तोत्रमें 'द्वितीया' की ही स्तुति की गयी है। इसे 'शक्ति' की या भगवतीकी सर्वसाधारण स्तुति मान सकते हैं।

तन्त्र वा मन्त्रशास्त्रमें ताराका ध्यान ऐसा है—

विश्वव्यापकवारिमध्यविलसच्छ्वेताम्बुजन्मस्थितां
कर्त्रींखड्गकपालनीलनलिनै राजत्करां नीलभाम्।
काञ्चीकुण्डलहारकङ्कणलसत्केयूरमञ्जीरता-
माप्तैर्नागवरैर्विभूषिततनूमारक्तनेत्रत्रयाम् ॥
पिङ्गोग्रैकजटां ललत्सुरशनां दंष्ट्राकरालाननां
चर्म द्वैपि वरं कटौ विदधतीं श्वेतास्थिपट्टालिकाम्।
अक्षोभ्येण विराजमानशिरसं स्मेराननाम्भोरुहां
तारां शावहृदासनां दृढकुचामम्बां त्रिलोक्याः स्मरेत्॥

'जगद्व्यापी जलसे निकले हुए एक श्वेत कमलपर विराजमान; कर्त्री (कैंची), खड्ग, कपाल और नीलोत्पलको हाथोंमें लिये हुए; काञ्ची, कुण्डल, हार, कङ्कण, केयूर, मञ्जीर (नूपुर)-रूप बने हुए सर्पोंसे भूषित; तीन लाल-लाल नेत्रोंवाली, एक पीली जटावाली, सुन्दर रशनासे मण्डित, विकराल दंष्ट्रायुक्त, कटिप्रदेशमें द्वीपि (चीते)-के चर्मको धारण किये हुए, श्वेत अस्थिकी पट्टालिका लिये हुए, शवके हृदयपर बैठी हुई, जिसके सिरपर 'अक्षोभ्य' विराजमान है, ऐसी स्मितवदना, त्रैलोक्यजननी तारा भगवतीका स्मरण करे।'

इस ध्यानसे दो मुख्य बातें प्रतीत होती हैं—एक तो भगवतीका सर्वत्र फैले हुए जलमेंसे निकले हुए कमलपर बैठना और दूसरा उसके सिरपर 'अक्षोभ्य' का विराजमान होना। सर्वत्र फैले हुए जलसे निकले कमलपर बैठना सूचित करता है कि भगवती तारा जलके भयको दूर करती है। अक्षोभ्यका सिरपर रखा जाना द्योतित करता है कि ताराका स्थान अक्षोभ्यसे नीचे है—अन्यथा उसका सिरपर बिठलाया जाना सम्भव नहीं था। तारा जलप्लावके भयको दूर करती है और एतदर्थ उसका पूजन किया जाता है, यह हमें लघुभट्टारकरचित लघुस्तवके निम्नलिखित पद्यसे ज्ञात होता है—

**लक्ष्मीं राजकुले जयां रणभुवि क्षेमङ्करीमध्वनि
क्रव्यादद्विपसर्पभाजि शबरीं कान्तारदुर्गे गिरौ।
भूतप्रेतपिशाचराक्षसभये स्मृत्वा महाभैरवीं
व्यामोहे त्रिपुरां तरन्ति विपदस्तारां च तोयप्लवे॥**

'तोयप्लव' अर्थात् जलकी बाढ़ वा 'तूफान' में ताराका स्मरण करके प्राणी विपत्तियोंको लाँघ जाते हैं।

ताराका नाम ही सूचित करता है कि इस भगवतीका 'तरण' या 'तारण' से सम्बन्ध है, उत्तराम्नायके प्रायः सभी तन्त्र-ग्रन्थ इस बातको सूचित करते हैं। हाँ, दक्षिणाम्नाय अर्थात् दक्षिण-भारतके तन्त्र-ग्रन्थोंसे यह निश्चित नहीं होता। परन्तु दक्षिणमें तो इस शक्तिकी पूजा प्रचलित ही नहीं रही होगी, तभी तो इसका वर्णन भी उपलब्ध नहीं होता। तत्त्वनिधि-जैसे ग्रन्थमें, जहाँ उत्तमोत्तम तन्त्रोंसे देवताओंके ध्यानादि दिये गये हैं, उग्रताराका एक ध्यान-जैसा लिखकर कह दिया है—'**इत्याम्नाये**'। कौन-सा आम्नाय है, यह भी नहीं बतलाया और न ध्यान ही पूरा दिया है। हम बिना सङ्कोच यह कह सकते हैं कि तारण करनेवाली शक्ति ही तारा है।

जैन-सम्प्रदायमें भी 'सुतारा' और 'सुतारका' नाम पाये जाते हैं, जो कि श्वेताम्बर-मतके अनुसार सुविधिनाथकी एक यक्षिणी या शासनादेवीके हैं। तारि नामकी एक देवीकी पूजा भारतकी आदिम जातियोंमें पायी जाती है। परन्तु यह दोनों तारा-महाविद्यासे भिन्न हैं। जैन-सुतारा वा सुतारका शायद हिन्दू-ताराका ही रूपान्तर है। यह प्रायः देखा जाता है कि धर्मान्तरमें किसी अन्य धर्मके देवी-देवताको जब अन्तर्हित कर लेते हैं तब उसे गौण पदवी या स्थान देकर उसके नाम इत्यादिमें भी कुछ-न-कुछ परिवर्तन कर देते हैं। इस समय हमारा इन दोनों देवियोंसे कोई प्रयोजन नहीं। हिन्दू-ग्रन्थोंको देखनेसे यह प्रकट हो जाता है कि तारा या महाविद्याका बौद्ध-सम्प्रदायके एक बोधिसत्त्वविशेष अथवा बौद्धमतसे अवश्य सम्बन्ध है अथवा यह उसीका रूपान्तर है। इस बातको हम नीचे अभी स्फुट करेंगे।

हमारे यहाँ तारा अथवा दुर्गाकी वही स्थिति है जो ताराकी बौद्धधर्ममें। हिन्दू-सम्प्रदायमें दुर्गा शिवकी शक्ति है और बौद्धमतमें तारा अवलोकितेश्वरकी। हीनयानमें तो देवी-देवताओंका अथवा बोधिसत्त्वोंका अभाव-सा ही है। महायानमें ही बोधिसत्त्वों और देवी-देवताओंकी भरमार है। हमारे यहाँ जैसे भगवतीका प्राधान्य है और उसे देवमाता माना जाता है वैसे ही महायानमें ताराकी स्थिति है। हमारे तन्त्र-ग्रन्थोंमें शिवका नाम अक्षोभ्य भी दिया गया है और ताराको उसकी शक्ति या 'भार्या' कहा गया है। तारातन्त्र अथवा तोडलतन्त्रके इन श्लोकोंसे इसका प्रमाण मिलता है—

**समुद्रमथने देवि! कालकूटं समुत्थितम्।
सर्वे देवाश्च देव्यश्च महाक्षोभमवाप्नुयुः॥
क्षोभादिरहितं यस्मात् पीतं हालाहलं विषम्।
अत एव महेशानि! अक्षोभ्यः परिकीर्तितः॥
तेन सार्द्धं महामाया तारिणी रमते सदा।**

शिव-शक्ति-सङ्गमतन्त्रमें तो 'अक्षोभ्य' और 'शिव' पर्यायवाची नाम हैं।

हमारे तन्त्र-ग्रन्थोंमें स्पष्ट लिखा है कि ताराकी उपासना बौद्धमतके अनुसार करनी चाहिये अन्यथा यह भगवती 'सिद्ध' नहीं होगी। आचारतन्त्रमें जो वसिष्ठमुनिकी आराधनाका उपाख्यान दिया है उससे यह स्फुट हो जाता है। उसमें लिखा है कि जब वसिष्ठमुनि ताराकी आराधना करते-करते थक गये और निराश हो गये तब आकाशवाणीसे उन्हें 'चीनाचार' के अनुसार ताराकी अर्चना करनेका आदेश किया गया। उन्होंने तब वैसे ही आराधना की और उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई।

**मदीयाराधनाचारं बौद्धरूपी जनार्दनः।
एक एव विजानाति नान्यः कश्चन तत्त्वतः॥
वृथैवाक्लेशबहुना कालोऽयं गमितस्त्वया।
विरुद्धाचारशीलेन मम तत्त्वमजानता॥
तद्बोधरूपिणो विष्णोः सन्निधिं याहि सम्प्रति।
तेनोपदिष्टाचारेण मामाराधय सुव्रत॥
तदैवाशु प्रसन्ना स्यां त्वयि वत्स न संशयः।**

आचारतन्त्रके इन अवतारित श्लोकोंमें इसीका उल्लेख है। इस तन्त्रमें यह भी लिखा है कि मुनि वसिष्ठ चीन गये। वहाँ उन्होंने बुद्धसे ताराकी आराधनाका प्रकार सीखकर तदनुसार अर्चना करके भगवतीको प्रसन्न किया। अन्यत्र भी इसका उल्लेख पाया जाता है, परन्तु यहाँ अधिक उदाहरणोंकी आवश्यकता नहीं।

उपरिलिखित वाक्योंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ताराका पूजन हिन्दुओंने बौद्धोंसे सीखा, अथवा यह कहें कि तारा भगवतीका पूजन पहले बौद्ध-सम्प्रदायमें प्रारम्भ

हुआ। इस अनुमानका समर्थन 'साधनमाला' नामक बौद्धग्रन्थमें लिखे एकजटासाधनके इस अन्तिम वाक्यसे भी हो जाता है—

एकजटासाधनं समाप्तम्—आर्यनागार्जुनपादैर्भोटेषूद्धृता इति।

इससे तो यह भी अनुमित होगा कि पहले ताराकी पूजा भोट-देश अर्थात् तिब्बतमें प्रचलित थी, तभी तो नागार्जुनने उसका उद्धार किया। एकजटा तारादेवीका ही नाम वा रूपान्तर है।

'स्वतन्त्रतन्त्र' नामक पुस्तकमें लिखा है—

मेरोः पश्चिमकूले तु चोलनाख्यो ह्रदो महान्।
तत्र जज्ञे स्वयं तारा देवी नीलसरस्वती॥

अर्थात् तारा मेरु-पर्वतके पश्चिममें उत्पन्न हुई। इस आधारपर कहा जा सकता है कि इसकी उपासनाका प्रारम्भ लदाखके आस-पास कहीं हुआ होगा। वहाँ और तिब्बतमें अब भी ताराकी पूजाका बहुत प्रचार है। लामा लोग वहाँसे आते हैं और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध बौद्धस्थान कसया, बुद्धगया आदिके मन्दिरोंमें ताराकी पूजा करते हुए देखे जाते हैं।

ब्रह्माण्डपुराणके ललितोपाख्यानमें जो ताराका वर्णन दिया है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह भगवती मुख्यतया जलौघ वा जलाप्लावजन्य दुःखोंका नाश करनेवाली है—

मनो नाम महाशालः............
तन्मध्यकक्ष्याभागस्तु सर्वाप्यमृतवापिका।
न तत्र गन्तुं मार्गोऽस्ति नौकावाहनमन्तरा॥
तारा नाम महाशक्तिर्वर्त्तते तोरणेश्वरी।
बह्वयस्तत्रोत्पलश्यामास्तारायाः परिचारिकाः॥
रत्ननौकासहस्रेण खेलन्त्यस्सरसीजले।
अपरं पारमायान्ति पुनर्यान्ति परं तटम्॥
कोटिशस्तत्र ताराया नाविक्यो नवयौवनाः।
मुहुर्गायन्ति नृत्यन्ति देव्याः पुण्यतमं यशः॥
अरित्रपाणयः काश्चित्काश्चिच्छूगाम्बुपाणयः।
पिबन्त्यस्तत्सुधातोयं सञ्चरन्त्यस्तरीशतैः॥
तासां नौकावाहिकानां शक्तीनां श्यामलत्विषाम्।
प्रधानभूता ताराम्बा जलौघशमनक्षमा॥
आज्ञां विना तयोस्तारा मन्त्रिणीदण्डनाथयोः।
त्रिनेत्रस्यापि नो दत्ते वापिकाम्भसि सान्तरम्॥
तारातरणिशक्तीनां समवायोऽतिसुन्दरः।
इत्थं विचित्ररूपाभिर्नौकाभिः परिवेष्टिता॥
ताराम्बा महतीं नौकामधिगम्य विराजते॥

इसका भावार्थ यह है— तारा भगवती मनस् नामक महाशालस्थित एक अमृतवापिकाके द्वारकी रक्षा करती है। वहाँ बिना नौका और ताराकी आज्ञाके कोई नहीं जा सकता। वहीं ताराकी अनेक परिचारिकाएँ रहती हैं, जो इस वापीके आर-पार जाती रहती हैं। वे भगवतीका यशगान करती हैं, नाचती हैं और प्रसन्न रहती हैं। तरण-शक्तियोंका और ताराका मिलाप बहुत ही सुन्दर है और ताराम्बा ही जलौघजन्य दुःख दूर करनेमें समर्थ हैं। इसके आगे कुरुकुल्लाका वर्णन आता है। उसको नौकश्वरी कहा गया है और उसके ध्यानमें उसके हाथमें 'अरित्र' या डाँड (चप्पे) दिये गये हैं। बौद्ध-साधनोंमें कुरुकुल्लाको ताराका रूपान्तर कहा गया है। इन दोनों वर्णनोंसे ताराका जलयात्रा या Navigation से स्पष्ट सम्बन्ध दीख पड़ता है। कन्हेरीमें जो ताराकी मूर्ति है उसमें तो जहाज भी बना हुआ है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि जैसे ब्रह्माण्डपुराणमें इस भगवतीको तारा-अम्बा कहा है वैसे ही इसका मंगोल नाम दर-एके (Dara-eke) है, जो कि पर्यायमात्र-सा है। इन सब प्रमाणोंको देखकर हमें यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ताराकी पूजाकी उत्पत्ति जलकी बाढ़से उत्पन्न हुए दुःखोंकी निवृत्तिके लिये या तैरनेके निमित्त हुई होगी। यह भी स्फुट-सा ही है कि प्रारम्भमें तारा भगवती बौद्ध देवता होगी। बौद्ध-मतसे हिन्दुओंने उसकी पूजा सीखी होगी। हमारे प्राचीन ग्रन्थोंमें तारा महाविद्याके रूपमें नहीं उपलब्ध होती। इसकी पूजा बहुत प्राचीन भी नहीं, अठारह मुख्य पुराणोंमें इसका अभाव-सा है। ब्रह्माण्डपुराणमें जो वर्णन है वह तारा महाविद्याका नहीं वरं एक देवताविशेषका है। यह पुराण गुप्त महाराजाओंके कालसे पहले ही निर्मित हुआ था क्योंकि इसमें इन सम्राटों और उनके समकालीन राजाओं या अर्वाचीन नरेन्द्रोंका वर्णन नहीं मिलता। यह कहा जा सकता है कि विक्रम संवत्‌की पाँचवीं शताब्दीके आस-पास इस पुराणका निर्माण हुआ होगा। इसके पश्चात् सातवीं शताब्दीमें इस शक्तिका महाविद्याके रूपमें दर्शन होता है।

जावा या यवद्वीपमें जो लेख मिलते हैं, जिनमें इस

देवीका उल्लेख है, इसी समयके हैं। इसी कालमें भारतवर्षके लोगोंका बाहर आना-जाना भी बढ़ गया होगा। उस समय बौद्ध-धर्मका ह्रास हो चुका था और उसका हिन्दूधर्मसे मिश्रण भी हो गया था। हमारी समझमें उसी समय हिन्दुओंने इस देवीकी उपासना भी सीखी होगी। समुद्रयात्राके लिये ऐसे देवताकी आवश्यकता है ही। तारा भगवती समुद्रसे 'उत्तारण' करा सकती है और जल्दी ही प्रसन्न होकर वर देती है। फिर समुद्रयात्री उसका ध्यान क्यों न करें? सुतरां, जब वह 'जल' सागरसे रक्षा करती है तो भवसागरसे भी पार लँघा देगी। तभी तो यह तारिणी भव-तारिणी है। हमारे विचारमें यही इसका रहस्य है।

तारयिष्याम्यहं नाथ! नानाभवमहार्णवात्।
तेन तारेति मां लोके गायन्ति मुनिपुङ्गवाः॥

भवसागर वा दुःखसागर, वा सागरसे तारनेके कारण ही इसका नाम तारा है।

कात्यायनीजी

कहानी

(लेखक—म० श्रीबालकरामजी विनायक)

'पुत्री! अब निज पन तजु रे।
मोरे कहे बिवाह बिभूषन बसन सुरँग सजु रे।'

× × ×

'पिताजी! यह पन टरत न टारे।
हौं बरु रहौं कुँआरि जनम भरि, पन न तजब तनु जारे।'

× × ×

चरणाद्रिगढ़-निवासी विप्रवर भारविकी इकलौती पुत्रीने यह प्रतिज्ञा की थी कि जो पण्डित मुझे श्रुतिसिद्धान्तमें परास्त कर देगा और मेरे मार्मिक प्रश्नोंका उपयुक्त उत्तर दे देगा, उसीसे विवाह करूँगी। वह अद्भुत कन्या थी। वह 'श्रीविद्या' माँके पेटसे ही सीखकर जन्मी थी। उसी विद्याके प्रभावसे वह श्रुति-स्मृतिमें निष्णात थी। सैकड़ों पण्डित बड़ी-बड़ी पगड़ी बाँधकर आये, परन्तु परास्त होकर लौट गये। हारनेपर वह पगड़ी उतरवा लेती थी। इस प्रकार पगड़ियोंसे एक कोठा भर गया था। समस्त देशपर उसका रोब छा गया था। अब, किसी पण्डितका साहस नहीं होता था कि उसके पास जाय। उसके पिता धुरन्धर कवि और मनीषी थे। जब उन्होंने देख लिया कि अब परास्त होनेके भयसे कोई आता-जाता नहीं, तब अपने कुलकी मर्यादाके अनुसार वर ठीक करके लग्न-मुहूर्त्त निश्चित कर दिया। और पुत्रीसे प्रतिज्ञा-भङ्ग करके विवाहके भूषण-वसन धारण करनेके लिये वे आग्रह करने लगे। परन्तु उस हठीली कन्याने साफ़ इनकार कर दिया। उसने कहा—'चाहे जन्मभर मैं कुमारी ही क्यों न रहूँ, परन्तु अन्त समयतक अपनी प्रतिज्ञा नहीं भङ्ग कर सकती।'

अब बेचारे भारवि मुँह लटकाये इसी सोच-विचारमें बैठे थे। घोर चिन्तामें पड़ गये थे। इतनेमें महात्मा बोपदेवजी उधरहीसे कहीं जा रहे थे। कविवर भारविका म्लान-मुख देखकर वहीं रुक गये। उनसे खेदका कारण पूछा। उन्होंने मुनिके चरणोंमें प्रणाम करके उन्हें सुन्दर आसनपर पधराया और सब वृत्तान्त निवेदन किया। अनन्तर कन्याको भी बुलाकर पालागन कराया। उसे देखते ही मुनिराज ताड़ गये कि यह कन्या कौन है? उसी समय ध्यान करके उन्होंने उसके सम्बन्धकी सभी बातें जान लीं। सिद्ध-सन्तोंसे कुछ छिपा तो रहता ही नहीं। सुधी भारविने चकित-चित्तसे पूछा—'भगवन्! आप त्रिकालदर्शी हैं। कन्याके भाग्यमें क्या-क्या लिखा है, सो कृपापूर्वक मुझे बतलाइये। मैं बहुत दुःखी हूँ, बहुत विकल हूँ; मुझपर दया कीजिये।' मुनिने कहा—'यह कन्या दिव्या है, इसका विवाह मत करना। यह कुमारी ही रहेगी। इस समय तो मैं जाता हूँ, ठहरनेका अवकाश नहीं है। कुछ दिनोंके बाद लौटूँगा तो इससे शास्त्रार्थ करूँगा और इसके प्रश्नोंका उत्तर देनेकी चेष्टा करूँगा; विवाहकी इच्छासे नहीं, केवल इसका समाधान करनेकी इच्छासे।'

इतना कहकर मुनिराज उठे और विदा होकर चले गये। भारविके हृदयको सान्त्वना मिली। और कन्या? उसके ऊपर तो महात्माके वचनोंका भारी प्रभाव पड़ा। उसके मनमें मुनिकी शान्त-मूर्त्ति बस गयी। उसे

हृदयमन्दिरमें प्रतिष्ठित करके वह अष्ट-याम सेवा-पूजा करने लगी। और उनके पुनरागमनकी बाट सतृष्ण-नेत्रोंसे जोहने लगी।

(२)

कात्यायनी स्वयं बहुत सुन्दरी थी और शुद्ध एवं सुन्दर चित्र भी अङ्कित करती थी। उसके पुण्य-सदनमें त्रिपुरसुन्दरीका मोहक चित्र टँगा था और उसीके सामने दस महाविद्याका सुन्दर चित्र भी लगा हुआ था। सखी-सहचरीसे हीन वह चित्र-कलामें ही अपना समय लगाती थी। उसने बड़े प्रेमसे महात्मा बोपदेवजीका भी एक शान्तिरसावेशित चित्र तैयार किया। वह चित्र इतना भावपूर्ण था कि वह चित्रकारिणी स्वत: उसपर आसक्त हो गयी। उसे बार-बार इकटक दृष्टिसे निहारते रहना, गजरा गूँथकर उसे पहनाना एवं उसकी आरती उतारना, यही उसका नित्यका व्यापार हो गया। आरती उतारती हुई वह प्रेमविह्वल होकर मानो 'दीन' कविके शब्दोंमें इस प्रकार कहने लगती—

तुम बोलो न बोलो, सुनौ न सुनौ,
हमैं दाबि हियाको कराहने हैं।
तुम ओर हमारी लखौ न लखौ,
हमें रूपपयोनिधि थाहने हैं॥
तुम आनि मिलौ न मिलौ हमैं तो—
पग-धूरि लै भूरि सराहने हैं।
रटि नाम तिहारोइ 'दीन' भनै,
हमैं नेहको नातो निबाहने हैं॥

इस तरह भावना-पचीसीमें छकी हुई वह कन्या कालक्षेप करती रही और कविवर भारवि काव्य-कलापमें निमग्न थे कि मुनिराज आ गये। उनके भव्य दर्शनसे पिता और पुत्री दोनों निहाल हो गये। श्रेष्ठ आसनपर पधराकर उनकी पूजा हुई। दुग्ध और फल अर्पण किये गये। अस्तु, सेवा-सत्कारसे सन्तुष्ट होकर जब मुनिने कन्यासे शास्त्रार्थकी भिक्षा माँगी तब वह दिव्या सङ्कुचित हो गयी। फिर सँभलकर उसने कहा—'अच्छा, बताइये, सर्गका मूलतत्त्व क्या है? उस मूलतत्त्वकी ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक क्रियाओंमें प्रकृति-विकृतिका आभास किस प्रकार दृष्टिगोचर हो सकता है?' मुनिने मुस्कराकर कहा—'सर्गका मूलतत्त्व अजा, आद्याशक्ति है; अनन्त और अव्यक्त है। शाक्तागमसे लेकर वैष्णवागम एवं वैखानसागमतक सम्पूर्ण आगमसाहित्यमें उसी अव्यक्तको प्रकट करनेकी चेष्टा की गयी है। आगमका विशेष महत्त्व इसीमें है। उस अज्ञेय एवं अव्यक्त शक्तिके प्रत्येक विकासमें एक ही परमतत्त्वका स्वत: आगम होता है, इसी हेतुसे इसे आगम कहते भी हैं। उस परमतत्त्वको ईश्वर कहते हैं, शिव कहते हैं। उदाहरणस्वरूप आदिलीला ही है। ब्रह्मदेव तपके प्रभावसे सृष्टि तो जैसी चाहते थे, कर लेते थे; परन्तु उसकी अभिवृद्धि नहीं होती थी। अस्तु, शक्तिने विमर्श वा स्फूर्तिका रूप धारण किया और शिवने प्रकाशरूपसे उसमें प्रवेश किया। परिणामस्वरूप 'विन्दु' की प्रादुर्भावना हुई। इसी रीतिसे शक्तिने शिवमें प्रवेश किया, जिससे वह विन्दु समुन्नत हुआ और इस संयोगसे स्त्री-तत्त्व 'नाद' की उत्पत्ति हुई। ये दोनों विन्दु और नाद दूध और पानीकी तरह ऐसे मिले कि एकरूप हो गये और 'संयुक्त-विन्दु' (अर्द्धनारीश्वर) नामसे प्रसिद्ध हुए। और यह तत्त्व पुरुषत्व एवं स्त्रीत्व—उभयके बीच आत्यन्तिक आसक्तिको प्रकट करता है, इसी अभिप्रायसे इसको 'काम' कहते हैं।

पुन: विन्दु दो हैं। उनमेंसे एक श्वेत है और पुंस्त्वका बोधक है और दूसरा रक्त है, जो स्त्रीत्वका परिचायक है। इनसे 'कला' की उत्पत्ति होती है। अस्तु, तीनों विन्दु—[(१) संयुक्त-विन्दु (काम), (२) श्वेत-विन्दु और (३) रक्त-विन्दु (कला)]—मिलकर 'काम-कला' में परिणत हुए। इस प्रकार यहाँ चार शक्तियोंका एकत्रीकरण हुआ। (१) मूल-विन्दु, वह तत्त्वविशेष जिससे इस जगत्की रचना हुई है। (२) नाद, जिसके ही ऊपर विन्दुके क्रमोन्नतिपरिणामसे उत्पन्न द्रव्योंका नामकरण अवलम्बित है। इन दोनोंमें अत्यन्त प्रेम है, परन्तु वह सृष्टि-विस्तार-हीन है। वे ऋत एवं वाङ्मय हैं। इसीलिये एक जनन-शक्ति उनके साथ, (३) श्वेत-पुं-विन्दु (जो स्वत: तो उत्पत्तिमें असमर्थ है) और (४) रक्त-स्त्री-विन्दुके द्वारा संयोजित हुई। जब ये चारों तत्त्व मिलकर 'काम-कला' में प्रवृत्त हुए तब सम्पूर्ण शाब्दिक और वास्तविक सृष्टि उत्पन्न हुई। भृगु आदिके मतसे नादके साथ 'अर्ध-कला' की भी परिणति हुई, जब प्रथमत: स्त्रीतत्त्वने मूल-विन्दुमें प्रवेश किया था। किसी-किसी आगममें सर्वश्रेष्ठ देवी 'काम-कला' के

स्वरूपका वर्णन करते हुए कहा गया है कि सूर्य (संयुक्त-विन्दु) ही उनका वदन है और अग्नि एवं चन्द्रमा (रक्त और श्वेत विन्दु) ही उनके वक्ष:स्थल हैं। और अर्ध-कला जननेन्द्रिय है। इस विचारसरणिसे गर्भकी स्थिति सुस्पष्ट होती है, जिससे सृष्टिका विकास होता है। अस्तु, सृष्टि-विधायिनी एक महिमान्वित देवी है और उसको 'परा', 'ललिता', 'भट्टारिका' और 'त्रिपुरसुन्दरी' कहते हैं।

संस्कृत-वर्णमालाका प्रथम अक्षर 'अ' शिवका प्रतीक है, एवं अन्तिम अक्षर 'ह' शक्तिका प्रतीक है। इसी 'ह' को अर्ध-कला अथवा अर्धभाग कहते हैं। इसीसे यह स्त्री-तत्त्व है, गर्भाशय है। यह 'ह' और शिवस्वरूप 'अ' का सम्मिलन कामकला अथवा त्रिपुरसुन्दरीका स्वत: विकास है। यह त्रिपुरसुन्दरी 'अहम्' से ओतप्रोत है। अहंत्वसे व्यक्तित्व संवलित है। यही कारण है कि सम्पूर्ण सृष्टि व्यक्तित्व और अहंत्वसे परिपूर्ण है। और जीवमात्र, इस प्रकार त्रिपुरसुन्दरीके ही रूपान्तर हैं और त्रिपुरसुन्दरी-पदको प्राप्त हो सकते हैं, यदि वे 'देवी-चक्र'—'अ' और 'ह'—के साथ 'काम-कला-विद्या' का अभ्यास करें। संस्कृत-वर्णमालाके प्रथम अक्षर 'अ' और अन्तिम अक्षर 'ह' बीचके सम्पूर्ण अक्षरोंको अपनेमें समावेशित किये हुए हैं, और उनके द्वारा बने हुए सम्पूर्ण शब्दोंको भी (सम्पूर्ण वाङ्मयको भी)। जैसे त्रिपुरसुन्दरीद्वारा सब वस्तुओंकी उत्पत्ति है, उसी तरह सम्पूर्ण शब्दोंकी भी। इसीलिये उस महादेवीका नाम 'परा' है अर्थात् चार प्रकारकी वाणीमें प्रथम। सृष्टि परिणामी है, विवर्त्त (मिथ्या आभास) नहीं है।

भद्रे! तुम्हारे मनमें जो धारणाएँ गूँज रही थीं, उन्हीं-को प्रतिपादित किया गया है। हाँ, तेरे मनमें वीरभाव-सम्बन्धी जो धारणा बद्धमूल हो गयी है; शक्ति और सृष्टिकी एकताकी अनुभूति जो तेरे चित्तमें हुई है और दिव्यभावसे भावित होकर सहस्रदल-कमलमें ध्यानस्थ होकर चन्द्रगर्भसे स्रवित, दिव्यभावमें मत्त करनेवाले रसको जो तू पीती रहती है; ज्ञान-कृपाणसे काम, क्रोध, लोभ, मोहरूपी असुर-पशुको मारकर जो तूने निर्विषयता प्राप्त की है; वञ्चना, पिशुनता, ईर्ष्या आदि मछलियोंको भौतिक विषयोंसे बचानेवाले जालमें पकड़कर सत्य-ज्ञानकी अग्निमें जिस प्रकार तू उन्हें सेंक रही है; आशा, कामना, निन्दा आदि मुद्राओंको जो तू ब्रह्माग्निमें पका रही है और मेरुदण्डकी आश्रिता बहुरमणियोंके साथ मिलकर जो तू मैथुनके लिये उत्सुक हो रही है—इन सब प्रसङ्गोंको मैंने बचा दिया है। अब तू सच-सच कह दे कि मेरे मार्मिक उत्तरसे तेरा समाधान हुआ या नहीं?'

कात्यायनी—मुनिवर! आपके समुचित उत्तरसे मैं इतनी सन्तुष्ट हुई हूँ कि मैं आपके चरणोंकी दासी होनेके लिये उत्सुक हो रही हूँ। क्या आप इस दासीको अपनायेंगे? मेरी प्रतिज्ञा पूरी हो गयी। मैं आपसे परास्त हो गयी।

बोपदेव—शुभे! मैं विवाह नहीं कर सकता। मैं अपना सर्वस्व गोपियोंके दुकूल चुरानेवाले बाल-गोपालके चरणकमलोंमें अर्पण कर चुका हूँ। अस्तु! अब तुम उसी वरको वरण करो जिसे तुम्हारे पिताने निश्चित किया है।

कात्यायनी—ऐसा मत कहिये। क्या आपका उपदेश सुनकर भी विवाह करनेकी लालसा बनी रह सकती है। गुरुदेव! अब तो उस गोपीवल्लभ, मनहरण चितचोरसे मेरा भी परिचय करा दीजिये। मैं उन्हींको वरण करना चाहती हूँ। क्या यह सम्भव है?

बोपदेव—क्यों नहीं? तू सर्वथा इसके योग्य है। तू तो ऋषि दुर्वासाकी 'कृत्या' है, उनके तपकी विभूति है। मुनिने जब भक्तराज अम्बरीषपर तेरा प्रयोग किया था और बड़े वेगसे तू राजाको भस्म करने चली थी तब हरि-प्रेरणासे सुदर्शनने तेरी इतिश्री कर डाली थी। भक्तके ऊपर आक्रमण करनेके कारण ही तू इस मर्त्यलोकमें पतित हुई। अस्तु, हे श्रीविद्यास्वरूपिणी! अब अपने स्वरूपको चेत जा। अपना तामसी चोला उतारकर फेंक दे। टुक, इस सृष्टिके परे उस लोकमें चल जहाँ विरजाकी धारा लहर मार रही है।

कात्यायनी मुनिके चरणोंपर पड़ी आँसुओंसे चरणोंको पखारने लगी। करुणाकी धारा बह चली। सिसकियाँ बँध गयीं। उसकी दशा देखकर उसके पिता भारवि घबरा गये। वात्सल्यरस उमड़ आया।

इतनेमें एक अपूर्व दृश्य उपस्थित हुआ। दीवारमें बने आलेके ऊपर अर्द्धचन्द्राकार दिव्यलोक प्रतिष्ठित हो गया। इसको सबने देखा, परन्तु कात्यायनीको उसमें मुरलीमनोहरकी झाँकी भी देख पड़ी। वह छबि जब उसके नयनोंसे प्रविष्ट होकर हृदयमें बस गयी तब वह दिव्य दृश्य अदृश्य हो गया। उसकी आँखें बन्द हो

गयीं। उस महाछबिको देखकर फिर और किसको देखें—इसी विचारसे आँखें बन्द हो गयीं और खुलना नहीं चाहतीं। इसलिये भी कि कदाचित् वह छबि जो हृदयमें बस गयी है उन्हीं नयनोंके मार्गसे लौट न जाय। उसकी ऐसी दशा देखकर मुनिराज चुपके-से उठकर अपने आसनपर चले गये। भारवि महात्माको कुछ दूरतक पहुँचानेके लिये गये और हृदयसे कृतज्ञता प्रकट करके लौट आये।

(३)

आँखोंमें अब नींद कहाँ? अब स्वप्नके दृश्य स्वप्न हो गये। हृदय-मन्दिरकी ऐकान्तिक पुजारिन कात्यायनी माधवकी सेवा-पूजा बड़े भावसे करती हुई उसीमें मग्न हो गयी। भूख-प्यास बिदा हो गयी। बोलना भी बहुत ही कम। अस्तु, प्रेमाभक्तिके सब लक्षण उसमें दृष्टिगोचर होने लगे।

प्रेमलक्षणा षट् अहै, प्रिय उसास, दृगपात।
स्वप्नहीन, मुखपीत अरु, लघु भोजन, अरु बात॥

सुखसरसावन सावनमें वह सकुटुम्ब वृन्दावन पहुँची, वहाँ पहुँचते ही उसके हृदयमें बसी हुई झाँकी अदृश्य हो गयी। उसका हृदय-मन्दिर सूना हो गया। वह विरहकी चोट खा गयी। विरह ऐसा समुद्र है जिसका कहीं ओर-छोर नहीं। उसको पार करना असम्भव है। विरहिणी कात्यायनी यमुनातटपर बैठी हुई आँखोंकी तपन बुझा रही थी। किसीने पीछेसे कहा—

सुरति जगावै जीवका, बिरह मिलावै पीव।

इसे सुनते ही चौंककर जब उसने पीछे फिरकर देखा तो गुरुदेव बोपदेवजीको देखकर प्रसन्न हो गयी। चरणोंपर गिर पड़ी। मुनिराजने पूछा—'वत्से! क्या हाल?' उसने उत्तर दिया। 'क्या कहूँ, वह नटवरनागर मेरे हृदयसे निकलकर अपनी प्यारी पुरीमें, प्रिय कुञ्जोंमें जाकर छिप गया। कहाँ ढूँढूँ, कहाँ पाऊँ? आप भले मिल गये। हे मेरे कर्णधार! इस डूबती-उतराती नैयाको विरह-सागरसे पार लगा दीजिये।'

बोपदेव—'भद्रे! उस दिन तुझे प्रेम-मन्त्र दिया था। अब आज तुझे तारक-मन्त्र प्रदान करता हूँ। बिना इसके विरह-सागरको पार नहीं किया जा सकता। वह तारक-मन्त्र 'राम' नाम है। अर्द्धचन्द्रपर विन्दुके समान जो मुरलीधरकी झाँकी तुझे प्रेम-दीक्षाके समय प्राप्त हुई थी वह तारक ही है। अस्तु, तू राम-नामकी रटन लगा, वह झाँकी दूर नहीं है; तेरा शून्यमन्दिर फिरसे बस जायगा।'

इस उपदेशका गहरा प्रभाव पड़ा। श्रीराम-नामके उच्चारणमात्रसे उसकी हृदय-तन्त्री बज उठी। सप्तचक्र खुल गये और सभी चक्रोंमें ध्येय मूर्त्तिके दर्शन हुए। वह कृतार्थ हो गयी।

देवी कात्यायनी द्वादश वनोंकी परिक्रमा करने चलीं। हृदयमें वही दिव्य झाँकी, आँखोंमें प्रेमाश्रु, मुखसे भगवद्गुणगान करती हुई जाती थीं। उनका स्वर बड़ा ही मधुर था। गानकलामें वह निपुण थीं। द्विमिलवनमें एक जगह बैठकर प्रेमोन्मत्तदशामें प्रलापालाप करने लगीं—

भज गोविन्दं राधासहितम्।

× × ×

वैषम्यक्लेशहारी स्फटिकगिरिशिलामलः।

× × ×

शङ्खगदाधरोऽव्ययात्मा सर्वलोकशरण्यः॥

× × ×

इस प्रेमालापमें इतनी आकर्षणी सत्ता थी कि वनके वृक्ष लतासहित उस आलापमें स्वर भरने लगे। उनकी जड़ता जाती रही। देवीने इसका अनुभव किया और गान समाप्त करके उन्होंने अपना वस्त्राभूषण उतारकर पुरस्कारस्वरूप उन लता-वृक्षोंको पहना दिया। क्योंकि भगवद्गुणगानके समय उन्होंने वाद्यका काम किया था। प्रेमकी उन्मत्त दशामें जड सृष्टि भी चेतन-सी प्रतीत होती है। तामसिक विकार छँट जाता है और सात्त्विकता निखर आती है। वह ब्रह्म, जो चराचरमें ओतप्रोत है, प्रेमीके सामने निरावरण होकर प्रदर्शित होता है। तृणसे लेकर तालतक सब उस प्रेमीकी आज्ञाका पालन करते हैं—संकीर्त्तनानन्दमें उस प्रेमीके साथ हिल-मिल जाते हैं। गोस्वामी नाभाजीने अपने भक्तमालमें कात्यायनीके इसी चरित्रको लेकर प्रेमाभक्तिकी मर्यादा स्थापित की है।

कात्यायनिके प्रेमकी, बात जात कापै कही।
मारग जात अकेल, गान रसनाजु उचारै।
ताल मृदंगी बृच्छ, रीझि अंबर तहँ डारै॥
गोपनारि अनुसारि गिरा गदगद आवेसी।
जग-प्रपंचते दूरि अजा परसै नहि लेसी॥
भगवान रीति अनुरागकी संत साखि मेली सही।
कात्यायनिके प्रेमकी, बात जात कापै कही॥

(भक्तमाल, छप्पय १२७)

[श्री 'कात्यायनी' जीके प्रेमकी बात किससे कही

जा सकती है। आपकी यह दशा थी कि अकेली मार्गमें चलती हुई सरस रसनासे प्रभु-सुयश गाती ऐसे प्रेमावेशमें छक जाती थीं कि जो वृक्षोंमें पवन लगनेसे शब्द होता था उसको जानतीं कि ये मेरे गानके साथ मृदङ्गादि बाजे बजाते हैं; इससे उनके ऊपर रीझके अपने वस्त्र-भूषण दे डाला करती थीं। आपका श्रीकृष्णचन्द्रजीमें गोपवधूजनोंके समान ही प्रेम था। प्रभुके गुणानुवाद करनेमें अनुरागके आवेशसे वाणी गद्गद हो जाती थी। आपके चित्तमें जगत्-प्रपञ्चका भान नहीं था और मायाका स्पर्श लेशमात्र भी नहीं। श्रीकात्यायनीजीके भगवत्-अनुरागकी रीति देख सन्तजनोंने यही ठीक किया कि बस अनुराग इसीका नाम है।—श्रीभक्तिसुधाविन्दुस्वाद]

अस्तु। उस दिन द्विमिलवनकी विचित्र छटा थी। मानो देवी कात्यायनीके लिये अपूर्व नायकद्वारा विशेष आयोजना हुई थी। प्रकृतिकी सम्पूर्ण शक्तियोंने मिलकर काम किया था। राकारजनी अपने साज और सामानके साथ शोभायमान थी। तारकावली उदित थी और निशानाथ चन्द्रमा? वह तो ऐसा प्रतीत होता था कि मानो कामने क्रुद्ध होकर ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया हो; प्राची दिशासे अग्निका गोला आकाशमें चढ़ता हुआ जान पड़ता था। विरहिणीके ऊपर इस निर्दयताके साथ ऐसे आघात! अस्तु, मयङ्क ज्यों-ज्यों आकाशमें स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करने लगा त्यों-त्यों अमृतके कण रश्मियोंद्वारा स्रवित होकर वनकी वनस्पतियों—द्रुमों, किशलयों, दलोंको अनुप्राणित करने लगे; प्रत्येक स्फटिकशिलापर शीतकर अनेक रूप धारणकर आनन्द लूट रहा था। ऐसी अवस्थामें विरहिणीकी क्या दशा होगी, इसको कोई रसिक ही समझ सकता है। रसिकराज श्रीव्रजचन्द्रजीने पहले अग्रवर्तिनी सखीको भेजकर कात्यायनीके बिखरे हुए केशोंको सँवारकर जूड़ा बँधवाया और स्वयं ताग-पाट लिये हुए सामने पहुँचे। प्यारीकी माँग करकमलोंसे भरकर सोहाग धारण कराया और प्रियाजूने अपनी सहेलियोंके साथ मङ्गलगीत गाये। अग्रवर्तिनी हरिस-खम्भ बनी और भाँवरें फेरी गयीं। यह सब कृत्य श्रीजूके उत्साहसे सम्पन्न हुए। कात्यायनी अपने सौभाग्यपर आश्चर्य मानती हुई प्रियतम प्रभुके चरणकमलोंको पकड़कर बोली—'प्राणनाथ! आपने इस दासीको अपनाया, प्रतिज्ञाकी सर्वोच्च विधि सम्पन्न करके सनाथ किया; यह गुरु-कृपाका फल है अथवा विशेष अनुकम्पाका परिणाम है, यह मैं न समझ सकी।' भगवान् बोले—'प्यारी! यह सब श्रीजूकी लीला है। विभूतिशक्तिको आह्लादिनी-शक्तिने कृतार्थ किया।' यह कहकर भगवान् अन्तर्हित हो गये और साथ ही सम्पूर्ण समाज। देवी अपने मनमें सोचने लगीं कि यह क्या हुआ, मैं स्वप्न तो नहीं देखती रही। दिव्य सोहाग, ताग-पाटसहित माँगको देखकर सोचतीं कि स्वप्न नहीं है, वस्तुतः ऐसी घटना घटी है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। महाशक्तिकी उदारता, कृपालुता और शृङ्गारपटुताकी सराहना करती हुई देवीने फिर लताओंको भूषण उतार-उतारकर पहनाये कि मङ्गलगीतमें, मण्डप-पुनीतमें, परिणयकी रस-रीतिमें इनका विशेष साहाय्य और अधिकार था।

इस प्रकार प्रकृष्ट प्रेमरसमें सराबोर, उदात्त-भावावेशमें सुधि-विभोर, उस चतुर चितचोरसे ठगी और मधुर-मदभरी उसकी त्रैलोक्यमोहिनी छबि-सुरामें पगी हुई देवी कात्यायनी वृन्दावनकी उपवन-कुञ्जोंमें फिरा करतीं। कामवनमें पहुँचते ही विरहाग्नि धधक उठी। प्रीति-रीति-पालनमें प्रवीण बाँकेबिहारीजू प्रियाजूके सहित एक लतामण्डपमें, कुञ्ज-विहारमें तत्पर दृष्टिगोचर हुए। उस अपार शोभाको देखकर देवी दौड़ पड़ीं। युगलसरकारने स्वागतपूर्वक उन्हें अपनाया, अङ्गरागसे भूषित किया और सदा-सर्वदाके लिये उन्हें नित्य-विहारमें सम्मिलित कर लिया।

धन्य देवी कात्यायनी! धन्य तुम्हारा सौभाग्य और धन्य तुम्हारे माता-पिता!!!

शिव और शक्ति

(लेखक—श्रीअनन्तशङ्कर कोल्हटकर बी०, ए०)

'शक्ति' सिद्धिका साधन है। हम सभी उसे चाहते हैं जरूर, पर समझ नहीं पाते कि 'शक्ति' शिवहीका प्रकट रूप है। शिव हैं विश्व-मङ्गलके विधाता। तुम भी सर्वभूतहितके लिये मन, वाणी, कर्मसे सदा प्रयत्नशील रहो; 'शक्ति' अवश्य ही तुम्हारी सहायता करेगी।

शक्तिका रहस्य

(लेखक—डॉ० श्रीदुर्गाशङ्करजी नागर)

संसारमें किसी भी काममें हाथ डालनेके पहले अपनी शक्तिका पता लगा लेना चाहिये, तभी हम संसारमें किसी भी विभाग या शाखामें सफलता प्राप्त कर सकते हैं। एक विद्वान्‌ने कहा है—Weaklings have no place in the world. 'कमजोरोंके लिये संसारमें कहीं स्थान नहीं है।' हमको अपनी पूरी शक्तियोंका ज्ञान नहीं है, इसीलिये हम संसारको भाररूप मालूम हो रहे हैं और हमारा कहीं ठिकाना नहीं है। क्योंकि हमको स्वयं अपनी शक्तिमें विश्वास नहीं है। परमात्माने किसीको निर्बल या बलवान् नहीं बनाया है। तुम अपनी अवस्थाको जैसी चाहो वैसी बना सकते हो। तुम कहोगे कि हमारे प्राचीन ऋषि, मुनि, महात्माओंमें शक्तियाँ और सिद्धियाँ थीं। इन बातोंके राग अलापनेसे उन्नतिकी तरफ तुम कुछ भी नहीं बढ़ सकते। उनमें जो सिद्धियाँ और शक्तियाँ थीं वे तुममें भी हैं और तुम भी अपनी अपार उन्नति कर सकते हो और महात्मा बन सकते हो।

प्रयत्न करो, पुरुषार्थ करो, परिश्रम करो, तप करो और तुम्हारे भीतर जो शक्तिका भण्डार पड़ा है उसे खोल दो। तुम्हारे भीतर एक ऐसी शक्ति विद्यमान है कि तुम उसकी सहायतासे जो कुछ चाहो सो कर सकते हो।

कोई इसे पराशक्ति, ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति कहते हैं। कोई चितिशक्ति कहके पुकारते हैं; कोई जगन्माता, जगदम्बा, जगज्जननीके नामसे स्मरण करते हैं।

यह आनन्दमयी चितिशक्ति उपास्यकी ही शक्ति है। उपासकको बिना इस शक्तिकी सहायताके परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'—शक्तिहीनको न आत्माकी और न परमात्माकी ही प्राप्ति हो सकती है। इसलिये शक्तिकी उपासना करो। चितिशक्ति पूर्ण प्रेमस्वरूप है; चितिशक्ति सत्यस्वरूप है; चितिशक्ति सर्वव्यापक है, चेतनमय है।

चितिशक्तिकी प्रसन्नताके लिये तुम्हें बलिप्रदान करना होगा किन्तु हिंसात्मक बाह्य-बलि नहीं। अपने अहङ्काररूपी मस्तकको प्रेमरूपी तलवारसे पृथक् करके उनके चरणकमलोंमें समर्पण करो। प्राणिमात्रपर प्रेम करो। चितिशक्ति जगज्जननी जगदम्बा है; चितिशक्ति तुच्छ-से-तुच्छ कीट और महान्-से-महान् प्राणी ब्रह्मातकमें, सबमें है—सर्वप्रिय है। क्योंकि उसका निवास सब प्राणियोंमें है, सब उनकी प्रिय सन्तति हैं। सबकी रक्षा और पालन अपने ऊपर कष्ट लेकर कर रही है। चिति-शक्ति प्रेमरूप है, चर-अचर प्राणिमात्रमें व्यापक है।

भूतमात्रमें चितिशक्ति है, इसलिये सबको आत्मवत् समझो। बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष, रङ्क-राजा, साधु या पापी, मूर्ख या विद्वान्, सबके प्रति प्रेमकी धारा बहाओ। शुद्ध विचारोंको ही निरन्तर अन्तःकरणमें उदय होने दो। अशुद्ध विचार पास भी न फटकने पावे। शुद्ध विचार और शुद्धाचरण ही माँको प्रसन्न करनेका उपाय है। सद्विचार करो, शुद्धाचरणका पालन करो; अगर माँको प्रसन्न करना है, शुद्ध विचार अखण्ड हृदयमें जागृत रखो।

शक्तिका सञ्चय करो, शक्तिकी ही उपासना करो; शक्ति ही जीवन है, शक्ति ही धर्म है, शक्ति ही सत्य है, शक्ति ही सब कुछ है; शक्तिकी ही सर्वत्र आवश्यकता है। बलवान् बनो, वीर बनो, निर्भय बनो, साहसी बनो, स्वतन्त्र बनो और शक्तिशाली बनो।

तुम निरे मिट्टीके पुतले नहीं हो, हाड़-मांस और रक्तके थैले नहीं हो, निर्जीव मुर्देके समान नहीं हो, किन्तु एक सजीव शक्तिसम्पन्न चेतन आत्मा हो। तुम्हारे जीवनका उद्देश्य किसी विशेष उद्देश्यको पूर्ण करना है।

प्रत्येक मनुष्यमें दैवी शक्ति छिपी हुई है और वह सब कुछ कर सकता है। समस्त मानसिक और शारीरिक निर्बलताओंपर विजय प्राप्त करो और जीवनको आनन्दमय बनाओ। कोई निर्बल व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं हो सकता। शक्ति स्वयं ईश्वरका रूप है। यह शक्ति सर्वव्यापक है। यह शक्ति तुम्हारे भीतर गुप्त है। तुम इस शक्तिके बलसे अपनी परिस्थिति बदल सकते हो। तुममें शक्ति है। शक्ति तुम्हारे भीतर-बाहर सर्वत्र मौजूद है।

शक्ति तुम्हारी जननी है, तुम्हारे शरीर और प्राणोंकी जननी है। जगत्‌में और तुम्हारे शरीरमें जो कुछ जीवन है—चेतन है, उस सबकी वही दयामयी जननी है। तुम यह कल्पना करो कि तुम सदा शक्तिमें ही रहते हो, शक्तिमें ही चलते हो और शक्तिमें ही जीवित रहते हो।

आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दायें-बायें, सब तरफ शक्ति-ही-शक्तिको देखते रहो।

तुम अपनी मन:स्थितिको उस महान् शक्तिसे संयुक्त कर लो जिससे सब शक्तियाँ प्रवाहित हो रही हैं।

शक्तिकी प्रार्थना

रात्रिके पिछले हिस्सेमें अपने बिस्तरसे उठ बैठो और शान्त होकर एक दिव्य ध्वनिको, जो सारे संसारमें गूँज रही है, ध्यानसे सुनो। यह ध्वनि तुम्हारे हृदयमन्दिरमें हो रही है। हृदयमन्दिर ही चितिशक्तिका निवासस्थान है। अङ्ग-प्रत्यङ्गको ढीला करके शान्ति और स्थिरतासे किसी भी सुखासनसे बैठ जाओ और नीचे लिखी हुई प्रार्थना करो—

प्रार्थना

दयामयी जननी! आनन्दमयी, स्नेहमयी, अमृतमयी माँ!! तुम्हारी जय हो। माँ! जिस प्रकार बिना पंखके पक्षी अपनी माँकी बाट जोहते रहते हैं, जैसे भूखसे पीड़ित बछड़े अपनी माँकी बाट देखते रहते हैं, वैसे ही माँ! मैं तुम्हारी बाट देखता रहता हूँ। तुम जल्दीसे आकर मुझे दर्शन दो। तुम मेरे मनमें, शरीरमें व्याप्त हो। मैं तुम्हें समझ सकूँ, तुम्हारा दर्शन कर सकूँ, ऐसी बुद्धिशक्ति मुझे प्रदान करो।

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तोः
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि।
दारिद्र्यदुःखभयहारिणि का त्वदन्या
सर्वोपकारकरणाय सदार्द्रचित्ता॥

'हे माँ! तुम्हारा स्मरण करनेसे समस्त जीवोंके भयका नाश होता है और शान्त-चित्तसे स्मरण करनेसे अत्यन्त शुद्ध बुद्धि तुम देती हो। दरिद्रता, दुःख और भयका नाश करनेवाली तुम्हारे सिवा कौन है। सबोंके उपकारके लिये तुम्हारा चित्त सदा दयासे सुकोमल रहता है।'

इस प्रकार इस मन्त्रका अनेक बार पाठ करके पूर्ण श्रद्धाके साथ भगवतीका ध्यान करके फिर सो रहो। प्रात:काल उठते वक्त फिर उस शक्तिका चिन्तन करो, थोड़ी देर ध्यानमें मग्न बैठे रहो। इस साधनसे तुम्हें विलक्षण बातें मालूम होंगी।

इसका सिद्धान्त यह है कि समस्त विश्वका सञ्चालन और ज्ञान जिस महत्तत्त्वद्वारा हो रहा है उसे गुप्त मन या सर्वव्यापक मन कहते हैं। उसको चलानेवाली शक्ति है। प्रतिदिन इस शक्तिकी श्रद्धाके साथ उपासना करनेसे शक्ति तुम्हें प्रेम करेगी, चाहेगी। तुम भूल भी जाओ, माँ तुम्हें कभी नहीं भूलती।

इस विधिसे एक मास साधन करके देखो और तुम्हें एक मासमें ही विलक्षण बल और शक्ति मालूम देगी।

जिन-जिन कामनाओंको पूर्ण करना हो उनको माँसे कह दो और अनन्य चिन्तन करो, तत्काल तुमको उन पदार्थोंकी प्राप्ति होगी।

विद्या, धन, बल, ऐश्वर्य—ये सब इस पराशक्तिसे ही उत्पन्न होते हैं और शक्तिका साधन करनेसे अवश्य फलसिद्धि होती है। इस महाशक्तिकी उपासनासे तुममें आश्चर्यजनक शक्तिकी जागृति होगी और तुम असाध्यसे भी असाध्य कार्यको साध्य कर सकोगे। संसारमें जीवित रहना हो तो शक्ति-सम्पादन करो और यह समझते रहो कि तुम माँकी गोदमें सदैव सुरक्षित हो और समग्र शक्तियोंका भण्डार तुम्हारे अन्दर है।

शक्ति-महिमा

(लेखक—साहित्यरत्न पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस')

विष्णु विधि शिव संग घूमत-फिरत साथ, तेरे बिन उन घरी एक नाहिं भाई है।
हारि गये देव, दैत्य-दानव प्रबल भये, दुष्टनकी जीति देखि हिये भीति छाई है॥
कीन्ही है पुकार अंब नेकु ना बिलंब कीन्हे, सिंह-वाहिनी भवानी वाहिनी नसाई है।
पकरि-पकरि सब नीचनको मारि डारे, सेये बिन शक्तिके न काहू शक्ति पाई है॥

माँ! ओ माँ!!

(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव', एम० ए०)

जगज्जननी महामाये! सृष्टि और प्रलय, जीवन और मृत्युके सूत्रको अपने हाथोंमें लेकर जब तुम एक बार अट्टहास करती हो तो उसमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बनते और बन-बनकर मिट जाते हैं। माँ, सृष्टि तुम्हारा लास्य और प्रलय तुम्हारा ताण्डव है। तुम कराल काल हो, महामृत्यु हो। सृष्टिके पूर्व केवल तुम्हीं थीं और प्रलयके अनन्तर तुम्हीं रह जाती हो!

काली, दुर्गा और शक्ति तुम्हारा ही नाम है। **'विनाशाय च दुष्कृताम्'** तुम्हारा व्रत है। रक्तबीजोंसे जब संसारका पुण्य त्राहि-त्राहि करने लगता है, जब धर्मको कहीं शरण नहीं मिलती तब देवि! तुम खप्पर और करवाल लेकर अवतार लेती हो! ओ माँ! तुम्हारा यह रूप कितना भीषण, कितना रौद्र है! माँ! तुम्हारा यह विकट रणताण्डव! चण्डिके! दुर्गे! माँ कालिके! तुम्हारा यह रूप देखकर तो हृदय भयसे थर-थर काँप रहा है! यह भीषण रौद्र रूप! घने-घने काले केश खुले हुए हैं। काला डरावना भैरव वेश! मस्तकपरके नेत्रसे क्रोधाग्नि धधक रही है। उससे प्रखर दाहक ज्वाला धाँय-धाँय कर रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो समस्त संसार इस क्रोधाग्निमें भस्म हुआ जा रहा है। दुर्गे! तुम्हारे इस तीसरे नेत्रकी ज्वाला!! तुम्हारी और भी दोनों लाल-लाल आँखोंसे चिनगारियाँ बरस रही हैं। उससे कराल किरणें फूटी निकलती हैं। माँ भैरवि! तुम्हारे मस्तकपर सिन्दूरका जो बड़ा टीका लगा है वह भी कितना भयावना है!

और गलेकी मुण्डमाला! उफ़! इतना भैरव, इतना प्रकुत्स! माँ! तुम्हारा चन्द्रहार नरमुण्डमालका क्यों? यह दुहरी-तिहरी मुण्डमाला। कितना भयानक, कितना बीभत्स! उन नरमुण्डोंके मस्तकपर तुमने श्मशानका भस्म लगाकर इंगुरकी बेंदी लगा दी है। माँ! यह कैसा विकराल प्रलयङ्कर रूप! उफ़! तुम्हारी लाल-लाल जीभ छातीतक लटक रही है और उससे खून टप-टप चू रहा है। दाहिने हाथमें करवाल है और बायें हाथमें खप्पर! करवाल भी खूनसे लथपथ है। और तुम्हारा यह खप्पर! रक्तसे भरा खप्पर! ना, ना; यह खप्पर कभी भी भरेगा? जब तुम अट्टहास करके शत्रुपर झपटती हो उस समय माँ! इस खप्परके रक्तमें भी एक आन्दोलन उठ खड़ा होता है। उफ़! तुम्हारी प्यासी तलवार! तुम्हारा लोहू-भरा खप्पर! तलवारकी प्यास न बुझेगी, न यह खप्पर ही कभी भर पायेगा। सिंहवाहिनी माँ! जब तुम सिंहके समान असुरोंपर झपटती हो उस समय तुम्हारे मुक्त कुन्तल फहरा उठते हैं—आँखोंसे आग बरसने लगती है। लपलपाती हुई जीभ—असुरोंके रक्त पीनेकी अभ्यस्त जीभ! अनादि कालसे तुम असुरोंके महानाशमें संलग्न हो; पर तुम्हारा खप्पर न भरा, करवालकी प्यास न बुझी, रक्त पीनेसे तुम्हारा जी न भरा! पियो, पियो भगवती भैरवि! जगज्जननी दुर्गे! असुरसंहारिणी कालिके! पियो, पियो रक्तबीजोंका लोहू! उफ़! यह कितना रौद्र, माँ! जब तुम अपने अधरोंको खप्परसे सटाकर रक्त पीने लगती हो—उस समय, उस समय जब एक क्षणके लिये अपने उन्मद नेत्रोंको ऊपर उठाकर नेक मुसका देती हो!! फिर खप्परमें मुँह सटाकर जब उसमें अपनी कराल काल-स्वरूपिणी लपलपाती हुई जिह्वाको डुबोती हो!! माँ चामुण्डे! पियो, पियो, असुरोंके रक्तको पियो!

और माँ! तुम्हारा ताण्डव! प्रलयकी छातीपर तुम्हारा महाविकराल ताण्डव! श्मशान-भूमिमें तुम्हारा प्रलय-ताण्डव और उसका रौद्र रूप! उस समय तुम खप्परको सिरके ऊपर उठा लेती हो और दाहिने हाथका करवाल आकाश चूमने लगता है। तुम्हारे केश हवामें खड़े हो जाते हैं। दोनों नेत्रोंमें रक्त आभा होती है और तीसरेसे प्रलयाग्निके क्रोध-स्फीत स्फुलिङ्ग बरसने लगते हैं। गलेकी मुण्डमाला पदसञ्चालनकी गतिके साथ कभी कटिके दक्षिण-पार्श्वको और कभी वाम-पार्श्वको स्पर्श करती है। तुम्हारी लपलपाती हुई लाल जीभ ऊपरकी ओर मुड़ती है और तुम खूब जोरसे अट्टहास करके नाच उठती हो! उस समय तुम्हारे पाँवके पायजेब और घुँघरू झमाझम बोल उठते हैं और तुम उन्मत्त रणचण्डिकारूपमें अपने अलस-उन्मद-ताण्डवमें सुध-बुध खोकर नाचने लगती हो।

उस समय माँ! समस्त कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शेष—तुम्हारी नूपुर-ध्वनिमें अपनी ध्वनि मिलाकर नाच उठते हैं। सब दिशाएँ, नर-नाग, किन्नर-गन्धर्व—तुम्हारे चरणोंमें भीत-भावसे मस्तक टेक देते हैं!! माँ, ओ माँ!

× × ×

माँ! अपनी ज्वाला आप ही सँभालो। यह ज्योति मुझसे सही नहीं जाती, दयामयी जननी! अपना रौद्र रूप समेट लो। माँ भैरवि! मुझे अपने सौम्य रूपकी भी झाँकी लेने दो; माँ! दयामयी माँ!

माँ! तुम्हारा यह सौम्य, शान्त, पावन, कोमल, करुणप्रेमिल रूप! महामाये! महादुर्गे! माँ शक्ति! तुम्हारा यह स्नेहिल रूप कितना पावन, कितना सौम्य है!

माँ सरस्वती! माँ, ओ माँ! तुम्हारा यह मङ्गलरूप! तुम्हारा यह कल्याणरूप! तुम्हारी यह स्निग्ध शीतल-कान्ति! अह! हृदय श्रद्धा और प्रेमसे तुम्हारे चरणोंमें नत है।

माँ! तुम्हारा यह हृदयहारी रूप! श्वेत-पद्मकी सुविकसित पँखुड़ियोंपर तुम सुखासीन हो। तुम्हारा वाहन हंस जलमें केलि-कुरेल कर रहा है। दिव्य-वीणाके स्वर्गीय तारोंपर तुम्हारी कोमल-कोमल अँगुलियाँ नाच रही हैं। एक हाथमें वेद है, और दूसरे हाथकी अभय-मुद्रा। धपधपाती हुई स्निग्ध-कोमल धवल-कान्ति! कितनी भव्य, कितनी चित्ताकर्षक पावन मङ्गल-मूर्त्ति है। हृदयमें पावनताका महासमुद्र उमड़ रहा है, प्राणोंमें तुम्हारी स्निग्ध-कोमल मधुर कान्ति प्रेम भर रही है। तुम विद्या, बुद्धि, विवेक और ज्ञानकी देवी हो! कैसा मङ्गलमय है तुम्हारा रूप—

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना।
या ब्रह्माच्युतशङ्करप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा॥

और माँ! महालक्ष्मी भी तो तुम्हीं हो। सकल ऋद्धि-सिद्धिकी अधिष्ठात्री, समस्त वैभवकी जननी, समस्त सुख-सुहाग-ऐश्वर्यकी दात्री माँ! रक्त-कमलपर तुम्हारे कोमल चरण समासीन हैं। कैसा सुन्दर रूप है। लाल रेशमी साड़ी पहिने हुए हो। एक हाथमें कमल है, दूसरेमें शङ्ख। और अभयदान दे रही हो तीसरे हाथसे। तुम्हारी आँखोंसे कैसी स्निग्ध-द्युति छलक रही है—और सरोवरमें खिले हुए कमलोंके बीच एक श्वेत गज अपनी सूँड़में कमलकी माला लेकर तुम्हारे चरणोंमें समर्पित करनेके लिये उत्सुक है! इस रूपमें समस्त विश्व, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड तुम्हारे चरणोंमें अपना हृदय-कमल समर्पित कर रहे हैं। माँ नारायणी! तेरी जय हो! जय हो!!

× × ×

देवि! जगज्जननी महामाये! तुम्हारा सरस्वती और लक्ष्मीरूप कितना सौम्य और कितना स्निग्ध है। जी चाहता है, अपनेको चढ़ा दूँ इस मधुर-मनोहर देवीके पादपद्मोंपर। माँ! तेरी झाँकी बनी रहे—इससे अधिक इस आतुर हृदयके लिये क्या चाहिये?

ऐं! जगज्जननी महासती पार्वती तुम्हारा ही नाम है। तुम्हींको न त्रिभुवनमोहन शङ्करने वरा था! माता पार्वती! तुम्हारे पावन चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम हैं। देवताके साधनमें तुम्हारी कठोर तपश्चर्या! ***'बरौं संभु न त रहौं कुँवारी'*** की तुम्हारी भीषण प्रतिज्ञा और उस प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिये जीवनको तपस्याकी आगमें झोंककर, निरावरण होकर, सर्वशून्य होकर अपने प्राणनाथके चरणोंमें सर्वात्मसमर्पण!

प्रेमकी कैसी विकट परीक्षा थी। सप्तर्षि आये और तुम्हें विचलित करनेकी चेष्टा करने लगे। उस समय तुमने जिस अविचल श्रद्धा, अगाध प्रेम और अटूट भक्तिका परिचय दिया था उसके जोड़का संसारमें नहीं मिला। आज भी स्त्रियाँ माँगमें सेंदुर देते समय सतीत्वके आदर्शरूपमें माता गौरा-पार्वतीका ध्यान करके उनकी माँगमें सिन्दूर सभक्ति डाल देती हैं। आज भी संसारमें जहाँ सतीत्वकी बात आती है वहाँ, माँ अन्नपूर्णे! परमकल्याणि देवि! तुम्हारा ही नाम गर्वके साथ लिया जाता है। सतीत्वके आदर्शरूपमें तुम्हारा गुणगान समस्त विश्व कर रहा है! और इसी प्रेमने तो तुम्हें शिवके चरणोंमें पहुँचाया।

माँ! तुम्हारा रूप कैसा मङ्गलरूप है। कैसा अपूर्व तुम्हारा परिवार है और कैसा अपूर्व हैं उनके वाहन! मेरे सम्मुख जो मूर्ति है वह तो बहुत ही आह्लादकारी और वात्सल्यपूर्ण है। तुम मङ्गलमूर्ति शिशु गणेशको गोदमें

लेकर सोनेके कटोरेमें रखी हुई मिठाई खिला रही हो और गणेशजी कभी-कभी अपनी सूँड़ स्वयं कटोरेमें डुबा देते हैं। भगवान् शङ्कर यह देखकर मुसकरा रहे हैं। माँ! तुम्हारे कोमल चरण-कमलोंमें सादर सभक्ति कोटिशः प्रणिपात है!!

× × ×

सीता और राधा भी तुम्हीं हो अम्बे! पातिव्रत्यके आदर्शरूपमें सीता और प्रेमके आदर्शरूपमें राधा तुम्हीं हो। सेवा, समर्पण, त्याग तथा आत्माहुतिमें सीता और राधा संसारमें सदाके लिये अमर हैं।

भगवान् राम संसारमें आदर्श मर्यादापुरुषोत्तम और भगवती सीता संसारमें आदर्श सती! पतिके वन जानेकी बात सुनकर सीताने कहा—छाया अपने आधारको छोड़कर कहाँ रहेगी! चाँदनी चन्द्रमाको छोड़कर कहाँ रहेगी? वह दृश्य बार-बार आँखोंमें फिर जाता है—अभिषेकके राम तपस्वी-वेशमें वनको जा रहे हैं, पीछे-पीछे लक्ष्मण और सीता! वह सीता महारानी, जिन्होंने कभी जमीनपर पैर नहीं रखा था, नंगे पैर वनको जा रही हैं। घरसे निकलकर दो डग भी नहीं बढ़े थे कि माताके मुखमण्डलपर स्वेद-कण आ गये और थककर लक्ष्मणसे पूछती हैं—अभी वन कितनी दूर है?

पतिकी इच्छामें अपनी इच्छाओंको लय करके प्रेमके आदर्श लोककी सृष्टि कर सीता भारतके प्रत्येक स्त्री-हृदयके सिंहासनपर समासीन हैं। भारतीय स्त्रीत्व अपने गौरवके लिये विश्वविख्यात है और उस गौरवकी आधार हैं भगवती सीता। यही कारण है जिससे गङ्गा, गायत्री और गीताके साथ महारानी सीताका नाम जुड़ा हुआ है।

माँ! तुम्हारे चरणोंमें सहस्र विनम्र प्रणिपात स्वीकार हो!! माँ, माँ, ओ माँ!

और राधा रानी?

राधे! राधे! प्रेमके आदर्श लोकमें समर्पणकी प्रखर विद्युत्-किरण छिटकाकर, माधवके नूपुरोंमें अपने प्राणोंकी झंकार मिलाकर आज तुम प्रेमलोककी अधिष्ठात्री बन गयीं। हरिके अधरोंका रस और चरणोंका चुम्बन केवल तुम्हारे ही हिस्से पड़ा था। माँ! तुम्हारे मधुर-कोमल चरणतलमें मेरा कोटि-कोटि सभक्ति चुम्बन!! माँ! मेरी प्रेममयी माँ!!

श्रीशक्ति-तत्त्व

(लेखक—पं० श्रीसीताराम जयराम जोशी, एम० ए०, साहित्यशास्त्राचार्य)

आराध्या परमा शक्तिर्यया सर्वमिदं ततम्।

शक्ति-तत्त्वका ज्ञान उतना ही सूक्ष्म है जितना ब्रह्म-तत्त्वका। ये दोनों दुर्ज्ञेय हैं। दोनोंको यथार्थरूपसे समझनेके लिये ही अनेक दर्शनोंका प्रपञ्च हुआ है। एकका यथार्थ बोध दूसरेका ठीक-ठीक ज्ञान करानेके लिये काफी समर्थ है। अथवा इन दोनोंमेंसे किसी एकका ज्ञान कर लेना ही दूसरेको समझना है। दोनोंमेंसे किसी एकका ज्ञान कर लेना ही परमपुरुषार्थ है। और इसी परम प्रयोजनको उद्दिष्टकर शास्त्रोंकी तथा आगमोंकी, दर्शनोंकी भी प्रवृत्ति हुई है। इन दोनोंमेंसे किसी एककी आराधना न कर जीवन बिताना ही बुद्धि-वैभवको पाकर पशुतुल्य रहना है। इसी ज्ञानके लिये त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम प्रवृत्त हुए हैं। इन तीनोंका साफल्य तभी है जब कि पुरुष अपने जीवनका लक्ष्य इन दोमेंसे किसी एकका ज्ञान कर लेना समझता है। इन दोमेंसे किसी एक तत्त्वका ज्ञान जिसने कर लिया उसके लिये कर्त्तव्य कुछ भी शेष न रहा। क्योंकि भगवान्ने कहा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

'जिसको पाकर उससे बढ़कर कोई लाभ नहीं है ऐसा मान लेता है', अथवा—

एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥

'जिसको जानकर (नर) बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है।' ऐसी अवस्थामें यह विचारना आवश्यक है कि इस परमतत्त्वका रहस्य अथवा स्वरूप क्या है?

यदि कोई प्रतिज्ञा करे कि मैं इस तत्त्वके स्वरूपको समझा हूँ और आपको मैं उसे समझा दूँगा तो उसके लिये श्रुति कहती है, '**यस्य मतं न वेद सः**'—जो कहता है कि मैंने समझा है वह नहीं जानता। इसके विपरीत, जो पुरुष उसको समझने ही नहीं पा रहा है, जहाँ कि

यह स्थिति रहती है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

—जहाँपर वाणी मनके साथ न पहुँचकर वापिस लौट आती है अर्थात् मूक हो जाती है, उसीकी समझमें कुछ आ गया—'**यस्यामतं तस्य मतम्।**' तब शक्ति-तत्त्वके प्रतिपादनको ही मूलमें उपहासास्पद कहना चाहिये? नहीं, मनके साथ वाणी वहाँपर कैसे पहुँचने नहीं पाती इसका जबतक अनुभव नहीं होगा तबतक उससे परे कोई चीज है इसका ज्ञान ही होना असम्भव है। इसलिये इस लेखमें मनके साथ वाणी कहाँतककी मंजिल लाँघ सकती है यही समझनेकी कोशिश करेंगे, जिसको कि उस तत्त्वका स्वरूप-ज्ञान कहा जायगा और जिसके जाननेसे उस तत्त्वकी आराधनामें प्रवृत्ति होगी। योग्यतानुरूप एक या अनेक जीवनमें उसकी आराधना करनेके बाद उस वस्तुका तत्त्वज्ञान होना सम्भवनीय होगा और उस ज्ञानका उदय होनेसे अविद्याका नाश होकर मनुष्य कृतकृत्य होगा।

यहाँ प्रसङ्गवशात् 'शक्ति-तत्त्व' का स्वरूप समझनेकी कोशिश करेंगे। यदि परमात्मा सर्वव्यापी है तो उसकी परमाशक्ति भी उसी प्रकार सर्वव्यापी है। इसी परमात्माको हम सर्वशक्तिमान् कहते हैं। शक्तिमान्का ज्ञान करा देनेमें उसकी शक्ति ही कारण है। सूर्य-चन्द्र आदि ग्रहोंके उदयास्तका नियमन; समुद्र, पर्वत आदिका अपनी मर्यादाको न छोड़ना; यथासमय वृष्टि, सर्दी, गर्मी आदिका आविर्भाव आदि दैवी नियमोंका पालन देखकर उनकी नियामिका शक्तिका अनुमान होना स्वाभाविक है। अथवा सर्वशक्तिमान्की कल्पना ही शक्तिमूलक है। इसी सर्वशक्तिमान् परमात्मतत्त्वको कोई परब्रह्म, परमेश्वर, पुरुषोत्तम, आदिशक्ति, आदिमाया, आदितत्त्व आदि कहते हैं। वेद-शास्त्र इस तत्त्वके स्वरूपको अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकार्य, निर्गुण, निराकार, नित्य, सर्वगत, सनातन, अचल आदि शब्दोंसे प्रतिपादन करते आये हैं। जब परमात्मा ही अव्यक्त, अचिन्त्य, नित्य तथा सनातन हैं, तो उनकी शक्ति भी उसी प्रकार होनी चाहिये और वैसी है भी। किन्तु यह शक्ति अव्यक्त होती हुई अव्यक्त परमात्मासे भिन्न है, इस अव्यक्त-शक्तिसे व्यक्तभाव प्रकट होते हैं—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।

इस वचनमें निर्दिष्ट अव्यक्त यही है। परमात्मा पर, अव्यक्त होते हुए अविकार्य हैं, किन्तु यह शक्ति विकारोंकी प्रसवित्री है। यह स्वयं नित्य होती हुई अनित्य तत्त्वोंकी जन्मदात्री है। परमात्म-तत्त्व केवल चेतनस्वरूप है, परन्तु यह शक्तितत्त्व चेतनाचेतन दोनों है। श्रुति-स्मृतिमें इस शक्तितत्त्वको परमात्माकी मूल-प्रकृति कहा है, जिसके प्रधान, अव्यक्त, माया आदि शब्द पर्याय हैं। जैसे मनुष्यकी प्रकृति मनुष्यरूप ही होती है, उससे भिन्न नहीं कही जा सकती, अथवा मनुष्यकी विशेषता केवल उसकी प्रकृतिपर निर्भर रहती है, उसी प्रकार परमात्मस्वरूपकी पहचान उसकी प्रकृतिकी पहचानपर निर्भर है; इसलिये वह परमात्मस्वरूप ही है। तन्त्र-ग्रन्थोंसे यह स्पष्ट है। जैसे—

सर्वाद्या तु भवेच्छक्तिरानन्दघनगोचरा।
ब्रह्मरूपचिदानन्दा परब्रह्मैव केवलम्॥

'सबसे पहले जो आदिशक्ति है वह आनन्दघन प्रतीत है, वह ब्रह्मरूप सच्चिदानन्द केवल परब्रह्म ही है।' यही प्रकृति 'परमाशक्ति' कहाती है। यह जगद्रूपी विकृति इसी शक्तिका प्रतिबिम्ब है। कहा है—

प्रकृतौ विद्यमानायां विकृतिर्न बलीयसी।
प्रकृतिः परमा शक्तिर्विकृतिप्रतिबिम्बता॥

'प्रकृतिके रहते हुए विकृति अधिक बलवती नहीं हो सकती। प्रकृति ही परमा शक्ति है और विकृति उसका प्रतिबिम्ब है।'

परमात्मतत्त्व और शक्तितत्त्व अर्थात् उस परमात्माकी अनादि मूलप्रकृति, ये दोनों अव्यक्त हैं। अव्यक्त परमात्मतत्त्व सर्वदा निर्विकार है और वह परतत्त्व विकारशक्ति अव्यक्त मूलप्रकृतिसे परे है—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः।

मूलप्रकृतिभूत शक्तितत्त्वके दो रूप हैं—एक पर और दूसरा अपर। अपरा प्रकृतिकी व्याख्या भगवान्ने गीतामें इस प्रकार की है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयम्.............. (गीता ७। ४)

अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पञ्च महाभूतोंके तन्मात्र, 'मन' से अहङ्कार, 'बुद्धि' से महत्तत्त्व, और 'अहङ्कार' शब्दसे मूलप्रकृति (चैतन्यविरहित)—यह आठ प्रकारकी अपरा प्रकृति है, जो अचेतन अथवा जड है। परा प्रकृतिके विषयमें भगवान् कहते हैं—

..............इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(गीता ७। ५)

'इससे भिन्न जो प्रकृति है वह 'परा' है, क्योंकि वह जीवभूता है एवं जगत्‌की धारिका है।' यह परा प्रकृति चेतनस्वरूप, अतः परमात्माका अंशभूत है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

(गीता १५। ७)

—ऐसा भगवान् कहते हैं। इसलिये यह चेतना-चेतनात्मक परा और अपरा प्रकृति ही परब्रह्म 'परमा शक्ति' है।

सांख्य-शास्त्रमें यह बात स्पष्टरूपसे बतायी गयी है कि केवल जड परन्तु अव्यक्त मूलप्रकृतिसे ही सृष्टिका आरम्भ नहीं हो सकता, जबतक उस अव्यक्त मूलप्रकृतिमें चेतन परन्तु अव्यक्त पुरुषका अधिष्ठान न हो। अर्थात् परब्रह्म अथवा परमात्माकी यह उभयविध प्रकृति प्रतिबिम्बस्वरूप है, जो कि चराचर जगत्‌के रूपमें भासमान होती है। जैसे कहा है—

ब्रह्मबिम्बात्सर्वमेव जगदेतच्चराचरम्।

'ब्रह्मबिम्बसे ही यह सब चराचर जगत् (निर्मित) है।' इस प्रकार 'परमा शक्ति' के दो अङ्ग हैं—एक चिच्छक्ति और दूसरी 'जडा शक्ति'। चिच्छक्तिको 'अजडा शक्ति' भी कहते हैं, अथवा ये दोनों 'पुरुष' पदसे भी बोधित हैं। जडा शक्ति 'क्षर पुरुष' है और अजडा 'अक्षर पुरुष।' जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् कहते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

(गीता १५। १६)

'इस लोकमें 'क्षर' और 'अक्षर' ये दो पुरुष हैं। सब प्राणिमात्र 'क्षर' हैं और 'कूटस्थ' यह 'अक्षर' कहा जाता है।'

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(गीता १५। १७)

'इन दोनोंसे भिन्न 'उत्तम पुरुष' है जो कि परमात्मा है और जो सबका प्रभु होता हुआ तीनों लोकोंको व्याप्तकर धारण करता है और स्वयं निर्विकार है।'

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

'चूँकि क्षरको पार करके अक्षरसे भी उत्कृष्ट मैं हूँ, इसीलिये शास्त्र और वेदमें 'पुरुषोत्तम' के नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

इस पुरुषोत्तमकी 'परमा शक्ति' स्वयं अव्यक्त होती हुई इन दोनों प्रकारकी व्यक्त प्रकृतिके रूपमें प्रकट हो जाती है। ये दोनों अव्यक्त प्रकृति-पुरुष अनादि हैं। सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण और उनका विकार ये अव्यक्त प्रकृतिके धर्म हैं न तु अव्यक्त पुरुषके। जैसा कि कहा है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥

(गीता १३। १९)

'परमा शक्ति' के इन दो अङ्गोंको 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' भी कहा है। 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ' का ज्ञान भगवान्‌ने गीताके तेरहवें अध्यायमें विस्तृतरूपसे फिर कराया है। और अन्तमें कहते हैं—

यावत् सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥

(गीता १३। २६)

'सभी प्रकारके सत्त्व—चाहे वे स्थावर हों या जङ्गम—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न होते हैं, ऐसा हे भरतश्रेष्ठ (अर्जुन)! तुम जानो!' यहाँपर क्षेत्र-शब्दसे 'क्षर पुरुष' का, जिसे 'जडा शक्ति' अथवा 'अपरा प्रकृति' ऊपर कह आये हैं, ही, बोध कराया है और 'क्षेत्रज्ञ' यह कूटस्थ पुरुषके लिये कहा है। इस प्रकार अपरा और 'परा' प्रकृति, 'क्षर' और 'अक्षर' पुरुष, 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ', 'जडा' और 'अजडा' शक्ति, ये सब उसी अव्यक्त परब्रह्मकी अव्यक्त परम शक्तिके ही दो व्यक्त स्वरूप हैं, जिससे इस चराचर जगत्‌का प्रादुर्भाव है। नारदीय पुराणमें यही बात अधिक स्पष्ट कर रही है—

प्रकृती द्वे तु देवस्य जडा चैवाजडा तथा।
अव्यक्ताख्या जडा सा च सृष्ट्या भिन्नाऽष्टधा पुनः॥
महान् बुद्धिर्मनश्चैव पञ्चभूतानि चेति ह।
अवरा सा जडा श्रीश्च परेयं धार्यते तथा॥
चिद्रूपा सा त्वनन्ता च अनादिनिधना परा।
यत्समं तु प्रियं किञ्चिन्नास्ति विष्णोर्महात्मनः॥

नारायणस्य महिषी माता सा ब्रह्मणोऽपि हि।
ताभ्यामिदं जगत् सर्वं हरिः सृजति भूतराट्॥

इन श्लोकोंका अर्थ स्पष्ट है और भाव वही है जो ऊपर कह आये हैं। सारांश, यह स्थावर-जङ्गमात्मक सृष्टि परमात्माका शरीर है, जिसकी 'क्षेत्र' संज्ञा है और उस चराचरात्मक क्षेत्रको अवष्टब्धकर व्यापकरूपसे रहनेवाला जो चैतन्य है वही 'क्षेत्रज्ञ' है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—ये दोनों मिलकर परमात्माकी 'परमा शक्ति' हैं, जिसका आराधन धर्मग्रन्थोंमें विहित है।

'परमा शक्ति' के ये जो दो रूप हैं उनमें 'परा' तो जीवभूत चितिशक्ति है जिसको काश्मीरके प्रत्यभिज्ञा-सम्प्रदायमें 'भगवती संवित् अथवा प्रत्यभिज्ञा' कहा है। यह आध्यात्मिका शक्ति है। इसके अधिष्ठानमें जो अपरा शक्ति मूलप्रकृतिरूपा एवं त्रिगुणात्मिका है वह जबतक तीनों गुणोंकी साम्यावस्था रहती है तबतक अव्यक्त रहती है। इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्था अथवा समप्रमाणमें रहना जब बिगड़ जाता है तब वह व्यक्त हो जाती है और इस चराचररूप सृष्टिके द्वारा भासमान हो जाती है। इन तीनों गुणोंमेंसे जिस गुणका आधिक्य हो जाता है उस गुणकी शक्ति अधिक भासमान होती है। जैसे सात्त्विकी, राजसी और तामसी। सात्त्विकी शक्तिमें सत्त्वगुण अधिक और दूसरे दो कम प्रमाणमें रहते हैं। इसी प्रकार राजसीमें रजोगुणका आधिक्य और तामसीमें तमोगुणका आधिक्य रहता है। इन तीनों गुणोंके आधिक्यानुरूप तीन प्रकारकी अधिष्ठानशक्तियाँ कल्पित हैं, जो कि 'परमा शक्ति' के अङ्गभूत तीन देवता मानी गयी हैं। जैसे कहा है—

निर्गुणा या सदा नित्या व्यापिकाऽविकृता शिवा।
योगगम्याऽखिलाधारा तुरीया या च संस्थिता॥
तस्यास्तु सात्त्विकी शक्ती राजसी तामसी तथा।
महालक्ष्मीः सरस्वती महाकालीति च स्त्रियः॥
तासां तिसृणां शक्तीनां देहाङ्गीकारलक्षणात्।

—इत्यादि तीन अवस्थाओंसे पर चतुर्थ अवस्थामें रहनेवाली शक्ति—अर्थात् परमा शक्ति—निर्गुण, नित्य, व्यापक, विकाररहित, मङ्गलकारी, योगगम्य, समस्त जगत्का आधार है। वह शक्ति जब व्यक्त होती है तब सात्त्विकी, राजसी और तामसी—तीन प्रकारकी होती है, जो क्रमसे महालक्ष्मी, महासरस्वती और महाकाली नामसे लोकमें प्रसिद्ध है। ये तीन प्रकारकी शक्तिके तीन स्त्री नाम हुए। जब इन्हींके पुरुष-शरीरधारी देवताओंकी कल्पना की जाती है तो वे ही विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र हैं। विष्णु सात्त्विक शक्तिमान् देव और उसकी शक्ति लक्ष्मी, ब्रह्मा राजस शक्तिमान् तथा शक्ति सरस्वती और रुद्र तामस शक्तिमान् और शक्ति काली ये माने गये हैं। मूल महाशक्ति परब्रह्मस्वरूप ही है। परब्रह्म और उसकी परमा शक्तिमें ठीक वही भेद है जो अग्नि और उसकी उष्णतामें है। अग्निका अग्नित्व उष्णतामूलक ही है। दोनोंका अभेद है। एक कार्य है, दूसरा कारण। दोनोंकी स्थिति साथ-साथ है। किन्तु कार्यभेदसे नामभेद है, जैसा परमा शक्तिके विषयमें कहा है—

सा च ब्रह्मस्वरूपा च नित्या सा च सनातनी।
यथात्मा च तथा शक्तिर्यथाऽग्नौ दाहिका स्थिता॥

एक महाशक्तिके अनेक प्रकार कल्पित हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनोंकी तीन शक्तियाँ हैं, जैसे—

परमात्मा यथा देव एक एव त्रिधा स्थितः।
प्रयोजनवशाच्छक्तिरेकैव त्रिविधाऽभवत्॥

कोई आठ शक्तियोंकी कल्पना करते हैं तो कोई नौकी, कोई पचास विष्णुशक्तियाँ मानते हैं तो दूसरे पचास रुद्रकी शक्तियाँ मान लेते हैं। अनेक कुल-शक्तियाँ भी कल्पित हैं। अथवा थोड़ेमें कहें तो जितने देव हैं उतनी ही उनकी शक्तियाँ हैं; जैसे इन्द्रमें ऐन्द्री शक्ति, वरुणमें वारुणी, विष्णुमें वैष्णवी आदि। सारांश कहनेका यह है कि शक्ति और शक्तिमान्‌में भेद नहीं हो सकता। एक धर्म है तो दूसरा धर्मी और दोनों अभेदरूपसे हैं। इसलिये शक्तिकी उपासना शक्तिमान्‌हीकी उपासना है। अथवा शक्तिके बिना शक्तिमान्‌की उपासना अप्रशस्त मानी गयी है। शङ्करभगवान् पार्वतीजीसे कहते हैं—

शक्तिं विना महेशानि सदाऽहं शवरूपकः।
शक्तियुक्तो यदा देवि शिवोऽहं सर्वकामदः॥

'हे पार्वति! शक्तिके बिना मैं हमेशा शवके समान हूँ—अर्थात् प्राणरहित। मैं जब शक्तियुक्त रहता हूँ तभी सब इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला मङ्गलरूप हूँ।'

मन्त्रका जप हमेशा शक्तियुक्त करनेके लिये विधान है। शक्तियुक्त गायत्रीके जपसे ब्रह्मकी सिद्धि होती है। क्योंकि सावित्री-शक्ति साथमें है। शक्ति तो साथ रहती ही है, किन्तु उपासनामें उसकी भावना करनेकी

आवश्यकता होती है। जैसे कहा है—

शक्तियुक्तं जपेन्मन्त्रं न मन्त्रं केवलं जपेत्।
सावित्रीसहितो ब्रह्मा सिद्धोऽभून्नगनन्दिनि॥

इसी शक्तिको उपनिषदोंमें माया और अविद्या कहा है। यही प्रकृति है। इसी प्रकृतिको जीव-शिव अथवा अर्धनारीश्वर भी कहते हैं। जैसे—

योगेनात्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो बभूव सः।
पुमांश्च दक्षिणार्धाङ्गो वामार्धा प्रकृतिः स्मृता॥

इस माया अथवा अविद्याका स्वरूप नृसिंहोत्तरतापनीय-उपनिषद्में इस प्रकार है—

माया चाविद्या च स्वयमेव भवति सैषा विचित्रा सुदृढा स्वयं गुणभिन्नाङ्कुरेष्वपि गुणभिन्ना सर्वत्र ब्रह्मविष्णुशिवरूपिणी, चैतन्यदीप्ता तस्मादात्मन एव त्रैविध्यम्.........इत्यादि।

यहाँपर यह भी कहा है कि संसारभरके वटवृक्षोंकी वृद्धि जैसे एक वट-बीजसे शक्य है अर्थात् एक वट-बीजमें संसारभरके वट-वृक्षोंकी वृद्धि करनेकी शक्ति है इसी प्रकार बीजरूप इस मूलशक्तिमें जानना चाहिये।

इस प्रकार अनन्त शक्तिका यथामति दिग्दर्शनमात्र यहाँ किया गया है। इति शम्।

नारदकृत राधास्तवन

एक समय नारदजी यह जानकर कि 'भगवान् श्रीकृष्ण व्रजमें प्रकट हुए हैं' वीणा बजाते हुए गोकुलमें पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने नन्दजीके गृहमें बालकका स्वाँग बनाये हुए महायोगीश्वर दिव्य-दर्शन भगवान् अच्युतका दर्शन किया। वे स्वर्णके पलङ्गपर, जिसपर कोमल श्वेत वस्त्र बिछे थे, सो रहे थे और प्रसन्नताके साथ प्रेमविह्वल हुईं गोप-बालिकाएँ उन्हें निहार रही थीं। उनका शरीर सुकुमार था; जैसे वे स्वयं भोले थे वैसी ही उनकी चितवन भी बड़ी भोली-भाली थी। काली-काली घुँघराली अलकें भूमि छू रही थीं। वे बीच-बीचमें थोड़ा-सा हँस देते थे, जिससे दो-एक दाँत झलक पड़ते थे। उनकी छबिसे गृहका मध्यभाग सब ओरसे उद्भासित हो रहा था। उन्हें नग्न बालरूपमें देखकर नारदजीको बहुत ही हर्ष हुआ।

उन्होंने नन्दजीसे कहा—'तुम्हारे पुत्रके अतुलनीय प्रभावको, जो नारायणके भक्तोंका परम दुर्लभ जीवन है, इस जगत्में कोई नहीं जानता। शिव, ब्रह्मा आदि देवता भी इस विचित्र बालकमें निरन्तर अनुराग रखना चाहते हैं। इसका चरित्र सभीके लिये आनन्ददायी है। अचिन्त्य प्रभावशाली तुम्हारे शिशुमें स्नेह रखते हुए जो लोग इसके पुण्य चरित्रका सहर्ष गान, श्रवण तथा अभिनन्दन करेंगे उन्हें कभी भवबाधा न होगी। हे गोपवर! तुम परलोककी इच्छा छोड़ दो और अनन्यभावसे इस दिव्य बालकमें अहैतुक प्रेम करो।'

यह कहकर मुनिवर नारदजी नन्द-भवनसे निकले, नन्दने भी विष्णु-बुद्धिसे मुनिको प्रणाम करके उन्हें विदा दी। इसके बाद महाभागवत नारदजी यह विचारने लगे-'भगवान्की कान्ता लक्ष्मीदेवी भी अपने पति नारायणके अवतीर्ण होनेपर उनके विहारार्थ गोपीरूप धारण करके कहीं अवश्य ही अवतीर्ण हुई होंगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः व्रजवासियोंके घरोंमें उन्हें खोजना चाहिये।'

ऐसा विचारकर मुनिवर व्रजवासियोंके घरोंपर अतिथिरूपमें जा-जाकर उनके द्वारा विष्णु-बुद्धिसे पूजित होने लगे। उन्होंने सभी गोपोंका नन्दनन्दनमें उत्कृष्ट प्रेम देखकर मन-ही-मन सबको प्रणाम किया।

तदनन्तर वे नन्दके मित्र महात्मा भानुके घरपर गये। उन्होंने इनकी विधिवत् पूजा की, तब महामना नारदजीने उनसे पूछा—हे साधो! तुम अपनी धार्मिकताके कारण विख्यात हो। क्या तुम्हें कोई सुयोग्य पुत्र अथवा सुलक्षणा कन्या है जिससे तुम्हारी कीर्ति समस्त लोकोंको व्याप्त कर सके?

मुनिवरके ऐसा कहनेपर भानुने पहले तो अपने महान् तेजस्वी पुत्रको लाकर उससे नारदजीको प्रणाम कराया। तदनन्तर अपनी कन्याको दिखलानेके लिये नारदजीको घरके अन्दर ले गये। गृहमें प्रवेशकर उन्होंने पृथिवीपर लोटती हुई नन्हीं-सी दिव्य बालिकाको गोदमें उठा लिया। उस समय उनका चित्त स्नेहसे विह्वल हो रहा था।

कन्याके अदृष्ट तथा अश्रुतपूर्व अद्भुत स्वरूपको देखकर श्रीकृष्णके अत्यन्त प्रिय भक्त नारदजी मुग्ध हो गये। वे एकमात्र रसके आधार परमानन्दमय समुद्रमें गोते लगाते

हुए दो मुहूर्ततक पत्थरकी भाँति निश्चेष्ट बने रहे, फिर उन्होंने आँखें खोलीं और महान् आश्चर्यमें पड़कर वे मूकभावसे ही बैठे रहे।

अन्ततोगत्वा महाबुद्धिमान् मुनिने मनमें इस प्रकार विचारा—'मैंने स्वच्छन्दचारी होकर समस्त लोकोंमें भ्रमण किया, परन्तु इसके समान अलौकिक सौन्दर्यमयी कन्या कहीं भी नहीं देखी। ब्रह्मलोक, रुद्रलोक और इन्द्रलोकमें भी मेरी गति है किन्तु इस कोटिकी शोभाका एक अंश भी मुझे कहीं नहीं दीखा। जिसके रूपसे चराचर जगत् मोहित हो जाता है उस महामाया भगवती गिरिराजकुमारीको भी मैंने देखा है। वह भी इसकी शोभाको कभी नहीं पा सकतीं। लक्ष्मी, सरस्वती, कान्ति और विद्या आदि देवियाँ इसकी छायाका भी स्पर्श कर सकती हों—ऐसा भी नहीं देखा जाता। अतः इसके तत्त्वको जाननेकी शक्ति मुझमें किसी तरह नहीं है। अन्य जन भी प्रायः इस हरिवल्लभाको नहीं जानते। इसके दर्शनमात्रसे गोविन्दके चरणकमलोंमें मेरे प्रेमकी जैसी वृद्धि हुई है वैसी इसके पहले कभी नहीं हुई थी। अस्तु, अत्यन्त वैभव दिखानेवाली इस देवीकी मैं एकान्तमें वन्दना करूँ, इसका रूप भगवान् श्रीकृष्णके लिये परमानन्दजनक होगा।'

ऐसा विचारकर मुनिने गोपप्रवर भानुको कहीं अन्यत्र भेज दिया और एकान्त स्थानमें उस दिव्यरूपिणी बालाकी स्तुति करने लगे—

हे देवि! हे अनन्तकान्तिमयी महायोगमायेश्वरि! तुम्हारा अंग मोहन एवं दिव्य है, उससे अनन्त मधुरिमाकी वर्षा होती रहती है। तुम्हारा हृदय महान् अद्भुत रसानन्दसे पूर्ण रहता है। तुम मेरे किसी महान् सौभाग्यसे आज नेत्रोंकी अतिथि बनी हो। हे देवि! तुम्हारी दृष्टि अन्तःकरणमें निरन्तर सुखदायिनी प्रतीत होती है, तुम अपने अन्दर महान् आनन्दसे तृप्त-सी दीख पड़ती हो। तुम्हारा यह प्रसन्न, मधुर तथा सौम्य मुखमण्डल हृदयको सुख देनेवाले किसी महान् आश्चर्यको व्यक्त कर रहा है। हे अत्यन्त शोभामयि! तुम रजोगुणकी कलिका और शक्तिरूपा हो। सृष्टि, पालन और संहाररूपमें तुम्हारी ही स्थिति है। तुम विशुद्ध सत्त्वमयी और विद्यारूपिणी पराशक्ति हो तथा परमानन्दसन्दोहमय वैष्णवधामको धारण करती हो। ब्रह्मा और रुद्रके लिये भी तुम्हारा जानना कठिन है। तुम्हारा वैभव आश्चर्यमय है। तुम योगीश्वरोंके भी ध्यानपथका कभी स्पर्श नहीं करती। मेरी बुद्धिमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति—ये सब तुम्हारे अंशमात्र हैं।

मायासे ही शिशुरूप धारण करनेवाले परमेश्वर महाविष्णुकी जो अचिन्तनीय विभूतियाँ हैं वे सभी तुम्हारी अंशांशमात्र हैं। हे ईश्वरि! तुम निस्सन्देह आनन्दमयी शक्ति हो, अवश्य ही वृन्दावनमें तुम्हारे साथ श्रीकृष्णचन्द्र क्रीड़ा करते हैं। कुमारावस्थामें ही तुम अपने सुन्दर रूपसे विश्वको मुग्ध कर रही हो। न जाने, यौवनका स्पर्श होनेपर तुम्हारा रूप, लावण्य तथा हास-विलासयुक्त निरीक्षण कैसा अद्भुत होगा? हे हरिवल्लभे! तुम्हारे उस पूजनीय दिव्य स्वरूपको मैं देखना चाहता हूँ, जिससे नन्दनन्दन श्रीकृष्ण मुग्ध हो जायँगे। हे महेश्वरि! माता! मुझ शरणागत तथा प्रणत भक्तके लिये दया करके तुम अपना स्वरूप प्रकट कर दो।

यों निवेदन करके नारदजीने तदर्पित चित्तसे उस महानन्दमयी परमेश्वरीको नमस्कार किया और भगवान् गोविन्दकी स्तुति करते हुए उस देवीकी ओर ही देखते रहे।

जिस समय वे श्रीकृष्णका नाम-कीर्तन कर रहे थे उसी समय भानुसुताने चतुर्दशवर्षीय, परम ललाम, अत्यन्त मनोहर दिव्य रूप धारण कर लिया। तत्काल ही अन्य व्रजबालाओंने, जो उसीकी समान अवस्थाकी थीं, दिव्य भूषण तथा सुन्दर हार धारण किये हुए आकर बालाको चारों ओरसे आवृत कर लिया। उस समय बालिकाकी सखियाँ उसके चरणोदककी बूँदोंसे मुनिको सींचकर कृपापूर्वक बोलीं—

हे महाभाग मुनिवर! वस्तुतः आपने ही भक्तिके साथ भगवान्की आराधना की है; क्योंकि ब्रह्मा, रुद्र आदि देवता, सिद्ध, मुनीश्वर तथा अन्य भगवद्भक्तोंके लिये जिसका दर्शन मिलना कठिन है उसी अद्भुत वयोरूपसम्पन्ना विश्वमोहिनी हरिप्रियाने किसी अचिन्त्य सौभाग्यवश आज आपके दृष्टिपथपर पदार्पण किया है! हे ब्रह्मर्षे! उठो, उठो शीघ्र ही धैर्य धारणकर इसकी परिक्रमा तथा बार-बार नमस्कार करो। क्या तुम नहीं देखते अवश्य ही इसी क्षणमें यह अन्तर्धान हो जायगी, फिर इसके साथ किसी

तरह तुम्हारा सम्भाषण नहीं हो सकेगा।

उन प्रेमविह्वला सखियोंके वचन सुनकर नारदजीने दो मुहूर्ततक उस सुन्दरी बालाकी प्रदक्षिणा करके साष्टाङ्ग प्रणाम किया। उसके बाद भानुको बुलाकर कहा—'तुम्हारी पुत्रीका प्रभाव बहुत बड़ा है। देवता भी इसका महत्त्व नहीं जान सकते। जिस घरमें इसका चरण-चिह्न है, वहाँ साक्षात् भगवान् नारायण निवास करते हैं और समस्त सिद्धियोंसहित लक्ष्मी भी वहाँ रहती हैं। आजसे सम्पूर्ण आभूषणोंसे भूषित इस सुन्दरी कन्याकी महादेवीके समान यत्नपूर्वक घरमें रक्षा करो।' ऐसा कहकर नारदजी हरिगुण गाते हुए चले गये।

(पद्मपुराणसे)

शक्ति-सम्प्रदाय

(लेखक—प्रो॰ श्री वी॰ आर॰ रामचन्द्र दीक्षितार, एम॰ ए॰)

शक्ति-उपासनाके आविर्भावका प्रश्न, अन्य भारतीय पुरातत्त्व-सम्बन्धी विषयोंकी भाँति, रहस्यसे आच्छन्न है। बहुत दिनोंतक ऐसी धारणा रही है कि शक्तिकी देवीरूपमें उपासना हिन्दू-धर्ममें पीछेसे प्रारम्भ हुई, जब कि तन्त्र-शास्त्रकी बहुलता हुई और उसका प्रचार बढ़ा। परन्तु पुरातत्त्ववेत्ताओंके खनित्रसे प्रागैतिहासिक युगकी जो नयी-नयी वस्तुएँ मोहन-जो-दड़ो और हरप्पामें निकली हैं, उनसे तो उक्त मतकी अप्रामाणिकता ही सिद्ध होती है। सिन्धुनदके आस-पासके प्रदेशमें जो ये नयी-नयी वस्तुएँ, विशेषत: योनिके आकारकी मूर्तियोंके नमूने मिले हैं, उनके आधारपर हम इस निर्णयपर आ सकते हैं कि ताम्रयुगके सिन्धु-प्रदेशमें माता शक्तिकी उपासना प्रचलित थी। सर जॉन मारशलने ठीक कहा है कि 'शक्ति-पूजा, जो अत्यन्त प्राचीन कालसे भारतवर्षमें चली आती है, माता महादेवीकी उपासनासे ही प्रसूत हुई है और शैव-मतसे इसका अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। भारतीय शक्तिवादके समान ही एशिया-माइनर, मिश्र, फ़िनीशिया, यूनानमें भी किसी-न-किसी रूपमें शक्ति-उपासना प्रचलित है। और इन देशोंके मतकी प्रधान-प्रधान सिद्धान्तोंमें भारतीय शक्तिवादके मतसे इतनी अधिक घनिष्टता और समानता आश्चर्यकारी है।' इससे तो यही पता चलता है कि ताम्रयुगमें भारतवर्ष और पश्चिमीय एशियामें आवागमन बहुधा होता था।* इस प्रकार भारतीय धर्म-साहित्यमें जिसे शाक्त-मतके नामसे पुकारा गया है, वह ईसासे चार हजार वर्ष पूर्व प्रचलित था, इस बातका स्पष्ट प्रमाण मिलता है। माता शक्तिकी उपासना-पद्धति प्राचीन कालमें संसारभरमें व्याप्त थी और यह सर्वथा सम्भव है कि एक दिन हमें इस सम्बन्धमें अधिक सामग्री मिले जिसके बलपर हम इस निश्चयपर पहुँच सकें कि इस सर्वव्यापी उपासनाके मूलमें एक व्यापक संस्कृति रही हो। इस प्रकार हमारे पास पुरातत्त्वके ऐसे प्रबल प्रमाण हैं जिनके बलपर हम यह प्रमाणित कर सकते हैं कि माता देवी (लोक-माता)-की उपासना ताम्रयुगसे अविच्छिन्न चली आ रही है और उतनी ही प्राचीन है। मोटे तौरपर, यदि अधिक न मानें, तो भी इतना तो मानना ही होगा कि ईसवी सन्‌के तीन हजार वर्ष पूर्वसे यह उपासना-पद्धति प्रचलित है।

संस्कृतिके विधायकोंके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि यह सभ्यता आर्यसभ्यतासे भिन्न, जिसे हम बहुधा द्राविड़ी संस्कृति कहते हैं उसीकी द्योतक है। इस विषयका निर्णय करते समय हमें कुछ बातोंको स्मरण रखना होगा। वे इस प्रकार हैं—

(१) क्या आर्य बाहरसे आये? (२) यदि बात वैसी हो तो वे कब आये और भारतवर्षमें बसे? (३) शक्तिवादके मूल सिद्धान्त क्या हैं? पहले दो प्रश्नोंका सन्तोषप्रद उत्तर पाना कठिन है। इन दोनों प्रश्नोंके उत्तरमें पक्ष और विपक्ष दोनोंमें यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं। चाहे वे बाहरसे आये हों अथवा इसी देशके आदिनिवासी हों, एक बात तो निश्चित है—और वह यह है कि भारतके प्राचीनतम ग्रन्थ—ऋग्वेदसंहितामें हमारी संस्कृति और सभ्यताका जो चित्र मिलता है वह सिन्धुनदके आस-पास मिली हुई मूर्तियोंद्वारा प्रदर्शित संस्कृति तथा सभ्यताकी पूर्वगामिनी है। दोनों संस्कृतियोंमें बहुत-सी समानताओंके सिवा एक बड़ी बात यह है कि सिन्धु-प्रदेशकी सभ्यता ऋग्वेद-संहिताकी संस्कृतिसे अत्यधिक सङ्कुल तथा सम्मिश्र, अत्यधिक उन्नत, अत्यधिक सुसंस्कृत है। वैदिकसाहित्यमें प्रदर्शित हुआ है कि उस कालके निवासी विशुद्ध ग्राम्य जीवन व्यतीत करते थे।

* देखिये— Mohen-jo-Daro & Indus Civilization PP 57-58.

वे क्रमशः ग्राम्य जीवनके आगे बढ़कर नागरिक जीवनकी ओर अग्रसर होते देखे जाते हैं। नागरिक जीवन और नागरिक चेतनाका आविर्भाव प्रचुररूपमें हुआ दृष्टिगोचर नहीं होता। पूजा अधिकांश भूत-तत्त्व और प्रकृतिकी है। कटे-छँटे मत नहीं हैं। देव-प्रतिमाकी उपासनाका कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस प्रकार वैदिक संस्कृति और सिन्धु-प्रदेशकी संस्कृतिमें महान् अन्तर दीखता है। सिन्धु-प्रदेशके संस्कृति-कालमें लोग सुखद गृहोंमें रहने लगे थे, किन्हीं घरोंपर छतें भी थीं। मकान दुमहले भी बनने लगे थे। सुन्दर-सुव्यवस्थित म्युनिसिपल-प्रबन्ध था, इस बातका प्रमाण भी मिलता है। लोगोंका जीवन पूर्णतः नागरिक था। भिन्न-भिन्न मत-सम्प्रदाय आस-पास खड़े हो गये थे। योग-दर्शनका प्रचार स्थिर हो गया था। विविध प्रकारसे वैदिक कालके सरल निश्छल जीवनसे चलकर सिन्ध-तराईके संस्कृति कालतक पूरा-पूरा बहुत विशाल अन्तर हो गया और वहाँ जीवन सम्मिश्र, संसृष्ट और समाज-बद्ध हो गया था।

इन्हीं सब कारणोंसे हम यह अनुमान करनेके लिये बाध्य हो जाते हैं कि मोहन-जो-दड़ोमें जिस संस्कृतिकी अभिव्यक्ति हुई है वह आर्योंकी ही है। इसके अतिरिक्त हमारे दर्शन-साहित्य और पुराणोंका प्रमाण यह सिद्ध करता है कि योगका जिस धार्मिक चिन्तन-प्रणालीके रूपमें विकास हुआ है वह सर्वथा आर्योंका है। मैंने अपनी पुस्तक 'Some Aspects of Vāyu Purāṇa' में यह प्रमाणित किया है कि किस प्रकार मोहन-जो-दड़ोकी मूर्त्तियोंकी जो योग-मुद्राएँ हैं वे ठीक वैसी हैं जैसा वायुमहापुराणमें योगका पाशुपतरूप वर्णित है। पुराणोंमें यह प्रत्यक्ष है कि किसी समय कर्मकी अपेक्षा योगको विशेष महत्ता प्रदान की जाती थी और उसी जोशके साथ योगका अभ्यास भी होता था। वस्तुतः कर्मवादका आविर्भाव तथा विकास योगसे ही हुआ। हमारे कहनेका तात्पर्य यह है कि योग धार्मिक अभ्यासकी एक परम प्राचीन प्रणाली है और ताम्रयुगकी सिन्ध-तराईकी संस्कृति सम्भवतः इसी युगके भारतीय धार्मिक और दार्शनिक इतिहासका परिचय देती है।

यदि इसे स्वीकार कर लें और यदि योग-सम्प्रदायके गूढ़ सिद्धान्तोंका विश्लेषण करें तो हमलोग सिन्धु-प्रदेशमें माता शक्ति और शिवकी उपासनाके स्वरूपको समझ सकेंगे। स्पष्ट कर देनेकी दृष्टिसे मैं शिव-सम्प्रदाय और शक्ति-सम्प्रदायके सम्बन्धमें कहूँगा। चूँकि शक्तिके बिना शक्तिमान् नहीं रह सकता इसलिये शिव-शक्तिकी उपासनाका विकास हुआ। इस उपासनाके विकासमें योगने सहायता दी। योगके छः अङ्ग हैं। उनके नाम हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा। जो लोग योगकी मूल प्रक्रियाका अभ्यास करते हैं—जो ठीक वही थी जिसे आज हम प्राणायाम कहते हैं—वे इन भिन्न-भिन्न अङ्गोंके रहस्यों और क्रियात्मक सिद्धान्तोंको समझ सकते हैं। इनमें 'आज्ञा' शक्तिका प्रतीक है। यह पूरी तरह अनुभव करके देखा गया है कि शक्तिके इस प्रतीकके बिना पहले पाँच अङ्ग ठीक-ठीक काम नहीं कर सकते। शक्तिमान् अथवा पुरुष स्वयं सक्रिय नहीं हो सकता। उसे एक ऐसी शक्तिकी आवश्यकता है जो उसे क्रियामें संलग्न कर सके, उसे कार्य करनेको प्रेरित कर सके। यह शक्ति माता शक्तिके द्वारा ही प्राप्त होती है। इस प्रकार हमारे प्राचीन आत्मदर्शी ऋषि-मुनियोंने योगको सिद्ध किया और इसका अभ्यास सदाके लिये इस संसारके बन्धनसे मुक्त होनेके लिये किया। इसीको वेदान्तीगण पुरुष और प्रकृतिका सम्मिलन कहते हैं। कुछ विस्तारके साथ हमने योग-शास्त्रके मूल-सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें प्रकाश डाला है—जिसका तात्पर्य केवल यही दिखलाना है कि शिव-सम्प्रदायसे शक्ति-सम्प्रदाय भिन्न नहीं था, क्योंकि योग-साधनके लिये शिव-शक्ति दोनोंकी आवश्यकता थी। इस प्रकार हमलोगोंको प्राचीनकालीन सिन्धु-संस्कृतिके धार्मिक सिद्धान्तको समझना है। जगज्जननी देवीकी उपासना और शाक्त-मत एक ही चीज है। परन्तु यह शक्तिवाद वह नहीं है जैसा पीछेके आगमोंने इसके अमित कर्मकाण्डके साथ समझा है।

प्राचीन शाक्त-सम्प्रदाय जो यहाँके मूल आदिम निवासियोंसे प्रारम्भ हुआ, जो सभ्यताकी प्रारम्भिक अवस्थामें थे, समय पाकर धीरे-धीरे बदलता गया। परन्तु इससे हमारा यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। दार्शनिक दृष्टिसे 'प्रत्यक्षरूपमें और अप्रत्यक्षरूपमें शक्ति और मूल प्रकृति एक ही हैं और समस्त विश्व उस शक्तिकी विवृतिमात्र है।' (फरक्यूहर, Religious Literature of India,)

माँ दुर्गे! तेरी जय हो!!

(लेखिका—श्री 'अज्ञात')

(सत्य घटना)

यैस्तु भक्त्या स्मृता नूनं तेषां वृद्धिः प्रजायते।

माता कालीकी महिमा कोटि-कोटि जन्मोंमें भी गाकर मैं नहीं गा सकती। जो निखिल ब्रह्माण्डका—समस्त चर-अचरका—उद्भव, स्थिति और संहार करनेवाली है उस आदि-शक्ति, आदि-माताकी महिमा मैं कैसे गा सकूँगी? शेष भी उसकी अशेष गुणमहिमाका वर्णन करना चाहें तो नहीं कर सकते। जगज्जननी महामाया महाशक्तिने अनन्त अनुकम्पाकी जो अजस्र वर्षा मुझ तुच्छ क्षुद्र जीवपर की है उसके लिये तो मेरी वाणी मूक ही रहेगी। माँकी कृपासे हृदय ओतप्रोत हो जाय, उसकी अनुकम्पामें प्राण भिन जायँ—इससे अधिक क्या चाहिये? माँकी अनन्त करुणासे मुझे जो कुछ आशातीत लाभ हुआ है, उसके लिये मैं क्या कहूँ! वास्तवमें मनुष्य माँके ऋणको हृदयमें बहुत ही कम अनुभव करता है!

बहुत बचपनसे ही यह जीव जगदम्बा भवानीका उपासक रहा है। दयामयी सर्वेश्वरी माँने अपनी अगाध अनुकम्पासे, समय-समयपर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपमें इस क्षुद्र जीवको अपने वात्सल्यप्रेम एवं अनन्त करुणाका जो परिचय दिया है उनमेंसे दो-एक घटनाओंका विवरण 'कल्याण' के सुविज्ञ पाठकोंकी सेवामें अर्पित करती हूँ। आशा है, इससे 'कल्याण' के पाठकोंका कुछ कल्याण अवश्य होगा। अस्तु।

आजसे ठीक ढाई वर्ष पूर्वकी बात है। मैं मध्यप्रदेशके अन्तर्गत छत्तीसगढ़ कमिश्नरीके विलासपुर-जिलेमें थी। मेरे पतिदेवका मुकाम हर महीने पन्द्रह दिनके लिये विलासपुरसे चलकर तैंतीस-चौंतीस मीलकी दूरीपर तहसील मुंगेलीमें होनेके कारण मुझे भी प्रत्येक बार अपने दोनों बच्चे-बच्चीको लेकर उनके साथ जाना पड़ता था। अस्तु।

सन्ध्याका समय था। एक लॉरी मोटर हमारे द्वारपर लगी थी और हमलोग मुंगेली जानेके लिये बिलकुल तैयार थे। मेरे पतिदेव अभी ऑफिससे लौटे नहीं थे। मैं द्वारपर खड़ी-खड़ी उनकी बाट जोह रही थी। मोटरवाला जल्दी मचा रहा था और मैं उसे पाँच मिनट ठहर जानेके लिये कह रही थी। शहरके उस पार सकरी नामक पुल टूट गया था। रातको उसपर मोटर लारियाँ आदि ले जानेकी मनाही थी। बेचारा ड्राइवर इसीलिये जल्दीमें था!

मेरे पड़ोसके सटे हुए मकानमें एक शर्माजी रहते थे। ये बड़े ही आस्तिक पुरुष थे। उनकी धर्मपत्नीने अपनी कन्यासे यह कहला भेजा कि पन्द्रह दिनोंके लिये बाहर जा रही हो, हमलोगोंसे मिल जाओ। मैंने नम्र शब्दोंमें कहला दिया कि इस समय जानेकी गड़बड़ है, इसलिये आ नहीं सकती। इसपर उन्होंने अपने मकानके अन्दरसे ही आवाज लगायी कि आकर ज़रा भगवतीके दर्शन ही कर जाओ! (शर्माजीकी बैठकके दीवालमें एक अति रमणीय कालिका भवानीका चित्र टँगा रहता था। मैं जब-जब उनके मकानपर जाती तो भक्ति-विह्वल हृदयसे उसकी वन्दना करती!) शर्माजीकी स्त्रीके आग्रहका मैंने कुछ दूसरा ही मतलब समझा! मेरे मनमें यह बात समा गयी कि देवीके दर्शनके बहाने वे मुझे बुलाकर कुछ देर बैठा लेंगी। इसी हेतु, देर हो जानेके भयसे मैंने उनके घर जानेसे साफ इनकार किया और अपने घरसे ही देवी भगवतीके चरणोंमें मानसिक प्रणाम करके जल्दी-जल्दी मोटरपर सवार होकर पतिदेवके साथ मुंगेलीको रवाना हो गयी!

मोटर सन-सन भागी जा रही थी। मुंगेलीके पास हम आ चुके थे। इतनेमें क्या देखा कि जोरोंसे आँधी उठी और लॉरीके इञ्जिनकी तरफसे भयानक अग्निकी लपट आती हुई दिखी। लॉरी रोक दी गयी। आग तेज हो गयी। सभी घबरा गये, मेरे पतिदेव इञ्जिनके पास ही अगली सीटपर ड्राइवरके बाजूमें बैठे थे। वे कूद पड़े और मेरे पास आकर निकल भागनेके लिये चिल्लाने लगे। मैं गाड़ीके पीछे दरवाजेके पास बैठी थी। मैंने खोलनेके लिये द्वारका हैंडल घुमाया पर घबराहटमें वह उलटा घूम गया, फलतः वह इतने जोरसे कस गया कि अब उसका खोलना बहुत ही कठिन हो गया। मेरे बच्चे

सामनेकी बेंचपर ऊँघ रहे थे। अग्निकी लपटोंमें वे बिलबिलाकर जाग उठे और माँ! माँ! बचाओ, बचाओ' चिल्लाने लगे। मेरे पतिदेव गाड़ीके चारों ओर घूम-घूमकर लोगोंसे कूद पड़नेको कह रहे थे। उन्होंने मुझसे कहा कि 'न हो तो तुरन्त खिड़कीसे बच्चोंको बाहर फेंक दो। पर उस समय सभीको अपनी-अपनी जानकी पड़ी थी। सभी खिड़कीपर भेड़ियाधसान-से आ टूटे और हतबुद्धि हो गये। कोई बाहर न निकल सका। खिड़की कोई भी खाली न थी। मैं किंकर्त्तव्यविमूढ हो गयी। समझ न सकी कि बच्चोंको कैसे बचाऊँ। पाठक मेरे हृदयकी उस समयकी विकलताका अनुमान सहज ही कर सकते हैं।'

सहसा मुझे अपनी पड़ोसिनके शब्द स्मरण हो आये। मानो मेरे हृदयमें कोई बोल उठा—'दुर्गाजीके दर्शन ही कर जाओ!' मेरे हृदयकी धड़कन बढ़ गयी। मेरा यह विश्वास हो गया कि देवीके दर्शनकी अवहेलना करनेसे ही यह आपत्ति आयी है। अब मैंने अपने और अपने बच्चोंकी प्राण-रक्षाका ध्यान छोड़ दिया। भगवतीके कोपसे तो भगवती ही रक्षा कर सकती थी। मेरे पास एक छोटी-सी पेटी थी जिसमें मेरी आराध्या देवी भगवतीका चित्र रखा था। मैं उसे बचानेके अभिप्रायसे उसी ओर, जहाँसे आगकी लपटें आ रही थीं, झपटी और मुसाफिरोंका सामान तितर-बितरकर (क्योंकि सब सामानके नीचे मेरी पेटी दबी हुई थी) अपनी पेटी ढूँढ़ने लगी। बस, फिर क्या था? मेरी परम करुणामयी कल्याणी भगवती तो अन्तस्तलकी जाननेवाली हैं..............!!

मेरे हृदयमें शुभ संकल्प उठते ही ....!!!

अहा हा! वहाँ न अग्नि, न प्रकाश, न वे भयंकर ज्वालाएँ! सर्वत्र एक ही क्षणमें शान्ति छा गयी। सभी प्रसन्न थे! यह उस अनन्त शक्तिशालिनी लीलामयीकी लीलाका एक विचित्र दृश्य था।

× × ×

कौन जानता है माँ जगदम्बिका कब, कैसे, किस रूपमें किसपर प्रसन्न हो जाय! यह तो उसकी अनुकम्पापर ही सर्वथा निर्भर है। कभी-कभी तो वर्षों तपस्यापर भी सब लोग उसकी कृपाके अधिकारी नहीं हो सकते और कभी वह लीलामयी अपनी अमित अनुकम्पाकी अजस्र स्नेह-धारामें निरीह, गत-आश, कङ्गाल, दरिद्रको थोड़े-से ही विश्वासयुक्त करुण-स्वरसे दीन होकर पुकारनेपर निमेषमात्रमें ही अपना लेती है, उसके नतमस्तकपर अपने सुशीतल वरद करोंको रख देती है। माताकी अनुकम्पासे तुरन्त ही सेवकके सारे संकट कट जाते हैं। परन्तु यह सब दयामयी जननीकी इच्छापर ही निर्भर है। यह उस समयकी घटना है जबकि इस तुच्छ जीवको अपनी भगवतीकी आराधना करते हुए ठीक बारह वर्ष पूर्ण होनेको आये थे। मैं सुन चुकी थी कि जगदम्बिका भवानीकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये बारह वर्ष अनन्य अविच्छिन्न उपासना होनी चाहिये। परन्तु मुझे स्वप्नमें भी यह खयाल नहीं था कि कभी मेरे-जैसा तुच्छ जीव भी माता जगदम्बिकाकी प्रसन्नताका पात्र होनेके योग्य बन सकेगा।

उन दिनों मैं श्रीरामकृष्ण परमहंसकी जीवनी पढ़ रही थी। मेरे मनमें यह बार-बार प्रश्न उठता कि श्रीरामकृष्ण परमहंसको माता कालीके कैसे दर्शन हो सके। लोग इसे कलियुग कहते हैं। क्या कलियुगमें भी भगवतीके साक्षात् दर्शन हो सकते हैं? माँ कितनी दयामयी होगी! श्रीरामकृष्ण परमहंसका तप कितना उत्कट होगा!! मुझ-जैसी अपात्रपर क्या कभी भी देवीकी कृपा होगी? दोपहरका समय ढल चला था। ढाई बजते होंगे। मैं इन्हीं विचारोंकी उधेड़-बुनमें पड़ी अपने कमरेमें बैठी थी कि अचानक देखती क्या हूँ कि एक विकराल-शरीर वृद्धा स्त्री सफेद वस्त्र धारण किये मेरे पास आकर बैठ गयी! सहसा इस प्रकार एक अपरिचिता डरावनी सूरत स्त्रीको अपने पास बैठे देखकर मैं सहम गयी। कुछ साहस करके मैंने उससे पूछा—

तुम कौन हो और यहाँ क्यों आयी हो? वह भयङ्कर मूर्ति मेरे पास अधिक सरक आयी। उसने बड़ा ही विकराल मुँह बनाते हुए कहा—'मैं तुम्हारी मौत हूँ और तुम्हें लेने आयी हूँ।'

मैं (कुछ सोचकर) बोली—'मैं भगवती कालिकाकी उपासिका हूँ। उनकी इच्छाके बिना मैं नहीं जा सकती।'

वह विकराल मूर्ति बोली—'ऐसा क्योंकर होगा? मैं तुम्हें पकड़कर ले जाती हूँ।'

मैंने साहसके साथ कहा, 'मैं जानती हूँ कि तुममें बड़ा बल है। परन्तु जानती हो, मेरी सहायता करनेवाली

एक ऐसी अपराजिता शक्ति है जो तुमसे सहस्रों गुना अधिक बल रखती है। जरा ठहरो, उससे मिल तो लो। यदि तुमने उसको जीत लिया तो मैं तुम्हारी इच्छानुसार करूँगी, अन्यथा नहीं।'

उसने आवेशभरे शब्दोंमें कहा—'बताओ, वह तुम्हारी शक्ति कहाँ है?'

मैंने अति दीन हृदयसे पूर्ण विश्वासके साथ आवेशपूर्वक अपनी परमाराध्या भक्तभयहारिणी, सङ्कट-मोचिनी, असुरसंहारिणी चण्डिकाका स्मरण किया।

उसी समय तुमुल मेघ-गर्जनके समान भारी शब्द सुनायी पड़ा और तत्क्षण ही मैंने वहाँ देखा…………… !!

जिन आँखोंने वह दृश्य देखा, उनके तो हाथ नहीं हैं और लेखनीसे लिखनेवाले इन हाथोंके आँखें नहीं हैं, फिर उस दृश्यका वर्णन कैसे लिखा जाय?

उस दिव्य स्वरूपकी झाँकीके विषयमें बस श्रीगीताजीके ये दो श्लोक संकेतरूपमें स्मरण रखनेयोग्य हैं—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥

(११। १२)

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥

(१८। ७७)

अब वहाँ मृत्यु नहीं थी, न मुझे वहाँ उसका कोई विशेष चिह्न ही मिला। भगवती महामायाके स्वर्णमय आलोकसे मेरा कमरा जगमगाने लगा। मेरे शरीरसे अत्यधिक पसीना छूट रहा था। मेरा शरीर काँप रहा था। सम्भवतः मेरा शरीर भगवती कालीके दिव्य तेजको सह नहीं सका। मुझे अपनी आँखोंपर विश्वास न हुआ। मैं जो कुछ देख रही थी उसे सत्य माननेमें मुझे हिचकिचाहट होने लगी। मैंने सोचा, कदाचित् यह स्वप्न हो। मैं उठकर अपने दरवाजेके बाहर आयी और सड़कके उस पार मैदानमें भरा बाजार देखा। (यहाँ आज भी बाजार प्रत्येक मङ्गलवारको लगता है।) मेरे कमरेके बगलकी दालानमें मेरी दसवर्षीया कन्या हारमोनियमका अभ्यास कर रही थी। मैंने उसे आवाज़ दी—'बाजा बन्द करो। अपने घर श्रीभगवती पधारी हैं।' मुझे अभी भी अपने ऊपर विश्वास नहीं होता था। मैंने अपना संशय मिटानेके लिये कमरेके दरवाज़ेपर लटकते हुए परदेको टटोलकर देखा, मेज, कुर्सियोंपर भी नज़र डाली और निश्चय किया कि नहीं, यह स्वप्न नहीं है, सर्वथा सत्य है। इस प्रकार मुझे अपने सन्देहको निश्चयका रूप देनेमें जो विलम्ब हुआ, उसीसे रुष्ट होकर मानो मेरी परमाराध्या दयामयी जननी लौट गयी थीं। मैंने कमरेमें उसी स्थानपर आकर देखा, वहाँ कोई नहीं था। हाय! **'संशयात्मा विनश्यति!!'**

मैं जमीनपर धड़ामसे गिर पड़ी और रोने लगी। मैंने मन-ही-मन कहा—'हाय! भगवतीने दयाकर मुझे दर्शन दिये और मैं हतभागिनी चरण भी न छू सकी!!' मैं करुणासे व्याकुल रोती रही।

× × ×

उसी दिन सन्ध्याकी बात है। मेरे पतिदेव ऑफिससे आते ही कहने लगे—'आजसे ईस्टरकी छुट्टियाँ हैं। मेरे कई मित्र इसी शामकी गाड़ीसे नाटक देखने नागपुर जा रहे हैं। तुम कहो तो मैं भी उनके साथ एक-दो दिनके लिये घूम आऊँ।' मैंने उनसे दिनवाली घटना हर्ष और शोकयुक्त हृदयसे सुनायी तो वे कहने लगे—'तुम्हारा दिल कमजोर है—जैसा सोचा करती हो वही दृष्टिगोचर होता है। चलो, मेरे साथ तुम भी घूम-फिर आओ, मन बहल जायगा।'

मैं कुछ देर सोचकर बोली—'आप नागपुरसे घूम आवें; मैं चन्द्रपुर जाना चाहती हूँ।' यहाँ महाकालीका एक प्रसिद्ध बहुत भारी मन्दिर है। यही मेरी आराध्या देवी है। (यह स्थान नागपुरमें चाँदा-जिलेके नामसे प्रख्यात है।) और इसी रम्य-मनोहर मूर्त्तिका चित्र मेरे हृदय-पटलपर सदासे धारण रहता आया है। अस्तु।

चन्द्रपुर जानेका मेरा निश्चय दृढ़ था। रेलका समय हो चला था। इस घटनाको अबसे ठीक दो सालसे आठ या नौ दिन कम होते हैं। उस समय हमारा निवास काटोल तहसील, जिला नागपुरमें था। काटोलसे एक्सप्रेस-ट्रेन ठीक पौने छः बजे छूटती थी और घड़ीमें पाँच बजकर बयालीस मिनट हो चुके थे। रह गये थे केवल तीन मिनट। मेरे पतिदेवके मित्रोंने कहा, अब गाड़ी मिलनेको नहीं। स्टेशन सवा मील है और समय रह गया केवल तीन मिनट। परन्तु मेरा तो आज जाना निश्चित था, अतः मैं अपनी धुनमें मस्त थी। मैं बस्तीकी सड़कसे न जाकर रेलकी पटरीसे—जो मेरे घरके पीछेसे गयी थी—स्टेशनकी ओर चल दी! मेरे पतिदेव और

उनके अन्यान्य मित्र मुझे लौटानेके आग्रहसे मेरे पीछे-पीछे आ रहे थे और मुझे लौट आनेकी सलाह दे रहे थे। मैं जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाती हुई सरपट स्टेशनकी ओर बढ़ती जा रही थी। मुझे पीछे आँख फेरनेका भी समय नहीं था। और मेरे साथ ही भागी जा रही थी। एक्सप्रेस! ट्रेन और मैं एक ही साथ स्टेशन पहुँची। जल्दी-जल्दी टिकट लेकर मैं गाड़ीपर सवार हुई। इतनेमें मेरे पतिदेव और उनके मित्र भी आ पहुँचे। वे सभी मेरे ही डिब्बेमें आ बैठे।

मेरे पतिदेवके एक वकील मित्रने जब यह जाना कि मैं चन्द्रपुर-महाभवानीके दर्शनोंके लिये जा रही हूँ और वहाँ धर्मशालामें ठहरनेका विचार कर रही हूँ तो उन्होंने मेरे आरामके लिये अपने वहींके एक सम्बन्धीको मेरे लिये एक पत्र लिख दिया। मैंने पत्र ले तो लिया परन्तु उसे फाड़कर खिड़कीके बाहर फेंक दिया, यह सोचकर कि बेटी जब पीहर जाती है तो वह अपनी माँके ही घर ठहरती है। वह पुरा-पड़ोसमें किसी अन्यके घर नहीं ठहरती।

रातके तीन बजे थे, जब मैं चन्द्रपुर पहुँची। मेरे साथ एक नौकर था। मेरे पतिदेव नागपुरमें ही उतर गये थे। मैं ताँगा करके महाकालीके मन्दिरमें पहुँची। चैत्रका महीना था और खूब भीड़ थी। चैत्रके महीनेमें वहाँ दूर-दूरके यात्री श्रीमहाकालीके दर्शनोंको आया करते हैं। मैंने पुजारीको कई आवाजें लगायीं, पर किसीने कुछ उत्तर नहीं दिया। चारों ओर यात्रीगण एक-एक चद्दर ओढ़े जमीनपर सो रहे थे। मैं भी मन्दिरके अहातेके ही एक तरफ अपनी गठरी रखकर बैठ गयी और नौकरसे सो जानेको कहा। सोनेके लिये नौकरके बार-बार आग्रह करनेपर मैंने अपने निश्चयके अनुसार उससे कह दिया कि 'मैं जबतक देवीजीके दर्शन नहीं खुलेंगे, तबतक नहीं सोऊँगी।' मैं पासकी एक शिलासे टिककर बैठ गयी।

न जाने कब और कैसे मेरी झपकी लग गयी और मैं क्या देखती हूँ कि ठीक मन्दिरकी विपरीत दिशासे भगवती महामाया महाकाली नील-वर्णा, केश छिटकाये, मुण्डमाला पहिने, चतुर्भुजी, हाथमें अग्निसे भरा हुआ लाल-लाल खप्पर लिये—जिसमेंसे विकराल ज्वाला उठ रही थी—मेरी ओर आ रही हैं। मैं उठी और ज्यों ही पैर पकड़ने दौड़ी त्यों ही वे कहने लगीं—'हैं, हैं! यह तो स्वप्न है। तुम जाकर अब जाग्रदावस्थामें ठीक इसी प्रकार मेरे दर्शन करो।'

मेरी नींद उसी क्षण खुली और तेजीसे उठकर जिस ओर मेरे पैर गये, मैं 'भवानी, भवानी' चिल्लाती हुई दौड़ने लगी। इतनेमें मेरा नौकर भी जागा और 'बाईजी! बाईजी!! क्या हुआ, क्या हुआ?' पुकारता हुआ मेरे पीछे भागा। ज्यों-ज्यों मैं आगे सरकती थी स्वप्नकी वह मूर्ति भी मेरे सामने आगेको बढ़ती जाती थी और मुस्कराती जाती थी। मैं उनके पैर पकड़नेको व्याकुल हो रही थी और मूर्ति मुझसे करीब पन्द्रह हाथकी ही दूरीपर आकर रुक जाती थी। मैं पागलकी भाँति कह रही थी—'देवि! मुझे तुम्हारा बड़ा भय लग रहा है। मुझपर दया करो और अपने सौम्य स्वरूपके दर्शन कराओ। आपके इस विकट स्वरूपको देखकर मेरा हृदय काँप रहा है।' इस समय मन्दिरमें सोये हुए कुछ यात्री भी जाग गये और 'पागल, पागल' कहकर मेरे पीछे दौड़ने लगे। जिस दिशामें मैं भाग रही थी, थोड़ी दूरपर ही गहरे पानीकी बावली थी। इसलिये उन्हें आशङ्का हुई कि कहीं जाकर यह बावलीमें न गिर पड़े! इसी समय एक मोटी-सी स्त्रीने आकर मेरा हाथ पकड़ लिया और वह कहने लगी—'बाईजी! तुम कौन हो और कहाँसे आयी हो? यहाँ भवानी नहीं हैं। वे तो मन्दिरमें सो रही हैं। तुमने सपना देखा है। तुम होशमें आ जाओ।' मैंने झल्लाकर कहा—'खूब होशमें हूँ। तुम मुझे इसी दम छोड़ दो। वह देखो, मेरी भगवती बुला रही हैं।'

वहाँका पुजारी, इतनेमें ही हल्ला सुनकर हाथमें एक लालटेन लिये आया और उसकी रोशनीमें मेरा मुख देखकर सहानुभूतिके शब्दोंमें कहने लगा—'बस, बस, ठीक यही बाई है। बाईजी! चलो अभी मन्दिरके पट खोलकर तुम्हें दर्शन कराता हूँ। स्वप्नमें भगवतीने मुझे तुम्हें दर्शन करानेकी आज्ञा दी है और मैंने स्वप्नमें तुम्हें ही देखा है।'

मेरे सामनेकी स्वप्नवाली वह मूर्ति अब अदृश्य हो चुकी थी। मैंने आँखें फाड़-फाड़कर चारों ओर देखा, परन्तु वहाँ अब अन्धकारके सिवा कुछ नहीं था। बहुत-से यात्री भी जो मुझे घेरे खड़े थे, अब पुजारीके कहनेसे अपने-अपने स्थानोंको लौटने लगे और अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार यह कल्पना करने लगे कि 'यह स्वप्न देखकर डर गयी है।'

उसी क्षण जाकर मैंने बावलीमें स्नान किया और पुजारीके साथ मन्दिरमें जाकर उस दिव्य तेजोमयी पाषाण-प्रतिमाका सानन्द दर्शन कर अपनेको कृतार्थ किया। मेरा हृदय पुलकित हो गया। रोम-रोमसे माँके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुए मैंने आर्त्तभावसे कहा—माँ! दयामयी माँ!! तुमने मुझे अपना दिव्य दर्शन देकर सब प्रकार कृतार्थ किया। अब मेरी एक ही लालसा है कि मुझे भवसागरसे पार करके सदाके लिये अपनी शरणमें ले लो।

उसी समय भगवतीकी पाषाण-प्रतिमासे गीताके इस श्लोककी मन्द ध्वनि सुनायी पड़ी—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

मेरे हृदयमें एक विद्युत्-प्रकाश-सा छिटक गया और ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो भगवती महामाया जगज्जननी मुझे अब भगवान् त्रिभुवनमोहन योगेश्वर श्रीकृष्णकी उपासना करनेका आदेश दे रही हैं।

पाठक! इसी दिनसे यह शरीर भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अर्पित हो चुका है, यह मन भी और सर्वस्व भी! यह सब कल्याणकारिणी महामायाकी कृपाका ही फल है। आदेश उसीका था, उसीके आदेशसे ऐसा हुआ और अब इसे निभाना भी उसीके हाथमें है!

अस्पष्ट नामोच्चारणसे भी देवी प्रसन्न होती हैं

सारस्वत 'ऐं' बीज-माहात्म्य

(लेखक—ह० भ० प० श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)

हमारी देवनागरी वर्णमाला दूसरे देशोंकी वर्ण-मालाओंसे बिलकुल भिन्न है। केवल आकृति और उच्चारणमें ही नहीं, प्रत्युत शक्तिमें भी विलक्षण ही है। जिस परमेश्वरी शक्तिने सारे संसारमें मनुष्यदेहरूप अद्भुत शक्तिका यन्त्र निर्माण किया, उसीने उस यन्त्रसे निकलनेवाली देवनागरी वर्णमाला भी उत्पन्न की। और यह वर्णमाला भी वैसी ही अद्भुत है।

इस वर्णमालाकी रेखाकृति भी विशिष्ट प्रकारकी है। 'अ' से लेकर 'ज्ञ' तक ५२ मातृका (अक्षर) हैं। उनकी रेखाकृति जैसी है वैसी ही क्यों है? ॐ की आकृति ऐसी ही क्यों है, 'ओं'-जैसी क्यों नहीं? इत्यादि बातोंका विचार एक जर्मन वैज्ञानिकने सप्रयोग करके कुछ कारण निश्चित किये हैं। कहते हैं कि उसने इस वर्णमालाकी आकृतियोंवाली धातुकी नलियाँ बनायीं। उनमेंसे एक खास तरहसे हवा फूँकनेपर ठीक उसी प्रकारका उच्चारण होने लगा। इस वर्णमालाका उच्चारण करनेमें मूलाधारचक्रसे ब्रह्मरन्ध्रतक अर्थात् सहस्रारचक्रतक वायुका आघात कहाँ और किस प्रकार होता है, इस बातका हमारे अतीन्द्रिय दृष्टिवाले ऋषियोंने अनुसन्धान कर वर्णमालाकी रेखाकृतियाँ निश्चित कीं। वही हमारी देवनागरी लिपि है। शार्मण्य पण्डित हमारा यह अतीन्द्रिय-ज्ञान सेन्द्रिय कर दिखा रहे हैं। उनकी इस खोजकी बुद्धिकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी ही है। वे हमारे आर्य तत्त्वज्ञानका आदर कर उसके गूढ़ तत्त्वोंकी सूक्ष्म दृष्टिसे खोज कर रहे हैं। यह भी उसी आदिशक्तिकी प्रेरणा है।

'मन्त्राधीनं च दैवतम्'—यह वचन सब लोगोंने सुना होगा। परन्तु ऐसा क्यों है, देवता मन्त्रोंके अधीन क्यों हैं—इसका कोई विचार नहीं करता। देवता मन्त्रमय ही हैं। **'मन्त्रा एव तु देवताः'** (मेरुतन्त्र)। उपासकोंके कार्योंके लिये वे भिन्न-भिन्न रूप धारण करते हैं, परन्तु उनका मूलस्वरूप मन्त्ररूप ही है। मन्त्र ध्वनिरूप है और भिन्न-भिन्न ध्वनि (अ से ज्ञ तकके अक्षर) भिन्न-भिन्न शक्तिरूप हैं। प्रत्येक अक्षरमें स्वतन्त्र शक्ति होती है। भिन्न-भिन्न अक्षरोंके मेलसे भिन्न-भिन्न शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। किस कामके लिये किस प्रकारके अक्षरोंके मिश्रण (Compounds) तैयार करने चाहिये और वे किस अधिकारके पुरुषको देने चाहिये इत्यादि बातें तत्त्वद्रष्टा ऋषि लोग ही जान सकते हैं। [मिश्रण तैयार करनेकी यह परम्परा हमारे आर्यावर्तमें प्राचीन कालमें हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीतक सर्वत्र प्रचलित थी। (कहते हैं कि इस प्रकारकी गुरुपरम्पराके साठ केन्द्र थे। परन्तु अब वे प्रायः लोप-से हो गये हैं।) भौतिक खोजके तत्त्वज्ञानसे झुलस जानेके कारण मनुष्यमात्रके लिये नहीं, प्रत्युत समग्र जगत्के लिये हितकर प्राचीन

अभौतिक खोज और शास्त्रोंकी ओर लोग आँख उठाकर भी नहीं देख सकते, यह बड़े दुःखकी बात है।]

तात्पर्य, हमारी वर्णमालाका प्रत्येक अक्षर शक्तिस्वरूप है। मनुष्य जैसे अपने प्रत्येक अङ्गपर प्रेम करता है वैसे ही देवता भी अपने मन्त्रके प्रत्येक अक्षरपर अर्थात् अपने शरीरके प्रत्येक अङ्गपर अत्यन्त प्रेम करनेवाले होते हैं। उन मन्त्रोंका उच्चारण चाहे अस्पष्ट या टेढ़ा-मेढ़ा ही क्यों न हो, उन मन्त्रोंके देवता उससे सन्तुष्ट ही होते हैं। वाल्मीकि मुनिकी कथा—किस प्रकार वह पहले एक भील थे और किस प्रकार 'राम' शब्दका उलटा उच्चारण करनेपर भी उस उलटे नामजपसे उन्हें महासिद्धि प्राप्त हुई—पुराणप्रसिद्ध है। उसी प्रकारकी एक पवित्र गाथा देवीभागवतमें भी है। उसका उल्लेख तैत्तिरीय श्रुतिमें भी है और श्रीमत्शङ्कराचार्य, पृथ्वीधराचार्य आदिने भी अपने ग्रन्थोंमें उसका उल्लेख किया है। यह सत्यव्रतकी कथा कहनेके पहले देवीकी स्वनाम-प्रीति, उनके औदार्य और आशुतोषित्वका निम्नलिखित श्लोकोंद्वारा वर्णन किया है—

अस्पष्टमपि यन्नाम प्रसङ्गेनापि भाषितम्।
ददाति वाञ्छितानर्थान् दुर्लभानपि सर्वथा॥
ऐ ऐ इति भयार्तेन दृष्ट्वा व्याघ्रादिकं वने।
विन्दुहीनमपीत्युक्तं वाञ्छितं प्रददाति वै॥
तत्र सत्यव्रतस्यैव दृष्टान्तो नृपसत्तम॥

इत्यादि।

(दे० भा० ३। ९। ४२—४४)

जिसका नाम अस्पष्ट अर्थात् अधूरा और किसी भी निमित्त अर्थात् देवतानामबुद्धिरहित (**'अस्पष्टम्=यथावद्वर्णरहितमित्यर्थः, प्रसङ्गेनापि=देवतानामबुद्धिरहितेनापि'**—तिलकव्याख्या) लेनेपर भी दुर्लभ वाञ्छितार्थ देता है; वनमें व्याघ्र इत्यादि देखकर भयभीत होनेके कारण 'ऐ, ऐ' इत्यादि बिन्दुहीन नामका उच्चारण करनेपर भी वह इच्छित अर्थ प्रदान करती हैं। अन्य देवता आराधनासे प्रसन्न होकर फल देते हैं, पर भगवती अशुद्ध नामोच्चारणसे भी तथा उपर्युक्त प्रकारसे किसी भी निमित्तसे नाम लेनेपर भी चारों पुरुषार्थ देती हैं। इसलिये इस दयामयी जगन्माताका भजन सब लोगोंको अवश्य करना चाहिये। इस कथनकी पुष्टिमें सत्यव्रत ब्राह्मणका दृष्टान्त प्रसिद्ध है। वह कथा इस प्रकार है—

कोसल-देशमें देवदत्त नामके ब्राह्मणके कोई पुत्र-सन्तान नहीं थी। इसलिये उसने तमसा नामकी नदीके किनारे बड़े-बड़े ऋषियोंको एकत्रित कर विधिपूर्वक पुत्रकामेष्टि-यज्ञ किया। उस यज्ञमें सुहोत्र नामके मुनि 'ब्रह्मा', याज्ञवल्क्य 'अध्वर्यु', बृहस्पति 'होता', पैल 'प्रस्तोता' और गोभिलमुनि 'उद्गाता' थे। देवदत्तने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक सब सामग्री जुटायी थी। सब सामग्री उत्तम प्रकारकी थी। यज्ञकृत्य चलानेवाले ऋषि भी अत्यन्त योग्य थे। उसके उद्गाता सामवेदके श्रेष्ठ ज्ञाता थे। परन्तु उन्हें श्वासकी बीमारी थी, इससे सप्तस्वरसमन्वित 'रथन्तर' सूक्त कहते समय उनका कुछ स्वरभङ्ग हुआ। यह सुन देवदत्तको क्रोध हो आया और उसने गोभिल मुनिसे कहा कि, 'तुम कैसे मूर्ख हो? तुमने स्वरभङ्ग क्यों किया? काम्य-कर्ममें इस प्रकारकी गलती न होनी चाहिये।' यह सुनकर गोभिलमुनि भी क्रोधित हुए और उन्होंने उत्तर दिया कि 'तुम्हारे मूर्ख और आलसी पुत्र होगा।' देवदत्तको गोभिलमुनिका शाप वज्राघात-सा लगा। उसने मुनिके पैर पकड़ लिये और क्षमा माँगी। देवदत्तने अत्यन्त नम्रताके साथ कहा—'मुनि लोकहितकर्त्ता और अक्रोधी होते हैं। मेरे छोटे-से अपराधपर आपने यह कितना बड़ा दण्ड दिया! मैं तो पहले ही निष्पुत्र होनेके कारण दुखी हूँ, तिसपर आपने शाप देकर मुझे और भी अधिक दुखी किया है। वेदवेत्ता ब्राह्मण कहते हैं कि मूर्ख पुत्र होनेसे निष्पुत्र रहना ही अच्छा है। मूर्ख ब्राह्मण अत्यन्त निन्द्य है। वेदवेत्ता ब्राह्मण अन्न ग्रहणकर वेदाभ्यास करता है। इससे उसके पूर्वज स्वर्गमें आनन्दित होकर क्रीड़ा करते हैं। अतः हे उत्तम वेदवेत्ता गोभिलमुने! आप क्या कह रहे हैं? संसारमें मूर्ख पुत्र जननेसे मरना अच्छा है। इसलिये कृपाकर यह शाप लौटाइये और अनुग्रह कीजिये। आप गरीबोंका उद्धार करनेमें समर्थ हैं। मैं आपके चरणोंपर गिरता हूँ।'

यह सुनकर गोभिलमुनिको दया आ गयी, क्योंकि बड़े लोग क्षणकोपी होते हैं और नीच दीर्घकोपी। गोभिलमुनिने देवदत्तसे कहा कि 'तुम्हारा पुत्र मूर्ख भी होगा और विद्वान् भी।' यह सुन देवदत्तको आनन्द हुआ। उसने यज्ञकी विधिपूर्वक साङ्गता की और ऋषियोंको विदा किया। कुछ समयके उपरान्त उसकी पत्नी गर्भवती हुई। योग्य समयसे उसके पुत्र उत्पन्न हुआ। उस पुत्रका

नाम उसने 'उतथ्य' रखा। आठवें वर्षमें उसका व्रतबन्ध किया और उसे वेद पढ़ाना आरम्भ किया। पर वह कुछ पढ़ता न था। मूर्खके समान स्तब्ध बैठा रहता। बारह वर्षका होनेपर भी उसे विधिपूर्वक सन्ध्या करना न आया। उस समयके सब ब्राह्मणों और तपस्वियोंमें वह अत्यन्त मूर्ख कहाया और जहाँ-तहाँ उसका उपहास होने लगा। माता-पिता भी उसकी भर्त्सना करने लगे। वे बार-बार यही कहते कि मूर्ख पुत्रसे अन्धा-लूला लड़का भी अच्छा! इससे वह विरक्त होकर वनमें चला गया और गङ्गाके किनारे एक पर्णकुटी बनाकर फल-मूल खाकर रहने लगा। वह वेदाध्ययन नहीं जानता था। जप, ध्यान, पूजा आदिसे भी कोरा ही था; आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदिकी तो बात ही दूर रही। उसे मन्त्र, कीलक और गायत्रीका शुद्ध उच्चारण भी ज्ञात न था। शौच-स्नान, आचमन भी वह विधिपूर्वक न जानता था। वह शूद्रके समान मन्त्रवर्जित गङ्गास्नान करता और वनसे फल-मूल लाकर खाता था। बस, इतना ही उसका सारा पुरुषार्थ था। धर्मका कोई विधि-विधान उसे ज्ञात न था। तथापि वह एक महान् व्रत करता था। वह यह कि वह सदा सत्यभाषण करता था, कभी झूठ न बोलता था। इससे वह लोगोंमें 'सत्यतपा' नामसे प्रसिद्ध हो गया। वह किसीकी बुराई-भलाईमें न था। मूर्खतासे जीवन बितानेकी अपेक्षा मरना अच्छा है, यह जानकर वह सदा दुखी रहता था। रूपवती वन्ध्या स्त्री, फलरहित वृक्ष, ठाँठ गाय किस कामकी? मैंने पूर्वजन्ममें विद्यादान नहीं किया, ब्राह्मणको पुस्तक लिखकर नहीं दी, तीर्थमें रहकर तप नहीं किया, साधुओंकी सेवा नहीं की, ब्राह्मणोंका द्रव्यादिसे पूजन नहीं किया; इसीसे मैं आलसी और मूर्ख और ब्राह्मणोंमें अधम पैदा हुआ हूँ। मैं समझता हूँ कि प्रारब्ध ही श्रेष्ठ है। कारण, इसके आगे सब प्रयत्न निष्फल होते हैं।

दैवमेव परं मन्ये धिक् पौरुषमनर्थकम्।
वृथा श्रमकृतं कार्यं दैवाद्भवति सर्वथा॥

ब्रह्मा-विष्णु-रुद्रादि देवता सभी कालके अधीन हैं। '**कालो हि दुरतिक्रमः**' यह विचारकर वह अपने जीवनके दिन काट रहा था। इस प्रकार पवित्र गङ्गातटपर उसके चौदह वर्ष व्यतीत हो गये। उस अवधिमें उसने न किसी देवताकी आराधना की, न कोई जप किया। उसका एक व्रत था और उससे वह लोकमें सत्यवक्ता—कभी असत्य भाषण न करनेवाला प्रसिद्ध हुआ।

एक समय यमके समान क्रूर दिखायी देनेवाला एक निषाद (भील) हाथमें धनुष-बाण लिये मृगया कर रहा था। उसने एक वनवराह (जंगली सूअर)-को बाण मारा। इससे वह लहूलुहान और भय-विह्वल हो भागने लगा। वह दैवयोगसे ठीक उसी ओर भागा जिस ओर सत्यव्रत ब्राह्मणकी गुफा थी। उस भागते हुए अत्यन्त दीन प्राणीको देखकर सत्यव्रतको दया आ गयी। दयासे पसीजा हुआ उसका शरीर काँप उठा और उसके मुँहसे हठात् सारस्वतबीज* स्वर निकल पड़ा। उसने यह नहीं जाना कि यह सारस्वत-बीजाक्षर है। वह महात्मा मुनि उस वराहको देखकर शोक सन्तप्त हुआ। उसके आश्रमके चारों ओर घनी झाड़ी थी। उस झाड़ीमें वह सूअर छिपकर आ बैठा। वहाँसे आगे जानेको उसे रास्ता ही न सूझा। घड़ीभरमें वह भयङ्कर कालरूप भील आकर्ण खिचे हुए धनुषपर बाण चढ़ाये सूअरकी खोजमें वहाँ आ पहुँचा। उसने कुशासनपर बैठे सत्यव्रतमुनिको देखा, उन्हें प्रणाम किया और बोला—'हे द्विजवर! मेरे बाणसे आहत वराह कहाँ गया? क्या आपने उसे देखा? आप सत्यव्रती हैं, यह मैं जानता हूँ। मेरे कुटुम्बके सब लोग क्षुधासे आतुर हैं। मैं उनकी क्षुधाशान्तिका उपाय करनेके लिये आया हूँ। विधाताने मेरे पेट भरनेके लिये यही वृत्ति (व्यवसाय) लगा दी है, इसलिये यही मैं करता हूँ। शुभाशुभ किसी भी उपायसे कुटुम्बका पोषण करना मेरा कर्त्तव्य है। इसलिये सच-सच बताइये कि बाणविद्ध वराह कहाँ गया?' उसका वह प्रश्न सुनकर मुनि फिर विचार-मग्न हो गये। क्षणभरमें उनके मनमें अनेक तर्क-वितर्क उत्पन्न हुए। यह क्षुधार्त्त किरात पूछ रहा है कि वराह कहाँ है। इसे यदि मैं सच बता दूँ तो यह उसका वध किये बिना न रहेगा। यदि मैं झूठ बताऊँ तो मेरे व्रतकी हानि होगी। जिससे हिंसा होती है वह भाषण सत्य होनेपर भी सत्य नहीं है, और जो भाषण दयान्वित है वह अनृत होनेपर भी सत्य ही है। जिससे

* 'सारस्वतं बीजमिति 'ऐ ऐ' इति शब्दं चकारेत्यर्थः। स्वभाव एवायं मनुष्याणाम्, दुःखातुरं दृष्ट्वा ऐ ऐ इति शब्द उच्चारणीय इति।' (देवीभागवत तृ० स्कं०, अ० ११, श्लो० ३२ की तिलकव्याख्या) सारस्वत-बीज ऐ ऐ शब्दका उच्चारण है; मनुष्यका यह स्वभाव है कि किसी दुःखातुर मनुष्यको देखनेसे उसके मुँहसे 'ऐ ऐ' निकल पड़ता है।

जीवोंका हित हो वही सत्य है और जिससे अहित हो वह सत्य नहीं।

सत्यं न सत्यं खलु यत्र हिंसा
दयान्वितं चानृतमेव सत्यम्।
हितं नराणां भवतीह येन
तदेव सत्यं न तथाऽन्यथैव॥

(दे० भा० ३। ११। ३५)

दूसरेके हितके लिये यदि अनृतभाषण भी करना पड़े तो वह सत्य ही है। तथापि दोनों अर्थात् वराहका और साथ ही मेरे व्रतका भी रक्षण हो तो और भी अच्छा हो। यह सोचकर वह बड़े धर्मसंकटमें पड़ा। वह तुरन्त उत्तर न दे सका, परन्तु उस शरविद्ध वराहको देखकर उसके मुखसे निकले वाग्भव-बीजोच्चारके कारण पराशक्ति भगवती प्रसन्न हुईं और उन्होंने सत्यव्रतमुनिको बड़ी दुर्लभ अन्तः-स्फूर्ति दी। मुनि-मानसमें ब्रह्मविद्या स्फुरित हुई। प्राचीन कालमें वाल्मीकिमुनि जिस प्रकार बड़े कवि हुए उसी प्रकार यह भी कवि हो गये। और इस दयालु सत्यकाम धर्मात्माने सामने खड़े धनुर्धारी भीलसे कहा—

या पश्यति न सा ब्रूते या ब्रूते सा न पश्यति।
अहो व्याध स्वकार्यार्थिन् किं पृच्छसि पुनः पुनः॥

'जो देखती है वह बोलती नहीं और जो बोलती है वह देखती नहीं; फिर हे कार्यसाधु व्याध! तुम मुझसे बार-बार क्या पूछ रहे हो?' यह सुनकर पशु मारनेवाला व्याधा उस शिकारसे निराश होकर वापस चला गया। समर्थ रामदासजीकी ***'खोटें बोलूं नये। खरें सांगूं नये'*** (झूठ बोले नहीं, सच बतावे नहीं) इस नीतिका उसने आचरण किया। उपर्युक्त श्लोकका भावार्थ यह है कि दृष्टि देखती है पर बोलती नहीं, जीभ बोलती है पर देखती नहीं। यह बात मुनिने सत्य ही कही (इस प्रकार मुनिने अपने सत्य-व्रतकी रक्षा की) पर उसके कथनका अर्थ मूढ व्याध न समझ सका। 'यह ब्राह्मण ज्ञानी होनेसे पूज्य है। इससे अधिक प्रश्न करना ठीक नहीं **(अयं ज्ञानी वर्तते पूज्यो नातिशयप्रश्नार्होऽयम्)**' यह सोचकर व्याधा वापिस घर चला गया।

तदनन्तर यह ब्राह्मण प्रतिप्रचेतस (श्रुतिसिद्ध ज्ञानी वरुण—तिलकव्याख्या) महाकवि बनकर सत्यव्रत-नामसे प्रसिद्ध हुआ। फिर उसने सारस्वतबीजका विधिपूर्वक जप किया। (पहले अज्ञानावस्थामें उसने बिन्दुरहित अक्षर उच्चारण किया था। अब अर्थात् ज्ञानस्फूर्तिके बाद बिन्दुयुक्त अक्षरका विधिपूर्वक जप कर उसने जगदम्बाका महान् प्रसाद प्राप्त किया।) पीछे वह भगवतीकी कृपासे भूतलपर महाज्ञानी प्रसिद्ध हुआ। उसकी कीर्ति सुनकर जिस पिताने पहले उसे मूर्ख समझकर घरसे बाहर निकाल दिया था, वही उसे बड़े सम्मानके साथ घर ले आया।

प्रतिपर्वसु गायन्ति ब्राह्मणा यद्यशः सदा।
आख्यानं चातिविस्तीर्णं स्तुवन्ति मुनयः किल॥

यह आख्यान इस श्लोकमें वर्णन किये अनुसार अत्यन्त महत्त्वका और परम यशस्कर है।

श्रीमत्शङ्कराचार्यने अपने 'लघुस्तव' नामक स्तोत्रमें इस आख्यानका निम्नलिखित प्रकारसे उल्लेख किया है—

दृष्ट्वा संभ्रमकारिवस्तु सहसा ऐ ऐ इति व्याहृतं
येनाकूतवशादपीह वरदे बिन्दुं विनाप्यक्षरम्।
तस्यापि ध्रुवमेव देवि तरसा जाते तवानुग्रहे
वाचः सूक्तिसुधारसद्रवमुचो निर्यान्ति वक्त्राम्बुजात्॥
यन्नित्ये तव कामराजमपरं मन्त्राक्षरं निष्कलं
तत्सारस्वतमित्यवैति विरलः कश्चिज्जनश्चेद्बुवि।
आख्यानं प्रतिपर्व सत्यतपसो यत्कीर्तयन्तो द्विजाः
प्रारम्भे प्रणवास्पदप्रणयतां नीत्वोच्चरन्ति स्फुटम्॥

पृथ्वीधराचार्य भी कहते हैं—

ऋक्सामयोर्यजुषि सन्धिवशादुदीर्णं
बीजं सरस्वति सकृत्तव ये जपन्ति।
ते सत्यवाक्यमुनिवद्विदितत्रयीका
आथर्वणादिकमवाप्य सुखीभवन्ति॥

इस प्रकार जगज्जननी, आदिशक्ति परादेवी सदा सेवा और पूजा करनेयोग्य हैं। उनका स्मरण, पूजन, ध्यान,नामोच्चारण और स्तवन करनेसे वह इच्छित फल प्रदान करती हैं। अतः उन्हें कामदा भी कहते हैं।

स्मृता सम्पूजिता भक्त्या ध्याता चोच्चारिता स्तुता।
ददाति वाञ्छितानर्थान् 'कामदा' तेन कीर्त्यते॥

(दे० भा० ३। ११। ४९)

ऐसी स्वनामाभिमानिनी कामदा जगदम्बा सबका कल्याण करें।

श्रीशारदाम्बाचरणारविन्दार्पणमस्तु।

पञ्च-मकारका आध्यात्मिक रहस्य

(लेखक—कवि श्रीदयाशङ्कर रविशङ्कर)

नाना प्रकारके देवताओंकी उपासनाके मार्गका प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थविशेषोंको तन्त्र कहते हैं। उन तन्त्रोंके तीन भेद हैं—समयमत, कौलमत और मिश्रमत। विद्योपासनाके भी यही तीन मत हैं, ऐसा विद्वान् मानते हैं। जो तन्त्र वैदिक मार्गका अनुसरण करते हुए श्रीविद्याका प्रतिपादन करते हैं उन्हें समयाचारतन्त्र अथवा समयमत कहते हैं और वे वशिष्ठसंहिता, सनकसंहिता, सनन्दनसंहिता, सनत्कुमारसंहिता और शुकसंहिताके रूपमें पाँच प्रकारके हैं। महामायातन्त्र, शंबरतन्त्र आदि चौंसठ तन्त्रोंको कौलतन्त्र या कौलमत कहते हैं। और कुलमार्ग तथा वेदमार्ग दोनोंके अनुसरणमें प्रवर्तित मार्ग मिश्रमत कहलाता है। उसके अनेकों ग्रन्थ हैं। इनमें मद्य-मांसादि उपहारों तथा अत्यन्त बीभत्स दुराचारोंके द्वारा देवतार्चन, मन्त्रजप, अनुष्ठान इत्यादि जिसमें आते हैं वह कौलतन्त्र है और उसीको वाममार्ग भी कहते हैं। इस कौलतन्त्रके अनुगामी वाममार्गमें पञ्च-मकारकी विधि आती है। वाम और दक्षिण—यह दो उपासनाके मार्ग हैं। वाममार्गके प्रवर्तक भगवान् शङ्कर हैं, तिसपर भी उसकी ओर शिष्ट पुरुष अनादरसे देखते हैं, ऐसा क्यों है और इसका यथार्थ रहस्य क्या है—यह जाननेके लिये स्वाभाविक वृत्ति होती है।

ब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत ललितासहस्रनाम नामक स्तोत्रके ऊपर भास्करराय नामक भास्करके समान तेजस्वी विद्वान्ने 'सौभाग्य-भास्कर' नामकी व्याख्या लिखी है। उसमें, मूल-ग्रन्थ श्रीललितासहस्रनाममें आये हुए 'कौलिनी कुल-योगिनी' (प्रथम शतक, कला २, श्लोक ८८), 'महातन्त्रा महामन्त्रा' (तृतीय शतक, कला ४, श्लोक १०७), कुलकुण्डालया कौलमार्गतत्परसेविता (पञ्चम शतक, कला ६, श्लोक १४४), 'सव्यापसव्यमार्गस्था' (दशम शतक, कला ११, श्लोक २२०) इत्यादि स्थलोंमें कौलिनी, महातन्त्रा, कौलमार्गतत्परसेविता, सव्यापसव्यमार्गस्था इत्यादि नामोंकी व्याख्यामें श्रीभास्करराय कौलतन्त्रके सम्बन्धमें सप्रमाण और युक्तियुक्त बातें स्पष्टरूपेण लिखते हैं। इसी प्रकार उक्त ग्रन्थके दशम शतककी ग्यारहवीं कलाके २२६ वें श्लोकमें **'पञ्चमी पञ्चभूतेषु'** यह पद आता है। इसमें 'पञ्चमी' पदके अर्थको लेकर भी प्रकृत प्रसङ्गपर बहुत उत्तम विवेचन किया गया है। इसके सिवा इस ग्रन्थमें जहाँ-जहाँ श्रीललिताम्बाके तान्त्रिक नामोंका निर्देश है, वहाँ-वहाँ उसके ऊपर श्रीभास्करराय श्रुति, पुराण आदिके प्रमाणसे विस्तृत व्याख्या लिखकर वाममार्गके ऊपर लगाये जानेवाले कलङ्कका बहुत ही विद्वत्तापूर्वक निरसन (खण्डन) करते हैं। ऊपर कौलिनी आदि जो-जो नाम दिये हैं उनके विवेचनमें श्रीभास्कररायने स्पष्ट रीतिसे जो दोष-निरसन किया है उसे देखिये—

'कुः पृथ्वीतत्त्वं लीयते यत्र तत्कुलं—आधारचक्रं, तत्सम्बन्धाल्लक्षणया सुषुम्णामार्गोऽपि।'

कुल, कौल, पृथ्वी-तत्त्व जिसमें लीन हो जाता है *कौलिनी।* उसे कुल अथवा आधारचक्र कहते हैं और उसके सम्बन्धसे लक्षणाद्वारा सुषुम्णामार्गको भी कुल कहते हैं।

'आचारः कुलमुच्यते'—इस भविष्योत्तरपुराणके वचनसे आचारको भी कुल कहते हैं।

आगम-ग्रन्थोंमें चक्रसङ्केत, मन्त्रसङ्केत और पूजासङ्केत—इस प्रकार त्रिपुरादेवीके तीन सङ्केत कहे गये हैं। इन तीन कुलसङ्केतोंके रहस्यका पालन करनेवाली त्रिपुराम्बा हैं। चिन्तामणिस्तवमें इस विषयको इस प्रकार बतलाया है—

कुलाङ्गनैषाऽप्यथ राजवीथिः
प्रविश्य सङ्केतगृहान्तरेषु।
विश्रम्य विश्रम्य वरेण पुंसा
संगम्य संगम्य रसं प्रसूते॥

कुलं नाम पातिव्रत्यादिगुणराशिशीलो वंशः॥

पातिव्रत आदि गुणोंसे युक्त वंशको भी कुल कहते हैं। इस प्रकारके कुलकी कन्या जिस प्रकार गुप्त रहती है, उसी प्रकार अविद्या-जवनिकाके द्वारा विद्याके गुप्त रहनेके कारण उसे कुलाङ्गना कहते हैं। कुलार्णवतन्त्रमें लिखा है—

अन्यास्तु सकला विद्याः प्रकटा मणिका इव।
इयं तु शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव॥

जनपदे गृहे सजातीयगणे गोत्रे देहेऽपि कुलं कथितम् इति विश्वः।

'विश्वकोषमें लिखा है कि देश, घर, सजातीय पुरुष, गोत्र और शरीरको भी कुल कहते हैं।'

अधः स्थितं रक्तं सहस्रदलकमलमपि कुलं, तत्कर्णिकायां कुलदेविदलेषु कुलशक्तयः सन्तीति स्वच्छन्दतन्त्रेऽस्य विस्तरः।

'ब्रह्मरन्ध्रके नीचे रक्तवर्णके सहस्रदलकमलको भी कुल कहते हैं, उसकी कर्णिकाके ऊपर कुल-देविदलोंमें कुलशक्तियाँ रहती हैं, इसका विस्तार स्वच्छन्दतन्त्रमें है।'

कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते॥

शिव-शक्तिके सामरस्यको कौल कहते हैं और ऐसे कुलसे युक्त देवीको कौलिनी कहते हैं।

महातन्त्रा, महामन्त्रा, महायन्त्रा। कुलार्णव, ज्ञानार्णव आदि बहुफलप्रद तन्त्र जिनके हैं उन्हें महातन्त्रा कहते हैं; बाला, बगला आदि मन्त्र जिनके लिये हैं उन्हें महामन्त्रा; तथा पूजा-चक्र, पद्म-चक्र आदि यन्त्रोंद्वारा जिनका पूजन किया जाता है वह महायन्त्रा हैं। अथवा स्वतन्त्र आदि जिनके तन्त्र हैं, श्रीविद्या आदि जिनके मन्त्र हैं और सिद्धि-वज्र प्रभृति जिनके यन्त्र हैं, वे भी महातन्त्रा आदि नामवाली कहलाती हैं।

स्वस्ववंशपरम्पराप्राप्तो मार्गः कुलसम्बन्धित्वात्कौलः।

कौलमार्गतत्पर-सेविता। अपनी-अपनी वंश-परम्परासे प्राप्त मार्ग कुल-सम्बन्धी होनेसे कौल कहलाता है। व्रतखण्डमें लिखा है—

यस्य यस्य हि या देवी कुलमार्गेण संस्थिता।
तेन तेन च सा पूज्या बलिगन्धानुलेपनैः॥
नैवेद्यैर्विविधैश्चैव पूजयेत्कुलमार्गतः॥

जिस-जिस कुल-मार्गमें जो-जो देवी हों, उनकी बलि, गन्धानुलेपन तथा विधिपूर्वक विविध प्रकारके नैवेद्यद्वारा पूजा करना कौलमार्ग है और उस मार्गमें तत्पर रहनेवालोंके द्वारा सेविता देवी कौलमार्गसेविता कहलाती हैं।

सव्यापसव्य-मार्गस्था। सव्य, अपसव्य और मार्ग—ये तीन शब्द यथाक्रम उत्तरमार्ग, दक्षिणमार्ग और मध्यममार्गके वाचक हैं; इनमें रहनेवाली सव्यापसव्यमार्गस्था है। अथवा निवृत्तिपरायण पुरुषोंको प्राप्त होनेवाला देवयान—अर्चिः आदि मार्ग सव्य है, प्रवृत्तिपरायण पुरुषोंद्वारा प्राप्त करनेयोग्य पितृयाण—धूम्रादि मार्ग अपसव्य है तथा जो ध्रुवावस्थितिशाली विष्णु-लोकपरायण मार्ग है वह मध्यममार्ग है। इस विषयका विशेष विस्तार विष्णुपुराणमें है।

पञ्चमस्य सदाशिवस्य स्त्री पञ्चमी।

पञ्चदेवोंमें पाँचवें सदाशिवकी स्त्री पञ्चमी है।

पञ्चमी। अथवा 'पञ्चमी' शब्द वाराहीके अर्थमें भी रूढ़ है, ऐसा दक्षिणामूर्तिसंहितामें लिखा है। अथवा—

मकारेषु पञ्चमस्यानन्दरूपत्वात्तद्रूपा वा। तथा च कल्पसूत्रम्—

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च देहे व्यवस्थितम्।
तस्याभिव्यञ्जकाः पञ्च मकारास्तैरथार्चनम्॥

अतएव—

पञ्चमानां मानां मकाराणां समाहारः पञ्चमीति वा।

उपर्युक्त प्रमाणोंसे अनभिज्ञ पुरुष जैसे कौल-मार्गको निन्द्य मानते हैं, वह वैसा नहीं है; बल्कि कुलपरम्परासे आये हुए मार्गके अनुसार जिस मार्गमें जगदम्बिकाके पूजनका विधान है वह परम विशुद्ध मार्ग कौलमार्ग कहलाता है, यह सिद्ध है। इस कौल-मार्ग अथवा वाममार्गमें आनेवाले पञ्च 'म' कार—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुनके वाच्यार्थ शिष्ट पुरुषोंको घृणा उत्पन्न करानेवाले जान पड़ते हैं; परन्तु थोड़ा विचार करनेपर जान पड़ेगा कि जिस कौल-मार्गमें वेद-विरुद्ध निन्द्य आचारका लेशमात्र भी नहीं है, उसमें स्थित पञ्च 'म' कारोंका गर्हणीय विषय होना कैसे सम्भव हो सकता है? पूज्यपाद प्रातः-स्मरणीय तारानन्दतीर्थके संगृहीत तन्त्र-तत्त्व-प्रकाश नामके निबन्धमें इस विषयको सप्रमाण स्पष्ट

किया गया है। यथा—

मदिरा—

ब्रह्मस्थानसरोजपात्रलसिता ब्रह्माण्डतृप्तिप्रदा
या शुभ्रांशुकलासुधाविगलिता सा पानयोग्या सुरा।
सा हाला पिबतामनर्थफलदा श्रीदिव्यभावाश्रिता
यामित्वा मुनयः परार्थकुशला निर्वाणमुक्तिं गताः॥

अर्थात्—

भरी है जो सहस्त्रार पद्मरूपी भाजनमें,
बनी है जो चंद्रकी कलासुधाके स्त्रवसे।
तोषदायिनी करे त्रिलोकको अशोक ऐसी,
पानयोग्य सुरा है छुड़ावे कालरवसे।
है समर्थ व्यर्थ कर देनेमें अनर्थ-फल,
कही है उपासकोंने ऐसी अनुभवसे।
पूरे परार्थमें प्रवीण मुनिपुंगव सब,
इनके प्रभावसे विमुक्त भये भवसे॥

मांस—

कामक्रोधसुलोभमोहपशुकांश्छित्त्वा विवेकासिना
मांसं निर्विषयं परात्मसुखदं खादन्ति तेषां बुधाः।
ते विज्ञानपरा धरातलसुरास्ते पुण्यवन्तो नरा
नाश्नीयात्पशुमांसमात्मविमतेर्हिंसापरं सज्जनः॥

अर्थात्—

काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि पशुवृंद हने,
धैर्यसे विवेकरूपी खड्गको चलायके।
ताको मांस खावें, धर्मबुद्धिको बढ़ावें,
मोक्ष-पदवीको पावें जगदंबिका रिझायके।
अवनीके अमर ते हैं उग्र पुण्यशाली जन
करें क्रिया ऐसी दोष-हिंसाको हटायके।
पूरन प्रतीत है ना बनेंगे पतित कोऊ
पंडित पृथिवीमें यह पशु-मांस खायके॥

मीन—

अहङ्कारो दम्भो मदपिशुनतामत्सरद्विषः
षडेतान्मीनान् वै विषयहरजालेन विधृतान्।
पचन् सद्विद्याऽग्नौ नियमितकृतिर्धीवरकृतिः
सदा खादेत्सर्वान्न च जलचराणां तु पिशितम्॥

अर्थात्—

बिषय-बिरागरूपी बागुरा बिछाइ दैके
धीवर कृतीकी पुनि कृतिको अनुसरै।
द्वेष, मद, मान, दंभ, मत्सर, पैशुन्य आदि
पीन मीनबृंद बिद्याबह्निमें लै धरै॥
उनको फिर प्रेमसे पकावै और खावै खूब,
बुद्धिको बढ़ावै, यमकिंकरसे ना डरै।
जलचरके आमिषकी तृष्णाको त्याग करि
धर्ममर्मवेत्ता पापयुक्त कर्म ना करै॥

मुद्रा—

आशातृष्णाजुगुप्साभयविशदघृणामानलज्जाप्रकोपाः
ब्रह्माग्नावष्ट मुद्राः परसुकृतिजनः पाच्यमानाः समन्तात्।
नित्यं सम्भक्षयेत्तानवहितमनसा दिव्यभावानुरागी
योऽसौ ब्रह्माण्डभाण्डे पशुहतिविमुखो रुद्रतुल्यो महात्मा॥

अर्थात्—

आशा अरु तृष्णा, भय, घृणा, मान, लज्जा, कोप,
जुगुप्सा, ये मुद्रा अष्ट भारी कष्टकारी हैं।
ब्रह्मरूप पावकमें आठोंको पकाय देवैं
तांत्रिक क्रियाकलापके जो अधिकारी हैं॥
बार बार करिकै अहार सार ग्रहैं वाको
भूतलमें दिव्य भावनाके जो बिहारी हैं।
मुद्राप्रिय माननीय ऐसे महीमंडलमें
स्व-पर-भेद-भाव-भिन्न अपर पुरारी हैं॥

मैथुन—

या नाडी सूक्ष्मरूपा परमपदगता सेवनीया सुषुम्णा,
सा कान्तालिङ्गनार्हा, न मनुजरमणी सुन्दरी वारयोषित्।
कुर्याच्चन्द्रार्कयोगे युगपवनगते मैथुनं नैव योनौ
योगीन्द्रो विश्ववन्द्यः सुखमयभवने तां परिष्वज्य नित्यम्॥

अर्थात्—

परपदको पहुँची है सूक्ष्मरूप नाड़िका जो
सुषुम्णा है नाम ताको सुंदरी समझिये।
चंद्र-सूर्य योगमें उसीके साथ संग करि
सुन्दर सब भूषण ले श्यामाको सजिये॥
भेद-मति भूलि भाव भीतर भरिये खूब
बारंबार ये शशांकवदनीको भजिये।
बिश्वबंद्य होनेकी बासना जगी है जो तो
बारबधू अथवा पर-बनिताको तजिये॥

उपर्युक्त रीतिसे पञ्च मकारके आध्यात्मिक रहस्यका

उद्घाटन कर उसके ऊपर लगे हुए कलङ्क-पङ्कका प्रक्षालन पूज्यपाद श्रीस्वामी तारानन्दतीर्थने किया है।* इसी प्रकार परमवन्दनीय, परमोपासक, विद्वच्चक्रचूडामणि श्रीभास्कररायने भी अपने कौलोपनिषद्-भाष्य, वरिवस्या-रहस्य आदि ग्रन्थोंमें इस विषयको श्रुति-स्मृति आदि प्रमाणोंसे बहुत सुन्दर रीतिसे प्रतिपादित किया है। जिन्हें इस विषयमें विशेष जाननेकी इच्छा हो वे उपर्युक्त ग्रन्थोंका परिशीलन करें।

---

* शास्त्रोंमें पञ्च मकारके और भी लक्षण मिलते हैं, उनमेंसे कुछ ये हैं—

मद्य—

'यदुक्तं परमं ब्रह्म निर्विकारं निरञ्जनम् । तस्मिन् प्रमदनज्ञानं तन्मद्यं परिकीर्तितम् ॥'

निर्विकार, निरञ्जन परब्रह्मके विषयमें योगसाधनाद्वारा जो प्रमदन-ज्ञान उत्पन्न होता है, उसीको मद्य कहते हैं।

मांस—

'माशब्दाद्रसना ज्ञेया तदंशान् रसनाप्रिये । सदा यो भक्षयेद्देवि स एव मांससाधकः ॥'

हे रसनाप्रिये! मा रसना-शब्दका नामान्तर है, वाक्य उसका अंश है। जो सदा-सर्वदा उस वाक्यको भक्षण करता है, अर्थात् जो वाक्-संयमी मौनी योगी है वही वास्तवमें मांस-साधक है। अथवा—

'मां सनोति हि यत्कर्म तन्मांसं परिकीर्तितम्। न च कामप्रतीकं तु योगिभिर्मांसमुच्यते ॥'

जो मनुष्य अपने समस्त सत्कर्मोंको निष्कल परब्रह्ममें समर्पण कर देता है, उस कर्मसमर्पणका नाम ही मांस है।

मत्स्य—

'गङ्गायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा । तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधकः ॥'

गङ्गा-यमुनाके अन्दर सदा ही दो मत्स्य विचरण करते रहते हैं; जो मनुष्य उन दोनों मत्स्योंका भक्षण करता है, उसका नाम मत्स्यसाधक है। गङ्गा और यमुना शरीरस्थ इडा और पिंगला नाड़ीका नाम है। और इनमें निरन्तर बहनेवाले श्वास-प्रश्वास ही दो मत्स्य हैं। जो व्यक्ति प्राणायामद्वारा इन श्वास-प्रश्वासको रोककर कुम्भक करते हैं वे ही यथार्थ मत्स्यसाधक हैं। अथवा—

'मत्समानं सर्वमूले सुखदुःखमिदं प्रिये । इति यत्सात्त्विकं ज्ञानं तन्मत्स्यः परिकीर्तितः ॥'

सब दुःखोंमें मेरी भाँति सुख-दुःखमें समान होना चाहिये। यह सात्त्विक ज्ञान ही मत्स्य है

मुद्रा—

'सहस्रारे महापद्मे कर्णिकामुद्रितश्चरेत् । आत्मा तत्रैव देवेशि केवलः पारदोपमः ॥
सूर्यकोटिप्रतीकाशः चन्द्रकोटिसुशीतलः । अतीव कमनीयश्च महाकुण्डलिनीयुतः ॥
यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक उच्यते ।'

हे देवेशि! सहस्रदल महापद्ममें मुद्रित कर्णिकाके अन्दर पारदकी भाँति आत्माका निवास है। यद्यपि उसका तेज करोड़ों सूर्योंके समान है, परन्तु स्निग्धतामें वह करोड़ों चन्द्र-तुल्य है। यह परम पदार्थ अतिशय मनोहर तथा कुण्डलिनी-शक्ति-समन्वित है। जिसके अन्तरमें यह ज्ञान उदय हो जाता है, वही यथार्थ मुद्रासाधक है। अथवा—

'सत्सङ्गेन भवेन्मुक्तिरसत्सङ्गेषु बन्धनम्। असत्सङ्गमुद्रणं यत्तु तन्मुद्रा परिकीर्तिता ॥'

सत्सङ्गसे मुक्ति और कुसङ्गसे बन्धन होता है। इस बातको समझकर कुसङ्गके त्याग करनेका नाम ही मुद्रा है।

मैथुन—

रेफस्तु कुङ्कुमाभासकुण्डमध्ये व्यवस्थितः । मकारश्च विन्दुरूपः महायोनौ स्थितः प्रिये ॥
अकारहंसमारुह्य एकता च यदा भवेत् । तदा जातो महानन्दो ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम् ॥

रेफ कुंकुमवर्ण कुण्डके भीतर रहता है। मकार बिन्दुरूप महायोनिमें रहता है। अकाररूपी हंसका आश्रय लेनेपर जब उन दोनोंका एकत्व हो जाता है तभी सुदुर्लभ ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। जो सज्जन ऐसा मैथुन करते हैं वे ही मैथुन-साधक हैं। अथवा—

'कुलकुण्डलिनी शक्तिः देहिनी देहधारिणी । तया शिवस्य संयोगो मैथुनं परिकीर्तितम् ॥'

प्रत्येक देहीके देहमें कुलकुण्डलिनी शक्ति है। उसे शिवके साथ संयुक्त करनेका नाम ही मैथुन है।

शक्ति अथवा सक्रिय ब्रह्म

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)

१—मातृवन्दना—

मैं जगज्जननी पराशक्तिको हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ, जो विश्वकी रचना और पालन करती है, तथा जो ब्रह्मसे अभिन्न है। शक्ति ब्रह्मकी सक्रिय अवस्था है। ब्रह्मकी क्रियाका नाम ही शक्ति है। जिस प्रकार उष्णता अग्निसे सर्वथा अभिन्न है, उसी प्रकार शक्ति भी ब्रह्मसे अभिन्न है।

२—शक्तिके व्यक्त रूप—

माया, महामाया, मूल-प्रकृति, अविद्या, विद्या, अव्यक्त, अव्याकृत, कुण्डलिनी, महेश्वरी, आदिशक्ति, आदिमाया, पराशक्ति, परमेश्वरी, जगदीश्वरी, तमस्, अज्ञान 'शक्ति' के पर्यायवाची हैं। नवदुर्गा, काली, अष्टलक्ष्मी, नवशक्ति, देवी आदि एक 'पराशक्ति' की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। महालक्ष्मी, महासरस्वती और महाकाली शक्तिके तीन प्रधान व्यक्त स्वरूप हैं। राधा और रुक्मिणी लक्ष्मीके ही दूसरे रूप हैं और तारा तथा चण्डी देवीके रूप हैं।

जिसे अंगरेजीमें 'Nature' कहते हैं वह व्याकृत अथवा व्यक्त 'प्रकृति' है। मूल-प्रकृति अव्याकृत अथवा अव्यक्त है। वही इस भेदरूप जगत्का बीज है। मूल-प्रकृति अथवा 'अव्यक्त' में जड तथा चेतन अभिन्नरूपमें रहते हैं। अव्यक्तके अन्दर चेतन-शक्ति अव्याकृतरूपमें रहती है। जब वह शरीरमें स्थित मूलाधारचक्रकी अधिष्ठात्री देवी बनती है, तब वह 'डाकिनी' का रूप धारण कर लेती है; स्वाधिष्ठानचक्रमें वह 'राकिनी' बन जाती है, मणिपूरकचक्रमें 'लाकिनी' होकर रहती है, अनाहतमें 'काकिनी' के रूपमें रहती है तथा विशुद्ध-चक्रमें 'शाकिनी' का रूप धारण कर लेती है।

३—प्रकृतिके परिणाम—

सत्त्व, रज और तमके द्वारा शक्ति अपना कार्य करती है। इस स्थूल जगत्की सृष्टिके लिये आकाश, वायु, तेज, अप् (जल) और पृथ्वी, ये पाँच तत्त्व अथवा पञ्चमहाभूत उसके साधन हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार मिलकर जड अथवा अपरा प्रकृति कहलाते हैं। यह निम्न श्रेणीकी है, अपवित्र है, खराबी पैदा करनेवाली है और स्वयं संसारके लिये बन्धनरूप है। परा-प्रकृति विशुद्ध है। यह स्वयं आत्मा-रूप है, क्षेत्रज्ञ है। यही जीवनको धारण करनेवाली है। यह समस्त जगत्के अन्दर प्रवेशकर उसे धारण किये हुए है। इसे चैतन्य प्रकृति भी कहते हैं।

शक्ति ही सब कुछ है। शक्तिके बिना हम न सोच सकते हैं, न बोल सकते हैं, न हिल-डुल सकते हैं, न देख सकते हैं, न सुन सकते हैं, न स्पर्श कर सकते हैं, न स्वाद ले सकते हैं, न जान सकते हैं और न समझ ही सकते हैं। हम शक्तिके बिना न तो खड़े हो सकते हैं और न चल-फिर सकते हैं। फल, अनाज, शाक, भाजी, चावल, दाल, चीनी आदि सब शक्तिसे ही उत्पन्न होते हैं। इन्द्रिय और प्राण भी शक्तिके ही परिणाम हैं। विद्युत्-शक्ति, आकर्षण-शक्ति तथा चिन्तन-शक्ति आदि सभी 'शक्ति' के व्यक्त रूप हैं।

४—शक्तिका दार्शनिक तत्त्व—

समस्त विश्वके अन्दर रहनेवाली निर्विकार सत्ताका नाम शिव है। उनकी शक्तिके अनन्त रूप हैं, जिनमें प्रधान हैं चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति। तत्त्व छत्तीस माने गये हैं। जब शक्ति चिद्रूपमें अपना कार्य करती है तो उस समय निर्विशेष ब्रह्म विशुद्ध अनुभवरूप हो जाता है और इसीको 'शिव-तत्त्व' कहते हैं। आनन्द-शक्तिके व्यापारसे जैसे ही जीवनका सञ्चार होता है वैसे ही ब्रह्मकी दूसरी अवस्था हो जाती है जिसे 'शक्ति-तत्त्व' कहते हैं। अपने अभिप्रायको व्यक्त करनेकी इच्छासे ही तीसरी अवस्थाकी प्राप्ति होती है। इसके अनन्तर ब्रह्मकी ज्ञानावस्था होती है; यह है ईश्वर-तत्त्व, जिसमें जगत्को उत्पन्न करनेकी इच्छा और शक्ति रहती है। इससे आगेकी अवस्थामें ज्ञाता और ज्ञेयका भेद हो जाता है। यहाँसे क्रियाका प्रारम्भ होता है। यही शुद्ध विद्याकी अवस्था है। इस प्रकार ये पाँच अलौकिक तत्त्व शिवकी पञ्चधा शक्तिके अभिव्यक्त रूप हैं।

शक्तिके उपासक इस जगत्को छत्तीस तत्त्वोंसे बना हुआ मानते हैं, जिस प्रकार सांख्य इसे केवल पच्चीस तत्त्वोंसे बना हुआ स्वीकार करता है। सांख्यके पुरुषके ऊपर ये पञ्च कञ्चुक अर्थात् पाँच आवरण मानते हैं,

जिनके नाम हैं—नियति, काल, राग, विद्या और कला। कलाके ऊपर माया, शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति और शिव हैं। इस प्रकार ये पच्चीस तत्त्वोंके अतिरिक्त ग्यारह तत्त्व और स्वीकार करते हैं। शिव-तत्त्व एक स्वतन्त्र तत्त्व है। सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या मिलकर विद्या-तत्त्व कहलाते हैं और मायासे लेकर नीचेके जो बत्तीस तत्त्व हैं, उन सबको मिलाकर आत्म-तत्त्व कहते हैं। ये ही विकासकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। माया पहले सूक्ष्म तत्त्वोंके रूपमें प्रकट होती है और इसके अनन्तर इसकी स्थूल पदार्थोंमें अभिव्यक्ति होती है। कला, जो मायाका प्रथम विकार है, उन मलोंका नाश करती है जो ज्ञानकी अभिव्यक्तिमें बाधक हैं और कर्मके अनुसार उसकी अभिव्यक्तिमें सहायक होती है। विद्या नामक अगले तत्त्वके द्वारा आत्मा सुख-दुःखका अनुभव करता है। विद्याके ही द्वारा क्रियाशील आत्मा बुद्धिके व्यापारोंका निरीक्षण करता है। इच्छाका ही नाम माया है, जिसपर सारा अनुभव निर्भर करता है। काल अर्थात् समय ही भिन्न-भिन्न अनुभवोंके अतीत, वर्तमान और अनागतरूप भेदका नियामक है। नियति उस नियमित व्यवस्थाका नाम है जो भिन्न-भिन्न जीवोंके शरीर, इन्द्रिय आदिकी भिन्नताकी नियामक है। इन्हीं पाँचोंसे पुरुष घिरा रहता है।

शक्तिकी दो अवस्थाएँ होती हैं—गुण-साम्यावस्था और वैषम्यावस्था। पहली अवस्था वह है जिसमें तीनों गुण—सत्त्व, रज और तम साम्यावस्थामें स्थित रहते हैं। यह अवस्था प्रलयकालमें होती है। उस समय असंख्य जीव अपने संस्कारों तथा अधिष्ठाताके साथ अव्यक्त अवस्थामें रहते हैं। अधिष्ठाताका अर्थ है, कर्मकी अदृश्य शक्ति अथवा फलदायिनी शक्ति जो कर्मके अन्दर छिपी रहती है।

प्रलयकी अवधि समाप्त होनेपर साम्यावस्थित शक्तिमें स्पन्द अथवा स्फूर्ति होती है और वह इसलिये कि तिरोहित जीवोंको अपने-अपने कर्मोंका फल भोगनेकी इच्छा होती है। यही वैषम्यावस्था है। अब ब्रह्म सृष्टिको उत्पन्न करनेके लिये बाध्य हो जाते हैं। उनके सङ्कल्पमात्रसे सृष्टि उत्पन्न हो जाती है। साम्यावस्थामें रजोगुण शुद्ध और शान्त रहता है। विकास अथवा सृष्टिके समय वह अशुद्ध एवं क्षुब्ध हो जाता है। सृष्टिके समय जब आदिशक्तिके अन्दर क्षोभ होता है तो तीनों गुण—सत्त्व, रज और तम व्यक्त हो जाते हैं। सत्त्वगुणप्रधान चैतन्यका नाम विष्णु है जो ब्रह्मकी संरक्षिका शक्ति है। रजोगुणप्रधान चैतन्य ब्रह्मा है, जो ब्रह्मकी उत्पादिका शक्ति है। तमोगुणप्रधान चैतन्य शिव है जो ब्रह्मकी पुनर्निर्माण करनेवाली अथवा संहारिका शक्ति है।

५—साधकोंके आवश्यक गुण—

साधकके लिये यह आवश्यक है कि वह दक्ष हो, जितेन्द्रिय हो, सर्वहिंसाविनिर्मुक्त हो, समस्त प्राणियोंके हितमें रत हो, शुचि और आस्तिक हो, ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् ब्रह्ममें विश्वास करनेवाला हो, ब्रह्मवादी हो और ब्रह्म-परायण हो।

६—साधना—

साधना वह है जिससे सिद्धि अर्थात् अभीष्ट फलकी प्राप्ति हो। यह शक्ति अथवा ईश्वरकी प्राप्तिका साधन है। साधना और अभ्यास पर्यायवाची शब्द हैं। साधक वह है जो साधना अथवा अभ्यास करता है। साध्य वह है जो साधनाद्वारा प्राप्त हो। सिद्धिका अर्थ है शक्ति अथवा पूर्णता! साधनाका क्रम तबतक चलता रहना चाहिये जबतक साधक सिद्ध न हो जाय। साधना शब्द **'साध्'** (**षिध्+णिच्**) धातुसे बना है जिसका अर्थ है प्रयत्न करना, अभ्यास करना। साधककी योग्यता, स्वभाव, रुचि, ज्ञान तथा विकासके भेदसे ही साधनामें भेद होता है। अधिकारी शब्दका अर्थ है 'योग्य व्यक्ति।' अधिकारी पुरुषकी प्रकृतिके अनुसार ही साधनामें अन्तर पड़ता है।

साधकके चतुर्विध भावके अनुसार भी साधनाके चार भेद होते हैं। सर्वोपरि भाव ब्रह्मभाव है, जिसमें साधक यह भावना करता है कि सब कुछ ब्रह्म ही है (**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**) और जीवात्मा परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न है। इसे अद्वैतभाव भी कहते हैं। इसके उपरान्त ऊँची श्रेणीके भक्तों और योगियोंका ध्यान-भाव आता है, जिसमें भक्त अथवा योगी अपने हृदय तथा शरीरके भिन्न-भिन्न चक्रोंमें अपने इष्टदेवका ध्यान करता है। इससे नीचेका भाव वह है जिसमें केवल जप, प्रार्थना और स्तोत्र-पाठसे सम्बन्ध रहता है। अधम श्रेणीका भाव वह है जिसका बाह्य पूजासे ही सम्बन्ध है। जगदम्बाके पूजनमें जिन सामग्रियोंका प्रयोग होता है उन्हें 'उपचार' कहते हैं। इनकी संख्या साधारणतया सोलह होती है।

वे इस प्रकार हैं—(१) आसन (मूर्तिको बिठाना), (२) स्वागत, (३) पाद्य (चरण धोनेके लिये जल), (४) अर्घ्य (हाथ धोनेके लिये जल), (५) और (६) आचमन (पीने तथा मुँह धोनेके लिये जल दो बार दिया जाता है), (७) मधुपर्क (शहद, घृत, दूध और दही), (८) स्नान (स्नानके लिये जल), (९) वसन (वस्त्र), (१०) आभरण (गहने), (११) गन्ध (सुगन्धित द्रव्य), (१२) पुष्प, (१३) धूप, (१४) दीप (प्रकाश), (१५) नैवेद्य (भोजन) और (१६) वन्दन अर्थात् नमस्कारकी क्रिया अथवा प्रार्थना। यह बाह्य पूजा है। इससे ऊँची मानसिक अथवा आन्तरिक पूजा है। इसमें कोई स्थूल पदार्थ पूजामें नहीं चढ़ाया जाता, पूजाके उपकरणोंकी केवल कल्पना की जाती है। माता शक्तिके चरणोंमें सत्कर्मोंके पुष्प भी चढ़ाये जा सकते हैं। शक्तिकी उपासना ब्रह्मकी उपासना है। राधाकी पूजा कृष्णकी पूजा है। लक्ष्मीकी पूजा हरिकी पूजा है। कालीकी पूजा शिवकी पूजा है। कारण यह है कि शक्ति शक्तिमान्से भिन्न नहीं है। माताकी पूजासे ज्ञान होता है। उनकी अनुकम्पासे ज्ञानका स्वयं उदय होता है। आगे चलकर तो साधनाका सूत्र वे स्वयं अपने हाथमें ले लेती हैं और तब आध्यात्मिक उन्नति बहुत शीघ्रतासे होने लगती है। उन्नतिकी गति (चाल) मन्दसे तीव्रतर हो जाती है। परमहंस श्रीरामकृष्णदेवने माता कालीकी उपासनासे ही ज्ञान प्राप्त किया। भक्त रामप्रसादको कालीके साक्षात् दर्शन हुए थे। आंध्र-देशके योगी वेमन्ना भगवती कालीकी ही कृपासे बहुत बड़े योगी हो गये और उन्होंने बहुत-सी सिद्धियाँ प्राप्त कीं।

७—जपके मन्त्र—

हम यहाँ जपके लिये कुछ मन्त्र देते हैं। यदि हम भावपूर्वक, एकाग्रचित्तसे, भक्तिसहित और शुद्ध हृदयसे इनका जाप करें तो हमें उस-उस मन्त्रके देवताका साक्षात्कार हो सकता है।

(१) ॐ ऐं सरस्वत्यै नमः।

'ऐं' सरस्वतीका बीजाक्षर है। बङ्गालमें इसका उच्चारण **'ऐङ्'** के रूपमें होता है और मद्रासमें **'ऐम्'** के रूपमें। यदि कोई इस मन्त्रका एकान्त श्रद्धा, विश्वास एवं भक्तिसे और शुद्ध हृदयसे पाँच लाख जप करे तो उसे सरस्वतीके दर्शन होंगे। सरस्वतीकी कृपासे वह प्रगाढ़ पण्डित हो जायगा और वह सदा उसकी जिह्वापर वास करेंगी।

(२) ॐ क्रीं कालिकायै नमः।

'क्रीं' माता कालीका बीजाक्षर है। यदि चित्त एकाग्र करके और पवित्रताके साथ इस मन्त्रका पाँच लाख जप किया जाय तो माता कालीके प्रत्यक्ष दर्शन होंगे।

(३) ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे।

यह भगवती (देवी)-का परम प्रसिद्ध मन्त्र है। चण्डी अथवा दुर्गासप्तशतीमें यह मन्त्र दिया हुआ है। बङ्गालमें बहुत लोग इस मन्त्रका जाप करते हैं। इसका भी पाँच लाख जप करना चाहिये।

(४) ॐ दुं दुर्गायै नमः।

'दुं' अथवा **'दुम्'** दुर्गाका बीजाक्षर है। इस मन्त्रका भी पाँच लाख जप करना चाहिये।

(५) ॐ ह्रीं नमः।

'ह्रीं' माया बीज है। यह तान्त्रिक प्रणव है। जिस प्रकार **'ॐ'** वेदान्तियोंके लिये है ठीक उसी प्रकार तान्त्रिकोंके लिये **'ह्रीं'** है।

८—एक भारी भूल—

माँ कालीका वह अज्ञ उपासक जो उनकी प्रतिमाके आगे बकरे या भैंसेकी बलि चढ़ाता है, बड़ी भारी भूल करता है। यह एक भयङ्कर, अक्षम्य एवं घोर पाप है। माँ कभी अपने भक्तोंसे इस प्रकारकी बलि नहीं चाहतीं। जीवके तामसिक अहङ्कारको ही भैंसेका रूप दिया गया है और मोहको ही बकरा कहा गया है। माता तो यह चाहती हैं कि उसके भक्त उसके दर्शन पाने योग्य बननेके लिये अपने अन्तःकरणकी दूषित वृत्तियों—अहङ्कार तथा मोह—की बलि चढ़ा दें। कालीके भक्त यदि माताका प्रसाद एवं अनुग्रह चाहते हैं तो उन्हें अभी, इसी क्षण, इस प्रकारके अमानुषिक कृत्यको बन्द कर देना चाहिये। बहुत-से लोग तो माताको प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे नहीं, अपितु सुस्वादु मांसके द्वारा अपनी रसनेन्द्रियको तृप्त करनेके लिये ही ऐसा करते हैं। जो व्यक्ति हिंसा करता है उसे माताके दिव्य दर्शन पानेकी कभी आशा नहीं करनी चाहिये।

९—दृष्टिकोणका परिवर्तन—

शाक्त अर्थात् शक्तिका उपासक अपने प्रत्येक मनुष्योचित कर्मको यज्ञ और पूजाका एक पवित्र कार्य बना देता है।

खाते-पीते, उठते-बैठते अथवा अन्य किसी शारीरिक क्रियाको करते समय वह यह कहता ही नहीं, अपितु मानता और विश्वास करता है कि उसके द्वारा तथा उसके अन्दर शक्ति ही सब कुछ करा रही है। वह अपने जीवन तथा उसकी प्रत्येक क्रियाको इस रूपमें देखता है मानो प्रकृतिमें जो ईश्वरकी क्रिया हो रही है उसीका यह भी एक अङ्ग है—शक्ति ही यहाँ मनुष्यके रूपमें व्यक्त होकर अपना कार्य कर रही है। वह अपने हृदयकी धड़कनमें समष्टि-जीवनके स्पन्दनका अनुभव करता है। इस प्रकारकी भावनासे प्रेरित होकर कर्म करनेसे अधम-से-अधम शारीरिक व्यापार विश्वके व्यापारका एक पवित्र अङ्ग बन जाता है। उसका शरीर शक्तिरूप बन जाता है। उस शरीरकी आवश्यकताएँ ही शक्तिकी आवश्यकताएँ हो जाती हैं और उस शरीरके द्वारा मनुष्य जो कुछ भोग भोगता है, वह शक्ति ही भोगती है। वह जो कुछ देखता है और करता है, उसमें माँका ही हाथ रहता है। वही प्रेम करती है, वही कार्य करती है—उसकी आँखें और हाथ माँकी ही आँखें और हाथ हैं। यहाँतक कि उसका सारा शरीर और उसकी समस्त क्रियाएँ माताकी ही अभिव्यक्ति हैं। इस प्रकार बननेकी योग्यता प्राप्त करो। इन्द्रियोंको वशमें करो। सच्चे हृदयसे माताके नामकी रटन लगाओ। उसके स्वरूपका ध्यान करो और सच्चिदानन्द, आत्मानन्दका अनुभव करो। माँ तुम्हारे ऊपर अपने कृपा-पीयूषकी वर्षा कर तुम्हें निहाल कर देगी, कृतकृत्य कर देगी। केवल उसपर पूर्ण विश्वास रखो। उसके पाद-पद्मोंमें अपनेको अर्पित कर दो। वह तुम्हें अमृतत्व और शाश्वत शान्ति प्रदान करेगी।

हरिः ॐ तत्सत्।

शक्तिका स्वरूप

(लेखक—डॉ० श्रीबिनयतोष भट्टाचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०)

शक्तिके वास्तविक स्वरूपके सम्बन्धमें आजकल बहुत-से विचित्र-विचित्र सिद्धान्त फैले हुए हैं। बहुत-से लोग जो शक्ति-पूजाकी अवज्ञा करते हैं, इसका एक हेतु यह भी प्रतीत होता है। जो स्थूल दृष्टिके अतिरिक्त देखना नहीं जानते वे अवश्य ही शक्तिको उस तन्त्रका समानवाची मानेंगे जिसमें पञ्चमकारोंका उपयोग खुले रूपमें होता है। कुछ लोग इस प्रकारके हैं जो 'शक्ति' की एक दानवी शक्तिके रूपमें भावना करते हैं और भिन्न-भिन्न देवताओंको इसी शक्तिके स्वरूप मानते हैं। अतः उनके लिये तो शक्ति काली, तारा या छिन्नमस्ता इत्यादि देवताविशेषके अतिरिक्त कुछ रह नहीं जाती। इस सम्बन्धमें कम-से-कम इतनी बात अवश्य कही जा सकती है कि ये विचार अस्पष्ट, अविचारपूर्ण एवं भ्रान्तिमूलक हैं।

भारतीय दर्शनमें शक्तिका स्वरूप बहुत ही दिव्य, बहुत ही उदात्त है। शक्ति ही विश्वका सृजन करती है, शक्ति ही उसका सञ्चालन करती है और शक्ति ही संहार करती है। शक्ति ही सृष्टिका आदिकारण है। शक्ति ही वह परमतत्त्व है जिससे इस मिथ्या जगत्की उत्पत्ति हुई है। जड़ प्रकृतिके पूर्व भी शक्ति थी और शक्तिकी इच्छासे ही भौतिक जगत्की सृष्टि हुई। इसलिये शाक्त-दर्शनमें न तो ईश्वरवाद है, न देवी-देवता हैं और न हैं पञ्चमकार ही। यह तो विशुद्ध अद्वैतवाद है, जिसमें आत्माको प्रकृतिके परे माना गया है। वेदोंमें सूर्यको ही परमतत्त्व एवं सृष्टिका मूल-कारण माना गया है। शाक्त-सिद्धान्त इसके बिलकुल विपरीत पड़ता है। शाक्तागमके माननेवालोंको विशुद्ध वेदवादी आस्तिकोंने नास्तिक माना, इसमें एक यह भी हेतु हो सकता है।

एक तान्त्रिक ग्रन्थमें उमानन्दनाथने 'पराशक्ति' का निम्नलिखित शब्दोंमें बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है—

यस्यादृष्टो नैव भूमण्डलांशो
यस्यादासो विद्यते न क्षितीशः।
यस्याज्ञातं नैव शास्त्रं किमन्यैः
यस्याकारः सा पराशक्तिरेव॥

पराशक्ति वह शक्ति है जिसके लिये संसारका कोई भी भाग अदृष्ट नहीं है। कोई ऐसा राजा नहीं जो उसका गुलाम न हो, कोई ऐसा शास्त्र नहीं जिसे वह न जानती हो।

संस्कृतसाहित्यमें शक्तिके जितने सर्वश्रेष्ठ वर्णन मिलते हैं उनमेंसे यह भी एक है, यद्यपि यह भी अधूरा

ही है। परन्तु इस पदसे इतना तो स्पष्ट है कि सृष्टिके अणु-अणुमें शक्ति व्याप्त है—वह प्रभुत्वकी प्रतिमा है और वह समस्त ज्ञान और विज्ञानकी आदिस्रोत है। शक्तिवाद सांख्यके द्वैतवादसे निश्चय ही आगे बढ़ा हुआ है और वेदान्तके अद्वैतवादकी सीढ़ी है। सबसे अधिक मार्केकी बात तो यह है कि इसके अन्दर 'ईश्वर जगत्के परे है' और 'जगत् ही ईश्वर है'—इन दोनों सिद्धान्तोंका बीजरूपसे निरूपण किया गया है।

शक्तिका यह सिद्धान्त आगम-सम्प्रदायकी आधार-भित्ति है। कुछ विद्वानोंका यह मत है कि तन्त्रवादका आधार शिव और शक्तिका द्वैत ही है और वह सांख्यके पुरुष-प्रकृतिसे भिन्न नहीं है। परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है। 'शक्ति-सङ्गमतन्त्र', जिसमें शक्तिका निरूपण अन्य तन्त्रोंकी अपेक्षा एक विलक्षण ढंगसे किया गया है, शक्तिको शिवसे भी परे मानता है, अथवा दूसरे शब्दोंमें शक्तिको शिवकी भी जननी मानता है—

तं विलोक्य महेशानि सृष्ट्युत्पादनकारणात्।
आदिनाथं मानसिकं स्वभर्त्तारं प्रकल्पयेत्॥

'हे महेशानि! यह (अपना रूप) देखकर उस शक्तिने अपने पति आदिनाथको जगत्की सृष्टिके लिये अपने मनसे उत्पन्न किया।' हिन्दू-तन्त्रोंके अनुसार शक्ति अनन्त सृष्टियोंसे होती हुई सारे भूतोंमें उतरती है और ये सब भूत शक्तिके ही स्वरूप हैं। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक जीवके अन्दर ईश्वरीय तेजका स्फुलिङ्ग रहता है। इस शक्तिवादको माननेसे शक्तिके प्रादुर्भाव एवं विकासके लिये अनन्त अवकाश निकल आता है। जीवको इस परम शक्तिका दिया हुआ बल प्राप्त है और इसी हेतु वह 'जीवात्मा' कहलाता है और परमशक्ति, जो समस्त शक्तियोंका मूल-स्रोत है, 'परमात्मा' कहलाती है। दोनोंकी जातिमें कोई भेद नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि जीवात्मा परिच्छिन्न है और पराशक्ति अपरिच्छिन्न है। तन्त्रका सिद्धान्त यह है कि क्रमशः उन्नत होकर जीवात्मा अनन्तताको प्राप्त कर सकता है। जब वह पराशक्तिसे संयुक्त होकर उसीमें लीन हो जाता है, उसीका नाम परमगति अथवा मोक्ष है। हिन्दू-तन्त्रोंके अनुसार इस स्थितिपर पहुँचनेके लिये कुछ साधनों और विधिपूर्वक अनुष्ठानकी अपेक्षा होती है, जिसका ज्ञान इस शास्त्रके कुछ विशिष्ट मर्मज्ञोंको ही होता है।

बौद्ध-तन्त्रोंमें भी यही सिद्धान्त मिलता है। हाँ पारिभाषिक शब्द अलबत्ता भिन्न हैं। बौद्ध-तन्त्रोंमें 'शक्ति' का स्थान 'शून्य' ने ले लिया है। यह 'शून्य' शून्य विज्ञान और महासुखका साकार रूप है। इसीसे सब कुछ उत्पन्न होता है और इसीमें समा जाता है। यहाँ जीवात्माको बोधिसत्त्वके नामसे निर्दिष्ट किया गया है। बोधिसत्त्वका अर्थ है—जिसका सत्त्व अर्थात् मन बोधि अर्थात् निःश्रेयसकी प्राप्तिके लिये तत्पर है। मोक्ष प्राप्त करनेके लिये बोधिसत्त्वको कठोर संयम और अनेक प्रकारके मानसिक साधन करने पड़ते हैं, जिनके द्वारा वह क्रमशः चरम मुक्ति—मोक्षके पथपर अग्रसर होता है। बौद्ध-तन्त्रोंमें भी परमशून्यकी भावना 'नैरात्मा' नामक देवताके रूपमें की गयी है जिसके आलिङ्गनके लिये मानो बोधिसत्त्व छलाँग मारता है और जिस प्रकार नमक जलमें घुल जाता है, ठीक उसी प्रकार बोधिसत्त्व और नैरात्मा आपसमें मिल जाते हैं—घुल-मिलकर एक हो जाते हैं और परमशून्यके अङ्ग बन जाते हैं। इससे यही बोध होता है कि बोधिसत्त्व और नैरात्माका द्वैत केवल देखनेमात्रका है, वास्तविक नहीं है, और शून्यका सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त होते ही यह द्वैत मिट जाता है।

इस स्थितिमें मेरा यह पूर्ण विश्वास और दृढ़ धारणा है कि तन्त्र केवल वह विज्ञान है जो ऐसे साधनों और योगोंका निर्देश करता है जिनके द्वारा मनोबलकी उन्नति की जा सकती है। इन साधनों एवं प्रयोगोंका उद्देश्य, निःसन्देह, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मोक्षकी प्राप्ति है; परन्तु एक ही जन्ममें सब लोग इस स्थितिपर नहीं पहुँच सकते, अभ्यास करते-करते उनके अन्दर कुछ विशिष्ट शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं, जिन्हें 'सिद्धि' कहते हैं। ये सिद्धियाँ कुछ अलौकिक शक्तियाँ हैं, जिनका प्रयोग वे ही कर सकते हैं जिन्होंने इन्हें प्राप्त किया है। अन्य कोई भी व्यक्ति इनका उपयोग नहीं कर सकता। पातञ्जलयोगसूत्रने अणिमा, गरिमा, लघिमा इत्यादि आठ सिद्धियाँ मानी हैं। परन्तु उसके पीछेके ग्रन्थोंने चौंतीस सिद्धियाँ मानी हैं। हिन्दू और बौद्ध-तन्त्रोंके भिन्न-भिन्न आगमोंके द्वारा निर्दिष्ट विधि एवं साधनोंका अनुसरण करनेसे, इनमेंसे कुछ अथवा अधिक सिद्धियोंको प्राप्त कर लेना सम्भव है।

तन्त्रोंका यह दावा है कि जगत्के भौतिक साधनोंकी उन्नतिद्वारा जो कुछ सम्भव हो सकता है उसे एक ही व्यक्ति अपनी मानसिक शक्तिके विकासद्वारा सिद्ध कर सकता है। उदाहरणार्थ, हम ओषधिके प्रयोगसे रोगोंको हटाते हैं। परन्तु एक सिद्ध पुरुष केवल दृष्टिनिक्षेपसे अथवा स्पर्शमात्रसे या दूरसे मन्त्र पढ़कर या ऐसे ही कुछ सरल प्रयोगोंके द्वारा इस कार्यको कर सकता है। इतना ही नहीं, वह एक निम्न श्रेणीके जीवको किसी दूसरे मृत देहमें प्रवेश करा सकता है। इसके सिवा हम किसी खास दूरीसे आगे देख नहीं सकते, परन्तु एक सिद्ध पुरुष जब चाहे तभी बहुत दूरकी चीजोंको देख सकता है और उनका यथार्थरूपमें वर्णन भी कर सकता है। वह अपने चित्तको प्रसारितकर संसारके सुदूर भागमें होनेवाले वार्तालापको सुन सकता है। मानसिक साधनोंके सिद्ध हो जानेपर एक सिद्ध पुरुषको जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं उन्हींमेंसे कुछ सिद्धियोंका ऊपर उल्लेख किया गया है।

तान्त्रिकोंकी दृष्टिमें यह पिण्ड-शरीर विश्व-ब्रह्माण्डका ही लघु रूप है। उनका यह विश्वास है कि जो कुछ ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें भी है। मानसिक शक्तिका विकास होते-होते पिण्ड और ब्रह्माण्डका अन्तर धीरे-धीरे कम होने लगता है और अन्तमें चलकर वे सर्वथा एकाकार हो जाते हैं। जो शक्तियाँ इस विश्व-ब्रह्माण्डमें हैं वे ही शक्तियाँ प्रच्छन्न अथवा अविकसितरूपमें इस सूक्ष्म जगत्में भी विद्यमान हैं। प्राचीन युगके योगियोंने मानव-शरीरके अन्दर इस छिपी हुई शक्तिको जगानेके लिये साधन और प्रयोग खोज निकाले और उन्होंने शक्तियोंके विकासकी ऐसी प्रक्रियाएँ बतायीं जिनको देखकर दुनिया दंग रह जाय।

योग और हठयोग मानसिक शक्तिके विकासके प्रधान साधन हैं। हठयोगसे शरीरकी शुद्धि होती है और साधकको कुण्डलिनी-शक्तिके जगानेमें सहायता मिलती है, और अष्टाङ्गयोगके साधनसे सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जिनसे अन्तमें चलकर मुक्ति भी सुलभ हो जाती है। योगकी चरम अवस्थामें गाढ़ निद्रा अथवा सुषुप्तिकी-सी दशा हो जाती है और इसी स्थितिमें जीवात्मा और पराशक्तिका मिलन होता है। इस सम्मिलनके द्वारा जीवात्मा शक्तिके अटूट भण्डारमेंसे शक्ति—स्फूर्ति सञ्चय करता है और स्वयं शक्तिमान् हो जाता है। पराशक्ति ही समस्त शक्तियोंका मूल केन्द्र है, आदिस्रोत है। अत: जीवात्मा उससे भलीभाँति शक्ति ग्रहण कर सकता है, यदि वह उन प्राकृतिक नियमोंको जान जाय जिनके द्वारा यह शक्ति ग्रहण की जाती है। संक्षेपमें, हम आजकलके वैज्ञानिक आविष्कारोंकी भाषामें यह कह सकते हैं कि पराशक्ति एक महान् रेडियो-सञ्चालक है और योगी रेडियोके संवाद ग्रहण करनेका एक स्टेशन है।

योगकी शक्तियोंको ग्रहण करनेका यह उदाहरण प्राकृतिक नियमोंके सर्वथा अनुकूल है। प्रकृति और आत्माके बीच सदैव आत्माका ही पलड़ा भारी रहता है। मृत पुरुषका शरीर, उसकी इन्द्रियों, मांसपेशियों और अस्थियोंके सहित ज्यों-का-त्यों बना रहता है; परन्तु एक ऐसी वस्तु, जिसे हम देख नहीं पाते, उसे छोड़कर चली जाती है। उस वस्तुको हम देख नहीं सकते, छू नहीं सकते, नाप नहीं सकते; परन्तु जबतक यह शरीरमें रहती है तभीतक शरीर सचेष्ट रहता है और ठीक-ठीक काम करनेयोग्य होता है। इसीका नाम आत्मा है, इसीको जीवनशक्ति या और किसी भी नामसे पुकार सकते हैं। जिस जड पदार्थसे शरीरका सङ्घटन हुआ है, उससे आत्मा ऊँची वस्तु है; और आत्माकी विशेषताको इतिहासके जन्मके पूर्वसे ही भारतवासी मानते आये हैं। भारतीयोंकी बुद्धिने सदा सत्यका अन्वेषण किया है अथवा वह उस वस्तुकी खोजमें रही है जिसके अन्दर कुछ स्वाभाविक विशेषता होती है। इसीलिये प्राचीन कालके ऋषि-महर्षियोंने जड प्रकृतिकी अपेक्षा आत्मापर अधिक ध्यान दिया है। शारीरिक क्षेत्रमें हम बहुत-से ऐसे व्यक्तियोंको पाते हैं जो केवल शरीरकी उन्नति—व्यायाम आदिमें ही लगे रहकर आश्चर्यजनक शक्तियाँ प्राप्त कर लेते हैं, जो दूसरोंकी पहुँचके बाहर हैं। प्रो० राममूर्तिके लिये मोटी लोहेकी जञ्जीरें तोड़ देना, चलती हुई मोटरगाड़ीको बलपूर्वक रोक रखना, अपनी छातीपर हाथीको चढ़ाकर खड़ा रख लेना मामूली-सी बात है; परन्तु एक साधारण मनुष्यको यही बातें मनुष्यकी शक्तिके बाहर प्रतीत होंगी। यदि ऐसी आश्चर्यकारी क्रियाएँ एक पहलवानके द्वारा केवल शारीरिक बल बढ़ाकर की जा सकती हैं, जो आत्माके सामने कुछ भी

नहीं है, तो, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, इस शरीरकी अपेक्षा अनन्तगुने अधिक बलशाली आत्माकी शक्तिसे क्या नहीं हो सकता, यदि हम आत्माकी शक्तिको जागृत करें?

शक्तिको बढ़ानेका एक और भी उत्तम साधन है और यह है वाणीद्वारा अथवा मन-ही-मन मन्त्रोंका उच्चारण करना। आजकल नयी रोशनीके लोग मन्त्रोंको व्यर्थका ढकोसला कहकर टाल देते हैं। परन्तु हमें यह देखना है कि मन्त्र-शक्तिको हम वैज्ञानिक ढंगसे समझा सकते हैं या नहीं। इस बातको माननेमें किसीको आपत्ति नहीं होगी कि शब्दोंमें एक शक्ति रहती है। इस शक्तिका तारतम्य उच्चारण करनेवाले व्यक्तिके व्यक्तित्वपर निर्भर है। उदाहरणके लिये राजाके शब्दमें आज्ञा मनवा लेनेकी शक्ति होती है। जब कोई अफसर यह सुनता है कि वह बर्खास्त हो गया तो उसका हृदय बैठ जाता है। एक अच्छा वक्ता जनताको उभाड़ सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शब्दोंमें वह शक्ति है जिसके द्वारा आज्ञापालन करवाया जा सकता है, निरुत्साह अथवा उत्तेजित करवाया जा सकता है। शब्दोंसे उनके उच्चारणके साथ-ही-साथ यह शक्ति प्रकट होती है। यही प्राकृतिक नियम मन्त्रशास्त्रमें भी लागू है। जब मन्त्रोंका उच्चारण किया जाता है तो वायुमें एक कम्पन और स्पन्दन उत्पन्न होता है, जिसका प्रभाव भला अथवा बुरा होता है। ठीक उसी प्रकार जैसे रेडियो-ट्रांसमिटरसे ऐसे स्पन्दन उत्पन्न होते हैं जिनका परिणाम सुननेवालोंपर सुखदायक अथवा दु:खदायक होता है, मन्त्रशास्त्रवेत्ताओंने भी सुदीर्घ अनुभव और परीक्षाके अनन्तर कुछ ऐसे शब्दोंका अथवा कुछ ऐसे शब्द-समूहोंका आविष्कार किया है जिन्हें 'बीजमन्त्र' कहते हैं—'हृदयमन्त्र' अथवा 'मालामन्त्र' कहते हैं, और जो भला अथवा बुरा प्रभाव प्रकट करनेमें बड़े उपयोगी होते हैं। मन्त्रका प्रभाव उसे किसी निश्चित संख्यातक उच्चारण करनेसे ही प्राप्त होता है। हाँ इस बातकी आवश्यकता होती है कि मन पूर्णरूपसे मन्त्रके अक्षरोंपर एकाग्र रहे, तल्लीन रहे। तन्त्रके ग्रन्थोंमें वाक् (वाणी)-को 'वाग्वज्र' अथवा 'अमर वाक्' कहा गया है, जिसका कभी नाश नहीं होता। कुछ मातृकातन्त्रोंका तो यहाँतक कहना है कि सृष्टिके आदिमें वर्णोंकी ही उत्पत्ति हुई और इन वर्णोंसे ही चराचर जगत्‌की रचना हुई। प्रत्येक शब्द, जिसका उच्चारण होता है, कुछ प्रभाव उत्पन्न करता है, चाहे वह भला हो अथवा बुरा; और योगीको ऐसे शब्दोंके उच्चारणमें जिनका प्रभाव बुरा हो सकता है सदैव अत्यधिक सतर्क रहनेकी आवश्यकता है।

इस लेखमें हमने शक्तिके स्वरूपके सम्बन्धमें कुछ विचार संग्रह करनेकी चेष्टा की है तथा यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि मनुष्य अपनी मानसिक शक्तिका विकास करके क्या-क्या कर सकता है; परन्तु साथ ही हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि तान्त्रिकका व्यवसाय ही ऐसी साधना करना है जिसके लिये आजीवन अथक प्रयत्न करनेकी अपेक्षा है। यह मनबहलावकी वस्तु नहीं है। इसके लिये तो आवश्यकता है सुदृढ़, पवित्र और स्वस्थ शरीरकी और साथ-ही-साथ शुद्ध और स्वस्थ चित्तकी। यह विचित्र-सा तो अवश्य मालूम होता है, परन्तु है यह सच, कि योग और हठयोग क्षीणकाय रुग्ण पुरुषोंके लिये कदापि नहीं है, क्योंकि वे उस ज्ञानके अधिकारी नहीं हो सकते जिससे रहस्यमयी शक्तिकी उपलब्धि हो सकती है।

शक्ति-स्तवन

जै गुन खानि सुमातु, जैति कर बीना-धारिनि।
जै कमलासनि देवि, जैति जै जै सुखकारिनि॥
जल खल भल दल हरनि, जैति जै जै हरिवाहिनि।
जै जै सुखमागार, सदा भक्तन हित दाहिनि॥
जै महाशक्ति जग-भरनि जै, जै जै कारजु सुभ करनि।
जै खड्ग-सूलबर धरनि जै, 'प्रेम' सरनु संकटहरनि॥

—प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम'

वेद, चण्डी और गीतामें शक्ति-तत्त्व

(लेखक—श्रीनलिनीमोहन सान्याल, एम० ए० 'भाषा-तत्त्वरत्न')

प्राचीन कालमें अम्भृण नामक एक ऋषि थे। उनकी वाक् नामकी एक विदुषी कन्या थीं। इन कन्याने परमात्माके साथ अपनी सम्पूर्ण अभिन्नताकी उपलब्धि की थी, और इन्होंने जो कुछ अनुभव किया था उसीको आठ मन्त्रोंके द्वारा व्यक्त किया है। वे आठ मन्त्र देवीसूक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं, और वे ये हैं—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ १॥[1]

'मैं (सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा) रुद्र, वसु, आदित्य तथा विश्वदेवोंके रूपमें विचरण करती हूँ। मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि और अश्विनीकुमारद्वयको मैं ही धारण करती हूँ।'

देह और 'मैं' पृथक् वस्तुएँ हैं; किन्तु देह, प्राण, मन इत्यादिके साथ 'मैं' सुख-दुःख-सम्बन्धसे विशिष्ट है। देहादिके सुख-दुःखमें 'मैं' सुख-दुःखका अनुभवमात्र करता है; वस्तुतः 'मैं' सुख-दुःख-शून्य, देहादिशून्य एक पृथक् वस्तु है[2]। यह 'मैं' अचिन्त्य, अव्यक्त, इन्द्रियागम्य है। क्या आप अपने अनुभवके द्वारा—तर्कके द्वारा कह सकते हैं कि आप कभी न थे? अतएव 'मैं' सत्य वस्तु है। वह देह, सुख-दुःख इत्यादिकी नाईं अनित्य वस्तु नहीं है। यह 'मैं' ही आत्मा है। आत्मा नित्य,[3] ज्ञानमय और आनन्दमय है। 'मैं' अर्थात् आत्माके अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं।[4] वह एकादश रुद्रों, अष्ट वसुओं, द्वादश आदित्यों, विश्वदेवोंके रूपमें तथा सूर्य, वरुण, इन्द्र, अग्नि एवं अश्विनीकुमारोंके रूपमें प्रकाशित होता है। उसके इन सब विशिष्ट भावोंमें प्रकाशित होते हुए भी, उसकी अपनी विशुद्ध अखण्ड[5] चैतन्य-सत्तामें अणुमात्र भी विकार नहीं होता। आत्मा एक होते हुए भी नाना रूपमें विराजित है। अतएव वह बहुभावोंको धारण करनेवाला है।

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं[6] भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥ २॥

'मैं शत्रुहन्ता सोमको, विश्वकर्माको, सूर्यको और (षडैश्वर्यशाली) देवोंको धारण करती हूँ। जो (मनुष्य) देवोंके उद्देश्यसे प्रचुरहविर्युक्त सोमयागादिका अनुष्ठान करते हैं, उन यजमानोंका यज्ञफल मैं ही धारण करती हूँ।'

मैं जो एकमात्र चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ,[7] समस्त कर्मरूपमें, कर्म-संस्काररूपमें तथा कर्म-फलरूपमें विराज रही हूँ। इस मन्त्रका यही तात्पर्य है।

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्। तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्य्यावेशयन्तीम्॥ ३॥

१- पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा। (गीता ११। ६)

२- अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते। सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ (गीता १३। ३१-३२)

३- अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। (गीता २। १७)
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ (गीता २। २४)

४- मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ (गीता ७। ७-८)

५- अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ (गीता १३। १६)

६- पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ। जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ (गीता ७। ९-१०)
भोक्तारं यज्ञतपसां............................। (गीता ५। २९)

७- अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्। मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ (गीता ९। १६)
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ (गीता ९। १८)

'मैं (सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारिणी) जगदीश्वरी हूँ। मैं (गो, हिरण्यादि पार्थिव तथा ज्ञान-विद्यादि अपार्थिव) धनको देनेवाली हूँ। मैं उस ज्ञानकी देनेवाली हूँ जिससे जीव 'मैं' के स्वरूपकी उपलब्धि कर सके—जो ज्ञान सब उपासनाओंका आदि है। इस प्रकारके 'मैं' (आत्मा) का देवतागण भजन करते हैं। मैं बहुभावोंमें अवस्थित हूँ (मैं अनन्त भावोंमें तथा अनन्त जीवोंमें प्रविष्ट हूँ)। देवतागण मेरे बहुभावोंकी उपासना करते हैं।'

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्। अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥ ४॥

'जीव अन्नादि जो कुछ खाता है, जो कुछ देखता है,[१] जिन श्वास-प्रश्वासादि क्रियाओंके द्वारा जीवित रहता है और जो कुछ सुनता है, ये क्रियाएँ 'मेरे' ही द्वारा निष्पन्न होती हैं। 'मुझे' जो नहीं मानते, वे संसारमें क्षीणता प्राप्त करते हैं। हे (श्रुत) सौम्य, श्रद्धासे सुनो, जो कुछ तुम्हें 'मैं कहती हूँ।'

जीव, देखो, तुम्हारे आहार-विहारादि सब सांसारिक कार्योंमें[२] ,श्वास-प्रश्वासादि क्रियाओंमें, चैतन्यके रूपमें—बोधके रूपमें—ज्ञानके रूपमें—अनुभूतिके रूपमें कौन प्रकाशित हो रहे हैं? कहाँसे इन कर्मोंका स्फुरण हो रहा है? कहाँ ये लीन हो रहे हैं? सर्व कर्मके नियन्ता कौन हैं? उनके अतिरिक्त और कोई नहीं, जो तुम्हारे सदा अनुभूत, अति प्रत्यक्ष हैं—जिन्हें छोड़ तुम मुहूर्तमात्र भी नहीं रह सकते। वह दूर हैं यह खयाल करते हो, इसलिये वह दूर हैं; नहीं तो, वह अति निकट ही हैं[३] वही तुम्हारी 'मैं' हैं। वह सत्य हैं—सर्वेन्द्रियाधिगम्य हैं। शरण लो उनके चरणोंकी।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं
जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि
तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥ ५॥

'मैं' स्वयं ही इन तत्त्वोंका उपदेश[४] देती हूँ और देवों तथा मनुष्योंके द्वारा ये आदृत होते हैं। मैं जिसे चाहती हूँ उसे उन्नत पद देती हूँ—उसे (अध्यात्म-जीवनोपयोगी) सुबुद्धिसम्पन्न करती हूँ, (आत्मदर्शी) ऋषि बनाती हूँ और (जगत्-सृष्टि-स्थिति-प्रलय-कार्यके उपयोगी) ब्रह्माका पद देती हूँ।

'मैं' ही वेद्य है, 'मैं' ही वेत्ता है, 'मैं' को छोड़कर 'मैं' का जाननेवाला कोई नहीं है, इसलिये कहा गया है—'**अहमेव स्वयं वदामि**'। ब्रह्मा आदि उच्च पद पाकर भी 'मैं' का, अर्थात् सत्य (नित्यवस्तु)-का अन्वेषण करते हैं।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि
ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणो-
म्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥ ६॥

'मैं' ब्रह्मज्ञान-विरोधी विनाशयोग्य रुद्रको (एकादश इन्द्रियोंको) हनन करनेके लिये (प्रणवरूप) धनुमें (आत्मरूप) शरका सन्धान करती हूँ। (इस प्रकार) मैं मनुष्योंके लिये युद्ध करती हूँ[५]। और स्वर्ग एवं मर्त्यलोकमें आविर्भूत (प्रविष्ट) होती हूँ।

पहले ही कहा गया है—मैं रुद्ररूपमें विराजित हूँ। यहाँ फिर उस रुद्रको हनन करनेके लिये 'मैं' ही उद्यत हुई हूँ। मैं ही जीवोंका बन्धन हूँ और मैं ही उस बन्धनको छिन्न करती हूँ—मैं ही मुक्तिकी देनेवाली हूँ।

मन चाहता है कि संसारवासनामें आबद्ध रहे, किन्तु प्राण चाहते हैं भगवत्-चरणोंमें सर्वस्व अर्पणकर चरितार्थ हों। इसी समय युद्धका सूत्रपात होता है—इसी समय देवासुर-संग्राम संघटित होता है। यह संग्राम 'मैं' ही

१-यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। (गीता ९। २७)
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च। अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ (गीता १५। ९)
२-ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ (गीता १८। ६१)
३-बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ (गीता १३। १५)
४-तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता १०। ११)
५-कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो-
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः। (गीता ११। ३२)

करती हूँ। सर्वत्र 'मैं' ही सब कर्मोंकी नियन्त्री हूँ।

शास्त्रोंमें पाँच कोषोंका उल्लेख है—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष। व्यष्टिरूपमें जीव इन कोषोंमें क्रमशः पहुँचता है। उसका स्थूल-देह अन्नमय कोष है। आत्माका अन्नमय कोष है यह विराट् ब्रह्माण्ड। उसका प्राणमय कोष है सृष्टि-स्थिति-क्रियाशक्ति। उसका मनोमय कोष है नाना भावमें व्यक्त होनेका सङ्कल्प। उसका विज्ञानमय कोष है वह ज्ञान जो बहुत्वके सङ्कल्पको धारण कर रहा है। उसका आनन्दमय कोष निरा आनन्दमय है। यहीं जगत्का बीज अव्यक्तरूपमें रहता है। विराट् विज्ञानमय कोष ही स्वर्गलोक है। यदि जीव व्यष्टि-विज्ञानमय कोषमें अवस्थान कर सके, तो वह अनायास स्वर्गलोकको प्राप्त कर सकता है। श्रीचण्डी-तत्त्व इस विज्ञानमय कोषकी साधना है।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्
मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वो-
तामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि॥ ७॥

'मैं जगत्-पिता (हिरण्यगर्भ)-को प्रसव करती हूँ।[१] इसके ऊपर आनन्दमय कोष-मध्यस्थ विज्ञानमय कोषमें मेरा कारण-शरीर अवस्थित है। मैं समग्र भुवनमें अनुप्रविष्ट होकर अवस्थित हूँ। वह सामने स्वर्गलोक है, उसे भी मैं अपने शरीरके द्वारा स्पर्श कर रही हूँ।'

जगत्-पिता हिरण्यगर्भ वह हैं जिनसे यह जीव-जगत् उत्पन्न है। वह परमात्माका मनोमय कोष वा समष्टि-मन है। ब्रह्माण्ड विराट् मनकी कल्पनासे प्रसूत है। जीव-मनकी कल्पनाएँ क्षणस्थायी होती हैं और दूसरोंके देखनेमें नहीं आतीं। किन्तु मनोमय आत्माके सङ्कल्प दीर्घकालस्थायी और सब जीवोंके भोग्य होते हैं। इन विराट् पुरुषका नाम हिरण्यगर्भ है और यही जगत्के पिता हैं। इन्हींको मैं, जो सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा हूँ, प्रसव करती हूँ। संक्षेपमें—मैं जगत्पिताकी भी जननी हूँ। योनिका अर्थ है कारण-शरीर। समुद्रका अर्थ है आनन्द—धातु-प्रत्ययसे भी यही अर्थ निकलता है। सायणाचार्यने इस शब्दका अर्थ परमात्मा बताया है। परमात्मा और आनन्द एक ही वस्तु हैं। अप्-शब्दका अर्थ सायणभाष्यमें व्यपनशीला धीवृत्ति कहा गया है। धीवृत्ति है विज्ञानमय कोष। यद्यपि जीवका कारण-शरीर आनन्दमय कोष कहा जाता है, तथापि आनन्दमय कोष ही कारण नहीं, उसके भीतरका विज्ञान ही यथार्थ कारण है। समग्र ब्रह्माण्ड ही मेरा अर्थात् सच्चिदानन्दका शरीर है जो द्युलोकको पहुँच सकते हैं, वे मेरा स्पर्श विशेषरूपसे अनुभव कर सकते हैं।

अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिमा संबभूव॥ ८॥

'जब मैं वायुके सदृश प्रवाहित होती हूँ, तभी इस समग्र भुवनकी सृष्टिका आरम्भ होता है। इन स्वर्ग तथा मर्त्यलोकके परे भी मैं विद्यमान हूँ। यही है मेरी महिमा।'

वायुकी नाईं प्रवाहशीलाका अर्थ है क्रियाशक्तिविशिष्टा। गीतामें भी कहा गया है—जिस प्रकारसे सर्वत्रगामी तथा महान् वायु आकाशमें अवस्थित है, उसी प्रकारसे सर्वभूत आत्मामें अवस्थित हैं।[२] इसीलिये ब्रह्मजिज्ञासाके उत्तरमें ब्रह्मसूत्रमें कहा गया है—जिससे समस्त जगत् उत्पन्न, जिसमें अवस्थित और जिसमें विलीन है, वही ब्रह्म है वही आत्मा, वही 'मैं'।[३] वही जगत्-प्रसवित्री, पालयित्री तथा संहन्त्री शक्ति-रूपा जननी 'मैं' है। जबतक यह विश्वभुवन विद्यमान है, तबतक यह क्रिया-शक्ति-विशिष्टा रहेगी। निर्गुण-भावमें हो चाहे पुरुष-भावमें हो, जबतक उपासना चलती रहेगी तबतक आत्मा क्रियाशक्ति वा महामायारूपमें अभिव्यक्त होता रहेगा। भूलोक तथा द्युलोकके ऊपर भी 'मैं' है—वह अवस्था वाणी तथा मनके अगोचर है, वही जीवका गम्य तथा लक्ष्य है। नित्य-निरञ्जन स्वरूपका अधिकारी होकर 'मैं' (अर्थात् 'माँ') परिच्छिन्न जीव-जगत्के आकारमें विराजित होता है यह विस्मयकर है—यही यथार्थ 'मैं' की महिमा है।

उनके असीम स्नेह, सन्तानवत्सलता तथा अलौकिक माहात्म्यका परिचय मार्कण्डेयऋषि-रचित 'चण्डी' में

१- मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ (गीता १४। ३)
२- यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्। तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ (गीता ९। ६)
३- जन्माद्यस्य यतः। (वे० सू० २)

विस्तारसे दिया गया है। देवीसूक्त ही चण्डीका मौलिक उपादान है—चण्डी वा देवीमाहात्म्य उसीका विश्लेषण-मात्र है। देवीसूक्त वेदका अंश है। वैदिक मन्त्रवक्तागण, चाहे पुरुष हों, चाहे स्त्री, सब ऋषि हैं। वे मन्त्र-रचयिता नहीं थे—मन्त्र-द्रष्टा थे। देवीसूक्त भ्रम-प्रमाद-शून्य एक ऋषिका संवेदन है।

देवीसूक्तका प्रतिपाद्य है सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा। चण्डी वा देवी-माहात्म्यमें यह परमात्मा ही महामायाके रूपमें उपाख्यानके आकारमें वर्णित हुए हैं। परमात्मा और महामाया अभिन्न हैं। जो मनुष्य साधक हैं, ब्रह्मविद् हैं, आत्मज्ञ हैं, वे जानते हैं कि आत्मा तथा माया सर्वथा अभिन्न पदार्थ हैं। जबतक साधना है, जबतक देह है, तबतक आत्मा माया-रूपमें ही अभिव्यक्त है। जब जीव परमात्माकी अवस्थाको पहुँचता है, तब न साध्य है, न साधना, न साधक, न शास्त्र, न चिन्ता, न भाषा। चिन्ता वा साधना जबतक भाषाकी सीमाके भीतर रहती है, तबतक आत्मा मायाके रूपमें प्रकट होता है।

'मैं क्या हूँ?' यह ठीकसे जाननेका नाम है यथार्थ ज्ञान। जीवोंमें बहुत-से ऐसे हैं जो अपना स्वरूप जाननेके लिये व्यग्र हैं। अपने अर्थात् आत्माके स्वरूपको जाननेकी चेष्टाका नाम है साधना। देवीसूक्त इस धारणाको बद्धमूल करना चाहता है कि 'मेरे अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है।' अतएव देवतागण मुझे छोड़कर नहीं हैं। यदि केवल अन्य देवताओंकी ही उपासना की जाय, तो 'मैं' वा आत्माके प्रति दृष्टि नहीं रहती, और मुक्तिके प्राप्त होनेमें बहुत विलम्ब हो जाता है।

आत्मा ही है 'मैं'—माँ। 'मैं' को पहचानना, आत्माका साक्षात्कार करना, 'माँको जानना'—ये तीनों एक ही बात हैं। देवीसूक्तमें 'अहं' का जो तत्त्व प्रकाशित हुआ है, चण्डीमें वही महामायाके तत्त्वके आकारमें वर्णित हुआ है। देवीसूक्तकी 'आत्-मा' चण्डीमें 'मा' हैं। चण्डीमें परमात्मा ही महामायाके रूपमें वर्णित हुए हैं, और परमात्मा और महामाया अभिन्न बताये गये हैं। देवीसूक्तका मत शङ्करके मतसे प्राय: मिलता है।

त्रिविध कर्म-संस्कार वा वासना-बीज ही मुक्तिके बाधक हैं। सूक्ष्म विचारसे ये सत्त्व, रज तथा तमोगुणके रूपमें परिचित हैं। चण्डीके प्रधान तीन अंशोंमें इन तीनों संस्कारोंसे परित्राण पानेके पथ एक-एक करके तीन चरितोंमें दिखाये गये हैं—

(१) मधु-कैटभ-वधमें,

(२) महिषासुर-वधमें और

(३) शुम्भ-वधमें।

पहलेमें देवीने जगत्पालक विष्णुभगवान्‌को योगनिद्रासे जागृतकर मधु-कैटभ नामक असुरद्वयको विनष्ट करनेमें सहायता की।

दूसरेमें देवीने सब देवताओंकी सम्मिलित शक्तिके रूपमें आविर्भूत होकर सिंहवाहिनीकी मूर्त्ति धारणकर महिषरूपी महिषासुरका निधन किया।

तीसरेमें देवीने जगद्धात्रीकी मूर्तिमें शुम्भ-निशुम्भ नामक दो भाइयोंका संहार किया।

इन आख्यानोंके वक्ता हैं मेधस ऋषि, और श्रोता सुरथ राजा, जो सम्प्रति अपने राज्यसे निकाला गया था, और समाधि नामक एक वैश्य, जिसे सम्प्रति उसके स्त्रीपुत्रोंने घरसे निकाल दिया था। देवी-माहात्म्यकी कथा सुननेके बाद उन दोनोंने ऋषिके आश्रमके समीप ठहरकर तीन वर्षतक देवीकी आराधना तथा तपश्चर्या की। अन्तमें दोनोंको अपना-अपना अभीष्ट वर मिला—एक अपने हृत राज्यका पुनरुद्धार करनेमें समर्थ हुआ, दूसरेको ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ।

मधु-कैटभ-निधन है सत्य-प्रतिष्ठा, महिषासुर-वध चैतन्य-प्रतिष्ठा और शुम्भ-वध आनन्द-प्रतिष्ठा। माँ हमारी सच्चिदानन्दस्वरूपा हैं। पहले माँके अस्तित्वकी उपलब्धि होनी चाहिये। यही साधनाका प्रथम स्तर है। इस स्तरमें जीवभावका विनाश होता है—आसक्तिका मूल छिन्न हो जाता है, भावी कर्मका बीज विनष्ट होता है। तब जीव आसक्तिशून्य होकर कर्म करनेको प्रवृत्त होता है, जिससे उसके सञ्चित कर्म-बीजका नाश होता है। महिषासुरवधके आख्यानमें सञ्चित कर्म-संस्कार-समूह ही असुरोंके रूपमें वर्णित हुए हैं। मन, बुद्धि, इन्द्रियसमूहकी जो परमात्ममुखी गति वा परमात्मासे मिलनेका प्रयास है वही देवशक्ति है, और उनकी विषयाभिमुखी लालसा ही असुर वा सुर-विरोधिनी शक्ति है।

श्रीमद्भगवद्गीताके षोडश अध्यायमें सम्पदाओंका विभाग यों किया गया है—(१) देवताओंकी सम्पदाएँ हैं—अभय, सत्त्वशुद्धि, आत्म-ज्ञान प्राप्त करनेकी निष्ठा,

दान, इन्द्रियसंयम, यज्ञ, वेदाध्ययन, तपस्या, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, दया, अपैशुन, निर्लोभता, मृदुता, लज्जा, धीरता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह और निरभिमानिता। (२) असुर-सम्पद् हैं—भय, अशुद्धि, दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता तथा अज्ञान।

प्रथम आख्यानमें सत्त्वगुणके बहिर्विकासरूपी संस्कारद्वय मधु-कैटभके नामोंसे वर्णित हुए हैं। द्वितीय आख्यानमें रजोगुणके विकाससे उत्पन्न पूर्व जन्मोंके सञ्चित संस्कार असुरवृन्दके रूपमें वर्णित हुए हैं। जितनी कामना, वासना हैं और गीतोक्त दम्भ, दर्प, अभिमान इत्यादि असुर-सम्पद् इस रजोगुणकी स्थूल सम्पदाएँ हैं। दूसरी ओर रजोगुणके नाना अन्तर्मुखी विकास ही देवगण हैं। 'मुझे मैं नहीं जानता, अतएव अपने-आपको अवश्य जानना चाहिये'—इस भावसे उत्पन्न जो चेष्टा होती है वह रजोगुणप्रसूत है। इस चेष्टाके कारण धीरे-धीरे अपने-आपको जानना सत्त्वगुण है, और अपने-आपको जाननेके विषयमें निश्चेष्टता है तमोगुण।

शुम्भ-वधके आख्यानकी सहायतासे—ज्ञानमय स्तरसे मुक्त होकर जीव किस प्रकार आनन्दमय स्तरको पहुँचता है, यह दिखाया गया है।

जीव पहले इन तत्त्वोंको हृदयङ्गम नहीं कर सकता। जब वह इनको जाननेके लिये व्यस्त होता है, तब उसके हृदयमें देवासुर-संग्रामका आरम्भ होता है। तब उसे प्रत्यक्ष होता है कि माँ स्वयं समरक्षेत्रमें अवतीर्ण होकर सुरविरोधी भावसमूहका विलोप कर रही हैं। वह चाहती हैं कि अपने प्रिय पुत्रको निरुपद्रव करें—अपने हृदयमें आबद्ध रखें; किन्तु मैं (पुत्र) चाहता हूँ कि स्वतन्त्रतासे खेलूँ-कूदूँ और जगत्‌की धूल देहपर लगाकर जन्म-मृत्युके फन्देमें फँस जाऊँ। क्या माँ यह देख सकती हैं? इसी कारण माँ मेरे तीनों खेलघरोंको तोड़ देनेकी चेष्टा करती हैं। चण्डी-रूपमें माँका आविर्भाव कदाचित् यही व्यक्त करता है।

चण्डीके आख्यानोंके द्वारा जो विभिन्न आधारोंकी अनुभूतियाँ हमारे सामने उपस्थित की गयी हैं—एक भौतिक जगत्‌की, दूसरी चेतन जगत्‌की। हमारे मनमें देवभाव तथा असुरभाव दोनों विद्यमान हैं—एक हमें निवृत्तिकी ओर ले जाता है तो दूसरा प्रवृत्तिकी ओर खींचता है। मनुष्यके मनमें सुमति तथा कुमति द्वन्द्व सदा चलता रहता है। कभी सुमतिकी जय होती है, कभी कुमतिकी। चण्डीमें सुप्रवृत्तियोंकी जय घोषित हुई है। क्रम-विकासके मतके अनुसार दुष्ट लोग भी क्रमशः बहुजन्मोंके पीछे देवभावापन्न हो जायँगे।

गीताका भी प्रतिपाद्य विषय है सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा। श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दविग्रह हैं। जीवके उद्धारके लिये असीम परमात्मा ससीम नररूपमें धराधाममें अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने युद्धमें प्रवृत्त करानेके लिये अर्जुनको कुछ उपदेश दिये थे। वे ही गीताके उपादान हैं। मार्कण्डेय-चण्डी गीताकी परवर्ती है। इसकी तथा गीताकी भाषा पौराणिक युगकी है। किन्तु देवीसूक्तकी भाषा वैदिक भाषा है।

गुण न रहनेसे कोई वस्तु जानी नहीं जाती। 'वह जानी जाती है'—यही उसका एक गुण है। यदि परमात्मा ज्ञेय हों तो उनके गुण हैं, अर्थात् वह सगुण हैं? किन्तु निर्गुणवादीगण कहेंगे कि वह ज्ञेय नहीं हैं, इसलिये वह सगुण कहे जाते हैं। ब्रह्मका निर्गुणत्व प्रतिपादन करना ही यद्यपि गीताका उद्देश्य है तथापि उस ग्रन्थमें प्रायः सर्वत्र ही वह सगुण दिखाये गये हैं। गीताके त्रयोदश अध्यायमें कहा गया है कि वह निर्गुण होते हुए भी ज्ञानके पालक हैं, सब स्थानोंमें ही उनके हाथ, पैर, आँख, मुँह, कान हैं—वह स्थावर तथा जङ्गम हैं; तथापि वह रूपहीन, सूक्ष्म तथा अविज्ञेय हैं।* वह कर्म भी करते हैं—सृजन, पालन तथा संहार करते हैं। कितने ही जीव उनके दाँतोंसे चूर्ण हो रहे हैं। अपने विराट् वदनमें वह समग्र भुवनको बार-बार ग्रास कर रहे हैं। वही वायु, यम, अग्नि, वरुण, सूर्य, चन्द्र इत्यादि हैं। उनका वीर्य अनन्त है, विक्रम भी अनन्त।

भगवद्गीताकी दृढ़ भित्तिपर चण्डीका अपूर्व सौध निर्मित हुआ है। चण्डीमें परमात्मा सगुण माँ हैं। सगुण ब्रह्म महामायाके रूपमें प्रकट हुए हैं। महामाया न तो अद्वैतवादीकी मायाके समान अलीक हैं और न वह सांख्यकी प्रकृतिके समान परमात्मासे भिन्न हैं। श्रीकृष्ण-

* पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ (गीता ११। ५)
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्। (गीता ११। १०)

ने अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखाया था। यदि चण्डीके शिक्षानुसार इसका विचार किया जाय, तो यह महामायाका ही विश्वरूप है। महामाया विश्वकी माता हैं।

चण्डी तथा गीता दोनों ग्रन्थोंमें ही दुष्कृतोंके विनाशकी आवश्यकता दिखायी गयी है। एकमें भगवान् अर्जुनको रणके लिये उत्साहित कर रहे हैं दूसरेमें माँ स्वयं रणमें प्रवृत्त हुई हैं। दुर्दान्त क्षत्रियसमाजके संहारके लिये ही भगवान् कृष्णरूपमें धरातलपर अवतीर्ण हुए थे। उनका स्थूल उद्देश्य यही था; किन्तु सूक्ष्मतासे देखनेसे यह मालूम होता है कि उस समय मनुष्यसमाजमें जिस असुर-भावका आधिक्य हुआ था, उसे जड़से नष्ट करना ही उनका यथार्थ अभिप्राय था। उनका और भी उद्देश्य था—जीव-हृदयमें जिस उच्छृङ्खलता तथा पाशविक भावकी अत्यधिक वृद्धि होनेके कारण उस समयके समाजका घोर अनिष्ट हो रहा था, उसका आमूल संस्कार करना और ऐसा एक धर्म स्थापित करना जिससे लोग प्रवृत्तिमें रहते हुए ही निवृत्तिके मार्गमें चल सकें। गीताकी प्रधान शिक्षा ही यह है—भगवान्पर विश्वास रखते हुए तुम कामनाशून्य होकर काम करते जाओ, फलकी प्रत्याशा कभी मनमें न रखना।

किन्तु चण्डीमें कदाचित् सकाम धर्म[१] की पोषकता की गयी है ऐसा अनुमान होता है—कम-से-कम अर्गला-स्तोत्रमें। जीवमात्रकी ही कुछ-न-कुछ आकांक्षा रहती है। सरल-प्राण शिशु हैं हम—हमारी जो कुछ आवश्यकता होती है, वह हम माँसे नहीं माँगेंगे तो किससे माँगेंगे? माँसे यदि किसी वस्तुकी आकांक्षा करते हो, तो पहले उन माँको ढूँढ़ निकालना चाहिये। यह खोज ही असली बात है। खोजनेसे ही वह प्राप्त होंगी।

उपनिषदोंमें शक्ति-तत्त्व

(१)

(लेखक—श्रीश्रीधर मजूमदार, एम० ए०)

प्राचीन कालके आत्मदर्शी महापुरुषोंने, जो अपनी सूक्ष्म अमोघ अन्तर्दृष्टि अथवा अतीन्द्रिय ज्ञानके कारण 'ऋषि' कहलाते थे, इस तत्त्वका उद्घाटन किया कि ब्रह्ममें अन्तर्निहित शक्ति ही सृष्टिका आदिकारण है। उन लोगोंने 'ध्यानावस्थित होकर यह अनुभव किया कि ब्रह्मकी निजशक्ति ही, जो उसके स्वरूपमें प्रच्छन्नरूपसे विद्यमान है, कारण है। ब्रह्म ही समस्त कारणोंका सञ्चालक है; जिसमें काल और अहं भी सम्मिलित हैं' (श्वेताश्वतरोपनिषद् १। ३)[२] यहाँ आलंकारिक ढंगसे गुण गुणीसे भिन्न कर दिया गया है और यह प्रत्यक्ष हो जायगा कि श्रुतिने अन्ततोगत्वा इस गुणशक्तिको गुणीसे अभिन्न माना है। यही पराशक्ति है, यही अन्तश्चेतना है और यही सूक्ष्म और कारण-शरीरकी सञ्चालिका है, यही आन्तरिक और बाह्य समस्त वस्तुओंको प्रकाश देनेवाली है। इस शक्तिको सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्मसे सर्वथा अभिन्न माना गया है और इसका बह्वृचोपनिषद्में इस प्रकार वर्णन आता है—'वह (शक्ति) स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरकी परम शोभा है; वह सत्, चित्, आनन्दकी लहरी है। वह भीतर-बाहर व्याप्त रहती हुई स्वयं प्रकाशित हो रही है।' (बह्वृचोपनिषद् १-ख)[३] वह समस्त दृश्य पदार्थोंके पीछे रहनेवाली वस्तु-सत्ता (प्रत्यक्-चिति) है 'वह आत्मा है। उसके अतिरिक्त सभी कुछ असत् और अनात्म है।' (बह्वृचोपनिषद् १-ख)[४] 'वह नित्य, निर्विकार, अद्वितीय परमात्माकी परम दिव्य चेतनाकी आदि अभिव्यक्ति है।' (बह्वृचोपनिषद् १-ख)[५]

१- 'रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि।'

अधिकारिभेदसे इन वाक्योंके अर्थ साधारण अर्थोंसे भिन्न ठहर सकते हैं, जैसे, 'माँ हमें तुम्हारा रूप देखने दो', 'माँ, मुझे इन्द्रिय-जय करनेका अधिकारी बनाओ', 'माँ, चित्त तथा इन्द्रिय-जय करनेकी शक्ति दो।' और भी कुछ प्रार्थनाएँ हैं—'देहि सौभाग्यमारोग्यम्', 'विधेहि बलमुच्चकैः', 'भार्यां मनोरमां देहि मनोवृत्त्यनुसारिणीम्।'

२- ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देहात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥

३- सच्चिदानन्दलहरी महात्रिपुरसुन्दरी बहिरन्तरनुप्रविश्य स्वयमेकैव विभाति।

४- सैवात्मा ततोऽन्यदसत्यमनात्मा।

५- चिदाद्याद्वितीयब्रह्मसंवित्तिः।

श्रीमद्भगवद्गीता, जो सभी उपनिषदोंका सार है, यह घोषणा करती है कि 'आत्मा और मूलप्रकृति दोनों अनादि हैं और विकारशील दृश्य पदार्थों और गुणोंकी उत्पत्ति प्रकृतिसे होती है।' (गीता अध्याय १३। १९)[१] गीताका यह भी कथन है कि 'आत्मा प्रकृतिके द्वारा प्रकृतिजन्य गुणोंको भोगता है और जिस गुणमें उसकी आसक्ति होगी उसीके अनुसार भला या बुरा जन्म उसका होगा।' (गीता अ० १३। २१)[२] श्रीमद्भगवद्गीता यह भी घोषणा करती है कि प्रकृतिका पुरुषसे भिन्न कोई स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं है। वह स्वयं पुरुषके अन्दर स्थित है, वह पुरुषकी ही प्रकृति है और इसी हेतु सदा आत्माके साथ रहती है। आत्माकी इस प्रकृतिके दो विभाग हैं—अपरा और परा। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार, यह आत्माकी अष्टधा अपरा शक्ति है और इससे भिन्न दूसरी जीव-शक्ति आत्माकी पराशक्ति है, जो इस विश्वको धारण करती है। (गीता ७। ४-५)[३] प्रकृतिके इन दो विभागोंमें पहला इन्द्रियगोचर तथा बाह्य है और दूसरा है इन्द्रियातीत तथा बुद्धिगोचर। ये ही ब्रह्मके दो मुख्य रूप हैं, जिनके अन्दर सबका अन्तर्भाव हो जाता है।

वस्तुतः ब्रह्मके दो रूप हैं—जड़ और चेतन। जड़ असत् है, परिवर्तनशील है, विनाशशील है। चेतन सत् है, वही ब्रह्म है, वही प्रकाश है। (मैत्र्युपनिषद् ५। ३)[४] शाक्तोंने परब्रह्म परमात्माके उपर्युक्त दोनों रूपोंको एकत्रकर 'शक्ति' के नामसे निर्दिष्ट किया है। महर्षि बादरायणके ब्रह्मसूत्रोंमें भी, जो उपनिषदोंकी एक समन्वयपूर्ण तथा समालोचनात्मक व्याख्या है, हमें इसी सिद्धान्तकी प्रति-ध्वनि मिलती है। महर्षि बादरायणने अपने ब्रह्मसूत्रके दूसरे अध्यायके दूसरे पादमें सृष्टिके कारण-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न प्रचलित सिद्धान्तोंका विश्लेषण किया है और (१) जड़ प्रकृति, (२) परमाणुओंके संयोग, (३) भाव और संस्कार, (४) शरीर और आत्माका अनादि संयोग, (५) निष्क्रिय आत्माका प्रकृतिके साथ संयोग तथा (६) शक्तिकी आत्मासे सर्वथा स्वतन्त्र सत्ताका तर्कके द्वारा खण्डन किया है। और अन्ततोगत्वा वे इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि यदि इसके विपरीत यह स्वीकार कर लिया जाय कि चैतन्यादिविशिष्ट शक्ति ही सृष्टिका कारण है तो इस सिद्धान्तसे हमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि उस स्थितिमें ब्रह्म और शक्ति एक ही हो जाते हैं। (ब्रह्मसूत्र २। २। ४४)[५] वेदान्त यह भी स्वीकार करता है कि ब्रह्मके अन्दर शक्ति स्वभावसे ही मौजूद रहती है और विश्वकी उत्पत्ति उसी शक्तिसे होती है।

इस सर्वव्यापी, चिन्मय पराशक्तिकी—जो सगुण और निर्गुण, निराकार और साकार दोनों हैं, अथवा संक्षेपमें जिसे परब्रह्म परमात्माका पर्यायवाची शब्द कह सकते हैं—समस्त हिन्दू-जाति अनादि कालसे पूजा और ध्यान करती आ रही है। संसारके किसी भी भागमें प्रचलित किसी धर्मसे उपरिनिरूपित शक्तिवादका कोई विरोध नहीं है। शाक्तलोग सभी धर्मोंमें एक ही परम दिव्यशक्तिकी अभिव्यक्ति देखते हैं। वे इसी अनन्त पराशक्तिको ही विश्वका चेतन कारण समझते हैं और इस पराशक्तिको वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मसे अभिन्न मानते हैं। उनके मतसे मोक्ष अथवा निरतिशय स्वतन्त्रता इस परमशक्तिके अथवा अपरिमेय आत्माके वास्तविक स्वरूपमें स्थित होनेका ही नाम है। और यह स्थिति सच्चे ज्ञान और सच्ची भक्तिके तुल्य अनुपातमें सम्मिश्रणसे ही प्राप्त हो सकती है। सच्चा ज्ञान सर्वव्यापक आत्माके वास्तविक स्वरूपका बोध करा देता है और सच्ची भक्ति अनन्य प्रेमको जगाती है, जिसका पर्यवसान अहङ्कारके सम्पूर्ण समर्पणमें हो जाता है। तन्त्रोंमें इस महाशक्तिकी उपासनाका पूरा विकास हुआ है, जिसका अन्तिम उद्देश्य वेदान्तका अद्वैतवाद ही है। इस दृष्टिसे 'कुलार्णवतन्त्र' और 'महानिर्वाणतन्त्र' सबसे आगे बढ़े हुए हैं। परमात्मामें स्थित हो जाना ही सर्वोत्कृष्ट पूजा है; इसके बाद दूसरे

१- प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि । विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥

२- पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् । कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

३- भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

४- द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्चाथ यन्मूर्तं तदसत्यं, यदमूर्तं तत्सत्यं, तद्ब्रह्म, यद्ब्रह्म तज्ज्योतिः।

५- विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः।

नम्बरमें ध्यानकी प्रक्रिया आती है। सबसे निम्न श्रेणीकी पूजामें स्तुतिके कुछ पद गाये जाते हैं और प्रार्थनाके कुछ शब्द कहे जाते हैं और बाह्यपूजाको तो अधमसे भी अधम कहा गया है। (महानिर्वाणतन्त्र)[१]

पुराणोंने भी शक्तिका वही रूप माना है जो वेदान्तमें सगुण, निर्गुण—उभयात्मक ब्रह्मका माना गया है। श्रीदेवीभागवतमें जगज्जननी शक्तिकी एक स्तुति है जिससे यह बात स्पष्ट हो जायगी। वह इस प्रकार है—

'जगत्‌का नियन्त्रण करनेवाली, सृष्टिकी आदिभूता माता प्रकृति-देवीकी मैं सदा वन्दना करता हूँ; मैं पुनः कल्याणी, कामदा, सिद्धिदा और ज्ञानदाका अभिवादन करता हूँ। मैं तुम्हारी वन्दना करता हूँ जो सच्चिदानन्दरूपिणी हो और जो विश्वको प्रकाश देनेवाली हो। मैं पञ्चकृत्योंका विधान करनेवाली भुवनेश्वरीकी बारम्बार वन्दना करता हूँ। मैं बारंबार सर्वाधिष्ठात्री,कूटस्थाकी वन्दना करता हूँ। मैं पुनः सृष्टिकारिणीको नमस्कार करता हूँ। मैं हृदयकी अधिष्ठात्री, प्रकृतिकी अधिष्ठात्री देवीकी वन्दना करता हूँ। मैं तुम्हारे चरणोंमें वन्दना करता हूँ। तुम मुझे सम्पूर्ण ज्ञानकी ज्योति प्रदान करो। ओ शुभे! ओ देवि! ओ सर्वार्थदे शिवे! मैं तुम्हारी वन्दना करता हूँ।'

शाक्तमतके अनुयायियोंने ठीक-ठीक उपनिषदोंके अनुसार शक्ति-तत्त्वका प्रतिपादन करके अनन्तरवर्ती धार्मिक साधकोंके ज्ञान और साधनकी सुगमताके लिये वेदान्तकी सृजनकारिणी चैतन्यशक्तिके सिद्धान्तकी ही पुष्टि की है। हाँ, इसमें केवल अन्तर इतना ही है कि वेदान्तके 'परब्रह्म' को तन्त्रोंमें 'पराशक्ति' कहने लगे। इस प्रकार अन्तर तो केवल पारिभाषिक शब्दोंमें ही रह गया; तत्त्वतः मूलमें तो सर्वथा एकता ही है। माँ कालीके प्रसिद्ध उपासक स्वामी रामकृष्ण परमहंसदेवने अपने व्यक्तिगत जीवनमें यह दिखला दिया कि भिन्न-भिन्न धार्मिक सिद्धान्तोंमें वस्तुतः कोई विरोध नहीं है। अपने साधक-जीवनके भिन्न-भिन्न कालमें अपनी दिव्य समाधिकी अवस्थामें भिन्न-भिन्न धर्मोंके—भिन्न-भिन्न मतोंके—भिन्न-भिन्न पथोंका उन्होंने अनुसरण किया और उनके मनमें संसारके किसी भी धर्मके प्रति पक्षपात अथवा द्वेष नहीं था। हृदयके भीतर उनका यह दृढ़ विश्वास था कि सभी धर्म एक ही उद्देश्यकी ओर ले जा रहे हैं, और वह उद्देश्य है ब्रह्मका ज्ञान। इसी हेतु अपने जीवनके पिछले भागमें वे बहुधा शक्तिकी साधनामें ही निमग्न रहने लगे और किसी भी धर्मविशेषकी पारिभाषिक विधि अथवा साम्प्रदायिक सिद्धान्तका आश्रय उन्होंने नहीं लिया—यही है शाक्त-धर्म!

(२)

(लेखक—पं० श्रीजौहरीलालजी शर्मा, सांख्ययोगाचार्य)

शक्तिकी सर्वव्यापकता

परमसुखाभिलाषी जीव अनादिकालमें आनन्द-नगरसे निकल जगद्गोलकके कर्म-काननमें भ्रमता चौरासी लक्ष पुरियोंमें निवास करता श्रेयःपाथेयको बगलमें दबा प्रेयोवन्यफलोंका उपभोग करता हुआ उपासना-वाटिकाकी भक्ति-कुसुमावलिसे सुवासित ज्ञान-भवनमें मुक्ति-मञ्चिकापर विराजमाना मायेश्वरब्रह्मरूपा भगवती चिति-शक्तिके अनुग्रहसे स्वरूपोपलाभके उत्कृष्ट पदपर आरूढ़ हो परमानन्दका अनुभव करता है।

चिति-शक्तिकी सर्वात्मकता

सत्-चित्-आनन्द-रूपा शक्ति अपनी सर्वव्यापकतासे सदा सर्वत्र एकरस विराजमान है। चिति-शक्ति, चिच्छक्ति, चेतन-शक्ति, दैवी-शक्ति, परा-शक्ति, ब्रह्म, आत्मा; सब पर्याय शब्द हैं। उपनिषदोंमें इसका विशद विवेचन है। बह्वृचोपनिषद्में—

हरिः ॐ। देवी ह्येकाग्र आसीत्। सैव जगदण्डमसृजत्। कामकलेति विज्ञायते⋯⋯तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्। सर्वे मरुद्गणा अजीजनन्⋯⋯सर्वं शाक्तमजीजनत्। अण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जं जरायुजं यत्किञ्चै तत् प्राणिस्थावरजङ्गमं मनुष्यमजीजनत्। सैषा परा शक्तिः। सैषा शाम्भवी विद्या⋯⋯सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य बहिरन्तरवभासयन्ती⋯⋯महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक्

१- उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः। स्तुतिजपोऽधमो भावो बाह्यपूजाऽधमाधमा॥

२- नमो देव्यै प्रकृत्यै च विधात्र्यै सततं नमः। कल्याण्यै कामदायै च विध्यै सिद्ध्यै नमो नमः॥
सच्चिदानन्दरूपिण्यै संसारारणये नमः। पञ्चकृत्यविधात्र्यै ते भुवनेश्यै नमो नमः॥
सर्वाधिष्ठानरूपायै कूटस्थायै नमो नमः। अर्द्धमात्रार्थभूतायै हृल्लेखायै नमो नमः॥
नमो देवि महाविद्ये नमामि चरणौ तव। सर्वज्ञानप्रकाशं मे देहि सर्वार्थदे शिवे॥

चितिः। सैवात्मा। ततोऽन्यदसत्यमनात्मा। अत एषा ब्रह्मसंवित्तिर्भावाभावकलाविनिर्मुक्ता चिदाद्याऽद्वितीयब्रह्म-संवित्तिः सच्चिदानन्दलहरी ...... बहिरन्तरनुप्रविश्य स्वयमेकैव विभाति यदस्ति सन्मात्रम्। यद्विभाति चिन्मात्रम्। यत्प्रियमानन्दं तदेतत्सर्वाकारा महात्रिपुरसुन्दरी। त्वं चाहं च सर्वं विश्वं सर्वदेवता। इतरत् सर्वं परं ब्रह्म। पञ्चरूप-परित्यागादस्वरूपप्रहाणतः। अधिष्ठानं परं तत्त्वमेकं सच्छिष्यते महत् इति। प्रज्ञानं ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा भाष्यते। तत्त्वमसीत्येव सम्भाष्यते। अयमात्मा ब्रह्मेति वा ब्रह्मैवाह-मस्मीति वा......या भाष्यते सैषा षोडशी श्रीविद्या...... बालाम्बिकेति बगलेति वा मातङ्गीति स्वयंवरकल्याणीति भुवनेश्वरीति......वा शुकश्यामलेति वा......प्रत्यङ्गिरा धूमावती सावित्री सरस्वती ब्रह्मानन्दकलेति। ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्। यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।......

इससे विदित है कि सृष्टिकी आदिमें देवी ही थीं—'**सैषा परा शक्तिः**'; और इसी पराशक्ति भगवतीसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गमात्मक सृष्टि उत्पन्न हुई। संसारमें जो कुछ है इसीमें सन्निविष्ट है। भुवनेश्वरी, प्रयंगिरा, सावित्री, सरस्वती, ब्रह्मानन्दकला आदि अनेक नाम इसी पराशक्तिके हैं।

रामपूर्वतापनीय उपनिषद्में—

कारणत्वेन चिच्छक्त्या रजस्सत्त्वतमोगुणैः।
यथैव वटबीजस्थः प्राकृतोऽयं महाद्रुमः॥

'वटबीजमें जिस प्रकार महावृक्ष सूक्ष्मरूपसे विद्यमान रहता है और उत्पन्न होकर एक महान् वृक्षके रूपमें परिणत हो जाता है वैसे ही यह प्राकृत ब्रह्माण्ड चिच्छक्तिसे उत्पन्न होता है।'

नृसिंह उ० ता० उप० में '**या सरस्वती, या श्रीः, या गौरी, या प्रकृतिः, या विद्या**' इत्यादि नामोंसे उसी चिति-शक्तिका निर्देश है। इनका जप करनेसे अमृतकी प्राप्ति होती है।

नृसिंह उ० ता० उप० में अद्वय, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, आत्मा, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध, अव्यक्त, अगन्तव्य, अबोद्धव्य, अनिन्द्रिय, अविषय, अकरण, अलक्षण, असङ्ग, अगुण, अविक्रिय, असत्त्व, अरजस्क, अतमस्क, अभय, अलिङ्ग आदि विशेषण-विशिष्ट यही शक्तितत्त्व है। कठोपनिषद्में इसीको '**सा काष्ठा सा परा गतिः**' कहा गया है। अग्नि जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक है वैसे ही सम्पूर्ण जगत् चिति-शक्तिसे व्याप्त है।

जाबालोपनिषद्में शक्तिकी महिमा इस प्रकार वर्णित है—

आधारशक्त्यावधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः।
तथैव निम्नगः सोमः शिवशक्तिपदास्पदः॥
विद्याशक्तिः समस्तानां शक्तिरित्यभिधीयते।

ऐतरेयोपनिषद्में—'**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किञ्चन मिषत्। प्रज्ञा प्रतिष्ठा।**' सृष्टिसे पहले आत्म-शक्तिके सिवा अन्य कुछ न था।

छान्दोग्योपनिषद् भी इसी तत्त्वका प्रतिपादन करता है। यथा—

आसीदेवेदमग्र आसीत् तत्समभवत्।

सृष्टिसे पहले चिति-शक्ति सूक्ष्म सत्तासे विराजमान रहती है (और उसके अनन्तर स्थावर-जङ्गम-रूपसे प्रकट होती है)।

तैत्तिरीयोपनिषद्में—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

आनन्दरूपा चिति-शक्तिसे सब भूत उत्पन्न होते, उसीसे जीते एवं उसीमें लीन हो जाते हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद्में—

य एको वर्णः शक्तियोगाद्वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।

(लयमें) जो एक होकर भी शक्तिके योगसे सृष्टिमें अनेक हो जाता है।

माण्डूक्योपनिषद्में—

प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्।

'वह तत्त्व प्रपञ्चसे परे शान्त, कल्याणरूप और अद्वैत है।'

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

जो तत्त्व मन-वाणी आदि इन्द्रियोंके अगोचर है वह चिति-शक्ति है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
न विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।

उसमें सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत्, अग्नि आदिकी पहुँच नहीं। पातञ्जलयोगमें भगवती चिति-शक्तिका दर्शन यों होता है—

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्।
(यो० कै०)

चितिशक्तिरपरिणामिनी अप्रतिसंक्रमादर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च। (अन्यत्र तथा) अपरिणामिनी हि भोक्तृ-शक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारिमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञान-वृत्तिराख्यायते। (व्या० भा०)

चिति-शक्ति निज वास्तविक रूपसे परिणाम और संचाररहित एवं शुद्ध और अनन्त है। किन्तु सृष्टिदशामें यह परिणामिनी-सी प्रतीत होती है। यथा स्वच्छ जलमें पड़े हुए क्रियारहित चन्द्रमाके प्रतिबिम्बसे आकाशस्थ अचञ्चल चन्द्रबिम्ब चञ्चल प्रतीत होता है, इसी प्रकार सक्रिय बुद्धि-वृत्तिमें संक्रान्त क्रियारहित चितिका प्रतिबिम्ब निश्चल चितिको क्रियासहित, कर्त्री, भोक्त्री प्रतीत कराता है।

सृष्टि-क्रम

उक्त प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि चिति-शक्ति जगत्की लयदशामें संसारको अपनेमें लीनकर स्वयं शान्त, शिव, अद्वैत, निष्क्रिय, विशुद्धरूपसे विराजमान रहती है किन्तु सृष्टिदशामें '**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**' (ब्र० सू०) के निमित्त '**सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय**' इस सिसृक्षाके अनन्तर ही संसार-रचना करती है। इसी सिसृक्षा (जलहिमके समान घनीभूत चिति-शक्ति)-का नाम माया है। मायाके संयोगसे चिति-शक्ति सृष्टि-स्थितिमें ईश्वर, जीव और मायाके व्यक्ताव्यक्त अनेक रूपोंमें दर्शन देती है। जीव-सृष्टिमें ब्रह्माजी सर्व प्रथम हैं।

चिति-शक्ति ईश्वररूपमें

माया-विशिष्ट चिति-शक्ति ही माया-शबल ब्रह्म है जो ईश, ईश्वर, महेश्वर, परमेश्वर, भगवान्, शिव, परमपुरुष, पुरुषोत्तम, पुराणपुरुष, विष्णु आदि पुरुषरूपमें, एवं ईश्वरी, महेश्वरी, परमेश्वरी, दुर्गा, देवी, महामाया, भद्रकाली, शिवा, लक्ष्मी, गौरी, सीता आदि स्त्रीरूपोंमें अपने अनन्त, अलौकिक, अचिन्त्य प्रभावसे सर्वत्र (और हृद्देश, वैकुण्ठ, गोलोक आदि विशिष्ट स्थानोंमें भी कार्यार्थ) विराजमान है। ईशोपनिषद् भगवान्की महिमाका इस प्रकार वर्णन करता है—'**ईशावास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्……**'-संसारमें जो कुछ पदार्थजात है सब ईश्वरसे अधिष्ठित है। ईश्वर शुद्ध, बुद्ध, चेतन, सर्वज्ञ, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, अविद्याके बन्धनसे रहित और सृष्टि-कर्ता है। श्वेताश्वतर-उपनिषद् ईश्वरकी महिमाका आलाप यों करता है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

जिससे ईश्वर शक्तिमान् कहलाता है वह भगवती शक्ति ईश्वररूप सर्वोत्कृष्ट है। '**शक्तिशक्तिमतोरभेदः।**' भगवान्के ज्ञान, बल, क्रिया स्वाभाविक हैं। '**त्वं स्त्री त्वं पुमान्।**' एवं '**मायिनं तु महेश्वरम्**'-ईश मायापति हैं। पातञ्जलयोगके प्रवचनानुसार—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (पञ्चक्लेश) एवं कर्मबन्धन, कर्मफल, संस्कार ईश्वरमें नहीं होते। जैसे कि—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

और—

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः
स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः
षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य॥

अनन्तशक्ति आदि ये छः गुण एवं ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धृति, स्रष्टृत्व, आत्मसंबोध, अधिष्ठातृत्व, ये दस गुण ईश्वरमें नित्य हैं।

कैवल्योपनिषद्में परमेश्वरकी अचिन्त्य, अलौकिक शक्तिकी महत्ता यों है—

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः
पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः।

भगवान्की शक्ति अचिन्त्य है; बिना पैरके चलते हैं; हाथ नहीं, ग्रहण करते हैं; नेत्र नहीं; पर देखते हैं; कान नहीं तथापि सुनते हैं, इत्यादि।

भगवान् विष्णु लोक-कल्याण और धर्मकी रक्षाके लिये मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, राम, परशुराम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि आदि अनेक अवतार धारण करते हैं।

इसी प्रकार भगवती देवीका बहुविध प्रभाव श्रुतिसम्मत है। बह्वृचोपनिषद्के मतसे सृष्टिरचना परा-शक्ति देवी ही करती है। जैसा कि पूर्वोक्त '**देवी ह्येकाग्र आसीत्,**' '**सैव जगदण्डमसृजत्**' आदि वर्णनसे सिद्ध है।

नारायणोपनिषद् परमेश्वरी-शक्तिके महान् वैभवका वर्णन यों करता है—

गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम्।
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम्॥

तथा—

तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं······कर्मफलेषु जुष्टां······दुर्गादेवीं शरणमहं प्रपद्ये। गायत्रीमावाहयामि, सावित्रीमावाहयामि······मेधां मे सरस्वती दधातु।

इसीमें दुर्गागायत्री भी—

कात्यायन्यै विद्महे कन्याकुमार्यै धीमहि, तन्नो दुर्गिः प्रचोदयात्।

केनोपनिषद्से सिद्ध है कि उमादेवीने देवगणके परस्पर विवादका निर्णय और उनकी शङ्काका समाधान किया था।

कैवल्योपनिषद्के मतमें शक्ति और शक्तिमान्, सीता और राम अथवा उमा और महेश्वर दोनों ही जगत्की सृष्टि, स्थिति और संहार करनेमें समर्थ हैं।

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुम्।
सा सीता भवति मूलप्रकृतिसंज्ञिता।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम्।

यही ईश्वरी, दुर्गा, काली, महाकाली, भद्रकाली, महिषासुरमर्दिनी, योगमाया, चण्डी, अम्बिका आदि अनेक सौम्यासौम्यरूपसे अवतरित हो दुर्दान्त दैत्योंका दमन कर संसारमें धर्मस्थापनपूर्वक भक्तजनोंका कल्याण-विधान करती हैं।

चिति-शक्ति जीवरूपमें

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

इस गीतोपनिषद्के अनुसार प्रकृतिदेवी ईश्वरकी अध्यक्षतामें चर और अचर पदार्थोंको उत्पन्न कर संसारचक्रको चला रही है। इस प्रकृतिके दो रूप हैं- क्षर और अक्षर अथवा पर और अपर। शास्त्रीय परिभाषामें ये दो रूप दो पुरुष भी कहलाते हैं। सभी दृश्यमान पदार्थ क्षररूप हैं। और कूटस्थ-जीव अक्षर है। क्षर या अपरा प्रकृति त्रिगुणा परिणामशीला है। परन्तु अक्षर या परा प्रकृति जीवरूपा नित्या, एकरसा है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

(गीता १५। १६)

ईश्वर इन दोनोंसे भिन्न और उत्तम हैं, इससे पुरुषोत्तम कहलाते हैं।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

जीवात्माका रूप है—

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।

अर्थात् अज, तीनों कालोंमें एक-सा रहनेवाला, पुराण, सर्वगत, अचल, अव्यक्त, अचिन्त्य, विकाररहित— शरीरके मर जानेपर जीव नहीं मरता। किन्तु—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रोंको उतारकर नये पहन लेता है इसी तरह जीवात्मा जीर्ण शरीरको त्यागकर दूसरे नये शरीरमें चला जाता है।

मुण्डकोपनिषद् जीवकी उत्पत्तिके विषयमें कहता है—

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षरा द्विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥

जैसे प्रदीप्त अग्निमेंसे सहस्रों स्फुलिङ्ग (पतंगे) अग्निके समान रूपके निकलते हैं वैसे ही सृष्टिके समय अविनाशी ब्रह्म-शक्तिसे तद्रूप अनन्त भाव (जीवात्मा) प्रकट होते हैं।

वेदान्तमें जीवका रूप ऐसा है—

मुखाभासको दर्पणे दृश्यमानो
मुखत्वात्पृथक्त्वेन नैवास्ति वस्तु।
चिदाभासको धीषु जीवोऽपि तद्वत्
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽयमात्मा॥

(हस्ता०)

जैसे मुखका प्रतिबिम्ब जो दर्पणमें दिखायी देता है मुखरूप ही है उससे भिन्न नहीं, ठीक वैसे ही चेतनका प्रतिबिम्ब जो प्रकृतिके स्वच्छ रूप (बुद्धि)-में पड़ता है वह अपने शुद्ध चेतन-बिम्बसे भिन्न नहीं, तद्रूप ही है। यही प्रतिबिम्ब जीव है। बुद्धिमें उपाधि-कृति अन्तःकरण-दर्पण अनन्त हैं, इसलिये एक बिम्बके अनन्त प्रतिबिम्ब

(जीव) अनन्त हैं। इसी भावको भगवान् इस प्रकार प्रकट करते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

× × ×

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

ईश्वरांश जीव ईश्वर-गुणक ही है किन्तु कर्म-वैचित्र्यसे परिच्छिन्न देहोंमें रहनेसे अल्पज्ञ, अल्पशक्ति हो जाता है। क्षुद्र जीव कीट-पतंगोंसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त—व्यास, वसिष्ठ, वाल्मीकि, शुक, शौनक, पराशर, लोमश, मार्कण्डेय, याज्ञवल्क्य, मनु, अत्रि, ध्रुव, प्रह्लाद, अङ्गिरा, भीष्म आदि अनेक ऋषि, मुनि, महर्षि, ब्रह्मर्षि, परमर्षि, राजर्षिपुरुष एवं सावित्री, मैत्रेयी, विदुला, गार्गी, कुन्ती, अहल्या, तारा, माद्री, मन्दोदरी, दमयन्ती आदि अनेक स्त्रीरत्न जीव-कोटिमें परिगणित हैं।

चिति-शक्ति प्रकृतिरूपमें

तैत्तिरीयोपनिषत्प्रतिपादित **'तस्माद्वा·······आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः'** इत्यादि उत्तरोत्तर क्रमसे अनन्त सृष्टिको उत्पन्न करनेवाली ईश्वरी माया-शक्ति एवम्—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

तथा—

क्षरः सर्वाणि भूतानि—

गीतोक्त यह अष्टधा प्रकृति तथा सदवस्थापन्ना सृष्टिकर्त्री और असदवस्था-स्थित चिति-शक्तिरूपा, गुण-साम्यावस्था सांख्योक्त प्रकृति—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

—इस श्वेताश्वतर-श्रुतिके अनुसार माया और प्रकृति अभिन्न हैं। एवम्—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

योगकी यह दर्शन-शक्ति भी इसी तत्त्वका समर्थन करती है। अजा, माया, प्रकृति, दर्शन-शक्ति, बुद्धि, सत्त्व, चित्त एक ही तत्त्वके द्योतक हैं। सत्त्व, रजस्, तमस्, प्रकृतिके तीन गुण हैं। सत्त्वगुण लघु और प्रकाशक है। रजोगुण चञ्चल और उद्यमशील और तमोगुण गुरु (भारी) और आवरणकर्त्ता है।

सांख्यके अनुसार प्रकृतिका सृष्टि-रचना-क्रम इस प्रकार है—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारः, तस्माद्गणषोडशकः, तस्माद्गणषोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि।

एवम्—

मूलप्रकृतिः············न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।

प्रकृतिसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है, महान्‌से अहङ्कार, अहङ्कारसे सोलह तत्त्व (यथा पञ्चतन्मात्रा=शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा। पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय=श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा, घ्राण। पञ्चकर्मेन्द्रिय=वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, मन।) पञ्च-तन्मात्राओंसे पञ्च-महाभूत=आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी उत्पन्न होते हैं। इन्हीं पञ्च-महाभूतोंसे पञ्चीकरणक्रमसे जगत्‌के सब स्थूल-शरीर बनते हैं। महत्तत्त्व, अहङ्कार, मन, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय—(शक्तिरूपसे) ये अठारह तत्त्व मिलकर सूक्ष्म-शरीर या लिङ्ग-शरीर कहलाते हैं। यह प्रपञ्च इस चतुर्विंशतितत्त्वात्मक प्रकृतिका रूप है। ईश्वर इससे भिन्न प्रतीत होते हुए भी इसके प्रभव हैं। योगिजनमनोमोहिनी, अघटन-घटना-पटीयसी, अचिन्त्यप्रभावा, अनिर्वचनीया प्रकृति, भगवती चितिकी सत्तासे शक्तिमती होकर अद्भुत सृष्टि रचनेमें समर्थ है। प्रकृतिकी दो सम्पत्ति हैं—दैवी और आसुरी। दैवी सम्पत् उन्नतिकारिणी है। यह है—अभय, आर्जव, अहिंसा, अक्रोध, अलोभ, अपैशुन्य, अचपलता, अद्रोह, अनभिमान, दया, दान, दम, सत्य, त्याग, सत्त्वशुद्धि, ह्री, तेज, क्षमा, धृति, पवित्रता, तप, यज्ञ, मृदुता, स्वाध्याय, शान्ति, ज्ञानयोगस्थिति। आसुरी सम्पत् संसारके बन्धनमें डालनेवाली है, जिसमें दम्भ, दर्प, द्रोह, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अज्ञान, अशौच, अनाचार, अधैर्य, असत्य, अभिमान, हिंसा, क्रूरता, पिशुनता, कठोरता आदि हैं।

श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में प्रकृति-विषयक दो पहेलियाँ निम्नलिखित हैं—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

'एक अजा (बकरी, माया) रक्त, श्वेत, कृष्णवर्ण (सत्त्व, रजस्, तमस् गुण)-वाली है जो अपने समान रंग-रूपकी (शान्त, घोर, मूढ़ रूपकी) बहुत सन्तान (विविध

प्रकारकी सृष्टि) उत्पन्न करती है। दो अज उसके सम्बन्धी हैं। एक (जीव) तो अजाके दिये दुग्धादि (विषय-भोग) पदार्थको सेवन कर पश्चात्ताप करता है। किन्तु दूसरा (ईश्वर) उससे अलग रहता है।' दूसरी पहेली-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-
नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

'एक (मायारूपी) वृक्षपर समान जातिके दो पक्षी (जीव और ईश्वर) मिलकर बैठे हुए हैं। इनमेंसे एक (जीव) तो मधुर फलों (सांसारिक विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)-का उपभोग करता है किन्तु दूसरा पक्षी (ईश्वर) केवल देख रहा है। इस प्रकार भगवती चिति अपनी अद्वितीय शक्तिद्वारा ईश्वर, जीव और प्रकृतिके रूपमें विराजमान है।'

चिति-शक्तिके जीवकी गति

जीव प्रकृति-माताके चिरकालीन सम्पर्कसे, उसके दिये विषयोपभोग-प्रलोभनमें फँसकर, ईश्वर पितासे प्राप्त स्वरूपको भूल, अज्ञानसे प्राकृत गुणोंके कार्योंको अपनेमें आरोपित कर उनका कर्ता, फल-भोक्ता अपनेको समझ रहा है—जैसा कि योगदर्शनमें निरूपित है—

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता (२। ६)

बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेन।

और गीता भी इसी भावको जताती है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

× × ×

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः········

यों शुभाशुभ कर्मोंको करता और उनके फल भोगनेके निमित्त देव, दानव, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वनस्पति, पर्वत आदि सुख-दुःखदायिनी चौरासी लाख योनियोंमें उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुजके देह धारण करता और त्यागता हुआ सतत भ्रमण करता रहता है। एवं अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोषोंमें सर्वथा प्रकृति देवीके अधीन रहता है और जैसा नाच वह नचाती है वैसा नाचता है। यों घूमता-फिरता जब आनन्दमय कोष (मनुष्य-शरीर)-में आता है तब इसका प्राकृत बन्धन कुछ ढीला हो जाता है और किञ्चित् स्वतन्त्रता प्राप्त करता है। मानव-योनि सब योनियोंमें उत्तम है। इसमें जीवको अपने उद्धारके अनेक उपाय उपलब्ध हैं। भगवत्कृपासे प्राप्त सत्संगतिसे अथवा सद्गुरुके उपदेशसे जीव स्नान, सन्ध्या, जप, होम, स्वाध्याय, पितृतर्पण, देवपूजन, भगवत्-ध्यान, मातृ-पितृ-गुरु-जन-सेवा, परोपकार आदि वेद-विहित वर्णाश्रम-धर्मानुमोदित क्रिया-कलापके द्वारा यथाविधि निष्कामभावसे श्रीभगवान्‌का अर्चन कर परमसिद्धिलाभ कर लेता है। जैसा कि भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

इसी प्रकार योगके अष्टांग (यम-नियमादि)-के साधनसे जीवको अणिमादि अष्टसिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, जिनके द्वारा वह आकाशगमन, अन्तर्धान, परकायप्रवेश, रत्नादिप्राप्ति, प्रभुत्व आदि पाकर देव-वन्दनीय बन जाता है। इतना होनेपर भी जीव यदि भगवान्‌के शरणापन्न न हुआ तो उच्च पद पाकर भी पतित हो जाता है। और यदि **'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'** के अनुसार दृढ़ विश्वासके साथ चिति-शक्तिको लक्ष्यमें रख साधनमें क्रमशः अग्रसर होता जाता है तो सत्त्व-शुद्धि होनेपर अन्तमें जगत्‌के कार्य-कारणरूप प्राकृत गुणोंके व्युत्थान-समाधि-निरोध-संस्कारोंका मनमें, मनका अस्मितामें, अस्मिताका महत्तत्त्वमें और महान्‌का प्रकृतिमें प्रतिप्रसव (लय) हो जानेपर ईश्वरेच्छारूप प्रकृतिका कार्य समाप्त हो जाता है और जीव प्रकृतिके अध्यस्त बन्धनसे छूटकर स्वस्वरूप ईश्वर (चिति-शक्ति)-में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही शास्त्रका चरम लक्ष्य है। यथा-

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्, स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।

जीवके उद्धारके लिये पूर्वोक्त साधन बहुत उत्तम हैं किन्तु वे धीर, तितिक्षु, विद्वान् अधिकारीके अनुष्ठेय हैं, साधारण जनके बसके नहीं। इसलिये शास्त्रने सबके लाभके लिये बहुत सुगम उपाय नवधा भक्तिका बताया है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन—भक्तिके इन अङ्गोंमेंसे किसी एकका साधन करनेसे जीव भवसागरसे पार हो जाता है।

कलियुगमें हरि-नाम-संकीर्तन सुगम उपाय है। उपनिषदोंमें **ॐ, ॐ नमः शिवाय, नमः शिवाय, गोविन्दाय नमः, रामाय नमः, कृष्णाय नमः, देव्यै नमः** आदि अनेक नामोंके जपका विधान है। संकीर्तनमें नामोच्चारणपूर्वक नामीका ध्यान होना चाहिये, बार-बार ऐसा करनेसे भक्तका चित्त एकाग्र हो जाता है जिससे उपास्यदेव प्रसन्न होकर भक्तकी कामना पूर्ण करते हैं। इसी भावके ये सूत्र हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः।
तज्जपस्तदर्थभावनम्

भाष्य—**एकाग्रं सम्पद्यते चित्तम्। एकस्मिन् भगवति आरमति चित्तम्, तत ईश्वरः समाधितत्फललाभेन तमनुगृह्णाति।** इत्यादि।

सगुणोपासक भक्त भगवान्‌को रिझाना अच्छा जानते हैं, वे अपने उपास्यदेवकी सगुण मूर्तिके—

प्रसन्नवदनं चारुपद्मपत्रनिभेक्षणम्।
सुकपोलं सुविस्तीर्णललाटफलकोज्ज्वलम्॥
समकर्णान्तविन्यस्तचारुकुण्डलभूषणम्।
शार्ङ्गचक्रगदाखड्गशङ्खाक्षवलयान्वितम्॥

—दर्शनके अतिरिक्त संसारकी किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करते।

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जसं त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥

देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद
प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य।
प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं
त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य॥

—इस प्रकार अपने इष्टदेवके गुण-गानमें तत्पर रहते हैं। उपास्यदेव भी भक्तोंकी कामना अपनी प्रतिज्ञा—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

—के अनुसार पूर्ण करते हैं। भक्तकी इच्छा हो तो सायुज्यादि मुक्ति भी प्रदान कर देते हैं। कलिसन्तरणोपनिषद्‌में भगवान्‌के—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इन सोलह नामोंकी बड़ी महिमा वर्णित है। इस मन्त्रका साढ़े तीन करोड़ जप करनेसे महापाप और पातक सब नष्ट हो जाते हैं। और—

इति षोडशकलस्य जीवस्यावरणविनाशनं ततः प्रकाशते ब्रह्म।

यथाविधि निरन्तर चित्तकी वृत्तियोंको इष्टदेवके विग्रहमें लगाकर जप करते रहनेसे जापकके बुद्धिदर्पणके मल, विक्षेप, आवरण नष्ट हो जानेपर निर्मल और निश्चल चेतन प्रतिबिम्ब अपने प्रभव भगवद्रूप चितिशक्तिमें लय हो जाता है। यही शास्त्रका अन्तिम ध्येय है, जैसा कि ऊपर कहा गया है—'**स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरिति।**'

जय शक्ति!

(लेखक—स्व० सेठ श्रीअर्जुनदासजी केडिया)

श्रीराधा आधार प्रानपति-प्रान-प्रेमकी।
जोग-भोग आरोग सुकृत सुख जोग-छेमकी*॥
मूरति-रति-रमनीय मदन-मोहन-मन-मोहनि।
जिन जीते जगदीस जथा रजनीसहिं रोहनि॥
जय शक्ति सनातनि जगतकी, करनि-प्रगट-पालन-प्रलय।
जय जल-तरंग-अनुरूप तनु, जुगल रूप जय जयति जय॥

---

* श्रीराधा अपने प्राणपति (श्रीकृष्ण)-के प्राण एवं प्रेमकी और (भक्तोंके) सांसारिक भोगोंके योग, आरोग्य, पुण्यकर्म, सुख, योग (आत्म-ज्ञान-प्राप्ति) एवं क्षेम (प्राप्तिकी रक्षा)-की आधाररूप है।

गीतामें शक्ति-तत्त्व

(लेखक—श्री के०एस० रामस्वामी शास्त्री, बी०ए०, बी० एल०)

यह सबको भलीभाँति विदित है कि वर्तमान कालमें हिन्दू-धर्मका जो जीवित स्वरूप है उसका सार-तत्त्व शक्ति-सिद्धान्त है। देश और विदेशके कुछ समालोचकोंका यह मत है, जिसे समय-समयपर वे व्यक्त भी करते रहे हैं, कि वैदिक कालके हिन्दू-धर्मसे सर्वथा स्वतन्त्ररूपमें शाक्त-मतकी उत्पत्ति हुई और समय पाकर इसने वैदिक धर्मपर अपना प्रभुत्व भी स्थापित कर लिया। परन्तु वस्तुतः बात ऐसी है नहीं। शाक्त-मत उतना ही पुरातन है जितना वेद; अतएव यह जीवनका सनातन तत्त्व और विचारोंका एक मुख्य अङ्ग है। इसी हेतु हम यह आशा कर सकते हैं कि उपनिषदोंके साररूप श्रीगीताजीमें इस सिद्धान्तका अवश्य उल्लेख होगा।

विशुद्ध शक्ति-सम्बन्धी उपनिषदोंके अतिरिक्त केनोपनिषद्में हम '**बहुशोभमाना उमा हैमवती**' का स्पष्ट उल्लेख पाते हैं। इसी देवीने इन्द्रको परमब्रह्मका ज्ञान कराया। शक्ति-सम्बन्धी उपनिषदोंमें स्वभावतः शक्तिके स्वरूप एवं व्यापारके सम्बन्धमें विस्तृत वर्णन मिलता है। वहाँ शक्ति तीन विभिन्न रूपोंमें वर्णित है—माया, अविद्या और विद्या। विश्वकी आदिजननीके रूपमें वही 'मूलप्रकृति' कहलाती है। जब हम उसे जागतिक व्यापारकी दृष्टिसे देखते हैं तो जगत्के तीन व्यापार माननेपर यही 'सृष्टि-स्थिति-संहारकारिणी' और पाँच व्यापार माननेपर 'पञ्चकृत्यपरायणा' कहलाती है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया—जगत्के इन तीन व्यापारोंकी दृष्टिसे वह 'ज्ञानशक्ति', 'इच्छाशक्ति', 'क्रियाशक्ति'-स्वरूपिणी कहलाती है। अपने वास्तविक स्वरूपमें तो वह 'सच्चिदानन्द-रूपिणी' है ही।

ये सारे-के-सारे भाव उतने ही पुराने हैं जितना वेद, और उतने ही नवीन हैं जितना आधुनिक विज्ञान। सर जॉन वुड्रफने बहुत ठीक कहा है—'जड प्रकृतिकी रचनाके सम्बन्धमें जो आजकल शक्तिका सिद्धान्त (dynamic view)' प्रचलित है, जिसने प्रकृतिको जडतासे शून्य बता दिया है, जिस सिद्धान्तके अनुसार प्रकृतिके परमाणुओंमें शक्तिका एक महान् खजाना भरा हुआ है, जिस सिद्धान्तके अनुसार उस अनिर्वचनीय तत्त्वका यन्त्रोंके ढंगसे अवयवशः विश्लेषण करते-करते उसका एक अंश ऐसा बच जाता है जिसका इस प्रकार विश्लेषण नहीं हो सकता, जिस सिद्धान्तके अनुसार रेडियोके आविष्कारने भौतिक शक्तियोंके क्षेत्रमें, जो अबतक स्थिर एवं सीमित मानी जाती थीं, एक नवीन एवं एक प्रकारसे अनन्त शक्तिका सञ्चार कर दिया है, उसने इस बातको प्रमाणित कर दिया है कि भौतिक विज्ञान शाक्त-सिद्धान्तके बहुत निकट पहुँच गया है, जिस सिद्धान्तके अनुसार (क) शक्ति ही सबका सार है, (ख) प्रत्येक वस्तुके अन्दर अथवा यों कहिये कि समस्त विश्वके अन्दर रहनेवाली शक्तिका वास्तवमें कोई थाह नहीं लगा सकता और (ग) प्रकृतिके प्रत्येक परमाणुमें शक्तिका पूर्ण भण्डार भरा पड़ा है।' किन्तु विज्ञान केवल भौतिक विज्ञानका ही नाम नहीं है। यदि हम भौतिक विज्ञानके साथ-साथ जीवन-विज्ञान तथा मनोविज्ञानको भी शामिल कर लें तो निश्चितरूपसे हम शक्तिको 'सच्चिदानन्द' के रूपमें समझ सकेंगे। सर जॉन वुड्रफ़ कहते हैं—'साधारण मानसिक एवं उसके परेके विषयोंका विवेचन करते हुए मनोविज्ञान निश्चितरूपसे उस स्थितिपर पहुँच रहा है जहाँसे हम शाक्त-वेदान्तके परम तत्त्वका बहुत कुछ परिचय प्राप्त कर सकते हैं।'

ऊपर मैंने शक्ति-सिद्धान्तके अति प्राचीन एवं अत्यन्त अर्वाचीन स्वरूपोंका उल्लेख किया है। इनके बीचका रूप हमें 'वेदान्तसूत्र' अथवा 'शारीरकमीमांसा' के सिद्धान्तोंमें देखनेको मिलता है। तर्कके कठोर प्रहार तथा सर्वतोमुखी समालोचनाके द्वारा इसने 'सांख्य'-मतके द्वैतवादका खण्डन किया। 'सांख्य' ईश्वरकी सत्ताको अस्वीकार नहीं करता प्रत्युत यह कहता है कि ईश्वरकी सत्ता प्रमाणित नहीं की जा सकती।

यद्यपि स्वामी शङ्कराचार्यने ब्रह्मकी एकताको स्वीकार किया और 'विवर्त्तवाद' का समर्थन किया है, फिर भी उन्होंने शक्तिको अपने मतमें स्पष्ट एवं उच्च स्थान दिया है। उन्होंने 'वेदान्तसूत्र' के अपने भाष्य (१।४।३)-में स्पष्ट लिखा है कि वह कारणशक्ति, जो इस विश्वका

रूप धारण करती है, जड अथवा सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। अपितु चेतन एवं परमेश्वरके अधीन है। वस्तुतः परमेश्वरको उसके इस सम्बन्धके कारण ही 'कर्ता' कहते हैं।

नहि तया विना परमेश्वरस्य स्त्रष्टृत्वं सिद्ध्यति, शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः।

बात यह है कि वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र तथा अन्य शक्ति-सम्बन्धी ग्रन्थों (तन्त्र और आगम)-की पारिभाषिक शब्दावलीमें अन्तर होनेपर भी एक सर्वसम्मत एवं समञ्जस सिद्धान्त ऐसा है जो आजकलके हिन्दुओंकी विचारधाराके साथ-ही-साथ अर्वाचीन-से-अर्वाचीन विज्ञानके सिद्धान्तोंसे भी मेल खाता है। उसका विस्तारपूर्वक विवेचन करना यहाँ सम्भव नहीं; परन्तु श्रीमद्भगवद्गीतामें शक्तितत्त्वका जो वर्णन मिलता है, केवल उसीके संक्षिप्त अध्ययनसे उपर्युक्त सिद्धान्तके समर्थनमें हमें सबल प्रमाण मिल सकते हैं।

'शक्ति' शब्द प्रत्यक्षरूपसे तो गीतामें नहीं आया है, परन्तु शक्तितत्त्वका स्पष्टतः उल्लेख और निरूपण गीतामें 'प्रकृति', 'माया' और 'गुण' आदि शब्दोंके द्वारा हुआ है, जो उतने ही ओजपूर्ण हैं और व्यञ्जक हैं। तीसरे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान्ने कहा है—

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

'निःसन्देह सभी प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंद्वारा परवश हुए कर्म करते हैं।'

इसी प्रकार अठारहवें अध्यायका चालीसवाँ श्लोक देखिये—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥

'पृथिवीमें अथवा स्वर्गके देवताओंमें ऐसा कोई भी जीव नहीं है जो इन प्रकृतिसे उत्पन्न हुए तीनों गुणोंसे रहित हो। क्योंकि यावन्मात्र जगत् त्रिगुणमयी मायाका ही विकार है।'

इस प्रकार 'प्रकृति' से 'गुण' उत्पन्न होते हैं और उनसे हमारी क्रियाएँ होती हैं। गीताके तेरहवें अध्यायमें प्रकृति और पुरुषका विस्तारके साथ वर्णन किया गया है। उसमें यह स्पष्टतया अङ्कित है कि पुरुष अथवा जीव इस शरीरमें स्थित होकर सुख-दुःखके रूपमें गुणोंका उपभोग करता है। स्वामी शङ्कराचार्यजीने तेरहवें अध्यायके बीसवें श्लोकके ऊपर अपने भाष्यमें लिखा है—

पुरुषो जीवः क्षेत्रज्ञो भोक्तेति पर्यायः।

गीताके तेरहवें अध्यायके उन्नीसवेंसे इक्कीसवें श्लोकतक कहा गया है कि पुरुष और प्रकृति दोनों सनातन हैं, अनादि हैं; शरीर, इन्द्रियाँ, मन इत्यादि विकार तथा (सुख-दुःख) आदि गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं और 'पुरुष' इन सबका 'भोक्ता' है, आनन्द लेनेवाला है और वह शरीर एवं इन्द्रियोंके रूपमें व्यक्त हुई प्रकृतिमें स्थित रहकर प्रकृतिसे उत्पन्न हुए सुख-दुःख आदि गुणोंको भोगता है। उसका यह भोग 'गुण-सङ्ग'—गुणोंमें आसक्तिके ही कारण है। चौदहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें श्रीभगवान्ने कहा है कि प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण देही (जीव)-को शरीरमें बाँध लेते हैं। पन्द्रहवें अध्यायके सातवें, आठवें और नवें श्लोकमें भगवान्के वचन हैं कि जीव इन्द्रिय और मनके द्वारा विषयोंको भोगता है, और वह एक शरीरसे दूसरे शरीरमें प्रवेश करते समय इन्हें अपने साथ वैसे ही लेता जाता है जैसे वायु पुष्पोंकी गन्धको एक स्थानसे दूसरे स्थानको ले जाता है।

इस प्रकार इस विवेचनमें हम शाक्त-सिद्धान्तको सांख्यके रूपमें ढला हुआ देखते हैं। यहाँ पुरुष और प्रकृतिको स्वतन्त्र एवं अनादि कहा गया है और पुरुषके प्रकृतिके गुणोंमें उलझे रहनेका एकमात्र कारण 'गुण-सङ्ग' (गुणोंमें आसक्ति) बताया गया है। कर्मोंकी विभिन्नता भी प्रकृतिजन्य है। पुरुष तो उनसे निर्लिप्त और अलग है ही। संक्षेपमें हम यों कह सकते हैं कि पुरुष 'अभिमान' और 'सङ्ग' के कारण ही अपनेको 'कर्ता' मानता है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।

(गीता ३। २७—२९)

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥

(गीता १३। २९)

'सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा होते हैं, तो भी

अहङ्कारसे मोहित हुए अन्तःकरणवाला पुरुष 'मैं' कर्ता हूँ—ऐसा मान लेता है।' परन्तु गुण-विभाग और कर्म-विभागके (त्रिगुणात्मक मायाके कार्यरूप पञ्चमहाभूत और मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय इन सबके समुदायका नाम 'गुण-विभाग' है और इनकी परस्परकी चेष्टाओंका नाम 'कर्म-विभाग' है।) तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण गुण गुणोंमें बर्तते हैं ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता। प्रकृतिके गुणोंसे मोहित हुए पुरुष गुण और कर्मोंमें आसक्त होते हैं।

'जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिके ही द्वारा किये हुए देखता है तथा आत्माको अकर्त्ता देखता है वही वास्तवमें देखता है।'

इस निरूपणसे एक कदम आगे बढ़नेपर हम इसी निर्णयपर पहुँचते हैं कि पूर्वजन्मके कर्मोंकी वासनाओंके द्वारा प्रकृति 'पुरुष' को आगे बढ़ाती है।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

(गीता ३। ३३)

'सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभावसे परवश हुए कर्म करते हैं। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा?'

मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

(गीता १८। ५९)

'तेरा निश्चय मिथ्या है क्योंकि प्रकृति तुझे बलात् युद्धमें लगा देगी।'

प्रकृतिकी नियमशक्तिका उल्लेख गीताके सातवें अध्यायके बीसवें श्लोकमें भी किया गया है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

'अपनी प्रकृतिसे प्रेरित हुए तथा उन-उन भोगोंकी कामनाद्वारा ज्ञानसे भ्रष्ट हुए उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजते हैं अर्थात् पूजते हैं।'

यहाँतक गीतामें वर्णित सांख्यमतानुमोदित शक्ति-तत्त्वकी मीमांसा हुई। उपनिषदोंका, विशेषतः गीताका, जो उपनिषदोंका सार है, महत्त्व इस बातमें है कि वे शक्ति-सिद्धान्तको अधिक उदात्त बना देते हैं। भगवान्ने गीताजीमें कहा है कि प्रकृति और पुरुष (जिन्हें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं, देखिये गीता अ० १३) दोनों प्रभुकी ही 'प्रकृति' हैं। पहली 'अपना' प्रकृति है और दूसरी 'परा'।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(गीता ७। ४-५)

'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार, ऐसे यह आठ प्रकारसे विभक्त हुई मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो 'अपरा' है, अर्थात् मेरी जड-प्रकृति है और इससे दूसरीको मेरी 'परा' अर्थात् चेतन-प्रकृति जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है।' इस प्रकार सांख्य-प्रतिपादित 'प्रकृति' परमेश्वरकी 'शक्ति' के रूपमें दिखलायी गयी है। प्रकृतिके द्वारा कार्य करता हुआ जीव ईश्वरकी 'परा' प्रकृति कहलाता है। गीताके पन्द्रहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें जीवको परमेश्वरका अंश कहा गया है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

नवें अध्यायके चौथेसे दसवें श्लोकतक इस बातका बड़ी ही उत्तम रीतिसे वर्णन किया गया है कि किस प्रकार प्रभुकी सत्तासे सृष्टिकी रचना होती है। वे प्रकृतिको अपने अधीन करके सृष्टिको उत्पन्न करते हैं—(**प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य**)। इसी प्रकार चौदहवें अध्यायका चौथा श्लोक देखिये—

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

'नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भ धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ।' परमात्मा प्रकृतिके 'अध्यक्ष' (स्वामी और शासक) भी हैं और उदासीन भी हैं। (गीता अ० ९, श्लोक ९-१०) (जिसके सम्पूर्ण कार्य कर्तृत्वभावके बिना ही अपने-आप सत्तामात्रसे ही होते हैं उसका नाम 'उदासीन' है) वह 'निर्लिप्त' है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

(गीता १३। ३१)

'अनादि और गुणातीत होनेसे यह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित हुआ भी वास्तवमें न करता है, न लिपायमान होता है।' 'वह' सृष्टिकी रचना करता है और उसका पालन करता है; परन्तु फिर भी वह अपनी सृष्टिमें आबद्ध नहीं है। वह इससे परे है, पर सदैव पूर्ण और अपरिच्छिन्न है, अकल और अनीह है—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

(गीता ९। ५)

'सर्व भूत मुझमें स्थित नहीं हैं किन्तु मेरी योगमाया और प्रभावको देख—भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है।' यही बात प्रकारान्तरसे गीताजीके दसवें अध्यायके इकतालीसवें और बयालीसवें श्लोकोंमें तथा सातवें अध्यायके तेरहवें श्लोकमें कही गयी है।

इस प्रकार गीतामें शक्ति-सिद्धान्तका ऊँचे-से-ऊँचा रूप हमारे सामने उपस्थित किया गया है। परमात्माका 'योग' ऐसा ही है, '**पश्य मे योगमैश्वरम्**' (देखिये गीता अ० ९, श्लोक ५ तथा अ० ११, श्लोक ८)। गीताके विश्वविश्रुत चौथे अध्यायके छठेसे नवेंतकके श्लोकोंमें जो अवतारवादका निरूपण हुआ है उसमें हमें शक्ति-सिद्धान्तका और भी उदात्त रूप मिलता है। वहाँ हमें '**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय**' ये पद मिलते हैं। नवें अध्यायके आठवें श्लोकमें वही शब्द कुछ परिवर्तितरूपमें प्रयुक्त हुए हैं। नवें अध्यायमें भगवान्‌के द्वारा जीवोंके शरीरकी रचनाका वर्णन किया गया है और चौथे अध्यायके छठेसे नवेंतकके श्लोकोंमें तो प्रभुने अपने ही दिव्य जन्मका वर्णन किया है जिसे वे दया-परवश होकर ग्रहण करते हैं और जो (**जन्म कर्म च मे दिव्यम्**)हम-लोगोंके जन्मसे सर्वथा विलक्षण होता है। क्योंकि हम-लोगोंका जन्म तो हमारे कर्मोंका अपरिहार्य फल है।

चौथे अध्यायके छठे श्लोकके अन्तिम पदमें हमें एक और मार्केका शब्द मिलता है, वह है 'माया'। गीताके अनुसार इस मायाने सभी जीवोंको मोहित कर रखा है और इस मायारूप महासरिताके पार जानेका उपाय भगवच्छरणागतिके सिवा दूसरा नहीं है। (देखिये गीता ७। १४-१५) गीता कहती है कि यह माया उस ईश्वरकी चेरी है, जो हम सभीके हृदयमें निवास करता हुआ यन्त्रकी भाँति सबको नचा रहा है। इस योगमायाने ही 'उसे' हमलोगोंसे छिपा रखा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता।' यही 'योगमाया' उसकी 'आत्ममाया' है जिसका उल्लेख चौथे अध्यायके छठे श्लोकमें '**सम्भवाम्यात्ममायया**' के रूपमें आता है और इसीकी सहायतासे वह दया-परवश होकर अवतीर्ण होता है।

गीता यहीं नहीं ठहर जाती। वह शक्ति-सिद्धान्तके और भी ऊँचे स्वरूपका वर्णन करती है। एक ऐसी भी स्थिति होती है, ऐसी भी दृष्टि होती है, ऐसा भी अनुभव होता है जिसमें शक्ति ब्रह्मसे अभिन्न रहती है और इसी रूपमें हम उसका अनुभव करते हैं। उस समय इस जड-प्रकृति और इसके समस्त विकारोंकी ब्रह्मके साथ एकात्मताका अनुभव होता है।

इतना ही नहीं, जीवको भी ब्रह्म-स्वरूपताकी प्रतीति होने लगती है। पहले प्रकारकी अनुभूतिकी चर्चा गीताके नवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें आती है, जिसका भाव यह है—

'भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है।'

दूसरे प्रकारकी अनुभूतिका उल्लेख गीताके तेरहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें आया है, जो इस प्रकार है—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

'हे अर्जुन! सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा मुझको ही जान।'

इस प्रकार शक्तिकी पहले स्वतन्त्र सत्ता दिखलायी गयी, फिर उसे ईश्वरके अधीनवर्ती बताया गया और अन्तमें उसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे अभिन्नरूपमें व्यक्त किया गया। गीताके शक्तिवादमें शक्ति-तत्त्वका दर्जा क्रमशः अधिकाधिक ऊँचा होता गया है। इस प्रकार गीताने शक्तिका वह स्वरूप बताया है जो वेदोंके भी अनुकूल है, विज्ञानके भी अनुकूल है और हिन्दू-धर्मके आधुनिक रूपके भी अनुकूल है; तथा जो आत्मदर्शी सन्त-महात्माओं और ऋषि-मुनियोंकी अनुभूतिसे सदा मेल खाता है।

गीतामें एक श्लोक है जिसमें सारे क्रमिक सिद्धान्तोंको एक ही जगह दिखला दिया गया है। वह

श्लोक यों है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

(१३।१२)

यहाँ 'भोक्ता' शब्दसे चार्वाक-मतका संकेत है जो शरीरको ही आत्मा मानता है। 'भर्ता' का सम्बन्ध तार्किक सिद्धान्तसे है जो आत्माको कर्ता मानता है 'अनुमन्ता' का सम्बन्ध सांख्यदर्शनसे है जो यह मानता है कि ''प्रकृतिके द्वारा ही सारे कर्म होते हैं और आत्मा तो केवल अपनेको कर्ता मान लेता है।' बाकीके शब्द गुण-सङ्गसे ऊपर उठी हुई अवस्थाके बोधक हैं। इनके द्वारा एक दूसरे ही प्रकारकी अनुभूतिको व्यक्त किया गया है—उपद्रष्टा (साक्षी), महेश्वर, परमात्मा और पुरुषोत्तम (**पुरुषः परः**)-का प्रयोग जगत्के साथ आत्माके वास्तविक सम्बन्धको स्पष्ट करनेके लिये ही हुआ है। इस प्रकार हमने देख लिया कि गीतामें शक्ति-सिद्धान्तका सार संक्षेपमें किन्तु व्यापकरूपमें वर्णित है। शक्तिकी स्वतन्त्र सत्तासे प्रारम्भ करके पहले उसे ईश्वरके अधीन कायम किया और अन्तमें जाकर उसीका ब्रह्मसे अभिन्नरूपमें प्रतिपादन किया गया।

ब्रह्मसूत्रमें शक्ति-तत्त्व

(लेखक—पण्डितप्रवर श्रीपञ्चानन तर्करत्न)

ब्रह्मसूत्रकी अवतरणिका

या नित्या श्रुतिशीर्षदर्शिततनुर्ब्रह्मा यदाद्यप्रजा
विश्वेषां जननस्थिती विदधती मातेति या गीयते।
अङ्के सुप्तमिवात्मजं वहति या कल्पावसन्नं जगत्
तां दुर्गां चिदचिन्मयीं परतरानन्दाय वन्दामहे॥

शक्ति ही ब्रह्म है। उपनिषद्, ऋग्वेद, पुराणादिके प्रमाण तथा सबके अनुभवसे यह सिद्ध है। मीमांसा शक्ति-तत्त्वका दर्शनशास्त्र है। योगीश्वर याज्ञवल्क्यने कहा है—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

(अ० १)

(१) शिक्षा, जिसके पढ़नेसे यथाविधि वेदका उच्चारण होता है। (२) कल्पसूत्र, जो यज्ञादिके अनुष्ठानका उपदेश करते हैं। (३) व्याकरण-शास्त्र तो प्रसिद्ध ही है। (४) निरुक्त, जिसे वैदिक शब्दानुशासन या अभिधान कहते हैं। (५) ज्योतिषशास्त्र, जिस शास्त्रके द्वारा काल-निर्णय होता है। (६) छन्दःशास्त्र, जो वैदिक मन्त्रोंके छन्दोबोधका साधन है। ये छः वेदाङ्ग हैं। इनके अतिरिक्त चार वेद, धर्मशास्त्र, पुराण, न्याय और मीमांसा—ये चतुर्दश शास्त्र ही विद्या और धर्मके आश्रय हैं।

मीमांसा वैदिक दर्शन है। इसके दो भाग हैं—पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। पूर्वमीमांसा व्यासशिष्य महर्षि जैमिनिद्वारा प्रणीत है, उत्तरमीमांसा स्वयं भगवान् वेदव्यासके द्वारा प्रणीत है। वेदके पूर्वभाग-कर्मकाण्डका विचार पूर्वमीमांसामें है। वेदके अन्तभाग-ज्ञानकाण्ड उपनिषद्का विचार उत्तरमीमांसामें है। इन दोनों भागोंको मिलाकर सम्पूर्ण मीमांसादर्शन बनता है।

ब्रह्मसूत्रको मीमांसा नहीं कहनेसे याज्ञवल्क्य-ऋषिकथित चतुर्दश विद्याके भीतर इसकी गणना नहीं हो सकती। क्योंकि वेदान्त या ब्रह्मसूत्रका नाम यहाँ पृथक्-रूपसे नहीं लिया गया है। परन्तु यह बात बिलकुल असम्भव है। जिस प्रकार बिना सूर्योदयके दिन नहीं हो सकता उसी प्रकार ब्रह्मसूत्रविहीन चतुर्दश विद्याकी सूचीको विद्या ही नहीं कहा जा सकता। अतः यह निश्चित सिद्धान्त है कि मीमांसादर्शन एक अखण्ड ग्रन्थ है, जिसका पूर्वभाग जैमिनीय द्वादशाध्यायी और उत्तरभाग वैयासिक चतुरध्यायी है।*

इस अखण्ड मीमांसादर्शनका प्रतिपाद्य विषय शक्ति ही है। अन्तर इतना ही है कि पूर्वभागका प्रतिपाद्य विषय औपाधिकी शक्ति है और उत्तरभागका प्रतिपाद्य विषय स्वाभाविकी शक्ति। औपाधिकी शक्ति धर्म आदि नामोंसे व्यवहृत होती है और स्वाभाविकी शक्तिका दूसरा नाम

* संकर्षकाण्डको मीमांसादर्शनमें रखनेसे अखण्ड मीमांसाके २० अध्याय हो जाते हैं। इसपर मैंने अपने ब्रह्मसूत्रके देवीभाष्यमें पूर्ण विचार किया है।—लेखक

ब्रह्म है। उत्तरभागसे ज्ञात होता है कि औपाधिकी शक्ति स्वाभाविकी शक्तिकी विभूति है। द्विविध शक्ति एक सूत्रमें ग्रथित दीख पड़ती है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। ८)

'अस्य' पदसे यहाँ सन्देह उपस्थित होता है कि शक्ति और शक्तिमान् एक नहीं हैं तथा शक्तिमान् ब्रह्म है और शक्ति ब्रह्म नहीं है। परन्तु इसका खण्डन उसी उपनिषद्के आरम्भमें है। जैसा कि ब्रह्मवादीजन कहते हैं—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥

× × ×

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥

(१। ३)

अर्थात् वेद कहाँसे आये, हमलोगोंके जन्मका कारण क्या है, इत्यादि चिन्तनके बाद ब्रह्मवादी ऋषियोंके मनमें इनके काल, स्वभाव और अदृष्ट आदि अनेक कारण उत्पन्न हुए। परन्तु वे पूर्ण सन्तोषजनक नहीं हुए, इसलिये ऋषियोंने पुनः विचारा कि वे कारण भी किसी मूल-कारणके अधीन होंगे। अतः उस मूल-कारणका निश्चय करनेके लिये वे समाधिमें लीन हो गये और अन्तमें योगदृष्टिसे उन्हें यह प्रत्यक्ष हुआ कि उपर्युक्त कारणोंका मूल-कारण 'स्वगुणोंसे निगूढा' एक 'देवात्मशक्ति' है। 'देव' शब्दका अर्थ द्योतमान है, जिसका तात्पर्य है स्वप्रकाश। 'आत्मशक्ति' का अर्थ है चित्-शक्ति। **'स्वगुणैः'** का अर्थ है अपनेसे सम्बन्धित होनेवाले सत्त्व, रज और तमोगुणसे (सत्त्व, रज और तमोगुणका सम्मिलित रूप है अचित्-शक्ति)। **'निगूढाम्'** का अर्थ है छिपी हुई। **'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्'** का अर्थ है परस्पर नित्यसम्बन्धयुक्त चित्-शक्ति और अचित्-शक्ति ब्रह्म। मकड़ी जैसे अपने तन्तुमें प्रच्छन्न होकर रहती है और जनसाधारण तन्तुको मकड़ीका आश्रय समझते हैं, परन्तु तन्तु मकड़ीसे अलग नहीं होता। उसी प्रकार शक्ति भी अपने गुणोंमें गुप्तरूपसे रहती है और गुणोंको सब लोग शक्तिमान् समझते हैं। परन्तु गुण शक्तिसे भिन्न नहीं हैं। शक्ति ही काल, स्वभाव प्रभृतिकी अधिष्ठात्री है।

'ते ध्यानयोगानुगता' इस मन्त्रका अभिप्राय कहा गया। यह मन्त्र तो सूत्र-स्वरूप ही है, इसके अगले तीन मन्त्रोंमें इसकी व्याख्या की गयी है। उसके बाद चौथा मन्त्र है—

उद्गीतमेतत् परमं तु ब्रह्म
तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरञ्च।

....

(श्वे० उ० १। ७)

भावार्थ यह है कि वह शक्ति ब्रह्म है, शब्द-ब्रह्म नहीं बल्कि परमब्रह्म है। चित्, अचित् और नित्य-सम्बन्ध यह त्रितत्त्व इस परब्रह्ममें प्रतिष्ठित है। यह सर्वाश्रय और 'अक्षर' है। श्वेताश्वतर ऋषि अन्तिम अध्यायमें मोक्षके लिये इसी शक्ति-ब्रह्मके शरणागत हुए।

....

तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

(६। १८)

'देव' और 'आत्म' शब्द तो पूर्वोक्त **'देवात्मशक्तिम्'** पदमें जिस अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं, यहाँ भी उसी अर्थमें हैं। अचित्को समझानेके लिये इस मन्त्रमें 'बुद्धि' शब्द आया है। शक्तिके स्थानमें यहाँ 'प्रकाश' शब्द आया है। राजशक्ति जिस प्रकार राजाको प्रकाशित करती है, उसी प्रकार सम्मिलित चित्, अचित्-शक्ति आत्मा और बुद्धिको प्रकाशित करती है। **'आयुर्घृतम्'** के समान 'प्रकाश' शब्दसे ही यहाँ ऐसा प्रतीत होता है। मन्त्रमें जो लिङ्गभेद है उसका तात्पर्य आगे चलकर प्रकट किया जायगा।

श्वेताश्वतरोपनिषद्के छठे अध्यायका आठवाँ मन्त्र ऊपर उद्धृत है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥*

इसमें नित्यसम्बन्धित चित्-अचित्का स्पष्ट विवरण

* 'दृश्यतेऽपरास्य शक्तिः..........' ऐसा पाठ उपनिषद्में है, अतः पदच्छेदमें 'अपरा' हो जाता है।—लेखक

है। ज्ञान-शक्ति ही चित्-शक्ति है और क्रिया-शक्ति ही प्रकृति है; (वही अचित् है) तथा इन दोनोंके मध्यमें जो 'बल' शब्द है, उससे दोनोंका सम्बन्ध सूचित होता है। बल-शक्ति ही सम्बन्ध है। बल-शक्ति ही काल है। कालमें दोनोंका नित्य-सम्बन्ध है। पुराणमें कहा भी है—

कालो हि बलवत्तरः।

इस वाक्यसे भी कालकी बलवत्ताका उत्कर्ष सिद्ध होता है। साक्षात् बलस्वरूप कहनेका तात्पर्य बलवत्ताके उत्कर्षका कथन है।

'अस्य शक्तिः' ऐसा प्रयोग **'पुरुषस्य चैतन्यम्'** तथा **'राहोः शिरः'** इत्यादिके समान औपचारिक है। वस्तुतः पुरुष और चैतन्यमें तथा राहु और उसके शिरमें भेद नहीं रहनेपर भी जैसे भेदरूपमें उनका प्रयोग होता है, उसी प्रकार ब्रह्म और शक्तिमें कोई भेद नहीं रहनेपर भी **'अस्य शक्तिः'** ऐसा प्रयोग हुआ है। अखण्ड स्वाभाविकी शक्तिका विचार उत्तरमीमांसामें है और परिच्छिन्न आधारमें परिच्छिन्नवत् प्रकाशमान शक्तिको ही मैंने औपाधिकी शक्ति कहा है। दर्पणमें सूर्यके प्रतिबिम्बके समान एक-एक बुद्धिमें प्रतिबिम्बित ब्रह्मका स्वरूप जीव है, वह भी औपाधिकी शक्ति ही है।

कर्मकाण्डमें यज्ञीय वस्तुओंमें प्रथम वस्तु अग्नि या आग्नेय शक्ति, जिह्वा या शिखा है जो अग्निका ही परिच्छिन्नतर अंश है। ऋग्वेद-देवीसूक्तमें देवात्मशक्तिभूता आम्भृणीने कहा है—**'प्रथमा यज्ञियानाम्।'** इसीकी विवृति मुण्डकोपनिषद्में इस प्रकार है—

काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी
लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥

(मु० १, खण्ड २, म० ४)

ये अग्निकी सप्त जिह्वाएँ हैं, इनमें काली प्रथमा है। यह बात उपनिषद् और देवीसूक्तके मन्त्रकी एकवाक्यतासे स्पष्ट हो जाती है। **'प्रथमा यज्ञियानाम्'** अर्थात् सर्वव्यापिनी आद्याकाली ही अग्निरूप आश्रयसे परिच्छिन्ना आग्नेय-शक्ति हैं। उनका प्रथम विकासरूप होनेके कारण प्रथम जिह्वाका नाम काली है। अग्निशिखाका दृश्यमान अचेतन रूप ही उपाधि है। अधिष्ठात्री चेतना काली-शक्ति उपाधि-आश्रयसे अधिकतर परिच्छिन्न हो गयी हैं। यह परिच्छिन्न शक्ति आद्याशक्ति कालीकी विभूति है। परिच्छिन्न शब्दका अर्थ है घटादिके अभ्यन्तरस्थ आकाशवत् स्वल्पाकारमें प्रतीत होना। अग्निशिखाके अचेतनरूपसे पृथक् उसकी अधिष्ठात्री चेतन-शक्ति है। इसका प्रमाण मुण्डकोपनिषद्के उपर्युक्त मन्त्रके अगले दो मन्त्रोंमें है—

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु
यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो
यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः॥
एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः
सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य
एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥

अर्थात् 'इस भ्राजमान सप्तजिह्वामें जो यजमान यथाकाल आहुति-दान करके चलते हैं, वह सप्तजिह्वा उस आहुति-दाताको मरणान्तमें सूर्यरश्मिकी सहायतासे प्रिय वाक्य कहकर आदरपूर्वक ब्रह्मलोकको ले जाती हैं और कहती हैं कि यही तुम्हारा पुण्यार्जित ब्रह्मलोक है।' इससे जान पड़ता है कि वे चेतन हैं। चेतन हुए बिना बोलनेकी शक्ति कहाँसे आती? अतः अग्निशिखाओंमें परिच्छिन्न अधिष्ठात्री चेतनाशक्ति है। और भी बहुतेरी औपाधिकी शक्तियोंकी प्रतिष्ठा पूर्वमीमांसामें है। यथा मन्त्रशक्ति, हवनीय-शक्ति, होतृशक्ति तथा कर्मशक्ति (धर्म) प्रधानतया उल्लेखनीय हैं। अतएव मीमांसाके उभय भागसे शक्तिज्ञापनका ही कार्य निष्पन्न होता है। इस प्रकार दोनों भागोंकी एकवाक्यता अव्याहत है। भगवान् शङ्कराचार्यने प्रपञ्चसारमें शक्तितत्त्व इस प्रकार प्रदर्शित किया है। ज्योतिमूर्ति श्रीहरि ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरसे कहते हैं—

प्रधानमिति यामाहुर्या शक्तिरिति कथ्यते।
या युष्मानपि मां नित्यमवष्टभ्यातिवर्तते॥
साहं यूयं तथैवान्यत् यद्वेद्यं तत्तु सा स्मृता।
प्रलये व्याप्यते तस्यां चराचरमिदं जगत्॥

(२६-२७)

अणोरणीयसी स्थूलात्स्थूला व्याप्तचराचरा।
आदित्येन्द्रादि तेजोमद् यद्यत्तत्तन्मयी विभुः॥

(२२)

सैव स्वं वेत्ति परमा तस्या नान्योऽस्ति वेदिता॥
(२८)
(प्रपञ्चसार, प्रथम पटल)

अर्थात् जिसे प्रधान तथा 'शक्ति' नामसे पुकारते हैं; तुम्हें और हमें धारण करके तथा अतिक्रम करके जो अवस्थित हैं; हम, तुम तथा अन्य ज्ञेय पदार्थ जिससे पृथक् नहीं हैं; यह चराचर जगत् प्रलयकालमें जिसमें लीन रहता है वह देवी अणुसे भी अणु और स्थूलसे भी स्थूल हैं और चराचरको व्याप्त करके अवस्थित हैं। केवल वही देवी अपनेको जानती हैं, उनको जाननेवाला कोई और दूसरा नहीं है।

शक्तिमान्से शक्ति सूक्ष्मा होनेके कारण वह अणीयसी है। शक्तिमान् सूक्ष्म और शक्ति सूक्ष्मा है। परन्तु इन दोनोंमें शक्ति ही अधिकतर सूक्ष्मा है। इसीलिये उसे अणीयसी कहा गया है। अणु और सूक्ष्म शब्द यहाँ एकार्थवाची हैं। सूक्ष्मका अर्थ है दुर्ज्ञेय; उदाहरणार्थ सूर्य प्रतिदिन सर्वसाधारणको प्रत्यक्ष होता है, परन्तु उसकी महती शक्ति सबकी समझमें नहीं आती। ग्रह-उपग्रहोंको यथास्थानमें रखना और उन सबकी केन्द्र-च्युति निवारण करना, समस्त प्राणियोंकी जीवन-रक्षा आदि सौर-जगत्की स्थिति उसी महती शक्तिसे होती है। उस महान् सूर्यकी बात तो अलग रही एक साधारण तृणकी भी रोगनाशिनी शक्ति आयुर्वेदमें प्रसिद्ध है; परन्तु साधारण लोग उस शक्तिको न जानकर उस तृणकी उपेक्षा करते हैं।

यह औपाधिकी शक्ति है। यह शक्ति भी शक्तिमान्की अपेक्षा दुर्ज्ञेय है। शक्तिमान्, जो समझमें आता है, उसकी अपेक्षा तो स्वाभाविकी शक्ति और भी अधिक दुर्ज्ञेय होगी, इसमें कहना ही क्या है? वस्तुतः शक्तिमान् शक्तिके अधीनस्थ गुणोंसे भिन्न नहीं है, यह सदा स्मरण रखनेकी बात है। शक्तिमान् अपेक्षाकृत स्थूल है; परन्तु वह शक्तिसे वैसे ही अलग नहीं है, जैसे मकड़ीसे तन्तु अलग नहीं है। यह स्वाभाविक शक्ति अर्थात् देवात्मशक्ति स्वप्रतिष्ठ है। यथा—

स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नि प्रतिष्ठितः।
(छान्दो० ७। २४। १)

शक्तिका आपेक्षिक स्थूलरूप शक्तिमान् और शक्तिमान्का आपेक्षिक सूक्ष्मरूप शक्ति है। उस शक्तिमान्से अभिन्न शक्ति ही ब्रह्म है। इसलिये उपनिषदोंमें '**सर्वान्तरः**', '**अणोरणीयान्**', '**दुर्दर्शम्**', '**गुहाहितम्**' इत्यादि विवरण है। शारीरक-भाष्यके १। १। २ सूत्रकी व्याख्यामें भी इसी शक्तितत्त्वका निर्देश है। यथा—

अस्य जगतो..........जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद्ब्रह्म।

अर्थात् जिस सर्वज्ञ और सर्वशक्तिरूप कारणसे जगत्की सृष्टि, स्थिति और लय होता है, वही ब्रह्म है।

उपर्युक्त भाष्यकी पंक्तिकी दूसरी भी व्याख्या है, परन्तु वह भगवान् शङ्कराचार्यके प्रपञ्चसारसे विरुद्ध है। जो व्याख्या मैंने प्रदर्शित की है, उसीका विस्तृत प्रमाण प्रपञ्चसारमें है। यथा—

सैव स्वं वेत्ति परमा तस्या नान्योऽस्ति वेदिता॥

अर्थात् 'उस परमा शक्तिको जाननेवाला दूसरा कोई नहीं है, वह स्वयं ही अपनेको जानती है।' इससे सिद्ध होता है कि शक्तिका ज्ञाता और कोई नहीं है, वही अपना तत्त्व जानती है। एक भी ज्ञानका अभाव होनेसे कोई सर्वज्ञ नहीं कहला सकता। शक्तितत्त्वका ज्ञान जब और किसीको नहीं है तो वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

शारीरक-भाष्य और प्रपञ्चसार दोनों ग्रन्थ भगवान् शङ्कराचार्यकी लेखनीसे प्रसूत होनेपर भी अधिकारिभेदसे जहाँ-जहाँ परस्पर वैषम्य प्रकट करते हैं, उन-उन स्थलोंके विषयमें मत्प्रणीत ब्रह्मसूत्र-देवी-भाष्यमें विस्तृत विचार किया गया है।

अब प्रपञ्चसारके स्वारसिक मतवादका अनुसरण करके महाशक्तिकी प्रेरणासे ब्रह्मसूत्रके देवी-भाष्यकी जो मैंने रचना की है उसके मर्मको लेकर ब्रह्मसूत्र-चतुःसूत्रीका संक्षिप्त संस्कृत-अर्थ, भाषानुवाद तथा व्याख्या यहाँ दिखलायी जायगी। संक्षिप्तरूपसे शक्ति-पक्षमें ब्रह्मसूत्रका सारा सिद्धान्त यहाँ प्रकट किया जायगा। यह ब्रह्मसूत्रकी अवतरणिका है, इसीको प्रथम-सूत्रकी भी अवतरणिका समझें।

ब्रह्मसूत्रका प्रथम सूत्र

अथातो ब्रह्म जिज्ञासा—(ब्रह्मसूत्र १। १। १)

संक्षिप्त संस्कृत-अर्थ

अथ (पूर्वमीमांसाश्रवणानन्तरम्) जिज्ञासा (यतो जाता इत्यर्थः) अतः (कारणात्) ब्रह्म (निरूप्यते इति वाक्यशेषः)। अथवा जिज्ञासापदस्य कर्मणि अत्प्रत्ययेन

सिद्धः जिज्ञासाविषयत्वमर्थः। कृद्विहितो भाव इति न्यायेन भाववाचिनोऽपि या सृष्टिः स्रष्टुराद्या इतिवत् जिज्ञासापदस्य जिज्ञासाविषयपरत्वं वा। अतः (एतत्सूत्रात्परम्) ब्रह्म निरूप्यते इति पूर्ववत्।

अनुवाद

अर्थात् पूर्वमीमांसाश्रवणके अनन्तर (शिष्यकी) जिज्ञासा उपस्थित होनेसे ब्रह्मनिरूपण किया जाता है—

व्याख्या

पूर्वमीमांसाके अन्तिम अधिकरणमें यह सिद्धान्तित किया गया है कि याजनकार्यमें केवल ब्राह्मणका ही अधिकार है। उस अधिकरणका संस्कृतमें **आर्त्विज्ये ब्राह्मणमात्रस्याधिकारः**' नाम है। 'अधिकरण' शब्दका अर्थ है विचारवाक्य। इसके पाँच अङ्ग हैं—पहला विषय, जिसपर विचार किया जाता है; दूसरा संशय, जो विचार्य-विषयपर उठता है; तीसरा पूर्वपक्ष; चौथा उत्तरपक्ष और पाँचवाँ सिद्धान्त है।*

स्मृतेर्वा स्याद्ब्राह्मणानाम्—

(मी० द० १२। ४। ४४)

श्रुति भी इसी सिद्धान्तको दृढ़ करती है। इसीको प्रदर्शित करनेवाले चार और सूत्र हैं और यहीं अधिकरण और पूर्वभाग समाप्त होता है। इस सूत्रका अर्थ यह है कि केवल ब्राह्मणको ही यजन करानेका अधिकार है; इस विषयमें स्मृतियाँ भी प्रमाण हैं। भाष्यकार शबरस्वामी कहते हैं—

याजनमध्यापनं प्रतिग्रहो ब्राह्मणस्यैव वृत्त्युपाया इति स्मृतिप्रमाणमप्युक्तम्।

स्मृतिमें '**ब्राह्मणस्य**' इस प्रकार एकवचनान्त प्रयोग है और स्मृतिप्रमाणपर निर्भर करनेवाले उपर्युक्त सिद्धान्तसूत्रमें '**ब्राह्मणानाम्**' यह बहुवचन-प्रयोग है। इस रूपभेदका कारण क्या है? संस्कृत-निबन्धमें एकवचन-प्रयोगको छोड़कर बहुवचन-प्रयोग अकारण कभी नहीं होता, अतएव इसका भी कुछ कारण है। बात यह है कि त्रिविध ब्राह्मणत्व जिसमें है, उसीकी याजकता महर्षि जैमिनिको अभिप्रेत है। ब्राह्मणत्व त्रिविध है-जाति-ब्राह्मणत्व, वेदज्ञत्व और ब्रह्मज्ञत्व। मनु प्रभृति स्मृतियोंमें लिखा है कि जाति-ब्राह्मणोंके जो षट् कर्म हैं, याजन उनके अन्तर्गत है और बिना वेदज्ञानके याजन चल नहीं सकता; अतः जाति-ब्राह्मणत्व और वेदज्ञत्व ये दोनों तो अवश्य ही चाहिये। ब्रह्मज्ञके उत्कर्षपर गीताका निम्नलिखित श्लोक प्रमाण है—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

(२। ४६)

अर्थात् जिस क्षुद्र जलाशयमें जलपानमात्रके लिये जल है, वर्षाकालमें प्लावनसे चारों ओर जलके भर जानेसे जैसे उसी जलाशयसे स्नानादि बहुजलसाध्य कार्य हो सकता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञ ब्राह्मणके लिये वेदसे अधिक कार्य हो सकता है। भावार्थ यह है कि ब्रह्मज्ञान जबतक नहीं हुआ है तबतक वेदज्ञानसे जितना कार्य होता है, ब्रह्मज्ञान होनेपर उससे कहीं अधिकतर धर्मकार्य होता है। यद्यपि यह अर्थ पूर्वाचार्योंकी व्याख्यासे नहीं मिलता, तथापि गीताके स्वारस्यसे यही अर्थ स्पष्ट होता है, तथा यह श्रुति अनुमोदित भी है। छान्दोग्य उपनिषद् प्र० १, ख० १०-११ के चाक्रायण (चक्रके पुत्र) उषस्तिके उपाख्यानसे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

श्रुतिका भावार्थ यह है कि चाक्रायण उषस्तिने एक राजाके यज्ञमें उपस्थित होकर प्रस्तोता (स्तुति करनेवाले) प्रभृति याजकोंसे पूछा कि 'क्या आप जानते हैं कि अपने-अपने कर्त्तव्य प्रस्ताव (स्तुति) प्रभृति कर्मके कौन-कौन अधिदेव हैं? यदि इसे जाने बिना आपलोग अनुष्ठान करेंगे तो आपलोगोंके मस्तक कटकर गिर जायँगे।' यह सुनकर याजकोंने कहा कि हमें ज्ञात नहीं है।

अपरिचित उषस्तिकी सामर्थ्य जानकर राजाने पहले उनका परिचय प्राप्त किया। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि उषस्ति जातिके ब्राह्मण हैं, तब उन्हींको प्रधानरूपसे सर्वविध याजनकर्ममें नियुक्त किया। चाक्रायण उषस्तिने अपने देवताविषयक ज्ञानका जो परिचय दिया उससे उनके ब्रह्मज्ञानका परिचय मिलता है। यह ब्रह्मज्ञान उच्च कोटिका न रहनेपर भी पूर्वकोटिका है। पूर्वकोटि-ब्रह्मज्ञानप्राप्त ब्राह्मणका याजन-कार्यमें उत्कर्ष समझकर महर्षि जैमिनिने ब्रह्मविभूतिरूपसे देवताका ज्ञान रखनेवालेको याजक बनानेकी सम्मति दी। चाक्रायण उषस्ति ब्रह्मज्ञ

* पञ्च अङ्गोंमें मतभेद रहनेपर भी सिद्धान्त-अङ्गमें मतभेद नहीं होता।—लेखक

थे, इसका प्रमाण बृहदारण्यक उपनिषद्‌के अध्याय ३, ब्राह्मण ४ में है।

यहाँ आपत्ति हो सकती है कि केवल वेदज्ञत्व या ब्रह्मज्ञत्वयुक्त क्षत्रिय आदि भी याजक हो सकते हैं—ऐसा भाव जैमिनिसूत्रसे आ सकता है। क्योंकि '**ब्राह्मणानाम्**' इस बहुवचनान्त प्रयोगसे जाति-ब्राह्मण, वेदज्ञ और ब्रह्मज्ञ प्रत्येकको याजकतामें अधिकार हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि '**स्मृतेः**' इस शब्दद्वारा सूत्रमें महर्षि जैमिनिने स्मृतिके ही आधारपर अपनी सम्मति प्रदर्शित की है। स्मृतियोंमें स्पष्ट ही लिखा है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः॥
त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात् क्षत्रियं प्रति।
अध्यापनं याजनञ्च तृतीयश्च परिग्रहः॥
वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः।

(मनु० १०। ७५, ७७-७८)

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः।

(मनु० १०। १)

इन वचनोंसे स्पष्ट जाना जाता है कि क्षत्रिय और वैश्यका वेदाध्ययन तथा यजनमें अधिकार रहनेपर भी याजनमें अधिकार नहीं है। शूद्रका तो जब वेदाध्ययनमें ही अधिकार नहीं है तो याजनकी तो बात ही क्या है? पूर्व-कोटिके ब्रह्मज्ञानसे भी चाक्रायण उषस्तिको याजनोपयोगी वेदद्वारा याजनकर्ममें उत्कर्ष प्राप्त हुआ है।

ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण वेदसे जितना फल प्राप्त करते हैं ब्रह्मको नहीं जाननेवाले ब्राह्मण वेदसे उतना फल नहीं प्राप्त कर सकते, इस श्रुति-स्मृति-सम्मत सिद्धान्तको महर्षि जैमिनिने मान लिया है। अतः '**ब्राह्मणानाम्**' बहुवचन-प्रयोगमें बहुत्वका अन्वय ब्राह्मणत्वमें है, जिस प्रकार '**द्रव्यम्**' प्रयोगमें एकत्वका अन्वय द्रव्यत्वमें है—यह निश्चय हुआ।

इससे सिद्ध होता है कि जैमिनिके उपर्युक्त सिद्धान्त-सूत्रके अर्थको पूर्णरूपसे उपलब्ध करनेके लिये यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि ब्रह्म क्या है? और इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही भगवान् वेदव्यासने प्रश्नकर्त्ता शिष्यको एकाग्रचित्त करनेके लिये इन प्रारम्भिक सूत्रोंको कहा है। इन सूत्रोंको प्रतिज्ञा-सूत्र नामसे भी पुकारते हैं। इस सूत्रसे पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसाकी पारस्परिक संगति प्रदर्शित की गयी है। और साथ ही उत्तरमीमांसाके अभिधेय, प्रयोजन और सम्बन्ध भी उपदिष्ट हुए हैं।

उत्तरमीमांसाका अभिधेय ब्रह्म और प्रयोजन ब्रह्मज्ञान है। अभिधेयसे उत्तरमीमांसा-भागका प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भाव-सम्बन्ध तथा प्रयोजनसे उत्तरमीमांसा-भागका प्रयोज्य-प्रयोजक-भाव-सम्बन्ध है। सम्बन्ध और भी हैं, परन्तु उनके बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। प्रधानतया जिस विषयका उपदेश ग्रन्थमें होता है उसे अभिधेय और जो इष्ट होता है उसे प्रयोजन कहते हैं। उत्तरमीमांसामें प्रधानतया ब्रह्मका उपदेश होनेके कारण उसका ब्रह्म ही अभिधेय है तथा इष्ट होनेके कारण ब्रह्मज्ञान ही प्रयोजन है। ब्रह्मज्ञानका फल मोक्ष है। जिस ब्रह्मतत्त्वका आगे चलकर निरूपण किया जायगा, उसके अज्ञानसे ही जीव राग-द्वेषसे अभिभूत होता है और वही राग-द्वेष संसार-बन्धन (धर्माधर्मकृत आवागमन)-के हेतु हैं।

आद्या-शक्तिरूप एक ब्रह्म ही समस्त जगत्‌को व्याप्तकर अवस्थित है। अस्मद् (मैं) और युष्मद् (तू)-का पृथक् अस्तित्व नहीं है, इस तत्त्वके परोक्षज्ञानके अनन्तर पूर्ण अनुभूति (अपरोक्ष-अनुभूति)होनेसे द्वैत-भावकी निवृत्ति होती है। राग-द्वेष द्वैतबोधसे ही उत्पन्न होते हैं। राग-द्वेष न होनेसे संसार-बन्धन भी नहीं होता। मोक्ष-प्राप्तिकी दूसरी पद्धति परोक्ष ब्रह्मज्ञान है। मन्त्ररूपसे अथवा लीलामूर्तिके आश्रयसे उच्चकोटिकी उपासनाके पश्चात् जगन्माताकी कृपा होनेसे मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। उत्तरमीमांसामें आगे स्पष्टरूपसे उपासनाका विवरण मिलता है। ब्रह्मसूत्र १। १। २५ तथा १। २। २३ के देवीभाष्यमें इस विषयका विशद विवेचन है, लेख बढ़ जानेके भयसे यहाँ उद्धृत नहीं किया जाता।

अभिधेय, प्रयोजन और सम्बन्धके कथनका उद्देश्य यही है कि शिष्य ग्रन्थश्रवणमें एकाग्रचित्त हो। और इसे प्रथम सूत्रमें नहीं रखनेसे उत्तरमीमांसाका उपदेश असङ्गत, निरर्थक तथा अनिर्दिष्ट हो जाता। प्रथम सूत्रसे इन दोषोंका निवारण हुआ। मङ्गलाचरण प्रथम-उच्चारित 'अथ' शब्दसे हुआ। 'ॐकार' और 'अथ' शब्द पवित्र और कल्याणप्रद हैं। जिस प्रकार ॐकार शब्दका उच्चारण कर मन्त्रादिका पाठ होता है, उसी प्रकार 'अथ' शब्द उच्चारण करके ग्रन्थका आरम्भ होता है। 'अथ' शब्दका अर्थ पहले किया जा चुका है। 'अथ' शब्दका

उच्चारण मङ्गलाचरणात्मक होनेपर भी 'अथ' शब्दका अर्थ मङ्गल नहीं है।

द्वितीय सूत्र

प्रतिज्ञासूत्रसे ज्ञात हुआ कि इस ग्रन्थमें ब्रह्मका निरूपण किया जायगा। 'निरूपण' शब्दका अर्थ निश्चयरूपसे प्रतिपादन करना है। और वह (१) लक्षण-कथन, (२) स्वरूप-निर्देश, (३) प्रमाण-प्रदर्शन तथा (४) फल-सम्बन्ध-ज्ञापन—इन चार रूपोंसे प्रतिपादित होता है। परमत-खण्डन और शिष्योंकी नयी शङ्काका समाधान इन चार रूपोंके अन्तर्गत ही है। अतएव पहले लक्षण कहा जाता है।

जन्माद्यस्य यतः। (ब्रह्मसूत्र १। १। २)

जन्म आद्यस्य यत इति पदच्छेदः। आद्यस्य (प्रथमजातस्य) ब्रह्मण इत्यर्थः। यतः (यस्याः) जन्म (तद्ब्रह्म-विधेयप्रधान्यात् तदिति नपुंसकनिर्देशः)।

अर्थात् जिनसे आद्य अर्थात् प्रथमजात ब्रह्माजीका जन्म हुआ, वही ब्रह्म है।

'आद्य' शब्दका अर्थ प्रथमजात है। श्रुतिमें कहा है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता। (मुण्डकोपनिषद् १। १। १)

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे ....।

(ऋग्वेद १०। १२१। १), (यजुर्वेद माध्यन्दिनी १३। ४)

—इत्यादि श्रुतियोंमें कहा है कि ब्रह्मा प्रथमजात हैं। प्रथमजात ब्रह्माकी उत्पत्ति आद्या-शक्तिसे हुई है, इसका प्रमाण ऋग्वेदके देवीसूक्तमें इस प्रकार है—

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणम्.......।

(१०। १२५। ५)

अर्थात् 'रुद्र तथा ब्रह्माजीकी सृष्टि मैं करती हूँ।' मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशतीमें ब्रह्माजीद्वारा की हुई आद्याशक्तिकी स्तुतिमें लिखा है—

विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च।
कारितास्ते..॥

'हे देवि! विष्णुजीका, मेरा (ब्रह्माजीका) तथा शिवजीका शरीर-ग्रहण आपके ही द्वारा हुआ है।'

श्वेताश्वतरोपनिषद्के प्रारम्भ और मध्यमें भी शक्ति-स्वरूप ब्रह्मका निर्देश किया गया है। अन्तमें शक्ति शब्दका स्पष्ट प्रयोग न होनेपर भी शक्तिके स्वरूपका निर्देश वहाँ भी मिलता है। वहाँ भी पहले ब्रह्माकी सृष्टिकी बात है।

यथा—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

(श्वेता० ६। १८)

इस मन्त्रका अर्थ आगे किया जायगा। पुनः ऋग्वेदके देवीसूक्तमें लिखा है, **'अहं सुवे पितरमस्य'**—इस जगत्के पिताको मैंने ही प्रसव किया। पिता-शब्दका अर्थ सृष्टिकर्ता और रक्षणकर्ता दोनों है; और ब्रह्मामें ये दोनों गुण विद्यमान हैं, यह बात पूर्वलिखित मुण्डकोपनिषद्के इस मन्त्रसे स्पष्ट है—

विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।

(१। १। १)

'अहं सुवे' इस मन्त्रमें प्रतिपादित प्रसवसे शक्तिमें मातृधर्म प्रमाणित हो जाता है। परन्तु इसमें एक आपत्ति यह हो सकती है कि शक्ति यदि ब्रह्माकी जननी है, तो **'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्'** इत्यादि बहुतेरे स्थलोंमें पुँल्लिंगका प्रयोग क्यों हुआ? अतः इससे 'शक्ति' का अभिप्राय नहीं लिया जा सकता। क्योंकि 'शक्ति' शब्द स्त्रीलिङ्ग है। इसका उत्तर यह है कि शब्दानुशासनकी रीतिसे एक ही अर्थके वाचक शब्द विभिन्न लिङ्गके हो सकते हैं। जैसे एक ही स्त्रीलिङ्ग 'भार्या' वाचक शब्द दार (पुँल्लिङ्ग), कलत्र (नपुंसकलिङ्ग) तथा गृहिणी (स्त्रीलिङ्ग) प्रभृति तीनों लिङ्गोंमें व्यवहृत होता है। इसी प्रकार विश्वजननी वाचक 'आत्मा' शब्द पुँल्लिङ्ग, ब्रह्म-शब्द नपुंसकलिङ्ग, और 'शक्ति' स्त्रीलिङ्ग है। जिस लिङ्गयुक्त विशेष्यकी उपस्थिति होती है, सर्वनाममें उसी लिङ्गका ग्रहण किया जाता है। वह उपस्थिति कहीं शब्द और कहीं मनके भावरूपमें होती है। इस प्रकारके लिङ्गभेदसे वस्तुस्वरूपमें भेद नहीं आता। इसी कारण श्वेताश्वतरोपनिषद्में आता है-

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं
कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं
जातो भवसि विश्वतोमुखः॥

(४। ३)

ब्रह्मकी मातृभावसे अर्थात् दुर्गा आदि मूर्तिमें उपासना करनेसे शीघ्र ही फलकी प्राप्ति होती है। इसी बातको समझानेके लिये जननीभावयुक्त ब्रह्मका लक्षण उपदिष्ट हुआ है। जिस परमतत्त्वका उपदेश यहाँ है वह सब लिङ्गोंमें समान है। '**यतः**' पदसे ऐसा ही अभिप्राय प्रकट किया गया है। '**यतः**' पद सब लिङ्गोंमें समान है।

तृतीय सूत्र

ब्रह्म अचेतन है या चेतन, यह इस ब्रह्मलक्षणसे निश्चय नहीं होता। '**गोमयाद् वृश्चिको जायते**'—अर्थात् अचेतन गोबरसे चेतन बिच्छू उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार अचेतन ब्रह्मसे चेतन ब्रह्माकी उत्पत्ति हो सकती है। इस शङ्काके निवारणार्थ शक्ति-ब्रह्मको चेतन सिद्ध करनेके लिये तीसरा सूत्र है—

शास्त्रयोनित्वात्। (१। १। ३)

शास्त्रस्य (ऋग्वेदादेः) योनिः (कारणम्, निश्वसितवत् अनायासेन रचयित्री) तत्त्वात् (चेतनेति शेषः)।

(आद्यकी जननी) ऋग्वेदादि शास्त्रोंकी योनि अर्थात् कारण कहलानेवाली होनेसे चेतनस्वरूपा है।

देवात्मशक्ति अर्थात् आद्याशक्ति ब्रह्माकी जननी है, यह पहले प्रमाणित किया जा चुका है। श्वेताश्वतरोपनिषद्में देवात्मशक्ति इस प्रकार ब्रह्मरूपमें उपदिष्ट हुई है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

इस मन्त्रमें पूर्वकथित '**देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्**' को '**देवमात्मबुद्धिप्रकाशम्**' के रूपमें किस प्रकार वर्णन किया गया है, यह मैं दिखला चुका हूँ।

साधारणतया इन दोनों प्रकाशोंका व्यवहार होनेपर भी वस्तुतः प्रकाश एक ही है। जिस प्रकार दर्पणका सूर्य और आकाशका सूर्य तत्त्वतः एक ही होता है, अथवा जैसे घटाकाश और महाकाशमें भेद नहीं है, वैसे ही पूर्वोक्त देवात्मशक्तिसे भी इसका स्वरूपतः भेद नहीं है। यह भी क्रीड़ा-शक्ति और प्रकाश-शक्ति है। परन्तु यहाँ 'शक्ति' शब्द न देकर 'प्रकाश' शब्द दिया है। इसीसे इसमें '**यः**' शब्द पुँल्लिङ्गमें व्यवहृत हुआ है।

समस्त मन्त्रका अर्थ

जिनसे ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई और जिन्होंने ब्रह्माजीको वेद प्रदान किया, उन स्वप्रकाशरूपा, चित्प्रकाश और अचित्प्रकाशभूता शक्तिकी मैं मोक्षार्थी होकर शरण जाता हूँ—यह उपर्युक्त मन्त्रका अर्थ हुआ।

देवीसूक्तमें भी कहा है—

अहमेव स्वयमिदं वदामि
जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।

(१०। १२५। ५)

अर्थात् 'देवों और मनुष्योंसे सेवित उक्त वाक्यसमूह स्वयं मेरे (शक्तिके) द्वारा कहे जाते हैं।' मन्त्र और ब्राह्मणात्मक वेद भी वाक्य ही हैं, अतः वे भी शक्तिकी उक्तिसे बाहर नहीं हो सकते। अतः स्पष्ट हुआ कि वेद भी आद्या-शक्ति, जिन्हें ब्रह्म-नामसे भी पुकारते हैं, उन्हींकी उक्ति है। परन्तु इसमें एक आपत्ति यह हो सकती है कि '**विरूपनित्यया वाचा**' इत्यादि मन्त्रसे वेदका नित्यत्व सिद्ध होनेसे वेदको अपौरुषेय भी कहा जाता है; अतः यदि शक्तिके द्वारा उसकी रचना मानें तो अपौरुषेयत्व-का व्याघात होगा। इसका उत्तर यह है कि—

.......ऋचः सामानि जज्ञिरे, छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।

(ऋग्वेद १०। ९०। ९; यजु० ३१। ७)

इस श्रुतिसे वेदकी उत्पत्ति सिद्ध होती है।

एतस्य महाभूतस्य निश्वसितं यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः।

—इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध है कि वेद निश्वास-सदृश अनायास ही उच्चारित होता है। कल्पके आरम्भमें महाभूत (महत्सत्य अर्थात् सर्वसत्य)-से—परमसत्य-स्वरूप सर्वपुरुषजननी आद्याशक्तिके लीलास्वरूपसे अनायास ही वेद उच्चारित होता है। न तो वह वेद पुरुषद्वारा उच्चारित होता है और न प्रयत्नके द्वारा, इसीलिये उसे अपौरुषेय कहते हैं। और प्रत्येक कल्पमें मन्त्रादिके स्वरूपका प्रवाहरूपसे सब सृष्टियोंमें आद्या-शक्तिके द्वारा एक ही प्रकारसे उक्त होनेके कारण वेदकी नित्य-संज्ञा है। इसीलिये यह सिद्धान्त है कि आद्याशक्ति-रूप ब्रह्म प्रतिसृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजीको वेदका उपदेश करते हैं। जो चेतन नहीं होगा, उसमें वेदादि-कथनकी सामर्थ्य कहाँसे आयेगी? अतः आद्याशक्ति-रूप ब्रह्म चेतनस्वरूप ही हैं।

चतुर्थ सूत्र

अब यहाँ यह शङ्का रह जाती है कि 'चेतन'

शब्दका क्या अर्थ है—चिन्मात्र या चैतन्य-सम्बन्धयुक्त? यदि चिन्मात्र है तो उससे ब्रह्माकी उत्पत्ति तथा वेदकी उक्ति असम्भव है। ब्रह्माजीके सम्बन्धमें शास्त्र कहते हैं—'**स वै शरीरी प्रथमः।**' और चिन्मात्रसे शरीरधारीकी उत्पत्ति हो नहीं सकती। चिन्मात्र अर्थात् ज्ञानमात्रसे शास्त्र-रचना भी असम्भव है। क्योंकि शरीरका उत्पादन और ग्रन्थ-रचना इच्छा आदि सम्बन्धके बिना नहीं हो सकती। ज्ञान और इच्छा एक वस्तु नहीं हैं, अतः चिन्मात्र ब्रह्मस्वरूप नहीं हो सकता।

ब्रह्म चैतन्यसम्बन्धयुक्त है, ऐसा कहें तो वह मनुष्यादि प्राणियोंके समान हो जायगा और तब ब्रह्मका भी जन्म-मृत्यु मानना पड़ेगा। इस शङ्काके समाधानके लिये चतुर्थ सूत्र कहते हैं—

तत्तु समन्वयात्। (१।१।४)

तत् (शास्त्रयोनित्वम्) 'तु' (चकारार्थः समुच्चये, तेन आद्यजननीत्वञ्च) समन्वयात् (सम् सम्यक् अन्वयः—सम्बन्धः तस्मात्, चिदचितोर्नित्यसम्बन्धात् इति यावत्) भवति। इति वाक्यशेषः।

अर्थात् चित्शक्ति (ज्ञानशक्ति) और अचित्शक्ति (प्रकृति)-के नित्य-सम्बन्धसे ही मिलित शक्तिरूप ब्रह्मका शास्त्रयोनित्व और आद्यजननीत्व सिद्ध होता है।

ब्रह्मस्वरूपा आद्याशक्तिमें जो क्रियाशक्ति और बलशक्ति है, उसे ही अचित्शक्ति कहते हैं, तथा जो ज्ञानशक्ति है उसे ही चित्शक्ति कहते हैं। इसीके पर्यायवाची शब्द चिति, पुरुष, चित्शक्ति तथा संवित्शक्ति आदि हैं। क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिके नित्य-सम्बन्धको ही बलशक्ति कहते हैं। प्रपञ्चसारमें लिखा है—

प्रकृतिः पुरुषश्चेति नित्यौ कालश्च सत्तमः।
(अध्याय १।२१)

क्रियाशक्तिको प्रकृति कहते हैं और ज्ञानशक्तिको पुरुष। उस पुरुषको ही भगवान् पतञ्जलिने स्वामिशक्ति और दृक्शक्तिके नामसे ग्रहण किया है।[1] काल बलशक्तिका ही नाम है। प्रकृति-अंश होनेपर भी कार्यभेदसे भगवान् शङ्कराचार्यने कालकी पृथक् संज्ञा मानी है, जैसे एक ही अन्तःकरणकी चित्त-अहङ्कारादि विभिन्न संज्ञाएँ होती हैं। क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिका नित्यसम्बन्धित रूप ही बलशक्ति है।[2] इस सम्बन्धकी न तो कभी उत्पत्ति होती है और न कभी विनाश होता है। क्रियाशक्ति परिणामी-नित्य और ज्ञानशक्ति अपरिणामी-नित्य है। क्रियाशक्ति त्रिगुणात्मिका है। '**सच्चिदानन्द०**' इस श्रुतिमें सत्, चित् और आनन्द—ये तीन पद हैं। यहाँ 'सत्' शब्दसे एक सत्तास्वरूप काल-सम्बन्धका, 'चित्' शब्दसे ज्ञानका तथा 'आनन्द' शब्दसे क्रियाशक्तिका निर्देश हुआ है। लीलाकुशल बालिकाको जैसे क्रीडा-क्रियासे आनन्द होता है, वैसे ही क्रियाःशक्ति प्रकृति भी आनन्द प्रदान करती है। इसलिये 'आनन्द' शब्दका अर्थ क्रियास्वरूपा शक्ति है। नित्य-सम्बन्धित चित् (पुरुष) और अचित् (प्रकृति)-को ही ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति कहते हैं। ये दोनों जतु-काष्ठ अथवा नीर-क्षीरके समान सम्बन्धयुक्त हैं।

इस नित्यसमन्वय तथा ब्रह्मके साकार देवीरूपको समझानेके लिये छान्दोग्योपनिषद्के अष्टम प्रपाठकके तृतीय खण्डमें ब्रह्मकी नामनिरुक्ति की गयी है। यथा—

.......तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति।
तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद् यत् सत् तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यन्तेनोभे यच्छति....... तस्माद् यं....... (४-५)

इस वाक्यमें तीन स्वर हैं। इसका अर्थ यह है—

'**इयं सती**'—'सती' शब्दका शास्त्रप्रसिद्ध अर्थ है दुर्गा, श्रीविद्या आदि; वही साकार ब्रह्म हैं। इनके ध्यान, पूजा आदि श्रुति, स्मृति और पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं। दुर्गा माताका आदिरूप जैसे नित्यसम्बन्धित चित्-अचित् शक्ति है, वैसे ही निराकार ब्रह्म भी है। इस तत्त्वको समझानेके लिये ही श्रुतिने अक्षरार्थ प्रकट किया है—'यत् सत्' इत्यादि। 'सत्' का अर्थ अमृत अर्थात् अपरिणामी है, यही चित् है। 'ति' का अर्थ मर्त्य अर्थात् परिणामी है। एक ही तकार जिसका स्वरूप अर्धमात्रा है, उसका अर्ध-अर्ध भाग कल्पना करके एक भाग अपरिणामीके और दूसरा भाग परिणामीके अन्दर रखा। एक तकारके दो भाग करना जैसे असम्भव है, ब्रह्ममें अपरिणामी चित्शक्ति और परिणामी अचित्शक्तिका विभाग करना भी वैसे ही असम्भव है। 'ति' शब्दके

१- स्वस्वामिशक्त्योः.......'। (साधनपाद-२३)। 'दृग्दर्शनशक्त्योः.......'। (साधनपाद-६)

२- बलशक्तिका विशेष अर्थविचार देवीभाष्यमें है।

तकारमें लगा हुआ 'इ' कार परिणामीका बोधक है। 'इ' का अर्थ है इत्वजातिमान्। इत्व-जाति ह्रस्व इ और दीर्घ ई दोनोंमें समानरूपसे विद्यमान है। तालव्य स्वरत्व भी इसी प्रकारका साधारण धर्म है। इसी कारण **'सती इयम्'** इस वाक्यमें ह्रस्व इ और दीर्घ ई दोनोंका संग्रह हुआ है। स्+अ, और अर्ध तकार ये 'चित्' हैं। तथा अर्ध तकार और इत्ववान् अर्थात् इ और ई—ये अचित्के बोधक हैं। 'स' से 'इ' तकके समुदायको मिलानेवाले सम्बन्धका बोधक 'यं' है। इसी **सती+इयं= सतीयं** वाक्यका संक्षिप्त रूप **'सत्यम्'** है। इस प्रपाठकमें इसी प्रकार **'हृद्यम्'** वाक्यका संक्षिप्त रूप **'हृदयम्'** दिखलाया गया है। यह **'सत्यम्'** निराकार ब्रह्मका भी नाम है। इस श्रुतिका इसके सिवा दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता।

'त्रीणि अक्षराणि' की यथार्थ व्याख्या इसी अर्थमें है, क्योंकि **'सत्यम्'** इस शब्दमें तीन अक्षर नहीं हैं। स्वरको अक्षर माननेसे **'सत्यम्'** शब्दमें दो ही अक्षर होते हैं, व्यञ्जनको अक्षर माननेसे चार तथा स्वर और व्यञ्जन दोनोंको अक्षर कहनेसे छ: होते हैं। तीन अक्षर तो किसी प्रकार नहीं होते। **'सतीयम्'** वाक्यका मेरा किया हुआ अर्थ मान लेनेसे इसमें तीन स्वर होनेके कारण तीन अक्षर माने जा सकते हैं, क्योंकि अक्षर स्वरप्रधान ही होते हैं। इसी कारण तीन स्वरोंको लेकर श्रुतिमें लिखा है **'त्रीणि अक्षराणि।'** **'सती+इयम्'** इस वाक्यमें चार अक्षर (स्वर) होनेपर भी **'सतीयम्'** में तीन ही स्वर (अक्षर) हैं, और इत्वजातिमान्रूपसे **'सती+इयम्'** वाक्यमें भी तीन ही स्वर (अक्षर) होते हैं।

क्रियाशक्ति अर्थात् प्रकृतिके दो प्रकारके परिणाम होते हैं—एक सम और दूसरा विषम। प्रकृतिकी सुप्तावस्था और निरुद्धावस्था सम-परिणाम है, उसका प्रसिद्ध दृष्टान्त प्रलय है। एक-एक ब्रह्माण्डके दैनिक प्रलयमें सुप्तावस्था और महाप्रलयमें निरुद्धावस्था होती है। विषम परिणाम भी दो प्रकारके हैं—एक साधकके कल्याणार्थ मूर्तिरूप और दूसरा सृष्टिके लिये महत्तत्त्वादि क्रमरूप।

देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते॥

'महामाया अर्थात् चित्-अचित्-शक्ति नित्या होते हुए भी जब देवताओंकी कार्य-सिद्धिके लिये आविर्भूत होती हैं तब उनके लिये 'उत्पन्न' शब्दका प्रयोग होता है।' देवताओंकी कार्यसिद्धिसे देवताओंके हित, वर्णमातृका-सृष्टि और साधकके कल्याण—इन तीनोंका बोध होता है। मूर्तिरूपका निदर्शन केनोपनिषद्में इस प्रकार हुआ है—

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीम्। (३। १२)

'इन्द्रादि देवताओंको ब्रह्मज्ञान प्रदान करनेके लिये ब्रह्मस्थानमें जो उमारूपसे प्रकट हुई उसी स्त्रीमूर्तिका दर्शन इन्द्रको हुआ।' इस प्रकारका साकार ब्रह्मदर्शन ब्रह्मकी कृपासे ही होता है, यह बात भी कठोपनिषद्से ज्ञात होती है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम्।

'ब्रह्म जिनको वरप्रद होते हैं, उनके सामने अपनी मूर्ति प्रकट करते हैं।' इसी प्रकार उमामूर्ति भी प्रकट हुई थी। ऐसे ही और भी विविध मूर्तियाँ पुराण, आगम आदि शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं।

क्रिया (अचित्)-शक्तिके दो प्रकारके विषम परिणामोंका दृष्टान्त यह है। प्रत्येक मनुष्यकी बुद्धिके विषम परिणाम दो प्रकारके होते हैं—(१)स्वप्नमें घटादि वस्तुका निर्माण करना। स्वप्नमें बाह्य मृत्तिकाके बिना भी घटनिर्माण होता है। (२) वास्तविक घटादिनिर्माण। वास्तविक घटके लिये बाह्य मृत्तिकादिकी अपेक्षा रहती है। ऐसे ही स्वप्नके समान ही ब्रह्मके शरीर-परिग्रहमें बाह्य वस्तुकी अपेक्षा नहीं रहती, परन्तु प्राणियोंके शरीर-निर्माणमें बाह्य वस्तुकी अपेक्षा रहती है।

'सम-परिणाम' शब्दका अर्थ है गुणोंमें समतारूपसे अवस्थान। इसीकी 'सुप्तावस्था' और 'निरुद्धावस्था' दो संज्ञाएँ हैं। 'विषम-परिणाम' का अर्थ है गुणोंमें न्यून या अधिकभावसे परिवर्तन। जैसे सूखी मिट्टीमें जल देनेसे उसके पूर्वरूपमें परिवर्तन हो जाता है—कड़ी मिट्टी कोमल हो जाती है, तथा उसके रूप-रंगमें भी परिवर्तन हो जाता है।

अब ज्ञात हुआ कि चित्-अचित्का नित्यसम्बन्ध होनेके कारण ब्रह्ममें इच्छा-कृतिमय उनका लीला-शरीर भी हो सकता है। ऐसी अवस्थामें ब्रह्माजीके जनन तथा वेदादिकी रचनाके विषयमें उठायी हुई आपत्ति निर्मूल हो जाती है। मनुष्यादि प्राणियोंके चेतन होते हुए भी

उनमें चैतन्यका नित्यसम्बन्ध नहीं होता। प्राणियोंमें जो अतात्त्विक प्रतिबिम्ब-सम्बन्ध होता है, वही औपाधिक सम्बन्ध है। क्रिया-शक्तिके महत्तत्त्वादि परिणाम क्रमशः स्थूलभूततक चले जाते हैं। दर्पणोंमें सूर्यके प्रतिबिम्बके समान प्रत्येक बुद्धिमें जो ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसीसे मनुष्यादि प्राणियोंमें चेतन-सम्बन्ध होता है और वह अनित्य होता है। क्योंकि मनुष्यादि प्राणियोंके शरीरसे उनकी बुद्धिका सम्बन्ध प्रायः अनित्य होता है। अतएव चैतन्य-सम्बन्धयुक्त ब्रह्म और मनुष्यादिमें समानता नहीं हो सकती। क्योंकि ब्रह्म नित्य हैं और मनुष्यादि अनित्य।

यहाँ एक और आपत्ति होती है कि ब्रह्मके चिदचित्स्वरूप होनेसे उसका निर्गुणत्व श्रुतिविरुद्ध हो जायगा। इसका उत्तर यह है कि श्रुतिने जैसे ब्रह्मके निर्गुणत्वका प्रतिपादन किया है वैसे ही सगुणत्वका भी प्रतिपादन किया है। जैसे निर्गुणत्वप्रतिपादक श्रुति—

साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।

सगुणत्वप्रतिपादक श्रुति—

कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।

इन दोनों श्रुतियोंकी उपपत्ति शाक्तवादमें बिना किसी क्लिष्ट-कल्पनाके हो सकती है। चित् और अचित्के नित्यसम्बन्धके कारण इनके संयुक्त रूपको एक कहा जाता है। जिस प्रकार सांख्यमें त्रिगुणात्मिका होनेपर भी त्रिगुणके संयोगसे प्रकृतिको एक कहा जाता है, उसी प्रकार चित्-अचित्के मिलितरूप ब्रह्ममें एकत्व व्यवहार होनेपर भी मिलित शक्तिमें कोई भी परिणाम, विकार या गुण नहीं होते, इसीलिये वह निर्गुण है। तथा अपने एकांश चित्शक्तिको लेकर ब्रह्म निर्गुण है। **'पादे मे सुखम्'**—अर्थात् मेरे पैरमें चैन है, इस दृष्टान्तके समान अपने अचित् अंशमें ब्रह्म सगुण है। अतः **'कर्त्तारम्'** इत्यादि सगुणत्वबोधक श्रुतिकी सत्यताकी भी इससे रक्षा हो जाती है। इसका विशद विचार देवीभाष्यमें किया गया है।

यहाँतक चतुःसूत्रीकी व्याख्या समाप्त होती है। अब इसके आगे शाक्त-सिद्धान्तरूपसे ब्रह्मसूत्रका निर्गलित अर्थ संक्षेपमें कहकर इस निबन्धका उपसंहार किया जायगा।

उपसंहार

'शक्ति' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ है सामर्थ्य। समस्त यथार्थ वस्तुओंमें अयथार्थ शश-विषाणादिसे भेद-सूचना करनेवाली जो सर्वव्यापक सत्ता है वही यहाँ सामर्थ्य है। सत्ता यद्यपि स्वयं एक और अद्वितीय है तथापि द्विविध नित्य वस्तुओंका अवलम्बन करनेसे वह सर्वव्यापक कही जाती है। उन दोनोंमें एक परिणामी-नित्य है और दूसरी अपरिणामी-नित्य है। परिणामी-नित्यको अचित्, प्रकृति, गुणत्रय और माया इत्यादि नामोंसे भी कहा जाता है। जिस प्रकार मनुष्य एक रहते हुए भी जैसे वस्त्र परिवर्तन करता रहता है, उसी प्रकार वस्तु एक रहते हुए भी अवस्थादिमें परिवर्तन होता रहता है। इसी परिवर्तनका नाम परिणाम है। प्रकृतिका प्रथम परिणाम महत्तत्त्व है, जिसे बुद्धि भी कहते हैं। बुद्धिकी पूर्वावस्था प्रकृति है।

अपरिणामी-नित्यको चित्, आत्मा, पुरुष और ज्ञान नामसे भी पुकारते हैं। इन चित् और अचित्का सम्बन्ध अनादिकालसे चला आता है। काल ही दोनोंका सम्मेलन-सूत्र है। जतु-काष्ठ या नीर-क्षीरके समान यह सम्मिलित रूप है।

वही सत्ता स्वप्रकाश है। स्वप्रकाश चित्से वह पृथक् नहीं है। इसीसे उसे प्रकाश कहते हैं। वही सत्ता चित् और अचित्के नित्यसम्बन्धरूपमें है। इसीलिये चित् और अचित्के सम्मेलन-सूत्रको काल कहा गया है।

बलशक्ति कालस्वरूपिणी है, यह बात युक्तिपूर्वक पहले ही दिखलायी जा चुकी है। श्वेताश्वतरोपनिषद्में इसीलिये ज्ञान, बल और क्रियाको स्वाभाविकी शक्ति कहा गया है। उसीका दूसरा नाम पराशक्ति है। वह शक्ति एक, अखण्ड और अपरिच्छिन्न है, वही ब्रह्म है। जिस औपाधिकी शक्तिके विषयमें पहले कहा गया है, वह असंख्य, सखण्ड, परिच्छिन्न, सर्वानुस्यूत स्वाभाविकी शक्तिके अधीन है। इसीको अपराशक्ति कहते हैं। नित्य-सम्बद्ध, अपरिच्छिन्न, नित्य चित् और अचित्से अपरिच्छिन्न नित्यसत्तामें कुछ भी भेद नहीं है। सत्ताको धर्म और चित्-अचित्को धर्मी मानें तो इससे अनवस्था-दोष आ जायगा। क्योंकि सत्ताका धर्म सत्तात्व होगा और फिर उसका धर्म सत्तात्वत्व होगा और इस प्रकार अनन्तमें भी विश्राम न होगा, यही अनवस्थाका स्वरूप है। यही क्यों, नित्यसम्बन्ध चित् और अचित्में भी आधार-आधेय-भाव नहीं है।

उपर्युक्त स्वरूपको समझानेके लिये पुराणतन्त्र-निर्दिष्ट भगवान्की अर्धनारीश्वर-मूर्ति प्रसिद्ध ही है। साकाररूपको छोड़कर साधनोपयोगी और भी ब्रह्मरूप हैं। जैसे प्रणव और गायत्री आदि।

गायत्री ब्रह्मस्वरूप है, यह बात ब्रह्मसूत्र १। १। २५ में स्पष्ट है। सर्वव्यापिनी अपरिच्छिन्ना (भूमा) आद्याशक्तिके अतिरिक्त अन्य किसीका भी अस्तित्व नहीं है। परिच्छिन्नरूपसे 'मैं' और 'तू' आदिकी कल्पना व्यवहारमें अज्ञानसे उठती है। अपने तथा दूसरोंको एक सर्वव्यापी ब्रह्मस्वरूपमें निमज्जित कर देनेपर—पृथक् सत्ताबोधके लुप्त होनेपर राग-द्वेष नहीं हो सकते। छान्दोग्योपनिषद्में भी लिखा है—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।

(७। २३)

ज्ञानमार्गकी यही पद्धति है। तथा बृहदारण्यकके **'बाल्येन तिष्ठासेत्'**—इस वाक्यद्वारा मातृभावकी उपासनाका उपदेश भक्तिमार्ग है। इसमें उपास्य-उपासकरूप भेद नहीं मिटता। उसके मिटानेके लिये उन विचारों और ध्यानका अभ्यास आवश्यक है जिनसे अपरोक्षानुभूति होती है। भक्त ब्रह्मसे भयभीत होता है। वह ब्रह्मको माता और अपनेको पुत्र समझकर ही निर्भय होता है। दुधमुँहा बालक जैसे अपनी माताको ही सब कुछ समझता है और उसीसे मनचाहा सब कुछ पाता है, उसी प्रकार जो अनन्यासक्त होकर उनको भजते हैं उनके ऊपर माँकी कृपा होती है और कृपा प्राप्त होनेपर उन्हें अधिकारानुसार फल भी प्राप्त होता है। सप्तशतीमें वर्णित सुरथ राजा और समाधि वैश्य इसके उदाहरण हैं। अब माता आद्याशक्तिको प्रणाम करके निबन्ध समाप्त किया जाता है—

चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥
या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥
या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

शक्तिका स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीदामोदरजी उपाध्याय)

आयुर्वेद-शास्त्रके आचार्योंमें महर्षि आत्रेयका स्थान आदर्शमय है। महर्षिने अपनी संहितामें, शक्तिका स्वरूप सूत्ररूपसे या संक्षेपसे इस प्रकार वर्णन किया है।

स्त्रीषु प्रीतिर्विशेषेण स्त्रीष्वपत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मार्थौ स्त्रीषु लक्ष्मीश्च स्त्रीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः॥

(चरकसंहिता-चिकित्सास्थान, अ० २)

प्रीतिका निवास अधिकतर स्त्रियोंमें ही रहता है। सन्तानकी जननी स्त्रियाँ ही हैं। धर्म स्त्रियोंमें रहता है। अतएव वे धर्मपत्नी कहलाती हैं। अर्थ स्त्रियोंमें रहता है। स्त्रियोंहीमें लक्ष्मीका वास रहता है। स्त्रियाँ शक्तिस्वरूपा हैं। माता, स्त्री, भगिनी, पुत्री, पुत्रवधू तथा और भी अनेकों अनन्त रूपोंको धारण करके शक्ति संसारका सञ्चालन कर रही हैं। संसार स्त्रियोंमें ही स्थित है, इसलिये स्त्रियाँ संसारकी माता हैं। माया, प्रकृति और शक्ति—तीनों एक होते हुए अनेक हैं।

महर्षिके वचनके बाद अब तर्ककी तलवार चलाना हमारी धृष्टता होगी!

देवीभागवतमें शक्तिका स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीमायाधरजी तर्कपञ्चानन)

जगत्स्वरूपाप्यपनीतरूपा
संसारताराय च पोतरूपा।
शिवादभिन्नापि शिवाप्तिहेतुः
शक्तिः शिवं नः सततं तनोतु॥

शक्ति ही सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करनेवाली है। ब्रह्मा जो सृष्टि करते हैं, विष्णु जो रक्षा करते हैं और रुद्र जो संहार करते हैं, यह सब शक्तिका ही स्फुरण है। यह बात देवीभागवतके इन श्लोकोंसे स्पष्ट है।

नूनं सर्वेषु देवेषु नाना नामधरा ह्यहम्।
भवामि शक्तिरूपेण करोमि च पराक्रमम्॥
गौरी ब्राह्मी तथा रौद्री वाराही वैष्णवी शिवा।
वारुणी चाथ कौबेरी नारसिंही च वैष्णवी॥

समस्त देवता भी शक्तिकी ही प्रेरणासे सुख-दुःखका अनुभव किया करते हैं, मनुष्य तथा अन्य जीवोंकी तो बात ही क्या है।

जैसे चेतन पदार्थोंमें शक्तिका विलास प्रत्यक्ष दिखायी देता है, वैसे ही जड़-पदार्थोंमें भी उसका प्रभाव प्रत्यक्ष दीख पड़ता है। जैसे नदियोंके प्रवाह, बर्फके कड़ापन, अग्निकी उष्णता, जलकी शीतलता, सूर्य-चन्द्रमा प्रभृतिका प्रकाशकत्व और घट-पटादि पदार्थोंका प्रकाश्यत्व आदिका कारण प्रकृति ही है। यह बात भगवान् व्यासजीके निम्न वचनोंसे सिद्ध है—

जले शीतं तथा वह्नावौष्ण्यं ज्योतिर्दिवाकरे।
निशानाथे हिमाकारं प्रभवामि यथा तथा॥

ईश्वरमें समस्त कार्य करनेकी जो सामर्थ्य है, वही शक्ति है। परब्रह्म परमात्मा शक्तिविशिष्ट होकर ही जगत्का रक्षण, नियमनादि सब कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। शक्तिसे रहित होकर वह भी कुछ नहीं कर सकते। यही बात देवीभागवतके इस श्लोकमें कही गयी है।

तच्छक्तिभूतः सर्वेषु भिन्नो ब्रह्मादिमूर्तिभिः।
कर्ता भोक्ता च संहर्ता सकलः स जगन्मयः॥

इस श्लोकमें सकल शब्दका अर्थ है—'**कलया सह वर्त्तमानः सकलः।**' अर्थात् शक्तिविशिष्ट परब्रह्म ही देव, तिर्यक्, मनुष्य, स्थावरादि सब प्रपञ्चके सृष्टिकार्यमें, रक्षणकार्यमें और संहरणकार्यमें समर्थ होते हैं।

उसी शक्तिका भिन्न-भिन्न शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न नामोंसे उल्लेख किया गया है। जैसे सांख्य तथा योगमें सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी साम्यावस्था प्रकृति नामसे कही जाती है, और उसीको प्रधान भी कहते हैं; वेदान्तमें वही शक्ति अविद्या अथवा मायाके नामसे पुकारी जाती है; और तान्त्रिक लोग तन्त्रमें उसीको शक्ति-नामसे स्वीकार करते हैं।

देवीभागवतमें दो प्रकारकी शक्ति मानी गयी है। एक सगुणा शक्ति और दूसरी निर्गुणा शक्ति।

सगुणा निर्गुणा चेति द्विधा प्रोक्ता मनीषिभिः।
सगुणा रागिभिः सेव्या निर्गुणा तु विरागिभिः॥

ईश्वरका जो सर्वातिशायिस्वातन्त्र्य है वही निर्गुणा शक्ति है। इस शक्तिके बिना ईश्वरको कभी उपलब्धि नहीं हो सकती। ईश्वरकी वही स्वातन्त्र्याख्य शक्ति स्थावरजङ्गमात्मक जगत्की आत्मा है और ईश्वरके साक्षात्कारका कारण भी है। यह तान्त्रिक लोगोंका परम सिद्धान्त है।

तान्त्रिक-प्रवर वसुगुप्तने '**चैतन्यमात्मा**' ऐसा सूत्र बनाया है। इसका अर्थ यह है कि चेतनका भाव चैतन्य (स्वातन्त्र्याख्य शक्ति) आत्मा है। यह किसकी आत्मा है? समस्त स्थावरजङ्गमात्मक जगत्की। यह बात उक्त सूत्रकी व्याख्यामें '**विशेषाचोदनात् भावाभावरूपस्य जगतः**' इस उक्तिसे क्षेमराजने सिद्ध की है।

हमने जो पहले बताया है कि 'शक्तिके बिना ईश्वरको प्राप्त करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है,' वह भी तान्त्रिक-प्रवर अभिनवगुप्तकी उक्तिसे स्पष्ट होता है; वह लिखते हैं—

तस्माद्येन मुखेनैष भात्यनंशोऽपि तत्तथा।
शक्तिरित्येष वस्त्वेव शक्तितद्वत्क्रमः स्फुटः॥

इसके व्याख्याकार आचार्यवर्य जयरथजी लिखते हैं—

अनंशोऽपि सदाशिवः येन मुखेन भुवनाद्यन्यतमांशलक्षणेन मुखेन भावनादौ भासते तन्मुखं तु शिवप्राप्त्युपायतया शक्तिरेव; नहि एतदवगमादौ उपायान्तरमस्ति, उपपद्यते वा। अतश्च शक्तिशक्तिमतोः उपायोपेयभावात्मा क्रमः सम्यगेव स्फुटः।

अर्थात् परब्रह्म निरवयव होनेपर भी ध्यान करनेके समय जिसके प्रभावसे कभी-कभी सावयव मालूम पड़ते हैं वही शक्ति है। और यही शक्ति ब्रह्मप्राप्तिका द्वार है, शक्तिसे व्यतिरिक्त ब्रह्मप्राप्तिका दूसरा कोई मार्ग नहीं है। यह तान्त्रिक सिद्धान्त देवीभागवतसे भी मिलता है, यथा—

सा च माया परे तत्त्वे संविद्रूपेऽस्ति सर्वदा।
ततो मायाविशिष्टां तां संविदं परमेश्वरीम्॥
मायेश्वरीं भगवतीं सच्चिदानन्दरूपिणीम्।
ध्यायेत्तथाराधयेच्च प्रणमेच्च जपेदपि॥
तेन सा सदया भूत्वा मोचयत्येव देहिनम्।
स्वमायां संहरत्येव स्वानुभूतिप्रदानतः॥

ईश्वरकी शक्ति ही आत्मा है, यह बात जो पहले कह आये हैं, वह भी देवीभागवतके सिद्धान्तसे भिन्न नहीं है। देवीभागवतके मङ्गलाचरणमें ही है—

सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि।
..............बुद्धिं या नः प्रचोदयात्।

अर्थात् सबका आत्मस्वरूप जो ईश्वरकी परा शक्ति

है उसका मैं ध्यान करता हूँ। पहले जो बताया गया है कि एक सगुणा शक्ति है और दूसरी निर्गुणा शक्ति, उनमें जो निर्गुणा शक्ति है वह आद्या-नामसे कही गयी है।

देवीभागवतमें जहाँ-जहाँ देवीका वर्णन किया गया है वहाँ-वहाँ देवीपदसे शक्तिविशिष्ट परब्रह्मका ही ग्रहण किया गया है; और दूसरी जो सगुणा शक्ति है वह भी परा शक्तिका ही रूपान्तर है, इसलिये देवी-स्तुतियोंमें कहीं सगुणरूपसे और कहीं निर्गुण-रूपसे वर्णन है।

शक्ति ही ब्रह्मासे लेकर कीटपर्यन्त सभी प्राणियोंके मोहका कारण है। शक्तिसे मोहित होकर ही ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र इत्यादि देवता लोग 'मैं ब्रह्मा हूँ, मैं रुद्र हूँ, मैं इन्द्र हूँ', इस प्रकार अपनेमें ब्रह्मत्वादिका अभिमान किया करते हैं। इस बातको व्यासजी देवीभागवतमें श्रीविष्णु-मुखसे कहलाते हैं—

इत्युक्त्वा भगवान् विष्णुः पुनराह प्रजापतिम्।
मन्मायामोहितः सर्वस्तत्त्वं जानाति नो जनः॥
वयं मायावृताः कामं न स्मरामो जगद्गुरुम्।
परमं पुरुषं शान्तं सच्चिदानन्दमद्वयम्॥
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शिवोऽहमिति मोहिताः।
न जानीमो वयं धातः परं वस्तु सनातनम्॥

तृतीय स्कन्धके तृतीयाध्यायमें शक्ति ही सम्पूर्ण जडाजड जगत्का आत्मा होनेके कारण जडाजडरूपमें वर्णित है—

एषा भगवती देवी सर्वेषां कारणं हि नः।
महाविद्या महामाया पूर्णा प्रकृतिरव्यया॥
दुर्ज्ञेयाल्पधियां देवी योगगम्या दुराशया।
इच्छा परात्मनः कामं नित्यानित्यस्वरूपिणी॥

इन श्लोकोंके अनुसार शक्ति चेतनाचेतन सब जगत्का कारण है और मायाके जड होनेके कारण मायाविशिष्ट ब्रह्मका जडरूपसे वर्णन होना सिद्ध होता है। यदि कोई शङ्का करे कि प्रकृतिके जड होनेसे वह प्रकृतिका ही वर्णन है, ब्रह्म तो चेतन वस्तु है, चेतन वस्तुका जड होना अत्यन्त असम्भव होनेके कारण जडरूपसे ब्रह्मका वर्णन नहीं है, तो ऐसा कहनेसे पूर्वोक्त नित्यत्वका विरोध होता है। इसलिये इसे प्रकृतिविशिष्ट ब्रह्मका ही वर्णन समझना चाहिये। ब्रह्मके नित्य होनेके कारण नित्यत्वका वर्णन और मायाके अनित्य होनेसे अनित्यत्वका वर्णन भी सङ्गत मालूम होता है।

शक्तिका चक्षुसे ग्रहण करने योग्य ऐसा कोई रूप नहीं है, जिससे उसके स्वरूपका निरूपण कर सकें। अतः उसके कार्यसे उसके स्वरूपका निश्चय होता है। क्योंकि शक्तिके कार्यभूत जगत्में उसके सत्त्वादि गुणोंकी प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है और कार्य-वस्तुमें जो गुण हैं तथा जो रूप हैं वे सब कारणमें अवश्य ही रहते हैं; रूपरहित, गुणरहित कारणसे रूपयुक्त, गुणयुक्त कार्योत्पत्तिका होना कभी सम्भव नहीं। अतः जो रूप कार्यका है वही कारणका है। जैसे जो रूप तथा जो गुण मिट्टीके पिण्डमें रहता है वही रूप तथा वही गुण घटमें भी पाया जाता है। इसलिये जो रूप तथा गुण घटके हैं, वे ही रूप-गुण मृत्पिण्डके भी हैं। वैसे ही जगत्का जो रूप है वही रूप शक्तिका भी है, यह निश्चय हुआ। तान्त्रिक लोगोंका ऐसा भी सिद्धान्त है कि शक्तिका जो कार्य है वह शक्तिसे पृथक् नहीं है, क्योंकि कार्यस्वरूप ही शक्ति है। अतः जो कार्यका रूप है वही शक्तिका रूप है। अभिनवगुप्त लिखते हैं—

शक्तिश्च नामभावस्य स्वं रूपं मात्रकल्पितम्।
तेनाद्वयः स एवापि शक्तिमत्परिकल्पने॥

अर्थात् 'यह हमारी पुस्तक है' इसमें जैसे हमसे हमारी पुस्तक भिन्न मालूम होती है, वैसे ही 'यह इसकी शक्ति है' यह कहनेसे शक्ति और शक्तिवाली वस्तु ये दोनों पृथक्-पृथक् मालूम होती हैं। किन्तु यथार्थमें इनमें परस्पर भेद नहीं है; क्योंकि शक्तिवाली वस्तुसे पृथक् होकर शक्तिकी कहीं भी उपलब्धि नहीं होती। जैसे, अग्निको छोड़कर दाहिका-पाचिका शक्तिकी उपलब्धि स्वतन्त्ररूपसे नहीं होती।

जैसे 'राहुका सिर', यहाँपर राहुसे उसका सिर पृथक् नहीं है तो भी आरोपसे पृथक् व्यवहार होता है, वैसे ही शक्तिवाली वस्तुसे शक्ति पृथक् नहीं है तो भी आरोपसे भिन्न व्यवहार होता है। इस विषयमें किसी महात्माकी उक्ति है—

फलभेदादारोपितफलभेदः पदार्थात्मा शक्तिः।

तृतीय स्कन्धके षष्ठाध्यायमें व्यासजीकी उक्ति है—

सदैकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदैव ममास्य च।
योऽसौ साहमहं योऽसौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात्॥

अनयोरन्तरं सूक्ष्मं यो वेद मतिमान् हि सः।
विमुक्तः स तु संसारान्मुच्यते नात्र संशयः॥
एकमेवाद्वितीयं वै ब्रह्म नित्यं सनातनम्।

इन श्लोकोंसे यही सार निकलता है कि शक्ति और शक्तिमान्‌का अभेद होनेके कारण ब्रह्म और उसकी शक्ति दोनों एक ही पदार्थ हैं। जो भेद मालूम होता है वह केवल नाममात्रका है। इस भेदको मतिविभ्रान्त लोग अपनी अज्ञानताके कारण यथार्थ मान लेते हैं; किन्तु यथार्थमें शक्ति-शक्तिमान्‌का अपृथक् सम्बन्ध होनेके कारण दोनोंकी सर्वदा एकता ही सिद्ध होती है। और जो स्वरूप ईश्वरका है वही स्वरूप शक्तिका भी है। देवीभागवतमें कहा गया है—

नाहं स्त्री न पुमांश्चाहं न क्लीबं सर्गसंक्षये।

अर्थात् प्रलयावस्थामें मैं (ईश्वरशक्ति) न स्त्री, न पुरुष और न नपुंसक ही हूँ। व्यावहारिक सभी भेदोंके कारणमें विलीन होनेपर सच्चिदानन्दस्वरूपिणी सर्व जगत्‌की कारणस्वरूपा एक ब्रह्म-शक्ति निर्गुण रूपमें अवस्थित रहती है। उस समय यह भेद मन तथा वचनसे भी अगोचर होनेके कारण निर्गुण शक्तिमें प्रतीत नहीं होता। किन्तु जब उसी निर्गुण शक्तिका रूपान्तर सगुण शक्तिमें होता है तब स्पष्टरूपमें मालूम होता है। अतः निर्गुण शक्ति एकरूप है।

सगुण और निर्गुण-भेदसे शक्तिकी दो अवस्थाएँ हैं। उनमें निर्गुण शक्तिका तो स्वरूपनिरूपण हो गया; अब सगुण शक्तिका स्वरूप वर्णन करते हैं।

दृश्यमान समस्त जगत् सगुण शक्तिका कार्य है और वह शक्ति सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुणकी साम्यावस्थारूप है; इसलिये इसका प्रत्येक कार्य सुख, दुःख और मोहात्मक होता है। भागवतमें लिखा है—

एभिर्विहीनं संसारे वस्तु नैवास्ति कुत्रचित्।
वस्तुमात्रं तु यद्दृश्यं संसारे त्रिगुणं हि तत्॥
दृश्यं च निर्गुणं लोके न भूतो न भविष्यति।
निर्गुणः परमात्मासौ न तु दृश्यः कदाचन॥

सभी दृश्य वस्तु सगुण शक्तिका कार्य होनेके कारण दृश्य वस्तुओंमें जो स्वरूप देखा जाता है वही स्वरूप सगुण शक्तिका भी है।

संसारमें अनेक तरहके दृश्य पदार्थोंकी विभिन्न शक्तियाँ देखनेमें आती हैं। इसलिये पूर्वमें कही हुई दो ही प्रकारकी शक्तियोंका होना असम्भव प्रतीत होता है। फिर एक ही पदार्थमें अनेक तरहकी शक्तियोंका भाव देखनेमें आता है। जैसे एक अग्निमें दाहिका, पाचिका और प्रकाशिका तीन प्रकारकी शक्तियोंकी क्रिया प्रत्यक्ष उपलब्ध होती है। इन कारणोंसे एक सगुण शक्ति और एक निर्गुण शक्ति ये दो ही शक्तियाँ हैं, यह किस तरह सिद्ध हो सकता है? शक्तियोंका बहुत्व तो स्पष्टरूपसे मालूम होता है।

पहली शंकाका समाधान देवीभागवतमें इस तरह किया गया है—

नूनं सर्वेषु देवेषु नानानामधरा ह्यहम्।
भवामि शक्तिरूपेण करोमि च पराक्रमम्॥
उत्पन्नेषु समस्तेषु कार्येषु प्रविशामि च।

अर्थात् ईश्वरकी जब सृष्टि करनेकी इच्छा होती है तब उनकी सगुण शक्ति विष्णु आदि भिन्न-भिन्न देवताओंमें और घट-पटादि पदार्थोंमें प्रविष्ट हो जाती है। जैसे महाकाश एक होनेपर भी घटाकाश, मठाकाशादि भेदसे भिन्न-भिन्न आकाशका व्यवहार होता है, वैसे ही शक्ति एक होनेपर भी शक्तिमत् वस्तुके भेद होनेसे शक्ति भी बहुत प्रकारकी प्रतीत होती है।

को भेदो वस्तुतो वह्नेर्दग्धृपक्तृत्वयोरिव।

द्वितीय प्रश्नकी शंका तो अभिनवगुप्तकी इस उक्तिसे अपने-आप ही निवृत्त हो जाती है। दाह-पाकादि फलभेदसे जो दाहिका, पाचिका शक्तिका भेद प्रतीत होता है, वह वस्तुतः ठीक नहीं है। क्योंकि पहले कह आये हैं कि शक्ति-शक्तिमान्‌का अभेद है। इसलिये यहाँ शक्तिमान् अग्नि एक होनेके कारण उसकी शक्ति भी एक ही है।

देवीभागवतका यही परम सिद्धान्त है कि ईश्वरका जो स्वरूप है वही शक्तिका भी है और जो जगत्‌का स्वरूप है वह भी शक्तिका स्वरूप है और ईश्वरकी प्राप्तिका उपाय भी शक्ति है।

योगवासिष्ठमें शक्तिका स्वरूप

(लेखक—श्रीभीखनलालजी आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट०)

सदासे ही मनुष्य यह सोचता चला आ रहा है कि वह वस्तु क्या है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

(गीता १८। ४६)

अर्थात् 'जिससे सब पदार्थोंका उद्गम है और जो सब पदार्थोंमें व्याप्त है।' संसारके धार्मिक और दार्शनिक साहित्यमें इस प्रश्नके अनेक उत्तर दिये गये हैं। 'कल्याण' के शिवाङ्कमें हमने इस विषयमें कुछ मतोंका आलोचनात्मक दिग्दर्शन कर अपना मत प्रकट किया था। हमारे मतका निष्कर्ष यह था—'विश्वगत नानात्व देश-काल-परिस्थितिकृत है। स्वरूपतः वह अवर्णनीय है। इसके पीछे इसका आधार और तत्त्व एक है। एक ही अनेक रूपमें प्रकट हो रहा है। और वह एक तत्त्व सामान्य गुण-स्वरूपवाला कोई शुष्क सत्मात्र नहीं है। वह सर्वगुण-स्वभाव-शक्तिमय एक है।' वह एक होता हुआ भी अनेक रूपोंमें परिणत हो रहा है। व्यक्तित्व और विशेषत्व उसी एक परमतत्त्वका किसी विशेष क्षण, स्थान और परिस्थितिमें प्रकट होनेका नाम है। अतएव वह क्षणिक है। इस दृष्टिकोणसे सदा ही उसमें अनेकता और परिणाम रहेंगे। एकत्वदृष्टिसे वह नित्य है, अनन्त है और सर्वशक्तिमय है। वह जो है सदा है, सर्वत्र है और सब कुछ है। इसलिये उसका कोई विशेष नाम और गुण नहीं कहा जा सकता। उसका हम लक्षणासे ही वर्णन कर सकते हैं। भारतीय शास्त्रोंमें उस तत्त्वका नाम प्रायः ब्रह्म है। योगवासिष्ठ महारामायणमें जो कि भारतीय अध्यात्मशास्त्रोंमें एक उच्च कोटिका ग्रन्थ है, उस तत्त्वका नाम 'ब्रह्म' और उसके नाना रूपमें प्रकट होनेका नाम 'बृंहण' है। इसी ग्रन्थमें कुछ स्थानोंपर जगत्के इन दो स्वरूपोंका नाम 'शिव' और 'शक्ति' भी दिया है। परम तत्त्व 'शिव' है और नाना रूप जगत्, उसकी क्रियाशक्तिका अनन्त रूपोंमें नृत्य करनेका नाम है। (कल्याण-शिवाङ्क, पृष्ठ ४८८-४८९) 'कल्याण' के सम्पादक महोदयकी आज्ञानुसार हम यहाँपर उस परम तत्त्वके शक्ति-रूपका योगवासिष्ठके अनुसार प्रतिपादन करेंगे।

योगवासिष्ठके अनुसार 'ब्रह्म' और 'माया' अथवा 'शिव' और 'शक्ति' दो तत्त्व नहीं हैं। 'शिव+शक्ति' अथवा 'चिच्छक्ति' उस एक ही परम तत्त्वका नाम है जो जगत्में दो रूपमें प्रकट हो रहा है। एक वह रूप जो हमारा तथा संसारके समस्त पदार्थोंका 'आत्मा' है। वह सदा एकरस, निर्विकार और अखण्ड रहता हुआ सब विकारोंका साक्षी है; दूसरा वह रूप है जो दृश्यमान है, जिसमें नानारूपात्मक विकार सदा ही होते रहते हैं। संसारके जितने क्षण-क्षणमें रूप बदलनेवाले दृश्य पदार्थ हैं वे सभी परम तत्त्वके इस रूपके रूपान्तर हैं। इस रूपका नाम 'शक्ति' है। दूसरे रूपका नाम 'शिव' है। एक रूप क्रियात्मक है, दूसरा शान्त्यात्मक। एकका दर्शन बाह्य पदार्थोंमें होता है, दूसरेका हृद्गुहामें। एककी उपासना करनेसे अभ्युदयकी सिद्धि होती है, दूसरेके ध्यानसे निःश्रेयसकी। सदासे कुछ मनुष्योंकी रुचि एककी ओर रही है और दूसरोंकी दूसरी ओर। पहली श्रेणीके मनुष्योंको हिन्दू-शास्त्रोंमें प्रवृत्तिमार्गके पथिक और दूसरी श्रेणीके मनुष्योंको निवृत्तिमार्गके पथिक कहा है। इनसे उच्च कोटिके वे सौभाग्यशाली महात्मा हैं जिनके जीवनमें दोनों रूपोंकी उपासनाका अविरोधात्मक समन्वय है। उन लोगोंके लिये एक रूप बिना दूसरेके अधूरा है। उनके लिये तो—

चित्सत्तैव जगत्सत्ता जगत्सत्तैव चिद्वपुः।

(यो० वा० ३। १४। ७५)

जो कुछ भी जगत्में दिखायी दे रहा है वह सब यदि ब्रह्मसे ही प्रादुर्भूत हुआ है, तो अवश्य ही यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्ममें यह सब कुछ पैदा करनेकी शक्ति है। अन्यथा अभावसे भावकी उत्पत्ति माननेका दोष उपस्थित हो जायगा। इसीलिये योगवासिष्ठमें ब्रह्मको सर्वशक्तिमय माना है।

सर्वशक्तिपरं ब्रह्म नित्यमापूर्णमव्ययम्।
न तदस्ति न तस्मिन्यद्विद्यते विततात्मनि॥

(३। १००। ५)

ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिः कर्तृताऽकर्तृताऽपि च।
इत्यादिकानां शक्तीनामन्तो नास्ति शिवात्मनः॥

(६। (१)। ३७। १६)

चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम शरीरेष्वभिदृश्यते।
स्पन्दशक्तिश्च वातेषु जडशक्तिस्तथोपले॥

(३।१००।७)

द्रवशक्तिस्तथाम्भःसु तेजश्शक्तिस्तथाऽनले।
शून्यशक्तिस्तथाकाशे भावशक्तिर्भवस्थितौ॥

(३।१००।८)

ब्रह्मणः सर्वशक्तिर्हि दृश्यते दशदिग्गता।
नाशशक्तिर्विनाशेषु शोकशक्तिश्च शोकिषु॥

(३।१००।९)

आनन्दशक्तिर्मुदिते वीर्यशक्तिस्तथा भटे।
सर्गेषु सर्गशक्तिश्च कल्पान्ते सर्वशक्तिता॥

(३।१००।१०)

अर्थात् नित्य, सर्वथा पूर्ण, अव्यय परम ब्रह्म सर्व शक्तिमय है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो उस विस्तृत स्वरूपमें न हो। ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, कर्तृत्व और अकर्तृत्व आदि शक्तियोंका उस शिवात्मामें कोई अन्त नहीं है। चेतन शरीरोंमें उस ब्रह्मकी चित्-शक्ति, वायुमें स्पन्द-शक्ति, पत्थरमें जड-शक्ति, जलमें द्रव-शक्ति, अग्निमें तेज-शक्ति, आकाशमें शून्य-शक्ति, जगत्की स्थितिमें भाव-शक्ति, दस दिशाओंमें सर्वसाधारण-शक्ति, नाशोंमें नाश-शक्ति, शोक करनेवालोंमें शोक-शक्ति, प्रसन्न रहनेवालोंमें आनन्द-शक्ति, योद्धाओंमें वीर्य-शक्ति, सृष्टिमें सर्जन-शक्ति और कल्पके अन्तमें सब शक्तियाँ उसीमें दिखायी देती हैं।

ब्रह्मकी अनन्त शक्तियोंमेंसे स्पन्द-शक्ति एक विशेष शक्ति है। इस स्पन्द-शक्तिके द्वारा ही संसारकी रचना होती है—

स्पन्दशक्तिस्तथेच्छेदं दृश्याभासं तनोति सा।
साकारस्य नरस्येच्छा यथा वै कल्पनापुरम्॥

(६ (२)।८४।६)

सा राम प्रकृतिः प्रोक्ता शिवेच्छा पारमेश्वरी।
जगन्मायेति विख्याता स्पन्दशक्तिरकृत्रिमा॥

(६ (२)।८५।१४)

प्रकृतित्वेन सर्गस्य स्वयं प्रकृतितां गता।
दृश्याभासानुभूतानां कारणात्सोच्यते क्रिया॥

(६ (२)।८४।८)

'भगवान्‌की स्पन्द-शक्तिरूपी इच्छा उसी प्रकार इस दृश्य जगत्‌का प्रसार करती है जैसे कि मनुष्यकी इच्छा कल्पनानगरीका निर्माण कर लेती है। हे राम! वह अनादि स्पन्दशक्ति प्रकृति, परमेश्वर शिवकी इच्छा, जगत्-माता आदि नामोंसे भी विख्यात है। सृष्टिका कारण होनेसे वह प्रकृति और अनुभूत दृश्य पदार्थोंके उत्पादन करनेसे वह क्रिया कहलाती है।'

इस महाशक्तिके दूसरे नाम शुष्का, चण्डिका, उत्पला, जया, सिद्धा, जयन्ती, विजया, अपराजिता, दुर्गा, उमा, गायत्री, सावित्री, सरस्वती, गौरी, भवानी और काली आदि भी हैं।

(६ (२)।८४।९—१४)

वह क्रिया-शक्ति ही इस समस्त जगत्‌को उत्पादन करके अपने भीतर अवयवरूपसे धारण करती है—

सा हि क्रिया भगवती परिस्पन्दैकरूपिणी।
चितिशक्तिरनाद्यन्ता तथा भातात्मनात्मनि॥
देव्यास्तस्या हि याः काल्या नानाभिनयनर्त्तनाः।
ता इमा ब्रह्मणः सर्गजरामरणरीतयः॥
क्रियासौ ग्रामनगरद्वीपमण्डलमालिकाः।
स्पन्दान् करोति धत्तेऽन्तः कल्पितावयवात्मिका॥
काली कमलिनी काली क्रिया ब्रह्माण्डकालिका।
धत्ते स्वावयवीभूतां दृश्यलक्ष्मीमिमां हृदि॥

(६ (२)।८४।१७—२२)

'वह भगवती क्रिया, स्पन्दन ही जिसका स्वरूप है, अनादि और अनन्त चितिशक्ति, जगद्रूपसे अपने-आप ही अपने भीतर प्रकट हुई है, उस देवीके सामयिक अभिनय और नर्तन ही ब्रह्मकी सृष्टि, वृद्धि और लयके नियम हैं। यही कल्पित अवयववाली क्रियादेवी ग्राम, नगर, द्वीप, मण्डल आदि स्पन्दनोंकी मालाको रचती है और अपने भीतर धारण करती है। वह ब्रह्माण्डरूपसे स्पन्दित होनेवाली काली क्रिया अपने अवयवरूप इस जगत्‌को अपने भीतर इस प्रकार धारण करती है जैसे कि कमलिनी अपने भीतर पुष्प-लक्ष्मीको।'

शक्ति स्वयं अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त-जगत्‌को अपने भीतर प्रकट करती है—

चित्स्पन्दोऽन्तर्जगद्धत्ते कल्पनेव पुरं हृदि।
सैव वा जगदित्येव कल्पनैव यथा पुरम्॥
पवनस्य यथा स्पन्दस्तथैवेच्छा शिवस्य सा।
यथा स्पन्दोऽनिलस्यान्तः प्रशान्तेच्छस्तथा शिवः॥

अमूर्तो मूर्तमाकाशे शब्दाडम्बरमानिलः।
यथा स्पन्दस्तनोत्येव शिवेच्छा कुरुते जगत्॥
(६ (२)। ८५। ४—६)

'वह चित्स्पन्दरूपी शक्ति जगत्को अपने भीतर इस प्रकार धारण करती है जैसे कल्पना अपने भीतर कल्पित नगरको, अथवा यों कहना चाहिये कि जैसे कल्पना स्वयं ही कल्पित नगर है वैसे ही वह शक्ति ही स्वयं जगत् है। वह शक्ति शिवकी इच्छा है और वायुके स्पन्दनकी नाईं शिवका ही स्पन्दन है। जैसे स्पन्दनके भीतर भी केन्द्रपर शान्ति रहती है, उसी प्रकार महाशक्तिरूप स्पन्दनके भीतर भी केन्द्रमें शान्त इच्छावाला शिव वर्तमान है। यह शिवकी इच्छा अव्यक्त शिवमें इस प्रकार जगत्को प्रकट कर देती है जैसे कि अमूर्त्त आकाशमें वायुका स्पन्दन मूर्त्त शब्दको प्रकट कर देता है।'

प्रकृतिरूपी शक्ति ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। वह तो ब्रह्मका ही एक रूप है—

यदैव खलु शुद्धाया मनागपि हि संविदः।
जडेव शक्तिरुदिता तदा वैचित्र्यमागतम्॥
(३। ९६। ७०)

भावदार्ढ्यात्मकं मिथ्या ब्रह्मानन्दो विभाव्यते।
आत्मैव कोशकारेण लालदार्ढ्यात्मकं यथा॥
(३। ६७। ७३)

ऊर्णनाभाद्यथा तन्तुर्जायते चेतनाज्जडः।
नित्यात्प्रबुद्धात्पुरुषाद्ब्रह्मणः प्रकृतिस्तथा॥
(३। ९६। ७१)

सूक्ष्मा मध्या तथा स्थूला चेति सा कल्प्यते त्रिधा।
सत्त्वं रजस्तम इति ह्येषैव प्रकृतिः स्मृता॥
(६ (१)। ९। ५)

'यह जगत्रूपी विचित्रता तभी उदय होती है जब कि शुद्ध संवित्में जडरूप शक्तिका उदय होता है। जैसे कोश बनानेवाला कीड़ा अपने ही भीतरसे राल निकालकर उससे दृढ़ कोशका निर्माण करता है उसी प्रकार ब्रह्मानन्द ही सब भावोंके रूपमें दृढ़ हो रहा है। जैसे चेतन मकड़ीसे जड जालेकी उत्पत्ति होती है वैसे ही नित्य, प्रबुद्ध पुरुष ब्रह्मसे प्रकृतिकी उत्पत्ति होती है। उस प्रकृतिके तीन रूप हैं—सूक्ष्म, मध्यम और स्थूल। इन्हींको सत्त्व, रजस् और तमस् कहते हैं।'

शक्ति और शिव सदा ही अनन्यभावसे रहते हैं। एक-दूसरेसे कभी भी जुदा नहीं है—

यथैकं पवनः स्पन्दमेकमौष्ण्यानलौ यथा।
चिन्मात्रं स्पन्दशक्तिश्च तथैवैकात्म सर्वदा॥
(६ (२)। ८४। ३)

चितिशक्तेः क्रियादेव्याः प्रतिस्थानं यदात्मनि।
(६ (२)। ८४। २६)

तथाभूतस्थितेरेव तदेव शिव उच्यते॥
(६ (२)। ८४। २७)

अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम्।
(६ (२)। ८४। २)

कथमास्तां वद प्राज्ञ मरिचं तिक्ततां विना॥
(६ (२)। ८४। ७)

'जैसे पवन और उसका स्पन्दन, अग्नि और उसकी उष्णता एक ही वस्तु हैं, वैसे ही चिन्मात्र शिव और उसकी स्पन्द-शक्ति सदा ही एकात्म हैं। क्रियादेवी चितिशक्तिके भीतर उसका सदा एकरूप रहनेवाला प्रतिस्थान शिव कहलाता है। मनोमयी स्पन्द-शक्ति उससे अन्य वस्तु नहीं है। जैसे मिर्च तिक्तता बिना नहीं होती वैसे ही शिव बिना शक्तिके नहीं होता।' शिवरूप प्रतिस्थानका दर्शन वा स्पर्श करनेमात्रसे ही शक्तिका स्पन्दन शान्त हो जाता है और संसारकी गति एकदम रुक जाती है—

भ्रमति प्रकृतिस्तावत्संसारे भ्रमरूपिणी।
यावन्न पश्यति शिवं नित्यतृप्तमनामयम्॥
संविन्मात्रैकधर्मित्वात्काकतालीययोगतः।
संविदेवशिवं स्पृष्ट्वा तन्मय्येव भवत्यलम्॥
प्रकृतिः पुरुषं स्पृष्ट्वा प्रकृतित्वं समुज्झति।
तदन्तस्त्वेकतां गत्वा नदीरूपमिवार्णवे॥
(६ (२)। ८५। १६—१९)

भ्रमणशालिनी, स्पन्दात्मिका, परमेश्वरकी चिच्छक्ति प्रकृति इच्छापूर्वक तबतक संसारमें भ्रमण करती है जबतक कि वह नित्य, तृप्त, अनामय शिवको नहीं देखती। स्वयं भी संवित्रूप होनेके कारण, यदि वह अकस्मात् कभी शिवको स्पर्श कर लेती है तो तुरन्त ही उसके साथ तन्मयी हो जाती है। तब वह शिवके साथ एकताको प्राप्त करके अपने प्रकृतिरूपको इस प्रकार खो देती है जैसे समुद्रमें गिरकर नदी अपने नदीरूपको।

प्रकृतिके इस ब्रह्ममें लय हो जानेका ही नाम निर्वाणपद है—

चितिनिर्वाणरूपं यत्प्रकृतेः परमं पदम्।
प्राप्य तत्तामवाप्नोति सरिदब्धाविवाब्धिताम्॥

(६ (२)। ८५। २६)

'प्रकृतिकी परमगति संवित्‌में निर्वाण प्राप्त कर लेना ही है। उसको प्राप्त करके वह वही हो जाती है, जैसे कि नदी समुद्रमें पड़कर समुद्ररूप हो जाती है।'

वह पद परमानन्दरूप है और उसका वर्णन किसी प्रकार भी नहीं हो सकता—

न सन्नासन्न मध्यान्तं न सर्वं सर्वमेव च।
मनोवचोभिरग्राह्यं शून्याच्छून्यं सुखात्सुखम्॥

(३। ११९। २३)

'वह न सत् है न असत् और न इन दोनोंका मध्य अथवा अन्त है। वह कुछ भी नहीं है और सब कुछ है। मन और वचनसे उसका ग्रहण नहीं हो सकता। वह शून्यसे भी शून्य है और आनन्दसे भी अधिक आनन्दरूप है।'

गायत्री-मीमांसा

(श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी जयेन्द्रपुरीजी महाराज)

या साङ्गोपाङ्गवेदेषु चतुर्ष्वेकैव गीयते। अद्वैता ब्रह्मणः शक्तिः सा मां पातु सरस्वती॥
आकृतिं या निराकृत्य सच्चिदानन्दशब्दभाक्। गायत्रीतोऽधिगन्तव्या सा परा समुपास्यते॥

ध्यानसे देखा जाय तो संसारमें प्रत्येक जीवका लक्ष्य सुखरूप कल्याणकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिमें ही रहता है। पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदिकी समस्त चेष्टाएँ और विवेक-सम्पन्न मनुष्य-प्राणीके समस्त प्रयत्न, शिक्षा, दीक्षा, पद-सम्मान, कला-कौशल, रेल, विमान, तार, खेती, व्यापार, सदाचार, यज्ञ, दान, तपादि धार्मिक कृत्य, देवोपासना आदि सभी इसीलिये होते हैं। भूत-प्रेत, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और इन्द्रादि देवताओंकी प्रवृत्तिमें भी लक्ष्य यही सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्ति है। जीवमात्रका यही एकमात्र लक्ष्य है। यद्यपि थोड़े-बहुत सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्ति सभीको सिद्ध है, परन्तु उससे सन्तोषको प्राप्त न होता हुआ यह जीव-समुदाय नित्य महान् सुखकी प्राप्ति और दुःखके आत्यन्तिक नाशकी इच्छासे कर्म करता रहता है। एक कर्मसे शान्ति न पाकर दूसरे-तीसरे कर्ममें प्रवृत्त होता है। इससे यह सिद्ध है कि नित्य महान् सुखकी प्राप्ति और सर्व प्रकारसे दुःखकी निवृत्ति सम्पूर्ण जीवोंको इष्ट है और यही पुरुषार्थ है।

वस्तुतः दुःखका सर्वथा नाश होकर नित्य महान् सुखकी प्राप्ति किस प्रकारसे होती है, यह विज्ञान जीवकी कामादि दोष-दूषित बुद्धिसे नहीं होता। जो कर्म सुखप्राप्ति और दुःखाभावका साधन नहीं है उसीमें पच-पचकर जीव अपनी आयु समाप्त कर देता है। केवल वेदोंसे ही यह अलौकिक विज्ञान होता है।

यद्यपि वेदोंमें अनेकों कर्म और उपासनाओंका वर्णन है तथापि द्विजातियोंके लिये नित्य सुखकी प्राप्ति और सर्वथा दुःखकी निवृत्तिरूप मोक्षका हेतु गायत्री-मन्त्र माना गया है। गायत्री-मन्त्र सब वेदोंका सार है। **'तत्र गायत्रीं प्रणवादिसप्तव्याहृत्युपेतां शिरःसमेतां सर्ववेदसारमिति वदन्ति'**—यह गायत्रीका शाङ्करभाष्य है। इस गायत्री-मन्त्रमें प्रत्येक पद तथा अक्षर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रथम अक्षर ॐकार है।

ॐकारकी महिमा

अवतीति 'ओम्' इस व्युत्पत्तिसे सर्वरक्षक परमात्माका नाम ओम् है। सम्पूर्ण वेद एकस्वरसे ॐकारकी महिमा गाते हैं। जैसे—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

कठोपनिषद्‌में धर्मराज नचिकेतासे कहते हैं— 'हे नचिकेत! सम्पूर्ण वेद जिस पदको कहते हैं, सम्पूर्ण

तपके फलका जिसकी उपासनाके फलमें अन्तर्भाव है, जिसकी इच्छासे ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं उस पदको मैं तुझसे संक्षेपसे कहता हूँ। वह ॐ यह पद है। यही सगुण ब्रह्म है और यही पर—निर्गुण ब्रह्म है। इस अक्षरको जानकर जो जिस फलकी इच्छा करता है उसको वही मिलता है। यह आलम्बन अत्यन्त श्रेष्ठ है। इस आलम्बनको जाननेसे ब्रह्मलोकमें जाकर वह महिमाको प्राप्त होता है।'

प्रश्नोपनिषद्‌में सत्यकामने पिप्पलाद ऋषिसे पूछा है कि—'हे भगवन्! मनुष्योंमें जो मरणपर्यन्त ॐकारका ध्यान करता है, उसको किस लोकको प्राप्ति होती है?' ऋषिने कहा कि 'वह सगुण या निर्गुण ॐकाररूप ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

एतद्वै सत्यकाम परं चापरं ब्रह्म यदोङ्कारः।
तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥

इत्यादि।

सम्पूर्ण माण्डूक्योपनिषद् भी ॐकारके वर्णनमें ही समाप्त हुआ है।

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्॥
प्रणवं ह्यीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति॥
अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः॥

—इत्यादि गौड़पादकारिकामें ॐकारकी महिमाका विस्तारसे वर्णन है।

छान्दोग्योपनिषद्‌में '**ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत्**' ऐसा उपक्रम करके यह प्रसङ्ग लिखा है कि—किसी समय देवताओंने मृत्युसे भयभीत होकर त्रयीविद्याविहित कर्मोंका अनुष्ठान करके कर्मानुष्ठानद्वारा अपनेको वेदोंसे आच्छादन कर लिया। इसीलिये वेदोंका नाम छन्द पड़ा। जैसे धीवर जलमें मछलियोंको देखता है, इसी प्रकार मारक मृत्युने कर्मरूपी जलमें देवताओंको देखा अर्थात् कर्म-जल-क्षयसे देवताओंको मारनेका निश्चय किया। देवताओंने भी मृत्युके अभिप्रायको जान लिया। तब वे कर्मानुष्ठान छोड़कर ॐकारकी उपासनामें तत्पर हुए। ॐकारकी उपासना करके वे अमृत और अभय हो गये। जो कोई इस तरह जानकर ॐकारकी उपासना करता है वह भी देवताओंकी तरह अमृत और अभय हो जाता है। इसी प्रकार नृसिंहतापनी आदि अनेक उपनिषदोंमें ॐकारकी महिमाका वर्णन है।

अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी ॐकारकी बड़ी महिमा है। यथा—

श्रीमद्भगवद्गीता—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

श्रीमद्भागवत—

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम्।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन्॥

मनुस्मृति—

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति यजति क्रियाः।
अक्षरमक्षयं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः॥

योगदर्शन—

तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्।

इस प्रकार अनेकों स्मृतियों और पुराणोंमें ॐकारकी अत्यन्त महिमा गायी गयी है। ॐकारके ऋषि ब्रह्मा हैं, छन्द गायत्री है और सब कर्मोंके आरम्भमें इसका विनियोग है—अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भमें ॐकारका प्रयोग करना चाहिये। '**तेनेयं त्रयीविद्या वर्तते**'—यह छान्दोग्यश्रुति है। '**तेन ॐकारेण।**'

भूः आदि व्याहृतियोंकी महिमा

गायत्री-मन्त्रके प्रथम जो '**भूर्भुवः स्वः**' ये तीन व्याहृति हैं, इनकी महिमाका भी वेदोंमें वर्णन है। छान्दोग्यके चतुर्थाध्यायका प्रसङ्ग है। एक समय प्रजापति लोकोंमें सार वस्तु जाननेकी इच्छासे तप(विश्वविषयक संयम) करने लगे। तप करनेसे उन्होंने पृथिवीमें अग्नि-देवताको, अन्तरिक्षमें वायु-देवताको और स्वर्गमें आदित्य-देवताको सार देखा। पुनः तप (देवताविषयक संयम) करनेसे अग्निमें ऋग्वेदको, वायुमें यजुर्वेदको और आदित्यमें सामवेदको सार देखा। फिर तप (वेदविषयक संयम) करनेसे ऋग्वेदमें '**भूः**' को, यजुर्वेदमें '**भुवः**' को और सामवेदमें '**स्वः**' व्याहृतिको सार देखा। अतः ये महाव्याहृतियाँ लोक, देव और वेदोंमें सार तत्त्व-वस्तु हैं। '**भूः**' का अर्थ सत्, '**भुवः**' का अर्थ चित् और '**स्वः**' का अर्थ आनन्द है।

भूरिति सन्मात्रमुच्यते। भुव इति सर्वं भावयति प्रकाशयतीति व्युत्पत्त्या चिद्रूपमुच्यते। सुव्रियते इति व्युत्पत्त्या स्वरिति सुष्ठु सर्वैर्व्रियमाणसुखस्वरूपमुच्यते। इति शाङ्करभाष्यम्।

'**महः**' सर्वातिशय महत्तरका नाम है। '**जनः**' सर्वके कारणका नाम है। '**तपः**' सर्वतेजोरूप परतेजका नाम है और सत्य सर्वबाधारहितको कहते हैं।

गायत्रीमन्त्रगत पदोंका अर्थ

'**तत्सवितुः**' यहाँ 'तत्' पद ब्रह्मका बोधक है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

यों गीतामें '**तत्**' पदसे ब्रह्मका ही निर्देश किया गया है।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥

अर्थात् यज्ञ, दान, तपादिके फलकी अभिसन्धिको न करके '**तत्**' पदार्थ परमात्माको लक्ष्य करके मुमुक्षुगण कर्म करते हैं। अतएव गीता भी '**तत्**' पदसे परब्रह्मका ही वर्णन करती है।

तच्छब्देन प्रत्यग्भूतं स्वतःसिद्धं परं ब्रह्मोच्यत इति शाङ्करभाष्यम्।

'**सवितुः**' पद भी परमेश्वरका ही बोधक है—

सवितुरिति सृष्टिस्थितिलयलक्षणकस्य सर्वप्रपञ्चस्य समस्तद्वैतविभ्रमस्याधिष्ठानं लक्ष्यत इति शाङ्करभाष्यम्।

सवितुः सर्वान्तर्यामितया प्रेरकस्य जगत्स्रष्टुः परमेश्वरस्येति सायणभाष्यम्।

'**वरेण्यम्**' पद भी सर्वश्रेष्ठका बोधक है—

परमेश्वरस्यात्मभूतं वरेण्यं सर्वैरुपास्यतया ज्ञेयतया च सम्भजनीयम्।

—यह सायणभाष्य है।

वरेण्यमिति सर्ववरणीयं निरतिशयानन्दरूपम्।

—यह शाङ्करभाष्य है। '**सवितुर्वरेण्यम्**' यहाँपर षष्ठी विभक्तिका अर्थ '**राहोः शिरः**' की तरह अभेद है।

'**भर्ग**' पद भी अन्तर्यामी परज्योतिका ही बोधक है—

अविद्यातत्कार्ययोर्भर्जनाद्भर्गः।

—यह सायणभाष्य है।

भर्ग इत्यविद्यादिदोषभर्जनात्मकज्ञानैकविषयत्वम्।

—यह शाङ्करभाष्य है।

'**देवस्य**' इस पदसे—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

—इत्यादि श्रुति-प्रतिपाद्य सर्वसाक्षी चेता केवल निर्गुण ब्रह्मरूप आत्माका ग्रहण है।

'**धीमहि**' पदसे '**आत्मेत्येवोपासीत**' इत्यादि श्रुत्यर्थके अनुष्ठानका सूचन है। और '**धियो यो नः प्रचोदयात्**' इस वाक्यमें '**प्रचोदयात्**' पदसे '**अन्तर्यामिब्राह्मण**' प्रतिपाद्य अर्थकी सूचना है। '**धियो यो नः**' से अन्तर्यामी परब्रह्मका प्रत्यग् आत्मासे अभेद सूचित होता है।

गायत्रीमन्त्रका अर्थ

'**ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुः**' इत्यादि गायत्री महामन्त्र-का अर्थ—

ॐकारका लक्ष्य, '**भूः**' सत्, '**भुवः**' चित्, '**स्वः**' आनन्दस्वरूप, '**तत्**' '**तत्त्वमसि**' वाक्यघटकतत्पदलक्ष्य, '**सवितुः**'—'**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**', '**जन्माद्यस्य यतः,**' इत्यादि लक्षण-लक्षित, जगदुत्पादक, सूर्यके सूर्य, '**वरेण्यम्**' वरणीय, सर्वश्रेष्ठ, '**भर्गः**' स्वज्ञानद्वारा अविद्या एवं तत्कार्यका भर्जक, दाहक, '**देवस्य**' स्वयं-ज्योतिःस्वरूप परब्रह्मका '**धीमहि**' हम ध्यान करते हैं।

सवितुर्देवस्येत्यत्र षष्ठ्यर्थो राहोः शिरोवदौपचारिकः इति शाङ्करभाष्यम्।

'वह स्वयंज्योतिःस्वरूप परब्रह्म कौन हैं', ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहा है—'**धियो यो नः प्रचोदयात्**', जो हमारी बुद्धिको शुभ कर्ममें प्रवृत्त करे। अर्थात् जो ब्रह्मासे लेकर कीटपर्यन्त सबकी बुद्धियोंका प्रवर्तक अन्तर्यामी परब्रह्म है, वही हमारे इस संघातमें मन, बुद्धि आदिका प्रवर्त्तक है।

अविद्यातत्कार्ययोर्भर्जनाद्भर्गः स्वयंज्योतिः परब्रह्मात्मकं तेजः धीमहि तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहमिति वयं ध्यायेम।

—यह सायणभाष्य है।

प्रणवान्ता गायत्री जपादिभिरुपास्या। तत्र शुद्धगायत्री प्रत्यग्ब्रह्मैक्यबोधिका। बुद्ध्यादिसर्वदृश्यसाक्षिलक्षणं यन्मे स्वरूपं तत्सर्वाधिष्ठानभूतं परमानन्दं निरस्तसमस्तानर्थरूपं स्वप्रकाशचिदात्मकं ब्रह्मेत्येवं धीमहि, ध्यायेम। एवं सह ब्रह्मणः स्वविवर्तजडप्रपञ्चेन रज्जुसर्पन्यायेनापवादसामानाधिकरण्यरूपमेकत्वम्। सोऽयमिति न्यायेन सर्वसाक्षिप्रत्यगात्मनो ब्रह्मणा सह तादात्म्यरूपमेकत्वं भवति इति सर्वात्मकब्रह्मबोधकोऽयं गायत्रीमन्त्रः सम्पद्यते। इति शाङ्करभाष्यम्।

अर्थात् प्रणवान्त गायत्री जपादि करके उपास्य है। यहाँ शुद्ध गायत्री-मन्त्र प्रत्यगभिन्न ब्रह्मका बोधक है। सब दृश्यको देखनेवाला जो मेरा स्वरूप है यही सबका अधिष्ठान है, परमानन्दरूप है, माया एवं तत्कार्यात्मक सब अनर्थोंसे रहित है, स्वयंप्रकाश चिदात्मक ब्रह्म है, इस प्रकार हम ध्यान करते हैं। और स्वविवर्त जड-प्रपञ्चके साथ ब्रह्मका रज्जु-सर्पकी भाँति बाध-सामानाधिकरण्यरूप अभेद है; चिद्रूप प्रत्यगात्माके साथ ब्रह्मका मुख्य तादात्म्यरूप अभेद है; इस प्रकार सर्वात्मक ब्रह्मका बोधक यह गायत्रीमन्त्र सिद्ध होता है। यह शाङ्करभाष्यका अर्थ है।

प्रणव-तत्त्वका गायत्री-तत्त्वमें समावेश

प्रणवकी अ, उ, म्— ये तीन मात्राएँ हैं। यहाँ अकारका अर्थ व्यष्टि-समष्टि वैश्वानर विराट् है, उकारका तैजस हिरण्यगर्भ है और मकारका प्राज्ञ ईश्वर है। इनका भी पादत्रयसे क्रमशः प्रतिपादन है—जैसे कि '**तत्सवितुर्वरेण्यम्**' इस गायत्रीके प्रथम पादसे समस्त प्रसूयमान प्रपञ्चकी कर्तृ-शक्तिके वरणीय प्राज्ञाभिन्न ईश्वरस्वरूपका प्रतिपादन है और कार्य-कारणका अभेद होनेसे कर्तृ-शक्तिमें समस्त कार्यवर्गका आरोप और अन्तर्भावका सूचन है। '**भर्गो देवस्य धीमहि**' इस द्वितीय पादसे तैजसाभिन्न हिरण्यगर्भका प्रतिपादन है, तेज-वाचक भर्ग-पदसे तथा ध्यान-कर्तृवाचक धीमहि-पदसे उक्त अर्थका सूचन होता है। और प्रकृष्टचोदना-क्रियावाचक '**प्रचोदयात्**' पदसे प्रकृष्ट क्रियावाले वैश्वानराभिन्न विराट्का सूचन होता है; क्योंकि विशेष क्रिया स्थूलमें ही प्रसिद्ध है। प्रणवकी चतुर्थ मात्राका भी गायत्रीके चतुर्थ पादमें अन्तर्भाव है। अमात्र और अर्धमात्र तुरीय चेतन ही गायत्रीके चौथे पादका अर्थ है; इसी प्रकार प्रणव-तत्त्व भी गायत्री-तत्त्वमें ही समाविष्ट है।

गायत्रीमन्त्रगत प्रकृतियोंका क्रमशः भाव

अब गायत्री-मन्त्रान्तर्गत प्रकृतियोंके अनुसार संसारकी सब अवस्थाओंका वर्णन करते हैं—'**तत्**' ('**तनु विस्तारे**') सबसे पहले ईश्वरको विस्तारविषयक इच्छा होती है, '**बहु स्याम्, प्रजायेय**' यहाँ विस्तार-वाचक '**तत्**' पदकी विस्तारविषयक इच्छामें लक्षणा है। '**सवितुः**' ('**षूञ् प्राणिगर्भयिमोचने**') अर्थात् परमेश्वर इच्छा करनेके पश्चात् जगत्को पैदा करता है। तदनन्तर काल पाकर '**वरेण्यम्**' ('**वृञ् वरणे**')— प्रार्थनीय अर्थात् श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानको जीव प्राप्त करता है; ज्ञानके पश्चात् '**भर्गो देवस्य**'— अज्ञानका भर्जन (नाश) होता है। इसके बाद '**धीमहि**'— जीवन्मुक्ति-कालमें अप्रयत्न-साध्य ध्यानादि होते हैं। तत्पश्चात् '**धियः**'—आत्मतत्त्वविषयक चरम साक्षात्काररूप बुद्धि होती है। और इसके बाद अभेदभावसे परमेश्वर-प्राप्ति-रूप मोक्ष होता है। वह परमेश्वर कौन है? '**यो नः प्रचोदयात्**'—जो हमारा—सबका अन्तर्यामी प्रेरक है।

न्यायदर्शनानुसार प्रकृति धातुमात्रको लेकर अन्तसे आरम्भ करके संसार-क्रमका वर्णन भी सूचित होता है। '**प्रचोदयात्**'—प्रथम सृष्टिकालमें प्रचोदना, अदृष्टवशात् परमाणुमें आद्यक्रिया होती है; तदनन्तर '**यो नः**' ('**यु मिश्रणे**')—अर्थात् परमाणुद्वय आदिका मिश्रण (संयोग) होता है, एवं आरम्भवादकी रीतिसे संयोगपूर्वक सृष्टि होती है; तदनन्तर '**धियः**'—आत्ममनःसंयोगपूर्वक सांसारिक बुद्धि होती है, सांसारिक भोगादि होता है; तदनन्तर '**धीमहि**' अर्थात् ईश्वर-ध्यानादिसे तत्त्वविषयक धी (ज्ञान)-की प्राप्ति होती है; तदनन्तर '**अदेवस्य भर्गः**' अर्थात् अज्ञानका भर्जन (नाश) होता है; और मिथ्या ज्ञानके नाशके अनन्तर '**वरेण्यम्**' वरणीय अपवर्गकी प्राप्ति होती है। वह अपवर्ग क्या है? '**सवितुः**' कर्तास्वरूप आत्माकी '**तत्**'—एकविंशति दुःखका अत्यन्त ध्वंसरूप अकर्तृत्व-अवस्था है।

योगशास्त्रकी प्रक्रियाके अनुसार भी गायत्री-मन्त्रका अर्थ समझना चाहिये। '**प्रचोदयात्**'—कुण्डलिनी-समुत्थानक्रियासे लेकर षट्चक्रभेदनपूर्वक सहस्रारकमल-विकासपर्यन्त जो-जो क्रियाएँ होती हैं वह सम्पूर्ण क्रियाएँ प्र-पूर्वक चुद्-धातुका अर्थ है, लिङर्थ प्रार्थना है। अर्थात् सविता—क्लेशादिसे अपरामृष्ट परमेश्वर हमारी बुद्धिको शुभयोग क्रियाकी ओर प्रवृत्त करे, अन्य संसारविषयक प्रवृत्ति हमारी न हो। इसी प्रकार अन्य पदोंका व्याख्यान भी यथायोग्य समझना चाहिये। अन्य दर्शनोंकी रीतिसे भी गायत्रीमन्त्रका व्याख्यान हो सकता है, विस्तार-भयसे नहीं लिखा जाता।

यहाँ इन अर्थोंके अप्रामाणिकत्वकी शङ्का (ये अर्थ केवल प्रकृतिको लेकर कैसे सूचित किये जा सकते हैं?) भी उचित नहीं है, क्योंकि शक्ति-तत्त्वके प्रतिपादक '**ह्रीं, क्लीं,** इत्यादि बीजघटित मन्त्रोंको सार्थक बनानेके लिये ऐसी ही कल्पना करनी पड़ती है। और इन सब मतोंके वैदिकत्वकी शङ्का भी नहीं हो सकती; क्योंकि

अधिकारभेदके अभिप्रायसे भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओंका वर्णन शास्त्रोंमें किया गया है। '**अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते**'। यहाँ अन्य शास्त्र अध्यारोप हैं, वेदान्तशास्त्र अपवाद है। सर्व शास्त्रोंका ध्येय लक्ष्य एक ही तत्त्व है। यही सबका आत्मा, गायत्री-मन्त्रका भी लक्ष्य है।

'**तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तद-भवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहंमनुरभवं सूर्यश्चेति तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवति।**' '**अयमात्मा ब्रह्म**'। '**तत्त्वमसि**'। '**प्रज्ञानं ब्रह्म**'।

—इत्यादि श्रुतियाँ गायत्री-मन्त्रके अभेदरूप अर्थको स्पष्ट बतला रही हैं।

गायत्री-शिर भी अद्वितीय परब्रह्मका ही बोधक है—

आप इत्याप्नोतीति व्युत्पत्त्या व्यापित्वमुच्यते। ज्योतिरिति प्रकाशरूपत्वम्। रस इति सर्वातिशयत्वम्। अमृतमिति मरणादिसंसारनिर्मुक्तत्वम्। सर्वव्यापिसर्वप्रकाशकसर्वोत्कृष्ट-नित्यमुक्तमात्मरूपं सच्चिदानन्दात्मकं यदोङ्कारवाच्यं ब्रह्म तदहमस्मीति।

—यह शाङ्करभाष्य है।

गायत्री सर्वात्मक है

गायत्रीको '**तत्सवितुः**' इत्यादि केवल चतुर्विंशत्य-क्षरात्मक अथवा हस्तपादादि अवयवयुक्त देवताविशेष ही नहीं समझना चाहिये, क्योंकि '**गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च**' (छा०) इत्यादि श्रुतियाँ गायत्रीको सर्वात्मक बतला रही हैं। अतः गायत्रीका उपासक भी गायत्रीरूप ही है, यह बात अर्थसे सिद्ध होती है।

मन्त्रगुरुदेवतात्मकत्वेनात्मानं भावयन् यथाशक्ति-गायत्रीजपसमर्थः। (गायत्रीपुर०)

इसलिये उपासकको चाहिये कि अभेदभावसे ही गायत्रीका चिन्तन करे।

'**देवो भूत्वा देवान्यजेत्**', '**अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते-ऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवँ स देवानाम्।**'

—इत्यादि श्रुतियाँ इस अर्थको स्पष्ट सिद्ध करती हैं।

'**वासुदेवः सर्वमिति**'।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

'**भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्**'।

—इत्यादि स्मृति-वाक्य भी अभेदभावनामें प्रमाण है।

ध्यानमें उपयोगी होनेसे छान्दोग्यके तृतीय अध्यायमें गायत्रीके चार पाद और छः प्रकार भी कहे हैं—'**सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री**' (छा०)। अर्थात् सर्वात्मक गायत्री-तत्त्वके निश्चयके लिये परोक्ष-अपरोक्षस्वरूप सर्वात्मक गायत्रीके ४ पाद (छः अक्षरके हिसाबसे) और प्रकार (वाग्, भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय, प्राण)-की चिन्ता करनी चाहिये।

सर्वात्मक गायत्री-ब्रह्मके एक पादमें चतुष्पादादि कल्पनाको दिखलाकर गायत्रीके शुद्ध त्रिपाद स्वरूपको भी छान्दोग्यश्रुति दिखलाती है—

तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पुरुषः पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति।

'**तावान्**' **वागादिप्राणपर्यन्तसर्वप्रपञ्च** '**अस्य**'—इस गायत्री-ब्रह्मका महिमा-विभूति-विस्तार है। प्रपञ्चरूप महिमा-विभूति-विस्तारसे निर्गुण पुरुष श्रेष्ठ है। समस्त भूत इस गायत्री-ब्रह्मके एक पाद हैं (एक पादरूप अंशके विवर्त हैं), और अविनाशी त्रिपादरूप अपने शुद्ध स्वयंज्योतिःस्वरूपमें अवस्थित हैं।

गायत्री-ब्रह्मकी हृदयमें उपासना

जिस स्वयंज्योतिःस्वरूप गायत्री-ब्रह्मको उपास्य कहा है, वह हृदयाकाशमें ध्येय है। इस अर्थको कहनेके लिये क्रमसे हृदयाकाशका अवतरण श्रुति करती है—

यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं वहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः, अयं वाव स योऽयमन्तःपुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तःपुरुषः आकाशः अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति पूर्णामप्रवर्तिनीं श्रियं लभते य एवं वेद।

अर्थात् जो शुद्ध त्रिपाद् स्वयंज्योति गायत्री-ब्रह्म है वह शरीरसे बाहर यह जो आकाश है, वही है। जो बाहरका आकाश है वह जो शरीरके भीतर आकाश है, वही है और जो शरीरके भीतर आकाश है यह जो हृदयके भीतर आकाश है, वही है। यह चिदाकाश पूर्ण—(देशकालवस्तुरूप) परिच्छेदशून्य है, निष्क्रिय और अपरिणामी है; जो इस हृदयगत चिदाकाशरूप गायत्री-ब्रह्मको जानता है वह पूर्ण और अपरिणामी श्री (मोक्ष)-को प्राप्त होता है।

यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद् यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः।

—यह श्रुति भी विश्वके अधः, ऊर्ध्व, सर्वतः पृष्ठोंमें स्थित चैतन्य ज्योतिरूप गायत्री-ब्रह्मकी शरीरके भीतर स्थिति बतला रही है। इस मन्त्रमें स्थित '**यदतः**' इस यत्-पदसे प्रकृत गायत्री-ब्रह्मका परामर्श है।

अङ्गोपासना

स्वयंज्योतिःस्वरूप हृदयगत चिदाकाशरूप इस गायत्री-ब्रह्मकी उपासनाके अङ्गरूप द्वारपालोंकी उपासना छान्दोग्यमें इस प्रकार है। गायत्री-ब्रह्म-भवनरूप हृदयके पाँच सुषि (छिद्र) हैं। पूर्वाभिमुख पुरुषके हृदयका जो पूर्वच्छिद्ररूप द्वार है, उसका द्वारपाल प्राण है, वही चक्षु है, वही आदित्य है; इस प्राणको जो तेज और अन्नाद्यरूपसे चिन्तन करता है, वही तेजस्वी और अन्नाद (दीप्ताग्नि) होता है। जो दक्षिण-सुषि है उसका द्वारपाल व्यान है—वही श्रोत्र है, वही चन्द्रमा है; इस व्यानको जो श्री और यशरूपसे चिन्तन करता है वह श्रीमान् और यशस्वी होता है। जो पश्चिम-सुषि है वहाँका द्वारपाल अपान है—वही वाग् है, वही अग्नि है; जो इस अपानको ब्रह्मवर्चस और अन्नाद्यरूपसे चिन्तन करता है; वह ब्रह्मवर्चस्वी और अन्नाद होता है। जो उत्तर-सुषि है वहाँका द्वारपाल समान है—वही मन है, वही पर्जन्य है; जो इस समानको कीर्ति और व्युष्टि (अपरोक्ष कीर्ति) रूपसे चिन्तन करता है वह कीर्तिमान् और व्युष्टिमान् होता है। और जो ऊर्ध्व-सुषि है वहाँका द्वारपाल उदान है, वही वायु है, वही आकाश है; इस उदानको जो ओज और महःरूपसे चिन्तन करता है वह ओजस्वी और महान् होता है।

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकम्।

(छा० ३। १३। ६)

अर्थात् जैसे लोकमें राजाके द्वारपालोंको वशमें करनेसे द्वारपाल राजाकी प्राप्तिमें निमित्त होते हैं, वैसे ही प्राण, व्यान, अपान, समान, उदान—ये हार्दचैतन्यज्योति गायत्रीब्रह्मरूप स्वर्गलोकके द्वारपाल हैं; ये द्वारपाल वशमें हुए हृदयमें स्थित गायत्री-ब्रह्मकी प्राप्तिमें निमित्त होते हैं; उपासक स्वर्गलोक (प्रत्यग्ज्योतिरूप गायत्री-ब्रह्म)-को प्राप्त होता है। और उसके कुलमें वीर पुत्र या शिष्य पैदा होता है।

प्रत्यक्षं ह्येतदजितकरणतया बाह्यविषयासङ्गानृत-प्ररूढत्वान्न हार्दे ब्रह्मणि मनस्तिष्ठति तस्मात्सत्यमुक्तमेते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपा इति।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि गायत्री-पदसे तो '**तत्सवितुः**' इत्यादि चतुर्विंशति अक्षरसन्निवेशरूप गायत्रीछन्दका कथन है। ब्रह्मका कथन नहीं बन सकता? इसका उत्तर यह है कि—

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथाचेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् । (ब्रह्मसूत्र १। १ । २५)

गायत्री-पदसे छन्दमात्रका कथन नहीं बन सकता; किन्तु गायत्रीमन्त्र-जपादिद्वारा गायत्री-अनुगत ब्रह्ममें चित्तके अर्पणकी विवक्षा है। जैसे गायत्री-मन्त्रद्वारा ब्रह्ममें चित्तार्पण विवक्षित है, वैसे ही अन्यत्र भी वेदोंमें विकारद्वारा ब्रह्मदर्शन विवक्षित है।

गायत्रीके एक-एक पादकी उपासना भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, यह अर्थ भी बृहदारण्यकके पञ्चमाध्यायमें दिखलाया है। यथा—

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्य एतत्स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद।

(बृह० ५। १४। १)

भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ—ये आठ (यकार अष्टम है) अक्षर हैं। गायत्रीके प्रथम पादमें भी आठ अक्षर हैं ('**वरेण्यम्**' के स्थानमें '**वरणीयम्**' समझनेसे आठ अक्षर (अच्) पूरे हो जाते हैं, अथवा यकार अष्टम है), अर्थात् अष्टाक्षरत्वसाम्य होनेसे तीनों लोक गायत्रीका प्रथम पाद है। वह तीनों लोकोंको जीतता है जो गायत्रीके लोकत्रयीरूप इस प्रथम पादकी उपासना (चिन्तन) करता है। '**ऋचो यजूंषि सामानि**'—ये वेदत्रयीमें आठ अक्षर हैं। गायत्रीके द्वितीय पादमें भी आठ ही अक्षर हैं, अर्थात् तीनों वेद गायत्रीका द्वितीय पाद है; वह वेदत्रयीके सम्पूर्ण फलको प्राप्त होता है जो गायत्रीके वेदत्रयीरूप द्वितीय पादकी उपासना करता है। और प्राण, अपान, व्यान, ये आठ अक्षर हैं। गायत्रीके तृतीय पादमें भी आठ अक्षर हैं, अर्थात् सम्पूर्ण प्राणी गायत्रीके तृतीय पाद हैं; वह सम्पूर्ण

प्राणियोंको जीतता है जो गायत्रीके तृतीय पादकी उपासना करता है। गायत्रीका चौथा पाद तुरीयस्वरूप है, जो रज, तम आदिसे पर, दर्शनीय पद ब्रह्मरूप है। यही सर्वान्तरात्मा सूर्यादिरूप होकर सबके ऊपर तपता है। वह इसी प्रकार श्री तथा यश करके तपता है जो गायत्रीके इस तुरीय पादकी उपासना करता है।

पूषार्यमा मरुत्वांश्च ऋषयोऽपि मुनीश्वराः।
पितरो नागयक्षाश्च गन्धर्वाप्सरसां गणाः॥
रक्षोभूतपिशाचाश्च त्वमेव परमेश्वरि।
ऋग्यजुःसामवेदाश्च अथर्वाङ्गिरसानि च॥
त्वमेव पञ्च भूतानि तत्त्वानि जगदीश्वरि।
ब्राह्मी सरस्वती सन्ध्या तुरीया त्वं महेश्वरी॥
त्वमेव सर्वशास्त्राणि त्वमेव सर्वसंहिताः।
पुराणानि च तन्त्राणि महागममतानि च॥
तत्सद्ब्रह्मस्वरूपा त्वं किञ्चित्सदसदात्मिका।
परात्परेशी गायत्री नमस्ते मातरम्बिके॥

भूतशुद्धि

भूतशुद्धिविहीनेन जपपूजादिकं कृतम्।
सर्वं निरर्थकं विद्धि विपरीतफलार्थदम्॥

गायत्री-पुरश्चरणगत इस वसिष्ठसंहिताके वचनसे भूतशुद्धि आवश्यक है, अतः संक्षेपसे भूतशुद्धि लिखते हैं। मन्त्रजप करनेवालेको चाहिये कि प्रथम अपने शरीरको पञ्चभूतात्मक चिन्तन करे, अर्थात् कार्य-कारणका अभेद होनेसे अपने शरीरमें अस्थि, मांसादि जो कठिन पार्थिव भाग हैं उसको पृथिवीरूपसे चिन्तन करे एवं शुक्र-शोणितादि द्रव जलीय भागको जलरूपसे, भूख-प्यास, उष्णत्वादि तैजस भागको तेजरूपसे, श्वास-प्रश्वासादि वायवीय भागको वायुरूपसे और शरीरगत छिद्रादि आकाशके भागको आकाशरूपसे चिन्तन करे। पुनः पृथिवीका जलमें लय-चिन्तन करे, जलका तेजमें, तेजका वायुमें, वायुका आकाशमें और आकाशका मायामें लय-चिन्तन करे। तप्तलोहपिण्डप्रक्षिप्त-जलविन्दुके लयकी तरह मायाका नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभाव स्वयंप्रकाश चैतन्यानन्दस्वरूप ब्रह्ममें लय-चिन्तन करे। पुनः स्वयंज्योति आनन्दस्वरूप '**ब्रह्मैवाहमस्मि**' इस प्रकार चिरकालपर्यन्त चिन्तन करे। आत्मरूप ब्रह्मसे ही आकाशादिकी और स्वदेहादिकी उत्पत्ति समझे एवं सर्वदेहादिप्रपञ्चको ब्रह्मरूप चिन्तन करके '**ब्रह्मैवाहमस्मि**' ऐसी भावना करे।

निराधारे निराकारे निर्विकल्पे निरञ्जने।
सर्वभूतलयं दृष्ट्वा भूतशुद्धिः प्रजायते॥

गायत्रीका निर्गुण ध्यान

हृदयकमलमध्ये दीपवद्वेदसारं
प्रणवमयमतर्क्यं योगिभिर्ध्यानगम्यम्।
हरिगुरुशिवयोगं सर्वभूतस्थमेकं
सकृदपि मनसा वै ध्यायते यः स मुक्तः॥

(गायत्रीपुरश्चरणपद्धति)

अथवा—

आत्मन आकाशो भवति, आकाशाद्वायुर्भवति, वायोरग्निर्भवति, अग्नेरोंकारो भवति, ॐकाराद् व्याहृतिर्भवति, व्याहृतितो गायत्री भवति, गायत्र्याः सावित्री भवति, सावित्र्याः सरस्वती भवति, सरस्वत्या वेदा भवन्ति, वेदेभ्यो लोकाः।

(गायत्रीहृदय)

यह लोकोंकी उत्पत्तिका क्रम गायत्रीहृदयमें लिखा है। ध्याता पुरुषको चाहिये कि वह विपरीत क्रमसे लोकादिका लय प्रदीपके तुल्य स्वयंज्योतिःस्वरूप अपने आत्मामें करे। सम्पूर्ण लोकोंका वेदोंमें लय (अन्तर्भाव) चिन्तन करे, वेदोंका सरस्वतीमें, सरस्वतीका सावित्रीमें, सावित्रीका गायत्रीमें, गायत्रीका व्याहृतियोंमें, व्याहृतियोंका ओंकारमें, ओंकारका अग्निमें, अग्निका वायुमें, वायुका आकाशमें और आकाशका लय ब्रह्मस्वरूप अपने आत्मामें समझे। प्रदीपके तुल्य स्वयंज्योतिःस्वरूप आत्मासे अतिरिक्त अन्यका चिन्तन न करे।

सर्वमस्मीत्युपासीत तद्व्रतं तद्व्रतम्।

(छा० २। २१। ४)

गायत्रीकी महिमा

सैषा गायत्र्यै तस्मिंस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वैतत्सत्ये प्रतिष्ठितम्। (बृ० ५। १४। ४)

यह लोकत्रयी, वेदत्रयी सर्वप्राणस्वरूप त्रिपदा गायत्री इस चतुर्थ तुरीय पदमें प्रतिष्ठित है। इस प्रकार तुरीय चेतनरूप यह गायत्री प्रत्येक प्राणीके हृदयमें स्वयंज्योतिः प्रत्यगात्मरूपसे स्थित है।

'सा हैषा गयांस्तत्रे प्राणा वै गयांस्तत्प्राणांस्तत्रे। तद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम'। 'यस्मा अन्वाह तस्य प्राणांस्त्रायते' (बृ०)। 'वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च' (छा०)। 'गानात्त्राणाच्च गायत्र्यागायत्रीत्वम्।'

—यह शांकरभाष्य है। '**गायन्तं त्रायते इति गायत्री**'—

गायतस्त्रायसे देवि तद्गायत्रीति गद्यसे।
गयः प्राण इति प्रोक्तस्तस्य त्राणादपीति वा॥

'**गीयते तत्त्वमनया**'—ऐसा भी गायत्री-पदका विग्रह हो सकता है।

नमस्ते सूर्यसंकाशे सूर्यसावित्रिकेऽमले।
ब्रह्मविद्ये महाविद्ये वेदमातर्नमोऽस्तु ते॥

इसके सिवा गायत्री-महामन्त्रकी वेदोंमें और भी अत्यन्त महिमा कही है।

यदिह वा अप्येवंविद्बह्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद्गायत्र्या एकं च न पदं प्रति। स य इमांस्त्रींल्लोकान् पूर्णान् प्रतिगृह्णीयात् सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत् प्रतिगृह्णीयात् सोऽस्या एतद्द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात् सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुयादथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात्।
(बृ० ५। १४। ५-६)

अर्थात् सर्वात्मक गायत्रीको शास्त्रद्वारा जानकर अपरोक्षताके लिये गायत्रीकी अभेदभावसे उपासना करने-वाला पुरुष यदि बहुत ही अधिक प्रतिग्रह लेता है तो भी वह प्रतिग्रह गायत्रीके एक पदकी उपासनाके फलके बराबर भी नहीं हो सकता। यदि गायत्री-उपासक पुरुष धनादिसे परिपूर्ण तीनों लोकोंको भी ग्रहण करे तो वह प्रतिग्रह गायत्रीके प्रथम पादकी उपासनाके फलमें ही अन्तर्भूत होगा। यदि सम्पूर्ण तीनों वेदोंको भी ग्रहण करे तो वह प्रतिग्रह भी गायत्रीके द्वितीय पादकी उपासनाके फलमें अन्तर्भूत होगा। और यदि सम्पूर्ण प्राणियोंको भी ग्रहण करे तो वह प्रतिग्रह भी गायत्रीके तीसरे पादकी उपासनाके फलमें ही अन्तर्भूत होगा। परन्तु गायत्री-उपासककी क्षतिका हेतु कोई भी प्रतिग्रह नहीं हो सकता। गायत्रीका चतुर्थ पाद तो तुरीय परब्रह्म ही है, इसके सदृश तो दुनियामें कुछ है ही नहीं।

ॐ गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापदिति। (बृ० ५। १४। ७)

यह गायत्रीका उपस्थान-मन्त्र है। इसका अर्थ है—हे गायत्री! त्रैलोक्यपादसे तुम एक पदवाली हो, त्रयीविद्यारूप द्वितीय पादसे द्विपदी हो, प्राणादि तृतीय पादसे तुम त्रिपदी हो, तुरीयरूप चतुर्थ पादसे तुम चतुष्पदी हो अर्थात् सगुण रूपके तुम्हारे अनेक पाद हैं।

इतनेसे ध्येयरूपको कहकर अब ज्ञेयरूपको दिखाते हैं—निर्गुणस्वरूप तुम्हारा पादादि अवयवोंसे रहित है। मन, वाणी आदिका अगोचर है। अज्ञ जनोंको तुम नहीं दीखती हो। तुम रज, तम आदिसे परे हो। देखनेके योग्य, शुद्ध तुरीयपदरूप तुमको मेरा नमस्कार है। '**असौ**' यह स्वयंज्योति तुरीय '**अदः**' ब्रह्म मुझको प्राप्त हो। अज्ञानरूपी शत्रु अपने जन्म-मरणादि कार्योंको न करें, नष्ट हो जावें। यह गायत्रीका उपस्थान-मन्त्र भी अद्वितीय तुरीय ब्रह्मका प्रतिपादक है। इससे भी गायत्रीकी अद्वितीयत्वरूप महिमा झलकती है।

गायत्री-पुरश्चरण-पद्धतिमें एक संवाद इस तरह लिखा है। याज्ञवल्क्य ऋषि ब्रह्माजीके सामने विनम्रभावसे बोले—'हे ब्रह्माजी! गायत्रीका गोत्र क्या है, अक्षर कितने हैं, पाद कितने हैं, सिर कितने हैं, कुक्षि कितनी हैं?' ब्रह्माजी बोले—'हे याज्ञवल्क्य! गायत्रीका सांख्यायन गोत्र है, बत्तीस अक्षर हैं, चार पाद हैं, अन्तका एक पाद न गिननेसे तीन पादवाली गायत्री कही जाती है, चौबीस अक्षर होते हैं, गायत्रीकी आठ कुक्षि, सात सिर हैं। ऋग्वेद गायत्रीका प्रथम पाद है, यजुर्वेद दूसरा पाद है, सामवेद तीसरा पाद है, अथर्वणवेद चौथा पाद है। पूर्व दिशा प्रथम कुक्षि है, दक्षिण दिशा दूसरी कुक्षि, पश्चिम दिशा तीसरी कुक्षि है, उत्तर दिशा चौथी कुक्षि है, ऊर्ध्व दिशा पञ्चम कुक्षि है, अधः दिशा छठी कुक्षि है, अन्तरिक्ष दिशा सप्तम कुक्षि है और अवान्तर दिशा अष्टम कुक्षि है। व्याकरण गायत्रीका प्रथम सिर है, शिक्षा द्वितीय सिर है, कल्प तृतीय सिर है, निरुक्त चौथा सिर है, ज्योतिर्नयन (ज्योतिष्) पञ्चम सिर है, इतिहास-पुराण षष्ठ सिर है, उपनिषद् सप्तम सिर है। पूर्वा सन्ध्या गायत्री कही जाती है, मध्यमा सावित्री और पश्चिमा सरस्वती कही जाती है। गायत्री बाला कुमारी रक्तवर्णा है, वस्त्रादि भी सम्पूर्ण रक्त ही हैं। सावित्री श्वेतवर्णा है और सरस्वती कृष्णवर्णा है। एक गायत्री—चिति-शक्ति ही अनेक रूपको धारण करती है। गायत्रीका विष्णु हृदय है, रुद्र शिखा है, ब्रह्मा कवच है' इत्यादि। इस संवादसे भी गायत्रीकी सर्वात्मकत्वरूप महिमा झलकती है। नारायणोपनिषद्में ब्रह्माको गायत्रीका सिर कहा है।

एक प्राचीन पुस्तक मेरे पास है, इसमें यह संवाद लिखा है—पार्वतीजी बोलीं, 'हे महादेवजी! आप संसार-समुद्रके तारक हैं, हे प्रभो! कृपा करके गायत्री-कवच कहिये।'

ईश्वर बोले—

शृणुष्व देवि सावित्रीमाहात्म्यं पापनाशनम्।
महाव्याधिभयात्पापाद् दुःखसंसारबन्धनात्॥
प्रतिग्रहान्नदोषाच्च पातकानुपपातकान्।
अतिगोप्यं महापुण्यं त्रिकोटीतीर्थसम्मतम्॥
सर्वयज्ञमयं देवि सर्वदानमयं सदा।
सर्वज्ञानमयं देवि परब्रह्ममयं सदा॥
कवचं कथयामि त्वां पार्वति प्राणवल्लभे॥

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ भूः ॐ ॐ ॐ भु ॐ ॐ ॐ वः ॐ ॐ ॐ स्वः ॐ ॐ ॐ त ॐ ॐ ॐ त्स ॐ ॐ ॐ वि ॐ ॐ ॐ तुर् ॐ ॐ ॐ व ॐ ॐ ॐ रे ॐ ॐ ॐ ण्यं ॐ ॐ ॐ भर् ॐ ॐ ॐ गो ॐ ॐ ॐ दे ॐ ॐ ॐ व ॐ ॐ ॐ स्य ॐ ॐ ॐ धी ॐ ॐ ॐ म ॐ ॐ ॐ हि ॐ ॐ ॐ धि ॐ ॐ ॐ यो ॐ ॐ ॐ यो ॐ ॐ ॐ नः ॐ ॐ ॐ प्र ॐ ॐ ॐ चो ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ द ॐ ॐ ॐ यात्।

अस्य श्रीगायत्रीकवचस्तोत्रमन्त्रस्य परब्रह्म ऋषिः गायत्रीच्छन्दो ब्रह्मण्यो देवता धर्मार्थकाममोक्षार्थे जपे विनियोगः।

इदं कवचमज्ञात्वा गायत्रीं प्रजपेद्यदि।
शतकोटिजपेनैव न सिद्धिर्जायते ध्रुवम्॥
पठित्वा कवचं विप्रो गायत्रीं सकृदुच्चरेत्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वकामफलं लभेत्॥
व्याधिशान्तिर्भवेत्तस्य महारोगस्य संक्षयः।
धारयेत्कण्ठदेशे च बाहौ वा शिरसि प्रिये।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो महाव्याधिविशेषतः॥

इस संवादसे भी गायत्रीकी महिमा झलकती है।

महाभारतमें राजा धृतराष्ट्रने संजयसे प्रश्न किया कि—'हे संजय! बड़े-बड़े शूर-वीर राजा, महाराजा इस पृथिवीके लिये परस्पर लड़ते हैं, इससे मालूम पड़ता है कि इस पृथिवीमें बहुत गुण हैं। अतएव मुझसे भूमिका महत्त्व कहो।' संजय बोले, 'हे महाराज! वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली, त्वक्सार (बाँसादि), ये पञ्च प्रकारके स्थावर और सिंह, व्याघ्र, वराह, महिष, हाथी, ऋक्ष, वानर, ये सात अरण्यवासी पशु, और गौ, अजा, भेड़, मनुष्य, अश्व, खच्चर, गर्दभ, ये सात ग्राम्य-पशु और पञ्च-महाभूत, यह चतुर्विंशतितत्त्वात्मक गायत्री-तत्त्व है। इस गायत्री-तत्त्वका ज्ञान पृथिवीमें ही होता है, अतः पृथिवी अत्यन्त श्रेष्ठ है—

य एतां वेद गायत्रीं पुण्यां सर्वगुणान्विताम्।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ स लोके न प्रणश्यति॥

(महाभा० भीष्मपर्व अ० १४। १६)

इस संवादसे भी गायत्रीकी सर्वात्मकत्वरूप महिमा झलकती है।

इस प्रकार अनेकों प्रसङ्गोंमें गायत्रीकी महिमा सिद्ध है। इस परमपवित्र सावित्रीके महत्त्वको अपने हृदयमें रखते हुए महर्षि वाल्मीकिजीने तत्पदसे रामायणको प्रारम्भ किया—यही गायत्रीका प्रथम पद है—और चौबीस सहस्र श्लोकसे समाप्त किया। इसका प्रतिपाद्य तत्त्व श्रीरामको ठहराया। अर्थात् एक-एक अक्षरका एक-एक सहस्र श्लोकसे व्याख्यान किया।

भगवान् वेदव्यासजीने भी गायत्रीप्रतिपाद्य सत्य परतत्त्वसे ही भागवतका आरम्भ किया है। इन्होंने भी भागवतका प्रतिपाद्य तत्त्व श्रीप्रेममूर्ति चिन्मयवपु श्रीकृष्णको ठहराते हुए द्वादश-स्कन्धात्मक भागवतको गायत्री-तत्त्व-प्रतिपादनमें ही समाप्त किया है। अर्थात् गायत्रीके दो-दो अक्षरोंका व्याख्यान एक-एक स्कन्धमें किया है।

'सत्यं परं धीमहि' 'तं धीमहि' इति गायत्र्या प्रारम्भेण गायत्र्याख्यब्रह्मविद्यारूपमेतत्पुराणम्। इति श्रीधरी।

और **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'**, **'जन्माद्यस्य यतः'** इत्यादि उत्तर-मीमांसाशास्त्र भी गायत्री-तत्त्व (सविता जगत्प्रसविता परब्रह्म)-के प्रतिपादनमें ही चरितार्थ हुआ है—वहाँ **'शास्त्रयोनित्वात्'**, **'तत्तु समन्वयात्'** इत्यादि प्रथमाध्यायमें सविताके स्वरूप-प्रतिपादनमें ही सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्य बतलाया है, दूसरे अध्यायमें विरोधी शङ्काओंका परिहार किया है, तीसरे अध्यायमें तत्त्वज्ञानोपयोगी साधनोंका वर्णन किया है, चौथे अध्यायमें तत्त्वज्ञानके फल कैवल्यका वर्णन किया है। गायत्री-मन्त्र-जपके प्रथम प्राणायामकी विधि संक्षेपसे इस प्रकार है—**'ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः'** इत्यादि मन्त्रसे अथवा केवल ओंकारको जपते हुए प्राणायाम करना चाहिये। प्रथम वाम-नासिकापुटसे सोलह बार प्रणव जपते हुए बाह्य

वायुको खींचकर पूरक करे, पुनः चौंसठ प्रणव-जप-कालतक कुम्भक करे और बत्तीस प्रणव-जप-कालमें शनैः-शनैः वायुका रेचन करे। अथवा यथाशक्ति बाह्य वायुको खींचकर पूरक करे, पुनः यथाशक्ति कुम्भक करे, पुनः शनैः रेचक करे; पुनः दक्षिण-नासिकापुटसे पूरक करे और कुम्भक करके वाम-नासिकापुटसे रेचन करे। एक पूरक, एक कुम्भक, एक रेचक मिलकर एक प्राणायाम होता है। इस प्रकार कम-से-कम तीन प्राणायाम करके मन्त्रका जप करना चाहिये।

नासाग्रसम्मुखे देशे द्वादशाङ्गुलिसम्मिते।
श्वासः समाप्यते पुंसः एषा स्वाभाविकी गतिः॥

अर्थात् नासिकाके सामने बारह-बारह अङ्गुलपर्यन्त देशतक हर एक पुरुषकी श्वासकी गति स्वाभाविक रहती है। भोजनके समय सोलह अङ्गुल हो जाती है। व्याख्यानमें बीस, दौड़नेमें चौबीस, शयनमें तीस, मैथुनमें छत्तीस अङ्गुलतक श्वासकी गति हो जाती है। अभ्यासी पुरुषको युक्ताहार-विहार होकर वायुनिरोधका अभ्यास करना चाहिये। प्राणायामके अभ्याससे एक-एक, दो-दो अङ्गुल गतिको घटाते हुए महात्मा लोग वायुको केवल नासाभ्यन्तरचारी बना लेते हैं। अतएव गीतामें भगवान्ने कहा है—

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥

इस अवस्थामें मनकी गति भी रुक जाती है, मन मन्त्र-जप और ध्यानादिमें स्वतः लग जाता है। यह प्राणायाम बड़ा भारी तप है।

एकाक्षरं परब्रह्म प्राणायामः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते॥

(मनु० २। ८३)

गायत्रीजपसे प्रथम प्राणायामरूप तपकी विधि होनेसे भी गायत्रीकी महिमा झलकती है। परन्तु प्राणायामको एक साथ अधिक नहीं चढ़ाना चाहिये, अन्यथा रोगादि होनेका डर रहता है।

गायत्रीमन्त्र चारों वेदोंमें पाया जाता है—ऋग्वेदके अ० ४ व० १०, मं० ३ सूक्त ६२ में गायत्रीमन्त्र है। यजुर्वेदसंहिताके तीसरे अध्यायमें पैंतीसवाँ मन्त्र गायत्री-मन्त्र है। नारायण-उपनिषद्में भी पैंतीसवाँ मन्त्र गायत्री-मन्त्र है। सामवेदका सावित्री-उपनिषद् ही है। अथर्ववेदके सूर्योपनिषद्में भी यह गायत्री-मन्त्र है। छान्दोग्यमें तथा बृहदारण्यकमें भी गायत्रीकी प्रचुर महिमा वर्णित है। इस सर्ववेदव्यापकत्वसे भी गायत्रीकी महिमा झलकती है। मनु महाराज कहते हैं—

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्॥
योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥

(मनु० २। ८१-८२)

ॐ भूर्भुवःस्वः-पूर्वक सावित्री-मन्त्रका जप ब्रह्म-प्राप्तिका द्वार है। जो अधिकारी प्रतिदिन **ॐ भूर्भुवःस्वः**-पूर्वक सावित्रीका नियमसे तीन वर्षपर्यन्त जप करता है, वह ब्रह्मको प्राप्त होता है अर्थात् उसको अवश्य ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, वह वायुकी तरह कामचारी होता है एवं ब्रह्मस्वरूपको ही प्राप्त होता है। **'यत्किञ्चित् मनुरवदत्तद्भेषजम्'**—यह श्रुति है, अतः मनुका कथन अन्यथा नहीं हो सकता। **'गायत्री छन्दसां मातेदं ब्रह्म जुषस्व मे'** यह श्रुति है। **'गायत्री छन्दसामहम्'** (गीता), इन मन्वादिके वचनोंसे भी गायत्रीकी महिमा स्पष्ट होती है। और—

गायत्रीजपकृद्भक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते।

(पराशर)

सर्वपापानि नश्यन्ति गायत्रीजपतो नृप।

(भविष्यपु०)

ऐहिकामुष्मिकं सर्वं गायत्रीजपतो भवेत्।

(अग्निपु०)

ब्रह्महत्यादिपापानि गुरूणि च लघूनि च।
नाशयत्यचिरेणैव गायत्रीजापको द्विजः॥

(पद्मपु०)

—इत्यादि अनेक वचन गायत्रीकी महिमाके प्रति-पादक हैं।

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

(मनु० २। ८५)

दर्श-पौर्णमासादि यज्ञसे प्रकृत प्रणवादिसहित गायत्रीमन्त्रका जप दशगुना अधिक है। यह जप भी यदि उपांशु (जिसमें होंठ न हिलें, केवल जिह्वासाध्य) हो तो शतगुणाधिक फलदायी होता है। और केवल मानस हो तो सहस्रगुना अधिक फल देनेवाला होता है। प्रयत्नके

बिना स्वतः यदि मन जप करे तो वह अनन्त फलवाला होता है।

ॐ तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धामनामाऽसि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि।

हे गायत्री! तुम ॐकारस्वरूप हो। शुद्ध अविनाशी तेज (स्वयंज्योतिः)-स्वरूप हो। तुम धामोंके भी धाम हो। देवोंके भी प्रिय आनन्दरूप हो। अधर्षणीय, स्वतन्त्र हो। पूज्योंके भी पूज्य हो। सर्वात्मक होनेसे तेज आदि अन्यलिङ्गक शब्दोंसे भी गायत्रीका निरूपण बन सकता है। इस गायत्रीके आवाहन-मन्त्रका अद्वितीय परब्रह्म ही लक्ष्य है।

आगच्छ वरदे देवि त्र्यक्षरे ब्रह्मवादिनि।
गायत्रि च्छन्दसां मातर्ब्रह्मयोने नमोऽस्तु ते॥

—यह भी गायत्रीके आवाहनका मन्त्र है। और—

दिव्यरूपे महादेवि ब्रह्मविष्णुशिवात्मकेऽजरेऽमरे शापान्मुक्ता त्वं वरदा भव।

—यह शाप-विमोचन-मन्त्र भी सर्वात्मक अजर-अमर मुक्तस्वरूप अद्वितीय ब्रह्मका ही बोधक है। ब्रह्मा, विश्वामित्र तथा वशिष्ठके शाप-मोचनके अलग-अलग मन्त्र शङ्कर-सूरिविरचित पुरश्चरणपद्धति, पृष्ठ ५४ में हैं। और--

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

भगवान्‌के सगुण और निर्गुण स्वरूपके स्मरणमात्रसे सर्व प्रकारका पापी भी पवित्र होता है और पवित्रात्मा भी पवित्र होता है, इस अर्थको बोधन करनेवाला यह प्रोक्षणमन्त्र भी अद्भुत महिमायुक्त है। गायत्री-मन्त्रजपके प्रथम आचमनादिके लिये जो '**ॐ ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्**' इत्यादि अघमर्षण मन्त्र है वह भी अद्भुत महिमायुक्त है—

त्र्यहं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः।
मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाघमर्षणम्॥
यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः।
तथाघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम्॥

(मनु० ११। २५९-२६०)

इसी प्रकार '**सूर्यश्च मामन्युश्च**' इत्यादि प्रातःसन्ध्याका आचमन-मन्त्र और '**ॐ आपः पुनन्तु**' इत्यादि मध्याह्न-सन्ध्याका आचमन-मन्त्र और '**ॐ अग्निश्च मामन्युश्च**' इत्यादि सायंसन्ध्याका आचमन-मन्त्र भी परमेश्वरके सोपाधिकरूपके अथवा सूर्यादि देवताओंके प्रतिपादक होनेसे महिमावाले ही हैं। '**आपो हिष्ठा**' इत्यादि मार्जनादिके मन्त्र भी अत्यन्त पवित्र हैं। और '**उद्वयं तमसस्परि**' इत्यादि सूर्योपस्थानके मन्त्र भी प्रत्यक्ष सूर्यभगवान्‌के अथवा अविद्यातमसे पर स्वयंज्योतिःस्वरूप परब्रह्मके प्रतिपादक होनेसे अत्यन्त महिमापूर्ण हैं।

वेदशास्त्रपुराणानामयमेव सुनिश्चयः।
गायत्र्या जपहोमादिविधिः सर्वार्थसाधकः॥
समुल्लसन्तु त्वदभिप्रिया वरे
कृपाकटाक्षा मयि देवि वित्तिदे।
अनुस्मरंस्त्वां सततं शुभोक्तिभि-
र्निमज्य रज्यामि शमे सरोवरे॥

प्रार्थना

(लेखक—महात्मा जयगौरीशंकर सीतारामजी)

जग जगदंब जगत-सुख-कारी॥
जय जगदीश्वरि मातु सरस्वति, जय जग-पालनहारी।
जय जय जय सुखमयि दुख-नासिनि, संकट देहु बिदारी॥
चंद्र-बिंब-सम बदन बिराजै, माला बर गलधारी।
बीणा बाम अंगमें सोहै, अद्भुत क्रिया तुम्हारी॥
श्वेत बसन कमलासन सुंदर, पावन हंस सवारी।
जाके हृदय बसो तुम माता, ताकी बुद्धि अपारी॥
सदा सदय मोपर रहु जननी, जानि अधम अघकारी।
'कवलबास' चरनन सिर नावत, देहु सुमति सुबिचारी॥

गायत्री-तत्त्व

(१)

(लेखक—परिव्राजक ब्रह्मचारी श्रीगोपाल चैतन्यदेवजी)

ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्॥

तात्पर्य—हम उन देवताके भर्ग (तेज)-का ध्यान करते हैं जो सर्वभूतके प्रसव-कर्ता हैं—इसीसे उन्हें सविता कहते हैं—एवं जो सदा दीप्त तथा क्रीड़ायुक्त हैं। वास्तवमें वह देवता नहीं हैं। हृदयाकाशमें द्योतमान होनेके कारण उन्हें देवता कहते हैं। वह भर्ग हमारी बुद्धि-वृत्तिको धर्म-कामार्थ-मोक्षरूप चतुर्वर्गमें प्रेरित कर रहे हैं। भृज्-धातुका अर्थ है पाक—क्योंकि वह सभी वस्तुओंको पाक (पक्व) करते हैं, पुण्यका फल भी सम्प्रदान करते हैं एवं सदा भ्राज्यमान (देदीप्यमान) रहकर प्रलयकालमें कालाग्निरूप ग्रहणकर, सप्तरश्मि-संयुक्त हो जगत्को हरण करते हैं, इसी कारण उस तेजको भर्ग कहते हैं। वह सब वस्तुओंको प्रकाशित करते हैं, अतः उन्हें 'भ' कहते हैं, (भासि+ड)। सब वस्तुओंको रागान्वित करते हैं, अतः उन्हें 'र' कहते हैं और सदा गमन (चलना) करनेके कारण 'ग' कहते हैं (गम्+ड)। उपर्युक्त तीनों पदोंके मिलने तथा उक्त सब विशेषणोंसे ऐसा ज्ञात होता है कि 'भर्ग' शब्दका अर्थ 'सर्वभूतात्मस्वरूप सवितृ-मण्डलके अन्तर्गत आदित्यदेवरूप परमपुरुष' ही है।

अपि च, ओंकारको ही प्रणव या नाद कहते हैं। अ+उ+म्=ॐ। अ,उ,म्,—इन तीन वर्णोंके संयोगसे ॐ-की सृष्टि हुई है। ॐ शब्दका अर्थ है सृष्टि-स्थिति-संहारात्मक ब्रह्मा-विष्णु-रुद्ररूप त्रिगुणविशिष्ट परब्रह्म। जो दिवाकर (सूर्य)-मण्डलके अभ्यन्तर (भीतर) तत्प्रकाशक आदित्यदेवस्वरूप परमपुरुषरूपमें विराजमान हैं, वही जीवके हृदयकमलमें जीवात्माके आकारमें प्रकाशमान हो रहे हैं; इसी प्रकार अभेद-ज्ञानके द्वारा वे **(देवस्य)** दीप्ति तथा क्रीड़ाविशिष्ट हैं; **(सवितुः)** सर्वभूत-प्रसवकारी सूर्यके **(भूर्भुवः स्वः)** पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग, इन त्रिभुवन-स्वरूप **(वरेण्यम्)** जन्म-मरण-भीति (भय)-को भगानेके लिये उपास्य है, **(तत्-भर्गः)** उस भर्ग नामक ब्रह्म-स्वरूपकी जो ज्योति है उसीका हम **(धीमहि)** ध्यान करते हैं,**(यो)** जो भर्ग सर्वान्तर्यामी ज्योतिरूपी परमेश्वर, **(नः)** हम-जैसे संसारी जीवोंकी **(धियः)** बुद्धिवृत्तिको **(प्रचोदयात्)** धर्मार्थ-काम-मोक्ष चतुर्वर्गमें सदा प्रेरित करा रहे हैं।

गायत्री बिना पुरश्चरणके भी सिद्धिप्रदा है। परन्तु गायत्री-जपके पहले गायत्रीका शापोद्धार-पाठ तथा गायत्री-जपके अन्तमें गायत्री-कवच-पाठ करनेकी विधि है। लक्ष (लाख), अष्टोत्तर सहस्र तथा असमर्थके लिये एक सौ आठ बार गायत्री-जप करना चाहिये। परन्तु कलियुगमें चतुर्गुण जप करनेकी विधि है। आदिमें, व्याहृतियोंके बादमें तथा अन्तमें —इस प्रकार तीन स्थानोंपर प्रणव जोड़कर गायत्रीका जप करना ब्राह्मणका कर्तव्य है।* गायत्री परमपावनी है; जो द्विज नित्य गायत्रीकी उपासना करते हैं, अर्थात् जप करते हैं, वे दूसरा कोई साधन-भजन न करनेपर भी आत्मोन्नति कर सकते हैं। मानव-प्राणी नित्य ही अनेक प्रकारके पातकोंका अनुष्ठान करते हैं और नित्य नियमितरूपसे गायत्री-जप करनेसे उस पापानुष्ठानसे मुक्त हो जाते हैं। निखिल वेदमें गुह्य उपनिषद् सार-वस्तु है, किन्तु उनमें भी गायत्री तथा व्याहृतित्रय श्रेष्ठ है।

गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी।
गायत्र्यास्तु परं नास्ति दिवि चेह च पावनम्॥

(याज्ञ०)

गायत्री वेदकी जननी-स्वरूपा तथा पातकहारिणी है। इससे अधिक पवित्र वस्तु दिव्य लोक और संसारमें

---

* हमारे यहाँके ब्राह्मण आदि तथा अन्तमें दो ही प्रणव जोड़कर गायत्रीका जप करते हैं। परन्तु परिव्राजककी अवस्थामें महाराष्ट्र, सिन्ध आदि प्रदेशोंमें भ्रमण करते समय मुझे उन प्रदेशोंके वेदज्ञ ब्राह्मण पण्डितोंसे ज्ञात हुआ कि 'ब्राह्मणके लिये तीन प्रणवयुक्त गायत्रीजप करना उचित है।' इसके बाद मुझे गायत्री-तन्त्र आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंमें इसकी सत्यताके प्रमाण भी प्राप्त हुए। ब्राह्मण,क्षत्रिय तथा वैश्य—इन तीन वर्णोंको वैदिक गायत्रीका अधिकार है। इनमें केवल इतना ही पार्थक्य है कि ब्राह्मणको तीन प्रणव, क्षत्रियको दो प्रणव तथा वैश्यको एक प्रणवके साथ गायत्रीका जप करना चाहिये।

कोई भी नहीं है।

अकारश्चाप्युकारश्च मकारश्च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च॥
त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्॥

(मनुसंहिता २। ७६-७७)

अकार 'विष्णु', उकार 'ब्रह्मा' तथा मकार 'महेश्वर' है, ये वर्णत्रय हैं; भूः (भूर्लोक-पृथ्वी), भुवः (पितृलोक) तथा स्वः (स्वर्गलोक)—ये तीन व्याहृतियाँ हैं एवं गायत्रीके एक-एक पाद ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद हैं; पद्मयोनि ब्रह्माने इन वेदत्रयसे सारांश ग्रहणकर मधुर अथ च सुपेय इस गायत्री-मन्त्रको प्रकट किया है; अतः इस गायत्रीका ज्ञान होनेपर मनुष्य वेदादि सर्वशास्त्रोंका ज्ञाता हो सकता है। यहाँतक कि गायत्रीप्रतिपाद्य ब्रह्मकी उपासना करनेसे उसे सप्त-भुवनात्मक संसारका ज्ञान भी हो सकता है। गायत्रीका ज्ञान न रहनेसे ब्राह्मण 'ब्राह्मणत्व' से पतित हो जाते हैं। गायत्रीका जप अखण्ड सच्चिदानन्द त्रिगुणमय ईश्वरके ध्यानके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सुतरां, गायत्रीका जप करनेसे आध्यात्मिक भावकी उन्नति होती है—इसमें कोई भी शङ्का नहीं है। गायत्रीका अर्थ है सगुण ईश्वर—सगुण अर्थात् त्रिगुणात्मक; निर्गुण नहीं। निर्गुणकी उपासना हो ही नहीं सकती; अतः हम परब्रह्मके गुण तथा शक्तिकी उपासना करते हैं। सारांश, शक्तिमान् ब्रह्मकी उपासना गायत्रीके जपसे होती है। ब्रह्मको शक्तिमान् कहनेसे मानो उसका कुछ क्षुद्रत्व प्रकट होता है, अतः उन्हें शक्तिमान् न कहकर शक्तिस्वरूप ही कहना चाहिये। अर्थात् शक्ति ही सगुण ब्रह्मका यथार्थ स्वरूप है, और वह शक्तिमय ईश्वर या सगुण ब्रह्म ही ब्राह्मणकी गायत्री है। गायत्रीदेवी एक ही आधारमें त्रिशक्ति-स्वरूपिणी है। इस विश्व-ब्रह्माण्डके साथ त्रिगुणका सम्बन्ध है और गायत्री भी त्रिगुण है; अतः त्रिसन्ध्याके साथ उनका तीन स्वरूपोंमें ध्यान कर उपासना करनी चाहिये। यथा—

प्रातर्ध्यान—**ॐ प्रातर्गायत्री रविमण्डलमध्यस्था, रक्तवर्णा, द्विभुजा, अक्षसूत्रकमण्डलुधरा, हंसासनमारूढा, ब्रह्माणी, ब्रह्मदैवत्या, कुमारी ऋग्वेदोदाहृता ध्येया।**

अर्थात् प्रातःकालमें गायत्रीका कुमारी, ऋग्वेदस्वरूपिणी, ब्रह्मारूपा, हंसवाहना, द्विभुजा, रक्तवर्णा, अक्षसूत्रकमण्डलुहस्ता तथा सूर्यमण्डलमध्यस्थाके रूपमें ध्यान करना चाहिये।

मध्याह्नध्यान—**ॐ मध्याह्ने सावित्री रविमण्डलमध्यस्था, कृष्णवर्णा, चतुर्भुजा, त्रिनेत्रा, शङ्खचक्रगदापद्महस्ता, युवती, गरुडारूढा, वैष्णवी, विष्णुदैवत्या, यजुर्वेदोदाहृता ध्येया।**

अर्थात् मध्याह्नके समय गायत्रीका युवती, यजुर्वेदस्वरूपिणी, विष्णुरूपा, गरुडासना, कृष्णवर्णा, त्रिनेत्रा, चतुर्भुजा, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-धारिणी तथा सूर्यमण्डलमध्यस्थाके रूपमें ध्यान करे।

सायाह्नध्यान—**ॐ सायाह्ने सरस्वती रविमण्डलमध्यस्था, शुक्लवर्णा, चतुर्भुजा, त्रिशूलडमरुपाशपात्रकरा, वृषभासन-मारूढा, वृद्धा, रुद्राणी, रुद्रदैवत्या, सामवेदोदाहृता ध्येया।**

अर्थात् सायाह्नकालमें गायत्रीका वृद्धा, सामवेदस्वरूपिणी, रुद्ररूपा, वृषभासना, शुक्लवर्णा, चतुर्भुजा, त्रिशूल, डमरू, पाश और पात्रधारिणी तथा रविमण्डलमध्यस्थाके रूपमें ध्यान करे।

देवी जगन्मयी हैं; यह बाह्य जगत् ही उनका विराट् रूप है; अतः जगत्के गुण-परिवर्तनके साथ ही देवीका गुण भी परिवर्तित होता है। यहाँपर हम इसी विषयकी विस्तृत आलोचना करते हैं।

सभी सज्जन कदाचित् जानते होंगे कि हमारी यह पृथिवी सौरमण्डलका एक अनतिबृहत् ग्रहमात्र है अर्थात् सूर्यमण्डलकी प्रदक्षिणा करते हुए जितने ग्रह आवर्तित हो रहे हैं, पृथ्वी भी उनमेंसे एक है। पृथ्वीके भ्रातृ-स्थानीय और भी आठ ग्रह हैं; उनमेंसे किसी-किसी ग्रहके कई उपग्रह भी हैं। अतएव पृथ्वीके वैचित्र्यके साथ-साथ यदि दूसरे ग्रह-उपग्रहोंके वैचित्र्यपर भी विचार किया जाय तो फिर वह अत्यन्त सुविशाल हो जाता है। सूर्यपर विचार करनेसे यह ज्ञात होता है कि जो वस्तु सारे जगत्—संसारको प्रसव करती है, उसी सूर्यका नाम सविता है। जो वस्तु हमें दिखायी पड़ती है, वह सूर्यका बाह्यांश है—बाह्यांश जडका ही प्रतिरूप होता है; अतः वह अवश्य ही जड चक्षुओंमें प्रतीयमान होता है। परन्तु हिन्दू योगी ऋषि-मुनियोंने योगकी सूक्ष्म दृष्टिद्वारा दर्शन कर जो कुछ स्थिर किया है, उसे एक बार सुनिये—

आदित्यान्तर्गतं यच्च ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम्।
हृदये सर्वभूतानां जीवभूतं स तिष्ठति॥
हृद्व्योम्नि तपति ह्येष बाह्यसूर्यस्य चान्तरे।
अग्नौ वा धूमकेतौ च ज्योतिश्चित्रकरश्च यत्॥

प्राणिनां हृदये जीवरूपतया य एव भर्गस्तिष्ठति स एव आकाशे आदित्यमध्ये पुरुषरूपया विद्यते॥

(याज्ञ० सं०)

जिस ज्योतिकी प्रभासे सारे तामसिक भाव दूर हो जाते हैं; वह ज्योति ही श्रेष्ठ वस्तु है; उसे आदित्यके अन्तर्गत समझना होगा। वही समस्त जीव-जगत्के हृदयाकाशमें चेतयिता (चेतन) बनकर निवास करती है। बाह्य सूर्यके भीतर जो ज्योति आकाशमें प्रकाश पाती है, वही ज्योति जीवके हृदयाकाशमें भी प्रकाश पाती है। वह ज्योति अग्नि, धूमकेतु, नक्षत्र आदिसे भी अधिक उज्ज्वल है। वही भर्ग-देवता प्राणियोंके हृदयमें जीव-रूपमें अर्थात् चेतनरूपमें विराजमान है। वही बाह्य-जगत्के अन्तःकरणमें, विराट् पुरुषके रूपमें विराजमान होकर जगत्को सचेतन करता है।

दीप्यते क्रीडते यस्माद्रोचते द्योतते दिवि।

(याज्ञ० सं०)

जो सत्ता अनुज्ज्वल वा अचेतन वस्तुको सचेतन करती है, क्रीड़ाके उपयुक्त बनाती है, जिसकी शक्तिसे उज्ज्वलता तथा शोभा प्रकटित होती है, उसीको दीप्ति या ज्योति कहते हैं। किन्तु उसे ब्रह्म-ज्योति न कहकर और कुछ कहा जा सकता है या नहीं, इसी शङ्काका समाधान सम्यग्दर्शी ऋषियोंने इस प्रकार किया है—

भ्राजते दीप्यते यस्माज्जगदन्ते हरत्यपि।
कालाग्निरूपमास्थाय सप्तार्चिः सप्तरश्मिभिः॥

(याज्ञ० सं०)

जिस तेजसे यह जगत् अर्थात् जडभाव शोभित वा वर्द्धित एवं सचेतन होकर अन्तमें हत होता है, वही सप्तार्चि तथा सप्तरश्मियुक्त सत्ता कालरूपी अग्निकी भाँति रूप धारण करती है। अहा! हा!! क्या ही अपूर्व तत्त्व, महान् गाम्भीर्य तथा व्यापक सत्य है। महाशक्तिके प्रकृष्ट विकासका सूर्यमण्डलमें दर्शन होता है, अतः वेदने उसके भीतर गायत्रीका ध्यान करनेकी व्यवस्था दी है।

सूर्यमण्डल 'अरुण' सारथिद्वारा परिचालित सप्त-अश्वयुक्त रथमें विचरण करता है—यह बात आर्य-शास्त्रोंमें पायी जाती है। किन्तु सौर-रथ सप्त अश्वोंद्वारा कैसे चलता है, इसका रहस्य समझमें आ जानेपर उसके वास्तविक तात्पर्यकी उपलब्धि हो सकती है। सूर्य-किरणोंके विश्लेषणके द्वारा यह देखनेमें आया है कि वे (किरणें) रक्त, नील तथा पीत—इन तीन मूल वर्णोंकी समष्टिमात्र हैं। इनके परस्पर-मिलनद्वारा क्रमशः सर्वप्रथम रक्त एवं पीतके सम्मिलनसे अरुण यानी नारंगीका वर्ण, द्वितीय रक्त और नीलके सम्मिश्रणसे पाटल यानी बैगनी वर्ण, तृतीय पीत और नीलके संयोगसे हरित यानी हरा वर्ण और चतुर्थ विकृतभावसे परस्पर मिलनद्वारा धूसर यानी कृष्णनील, इन चारों मिश्रवर्णोंकी उत्पत्ति हुई है। पूर्वोक्त तीनों मूलवर्णों एवं चारों मिश्रवर्णोंके एक साथ मिलनेपर सप्तवर्णोंका विकास होता है। ये सातों वर्ण ही सूर्यदेवके सप्त अश्व हैं। शास्त्रोंमें इन सप्तवर्णविशिष्ट सप्त अश्वोंका वर्णन है। ये सप्त अश्व या वर्ण सूर्य-किरणसे प्रकाश पाते हैं—इस बातका प्रमाण आकाशमें इन्द्रधनुषके उदय होनेपर मिल जाता है। सूर्योदयके कुछ ही पहले अर्थात् ब्राह्म-मुहूर्तमें हम जब उनका दर्शन करते हैं, तो इससे पहले ही प्राभातिक आलोक (प्रकाश-ज्योतिः) दिखायी पड़ता है। यह आलोक ही सप्तवर्णविशिष्ट उनके रथके सप्ताश्वोंका प्रत्यक्ष स्वरूप है। इसके बाद उनके सारथी अरुणदेव मानो उन्हीं सप्त अश्वोंकी वल्गा (लगाम) धारण करके, तदीय दिव्य अरुण-वर्णसे आकाश-पथको उद्भासित (प्रकाशित) करते हैं; तदनन्तर शुभ्र और सौर रथमें सवितादेव ज्योतिर्मय मूर्तिमें गगनमण्डलमें विराजित होकर त्रिलोकको परमानन्द दान करते हैं। प्रभातके समयकी उनकी मूर्ति अरुणवर्ण है, अतः प्रातर्गायत्री सावित्रीमण्डलमध्यवर्ती ब्राह्मी मूर्तिमें यानी रक्तवर्णमें विराजिता है। रक्तके अर्थमें स्त्री-रज समझना चाहिये; क्योंकि यह घोर लोहित वर्णका होता है। यही सर्वप्रथम मूल वर्ण है, यह रक्त वा मूलशक्ति उत्तेजक अथवा प्रवृत्तिप्रदायक है। सूर्यकी उत्तेजना वा ताप-शक्ति उनकी रक्तवर्ण रश्मियोंके भीतर ही विद्यमान है। पाश्चात्य विज्ञानविद् सज्जन भी उनकी उन रक्त-रश्मियोंको ही उत्तापक (Heating Rays) प्रमाणित करते हैं। जीवके हृदयमें किसी भी भावकी उत्तेजना होते ही जीवका भावप्रकाशक स्थान तथा सारी पेशियाँ लोहित आभा (रक्तवर्ण)-से रञ्जित हो उठती हैं। उसी उत्तेजनाकी अवस्थामें जीवकी नासिका, कर्ण तथा गण्डस्थल उष्ण एवं लोहिताभ हो जाते हैं। अग्नि-मध्यस्थ उच्चतर स्थान लोहित-वर्ण है। किसी वस्तुको अग्निमें जलानेसे वह लाल हो जाती है, अंगरेजी भाषामें

उसे 'रेड हॉट' (Red hot) कहते हैं। सूर्यकी उसी उत्तेजक शक्ति लोहित-वर्णके द्वारा सारे जगत्‌में रक्त या रज अथवा रसकी सहायतासे समस्त वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। कोई भी बीज रज या रस-संयुक्त हुए बिना अंकुरित नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि सूर्यकी प्रातः-रश्मि जिस स्थानपर अच्छी तरहसे नहीं गिरती, वहाँ वृक्ष-लता आदि भी अच्छी तरह उत्पन्न नहीं होते। सुतरां इस रक्त वा रजसे ही सारी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, यहाँतक कि यह ब्रह्माण्ड भी ब्रह्मयोनि आद्याके आदिरजसे उत्पन्न हुआ है। ब्राह्मी शक्ति रजके रूपमें रजोगुणान्वित होकर रक्तवर्णसे नित्य जगत्‌में नयी-नयी प्रवृत्तियोंकी सृष्टि कर रही है। इसी कारण वेदमें ब्रह्माकी सृष्टि या प्रवृत्ति-शक्ति ब्रह्माणीका रक्तवर्णा, सूर्यमण्डलके अभ्यन्तर अवस्थिताके रूपमें ध्यान करनेका उपदेश किया गया है।

जगत्‌में जो कुछ भी पुष्टि-क्रिया विद्यमान है, वह सब सवितादेवके मध्याह्न-कालकी नीलशक्ति या रश्मियोंद्वारा संसाधित होती है। पाश्चात्त्य विज्ञानतत्त्वमें सूर्यदेवकी इन नील रश्मियोंको (Actioning Rays) रासायनिक क्रियाशील रश्मि सिद्ध किया गया है। अतः मध्याह्नके समय गायत्री-देवीका सूर्यमण्डलस्था, नीलवर्णा, वैष्णवीरूपा और पालिनीशक्तिके रूपमें ध्यान करनेकी व्यवस्था है।

तत्पश्चात् सायङ्कालमें अस्तगामी सूर्यदेवकी किरणें संहारशक्ति-सम्पन्न होती हैं—कदाचित् यह बात सभी सज्जन सुगमतासे अनुभव कर सकेंगे। क्योंकि सायंकालकी सूर्य-किरणें प्रातःकालकी भाँति उत्तेजना या प्रवृत्ति-प्रदायक नहीं होतीं। पतनोन्मुख सूर्य-किरणोंका तेज क्षुद्र मात्रामें होनेपर भी वह कितना अतृप्तिकर तथा तीव्र मालूम होता है! इसी कारण उन किरणोंमें बहुत समयतक विचरण करनेसे शरीर श्रमित हो जाता है—सिरमें दर्द होने लगता है। जो भूमि केवल सायंकालकी सूर्य-किरणोंसे ही उद्भासित होती है, उसपर वृक्ष-लतादि भी अच्छी तरह उत्पन्न नहीं होते। ये बातें कदाचित् सभी सज्जन अच्छी तरह जानते होंगे। दिवसके उस अवसानके समय परमाराध्य सवितादेव जगत्-तृप्तिप्रद निज तेजरश्मिको जगत्‌के मङ्गलके लिये आकर्षण कर लेते हैं। उनकी वह आकर्षिणी शक्ति संहाररूपिणी है; साथ ही वह 'पीताभ शुक्लज्योति' प्रकाशक भी है। पाश्चात्त्य विज्ञानविद् उन सूर्य-रश्मियोंकी (Illuminating Rays) प्रकाशक रश्मिके रूपमें व्याख्या करते हैं। साधककी प्रवृत्ति या स्थितिके प्रखर (तीव्र) तेजका संहार या उसकी निवृत्ति होते ही ज्ञानकी स्निग्ध ज्योति प्रकाशित होती है। अतः सायाह्नकालमें गायत्रीदेवीका सूर्यमण्डलमध्यस्था, शुक्लवर्णा, रुद्ररूपा, संहारिणी शक्तिरूपमें ध्यान करनेकी विधि प्रचलित है। अतः गायत्रीदेवीके त्रिकालके रक्त, नील तथा पीताभ शुक्लवर्णमें क्रमानुसार रजः—प्रवृत्ति, सत्त्व—स्थिति, एवं तमः—निवृत्ति-शक्ति विराजित है। पक्षान्तरमें यह त्रिशक्ति ही इच्छा, क्रिया और ज्ञानके रूपमें यथाक्रम ब्राह्मी, वैष्णवी तथा गौरी—सृष्टि, स्थिति, लय या संहार कर रही है। तन्त्रमें देवाधिदेव महादेवने कहा है—

भूःकारश्च तु भूर्लोको भुवर्लोको भुवस्तथा।
स्वःकारः सुरलोकश्च गायत्र्याः स्थाननिर्णयः॥
इच्छाशक्तिश्च भूःकारः क्रियाशक्तिर्भुवस्तथा।
स्वःकारः ज्ञानशक्तिश्च भूर्भुवःस्वःस्वरूपकः॥
मूलपद्मश्च भूर्लोको विशुद्धश्च भुवस्तथा।
सुरलोकः सहस्रारो गायत्रीस्थाननिर्णयः॥

गायत्री-मन्त्र-स्थित भूःकार भू-तत्त्व वा पृथ्वी-तत्त्व है, साधनाके मार्गमें वह मूलाधार-चक्र है; फिर जगन्माताके निम्नस्तरमें ब्राह्मी वा इच्छाशक्ति—महायोनि-पीठमें सृष्टि-तत्त्व है। भुवः भुवर्लोक वा अन्तरिक्ष-तत्त्व है, साधनाके मार्गमें विशुद्ध-चक्र है और महाशक्तिके मध्यस्तरमें, पीनोन्नत पयोधरमें, वैष्णवी वा क्रियाशक्ति पालन वा सृष्टि-तत्त्व है। स्वःकार सुरलोक वा स्वर्ग-तत्त्व है, साधनाके पथमें सहस्रारनिर्दिष्ट चक्र एवं आद्या-शक्तिके ऊर्ध्व या उच्चस्तरमें गौरी या ज्ञान-शक्ति संहार अथवा लय-तत्त्व है। यही वेदमाता गायत्रीका स्वरूप तथा स्थान-रहस्य है। गायत्रीदेवी एक ही आधारमें त्रिगुणात्मिका प्रणवस्वरूपिणी—त्र्यक्षरी है; अतः दिवसके आदि, मध्य तथा अन्तमें त्रिगुणानुसार उसकी त्रिरूपमें उपासना की जाती है; इसीलिये ब्राह्मण त्रिसन्ध्याके समय उसके इसी त्रिरूपकी साधना करते हैं।

सुविज्ञ पाठक! समस्त ज्ञान तथा शक्तिको एकत्रकर समाहित चित्तसे एक बार विचारकर देखिये कि ब्राह्मणके गायत्री-तत्त्वमें क्या ही महान् भाव और व्यापक सत्य निहित है! जो ब्राह्मण अपने घरकी खबर न रखकर ब्रह्म-उपासनाके लिये समाजमें वैदेशिक वेशमें

घूमते हैं, उन्हें भाग्यहीनके सिवा और क्या कहा जा सकता है ? ब्रह्मके गुण तथा शक्तिको भूलकर निराकारकी उपासना कैसे होती है, यह बात इस क्षुद्रमति लेखकके लिये दुर्बोध्य है। ब्राह्मणके गायत्री-मन्त्रमें जो ब्रह्म-तत्त्व निहित है; उसकी अपेक्षा अधिक स्पष्टतररूपमें अन्य कोई सज्जन ब्रह्मको प्रकट कर सकते हैं, ऐसा हम नहीं जानते। '**एकमेवाद्वितीयम्**' की ध्वजा उठाकर जो सज्जन 'ब्रह्म-उपासना' को ही श्रेष्ठ बतलाते हैं, मालूम नहीं वे ब्रह्मके किस विषयकी उपलब्धि कर हिन्दुओंके प्रत्येक क्रिया-कलापकी निन्दा करते रहते हैं (उनके विचारसे कदाचित् हिन्दू-धर्मकी निन्दा करना ही ब्रह्मोपासनाका एक प्रधान अङ्ग है)। ऐनक लगाकर आँखें बन्द करनेसे कोई वैज्ञानिक या रासायनिक क्रिया उत्पन्न होती है और उससे ब्रह्म-तत्त्वकी धारणा होती है या नहीं, इन सब गम्भीर गवेषणापूर्ण विद्याओंसे भी यह अल्पज्ञ लेखक वञ्चित है। हम प्रत्येक ब्रह्मोपासकसे अनुरोध करते हैं कि वे कृपाकर एक बार हिन्दुओंकी गायत्रीके रहस्यपर मन संयत करके ध्यान दें तथा उसकी आलोचना करें।

ब्राह्मण त्रिसन्ध्याके समय गायत्रीके उन्हीं तीन रूपोंकी साधना करते-करते धीरे-धीरे साधन-मार्गके उच्चतर सोपानमें अग्रसर होनेपर चतुर्थ वा निशा-सन्ध्याका अधिकार पाते हैं। यही निवृत्ति-मार्गका परम संन्यास-धर्म है। इस निशासन्ध्याकी बात आज ब्राह्मण-समाज एकदम ही भूल गया है। साधन-मार्गके गुप्त रहस्य सम्पूर्णरूपसे शिक्षाके अभावके कारण एकदम लुप्त हो गये हैं—यह बात कहनेमें भी कोई अत्युक्ति न होगी। कर्म-मार्गमें ब्रह्म-शक्तिकी पृथक्-पृथक् आराधना करनेसे जब चित्त सुसंयत तथा एकनिष्ठ हो जायगा तभी तुरीया वा निशासन्ध्याकी व्यवस्था की जा सकेगी। वेदान्त-शास्त्रमें उसी तुरीया सन्ध्याकी विधिका वर्णन है। अतः वेदमें कर्मकाण्ड एवं वेदान्तमें ज्ञानकाण्ड प्रकाशित किया गया है। ब्राह्मण पहले कर्म-मार्गमें दृढ़ रहकर गायत्री-देवीकी त्रिशक्तिकी उपासना भिन्न-भिन्न भावोंसे करें। ऐसा करते-करते जब गुणोंका क्षय हो जायगा तभी गुणातीत वा निस्त्रैगुण्य-पथमें (संन्यासाश्रममें) निशासन्ध्याके समय उस त्रिशक्तिका समन्वय (एकता) करके एकाधारमें पूर्ण गायत्री-देवीकी आराधना कर सकेंगे। गायत्रीदेवीकी त्रिशक्तिका समन्वय एक ही आधारमें तन्त्रकी 'श्री श्रीमद्दक्षिणकालिका' है। अतः निशा—रात्रिके समय उसकी पूजा होती है। सृष्ट्यादि रहस्य-तत्त्वमें शक्ति निर्गुणा है; अतः वह तुरीयभावमें सच्चिदानन्दमयी है और सगुणमें वही दक्षिणकालिका है। उसके गुणत्रयकी स्वातन्त्र्यावस्थामें रजोगुणसे ब्रह्माणी सृष्टिका, सत्त्वगुणसे वैष्णवी स्थितिका एवं तमोगुणसे रुद्राणी प्रलय-क्रियाका सम्पादन करती है। वही महाप्रलयमें निष्क्रिया, निराकारमें तुरीया-स्वरूपिणी एवं साकारमें आद्या-शक्ति दक्षिण-कालिका है। शिव कहते हैं—

अकारः सात्त्विको ज्ञेय उकारो राजसः स्मृतः।
मकारस्तामसः प्रोक्तस्त्रिभिः प्रकृतिरुच्यते॥

(ज्ञानसङ्कलिनी-तन्त्र)

अ-कारको सत्त्वगुणात्मिका वैष्णवी, उ-कारको रजोगुणात्मिका ब्राह्मी, म-कारको तमोगुणात्मिका रुद्राणी और इन तीनोंकी समष्टिको ओंकार वा प्रणवस्वरूपिणी परमा-प्रकृति कहते हैं। यही तुरीयावस्था है—महाप्रलयकी प्रतिकृति है। अतः निबिड जलदावृत महा अमा-निशाकी घोर सान्द्रान्धकारपरिपूरित महानिशामें, नर-कंकाल-शव-मुण्ड-परिवृता शिवाकी श्वापदसङ्कुल भीषण श्मशान-भूमिमें आराधना करनेकी व्यवस्था है। सर्व-साधारणके क्षुद्र हृदयाधारमें अनन्त ब्रह्म-महासमुद्रकी धारणा करनेका स्थान बिलकुल ही नहीं हो सकता; इसी कारण साधक गुणातीत तुरीयाशक्तिकी आराधना करनेके लिये गुणमयी त्रिगुणात्मिका महाशक्तिकी आराधना करते हैं। साधनाकी उच्च समाधि-अवस्थामें जब साधक जल-कण (बिन्दु)-के रूपमें महासमुद्रमें विलीन हो जाता है तभी अचिन्त्य तथा अनिर्वचनीय तुरीयभावसे उसे तुरीयावस्था प्राप्त होती है और सच्चिदानन्द-लाभ होता है। यही जीवकी जीवन्मुक्ति-अवस्था है।

निशासन्ध्याके समय उसीकी त्रिशक्तिका समन्वय एक ही आधारमें करके पूर्ण गायत्रीशक्तिकी साधना ही साधकोंके लिये एकमात्र काम्य विषय है। इसीलिये वह साधक-मण्डलीमें अबतक पूर्णतः गुप्तरूपमें संरक्षित रहा है। आसक्ति-विरक्ति-रहित निष्काम संन्यासी गायत्री-देवीकी तुरीयावस्थाकी साधना करते हैं। अतः ब्राह्मणका श्रेष्ठ धर्म ही संन्यास है। सुतरां एक दिन ऐसा था जब ससागरा धराका राजदण्ड भी ब्राह्मणके सम्मुख धेनु-दण्डकी भाँति हेय हो गया था। ऐसे ब्रह्मज्ञ व्यक्तिके लिये कर्मका अनुष्ठान तथा विसर्जन दोनों ही एक समान

हैं। केवल गायत्रीदेवीकी आराधना करके ही पुराकालमें ब्राह्मणोंने '**एकमेवाद्वितीयम्**', '**अयमात्मा ब्रह्म**', '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**', '**सोऽहम्**', '**तत्त्वमसि**' आदि महावाक्योंकी सृष्टि की थी, जिनकी अमृतधारा पानकर आज भी हम तृप्त तथा कृतार्थ हो रहे हैं।

प्रिय सुधी पाठक! अब कदाचित् आप समझ गये होंगे कि ब्राह्मणकी गायत्री क्या है और उसके द्वारा किसकी उपासना की जाती है। गायत्री-जप यथार्थमें ब्रह्मोपासना है,नित्य गायत्रीका जप करनेसे मनुष्य समस्त पापोंसे छूट सकता है। अन्तमें हम गायत्री-देवीके श्रीश्रीचरण-कमलोंमें बारम्बार प्रणाम कर इस प्रबन्धका उपसंहार करते हैं—

ॐ आयाहि वरदे देवि त्र्यक्षरे ब्रह्मवादिनि।
गायत्री छन्दसां मातर्ब्रह्मयोनिर्नमोऽस्तु ते॥

(२)

(लेखक—श्रीप्रेमी महाशय)

यह बात प्रसिद्ध है कि अपने गुप्त धनको कोई प्रकाशित नहीं करता, यही कारण है कि महर्षियोंने भी अपने गोपनीय महाधन (गायत्री)-का अधिक बखान नहीं किया। यदि करते तो क्या शिवपुराण और कालिकापुराणकी तरह गायत्रीविषयक किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ (गायत्रीपुराण)-की रचना न हुई होती? परन्तु जब मूर्ख मनुष्य भी अपने धनको गुप्त रखना जानते हैं तो फिर महर्षिजन ही अत्यन्त कष्टसे उपार्जित, मोक्षैकसाधनभूत महाधनको कैसे प्रकाशित कर सकते थे?

फिर भी ऋषियोंकी दयालुता, अथवा गायत्रीका महत्त्व देखिये कि—सभी वेद, पुराण, धर्मशास्त्र और उपनिषदादिमें गायत्री-तत्त्वकी और उसके महत्त्वकी महती चर्चा देखी जाती है।

श्रीगायत्रीके विषयमें महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—जैसे पुष्पोंका सार मधु, दूधका सार घृत और रसका सार दूध है, उसी प्रकार वेदोंका सार गायत्री है—

यथा च मधु पुष्पेभ्यो घृतं दुग्धाद्रसात्पयः।
एवं हि सर्ववेदानां गायत्री सारमुच्यते॥

(बृहद्योगी याज्ञवल्क्य० ४। १६)

महानारायणोपनिषद्‌में गायत्रीको वेदमाता कहा है—'**गायत्री छन्दसां मातेति**' (१५। १)। अर्थ स्पष्ट है। इसका दूसरा अर्थ यह भी होता है कि गायत्री छन्द सब छन्दोंमें श्रेष्ठ है। परन्तु तत्त्व-दृष्टिसे देखा जाय तो वेदमाता होना अधिक समीचीन जान पड़ता है, क्योंकि 'माता' और 'गायत्री' का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि वेदमाता कहनेसे सच्चिदानन्दस्वरूपिणी गायत्रीका ही स्मरण होता है।

अठारह विद्याओंमें मीमांसा सबसे श्रेष्ठ है और मीमांसासे तर्कशास्त्र, तर्कशास्त्रसे पुराण, पुराणोंसे धर्मशास्त्र, धर्मशास्त्रसे वेद और वेदोंसे उपनिषद्—ये एक-से-एक श्रेष्ठ हैं, परन्तु इन सबसे श्रेष्ठ गायत्री है—

अष्टादशसु विद्यासु मीमांसाऽतिगरीयसी।
ततोऽपि तर्कशास्त्राणि पुराणं तेभ्य एव च॥
ततोऽपि धर्मशास्त्राणि तेभ्यो गुर्वी श्रुतिर्द्विज।
ततोऽप्युपनिषच्छ्रेष्ठा गायत्री च ततोऽधिका॥

(बृहत्सन्ध्याभाष्य)

उपनिषद् वेदोंसे भी श्रेष्ठ हैं,इसीलिये आगे उपनिषदों-द्वारा वर्णित गायत्री-तत्त्वपर ही ध्यान दिया गया है। ऐसे तो गायत्री-तत्त्वविषयक एक-दो अनुवाक प्रत्येक उपनिषद्‌में ही मिल जाते हैं; परन्तु सावित्र्युपनिषद्‌में सविता और सावित्रीको बतलाते हुए बड़े सुन्दर स्वरूपमें गायत्रीको सर्वव्यापक सिद्ध किया है। देखिये—

कस्सविता का सावित्री अग्निरेव सविता पृथ्वी सावित्री।
कस्सविता का सावित्री वरुण एव सविताऽऽपस्सावित्री।
कस्सविता का सावित्री वायुरेव सविताऽऽकाशस्सावित्री।
कस्सविता का सावित्री यज्ञ एव सविता छन्दांसि सावित्री।
कस्सविता का सावित्री स्तनयित्नुरेव सविता विद्युत्सावित्री।
कस्सविता का सावित्री आदित्य एव सविता द्यौस्सावित्री।
कस्सविता का सावित्री चन्द्र एव सविता नक्षत्राणि सावित्री।
कस्सविता का सावित्री मन एव सविता वाक् सावित्री।
कस्सविता का सावित्री पुरुष एव सविता स्त्री सावित्री।

एवं (ज्ञात्वा) विद्वान् कृतकृत्यो भवति, सावित्र्या एव सलोकतां जुषतीत्युपनिषद्।

'सविता और सावित्री कौन हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है कि अग्नि सविता और पृथिवी सावित्री है। वरुण सविता और जल सावित्री है। वायु सविता और आकाश सावित्री है। यज्ञ सविता और ऋच सावित्री है। मेघ सविता और विद्युत् सावित्री है। सूर्य सविता और

आकाश सावित्री है। चन्द्र सविता और नक्षत्र सावित्री है। मन सविता और वाणी सावित्री है। पुरुष सविता और स्त्री सावित्री है। इस प्रकार (सर्वव्यापक तेजोमय सावित्रीको) जो विद्वान् जानते हैं, वे कृतकृत्य हो जाते हैं। सावित्रीसे ही सालोक्य-मोक्ष प्राप्त होता है।'

उपर्युक्त उद्धरणसे जाना जाता है कि गायत्री सर्वव्यापक ब्रह्म है। क्योंकि वेद अपौरुषेय और अनादि है, तथा वेदमाता कहलानेवाली गायत्री भी अज, अनादि और निर्लेप ब्रह्मका स्वरूप है। अत: वेदमाता कहलाना सार्थक है। निम्नाङ्कित वाक्योंसे भी यही बात प्रकट होती है कि ब्रह्मका ही दूसरा नाम गायत्री है—

गायत्र्याख्यं ब्रह्म गायत्र्यनुगतं गायत्रीमुखेनोक्तम्।
गायत्री वा इदं सर्वम्। (नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् ४। २)
गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च.........'
(छान्दोग्य० ३। १२। १)

गायत्री नामक ब्रह्म गायत्रीके अनुगत गायत्री-नामसे वर्णित है। यह सारी सृष्टि गायत्री ही है। अथवा दृश्यमान जगत्की चर-अचर सारी सृष्टिमें जो भी कुछ है—गायत्री है।

जो लोग द्विजत्वका अभिमान रखते हुए भी वेदोपास्य, ब्रह्मचित्कला गायत्रीको नहीं जानते, उनको क्या कहा जाय। देवीभागवतमें द्विजमात्रको शाक्त कहा है। भले ही वे शिव-मन्त्र या विष्णु-मन्त्रमें दीक्षित हों—वास्तवमें शाक्त होते हैं। क्योंकि द्विजमात्रकी उपासनीया गायत्री है। अन्य देवता तो गायत्रीके बादमें हैं—

सर्वे शाक्ता द्विजा: प्रोक्ता न शैवा न च वैष्णवा:।
आदिशक्तिमुपासन्ते गायत्रीं वेदमातरम्॥
(देवीभागवत)

बड़ी लज्जाकी बात है कि जो महर्षि गायत्रीको अपना जीवन-धन मानते थे, उसकी उपासनामें वर्षोंतक एकान्तवास करते थे, उन्हींकी सन्तति आज गायत्रीको जानती भी नहीं। उचित तो यह है कि अपने पूर्वजोंकी भाँति सभी द्विजोंको गायत्रीका जप और उपासना अवश्य करनी चाहिये, जो निम्नोक्त प्रकारसे सम्पन्न हो सकती है—

(१) एकान्तमें बैठकर श्रद्धा और भक्तिसे श्रीगायत्रीका जप करे।

(२) तीन प्रकारका जप होता है—मानसिक, उपांशु और वाचिक।

[क] मन्त्रके उपास्य देवका ध्यान करते हुए और मन्त्रका अर्थ विचारते हुए मनसे जो जप किया जाता है, उसे मानसिक जप कहते हैं। [ख] कुछ सुनायी दे सके ऐसे ऊँचे स्वरसे जो जप किया जाय उसे उपांशु, और [ग] जो अच्छी तरह सुना जाय उसे वाचिक कहते हैं।

(३) गायत्री-जप मानसिक होना चाहिये। क्योंकि मानसिक जपसे मन वशमें रहता है और मनके वशमें रहनेसे ही जपका फल मिलता है।

(४) मन्त्रार्थ—ऐसे तो गायत्रीमन्त्रपर रावण, सायण, उव्वट और महीधर-जैसे विद्वानोंके अनेक भाष्य हैं। परन्तु वे बड़े हैं और कठिन भी हैं। अत: साधकोंकी प्रसन्नताके लिये यहाँ छोटा-सा अर्थ लिख देते हैं, जिससे गायत्रीमन्त्रके सरल अर्थका ज्ञान हो जाय। 'उस परमात्मा (विज्ञानानन्दस्वरूप) सवितृदेवके सर्वोपास्य परब्रह्मस्वरूप तेजका ध्यान करते हैं, जो हमारी धर्मादि विषयक बुद्धियोंको शुभ कामोंमें प्रेरित करते हैं। शिवम्।

उपदेश

पायौ बड़े भागनि सौं आसरो किसोरीजूकी,
और निरबाहि नीके ताहि गहे गहि रे।
नैननितें निरखि लड़ैतीको बदन-चंद,
ताहीको चकोर ह्वैकै रूप-सुधा लहि रे॥
स्वामिनीकी कृपातें अधीन ह्वैहैं 'ब्रजनिधि',
तातें रसनासौं नित्य 'स्यामा-नाम' कहि रे।
मन ! मेरे मीत जो तू मेरो कह्यो मानै तौ तो,
राधा-पद-कंजको भ्रमर ह्वैकै रहि रे॥ १॥

आनँद अगाधा लहै साधा सुख सेवत ही,
करत अराधा असरनके सरन हैं।
प्रीतमकी प्यारी सुकुमारी सब गुन-निधि,
जाको नाम लेत मुद-मंगल करन हैं॥
करत ही ध्यान उर हरत कलेस सब,
चरन-सरोज दुख-दंदके दरन हैं।
आसरो अनन्य गहिये रे मन! मेरे सदा,
राधा महरानी सब बाधाकी हरन हैं॥ २॥

—श्रीसवाई प्रतापसिंहजी महाराज 'ब्रजनिधि'

विद्याशक्ति

(लेखक—पं० श्रीबटुकनाथजी शर्मा, एम० ए०, साहित्योपाध्याय)

विद्या ही परमपद है। विद्या ही परम-तत्त्व है। विद्या ही मनुष्य-जीवनका परम तथा चरम लक्ष्य है। भगवान् शिवका शिवत्व विद्यामय होनेसे ही है। यह विद्याका ही प्रभाव है कि '**कालकूट फल दीन अमीके**' और '**पुराणोऽपि स्थाणुः फलति किल कैवल्यपदवीम्।**' बिना विद्याके पशु-पाश कभी छूट नहीं सकता। विद्या ही अमृत है। विद्याविहीन जीव जीवित रहनेपर भी मृत ही है। विद्यायुक्त जीवन्मुक्त कहा जाता है और विद्यावियुक्त जीवन्मृत कहे जानेके योग्य हैं। इस सिद्धान्तमें कोई वैमत्य नहीं, कोई विप्रतिपत्ति नहीं। श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, दर्शन आदि सभी एक स्वरसे भगवती विद्याकी स्तुति करते हैं। सभी सिद्धान्तोंमें विद्या मोक्षके लिये आवश्यक कही गयी है। बिना विद्याके मोक्ष नहीं। मोक्ष ही परमपुरुषार्थ ठहरा। अतः विद्या-सम्प्राप्ति ही मानव-जीवनका परम तथा चरम लक्ष्य है। सम्प्राप्तिका अर्थ है किसी वस्तुका इस प्रकारका लाभ कि उसके कोई रूप या भाग रह न जावें और लाभ होनेपर वह कभी पुनः हट न जावे। जब विद्याकी इस प्रकार प्राप्ति होगी तभी दुःखात्यन्तनिवृत्ति और परमानन्दप्राप्ति हो सकती है। प्रत्येक बुद्धिमान्‌का यह सबसे बड़ा कर्तव्य है कि इस शरीरके रहते-रहते ही विद्या प्राप्त कर ले। प्रत्येक कर्म, प्रत्येक प्रवृत्ति ऐसे प्रवाहमें चलायी जावे कि यह परम लक्ष्य शीघ्रातिशीघ्र सिद्ध हो जावे। जो मानव-जीवन पाकर उसे क्षुद्र कामोंमें नष्ट करता है वह '**सौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः।**' वह आत्मघाती है और शरीरावसानके अनन्तर '**अन्धं तमः प्रविशति।**'

विद्या-सम्प्राप्ति बिना विद्याके स्वरूपको यथावत् समझे सम्भव नहीं। अतः उसी विषयपर यहाँ कुछ निवेदन करनेका प्रयत्न किया जाता है।

साधारणतया विद्या-शब्दका अर्थ सभी जानते हैं, किंतु यहाँ उतने ही सङ्कुचित अर्थसे काम नहीं चल सकता। विद्यावान् कितने लोग कहे जाते हैं, किन्तु अमृतत्व किसीको भी प्राप्य नहीं। '**विद्ययाऽमृतमश्नुते**' इस वाक्यका इस अवस्थामें क्या अर्थ होगा? श्रुतिका ही कथन है, '**सा विद्या या विमुक्तये**'—जिसके द्वारा मुक्ति प्राप्त हो वही विद्या है। इतना ही नहीं, विद्या-शब्दद्वारा केवल साधनरूपा विद्या ही श्रुत्यभिप्रेत नहीं। '**अमृतं तु विद्या**','**विद्या शक्तिः समस्तानां शक्तिरित्यभिधीयते**' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे वही विद्या साध्यरूपा—परमार्थरूपा भी कही गयी है। उपनिषद्-वाक्योंपर मनन करनेसे, आगम-सिद्धान्तोंपर लक्ष्य देनेसे विद्याके वास्तविक स्वरूपका अनुसन्धान किया जा सकता है। विद्या ही सब शक्तियोंकी मूल शक्ति है। वह सच्चिदानन्दरूपा है। '**विद्यते देशकालानवच्छिन्नत्वेन वर्तते या सा विद्या।**' '**विद् सत्तायाम्**' इस धातुसे, अथवा '**विद् ज्ञाने**'-**विद्यते, ज्ञायते,** इस व्युत्पत्तिसे, अथवा '**विद्लृ लाभे**' इस धातुसे **परमानन्दरूपत्वेन लभनीया,** इस व्युत्पत्तिद्वारा सच्चिदानन्दरूपा '**परमा शक्तिर्विद्या**' यह अर्थ विद्यासे निकलता है। जैसा सम्बन्ध अग्निका दाहकता अथवा उष्णतासे है वैसा ही सम्बन्ध ब्रह्मका इस शक्तिसे है। अक्षमालिकोपनिषद्‌में '**यत् सूत्रं तद् ब्रह्म**', '**यत् सुषिरं सा विद्या**' इत्यादि कहकर ब्रह्म और विद्याका सम्बन्ध रूपकद्वारा प्रकट किया गया है। भगवान् शङ्कराचार्यने 'परमब्रह्ममहिषी' कहते हुए इसी भावका द्योतन किया है। 'परमाह्लादशक्ति' कहनेवाले वैष्णवाचार्योंका भी क्या दूसरा अभिप्राय हो सकता है? यही शक्ति जब सृष्ट्युन्मुख होती है, अविद्या शक्तियोंका क्रमशः विकास (evolution) होने लगता है। संहार-क्रम प्रारम्भ होते ही सब अविद्या-शक्तियाँ लौटने लगती हैं और प्रत्यावर्तन (involution) होने लगता है। एक ही शक्तिद्वारा विकास-सङ्कोच दोनों कार्य होते हैं। इसी आशयको उपनिषद्‌का निम्नलिखित उद्धरण प्रकट करता है—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे अनन्ते
विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरन्त्वविद्या अमृतं तु विद्या
विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

बन्ध तथा मोक्षका कारण वही एक है—

सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी।
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी॥

विद्या ही परमानन्दरूपा अतएव परमाराध्या शक्ति है। किन्तु इस मूलभूत शक्तिका यथावत् ज्ञान केवल नैर्गुण्यस्थ अद्वैतसिद्धान्तपरिनिष्ठित योगियोंको ही आत्मा-नुभवद्वारा हो सकता है। अतः साधारण जीवोंके हितके लिये विद्याके गुणत्रयानुरूप रूपत्रय कहे गये हैं। बृहज्जाबालोपनिषद्में विद्याके सम्बन्धमें यों कहा गया है—

विद्याशक्तिः समस्तानां शक्तिरित्यभिधीयते।
गुणत्रयाश्रया विद्या सा विद्या च तदाश्रया॥ ३॥

सप्तशतीकी शक्रादिस्तुतिमें भी यही बात भिन्न शब्दोंमें कही गयी है—

हेतुः समस्तजगतां त्रिगुणाऽपि दोषै-
र्न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा।
सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंशभूत-
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या॥

इस श्लोकको आचार्य शन्तनुद्वारा की हुई टीका देखनेयोग्य है। कुछ अंश हम नीचे देते हैं।

हे देवि! त्वं त्रिगुणाऽपि—त्रयो गुणा यस्यां सा। सत्त्वं रजस्तम इति त्रयो गुणाः। सत्त्वगुणा त्वं वैष्णवी शक्तिः सती जगन्ति रक्षसि। रजोगुणा त्वं ब्राह्मी शक्तिः सती जगन्ति सृजसि। तमोगुणा त्वं माहेश्वरी शक्तिः सती जगन्ति संहरसि। अत एव त्रिगुणाऽप्यसि।'''''''हे देवि! त्वमव्याकृताऽसि केनाऽपि न व्याकृताऽसि पदेन वाक्येन वा। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेः। त्वं च विद्यात्वेन परब्रह्मतत्त्वमेव। यद्वा हे देवि! त्वमव्याकृताऽसि न केनाऽपि प्रकाशिताऽसि। परप्रकाशित्वानभ्युपगमाद् ब्रह्मस्वरूपस्य स्वयंप्रकाशत्वाभ्युपगमाच्च। तस्य त्वञ्च परब्रह्मतत्त्वमेव स्वयंप्रकाशमानमनतिशयानन्दचिद्रूपमसीत्यर्थः।

इसका तात्पर्य यही है कि वह आद्या प्रकृति, मूलभूता शक्ति-विद्या तीनों गुणोंके अनुरूप वैष्णवी, माहेश्वरी तथा ब्राह्मी शक्तिके रूपोंको धारण करती है। किन्तु तत्त्वतः वह परमब्रह्म ही है। अब हम इसी विद्याके मोक्ष-क्रमके अनुसार श्रुतिप्रतिपादित, आगमानु-मोदित रूपोंका वर्णन करते हैं।

आधिभौतिकी विद्या—इस विद्याके साधारण रूपसे सभी परिचित हैं। **विद्यते ज्ञायते अनया** (जिसके द्वारा जाना जाय)—इस व्युत्पत्तिसे '**विद् ज्ञाने**' धातुसे बना हुआ यह शब्द है। जितना ज्ञान-राशि है और हमलोगोंके द्वारा विदित या वेद्य है वह सब इस विद्याके अन्तर्गत है। एक बात यहाँ ध्यान देनेकी है। केवल कुछ जान लेना ही वास्तविक विद्या नहीं है। धात्वर्थपर ध्यान देनेसे यह स्पष्ट हो जाता है। विद् धातु और ज्ञा धातुका अर्थ-भेद समझने-योग्य है, इन संस्कृत धातुओंके गोत्रापत्य अन्य आर्य-भाषाओंमें भी इसी अर्थ-तारतम्यको अभीतक अक्षुण्ण रखे हैं। जर्मनमें ज्ञा धातुसे बना संज्ञा शब्द Kentniss और विद् धातुसे बना संज्ञा शब्द Weisheit है। अंग्रेजीमें उसी तरह Knowledge और Wisdom हैं। इन शब्दार्थोंमें क्या तारतम्य है यह सभी विज्ञ जानते हैं। ऐसा ही अर्थभेद पूर्वोक्त संस्कृत धातुद्वयमें भी बराबर चला आया है। विद् धातुसे बना वेद शब्द भी इसी बातको स्पष्ट करता है। इसी अर्थको लक्ष्यकर तत्त्वावलिकार विद्या-शब्दके सम्बन्धमें यों कहते हैं—

विशेषणवद्विशेषसन्निकर्षलिङ्गपरामर्शादिरूपगुणजन्यो बुद्धिविशेषः।

न्यायभाष्यमें वात्स्यायन भी '**विजातीयज्ञानहेतुः**' कहते हैं। इस ऊहापोहका निष्कर्ष यही है कि विद्या-शब्द केवल ज्ञान नहीं, बल्कि यथार्थ ज्ञान या तात्त्विक ज्ञानको द्योतित करता है। इस विद्याके परा-अपरा दो रूप कहे गये हैं। इनका वर्णन रुद्रहृदयोपनिषद्में यों दिया है—

द्वे विद्ये वेदितव्ये हि परा चैवापरा च ते।
तत्रापरा तु विद्यैषा ऋग्वेदो यजुरेव च॥
सामवेदस्तथाऽथर्ववेदः शिक्षा मुनीश्वर।
कल्पो व्याकरणं चैव निरुक्तं छन्द एव च॥
ज्योतिषं च तथानात्मा विषया अपि बुद्धयः।
अथैषा परमा विद्या ययाऽऽत्मा परमाक्षरम्॥

....

तद्भूतयोनिं पश्यन्ति धीरा आत्मानमात्मनि।

यह वर्णन हुआ आधिभौतिकी विद्याके साधनात्मक रूपका। यही साध्या भी है। अध्ययन-अध्यापनके द्वारा तथा शुद्ध आत्म-ज्ञान-सम्पादनद्वारा इस चिद्रूपा विद्याकी प्राप्ति होती है।

आध्यात्मिकी विद्या—यह '**विद् सत्तायाम्**' से सिद्ध विद्याशब्द अखण्ड सत्ताका द्योतन करता है।

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नत्वेन या विद्यते सा विद्या।

जिसकी स्थिति प्रत्येक कालमें, प्रत्येक स्थानमें है उसीको विद्या कहते हैं। यह सर्वव्यापिनी शक्ति है। इसका वास्तविक ज्ञान—अनुभव बिना योगके नहीं हो सकता। प्राणापानके योगसे जिन्हें मनको बुद्धिमें और बुद्धिको आत्मामें लीन करनेका अभ्यास सुख-साध्य हो चुका है,

वे ही स्वरूपमें अवस्थान करनेवाले योगिगण इनका याथातथ्य समझ सकते हैं।

आधिदैविकी विद्या—इस विद्याके रूपको कौन नहीं जानता? यह नाना रूप धारणकर भक्तोंको भुक्ति-मुक्ति देती है। आगमोंमें तथा पुराणोंमें इसके विभिन्न रूपोंका वर्णन तथा उपासना-प्रकार कहे गये हैं। इसीको वैष्णव लोग श्रीकृष्णकी बड़ी बहिन कहते हैं। यही कंसके हाथसे छूटकर उसको उसकी मृत्युकी सूचना देती हुई आकाशगामिनी हुई और विन्ध्यगिरिपर आकर प्रकट हुई। शाक्तलोग भगवान् श्रीकृष्णको इससे अभिन्न मानते हैं। उनकी व्याख्या **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** इस भागवत-वाक्यकी इसी भावके अनुसार की गयी है। अस्तु।

इस लघुकाय लेखमें अधिक कहनेका स्थान नहीं। विद्याके सम्बन्धमें आगम तथा निगमका विचित्र समन्वय देखनेमें आता है। पर यहाँ दिखानेका अवकाश नहीं। पूर्वोक्त बातोंके सारांशको देकर हम इस लेखको समाप्त करते हैं।

वेदान्त-वेद्य ब्रह्मका आगम-निगम-प्रदिपादित विद्यासे तात्त्विक भेद केवल दृष्टि-भेदसे, लक्ष्य-वैषम्यसे प्रतीत होता है। आचार्य शन्तनुके कथनानुसार **'वेदान्तोद्भावनीय-परब्रह्मतत्त्वावगतिरूपसाक्षात्कारलक्षणा विद्या'** है। यह सच्चिदानन्दात्मिका है। **'विद्यैका परमा शक्तिः सच्चिदानन्दरूपिणी।'** अपने-अपने मतके अनुसार सिद्धोंने इसके भिन्न-भिन्न रूपोंका अनुभव किया है। समझनेके लिये ऊपर कहे हुए भेद भी दिखाये गये हैं। यही निरपायसंश्रया अग्रभूमि है। यही परमार्थरूप परमोपादेय है। उसका साधन भी यही है। वास्तवमें विद्यावस्था उस आत्मानुभवके परावस्थाका नाम है जहाँ ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय इस त्रिकूटका दर्शन नहीं। केवल परमानन्दरूप चित्रकूटपर ही अवस्थिति रहती है। किन्तु लौकिकावस्थामें भेद-प्रतिपत्तिके कारण साधनोंकी आवश्यकता होती है। विद्यासम्प्राप्तिके साधन हैं—स्वाध्याय, योग तथा उपासना। सबसे बड़ा साधन है पराप्रपत्ति। यही आत्मसमर्पण है, यही परमयोग है, यही स्वाराज्य-सिद्धि है।

या मुक्तिहेतुरविचिन्त्य महाव्रता त्व-
मभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्त्वसारैः।
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषै-
र्विद्याऽसि सा भगवती परमा हि देवी॥
शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधान-
मुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम्।
देवि त्रयी भगवती भवभावनाय
वार्तासि सर्वजगतां परमार्तिहन्त्री॥
मेधाऽसि देवि विदिताऽखिलशास्त्रसारा
दुर्गाऽसि दुर्गभवसागरनौरसङ्गा।
श्रीः कैटभारिहृदयैककृताधिवासा
गौरि त्वमेव शशिमौलिकृतप्रतिष्ठा॥

महाशक्ति

(लेखक—डॉ० एच० डब्ल्यू० बी० मॉरेनो)

मैं आती हूँ; तुम नहीं जानते कब और कैसे आयी। वेदीपर तुम्हारा मस्तक नत होनेके पूर्व ही मैं खड़ी हूँ। तुम्हारे जगते और सोते मैं सतत वही हूँ—मेरे पंखोंकी छायामें तुम सदैव कल्याण पा रहे हो।

× × × × × ×

प्रत्येक आवश्यकतामें जीव मेरी ओर देखता है। अपने-अपने मतके अनुसार वे मुझे ही भिन्न-भिन्न नामसे पुकारते हैं। मैं आदि-शक्ति, तीनोंमें व्याप्त हूँ। सृष्टिके पूर्व भी थी और सदा रहूँगी।

× × × × × ×

'कुमारी शक्ति' मैं हूँ जो मनुष्योंकी आत्माओंसे मिलती है, सर्वव्यापी प्रेम मैं हूँ जो स्वर्गसे आता है। मेरी ही शक्तिने अनन्त शून्यसे चराचर विश्वका सृजन किया, मेरे ही सर्वव्यापी प्रेममें समस्त जीव मिलकर आनन्दका उपभोग करते हैं।

× × × × × ×

सभी देवता श्रद्धासे मेरी ओर झुकते हैं। मैं उन्हें जीवन-दान देती हूँ, उनके हृदयको प्रज्वलित करती हूँ। सृष्टिके विकास अथवा प्रारम्भके पूर्व सबकी आधारभूत मैं-ही-मैं रहती हूँ।

प्रणयाञ्जलिः

(रच०—श्रीयुत पं० श्यामनाथजी शुक्ल,'द्विजश्याम')

ॐकाररूपा त्रिपदा त्रयी च
त्रिदेववन्द्या त्रिदिवाधिदेवी।
त्रिलोककर्त्री त्रितयस्य भर्त्री
त्रैकालिकी सङ्कलनाविधात्री॥ १॥

त्रैगुण्यभेदात् त्रिविधस्वरूपा
त्रैविध्ययुक्तस्य फलस्य दात्री।
तथापवर्गस्य विधायिनी त्वं
दयार्द्रदृक्कोणविलोकनेन ॥ २॥

त्वं वाङ्मयी विश्ववदान्यमूर्ति-
र्विश्वस्वरूपापि हि विश्वगर्भा।
तत्त्वात्मिका तत्त्वपरात्परा च
दृक्तारिका तारकशङ्करस्य॥ ३॥

भूतं च भव्यं सकलं यदेतत्
त्वत्तः परं कुत्र न किञ्चिदस्ति।
आद्यामनाद्यामनवद्यवन्द्यां
पश्यन्ति विज्ञाः प्रवदन्ति च त्वाम्॥ ४॥

विश्वात्मिके विश्वविलासभूते
विश्वाश्रये विश्वविकाशधामे।
विभूत्यधिष्ठात्रि विभूतिदात्रि
पदे त्वदीये प्रणतिर्मदीया॥ ५॥

त्वं नित्यसर्गस्य विसर्गभूता
दैनन्दिनस्यापि च प्राकृतस्य।
विश्वस्य योनिर्हि मता तथापि
समुद्रहैमाद्रिविरञ्चिजाता ॥ ६॥

भोगस्य भोक्त्री करणस्य कर्त्री
धात्वव्ययप्रत्ययलिङ्गशून्या ।
ज्ञेया न वेदैर्न पुराणभेदै-
र्ध्येया धिया धारणयादिशक्तिः॥ ७॥

किञ्चिद्यदेतत्तवमूर्तिरेषा
तथाप्यदृश्याखिलसाधनैश्च ।
सान्ता निरन्ता सदसत्स्वरूपा
स्फुटास्फुटा स्फोटविकाशरूपा॥ ८ ॥

यस्मिन् यतो यस्य च येन यच्च
कस्मिन्कुतः कस्य च केन किञ्च।
इत्यादिशब्दैर्न विशोधनीया
कुतः कथं सा परिबोधनीया॥ ९ ॥

नित्या सदा सर्वगताऽप्यलक्ष्या
विष्णोर्विधेः शङ्करतोऽप्यभिन्ना।
शक्तिस्वरूपा जगतोऽस्य शक्ति-
र्ज्ञातुं न शक्या करणादिभिस्त्वम्॥ १०॥

त्यक्तस्त्वयात्यन्तनिरस्तबुद्धि-
र्नरो भवेद् वैभवभाग्यहीनः।
हिमालयादप्यधिकोन्नतोऽपि
जनैस्समस्तैरपि लङ्घनीयः॥ ११॥

शिवे हरौ ब्रह्मणि भानुचन्द्रयो-
श्चराचरे गोचरकेऽप्यगोचरे।
सूक्ष्मातिसूक्ष्मे महतो महत्तमे
कला त्वदीया विमला विराजते॥ १२॥

सुधामरन्दं तव पादपद्मं
स्वे मानसे धारणया निधाय।
बुद्धिर्मिलिन्दीभवतान्मदीया
नातः परं देवि वरं समीहे॥ १३॥

दीनेषु हीनेषु गतादरेषु
स्वाभाविकी ते करुणा प्रसिद्धा।
अतः शरण्ये शरणं प्रपन्नं
गृहाण मातः प्रणयाञ्जलिं मे॥ १४॥

पठतः शृण्वतो वापि सकृत्प्रणमतस्तथा।
भव्याय जगतो भूयात् प्रणयस्यायमञ्जलिः॥ १५॥

विज्ञान, शक्ति और पवित्रता

(लेखक—डॉ० श्रीराधाकमल मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०)

(कर्मकाण्डका रहस्य तथा शक्ति-साधनाका ध्येय)

किसी भी धर्मकी विशेषताका निर्णय इस बातको लेकर होता है कि उसके अन्दर सामाजिक अनुभव एवं परम्परागत सिद्धान्तों एवं संस्कारोंपर आध्यात्मिक ज्ञानका कितना प्रभाव पड़ा है। बहुधा यह देखनेमें आता है कि सन्त लोग एकान्तमें रहकर प्रभुके समागमका आनन्द लूटते हैं। वे अपनी निर्वाणमयी शान्तिकी दिव्य उच्च मनोभूमिमें स्थित रहकर किसी प्रकारका मानसिक विक्षेप नहीं सह सकते; वे नहीं चाहते कि उनकी दिव्य मधुर साधनामें किसी भाँति भी बाहरसे व्याघात पहुँचे। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि सबसे ऊँची आध्यात्मिक स्थिति वह नहीं है जिसमें मनुष्य उन्मत्त होकर बिचरे अथवा संसारसे उपराम होकर रहे; अपितु प्रतिदिनके व्यक्तिगत एवं सामाजिक कर्तव्योंका उत्साहपूर्वक यथाविधि पालन ही इस स्थितिका द्योतक है।

अधिक लोगोंका अनुभव तो यही देखनेमें आया है कि सन्त लोग सेवामय जीवनको अपनी आध्यात्मिक मस्ती और ध्यान आदिके लिये एक प्रकारका विघ्न ही मानते हैं। इसीलिये वे संसारको हेय समझकर इससे अलग हो जाते हैं। आध्यात्मिक जीवनकी प्रारम्भिक स्थितिमें, जबतक कि साधक अपनी इच्छाओंका दमन नहीं कर चुकता, संसार और शरीरकी अपवित्रताका भाव उसके मनमें प्रबलरूपमें बना ही रहता है। यही कारण है कि अधिकांश धर्मोंमें साधन और अभ्यासकी एक प्रारम्भिक अवस्था होती है जिसका एकमात्र उद्देश्य यह है कि साधक निरोध एवं निग्रहके द्वारा वृत्तियोंको काबूमें लावे और अन्तश्चेतनाको साधे। प्राचीन कालके ब्राह्मण-धर्मसे बढ़कर किसी भी धर्ममें संयम तथा तपपर इतना अधिक जोर नहीं दिया गया है।

एक पहुँचे हुए पुरुषकी दृष्टिमें अथवा समाधिअवस्थामें संसार और शरीरका रूप कुछ और ही हो जाता है। कुछ धर्मोंमें इस स्थितिपर पहुँचनेके लिये विषयोंसे घिरे हुए रहकर ही उनसे इन्द्रियोंको अलग रखनेका सुदीर्घकालतक निरन्तर अभ्यास करनेका विधान है। शाक्त अर्थात् ईश्वरीय शक्तिके उपासकोंके योगकी यही विशेषता है, जिनकी संख्या पूर्वीय देशोंमें बहुत अधिक है। शक्ति-उपासनाका दार्शनिक आधार तो अद्वैतवाद ही है। इसमें परात्पर ब्रह्मकी उपासना माताके रूपमें होती है। 'नवरत्नेश्वर' में लिखा है—'सच्चिदानन्दस्वरूपिणी देवीकी स्त्रीरूपमें, पुरुषरूपमें अथवा शुद्ध ब्रह्मके रूपमें भावना करनी चाहिये।' ब्रह्मका ही व्यक्त रूप 'शक्ति' है। भारतीय भाषाओंमें शक्तिकी भावना स्त्रीरूपमें की जाती है। इसका कारण यह है कि नारी-जाति आनन्द, क्रीड़ा और सृष्टिका द्योतक है। भारतीय परम्परामें सृष्टिके समस्त व्यक्त रूपोंको सनातन नारीका रूप दिया गया है—चाहे वह इन्द्रियोंकी वृत्तिके अन्दर छिपा हुआ हो अथवा ईश्वरके मस्तिष्कमें। एक बार देवीने भगवान्‌से पूछा—'देव! दयाकर यह बताइये कि 'शक्ति' किसका नाम है और 'शिव' कौन है?' भगवान्‌ने उत्तर दिया—'देवि! शक्तिका निवास चञ्चल चित्तमें है और शिवका शान्त स्थिर चित्तमें। जिसका चित्त शान्त और सुस्थिर है वह अपने इस शरीरमें ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।' (योगशास्त्र) देवीभागवतमें लिखा है कि ब्रह्माने आदि-शक्तिसे पूछा—'तुम स्त्री हो या पुरुष?' माताने उत्तर दिया—'पुरुष और मैं सदा एक ही हैं। पुरुषमें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है। जो मैं हूँ वही पुरुष है, जो पुरुष है वही मैं हूँ। सनातन ब्रह्म, जो **'एकमेवाद्वितीयम्'** है, सृष्टिके समय दो रूपोंमें विभक्त हो जाता है। उपाधि-भेदसे एक ही दीपक द्विधा हो जाता है। ठीक जिस प्रकार एक ही मुखके दर्पणमें प्रतिबिम्बित होनेपर दो मुख हो जाते हैं अथवा जैसे एक ही शरीर छायाके कारण दो-सा प्रतीत होने लगता है, ठीक उसी प्रकार हे अज! हमारी मूर्त्तियाँ भी चित्तके भेदसे, जो मायाका कार्य है, अनेक हो जाती हैं। सृष्टि-रचनाके उद्देश्यसे ही सृष्टि-कालमें भेद हो जाता है। यह भेद केवल दीखने-न-दीखनेका है। महाप्रलयके समय मैं न पुरुष रहती हूँ, न स्त्री और न नपुंसक। पुरुष और स्त्रीके भेदकी कल्पना सृष्टिके समय ही होती है।'

अपने परात्पर रूपमें जगज्जननी ब्रह्मसे अभिन्न है।

'उसे कोई जान नहीं सकता।' परन्तु सारे व्यक्त पदार्थोंमें माँ अपने स्त्री-रूपमें प्रकट होती है। वास्तवमें वह प्रकाशरूप और प्रकाशका विषय दोनों है। इस प्रकार यह जगत् माँका विश्वरूप है। जगन्नाटक उसकी लीला है। उसके परम मनोहर दिव्य मुखमण्डलमें सुन्दर-सुन्दर सलोनी आँखें वैसी ही लुभावनी प्रतीत होती हैं जैसे निर्मल जलमें सुन्दर मछलियाँ तैर रही हों। उसके नेत्र खुलनेके साथ ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो जाते हैं और बन्द होते ही कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड विलीन हो जाते हैं। जब वह आँखें खोलती है उस समय ये समस्त ब्रह्माण्ड उसके अनन्त प्रकाशसे आलोकित हो जाते हैं और जब वह उन्हें मूँद लेती है उस समय वे घोर अन्धकारसे आच्छन्न हो जाते हैं। अपना स्वयं-आत्मा ही विश्वरूप जननीका लीलामय विग्रह है। केवल व्यक्त रूपमें वह गौरी (गौर-वर्ण) है—धवल है। जब वह मनके रूपमें व्यक्त होती है तब उसका रंग बदलकर लाल हो जाता है,जो इच्छा और क्रियाका—रजोगुणका—द्योतक है। इसी रूपके ध्यानका नाम पूजा है।

उत्पादिका शक्ति सर्वत्र सभी दृश्य पदार्थोंमें विद्यमान है, अत: मन और इन्द्रियोंके भिन्न-भिन्न रूप अपने-अपने सूक्ष्म रूपमें 'शक्ति' के ही विशिष्ट स्वरूप हैं। यह समस्त विश्व शक्तिसे ही अनुप्राणित है, शक्तिका ही व्यक्त रूप है। परन्तु एक विशिष्ट नामवाली देवी भी शक्तिका ही विशिष्ट रूप है, जिसका उस नामके द्वारा निर्देश किया गया है। उपासक अपने शारीरिक एवं मानसिक व्यापारके प्रत्येक अङ्गको भगवतीके रूपमें देखता है अथवा प्रारम्भिक अवस्थामें उसे देवीके द्वारा अधिष्ठित मानता है। प्रारम्भिक अवस्थामें चित्तको एक स्वतन्त्र वस्तु मानते हैं, जिसके ऊपर देवी अथवा शक्तिका शासन है। अधिक अनुभवी लोगोंका यह सिद्धान्त है—और यही ठीक भी है—कि चित्त भी शक्तिका ही रूप है अर्थात् शक्तिकी ही एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है।

लगातार एवं सच्चे मनसे इस बातकी भावना करनेसे कि यह सारा विश्व भगवतीका ही रूप है, मेरा मन और इन्द्रियोंके सारे विषय भी जगज्जननीके ही रूप हैं, उपासककी स्थिति वास्तवमें ऐसी हो जाती है कि फिर प्रत्येक वस्तु—यहाँतक कि खान-पान,स्त्री आदि सारी भोग्य वस्तुएँ भी उसकी दृष्टिमें साक्षात् जगदम्बाका रूप बन जाती हैं। वास्तवमें स्त्री आदि-शक्तिका ही तो एक अंश है। इस प्रकार भोग उसकी दृष्टिमें भोग नहीं रह जाते। स्त्रीमात्रको जगदम्बाका रूप मान लेनेपर कामका रूप ही बदल जाता है और खाने-पीनेकी सामग्री भी भगवतीको अर्पित हो चुकनेपर भोग्य विषय नहीं रह जाती। शास्त्रोंमें लिखा है— × × ×

× × × जो मनुष्य अपनी धर्मपत्नीके साथ सम्भोग करते समय इस प्रकारकी भावना नहीं करता कि वह साक्षात् पराशक्ति है जो उसकी आत्माके साथ संयोग चाहती है, वह उसके साथ व्यभिचार करता है। वही सच्चा आमिषभोजी है जो इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर आत्माके साथ संयुक्त करता है; दूसरे तो निरे पशुघातक हैं। जो मनुष्य आदिशक्ति और आत्माके संयोग-सुखका उपभोग करता है वह सच्चा कामुक है, अन्य सभी कामवासनाके गुलाम हैं। सच पूछा जाय तो जो मनुष्य इस संसार और शरीरको, जिनसे हम बुरी तरह चिपटे हुए हैं, जगदम्बाको अर्पित कर सकता है, उसकी आध्यात्मिक शक्ति उन लोगोंकी अपेक्षा बहुत अधिक प्रबल है जो संसार और विषयोंसे कायरकी भाँति दूर भागते हैं; और वे इस संसारकी कठिन परीक्षामें अधिक सफलताके साथ उत्तीर्ण हो सकते हैं। 'कुलार्णव-मन्त्र' में लिखा है—

'उस महान् ईश्वरने विज्ञ साधकोंके लिये ऐसा विधान किया है कि वे लोग उन्हीं वस्तुओंके द्वारा आध्यात्मिक उन्नतिका साधन करें जो मनुष्योंके पतनका कारण होती हैं।'

और भी कहा है—'हे विज्ञ साधकोंकी अधीश्वरि! विज्ञ साधकोंके सम्प्रदायमें भोग ही आत्मा और परमात्माके पूर्ण संयोगमें परिणत हो जाता है, दुष्कर्म सत्कर्म बन जाते हैं और यह संसार मुक्ति-धाम हो जाता है।'

यही उत्पादिका शक्तिकी उपासना स्थूल सामान्य तत्त्व है जिसके प्रति एशियाके एक बहुत बड़े भागके लोगोंकी अगाध श्रद्धा है। इस प्रकारका मत जिसमें केवल शृंगारकी गुप्त बातें हों, अथवा जो धर्मके लिये नरकका द्वार खोल देता हो, कदापि इतना अधिक व्यापक और स्थायी नहीं हो सकता। इस धर्ममें भिन्न-भिन्न प्रकारकी क्रियाओं और साधनोंका विधान है, अधिकारी और अनधिकारीका विवेचन है तथा अशक्त एवं दुर्बल हृदयके

लोगोंको यह आश्वासन दिया गया है कि वे भी इस प्रक्रियासे अपनी इच्छा-शक्तिको प्रबल और कामनाओंको पवित्र बना सकते हैं। इसके अन्दर प्रतीक-पूजाकी प्रधानता है और उसका उद्देश्य है विषयोंसे इन्द्रियोंको हटा लेना, जिससे उच्च कोटिका ध्यान तथा भोग दोनों एक साथ हो सकें, और इनमें परस्पर कोई विरोध न रहे एवं भोगमेंसे उसकी वासना, भद्दापन अथवा ग्राम्यता तथा पापवृत्ति निकल जाय। तान्त्रिक विधिके उपासक अनेक प्रकारके गुप्त मन्त्रों तथा यन्त्रों, कलश आदि पूजाके पात्रों, मुद्राओं एवं न्यासादिका प्रयोग करते हैं। इन सब साधनों एवं उपकरणोंसे इस भावनाकी पुष्टि तथा समर्थन होता है कि भगवती ही भिन्न-भिन्न रूपोंमें उसके मन और शरीर, उसकी खास-खास इन्द्रियों अथवा अवयवों तथा उसकी इच्छाओं अथवा अभीष्ट विषयोंपर शासन करती है। पूजाके क्रियाकलापके मूलमें प्रधान दार्शनिक सिद्धान्त वही है जिसकी स्वयं भगवान्‌ने इस प्रकार व्याख्या की है—'अपने-आपको भगवतीका स्वरूप समझो, आद्याशक्तिकी अभिव्यक्ति समझो। मन, वचन और शरीरसे इस बातकी भावना करो।' हाथोंके द्वारा अङ्गन्यास, करन्यास, मुद्रा आदि जितनी क्रियाएँ होती हैं तथा शरीरके भिन्न-भिन्न अवयवोंपर भिन्न-भिन्न प्रकारके जो चिह्न तथा रेखाएँ बनायी जाती हैं, उनसे मनोभावके द्वारा एक प्रकारसे शरीरकी ही पूजा होती है और इसके अनन्तर यह भावना जागृत होती है कि यह शरीर स्वयं भगवतीका ही यन्त्र है।

इस भावनाके द्वारा हम आगे चलकर तन्त्रके एक दूसरे प्रमुख सिद्धान्तपर पहुँचते हैं। वह यह है कि यह मानव-देह स्वत: एक सूक्ष्म जगत् है जिसके अन्दर वे सारे-के-सारे तत्त्व सूक्ष्मरूपसे विद्यमान हैं जो इस विश्वब्रह्माण्डमें पाये जाते हैं। तन्त्र-शास्त्रमें यन्त्रोंके द्वारा इस मानव-देहरूपी सूक्ष्म जगत् तथा इस विश्व-ब्रह्माण्ड दोनोंका सङ्केत कराया गया है और इनके ध्यानके द्वारा इसी बातका अनुभव कराया जाता है। तान्त्रिक उपासनाके भीतर एक और महत्त्वपूर्ण रहस्य छिपा हुआ है, जिसका सम्बन्ध हठयोगसे है। वास्तवमें इस उपासनाका प्रारम्भ कामना और मनोभावोंसे होता है और इसका पर्यवसान यौगिक समाधिमें होता है। योग-सम्बन्धी अनुकूल नाडियों, चक्रों तथा चक्रोंके अन्दर रहनेवाली शिराओंको ध्यानके द्वारा जागृतकर उपासक अपने शरीर और मनपर अधिकार कर लेता है और अन्तमें जाकर निराकारके ध्यानकी स्थिति प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। उपासकके लिये यह विधान है कि वह अपने मेरुदण्डमें स्थित शक्तिके छ: महान् केन्द्रों अथवा चक्रोंपर अपना ध्यान जमावे। इनमेंसे प्रत्येकको कमल कहते हैं और उनपर ध्यान जमानेकी विधि यह है कि एक कमलसे दूसरे कमलतक मनको चींटीकी गतिसे पहुँचावे। ऐसा करनेमें आध्यात्मिक चेतनाकी कई अवस्थाओंमेंसे होकर गुजरना पड़ता है। आदिशक्ति कुण्डलाकार सर्पकी भाँति सोयी रहती है, वह कमलनालके सूक्ष्मातिसूक्ष्म तन्तु-जैसी पतली होती है, किन्तु उसकी प्रभा कोटि-कोटि सूर्योंकी प्रभासे भी अधिक होती है। 'यह शक्ति सदैव एक क्रुद्ध सर्पिणीकी तरह फुफकारती रहती है। सदैव यह अपना सिर ऊपर उठाये रहती है। मनकी चञ्चलताका कारण यही है। दूसरी सारी नाडियाँ इससे सम्बद्ध हैं।' उच्च कोटिके ध्यानके लिये यह नितान्त आवश्यक है कि ध्यानके द्वारा इस कुण्डलिनी शक्तिको जागृतकर इसे सबसे नीचेके कमलसे ऊपर उठाकर सबसे ऊपरके कमलपर पहुँचाया जाय जो कपालके ऊर्ध्व-भागमें स्थित है। कुछ शरीरशास्त्र-वेत्ताओंने कुण्डलिनीको Vagus Nerve का ही दूसरा नाम माना है जिसका योगकी प्रक्रियाके अनुसार ध्यानमें बहुत उपयोग होता है। उन्होंने षट्‌चक्रोंको भी हमारे शिराजालके संवेदनशील भागके कुछ खास गुच्छोंके रूपमें माना है।* ऐसा प्रतीत होता है कि शरीरके खास-खास आसनों और प्राणायाम आदि अन्यान्य साधनाओंसे हृदय तथा पेट आदिकी मांसपेशियाँ संकुचित हो जाती हैं जिससे साधारण रुधिरकी गति तथा श्वास-प्रश्वासकी क्रियामें एक प्रकारकी हलचल-सी मच जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि संवेदनशील स्नायुओंमें

* देखिये वी०जी० रेलेका 'The Mysterious Kundalini' नामक ग्रन्थ। मेरी समझमें तो कुण्डलिनीको जागृतकर ऊपरके चक्रोंमें ले जानेका अभिप्राय शरीरके भीतरी अवयवोंके सूक्ष्म स्पन्दनोंको किसी खास क्रमके अनुसार जगानेसे है। शरीरके अवयवोंद्वारा अपने हृद्‌गत भावोंको व्यक्त न करनेसे हमारे मनोभाव एक विशेष भावमय आकृतिके रूपमें अपनेको व्यक्त करनेकी चेष्टा करते हैं। शक्तिके भिन्न-भिन्न व्यक्त रूप इसी प्रकारकी भावमय आकृतियाँ ही हैं।

अत्यधिक उत्तेजना हो जाती है,जिससे सोई हुई कुण्डलिनी (Vagus Nerve) जाग जाती है। योगी लोग इस Vagus नामक शिराके दोनों सिरोंको अथवा केन्द्र-स्थानको उत्तेजित करके अपने वशमें कर लेते हैं। किसी खास नाड़ीको जागृत करनेके लिये दूसरी किसी नाड़ीकी परवा न कर केवल उसी नाड़ीपर ध्यान जमाया जाता है। इससे उस नाड़ीमें एक अन्तर्मुखी प्रेरणा होती है जिसे 'कमल' अथवा कामनाकी पूर्त्तिका विषय अपनी ओर आकृष्ट करता है। इस प्रकार कुण्डलिनीका स्वतन्त्र शिराजालके छः गुच्छोंमेंसे होकर मस्तिष्कतक पहुँचना उच्चकोटिके ध्यानके लिये अनिवार्य माना गया है। कुण्डलिनीको मेरुदण्डके रास्तेसे क्रमशः एक कमलसे दूसरे 'कमल' तक ले जानेसे मन ब्रह्ममें लय हो जाता है।

यह बात ध्यान देनेकी है कि हिन्दू-मन्दिरोंमें जो प्रतिमाएँ स्थापित हैं उनमें कभी-कभी कमल-दलके आकारकी शकलें देखनेमें आती हैं और भगवान् बुद्धकी कुछ मूर्त्तियोंमें बुद्धके अङ्गोंमें एक साँप लिपटा हुआ दिखाया गया है। छः कमलोंको भेदनेकी क्रिया वास्तवमें एक प्राचीन और बहुव्यापी योग-सम्प्रदायका ही एक अङ्ग है। सूफी-मतके कुछ सम्प्रदायोंमें ऐसा माना गया है कि मानव-शरीरमें भिन्न-भिन्न वर्णोंके छः तेजोमय बड़े-बड़े चक्र हैं। इन चक्रोंको शरीरके भीतर इस प्रकार गतिशील करना होता है जिससे वर्णोंकी दृश्यमान विभिन्नताके अन्दर साधक उस मौलिक वर्णविहीन प्रकाशका अनुभव करता है जिसके कारण सारी वस्तुओंका प्रत्यक्ष होता है, परन्तु जो स्वयं अदृश्य है।* इस प्रकार साधक अथवा आत्माकी केवल निराकार-शक्ति अथवा वर्णहीन ज्योतिसे ही एकाकारता नहीं होती अपितु समस्त शारीरिक क्रियाओं और कार्योंमें वह 'माता' के साथ भी अभिन्नता स्थापित कर लेता है। ऐसी दशामें कोई भी वस्तु अपावन अथवा अग्राह्य नहीं रह जाती। प्रत्येक वस्तु एक शक्ति-विशेषका रूप धारण कर लेती है। भिन्न-भिन्न क्रिया-कलाप, व्रत-अनुष्ठान तथा ध्यानकी प्रक्रियाओंके द्वारा साधक धीरे-धीरे इस बातका अनुभव करने लगता है कि ये सभी देवियाँ जो शक्तिके विशिष्ट रूप हैं मानो एक ही मूल ईश्वरीय शक्तिके अंश हैं और स्वयं साधक अपने आत्मरूपमें तथा उसके शरीर और मन—जो भगवतीके विशिष्टरूप हैं—उस परमशक्ति जगज्जननीके ही रूप हैं। अद्वैतवादका यहीं पर्यवसान होता है। इस स्थितिमें पहुँचकर साधक पुकार उठता है—'भगवती मेरा ही रूप है, मैं और भगवती एक ही हैं, मैं भगवतीसे भिन्न नहीं हूँ—मैं मुक्त हूँ।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधक आकारमात्रकी भिन्न-भिन्न देवियोंके रूपमें पूजा करता है। इसके अनन्तर वह शक्तिके छोटे स्वरूपोंसे ऊपर उठकर बड़े स्वरूपोंको पकड़ता है और आगे चलकर उस 'परमशक्ति' की उपासना करने लगता है जो इन सारी विशिष्ट शक्तियोंकी जननी है और जो इन सारी शक्तियोंमें तथा स्वयं साधकके अन्दर तथा उसके रूपमें प्रकट है और अन्तमें जाकर उस महाशक्तिके साथ वह एकाकार हो जाता है; क्योंकि 'माता' के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है।

इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है कि कुछ तन्त्रोंमें शरीरके भीतरी अवयवोंके सूक्ष्म स्पन्दनों, प्रवृत्तियों तथा इच्छाओं और उनसे भी ऊँची मानसिक अवस्थाओंका खास-खास शक्तियों एवं देवियोंके रूपमें विस्तृत एवं सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन मिलता है। इन्द्रियों तथा इच्छाओंके विषयोंका, जिनके सम्बन्धमें मनुष्य साधारण व्यवस्था चाहता है—एक आदर्श और भावमय रूप हो जाता है। इसी प्रकार इन्द्रियोंकी, मनोभावोंकी और इच्छाओंकी देवियाँ स्वयं इच्छाओं और प्रवृत्तियोंको पूर्ण करती हैं। काम-विकार तथा अहंकारकी वृत्तियाँ जो हृदयको इतना व्यथित कर देती हैं, इस आदर्श भूमिकामें पहुँचकर पूरी तौरसे चरितार्थ हो जाती हैं। शास्त्र कहते हैं—**'देवो भूत्वा यजेद्देवम्'**, अर्थात् साधक भिन्न-भिन्न देवियोंकी उपासना तद्रूप होकर करे और उस भावको पूरी तौरसे अपना ले, जिस भावकी अभिव्यक्ति उपास्य देवीके अन्दर हो रही है। मन्त्रशास्त्रमें भिन्न-भिन्न देवियोंके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न मनोभावों और मनोवृत्तियोंका विधान किया गया है। जो साधक किसी विशेष आचार अथवा प्रक्रियाके अनुसार विशेष प्रकारका आचरण करता है उसको

* देखिये— Iqbal: 'Developments of Metaphysics in Persia', page 110.

देवीके यहाँसे उसीके अनुसार उत्तर मिलता है। इस प्रकार देवी और साधकके बीच एक प्रकारका परस्पर व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिससे अन्तमें चलकर क्रमशः मानसिक सन्तोष और समता आ जाती है। फिर साधकको मूर्तियाँ अथवा भावमय पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं जो उसके धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तोंके अनुसार उसके मनोभावों तथा सङ्कल्पसे बनते हैं। ये बायस्कोपके चित्रोंकी भाँति त्वरित गतिसे उसके सामने नहीं आतीं, जिस प्रकार स्वयं साधकके मस्तिष्ककी कल्पनाएँ सामने आती हैं। यहाँ मूर्तियाँ मिलकर एक विचित्र आकार-प्रकार धारण कर लेती हैं और चेष्टापूर्वक निर्धारित किये हुए ढंगपर सजायी जाती हैं। इस प्रकार मनोराज्यमें मूर्त्तियोंका ध्यान एवं भावना करनेसे साधकको आनन्द और शान्तिका अनुभव होता है। उसकी अन्तश्चेतना पूजा और ध्यानकी विधिसे निश्चित की हुई एक विशेष प्रणालीमें प्रवाहित होती है और वहाँ उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। अबतक व्यक्तिगत समागमका जो भाव इतना सुस्पष्ट और घनिष्ठ था वह धीरे-धीरे शिथिल होने लगता है। उसके स्थानमें अब उच्च कोटिके ध्यान और विवेकका उदय होता है और अन्तमें जाकर साधककी आत्मा उसकी विचारधारा अथवा पूर्वके संस्कारोंके अनुसार निराकार अथवा विश्वरूपमें लय हो जाती है।

जो लोग क्रियाकलापके विशद विस्तार तथा उपासनाकी विधिसे पूर्णतया परिचित नहीं हैं उनको ऊपरके बताये हुए सिद्धान्तोंका रहस्य समझाना कठिन ही नहीं, असम्भव होगा। फिर भी 'तन्त्रराज-तन्त्र' में दिये हुए विधानका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है, जिससे इन तत्त्वोंका किञ्चित् स्पष्टीकरण हो सकेगा। उस पद्धतिके अनुसार जिस यन्त्रकी पूजा की जाती है उसे मानवशरीर और विश्व-ब्रह्माण्ड तथा मनुष्य (वस्तुतः जो कुछ पिण्डमें है वही ब्रह्माण्डमें है, और जो ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें है।) एवं ब्रह्म—शक्ति, आकार अथवा आत्माका भी प्रतीक माना जाता है। इस प्रकार यह यन्त्र भगवती महामायाके निज-स्वरूप और विश्व-रूपका प्रतीक है। यन्त्रमें नौ त्रिकोण और वृत्त एकके भीतर एक इस प्रकार बैठाये हुए होते हैं और केन्द्रमें एक बिन्दु होता है। यह केन्द्र ही भगवती महामायाका रूप है जो व्यष्टिमें आत्मरूपसे और विश्वमें परमात्मरूपसे विद्यमान है। त्रिकोणोंके कोणोंमें तथा उनको विभाजित करनेसे जो दूसरे कोण बनते हैं उनमें उन खास-खास देवियोंका निवास है जो मन और प्राणकी विविध क्रियाओं तथा व्यापारोंकी अभिव्यक्तियाँ हैं। इन शक्तियोंकी सूचीके देखनेसे ही इस बातका पता चल जायगा कि इस यन्त्रके द्वारा किन-किन बातोंका सङ्केत किया गया है और उस सांकेतिक प्रक्रियाका क्या स्वरूप है। इस सांकेतिक प्रक्रियासे यन्त्र साधककी एक विशुद्ध मनोवृत्तिका रूप धारण कर लेता है। स्वयं साधक ही यन्त्र बन जाता है तथा ध्यानकी व्यावहारिक प्रक्रिया और शास्त्रविहित संयम एवं साधनाके द्वारा वह अपनेको इसी रूपमें अनुभव भी करता है। उदाहरणार्थ, जब साधक अनेक शक्तियोंसे घिरी हुई रेखाओं, वृत्तखण्डों, त्रिभुजों और कमलदलोंपर ध्यान जमाता है तो वह और-और वस्तुओंके साथ-साथ पाप और पुण्य, काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, आसक्ति, हठकी साकार मूर्त्तियों, मन और इन्द्रियों, नाड़ियों, प्राणवायु और प्राणियोंकी देहमें रहनेवाली अग्नि,अहङ्कार, ज्ञान, धृति और स्मृतिकी देवियों, शब्द, स्पर्श, दृष्टि, स्वाद, घ्राणकी देवियों तथा आनन्द, त्याग, एकाग्रता और वैराग्यकी देवियों,विश्व-चेतना और विश्व-संवेदनकी देवियों, पिण्ड एवं ब्रह्माण्डके उपादानोंकी देवियों और अन्तमें ब्रह्म अथवा माया-महेश्वरका ध्यान करता है, जो विश्वव्यापक शक्तिका ही नाम है और जिसमें सारे भूतप्राणी जीवन धारण करते हैं और जिसके द्वारा सबका सञ्चालन होता है। शास्त्रविहित पद्धतिसे पूजा कर चुकनेपर साधकको चाहिये कि वह अपनेको भगवतीके तुल्य—नहीं, नहीं, अपनेको उनका स्वरूप ही समझे। ध्यानमें बाह्य जगत्से अन्तर्जगत्में प्रवेश करना होता है। शक्तिके निम्नरूपसे उच्चरूपमें जाना होता है। मूर्त्ति पहले तो स्थूल होती है, इसके अनन्तर उसकी शब्दके रूपमें अभिव्यक्ति होती है और अन्तमें जब पूजा और पूजाका फल उसके चरणोंमें चढ़ाया जाता है तब वह निराकार हो जाती है। इस अवस्थामें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय एकरूप हो जाते हैं। अब उपासक आत्मरूप हो जाता है, वह देवीस्वरूप बन जाता है; वह अपनी ही पूजा करता है। उसका शरीर, जो पराशक्तिका बाना धारण कर लेता है, अनन्त विश्व, अखण्ड ब्रह्माण्ड बन जाता है। यन्त्रोंको सामने रखकर,

जो शब्द बार-बार दुहराये जाते हैं, उनसे भी जीवात्मा और विश्वात्माकी एकताका बोध होता है। वे शब्द इस प्रकार हैं—'आहुति ब्रह्म है, हव्य-पदार्थ भी ब्रह्म है, ब्रह्म-रूप अग्निमें ब्रह्म-रूप होता ही आहुति छोड़ता है। जो ब्रह्मको आहुति देनेमें तन्मय हो जाता है, वही ब्रह्म-सायुज्यको प्राप्त होता है।'

इस सम्प्रदायमें ईश्वर शक्तिरूप है और जगदम्बाके रूपमें प्रकट होता है जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों तथा चराचर जीवोंको अनन्त आकाशमें उत्पन्न करती है, पालन करती है और अपने अनन्त गर्भमें समेट लेती है। वह आधार भी है, शक्ति भी है। फिर भी वह देश और कालसे परे है। वह सबसे परे है और उसका परात्पर रूप जाना नहीं जा सकता। तन्त्रयान नामक बौद्ध-सम्प्रदायमें 'निर्वाण' 'निरात्मा देवी' के रूपमें अभिव्यक्त हुआ है। उपासक अपनी संज्ञा और ज्ञानको मिटाकर देवीके अन्दर उसी प्रकार लीन हो जाता है जैसे नमकका पुतला समुद्रमें घुल जाता है। बौद्धोंके 'महासुख-तन्त्र' में साधनरूप 'देवता', जिसका स्वरूप 'करुणा' है, अपनी वधू ज्ञानरूप 'महायोगिनी' के साथ संयुक्त हो जाता है—जो वस्तुत: शून्य है। इन दोनोंका जो एकरूप है, उसके चारों ओर छोटी-छोटी अनेक देवियाँ हैं जो परमेश्वरीके ही अङ्ग हैं और ध्यानके द्वारा उसीमें लीन कर दी जाती हैं। इस प्रकार मातृ-पूजाके सम्प्रदायमें ईश्वरके विश्वरूप तथा अलौकिक रूप—दोनोंके सिद्धान्तोंका अन्तर्भाव हो गया है, जिनसे उपासकके हृदयकी तृप्ति नहीं होती थी। किन्तु उत्पादिका शक्तिके रूपमें भगवती महामाया सदा एकरस रहनेवाले परात्पर तत्त्वका सक्रिय विश्वात्मक रूप है। इस रूपमें उसकी पूजा करनेमें उसके सभी रूपों और आकारोंकी पूजा हो जाती है।

''हे देवि! मुझपर दया करो। तुम्हींसे सारे पदार्थों और आकारोंकी उत्पत्ति होती है और तुम्हीं सबका आधार हो, तुम्हीं भौतिक जगत्का रूप धारण करनेवाली क्रियाशक्ति हो, जीवमात्रका जीवन हो। सत्ता ही तुम्हारा स्वरूप है और तुम्हारी इच्छा ही क्रियारूपिणी है। तुम क्या हो और क्या करती हो यह हमलोग नहीं समझ सकते, शब्द और आकाशके रूपमें तुम्हें नमस्कार। स्पर्श और वायुके रूपमें तुम्हारे चरणोंमें प्रणाम। दृष्टि और अग्निके रूपमें तुम्हारे चरणोंमें प्रणाम। रस और जलके रूपमें तुम्हारे चरणोंमें प्रणाम। गन्ध-गुणवाली पृथिवीके रूपमें तुम्हें प्रणाम। श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा एवं नासिकाके रूपमें तुम्हें नमस्कार। मुख, भुजा, चरण और गुह्येन्द्रियोंके रूपमें तुम्हें प्रणाम। बुद्धि, अहङ्कार और मनके रूपमें तुम्हें प्रणाम। समस्त विश्वके रूपमें तुम्हें बार-बार नमस्कार।''

आधुनिक विज्ञानकी कृपासे अब हम इस सिद्धान्तसे परिचित होते जा रहे हैं कि संसारकी प्रत्येक वस्तु, उदाहरणत: तितलीके पंखोंके रंग अथवा बहुत भारी मशीन, किसी अति सुन्दरी रमणीके पवित्र विचार अथवा किसी गिरजाघरका तोपसे उड़ाया जाना—यह सब कुछ शक्तिके एक रूपका दूसरे रूपके साथ सम्बन्ध-मात्र है। नर-नारी, कीट-पतङ्ग, खाद्य-पदार्थ, पृथिवी और नक्षत्र—ये सब-के-सब शक्तिके सर्वव्यापी और दुर्निवार नृत्यमें उलझे हुए हैं। आजकल मनुष्य सर्वत्र-इस जड़-जगत् और मानव-प्रकृतिका जो उसे ज्ञान है उसके अनुसार वस्तु-तत्त्वको अभिव्यक्त करनेका प्रयास करता है।

वैज्ञानिक प्रक्रियाका उद्देश्य वस्तु-तत्त्वोंका वर्गीकरण, उनके पारस्परिक सम्बन्धों तथा क्रमोंकी तुलना और अन्तमें जाकर कुछ संक्षिप्त सूत्रों अथवा नियमोंका रच लेना है, यद्यपि ये नियम ऐसे नहीं होते जिन्हें माननेके लिये प्रकृतिकी क्रियाएँ बाध्य हों। ठीक जैसा मि० हॉबसनने कहा है, जहाँतक प्राकृतिक विज्ञानसे सम्बन्ध है यह कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है कि किसी एक नियमके साथ-साथ उसीके अनुरूप प्रकृतिके अन्दर रहनेवाला एक निश्चित सम्बन्ध-समूह भी होता है। प्राकृतिक विज्ञानको लेकर इस बातकी कल्पना करनेकी तो और भी कम आवश्यकता है कि उस-उस नियमके अनुरूप वस्तु-तत्त्वोंके पारस्परिक सम्बन्धोंका भी एक समूह होता है। विज्ञान ज्यों-ज्यों उन्नति करता जाता है त्यों त्यों वह अधिक सूक्ष्म होता जाता है। क्रमश: उसका रूप भावनात्मक व्यवस्थामात्र रह जाता है, जो सूक्ष्मीकरणकी एक ऐसी प्रक्रियासे उपलब्ध होती है जिसमें हमारे सिद्धान्तोंके कुछ अंशोंका बहिष्कार हो जाता है और उनपर ध्यान नहीं दिया जाता। इस प्रकार विज्ञान और धर्ममें कोई विरोध नहीं रह जाता। इतना

ही नहीं, जिस समय ये दोनों ही आगे बढ़कर सांकेतिक भावोंमें परिणत हो जाते हैं, इनमें सर्वथा सामञ्जस्य और मेल हो जाता है। विज्ञानमें एक प्रकारके तत्त्वोंका निरूपण है और धर्ममें दूसरे प्रकारके तथ्योंका। विज्ञान और धर्मकी प्रारम्भिक अवस्थाओंमें दोनोंके सिद्धान्तोंके स्वरूप तथा श्रेणीमें अवश्य भेद रहेगा—दोनों सर्वथा भिन्न प्रतीत होंगे; परन्तु आगे चलकर जब उनके द्वारा सूक्ष्म तत्त्वोंका विवेचन होता है उस समय प्राकृतिक विज्ञान तथा धर्म एक ही प्रकारके सङ्केतोंके द्वारा वस्तु-तत्त्वका निरूपण करते हैं। वस्तु-तत्त्वके सम्मुख विज्ञान और धर्म दोनों मूक और निःसहाय हो जाते हैं। ईश्वरको उत्पादिका-शक्तिके रूपमें पूजनेकी जो भावात्मक पद्धति है वह वैज्ञानिक विचार-धारासे बहुत अधिक मेल खाती है; क्योंकि विज्ञान तो इसी बातपर जोर देता है कि जड-प्रकृति 'शक्ति' का ही रूपान्तर है तथा सजीव एवं निर्जीव सभी पदार्थोंकी प्रत्येक क्रिया उस आणविक शक्तिका ही एकतम रूप है, जिसके द्वारा यह शून्य व्याप्त है। विज्ञान सत्तामात्रको 'शक्ति' का ही विभ्रम-विलास मानता है। धर्मका भी ठीक यही सिद्धान्त है; यद्यपि उसकी भावना अधिक व्यापक है। विज्ञानकी दृष्टिमें शक्ति एक अन्धप्रवाह है जो मनुष्य-जीवनके मूल्य तथा महत्त्वका कुछ भी खयाल नहीं रखता। धर्ममें ईश्वर शक्ति-रूपमें समस्त गुणोंकी मूर्ति है। भारतीय भाषाओंमें समस्त मानवीय गुणों और भावोंको स्त्रीरूपमें व्यक्त किया गया है। वे सभी पदार्थ जिनके लिये स्त्रीवाचक शब्दोंका प्रयोग हुआ है, भगवती शक्तिके ही रूप हैं।

इस प्रकार शक्ति-रूपमें ईश्वर सृष्टिको उत्पन्न करता है, पालन करता है और संहार करता है। जिस समय समस्त जीव और व्यक्त जगत् मूल अन्धकारमें लीन हो जाते हैं, उस समय सर्वव्यापक अनन्तके प्रवाहमें बहते हुए विश्वब्रह्माण्डकी अनन्त नीरवतामें वही विद्यमान रहती है। जिस शब्दने सर्वप्रथम विश्वमें प्राणका सञ्चार किया वह शब्द भी उसीका रूप है। प्रकाश और अन्धकारकी भाँति दिनमें उसके अधर खुल जाते हैं और रात्रिमें मुकुलित हो जाते हैं। उसका भाल चन्द्रमासे सुशोभित है। विश्वके अनन्त आकाशमें उदीयमान सहस्र सूर्योंका-सा उसका तेज है। उसकी अगाध कुक्षिमें अनन्त आकाशमें रहनेवाले अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अन्तर्हित रहते हैं। यही नहीं, मानवीय मनोभावों, अभिलाषाओं और सिद्धियोंके रूपमें जीवनका आन्तरिक अभिप्राय भी वही है। इस प्रकार वह मनुष्यको अज्ञानके बन्धनसे मुक्त कर देती है। मुक्ति देनेके समय वह विशुद्ध ज्ञानस्वरूप होकर रहती है। उसका शरीर ही समस्त विज्ञान और दर्शनस्वरूप है। परन्तु विश्वके रहस्यकी भाँति उसका मन परम गहन एवं अचिन्त्य है। इस प्रकार तत्त्वदर्शी ऋषि उसकी अज्ञेयरूपमें उपासना करते हैं। ऐश्वर्यदायिनीके रूपमें वह त्रिभुवनकी निधिसे सुसमृद्ध रहती है। देवालयों और गिरिजाघरोंके मण्डपोंमें, रमणियोंके वस्त्राभरणोंमें और घरोंकी सजावटमें वह कलाके रूपमें रहती है। प्रेमके उल्लासमें वह स्मेरमुखी विकसितयौवना मुग्धाङ्गनाके रूपमें विद्यमान रहती है। उसके रसीले मदभरे नेत्र प्रेमके उन्मादमें थिरकते हैं और वह मदिराकी प्याली हाथमें लिये मस्त होकर झूमती है। सौन्दर्यके विकासकी क्रिया भी वही है और वे समस्त ललित कलाएँ एवं प्रसाधन जो जीवनको मधुर, सुन्दर और आनन्दमय बनाते हैं, उसीके रूप हैं। काम भी उसीका रूप है। पारिवारिक सुखके रूपमें भी वही दृष्टिगोचर होती है। भिन्न-भिन्न जातियों, व्यवसायों और जीवन-निर्वाहके साधन भी वही बनी हुई है। वही जगज्जननी है, जो मानव-जगत्में शान्ति, आनन्द, सौन्दर्य और सुख-समृद्धिका रूप धारण किये हुए है।

ईश्वर मङ्गलमय है, कल्याणमय है। जगदम्बाकी प्रार्थनाका साधारण-से-साधारण रूप जो हमें धर्मके द्वारा मिलता है, वह इस प्रकार है—'माँ तुम कल्याणमयी हो, कल्याणदायिनी हो। तुम्हीं सब कामनाओं और अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाली हो।' अनन्त आकाशमें ब्रह्माण्डरूपी कमल इतस्ततः तैरते रहते हैं और अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डोंकी जननी आदि-शक्ति उनके अन्दर निवास करती है।

ईश्वर ही सनातन कुमारी है, जो खिले हुए कमलोंके गुच्छेके समान नवीन और कोमल है और जिसके नेत्ररूपी कमल विश्वरूप जलमें तैरते हैं। वह मनुष्योंकी ओर प्रेमपूर्ण एवं करुणाभरी दृष्टिसे देखती है और उसकी वाणीमें सन्ध्याकालीन मन्द-मन्द वायुका सुकोमल संगीत भरा हुआ है। जब मनुष्यकी आँखें उसकी

आँखोंके स्पर्शमें आती हैं और उसके अधर मनुष्यके अधरोंपर थिरकने लगते हैं, तब वह उसकी आत्माको अपनेमें और अपनी आत्माको उसके अन्दर देखने लगता है। यहाँतक कि उसका पुरुषभाव भी मिट जाता है और संसारके सभी पदार्थ मधुर और कोमल हो जाते हैं।

माताका स्नेह भी ईश्वरका ही रूप है। सभी सङ्कटोंमें मनुष्य अपनी छोटी-छोटी भुजाओंसे माताके गलेमें लिपटकर उसकी गोदमें एक मुग्ध शिशुकी भाँति निश्चिन्त होकर सोता है और उसकी अलकावली समयरूप वायुमें फहराती रहती है।

ईश्वर आदि-जननी है। जब उसका विश्व-नृत्य प्रारम्भ होता है तब उसके श्याम चिकुर बिखरकर असंख्य सूर्यरहित आकाशोंका रूप धारण कर लेते हैं। बड़े-से-बड़े सूर्यसे लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र परमाणुतक सब कोई अनेक प्रकारके पैंतरे बदलते हुए उसके साथ नाचते रहते हैं। उसके चञ्चल चरण सभी स्थानोंको व्याप्त किये रहते हैं और जब वह पैंतरा बदलती है, उस समय उस स्थान और समयके परिवर्तनके साथ-ही-साथ दहकते हुए स्फुलिङ्ग आकाशमार्गमें अनिश्चितरूपसे भिन्न-भिन्न गतिसे घूमने लगते हैं, चक्कर काटने लगते हैं।

माताके रूपमें ईश्वर उत्पादिका-शक्ति है, जो मन और जड-प्रकृतिमें, नहीं-नहीं, आकारमात्रमें तथा सौन्दर्य और वाणीमें व्यक्त है। शक्ति-रूपमें वह शक्तिको प्रेरित करती है,माताके रूपमें वह त्यागकी, आत्मोत्सर्गकी,— बीजके लिये वृक्षके आत्मोत्सर्गकी, बच्चोंके लिये जीवमात्रके उत्सर्गकी, सन्तान और मनुष्यमात्रके लिये मनुष्यके उत्सर्गकी, समाजके लिये जातियोंके उत्सर्गकी और भावी सन्ततिके लिये समाजोंके उत्सर्गकी प्रेरणा करती है।

उत्पादिका-शक्तिके रूपमें ईश्वर प्रकाश है, व्यक्त ऊष्मा है, आकर्षण है, वह विद्युत्-प्रवाह है जिसमें अशेष ब्रह्माण्ड बहते रहते हैं। दिव्य प्रेम तथा बोध भी वही है, वही विश्वकी योनि है। उसीसे विविध देश, काल और शक्तिका आविर्भाव होता है; वह उसका मूल उत्स है—वहींसे विविध तेजोमय अथवा धूम्रवर्ण विश्वों तथा विविध मानसिक एवं स्थूल भौतिक पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है।

ईश्वरका शक्ति-रूप कभी-कभी बहुत भीषण और भयावना होता है। वही युवकके हृदयमें प्रेमको जागृत करती है और वही अपनी सर्वोपरि एवं स्वतन्त्र इच्छासे उसकी प्रेयसीको छीन लेती है। संहारिणी शक्ति भी वही है। क्रोधके आवेशमें जब वह उत्तेजित हो उठती है तो प्रखर तेजसे युक्त सूर्य भी सौरमण्डलसे इस प्रकार च्युत हो जाते हैं जैसे वृक्षोंसे पत्तियाँ झड़ जाती हैं। उसकी विकराल आकृतिको देखकर भिन्न-भिन्न प्रकारकी वनस्पतियाँ और जीव, समाज और संस्कृतियाँ उसके सर्वग्रासी मुखमें प्रवेश कर जाती हैं। ईश्वर ही इन्द्रियोंके द्वारा गूँथे हुए फूलोंके हारका धागा है और इन्द्रियोंकी प्रत्येक क्रिया उसीको इस मालाका उपहार चढ़ाती है।

ईश्वरको मन और जड-प्रकृतिके भीतर ओतप्रोत मान लेनेपर इन्द्रियोंके विषय और भोग दोनों पवित्र हो जाते हैं। वे ईश्वरके शरीरके ही अङ्ग बन जाते हैं और परम पवित्र एवं श्रद्धाकी वस्तु बन जाते हैं। इसी प्रकार धार्मिक भावमें भोगमात्रमें ईश्वरार्पण-बुद्धि हो जाती है, सारे सुख ईश्वरके प्रसादरूप बन जाते हैं और सारे कर्म यज्ञरूप हो जाते हैं। कामकी उस प्रबल उन्मादिनी शक्तिका भी, जिससे वैराग्य सदा दूर भागता है, रूपान्तर हो जाता है। यदि यह सच है कि मनुष्यके मनोभावों और संकल्पकी अस्थिरताका उसके मिथुन-जीवनसे घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा यदि यह भी सच है कि पुरुषका स्त्रीके साथ अथवा स्त्रीका पुरुषके साथ घनिष्ठ-से-घनिष्ठ सम्पर्क हुए बिना दोनोंमेंसे कोई भी अपनी मनोवैज्ञानिक उन्नतिकी चरमावस्थाको नहीं पहुँच सकता तो धर्ममें पति-पत्नी-सम्बन्धकी अवहेलना नहीं होनी चाहिये। बल्कि एक व्यावहारिक धर्ममें तो पति-पत्नी-सम्बन्धके लिये अवश्य स्थान होगा। संसारके एक बहुत बड़े भागमें पुरुष और स्त्रीके बीच भाव-साम्य अथवा आध्यात्मिक सहानुभूति बहुत कम देखनेमें आती है और एक-दूसरेकी सूक्ष्म मनोवृत्तियों तथा भावोंकी अभिव्यक्तिके अनुकूल बननेकी चेष्टाकी कमी देखी जाती है। ऐसी दशामें विवाहका आध्यात्मिक रूप नहीं हो सकता।

धार्मिक साधनामें पुरुष और स्त्रीका घनिष्ठ सम्बन्ध एवं साहचर्य होनेसे तथा पति-पत्नी-सम्बन्धको त्याज्य न समझकर आध्यात्मिक साहचर्यके लिये उपयोगी तथा

जीवनको उन्नत बनानेवाली शक्तिके रूपमें समझनेसे पति-पत्नी-सम्बन्धका रूप निरा वासनात्मक न रहकर उससे कहीं ऊँचा हो जाता है; फिर विवाहका रूप केवल शारीरिक सम्बन्धमात्र नहीं रह जाता। इससे मनुष्यके अन्दर जो सबसे बड़ा और सर्वोत्तम गुण है—अर्थात् परमतत्त्व यानी ईश्वरके प्रति प्रेम—वह स्थिर हो जाता है। जो मनुष्य प्रेमसे परहेज करता है अथवा सांसारिक स्नेह और आध्यात्मिकताके परस्पर असम्बद्ध विभागोंमें अपने जीवनको विभक्त कर देता है वह पूर्णताको प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार मिथुन-प्रेमकी गणना धार्मिक अनुभूतिके रूपमें होनी चाहिये। इस तरह पति-पत्नी-सम्बन्धको धार्मिक अनुभवके रूपमें बहुत ऊँचा स्थान दिया जाता है। इसलिये मनुष्यको प्रार्थना करनी चाहिये पति-पत्नी-सम्बन्धसे मुक्त होनेकी नहीं, अपितु उसकी बुराइयोंसे बचनेकी। ऐसा होनेसे उसके मिथुन-जीवनमें धार्मिक साहचर्यका भाव आ जायगा, जिससे संयोगकी प्रगाढ़ावस्थामें भी वह उत्तेजना अथवा चञ्चलताका अनुभव नहीं करेगा और पूर्ण पुरुषत्वके साथ अक्षुब्ध शान्तिका संयोग रहेगा जो दोनोंमेंसे किसीके लिये हानिकर नहीं होगा। ईश्वरकी भावना एक परम शक्तिके रूपमें करनी चाहिये, जिसका रूप प्रेमकी उत्कट वासना भी है और परम दिव्य समाधिकी निर्विकल्प अवस्था भी। कोई भी वस्तु अपवित्र नहीं है, क्योंकि ईश्वरके चरण सर्वत्र हैं। 'तुम्हीं मेरी आत्मा हो। मेरी बुद्धि ही तुम्हारी सङ्गिनी है। मेरे प्राण तुम्हारे सेवक हैं, सहचर हैं। मेरा यह शरीर ही तुम्हारा घर है। सांसारिक विषय-भोगोंकी समृद्धि ही तुम्हारी पूजा है। निद्रा ही समाधि है। मेरा चलना-फिरना तुम्हारी प्रदक्षिणा है। मैं जो कुछ बोलता हूँ, वह सब तुम्हारी स्तुति है और जो कुछ मैं करता हूँ वह सभी तुम्हारी आराधना है।'—यह सबसे बड़ी उपासना है, सबसे महान् समर्पण है।

अज्ञानियोंकी दृष्टिमें ईश्वर हौवा है, मूर्ति है अथवा पूजा है; बुद्धिमानोंके लिये वही रहस्यमय है और उसके हजारों नाम हैं। बच्चेके लिये ईश्वर क्रीडा-सहचर है, खेलका साथी है; वही युवकके लिये प्रेम और सौन्दर्यसे पूर्ण मधुर व्रीड़ामयी रमणी है। सांसारिक मनुष्योंके लिये ईश्वर सांसारिक वासनाओंका पवित्र रूप है और इच्छाओंकी पूर्त्तिकी कला और कर्मकाण्ड है। मानवसमाजके नेताओंके लिये ईश्वर त्याग और आत्मोत्सर्गकी सर्वश्रेष्ठ मूर्त्ति है। वृद्धोंके लिये सर्वस्व और एकमात्र सहारा है।

ईश्वरके शरीरकी रचना मनुष्यकी निगूढ़तम एवं अत्यन्त तीव्र इच्छाओं और आकाङ्क्षाओंसे हुई है। वासनाकी उत्कटतामें, ज्ञानकी अक्षुब्धतामें और क्रियाशीलताके कड़े-से-कड़े समयमें ईश्वर मनुष्यके साथ है। और जब दुर्भाग्य या मृत्युसे वासना पूर्ण नहीं होती, क्रिया निष्फल हो जाती है, और मनुष्य अपनेको कालकी बालुकामयी भूमिमें पड़ा हुआ पाता है—उस स्थितिमें भी वह ईश्वरको कल्याणमय मानता हुआ उनकी उपासना करता है। उसका ज्ञान जब यह सोचकर काँपने लगता है कि यह विश्व जो उसकी सफलता तथा आपत्तियोंका केन्द्र है—एक-न-एक दिन साधारण जीवोंकी भाँति समस्त सौर-मण्डलके अवश्यम्भावी नाशके समय नष्ट हो जायगा—उस समय भी ईश्वर तो सर्व सत्के रूपमें विद्यमान रहता है। सर्वग्रासी काल और देशमें ईश्वरका सनातन नृत्य होता है। जीवन और मृत्यु, सृष्टि और प्रलय उसके सर्वदा कोमल एवं अनवरत रूपसे होनेवाले स्वर एवं तालसे युक्त नृत्यके नमूने हैं। जब वह अन्धकारमय अनन्त आकाशमें शानके साथ सपाटेसे पद-सञ्चालन करता है उस समय सहस्र-सहस्र ब्रह्माण्ड और जीव कमल-पुष्पोंकी भाँति उत्पन्न हो जाते हैं और ईश्वर उनके चुम्बनमें विरम जाता है और उसका यह चुम्बन ही सृष्टिकी सुषमा और आशा है। जब वह निरुद्देश्यताकी शानमें तेजीसे पुनरावर्तित होता है—सहस्र-सहस्र ब्रह्माण्ड और जीव अपनी स्वल्प दिनचर्या समाप्तकर उसके सर्वग्रासी मुखमें समा जाते हैं; उस समय न जगत् ही रहता है न मनुष्य ही, और ईश्वर संवेदना, विचार और स्वप्नसे शून्य हो जाता है।

शङ्कर और शक्तिवाद

(लेखक—श्रीवाई० सुब्रह्मण्य शर्मा)

शाक्त-सिद्धान्तोंके प्रतिपादनमें स्वामी शङ्कराचार्य प्रमाणस्वरूप माने जाते हैं—साथ ही कुछ शाक्त उन्हें मायावादी एवं अपने कुछ मुख्य सिद्धान्तोंका विरोधी कहकर उनकी अवज्ञा भी करते हैं। जो विद्वान् पहले मतके पोषक हैं वे उनके सौन्दर्यलहरी आदि ग्रन्थोंसे अपने मतकी पुष्टि तथा समर्थन करते हैं। और जो इस मतके विरोधी हैं उनका यह कथन है कि स्वामी शङ्कराचार्यके सिद्धान्तोंको ठीक-ठीक जानने-समझनेके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उनके छोटे-मोटे ग्रन्थोंकी अपेक्षा उनके प्रधान-प्रधान आकर (classical) ग्रन्थोंको देखा जाय। इस छोटे-से लेखमें हम इस बातका दिग्दर्शन करानेकी चेष्टा करेंगे कि श्रीशङ्कराचार्यके इन छोटे-मोटे ग्रन्थोंमें भी कहीं उनके अद्वैत-सिद्धान्तका विरोध नहीं होता।

'सौन्दर्यलहरी' का पहला ही श्लोक शिव और शक्तिके सम्बन्धका इस प्रकार निरूपण करता है—

शिवः शक्त्यायुक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥

यहाँ हमें इस शाक्त-सिद्धान्तका संक्षिप्त परिचय मिल जाता है कि जगत् महेश्वर अर्थात् शिवकी शक्तिका ही विलास है। अवश्य ही शाक्तलोग शिव और शक्तिकी भिन्न सत्ता नहीं मानते, क्योंकि वस्तुतः ये दोनों एक ही हैं। 'शक्ति' और 'शक्तिमान्' में वस्तुतः कोई अन्तर हो नहीं सकता। अतएव 'सौन्दर्यलहरी' में कहा गया है—

शरीरं त्वं शम्भोः शशिमिहिरवक्षोरुहयुगं
तवात्मानं मन्ये भगवति नवात्मानमनघम्।
अतः शेषः शेषीत्ययमुभयसाधारणतया
स्थितः सम्बन्धो वां समरसपरानन्दपरयोः॥

शरीर आत्माके बिना नहीं रह सकता—न आत्मा ही शरीरके बिना अपनेको व्यक्त कर सकता है। दोनों ही अन्योन्याश्रित कहे जा सकते हैं।

ठीक इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन ब्रह्मसूत्र-भाष्यमें हुआ है—

न हि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिध्यति। शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः।

(ब्र० सू० शां० भा० १। ४। ३)

'उसके बिना परमेश्वर स्रष्टा नहीं हो सकते; क्योंकि वे शक्तिके बिना क्रियाशील नहीं हो सकते।' ब्रह्मकी विविधरूपिणी शक्तिके कारण ही सृष्टिमें विभिन्नता दीखती है।

एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवद्विचित्रपरिणाम उपपद्यते।

(ब्र० सू० शां० भा० २। २। १४)

इस पराशक्तिके कारण ही ब्रह्मको शरीर अथवा इन्द्रियोंको धारण करनेकी आवश्यकता नहीं होती और उनके बिना भी वह सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है।

न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

(श्वेता० ६। ८)

शाक्त-मतानुसार शिव ही अपनी शक्तिके द्वारा विश्वरूप हो जाते हैं—अथवा इसे बहुधा इस प्रकार कहा जाता है कि शिव अपनी अपरिच्छिन्न सत्ताको त्यागकर परिच्छिन्न जीव बन जाते हैं और इस प्रकार संसारके सुख-दुःखोंका उपभोग करते हैं। इसलिये प्रत्येक जीव आत्मरूपसे शिव है और मन एवं शरीरके रूपमें शक्ति है। वस्तुतः शिवको जीवरूपमें भोगके लिये जिन-जिन उपकरणोंकी आवश्यकता है उन-उन रूपोंमें स्वयं शक्ति ही प्रकट हो जाती है।

मनस्त्वं व्योम त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां न हि परम्।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा
चिदानन्दाकारं शिवयुवतिभावेन बिभृषे॥

(सौन्दर्यलहरी ३५)

सारा व्यक्त जगत् अर्थात् पञ्चतत्त्वोंका बना हुआ यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा अहङ्कार शिवकी प्रधान अर्द्धाङ्गिनी भगवती जगदम्बाके ही रूप हैं। इसीसे

मिलता-जुलता सिद्धान्त वेदान्तका भी है जहाँ यह माना गया है कि ब्रह्म जीवके रूपमें संसारमें प्रवेशकर नाम-रूपकी सृष्टि करता है—

अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति।

(छान्दो० ६। ३। २)

सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च। निलयनञ्चानिलयनञ्च। विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च। सत्यञ्चानृतञ्च। सत्यमभवत्। यदिदं किञ्च। (तैत्ति० २। ६)

फिर भी एक मूल-सिद्धान्तको लेकर इन दोनों मतोंमें परस्पर भेद दृष्टिगोचर होता है। तान्त्रिक समस्त संसारको सत्य मानते हैं। यह विश्व नाना जीवोंके रूपमें शिवकी ही अनुभूति है; अतएव यह कभी असत्य नहीं हो सकता। जीव मन और शरीरसे युक्त हुआ शिव ही है। अतएव वह वास्तवमें अन्तर्यामी शिव तथा क्रियाशील शक्ति अर्थात् विकासोन्मुख सृष्टि-क्रिया दोनोंके अनुकूल है। शिव चेतनाका अव्यक्त रूप है और शक्ति उसका सक्रिय रूप है। अत: इन दोनोंमें कोई विरोध नहीं होना चाहिये।

यही एक सिद्धान्त स्वामी शङ्कराचार्यको कभी सम्मत नहीं हुआ। उनकी दृष्टिमें शिव एक ही साथ, एक ही समय सक्रिय और निष्क्रिय नहीं हो सकते। वास्तवमें वह इन दोनों रूपोंसे परे हैं। ब्रह्मसूत्र (२। १। १४)-के भाष्यमें शङ्करने बहुत विस्तारके साथ इस सिद्धान्तका खण्डन किया है कि ब्रह्म 'एक' भी है और 'अनेक' भी। अपनी विविध शक्तियों और क्रियाओंसे संवलित ब्रह्मकी तुलना एक अनेक शाखावाले वृक्ष अथवा अगणित तरङ्गवाले समुद्र अथवा एक मिट्टीके ऐसे पिण्डके साथ की जा सकती है जो घड़ा, सकोरा तथा अन्यान्य बरतनोंका आकार धारण कर लेता है। पूर्वपक्षका यह कथन है कि हमारा मत सिद्धान्त पक्षकी अपेक्षा इसलिये अधिक मान्य है कि हमारे मतमें ब्रह्मकी एकताको लेकर ज्ञानके द्वारा परममुक्ति हो सकती है और साथ ही उसकी अनेकताको लेकर साधारण लौकिक तथा वैदिक व्यवहार हो सकते हैं।

एकत्वांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयौ लौकिकवैदिकव्यवहारौ सेत्स्यत इति।

पाठकोंको यहाँ यह स्मरण दिलानेकी आवश्यकता नहीं है कि जिस पूर्वपक्षकी यहाँ चर्चा की गयी है वह उन्हीं लोगोंका सिद्धान्त है जो यह मानते हैं कि तान्त्रिक साधना करनेवालोंके लिये भुक्ति और मुक्ति दोनोंकी प्राप्ति निश्चित है। शङ्करने इस सिद्धान्तका बड़े ही जोरदार शब्दोंमें खण्डन किया है। उनका कथन है कि श्रुति समस्त विकारोंको असत् ठहराती है और एकमात्र ब्रह्मकी ही सत्यताका समर्थन करती है—

ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम् इति च परमकारणस्यैवैकस्य सत्यत्वावधारणात्।

शङ्करके विचारसे उन लोगोंके लिये जो ब्रह्मकी एकता और नानात्व दोनोंमें विश्वास करते हैं ज्ञानजन्य परममुक्ति असम्भव है, क्योंकि वे किसी मिथ्या ज्ञानको संसारका कारण नहीं मानते।

सम्यग्ज्ञानापनोद्यस्य कस्यचिन्मिथ्याज्ञानस्य संसारकारणत्वेनानभ्युपगमात्।

यह नहीं कहा जा सकता कि सृष्टिका उल्लेख करनेवाली श्रुतियाँ जगत्की उत्पत्तिपर विशेष जोर देती हैं, क्योंकि, जैसे शङ्करने अन्यत्र कहा है, उनका वास्तविक अभिप्राय ब्रह्मकी एकताका प्रतिपादन करना है।

जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुत्वश्रुतेरनेकशक्तित्वं ब्रह्मण इति चेत् न, विशेषनिराकरणश्रुतीनामनन्यार्थत्वात्। उत्पत्त्यादिश्रुतीनामपि समानमनन्यार्थत्वमिति चेत् न, तासामेकत्वप्रतिपादनपरत्वात्।

आत्माकी एकता, नित्यता और शुद्धताके ज्ञानका उदय होते ही मनुष्यकी सारी अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाती हैं और इसके बाद उसे किसी प्रकारकी जिज्ञासा नहीं रह जाती। सृष्टिका वर्णन करनेवाली श्रुतियोंसे इस प्रकारका परम सन्तोष नहीं हो सकता। (ब्रह्मसूत्र ४। ३। १४) इसलिये हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि जिसे हम ब्रह्मकी शक्ति कहते हैं वह ईश्वरकी अविद्याद्वारा अधिरोपित नाम-रूपके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। इसीको अविद्याके कारण लोग ईश्वरका स्वरूप मान लेते हैं। वास्तवमें इसे हम न तो ईश्वरका वास्तविक स्वरूप कह सकते हैं और न ईश्वरसे भिन्न कह सकते हैं। इसी अर्थमें इसे विश्वप्रपञ्चका बीज कह सकते हैं और इसी बीजको श्रुतियों एवं स्मृतियोंने माया, शक्ति और प्रकृति आदि भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा है।

सर्वज्ञस्येश्वरस्य आत्मभूते इव अविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य माया, शक्तिः, प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते।

(ब्र० सू० शां० भा० २। १। १४)

इसी अर्थमें प्रभु सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं न कि अपने निर्विशेष वास्तविक स्वरूपमें।

तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेव ईश्वरस्य ईश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वञ्च, न परमार्थतो विद्ययापास्त-सर्वोपाधिस्वरूपे आत्मनि ईशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते। (ब्र० सू० शां० भा० २। १। १४)

फिर यह जो कहा जाता है कि शङ्करकी शाक्त-सिद्धान्तसे पूर्ण सहानुभूति है—यह कैसे? तो फिर क्या उनके जिन-जिन ग्रन्थोंमें ईश्वरतत्त्वका शक्तिरूपमें निर्देश किया गया है उन्हें शङ्करप्रणीत न माना जाय? मेरी विनम्र सम्मतिमें तो हमें इस निर्णयपर पहुँचनेकी आवश्यकता नहीं है। शङ्कर शुद्ध अद्वैतवादी रहते हुए भी महामाया आदिशक्ति जगज्जननीके रूपमें ईश्वरकी उपासना करनेका समर्थन कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि उनके सर्वव्यापक सिद्धान्तमें व्यावहारिक दृष्टिसे हर प्रकारके शास्त्रीय कर्म, उपासना एवं ध्यान आदिके लिये स्थान है। वस्तुतः देखा जाय तो ईश्वरके विश्वजननीरूपकी भावना उपनिषदोंके सिद्धान्तसे पूरी तरह मेल खाती है। श्वेताश्वतरोपनिषद्में आता है कि ईश्वरका कोई लिङ्ग या जाति नहीं है। '**नैव स्त्री न पुमानेषः**' (५। १०) किन्तु फिर भी वह पुरुष भी हो सकता है, स्त्री भी; कुमार भी हो सकता है, कुमारी भी—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।

(४। ३)

यहाँतक कि 'छान्दोग्य' तो स्पष्ट शब्दोंमें ब्रह्मके लिये स्त्रीवाचक 'देवता' शब्दका प्रयोग करता है (६। ३। २)। महर्षि बादरायण भी—'**सर्वोपेता च तद्दर्शनात्**' (२। १। ३०)—आदि सूत्रोंमें श्रुतिका ही अनुसरण करते हैं और इसीके अनुसार शङ्कर लिखते हैं—

सर्वशक्तियुक्ता च परा देवतेत्यभ्युपगन्तव्यम्, कुतः? तद्दर्शनात्। यथा हि दर्शयति श्रुतिः सर्वशक्तियोगं परस्या देवतायाः।

अर्थात् यह परा देवता अवश्य ही सर्वशक्तिमती है—यह स्वीकार करना होगा। क्यों? क्योंकि श्रुति ऐसा कहती है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शङ्करने शक्तिवादका जो विरोध किया है वह देखनेमें ही है, वास्तविक नहीं। वे तो बड़े उत्साहके साथ एवं पूर्णरूपसे उन लोगोंका साथ देनेके लिये तैयार हैं जो परमतत्त्वको 'शक्ति' नामसे सम्बोधित करना चाहते हैं। विश्वके कारणरूप 'ब्रह्म' निस्सन्देह 'शक्ति' से अभिन्न हैं और न शक्ति ही कारणरूप ब्रह्मसे भिन्न हैं। क्योंकि '**अन्ततो गत्वा**' कारण, शक्ति तथा कार्य एक ही हैं।

कारणस्यात्मभूता शक्तिः, शक्तेश्चात्मभूतं कार्यम्।

(ब्र० सू० शां० भा०)

इस दृष्टिकोणको लेकर वास्तवमें हम शङ्करको सर्वोपरि 'शाक्त' मान सकते हैं।

ऊपर हम जिस निर्णयपर पहुँचे हैं वह शङ्करके उन ग्रन्थोंके सर्वथा अनुकूल है जिनमें बिलकुल शाक्तोंके-से भाव भरे हुए हैं। जैसा कि नीचेके दो उद्धरणोंसे पता लगेगा—

शब्दब्रह्ममयी चराचरमयी ज्योतिर्मयी वाङ्मयी
नित्यानन्दमयी निरञ्जनमयी तत्त्वंमयी चिन्मयी।
तत्त्वातीतमयी परात्परमयी मायामयी श्रीमयी
सर्वैश्वर्यमयी सदाशिवमयी मां पाहि मीनाम्बिके॥

(मीनाक्षी-स्तोत्र)

चकारः निर्गुणब्रह्मणोऽपि सगुणब्रह्मविशेषणसद्भाव-समुच्चयपरः सर्वत्रापि द्रष्टव्यः। 'सच्चिन्मयः शिवः साक्षात्तस्यानन्दमयी शिवा' इति वचनेन 'स्त्रीरूपां चिन्तयेद्देवीं पुंरूपामथवेश्वरीम्। अथवा निष्कलं ध्यायेत् सच्चिदानन्द-विग्रहम्' इति स्मृत्या च 'त्वं स्त्री त्वं पुमान्' इति श्वेताश्वतरोपनिषदि उपाधिकृतनानारूपसम्भवोक्तेश्च। अतएव 'सेयं देवतैक्षत' इत्यादौ, 'तत्सत्यं स आत्मा' इत्यन्ते च, श्रुतौ स्त्रीलिङ्गान्तदेवतादिपदानां तत्सत्यमिति नपुंसकान्तस्य, स आत्मेति पुँल्लिङ्गात्मशब्दस्य एकार्थत्वम्। अविवक्षितोपाधि-मत्तया तत्त्वं परलक्ष्यार्थस्यैकत्वात्। तस्मात् तत्त्वं लक्ष्यार्थे सर्वेऽपि गुणा वर्णितुं सम्भवन्तीति हयग्रीवेण अस्यां त्रिशत्यां बहवः चकारा उपात्ताः।

(ललितात्रिशतीभाष्य)

श्रीशक्ति-कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव

(लेखक—श्रीमाताका एक भक्त)

साधारण जनताका यह विश्वास है कि भगवच्छक्तिकी कृपा प्राप्त होनेसे मनुष्यको ऐहिक परम ऐश्वर्य प्राप्त होता है। इसीलिये यदि कोई दरिद्र व्यक्ति माताकी कृपापात्र होनेका वर्णन करे तो लोग उसको पागल अथवा दाम्भिक समझने लगते हैं। परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो धन-ऐश्वर्यकी अधिकता सात्त्विकभावकी घोर विरोधिनी है। धनियोंमें सात्त्विकभावापन्न पुरुष बहुत कम होते हैं। धन ही अहङ्कारका कारण है, और अहङ्कारीसे ईश्वर-भक्ति कोसों दूर है। परमात्मा जिसपर अनुग्रह करना चाहता है उसे दरिद्रता तथा विपत्ति देकर ही उसकी दृढ़ताकी परीक्षा करता है।

उपरिलिखित बातोंका प्रत्यक्ष अनुभव करनेके मुझे इस जीवनमें अनेक अवसर प्राप्त हुए हैं। मेरा जन्म काशीके एक प्रख्यात विप्र-कुलमें हुआ है। सुना है कि मेरे वृद्धप्रपितामहके समयमें हमलोग बहुत सम्पन्न थे। घरमें कोठीका कारबार चलता था, अगणित सम्पत्ति थी, साक्षात् महालक्ष्मीके वरदानसे यह सब ऐश्वर्य प्राप्त हुआ था। घरमें कुल-देवताके पूजन-अर्चनकी बड़ी धूम रहती थी। वासन्त तथा शारद नवरात्रोंमें बड़ी धूम-धामसे भगवतीकी स्थापना, पूजा तथा विपुल दान-धर्म होता था। मेरे वृद्धप्रपितामहको प्राय: स्वप्नोंमें भगवती दर्शन देकर भावी कार्योंमें शुभाशुभकी सूचना देती थी, तदनुसार उनके अन्त समयमें उन्होंने अपने पुत्र तथा पौत्रको समीप बुलाकर कहा—'बेटा! मेरा समय आ गया, मैं तो चला; परन्तु इतना स्मरण रखना कि यह तो ऐश्वर्य भगवतीकी कृपासे प्राप्त हुआ है। यदि उसकी कृपा बनी रही तो ऐश्वर्य भी स्थिर रहेगा अन्यथा नहीं। भगवतीकी कृपा बनी रहे इसके लिये तुमलोगोंको विशेष जपानुष्ठानकी आवश्यकता नहीं है, वह सब मैंने पर्याप्त मात्रामें कर रखा है; तुमलोग केवल भगवतीकी नित्य-नैमित्तिक सेवा स्वयं करना और सदाचारसे रहना। परन्तु मैं देख रहा हूँ, तुमलोगोंसे इतना भी न होगा; यह सब ऐश्वर्य चला जायगा। यदि दुर्भाग्यसे ऐसा समय आ जाय तो कुल-देवताके निकट बैठकर चालीस दिनतक·········मन्त्रका पुरश्चरण करनेसे भगवतीका आदेश प्राप्त होगा, तदनुसार चलना।'

इसके बाद वे समाधिस्थ हो गये। उनके पुत्रने उनके उपदेशानुसार ही वर्तन किया और वे आजन्म सुखी रहे। उनके बाद मेरे पितामह बड़े ऐय्याश हुए, उन्होंने कुल-देवताकी पूजाका भार कुल-पुरोहितको सौंप दिया और आप विलासमें निमग्न हो गये। सम्पत्ति धीरे-धीरे क्षीण होने लगी। वृद्ध कुल-पुरोहित भी मर गये, उनके पुत्र पुजारी नियत हुए। ये भी युवक थे, चरित्र भी अच्छा नहीं था। कोई देखने-पूछनेवाला न होनेके कारण इन्होंने देवीका अलङ्कार तथा देवीका सुवर्ण-सिंहासन बेच दिया। देवीका रोष होने लगा। मेरी पितामही बड़ी साध्वी थी, उसको स्वप्नमें देवीने दर्शन देकर कहा—'यहाँपर मेरा बहुत अनादर हो रहा है, अब मैं जाती हूँ।' यह सुनकर पितामहीने भगवतीकी बहुत प्रार्थना की और इस कुलको न छोड़नेके लिये बहुत अनुरोध किया। तब माताने कहा कि 'तुमको एक पुत्र होगा। वह अत्यन्त सात्त्विकभावापन्न होगा, वह और उसके पुत्र-पौत्र तीन पुरुष मेरी उपासना करेंगे तब यह पाप कटेगा और इन तीन पुरुषोंमें उत्तरोत्तर उन्नति होती रहेगी। इसके बाद चतुर्थ पुरुषसे सप्तम पुरुषतक उपासनाप्रकर्षके अनुसार विद्या तथा श्री पूर्ण मात्रामें निवास करेगी।' उसके बाद उत्तरोत्तर ह्रास होते हुए यहाँतक नौबत आयी कि मेरी पितामहीकी मृत्युके अनन्तर बारह बरसके पुत्र (मेरे पिता)-को साथ लेकर मेरे पितामह भाड़ेके मकानमें रहने लगे, हँड़ियामें रसोई पकने लगी। मेरे पितामहको उनके वार्द्धक्यमें अपने कर्मोंका बड़ा पश्चात्ताप हुआ, उन्होंने मेरे पिताको वे सब पुरानी बातें तथा पितामहीके स्वप्नका वृत्तान्त भी सुनाकर भगवतीकी आराधना करनेका उपदेश दिया और कहा कि 'तुम सत्पुत्र हो, पिताके पापोंका प्रायश्चित्त कर कुल-देवताको फिरसे प्रसन्न करो। पूर्वपुरुषोंके पुण्यका भाण्डार अक्षय है, उनके कुलकी फिर उन्नति होगी।' मेरे पिताजीने अपने बाल्यकालहीसे भगवतीकी आराधनामें मन लगाया। निर्वाहके लिये एक कोठीमें पन्द्रह रुपये मासिकपर मुनीमी करना भी आरम्भ किया। समय-समयपर उनको

भगवतीके दृष्टान्त होते थे। उनके दस पुत्रोंके काल-कवलित होनेके बाद मेरा जन्म हुआ। मेरे जन्मकी कथाएँ भी बहुत विचित्र हैं। पिताजीका जीवन-काल साधारण ही व्यतीत हुआ; परन्तु उनके सात्त्विक, सदाचारी तथा अजातशत्रु होनेके कारण उनको जीवन-कालमें कोई विशेष कष्ट न हुआ। उनके अन्तसमयमें मैं आठ वर्षका बालक था, तुरन्त ही मेरा उपनयन हुआ था। पिताजीने अपने प्राणोत्क्रमणके एक दिन पूर्व मुझे अपने पास बुलाकर अपने कुलकी सब प्राचीन कथा कह सुनायी और मुझे कुलदेवताके सामने ले जाकर भगवतीकी तरफ अँगुली उठाते हुए कहा कि 'देखो, यह हमलोगोंकी माँ है; इसकी पूजा-अर्चामें कभी आलस्य न करना। जो कुछ चाहो इससे ही माँगना, यह बड़ी दयालु है।' ऐसा कहकर उन्होंने क्षणमात्र मेरे सिरपर अपना दक्षिण हस्त रखते हुए आँख मूँदकर भगवतीसे कुछ प्रार्थना की। मुझे आज भी पिताजीकी वे बातें सुनायी पड़ रही हैं और वह प्रसङ्ग मानो नेत्रोंके सामने दिखायी पड़ रहा है। पिताजीके देहान्तके बाद बाल्यकालमें कई बारका मेरा यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि जिन छोटी-मोटी बातोंके लिये मैं मातासे प्रार्थना करता था प्राय: वे बातें पूर्ण हो जाती थीं; वास्तवमें पिताजीके देहान्तके बाद सर्वथा आश्रयहीन हमलोगोंका निर्वाह होकर आज इस वर्तमान परिस्थितिको प्राप्त करना केवल भगवतीकी कृपाका ही फल है, ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है। मध्यवर्ती अनेक चमत्कारी घटनाओंको छोड़कर मैं कुछ खास-खास घटनाओंका बयान करता हूँ।

(१) उन दिनों मैं मध्यमा परीक्षा पास हो चुका था। मेरा विवाह भी हो गया था, गृहस्थीका निर्वाह बड़े कष्टसे होता था, नौकरी करनेके लिये लोग तथा इतर सम्बन्धी भी आग्रह करने लगे। उन्हीं दिनों स्थानीय······स्कूलमें एक सेकेंड पण्डितकी १५) मासिककी जगह खाली थी, मैंने उस स्थानके लिये प्रार्थनापत्र भेजकर घरमें कुलदेवताके निकट अनुष्ठान आरम्भ कर दिया। मुझे पूर्ण विश्वास था कि कुलदेवताकी कृपासे मुझे यह पद अवश्य मिलेगा। परन्तु वह पद मुझे नहीं मिला, दूसरेकी नियुक्ति हो गयी। यह देखकर मुझे बड़ा क्रोध हुआ और मैंने कुलदेवताका बहुत उपालम्भ किया, उस दिन बिना कुछ खाये-पिये सो रहा। स्वप्नमें मैंने प्रत्यक्ष देखा कि एक तेजस्विनी सधवा वृद्धा स्त्री मेरे सिरहाने बैठकर मेरे सिरपर हाथ फेरती हुई कह रही है-'बेटा! तू क्यों दु:ख कर रहा है? अरे, यह नौकरी तेरे लायक नहीं है, तुझे तो मैं उच्चपदपर देखना चाहती हूँ। घबराओ नहीं, १५) मासिकसे अधिक तुम यों ही पा जाओगे।' प्रात:काल उठनेपर चित्त प्रसन्न था। ज्यों ही पाठशाला पहुँचा, मेरे अध्यापकसे मुझे विदित हुआ कि आजसे कुछ विशेष विषयोंके अध्ययनके लिये मुझे १७) रु० मासिक छात्रवृत्ति दी गयी है। तबसे आजतक मैंने कभी किसी विषयके लिये कोई प्रार्थनापत्र नहीं लिखा। भगवतीकी कृपासे आज शताधिक मासिक पा रहा हूँ।

(२) श्रीमहालक्ष्मी-दर्शनकी अत्यन्त लालसासे मैं दक्षिणकाशी करवीरक्षेत्र (कोल्हापुरमें) गया था, वहाँपर रातके ९ बजे मैं पहुँचा। उस दिन शुक्रवार था, जाते ही तुरन्त स्नानकर मन्दिरमें पहुँचा तो वहाँ शयनारती होकर फाटक बन्द हो रहा था। मुझे बड़ी निराशा हुई, डेरेपर वापस लौटकर बिना खाये-पिये ही सो गया। स्वप्नमें मैंने एक देवी-मूर्ति देखी, उसकी यथाविधि पूजा की तथा सप्तशती-पाठ भी किया। प्रात: जागृत होनेपर स्नानादिसे निवृत्त होकर जब मैं महालक्ष्मी-मन्दिरमें पहुँचा तो देखा स्वप्नमें जो मूर्ति देखी थी वही मूर्ति, वही वेश तथा वही गुलाबकी माला जो मैंने स्वप्नमें चढ़ायी थी श्रीमहालक्ष्मीजीके कण्ठमें है। यह देखकर मैं गद्गद हो गया।

(३) विन्ध्यक्षेत्रमें उन दिनों मैं अनुष्ठान कर रहा था, वहाँपर रातमें १२ बजनेके बाद प्राय: कोई भी मन्दिरमें नहीं रहता। एक दिन मैं रात्रिमें वहाँ बैठकर पाठ कर रहा था, बारह बजनेके करीब मन्दिर बन्दकर पण्डा लोग चले गये और मुझे भी शीघ्र ही जानेके लिये कहते गये। मैं भी करीब एक बजे पाठ समाप्तकर भगवतीकी परिक्रमाकर धर्मशालामें जानेके लिये चला। ज्यों ही मन्दिरकी सीढ़ी उतरने लगा सम्मुख गलीसे घण्टानाद, धूपकी सुगन्ध और आते हुए किसीकी पदध्वनि सुननेमें आयी। मैं रुक गया। क्षणभर बाद देखा सामनेसे एक काली शकल, जिसके शिरोभागमें केवल एक ज्वाला थी, एक हाथमें घण्टा तथा दूसरेमें खप्पर जिसमेंसे धूपकी सुगन्धि आ रही थी, खड़ाऊँ खटखटाते हुए मेरे सामने सीढ़ी चढ़कर मन्दिरमें घुसी। मैं यह देखकर कुछ देरतक तो जडवत् हो गया, पीछे शरीरमें रोमाञ्च उत्पन्न हुए, कुछ भय भी होने लगा;

शीघ्र ही धर्मशालामें वापस आया। पीछे जाँच करनेपर विदित हुआ कि वह माता विन्ध्यवासिनीकी एक सेविका शक्ति है, कभी-कभी किसी-किसी भाग्यवान् साधकको उसका दर्शन होता है।

और भी कुछ अनुभव हैं; परन्तु अपने जीवनकालमें उनको प्रकट करना श्रेयस्कर न होगा—ऐसा आदेश हो रहा है, अतः लाचारी है। मेरे आजतकके अनुभवसे मैं इतना दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि मातृभावकी उपासनाका ही यह विशेष प्रभाव है कि प्रमाद होनेपर भी क्षमा मिलती है।

बाल्यकालसे ही मैं पितृहीन दरिद्र-अनाथ था। कुल-गौरवके कारण प्रकटरूपसे अन्नक्षेत्र-सदावर्तोंकी सहायता नहीं ले सकता था। उन्मार्गमें ले जानेवाले बहुत साथी मिलते थे। दो-तीन बार तो मोहसे अथवा सङ्गदोषसे नरकद्वारके सोपानतक पहुँच भी गया था, किन्तु उसी जगन्माताने उसी क्षण चित्तमें ऐसा झटका दिया कि एकदम वहाँसे विमुख हुआ। आज इस परिस्थितिपर पहुँचा हूँ यह केवल जगन्माताका अनुग्रह ही है। अब उससे इतनी ही प्रार्थना है कि इसी तरह अन्ततक सुधार दे। बोलो श्रीजगन्माताकी जय।

शाक्ताद्वैतवाद

(लेखक—पं० श्रीवीरमणिप्रसादजी उपाध्याय, एम० ए०, एल-एल० बी०, साहित्याचार्य, न्यायशास्त्री)

यह विविधाकार संसार दो धाराओंमें क्रमसे चक्कर खाता हुआ दिखलायी देता है। एक वह, जिसमें पड़कर अज्ञान और विश्रामकी शान्त-अवस्था (सुषुप्ति)-से निकलता हुआ भिन्न-भिन्न रूपसे वस्तुओंके विशेष विज्ञान और भेद-वासनाओंसे प्रवर्तित भिन्न-भिन्न सांसारिक प्रवृत्तियोंकी तरङ्गोंसे वह निरन्तर व्याकुल रहता है—जहाँ जीव संकुचित ज्ञानोंको ही लाभ करता हुआ प्रायः अज्ञानी और सांसारिक चिन्ताओंसे लदा हुआ दुःखी बना रहता है। दूसरी वह, जिसमें पड़कर इन सांसारिक भेदपूर्ण चमत्कारोंसे निकलता हुआ पुनः उस शान्त-अवस्थामें पहुँचता है, जहाँ केवल ज्ञान और आनन्दका अवशेष रह जाता है और जहाँ आत्मा विश्रामका अनुभव करता है। सांसारिक सुख और इस आनन्दमें एक बड़ा अन्तर यह है कि सांसारिक सुखसे भी मनुष्य अपनेको श्रान्त ही अनुभव करता है, परन्तु निर्द्वन्द्व या पूर्ण विश्रामका अनुभव सुषुप्तिकालमें ही करता है। इसी कारण सांसारिक सुख भी दुःखसम्भिन्न होनेसे दुःख ही माना गया है—इसी बातको लेकर अठारह प्रकारके दुःख न्यायदर्शनमें माने गये हैं। इन्हीं उपर्युक्त दो धाराओंके अनुसार संसारका विभाग द्वैत-संसार और अद्वैत-संसार अथवा प्रवृत्ति-संसार और निवृत्ति-संसार एवं भेद-संसार और अभेद-संसार—इन नामोंसे किया जा सकता है। विरुद्धस्वभाव होनेके कारण ये दोनों संसार घड़ीके पेंडुलमकी तरह क्रमसे स्थान बदलते रहते हैं। इस प्रकार जब विपरीतोन्मुखगामी दो संसार सिद्ध हो गये तो एक ऐसी अवस्था भी होगी, जब इन दोनोंका सामरस्य हो। फलतः इन दोनोंका सामरस्यभूत एक तीसरा संसार भी मानना पड़ेगा, जो हमलोगोंको अज्ञात रहता है और जिसका नाम भेदाभेद-संसार कहा जा सकता है। यद्यपि इनमेंसे भेदसंसारको ही प्रधानरूपसे संसार कहना चाहिये, क्योंकि इसीमें जीव-भावका पूर्ण विकास होता है, तो भी अज्ञानसे तिरोहित रहनेके कारण शुद्ध स्वरूपका लाभ अन्य संसारोंमें भी नहीं हो सकता। अतः वे भी संसारकी कोटिमें ही उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि भेद अथवा अभेद अथवा भेदाभेदके रूपसे संसारकी प्रगति त्रिविध कही जा सकती है। इन्हींका नाम तन्त्रशास्त्रमें क्रमसे पशुपद, शिवपद, परशिवपद है—

द्वैतात्मकं भवति संसरणं पशोस्त-
दद्वैतरूपमभवस्य परस्य शम्भोः।
मिश्रं त्रिरूपमपि संसरणं यतः स्या-
द्विश्रान्तिभाक् तदिह धाम परं हि विन्दुः॥

(मातृकाचक्रविवेक-प्र० ख०)

विशेष संज्ञा और सत्यता और असत्यतामें भले ही विवाद हो, किन्तु संसारके अनर्थपूर्ण और त्याज्य होनेमें किसी भी पाश्चात्त्य दर्शनका मतभेद नहीं। यह भी निर्विवाद है कि इस जडाजडात्मक संसारके मूलमें चेतन और अचेतन दोनोंकी सत्ता अनिवार्य है। इसी

अचेतन कारणको सांख्यशास्त्रमें 'प्रधान' कहा जाता है। परमाणुकारणतावादीने भी इसीको मिथ्याज्ञान बतलाकर संसारका प्रवर्तक माना है—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

बौद्धदर्शनमें भी 'प्रतीत्यसमुत्पादात्मक' संसारहेतु-मालाभूत द्वादश निदानके मूलमें अविद्याका प्रथम स्थान दिया गया है। इसीका शाङ्कर-वेदान्तमें मायाके नामसे वर्णन है। तन्त्रशास्त्रमें, जिसके अद्वैतपरत्वका स्थापन इस लेखका प्रधान उद्देश्य है, इसी जगन्निदानका नाम 'विमर्श' है।

विचित्रविश्वोद्गमनानुचर्वणक्रियातदुन्मेषनिमेषसम्भ्रमा विमर्शशक्तिः।

(मातृकाचक्रविवेकटीका)

यह नित्य तत्त्वातीत आनन्दरूप नित्य प्रकाशमान परम शम्भुकी सच्चिदानन्दविग्रहमयी तत्त्वातीत अनन्त शक्तिसंघट्टात्मक परावाग्रूप महाशक्ति है, जिसका तन्त्रशास्त्रमें 'त्रिपुरसुन्दरी' आदि अनेक नामोंसे वर्णन है। जैसा श्रुति भी कहती है—

सूक्ष्मामर्थेनाप्रविभक्ततत्त्वा-
मेकां वाचमभिष्यन्दमानाम्।
तामन्ये विदुरन्यामिव च
नानारूपामात्मनि सन्निविष्टाम्॥

(वाक्यपदीय टी० का० १, का० १४४)

स्वरूपज्योतिरेवान्तः परा वागनपायिनी। (भारत)
क्रियाशक्तिप्रधानायाः शब्दशब्दार्थकारणम्।
प्रकृतेर्विन्दुरूपिण्याः शब्दब्रह्माभवत्पुरा॥

प्रकाशो हि स्वस्वभावभूतं स्वात्मविश्रान्तं पराप्रकृतिस्वातन्त्र्यमायाऽविद्यादिशब्दैरागमिकैर्व्यवह्रियमाणं जगद्बीजभूतं विमर्शम्, इत्यादि।

(मातृकाचक्रविवेक-प्रथम खण्ड, का० ९ की टीका)

यह सांख्यशास्त्रके 'प्रधान' की तरह स्वतन्त्र (चेतना-सम्बद्ध) नहीं है। यह शाङ्कर-वेदान्तकी माया-की तरह अध्यस्त अतएव मिथ्या भी नहीं, किन्तु परब्रह्मस्थानीय परमशिवका स्वरूपभूत स्वभाव है। स्वभाव और अभिन्न होनेके कारण ही यह शाङ्कर-वेदान्तियोंके अभिमत अज्ञानकी तरह परब्रह्मके विरुद्धरूप भी नहीं है, अर्थात् अनित्य और जड ही नहीं है। जडत्व और चैतन्य, ये दोनों परशिवरूप प्रकाश और स्वभावभूत विमर्श दोनोंके धर्म हैं और तन्त्रशास्त्रमें साङ्केतिक पदार्थ माने गये हैं। कवलित और अप्रधान हो जाना ही जडता है। व्यापक और प्रधान हो जाना ही चैतन्यता है—

चैतन्यता च जडता च विमर्शचित्योस्तुल्या।

(मा० च० वि०, खं० ५, का० २७)

टीका:—

विमर्शप्रकाशयोश्चैतन्यता च जडता तुल्या। उभयोरपि चैतन्यत्वं जडत्वञ्च भवतीति चमत्कारः। अयं चमत्कारोऽन्योन्यव्याप्तिनिबन्धनः। व्यापकमेव चैतन्यं व्याप्यमेव जडमिति द्वयोरपि व्यापकत्वे व्याप्यत्वे च सति चिदचिद्भावचमत्कारः।

जब भेदसंसारमें विमर्शके मायात्मक अंशका प्राधान्य रहता है और शिवरूप प्रकाशका अन्तर्भाव हो जाता है तो चेतन प्रमाताका स्थान देह-विमर्शका कार्य ग्रहण कर लेता है और आत्मा अन्तर्निलीन और जड-सा हो जाता है। इसी (आत्मगर्भित देहरूप) प्रमाता संसारी देहधारी जीवको तन्त्रशास्त्रमें 'पशु' संज्ञा दी जाती है। पुनः जब अभेदसंसारमें विमर्शके विद्यात्मक अंशके द्वारा प्रकाशरूप शिवका प्राधान्य लौट आता है और आत्माका स्वरूप निखरने लग जाता है तो सुषुप्तिमें पहुँचकर विमर्शमय देह जडताको प्राप्त हो जाता है—इसी कारण सुषुप्तिमें देह अत्यन्त जड हो जाता है। वहाँपर विमर्शके मायात्मक अंशका कार्यभूत भेदपूर्ण चमत्कारमय इदमात्मक प्रपञ्च निलीन हो जाता है और प्रकाशकी भित्तिपर नानारूपमें परिणत हो जानेवाला विमर्श अपने सच्चे स्वरूपमें आ जाता है अर्थात् एक और अभिन्नरूपसे अवस्थित हो जाता है। परन्तु प्राणिकर्मधारी मायात्मक अंशके सूक्ष्म रूपसे बने रहनेके कारण इस अवस्थामें पहुँचकर भी जीव मोक्ष नहीं पाता। शुद्ध चेतन प्रकाशरूप शिवका ही अभेदसंसारमें विन्दु भी नाम हो जाता है-(**विन्द्यतेऽविच्छिद्यतेरिति विन्दुः**)। और विमर्शका ही भेदसंसारमें विसर्ग भी नाम पड़ता है (**विसृज्यतेऽनेनेति विसर्गः**)। यह विमर्शरूप महाशक्ति अपनी दो कलाओं या अंशोंसे भेद और अभेदरूप विपरीत संसारोंका कारण होती है। भेदसंसारका कारणभूत अंशका नाम माया है और अभेदको दिखलानेवाले अंशका नाम विद्या है।

व्यापिनी विविधाकारा विद्याऽविद्यास्वरूपिणी।

(ललितासहस्रनाम)

'तस्य शक्तिः परा विष्णोर्जगत्कार्यपरिक्षमा।
भावाऽभावस्वरूपा सा विद्याऽविद्येति गीयते॥'
'विद्याऽविद्येति देव्या द्वे रूपे जानीहि पार्थिव।
एकया मुच्यते जन्तुरन्यया बध्यते पुनः' इति॥

(देवीभागवत)

ये ही जगन्मूल आश्रयाश्रयीभूत प्रकाश और विमर्श अवरोह-क्रमसे भेद-संसारमें पृथक् भावको प्राप्त करते-से प्रतीत होते हैं। परन्तु यह एक विवेक ध्यानमें रखनेके योग्य है कि विमर्शसे कवलित या ग्रस्त होनेपर भी प्रकाश उससे एकरस या एकात्म नहीं होता किन्तु थर्मामीटरमें पड़े हुए पारेकी भाँति अन्तर्भूत होकर भी पृथक्-सा और व्याप्त बना रहता है; दूसरी तरफ प्रकाशसे कवलित होकर विमर्श एकात्म और एकरस हो जाता है।

विमर्शका प्रकाशके साथ उपर्युक्त एकरसत्व अथवा ऐकात्म्यका एकमात्र कारण यही है कि प्रकाश और विमर्शका अभेद ही वास्तविक है और भेदका भान दूरसे देखी गयी मरु-मरीचिका अथवा वेगसे घुमाये गये अलात-चक्रकी भाँति चमत्कारमात्र है। शब्द और अर्थ, अभिधान और अभिधेय, प्रकाश और विमर्श—ये सभी युग्मक वस्तुतः अभिन्न ही हैं, परन्तु प्रसिद्ध संसारमें आकर अर्थात् विमर्शकी बहिर्मुख धारामें पड़कर क्रमशः स्थूलभावको प्राप्त करते हुए—अनेक शाखाओंमें फैल जानेवाले एक वृक्ष अथवा अनेक नदियोंमें बँट जानेवाली पहाड़से निकली हुई एक धाराकी भाँति—परिच्छिन्न और विविध नाम-रूपोंमें विभक्त प्रतीत होने लगते हैं। पुनः प्रकाशकी अन्तर्मुख धाराके लौट पड़नेपर इन विविध क्रमशः सिमटनेवाले और चमत्कारमय नाम-रूपोंको छोड़कर—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रं
प्राप्यास्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।

—अपने सच्चे स्वरूप अभेदमें आ जाते हैं। वैयाकरण भी शब्दब्रह्मकी अनन्त कलाओंमें प्रधान दो कलाओंको मानते हैं और उनमेंसे एक विमर्श है, जिसके द्वारा शब्दब्रह्मका इस विविधाकार प्रपञ्चके रूपमें विवर्त हो जाता है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

परन्तु एक बात ध्यान देनेकी यह है कि वे शब्द और अर्थमें तादात्म्य अर्थात् भेदाभेद मानते हैं परन्तु तान्त्रिकगण प्रकाश और स्वभावभूत विमर्शका ऐकात्म्य मानते हैं। शाङ्कर-वेदान्तिगण भी ब्रह्म और जगत्में तादात्म्य मानते हैं परन्तु आध्यासिक। 'अनन्यत्वाधिकरण' के शाङ्करभाष्यमें भी अनन्यत्वरूप तादात्म्यकी स्थापना की गयी है, परन्तु इसमें भेद काल्पनिक और अभेद वास्तविक है और अभेदका भी पारिभाषिक अर्थ '**उपादानसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यत्व**' किया गया है। ठीक इसके विपरीत एक मत 'मञ्जूषा' में वैयाकरणोंका मिलता है, जिसके अनुसार शब्द और अर्थका अभेद ही आरोपित है और भेद सत्य है—

तादात्म्यञ्च तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम्। अभेदस्याध्यस्तत्वान्न तयोर्विरोधः।

दूसरी तरफ तन्त्रमें शब्द और अर्थका वास्तविक ऐकात्म्य सिद्धान्तित किया है—जैसा कि अभिनवगुप्ताचार्य 'परात्रिंशिका' में कहते हैं—

नहि प्रकाशैकात्मकबोधैकरूपत्वादृते किमप्येषा (भावाना)-मप्रकाशनं वपुरुपपद्यते।

यह ऐकात्म्य, जैसा आगे विदित होगा, वैषम्यगर्भित-भेदसंभिन्न चमत्कारमय इदन्तोल्वणरूपसे नहीं किन्तु साम्यस्थित अभिन्न चिन्मय अहन्तोल्वणरूपसे है, जिसके कारण प्रकाश और तदभिन्न विमर्श दोनों मिलकर शुद्ध 'अहम्' रूपसे नित्य प्रकाशमान रहते हैं।

ये प्रकाश और विमर्श परस्पर एक-दूसरेको कवलित या ग्रस्त कर लेनेवाले हैं, इसमें आश्चर्य माननेकी बात नहीं। जिस प्रकार सूर्यकी किरणें बिम्बको आच्छादित कर देती हैं, अग्निकी चिनगारियाँ मूल अग्निपुञ्जको ढक लेती हैं, समुद्रकी लहरें उसके स्थायी और अन्तर्वाही जलको छिपा लेती हैं, उसी प्रकार विमर्श प्रकाशका स्वभाव होता हुआ भी उसे अपने चमत्कारोंसे ऐसा ढक लेता है कि जो आन्तरतमरूपमें प्रकाशाभिन्न विमर्शरूप शुद्ध 'अहम्' है वह जडाजडात्मक नाना रूपोंमें बाहर छिटक आता है। इसीको शाङ्कर-वेदान्तिगण अध्यस्त अतएव कल्पित और आगन्तुक मायाका कार्य-आवरण बतलाते हैं। पुनः सन्ध्याके गिरते हुए सूर्यकी भाँति, जो

कि अपनी आवरणभूत किरणोंको समेटकर बिम्बके रूपमें दिखलायी देने लग जाता है, अभेदसंसारमें प्रकाशरूप शिव अपने आवरणभूत विमर्श-विलासोंको तथा स्वधर्मविमर्शको अन्तर्मुख तथा अन्तर्लीन करके अपने स्वरूपसे प्रकाशित हो जाता है। इसी प्रकार ये केवल अन्योन्यव्यापनशील ही नहीं हैं किन्तु अन्योन्यधर्म-धर्मिभावमें भी आ जाते हैं। विमर्श चित् अथवा प्रकाशका धर्म है, क्योंकि उसीसे उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। क्योंकि यह मानी हुई बात है कि किसी भी वस्तुकी सत्ता अर्थात् उसके रूपका विमर्श प्रकाशके बिना असम्भव है। और भी, दूसरी तरफ यह कहना पड़ेगा कि प्रकाश भी विमर्शका धर्म हो जाता है अपनी स्वरूपानुभूतिके लिये, क्योंकि प्रकाशका भी यदि 'यह ऐसा है' इस प्रकार विमर्शके द्वारा स्वरूप निर्दिष्ट न हो तो वह जड और असत्प्राय हो जाय (अनिर्दिष्टस्वरूप पदार्थके माननेमें भी वन्ध्यापुत्र आदिके न माननेमें कोई युक्ति नहीं रह जायगी)। हाँ, इतना अवश्य है कि यह पारस्परिक धर्मधर्मिभाव स्वरूपोपयोगके लिये कल्पित है। वास्तविक तो यह है कि विमर्श ही प्रकाशका स्वभावभूत है, जिस स्वभावके बिना प्रकाशमें अर्थोपराग होनेपर भी स्फटिकादिकी तरह जडता ही बनी रह जायगी। इस पारस्परिक धर्माधर्मिभावके ही फलस्वरूप प्रकाश और विमर्श, अथवा चित् और चैत्य एक-दूसरेको अपने प्राधान्यकालमें व्याप्त करनेका स्वाभाविक व्यापार रखते हैं। जब चैत्य (विमर्शकार्य देहादि) से चित् (प्रकाश) आवृत्त हो जाता है (भेदसंसारमें) तब पशु-पदका प्रादुर्भाव होता है जिसका नाम जागरण या प्रसिद्ध भौतिक संसार है; और जब चित्के द्वारा चैत्यगण अन्तर्निलीन कर लिये जाते हैं अपने स्वभाव विमर्शमें, तब शिव-पदका उदय हो जाता है, जिसका ही नाम विश्रान्ति है। इन्हीं दोनोंकी बराबर अन्योन्य-व्याप्तिके संघटनसे स्तिमितदशा या निर्व्यापारदशाका आविर्भाव होता है, जिसे भेदाभेद या सामरस्य कहा जाता है—

चिच्चैत्ययोरिति समे सति धर्मधर्मि-
भावे परस्परपदाक्रमणं स्वभावः।
चैत्यावृता भवति चित्पशुरेष चैत्य-
मावृण्वती चिदपि याति शिवप्रसिद्धिम्॥

चिच्चैत्ययोः समतया स्तिमिते स्वभावे
मिश्रं तु मध्यमपदं परशम्भुरूपम्।

(मा० च० वि०, प्र० ख० १३-१४)

यह भेदाभेदरूप सामरस्य—भेदसंसारमें प्रसरणोन्मुख और अभेदसंसारमें सङ्कोचोन्मुख चमत्कारमात्र विमर्शवृत्तिरूप वैषम्यसे असम्भिन्न होनेके कारण, और निष्पन्दता या समतारूप प्राकृतिक दशासे युक्त होनेसे भी, मूलावस्था या प्रकृतिरूप कारणसंसार कहा जा सकता है।

साम्यं भवेत्प्रकृतमत्र चमत्क्रियैव
वैषम्यमद्भुततरा हि विमर्शवृत्तिः।

(मा० च० वि०, द्वि० ख० ६)

इसमें आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं। अस्फुट, स्तिमित या अव्याकृतदशा ही कारणदशा है, यही इच्छारूप (ज्ञान और क्रियाका) सामरस्य है—जिससे ज्ञानका अर्थात् आन्तरिक पदमें प्रथम उदय और तदनन्तर क्रियाका अर्थात् बाह्य पदमें विकास हो जाता है। अतएव (प्रकृति होनेके कारण ही) यह अस्फुटरूपसे भेदसंसार अथवा अभेदसंसारकी वृत्तियोंके भीतर भी हमेशा बना रहता है।

निष्पन्दतां समपदे सततं भजन्ती
प्रस्पन्दते च (विमर्शः) चिदचित्कलितोच्छ्रितत्वात्।

(मा० च० वि०)

फूलोंके बीचमें लगातार फैले हुए सूत्रकी भाँति यह दशा वैषम्यपूर्ण या विश्रामप्रधान दोनों दशाओंमें अनुस्यूत या अनुवृत्त रहती है। जिस प्रकार उमड़ती हुई लहरोंके भीतर स्थायी जल भी अवश्य रहता है, हवाके झोंकोसे कम्पित अतएव बढ़ती-घटती हुई दीपशिखाके नीचे निरन्तर प्रकाशमान स्थिर दीपवर्तिका अवश्य रहती है, उसी प्रकार वैषम्यके प्रवृत्त्युन्मुख या निवृत्त्युन्मुख चमत्कारोंके गर्भमें स्थायी साम्य या आधारभूत सामरस्य अवश्य ही मानना पड़ेगा। शाङ्करवेदान्ती तान्त्रिक और शैवागमानुयायी—सभी स्थायी अधिष्ठान या आधार अवश्य मानते हैं।

'एवं चतुर्विधमधिश्रितबीजमात्रम्'।
'विश्रान्तिभाक् तदिह धाम परं हि विन्दुः'।

(मा० च० वि०)

यही इनसे तथा माध्यमिक मतसे प्रधान वैलक्षण्यका कारण भी हो जाता है। यह साम्यरूप मूल-शाखा है,

जिसके ऊपर चमत्कार या वैषम्यकी पत्तियाँ चारों तरफ बढ़ती-घटती हुई संसार-कान्तारमें दिखायी देती हैं। वैषम्य परिवर्तनशील, परिछिन्न, चमत्कारमात्र-जीवित है, परन्तु साम्य स्थिर है और निलीन या स्फुटरूपसे सर्वदा वर्तमान है। इसी कारण तन्त्रशास्त्रमें 'यामल' सिद्धान्त दिया गया है, जिसके अनुसार उद्भूत या अनुद्भूतरूपसे तीनों दशाएँ सदा रहती हैं और पौर्वापर्यका विचार क्रम तथा कार्यकारणभावको दिखलानेमात्रके लिये है। क्रमका विचार स्फुटता या प्राधान्यपर अवलम्बित है न कि विरोधपर, जिससे एकके कालमें दूसरेकी सत्ता असम्भव हो जाय। शाङ्करवेदान्ती क्रमवादी हों या पारमार्थिक दशामें अजातवादावलम्बी, परन्तु उनके लिये भी इस सामरस्यके स्थानपर तूलाविद्यारूपसे भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके भीतर मूलकारण अज्ञानकी सत्ताका मानना अनिवार्य हो जाता है। उसी प्रकार निरन्तर प्रवर्तमान सामरस्यके ऊपर भी भेद या अभेदका प्राधान्य क्रमसे मानना आवश्यक है, जिसका विकास एक-दूसरेके विरामके बाद दिखलाया जा सकता है।

भेदसंसारका विकास सुषुप्तिसे दिखलाना पड़ेगा, जहाँ अभेदसंसार अपनी स्वारसिक अवस्थाके ऊँचे शिखरपर पहुँचकर समाप्त हो जाता है, केवल विमर्शकी मायात्मिका वृत्ति सामान्यरूपसे उस दशामें प्रविष्ट चेतनके मोक्षलाभमें अन्तरायभूत बनी रहती है, जिसके कारण जीवको पुनः संसार-कोटिमें गिरना ही पड़ता है। यहाँ विमर्श भी घनीभूत होकर एक बना रहता है। जिस प्रकार किसी भी वस्तुकी तीन अवस्थाएँ प्रत्यक्ष देखी जाती हैं—प्रारम्भ, अपूर्ण और आन्तरिक उन्मेष और पूर्ण और बाहरी विकास (बीज, अङ्कुर, पत्र-पुष्पादि), उसी प्रकार प्रत्येक संसारकी भी तीन अवस्थाएँ तन्त्रशास्त्रमें मानी गयी हैं। इन तीन अवस्थाओंका विवेचन प्राणियोंकी तीन प्रसिद्ध दशाओंमें—जागरण, स्वप्न और सुषुप्तिमें ही दिखलाया जा सकता है। इन्हीं जागरणादि दशाओंके रङ्गमञ्चपर—प्रवृत्त्युन्मुख और निवृत्त्युन्मुख दोनों संसारोंका दृश्य पर्यायसे दृष्टिगोचर होता है। और भी, विन्दु और विसर्गकी उभयात्मकता सभी जगह बने रहनेके कारण जागरणादि अवस्थाओंमें भी प्रत्येकके जड और अजड दो भाग होते हैं। सुषुप्तिके अजडात्मक भागमें अभेदसंसारका पूर्ण विकास हो जानेके अनन्तर उसीके जडात्मक भागसे भेदसंसारका प्रारम्भ होता है, जहाँपर मायामात्र कञ्चुकका उन्मेष रहता है। तान्त्रिक (अथवा शाङ्कर-वेदान्तिगण) के अनुसार, अन्तःकरणका वृत्तियोंके साथ लीन हो जाना ही सुषुप्ति या प्रलय है। इसमें जागरणके सभी अन्तःकरण-वृत्त्युपजीवी व्यापारोंका विराम या उपसंहार हो जाता है; मायात्मक आवरणके अतिरिक्त सभी व्यापार स्तिमित या अनुद्भूत रहते हैं। इसी तमोरूप परमप्रकाशाच्छन्न अप्रकाशितप्राय मायासे आवृत होकर नित्य प्रकाशमान परमप्रकाशरूप आत्मा भी अचेतनकी तरह जड हो जाता है—इसी कारण इस अवस्थाको विश्रमात्मा सुषुप्ति कहते हैं। यही वैयक्तिकरूपसे (प्रत्येक पिण्डाण्डका भिन्न-भिन्न रूपसे) प्रलय भी कहा जाता है। इसीका समष्टिरूप (ब्रह्माण्डमात्रका) प्रसिद्ध प्रलय भी है, जिसे ब्रह्माण्डकी 'सुषुप्ति' कह सकते हैं। इस ब्रह्माण्ड-सुषुप्ति अथवा प्रलयमें यह दृश्यमान जगत् अपने विलेय और स्थूलरूपसे मायाके भीतर निलीन हो जाता है और समस्त चेतनाचेतन स्थावर-जङ्गमरूप प्रपञ्चको अपनेमें निलीन करके विमर्शरूप शक्ति भी अपने आश्रय परमप्रकाश शिवरूपके साथ एकरस और अभिन्न होकर विश्राम करती है। यही निष्कलङ्क शिवका या महाशक्ति त्रिपुरेश्वरीका अपने शुद्ध स्वरूपमें अवस्थान कहा जा सकता है—

'इत्थमात्मन्युपगृह्य सकलं भेदजालकम्।
निष्कलङ्कः शिवः साक्षाच्चिद्विश्रान्तिमये लये॥'
'स्वेच्छयैव जगत्सर्वं निगिरत्युद्गिरत्यपि।'
'यस्यामन्तर्विश्वमेतद्विभाति
बाह्याभासं भासमानं विसृष्टौ।
क्षोभे क्षीणेऽनुत्तरायां स्थितौ तां
वन्दे देवीं स्वात्मसंवित्तिमेकाम्॥'

(परात्रिंशिका)

वटबीजान्तर्गतवटवृक्षीयसूक्ष्मरूपतुल्यशब्दसृष्टिसूक्ष्मरूपशालिनी त्रिपुरसुन्दरी एव तादृशसूक्ष्मरूपवत्त्वप्रवृत्तिनिमित्तकपरापदवाच्या। सैव माति, तरति काशयतीति व्युत्पत्त्या मातृकेत्युच्यते। (वरिवस्यारहस्यटीका)

इस दशामें जीवको अपने वास्तविक स्वरूपमें पहुँचनेपर भी विमर्शके मायात्मक अंशके सामान्यरूपसे बने रहनेके कारण मोक्षलाभ और संसारमें पुनः नहीं लौटनेकी आशङ्का नहीं करनी चाहिये। इसीसे पुनः

विमर्श-निलीन प्राणि-कर्मोंके उपभोगकालके लौट जानेपर 'सिसृक्षा' उत्पन्न होती है—इसीको तान्त्रिकलोग प्रलयकालमें स्वात्मक तथा स्वाभिन्न विमर्शकी ओर शिवरूप प्रकाशका उन्मुखीभाव कहते हैं और शाङ्कर-वेदान्तिगण 'ईक्षण' कहते हैं '**तदैक्षत बहु स्याम्**।'

प्राप्तोपभोगकालानां कर्मणां भुक्तिदायिनी।
सिसृक्षा हि पराशक्तेः शब्दार्थविषयोच्यते॥

सर्वप्रथम सृष्टिक्रममें जीवका उद्गम होता है, जो अपने परिच्छिन्न रूपको छोड़कर सुषुप्तिमें व्यापक तथा अपने वास्तविक शिवरूपको पहुँच गया था। इस उन्मुखीभावके फलस्वरूप पराशक्ति-विमर्शका प्रथम परिणाम मन निकल आता है, इसी स्वात्मकविमर्श-परिणाम मनमें पुनः प्रकाशरूप व्यापक आत्मा प्रतिबिम्बित हो जाता है, दर्पणस्थ प्रतिबिम्बित नेत्रमें मुखकी भाँति। तन्त्रशास्त्रमें परिणामवाद या विवर्तवाद सभी समर्थित हैं, जिसका विवेचन आगे किया जायगा। मन ही विमर्शका प्रथम तथा प्रधान विलास है और इसीसे जगत्‌के अन्य सभी पदार्थोंका विलास प्रतिभासित होता है, क्योंकि विचारपूर्वक देखनेपर मनके रहने या नहीं रहनेपर ही समस्त संसारकी सत्ताका अवभास या अनवभास अवलम्बित है। अतः मनोरूप और उसीके जडाजडात्मक अंश बुद्धिरूपका ही परिणाम अन्य सभी कार्य हैं।

तान्त्रिक प्रक्रियाके अनुसार मन ज्ञानेन्द्रियोंका आन्तर सम्पिण्डित रूप है। ज्ञानसाधनरूप अजडत्वकी भूमिकाका अवलम्बन करनेपर विमर्शका नाम 'मन' पड़ता है। जडत्वकी भूमिका ग्रहण करनेसे विमर्श 'अहङ्कार' कहा जाता है—(**देहेऽहमिति योऽयं विमर्शः**) जडभूत देहका आश्रित होनेसे उसका धर्म हो जानेके कारण जड़ताकी भूमिकाका ग्रहण करना बतलाया गया है। जडता और अजडत्व दोनोंकी भूमिकामें पहुँचनेसे विमर्शका नाम 'बुद्धि' हो जाता है—यहाँ विमर्श स्थौल्यसे क्रियारूप होनेके कारण जड हो जाता है और स्पन्दशाली होनेसे अजड भी कहा जाता है। बुद्धि कर्मेन्द्रियोंका आन्तर सम्पिण्डित रूप है और अहङ्कार शब्दादि ज्ञेयपञ्चकका आन्तर सम्पिण्डित रूप है। स्वप्नमें मन और बुद्धिके ही द्वारा अहङ्कारमय (वासनात्मक) विषयोंका अनुभव होता है; क्योंकि स्थूल श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय और वागादि कर्मेन्द्रियका उद्गम जागरणमें रहता है। दूसरी बात, स्वप्नमें भेदसंसारके आन्तरिक उद्गमकालमें या माध्यमिक दशामें चिदन्तर्गर्भित मन ही प्रमाताका स्थान लेता है और जागरणमें देह ही आत्मगर्भित सांसारिक समस्त व्यवहारोंका प्रमाता बन जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परमार्थतः आत्मारूप प्रमाताका स्थान प्रारम्भपदमें (सुषुप्तिमें) संवृतात्मा माया, किञ्चिदुन्मेषपदमें (स्वप्नमें) संवृतात्म मन और विकासपदमें (जागरणमें) अन्तःसम्पुटितचैतन्य देह कर लेता है। उपाधिभेद तथा उसके कारण जीवभेदकी शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वस्तुतः सभी उपाधि विमर्श ही है; केवल उसका क्रमशः स्थूलभाव होता जाता है—जैसा कि विवरणप्रमेयसंग्रहमें बतलाया है—

सुषुप्तावज्ञानमात्रावच्छिन्नस्य जीवस्य स्वप्नदशाया-मीषत्स्पष्टव्यवहारायान्तःकरणमुपाधिरिष्यते तथा जागरणे विस्पष्टव्यवहाराय स्थूलशरीरमुपाधिः। न चैवमुपाधिभेदाज्जीव-भेदप्रसङ्गः पूर्वपूर्वोपाध्यवच्छिन्नस्यैवोत्तरोत्तरोपाध्यन्त-रेणावच्छेदात्।

जागरणमें मन आदिका ही बाह्य रूप बिखरता हुआ समस्त संसारके रूपमें परिणत हो जाता है, इस कारण प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय ये सभी एकहीके परिणाम हैं और कल्पित भेदसे परिच्छिन्न प्रतिभासित होते हुए संसारके कल्पक हो जाते हैं। यही प्रायः शाङ्कर-वेदान्तीने भी मान रखा है—

तस्याभिव्यक्तस्य चैतन्यस्यैकत्वेऽपि अभिव्यञ्जकान्तः-करणभागभेदात् त्रिधा व्यपदेशो भवति। कर्तृभागा-वच्छिन्नश्चिदंशः प्रमाता, क्रियाभागावच्छिन्नश्चिदंशःप्रमाणं विषयगतयोग्यत्वभागावच्छिन्नश्चिदंशः प्रमितिरिति प्रमातृ-प्रमाणप्रमितीनामसाङ्कर्य्यम्।

मनोमूलक भेदसंसारकी प्रारम्भिक अवस्थामें मायामात्र एक कञ्चुकका उदय रहता है। स्वप्नमें उसका कुछ अर्थात् आन्तरिक उन्मेष हो जानेपर मन आदि पञ्चाङ्गरूपका उन्मेष हो जाता है, जिससे आत्मा पूर्ण संवृत हो जाता है। यहाँपर मायाके अतिरिक्त अन्य पाँच कञ्चुकोंका भी प्रादुर्भाव हो जाता है, जिनका नाम कला आदि है और जो व्यापक पञ्चमहाभूतके सङ्कुचित रूप हैं। ये ही जीवभावके कल्पक सङ्कुचित पिण्डाण्डके प्रधान कारण हैं। इसीको वास्तविक अहंरूप या 'अहन्ता' का स्वधर्म-विमर्शमय—मनोरूप देहादिसे आत्माका या प्रकाशका विमर्शसे कवलन या व्यापन समझना चाहिये, जो कि

संसारपतित जीवके सारे अनर्थोंका कारण है। जीव वस्तुतः शिवरूप ही है और पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्डमें वास्तविक कोई विपुलाल्पभाव या बाह्याभ्यन्तरभाव नहीं है। जीवका—(ईश्वराधिष्ठित) ब्रह्माण्डको अपने अधिष्ठित पिण्डाण्डसे अन्य तथा बाह्य माननेके कारण अपनेको ब्रह्माण्डका अधिष्ठाता नहीं समझनेसे जीवभाव है। जिस प्रकार मनोबुद्धिरूप विमर्शके गर्भसे अन्तःप्रपञ्चके (स्वप्नमें) विलासके अनन्तर बाह्य प्रपञ्चका (जाग्रत्में) अवभास होता है उसी प्रकार ब्रह्माण्डका भी वस्तुतः मनोबुद्धिरूप विमर्शसे ही समुदय होता है। परन्तु पिण्डाण्डका अधिष्ठाता जीव (विमर्शात्मक) मायाके 'दृग्विमर्शरूप' विपरीत शक्तिसे मोहित होकर ब्रह्माण्डको अपनेसे बाहर और स्वतन्त्र समझकर अनीश और दुःखी बना रहता है। इस प्रकार वस्तुतः शिवरूप जीव भी विमर्शकार्य देहादिसे कवलित प्रकाशरूप होकर अपनेको अल्पज्ञ मानता हुआ और भेदसंसारमें रेंगता हुआ संसारके सभी दुःखोंसे पीड़ित हुआ करता है। यही जीवका बन्ध है, इसके कारण माया आदि छः कञ्चुक हैं। उनमेंसे माया तो प्रसिद्ध ही है। अवशिष्ट पाँच कञ्चुकोंका, जो जीवको अपूर्ण शक्तिवाला बना देते हैं, ब्योरा निम्नलिखित प्रकारसे दिया जा सकता है—

(१) कला नाम कञ्चुक वायुसङ्कोचसङ्कल्परूप अल्पकर्तृत्वशक्ति
(२) अविद्या ,, ,, अग्नि ,, ,, अल्पज्ञत्व-शक्ति
(३) राग ,, ,, भू ,, ,, अपूर्णत्व-शक्ति
(४) काल ,, ,, अम्बु ,, ,, अनित्यत्व-शक्ति
(५) नियति ,, ,, आकाश ,, ,, अणुत्व-शक्ति

इस प्रकार ये कञ्चुक जीवको हीनशक्ति बनाकर उसके बन्धके कारण हो जाते हैं। पुनः अभेदसंसारमें अपने वास्तविक स्वरूपकी ओर लौटता हुआ जीव विमर्शमय प्रपञ्च-पीड़ाओंसे छुटकारा पाकर अन्तमें विश्राम पाता है। अभेदसंसार जागरणावस्थाके जड-भागमें भेदसंसारके समुच्छ्रयके अनन्तर उसीके अजडात्मक भागसे प्रारम्भ होता हुआ सुषुप्तिके अजडभागमें जाकर पूर्णताका लाभ करता है। चमत्कारमय भेदोंका उत्पत्तिके विलोमक्रमसे विलय और अन्तमें पूर्ण विश्राम इस संसारका स्वरूप है। इसीमें जीव अपने इदमनिदमात्मक रूपको छोड़कर अपने सच्चे स्वरूप अहमात्मक अर्थात् शिवभावको प्राप्त करता है। प्रकाशका सच्चा स्वरूप यहाँ आकर खुलता और खिलता है, जो कि भेद-दशामें किरणोंसे सूर्यकी भाँति आच्छादित रहता है। विमर्श अपने समस्त कार्योंको अर्थात् प्रपञ्चमात्रको अपनेमें विलीन करके घनीभूत होकर प्रकाशसे अभिन्न हो जाता है और विमर्शके शुद्ध अहन्ता-स्वरूपका उदय हो जाता है। इस अभेदसंसारमें वेद्य कार्य आदि प्रपञ्चोंके क्रमिक विलयके अनुसार चार दशाएँ मानी गयी हैं—शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव और शक्ति। इस विश्रान्तिमय शुद्धस्वरूपको जीव प्रतिदिन पहुँचता है परन्तु अज्ञातरूपसे, इसी कारण पुनः भेदकी लीलामें गिर जाता है। शाङ्करवेदान्तियोंके मतमें भी जीव सत्सम्पत्ति—'**सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति**'—पाकर भी अज्ञानके बने रहनेके कारण पुनः 'अन्तःकरणादिसम्बद्ध' होकर संसारका अनुसरण करता है। इसी तरह यह भी सिद्ध हो गया कि एक ही चेतन भेदसंसारमें आकर प्रवृत्तिपरायण जीव हो जाता है और अभेदसंसारमें विश्रमात्मा शिव। जीव और शिवमें वास्तविक भेद नहीं है, केवल उपाधियोंके भेदसे संसार-दशामें वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं।

उसी प्रकार प्रकाश और विमर्शमें भी वास्तविक भेद नहीं। प्रकाशरूप ज्ञानका (तन्त्र-प्रक्रियाके अनुसार) बाह्य काठिन्यरूप क्रियारूप विमर्श है। ज्ञान ही काठिन्य-गुणको पाकर अर्थात् विमर्शकी मायात्मिका शक्तिसे भेद-संसारमें स्थूलभावको प्राप्त होता हुआ क्रियारूपसे और अपनेसे भिन्न विमर्शाकार भासित होता है। इसी प्रकार विमर्शका आन्तर और विरलिम रूप शिवात्मा प्रकाश है। प्रकाशरूप शिव ही शक्ति, सदाशिव आदि परिपाटीके अनुसार प्रपञ्चरूपमें स्त्यान हो जाता है। अपने स्वाभाविक 'वेदितृस्वभाव' के दब जानेसे वेद्यताका उत्कर्ष हो जाना ही स्त्यानीभवन है। परन्तु स्त्यान हो जानेपर भी उसका स्वाभाविक रूप बना रहता है। महार्थमञ्जरीमें कहा है—

स्त्यानस्य क्रियावशादिक्षुरसस्येव शिवप्रकाशस्य।
गुडपिण्डा इव पञ्चापि भूतानि मधुरतां न मुञ्चन्ति॥

प्रकाशविमर्शपर्याय शिव और शक्तिके अभेदहीके कारण देवीका नाम 'ललितासहस्रनाम' में 'शिवमूर्त्ति' भी बतलाया गया है। उसकी टीकामें यह भी लिखा है—

एको रुद्रः सर्वभूतेषु गूढो
मायारुद्रः सकलो निष्कलश्च।

सा एव देवी न च तद्विभिन्ना
एतज्ज्ञात्वामृतत्वं व्रजन्ति॥

देवीभागवतमें भी कहा है—

ब्रह्मैव सातिदुष्प्रापा विद्याऽविद्यास्वरूपिणी।

इन प्रमाणोंका उद्देश्य प्रकाश और विमर्शमें अभेद ही बतलाना है, न कि शाङ्करवेदान्तियोंकी तरह विमर्शको अध्यस्त या आरोपित। विमर्श नित्य, अनपायी और स्वभावभूत है। विमर्श परमप्रकाशकी भित्तिपर अवलम्बित वाग्रूप महाशक्ति है और अपने माया और विद्या—इन दोनों अंशोंसे जीवके बन्ध और मोक्षका कारण है—

वागुद्भूता पराशक्तिर्या चिद्रूपा पराभिधा।
वन्दे तामनिशं भक्त्या श्रीकण्ठार्द्धशरीरिणीम्॥

विमर्श ही, 'इदन्ता' या इदम्भावकी प्रधानता (उल्वणता) के साथ भासित होनेपर, जब यह घड़ा है, यह कपड़ा है इत्यादि भेदपूर्ण व्यवहार चारों तरफ दृष्टिगोचर होते हैं तब माया कहा जाता है—'**विमर्श एव इदन्तौल्वण्येन भासमानो माया इत्युच्यते**' (मा० च० वि० टीका)। यही चमत्कारपर्याय 'इदमंश' के समुच्छ्रयसे प्राणियोंको संसारदशामें बद्ध करता है—

सर्वत्र वस्तुनि इदमाकारप्रतीतौ देहमात्रे चात्माकारप्रतीतौ सैवोच्छ्रितेदन्ताप्रतीतिः खलु बन्धः।

पुनः विमर्श ही 'अहन्ता' या अहंभावकी प्रधानता (उल्वणता) के साथ विद्योतित होनेपर विद्या कहा जाता है—

स एवाहन्तौल्वण्येन विद्योतमानो विद्येति गीयते।

(मा० च० वि० टीका)

इसी अहमंशके जागरूक और उन्नमित हो जानेपर विमर्शात्मक विद्या प्राणियोंको मुक्त करा देती है—

इदम्प्रतीत्यन्यथाभावेन सर्वत्राहन्ताप्रतीत्यौल्वण्यमेव च मोक्षः।

विमर्शका यह स्वरूपद्वय प्रायः सभी आगमों तथा पुराणोंमें वर्णित है—

तस्य शक्तिः परा विष्णोर्जगत्कार्यपरिक्षमा।
भावाऽभावस्वरूपा सा विद्याऽविद्येति गीयते॥
भ्रान्तिर्विद्या परज्योतिः शिवरूपमिदं त्रयम्।
अर्थेषु भिन्नरूपेषु विज्ञानं भ्रान्तिरुच्यते॥
आत्माकारेण संवित्तिर्बुधैर्विद्येति गीयते।
विकल्परहितं तत्त्वं परमित्यभिधीयते॥

(लिङ्गपुराण)

'अथ मुक्तेः स्वरूपं ते प्रवक्ष्यामि' इत्यारभ्य

तस्मादात्मस्वरूपैव परामुक्तिरविद्यया।
प्रतिबद्धा विशुद्धस्य विद्यया व्यज्यतेऽनघा॥

(सौरसंहिता)

भक्तं शिवमेव करोति स्वीयेनैवाविद्यापाशनिरासेन।
महामायाविकारौघशान्तिः पुंसः पुनर्यया।
सा कला शान्तिरित्युक्ता साधिकारास्पदं पदम्॥

(शैवागम)

बन्ध और मोक्षके कारण माया और विद्याको ही देवीका 'अपर' और 'पर' रूप भी कहा जाता है—'**परापरदशा हि सा।**' आत्मासे न्यारा और भिन्न होकर भासित होना ही अपरता है, अहन्तारूपसे आच्छादन ही परता—

तत्रापरत्वं भावानामनात्मत्वेन भासनात् परत्वमहन्तया आच्छादनात्।

परता ही पूर्णता है और अन्यनिरपेक्ष 'अहं' रूप है और अपरता ही अपूर्णता है, अन्यसापेक्ष 'इदम्' रूप है—

परत्वम्पूर्णत्वमनन्यापेक्षया अहमिति, अपरत्वमपूर्णत्व-मन्यापेक्षया 'इदम्' इति।

प्रकाशका केवल अपनेमें ही विश्राम रहनेपर जो अनन्योन्मुख विमर्श है वही 'अहंरूप' कहलाता है और अन्योन्मुख होकर संसार-दशामें जो विलसन है वह 'इदम्' रूप है—

प्रकाशस्य यदात्ममात्रविश्रमणेऽनन्योन्मुखः स्वात्म-प्रकाशनालक्षणो विमर्शः सोऽहमित्युच्यते, यस्त्वन्योन्मुखः स इदमिति।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि विमर्श ही अपने अंशोंसे जीवको बद्ध और मुक्त कराता है। इसीलिये त्रिपुरेश्वरी महाशक्तिके अङ्ग-वर्णनमें चार भुजाएँ मानी गयी हैं, उनमेंसे जागरण आदि अवस्थारूप तीन हाथोंसे वे जीवको संसारबद्ध करती हैं और तुर्य नामक चौथे हाथसे मोक्ष प्रदान करती हैं—

इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम्।
क्रियाशक्तिमये वाणधनुषी दधदुज्ज्वलम्॥

(षोडशिकार्णव)

आशा नाम नृणां काचिदाश्चर्यमयशृङ्खला।
यया बद्धाः प्रधावन्ति मुक्तास्तिष्ठन्ति पङ्गुवत्॥
पाशाङ्कुशौ तदीयौ तु रागद्वेषात्मकौ स्मृतौ।
शब्दस्पर्शादयो वाणा मनस्तस्या अभूद्धनुः॥

अभेदसंसारमें वर्णनीय शुद्ध विद्यादि चार प्रमाताओंके क्रमसे ही मोक्षलाभ होता है, परन्तु केवल अन्तर यही रहता है कि यहाँ जीवका हृदय सद्‌गुरुके उपदेश तथा कृपा-कटाक्षसे क्षीणकल्मष और शुद्ध तथा प्रशान्त रहता है और क्रमशः समृद्ध ज्ञानके उन्मेषके साथ ही अभेद-पदोंका उदय होता जाता है। शाङ्करवेदान्ती विद्यासे अविद्या अथवा मायाका ध्वंस (नाश) मानते हैं। उनके मतमें विद्या और मायामें नाश्यनाशकभाव सम्बन्ध है; परन्तु तान्त्रिक प्रक्रियाके अनुसार माया तथा विद्या एक ही विमर्शके शुद्ध और अशुद्धरूप अंश हैं, उनमेंसे अशुद्ध अंशके दूसरे शुद्ध अंशके द्वारा सर्वदाके लिये सम्पुटित हो जानेपर मोक्ष मिल जाता है। शाङ्कर-वेदान्तियोंके मतमें मायाका नाश विद्यासे होता है और वह भी तत्त्वज्ञानरूप स्वयं क्षणान्तरमें नष्ट हो जाता है, परन्तु तान्त्रिकोंका विमर्श शुद्धरूपसे नित्यप्रकाशसे अभिन्न होकर वर्तमान रहता है—

तल्लीनमस्त्यविरहः शिवयोः स्वभावः

(मातृकाचक्रविवेक)

समस्तशक्तिखचितं ब्रह्म सर्वेश्वरं सदा।
ययैव शक्त्या स्फुरति प्राप्तां तामेव पश्यति॥
अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम्।
स्पन्दशक्तिस्तदिच्छेयं दृश्याभासं तनोति सा॥
तस्माच्चिच्छक्तिकोशस्थाः सर्वाः सर्गपरम्पराः।
सर्वाः सत्याः परं तत्त्वं सर्वात्मा कथमन्यथा॥

विशुद्धा परा चिन्मयी स्वप्रकाशा-
ऽमृतानन्दरूपा जगद्व्यापिका च।
तवेदृग्विधाया निराकारमूर्तिः
किमस्माभिरन्तर्हृदि भावनीया॥

(योगवासिष्ठ)

ज्ञानके अर्जित हो जानेपर विमर्शके विद्यात्मक अंशसे क्रमशः चिदुन्मेष होने लग जाता है, जो अज्ञातरूपसे अभेदसंसारमें आ जानेपर जीवको प्रतिदिन प्राप्त है परन्तु मोक्षका साधक नहीं।

चिदुन्मेष-क्रमके अनुसार सर्वप्रथम (१) शुद्ध-विद्या-पदका उदय होता है। यहाँपर वेद्य-वर्ग ज्ञानेन्द्रियके साथ एकात्म हो जाते हैं। यहाँ वेद्यविलासका अन्तर्धान मोक्षमार्गरूढ जीवको प्राप्त होता है। प्रमाणरूपसे प्रपञ्चके बने रहनेसे इदन्ता-भानका 'औल्वण्य' अथवा प्राधान्य सर्वथा प्रशान्त नहीं होता। इसके अनन्तर (२) 'ईश्वर' नामक पदका उदय होता है, यहाँपर अन्तर्लीनप्रमेय प्रमाणों या कर्मेन्द्रियोंका विराड् देहरूप प्रमातामें विलय होता है। यहाँ पहुँचकर चेतन सर्वकर्त्ताके पदका लाभ करता है और उसका सम्बन्ध केवल परिच्छिन्न पिण्डाण्डहीसे नहीं रह जाता किन्तु व्यापक या विराट् देहके साथ हो जाता है। इसके बाद (३) 'सदाशिवरूप प्रमाता' के पदका लाभ होता है। यहाँपर स्वात्मीकृतज्ञेयवेद्य ज्ञानेन्द्रियोंका आत्मारूप प्रमाताके साथ अभेद प्राप्त हो जाता है और सर्वज्ञताका लाभ आत्माको हो जाता है। यहाँ परिच्छिन्न ज्ञानवाला जीव ही सदाशिवरूप सर्वज्ञ हो जाता है। सबके बाद (४) शक्तिरूप प्रमाताके पदका उदय होता है—जहाँ विराट् देह और सर्वज्ञ आत्मा दोनों प्रमाताओंका सामरस्य सिद्ध हो जाता है—

तथा चापरिच्छिन्नचिदचित्सामरस्यरूपाकाशविश्रान्तिमयदेहात्मसामरस्यलक्षणस्वरूपत्वं शक्तिप्रमातुः स्वरूपसिद्धि-हेतुर्विशेषः।

ईश्वर और सदाशिव दोनों पदोंमें 'अहम्' और 'इदम्' का सामानाधिकरण्य लब्ध हो जाता है अर्थात् '**अहमिदम्**' इस रूपसे विमर्शकी ख्याति होती है भेद यह है कि ईश्वर-दशामें 'इदम्' प्रधान रहता है और उसीमें 'अहम्' का भान होता है परन्तु सदाशिव-दशामें 'अहम्' प्रधान हो जाता है और उसीमें 'इदम्' का भान होता है। शक्ति-दशामें शुद्ध 'अहन्ता' का उदय हो जाता है। यहाँपर इदमात्मक विमर्श सर्वात्मना 'अहम्' में विलीन हो जाता है और स्वरूपानुभूतिमात्रके लिये उपयुक्त शुद्ध और सामान्य विमर्शसे अभिन्न शुद्ध प्रकाशरूप परमशिवका उदय हो जाता है। इसीको शैवागमवादी 'महाभैरव' भी कहते हैं, परन्तु शक्तिप्राधान्यवादी शाक्तगण 'त्रिपुरेश्वरी'-रूप महाशक्ति कहते हैं। वैसी दशा, जहाँपर स्वरूपानुभूतिमात्रोपयुक्त विमर्श भी शुद्ध संवित्‌में विलीन हो जाय, कल्पनातीत है परन्तु मान लेनेपर भी शुद्ध 'अहन्ता' के आविर्भावसे ही संसारके उन्मेष और निमेषकी व्यवस्था स्थापित की जा सकती है। उस तत्त्वातीत दशामें भी शुद्ध अहन्तारूप विमर्शको अवश्य वर्तमान मानना पड़ेगा परन्तु ऐसा अनन्य तथा अभिन्न कि उसकी अनन्यता भी तिरोहित या अनुद्भूत बनी रहती है। तन्त्रशास्त्रमें मातृकाचक्रविवेक नामक

ग्रन्थमें, प्रायः जिसके आधारपर यह लेख तैयार किया गया है, स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—'**अविरहः शिवयोः स्वभावः।**' शिव और शिवा अर्थात् प्रकाश और विमर्शका 'नित्य-अविनाभाव' सम्बन्ध है। दूसरी बात, जब विमर्श स्वभाव है तो स्वभावका कभी नाश नहीं होता; केवल इतना ही है कि स्वभावका अपने आश्रयके साथ पारमार्थिक अभेद रहता है और भेद उपाधिकल्पित भासित होता है। इस प्रकार विमर्शवादी भी तान्त्रिक अद्वैतवादी ही कहे जा सकते हैं। विशिष्टाद्वैतवादी स्वगत-भेदको मानकर अद्वैत स्थापित करते हैं, परन्तु यहाँ आन्तरिक और पारमार्थिक अभेद तथा बाह्य और कल्पित भेद मानकर अद्वैत स्थापित किया जाता है। यह विलक्षण अद्वैतवाद है, जहाँ प्रकाशरूप ब्रह्मके अलावे नित्य विमर्श भी है परन्तु ब्रह्मका स्वभाव ही है, अतएव अभिन्न और अद्वैतका विरोधी नहीं। इसी अद्वैतका नाम शाक्ताद्वैतवाद है। शाक्ताद्वैतवादमें भी परिणामवाद, विवर्त्तवाद तथा प्रतिबिम्बवाद सभीके समर्थक वचन मिलते हैं, जिनके निदर्शनमात्र देकर यह लेख समाप्त किया जाता है।

प्रतिबिम्बवाद—

यथा बिम्बमेकं रवेरम्बरस्थं
प्रतिच्छायया यावदेवोदकेषु।
समुद्भासतेऽनेकरूपं तथावत्
त्वमेकापि लोकत्रये तद्वदेव॥ १॥

परिणामवाद—

यथा भ्रामयित्वा मृदं चक्रमध्ये
कुलालो विधत्ते शरावं घटञ्च।
महामोहयन्त्रेषु भूतान्यशेषान्
सुरान्मानुषांस्त्वं सृजस्यादिसर्गे॥ २॥

विवर्त्तवाद—

यथा रङ्गरज्ज्वर्करश्मिष्वकस्मा-
न्नृणां रूप्यदर्वीकराम्बुभ्रमः स्यात्।
जगत्यत्र तत्तन्मये तद्वदेव
त्वमेकैव तत्तन्निवृत्तौ समस्तम्॥ ३॥

संस्कृत-साहित्यमें शक्ति

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, कविरत्न)

[१]

संस्कृत-साहित्य विश्व-साहित्य है। परस्पर भेद-भावको स्थान न देकर जिसने प्राणिमात्रके हितके लिये पैर आगे बढ़ाया हो ऐसा विश्वधार्मिक साहित्य यदि कोई हो सकता है तो यही है। पृथ्वीभरकी मनुष्य-जातियोंके प्रति अपने-अपने अधिकारानुसार चरित्र-शिक्षा देनेके लिये प्रकाश्य घोषणा करनेवाला यही है—'**स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥**' जब इसका क्षेत्र इतना विस्तृत है तब हितशिक्षाके मार्ग भी इसके अनेक होंगे, यह सरलतासे समझमें आ सकता है।

भारतका साहित्य ही क्या, यहाँका सर्वस्व धर्मके ही साथ संलग्न है। धर्मसे हटनेपर किसीका भी हित नहीं हो सकता, यह यहाँका मौलिक सिद्धान्त है। धार्मिक सिद्धान्तोंमें सबसे पहले श्रीगणेश होता है ईश्वर और उसकी उपासनासे। जबतक जीव अपने उद्भव और स्वरूपको भूला रहता है तबतक उसे ठिकाना नहीं। ईश्वरके अभिमुख होनेपर ही वह चौरासीके चक्करसे बरी हो सकता है। अधिकारियोंकी भिन्न-भिन्न रुचि और अधिकारोंके अनुसार ईश्वरके रूप और उनकी उपासनाके मार्ग अनेक प्रकारके माने गये हैं; किन्तु जगत्स्रष्टा ईश्वर एक है, यह सबका निश्चित सिद्धान्त है।

वह ईश्वर, वह भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं। षड्गुणैश्वर्यका ही नाम भग है। गीतामें स्थान-स्थानपर भगवान्‌को अनन्तशक्ति बतलाया गया है। वह अनन्तशक्तिके केन्द्र हैं, यही उनकी महत्ता है। ऐश्वर्य, महिमा और शक्तिहीके कारण वह 'सर्वेश्वर' कहलाते हैं। यदि यह ऐश्वर्य-महिमा और शक्ति भगवान्‌में नहीं पायी जाती तो वह ईश्वर और भगवान् नहीं कहला सकते। अतएव परिणामतः शक्ति और शक्तिमान्‌को अभिन्न माना गया है। यदि अग्निमें दीप्ति-शक्ति न हो तो फिर उसका अग्नित्व अर्थात् अग्नि होना भी अज्ञेय होगा। अतएव स्पष्ट सिद्ध है कि अग्निमें जो दाहिका शक्ति है वही अग्नि है। जब हमारा तात्त्विक सिद्धान्त 'अद्वैत' फिलासफीपर ही विश्राम

करता है तब शक्ति और शक्तिमान्को पृथक्-पृथक् मानना तो किसी हालतमें भी नहीं टिक सकता। इसीलिये भगवान् शक्ति हैं, और वह शक्ति भगवद्रूप है। व्यवहार-मार्गमें—अधिकारियोंके समझानेके लिये शक्ति और शक्तिमान्का भेद (मतुप्प्रत्ययादिसे) चाहे दीखता हो परन्तु वास्तवमें दोनोंका अभेद है, इसमें सन्देह नहीं। शक्त्युद्भव-प्रकरणमें भी अधिकारियोंको समझानेके सौकर्यके लिये ही दोनोंका भेद-सा दिखलाया गया है, तात्त्विक नहीं। इसीलिये इस अभि 'सन्धि'* को समझकर अभेदविषयमें शास्त्रार्थी वीर 'विग्रह' न करेंगे, यह आशा है।

भक्तोद्धारके समय भगवान् यावदपेक्षित शक्तिको लेकर अवतार लिया करते हैं। जबतक शक्तिको प्रेरणा नहीं होती तबतक ऐश्वर्यके कार्य नहीं हो सकते। इसीलिये भक्तोंके कष्टनिवारणके समय भगवान् शक्तिसे काम लेते हैं। यद्यपि भगवान्में वह शक्ति अभिन्नतया स्थित है किन्तु समयविशेषपर वह शक्ति विशिष्टरूपसे उद्भूत होकर ऐसे-ऐसे कार्य करती है जो दूसरे प्रकारोंसे किसी तरह भी नहीं हो सकते। अतएव शक्तिविशिष्ट ही भगवान् सबके पूज्य सिद्ध होते हैं। किन्तु यहाँ बहुत-से भक्तोंकी बारीक भावना है कि भगवान्में भी तो भक्तोद्धार तथा त्रैलोक्यरक्षा वा जगन्नियन्त्रण करनेवाली उस शक्तिकी ही तो सब कुछ करामात है। उसीके कारण तो भगवान्का 'भगवत्त्व' बना हुआ है। अतएव अन्ततोगत्वा हमारी ध्येय और उपास्य वह 'शक्ति' ही तो सिद्ध होती है। इसीलिये वह शक्ति ही भगवान् है, वही ईश्वर है। इसी शक्तिको माननेवाले भक्त वा साधक 'शाक्त' कहलाते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि 'नित्य' और 'अव्यय' भगवान्की वह शक्ति यद्यपि नित्य और सर्वदा स्थायिनी है किन्तु समय पड़नेपर ब्रह्मकी वह सर्वतोव्याप्त शक्ति पृथक् उद्भूत होकर विशेष-विशेष कार्य किया करती है। 'दुर्गासप्तशती' में कहा है—

देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याऽप्यभिधीयते॥

पुराणोंसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संकटके समय 'निष्कृष्ट' हुई (साररूपसे पृथक् हुई) उस शक्तिसे ही अनितरसाध्य (जो औरसे नहीं हो सकते) कार्य आजतक हुए हैं। जिस समय मधु-कैटभका उपद्रव आरम्भ हुआ उस समय सर्वत्र व्याप्त हुई उस ब्रह्मकी शक्तिने ही पृथक् उद्भूत होकर जगत्की रक्षा की। इसी प्रकार महिषासुरके द्वारा त्रिलोकीको क्लेश पहुँचनेपर ब्रह्मके अंशभूत सब देवताओंके अन्दरसे निकली हुई उस शक्तिने ही एकत्र होकर सबकी रक्षा की थी। इसके अतिरिक्त शुम्भ-निशुम्भके त्रैलोक्यविजय कर लेनेपर उद्भूत हुई उस शक्तिने ही देवरक्षाका कार्य किया था।

बस, इसी शक्तिविशेषको महामाया, भगवती, देवी, जगदम्बा आदि नामोंसे स्मरण करते हुए भावुकलोग उपासना किया करते हैं। उनका सिद्धान्त है कि वही 'शक्ति' देवोंसे लेकर साधारण मनुष्य, कीट-पतङ्गादितकको इस कार्य-मार्गमें प्रेरण किया करती है—

शिवादीनपि कर्माणि कारयन्ती जनानिव।
मायावलम्ब्यते सेयमम्बा श्रीशिवसुन्दरी॥

ठीक ही है। कौन-सा ऐसा धार्मिक सम्प्रदाय है जिसमें उस अदृष्ट शक्तिके बिना किसी भी कार्यका होना माना गया हो। हमारे यहाँ तो आपामर प्रसिद्ध है कि उसकी प्रेरणाके बिना पत्तातक नहीं हिलता।

[२]

कदाचित् यह सन्देह बहुतोंको होगा कि शक्तिविशेषकी स्वीकृति और उसका इस तरहका प्रभाव शायद शाक्तसम्प्रदायने ही माना है। कुछ लोगोंको कहते सुना है कि वैष्णव-सम्प्रदायमें शक्तिकी उपासना नहीं है। उनके यहाँ शक्तिकी उपासनासे होनेवाले कार्य हयग्रीव और नृसिंहके आराधनसे कर लिये जाते हैं। किन्तु मैं देखता हूँ—ऊपर कहा हुआ भाव वैष्णव-सम्प्रदायमें भी पाया जाता है। कारण, कल्पनामें विद्वानोंके व्याख्याविकल्प चाहे अनेक हो सकते हैं किन्तु भाव-वैभव एक है। भगवान् श्रीकृष्णका श्रीराधिकाके इङ्गितपर चलना क्या इस बातसे बहुत दूर रह जायगा? विशिष्टाद्वैत-वैष्णव-सम्प्रदायके माननीय विद्वान् श्रीवेङ्कटाध्वरि 'लक्ष्मीसहस्र' में कहते हैं—

नित्यं विश्वं वशयति हरिर्निग्रहानुग्रहाभ्या-
माद्ये शक्तिं विघटयति ते हन्त कारुण्यपूरः।

'किसीको दण्डसे और किसीको अनुग्रहसे—यों भगवान् इस ब्रह्माण्डको वशीभूत किये हुए हैं। किन्तु

* जहाँ 'सन्धि' हो चुकती है वहाँ फिर 'विग्रह' (युद्ध) नहीं होता।

भगवान्‌की उस निग्रह-शक्तिको हे लक्ष्मीजी! आपकी दया रोक देती है। अर्थात् हरि भले ही दण्ड देना चाहें, किन्तु यदि आप किसीपर प्रसन्न हो गयीं तो फिर हरिकी वह निग्रह-शक्ति उसपर नहीं चलती।'

त्वय्येवाऽऽयतते दया रघुपतेर्देवस्य सत्यं यतो
वैदेहि! त्वदसन्निधौ भगवता बाली निरागा हतः।
निन्ये कापि वधूर्वधं तव तु सान्निध्ये त्वदङ्गव्यथां
कुर्वाणोऽप्यभितः पतन्नशरणः काको विवेकोज्झितः॥

'भगवान्‌की दया किसीपर हो, यह बात तो निश्चय ही आपके अधीन है। क्योंकि हम देखते हैं, आपकी दयादृष्टिके बिना श्रीरामने निरपराध भी बालीको मार दिया था। अवध्य एक स्त्री (ताडका) तकको मारा था। किन्तु आप जिस समय मौजूद थीं और रक्षाके लिये आपका इशारा हो चुका था, उस समय अत्यन्त अपराधी भी (जिसने आपके शरीरतकको व्यथा पहुँचायी थी) वह काक (जयन्त) छोड़ दिया गया था।'

शौरिश्चकास्ति हृदयेषु शरीरभाजां
तस्यापि देवि हृदयं त्वमनुप्रविष्टा।
पद्मे! तवापि हृदये प्रथते दयेयं
त्वामेव जाग्रदखिलातिशयां श्रयामः॥

'भगवान् विष्णु प्राणिमात्रके हृदयमें रहते हैं (**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशोऽर्जुन तिष्ठति**) और उन विष्णुके हृदयमें आप विराजती हैं और आपके हृदयमें दया रहती है, अतएव हे लक्ष्मी! हम तो सबसे अतिशयशालिनी आपकी दयाका ही आश्रय लेना चाहते हैं।' वाह! स्पष्ट ही तो कह रहे हैं—

अजीर्यदघनाशनं दृढगदाकरं देवि यत्
पुराणमपि पूरुषं पुनरलङ्घनं पुष्यति।
तदेतदिह पातु नस्तव कटाक्षदिव्यौषधं
फणीन्द्रशयजीविके! भवविपन्मयादामयात्॥

'हे लक्ष्मी! आपकी कृपाकटाक्षरूप दिव्यौषधि ऐसे पुरुषको भी फिरसे हृष्ट-पुष्ट कर देती है जो 'अजीर्यदघनाशन' है, जिसे 'अघन' अर्थात् थोड़ा और हलका भी भोजन '**अजीर्यत्**' नहीं पचता, जो सुदृढ अर्थात् पुराने जटे हुए 'गद' रोगका घर बना हुआ है। उसपर भी मुश्किल यह है कि अवस्था भी अनुकूल नहीं। '**पुराणम्**' बूढ़ा जर्जर है। फिर मुश्किलपर भी मुश्किल यह और है कि चिकित्साके समय वह लंघन भी नहीं करना चाहता। ऐसी अद्भुत-चमत्कारशालिनी यह औषध हमें संसारमें आने-जानेके रोगसे छुड़ा दे।' भगवान् भी तो ऐसे ही हैं, क्योंकि '**अजीर्यत्**' अजर और 'अघनाशन' पापोंको दूर करनेवाले। '**दृढगदाकरम्**' दृढ गदा (आयुध)-को करमें रखनेवाले। '**अलम्—घनम्**' घनसदृश अथवा आपके आदेशको लंघन नहीं करनेवाले तथा पुराण पुरुष हैं।

[३]

इस तरह संस्कृत-साहित्यके साम्प्रदायिक और धार्मिक मण्डलमें तो शक्तिकी शक्ति पूरी तरहसे देखी ही जाती है, किन्तु संस्कृतके कविमण्डलने भी शक्तिकी चरम व्यञ्जनासे* ही साहित्यकी पराकाष्ठा कर दिखायी है। स्थान-स्थानपर शक्तिके वैचित्र्यमय अनेक वर्णन पाये जाते हैं। काश्मीरक, मैथिल तथा बङ्गीय कवियोंमें तो इसका अतिशय देखा ही गया है किन्तु अन्यान्य कवियोंने भी इसमें कमी नहीं रखी है। 'कल्याण' के स्थायी अनुग्राहकोंको कदाचित् स्मरण होगा कि मैं पहले 'शिवाङ्क' में कह चुका हूँ—वर्णन करते समय प्रतिभाकी लहरमें बहते हुए कविगण देवताओंके वर्णनमें भी अपने कलमी घोड़ोंकी लगाम नहीं अटका सकते। मनुष्य हो चाहे देव-दानव हो, उन्हें तो कल्पनाकी लपेटसे अपने वर्णनमें चमत्कार लाना है। बस, इसी कारण भगवतीके वर्णनमें भी अनेक विचित्र-विचित्र कल्पनाएँ कर डाली गयी हैं। उनमेंसे कुछका नमूना स्थानानुसार नीचे दिया जाता है—

कवि जगज्जननी भगवतीका अलौकिक माहात्म्य वर्णन करता है कि—'जिनकी कृपादृष्टिमात्रसे ब्रह्मामें सृष्टि करनेकी, विष्णुमें पालनकी, शिवमें संहारकी शक्ति आ जाती है, सौन्दर्यसागरकी तरङ्गोंसे व्याप्त उन जगदम्बाके लिये मेरा सतत प्रणाम हो'—

ब्रह्मादयोऽपि यदपाङ्गतरङ्गभङ्ग्या
सृष्टिस्थितिप्रलयकारणतां व्रजन्ति।
लावण्यवारिनिधिवीचिपरिप्लुतायै
तस्यै नमोऽस्तु सततं हरवल्लभायै॥

* मार्मिक समझ ही गये होंगे कि सब वृत्तियोंमें प्रधान 'व्यञ्जना' से ही साहित्यका महत्त्व है, यही यहाँ शक्ति······नहीं, नहीं व्यञ्जनासे सूचित किया गया है।

भगवतीके अलौकिक देव-दरबारका वर्णन तो सुप्रसिद्ध ही है कि सब सृष्टिके विधाता ब्रह्मा जिनके चरणतलमें पड़े हुए हैं—'**वेधाः पादतले पतति**' आदि।

कवि महिषमर्दिनी भवानीका वीर वर्णन करता है कि—'जिस समय महिषासुर रोष करके सामने आया उसे देखकर ग्यारहों रुद्र भयके मारे नौ-दो ग्यारह हो गये। आकाशमें सुस्थिर रहनेवाले सूर्य भी तिलमिला उठे। इन्द्रको अपने वज्रका बड़ा गर्व था, किन्तु उनका वज्र भी भौंटा पड़ गया। शशाङ्कको शङ्का हो पड़ी कि देखें जान बचती है कि नहीं। वायुकी वायु बन्द हो गयी। कुबेरने डरके मारे वैर छोड़कर सन्धि कर ली। अधिक क्या, विष्णुका भी सुदर्शनचक्र वक्र हो पड़ा। उस समय पराक्रमगर्वित और रोषसे भन्नाते हुए महिषासुरको भगवतीने निर्विघ्न ही समाप्त कर दिया। वही प्रभावशालिनी भवानी हमारी रक्षा करें'—

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी॥

जिन पार्वतीका विश्वविदित यह 'विक्रम' है उन्हींके विवाहका वृत्तान्त एक कवि यों कहता है—'पार्वतीने जिस समय शिवके शरीरमें गोनास-जातिके भयंकर नागको देखा, उसके भयसे काँपकर वह विषकी काटके लिये साथमें लायी हुई ओषधिराजको शरीरमें लगा लेती हैं, किन्तु साथ ही दूसरी जातिका भयङ्कर सर्प फुफकार कर उठता है, उसके लिये विषघ्न ओषधि बाँध लेती हैं। परन्तु आगे बढ़कर देखती हैं तो शिवके कण्ठमें 'हालाहल' मौजूद है। उसके प्रतीकारके लिये प्रभावशाली मणिको हाथमें ले लेती हैं। किन्तु शिवके चारों तरफ जैसे ही नजर डालती हैं तो भूतोंकी मण्डली दिखायी देती है। बस, डरके मारे वह कुटुम्बकी वृद्धाओंके बताये हुए 'मन्त्र' को जपने लगती हैं। वही डरी हुई पार्वती हमारी रक्षा करें'—

गोनासाय नियोजितागदरजाः सर्पाय बद्धौषधिः
कण्ठस्थाय विषाय वीर्यमहतः पाणौ मणीन् बिभ्रती।
भर्तुर्भूतगणाय गोत्रजरतीनिर्दिष्टमन्त्राक्षरा
रक्षत्वद्रिसुता विवाहसमये प्रीता च भीता च वः॥

और तो क्या, एक कवि 'पार्वती' और 'लक्ष्मी' के 'जुबानी-झगड़े' तकका वर्णन कर डालता है। कहता है कि—'पार्वतीजीको छेड़नेके लिये लक्ष्मीजी पूछती हैं—'कहो, आज भिक्षुकजी कहाँ हैं?' उनका शिवपर भिक्षा माँगनेका आक्षेप था। किन्तु पार्वतीजी उस व्यङ्ग्योक्तिका तत्काल जवाब देती हैं कि 'शायद बलिके यज्ञमें गये होंगे।' अर्थात् विष्णु भी तो भीखसे नहीं बचे हैं। फिर लक्ष्मीजी कहती हैं—'आज नाच कहाँ होगा?' उनका शिव-ताण्डवपर आक्षेप है। पार्वतीजी जवाब देती हैं—'मालूम होता है वृन्दावनमें होगा।' लक्ष्मीजी हस्तमें लिये हुए मृगपर आक्षेप करती हुई पूछती हैं—'वह मृगशिशु कहाँ है?' पार्वतीजी कहती हैं—'वाराहको मैं नहीं जानती।' मृगका जवाब वाराहपर देती हैं। लक्ष्मीजी फिर पूछती हैं—'वह बूढ़े बैलके धनी कहाँ हैं?' पार्वतीजी कहती हैं—'इसे तो कोई गोप ही जानता होगा।' यों लक्ष्मी और पार्वतीकी व्यङ्ग्यवचनोक्ति हमारी रक्षा करें'—

भिक्षार्थी स क्व यातः, सुतनु बलिमखे, ताण्डवं क्वाद्य भद्रे
मन्ये वृन्दावनान्ते, क्व नु स मृगशिशुर्नैव जाने वराहम्।
बाले कच्चिन्न दृष्टो जरठवृषपतिर्गोप एवास्य वेत्ता
लीलासंलाप इत्थं जलनिधिहिमवत्कन्ययोस्त्रायतां वः॥

'चण्डीशतक', 'सौभाग्यलहरी' आदिका 'शक्ति-वर्णन' तो प्रसिद्ध ही है। खैर यह तो प्राचीन संस्कृत-साहित्यका 'शक्ति' विषयक विनोद-वर्णन हुआ।

[४]

अब जयपुर-नगरके बसानेवाले प्रसिद्ध विद्यानुरागी महाराज सवाई जयसिंहजीके समयमें जो शक्तिविषयक स्तोत्र बने हैं उनमेंसे कुछके नमूने नीचे देता हूँ। ये स्तोत्र अप्रकाशित हैं। जिनके बनाये स्तोत्रके नमूने दे रहा हूँ, वे तैलङ्ग ब्राह्मण थे। 'देवर्षि' आदि सौ गाँवोंकी जागीर मिलनेके कारण इनके पूर्वजोंका अवटङ्क 'देवर्षि' पड़ गया था। पहले यह बूँदीराज्यमें राव बुधसिंहजीके पास थे। वहाँसे महाराज जयसिंहजीने इन्हें 'आम्बेर' में लाकर बसाया था। इनके इतिहासमें लिखा है—

बुंदीपति बुधसिंहसों, लाये मुखसों जाँचि।
आइ रहे आमेरमें प्रीति रीति बहु भाँति॥

जयपुर-राज्यने आपको 'कविकलानिधि' की उपाधि दी थी। इसीलिये आपका नाम श्रीकृष्णभट्ट कविकलानिधि प्रसिद्ध हुआ। यह जिस तरह सब शास्त्रोंके प्रकाण्ड विद्वान् थे उसी तरह संस्कृत, प्राकृत तथा व्रज-भाषाके भी असाधारण कवि थे। महाराज जयसिंहजीके आज्ञासे

बनाया हुआ आपका 'अलङ्कारकलानिधि' नामक ग्रन्थ व्रजभाषा-साहित्यमें अपूर्व है। अस्तु, उन्हींके बनाये हुए 'त्रिपुरसुन्दरीस्तवराज' के कुछ पद्य नीचे देता हूँ। इस स्तोत्रमें १०९ शिखरिणी छन्द हैं, जिनमें कविताविषयक अपूर्व माधुर्य तो है ही किन्तु तन्त्रविषयक रहस्य पूरे-पूरे भरे हैं। स्थानानुसार यहाँ कुछ ही पद्य दिये जाते हैं—

कलाकेलीलोलक्वणितमणिकाञ्चीगुणगणां
विलुप्ताङ्गीं मध्ये कुचभरनताङ्गीं शशिमुखीम्।
कराम्भोजभ्राजत्सधनुरिषुपाशाङ्कुशवरां
समन्तात्त्वां वन्दे स्मरहरतपः सिद्धिपटलीम्॥ १॥

स्थिता सर्वस्यान्ते निजमहिमशान्तेन महसा
विशुद्धा त्वं काचित्परमसुखचैतन्यकलिका।
शुकादीनां प्राचामपि हृदयवाचामविषयः
शिवः शक्तिः शक्तिः शिव इति न निर्णेतुमुचिता॥ २॥

सृष्टिक्रमको आपने किस सुन्दरतासे कहा है—

त्वमेका विश्वस्मिन् रमणमनसा द्वैतमकरो-
स्ततस्त्वत् त्वं जज्ञे महदिदमहङ्कारसहितम्।
मनस्तेनारब्धं सकलमपि दृग्दृश्यमसृज-
त्तदेवं लोकेऽस्मिन् किमपि न विलोके त्वदितरत्॥ ३॥

भक्ति-प्रवणताकी कुछ बानगी देखिये—

न धूपैर्नो दीपैर्न च मधुरनैवेद्यनिवहै-
र्न पुष्पैर्नो गन्धैर्न च विविधबन्धैः स्तुतिपदैः।
समस्तत्रैलोक्यप्रसरणलसद्भूरिविभवे!
सपर्या पर्याप्ता तव भवति भावोपचरणैः॥ ४॥

दरिद्रं दुःशीलं दुरधिगमनं दुःखदलितं
दुराचारं दूरे पतितममरैर्दुर्भरतरम्।
जनैर्मुक्तं भुक्तिप्रमुखसुखसम्पत्समुदयाः
पुमांसं सेवेरन् भगवति! भवद्दृष्टिभरितम्॥ ५॥

पिबन्तं षड्वक्त्रं सरभसमवष्टभ्य पिबति
द्विपास्ये सस्नेहस्रवणसरसो दक्षिणकुचः।
परो मातः स्कन्दोपरि सकरुणस्यन्दमधुरः
स्तनस्ते तं भावं प्रकटयतु मल्लक्षणशिशौ॥ ६॥

तन्त्ररहस्यमार्मिकताका भी कुछ परिचय प्राप्त करिये—

त्रिरेखान्तर्वृत्तत्रयगत (हृद) ब्जाष्टदलयोः
परस्ताद्वृत्तैकस्फुटभुवनकोषान्तरगते ।
दशारद्वन्द्वेऽन्तः स्फुरितवसुकोणान्तरलस-
त्रिकोणे त्वं नित्यं विलससि महाविन्दुवपुषा॥ ७॥

निदानं मन्त्राणां विलसति धरित्री हिमकरः
शिवो मायाशक्तिर्ज्वलनजननो मादनकरः।
तथार्द्धेन्दुर्विन्दुर्नवकमिदमस्मादुपचिता-
त्तरङ्गन्यायेन स्फुरति सकलो मन्त्रनिवहः॥ ८॥

स्वरूपवर्णशैलीका भी नीचे कुछ परिचय दिया जाता है—

स्फुरच्चिन्तारत्नप्रवरपरिषत्पाटवहरैः
प्रकाशैः पूर्णानां भुवनजनचेतोरुचिभृताम्।
नवीनोद्यत्तारापरिवृढसखानां चरणयो-
र्नखानां ते कान्तिस्तिरयतु मम स्वान्ततिमिरम्॥ ९॥

प्रवालश्रीसर्वापहरणविलोलाङ्गुलिगणाः
स्फुरद्रत्नाम्भोजद्युतिविजयिमाञ्जुल्यनिलयाः ।
चतुर्वर्गश्रेणीफलयुगपदुद्भावनकराः
करास्ते चत्वारः कलयितुमलं शर्म विमलम्॥ १०॥

रसक्रीडामाने प्रणयिनि रुषेवारुणितयो-
स्ततो नीचीभूतत्रिदशधुनिवीचीविशदयोः।
प्रसादप्रोद्भूतप्रचुरसुखसौभाग्यपदयोः
स्थिरं स्यान्मच्चित्तं गिरिशमहिषि त्वत्प्रपदयोः॥ ११॥

सम्पूर्ण स्तोत्र देनेका न यहाँ स्थान है न मेरा प्रयोजन है। अलभ्य और अप्रकाशित स्तोत्रका कुछ परिचय देना आवश्यक था, वह इन पद्योंसे हो सकता है। अधिक जानना चाहें वे विद्वान् इन पंक्तियोंके लेखकसे 'साहित्यवैभव' नामक संस्कृत-ग्रन्थ मँगाकर देख सकते हैं।

अस्तु! यह मध्य-समयके संस्कृत-साहित्यका शक्ति-विषयक वर्णन हुआ।

[५]

वर्तमान समयमें संस्कृत-भाषा प्राचीन साहित्य-भाषाके रूपमें प्रायः अध्ययनीय रह गयी है। उसका साहित्य अधिकांश पुस्तकस्थ हो गया है। व्यवहार-विषयमें उसका 'चार्ज' हिन्दीको मिला हुआ है। कई मार्मिकोंका कहना है कि व्रजभाषा और हिन्दीके कवियोंने जो कविता-प्रणाली निकाली वह समयानुसार रोचक सिद्ध हुई। इस भाषाके 'कवित्तघनाक्षरी' आदि छन्द ही अपनी मधुर 'लय' के कारण वर्णनीय विषयको मधुर बना देते हैं। अस्तु, संस्कृत-भाषामें वह जीवनी-शक्ति, वह 'लोच' आज भी वर्तमान है जिससे वह प्रत्येक युगकी अवस्था-व्यवस्थाका अबाधितरूपसे साथ देनेमें समर्थ है—इसी बातको परीक्षा-स्वरूपमें लानेके लिये नवीन 'शक्ति'-वर्णन-विषयक संस्कृतकी दो कविताएँ नीचे देता हूँ, जो सामयिक छन्दोंमें बाँधी गयी हैं।

जयपुरकी प्राचीन राजधानी 'आम्बेर' के राजमहलोंमें

श्रीश्रीजगद्धात्री

सिंहस्कन्धाधिरूढां नानालङ्कारभूषिताम्। चतुर्भुजां महादेवीं नागयज्ञोपवीतिनीम्॥
शङ्खशार्ङ्गसमायुक्तवामपाणिद्वयान्विताम्। चक्रं च पञ्चबाणांश्च धारयन्तीं च दक्षिणे॥
रत्नद्वीपे महाद्वीपे सिंहासनसमन्विते। प्रफुल्लकमलारूढां ध्यायेत्तां भवसुन्दरीम्॥

स्वर्गीय महाराज सवाई मानसिंहजीके द्वारा बंगालसे लाकर स्थापित की हुई भगवती 'शिलामयी' की प्राचीन मूर्ति है। पहला छन्द उन्हीं भगवतीकी स्तुतिका है—

(दण्डक-अनङ्गशेखर छन्द)

उमेश्वरे उमामयी, रमेश्वरे रमामयी,
गिरीश्वरे प्रमामयी, क्षमामयी क्षमावताम्।
सुधाकरे सुधामयी, चराचरे विधामयी,
क्रियासु संविधामयी, स्वधामयी स्वधावताम्॥
जगत्सु चेतनामयी, मनःसु वासनामयी,
कवीन्द्रभावनामयी, प्रभामयी प्रभावताम्।
धनेषु चञ्चलामयी, कलावतां कलामयी,
शरीरिणामिलामयी, 'शिलामयी' सदावताम्॥

'जो 'शक्ति' शिव और विष्णुके समीप उमा और रमाके रूपमें तथा '**गिरीश्वरे**' वाक्पतिमें प्रमामयी यथार्थ ज्ञानरूपसे वर्तमान है। वाणीमें जो 'प्रमा' है वह 'शक्ति' की शक्ति है। सुधाकरमें सुधारूप, स्थावर-जङ्गमात्मक प्रपञ्चमें प्रकारमयी, क्रियाओंमें संविधानरूप तथा पितरोंमें 'स्वधा' रूपसे विद्यमान है। प्रकारमयीका तात्पर्य यह है कि स्थावर-जङ्गमोंमें वह शक्ति ही तो सर्वत्र व्याप्त है। केवल 'यह स्थावर है, यह जङ्गम है' इत्यादि प्रकारमात्र भेदक है। जगत्में चेतनारूप, मनमें प्राक्कर्मजनित संस्कार (वासना) रूप, कवियोंमें भावना-शक्तिरूप, प्रभाशालियोंमें प्रभारूप। मेघोंमें विद्युद्रूपसे, कलाशालियोंमें कलारूपसे, शरीरधारियोंमें 'इला' पृथिवीरूपसे विद्यमान, वह भगवती 'शिलामयी' हमारी सदा रक्षा करें*।'

भगवती (लक्ष्मी)-से कारुण्य प्रार्थना

(ग़ज़ल रेख़ता)

अये पद्मालये! मातर्दयातः पाहि दीनं माम्।
क्षणं वीक्षस्व संसारेऽद्य निःसारे निलीनं माम्॥ १॥
तवालम्बादहं बालोऽधुना लोकं सुखं मन्ये।
त्वमेवोपेक्षसे कस्मादकस्माद्धैर्यहीनं माम्॥ २॥
अनन्तैर्दुःखसंवर्तैर्निकामं खिन्नचित्तोऽहम्।
दृशं सौख्यस्पृशं मातर्दिशन्ती पाह्यधीनं माम्॥ ३॥
न जानन्मार्गमेतं ते दुरन्तेऽस्मिन् भवेऽभ्राम्यम्।
इदानीं त्वद्दयाधारे नयागारे नवीनं माम्॥ ४॥
भवाब्धौ निर्भरासङ्गैस्तरङ्गैर्भ्रान्तवान् बाढम्।
न जाले पातयेर्मातर्विदित्वा मूढमीनं माम्॥ ५॥
नृपाः प्राप्याधिकारं ते निकारं वित्सु विन्दन्ते।
न कुर्वीथाः कृपाम्भोधे! कलौ कस्याऽप्यधीनं माम्॥ ६॥
सुसूक्ष्मं जीवने मातर्न मे पुण्यं परीक्षेथाः।
निरीक्षेथाः क्षणं मातः प्रपुष्यत्पापपीनं माम्॥ ७॥
अनन्तेऽस्मिन्विधानेऽहं न जाने तथ्यमीमांसाम्।
त्वमेवाख्याहि कर्त्तव्यं कृपाब्धे मामकीनं माम्॥ ८॥
न लज्जेयं भवेत्किं ते ? निमज्जेन्मञ्जुनाथश्चेत्।
अये मातर्नयेथास्त्वत्पदाब्जे तावकीनं माम्॥ ९॥

भोली भवानी!

बिभवेच्छुकनै[1]-भौन भरती बिभव भूरि,
भिच्छुक भयौ है भरतार सो भुलानी तू।
भक्तकी अभक्तकी सुभाजन-अभाजनकी[2],
भिन्नता भुलाइ भीति भंजति मृडानी! तू॥
भव-भारजौ[3] है भव-भावदा[4] भनै 'कुमार',
भव-भारिका[5] है भव-भच्छिका[6] अयानी! तू।
भोरी भामिनी है भोरेनाथ भंग-भच्छककी,
भावती[7] भई है भव्य भावती[8] भवानी! तू॥ —'कुमार'

* इसी भावका हिन्दीका भी कवित्त है—

दिनेसमें प्रभामयी मयंक चंद्रिकामयी, हुतास धीरधामयी प्रकासमान काय है।
पुरातनी परामयी जगत्परंपरामयी, पुरानब्रह्मभामयी प्रकामकामदाय है।
धरामयी चरामयी असेषथावरामयी, अनंदकंदरामयी अमंदबुद्धिभाय है।
विरंचिमें गिरामयी, रमेसमें रमामयी, महेसमें उमामयी सिलामयी सहाय है॥

(१) वैभवकी इच्छा रखनेवाले। (२) सुपात्र-अपात्रकी। (३) भार्या। (४) जन्मदात्री, उत्पन्न करनेवाली। (५) बोझा उठानेवाली, पालन करनेवाली। (६) भक्षण करनेवाली, संहार करनेवाली। (७) प्यारी। (८) भव्य प्रभावाली।

श्रीश्रीजगद्धात्री-तत्त्व

(स्वामी भार्गव श्रीशिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्दजीके उपदेश)

जिज्ञासु—माँके जगद्धात्री-रूपकी उपासनाके समय विशेषतः किस प्रकारकी भावना करनी चाहिये, आज इस सम्बन्धमें कुछ उपदेश सुनानेकी प्रार्थना करता हूँ; जगद्धात्रीपूजाका विशिष्ट भाव क्या है, यह जाननेकी इच्छा होती है। साथ ही माँके जगद्धात्री रूपका आविर्भाव कब हुआ था, यह भी जाननेकी मेरी अत्यन्त अभिलाषा है।

× × × ×

वक्ता—जगद्धात्रीके स्वरूपपर ध्यान दो। जगत्के धारण करनेके लिये विष्णु-शक्तिका विशेष प्रयोजन है। विष्णु ही जगत्की संधारण-शक्ति है। विष्णुसूक्तमें विष्णुके स्वरूपका वर्णन है। जगद्धात्रीके स्वरूप और आयुध-तत्त्वका विचार करनेपर तुम्हें यह बात बहुत कुछ समझमें आ जायगी। माँके हाथमें शङ्ख, शार्ङ्ग, चक्र प्रभृति विष्णु-रूपोचित सारे आयुध क्यों विद्यमान हैं, इसका विचार करो। जगद्धात्रीके रूपमें धृति और ज्ञानशक्तिका विशेष विकास है।

जगद्धात्रीके ध्यान-वाक्यका संक्षिप्त अर्थ

जिज्ञासु—अब माँ जगद्धात्रीके—

सिंहस्कन्धसमारूढां नानालङ्कारभूषिताम्।
चतुर्भुजां महादेवीं नागयज्ञोपवीतिनीम्॥
शङ्खशार्ङ्गसमायुक्तवामपाणिद्वयान्विताम्।
चक्रञ्च पञ्चबाणाञ्च दधतीं दक्षिणे करे॥
रक्तवस्त्रपरीधानां बालार्कसदृशीं तनुम्।
नारदाद्यैर्मुनिगणैः सेवितां भवसुन्दरीम्॥
त्रिवलीवलयोपेतां नाभिनालमृणालिनीम्।
रत्नद्वीपे महाद्वीपे सिंहासनसमन्विते॥
प्रफुल्लकमलारूढां ध्यायेत्तां भवगेहिनीम्॥

—इस ध्यान-वाक्यके विशिष्ट शब्दोंका अर्थ संक्षेपमें दीजिये।

वक्ता—इसके पूर्व माँके रूपके सम्बन्धमें मैंने जो कुछ कहा था, उसका स्मरण करो। विष्णु एवं शिवके रूप और समस्त आयुधोंके तत्त्वके सम्बन्धमें जो सब बातें मैंने कही थीं, उनका स्मरण करो। जगत्की रक्षाके लिये, असुर-शक्तिके पराभवके लिये विष्णुके आयुधोंकी आवश्यकता होती है। माँ ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर इन त्रिविध शक्तियोंका संवलित रूप है—यह कभी न भूलना। माँ प्रयोजनके अनुसार इन त्रिविध शक्तियोंका व्यवहार किया करती हैं।

भवसुन्दरीम्—इसका दो प्रकारका अर्थ हो सकता है। (१) संसारमें जो सुन्दरी हैं; जिनके मनोहर रूपको देख लेनेपर फिर संसारकी कोई वस्तु रमणीय नहीं जान पड़ती; इस अतुलनीय सौन्दर्यके कारण माँ विश्वका लक्ष्य बनती हैं, सभी माँका आश्रय लेते हैं; [इससे यह सूचित होता है कि माँ ही लक्ष्मी अथवा श्रीशक्तिकी आधार हैं।] (२) भव अर्थात् शिवकी पत्नी।

त्रिवलीवलयोपेतां नाभिनालमृणालिनीम्—त्रिवली अर्थात् तीन रेखा; इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा ये तीन नाडियाँ; वलय शब्दका अर्थ है वेष्टन। '**त्रिवलीवलयोपेतां नाभिनालमृणालिनीम्**' इस पदद्वारा कुण्डलिनी ही लक्षित होती है। इस पदके अर्थका चिन्तन करते समय मानो मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त उज्ज्वलित, आलोकित हो उठा है—ऐसा ध्यान करना चाहिये।

रत्नद्वीपे—अनन्त समुद्रका ध्यान करो। उसके मध्यमें मानो एक द्वीप है। वह द्वीप कैसा है? वह चित्र-विचित्र उज्ज्वल रत्नोंसे निर्मित द्वीप है—वह सर्वदा जगमगाता रहता है—वहाँ अन्धकारका लेश भी नहीं है। माँका इस प्रकारसे ध्यान करनेकी उपयोगिता क्या है? तुम अभी सामान्यतः कुछ सोचने या ध्यान करनेके लिये आँखें मूँद लो तो तुम्हें क्या दिखलायी देगा?—केवल अन्धकार। यदि उक्त प्रकारसे माँका ध्यान करने लगोगे तो फिर तुम्हें अन्धकार नहीं दीखेगा।

महाद्वीपे—माँका स्वरूप वस्तुतः यति या योगीजनोंके लिये ध्येय है। बिना योगके यथार्थ ध्यान नहीं होता। [ध्यानकी प्रथमावस्थामें] ज्योतिके ध्यानका विशेषरूपसे विधान है। यह सगुण ध्यान है। रत्नद्वीपमें मानो महाद्वीप है, और उसमें एक प्रफुल्ल वा प्रस्फुटित कमल है, ऐसी भावना करनी चाहिये। यहाँ प्रफुल्ल कमलके द्वारा सहस्रारपद्म विवक्षित है। अब आध्यात्मिक भाव ग्रहण

करना होगा। षट्चक्रमें होकर क्रमशः उठते हुए सहस्रारमें पहुँचकर माँका इस प्रकार ध्यान करना होगा। पहले-पहल धारणा करते समय चिन्तन करना होगा कि माँ मानो सिंहके ऊपर बैठी हुई हैं। धारणाके लिये जरा आधिभौतिक भावका आश्रय लेना पड़ता है, उसके बाद क्रमशः आध्यात्मिक भावमें प्रवेश करना होता है। माँ तो वस्तुतः विश्वव्यापिनी हैं। अन्तमें, माँ सहस्रारपद्मके ऊपर आसीन हैं, इस प्रकार ध्यान करनेका अर्थ यह है कि अनन्त दिक् वा आकाश (Illimitable Space) माँका वास्तविक आसन है। [पद्मको अनेक स्थलोंमें विश्वका बोधक माना गया है] शेषोक्त सिंहासनशब्दका अर्थ है श्रेष्ठ आसन।

भवगेहिनीम्—शिव-शक्ति (परमात्माकी शक्ति)।

जगद्धात्री-स्तवनका अर्थ।

जिज्ञासु—अब—

आधारभूते चाधेये धृतिरूपे धुरन्धरे।
ध्रुवे ध्रुवपदे (ध्रुवप्रदे) धीरे जगद्धात्रि नमोऽस्तु ते॥ १ ॥
शवाकारे शक्तिरूपे शक्तिस्थे शक्तिविग्रहे।
शक्त्याचारप्रिये देवि जगद्धात्रि नमोऽस्तु ते॥ २ ॥
जयदे जगदानन्दे जगदेकप्रपूजिते।
जय सर्वगते दुर्गे जगद्धात्रि नमोऽस्तु ते॥ ३ ॥
परमाणुस्वरूपे च द्व्यणुकादिस्वरूपिणि।
स्थूलातिसूक्ष्मरूपेण (स्थूलातिस्थूलरूपेण) जगद्धात्रि नमोऽस्तु ते॥ ४ ॥
सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूपे च प्राणापानादिरूपिणि।
भावाभावस्वरूपे च जगद्धात्रि नमोऽस्तु ते॥ ५ ॥
कालादिरूपे कालेशे कालाकालविभेदिनि।
सर्वस्वरूपे सर्वज्ञे जगद्धात्रि नमोऽस्तु ते॥ ६ ॥
महाविघ्ने महोत्साहे महामाये वरप्रदे।
प्रपञ्चसारे साध्वीशे जगद्धात्रि नमोऽस्तु ते॥ ७ ॥
अगम्ये जगतामाद्ये माहेश्वरि वराङ्गने।
अशेषरूपरूपस्थे जगद्धात्रि नमोऽस्तु ते॥ ८ ॥
द्विसप्तकोटिमन्त्राणां शक्तिरूपे सनातनि।
सर्वशक्तिस्वरूपे च जगद्धात्रि नमोऽस्तु ते॥ ९ ॥
तीर्थयज्ञतपोदानयोगसारे जगन्मयि।
त्वमेव सर्वसर्वस्थे जगद्धात्रि नमोऽस्तु ते॥ १० ॥
दयारूपे दयादृष्टे दयार्द्रे दुःखमोचनि।
सर्वापत्तारिके दुर्गे जगद्धात्रि नमोऽस्तु ते॥ ११ ॥
अगम्यधामधामस्थे महायोगीशहृत्पुरे।
अमेयभावकूटस्थे जगद्धात्रि नमोऽस्तु ते॥ १२ ॥
यः पठेत्स्तोत्रमेतत्तु पूजान्ते साधकोत्तमः।
सर्वपापाद्विनिर्मुक्तः पूजाफलमवाप्नुयात्॥ १३ ॥

इस जगद्धात्री-स्तवनके अन्तर्गत विशिष्ट शब्दोंकी संक्षिप्त व्याख्या करनेकी प्रार्थना है।

वक्ता—यह एक उत्तम स्तव है। इसमें माँके स्वरूपका सम्यग्रूपसे वर्णन है। पूजाके पश्चात् यदि इस स्तोत्रकी सहायतासे माँका रूप अच्छी तरहसे समझ सको तो उससे पूजाका यथार्थ फल प्राप्त होगा। स्तवन-पाठ करनेके पूर्व इस प्रकार चिन्तन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये—

माँ! तुम्हीं मूलाधारमें 'भू' रूपमें हो, तुम्हीं अधिष्ठानमें 'भुव' रूपमें हो, तुम्हीं मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञामें 'स्व' 'मह' 'जन' और 'तप' रूपमें हो, और तुम्हीं सहस्रारमें 'सत्य' रूपमें हो; तुम्हीं अखिल विश्व हो, तुम्हीं सब हो और तुम्हारा ही सब है। अतएव तुम्हें मुझको अपने चरणोंमें स्थान देना होगा। मैं मलिन हूँ, क्या इसलिये अपने चरणोंमें आश्रय पानेके लिये मुझे अयोग्य समझ लोगी? मैं मलिन हूँ, यह सत्य है; परन्तु तुम तो शुद्ध—परमशुद्ध हो। मुझे तुम कहाँ रखोगी? क्या कोई ऐसा स्थान भी तुमने रखा है जहाँ तुम नहीं हो? ऐसा स्थान तो नहीं है, क्योंकि तुम्हीं आधार हो और तुम्हीं आधेय हो। मैं चाहे जो होऊँ, परन्तु क्या कभी मैं आधार-आधेयसे भिन्न कुछ हो सकता हूँ? अतएव मैं तुममें ही हूँ; तुम मेरा त्याग नहीं कर सकती!

जिज्ञासु—आधार-आधेय-तत्त्वको दृष्टान्तद्वारा कुछ और समझा दें तो अच्छा हो।

वक्ता—'न्यास' करनेके समय भी आधार-आधेय-तत्त्वको जाननेकी आवश्यकता होती है। जो व्यापक है,—आधार है, उसमें व्याप्यका या आधेयका 'न्यास' करना होता है। यथार्थभावसे न्यास करते ही पूजक पूज्यके स्वरूपमें मिल जाता है, अर्थात् पूज्यको यथार्थ भावसे जान सकता है। आकाश सब वस्तुओंका आधार है। इन्द्रियन्यासके समय श्रोत्रादि इन्द्रियोंको आकाशादिमें न्यास करना पड़ता है। यदि तुम यथार्थतः न्यासके द्वारा उनके सर्वव्यापी स्वरूपके साथ अपनेको मिला सको (correspond with the Eternal Environment),

तो तुम्हें जगद्धात्रीके स्वरूपकी प्राप्ति हो सकेगी और तुम उन्हें यथार्थरूपसे जान सकोगे।*

जिज्ञासु—यह किस प्रकार किया जा सकता है?

वक्ता—इस आधार-आधेय-सम्बन्धके विषयमें ध्यान रखना होगा। इस क्रियाके लिये और किसी apparatus (यन्त्रादि)-के संग्रहकी आवश्यकता नहीं होती। चित्तकी एकाग्रताका सम्पादन करना ही इसका प्रधान यन्त्र है। एकाग्रचित्त होकर केवल तत्त्वचिन्तन करना होगा। पहले देखो कि इस आधार-आधेय-भावकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है। इन्द्रिय आहङ्कारिक पदार्थ है। राजस-अहङ्कारसे 'इन्द्रिय' की सृष्टि होती है, तथा तामस-अहङ्कारसे 'भूतों' की सृष्टि होती है। इसीसे आधार-आधेय-भावकी उत्पत्ति होती है। इस आधार-आधेयके सम्बन्धमें यदि पातञ्जलोक्त 'संयम' कर सको तो तुम्हारे दिव्य श्रोत्रादि हो जायँगे। अभी तुम्हारी इन्द्रिय-शक्ति परिच्छिन्न है, तुम अधिक दूरपर स्थित वस्तुको देख नहीं सकते, अधिक दूर देशमें उत्पन्न शब्दको सुन नहीं सकते, तुम्हारी इस परिच्छिन्न इन्द्रिय-शक्तिको विशेष बढ़ाने या अपरिच्छिन्न करनेके लिये क्या करना होगा? मूलमें, जिससे इस इन्द्रियशक्तिकी सृष्टि वा आविर्भाव हुआ है, वहाँ जाना होगा। पूर्वोक्त तत्त्वमें संयमद्वारा तुम मूल अहङ्कार-तत्त्वतक पहुँच सकते हो। तब तुम विराट्-अहङ्कारमें परिणत होगे, और तब तुम इन सबकी (इन्द्रियोंकी) सृष्टि कर सकोगे। वह विराट्-अहङ्कार-शक्ति ही यह सब सृष्टि करती है। माँकी पूजा (स्तव पूजाका अङ्ग) करनेका उद्देश्य है माँके स्वरूपको जानना, और अपनी परिच्छिन्नताको नष्ट करके माँके स्वरूपमें विलीन हो जाना। ऐसा न होनेसे पूजाका फल ही क्या हुआ? अतएव यह सब तत्त्व विचारणीय हैं।

इस स्तवनके प्रथम श्लोकसे यह आभास मिलता है कि माँ षट् कारकशक्ति हैं।

शवाकारे शक्तिरूपे—इसमें यही बतलाया गया है कि शिव और शिवा एक ही हैं। माँका एक रूप अपरिणामी (शवाकार) है, उसके ऊपर स्थित होकर माँ परिणामी रूपसे लीला करती हैं।

परमाणुस्वरूपे च इत्यादि—दर्शनविशेष परमाणुको नित्य कहते हैं। उससे द्व्यणुकादि-क्रमसे सृष्टि होती है। दूसरे दर्शन परमाणुको नित्य नहीं कहते। तुम्हीं परमाणुरूपसे जगत्के उपादान-कारण हो। तुम्हीं परमाणुरूपमें एवं तुम्हीं द्व्यणुकादिरूपमें विद्यमान हो। जगत्में स्थूल, स्थूलतर एवं स्थूलतम पदार्थ जो कुछ देखे जाते हैं, सब तुम्हीं हो; तथा सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम पदार्थ जो कुछ है, वह भी तुम्हीं हो [स्थूलादि पदार्थ भूत-तन्त्र (Physics) प्रभृति विज्ञानके विषय हैं।] 'प्राणापानादि' शब्दद्वारा पञ्चप्राण, मन, बुद्धि प्रभृति लिये गये हैं। ये सूक्ष्म और सूक्ष्मतर पदार्थ हैं। [ये क्रमशः प्राणविज्ञान(Biology), मनोविज्ञान (Psychology) प्रभृतिके विषय हैं।] अधिक क्या, भाव और अभाव इन दो पदार्थोंसे ही विश्व—जगत् बना हुआ है; और ये दोनों तुम्हीं हो। (देवी-उपनिषद्के उपदेशोंका स्मरण करो।) [यहाँतक वैकृतिकादि पदार्थोंकी बात कहकर अब काल आदि नित्य पदार्थोंकी बात कहते हैं।]

शक्तिस्थे—शक्तिमें माँ सर्वदा ही चैतन्यरूपमें विद्यमान रहती हैं।

शक्तिविग्रहे—(विग्रह=देह)। परमात्माका देह क्या है? शक्ति। देहके भीतर जिस प्रकार प्राण रहता है, उसी प्रकार शक्ति सदा ही चैतन्यस्वरूप परमात्माके द्वारा अनुप्राणित होती है।

शक्त्याचारप्रिये—पाठक तन्त्रशास्त्रोक्त सप्त आचारोंका स्मरण करें। प्रश्न होता है, ब्रह्ममयी जगन्माता आचारविशेषको ही क्यों पसन्द करेंगी? जो सन्तानके लिये यथार्थ कल्याण करनेवाला है, माँको अवश्य ही वह प्रिय होगा। तन्त्रशास्त्रोक्त सप्त विध आचारोंका अधिकारानुसार विधिपूर्वक अनुष्ठान करना ही जीवके लिये परमपुरुषार्थप्रद है। अधिकारका त्याग कर कोई भी अनुष्ठान करनेसे हानि उठानी पड़ती है। सप्त आचारोंमें पूर्व आचारके अनुष्ठानसे उत्तरोत्तर आचारोंके अनुष्ठानके लिये योग्यता प्राप्त होती है।

जयदे जगदानन्दे इत्यादि—यह जगत् सुर और असुरोंका संग्राम-क्षेत्र है। असुर-शक्तिको पराभूत करके माँ सुरशक्तिको जय और आनन्द प्रदान करती हैं। पराजित होनेपर कोई आनन्दित नहीं होता, जय प्राप्त होनेपर ही आनन्दित होता है। अतएव केवल माँ

* कोई पाश्चात्त्य पण्डित भी कहते हैं—To know God is to correspond with God, and to correspond with God is to correspond with the Eternal Environment.

जगत्‌की एकमात्र आनन्दकारिणी हैं। माँ ही आनन्दस्वरूपा हैं। जगत्‌में जो कुछ आनन्द है वह माँ है। इसीलिये एकमात्र माँका ही जगत् पूजन करता है। यह जय माँ किसको देती हैं? कौन माँकी कृपाका पात्र है? किसी स्थानविशेषमें स्थित जीव ही क्या माँकी कृपाका पात्र है? नहीं, कोई कहीं भी रहे, यथार्थभावसे माँके शरणागत होनेसे ही वह माँकी कृपाका भाजन बन सकता है; क्योंकि माँ सर्वगता हैं, माँ जयस्वरूपा हैं तथा सर्वशक्तिमती हैं। विरुद्ध-शक्ति चाहे कितनी ही प्रबल क्यों न हो, माँकी जय अवश्यम्भावी है।

कालादिरूपे इत्यादि—तुम्हीं कालादिरूपमें अवस्थान करती हो, तुम्हीं काल-शक्तिकी अधीश्वरी हो—कालको प्रेरित करनेवाली हो। तथा तुम्हीं काल और अकालका भेद करनेवाली हो।*

सर्वस्वरूपे इत्यादि—अर्थात् एक शब्दमें कह सकते हैं कि जो कुछ दृष्ट या उपलब्ध होता है, वह सभी तुम हो, तुम सर्वस्वरूपा हो। अतएव तुम्हीं सर्वज्ञा हो।

महाविघ्ने इत्यादि—जगत्‌में जो प्रबल विरुद्ध-शक्ति कर्मानुष्ठान करनेवालोंके सामने विघ्नरूपमें उपस्थित होती है, वह भी तुम्हीं हो, एवं उत्साहादिरूपमें जो शक्ति इन सब विघ्न-शक्तियोंको अभिभूत करती है वह भी तुम्हीं हो। तुम सर्वशक्तिस्वरूपा हो, तुम महामाया हो। तुम अनुकूल और प्रतिकूल उभयशक्तिरूपा होते हुए भी शरणागत भक्तजनोंके लिये वरप्रदा (अनुकूल शक्तिस्वरूपा) हो। तुम इस विश्वप्रपञ्चकी साररूपा हो। जगत्‌में जो कुछ शुभ है तुम उसकी स्वामिनी हो—पालिका प्रवर्तयित्री हो।

अगम्ये इत्यादि—तुम अगम्य हो, कोई तुम्हारे पास जा नहीं सकता, और न कोई तुम्हें पा सकता है, न जान सकता है। तुम जगत्‌में आद्या हो, तुम सबकी अपेक्षा पूर्वभाव हो, तुमसे पूर्व और कोई भाव नहीं है। तुम महेश्वरकी शक्ति हो। तुम अङ्गना-श्रेष्ठा हो। तुम अशेष रूपमें विद्यमान हो, जो कुछ रूप देखते हैं, सब तुम्हीं हो।

द्विसप्तकोटिमन्त्राणाम् इत्यादि—शक्तिद्वारा ही जगत्‌में क्रिया होती है और वह शक्ति मन्त्र-निहित है। मन्त्रोंके असंख्य होते हुए भी इनकी सामान्य संख्या बहत्तर कोटि है। इन बहत्तर कोटि मन्त्रोंकी जो शक्ति है वह तुम्हीं हो। तुम नित्या हो, तुम सर्वशक्तिस्वरूपा हो।

तीर्थयज्ञतपोदान इत्यादि—जिन सब उपायोंद्वारा जगत्‌में सुख प्राप्त होता है, जो परमकल्याणकी प्राप्तिके मार्गस्वरूप हैं, जैसे तीर्थ, यज्ञ, तप, दान और योग—इनका जो सार है वह तुम्हीं हो; तुम जगन्मयी हो, विश्वमें ओत-प्रोत होकर व्याप रही हो, जगत्‌में जो कुछ पदार्थोंका अस्तित्व उपलब्ध होता है, वह तुम हो। उनके बाहर तुम हो, उनके भीतर तुम हो, उनकी सत्ता तुम हो और अधिष्ठात्री देवता भी तुम हो।

दयारूपे इत्यादि—माँ! तुम्हारे स्वरूपके सम्बन्धमें यह सब बातें हुईं तो; किन्तु यथार्थरूपमें तुम्हारे स्वरूपको जाननेमें हम अक्षम हैं। तुम्हारे स्वरूपको नहीं जान सकनेके कारण ही हम दुःखमग्न हो रहे हैं। तुम्हारे स्वरूपको जाननेके लिये इन सब तत्त्वोंका हम चिन्तन करते हैं, तथापि तुम्हारे स्वरूपको जान नहीं सकते, और हमारे दुःखोंका अवसान नहीं होता। अब समझते हैं कि तुम्हारी दयाके बिना और कोई उपाय नहीं है, तुम यदि दया करके अपने स्वरूपका ज्ञान हमें करा दो तभी हम उसे समझ सकेंगे। अतएव, माँ! कृपा करो। हम हताश नहीं होते; क्योंकि तुम्हारी दया बड़ी है, तुम दयारूपा हो। दया शक्ति रूप धारण करनेपर जो होती है, वही तुम हो। (**रूप्यते निरूप्यते ज्ञायते निर्दिश्यते अनेन इति रूपम्।**) दया ही तुम्हारा रूप है। तुम्हारी दयाके द्वारा ही तुम्हारे अस्तित्वको हम विशेषरूपसे जान सकते हैं। जब देखने लगते हैं कि तुम्हारे कितने प्रकारके रूपोंका हम निरूपण कर सकते हैं तो अच्छी तरहसे देखनेपर देखते हैं केवल दया, दया, दया! जिस ओर दृष्टि डालते हैं देखते हैं तुम्हारी दया, तुम्हारी दया, तुम्हारी दया!!

जिज्ञासु—माँका रूप सब समय तो दयारूप नहीं जान पड़ता, उसको 'दयारूपा' कैसे समझा जाय?

वक्ता—अच्छी तरहसे चिन्तन नहीं करते, इसीसे

* गुणत्रयकी क्रियाके द्वारा ही कालका ज्ञान होता है। गुणत्रयकी विशिष्ट क्रिया कालरूपमें ज्ञात होती है। इनके अंश-तारतम्यके अनुसार विपरीत भावके संयोगसे जो क्रिया होती है, उसे 'अकाल' कहते हैं। इस काल और अकालको भेद करनेवाली माँ हैं, इसका अर्थ यही होता है कि गुणत्रयके विशेष-विशेष प्रकारके संयोगका वही कारण अथवा प्रवर्तन करनेवाली हैं, अर्थात् जगत्‌में जितना कुछ परिणाम होता है उसकी वही प्रेरणा करनेवाली हैं, ये परिणाम उन्हींकी इच्छा या आज्ञाके अधीन हैं।

तुम्हारी समझमें नहीं आता। 'दया' शब्दकी व्युत्पत्तिका चिन्तन करो। 'दय्' धातुसे 'दया' शब्द सिद्ध होता है। 'दय्' धातुका अर्थ है 'गति'। गतिद्वारा ही माँ दया करती हैं। इस गतिका स्वरूप चिन्तन करो। जगत् गतिकी मूर्ति है; यहाँ जो कुछ देखते हो, सब गतिका ही रूप है। गतिका कारण क्या है! विच्युत (Disturbed) साम्यावस्था (Eqilibrium)-की रक्षा करनेके निमित्त ही गति हुआ करती है। विज्ञानके Tendency of fluids to maintain Equilibrium (समस्त तरल पदार्थोंकी साम्यावस्था-परिरक्षणकी प्रवृत्ति) इस तत्त्वको याद करो। यह नियम माँके दयारूप व्यापक नियमके ही अन्तर्गत है। साम्यावस्था-संस्थापनके लिये माँकी सदा दृष्टि रहती है। किसी स्थानमें किसी समय यदि अत्यन्त उष्णता हो तो देखोगे कि उसके बाद ही प्रबल वायु प्रवाहित होगी। वृष्टि होगी। किसीके भी पापके लिये माँ यदि कभी उग्र रूप धारण करती हैं, तो उसके पश्चात् ही तुम देखोगे कि वह पुनः दयाका रूप धारण करती हैं। वस्तुतः माँ दयाकी मूर्ति हैं। माँकी दृष्टि सर्वदा ही करुणापूर्ण होती है, माँकी दृष्टिमें दयाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। माँ दयाके द्वारा मानो सदा द्रवीभूत, विगलित हुई रहती हैं। इसीलिये कहते हैं कि माँ! तुम दुःख-मोचन करनेवाली हो। जिनकी इतनी दया है, वह कभी सन्तानका दुःखमोचन किये बिना रह ही नहीं सकतीं। इस तापपरितप्त जगत्में हम किसका आश्रय लें? जो दयारूपा हैं, उन्हींका आश्रय लेना होगा। तुममें यदि केवल दया होती और शक्ति न होती तो तुम्हारा आश्रय ग्रहण करनेपर हमारी इष्टसिद्धि न होती। किन्तु तुम तो सर्वशक्तिमती हो, अतः तुम 'सर्वापत्तारिका' अर्थात् सब आपत्तियोंसे हमारा त्राण करनेमें समर्थ हो; अतएव तुम्हीं हमारे लिये आश्रयणीया हो। इस प्रकारकी स्वरूपवाली तुमको मैं किस प्रकार पूज सकता हूँ? तुम्हारी पूजाके योग्य उपकरण तो कुछ भी मेरे पास नहीं है; इसीसे मैं केवल '**नमो नमः**' करता हूँ (**नमोऽस्तु ते**)।

अगम्यधामधामस्थे इत्यादि—माँ अगम्यधामधामस्था हैं; 'धाम' शब्दका अर्थ है (१) रश्मि, ज्योति (२) आवास-स्थान। जो धाम सबको प्राप्य नहीं, सब जिस धामको नहीं देख पाते, साधारण ज्ञानमें जो धाम नहीं पाया जाता, उसी धाममें माँ! तुम नित्य निवास करती हो। माँका यह नाम सुनकर तुम्हारे हृदयमें क्या भाव उत्पन्न होता है?

जिज्ञासु—हृदयमें नैराश्य उत्पन्न होता है, इससे तो माँको देखनेका कोई उपाय नहीं सूझता।

वक्ता—निराश होनेका कोई कारण नहीं है। इसके पश्चात्के नामका चिन्तन करो—'**महायोगीशहृत्पुरे।**' जिस धाममें माँ वास करती हैं, वहाँ किसीके न जा सकनेपर, साधारणतः माँको किसीके न देख सकनेपर भी ऐसे पुरुष हैं जो उनको देखते हैं; माँ उनके हृदयमें वास करती हैं। जो महायोगिजनोंमें श्रेष्ठ हैं, उनके हृदयमें ही माँका वासस्थान है। जो योगी नहीं हैं, उनके लिये माँ अगम्यधाम हैं। अतएव यदि वस्तुतः माँको देखनेके लिये व्याकुल हो रहे हो तो महायोगी बननेकी चेष्टा करो। योगी हुए बिना माँके यथार्थ स्वरूपको न जान सकोगे, क्योंकि माँ 'अमेयभावकूटस्था' हैं। जो भाव मेय नहीं है, परिच्छेद्य या ज्ञेय नहीं है, वह अमेयभाव है। तुम जिस पदार्थ या भावको जानते जाओगे वह परिच्छिन्न (Conditioned) होता जायगा। जो मेय है, वह परिच्छेद्य है, स्वल्प है। 'यह ऐसा है अथवा वैसा है' इस प्रकारसे जो परिच्छिन्न या निरूपित नहीं किया जा सकता, वह अमेय है, कूटस्थ है, अयोघनवत् निश्चल है। लोहारोंके घरपर तुम एक दृढ़ लोहपुञ्जात्मक निश्चल पदार्थ देखते हो, उसकी सहायतासे दूसरे लोहेके टुकड़े चोट खा-खाकर नाना प्रकारके आकार धारण करते हैं, परन्तु वह अयोघन पदार्थ सर्वदा एकरूप ही रहता है, कभी अपना रूप परित्याग नहीं करता, वह सदा ही अचल अनपायी भावमें अवस्थित रहता है। इसीका नाम 'कूट' है। जो कूटवत् निश्चल-भावसे रहता है (**कूटवत् तिष्ठति-कूट्+स्था +क**) वह कूटस्थ है। जो कूटस्थ है वही अमेय है (**भाव एव कूटः अयोघनवत् निश्चलः**), उसी कूटस्थ अर्थात् अपरिवर्तनशीलभावमें माँ नित्य वास करती हैं।

अर्थभावनाके साथ इस स्तवनका पाठ करनेसे तुम समझ सकोगे कि यथार्थरूपसे माँका स्वरूप जाननेके लिये किस प्रकारकी योग्यता आवश्यक है। जो परमाणु और द्व्यणुकरूपमें हैं, प्राण और अपानादिरूपमें हैं, जो स्थूलातिस्थूल तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म हैं, जो भावाभावस्वरूप हैं, जो कालादिरूप हैं, जो सर्वस्वरूपा और सर्वज्ञा हैं,

जो अखिल मन्त्रोंकी शक्तिरूपिणी हैं, जो सर्वशक्तिस्वरूपा हैं, उनको जाननेके लिये पहले भूत-तन्त्र, रसायन-विज्ञान, प्राण-विज्ञान, मनोविज्ञान प्रभृति विज्ञान-शाखाओंका ज्ञान होना आवश्यक है। किन्तु इतनेसे ही काम नहीं चलेगा, माँके सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपका ज्ञान प्रदान करना इन सब विज्ञान-शाखाओंके सामर्थ्यकी बात नहीं है। उसके लिये योगाभ्यास करना होगा, महायोगी बनना होगा और यदि पूर्णरूपसे माँके स्वरूपको प्राप्त करना हो तो उसके लिये महायोगीपदमें भी श्रेष्ठता प्राप्त करनी होगी।

जिज्ञासु—इस प्रकारकी योगसिद्धि प्राप्त करना तो एक प्रकारसे असम्भव है; फिर उपाय ही क्या है?

वक्ता—एक उपाय है—भक्तिमार्ग। उसके द्वारा माँकी 'दया' प्राप्त करना। माँकी कृपा प्राप्त कर सकनेपर सर्वशक्तिमती माँ तुम्हें महायोगीशपद प्रदान करेंगी; तब तुम माँको अमेयभाव कूटस्थारूपमें जान सकोगे। परन्तु अभिमानका पूर्णतया नाश किये बिना कभी भक्तिका उदय नहीं हो सकता। भक्तिका प्रकृत अर्थ है '**नमो नमः**' करना—मेरा कुछ नहीं है, माँ! सब तुम्हारा है, सब तुम्हारा है—मैं भी तुम्हारा हूँ, मैं भी तुम्हारा हूँ। अतः इस जगद्धात्रीस्तवनमें विशेषतः यही मार्ग प्रदर्शित हुआ है, नमस्काररूप साधनाका ही उपदेश दिया गया है। यजुर्वेद भी यही उपदेश देता है, यही '**नमो नमः**' करनेकी आज्ञा देता है। (**उपत्वाग्ने** इत्यादि) यजुर्वेदके इस मन्त्रको शायद तुम पहले सुन चुके हो—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥

'**नमो नमः**' करना ही योग है। मैं तुमको केवल '**नमो नमः**' करूँगा। यदि कहो कि, 'इतने दिन क्यों नहीं किया?' करता कैसे तुमने अबतक ज्ञान जो नहीं दिया था, इसीसे तो माँ! मैं नहीं कर सका। साष्टाङ्गरूपमें तुम्हारे सामने गिरता था, किन्तु वह वास्तविक भक्ति या ज्ञान नहीं था। 'मैं कुछ भी नहीं हूँ' यह भाव नहीं हुआ था। यही यथार्थ भक्तिभाव है। तुम यदि मुझे पूर्णरूपसे विशुद्ध कर दो तब मैं क्या करूँगा? अनेकों बार '**नमो नमः**' करूँगा। अबतक पापयुक्त होनेके कारण तुम्हें यथार्थभावसे '**नमो नमः**' नहीं कर सका था। अब तुमने पापनाश कर दिया है, मैं शुद्ध हो गया हूँ, इसीलिये कहता हूँ कि '**नमो नमः**' करके तुम्हारी सेवा करूँगा। और माँ! मुझसे तुम्हीं क्या चाहती हो? जगद्धात्री-स्तवनके प्रत्येक श्लोकमें यही **नमः**की उक्ति ही विहित है। अतएव (कपट छोड़कर) सरलभावसे, दीनताके साथ, एकाग्रभावसे दिन-रात, '**नमो नमः**' करते रहो, इसीसे माँकी कृपा प्राप्त कर सकोगे। माँ कृपा करके तुम्हें अपना स्वरूप दिखावेंगी, तुम्हारे सब दुःखोंकी सदाके लिये निवृत्ति हो जायगी।

माँकी कृपा

कुछ दिनों पहले फार्वर्डमें यह संवाद प्रकाशित हुआ था—बाबू श्रीजानकीनाथ भट्टाचार्य अलीपुरके टेलीग्राफ स्टोर्समें सहकारी नौकर हैं। इनका जन्मस्थान है बेहला। गत शनिवारको उनके घर काली-पूजा थी। उनकी धर्मपत्नी पूजाकी सामग्री जुटानेमें अत्यधिक व्यस्त थी—इस बीच उनके चार वर्षके बच्चेने कहा कि मुझे बड़े जोरोंकी भूख-प्यास लगी है। माँने उसे कुछ खानेको दे दिया परन्तु इससे बच्चेको सन्तोष नहीं हुआ। माँने कहा—अभी ठहर। पूजा समाप्त हो लेने दे तो और दूँगी। यह लगभग साढ़े आठ बजे रातकी बात है। दो या तीन घण्टेके अनन्तर बच्चा ढूँढ़े भी कहीं नहीं दिखा और ऐसा निश्चित हुआ कि वह खो गया। चारों ओर खोज होने लगी। घरके पासवाले तालाबमें जाल डाला गया परन्तु व्यर्थ! सारी दौड़-धूप व्यर्थ गयी।

रातके पिछले पहर एक आदमी पासके ही बाँसोंके एक झुरमुटमें गया। उसने देखा कि लड़का खड़ा-खड़ा हँस रहा है। जब लड़का घर लाया गया तो उसने कहा कि वह रातभर अपनी माताके साथ खेलता रहा है। माँने उसे बहुत अच्छे-अच्छे फल खानेको दिये हैं और ठण्डा-ठण्डा जल पिलाया है। उसने यह भी कहा कि माँ काले रंगकी छोटी लड़की थी!

महासरस्वती-तत्त्व

[वेदवर्णित सरस्वती-तत्त्व]

(स्वामी भार्गव श्रीशिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्दजीके उपदेश)

प्रथम अंश

जिज्ञासु—आपके मुखसे सुना है कि दशश्लोकी सरस्वतीकी उपासना ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिका एक परमोत्तम साधन है। भगवान् आश्वलायनने इसीके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त किया था। इस दशश्लोकीकी उपासना यदि हम पूर्णरूपसे न कर सकें, तो इनमें जिसका आश्रय करनेसे हमारी विद्याप्राप्तिके विघ्न विशेषरूपसे दूर हो सकते हों, हमारी जडता हट सकती हो, हम माँकी कृपा प्राप्त कर सकें, आप आज हमें उसी मन्त्रका उपदेश करें और उसकी कुछ व्याख्या कर दें।

वक्ता—यदि सम्पूर्ण दशश्लोकीकी उपासना नहीं कर सकते, तो अन्तिम दसवें मन्त्रका आश्रय ग्रहण करो, इसके द्वारा नित्य माँकी उपासना करो; उससे तुम माँकी कृपा प्राप्त करनेमें समर्थ होगे, विद्याप्राप्तिके विघ्न दूर होंगे तथा क्रमशः ब्रह्मस्वरूपिणी माँके स्वरूपका ज्ञान होगा।

ऐमम्बितमे नदीतमे देवीतमे सरस्वती।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि॥

इस मन्त्रके कुछ व्यापक भाव हैं। पहले शब्दार्थके अनुसार इसका सरलार्थ जान लो। 'मातृगणोंमें श्रेष्ठ, नदियोंमें श्रेष्ठ, देवियोंमें श्रेष्ठ महासरस्वति! हम अप्रशस्तके समान अर्थात् धनाभावमें असमृद्धवत् हो रहे हैं, अतएव हे माता! हमें प्रशस्ति अर्थात् धनसम्पत्ति प्रदान करो।'

अब पदोंके अर्थका विचार करो। यहाँ सरस्वतीको अम्बितमा, नदीतमा तथा देवीतमा इन तीन नामोंसे सम्बोधन किया गया है। अतएव हमें पहले मातृभाव, नदीभाव और देवीभाव, इन तीन भावोंके तत्त्वका विचार करना होगा।

अम्बितमे—'अम्बा' शब्दका अर्थ है माता। अम्बितमाका अर्थ है मातृतमा, अखिल विश्वमें जितनी मातृशक्तियाँ हैं, सबमें तुम श्रेष्ठ हो। मातृभाव किसे कहते हैं? जो रक्षा करती हैं, जो पोषण करती हैं वह माता हैं। (मा धातुका एक और अर्थ 'शब्द करना' तथा 'परिमाण करना' भी होता है) तुम्हारे-जैसी मातृशक्ति दूसरी कोई भी नहीं है, क्योंकि ज्ञानरूपमें तुम्हीं सबका पालन करती हो। ज्ञानकी अपेक्षा अधिकतर रक्षा करनेवाली शक्ति दूसरे किसीमें नहीं है। ज्ञान ही जीवन है और अज्ञान ही नाश है।

नदीतमे—जितनी नदियाँ हैं, उनमें तुम्हीं श्रेष्ठ हो। नदीरूपा सरस्वतीका आधिभौतिक भाव जलरूपा सरस्वती नदी है, जो प्रयागराजमें गङ्गा और यमुनाके साथ मिलती है। इस सङ्गमको त्रिवेणीसङ्गम कहते हैं। यह आधिभौतिक त्रिवेणी और आधिभौतिक तीर्थोंमें श्रेष्ठ है। नदीरूपा सरस्वतीका आध्यात्मिक भाव सुषुम्णा नाड़ी है, जो इडा और पिङ्गलाके मध्यभागमें अवस्थान करती है तथा मूलाधारमें दोनोंके साथ युक्त है। यह आध्यात्मिक त्रिवेणी है। 'नदी' शब्दका अर्थ क्या है? '**नद**' धातुका अर्थ है 'शब्द करना'। जहाँ गति है, वहाँ शब्द है। 'नदी' शब्दके उच्चारणसे पर्वतादिसे निकलकर अन्तमें समुद्रमें या अन्य किसी बड़ी नदीमें मिलनेवाली सरिताओंका ही बोध होता है। यहाँ 'नदीतमा' शब्दके द्वारा नादविशिष्टा चलनात्मिका शब्दब्रह्ममयी ही विशेषतः लक्षित होती हैं। नदीका जो आश्रय ग्रहण करता है वह अन्तमें समुद्रमें जा पहुँचता है। उसी प्रकार जो शब्दब्रह्म (वेद)-का आश्रय लेता है, वह अन्तमें परब्रह्मको प्राप्त होता है।

देवितमे—देवियोंके मध्य तुम्हीं श्रेष्ठ हो। तुम उज्ज्वल हो, ज्योतिर्मयी हो। तुम्हीं ब्रह्मस्वरूपा हो। तुम्हें ब्रह्मरूपमें जो ध्यान कर सकता है, वही तुम्हें यथार्थरूपसे जान सकता है।

दिव् धातुका अर्थ है ज्योति, प्रकाश, आलोक। अन्धकार दूर करके आलोक प्रदान करनेवाली जितनी शक्तियाँ जगत्में हैं, उन सबमें तुम श्रेष्ठ हो।

सरस्वति—'**सृ**' धातुके आगे असुन् प्रत्यय लगानेसे 'सरस्' पद सिद्ध होता है। 'सरस्' जिनका है, जो 'सरस्' की अधिष्ठात्री देवी हैं, वही सरस्वती हैं। '**सृ**' धातुका अर्थ है गति। जहाँ कोई बाधा उपस्थित होकर रुकावट करती है, वहाँ गति प्रवर्तित नहीं हो सकती। गति होनेके लिये वहाँ बाधा (Resistance) होना उचित नहीं है। हमारी गतिका जहाँ अवरोध होता है,

वहाँ अन्धकार होता है। विज्ञान भी इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है—'Ether at rest is darkness, ether in motion is light.' उस गतिकी जो अधिष्ठात्री देवता है, जिससे समस्त गतियाँ प्रवर्तित होती हैं, सब आलोक प्रकाशित होता है, अज्ञान दूर होता है, ज्ञानका विकास होता है, वह सरस्वती है। गद्य-पद्यादिरूपमें जगत्में जिसका (अर्थात् वाक् वा शब्दका) प्रसारण (सृ-धातु) होता है, वह सरस्वती है। जहाँ छन्द है, वही गति सरस्वतीका रूप है। जहाँ छन्द नहीं, वह अज्ञानका रूप है।

यही सरस्वती मातृरूपमें, नदीरूपमें तथा देवतारूपमें नित्य हमारी बुद्धिका विषय बन रही है। यही मातृश्रेष्ठा सरस्वती वाग्देवी हैं। वाक्यकी देवता हैं तथा शब्दब्रह्मात्मिका मातृकास्वरूपिणी हैं। ब्रह्मज्ञान भी वही हैं। वह परमार्थतः ब्रह्मस्वरूपिणी चिन्मयी हैं। वह नदी—अखिल जगत्की नादस्वरूपिणी हैं। जो परमाणुओंका स्पन्दन है, वह भी उन्हींकी क्रिया है। वायुका स्पन्दन भी उन्हींकी क्रिया है; वह जगत्के अन्तर्बाह्य स्थित होकर ज्ञान देती हैं।

अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि—

धनके अभावसे ही मनुष्य सङ्कुचित होता है। ज्ञानधन, विद्याधन इत्यादिके अभावसे हम सङ्कीर्ण, शीर्ण हो गये हैं। प्रकाशका जहाँ अभाव है, वहीं सङ्कोच है; गति जहाँ स्वच्छन्द प्रवाहित नहीं होती, वहीं सङ्कोच-अवरोध-अन्धकार-दुःख है। ज्ञेयके स्वरूपको जाननेके लिये हमारे मार्गमें जो बाधा है, उसे कौन दूर करेगा? तुम्हीं दूर कर सकती हो। जो सत्-चित् और आनन्दकी प्रसारणी शक्ति है, वह सरस्वती है। तुम हमारे प्रसारणकी बाधाको दूर करके, हमारे अभावको मिटा करके, सम्यक् प्रकाश प्रदान करके हमें समृद्धि प्रदान करो। हमें जिसकी आवश्यकता है, जिससे हम प्रशस्त हो सकते हैं, विशालता प्राप्त कर सकते हैं तुम वही हमें प्रदान करो। 'ब्रह्म' का अर्थ बृहद् है। अपरिच्छिन्नता ही हमारी सहज अवस्था है, अपरिच्छिन्नता प्राप्त करना ही पूर्ण सुख है। जिस शक्तिद्वारा हम परिच्छिन्न होते हैं, वह माया या अविद्या है। हम जो अल्प देशव्यापी बने रहते हैं, अज्ञानाच्छादित हुए रहते हैं, निरानन्द रहते हैं, इसका कारण माया या अविद्या ही है। इसलिये विद्याके द्वारा हमारे परिच्छेदको दूर कर दो, हमारे अभाव, मलिनता, अविद्या तिरोहित हों, हमें सब विषयोंमें व्यापक कर दो। हमारा चित् प्रसारित हो, हमारा आनन्द प्रसारित हो। जहाँ प्रसार (Expansion) नहीं है वहीं क्लेश है; प्रकाशके अभावमें हमारा मन मानो सङ्कुचित (Narrow) हो जाता है, इसी कारण परदुःख देखकर हम कातर नहीं होते। आत्मा जिस परिणाममें अप्रशस्त रहता है, उसी परिणाममें वह ब्रह्मभावसे दूर रहता है। सरस्वती ही है जो इस प्रसारणकी बाधा दूर कर देती है। (गतिको प्रवर्तित कर देती है—सृ-धातुका अर्थ है प्रसारण, गति।) अखिल जगत्में जो कुछ है सब नाद या शब्दसे ही हुआ है; अतएव वाक्यकी जो अधिष्ठात्री देवता है, वह सबके लिये उपास्य है। इसी कारण ब्रह्मा, शङ्कर प्रभृति सभी देवताओंने माँकी उपासना करके ही विद्यालाभ किया था।

जिज्ञासु—भगवान् आश्वलायनद्वारा प्रोक्ता दशम श्लोक जिसका उपर्युक्त मन्त्रके पूर्व ही उल्लेख हुआ है, उसका भी अर्थ जाननेकी इच्छा होती है।

वक्ता—

नामरूपात्मकं सर्वं यस्यामावेश्य तां पुनः।
ध्यायन्ति ब्रह्मरूपैका सा मां पातु सरस्वती॥

अखिल जगत्में जितने नाम, जितने रूप हैं, सब उसके ही नाम, उसके ही रूप हैं; वही नाम-रूपमें विवर्तित होकर अखिल जगत्के आकारको धारण करती है। नाम-रूप उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है, वह उसका मायापरिच्छिन्न रूप है। उसके स्वरूपके दर्शनाभिलाषी योगीजन समाधियोगमें इसे (नाम-रूपको) विलयन करके (जिसके) प्रकृत रूपका ध्यान करते हैं वह ब्रह्मरूपा सरस्वती देवी हमारा (समाधि-दानद्वारा) पालन करें। माँका यथार्थ स्वरूप हृदयङ्गम करनेके लिये उपर्युक्त विधिसे समाधियोगका अवलम्बन करना होगा, अन्यथा हमारे चित्तक्षेत्रकी अप्रशस्तता दूर न होगी, हम देवितमाका स्वरूप याथातथ्येन उपलब्ध न कर सकेंगे।

जिज्ञासु—इस मन्त्रके पूर्व 'ऐं' बीज क्यों लगाया जाता है?

वक्ता—'ऐं' वाग्बीज वा गुरुबीज है। माँ विश्वकी गुरु-स्वरूपिणी है। माँ चिद्रूपा ब्रह्मस्वरूपिणी है। ज्ञानमय परमात्माके सिवा ज्ञान देनेकी शक्ति और किसीमें भी नहीं है। माँ ब्रह्मादिकी भी गुरु है।

वीणापाणि सरस्वती

द्वितीय अंश

जिज्ञासु—अब सरस्वतीहृदयोपनिषद्‌की कुछ व्याख्या करनेकी प्रार्थना करता हूँ। अन्ततः दशश्लोकीभागकी संक्षिप्त व्याख्या सुनकर मैं अपनेको कृतार्थ समझूँगा।

वक्ता—वह ऋग्वेदका उपनिषद् है, अतएव ऋग्वेदीय शान्तिपाठके अर्थका पहले कुछ विचार कर लो।

अन्धकारसे प्रकाशमें जानेके निमित्त चेष्टा और प्रार्थना करना जीवके लिये स्वाभाविक है। स्वप्रकाशरूप परमात्माका आविर्भाव ही जीवके लिये अभिलषित पदार्थ है। यज्ञके द्वारा ही पवित्रीकरण, मलोंका अपनोदन तथा परमात्माका प्रकाश होता है। वेदोक्त कर्म अथवा छन्द-क्रिया (Rhythmical motion) ही यज्ञका स्वरूप है।

मन और वाक्य इन दोनोंके द्वारा ही सब यज्ञ होते हैं। इस मन और वाक्यकी क्रियाएँ यदि परस्पर अनुकूल हों, एककी क्रियाके साथ दूसरेकी क्रियाका यदि सामञ्जस्य हो तभी यथार्थ यज्ञ होता है, तथा परमात्माका प्रकाश होता है। इसीलिये ब्रह्मविद्यालाभरूप स्वाध्याय-यज्ञमें प्रवृत्त होनेके पूर्व विद्यार्थी प्रार्थना करते हैं—

वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रात्संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु माम् अवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे आवि! प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! हे ब्रह्मविद्ये! तुम प्रकटित हो (**आवीः**)। जब मेरा वाक् मनमें एवं मन वाक्‌में प्रतिष्ठित होगा, (जान पड़ता है) तभी तुम मेरे हृदयमें प्रकटित होगे; जबतक मुझमें कुटिलता रहेगी तबतक तुम प्रकटित न होगे। तुम मुझे प्राप्त हो—मेरे समीप आओ (**म एधि**); वेदको मेरे सम्मुख लाया करो (**वेदस्य म आणीस्थः**) अर्थात् ऐसा होनेसे ही तुम्हारा यथार्थ ज्ञान मेरे हृदयमें प्रकटित होगा। मैं गुरुमुखसे जो श्रवण करूँ, उसे अविकलरूपसे हृदयमें धारण करके रख सकूँ; उसे विस्मृत न 'हो जाऊँ' (**श्रुतं मे मा प्रहासीः**)। इसके लिये मैं क्या करूँगा? गुरु-मुखसे जो सुनता हूँ, उसे दिन-रात चिन्तन करूँगा—ध्यान करूँगा (**अनेनाधीतेनाहोरात्रात्संदधामि**); और क्या करूँगा? वेदकी कृपासे—सत्योक्तिकी कृपासे जो सत्य है वही सुनूँगा, उसे ही जानूँगा, तथा उसे ही दूसरोंको जनाऊँगा। सत्योक्ति जो कहती है उसे भूलकर और कुछ किसीसे न कहूँगा (**ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि**) (**ऋतम्**=Law नियति)। परमाणुके स्पन्दनसे प्रारम्भ करके अखिल जगत्‌में जो कुछ क्रिया होती है, सभी ऋतके लिये होती है। सत्योक्तिकी प्रेरणासे माँ! यह कहता तो हूँ, किन्तु तुम यदि कृपा न करो तो मैं किस प्रकार यह कर सकूँगा? इसीलिये कहता हूँ, हे सत्योक्ति! तुम मेरी सर्वदा रक्षा करो (**मामवतु**)। केवल मेरी रक्षा करनेसे ही नहीं चलेगा, मेरे गुरुदेवकी भी रक्षा करो। (**वक्तारमवतु**) अर्थात् मेरे गुरुदेवको सत्यज्ञान प्रदान करो, जिससे मैं उनके द्वारा सत्यज्ञान पा सकूँ। माँ! मेरी विद्याप्राप्तिके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ये तीनों प्रकारके प्रतिबन्धक शान्त हों।

ऋषियोंने भगवान् आश्वलायनके समीप जाकर उनकी पूजा करके पूछा था—'भगवन्! किस प्रकार उस ब्रह्म-पदार्थावभासक ज्ञानको प्राप्त किया जा सकता है, जिसकी उपासना करके आप तत्त्वज्ञ हुए हैं—यह हमलोगोंसे कहिये।' इस प्रकारका प्रश्न करनेपर उन्होंने उत्तरमें कहा था—'हे मुनिश्रेष्ठगण! बीजमिश्रित ऋक्‌के साथ सरस्वती-दशश्लोकीद्वारा स्तवन और जप करके ही मैंने परासिद्धि—तत्त्वज्ञान प्राप्त किया है।' तदनन्तर ऋषियोंने पुनः निवेदन किया—'इस सारस्वत (अर्थात् जिसे आपने सरस्वतीके द्वारा प्राप्त किया है) ज्ञानकी प्राप्तिके लिये किस प्रकारके ध्यान (उपासना)-का अवलम्बन करना होता है, जिससे भगवती महासरस्वती तुष्ट होवें, यह हमसे कहिये।' तदनन्तर भगवान् आश्वलायन कहने लगे—

'श्रीसरस्वतीदशश्लोकी महामन्त्रका ऋषि मैं—आश्वलायन हूँ, छन्द अनुष्टुप् है, देवता श्रीवागीश्वरी हैं, बीज 'यद्वाग्' मन्त्र है, शक्ति 'देवीवाचम्' मन्त्र है, कीलक 'प्रणो देवी' मन्त्र है, विनियोग 'सरस्वतीप्रीत्यर्थे' है। 'श्रद्धा', 'मेधा', 'प्रज्ञा', 'धारणा', 'वाग्देवता' और 'महासरस्वती' इनके द्वारा अङ्गन्यास करना चाहिये। दशश्लोकी जपका आरम्भ करनेके पूर्व निम्नलिखित श्लोकद्वारा उनको प्रणाम करना चाहिये—

नीहारहारघनसारसुधाकराभां
कल्याणदां कनकचम्पकदामभूषाम्।

उत्तुङ्गपीनकुचकुम्भमनोहराङ्गीं
वाणीं नमामि मनसा वचसा विभूत्यै॥

अर्थात् विभूति (विद्यासिद्धि)-के लिये मैं मन और वचनके द्वारा वाणीदेवीको नमस्कार करता हूँ। वह कैसी हैं? वह नीहार (तुषार), हार तथा घनसार (कपूर)-की आभासे युक्ता, सुधाकराभा हैं; वह कनक, चम्पक-पुष्पनिर्मित मालासे भूषिता हैं तथा कुम्भसदृश उन्नत, दुग्धपूर्ण युगलपयोधरद्वारा मनोहर अङ्गविशिष्टा हैं।

प्रथम श्लोक

या वेदान्तार्थतत्त्वैकस्वरूपा परमार्थतः।
नामरूपात्मना व्यक्ता सा मां पातु सरस्वती॥

अर्थात् जो परमार्थतः वेदान्तप्रतिपादित तत्त्वस्वरूपा हैं—जिनका प्रकृत स्वरूप एकमात्र वेदान्तद्वारा ही जाना जाता है—जो ब्रह्मस्वरूपिणी हैं, जो अव्यक्तावस्थामें अवस्थान करती हैं एवं जो पुनः नाम-रूपद्वारा व्यक्तावस्थाको प्राप्त होती हैं, वही सरस्वती हमारी रक्षा करें।

प्रथम मन्त्र

ॐ प्रणो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। धीनामवित्र्यवतु॥

अर्थात् जो दानादि गुणसे युक्त हैं, जो अन्न-यज्ञकी अधिष्ठात्री देवता हैं—जो अन्नदात्री हैं, जो अपने शरणागत उपासकोंकी रक्षा करनेवाली हैं, वह सरस्वती देवी अन्नप्रदानके द्वारा हमारी विशेषरूपसे रक्षा करें, हमारे लिये तृप्ति प्रदान करें।

द्वितीय श्लोक

या साङ्गोपाङ्गवेदेषु चतुर्ष्वेकैव गीयते।
अद्वैता ब्रह्मणः शक्तिः सा मां पातु सरस्वती॥

अर्थात् अङ्ग और उपाङ्गसहित ऋग्वेदादि चतुर्वेद एकमात्र जिसकी स्तुति करते हैं, वही अद्वैता ब्रह्मकी शक्ति हमारा पालन करें।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्मकी शक्ति कहनेसे एक पदार्थ शक्ति, और दूसरे पदार्थ ब्रह्मका बोध होता है। तब शक्ति अद्वैता किस प्रकार हो सकती है? इसमें कुछ भी दोष नहीं होता, क्योंकि वस्तुतः शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न हैं।

द्वितीय मन्त्र

ह्रीं आ नो दिवो बृहतः पर्वतादा
सरस्वती यजता गन्तु यज्ञम्।
हवं देवी जुजुषाणा घृताची
शग्मां नो वाचमुशती शृणोतु॥

भावार्थ यह है कि माँ ब्रह्मरूपिणी, चिद्रूपा, सर्वव्यापिनी हैं और हमारे लिये अलक्ष्या हैं। माँकी सूक्ष्म अव्यक्त अवस्थाएँ (मध्यमा, पश्यन्ती प्रभृति) भी हमारे लिये अनभिगम्य हैं। माँ हमारे ऊपर कृपा करके अपने अव्यक्त सूक्ष्मावस्थासे व्यक्तरूपमें हमारे यज्ञ (पूजा)-की सिद्धिके लिये आविर्भूत होवें। वही यज्ञकी प्रवर्त्तिका हैं, वही यज्ञ करनेकी प्रवृत्ति प्रदान करती हैं, वही उपकरणरूपमें, वही इसकी अधिष्ठात्री देवीके रूपमें तथा वही फलरूपमें आविर्भूत होती हैं। हम उनकी अधम सन्तान हैं, हमारी इस स्तुतिको वह कृपापूर्वक सादर ग्रहण करें, तथा सन्तान-निवेदित समझकर इसीके द्वारा प्रसन्न होवें। वह पूर्णा हैं, किसीके पाससे कुछ ग्रहण करनेकी उन्हें आवश्यकता नहीं है, किसीकी स्तुति सुननेकी भी उन्हें अपेक्षा नहीं है। किन्तु हम उनकी सन्तान हैं, सन्तान दीन-दरिद्र होते हुए भी अकपटभावसे, भक्तिके साथ जो अर्पण करता है, जो स्तवन करता है, उसे ग्रहण करनेके लिये, उसे श्रवण करनेके लिये स्नेहमयी जननी उत्सुका हो जाती हैं। इसीलिये हम प्रार्थना करते हैं कि वह हमारे इस आह्वानको सुनें और हमारे लिये हमारा अभीष्ट प्रदान करें।

तृतीय श्लोक

या वर्णपदवाक्यार्थस्वरूपेणैव वर्तते।
अनादिनिधनानन्ता सा मां पातु सरस्वती॥

अर्थात् जो वर्ण, पद, वाक्य तथा अर्थरूपमें विद्यमाना हैं, जो अनादिनिधना तथा अनन्ता हैं वह सरस्वती देवी हमारा पालन करें।

तृतीय मन्त्र

श्रीं पावका नः सरस्वतीं वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धिया वसुः॥

भावार्थ यह है कि सरस्वती देवी हमारी यज्ञ-कामना करें (क्योंकि उनकी इच्छा या प्रेरणाके बिना कोई कर्म प्रवर्तित नहीं हो सकता)। तथा तदनन्तर उसका निर्वाह करें (क्योंकि उन सर्वशक्तिमतीकी शक्तिके बिना कोई कर्म निष्पन्न नहीं हो सकता)। किस उद्देश्यसे कामना करें? अन्नके निमित्त, जिससे हमें प्रचुर अन्न या धन हो। वह कैसी हैं? वह अन्नयज्ञकी अधिष्ठात्री देवी हैं (अतएव अन्नदान करनेमें समर्थ हैं)।

वह और किस प्रकारकी हैं? वह '**धिया वसुः**' अर्थात् कर्म करके जिसके द्वारा धन प्राप्त किया जाता है। इसके द्वारा यही सत्य विदित होता है कि बिना कर्मके कोई फल प्राप्त नहीं हो सकता। माँ सर्वाभीष्टप्रदा हैं; वह सबकी अभीष्टसिद्धि करती तो हैं, परन्तु उसके लिये कर्म करना होता है। यही उनका नियम है। कर्म तो हम करेंगे; परन्तु प्रवृत्तिके बिना कर्म होता नहीं, हमारी शुभकर्ममें सहज प्रवृत्ति होती नहीं। वह प्रवृत्ति वही देंगी, इसके लिये उनसे प्रार्थना करनी पड़ेगी; 'वह हमारी यज्ञ-कामना करें', इसके द्वारा यही प्रार्थना की जाती है। कर्म करनेके लिये भी शक्तिकी आवश्यकता है, वह शक्ति हमें कहाँसे मिलेगी? वह शक्ति भी वही देंगी, वही यज्ञरूपा हैं। ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती, सब दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती; चित्त-शुद्धिके बिना ज्ञान नहीं होता; वेदोक्त कर्म या यज्ञके बिना चित्त-शुद्धि नहीं होती। अतएव जो ज्ञानकी अधिष्ठात्री देवी हैं, वही यज्ञ या वेदोक्त कर्मकी अधिष्ठात्री हैं, वही सर्वदा हमलोगोंके भीतर-बाहर रहकर हमलोगोंको परम कल्याण-मार्गमें—यथार्थ सुखके पथमें प्रवर्तित और सञ्चालित करती हैं। वही पावका—शोधयित्री हैं। वेदोक्त कर्मोंके बिना शोधन नहीं होता, इसीलिये हमारे द्वारा यज्ञ कराकर, हमें पवित्र करके ज्ञानका अधिकारी बनाकर तथा तदनन्तर ज्ञान-दान करके हमलोगोंको मुक्ति प्रदान करती हैं।

चतुर्थ श्लोक

अध्यात्ममधिदैवञ्च देवानां सम्यगीश्वरी।
प्रत्यगास्ते वदन्ती या सा मां पातु सरस्वती॥

अर्थात् जो देवताओंका अध्यात्म और अधिदैव हैं—जो देवताओंकी आध्यात्मिकी शक्ति हैं और आधि-दैविकी शक्ति हैं, सब देवताओं अथवा सब शक्तियोंको जो अन्तर्यामीरूपसे प्रेरण करती हैं (अर्थात् प्रणवकी प्रेरणासे ही सब कार्य किया करती हैं) वही सरस्वती देवी हमारा पालन करें।

चतुर्थ मन्त्र

ब्लूं चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती॥

भावार्थ—जो हमें सूनृत वाक्योंका प्रयोग करनेकी प्रवृत्ति देती हैं, तथा जो सुमतिमें चेतना प्रदान करती हैं, वह सरस्वती हैं। इसी प्रकार हम सरस्वतीका यज्ञ करेंगे, तथा सरस्वती ही वस्तुतः यज्ञ करावेंगी।

पञ्चम श्लोक

अन्तर्याम्यात्मना विश्वं त्रैलोक्यं या नियच्छति।
रुद्रादित्यादिरूपस्था यस्यामावेश्य तां पुनः।
ध्यायन्ति सर्वरूपैका सा मां पातु सरस्वती॥

अर्थात् अन्तर्यामिनीरूपसे जो त्रैलोक्यका नियमन करती हैं अर्थात् महत्‌से लेकर परमाणुपर्यन्त पदार्थमात्र जिसकी प्रेरणाके अनुसार कार्य करते हैं; क्या रुद्र, क्या आदित्य, क्या अन्य देवता, इनके मध्यमें जो अधिष्ठित रहती हैं; जिनसे आविष्ट होकर ही रुद्रादि देवगण सब कर्म किया करते हैं, जिनका ध्यान करके सब कार्य सम्पादन करते रहते हैं, वह सरस्वती देवी हमारा पालन करें।

पञ्चम मन्त्र

सौः महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना। धियो विश्वा विराजति॥

भावार्थ—'**महो अर्णः**' द्वारा यहाँ समुद्रको लक्ष्य किया गया है; किन्तु समुद्र शब्दसे हम जो साधारणतः समझा करते हैं, अर्थात् स्थूल जल—समुद्र शब्दका यहाँ वैसा अर्थ नहीं है। वेदमें आकाशको समुद्र कहा गया है, आकाशमें ही वस्तुतः सब शक्तियाँ निहित हैं, आकाश (Ether) ही सब शक्तिका आधार है। '**अर्णः**' पदका अर्थ यहाँ आकाश है, उसका स्पन्दन ही (छन्दोभेदसे) क्रमशः वायु, जल प्रभृति स्थूल अवस्थाको प्राप्त होता है, तथा वही विलोमक्रियासे पुनः आकाशमें विलीन हो जाता है तथा वेदरूपमें अवस्थित होता है। पूजा करते समय यह क्रिया मानसिक भावसे करनी होती है, परब्रह्मसे किस प्रकार प्रकृति क्रमशः स्थूल, स्थूलतर तथा स्थूलतम अवस्थाको प्राप्त होती है, तथा पुनः किस प्रकार उस अवस्थाको प्रत्यावर्तन करती है, इसका विचार करना पड़ता है। इसीका नाम प्रकृत उपासना है। यह जो स्पन्दनकी बात कही गयी है, वह केवल जड-स्पन्दन नहीं है, बल्कि चैतन्ययुक्त स्पन्दन है। यही सरस्वतीका रूप है। यह ज्ञानमयी—चित्स्वरूपा (Intelligence) हैं। विश्वकी जो ज्ञानशक्ति है, वही सरस्वती हैं। वह केवल स्पन्दनरूपमें नहीं, बल्कि विश्वके धी (Intelligence) रूपमें विराजमान हैं।

षष्ठ श्लोक

या प्रत्यगदृष्टिभिर्जीवैर्व्यज्यमानानुभूयते।
व्यापिनी ज्ञप्तिरूपैका सा मां पातु सरस्वती॥

अर्थात् सरस्वती ज्ञानस्वरूपा और सर्वव्यापिनी हैं, किन्तु जीव साधारण अवस्थामें उनके सत्त्वका अनुभव नहीं कर सकता। जीव जब प्रत्यगदृष्टि होता है अर्थात् बहिर्मुख-अवस्थाका त्याग करके अन्तर्मुख होता है तभी उसके हृदयमें सरस्वती प्रतिभात होती हैं। तभी वह माँकी उपलब्धि कर सकता है। वह व्यापिनी चिन्मात्रस्वरूपा सरस्वती मेरा पालन करें, मुझको सब विषयोंमें प्रकाश प्रदान करें। माँकी सत्ताकी उपलब्धि उनकी कृपासे ही होती है।

षष्ठ मन्त्र

ऐं चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

भावार्थ—वाक्‌की (शब्द वा वेदरूपा सरस्वतीकी) चार अवस्थाएँ हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनमें तीन अवस्थाएँ गुहानिहित हैं अर्थात् सर्वसाधारणके देखनेमें नहीं आतीं, न जाननेमें आती हैं। उन्हें ब्राह्मण ही जान सकते हैं। सभी ब्राह्मण नहीं जान सकते। जो मनीषी हैं, योगी हैं वे दिव्यदृष्टिद्वारा शब्दकी उन सब अवस्थाओंको प्रत्यक्ष करते हैं। मनुष्य जिस वाक्यका व्यवहार करते हैं वह वाक्‌की तृतीय या चतुर्थ (अर्थात् वैखरी) अवस्था है।

सप्तम श्लोक

नामजात्यादिभिर्भेदैरष्टधा या विकल्पिता।
निर्विकल्पात्मना व्यक्ता सा मां पातु सरस्वती॥

अर्थात् नाम, जाति प्रभृति भेदद्वारा जो अष्टधा विकल्पिता होकर रहती हैं तथा निर्विकल्प आत्मामें व्यक्त होती हैं वह सरस्वती हमारा पालन करें।*

सप्तम मन्त्र

क्लीं यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि
राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्त्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि
क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥

भावार्थ—'वाक्' विश्वव्यापिनी है। 'वाक्' द्वारा सब भूत व्याप्त हैं। वाग्व्यवहार सभी करते हैं। पशु भी वाग्व्यवहार करते हैं, उनकी भी भाषा होती है। जो विचेतन हैं वे भी वाग्व्यवहार करते हैं। इस 'वाक्' का प्रेरक कौन है? सरस्वती। वही अचेतन जड पदार्थोंको वाक्-युक्त करती हैं, वही देवताओंके अन्तरमें वाक्‌की प्रेरणा करती हैं। एक परमाणु जो अनेकों परमाणुओंमें एक निर्दिष्ट परमाणुको आकर्षण करता है, यह सरस्वतीकी ही प्रेरणा है। वह 'वाक्' रूपसे उसमें भी अधिष्ठित हैं। उनकी प्रेरणाके अनुसरणमें ही वह जान सकता है कि 'यह हमारा है', इसी कारण वह उस विशिष्ट परमाणुको ही आकर्षण करता है। देवताओंकी भी वही नायिका हैं। कर्मशील जगत्, व्यक्त अखिल विश्व माँका ही रूप है—माँका ही वैखरी रूप है। माँकी ही प्रेरणामें सब कर्म करते हैं। माँके वैखरीरूपकी लीलाका बहुत दिन प्रत्यक्ष करनेके बाद साधक माँसे जिज्ञासा करते हैं—माँ! तुम्हारी परमावस्थाको मैं कब जान सकूँगा? गौ जिस प्रकार क्षुधा शान्त करनेवाला, प्यासको मिटानेवाला परम पुष्टिकर दुग्ध दान करती है, उसी प्रकार एक सर्वकामदुघा धेनु है जो जीवकी सब अभिलाषाओंको प्रदान करती है, सारी कामनाओंको पूर्ण करती है। उनका नाम सरस्वती है, उनके द्वारा ही साधक संसारके सर्वप्रयोजन-साधनोपयोगी शक्तिचतुष्टयको दुह लेते हैं।

अष्टम श्लोक

व्यक्ताव्यक्तगिरः सर्वे वेदाद्या व्याहरन्ति याम्।
सर्वकामदुघा धेनुः सा मां पातु सरस्वती॥

अर्थात् व्यक्त, अव्यक्त, शब्दात्मक वेदादि शास्त्र जिसके स्वरूपका गान करते हैं, जिसके विस्तृत रूपका वर्णन करते हैं, वह सर्वकामदुघा धेनुरूपा सरस्वती हमारा पालन करें। 'व्यक्त' शब्दद्वारा वैखरी और अव्यक्त शब्दद्वारा परा, पश्यन्ती और मध्यमा वाक्य लक्षित होते हैं। जो चिन्ताशक्ति है, वह भी वेद है। वह अव्यक्त वेद है। सन्दर्शन (Observation) परीक्षा (Experiment) प्रभृति द्वारा जो ज्ञानका विकास होता है अथवा वैज्ञानिक आविष्कारादि होते हैं, वह भी वेद

---

* भेदद्वारा ही विकल्प—विविध भावकी कल्पना होती रहती है। नाम, जाति प्रभृति भेदद्वारा विकल्पित जो माँका स्वरूप है वह प्रकृत स्वरूप नहीं है। निर्विकल्प आत्मामें माँका जो स्वरूप प्रकाशित होता है वह माँका यथार्थ स्वरूप है। योगी लोग निर्विकल्प समाधिके द्वारा माँके यथार्थ स्वरूपको जानते हैं। माँका निर्विकल्प आत्मामें जो प्रकाश या अभिव्यक्ति होती है उसकी उपलब्धि स्वयं निर्विकल्प हुए बिना नहीं हो सकती।

या सरस्वतीके द्वारा होते हैं। अव्यक्त 'वाक्' शक्ति ही सन्दर्शन-परीक्षादिके द्वारा आविष्कारादि (Discoveries) रूप स्थूलावस्थाको प्राप्त होती है।

अष्टम मन्त्र

देवीं वाचमजनयन्त देवा-
स्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना
धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु ॥

भावार्थ—देवगण (सर्वव्यापिनी आधिदैविकी शक्ति) जिस मध्यमा वाक्को सब प्राणियोंके अन्दर उत्पन्न करते हैं, जो क्रमशः वैखरी-अवस्थामें परिणत होती हैं तथा जो जीवोंके हृदयमें धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्देश करती हैं, वही वागरूपिणी सरस्वती हमें अन्न-पानादिके द्वारा तृप्त करें। वह उसे किस प्रकार करेंगी तथा क्यों करेंगी? इसी बातको साधक स्पष्टरूपसे निम्नलिखित वाक्योंमें कहता है। मनुष्य जिस प्रकार गौको दुहकर कृतार्थ हो जाते हैं, उससे उनकी भूख-प्यास शान्त हो जाती है, हे माता! हम भी तुम्हें दुहकर उसी प्रकार कृतार्थ होनेकी इच्छा करते हैं, हम ज्ञानक्षुधाकी निवृत्ति और तत्त्वपिपासाकी शान्तिके विधानकी अभिलाषा करते हैं। अतएव हे जननि! तुम हमारे हृदयमें आविर्भूत होओ। गाय जिस प्रकार स्वयं वत्सके समीप आकर उसे दुग्धपान कराती है, उसी प्रकार हे माता! तुम हमारे समीपमें आकर हमें अपने अमृतमय ज्ञान-दुग्धका पान कराओ।

नवम श्लोक

यां विदित्वाखिलं बन्धं निर्मथ्याखिलवर्त्मना।
योगी याति परं स्थानं सा मां पातु सरस्वती॥

'जिसे जानकर अखिल बन्धनोंको तोड़कर योगी विश्वव्यापी हो परमपदको प्राप्त होते हैं, वह सरस्वती हमारी रक्षा करें।'

नवम मन्त्र

सं उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

भावार्थ—(इस मन्त्रद्वारा श्रुति माँके स्वरूपकी दुर्बोधता प्रकट करती है) माँ! तुम्हारी कृपासे ही सब बातें करते हैं, तुम्हारी कृपासे ही विचार करते हैं, तुम्हारी कृपासे ही तुम्हें असत् सिद्ध करते हैं, परन्तु कोई तुम्हें जान नहीं सकता। तुम्हें देखते हुए भी देख नहीं पाता, तुम्हारी कथा सुनते हुए भी तुम्हें सुन नहीं सकता। जिसे तुम कृपापूर्वक अपना रूप दिखलाती हो, वही तुम्हें देख पाता है।

दशम श्लोक

नामरूपात्मकं सर्वं यस्यामावेश्य तां पुनः।
ध्यायन्ति ब्रह्मरूपैका सा मां पातु सरस्वती॥

(अर्थ प्रथम अंशमें देखना चाहिये)।

दशम मन्त्र

ऐमम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि॥

(इसकी व्याख्या प्रथम अंशमें देखिये।)

माँकी झाँकी

(लेखक—श्री पी० एन० शंकरनारायण अय्यर, बी० ए, बी० एल०)

१—प्यारे! प्यारे! आओ, आओ, पास आओ! सायंकालकी पावन शान्तिमें आओ और सटकर बैठकर, हृदयसे हृदय सटाकर, हम अपनी प्राणप्यारी माँ, अपनी दयामयी जननी, हम अपने साथ खेलनेवाली माँ, हम अपनी पथप्रदर्शिका माताके चरित्र कहें और सुनें। हमारे आस-पास जो धुआँ-धक्कड़ है, कोलाहल और तिमिर है उसमें दयामयी जननीका वृत्तान्त सुनकर हमारा हृदय, नहीं-नहीं, समस्त वातावरण प्रेम और एकताकी दिव्य सुगन्धसे ओत-प्रोत हो जायगा। इस प्रकार प्रेमसे पूर्ण होकर हम बाहर निकलेंगे और इसे वसुधापर बरसायेंगे! हमारी माँका प्यार विश्वके कोलाहलको शान्त करके सर्वत्र वास्तविक आनन्द, प्रेम और एकता तथा सहानुभूतिकी लहरें चला देगा! आज मैं तुमसे यह कहना चाहता हूँ कि किस प्रकार मैंने माँकी झाँकी पायी थी और वह मुझे कितना प्यार करती है, कितना अधिक चाहती है और मेरे जीवनका निर्माण करती है। तुम्हारी उत्सुकता, सरलता एवं विश्वाससे भरी आँखोंमें मैं अपनी माँकी झलक पाता हूँ। प्यारे मित्रो! हमारी माँ हमारे समीप ही है, अतः मुझे विश्वास है कि हमारी बातें व्यर्थ नहीं जायँगी।

२—पहले-पहल जब मैंने लोगोंसे सुना कि हमारी माँ एक 'ईश्वरीय शक्ति' है, वह एक विश्वकी अधीश्वरी है जो विश्वकी सृष्टि और प्रलयका कारण है तो मेरे मनमें भयका, आतङ्कका सञ्चार हुआ। उसकी महत्ता और शक्तिमत्ताने मुझे कँपा दिया। हृदय उदासीसे भर गया और मैंने मन-ही-मन कहा, 'अहा! मेरे-जैसा दीन-हीन, अकिञ्चन माँके चरणोंतक कैसे पहुँच सकेगा?' इसपर कुछ लोगोंने, जिन्होंने माताके दर्शन किये थे, कहा कि 'माँ तो सौम्यता, दया और प्रेमकी मूर्ति है और माँको देखकर ही आनन्दका वह समुद्र उमड़ पड़ता है कि माँको अधिकाधिक प्यार किये बिना रहा ही नहीं जाता! माँकी बस एक ही झाँकीमें हम उसके प्रेममें सर्वथा निमग्न हो जाते हैं।' यह सुनकर मेरे हृदयमें प्रकाश हो आया, आशा बँध गयी; बड़े ही करुण और अस्फुट शब्दोंमें, आशाभरी, प्यासभरी वाणीमें मैंने कहा, 'माँ, ओ माँ, यदि सचमुच, जैसा वे कहते हैं, तुम मुझ दीन-अनाथको भी प्यार करती हो, तो क्यों नहीं अनुकम्पा कर मुझे अपने और अपने प्रेमके सम्बन्धमें कुछ बतला देती।'

३—जैसे मानो मेरी प्रार्थनाके उत्तरमें बोल रहा हो, एक सोलह वर्षका सुन्दर बालक बोल उठा। लोग उसे शङ्कर कहते हैं और यह भी बतलाते हैं कि वह मानवजातिका महान् गुरु है, आचार्य है; परन्तु मेरे लिये तो वह प्रेमकी जीती-जागती मूर्ति है। अहा! उसका मुखड़ा कितना मधुर, मोहक, सौम्य और स्नेहमय है! वह बोला, 'यद्यपि हमारी माँ लीलासे ही संसारको रचती, सँवारती और नष्ट कर देती है और बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंके लिये (जो उसे तपश्चर्या, यम-नियम इत्यादिके द्वारा प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं) वह अलभ्य है, फिर भी जो उसे निश्छल, विनम्र और आत्मसमर्पणमय प्रेमसे खोजते हैं, उनके लिये वह कुमुदिनीके समान उज्ज्वल, प्यारभरी जननी है, जिसकी आँखें (प्रभातके कमलदलके समान) प्रेमके ओससे आर्द्र और अभिषिक्त हैं। मेरे हृदयको माताके प्यारके गीत गानेके सिवा और कुछ भी नहीं सुहाता!'

इसके उपरान्त उस बालकने बड़े ही मधुर स्वरमें कुछ पद गाये, जिनमें इस बातका वर्णन था कि माता स्वाभाविक मातृ-स्नेहको हृदयमें भरकर अपने बालकोंसे उसी रूपमें और उसी तरीकेसे मिलती है जिस रूपमें और जिस तरीकेसे वे उससे मिलना चाहते हैं, और उसके मिलनमें उतनी ही तड़प रहती है जितनी व्याकुलतासे उसके बच्चे उसे पुकारते हैं! तपस्वियों और मुनियोंके लिये, जो ध्यान, धारणा और समाधिके मार्गसे उसे खोजते हैं, वह अपने निर्गुण, निराकाररूपमें प्रकट होती है। जब समस्त चराचरने उसकी जगदीश्वरीके रूपमें उपासना की तो उसने उनके प्रेमको प्रेम और ज्ञानके अधीश्वरके चरणोंमें समर्पित कर दिया। विद्वानोंको यह वर्ण-मातृकाके रूपमें दर्शन देती है, रहस्यवादी सन्त-महात्माओंके लिये वह एक रहस्यके रूपमें प्रकट होती है और रहस्यमय ढंगसे उनसे मिलती है। उसके अन्दर समस्त प्राणी इस प्रकार गुँथे हुए हैं जिस प्रकार धागेमें सूतके मनिये। समस्त प्रकृतिकी सुन्दर शक्तियोंके रूपमें वह सर्वदा और सर्वत्र उन सबपर परमानन्दकी वर्षा कर रही है जिन्हें उसके आँखमिचौनीके सनातन खेलमें सम्मिलित होनेका सौभाग्य प्राप्त है। परन्तु प्रत्येक पदके अन्तिम चरणमें मातृ-प्रेमके उस छलकते हुए रूप—माँकी कोमल पलकोंपर, आँखोंपर प्रेमकी बूँदोंका वर्णन था, मेरा हृदय उन पदोंको सुनकर सिहर उठा, मेरा सारा शरीर रोमाञ्चित हो गया।* माँके विषयमें अधिकाधिक जाननेकी उत्कण्ठा बढ़ चली। तब उस बालकने एक दूसरे मनोहर बालककी ओर संकेत करते हुए कहा, 'वह तुम्हें माताके सम्बन्धमें अधिक बतला सकेगा! उसे जोरसे पकड़ लो, वह तुम्हें माँके निकट पहुँचा देगा और माँके द्वारा तुम माँके उन प्यारे बच्चोंके हृदयके पास पहुँच जाओगे क्योंकि माँकी इच्छा है कि हम सब लोग इस चिर-नवीन अनन्त प्रेमके पाशमें बँध जायँ।'

४—इस बालकका नाम श्रीशुक था। उन लोगोंका कहना था कि यह बालक भी प्रेम-पथका बहुत बड़ा आचार्य है, महान् पथ-प्रदर्शक है। उसके मुखमण्डलपर प्रेमकी, सौन्दर्यकी एक अपूर्व आभा थी, प्रेमका वह उन्माद था जो सर्वत्र अपने प्रेमास्पदको, अपने दिलवरको ही देखता है। ठीक जैसे, यदि हम किसी व्यक्तिकी ओर देख रहे हों और उसकी दृष्टि कहीं और गड़ी हो तो

* स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीने अपने 'गौरीदशकम्' के प्रत्येक छन्दके अन्तमें कहा है—
'गौरीमम्बामम्बुरुहाक्षीमहमीडे।'

बरबस हमारा ध्यान उस वस्तुकी ओर आकृष्ट हो जाता है जिस ओर वह व्यक्ति देख रहा है, ठीक उसी प्रकार श्रीशुककी ओर देखना क्या था—'प्राणाधार' की खोजमें सर्वथा निमग्न हो जाना था। उसे देखते ही हृदय बलात् 'प्रेमनिधि' की ओर आकृष्ट हो जाता था। उसका प्रेमोन्माद इतना अधिक आकर्षक, इतना अधिक पावन था! उसने माँके सम्बन्धमें कुछ कहा तो नहीं किन्तु मुझे माँकी कुछ दिव्य झाँकियाँ दिखला दीं।

५—पहले-पहल मैंने माँको एक कुमारीके रूपमें देखा, जिसकी अवस्था तेरह सालसे नीचे ही थी। लोग उसे दक्षकी कन्या 'सती' कहते थे। उसका विवाह ज्ञानके अधिपति शिवसे हो चुका था और वह उत्तुङ्ग हिमालयके हिमाच्छादित शिखरोंपर अपने पतिके साथ रहने लगी थी। उसके पिता दक्षकी शिवजीसे शिष्टाचार-सम्बन्धी भूल हो जानेके कारण अनबन हो गयी थी। दक्षके घर एक अपूर्व उत्सवका समारोह था। शिवके प्रति अवज्ञा और क्रोध प्रदर्शित करनेके लिये उन्होंने शिव और सतीको आमन्त्रित नहीं किया। शिव यह सब कुछ जानते थे परन्तु उन्होंने सतीसे कुछ कहा नहीं। आखिर कन्याका ही हृदय ठहरा। अपने पिताके यहाँ उत्सवका समारोह सुनकर सतीका हृदय वहाँ जानेके लिये मचल उठा। बड़े ही भावपूर्ण और मुग्धकारी शब्दोंमें सतीने शिवके सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि वे दोनों उत्सवमें सम्मिलित हों, और यह भी कहा कि हमें वहाँके निमन्त्रणकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये। उसे असली बातका पता नहीं था। शिवने उसके सामने सारा रहस्य खोलकर रख दिया और उसे यह स्पष्ट कह दिया कि वहाँ जाकर तुम किसी प्रकार सुखी न हो सकोगी। सतीके अन्दर माता-पिताके प्रति स्नेहका भाव जाग उठा। पत्नीने अनुभव किया कि पति उसकी स्वतन्त्रतामें बाधक हो रहा है। वह अपने पतिको प्राणोंसे बढ़कर प्यार करती थी, फिर भी वह अपनी स्वतन्त्रताको कायम रखना चाहती थी। वह उसी कामको करना चाहती थी जो उसके मनमें ठीक जँचता था। उसके हृदयमें पिताके प्रति जो प्रेम था वह पतिके भयके सङ्घर्षमें आ गया। कुछ देरतक तो वह अपना कर्तव्य निश्चय नहीं कर सकी। अन्ततोगत्वा प्रेमने भयपर विजय प्राप्त की। वह एक छेड़े हुए विषधर सर्पकी भाँति फुफकारने लगी और उसने क्रोधसे जलती हुई दृष्टिसे शिवकी ओर देखा। वह प्रेम कैसा जो आत्माकी स्वच्छन्दतामें बाधक हो। क्या इन्होंने मुझे प्रेमदान देकर अपनी अर्द्धाङ्गिनी नहीं बना लिया? फिर वे केवल इसी बातपर इतना हठ क्यों करते हैं? उसके मार्गमें बाधक क्यों होते हैं? क्या वे अपनी भोली-भाली नादान पत्नीकी एकमात्र निर्दोष माँग पूरी नहीं कर सकते? उसका हृदय विषादसे भर गया। दृष्टिमें क्रोध तो था ही, साथ ही आँखें प्रेम और विषादके आँसुओंसे भर आयीं, डबडबा आयीं!

सतीने मूकदृष्टिसे शिवकी ओर निहारा। उस दृष्टिमें उसका प्रेम, विषाद और कर्तव्यपालनके लिये स्वतन्त्रताकी माँग भरी थी। उसका शरीर काँप रहा था। लम्बी-लम्बी उसाँस चल रही थी। हृदय विषादसे पूर्ण था! निदान वह अपने पिताके घरकी ओर मुड़ी और चल दी। इस दीर्घयात्राके लिये न कोई तैयारी ही थी न कोई पाथेय ही! स्वतन्त्रताकी यह आश्चर्यजनक उद्दाम कामना! प्रेम और ज्ञानके देवताने उसकी ओर प्यारभरी, ममताभरी दृष्टिसे देखा। क्योंकि वे तो जानते ही थे कि सत्यकी खोजमें स्वतन्त्रताकी यह अजेय कामना उसे फिर मेरे पास लौटा लायगी।

६—भगवान् शिवके गण मर्यादाकी रक्षाके लिये सतीके पीछे-पीछे चले; वह उनकी क्यों परवा करने लगी? वह सीधी पिताके घर पहुँची। उसकी माता और बहिनोंने बड़े ही लाड़-प्यारसे, प्रेमाश्रुपूरित नयनोंसे उसका स्वागत किया, आलिङ्गन किया, भेंट-अकवार की। परन्तु सतीने इस ओर भी ध्यान नहीं दिया। उसकी दृष्टि तो अपने पितापर गड़ी हुई थी। वह उनका अभिप्राय जानना चाहती थी। उसके पिताने उसकी ओर देखातक नहीं। उसने यज्ञका समारोह देखा। उसने देखा कि यज्ञके आयोजनमें सोच-समझकर शिवको अपमानित करनेकी चेष्टा थी। अब उसकी समझमें आया कि मेरे सौम्य एवं साधु पतिका खयाल ठीक था और दोष मेरे माता-पिताका ही है। अब उसे स्वयं अपने ऊपर तथा अपने पितापर क्रोध आया। ऐसा प्रतीत हुआ, मानो वह तीनों लोकको भस्म कर देगी। सारी सभा सन्न हो गयी। सतीको क्रोधके आवेशमें देखकर शिवजीके गण दक्षको अपने स्वामीके अपमानका मजा चखानेके लिये सहसा खड़े हुए। सतीने उन्हें इशारेसे शान्त कर दिया। चारों

तरफ सन्नाटा छाया हुआ था। अब सती तनकर खड़ी हो गयी और उसने गर्जते हुए एवं क्रोधसे काँपते हुए स्वरमें अपने पिताको इस प्रकार ललकारा जिससे यह साफ जाहिर होता था कि वह अपने दोषी पिताकी अपेक्षा सत्यका अधिक आदर करती है। सभा चित्रलिखीकी भाँति सुनने लगी। सतीने सभाकी ओर लक्ष्य करके कहा, 'शिव तो प्रेमकी मूर्ति हैं, उनकी दृष्टिमें प्रेमास्पदके सिवा अन्य कोई है ही नहीं, वे सर्वत्र प्रेमीका ही दर्शन करते हैं। उन्हें दोष देना सत्यसे च्युत हो जाना है, प्रमाद और दुःखोंको आमन्त्रित करना है। मैं अपने पिताकी हठभरी भूलपर दुखी हूँ, लज्जित हूँ।' तब उसने अपने पितासे कहा, 'इसलिये तुमसे उत्पन्न हुए इस शरीरको लेकर मुझे अपने स्वामीके पास जानेमें ग्लानि और लज्जा मालूम होती है।' यों कहते हुए उसने अपना चित्त पतिमें लगाकर अपने शरीरकी गुप्त शक्तियोंसे एक योगाग्निको प्रकट किया और उसके द्वारा अपने शरीरको भस्म कर दिया। उफ़! वह हृदयविदारक भीषण दृश्य! स्वतन्त्रता और सत्यके प्रति वह उत्कट, उद्दाम प्रेम और उसमें बाधा पहुँचानेवाले स्नेहका तिरस्कार! श्रीशुकने कहा कि वह पुनः पार्वतीके रूपमें प्रकट हुई और महादेवके साथ पुनः संयोगको प्राप्तकर सदाके लिये उनसे घुल-मिलकर एक हो गयी।

सतीरूपमें माँकी झाँकी मेरे जीवन-पथमें सदैव प्रकाशका काम देती रही है। इससे यह बात स्पष्ट हो गयी कि सत्यकी उत्कट और अजेय कामनाकी परिणति अमर, अमिट प्रेमकी उपलब्धिमें होती है। इस प्रकार हमारी माता हमें अपने आचरणोंके द्वारा उपदेश करती है और हमारा यह कर्तव्य है कि हम उसके द्वारा निर्दिष्ट पथपर चलें। जब कभी मैं किसी बालिका या बालकको देखता हूँ, मेरा हृदय मुझसे कहने लगता है, 'हमारी माता सती यहाँ प्रच्छन्नरूपसे विद्यमान है। आँखमिचौनीके इस खेलमें मेरा काम इतना ही है कि उसे अपने असली रूपमें प्रकट होनेके लिये बाध्य करूँ।'

७—श्रीशुकने दूसरी झाँकी जो मुझे दिखलायी, उसमें मैंने देखा कि माता महारानीके वेषमें एक सहस्रदल कमलपर विराजमान थी। बड़े-बड़े तेजस्वी देवता, ऋषि, मुनि उसके चारों ओर हाथ जोड़े हुए खड़े थे। उसे वे माता 'लक्ष्मी' कहते थे। माता लक्ष्मी सम्पत्ति एवं ऐश्वर्यकी अधिष्ठात्री देवी है। सभी मौन, शान्त, निस्तब्ध होकर खड़े थे और उसकी कृपाकटाक्षकी अभिलाषा कर रहे थे। वह हाथोंमें जयमाल लिये हुए थी। उसने आस-पास खड़े हुए व्यक्तियोंको उन्हींमेंसे अपना वर चुननेके लिये गौरसे देखा। वह ऐसे व्यक्तिके खोजमें थी जो सर्वथा निर्दोष, अडिग, दृढ़ और सारे सद्गुणोंसे विभूषित हो। जो लोग वहाँ खड़े थे उन सबका उसने निरीक्षण किया और उच्च स्वरसे कहा, 'एकमें महान् तप है परन्तु वे क्रोधपर विजय नहीं कर पाये हैं; एकमें अमित ज्ञान है परन्तु वे रागसे मुक्त नहीं हैं; एक महान् हैं परन्तु वे कामको नहीं जीत सके हैं; और जो अपने सुखके लिये दूसरोंपर निर्भर करता है वह तो स्वामी होनेके योग्य ही नहीं है।' इस प्रकार वह सबको देखती हुई आगे बढ़ने लगी। जितनोंको उसने देखा, उन सबमें उसे गुणोंके साथ-साथ दोष भी दिखायी दिये। इतनेमें वह बोल उठी, 'इनमेंसे केवल एक सब प्रकारसे पूर्ण है, परन्तु वह मुझे चाहता नहीं।' इसके उपरान्त सारे ऐश्वर्य, सौन्दर्य, ज्ञान और प्रेमके अधीश्वरने उसकी जयमालको स्वीकार किया। उन्होंने उसे अपने हृदयमें स्थान दिया। वहाँसे वह समस्त प्राणियोंको वात्सल्यपूर्ण दृष्टिसे देखती है और उन्हें अपने स्वामीके सम्मुख ले जाती है। देखिये श्रीमद्भागवत ८। ८। १९—२५। दूसरी झाँकीमें उसने अपने हृदयका प्रेम प्रभुके चरणोंमें समर्पित करते हुए उच्च स्वरसे कहा, 'इस संसारकी स्त्रियाँ बड़ी लगनके साथ तुम्हारी उपासना करती हैं, तुम्हीं समस्त इन्द्रियोंके सच्चे स्वामी हो, हृषीकेश हो। परन्तु वे मूर्खतावश पतिरूपमें दूसरेको चाहती हैं। वे यह नहीं समझतीं कि अन्य सब लोग स्वयं परतन्त्र हैं, वे उनकी यथेष्टरूपमें रक्षा कर कैसे सकेंगे?'

क्योंकि 'पति' तो वही हो सकता है जो सारी आपदाओं, सङ्कटों और विपत्तियोंसे अपने आश्रितकी रक्षा कर सके—ऐसे तो बस केवल तुम्हीं हो।

इस प्रकार मेरी माँने मुझे यह सिखा दिया कि अपने जीवनका स्वामी किसको बनाना चाहिये।

८—तीसरी झाँकीमें श्रीशुकने मेरी माँका एक और ही रूप दिखलाया। उसे मैंने एक राजकुमारीके वेशमें पाया जो सुन्दरता और सद्गुणोंकी खानि थी। उसका नाम था 'रुक्मिणी'। उसके हृदयमें प्रेम और लावण्यके

माता श्रीउमाजी

सुवर्णसदृशीं गौरीं भुजद्वयसमन्विताम् । नीलारविन्दं वामेन पाणिना बिभ्रतीं सदा ॥
सुशुक्लं चामरं धृत्वा भर्गस्याङ्गे च दक्षिणे । विन्यस्य दक्षिणं हस्तं तिष्ठन्तीं परिचिन्तये ॥

परमदेवता श्रीकृष्णको प्राप्त करनेकी लालसा उत्पन्न हुई। परन्तु उनसे मिलना सहज नहीं था। उसके माता-पिता और भाईने उसकी सगाई किसी दूसरेसे कर दी थी। विवाहका दिन निकट आ गया। वह अपने हृदयकी व्यथा किसीको कह भी नहीं सकती थी। वह करती तो क्या? लज्जा और सङ्कोचकी पुतली अन्त:पुरमें बन्द थी। अन्तमें उसने अपने मनमें दृढ़ निश्चय कर लिया। एक विश्वासी ब्राह्मणके हाथ उसने अपने प्रणयकी पाती अपने प्राणनाथके पास भेजी। यह उसके लिये वास्तवमें बहुत बड़े साहसका काम था। लोग सम्भवत: इसे मर्यादाका उल्लङ्घन भी कह सकते हैं। परन्तु उसने सोचा कि एक अच्छे उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मनुष्य चाहे जिस साधनको काममें ला सकता है, ऐसा करनेमें कोई दोष नहीं लगता। उसने अपना प्रेमोपहार प्रभुके पुनीत पादपद्मोंमें प्रस्तुत किया और आर्त्तभावसे यह प्रार्थना की कि आप शीघ्र पधारकर इस दासीको अपनाइये। 'नहीं तो'—उसने प्रतिज्ञा की कि 'जबतक आप मुझे मिलेंगे नहीं, मैं कठोर तपश्चर्याके द्वारा इस शरीरको घुला डालूँगी, इसके लिये चाहे मुझे सौ जन्म भी लेने पड़ें।' लौकिक नियमोंका कितना भारी उपहास और तिरस्कार था! कितनी सरल, विश्वासपूर्ण एवं सच्ची लगन थी। कैसा मुग्धकारी, हृदयको वशमें कर लेनेवाला सङ्कल्प था। अहा! क्या ही सुन्दर होता यदि हम तुम्हारे चरण-चिह्नोंपर चलकर, तुम्हारा अनुसरण कर प्रेममय प्रभुके पादपल्लवोंकी शरणमें इसी प्रकार अनन्य भावसे जाते, इसी प्रकारकी उत्कण्ठासे अपने प्रेमके 'देवता' को खोजते!

जब श्रीकृष्ण उसे पकड़कर लिये जा रहे थे, उसके भाईने श्रीकृष्णसे बदला लेनेके लिये उनका पीछा किया। श्रीकृष्णने उसको पकड़ लिया और चाहते ही थे कि उसको कठोर दण्ड दें किन्तु रुक्मिणीने उन्हें बीचहीमें रोक लिया। बहिनका हृदय भाईके लिये पिघल उठा। भ्रातृप्रेमने उसे ऐसा करनेके लिये बाध्य किया। माँ! तुमने इस उदाहरणके द्वारा हमें यह शिक्षा दी कि अनन्त प्रेमार्णवके प्रेममें हमें दूसरोंके साथ भी अनासक्तभावसे प्रेम करना भूल न जाना चाहिये। जिससे हम उन्हें सत्य और शाश्वत सुखके मार्गमें ले जा सकें।

९—माताकी अन्तिम झाँकी जो श्रीशुकने मुझे दिखलायी वह अपूर्व थी, अनोखी थी। लहराती हुई वनस्थलीका मनोमोहक दृश्य था। यह सौन्दर्य आनन्दसे इतना पागल कर देनेवाला था कि उसके उपभोगकी सारी चाह, उसे प्राप्त करनेकी सारी लालसा हृदयसे लुप्त हो जाती थी। वह सौन्दर्य इस प्रकारका था कि उससे हृदयमें सर्वभूतमय हरिमें लय हो जानेकी उत्कट लालसा जाग उठती थी। समस्त भूतोंमें, विश्वके अणु-अणुमें अपनेको व्याप्त कर देनेकी भावना प्रबल हो उठती थी। सबके आनन्दकी वृद्धिके लिये सबकी सेवा करनेकी कामना लहलहा उठती थी। वन-उपवन, कुञ्ज-वीथियाँ, फूलोंसे लदी हुई, गदरायी हुई लता-वल्लरियाँ और फलोंके भारसे झुके हुए वृक्ष, आम्र-मञ्जरीपर गुञ्जार करते हुए भौंरे और चहचहाते हुए पक्षी, स्वच्छन्द विचरते हुए, किलोल करते हुए पशु, पर्वतमालाएँ, कलकल निनाद करती हुई सरिताएँ और इनकी लोल लहरोंपर खेलती हुई तरङ्गें, सुरभित कमल, कोमल बर्फके समान धवल सिकता-राशि—ऐसा प्रतीत होता था मानो ये सब-के-सब मुझे प्यार और स्वागत करनेके लिये उत्सुक थे, मुझे अपनी माँकी तरह अपने आलिङ्गन-पाशमें बाँध लेना चाहते थे। मैं सोचने लगा, मेरी माँ कहाँ है? क्या वह इन सबमें ओत-प्रोत है? क्या इन सबके रूपमें वही दृष्टिगोचर हो रही है? मेरे हृदयमें बार-बार इस प्रकारके विचार उठने लगे और वहींसे उत्तर भी मिलने लगा—'हो सकता है, बहुत सम्भव है।' परन्तु इन गुत्थियोंमें मैं अधिक देरतक उलझा नहीं रह सका। कौतूहल और जिज्ञासा मिलनके रूपमें परिणत हो गयी। 'अब पूछनेके लिये समय नहीं है, इसमें कोई लाभ भी नहीं दीखता।' मैं सहसा बोल उठा।

१०—हरी-भरी लता-वल्लरियों और कुञ्जोंकी उस परम मनोहर वनस्थलीमें मैंने अनेक कुटीर देखे—बहुत सुन्दर, बहुत स्वच्छ, हृदयको आकृष्ट करनेके सभी उपकरणोंसे भरे-पूरे। आत्मसमर्पणके रंगमें रँगे हुए और प्रेम-रसमें पगे हुए तथा सौन्दर्यके आनन्दमें डूबे हुए हृदयको विमुग्ध करनेवाली सभी सामग्री मौजूद थी। क्या वे पुष्पोंसे आच्छादित और उपवनोंसे परिवृत सुन्दर छोटे-छोटे कुटीर थे? अवश्य। जब हृदय-सर्वस्वके प्रति हृदयका प्रेम उन्हें इस रूपमें चाहता तब वे उसी रूपमें उस हृदय-वल्लभकी सेवाके लिये प्रस्तुत हो जाते। क्या वे आधुनिक विज्ञानके सभी सुख-वैभवोंसे

सम्पन्न अट्टालिकाएँ थीं? हाँ! क्यों नहीं, जब प्रेमास्पदके प्रति हृदयका प्रेम उन्हें इस रूपमें देखना चाहता था तब वे इसी रूपमें उपस्थित हो जाते। इसका अभिप्राय? इसका अर्थ? क्या जो कुछ तुम कह रहे हो वह सच है अथवा एक मानसिक स्थितिका चित्र है? प्यारे मित्रो! वस्तुतः सत्य क्या है? क्या वह एक मानसिक स्थितिमात्र अथवा अनुभूतिमात्र नहीं है? मैंने जो कुछ देखा वह मेरे लिये सर्वथा सत्य है—उससे मुझे सदा उत्साह और आनन्द मिलता है। हृदय खोलकर, तन्मय प्राणोंसे यदि तुम भी सुनो तो तुम्हारे लिये भी वह वैसा ही प्रतीत होगा। प्यारे! हम अब उस स्थिति और देशमें विचरण कर रहे हैं जहाँ प्रश्नोंका प्रवाह रुक जाता है और उसकी जगह वह अनुभूतिका स्रोत बहने लगता है जो यथार्थ ज्ञान, प्रेम और आनन्दका रूप है।

११—तब मैंने उन लोगोंको देखा जो वहाँ रहते थे। वे ऐसे लोग थे जिन्हें एक बार देख लेनेपर प्यार किये बिना रहा नहीं जाता। उच्चाशयता, सौम्यता और प्रेमास्पदके प्रति द्वैतको भुला देनेवाली सच्चे प्रेमकी दिव्य ज्योतिर्मय एवं मनोमुग्धकारी कान्ति मुखमण्डलसे तथा उनकी एक-एक क्रियामेंसे फूटी पड़ती थी। उनका मुख्य व्यवसाय था गायें चराना। परन्तु उन्हें गोपाल कहना उनके प्रति उतना ही अपमानजनक था जितना किसी हीरेको पत्थर कहकर पुकारना। वे गौओंसे प्रेम करते थे और गौएँ उन्हें प्यार करती थीं। गायें उनके स्पर्शको पाकर तथा उनकी एक-एक चितवनसे पुलकित हो उठतीं और गौओंके स्पर्श एवं निरीक्षणसे वे रोमाञ्चित हो जाते थे। बछड़े अपनी माँके थनसे तबतक दूध न पीते जबतक उनके साथी ग्वाल-बाल और गोपियाँ उस दूधमें हिस्सा बँटानेके लिये प्रस्तुत न होते। उस उपवनकी घासोंकी भी यह लालसा रहती थी कि गायें उनपर चलें-फिरें, उन्हें नोच-नोचकर खायँ और अपनी भूखको शान्त करें और बाल-गोपाल उनपर खेलें-कूदें। क्योंकि उनका हृदय स्पन्दित होकर यह कहने लगता था, 'हम इसीलिये बढ़ती और हरी-भरी रहती हैं, पनपती और पल्लवित होती हैं कि तुम हमारे वक्षःस्थलपर विचरो, इसे सर्वथा अपना समझो। तुम मेरा जीवन लेते नहीं प्रत्युत देते हो।' यह वह लोक था जहाँकी सभी वस्तुओंमें एक नित्य नूतन चेतना जागृत रहती थी, वहाँकी कोई वस्तु निर्जीव, जड़ नहीं थी। प्रेमास्पदके प्रति उनके आत्मविस्मृतकारी प्रेमके कारण जो उन्हें प्रचुर सामग्री प्राप्त होती उसे लुटा देनेमें ही उनका कल्याण था, उनकी अभिवृद्धि थी और सर्वत्र सभीमें एक-दूसरेके प्रति स्वाभाविक प्रेमका समुद्र उमड़ा रहता था, जो केवल 'परमप्रियतम' के आनन्दकी ही चिन्ता किया करता था।

१२—इतनेमें ही मैं क्या सुनता हूँ कि निकटवर्ती वनगुल्मोंसे आनन्दमय हास्यकी एकरस मधुरध्वनि निकल रही है। उसमें पक्षियोंके कलरवका आह्लादकारी संगीत मिलकर एक अपूर्व आनन्दकी सृष्टि कर रहा था। कुछ बालक-बालिकाएँ वहाँ खेल रही थीं। पशु-पक्षी भी इस क्रीड़ा-कौतूहलमें भाग ले रहे थे। लड़के बन्दरोंकी पूँछ पकड़कर वृक्षोंपर चढ़ जाते थे। वे पक्षियोंके स्वरमें स्वर मिलाकर गाते, मोरोंके साथ नाचते, पक्षियोंकी परछाईंके साथ-साथ दौड़ते, मेढकोंके साथ फुदकते थे। वे कुँओंके अन्दर अपना प्रतिबिम्ब देखते और उनके सामने मुँह बनाते। पहाड़ोंकी घाटियोंमेंसे जो प्रतिध्वनि निकलती उसको लक्ष्य करके गालियाँ सुनाते। मनुष्य, पशु, पक्षी, नहीं-नहीं, समस्त जड़-चेतन-प्रकृतिमें एक-दूसरेके प्रति स्वाभाविक प्रेमका वह अजस्र स्रोत बहता रहता था जिसके अन्दर सब लोग अपना आपा भूल गये थे। वहाँ प्रेमका ही अटल साम्राज्य था, एकछत्र राज्य था। प्रेमकी ही अजेय शक्तिने उन सबके जीवनको ढाल रखा था और वही उनका सञ्चालन करती थी। इस प्रेमका प्रधान केन्द्र था परम सुन्दर बालक जिसे वे 'कृष्ण' कहते थे, जिसका अर्थ है—आकृष्ट करनेवाला और एक सुन्दरी बालिका जिसका नाम था 'राधा' अर्थात् परिवेष्टित करनेवाली—इस युगल मूर्तिको वे लोकाभिराम कहते थे।

१३—तब मैंने कुछ बालिकाओंको फूल चुनते देखा। लहलहाते हुए पुष्पोंसे भरी हुई डालियाँ यह चाह रही थीं कि ये बालिकाएँ हमें स्पर्शसुख प्रदान करें, हमारा आलिङ्गन करें और उस परमप्रेमीके चरणोंमें हमारे पुष्पोंका उपहार चढ़ावें। और पुष्प? वे तो मारे आनन्दके उनकी अञ्जलिमें आनेके लिये फिसले पड़ते थे, कूदनेको प्रस्तुत थे। अहा! कितनी मधुर कामना थी उनकी हारमें गुँथे जानेकी और प्रिया-प्रियतमके गलेमें

सुशोभित होनेकी और प्रियाजीकी वेणीको चूमनेकी। उन बालिकाओंकी चाल-ढालमें लज्जा और संकोच था, शील था, रमणीयता थी, सौकुमार्य था और था एक अपूर्व माधुर्य। यही सब गुण उन फूलोंमें थे जिन्हें वे चुन रही थीं। यद्यपि उनके आस-पास पुरुष और बालक थे फिर भी उनके व्यवहारमें एक स्वाभाविक स्वतन्त्रता और निर्भयता थी। यह उनके प्रिया-प्रियतमके प्रति प्रेमका परिणाम था जो उतना ही पवित्र एवं निष्कलङ्क था जितना कि फूलोंके गुच्छोंका स्वतन्त्र एवं आनन्दमय नृत्यविलास था।

इतनेहीमें सभी बालिकाएँ एक कुञ्जके नीचे आ जुटीं। उनके हृदयमें माताकी पूजा एवं स्तुति करनेकी लालसा उत्पन्न हुई। उसे वे 'योगमाया' कहती थीं। वह प्रेमकी वह विश्वविजयिनी शक्ति है जो इस 'प्रेम-जगत्' के समस्त व्यवहारोंको सुसज्जित एवं सुसम्पन्न करती है। इतनेमें ही मेरी माँ वहाँ प्रेमकी साम्राज्ञीके रूपमें प्रकट हो गयी। उसकी आँखोंसे वात्सल्यप्रेम और मातृहृदयकी कोमलता बरस रही थी। उन्होंने उसकी पूजा की और फिर प्रार्थना करने लगीं—माँ! माँ! हमें वरदान दो कि हम अपने प्राणाधिक राधा और कृष्णका संयोग करा सकें—उनके अनन्त, अलौकिक प्रेमाब्धिकी उत्ताल तरङ्गें समस्त वसुन्धराको माधुर्य, सौन्दर्य और आनन्दसे परिप्लावित कर दें। हमारे सभी साथी-संगी जो इस प्रेमकी सेवामें हमारे साथ योग दे रहे हैं और जो इस संसारमें थोड़े दिनके लिये आये हैं, वे भी प्रेमकी धारासे आप्लावित हो जायँ। ऐसी कृपा करो जिससे ये लोग जगत्के तूफान और कोलाहलके बीचमें खुदीको मिटा देनेवाले प्रेमके सुखद एवं सामञ्जस्यपूर्ण प्रेम-समीरको प्रसारित करें।

इतनेमें झाँकी विलीन हो गयी और मैंने समझा कि यह सब माँकी ही लीला है।

१४—प्यारे मित्रो! रात बहुत बीत चुकी। बाहर चारों ओर अन्धकार छाया हुआ है। परन्तु हमारे मनमें और हमारी अन्तश्चक्षुके सामने, हमारी माँ प्रेमके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंमें विराजमान है। अब बातोंके लिये समय नहीं रहा। हमें चाहिये कि हम उस दयामयी जननीके हृदयमें प्रवेश कर जायँ। मोह-निद्रासे जागकर हमलोग उसके प्रेमका सुखद-समीर इस कोलाहलमुखरित भ्रान्त जगत्में प्रवाहित कर दें।

अनिर्वचनीय शक्ति

अयि! मति जननि सृजनि जग-पालिनि,
हारिणि अमल तत्त्व शृङ्गार।
ज्ञानाज्ञानप्रस्त्रवणि ललिते!
दुर्ललिते! दुख-सुख-भण्डार॥ १॥
कर्म-भूमिके! मुक्तिप्रदर्शिनि!
बुद्धि-अगम्ये! प्रेमागार।
निष्ठुरहृदये! मृदुल सुमन-सी,
बज्राङ्गे! मञ्जुल सुकुमार॥ २॥
इस शोभन रङ्गस्थलकी तू,
अभिनेत्री या सूत्राधार[1]।
या विराट् तू विश्व-वृक्ष है,
या है सूक्ष्म बीज साकार?॥ ३॥
उसका[2] या परोक्ष जीवन तू,
या जीवन, जीवन-आधार।
अथवा तू, 'है, नहीं' द्वंद्वकी,
दृष्टि-यवनिकाका विस्तार?॥ ४॥
गगन-विहारी विमल चन्द्र तू,
या है मधुर चन्द्रिका रम्य।
शुष्क काष्ठ-संभार विपिनका,
या दावानल ज्वलित अदम्य?॥ ५॥
नील मेघ या दीप्त तडित् तू,
कुहू-निशाका या अभिसार।
या जादू या जादूगरिनी,
मंत्रोत्पादक या उद्गार?॥ ६॥
नन्दन-काननका सौरभ या,
रौरवका असुगंधित वास।
इन्द्रासनका दिव्य भोग तू,
या संसृतिका भीषण त्रास?॥ ७॥
सुर-बालाके ललित कंठका,
विश्वोन्मादक है तू राग।
या अनाथिनी नव-युवतीका,
चीत्कार अर्दित अनुराग?॥ ८॥

१- विश्वनाटक-सूत्रका आधार। २- बीजका।

चन्द्रानना कमल-नयनीकी,
चपला-सी मञ्जुल मुस्कान।
रक्त-चण्डिका खड्ग-धारिणी-
का है या हृत्-शोणित-पान?॥ ९ ॥
मधुर-मधुर अति मधुर प्यार तू,
या वियोगका हाहाकार।
प्रथम मिलनका मधुर प्रेम तू,
या प्रणयीका अन्तिम प्यार?॥ १० ॥
'हाँ! फूलोंकी तू है रानी,
या दुख-प्रद शूलोंकी खान।
निजानन्दकी प्रलयरात्रि तू,
या मुद-मंगल मूल बिहान?॥ ११ ॥

देवि! तु ही है परम पुरुष या
अतुल अगम्य वीर्य पुरुषार्थ।
शक्तिरूप है शक्तिमान् या
प्रेय स्वार्थ या तू परमार्थ?॥ १२॥
उष्ण रुधिर, मद-घट ढलकाकर,
या प्रसून गह बनो प्रसन्न।
तडित्-दाम वर्णाभरूप हो,
या महान् कृष्णाभासन्न॥ १३॥
जो भी तू है पर या अपरा,
यह तू है या वह अभिराम।
तुझको तेरे शिशु अबोधका,
देवि! देवि!! शत कोटि प्रणाम॥ १४॥

माँ, तेरा ही 'शिशु'

शक्ति-तत्त्व

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम० ए०, आचार्य, शास्त्री)

समस्त ग्रह-तारा-राजि-विराजित, दिवाकर-निशाकर-प्रोद्भासित, सिंह-व्याघ्रादिवन्य-मृग-निनादित, उत्तुङ्ग-हिमालयादि-महीधर-विधारित, तरङ्गमालाऽऽकुलानेक-पयोधि-समाकलित, सर्वाङ्गीण-प्राकृतिक-सुषमा-विलासित यह अनन्त अपार अगण्य-ब्रह्माण्ड-पिण्ड-रूप चित्र-विचित्र जगत् जिनसे उत्पन्न तथा पालित होकर अन्तमें जिनमें समालीन हो जाता है, वे ही अतर्क्य-महिम-शालिनी, गुणत्रयविभाविनी, भक्तजननी, वराभयदायिनी श्रीशक्ति देवी हैं।

गाणपत्योंके जो सून्दुरुचारी, मोदकधारी श्रीगणपति हैं, शैवोंके जो नन्दिविहारी, पिनाकधारी श्रीसदाशिव हैं, सौरोंके जो मरीचिमाली, गुणगणशाली श्रीसविता हैं, वैष्णवोंके जो मन्मथमोहन त्रिलोक-जिष्णु श्रीविष्णु हैं, वे ही शाक्तोंकी सौम्या, सौम्यतरा, '**अशेषसौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी**' परा, पराणां परमा, त्रिलोक-परमेश्वरी श्रीशक्ति देवी हैं।

वेदोंके '**कस्मै देवाय हविषा विधेम**' आदि अनेक मन्त्रोंमें पुँल्लिङ्ग-शब्दद्वारा तथा वेदान्तोंके '**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते......तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म**' आदि वाक्योंमें नपुंसकलिङ्ग-शब्दोंद्वारा जिस परम तथा चरम तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है वही शाक्तोंकी स्त्रीलिंग-शब्द-सूचिता शक्ति देवी हैं। भेद भाषा तथा व्याकरणके व्यवहारमात्रका है और परमार्थदृष्टिसे पूर्ण अभेद है।

शक्तिमें ही यह समस्त जगत् अवस्थित है अथवा यह कह सकते हैं कि इस संसारका आधार शक्ति है, '**आधारभूता जगतस्त्वमेका**' '**विश्वात्मिका धारयसीति विश्वम्**' '**त्वयैतद् धार्यते विश्वम्**' [मार्कण्डेयपुराण]। वेदोक्त '**तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा**' तथा गीतोक्त '**त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्**' वाक्योंकी सदृशता ध्यान देने-योग्य है।

परिच्छिन्न मानव-बुद्धि अपरिच्छिन्न शक्तिकी महत्ताकी धारणा नहीं कर सकती। शक्तिकी सर्वाङ्गीण चिन्तना मनुष्यके विचारसे परे है अतएव वे अचिन्त्य हैं '**किं वर्णयाम तव रूपमचिन्त्यमेतत्**', '**या मुक्तिहेतुरविचिन्त्य-महाव्रता त्वम्**' [मार्क० पु०]। गीताके '**सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च**' वचनका सादृश्य स्पष्ट है।

यह त्रिगुणमय विश्व शक्तिमें इस प्रकार विराजमान है जिस प्रकार महाब्धिमें मछली। तात्त्विक विचारसे जलराशि और मत्स्यमें द्रष्टाके लिये द्वैतभाव है ही, परन्तु विशेष विवक्षा न होनेपर द्रष्टा 'मैं केवल एक समुद्र देख रहा हूँ' ऐसा कहे तो अद्वैतभाव होता है। परमात्मरूप आधारमें निहित गुणत्रयजात जगत्के विषयमें भी द्वैत और अद्वैत-कल्पना विवक्षाभेदसे उपयुक्त है। जड़-जगत् कल्पादिमें परमेश्वरकी शरीररूपा प्रकृतिसे उत्पन्न होकर कल्पान्तमें फिर वहीं समा जाता है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

जिस प्रकार जीवात्मा ज्ञान-गुणके बलसे शरीरमें व्याप्त है उसी प्रकार महेश्वर अपनी मायासे समस्त प्राकृतिक जगत्‌में व्याप्त हैं—न केवल जड़-जगत्‌में ही अपितु चेतन जीवमें भी, '**यस्यात्मा शरीरम्**' [शतपथ] इसी विचारधाराको दृष्टिमें रखकर शक्तिको 'जगन्मूर्त्ति' कहा गया है—'**नित्यैव सा जगन्मूर्त्तिः।**' गीतोक्त 'विश्वेश्वर, विश्वरूप' भी इसी बातका समर्थक है।

शक्ति सर्वत्र व्यापक हैं। सभी प्राकृतिक पृथिव्यादि पदार्थ उनके शरीर हैं, अतएव शरीर-शरीरीके व्यावहारिक अभेदको स्वीकार करके उनका (शक्तिका) जगत्‌से तादात्म्य-सम्बन्ध स्थान-स्थानपर उपवर्णित है। इसी अभेदके अनुसार प्रकृत्युत्पन्न विश्वका मूल कारण शक्ति ही कही जाती हैं। वस्तुतः शक्ति देवीकी शक्तिसे अननुप्राणित प्रधान (प्रकृति) किञ्चिन्मात्र कार्य-साधनमें समर्थ नहीं हो सकता। इसी हेतुसे प्रकृतिकी सञ्चालिका शक्ति ही जगत्‌का मूलहेतु प्रतिपादित हुई है। जीवात्माकी सत्तासे अनुप्राणित शरीरसे जिस प्रकार केश-नखोंकी उत्पत्ति सिद्ध है और व्यवहारमें जिस प्रकार देवदत्त-जीवात्मासे केशादिकी उत्पत्ति कही-सुनी जाती है उसी प्रकार श्रीशक्तिदेव्यनुप्राणित प्रधान तत्त्वसे उत्पद्यमान जगत्‌की सृष्टि भी शक्तिमें ही उपचरित होती है, अतएव कहा गया है '**विश्वस्य बीजं परमासि माया।**' गीतोक्त '**यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन**' तथा '**बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्**' ये दोनों वाक्य भी भगवत्तत्त्वसे सृष्टिकी उत्पत्ति-सादृश्यमें विचारणीय हैं।

विश्वका त्रिविध सृष्टि, स्थिति, प्रलय—व्यापार इन्हीं परमा देवी-शक्तिसे ही होता है—

विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने।
तथा संहृतिरूपाऽन्ते जगतोऽस्य जगन्मये॥

ऐसा ही भाव गीताके '**अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च**' इस वाक्यमें स्पष्ट है। सप्तशतीके '**देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या**' और गीताके '**त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।**' इन दोनों वाक्योंकी समानता हृदयङ्गम करनेयोग्य है।

जड़-जगत्‌का उपादान व्याकृता प्रकृति है। और इसीको क्षर पुरुष कहते हैं, किन्तु शक्ति अव्याकृता प्रकृति हैं जो अक्षरा कहलाती हैं। अव्याकृता जननी प्रकृति अर्थात् शक्ति देवीके किसी एक अंशमें जगत्व्यापार होता रहता है। जितना जगत् है उतनी ही शक्ति हैं ऐसा नहीं है। शक्ति जगत्‌से कहीं अधिक महीयसी **हैं** '**सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंशभूतमव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या।**' यही भाव '**अतो ज्यायांश्च पूरुषः**' इस वैदिक मन्त्रमें तथा गीताके '**विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्**' इस वाक्यमें विशद है। शक्तिके एक-एक रोममें जीव-राशिके ब्रह्माण्ड-भाण्ड इस प्रकार भ्रमण कर रहे हैं जिस प्रकार एक विशाल वातायनमें होकर अगण्य परमाणुपुञ्ज आ-जा रहे हों।

शक्तिकी भूयसी विभूतिका वर्णन दशशत शेषनाग अहर्निश प्रयत्न करनेपर भी नहीं कर सकते। फिर भी गीतामें श्रीभगवान्‌ने अपनी अनन्त विभूतियोंका जिस प्रकार दिग्दर्शनमात्र कराया है—

कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।

उसी प्रकार सप्तशतीमें शक्तिदेवीकी विभूतियोंका कुछ परिचय दिया गया है। यथा—

'**त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी त्वं ह्रीस्त्वं बुद्धिर्बोधलक्षणा।**'
'**त्वमेव सन्ध्या सावित्री त्वं देवि जननी परा।**'
'**या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेषु.........।**'
'**या देवी सर्वभूतेषु स्मृतिरूपेण संस्थिता।**'

इत्यादि।

ये भक्त-कल्याणकारिणी शक्ति ही संसारका शासन कर रही हैं इसलिये इनको विश्वेश्वरी कहा गया है '**त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य**' '**प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वम्।**' गीताके श्रीकृष्णचन्द्र भी विश्वेश्वर हैं '**नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।**'

गर्भस्थ डिम्बके चरण-चालनसे जिस प्रकार जननी कुपित नहीं होती है, उसी प्रकार भक्तोंके अज्ञातापराधोंसे जगज्जननी भी अप्रसन्न नहीं होती हैं, किन्तु जब सृष्टिचक्रमें बाधा उत्पन्न करनेवाले पाप दुर्दान्त दैत्यादिद्वारा अनुष्ठित होते हैं तब तो जगत्व्यापार-निर्वाह-सौकर्यार्थ श्रीशक्तिदेवी अवतीर्ण होती हैं तथा धर्म-संस्थापन करती हैं।

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्॥

इस शक्ति-प्रतिज्ञाके समान ही श्रीकृष्ण-प्रतिज्ञा भी स्मरणीय है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

इसी विषयमें पाठक सप्तशतीके—

देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याऽप्यभिधीयते॥

इस वचनसे गीताके—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

—की तुलना करेंगे तो अवतारवाद स्पष्ट दिखायी देगा।

जिस प्रकार नारायणभगवान्‌के राम-कृष्णादि अनेकों अवतार होते हैं उसी प्रकार शक्तिदेवीके भी नन्दा, दुर्गा, वैष्णवी, योगमाया अनेकों अवतार होते हैं। भगवान् गोविन्दके जिस प्रकार स्वजन मनोनयनवर्धन अभिराम एवं असुर-भयङ्कर दुर्दृश्य द्विविध रूप होते हैं उसी प्रकार जगदम्बिका-शक्तिके भी सौम्य तथा असौम्य रूप होते हैं। '**दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि**' द्वारा उपवर्णित कृष्ण तथा '**दंष्ट्राकरालवदने**' द्वारा संस्तुता शक्तिके भयङ्कर रूपकी समानता जिस प्रकार स्पष्ट है उसी प्रकार निम्नलिखित वचनोंसे उनके दर्शनीयतम रूपोंका विवेचन होता है—

श्रीकृष्ण {
अनेक दिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्॥

श्रीशक्ति {
दिव्यस्त्रगम्बरालेपरत्नाभरणभूषिता।
धनुःशूलेषुचर्मासिशङ्खचक्रगदाधरा॥
सिद्धचारणगन्धर्वैरप्सरःकिन्नरोरगैः।
उपाहृतोरुबलिभिः स्तूयमानेदमब्रवीत्॥

(भागवत)

सकाम भक्तोंद्वारा स्तुत एवं सम्पूजित श्रीशक्तिदेवी ऐहिक तथा आमुष्मिक भोग देती हैं और मुक्तिकामुकोंको ऐसा पद देती हैं, जहाँसे पुनरावृत्ति नहीं होती। शास्त्रकी उक्ति है—

स्तुता सम्पूजिता पुष्पैर्गन्धधूपादिभिस्तथा।
ददाति वित्तं पुत्रांश्च मतिं धर्मे तथा शुभाम्॥
'स्वर्गापवर्गदे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते।'

श्रीशक्तिके अवतार-चरित्रोंके माहात्म्यके श्रवणसे आरोग्यलाभ होता है। '**श्रुतं हरति पापानि तथाऽऽरोग्यं प्रयच्छति**' एवं पाठसे सर्वाङ्गीण कल्याणकी प्राप्ति होती है—

'एभिः स्तवैश्च मां नित्यं स्तोष्यते यः समाहितः।
तस्याहं सकलां बाधां शमयिष्याम्यसंशयम्॥'
'सर्वाबाधासु घोरासु वेदनाऽभ्यर्दितोऽपि वा।
स्मरन्ममैतच्चरितं नरो मुच्येत सङ्कटात्॥'

परा-शक्ति प्रकृति

(लेखक—ज्यो० पं० श्रीराधेश्यामजी द्विवेदी)

वेदके अद्वैत-सिद्धान्तानुसार एक ब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं है। अखिल ब्रह्माण्डमय, इस विश्वप्रपञ्चकी स्थितिसंहारकारिणी विश्वेश्वरी महामाया प्रकृति परा-शक्ति भी उस एक परब्रह्मका पृथक् नाममात्र ही है। ब्रह्म, ईश्वर, विराट् पुरुष और ब्रह्मशक्ति या ईश्वरी—ये भेद सब उस महामाया पराशक्तिकी महिमाको प्रकट करनेवाले वैभवके समर्थक नाम-रूप हैं; सृष्टि करानेवाली ब्राह्मी शक्ति, स्थिति वा पालनकर्त्री वैष्णवी शक्ति और संहारकारिणी या लय करानेवाली शैवी शक्ति कही जाती है। वह महामाया पराशक्तिरूप ब्रह्म ही नाटकके पात्रकी तरह मायाके प्रपञ्चका विस्तार करता हुआ ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरादि नाम-रूपोंको प्रकट करता है। जिसको भगवान् स्वयम्भू ब्रह्मातक स्वीकार करते हैं—

विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च।
कारितास्ते.........

(सप्त० १। ८४)

अर्थात् विष्णु, मैं (ब्रह्मा) एवं शिव सबने तुम्हारे (शक्तिके) द्वारा ही शरीर ग्रहण किया है। वही माया-रूप परब्रह्म उत्पत्ति, स्थिति, संहारात्मक संसार-दशारूप है और मायाकी विवक्षासे देवी या शक्तिरूपमें कहा जाता है। इसी तत्त्वको ऋग्वेदोक्त देवीसूक्तमें अंभृण ऋषिकी वाङ्नाम्नी कन्याके मुखसे स्वयं पराम्बा प्रकट करती हैं—

ॐ अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यह-
मादित्यैरुत विश्वदेवैः।

अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यह-
मिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥

(ऋ० १०। १२५। १)

'मैं एकादश रुद्ररूपसे विचरण करती हूँ, मैं सब वसुओंके रूपमें अवस्थान करती हूँ, मैं ही विष्णु आदि द्वादश आदित्य होकर विचरण करती हूँ, मैं ही समस्त देवताओंके रूपमें अवस्थान करती हूँ, मैं ही आत्माके रूपमें अवस्थान करके मित्र और वरुणको धारण करती हूँ, मैं ही इन्द्र एवं अग्निको धारण करती हूँ, मैंने ही दोनों अश्विनीकुमारोंको धारण कर रखा है।'

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां
चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्॥
तां मां देवा व्यदधुः पुरुत्रा
भूरिस्थात्रां भूर्य्यावेशयन्तीम्॥

(ऋ० १०। १२५। ३)

'मैं ही निखिल ब्रह्माण्डकी ईश्वरी हूँ, उपासकगणको धनादि इष्टफल देती हूँ। मैं सर्वदा सबको ईक्षण करती हूँ; उपास्य देवताओंमें मैं ही प्रधान हूँ; मैं ही सर्वत्र सब जीवदेहमें विराजमान हूँ; अनन्त ब्रह्माण्डवासी देवतागण जहाँ कहीं रहकर जो कुछ करते हैं, वे सब मेरी ही आराधना करते हैं।'

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति
यः प्राणिति यः शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति
श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥

(ऋ० १०। १२५। ४)

'मैं ही सबके भोजनकी शक्तिरूपा हूँ वा मनुष्यादिमें जो अन्न खानेवाला कोई है वह मेरी ही शक्तिसे खाता है। जो रूपको देखता है, जो श्वास लेता है और जो कही बातको सुनता है वह मेरे द्वारा ही करता है। अर्थात् मैं ही सबमें व्याप्त रहती हुई भोजनादिका कारण वा हेतुरूप हूँ। मेरे ही द्वारा सब चेष्टा होती है। अन्तर्यामीरूपसे सबके भीतर विद्यमान मुझ चित्-शक्तिको जो नहीं जानते, वे अज्ञानीलोग संसारमें बहुत दुःख उठाते हैं। इस कारण हे बहुश्रुत! यह दुर्लभ उपदेश प्रदान करती हूँ, सुनो'—

अहमेव स्वयमिदं वदामि
जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि
तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

(ऋ० १०। १२५। ५)

'इन्द्रादि देवताओं और मनुष्योंके द्वारा अपने-अपने अभीष्टकी सिद्धिके लिये सेवन किये गये इस शब्द-ब्रह्मरूप वैदिक वचनको सरस्वती नामरूपवाली मैं देवी ही सब अलौकिक कामनाओंकी सिद्धिके लिये कहती हूँ। मैं जिसको चाहती हूँ उसको बड़ा बना देती हूँ। जिसको चाहती हूँ उसको ब्रह्मा बना देती हूँ, जिसको चाहती हूँ उसको ऋषि, महर्षि बना देती हूँ। और उसको मैं ही बुद्धिमान् या बुद्धिमती बनाती हूँ। क्योंकि बुद्धिरूप भी मैं ही हूँ। जब संसारभरमें सभी प्रकारकी शक्तियाँ मेरी ही हैं अथवा सब शक्तियाँ मेरी ही रूपान्तर हैं, तब जिसको चाहती उसी-उसीको वैसी-वैसी शक्ति प्रदान करती हूँ।'

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्
मम योनिरप्स्वन्तःसमुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वा
तामू द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि॥

(ऋ० १०। १२५। ७)

'इस विराट्रूप परमात्माके शिरोभागमें प्राणिमात्रके रक्षक वा उत्पादक सूर्यरूप सबके पिताको मैं ही उत्पन्न करती हूँ। व्याप्त होनेवाली बुद्धि-वृत्तियोंके बीच और जिससे सब प्राणियोंके शरीर प्रकट हुए उस प्रकृतिमें जो शुद्ध ब्रह्म—चैतन्य विद्यमान है वही मेरा कारण है, उसीसे मैं प्रकट हुई हूँ। उस निर्गुण शुद्ध ब्रह्म-चेतनसे प्रकट होनेके कारण माया भी ब्रह्मरूपिणी सबकी ईश्वरी, स्वामिनी देवी है। उसी कारणसे मैं सब प्राणियोंमें विविध रूपोंसे व्याप्त होकर अधिष्ठात्री हो रही हूँ और मैं अपने त्रिलोकीमें व्याप्त लम्बीभूत प्रमाणसे पृथिव्यादिमें रहती हुई भी स्वर्गलोकका स्पर्श करती हूँ। अर्थात् मैं ही प्रकृतिरूपसे सबमें प्रविष्ट हूँ।'

अहमेव वात इव प्र वाम्या-
रभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यै-
तावती महिना सम्बभूव॥

(ऋ० १०। १२५। ८)

'कार्यरूप चराचर चौदह प्रकारके लोकोंको कार्य-

स्वरूपसे प्रारम्भ करती हुई मैं देवी ही किसी अन्य अधिष्ठाता वा प्रेरककी अपेक्षा न रखती हुई स्वयमेव अपनी इच्छासे वायुके तुल्य प्रवृत्ति-मार्गको चलाती हूँ। यहाँ 'दिव्' तथा 'पृथिवी' शब्द उपलक्षणार्थ हैं अर्थात् मुख्य दीखनेवाले आकाश तथा पृथिवीसे लेकर परोक्षमें भी जो कुछ स्थूल, सूक्ष्म संसार हैं उनसे भी पृथक् निर्विकार अकल्पित असंग उदासीन एकरस अचल ब्रह्म-चैतन्यरूपा मैं हूँ। अपने स्वरूपसे शुद्ध निर्विकार असंग रहती हुई ही मैं अपनी महिमा अर्थात् अपनी कल्पित मायासे आकाश, पृथिव्यादि स्थूल, सूक्ष्म, दृश्य, अदृश्य सब चराचररूपसे प्रकट होती हूँ। अर्थात् जैसे शुद्ध जल तरंग, बुलबुले तथा फेनादि रूपोंमें दीखता है, अथवा सुवर्ण ही अनेक आभूषणोंके रूपमें दीखता है वा सूत ही अनेक नाम-रूप वस्तुओंमें दीखता है, वैसे ही शुद्ध ब्रह्म—चैतन्यरूपा मैं देवी महामाया शक्ति ही सब संसाररूपसे प्रकट हुई दीखती हूँ।'

इसी विस्तार-वर्णनको सप्तशतीमें '**एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा**' (अर्थात् इस जगत्में मेरे अतिरिक्त दूसरा कौन है, मैं ही एक हूँ) कहकर अपने विराट् स्वरूपके प्रभावको जगदम्बाने प्रकट किया है।

वास्तवमें वह सबसे बड़ी महाविद्यारूप, सबसे बड़ी मायारूप, सर्वोत्तम मेधारूप, सबसे अधिक शक्तिशालिनी, सत्यरूपिणी, शिवा, सुन्दरी एवं दिव्यरूपा है। वह '**निःशेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या**'—समस्त देवगणोंकी शक्तियोंके समूहकी मूर्ति है। वह महाविद्यारूपसे जीवको ब्रह्मज्ञान प्राप्त कराकर मोक्ष प्रदान करती है और वही अविद्यारूपसे उसको सांसारिक बन्धनोंमें फँसाती है। अनन्त ब्रह्माण्डोंकी आधारभूता सनातनी वह अव्याकृता, परमा एवं आद्या प्रकृति है।

भगवान् मनुके '**अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्**' (सर्वप्रथम (स्त्रीरूप) जल रचा गया और उसमेंसे बीज उत्पन्न हुआ)-के अनुसार यही सिद्ध होता है कि प्रथम महामाया पराशक्ति आद्या प्रकृति ही प्रकटित हुई, तत्पश्चात् मायोपाधिक यह सब जगत्। यही श्रीगीताजीमें भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश करते हैं—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

अर्थात् मेरे अधिष्ठानमें प्रकृति ही सब कुछ करती है। माया, प्रकृति, शक्ति—सब पर्यायवाची शब्द हैं। इसके अनेकधा नाम हैं। वस्त्र, सूत, बिनौला, रुई, कपासमें व्याप्त एक ही तत्त्वके समान विष्णु, शिव, गणपति, सूर्य, शक्ति, महामाया, दुर्गा, गौरी प्रकृतिके भिन्न नाम होते हुए भी तत्त्वतः एक ही हैं। जो चेतनात्मा देवताओंकी दिव्य शक्तियोंमें देवता कहलाता है वही देवीकी दिव्य मूर्तियोंमें देवी कहलाता है। इसमें भेद-भावका भान अज्ञानका सूचक है। वह चेतनात्मा अदृष्ट और निर्लिप्त है। जो कुछ करती है उसकी पराशक्ति प्रकृति ही करती है। जिस प्रकार एक स्वर्णकार बिना स्वर्णके कटक-कुण्डलादि आभूषण बनानेमें असमर्थ है उसी प्रकार बिना प्रकृति-शक्तिके परमेश्वरका ऐश्वर्य सृष्टिके कार्यमें निरर्थक है। स्वयं परमेश्वरतक इस बातको स्वीकार करता है—

'ईश्वरोऽहं महादेवि! केवलं शक्तियोगतः।'
'शक्तिं विना महेशानि! सदाऽहं शवरूपकः॥'
'शक्तियुक्तो यदा देवि! शिवोऽहं सर्वकामदः॥'

अर्थात् 'हे महादेवि पार्वती! केवल शक्तिके योगसे ही मैं ईश्वर हूँ। शक्तिके बिना मैं शवरूप हूँ। जब शक्तियुक्त होता हूँ तब ही सर्वकामप्रद कल्याणकारी शिव मैं होता हूँ।'

इस अखिल विश्वप्रपञ्चमें जीवितमात्र सब शक्तिमन्त हैं, क्योंकि ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त चराचर शक्तिके ही आधीन हैं। वह शक्ति आद्या प्रकृति ही है। कहा है—'**प्रधानं प्रकृतिः शक्तिः**'। वह प्रधान पराशक्ति प्रकृति जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन आठ प्रकारकी प्रकृतियोंसे अन्य है, जो कि इस समस्त जगत्को धारण करती है। जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(गीता ७।५)

अन्यच्च, भगवान् श्रीनारायण स्वयं कहते हैं—

सर्वाधारा च प्रकृतिः सर्वात्माहं जगत्सु च।
अहमात्मा मनो ब्रह्मा ज्ञानरूपो महेश्वरः॥
पञ्च प्राणाः स्वयं विष्णुर्बुद्धिः प्रकृतिरीश्वरी।

....

इस समस्त जगत्की आधारभूता प्रकृति—शक्ति ही है। श्रीनारायण आत्मा हैं, ब्रह्माजी मन और श्रीसदाशिव

महेश्वर ज्ञानरूप हैं। इसी कारण भगवान् शङ्कर ज्ञानके प्रदाता माने जाते हैं और पञ्चप्राण (प्राणापान, समान, व्यान और उदान) स्वयं विष्णु हैं। मन, आत्मा, ज्ञान और प्राणोंकी विधातृ-बुद्धि ही प्रकृति ईश्वरी है। प्रकृतिमें 'प्र' शब्द प्रकृष्ट वाचक है और 'कृति' शब्द सृष्टिवाचक। सृष्टिक्रममें आद्य एवं प्रधान (प्रकृष्टा) देवी होनेके कारणसे ही इसको प्रकृति कहते हैं। यह त्रिगुणात्मिका है; **'सत्त्वं रजस्तमस्त्रिणि विज्ञेयाः प्रकृतेर्गुणाः'**—ऐसा शास्त्रोंमें लिखा है। 'प्रकृति' शब्दके तीन अक्षर प्र, कृ, ति क्रमशः सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंके द्योतक हैं। तत्तत् गुणानुसार वह परिणामस्वरूपा है। दुर्ज्ञेया होनेके कारण दुर्गा प्रकृतिको हम दुर्गा कहते हैं। दुर्गा शब्दमें 'दु' अक्षर दुःख, दुर्भिक्ष, दुर्व्यसन, दारिद्र्यादि दैत्योंका नाश-वाचक है; रेफ रोगघ्न है; गकार पापघ्न और आकार अधर्म, अन्याय, अनैक्य, आलस्यादि अनेक असुरोंका नाशकर्ता है। सर्वसम्पत्स्वरूपा प्रकृति लक्ष्मी कहलाती है; वाग्, बुद्धि, विद्या, ज्ञानरूपिणी प्रकृति सरस्वती कहलाती है। इसी प्रकार सावित्री, राधा, सीता, तुलसी, मनसा, षष्ठी, चण्डी, काली, तारा, बाला, अन्नपूर्णा गौरी, छिन्नमस्ता इत्यादि सभी स्वगुण-प्रधानांशरूपानुसार नाम धारण करती हैं। यथा—**'षष्ठांशरूपा प्रकृतेस्तेन षष्ठी प्रकीर्तिता।'** वसुन्धरा भी प्रकृतिका साक्षात् रूप है—

'प्रधानांशस्वरूपा च प्रकृतेश्च वसुन्धरा।
आधाररूपा सर्वेषां सर्वशस्यप्रसूतिका॥'
'रत्नाकरा रत्नगर्भा सर्वरत्नाकरालया।
प्रजाभिश्च प्रजेशैश्च पूजिता वन्दिता सदा॥'
'सर्वोपजीव्यरूपा च सर्वसम्पद्विधायिनी।
यया विना जगत्सर्वं निराधारं चराचरम्॥'

प्रकृतिके बिना सारा जगत् निराधार है। वह स्वगुणानुसार ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त सबमें स्त्रीरूपसे व्याप्त है। अग्निदेवके साथ वह स्वाहारूपमें व्याप्त है, स्वाहा बिना देवगण हविर्भागको ग्रहण नहीं करते। यज्ञके साथ दक्षिणारूपमें, पितरोंके साथ स्वधारूपमें, वायुदेवके साथ स्वस्तिरूपमें, गणपतिके साथ पुष्टिरूपमें, यमके साथ क्षमारूपमें, कामके साथ रतिरूपमें, सत्यके साथ सतीरूपमें, पुण्यके साथ प्रतिष्ठारूपमें, उद्योगके साथ क्रियारूपमें, अधर्मके साथ मिथ्यारूपमें वह व्यापक है; सृष्टि-क्रममें ये सब प्रकृतिकी कलाएँ हैं जो व्याप्त हैं। तात्पर्य यह है कि बड़ी-से-बड़ी और छोटी-से-छोटी किसी वस्तुपर भी विचार करनेसे प्रत्यक्ष प्रतीत होगा कि कोई भी वस्तु शक्तिरहित नहीं है। प्रकृतिका पुरुषके साथ या शक्तिका शक्तिमान्‌के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध ही नहीं है वरं प्रकृतिकी पुरुषपर बड़ी प्रबलता है। उसकी पुरुषके ऊपर इतनी प्रबलता है कि उसको लौकिक ही नहीं, शास्त्रीय व्यवहारमें भी पुरुष नामके पूर्व लगाकर मान दिया जाता है। हम राधाकृष्ण, गौरी-शङ्कर, सीता-राम, उमा-शङ्कर, लज्जा-शङ्कर इत्यादि कहते हैं। कृष्ण-राधा या राम-सीता या शङ्कर-गौरी कोई नहीं कहते। यह बात लौकिक व्यवहारपर ही अवलम्बित नहीं करती है। यह विषय भी रहस्यमय एवं शास्त्रीय है। श्रीब्रह्मवैवर्तपुराणके कृष्णजन्मखण्डके पचासवें अध्यायमें श्रीमन्नारायण महर्षि श्रीनारदसे कहते हैं—

जगन्माता च प्रकृतिः पुरुषश्च जगत्पिता।
गरीयसीति जगतां माता शतगुणैः पितुः॥

'जगज्जननी प्रकृति है और जगत्‌का पिता पुरुष है। जगत्‌में पितासे शतगुणा (सौगुना) अधिक महत्त्व माताका है। इसके विपरीत व्यवहार होनेसे भगवान् वहाँ आज्ञा करते हैं—

आदौ पुरुषमुच्चार्य पश्चात् प्रकृतिमुच्चरेत्।
स भवेन्मातृगामी च वेदातिक्रमणो मुने॥

अतः इसमें लेशमात्र संशयको स्थान नहीं कि इस विश्वके सृष्टि-क्रममें माया या प्रकृतिकी, जो कि स्त्रीरूप है, सर्वत्र व्यापकता और प्रधानता है। उसका ईश्वरतकपर पूर्ण अधिकार है। ईश्वरी, प्रकृति या ऐश्वर्य-शक्तिके ही कारण हम ईश्वरको ईश्वर कहते हैं। नाम भिन्न है, तत्त्व एकका एक है। प्रकृति ईश्वर है और ईश्वर पराशक्ति प्रकृति है। ईश्वरकी मातृभावसे उपासना करनेसे वे ही शक्तिरूपमें शक्तिभावापन्न अपने भक्तके अनेक कष्टोंको निवारण करते हुए अन्तमें उसे अपनेमें मिलाकर मुक्त कर देते हैं।

श्रीयन्त्र

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम० ए०)

तान्त्रिक उपासनामें यन्त्रों तथा मन्त्रोंका प्रचुरतासे प्रयोग पाया जाता है। यन्त्रको देवताका शरीर कहते हैं और मन्त्रको देवताकी आत्मा। यन्त्रोंके निर्माणमें बिन्दु, रेखा, त्रिकोण, वृत्त इत्यादिका प्रयोग होता है और इसी कारण ज्यामिति (Geometry) शास्त्रका गुह्य मतोंमें इतना महत्त्व है। यूनानी तत्त्वज्ञ प्लेटोने तो अपने पाठ्य-भवनके द्वारपर यह लिख दिया था कि जो विद्यार्थी ज्यामिति न जानता हो वह उस पाठशालामें प्रवेश न करे। कुछ विद्वानोंका कहना है, एक विशिष्ट क्रमसे तथा विशिष्ट मन्त्रद्वारा किसी देवताका ध्यान करनेसे उस देवताका विशिष्ट यन्त्र साधकको स्थूलरूपेण अन्तरिक्षमें दृष्टिगोचर होता है और यही जड यन्त्र मन्त्र-चैतन्य अथवा सिद्ध होते ही देवताके साकाररूपमें परिणत हो जाता है। देवताका यह रूप उसी प्रकारका होता है जैसा कि उस देवताके ध्यानमें वर्णित है। यह विषय अत्यन्त गहन है और बिना अध्ययन अथवा अनुभवके समझमें आना कठिन है। मेरा सङ्केत तान्त्रिक यन्त्रों तथा चित्रों अथवा मूर्तियोंसे है। अन्य विद्वानोंका मत है कि ये यन्त्र केवल चित्तको एकाग्र करने तथा उपास्य देवके साथ तादात्म्य-भाव उत्पन्न करनेके जड साधन हैं।

ज्वालामुखी-यात्रा-सम्बन्धी लेखकी भूमिकामें मैं कह चुका हूँ कि यह मानव-शरीर विशाल ब्रह्माण्डकी प्रतिमूर्ति है। अर्थात् जितनी शक्तियाँ अथवा विभूतियाँ इस समस्त विश्वका सञ्चालन करती हैं वे सब-की-सब सूक्ष्मरूपसे इस पिण्डाण्ड (मनुष्य-शरीर)-में विद्यमान हैं। तान्त्रिक उपासनाका ध्येय अद्वैतसिद्धि है और तान्त्रिक उपासकके लिये समस्त विश्व उसके इष्टदेवकी मूर्ति है और इसी कारण साधकका शरीर भी विश्वकी प्रतिमूर्ति होनेके कारण उसी इष्टदेवका रूप है। यही तादात्म्य यन्त्रोंद्वारा होता है और इसी अनुभवको लक्ष्य करके कहा गया है कि—**'देवो भूत्वा देवान् यजेत्।'**

सुविख्यात श्रीयन्त्र भगवती त्रिपुरसुन्दरीका यन्त्र है। इसे यन्त्रराज अथवा सर्वश्रेष्ठ यन्त्र भी कहते हैं। इस यन्त्रमें समग्र ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति तथा विकास दिखलाये गये हैं और साथ-ही-साथ यह यन्त्र साधकके मानव-शरीरका भी द्योतक है। इस श्रीयन्त्रके क्रमों तथा महत्त्वको लेकर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, पर इनमें कुछ तो केवल साधकको ही प्राप्य हैं और कुछ मुद्रित होनेपर भी इस समय अलभ्य हैं। अतः जिस अपूर्ण सामग्रीको लेकर मैं इस यन्त्रके विषयमें कुछ लिख रहा हूँ, उसे देखते हुए भूलें होनी बहुत ही सम्भव हैं। आशा है कि मर्मज्ञ साधक महोदय मुझे इन त्रुटियोंके लिये क्षमा करेंगे।

इस लेखके साथ दिये हुए प्रथम चित्रको देखिये। यन्त्रके सबसे भीतरी वृत्तमें वृत्तके केन्द्रस्थ विन्दुके चारों ओर नौ त्रिकोण हैं। इनमेंसे पाँच त्रिकोण तो ऊर्ध्वमुखी हैं और चार अधोमुखी। ऊर्ध्वमुखी पाँच त्रिकोण देवीके द्योतक हैं और शिवयुवती कहे जाते हैं। अधोमुखी चार त्रिकोण शिवके द्योतक हैं और श्रीकण्ठ कहे जाते हैं। पाँचों शक्ति-त्रिकोण ब्रह्माण्डके विषयमें पञ्चमहाभूत, पञ्चतन्मात्राओं, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय तथा पञ्चप्राणके द्योतक हैं। मनुष्य-शरीरमें यही पाँच त्रिकोण त्वक्, असृक्, मांस, भेद तथा अस्थिरूपमें स्थित हैं और चारों शिव (पुरुषवाची) त्रिकोण ब्रह्माण्डमें चित्, बुद्धि, अहङ्कार तथा मनरूपमें स्थित हैं और पिण्डाण्डमें ये मज्जा, शुक्र, प्राण तथा जीवरूपसे विद्यमान हैं।

यह प्रथम चित्र सृष्टिक्रमका है और समय-मतके अनुयायी इसकी पूजा करते हैं। स्वामी शङ्कराचार्यजी इसी समय-मतको माननेवाले थे। अतः उनके प्रत्येक मठमें यह यन्त्र इसी प्रकार अंकित मिलेगा। दूसरे क्रम अथवा संहारक्रमके अनुसार बने हुए श्रीयन्त्रमें पाँच शक्ति-त्रिकोण अधोमुखी बनाये जाते हैं और चार शिव-त्रिकोण ऊर्ध्वमुखी। संहार-क्रमसे बना हुआ श्रीयन्त्र चित्र नम्बर दो है। संहारक्रमके श्रीयन्त्रकी पूजा कौलमतके अनुयायी लोग करते हैं। कौललोग काश्मीर-सम्प्रदायके हैं।

जैसा ऊपर कहा गया है, ये नौ त्रिकोण निराकार शिवकी नौ मूल प्रकृतियोंके द्योतक हैं। इन नौ त्रिकोणोंके सम्मिश्रणसे तैंतालीस छोटे-छोटे त्रिकोण बनते हैं। भीतरी वृत्तके बाहर आठ दलका कमल है और उसके

बाहर सोलह दलका कमल है और इन सबके बाहर भूपुर है। इन्हींके विषयमें स्वामी शङ्कराचार्यकृत आनन्द-लहरीमें लिखा है—

चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः।
त्रयश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाब्जत्रिवलय-
त्रिरेखाभिः सार्धं तव भवनकोणाः परिणताः॥

यह तो हुआ श्रीयन्त्रका साधारण परिचय। अब हम इस यन्त्रमें स्थित नौ चक्रोंका वर्णन करेंगे जिससे उपर्युक्त वस्तुओंके विषयमें अधिक स्पष्ट ज्ञान हो जावे। इन नौ चक्रोंके विषयमें रुद्रयामल तन्त्र नामक ग्रन्थका निम्नलिखित छन्द अधिकतर उल्लिखित होता है—

विन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्मं
मन्वस्रनागदलसंयुतषोडशारम्।
वृत्तत्रयं च धरणीसदनत्रयं च
श्रीचक्रराजमुदितं परदेवतायाः॥

अर्थात् इस श्रीयन्त्रके नौ चक्र इस क्रमसे हैं—(१) विन्दु, (२) त्रिकोण, (३) आठ त्रिकोणोंका समूह, (४) दस त्रिकोणोंका समूह, (५) दस त्रिकोणोंका समूह, (६) चौदह त्रिकोणोंका समूह, (७) आठ दलोंवाला कमल, (८) सोलह दलोंवाला कमल और (९) भूपुर। ये नौ चक्र भिन्न-भिन्न रंगोंद्वारा चित्र नम्बर ३ में स्पष्ट किये गये हैं। कमलोंके भीतरके २, ३, ४, ५ और ६ चक्रोंके ४३ छोटे त्रिकोण वही हैं जिनके विषयमें आनन्द-लहरीका उल्लेख ऊपर दिया जा चुका है।

इन नौ चक्रोंके नाम यथाक्रम ये हैं—

(१) सर्वानन्दमय (केन्द्रस्थ रक्तविन्दु)
(२) सर्वसिद्धिप्रद (पीले रंगका त्रिकोण)
(३) सर्वरक्षाकर (हरे रंगके ८ त्रिकोण)
(४) सर्वरोगहर (काले रंगके १० त्रिकोण)
(५) सर्वार्थसाधक (लाल रंगके १० त्रिकोण)
(६) सर्वसौभाग्यदायक (नीले रंगके १४ त्रिकोण)
(७) सर्वसंक्षोभण (गुलाबी रंगके ८ दलोंका कमल)
(८) सर्वाशापरिपूरक (पीले रंगके १६ दलोंका कमल)
(९) त्रैलोक्यमोहन (हरे रंगका बाहरी स्थल)

अब इन चक्रोंका यथाक्रम विवरण दिया जाता है।

(१) इस चक्रका केन्द्रस्थ विन्दु भगवती त्रिपुरसुन्दरी अथवा ललिताका रूप है। यह विन्दु नाद तथा विन्दु २ के तीन विन्दुओंके संयोगसे बना है। इन तीन विन्दुओंका रहस्य शाक्त तन्त्रोंके अवलोकनसे ज्ञात होगा। विस्तारभयसे यहाँ विशेष नहीं लिखता। त्रिपुराका ध्यान यों है—

बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहुं त्रिलोचनाम्।
पाशाङ्कुशधनुर्बाणान् धारयन्तीं शिवां भजे॥

भगवतीके ये चारों अस्त्र-शस्त्र राग-द्वेष, मन तथा पञ्चतन्मात्राओंके द्योतक हैं। इन्हीं बन्धनोंद्वारा देवी निराकार सदाशिवको साकार लीलामें प्रयुक्त करती है।

तन्त्रोंमें सुधासिन्धु तथा उसमें स्थित मणिद्वीपका बार-बार उल्लेख आता है। इसी मणिद्वीपमें संयुक्त शक्ति शङ्कर निवास करते हैं। यही मणिद्वीप इस विन्दुद्वारा दिखलाया गया है। मनुष्योंमें इसीको हृत्पुण्डरीक कहते हैं। हृत्पुण्डरीकमें इष्टदेवके ध्यानके लिये ध्यानविन्दु उपनिषद् देखिये।

प्रथम चक्रकी अधिष्ठात्री ललिता अथवा त्रिपुरसुन्दरी अपनी आवरण-देवताओंके भेदसे कहीं तो षोडश नित्याओंमें मुख्य मानी गयी हैं, कहीं अष्ट मातृकाओंमें सर्वश्रेष्ठ कही गयी हैं और कहीं अष्टवशिनी देवताओंकी अधिनायिका लिखी गयी हैं। यह भेद प्रस्तार-भेदसे हुए हैं और यथाक्रम इन तीनों प्रस्तारोंके नाम मेरु, कैलाश तथा भूः प्रस्तार हैं। यही श्रीयन्त्रकी उपासनाके मुख्य प्रकार हैं।

(२) यह चक्र एक त्रिकोणसे बना है। इस त्रिकोणके तीनों कोण कामरूप, पूर्णगिरि तथा जालन्धरपीठ हैं और इनके बीचमें औड्याणपीठ है। पहले कहे हुए तीनों पीठोंकी अधिष्ठात्री देवता कामेश्वरी, वज्रेश्वरी तथा भगमालिनी हैं और ये प्रकृति, महत् तथा अहङ्कार-रूपा हैं।

(३) इस चक्रके आठ त्रिकोणोंकी अधिष्ठात्री देवताएँ वशिनी, कामेश्वरी, मोहिनी, विमला, अरुणा, जयिनी, सर्वेश्वरी तथा कौलिनी क्रमशः शीत, उष्ण, सुख, दुःख, इच्छा, सत्त्व, रज तथा तमकी स्वामिनी हैं। इस चक्रका साधक गुणोंपर अधिकार करने और द्वन्द्वातीत होनेमें समर्थ होता है।

(४) इस चक्रके दस त्रिकोणोंकी शक्तियाँ (सर्वज्ञा, सर्वशक्तिप्रदा, सर्वैश्वर्यप्रदा, सर्वज्ञानमयी, सर्वव्याधि-नाशिनी, सर्वाधारा, सर्वपापहरा, सर्वानन्दमयी, सर्वरक्षा तथा सर्वेप्सितफलप्रदा) क्रमशः रेचक, पाचक, शोषक,

चित्र नं० १
श्रीयन्त्र
समयाचार-मतानुयायियोंद्वारा पूजित सृष्टिक्रम
(५ शक्ति-त्रिकोण ऊर्ध्वमुखी। ४ शिव-त्रिकोण अधोमुखी)

चित्र नं० २
श्रीयन्त्र
कौलाचार-मतानुयायियोंद्वारा पूजित संहारक्रम
(५ शक्ति-त्रिकोण अधोमुखी। ४ शिव-त्रिकोण ऊर्ध्वमुखी)
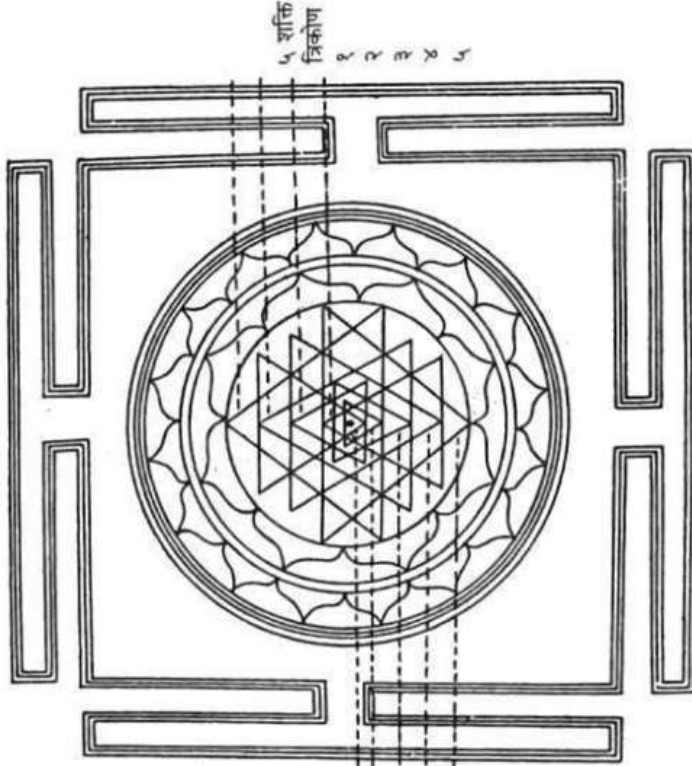
दाहक, प्लावक, क्षारक, उद्धारक, क्षोभक, जृम्भक तथा मोहक वह्नि-कलाओंकी अधिष्ठात्री हैं।

(५) इस चक्रकी दस अधिष्ठात्री देवताएँ दस प्राणोंकी स्वामिनी हैं। इन देवियोंके नाम सर्वसिद्धिप्रदा, सर्वसम्पत्प्रदा, सर्वप्रियङ्करी, सर्वमङ्गलकारिणी, सर्वकामप्रदा, सर्वदुःखविमोचिनी, सर्वमृत्युप्रशमनी, सर्वविघ्ननिवारिणी, सर्वाङ्गसुन्दरी तथा सर्वसौभाग्यदायिनी हैं।

(६) इस चक्रके चौदह त्रिकोण चतुर्दश मुख्य नाड़ियोंके द्योतक हैं। इन नाड़ियोंके नाम अलम्बुसा, कुहु, विश्वोदरी, वारणा, हस्तिजिह्वा, यशोवती, पयस्विनी, गान्धारी, पूषा, शङ्खिनी, सरस्वती, इडा, पिङ्गला तथा सुषुम्णा हैं। इन नाडियोंके विवरणके लिये योगशिखोपनिषद् अध्याय पाँच देखिये। इन नाड़ियोंकी अधिष्ठात्री देवियोंके नाम ये हैं—सर्वसंक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्वाह्लादिनी, सर्वसम्मोहिनी, सर्वस्तम्भिनी, सर्वजम्भिनी, सर्ववशङ्करी, सर्वरञ्जिनी, सर्वोन्मादिनी, सर्वार्थसाधनी, सर्वसम्पत्तिपूरणी, सर्वमन्त्रमयी, सर्वद्वन्द्वक्षयङ्करी।

(७) इस चक्रके आठ दल वचन, आदान, गमन, विसर्ग, आनन्द, हान, उपादान तथा उपेक्षाकी बुद्धियोंके स्थानापन्न हैं। इनकी अधिष्ठात्री देवियाँ अनङ्गकुसुमा, अनङ्गमेखला, अनङ्गमदना, अनङ्गमदनातुरा, अनङ्गरेखा, अनङ्गवेगिनी, अनङ्गमदनाङ्कुशा तथा अनङ्गमालिनी हैं।

(८) इस चक्रके १६ दलोंका सम्बन्ध मन, बुद्धि, अहङ्कार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, चित्त, धैर्य, स्मृति, नाम, वार्धक्य, सूक्ष्मशरीर, जीवन तथा स्थूल शरीरसे है और इनकी अधिष्ठात्री देवियाँ कामाकर्षिणी, बुद्ध्याकर्षिणी, अहङ्कारकर्षिणी, शब्दाकर्षिणी, स्पर्शाकर्षिणी, रूपाकर्षिणी, रसाकर्षिणी, गन्धाकर्षिणी, चित्ताकर्षिणी, धैर्याकर्षिणी, स्मृत्याकर्षिणी, नामाकर्षिणी, बीजाकर्षिणी, आत्माकर्षिणी, अमृताकर्षिणी तथा शरीराकर्षिणी हैं।

(९) नवाँ चक्र भूपुरसे बना है और इसके चार विभाग हैं—(१) षोडशदल कमलके बाहरी चारों वृत्तोंके परे तडाग सदृश स्थल, (२) इस स्थलसे लगी हुई पहली बाहरी रेखा, (३) दूसरी बाहरी रेखा और (४) सबसे बाहरवाली रेखा। इन चारों विभागोंमें क्रमशः १० मुद्राशक्तियाँ, १० दिक्पाल, ८ मातृकाएँ तथा १० सिद्धियाँ स्थित हैं।

मुद्राशक्तियोंके नाम सर्वसंक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्वावेशकारिणी, सर्वोन्मादिनी, महाङ्कुशा, खेचरी, बीजमुद्रा, महायोनि तथा त्रिखण्डिका हैं और इनका सम्बन्ध १० आधारोंसे है। इन आधारोंका विषय अत्यन्त गहन है और थोड़े शब्दोंमें नहीं दिया जा सकता। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि इन आधारोंके रूपमें ही श्रीयन्त्र तथा षट्चक्रोंका तादात्म्य सिद्ध होता है।

दस दिक्पालोंके नाम तो पाठकगण जानते ही होंगे। इनकी पूजाके उद्देश्य विघ्न-निवारण तथा साधककी रक्षा हैं।

अष्ट मातृकाएँ ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्री, चामुण्डा तथा महालक्ष्मी हैं और इनकी पूजाका लक्ष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, पाप तथा पुण्यपर विजय है।

दस सिद्धियाँ सुप्रसिद्ध अणिमा, महिमा इत्यादि हैं और इनका सम्बन्ध नौ रसों तथा नियति (भाग्य)-से है।

श्रीयन्त्रका विषय अत्यन्त गहन है और उपर्युक्त विवरण बड़ा ही संक्षिप्त है। पर इतनेहीसे पाठकोंको इस बातका कुछ परिचय हो गया होगा कि इस यन्त्रके द्वारा निराकार ईश्वरकी साकार-लीलाका क्रम इस विशाल ब्रह्माण्डमें तथा इस पिण्डाण्डरूपी मनुष्य-शरीरमें कैसी अच्छी तरह दिखलाया गया है। सृष्टि तथा जीवात्माके विकासका क्रम तथा शैव-शाक्त-तत्त्वोंका क्रमशः स्पष्टीकरण इतनी अच्छी तरह कदाचित् ही और कहीं मिलें। इसी प्रकार सर्वतोभद्रमण्डलकी रचनाका विषय है। पर उसका क्रम भिन्न है। श्रीयन्त्रके जिज्ञासु पाठकोंको त्रिपुरतापिनी-उपनिषद्, त्रिपुरोपनिषद्, ललितासहस्रनाम, तन्त्रराज, कामकलाविलास इत्यादि देखने चाहिये।

भगवती त्रिपुरसुन्दरी (जिनका यह यन्त्र है) क्या हैं सो बड़े ही सुन्दररूपसे कौलक्रमानुयायी प्रसिद्ध पुण्यानन्दके 'कामकलाविलास' नामक तांत्रिक ग्रन्थके निम्नलिखित छन्दोंमें वर्णित है—

माता मानं मेयं विन्दुत्रयभिन्नबीजरूपाणि।
धामत्रयपीठत्रयशक्तित्रयभेदभावितान्यपि च॥
तेषु क्रमेण लिङ्गत्रितयं तद्वच्च मातृकात्रितयम्।
इत्थं त्रितयपुरी या तुरीयपीठादिभेदिनी विद्या॥
इति कामकला विद्या देवीचक्रक्रमात्मिका सेयम्।
विदिता येन स मुक्तो भवति महात्रिपुरसुन्दरीरूपः॥

माता, मान, मेय अथवा ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयकी त्रिपुटी ही तीनों पुर हैं, जिनकी स्वामिनी त्रिपुरादेवी हैं और इन त्रिपुटियोंमें तत्त्व केवल एक ही है। जिसने इस एकत्वका अनुभव कर लिया, वह साक्षात् महात्रिपुरसुन्दरी ही है, क्योंकि *'जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।'*

पाठकोंमेंसे अधिकांश सज्जनोंने ऐसे यन्त्र केवल चित्रित ही देखे होंगे, जिससे यन्त्रोंके निर्माणकी वास्तविक विधि समझना कठिन है। चित्रित यन्त्रोंमें केवल लम्बाई तथा चौड़ाई ही होती है पर यन्त्रोंमें ऊँचाई भी होती है। अर्थात् यन्त्रोंका आकार घन होता है। यन्त्र पत्थरको काटकर अथवा स्फटिक, शालग्राम-शिला, ताम्र या सुवर्ण-पत्रपर बनते हैं। श्रीचक्रके निर्माणमें भू अथवा मेरु—दो क्रमोंका उपयोग होता है। इन क्रमोंके अनुसार यन्त्रके नौ चक्र समोन्नत अथवा विषम ऊँचाईवाले बनाये जाते हैं। इस विषयमें सौन्दर्यलहरी नामक ग्रन्थकी टीकाएँ देखनी चाहिये (स्मरण रहे कि मेरु तथा भू-क्रम मेरु-कैलाश भू प्रस्तारोंसे बिलकुल विभिन्न हैं)।

श्रीविन्ध्यवासिनीक्षेत्रमें अष्टभुजाके मन्दिरके पास भैरवकुण्ड नामक स्थान है। वहाँपर एक खँडहरमें बड़ा ही शुद्ध और विशदाकार श्रीयन्त्र रखा है। दूसरा श्रीयन्त्र मैंने फ़र्रुखाबाद जिलेके तिरवा नामक स्थानमें देखा। तिरवामें एक बड़ा-सा मन्दिर है, जिसे अन्नपूर्णाका मन्दिर कहते हैं। वास्तवमें यह त्रिपुराका मन्दिर है। एक ऊँचे-से चबूतरेपर संगमरमर पत्थरपर बहुत बड़ा श्रीयन्त्र बना है और उसके केन्द्रस्थ बिन्दुके ऊपर पाशाङ्कुशधनुर्बाणयुता भगवतीकी बड़ी ही सुन्दर चतुर्भुजी मूर्ति है। इस मन्दिरको किसी तान्त्रिक साधक महात्माके आदेशानुसार लगभग सौ-सवा सौ वर्ष हुए राजा साहब तिरवाने बनवाया था।

श्रीयन्त्रके पूजाकी दक्षिण-मार्ग तथा वाम-मार्ग विधियाँ, प्रयोग तथा फल त्रिपुरतापिनी और त्रिपुरा उपनिषदोंमें वर्णित हैं। यामल ग्रन्थमें इस यन्त्रके दर्शन-मात्रका ही बड़ा फल लिखा है। यथा—

सम्यक् शतक्रतून् कृत्वा यत् फलं समवाप्नुयात्।
तत्फलं लभते भक्त्या कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम्॥
महाषोडशदानानि कृत्वा यल्लभते फलम्।
तत्फलं समवाप्नोति कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम्॥
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नात्वा यत्फलमश्नुते।
लभते तत्फलं भक्त्या कृत्वा श्रीचक्रदर्शनम्॥

श्रीसीताजीका महाकाली-रूप

(लेखक—रायबहादुर अवधवासी लाला श्रीसीतारामजी, बी० ए०)

[सीताके ही तेजानलसे रावणसहित समस्त राक्षस-सैन्य जलकर भस्म हुए। सीताने इन्हें न मारा होता तो ये आपसे न मारे जाते। इन्हें मारा सीताजीने और विजय दी आपको। जिसके कारण आपकी यह शूरवीरता है वह जानकीजीकी ही चिच्छक्ति है।—हनुमद्वाक्य (पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकरकृत 'एकनाथ-चरित्र' से)]

रामचरितमानसके सबसे पहले टीकाकार श्रीअयोध्या जानकीघाट-निवासी करुणासिन्धु महात्मा रामचरणदासजी लिखते हैं कि 'जो प्रकरण श्रीगोसाईंजी कहते हैं ताके पूर्व ही ताको सरूप कहते हैं, ताके मध्यमें ताको अंग कहते हैं, ताके अंतमें ताको माहात्म्य कहते हैं।' इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण बालकाण्डकी वन्दनाका पाँचवाँ श्लोक है—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥

इसका अर्थ करुणासिन्धुजीने यों किया है—

'अब श्रीमती जानकीजीको नमस्कार करत हौं। सो कैसी हैं श्रीमती जानकीजी—अपनी भृकुटीको है जो अंशविलास, माया ताते उद्भव, स्थिति, संहार करती हैं; सर्वश्रेय कही अनेक प्रकारको जो है कल्याणगुण, वात्सल्य इत्यादिक, तिनको करती हैं; श्रीरामचंद्रजूकी वल्लभा कही अतिप्रिया हैं ते श्रीमती जानकीजी मेरे ऊपर कृपा करैं, जातें मेरी मती शुद्ध होइ, तब श्रीसीता-राम-चरित-समूह मेरे हृदयमें आवैं। किन्तु उद्भव, स्थिति, संहार, सन्तनके हृदयमें योग, वैराग, ज्ञान, भक्ति, प्रेमा परा उत्पन्न करती हैं, पुनि तिनहीमें सन्तोष, शील, करुणा, दया आदिक स्थित करती हैं। पुनि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान इत्यादिक जन्म-मरण-संहार करती हैं, सर्व कल्याण करती हैं, जो श्रीरघुनाथजीको प्रिय है सोई करती हैं; ताते रामवल्लभा कही तिन

श्रीजानकीजीके नत कही दीन ह्वैके शरण हौं, किन्तु नमस्कार करत हौं।'

इस अर्थमें गोस्वामीजीने भक्तभावसे रामचरितमानस-की रचनामें श्रीजानकीजीसे सहायता पानेकी प्रार्थना की है। मोह, मद आदिका संहार तो क्लेशहारिणीमें आ गया, क्योंकि योगशास्त्रके अनुसार ये ही क्लेश हैं। परन्तु प्रधान अर्थ जिसमें संहारकारिणीका अभिप्राय झलकता है बैजनाथजीका है। वे कहते हैं—

गोस्वामीजीने पहिले श्लोकोंमें राम-तत्त्वके अधिकारी जानि शिव-पार्वतीकी वंदना की, लीलाके अधिकारी जानि वाल्मीकिकी वंदना की, धामके अधिकारी जानि श्रीहनुमान्‌जीकी वंदना की और अब रूपको अधिकारी (रूपकी अधिकारिणी) जानि श्रीजानकीजीकी वंदना करते हैं, **रामवल्लभां सीतामहं नतः**। सदा वामभागमें आसीन हैं, जिनको वियोग सरकार अर्धनिमेष भी नहीं सह सकते हैं ऐसी रामवल्लभा कही प्राणप्रिया, तिनहि नत कहे नमस्कार करत हौं। कैसी हैं श्रीजानकीजी— जो लोक-परलोकादि सर्व प्रकारका श्रेय जो हैं कल्याण ताकी करनहारी हैं अर्थात् सम्पत्तिरूप लोकमें कल्याण करत, भक्तिरूप परलोकमें कल्याण करत। पुनः कैसी हैं—क्लेशकी हरणहारी हैं, सोई सम्पत्तिरूप लोकको क्लेश हरत, भक्तिरूप परलोकको क्लेश हरत। पुनः कैसी हैं श्रीजानकीजी—उद्भव जो लोककी उत्पत्ति, स्थिति जो पालन, संहार जो प्रलय, ताकी करनहारी हैं, अर्थात् प्रभुको रुख पाय अपनी शक्तिते लोकनको उत्पत्ति, पालन और संहारादि करती हैं। यह श्लोक श्रीरामतापिनी-उपनिषद्‌की एक ऋचा है—

श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्ददायिनी ।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम्॥
सा सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता।
प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः॥

तहाँ उत्पत्यादिकरणहारी कहिये ऐश्वर्य कहे, क्लेश-हारिणी कहि क्षमावान् कहे, श्रेय करनहारी कहि दयावान् कहे, रामवल्लभा कहि यह सूचित करे कि रामरूप इनहीके आधीन है।

यथा—

अगस्त्यसंहितायां श्रीमुखवाक्यं शङ्करं प्रति—

आह्लादिनीं परां शक्तिं स्तूयाः सात्वतसम्मताम्।
तदाराध्यस्तदारामस्तदधीनस्तया विना।
तिष्ठामि न क्षणं शम्भो जीवनं परमं मम॥

ताते श्रीजानकीजीकी कृपा बिना श्रीरामरूपकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यथा—**अगस्त्यसंहितायाम्—**

यावच्च ते सरसिजद्युतिहारिपादे
न स्याद्रतिः तरुनवाङ्कुरखण्डिताभे।
तावत्कथं तरुणिमौलिमणे जनानां
ज्ञाने दृढं भवति भामिनि रामरूपम्॥

इस अर्थमें अनेक बातें विचारणीय हैं परन्तु इस लेखमें हमको केवल 'संहारकारिणी' से प्रयोजन है। यह प्रवृत्ति उसकी *'प्रभुको रुख पायके'* होती है, जैसा कि अयोध्याकाण्डमें महर्षि वाल्मीकिका वाक्य है—

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥

अब आइये अरण्यकाण्डको देखिये; आदिमें ही शिवजी कहते हैं—

उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति।

पण्डित—'**सदसद्विवेकबुद्धिः पण्डा, सा संजाता यस्य स पण्डितः**'। जिसमें सत् और असत्‌के विवेककी बुद्धि है वही पण्डित है। वही सरकारके गूढ़ चरितोंको समझ सकता है और वही निवृत्तिमार्गका अधिकारी है। हम और प्रसङ्ग छोड़कर निशाचर-नाशका प्रसङ्ग लेते हैं। सबसे पहिले '**विनाशकाले विपरीतबुद्धिः**' का उदाहरण लीजिये—

जो पुरुष परायी स्त्रीसे अनुचित प्रेम करता है वह उस स्त्रीके पतिके परोक्षमें करता है। इसका एक कारण यह भी है कि पति भड़ुआ नहीं है तो उसकी मरम्मत करेगा। इसी तरह जो स्त्री किसी दूसरी स्त्रीके पतिसे प्रेम करती है वह भी उस दूसरी स्त्रीके सामने नहीं करती। शूर्पणखाकी ऐसी मति भंग हो गयी कि उसने श्रीसीताजीके सामने अपना प्रेम प्रकट किया। इस बातको गोस्वामीजीने स्पष्टरूपसे नहीं कहा; कालिदासने रघुवंशमें लिखा है, जिसका अनुवाद यह है—

प्रथम बरनि निज कुल, कहि नामा। सिय सन्मुखहि बरयो तिन रामा॥
बढ़त काम तरुनी मन माहीं। समय कुसमय निहारत नाहीं॥

(लेखकद्वारा अनुवादित रघुवंश भाषा)

इतनी निर्लज्जता! ऐसी मति मारी गयी। श्रीजीने उसकी निर्लज्जतापर मुसकरा दिया। इसपर वह राक्षसी

तो थी ही, उनको धमकाने लगी कि मैं तुझको खा जाऊँगी, इत्यादि।

यहीं राक्षस-विनाशका सूत्रपात हुआ। रावणका भाई दूषण उसी जनस्थानका भोगपति (गवर्नर) था। शूर्पणखाने उसे उभाड़ा, जनस्थानके रक्षक निशाचरोंका विनाश हुआ। यों तो सरकारके सामने कौन ठहर सकता; परन्तु यह भी न भूलना चाहिये कि आर्योंके पास ऐसे अस्त्र थे जिनसे मशीनगनकी भाँति एक क्षणमें हजारों बाण छूटते थे और शत्रुसेना कुछ नष्ट हो जाती थी, कुछ व्याकुल होकर भाग जाती थी। एक और बात, जिसका इस लेखसे सम्बन्ध नहीं है, प्रसङ्गवश लिखनेयोग्य है। वह यह है—शत्रुसेनामें भी बहुतेरे सरकारके पक्षपाती थे और उनपर वार करना न चाहते थे, यह भी एक नीति है जिसका नाम भेद (वैरीमें फूट डाल देना) है। यही मायानाथकी माया है।

देखत परसपर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मरयो॥

श्रीमुख-वाक्य भी गिरह बाँधनेयोग्य है—

'रिपु पर कृपा परम कदराई॥'

लोग इसे उदारता कहते हैं, परन्तु यह उनकी भूल है। इसी कृपाके कारण भारतके अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज छ: बार गोरीको हराकर उसे छोड़ते गये और सातवीं बार जब पृथ्वीराज हारे तो गोरीने उनपर कृपा न की और पृथ्वीराजके साथ हिन्दू-साम्राज्यका सूर्य अस्त हो गया।

दूषणके मारे जानेपर शूर्पणखा रावणके पास पहुँची और उसे उत्तेजित किया। रावणने पहले कूटनीतिसे काम लेना चाहा और अपनी सहायता करवानेको मारीचके पास आया।

सरकार निशिचर-नाशकी प्रतिज्ञा कर चुके थे। बिना शक्तिकी सहायताके कोई काम नहीं हो सकता। कौन-सी शक्ति? संहारकारिणी शक्ति। सरकारके साथ 'रमा' महालक्ष्मी हैं। उनसे कहते हैं—

सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करब ललित नरलीला॥
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौ लगि करौं निसाचर नासा॥
जबहिं राम सब कहा बखानी। प्रभु पद धरि हियँ अनल समानी॥
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। ....

इन चौपाइयोंका अर्थ गूढ़ है। इससे हम पहले प्रसिद्ध टीकाकारोंका मत लिखते हैं—

रामचरणदासजी—हे प्रिये! सुनहु, तुम सुंदर शीलवान् हो; सो तुमसे कहत हौं कि कछु लीला अतिशय लालित्य कीन्ह चाहत हौं। ताते हे प्रिये! तुम पावकमें निवास करिके अन्तर्भूत हमारे पास रहो, जबलगि निशाचरनका नाश न करौं तबलगि। तब श्रीजानकीजी अपना अंश अपनो प्रतिबिम्ब-सदृश शोभा, शील, गुण, विनीत कही प्रवीण, कृपा, दया यथातथ्य तेन्ह स्थानमें राखिके श्रीरामचन्द्रजीके आज्ञानुकूल अग्नि विषय अन्तर्धान होत भई हैं।

इस अर्थमें जिन वाक्योंके नीचे रेखा खींची है उनपर हम अपने विचार आगे प्रकट करेंगे।

बैजनाथ—प्रभु बोले कि हे प्रिया! रुचिर व्रत सुंदर पतिव्रत धारनहारी, स्वभावते सुशीला, मेरे वचन सुनिये। अब मैं ललित हावकी रीतिसे नरलीला यथा विषयासक्त स्त्री-पुरुषनके संयोग ते सुख, वियोगमें विलापादि करते हैं। प्रेमकी ललित दशाकी रीति यथा—

ललित दसा गुरु लाज तजि प्रिय देखनकी आस।
रंगभूमि रघुनाथ कित जनकलली दृग प्यास॥

अर्थात् अबतक कुछ ऐश्वर्य प्रकट रहो सो गुप्तकरि माधुर्यमें नर-नाट्य करब। ऋषि-कन्या वेदवती प्रभुकी प्राप्तिहेतु अखण्ड तपस्या करती रही; ताको देखि, कर परसि रावणने कहा कि मेरे सङ्ग लङ्काको चलु। वाने शाप दिया कि तेरो नाश करने-हेतु आओंगी। पुनः देह भस्म करिके आइ जनकपुरमें प्रकटी। तिनहीमें स्वयं सीताको आवेश रहा और अग्निदेव लघु-बालक-भावते सीतारामको माता-पिता करि भजते हैं। ताको मनोरथ पूर्ण-हेतु स्वयं सीता ते प्रभु कहते कि तुम तो पावकमें निवास करो, माताभावको सुख अग्निको देउ, अरु वेदवतीसे कहे कि जबलगि रावणादि निशाचरनको मैं नाश करो तबतक तुम लङ्कामें रहो इति गुप्त है। जब स्वयं सीता अग्निमें समायी तब निज प्रतिबिंब जो वेदवती रहीं तिनको ताही थल राखि गयीं। तहाँ शक्तिमात्र तो वह नहीं रही; परन्तु रूप-सौन्दर्य, सुंदर शीलमय स्वभाव अरु विनीतता, नम्रतापूर्वक वचनादि सोई पूर्ववत् बनो रहै।

मानसभावप्रकाश—इसमें अनेक उत्प्रेक्षाएँ हैं, केवल एक लिखनेयोग्य है। 'भगवंतने विचारा, हमने महावीरजी-द्वारा लङ्कादाह करावणा है और सुर सब रावणसे भयभीत हैं, कदाचित् धूमकेतु न जलावै; ताते उसके

बीच अपनी शक्ति राखी जो अब निर्भय होकर दाहेगा।'

अब हम अपने विचार लिखते हैं—

श्रीसीताजी आदिहीसे रामरूपसे सरकारके साथ रहीं।

रामचरणदासने स्पष्टरूपसे लिखा है कि तुम पावकमें निवास करके अंतर्भूत हमारे पास रहो। इससे अग्निके पुत्र माननेकी कल्पना संदिग्ध हुई जाती है। सरकार ब्रह्म हैं। गोस्वामीजीने रामचरितमानसके बालकाण्डहीमें लिखा है—

जेहि कारन अज अगुन अनूपा। ब्रह्म भये कोसलपुर भूपा॥

अग्नि ब्रह्मका एक रूप है, जैसा कि श्रुति कहती है—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

'सत् एक है, इसे ब्राह्मण भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारते हैं। कोई अग्नि कहता है, कोई यम कहता है और कोई मातरिश्वा (पवन) कहता है।' मनुने अध्याय १२ में कहा है—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

इसे कुछ लोग अग्नि कहते हैं, कोई प्रजापति कहकर पुकारते हैं, कोई प्राण कहते और कोई ब्रह्म कहते हैं।

अग्निके इसी अर्थसे बैजनाथके 'रामवल्लभा' का यह अभिप्राय सिद्ध होता है कि उनका वियोग सरकार क्षणमात्रको भी सह नहीं सकते। वेदवतीके प्रसङ्गका हमें कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिला। और इसमें बड़ी खींचातानी है। महालक्ष्मी ही अग्निमें रहीं और उसीमेंसे निकलकर सरकारके वामभागमें विराजमान हुईं।

तब अनल भूसुर रूप कर गहि सत्य श्री श्रुतिविदित सो।
जिमि छीरसागर इंदिरा रामहि समरप्यो आनि सो॥

महालक्ष्मी तो अग्निमें समा गयीं, अब रह गयी संहारकारिणी शक्ति सो कपटरूपसे विराजमान रही। इस भेदको पहले लक्ष्मणजीने न जाना। जाना कब?

मरम बचन जब सीता बोला। हरि प्रेरित लछिमन मन डोला॥

मर्म-वचन मर्मभेदी वचन है। मर्म संस्कृतमें शरीरके सुकुमार अङ्गको कहते हैं। मर्मभेदीका अर्थ हुआ—जो कलेजेमें छेद कर दे। महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—**अरण्यकाण्डे लक्ष्मणं प्रति सीतावाक्यम्।**

अनार्य करुणारम्भ नृशंस कुलपांसन॥
अहं तव प्रियं मन्ये रामस्य व्यसनं महत्।
रामस्य व्यसनं दृष्ट्वा तेनैतानि प्रभाषसे।
नैव चित्रं सपत्नेषु पापं लक्ष्मण यद् भवेत्।
त्वद्विधेषु नृशंसेषु नित्यं प्रच्छन्नचारिषु॥
सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि।
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा।
तन्न सिद्ध्यति सौमित्रे तवापि भरतस्य वा।
कथमिन्दीवरश्यामं रामं पद्मनिभेक्षणम्।
उपसंश्रित्य भर्तारं कामयेयं पृथग्जनम्॥

इसपर लक्ष्मणजीने जो उत्तर दिया उसका एक अंश यह है।

धिक् त्वामद्य विनश्यन्तीं यन्मामेवं विशङ्कसे।

इन वचनोंका अनुवाद लिखते हमारे हृदयको भी चोट लगती है। परन्तु 'कल्याण' के पाठक जो संस्कृतज्ञ नहीं हैं उनके लिये इसका सारांश लिखा जाता है—

'हे निर्लज्ज! कुल-कलङ्क! दुष्ट राक्षसोंपर तुम्हें बड़ी करुणा है। हम जानती हैं कि रामचन्द्रका सङ्कट तुम्हें अच्छा लगता है। तुम बड़े दुष्ट हो, अकेले रामचन्द्रके साथ हमारे लिये आये हो या भरतके भेजे हुए आये हो। तुम्हारा या भरतका यह मनोरथ सिद्ध न होगा।'

कैसे मर्मभेदी वचन हैं! जिस भौजाईको लक्ष्मणजी सदा माता-समान पूजते थे, जिसको कभी आँख बराबर करके नहीं देखा, जो सदा उनके साथ पुत्रवत् आचरण करती थीं उसे क्या हो गया जो ऐसी बातें कह रही है? जब खरने चौदह सहस्र राक्षसोंके साथ श्रीरामचन्द्रपर धावा मार दिया और सीताजीको लक्ष्मणको सौंपा तब तो ऐसा सन्देह न किया गया, आज क्या बात हुई? लक्ष्मणजीको भी क्रोध आ गया और बोल उठे 'तेरा नाश होनेवाला है, तुझपर धिक्कार है जो हमपर ऐसा सन्देह करती है।'

जिनकी युगल-सरकारके चरणोंमें श्रद्धा है उनके लिये यह प्रसङ्ग ही मर्मभेदी है। लक्ष्मणजीने सोचा कि आज हमारी वह भौजाई कहाँ गयी? अवश्य ही अब यह कुछ दूसरी ही (कराला) हो गयी, और उसे छोड़कर चले गये।

हमारी यह कल्पना नहीं है। इसका हमारे पास पुष्ट प्रमाण है। यह प्रमाण अद्भुतरामायणमें है। परन्तु उस ग्रन्थका उद्धरण लिखनेसे पहले एक शङ्का और होती है कि सीताजीने संहारकारिणी महाकालीका रूप धारण किया तो रावणने क्यों न जाना। रावणकी सीताजीके प्रति श्रद्धा अथवा प्रेमके विषयमें वैष्णवोंके अनेक मत हैं। यह हम मानते हैं कि रावण उनका यह रूप देखता तो कालके मुँहमें न पड़ता। कथा प्रसिद्ध है कि एक राजाकी स्त्री परम सुन्दरी थी। एक-दूसरे राजाने कहा कि अपनी स्त्री हमको दे दो। राजा बोला, जाइये वहाँ बैठी है ले लीजिये। दूसरा राजा ज्यों ही महलमें गया पतिव्रताने सिंहिनीका रूप धारण कर लिया और वह राजा उलटे पाँव भागा। श्रीसीताजीको सरकारकी प्रतिज्ञा पूरी करनी थी, लङ्का न जातीं तो निशाचर-नाश कैसे होता। अब अद्भुतरामायणको देखिये—

इसके आदिहीमें लिखा है कि वाल्मीकिजीने चौबीस हजार श्लोकोंका जो रामायण रचा उसमें श्रीसीताजीका माहात्म्य विशेषतासे नहीं कहा। श्रीसीताजी सृष्टिकी आदिभूत प्रकृति हैं। सीताके योगसे योगी रामका ध्यान करते हैं। इसके बाद अम्बरीषके शापकी कथा है, जिसे हम अपने अयोध्याके इतिहासमें लिख चुके हैं और जिसका एक अंश गोस्वामीजीने विश्वमोहिनी-स्वयंवरके नामसे रामायणमें उद्धृत किया है। सीताजीकी मन्दोदरीके पेटसे उत्पत्तिकी विचित्र कहानी इसीमें है। हनुमान्‌जीकी भेंट और श्रीराम-स्तुति पढ़नेयोग्य है; परन्तु मुख्य प्रकरण, जिससे हमारा प्रयोजन है, राम-रावण-युद्धमें सीताजीका कालीरूप धारण करना है। इसमें एक विचित्र बात यह है कि रावण दो थे—एक दस सिरवाला, दूसरा हजार सिरवाला। दस सिरवाला लङ्कामें रहता था और हजार सिरका पुष्करद्वीपमें। रामने दस सिरवालेको मारा। श्रीसीताजीने कहा कि यह कोई बड़ा काम न था, बहादुरी तो हजार सिरवालेके मारनेमें होगी। इसपर श्रीरामचन्द्रने उस रावणपर चढ़ाई कर दी। श्रीसीताजी भी साथ गयीं। युद्धमें वानर-सेना भाग गयी और रावणने श्रीरामचन्द्रको एक ऐसा बाण मारा जो उनकी छाती पार करके धरतीमें समा गया और वे बेसुध हो गये। इसपर श्रीसीताजीने कालीका भयङ्कर रूप धारण कर लिया और तलवारसे रावणके हजारों सिर काट लिये और सेनाके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। उनके रोम-रोमसे मातृकाएँ निकलीं और रणभूमिमें नाचने लगीं और राक्षसोंके सिरोंसे गेंद खेलने लगीं। सीताजीका क्रोध देखकर देवताओंमें हाहाकार मच गया। देवताओंने घबराकर उनसे कहा कि रावण तो मारा गया, अब आप अपना क्रोध शान्त कीजिये। श्रीजीने कहा कि मेरा पति मुर्देकी भाँति पड़ा हुआ है। इसपर ब्रह्माजीने श्रीरामके ऊपर अपना हाथ फेरा और वे उठ बैठे। इसके आगे ग्रन्थमें श्रीसीताजीके सहस्र नाम हैं।

अद्भुतरामायण अद्भुत ग्रन्थ है, परन्तु सीता-रामकी महिमा जैसी इसमें बखानी गयी है वैसी कदाचित् और कहीं हो। हमको इतना ही कहना है कि सहस्र सिरवाले रावणकी कल्पनाका हमें कहीं और प्रमाण नहीं मिला। परन्तु रावणके मारने और राक्षस-विनाशमें श्रीसीताजीका संहारकारिणी रूप धारण करना युक्तिसंगत है।

माँ

(लेखक—श्रीगंगाविष्णु पाण्डेय विद्याभूषण, 'विष्णु')

शरणागतको हैं बचाते सभी,
फिर कैसे हमें तुम मारोगी माँ।
हम छोड़ेंगे पैर तुम्हारा नहीं,
कबलों न दया उर धारोगी माँ॥
जब तेरे भरोसे पड़े हैं यहाँ,
तब कैसे हमें न उबारोगी माँ।
'कवि विष्णु' हमें तो भरोसा यही,
है, कभी-न-कभी तुम तारोगी माँ॥

तन्त्रमें यन्त्र और मन्त्र*

(लेखक—श्रीदेवराजजी विद्यावाचस्पति)

तन्त्रके छः प्रयोगोंका वर्णन पहले किया जा चुका है। इन छः प्रयोगोंके साधनमें हमारी मनोवृत्ति कैसी रहती है, इसका कतिपय साङ्केतिक शब्दोंद्वारा भलीभाँति निदर्शन होता है। ये शब्द हैं—नमः, स्वाहा, वषट्, वौषट्, हुम् और फट्। अन्तःकरणकी शान्त अवस्थामें 'नमः' शब्दका प्रयोग होता है। सारी दुर्धर्ष, घातक एवं अपकारी शक्तियाँ विनयके सामने नत हो जाती हैं। जो मनुष्य यथाशक्ति परोपकारमें रत रहकर दूसरोंके हितके लिये अपनी सारी शक्ति लगा देता है अथवा यों कहिये कि अपने-आपको 'स्वाहा' कर देता है वह अपने शत्रुओंकी सारी विरोध-भावनाओंको हटाकर उनपर पूरा अधिकार कर लेता है। 'वषट्' अन्तःकरणकी उस वृत्तिका लक्ष्य कराता है जिसमें अपने शत्रुओंके सम्बन्धियोंका अनिष्ट साधन करने अथवा उनका प्राण हरण करनेकी भावना रहती है। 'वौषट्' अपने शत्रुओंके हृदयोंमें एक-दूसरेके प्रति द्वेष उत्पन्न करनेका सूचक है। 'हुम्' बल तथा अपने शत्रुओंको स्थानच्युत करनेके निमित्त क्रोधका ज्ञापक है। 'फट्' अपने शत्रुके प्रति शस्त्रप्रयोगको व्यक्त करता है।

उपर्युक्त शब्दोंका उड्डीशतन्त्र (श्लो० १६३)-में वर्णन मिलता है। महानिर्वाणतन्त्र (५। १२६—१२८)-में इन्हीं शब्दोंका प्रयोग अङ्गन्यास तथा करन्यासके लिये किया गया है। इस प्रकारके साङ्केतिक शब्दोंका प्रयोग केवल तन्त्र-शास्त्रमें ही नहीं, अपितु वेदोंमें भी उसी रूपमें मिलता है। वेदोंमें इनके अतिरिक्त और भी कई शब्द मिलते हैं। अथर्ववेद (११। ९। ९-१०)-में उल्कापातके शुभ फलके लिये, आभिचारिक प्रयोगोंकी निष्फलताके लिये तथा पुल इत्यादिको उड़ा देनेके निमित्त प्रयुक्त हुए डिनेमाइट-जैसे ध्वंसक पदार्थोंकी व्यर्थता तथा सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहोंकी शान्तिके लिये प्रार्थना की गयी है। यहाँ 'शम्' इस साङ्केतिक शब्दका प्रयोग किया गया है। उक्त वेदके एकादश काण्डके द्वितीय सूक्तमें रुद्रकी शक्ति एवं ऐश्वर्यका खासा वर्णन किया गया है और 'नमः' शब्दके द्वारा उनका कई बार अभिवादन किया गया है। जिस प्रकार अग्निहोत्र एवं वषट्कारसे यशका लाभ होता है, इसी प्रकार वरुणवृक्षकी मणिसे यश एवं ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है। अग्निहोत्रका अर्थ है अग्नि अथवा परमगुरुको अपना मन 'will' सौंप देना और वषट्कारका अर्थ है मनके समर्पणके मार्गमें आनेवाली विघ्न-बाधाओंका नाश करना अथवा उन्हें अशक्त बना देना।

अथर्ववेद (७। ९७)-में 'वषट्' का प्रयोग एक-दूसरे अर्थमें भी आता है। वहाँ एक 'स्वाहा' शब्द और है, जिसका प्रयोग इस मन्त्रके अतिरिक्त अन्य स्थलोंमें भी मिलता है। स्वाहाका अर्थ बहुधा यह होता है कि मैं अमुक बातको सच्चे मनसे कहता हूँ। एक जगह **'वषड् हुतेभ्यः, वषड् हुतेभ्यः'**—इन शब्दोंका प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ है वर्तमान एवं अनागत विघ्नोंका निराकरण।

'नमः' का भाव हम ऊपर बतला चुके हैं। उदाहरणार्थ अथर्ववेद (७। ८७)-का पहला मन्त्र देखिये। उसमें रुद्रका अग्निरूपसे वर्णन किया गया है। वे अग्निमें, जलमें, वनस्पतिमें, लताओंमें सर्वत्र व्याप्त हैं और समस्त लोकोंके रचयिता हैं। उनकी वन्दना करो। वेदोंमें ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ किसी शक्तिशाली पुरुषके सामने विनयका भाव प्रदर्शित किया गया है। विनय शक्तिशाली पुरुषकी शक्तिका ह्रास कर देता है। वेदमें इस भावकी ध्वनि मिलती है कि विनयसे बढ़कर शक्तिपर विजय प्राप्त करनेका कोई और प्रबल उपाय नहीं है।

अब हम 'फट्' के सम्बन्धमें कुछ निवेदन करेंगे। अथर्ववेद (४। १८। ३)-में इस शब्दका उल्लेख मिलता है। जो लोग पुल, जेल इत्यादिको उड़ा देनेके लिये शक्तिशाली डिनेमाइट-जैसे ध्वंसक पदार्थ बनाते हैं उन्हें इस बातका पता है कि इस प्रकार उड़ाये जानेपर पत्थर, कंकड़ आदि 'फट्' इस प्रकार शब्द करते हैं। 'फट्' यह फूटनेके शब्दका अनुकरण है।

अथर्ववेद (१। २। १)-मेंसे हम एक उदाहरण

* इस लेखका कुछ अंश 'कल्याण' भाग ७ संख्या ९ और १० में 'तन्त्रसिद्धान्त' शीर्षकमें छप चुका है।

और उद्धृत करेंगे। उपर्युक्त मन्त्र सुगमतासे प्रसव करानेके सम्बन्धमें है। प्रसवकी सुगमताके लिये गर्भाशयके बन्धनोंको शिथिल करना आवश्यक है। यह कार्य एक कुशल दाईके हाथसे होता है। वेदमें यह कार्य पूषन्‌का बताया गया है। 'वषट्' शब्दसे इस बातकी ध्वनि निकलती है। इसलिये 'वषट्' का अर्थ है बन्धनोंका श्लथीकरण। इसी प्रकार अथर्ववेद (५। २६। १२)-में इसी शब्दका प्रयोग शत्रु-विनाशके अर्थमें हुआ है। अथर्ववेद (९। ७। ५)-में प्राणायामके द्वारा मनको स्थिर करके उसका निरोध करनेके अर्थमें 'वषट्' का प्रयोग किया गया है। 'वषट्' का यह अर्थ अथर्ववेद (१५। १४। १७)-में जिस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग किया गया है उससे ठीक मेल खाता है। वहाँ जिज्ञासु, जिसके लिये 'अतिथि' शब्दका प्रयोग किया गया है और जिसे बृहस्पति अर्थात् ज्ञानके अधिष्ठातृ-देवताके पदपर आसीन कहा गया है, अपने मनको मारकर उसे पवित्रताकी अग्निमें जला देता है और तब ज्ञानकी ज्योतिको प्राप्त कर लेता है अर्थात् सच्चा बृहस्पति बन जाता है।

तन्त्रशास्त्रमें इसी बातको अधिक जोरके साथ कहा गया है। गौतमीय तन्त्र (२। ६६)-में लिखा है कि 'जो प्रात:काल एवं सायङ्काल तथा कम-से-कम सोलह बार प्राणायाम करता है उसकी सारी दुर्भावनाएँ इस प्रकार नष्ट हो जाती हैं जैसे अग्नि रुईके ढेरको जला देती है। उसी तन्त्र (३३। १-५)-में जन्म-मरणके चक्करसे, वृद्धावस्थासे, सुख-दुःखसे तथा व्याधियोंसे छूटनेका केवल एक उपाय बताया गया है। वह है अभेदज्ञान जो सारे बुरे-भले कर्मोंका इस प्रकार नाश कर देता है जिस प्रकार अग्नि सूखे ईंधनके भारको जला देती है। ऐसा करनेसे साधकका मन मर जाता है।

अथर्ववेदमेंसे हम कई प्रमाण दे चुके। अब हम यजुर्वेदमेंसे कुछ प्रमाण उद्धृत करेंगे। यजुर्वेद (११। ३९)-में भी 'वषट्' शब्दका प्रयोग मिलता है। उक्त मन्त्र वायु-विषयक है। उसके अन्दर वायुको सारे देवताओंका जीवनदाता कहा गया है। तब वायुको कौन-सी बलि दी जाय?

यजुर्वेद (७। ३)-में एक वाक्य है—**'उपरिप्रुताभङ्गेन हतोऽसौ फट्।'** इसका अर्थ यह है कि वह 'भङ्गके बने हुए लचकदार कोड़ेकी प्रबल फटकारसे आहत होकर गिर पड़ा और मर गया। गिरनेके शब्दका अनुकरण 'फट्' शब्दसे किया गया है। दूसरा शब्द है 'ओम्'। यजुर्वेदमें इसका तीन जगह प्रयोग मिलता है—२। १३ तथा ४०। १५ एवं १७ में। २। १३ में एक वाक्य है—**'ओम्प्रतिष्ठ'**, जिसका अर्थ है—'हे परमात्मन्! जो कुछ हम चाहते हैं वह स्थिर हो जाय। ४०। १५ में एक वाक्य है—**'ओं क्रतो स्मर।'** यहाँ साधकको 'क्रतु' कहकर सम्बोधन किया गया है। इसका अर्थ है—सत्य सङ्कल्पवाला पुरुष। जो साधक वास्तवमें सत्यसङ्कल्प है उसे चाहिये कि वह सर्वव्यापक परमात्माका स्मरण करे। ४०। १७ में भी एक वाक्य है—**'ओं खं ब्रह्म।'** यहाँ **'खम्'** और **'ब्रह्म'**—इन दो शब्दोंके द्वारा परमात्माका लक्ष्य कराया गया है। वह (परमात्मा) आकाशकी भाँति विभु एवं सबका कारण है और अपनी निखिल सृष्टिकी अपेक्षा बड़ा (बृहत्) है। यहाँ 'खम्' शब्दके द्वारा आकाशका लक्ष्य कराया गया है।

यजुर्वेद ३३। ३९-४० में एक शब्द है 'बट्।' इसका प्रयोग 'सिवा' के अर्थमें किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकारके और भी कई शब्द हैं—जैसे **'श्री'**, **'शम्'** इत्यादि, जिनका प्रयोग कई मन्त्रोंमें कई बार हुआ है, किन्तु स्थान-सङ्कोचके कारण उनके सम्बन्धमें यहाँ विचार नहीं किया जा सकता।

इन शब्दोंके अतिरिक्त वेदोंमें तन्त्रका भी सूत्रपात मिलता है। इस सम्बन्धमें हम आगे चलकर विचार करेंगे। पहले हम जिस प्रकार मन्त्रराजका* वर्णन ऊपर कर चुके हैं उसी तरह यन्त्रराजका वर्णन करेंगे। मन्त्रोंकी भाँति यन्त्र भी अनेक हैं। इनमेंसे कुछ यन्त्रोंकी सूची हम आगे चलकर कहीं पृथक् शीर्षकके नीचे देंगे। यहाँ हम केवल यन्त्रराजके कुछ प्रकारोंका कई ग्रन्थोंके आधारपर दिग्दर्शन करावेंगे।

यन्त्रराजके कुछ प्रकार

१-महानिर्वाणतन्त्र ५। १७१-१७३। इस यन्त्रका नाम यन्त्रराज है—

आकार १

* ॐ ह्रीं श्रीं क्रीं परमेश्वरि स्वाहा।

२-गौतमीय तन्त्र ३०। १०२—१०९। इस यन्त्रका नाम सर्वतोभद्र है—
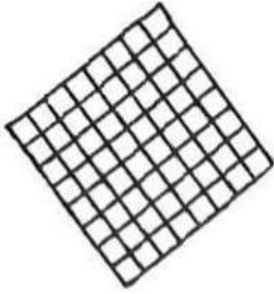
आकार २

३-श्यामास्तव श्लो० १८। इसका नाम स्मरहर है—

आकार ३

४—काली-तन्त्र
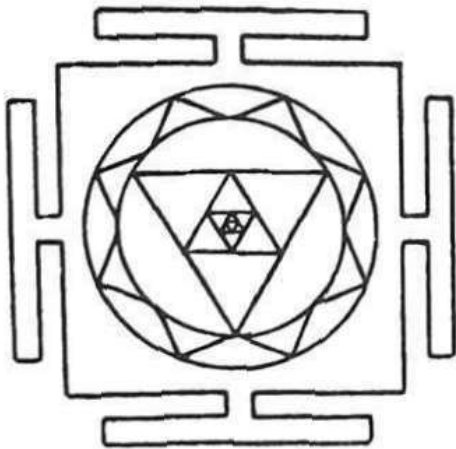
आकार ४

५—कुमारी-कल्प। इस यन्त्रका नाम मुक्तियन्त्र है—

आकार ५

ऊपर हमने केवल पाँच यन्त्र दिखाये हैं। अब हम यह बतलाना चाहते हैं कि यन्त्रोंसे उनका अर्थ कैसे निकलता है। यन्त्र भिन्न-भिन्न प्रकारके चरित्रोंके संकेत होते हैं। बहुत-से यन्त्र प्रकृतिके चरित्रका रहस्य बतलाते हैं और कई ऐसे हैं जो मनुष्य तथा जानवरोंके चरित्रका निरूपण करते हैं। हम नीचेके कुछ उदाहरण देकर अपने वक्तव्यको स्पष्ट करनेकी चेष्टा करेंगे।

उन्नति अथवा ऊर्ध्वगतिका हम ऊपरकी तरफ नोकवाले बाणके द्वारा लक्ष्य कराते हैं। अग्निशिखाओंके चित्रके द्वारा भी हम इसी भावको व्यक्त कर सकते हैं, क्योंकि प्राकृतिक जगत्में अग्निकी गति ऊपरकी ओर अथवा उन्नतिकी ओर ही होती है। बाणका नोकदार फल त्रिभुजके आकारका होता है। जब किसी त्रिभुजका शीर्षकोण (vertical angle) ऊपरकी ओर होता है तब उस त्रिभुजसे अग्निका बोध होता है। इसके विपरीत जब किसी त्रिभुजका शीर्षकोण अवाङ्मुख होता है तो वह जलका बोधक होता है, क्योंकि जलकी गति अधोमुखी होती है। अर्धवृत्त अथवा वृत्तके किसी भागकी गणना कुञ्चित (curved) त्रिभुजके अन्दर हो सकती है, क्योंकि दो छोरोंके बीचका अधिक-से-अधिक अन्तर क्रमशः न्यून होकर शून्यपर पहुँच जाता है। इसलिये वृत्तका कोई भी अंश जलका द्योतक है।

हमारे मनमें वृत्त (circle)-के कल्पनाका उदय चक्राकार गति (rotation)-से होता है। जब एक बिन्दु दूसरे बिन्दुके चारों ओर घूमता है तो उसकी चक्राकार गति होती है। चक्राकार गतिसे एक वृत्त बन जाता है। इस चक्राकार गतिको प्राकृतिक जगत्में हम वायुका घूर्णनक्रिया (whirling)-के अन्दर देखते हैं। जब चक्रवात (whirlwind)-का अग्निके साथ संयोग होता है तब अग्नि भी घूमने लगती है। वही जब जलके साथ सम्पर्कमें आता है तब जल भी घूमने लगता है। यह घूमनेकी क्रिया चक्राकार गति है और इसका बोध वृत्तके द्वारा होता है। अत: वृत्त वायुका चिह्न है।

बिन्दु (point)-के अन्दर जो प्रत्येक प्रकारकी गतिमें योग देता है और जो प्रत्येक आकारमें प्रत्येक तत्त्वके अन्दर अनुप्रविष्ट रहता है नैसर्गिक गतिशीलता होती है, अथवा यों कहिये कि वह स्वत: गतिशील होता है। बिन्दु अनुप्रवेश (penetration)-का चिह्न है।

अनुप्रवेशके भावको हम आकाश-तत्त्वसे ग्रहण करते हैं। इसलिये बिन्दु आकाशका द्योतक है। बिन्दु जब सब प्रकारके बाह्य प्रभावसे शून्य होता है तब उसकी गति सरल (straight) होती है। अत: बिन्दुकी अनिरुद्ध गति (free motion) समानरूप उन्नतिका लक्ष्य कराती है।

विस्तार (expansion)-का भाव भी एक महत्त्वपूर्ण भाव है। यह भाव बहुमुखता (many-sidedness)-के भावसे मिलता-जुलता-सा है। बहुभुज आकारोंमें सबसे कम भुजाओंवाला आकार चतुरस्र (square) है। अतः चतुरस्र विस्तारके भावका द्योतक है और विस्तार पृथिवीका गुण है। इसलिये चतुरस्र एवं अन्य बहुभुज आकार पृथिवीके द्योतक हैं।

इस प्रकार हम दावेके साथ यह कह सकते हैं कि ऊपर बतायी हुई गतियोंके क्षेत्रके बाहर कोई भी गति नहीं है और संसारमें ऐसा कोई भी आकार नहीं मिल सकता जो इन पाँच आकारोंसे बाहर हो, चाहे वह शुद्ध हो अथवा मिला हुआ, सङ्कीर्ण अथवा असङ्कीर्ण, एकाकी अथवा मिश्रित।

ऊपर बताये हुए आधारपर कोई बुद्धिमान् पुरुष किसी यन्त्रविशेषको पढ़ सकता है और नये यन्त्र बना सकता है। पहले यन्त्रका अर्थ यह है कि विश्वका उपादानकारण अग्नितत्त्वके आकारका है जो वायु-तत्त्वसे आवृत होकर घूमता है और इस प्रकार घूमकर अपने चारों ओर सृष्टिकी रचना करता है और वह सृष्टि स्वयं वायुतत्त्वसे घिरकर वस्तुओंको उत्पन्न कर रही है।

पहले यन्त्रका अर्थ है जगत्के विस्तारका भाव, जिसके अन्तर्गत उन्नति एवं निर्माणका भाव भी है। कुण्डली प्राणकी चक्राकार ऊर्ध्व गति मनुष्यको दिव्यभावके विस्तृत क्षेत्रमें ले जाती है। इस महान् यन्त्रका यही रहस्य है। इस महान् यन्त्रका महान् उद्देश्य दिव्य भावकी सिद्धि है। इस यन्त्रराजके द्वारा साधक प्रायः सारी मानवीय शक्तियोंको प्राप्त कर सकता है और यह बिलकुल स्पष्ट है कि ऊपर बताये हुए अर्थके अनुसार यन्त्रकी भावनाके द्वारा मनुष्य वास्तवमें अपने उद्देश्यको सिद्ध कर सकता है।

दूसरा यन्त्र द्वितीय महायन्त्र है। गौतमीय तन्त्रमें लिखा है कि यह यन्त्र दृष्ट एवं अदृष्ट तथा वर्तमान एवं अनागत सब प्रकारके फलोंका देनेवाला है। इस यन्त्रका नाम सर्वतोभद्र है। सर्वतोभद्रका अर्थ है सब ओरसे समचौरस। भगवान् विष्णुके रथका नाम भी सर्वतोभद्र है। इन दोनों अर्थोंसे हमें व्यावहारिक जीवनके लिये एक उपयोगी भाव मिलता है। वह यह है कि अर्जन एवं व्यय, क्रियाशीलता एवं विश्राम तथा संग्रह एवं त्याग—इन सब बातोंके सम्बन्धमें जीवन भलीभाँति तुला हुआ होना चाहिये। सब ओरसे परीक्षा किये जानेपर भी जिसका आन्तरिक एवं बाह्य जीवन एक-सा होता है वह संसारमें फूलता-फलता है और सफलता प्राप्त करता है। जिसके जीवनका रथ सब ओरसे अच्छी हालतमें है और जो उसपर दृढ़ताके साथ आरूढ़ रहता है वह सारी व्याधियोंसे मुक्त रह सकता है और उसके जीवनके सारे प्रयत्न सफल होते हैं। उसका जीवन निर्बाध, समानरूप एवं सब ओरसे समचौरस होता है। जो सर्वतोभद्र यन्त्रको इस प्रकार समझकर उसके अनुसार आचरण करता है वह स्वस्थ, सुभग, दृढ़ एवं सफल बन जाता है।

तीसरा यन्त्र स्मरहर यन्त्र है। इसके अर्थके प्रभावसे मनुष्य कामपर विजय प्राप्त कर सकता है। यह पाँच त्रिकोणोंसे बनता है। जो साधक इस यन्त्रसे शिक्षा ग्रहण करता है वह दृढ़तापूर्वक सब ओरसे सतर्क रहता है कि कहीं शत्रु उसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक एवं भय आदि शस्त्रोंके द्वारा विचलित न कर दे। वह दृढ़तापूर्वक एवं बिना रुके हुए चाहे जिधर जा सकता है। जब वह यह देखता है कि शत्रु उसे छकानेके लिये सामने आ रहा है तो वह उसे अपना दिव्य त्रिकोण बरछा दिखा देता है। यह यन्त्र वास्तवमें स्मरहर ही है।

चौथा यन्त्र दूसरे प्रकारका स्मरहर यन्त्र है। इसमें भी पाँच त्रिकोण होते हैं किन्तु वे दूसरे प्रकारके होते हैं। इनमेंसे दो त्रिकोण जलके द्योतक हैं और तीन अग्निके। जलके गर्भमें अग्नि रहती है। एक समुदाय जलका है और दूसरा अग्निसे व्याप्त है। ये दोनों समुदाय भी अग्निके मध्यमें सन्निविष्ट हैं। यह सारा-का-सारा समुदाय भी घूमता है और सब ओर चिनगारियाँ फेंकता है। यह समुदाय भी चल है। अग्निकी नैसर्गिक शक्तिके द्वारा जलमेंसे सृष्टि उत्पन्न होती है। क्रमशः ज्यों-ज्यों युग बीतते हैं अग्नि भूमण्डलसे विलीन होती जाती है और सृष्टिका क्रम बन्द हो जाता है। इस यन्त्रसे यह सूचित होता है कि सारी सृष्टि भ्रमणके सिद्धान्तपर अवलम्बित है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो घूमती न हो, क्योंकि सत्ता भ्रमणपर ही अवलम्बित है और काम आदि विकार एक प्रकारके बन्धन हैं जो भ्रमणमें रुकावट डालते हैं। इसलिये हमें अपने विकारोंका दमन करना चाहिये और अपने गुरुकी प्रदक्षिणा करनी चाहिये,

क्योंकि जिस प्रकार सूर्य अपने चारों ओर घूमनेवाले ग्रहोंको आलोक प्रदान करता है, उसी प्रकार गुरु हमें प्रकाश देते हैं। चतुर्थ यन्त्रका जो असली स्मरहर यन्त्र है, यही भाव है।

पाँचवाँ यन्त्र मुक्तियन्त्र है। इस यन्त्रके अन्दर भी पाँच ही त्रिकोण होते हैं, किन्तु उनका विन्यास स्मरहर यन्त्रकी भाँति नहीं है। यहाँ ये ठीक एक षट्कोणके भीतर रहते हैं। अग्नि जलके रूपमें प्रत्येक दिशामें नियमितरूपसे फैलती है और उसकी गतिसे ठीक एक षट्कोण बनता है। यह षट्कोण घूमने लगता है और इस गतिके रुक जानेपर उसके लक्ष्यकी सिद्धि स्पष्ट हो जाती है, जैसा कि अष्टकोणसे सूचित होता है। इस यन्त्रका भाव यह है कि अपने लक्ष्यकी सिद्धिके लिये हमें अपने ध्यानको अन्यत्र न ले जाकर तथा अपनी नैसर्गिक शक्तिको नियमपूर्वक जागृत करके उसीकी ओर अग्रसर होते रहना चाहिये।

उदाहरणार्थ हमने ये पाँच आकार ही पाठकोंके सामने रखे हैं और यह बतलाया है कि इन यन्त्रोंका भाव क्या है। वैसे जगत्‌में अगणित यन्त्र हैं। प्रत्येक आकार, प्रत्येक पत्ता और फूल एक यन्त्र है जो अपने आकार, वर्ण एवं गन्ध इत्यादिके द्वारा अपने अतीत इतिहासको बतलाता है।

मन्त्र, उनके अर्थ एवं प्रयोजन

नं०	मन्त्र	नाम	जप	प्रयोजन, अर्थ एवं प्रयोग आदि
१	ॐ	तारा, तारिणी, तारामन्त्र, ब्रह्मविद्या	३००००	प्रयोजन—सिद्धावस्था; अर्थ—भवबन्धनसे मुक्ति एवं ब्रह्मकी प्राप्ति। (तन्त्र-तत्त्व-प्रकाश)
२	क्रीं क्रीं क्रीं	सरस्वती-मन्त्र	....	प्रयोजन—वाणी; अर्थ—वाणीपर अधिकार। (कर्पूरस्तव)
३	हूं हूं	....	....	प्रयोजन—लक्ष्मी, वाणी, सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य; अर्थ—नियन्त्रण-शक्ति। (कर्पूरस्तव २, काली-तन्त्र)
४	ह्रीं ह्रीं	....	....	प्रयोजन—राज्य; अर्थ—शत्रुजय। (कर्पूरस्तव ३)
५	दक्षिणे कालिके	....	....	प्रयोजन—अष्टसिद्धि; अर्थ-सर्वकामद। (कर्पूरस्तव ४)
६	ॐ क्रीं क्रीं क्रीं हूं हूं ह्रीं ह्रीं स्वाहा।	....	....	प्रयोजन—सकलसिद्धि; अर्थ—पराशक्तिकी पूजा। (कर्पूरस्तव ५)
७	क्रीं मुण्डस्त्रगतिशयलसत्-कण्ठपीठस्तनाढ्यै नमः।	....	....	प्रयोजन—सौन्दर्य एवं वाणी। (कर्पूरस्तव ६)
८	ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धना-न्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥	रुद्रमन्त्र	....	प्रयोजन—शरीरके सड़नेको अथवा मृत्युके चिह्नोंको हटाना; अर्थ—हम उन शिव अथवा रुद्रकी पूजा करते हैं जो दुर्गन्धको हटानेवाले तथा बलको देनेवाले हैं और जो रोग एवं मृत्युको इस प्रकार निकाल बाहर करते हैं जैसे साँप अपनी केंचुलीको फेंक देता है। (उड्डीश-तन्त्र ९४)
९	ॐ सं सां सिं सीं सुं सूं सें सैं सों सौं सं सः वं वां विं वीं वुं वूं वें वैं वों वौं वं वः हं सः अमृतवर्चसे स्वाहा	रोगहर	१०८	प्रयोजन—रोगोंकी चिकित्सा एवं दुष्कर्मोंके हानिकर परिणामको हटाना; अर्थ—एक जलके कटोरेको इस मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके उसे प्रातःकाल पी जाना चाहिये। (उड्डीश-तन्त्र १६५)
१०	ॐ हं हां हिं हीं हुं हूं हें हैं हों हौं हं हः क्षं क्षां क्षिं क्षीं क्षुं क्षूं क्षें क्षैं क्षों क्षौं क्षं क्षः हं सः हम्।	आपच्छान्ति	....	यह मन्त्र भूत, प्रेत, पिशाचादिकी शक्तिको, किसीके दुराचरणके हानिकर प्रभावको तथा किसी विषके विषैलेपनको दूर करता है। (उड्डीश-तन्त्र १६६—१६८)

नं०	मन्त्र	नाम	जप	प्रयोजन, अर्थ एवं प्रयोग आदि
११	**ॐ शान्ते प्रशान्ते सर्वक्रोधोपशमनि स्वाहा**	क्रोधशान्ति	२१	इस मन्त्रसे जलको अभिमन्त्रित करके मनुष्यको उससे मुख प्रक्षालन करना चाहिये।
१२	**ॐ नमः सर्वलोकवशङ्कराय कुरु कुरु स्वाहा।**	लोकवशीकरण	७	पुनर्नवाकी जड़को पुष्यनक्षत्रमें उखाड़कर तथा इस मन्त्रसे अभिमन्त्रितकर भुजामें बाँध ले। (उड्डीश-तन्त्र १७४)
१३	**ॐ नमो अग्निरूपाय मम शरीरे स्तम्भनं कुरु कुरु स्वाहा।**	अग्निस्तम्भन	१०८	मेढककी चर्बीको घीकुआरके रसके साथ मिलाकर उसको शरीरपर लेप करनेसे शरीर नहीं जलता। (उड्डीश-तन्त्र १८७)
१४	**ॐ अहो कुम्भकर्ण महाराक्षस कैकसीगर्भसम्भूत परसैन्यस्तम्भन महाभगवान् रुद्रोऽर्पयति स्वाहा।**	शस्त्रस्तम्भन	१०८	रविवारके दिन बेलके कोंपलोंको लेकर उन्हें विष अथवा सिवारके साथ घोंटकर शरीरपर लेप करनेसे किसी शस्त्रके द्वारा किये हुए घावका दर्द बिलकुल मालूम नहीं होगा। (उड्डीश-तन्त्र १९०)
१५	**ॐ नमः कालरात्रि त्रिशूलधारिणि मम शत्रुसैन्यस्तम्भनं कुरु कुरु स्वाहा।**	सैन्यस्तम्भन	१०८	रविवारके दिन सफेद गुञ्जा (चिरमी)-के दानोंको श्मशान-भूमिमें गाड़कर उस स्थानपर एक पत्थर रख दे। फिर साधकको चाहिये कि वह रौद्री, माहेश्वरी, वाराही, नारसिंही, वैष्णवी, कौमारी, महालक्ष्मी, ब्राह्मी—इन अष्ट योगिनियोंका पूजन करे। इनके अतिरिक्त वह गणेश, वटुक एवं क्षेत्रपालकी भी अलग-अलग पूजा करे तथा पौष्टिक भोजन एवं भोग-सामग्री भी जुटावे। ऐसा करनेसे शत्रुकी सेना स्तम्भित (गतिहीन) हो जाती है। (उड्डीश-तन्त्र १९१—१९४)
१६	**ॐ नमो भगवते रुद्राय निद्रां स्तम्भय स्तम्भय ठः ठः ठः।**	निद्रास्तम्भन	१०८	बृहतीकी जड़ तथा मुलेठीको एक साथ कूटकर तथा कपड़ेसे छान करके सुँघनीकी तरह सूँघनेसे निद्रा-क्षय हो जाता है। (उड्डीश-तन्त्र २०२)
१७	**कृष्ण**	मुक्तिमन्त्र		मुक्ति। (गोतमीय तन्त्र)
१८	**गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।**	मन्त्रराज अथवा दशाक्षर-मन्त्र	....	गोपीको प्रकृति अथवा जगत्का उपादान-कारण कहते हैं। 'जन' का अर्थ है तत्त्वोंका समुदाय। 'वल्लभ' नाम है परमेश्वरका अथवा प्रकृति एवं तत्त्वोंके स्वामीका। अथवा गोपी प्रकृति अथवा कारण है और 'जन' नाम है सृष्टि अथवा कार्यका। वल्लभ उन सबका अध्यक्ष है। इस मन्त्रके द्वारा साधकको सृष्टिक्रम एवं भवबन्धनसे मुक्तिविषयका सारा ज्ञान प्राप्त हो जाता है। (गोतमीय तन्त्र २। २२-२३)
१९	**क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।**	अष्टादशार्णो मन्त्रः	....	'क्लीम्'—यह पञ्चभूतोंका द्योतक है। 'कृष्' का अर्थ है सत्त्व और 'न' आनन्दवाचक है। इस प्रकार 'कृष्ण' का अर्थ हुआ शुद्ध आनन्द। वेदोंके द्वारा परमतत्त्वकी उपलब्धि होती है। इसीलिये उस तत्त्वको गोविन्द कहते हैं।* इस मन्त्रके बलसे साधक भवबन्धनसे मुक्त हो जाता है। (२। ६७—७१)

* वस्तुतः कृष्ण, गोविन्द, गोपीजनवल्लभ शब्दोंसे वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण ही विवक्षित हैं; सच्चिदानन्दघनपरमात्मा श्रीकृष्ण प्रकृतिके स्वामी हैं ही। —सम्पादक

नं०	मन्त्र	नाम	जप	प्रयोजन, अर्थ एवं प्रयोग आदि
२०	नमो भगवते सर्वभूतात्मने वासुदेवाय सर्वात्मसंयोग-योगपद्मपीठात्मने नमः।	पीठमन्त्र	....	समस्त भूतोंका निवास वासुदेव अर्थात् सर्वव्यापक परमात्माके अन्दर है। इस मन्त्रके द्वारा योगपद्मासनपर वासुदेवकी उपलब्धि होती है। (१९०—९२)
२१	श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय स्वाहा।	मन्त्रराज	....	यह मन्त्र सब प्रकारकी भुक्ति एवं मुक्तिका भी देनेवाला है। (२५। २)
२२	ओं सच्चिदेकं ब्रह्म।	ब्रह्ममन्त्र	....	यह धर्म (जीवन), अर्थ (धन), काम (सन्तति) एवं मोक्ष (मुक्ति), चारों पदार्थोंका देनेवाला है। इसका अर्थ यह है कि परमात्मा पालक, संहारक, सिरजनहार, नित्य, अविनाशी, एक एवं महान् है। (महानिर्वाणतन्त्र ३। १२, १४)
२३	ऐं सच्चिदेकं ब्रह्म ह्रीं सच्चिदेकं ब्रह्म श्रीं सच्चिदेकं ब्रह्म।	आराधन-मन्त्र	....	ज्ञान अथवा विद्याकी प्राप्ति। समृद्धि अथवा मायाकी प्राप्ति। धन अथवा लक्ष्मीकी प्राप्ति। (महानिर्वाणतन्त्र ३। ३७)
२४	ओं परमेश्वराय विद्महे परतत्त्वाय धीमहि। तन्नो ब्रह्म प्रचोदयात्।	गायत्री-मन्त्र	१०८	हृदय अथवा अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ध्यान करते समय इस मन्त्रका जाप किया जाता है। (महानिर्वाण-तन्त्र ३। १०७)
२५	ह्रीं श्रीं क्रीं परमेश्वरि स्वाहा।	आद्यामन्त्र	....	इस मन्त्रके अन्दर सारा ज्ञान गागरमें सागरकी तरह भर दिया गया है। (५। १३)
२६	ओं ह्रीं हंस घृणि सूर्य इदमर्घ्यं तुभ्यं स्वाहा।	अर्घ्यमन्त्र	....	जल, जिसे मरीचि कहते हैं, आकाशसे सूर्यकी रश्मियोंमें प्रवेश करता है और हमलोगोंके लिये नीचे पृथिवीपर आता है। उसे साधक बहुमूल्य होनेके कारण एकत्र कर लेता है। (महानिर्वाणतन्त्र ५। ५४)
२७	आद्यायै विद्महे परमेश्वर्यै धीमहि। तन्नः काली प्रचोदयात्॥	गायत्री-मन्त्र	....	इस मन्त्रसे साधकके महापातकोंका क्षय होता है (महा-निर्वाणतन्त्र ५। ६३)
२८	तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। ओं तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते विष्णोर्यत् परमं पदम्॥	मुद्राशोधन-मन्त्र		अन्तःकरणकी शुद्धि एवं आनन्दकी प्राप्ति। (महा-निर्वाणतन्त्र ५। २११)
२९	आं ह्रीं क्रों श्रीं स्वाहा आद्याकालीदेवतायाः प्राणा इह प्राणाः, आं ह्रीं क्रों श्रीं स्वाहा आद्या-कालीदेवतायाः जीव इह स्थितः, आं ह्रीं क्रों श्रीं स्वाहा आद्याकाली-देवतायाः सर्वेन्द्रियाणि, आं ह्रीं क्रों श्रीं स्वाहा आद्याकालीदेवतायाः वाङ्-मनोनयनघ्राणश्रोत्रत्वक्-प्राणाः इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा।	प्राण-प्रतिष्ठा-मन्त्र	३	साधकके सङ्कल्पद्वारा मूर्द्धस्थित सहस्रदल कमलके यन्त्रमें परमात्माकी सब प्रकारकी चेष्टाओंकी प्रतिष्ठा होती है और इस क्रियाके पूर्व इस मन्त्रका उच्चारण किया जाता है। (महानिर्वाणतन्त्र ६। ६५, ७४)

नं०	मन्त्र	नाम	जप	प्रयोजन, अर्थ एवं प्रयोग आदि
३०	**पशुपाशाय विद्महे विश्वकर्मणे धीमहि। तन्नो जीवः प्रचोदयात्।**	पशुपाश-विमोचिनी गायत्री		इस मन्त्रके द्वारा जीवके आठ बन्धनोंका नाश होता है। (महानिर्वाणतन्त्र ६। ११०)
३१	**ओं चित्पिङ्गल हन हन दह दह पच पच सर्वज्ञाऽऽज्ञापय स्वाहा।**	अग्निप्रज्वालन मन्त्र		इस मन्त्रके द्वारा अग्नि प्रदीप्त की जाती है। (महानिर्वाणतन्त्र ६। १४२)
३२	**इतः पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत् कृतं यत् स्मृतं यदुक्तं तत्सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु, मां मदीयं सकलमाद्याकालीपदाम्भोजेऽर्पयामि ओं तत्सत्।**	आत्मसमर्पण-मन्त्र		इस मन्त्रके द्वारा साधक अपने आत्माको पराशक्तिके अर्पण कर देता है। (महानिर्वाणतन्त्र)
३३	**क्लीं ह्रीं ह्र फट् स्वाहा।**	शिखाहवन-मन्त्र		इस मन्त्रके द्वारा संन्यासी अपने मस्तकपरसे उतारी हुई शिखाको अग्निमें डाल देता है। (महानिर्वाणतन्त्र ८। २५९)
३४	**ऐं क्लीं हूं भूः भुवः स्वः स्वाहा।**	यज्ञोपवीत-हवन-मन्त्र		इस मन्त्रके द्वारा संन्यासी अपने यज्ञोपवीतको अग्निमें डाल देता है। (महानिर्वाणतन्त्र ८। २५६)

मन्त्रोंके सम्बन्धमें संक्षिप्त विचार

इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से मन्त्र हैं। हमने यहाँ बहुत थोड़े-से ग्रन्थोंमेंसे कुछ ही मन्त्रोंको उद्धृत किया है। प्रत्येक क्रियाके लिये अलग-अलग मन्त्र होते हैं। बिना मन्त्रके कोई क्रिया नहीं होती। पाठक मन्त्रोंकी विशेषताओंको स्वयं देख और समझ सकते हैं। स्थान एवं समयके सङ्कोचके कारण हम अधिक उदाहरण देकर तथा प्रत्येक मन्त्रकी अलग व्याख्या करके लेखको बढ़ाना नहीं चाहते। हम प्रायः देखते हैं कि मन्त्रोंके अर्थके सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक मन्त्र अपने प्रयोगमें बिलकुल ठीक बैठता है। हम उसे यहाँ दोहराना नहीं चाहते। किन्तु उनकी विशेषताके सम्बन्धमें हम अवश्य कुछ कहेंगे। मन्त्र कई प्रकारके होते हैं। कुछ तो योगसाधनके लिये उपयोगी होते हैं और कुछ रोगोंकी शान्तिमें प्रयोजनीय होते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जिनका सांसारिक कार्योंमें उपयोग होता है। उड्डीश-तन्त्रमें इस प्रकारके कई मन्त्र हैं। ऊपर उद्धृत किये हुए आठवें मन्त्रका अभिप्राय यह है—अपने जिगर (liver) की क्रियाको ठीक करो। ऐसा करनेसे तुम्हारे शरीरका सड़ना तथा दुर्गन्ध हट जायगी और तुम बलवान् एवं नीरोग हो जाओगे। जिगरका नाम त्र्यम्बक है। उसकी क्रियाको ठीक करना ही उसकी शुद्धि है और यही त्र्यम्बकका यजन है। त्र्यम्बक अथवा जिगरके यजनसे मनुष्य दीर्घजीवी हो जाता है और मृत्युके पाशको काट डालता है। नवें मन्त्रके अन्तर्गत वर्ण जल-तत्त्वके व्यञ्जक हैं। जल प्रकृतिसे शान्त है। मानसिक शान्तिकी प्रबलतम भावनाके साथ किसी जलके कटोरेकी ओर निश्चल दृष्टि करके अपनी मानसिक शक्तिके प्रयोगके द्वारा तान्त्रिक उस कटोरेको यथेष्ट फलदायक बना सकता है। जलके संसर्गसे निश्चित ही तापमान कम हो जाता है। लेखकने इस क्रियाका अपनी माताके ऊपर प्रयोग किया और उसमें वह कृतकार्य रहा। उसने किसी मन्त्रका प्रयोग नहीं किया। मन-ही-मन प्रणवका जाप करते हुए पाँच मिनटतक ताजे पानीके एक कटोरेकी

ओर ताकते रहनेके बाद उसने उस जलको अपनी माताको पिला दिया जिससे थोड़े ही समयमें उनका बढ़ा हुआ ज्वर कम हो गया। यही नहीं, उस दिन ताप फिर बढ़ा ही नहीं। इससे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि चित्तकी यथेष्ट एवं प्रबल वृत्ति ही इस प्रकारके प्रयोगोंमें सफलताका कारण होती है। मन्त्रका जप साधकके चित्तकी वृत्तिको इस प्रकारकी बनानेमें बड़ा सहायक होता है।

दसवें मन्त्रका यह भाव है कि हमें अपने मनको बलवान् बनाना चाहिये। फिर कोई भूत-प्रेत उसपर अधिकार नहीं कर सकता और न हमारे शरीरमें किसी प्रकारका विष ही ठहर सकता है। उसका हटना निश्चित है।

बारहवाँ मन्त्र हमें यह बतलाता है कि यदि किसी पुरुष अथवा स्त्रीका शरीर एवं मुखाकृति सुन्दर न होनेके कारण उसके साथ दुर्व्यवहार होता हो तो उसे दीर्घकालतक पुनर्नवा-जड़ीका सेवन करना चाहिये। ऐसा करनेसे उसकी कुरूपता नष्ट हो जायगी और वह सबको प्यारा लगने लगेगा। पुनर्नवा कायाकल्प कर देती है।

तेरहवें मन्त्रका प्रयोग किसी व्याधिग्रस्त अङ्गके साथ अग्नि अथवा अन्य किसी सन्तप्त पदार्थका स्पर्श करानेके लिये किया जाता है, जिससे उस जगह दर्द न हो।

इसी प्रकार शल्य-क्रिया (operation)-में किसी अङ्गपर शस्त्रका प्रयोग करते समय उसे संज्ञाशून्य बनानेकी आवश्यकता होती है, जिससे उसमें दर्दका अनुभव न हो। इस प्रयोगको शस्त्रस्तम्भन कहते हैं।

सैन्यस्तम्भनके मन्त्रमें यह बतलाया गया है कि अपनी सेनाको कितने प्रकारसे बलवान् बनाना चाहिये, जिससे कि शत्रुकी सेना आगे बढ़नेका साहस न कर सके।

एक बीमारी ऐसी होती है जिससे पीड़ित होनेपर मनुष्य लगातार सोता ही रहता है, साँपके काट लेनेपर भी मनुष्यको निद्रा आने लगती है। ऐसी अवस्थामें निद्राको रोकनेके लिये निद्रास्तम्भन-मन्त्रका प्रयोग किया जाता है।

उड्डीशतन्त्रमें इनके अतिरिक्त और भी कई मन्त्र हैं जो किसी लौकिक प्रयोजनको लिये हुए हैं अथवा जिनका रोगशान्तिके लिये प्रयोग होता है। गोतमीय तन्त्रमें ईश्वरके प्रति प्रेमको जागृत करनेके लिये भी कई मन्त्र दिये हैं और महानिर्वाणतन्त्रमें हृदय तथा चित्त एवं आत्माकी शुद्धिके लिये अथवा पाशविक वृत्तिके नाश तथा ईश्वरीय तत्त्वके विकासके लिये भी अनेक मन्त्र हैं। मन्त्रोंके सम्बन्धमें इतना लिखना ही पर्याप्त होगा।

मन्त्रोंके सम्बन्धमें हम ऊपर जो कुछ कह आये हैं उसमें एक बात विशेष ध्यानमें रखनेकी यह है कि मन्त्र तभी सिद्ध होते हैं जब उनका मानसिक जप दिव्य भावके साथ सुषुम्णाके मार्गमें किया जाता है। इसके विपरीत यदि मनको एकाग्र किये बिना ही केवल जिह्वासे उनका जप होता है और साधकका मन पशुभावमें ही इधर-उधर भटकता है तो ऐसी अवस्थामें मन्त्रके बाह्य रूपका विचारके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता, जिससे उनके द्वारा फलसिद्धि नहीं होती अपितु वे व्यर्थ ही* जाते हैं।

यदि हम मन्त्रके बिना ही किसी विशिष्ट उद्देश्यके लिये अपने चित्तकी वृत्तिको उपयुक्त बना सकें तो फिर मन्त्रकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। मानसिक शक्ति ही वह वस्तु है जो यथेष्ट फल देनेवाली है। बिना मानसिक शक्तिके सिद्धि नहीं हो सकती, संसारमें जितने परिवर्तन होते हैं वे सब मानसिक शक्तिके आधारपर होते हैं। प्रत्येक आकारके पीछे एक सङ्कल्प होता है। आकार वास्तवमें सङ्कल्पका ही आकार है। आकार यन्त्र है और सङ्कल्प मन्त्र है। इसलिये प्रत्येक यन्त्र अथवा आकारका एक मन्त्र अथवा सङ्कल्प होता है। किसी सङ्कल्पको स्थिर करनेके लिये विचारके अनवरत अभ्याससे मनुष्य आकारका निर्माण कर सकता है। विचारकी स्थिरता सब ओरसे प्रकृतिका आकर्षण करती है। प्रकृति सङ्कल्पके आकारको भर देती है और उसे स्थूल रूप दे देती है। यही सिद्धान्त है जिसके द्वारा हम यह समझ सकते हैं कि तान्त्रिक एवं योगी किस प्रकार अपनी आवश्यकताके अनुसार सर्प, व्याघ्र, सिंह, मनुष्य अथवा किसी जड पदार्थका रूप धारण कर लेते हैं। हमें अबतक इस विषयकी जो कुछ भी थोड़ी-बहुत पुस्तकें मिली हैं उनमें कोई मन्त्र अथवा यन्त्र ऐसा नहीं

* गोतमीय तन्त्र १५। ७४-७५

मिला जिसके बलसे इस प्रकारके चमत्कार दिखाये जा सकें; किन्तु हमारा विश्वास है कि इस प्रकारका कोई मन्त्र अथवा यन्त्र अवश्य होना चाहिये जिससे उस साधकको, जो अपने जीवनमें इस प्रकारका अभ्यास करना चाहे, वह शक्ति प्राप्त हो सके।

हम मन्त्र तथा यन्त्रके सिद्धान्तकी यथेष्ट आलोचना कर चुके तथा मन्त्रोंकी और यन्त्रोंकी भी एक छोटी-सी सूची दे चुके। हम मन्त्रों तथा यन्त्रोंकी लम्बी सूची नहीं दे सकते; किन्तु जो लोग इस विषयमें रुचि रखते हों उन्हें यह बतला देना चाहते हैं कि वे मन्त्रमहोदधि नामक पुस्तक पढ़ें। उसके अन्दर अनेकों मन्त्रों तथा अट्ठानबे यन्त्रोंका वर्णन है।

मन्त्रोंके सिद्धान्त केवल तन्त्रशास्त्रमें ही नहीं हैं, किन्तु अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी उनका उल्लेख मिलता है। पाठकोंकी जानकारीके लिये हम इस विषयमें कुछ कहेंगे।

वेद एवं अन्य ग्रन्थोंमें मन्त्रोंका प्रयोग—

१—उड्डीशतन्त्रमें हमें एक ऐसे अञ्जनका प्रयोग मिलता है, जो मनुष्यको दूसरोंके द्वारा अदृश्य बना देता* है। अथर्ववेद (११। १०। १९)-में एक मन्त्र है जिसमें त्रिसन्धि (तीन जोड़वाले) नामक एक औजारका उल्लेख मिलता है, इसके प्रयोगसे शत्रुओंको एक ऐसा अन्धकार घेर लेता है जिससे वे हमारी गतिविधिको नहीं देख सकते। इसी प्रकार अथर्ववेद (११। ९। १)-में लिखा है कि युद्धमें हमारी युद्धसामग्री शत्रुओंके दृष्टिगोचर नहीं होनी चाहिये।

२—अथर्ववेद (१०। ६)-में शिवमणिका एक सुन्दर वर्णन मिलता है, जिसके बलसे देवतागण अपनी सारी कामनाओंके पूर्ण करनेमें समर्थ होते थे। प्रत्येक देवता अपने गलेमें इस मणिको बाँधे रहते थे और अपने मनोवाञ्छित फलको प्राप्त करते थे।

३—अथर्ववेद (८। ५)-में प्रतिसरमणिका वर्णन मिलता है। यह मणि वर्म अथवा कवचका काम देती है। युद्धमें शत्रुकी सेनाको जीतनेके लिये इसका उपयोग होता है। इस मणिको धारण करके मनुष्य चीते, सिंह अथवा साँड़का मनमाना रूप धारण कर सकता है। इसको धारण करनेवाला अजेय हो जाता है। इसके धारण करनेसे आयु, पशु एवं लक्ष्मीकी स्थिरता होती है।

४—अथर्ववेद (४। ७। १८)-में कृत्या नामक एक अन्तर्भूमिष्ठ (underground) विस्फोटक पदार्थका उल्लेख मिलता है, अपामार्ग एक ऐसी ओषधि है जो इस प्रकारके विस्फोटक पदार्थोंसे उत्पन्न हुए घावोंको अच्छा कर देती है।

५—अथर्ववेद (१। ३५। १-२)-में दाक्षायण नामके एक विशेष प्रकारके सोनेका वर्णन मिलता है जिसके धारण करनेवालोंकी आयु बढ़ जाती है तथा वे बलवान् एवं तेजस्वी हो जाते हैं। इस प्रकारके सुवर्णको शरीरपर धारण करनेवालेके सामने कोई राक्षस अथवा आततायी नहीं ठहर सकता।

६—अथर्ववेद (१। २९)-में एक अभिवर्त नामक मणिका उल्लेख मिलता है जो राज्यकी वृद्धिके लिये उपयोगमें लायी जाती है।

७—गोतमसूत्रमें एक सूत्र है—'**मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्।**' इससे यह सिद्ध होता है कि मन्त्रों तथा ओषधियोंमें वह शक्ति है जो बुद्धिद्वारा नहीं समझायी जा सकती।

उपर्युक्त प्रमाणोंसे तान्त्रिक सिद्धान्तकी भलीभाँति पुष्टि होती है। इस प्रकारके और भी अनेक उदाहरण हैं, किन्तु हमने केवल थोड़े-से ही उद्धृत किये हैं जो हमारे प्रयोजनके लिये पर्याप्त हैं।

तान्त्रिक ग्रन्थोंके प्रति समादर

हमने ऊपर एक स्थानपर बतलाया है कि तन्त्रशास्त्र योगशास्त्रका ही विस्तार है। यह वैसे तो एक वैज्ञानिक पद्धति है, किन्तु इसे हम धर्मशास्त्र भी कह सकते हैं, क्योंकि इसके द्वारा हमें आदिसे अन्ततक जीवनका एक सरल मार्ग मिलता है। इस मार्गपर चलनेसे हम जीवनके उस सर्वोच्च शिखरपर पहुँचते हैं जहाँ हम यह अनुभव करने लगते हैं कि हमारी स्थिति हमारे ही अन्दर है और जहाँ हमें ज्ञान अपरोक्षरूपसे प्राप्त होता है, न कि किसी माध्यमके द्वारा। उस परमपदपर पहुँचनेपर जीवात्माकी वह स्थिति हो जाती है जिसे मुक्ति कहते हैं। मुक्ति ही मनुष्य-जीवनका परम-पुरुषार्थ है। अधिकांश मनुष्योंके लिये मुक्ति-मन्दिरमें प्रवेश करनेका द्वार बिलकुल बन्द

* उड्डीशतन्त्र १०८—११०

था। किन्तु जब लोगोंमें मुमुक्षा पहलेकी अपेक्षा तीव्र हो गयी तब उन्होंने अपने कल्याणके लिये एक नया ही मार्ग तथा नये ही साधन ढूँढ़ निकाले। यह नया मार्ग आगमपथ है और नये साधन बीज एवं यन्त्र हैं।

तन्त्रोंमें ऐसा भी लेख[१] मिलता है कि जाति एवं धर्मको लेकर मनुष्य-मनुष्यमें कोई भेद नहीं है। सब लोग, यहाँतक कि शूद्र भी, आगमवीथीमें दीक्षित होनेके पूर्ण अधिकारी हैं, यद्यपि वेदोंके द्वारा अपने जीवनका कल्याण करनेका उन्हें अधिकार नहीं है। तन्त्रशास्त्रकी यह उदारता हमें बाध्य करती है कि हम उनका जितना आदर कर सकें, करें। इसीलिये तान्त्रिक प्रयोगोंका जनतामें इतना प्रचार हो गया है कि दूसरे प्रकारके प्रयोग जनसमाजमें इतना आदर नहीं पा सके।

उपसंहार

तन्त्रशास्त्र कोई जादूका खेल नहीं है। वह हमें उस वैज्ञानिक पद्धतिकी शिक्षा देता है जिसके द्वारा मनुष्य दैवी शक्तिका अर्जन कर सकता है। वह हमें कुण्डलिनी[२] योगको पूर्णतया एवं यथार्थ रीतिसे सिखलाता है। उस योगके द्वारा मनुष्य सिद्ध अथवा योगी बन सकता है। भारतीय वाङ्मयके ऐसे आदरणीय ग्रन्थोंको लोगोंने बिना ही देखे उनका बहिष्कार कर दिया है। हमें चाहिये कि हम उनकी सच्ची कद्र करें और उपरिनिर्दिष्ट सिद्धान्तके आधारपर उनके असली तात्पर्यको समझें।

दीक्षा-रहस्य, कुमारी-पूजा और आम्नायभेद

(सं० क०—पं० श्रीमेघराजजी गोस्वामी, मन्त्रशास्त्री, साहित्य-विशारद)

'दीक्षा' शब्दकी व्युत्पत्ति

यह शिवका तादात्म्य (एकरूपता) देती और आध्यात्मिक तीनों दोषोंको क्षीण करती है; इसलिये दीक्षा-तत्त्वार्थवेत्ताओंने इसे दीक्षा कहा है।

(रुद्रयामल)

यह परम ज्ञानको देनेवाली और पापपरम्पराका क्षय करनेवाली है; अतः आगमार्थके बलाबलसे इसे मन्त्र-शास्त्रमें दीक्षा कहा गया है।

(लघुकल्पसूत्र)

यह अत्यन्त ज्ञान देती और पाश-बन्धनको क्षीण करती है; अतः तत्त्व-चिन्तकोंने इसे दीक्षा कहा है।

(योगिनीतन्त्र—तृतीय भाग, छठा पटल)

प्रथम तो यह दिव्य ज्ञान देती है, फिर पाप क्षय करती है। इस कारण समस्त तन्त्र-ग्रन्थोंकी सम्मतिसे यह दीक्षा कही गयी है।

(विश्वसारतन्त्र—द्वितीय पटल)

दीक्षा-माहात्म्य

दीक्षासे बढ़कर न कोई ज्ञान है, न तप है और न समय है, इसलिये दीक्षा सबसे श्रेष्ठ है।

(पुरश्चरणरसोल्लास—प्रथम पटल)

दीक्षाके भेद

दीक्षा तीन प्रकारकी होती है। पहली आणवी, दूसरी शाक्तेयी और तीसरी शाम्भवी है; वह तत्काल मुक्ति देनेवाली है।

आणवी दीक्षाका लक्षण

शास्त्रके कथनानुसार मन्त्र, अर्चन, आसन, ध्यान, स्थापना, उपासना आदिसे युक्त दीक्षा आणवी कही गयी है।

शाक्तेयी दीक्षाका लक्षण

सिद्धिके लिये अपनी शक्तिका अवलोकन कर केवल उसीके बलपर—उपायान्तर न करके—शिशु-अवस्थामें ली हुई दीक्षा शाक्तेयी कहलाती है।

शाम्भवी दीक्षाका लक्षण

आचार्य और शिष्य दोनोंमें परस्पर फलाभिसन्धिके बिना ही गुरुके अनुग्रहमात्रसे शिवाज्ञासे शिवस्वरूपको व्यक्त करनेवाली जो दीक्षा होती है उसे शाम्भवी कहते हैं।

(षडन्वयमहारत्न)

शैव-आगममें परमात्मा शिवजी शाम्भवी, शाक्ती और मान्त्रीभेदसे तीन प्रकारकी दीक्षाका उपदेश करते हैं।

(वायवीयसंहिता)

गुरुके दर्शन, स्पर्शन और सम्भाषणमात्रसे जो

१-महानिर्वाणतन्त्र ३। ८२, ९१; ८। ८०, १८०।

२-गोतमीय तन्त्र ७। १३—१८।

जीवको तत्काल बोध होता है उसे ही शाम्भवी दीक्षा कहते हैं।

गुरु ज्ञानमार्गसे शिष्यके देहमें प्रविष्ट होकर ज्ञाननेत्रद्वारा जो उपदेश करता है उस ज्ञानवती दीक्षाको शाक्ती कहते हैं।

मण्डलके अन्दर कलश-स्थापन आदि करके जो क्रियावती दीक्षा होती है वही मान्त्री है।

(दीक्षाप्रकाश—प्रथम पटल)

ब्रह्माजीने पूर्वकालमें दीक्षाको चार प्रकारकी बतलाया है; उनका क्रमशः क्रियावती, कलावती, वर्णमयी और बोधमयी—इस रूपमें वर्णन किया गया है। सभी सम्पदा देनेवाली तथा शुभ हैं। (विश्वसारतन्त्र—उत्तरखण्ड)

(२)
कुमारी-निरूपण

एक वर्षकी उम्रवाली बालिका 'सन्ध्या' कहलाती है, दो वर्षवाली 'सरस्वती', तीन वर्षवाली 'त्रिधामूर्ति', चार वर्षवाली 'कालिका', पाँच वर्षकी होनेपर 'सुभगा', छः वर्षकी 'उमा', सात वर्षकी 'मालिनी', आठ वर्षकी 'कुब्जा', नौ वर्षकी 'कालसन्दर्भा', दसवेंमें 'अपराजिता', ग्यारहवेंमें 'रुद्राणी', बारहवेंमें 'भैरवी', तेरहवें वर्षमें 'महालक्ष्मी', चौदह पूर्ण होनेपर 'पीठनायिका', पन्द्रहवेंमें 'क्षेत्रज्ञा' और सोलहवेंमें 'अम्बिका' मानी जाती है। इस प्रकार जबतक ऋतुका उद्गम न हो तभीतक क्रमशः संग्रह करके प्रतिपदा आदिसे लेकर पूर्णिमातक वृद्धि-भेदसे कुमारी-पूजन करना चाहिये।

(रुद्रयामल—उत्तरखण्ड, छठा पटल)

अन्यत्र बृहन्नीलतन्त्र आदि ग्रन्थोंमें उपर्युक्त पाठ और नामोंसे कुछ विभिन्नता पायी जाती है। कुब्जिका-तन्त्रके सातवें पटलमें इसी विषयका यों वर्णन है—

पाँच वर्षसे लेकर बारह वर्षकी अवस्थातककी बालिका अपने स्वरूपको प्रकाशित करनेवाली कुमारी कहलाती है। छः वर्षकी अवस्थासे आरम्भकर नवेंतककी कुमारी साधकोंका अभीष्ट-साधन करती है। आठ वर्षसे लेकर तेरहकी अवस्था होनेतक उसे कुलजा समझे और उस समय पूजन करे। दस वर्षसे शुरूकर जबतक वह सोलह वर्षकी हो, उसे युवती जाने और देवताकी भाँति उसका चिन्तन करे।

विश्वसारग्रन्थमें कहा गया है—आठ वर्षकी बालिका गौरी, नौ वर्षकी रोहिणी और दस वर्षकी कन्या कहलाती है। इसके बाद वही महामाया और रजस्वला भी कही गयी है। बारहवें वर्षसे लेकर बीसवेंतक वह सभी तन्त्रग्रन्थोंमें सुकुमारी कही गयी है।

मन्त्रमहोदधिके अठारहवें तरङ्गमें इस प्रकार है—यजमानको चाहिये कि दस कन्याओंका पूजन करे। उनमें भी दो वर्षकी अवस्थासे लेकर दस वर्षतककी कुमारियोंका ही पूजन करना चाहिये। जो दो वर्षकी उम्रवाली है वह कुमारी, तीन वर्षकी त्रिमूर्ति, चार वर्षकी कल्याणी, पाँच वर्षकी रोहिणी, छः वर्षकी कालिका, सात वर्षकी चण्डिका, आठ वर्षकी शाम्भवी, नौ वर्षकी दुर्गा और दस वर्षकी कन्या सुभद्रा कही गयी है। इनका मन्त्रोंद्वारा पूजन करना चाहिये। एक वर्षवाली कन्याकी पूजासे प्रसन्नता नहीं होगी, अतः उसका ग्रहण नहीं है और ग्यारह वर्षसे ऊपरवाली कन्याओंका भी पूजामें ग्रहण वर्जित है।

कुमारी-पूजनका फल

जो कुमारीको अन्न, वस्त्र तथा जल अर्पण करता है उसका वह अन्न मेरुके समान और जल समुद्रके सदृश अक्षुण्ण तथा अनन्त होता है। अर्पण किये हुए वस्त्रोंद्वारा वह करोड़ों-अरबों वर्षोंतक शिवलोकमें पूजित होता है। जो कुमारीके लिये पूजाके उपकरणोंको देता है उसके ऊपर देवगण प्रसन्न होकर उसीके पुत्ररूपसे प्रकट होते हैं। (कुब्जिकातन्त्र)

कुमारी-पूजाका फल अवर्णनीय है, इसलिये सभी जातिकी बालिकाओंका पूजन करना चाहिये। कुमारी-पूजनमें जातिभेदका विचार करना उचित नहीं है। जाति-भेद करनेसे मनुष्य नरकसे छुटकारा नहीं पाता। संशयमें पड़ा हुआ मन्त्र-साधक अवश्य पातकी होता है। इसलिये भक्तको चाहिये कि देवीबुद्धिसे कुमारीकी पूजा करे, क्योंकि कुमारी सर्वविद्यास्वरूपिणी है—इसमें कोई सन्देह नहीं है। जहाँ कुमारीकी पूजा हो वह पृथिवीपर परम पावन देश है, उसके चारों ओर पाँच कोसतकका प्रान्त अत्यन्त पवित्र हो जाता है।

(योगिनीतन्त्र, पूर्वखण्ड, सत्रहवाँ पटल)

सभी बड़े-बड़े पर्वोंपर अधिकतर पुण्यमुहूर्तमें और महानवमी-तिथिको कुमारी-पूजन करना चाहिये। वस्त्र,

भूषण और भोजन आदिसे महापूजा करके मन्दभाग्य पुरुष भी विजय और मङ्गल प्राप्त करता है। पूजन तथा भोजन आदिसे ही कुमारी एक, दो और तीन बीज-मन्त्रोंकी सिद्धिका फल देनेवाली है—इसमें कोई सन्देह नहीं है। उन्हें फूल, फल, अनुलेप और बालप्रिय नैवेद्य आदि देकर उनकी सेवाभावमें ही प्रवृत्त हो जाय। कन्या ही सबसे बड़ी समृद्धि और सबसे उत्तम तपस्या है। वीर पुरुष कुमारी-पूजनसे कोटि गुना फल प्राप्त करता है। यदि कुलीन पण्डित कन्याको पुष्पाञ्जलि अर्पण करे तो वह पुष्प करोड़ों सुवर्णमय मेरुके समान हो जाता है। उस मेरुके दानका जो पुण्य है उसे वह उसी क्षण प्राप्त कर लेता है। जिसने कुमारीको भोजन कराया उसने मानो त्रिभुवनको तृप्त कर दिया। (यामल)

सम्पूर्ण कर्मोंका फल प्राप्त करनेके लिये कुमारी-पूजन करे। (कालीतन्त्र—ग्यारहवाँ पटल)

कुमारी-पूजासे मनुष्य सम्मान, लक्ष्मी, धन, पृथिवी, श्री, सरस्वती और महान् तेज प्राप्त कर लेता है। उसके ऊपर दसों महाविद्याएँ और देवगण प्रसन्न होते हैं—इसमें कोई भी सन्देह नहीं। कुमारी-पूजनमात्रसे पुरुष त्रिभुवनको वशमें कर सकता है और उसे परमशान्ति मिलती है; इस प्रकार कुमारी-पूजन समस्त पुण्य-फलोंको देनेवाला है।

(रुद्रयामल—उत्तर खण्ड, सातवाँ पटल)

महान् भय, दुर्भिक्ष आदि उत्पात, दुःस्वप्न, दुर्मृत्यु तथा अन्य भी जो मनुष्योंके लिये दुःखदायी समय हैं वे सभी कुमारी-पूजनसे असम्भव हो जाते हैं। प्रतिदिन क्रमानुसार विधिपूर्वक कुमारी-पूजन करना चाहिये। पूजित हुई कुमारियाँ विघ्न, भय और अत्यन्त उत्कट शत्रुओंको भी नष्ट कर डालती हैं। पूजा करनेवालेके ग्रह, रोग, भूत, बेताल और सर्पादिसे होनेवाले भय मिट जाते हैं। (बृहन्नीलतन्त्र)

कुमारी साक्षात् योगिनी और श्रेष्ठ देवता है, विधियुक्त कुमारीको अवश्य भोजन कराना चाहिये। कुमारीको पाद्य, अर्घ्य, धूप, कुंकुम और शुभ चन्दन आदि अर्पण करके भक्ति-भावसे उसकी पूजा करे। जो कन्याकी पूजा करता है उसके ऊपर असुर, दुष्ट, नाग, दुष्ट ग्रह, भूत, बेताल, गन्धर्व, डाकिनी, यक्ष, राक्षस तथा अन्य सभी देवता, भूः, भुवः, स्वः, भैरवगण, पृथिवी आदि सब भूत, चराचर ब्रह्माण्ड, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव—ये सभी प्रसन्न होते हैं। (रुद्रयामल)

(३)

आम्नाय-भेदसे शक्तिकी उपासना

आम्नाय छः हैं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः। शिवजी कहते हैं—

जब पूर्वाम्नाय हो तो पूर्व-दिशाकी ओर मुख करके मन्त्र पढ़े और भावना करे कि मैं भगवान् सदाशिव हूँ। यह आचार कहा गया है।

इसी प्रकार दक्षिणाम्नाय होनेपर दक्षिणाभिमुख और उत्तराम्नाय हो तो उत्तराभिमुख स्थित होना चाहिये। हे देवि! मुँह ऊपरकी ओर करके जो मैंने तुम्हारे निकट मन्त्रका उच्चारण किया था वही ऊर्ध्वाम्नाय कहा गया है। यह देवताओंको भी दुर्लभ है।

हे गिरिराजकुमारी! जिस आचरणसे युक्त हो मैंने मुँहमें मन्त्रोच्चारण किया था, हे सुमध्यमे! वही अधःआम्नाय है—यह मैं तुमसे सत्य-सत्य कहता हूँ। पश्चिमाभिमुख होकर बैठना पश्चिमाम्नाय है। इस तरह छः आम्नायोंका वर्णन किया गया है। (समयाचारतन्त्र—द्वितीय पटल)

आम्नाय-भेदसे शक्ति-स्वरूपोंकी विभिन्नता

अपने भेदोंसहित श्रीविद्या, तारा, त्रिपुरा, भुवनेशी और अन्नपूर्णा—ये पूर्वाम्नायकी देवता हैं (अर्थात् पूर्वाम्नायमें इन्हीं शक्तियोंकी उपासना करनी चाहिये)।

बगलामुखी, वशिनी (बालभैरवी), त्वरिता, धनदा और महिषासुरविनाशिनी महालक्ष्मी—ये दक्षिणाम्नायमें कही गयी हैं।

महासरस्वती, विद्या, वाग्वादिनी, परा, प्रत्यङ्गिरा और भवानी—इनका पश्चिमाम्नायमें वर्णन है।

भेदोंसहित कालिका और तारा, मातंगी, भैरवी, छिन्नमस्ता तथा धूमावती—ये उत्तर-आम्नायकी देवता कही गयी हैं। कलिमें ये शीघ्र फल देनेवाली हैं। सम्पूर्ण भेदोंसहित जिस कालिकाकी चर्चा की गयी है, उनमेंसे द्वाविंशत्यक्षरी ही दक्षिणाम्नायकी देवता है। इनके अतिरिक्त पराविद्या है, जो कि अन्य विद्याओंसे छिपायी नहीं जा सकती; उसी पराका प्रसाद-मन्त्र ऊर्ध्वाम्नायमें वर्णित है। वागीश्वर आदि देवता अधःआम्नायमें कहे गये हैं। (निरुत्तरतन्त्र—प्रथम पटल)

सर्वोपरि महाशक्ति

(लेखक—साहित्यरत्न पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस')

देवीभागवतमें ब्रह्माजीने भगवतीसे विनयपूर्वक पूछा है कि ''जिस ब्रह्मको वेद '**एकम्**' '**अद्वितीयम्**' कहकर प्रतिपादन करते हैं, क्या वह ब्रह्म आप ही हैं? यदि आप हैं तो आप पुरुष हैं या स्त्री?'' महाशक्तिने कहा—

सदैकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदैव ममास्य च।
योऽसौ साहमहं योऽसौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात्॥

मेरा और ब्रह्मका सदा एकत्व है, किसी प्रकारका कभी भेद नहीं रहता। जो वे हैं वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही वे हैं। केवल बुद्धिविभ्रमसे भेद प्रतीत होता है।

भेद उत्पत्तिकाले वै सर्गार्थं प्रभवत्यज।
दृश्यादृश्यविभेदोऽयं द्वैविध्ये सति सर्वथा॥
नाऽहं स्त्री न पुमांश्चाहं न क्लीबं सर्गसंक्षये।
सर्गे सति विभेदः स्यात् कल्पितोऽयं धिया पुनः॥
अहं बुद्धिरहं श्रीश्च धृतिः कीर्तिः स्मृतिस्तथा।
श्रद्धा मेधा दया लज्जा क्षुधा तृष्णा तथा क्षमा॥

'उत्पत्तिके समयमें सृष्टिके अर्थ ही भेद प्रतीत होता है; यह दृश्य, अदृश्यका विभेद—द्वैतभाव सदैव रहता है। अर्थात् सृष्टि-दशामें ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति—दोनों स्वतन्त्ररूपसे प्रकट होते हैं। जैसे वक्तृता देते समय वक्ता और वक्तृत्वशक्ति अलग प्रतीत होती है और वक्तृताके पश्चात् वक्तृत्वशक्ति वक्तामें लीन हो जाती है। प्रलय हो जानेपर मैं न स्त्री हूँ, न पुरुष और न क्लीब हूँ; केवल सृष्टिकालहीमें बुद्धिद्वारा कल्पित भेद दृष्टिमें आता है। सृष्टि-विकासावस्थामें मैं बुद्धि, श्री, धृति, कीर्ति, स्मृति, श्रद्धा, मेधा, दया, लज्जा, क्षुधा, तृष्णा और क्षमा हूँ। आगे चलकर कहा है—मैं कान्ति, शान्ति, पिपासा, निद्रा, तन्द्रा, जरा, अजरा, विद्या, अविद्या, स्पृहा, वाञ्छा, शक्ति और अशक्ति हूँ।'

दर्शनशास्त्रोंमें भी महाशक्तिका वर्णन 'ज्योति', 'प्रकृति' और 'शक्ति' नामोंके साथ किया गया है। यथा—

शक्तेश्चेति=शक्तिसे भी

ततः प्रकृतेः=उससे प्रकृतिका

सांख्य

ज्योतिश्चरणाभिधानात्=ज्योतिचरणके अभिधानसे।

ज्योतिषि भावाच्च=ज्योतिमें होनेसे भी।

ज्योतिर्दर्शनात्=ज्योति है देखनेसे।

वेदान्त

प्रकृतेस्तथात्वम्=प्रकृति भी उसी प्रकारकी है।

दैवी मीमांसा

बीज अङ्कुरमें, अग्नि ज्वालामें, जल तरलत्वमें, आकाश अवकाशमें प्रादुर्भूत है। उसी प्रकार ब्रह्म-विकास महाशक्तिमें प्रकट है। बीजमें वृक्ष उत्पन्न करनेकी शक्ति है, पर बीजमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वह बिना वृक्षके सीधे अपनेसे ही दूसरा बीज उत्पन्न कर सके। उसी प्रकार बिना महाशक्तिके ब्रह्म सृष्टिका विकास कर ही नहीं सकता। निराकार, निर्गुण, अचिन्त्यसे महाशक्ति प्रकट होती है और वही सृष्टिका सृजन करती है।

ब्रह्म पुरुषवाचक है तो उसका नाम महाशक्ति स्त्रीवाचक क्यों रखा गया? कोई भी पदार्थ हो वह अन्य पदार्थकी सहायता प्राप्तकर प्रादुर्भूत होनेमें समर्थ होता है। जैसे बिजली देखनेमें तो एक पदार्थ मालूम पड़ती है, पर वह दो शक्तियोंमें विभाजित है—आकर्षण, अपसरण। दूसरे शब्दोंमें वे धन और ऋणके नामोंसे पुकारी जा सकती है।

एक ही तरहकी बिजली प्रकाश उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होती। एक प्रकारकी बिजली जस्ता-धातुके अन्तर्गत है और दूसरी तरहकी ताँबेके पास है। जब दोनों एक तारसे जोड़ दी गयीं, तब बिजली एक तारसे दूसरे तारकी ओर जाती है।

उसी प्रकार आक्सिजन और हाइड्रोजन—दो वाष्पीय पदार्थ हैं। वे रूप-रंग और स्वादरहित होते हैं और वायुसे भी हलके हैं। जब इन दोनोंका एक-दूसरेके साथ मिश्रण होता है, तब जलकी उत्पत्ति होती है और जब ये दोनों पदार्थ पृथक् हो जाते हैं, तब जल बनना बन्द हो जाता है।

इसी भाँति सृष्टिका प्रत्येक पदार्थ दो जातियोंमें बँटा है, क्योंकि ब्रह्म सृष्टिके विकासकालमें महाशक्ति-रूपमें प्रादुर्भूत हो प्रलयपर्यन्त दो रूपोंमें रहता है और

लयकालमें फिर ऐक्य-घनत्व-दशामें लीन हो जाता है। सूक्ष्म बीज स्वयं बढ़कर स्थूल नहीं हो जाता, प्रत्युत उसके रूप और आकारादिसे नितान्त भिन्न अङ्कुर निकलता है और वह दिनोंदिन बढ़ता रहता है। उसमें शाखाएँ-उपशाखाएँ, पत्र-पल्लव, फूल-फल सभी होते हैं। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म-बीजसे महाशक्तिरूपी अङ्कुर निकलता है और वही सारी सृष्टिके सृजनका कारण है। कोमलता, सुन्दरता, मधुरता, स्निग्धता, तरलता, स्वच्छता, सरसता-गुण स्त्री-भागसे सम्बन्ध रखते हैं और कठोरता, कुरूपता, कटुता, घनत्व, गुरुत्व, मलिनत्वादिका पुरुष-भागसे सम्बन्ध है। इन गुणोंसे सचराचर व्याप्त है। जिस भागके पदार्थोंकी अधिकता किसी जड़ अथवा चेतनमें होती है वह उसी भाग-सम्बन्धी जातिका एक व्यक्ति बन जाता है। जैसे सुन्दरता, कोमलता आदि गुण अधिक संख्यामें होनेसे स्त्री, और कठोरतादिसे पुरुष होता है। पर ऐसा भी होता है कि कोमलतादिके साथ किसी स्त्रीमें कठोरता भी कुछ अधिक मात्रामें पायी जाती है, जिससे उसमें पुरुष-गुण भी मिलते हैं। उसीके साथ कोमलतादि गुणोंसे पुरुषमें स्त्रीके हाव-भाव दृष्टि आते हैं, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण जनखे हैं।

अतः महाशक्तिने सृष्टिका कार्य तीन भागोंमें बाँटा है—सृजन, पालन और संहार। उनके लिये तीन भिन्न देवताओंकी रचना की—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ब्रह्माको सृजनका काम सौंपा गया, इस कार्यमें विधि (नियम)-की अत्यन्त आवश्यकता है। प्रत्येक तत्त्वको अमितांशोंमें विभाजित करना और उसके प्रत्येक अंशको अन्य प्रत्येक तत्त्वके अमितांशोंमें बाँटना नियम-मूर्तिका ही काम है। इसीलिये ब्रह्माजीका एक नाम 'विधि' भी है। ऐसी ही तत्त्वोंकी विशद व्याख्या वैशेषिक दर्शनमें की गयी है।

विष्णुजीको पालनका काम दिया गया है। इनको भी कम माथापच्ची नहीं करनी पड़ती। जैसे पिताको बच्चेके साथ प्रेम और कठोरता दोनों व्यवहार करने पड़ते हैं, वैसे ही इनका भी व्यवहार जीवोंके साथ है। यदि जीव विधानानुकूल चलता है तो उसे ऊँचे उठाते हैं और विपथगामी होनेपर कर्मानुसार दण्ड देते हैं। जब बालक ताड़ित होनेपर भविष्यमें बुरे कामोंसे बचनेके लिये हाथ जोड़कर पिताको विश्वास दिलाता है, तब पिता उसे छोड़ देता है। इसी भाँति जब कोई पापी अपने पापोंके कारण कष्ट पाता हुआ भगवान्‌का स्मरण करता है, तब वह नियम-पद्धतिको ज्यों-की-त्यों रखते हुए उसके दुःखोंमें इतनी न्यूनता कर देते हैं कि वह नहींके समान हो जाते हैं।

महाशक्तिने शिवजीको संहारका काम सौंपा है। विष्णुजीमें तो दया है ही, पर शिवजी दयाके सागर हैं। यह किसी जीवको दुखी देख ही नहीं सकते। इसलिये यह महादेव सृष्टिसे विरत रहकर सदा ब्रह्म-ध्यानमें मग्न रहते हैं। यदि कोई भाग्यवश इनके पास पहुँच गया तो वह तत्काल उसके मनोरथको पूर्ण करते हैं। इनको इसकी चिन्ता नहीं है कि इसके कर्मोंके आधारपर ब्रह्माजीने उस योनिमें, जिसमें वह प्राप्त है, जन्म दिया है और किन पापोंसे उसे वे दुःख मिल रहे हैं, जिनसे वह पीड़ित है। क्योंकि इनका अधिकार सृजन और पालनसे पृथक् है। अर्थात् यह सृष्टिका संहार करते हैं। जो विराट् सृष्टिका संहार कर सकता है वह व्यक्तिका भी नाश करनेमें समर्थ माना जा सकता है। इतना ही नहीं, प्रत्युत उसीके साथ व्यक्ति-बद्धताका भी नाश उसके द्वारा हो सकता है। यदि अग्नि किसी वृक्षकी छालको भस्म करती है तो उसके रसको क्यों न भस्म कर सकेगी? जब शिवजी सृष्टिका नाश करते हैं तो दुःखोंके भी नष्ट करनेमें समर्थ हैं। शङ्का की जा सकती है कि शिवजीमें संहार-शक्ति होनेसे वे दुःख नाश कर सकते हैं, पर सुख देना उनके अधिकारमें नहीं है। यदि तालाबमें पानी सूख जाता है तो मिट्टी स्वतः देख पड़ने लगती है। जब पवनका उष्ण-प्रवाह तुषाराचलको प्राप्त हो नष्ट होता है तब बिना किसी यत्नके पवन-प्रवाहमें शीत-गुण आ जाता है। नींदके चले जानेपर जागरणावस्था आप-ही-आप आ जाती है। अतः एक पदार्थके नष्ट होनेपर उसके प्रतिद्वन्द्वी वस्तुके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वरं वह स्वतः सन्निकट रहता है। जब शिवजीद्वारा पाप तथा दुःख नष्ट कर डाले जाते हैं तो पुण्य और सुख स्वतः उस व्यक्तिके पास पहुँच ही जाते हैं।

विष्णुजीको तो सृष्टि-चक्रकी गतिका विचार करना पड़ता है। इसलिये वह विधानानुकूल ही काम करते हैं। क्योंकि सृष्टि-चक्रकी गतिमें किसी विशेष व्यक्तिके लिये भेद नहीं डाला जा सकता। जैसे मशीनमें किञ्चित्

अन्तर पड़ जाता है तो वह बन्द हो जाती है, उसी भाँति सृष्टि-चक्रकी दशा समझनी चाहिये। पर शिवजीको इसकी जरा भी चिन्ता नहीं है।

उन्हें सृष्टि-रक्षासे काम नहीं, काम है तो उसके संहारसे। अस्तु, जो कुछ वह चाहते हैं करते हैं, और उनके किये हुए कार्यको ब्रह्मा तथा विष्णुजीको मानना पड़ता है। क्योंकि वह संहार करनेके अधिकारी हैं, चाहे जिस वस्तुका संहार करें। यदि दुःख एवं पापोंका नाश करते हैं तो वह संहारके अन्तर्गत ही है।

इन त्रिदेवोंको महाशक्तिने एक-एक देवी भी दी है—

श्वेताम्बरधरां दिव्यां दिव्यभूषणभूषिताम्।
वरासनसमारूढां क्रीडार्थं सहचारिणीम्॥
इत्युक्त्वा मां जगन्माता हरिं प्राह शुचिस्मिता।
विष्णो व्रज गृहाणेमां महालक्ष्मीं मनोहराम्॥
गृहाण हर गौरीं त्वं महाकालीं मनोहराम्।
कैलासं कारयित्वा च विहरस्व यथासुखम्॥

हे ब्रह्मा! यह श्वेत वस्त्रधारिणी दिव्या दिव्यभूषणभूषिता श्रेष्ठ आसनपर समारूढ तुम्हारे क्रीड़ाके लिये सहचारिणी है।

ब्रह्माजी कहते हैं कि मुझको इस प्रकार कहकर जगन्माता महामाया पवित्र और मन्द हास्य करती हुई विष्णुको आज्ञा करने लगी—हे विष्णु, जाओ इस मनोहरा महालक्ष्मीको ग्रहण करो।

महामायाने कहा—'हे हर! तुम इस महाकाली मनोहरा गौरीको ग्रहण करो और कैलास बनवाकर यथेच्छ विहार करो।'

इन तीनों देवियोंके भी कार्य उनके पतियोंके कार्योंके अनुकूल हैं। इन त्रिदेव तथा त्रिदेवियोंसे अनेक देवी-देवताओंकी सृष्टि हुई और उनसे ऋषि और मुनि उत्पन्न हुए, जिनकी सन्तान सारे भूण्डलमें फैली है। अस्तु, सबका आदि-कारण महाशक्ति है।

पुरुष-देवताकी अपेक्षा स्त्री-देवता अति शीघ्र प्रसन्न होता है, क्योंकि उसमें करुणा अधिक होती है। जो गुण मातामें पाये जाते हैं वे सब स्त्री-देवताके हैं। मनुष्य-जातिकी स्त्रीमें राजस एवं तामसका बाहुल्य रहता है, इससे उसमें शुद्ध सात्त्विक करुणाका उदय हो नहीं पाता; पर जो भगवती गुणातीत है उसकी करुणाकी कथा क्या कही जाय? उसके सम्मुख होनेकी देर है, फिर तो वह कृपा-वर्षासे भक्तको पूर्ण कर देती है। एक सत्य घटनाका उल्लेख यहाँ प्रयोजनातिरेक न होगा। दीन लेखकके एक आत्मीय बड़े ही भावुक हैं। उनकी इच्छा हुई कि वह भगवतीके दर्शन साक्षात् करें। इस साधनामें वह दो-दो बजे रात्रितक शून्य स्थानमें बैठे भगवतीकी आराधना करते नेत्राश्रु बहाते थे। एक रात्रिमें लगभग चार बजे उन्होंने स्वप्न देखा कि उनकी कन्या, जो लगभग आठ वर्षकी थी, उसने उनसे कहा कि आपको देवीजीके दर्शन कैसे हो सकते हैं, क्योंकि आप अभी काम-विकारसे मुक्त नहीं हो सके। उस दिनसे उन्होंने दर्शन करनेका हठ छोड़ दिया और बतायी हुई कमीको पूरा करनेके प्रयत्नमें लग गये और अब उन्हें दैवी सहायता मिलती देख पड़ती है। वह बहुत कुछ साधनपथमें अग्रसर हो रहे हैं। इसीके साथ इस बातको भी अङ्कित कर लेना चाहिये कि भगवती कृपामूर्ति अवश्य है। पर उनसे जो कोई राजस अथवा तामस कार्योंको कराना चाहता है तो वह अपनी ऐसी धृष्टताका दण्ड भी पाता है। बीस-पचीस वर्षकी बात है कि एक मुंशीजी रायबरेली-जिलेकी एक रियासतके निकट एक पाठशालामें अध्यापक थे। उन्हें रियासतसे खुराक मिलती थी, किन्तु गेहूँ और सफेद चावलोंकी कमी होनेसे राजासाहबने अपने मोदीको आज्ञा दी कि पसाही (जो तालाबमें पैदा होती है)-के चावल दिये जायँ। मुंशीजीने आटा लेनेका हठ किया, पर मोदीने दिया नहीं। इसपर मुंशीजी रुष्ट हो गये। वे कुछ कविता भी कर लेते थे, बेचारे मोदीके ऊपर कराल कालिकाका आह्वान करने लगे। इसे मोदीने सुना, पर उसने कहा—

'मोर कसूर नहीं है, राजासाहबका हुकुम है। का देवी नहीं जनतीं।'

वह न्याय-पथपर था, उसका बाल बाँका नहीं हुआ। उलटे मुंशीजीके ऊपर एक दीवाल फट पड़ी और तीन महीनेतक चारपाईपर पड़े रहे। कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवतीसे राग-द्वेषके कार्यके लिये कभी प्रार्थना न करनी चाहिये, प्रत्युत जीवन-मरणसे छुट्टी पानेके लिये। यदि कोई संसारसे पार होनेके लिये उनकी सेवा करता है तो उसमें तमोगुण एवं रजोगुणका ह्रास होता रहता है और उसीके साथ सत्त्वगुणका अंश

बढ़ता है। अन्तमें भगवतीके कृपा-प्रभावसे वह गुणातीत होकर जन्म-मरणसे छूट जाता है।

स्त्री-देवता भगवतीमें सरलता अधिक है और उसीके साथ दया भी; इधर मातृस्नेह अधिकतर होनेसे ध्यानके साथ प्राकृत प्रेम भी देवीजीके साथ अधिकतर होता है। उधर भगवतीके भक्तोंके छोटे-से-छोटे कामोंमें दैवी सहाय मिलती देखी गयी है। अन्य देवता तो अपने अधिकारके अन्तर्गत ही कृपा कर सकते हैं। परन्तु इनमें रचना, पालन और संहार तीनों शक्तियाँ वर्तमान हैं। यदि शुद्ध हृदयसे सप्रेम आराधना की जाय तो भगवती शीघ्र प्रसन्न होकर साधकके मनोरथको पूर्ण करती हैं। यह लिखी-पढ़ी बात नहीं, प्रत्युत व्यवहारानुभवसिद्ध है।

तारा-रहस्य

(लेखक—श्रीलक्ष्मीनारायण हरिचन्दन जगदेव राजा बहादुर)

संसारमें 'तारा' शब्दकी महत्ता और प्रचार बहुत बढ़ गया है। इससे यह स्पष्ट है कि जो भक्तोंको संसारके बन्धनों, जगत्के सङ्कटों और विपदाओंसे मुक्त करती है वही 'तारा' है, जिसका सरल अर्थ है, तारनेवाली अथवा उबारनेवाली।

जब महामाया सन्तप्त संसारकी रक्षा करनेके लिये उत्सुक हुई तो उसने काली, तारा आदि दस रूप धारण किये! इन्हीं दस रूपोंसे आगे चलकर असंख्य रूप प्रकट हुए और उन्होंने संसारको अनेक विपत्तियोंसे बचाया! इसका प्रमाण मार्कण्डेयपुराणमें मिलता है। नीलतन्त्रमें महामायाके रूपका वर्णन यों है—

ज्वलत्पावकज्वालजालाभिभास्व-
च्चितामध्यसंस्थां सुपुष्टां सुखर्वाम्।
शवं वामपादेन कण्ठे निपीड्य
स्थितां दक्षिणेनाङ्घ्रिणाङ्घ्रिं निपीड्य॥

वह धधकती हुई अग्निकी प्रखर ज्वालामें रहती है। उसके शरीरका गठन दृढ़ तथा अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट है। शवकी गर्दनपर उसका बायाँ पैर और टाँगोंपर दाहिना पैर सुस्थित है। वह सुस्थिर एवं मौन होकर खड़ी है! इसी रूपमें वह भक्तोंके कष्ट, विपदा, शोक, चिन्ताका हरण करती है—दुःख और विपदाएँ अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ताप मनुष्योंको अग्निकी उग्र लपटोंके समान बराबर जलाया करते हैं। यह सभी मानते हैं कि विपदाओंमें पड़कर मनुष्य अपने कर्तव्य-धर्मका सम्यक् पालन नहीं कर सकता। यदि विपदाओंसे छुटकारा न हुआ तो मनुष्य अशक्त हो जाता है। अतः यह परम आवश्यक है कि उनसे छुटकारा पाया जाय! जब ये तीनों प्रकारके दुःख मनुष्यपर भयानक रूपमें आक्रमण करते हैं तब उसे देवी-देवता बचा नहीं सकते। ऐसे समय माँ जगदम्बा 'तारा'-रूपमें मनुष्योंकी रक्षा करती है। इसी हेतु उसके इस रूपको 'भगवती'—विपद्विदारिणी कहा गया है।

उसने यही जतलानेके लिये प्रबल रूप धारण किया है कि वह भक्तोंको विपदाओंसे बचानेके लिये तैयार है।

जिस श्लोकको हम पहले उद्धृत कर आये हैं उसमें 'शव' शब्दका अर्थ है विपत्तिरूप शत्रु। तात्पर्य यह कि एक बार जब देवी भक्तको चिन्ताओंसे मुक्त कर देती है तो पुनः चिन्ताएँ उसे कभी भी सता नहीं सकतीं।

प्रत्यालीढपदार्पिताङ्घ्रिशवहृद् घोराट्टहासारवा
खड्गेन्दीवरकर्तृखर्परभुजा हुङ्कारबीजोद्भवा।
खर्वा नीलविशालपिङ्गलजटाजूटोग्रनागैर्युता
जाड्यं नश्य कपालिके! त्रिजगतो हन्त्युग्रतारे स्वयम्॥

यहाँ **'घोराट्टहासारवा'** इस विशेषणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसे सदैव भक्तको सङ्कटोंसे बचानेके लिये चौकन्ना नहीं रहना पड़ता, अपितु यह आप-ही-आप उसके द्वारा हो जाता है। **'खड्गेन्दीवरकर्तृखर्परभुजा'** से यह स्पष्टरूपसे विदित होता है कि भक्तको बचानेके लिये वह सदैव तत्पर रहती है। 'सप्तशती-चण्डीपाठ' में यह लिखा है कि जब कभी देवता शत्रुओंसे पीड़ित होते हैं, वह उनके बीच प्रकट होती है। उसका नाम 'खर्वा' है क्योंकि वह एक पलमें, केवल देखनेमात्रसे शत्रुओंके गर्वको खर्व कर देती है। प्रलयके समय वह बहुत ही विकराल रूप धारण करती है। उस समय वह 'काली'-रूपमें होती है—अत्यन्त विकराल काला रूप। सिरपर जटाएँ हैं, जिसमें भयानक सर्प लिपटे हुए हैं—

इस रूपमें वह महामाया दुर्गा स्वर्ग, मर्त्य और पाताललोक-का संहार करती है; साथ-ही-साथ भक्तोंकी विपदाको भी भस्म कर देती है।

वह विश्वकी जननी है, संसारका मूल है। उसीसे विश्वके स्रष्टा ब्रह्मा, शासक विष्णु और नाशक रुद्रका प्रादुर्भाव हुआ है। उसे 'महामाया' कहते हैं। वेद उसे 'आदिशक्ति' बतलाते हैं—

ब्रह्मतरो जय तारिणि मुक्ते
ब्रह्मविष्णुशिवशाखायुक्ते ।
मोक्षफलं फलमद्भुतसरसं
नित्यानन्दमये कुरु कुरु शम्॥

और भी—

किमन्यन्महेशि! प्रियत्वेन देवा
भवत्पादधूलीलवैकेन देवाः।
त्वया यन्न सूत्रीयपुत्रीस्वरूपो
निरीहो नरीनर्त्यसौ विश्वरूपः।
त्वयैवोज्जिहीते परेशोऽपि शक्त्या
नमामीश्वरि! त्वामहं देवि भक्त्या॥

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

'ऊपरके प्रमाणोंसे यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि भगवती महामायाने विश्वकी उत्पत्ति, नियमन और संहारके लिये ब्रह्मा, विष्णु और महेशको उत्पन्न किया। इन्हीं तीनों देवताओंसे सत्, रज, तम निकले। इन्हीं तीन गुणोंसे सभी जीव बँधे हुए हैं। इन्हीं गुणोंमें उलझकर जीव यह समझता है कि संसार सुखमय है और इसमें रहनेसे आनन्द मिलेगा। परन्तु हाय! यहाँ सुख कहाँ, तृप्ति कहाँ? यह जगत् तो दुःख और चिन्ताका आगार है। जब जीव ज्ञानका प्रकाश पाता है तब उसे इस 'दुःखालय अशाश्वत' जगत्का सच्चा बोध होता है और तब वह समझता है कि अरे, यहाँ तो दुःख-ही-दुःख है। ज्ञानकी इसी ज्योतिसे, जब वह सत्य-स्वरूपको जान जाता है—वह जन्म-मरणके बन्धनोंको छिन्न-भिन्न कर देता है। इस प्रकार वह माता भगवतीका कृपा-पात्र हो जाता है, इसी कृपाके सहारे वह सायुज्यमुक्ति प्राप्त कर लेता है। इसी अवस्थामें वह सर्वत्र साम्य-स्थितिका बोध करता है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

जैसा कि हमारे आर्य-ऋषियोंने कहा है, जो भूत, भविष्यत् और वर्तमानको जानते थे—ऐहिक मुक्ति पारत्रिक मुक्तिसे सरल है; क्योंकि पहले प्रकारकी मुक्ति तो थोड़े-से सद्गुणोंके सञ्चयसे ही प्राप्त हो सकती है, परन्तु दूसरे प्रकारकी मुक्तिके लिये तो यह आवश्यक हो जाता है कि समस्त सत्त्व शुद्ध हो जाय। आजकलके कुछ नास्तिक यह सोचते हैं कि ऐहिक मुक्तिका जो साधन आजकल प्रचलित है वह सर्वथा क्रियासाध्य नहीं। परन्तु बात वस्तुतः वैसी है नहीं। यदि हम तारा-मन्त्रके आश्चर्यजनक प्रभावको ठीक-ठीक समझ लें तो हम यह जान जायँगे कि ऐहिक मुक्ति प्राप्त करना बहुत सरल है।

लक्ष्मीः सिद्धिगणाश्च पादुकमुखाः सिद्धास्तथा वारिणां
स्तम्भश्चापि रणाङ्गणे गजघटास्तम्भस्तथा मोहनम्।
मातस्त्वत्पदसेवया खलु नृणां सिध्यन्ति ते ते गुणाः
कान्तिक्लान्तमनोभवः स भवति क्षुद्रोऽपि वाचस्पतिः॥

इसमें आश्चर्य ही क्या कि जो भक्त कठोर तपश्चर्याके द्वारा भगवतीका कृपापात्र बन जाता है वह सायुज्यमुक्ति भी प्राप्त कर ले? अपने आर्य-ऋषियोंके बताये हुए साधनों तथा उनके इतिहासोंको देखकर हम इस बातका अनुमान कर सकते हैं कि मन्त्रों तथा दूसरे उपायोंसे आश्चर्यकारी लाभ होता है। जब साधारण मन्त्रोंसे आश्चर्यजनक लाभ होता है तो श्रीहर्ष-जैसे दिग्गज मनीषी कवियोंके अनुभूत चिन्तामणि मन्त्रोंमें संशयके लिये कदापि गुंजाइश है ही नहीं।

कीर्त्तिं कान्तिञ्च नैरुज्यं सर्वेषां प्रियतां व्रजेत्।
विख्यातिञ्चापि लोकेषु भुक्त्वान्ते मोक्षमाप्नुयात्॥

जगज्जननी जगदम्बाकी पूजा तीन प्रकारकी है—सात्त्विक पूजा, राजस पूजा और तामस पूजा। इनमेंसे कामनारहित सात्त्विक भावकी पूजा सत्त्वगुणसे होती है। इसके लिये पशु-बलिकी न चिन्ता ही करनी चाहिये और न उसकी आवश्यकता ही है। भक्त अपनी सारी इच्छा भगवतीकी इच्छामें लय कर देता है, अतः फलकी प्राप्ति भी भगवतीकी इच्छापर ही निर्भर है। सर्वोत्तम पूजा यही है। इस प्रकारकी उपासनासे न केवल भक्तोंको ही लाभ होता है अपितु दूसरे भी इससे कल्याण-लाभ करते हैं। इससे संसारकी कोई क्षति नहीं होती। राजसिक पूजामें भिन्न-भिन्न प्रकारकी बुराइयाँ

और दुर्गुण आ जाते हैं, जिससे संसारका अहित होता है। बहुत-से लोग उपासनाका मूल-तत्त्व न समझ सकनेके कारण आसक्तिपूर्वक मत्स्य, मांस, मदिरा आदिका सेवन करते हैं। साधन तो करते हैं सांसारिक सुख-भोगोंका और समझते हैं कि वे देवीकी उपासना करते हैं। यह तामसिक उपासना है और इसका समर्थन शास्त्रोंने नहीं किया है।

देवीकी उपासनाके लिये दिव्य पदार्थ ही सर्वथा उपयुक्त हैं, न कि सांसारिक पदार्थ। इसके अतिरिक्त यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जिन पदार्थोंको हम सांसारिक जीव घृणा और अरुचिकी दृष्टिसे देखते हैं वे देवताकी उपासनाके लिये कभी उपयुक्त नहीं हो सकते! वे पदार्थ देवताकी पूजामें चढ़ानेके लिये सर्वथा अनुपयुक्त हैं।

शास्त्रोंमें यह बार-बार कहा गया है कि देवताओंका देह पाञ्चभौतिक नहीं होता, अपितु दिव्य होता है। **'ब्रह्मतरो जय तारिणि मुक्ते'**—इत्यादि।

इनका विग्रह दिव्य—ज्योतिर्मय होता है। **'हुङ्कार-बीजोद्भवा'** इस विशेषणमें भी उसी दिव्य पदार्थका उल्लेख किया गया है। जब सभी देवता मिलकर किसी क्षुद्र-से-क्षुद्र सांसारिक कार्यको करने जाते तो बल प्राप्त करनेके लिये उन सबकी इच्छा होती कि भगवती महामाया उस तेजसे प्रकट हों जिसे वे हुङ्कारध्वनिसे प्रादुर्भूत करते थे। यही कारण था कि जगदम्बा महामाया अपने भक्तोंकी भक्तिपर प्रसन्न और सन्तुष्ट हो जाती थीं और परम तेजोमय रूप धारण करके सहज ही त्रिलोकका मङ्गल-साधन करती थीं। इसी हेतु हमारे आर्य-ऋषि-प्रणीत तन्त्रशास्त्र कहते हैं कि भगवती तारा स्वर्गीय दिव्य ज्योतिके एक महान् वृक्षके समान हैं।

अतः यदि महामाया सर्वशक्तिमती नहीं होतीं तो मनुष्य अपनी विस्तृत कीर्ति इस नश्वर जगत्में स्थापित नहीं कर सकता। इसलिये आवश्यकता इस बातकी है कि मनुष्य इस लोकसे परेकी शक्तिका संग्रह करे।

श्रीतारा-शक्ति

(लेखक—श्रीमोतीलाल रविशंकर घोड़ा, बी० ए०, एल-एल० बी०)

श्रीतारा भगवती परमशक्तिस्वरूपा हैं। क्योंकि शक्तिमात्रमें उनका स्थान अग्रगण्य है। प्राचीन कालमें जब देवों और असुरोंमें संग्राम हुआ, तब बल-वृद्धिके लिये, यश-प्राप्तिके लिये, विजयके लिये और दुष्ट शत्रुओंके नाशके लिये इन्द्रने भगवती तारा-शक्तिका पूजन कर उनकी स्तुति की थी, जिससे इन्द्र अपने मनोवाञ्छित कार्यकी सिद्धिमें समर्थ हुआ था। यह तारा-शक्ति श्रीरामसे अभिन्न है अर्थात् **'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्'** इस व्युत्पत्तिके आधारपर सकल जगत्के आधार परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न है। जिस प्रकार पुरुषकी शक्ति पुरुषसे पृथक् नहीं है उसी प्रकार परब्रह्म परमात्माकी चैतन्य-शक्ति परमात्मासे भिन्न नहीं है। अतः यही परमात्मस्वरूपा शक्ति ज्ञानद्वारा तत्त्वज्ञ पुरुषोंको परतत्त्व-प्रकाशिका होकर भवसागरसे त्राण करती है तथा सकाम पुरुषकी इष्ट-कामनाको सिद्ध करती है। शत्रुओंपर विजय प्राप्त करानेवाली चैतन्यमयी पराशक्ति ही है। यद्यपि वह शक्ति सर्वत्र अद्वैत, अपरिच्छिन्न, व्यापक है तथापि उपासक मनुष्योंकी कामनाके अनुसार उसके विविध नाम-रूपात्मक स्वरूपकी कल्पना शास्त्रकारोंने की है। यथा—तारिणी, तरला, तारा, त्रिरूपा, तरणि, प्रभा, सत्त्वरूपा (महासाध्वीस्वरूपमें सर्वसज्जनपालिका होती है), रजोरूपा (रजोगुणात्मक स्वरूपमें रमणीय बनकर समस्त सृष्टिकी कर्त्री होती है), तमोरूपा (तमोगुणात्मक महामाया, कालस्वरूप, भयानकसे भी भयानक गर्जन करनेवाली कालिका नाम्नी शक्ति जगत्-विध्वंसकारिणी होती है), परानन्दा (परानन्द और अपरानन्द-स्वरूपमें आनन्दके दो भाग होते हैं। उसमें अपरानन्द विषयकी अपेक्षा रखता है और परानन्द निरपेक्ष रहता है। वह परानन्द साक्षात् चैतन्य-शक्तिस्वरूप है, इसीलिये वह परानन्दा-नामसे विख्यात है), तत्त्वज्ञानप्रदा, अनघा (निर्दोष, निष्पाप, कारण-तत्त्वज्ञानस्वरूपा होनेके कारण ज्ञानप्रदा है, इसलिये अज्ञान, आवरण और विक्षेपरूप दोषोंसे सर्वदा निर्मुक्त है)। इसी प्रकार शक्तिकी भिन्न-भिन्न कल्पना की गयी है। उसी प्रकार सिद्धि, लक्ष्मी, ब्रह्माणी, महाकालीस्वरूपमें भी वही पराशक्ति विलास कर रही है तथा भिन्न-भिन्न

नामोंसे भिन्न-भिन्न स्वरूपोंमें वही शक्ति त्रिलोकमें विख्यात है। निरन्तर उपर्युक्त नामोंसे भगवतीका चिन्तन करनेवाला मनुष्य व्यवहार और परमार्थ दोनोंके सिद्ध करनेमें समर्थ होता है। वह शक्तिस्वरूप बीजमन्त्र सर्वार्थसाधक है। परन्तु आधुनिक कलिकाल-साम्राज्यसे प्रभावित कलुषित हृदयवाले मनुष्य निष्कारण उन मन्त्रोंके प्रयोगका व्यर्थ उपयोग कर उसको निन्दास्पद बनाते हैं। इसी भयसे प्रयोग गुरुगम्यसाध्य रखा गया है और इसीसे उन प्रयोगोंकी महत्ता आजपर्यन्त सुरक्षित है, तथापि किञ्चित् साध्योपयोगी मार्गको व्यक्त करते हुए शास्त्रकार इस प्रकार कहते हैं—

एकैव माया परमेश्वरस्य
स्वकार्यभेदाद्भवति चतुर्धा।
भोगे भवानी समरे च दुर्गा
क्रोधे च काली पुरुषे च विष्णुः॥

इसी प्रकार ताराशक्ति भी दुर्गाशक्तिका ही स्वरूप है। मुख्य और गौणभावसे उसीकी शक्ति मोक्षपर्यन्त कार्योंमें अवश्योपयोगी है, ऐसा ही शास्त्रीय सिद्धान्त है। तथापि सर्वथा निष्कामभावसे उपासना की जाय तो विशेष कल्याण होगा।

ब्रह्माण्ड-विस्तार परमात्मशक्ति—मायाका विलास है!

(लेखक—श्रीविनायक नारायण जोशी, 'साखरे' महाराज)

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्', **'आत्मा वा इदमग्र आसीत्'**, **'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्'**, **'अशब्दमस्पर्शमव्ययम्'**, **'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'**, **'अप्राणो ह्यमनाः।'**

—इत्यादि श्रुतिवचनोंसे स्वगत-सजातीय-विजातीय भेदशून्य, सर्वविशेषरहित, निर्विकार, असङ्ग, जीवेश्वरभेदरहित, सच्चिदानन्द, सैन्धवघनवत् प्रज्ञानघन एक ही ब्रह्मसत्ता प्रतिपादित हुई है। अवयवीमें अवयवोंका जो परस्पर भेद होता है वही स्वगतभेद होता है। ब्रह्म एक ही है, इसलिये ब्रह्ममें कोई सजातीय भेद नहीं; उससे भिन्न और कुछ भी नहीं, इसलिये उसमें कोई विजातीय भेद भी नहीं।

शङ्का—ब्रह्मसे भिन्न आकाशादि प्रपञ्चगत घट-पटादि पदार्थ दृष्ट हैं और स्वर्गादि पदार्थ श्रुत हैं। तब प्रपञ्च ब्रह्मसे भिन्न विजातीय नहीं, ऐसा कैसे कह सकते हैं?

समाधान—ब्रह्मके अतिरिक्त दृष्ट-श्रुत जगत् परमार्थतः है ही नहीं। **'नेह नानास्ति किञ्चन'**, **'अथात आदेशो नेति नेति'** इत्यादि श्रुतियाँ आकाशादि सृष्टिका अत्यन्ताभाव बताती हैं। इसीको दूसरे प्रकारसे अजातवाद कहते हैं।

शङ्का—अजातवादके हिसाबसे यदि प्रपञ्च हुआ ही नहीं तो यह प्रपञ्च क्यों देख पड़ता है? वन्ध्यापुत्र, शशशृंग आदि पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुए तो वे किसीको दिखायी भी तो नहीं देते। इसी प्रकार यदि आकाशादि प्रपञ्च सचमुच ही उत्पन्न न हुआ होता तो वह किसीको दिखायी भी न देता। पर देखते तो यही हैं कि वह दिखायी देता है और वह ब्रह्मसे विजातीय अर्थात् असत्, जड, दुःखरूप है। ऐसी अवस्थामें यह कैसे कह सकते हैं कि ब्रह्मसे जगत् भिन्न या विजातीय नहीं?

समाधान—सब सामान्य मनुष्योंको जगत्‌में सत् और असत्—ये दो ही भेद मालूम हैं, घट-पटादि दृश्यमान पदार्थ सत् और वन्ध्या-पुत्रादि न दिखायी देनेवाले पदार्थ असत् हैं। परन्तु शास्त्रकारोंने जो लक्षण किये हैं वे इनसे भिन्न हैं। उनके विचारसे सत्, असत्‌से भिन्न एक और तीसरी कोटि है—'मिथ्या'। विचारसे त्रिकालमें भी जो वस्तु असत् नहीं ठहरती वह सत् है। इस कोटिमें केवल एक ब्रह्म ही है। अत्यन्त अभावरूप पदार्थ असत् कोटिमें हैं, जैसे वन्ध्यापुत्र, शशशृंगादि। शास्त्र-दृष्टिसे सत्-असत्‌के ये लक्षण सिद्ध होनेपर दृष्ट, श्रुत आकाशादि प्रपञ्च यथाकाल नष्ट होते हैं, इसलिये सत्-कोटिमें नहीं आते। पर प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं, इसलिये वन्ध्यापुत्रादिकी असत् कोटिमें भी नहीं जाते। इसीलिये शास्त्रकारोंने प्रपञ्चको अनिर्वचनीय—'मिथ्या' कोटिमें डाला है। अनन्त मिथ्या वस्तुसे सद्वस्तुके द्वैत या कोई विकार नहीं होता। जिस प्रकार एकान्त स्थानमें सोया हुआ पुरुष स्वप्नमें अपने प्रियजनोंको देखता है पर जागनेपर उस एकान्त स्थानमें अनन्त पदार्थोंको सत्य बोध नहीं करता। उससे पूछा जाय कि जिस कमरेमें आप सोये थे उसमें क्या आपके और कोई प्रियजन भी

थे, तो स्वप्नमें यद्यपि उसने सबको देखा है तब भी उत्तर वह यही देगा कि नहीं, मेरे सिवा और कोई नहीं था। कारण, जिन प्रियजनोंको उसने देखा था, व्यवहारत: उनकी सत्ता नहीं थी। इसी प्रकार जगत् परमार्थत: मिथ्या है, इसलिये उस मिथ्या जगत्से पारमार्थिक ब्रह्ममें अर्थात् सद्वस्तुमें विजातीय भेदका होना सम्भव नहीं।

शङ्का—**'सदेव सोम्य'**, **'नेह नानास्ति'** इत्यादि श्रुतियोंने ब्रह्मके अतिरिक्त पारमार्थिक सत्तावान् अन्य पदार्थोंका अत्यन्ताभाव बताया है। पर आकाशादि प्रपञ्च तो प्रत्यक्ष है। तब यह कहाँसे आया? यह प्रश्न आप ही उपस्थित होता है। इसका समाधान क्या है?

समाधान—यह दूसरा पदार्थ (जगत्) परमात्म-स्वरूपाश्रित मायासे आया है।

शङ्का—मायासे आया हो, पर तो भी परमात्मस्वरूपसे भिन्न यह माया कहाँसे आयी? **'नान्यत्किञ्चन मिषत्'**—इत्यादि श्रुति-प्रमाणसे तो कोई अन्य पदार्थ ही नहीं है। सिद्धान्त तो यही है न?

समाधान—हाँ, ब्रह्मके अतिरिक्त और पदार्थ है ही नहीं। तथापि जगत्-प्रतीतिकी सङ्गतिके लिये परमात्म-स्वरूपाश्रित 'माया' नामसे 'मिथ्या' पदार्थकी कल्पना की गयी है। जिसने जगत्की सत्ता मान रखी है उसकी दृष्टिसे जगत्का निरास करके उसके सामने स्वत:सिद्ध ब्रह्मभाव अभिव्यक्त करानेके लिये श्रुतिने माया-पदार्थकी कल्पना की है।

शङ्का—यह समाधान भी लचर-सा ही लगता है, प्रत्यक्ष अनुभवकी सङ्गति होनी चाहिये।

समाधान—दो मनुष्य रास्तेसे चले जा रहे हैं। सन्ध्या-समय उस मन्द अन्धकारमें रास्तेमें पड़ी हुई एक डोरीको देख दोनोंको यह भ्रम हुआ कि यह साँप है। भ्रमसे भय हुआ, भयसे कम्प भी हुआ। पीछे साँपको मारनेके लिये भी दोनों उद्यत हुए; तब प्रकाशकी सहायतासे दोनोंको यह बोध हुआ कि यह साँप नहीं, डोरी है। इससे साँपका भी निरास हो गया। अब यह देखिये कि उस डोरीमें साँप तो था ही नहीं, सर्पका अत्यन्ताभाव था। इस बातको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। अब हम यह पूछते हैं कि साँप जब वहाँ था ही नहीं, सर्पका जब वहाँ अत्यन्ताभाव था तब वह कहाँसे दिखायी दिया? आप ही बताइये।

शङ्का—अत्यन्त असत् सर्प दिखायी दिया (यही असत्-ख्यातिवादियोंका मत है)।

समाधान—यदि अत्यन्त असत् सर्पकी प्रतीति मानी जाय तो अत्यन्त असत् वन्ध्या-पुत्रकी प्रतीति क्यों न मानी जाय? इसलिये आपका यह कहना अयुक्त है।

शङ्का—क्षणिक विज्ञानरूप बुद्धि ही सर्पका आकार धारण करती है अर्थात् सर्परूपसे बुद्धिकी ही प्रतीति होती है। (यह आत्मख्याति है।)

समाधान—क्षणिक विज्ञानरूप बुद्धि ही सर्पका रूप धारण करती है, ऐसा कहें तो ऐसे सर्पकी प्रतीति क्षणभरके लिये ही होनी चाहिये; पर ऐसा तो नहीं होता, यह प्रतीति बहुत कालतक रहती है और प्रत्यभिज्ञा भी होती है। (इसलिये आत्मख्याति ठीक नहीं।)

शङ्का—बिलमें रहनेवाले सत्य सर्पके सर्पत्वका ज्ञान नेत्र-दोषसे डोरीमें होता है। फर्क यही कि सत्य ज्ञानका स्थान भिन्न रहा। (यह अन्यथाख्याति है।)

समाधान—वास्तविक दोषसे नेत्रकी सामर्थ्य कम होती है, दोषरहित नेत्रको भी परदेके भीतरकी वस्तुका ज्ञान नहीं होता। तब बिलमें रहनेवाले सत्य सर्पका ज्ञान सामनेकी डोरीमें कैसे हो सकता है? और फिर उस स्थानके वृक्षादिकोंका भी ज्ञान क्यों न हो? (इसलिये अन्यथाख्याति अयुक्त है।)

शङ्का—इदंरूपसे रज्जुका सामान्य ज्ञान और सर्पांशमें स्मृति, इन दो (एकत्र) ज्ञानोंके अविवेकसे रज्जुमें सर्पभ्रम होता है। (आख्याति।)

समाधान—सर्पांशमें स्मृति-ज्ञान मानें तो भय-कम्पादि नहीं हो सकते। फिर दूसरी बात यह कि प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों ज्ञान एक साथ एक समयमें अन्त:करणको नहीं हो सकते। रज्जु-ज्ञानके अनन्तर सर्प-स्मृतिका अनुव्यवसाय नहीं होता, भ्रम होता है। (इसलिये आख्याति असङ्गत है।)

शङ्का—रज्जुमें सर्प-भ्रम होनेका-सा भ्रम होता है, पर यथार्थमें वह भ्रम नहीं होता। उस समय वहाँ सत्य सर्प ही उत्पन्न होता है। प्रत्येक वस्तु पञ्च महा-भूतोंसे उत्पन्न होती है और रज्जुमें भी सत्य सर्पके अवयव मौजूद हैं। उन अवयवोंसे सत्य सर्प उत्पन्न होता है। (सत्ख्याति।)

समाधान—यह कहना भी अनुभवके विरुद्ध है।

कारण, रज्जु-ज्ञानके अनन्तर सर्पका त्रैकालिक अत्यन्ताभाव प्रतीत होता है। (सत्ख्यातिके मतसे उसका हिसाब ठीक नहीं बैठता।) किसी भी मतसे जब रज्जुपर भासनेवाले सर्पकी सुव्यवस्थित सङ्गति नहीं लगती तब यही मानना पड़ता है कि रज्जुके विशेष रूपके अज्ञानसे ही सर्पकी अनिर्वचनीय उत्पत्ति हुई। रज्जु ज्यों-की-त्यों है, उसमें कोई विकार नहीं हुआ है, उसके विशेष रूपके अज्ञानको ही सर्पोत्पत्तिका कारण मानना पड़ता है। इसी प्रकार सामान्य-विशेषभावरहित स्वगतादि-भेद-शून्य जो ब्रह्मस्वरूप है उसमें माया-नामसे एक मिथ्या पदार्थ मानना पड़ता है। उस मायासे परमात्मस्वरूपमें किञ्चित् भी विकार नहीं होता और उससे अनिर्वचनीय जगत्‌की उत्पत्ति होती है। अर्थात् जगत् जो है सो मायाका विलास है।

कुछ लोगोंका यह कहना है कि मायावाद श्रीमच्छङ्कराचार्यने अपने पल्लेसे निकाला है। श्रुति, स्मृति इत्यादिमें इसके लिये कोई आधार नहीं है। परन्तु उनका यह कथन उनके श्रुति-स्मृति-विषयक अज्ञानका ही परिचायक है। कारण, **'नासदीय सूक्त'**, **'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'** इत्यादि श्रुति, और **'मम माया दुरत्यया'**, **'मायामेतां तरन्ति ते'** इत्यादि स्मृति-वचन प्रमाण हैं। इसी मायाको वेदोंमें कहीं 'अक्षर' भी कहा है। कहीं आकाश, कहीं शक्ति, कहीं प्रकृति, कहीं अविद्या, कहीं अज्ञान कहा है। वस्तुतः माया सत्स्वरूप नहीं है। जगत्-प्रतीतिकी सङ्गतिके लिये उसकी कल्पना की गयी है। तथापि उसकी सामर्थ्य अतर्क्य है। शून्यका अपना कोई मूल्य नहीं होता। पर एक अङ्कके आश्रयसे वही शून्य एकके दस, सौ, हजार, लाख और इस तरह अनन्त संख्या बढ़ाता है। इसी प्रकार **'एकमेवाद्वितीयम्'** ब्रह्मस्वरूपके आश्रयसे माया ब्रह्मको पुरुष बनाकर आप प्रकृति बनकर अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न करती है। व्यष्टि-जीवात्माके आश्रयमें रहनेवाला अज्ञानांश स्वप्नमें नित्य नयी सृष्टि रचता है। अज्ञानांशकी यह सामर्थ्य जब प्रत्यक्षमें अनुभूत है तब परमात्मस्वरूपके आश्रयमें रहनेवाली माया एक क्षणमें यदि अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? यह माया ही परमात्माको ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण आदि पुरुषरूपोंमें सजाती है और आप पत्नीभाव स्वीकार करके कभी उमा, कभी लक्ष्मी, कभी राधा, कभी सीता, कभी काली, कभी जगदम्बा इत्यादि रूप धारणकर राम, कृष्णके समान असुरोंका नाश कर भक्तोंपर अनुग्रह करती है।

रावणादिका वध करके प्रभु श्रीरामचन्द्र जब अयोध्याको लौटे तब उनका राज्याभिषेक किया गया। श्रीसीताजीके साथ भगवान् श्रीरामचन्द्र विराजमान हैं, सामने परम-वैराग्य-सम्पन्न तत्त्व-जिज्ञासु श्रीहनुमान्‌जी हाथ जोड़े खड़े हैं। श्रीहनुमान्‌जीकी जिज्ञासा जान भगवान् सीताजीको आज्ञा करते हैं कि हनुमान्‌को ज्ञानोपदेश करो। तब सीताजीने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके निर्विकार स्वरूप और अपने (महामायाके) कर्तृत्वको बड़े ही सुन्दर शब्दोंमें व्यक्त किया है। उनके वे शब्द ही नीचे देते हैं। यह वर्णन अध्यात्मरामायण, बालकाण्डके प्रथम सर्गमें ३२ वें श्लोकसे ४३ वें श्लोकतक है। उपस्थित प्रसङ्गके श्लोक ही नीचे उद्धृत करते हैं—

रामं विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम्।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सत्तामात्रमगोचरम्॥
मां विद्धि मूलप्रकृतिं सर्गस्थित्यन्तकारिणीम्।
तस्य सन्निधिमात्रेण सृजामीदमतन्द्रिता॥
तत्सान्निध्यान्मया सृष्टं तस्मिन्नारोप्यतेऽबुधैः।
अयोध्यानगरे जन्म रघुवंशेऽतिनिर्मले॥
रावणस्य वधो युद्धे सपुत्रस्य दुरात्मनः।
विभीषणे राज्यदानं पुष्पकेण मया सह॥
अयोध्यागमनं पश्चाद्राज्ये रामाभिषेचनम्।
एवमादीनि कर्माणि मयैवाचरितान्यपि।
आरोपयन्ति रामेऽस्मिन्निर्विकारेऽखिलात्मनि॥
रामो न गच्छति न तिष्ठति नानुशोच-
त्याकाङ्क्षते त्यजति नो न करोति किञ्चित्।
आनन्दमूर्तिरचलः परिणामहीनो
मायागुणाननुगतो हि तथा विभाति॥

भावार्थ—हे हनुमान्! श्रीरामचन्द्रजीका लक्ष्य-स्वरूप गो-ज्ञानातीत, सर्वोपाधि-मुक्त, अद्वय, सच्चिदानन्दरूप, निर्मल, शान्त, निर्विकार, स्वगतादि-भेद-शून्य सत्तामात्र है। उन परब्रह्मके सान्निध्य अर्थात् आश्रयसे इस दृष्ट, श्रुत जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाली मूलप्रकृति माया मैं ही हूँ। मेरे किये हुए कार्योंका आरोप अज्ञानी जीव श्रीरामचन्द्रपर किया करते हैं। इस अयोध्या नगरीमें श्रीरामका जो जन्म हुआ। विश्वामित्रकी जो सहायता की गयी, यज्ञकी जो रक्षा की गयी, अहल्याका जो शापमोचन

हुआ, जनककी सभामें जो धनुर्भङ्ग हुआ, मेरे साथ श्रीरामका जो विवाह हुआ, परशुरामकी जो हार हुई, दण्डकारण्यमें जो गमन हुआ, रावणने जो सीताहरण किया, जटायुको जो मोक्ष मिला, शबरीने श्रीरामचन्द्रका जो पूजन किया, समुद्रपर जो पाषाण-सेतु बाँधा गया। दुष्ट रावणका उसके पुत्रोंसहित जो संहार हुआ, विभीषणको जो राज्य मिला, मेरे साथ पुष्पकविमानमें बैठकर रामचन्द्रजी जो अयोध्याको लौटे और यहाँ जो राज्याभिषेक हुआ, ये सब काम मैंने ही किये; पर मायासे मोहित अज्ञ जीव यह समझते हैं कि निर्विकार श्रीरामने किये। वास्तविक बात यह है कि परमात्मा श्रीराम सर्वव्यापक हैं, वह कहीं न जाते हैं, न बैठते हैं, न शोक करते हैं; नित्य-आनन्दरूप हैं, किसी बातकी उन्हें इच्छा नहीं। परन्तु यह बात जरूर है कि मायाके (मेरे) गुणोंके अनुरूप वह भासित होते हैं। परमात्मशक्तिकी यह माया बड़ी विलक्षण है। जो माया श्रीरामावतारमें सीता बनकर सम्पूर्ण अवतार-कार्य स्वयं करती रहीं, वही परमात्मशक्ति माया श्रीकृष्णावतारमें राधा और पाण्डवोंकी अर्द्धांगिनी द्रौपदी बनकर रहीं।

भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने इस शक्तिके नाम एक श्लोकमें बताये हैं—

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिः
अनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते॥

परमात्मशक्तिके ये नाम बताकर 'मायापञ्चक' स्तोत्रमें उसका अघटितघटनात्व वर्णन किया है और उसमें यह बहुत अच्छी तरहसे दिखाया है कि परमात्मस्वरूपमें किसी प्रकारका द्वैत-सम्बन्ध नहीं है तो भी उसी परमात्मस्वरूपकी सत्ताके आश्रयमें ईश्वरत्रयीकी उत्पत्ति, जीवोंका संसारबन्धनमें बँधना, श्रौत पुरुषको भी द्रव्यादिका मोह होना और उसका पशुवत् बनना इत्यादि अघटित घटनाएँ घटानेवाली यह परमात्मशक्ति माया ही है।

जीवोंके कर्मोंके अनुसार माया उन्हें संसार-दुःखमें डालती है। इसी प्रकार वर्णाश्रमानुरूप ईश्वर-प्रीत्यर्थ निष्काम कर्म करनेवालों तथा सगुण-निर्गुण-उपासकोंको उत्तम लोकोंकी प्राप्ति करा देती है। और असन्दिग्ध ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान-सम्पन्न पुरुषको प्रारब्धक्षयपर्यन्त जीवन्मुक्ति और देह-विसर्जनके पश्चात् विदेह-मोक्ष प्राप्त कराती है। तात्पर्य, बन्ध या मोक्ष इसी परमेश्वराधिष्ठित शक्तिसे ही है। शास्त्र जब परमेश्वरमें जगत्कारणत्व बतलाते हैं तब वह कारणत्व इसी शक्तिके द्वारा सम्भव होता है। ईश्वर हो या संसारका कोई भी पदार्थ हो, उससे यदि कोई कार्य उत्पन्न होता है तो वह कार्य तत्तत्पदार्थनिष्ठ शक्तिद्वारा ही होता है, यही कहना पड़ेगा और यह स्वानुभवसिद्ध है। यह माया परमात्म-स्वरूपपर अध्यस्त है और अध्यस्त पदार्थ अधिष्ठानरूप हुआ करता है, इसलिये इस नियमसे उन प्रकृति-पुरुषमें लेशमात्र भी भेद नहीं है। सांख्यमतानुयायी इस मायाको 'प्रकृति' कहते और उसे स्वतन्त्र मानते हैं। पर मायाको स्वतन्त्र माननेसे मोक्ष कुछ रह ही नहीं जाता। ऐसी स्वतन्त्र मायासे मुमुक्षुको भी कोई लाभ नहीं हो सकता। इसलिये उस मायाको स्वाश्रया, स्वविषया और अध्यस्त ही मानना समुचित है। मायाको साथ लेकर भगवान् जिस प्रकार भक्त-जनानुग्रह और दुष्ट-निग्रहके लिये श्रीराम-कृष्णादि रूप धारण करते हैं, उसी प्रकार ईश्वरसे सहायता लेकर मायाशक्ति भी महालक्ष्मी, महाकाली, महासरस्वती इत्यादि रूप धारणकर भक्तानुग्रह-कार्य किया करती हैं। इति शम्।

अलकैं

देतीं निज भक्तनको सुख-शान्ति, धन-धाम,
शम्भुपै सवार पेढ़ि बन्द किये पलकैं।
रोषकी जरत ज्वाल, लोचन विशाल लाल,
भालपर स्वेद-विन्दु मोतिनसे झलकैं॥
रूप देखि दरकत दम्भिनके दिल, दुष्ट—
दानव पछाड़तीं समरमें उछलकैं।
खप्पर खड़ग, हाथ मुण्डनकी माल उर,
रण-चण्डिकाकी रक्त-रंग भरी अलकैं॥

—जगन्नाथ प्रसाद

ब्रह्म-विद्या

(लेखक—वेदान्ताचार्य श्रीकृष्णलालजी भगवानजी महाराज)

वक्तारमासाद्य यमेव नित्या
सरस्वती स्वार्थसमन्वितासीत्।
निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का
नमामि तं शङ्करमर्चिताङ्घ्रिम्॥

सब अनर्थोंका संहार करनेवाली, भव-भय-मोचिनी परमदेवी ब्रह्मविद्या है। '**दिव्**' धातुसे देवी शब्द बनता है। दिव् धातु प्रकाश-अर्थका वाचक है। अत: ब्रह्मविद्या प्रकाशस्वरूपा होनेके कारण अनादि अज्ञानसे आवृत आत्मतत्त्वको प्रकाशित करनेवाली है। इसीलिये ब्रह्मविद्याको देवी कहा जाता है। आद्य माया-शक्ति विद्या और अविद्या उभयरूपा है। इनमें विद्या भवपाशको हरनेवाली है, अविद्या भवपाशमें बाँधनेवाली है। विद्या भी परा और अपरा—दो रूपोंमें विभक्त है। अपरा-विद्या जगद्रूपिणी है, परा-विद्या ब्रह्मरूपिणी है। ब्रह्मरूपिणी परा-विद्या (ब्रह्म-विद्या) आत्म-प्रकाशिका परमदेवी-स्वरूपा है।

या देवी सर्वभूतेषु विद्यारूपेण संस्थिता।

सब प्राणी सामान्यत: शक्ति-अंशसे सम्पन्न हैं। तथापि विशेषरूपेण शक्ति-अंशसे संयुक्त हुए बिना मोक्षस्वरूप तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। अत: विशेषरूपसे शक्ति-अंशरूपी ब्रह्मविद्याको प्राप्त करना मनुष्यका प्रथम कर्त्तव्य है। परन्तु सद्गुरुकी उपासनाके बिना ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति नहीं होती।

आचार्याद्धै विद्या विहिता साधिष्ठं प्रापत्।

'आचार्यके बिना पराशक्तिस्वरूपा ब्रह्मविद्या स्वधिष्ठित होती ही नहीं।' इसीलिये आचार्यकी अपेक्षा होती है। परन्तु आजकल तो 'बेटा, बाला-भोला गुरु कर लेना, नगुरा न रहना'-वाली कहावत प्रचलित हो रही है। चार अक्षरका काल्पनिक दीक्षा-मन्त्र देकर शिष्यों और शिष्याओंका जो जमघट बढ़ावे, वही आचार्य समझा जाता है। ऐसे ही आचार्योंसे आजकल कलिके साम्राज्यका प्रभाव प्रस्फुटित हो रहा है। अत: आचार्य किसे कहते हैं, यह जाननेके लिये आचार्यका लक्षण अवश्य विचारणीय हो गया है—

आचिनोति च शास्त्रार्थं स्वधर्मे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते सम्यगाचार्यं तं प्रचक्षते॥

जो शास्त्रार्थका आकलन करनेवाला, शरणमें आये हुए अधिकारीको स्वधर्ममें स्थापन करनेवाला, तथा स्वयं सम्यग्रूपेण शास्त्रविहित धर्माचरण करनेवाला है, वही आचार्य है। ऐसे आचार्यकी शरण मिलनेपर ही ब्रह्मविद्याका प्रादुर्भाव होता है। आचार्यत्व भी ब्राह्मणोंका ही सिद्ध है। तथापि—

ये शान्तदान्ता: श्रुतिपूर्णकर्णा:
जितेन्द्रिया: प्राणिवधान्निवृत्ता:।
प्रतिग्रहे सङ्कुचिताग्रहस्ता-
स्ते ब्राह्मणास्तारयितुं समर्था:॥

जो ब्राह्मण शान्त, दान्त, श्रुति-ज्ञानशील, जितेन्द्रिय, मन, वचन, कर्मसे अहिंसा वृत्तिवाले तथा प्रतिग्रह लेनेमें हाथ बढ़ानेसे सङ्कोच करते हैं वे ही ब्रह्मविद् ब्राह्मण अधिकारी शिष्यका संसार-समुद्रसे उद्धार करनेमें समर्थ होते हैं। ऐसे आचार्य श्रीसद्गुरुके उपदेशद्वारा अधिकारीके हृदयमें साक्षात् मोक्ष प्रदान करनेवाली परम देवी श्रीब्रह्मविद्याका उदय होता है, और वह असुर-संहारिणी देवी परम उत्पात करनेवाले देहाभिमानरूप महिषासुर, मानापमानरूप चण्ड और मुण्ड, कामस्वरूप रक्तबीज, महामोहरूपी शुम्भ दैत्य तथा क्रोध, लोभ, दम्भ आदि हृदयमें विहार करनेवाले अनेकों असुरोंका संहार कर हृदय-भूमिमें स्वराज्य-साम्राज्यकी विभूतिका विस्तार कर परम प्रकाशित होती हैं। इसी कारण ब्रह्मविद्यामें अधिष्ठित पुरुष नि:स्पृह होकर तुच्छ त्रिलोकीके भोगोंका परित्याग कर निरन्तर दैन्यभावरहित होकर केवल ब्रह्मानन्दमें विहार करता है।

ब्रह्मानन्दरसं पीत्वा ये तु उन्मत्तयोगिन:।
इन्द्रोऽपि रङ्कवद्भाति का कथा नृपकीटक:॥

'ब्रह्मविद्याको प्राप्त ब्रह्मानन्द-रसका पानकर उन्मत्त हुए योगी स्वर्गाधिप इन्द्रको भी रङ्क (कंगाल)-के समान समझते हैं। फिर इस भूलोकके कीटवत् राजाओंकी क्या बात है?'

'**नि:स्पृहस्य तृणं जगत्**'—इस भावनामें उन्मत्त विचरनेवाले महायोगीसे किसीने पूछा कि आप अपने व्यवहारके लिये किस प्रकारकी प्रवृत्तिमें लगते हैं? उन्होंने उत्तर दिया—

याचे न कञ्चन न कञ्चन वञ्चयामि
सेवे न कञ्चन निरस्तसमस्तदैन्यः।
श्लक्ष्णं वसे मधुरमद्मि भजे वरस्त्रीं
देवी हृदि स्फुरति मे कुलकामधेनुः॥

'मैं किसीसे याचना नहीं करता, न किसीको ठगता हूँ, न किसीकी सेवा (नौकरी) करता; तथापि मेरी समस्त दीनता निरन्तर अस्त रहती है, क्योंकि सुन्दर वस्त्र, परिधान, मधुर भोजन, सुन्दर स्त्रीका सेवन—ये सब चमत्कार मेरे हृदयमें नित्य स्फुरण करनेवाली मेरे कुलकी कामधेनु ब्रह्मविद्यास्वरूपिणी देवीके ही हैं।' और सर्वत्र समदर्शी सिद्ध पुरुष—

निर्धनोऽपि सदा तुष्टोऽप्यसहायो महाबलः।
नित्यतृप्तोऽप्यभुञ्जानः सर्वत्र समदर्शनः॥

'निर्धन होनेपर भी सदा सन्तुष्ट रहता है, असहाय होनेपर भी महाबलिष्ठ होता है, उपवासी होनेपर भी नित्य तृप्त रहता है। इसीलिये वह जीवन्मुक्त कहलाता है। ऐसे पुरुष महादेवी ब्रह्मविद्याके प्रभावसे जीवन्मुक्त-दशाको प्राप्तकर देह-प्रारब्धके नाश होनेपर विदेहमुक्त हो जाते हैं।'

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव संविलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।

'उस जीवन्मुक्त महात्माके प्राण मृत्युके समय इस शरीरसे उत्क्रमण नहीं करते, परन्तु यहीं विलीन हो जाते हैं, अर्थात् ब्रह्मरूप होकर ब्रह्मको ही प्राप्त होते हैं। महादेवी ब्रह्मविद्याके प्रभावसे वे वापस नहीं लौटते'—

न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते। ॐ तत्सत्॥

शक्ति-विज्ञान

(लेखक—श्रीमती सुब्बलक्ष्मी अम्मल, बी० ए०, एल० टी०)

शक्तिका अर्थ है बल, पौरुष अथवा सामर्थ्य! छोटे-से-छोटा काम करनेके लिये, अपनी कानी अँगुली उठानेके लिये भी हमें शक्तिकी आवश्यकता पड़ती है। जिस शक्तिसे संसारका सारा काम, पशु-पक्षी, वृक्ष आदि सबका कार्य निष्पन्न होता है, वह शक्ति आती कहाँ-से है? वैज्ञानिक दृष्टिसे, सारी शक्तिका मूल सूर्य है। यह शक्तिका एक बृहत् पुञ्ज है। पौधोंकी पंक्तियोंमें जो हरियाली है, जो हरे-हरे सजीव अणु हैं, वे ही सूर्यकी इस शक्तिको ग्रहणकर आत्मसात् करनेका सामर्थ्य रखते हैं; और ये ही सजीव हरे-हरे परमाणु सूर्यसे इतनी अधिक शक्तिका सञ्चय कर लेते हैं कि जिससे सारे पौधेका काम चल सके! प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे वनस्पति खाकर जीनेवाले प्राणियोंके शरीरमें यह शक्ति अप्रकटरूपसे उस खाद्य पदार्थमें रहती है जिसे वे खाते हैं। प्राणी जब साँस लेता है तो साँसके साथ ऑक्सिजनका भाग उसके शरीरके भीतर जाता है। यह ऑक्सिजन गैस उसके भोजनमें मिल जाता है, जिससे धीरे-धीरे भीतरकी अग्नि प्रज्वलित हो उठती है और भोजनमें जो शक्ति प्रच्छन्नरूपमें विद्यमान रहती है वह ऑक्सिजनको पाकर उन्मुक्त हो जाती है—और इसी उन्मुक्त शक्तिके द्वारा प्राणी अपना सब काम कर पाते हैं।

सौर-मण्डलकी रचना अथवा सृष्टिके सम्बन्धमें हम पुस्तकोंमें पढ़ते हैं कि प्रारम्भमें सफेद-सफेद वाष्पकी-सी एक वस्तु होती है, जिसे अङ्गरेजीमें 'नेबुला' (Nebula) कहते हैं। यह पहले-पहल निश्चल और निष्क्रिय होता है। धीरे-धीरे उसमें गति उत्पन्न होती है। वैज्ञानिकोंका कहना है कि ऑक्सिजनके परमाणुओंके साथ मिलनेसे नेबुलामें गति उत्पन्न हो जाती है अर्थात् कोई शक्तिदायी गैस अथवा पदार्थ नेबुलाके अन्दर हलचल पैदा कर देता है।

धार्मिक एवं वैज्ञानिक सिद्धान्तके अनुसार किसी वस्तुकी उत्पत्ति अथवा रचनामें दो वस्तुओंकी आवश्यकता होती है—स्थूल प्रकृति और शक्तिकी, जड और चेतन (आत्मा)-की।

जगत्की सृष्टिमें, जहाँतक हम जानते हैं, मनुष्य ही सबसे उन्नत प्राणी है। उसके अन्दर दो तत्त्व हैं—जड और चेतन। अन्नमय और प्राणमय कोषोंसे बना हुआ उसका जो स्थूल शरीर है वह मोटी तौरपर उसका जड अंश है। सूक्ष्म शरीर उसका दिव्य अथवा चेतन अंश है। उसके भीतर जो शक्ति है वह भी मोटे रूपमें दो भागोंमें विभक्त की जा सकती है—स्थूल शक्ति और सूक्ष्म शक्ति। इन दोनों प्रकारकी शक्तियोंकी भिन्न-भिन्न

श्रेणियाँ हैं और वे श्रेणियाँ भी भिन्न-भिन्न परिमाण और शक्तिवाली हैं। जिस स्थूल शक्तिके द्वारा वह चलता, फिरता, दौड़ता और अन्यान्य काम करता है उसका मूल-स्रोत है उसका भोजन! भोजनमें एक प्रच्छन्न शक्ति होती है जो सूर्यसे हरे-हरे पौधोंमें सञ्चित होती है। उसके श्वासके साथ ऑक्सिजनका जो भाग जाता है वही इस प्रच्छन्न निष्क्रिय शक्तिको प्रसारित कर देता है। और इसी शक्तिके द्वारा मनुष्य अपना सब काम करता है।

अब हम मनुष्यके सूक्ष्म शरीरकी विवेचना करेंगे। मानव-प्रकृतिके दो स्तर हैं—जो नीचेका तह है उसमें उसके स्थूल शरीरकी वासनाएँ और विकार रहते हैं और जो ऊपरी तह है वह उसके दिव्य पुण्य-गुणोंका बना हुआ है। जब मनुष्य अपनी आसुरी एवं तामसिक वृत्तियोंपर जय प्राप्त कर लेता है और अपनी सात्त्विक, बौद्धिक अथवा उच्च वृत्तियोंसे परिचित हो जाता है और अपनी उदात्त शक्तिका विकास करने लगता है, तभी वह ईश्वरके साथ तादात्म्य स्थापित करनेयोग्य होता है।

ईश्वर जब क्रियाशून्य होता है तब वह '**एकमेवाद्वितीयम्**' रहता है। जब उसे सृजनकी इच्छा होती है तब वह क्रियाशील हो जाता है और उसकी 'शक्ति' स्त्रीके आकारमें व्यक्त होती है। इसीको 'इच्छा-शक्ति' कहते हैं। तब उसकी चित्-शक्ति अथवा ज्ञान-शक्तिका विकास होता है, जिससे ब्रह्माण्डका मानसिक चित्र खिंच जाता है। इसके बाद उसकी क्रिया-शक्तिके द्वारा सृष्टिकी क्रिया होती है। ईश्वरकी इन्हीं तीन शक्तियोंके अनुरूप मनुष्यकी तीन मानसिक क्रियाएँ भी होती हैं, जिनके नाम हैं—संवेदन (अनुभव करना), ज्ञान और इच्छा। 'इच्छा' का ही परिणाम क्रिया है। ये तीनों भिन्न-भिन्न पुरुषोंमें भिन्न-भिन्न परिमाणमें पायी जाती हैं। साधारण मानसिक विकासवाले व्यक्तिमें ये तीनों शक्तियाँ और इसकी विभिन्न शाखा-प्रशाखाएँ तथा भेदोपभेदका बहुत अल्प परिमाणमें विकास होता है। मनुष्यको अपनी इन शक्तियोंको विकसित करनेके लिये तीव्र प्रयत्नकी आवश्यकता होती है। योगशास्त्रमें इन शक्तियोंका विस्तारसे विवेचन किया गया है। सबके सार-तत्त्वकी, वैज्ञानिक ढंगसे, इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है। आरम्भमें हमें स्पष्टतः यह समझ लेना होगा कि इन शक्तियोंके क्रमिक विकासके सम्बन्धमें योगशास्त्रमें जो विवेचन किया गया है उसका भौतिक शरीर, भौतिक शक्ति तथा भौतिक और मानसिक विकाससे कोई सम्बन्ध नहीं हैं। शैशव, यौवन, प्रौढ़ावस्था तथा वार्धक्य आदि इस भौतिक शरीरको लेकर ही हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि हमें इस भौतिक शरीरको, 'क्षेत्र' को भी स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट रखना चाहिये, जिससे हमारा सूक्ष्म शरीर, हमारा मनोमय कोष, हमारी सूक्ष्म बुद्धि, ज्ञान आदिकी समष्टिका यथेष्ट उत्कर्ष एवं विकास हो।

मनुष्यके भीतर जो ये उदात्त दिव्य शक्तियाँ हैं, उनकी समष्टिका नाम है 'कुण्डलिनी-शक्ति।' हम यों कह सकते हैं कि यह 'कुण्डलिनी-शक्ति' मनुष्यके अन्दर रहनेवाले जीवात्माका नारी-रूप है—ठीक जिस प्रकार परमात्माकी महत् शक्तिका नाम 'दैवी' है। जबतक मनुष्य सांसारिक विषयोंमें पूरी तौरसे फँसा रहता है, जबतक वह अपने शारीरिक सुखोंकी चिन्तामें संलग्न है, जबतक वह अपनी विषय-वासनाओंकी पूर्तिमें ही व्यस्त है, तबतक यह कुण्डलिनी-शक्ति सोयी हुई और निश्चेष्ट रहती है। इस प्रकार अनेक जन्मोंतक सुख और दुःखका अनुभव करते-करते मनुष्यके अन्दर इस ज्ञानका उदय होता है कि वह केवल शरीरमात्र नहीं है, अपितु उसमें शरीरसे परेकी भी कोई वस्तु है। इस सम्बन्धमें उपनिषद्में एक बड़ा सुन्दर रूपक मिलता है। संसार-रूपी वृक्षपर परमात्मा और जीवात्मा—ये दो पक्षी बैठे हैं। इनमेंसे एक पक्षी, जो शान्त, स्वस्थ, प्रसन्न, सुन्दर और पवित्र है, उस विशाल वृक्षकी फुनगीपर बैठा है। दूसरी चिड़िया जो रूप-रंगमें हू-बहू पहले पक्षीके समान है—ऐसा प्रतीत होता है मानो वह पहले पक्षीकी प्रतिच्छाया अथवा प्रतिबिम्ब हो—शाखासे शाखापर फुदकती फिरती है, अत्यधिक चपल है और डाली-डालीके फलोंको चखती फिरती है। जब-जब इसे कड़ुवे फल चखने पड़ते हैं, तब-तब यह फलोंका खाना त्याग देती है और ऊपरके पक्षीकी ओर देखती है, फलोंको भूल जाती है और ऊपरकी ओर उड़नेका मनमें निश्चय करती है। किन्तु ज्यों ही ऊपर उड़ती है कि ऊपरकी डालीका एक फल उसके मनको मोह लेता

है और बेचारी चिड़िया ऊपर जानेके सङ्कल्पको भूल जाती है।

इसी प्रकार मनुष्य संसार-वृक्षपर बैठा हुआ जब किसी कड़ुवे फलको चखता है अर्थात् जब उसे कोई दुःखमय अनुभव होता है, कोई महान् सन्ताप होता है, जब वह कोई हृदय-विदारक समाचार सुनता है, तब वह क्षणभरके लिये ठहर जाता है, रुक जाता है, सोचने लगता है कि सांसारिक सुखोंसे बढ़कर भी कोई वस्तु है या नहीं? क्या ऐसी भी कोई वस्तु है जो उसे शाश्वत शान्ति और नित्य सुख दे सकती है? तब वह अपने अन्तरकी ओर दृष्टि डालता है और अपने अन्तर्जगत्का अध्ययन करने लगता है, अपनी प्रकृतिका विश्लेषण करने लगता है और इस बातका अनुभव करता है कि उसके अन्दर एक महान्, उच्च, दिव्य, उदात्त, शाश्वत-शक्ति है और यह निश्चय करता है कि उस शक्तिको जगाना चाहिये, उसका विकास होना चाहिये। उसे इस बातका ज्ञान हो जाता है कि वह शरीरमात्र अथवा पञ्चकोषोंका पुतलामात्र नहीं है; शरीर और अन्य कोष तो उसे अपने वास्तविक स्वरूपकी उपलब्धि करानेके साधन अथवा उपकरणमात्र हैं। वह जान जाता है कि उसके भीतर जो 'वह' बैठा है, उसीका सबपर प्रभुत्व रहना चाहिये, शेष सभी उसकी अधीनतामें रहें। अथवा संक्षेपमें यों कह सकते हैं कि उसके भीतर जो शुद्ध आत्माराम है, जो चिदानन्दघन है, उसका जो उदात्त स्वरूप है, उसकी जो दिव्य उच्च प्रकृति है, वही सर्वोपरि रहे और जो उसकी नीच वृत्तियाँ हैं, उनपर सर्वथा विजय प्राप्त हो, उनका सर्वथा विनाश हो जाय। अब उसकी प्रार्थना यह होती है—

असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मामृतं गमय।

अब उसके भीतरकी दिव्य चेतन-शक्ति जाग उठती है, यह कुण्डलिनी-शक्ति जागृत हो जाती है। इस शक्तिको निम्न-श्रेणीसे ऊपरकी ओर ले जाना पड़ता है। यह ऊपर उठानेका कार्य मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा—इन छः आधार-चक्रोंके द्वारा करना पड़ता है और ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र—इन तीन ग्रन्थियोंको छिन्न-भिन्न करना पड़ता है। अन्तमें जाकर इस शक्तिको मस्तकमें स्थित सहस्रार-चक्रपर पहुँचाना होता है जहाँ सर्वोच्च ज्ञान और बुद्धिका भाण्डार है। इस स्थितिको पहुँच जानेपर मनुष्य परम शाश्वत-शान्ति, दिव्य-ज्ञान, सत्-चित्-आनन्दको प्राप्त कर लेता है, उसकी सारी नीच-वृत्तियोंका, सारे असुरोंका दमन हो जाता है और उच्च दिव्य-शक्तियोंका विकास हो जाता है, देवासुर-संग्राममें असुरोंपर देवताओंकी विजय हो जाती है।

श्रीललितासहस्रनामके चौथे मन्त्रमें इसका बड़ी सुन्दरतासे चित्रण किया गया है—

चिदग्निकुण्डसम्भूता देवकार्यसमुद्यता।

महाशक्ति देवताओंकी उद्देश्यसिद्धिके लिये अर्थात् भण्डासुर, महिषासुर आदि असुरोंके संहारके लिये ज्ञानरूप महावह्निसे प्रकट होती है। भण्डासुर शरीरधारी आत्मा है। यह शरीरबद्ध आत्मा, परमात्माके साथ अपनी एकताको भूल जाता है—प्रत्युत यह अनात्मके साथ अपनी एकताका अनुभव करने लगता है और परिणामस्वरूप अज्ञान, अनित्यता, दुःख आदिसे क्षुब्ध और पीड़ित होता है। महिषासुर मनुष्यका पाशविक ज्ञान है, अपर ज्ञान है।

भण्डसैन्यवधोद्युक्तशक्तिविक्रमहर्षिता ।

'भण्ड' तो बद्ध आत्मा है और द्वैतभाव आदि ही उसकी सेना है। अद्वैतकी भावनाएँ ही शक्तियाँ हैं जो द्वैतभाव आदिके नाशके लिये सदा उद्यत रहती हैं। 'ललितासहस्रनाम' में बहुत-से ऐसे श्लोक मिलते हैं जिनमें इन दो प्रकारकी शक्तियोंका—मनुष्यकी दो प्रकृतियोंका विवेचन किया गया है।

सहस्राराम्बुजारूढा सुधासाराभिवर्षिणी।

अन्तमें, जब मनुष्यके अन्दर रहनेवाली दिव्य-शक्ति 'सहस्रार' तक पहुँच जाती है तो मनुष्य परम आनन्दको प्राप्त होकर अमृतत्वका उपभोग करने लगता है। मनुष्यके अन्दर रहनेवाला यही शक्ति-तत्त्व है और प्रत्येक व्यक्तिको चाहिये कि वह इस महान् शक्तिको प्राप्त करनेका उद्योग करे; इस शक्तिके साथ ही उसे शाश्वत अमर शान्ति, सत्-चित्-आनन्दकी प्राप्ति होगी।

महाराष्ट्रकी शक्ति-उपासना

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर, बी० ए०)

१—शक्ति-पन्थ नहीं!

श्रीशिवकी उपासनाके पश्चात् शक्तिकी उपासना स्वभावक्रमसे ही प्राप्त है। आरम्भहीमें यह ध्यान रखना चाहिये कि ईश्वरी शक्तिके नामपर आगे चलकर जो एक शक्ति-पन्थ निकला और जिसमेंसे नाना प्रकारके यन्त्र, तन्त्र, मन्त्र निकले और जिससे फिर समाजने रसातलका रास्ता नापा, उस शक्ति-पन्थसे यहाँ हमें कुछ भी वास्ता नहीं है। उस शक्ति-पन्थको साधु-सन्तोंने केवल धिक्कारा ही है। मद्य और स्त्रीके सम्बन्धमें उस पन्थने मनमाना आचरण करनेका परवाना दे दिया था, उससे समाजमें अनीति फैल गयी। महाराष्ट्रमें ऐसे शक्ति-पन्थका प्रचार नहीं हुआ। कहीं लुके-छिपे कुछ शाक्तपन्थी लोग हों भी तो समाजमें उनकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है। इसलिये हमलोग पहले इस बातको ध्यानमें रखते हुए कि हमारी पारमेश्वरी चिच्छक्तिसे वैसे पंचमकारी शक्ति-पन्थका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अब अपनी शक्ति-देवीकी परम पवित्र उपासनाका विचार करें।

२—शिव-शक्ति-संयोग

परमात्मा हमारे '**माता धाता पितामहः**' हैं अर्थात् माता हैं, पिता हैं और पितामह भी हैं। यही हमारी गीतामाताने हमें बताया है। भगवान्‌में हमारा केवल पितृत्व ही नहीं, मातृत्व भी है। भगवान् जीवमात्रके पिता हैं और माता भी। हमारे धर्मने भगवान्‌के साथ जो यह नाता जोड़ा है सो यों ही नहीं जोड़ा है। इसमें बड़ा गूढ़ तत्त्व है। चेतना और प्राण, पुरुष और प्रकृति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति—ये दोनों रूप एक ही सगुण ब्रह्मके हैं। एकाकी केवल परब्रह्म सबसे अलग है, उसको शास्त्र-गुरुमुखसे श्रवण करके केवल अनुभव करना होता है। मन, वाणी, बुद्धिके लिये वह अगोचर है। वाणी उसका वर्णन कर ही नहीं सकती। वह '**एकमेवाद्वितीयम्**' है। उसे—कैसे और क्यों, सो तो नहीं कह सकते—पर '**एकाकी न रमते, एकोऽहं बहु स्याम्**' ऐसी स्फूर्ति हुई। उसीको आदिस्फूर्ति या मूल-माया कहते हैं, वही ज्ञान-क्रिया-शक्तिरूपसे द्विविधा हुई और वहाँसे अखिल विश्वकी उत्पत्ति हुई। अद्वैतके उस द्वैतको ही शिव और शक्ति, पुरुष और प्रकृति, गणेश और सिद्धि, राम और सीता, रुक्मिणी और कृष्ण इत्यादि नाम-रूपोंसे लोग भजते हैं। शिव और शक्ति तत्त्वतः दो नहीं, एक ही हैं; पर द्वैत उन्होंने ओढ़ लिया और इससे विश्वकी उत्पत्ति हुई। यथार्थमें अजातवाद ही सत्य है। कुछ था और कुछसे कुछ और हुआ, ऐसी तो कोई बात ही नहीं है; एक ही परमात्मतत्त्व विश्वके भीतर-बाहर भरा हुआ है। हैं दोनों एक ही, दो नहीं; पर विश्वप्रपञ्चके लिये एकके ही दो रूप होकर रमने लगे। रघुवंशके मङ्गलाचरणमें 'पार्वती-परमेश्वर' अर्थात् शिव और शक्तिको जगत्‌के माता-पिता कहकर वन्दन किया गया है। शिव और शक्ति सम्पृक्त अर्थात् संयुक्त हैं। कैसे? जैसे 'गिरा और अर्थ।' 'अस्ति, भाति, प्रिय' पुरुषका रूप है और नाम-रूप प्रकृतिका रूप है। एक है सो अनेक हो—यह जो स्फुरण या क्रिया है, वह शिवाका रूप है और इस स्फुरणका जो आधारभूत अधिष्ठान है, वह शिवका रूप है। केवल सत्ता पुरुष है और समस्त क्रिया प्रकृति है। इस प्रकृति-पुरुषसे—शिवा और शिवसे मुक्त जो परमात्मा है वह अलग है, पर उसीमें ये दोनों रूप भासते हैं। हैं दोनों एक, पर भासते हैं दो; फिर भी उनका एकत्व बना ही रहता है। श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अपने 'अमृतानुभव' ग्रन्थके प्रथम प्रकरणमें इन अनादि दम्पतिका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। इस प्रकरणका नाम ही 'शिवशक्तिसमावेशन' है। आत्मप्रेमकी धुनमें शिव ही अपने-आप ही दृश्य विषय हुए। एकके तिरोधानमें दूसरेका विकास होता है और दोनों मिलकर यह विश्व उत्पन्न करते हैं। शिवकी सत्तासे शिवा अर्थात् शक्ति ही जगत्-बाल उत्पन्न करती है पर इस तीसरेपनसे वह सम्बद्ध नहीं होती। दूसरा ही जहाँ कोई नहीं वहाँ तीसरा कोई कहाँसे आवेगा? शिव और शक्तिका परस्पर माधुर्य ही ऐसा है कि दोनोंकी सम्मतिके बिना एक तिनका भी नहीं निर्माण हो सकता! दोनोंका परस्पर सम्बन्ध ऐसा है कि वह जब सोते हैं तब यह जागती हैं और यह जब सोती हैं तब वह जागते हैं। ये दोनों परस्पर एक-दूसरेके विषय

हैं और विषय भी। इनके आधे-आधे अंशसे सारे जगत्का निर्माण हुआ है। डंडे दो, पर आवाज एक, फूल दो, पर सुगन्ध एक, दीप दो, पर दीप्ति एक, होंठ दो, पर शब्द एक, नेत्र दो, पर दृष्टि एक; वैसे ही इन दोनोंका संयोगजात जगत् एक है। शिवकी सत्तासे शक्ति सारा प्रपञ्च रचती है, सर्वत्र वह एक ही भासमान है। मिठास और मीठा, कर्पूर और परिमल, इनमें भिन्नत्व कोई कैसे देख सकता है? दीप्तिको कोई लेना चाहे तो दीपक ही हाथ आता है, वैसे ही कोई शक्तिके दर्शन करना चाहे तो शिव ही सर्वत्र दिखायी देते हैं। शक्ति, प्रकृति, अविद्या, माया, प्रधान, पार्वती—ये सब एक ही मूल जगत्-कारणके नाम हैं। शक्तिके आधार एक शिव ही हैं। पतिको अनाम, अरूप, अचक्षु, अकर्ण जान शक्ति लज्जित हुईं और उन्होंने अपने पतिका ऐश्वर्य प्रकट करनेके लिये नाम-रूपमय जगत्-जैसा बड़ा अलंकार बनाया! शक्तिने उन्हें श्यामसुन्दर बनाया, षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न किया। वह उन्हें चाहे जो नाम-रूप देकर उनकी महिमाका विस्तार करती हैं। यह शक्ति शिवकी पतिव्रता पत्नी हैं। अध्यात्मरामायणमें श्रीसीताजी श्रीरामचन्द्रजीकी महिमा इस प्रकार बखानती हैं कि श्रीरामचन्द्र हिलते-डोलते नहीं, उन्हें न कोई आकांक्षा है, न किसी बातका सोच ही; वह कहीं आते-जाते नहीं, कुछ करते-धरते नहीं, सब कुछ मैं करती हूँ; पर **'आरोपयन्ति रामेऽस्मिन्निर्विकारेऽखिलात्मनि'**—लोग उन निर्विकार अखिलात्मा श्रीरामपर सारा कर्तृत्व आरोपित करते हैं। श्रीराममें द्वैत तो है ही नहीं; पर एकत्व है, यह भी नहीं कहा जा सकता। राम (शिव) सीता (शक्ति)-के बिना नहीं रहते। शक्ति जब नाम-रूप धारण करती हैं तब वह 'अस्ति-भाति-प्रिय' रूपसे वहाँ रमने आते हैं। शिव आनन्दरूप हैं पर वह शक्तिके अङ्कका आश्रय करके अपने आनन्दको आप भोगते हैं। दोनों ही एक-दूसरेके लिये दर्पणके समान हैं। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे शिव-शक्तिका यही स्वरूप है। ज्ञानी पुरुष शिव-शक्तिको एकरूप अनुभव करते हैं। अब लौकिक भाषामें शक्तिका विचार करेंगे।

३—शक्तिके तीन रूप

बारहवीं शताब्दीतक महाराष्ट्रमें शिव-शक्ति अर्थात् शङ्कर-पार्वतीकी ही उपासना सबसे अधिक प्रचलित थी। प्राचीन मन्दिर प्रायः शङ्कर-पार्वतीके ही हैं। शाके १२०० (संवत् १३३५)-के लगभग और तत्पश्चात् ज्ञानेश्वर-नामदेवके समयसे वैष्णवधर्मका स्रोत बड़े वेगसे बहने लगा और वैष्णवधर्मकी बाढ़-सी आ गयी। विगत छः सौ वर्षोंमें जो-जो सन्त हुए वे प्रायः सभी भागवतधर्मानुयायी थे और इस कारण आज महाराष्ट्रमें भागवतधर्म ही प्रधान है। तथापि शक्तिकी उपासना महाराष्ट्रमें घर-घर कुलधर्मके तौरपर आज भी प्रचलित है। महाराष्ट्रमें शक्तिका लोकप्रिय नाम भवानी देवी है। शक्तिका अभिप्राय है पारमेश्वरी शक्ति—चिच्छक्तिसे। इस चिच्छक्तिके तीन रूप हैं—महाकाली, महासरस्वती और महालक्ष्मी। महाकाली क्षत्रियोंमें, महासरस्वती ब्राह्मणोंमें और महालक्ष्मी वैश्योंमें सञ्चार करें और तीनों वर्ण शक्तिसम्पन्न होकर राष्ट्र सर्वाङ्गीण अभ्युदयको प्राप्त हो—इसी हेतुसे शक्ति-उपासना चलायी गयी होगी। महाराष्ट्रमें भगवतीके चार मुख्य स्थान हैं—तुलजापुर, कोल्हापुर (करवीर), मातापुर (माहुर) और सप्तशृंगी। तुलजापुर और मातापुर निजामराज्यमें हैं और सप्तशृंगी-पर्वत नासिक-प्रान्तमें। मातापुरकी देवी रेणुका, एकवीरा और यमाई-नामसे प्रसिद्ध हैं। एकनाथ महाराजकी यही कुलदेवी हैं। तुलजापुरकी भवानी समर्थ रामदास और छत्रपति शिवाजीकी कुलस्वामिनी हैं। महाराष्ट्रकी यही चैतन्य भवानी हैं। शिवाजी महाराजकी तलवार भवानी-तलवार कहलाती थी। भवानीसे ही वह उन्हें प्रसादरूपमें मिली थी। भगवतीके ये चारों स्थान जागृत हैं और भगवतीकी उपासना-पद्धति एक-सी ही है। महाराष्ट्रके प्रायः सभी कुलोंमें देवीकी उपासना होती है। देवीका वर्णन अग्निपुराण, स्कन्दपुराण और मुख्यतः देवीभागवतमें है और सप्तशती तो देवीके उपासकोंका मुख्य उपासना-ग्रन्थ ही है। महिषासुर, शुम्भ, निशुम्भ, मधुकैटभ, चण्ड-मुण्ड इत्यादि दैत्योंको देवीने स्वयं ही मारा है। समर्थ श्रीरामदास स्वामीने देवीके सात-आठ स्तोत्र बनाये हैं और उनकी बनायी देवीकी आरती घर-घर गायी जाती है। देवीके आदिमाया, प्रणवरूपिणी, भैरवी, भुवनेश्वरी,

भवानी इत्यादि नामोंपर सैकड़ों स्तोत्र रचे गये हैं।

४—तुलजापुरकी श्रीतुलजादेवी

तुलजापुरकी देवी अष्टभुजा हैं, व्याघ्रपर सवार हैं, उनके हाथोंमें छः आयुध हैं और बाकी दो हाथोंमेंसे बायें हाथसे महिषासुरकी चोटी पकड़ी है और दाहिने हाथसे उसकी कुक्षिमें शूल भोंका है। भगवतीके सभी रूप उग्र, भव्य और वीररस-सञ्चारक हैं। जब इनका जुलूस निकलता है तब इन्हें सिंह, हंस, मोर, नन्दी और गरुड—इनमेंसे किसीकी भी काष्ठनिर्मित मूर्तिको वाहन बनाकर उसपर बैठाया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि देवी, सरस्वती, शङ्कर, विष्णु, ब्रह्मदेव आदि सभी देवता एक ही चिच्छक्तिके रूप हैं और वे सब अविद्या या अहंकारका नाश करनेवाले हैं। तुलजादेवीके पाँवोंके पास भैंसेकी अर्थात् महिषासुर याने अहंकारकी लाश पड़ी हुई है! देवीकी सेवामें जो लोग रहते हैं उनके जिम्मे अलग-अलग काम हैं और उन कामोंके अनुसार उनके गोंधली, भूत्ये, भोवे, आराध्ये इत्यादि नाम हैं। इनमें गोंधली मुख्य हैं। झाँझ, संबल और तुनतुना उनके वाद्य हैं। पोत, टोकरी, मशाल इत्यादि असंख्य सामग्री देवीकी सेवाकी होती है। यह ठाट तुलजापुर जाकर देखनेसे ही उसका आनन्द मिल सकता है। शिवाजी महाराजके समयसे अर्थात् स्वराज्यके उदयकालमें गोंधली वीररसभरे 'पोवाडे' गा-गाकर महाराष्ट्रमें वीर-रसका सञ्चार करते रहे हैं।

५—श्रीमहालक्ष्मी और एकनाथ

एकनाथ महाराजने देवीकी उपासनाके अनेक ओजपूर्ण भक्ति-रस-परिप्लुत पद्य बनाये हैं और वे अत्यन्त लोकप्रिय हैं। 'आदिमाया महालक्ष्मी' के स्तुति-स्तोत्र उनके अत्यन्त वीर-रसात्मक हैं। उनमें अध्यात्म-तत्त्व है और वीररस भी। परमार्थके साधक और देशभक्त वीर—दोनोंके लिये वे समानरूपसे स्फूर्तिदायक हैं। दुष्टोंका संहार करना, यह जो देवीका व्रत है उसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन उनमें किया गया है। हिरण्यकशिपुके समय नरसिंहरूप धारण करके प्रह्लादको बचानेवाली, कुरुक्षेत्रके महायुद्धमें पाण्डवोंका पक्ष लेकर कौरवोंको धूलिमें मिलानेवाली, लङ्काको जलाकर श्रीहनूमान्के रूपसे देवताओंको बन्धनसे छुड़ानेवाली, पण्ढरपुरमें श्रीविट्ठलरूपसे प्रकट होनेवाली भगवती। एकनाथ महाराज कहते हैं कि यह देखकर कि म्लेच्छोंने भगवत्-भक्तोंको खूब सताया है और उनकी महिमाको सर्वथा नष्ट किया है, महाराष्ट्रमें प्रकट हुईं। उस समयका वर्णन करते हैं कि 'तीर्थोंने अपना माहात्म्य छोड़ दिया था और अठारहों जातियाँ (अपने-अपने धर्मको छोड़) एक हो गयी थीं अर्थात् वर्णसङ्कर हो गयी थीं।' यह देख धर्म-संरक्षणके लिये जगदम्बा प्रकट हुईं। एक बड़े ही ओजस्वी पदमें उन्होंने 'द्वार खोल मैया, द्वार खोल' कहकर भगवतीसे प्रकट होनेकी प्रार्थना की है। पारमेश्वरी चिच्छक्ति राष्ट्रके अङ्ग-अङ्गमें प्रवेश करे, यही भावना उन्होंने खुले शब्दोंमें प्रकट की है। प्रत्येक प्रान्तकी लक्ष्मीको 'द्वार खोल मैया' (द्वार उघड बया) कहकर आवाहन किया है—

अलक्ष्यपुरभवानी। द्वार खोल मैया॥
माहुरलक्ष्मी। द्वार खोल मैया॥
कोल्हापुरलक्ष्मी। द्वार खोल मैया॥
तुलजापुरलक्ष्मी। द्वार खोल मैया॥
तैलङ्गणलक्ष्मी। द्वार खोल मैया॥
कान्नाडलक्ष्मी। द्वार खोल मैया॥
पाताललक्ष्मी। द्वार खोल मैया॥
पंढरपुरनिवासिनी। द्वार खोल मैया॥
द्वार खोल मैया। द्वार खोल। द्वार खोल॥

माहुर, कोल्हापुर, तुलजापुरके साथ-साथ तैलङ्गण और कान्नाड प्रान्तोंकी चिच्छक्तिको भी एकनाथ महाराजने आवाहन किया है। इसमें एक ऐतिहासिक तथ्य है। तैलङ्गणके आन्ध्रभृत्य महाराष्ट्रमें कुछ काल राज करते थे और उनकी राजधानी थी एकनाथ महाराजके पैठण-नगरमें ही। कान्नाड-प्रान्तकी विजयनगर-साम्राज्य अभी कलतक जगमगा रहा था। अलक्ष्यपुरकी भवानीसे मतलब है, अव्यक्तमें रही हुई चिच्छक्तिका। एकनाथ महाराजने उन्हीं अलक्ष्यपुरनिवासिनी अव्यक्त चिच्छक्तिसे व्यक्त होनेकी प्रार्थना की है। चाहे वह तैलङ्गणमें प्रकट हों या कान्नाडमें या महाराष्ट्रमें ही। एकनाथ महाराजकी व्यापक देशभक्ति किसी एक प्रान्तसे बँधी नहीं थी।

पिण्डजप्रवरारूढा चण्डकोपास्त्रकैर्युता।
प्रसादं तनुते मह्यं चन्द्रघण्टेति विश्रुता॥

गीताप्रेस गोरखपुर

श्रीमहालक्ष्मी

गायत्रीका प्रातर्ध्यान

ॐ प्रातर्गायत्री रविमण्डलमध्यस्था रक्तवर्णा द्विभुजा अक्षसूत्रकमण्डलुधरा हंसासनमारूढा ब्रह्माणी ब्रह्मदैवत्या कुमारी ऋग्वेदोदाहृता ध्येया।

गायत्रीका मध्याह्नध्यान

ॐ मध्याह्ने सावित्री रविमण्डलमध्यस्था कृष्णवर्णा चतुर्भुजा त्रिनेत्रा शङ्खचक्रगदापद्महस्ता युवती गरुडारूढा वैष्णवी विष्णुदैवत्या यजुर्वेदोदाहृता ध्येया।

गायत्रीका सायाह्नध्यान

ॐ सायाह्ने सरस्वती रविमण्डलमध्यस्था शुक्लवर्णा चतुर्भुजा त्रिशूलडमरुपाशपात्रकरा वृषभासनमारूढा वृद्धा रुद्राणी रुद्रदैवत्या सामवेदोदाहृता ध्येया।

भुवनेश्वरी

उद्यद्दिनद्युतिमिन्दुकिरीटां तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्ताम्।
स्मेरमुखीं वरदाङ्कुशपाशाभीतिकरां प्रभजे भुवनेशीम्॥

भगवान

उन्होंने चिच्छक्तिका दरवाजा खटखटाया है और जैसी कि अँगरेजी भाषामें एक लोकोक्ति है—"Knock and the door will open" अर्थात् 'दरवाजा खटखटाओ, खटखटानेसे खुल जायगा' तदनुसार एकनाथ महाराजने भवानी-मन्दिरका जो द्वार खटखटाया उसका वैसा ही परिणाम हुआ। एकनाथ महाराजके बाद दस ही वर्षके भीतर समर्थ रामदास और महात्मा तुकाराम महाराष्ट्रमें अवतरे और तीन वर्ष बाद श्रीशिवाजी महाराज भी अपने वीरगणोंके साथ आ धमके। इन वीरों और भक्तोंने केवल महाराष्ट्र ही क्यों, समग्र दक्षिणोत्तर हिन्दुस्थानको चैतन्य कर दिया सो इतिहासमें प्रसिद्ध ही है। एकनाथ महाराजके इन देवी-स्तोत्रोंमें राष्ट्रके अभ्युदयके साथ-साथ निःश्रेयसकी भी प्रार्थना की गयी है। इससे यह बात समझमें आ जाती है कि सन्त-महात्मा राष्ट्रकी जो चिन्ता करते हैं वह राष्ट्रके इहपर उभय-कल्याणकी होती है। एकनाथ महाराज गोस्वामी तुलसीदासजीके समकालीन थे। श्रीशिवाजी-जैसे शूरवीर पुरुष अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा महाराष्ट्रमें ही पहले उत्पन्न हुए, इसका कारण या कम-से-कम इसका प्रमाण यही है कि महाराष्ट्रमें देवीकी उपासना हो रही थी और उससे राष्ट्रमें वीर-चैतन्य जाग रहा था। पण्ढरपुरके श्रीविट्ठलदेवने महाराष्ट्रीयोंमें शुद्ध परमार्थका भाव भर दिया और 'प्राणिमात्रमें भगवद्भाव' का महामन्त्र फूँका और तुलजापुर, कोल्हापुर, माहुरकी भगवती भवानीने परमार्थके साथ ही राष्ट्रको वीर-वृत्ति दी। एकनाथ महाराजने देवीके अनेक-विध कवित्वपूर्ण स्तोत्र बनाये हैं पर उन्हें तथा देवीकी उपासनाके प्रकारोंको महाराष्ट्रमें आकर ही समझना चाहिये। हमारे शिक्षित लोगोंने तो इस परम्पराको बिलकुल ही भुला दिया है। जगदम्बाकी उपासनाके गोंधल, फुलौरा, रोडगा, जोगवा आदि अनेक प्रकार हैं। उनपर एकनाथ महाराजके पद हैं और पुराने विचारके समाजपर उनका आज भी बड़ा प्रभाव है।

६—श्रीभवानी और रामदास

कुलदेवी भवानीके श्रीसमर्थ रामदासरचित सात-आठ स्तोत्र हैं। एकनाथ महाराजके समय यावनी प्रभुत्वका बड़ा दबदबा था, समर्थ रामदासके समयमें वह नष्ट हो चला था और मराठा-साम्राज्यका सूर्य उदय होकर मध्याह्नकी ओर जा रहा था। समर्थ रामदास श्रीशिवाजी महाराजके गुरु थे—यह सबको ज्ञात ही है। समर्थ रामदास स्वामी कहते हैं—

दुःख दारिद्र्य उद्वेगें लोक सर्वत्र पीडिले।
मुळीची कुळदेव्या हे संकटीं रक्षिते बळें॥

मुसलमानी अत्याचारोंके दुःखसे, दारिद्र्यसे तथा नैराश्यजनित उद्वेगसे हिन्दू अत्यन्त पीड़ित हो गये हैं; इस अवस्थामें हमारी कुलदेवी मूलमाया भवानी अपनी स्फूर्तिसे हमारी रक्षा कर रही हैं। उन्मत्त रावणको पटककर धूलिमें मिलानेवाले श्रीरामचन्द्रको उन्हींका प्रसाद मिला था। 'समभाव, न्याय और सदाचार-नीतिसे राज्य करनेवाले' सूर्यवंशी राजाओंका मुख्य ध्येय 'धर्मसंस्थापना' ही था। राष्ट्रके अङ्ग-अङ्गमें शक्तिका सञ्चार हुए बिना राष्ट्रका उदय नहीं हो सकता; और शक्ति और युक्ति—ये दोनों जहाँ एक होती हैं वहीं भगवान्‌का सञ्चार होता है, यही श्रीसमर्थ रामदास स्वामीने अपनी अति ओजस्विनी वाणीसे शिक्षा दी है। रामदास स्वामी बालब्रह्मचारी थे, उनकी अपनी कोई घर-गृहस्थी न थी, राष्ट्रके प्रपञ्चको ही सुव्यवस्थित करनेके लिये उन्होंने जीवनभर अनेक महान् उद्योग किये। 'सारा प्रपञ्च शक्तिसे होता है, शक्तिसे ही शक्ति भोगी जाती है।' 'शक्तिसे राज्य मिलते हैं, युक्तिसे उद्योग बनते हैं।' इत्यादि उनके दिये हुए पाठ मराठोंको अजेय शक्ति दे गये और उनके आशीर्वादसे श्रीशिवाजी महाराजने स्वराज्य संस्थापित किया। भवानीकी स्तुतिमें उन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि 'पहले तुमने महिषासुरादि अनेक दुष्टोंका संहार किया है, यह पुराण बतलाते हैं पर अब हमें अपना यह व्रत प्रत्यक्ष करके दिखा दो।' जगदम्बाने दिखा ही तो दिया और आर्यभूमि उससे आनन्दगद्गद हो गयी।

प्रायः सभी महाराष्ट्रीय कुलोंमें देवीके कुल-धर्म पालन किये जाते हैं, तथा नित्य पूजन-अर्चन और व्रतोत्सवादि मनाये जाते हैं।

गुजराती साहित्यमें शक्ति-पूजा

(लेखक—अध्यापक श्रीसाँवलजी नागर)

धर्मप्राण आर्य—हिन्दू-जातिकी यह एक बड़ी विशेषता है कि उसके साहित्यमें स्थान-स्थानपर धर्मकी ही जयघोषणा दृश्यमान होती है। धर्म ही उसके अन्तस्तलका परम प्रियतम रहा है। उसमें भी गुजराती साहित्यमें समाजकी भावनाओं, कल्पनाओं, आकांक्षाओं आदिका प्रतिबिम्ब अधिक स्पष्ट परिदर्शित होता है। भक्तिकी अविच्छिन्न अविरल धारा जैसी इस देशमें प्रवाहित होती दिखलायी देती है वैसी निर्मल स्रोतस्विनी अपर स्थानमें नहीं। स्मार्त, शैव, शक्तिमार्गी, वैष्णव, जैन, एकेश्वरवादी, बहुदेववादी, ज्ञानमार्गी, भक्तिमार्गी, तन्त्रमार्गी सभी सम्प्रदायवालोंने, धर्मप्रचारक साधुओं, भिक्षुओं और पण्डितोंने गुजरातके रङ्गमञ्चपर अपना नृत्य-नाट्य कर जन-समाजको प्रभावित करनेका आयोजन किया—प्रयास किया है। मुसलमानोंका प्रचण्ड अंधड़ मुहम्मद बिन कासिमके क्रूर हाथों आरम्भ हुआ। गुजरातकी धर्मप्रेमी भावुक जनता एक बार विक्षिप्त हो उठी। मुहम्मद गज़नीके सोमनाथवाले क्रूर कृत्यने समस्त गुजरातियोंका खून उबाल दिया। परन्तु मुसलमान औलिया, पीर और फकीरोंने जब धर्मके नामपर, ईश्वरके नामपर बाँग देना शुरू किया, भिक्षाके लिये हाथ पसारा—गुजरातकी भावुक जनता पसीज उठी और उनके उपदेशोंको भी शान्तिके साथ श्रवण करने, मनन करने लगी। गुजराती साहित्यमें आत्मगत भावोच्छ्वासके उपर्युक्त अनोखे दृश्य स्पष्टरूपसे झलकते दिखलायी देते हैं।

परन्तु एक विशेषता गुजराती साहित्यमें और भी लक्षित होती है, सो यह कि गुजरातवासियोंने पुरुष और प्रकृति, शिव और शक्तिको एक-दूसरेसे अभिन्न देखा है। उनकी दृष्टिमें यदि शिव अव्यक्त, अदृश्य एवं सर्वगत आत्मा है तो शक्ति दृश्य, चल एवं नामरूपधारी सत्ता है। अर्थात् शिव और शक्ति एक ही तत्त्वके दो महास्वरूप हैं। जब प्रकाश अथवा ज्ञानको प्रधानता प्राप्त हो, उपासकको शैव समझना योग्य है परन्तु जहाँ आत्मभान करानेवाली क्रियाको ही प्रधानता प्राप्त हो, वहाँ उपासकको शाक्त समझना चाहिये। गुजरातवासियोंकी दृष्टिमें शिव और शक्तिकी उपासनामें यदि भेद है तो वह वस्तुके गुणप्रधान भावपर ही निर्भर है। क्योंकि शैव और शाक्त दोनों बत्तीस तत्त्वोंको मानते हैं। अधिकार-भेद, अद्वैतभाव, तन्त्रमार्ग एवं योगचर्या—दोनोंकी एक समान है। किसी प्रसङ्गमें हम शिवको उपदेष्टा और शक्तिको शिष्यारूपमें पाते हैं, कहीं इसके विपरीत शक्तिको उपदेशकर्त्री और शिवजीको शिष्यरूपमें देखते हैं। प्रथम प्रकारमें हमको तन्त्रशास्त्र आगमरूप तथा दूसरे प्रकारमें तन्त्रशास्त्र निगमरूप परिदर्शित होता है। शिवके स्वरूपको समझनेके लिये शक्तिकी उपासना अनिवार्य है। वैसे ही शक्तिकी साधना शिवकी कृपा बिना नहीं हो सकती। इसी कारण गुजराती साहित्यमें अपभ्रंश-कालसे उन्नीसवीं शताब्दितकके काव्योंमें इन दोनों महास्वरूपोंकी उपासना एक साथ प्राप्त होती है।

पहिलऊं परमेसरू नमी अविकल अविचल चित्ति।
सम रिसूं समरसि झीलती हँसासणी सरसत्ति॥
मानस सरि जां निर्मलइ करइ कुतूहल हँस।
तां सरसति रंगइ रमइ जोगी जाणइ अँस॥

(प्रबोधचिन्तामणि, अपभ्रंश-गुजराती-ग्रन्थ)

श्रीगुरुचरणे प्रणमु कर जोड़ी नामुं शीश।
प्राकृत बंध इच्छा करूं पत राखो श्रीजगदीश॥
मतिमंद मूरख काइं न जाणु धरूं मोटी हाम।
शक्ति शिव करुणा करो तो थाय मारूं काम॥

(जालन्धर-आख्यान—१७ वीं शताब्दी)

गुजराती भाषाके तुलसीदास, लोकप्रिय भट्ट प्रेमानन्दके समकालीन प्रतिस्पर्धी, सामल भट्टने अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य श्रीशिवपुराणमें इस भावनाको और भी स्पष्ट कर दिया है। आप लिखते हैं—

शक्ति जोर थी शिव थया, वैष्णावी थी विष्णु होय।
ब्रह्मा ब्रह्माणी थकी, कळी शके सहु कोय॥
पृथ्वीरूप ए प्रेमदा, आकाशरूप शिव अद्य।
एमां थी सहु उपज्यां, समीया एमां सद्य॥
ममता करशे ते मूरखा, अकल हीन अजाण।
पृथ्वी मां पेदा थया, समजे सिद्ध सुजाण॥
प्रथम राधे पछी कृष्णजी, प्रथम सीता पछी राम।
प्रथम शिवा पछी शिव स्वये, एक रूप बे नाम॥

गुजरातमें अर्धनारीश्वरकी इस प्रकारकी उपासना, पूजा और भक्ति अति प्राचीनकालसे ही वर्तमान रही है। बौद्ध और जैनकालमें विघ्न उपस्थित भले ही हुआ हो परन्तु भगवान् शङ्कराचार्यजी महाराजके प्रादुर्भावने इस धार्मिक प्रवृत्तिमें नवजीवन सञ्चार कर दिया। वैदिक धर्मके द्वारा आर्य-हिन्दू-समाजके संग्रन्थन करनेमें इन्होंने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। इन्हींके उद्योग एवं परिश्रमसे तत्कालीन हिन्दू-सनातन-लोक-मानसमें अद्भुत, अपूर्व परिवर्तन-परिवर्धन हुआ। भिन्न-भिन्न प्रान्तोंकी यात्राद्वारा उनको यह भी विश्वास हो गया कि जनसाधारणकी बुद्धिमें निर्गुण ब्रह्मकी उपासना घर नहीं कर सकती; साथ ही सगुण ब्रह्मकी उपासना—साकार-मूर्तिकी भक्तिद्वारा ब्रह्मोपासना कम कष्ट-साध्य एवं देशकाल-पात्रके अधिक अनुरूप है। इस विचारसे उन्होंने भी भक्ति-सरितामें स्नान कर मोक्ष-ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रवृत्तिको परिस्फुटित करना ही अधिक उपयुक्त समझा। पञ्चायतन-देवपूजा, देवभक्ति आरम्भ हुई। गुजरातपर इसका भारी प्रभाव पड़ा। सौराष्ट्रमें निवास करनेवाली सनातन आर्य-जातियोंमें नागर ब्राह्मण, ब्रह्मक्षत्रिय तथा नागर वैश्य सदासे ही सम्मानित—प्रतिष्ठित पदोंपर विराजमान रहे हैं। कुछ दशक पूर्वतक गुजरात, काठियावाड़की छोटी-बड़ी सभी रियासतोंमें नागरोंका ही बोलबाला था—दौर-दौरा था। नागरोंके इष्टदेव श्रीहाटकेश्वर शिव हैं परन्तु कुलदेवीकी उपासना, शक्तिकी पूजा बिना नागर नागर माना ही नहीं जाता।

गोत्रावटङ्कशाखाश्च प्रवरं वेदकर्मणि।
शिवं गौरीं गणेशञ्च नावजानन्ति नागराः॥

इसीसे गुजरातियोंमें शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदिके प्रति समभाव कायम रहा। 'राधा-कृष्ण' का पवित्र नाम लेते ही वहाँके लोगोंमें 'अर्धनारीश्वर' देवकी भावना जागरित होती रही है। राधा स्वकीया है वा परकीया?—ऐसी अनार्य उच्छृङ्खल संकीर्ण भावनाके लिये गुजरातियोंके हृदयमें स्थान ही नहीं रहा। गुजराती साहित्यके परम सम्मानित महाकवि नरसिंह मेहताने शिवकी उपासना कर श्रीकृष्णकी पवित्र रास-क्रीड़ाको निज नेत्रोंसे निरखा। आजन्म उन्होंने श्रीकृष्णकी मोहिनी मूर्तिका गुणगान किया, अपने हृदयमें सदा ही मधुर-मुरलीका आलाप श्रवण किया परन्तु अन्तस्तलमें विषमता-कलुष उत्पन्न करनेवाली साम्प्रदायिकता उत्पन्न न हुई। यही कहा—

पक्षापक्षी त्यां नहिं परमेश्वर,
समदृष्टि ने सर्व समान।

यही कारण है कि गुजरातमें अनेक सुप्रसिद्ध शाक्तपीठोंके होते हुए भी शाक्त-सम्प्रदाय-सम्बन्धी गुजराती साहित्यमें केवल भक्तिको ही प्रधानता प्राप्त है। हम उसमें देवीके अनेकानेक रूपोंकी स्तुति पा सकते हैं। भगवतीने भिन्न-भिन्न अवतार ग्रहणकर जिस प्रकार क्रूरकर्मा दैत्योंका ध्वंस किया, भक्तोंकी रक्षा की, उन्हें आशीर्वाद देकर अभय-वर प्रदान किया, संस्कृति, समाज अथवा राष्ट्रकी रक्षा करनेमें भावुक जनताको साहाय्य प्रदान किया—इन सब विषयोंका उल्लेख हमें गुजराती साहित्यमें प्रचुर मात्रामें प्राप्त हो सकेगा। परन्तु भगवतीकी भिन्न-भिन्न मूर्त्तियोंमें किस प्रकारकी भावना अवगुण्ठित है, किस उद्देश्यसे अमुक मन्त्रका निर्माण हुआ; मन्त्र, यन्त्र तथा देवतामें ऐक्य स्थापन करनेकी प्रणाली आदिपर सैद्धान्तिक ग्रन्थ बँगला-भाषाको छोड़—गुजराती, हिन्दी आदि भाषाओंमें अभी नहीं हैं। यद्यपि तन्त्रशास्त्रमें परम निष्णात गुजराती तथा उनके द्वारा लिखे गये संस्कृत ग्रन्थोंकी संख्या कम नहीं है। जिस प्रकार काशीवासी सुप्रसिद्ध मन्त्रशास्त्री वामनभद्र पाठकने शक्तिकी उपासना कर पेशवा-दरबारमें सम्मान प्राप्त किया और सूरतकी प्रसिद्ध जमींदारी 'म्होटा वराछा' जागीररूप भेंट पाया, उसी प्रकार छानीग्राम, बड़ौदा-निवासी पण्डितशिरोमणि मन्त्रशास्त्री पाठक जटाशंकरजी और उनके विद्वान् वंशज आचार्य गौरीशङ्करजी पाठक, श्रीलक्ष्मीशंकरजी पाठक तथा प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद महाराज बटुकनाथजीने शक्तिकी उपासना और मन्त्र-शास्त्रके परम पाण्डित्यके कारण उत्तर भारतवर्षमें गुरुवरका गौरवशाली पद प्राप्त किया है। सुप्रसिद्ध महाभारत-वेत्ता कथावाचक स्व० रमानाथजी व्यास श्रीगौरीशंकरजीके शिष्योंमें थे। उन्हींकी आज्ञानुसार व्यासजीने पीताम्बरादेवीकी काशीमें स्थापना भी की है। काशीके तत्कालीन सभी विद्वान् श्रीगौरी-शंकरजी तथा श्रीलक्ष्मीशंकरजीको गुरु-रूप पूजते थे। उनका मकान 'गुरुजीकी हवेली' कहा जाता है, यद्यपि उस परिवारके लोग उस मकानमें नहीं रहते। उस परिवारके वर्तमान आचार्य पूज्य श्रीबटुकनाथजी तत्रभवान् महाराजाधिराज

काशीनरेशके प्रसिद्ध दुर्गा-मन्दिरमें निवास करते हैं। आपके यहाँकी तन्त्रशास्त्रकी पुस्तकोंको किसी समय स्वर्गीय महाराजाधिराज दरभंगा अपने यहाँ ले जाना चाहते थे। दस हजारके पुरस्कारका लोभ संवरणकर पूज्यपाद बटुकनाथजीने अपनी अमूल्य तन्त्र-निधिको देना स्वीकार न किया। आज भी भिन्न-भिन्न प्रान्तोंके मन्त्रशास्त्री आचार्य श्रीबटुकनाथजीके यहाँ अपनी ग्रन्थियाँ सुलझाने आया करते हैं। आपलोगोंने संस्कृत-भाषामें अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। परन्तु गुजराती भाषाको अभी आपने भूषित नहीं किया है।

गुजराती भाषाका परम सौभाग्य है कि उसके उपासकोंका ध्यान इस ओर आकर्षित हो रहा है। गुजराती भाषाके सुप्रसिद्ध विद्वान् दीवान बहादुर नर्मदाशङ्कर, देवशङ्कर मेहताने हालमें ही 'शाक्त-सम्प्रदाय' का ऐतिहासिक दृष्टिसे पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है। वेद, उपनिषद्-सूत्र तथा पौराणिक साहित्यके साथ-साथ बौद्ध तथा जैन-धर्ममें अन्तर्हित शक्ति-तत्त्वपर आपने प्रकाश डाला है। गुजरातके शक्तिपीठोंमें आरासुरवाली श्रीकुलकी अम्बिकादेवी, पावागढ़स्थित कालिकापीठ, आबूकी अर्बुदादेवी तथा चुवाड़स्थित बहुचराजी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इसके सिवा नारायण-सरोवरके निकट आशापुरीदेवी, भुजके निकट रुद्राणीदेवी, बेंटमें अभयादेवी, हड़वदके निकट सुन्दरीपीठ, काठियावाड़में प्रभासक्षेत्र-पिंडतारक्षेत्र भी शक्ति-उपासकोंके प्रधान स्थान हैं। कालिकादेवीकी पूजा गुजरातमें सर्वत्र होती है परन्तु वहाँ वामा अथवा भैरवी-कालिकाकी भावना नहीं है, वहाँ तो दक्षिणा शिवा-कालिकाका ही भाव स्पष्ट है। इसीसे लोग उन्हें भद्रकालीके नामसे पूजते हैं। बहुचराजीमें श्रीकुलकी बालात्रिपुराकी भावना वर्तमान है। अतएव नर्मदाशङ्कर, देवशङ्करजी महोदयने कादि तथा हादिमतानुसार पूजित श्रीयन्त्रके विषयमें भी थोड़ा लिखकर शक्तिमतको अधिक स्पष्ट करनेका आयोजन किया है। गुजरातमें बालात्रिपुरसुन्दरीके उपासक अनेक हैं। काशीमें सुप्रसिद्ध राजा मुंशी माधवलाल सी० एस० आई० ने मन्त्रशास्त्री लज्जाराम सन्तोखराम त्रवाड़ीसे बालात्रिपुरसुन्दरीका रहस्य समझा था। उन्होंने अपने निवासस्थानका नाम बालापुर रखा। वहाँ बालाकी सुन्दर मूर्ति तथा श्रीयन्त्र अद्यापि स्थापित है जो शक्ति-उपासकोंके लिये दर्शनीय है।

गुजराती साहित्यमें भक्तिकी अविरल धाराके तीन प्रधान आलम्बन हैं। श्रीकृष्ण जिनमें पूर्ण अथवा पर विष्णुकी भावना अनुस्यूत है, शिव जिनको परब्रह्म अथवा पर-शिव-स्वरूप वर्णन किया गया है और तीसरा आलम्बन शक्ति अथवा देवी है जिनको भक्तोंने पराशक्तिके रूपमें निहारा है। जो लोग गुजरातके सामाजिक जीवन और अवस्थासे पूरे परिचित नहीं हैं उनकी यह धारणा भ्रान्त है कि गुजरातके सनातन आर्य-हिन्दुओंमें वैष्णवपनको ही प्रधानता प्राप्त है। इतर भारतीय प्रान्तोंसे वहाँके स्त्री-सम्प्रदायको अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। गुजराती भाषाके सूरदास, भक्त नरसिंह मेहताने, चाहे भगवान्‌की रासक्रीड़ाका अपूर्व आनन्द भले ही चौदहवीं शताब्दीमें लिया हो परन्तु रासक्रीड़ाकी प्रतिच्छाया गुजराती समाजमें 'गरबा' के रूपमें सदासे ही वर्तमान रही है। शक्तिका आवाहन कर 'चौमुखी दीपशिखा' की पूजा कर देवीकी स्तुति गाते हुए परिक्रमा की जाती है। एकके बाद दूसरी स्त्री भगवतीका गुणगान करती है। प्रत्येक पद वा चरणको दूसरी महिलाएँ दोहराती जाती हैं। इस प्रकार रात-रातभर गरबा गाया जाता है। कितनी ही महिलाएँ नया गरबा तत्काल बनाती जाती हैं और गाती जाती हैं। घरमें दीक्षा शैव, वल्लभ अथवा रामानुज-सम्प्रदायकी क्यों न हो, गरबा गानेके समय उनमें परा-शक्तिकी भावना ओतप्रोत रहती है। अपनी रचनामें भले ही वह दुर्गा, अम्बा, काली, भवानी, राधा, सीता, गौरीका नाम लेवें परन्तु वह उनको पराशक्तिरूप देखती हैं। 'भवभयविभवपराभवकारिणी' ही मानती हैं।

कविवर भालण (१४३९—१५३९) आदिकवि नरसिंह मेहताके समकालीन रहे। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ चण्डी-आख्यान इनकी शक्ति-भक्तिका द्योतक है। इसी आख्यानको सरस और मधुर भाषामें जूनागढ़के दीवान रणछोड़जीने काव्यबद्ध किया है। भाषापर संस्कृतकी पालिश चढ़ी हुई है। जिस प्रकार सप्तशतीमें १३ अध्याय हैं, उसी प्रकार इनके चण्डीपाठमें १३ कवच हैं। रूपवर्णन गोस्वामी तुलसीदासके सीताके अंगवर्णनसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है। शक्रादय स्तुति करते हुए कहते हैं—

वस्त्र धर्यां माये जरकसी, जाणे प्रात दिनेश।
कमल कोश माँहि चंचला, शोभे यथा सुवेश॥
केश-पाश रवि-नंदिनी, गंग कुसुमनी माल।
सेंथो सिंदूर सरस्वती, वेणी त्रिवेणी विशाल॥

शरदिंदु सरखुं वदन छे, दंत दाड़िम बीज।
मंद मंद मंजुल हशे, जाणे झबके छे बीज॥
पीन पयोधर ओपतां, जाणे कंचन कुंभ।
बलिहारी भुजदंडनी, भाज्यां दैत्यनां दंभ॥

इसी सप्तशती-आख्यानको श्रीधरने सं० १४५४ के लगभग तथा कवि सोमेश्वरदेवने 'सुरथोत्सव' नामसे इससे भी पूर्व लिखा है। प्रभासपाटणके निवासी श्रीधरका गौरीचरित्र सं० १५६४ के लगभग लिखा गया। गुजराती भाषाके कविसम्राट् भट्ट प्रेमानन्द गोस्वामी तुलसीदासजीके समकालीन थे। इनके माता-पिता बाल्यावस्थामें ही देवलोक प्रयाण कर चुके थे। गोस्वामी तुलसीदासजी जिस प्रकार कोढ़ीरूप हनुमान्‌जीकी कृपासे काव्य-रचनामें सफल हुए, ठीक उसी प्रकार बड़ौदामें कामनाथ महादेवके निकट एक सिद्ध महात्माके दर्शन और आशीर्वादसे इन्हें अपूर्व सफलता प्राप्त हुई। अन्धकारसे गुजराती भाषाको प्रकाशमें लानेका आपको ही अद्भुत श्रेय प्राप्त है। आपने देवी-चरित्र लिखकर अपना शक्तिप्रेम प्रकट किया है।

आपके समकालीन कवियोंमें प्रसिद्ध शक्ति-उपासक नाथभवान उत्पन्न हुए जिनको जूनागढ़की बाघेश्वरी-देवीका इष्ट था। एक समय पूजन-सामग्री छूट गयी। आप घर लेने चले तो घोर वर्षा होने लगी। मार्गमें नदीका वेग बढ़ गया। आपने तैरकर जाना और पूजन-सामग्री लाना निश्चय किया। उसी समय बाघेश्वरीदेवीने आपको प्रत्यक्ष दर्शन दिया। आपने उसी समय एक गरबा बनाकर स्तुति की। आपने काशीमें संन्यास लिया। आप अनुभवानन्द सरस्वतीके नामसे प्रसिद्ध थे और 'आनन्दगुहा' स्थानमें निवास कर वेदान्त तथा योगकी शिक्षा देते रहते थे। आपने श्रीधरीगीता, सूतसंहिता-अन्तर्गत ब्रह्मगीता तथा अध्यात्मरामायणका गुजराती-पद्यानुवाद किया है। आपके गरबा और गरबी सुप्रसिद्ध हैं तथा घर-घर गाये जाते हैं। आपके वंशमें श्रीमोतीलाल रविशङ्कर, घोड़ा बी०ए०, एल-एल०बी० अद्यापि वर्तमान हैं, जिनके द्वारा अनुभूतिप्रकाश, भक्तिरसायन, उपदेशसाहस्त्री, शङ्करानन्दी टीकायुक्त भगवद्गीता आदि ग्रन्थोंका गुजराती अनुवाद हो चुका है। इस समय आप चारों वेदोंका सफलतापूर्वक गुजराती-अनुवाद कर रहे हैं। १७वीं शताब्दीके मध्य वल्लभ घोड़ा बाला-त्रिपुरसुन्दरीके परम भक्त हो गये हैं, इनकी 'गरबावलि' मधुर एवं हृदयग्राही है। विष्णुदास भीमने गुजराती काव्यसाहित्यमें माधुर्यकी सरस धारा बहा दी है। जन्मत: स्मार्त शैव होते हुए भी यह अपूर्व विष्णुभक्त, पितृभक्त तथा गुरुभक्त रहे। अपने वेदान्तग्रन्थ 'प्रबोधप्रकाश' में शिवजीकी अर्द्धाङ्गिनी उमाके लिये लिखते हैं—

जय जय जय जगदीश्वरी उमिया उज्ज्वल अंग।
आदि शक्ति अंतरि रही अलिंगी शिवलिंग॥
अंतरि मारगि नियमतां, नाड़ी सुक्षिम तन्त्र।
ब्रह्मरंध्र गुरुमुखी करी, जाणइ योगी जन्त्र॥

१८ वीं शताब्दीमें कृपाराम शुक्लके पुत्र मीठु महाराज सामरस्यवादी तान्त्रिक उत्पन्न हुए, जिन्होंने विन्ध्याचलमें अष्टभुजादेवीकी आराधना कर श्रीचक्रकी यामलविद्या प्राप्त की। आपने बत्तीस उल्लासमें रास-रसकी रचना की है, जिसमें अर्धनारीश्वरकी भावनाको सम्मुख रखकर श्रीचक्रकी पद्धतिके अनुसार रासक्रीड़ाका वर्णन है। आपने शक्ति-विलासलहरी, श्रीलहरी तथा श्रीरस भी लिखकर गुजराती भाषाका गौरव बढ़ाया है। आपकी शिष्या जानीबाईने 'नवनायिका-वर्णन' काव्य-रचना की है। आपको श्रीबालाके प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे—ऐसा ग्रन्थोंसे निष्कर्ष प्राप्त होता है। १९वीं शताब्दीके मध्यमें सुप्रसिद्ध कवि बालाशंकरजीके पिता उल्लासराम बालात्रिपुरसुन्दरीके उपासक थे। इसीसे अपने पुत्रका नाम उन्होंने 'बाला' रखा। बालकवि शाक्त साहित्य एवं रहस्यके अच्छे वेत्ता थे। 'सौन्दर्यलहरी' नामक रहस्य-स्तोत्रपर संस्कृतमें लगभग ३२ टीकाएँ हैं। शिवकी सच्चिदानन्दमयी परशक्तिकी उपासना 'कालीकुल' के मन्त्रों तथा 'श्रीकुल' के मन्त्रोंद्वारा होती है। श्रीकुलकी अधिष्ठात्री शक्तिको 'श्री' संज्ञा दी जाती है। इसमें साधकोंको अपने पिण्डमें ही उपासना करनी होती है। कविवर बालाशंकरने शंकराचार्यके ग्रन्थका समश्लोकी अनुवाद कर गुर्जर गिराको अलंकृत किया है। काशी नगरीमें नागरोंकी स्त्रियोंद्वारा रचे गये स्तोत्रों, गरबों तथा गरबियोंकी संख्या सहस्त्रोंसे अधिक होगी। विक्टोरिया प्रेसद्वारा तीन संग्रह प्रकाशित भी हो चुके हैं, जो अब प्राय: अप्राप्य हैं। त्रवाड़ी सूर्यनाथ, गणेशनाथने देवीकी स्तुतिमें एक संग्रह अमर-यन्त्रालयसे प्रकाशित कराया है। नागरोंके अनेक कुटुम्बोंमें बाला, त्रिपुरा, श्रीविद्या, बगला, तारा, ललिता आदि महाविद्याओंके मन्त्र तथा पटल वर्तमान हैं। स्त्रियोंमें जो गरबोंका संग्रह है उसीको

यदि सम्पादनकर ग्रन्थरूपमें प्रकाशित किया जाय तो वर्षोंमें कहीं पूर्ण होगा वा नहीं, इसमें सन्देह है।

शक्तिकी उपासना प्रत्येक जाति तथा समाजमें वर्तमान है। यूरोप, अमेरिका, जापान, चीन आदिमें भी इसका तत्त्व वर्तमान है। ऐसी अवस्थामें सनातन-आर्य-हिन्दुओंको इसका रहस्य आचार्योंके चरणोंमें बैठकर समझना चाहिये। इसीमें हमारा हित है और इसीसे हमारा कल्याण होगा।

शिवजीका राधावतार

एक बार परमकौतुकी लीलामय भगवान् श्रीशिवजीने पार्वतीजीसे कहा—'देवि! यदि मुझपर तुम प्रसन्न हो तो तुम पृथिवीतलपर कहीं पुरुषरूपसे अवतार लो और मैं स्त्रीरूप धारण करूँगा। यहाँ जैसे मैं तुम्हारा प्रियतम स्वामी और तुम मेरी प्राणप्यारी भार्या हो, उसी प्रकार वहाँ तुम मेरे स्वामी तथा मैं तुम्हारी पत्नी बनूँगा। बस, यही मेरा अभीष्ट है। तुम मेरी सभी इच्छाओंको पूर्ण करती हो इसे भी पूर्ण करो।'

शक्तिमान्‌की इच्छा पूर्ण करनेके लिये शक्ति देवीने स्वीकृति दे दी और कहा—'नवीन मेघके समान कान्तिमयी जो मेरी भद्रकाली नामकी मूर्ति है वही श्रीकृष्णरूपसे पृथिवीपर अवतार लेगी; अब आप भी अपने अंशसे स्त्रीरूप धारण कीजिये।'

शिवजी परम सन्तुष्ट होकर बोले—'मैं तुम्हारी प्रियकामनासे भूतलपर नौ रूपोंमें प्रकट होऊँगा। हे शिवे! मैं स्वयं परम प्रेममयी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाके रूपमें अवतीर्ण होऊँगा और तुम्हारी प्राणप्रिया होकर तुम्हारे ही साथ विहार करूँगा। इसके अतिरिक्त मेरी आठ मूर्तियाँ आठ रमणियोंके रूपमें प्रकट होंगी, वे ही मनोहरनयना श्रीरुक्मिणी और सत्यभामा आदि तुम्हारी आठ पटरानियाँ होंगी। इसके अतिरिक्त जो मेरे ये भैरवगण हैं वे भी रमणीरूप धारणकर भूमिपर अवतीर्ण होंगे।'

देवीने कहा—'आपकी इच्छा सफल हो, मैं आपकी इन सभी मूर्तियोंके साथ यथोचित विहार करूँगी। हे प्रभो! मेरी जया तथा विजया नामकी जो दोनों सखियाँ हैं वे पुरुषरूपमें श्रीदामा और सुदामा होंगी। विष्णु-भगवान्‌के साथ मेरा पहलेसे निश्चय हो चुका है, वे हलायुधरूपमें मेरे बड़े भाई होंगे और सदा मेरे प्रिय कार्योंका साधन करेंगे। उन महाबलीका नाम राम होगा। इस प्रकार मैं तुम्हारा कार्य सिद्धकर अपनी महती कीर्तिकी स्थापना करके पुनः भूतलसे लौट आऊँगी।'

इसी निश्चयके अनुसार पृथिवी और ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर श्रीपार्वतीजी श्रीकृष्णरूपमें तथा श्रीशिवजी श्रीराधारूपमें प्रकट हुए।

यह एक कल्पमें श्रीराधा-कृष्णके अवतारका बाहरी रहस्य है। भगवान् और भगवतीके अवतारकी गूढ़ अभिसन्धिको तो दूसरा कौन जान सकता है?

—महाभागवतके आधारपर

अम्बे!

उठ, तमक तान अंबे! त्रिशूल!

जीवनकी यह जड़ता कराल,
यह जगत बासनामें बेहाल।
पापोंकी ज्वाला बीच भीष्म,
झुलसा-सा यह शुचिता-प्रवाल॥
अघ-कीट काटते विश्व-मूल।
उठ, तमक तान अंबे! त्रिशूल॥

सेवा-व्रतियोंमें त्याग नहीं,
प्रणयीमें टुक अनुराग नहीं।
शूरोंमें लज्जाका न लेश,
यतियोंमें अल्प विराग नहीं॥
सबका है आडंबर समूल।
उठ, तमक तान अंबे! त्रिशूल॥

तू जननि आज उठ बेगि जाग,
दे लगा सृष्टिमें एक आग।
जल जायँ पाप, वासना, काम,
जागे कण-कणमें प्रेम-राग॥
दे पाप-हृदयमें तीव्र हूल।
उठ, तमक तान अंबे! त्रिशूल!!

—कपिलदेवनारायणसिंह 'सुहृद'

भाव और आचार

(लेखक—श्रीयुत अटलबिहारी घोष)

मन्त्र-शास्त्रको साधारणतः तन्त्र कहते हैं। तन्त्र-ग्रन्थ भिन्न-भिन्न देवताओंका प्रतिपादन करते हैं। मन्त्रसे ही देवताकी उत्पत्ति हुई है। इस स्थानमें देवताका अर्थ है साधककी स्वकीया ब्रह्ममूर्त्ति। साधारणतः ब्रह्मण्य तन्त्र पाँच श्रेणियोंमें विभक्त हैं। इन पाँच श्रेणियोंके नाम हैं—शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर और गाणपत्य। इस शास्त्रका उद्देश्य है साधनामार्गके द्वारा ब्रह्मज्ञान और निर्वाण—मोक्षकी प्राप्ति। किन्तु सब लोग एक मार्गसे नहीं जा सकते। सब मनुष्योंकी प्रकृति एक प्रकारकी नहीं है। मनुष्योंके अधिकार और भावमें कमी-बेशी होनेके कारण प्रकृतिमें अन्तर हो जाता है। इसी कारण, यद्यपि सब सम्प्रदायोंका गन्तव्य स्थान एक है तथापि जानेके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं।

हम देखते हैं—अन्य धर्मावलम्बियोंमें असंख्यरूपमें सम्प्रदायभेद हो गया है। और इन सम्प्रदायोंके अन्दर परस्पर विद्वेष भी बहुत ही अधिक बढ़ गया है। ब्रह्मण्यधर्ममें (जिसको आजकल हिन्दू-धर्म कहते हैं) इस तरहका विद्वेष-भाव शास्त्रविरुद्ध है। जिसे जिस मन्त्रका अधिकार है, वह उसी मन्त्र और उसी देवताकी उपासना करेगा। वही देवता उसके लिये ब्रह्ममूर्त्ति है। साधक उस साकार उपासनाके द्वारा ही निराकारमें पहुँच सकता है; सकल या सगुण मूर्त्तिका ध्यान करते-करते निष्कल अथवा निर्गुण ध्यानका अधिकारी होता है। शास्त्रमें कहा गया है—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

अर्थात् जो चिन्मय या ज्ञानमय हैं, जो अद्वितीय हैं, जो निष्कल या अंशहीन हैं एवं जो अशरीरी हैं, ऐसे ब्रह्मके जो उपासक हैं उनकी सहायताके लिये ब्रह्मके रूपकी कल्पना की गयी है। इसका कारण यह है कि जो निरुपाधि और अशरीरी हैं, उनकी उपासना करना सम्भव नहीं। शास्त्रमें फिर यह भी कहा गया है—

अग्नौ तिष्ठति विप्राणां हृदि देवो मनीषिणाम्।
प्रतिमास्वप्रबुद्धानां सर्वत्र विदितात्मनाम्॥

(कुलार्णव-तन्त्र)

अर्थात् ब्राह्मणोंके उपास्य देवता अग्निमें, मनीषी व्यक्तिके देवता हृदयमें, अप्रबुद्ध अर्थात् जिसे ज्ञानोन्मेष नहीं हुआ है उसके देवता प्रतिमामें रहते हैं और जिसे आत्मज्ञान हो गया है वह सर्वत्र ही अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्मको देखता है। यहाँपर चार प्रकारके अधिकारी देखे जाते हैं। इनमें जिनका उल्लेख अन्तमें किया गया है, वे सब भावोंके परे हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जो लोग भावातीत हैं, उनके लिये कोई भी विधि-निषेध नहीं है।

मन्त्र-शास्त्रमें त्रिविध भावका उल्लेख पाया जाता है। और त्रिविध आचारके अन्तर्गत सप्तविध आचार भी पाये जाते हैं। इन तीनों भावोंके नाम हैं—दिव्य, वीर और पशु। सप्तविध आचारोंके नाम हैं—वेद, वैष्णव, शैव, दक्षिण, वाम, सिद्धान्त और कौल। विश्वसार-तन्त्रमें लिखा है—

भावत्रयगतान् देवि सप्ताचारांश्च वेत्ति यः।
स जनः सकलं वेत्ति जीवन्मुक्तः स एव हि॥

अर्थात् जो व्यक्ति भावत्रयके अन्तर्गत सप्त आचारका विषय जानते हैं, वे सर्वज्ञ और जीवन्मुक्त हैं। शास्त्रमें यदि यह बात कही गयी है, तब तो भाव-ज्ञान नितान्त आवश्यक है और भावानुरूप आचारका पालन भी अवश्य करना चाहिये।

'भाव' शब्दकी व्याख्या अत्यन्त दुरूह है; क्योंकि भाव मनका धर्म है। '**भावस्तु मनसो धर्मः**'—यही शास्त्रमें देखा जाता है। जो मनका धर्म है, उसकी व्याख्या शब्दोंके द्वारा नहीं हो सकती। भाव तो मनमें ही उत्पन्न होता है और मनमें ही लीन हो जाता है। शास्त्रमें कहा गया है—

मनस्युत्पद्यते भावो मनसि हि प्रलीयते।

और यह भी शास्त्र कहते हैं—

यथेक्षुगुडमाधुर्यं रसना ज्ञायते प्रभो।
तथा भावो महादेव मनसा परिभाव्यते॥

अर्थात् जिस तरह गुड़का मिठास जीभ ही जान सकती है, उसी तरह भावको मन ही जान सकता है। हाँ, शब्दके द्वारा 'भाव' शब्दका अर्थ प्रकट न किये जा

सकनेपर भी दृष्टान्तके द्वारा उसका स्वरूप प्रकट किया जा सकता है। शास्त्रमें देखा जाता है—

भावेन चुम्बिता कान्ता भावेन दुहितानननम्।

मनुष्य जिस भावसे कान्ताका मुख चुम्बन करता है और जिस भावसे कन्याका मुख चुम्बन करता है, वे दोनों भाव एक तरहके नहीं होते। अतएव यहाँपर एक ही कार्यमें भावभेद देखा जाता है।

आजकल बहुत-से लोग हमारे ब्रह्मण्य-धर्मशास्त्रकी आलोचना करते हैं। उनमेंसे किसी-किसीको यह दिखायी पड़ता है कि इस शास्त्रके अन्दर सनातन सत्य निहित है। उसका अवलम्बन करनेसे ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकारसे मङ्गल होगा। इसीलिये वे लोग इस शास्त्रके आभ्यन्तरिक गंभीर तात्पर्यपर विचार करते हैं। एक दूसरी श्रेणीके लोग भी हैं जो यह समझते हैं कि ब्रह्मण्य-धर्मशास्त्र मृतप्राय है। बस, उसका केवल इतिहासभर जान लेना ही पर्याप्त है। सुतरां वे लोग उसी भावसे आलोचना करते हैं, वे विषयकी गम्भीरता और तात्पर्यकी ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं देते। इन दोनों श्रेणियोंके लोग एक भावसे शास्त्रकी आलोचना नहीं करते। यहाँपर भी भावका भेद देखा जाता है।

वर्तमान समयमें अनेक लोग श्रीमद्भगवद्गीताकी आलोचना करते हैं। उनमें कोई तो वकील हैं, कोई न्यायाधीश हैं, अथवा कोई राजनैतिक हैं। उनकी युक्तियोंको देखनेसे मालूम होता है कि वे पाश्चात्त्यभावसे आच्छन्न हो रहे हैं तथा भगवान्‌की युक्तियोंको उन्होंने पाश्चात्त्य युक्तिके साथ मिलानेकी चेष्टा की है। मानो इस कामको कर देनेसे ही गीताकी प्रामाणिकता सिद्ध हो गयी। (यहाँपर नामोल्लेख करना युक्तिसंगत नहीं। इसीलिये किसी ग्रन्थकार-विशेषका नाम नहीं दिया गया।) दूसरी ओर आज भी यह देखा जाता है कि कोई-कोई पुरुष भक्ति-भावसे प्रेरित होकर भी गीताकी आलोचना करते हैं। उनकी युक्तिके साथ पूर्वलिखित ग्रन्थकारोंकी युक्तिकी तुलना करनेसे दोनोंके भाव-भेदका अन्तर स्पष्ट मालूम हो सकता है।

साधारणतः लोग समझते हैं कि वैदिक अथवा तान्त्रिक क्रियाओंका अनुष्ठान करनेसे कोई फल नहीं होता। किन्तु क्यों फल नहीं होता, यह नहीं समझते। 'रुद्रयामल' तन्त्र में लिखा है—

भावेन लभते सर्वं भावेन देवदर्शनम्।
भावेन परमं ज्ञानं तस्माद् भावावलम्बनम्॥

भावके द्वारा सब तरहके लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं। भावके द्वारा देवताके दर्शन प्राप्त होते हैं और भावके द्वारा परम ज्ञान लाभ होता है। अतएव उपयुक्त भावका अवलम्बन करके काम करना चाहिये। महानिर्वाण तन्त्रके चतुर्थ उल्लासमें यह लिखा मिलता है—

ये यत्राधिकृता मर्त्यास्ते तत्र फलभागिनः।
भविष्यन्ति तरिष्यन्ति मानुषा गतकिल्बिषाः॥

अर्थात् जिन मनुष्योंको जिस प्रकारके आचारका, जिस प्रकारके भावका और जिस प्रकारके साधनका अधिकार है, उन्हें उसके अनुकूल ही अनुष्ठान करनेसे फल प्राप्त होगा और वे पापरहित होकर संसार-सागरको पार कर सकेंगे। किन्तु जहाँपर याजक और यजमानके अन्दर लेशमात्र भी भाव नहीं रहता, वहाँ क्रिया किस प्रकार फलवती होगी? इसीलिये शास्त्रमें कहा गया है—

किं न्यासविस्तरेणैव किं भूतशुद्धिविस्तरैः।
किं वृथा पूजनेनैव यदि भावो न जायते।
फलाभावश्च नियतं भावाभावात् प्रजायते॥

(११ श० प० कौलावती तन्त्र)

'भावचूडामणि' तन्त्रमें भी इसी प्रकार लिखा है—

बहुजापात् तथा होमात् कायक्लेशादिविस्तरैः।
न भावेन विना देव यन्त्रमन्त्राः फलप्रदाः॥

'भावचूड़ामणि', 'समयाचार', 'कुमारी तन्त्र', 'ज्ञानदीप', 'विश्वसार', 'सर्वोल्लास', 'कामाख्या', 'कुब्जिका', 'रुद्रयामल' प्रभृति तन्त्रोंमें त्रिविध भावका उल्लेख पाया जाता है। इन तीन प्रकारके भावोंके नाम पहले लिखे जा चुके हैं। सभी साधना-शास्त्रोंमें त्रिविध भावकी बात प्रच्छन्नरूपसे विद्यमान है। तमाम तन्त्रशास्त्रोंमें उन तीनों भावोंमें दिव्य-भावको उत्तम, वीर-भावको मध्यम एवं पशु-भावको अधम बताया गया है। जीव इन तीन भावोंमेंसे एकके अन्दर रहता है। 'रुद्रयामल' तन्त्रके छठे पटलमें लिखा है कि क्रमशः अभ्यास करनेके लिये पहले पशु-भावका अवलम्बन करके फिर वीर-भाव धारण किया जा सकता है। उसके बाद वीर-भावके कार्य समाप्त कर अत्यन्त सुन्दर दिव्य-भावका अवलम्बन किया जा सकता है। अतएव मालूम होता है कि तमोगुणाधिक मनोभावका नाम पशु-भाव, रजोगुणाधिक

मनोभावका नाम वीर-भाव तथा सत्त्वगुणाधिक मनोभावका नाम दिव्य-भाव है। उपर्युक्त शास्त्र-वचनसे प्रकट होता है कि सबसे पहले पशुभाव है; किन्तु यदि किसीने पूर्वार्जित पुण्य-बलसे पशुभावको अतिक्रम करके जन्म ग्रहण किया हो तो उसे सम्यक् पशु-भावका अवलम्बन नहीं करना पड़ता।

भावके विषयमें किसी-किसी तन्त्रमें मतभेद देखा जाता है। किन्तु वह भेद वास्तविक नहीं है। साधकके अधिकार और रुचिमें भेद होनेके कारण इस प्रकारके भेदमूलक वाक्योंका प्रयोग हुआ है।

'कुब्जिका तन्त्र' में इन तीनों भावोंका विस्तृत वर्णन है। दिव्य-भावमें स्थित साधक विश्व और देवतामें भेद नहीं देखता। वह स्त्रीजातिमात्रको महाशक्तिकी मूर्ति और पुरुषमात्रको शिवकी मूर्ति समझता है तथा अपनेको देवतात्मक समझता है। वह नित्य स्नान करता और नित्य दान करता है। उसका वेद, शास्त्र, गुरु, देवता और मन्त्रमें दृढ़ ज्ञान होता है एवं शत्रु और मित्रमें समभाव होता है। देवताकी निन्दा करनेवालेके साथ वह बातचीत भी नहीं करता। स्त्रीके चरण-युगल दिखलायी देनेपर उसके मनमें गुरुकी भावनाका उद्रेक होता है। ये ही सब दिव्य-भावके लक्षण हैं। 'महानिर्वाणतन्त्र' के प्रथम उल्लासमें कहा है—

दिव्यश्च देवताप्रायो शुद्धान्तःकरणः सदा।
द्वन्द्वातीतो वीतरागः सर्वभूतसमः क्षमी॥

भावकी पूर्णताके लिये जो निर्मल चित्तसे अनासक्त-भावसे सब कार्य सम्पन्न करते हैं वे ही जीवन्मुक्त, आत्मज्ञ व्यक्ति दिव्यभावापन्न हैं। यह दिव्य भाव एक ही प्रकारका अर्थात् विशुद्ध सत्त्वगुण-सम्पन्न होनेपर भी शास्त्रमें उसकी त्रिविध गति देखी जाती है। 'रुद्रयामल' तन्त्रके ग्यारहवें पटलमें कहा गया है—

त्रिविधं दिव्यभावञ्च वेदागमविवेकजम्।
वेदार्थमधमं प्रोक्तं मध्यमञ्चागमोद्भवम्।
उत्तमं सकलं प्रोक्तं विवेकोल्लाससम्भवम्॥

अर्थात् केवल वेदपाठके बाद जिस दिव्य भावका आविर्भाव होता है, वह अधम है; आगम-शास्त्रका पाठ करनेपर जो दिव्य भाव उदय होता है वह मध्यम है; और केवल साधन करते-करते विवेक उत्पन्न होनेपर जिस दिव्य भावका प्रादुर्भाव होता है, वह उत्तम है। वीर-भावमें परिपूर्णता प्राप्त होनेपर ही साधक दिव्य भावमें पहुँचते हैं। इसलिये वीर-भाव दिव्य भावका हेतु है।

जो सब प्रकारके हिंसा-कार्योंसे रहित हैं, सर्वदा सब जीवोंके हित करनेमें रत रहते हैं, जिन्होंने षड्रिपुओं (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर)-पर विजय प्राप्त कर ली है और जो जितेन्द्रिय हैं, सुख-दुःखमें सम ज्ञान रखनेवाले हैं, ऐसे ही साधकोंको वीर कहते हैं। 'कुब्जिका'-तन्त्रके सप्तम पटलमें वीर-भावके लक्षणोंका वर्णन विस्तृत रूपसे किया गया है। वीरके दो भेद हैं—सभाव-वीर और विभाव-वीर। सभाव-वीर सत्त्वप्रधान और विभाव-वीर रजोप्रधान होते हैं। इसीलिये वीर-भाव दो प्रकारका होता है। साधनाके बलसे जिनपर तन्त्रका अर्थ प्रकट हो गया है, तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया है, एवं विषय-वासनाके कम होनेपर भी जिनकी भोगवासना पूर्णरूपेण निवृत्त नहीं हुई है, वे ही 'सभाव वीर' हैं। जो साधनाके बलसे पशुभावको तो अतिक्रम कर चुके हैं, किन्तु जो सभाव वीरकी तरह ज्ञान नहीं प्राप्त कर सके हैं, वे 'विभाव-वीर' हैं। 'सर्वोल्लास', 'रुद्रयामल' इत्यादि तन्त्रोंमें इन द्विविध वीरोंके कर्तव्योंका विस्तृत वर्णन है। पशुभावको पार किये बिना वीर-भावमें नहीं पहुँचा जा सकता। इसीलिये पशु-भावको वीर-भावका हेतु कहा गया है।

पशु-भावके साधकको अहिंसापरायण और निरामिषभोजी होना होगा। ऋतुकालके अतिरिक्त वह स्त्रीका स्पर्श नहीं कर सकता। ये ही सब पशु-भावके प्रधान लक्षण हैं। 'कुब्जिका-तन्त्र', 'महानिर्वाण-तन्त्र' आदिमें पशु-भावका विस्तृत वर्णन है। यह पशु-भाव भी 'सभाव' एवं 'विभाव' दो भागोंमें विभक्त है। जिस समय पशुके मनमें उच्च भावकी छाया पड़ती है, किन्तु ज्ञानका आविर्भाव नहीं होता, उस समय उसको 'सभाव पशु' कहते हैं। और वह छाया जिस समय घनीभूत हो उठती है, उस समय जो अवस्था होती है, उसको 'विभाव पशु' कहते हैं।

'महानिर्वाण-तन्त्रमें' 'सभाव पशुका' जैसा वर्णन है, वैसा 'पशु' आजकल कहीं दिखायी नहीं पड़ता। यहाँ कहा गया है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं स्वयमेवाहरेत् पशुः।
न शूद्रदर्शनं कुर्यान्मनसा न स्त्रियं स्मरेत्॥

पशुभावापन्न साधक पत्र, पुष्प, फल, जल आदि

स्वयं लावे, शूद्रदर्शन न करे तथा स्त्रीका मनसे भी स्मरण न करे।

किसी-किसी तन्त्रमें लिखा है—

कलौ न पशुभावोऽस्ति दिव्यभावः कुतो भवेत्।

कलियुगमें पशुभाव ही नहीं है, तब दिव्य-भाव कहाँसे होगा? किन्तु इस बातको सब तन्त्र नहीं मानते! इसका कारण यही है कि पशु-भाव वीर-भावका कारण एवं वीरभाव दिव्य-भावका कारण है। यदि कलियुगमें पशु-भाव नहीं रहता तब तो कोई भाव ही नहीं रह सकता। पशु-भाव नहीं रहनेपर वीर-भाव कैसे उत्पन्न होगा और फिर वीरभाव नहीं होनेपर दिव्य-भाव ही कैसे आविर्भूत होगा?

इन त्रिविध भावोंके अन्तर्गत सप्तविध आचारकी बात 'विश्वसार' तन्त्रके २४ वें पटलमें विस्तृतरूपसे लिखी है। 'महानिर्वाण', 'कुलार्णव', 'आचारभेद', 'समयाचार', 'महाचीनाचार', 'नित्या', 'सर्वोल्लास' प्रभृति तन्त्रोंमें भी 'आचार' विषयकी आलोचना की गयी है। 'सर्वोल्लास'-तन्त्र अभीतक प्रकाशित नहीं हुआ है और 'विश्वसार' भी सम्पूर्ण प्रकाशित नहीं हुआ है। 'कुलार्णव' तन्त्रके द्वितीय उल्लासमें कहा गया है—

सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदा वेदेभ्यो वैष्णवं परम्।
वैष्णवादुत्तमं शैवं शैवाद्दक्षिणमुत्तमम्॥
दक्षिणादुत्तमं वामं वामात् सिद्धान्तमुत्तमम्।
सिद्धान्तादुत्तमं कौलं कौलात् परतरं नहि॥

यह वचन 'महाचीनाचार' आदि अन्यान्य तन्त्रोंमें भी पाया जाता है। फिर किसी-किसी तन्त्रमें नौ आचारोंका भी उल्लेख है। किन्तु वह 'विश्वसार' प्रभृति किसी तन्त्रद्वारा सम्मत नहीं है। इन सात प्रकारके आचारोंमें वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार और दक्षिणाचार—ये चार प्रकारके आचार पशु-भावके अन्तर्गत हैं। वामाचार और सिद्धान्ताचार वीर-भावके अन्तर्गत हैं; और कौलाचार दिव्य-भावके अन्तर्गत है। 'विश्वसार-तन्त्र' में लिखा है—

चत्वारो देवि वेदाद्याः पशुभावे प्रतिष्ठिताः।
वामाद्यास्त्रय आचारा दिव्ये वीरे प्रतिष्ठिताः॥

इन सप्तविध आचारोंके लक्षण और इनका विस्तृत विवरण 'विश्वसार' तन्त्रके चौबीसवें पटलमें है। हम यहाँ विस्तार-भयसे उन वचनोंका केवल सारांश ही दे रहे हैं। पहले कहा गया है कि पशुभावके अन्तर्गत चार आचार हैं। उनमें वेदाचारका लक्षण यह है कि साधक ब्राह्म-मुहूर्त्तमें बिछौनेसे उठकर अपने गुरुदेवके नामके अन्तमें 'आनन्दनाथ' शब्दका उच्चारण करते हुए उन्हें प्रणाम करे। सहस्रारपद्ममें ध्यान लगाकर पञ्चोपचारसे पूजा करे। वाग्भव बीज (ऐं)-का जप करते हुए परमकला कुण्डलिनी शक्तिका ध्यान करे एवं मूलमन्त्रका जप कर, जप समाप्त होनेके बाद बाहर जाकर मल-मूत्र-त्याग आदि समस्त नित्यकर्म करे। इन आचारोंको वेदाचार कहते हैं। रातमें सन्ध्या-समय या तीसरे पहर देवपूजा, ऋतुकालके अतिरिक्त स्त्री-सहवास इत्यादि वेदाचारीके लिये निषिद्ध कर्म हैं। इसके अतिरिक्त जितने वेदविहित कर्म हैं, वे सब भी सदाचारके अन्तर्गत हैं।

इस वेदाचारका उद्देश्य यही है कि उसके द्वारा साधककी बाह्य शुद्धि हो जाय। वेदाचारस्थित साधक आचार-व्यवहारमें सब प्रकारसे अपनेको शुद्ध और निर्मल रखनेकी चेष्टा करता है। इस अभ्यासके फल-स्वरूप क्रमशः वह उसके स्वभावमें परिणत होता है।

वेदाचारका पालन करते-करते जब बहिःशुद्धि स्वभावगत हो जाती है तब साधक 'वैष्णवाचार' में प्रवृत्त होता है। वेदाचारमें जितने कार्योंके करनेका उल्लेख हुआ है, वैष्णवाचारमें वे सब तो करने ही पड़ते हैं। उनके अतिरिक्त श्रीविष्णुदेवकी पूजा करनी पड़ती है और समस्त जगत्‌के विष्णुमय होनेकी भावना करनी पड़ती है। मैथुन या तत्सम्बन्धी बातचीत, हिंसा, निन्दा, कुटिलता, मांस-भोजन, रातमें माला-जप और पूजा-कार्य—ये सब वैष्णवाचारपरायण साधकके लिये नितान्त निषिद्ध हैं। वैष्णवाचार भक्तिकी अवस्था है। इस आचारके द्वारा चित्तकी शुद्धि होती है। कोई-कोई कहते हैं—इस वैष्णवाचारमें सात भूमिकाएँ हैं। और कोई-कोई कहते हैं—सात ही नहीं, वरं अनेक भूमिकाएँ हैं अर्थात् भक्तिकी अवस्थाएँ विविध हैं। वैष्णवाचार अथवा भक्तिकी अवस्थामें साधक गुरूपदिष्ट मार्गसे गमन करता है; किन्तु गुरुने उसे ऐसा आदेश क्यों दिया, इस बातका विचार करनेका उसे अधिकार नहीं होता। प्रसन्नचित्तसे गुरुकी आज्ञाका पालन करना ही उसका कर्तव्य है।

वैष्णवाचारके बाद शैवाचार आता है। वेदाचारमें जितने कर्म करनेका उपदेश दिया गया है, उन सबका

अनुष्ठान तो शैवाचारपरायण साधकको करना ही चाहिये। इसके अतिरिक्त उसे सर्वदा सब कर्मोंमें महेश्वरकी भावना करनी चाहिये। शैवाचारमें पशुको मारना मना है। शैवाचारपरायण साधकको गुरूपदिष्ट विषयपर विचार करनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस अवस्थामें वह अपने कर्तव्यके विषयमें गुरुसे पूछ सकता है और गुरुदेव भी उसके अधिकारका विचार कर दुर्बोध्य विषयकी व्याख्या करके उसे समझा देते हैं। इसीलिये इस अवस्थाको ज्ञानार्जनकी अवस्था कहते हैं।

शैवाचारके बाद आता है दक्षिणाचार। वेदाचारके अनुसार भगवतीकी पूजा, रातके समय तद्गतचित्त होकर मन्त्र-जप करना, चौराहे, श्मशान, एकान्त स्थान, शिवालय अथवा बिल्वमूल प्रभृति स्थानमें महाशङ्ख माला-जप करना—इन सबको दक्षिणाचार कहते हैं। सबसे पहले इस आचारका अनुष्ठान दक्षिणामूर्त्ति नामक ऋषिने किया था, तभीसे इसका नाम दक्षिणाचार पड़ गया। दक्षिण शब्दका अर्थ है—अनुकूल। अनुकूल आचारका नाम दक्षिणाचार है। इस अवस्थामें साधकने पहले बहिःशुद्धि और अन्तःशुद्धि तथा शास्त्रानुशीलनद्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया है, उसीको बद्धमूल करनेके लिये वह साधना करता है। इन चार आचारोंको एक शब्दमें 'पश्वाचार' कहते हैं। क्योंकि ये चारों आचार पशु-भावके अन्तर्गत हैं।

किसी-किसी तन्त्रमें लिखा है कि दक्षिणाचार वीर-भावके अन्तर्गत है। यहाँ यह स्मरण रखना उचित है कि जिस तरह सत्त्व, रज और तमोगुण एक-दूसरेसे अलग-अलग नहीं रह सकते, उसी तरह भावोंका भी सांकर्य अवश्यम्भावी है।

दक्षिणाचारकी अवस्थाको पार करके ही साधक वीरभावमें उपस्थित होता है। इसीलिये वह पूर्वोक्त चार प्रकारके आचारोंको अतिक्रम कर वामाचारमें प्रवृत्त होता है। दिनमें ब्रह्मचर्य, रातमें पञ्चतत्त्वद्वारा देवीकी आराधना एवं चक्रानुष्ठान करते हुए मन्त्रजप—इन सब अनुष्ठानोंको 'वामाचार' कहते हैं। यह वामाचार अत्यन्त गोपनीय है। 'विश्वसार-तन्त्र' में लिखा है—

प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्याद्वामाचारगतौ प्रिये।
अतो वामपथं देवि गोपयेन्मातृजारवत्॥

बहुत-से लोगोंकी धारणा है कि वामाचार उस साधनाका नाम है जिसमें वामा या स्त्रीका संयोग होता है। यह सर्वथा भूल है। अवश्य ही वामाचारमें पञ्चतत्त्वके द्वारा देवीकी आराधना करनेकी बात कही गयी है, किन्तु जो लोग इस पञ्चतत्त्वका स्वरूप या तात्पर्य बिलकुल ही नहीं जानते, वे ही लोग इस असत्यका प्रचार कर तन्त्रशास्त्रके प्रति सर्वसाधारणके मनमें अश्रद्धा उत्पन्न करते हैं। पञ्चतत्त्वके तात्पर्यका विश्लेषण करनेको यहाँ उपयुक्त स्थान नहीं; फिर भी हम जिज्ञासु पाठकोंसे कह सकते हैं कि कुलार्णव-तन्त्रको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे यह मिथ्या धारणा दूर हो जायगी, इसमें सन्देह नहीं।

वास्तवमें वामाचार-शब्दका अर्थ 'प्रतिकूलाचार' है, 'व्यभिचार' नहीं। प्रतिकूल अर्थमें वाम-शब्दका प्रयोग बहुत देखा जाता है, उद्धृत वचनसे यह प्रकट होता है। दक्षिणाचारतक साधक जिस भावमें चलता आ रहा है, उसीका प्रतिकूल भाव वामाचार है। दक्षिणाचारकी चरम अवस्थामें मनुष्यके मनमें निर्वेदका बीज अंकुरित होता है और वैसा होनेसे ही आध्यात्मिक उन्नतिके लिये क्रमशः आवेग बढ़ जाता है। साधक अबतक संसारमें रहकर ही सब काम करता था; किन्तु अब उसकी चेष्टा संसार-बन्धनसे मुक्त होनेके लिये होती है। और इसी कारण वह वामाचार अथवा प्रतिकूलाचारका अवलम्बन करता है।

वामाचारको अतिक्रमकर साधक सिद्धान्ताचारमें प्रवृत्त होता है। इस आचारमें सर्वदा रुद्राक्ष, अस्थिमाला आदि धारण करना पड़ता है एवं भैरव-वेशका अवलम्बन करना पड़ता है। इसी अवस्थामें साधकको ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है। क्योंकि इस अवस्थामें उसने दोनों दिशाएँ देख लीं—दक्षिण भी देख लिया और वाम भी। उस समय वह कुलज्ञान या ब्रह्मज्ञानके सन्निकट पहुँच जाता है। क्योंकि उस समय मन स्थिरभाव धारण कर लेता है। सुतरां मनोभावके लय होनेका अवसर उपस्थित हो जाता है। इसीसे 'समयाचार' तन्त्रके द्वितीय पटलमें लिखा है—

देवपूजारतो नित्यं तथा विष्णुपरो दिवा।
नक्तं द्रव्यादिकं सर्वं यथालाभेन चोत्तमम्।
विधिवत् क्रियते भक्त्या स सर्वं च फलं लभेत्॥

एक शब्दमें इन दोनों आचारोंको 'वीराचार' कहते हैं। क्योंकि ये दोनों आचार वीराचारके अन्तर्गत हैं।

कोई-कोई सिद्धान्ताचारको वामाचारके पहले रखते हैं। इस प्रकार नाना स्थानोंमें नाना प्रकारके मतभेद देखे जाते हैं। किन्तु यह सब भिन्नता सम्प्रदायभेदके कारण हो गयी है, वास्तवमें नहीं है—यही समझना चाहिये।

सिद्धान्ताचारमें सिद्धकाम होनेपर ही साधक कुलाचारमें प्रवृत्त होता है। इस अवस्थामें साधकको पूर्ण ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। उस समय उसके अन्दर पंक और चन्दनमें, पुत्र और शत्रुमें अथवा कञ्चन और तृणमें कोई भेद-ज्ञान नहीं रहता, सब वस्तुओंमें समदृष्टि उत्पन्न हो जाती है। इसीसे विश्वसार-तन्त्रमें लिखा है—

कर्दमे चन्दने देवि पुत्रे शत्रौ प्रियाप्रिये।
श्मशाने भवने देवि तथैव तृणकाञ्चने॥
न भेदो यस्य देवेशि स एव कौलिकोत्तमः।
चिन्तयेदात्मनाऽऽत्मानं सर्वत्र समदृष्टिमान्॥

जो सब भूतोंमें अपने आत्माको और अपने आत्मामें सब भूतोंको देखता है, वही श्रेष्ठ कौलिक या कुलाचारी है। जो समाहित, ध्याननिष्ठ होकर पञ्चतत्त्वके द्वारा साधना करता है, वह मध्यम और जो अभी ज्ञानभूमिपर नहीं पहुँचा है, पहुँचनेका इच्छुक है, वह अधम है—इस प्रकार कुलाचारपरायण साधकके तीन भेद देखे जाते हैं।

योगवासिष्ठ-रामायणके उत्पत्ति-प्रकरणके ११८वें सर्गमें जो सात ज्ञान-भूमिकाओंका उल्लेख है, इन सात आचारोंके साथ उनमें सादृश्य दिखायी पड़ता है। उन सात ज्ञान-भूमिकाओंके नाम हैं—(१) विविदिषा या शुभेच्छा, (२) विचारणा, (३) तनुमानसा, (४) सत्त्वापत्ति, (५) असंसक्ति, (६) पदार्थाभाविनी और (७) तुरीया। अन्तर केवल यह है कि साधनामार्गमें भक्तिका पहले और शैव या ज्ञानभूमिकाका पीछे तथा वासिष्ठ मतमें विचारणा या ज्ञानार्जनका पहले और भक्तिका पीछे उल्लेख हुआ है। इस प्रकार शास्त्रोंमें जिन स्थानोंमें प्रशंसा या निन्दा देखी जाती है, उसका तात्पर्य यही है कि जो लोग अनधिकारी हैं, उनके लिये निन्दा अन्य कर्मोंमें निवृत्ति पैदा करनेवाली है तथा जो लोग अधिकारी हैं उनके लिये प्रशंसा प्रवृत्ति पैदा करनेवाली है। इसीसे भास्कररायने कहा है—

एवञ्च यानि तत्तद्विद्याप्रशंसकानि वचनानि तानि तत्तदधिकारिणां प्रत्येव प्रवर्त्तकानि। यानि च तन्निन्दकानि तानि तत्तदधिकारिणं प्रति निवर्त्तकानि, न पुनर्नहि निन्दान्यायेन विधेयस्तावकानि।

इस प्रबन्धमें भाव और आचारसम्बन्धी आलोचना बहुत ही संक्षेपमें की गयी है। यह विषय इतना गम्भीर है कि इसके लिये एक बहुत बड़ी पोथी भी पर्याप्त नहीं हो सकती।

दिव्य दर्शन

(लेखक—पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी साहित्यरत्न)

विजन कुटीमें मेरी सुन्दरि!
तेरा यह कैसा संसार!
संसृतिके कण-कणमें फैला,
मादकता, मोहकता, प्यार॥
प्रिये! प्रणय-मंदाकिनिका यह—
कलकल कलकल अविरल गान!
बेसुध करता जाता मुझको,
देता जाता जीवन-दान॥ १॥

कोटि-कोटि नयनोंमें देखा,
मैंने तेरा मधुमय लास्य।
लघु-लघु विरलस्पन्दन प्रेयसि!
मन्द-मन्द स्मिति, सुन्दर हास्य॥
कितनी ऊर्मि-राशिसे संकुल,
मेरा अंतर-पारावार—
उद्वेलित होता रहता है
नित्य प्रशांत अनंत अपार॥ २॥

लूता-सी रच-रचकर अविरत,
कैसा कोमल मंजुल जाल!
नाना रूपोंमें मतवाली,
नित मस्तक-कुसुमनकी माल!!
धारण कर स्वांतःसुखाय तू,
करती जाती शिशु-सी खेल!
जयतु महामाये! तेरी यह
मधुर नग्न मृदु मुकुलित खेल!!॥ ३॥

सर्वोपरि महाशक्ति

(लेखक—तान्त्रिक पं० श्रीविदुरदत्तजी शर्मा चतुर्वेदी)

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा—

समस्त संसारमें चैतन्य-शक्ति—ज्ञानशक्ति, प्रत्येक जीवकी जिह्वापर क्रीड़ा करनेवाली शक्ति ही सर्वोपरि महाशक्ति है। वह सर्वोपरि शक्ति अक्षर है और अक्षर-रूपा भी है।

अकारादिक्षकारान्ता मातृकावर्णरूपिणी।
यया सर्वमिदं व्याप्तं त्रैलोक्यं सचराचरम्॥

'अ' से 'क्ष' पर्यन्त जितने वर्ण हैं वे ही मातृका-स्वरूप हैं, जिनका स्वरूप संक्षेपमें इस प्रकार है—(१) 'अ' मौलि है; (२) 'आ' मुख है; (३) 'इ' दक्षिण नेत्र है; (४) 'ई' वाम नेत्र है; (५) 'उ' दक्षिण कर्ण है; (६) 'ऊ' वाम कर्ण है; (७) 'ऋ' दक्षिण नासापुट है; (८) 'ॠ' वाम नासापुट है; (९) 'लृ' दक्षिण कपोल है; (१०) 'लॄ' वाम कपोल है; (११) 'ए' ऊपरी ओष्ठ है; (१२) 'ऐ' नीचेका ओष्ठ है; (१३) 'ओ' ऊपरकी दन्तपङ्क्ति है; (१४) 'औ' नीचेकी दन्तपङ्क्ति है; (१५) 'अं' तालु है; (१६) 'अः' जिह्वा है; (१७) 'क' दक्षिण बाहुमूल है; (१८) 'ख' दक्षिण बाहुकूर्पर है; (१९) 'ग' दक्षिण बाहु-मणिबन्ध है; (२०) 'घ' दक्षिण बाह्वंगुलिमूल है; (२१) 'ङ' दक्षिण बाह्वङ्गुल्यग्र है; (२२) 'च' वाम बाहुमूल है, (२३) 'छ' वामबाहु-कूर्पर है; (२४) 'ज' वाम बाहु-मणिबन्ध है; (२५) 'झ' वाम बाह्वङ्गुलिमूल है; (२६) 'ञ' वाम बाह्वंगुल्यग्र है; (२७) 'ट' दक्षिण जंघा है; (२८) 'ठ' दक्षिण जानु है; (२९) 'ड' दक्षिण गुल्फ है; (३०) 'ढ' दक्षिण पादाङ्गुलिमूल है; (३१) 'ण' दक्षिण पादाङ्गुल्यग्र है; (३२) 'त' वाम जङ्घा है; (३३) 'थ' वाम जानु है; (३४) 'द' वाम गुल्फ है; (३५) 'ध' वाम पादाङ्गुलिमूल है; (३६) 'न' वाम पादाङ्गुल्यग्र है; (३७) 'प' दक्षिण कुक्षि है; (३८) 'फ' वाम कुक्षि है; (३९) 'ब' पृष्ठ है; (४०) 'भ' नाभि है; (४१) 'म' जठर है; (४२) 'य' हृदय है; (४३) 'र' दक्षिण स्कन्ध है; (४४) 'ल' ककुद है; (४५) 'व' वाम स्कन्ध है; (४६) 'श' हृदयादि दक्षिण कर है; (४७) 'ष' हृदयादि वामकर है; (४८) 'स' हृदयादि दक्षिणपाद है; (४९) 'ह' हृदयादि वामपाद है; (५०) 'ळ' नाभ्यादि हृदयान्त है और (५१) 'क्ष' हृदयादि भ्रूमध्य है। इस प्रकार इक्यावन वर्णोंका भेद ही सर्वोपरि शक्ति-स्वरूप है और इसी शक्तिके अन्तर्गत षट्चक्र हैं। इनमेंसे एक-एक चक्रमें एक-एक देवका सपरिवार वास है।

प्रथम चक्र मूलाधार पायु-स्थानमें है और उसमें 'व' से 'स' पर्यन्त चार वर्णोंका चतुर्दल कमल है। उसमें गणपतिका वास है और अजपाके अनुसार ६०० श्वास गणपतिके हैं।

द्वितीय चक्र स्वाधिष्ठान लिङ्ग-स्थानमें है, जिसमें 'ब' से 'ल' तकके षडक्षरोंका षड्दल कमल है और उसमें सरस्वतीसहित ब्रह्माका वास है। उसमें ६००० श्वास हैं।

तृतीय मणिपूर-चक्र नाभिमें है, जिसमें 'ड' से 'फ' तकके वर्णोंका दशदलकमल है। वहाँ रमासहित रमापतिका वास है और ६००० श्वास हैं।

चतुर्थ अनाहत-चक्र हृदयमें है, जिसमें 'क' से 'ठ' पर्यन्तके द्वादश वर्णोंका द्वादशदलकमल है। उसमें उमासमेत उमेशका वास है और ६००० श्वास हैं।

पञ्चम विशुद्ध-चक्र 'अ' से 'अः' तक १६ स्वरोंका षोडशदल कमल कण्ठ-देशमें है और उसमें जीवात्माका वास है! उनके १००० श्वास हैं।

षष्ठ आज्ञा-चक्र भ्रूमध्यमें है, जिसमें 'हं', 'क्षं' वर्णोंका द्विदल कमल है। उसमें परमात्माका वास है और उनके १००० श्वास हैं।

इन सबके ऊपर सहस्त्रदलकमलमें गुरुदेवका वास है और उनके १००० श्वास हैं।

इस प्रकार षट्चक्र और सातवें सहस्रदलकमलका वर्णन हो चुका और यह भी बता दिया गया कि मनुष्य दिन-रातमें कुल इक्कीस हजार छः सौ श्वास लेता है। इसके आगे अब यह बताना है कि सहस्त्रदलकमलके ऊपर क्या है और ये श्वास कहाँ लय होते हैं।

सहस्त्रदलकमलके ऊपर विंशतिसहस्त्रदलकमल है, जिसमें सर्वोपरि शक्ति शिवाकार मञ्चपर आसीन है। **'विंशतिसहस्त्रेभ्यो परेभ्यो नमः'** के अनुसार विंशतिसहस्त्र आवृत्ति भी सर्वोपरि शक्तिकी है और सब श्वास भी वहींपर समाप्त हो जाते हैं। वह मञ्च ऐसा है—

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे॥
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम्॥

ऐसे मञ्चपर विराजमान शक्तिका कार्य यह है—

ब्रह्माण्डं चेतयन्ती विविधसुरनृणां तर्पयन्ती प्रमोदैः
प्रीता सन्दीपयन्ती निजनिजवितत्तैः सद्गुणान् प्रेरयन्ती।

वर्णान्देवान् जयन्ती दितिसुतदमनी साऽप्यहङ्कारकर्त्री।
छत्री तस्यैव जाप्यं स्वरचिततनुते मोचयेच्छापजातम्॥

इसी सर्वोपरि शक्तिदेवी ललिताम्बाके कर-नखकी एक-एक कलासे एक-एक अवतारकी उत्पत्ति हुई है। उसके दक्षिण करांगुष्ठके नखसे पहला मत्स्यावतार हुआ, जिसने शङ्खासुरको मारकर वेदोंकी रक्षा की। उसी हाथकी तर्जनीके नखसे दूसरा कूर्मावतार हुआ, जिसने मन्दराचलको पीठपर धारणकर देवासुरोंका कार्य किया। उसी हाथकी मध्यमाके नखसे तीसरा वराहावतार हुआ, जो इस पृथ्वीको दाढपर रखकर पातालसे ले आये और जिन्होंने हिरण्याक्षका वध किया। उसी हाथकी अनामिकाके नखसे चौथा नृसिंहावतार हुआ, जिसने प्रह्लादकी रक्षा की और उसके पिता हिरण्यकशिपुको मारा। उसी हाथकी कनिष्ठाके नखसे पाँचवाँ वामनावतार हुआ। उसने बलिसे तीन पग भूमि माँगी और विश्वरूप धारणकर तीनों लोकोंको नाप लिया तथा बलिसहित दैत्योंको पाताल भेजा। वाम कराङ्गुष्ठके नखसे छठा परशुरामावतार हुआ, जिन्होंने इक्कीस बार भूमिको क्षत्रियरहित कर दिया। वाम हाथकी तर्जनीके नखसे सातवाँ रामावतार हुआ, जिन्होंने युद्धमें रावणको मारा और सीताकी रक्षा की। उसी हाथकी मध्यमाके नखसे आठवाँ कृष्णावतार हुआ, जिन्होंने गोपाङ्गनाओंके साथ अनेक क्रीड़ाएँ कीं और कंसादि दैत्योंका नाश किया। उसी हाथकी अनामिकाके नखसे नवाँ बौद्धावतार हुआ, जिन्होंने मनुष्योंको स्वाश्रमगामी बनाया। उसी हाथकी कनिष्ठिकाके नखसे घोर कलियुगके अन्तमें दसवाँ अश्वावतार होगा, जो अपने खुराघातसे संहार करके पृथ्वीको बराबर कर देगा।

इस प्रकार दस अवतारोंकी उत्पत्ति उसी सर्वोपरि महाशक्तिसे होती है और फिर उसीसे दस महाविद्याओंका भी प्रादुर्भाव होता है। दस महाविद्याओंके नाम इस प्रकार हैं—

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा॥
मातङ्गी सिद्धविद्या च कथिता वगलामुखी।
एता दश महाविद्याः सर्वतन्त्रेषु गोपिताः॥

उपर्युक्त दस महाविद्याओंका दशावतारोंसे भी सम्बन्ध है। जैसे—

कृष्णमूर्त्ति काली अरु तारा राममूर्त्ति जान,
छिन्ना नरसिंहमूर्त्ति बेदन बखानी है।
वामन भुवनेशी औ बगलाकौ कूर्म रूप,
मत्स्यमूर्त्ति जान धूमा शास्त्रनमें गानी है॥
जामदग्न्य सुन्दरी औ भैरवी हलीको जान,
बौद्ध-रूप लच्छिमी प्रसिद्ध बात मानी है।
दुर्गा शान्तिरूप ही सों दश अवतार भये,
ताप त्रय दूर करै आदि महारानी है॥

स्व० पूज्य श्रीपिताजी बाल्यावस्थामें उपासनाके समय एतद्विषयक इस श्लोकको मुझे अधिक याद कराया करते थे; अतएव उसे भी नीचे लिखकर यह लेख समाप्त करता हूँ।

शरणमभि सुराणां सिद्धविद्याधराणां
मुनिदनुजनराणां व्याधिभिः पीडितानाम्।
नृपतिगृहगतानां दस्युभिस्त्रासितानां
त्वमसि शरणमेका देवि दुर्गे प्रसीद॥
विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्
का ते स्तुतिः स्तव्यपरा परोक्तिः॥

अम्बे!

जननी तृप्त होतीं लख लाल-मुख-लालीको, अम्बे! तुम्हें कैसे प्रिय रक्त रक्त-धारा है?
मेधा-स्वरूपा सब मानवोंमें रहती तुम्हीं, मदिरा, ग्राम्यधर्मादि कैसे तुम्हें प्यारा है?
हरती हो सदासे दुष्ट-दानवोंके प्राणोंको, बकरोंके प्राण लेना काम क्या तुम्हारा है?
मैं तो सोचता हूँ, मति-मन्द विषयासक्तोंका, शाकम्भरि! यहाँ बुद्धि-विभ्रम हमारा है!॥ १॥
कैसा वैपरीत्य, हम होते हुए भी शाक्त, सर्वथा निःशक्त आज भारतमें हो गये।
वे कीर्त्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा प्रभृति, सारे-के-सारे गुण हमारे आज खो गये॥
अब भी कृपाण क्या चलाते उन छागोंपर, जब कि प्रचण्ड शत्रु चारो ओर हो गये।
चण्डिके! जगा दो आज अपने प्रिय पुत्रोंको, उषा-कालमें जो अलसाकर हैं सो गये॥ २॥

नन्दकिशोर झा 'किशोर' काव्यतीर्थ

शक्ति-विज्ञान ही विज्ञान है

सर्वं खल्विदं शक्तिः नेह नानास्ति किञ्चन।

(लेखक—श्रीरामदासजी गौड़, एम० ए०)

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥
त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत् सृज्यते जगत्। त्वयैतत् पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा॥
यच्च किञ्चित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके। तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे मया॥

(मार्कण्डेयपुराण)

१—व्यक्त और अव्यक्त शक्ति

शक्ति, सामर्थ्य, बल पर्यायवाची शब्द हैं। कार्य सम्पन्न करनेका सामर्थ्य ही 'शक्ति' है। यह सामर्थ्य व्यक्त और अव्यक्त दो प्रकारका होता है। देवदत्तमें चार मन बोझ उठा लेनेका सामर्थ्य है, परन्तु जबतक वह उठाकर उसे प्रकट नहीं करता तबतक उसका सामर्थ्य अव्यक्त है। जब वह उठानेकी क्रिया करता है, तब उसका सामर्थ्य व्यक्त होता है। धृतराष्ट्रमें दस हजार हाथीका बल निरन्तर विद्यमान था, परन्तु अव्यक्त था। वह व्यक्त तब हुआ जब लोहेके भीमका गाढालिङ्गन करके उन्होंने चूर्ण कर डाला। ऊँचेपरके तालाबका जल अव्यक्त शक्ति रखता है। जब नीचेकी ओर उसका प्रवाह होता है, तभी उसकी शक्ति व्यक्त होती है। इन उदाहरणोंसे यह स्पष्ट हो गया कि स्थिर अवस्थामें शक्ति अव्यक्त होती है, परन्तु गतिशील अवस्थामें ही वह व्यक्त हुआ करती है।

२—गतिरूपमें शक्तिकी व्यापकता

'संसार' और 'जगत्' दोनों ही शब्द गतिके ही द्योतक हैं। हमारे लिये अचला धरती वस्तुतः गतिमयी है। वह लट्टूकी तरह अपनी धुरीपर घूमती है, साथ ही मँडलाती भी है। मँडलानेकी गति अत्यन्त मन्द है। लगभग छब्बीस हजार बरसमें उसका एक चक्कर होता है। अपनी धुरीपर वह चौबीस घण्टोंमें घूम जाया करती है। साथ ही उसकी तीसरी गति भी है, वह सूर्यकी परिक्रमा भी करती है। यह परिक्रमण एक वर्षमें होता है। उसकी अवधि एक बरसके लगभग है। उसकी एक चौथी गति भी है। सूर्य अपने चारों ओर घूमनेवाले ग्रहोपग्रहोंको अपने साथ लिये बड़े वेगसे अभिजित् नक्षत्रकी ओर निरन्तर बढ़ता हुआ दीखता है और शायद कृत्तिका-मण्डलका परिक्रमण कर रहा है। इस तरह सूर्यके साथ-ही-साथ पृथिवी भी अभिजित्की ओर जा रही है। यह गति पेंचपरकी चूड़ियोंके घूमनेके समान है। कौन जाने, कृत्तिका-मण्डल स्वयं हमारे सूर्य-मण्डलकी तरह विश्वके किसी ब्रह्माण्डसमूहकी प्रदक्षिणा कर रहा हो। ऐसी दशामें पृथिवीकी पाँचवीं गति हो सकती है। इसी पञ्चगतिशीला धरतीपर विमान, रेलगाड़ी, हवागाड़ी, पैरगाड़ी, घोड़े, मनुष्य और उससे छोटे प्राणी भी बराबर दौड़ते या रेंगते रहते हैं। जीवनमात्र गति ही है। हृदय और नाड़ीकी गति तो निरन्तर होती रहती है। गतिका रुकना ही जीवनका अन्त है। हृदयकी गति क्यों है? क्योंकि रक्तकी धारा निरन्तर सारे शरीरकी परिक्रमा करती रहती है। यह धारा कीट-पतङ्ग, उद्भिज्ज, जल-स्थल-व्योमचारी सभी प्राणियोंमें निरन्तर चल रही है। इसकी गति जिस पिण्डमें रुकी वह असमर्थ हो गया, अशक्त हो गया। वह स्तब्ध है, मुर्दा है। जीवन और गति एक ही चीज है। प्राण भी गति और वेगका ही द्योतक है। जिन्हें हम 'प्राणी' कहते हैं, उनमें 'गति' न हो तो उनका 'प्राणी' होना अर्थशून्य है।

'चराचर' शब्द भी सापेक्ष ही है। हम उद्भिज्जोंको, एवं पत्थर, मिट्टी आदि जड पदार्थोंको 'अचर'—न चलनेवाला केवल सापेक्ष भावसे कहते हैं। साधारणतया जो पिण्ड चलता है उसे 'चर' और जो नहीं चलता उसे 'अचर' कहते हैं। मनुष्यसे लेकर पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग और कृमि सभी चलते हैं और चर कहलाते हैं। उद्भिज्जोंको स्थावर या अचर कहते हैं। क्योंकि वे जहाँ उगते हैं निरन्तर वहीं रहते हैं, स्थान नहीं बदलते। परन्तु उनमें भी गति है। बीजसे अंकुरका फूटना ही उस गतिका स्पष्टरूपसे आरम्भ है। भेदन भी गतिका ही एक रूप है। अतः वनस्पतिमें भी गति है और ऊर्ध्वगति है। पत्तियोंका निकलते रहना गति ही है। मिट्टी, पत्थर आदि जो साधारणतया जीवरहित जड पदार्थ कहलाते हैं, स्वतः अपने स्थानका न तो त्याग करते हैं और न

उनकी ऊर्ध्व ही गति है। परन्तु पृथिवीके आकर्षणके कारण उनमें भी अव्यक्त शक्ति मौजूद है, जो नीचेकी ओर उन्हें गिरनेको लाचार करती है। वे धरतीके व्यवधानवश रुके हुए हैं। निदान जड पदार्थ भी सर्वथा गतिविहीन नहीं हैं।

प्रत्येक स्थूल पिण्ड जिस पदार्थका बना हुआ है उसके कणोंकी गतिकी ओर हमने अबतक ध्यान नहीं दिया है। चराचर नामधारी यावत् पदार्थ इस जगत्में हैं सभी छोटे-छोटे कणोंके बने हुए हैं। इनमें भी सजीव और अजीव—दो विभाग हैं। सजीव प्राणियोंके शरीर अत्यन्त सूक्ष्म जीव-कणोंके समूह हैं। ये सूक्ष्म जीव-कण अणुवीक्षण यन्त्रसे देखे जाते हैं और अंग्रेजीमें सेल (cell) कहलाते हैं। इनके असंख्य प्रकार हैं और इन सबमें द्रुत और मन्थर सभी तरहकी गतियाँ हैं। इन सेलोंके शरीरोंकी भी परीक्षा हुई है और ऐसा अनुमान है कि इनके अवयव भी सजीव परमाणुओंके बने होंगे और हम ज्यों-ज्यों सूक्ष्म संसारमें प्रवेश करते जाते हैं त्यों-त्यों गतिकी तीव्रता भी बढ़ती जाती है। अजीव जड पदार्थ भी सूक्ष्म अणुओंके बने हुए हैं। ये कण इतने सूक्ष्म हैं कि अणुवीक्षण यन्त्र इनकी सूक्ष्मतासे हार मान गया है। अत्यन्त सूक्ष्म तैलकणोंकी पानीपर तैरते हुए द्रुतगति अणुवीक्षण यन्त्रद्वारा देखकर श्रीब्रौनने अणुओंकी गतिका अनुमान किया है। वैज्ञानिकोंने अणुओंकी गति बड़ी वेगवती बतायी है। प्रत्येक अणु एक या अधिक परमाणुओंका बना होता है। और प्रत्येक परमाणु बड़े भयंकर वेगसे परिक्रमण करता रहता है। जहाँ पृथिवी सूर्यकी परिक्रमा साढ़े अठारह मील प्रति सेकण्ड करती है, वहाँ एक-एक परमाणु अनेक सहस्र मील प्रति सेकण्डके हिसाबसे प्रदक्षिणा करते रहते हैं। इस तरह ब्रह्माण्डके सूर्यके-से विशालकाय पिण्डोंसे लेकर अणुवीक्षण यन्त्रद्वारा भी अनाणुवीक्ष्य परमाणुओंतक गतिशील हैं और गति भी कैसी कि महाभयानक और निरन्तर!

परन्तु सूक्ष्म परमाणुओंकी गतिसे ही गतिशीलता पूर्ण नहीं हो जाती। प्रत्येक परमाणु अनेक विद्युत्कणोंका बना हुआ है। विद्युत्कण दो प्रकारके हैं। ऋणाणु और धनाणु। धनाणुके चारों ओर ऋणाणु प्राय: एक सेकण्डमें एक लाख अस्सी हजार मीलतकके वेगसे परिक्रमण करते हैं और धनाणु? धनाणु तो परमाणुका केन्द्र है और वही तो अणुमें धनाणुओंको लिये हुए उसी तरह चक्कर लगा रहा है जैसे ग्रहोपग्रहोंको लिये हुए कृत्तिकाओंकी प्रदक्षिणा सूर्य कर रहा है। ऋणाणुओंमें अनेक टूट-टूटकर परमाणुमण्डलसे दूर भी भागते जाते हैं और और दूसरे परमाणुओंसे मिलकर भी अपने तीव्र वेगको परित्याग नहीं करते। ये ऋणाणु ही जो छिटकते चलते हैं धारारूपसे, सूर्यसे, अग्निसे या विद्युत्से आते हैं। यहाँतक तो संसारके वैज्ञानिकोंद्वारा पूर्णतया स्थापित तथ्य हैं।

परन्तु उनका अनुमान इससे आगे बढ़ा हुआ है और वह भी पूर्ण वैज्ञानिक अनुमान है। गणितसे सिद्ध होते हुए भी पूर्णतया प्रयोगके अधिकारके अन्तर्गत अभीतक नहीं आया है। अत: उसको अनुमान या परिकल्पनासे अधिक कहा नहीं जा सकता। वह परिकल्पना यह है कि प्रत्येक ऋणाणु भी जिन सूक्ष्मतर कणोंसे परिघटित है उसे प्रभाणु कह सकते हैं। प्रत्येक प्रभाणु एक लाख छियासी हजार तीन सौ तीस मील प्रति सेकण्डके वेगसे घूमता है और अनेक प्रभाणुओंके इस अन्त:परिक्रमण करते रहनेसे ही ऋणाणुकी स्थिति बनी रहती है। यही प्रभाणु अलग टूटकर निकलते हैं और हमारी आँखोंपर प्रभाका प्रभाव पड़ता है। परिकल्पना यहाँतक हुई है कि ये प्रभाणु भी एक मण्डल हैं जिनके भीतर कर्षाणु चक्कर लगा रहे हैं और प्रभाणुकी स्थितिके कारण हैं, और कर्षाणु भी स्वयं सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणोंके मण्डल हैं जिन्हें हम सर्गाणु कह सकते हैं। इन सर्गाणुओंकी गति अप्रतिम, अप्रमेय, अचिन्त्य हो सकती है।

क्या इन कणोंका अन्त भी होगा? क्या अन्ततोगत्वा सूक्ष्मताकी किसी हदतक पहुँचकर हम यह कह सकेंगे कि बस, इससे आगे अब वस्तुकी सत्ता नहीं है, सत्ताकी यही अवधि है, यही परमातिपरम इयत्ता है?

प्रकृतिकी इस अवधितक पहुँचनेमें कल्पनाके पाँव भी थक जाते हैं, मनकी जवीयता हार मान जाती है—

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

विज्ञान-संसारमें यह तथ्य स्थापित हो चुका है कि आत्यन्तिक वेगसे भाररहित पदार्थ भी भारवान् हो जाता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहा जा सकता है कि अत्यन्त वेगवती गति ही भारके रूपमें अनुभूत होती है। और विज्ञानके निकट 'मैटर' या वस्तुसत्ता वही है जिसमें भार हो। अब यह बात भी निश्चित है कि प्रकाशकी किरणोंमें

भी भार है और प्रोफेसर एडिंग्टनने तो हिसाब लगाकर बताया है कि सूर्यसे इतने हजार टन किरणें इस धरतीपर प्रतिवर्ष आया करती हैं। अत: हम यह कह सकते हैं कि जितनी ही अधिक सूक्ष्मताको हम परिकल्पनामें लाते हैं उतना ही अधिक गतिके वेगको हम प्रचण्ड पाते हैं और जितना ही अधिक वेग होगा उतनी ही अधिक इस बातकी सम्भावना होगी कि अपनी सत्ताकी अनुरूपतासे कहीं अधिक भार हो।

कणकी सूक्ष्मताकी अन्तिम अवधिको हम मूलकण भी कहें तो हमें मानना पड़ेगा कि वह अन्तिम मूलकण भी गतिका ही हिमीभूत रूप होगा अथवा गति ही मूल पदार्थके रूपमें परिणत होगी। इसी हिमीभूत गतिके उत्तरोत्तर परिक्रमण, परिभ्रमण, परिघूर्णन एवं प्रदक्षिणासे सारा विश्व विरचित हुआ है। अनन्त विश्वमें यही गति दिखायी पड़ती है, चाहे वह बड़े-से-बड़े पिण्डमें हो जिसकी बड़ाईके कारण हम उसे देख नहीं सकते। जैसे आकाशगङ्गाकी प्रचण्ड विशालतावाली नीहारिकाके पूर्ण रूपको हम देख नहीं सकते और चाहे वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कणमें हो जिसकी सूक्ष्मताकी कल्पना अणुवीक्षण यन्त्रके सूक्ष्म मस्तिष्कमें भी नहीं आ सकती—यदि अणुवीक्षण यन्त्रके भी मष्तिष्क होता। समस्त सृष्टि गतिमय है और यह गति वास्तवमें व्यक्त शक्ति है।

फिर जब यह सब कुछ व्यक्त शक्ति है, तो अव्यक्त शक्ति क्या है? अव्यक्त शक्ति वही है जिसे हम अभी गतिका हिमीभूत रूप कह आये हैं, जहाँ मनकी जवीयता और कल्पनाका उड़ान भी पहुँच नहीं सकता। उसी अव्यक्त शक्तिसे, उसी सामग्रीसे वस्तुमात्रकी सत्ता है। यों तो सापेक्षरूपसे हम ऊँचेपरके तालाबकी शक्तिको अव्यक्त कह आये हैं; परन्तु वह अव्यक्तता सापेक्षमात्र है, निरपेक्ष नहीं। निरपेक्षा परमा अव्यक्त शक्ति पदार्थका मूलरूप है, जिसे हम केवल कह देते हैं परन्तु जिसकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते। जिसे हम साधारणतया अचर जड वस्तुसत्ता कहते हैं, वह तो अव्यक्त शक्तिके अनन्त चक्रोंका समूहन है जो सतत शाश्वत अपरिमित गतिका पुञ्ज, देश और कालकी सीमाओंमें निरन्तर परिवर्त्तन, विवर्त्तन और संवर्त्तन करते हुए राधानाथके अनन्त प्राङ्गणमें अनवरत नृत्यमें निमग्न हैं।

३—गतिके अनेक रूप

प्रसङ्गत: हमने गतिके गोल चक्राकार और पेंचकी चूड़ियोंकी तरह कुण्डल्याकार दो ही रूपोंकी चर्चा की है। परन्तु गतिका एक तीसरा रूप भी है और वह है तरङ्गाकार। ये तीनों रूप एक ही गतिमें विद्यमान हैं। पाठक एक साधारण पेंचको हाथमें लेकर देखें। उसके बीचकी धुरी सीधी रेखामें गयी है और उस रेखावाली कीलपर चूड़ियाँ कटी हुई हैं। ये चक्राकार हैं परन्तु प्रत्येक चक्रका वक्र अपने पूर्वांशसे न मिलकर स्थानसे खसकता हुआ नया और निरन्तर परन्तु एक ही अखण्ड रेखामें सतत सान्तर चक्र बनाता चला जाता है। इस पेंचमें ही क्रमसे नीचेका और ऊपरका भाग बनता चला जाता है। यह स्वयं तरङ्गाकार है। साधारण पेंचमें चूड़ीको वहन करनेवाली कील सीधी होती है। परन्तु कल्पना कीजिये कि यह कील लहरीली है और लहराती हुई स्वयं अपने चूड़ीदार शरीरसमेत एक बड़ी चूड़ीकी कुण्डली बनाती है। यह कल्पना उस कुण्डली पद्धतिकी होगी जो सम्पूर्ण अनन्त विश्वका रूप है। इसमें तीनों गतियाँ एक साथ सम्मिलित हैं। हमारी इन्द्रियोंपर शक्ति या गतिके जिन रूपोंका प्रभाव पड़ता है, हमारे नाड़ीयन्त्रकी स्थूलताके कारण, वह रूप प्राय: तरङ्गोंका ही है।

हमारे कानोंपर वायुके स्फुरणका जो प्रभाव पड़ता है वह तरङ्गरूपमें ही होता है। उसे हम शब्द कहते हैं। हमारी त्वचापर स्पर्शका जो अनुभव होता है वह भी नाड़ीजालपर बाहरी वस्तुओंके स्पर्श-तरङ्गसे ही होता है। रस और गन्धकी भी यही दशा है। रूप भी प्रभाणुओंके तरङ्गरूपमें ही नेत्रपटलपर लगनेसे अनुभूत होता है। इस तरह यद्यपि समस्त विश्वमें तीनों तरहकी गति युगपत्‌रूपसे विद्यमान है, तथापि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँचों विषय हमारी इन्द्रियोंपर तरंगित ही होते हैं।

हमारी त्वचाको आँच या गरमी लगती है। यह भी प्रभाणुके तरङ्गोंका ही प्रभाव है। चुम्बकत्व और विद्युत्‌के भी हम जितने रूपोंका अनुभव करते हैं वह तरंगोंके ही रूपमें। तापके भी व्यक्त और अव्यक्त दो रूप हैं। बरफको आँच देकर हम जब जल बनाते हैं तो बहुत-सी गरमी, बहुत-से प्रभाणु प्रच्छन्न हो जाते हैं,

इनकी प्रच्छन्नता जलके रूपको स्थिर रखनेके काम आती है। प्रभाणुके ही तरंग हमें तेजके रूपमें अनुभूत होते हैं। अग्निसे, सूर्यसे, बिजलीसे, चन्द्रमासे, तारोंसे, चाहे जहाँसे तेज हमें प्राप्त हो, प्रभाणुके तरङ्गोंके सिवा और कुछ नहीं है। परन्तु ये प्रभाणु, जो हमारे लिये अत्यन्त सूक्ष्म हैं, सबसे अधिक वेगवाले हैं। प्रकाशके मूल हैं। वे वास्तवमें इतने स्थूल हैं कि हमपर उनका प्रभाव पड़ता है। इनसे कम स्थूल एक्स किरणें हैं जो हमारे लिये बहुत सूक्ष्म हो जाती हैं। एक्ससे अधिक सूक्ष्म किरणें—ये ही प्रभाणु, अत्यन्त प्रचुरतासे फैले हों और अणु-अणुपर जगमगा रहे हों वहाँ हमारे गोचर प्रभाणुओंके अभावमें हमारी आँखोंके लिये घोर अन्धकार हो सकता है। हम कुछ भी देख न सकें ऐसा सम्भव है। अग्नि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, तारकादिके प्रकाश अपेक्षाकृत अत्यन्त स्थूल हैं; तभी तो भगवान् अपने धामन्, अपने तेजस्के लिये कहते हैं कि जहाँ मेरे परम तेजस्, (धामन्) का प्रकाश है वहाँ सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि भी भासते नहीं, देख नहीं पड़ते—ऐसे गज़बकी ज्योति है, ऐसा प्रखर प्रकाश है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता १५। ६)

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

(श्रुति)

ताप, तेज, विद्युत्, चुम्बकत्व, रश्मिविकिरण और गति सभी शक्तिके ही अनेक रूप हैं और सबमें व्यक्त एवं अव्यक्तरूपसे वही एक अखिल विश्वका उद्भवस्थिति-संहार करती हुई शक्ति विराज रही है।

४—शक्तिमय जगत्

यह तो शक्तिका स्थूल दृश्य हुआ। उसके सूक्ष्म रूपको तो हम सर्गाणुओंकी गतिसे उठाकर विश्वके विराट् पिण्डोंतकको गतिमें देख चुके हैं। आखिर हमारी इन्द्रियोंको जिस बाह्य जगत्का निरन्तर अनुभव होता रहता है वह क्या है? मूलरूपसे देश, काल और वस्तुके सिवा और कुछ नहीं। इन तीनोंमें हम वस्तुमात्रकी सत्तापर विचार कर चुके कि सबका मूल किसी-न-किसी रूपमें गति अर्थात् शक्ति है। हम अपने सामने मिट्टीका एक ढेला देखते हैं। इसके प्रत्येक कण गतिशील ब्रह्माण्डकी तरह हैं। हमारे चारों ओर वायुमण्डल है। जो परमाणुओं और अणुओंसे बना है। यह भी शक्तिका समूह ही ठहरा। जब हम अपने चारों ओरकी वस्तुसत्ताकी असलियतपर विचार करते हैं तो हमको ऐसा जान पड़ता है कि शक्तिके विश्वव्यापी महासागरके हम सूक्ष्म जीवाणु हैं जो इस अपार शक्तिपुञ्जके एक परमाणुभर शक्तिको भी अपने काममें नहीं ला सकते। और काममें लानेकी बात सोचना ही कितनी भारी मूढ़ धृष्टता है। क्यों? इसीलिये कि जगत्के सबसे बड़े भौतिक विज्ञानी सर जे० जे० टामसनने हिसाब लगाया है कि यदि एक परमाणुके भीतर स्थित शक्तिपुञ्ज छूट पड़े तो एक क्षणके अल्पांशमें ही लन्दन-जैसे तीन घने बसे शहर राख हो जायँ, उनका पता-निशान बाकी न रहे। अभी उस दिन धरतीके चार मिनटतक काँपनेसे संसारमें कितनी भयानक बरबादी हो गयी। क्या हम ऐसी अपरिमित शक्तिको अपने वशसे चलानेका हौसला करें तो ढिठाई नहीं है? फिर भी करोड़ों अश्वबलकी मशीनें जो जगत्में चल रही हैं और प्रत्येक प्राणी जो चराचर जगत्में व्यक्त या अव्यक्तरूपसे शक्तिसे काम ले रहा है, सब मिलाकर कितनी हुई? क्या पूरी एक परमाणुभर भी हुई?

सर जे० जे० टामसनका हिसाब तो एक परमाणुके अन्तर्गत विद्युत्कणोंके विचारसे था। परन्तु ये विद्युत्कण स्वयं शक्ति-पुञ्ज हैं, एक-एक कण शक्तिकी अटूट निधि है, इसलिये कि प्रभाणुओंकी अपरिमित शक्तिका समूह है। प्रत्येक प्रभाणु, कर्षाणुओंका और प्रत्येक कर्षाणु सर्गाणुओंका पुञ्ज है। अतः सतत वर्धमाना सूक्ष्मताके साथ-ही-साथ निरन्तर शक्तिकी निधि इस एक परमाणुके भीतर इतनी बढ़ जाती है जितनी कि सर जे० जे० टामसनकी कल्पना नहीं हो सकती थी। अतः सच पूछिये तो एक परमाणुके भीतर इतनी अपार शक्ति है कि इस धरतीपरके चराचर प्राणी, चाहे उनकी यान्त्रिक सभ्यता कितनी ही क्यों न बढ़ जाय, सब मिलकर अपार, अगाध, अपरिमेय, अनन्त और अचिन्त्य शक्ति-सिन्धुके एक सीकरको भी अपने

काममें नहीं ला रहे हैं और जिस यत्किञ्चित् अत्यन्त अल्प शक्तिका हम उपयोग कर भी रहे हैं वह निरन्तर बिखरकर उसी अनन्तमें मिलती चली जा रही है।

हम खेती करके अनाज उपजाते हैं और बाग लगाकर फल और लकड़ी। अनाजको काट लाये, साफ किया, लकड़ी काट लाये, चूल्हेमें लगाकर पकाया, भोजन किया, उसे शरीरमें पचाया, इतनेमें आत्मरक्षाका केवल एक ही काम तो सम्पन्न हुआ! आत्मरक्षा प्रेरक शक्ति है। खेती करना, बाग लगाना उत्पादक शक्ति है। काट लाना, भोजन पकाना भी उत्पादक शक्ति है, अन्नका पचाना पाचक शक्ति है। यह आत्मरक्षाका काम पशु-पक्षी भी करते हैं। वे पाचक शक्तिसे अपने पेटके अन्दर ही काम लेते हैं, बाहर नहीं। फिर भी चराचर आत्मरक्षार्थ किसी-न-किसी रूपमें शक्तिका उपयोग करता है। इसी तरह जाति-रक्षामें भी सचराचर आकाश, पाताल, जल, स्थलका घोर मथन करके और विविध शक्तियोंका विराट् आयोजन करके अपना इष्ट साधता है। मनुष्य तो शक्तिके प्रयोगकी हदतक अपनेको पहुँचा चुका है। उसने संसारका चेहरा बदल दिया है। परन्तु यह सब मिलाकर एक सीकर, पूर्ण सीकर, शक्तिका भी उपयोग नहीं हुआ है। उस अपार शक्तिके विश्वमें उसके निवासियोंद्वारा इतनी अल्पमात्रामें शक्तिका उपयोग होता है कि हम उसकी अल्पताकी कोई उपमा देनेमें सर्वथा असमर्थ हैं। इसी बिरतेपर मनुष्य महाराज शक्तिपर विजयी होनेका दम भरते हैं और उनकी हेकड़ीका कोई ठिकाना नहीं है! यद्यपि प्रतिक्षण प्रकृतिदेवीकी एक परम क्षुद्रा दासी मृत्यु उन्हें बराबर **'पुनर्मूषिको भव'** का पाठ पढ़ाती रहती है।

५—अनात्म-सत्तामात्र शक्ति है

यहाँतक हमने यह देखा कि वस्तु-सत्तामात्र शक्ति है। जगत् या संसार हम इस धरतीको ही कहते हैं। यदि हम अपने विचारमें अधिक उदार हो जायँ तो हम 'जगत्' शब्दके अन्तर्गत वस्तुसत्तामात्रको सन्निविष्ट समझ सकते हैं। यह वस्तु-सत्ता देश और कालके अन्तर्गत चक्रोंके विविध और अनन्त समूहोंका नाम है। प्रोफेसर एन्स्टैनके अनुसार देशमें वस्तु-सत्ताके आधिक्यसे सङ्कोच या वक्रीकरण और उसकी अल्पतासे प्रसार वा विवर्त्तन होता रहता है। देशमें भी जब सङ्कोच और प्रसार होता है, तो चाहे कैसी ही परिस्थितिमें क्यों न हो देश भी गतिशील है और शक्तिसम्पन्न है। परन्तु देशकी विशेषता है समाई। समाईसे ही हम देशकी कल्पना करते हैं। एक ही देशमें एक कालमें दो वस्तुसत्ताओंकी समाई नहीं हो सकती। देशका विश्लेषण करनेसे उसकी समाई दैर्घ्य, वेध और प्रस्थ—इन तीन दिशाओंमें विभक्त होती है। इन्हें देशके तीन तल भी कह सकते हैं। इन्हीं तीनों तलोंमें समाईकी मर्यादा है और इसी मर्यादाके भीतर वस्तु-सत्ता गतिशील है। देशसे ही अवकाश मिलता है और अवकाश बिना गति असम्भव है। अतः गतिका आधार अवकाश वा देश है। जैसे गति शक्तिका एक रूप है वैसे ही अवकाश वा देश भी धारण-सामर्थ्य है, वह भी शक्तिका एक रूप है। अपरिमित वस्तु-सत्ताके निरन्तर सञ्चालनका आधार किसी मामूली सामर्थ्यका नाम नहीं है। यह भगवान्की परा-प्रकृतिका एक रूप है। **'ययेदं धार्यते जगत्।'**

एन्स्टैनके अनुसार इस विश्वमें वस्तु-सत्ताका घनत्व सापेक्षरूपसे जगह-जगह बदलता रहता है। जहाँ-जहाँ घनत्व बढ़ता है, वहाँ-वहाँ देशमें वक्रता बढ़ जाती है। जहाँ घनत्व घटता है वहाँ देशकी वक्रता घट जाती है। देशका रूप भी अण्डाकार है, उसीके अनुसार अखिल वस्तु-सत्ता अण्डाकार ही है। अपने यहाँ 'हिरण्यगर्भ' शब्दका प्रयोग विविध अर्थोंमें आया है, परन्तु हिरण्यगर्भ समस्त सर्गमें सर्गाणुसे लेकर सर्गाण्डतक अर्थात् महानीहारिकातक—व्यापक रूप है। इस प्रकार अनन्त देशसे लेकर सर्गाणुतकका नाम 'हिरण्यगर्भ' होना सार्थक है। यतः देशकी वक्रता विश्वमें निरन्तर घटती-बढ़ती रहती है, अतः देशमें वक्रताकी तरङ्ग-माला-सी निरन्तर डोलती रहती है। वक्रतामें परिवर्तन होता रहना भी बड़ी भीषण गति है। अतः यह भी प्रकृतिकी व्यक्त शक्ति है। विज्ञानका एक और पक्ष है जो पुराना है, जिसके अनुयायी अभी मौजूद हैं। वे वस्तुसत्ताका एक अति सूक्ष्म रूप आकाशको मानते हैं, जो ओतप्रोतरूपसे अखिल विश्वमें व्यापक है, जिसके भीतर तरङ्गमालाओंके निरन्तर चलते रहनेसे हमको ताप-प्रकाशादिका अनुभव होता है। आकाश-पदार्थमें भी तरङ्गोंका अद्भुत द्रुतवेगसे चलना 'गति' है, जो व्यक्त शक्ति है; परन्तु यह आकाश-पदार्थ 'देश' से नितान्त भिन्न है तथा वस्तुसत्ताके

घनत्वके बढ़ने-घटनेसे इसकी वक्रताके बढ़ने-घटनेका कोई प्रश्न नहीं है।

फिर भी चाहे 'देश' कहिये और चाहे 'आकाश-पदार्थ', दोनोंमें गति है, और गति व्यक्त शक्ति है। अत: 'देश' वा 'आकाश' भी शक्तिका ही एक रूप है।

वस्तु, देश और काल यही तीन अनात्मसत्ता कहलाते हैं। इनमेंसे हम वस्तु और देशपर विचार कर चुके हैं। कालपर और विचार करना है। 'काल' शब्द स्वयं गतिका एवं प्रेरणका द्योतक है। कालकी गति सूक्ष्म भी है और कल्पनातीत वेगवाली भी है। हमको कालका ज्ञान कैसे होता है, थोड़े-से शब्दोंमें इसे भी समझना उचित है। सबसे स्थूल और स्पष्ट कालकी कल्पनाका कारण दिन और रातका सतत होता रहना है। पृथिवीकी अपनी धुरीपर दैनिक गति ही इसका कारण है। प्रकाश और छाया, दिन और रात, वस्तुत: कर्म है जो धरतीके एक विन्दुसे दूसरे विन्दुतक चौबीस घण्टेके समयमें चक्कर पूरा करनेसे उत्पन्न हुआ है। काल और कर्मका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। कर्मसे ही हम वस्तुत: कालको नापते हैं। चक्रके उसी विन्दुपर पृथिवी जितने समयमें घूमकर आ जाती है, उतने समयको सुभीतेसे चौबीस भागोंमें विभक्त करके प्रत्येक भागका नाम होरा या घण्टा हमने रख छोड़ा है। इसके भी मिनिट, सेकण्ड आदि छोटे विभाग किये हैं। इन्हें हम जानते हैं घड़ीसे। घड़ीकी सुई जब एक विन्दुसे दूसरे विन्दुपर पहुँचती है, दूरी तय करती है, कर्म करती है, तो उतनी दूरीके तय करनेमें, उतने कर्मके करनेमें जितनी देर लगती है, उतनी देरका हम मिनिट या सेकण्ड नाम देते हैं। कर्मके बिना कालका हम किसी तरहका अन्दाजा नहीं कर सकते। किसी घटनाका किसी क्षणमें हो जाना एक बात है और उसका प्रतिक्षण होता रहना अथवा किसी स्थितिका बराबर बना रहना दूसरी बात है। दैर्घ्य, वेध और प्रस्थ ये तीन देशकी दिशाओंमें वस्तुकी स्थिति तो है ही, परन्तु स्थितिका बना रहना—वह चाहे फिर किसी दिशामें क्यों न हो—चौथी बात वा चौथा परिमाण वा दिशा है। इसी परिमाणको हम काल कहते हैं। कोई वस्तु या घटना चाहे एक पल बनी या होती रहे और चाहे एक युग वा कल्पतक होती रहे, यह स्थिरता या सततता एक अलग परिमाण है जिसे काल कहते हैं। देश जैसे वस्तु-सत्ताकी मर्यादा है, काल उसी तरह घटना या कर्मकी मर्यादा है। गतिशीलताके ओतप्रोत व्यापक होनेके कारण वस्तु-सत्तामात्र घटनाओंका समूह है और काल-परिमाणकी मर्यादामें निरन्तर स्थितिके कारण देशमें मर्यादित है। जब काल स्थितिका कारण वा परिमाण है, घटनाओंको निरन्तर जारी रखता है, तो साथ ही वस्तु-सत्ताके घनत्वके घटते-बढ़ते रहनेका भी कारण है और इस तरह देशकी वक्रताकी वृद्धि वा ह्रासका भी कारण है। **'कालयति' 'प्रेरयति'**—काल सब कुछ कराता है, सबको प्रेरित करता है। काल बड़ा बली है। शक्तिका प्रेरक रूप है।

गति-शक्ति वस्तु-सत्ताका मूल है, दिक्सूचना देशका मूल है, स्थिति-रक्षा, प्रेरणा-शक्ति कालका मूल है। गति, देश और काल—इन तीनों सामग्रियोंसे 'कर्म' घटित होता है। गति, देश और काल—ये तीनों शक्तिके तीन आविर्भाव हैं। इस तरह वैज्ञानिक दृष्टिसे देश, काल और वस्तु तीनों जो अनात्मके तीन रूप हैं, शक्ति ही हैं तो सम्पूर्ण अनात्म-सत्ता, कहीं घन कहीं विरल, शक्तिका ही रूप है।

हमारे दार्शनिक साहित्यमें गुणत्रयविभागका बड़ा महत्त्व है। स्थितिका निरन्तर जाड्यरूपमें बना रहना (Inertia) तमोगुण है। इसीको हम सापेक्ष और निरपेक्ष अव्यक्त शक्ति कह आये हैं। इसीमेंसे सर्गका आविर्भाव होता है। इसीमें प्रतिसर्ग वा लय भी होता है।

अव्यक्ताद् व्यक्तय: सर्वा: प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

इस स्थितिमें गति ही रजोगुण है। गतिके ही आविर्भावसे अव्यक्तसे व्यक्तकी सृष्टि होती है। प्रकृतिका रजोगुण उसकी व्यक्त-शक्ति ही है। सत्त्वगुण गतिका सामञ्जस्य है, जो देशकी वक्रता और कालकी मर्यादामें प्रकट है। इस तरह हम जो देश-काल-वस्तु सत्तात्रयका वर्णन कर आये हैं, तीनों गुणोंका उनमें समावेश हो चुका। जैसे देश-काल-वस्तु तीनोंका आपसमें अन्तर्भाव है, उसी तरह इन तीनों गुणोंका भी आपसमें अन्तर्भाव है, और ये गुण प्रकृति या शक्तिके ही हैं। अत: अनात्म-सत्तामात्र शक्ति है।

६—आत्म-तत्त्वका शक्तिसे सम्बन्ध

ॐ सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

आस्तिक वेदान्ती समस्त सत्ताको चित्, अचित् और ईश्वर—इन तीन विभागोंमें देखता है। इनमेंसे वैज्ञानिकके मानने, जानने और खोजनेकी वस्तुएँ दो ही हैं—अचित् और चित्। हमने यह प्रतिपादित किया है कि समस्त अचित् सत्ता शक्तिमय है, शक्तिके सिवा कुछ नहीं है। हम अब चित्-सत्तापर विचार करेंगे। विज्ञानके अनुसार यह सर्ग दो प्रकारका है, एक अनैन्द्रियिक, अनांगारिक, अजैव वा जड, और दूसरा ऐन्द्रियिक, आंगारिक, जैव वा चेतन। अनैन्द्रियिक इसलिये कि जड पदार्थमें इन्द्रियोंका अभाव माना जाता है और चेतन पदार्थ सर्वथा इन्द्रियहीन नहीं हो सकता। अनांगारिक इसलिये कि जड पदार्थमें अङ्गार या कर्बनकी कोई विशेषता नहीं होती। जड पदार्थ अजैव इसलिये कहलाता है कि उसमें जीव या व्यक्तिगत चेतना नहीं होती और जैव जगत्में जीव या चेतनकी प्रधानता होती है। जिस तरह जड-सत्ताके छोटे-से-छोटे कण होते हैं उसी तरह चेतन सत्ताके भी छोटे-से-छोटे जीव-कण होते हैं जो अपना व्यक्तित्व अलग-अलग रखते हैं, जिन्हें हम अच्छे-से-अच्छे अणुवीक्षण यन्त्रसे देख नहीं सकते। इनके एक कणको 'सेल' कहते हैं और ऐसा समझा जाता है कि आदि-जीव जिससे जीवनका पहला अंकुर निकला होगा उस एक सेलवाला जीव होगा, जिसमें उसके अतिरिक्त कोई व्यक्तिगत जीवन न था और जिसके अनेकके संयोगसे ही एक-एक व्यक्ति बनी और विकासका मार्ग प्रशस्त हुआ। इस विश्वमें, इस सृष्टिमें, कोई ऐन्द्रियिक शरीर नहीं है जिसका एक-एक कण अलग-अलग व्यक्त जीव न हो और जीवित या मृत ऐन्द्रियिक शरीरका छोटे-से-छोटा अङ्ग वा अवयव नहीं जो अनन्त जीवकणोंसे बना न हो। सचराचर प्राणिसर्ग इन्हीं अनन्त जीवाणुओं और कीटाणुओंका समूहन है और यह संसार जीविताणुओंका महासमुद्र है। यह प्राणि-महार्णव शक्तिमय जड पदार्थसे ओतप्रोत-भावसे वेष्टित है और प्रत्येक व्यक्त जीवकी देह है। जीव प्रेरक है, चेतन है और देह उसकी वशीभूता और प्रेरिता है। ऐसा जान पड़ता है कि देहमें जो कुछ शक्ति है वह जीवकी ही बदौलत है। क्योंकि जीव ज्यों ही शरीर छोड़ता है, त्यों ही देह निश्चेष्ट और मृत हो जाती है, उसके सारे व्यापार सदाके लिये बन्द हो जाते हैं। देहको धारण करनेवाला जीव ही जान पड़ता है, यद्यपि जड़ देहका एक-एक कण महाशक्तिका असीम महार्णव है। इस जीवार्णवके लिये, देखिये, भगवान् कहते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(गीता ७। ४-५)

यहाँ 'जगत्' चर-प्राणिमय संसारके लिये प्रयुक्त हुआ है। भगवान्की अपरा और परा दो प्रकृतियाँ हैं। (अजीव) अ-परा ['पर' अर्थात् ब्रह्माकी आयुकी मर्यादासे बाहर, पहले और पीछे भी बनी रहनेवाली।] प्रकृति आठ प्रकारकी है। भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मनस्, बुद्धि तथा अहंकार [जो सृष्टिके पहले और पीछे अव्यक्तरूपमें बने रहते हैं और सर्गमें परा-प्रकृतिके संयोगसे व्यक्त होते हैं]। दूसरी परा [ब्रह्माकी आयुपर्यन्त रहनेवाली] प्रकृति है जो जीवन-रूपसे सृष्टिमें व्यापती है और (चर-प्राणिमय) जगत्को धारण किये रहती है।

जीवन ही देहको धारण करनेवाला ब्रह्म है और निश्चय ही देहसे अधिक सामर्थ्यवान् है। और देहका एक-एक जड सूक्ष्मतम कण शक्तिका महापुञ्ज है तो देह भी महाशक्तिका महार्णव है और इतना होते हुए भी 'जीव' के वशीभूत है, अधीन है। अतः जीवकण अधिक शक्तिशाली है, चेतन है। यह उससे भी बड़ी शक्ति है। चेतना महाशक्ति है और परा-प्रकृतिका प्रसार है। यह भी शक्ति-ही-शक्ति है और अन्य कुछ नहीं। **'सर्वं शक्तिमयं जगत्'**—चराचर, जीव-अजीव, जड-चेतन सब कुछ शक्ति ही तो है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

यह सब कुछ ब्रह्म ही है और ब्रह्म प्रकृतिको भी कहते हैं, अतः श्रुतिके इस महावाक्यका यह भी अर्थ है कि सब कुछ प्रकृति है, शक्ति है, इसके सिवा और कुछ है ही नहीं।

यच्च किञ्चित्क्वचिद्वस्तु सदसद् वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे मया॥

(मार्कण्डेयपुराण देवीमाहात्म्य १। ८२)

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानां चाखिलेषु या।
भूतेषु सततं तस्यै व्याप्त्यै देव्यै नमो नमः॥
चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

(दे० मा० ५। ३२, ७७-७८)

७—चेतना-शक्तिका विकास

जिस तरह अत्यन्त छोटे, अदृश्य और अचिन्त्य कणोंके उत्तरोत्तर विकाससे यह जड विश्व बना है, उसी तरह अदृश्य और अचिन्त्य सूक्ष्म जीवाणुओंके उत्तरोत्तर विकाससे ब्रह्माण्डनायकतकका आविर्भाव हुआ है। अपरा-प्रकृतिका विकास जैसे सृष्टिके आरम्भसे ही होने लगता है, वैसे ही परा-प्रकृतिका जैव विकास भी उसके बाद ही शीघ्र आरम्भ हो जाता है। एक सेलीय जीवनसे जब सृष्टि बढ़ते-बढ़ते अनेक सेलोंतकके सामूहिक जीवनका विकास करती है, तब इन्द्रियोंका भी साथ-ही-साथ विकास आरम्भ हो जाता है। सूक्ष्म प्राणियोंमें इन्द्रिय एक ही होती है। इन्द्रियोंका बढ़ना और जैव विकास एक ही बात है। बाहरी और भीतरी दोनों प्रकारकी इन्द्रियाँ उत्तरोत्तर विकास करती हुई स्थूल मानव-शरीरमें अपनी पराकाष्ठाको पहुँची हैं। इसमें पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और चार भीतरी इन्द्रियाँ (और बहुतोंके मतसे केवल मन ही भीतरी इन्द्रिय है), इस तरह कुल मिलाकर ग्यारह या चौदह इन्द्रियोंतकका विकास मानव-शरीरमें देखा जाता है। विज्ञानकी दृष्टिसे इन चौदह इन्द्रियोंका विकास लगभग एक अरब बरसमें हुआ है।

यह कहना असम्भव है कि जीवनका आरम्भ कब हुआ, परन्तु चाहे कभी हुआ हो, यह कोई वैज्ञानिक नहीं कह सकता कि अमुक स्थितिके पूर्व मनस् या चेतनाशक्तिका सर्वथा अभाव था। सर जगदीशचन्द्र बोस तो जीवनोचित प्रतिक्रिया जड धातुओंतकमें पाते हैं। और यह जानी और मानी हुई बात है कि प्लाटिनम-सरीखी धातु विषसे मर जाती है और उद्भिज्जोंमें तो निश्चय ही चेतनाशक्तिका स्पष्ट भाव है। प्रयोगोंसे ऐसा अनुमान किया जाता है कि उद्भिज्ज सोचता है, उसमें गोचरता है, और इच्छाशक्ति भी है। बिना ज्ञान और कर्मकी नाड़ियोंके ये बातें सम्भव नहीं हैं। इसलिये उद्भिज्जोंसे पहले ही दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंके विकासका आरम्भ सिद्ध है। चेतनाशक्तिकी वृद्धिकी सीढ़ीपर हम ज्यों-ज्यों चढ़ते हैं, मनस्का त्यों-त्यों विकास होता चलता है। उसका आरम्भ जाँच और भूलसे लाभ उठानेमें प्रत्यक्ष है। इस क्रियाके पुनरावर्त्तनसे इसकी प्रतिक्रियाएँ भी बारम्बार होती हैं। फलतः प्राणी अपनी परिस्थितिके अनुसार अपने जीवनका मार्ग प्रशस्त कर लेता है। इन क्रियाओं और प्रतिक्रियाओंके साथ-ही-साथ नैसर्गिक बुद्धि और विवेकशीला संबुद्धि दोनों बढ़ती हुई काम करती हैं। दोनोंका उत्तरोत्तर विकास मानव-शरीरमें आकर पराकाष्ठाको पहुँचता है। मनुष्येतर प्राणी भी अनुभव और विचारसे काम लेते हैं, इस तथ्यके प्रचुर प्रमाण पाये जाते हैं। हमारे शास्त्रोंमें आहार-ग्रहणकी दृष्टिसे जिन प्राणियोंको तिर्यक् योनिका कहा गया है उनमें चेतनाशक्तिका विकास भी तिर्यक् रेखामें चलता है। बुद्धिका विकास भी दो रूपोंमें होता है—एक तो सहज या जड बुद्धिका विकास, दूसरे विवेक या चेतन संबुद्धिका विकास। मेरी समझमें अपरा प्रकृतिकी ओरसे विकास करके आती हुई जड बुद्धि इस स्थलपर परा प्रकृतिकी विवेक-बुद्धि या चेतन संबुद्धिसे मिलती है और मानव-शरीरमें आकर एकभाव हो जाती है। गतिशील अणुओंसे बने हुए शरीरके कारण स्वभावसे ही जीवित प्राणीसे रहा नहीं जाता, वह अपने-आप उद्योग करता है, हिलता-डोलता है, आगे बढ़ता है, मार्गकी रुकावटोंकी जाँच करता है, चूकता है, चूकको जाँचता है उससे सीखता है, बारंबार इस तरह सीखकर फिर समझदारीका बर्ताव करता है, और अन्तमें विवेकशील बन जाता है। यही चेतनाशक्तिकी संबुद्धिके विकासका क्रम है। जड-बुद्धि दूसरी तरह काम करती है। जब अपनी परिस्थितिसे लाचार होकर काम करना पड़ता है, भोजनके लिये या वासना-तृप्तिके लिये उसे उद्योग करना पड़ता है, सफलता न हुई तो परिस्थिति अपनी प्रतिक्रियाओंसे उसे लाचार करके बारम्बार किसी एक प्रकारकी चेष्टा कराती ही है कि जीवनकी रक्षा होती रहे। इन क्रियाओं और प्रतिक्रियाओंसे किसी एक निश्चित दिशामें चलने, रहने और बढ़नेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। सारी गतिविधि परिस्थितिके अनुरूप और अनुकूल बन जाती है। एक विशेष प्रकारकी क्रियाओंका सिलसिला बँध जाता है जो बिना सोचे-

विचारे जारी रहता है। यही बान, टेव या 'स्वभाव' कहलाता है। अन्तमें इसी स्वभावको एक ओरसे तो विवेक प्रेरित करता है और दूसरी ओरसे प्रत्यगात्मा। यही 'स्वभाव' नैसर्गिक बुद्धिके अन्तिम विकासका रूप है। [यह 'स्वभाव' अपरा-प्रकृतिकी चित्-शक्तिका विकास वा परिणाम भी समझा जा सकता है। इस तरह काल, कर्म, गुण, स्वभाव—ये चारों शक्तिके ही विकास वा परिणाम हुए।]

विकसित प्राणियोंमें विवेचनाशक्ति या बुद्धिके रूपमें चेतनाशक्तिका विकास जैसे देखा जाता है वैसे ही भावोंमें उसकी नैसर्गिक बुद्धिकी भी प्रबलता देखी जाती है। घृणा, दया, क्षमा, लज्जा, ईर्षा, करुणा, श्रद्धा, शान्ति, तुष्टि आदि हृदयके भाव, वृत्ति, स्मृति, धारणा आदि मस्तिष्ककी शक्तियाँ, इन्द्रियोंकी अनन्त प्रकारकी वासनाएँ और एषणाएँ, व्यक्तिकी आत्मरक्षाकी चेष्टाएँ और व्यक्ति और समाज दोनोंके जातिरक्षाके उद्योग, जिसमें अनन्त प्रकारकी व्याधियाँ, लड़ाइयाँ, जरा, मृत्यु, निद्रा, मूर्च्छा, तन्द्रा आदि संहारकारिणी, उत्पत्ति, वृद्धि, क्षुधा, तृषा, पुष्टि, रक्षा आदि उद्भव और स्थितिकारिणी व्यापक शक्तियाँ एवं समस्त अर्थनीतिक, राजनीतिक, सामाजिक और आचारनीतिक शक्तियोंके परस्पर प्रहार-संहार, सदुपयोग-दुरुपयोग सन्निविष्ट हैं—ये सभी चेतनाशक्तिके ही महावृक्षकी शाखाएँ, प्रशाखाएँ हैं जो इस विश्वमें फैल रही हैं। इस तरह हम देखते हैं कि जैसे जडशक्ति अखिल विश्वमें व्याप रही है उसी तरह चेतना-शक्ति भी सारे विश्वमें अनन्त रूपोंमें व्याप रही है। इस प्रकार यह भी स्पष्ट हो गया कि जड और चेतन दोनों ही रूपोंमें शक्ति ही काम कर रही है। यद्यपि उसके रूप दो ही नहीं, अनन्त हैं परन्तु वह एक है और अखिल सत्तामय है, सर्व है। अतः ठीक ही कहा है—

'सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते।'
'यच्च किञ्चित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं............॥'

८—आत्माकी स्थिति

जब हम आत्माके सम्बन्धमें विचार करते हैं, तब आधुनिक विज्ञानके क्षेत्रसे दूर हो जाते हैं। पाश्चात्य विज्ञानमें परलोकवाद उसकी एक नयी शाखा समझी जाती है जो आत्माका अस्तित्व तो नहीं मानती परन्तु इतना मानने लगी है कि मृत्युके पीछे व्यक्तिका लोप नहीं हो जाता, उसका वही व्यक्तित्व एक प्रकारके मरणोत्तर जीवनमें बहुत कालतक बना रहता है। यह बात तो निश्चित हो चुकी है कि मृत्यु केवल स्थूल शरीरका विनाश करती है, व्यक्तित्वका नहीं। परन्तु यह निश्चय नहीं हो सका है कि व्यक्ति अविनाशी है वा अमर है। इसीलिये अमर और अविनाशी आत्माके माननेवाले दार्शनिक हैं, वैज्ञानिक नहीं।

शक्तिविज्ञानपर विचार करनेमें यदि हम विज्ञानके नाते आत्माके सम्बन्धमें कोई चर्चा न करें तो विषय अधूरा रह जायगा। इसलिये आत्म-सत्तापर यत्किञ्चित् विचार किये बिना हम नहीं रह सकते।

जड-चेतन, क्षर-अक्षर, अचित् और चित्, प्रकृतिके इन दोनों रूपोंपर विचार करके हमने दोनोंको शक्तिपुञ्ज ठहराया है; परन्तु ईश्वर या आत्मा या पुरुषोत्तम इन दोनोंसे परे है।

'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः॥
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥'

(गीता १५। १७-१८)

जीवात्मा कारण-शरीराभिमानी ईश्वरांश है जो पुरुष और प्रकृति, शक्तिमान् और शक्ति—दोनोंका संयोगस्थल है। कारण-शरीर प्रकृति है, शक्ति है, और तदभिमानी आत्मा पुरुष और शक्तिमान् है। यह अखिल विश्व जो शक्तिका पुञ्ज है उसको धारण करनेवाला उसका स्वामी सर्वशक्तिमान् परमात्मा है। परमात्मा शक्ति नहीं है, शक्तिमान् है। उसकी प्रकृति दो तरहकी है—अपरा और परा। परन्तु वह अपनी प्रकृतिसे भिन्न नहीं है। हम अपने समझनेके लिये किसी वस्तुके गुणोंको अलग करके वर्णन करते हैं और यदि हम वस्तुके सभी गुणोंको उससे अलग कर दें तो वस्तुकी सत्ता ही नहीं रह जाती। शक्ति तो शक्तिमान्का गुण है। उसमें और शक्तिमान्में रत्ती भर भी अन्तर नहीं है। ज्ञात और अज्ञात, सत् और असत्, नित्य और अनित्य सभी कुछ उसीकी सत्तासे है। जो है वही है और जो नहीं है, वह भी वही है। जो परमात्माके रूपमें उसे भजता है वह उसे पुरुष कहता है, जो महाशक्तिके रूपमें उसकी आराधना करता है वह उसे महाशक्ति और मूल प्रकृति कहता है। मायाधीश और

महामाया दोनों नाम और रूप एकके ही हैं।

उपजहिं जासु अंस गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥

....

उपजहिं जासु अंस ते नाना। संभु बिरंचि बिस्नु भगवाना॥

दोनोंमें कोई अन्तर नहीं, सर्वथा अभेद है। नर-नारीका भेद व्यक्त सृष्टिमें ही है, अव्यक्त ब्रह्ममें नहीं।

भगवती स्वयं श्रीमुखसे क्या कहती हैं, सुनिये—

सदैकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदैव ममास्य च।
योऽसौ साहमहं योऽसौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात्॥
आवयोरन्तरं सूक्ष्मं यो वेद मतिमान् हि सः।
विमुक्तः स तु संसारान्मुच्यते नात्र संशयः॥
एकमेवाद्वितीयं वै ब्रह्म नित्यं सनातनम्।
द्वैतभावं पुनर्याति काल उत्पित्सुसंज्ञके॥
यथा दीपस्तथोपाधेर्योगात्सञ्जायते द्विधा।
छायेवादर्शमध्ये वा प्रतिबिम्बं तथावयोः॥

....

नाहं स्त्री न पुमांश्चाहं न क्लीबं सर्गसंक्षये।
सर्गे सति विभेदः स्यात् कल्पितोऽयं धिया पुनः॥
अहं बुद्धिरहं श्रीश्च धृतिः कीर्त्तिः स्मृतिस्तथा।
श्रद्धा मेधा दया लज्जा क्षुधा तृष्णा तथा क्षमा॥
कान्तिः शान्तिः पिपासा च निद्रा तन्द्रा जराऽजरा।
विद्याऽविद्या स्पृहा वाञ्छा शक्तिश्चाशक्तिरेव च॥
वसा मज्जा च त्वक् चाहं वृष्टिर्वागनृतानृता।
परा मध्या च पश्यन्ती नाड्योऽहं विविधाश्च याः॥
किं नाहं पश्य संसारे यद्वियुक्तं किमस्ति हि।
सर्वमेवाहमित्येवं निश्चयं विद्धि पद्मज॥

(देवीभागवत-स्कन्ध ३, अध्याय ६)

'कल्याण' का पाठक-परिवार गीताके श्लोकोंसे परिचित है, अतः उन्हें उद्धृत किये बिना ही क्या हम यह नहीं कह सकते कि भगवान्‌के श्रीमुखसे कहे वचनसे ये वाक्य कितना साम्य रखते हैं! इन वाक्योंसे कैसा सिद्ध होता है कि भगवान् और भगवतीमें अभेद है और शाक्त और वैष्णव दोनों एक ही आराध्य देवताकी उपासना करते हैं। जैसे शिव और विष्णु एक हैं, वैसे ही शिव और शक्ति तथा विष्णु और शक्ति एक ही हैं।

९—वैज्ञानिकों और शाक्तोंके दृष्टिकोण और विधियाँ

यद्यपि विज्ञान आत्माके सम्बन्धमें चुप है और चेतन वा जीवको जड पदार्थसे अभीतक प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं कर सका है तो भी वह चेतनको जडसे ही उद्भूत मानता है। फिर भी वह जीव और अजीव दोनों प्रकारकी सत्ताको स्वीकार करता है और जीव-विज्ञान और पदार्थ-विज्ञान दोनों ही विज्ञानकी महत्त्वपूर्ण शाखाएँ हैं। जीव-विज्ञानी जीवको भी प्रकृतिकी एक शक्ति मानता है। इस प्रकार वह सम्पूर्ण चराचर जीव-अजीव, जड-चेतन सबको शक्तिके ही रूपान्तर कहता और जानता है। ईश्वरसे उसे सरोकार नहीं है। उसके निकट प्रकृति ही परमेश्वर है। परन्तु प्रकृतिकी उपासना वह शाक्तकी तरह नहीं करता। वह प्रकृतिको कभी-कभी भीतिसे देखता है सही, परन्तु उसके प्रति उसे न तो माताकी-सी श्रद्धाका भाव है और न देवी जानकर पूज्यबुद्धि ही है। बल्कि जहाँ उसे प्रकृतिको अपनानेका मौका मिलता है, वहाँ उसे वह दासी बना लेता है और दासीकी ही तरह काम लेता है। वह प्रकृतिको जड मानता है और उसका उतना ही सम्मान भी करता है।

मनुष्य अपनी इन्द्रियोंसे बराबर काम लेता है; देखता, सुनता, छूता, सूँघता और चखता है, चलता-फिरता है, हाथोंसे सैकड़ों काम लेता है, मल-मूत्र त्यागता है, भोजनोपार्जन करता है, अपने योग-क्षेम और ऐश-आरामके सभी साधन इकट्ठे करता है—और समझता है कि हमने अपनी बुद्धि और शरीरके बलसे यह सब पराक्रम किये हैं, इसमें किसीका इहसान नहीं है। शास्त्रोंके मर्मज्ञ ही जानते हैं कि इन्द्रियोंके अलग-अलग देवता हैं जो शक्ति देते हैं जिससे इन्द्रियाँ काम करती हैं। हम पद-पदपर देवताओंकी दी हुई शक्तिसे काम लेते हैं। इसके लिये ये देवता हमसे कोई उपासना नहीं चाहते, कोई बलि-पूजा नहीं माँगते; ये तो केवल अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं। ये उस महाशक्तिके अनुचर हैं जो अखिल विश्वका सञ्चालन करती रहती है। ये शक्तिके देवता जीवाणुओंसे लेकर ब्रह्माकी इन्द्रियोंतकके प्रेरक और चालक हैं। तो भी इनसे इतने काम लेते हुए मनुष्य एक क्षणके लिये भी शक्ति-देवीके प्रति कृतज्ञ नहीं होता। प्रकृतिके बनाये नियमोंका पालन करनेवाले सभी कुछ कर सकते हैं और प्रकृति उन्हें बराबर सहायता देती रहती है। जो नियमविरुद्ध चलता है उसे निष्ठुरतासे दण्ड देती है, रत्तीभर रिआयत

नहीं करती। वह नियम पालन करना ही बलिपूजा समझती है। नियमके तोड़नेवाले उपासकको भी क्षमा नहीं करती। अतः विज्ञानीने उसके आकर्षण, अपकर्षण आदि शक्तियोंके नियमोंसे लाभ उठाकर सभी तरहके यन्त्र बनाये हैं; यहाँतक कि कलोंके बाहुल्यसे हमारा युग कल-युग कहलाये तो अनुचित न होगा।

प्रकृतिके नियमोंकी मनुष्यकी बुद्धिने बड़े मनोयोगसे सफलतापूर्वक खोज की और उसका सदुपयोग भी किया और दुरुपयोग भी। प्रकृतिने सदुपयोगका अच्छा उपहार दिया और दुरुपयोगका निष्ठुर दण्ड। इसको विस्तारपूर्वक दिखानेका यहाँ न तो अवसर है और न प्रकृत विषयके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध। अतः हम केवल एकाध उदाहरणमात्र यहाँ देते हैं। रेल, तार, डाक, आकाशवाणी, दूरवाणी, मोटर, पैरगाड़ी, विमान आदि यन्त्रोंसे देश-कालका अन्तर कम करना उसका सदुपयोग है जिससे अगणित प्रकारकी सुविधाएँ हो गयी हैं। उनसे जो अपरिमित लाभ हुए हैं वही प्रकृतिके पुरस्कार हैं। पाश्चात्योंने महायन्त्रोंका, पुतलीघरोंका, बिजलीके बलघरोंका निर्माण करके सैकड़ों-हजारों आदमियोंका काम एक-एक मजूरसे कराकर शेष मजूरोंको बेकार कर दिया। जो माल वे हाथसे बनाते उसे दम-के-दममें बड़ी मात्रामें सस्ता तैयार करके चाहनेवालोंको दिया और उससे मिलनेवाला पैसा धनवानोंने अपनी तिजोरियोंमें भरा और विलासकी सामग्रीमें लगाया। उधर बेकारोंकी भारी संख्या भूखों मरने लगी। प्रकृतिके स्वावलम्बी साम्यके नियमोंका उल्लंघन करके सम्पत्तिका ऐसा विषम वितरण कराया कि धनियों और निर्धनोंके कराल संघर्षसे संसारका समाज विच्छृङ्खलित हो गया। धनवान् अत्यधिक माल तैयार कराकर कूटनीतिसे, छलसे, बलसे, धूर्त्ततासे, किसी-न-किसी ढंगसे गरीबोंके सिर मढ़ने लगा और निर्धन पिसने लगे। आज समस्त संसार नोच-खसोट, छीना-झपटीमें जो लगा हुआ है वह प्रकृतिके नियमोंके दुरुपयोगसे। वर्णाश्रमका सामञ्जस्य इन धूर्त्तताओंसे ऐसा बिगड़ गया है कि प्रकृति बिना हस्तक्षेप किये रह नहीं सकती। उसने भूकम्प, अग्नि, वायु, जल, महामारी, हैजा, चेचक, पारस्परिक युद्ध आदि असंख्य प्राकृतिक घटनाओंके द्वारा सामञ्जस्यकी पुनः स्थापनाका कार्य जारी कर रखा है। जिस प्रकृतिका उद्भव, स्थिति, संहार नित्यका कर्त्तव्य है वह सहज ही अपने महायन्त्रके द्वारा सामञ्जस्यकी स्थापना करेगी—उसकी विधि हमें कितनी ही क्रूर और निष्ठुर क्यों न लगे—

ज्याय, पालि, मारत केहि भाँती
धन्य अखिल रखवाल।

पाश्चात्य विज्ञानियोंने अपने करणों और बाहरी उपकरणोंद्वारा शक्तिसे काम लिया है। इसीलिये वे प्राकृतिक शक्तियोंके द्वारा संसारको स्थूलरूपमें लाभ पहुँचा सके और स्वयं उन्होंने प्रचुर परिमाणमें भौतिक सम्पत्तिका संग्रह किया। वे अपनी भीतरी शक्तियोंसे बिलकुल बेखबर रहे, अन्तर्मुख कभी नहीं हुए। आज इस स्थूल संसारमें उन्हींकी तूती बोल रही है, उन्हींकी विजयका डङ्का बज रहा है। परन्तु उनके भले-बुरे सभी कामोंमें सारा समाज शामिल रहा है, इसीलिये दण्ड भुगतनेमें भी बराबर शामिल रहना पड़ता है। आजकलका सम्पूर्ण समाज उनसे सहयोग किये बिना रह नहीं सकता था क्योंकि साम्प्रतिक सामाजिक माया ही इस ओर प्रवृत्त करती है—

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

शाक्तका दृष्टिकोण पच्छाहीं विज्ञानीसे नितान्त भिन्न है। वह जो कुछ करता है व्यक्तिगत रीतिसे करता है, समाजगत रीतिसे नहीं। वह धन, मान, सन्तान आदिके लिये भी शक्तिका उपयोग करता है, परन्तु वह सब व्यक्तिके लिये, समाजके लिये नहीं। वह विज्ञानीकी तरह बाहरी उपादानोंसे भी काम नहीं लेता। वह अन्तर्जगत्‌की ही शक्तियोंको जागृत करता है। उसका ध्येय भौतिक स्थूल शक्ति नहीं है; वह दैविक, दैहिक एवं आध्यात्मिक शक्तियोंसे अपने सभी काम निकालता है। इन शक्तियोंके लिये खोजमें वह वनस्पतिशास्त्रियोंकी तरह वनमें, जीव-विज्ञानियोंकी तरह जल, स्थल और आकाशमें, भौतिक एवं रासायनिक विज्ञानियोंकी तरह प्रयोगशालाओंमें भटकता नहीं फिरता और ज्योतिषियोंकी तरह आकाशमार्गमें टकटकी लगाये नहीं रहा करता। वह जिन उपायोंसे काम लेता है वे नितान्त भिन्न हैं। वह उपवास-व्रतादिसे अपने शरीरको सुखा डालता है। वह मन्त्र-जापसे अपने जिह्वाग्र और मालाकी मणिकाओंको घिस डालता है। वह पूजा-होमादिसे वायुमण्डलको

सम्पृक्त कर डालता है। वह दानसे अपने सर्वस्वको स्वाहा कर डालता है। वह योग-साधनसे अपनी हड्डियोंको मुलायम और अपने दुर्निग्रह और चञ्चल मनको मुट्ठीमें कर लेता है, अपने शरीरके चक्रोंको अपने वशमें करके जैसे चाहता है चलाता है। यह सब 'तपश्चर्या' या 'तपस्या' कहलाती है। जप, तप, योग, व्रतादिसे वह अपनी भीतरी शक्तियोंको जगाता है, अपनी मुट्ठीमें कर लेता है और चलाता है। टामसनने एक परमाणुकी निहित शक्तिको क्षणमात्रमें लन्दन-जैसे तीन नगरोंको एक साथ भस्म कर डालनेमें समर्थ बताया है, सो वैसे अनन्त कोटि परमाणुओंसे तो हमारा शरीर ही बना है, फिर यदि हमारे शरीरके भीतरी अनन्तशक्ति-महोदधिके एक सीकरमात्रपर हमारा अधिकार हो जाय तो हमारे लिये थोड़ी बात नहीं है। शरीरके भीतर बैठी प्रत्यगात्माकी प्रेरणासे शरीरमें अपनी ज्ञात इच्छासे हम जागतेमें सैकड़ों काम करते हैं और अपनी अज्ञात इच्छासे वा इच्छा बिना ही रक्तका प्रबल प्रवाह, भोजनका पाचन, मलोंका बहिष्करण, शरीरका शोधन और श्वासोच्छ्वासकी क्रिया निरन्तर सौ-सौ बरसतक होती रहती है। यह प्रत्येक शरीरके भीतर निहित शक्तिसे ही होती रहती है, जिसका प्रेरक कूटस्थ अक्षर पुरुष है। वही पुरुष जब शरीरका सञ्चालन छोड़कर चला जाता है, तब शरीर मृत कहलाता है। शरीरके भीतरवाली शक्ति-महोदधिसे तपोबलद्वारा यही जीवात्मा क्या नहीं कर सकता?

तपबल रचइ प्रपंचु बिधाता। तपबल बिस्नु सकल जग त्राता॥
तपबल संभु करहिं संघारा। तपबल सेषु धरइ महिभारा॥

यह 'तपस्' क्या है? 'आँच', 'गरमी' जो शक्तिका या गतिका एक रूप है। गरमीसे गति पैदा होती है। अतः 'तपस्' है शक्तिको अपने प्रयोगके योग्य करके सञ्चित रखना। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शेष आदि सभी देव शक्ति-सञ्चयके लिये तपश्चर्या करते हैं और अभीष्ट पाते हैं। परन्तु यह तपस्या शक्तिकी आराधनाके साथ होती है और यह समझकर होती है कि यह परमात्माकी शक्तिकी उपासना है। इसमें नियमोंका उल्लंघन नहीं होता। शक्तिसे छीनकर सम्पत्ति लेना और उसे विलासितामें लगाना, स्वार्थपरायण हो औरोंको साधारण सुखसे भी वञ्चित करना आसुरी नीति है। दैवी नीतिमें शक्तिको प्रसन्न करके उससे वर लेना और उसका सदुपयोग करना, परार्थपर ध्यान रखना और आप दुःख उठाकर औरोंको सुखी करना विशेषता है। आसुरी नीति समाजसे सम्पत्ति लेकर स्वार्थ साधती है और दैवी नीति अपनी तपस्यारूपी सम्पत्तिसे समाजको सुख देती और परार्थ साधती है। पाश्चात्य और प्राच्य वैज्ञानिक और शाक्तके दृष्टिकोणोंमें और शक्तिके व्यवहार करनेकी विधियोंमें यही अन्तर है।

प्राच्य शक्ति-उपासना भी स्वार्थभावसे की गयी है और अब भी की जाती है। वैदिक अभिचारोंसे लेकर तान्त्रिक और शाबर-मन्त्रोंतकके द्वारा मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि क्रियाएँ स्वार्थ-साधनके लिये ही की जाती रही हैं। भीतरी शक्तियोंका बहुत-से अंशोंमें इस प्रकार दुरुपयोग ही हुआ है। इसी तरह बाहरी शक्तियोंका शुद्ध परार्थभावसे भी बहुत बार प्रयोग हुआ है। अनेक वैज्ञानिकोंने आविष्कार करके जगत्को बिना एक कौड़ी दाम दिये दे डाला है। अतः चाहे बाहरी शक्तियोंका प्रयोग हो और चाहे भीतरी शक्तियोंसे काम लिया जाय—जहाँ स्वार्थभाव और नियमोंका उल्लंघन है, वहाँ विफलता है, दण्ड है, दुष्परिणाम है, परन्तु जहाँ परार्थभाव है और नियमोंका पालन है, त्यागभाव है, वहाँ सफलता है और पुरस्कार है और मङ्गलमय परिणाम है।

बाहरी-भीतरी दोनों शक्तियोंके प्रयोगमें जो कुशल होगा वही वैज्ञानिक वास्तवमें सबसे अधिक समर्थ होगा। परन्तु अभी ऐसा कोई वैज्ञानिक सुननेमें नहीं आया है।

१०—उपसंहार

उपासक शाक्त चाहे परमार्थ-साधनके लिये शक्तिकी आराधना करे चाहे ऐहिक सौख्य-साधनके लिये करे, परन्तु उसकी विधि है देवीकी सगुण-उपासना। वह परात्पर ब्रह्म और अपनी आराध्या भगवतीमें अभेद-भाव रखता है। सङ्कट-निवारण, ऐहिक-लाभ, आत्म-रक्षा और जाति-रक्षा, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि सभी अभिचार आराधनाकी ही विधिसे करता है। इन कामोंके लिये पाश्चात्य विज्ञानने किसी उपकरण वा यन्त्र वा साधनका आविष्कार या निर्माण नहीं किया है। पाश्चात्य विज्ञान शक्तिके जडरूपसे काम लेता है,

क्योंकि उसके साध्योंमें चेतनकी कोई आवश्यकता नहीं है। चेतनका होना शायद उसकी साधनामें बाधक ही होता। कोई यन्त्र यदि सचेत होकर किसी समय चलनेसे इनकार करता तो विज्ञानीको एक अलग बाधाका सामना करना पड़ता। चाँदीके थक जानेसे जब श्रीजगदीशचन्द्र बोसका कोहीरर (Coherer) रुक गया था तो उसके फिरसे काम करनेलायक हो जानेतक वह बड़े चक्करमें पड़े रहे। अब तो यन्त्रोंका भी जीवन माना जाता है, थकानपर विचार किया जाता है। विष आदिसे रक्षा की जाती है। भारतीय शाक्त जिस देवीकी उपासना करता है वह तो सर्वशक्तिमती चेतना है, स्ववशविहारिणि है, सर्वेश्वरी है। उसकी तो उपासक विनीत प्रार्थना करता है और भक्तिके प्रभावसे वह भक्तके वश भी हो जाती है परन्तु यन्त्रकी तरह नहीं, दासीकी तरह नहीं, स्वामिनीकी तरह। वह भक्तकी रक्षा करती है, उसे बहकने नहीं देती, उसे अभीष्ट भी देती है। वह भक्तिके वश हो सौम्य सगुणरूपमें प्रकट होती है, भक्तकी कोटितक उतरकर उससे जननीका भाव बर्तती है और उसके सिरपर अभयका हाथ रखती है। विज्ञानीके सिरपर वही जरा-सी चूकके लिये बिजली गिरा देती है। विज्ञानी उसका उपासक नहीं है, वह उसकी माता नहीं है। विज्ञानी वस्तुतः उस असुरकी स्थितिमें है जो उसके केश पकड़कर अपने काबूमें लानेका दावा करता है और जिसे वर देकर माता खेलाती है और अन्तमें देवताओंके हित-साधनमें जो कुछ करना होता है, वही करती है।

यह विश्व शक्तिमय है। विश्वके अतिरिक्त भी जो कुछ सत्ता है वह शक्ति ही है। शक्ति ही जड और चेतन दोनों है—ब्रह्म, जीव और माया तीनों है। शक्ति ही परात्पर है। शक्ति ही भगवती है, शक्ति ही भगवान् है। शक्ति ही शक्तिमान् है। शक्ति और शक्तिमान्में अन्तर नहीं है। जो कुछ है शक्ति ही; जो कुछ नहीं है, वह 'न होना' भी शक्ति ही है। भगवती शक्ति क्या नहीं है, कौन कह सकता है?

'........**सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे मया॥**'

कौन स्तुति करनेमें समर्थ है!

नाद, विन्दु और कला

(लेखक—पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी, साहित्यरत्न)

तान्त्रिक सृष्टि-विकासका मूल सकल ब्रह्मसे मानते हैं। उसके पूर्व तत्त्वातीत अवस्था है, जिसे परा संवित्, निष्कल ब्रह्म या परावाक्‌के नामसे सङ्केत करते हैं। उसे सच्चिदानन्द ब्रह्म भी कहते हैं। वह निष्कल ब्रह्म यद्यपि इन नामोंसे पुकारा जाता है, परन्तु उसका निर्वचन नहीं हो सकता—वह अनिर्वचनीय तत्त्वातीत अवस्था है। ये नाम तो केवल सङ्केतमात्रके लिये हैं। उस अवस्थामें ब्रह्ममें उसकी शक्ति विलीन रहती है, उस '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' के सिवा कुछ नहीं रहता। वह निष्कल ब्रह्म अपने-आपको स्वभावतः देखता है, इस (ईक्षण*)-से उसमें '**अहम्**' का प्रकाश होता है और उसके साथ ही '**अस्मि**' का विमर्श भी स्वयमेव हो जाता है। इस प्रकाशको शिवतत्त्व और विमर्शको शक्तितत्त्व कहते हैं। ईक्षणके द्वारा आविर्भूत होनेके कारण यह प्रकाश और विमर्श दोनों ही शक्तिके प्रसार हैं। शक्तिका यह स्वरूप निषेध-व्यापाररूप है, क्योंकि इस अवस्थामें

* 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'—इस प्रसिद्ध लोकोक्तिके अनुसार पिण्डके उपमानसे निष्कल ब्रह्ममें ईक्षणका अनुमान किया जा सकता है। जिस प्रकार सुषुप्तिमें जीव अपने ही भीतर अपनी शक्तिको विलीनकर निष्कल बन जाता है और उससे उतरकर स्वप्नावस्थामें अपने भीतर ही अपने संस्कारोंका दर्शन करता है, उसी प्रकार निष्कल ब्रह्ममें संस्कारके रूपमें स्थित गत विश्वकी स्मृति जाग उठती है। अतः यहाँ ईक्षणसे यह नहीं समझा जा सकता कि ईक्षणसे पूर्व निष्कल ब्रह्मके बाहर कोई अपर दृश्य वस्तु है। ब्रह्ममें ईक्षणके साथ ही जो 'अहम्'-प्रकाश तथा 'अस्मि'-विमर्श होता है, उसमें 'अहम्' निष्क्रिय होनेके कारण शिवरूप है और 'अस्मि' के भीतर यावत् संस्कारोंकी समष्टि होनेके कारण वह 'इदम्' शक्तिरूप है। इसी कारण शक्तिको निषेध-व्यापाररूपा कहते हैं, क्योंकि 'इदम्' अहंके निषेधरूपमें ही अवस्थित होता है। भगवान् शङ्कराचार्यके शब्दोंमें कहें तो कह सकते हैं कि यह निषेध-व्यापार ही अध्यास है, तथा 'अहम्' और 'इदम्' ही विषयी और विषयरूप युष्मद् और अस्मत् तत्त्व है।

निष्कल ब्रह्म सकल बन जाता है। शक्ति और शिवकी यह संश्लिष्ट अवस्था ही सृष्टि-रचनाका मूल कारण है।

नाद ईक्षणके पश्चात् निष्क्रियसे सक्रिय अवस्थामें आनेके लिये शक्ति और शिवका संयोग होता है। यह संयोग और इनका पारस्परिक सम्बन्ध ही 'नाद' कहलाता है। शिव और शक्तिकी इस अवस्थामें जो इनका निर्वचन हो सकता है उसका सङ्केत शास्त्र इस प्रकार करते हैं—

यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्त्रष्टुम्।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः॥

(तत्त्वसन्दोह १)

वह, जिसके परे कुछ नहीं है, अपनी इच्छासे इस अखिल जगत्‌की सृष्टि करनेके लिये स्पन्दित होता है; उसका वह प्रथम स्पन्द ही ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा शिवतत्त्व कहलाता है।

इच्छा सैव स्वच्छा सन्ततसमवायिनी सती शक्तिः।
सचराचरस्य जगतो बीजं निखिलस्य निजनिलीनस्य॥

(तत्त्वसन्दोह २)

वह शुद्ध इच्छारूपी शक्ति जो नित्य शिवके साथ रहती है अपने भीतर लीन सचराचर जगत्‌का बीज है।

इस शिव और शक्तिको सांख्यशास्त्रकी परिभाषामें पुरुष और प्रकृति कह सकते हैं। इनके संयुक्त नादको सदाख्य तत्त्व कह सकते हैं। उपर्युक्त ईक्षणमें जब **'अहम्'** का प्रकाश होता है, उस समय शिव निष्क्रिय रहता है और शक्ति सक्रिय। इनका जो मिथःसमवाय होता है वही नादतत्त्व है। इस मिथःसमवायको तान्त्रिक भाषामें महाकाल और महाकालीकी विपरीत रतिके नामसे भी कहा जाता है। क्योंकि **'अहम्'**-प्रकाशमें महाकालका और **'अस्मि'**-विमर्शमें महाकालीका तादात्म्य सम्बन्ध होता है। सक्रिय शक्ति अथवा क्रिया शक्तिके साथ जो नाद उत्पन्न होता है, वह अव्यक्त नाद होता है।

निष्कल ब्रह्ममें जो तल्लीन शक्ति रहती है, उसे सरस्वती भी कहते हैं, **'सरस्+वती'** अर्थात् संसरण करनेवाली। इसका वाहन है हंस*; **'हं'** ही शिव या पुरुषतत्त्व है और **'सः'** शक्ति या प्रकृति-तत्त्व। **'हं'** से **'सः'** की ओर संसरणसे शक्ति प्रपञ्चाभिमुखी होती है। **'हं' 'अहम्'** का तथा **'सः' 'इदम्'** का पर्याय है। इस प्रवाहको उलट देनेपर **'सोऽहं'** बनता है जो प्रपञ्चसे परावाक् या परब्रह्मकी ओर ले जाता है। **'सोऽहं'** साधन या अजपा जापकी यही महत्ता है। इसके द्वारा सहज प्रापञ्चिक संसरणसे वाक् अथवा शक्तिके प्रवाहको मोड़कर उसके अखण्ड उद्गम-स्थान निष्कल ब्रह्मकी ओर ले जाना पड़ता है। प्रवाहको विपरीत दिशामें ले जाना ही सोऽहं-साधनके श्रमसाध्य होनेका कारण है। इस क्रियामें जहाँ द्रष्टा-दृश्य (शिव-शक्ति या अहम्-इदम्)-का एकीकरण होता है, वहाँ साधकको नादकी अनुभूति होती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि शिव और शक्ति दोनों तत्त्व शक्तिके ही द्वारा उद्भूत होते हैं। निष्कल ब्रह्म जब स्वभावतः अविचल अवस्थामें चलायमान होता है तो वह शक्ति जो उससे अभिन्न रहती है 'उन्मना' कहलाती है। उसका स्थान शिवमें ही रहता है और जब उन्मना-शक्ति स्वयमेव शून्यसे लेकर पृथिवीपर्यन्त दृश्य जगत्‌को रचती है तो वह 'समना' कहलाती है। 'उन्मना' और 'समना' शक्तिकी सन्धि अथवा शिव और शक्तिकी संयुक्तावस्था ही 'नाद' है।

सच्चिदानन्दविभवात्सकलात्परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः॥

(शारदातिलक १। ७)

विन्दु सच्चिदानन्द-विभव अर्थात् सकल परमेश्वरसे शक्ति हुई, शक्तिसे नाद और नादसे विन्दु उत्पन्न हुआ। परन्तु यह विन्दु है क्या वस्तु? गणितशास्त्रमें विन्दुकी परिभाषा इस प्रकार प्राप्त होती है—'विन्दु वह है जिसमें कोई परिमाण न हो परन्तु उसका स्थान नियत हो।' परन्तु तन्त्र-शास्त्रका विन्दु-तत्त्व इससे विलक्षण ही है। गणितशास्त्रके विन्दुके समान परिमाणातीत होते हुए भी यह स्थानरहित है। यह विन्दु शक्तिकी वह

---

* निरुत्तरतन्त्रमें लिखा है—

हंकारेण बहिर्याति सःकारेण विशेत्पुनः।
हंसेति परमं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥

अर्थात् 'प्राण 'हं' के रूपमें बाहर जाता है और 'सः' के रूपमें पुनः भीतर प्रवेश करता है। इस प्रकार जीव परममन्त्र हंसका सर्वदा जप करता रहता है।' यही जप जीवनका कारण है, इसके रुक जानेपर जागतिक व्यवहार नहीं हो सकते।

अवस्थाविशेष है जहाँसे उसकी सृष्टि-क्रिया प्रारम्भ होती है। विन्दु-तत्त्वको ईश्वर-तत्त्वके नामसे भी पुकारते हैं। इस अवस्थामें शक्ति चिद्रूपिणी होकर अव्यक्त इदम्‌को तादात्म्यभावमें लाकर उसके साथ चिद्बिन्दुका रूप धारण करती है। दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि इस अवस्थामें ईश्वर (**अहम्**) अपनी चेतनामें अखिल विश्व (**इदम्**)-को देखता है। इस ईश्वर-तत्त्व या विन्दु-तत्त्वके अनादि और अनन्त (परिमाणहीन) होते हुए भी उसका कल्पित अथवा अकल्पित—किसी प्रकारका भी स्थान नियत नहीं होता। उदाहरणार्थ हम वैयक्तिक मनको ले सकते हैं जो द्रष्टारूपमें परिमाणहीन जान पड़ता है, यद्यपि शरीर जहाँतक द्रष्टृत्वको प्राप्त नहीं है वहाँतक दृश्य रूपमें आभासित होता है। इसका कारण यह है कि जहाँ ईश्वर-रूप विन्दु-तत्त्व परिमाणहीन होनेके साथ-साथ स्थानहीन भी है, वहाँ मनरूप विन्दु-तत्त्व परिमाणहीन होते हुए भी कल्पितरूपसे गणित-शास्त्रके विन्दुके समान स्थान रखता है। मनको जो हम परिमाणरूपमें ग्रहण नहीं कर सकते, इसका कारण यही है कि ईश्वर-तत्त्वके समान यह भी द्रष्टा है और अपने-आपमें '**इदम्**' रूप विश्वका दर्शन करता है।

इस प्रकार ईश्वर अर्थात् विन्दु-तत्त्वमें 'अहं (चित्), इदं (विश्व)-को ध्यामलप्राय और उन्मीलितमात्र चित्रकल्पमें देखता है। नादमें जो क्रिया-शक्ति जागृत होती है विन्दुमें 'अहं' उसका निमेषस्वरूप है, और इदं उन्मेषस्वरूप। क्योंकि यह अहं महाप्रलयकी अन्तिम अवस्था है जो सृष्टि-रचनाके पूर्व होती है और इदं महाप्रलयके पश्चात् सृष्टि-रचनाकी सर्वप्रथम अवस्था है। परन्तु ईश्वरमें यह विश्व (इदं) अन्त:करणैकवेद्य ही होता है, क्योंकि ऐन्द्रिय व्यापार तो उसमें होता नहीं जो अपने बाहर उसे देखे।

नाद और विन्दु दोनों शक्तिकी विभिन्न अवस्थाएँ हैं जिनमें क्रिया-शक्तिका बीज अंकुरित होकर सृष्टि-रचनाके लिये क्षेत्र तैयार करता है। विन्दुको इसी कारण शक्तिकी उच्छूनावस्था अथवा घनीभूत अवस्थाके नामसे भी पुकारते हैं। जिस प्रकार दुग्ध दधिके रूपमें परिणत होनेके लिये घनीभूत होता है, उसी प्रकार शक्ति भी सृष्टि-रचनाकी इच्छासे घनीभूत होती है। अतएव शक्तिकी त्रिगुणात्मिका स्थिति सकल ब्रह्ममें चिद्रूपेण ज्ञान (सत्त्व) प्रधाना, नादतत्त्वमें क्रियारूपेण रज:प्रधाना और विन्दुतत्त्वमें घनीभूत होनेके कारण तम:प्रधाना हो जाती है। इन तीनों अवस्थाओंमें शक्तिके त्रिगुण विभक्त नहीं होते, बल्कि वे एक साथ रहते हुए विशिष्टगुणप्रधान हो जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि-विकासमें मूल तत्त्व शक्ति ही है, तथा वह एक ओर चित्-शक्ति और दूसरी ओर मायाशक्तिके रूपमें कार्य करती है। चैतन्यरूपमें वह द्रष्टा—विश्वोत्तीर्णा बनती है और मायिक-रूपमें दृश्या—विश्वरूपिणी बन जाती है। मायाशक्तिका लक्षण शास्त्र इस प्रकार करते हैं।

भेदधीरेव भावेषु कर्त्तुर्बोधात्मनोऽपि या।
मायाशक्त्येव सा विद्येत्यन्ये विद्येश्वरा यदा॥

(ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ३।२।६)

अर्थात् स्वयं बोधरूप होते हुए भी जो कर्त्ताके भावोंमें भेदबुद्धिरूप है वही मायाशक्ति है। विद्येश्वरोंके साथ उसे ही दूसरे लोग विद्या नामसे सम्बोधन करते हैं। तत्त्वसन्दोह (५—५)-में लिखा है कि—

माया विभेदबुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु।
नित्यं तस्य निरंकुशविभवं वेलेव वारिधे रुन्धे॥

अर्थात् 'माया अपने अंशभूत अखिल जीवोंमें भेद-बुद्धिरूप है। जिस प्रकार बेला (उपकूल) समुद्रके द्वारा सदा अवरुन्धित होती रहती है उसी प्रकार आत्माके निरंकुश विभवको वह सदा अवरुन्धित करती रहती है।' सकल ब्रह्मसे विन्दु-तत्त्वपर्यन्त विकासमें उपर्युक्त ईश्वरप्रत्यभिज्ञामें निर्दिष्ट मायाशक्तिका लक्षण स्पष्ट उपलक्षित होता है। इसी भेद-बुद्धिको 'निषेधव्यापाररूपा' शब्दसे व्यक्त किया गया है।

अब उपर्युक्त विन्दु-तत्त्व परविन्दुके रूपमें त्रिधा विभक्त होता है। भास्करराय ललितासहस्रनामके भाष्यमें लिखते हैं—

अस्माच्च कारणविन्दोः साक्षात्क्रमेण कार्यविन्दुस्ततो नादस्ततो बीजमिति त्रयमुत्पन्नं तदिदं परसूक्ष्मस्थूलपदैरपि उच्यते।

अर्थात् 'इस कारणविन्दुसे क्रमशः कार्यविन्दु, उससे नाद और नादसे बीज, यह तीन रूप हो जाते हैं। इन तीनोंको क्रमशः पर विन्दु, सूक्ष्म विन्दु और स्थूल विन्दुके नामसे भी पुकारते हैं।' इनमें सूक्ष्म विन्दु हिरण्यगर्भ और स्थूल विन्दु विराट् संज्ञाको प्राप्त होता

है। कारण, विन्दुतत्त्वमें ईश्वरके साथ शक्ति समष्टि कारण-शरीरके रूपमें अर्थतः आभासित होती है, तथा समष्टि कारण-शरीरका, आनन्द—ईश्वरका प्रत्यय होता है। कार्य (पर) विन्दुमें हिरण्यगर्भके साथ शक्ति समष्टि सूक्ष्म-शरीरके रूपमें अर्थतः आभासित होती है, उसमें सृष्टि-कल्पना—हिरण्यगर्भका प्रत्यय होता है। स्थूल विन्दुमें विराट्के साथ शक्ति समष्टि स्थूल-शरीरके रूपमें आभासित होती है, तथा इसमें सृष्टि-कल्पना—विराट्का प्रत्यय होता है।

इस प्रकार मायाशक्तिको सकल ब्रह्ममें ज्ञान (सत्त्व)-प्रधाना तथा नादतत्त्वसे लेकर विन्दुके तीनों रूपोंतक क्रिया-(रजः) प्रधाना रूपमें हम देखते हैं। मायाशक्तिके इस सत्त्व और रजःप्रधान रूपको विद्याके नामसे पुकारते हैं और ईश्वरादि त्रयमें रजःप्रधाना मायाशक्ति जब सृष्टि-कल्पनाकी घनीभूत अवस्थामें आती है तो वह तमःप्रधाना अर्थात् अविद्याके नामसे पुकारी जाती है। और इस अवस्थामें समष्टिका द्रष्टा व्यष्टिरूपमें जीव संज्ञाको प्राप्त होता है।

तान्त्रिक सिद्धान्तके अनुसार सृष्टि-विकासकी यह एक धुँधली रूपरेखा अङ्कित की गयी है। परन्तु इसमें मूलतः एक शङ्का रह जाती है और उसका समाधान किये बिना इस विषयका विवेचन भी एक प्रकारसे अधूरा ही रह जाता है। प्रारम्भमें लिखा गया है कि ब्रह्मकी निष्कल और सकल दो अवस्थाएँ हैं, तथा निष्कलका अर्थ है कलातीत (तत्त्वातीत) एवं सकलका अर्थ है कलासे युक्त। परन्तु यहाँ कला शब्दसे क्या अभिप्राय है?

कला

चिद्रूपिणी शक्ति जब ब्रह्ममें लीन होकर ब्रह्ममयी हो जाती है तब ब्रह्म निष्कल (तत्त्वातीत) हो जाता है, और फिर जब ब्रह्ममयी शक्ति चैतन्यरूपिणी होती है, तब ब्रह्म सकल होता है। ब्रह्मके यह द्विविध स्वरूप नित्य हैं। इसी स्वरूपका निर्देश करती हुई श्रुति कहती है—

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

'यह विश्व चैतन्यरूपिणी शक्तिकी महिमा है, सकल स्वरूपका निदर्शन है; पुरुष तो इससे बहुत परे है। उस पुरुषका एक पाद (सूक्ष्मतम अंश) अखिल प्राणी हैं, और इसके अमृत त्रिपाद (महत्तम अंश) द्युलोकमें हैं।'

शक्तिकी दो अवस्थाएँ हैं, उन्मनी और समनी। उन्मनीमें यह निष्कल होकर ब्रह्ममें लीन रहती है, और समनीमें कलायुक्त होकर सकल ब्रह्ममयी होती है। शक्ति प्रधानतः सोलह कलाओं (शक्त्यंशों)-में विभक्त है। जहाँ वह सोलह कलाओंसे पूर्ण रहती है, वहाँ वह पूर्ण कलामूर्ति है। शक्तिका $\frac{१}{१६}$ अथवा अन्य अंशकी कलामूर्ति संज्ञा है। कलामूर्तिके अंश अंशमूर्तिके नामसे, और अंशमूर्तिके अंश अंशांशमूर्तिके नामसे निर्दिष्ट होते हैं। शिव निष्कल है, उसमें कला (अंश) नहीं है। शक्ति कला (अंश)-से युक्त है। हम मायिक जगत्में जिसे अंश कहते हैं, वह प्रकृतिसे आविर्भूत विश्वमें ही दृष्ट होता है। इसीलिये प्रकृतिके पश्चात् जो समनी शक्ति या अन्य शक्तियाँ दीख पड़ती हैं, वे सब शक्तिके ही विभिन्न स्वरूप हैं। अतः कलाकी परिभाषा करते समय हम कह सकते हैं कि कला एक विशेष विभूति (शक्तिकी लीला) है। कला उस अवस्थामें कञ्चुकका एक अंश बनती है जब वह परम शक्ति और कलासे उत्पन्न हुए पुरुषकी चेतनाका निर्माण करता है। कञ्चुक अर्थात् आच्छादनी शक्ति प्रकृत पूर्णताको भेदकर '**अस्मि**' से आच्छादित '**अहं**' रूपमें प्रकट होती है। कञ्चुक शब्दका अर्थ है कोष अथवा सङ्कोच। क्योंकि सृष्टि अनन्तशक्तिका सङ्कुचितरूप है। कञ्चुक छः प्रकारके होते हैं—माया, काल, नियति, राग, विद्या और कला।

सा नित्यतास्य शक्तिर्निकृष्य निधनोदयप्रदानेन।
नियतपरिच्छेदकरी क्लृप्ता स्यात् कालतत्त्वरूपेण॥

(तत्त्वसन्दोह ५। ११)

शिवकी वह नित्यता शक्ति जो उतरकर प्रलय और सृष्टिको अभिव्यक्त करती हुई परिच्छेद-क्रियाका सम्पादन करती है, कालतत्त्व कहलाती है।

यास्य स्वतन्त्रताख्या शक्तिः सङ्कोचशालिनी सैव।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममुं नियमयन्त्यभून्नियतिः॥

(तत्त्वसन्दोह ५। १२)

इसकी स्वतन्त्रताशक्ति जो सङ्कोचशालिनी भी है तथा इस अवश (आत्मा)-को कृत्याकृत्यमें नियमपूर्वक नियमन करती है, नियति कहलाती है।

नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिः तस्यैव परिमिता नु सती।
भोगेषु रञ्जयन्ती सततममुं रागतत्त्वमाख्याता॥

इसकी नित्य परिपूर्ण तृप्ति-शक्ति परिमित होते हुए जब इसको (आत्माको) भोगमें अनुरक्त करती है तब राग कहलाती है।

सर्वज्ञतास्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा।
ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः॥

इसकी सर्वज्ञता-शक्ति परिमित होकर अल्प ज्ञान रखती हुई ज्ञानका उत्पादन करती है, उसे वृद्ध सुधीजन विद्या कहते हैं।

सर्वकर्तृता शक्तिः सङ्कुचिता कतिपयार्थमात्रपरा।
किञ्चित्कर्त्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम॥

इसकी सर्वकर्तृता शक्ति सङ्कुचित होकर कतिपय अर्थोंसे युक्त हो इस (आत्मा)-को किञ्चित् कर्त्ता (काम करनेवाला) बनाते हुए कला संज्ञाको प्राप्त होती है।

कला दो प्रकारकी होती है—अन्तः और बाह्य। बाह्य कलाके सोलह भदोंमें चारके नाम हैं—निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ति। शेष द्वादश कलाओंका[१] स्पष्ट विवरण नहीं प्राप्त होता। वे शक्तिके विभिन्न स्वरूप हैं जो साधनामें उपयोगी होते हैं। नामके अनुसार ही उनमें उपयोगिता भी होती है। उदाहरणार्थ ज्ञानरूपा होनेके कारण कला इन्धिका कहलाती है, तथा निरोध-रूपा होनेपर वह रोधिनी नामसे प्रसिद्ध होती है। नाद (शब्द ब्रह्म) रूप ॐकारके अ उ म् की कलाएँ इस प्रकार हैं—सिद्धि, ऋद्धि, द्युति, लक्ष्मी, मेधा, क्रान्ति, धृति और सुधा ये अकार (ब्रह्मा)-की कलाएँ हैं। रजा, रक्षा, रति, पाल्या, काम्या, बुद्धि, माया, नाडी, भ्रामिणी, मोहिनी, तृष्णा, मति, क्रिया—ये उकार (विष्णु)-की कलाएँ हैं। तमोमोहा, क्षुधा, निद्रा, मृत्यु, माया, भया, जडा—ये मकार (रुद्र)-की कलाएँ हैं। इस प्रकार अंश-अंशांशरूपसे असंख्य कलाएँ अवस्थित होती हैं।

शक्तिकी सोलहवीं कला अमाकलाके नामसे प्रसिद्ध है। अमाकला सबकी योनिरूपा और पाश (बन्धन)-स्वरूपा है। सत्रहवीं कला निर्वाणकलाके नामसे पुकारी जाती है, जिसमें इस पाशसे मुक्ति हो जाती है। पुरुष भी षोडश[२] कलासे युक्त होनेपर अमृता कलाके नामसे प्रसिद्ध होता है। वे षोडश कलाएँ हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच तन्मात्राएँ और सोलहवाँ मन।

नादादि तत्त्वोंकी अन्तःशक्तिके रूपमें कला उन्हें (नादादि तत्त्वोंको) चार अण्डोंमें विभाजित करती है, वे हैं—ब्रह्माण्ड, मूलाण्ड, मायाण्ड और शक्त्यण्ड। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड (पृथ्वी तथा अन्यान्य तत्त्वोंसे युक्त) आकाशद्वारा आवृत होता है, उसी प्रकार शेष तीनों अण्ड क्रमशः प्रकृति, माया और शक्तिद्वारा आवृत होते हैं। शक्त्यण्डमें शान्ता कला व्याप्त रहती है। इसकी सीमा शक्ति-तत्त्वसे लेकर सद्विद्यातक होती है। इसमें समनी, व्यापिनी, अञ्जनी शक्तियाँ तथा उनकी कलाएँ एवं नाद और विन्दुकी शक्तियाँ और उसकी कलाएँ समाविष्ट रहती हैं। शक्त्यण्डके देवता मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर, मन्त्र और विद्येश्वरके नामसे पुकारे जाते हैं। शुद्ध विद्या और माया-तत्त्वके बीच विज्ञानकला व्याप्त है, जो विन्दु-विकासके द्वारा विश्वकी रचना करती है। इसके आगे मायाण्डमें विद्याकला व्याप्त है। पृथ्वीसे लेकर मायाण्डतकके देवता हैं—ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र। प्रकृत्यण्ड (मूलाण्ड) और ब्रह्माण्डमें ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सकल सृष्टि अवस्थित होती है। साधक इन कलाओंके अधिष्ठातृ देवताकी उपासना करके उनकी सहायतासे नाना प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं तथा क्रमशः उन्नतोन्नत दशाको प्राप्तकर शक्तितत्त्व या ब्रह्मतत्त्वमें लीन हो अपने जीवनके चरम उद्देश्यको प्राप्त होते हैं।[३]

१- नेत्रतन्त्रमें कलाओंका वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

(१) समनी ७ प्रकारकी है—सर्वज्ञा, सर्वगा, दुर्गा, सवर्णा, स्पृहणा, धृति, समना।

(२) अञ्जनी ५ प्रकारकी है—सूक्ष्मा, सुसूक्ष्मा, अमृता, अमृतसम्भवा, व्यापिनी।

(३) महानादकी एक कला है—ऊर्ध्वगामिनी।

(४) नादकी चार कलाएँ हैं—इन्धिका, दीपिका, रोचिका और मोचिका। इस प्रकार कुल सत्रह कलाएँ दी गयी हैं।

२- प्रश्नोपनिषद्के छठे प्रश्नमें सुकेशाने षोडशकल पुरुषके विषयमें जिज्ञासा की है, महर्षि पिप्पलादने सोलहों कलाओंकी इस प्रकार नामावली दी है—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम। पिप्पलादने इसके विषयमें कहा है—

अरा इव रथानाभौ कला अस्मिन् प्रतिष्ठिताः । तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति॥

अर्थात् रथके चक्रके मध्य (नाभि)-में जैसे अरे लगे रहते हैं वैसे ही इस पुरुषमें कला प्रतिष्ठित है। उस वेद्य पुरुषको तुम्हें जानना चाहिये, जिससे तुम्हें मृत्युसे व्यथित न होना पड़े।

३- यह लेख सर जॉन बुडरक महोदयके Garlands of letter, नामक पुस्तकके आधारपर लिखा गया है।—लेखक।

कालपुरुष
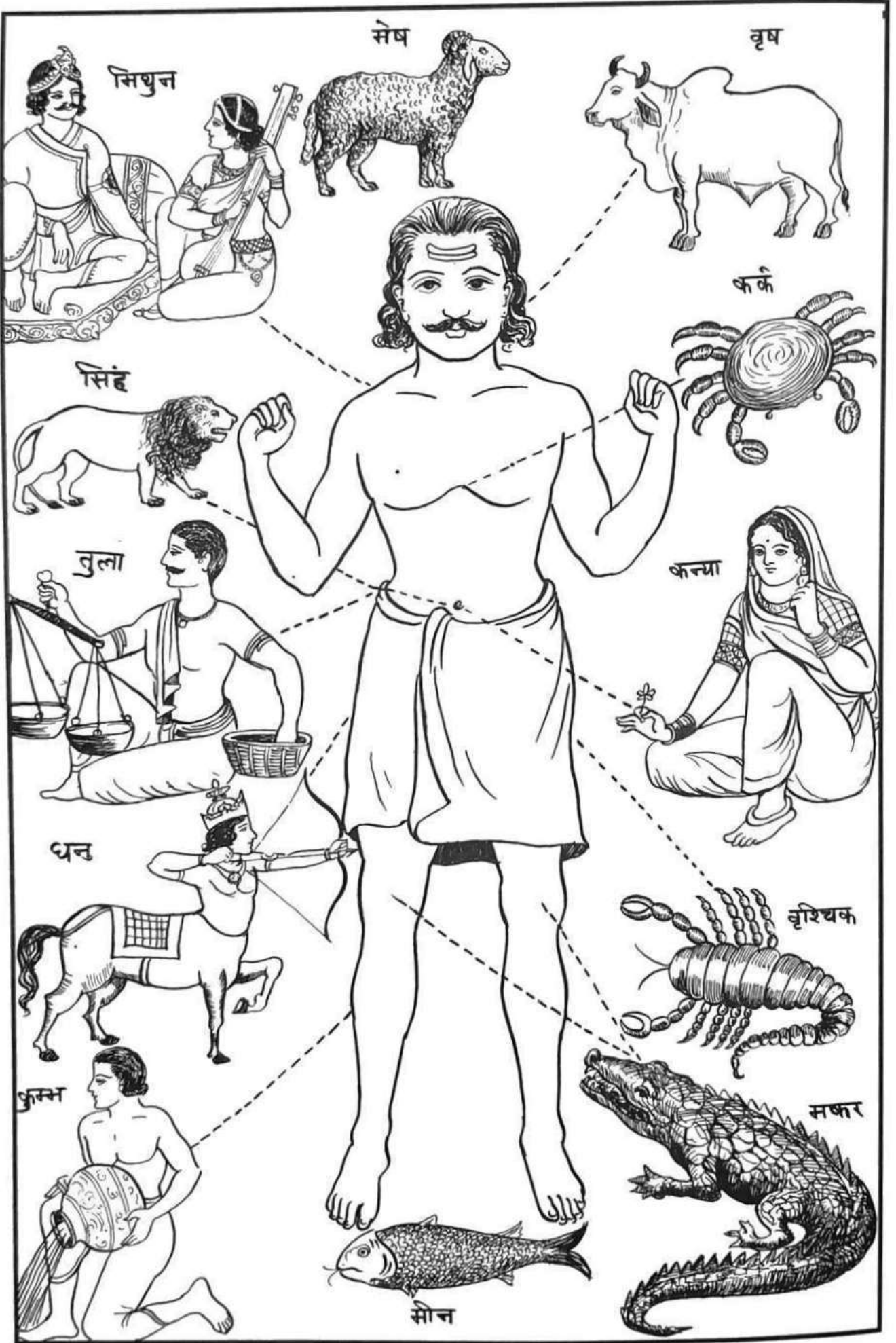
षट्चक्र और कुण्डलिनी-शक्ति

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम० ए०, डिप्टी कलेक्टर)

शिवसंहिताके द्वितीयपटलके प्रारम्भमें लिखा है—

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः॥
सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ।
नभो वायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते॥
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः।
ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः॥

जिसका निष्कर्ष यह है कि यह मनुष्य-शरीररूपी पिण्डाण्ड विशाल ब्रह्माण्डकी प्रतिमूर्ति है और जितनी शक्तियाँ इस विश्वका परिचालन करती हैं वे सब-की-सब इस नर-देहमें विद्यमान हैं। यही कारण है कि स्थान-स्थानपर इस मनुष्य-शरीरकी इतनी महिमा कही गयी है।

इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्रके अनुसार समग्र राशियाँ कालात्माके शरीरमें स्थित हैं और प्रत्येक प्राणीके अङ्गोंमें भी व्याप्त हैं। यथा—

कालात्मकस्य च शिरो मुखदेशबाहू
हृत्कुक्षिभागकटिवस्तिरहस्यदेशाः।
ऊरू च जानुयुगलं परतस्तु जङ्घे
पादद्वयं क्रियमुखावयवाः क्रमेण॥

प्राणियोंके शरीरमें राशियोंकी स्थिति जन्मकालके अनुसार होती है। कालात्माके शरीरमें राशियोंकी स्थिति चित्र नं० १ में दी जाती है।

श्रीमद्भागवत (स्कन्ध २—अध्याय ५)-में ब्रह्माण्डरूपी विराट् शरीरका वर्णन है और कहा गया है कि कटि-देशसे ऊपर सात लोक हैं और कटिसे नीचे भी सात लोक हैं। यही सुप्रसिद्ध चौदह लोक हैं। कहते हैं—

स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान्॥
यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः॥
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः॥
ग्रीवायां जनलोकोऽस्य तपोलोकः स्तनद्वयात्।
मूर्द्धभिः सत्यलोकश्च ब्रह्मलोकः सनातनः॥
तत्कट्यां चातलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः।
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यां च तलातलम्॥
महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम्।
पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान्॥

'लोकमयः पुमान्' का यही रूप दिखलाया गया है। इसका स्पष्टीकरण आगे किया जायगा। इस समय इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ऊपरके सात लोक ही गायत्री मन्त्रकी सप्त व्याहृतियाँ हैं और उन्हींको दूसरे रूपसे मूलाधारादि षट्चक्र तथा सहस्रारचक्र कहते हैं। इस लेखका विषय इन्हीं चक्रोंका वर्णन है। इस विषयको कुण्डलिनीयोग और लययोग भी कहते हैं।

जिस प्रकार भूमण्डलका आधार मेरु पर्वत वर्णित है उसी प्रकार इस मनुष्य-शरीरका आधार मेरुदण्ड अथवा रीढ़की हड्डी है। मेरुदण्ड तैंतीस अस्थि-खण्डोंके जुटनेसे बना हुआ है (सम्भव है, इस तैंतीसकी संख्याका सम्बन्ध तैंतीस कोटि देवताओं अथवा प्रजापति, इन्द्र, अष्ट वसु, द्वादश आदित्य और एकादश रुद्रसे हो)। भीतरसे यह खोखला है। इसका नीचेका भाग नुकीला और छोटा होता है। इस नुकीले स्थानके आस-पासका भाग **'कन्द'** कहा जाता है और इसी कन्दमें जगदाधार महाशक्तिकी प्रतिमूर्ति कुण्डलिनीका निवास माना गया है।

इस शरीरमें बहत्तर हजार नाड़ियोंकी स्थिति कही गयी है, इनमेंसे मुख्य नाड़ियाँ संख्यामें चौदह हैं। इनमेंसे भी प्रधान नाड़ियाँ तीन हैं। इनके नाम इडा, पिंगला तथा सुषुम्णा हैं। इडा नाड़ी मेरुदण्डके बाहर बायीं ओरसे और पिंगला दाहिनी ओरसे लिपटी हुई हैं। सुषुम्णा नाड़ी मेरुदण्डके भीतर कन्दभागसे प्रारम्भ होकर कपालमें स्थित सहस्रदलकमलतक जाती है। जिस प्रकार कदलीस्तम्भमें एकके बाद दूसरा परत होता है, उसी प्रकार इस सुषुम्णा नाड़ीके भीतर क्रमशः वज्रा, चित्रिणी

तथा ब्रह्मनाड़ी हैं। योगक्रियाओंद्वारा जागृत कुण्डलिनी-शक्ति इसी ब्रह्मनाड़ीके द्वारा कपालमें स्थित ब्रह्मरन्ध्रतक (जिस स्थानपर खोपड़ीकी विभिन्न हड्डियाँ एक स्थानपर मिलती हैं और जिसके ऊपर शिखा रखी जाती है) जाकर पुनः लौट आती है।

मेरुदण्डके भीतर ब्रह्मनाड़ीमें पिरोये हुए छः कमलोंकी कल्पना की जाती है। यही कमल षट्चक्र हैं। प्रत्येक कमलके भिन्न संख्यामें दल हैं और प्रत्येकका रंग भी भिन्न है। ये छः चक्र शरीरके जिन अवयवोंके सामने मेरुदण्डके भीतर स्थित हैं उन्हीं अवयवोंके नामसे पुकारे जाते हैं। इनके अन्य नाम भी हैं। अब इन चक्रोंका विवरण सुनिये।

(१) **मूलाधारचक्र**—इस चक्रकी स्थिति रीढ़की हड्डीके सबसे नीचेके भागमें 'कन्द' प्रदेशसे लगे गुदा और लिङ्गके मध्य भागमें है। इस चक्रका जो कमल है सो रक्तवर्ण है और उसमें चार दल हैं। इन दलोंपर वँ, शँ, षँ और सँ अक्षरोंकी स्थिति मानी गयी है। इसका यन्त्र पृथिवीतत्त्वका द्योतक है और चतुष्कोण है। यन्त्रका रंग पीत है, बीज लँ है और बीजका वाहन ऐरावत हस्ती है। यन्त्रके देव और शक्ति ब्रह्मा और डाकिनी हैं। इस यन्त्रके मध्यमें स्वयम्भू लिङ्ग है जिसके चारों ओर साढ़े तीन फेरेमें लिपटी हुई सर्पाकार अपनी पोंछको अपने मुखमें दबाये हुए सुप्त कुण्डलिनी शक्ति विराजमान है। प्राणायामसे जागृत होकर यह शक्ति विद्युल्लतारूपमें मेरुदण्डके भीतर ब्रह्मनाड़ीमें प्रविष्ट होकर ऊपरको चलती है।

(२) **स्वाधिष्ठानचक्र**—इस चक्रकी स्थिति लिङ्गस्थानके सामने है। इसका कमल सिन्दूर वर्णवाले छः दलोंका है। दलोंपर बँ, भँ, मँ, यँ, रँ, लँ की स्थिति मानी गयी है। इस चक्रका यन्त्र जलतत्त्वका द्योतक है और अर्धचन्द्राकार है। इस अर्धचन्द्राकार यन्त्रका रंग चन्द्रवत् शुभ्र है। बीज वँ है और बीजका वाहन मकर है। यन्त्रके देव तथा देवशक्ति विष्णु और राकिनी हैं।

(३) **मणिपूरकचक्र**—यह चक्र नाभिप्रदेशके सामने मेरुदण्डके भीतर स्थित है। इसका कमल नीलवर्णवाले दस दलोंका है और इन दलोंपर डँ, ढँ, णँ, तँ, थँ, दँ, धँ, नँ, पँ, फँ अक्षरोंकी स्थिति मानी गयी है। इस चक्रका यन्त्र त्रिकोण है और अग्नितत्त्वका द्योतक है। इसके तीनों पार्श्वमें द्वारके समान तीन 'स्वस्तिक' स्थित हैं। यन्त्रका रंग बालरवि-सदृश है, बीज रँ है और बीजका वाहन मेष है। यन्त्रके देव और शक्ति वृद्ध रुद्र तथा लाकिनी हैं।

(४) **अनाहतचक्र**—हृदय-प्रदेशके सामनेवाला यह चक्र अरुण वर्णके द्वादश दलोंसे युक्त कमलका बना है। दलोंपर कँ, खँ, गँ, घँ, ङँ, चँ, छँ, जँ, झँ, ञँ, टँ, ठँ अक्षर स्थित हैं। चक्रका यन्त्र धूम्रवर्ण, षट्कोण तथा वायुतत्त्वका सूचक है। यन्त्रका बीज यँ है और बीजका वाहन मृग है। यन्त्रके देव तथा देवशक्ति ईशान रुद्र और काकिनी हैं। इस चक्रके मध्यमें शक्ति-त्रिकोण है जिसमें विद्युत्-सा प्रकाश व्याप्त है। इस त्रिकोणसे सम्बद्ध 'वाण' नामक स्वर्णकान्तिवाला शिवलिङ्ग है जिसके ऊपर एक छिद्र है। इस छिद्रसे लगा हुआ अष्टदलवाला हृत्पुण्डरीक नामक कमल है। इसी हृत्पुण्डरीकमें उपास्य देवका ध्यान किया जाता है।

(५) **विशुद्धचक्र**—इस चक्रकी स्थिति कण्ठ-प्रदेशमें है। इसका कमल धूम्र वर्णवाले सोलह दलोंका है और इन दलोंपर अँ से अः तक सोलह स्वरोंकी स्थिति मानी गयी है। चक्रका यन्त्र पूर्ण चन्द्राकार है और पूर्ण चन्द्रकी प्रभासे देदीप्यमान है। यह यन्त्र शून्य अथवा आकाशतत्त्वका द्योतक है। यन्त्रका बीज हँ है और बीजका वाहन हस्ती है। यन्त्रके देव और देवशक्ति पञ्चवक्त्र सदाशिव तथा शाकिनी हैं।

(६) **आज्ञाचक्र**—यह चक्र भ्रूमध्यके सामने मेरुदण्डके भीतर ब्रह्मनाड़ीमें स्थित है। इसका कमल श्वेत वर्णके दो दलोंवाला है और इन दलोंपर हँ, क्षँ अक्षरोंकी स्थिति मानी गयी है। चक्रका यन्त्र विद्युत्प्रभायुक्त 'इतर' नामक अर्द्धनारीश्वरका लिङ्ग है। यह यन्त्र महत् तत्त्वका स्थान है। यन्त्रका बीज प्रणव है। बीजका वाहन नाद है और इसके ऊपर विन्दु भी स्थित है। यन्त्रके देव उपर्युक्त इतर लिङ्ग हैं और शक्ति हाकिनी हैं।

इन छः चक्रोंके बाद मेरुदण्डके ऊपरी सिरेपर सहस्र दलवाला सहस्रारचक्र है जहाँ परम शिव विराजमान रहते हैं। इसके हजार दलोंपर बीस-बीस बार प्रत्येक स्वर तथा व्यञ्जन स्थित माने गये हैं। परम शिवसे कुण्डलिनी-शक्तिका संयोग लययोगका ध्येय है। विषय अत्यन्त गहन है पर सारांश यह है कि नश्वर पृथिवी, जल, अग्नि, वायु,

आकाश, बुद्धि तत्त्वोंको क्रमशः एक-दूसरेमें लीन करके अन्तमें अमर अद्वैतरूपका अनुभव करना मनुष्यमात्रका लक्ष्य होना चाहिये। यही उद्देश्य पञ्चोपचार पूजाका है। ये पाँचों उपचार पाँचों तत्त्वोंके स्थानापन्न हैं। यथा—गन्ध (पृथिवी), नैवेद्य (जल), दीप (अग्नि), धूप (वायु) और पुष्प (आकाश)। इनका समर्पण पाँचों तत्त्वोंके लयके तुल्य है। इसके अतिरिक्त पृथ्वीसे लेकर आकाशतक क्रमशः एक-दूसरेसे सूक्ष्मतर तत्त्व हैं।

प्रत्येक चक्रके सम्बन्धमें दल, तत्त्व, यन्त्र, बीज, वाहन इत्यादिके विषयमें जो बातें कही गयी हैं वे साधारण पाठकोंको असम्भव-सी मालूम होती होंगी। अतः इस विषयमें कुछ विचार अप्रासङ्गिक न होंगे।

पद्मोंके दल—अंग्रेजीमें चक्रोंको Plexus अथवा नाड़ीपुञ्ज कहते हैं। यह वर्णन कुछ-कुछ ठीक भी है, क्योंकि ये छः चक्र मेरुदण्डके उन भागोंमें स्थित हैं जहाँसे विशेष संख्याके गुच्छोंमें नाड़ियाँ निकलती हैं। यही नाड़ियोंके गुच्छे समताके लिये कमलदल कहे गये हैं। चक्रोंके चित्रोंमें दलोंके अग्रभागसे निकली हुई नाड़ियाँ दिखलायी गयी हैं।

दलोंके वर्ण—उपर्युक्त नाड़ीपुञ्ज किसी रंगसे रँगे नहीं हैं। अभिप्राय यह है कि रुधिरके लाल रंगपर भिन्न-भिन्न तत्त्वोंके प्रतिबिम्ब पड़नेसे रुधिरके रंगमें जिन-जिन स्थानोंमें जो विकृतियाँ प्रतीत होती हैं वही उस नाड़ीपुञ्जका रंग कहा गया है। यथा रुधिरमें मिट्टी मिला दीजिये तो हलका या मटियाला पीला रंग हो जायगा, जल मिला दीजिये तो गुलाबी रंग हो जायगा। रुधिरको आगपर गरम कीजिये, नीले रंगका हो जायगा। शुद्ध वायुमें रुधिर गहरा लाल प्रतीत होगा। रुधिरको घने आकाशमें देखिये, धुमेला दीख पड़ेगा।

दलोंके अक्षर—नाड़ीपुञ्जोंपर कोई भी अक्षर लिखे नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि बोलनेके समय वायुका धक्का जिस दलसे जो अक्षर उत्पन्न करता है वही उस दलका अक्षर माना गया है। यह नादब्रह्मका विषय अत्यन्त गहन है। इसके विषयमें मैंने कुछ बातें श्रीज्वालामुखीयात्रा-शीर्षक लेखकी भूमिकामें लिखी हैं, जो 'कल्याण' के ८ वें वर्षकी चौथी संख्यामें मिलेंगी।

चक्रोंके यन्त्र—चक्रोंके यन्त्र क्रमशः चतुष्कोण, अर्धचन्द्राकार, त्रिकोण, षट्कोण, गोलाकार, लिङ्गाकार तथा पूर्ण चन्द्राकार हैं। इसका अर्थ यह है कि इस शरीरकी भिन्न-भिन्न नाड़ियाँ वायुके धक्कोंके कारण भिन्न-भिन्न तत्त्वोंके स्थानमें एक विशेष रूपकी आकृति ग्रहण करती हैं। उदाहरणार्थ जलती हुई अग्निको देखिये। ठीक त्रिकोणाकृति दीख पड़ेगी। त्रिकोणका मुख ऊपरको उठती हुई लपटोंमें दीखेगा। इस विषयमें जिज्ञासु पाठकोंको श्रीरामप्रसादकृत Nature's Finer Forces नामक ग्रन्थ देखना चाहिये।

यन्त्रोंके तत्त्व—इन तत्त्वोंका तात्पर्य यह है कि भोजनके उपरान्त शरीरके इन-इन स्थानोंमें ये-ये तत्त्व तैयार होते हैं और इनसे पुष्ट होकर शरीर अपने कार्योंमें प्रवृत्त होता है।

तत्त्वोंके बीज—जिस प्रकार किसी यन्त्रमें (यथा इञ्जिनमें) स्थान-स्थानपर विशेष प्रकारके शब्द होते हैं उसी प्रकार वायुके सञ्चारसे शरीरस्थ तत्त्वविशेषोंके स्थानमें विशेष-विशेष शब्द होते हैं। यथा—पृथिवी-तत्त्वके स्थानपर जहाँ मल निकलता है तहाँ वायु लँ लँ लँ लँ करता हुआ प्रतीत होता है। मूत्राशयके स्थानपर जल-तत्त्वके बहनेके कारण वायु वँ वँ वँ वँ शब्द करता है। अन्नादि-पाचनके समय नाभिके अग्नि-तत्त्वसे वायु रँ रँ रँ रँ करता हुआ चलता है, इत्यादि।

बीजोंके वाहन—इनसे यह अभिप्राय है कि इन-इन स्थानोंपर वायुकी गति इन-इन पशुओंकी तरह होती है। यथा—पृथ्वीतत्त्वके बोझके कारण वायुकी गति हाथीकी तरह मन्द हो जाती है। जल-तत्त्वके बहनेवाला होनेके कारण वायु मकरकी तरह डुबकता चलता है। जिस प्रकार बटलोहीमें भोजन पकते समय वायु वेगसे चलता है, उसी प्रकार जठराग्निके कारण वायु जिस वेगसे चलता है वह मेढ़ेकी चालकी तरह है। हृदयके वायु-तत्त्वमें शरीरस्थ वायु हिरनकी तरह छलाँग मारकर भागता है, इत्यादि।

चक्रोंके देव-देवी—यह विषय ध्यानयोग तथा उपासना-भेदसे सम्बद्ध है और अत्यन्त गहन है। इसके मर्मको केवल साधक ही जान सकता है। जो देव-देवी ऊपर कहे गये हैं वे प्रचलित 'षट्चक्रनिरूपण' नामक ग्रन्थके आधारपर हैं। इनके अतिरिक्त अन्य तथा प्राचीनतर पुस्तकोंमें इन चक्रोंके अन्य देवी-देवता वर्णित हैं। यथा—'बालापद्धति' के अनुसार देवता—

गणेश्वरो विधिर्विष्णुः शिवो जीवो गुरुस्तथा।
षडेते हंसतामेत्य मूलाधारादिषु स्थिताः॥

और इनकी शक्तियाँ ये हैं—

शक्तिः सिद्धिर्गणेशस्य ब्रह्मणश्च सरस्वती।
लक्ष्मीर्नारायणस्यापि पार्वती च पिनाकिनः॥
अविद्या चैव जीवस्य गुरोर्ज्ञानं परापरम्।
मोक्षबीजात्मिका विद्या शक्तिश्च परमात्मनः॥

कुण्डलिनीयोग केवल सुयोग्य गुरुके निरीक्षणमें ही सीखना और अभ्यास करना चाहिये। केवल पुस्तकोंके आधारपर इस विषयमें पड़ना बड़े भयङ्कर परिणामवाला हो सकता है। इसमें जीवनकी बाजी लग जाती है और लेशमात्र भी भूलसे कच्चे साधक पागल होते अथवा मृत्युको प्राप्त होते देखे गये हैं। अतः इस योगको साधारण खेल अथवा परीक्षाकी वस्तु न गिनना चाहिये और न इन चक्रोंके विषयमें वर्णित सिद्धियोंके फेरमें पड़ना चाहिये। जो भी साधना की जाय वह निष्काम होनी चाहिये। ऐसा करनेसे विघ्नोंकी तथा भयकी कम सम्भावना रहती है।

कहा जाता है कि विक्रमकी पाँचवीं और छठीं शताब्दियोंमें बौद्ध-धर्ममें बड़ी-बड़ी ऐन्द्रजालिक बातें होने लगी थीं, जिनके कारण ही भारतवर्षसे बौद्ध-धर्मका लोप हो गया। ये ऐन्द्रजालिक शक्तियाँ और कुछ नहीं केवल कुण्डलिनीयोगकी विभूतियाँ थीं। बौद्ध योगाचारी प्रकाण्ड तान्त्रिक थे और अब भी हैं। इनके वज्रयानके अनुयायी जो अब भी प्रचुरतासे महाचीन (तिब्बत)-में विद्यमान हैं, बड़े ही उग्र तथा शक्तिशाली योगी हैं। इनकी शक्तियोंकी कथाएँ लोगोंको स्तब्ध कर देती हैं। पाठकोंने गौतम बुद्धकी अनेक मूर्तियोंमें सिरपर घुँघराले बाल-से देखे होंगे। यथार्थमें ये केश नहीं हैं। सहस्रारकमलके दल हैं। ऐसी मूर्तियोंमें कान अवश्य लम्बे तथा फटे दिखलाये होंगे। यह सब केवल उग्र योगाभ्यासके द्योतक हैं। वर्तमान नाथसम्प्रदायका इस बौद्ध-योगाचारसे बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है।

कन्द तथा कुण्डलिनीकी स्थितिके विषयमें कई मत हैं। एक मत तो वह है, जो ऊपर वर्णित हो चुका है। इसके अनुसार 'कन्द' मूलाधार-चक्रके समीप स्थित है। दूसरे मतमें 'कन्द' की स्थिति नाभिके पास कही जाती है। इस मतके अनुसार कुण्डलिनी भी नाभि-प्रदेशके समीप स्थित है। यह स्थिति चित्र नं० ३ में अच्छी तरह दिखलायी गयी है। यह चित्र १३५ वर्ष पुराना है और मुझे इसी (फतेहगढ़) जिलेके शृंगी रामपुर नामक स्थानमें मिला है। इसमें मनुष्य-शरीर समूचा ही लोकों तथा चक्रोंके रूपमें दिखलाया गया है। नीचेके सात लोक, शेषनाग तथा आदिकूर्म भी इस चित्रमें दिखलाये गये हैं जो मुझे इस विषयके अन्य किसी चित्रमें नहीं मिले। इस चित्रमें 'गर्भपुर' नामक स्थानके ऊपर सर्पाकार कुण्डलिनी दिखलायी गयी है। इसके थोड़े ऊपर हृत्पुण्डरीक भी दिखलाया गया है। इसके दलोंके विषयमें हंसोपनिषद्में बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की गयी है। इस चित्रमें कई अन्य चक्र भी दिखलाये गये हैं पर इनका वर्णन विस्तार-भयसे नहीं किया जाता। इस चित्रके देवता बालापद्धतिके अनुसार बने हैं।

एक तीसरा मत एक पाश्चात्त्य अनुभवीका है। इस मतके अनुसार कुण्डलिनी अनाहत (हृदय) चक्रके पास होती है। इसका एक चित्र पेरिसमें छपी Theosophica Practica में मिलता है जो यहाँ दिया जाता है। जर्मनीमें गिखतेल नामक एक दार्शनिक ईसाकी सत्रहवीं शताब्दीमें हो गया है जिसका सम्बन्ध सुविख्यात पाश्चात्त्य योगिमण्डल (Rosicrucian Society)-से था। इस महात्माको निज देहमें इन चक्रोंके दर्शन हुए थे सो उसने यह चित्र बना डाला था, उसके चक्रोंमें जो चिह्न बने हैं उन्हें Free masonry शास्त्रके ज्ञाता ही समझ सकते हैं। इस विद्वान्‌के अनुसार इन चक्रोंका सम्बन्ध क्रमशः (मूलाधारसे सहस्रारतक) चन्द्र, बुध, शुक्र, सूर्य, मङ्गल, बृहस्पति तथा शनिसे है। यह एक नवीन विचार है और अपनी पुस्तकोंमें अनुसन्धान करनेके योग्य है।

षट्‌चक्रोंके विषयमें अनेक उपनिषदोंमें विशद वर्णन पाये जाते हैं। यथा—हंसोपनिषद्, योगचूडामणि-उपनिषद्, त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्, ध्यानविन्दूपनिषद्, योगशिखोपनिषद् तथा योगकुण्डल्युपनिषद्। इनके अतिरिक्त अन्य कई उपनिषदोंमें, देवीभागवत, लिङ्गपुराण, अग्निपुराण तथा स्वामी शङ्कराचार्यकृत सौन्दर्यलहरीमें भी अच्छे वर्णन हैं। 'षट्‌चक्रनिरूपण' नामक पूर्णानन्दका लिखा हुआ दो-तीन सौ वर्ष पुराना ग्रन्थ आजकल इस विषयमें विशेषरूपसे प्रचलित है। अंग्रेजीमें कलकत्ता-हाईकोर्टके भूतपूर्व जज सर जॉन वुडरफ़्द्वारा लिखित Serpent Power एक बड़ा ही अपूर्व तथा सुन्दर ग्रन्थ है।

कुण्डलिनी-जागरणकी विधि

(लेखक—स्वामी श्रीज्योतिर्मयानन्दजी)

विश्वेश्वरी त्वं परिपासि विश्वं
विश्वात्मिका धारयसीति विश्वम्।
विश्वेशवन्द्या भवती भवन्ति
विश्वाश्रया ये त्वयि भक्तिनम्राः॥

वेद-वर्णित जगद्व्यापिनी आद्या शक्ति ही ब्रह्मशक्ति है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमय दृश्य प्रपञ्च उसी ब्रह्मशक्तिका विलास है। अग्निकी प्रकाशशक्ति जैसे अग्निसे पृथक् नहीं है, उसी प्रकार वह ब्रह्मशक्ति भी ब्रह्मसे पृथक् नहीं है। इस ब्रह्मशक्तिका भेद शास्त्रमें अनेक प्रकारसे कहा गया है। ब्रह्ममें सर्वदा लीन रहनेवाली इस शक्तिका नाम परा शक्ति है और जब यह शक्ति '**एकोऽहं बहु स्याम्**'—मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ—इस प्रकार इच्छासम्पन्न होती है, तब यह ब्रह्म-आलिङ्गित महाशक्ति ही कारण या मायाशक्ति कहलाती है। क्रमसे वही शक्ति ब्राह्मी, वैष्णवी तथा रुद्रशक्तिरूपसे जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करती है। पश्चात् वह महाशक्ति और भी स्थूल रूप धारण करती हुई स्थूल जगत्में अनन्तभाव तथा अनन्तरूपमें अपनी लीला प्रकट करती रहती है। परन्तु तरङ्गके पीछे समुद्रके सदृश इन सब अनन्त विचित्र छोटी-बड़ी शक्तियोंके पीछे वही एक अपार ब्रह्मशक्ति या अघटनघटनापटीयसी मायाशक्ति ही आधाररूपसे स्थित रहती है। उस अनन्त शक्तिके अनन्त नाम हैं। देवताओंने इसको देवी, महादेवी, शिवा, प्रकृति, भद्रा, रुद्रा, नित्या, गौरी, धात्री तथा शक्ति आदि अनेक नामोंसे वर्णन किया है। यही शक्ति व्यष्टिरूपसे मनुष्यमें जीवनी शक्ति है। प्राणशक्तिको ही जीवनी शक्ति कहते हैं। शास्त्रोंमें इन प्राणशक्तियोंके केन्द्रीभूत शक्तिको कुण्डलिनी-शक्ति कहा है। पर्वत, अरण्य, समुद्र आदि धारण करनेवाली धरित्रीका आधार जैसे अनन्त नाग है, उसी प्रकार शरीरस्थ समस्त गति और क्रिया-शक्तिका आधार भी कुण्डलिनी-शक्ति है। समस्त शक्ति एक स्थलमें कुण्डली बनकर (सर्पवत् एकत्रित होकर) रहती है, इसलिये इसका नाम कुण्डलिनी-शक्ति है। यह शक्ति मातृगर्भस्थ सन्तानमें जाग्रत् रहनेपर भी सन्तान भूमिष्ठ होते ही निद्रित-सी हो जाती है। मुमुक्षु साधक आत्मकल्याणके निमित्त इस कुण्डलिनी-शक्तिको सुषुम्णा नाड़ीके द्वारा ऊर्ध्व गतिवाली करके क्रमसे षट्चक्र-भेदन करके सहस्रारमें ले जानेके लिये प्रयत्नशील होता है। जब वह इस प्रकार करनेमें समर्थ होता है, तब उसका दिव्य नेत्र खुल जाता है और दिव्य ज्ञानशक्तिके बलसे वह अपने स्वरूपको देखकर कृतकृत्य हो जाता है—जन्म-मृत्युके कवलसे मुक्त हो जाता है।

कुण्डलिनी-शक्तिका स्थान—मनुष्यमात्रके मेरुदण्डके उभय पार्श्वमें इडा, पिङ्गला नामक दो नाड़ियाँ हैं। इन दोनों नाड़ियोंके मध्यमें अति सूक्ष्म एक दूसरी नाड़ी है, जिसका नाम सुषुम्णा नाड़ी है। इस नाड़ीके नीचेके भागमें चतुर्दल त्रिकोणाकार एक कमल है, इस कमलपर कुण्डलिनी-शक्ति सर्पाकारमें कुण्डली बनाकर स्थित है। यथा—

पश्चिमाभिमुखी योनिगुदमेढ्रान्तरालगा।
तत्र कन्दं समाख्यातं तत्रास्ति कुण्डली सदा॥
संवेष्ट्य सकला नाडी सार्द्धत्रिकुटिलाकृतिः।
मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णा विवरे स्थिता॥

गुदा और लिङ्गके बीचमें निम्नाभिमुख एक योनिमण्डल है, जिसको कन्द-स्थान भी कहा जाता है। उसी कन्द-स्थानमें कुण्डलिनी-शक्ति समस्त नाड़ियोंको वेष्टित करती हुई, साढ़े तीन आँटे देकर, अपनी पूँछ मुखमें लिये सुषुम्णा नाड़ीके छिद्रको अवरोध करती हुई सर्पके सदृश अवस्थान करती है।

सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया।
अहिवत् सन्धिसंस्थाना वाग्देवी बीजसंज्ञका॥

सर्प-तुल्या यह कुण्डलिनी-शक्ति पूर्ववर्णित स्थानमें निद्रित रहती है; परन्तु अपनी दीप्तिसे स्वयं दीप्तिमती है। वह सर्पके समान सन्धिस्थानमें रहनेवाली है और वाणीका कारणस्वरूप वाग्देवी है।

ज्ञेया शक्तिरियं विष्णो निर्भया स्वर्णभास्वरा।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका॥

इस कुण्डलिनी-शक्तिको व्यापक परमात्माकी शक्ति जानना चाहिये। यह भयरहित तथा सुवर्णके तुल्य दीप्तिमती है और सत्त्व, रज तथा तमोगुणोंकी प्रसूति है।

हठयोगप्रदीपिकामें भी कहा है—

कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥

कन्दके ऊपरी भागमें कुण्डलिनी-शक्ति शयन कर रही है। जो योगी इसका उत्थापन करता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है और जो मूढ़ नहीं करते हैं, उनके लिये वह बन्धनका कारण होती है। जो कुण्डलिनी-शक्तिको जगानेकी युक्ति जानता है, वही योगको यथार्थ जानता है।

अतः जो पुरुष प्राणको दशम द्वार (सहस्रार)-में ले जाना चाहता है, उसको उचित है कि एकाग्रचित्त होकर युक्तिपूर्वक उस शक्तिको जागृत करे।

कुण्डलिनी-शक्तिका जागरण—

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्त्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥

(शिवसंहिता)

गुरुकी प्रसन्नतासे जब निद्रिता कुण्डलिनी-शक्ति जग जाती है, तब मूलाधार आदि षट्चक्रमें स्थित पद्म तथा ग्रन्थियोंका भेदन हो जाता है। इसलिये सर्व प्रकार प्रयत्नसे ब्रह्मरन्ध्रके मुखमें स्थित उस निद्रिता परमेश्वरीशक्ति कुण्डलिनीको प्रबोधित करनेके लिये प्राणायाम, मुद्रा आदिका अभ्यास करना चाहिये। बन्धत्रययुक्त प्राणायाम, मुद्राओं तथा भावनाओंद्वारा धीरे-धीरे कुण्डलिनी-शक्ति जागृत होती है। इस शक्तिको जागृत करनेके लिये शास्त्रोक्त उपायोंके रहते हुए भी परिपक्व अनुभवी उपदेष्टाकी विशेष आवश्यकता है; क्योंकि शास्त्रीय उपायसमूहोंकी विधि तथा अधिकार, परत्वेन उपयोगिताका विचार उपयुक्त अनुभवी गुरु ही कर सकता है। इसलिये मुमुक्षु साधकोंको चाहिये कि अनुभवी सद्गुरुसे ही इस शक्तिके जागरणकी कुंजी प्राप्त करें। केवल ग्रन्थोंपर निर्भर न करें, अन्यथा अनर्थ होनेकी सम्भावना है।

अब मैं एक अनुभवसिद्ध प्रणालीका साधकोंके हितार्थ संक्षेपसे वर्णन करता हूँ।

(१) साधकको सबसे पहले नेती, धोती, वस्ति आदि क्रियाओंद्वारा घट (देह)-शुद्धि करनी चाहिये।

(२) पश्चात् अष्ट प्रकारके प्राणायामकी शिक्षा लेनी चाहिये। यद्यपि षट्चक्रभेदनमें सभी प्रकारके प्राणायामोंकी आवश्यकता नहीं है तथापि योगियोंके लिये सभी प्रकारके प्राणायामकी शिक्षा उपयोगी है और इससे अभ्यासकी पटुता भी होती है।

(३) प्राणायामोंके पीछे मुद्राएँ अर्थात् महामुद्रा, महाबेध, महाबन्ध, विपरीतकरणी, तारण, परिधान युक्तिचालन, शक्तिचालनी आदि आवश्यक मुद्राएँ भी सीखनी चाहिये। याद रहे, इन सब प्राणायामोंको तथा मुद्राओंको सदा बन्धत्रयके सहित ही करना चाहिये, अन्यथा विषमय फल होनेकी सम्भावना है।

(४) पश्चात् राजयोगकी विधिके अनुसार षट्चक्रोंमें भावनाएँ करनी पड़ती हैं।

प्रतिदिवसका साधनक्रम

प्रतिदिन प्रातःकाल चार बजे शय्या त्यागकर देहशुद्धिके पश्चात् ५ बजेसे ९ बजे-तकका कार्यक्रम

(१) भस्त्रिका प्राणायाम दोनों प्रकारका—५ से २५ प्राणायामतक।
(२) शक्तिचालनी मुद्रा उभय प्रकारकी—प्रत्येक ५ से १० तक।
(३) ताड़नमुद्रा—४ प्राणायाममें १०१ तक।
(४) परिधानयुक्तिचालन—४ प्राणायाममें १०१ तक।
(५) पश्चात् बाकी समयमें षट्चक्रभेदनकी मानसिक क्रियाएँ या संयम (जो आगे बतलाया जायगा)।

पुनः सायं ४ बजेसे ९ बजेतकका कार्यक्रम

(१) महामुद्रा—प्रत्येक पैरपर ५ से २५ तक।
(२) महाबन्ध—प्रत्येक पैरपर ५ से २५ तक।
(३) महाबेध—उभय प्रकारका ५ से १० तक।
(४) विपरीतकरणी मुद्रा—५ से १० तक।
(५) शेष समयमें षट्चक्रभेदनकी क्रियाएँ। (राजयोग)

षट्चक्रोंमें संयमकी विधि

गुदामें जो मूलाधारचक्र स्थित है, वह एक चतुर्दल कमलके सदृश है। उस कमलमें चार पंखड़ियाँ हैं, उनमें व, श, ष, स, यह चार बीज अक्षर हैं। इसमें पृथ्वी तत्त्व तथा गणपति देवता हैं, ऐसी भावना करनी चाहिये। पश्चात् श्रद्धाके सहित गणेशजीकी मानसिक पूजा, जप तथा कुण्डलिनी-शक्तिके जागरणके लिये उनसे प्रार्थना करनी चाहिये। इसके पश्चात् मूलाधारचक्रके ऊपरी भागमें अर्थात् गुदा और लिङ्गके मध्यदेशमें स्वाधिष्ठान

नामक द्वितीय चक्र (कमल)-का चिन्तन करना होगा। यह चक्र छः पंखड़ीवाला है। इन पंखड़ियोंमें ब से ल तक छः बीजाक्षर हैं। इसमें जल तत्त्व है और ब्रह्माजी देवता हैं। पूर्वोक्त प्रकारसे यहाँ भी ब्रह्माजीकी मानसिक पूजा आदि करके नाभिकमलमें तीसरे मणिपूरचक्रका चिन्तन करना होगा। इस चक्रमें दस पंखड़ीवाला कमल है। उसमें ड से फ तक दस वर्ण बीजाक्षर हैं। अग्नि तत्त्व तथा विष्णुभगवान् देवता हैं। यहाँ भी नियमित पूजा, जप तथा स्तुति आदि करके हृदयमें अनाहतचक्रका चिन्तन करना होगा। इस चक्रका कमल बारह पंखड़ीवाला है। इसमें क से ठ तक बारह वर्ण बीजाक्षर हैं। वायु तत्त्व और रुद्र देवता हैं। समाहितचित्त होकर इनका भी पूजन, जप आदि करना होगा। इसके आगे कण्ठदेशमें विशुद्ध नामक चक्र है। यह सोलह पंखड़ीवाला कमल है और समस्त स्वर-वर्ण इसके बीज अक्षर हैं। इसमें आकाश तत्त्व तथा चन्द्रमा देवता हैं। पूर्वोक्त रीतिसे इनकी भी पूजा आदि करनी होगी। पश्चात् भ्रकुटिमें (दोनों भ्रूके मध्यदेशमें) स्थित द्विदल आज्ञाचक्रकी भावना करनी होगी। हं, सः, यह दो अक्षर यहाँके बीजाक्षर हैं; सदाशिव देवता हैं। यहाँपर सर्वदा सोऽहं-मन्त्रका जाप होता है, ऐसा चिन्तन करना होगा। पश्चात् ब्रह्मरन्ध्र या मूर्द्धस्थानमें सहस्रार (सहस्रदलकमल)-की भावना करनी होगी। यह स्थान तत्त्वातीत है। निर्गुण, निराकार, शुद्ध, चेतन परमात्मा यहाँ प्रकाशस्वरूपमें स्थित हैं। इसमें अपने स्वरूपको लय कर देना होगा।

इस प्रकार प्रतिदिन निरन्तर आदरके साथ नियमित क्रिया तथा चिन्तन करना होगा। इस क्रियामें पहले-पहल शरीरसे बहुत ही स्वेद निकलेगा। पश्चात् कुछ दिनोंके पीछे शरीरमें बिजली-जैसी चमक मालूम होगी और भी कुछ दिनके पीछे चींटीके चलनेके समान प्राणशक्तिके चलनेका अनुभव होगा। तत्पश्चात् धीरे-धीरे मूलाधारचक्रका भेदन और कुण्डलिनी-शक्तिके ऊर्ध्वगमनका अनुभव होगा। किसी-किसी स्थलमें कुण्डलिनी-शक्तिके जागरणके समय रक्तामाशय आदि रोगोंकी सम्भावनाका वर्णन है; परन्तु परमात्माकी कृपासे सद्गुरुकी बतलायी हुई उपर्युक्त प्रणालिकामें इस प्रकारके किसी भी रोगकी सम्भावना नहीं है। हाँ, साधनमार्गमें श्रद्धाकी अत्यन्त आवश्यकता है। इस सम्बन्धमें मुझे एक घटनाका अनुभव है। प्रिय साधक-वर्गोंके लाभार्थ उस घटनाका उल्लेख करता हूँ।

मेरे ही साथ अपने ही स्थानमें रहनेवाले दूसरे एक स्वामीजी थे। वे गुरुजीसे षट्चक्रभेदनकी सम्पूर्ण प्रक्रिया सीखकर कुण्डलिनी-शक्तिको जागृत करनेके लिये सन्नद्ध हो गये थे। स्वामीजी काशी शहरके बाहर एक गृहस्थके बँगलेमें आहारादिकी व्यवस्था करके अभ्यासमें लग गये थे। गुरुजीका प्रेम मेरे प्रति कुछ विशेष होनेके कारण उक्त स्वामीजीको मुझपर कुछ ईर्ष्या अवश्य थी और वह यह कहते भी थे कि मैं गुरुजीद्वारा निर्दिष्ट तीनसे छः मासकी अवधिके बीचमें और आपसे पहले कुण्डलिनी-शक्तिको जगाकर दिखा दूँगा। इस सङ्कल्पपर अड़कर उन्होंने अभ्यास तो बहुत किया; परन्तु भावनाके समय देवताओंपर उनकी श्रद्धा बिलकुल नहीं थी। क्योंकि वे आर्यसमाजके विचारवाले थे। मुझसे वह प्रायः कहा करते थे कि गुरुजीने यह क्या पोपलीला रच दी? देवताओंका अड़ंगा योगमें क्यों लगा दिया? मैं उनसे कहा करता था—'भाई! यदि तुमको गुरुजीपर विश्वास हो, तो ही इस प्रणालिकाद्वारा साधना करो, नहीं तो तुम्हारे लिये इसे छोड़ देना ही श्रेयस्कर होगा।' अस्तु, वह मेरी बात सुनकर चुप तो हो गये, परन्तु गुरुजीकी बातपर उन्होंने विश्वास नहीं किया। अन्तमें लगभग तीन मासके पीछे एक दिन वे मेरे पास आकर रो पड़े और कहने लगे कि 'मेरे मुखसे बहुत रुधिर वमन होता है। एक-एक बार प्रायः आध सेर-पौन सेर खून गिरता है। अब मैं क्या करूँ?' मैं उनको साथ लेकर गुरुजीके पास गया। गुरुजी उनको देखकर ही कहने लगे—'तुम अविश्वासी हो; तुम्हारी श्रद्धा बिलकुल नहीं है। यह उसीका परिणाम है। अब तुम इस क्रियाको छोड़ो, नहीं तो तुम्हारा कल्याण कठिन है।' इसके अतिरिक्त गुरुजीने कुछ ओषधि भी बतायी। परन्तु उन्होंने उसपर कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया और थोड़ी-बहुत क्रिया भी करते रहे। अन्तमें जब रोग बहुत बढ़ गया तब किसी परिचितके यहाँ अलीगढ़ जिलेमें चले गये और थोड़े दिनोंमें वहीं उनका शरीर शान्त हो गया।

इस घटनाके उल्लेख करनेसे मेरा तात्पर्य यह है कि यह षट्चक्रभेदनकी क्रिया गुरुबोधगम्य है और इसका अधिकारी मुमुक्षु तथा श्रद्धालु होना चाहिये, अन्यथा फल विपरीत होनेकी सम्भावना है।

प्रतिदिन अभ्यासके अन्तमें थोड़े समयके लिये इस प्रकार मानसिक भावना अवश्य करनी चाहिये।

(१) मैं पूर्ण आरोग्यस्वरूप हूँ।

(२) मैं पूर्ण ज्ञानस्वरूप हूँ।

(३) मैं पूर्ण आनन्दस्वरूप हूँ।

(४) मैं सर्वोन्नतिका मूल हूँ।

(५) मैं काल, कर्म तथा मायासे मुक्त हूँ।

(६) मैं अजर, अमर, अविनाशी, निर्लेप, निर्विकार, व्यापक तथा शान्तस्वरूप हूँ।

इस प्रकार साधन करते हुए साधक कुछ महीनोंके अन्दर कुण्डलिनी-शक्तिका जागरण कर सकता है।

कुण्डलिनी-जागरणका विषय बहुत बड़ा है। परन्तु स्थानके सङ्कोचसे मैं इस विषयको और नहीं बढ़ाकर यहीं समाप्त करना उचित समझता हूँ। इतना स्मरण रहे कि कुण्डलिनी-शक्ति जागरण होनेसे ही साधक अपनेको कृत-कृत्य न समझे, किन्तु प्राणवायुको सहस्रारमें अधिक देरतक धारण कर रखनेके लिये अवश्य अभ्यास चालू रखे। इससे धीरे-धीरे समाधि-दशाकी प्राप्ति होगी।

इतना और भी कह देना आवश्यक समझता हूँ कि साधनाके बीचमें कभी-कभी प्राणवायु सुषुम्णामें चढ़ जानेपर, कटिदेश, वक्ष:स्थल तथा कण्ठदेशमें एक प्रकार बन्धन-जैसा मालूम पड़ता है। इससे साधकको घबरानेकी आवश्यकता नहीं है। प्राणवायुकी निम्न गतिके साथ ही वह बन्धन भी जाता रहेगा। हाँ, यदि कभी-कभी क्रियाद्वारा पेशाब आदि रुक जाय, तो पलासके पत्ते पीसकर कन्दस्थानमें उसका लेप करना चाहिये। इससे पेशाब खुल जायगा। योगक्रियामें डॉक्टर आदि चिकित्सकोंकी कोई आवश्यकता नहीं है।*

शक्ति-उपासनाका तात्पर्य

(लेखक—एक दीन)

आदिसङ्कल्प

परात्पर ब्रह्मका आदिसङ्कल्प '**एकोऽहं बहु स्याम्**' (एक हूँ, अनेक हो जाऊँ), जो सृष्टिकी उत्पत्तिका मूल कारण है, वही आद्या-शक्ति है। इस शक्तिके प्रकृति-भागका मुख्य कार्य ब्रह्मको अनेक रूपोंमें प्रकाशित करनेके निमित्त प्रथम उपयुक्त उपाधियाँ प्रस्तुत करना है। उपयुक्त उपाधि अर्थात् मनुष्य-शरीरके प्रस्तुत होनेपर पराशक्तिके शुद्ध चैतन्य भागद्वारा ब्रह्मको अनेक अंशोंमें विभक्त कर उन उपाधियोंमें प्रविष्ट करवाना है। उसके पश्चात् सर्गका मुख्य कार्य उन उपाधियोंके रजोगुण-तमोगुण-भावको शुद्ध सात्त्विकमें परिवर्तित कर ऐसा स्वच्छ, निर्मल, शुद्ध बना देना है, जिसमें ब्रह्मके दिव्य गुण, सामर्थ्य, ऐश्वर्य, विभूति आदि जो प्रत्येक जीवात्मामें बीज-रूपमें निहित (गुप्त) हैं, उनका पराशक्तिके आश्रयसे विकास हो और फिर उसके द्वारा जीव और ब्रह्ममें सम्बन्ध स्थापित हो। यह सम्बन्ध शक्तिद्वारा स्थापित होता है। यही सृष्टिका उद्देश्य है जिसको आद्या-शक्ति नाना रूपोंके द्वारा पूरा कर रही हैं। इसीके निमित्त आद्या-शक्तिने वेदको प्रकाशित किया, जिसके कारण उनका वेदमाता गायत्री नाम हुआ। सशक्ति ब्रह्मके ही नाम महेश्वर, महाविष्णु, परमेश्वर आदि हैं। इस आद्या-शक्तिके द्वारा ही, जिसको पराशक्ति भी कहते हैं, ब्रह्माण्डमें तृणसे लेकर त्रिदेवपर्यन्त उद्भव हुए हैं और इसी आद्या-शक्तिकी शक्ति सबके अन्दर पायी जाती है। इसी कारण यह शक्ति ही यथार्थ जगन्माता हैं।

दो शक्तियाँ

सृष्टिके उद्भव, स्थिति, पालन, विकास आदिके निमित्त दो शक्तियोंकी आवश्यकता है; क्योंकि किसी तरहका विकास बिना आधार-आधेय, जड-चेतन अथवा शरीर-शरीरी आदि द्वन्द्वके सम्भव नहीं। इसी कारण सृष्टिके उद्भवके लिये आद्या-शक्तिका दूसरा रूपान्तर मूलप्रकृति है। यह भी अनादि है और साम्यावस्थामें दिव्य ही है। जिस तरह पराशक्ति सत्, चित्, आनन्द, विद्या आदि दिव्य गुणोंसे सम्पन्न है, उसी

* जैसा स्वामीजी महाराजने लिखा है, केवल पुस्तक या लेख पढ़कर ही किसीको ऐसे साधनमें नहीं लगना चाहिये। सुयोग्य गुरुके समीप रहकर ही साधना करनी चाहिये, अन्यथा रोगादि होनेका बड़ा डर है।

प्रकार मूलप्रकृति विकृत होनेपर उन गुणोंके विरुद्ध असत् (माया), अचित् (जड), दुःख-योनि, अविद्या आदि गुणवाली है। मूलप्रकृति आधार होनेके लिये ब्रह्मका आवरण बन गयी, जिसके बिना दृश्यका प्रादुर्भाव सम्भव नहीं था। अतएव यह अविद्या है और पराशक्ति स्वयं ब्रह्मका प्रकाश होनेके कारण महाविद्या है। श्रीदेवीभागवतमें इस अवस्थाका वर्णन इस प्रकार है—

चैतन्यस्य न दृश्यत्वं दृश्यत्वे जडमेव तत्।
स्वप्रकाशञ्च चैतन्यं न परेण प्रकाशितम्॥

(१२।७।३२)

दो विरुद्ध गुणवाले पदार्थोंके एकत्र हुए बिना कोई विकास नहीं हो सकता, जैसे फोटोग्राफका चित्र प्रकाश (Light) और तम (Shade)-के संयोगसे तैयार होता है। अतएव दोनों शक्तियाँ आवश्यक हैं। इस कारण आधार-शक्तिकी भी सृष्टिमें और साधन-पथमें आवश्यकता तथा उपयोगिता है। ये दोनों शक्तियाँ ब्रह्मके ही विकास होनेके कारण मूलप्रकृतिकी दृष्टिसे अभिन्न हैं, मूलप्रकृति भी साम्यावस्थामें अनादि और अव्यय है, किन्तु जब सृष्टिके उद्भवके निमित्त पराशक्ति इसमें क्षोभ उत्पन्नकर इसको त्रिगुणात्मिका बना देती हैं तो यह अविद्या होकर ब्रह्मको आच्छादित कर लेती है। त्रिगुणात्मिका अविद्या बनकर यह सृष्टिके उद्भव, स्थिति और लयके कार्यमें प्रवृत्त होती है।

पराशक्ति

यह ब्रह्मकी सत्ता और महाचैतन्य होनेके कारण ब्रह्मसे सदा अभिन्न हैं। ब्रह्मका ज्ञान करानेवाली, उनके साथ सम्बन्ध स्थापित करानेवाली और उनके सच्चिदानन्दभावको प्रकट करनेवाली यही परा शक्ति है; अन्यथा न तो कोई अप्रमेय, अज्ञात, अज्ञेय ब्रह्मको जान सकता और न पा सकता है। देव, पितृ, ऋषि, रुद्र, वसु, मनु, सनकादि आदि चराचर विश्व, यहाँतक कि ब्रह्माण्डके अधिनायक त्रिदेवतकका विकास इन्हीं परा-शक्तिके द्वारा हुआ है; इन्हींके द्वारा वे स्थित हैं और इन्हींकी शक्ति, ज्ञान, बलके द्वारा वे सब-के-सब कार्य करते हैं अन्यथा स्वयं कोई कुछ नहीं कर सकता। केनोपनिषद्की कथा प्रसिद्ध है। श्रीदेवीभागवतमें इस विषयमें ऐसा कथन है—

न विष्णुर्न हरः शक्तो न ब्रह्मा न च पावकः।
न सूर्यो वरुणः शक्ताः स्वे स्वे कार्ये कथञ्चन।
तया युक्ता हि कुर्वन्ति स्वानि कार्याणि ते सुराः॥

(१।८।३९)

इसीलिये भिन्न-भिन्न प्रधान देवोंकी अपनी-अपनी गायत्री है।

विश्वमें व्यक्तभावमें जितने नाम-रूपात्मक अथवा अन्तरिक्षमें जितने अनाम और अरूपात्मक विकास हैं और जहाँ कहीं भी जो कुछ क्रिया हो रही है वे सब केवल ब्रह्मकी शक्तिके कार्य हैं अथवा यों कहिये कि ब्रह्म भी शक्ति ही है, जैसा कि श्रीदेवीभागवतका वचन है—

एवं सर्वगता शक्तिः सा ब्रह्मेति विविच्यते।

(१।८।३४)

केवल शक्तिद्वारा ही ब्रह्म व्यक्त अथवा ज्ञात होते हैं, अन्यथा कदापि नहीं। इसी कारण श्रीशक्तिने प्रकट होकर यथार्थ ज्ञान देवताओंके सामने प्रकाशित किया। यही कारण है कि ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये वेदने केवल गायत्रीकी उपासनाको ही एकमात्र उपाय बताया है। इसी सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्मके अन्य रूप विष्णु, शिव, राम, कृष्ण आदिकी प्राप्ति उनकी शक्ति लक्ष्मी, दुर्गा, सीता, राधा आदिके सम्बन्ध और कृपाकी प्राप्तिके बिना हो नहीं सकती। सारांश यह है कि यह दृश्य और अदृश्य जगत्, चींटीसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त इसी पराशक्तिके द्वारा सञ्चालित हो रहा है और सब-के-सब उसी शक्तिके रूपान्तरमात्र हैं।

आधार-शक्तिकी उपयोगिता

ब्रह्मके नाना रूपोंमें प्रकट होनेके निमित्त उपयुक्त आधारके बननेका कार्य स्थावर—जैसे पर्वत, वृक्ष आदिसे आरम्भ होकर सरीसृप, पक्षी और पशु-योनितक होता रहता है। स्थावरमें प्रकृतिका तमोगुण-भाव प्रधान है, किन्तु पशुमें प्रकृतिके रजोगुण-भावद्वारा तमको दमन करनेके लिये रज-शक्ति प्रधान हुई। अतएव पशुमें मुख्यतया आहार, भय, मैथुन, हिंसा, काम, क्रोध आदि रजोगुणके कार्य प्रबल हैं, जिनके द्वारा तमोगुणका निग्रह होता है। इसी कारण इन्हींको लेकर पशुका जीवन है। पशुमें तम दब जाता है; किन्तु निद्रा, आलस्य आदिके रूपमें किसी परिमाणमें वह वर्तमान रहता है। सत्त्वगुणके कार्य—बुद्धि-शक्तिके अभावके कारण पशु रजोगुणके

स्वभाव—जैसे हिंसा, काम, क्रोध आदिका दमन नहीं कर सकते। मनुष्यका मनुष्यत्व और पशुसे उच्चत्व उसके अन्तःकरणकी बुद्धि-शक्तिके कारण है, जो सत्त्वगुणका कार्य है और जो पशुमें नहीं है। अतएव मनुष्यका परम धर्म है कि सत्त्वगुणकी बुद्धि-शक्तिकी सहायतासे वह तम और रजका निग्रह करे अर्थात् तम और रजका बलिदान कर उन्हें सत्त्वमें परिणत करे। इसके बाद सत्त्वको भी अतिक्रम कर पराविद्याके तेजको लाभ करे और इस प्रकार गुणातीत होकर ब्रह्मकी प्राप्ति करे। शक्ति-उपासनाका मुख्य उद्देश्य मनुष्यके पशु-स्वभाव अर्थात् रज और तमके विकारको दिव्य भावमें परिवर्तित करना है। ऐसा परिवर्तन तमोगुण-रजोगुणरूप पशु-स्वभाव अर्थात् हिंसा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, मान, ईर्ष्या आदि आसुरी सम्पदाका बलिदान पराविद्याको चढ़ानेसे होगा अर्थात् आसुरी सम्पत्तिको पराविद्याकी दैवी सम्पत्तिके रूपमें परिणत करनेसे होगा। वेदमें इस बलिका नाम यज्ञ है। इन्द्रियोंके व्यापारद्वारा केवल अपना कामात्मक और रागात्मक स्वार्थ-साधन करना पशुभाव है, जिसके कारण प्रायः दूसरेकी हिंसा, क्षति करनी पड़ती है (जैसा कि बड़े पशु छोटेके साथ करते हैं)। इस भावके मूल दस इन्द्रिय और ग्यारहवें मनके तम-रजके विकाररूप पशुभावका हनन अथवा स्वाहा कर उनको परा प्रकृतिके चरण अर्थात् दिव्य गुणोंमें अथवा विद्याग्निमें समर्पित कर देना चाहिये, जिसमें वे इस संयोगद्वारा शुद्ध हो जायँ और उनके द्वारा विश्वकी, जो चिच्छक्तिका ही रूप है, सेवा हो। अर्थात् कामात्मक भाव स्वार्थत्यागात्मक भावमें परिणत हो जाय। यही यथार्थ शक्ति-उपासना है; इसमें इन्द्रिय-विकाररूप पशुकी बलि देनी पड़ती है, जिससे पशुभाव दिव्य-भावमें परिणत हो जाता है। रहस्यतन्त्रका वचन है—

कामक्रोधौ विघ्नकृतौ बलिं दद्याज्जपं चरेत्।

एक दूसरे तन्त्रका वचन है—'**इन्द्रियाणि पशून् हत्वा।**'

युद्ध

किन्तु पशुभावकी बलि अथवा यज्ञ करना सहज नहीं है। उसके हनन अथवा दमनकी चेष्टा करना उससे युद्ध करना है; क्योंकि संसारका नियम है कि इसमें प्रत्येक पदार्थ वर्तमान रहना चाहता है, मरना कोई नहीं चाहता। इस कारण नष्ट होनेकी सम्भावना आनेपर स्वभावतः ही बचनेके लिये घोर चेष्टा की जाती है।

वेदका आर्य (दिव्य गुण) और अनार्य (आसुरी सम्पत्ति)-का युद्ध, पुराणका देवासुर-संग्राम, सप्तशती-चण्डीका असुर-युद्ध, राम-रावण-युद्ध, महाभारतका कौरव-पाण्डव-युद्ध इसी अभ्यन्तर युद्धके द्योतक हैं। वेदके यज्ञयुद्धमें स्वाहा-शक्ति अर्थात् त्याग-शक्ति प्रधान है। देवासुरसंग्राममें भी वैष्णवी शक्तिकी सहायतासे विजय हुई। चण्डीके सप्तशतीका महिषासुर क्रोध है (महिष पशुमें क्रोध प्रधान है) और उसकी सेना क्रोधका विकार है। धूम्रलोचन मद्यपान है; मधुकैटभ तमोगुण है जो प्रलयमें प्रधान रहता है और जिसके दमनके बिना सृष्टि हो ही नहीं सकती। चण्ड-मुण्ड अहङ्कार है (क्योंकि मुण्डसे मनुष्यकी पृथक्ता प्रकट होती है); रक्तबीज काम है और शुम्भ-निशुम्भ लोभ है। ये सब विकार अविद्याके कार्य हैं, अतएव विद्या-शक्तिकी सहायता और आश्रयके बिना इनका दमन कदापि सम्भव नहीं। इसी कारण इन असुरोंके दमनके लिये देवगण शक्तिके शरणापन्न हुए, जिनके द्वारा इन असुरोंका पराभव हुआ, जैसा कि सप्तशती-चण्डीमें वर्णित है। राम-रावण-युद्धमें दशानन रावण प्रबल दशेन्द्रिय है, जिसका ग्यारहवाँ गधेका मुख अहङ्कार है। इन ग्यारहोंके समूह रावणने सद्बुद्धिरूपी सीताका हरण किया। इस युद्धमें भी भगवान् श्रीरामचन्द्रने प्रथम जगद्गुरु रामेश्वर शिवकी आराधना की और युद्धके समय शक्तिका उत्थान किया, जिसके कारण शारदीय नवरात्र-पूजा प्रारम्भ हुई। महाभारत-युद्धमें कौरव-सेना अविद्यादल है और पाण्डव-सेना विद्या-दल। श्रीकृष्णरूप कालीशक्तिकी सहायतासे ही इस युद्धमें जय मिली।

युक्त चेष्टा

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, रजोगुण, तमोगुणकी आवश्यकता यह है कि उनको अतिक्रम और निग्रहके द्वारा शुद्ध करनेसे दिव्य गुण और सामर्थ्यकी प्राप्ति होती है, जो अन्यथा सम्भव नहीं है। तमोगुणका आलस्य-स्वभाव निकृष्ट अवश्य है; किन्तु यदि कुत्सित कार्य करनेकी प्रबल इच्छा उत्पन्न होनेपर उसमें आलस्य किया जाय तो लाभ है। क्योंकि विलम्ब होनेसे ऐसी वासना क्षीण हो जाती है। अधिक निद्रासे हानि होती है; किन्तु स्वल्प निद्रा आवश्यक और लाभकारी है।

क्षुधा, तृष्णा, मैथुन आदि अधिक और अविहित होनेसे भयावह हैं; किन्तु बलिवैश्वदेवद्वारा देव, ऋषि, अतिथि आदिको तृप्त करनेके बाद क्षुधा, तृष्णाकी जो शक्तिके अङ्ग हैं, तृप्ति करना यज्ञोपासना है। कामात्मक और अयुक्त मैथुन हानिप्रद है; किन्तु उत्तम सन्तानकी उत्पत्तिद्वारा पितृ-ऋणसे उद्धार पानेके लिये, गृहस्थ-ब्रह्मचारीके नियमोंका बिना भङ्ग किये हुए जो मैथुन होता है, वह यज्ञोपासना है। कोई भी, किसी भी प्रकारसे हठात् न तो रजोगुण, तमोगुणका निग्रह कर सकता है, न एकदम उन्हें रोक सकता है और न सर्वथा उनका त्याग किया जा सकता है। क्योंकि यदि किसी आवश्यक उद्देश्यके साधनके लिये वे जरूरी न होते तो उनका प्रादुर्भाव ही न होता। इस सृष्टिमें कुछ भी व्यर्थ अथवा अनावश्यक नहीं है। रजोगुण, तमोगुणकी क्रियाके कामात्मक भावको परमार्थमें परिवर्तित करनेसे और कर्तव्यपालनमें उसका व्यवहार युक्त परिमाणमें करनेसे ये गुण वशमें हो जाते हैं। इसी कारण श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है कि आहार, विहार, चेष्टा, कर्म, निद्रा, जागरणका अत्यन्त निग्रह हानिकर है, किन्तु विहित और युक्त परिमाणमें करनेसे लाभ होता है। रजोगुण, तमोगुणको युक्त आहार, विहार और चेष्टा आदिके द्वारा उनकी कामात्मक प्रवृत्तिको धीरे-धीरे बदलकर परमार्थमें प्रवृत्त कर देना तन्त्र-शास्त्रोक्त शक्ति-उपासनाका मुख्य तात्पर्य है। यहाँ सकाम कामका परिवर्तन नि:स्वार्थ प्रेममें होता है; क्रोधका प्रयोग केवल दुर्गुणोंके प्रति करके उसे क्षमामें परिवर्तन किया जाता है; मैथुन केवल पितृ-ऋणसे मुक्ति पानेके निमित्त, उत्तम सन्तानकी उत्पत्तिके लिये, जगन्माताका परमावश्यक कार्य समझकर, उन्हींके ही लिये किया जाता है; धनसंग्रह केवल कर्तव्य-पालनार्थ किया जाता है; देव-पितृ-कार्य केवल यज्ञके उद्देश्यसे किये जाते हैं।

जिह्वा आदि इन्द्रियोंकी बलि

इन्द्रियोंमें जिह्वा और जननेन्द्रिय बड़ी प्रबल हैं और इनके दुरुपयोगसे बहुत बड़ी हानि होती है। किन्तु साथ ही ये परमावश्यक भी हैं। जिह्वाका मुख्य कार्य भोजन है, जिसके बिना शरीर रह नहीं सकता। बिना मैथुनके यह मैथुनी सृष्टि चल नहीं सकती। इसी निमित्त स्मृति और तन्त्र दोनोंने आहार, पान, मैथुन आदि कामात्मक लिप्साका निग्रह करनेके लिये उन्हें धर्म और उपासनाका अङ्ग बना दिया है। जिसमें भोगेच्छासे न किये जाकर ये धर्म अथवा उपास्यकी सेवाकी भाँति किये जायँ। किन्तु जो इन व्यवहारोंको ऊपरसे धर्म अथवा उपासनाकी घोषणा करते हुए अभ्यन्तरमें कामासक्त होकर करते हैं, वे निश्चय ही भ्रष्ट हो जाते हैं। अतएव इन दो मुख्य पशु-भावको—रजोगुणात्मक, कामात्मक स्वभावको परार्थ अर्थात् परमार्थमें परिवर्तित करना चाहिये, जो (परमार्थ और परार्थ) पराशक्तिका दिव्य गुण है। यही इनकी पशुबलि पराशक्तिके लिये करना है। केवल शरीर-रक्षणार्थ सात्त्विक पदार्थका भोजन करना जिह्वा-पशुकी बलि है। इसीको छागबलि कहते हैं। क्योंकि छागमें जिह्वा इन्द्रिय प्रबल होती है, यहाँतक कि वह अफीम भी खा जाती है। अपनी धर्मपत्नीके सिवा अन्य सब स्त्रियोंको जगन्माता समझे—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।

(सप्तशती-चण्डी)

गृहस्थका ब्रह्मचर्यका व्रत धारणकर केवल पितृ-ऋणसे मुक्ति पानेके लिये उत्तम सन्ततिके उत्पादनार्थ अपनी धर्मपत्नीके साथ विहित मैथुन करना जननेन्द्रियरूप पशुका बलिदान है, जो जगन्माताकी पूजा अथवा यज्ञ है। जगन्माता दुर्गा सृष्टिकर्त्री हैं, इस कारण उत्तम सन्तानोत्पादनार्थ विहित मैथुन उनकी पूजा है। स्मरण रहे कि कामात्मक मैथुनसे कामी सन्ततिकी उत्पत्ति होती है जिससे जगन्माताके कार्यमें बाधा पड़ती है; अतएव वह अधर्म है। इसलिये गृहस्थके निमित्त जो ब्रह्मचर्य-अविरोधी मैथुन है, उसीको सुसन्तानार्थ विहितरूपसे करना जगन्माताके निमित्त बलि अथवा पूजा है, इसके विरुद्ध करना नहीं। इसीको कपोत-बलि कहते हैं; क्योंकि कपोतमें कामेच्छा प्रबल है। इस प्रकार मैथुनकी कामात्मक लिप्साको धर्मार्थ ब्रह्मचर्ययुक्त विहित और युक्त मैथुनमें परिवर्तन करना ही शक्तिकी पूजा है।

तीनों गुणोंकी अधिष्ठात्री देवियाँ

प्रवृत्ति-मार्गमें सन्तानोत्पादन करना आवश्यक है, जिसमें अधिकांश लोग काम-लिप्सासे प्रवृत्त होते हैं, कालान्तरमें ज्ञान होनेपर, रजोगुणकी काम-लिप्साके दमन करनेपर वह सात्त्विक धर्म-लिप्सामें परिवर्तित हो

जाती है अर्थात् भोगके बदले उसका धर्म-पालन उद्देश्य बन जाता है। यह रजोगुणका अतिक्रमण करनेसे प्राप्त होता है। अतएव रजोगुण और उसका सञ्चालन करनेवाली रजोगुणी शक्तियाँ परमावश्यक हैं। इसी प्रकार तमोगुणी शक्तियाँ भी सीमित और उचित परिमाणमें आवश्यक हैं।

साधन-प्रणाली

रजोगुण-तमोगुणके दमनरूप युद्धमें दैवी सम्पत्तिके द्वारा आसुरी सम्पत्तिका दमन करनेसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है। श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायके प्रारम्भमें दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्तिके गुण वर्णित हैं। ज्ञानके लक्षणका वर्णन भी भगवद्गीताके तेरहवें अध्यायमें है। ज्ञानका दूसरा नाम विद्या है। महाविद्याकी छत्रछाया और आश्रयमें आनेके लिये अविद्याकी आसुरी सम्पत्तिका दमन करना चाहिये, जो दैवी सम्पत्तिकी प्राप्तिद्वारा ही सम्भव है। अतएव विद्या-शक्तिके मुख्य गुण जो अहिंसा, सत्य, अभय, बुद्धि, बोध-शक्ति, लज्जा, पुष्टि, तुष्टि, शान्ति, क्षान्ति, मेधा, आर्द्र चित्तता, श्रद्धा, उदारता, सद्वृत्ति, इन्द्रियनिग्रह, धृति, स्मृति, स्वाध्याय, तप, सरलता, कोमलता, दया, स्त्रीमात्रको जगन्माताके रूपमें देखना आदि हैं; और जिन्हें सप्तशती-चण्डीमें विद्या-शक्तिके रूप कहा गया है; अभ्यासके द्वारा उनकी पूर्ण प्राप्ति होनेपर ही अविद्याका नाश होगा, विद्या-शक्तिके साथ सम्बन्ध स्थापित होगा और उनकी प्रसन्नता प्राप्त होगी। ऊपर कहे हुए शक्तिके रूप जो सद्गुण हैं, उनके अभ्याससे ही गीताके ज्ञान और दैवी सम्पत्तिकी प्राप्ति होगी जिसके द्वारा आसुरी सम्पत्ति अर्थात् पशुभावका दमन होगा और फिर उससे दिव्यभावकी प्राप्ति होगी, जो शक्ति-उपासनाका मुख्य उद्देश्य है तथा मनुष्य-जीवनका परम लक्ष्य है। उपयुक्त पूजा, जप, ध्यान, पाठ आदिका भी मुख्योद्देश्य उपर्युक्त दिव्य गुणोंकी प्राप्ति ही है। यही यथार्थ शक्ति-उपासना है, जो सबके लिये परम आवश्यक है। ऊपर कथित शक्तिके दिव्य गुणोंकी प्राप्तिके बिना न कर्मयोग, न अभ्यासयोग, न ज्ञानयोग, न भक्तियोग, न किसी इष्टदेवकी प्राप्ति और न ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति सम्भव है। जो इन दिव्य गुणोंकी प्राप्तिको शक्ति-उपासनाका मुख्य अङ्ग नहीं समझते, वे बड़ी भारी भूल करते हैं।

मोक्षदायिनी शक्तिके नाना भेद

वेदमें पराशक्तिकी संज्ञा गायत्री है, जिसके द्वारा एकाक्षर ब्रह्मरूप प्रणवकी प्राप्ति होती है। यज्ञके देवकर्ममें पराशक्ति स्वाहा, पितृकर्ममें स्वधा, योगमें कुण्डलिनी-शक्ति, ज्ञानयोगमें विद्या, भक्तियोगमें ह्लादिनीशक्ति, उपासनाकाण्डमें दुर्गा, लक्ष्मी, सीता, राधा आदि हैं। इन सबकी प्राप्तिके बिना इनसे सम्बन्ध रखनेवाली साधनामें सफलता नहीं मिल सकती। बौद्ध-धर्ममें प्रज्ञापारमिता, जैन-धर्ममें तीर्थङ्कर भी पराशक्तिके प्रतिरूप हैं; क्योंकि तीर्थङ्कर अर्थात् महात्मा सद्गुरुगण सदा दैवी प्रकृति (पराशक्ति)-के आश्रयमें रहते हैं, जैसा कि गीता अ० ९, श्लोक १३ का वचन है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

माया

(लेखक—कु० हिम्मतसिंहजी साहित्यरञ्जन, भैंसरोडगढ़)

जय जय जय जय जगत तारिणी जगदीश्वरी जयति जगदम्ब। दुखविनाशिनी पापनाशिनी जय जय आद्या जय जय अम्ब॥
जलमें शीत अनलमें आतप एक रूप हो रहते लीन। उसी भाँति तुम सदा ब्रह्ममें मायामयि रहती तल्लीन॥
कर सकता कुछ भी न ब्रह्म है बिना तुम्हारे हो स्वच्छन्द। शान्तभावसे तुम्हे हृदय धर सदा पड़ा रहता निस्पन्द॥
स्वेच्छासे जागृत हो करती इच्छामयि इच्छामय नृत्य। विवश हुए विधि हरिहर करते उद्भव पालन लयका कृत्य॥
या तेरी लघु लीलाओंके भुवनेश्वरी सभी यह नाम। कार्यभेदसे प्रचलित है यह भिन्नरूपमें ही सुखधाम॥
जग अभिनय होने लगता है कर्म-वारिकी बीचि विचित्र। थिरक थिरक कर चित्रित करती रङ्ग रङ्गके मौलिक चित्र॥
नित नव रूप बदलती रहती फैला तिमिर जलधिका जाल। अहंकार विस्तृत होता है मोह यवनिकामें सुविशाल॥
क्यों आये क्यों गये कौन हम जाने बिना सभी जन हाय। मायाकी छायामें भ्रमवश भटका करते हैं निरुपाय॥

अनन्यता और दुर्गाराधना

(लेखक—गोस्वामी श्रीलक्ष्मणाचार्यजी)

भक्तका प्रथम कर्तव्य है कि वह अपने इष्टदेवका अनन्य भक्त बने; अर्थात् 'मेरे लिये इस इष्टदेवके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है', '**त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव**' और '**माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः, भ्राता रामो मत्सखा रामचन्द्रः**'—ऐसा भाव उसे अपने हृदयमें जमाना चाहिये। उसे सदा अपना रक्षक, अपने योगक्षेमका चलानेवाला एकमात्र उसी इष्टदेवको समझना चाहिये। संसारमें चाहे जितने अन्य देवी-देवता क्यों न हों, उसे उनसे कोई मतलब नहीं होना चाहिये, उसे अन्याश्रय कभी नहीं होना चाहिये। इसीका नाम अनन्यता है। परन्तु इसके साथ ही अनन्य भक्तको किसी दूसरे देवताकी निन्दा या विरोध भी नहीं करना चाहिये, जैसी कि श्रीमद्भागवतकी आज्ञा है—

मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः॥

भक्तको अनसूय होना चाहिये, किसीके प्रति दोष-दृष्टि नहीं रखनी चाहिये। किसीकी निन्दा करना, विरोध करना या दोष देखना-दिखाना अनन्यता नहीं, बल्कि अनभिज्ञता है।

यों तो सभी उपासक अनन्य होते हैं; किन्तु घण्टाकर्णने तो अपने कानोंमें इस कारण घण्टे बाँध रखे थे। यदि कभी किसी अन्य देवताका नाम सुननेका अवसर भी प्राप्त होता तो वह अपना सिर हिलाकर कानोंके घण्टे बजा देता था, जिससे उसके कानोंमें वह नाम नहीं पहुँचता था। वह तो केवल शिवका ही नाम उच्चारण करना चाहता था और उसे ही सुनना चाहता था। यह अनन्यताकी पराकाष्ठा है। वैष्णवोंमें तो ऐसी अनन्यताका उदाहरण मिलना कठिन है; परन्तु वे भी अपने इष्टदेवके अतिरिक्त अन्य किसी देवताको नहीं मानते, नहीं पूजते। अनन्य वैष्णवोंका सिद्धान्त है—

वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते।
तृषितो जाह्नवीतीरे कूपं खनति दुर्मतिः॥

श्रीवासुदेवको छोड़कर जो अन्य देवकी उपासना करता है वह ठीक वैसा ही है, जैसे कोई दुर्मति प्यास लगनेपर गङ्गाके किनारे जल पीनेके लिये कुँआ खोदता है। गीतामें श्रीभगवान्ने भी स्वयं इस श्लोकद्वारा आश्वासन देते हुए प्रायः ऐसा ही सङ्केत किया है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

अब यहाँ यह विचार करना है कि ऐसे वैष्णवोंको दुर्गाकी आराधना करनी चाहिये या नहीं। दुर्गाकी आराधना अनन्यतामें बाधक है या साधक? क्योंकि बहुत-से गृहस्थ वैष्णवोंमें आश्विनशुक्ल और चैत्रशुक्लमें दुर्गापूजा करनेकी प्रणाली प्रचलित है। हमारी सम्मतिमें दुर्गाराधना वैष्णवोंकी अनन्यतामें बाधक नहीं है। क्योंकि परम वैष्णव, आदर्श वैष्णव और अनन्य वैष्णव सदा दुर्गाराधना करते आये हैं। जैसे अर्जुनने 'एकानंशा' की आराधना की थी। महाभारतकालीन गोपोंने अम्बिकाका आराधन किया था—'**आनर्चुर्नृपतेऽम्बिकाम्**' (श्रीमद्भागवत)। गोपियोंने 'कात्यायनी' का पूजन किया था—'**कात्यायन्यर्चनव्रतम्**' (श्रीमद्भागवत)। यादवोंने 'दुर्गा' का पूजन किया था—'**दुर्गां कृष्णोपलब्धये**' (श्रीमद्भागवत)। रुक्मिणीजीने 'अम्बिका' का पूजन किया—'**नमस्ये त्वाम्बिकेऽभीक्ष्णं स्वसन्तानयुतां शिवाम्**' (श्रीमद्भागवत) इत्यादि।

जब ये सदाचार उपलब्ध हैं और इन उपर्युक्त वैष्णवोंसे बढ़कर कोई दूसरा वैष्णव नहीं है तब इस आदर्शके अनुसार वैष्णवोंको दुर्गाराधना करनेमें कोई बाधा नहीं है और न इससे उनकी अनन्यता घट सकती है। यदि इससे अनन्यतामें बाधा पड़ती तो पूर्वकथित वैष्णव कदापि ऐसा न करते। हाँ, यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि सदाचार तो उपलब्ध हुआ, पर शब्द-प्रमाण नहीं है और बिना शब्द-प्रमाणके सदाचारकी पुष्टि नहीं होती है।

इसके उत्तरमें निवेदन है कि यद्यपि सदाचार '**श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः**'—इस वचनके अनुसार स्वतःप्रमाण है तथापि इसकी पुष्टिके लिये शब्द-प्रमाण भी है। जब भगवान्ने योगमायाको व्रजमें जन्म लेनेकी आज्ञा दी थी तब श्रीमुखसे यह भी कहा था—

अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां सर्वकामवरेश्वरीम्।
धूपोपहारबलिभिः सर्वकामवरप्रदाम्॥
नामधेयानि कुर्वन्ति स्थानानि च नरा भुवि।
दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च॥

(श्रीमद्भा० १०। २। १०-११)

यहाँपर अर्चन और सर्वप्रथम दुर्गा नामका प्रतिपादन है। दूसरा प्रमाण है, भागवतके एकादश स्कन्धमें। जब भगवान्ने उद्धवजीसे अपने पूजनका विधान कहा तब

उन्होंने वहाँ '**दुर्गां विनायकं व्यासम्**' भी कहा। इसमें दुर्गापूजनकी स्पष्ट आज्ञा है। ये सब प्रमाण वैष्णवोंके परम मान्य ग्रन्थ श्रीमद्भागवतके हैं। इससे इनमें उन्हें ननु-नच करनेका अवकाश नहीं है।

अब यह देखना चाहिये कि यह 'दुर्गा-तत्त्व' है क्या? इसका निर्णय हम वैष्णव-तन्त्रोंके अनुसार ही करनेकी चेष्टा करेंगे। नारद-पाञ्चरात्रमें लिखा है—

जानात्येका परा कान्तं सैव दुर्गा तदात्मिका।
या परा परमा शक्तिर्महाविष्णुस्वरूपिणी॥
यस्या विज्ञानमात्रेण पराणां परमात्मनः।
मुहूर्त्ताद्देवदेवस्य प्राप्तिर्भवति नान्यथा॥
एकेयं प्रेमसर्वस्वस्वभावा श्रीकुलेश्वरी।
अनया सुलभो ज्ञेय आदिदेवोऽखिलेश्वरः॥
अस्या आवरिका शक्तिर्महामायाऽखिलेश्वरी।
यया मुग्धं जगत्सर्वं सर्वे देहाभिमानिनः॥

अर्थात् 'एक ही पराशक्ति कान्त श्रीकृष्णको जानती है, क्योंकि यह उसीका रूप है। यही दुर्गा है जो परा परमशक्ति है, महाविष्णु (श्रीकृष्ण)-रूपिणी है और जिसके जाननेमात्रसे अति शीघ्र ही परात्पर देवकी प्राप्ति हो जाती है। यह एक ही प्रेमसर्वस्वके स्वभाववाली कुलेश्वरी है! इसके द्वारा अखिलेश्वर आदिदेव सुलभ हो जाते हैं। अखिलेश्वरी महामाया इसीकी आवरिका शक्ति है, जिसने सारे जगत्को और सारे देहाभिमानियोंको मोहित कर रखा है।' सारांश यह है कि अखिलकोटिब्रह्माण्डनायक गोलोकवासी आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रकी परमशक्ति श्रीदुर्गा है। जिस प्रकार अग्नि और अग्निकी दाहिका शक्तिमें कोई भेद नहीं है, '**शक्तिशक्तिमतोरभेदात्।**' उसी प्रकार श्रीकृष्णमें और उसकी शक्ति दुर्गामें कोई भेद नहीं है। वेदमें—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

—वचन आया है। यहाँ 'स्वाभाविकी' कहनेसे शक्तिका अभेद सिद्ध है। इसीसे गौतमी-तन्त्रमें '**यः कृष्णः सैव दुर्गास्या या दुर्गा कृष्ण एव सः**' ऐसा स्पष्ट वर्णन है। श्रीनारद-पाञ्चरात्रके पूर्वोक्त वचन—

अनया सुलभो ज्ञेय आदिदेवोऽखिलेश्वरः॥

—के अनुसार गोपी, रुक्मिणी और यादवोंको शीघ्र भगवत्प्राप्ति हुई। इसलिये दुर्गाराधना वैष्णवोंकी अनन्यतामें बाधक नहीं है।

शक्तितत्त्वाख्यानम्

आपाततो विभिन्नां छायावद्वस्तुतोऽभिन्नाम्।
सदसदनिर्वचनीयामम्बां वन्दे शिवाङ्कस्थाम्॥ १॥

ब्रह्म क्लीब-शक्ति सहयोगसे पुरुष हुआ, निर्गुण सगुण हुआ शक्तिके ही योगसे।
एकसे अनेक व असंगसे ससंग हुआ, है अशक्त सर्वशक्तिमान शक्तियोगसे॥
अक्रियमें जग-जन्म आदि क्रिया वेद-उक्त, युक्तियुक्त जान पड़ें शक्तिहीके योगसे।
आद्यशक्तिको उपास्य ब्रह्मरूप मान लिया, ऋषियोंने शक्ति-तत्त्व देख ध्यानयोगसे*॥ २॥
शक्ति-भक्ति करनेसे भक्त शक्तियुक्त बने, शक्ति-भक्तिहीन जन शक्तिहीन जानिये।
भुक्ति-मुक्ति-हेतु शक्ति जिनका न इष्टदेव, सब भाँति उनको अशक्त पहचानिये॥
ब्रह्मा विष्णु रुद्र आदि देव शक्तिमान बने, यह सर्व आद्यशक्तिका प्रभाव जानिये।
आमरण शक्तिके चरणको शरण जान, तरण जो चाहो निज चित्त-सद्म आनिये॥ ३॥
माताके बताये बिना किस भाँति जान सके, बालक अबोध निज तातके स्वरूपको।
यदि शक्ति सत्त्वमय ज्ञान न प्रदान करे, कैसे जाने अज्ञजन स्वीय बोधरूपको॥
बालको जनकके समीप पहुँचाय जैसे, जननी निवृत्त करे अपने स्वरूपको।
पाल-पोष जीवको मिलाय ब्रह्म बीच शक्ति, ऐसे ही निवृत्त करे वृत्त ज्ञानरूपको॥ ४॥
शक्तिकी प्रतीति शक्तिमानसे पृथक नहीं, शक्ति बिना शक्तिमान कथन बने नहीं।
ब्रह्म बिना कहाँ रहे आश्रयरहित शक्ति, शक्ति बिना ब्रह्मकी प्रतीति भी बने नहीं॥
एक तत्त्व परमार्थ द्विधाभूत भास रहा, शक्ति-शक्तिमान-भेद वस्तुतः बने नहीं।
शक्तिकी उपासना भी ब्रह्मकी उपासना है, यह बात युक्तियुक्त सर्वथा टले नहीं॥ ५॥

—वासुदेव शास्त्री

* 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्' इत्यादि श्वेताश्वतरीयाः।

शक्ति-तत्त्व

(लेखक—परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीस्वामी हरिनामदासजी उदासीन)

शक्तिकी उपासना करनेवालोंका निर्गुण रूप ही शक्तिवाद है अथवा शक्ति ही निर्गुणवाद है। केवल कथनमें भेद है, लक्षणार्थ दोनोंका एक ही है। इस निराकाररूप शक्तिके ही सत्त्व, रज और तम—तीन भेद होते हैं। रजोरूप ब्रह्मा, तमोरूप शिव और सत्त्वरूप विष्णु होते हैं। इस प्रकार ये तीनों शक्तिके ही रूप माने जाते हैं।

किन्तु आचार्योंके भेदसे इन तीनोंमें भी भेद हो जाता है। जो ब्रह्मारूप शक्तिका उपासक होता है, वह ब्रह्माशक्तिको ही मुख्य रखता है और विष्णु तथा शिव-शक्तियोंको गौण समझता है। उसी तरह जो विष्णु-शक्तिको मुख्य रखता है वह ब्रह्मा और शिवको गौण समझता है और जो शिव-शक्तिको प्रधानता देता है वह ब्रह्मा और विष्णुको गौण समझता है। इसी तरह ब्रह्माकी दैवी शक्ति ब्रह्माणी, विष्णुकी वैष्णवी और शिवकी दुर्गादेवीके विषयमें समझना चाहिये। यह एक ही शक्ति-तत्त्व नाना प्रकारके शक्तिवादके रूपमें प्रचलित हुआ है। उपासनाके भेदसे शक्तिवादके दो भेद हैं—एक भेद और दूसरा अभेद, जो संसारमें विद्या-शक्ति और अविद्या-शक्तिके रूपमें व्याप्त हैं।

जिस विद्या-शक्तिसे परा-अपरा शक्तिका भेद हो गया है, उसी बलिष्ठ अपरा-शक्तिसे दुर्बल अविद्या-शक्तिका नाश होता है। इसी अपरा-शक्तिको वेदान्ती ब्रह्मविद्या कहते हैं तथा शक्तिवादमें सात्त्विकी शक्ति और सच्चिदानन्दरूपी शक्ति भी कहते हैं।

जो रजोगुणकी शक्ति है, उसे वाणीरूप शक्ति कहते हैं। वही सरस्वती-शक्तिवाद है। जिस शक्तिके द्वारा वाक्यका उच्चारण करके अनेक छन्द या लेख तैयार किये जाते हैं उसे वाक्यतत्त्वशक्ति कहते हैं। जिस शक्तिके द्वारा हृदय या जिह्वासे मन्त्रका जाप करते हैं, जिस शक्तिके द्वारा मोहन, तापन, वशीकरण, उन्मादन, उच्चाटन आदि काम किये जाते हैं, उसे मन्त्रशक्ति कहते हैं। ये सब शक्तियाँ सरस्वतीशक्तिके ही अन्तर्गत हैं। बाकी रही जडशक्ति, सो धन आदि कही जाती है। आगे चलकर उपासकोंके भेदसे यह शक्ति अनेक नाम धारण कर लेती है; जैसे नाद, कलादि।

उपासकोंके इस भेदके कारण ही पृथक्-पृथक् अठारह पुराण बन गये, जो अपने-अपने ढंगसे उपासना करते हुए शक्तिवादके अन्दर ही मौजूद हैं। यही उन्हें रचनेका मतलब था।

वैष्णव-मत होनेपर भी अन्तरसे शाक्त शक्ति-तत्त्व नहीं गया। वैष्णवरूपसे भी शाक्तके सत्त्वरूप शक्तिका पूजन करना पड़ता है और वैसी ही दीक्षा लेनी पड़ती है। आचार्योंके भेदसे दीक्षाके भी त्रिगुणात्मक भेद हो गये हैं।

तमोगुणी आचारियोंके भेदसे दो प्रकारके आचार्य हुए—एक शिवसाधनोपासी, दूसरे लतासाधनोपासी, जिन्हें स्त्री-उपासक भी कहते हैं। ये दोनों तमोगुणप्रधान हैं। इनमेंसे जो पशु-हिंसा करते हैं, जैसे देवीके सामने बलिदानकी प्रथा—वे लतासाधनवाले हैं। जो पशुओंको तन्त्र आदि करके छोड़ देते हैं, जैसे बैलादि छोड़नेकी प्रथा—वे शिवसाधनवाले हैं। परन्तु जो तन्त्र करके या बिना तन्त्रके वध करते, कराते या खाते हैं, वे वाममार्गी हैं। वामका अर्थ उलटा कर्म करना है, जिसे भ्रष्टाचार भी कहते हैं। यह सर्वथा त्याज्य है।

सबसे उत्तम सत्त्वगुण-शक्तिका पूजन कुमारी-पूजन है, जो उदासीन-भेषमें अनादि कालसे चला आ रहा है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण श्रीसाधुबेला-तीर्थमें देखा जा सकता है। वहाँ दोनों नवरात्रोंमें अष्टमीके दिन नियमपूर्वक कुमारीपूजन होता है। इसीको देवीपूजन भी कहते हैं। देवीको ही शक्ति कहते हैं। इसका प्रमाण दुर्गासप्तशतीमें इस प्रकार आता है—'**कुमारीं परिपूजयेत्।**'

प्रत्यक्ष घटनाएँ

(लेखक—एक जानकार)

एक साधु एक जङ्गलमें श्रीदेवीके स्थानमें गये, जो निर्जन स्थान था। वह बहुत भूखे थे। उस समय एक काली स्त्रीने आकर उन्हें चिउड़ा-दही खिलाया और उसके बाद वह अदृश्य हो गयी। साधुकी दृढ़ धारणा है कि वह स्त्री और कोई नहीं, स्वयं श्रीदेवीजी थीं, जिसका ज्ञान उन्हें अदृश्य होनेपर हुआ।

× × ×

श्रीवृन्दावनके प्रसिद्ध स्वामी श्रीकेशवानन्दजीको एक श्रीदेवीने स्वप्नमें कहा कि मेरा मन्दिर, जो जीर्णावस्थामें है, उसकी मरम्मत करवा दो। उन्होंने तदनुसार मरम्मत करवा दी।

× × ×

एक ग्राममें एक देवीकी प्राचीन मूर्त्ति थी, जिसको लोग पूजते थे। लोगोंकी उपेक्षाके कारण मूर्ति लापता हो गयी। तब गाँवके मालिकके मैनेजरको स्वप्न हुआ और उन्होंने मन्दिर बनवाने और फिरसे मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा करनेका यत्न किया।

× × ×

बहुत हालकी बात है कि एक पुजारी श्रीकालीमाईके समक्ष बैठकर पूजा कर रहे थे। उन्हें एक स्वर्गप्राप्त आत्माने जागृत-अवस्थामें ही किसी व्यक्तिविशेषके विषयमें एक संवाद दिया और ठीक उसी समय श्रीकालीजीने भी अपने पगके नीचेसे एक फूल गिराकर उस संवादकी पुष्टि की।

× × ×

एक बड़े व्यक्ति एक बहुत बड़ा मुकद्दमा सदर आलाके यहाँसे हार गये। उनके एक मित्रको स्वप्न हुआ, जिसका भाव था कि श्रीगणेशजीके किसी विशेष भावका तन्त्र-शास्त्रकी रीतिसे पुरश्चरण करनेसे लाभ होगा। ऐसा ही किया गया और उसके बाद हाईकोर्टकी अपीलमें सफलता मिली जो कायम रह गयी।

× × ×

ढाकाके नवाबकी जमींदारीमें एक देवीका स्थान है। नवाब साहबके यहाँ प्रायः बहुत दिनोंसे अँगरेज ही मैनेजर रहते हैं। जब अँगरेज मैनेजर उस देवीके स्थानमें दौरेपर जाते हैं तो उनको भी अपनी ओरसे उस देवीकी पूजा करानी पड़ती है। पूजा नहीं होनेपर शीघ्र ही कोई-न-कोई अनिष्ट हो जाता है, जिसकी परीक्षा करके ही यह प्रथा जारी है।

× × ×

एक देवीके स्थानमें अक्षतको शृङ्गाकार बनाकर उसपर बिल्वपत्र रखा जाता है। जिसका मनोरथ सिद्ध होनेवाला होता है, उसका बिल्वपत्र गिर जाता है। इस स्थानका नाम-पता नहीं बतलाया जायगा।

× × ×

बंगालके रामपुर बौलियाके समीप तारापीठमें वामाखेपा नामक एक सिद्ध पुरुष थे। वह विक्षिप्तकी भाँति रहते थे। वह अक्सर कह दिया करते थे कि आज अमुक कुव्यवहारके कारण श्रीदेवीने भोग ग्रहण नहीं किया है और तब वह भी प्रसाद नहीं लेते थे। पीछे अनुसन्धान करनेपर बात ठीक निकलती थी।

× × ×

एक ब्राह्मण एक शूद्रके कर्जदार थे। वह अपना कर्ज चुकानेमें असमर्थ थे। एक दिन शूद्रने कहा कि कर्जके बदलेमें अपनी कन्या दे दो। ब्राह्मणने उससे मुहलत माँगी। ब्राह्मणने कामाक्षा देवीके यहाँ जाकर प्रार्थना की। देवीकी आज्ञा हुई कि उस शूद्रसे कह देना कि अमुक मङ्गलके दिन कन्या लेनेके लिये आना। मैं उस दिन वहाँ आकर कन्याका उद्धार करूँगी। ऐसा ही हुआ। जब शूद्र कन्या लेनेके निमित्त आया तब वहाँ अनेक चीलें प्रकट हो गयीं, जिन्होंने उस शूद्र तथा उसके दलको इतना तङ्ग किया कि वे जान लेकर वहाँसे भाग गये। उस कन्याको शरीरसे देवीने ले लिया और वह अदृश्य हो गयी। यह बात प्रसिद्ध है और उस प्रान्तके सब लोग इस घटनाको जानते हैं। जिला पुर्नियाके कामाक्षा-स्थानकी यह घटना है। उक्त स्थान पुर्नियासे दक्षिण और काठगोला (बी० एन० डब्ल्यू० रेलवे स्टेशन)-से उत्तर है। वहाँ एक संस्कृत-पाठशाला भी है।

भारतकी नारी-शक्ति

विश्वके रङ्गमञ्चपर कई जातियाँ आयीं और उत्थानकी एक क्षणिक आभा विकीर्णकर सदाके लिये अस्त हो गयीं। आज उनका नाम केवल इतिहासके पृष्ठोंमें स्मृति-रूपसे रह गया है। परन्तु आर्य-जातिका महामहिम गौरव, इसकी अमर संस्कृति और लोकमङ्गलविधायक पावन चरित मानवजातिके आदर्श-पथके उज्ज्वल प्रदीप हैं। मानवताके चरम लक्ष्यको आत्मदर्शी आर्य ऋषियोंने जितनी सुन्दरता और सरलतासे समझा उसे अन्य देशवासियों अथवा अन्य धर्मावलम्बियोंके लिये समझ सकना कठिन ही नहीं वरं असम्भव था! संसारकी अन्य जातियाँ ऐहिक वैभवके क्षणिक प्रलोभनमें ही उलझ गयीं, परन्तु आर्योंके क्रान्तदर्शी महर्षियोंने संसारके 'उस पार' को समझा ही नहीं, उसे देखा भी। प्राप्तिकी भूखी ग्रीक और रोमन जाति अपने क्षणिक उद्भवसे संसारको भीत-चकित तो कर सकी, परन्तु उसके प्रकाशमें स्थायित्व कहाँ था? बरसाती नालेके समान उसके उफ़ान और निर्वाणमें कुछ ही दिनोंका अन्तर था! परन्तु आर्य-संस्कृति, आर्य-गौरवका इतिहास स्वत: अनादि और अनन्त है। आर्य-जातिका इतिहास B.C. और A.D. में नहीं आँका जा सकता; वह तो गङ्गा और यमुनाके समान अनादिकालसे संसारके वक्ष:स्थलपर, संसारको पावन करनेके लिये बह रहा है!

हमारी संस्कृतिकी आधारस्तम्भ हैं हमारी आर्यनारियाँ। हिन्दू नारीने अपने प्राणोंकी बाजीपर हिन्दू-संस्कृतिके लोकपावन प्रवाहको अमर और अक्षुण्ण बना रखा है। सच पूछा जाय तो आर्यजातिके उज्ज्वल अस्तित्वको बनाये रखनेमें हिन्दू सतीका बहुत अधिक हाथ है। संस्कृतिके पौधेको हिन्दू सतियोंने अपने प्राणोंके रससे सींचा और समय आनेपर उन्होंने इसके थाल्हेमें अपने प्राण भी चढ़ा दिये। आज भारतका मस्तक उसकी सतियोंके कारण ही संसारमें ऊँचा है। यही कारण है कि प्रात:काल गङ्गा, गीता और गायत्रीके साथ ही सहसा सीता और सावित्रीके नाम स्मरण हो आते हैं और हृदय आदर, श्रद्धा तथा पूजाके भावसे नत हो जाता है। गीता और गायत्रीका सत्य प्रतीक तो सीता और सावित्री हैं। गङ्गा, गीता और गायत्री तथा सीता और सावित्री हमारी संस्कृतिकी प्राणस्वरूपा हैं, मूलस्रोत हैं। आज भी भारत सीता और सावित्रीके कारण विश्ववरेण्य है, जगद्वन्द्य है!

यों तो आर्यजातिका समग्र इतिहास सतियोंके गौरवसे उद्भासित है, परन्तु हम यहाँ स्थान संकोचसे कुछ विश्ववन्द्य प्रात:स्मरणीय सतियोंका संक्षिप्त परिचय देते हैं।

महासती सीता

मिथिलेश विदेहकी लाड़ली कन्या, चक्रवर्ती नरेश दशरथकी पुत्रवधू, मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रकी प्राणप्रिया सीता पतिके वन जानेकी बात सुनती है और मनमें दृढ़ निश्चय कर लेती है कि मैं तो अपने प्राणवल्लभके साथ अवश्य जाऊँगी। पत्नी पतिसे अलग रह कैसे सकती है? चन्द्रिका चन्द्रमाको छोड़कर, प्रभा भानुको छोड़कर और छाया वस्तुको छोड़कर रह कहाँ सकती है? जिसने आजतक पृथिवीपर पैर नहीं रखे वही जनकदुलारी कँटीले वनमें जानेके लिये मचल जाती है। घरसे दो डग भी आगे नहीं बढ़ती कि पसीना-पसीना हो जाती है और लक्ष्मणसे पूछती है—'अभी कितनी दूर और चलना है?'

सोनेके हिरणके पीछे श्रीरामने अपनी सोनेकी सीता खो दी। दुष्ट रावण छद्मवेशमें आकर सीताको हर ले जाता है और नाना प्रकारका प्रलोभन दिखाकर उसके प्रेमको प्राप्त करना चाहता है। परन्तु सीताके मनमें *'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं'* घर किये हुए था। लङ्कामें सीताके प्राण अहर्निश 'हा राम, हा राम' की रटमें घुले जा रहे थे। आदिकविने अशोकके नीचे बैठी हुई रोती-विलपती हुई सीताका बड़ा ही करुण तथा हृदय हिला देनेवाला चित्र खींचा है—उसकी आँखें आँसुओंसे भरी हुई थीं, भोजन न करनेसे वह अत्यन्त दीन और कृश मालूम होती थी। निरन्तर शोक और ध्यानमें मग्न रहकर दु:ख सह रही थी और अपने प्राणाराध्यके दर्शनसे वञ्चित होकर राक्षसियोंको चारों ओर देखती थी। राक्षसियोंसे घिरी हुई वह ऐसी मालूम होती थी मानो अपने झुण्डसे छूटकर कोई मृगी कुत्तोंसे घिरी हुई हो। इतनेमें रावण आता है। उसे देख वैदेही केलेके पत्तेके समान काँपने लगी। वह उस पूर्णमासीकी रातकी तरह

मालूम होती थी जिसका चन्द्रमा राहुने ग्रस लिया हो। पतिके शोकसे व्याकुल वह उस सूखी नदीकी तरह मालूम होती थी जिसका जल दूसरी ओर फेर दिया गया हो। रावण अपने साम्राज्य, प्रताप, प्रभाव आदि भिन्न-भिन्न प्रकारका प्रलोभन देकर सीताको 'अपनी' बनाना चाहता है, परन्तु उस महासतीके हृदयमें, प्राणमें, आँखोंमें, रोम-रोममें राम-ही-राम छाये हुए हैं। सीताने जिस निर्भीकतासे रावणको उत्तर दिया, वह सर्वथा सीताके ही अनुकूल था—

शक्या लोभयितुं नाहमैश्वर्येण धनेन वा।
अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा॥
उपधाय भुजं तस्य लोकनाथस्य सत्कृतम्।
कथं नामोपधास्यामि भुजमन्यस्य कस्यचित्॥
विदितः सर्वधर्मज्ञः शरणागतवत्सलः।
तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि॥

'मुझे तुम ऐश्वर्य या धनके लोभसे वशमें नहीं कर सकते। मैं श्रीरामचन्द्रजीसे उसी प्रकार अलग नहीं हो सकती जिस प्रकार सूर्यकी प्रभा सूर्यसे अलग नहीं हो सकती। लोकके स्वामी श्रीरामकी भुजाके सहारे सोकर अब मैं किस दूसरेकी भुजापर सोऊँ? सबको विदित है कि श्रीरामचन्द्रजी सब धर्मोंके ज्ञाता हैं और शरणमें आये हुएपर कृपा करते हैं। यदि तुम जीना चाहते हो तो उनके साथ मैत्री करो।'

रावण इतनेपर भी न रुका, तब सीताने क्रोधभरे तीखे शब्दोंमें कहा—'मुझे बुरे भावसे देखते हुए ये तेरे क्रूर, खोटे और लाल-काले नेत्र पृथिवीपर क्यों नहीं गिर पड़ते! मुझसे ऐसी घृणित बातें कहते हुए तेरी जीभ कटकर गिर क्यों नहीं जाती? रावण! तू भस्म कर दिये जाने योग्य है। किन्तु रामकी आज्ञा न होनेसे तथा अपना व्रत पालन करनेके लिये मैं तुझे अपने तेजसे भस्मीभूत नहीं करती! इस राक्षस रावणको प्यार करना तो दूर रहा उसे बायें पैरसे छू भी नहीं सकती।' सीताकी आँखोंसे क्रोधके स्फुलिङ्ग निकलने लगे और ऐसा मालूम हुआ मानो वह रावणको भस्म कर देगी। पाठक चित्रमें रावणको डरसे काँपते हुए देखेंगे।

यह है भारतीय सतीत्वका महामहिम गौरव! रावण-सा प्रतापी सम्राट्, जिसके आतङ्कसे दशों दिशाएँ काँपती थीं, जिसके घर देवता पानी भरते और झाड़ू लगानेका कार्य करते थे—वही रावण सीताके भयसे थर-थर काँप रहा है!!

× × × ×

सती सावित्री

नारदने जब यह कहा कि सत्यवान्‌की आयु बस एक वर्षकी है तो सावित्रीने निष्ठा तथा आत्मविश्वासपूर्वक कहा—'जो कुछ होनेको था सो हो चुका। हृदय तो बस एक ही बार चढ़ाया जाता है। जो हृदय निर्माल्य हो चुका उसे लौटाया कैसे जाय? सती बस एक ही बार अपना हृदय अपने प्राणधनके चरणोंमें चढ़ाती है!'

वह दिन आ पहुँचा जिस दिन सत्यवान्‌के प्राण प्रयाण करनेको थे। सत्यवान्‌ने कुल्हाड़ी उठायी और जंगलमें लकड़ी काटने चला। सावित्रीने कहा—'मैं भी साथ चलूँगी।' वह साथ जाती है। सत्यवान् लकड़ी काटने ऊपर चढ़ता है; सिरमें चक्कर आने लगता है और कुल्हाड़ी नीचे फेंककर वृक्षसे उतरता है। सावित्री पतिका सिर अपनी गोदमें रखकर पृथिवीपर बैठ गयी।

घड़ीभरमें उसने लाल कपड़ा पहने हुए, मुकुट बाँधे हुए, सूर्यके समान तेजवाले, काले रंगके सुन्दर अंगोंवाले, लाल-लाल आँखोंवाले, हाथमें फाँसीकी डोरी लिये भैंसेपर सवार एक भयानक पुरुषको देखा, जो सत्यवान्‌के पास खड़ा था और उसीको देख रहा था। उसे देखकर सावित्री खड़ी हो गयी और हाथ जोड़कर आर्तस्वरमें बोली, 'देवेश! आप कौन हैं? आप कोई देव प्रतीत होते हैं।'

यमने करुणाभरे शब्दोंमें कहा—'तुम पतिव्रता और तपस्विनी हो, इसीलिये मैं कहता हूँ कि मैं यम हूँ। सत्यवान्‌की आयु क्षीण हो गयी है अतएव मैं उसे बाँधकर ले जाऊँगा।'

यमने फाँसीकी डोरीमें बँधे हुए अँगूठेके बराबर पुरुषको बलपूर्वक खींच लिया और उसे लेकर दक्षिण दिशामें चले। पतिव्रता सावित्री भी उसी दिशाको चली। यमने मना किया, परन्तु सावित्री बोली—

यत्र मे नीयते भर्ता स्वयं वा यत्र गच्छति।
मया च तत्र गन्तव्यमेष धर्मः सनातनः॥

'जहाँ मेरे पति स्वयं जा रहे हैं या दूसरा कोई उन्हें ले जा रहा हो—वहीं मैं भी जाऊँगी—यही सनातन-धर्म है।' यम मना करते रहे और सावित्री पीछे-पीछे चलती

गयी। उसकी इस दृढ़ निष्ठा और अटल पातिव्रत्यने यमको पिघला दिया और यमने एक-एक करके वररूपमें सावित्रीके अन्धे श्वशुरको आँखें दे दी, साम्राज्य दिया, उसके पिताको सौ पुत्र दिये और सावित्रीसे लौट जानेके लिये कहा।

सावित्रीने अन्तिम वरके रूपमें सत्यवान्‌से सौ पुत्र माँगे और अन्तमें 'सत्यवान् जीवित हो जाय' यह वर भी उसने प्राप्त कर लिया। उसके ये शब्द थे—

न कामये भर्तृविनाकृता सुखं
न कामये भर्तृविनाकृता दिवम्।
न कामये भर्तृविनाकृता श्रियं
न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितुम्॥

'मैं बिना पतिके सुख नहीं चाहती, बिना पतिके स्वर्ग नहीं चाहती, बिना पतिके धन नहीं चाहती, बिना पतिके जीना भी नहीं चाहती।'

यमराज वचन हार चुके थे। उन्होंने सत्यवान्‌के सूक्ष्म शरीरको पाशमुक्त करके सावित्रीको लौटा दिया! यह है मृत्युपर विजय स्थापित करनेवाली भारतीय सतीत्व-शक्ति! संसारमें इसके समान उदाहरण अन्यत्र कहाँ मिलेगा? धन्य है पातिव्रत्य और उसकी अमोघ शक्ति!!

सती अनसूया

श्रीमार्कण्डेयपुराणके सोलहवें अध्यायमें आया है—

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न श्राद्धं नाप्युपोषितम्।
भर्तुः शुश्रूषयैवैता लोकानिष्टाञ्जयन्ति हि॥

अर्थात् स्त्रियोंके लिये न अलग यज्ञ है, न अलग श्राद्ध है और न अलग व्रत-उपवास है। पतिकी सेवासे ही वह इच्छित लोकोंको प्राप्त करती है। इसके बादवाला श्लोक यों है—

पतिप्रसादादिह च प्रेत्य चैव यशस्विनी।
नारी सुखमवाप्नोति नार्या भर्ता हि दैवतम्॥

'पतिके प्रसन्न होनेसे ही स्त्री इहलोक और परलोक दोनों जगह सुख पाती है, क्योंकि पति ही स्त्रीका देवता है।'

पतिव्रता देवियोंमें सती अनसूयाका बहुत ऊँचा स्थान है। वह अत्रि ऋषिकी परम पतिव्रता पत्नी थी और उसके सम्बन्धमें बहुत-से लोकोत्तर चरित्रोंका विवरण आया है। पाठकोंको यह स्मरण होगा कि जब भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महारानी सीताके साथ वनवास कर रहे थे तो अनसूयाने ही सीताजीको पातिव्रतकी शिक्षा विस्तारके साथ दी थी। वहींकी यह अमर चौपाई प्रत्येक हिन्दू-ललनाका कण्ठहार बनी हुई है—

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥

सती अनसूयाके सम्बन्धमें एक और बड़ी रोचक कथा है। एक बार ब्रह्माणी, लक्ष्मी और गौरीमें परस्पर विवाद छिड़ा कि पतिव्रता कौन है? तय यह हुआ कि उस समय अनसूया ही सर्वश्रेष्ठ पतिव्रता है। परीक्षा लेनेके लिये ब्रह्मा, विष्णु और शिव अनसूयाके पास चले। अनसूयाने अतिथियोंका प्रेमसे स्वागत किया। अत्रि ऋषि कहीं बाहर गये हुए थे, ब्रह्मा, विष्णु और महेशने अनसूयासे कहा कि वे तभी यहाँ अन्न-ग्रहण करेंगे जब वह अवस्त्रा होकर भोजन करायेगी। अनसूया बहुत असमञ्जसमें पड़ी। परन्तु तुरन्त ही उसने भगवान्‌को स्मरण करते हुए कहा—'यदि मैंने अपने पतिके सिवा किसी पुरुषको नहीं जाना है तो ये तीनों देव बच्चे हो जायँ।' उसका कहना था कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश नन्हे-नन्हे बच्चे हो गये। पाठक चित्रमें अनसूयाको इन तीनों देवताओंकी माताके रूपमें देखेंगे। अनसूया वात्सल्यपूर्ण दृष्टिसे इनकी ओर देख रही है और वे भी इसकी गोदमें आनेके लिये मचल रहे हैं।

× × ×

सती दमयन्ती

जुएमें सब कुछ हारकर नल-दमयन्ती वन-वनमें मारे-मारे फिरते हैं। नलके भी शरीरपर केवल एक ही वस्त्र है और दमयन्तीके शरीरपर भी एक ही वस्त्र है। बहुत दिनोंतक भूखे रहनेके बाद भूखसे पीड़ित होनेपर नलने वनमें सोनेके समान पंखवाले कुछ पक्षियोंको देखा। उन्हें पकड़नेके लिये उसके पास जो एक वस्त्र था उसे उसने फेंका! दुर्दैववश उस वस्त्रको लेकर वे आकाशमें उड़ भागे।

थककर दमयन्ती जमीनपर सो रही है। इसी बीच नल उसका आधा वस्त्र लेकर चल देता है।

पतिको न पाकर पगली-सी दमयन्ती इतस्तत: खोज रही है कि एक भारी अजगर उसे काटनेके लिये दौड़ता है। इसी बीच एक व्याधा आता है और तेज बाणसे उस सर्पके मुखको काट देता है। परन्तु दमयन्तीकी रूप-श्रीपर मुग्ध होकर वह उससे प्रेमकी भीख माँगता है।

पति और राज्यसे रहित दमयन्ती उस दुष्टके भावको समझकर क्रोधमें भर गयी और बड़े तीखे स्वरोंमें

पुकारकर कहा—

यद्यहं नैषधादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथायं पततां क्षुद्रो गतासुर्मृगजीवनः॥

'यदि मेरे मनमें नलके सिवा किसीका ध्यान न आता हो तो यह नीच व्याधा प्राणरहित होकर यहीं गिर पड़े।'

यह कहते ही वह व्याधा अग्निसे जले हुए पेड़की तरह पृथ्वीपर निर्जीव होकर गिर पड़ा।

सती शाण्डिली

अत्यन्त प्राचीन कालमें कौशिक नामक एक अत्यन्त क्रोधी, निष्ठुर और कोढ़ी ब्राह्मण था, जिसकी पत्नी पतिव्रता और निष्ठावती थी। वह सुशीला स्त्री अपने बीभत्स रूपवाले पतिको ही सर्वश्रेष्ठ देवता समझती थी। एक बार रातके समय अपने पतिको कन्धेपर वह कहीं ले जा रही थी, रास्तेमें माण्डव्य ऋषिने उसके पैरका धक्का लग जानेपर शाप दिया कि यह पुरुष सूर्य उगते ही मर जायेगा। पतिव्रताने कहा—'अच्छा, यदि ऐसी बात है तो जबतक मैं नहीं कहूँगी तबतक सूर्य उगेगा ही नहीं।' बात भी ऐसी ही हुई। पतिव्रताके वचन कभी असत्य हो नहीं सकते। सूर्यदेवकी गति रुक गयी। सूर्य दस दिनतक नहीं उगे। इसपर समस्त ब्रह्माण्डमें हलचल मच गयी।

सब देवताओंने जाकर प्रसिद्ध सती अत्रि-पत्नी अनसूयाको प्रसन्न किया। अनसूया शाण्डिलीके पास गयी और उसको सूर्योदय न होनेसे होनेवाले दारुण विश्व-सन्तापकी बात सुनाकर सूर्योदय होने देनेके लिये यह कहकर राजी किया कि 'तुम्हारे पतिके प्राण-त्याग करते ही मैं अपने पातिव्रतसे उन्हें जीवित और स्वस्थ कर दूँगी।' आधी रातको अर्घ्य उठाकर सूर्यका उपस्थान किया गया। पतिव्रतासे आज्ञा पाकर खिले हुए रक्त कमलकी तरह लाल-लाल सूर्यभगवान्‌का बड़ा मण्डल हिमालय पर्वतकी चोटीपर उदय होनेके लिये आया।

इसीके साथ पतिव्रता शाण्डिलीका पति कौशिक प्राणरहित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। उस समय अनसूयाने जो वचन कहे, वे चिरस्मरणीय हैं।

यथा भर्तृसमं नान्यमपश्यं पुरुषं क्वचित्।
तेन सत्येन विप्रोऽयं व्याधिमुक्तः पुनर्युवा।
प्राप्नोतु जीवितं भार्यासहायः शरदां शतम्॥
यथा भर्तृसमं नान्यमहं पश्यामि दैवतम्।
तेन सत्येन विप्रोऽयं पुनर्जीवत्वनामयः॥
कर्मणा मनसा वाचा भर्तुराराधनं प्रति।
यथा ममोद्यमो नित्यं तथायं जीवताद् द्विजः॥

'यदि पतिके समान दूसरे पुरुषको मैंने कभी न देखा हो तो मेरे इस सत्यके प्रभावसे यह ब्राह्मण रोगसे मुक्त हो जाय। यह फिर युवा हो जाय और पत्नीसहित सौ वर्ष जिये। यदि पतिके समान और किसी देवताको मैं नहीं मानती तो इस सत्यके प्रभावसे यह ब्राह्मण रोगरहित होकर जी जाय। यदि मैं सदा मन, वचन और कर्मसे पतिकी आराधनामें ही लगी रहती हूँ तो मेरी इस पति-भक्तिके प्रभावसे यह ब्राह्मण फिर जीवित हो जाय।'

ब्राह्मण रोगरहित और युवा होकर उठ खड़ा हुआ और अपनी प्रभासे अजर और अमर देवताकी तरह गृहको प्रकाशमान करने लगा। शाण्डिली और अनसूयाके पातिव्रत-धर्मकी महिमा विश्वमें फैल गयी।

रावण-सरीखे महायोद्धाको अपने तेजसे कँपा देना, यमराजको जीतकर पतिके सूक्ष्म शरीरको लौटा लाना, ब्रह्मा, विष्णु, महेशको लीलासे ही बच्चे बना देना, तेजसे ही पापी व्याधाको भस्म कर डालना और सूर्यको उदय होनेसे रोक देना—भारतीय पतिव्रतधर्मपरायणा देवियोंके लिये ही सम्भव था। हाय! आज नारी-शक्ति इसी पातिव्रत-धर्मको भूलकर श्रीहत हो रही है। और इसीमें उन्नति मानी जाती है!!

सोरठा

आदि शक्ति अनादि, अम्ब सदा सुणजे अरज । करि 'बाघै' की यादि, चरण शरण रख चावसूं॥ १॥
विद्या नहीं विवेक, उठी उमँग हियमें अधिक । माता राखहु टेक, बालक जानिर बाघकी॥ २॥
बिनायकसूं 'बाघ', कर जोड़्यां अरजी करै । आज्यो करकी आघ, बिघ्न बिनासण बेगही॥ ३॥
दीजै सुमती दान, सदा सहायक सारदा । गात मात गुण-गान, हियमें बाधो हरषके॥ ४॥
जड़ता पूरण जान, बडपण धारो बाघपर । श्रवणां गुण सज्ञान, शुद्धाशुद्ध सुधारसी॥ ५॥
माता राखहु मान, बाघाको अब बीस हथ । हाथ जोड़ धरि ध्यान, काली मा बिनती करूँ॥ ६॥
केहर चढ कालीह, मतवाली दुख मेटणी । पूरण पण पालीह, बीस हथी माँ बाघकी॥ ७॥

—ठाकुर बाघसिंहजी नवलगढ़

मायाकी मधुशाला

(लेखक—पु० श्रीप्रतापनारायणजी, जयपुर)

(१)

मोती[१]-से जो अश्रु बहाती
भूमि-तापपर घनमाला—
उन्हें पिलाती क्यों मधुपोंको
फूल-फूलकी मधुशाला?...........

(२)

निज सहस्रकर कर-कमलोंसे
सुरा पिलाने कमलोंको—
कमलबन्धु क्यों आते दिनमें
करके तमका मुख काला?...........

(३)

छान-छान करके सुधांशुने
शुद्ध सुधाको वसुधापर—
मोहित किया चकोरोंको क्यों
पिला चाँदनीकी हाला?...........

(४)

नाच देखने, गाना सुनने
घटा-छटाकी मद्य पिला—
नम्र-नील नीरद क्यों करता
नीलगलोंको मतवाला?...........

(५)

करके अमल ओस-मदिराको
बड़े प्रेमसे दिने[२]मुखमें—
क्यों दिनेशको देती अचला
उसका प्याला-पर-प्याला?...........

(६)

वाडवाग्निसे खिंची हुई उस
चल तरङ्ग-क्रीडन-मधुको—
चन्द्र-चषक[३]द्वारा सागरने
स्वोदरमें है क्यों ढाला?...........

(७)

उठा सुरोंने रत्नाकरसे
सुरा-वारुणीके घटको—
असुरोंकी आँखोंमें डाला
क्यों मोहन मदका जाला?...........

(८)

चढ़कर नहीं उतरनेवाली,
भक्ति-ज्ञानकी मदिराको—
भक्त-ज्ञानियोंने पीकरके
पावन पदको क्यों पाला?...........

(९)

लीलामय-लीला-हालाका
पीकर प्याला-पर-प्याला—
महामोहिनी बन क्यों बनती
मतवाली माया-बाला?...........

(१०)

हैं जिसमें सौन्दर्य-सुराके
भरे हुए भाण्डार कई—
स्वयं प्रकृतिने क्यों खोला उस
हालाशालाका ताला?...........

शक्ति-तत्त्व

(१)

शक्तिसे सृष्टि, शक्ति ही प्राण,
शक्तिसे धर्म-कर्म कल्याण।
शक्तिसे भक्ति, शक्तिसे ज्ञान,
शक्ति ही सत्य-सिन्धु भगवान॥

(२)

शक्ति ही नभ-सागर-संसार,
शक्ति अग-जग, तप-जप आधार।
शक्तिसे ब्रह्मा-विष्णु-महेश,
शक्ति ही धरा धरे सिर शेष॥

(३)

शक्ति है सौर्य शक्ति ही सूर,
शक्ति ही करती है भय दूर।
शक्ति शंकरके करका शूल,
शक्ति जननी जीवन-सुख-मूल॥

(४)

शक्ति हरि-हाथ सुदर्शन-चक्र,
शक्तिसे शासन करते शक्र।
शक्ति ही रमा-उमाका रूप,
महामाया योगिनी अनूप॥

(५)

महालक्ष्मी, भैरवी, विशाल,
शक्ति ही प्रलय-भयङ्कर काल।
शक्ति है चाँद-सूर्यकी ज्योति,
शक्ति सागर सरिता-जल रेति॥

(६)

शक्ति ही वायु-अन्न-जल-वस्त्र,
शक्ति ही सुधा, हलाहल अस्त्र।
शक्तिमें जीवनका अमरत्व,
शक्तिमें क्षुपा शक्तिका तत्त्व।

—जगदीश झा 'विमल'

१— पहला छन्द 'मोती-से जो'...........प्रत्येक छन्दके पीछे लगा लेना चाहिये। २— प्रातःकाल। ३— प्याला।

कुण्डलिनी

(लेखक—प्रो० श्रीशंकरराव बी० दांडेकर)

[प्रसिद्ध योगिवर श्रीज्ञानेश्वरजीकृत वर्णन]

आध्यात्मिक आर्य-वाङ्मयमें 'योग' शब्द जितनी बार और जितने विविध अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है उतनी बार और उतने विविध अर्थोंमें शायद ही और कोई शब्द प्रयुक्त हुआ हो। कहीं पारमार्थिक साध्यको सूचित करनेके लिये यह शब्द आया है तो कहीं उसका साधन इस शब्दसे सूचित किया गया है। पतञ्जलि और उनके भोज-सदृश अनुयायी 'योग' को 'वियोग' समझते हैं तो अद्वैतवेदान्ती इसे 'जीव-परमात्मयोग'—मिलन मानते हैं। पतञ्जलिने योगको '**चित्तवृत्तिनिरोधः**' कहा है तो भगवान् श्रीकृष्ण '**योगः कर्मसु कौशलम्**' कहते हैं। ज्ञानयोग, कर्मयोग आदि शब्द-प्रयोगोंमें 'योग' मौजूद है और 'अर्जुनविषादयोग' 'दैवासुरसम्पद्विभागयोग' आदिमें भी योग ही है। इस प्रकार विभिन्न अर्थोंमें इस शब्दका प्रयोग होनेसे, जब कभी यह शब्द सुनायी देता है तब थोड़ी देर विचार ही करना पड़ता है कि किस अभिप्रायसे वक्ताने यहाँ 'योग' शब्दका प्रयोग किया है। इससे सामान्य लोगोंकी ऐसी भी एक धारणा-सी हो गयी है कि योग कोई गूढ़-सी, गोरखधन्धे-सी बात है। और कोई वक्ता जब बड़ी गम्भीर मुद्रा बनाकर 'योग' का नाम लेते हैं तब तो उससे यह गूढ़ता और भी गूढ़ हो जाती है। हमारे इस लेखका विषय भी तो योगाङ्गभूत 'कुण्डलिनी' ही है, जो प्राच्य और प्रतीच्य साहित्योंमें 'रहस्यमय' ही कही गयी है। इसी कारणसे इस विषयपर कुछ लिखनेका मनको निःशङ्क साहस नहीं होता। परन्तु यह लेख महाराष्ट्र-मुकुटमणि योगिराज नाथपन्थप्रदीप श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी गीता-ज्ञानेश्वरीके छठे अध्यायके सुप्रसिद्ध वर्णनके आधारपर लिखना है। इसीलिये इतना साहस किया है।

'योग' शब्दका प्रयोग जब अन्तिम साध्यके साधनके अर्थमें किया जाता है तब उसके दो विभाग किये जा सकते हैं—एक ध्यान अथवा भावनायोग और दूसरा क्रियायोग। हठयोगमें, जिसे कुण्डलिनीयोग कह सकते हैं, उसका परिगणन दूसरे विभागमें होता है। एक ही स्थानको पहुँचानेवाले अनेक मार्ग हो सकते हैं। गन्तव्य स्थानमें पहुँचनेपर ये भिन्न-भिन्न मार्ग अभिन्न होकर एक हो जाते हैं, यह सही है; पर भिन्न-भिन्न मार्गोंमें भिन्न-भिन्न यात्रिशालाएँ, भिन्न-भिन्न दृश्य और भिन्न-भिन्न भोग हैं। इसी प्रकार मार्ग छोटे-बड़े भी होते हैं अर्थात् किसी मार्गसे चलनेमें समय अधिक और किसीमें कम लगता है। मोटर या रेलसे यात्रा करनेवालेको वह आनन्द और वह दृष्टि-सुख नहीं मिल सकता जो पैदल यात्रा करनेवालेको मिलता है। इस प्रकार गन्तव्य स्थानके नाते तो सब मार्ग एक ही माने जा सकते हैं, पर भिन्न-भिन्न मार्गोंपर चलनेके जो भिन्न-भिन्न सुख और अनुभव हैं उनके विचारसे ये मार्ग भिन्न-भिन्न ही हैं। इससे यह बात पाठकोंके ध्यानमें आ गयी होगी कि किसी मार्गको उत्तम-मध्यम कहना साध्यकी दृष्टिसे नहीं बनता। कारण, सब मार्गोंका गन्तव्य स्थान एक ही है। उत्तम-मध्यमकी बात यात्रीकी तैयारी, ताकत और तेजीपर निर्भर करती है। श्रीज्ञानेश्वर महाराजने जो दृष्टान्त दिया है, उसीको देखें। पक्षी जो फल चाहता है उसपर वह उड़नेके साथ ही पहुँचता है, पर मनुष्यको पेड़पर चढ़कर एक डारपरसे दूसरी डारपर, दूसरीसे तीसरीपर, इस प्रकार क्रमसे ही फलतक पहुँचना पड़ता है। फलतक पहुँचनेके ही दोनों मार्ग हैं। पर उनमें कौन उत्तम और कौन मध्यम है, इसका निर्णय तो जिस-तिसकी अपनी सामर्थ्यपर अवलम्बित है। परमात्मप्राप्तिके मार्गोंकी भी यही बात है। ध्यानयोग श्रेष्ठ है या कुण्डलिनीयोग श्रेष्ठ है, यह योगाभ्यासीके अधिकारकी बात है। योगाभ्यासी क्या चाहता है, यह जाने बिना इसका निरपेक्ष उत्तर नहीं दिया जा सकता।

ध्यान अथवा भावनायोगमें ज्ञान प्रधान है। इसके लिये वैसा ही अधिकारी भी होना चाहिये। सर्कसोंमें जैसे हिंस्र पशु रिंगमास्टरके वशमें होते हैं वैसे ही सब विकार इसके वशमें और सो भी विशेष प्रयासके बिना हों तो यह ध्यानयोगका अधिकारी हो सकता है। निःस्पृह होनेसे शरीरके दीर्घायु होनेकी या उसके नीरोग और बलवान् होनेकी उसे इच्छा ही नहीं होती। सिद्धियोंसे उसका जी नहीं ललचाता। इस कारण ज्ञानयोगी यदि परमोच्च स्थितिको भी प्राप्त हो जाय तो भी यह सम्भव

है कि उसका शरीर रोगी बना रहे। कुण्डलिनीयोगसे आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों लाभ हैं—शरीर स्वस्थ होता है, शरीरपर अपनी हुकूमत चलती है, सिद्धियाँ मिलती हैं और परमात्मतत्त्वका भी परम लाभ होता है। इसलिये इस कुण्डलिनीयोगका वर्णन सुनने-मात्रसे अनेकों लोग इसका साधन करनेकी ओर खिंच जाते हैं। इस योगकी सब बातें कुण्डलिनीके जागनेपर निर्भर करती हैं, इसलिये इस योगका प्रधान अङ्ग कुण्डलिनी है और इसीलिये इस लेखमें कुण्डलिनीका ही संक्षेपमें वर्णन करना है।

पहले यह बतलाना होगा कि कुण्डलिनी क्या है। योगी लोग कुण्डलिनीका जैसा वर्णन करते हैं उससे उसका स्वरूप-निश्चय करनेका बहुतोंने प्रयत्न किया है। इनमेंसे कुछका निष्कर्ष यहाँ देते हैं—

(१) इस विषयमें बिलकुल आधुनिक प्रयास बम्बईके डॉ० वसन्त रेले एफ० सी० पी० एस०, एल० एम० एस० का है। इन्होंने अपनी The Mysterious Kundalini* पुस्तकमें शरीरशास्त्र और योगशास्त्र दोनोंका विचार करके यह निश्चय किया है कि कुण्डलिनी दाहिनी वेगस नर्व (Right Vagus Nerve) है। फिर इस पुस्तकके ४६ वें पृष्ठपर रेलेजी कहते हैं—'It will thus be seen that the description of Vagus and its connections with the important plexuses of the sympathetic, runs parallel with the description of the Kundalini and her connections with the Chakras.'

अर्थात् 'वेगस नामकी स्नायु-ग्रन्थिका तथा उसका मेरुदण्डके साथ रहनेवाले स्नायु-ग्रन्थिदण्डके साथ जो सम्बन्ध है उसका, जैसा वर्णन है वैसा ही कुण्डलिनी और चक्रोंके साथ उसके सम्बन्धका वर्णन है।'

(२) आर्थर अवेलनने अपनी 'नागिनीशक्ति' (The Serpent Power) पुस्तकमें कुण्डलिनीको 'गुप्त संगृहीत शक्ति' कहा है। उसका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है—

'Kundalini is the Static Shakti.'

'It is the individual bodily representative of the great cosmic Powers (Shakti) which creates and sustains the universe.'

अर्थात् 'कुण्डलिनी संगृहीत शक्ति है। यह व्यष्टि-शरीरमें उस विश्व-महाशक्तिकी प्रतिनिधि है जो विश्वको उत्पन्न करती और धारण करती है।'

(३) सर जान बुडरफने डॉ० रेलेके ग्रन्थकी प्रस्तावनामें ही कहा है कि, 'रेलेजीका मत एक नवीन स्वतन्त्र आविष्कार है। पर कुण्डलिनी वेगस नर्व है, यह नहीं कहा जा सकता। वह एक बड़ी संगृहीत शक्ति (the Grand Potential) है।' 'शक्ति और शाक्त' नामक अपने ग्रन्थमें पृष्ठ १७० पर उन्होंने कहा है—

'Shortly stated Energy (Shakti) polarises itself into two forms namely static or potential (कुण्डलिनी) and dynamic (the working forces of the body as Prāna.')

अर्थात् 'शक्ति दो रूप धारण करती है, एक स्थिर या संगृहीत (कुण्डलिनी) और दूसरा कर्तृत्वशील (जैसे प्राण)।'

(४) स्वामी विवेकानन्द कुण्डलिनीके विषयमें अपने 'राजयोग' में कहते हैं—

'The centre where all residual sensations are, as it were, stored up is called Mulādhāra Chakra, and the coiled up energy of actions is Kundalini, the coiled up.'

अर्थात् 'जिस केन्द्रमें सब जीव-मनोभाव संगृहीत रहते हैं उसे मूलाधारचक्र कहते हैं और कर्मोंकी जो शक्ति कुण्डलित रहती है वह कुण्डलित (याने गिंडुली-सी बनी) होनेसे कुण्डली कहलाती है।'

(५) श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अपने ज्ञानेश्वरी नामक गीता-भाष्यमें छठे अध्यायका रहस्य समझाते हुए इस कुण्डलिनीयोगका बहुत विस्तृत और उत्तम काव्यमय वर्णन किया है। यह वर्णन करते हुए उन्होंने यह कहा है कि हम जिस रहस्यका वर्णन कर रहे हैं वह गीतामें प्रत्यक्षरूपसे नहीं है, यह नाथ-पन्थका रहस्य है और श्रोता इस विषयके मर्मज्ञ हैं, इसीलिये उनके सामने यह रहस्य प्रकट करते हैं, गीता अ० ६ श्लोक १४ का भाष्य करते हुए कुण्डलिनीके सम्बन्धमें श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—

* Bombay, D. B. Taraporewall Sons & Co.

'नागिनका बच्चा कुंकुममें नहाया हुआ-जैसा, अपनी देहको गिंडुली बनाये-जैसे सोता है (२२२), वैसे ही वह कुण्डलिनी अपनी देहको साढ़े तीन लपेटोंमें समेटकर नीचेकी ओर मुँह किये नागिन-सी सोयी रहती है।'

इतना ही अवतरण जिसने पढ़ा, वह कहीं यह न समझ ले कि ज्ञानेश्वर महाराज कुण्डलिनीको शरीरका एक सर्पाकार अंशमात्र समझते हैं। जिन ओवियोंका यह अनुवाद है, उसीके ऊपरकी ओवीमें ज्ञानेश्वर महाराजने कुण्डलिनीको 'शक्ति' कहा है। फिर इस शक्तिका वर्णन करते हुए २२८ वीं ओवीमें कहते हैं कि 'वैसी अवस्था प्राप्त होनेपर उसे शक्ति ही कहना चाहिये, यों वह सचमुचमें प्राण ही है।' इसकी अनेक अवस्थाओंका वर्णन कर ३०१ वीं ओवीमें वह अवस्था बतलाते हैं। जब 'कुण्डलिनीका कुण्डलिनी नाम छूट जाता है और उसे मारुत नाम प्राप्त होता है। पर इसका जो शक्तित्व है वह तबतक रहता ही है जबतक वह शिवमें नहीं मिल जाती।'

इससे पाठकोंने यह ताड़ लिया होगा कि ज्ञानेश्वर महाराज नाभि-स्थानके समीप संकुचित स्थानमें जमकर बैठी हुई वायुकी सुप्त संगृहीत शक्तिको ही कुण्डलिनी कहते हैं।

उपर्युक्त पाँच मतोंमें पहले मतको छोड़कर अन्य मतोंसे यही निश्चित होता है कि कुण्डलिनी एक प्रकारकी वायुकी सुप्त शक्ति है। पहला मत जो डॉ० रेलेका है उसका अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं। योगियोंके कथनानुसार कुण्डलिनी जब जागती है तब 'पिण्डमें पिण्डको खाकर' शिवके साथ एकत्वको प्राप्त होती है और जीवको अद्वयानन्द अनुभूत करा देती है। इसलिये अब यह देखना चाहिये कि किन उपायोंसे कुण्डलिनी जगायी जा सकती है।

श्रीज्ञानेश्वरादि योगियोंके मतसे कुण्डलिनी जगानेका उपाय वज्रासनपर खेचरीमुद्रा लगाकर बन्धत्रय साधकर बैठ जाना है। इस सम्बन्धमें श्रीज्ञानेश्वर महाराजद्वारा वर्णित विषयसे कुछ अवतरण देते हैं। प्रार्थना तो यही है कि यह सम्पूर्ण वर्णन पाठक मूलमें अवश्य पढ़ें।

एकान्त और शुचि देशमें स्थिर-मानस होकर समुचित आसन लगावे और सद्‌गुरु-स्मरणानुभव करके उसपर बैठे। यह बतलाकर आगे महाराज कहते हैं—

'मुद्राकी बड़ी महिमा है, वही अब सुनो। पिण्डलियोंको जाँघोंसे सटाकर पालथी मारे। पैरोंके दोनों तलवे टेढ़े करके उन्हें आधारचक्रके नीचे (गुद, शिश्नके बीचकी सीयनपर) ऐसे जमाकर रखे कि वे स्थिर रहें। यह ध्यानमें रहे कि दाहिने पैरका तलवा नीचे रहे, उसीसे सीयनको दबावे, इससे दाहिने पैरपर बायाँ पैर आप ही ठीक बैठ जाता है। गुद और शिश्नके बीच जो चार अङ्गुल जगह है उसको डेढ़ अङ्गुल ऊपर और डेढ़ अङ्गुल नीचे छोड़कर बीचोबीच जो एक अङ्गुल जगह बचती है वहाँ दाहिने पैरके तलवेके उत्तर भागसे अपना शरीर ऊपर तौलकर जोरसे दबावे। पीठके नीचेके हिस्सेको ऐसे हलके-से ऊपर उठावे कि उसे ऊपर उठाया है या नहीं—यह कुछ भी मालूम न हो, इसी प्रकार दोनों टखनोंको भी ऊपर उठावे।………… यह मूलबन्धका लक्षण है और इसीका गौण नाम वज्रासन है।…………'

'पश्चात् गला आकुञ्चित होता है और गलेके नीचेके गढे-से स्थानमें ठुड्डी अटक रहती है; वहाँ वह मजबूतीसे बैठ जाती है और छातीको दबाये रहती है। हे अर्जुन! जिस बन्धसे कण्ठमणि अदृश्य होता है उसे जालन्धरबन्ध कहते हैं।·····पेट पीठसे जा लगता है और हृदयकमल अन्दर खिल उठता है।····शिश्नस्थानके किनारेपर तथा नाभिस्थानके नीचेके हिस्सेमें जो बन्ध लगता है उसे वोढियान-बन्ध कहते हैं।····'

'····जो अपानवायु मूलबन्धसे रुद्ध होता है वह ऊर्ध्वगतिसे पीछे लौटकर ऊपर अटककर फुलाव पकड़ता है।·········रोगोंको पकड़-पकड़कर दिखाता है और तत्क्षण उनका नाश करता है, और शरीरमें पृथिवी और जलके जो अंश हैं उन्हें एक-दूसरेमें मिलाता है। अर्जुन! अपान वायु एक तरफ ये सब काम करता है और दूसरी तरफ वज्रासनकी उष्णता कुण्डलिनीशक्तिको जगाती है।' (ज्ञानेश्वरी, अ० ६। १९२—२२१)

कुण्डलिनी जागकर वह षट्‌चक्रोंको भेद करती है। शिवसे समरस होनेके लिये जाते हुए रास्तेमें शरीरके भीतर एक-एक करके सब भूत कैसे लय होते हैं, एक-एक भूतके लय होनेपर शरीरकी कान्ति कैसी बदलती है, साधकको तत्तत्स्थानमें कैसी-कैसी सिद्धियाँ

प्राप्त होती हैं और अन्तमें किस प्रकार जीव परमात्मैक्य होता है इत्यादि बातोंका बड़ा ही सुन्दर वर्णन ज्ञानेश्वर महाराजने इस अध्यायमें किया है। यह सम्पूर्ण वर्णन, स्थलसङ्कोचके कारण यहाँ नहीं दिया जा सकता। उसका कुछ महत्त्वपूर्ण अंश ही केवल नीचे देते हैं।

कुण्डलिनी जब जागती है तब बड़े वेगके साथ झटका देकर ऊपरकी ओर अपना मुँह फैलाती है, ऐसा मालूम होता है जैसे बहुत दिनोंकी भूखी हो और अब जागतेके साथ ही खानेको अधीर हो उठी हो। अपनी जगहसे नहीं हटती, पर शरीरमें पृथ्वी और जलके जो भाग हैं उन सबको चट कर जाती है। उदाहरणार्थ, हथेलियों और पाँव-तलोंको शोधकर उनका रक्तमांसादि खाकर ऊपरके भागोंको भेदती है और अङ्ग-प्रत्यङ्गकी सन्धियोंको छान डालती है। नखोंका सत्त भी निकाल लेती है। त्वचाको धोकर पोंछ-पाँछकर स्वच्छ करती और उसे अस्थि-पञ्जरसे सटाये रहती है। अस्तु। पृथिवी और जल—इन दो भूतोंको खा चुकनेपर वह पूर्णतया तृप्त होती है और तब शान्त होकर सुषुम्नाके समीप रहती है। तब तृप्तिजन्य समाधान प्राप्त होनेसे उसके मुखसे जो गरल निकलता है उसी गरलरूप अमृतको पाकर प्राणवायु जीता है।

कुण्डलिनीके सुषुम्नामें प्रवेश करनेपर ऊपरकी ओर जो चन्द्रामृतका सरोवर है वह धीरे-धीरे उलट जाता है और वह चन्द्रामृत कुण्डलिनीके मुखमें गिरता है। कुण्डलिनीके द्वारा वह रस सर्वाङ्गमें भर जाता है और प्राणवायु जहाँ-का-तहाँ ही स्थिर हो जाता है। तब उस समय योगीके शरीरकी कान्ति कैसी दीखती है सो ज्ञानेश्वर महाराजके ही शब्दोंमें सुनिये—

'शरीरपर त्वचाकी जो सूखी पपड़ी-सी रहती है वह भूसीकी तरह निकल जाती है। तब उस शरीरकी कान्ति केसरके रंगकी-सी अथवा रत्नरूप बीजके कोंपल-सी दीखती है। अथवा ऐसा मालूम होता है जैसे सायंकालके आकाशके रंगकी लाली निकालकर उससे वह शरीर बनाया गया हो अथवा आत्मचैतन्यके तेजका ही यह लिङ्ग बना हो।·········कनक-चम्पककी ही जैसी कला हो, या अमृतका पुतला हो, या कोमलताकी ही जैसे बहार आयी हो। शारदीय पूर्णिमाकी आर्द्रतामें जैसे चन्द्रबिम्बकी शोभा, या यह कहिये कि मूर्तिमन्त तेज ही आसनपर विराजमान हो। जब कुण्डलिनी चन्द्रामृत पान करती है तब ऐसी देह-कान्ति होती है और तब उस देहसे यमराज भी काँपते हैं।' (ज्ञानेश्वरी, अ० ६। २५३—५९)

उस योगीकी देहका प्रत्येक अङ्ग नया और कान्तिमय बनता है। अङ्ग-प्रत्यङ्गकी उस शोभाका वर्णन भी ज्ञानेश्वर महाराजने किया है। (ज्ञानेश्वरी २६०—६८)

यहीं उसे लघिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ज्ञानराज कहते हैं कि उसकी काया कञ्चन-कान्तिवाली हो जाती है। पर वह वायु-जैसी हलकी होती है। कारण, उसमें पृथिवी और जलके अंश नहीं होते। तब वह सागर-पारकी वस्तुको देखता, स्वर्गमें होनेवाले विचारोंको सुनता और चींटीके मनकी भी जान लेता है। वायुरूप घोड़ेपर सवार होता और पैरोंको बिना भिगाये जलपर चलता है। ऐसी अनेक सिद्धियाँ उसे प्राप्त होती हैं।

दो भूतोंको खाकर कुण्डलिनी जब हृदयमें आती है तब अनाहतकी भाषा बोलती है। वहाँ घोषके उस कुण्डमें नाद-चित्रोंके ॐकारसे रूप खिंचे रहते हैं। तब हृदयाकाशके मध्यवर्ती आलयमें रही हुई कुण्डलिनी तीसरे तत्त्व तेजकी छाक अतृप्त चैतन्यको अर्पण करती है (तेजको चट कर जाती है)। उस समय वह कुण्डलिनी ऐसी लगती है जैसी वायुकी मूर्ति हो और उसने पहना हुआ पीताम्बर उतार दिया हो। इसका यह परिणाम होता है कि 'नाद, बिन्दु, कला, ज्योति'— इन सबका कोई नाम-निशान नहीं रह जाता। वहाँ न कोई मनोनिग्रह है, न प्राणवायुका निरोध है और न ध्यान करनेकी इच्छा ही है। कुण्डलिनीका तेज जब लय होता है तब देहका कोई आकार नहीं रह जाता, देह वायुरूप बन जाती है और तब उस योगीसे संसारकी आँखोंमें छिपते बनता है। देह वही है जो पहले थी पर वह ऐसी बन जाती है जैसे आकाशकी बनी हो। ऐसी देह जब बन जाती है तब उसे खेचर कहते हैं। देहधारी लोगोंमें ऐसा रूप प्राप्त होना एक बड़ा चमत्कार है। उसे अणिमादिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार भूतत्रयका लोप होनेपर प्राणवायु अकेला रह जाता है। पर वह शरीराकार ही रहता है। यह प्राणवायु भी पीछे वहाँसे निकलकर मूर्ध्नि-आकाशमें जा मिलता है। तब कुण्डलिनी कुण्डलिनी नहीं कहाती,

उसे 'मारुत' नाम प्राप्त होता है। पर शिवके साथ जबतक ऐक्य नहीं होता तबतक शक्तिमत्त्व रहता ही है।

पीछे काल पाकर गगनमें गगनके मिलनेकी जो अवस्था है उसका अनुभव योगीको प्राप्त होता है। उसका वर्णन नहीं हो सकता। कारण, स्वपरवेद्य वैखरी इस स्थानसे बहुत ही पीछे रह जाती है। उस अवस्थाको 'अनिर्वाच्य महासुख' कहकर ही सन्तोष कर लेना पड़ता है। यथार्थमें वह स्थान ऐसा है कि वहाँ 'शब्द न पहुँचकर पीछे लौट आता है, सङ्कल्प समाप्त हो जाता है और विचारकी हवा भी वहाँ नहीं लगती।'

कुण्डलिनीके जागनेपर जीव स्वयं ही निज रूपको प्राप्त होकर सुखरूप हो जाता है।

यहाँतक इस बातका विवरण हुआ कि कुण्डलिनी क्या है, वह कैसे जागती है और कैसे जागकर एक-एक भूतको खाकर अन्तमें शिवस्वरूप होती है। परमार्थसाधनमें कुण्डलिनीयोग एक ऐसा साधन है कि जिससे सूक्ष्मके साथ साधकके स्थूल शरीरका भी स्थित्यन्तर होता है। आध्यात्मिक लाभके साथ साधकका भौतिक लाभ भी होता है। ज्ञानेश्वर महाराजके ही शब्दोंमें अन्तिम बात कहनी है कि इस विषयमें लेख लिखा जा सकता है, व्याख्यान दिया जा सकता है पर यह विषय 'जाना जा सकता है अनुभवसे ही।'

परा और अपरा शक्ति

(लेखक—श्रीरामचन्द्र शङ्कर टक्की महाराज)

१—'शक्ति' शब्दका विवेचन

'शक्ति' शब्दकी व्याख्या देवीभागवतमें इस प्रकार की गयी है—'श' शब्द (मङ्गलवाचक होनेसे) ऐश्वर्यवाचक है और 'क्ति' शब्द पराक्रमके अर्थमें है। इससे ऐश्वर्य और पराक्रमको देनेवाली 'शक्ति' कहलाती है।

व्यवहारमें 'शक्ति' का अर्थ है सामर्थ्य किंवा बल, और परमार्थमें 'शक्ति' का अर्थ है उपाधि (उप=पासमें आ+धि=रखना) अर्थात् सामान्यतः विशेष गुण और विशेषतः जिसके कारण पदार्थोंके स्वभावोंमें रूपान्तर हुआ-सा प्रतीत होता है। इस ईश-शक्तिको जगद्वन्द्य श्रीमद्भगवद्गीतामें माया ('**सम्भवाम्यात्ममायया**' ४। ६), योग ('**पश्य मे योगमैश्वरम्**' ९। ५) और प्रकृति ('**प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य**' ९। ८) आदि नाम दिये गये हैं। इसे माया ('मा' अर्थात् जो नहीं है, 'या' अर्थात् जो न होकर भी भासमान होती है) ऐसा कहनेका कारण यह है कि उसका वास्तविक अस्तित्व नहीं है, किन्तु सूर्य-किरणोंपर जिस प्रकार मृगजलका भास होता है उसी प्रकार ईश्वरपर वह भासमान होती है। योग शब्द '**युज्**' (जोड़ना) धातुसे बना है उसका धात्वर्थ जोड़—मिलाप है, पीछे स्थिति प्राप्त करनेका उपाय साधन, युक्ति, कौशल, चातुर्य इत्यादि अर्थोंमें योग शब्दका प्रयोग हुआ है, इसलिये ईश-शक्तिको 'योग' भी कहते हैं। कारण, ईश्वर जगद्रूप होकर भी अपनी शक्तिके अर्थात् चातुर्यके बलपर त्रिकालाबाधित रहता है। इसे वेद और शास्त्रोंने सुवर्णअलङ्कारका दृष्टान्त देकर इस प्रकार समझाया है—जिस प्रकार सुवर्ण अलङ्कार बनकर भी अपना सुवर्णत्व बनाये ही रहता है, उसी प्रकार चैतन्यस्वरूप ईश्वर विश्वरूप होकर भी अपना चैतन्य कहीं खो नहीं देता। परन्तु दूधमें यह शक्ति नहीं है। वह दही होनेपर दूध नहीं रह जाता।

'प्रकृति' शब्दकी व्युत्पत्ति देवीभागवतमें इस प्रकार दी गयी है—

'मुख्य सत्त्वगुणके लिये 'प्र' अक्षर है, मध्यम रजोगुणके लिये 'कृ' अक्षर है और 'ति' अक्षर तमोगुणका वाचक है (सारांश 'प्र' 'कृ' और 'ति' तीनों अक्षरोंसे युक्त नाममें सत्त्वादि तीन गुणोंका अर्थ व्यक्त है)।' उसी प्रकार ईश-शक्तिमें भी सत्त्व, रज और तम—तीनों गुण समाविष्ट होनेके कारण उसे 'प्रकृति' नाम दिया गया है। माया और प्रकृति—इन ईशशक्तिके दो नामोंके सम्बन्धमें निम्नलिखित विवरण मनन करनेयोग्य है—

माया और प्रकृति एक ही हैं। मायाको दूसरी स्थिति प्राप्त होनेपर प्रकृति नाम मिल जाता है। प्रथम माया शुद्धरूपिणी होती है। त्रिगुणोंकी उत्पत्ति उससे होनेपर उन गुणोंके सहित उसे 'प्रकृति' नाम प्राप्त होता है। कन्या उत्पन्न होनेपर उसके माँ-बाप उसका नाम

गोदावरी या यमुना रखते हैं। उसके विवाह योग्य होनेपर उसका योग्य वरके साथ विवाह कर दिया जाता है। मान लीजिये श्वशुर-गृहमें जानेपर उसका पार्वती अथवा रमा यह नाम रखा जाता है। यहाँ पार्वती या रमा और गोदावरी या यमुना दो भिन्न व्यक्तियोंके नाम नहीं हैं। परन्तु परिस्थिति बदलनेके कारण उसी लड़कीको एक दूसरा नाम मिल जाता है। उसी तरह मायाका गुणवती होना उसका विवाह योग्य अवस्थाको प्राप्त होना है। जब वह पुरुषको पतिरूपमें स्वीकार कर लेती है तो उसे 'प्रकृति' नाम प्राप्त होता है। तदनन्तर उस पुरुषकी सत्तासे 'प्रकृति' से चराचर उत्पन्न होते हैं।

२—शक्ति या प्रकृतिके मुख्य दो भेद—'परा' और 'अपरा'

इस शक्तिके मुख्य भेद दो हैं—(१) परा और (२) अपरा। उनकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका विस्तृत विवरण इस प्रकार है।

यह सृष्टि उत्पन्न होनेके पहले निर्विकल्प अर्थात् जहाँपर अविद्याकृत मिथ्या विकल्प, दृश्यभेद आदि कुछ भी नहीं है, अनन्त अर्थात् जिसका देशकालादि, (किस जगहसे किस जगहतक या किस समयसे किस समयतक) आद्यन्त नहीं है, हेतुदृष्टान्तवर्जित अर्थात् जिसका निमित्त (क्यों है? यह पूछनेपर निमित्त नहीं दिखायी देता) और जो अमुक पदार्थके समान है ऐसा नहीं कहा जा सकता, इस प्रकारका एक ही निर्गुण, निराकार ब्रह्म था। उसीमें **'अहं ब्रह्मास्मि'** मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकारकी प्रथम स्फूर्ति हुई। इसीको मूलमाया, अव्यक्त प्रकृति, विद्या, आदिशक्ति, शुद्ध सत्त्व इत्यादि नाम दिये गये हैं। इसमें जो व्यापक अर्थात् स्फूर्तिको जाननेवाला चैतन्य या ज्ञान होता है उसे ही ईश्वर या सगुण ब्रह्म कहते हैं। तदुपरान्त माया और ईश्वरके संयोगमें सृष्टि उत्पन्न करनेकी इच्छा पैदा हुई। यह दूसरी स्फूर्ति थी। इसे त्रिगुणसूत्ररूपिणी माया, गुणवती माया या अविद्या, प्रकृति इत्यादि कहते हैं। यह स्वयं अपनेको 'माया' कहने लगी। इसे ही अज्ञान कहते हैं। इसने स्वरूपपर आवरण डाला, इसमें संकल्प उत्पन्न हुआ कि 'मैं ही जगद्रूप होऊँगी।' इस संकल्पका नाम महत्तत्त्व है। उस महत्तत्त्वमें जो सत्त्वांश था उसमें जो ईश्वरका प्रतिबिम्ब बिम्बित हुआ उसे ब्रह्मा कहते हैं। महत्तत्त्वसे अहंकार पैदा हुआ, इस अहंकारसे सत्त्व, रज, तम—ये तीन गुण पैदा हुए। ये ही संसारके कर्त्ता-धर्ता विधाता हैं। इनमें रजोगुणकी क्रियाशक्ति, तमोगुणकी द्रव्यशक्ति और सत्त्वगुणकी ज्ञानशक्ति होती है। क्रियाशक्तिसे प्राण और इन्द्रिय हुए, ज्ञानशक्तिसे अन्तःकरण, मन, बुद्धि इत्यादि देवता उत्पन्न हुए और द्रव्यशक्तिसे आकाश इत्यादि पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए। अनन्तर चौदह भुवनोंकी रचना हुई। पातालसे सत्यलोकतक अनन्त गोल मिलकर एक ही विराट् शरीर बना। उसमें चेतना न हुई इसलिये मायाधीश मूलपुरुषके अपने अंशरूपसे उसमें प्रविष्ट होनेपर विराट्में कार्य-क्षमता आयी। जिस अन्वयसे सृष्टिकी कल्पना हुई उसी अन्वयसे प्रलयकालमें सृष्टि जहाँ-की-तहाँ मिल गयी। आकाशादि भूत तमोगुणमें, उसी तरह रज, सत्त्व भी एक-दूसरेमें मिलकर तमोगुणमें लीन हो गये। तमोगुण अहंकारमें, अहंकार महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्व अविद्या मायामें, अविद्या माया मूल मायामें और मूल माया ब्रह्ममें लीन हो गयी।

यह वर्णन भगवद्गीताके सातवें अध्यायमें इस प्रकार दिया गया है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

(श्लोक ४—६)

३—पराका विवरण

परा विद्या अर्थात् परा शक्तिकी व्याख्या मुण्डकोपनिषद्में इस प्रकार दी हुई है—

'परा यया तदक्षरमधिगम्यते।' (१।१।५)

(जिसके द्वारा अविनाशी ब्रह्मका ज्ञान होता है, उसे परा विद्या कहते हैं।) उसका वर्णन श्रीमच्छङ्कराचार्यजीने अपने प्रश्नोपनिषद्के भाष्यमें इस प्रकार किया है—

पराविद्यागम्यम् असाध्यसाधनलक्षणम् अप्राणमनोगोचरम् अतीन्द्रियाविषयं शिवं शान्तम् अविकृतमक्षरं सत्यं पुरुषाख्यम्।

इस विद्याको भगवद्गीताके ९ वें अध्यायके दूसरे श्लोकमें—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

सब विद्याओंका राजा और सब गुह्योंका राजा कहा गया है। और जिसमें यह विद्या वास करती है उसे भगवद्गीताके १६ वें अध्यायके तीसरे श्लोकमें दैवीसम्पत्तिवान् कहा गया है। इसी शक्तिको—

सत्यं दानं तपः शौचं संतोषो ह्रीः क्षमार्जवम्।
ज्ञानं शमो दया ध्यानमेषां धर्मः सनातनः॥

इस व्यासोक्तिमें 'सनातन-धर्म' कहा गया है। उसी प्रकार इसी शुद्ध सत्त्वगुणी प्रकृतिको भगवद्गीताके १४ वें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें 'शाश्वतधर्म' कहा है, यह बात उस श्लोककी यथार्थदीपिका टीकासे सिद्ध होती है। यही वैष्णवी, नारायणी, शिवा, शाम्भवी, सौरी प्रभा, गाणेशी और आदिशक्ति है।

इस शक्ति अर्थात् भक्तिके सम्बन्धमें श्रीज्ञानेश्वर महाराज 'भावार्थदीपिका' में कहते हैं—

'हे अर्जुन! यह भक्ति उत्तम होनेके कारण मैंने कल्पके आरम्भमें भागवतद्वारा ब्रह्माजीको बतलायी। ज्ञानी लोग इसे 'स्वसंविती' कहते हैं, शैव इसे 'शक्ति' कहते हैं और हमलोग इसे श्रेष्ठ भक्ति कहते हैं।'

४—अपराका विवरण

अपरा विद्याकी अर्थात् अपरा शक्तिकी व्याख्या मुण्डकोपनिषद्में इस प्रकार है—

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।

(१। १। ५)

अपरा विद्या अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और उनके अङ्ग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। उसका वर्णन श्रीशङ्कराचार्यजीने अपने प्रश्नोपनिषद्के भाष्यमें इस प्रकार किया है—

अपराविद्यागोचरं संसारं व्याकृतविषयं साध्यसाधन-लक्षणं अनित्यम्।

यह विद्या जीवोंको जन्म-मरणसे नहीं छुड़ा सकती, अतः इसे भगवद्गीताके ७ वें अध्यायमें 'अविद्या' अथवा 'गुणमयी माया' कहा है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(श्लोक १४)

इसका विशद अर्थ इस प्रकार है—

मैं देव अर्थात् स्वप्रकाश हूँ और यह त्रिगुणसूत्ररूपिणी माया मेरे आश्रयसे है इसलिये इसे दैवी कहते हैं। जो लोग मेरी शरण आते हैं अर्थात् मेरे सिवा और कुछ भी नहीं है यह प्रतिपादन करते हैं वे इस मायासे सहजमें छुटकारा पा जाते हैं अर्थात् श्रीज्ञानेश्वरजीके कथनानुसार मायानदीके इस तीरपर मायाका जल ही सूख जाता है। इस उपायके सिवा अन्य किसी उपायसे इसे पार करना अत्यन्त कठिन है।

इस अविद्यामें 'जगद्रूप मैं ही बनूँगा' इस प्रकारका जो सङ्कल्प उठा वही भगवद्गीताके १५ वें अध्यायके निम्नलिखित श्लोकोंमें वर्णित 'ऊर्ध्वमूलमधःशाख वृक्ष' है।

संसार एक अश्वत्थ वृक्ष है। उसका मूल ऊपर है और शाखाएँ नीचेकी ओर फैली हुई हैं और वेद इन्हींके पत्ते हैं। इस अश्वत्थ वृक्षको जो अव्यय समझता है वही वेदवेत्ता है। गुणोंसे बढ़ी हुई और विषयरूपी डालियोंवाली ऊपर-नीचे दोनों ओर इस वृक्षकी शाखाएँ फैली हुई हैं। इन शाखाओंमें कर्मरूपी अनेक जड़ें निकलती हैं और उनसे इस लोकमें जीव बँधे रहते हैं। इस अश्वत्थका कोई रूप नहीं है अतः उपादान कारणरूपसे उसमें अव्ययत्व मिलता है। इसका अन्त भी नहीं है और आदि भी नहीं है, और न प्रतिष्ठा ही है। ऐसे इस दृढ़मूल अश्वत्थ वृक्षको ज्ञानशस्त्रसे काट डालना चाहिये। अनन्तर उसमें उस पदको ढूँढ़ना चाहिये जहाँ जानेपर पुनरावृत्ति नहीं होती। जिससे अनादिप्रवृत्ति फैली हुई है उस आद्य पुरुषको अर्थात् सगुण स्वरूपको प्राप्त हूँगा, इस भावनाके साथ उस पदको ढूँढ़ना चाहिये। (श्लोक १—४)

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चेति षण्णां भग इति स्मृतिः॥

भगवान्के षड्गुणप्रदर्शक स्मृतियोंमें भी उस चित्कनककी अपरा प्रकृतिका अर्थात् जगदालङ्कारका वर्णन किया है। यह बात उस स्मृतिकी यथार्थ बोधिनीकी निम्नलिखित टीकासे स्पष्ट होती है।

'ऐश्वर्यका अर्थ है सामर्थ्य। वास्तवमें यह जगत् न होकर भी इन्द्रियोंद्वारा मिथ्या भासित होता है, यह भगवान्का ऐश्वर्य ही है। अविद्यासे सारा संसार सत्य भासता है। परन्तु विद्यासे यह देखनेमें आता है कि वह भगवान्का अघटित-घटना-योग है। अतः यह योग भगवान्का ऐश्वर्यदर्शक है। अविद्याजनित कर्म-बलसे सुख-दुःखरूपी विषम फल भोगने पड़ते हैं। वह ज्ञानदृष्टिसे

भगवान्‌के ही रूप दिखायी देते हैं। इस प्रकारके विषम फल जीवोंको भोगने पड़ते हैं तथापि भगवान् सम और सदय हैं, यह बात पाँचवें अध्यायमें सिद्ध हुई है। इसलिये उसमें 'धर्म' यह गुण लगता है। यह समसदयत्वरूपी धर्मगुण ज्ञानी मनुष्य कर्ममें देखता है। हर एकका उत्तम कर्तृत्व उसके यशका चिह्न होता है। इसी न्यायसे संसारकी अघटित घटना भगवान्‌का यश दर्शित करती है और ज्ञानी पुरुष उसे वैसा ही देखता है। भूत, पृथ्वी, जल, तेज आदि न होकर भी भासमान होते हैं, यह मायाका खेल है। यह माया ही श्रीरूपिणी है और चराचर इसी मायाका रूप है। क्योंकि उसे धारण करनेवाले 'श्रीधर' अरूप हैं। श्री और श्रीधर दोनों मायाके ही रूप हैं। उन दोनोंमें एक ही प्रकाशक ब्रह्म हैं। परन्तु 'मैं माया हूँ' यह भाव श्रीरूप होता है और 'मैं ब्रह्म हूँ' यह भाव श्रीधररूप होता है। चित्स्वरूप श्रीधर चराचररूप मायाको धारण करता है, परन्तु स्वयं अरूप रहता है यह भक्त जानता है। अतः चराचरका आकार भगवान्‌की श्री अर्थात् माया है यह बात वह देखता है। व्यावहारिक दृष्टिसे श्रीका अर्थ सम्पत्ति होता है। अनेक वस्तुओंकी समृद्धि अर्थात् अनेकत्व सम्पत्तिदर्शक है। बहुत-सा धन, अनेक नौकर, कई घोड़े-गाड़ियों और घरोंके मालिकको श्रीमान् कहते हैं, उसी प्रकार अनन्त सृष्टिका ईश भगवान् है अतः यह उसकी श्री है, यह भी ज्ञानी देखता है। ज्ञान चित्स्वरूप है और वह वृत्तिरूप सात्त्विक ज्ञानका प्रकाशक है। इसी ज्ञानको भक्त चराचरमें देखता है। मायाके कारण निर्गुण ईश्वरत्वका प्रत्यय होता है। ईश्वर सृष्टि करनेका सङ्कल्प करता है, तब साक्षित्व उत्पन्न होता है। इस साक्षित्वके साथ अपनेको छः भावोंसे कल्पित करता है। वे छः भाव ये हैं—(१) जननभाव, (२) अस्तित्वभाव, (३) वर्द्धन अर्थात् बढ़नेका भाव, (४) परिणामभाव अर्थात् वृद्धि रुकनेका भाव, (५) क्षयभाव अर्थात् अङ्गक्षय होनेका भाव और (६) नष्ट होनेका भाव। इन भावोंका वह साक्षी होकर रहता है। चराचरोंमें इन छः भावोंके देखनेको 'ज्ञान' कहा गया है। अपना आत्मा अर्थात् भगवान्‌के ही ये भाव हैं, यह समझकर उनसे युक्त चराचर संसारको भक्त भगवद्रूप देखता है। अपनेमें सब कुछ कल्पना करके भी भगवान् स्वयं केवल साक्षित्वसे ही रहते हैं, यही उनका वैराग्य गुण है। सर्व चराचर संसार इन गुणोंका दर्शक है, अतः ज्ञानी भक्त उसे भगवद्रूप देखता है। सारांश भगवान्‌के षड्गुण चराचर सृष्टिमें देखनेमें आते हैं इसलिये चराचर भगवद्रूप है यह सिद्ध हुआ। चराचर भग है और उसका प्रकाशक आत्मा है; अतः चराचर आत्मा भगवान्‌का शरीर है।'

भण्डासुर-युद्धका रहस्य

(लेखक—श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)

ललितोपाख्यान आदि कई तन्त्र-ग्रन्थोंमें भण्डासुरके युद्धका वर्णन है। उसकी कथा संक्षेपमें यों है—

श्रीशिवद्वारा कामके भस्म होनेपर श्रीगणेशने एक बार उस भस्मको मनुष्याकार बना दिया और वह सजीव हो गया। उसने श्रीमहादेवकी तपस्याकर अमोघ बल प्राप्त किया और साठ हजार वर्षतक राज्य करनेका वर पाया, उसके बाद वह तीनों लोकोंका आधिपत्य पाकर बड़ा उत्पात करने लगा। वह सदा विषय-भोगमें लिप्त रहा करता था और अपने स्वार्थसाधनके लिये लोगोंकी धन-सम्पत्ति छीनकर उन्हें नाना प्रकारसे क्लेश पहुँचाया करता था। किन्तु साथ ही यज्ञ, तपस्या और शिवाराधना भी करता था। अर्थात् उसके यज्ञ और तपस्याका उद्देश्य दूसरोंको पीड़ा पहुँचाकर स्वार्थ-साधन करना था। उसके द्वारा इन्द्रादि देवता भी श्रीहत हुए। इस दुरङ्गे कर्मके कारण उसका नाम भण्डासुर पड़ा। भण्डासुरके उत्पातके निवारणार्थ श्रीविष्णुने अपनी मोहिनी मायाके द्वारा भण्डासुरको यज्ञ और शिवाराधनासे निवृत्त किया। क्योंकि तमोगुणी पुरुष यदि यज्ञ और तपस्या हिंसा आदि दुष्कर्मके सम्पादनके निमित्त करते हैं तो उनके द्वारा समाजका बहुत बड़ा अनिष्ट होता है, जो साधारण प्रकारसे सम्भव नहीं है। अवसर जानकर इन्द्रने हिमालयमें भण्डासुरके विनाशार्थ श्रीपराशक्तिकी तपस्या प्रारम्भ की। जब भण्डासुरको इन्द्रकी तपस्याकी बात मालूम हुई तब वह उसमें विघ्न डालनेके निमित्त वहाँ गया; किन्तु पराशक्तिकी कृपासे वह तपस्यास्थलमें प्रवेश न कर सका। इस समयतक साठ हजार वर्षकी उसके

राज्य करनेकी अवधि भी बीत चुकी थी, इन्द्रकी तपस्याके फलस्वरूप पराशक्तिकी श्रीललिता-मूर्तिका प्रादुर्भाव हुआ। इसी श्रीललिता देवीने भण्डासुरसे युद्धकर उसे परास्त किया।

अब हम इस युद्धके आध्यात्मिक रहस्यपर विचार करें। श्रीशिवने क्रोधकर तृतीय ज्ञानचक्षुकी अग्निसे जो कामको भस्म किया उससे कामका केवल रूपान्तर हुआ और भस्म होनेपर भी वह बीजरूपसे वर्तमान रहा। धातुके भस्ममें अधिक गुण रहता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि काम जो यथार्थमें अहङ्कारका भी बीज है, उसका विनाश केवल शाब्दिक ज्ञानद्वारा या उसपर घृणा अथवा क्रोध करनेसे नहीं हो सकता। ऐसा करनेसे वह दब जायगा और भस्म होकर भी वर्तमान रहेगा। काम ऐसा प्रबल है कि भस्म होनेपर भी वह कालान्तरमें फिर प्रकट हो सकता है। इसी नियमके अनुसार कालके भस्म होनेके बाद फिर उसकी उत्पत्ति हुई।

गणेश गणोंके ईश हैं और शास्त्रीय विद्याके देवता हैं। शास्त्रके तर्कके जालके कारण और ज्ञानयोगके '**अहं ब्रह्मास्मि**' भावमें सूक्ष्म अहंकारके वर्तमान रहनेपर कामरूप अहङ्कारका पुनः उत्थान सम्भव है और उस समय वह महाघोर रूपमें प्रकट होता है। ज्ञानकी भित्तिपर जो अहङ्कार प्रकट होता है वह और भी महान् अनर्थकारी होता है। उसके प्रभावमें आकर मनुष्य कुत्सित कर्म करनेसे भी नहीं भय करता और ज्ञानकी ओटमें रहनेके कारण समझता है कि मैं अकर्त्ता हूँ। रावण आदि राक्षस ऐसे ही ज्ञानी थे जो ज्ञानकी ओटमें घृणित-से-घृणित कर्म करते थे। ऐसे व्यवहारको भण्डासुर कहते हैं अर्थात् बाह्यमें ज्ञानी बने रहना किन्तु अभ्यन्तरमें ठीक उसके विपरीत घोर विषयासक्त रहना। इसी अवस्थाको भण्डावस्था कहते हैं। इस भण्डज्ञानके कारण अनेकों असत्य मत-मतान्तर बन जाते हैं जो धर्मके नामपर चलकर संसारकी बड़ी हानि करते हैं। इसी भण्डताके कारण ज्ञानके नामपर अविहित और घृणित आहार, व्यवहार, मैथुन, पान आदि किये जाते हैं। ऐसे ज्ञानी प्रारम्भमें यज्ञ, तपस्या और शिवाराधना भी करते हैं, जैसे रावणादि राक्षस करते थे; किन्तु अन्तमें विष्णु-मायासे मोहित होकर उनका भी त्याग कर देते हैं। विष्णु-माया ऐसे भण्ड-ज्ञानका मूलोच्छेद चाहती है। यह काम-बीज विरोध-भावनासे अर्थात् केवल क्रोधजनित वैराग्यकी अग्निसे पूर्णरूपसे नष्ट नहीं हो सकता, बल्कि इससे तो केवल उसका रूपान्तर हो जायगा। थोड़े समयके लिये इसका अभाव-सा मालूम होगा, किन्तु बीजरूपमें रहनेके कारण उस बीजसे, यद्यपि वह भस्मके समान है, शास्त्रज्ञानके अहङ्काररूप गणेशद्वारा सज्जित होकर, वह फिर महाभयङ्कर रूप धारण करेगा। फिरसे यह अहङ्कार स्वार्थ-साधनके निमित्त तपस्यासे युक्त होकर बहुत प्रबल हो जायगा और भण्डरूपमें बहुत बड़ी हानि करेगा। भण्डासुरका नाम भण्ड कार्य करनेके कारण ही पड़ा था। ज्ञानमार्गमें कामबीजको घृणाकी दृष्टिसे देखकर शुष्क वैराग्यकी ज्ञानाग्निसे दबाने अथवा लोप करनेकी चेष्टा करनेसे सफलता नहीं मिलती। संसारमें किसी वस्तुका अभाव हो ही नहीं सकता, केवल वस्तुका रूपान्तर भर होता है।

श्रीललिता महाविद्याने इस कामबीजरूप भण्डासुरको ज्ञानका वैराग्यरूप उग्र वेश धारणकर विनष्ट नहीं किया, बल्कि अपनी भक्तिरूपा ह्लादिनी शक्तिद्वारा मधुरभाव धारण कर, उसे नष्ट न कर (क्योंकि कोई भी वस्तु एकदम नष्ट नहीं हो सकती) स्वयं मधुरभावमें परिवर्तित कर दिया। श्रीललितादेवी स्वयं सौन्दर्यका चरम रूप थीं और उनके अस्त्र केवल इक्षुदण्ड और पुष्प थे। इक्षु मधुरताका मूल है, जिसका तात्पर्य यह है कि यह श्रीललितोपासना मधुरातिमधुर भाव है और यह शुष्क वैराग्यरूप न होकर प्रेम और आनन्दरससे परिपूर्ण है। श्रीललिताके अन्य नाम काम, कामद, कामेश्वरी, कामाक्षी, सुन्दरी आदि हैं। किन्तु यह काम भोगात्मक विषय-जनित न होकर ब्रह्मानन्दरसात्मक है, जैसा कि इस श्लोकसे भी प्रकट है—

जयाखिलसुराराध्ये जय कामेशि कामदे।
जय ब्रह्ममयि देवि ब्रह्मानन्दरसात्मिके॥

(ललितोपाख्यान ८। २)

इस मधुर और सौन्दर्यभावके द्वारा रजोगुणी काम शुद्ध, निष्काम, त्यागमूलक प्रेमरूपमें परिणत हो जाता है। व्रजकी गोपियाँ इसी मधुरभावकी उपासिका थीं। गौतमी तन्त्रका वचन है—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येते वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः॥

तात्पर्य यह कि कोरे ज्ञान-वैराग्यसे काम-बीज अहंकारका पूरा दमन नहीं हो सकता और बाहरसे दमन

हुआ-सा मालूम होनेपर भी उसकी पुनरुत्पत्तिकी सम्भावना रहती है। किन्तु प्रेमाभक्ति अर्थात् मधुरभावकी उपासना करनेसे यह काम एकदम प्रेममें परिवर्तित हो जाता है और इस परिवर्तनद्वारा उसके पूर्वस्वरूपकी रूप-रेखा एकदम लोप हो जाती है, जिससे उसकी पुनरुत्पत्तिकी सम्भावना ही नहीं रहती। इस मधुरभावकी भक्ति मोक्षसे भी परे है और उसके लिये ब्रह्मर्षि भी लालायित रहते हैं। इस मधुरोपासनाकी साधना यम, नियम, स्वाहा और स्वधारूप लोकहितार्थ निष्काम यज्ञ, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि हैं (देखो, ललितोपाख्यान, अध्याय ८, श्लोक १३—१५)। स्वाध्याय अर्थात् जप, ईश्वरप्रणिधान अर्थात् उपासना नियमके अंग हैं। इस मधुरभावकी अधिष्ठात्री देवी श्रीललिताजीके पति श्मशानवासी दिगम्बर वैराग्यरूप श्रीशिव नहीं, वरं श्रीकामेश्वर शिव हैं, जिनका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

कोटिकन्दर्पलावण्ययुक्तो दिव्यशरीरवान्।
दिव्याम्बरधरः स्त्रग्वी दिव्यगन्धानुलेपनः।
किरीटहारकेयूरकुण्डलाद्यैरलङ्कृतः ॥

(ललितोपा० ९। २०)

शास्त्रज्ञान जब भक्तिभाव (मधुर ललितभाव)-से युक्त होता है तब वह भी विद्याशक्तिका सहायक होता है। इसी कारण इस युद्धमें श्रीगणेशजीने भी श्रीललितादेवीकी ओर होकर भण्डासुरकी सेनाके साथ युद्ध किया।

अब भण्डासुरके युद्धके अस्त्राघातपर किञ्चित् विचार करना चाहिये, जिससे यह सिद्ध होगा कि यह युद्ध आध्यात्मिक युद्ध था। भण्डासुरने पाषण्डका प्रयोग किया, जिसका संहार गायत्रीद्वारा देवीने किया। स्मृतिनाश अस्त्रको धारणा द्वारा नष्ट किया गया। यक्ष्मा आदि रोगरूप अस्त्रोंका प्रयोग होनेपर तीन नामके महामन्त्रके प्रयोगसे सब रोग नष्ट हुए। तीन नामका यह मन्त्र इस प्रकार है—'**अच्युतानन्तगोविन्द०**।' इसी कारण श्रीधन्वन्तरिकी यह उक्ति प्रसिद्ध है—

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

भण्डासुरने हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण, कंस, महिषासुरको उत्पन्न किया, जिनका पराभव श्रीललितादेवीने अपनी अँगुलीके नखके अग्रभागसे वाराह, नृसिंह, राम, कृष्ण, दुर्गा आदिको उत्पन्न करके किया।

युद्धके अन्तमें भण्डासुरका परिवर्तनरूप नाश महाकामेश्वर अस्त्रसे हुआ, अर्थात् कामबीजरूप भण्डासुर गुणातीत महाप्रेम-बीजके स्पर्शसे अपने रजोगुणके भावको त्यागकर शुद्ध सत्त्वमें परिवर्तित हो गया। यह प्रेमास्त्र केवल पराशक्ति अर्थात् श्रीललिता, सीता, राधा आदिके सम्बन्ध और कृपासे ही प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि यह प्रेम उनका अपना रूप है।

इस आख्यानका मूल सिद्धान्त यह है कि श्रीललिता देवीसे अर्थात् दैवी प्रकृतिसे सम्बन्ध स्थापित कर, उस शक्तिकी मधुरोपासनाकी सहायतासे, रजोगुणी कामको सत्त्वगुणमें और तत्पश्चात् निर्गुणात्मक शुद्ध निष्काम और त्यागात्मक प्रेममें परिवर्तित करना चाहिये, फिर उस प्रेमको अपने परदेवता श्रीइष्टदेवके चरण-कमलमें संयोजित करना चाहिये। यदि ऐसा साधक गृहस्थ हो तो उसे उस परिवर्तित सत्त्वगुणी कामका प्रयोग केवल उत्तम सन्ततिके उत्पादनके लिये करना चाहिये, अन्यथा कदापि नहीं। युद्धके बाद श्रीशिवने संसारके कल्याणार्थ कार्त्तिकेय पुत्रको उत्पन्न करनेके लिये इस सत्त्वगुणी कामका व्यवहार किया था, जिसका उल्लेख उसी ललितोपाख्यानमें मिलता है। श्रीललितादेवीने कामसे कहा कि अब (सत्त्वसम्पन्न होकर) श्रीशिवजीके पास जानेमें तुम्हें कोई भय नहीं; रजोगुणी कामका नाश श्रीशिवने किया, किन्तु सत्त्वगुणी कामको लोकहितके लिये पुत्रोत्पन्नार्थ ग्रहण किया।

परमधन

परमधन राधे-नाम अधार।
जाहि स्याम मुरलीमें टेरत, सुमिरत बारंबार॥
जंत्र-मंत्र औ बेद-तंत्रमें, सबै तारको तार।
श्रीसुक प्रगट कियो नहिं यातें, जानि सारको सार॥
कोटिन रूप धरे नँद-नंदन, तऊ न पायो पार।
व्यासदास अब प्रगट बखानत, डारि भारमें भार॥

—श्रीव्यासजी

शक्तिका सच्चा स्वरूप और उसका विकास

(लेखक—दण्डिस्वामी श्रीसहजानन्दजी सरस्वती)

जिस पदार्थ, धर्म, गुण या विशेषताके सम्बन्धसे या होनेसे संसारके कोई भी पदार्थ वाञ्छनीय या माननीय हों अथवा उनके रहनेकी आवश्यकता मानी जाय—महसूस हो—उसे ही शक्ति कह सकते हैं। इसीके नाम योग्यता, सामर्थ्य, पॉवर (Power), एनर्जी (Energy) आदि भी हो सकते हैं। जो पदार्थ शक्ति या योग्यतासे शून्य है, जिसमें कोई विशेषता या चमत्कार नहीं, उसके रहनेकी जरूरत ही क्या? सृष्टिकी रचना करनेवाला, फिर वह चाहे कोई या कुछ भी क्यों न हो, व्यर्थके पदार्थोंकी रचना कर नहीं सकता। जरूरतके ही पदार्थोंकी सृष्टिसे जब उसे अवकाश नहीं तो फिर भारभूत बेकार चीजोंको क्यों बनाने लगा? इसीलिये तो देखा जाता है कि ज्यों ही कोई वस्तु अशक्त या बेकार हुई कि रहने ही नहीं पाती। संसारमें जो जीवन-स्पर्धा या जीवन-होड़ (Struggle for existence) चल रही है उसका भी यही रहस्य है और '**जीवो जीवस्य जीवनम्**' ऐसा जो पुराने लोग कह गये हैं, उसका भी यही अभिप्राय है। प्रकृति या सृष्टिकर्त्ताको यह कभी भी इष्ट नहीं कि दूषित, गलित या अशक्त पदार्थ जमा होकर उसकी कृतिको चौपट करे। इसीलिये वह सतत इस प्रयत्नमें है कि ऐसा पदार्थ जल्दी-से-जल्दी खतम हो जाय, उसका रूपान्तर—उपयोगी रूप बन जाय। देखते ही हैं कि ज्यों ही कोई मरा कि सड़-गलकर खाद बना, पशु-पक्षियोंका खाद्य बनकर उनका जीवनदाता हुआ और इस प्रकार उसकी व्यर्थता गयी तथा वह रूपान्तरसे उपयोगी हो गया। यही कारण है कि जन्म लेते ही या उत्पन्न होते ही स्वभावतः प्रत्येक पदार्थ बिना किसीके कहे या दबाव दिये ही शक्ति-सम्पादनमें प्रवृत्त हो जाता है। अंकुर निकलनेके बाद ही बढ़ने और पत्र, पुष्प फलादि सम्पादनकी तैयारीमें लग जाता है; बच्चा उत्पन्न होते ही हिलने-डोलने और खाने-पीने या रोनेकी ओर झुक जाता है। बच्चेका रोना यह सिद्ध करता है कि वह अपनी अशक्तिको दूर करना चाहता है। क्योंकि रोना तो अशक्तिका ही चिह्न है। इसीलिये यदि रोनेसे रोनेवालेकी अशक्ति दूर न हो सकी तो वह खतम भी हो जाता है और मालूम होता है कि उसमें अब शक्ति-सम्पादनका माद्दा रह ही नहीं गया जिससे सम्पादन-सामग्रीको जुटाने और आकृष्ट करनेमें वह समर्थ हो जाता। कुम्हारने ज्यों ही बर्तन गढ़कर तैयार किया कि वह सूखनेको गोया जोर मारने लगा, जिसका तात्पर्य यही है कि वह कुम्हारको शीघ्रातिशीघ्र उसे पकानेके लिये विवश करनेपर कटिबद्ध है जिससे जलादि लानेके काममें आ सके। सारांश, शक्ति-सम्पादनकी प्रक्रिया और प्रवृत्ति ईश्वरदत्त है, प्राकृतिक है, नैसर्गिक है, स्वाभाविक है और अकृत्रिम है जिससे प्रत्येक पदार्थ स्वयमेव उस ओर खिंच जाते हैं। अन्यथा वे रह ही नहीं सकते। यह भी नहीं कि वह शक्ति कहीं बाहरसे लायी जाती है। शक्ति तो ऐसी वस्तु नहीं कि बाहरसे आवे। वह तो स्वाभाविकी है, ठीक उसी तरह जिस प्रकार उसके सम्पादनकी प्रवृत्ति स्वाभाविकी है। वह तो हर पदार्थमें जन्मसे ही अनुद्भूत रूपमें रहा करती है जो अगोचर होती है और सम्पादन-प्रवृत्ति उसे गोचर या उद्भूत कर देती है। इसे यों भी कह सकते हैं कि शक्तिका माद्दा हर वस्तुमें स्वयंसिद्ध है और जिसमें वह माद्दा न रहे वह पदार्थ मृत या विनष्ट होता है। फलतः शक्ति-सम्पादन और कुछ नहीं है सिवा अन्तर्निहित प्रसुप्त शक्तिके उद्बोधनके, जिसे विकास कहते हैं। यही कारण है कि श्वेताश्वतरोपनिषद्के षष्ठाध्यायमें उसे स्वाभाविकी कहा है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

(६।८)

यद्यपि कहा जा सकता है कि उपनिषद्के उक्त वाक्यमें केवल परमात्माकी शक्ति स्वाभाविकी कही गयी है, तथापि उसका अभिप्राय शक्तिमात्रकी स्वाभाविकताके प्रतिपादनमें ही है। इसीलिये उसी उपनिषद्के आरम्भमें ही—

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्। (१।३)

—देव और आत्मा (ईश्वर और आत्मा) दोनोंकी ही शक्तिके पता लगनेका वर्णन है और आत्मा शब्द तो

'स्व' को या अपने-आपको कहता है। फलतः हर एक पदार्थको ही 'स्व' शब्दसे ले सकते हैं—सभी अपने-आप हैं—कौन नहीं है? अतएव शक्तिकी स्वाभाविकतामें विवाद व्यर्थ है। रह गयी उसके वास्तविक स्वरूप और प्रकारकी बात। बहुतोंकी यह धारणा है कि शक्तियाँ अनेक हैं, असंख्य हैं। दृष्टान्तके लिये उत्पादनशक्ति और संहारशक्तिको ले सकते हैं। दोनों एक हो नहीं सकतीं। उसी प्रकार पाशविक तथा आध्यात्मिक आदि शक्तियोंकी बात है। ये परस्परविरोधिनी होनेके कारण अलग-अलग हैं। लेकिन हमारा विचार है कि शक्ति तो केवल एक ही है, जैसा कि उक्त उपनिषद्-वाक्यसे स्पष्ट है। हाँ, उत्पादक, संहारक, पाशविक, आध्यात्मिक आदि उसीके विभिन्न आकार—Different phases or aspects—हैं। शक्तिकी उत्पादकता या संहारकता हमारी मनोवृत्तिपर ही अवलम्बित है। हम चाहें तो उसीसे संहार कर दें या किसीको पैदा करें। एक ही विद्युच्छक्तिसे पदार्थ बनाये भी जाते हैं और उनका नाश भी किया जाता है। रेल या ट्राममें लगी बिजलीसे रोशनी होती और गाड़ी दौड़ती है, जिससे लोगोंको पढ़ने-देखने और आने-जानेमें आराम होता है। लेकिन दुर्घटना होनेसे उसीके द्वारा गाड़ी दग्ध हो जाती, वायुयान जल जाता और लोग मर जाते हैं। नीतिकारोंने जो यह कहा है कि—

विद्या विवादाय धनं मदाय
शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेत-
ज्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

—उसमें स्पष्ट ही एक ही विद्यादि वस्तुके दो विपरीत प्रयोजन मनुष्यकी मनोवृत्तिके अनुसार बताये गये हैं और विशेषरूपसे एक ही शक्तिके तो रक्षण और परिपीडनरूप दो विरोधी काम स्पष्ट ही कहे गये हैं तथा इस बातकी विशद व्याख्या कर दी गयी है कि साधु एवं असाधुरूप आश्रयके भेदसे एक ही शक्तिका कैसा विलक्षण रूप हो जाता है। इसीलिये उक्त श्वेताश्वतरके वचनमें शक्तिको 'विविधा' कहा है, जिसका अर्थ है 'अनेक प्रकारकी' न कि 'अनेक'। क्योंकि प्रकार तो कहते ही हैं एक ही वस्तुके विभिन्न रूपोंको। हमारे धर्मशास्त्रकारोंने जो अर्थशास्त्र या राजनीतिको धर्मशास्त्र या धर्मनीतिसे दुर्बल और धर्मनीतिको प्रबल या प्रधान कहा है, जैसा कि याज्ञवल्क्यका—

अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः।

—उसका भी यही अभिप्राय है कि बलवान् और शक्तिशाली होनेपर लोग अन्धे होकर शक्तिका दुरुपयोग कर सकते हैं, जिससे उत्पीड़न बढ़ जायगा। इसीलिये राजकीय या पाशविक शक्ति और भौतिक बलके सम्पादनके समय उसमें आध्यात्मिकताका पुट (dose) देना उन्होंने आवश्यक बताया है, जिससे आजकलके पाश्चात्त्य या पौरस्त्य देशोंकी शक्ति-सञ्चयकी अन्ध प्रतिस्पर्धामें अखिल संसार संहारके मार्गकी ओर जिस प्रकार अग्रसर हो रहा है, सो भी द्रुतगतिसे, ऐसा होने न पावे। उन्होंने अपने अनुभव और दूरदर्शितासे ऐसे अनर्थकी सम्भावनाकी कल्पना पहले ही कर ली थी। क्योंकि आध्यात्मिकता (Spiritualism)-की लगामके बिना निरंकुश भौतिकता (Materialism) अन्धी होती है और उसका चरम परिणाम संहारके सिवा दूसरा हो ही नहीं सकता।

अब प्रश्न हो सकता है कि यदि वाञ्छनीयता या माननीयता ही शक्तिकी परिभाषा हो, जिससे किसी पदार्थकी सत्ताकी आवश्यकता ही उसकी शक्तिका परिचायक हो तो आसुरी शक्तिवाले पदार्थोंकी या लोगोंकी आवश्यकता कभी भी न होनेसे उन्हें एक क्षणके लिये भी यहाँ रहना न चाहिये। लेकिन हुआ है ठीक इसके विपरीत। आसुरी साम्राज्य तो सदा ही रहता है—पहले भी था, आज भी है। यह मानकर भी कि आसुरी शक्तिका काम केवल संहार करना ही है, लोग उसी ओर बेतहाशा दौड़ लगाते देखे जाते हैं। संसारमें बिरले ही माईके लाल अध्यात्मवाद या धर्मकी पिपासावाले मिलते हैं। यदि प्रकृति या सृष्टिकर्त्ताको ऐसा पसन्द नहीं है कि अनावश्यक प्रत्युत अनर्थकारी पदार्थोंकी सत्ता रहे तो फिर आसुरी शक्तिका संहार क्यों नहीं स्वयमेव हो जाता? निस्सन्देह यह शङ्का होती है और होनी ही चाहिये। लेकिन जरा गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे इसका रहस्य विदित हो जायगा। आखिर जो यह कहा और देखा जाता है कि अधिक शक्तिशालीके सामने न्यून शक्तिवाले असमर्थ, अशक्त (Impotent) हैं उसका क्या अर्थ है? क्या न्यून शक्तिवाले शक्तिशून्य हो जाते हैं? उनमें शक्ति तो रहती ही है। हाँ, उसकी मात्रा कम भले

ही हो। एक बात और। गुण-दोष और भले-बुरेका लक्षण क्या है? यही न कि मात्राका आधिक्य? यदि **'अतिरूपेण वै सीता, अतिदानाद्बलिर्बद्धः, अति सर्वत्र वर्जयेत्'** का कुछ भी अर्थ है तो यही कि कोई चीज कितनी ही सुन्दर या भली क्यों न हो, ज्यों ही मात्रासे ज्यादा हुई कि बुरी हुई। नमक या मीठा किसी चीजका स्वाद बनानेके लिये दिया जाता है, खटाई और मिर्चका प्रयोग भी इसीलिये करते हैं। परन्तु जब इन चीजोंकी मात्रा ज्यादा हो जाती है तो उसी पदार्थको स्वाद या अमृत कहनेकी जगह 'जहर हो गया', 'खराब हो गया', 'मुँहमें न पड़ा', ऐसा कहने लगते हैं। भोजन जीवन-शक्तिका दाता और पोषक माना जाता है। लेकिन जब वही मात्रामें अधिक हो जाता है तो बीमारियोंका कारण और नाशक हो जाता है। आभूषण शोभावर्धक माना जाता है। लेकिन जब बेहिसाब लाद दिया गया तो वही पदार्थ बुरा या भद्दा कहा जाता है। रोशनी देखने-पढ़नेके लिये उपकारी पदार्थ है लेकिन जब बहुत ज्यादा हो जाती है तो चकाचौंध पैदा करके उन्हीं कामोंमें बाधक और कभी-कभी दृष्टि-विनाशक सिद्ध होती है, हालाँकि वह दृष्टिकी उपकारिका मानी जाती है। अतएव यह मानना ही पड़ेगा कि मात्रा या परिमाणमें आधिक्य या यों कहिये कि किसी वस्तुकी नियमित मर्यादाका भङ्ग ही उसे सद्गुणकी जगह दुर्गुण या भलाईकी जगह बुराईमें बदल देता है। इस प्रकार जब एक नियमित मर्यादाका उल्लंघन कर गयी तो वह शक्ति शक्ति रह ही नहीं गयी—उसे शक्ति कहना अनुचित होगा, संसारके नियम और व्यवहारका अपलाप होगा। यह भी तो देखा जाता है कि कोई काम बुरा या भला इसलिये नहीं होता कि उसका स्वरूप ही ऐसा होता है। संसारमें ऐसी बात या ऐसा काम कोई नहीं जिसके साथ बुराई-भलाई दोनोंका ही साक्षात् सम्बन्ध न हो। अवतार, पैगम्बर, औलिया, नेता या सुधारकका जीना निहायत जरूरी है। तभी वह कोई अच्छा काम कर सकता है। लेकिन जीवनके लिये साँस लेनेसे लेकर भोजनादि जितनी क्रियाएँ हैं उनमें क्या अनन्त सूक्ष्म जीवोंका जो वायु, जल आदिमें व्याप्त हैं, संहार नहीं हो जाता? पलक मारते ही करोड़ों ऐसे जीव या कीटाणु मर जाते हैं—

पक्ष्मणोऽपि विपातेन येषां स्यात्पर्वसंक्षयः।

—ऐसा प्राचीनोंने कहा है। तो क्या इतनेसे ही सभीका जीवन बुरा ही माना जाय? क्या अवतारों और पैगम्बरोंका होना—बड़े-से-बड़े अहिंसावादियोंका जन्म—बुरा समझा जाय? इसी प्रकार चोरी बुरा कर्म है। लेकिन चोरों और लुटेरोंका होना क्या लोगोंको सावधानी और सतर्कताकी शिक्षा नहीं देता? तात्पर्य यह कि संसारके सभी पदार्थ गुणदोषमय हैं—

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।

फिर भी जिसके द्वारा लाभ या भलाईकी अपेक्षा बुराई और हानि ज्यादा है वह बुरा है और जिससे लाभ या भलाई अधिक है वह अच्छा है। सोलहों आना अच्छा या बुरा तो कोई भी नहीं है। इस तरह देखनेसे आसुरी शक्तिको शक्तिकी कोटिमें ला नहीं सकते। क्योंकि वह तो संहारकारक है और यह संहार सृष्टिके नियमोंके विपरीत है। यों तो सृष्टिके साथ भी नाश होता ही है, फिर भी सामूहिक या व्यापक संहार प्रलयके नियमान्तर्गत है न कि सृष्टिके, और आसुरी शक्ति यही करती है। फलतः सृष्टि-नियमके विपरीत होनेसे आसुरी शक्तिको शक्ति कहना नितान्त अनुचित है। इसीलिये वैसी शक्तिवालोंका संहार परस्पर संघर्ष या दैवी शक्तिसे हो जाया करता है और यही अवतारोंका रहस्य है।

इतने विवेचनसे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि जिस चीजके रहनेसे तत्सम्बन्धी पदार्थोंकी वाञ्छनीयता हो और मर्यादाका उल्लङ्घन न करके जो चीज या धर्म सृष्टिके नियमोंके अनुकूल हो वही शक्ति है—वास्तविक और सच्ची शक्ति है। दूसरे यह कि वह शक्ति एक ही है, यद्यपि उसके प्रकार या आकार (Aspects) अनेक हैं। पानी एक ही होता है, लेकिन नीम, आम, ऊख, मिर्च, इमली या नीबूकी जड़में देनेसे कड़वे, मीठे, तीते, खट्टे आदि उसके कई आकार-प्रकार हो जाते हैं, मूलतः उसमें भेद नहीं होता। ठीक उसी प्रकार शक्ति भी आश्रय या आधारके प्रभावसे ही, अथवा जिस भावना एवं मनोवृत्तिसे वह सम्पादन की जाती है उसीके करते अनेक प्रकारकी हो जाया करती है, न कि मूलतः वह कई प्रकारकी होती है। यदि इन बातोंपर दृष्टि रखके हम आगे बढ़ते हैं तो इससे हमारे सारे सङ्कट एवं समस्त बुराइयाँ ही दूर हो जाती हैं। क्योंकि किसी प्रकारकी शक्तिके सम्पादन या शक्ति-

विकाससे पूर्व हमें देखना होगा कि जब वह एक ही है और उसकी मर्यादाका उल्लंघन न होना चाहिये तो फिर उसकी मर्यादा ठीक रहे और उसके सम्पादनकी मनोवृत्ति या भावना भी शुद्ध और पवित्र रहे। इसी जगह धर्म या आध्यात्मिकताकी प्रधानताको जड़वाद या भौतिकताके ऊपर रखनेकी आवश्यकता प्रतीत होगी और इसीसे शक्तिकी मर्यादा बँध जायगी और भावना भी पवित्र हो जायगी। क्योंकि धर्म या आध्यात्मिकताकी छाप लग जानेका अर्थ ही होगा कि अपने ही समान औरोंके भी सुख-दुःखोंको अनुक्षण अनुभव करना, महसूस करना, फील (feel) करना, जैसा कि गीताने कहा है कि—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६। ३२)

कारण, धर्मका पर्यवसान इसी विचारमें होता है, न कि किसी भी प्रकारकी साम्प्रदायिकता (Dogmatism) में। इसीलिये महाभारतके शान्तिपर्वमें तुलाधारने जाजलिसे धर्मज्ञानकी कसौटी और उसका निचोड़ बताते हुए कहा है कि मनसा, वाचा, कर्मणा जो प्राणी सबका सुहृद् और सबकी भलाईमें तत्पर हो वही धर्मके रहस्यको जानता है—

सर्वेषां च सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले॥

(२६१। ९)

यही कारण है कि हमारे धर्माचार्योंने '**सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः**' का डिंडिमनाद किया है। यदि पूर्वकालकी आसुरी शक्तिके विस्तारका पर्यवेक्षण किया जाय तो उससे भी यही सिद्ध होता है कि उसके सम्पादकोंके साथ धर्मका सम्बन्ध छत्तीसका-सा ही था, उन्होंने धर्मको पाँव-तले रौंदकर धता बताया था। वर्तमान समयके महासमरों और उसकी तैयारियोंकी ओर यदि दृष्टि की जाय तो यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि आध्यात्मिकता और धर्मसे विहीन वर्तमान सभ्यता ही इसका कारण है और जबतक इसका अन्त होकर सभी देशों, राष्ट्रों और उनके सञ्चालकोंके दृष्टिकोणमें धर्ममूलक परिवर्तन नहीं होता तबतक बाहरी बातों और निरस्त्रीकरणके घपलोंसे इस संहारक मनोवृत्तिका अन्त न होगा और शक्तिके नामपर यह वास्तविक अशक्ति अपना बलिदान लेकर ही रहेगी। कारण, इस आसुरी या पाशविक शक्तिका, जिसे शक्ति कहना 'शक्ति' शब्दका परिहास करना है और जिसे प्रवृत्ति भले ही कह सकते हैं, नियन्त्रण हो ही नहीं सकता।

इस शक्तिको '**ज्ञानबलक्रिया च**' कहा है, जिसका अभिप्राय है कि इसके ज्ञान, बल और क्रियात्मक तीन आकार हैं। ईश्वरकृष्णके '**सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरु वरणकमेव तमः**........' (सां० का० १३) तथा गीताके '**सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि**', '**सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते**' (१४। ९। ११) के अनुसार ज्ञान, बल और क्रियाका अभिप्राय है सत्त्व, तम और रज—इन तीन गुणोंसे। क्योंकि सत्त्वका स्वरूप और काम ही है ज्ञान, तथा रजका स्वरूप है क्रिया या हलचल। तम भारी माना जाता है जिससे वह दबाता है। अतएव बलका अभिप्राय तमसे ही है। क्योंकि बलके ही प्रभावसे कोई वस्तु दबती है। इस प्रकार शक्ति त्रिगुणात्मिका सिद्ध होती है जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जिस शक्तिमें ज्ञान, क्रिया और बल इन तीनोंको या तीनोंमें किसी एकको भी स्थान नहीं है वह शक्ति कही जा सकती ही नहीं। इसीलिये मनुने कहा है कि '**विद्वत्सु कृतबुद्धयः। कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥**' (१। ९७)। इसका तात्पर्य यह है कि कोरा ज्ञान, कोरी क्रिया या कोरा बल वाञ्छनीय नहीं है, मनुष्य-जीवनका चरम ध्येय नहीं है, किन्तु तीनोंका उचित सम्मिश्रण चाहिये। कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निश्चय, उसके अनुसार कार्य करनेका बल और साहस तथा निश्चयानुसारिणी क्रियाके साथ ब्रह्मज्ञानका होना जरूरी है। यह ब्रह्मज्ञान वही है जिसे '**आत्मौपम्येन सर्वत्र**' इत्यादि वचनोंके द्वारा धर्मका पर्यवसान कहा है, अध्यात्मवादका अन्तिम स्वरूप बताया है। अतएव इस संसारका वास्तविक कल्याण—सच्चा श्रेय इसी बातमें है कि शक्ति तथा अशक्तिका पूर्ण विवेचन करके उसके ज्ञान, क्रिया और बलात्मक तीनों रूपोंका सम्पादन-विकास किया जाय और इस प्रकार उसमें धर्मका पुट देकर उसे मर्यादित किया जाय जिसमें विश्वका कल्याण हो। कोरा ज्ञान, कोरी क्रिया या कोरा बल एकांगी और विनाशकारी है। पूर्वाचार्योंने जो हर बातके सम्पादनके समय अधिकारीकी परख लगायी है

और कहा है कि अनधिकारीको कोई बात बतायी न जाय और न वह ऐसा साहस ही करे कि कुछ सीखे-जाने, उसका भी यही रहस्य है। क्योंकि मनोवृत्ति और भावनापर नियन्त्रण हुए बिना ऐसे पुरुषको जो सामर्थ्य, योग्यता या शक्ति प्राप्त होगी उसका दुरुपयोग हो सकता है, वह विनाशकारिणी हो सकती है। उपनिषदोंमें ब्रह्माके द्वारा बलिके ठुकराये जाने और उपदेश न देनेका भी यही अभिप्राय है। इसीलिये निरुक्तकारने '**असूयकायानृजवेऽयताय मा मा ब्रूयाः**' कहा है और मनुने भी इसीका अभिप्राय '**विद्या ब्राह्मणमेत्याह**' इत्यादिके द्वारा व्यक्त किया है। यदि ऐसा न हो तो अपात्र या अनधिकारीके पास जाकर समस्त ज्ञान शैतानके हाथमें मसालका काम करने लगे। इसका सबसे उत्तम दृष्टान्त मनुस्मृतिके ८ वें अध्यायका १६८ वाँ श्लोक है जिसे नैषधके पढ़नेवाले जानते हैं। वह '**बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तम्**' इत्यादि है, जिसका सरल अर्थ यही है कि जो काम अनिच्छापूर्वक जबरदस्ती कराया जाता है उसकी जवाबदेही करनेवालेपर नहीं रहती। लेकिन उस श्लोकके पद ऐसे हैं जिससे यह अर्थ भी किया जा सकता है कि जबरदस्ती किये-कराये कामोंकी कोई गिनती नहीं होती, वे नहीं ही समझे जाते हैं। इसलिये चार्वाकने उस वचनका यह अर्थ लगा लिया कि जबरदस्ती चोरी, सीना-जोरी, डकैती या दुराचार-व्यभिचार करनेमें कोई हर्ज नहीं है, क्योंकि ऐसी आज्ञा मनुने दी है।

फलतः अधिकारीका विचार करनेसे वास्तविक मर्यादाका न तो उल्लङ्घन ही होगा और न दूषित मनोवृत्तिका प्रसार ही होगा। फिर तो ताण्डव नृत्यका अवसर आयेगा ही नहीं और समस्त शक्तिका विकास उचित रूप और मात्रामें होकर वह ज्ञान, क्रिया और साहसरूप अपने उक्त तीनों आकारोंसे सम्पन्न होगी और इस प्रकार उसके ऊपर अथसे इतितक धर्मका—वास्तविक और सच्चे धर्मका पुट होनेसे वह निसर्गतः कल्याणकारिणी ही होगी और इस प्रकार गीताके '**रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत**' (१४। १०) के अनुसार विपरीतगामी और विरोधी भी रज एवं तम सत्त्वके अनुगुण और सहकारी बनकर क्रिया और साहसके द्वारा उसके पोषक होंगे और समय-समयपर उसे विश्राम देकर सदैव अक्षीणशक्ति बनाये रखेंगे। इस प्रकार सोनेमें सुगन्धकी तरह परस्पर विरोधी भी ये गुण विश्वको कल्याणकी ओर अग्रसर करेंगे। क्योंकि अकेला ज्ञान, अकेली क्रिया या अकेला साहस बेकार होता है, जिससे परस्पर सहकारिता अपेक्षित है और यही सृष्टिका नियम है।

ब्रह्मविद्या

(लेखक—पं० श्रीहरिदत्तजी शास्त्री, वेदादितीर्थ)

ब्रह्म-शब्दका क्या अर्थ है

शब्दकी वृत्ति दो प्रकारकी होती है, एक मुख्य और दूसरी अमुख्य। रूढि और योगवृत्ति मुख्य वृत्ति कहाती है, तथा लक्षणा और गौणवृत्ति अमुख्य। अवयवार्थकी अपेक्षा न करके वृद्ध-प्रयोगमात्रसे व्युत्पाद्यमान अश्व, गज आदि शब्द रूढ कहलाते हैं। अवयवार्थके द्वारा विशिष्टार्थके वाचक चतुरानन आदि शब्द यौगिक कहाते हैं। प्रकृत ब्रह्म शब्दके विषयमें यह शङ्का है कि यह ब्रह्म शब्द विचारणीय ही नहीं हो सकता, क्योंकि यह साधारण नियम है कि आपाततो ज्ञात तथा विशेषतोऽनवगत शब्द या अर्थविषयक ही जिज्ञासा होती है, पर ब्रह्म शब्द लोकमें प्रसिद्ध नहीं क्योंकि मानान्तरका विषय है, न वेदमें ही प्रसिद्ध है क्योंकि ब्रह्म शब्दका अर्थावधारण ही नहीं हुआ। लोकावधृतसामर्थ्य शब्द ही वेदमें बोधक होता है, इस न्यायसे अव्युत्पन्न शब्द वेदमें भी बोधक नहीं हो सकता। इसका उत्तर यह है कि वैदिक प्रयोगोंकी अन्यथानुपपत्ति यह सिद्ध करती है कि कोई-न-कोई ब्रह्म शब्दका अर्थ अवश्य है—जैसे स्वर्ग शब्दका। क्योंकि स्वर्गवाक्य तथा ब्रह्मवाक्योंमें 'प्रसिद्ध-पदसमभिव्याहार' समान है। कदाचित् कहो कि ऐसा माननेपर भी ब्रह्म शब्दका कुछ-न-कुछ अर्थ है—यही सिद्ध होता है, अर्थविशेषकी सिद्धि नहीं होती तो इसका उत्तर यह है कि प्रसिद्धपदसमभिव्याहारके बलसे तदन्वययोग्य ही किसी अर्थविशेषकी कल्पना करनी चाहिये। कदाचित् कहो कि उस अर्थविशेषमें शब्दकी वृत्ति ही असम्भव है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि

रूढिवृत्तिसे अर्थविशेषमें अवर्तमान भी शब्द अवयवार्थ-व्युत्पादनद्वारा उस अर्थमें वर्तित कराया जा सकता है—इसीलिये निगम-निरुक्त-व्याकरणकी सृष्टि हुई है। अतएव **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**, **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** इत्यादि श्रुति तथा सूत्र-प्रयोगोंकी अन्यथानुत्पत्तिसे बाधरहित, चिद्रूप, अनन्त, पुरुषार्थपर्यवसायितया जिज्ञासास्पद वस्तु ब्रह्म शब्दका अर्थ है—यह कल्पना की जाती है। तथा ब्रह्म शब्द **'बृह बृहि वृद्धौ'** इस धातुसे बनता है। और इसका अर्थ महत्त्व है, और वह महत्त्व सङ्कोचक प्रकरण तथा उपपदोंके न होनेसे निरतिशय ही मानना पड़ता है। इस प्रकार देश, काल, वस्तुसे परिच्छेदरहित—यह अर्थ सिद्ध हुआ। इसी प्रकार बाध्यत्व, जडत्व, अपुरुषार्थत्वादि दोषराहित्य भी महत्त्वका ही अर्थ होता है। क्योंकि संसारमें दोषरहित, गुणवान् पुरुषोंको 'महापुरुष' कहा जाता है। अत: यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म शब्द महत्त्वार्थक है। यदि कहो कि ब्रह्म शब्दार्थकी निश्चित ही प्रसिद्धि अपेक्षित है तो सुनिये—**'अहमस्मि'** इत्याकारक प्रसिद्धि सार्वजनीन है, तथा आत्मा ही ब्रह्म है। क्योंकि श्रुति कहती है कि **'स वा अयमात्मा ब्रह्म'**। इसीलिये ब्रह्म वेदान्तोंका विषय है। यदि कहो कि प्रत्यक्ष-गोचर होनेके कारण ब्रह्म साधारण हो जानेसे 'औपनिषद' नहीं हो सकता तो इसका उत्तर यह है कि आत्मत्व-सामान्याकारसे ज्ञात भी ब्रह्म विशेषाकारसे अज्ञात होनेके कारण विप्रतिपद्यमान होनेसे प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं होता, यद्यपि आत्मामें सामान्य-विशेषभाव नहीं हो सकता तथापि प्रत्यक्षसिद्ध शरीराद्यर्थमें प्रयुज्यमान, आत्मवाची 'अहम्' शब्द 'गो' शब्दकी तरह विप्रतिपद्यमान हो ही सकता है। इस ब्रह्मका वाच्य चेतयमान देह है—यह चार्वाक लोग जो शास्त्र-संस्कारोंसे रहित हैं, वे मानते हैं। क्योंकि **'मनुष्योऽहं जानामि'** यह प्रतीति शरीरको ही आलम्बन करके उदित होती है, एवं कुछ व्यक्ति-शरीरके रहते हुए भी चक्षुरादिके बिना ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती, अत: इन्द्रियोंको ही चेतन कहते हैं। यदि कहो कि इन्द्रियोंको करण मानना ठीक है सो उचित नहीं, क्योंकि करणत्व-कल्पनाकी अपेक्षा उपादानत्व-कल्पना अभ्यर्हित है। शरीरमें चेतनत्व तथा अहंप्रत्ययालम्बनत्व आत्मस्वरूप इन्द्रियोंके आश्रय होनेके कारण अन्यथासिद्ध है। यदि कहो कि एक शरीरमें बहुत इन्द्रियोंके चेतन माननेसे—

य एवाहं पूर्वमद्राक्षं स एवेदानीं शब्दं शृणोमि।

—यह प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती—तथा रूपरसादिकी भोक्तृता भी एकदम ही होनी चाहिये, क्रमश: नहीं, सो उचित नहीं, क्योंकि चेतनकी एकता प्रत्यभिज्ञा तथा क्रमिक भोगका कारण नहीं किन्तु एकशरीराश्रयत्व ही उक्तोभयका कारण है। अत: जिस प्रकार एक घरमें बहुत-से पुरुषोंका एकैकके विवाहमें दूसरे-दूसरेकी उपसर्जनता होती है उसी प्रकार एक-एक इन्द्रिय भी अपरापर इन्द्रियके भोगमें उपसर्जन हो जाती है।

अन्य लोगोंका यह मत है कि स्वप्नमें चक्षुरादिके न होनेपर भी केवल मनमें विज्ञानाश्रयत्व तथा अहंप्रत्ययालम्बनत्व उपलब्ध होता है, अत: मन ही ज्ञाता है, इन्द्रियाँ करण होती हैं। उनमें अहंप्रतीति कर्तृत्वोपचारसे बन सकती है। एकशरीराश्रयत्व प्रत्यभिज्ञाका कारण हो भी नहीं सकता—यदि हो तो एक महल चुननेवाले राजोंको भी होनी चाहिये।

इसी प्रकार विज्ञानवादी क्षणिक विज्ञानसे व्यतिरिक्त वस्तुकी सत्ताको ही न मानकर विज्ञानको ही आत्मा मानते हैं। विज्ञानोंके हेतु फल सन्तानमात्रसे ही कर्म-ज्ञान बन्ध-मोक्षकी सिद्धि हो जाती है।

माध्यमिकका मत है कि सुषुप्तिकालमें विज्ञान भी नहीं होता, अत: 'शून्य' ही आत्म-तत्त्व है। क्योंकि यदि सुषुप्तिकालमें विज्ञान-प्रवाह होता तो विषयावभास भी होता—निरालम्बन ज्ञान नहीं हो सकते।

अन्य शास्त्र-पण्डित शरीर, इन्द्रिय, मन, विज्ञान, शून्यसे भिन्न स्थायी संसारीको कर्ता-भोक्ता कहते हैं। क्योंकि शून्य विषयमें **'अहं'** प्रतीति नहीं हो सकती, यदि हो तो वन्ध्यापुत्रादिमें भी होनी चाहिये। क्षणिक विज्ञान-पक्षमें भी क्रमभावी व्यवहार नहीं हो सकता। संसारमें प्रत्येक प्राणी अनुकूल वस्तुको प्रथम जानता है, फिर इच्छा करता है, फिर यत्न, फिर प्राप्त करता है, फिर उससे सुख प्राप्त करता है। यदि यह व्यवहार परस्परकी वार्ताको न जाननेवाले एक-सन्तानवर्ती बहुत-से आत्मा निष्पादन करते हैं तो भिन्न-सन्तानवर्ती आत्मा क्यों न कर सकेंगे। अत:—

य एवाहमज्ञासिषं स एवेदानीमिच्छामि।

इस प्रकारकी अबाधित प्रत्यभिज्ञाके निर्वाहके लिये

स्थायी आत्मा मानना चाहिये। और वह विज्ञानस्वरूप नहीं है, क्योंकि '**अहं विज्ञानम्**'—यह अनुभव नहीं होता। यह आत्मा सादि नहीं है, क्योंकि शरीरोत्पत्तिके अनन्तर ही सुख-दुःखकी प्राप्ति देखकर उसके कारणभूत पुण्य-पापका कर्त्ता पहलेसे ही है—यह अनुमान किया जा सकता है। न यह अनित्य है, क्योंकि इसका विनाश नहीं हो सकता। इन मतोंका क्रमसे थोड़ा-थोड़ा खण्डन करते हैं कि शरीरको भोक्ता बतानेवाले लोकायतोंसे पूछना चाहिये कि व्यस्त भूतोंमें भोक्तृत्व है या समस्त? यदि व्यस्तोंमें है तो सब भूत युगपद् भोक्ता नहीं हो सकते। क्योंकि इनका अङ्गाङ्गिभाव नहीं हो सकता। वरविवाह-न्याय भी प्रकृतमें सङ्गत नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ प्रति वर एक-एक कन्या भोग्य होती है। ऐसा यहाँ नहीं है। तथा सङ्घातापत्तिमें कोई हेतु नहीं, अतः सङ्घात अनुपपन्न है। यदि एकदेशवर्तित्व ही सङ्घात है तो बटलोईमें भी सङ्घात होनेसे वहाँ भी आत्मत्वापत्ति हो जायगी। इन्द्रियोंको यदि आत्मा कहें तो यह विचार होता है कि इन्द्रियाँ क्या हैं? गोलकमात्र ही इन्द्रियाँ हैं, यह सुगतोंका मत है। गोलक-शक्तियाँ इन्द्रिय हैं, यह मीमांसकोंका मत है। शक्तिव्यक्ति शक्तिमद्-द्रव्यान्तर इन्द्रियाँ हैं, यह अन्य अनेकवादी मानते हैं। आद्य पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि गोलकरहित सर्पादि भी श्रवण करते हैं। '**तस्मात् पश्यन्ति पादपाः**' इत्यादि स्मृति भी यह बतलाती है कि पादप बिना इन्द्रियोंके भी देखते हैं, अतएव द्वितीय मत भी ठीक नहीं। यदि अनुमानसे इन्द्रियोंकी सिद्धि की जाय तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि

रूपाद्युपलब्धयः करणपूर्विकाः कर्तृव्यापारत्वात् छिदिक्रियावत्।

—यह अनुमान इन्द्रियोंका साधक हो सकता है। पर इस पक्षमें करण-प्रेरणरूप कर्तृव्यापारमें एक और करण मानना पड़ जायगा। अतः इन्द्रियोंकी सिद्धिमें केवल आगम ही प्रमाण है। इस प्रकार यह सब सिद्धान्त दुष्ट हैं, परमार्थदर्शियोंके मतमें जीव तथा ईश्वर परस्पर भिन्न नहीं क्योंकि, जीवेश्वर भिन्न नहीं, उपाधि-परामर्शके बिना अविभाव्य-मानभेद होनेसे, बिम्ब-प्रतिबिम्बकी तरह—इस अनुमानसे जीवेश्वरका भेद असिद्ध है। इस प्रकार जीवेश्वरका भेद असिद्ध है यह बात सिद्ध हुई। यह संसार अनादिरूपसे है पर इसका शरीर केवल प्रतिभासमात्र है, तथा इसका उपादान अनादिभावरूप अज्ञान है, जिसमें विमतप्रमाणज्ञान, स्वप्रागभावव्यतिरिक्त स्वविषयावरण स्वनिवर्त्य स्वदेशगत वस्त्वन्तरपूर्वक हो सकता है, अप्रकाशितार्थप्रकाशक होनेसे अन्धकारमें प्रथमोत्पन्न दीपप्रभाकी तरह यह अनुमान प्रमाणीभूत है। जैसा कि विश्वरूपाचार्यने लिखा भी है—

नन्वविद्या स्वयंज्योतिरात्मानं ढौकते कथम्।
कूटस्थमद्वितीयं च सहस्रांशुं यथा तमः॥
प्रसिद्धत्वादविद्यायां साप‍ह्नोतुं न शक्यते।
अनात्मनो न सा युक्ता विना त्वात्मा तया नहि॥

'**प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।**' यह स्मृति भी अविद्याके अनादि होनेमें प्रमाण है। इस अविद्याकी ही ब्रह्मविद्यासे निवृत्ति होती है। यह अत्यन्त विचित्र बात है कि अनिर्वचनीय भी अविद्या आत्माको आवृत कर लेती है। लिखा भी है—

अविद्याया अविद्यात्वमिदमेवात्र लक्षणम्।
यद्विचारासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत्॥
अहो धाष्टर्यमविद्याया न कश्चिदतिवर्तते।
प्रमाणं वस्त्वनादृत्य परमात्मैव तिष्ठति॥

इस अज्ञानकी निवृत्तिका उपाय विचार है—यदि विचार भी न कर सके तो भगवच्छरणागति ही परम उपाय है। भगवान्की प्रतिज्ञा भी है—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।
(गीता १८। ६६)

श्री १०८ अच्युत मुनिजी महाराज भी एक दृष्टान्त दिया करते हैं कि जिसके हाथमें रज्जु है यदि वह गोपाल चाहे तो रस्सीको ढीला कर दे तथा अपने पशुको छोड़ दे। यही हाल भगवान्का है। यदि भगवान् चाहे तो त्रिगुण मायामयी रज्जुसे बँधे हुए भक्तोंको मुक्त कर सकता है, इत्यादि। ब्रह्मविद्याकी श्रेष्ठता '**त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन**' इस भगवत्-वाक्यसे भी कही जाती है। यदि मनुष्य अहङ्कार छोड़ दे तो संसारका परित्याग अनायास ही हो सकता है। इस अहङ्कारके होते हुए भी द्वैतापत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अहङ्कारका उपादान-कारण अनाद्यनिर्वचनीय अविद्या है, परमेश्वराधिष्ठितत्व ही निमित्तकारण है। ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति—यह दो स्वरूप हैं। कूटस्थ चैतन्य ही अहङ्कारमें प्रमाण है। कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि उसके कार्य हैं। जगज्जन्मादिकारणत्व मायाशबलब्रह्मका स्वरूपलक्षण है। कोई पूछे कि यदि यही बात है तो नित्यप्राप्त वस्तुकी

प्राप्ति नहीं हो सकती—अप्राप्तकी ही प्राप्ति होती है। विद्या ज्ञाताश्रित हुई ज्ञेयको प्रकाशित कर ही देती है। अत: नित्यप्राप्त ब्रह्मकी प्राप्ति कैसी? इसका उत्तर यह है कि प्रमाणजनित अन्त:करणवृत्तिका नाम विद्या है। उस विद्याका विषय निश्चय ही प्राप्ति-शब्दसे कहा जाता है, फर्क इतना है कि घटादि-विद्या स्वोत्पत्ति-मात्रसे विषयका निश्चय कर देती है पर ब्रह्मविद्या ऐसी नहीं, उसका विषय-निश्चय सहसा नहीं हो सकता। क्योंकि असम्भावना तथा विपरीतभावनासे उसका विषय अभिभूत रहता है। असम्भावना शब्दका अर्थ है जीव तथा ब्रह्मकी एकताकी भावनाके कारण एकाग्रतारूप वृत्तिकी अयोग्यता। और विपरीतभावना है शरीराध्यासके संस्कारोंका बाहुल्य। यह दोनों मनन, निदिध्यासनादिसे धीरे-धीरे निवृत्त होते हैं। तब ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है। तथा उस कालमें ही—मैं कृतकृत्य हूँ—प्रापणीय प्राप्त कर चुका, इत्याकारक अनुभव होता है और मनुष्य परमानन्दमें निमग्न हो जाता है। भगवान् ब्रह्मके जिज्ञासुओंका कल्याण करें।

सङ्घ-शक्ति

(लेखक—पं० श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ)

व्यक्तिमें, जातिमें, समुदायमें, राष्ट्रमें अन्य कोई विशेष गुण न हो तो भी केवल सङ्घ-शक्तिके बलपर वह व्यक्ति, वह जाति, वह समुदाय, वह राष्ट्र बड़े-से-बड़ा कार्य कर डालनेमें समर्थ हो जाता है अथवा समर्थ हो सकता है।

सङ्घे शक्तिः कलौ युगे।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि कलियुगमें ही सङ्घ-शक्ति विशेषरूपसे अपेक्षित रहती हो और अन्य युगमें नहीं। सङ्घ-शक्ति एक प्रबल, आवश्यक, जीवित रहनेके लिये अपरिहार्य महागुण है और वह चारों युगोंमें बड़े कामकी वस्तु है। फिर—'**सङ्घे शक्तिः कलौ युगे**' का अभिप्राय क्या है, यह एक गम्भीरतापूर्वक विचारणीय प्रश्न हो जाता है। कलियुग क्या है, इसीपर प्रथम विचार करना श्रेयस्कर होगा, फिर समझमें आ सकेगा कि सङ्घ-शक्तिका कलिके साथ विशेष सम्बन्ध क्यों जोड़ा गया है?

मन्वादि स्मृतियोंने युगानुरूप एक-एक शक्तिका प्राधान्य अथवा एक-एक शक्तिका ह्रास माना है। जैसे—

तपः परं कृतयुगे

सत्ययुगमें तप:शक्तिका प्राधान्य।

त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।

जब ज्ञानशक्तिका प्राधान्य हो तब त्रेता।

द्वापरे यज्ञमित्याहुः

जब यज्ञोंकी प्रधानता हो तब द्वापर।

दानमेकं कलौ युगे॥

और जब तप, ज्ञान, यज्ञ-विरहित ऐसा समय आवे तब दानप्रधान युग कलि। दूसरे शब्दोंमें यह कह सकते हैं कि जब तप प्रधान हो तब कृतयुग, ज्ञानप्रधान युग त्रेतायुग, यज्ञप्रधान युग द्वापर अथवा दानप्रधान युग कलि कहलाना चाहिये। अर्थात् किसी समय भी इन चारोंमें-से किसीका प्राधान्य होकर कोई भी युग कहला सकता है। ऐतरेय ब्राह्मणकार कहते हैं—

कलिः शयानो भवति

जब व्यक्ति, जाति, समुदाय, राष्ट्रकी प्रसुप्त दशा हो, वह अज्ञानावस्थामें हो तब उस व्यक्ति, जाति, समुदाय और राष्ट्रका कलियुग है।

संजिहानस्तु द्वापरः।

जब जँभाई लेनेकी-सी दशा हो तब द्वापर अर्थात् जब प्रसुप्त अवस्थासे उठकर तन्द्राकी दशामें आता है वह किञ्चित् ज्ञान तथा अधिक अज्ञानकी दशा द्वापर है।

उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति

जब उठकर बैठनेकी-सी दशा हो तब त्रेता और जब अधिक ज्ञानावस्थामें आ जाय तब—

कृतं सम्पद्यते चरन्॥

जब चलने-फिरने लगे, पूर्णतया ज्ञानावस्थामें आ जाय, तब कृतयुग।

प्रत्येक व्यक्ति, जाति, समुदाय, राष्ट्रको इन चार दशाओंमेंसे होकर निकलना पड़ता है।

कलियुगमें जब कर्तव्याकर्तव्यका विवेक जाता रहता है, ऊपरको रक्षक शक्तिके न होनेसे रक्षा असम्भव हो जाती है तब सङ्घ-शक्ति ही रक्षा कर सकती है। क्योंकि कलियुगमें व्यक्ति, जाति, समुदाय, राष्ट्रके अन्य गुण तिरोहित रहते हैं, उनके उद्रेकके लिये सङ्घ-शक्ति सर्वथा आवश्यक है।

भारतवर्षकी राज्य-शक्ति जब क्षीण हो गयी, कोई मार्गदर्शक न रहा, परचक्रका बोलबाला होने लगा, विदेशियोंका आक्रमण प्रतिदिनकी बात हो बैठी, तब स्वराज्य, अधिराज्य, महाराज्य अथवा साम्राज्यके अभावमें छोटे-छोटे सङ्घ बनाकर ही भारत अपने धर्म-कर्म, रीति-नीति तथा संस्कृतिकी रक्षा कर सका है। उस समयकी सङ्घ-शक्तिके कारण ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—चारों वर्णोंकी अनन्त परम्पराकी शृङ्खला अबतक सर्वथा नहीं टूटने पायी।

किन्तु इस विज्ञान-युगमें तो वह सङ्घ-शक्ति भी विज्ञानके आश्रयपर निर्भर होनी चाहिये, अज्ञानावस्थाकी सङ्घ-शक्ति इस समय कार्य न दे सकेगी। '**सङ्घे शक्तिः कलौ युगे—**' यह वाक्य समस्त ऐसी जातियोंकी दशापर भी लागू हो सकता है जो जातियाँ अबतक सभ्य मनुष्य-समाजके सम्पर्कमें नहीं आयीं और केवल ज्ञानशून्य सङ्घ-शक्तिपर साँस ले रही हैं। आधुनिक पाश्चात्त्य राष्ट्र धर्मशून्य विज्ञानके आश्रयसे सङ्घ-शक्तिका किसी अंशमें, स्वात्महितमें सदुपयोग और अधिक अंशमें दुरुपयोग करके सामान्यतया संसारको अशान्तिका आगार बना बैठे हैं। हमारे पुरातन पूर्वज इस प्रकार सङ्घ-शक्तिका कभी भी दुरुपयोग नहीं करते थे। उनकी संस्कृति ही ऐसी थी कि—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

उनमें सच्चा राष्ट्रधर्म, जिसको महाभारतके शब्दोंमें अनृशंस्य कहना चाहिये, विद्यमान था। इसीलिये सङ्घ-शक्ति ठीक काँटेपर चली जाती थी। यदि भारतवासी सङ्घ-शक्तिको स्वसंस्कृतिके अनुरूप बरतें तो संसारकी कोई भी शक्ति उनकी शक्तिके सम्मुख नहीं टिक सकती। भगवान् भारतपर करुणारसकी वर्षा करें जिससे आर्त भारत पुनरपि भव्य भावोंसे प्रपूर्ण होकर संसारको अपना दिव्य स्वरूप दिखला सके। तथास्तु।

आत्मशक्तिकी उपासना

(लेखक—पं० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी)

संसारके सब पदार्थ दो श्रेणियोंमें विभक्त हैं, जड़ और चेतन। जड़ पदार्थोंके फिर अनन्त रूप हैं। चेतन-तत्त्व भी दो प्रकारका है। एक तो वह, जिसे जीव, प्रत्यक्, आत्मा आदि कहते हैं—जो अल्पशक्ति, अल्पज्ञ, परिच्छिन्न और प्रतिशरीर भिन्न है। संख्यामें यह अनन्त है। चेतनका दूसरा स्वरूप वह है, जो समस्त जड और चेतन समुदायमें व्यापक है, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, सबका नियन्त्रण करता है, और जिसे ब्रह्म, परमात्मा आदि शब्दोंसे अभिहित करते हैं। बस, संसारमें ये ही तीन तत्त्व हैं।

प्रत्येक पदार्थमें कुछ-न-कुछ शक्ति होती है। किसी भी शक्तिमें भलाई या बुराई स्वभावतः नहीं होती। उसके सदुपयोग या दुरुपयोगसे भलाई-बुराईका सम्बन्ध है। यदि किसी शक्तिका सदुपयोग किया गया, तो परिणाम भला देखकर लोग उस शक्तिको प्रशस्य ठहरा देते हैं और यदि अज्ञान या प्रमादके कारण उसका दुरुपयोग हुआ, तो फिर भयङ्कर परिणाम देखकर उस शक्तिकी या तदाधार पदार्थकी ही लोग निन्दा करने लगते हैं।

संसारका प्रत्येक कण अपनी शक्ति रखता है। शक्तिके बिना कुछ है ही नहीं। यह और बात है कि हमें किसीकी शक्तिका ज्ञान न हो। जो लोग नहीं जानते कि जल तथा अग्नि आदि पदार्थोंमें क्या शक्ति है, वे उसका उपयोग भी क्या कर सकते हैं? जिनको जितना ज्ञान है, वे उतनी शक्तिका सम्पादन करके यशस्वी और कृतकार्य होते हैं। साधारण जन अपने साधारण ज्ञानसे अग्निद्वारा भोजन आदि पकानेका काम ले लेते हैं और बस, जो लोग इतना भी नहीं जानते, वे इस सुविधासे भी वञ्चित रहते हैं। परन्तु जिनको सुदृढ़ अध्यवसायसे विशेष ज्ञान प्राप्त है, जो विज्ञानमें निष्णात हैं, वे अग्नि और जल आदि पदार्थोंमें अपरिमित शक्ति देख-ढूँढ़कर संसारको चकित कर देते हैं।

आज पाश्चात्त्य देश प्रकृतिकी उपासनामें मग्न हैं। शक्ति और शक्तिमान्‌में अभेद होता है, व्यवहारमें ऐसा ही समझा जाता है। पाश्चात्त्य देश प्राकृतिक शक्तिकी उपासना आजकल कर रहे हैं और जल, अग्नि, वायु आदि पदार्थोंका विश्लेषण करके दुनियाको दंग कर रहे हैं। जब प्रकृतिमें इतनी शक्ति है, तब आत्मामें कितनी होगी? वह तो इससे बहुत बढ़कर है न? जो प्रकृति-निरीक्षण भलीभाँति कर लेते हैं और अन्तमें जिज्ञासा

शान्त नहीं होती, शान्ति नहीं मिलती, वे फिर चेतनकी ओर मुड़ते हैं, चेतनाभिमुख होते हैं—'**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**'। चेतनका अनुसन्धान करते हुए उसे अपना तथा अपने नियामकका स्वरूप ज्ञात होता है और उपासनासे शक्ति-सम्पादन होती है। प्राचीन भारतने अबसे बहुत पहले प्रकृतिके ये खेल खेलकर आत्म-चिन्तन किया था और इस दिशामें भी इति कर दी थी, इतनी कि आजकलके अनुभवशून्य जन उसपर अविश्वास करके मजाक उड़ाते हैं। क्या करें? जो बात जिसकी समझके बाहरकी होती है, उसको वह क्या कहे?

दूर मत जाइये। पाश्चात्त्योंने प्रकृतिकी उपासना करके जिस शक्तिका ज्ञान सम्पादित किया है और जिसके द्वारा उन्होंने रेल, तार, वायुयान आदि निकालकर संसारको आश्चर्यमें डाल दिया है, वह आत्मिक शक्तिके आगे कुछ भी नहीं है। परन्तु जिनको उस शक्तिका ज्ञान नहीं है, उनके लिये यही बहुत बड़ी बात है! यदि किसीके घरमें बड़ा भारी खजाना गड़ा हो; पर उसे उसका कुछ भी पता न हो, तो वह एक पैसेको ही बहुत कुछ समझेगा और अपनी गरीबीमें उससे बहुत ज्यादा सहायता लेगा। मतलब यह कि आत्मिक शक्तिके आगे प्राकृतिक शक्ति कुछ भी नहीं है; पर इसीने आज दुनियाको चकित कर दिया है। और यदि आप ऐसे एकान्त जंगली या सुदूरवर्ती प्रदेशोंमें चले जायँ, जहाँ अभीतक रेल-तार आदिकी चर्चा न पहुँची हो और वहाँके लोगोंसे कहें कि एक जगह पानी भरकर आग सुलगा दी जाती है और यह आग-पानी लाखों मन बोझ हजारों कोस बात-की-बातमें पहुँचा देता है; न बैलोंकी जरूरत, न घोड़ोंकी; तो लोग आपको पागल कहने लगेंगे। वे कहेंगे, 'कैसा बेवकूफ आदमी है! हमलोगोंको पागल बनाने चला है! भला, बिना घोड़े-बैल आदिके इतना बोझा कैसे ढोया जा सकता है? और इतनी जल्दी कोई कहीं-से-कहीं कैसे पहुँच सकता है? आग-पानीसे यह काम कैसे हो सकता है?' इत्यादि। वे तार, ग्रामोफोन, हवाई जहाज आदिकी बातोंको शेखचिल्लीकी कहानियोंसे बढ़कर महत्त्व कभी भी न देंगे। क्यों? इसलिये कि उनको इस विषयमें कुछ पता नहीं है। जिस बातको जो नहीं जानता और प्रत्यक्ष नहीं देखता, उसके सम्बन्धमें उसकी ऐसी ही धारणा होगी।

भारतवर्षने प्राकृतिक शक्तिकी पूर्ण उपासना करके आध्यात्मिक शक्तिका जो चमत्कार दिखाया था, उसकी झलक हमारे प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलती है। संसारमें एकमात्र भारतने ही वैसी आध्यात्मिक शक्तिका सम्पादन किया था और अब वह भी उसे प्रायः बिलकुल खो बैठा! हजारों वर्षसे प्रकृतिवादी देशोंके संसर्गसे इसकी आध्यात्मिक शक्ति जाती रही। आध्यात्मिक शक्तिके प्रवाहमें प्राकृतिक शक्तिकी ओर तो उदासीनता हो ही गयी थी, जिससे उसका ह्रास हो गया और बादमें अपनी चीज भी जाती रही। '**दुविधामें दोनों गये, माया मिली न राम!**' आज हम इधरके हैं न उधरके! बाहरवालोंको तो अभीतक वैसी आध्यात्मिकताका कभी अनुभव हुआ ही नहीं है, न उन्होंने ऐसी बातें ही सुनीं। तब वे हमारे ग्रन्थोंकी आध्यात्मिक शक्तिकी बातोंपर कैसे विश्वास करें? वे उनको मनगढ़न्त गप्पें बतलाते हैं! जब बात समझमें ही नहीं आती, तो बस क्या है? उनके साथ ही हमलोग भी हाँ-में-हाँ मिलाने लगे हैं! हम भी अपनी पुरानी आध्यात्मिक शक्तिकी अवशिष्ट चर्चाको गपोड़बाजी कहने लगे हैं! कितना अज्ञान!

सारांश यह कि आत्मामें जो शक्ति है, अन्तर्जगत्में जो विद्युत् है, उससे हम आज एकदम अपरिचित हैं। सामने उदाहरण भी प्रायः नजर नहीं आते। इसीलिये साधारण लोगोंकी बुद्धिमें वैसी बातें नहीं आतीं और फलतः देश आध्यात्मिकतासे दूर हटता जा रहा है! जब विश्वास ही नहीं तो फिर उसके साधनमें प्रवृत्ति कैसी? यह हमारे दुर्भाग्यकी बात है।

जलमें विद्युत् है और सदा रहेगी। परन्तु जो उसे समझे और उसकी प्राप्तिके लिये साधना करे, उसे वह सुलभ हो जायगी। फिर तो यन्त्रद्वारा प्रकट करके उसके स्वरूपसे वह संसारकी आँखें खोल देगा और सब मान जायँगे। परन्तु यदि साधना न की जाय, मन्त्रादिका निर्माण करके उसके द्वारा उसे प्रत्यक्ष सिद्ध न किया जाय तो फिर केवल ज्ञान कुछ काम न देगा। ज्ञानकी सफलता कर्म और उपासनासे है।

पहले तो आत्माका विवेक हो। फिर उपासना और कर्मकी साधनासे उसकी शक्तिका विकास किया जाय। साधन हमारे ग्रन्थोंमें लिखे हैं। साधक चाहिये। विश्वास साधक उत्पन्न करता है। यदि हमें अपने पूर्वजोंकी बातोंमें विश्वास हो और धर्मग्रन्थोंमें श्रद्धा, तो अवश्य हम अपनी आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त कर लें। परन्तु

पाश्चात्त्य जडवादके संसर्गसे हममें जो दोष आ गये हैं, उनका दूर होना जरा कठिन है। तो भी, जो साधक विश्वासपूर्वक इधर झुकते हैं, वे स्पष्ट देखते हैं कि आध्यात्मिक शक्ति क्या चीज है और कैसी है? वे फिर इसपर मुग्ध होकर समस्त दुनियाको तुच्छ समझ लेते हैं। आध्यात्मिक शक्ति क्या चीज है, सो अनुभवसे जाना जा सकता है। हमें उसीकी उपासनासे कल्याण मिलेगा।

जगदम्बाकी दीपोत्सवी

(लेखक—श्रीजयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल, एम० ए०)

तमसो मा ज्योतिर्गमय।

दीपोत्सवी जगन्माता महामायाकी पूजा, अर्चना और उपासनाकी मङ्गल-तिथियाँ हैं। अन्धकार और प्रकाशकी, सम्भूति और विनाशकी, विद्या और व्यामोहकी महाविधात्री विश्वजननी महादुर्गाकी उपासनाका यह मङ्गलोत्सव है।

जडवत् जगत्के ऊपर चेतनारूपसे और सुर, असुर मनुष्यादि देहवाहनोंके ऊपर चितिरूपसे चढ़ी हुई यह चामुण्डा अपराजिता है।

इस उत्सवमें दीपावलिका माहात्म्य है। यह दीपरेखा, यह प्रभा, यह ज्योति किसकी?

बालकोंके लिये—चमक दिखाते हुए, आवाज करते हुए, उड्डयन साधते हुए क्षणपरिणामी स्फुलिङ्गोंकी।

गृहमेधियोंके लिये—धन्य जीवनकी पताकाओं-सी, गृहकलाओंके उर-प्रसादों-सी, पचरंगी संसृतिकी आशाओं-सी गृहदीप्तियोंकी।

महापुरुषोंके लिये—सविताके दक्षिणायनकी देव-रात्रिमें, शरद्के उपसंहारकी कालरात्रिमें और अमावस्याकी ओर गहरी गगनगामिनी यामिनीमें कर्म, उपासना और ज्ञानके बृहत् प्रदीपोंकी।

त्रयोदशीके दिन—मानव-बन्धुओंके कल्याणार्थ सत्कर्म-प्रदीपद्वारा महालक्ष्मीरूपमें भगवती जगदम्बा-की अर्चना।

चतुर्दशीकी कालरात्रिको—देवोंके प्रसादार्थ उपासन-प्रदीपद्वारा महाकालीरूपमें उसकी आराधना। दिव्य अञ्जन—यह उसका प्रसाद।

अमावस्याको—पितरोंकी तुष्टिके लिये विद्याप्रदीपद्वारा उसी महासरस्वतीकी उपासना।

इस प्रकृति भगवतीके विलासमात्रमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं; उनमेंके एक नन्हे-से सूर्यमण्डलके समाहारमें यह भूमण्डल है; और उसमेंके मानव-समुदायमें हमारी स्थिति है। यह विविध दर्शनोंका प्रवाह वही अप्रमेय काल है और वह सबमें है, मोतीकी लड़ीमें रेशमके तारकी तरह अनुस्यूत कालात्मा।

तथापि जो मानव विश्व और कालकी अनन्ततामें क्षुद्र-से-क्षुद्र है, वही विद्याकी प्रभामें आत्मरूपसे विराट्के सदृश '**महतो महीयान्**' महान्से भी महान् है।

यह और ऐसी प्रभाको प्रकाशित करनेवाली दीपावलिके द्वारा जो पितरों, देवताओं और मानवोंकी तृप्ति, तुष्टि और पुष्टि साधन करता है, उसके नूतन वर्षकी उषा कल्याणमयी, आनन्दमयी और प्रकाशमयी हो, इसमें क्या सन्देह है?

वर-याचना

(रचयिता—पं० श्रीमदनगोपालजी गोस्वामी, बी० ए०, 'अरविन्द')

यही बस बरदायिनि! अब बर दे।

सहज प्रकाशित हो कलुषित मन
मिटे मोह-तरु-तम प्रमाद-घन
हृदय-रात पर नव-प्रभात बन
दिव्य-ज्योति-धन धर दे।

भारति! भाव भरे तव मनमें
विमल-मूर्ति तव, उर-दर्पनमें
अपनी भक्ति-सुधा जीवनमें
अयि जीवनमयि! भर दे।

पुलकित हो गाऊँ पल-पलमें
"बस, तेरी विभूति जल-थलमें"
माँ! मेरे मानस-मरुथलमें
प्रेम प्रवाहित कर दे।

देवीका विराट् स्वरूप

एक बार गिरिराज हिमालयकी प्रार्थनासे श्रीभगवतीजीने अपना विराट् रूप उन्हें दिखाया। उस समय विष्णु आदि सभी देवता वहाँ उपस्थित थे। उस विराट् रूपका स्वर्गलोक मस्तक और चन्द्रमा तथा सूर्य नेत्र थे। दिशाएँ कान, वेद वाणी और पवन प्राण थे। हृदय विश्व था और जङ्घा पृथिवी। व्योममण्डल उसकी नाभि तथा नक्षत्रवृन्द वक्ष:स्थल थे। महर्लोक कण्ठ और जनलोक मुख था। इन्द्र आदि देवता उस माहेश्वरीके बाहु थे और शब्द ही श्रवण। दोनों अश्विनीकुमार उसकी नासिका थे, गन्ध घ्राणेन्द्रिय थी। मुख अग्नि और पलकें दिवा-रात्रि थीं। ब्रह्मधाम भ्रूविलास था और जल तालु। रस ही रसना तथा यम ही द्रंष्ट्रा थे। स्नेह-कला दाँत थी और माया थी हँसी। सृष्टि ही कटाक्ष-विक्षेप तथा लज्जा ही होठ थी। लोभ अधर थे और धर्मपथ था पीठ। इस जगतीतलमें जो सृष्टिकर्तारूपसे विख्यात हैं वे प्रजापति ही उस देवीके मेढ्र थे। समुद्र उदर, पर्वत अस्थि, नदी नाडी तथा वृक्ष ही उसके केश थे। कौमार, यौवन और जरावस्था उसकी उत्तम गति थी। मेघ ही केश और दोनों सन्ध्याएँ वस्त्र थीं। चन्द्रमा ही जगदम्बाके मन थे, विज्ञानशक्ति विष्णु और अन्त:करण रुद्र थे। अश्व आदि जातियाँ उस व्यापक परमेश्वरीके नितम्बसे निम्न भागमें स्थित थीं। अतल आदि महालोक उसकी कटिके अधोभाग थे। देवताओंने देवीके ऐसे महान् रूपका दर्शन किया जो सहस्रों ज्वाला-मालाओंसे पूर्ण था और लपलपाती हुई जीभसे अपना ही वदन चाट रहा था। उसकी दाढ़ोंसे कट-कट शब्द होते थे और आँखें आग उगल रही थीं। नाना शस्त्रोंको धारण करनेवाला वीर-वेश था; उसके सहस्रों मस्तक, नेत्र तथा चरण थे। करोड़ों सूर्य और कोटि विद्युन्मालाओंके समान उसकी देदीप्यमान कान्ति थी। वह महाघोर भीषण रूप हृदय तथा नेत्रोंको आतङ्क पहुँचानेवाला था।

उसे देखते ही सभी देवता हाहाकार मचाने लगे, हृदय कम्पित हो गया और बेसुध हो गये। उन्हें इतना भी स्मरण न रहा कि ये जगज्जननी देवी हैं।

माहेश्वरीकी चारों ओर जो वेद मूर्तिमान् होकर खड़े थे उन्होंने ही देवताओंको मूर्च्छासे जगाया। होशमें आनेपर वे नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भरकर गद्गद कण्ठसे स्तवन करने लगे।

स्तुति समाप्त होनेपर उन्हें भयभीत जानकर देवीने परम सुन्दर रूप धारण करके उन्हें सान्त्वना दी।

(देवीभागवतके आधारपर)

भद्रकाली देवी

(लेखक—डॉ० वेंकट सुब्बैया, एम० ए०, पी-एच० डी०)

तैत्तिरीय-आरण्यकके मन्त्रोंमें अनेक देवताओंकी स्तुति है। इसके दसवें प्रपाठकमें आदित्य, रुद्र, नारायणादि अन्यान्य देवताओंकी स्तुतिके साथ-साथ वेदमाता सावित्री देवीकी स्तुति भी—

आयातु वरदा देवि अक्षरं ब्रह्मसम्मितम्।

—इत्यादि मन्त्रोंमें मिलती है। सवितृ सूर्यनारायणकी शक्ति जो सावित्री देवी है, वह इस वेदमाता सावित्री देवीसे भिन्न है। उस देवीकी स्तुति इसी आरण्यकके पहले प्रपाठकके चौदहवें अनुवाकमें—

योऽसौ तपन्नुदेति। स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति।

—अन्तरिक्षमें जो देव तपता हुआ निकलता है, वह देव सब भूतोंके प्राण लेकर निकलता है इत्यादि मन्त्रोंसे की गयी है। तथा इसी प्रपाठकके प्रारम्भमें अर्थात् इस आरण्यकके आदिमें आये हुए—

भद्रं कर्णेभि: शृणुयाम देवा:। भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा:।

—इत्यादि मन्त्र भद्रकाली देवीके स्तोत्र-स्वरूप हैं।

भद्रं शुद्धात्मविज्ञानं भद्रलोकानुरूपं मङ्गलं च वा कलयति जनयतीति भद्रकाली।

—इस निर्वचनके अनुसार भद्रकाली शब्दका अर्थ है 'शुद्धात्मविज्ञानदात्री शक्ति।'

अदितिरिह जनिष्ट दक्ष या दुहिता तव। तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धव:॥ अतो देवी भद्रकाली समभवत्। अतो ब्रह्मन्नधीहि भद्रकालीविद्यां त्र्यक्षराम्॥

—इत्यादि अथर्ववेदके वाक्योंमें कहा गया है कि

भद्रकाली देवी योगदेवी (पराशक्ति)-से अभिन्न हैं।

भद्रकाल्यै च विद्महे सर्वसिद्धिं च धीमहि। सा नो देवी प्रचोदयात्।

यह भद्रकाली देवीके गायत्रीमन्त्रका स्वरूप है। और—

तां भद्रकालीं तपसा ज्वलन्तीं
महेश्वरीं शुद्धमहत्प्रतिष्ठाम्।
शुद्धात्मकल्याणगुणस्वभावां
वन्दे सदा चेतसा भद्रकालीम्॥
भद्रासनस्थां परमां पवित्रां
भद्रार्चितां शङ्खचक्रादियुक्ताम्।
रुद्राक्षमालां गगने नटन्तीं
वन्दे सदा चेतसा भद्रकालीम्॥

—इत्यादि श्लोकोंमें भद्रकाली देवीके स्वरूपका भी इसी श्रुतिमें निरूपण किया गया है (देखिये, हंसयोगिविरचित भगवद्गीताभाष्य-पृष्ठ ८७-८८)। हंस-योग्यादि शुद्धार्योंका सिद्धान्त है कि इस देवीका स्मरण आदि करनेसे उपासकोंके शुद्धात्म-विज्ञानका विकास होता है और वे सर्वशक्तिसम्पन्न हो जाते हैं।

नमस्ते सिद्धसेनानि आर्ये मन्दरवासिनि।
कुमारि कालि कापालि कपिले कृष्णपिङ्गले॥
भद्रकालि नमस्तुभ्यं महाकालि नमोऽस्तु ते॥

इत्यादि अर्जुनकृत दुर्गास्तोत्रमें उपर्युक्त तीनों देवियोंका नामोल्लेख किया गया है। यह स्तोत्र महाभारतके भीष्मपर्वमें, भगवद्गीतासे पूर्व अध्यायमें मिलता है। इस श्लोकके अव्यवहित पूर्वमें स्थित—

धार्तराष्ट्रबलं दृष्ट्वा युद्धाय समुपस्थितम्।
अर्जुनस्य हितार्थाय कृष्णो वचनमब्रवीत्॥

श्रीभगवानुवाच—

शुचिर्भूत्वा महाबाहो संग्रामाभिमुखे स्थितः।
पराजयाय शत्रूणां दुर्गास्तोत्रमुदीरय॥

—इत्यादि वाक्योंसे मालूम होता है कि इस स्तोत्रका उपदेश स्वयं श्रीकृष्णभगवान्ने अर्जुनको दिया था। अतएव श्रीकात्यायन मुनिने भी अपने भाष्यमें—

अस्य श्रीदुर्गास्तोत्रमहामन्त्रस्य बदरीनारायण ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। श्रीदुर्गाख्या योगदेवी देवता। मम सर्वाभीष्ट-सिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः।

—इत्यादि कहा है।

इस दुर्गास्तोत्रमें उपर्युक्त तीनों देवियोंके तथा अन्य ७५ देवियोंके अर्थात् कुल ७८ देवियोंके नाम आये हैं। हर एक नाम स्वयं एक महामन्त्र है और ७८ नामात्मक यह दुर्गास्तोत्र मन्त्रश्रेष्ठ और सिद्ध मन्त्र है। सिद्ध मन्त्रका लक्षण उपर्युक्त भगवद्गीता-भाष्यके पृष्ठ ११२ में देखिये। **नमः श्रीभद्रकाल्यै।**

महाशक्ति सावित्रीका मन्त्रयुद्धमें उपयोग

(लेखक—श्रीसुन्दरलाल नाथालालजी जोशी)

सावित्री और धनुर्वेद

सावित्री धनुर्वेदका महान् अङ्ग है। बहुतेरे धनुर्धरोंने सावित्रीकी उपासना कर विजय और कीर्ति प्राप्त की है। किसीने ब्रह्मास्त्र सिद्ध किया, तो किसीने पाशुपतास्त्र प्राप्त किया। ब्रह्मदण्ड और ब्रह्मशिरस्-जैसे अमोघ अस्त्रोंके लिये बहुतेरे ब्राह्मणोंने तपश्चर्या की है और उन्हें सिद्ध किया है। देवीभागवतमें तो पूर्णरूपेण गायत्रीका गुणगान किया गया है। पचीस-पचीस अध्याय-जैसा विस्तारमय विवेचन यदि किसी महामन्त्रके ऊपर हुआ है तो वह हुआ है गायत्री-माहात्म्यकी प्रतिष्ठापर ही! ब्रह्मास्त्रसे बड़े-बड़े नरकेसरी काँप उठते थे, बड़ों-बड़ोंके छक्के छूट जाते थे, अनेक योद्धा इसका नाम सुनकर व्याकुल हो जाते थे। ब्रह्मास्त्रकी ऐसी भीषणता थी। इस अमोघ शक्तिके सामने सर्वनाश उपस्थित हो जाता था। इसकी प्रचण्ड शक्तिसे आबाल-वृद्ध तो भस्म हो ही जाते थे, गर्भमें स्थित बालक भी सुरक्षित नहीं रह सकते थे। ब्रह्मास्त्र अर्थात् प्रलयकी मूर्ति। मन्त्रके बलसे ऐसे-ऐसे अनेकों अमोघ अस्त्र सिद्ध होते थे; वायव्यास्त्र और अग्न्यस्त्रका नाम किसने नहीं सुना है? मन्त्रशक्ति ऐसी महाशक्ति है। इसकी उपासना जिसने की उसीने विजय प्राप्त किया। सावित्रीसे ब्रह्मास्त्र सिद्ध करना इस प्रकार होता है—

सावित्रीके सामर्थ्यको शस्त्रोंमें उतारनेके लिये किसी विशेष विधिसे विशेष क्रममें जप करना पड़ता है। ब्रह्मास्त्रके

लिये सावित्रीको विलोम क्रमसे—उलटा जपे।

ॐ दयादचोप्र नो यो योधि हिमधी स्यवदेर्गोभण्यंरेर्वतुविस तद् स्वोवर्भुभूरोम्॥

—ब्रह्मास्त्रके लिये सावित्रीका यह क्रम है। एक निखर्वसंख्यक मन्त्र-जप करके अस्त्रमें मन्त्राधान करनेसे प्रचण्ड ब्रह्मास्त्र बनता है। इसकी अमोघ शक्ति किसीसे कुण्ठित नहीं होती। शस्त्रको वापस खींच लेनेके लिये सीधे क्रमसे सावित्रीका जप करना चाहिये।

वेदमात्रा सर्वशस्त्रं गृह्यते दीप्यतेऽथवा।
तत्प्रयोगं शृणु प्राज्ञ ब्रह्मास्त्रं प्रथमं शृणु॥
दादिदन्तां च सावित्रीं विपरीतां जपेत्सुधीः॥
जप्त्वा पूर्वां निखर्वं चाभिमन्त्र्य विधिवच्छरम्।
क्षिपेत् शत्रुषु सहसा नश्यन्ति सर्वजातयः॥
बाला वृद्धाश्च गर्भस्था ये च योद्धुं समागताः।
सर्वे ते नाशमायान्ति मम चैव प्रसादतः॥
यथाक्रमं दादिदन्तं जपेत्संहारसिद्धये॥

तस्य स्वरूपम्—

ॐ दयादचोप्र नो यो योधि हिमधी स्यवदेर्गोभण्यंरेर्वतुविस तद् स्वोवर्भुभूरोम्॥ इति प्रयोगः॥

अथ संहारः।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। इति संहारः—

ऊपरके श्लोकोंका तात्पर्य यह है कि सावित्री वेदमाता हैं। उनका आविर्भाव सब शस्त्रोंमें किया जा सकता है। शस्त्रका तेजस् उनसे प्रज्वलित हो जाता है।

गायत्री मन्त्रके अन्तमें जो दकार आता है, वहाँसे प्रारम्भ करके मन्त्रको उलटा जपे, अन्य भावार्थ ऊपरके विवेचनमें मूल मन्त्रके साथ आ ही गया है।

इस प्रकारसे सिद्ध किये हुए ब्रह्मास्त्रसे कौन-कौनसे कार्य सिद्ध होते हैं—यह बात रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें ब्रह्मास्त्र-सम्बन्धी उल्लेखोंको देखनेसे ज्ञात होगी। गर्भका भी नाश करनेवाला अश्वत्थामाके क्रोधमें किया हुआ ब्रह्मास्त्रका दुरुपयोग प्रसिद्ध ही है।

दूसरा सावित्रीका प्रयोग प्रसिद्ध पाशुपतास्त्रके लिये हो सकता है। ब्रह्मास्त्रके समान ही यह प्रबल शस्त्र भी सावित्रीके द्वारा ही सिद्ध होता है। मूल मन्त्र इस प्रकार है—

ॐ दयादचोप्र नो यो योधि हिमधी स्यवदेर्गोभण्यंरेर्वतुविस तद् स्वोवर्भुभूरोम्। श्लीं पशु हुं फट् अमुकशत्रून् हन हन हुं फट्।

इस मन्त्रका दो लाख पुरश्चरण होता है। मन्त्र सिद्ध होनेपर इसकी योजना ब्रह्मास्त्रके समान करनेपर सब शत्रुओंका नाश हो जाता है। उसे वापस खींचनेके लिये सामान्यतः गायत्री-मन्त्रका जप करना चाहिये।

तीसरा प्रयोग ब्रह्मदण्डके नामसे प्रसिद्ध है। ब्रह्मदण्डके लिये इस प्रकारका विधान है—

ब्रह्मदण्डं प्रवक्ष्यामि प्रणवं पूर्वमुच्चरेत्।
ततः प्रचोदयाज्ज्ञेयं ततो नो यो धियः क्रमात्॥
ततो धीमहि देवस्य ततो भर्गो वरेणियम्।
सवितुस्तच्च योक्तव्यममुकशत्रुं तथैव च॥
ततो हन हन हुं फट् जप्त्वा पूर्वं द्विलक्षकम्।
अभिमन्त्र्य शरं तद्वत् प्रक्षिपेच्छत्रुषु स्फुटम्॥
नश्यन्ति शत्रवः सर्वे यमतुल्या अपि ध्रुवम्।
एतदेव विपर्यस्तं जपेत्संहारसिद्धये॥

ब्रह्मदण्डके लिये इस प्रकार मन्त्र है—

ॐ प्रचोदयान्नो यो धियो धीमहि देवस्य भर्गो वरेण्यं सवितुस्तत् अमुकशत्रुं हन हन हुं फट्॥

इस मन्त्रका दो लाख जप करके उसका आवाहन शरमें करे तथा ब्रह्मास्त्रके समान उसकी योजना करे। इस मन्त्रकी शक्तिसे यम-जैसा भयानक शत्रु भी विनाशको प्राप्त होता है। सीधे गायत्री-मन्त्रका जप करनेसे मन्त्रशक्ति विरामको प्राप्त होती है।

चौथा प्रयोग ब्रह्मशिरस् नामसे प्रसिद्ध है, उसका मन्त्र यों है—

ॐ धियो यो नः प्रचोदयात् भर्गो देवस्य धीमहि तत्सवितुर्वरेण्यं शत्रून्मे हन हन हुं फट्॥

इस मन्त्रका तीन लाख जप करनेसे सिद्धि होती है। इस प्रकार इस प्रयोगमें रहनेवाली महाशक्तिको सिद्ध कर शस्त्रमें लगावे। ब्रह्मशिरस्द्वारा देव या दानव-जैसे महान् शत्रुओंके नाश करनेकी सामर्थ्य आती है। इस मन्त्रशक्तिको वापस खींचनेके लिये भी सीधे गायत्री-मन्त्रका जप करे।

शस्त्रके बदले कुशके शल्यके ऊपर आवाहन किया जा सकता है। सावित्रीमें रहनेवाली महाशक्तिके प्रभावसे वह शल्य अमोघशक्ति बन जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके लिये सावित्रीकी अनेकों प्रकारसे उपासना

होती है और कार्यमें उसकी शक्तिकी प्रत्यक्ष योजना होती है। धन और आरोग्य, सुख और शान्ति, पुत्र और स्त्री आदि अनेक कामनाओंसे युक्त द्विजके लिये सावित्री आजतक कामदुघा बनती आ रही है। सावित्री-जैसा शस्त्र जिस द्विजके हाथमें है वह क्या कभी दीन-दरिद्र हो सकता है? कदापि नहीं।*

राष्ट्र-शक्ति

(लेखक—पं० श्रीराजबलीजी पाण्डेय, एम० ए०)

विश्व चेतन-शक्तिकी सृष्टि है। इसलिये यह एक निश्चित लक्ष्यकी ओर गमन कर रहा है। इसकी सारी क्रियाओंमें ध्यान देनेपर एक उद्देश्य दिखलायी पड़ता है। जगत्‌की बाह्य विषमताओंकी तहमें अटूट समताकी धारा बह रही है। जिस प्रकार नदीमें बाहरसे बुद्‌बुद, तरङ्ग, लहर और विभिन्न धाराएँ अलग-अलग गतिसे बहती हुई दिखलायी देती हैं, परन्तु ये सब-की-सब अनन्त जलराशिकी गम्भीरतामें विश्राम लेती हैं, उसी प्रकार संसारमें रुचि-वैभिन्न्य, मतवैषम्य, विभिन्न स्वार्थ, द्वेष, कलह और युद्ध दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु इन सबका अवसान विश्वकल्याणकी चिन्तामें हो रहा है। हम इस विचित्र संगतिको संगीतके उदाहरणसे और स्पष्ट रीतिसे समझ सकते हैं। यह संसार एक बहुत बड़ा गायन है। यह इतना मधुर है कि सब लोग इसको अपने-अपने ढंगसे गाते हैं। इसके गानेमें कई प्रकारके स्वरोंका आरोह-अवरोह होता है; व्यक्तिगत लय और तान भी पृथक्-पृथक् होते हैं। परन्तु इसका ध्रुव अपनेको कभी नहीं भूलने देता। वह बीच-बीचमें गायकके मुखसे गूँज उठता है और गानेके सम्पूर्ण अर्थको अपने साथ लेता हुआ अन्तिम उद्देश्यकी ओर खींचता ही जाता है। इस विश्व-गायनका ध्रुव इसकी मौलिक एकता है। यही सबका गम्य स्थान है। कुछ लोग जानते हुए और अधिकांश लोग न जानते हुए भी इसी ओर चल रहे हैं। इसी यात्रामें राष्ट्रका निर्माण एक आश्रय है। यह सामाजिक इच्छाशक्तिके अद्यतन विकासकी चरम सीमा है। इसीमें मानव-समाज अपनी आकांक्षाओंकी पूर्ति, आदर्शोंका कार्यान्वित होना और सार्वजनिक हितोंका समन्वय देखना चाहता है।

राष्ट्र-शक्ति विश्वके मूलमें रहनेवाली चिच्छक्तिका बाह्य रूप है, जो विश्वके प्रसारके लिये अनेक चित्तोंमें क्रियमाण हो रही है। संस्कारवश अन्तःकरणोंके विभिन्न होनेसे प्रक्रियामें भिन्नता आ जाती है। इसीलिये एकतामें अनेकता और समतामें विषमताका आभास होता है, जिसके कारण विभिन्न मार्गों और हितोंकी उत्पत्ति होती है और संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु इन अन्तःकरणोंसे राग-द्वेषकी मलिनता रगड़से जब दूर हो जाती है तब सबसे एक ही प्रोज्ज्वल प्रकाश निकलने लगता है। इस उजालेमें भटके हुए मनुष्य अपने केन्द्रीय प्रकाशका दर्शन और सार्वजनीन एकता तथा समतामें अपने कल्याणका अनुभव करते हैं। मनुष्य-जातिके विकासका सम्पूर्ण इतिहास इस सत्यकी रक्षाके द्वारा सार्वजनिक हितका इतिहास है।

सभ्यताके शैशवमें अन्य जानवरोंकी तरह मनुष्य एकाकी असंगठित जीवन व्यतीत करता है। अपना पेट पालना ही उसका मुख्य काम होता है। परन्तु जिस व्यापिनी शक्तिका प्रकाश उसके अन्दर हो रहा है, वह इस प्रकारके संकुचित जीवनसे कैसे सन्तुष्ट रह सकती है। धीरे-धीरे मनुष्यकी संकीर्ण प्रवृत्तिमें परिवर्तन होना प्रारम्भ होता है। वह अनुभव करता है कि उसका छोटा-सा शरीर उसके आनन्दका केन्द्र नहीं बन सकता, इससे तो दूसरोंकी सहायताके बिना उसकी भौतिक आवश्यकताओंकी भी पूर्ति नहीं हो सकती। उसकी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और आदर्श विकसित होने लगते हैं। उसका व्यक्तित्व उसके शरीरके घेरेसे बाहर निकलनेकी चेष्टा करता है। मनुष्य सामाजिक जीवनकी आवश्यकताका अनुभव करता है और सबके सुख-दुःखमें उसको आनन्द मिलने लगता है।

व्यक्तिगत जीवनसे सार्वजनिक जीवनमें प्रवेश करनेका

* यह गायत्रीकी सत्य महिमा है परन्तु इस लेखको पढ़कर किसीको ऐसा प्रयोग नहीं करना चाहिये। अपना नहीं जीता हुआ मन ही हमारा शत्रु है। उसीको जीतनेके लिये जगज्जननी भगवतीसे प्रार्थना करनी चाहिये—सम्पादक।

प्रथम चरण मनुष्योंके छोटे-छोटे झुण्ड होते हैं जिनको वे पारस्परिक सहयोगके लिये बनाते हैं। इस झुण्ड या समूहकी संयुक्त शक्ति ही इस अवस्थामें उनका सञ्चालन करती है। विकासोन्मुखी शक्तिके दूसरे चरणमें छोटी-छोटी जातियोंका जन्म होता है। इनमें रहन-सहन, रीति-रिवाज और परम्परा प्रायः समान होती हैं। इस प्रकार शक्ति-सञ्चय प्रारम्भ होता है। पशुमें स्मृतिशक्ति अविकसित होनेके कारण वह परम्पराके आधारपर प्रकृतिसे मर्यादित अपनी सीमाके बाहर अपने जीवनका विकास नहीं कर सकता। परन्तु मनुष्य अपनी जोड़ी हुई शक्तिसे लाभ उठाता है और क्रमशः अपनी उन्नति करना प्रारम्भ कर देता है। विकासका घेरा धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। जातीय जीवनमें प्राथमिक छोटे-छोटे झुण्डोंका अन्तर्भाव होता है, परन्तु इन जातियोंको भी अपनी सीमामें सन्तोष नहीं मिलता। एक-दूसरेके सम्पर्कमें आनेसे वे अनुभव करती हैं कि पारस्परिक संघर्ष नहीं, अपितु सहयोगसे ही उनका जीवन सुचारुरूपसे चल सकता है। इस तरह छोटी जातियाँ संयुक्त जातियोंके एक भौगोलिक राज्यमें मिल जाती हैं। परन्तु शक्तिके विकासकी प्रक्रिया जारी ही रहती है। इन राज्योंका अलग अस्तित्व एक-दूसरेके लिये आशंका, भय और संघर्षका कारण बन जाता है। वे देखते हैं कि उनके पूर्ण और शान्तिमय विकासके लिये आवश्यक है कि वे अन्य राज्योंके जीवन और हितसे अपना सामञ्जस्य रखें। इस प्रकार युद्ध अथवा स्वेच्छासे अधिक विस्तृत राज्योंकी स्थापना होती है। इन संयुक्त राज्योंकी एक संस्कृति, एक भाव, एक भाषा और एक उद्देश्य निश्चित होने लगता है और सबकी सामूहिक शक्तिके रूपमें सबके ऊपर राष्ट्रकी प्राणप्रतिष्ठा होती है। राज्यकी संयुक्त सामूहिक शक्ति ही राष्ट्रशक्ति है। दूसरे शब्दोंमें समाजकी पूर्णविकसित इच्छाशक्ति ही राष्ट्रशक्ति कहलाती है।

जिस प्रकार सामाजिक जगत्‌में मनुष्यके व्यक्तित्वका विकास होता है उसी प्रकार राजनैतिक क्षेत्रमें भी व्यक्तिगत और राष्ट्रीय इच्छाशक्तियोंके समन्वयकी क्रमशः उन्नति होती है। अधिकारकी भावनाका उदय होते ही पहले दोनों शक्तियोंमें संघर्ष और फिर उनमें सामञ्जस्य प्रारम्भ हो जाता है। प्रारम्भमें मनुष्य अपनी विशृंखलित स्वच्छन्द इच्छाशक्तिके वशीभूत होते हैं। आगे चलकर इस स्वच्छन्दतामें कुछ संयम आने लगता है। छोटे-छोटे झुण्डोंमें आनेपर सब लोग एक मुखिया अथवा नेता चुनते हैं और उसकी इच्छाशक्तिमें अपनी व्यक्तिगत इच्छाशक्तियोंका अन्तर्भाव कर देते हैं। यह गणमुख्य अपने संघकी इच्छाशक्तिका प्रतिनिधि बन जाता है। इसको हम प्रारम्भिक संयत एकाधिकार कह सकते हैं, किन्तु इसमें बिलकुल अनियन्त्रित शासककी निरङ्कुशता नहीं रहती। जब कई झुण्डोंकी एक जाति बनती है तो एक मुखियासे काम नहीं चलता। इसलिये शासकोंका एक दल बन जाता है जो संयुक्त शासन करते हैं। इसको अल्पजनाधिकार कहा जा सकता है। इनमें जो विशेष महत्त्वाकांक्षी होता है वह दूसरोंकी शक्तिको आत्मसात् करके एकतन्त्र राज्य और फिर साम्राज्यकी स्थापना करता है। इस अवस्थामें एक व्यक्ति सारे राष्ट्रका प्रतिनिधि बन जाता है। जबतक वह जनतामें लोकप्रिय होता है तबतक सम्पूर्ण राष्ट्रकी सहानुभूति उसके साथ रहती है। परन्तु जब एकाधिकारके मदमें प्रजाकी व्यक्तिगत इच्छाशक्तिकी अवहेलना करता है तो उसका विरोध शुरू हो जाता है और समाज अपनी सौंपी हुई इच्छाशक्तिको वापस लेनेका प्रयत्न करता है। इस प्रयासमें प्रजातन्त्रकी उत्पत्ति होती है। राष्ट्रीय शक्ति एक व्यक्तिके हाथसे निकलकर प्रजाके हाथमें आ जाती है। प्रजातन्त्रप्रणालीमें राष्ट्रशक्तिके प्रकृत विकासके लिये सबसे अधिक अवसर होता है। किन्तु यहाँ भी उसका दुरुपयोग सम्भव है, जिस कारण प्रजातन्त्रसे अराजकता और फिर निरङ्कुश शासन आ जाता है। यह चक्र चलता रहता है, परन्तु राष्ट्रशक्ति अपनी प्रकृत अवस्थामें आनेके लिये सदा राजनैतिक वायुमण्डलको आन्दोलित करती रहती है।

अब राष्ट्रशक्तिके बाह्य स्वरूपकी ओर आइये। राजनीतिज्ञोंने प्रायः इसको तीन भागोंमें विभक्त किया है। ये अंग—भूमिशक्ति, जनशक्ति और संघटनशक्ति हैं।

राष्ट्रकी स्थापनाके लिये एक निश्चित भूखण्डकी आवश्यकता होती है। भूमि अपने अन्तर्हित धातुओं और वनस्पतियोंसे प्रजाका पालन करती है। इसलिये उसपर बसनेवाली जनता उस भूखण्डपर ममता रखती है और उसपर अपना अधिकार समझती है। यह भूखण्ड अथवा देश प्रायः भौगोलिक सीमाओंसे बद्ध होता है, परन्तु राष्ट्र कभी-कभी इनका उल्लंघन करके आगे भी बढ़ता है। देशकी परिस्थिति, उसका जलवायु और उपज—ये सब राष्ट्र-शक्तिको निर्धारित करते हैं। जनशक्ति वह सत्ता है जो भूमिके सम्पर्कमें रहकर उसको उपजाऊ

बनाती है और उसकी उपजका उपभोग करती है। राष्ट्रशक्तिका यह जङ्गम अङ्ग है। इसीके चालू होनेसे राष्ट्रका शरीर सजीव रहता है। संघटनशक्ति वह शक्ति है जिसके द्वारा जनशक्तिका नियन्त्रण और एकताकी वृद्धि होती है। इसके द्वारा मनुष्यमें एक भाषा, एक आचार, एक सभ्यता और एक उद्देश्यकी उत्पत्ति होती है। राष्ट्रका प्रबन्ध भी इसी अङ्गके द्वारा होता है। शासक, कानूनविधायक, न्यायाधीश आदि अधिकारिवर्ग, सेना और कोषका विधान भी यही शक्ति करती है। यद्यपि ये अङ्ग बाहरसे पृथक्-पृथक् दिखलायी पड़ते हैं परन्तु वास्तवमें वे एक ही शक्तिके स्फुरण हैं। जिस प्रकार जीवाणु परिस्थितिविशेषमें अपनी विभिन्न चेष्टाओं और व्यापारोंसे एक सेन्द्रिय पिण्डका रूप धारण करता है, उसी प्रकार राष्ट्र भी एक ही सामाजिक इच्छाशक्तिका सेन्द्रिय पिण्ड है। इसकी उत्पत्ति किसी एक व्यक्ति अथवा शासककी इच्छासे नहीं, किन्तु एक गतिशील सार्वभौम शक्तिकी प्रक्रियासे होती है।

यह तो सामाजिक इच्छाशक्तिसे पिण्डराष्ट्रकी उत्पत्ति हुई। परन्तु जिस प्रकार एक पिण्डमें स्थित जीवात्माको अपनी पूर्ण आत्मानुभूतिके लिये पिण्डसे सन्तोष नहीं होता और वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके रहस्य और उससे अपना सम्बन्ध जाननेकी चेष्टा करता है, उसी प्रकार आदर्श राष्ट्र भी अपनी वास्तविक उन्नतिके लिये अपने व्यक्तित्वको अपनी भौगोलिक सीमाओंके भीतर सङ्कीर्ण नहीं बनाता। वह और आगे बढ़नेका प्रयत्न करता है। यहींसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध प्रारम्भ होता है। जो सम्बन्ध पहले सन्देह, भय, कलह और युद्धके आधारपर होता है वह पीछे सात्त्विक सहयोग और विश्वकल्याणका रूप धारण करता है। सब राष्ट्र यह अनुभव करते हैं कि वे एक ही विश्वराष्ट्रके अन्तर्गत और उसीके नियमोंसे बद्ध हैं। अत: उनके हितों और आदर्शोंमें सामञ्जस्य, समन्वय और एकता होनी चाहिये। इस विश्वधात्री शक्तिके कार्यमें अधिकारलोलुप महत्त्वाकांक्षियोंद्वारा बाधाएँ भी उपस्थित होती हैं; किन्तु जिस प्रकार पर्वतीय नदीका वेग छोटे-छोटे बाँधोंसे नहीं रोका जा सकता, उसी प्रकार इस शक्तिका वेग व्यक्ति-विशेषसे नहीं रुक सकता। वह अपने उद्देश्यको सम्पादित करके ही रहेगी। राष्ट्रशक्ति अपने आदर्शरूपमें विश्वराष्ट्रका निर्माण करती है जिसकी छत्रच्छायामें संसार निर्भय, शान्त और सुखी रहता है।

राष्ट्रशक्तिकी कलात्मक व्यञ्जना **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** के रूपमें होती है। वह राष्ट्रमें सत्यका बोध, शिवका अनुभव और सुन्दरकी सृष्टि करती है। राष्ट्रको केवल राजनीतिसे सीमित समझना भूल है। हम राष्ट्रीय जीवनको अलग-अलग विभागोंमें नहीं बाँट सकते, वह सम्पूर्ण जीवनको ढक लेता है। जिस भावके स्पन्दनसे राष्ट्रकी हृत्तन्त्री बज उठे वह राष्ट्रीय भाव है। सत्यके बोधमें राष्ट्र संसारके पदार्थोंका वास्तविक रहस्य और व्यक्तियोंके आदर्श सम्बन्ध जाननेका प्रयत्न करता है। इससे विज्ञान, दर्शन आदि अनेक शास्त्रोंका जन्म होता है। शिवके अनुभवमें राष्ट्रशक्ति प्रजाको कल्याणमार्गपर ले चलती है। उच्च आदर्श और तदनुकूल जीवन शिवके अनुभवसे ही सम्भव हो सकता है। सुन्दरकी सृष्टि कर राष्ट्र आनन्द उठाता है। कलाओंका प्रसव इस सुन्दरके गर्भसे होता है। वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, सङ्गीतकला तथा काव्यकलादि अनेक ललित कलाओंका समावेश राष्ट्रशक्तिके सुन्दर रूपमें हो सकता है। सत्य, शिव और सुन्दरकी वृद्धि करना राष्ट्रशक्तिका मुख्य कार्य है। उसका चरम लक्ष्य इन्हींका पूर्णतम विकास करना है।

राष्ट्रकी शक्तिके रूपमें कल्पना नयी नहीं है। बहुत प्राचीन समयसे मनुष्यने अपनी जन्मभूमिमें शक्तिका अनुभव किया है। माता शिशुको जन्म देकर दिव्य प्रेमसे उसका लालन-पालन करती है। मनुष्य इसी क्रियाको एक लम्बे पैमानेपर अपने देशमें देखता है। इसीलिये जन्मभूमिको मातृभूमिकी उपाधि दी गयी है। मातृशक्तिके अतिरिक्त वह रक्षक शक्ति भी है। भारतमाता अथवा भारतशक्ति इसी शक्तिका अवतार है। इसमें प्रेम और शक्ति दोनों मिले हुए हैं। पाश्चात्त्य देशोंमें भी राष्ट्रको शक्ति (Power) कहनेका प्रचार है और जन्मभूमिको पितृदेश कहा जाता है। जिस प्रकार जन्म देनेवाली माता हमारी श्रद्धा, प्रेम और भक्तिकी भाजन है उसी प्रकार हमारी मातृभूमि और उसका शक्तिमय स्वरूप राष्ट्रशक्ति भी है। किन्तु राष्ट्रशक्तिका यह खण्डश: पूजन है। इसकी उपयोगिता है, किन्तु इसमें पूजनकी पूर्णता नहीं। जिस प्रकार मातृशक्ति हमारी व्यक्तिगत माता और मातृभूमिसे सीमित नहीं है उसी प्रकार राष्ट्रशक्ति एक राष्ट्रसे बद्ध नहीं। उसका पूरा स्वरूप विश्वकी राष्ट्रशक्ति है। इस चेतनाके साथ ही उसका पूजन होना चाहिये, तभी उसके पुत्र उसके वरद और अभय हस्तके प्रसादसे सम्पन्न और निर्भय रहेंगे।

शक्ति क्या है ?

(लेखक—गोस्वामी पं० श्रीमदनगोपालजी दीक्षित, मन्त्रशास्त्री)

प्रथम यह प्रश्न उठता है कि शक्ति क्या पदार्थ है? इसका उत्तर यही है कि 'सबकी आदिभूता और प्रकाशरूपा शक्ति है।' सबकी आदिभूता कहनेका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्रकी भी वह आदि है, उसका आदि कोई नहीं है। इसी अभिप्रायका समर्थक मार्कण्डेयजीका भी वचन है। यथा—

सर्वस्याद्या महालक्ष्मीस्त्रिगुणा परमेश्वरी।
लक्ष्यालक्ष्यस्वरूपा सा व्याप्य कृत्स्नं व्यवस्थिता॥

अर्थात् त्रिगुणविशिष्टा परमेश्वरी महालक्ष्मी सबकी आदिकारण है, उसका स्वरूप व्यक्त भी है और अव्यक्त भी। वह समस्त दृश्य प्रपञ्चोंको व्याप्त करके स्थित है।

प्रकाशरूपा-शब्दसे यह आशय व्यक्त किया जाता है कि वह स्वयं ही प्रकाशमयी है, सब जगह उसीका प्रकाश है, उसके अन्दर अन्य किसीका प्रकाश नहीं है। कहा भी है—

प्रकाशरूपा प्रथमे प्रयाणे अमृतरूपिणी इति, अतः सा एव सर्वाराध्या स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुरिति।

श्रुतिमें 'सर्वाराध्या' पदसे यह दिखलाया गया है कि सभी देवता और असुरोंद्वारा वह आराधना करनेयोग्य है। यही बात श्रीशुकदेवजीने भी कही है—

आराध्या परमा शक्तिः सर्वैरपि सुरासुरैः।
नातः परतरं किञ्चिदधिकं भुवनत्रये॥

अर्थात् समस्त देवता और दानवोंको परमा शक्तिकी आराधना करनी चाहिये। इससे बढ़कर भुवनमें कुछ भी नहीं है।

'विश्वसिद्धिहेतु' इस कथनका यह भाव है कि वह जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहारकी कार्य-कारणस्वरूपा है। योगिनीतन्त्रमें कहा है—

कारणावस्थयापन्ना सदाहं धातृरूपिणी।
नाकार्यं मे हि यत् किञ्चित्सदाहं ह्यक्षरा परा॥
कार्यभावसमापन्ना सदा प्रकृतिरूपिणी।
तदा ब्रह्मादयः सर्वे सर्वेऽप्याविर्भवन्ति हि॥

अर्थात् कारणावस्थाको प्राप्त होकर मैं सदा ब्रह्मारूपमें रहती हूँ, जो कुछ दीख रहा है यह सब अवश्य मेरा ही कार्य है। मैं सदा ही अक्षररूपिणी और पराशक्ति हूँ। कार्यावस्थापन्न होकर मैं प्रकृतिरूपिणी हो जाती हूँ, उसी समय ये ब्रह्मादि देव तथा अन्य सभी प्रकट होते हैं।

उपर्युक्त वचनसे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मासे लेकर कीटपर्यन्त समस्त विश्वका वही निर्माण, पालन और संहार करती है तथा आराधना करनेपर देवता और मनुष्योंको वही धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूप चारों फलोंको देती है। यही बात दुर्गासप्तशतीमें भी कही गयी है—

आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा॥

'आराधना करनेपर वह मनुष्योंको भोग, स्वर्ग और मोक्ष भी देती है।'

उसी शक्तिकी आराधनासे विविध विषयोपभोगपरायण जीवविशेष पुनः गर्भमें नहीं पड़ते। पूज्यपाद श्रीशङ्कराचार्यजीने भी कहा है—

शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननव्यापारबद्धोद्यमा।
ज्ञात्वेत्थं न पुनर्विशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं नराः॥

'कुण्डलिनीशक्ति ही इस प्रकार जगत्की सृष्टिके व्यापारमें उद्यम कर रही है—ऐसा जानकर मनुष्य पुनः माताके गर्भमें बालभावको नहीं प्राप्त होते।'

—इत्यादि शास्त्र-सिद्धान्तसे यह निश्चय होता है कि वह जगदम्बा ही एकमात्र अखिल संसारमें समस्त कार्य करनेको स्वतन्त्र है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि अन्य सभी देवता उसीके अधीन हैं, तथा उसीकी आज्ञासे अपने-अपने कार्योंमें लगे हुए हैं। ब्रह्माण्डपुराणमें भी ऐसा ही कहा है—

स्वतन्त्राहं सदा देवाः स्वेच्छाचारविहारिणी।

'हे देवताओ! मैं अपनी इच्छानुसार विचरनेवाली स्वतन्त्र हूँ।'

श्रीशङ्कराचार्यजीने तो देवीकी सृष्टि भी स्वतन्त्र बतलायी है, इसी भावको निम्न वाक्यसे व्यक्त किया है—

स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितल अवातीतरदिदम्............

—इत्यादि।

इस प्रकार श्रुति-स्मृति आदिके मन्तव्यसे यही सिद्ध हुआ कि वह शक्ति ही सबको व्याप्त करके स्थित है। शक्तिविहीन शरीर मृतक कहलाता है। देवीभागवतमें लिखा है—

वर्तते सर्वभूतेषु शक्तिः सर्वात्मना नृप।
शववच्छक्तिहीनस्तु प्राणी भवति सर्वदा॥

अर्थात् हे राजन्! सम्पूर्ण भूतोंमें सर्वरूपसे शक्ति वर्तमान है, शक्तिहीन प्राणी तो सदा शवकी भाँति हो जाता है।

अतः व्यक्त अथवा अव्यक्त जो कुछ है वह पहले उसी शक्तिका स्वरूप है, पश्चात् उससे सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है। श्रुतिने भी कहा है—

या एव प्रथमा व्यौर्छत् सा रूपाणि कुरुते पञ्च देवी द्वौ स्वसारौ यतस्तन्त्रमेतत् सनातनं विततं तन्मयूखम्।

इस तरह श्रुति और स्मृति आदिमें वर्णित सृष्टिका उत्पादन शक्तिकी इच्छासे ही होता है—यही सिद्धान्त है।

अब दूसरा प्रश्न यों होता है कि यदि समस्त जगत्की कार्य-कारणरूपा शक्ति ही है तो 'तत्त्वमसि' (वह ब्रह्म तू ही है) यह वेदान्तका ब्रह्मप्रतिपादक सिद्धान्त निर्मूल है क्या?

इसके उत्तरमें यह कहा गया है कि वेदान्तशास्त्रमें शक्ति-भिन्न ब्रह्मका प्रतिपादन नहीं है। 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य शक्तिस्वरूप ही है। इसमें तीन शब्द हैं—**तत्, त्वम्, असि।** ये तीनों शब्द पूर्ण अर्थगर्भित हैं, सामान्यवाचक नहीं हैं। पहले अर्थशास्त्र है, इसके बाद शब्दशास्त्र। शब्दशास्त्र अर्थशास्त्रका प्रतिपादन करता है, इसलिये अर्थके ज्ञानसे ही शब्दका भलीभाँति ज्ञान होता है और शब्दका ज्ञान होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। श्रुतिने भी इस बातका समर्थन किया है—

एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।

अर्थ-ज्ञान हुए बिना शब्दका उच्चारण करनेसे परिश्रममात्र फल होता है, इसलिये अर्थ-ज्ञान ही कार्य-सिद्धिका कारण होता है। अर्थ-ज्ञान-रहित वेदशास्त्रके स्वाध्यायमें दोष सुना जाता है। अतः अर्थसहित ही वेदका अध्ययन करना चाहिये। श्रुति भी यही कहती है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थं योऽर्थज्ञः सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।

अर्थात् जो वेद पढ़कर उसके अर्थको नहीं जानता वह ठूँठ अथवा भारवाहकके समान है। जो अर्थका ज्ञान रखता है वह ज्ञानसे अपने पापोंको दूरकर स्वर्गमें पहुँचता और समस्त कल्याणमय पदार्थोंका उपभोग करता है।

और भी कहा है—

ज्ञातव्यः सर्वदैवार्थो वेदानां कर्मसिद्धये।
पाठमात्रमधीती च पङ्के गौरिव सीदति॥

'वैदिक कर्मकी सिद्धिके लिये वेदार्थका सदा ही ज्ञान रखना चाहिये। केवल पाठमात्रका अध्ययन करनेवाला कीचड़में गौकी भाँति फँसकर दुःख उठाता है।'

'**तत्त्वमसि**' इस वाक्यका शक्तिब्रह्मके साथ एकता-मूलक अर्थ है, इस अर्थमें '**तत्**' पदार्थसे वाच्य शुद्ध ज्ञानरूपा परादेवता महात्रिपुरसुन्दरी ही आराध्य है और '**त्वम्**' पदार्थसे वाच्य (काम-क्रोधादि) छः बन्धनोंसे बँधा हुआ स्वयं विभु आत्मा, जो पशुवाचक जीव तथा ब्रह्मका अंशभूत है, आराधक है। इस प्रकार दोनोंकी आराध्य-आराधकभावसे जब प्रवृत्ति होती है तो तत्पदार्थकी वाच्य जो आराध्य देवता है वह त्वंपदार्थवाच्य पशुवाचक आराधक जीवको ही अनुगृहीत करके अपनी शक्तिके बलसे उसके छहों बन्धनोंका समूल उन्मूलन कर उसे अपना अभिन्न बना लेती है, इस प्रकार '**असि**' पदसे शुद्ध संविद्रूपमें अद्वैतभावकी प्राप्ति ही लक्षित होती है।

अतः विशुद्ध ज्ञानसामान्यकी अधिकारिणी जो परा-शक्ति है, उसके अधिकारमें भिन्न पदार्थकी भाँति रहते हुए भी वस्तुतः उस ज्ञानस्वरूपिणीके साथ भेदका अत्यन्ता-भाव होना ही 'विशुद्ध संविदाद्वैतभाव'* है।

आगमशास्त्रमें भी इसी बातका समर्थन किया गया है—

शक्तिः कादिमते विमर्शमहसां राशिः सधर्मेश्वरी
षट्त्रिंशच्छिवशक्तितत्त्वमुखतस्तत्त्वानि विश्वं च दृक्।
मायापाशनिबन्धनो विभुरसौ जीवो मतिः शम्भुवाक्
स्वात्माप्तिस्तु तदीयतापि च फलं कौलार्चनं साधनम्॥

इस प्रकार तन्त्र आदिके सिद्धान्तसे सब कुछ शक्तिका स्वरूप ही सिद्ध होता है। इसलिये '**तत्त्वमसि**' इस वाक्यमें निर्मूलत्व दोष नहीं आता। अतः सर्वत्र शक्तिहीकी आराधना करनी चाहिये।

---

* विशुद्धसंवित्सामान्याधिकारिणीभूतपराभिमतवस्त्वन्तरप्रतियोगिकभेदेनाधिकरणत्वे सति संविन्निरूपितपारमार्थिकभेदात्यन्ता-भावत्वं विशुद्धसंविदाद्वैतत्वम्।

जगज्जननि जगदम्बिके!

(लेखक—श्रीनित्यानन्दजी जोशी, साहित्यशास्त्राचार्य)

हे जगज्जननि जगदम्बिके! सारा विश्व तेरी अपरिच्छिन्न अखण्ड सत्तासे उद्भासित हो रहा है। दिव्यबलविभूषित एवं सकलैश्वर्यसम्पन्न तेरी राजसी महाशक्तिसे ही चराचरकी सृष्टि होती है। अनन्त शक्तिशालिनी एवं विपुलविभूति-मालिनी तेरी सात्त्विकी सत्ता ही इस ब्रह्माण्डको धारण और पालन करती है। अनेकमुखी, कालको भी अपने विकराल गालमें कवलित करनेवाली तेरी तामसी शक्तिका अट्टाट्टहास संहारका लोकोत्तर ताण्डव नृत्य करता है। तेरी कुन्देन्दुतुषारहारधवलकीर्तिका सौरभ दसों दिशामुखोंको ही नहीं बल्कि अनेक कोटि ब्रह्माण्डोंको सौरभित तथा आमोदित कर रहा है। तेरी अपरिमित एवं अनिर्वचनीय शक्तिका पारावार जब कि '**हरिहरादिभिरप्यपारा**' विष्णु, शिव आदि सर्वसामर्थ्यवान् देव भी नहीं पा सकते तब भला क्षुद्र जन कैसे पा सकें। वेद और शास्त्र 'नेति, नेति' करके तेरा गुणगान करते हैं। महाकविवृन्द तेरी हिमांशुधवल कीर्तिके मधुर चित्रणसे ही अपनी कविताको पुनीत तथा अपनेको कृतकृत्य एवं परम सौभाग्यवान् समझते हैं।

हे वीणापाणि शारदे! तेरे शारदेन्दुको लजानेवाले मन्द मुसकानमिश्रित कृपाकटाक्षका भाजन बनते ही मनुष्यकी ज्ञान-पिपासा शान्त हो जाती है। तेरे विद्या और अविद्या दोनों रूपोंसे भलीभाँति परिचित हो जानेपर ही पुरुष—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

सांसारिक प्रपञ्चकी नश्वरताको अवगलितकर परम पद प्राप्त करता है। महर्षि मार्कण्डेयके शब्दोंमें—

मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषै-
र्विद्यासि सा भगवती परमा हि देवी॥

वीतराग योगीजन मोक्षप्राप्तिके लिये विद्यारूपसे ही तेरी उपासना करते हैं। अज्ञाननिशाके निविड़ान्धकारमें विलीन जीवका तेरा दयारूपी दीपक ही पथ-प्रदर्शक होता है। बिना तेरी कृपाके अविद्यारूपी पाशको कोई भी छिन्न-भिन्नकर मुक्त नहीं हो सकता। मातर्दुर्गे! तेरी अनन्त विभूतियोंका विलास एवं विजृम्भण इस विश्वमें प्रतिपल हो रहा है। प्राणिमात्रको तेरी अखण्ड सत्ताके सामने नतमस्तक होना पड़ता है। आस्तिक संसार तो तेरी अनेक रूपसे उपासना करता ही है पर आश्चर्य है कि घोर नास्तिक भी विवश होकर तेरी ही शरण लेता है। वह कभी मातृभूमिके रूपमें तेरी उपासना करता है तो कभी सङ्घशक्तिरूपमें तेरी प्रशंसा करता है। कभी राष्ट्रशक्तिके नामपर वह तुझे मानता है तो कभी देशभक्तिके नामपर अपने प्राणोंतककी बाजी लगा देता है। तेरी ही 'शक्ति' का वह सच्चा सैनिक बन जाता है। तेरी ही शक्तिसे सूर्य प्रकाश एवं प्रताप और चन्द्र आह्लाद और शैत्य प्रदान करता है। पृथ्वी तेरी धारणात्मिका शक्तिसे ही विधृत है। वायु तेरी ही शक्तिसे बहता है। अनन्त आकाशमें खचित नक्षत्रराशिका परिगणन किया जा सकता है, अपार एवं अगाध सागरकी थाह मिल सकती है, पर तेरी महिमाका वर्णन और विभूतियोंका परिगणन असम्भव है।

महिषासुरमर्दिनि! निर्बल सन्तानको शक्ति प्रदान कर सामर्थ्यवान् बना। श्रद्धा और भक्ति दे, जिससे तेरे ऊपर अटल विश्वास और तेरे चरणारविन्दमें अखण्ड अनुराग हो। कुपुत्रके ऊपर घृणा न कर। यदि तू ही विमुख हो जायगी तो अन्यत्र आश्रय ही कहाँ मिलेगा। दे विद्या जिससे सुपुत्र बन सकूँ। दुःख दूर कर या दुःख सहन करनेकी शक्ति दे। क्योंकि '**क्षुधातृषार्त्ता जननीं स्मरन्ति**'—भूखा-प्यासा बालक माताका ही स्मरण करता है। मुझे इस दुःखमें देखकर और अज्ञानगर्तमें धँसता देखकर भी तू चुप है। क्या तेरी सन्ततिका यह करुण क्रन्दन तुझे तिलमिला नहीं देता? क्या मैं भूल कर रहा हूँ? क्या तुझे मैं नहीं जानता? क्यों नहीं, खूब अच्छी तरह पहचानता हूँ। तू मेरी माता है। वेद और शास्त्र भले ही तुझे अनिर्वचनीय, निर्गुण और निराकार कहें, भले ही योगी लोग तुझे सगुण और साकार कहें, भले ही कोई स्थूल और सूक्ष्मके झगड़ेमें पड़े, पर मैं तो तुझे दयामयी माता ही कहूँगा। या किसी भावुक भक्तके शब्दोंमें—

स्थूलां वदन्ति मुनयः श्रुतयो गृणन्ति
सूक्ष्मां वदन्ति वचसामधिवासमन्ये।
त्वां मूलमाहुरपरे जगतां भवानि
मन्यामहे वयमपारकृपाम्बुराशिम्॥

मैं तेरे स्थूल, सूक्ष्म, सगुण, निर्गुण, साकार और निराकार आदिके झमेलेमें न पड़कर तुझे अपार कृपाका सागर कहूँगा। हे दयामयि! अपने कृपासागरका एक बिन्दु मुझे दे दे। बस, उसके मिलते ही तेरे चरणारविन्द-मकरन्दका मधुकर बनकर नि:शङ्कभावसे—

न मोक्षस्याकाङ्क्षा भवविभववाञ्छापि च न मे
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः।
अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै
मृडानी रुद्राणी शिव शिव भवानीति जपतः॥

—यही भनभनाता रहूँगा।

मातृशक्तिचरण

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे)

अज्ञानजन्य असामर्थ्यके कारण हम जड़ जीव अपने इस 'भूत-प्रकृति' बद्ध अन्त:करणके साथ 'जन्ममृत्युजराव्याधिदु:खदोष' से ही सदा घिरे रहते और कालसे काँपते हुए त्रिगुणके चक्रमें भटकते रहते हैं। यह जो हमारी चिरसङ्गिनी-सी दीनता है इसे दूर करना और त्रिगुणकी पराधीनतासे मुक्त होकर अपने सच्चिदानन्दमय स्वरूपको प्राप्त होना ही शक्ति है। इस शक्तिकी जो महानिधि है वह निवृत्ति और प्रवृत्तिकी सब शक्तियोंकी माता है। हम उसीको मातृशक्ति कहकर प्रणाम करते हैं!

वह शक्ति हम जड जीवोंमें नहीं! चैतन्यघन परमात्माकी वह शक्ति है। परमात्माकी उस शक्तिने यह सृष्टि रची, ये अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड निर्माण किये; वही शक्ति इन्हें धारण करती है; वही इन्हें समेट भी लेती है। परमात्मा और हमारे बीचमें वही शक्ति है। हमें उसी शक्तिने उत्पन्न किया है। इसलिये वह शक्ति हमारी माता है। उस मातृशक्तिको हम प्रणाम करते हैं।

माता ही संसारमें सबसे अधिक पूज्या हैं। **'न मातुः परदैवतम्'**। इस भौतिक शरीरको जन्म देनेवाली प्राकृत शरीरधारिणी माता उन्हीं परमा माताका एक रूप है। अखिल विश्वमें उत्पन्न हुए जो असंख्य प्राणी हैं उनकी भिन्न-भिन्न जो असंख्य माताएँ हैं वे सब उन्हीं एका मातृभावार्णवा परमा माताके असंख्य रूप हैं। इस अखिल विश्वजननीके अनन्त क्रोडमें ये अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड शिशुवत् खेल रहे हैं! यह माताका इतना व्यापक और आश्चर्यमय रूप है कि तीक्ष्ण-से-तीक्ष्ण और व्यापक-से-व्यापक बुद्धिके द्वारा भी उसका ग्रहण नहीं हो सकता। परन्तु वह माता है, यही भरोसा है। इसलिये माताके चरणमें प्रणाम करते हैं।

कहा है कि श्रीभगवान् न स्त्री हैं न पुरुष, न षण्ड हैं न कोई जन्तु। अर्थात् वह यह सब कुछ हैं और इन सबसे निराले हैं। जीव उन्हें पितृरूपमें भी भज सकता है, मातृरूपमें भी भज सकता है। षण्ड षण्डरूपमें भज सकते हैं और जन्तु जन्तुरूपमें भज सकते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

पर मातृरूपमें भगवान्‌को भजना मनुष्योचित और स्वाभाविक है। दैवलीला भी इसके अनुकूल है। कंसवधके लिये जगत्पिता श्रीकृष्ण धराधामपर अवतीर्ण हुए, उससे पहले ही जगन्माता आकर कंसके कलेजेको चीरकर वसुदेव-देवकीको दर्शन दे गयी थीं। श्रीमद्भगवद्गीताके महाप्रसङ्गमें भी हम यह देखते हैं कि उसके पूर्व श्रीकृष्णने अर्जुनसे आर्या दुर्गाकी स्तुति करायी है। दुर्गामाताकी स्तुति करते हुए अर्जुनने श्रीकृष्णको दुर्गारूपमें देखकर 'कृष्णे' कहकर पुकारा है। कहते हैं कि श्रीदुर्गामाताकी स्तुति और उपासनाके बिना श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्‌का अधिकार ही किसीको प्राप्त नहीं होता। और सचमुच ही गीतोपदेश करनेके पूर्व भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे श्रीदुर्गामाताकी स्तुति कराकर जगत्‌को मानो सदाके लिये यह आदेश ही दे रखा है कि 'यदि तुम हमें देखना चाहते हो, हमें जानना चाहते हो तो माताको देखो, माताको जानो, माता ही तुम्हें हमारे पास पहुँचावेंगी।' इसलिये माताके चरण प्रथम वन्दनीय हैं।

महाराष्ट्रके साधु-सन्तोंकी बानियोंमें यह विशेषता-सी देखी कि भगवान्‌का ध्यान प्राय: ही मातृरूपमें किया गया है। श्रीतुकाराम महाराज गाते हैं—

माझी विट्ठल माउली। प्रेमपान्हा पान्हायली॥

मानो विट्ठल माताके स्तनोंसे लगकर प्रेम-दुग्धामृत पान करते हुए माताकी दृष्टिसे अपनी दृष्टि मिलाकर वह अपूर्व प्रेमास्वाद अपने वैखरीसे सबको दिलानेके लिये छटपटा रहे हैं। श्रीगुरुको भी साधु-सन्तोंने मातृरूपमें देखा और परम मातृसुखलाभ किया।

रामदास गुरु माझे आई। मला ठाव धावा पायीं॥

(रामदास गुरु मेरी माता मुझे अपने चरणोंमें ठाँव दें।) यह समर्थ गुरु रामदास स्वामीके सम्प्रदायकी रट है। सन्तोंका यह मार्ग है। इसलिये इस मार्गमें मातृरूप भगवान्, मातृरूप श्रीगुरुके चरणोंमें बार-बार प्रणाम है।

माता और पिता लौकिक दृष्टिमें एक-दूसरेसे भिन्न होते हैं। परन्तु अलौकिक दृष्टि-सम्पन्न आप्त यह बतलाते हैं कि परम माता और परम पिता एक ही हैं। एकहीमें एक साथ ये दो रूप हैं। इसलिये एकका ध्यान करनेसे दूसरेका ध्यान हो ही जाता है। परन्तु माताके रूपमें जो क्षमा है, जो सरलता है, जो दया है, शिशुको गोदमें उठा लेनेकी जो उत्सुकता है, संक्षेपमें—जो वात्सल्य है वह पितृरूपमें एक विलक्षण गम्भीरताके भीतर छिपा हुआ है, उसे व्यक्त करनेवाली माता ही हैं। पिता और पुत्रके बीचमें माता हैं। माता परम पितासे लेकर अधम-से-अधम लोकतक व्याप्त हैं, उन्हें लाँघकर कोई भी परम पिताके पास नहीं पहुँच सकता। माताके चरणोंमें बैठकर उन्हींके संकल्प, छन्द और गतिमें अपनी इच्छा, स्वर और गति मिलाकर ही कोई भी पितृचरणोंका अधिकारी होता है। मातृचरण और पितृचरण चतुर्दिक् सहस्रधा विस्तीर्ण होनेपर भी है 'अपाणिपाद' एक ही। पर हम अपराधी जड़ जीवोंके लिये दयामाया मातृभावार्णवा जननीके ही चरणोंमें है। इस 'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोष' के परिवेशसे छुड़ाकर गुणदास्यजन्य हीनताको दूरकर परमज्ञानानन्दशक्तिस्वरूप निज रूपको प्राप्त करानेवाले श्रीमातृशक्तिचरण ही हैं। इसलिये उन परम पावन चरणोंमें अनन्त प्रणाम हैं।

ॐ तत् सत् श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

अन्तर्याग और बहिर्याग

पूजन दो प्रकारसे होता है—आन्तर और बाह्य। आन्तरमें समस्त क्रियाएँ मानसिक होती हैं और बाह्यमें सामग्रियोंके द्वारा। आन्तरपूजनको अन्तर्याग और बाह्य-पूजनको बहिर्याग कहते हैं। बहिर्यागकी साधनाका अभ्यास किये बिना अन्तर्याग होना अत्यन्त ही कठिन है। बहिर्यागके मुख्यतः पाँच अंग हैं—(१) जप, (२) होम, (३) तर्पण, (४) मार्जन और (५) ब्रह्मभोजन। महाशक्तिके किसी एक स्वरूपके बोधक मन्त्रका विधिवत् पुरश्चरणादि नियमानुसार जप करना; मन्त्र-जपकी दशांश संख्याका हविर्द्रव्योंद्वारा अग्निमें हवन करना; पञ्च-द्रव्योंके उपयोगद्वारा अपने-अपने अधिकारके अनुसार संतर्पण करना; संसारके संस्कारोंका मार्जन करना और न्याय तथा सत्यके द्वारा कमाये हुए धनसे यथाशक्ति देवीके प्रसन्नार्थ सुयोग्य ब्राह्मणोंको भोजन कराना। इन पाँच अंगोंके द्वारा शाक्त साधक जब शरीर और वाणीसे पूजन कर चुकता है तब वह मानसपूजा अथवा अन्तर्यागका अधिकारी होता है। अन्तर्यागके भी पाँच अंग हैं—(१) पटल, (२) पद्धति, (३) वर्म, (४) स्तोत्र और (५) नामसहस्र। देवीके स्वरूपबोधक मन्त्रके अक्षरोंसे पिण्डके नाड़ीव्यूहमें विस्तारसहित भावनाका पटल बनाना। यानी मन्त्राक्षरोंद्वारा मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रदलचक्रमें देवीके स्वरूपकी भावना करके चित्तको शक्तिसम्पन्न करना पटल कहलाता है। उस मन्त्रपटलके द्वारा पञ्च अथवा षोडश उपचारोंसे हृदयादि पीठमें देवीका पूजन करना पद्धति कहलाती है। इस तरह नाड़ियोंमें और हृदयादि पीठ-स्थानोंमें पटल और पद्धतिकी रचना करनेके बाद विद्याके अर्थात् इष्टमन्त्रके अक्षरोंद्वारा स्थूल देहपर कवचकी रचना करके, देवीके अनेक नामोंद्वारा पिण्डकी रक्षणभावना करना वर्म अथवा कवच कहलाता है। इसके बाद देवीके मन्त्रकी स्मृति जाग्रत् रहे, ऐसे लघुस्तवी आदि रहस्यस्तोत्रके द्वारा देवीके अनेक गुणोंमेंसे विशेष ध्यानमें रखनेयोग्य हजार गुणोंके बोधक नामोंके द्वारा आन्तर भूमिकामें देवीको नमस्कार करना। ये पाँच अंग अन्तर्यागके हैं।

शक्तिका तात्त्विक रूप

(लेखक—श्रीताराचन्द्रजी पाँड्या)

जिस तरह अग्नि और उष्णतामें भेद नहीं है उसी तरह ब्रह्म और शक्तिमें भेद नहीं है। शक्तिका आधार ब्रह्म है और ब्रह्मका अस्तित्व शक्तिसे है।

ब्रह्ममें सत्, चित्, आनन्द आदि जो अनन्त गुण हैं उनका सत्पना, चित्पना, आनन्दपना आदि और उनका ब्रह्मसे सम्बन्ध शक्तिसे ही है, अत: शक्ति सर्व गुणोंका गुण है।

ब्रह्मका ब्रह्मत्व ब्रह्मकी शक्ति है। जड़का जड़त्व जड़की शक्ति है। सत्का सत्पना सत्की शक्ति है।

विश्वमें जितने भी जड़-चेतन पदार्थ हैं वे अपनी-अपनी शक्तिसे ही अपने-अपने अस्तित्वको रखते हैं। अत: शक्ति विश्वमय और विश्वाधार है।

शक्तिसे ही पत्ता हिलता है। शक्तिसे ही देहधारियोंकी दैहिक क्रियाएँ होती रहती हैं। शक्तिसे ही सर्व पदार्थ अपने-अपने गुणोंके अनुसार वर्तना करते हैं। शक्तिसे ही प्रलय होता है। जीवन और मृत्यु दोनों शक्तिके परिणाम हैं।

शक्ति (चित्-शक्ति)-से ही सब इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करती हैं। स्थावरोंसे देवों और मुक्तात्माओंतक सबमें जगदम्बा शक्ति ही भिन्न-भिन्न रूपसे और भिन्न-भिन्न अंशोंमें प्रकट होती है।

शक्तिके दो रूप हैं। वैभाविक और स्वाभाविक। पहले रूपमें यह महामाया है, भयङ्कर है और मोहित करनेवाली है। दूसरा रूप स्वाधीन, पूर्ण व्यक्त और शुद्ध स्वरूप है।

हरि, हर, ब्रह्मा—पालन, संहार और सर्जन अर्थात् स्थिरता और परिवर्तन ये रूप उसी अनादि, अनन्त और सर्वव्यापक आद्याशक्तिके हैं। ये रूप एक-दूसरेसे भिन्न दिखायी देते हुए भी अभिन्न हैं और सदा साथ-साथ रहनेवाले हैं। यही विश्वका अस्तित्व है—सत् है। जो सर्व पदार्थोंके इन नित्य धर्मोंको समझ लेता है वह सुख और दु:खसे परे हो जाता है।

जीवन तथा अस्तित्वकी इच्छा, भय आदिमें शक्तिकी इच्छाका भान होता है।

प्रत्येक जीव जाने या अनजाने शक्तिकी पूजा करता है, मगर उसके शुद्धस्वरूपको न पहचानकर मोहित हो रहा है। सच्ची शक्तिको पहचानकर जीव दु:ख और मृत्युको जीत लेता है।

केवल ब्रह्मशक्ति ही सर्वज्ञाता और सर्वभोक्ता है। यही सर्वश्रेष्ठ शक्ति है।

शुद्ध, पूर्ण और शाश्वत शक्तिकी उपासना करनेवाला स्वयं शक्तिरूप हो जाता है अर्थात् स्वशक्तिको पूर्ण व्यक्त कर लेता है।

शक्तिमय बनो, क्योंकि शक्ति तुम्हारी प्रकृति है। जो कुछ तुम हो वह शक्ति है—तुम्हारा शुद्ध, पूर्ण और सच्चा स्वभाव ही सच्चिदानन्दमय शक्तिका सच्चा और पूर्ण रूप है।

अपनी-अपनी रुचिके अनुसार कोई ज्ञानरूपसे, कोई आनन्दरूपसे, कोई सत्रूपसे और कोई शक्तिरूपसे ब्रह्मकी उपासना करते हैं।

शारीरिक शक्ति, वाचनिक शक्ति, मानसिक शक्ति, राज्य शक्ति आदि लौकिक शक्तियोंकी इच्छा और उपासना भी शक्तिकी उपासना है, लेकिन है आंशिक और विकृत रूपमें और अविधिपूर्वक। जो इन सब शक्तियोंका मूल है, जो इन सब शक्तियोंका प्राण है, जिसमें ये सब शक्तियाँ गर्भित हो जाती हैं; जो सदाकालीन और परम स्वाधीन है, उस देहादिसे भिन्न शुद्ध ब्रह्मशक्तिकी उपासना ही शक्तिकी सच्ची उपासना है।

विधिपूर्वक किये गये तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान, यम, नियम, ध्यान आदि सब इसी शक्तिकी उपासनाके रूप हैं। जिस मन्दवासनायुत भोगसे भोगके प्रति सच्चा वैराग्य होता है और चित्त आनन्दमय सर्वभोक्तृशक्तिकी ओर पूर्णतया प्रवृत्त होता है वह भोग भी उस शक्तिकी उपासनाके लिये तैयारी है।

आत्मदेवताके सामने अपने हृदयस्थ पशु यानी अपनी पाशविक वृत्तियोंका हनन कर, मांसमय शरीर (Flesh) तथा इन्द्रियसम्बन्धी वासनाओंको और मीनध्वज कामको वैराग्याग्निका आहार बनाकर, अपनी आत्माके तीर्थके समक्ष सब तीर्थोंको हेय समझकर सब प्राणियोंकी सब योनियोंको शक्तिका भिन्न-भिन्न रूप मानकर, ज्ञानदृष्टिके चक्रमें सबके प्रति साम्यभाव धारणकर, आत्मप्रेमकी मदिरासे मस्त होता हुआ आत्ममुद्रामें स्थित होकर आत्मामें रमण करे—यही शक्तिकी उपासनाका एकमात्र और स्पष्ट मार्ग है।

वह शक्ति कहाँ चली गयी ?

(लेखिका—श्रीरूपरानीजी 'श्यामा')

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

'जो देवी सब प्राणियोंमें शक्तिरूपसे स्थित है उसको बार-बार प्रणाम है।' यह श्लोक भगवती दुर्गाके मन्दिरोंमें अथवा धर्मप्राण हिन्दुओंके घरोंमें न जाने कितनी सदियोंसे ब्राह्मणोंद्वारा पढ़ा गया होगा, किन्तु इस श्लोकके पढ़नेवालों और सुननेवालोंके हृदयमें माता दुर्गाके प्रति भक्ति भले ही उत्पन्न हुई हो—परन्तु यह निश्चय है कि खड्गत्रिशूलधारिणी, सिंहवाहिनी, महिषासुरमर्दिनीका ध्यान करते हुए भी किसीने जगज्जननी महाकालीकी उस सर्वशक्तिसम्पन्ना मूर्तिसे कभी शक्ति नहीं ली।

जब कभी हमारे सम्मुख शक्तिप्रयोगका प्रश्न छिड़ा तब-तब हमारी भावनाने पाशविक और आसुरी शक्तिका चित्र खींच दिया। हमने माता-शक्तिके उस स्वरूपकी कल्पनातक न की जो एक ओर अपना कल्याणमय वरद हस्त उठाये स्नेहके साथ अपने भक्तोंकी रक्षा कर रही हो तथा दूसरी ओर दाँत किटकिटाकर आततायियोंका संहार कर रही हो। जबतक हम शक्तिके इस द्विविध रूपकी कल्पना नहीं करेंगे तबतक हम शक्तिको समझ ही नहीं सकेंगे। सम्पूर्ण सृष्टि मेरे इस कथनका समर्थन कर रही है।

प्रात:काल पूर्वको आलोकित करनेवाला सूर्य अपने साथ जागृति, प्रकाश और उल्लास लेकर आता है। सृष्टिको जगाकर, अन्धकारको भगाकर तथा सुन्दर कलियोंका मुख खोलकर एक नये जीवनकी सृष्टि करता है। वही सूर्य सन्ध्याको फिर अपना प्रकाश खींच लेता है। संसार सो जाता है, प्रकाश लुप्त हो जाता है और खिले हुए सुमन मुरझाकर अपनी अन्त्येष्टिकी प्रतीक्षा करते हैं। शक्ति सृष्टि भी करती है, विनाश भी करती है। जब वह एक ओर कल्याण करती है तभी वह दूसरी ओर संहार भी करती है।

सृष्टिके प्रत्येक अणुमें यह शक्ति छिपी हुई उत्पत्ति और संहार करती रहती है। किन्तु जड़में रहनेवाली शक्ति चेतनमें रहनेवाली शक्तिसे भिन्न है। एकको प्रकृति नियन्त्रित रखती है दूसरी स्वत: नियन्त्रित होती है। यही कारण है कि चेतनमें रहनेवाली शक्तिका प्राय: दुरुपयोग होता है। चेतनाधीन शक्तिको बुद्धिकी सहायताकी आवश्यकता है। इसीलिये बुद्धिहीनता, अज्ञानता और बुद्धि-संभ्रमके कारण ही चेतन प्राणी अपनी शक्तिका दुरुपयोग कर डालता है।

एक प्राचीन श्लोकमें शक्तिके विषयमें कहा है—

विद्या विवादाय धनं मदाय
शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

इस श्लोकमेंसे हमारे मतलबकी बात इतनी ही है कि साधु और दुष्टमें शक्ति होनेसे यह अन्तर हो जाता है कि साधु अपनी शक्तिको दूसरोंकी रक्षाके लिये प्रयोगमें लाता है तथा दुष्ट मनुष्य अपनी शक्तिसे दूसरोंको पीड़ा पहुँचाता है। मनुष्यकी प्रवृत्तिके अनुसार ही शक्तिका व्यवहार हो जाता है।

शक्तिके व्यवहारको संयत और कल्याणमय बनानेके लिये यही उचित है कि हम उसका उचित उपयोग करनेकी शिक्षा दें। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि जब मनुष्यको कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान हो जाता है उस समय किसी भी प्रकारकी शिक्षा देना निरर्थक हो जाता है। अत: बचपनमें जो संस्कार, आचार और विचार बन जाते हैं वही बड़े होनेपर विकसित और विवर्धित हो जाते हैं। यदि उस समय कोई उनमें परिवर्तन करानेका विचार करे तो असम्भव है।

माता दुर्गा स्वयं शक्तिस्वरूपिणी जगन्माता हैं। उन्होंने ही अपनी मानव-सन्ततिको शक्ति प्रदान की है। केवल यही नहीं, बल्कि उन्होंने अपने आचरण और उदाहरणसे यह भी सिद्ध कर दिया कि हमें अपनी शक्तिको कहाँ और किस प्रकार काममें लाना चाहिये। शक्तिका प्रादुर्भाव केवल पुरुषोंके लिये ही नहीं वरं स्त्रियोंके लिये भी महत्त्वपूर्ण है। संसारके इतिहासमें माता दुर्गाकी अनेकों सुपुत्रियोंने अपनी शारीरिक शक्ति तथा बुद्धिशक्तिसे संसारको चकित कर दिया है। किन्तु

यह अवस्था तब आती है जब पुरुष हार मानकर बैठ गये हों अथवा अपनी शक्तिके अतिरिक्त कोई सहायक न हो।

यह स्मरण रखना चाहिये कि स्त्रीमात्र भगवती दुर्गाका स्वरूप हैं, उन्होंने सृष्टिके आदिकालसे पुत्र और पुत्रियोंके रूपमें शक्तियाँ उत्पन्न की हैं। परन्तु उत्पन्न करनेमात्रसे काम नहीं चलता। माताओंका यह भी कर्त्तव्य है कि वे अपने बालकोंको केवल जन्म देनेकी ही जिम्मेदारी न लें वरं उन्हें अपने उदाहरण, उपदेश और शिक्षासे ऐसी शक्ति प्रदान करें कि वे बालक श्रीराम अथवा लव-कुशके समान तेजस्वी हों, सदाचारी हों, अन्याय और अत्याचारका दमन करनेवाले हों। जिस माताके पुत्रने दूसरोंके हितके लिये प्राण न दिये वह माता व्यर्थ ही माता बनी। उसके पुत्रका दिव्य शरीर, बलिष्ठ भुजाएँ, प्रशस्त ललाट और प्रखर बुद्धि सब व्यर्थ ही गये।

लोग कहते हैं कि आजकल अर्जुन और भीम, प्रताप और शिवाजी उत्पन्न नहीं होते; किन्तु मैं यह माननेको तैयार नहीं हूँ। आज भी सैकड़ों महापुरुष माताओंके गर्भमें जन्म लेते हैं, आज भी कितने ही प्रताप और शिवाजीको माताएँ जन्म देती हैं किन्तु माताएँ केवल जन्म ही देती हैं। वे जीजाबाईके समान न तो उन्हें अपने लुटे हुए गौरवका स्मरण दिलाती हैं, न अपने दूधकी आनपर सत्य और न्यायकी रक्षाके लिये बलिदान करनेका आदेश देती हैं। अब माताएँ वीरमाताएँ नहीं रहीं। वे अब दुर्गा नहीं रहीं। उन्होंने अपने अस्त्र उतार डाले हैं। शक्तिस्वरूपिणी माता कहलानेमें इन्हें लज्जा लगती है। ये 'अबला' हैं। जिसकी माँ अबला होगी वह सन्तति कहाँसे बलवान् होगी। ऊसर खेतमें पैदा ही क्या होगा, जंगली घास और काँटेदार झाड़ियाँ।

हम आगे बढ़नेके प्रयत्नमें गहरी खाईकी ओर जा रहे हैं। हम यह भूलते जा रहे हैं कि देशकी शक्ति उसकी मातृशक्तिपर निर्भर है। यदि मातृशक्तिका यथार्थ स्वरूप-विकास हो जाय तो हमारा देश फिर महात्माओं, वीरों, तपस्वियों, विद्वानों तथा धनिकोंसे भर जायगा। इन माताओंमें बड़ी शक्ति है पर ये अपनी शक्तिका प्रयोग करना नहीं जानतीं, विलायती गुरु इन्हें और भी कोमल बनानेकी घातमें हैं। अब भी सँभल जाना चाहिये। अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। यदि और अधिक विलम्ब किया तो अत्यन्त निकट भविष्यमें हम सिरपर हाथ मारेंगे और पछतायेंगे कि वह शक्ति कहाँ चली गयी?

शक्तिवादके कुछ प्रचलित अर्थ

(लेखिका—बहिन श्रीकमला 'विशारद')

तान्त्रिक अर्थ—

एक साधारण हिन्दू शक्तिका अर्थ शाक्त सम्प्रदाय-वालोंकी आराध्य देवी समझता है। उसके लिये वैष्णव, शैव, सौर, गाणपत्य आदि मतोंकी भाँति शक्तिवाद भी एक मतके सिद्धान्तोंकी विवेचना है। इस अर्थमें इस शब्दका प्रचुर प्रयोग होता भी है। 'शक्ति[1] और शाक्त'-जैसे ग्रन्थ इसी अर्थको ध्यानमें रखकर लिखे गये हैं।

आजकलका वैज्ञानिक[2] शक्तिवादसे एक भौतिक विज्ञानके सिद्धान्तका बोध कराता है। अनेक वैज्ञानिकोंने प्रकृतिका अनेक ढङ्गसे अनुसन्धान किया है। और परिणामस्वरूप परमाणुवाद, गुणवाद, शक्तिवाद आदि अनेक सिद्धान्त हमारे सामने हैं।

वैज्ञानिक अर्थ—

इस शक्तिवाद-सिद्धान्तके अनुसार प्रकृतिका सार शक्ति (Energy or Force) है। परमाणुवादके अनुसार परमाणु परम सीमा थी, जिसके आगे किसी प्रकारका विभाग असम्भव था। परन्तु शक्तिवाद इससे एक कदम और आगे बढ़ गया है। इस सिद्धान्तमें वह परमाणु अनेक शक्तियोंके केन्द्र हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हमारा सूर्य इस सौरमण्डलका। जिस प्रकार अनेक ग्रह, उपग्रह, सूर्यके चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं उसी प्रकार परमाणु अनेक शक्तियोंका केन्द्र है। अर्थात् इस सिद्धान्तमें 'प्रकृति' शक्तिसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है और न, जैसा कि साधारणतः समझा जाता है, शक्ति परमाणुओंका कोई धर्म है। बल्कि

१-देखो (Shakti and Shakta'by Sir John Woodroffe.)

२-देखो प्रपञ्च-परिचय (प्रो० विश्वेश्वरकृत, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर, बम्बई) पृ० ३२।

परमाणु और प्रकृति स्वयं शक्तिरूप हैं, उस शक्ति Energy oR Force से भिन्न कोई अतिरिक्त वस्तु जगत्में नहीं है।

इस शक्तिवादका भारतीय रूप वाक्यपदीय-जैसे ग्रन्थोंमें देखनेको मिलता है। वाक्यपदीयके कर्त्ता भर्तृहरिने कहा है कि यह विश्व शक्तिकी कलाओंसे बना है। एक शक्तिका ही यह सब प्रपञ्च सामने देख पड़ता है। इसी सिद्धान्तपर चलकर उन्होंने आगे शब्दशक्तिका सविस्तर प्रतिपादन किया है।

शास्त्रीय अर्थ—

पण्डितमण्डलमें 'शक्तिवाद' एक बिलकुल ही भिन्न अर्थमें प्रयुक्त होता है।[1] 'व्यक्तिवाद, अपोहवाद, जातिवाद, जात्यादिवाद, विशिष्टशक्तिवाद, खण्डशः शक्तिवाद आदि अनेक वाद इसके अन्तर्गत आते हैं। इन्हें पण्डित और विशेषज्ञ ही समझते हैं। इसी प्रकार वैयाकरण शक्तिसे दिक्, काल आदि न जाने कितनी बातोंका बोध कराते हैं। आलंकारिक और साहित्यिक शक्तिसे केवल 'शब्दशक्ति'[2] का अर्थ लिया करते हैं। और वे समस्त वाङ्मयको अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना—इन्हीं तीन शक्तियोंमें विभाजित कर उन्हींका वर्णन करते हैं।

सामान्य अर्थ—

उपर्युक्त सभी अर्थ शास्त्रीय और विद्वद्गम्य है, पर शक्तिका एक बिलकुल साधारण अर्थ है बल अथवा क्षमता। इस अर्थमें इसका पर्याप्त प्रयोग होता है। शारीरिक, मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि सभी प्रकारकी क्षमताको हमलोग शक्ति कहते हैं। नर-शक्ति, नारी-शक्ति, ज्ञान-शक्ति, वाक्शक्ति आदि प्रयोग भी बहुत सामान्य हैं। इस प्रकार अनजानमें हम भी शक्तिकी व्यापकता और महत्ताको स्वीकार करते हैं।

इधर समाचारपत्रोंमें शक्तिका प्रयोग एक नये अर्थमें होने लगा है। अङ्गरेजीमें राष्ट्रको Power कहते हैं। जैसे European powers यूरोपीय राष्ट्र। हिन्दीवाले ऐसे स्थलोंमें Power का शक्तिसे अनुवाद करते हैं, यह अर्थ भी अब चल पड़ा है।

माता

(लेखिका—श्रीमती इन्दुमती तिवारी, बी० ए०)

समस्त नारी-जाति दो भागोंमें विभक्त है। एक तो 'रमणी' और दूसरी मातृशक्तिमयी 'माता'। रमणीरूपमें वह चाहे कुछ भी हो, माताके रूपमें वह जगद्धात्री, जगज्जननीका प्रत्यक्ष अवतार, संसारकी अधिष्ठात्री देवी है। माताके लिये किसी नियत रूप या वयकी आवश्यकता नहीं। बालासे वृद्धातक यदि उसके हृदयमें वह अनन्त शान्तिमय स्रोत जिसे 'मातृशक्ति' कहते हैं प्रवाहित होता हो तो वह समरूपसे माता है। मातृशक्ति वह शान्तिमयी, वात्सल्यपूर्णा शक्ति है जो इस संसारकी ज्वालाको अपने अञ्चलसे ढककर शान्त कर देती है। मनुष्य-जातिको ममताका पाठ पढ़ाकर सेवाभावसे प्लुत कर देनेवाली एकमात्र शक्ति मातृत्व ही है। प्रकृतिकी अनन्त शक्ति मातामें ही विराजमान है। घरमें बैठकर छोटे-छोटे बच्चोंको पुचकारती, डाँटती, शिक्षा देती और सेवा करती हुई एक साधारण गृहिणी ही भावी जाति, समाज और देशकी सृष्टि करनेवाली है। वे हाथ जो छोटे-से पालनेको हिलाते हैं, संसारके भविष्यको निर्धारित करते हैं। माता ही एक ऐसी वस्तु है जिसे कोई बदल नहीं सकता। माता चाहे जैसी भी हो वह माता ही रहेगी, चाहे सन्तान उससे घृणा करे या उसपर गर्व! माताको बदल देना उसकी शक्तिके परे है। विलासी आदमी पत्नियोंको बदल सकते हैं, भाई भाईसे चिढ़कर उसे त्याग सकता है, पर माता तो माता ही रहेगी चाहे वह गौरवशालिनी हो या अपमानिता हो। माता यदि गौरवान्विता, स्वस्था, स्वावलम्बिनी, स्वाभिमानिनी और सुन्दरी हुई तो उसकी सन्तति या भावी देशके शासक, अभिभावक तथा नागरिक और माताएँ स्वस्थ, सच्चरित्र, सुरुचिपूर्ण और सुन्दर होंगे; यदि हमारी माताएँ दीन, हीन, अस्वस्थ, परतन्त्र हैं तो हमारी सन्तति भी उन्हींके समान होगी और हमारा देश और समाज भी अधोगतिको प्राप्त होगा।

यह तो हुआ दूसरोंके लिये; स्वयं हमारे लिये तो हमारी मातृशक्ति और भी अमूल्य सम्पत्ति है। हमारा मातृत्व ही एक गौरव है जिसे कोई नहीं छीन सकता। मनुष्यकी शक्तिमें जो कुछ है वह सब हमसे छीन लिया

१-देखो, 'शब्दशक्तिका एक परिचय' (एक अप्रकाशित ग्रन्थ)।

२-देखो, साहित्यदर्पण अथवा वही 'शब्दशक्तिका एक परिचय'।

गया है परन्तु हमारा एकमात्र गौरव, स्वाभिमान और स्वत्व हमारा मातृत्व अक्षुण्ण है। वह हमारी माता प्रकृतिका प्रेमोपहार ही हमारी अनन्य जीवन-शक्ति है। हमारे धर्मशास्त्रकारोंने माताके सिवा हमें अन्य किसी रूपमें भी अधिकारिणी नहीं बनाया। पुत्री, बहिन या पत्नी किसी रूपमें हमारा कोई अधिकार नहीं। यदि है तो सिर्फ जननीके रूपमें।

'माँ' इस शब्दमें ही अतुल आनन्द है। मातृत्व वह स्रोत है जो सदा अक्षुण्ण अबाधरूपमें बहता रहता है; वात्सल्यका वह अनन्त सागर है, प्रेमका वह अनन्त भाण्डार है। और प्रकारके प्रेम संशयास्पद हैं, वासनापूर्ण हैं, प्रतिदानलिप्सु हैं और लज्जामिश्रित हैं। पर मातृप्रेम नि:स्वार्थ, वासनाहीन और प्रतिदानकी इच्छासे परे गङ्गाकी धारासे भी शुद्ध है। सन्तानकी घृणाका भय या उसके द्वारा त्यागका भय हमें अपनी सेवावृत्ति स्नेहमय कर्तव्यपालनसे विमुख नहीं कर सकता। वैभवमें या गरीबीमें हमारा मातृहृदय समान है, दु:खमें या सुखमें हमारे हृदयका स्रोत अक्षुण्णरूपसे प्रवाहित होता है। अनन्यसेवाभावपूर्ण वात्सल्यका एक अनन्त झरना हमारा मातृहृदय है। वही हमारा अनन्त सन्तोष है, हमारा ध्येय है, हमारा अटूट सुख है। हमारा मातृत्व ही वैधव्यका सहारा, अनाथिनीका आधार और पतिताका उद्धार है। माता बनकर हम बड़े-बड़े कष्टोंको झेल लेती हैं, अपने सन्तानको (शैशवमें माताके लिये पुत्र और पुत्रीमें अन्तर नहीं रहता) हृदयसे लगाकर हम पतिका अनादर, समाजका अन्याय और परिवारकी कठोरता पुष्पवत् सहन कर लेती हैं। बस, सिर्फ एक अबोध शिशु धूलि-धूसरित तुतलाता हुआ, माँ-माँ करता हुआ छोटी-छोटी बाँहोंसे आलिङ्गन कर ले, अपनी मूकभाषासे हमारे साथ सहानुभूति दिखा दे। एक ही बालक हमारी थकानको, हमारे बड़े-से-बड़े दु:खकी ज्वालाको शान्त कर सकता है। आशाओंका वह चित्र, प्रेमका वह पुतला हमारी सान्त्वना, हमारी अनन्त तृप्ति है। उनका जीवन धन्य है जो माताके रूपमें जगद्धात्री एवं देश और समाजके भविष्यकी नियामिका हैं, और धन्य है वह समाज और देश जहाँकी माताएँ आदृता, स्वस्था, शिक्षिता और स्वाभिमानिनी हैं। वे ही देशके उत्थान और पतनकी एकमात्र आधार हैं। आशा है, हमारा समाज भी अपनी भावी माताओं यानी पुत्रियोंकी समुचित शिक्षा और उत्तरदायित्वका ध्यान रखेगा तथा देश, समाज और व्यक्तित्वकी उन्नतिमें सहायक होगा।

मातृशक्ति

(लेखिका—बहिन कुमारी हरदेवी मलकानी)

प्रात:कालके समय सुन्दर-सुन्दर चिड़ियाँ चहचहाती हैं। नन्ही-नन्ही कलियाँ अपना हास्यमुख खोले हुए अठखेलियाँ करती हैं और छोटे-छोटे बच्चे हँसते-खेलते दिखायी देते हैं। आमकी सुपुष्पित डालमेंसे कोयलके सङ्गीतकी मधुर ध्वनि कानोंमें सुन पड़ती है। विशाल वृक्ष झूम-झूमकर जगदीशको प्रणाम करते जान पड़ते हैं। सम्पूर्ण सृष्टिमें नवीन जीवन दिखायी पड़ता है। यह चहल-पहल, यह स्फूर्ति, यह सौन्दर्य किस शक्तिसे उत्पन्न हुआ है।

एक वृक्षका छोटा-सा बीज है और उससे उत्पन्न हुआ एक विशाल वृक्ष। फिर उनमें जितना विशेष अन्तर है, उतना ही उनका घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। किन्तु यह विशाल वृक्ष कहाँसे उत्पन्न हुआ है? इसे जन्म दिया है एक छोटे-से बीजने। और अन्तमें यह विशाल वृक्ष किसी शासकद्वारा निर्धारित नियमोंसे बद्ध है।

सभी जड़ और चेतन उत्पन्न होते, बढ़ते, हँसते-खेलते और अन्तमें मृत्युको प्राप्त होते हैं। वह कौन है जो इन सबका पालन करता है। ऐसी कौन-सी शक्ति है जो संसारके सभी कष्टोंको सहकर, उसको जन्म देकर और उसकी रक्षा करनेका भार अपने ऊपर लेती है। वही जन्म देनेवाली और पालन करनेवाली शक्ति मातृशक्ति है।

पिला दूध माता हमें पालती है।
हमारे सभी कष्ट भी टालती है॥

माता ही दूध पिलाकर बच्चेका लालन-पालन करती है। माता ही उसके खाने-पीने, खेलने-कूदने और नहाने-धोनेकी चिन्ता करती है। मातामें ही ऐसी शक्ति है जो सन्तानपर ज़रा-सा कष्ट पड़नेपर, ज़रा-सा दु:ख पड़नेपर अपने सभी कष्टोंको विस्मृत कर देती है। और सन्तानके दु:खमें सहानुभूतिपूर्वक अपने जीवनको त्यागकी वेदीपर न्योछावर कर देती है। उस (सन्तान)-के प्राण सङ्कटमें पड़नेपर अपने प्राणोंका मोह त्याग देती है।

जिस समय सारा संसार सोता है उस समय माता अपने बालकका रुदन सुनकर किस प्रकार चौंक उठती है और रोते हुए बच्चेको गोदीमें लेकर उसका बार-बार मुख चूमती और पुचकारती है। वही है स्नेहमयी मातृशक्ति!

आदर्श माता ही आदर्श सन्तान उत्पन्न कर सकती है। वीर माताओंने ही वीर सन्तानको जन्म दिया है। वीर मातामें ही वह शक्ति है जो युद्धके घोर सङ्कटके समय अपने हँसते-खेलते हुए छोटे-से बालकके गलेमें विजयकी माला पहनाकर, उसके माथेपर टीका लगाकर रणक्षेत्रके लिये विदा कर देती है। और उसे यह कहकर आशीर्वाद देती है कि 'यदि वीर हो तो अपनी माताकी कोखको न लजाना।'

अभिमन्युने चक्रव्यूह-भेदनकी विद्या कहाँ सीखी थी? माता सुभद्राने ही अर्जुनके मुखसे वह युक्ति सुनकर अपने गर्भस्थित बालकके मस्तिष्कमें वह ज्ञान डाल दिया था। उसी वीरांगना सुभद्राने जन्म दिया था वीर बालक अभिमन्युको। यवनोंसे देशकी रक्षा करनेवाला, ब्राह्मणों और गौका पालन करनेवाला, बड़े-बड़े विशाल दुर्गोंको सरलतासे जीतनेवाला, मातृभूमिका झण्डा फहरानेवाला, संसारके इतिहासमें अपना नाम स्वर्णाक्षरोंमें लिखानेवाला शिवाजी अपनी माताके ही कारण छत्रपति हुआ था। वीर शिवाजीने वह शक्ति, धैर्य, बल और साहस अपनी माता जीजाबाईकी ही शिक्षाद्वारा पाया था। और अपनी माताके ही कारण वह वीर छत्रपति शिवाजी बन गया।

माताकी शिक्षा आजन्म बच्चोंके पास रहती है। माताके ही कारण सन्तानको शारीरिक शक्ति, बुद्धि-शक्ति और ज्ञान-शक्ति मिल सकती है। माताकी शिक्षाद्वारा विद्वान् विद्वान् बनता है, माताकी ही शिक्षाद्वारा वीर वीर बनता है। माताके ही कारण सन्तान ज्ञानवान् और बुद्धिमान् होता है। माताकी ही शिक्षाद्वारा मनुष्य उन्नतिके शिखरपर शीघ्र पहुँच जाता है। माताकी ऐसी शिक्षा है जिससे मनुष्य असाध्यको साध्य कर डालता है। माताकी ही शिक्षाद्वारा मनुष्यके ज्ञानका विकास धीरे-धीरे होता है जो चिरस्थायी होता है। माताकी ही शिक्षासे मनुष्य उन्नतिशील प्राणी बनता है। एक चिड़ियाका साधारण बच्चा भी पङ्ख निकलते ही अपनी 'माँ' के सिखाये बिना उड़ नहीं सकता। यह चिड़ियाका बच्चा न केवल उड़नेका वरं माताके सिखाये हुए अनेक विस्मयजनक कार्य करता है। मातामें ही ऐसी शक्ति है जो अपने बच्चेके मानवीय ज्ञानके छिपे हुए अङ्कुरोंके ऊपरसे अज्ञानका परदा हटाकर उनकी शक्तियाँ प्रकाशमें लाती है।

माताका प्रेम अपने बालकके प्रति अवर्णनीय है। किस प्रकार वह अपने बालकके प्रेमको चिरस्थायी रखती है। सारा संसार माताके महत्त्वको जानता है। माताका प्रेम अपने बालकके प्रति कैसे और किस प्रकार होता है। माताके प्रेमके कारण मनुष्य बड़े-बड़े कार्य शीघ्र साध सकता है। माताके प्रेमके सम्मुख मनुष्यको सिर नीचा कर देना पड़ता है, और उनकी आज्ञा शिरोधार्य करनी पड़ती है। जब गौका नया बच्चा पैदा होता है, उस समय उस बच्चेको ज़रा-सा छेड़नेपर वह गौ कितनी व्याकुल और क्षुब्ध हो जाती है। जब पशुओंमें इतना प्रेम है तब मनुष्यका अपने बच्चेसे प्रेम होना तो स्वाभाविक है। रामवनगमनके दृश्यको ध्यान करके देखिये। माता कैकेयीके महलसे श्रीरामचन्द्रजी अपने वन जानेका आदेश सुनकर लौट आते हैं, उस समय कौशल्याजी बार-बार पुत्रका मुख चूमती हैं। हर्षसे उनका शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। रामजीको गोदमें बिठाकर हर्षसे हृदयसे लगाकर प्रेमसे सने हुए वचन कहती हैं—

कहहु तात जननी बलिहारी। कबहिं लगन मुद मंगलकारी॥
सुकृत सील सुख सीवँ सुहाई। जनम लाभ कइ अवधि अघाई॥

रामजीने माताके वचनोंको सुना और धर्मकी गतिको समझकर माताके प्रश्नका उत्तर शान्तिपूर्वक दिया—

पिताँ दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥

रामके मुखसे सुनकर माता कौशल्याके कोमल हृदयमें कितना कष्ट, कितनी वेदना हुई होगी। वह राम और कौशल्याके बिना और कौन जान सकता है। राम-जैसे वीरके लिये भी वह भयभीत हुई, किन्तु धर्मकी रक्षा करनेके विचारसे उन्हें ***'पितु बनदेव मातु बनदेवी'*** कहकर विदा कर दिया।

आधुनिक समयमें भारतवासियोंने माताके महत्त्व और शक्तिको विस्मृतिके तिमिरमें विलुप्त कर दिया है। जबतक भारत मातृशक्तिका मान तथा आदर करता रहा तबतक भारत समस्त संसारका मुकुटमणि रहा, किन्तु जबसे उसने माताकी उपेक्षा की तबसे भारतका पतन प्रारम्भ हो गया।

प्राचीन इतिहासके पन्ने उलट डालिये, माताका ही महत्त्व दिखायी देगा। हर एक वीरने, प्रत्येक वीराङ्गनाने मातृभूमिके लिये तन, मन, धन सब कुछ न्योछावर कर दिया। रानी दुर्गावती यद्यपि असहाया अबला स्त्री थी किन्तु वीर माताकी पुत्रीने माताका दूध पीकर ही दो बार

यवनोंको युद्धमें पराजित किया था और अन्तमें लड़ते-लड़ते ही प्राण त्याग दिये थे। ऐसा कौन-सा प्राचीन वीर है जिसने भारतमाताकी रक्षाके लिये, भारतभूमिको सङ्कटके मुखसे छुड़ानेके लिये अपने प्राण न त्यागे हों। तब भारतमातामें वह शक्ति थी जिसके द्वारा मनुष्य एकताके सूत्रमें बँधे हुए थे। वीर क्षत्रिय धर्मयुद्धको ही अपना जीवन समझता था। वीरने अपनी मातासे साहस सीखा था और बल पाया था, जिस कारण वे अजर-अमर हुए। किन्तु अब भारतवासी माताके महत्त्व और उसकी शक्तिको नहीं जानते। इसीका फल यह हुआ है कि हमारे पैरोंमें बेड़ी और हाथोंमें हथकड़ियाँ पड़ी हुई हैं।

आज हममें न बल है, न साहस; न ज्ञान है न बुद्धि—क्योंकि हमें प्राचीन कालके समान माताके पाससे आज वैसी उच्च शिक्षा नहीं मिलती। यही कारण है कि हम माताके महत्त्व और शक्तिको नहीं जानते। अत: निद्राके घोर अन्धकारमें सोये हुए भारतवासियो! जागो, और माताके महत्त्व और शक्तिको समझकर मातृभूमिकी सेवाके लिये तत्पर हो जाओ। एक बार फिर भारत कह उठे—'जय मातृशक्ति।' भगवती माता दुर्गाका वीरस्वरूप सबके नेत्रोंमें समा जाय। 'जय मातृशक्ति।'

विजयावाहन

(१)

कड़क-कड़कके कृपाण करमें करके,
ले करके शोणित-चषक दौड़ती आ माँ!
मुख मोड़ती आ मानियोंका अभिमानियोंका,
छलबलियोंका छल-बल तोड़ती आ माँ!
जोड़ती आ अंबरलौं अंबरका ओर छोर,
क्रांतिका रँगीला आग-राग छोड़ती आ माँ!
फोड़ती आ कपट-कटाह क्रूरों क्रोधियोंका,
जगमग जागृतिकी ज्योति जोड़ती आ माँ!

(२)

झाँस न तुझे है पाकशासनके शासनकी,
जब मृगशासनपै आसन जमाती तूँ!
धमक-धमकके धराधर अधीर होते,
तमक तमक ज्यों तमाम तन जाती तूँ!
दल-दल होता तब-तब दिग्गजोंका दल,
जब-जब कुंतल-कलाप लहराती तूँ!
कोर करती है जिस ओर तूँ कनीनिकाकी,
हहर-हहर हाहाकार है मचाती तूँ!

(३)

दीन हैं दरिद्र हैं दुखी हैं द्वन्ददुर्गमध्य,
वन्य हा! विदेशियोंके बीचमें बसे हैं माँ!
दंभ-द्वेष-दावानलमें हैं दिनरात दग्ध,
दलबंदियोंके दलदलमें फँसे हैं माँ!
डूबे पापपंकमें कलंकसे कृतघ्न हुए—
तेरी कृपाकोरको कलेजेसे कसे हैं माँ!
मंगलमयी! तुम्हारे सुतोंका अमंगल क्यों,
फिरसे जिला दे, काल सर्पसे डसे हैं माँ!

(४)

सूख उठा भक्ति-नद तेरा अंब! शक्तिभरा,
फिर अनुरक्तिका सरस भर जल दे।
उछल उठा है फिर खलदल भूतलमें,
चण्डि! आज आकर सदलबल दल दे॥
मचल उठा है फिर दल महिषासुरका,
कालि! रिक्त रक्तपात्र निज, आज भर ले।
जय देवि! जय दे, कि हम जाग-जाग उठें,
बलदेवि! आज निज अविचल बल दे॥

(५)

भीषण भुजंगोंका वलय करमें हो कसा,
एक हाथ पात्र, दूजे हाथ खड्गवाली आ।
रुद्रमुद्राअंकित कुरक्तपंकपंकति-सी
मेद-मज्जा-मोद-मत्त मुंडमालवाली आ!
शंकरी आ, जगकी लयंकरी भयंकरी आ,
करती कठोर अट्टहास मतवाली आ।
आ री, देवरंजिनी प्रभंजिनी अदेवनकी,
'श्रीश' सर्वमंगले! मनोज्ञे! महाकाली आ!!

ईशदत्त पाण्डेय 'श्रीश' शास्त्री, साहित्यरत्न

भगवद्गीतामें प्रकृति और पुरुष

(लेखक—श्री एस० एन० ताडपत्रीकर, एम० ए०)

साधारण प्रयोगमें 'प्रकृति' शब्दका अर्थ है सहजात स्वभाव और 'पुरुष' शब्दका अर्थ है मनुष्य। परन्तु सांख्यदर्शनमें ये शब्द अर्थविशेषमें प्रयुक्त होते हैं। सांख्यमें इन्हीं दो तत्त्वोंको अखिल व्यक्त सृष्टिका मूल आदितत्त्व माना गया है जिनसे समय पाकर समस्त विश्व प्रस्फुटित हुआ है। दूसरे शब्दोंमें, प्रकृति वही है जिसे हम शक्ति कहते हैं और पुरुष ही है ईश्वर।

समस्त हिन्दू-दर्शन-ग्रन्थोंमें भगवद्गीताका एक परम महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः पाठकोंको यह जाननेकी अभिरुचि होगी कि यह परम पावन ग्रन्थ पुरुष और प्रकृतिकी क्या व्याख्या करता है और दोनोंमें कैसा सम्बन्ध स्थापित करता है। हमलोग उन स्थलोंको छोड़ देंगे जहाँ इन शब्दोंका प्रयोग मनुष्य और उसके स्वभावके अर्थमें हुआ है। उदाहरणार्थ तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें '**नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते**'; तथा दूसरे अध्यायके साठवें श्लोकमें '**पुरुषस्य विपश्चितः**' ऐसे ही स्थल हैं।

तीसरे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें प्रकृतिजन्य गुणोंका वर्णन मिलता है तथा यह भी उल्लिखित है कि ये गुण ही सभी व्यक्तिको कार्यमें हठात् निरन्तर प्रेरित करते रहते हैं, मनुष्य इन्हींके कारण एक क्षणका विश्राम नहीं पाने पाता। इसके आगे, इसी अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें हम यह देखते हैं कि फिर भी मनुष्य मूर्खतावश यह सोचने लगता है कि 'मैं ही कर्त्ता हूँ' और भगवान् उनतीसवें श्लोकमें उपदेश देते हैं कि ज्ञानी ऐसे मूर्खोंको उनके विचार-पथसे विचलित न करें। उपर्युक्त तीनों वचनोंमें तथा इसके आगे भी चौदहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें '**गुणाः प्रकृतिसम्भवाः**' तथा अठारहवें अध्यायके चालीसवें श्लोकमें '**प्रकृतिजैः त्रिभिः गुणैः**' में 'प्रकृति' शब्दका अर्थ वह अन्तःप्रकृति है जिससे तीनों गुणोंकी उत्पत्ति होती है। पन्द्रहवें अध्यायके सातवें श्लोकके '**ममैवांशः जीवभूतः प्रकृतिस्थानि इन्द्रियाणि कर्षति**' में भी वही उपर्युक्त भाव है। स्वामी शङ्कराचार्यने इसपर भाष्य लिखते हुए यह कहा है—

स्वस्थाने कर्णशष्कुल्यादौ प्रकृतौ स्थितानि—इत्यादि।

इन साधारण प्रसङ्गोंके अतिरिक्त, जहाँ प्रकृति-पुरुष शब्दका प्रयोग साधारण अर्थमें हुआ है, 'भगवद्गीता' में ऐसे भी स्थल आते हैं जहाँ 'प्रकृति' शब्दका प्रयोग एक विशिष्ट अर्थमें हुआ है। चौथे अध्यायके छठें श्लोकमें भगवान् अपने अवतारके सम्बन्धमें कहते हैं—'मैं अपनी प्रकृतिपर आरूढ़ होकर मायासे प्रकट होता हूँ।' प्रभुकी इस प्रकृतिका वर्णन सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें आता है—'यह परा प्रकृति जो समस्त जीवोंकी प्राण है और जो इस समस्त विश्वको धारण किये हुए है।' नवें अध्यायके आठवें श्लोकमें भी भगवान् यह बार-बार कहते हैं कि समस्त जीव-समूह प्रकृतिकी शक्तिसे विवश किये हुए हैं और यह प्रकृति केवल भगवान्के ही वशमें है। इस प्रकार इन सभी उद्धरणोंमें प्रकृतिका अर्थ हम पराशक्तिके रूपमें ले सकते हैं—प्रभुकी शक्ति जो समस्त चराचरको उत्पन्न करती है और जिसमें समस्त संसार प्रवेश कर जाता है। वस्तुतः यह वह शक्ति है जो विश्वका शासन-सञ्चालन करती है। यह वही प्रकृति है जिसे ईश्वरकी अर्धाङ्गिनी कहा गया है और प्रभु जैसा नाम और रूप धारण करानेकी इच्छा प्रकट करते हैं वैसा ही नाम और रूप यह धारण करती है।

इन उद्धरणोंमें यह स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि प्रभुकी यह शक्ति स्वतन्त्र है, या प्रभुसे पूर्णतः अनुशासित होनेपर भी क्या सृष्टि-निर्माणमें प्रकृतिकी कोई स्वतन्त्र क्रिया होती है। परन्तु तेरहवें अध्यायके उन्नीसवेंसे तेईसवें श्लोकतक तथा इसके आगे उनतीसवें श्लोकमें भी, जहाँ सांख्यदर्शनका सूक्ष्म और संक्षिप्तरूपमें विवेचन हुआ है, हमलोग उन्नीसवें श्लोकमें यह पाते हैं कि पुरुष और प्रकृति दोनों अनादि हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

और विश्व-क्रममें दोनोंकी स्वतन्त्र क्रिया है। यह बात ध्यान देनेकी है कि श्रीशङ्कराचार्यने इस श्लोकपर भाष्य लिखते हुए यह कहा है कि चूँकि ईश्वर सनातन प्रभु हैं, यह मानना सर्वथा उचित है कि उसकी दोनों प्रकृतियाँ (परा और अपरा) भी सनातन और शाश्वत हैं।

वास्तवमें प्रभुके प्रभुत्वका यही सार है कि उसकी ऐसी दो प्रकृतियाँ हैं। आगे चलकर शङ्कराचार्यजीने कहा है कि 'यदि प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि, स्वतन्त्र

और सनातन मानें तो उससे ईश्वरकी प्रभुता एक प्रकारसे न्यून हो जाती है।' इस बातका विशेषरूपसे खुलासा करना अनावश्यक है, क्योंकि हम यह जानते हैं कि ब्रह्माण्डके क्रम-विधानकी व्याख्या जब इन सिद्धान्तोंके अनुसार होती है तो विश्वके क्रममें एक 'पुरुष' को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है; इस 'पुरुष' के अनन्तर प्रकृतिके साथ पुरुष आता है जिसका सीधा सम्बन्ध संसारके व्यवहारोंसे है। परन्तु यह भी पूर्वोल्लिखित वाक्योंके विपरीत ही पड़ता है, जिनमें भगवान् श्रीकृष्णको ही सर्वेश्वर और सर्वोपरि अद्वितीय कहा गया है।

इसका उल्लेख संकेतरूपमें कर दिया गया है। इसलिये मैं इस सिद्धान्तको पल्लवित करना नहीं चाहता तथापि मैं सोचता हूँ कि दोनों वचन परस्परविरोधी नहीं प्रमाणित होंगे। यदि प्रकृति और पुरुषको तेरहवें अध्यायमें सांख्य-दर्शनके अनुसार ग्रहण करें, जिस मतके अनुसार प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि, सनातन और स्वतन्त्र हैं।

इसके अनन्तर मुझे इतना ही निवेदन करना है कि भगवद्गीतामें बहुत-से ऐसे शब्द आते हैं जो यदि सर्वत्र जहाँ-जहाँ वे आते हैं, एक ही अर्थके द्योतक माने जायँ तो हम सन्तोषप्रद परिणामपर नहीं पहुँचेंगे। इसलिये आवश्यकता इस बातकी है कि उसका प्रकरणके साथ सम्बन्ध मिलाकर अर्थ निश्चित किया जाय।

इन पंक्तियोंका लेखक इससे पूर्णतः अवगत है कि ऐसा करनेमें हम बलात् अपने यहाँके पुरातन सिद्धान्तके विरुद्ध जायँगे, परन्तु अपने कथनके समर्थनमें मुझे विज्ञोंसे इतना ही निवेदन करना है कि हमारी गीता अब पूर्णतः और सर्वांशतः हमारी ही नहीं रह गयी; इसने समस्त सभ्य संसारके चिन्तनको प्रभावित किया है; इस हेतु किसी शब्दका खींचतानके साथ अर्थ बैठानेके लिये तथा अर्थ-एकता सिद्ध करनेके लिये किसी विशेष अर्थपर जोर डालनेकी अपेक्षा सर्वथा तर्कसंगत और स्वीकार करने योग्य बात यह होगी कि जहाँ जैसा प्रसङ्ग हो वहाँ उसीके अनुकूल अर्थ बैठाया जावे और अब समय आ पहुँचा है, जब गीताका अध्ययन निष्पक्षभावसे सुविस्तृत व्यापकरूपमें इस दृष्टिकोणको लेकर किया जाय।

यन्त्र-प्रसंग

(लेखक—एक 'माता-सेवक')

हिन्दू-धर्ममें 'तन्त्र' का एक विशेष स्थान है। धर्मकी व्यापकता तथा जीवन-पथमें उसकी आवश्यकताका बोध 'तन्त्र' ही भली प्रकार कराता है। नीच-से-नीचको भी धर्ममय दिव्य-जीवन लाभ करानेका 'तन्त्र' के पास अनुपम सन्देश है। तन्त्रकी आनन्दप्रदायिनी गोदमें सारे धर्म-पुत्र अपना-अपना विश्राम पाते हैं। इसलिये हिन्दू-धर्मकी परिपूर्णताकी ज्योति 'तन्त्र-सूर्य'से प्रस्फुटित होती हैं। 'तन्त्र' का अर्थ ही है सबमें रमण करनेवाला व्यापक तन्तु अथवा सूत्र। ऐसा सूत्र कि जिसमें सब भाव मनकोंकी भाँति पिरोये हुए हैं—'**सूत्रे मणिगणा इव।**'

'शक्ति' इस तन्त्र-सूर्यकी महान् आभा है। प्रत्येक भाव, कर्म, साधन, पथ, योजनाकी सिद्धिमें 'शक्ति'की विद्यमानता अनिवार्य है। 'शक्ति' विश्वातीत 'पुरुषोत्तम' की 'चिति' है। पुरुषोत्तमकी विश्वातीत आद्याशक्तिसे ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देवगण अपनी-अपनी गति (प्राण)-का लाभकर निर्दिष्ट कार्यमें प्रवृत्त हुआ करते हैं। 'अस्ति' की प्रतिष्ठा 'शक्ति' के महाप्राणमें है। जो कुछ भी 'है' सब शक्तिका आत्मप्रकाश है और 'शक्ति' न हो तो कहींपर किसीका भी अस्तित्व अथवा अवसान सम्भव नहीं। 'भाव' (उद्भव) और 'अभाव' (लय) दोनोंमें गति मौजूद है।

इस सर्वव्यापिनी शक्तिके अनन्त रूप हैं और 'महाकारण' में यह 'नाद' रूपसे और 'कारण' में 'विन्दु' रूपसे हैं। 'सूक्ष्म' में उनका आनन्द-स्फुरण 'शब्द' रूपमें प्रकटित हुआ। स्फुरणके विस्तारके साथ 'शब्द' का भी (१) परा, (२) पश्यन्ती, (३) वैखरी और (४) मध्यमा—इन चार रूपोंमें विस्तार हो गया।

'शब्द' में विविध शक्तियोंका समावेश होता है; और कई शब्दोंके मेलसे एक विशिष्ट शक्तिकी दमक मिलती है। इन संघबद्ध 'शब्दों' को 'मन्त्र' कहते हैं। प्रत्येक मन्त्रका अपना एक विशिष्ट देवता अथवा अधिष्ठात्री शक्ति होती है जिसको बारम्बार जपरूप तापसे प्रबुद्ध किया जा सकता है। जिस देवताका वह मन्त्र होता है पहले उसका भाव जाग्रत्में लाकर स्थूल रूप देना पड़ता है। उसके बाद मन्त्रका बारम्बार मानसिक जप होता है अर्थात् मन्त्र-देवताका मानसिक ध्यान। फिर उस मन्त्र एवं उसके अधिष्ठाता देवताको यन्त्रबद्ध किया जाता है।

साधकके लिये यह एक कठिन भूमिका है और इस अवस्थाको पार करना वास्तविक वीरका काम है।

'यन्त्र' के पूजनका अपना विशेष विधान है और उसकी सिद्धिलाभ करनेमें अनेक विघ्न-बाधाओंका सामना करना पड़ता है। इसी कष्टका अनुभव करके 'सदाशिव' ने बहुत-से यन्त्रोंको कीलित कर दिया है—कील ठोंककर उनको बेकार कर दिया है। जो कीलित नहीं हैं उन्हींमेंसे आजकल प्रचलित हैं; यद्यपि कीलित यन्त्रोंको भी विशेष पुरुषार्थके द्वारा खोला जा सकता है। इन अकीलित यन्त्रोंमें कुछ तो ऐसे हैं जो 'साध्य' हैं और कुछ भगवान्‌की दयासे ऐसे हैं जिनको सिद्ध करना नहीं पड़ता है। इसी श्रेणीका एक यन्त्र नीचे मुद्रित है।

श्रीयन्त्रम्

इसको 'श्री' यन्त्र कहते हैं जो कि सब यन्त्रोंमें शिरोमणि माना गया है। आजकल प्रायः 'श्री' चक्र ही देखनेमें आते हैं जो कि बीज, शक्ति, मन्त्र आदिसे रहित होते हैं। बीजाक्षर शक्ति, मन्त्र, यन्त्रकी आत्मा और प्राण हैं।

यह 'श्री' यन्त्र हमको गत पौषमासमें दक्षिण देशकी शुभ तीर्थयात्रा करते हुए एक दिव्य स्थानसे प्राप्त हुआ है और इसके आश्चर्यजनक प्रभाव तथा शक्तिमत्ताकी प्रामाणिकता पाण्डीचेरीमें स्थित 'धर्म' की जीवन्त ज्योतिसे दीप्त परम दिव्यात्मा तथा श्रीरमणाश्रमके प्रसिद्ध महात्माद्वारा सिद्ध हो चुकी हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अनुभवी तान्त्रिक योगियोंने प्रस्तुत 'श्री' यन्त्रको विशेष प्रभावशाली बतलाया। कारण, इसमें आजकलके प्राप्त साधारण 'श्री' चक्रसे विलक्षण बीज, मन्त्र तथा शक्तियाँ सन्निहित हैं। जिनसे रहित कोई भी यन्त्र निष्प्राणवत् होता है। यद्यपि साधारण श्रीचक्र भी इतना प्रभावशाली देखा गया है कि उसका श्रद्धापूर्वक दैनिक दर्शनमात्र करनेसे कुछ समयके बाद मनोकामना पूरी होने लगती है।

बीज, शक्ति आदिके हेर-फेरसे इस महायन्त्रको २५६+१६ अर्थात् २७२ प्रकारसे तैयार किया जा सकता है। प्रत्येक रूपका कार्य और प्रभाव भिन्न-भिन्न है।

सेवन-विधि—पौषमासकी संक्रान्तिको यदि रविवार और अष्टमीका योग हो तो इस महायन्त्रके लिये अत्यन्त शुभकारी है। नहीं तो पौष-संक्रान्ति और उसके अभावमें किसी भी संक्रान्तिको रविवारके दिन अथवा संक्रान्तिको न पड़े तो फिर किसी भी महीनेके शुक्ल पक्षमें रविवार, अष्टमीके दिन ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर स्नानादि क्रियाओंसे निवृत्त होकर शुद्ध, शान्त स्थानमें पूर्वाभिमुख बैठकर धूप-दीप जलाकर भोजपत्रके ऊपर तुलसी अथवा अनारकी कलमसे रक्त चन्दनके योगसे प्रस्तुत महायन्त्रको लिखना चाहिये। पीले रंगके लिये केशरका प्रयोग करे। इसके बाद तैयार किये हुए इस महायन्त्रको धूप, गन्ध आदि देकर पवित्र भावनासे फ्रेममें लगाकर नित्यप्रति षोडशोपचार-पूजन करे। परन्तु पूजनका अधिकार तन्त्र-दीक्षित व्यक्तिको ही है। सर्वसाधारण इसका उपयोग और चमत्कारी प्रभाव नित्यप्रति प्रातःकाल सभक्ति दर्शन करने और गन्ध, धूप आदि देनेमात्रसे ही उपलब्ध कर सकते हैं।

शाक्त-धर्म

(लेखक—श्रीचिन्ताहरण चक्रवर्ती, एम० ए०)

भारतीय और विदेशी विद्वानोंने समानरूपसे तन्त्रमात्रकी तथा प्रधानरूपसे शाक्त-धर्मकी प्रायः स्पष्ट शब्दोंमें निन्दा की है। उनमेंसे कुछने तो यहाँतक संकेत किया है कि जनसाधारणमें अनाचार एवं व्यभिचारका प्रचार करनेके लिये ही तन्त्रोंकी रचना हुई अथवा तन्त्रोंमें प्रच्छन्नरूपसे कामशास्त्रकी ही शिक्षा दी गयी है। उनमेंसे थोड़े-से लोगोंने भोलीभाली जनताकी भलाईके लिये इस प्रकारके साहित्यका सर्वथा लोप हो जाना ही अच्छा समझा। गण्यमान्य व्यक्तियोंका तन्त्रसाहित्यके प्रति इस प्रकारका स्पष्टरूपेण प्रतिकूल भाव होनेके कारण ही उस समय

जब कि संस्कृत-वाङ्मयकी समस्त शाखाओंके आलोचनात्मक एवं विचारपूर्ण अध्ययनकी उत्कट भावना जागृत थी, लोगोंका ध्यान तन्त्रसाहित्यकी ओर कम गया। तन्त्रशास्त्रका समुचित आदर न होनेका एक कारण यह भी था कि इस विस्तृत साहित्यके कुछ अंश इतने गहन एवं दुर्बोध हैं कि एक सुयोग्य गुरुकी सहायताके बिना उनमें प्रवेश ही नहीं हो सकता। परिणाम यह हुआ कि शाक्तसाहित्य और शाक्तमतके प्रति लोगोंमें विचित्र-विचित्र भ्रम फैल गये।

हम इनमेंसे एक भ्रमकी ओर पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करेंगे। कुछ विद्वानोंकी यह धारणा हुई कि तन्त्रोंमें शाक्तमत और विशेषकर उन थोड़ी-सी बीभत्स साधनाओंके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, जिनका शाक्तोंके कुछ सम्प्रदायोंमें उनके आध्यात्मिक जीवनकी खास-खास भूमिकाओंमें प्रचार पाया जाता है। उन लोगोंने इस बातको जाननेकी भी चेष्टा नहीं की कि तन्त्रोंमें अथवा शाक्तधर्ममें कोई अच्छी बात भी है जिसके कारण वे आध्यात्मिक साधकोंके कामकी चीज हो सकते हैं। हम आगे चलकर यह बतलायेंगे कि तन्त्रशास्त्रके अधूरे अथच श्रद्धाहीन अध्ययनके कारण ही ये सब बातें हुईं।

यदि श्रद्धा और विवेकके साथ तन्त्रशास्त्रका अध्ययन किया जाय तो यह पता चलेगा कि तन्त्रों तथा शाक्तधर्मका ध्येय जीवात्माकी परमात्माके साथ—व्यष्टिकी समष्टिके साथ अभेद-सिद्धि ही है और तान्त्रिक उपासनाका भी यदि आलोचनात्मक अध्ययन किया जाय तो यह अवगत होगा कि इसके भिन्न-भिन्न विधानोंकी सृष्टि भी इसी उद्देश्यको क्रमशः सिद्ध करनेके लिये हुई है[१]। तान्त्रिक उपासनाका पहला सिद्धान्त यह है कि उपासक अपने उपास्यदेवके साथ तादात्म्य स्थापित कर ले[२]। यही कारण है कि तन्त्रोंमें आन्तरिक उपासना (अन्तर्याग)-को विशेष महत्त्व दिया गया है। 'समयमत'के अनुयायी तो बाह्य पूजाकी अवहेलना करते हैं और ध्यान एवं आत्मसाक्षात्कारपर ही विशेष जोर देते हैं[३]।

तन्त्रों तथा प्रायः सभी सम्प्रदायोंका अपना-अपना तत्त्वज्ञान अथवा दार्शनिक सिद्धान्त है। वास्तवमें छः वैदिक दर्शनोंकी भाँति पाँच तान्त्रिक दर्शन माने गये हैं। प्रत्येक प्रधान सम्प्रदायका एक स्वतन्त्र दर्शन है[४]। विभिन्न सम्प्रदायों एवं उपसम्प्रदायोंके दार्शनिक सिद्धान्त विस्तृत साहित्यमें यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। आवश्यकता है कि उन्हें एकत्रित कर उनका एक निश्चित शैलीके अनुसार अध्ययन किया जाय। जो कुछ थोड़ा-बहुत उनके सम्बन्धमें अवगत हुआ है, उससे तो उनका वेदान्तके सिद्धान्तोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध ही व्यक्त होता है। विभिन्न पुराणों एवं उपपुराणोंमें भी शक्ति अर्थात् परमेश्वरीको सर्वथा परब्रह्मसे अभिन्न ही माना गया है[५]।

शाक्तोंके योगदर्शनमें आत्मसंयमका पूरा-पूरा विधान है। उपासनाकी विस्तृत पद्धति और योगाभ्यास प्रायः साथ-साथ चलते हैं। तन्त्रोंके अन्तर्यागका योगकी क्रियाओंसे गहरा सम्बन्ध है। पूजाके समय भी शक्तिसाधकोंके चित्तमें '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' की भावना बद्धमूल की जाती है[६]। शक्ति ही समस्त ब्रह्माण्डमें व्याप्त है[७]। वही सर्वेसर्वा है। वही विश्वकी रचना, पालन और संहार करती है।

यह सच है कि इन दिव्य और उच्च भावनाओंके साथ-ही-साथ शाक्ततन्त्रोंमें कुछ ऐसे प्रयोगोंका भी विधान मिलता है जो नैतिक दृष्टिसे सर्वथा निषिद्ध एवं निन्दनीय हैं। क्योंकि उनका सम्बन्ध है—'पञ्चमकारों'से, नहीं-नहीं, इनसे भी अधिक निषिद्ध वस्तुओं, जैसे स्त्री-पुरुषके रजवीर्य तथा शव आदिके प्रयोगसे तथा षड्विध अनर्थकारी एवं नृशंस अभिचार-प्रयोगोंसे। परन्तु जिन

१—यह विषय बहुत व्यापक एवं विस्तृत है। इसकी पूरी समीक्षा करनेके लिये एक स्वतन्त्र लेखकी आवश्यकता है।

२—देवो भूत्वा यजेद्देवम्।

३—समयिनां मन्त्रस्य पुरश्चरणं नास्ति। जपो नास्ति। बाह्यहोमोऽपि नास्ति। बाह्यपूजाविधयो न सन्त्येव। हृत्कमलमेव सर्वं यावदनुष्ठेयम्।—आनन्दलहरीपर लक्ष्मीधरकी टीका (मैसूर-संस्करण, पृष्ठ ११०)

४—देखिये, देवीभागवतकी नीलकण्ठकृत टीका। (४। १५। १२)

५—देखिये, देवीभागवत-नीलकण्ठीकी भूमिका। (हरिचरणवसु-संस्करण, पृष्ठ २९)

६—देखिये, तन्त्रसार (पी० शास्त्रीका संस्करण)-के पृष्ठ ६५१ पर उद्धृत शिवागमका निम्नलिखित श्लोकार्ध—
'शक्तिरूपं जगत् सर्वं यो न जानाति नारकी।'

७—आराध्या परमा शक्तिर्यया सर्वमिदं ततम्। (देवीभागवत ३। ९। ३३)

ग्रन्थोंमें इस प्रकारके प्रयोगोंका विधान है, उनके अध्ययनसे यह पता लगेगा कि बृहत् तन्त्रशास्त्रके अपेक्षाकृत एक बहुत ही छोटे अंशमें इन प्रयोगोंका वर्णन पाया जाता है। उदाहरणार्थ, बङ्गालके कृष्णानन्दद्वारा संगृहीत 'तन्त्रसार' नामक आकर-ग्रन्थके बहुत थोड़े अंशमें इन पञ्चमकारादिकी चर्चा है। इसके अतिरिक्त इन प्रयोगोंका विधान सर्वसाधारणके लिये नहीं, अपितु कुछ थोड़े-से चुने हुए व्यक्तियोंके लिये, शाक्तोंके कुछ चुने हुए सम्प्रदायोंके लिये ही है। कौलसम्प्रदायमें भी—जो इन प्रयोगोंके कारण बहुत बदनाम है—सभी व्यक्ति इस प्रकारकी उपासना करनेके अधिकारी नहीं माने गये हैं। इस पथके अनुगामी होते हुए भी पूर्वकौल तो इन निषिद्ध वस्तुओंके संकेतों एवं प्रतीकोंकी ही पूजा करते थे[१] ब्राह्मण आदि उच्च वर्णके लोगों, तथा कौलमार्गके अतिरिक्त अन्य मार्गावलम्बियोंके लिये भी यह आज्ञा है कि वे इन वस्तुओंके प्रतीककी ही पूजा करें[२]। क्षत्रियोंको भी धार्मिक कृत्योंमें भी मद्य पीनेकी आज्ञा नहीं है। वे उसे केवल देवताको चढ़ा सकते हैं।[३] 'हरतत्त्वदीधितिमें'[४] 'श्यामप्रदीप' से बड़े-बड़े उद्धरण लिये गये हैं; उनमें इन वस्तुओंके स्थानमें जो वस्तुएँ व्यवहारमें लायी जा सकती हैं, उनकी एक लम्बी सूची दी हुई है; जैसे वीर्यके स्थानमें पनीर, मैथुनके स्थानमें पुष्प-विशेषका एक विशिष्ट आसनसे चढ़ाना, मदिराके स्थानमें दुग्धादि तथा मांसके स्थानोंमें फलोंका प्रयोग लिखा है।

कहीं-कहीं इन प्रयोगोंकी रूपकके ढंगसे तथा योगकी क्रियाओंके रूपमें भी व्याख्या की गयी। इन व्याख्याओंके अनुसार मदिरासे अभिप्राय है परमात्माके उन्मद ज्ञानका और वाणीका संयम ही मदिरा-पान है। इत्यादि-इत्यादि।[५]

नि:सन्देह यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन व्याख्याओंमें खींचतान अधिक है और ऐसा प्रतीत होता है मानो इनकी बुराईको ढकनेके लिये इनपर इस प्रकारका मुलम्मा चढ़ा दिया गया है। किन्तु फिर भी इससे हमारा यह पक्ष कमजोर नहीं होता कि यदि इस प्रकारके बीभत्स प्रयोगोंका विधान था भी तो उनका उस जुगुप्सित रूपमें प्रचार केवल इने-गिने लोगोंमें ही था। अतएव इससे समस्त शाक्तमत दोषी नहीं हो सकता। कौल-सम्प्रदायको छोड़कर अन्य शाक्तमतावलम्बियोंके लिये इस बातकी कड़ी आज्ञा है कि वे कौलोपासनाके प्रयोगोंको कदापि काममें न लावें। सम्भवत: जनसाधारणको इन फँसानेवाले प्रयोगोंसे दूर रखनेके अभिप्रायसे ही कौलेतर सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंमें कहीं-कहीं कौलसिद्धान्तों तथा कौलोपासनाकी निन्दा की गयी है। कौलेतर मार्गोंका प्रतिपादन करनेवाले तन्त्रोंमें कुछ ग्रन्थ तो ऐसे हैं जिनमें किसी निन्दनीय बातकी तो चर्चा दूर रही, अधिकांश बातें ऐसी ही हैं जो अत्यन्त सत्य एवं जगन्मान्य हैं। उदाहरणत: परानन्द-सम्प्रदायमें, जिसके सम्बन्धमें आजकल लोगोंको बहुत कम ज्ञान है, पशु-बलिका सर्वथा निषेध है।[६] इसके अतिरिक्त शाक्तेतर सम्प्रदायोंकी तो बात ही कौन कहे, समयमतानुयायी शाक्तोंके उदात्त आध्यात्मिक सिद्धान्त इतने सुन्दर हैं कि उनकी ओर किसी भी सहृदय जिज्ञासुका ध्यान आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता।

१—श्रीचक्रस्थितनवयोनिमध्यगतां योनिं भूर्जहेमवस्त्रपीठादौ लिखितां पूर्वकौला: पूजयन्ति। तरुण्या: प्रत्यक्षयोनिमुत्तरकौला: पूजयन्ति। ('आनन्दलहरी' की लक्ष्मीधरकृत टीका, पृष्ठ १३०)

२—यत्रासवमवश्यं तु ब्राह्मणस्तु विशेषत: । गुडार्द्रकं तदा दद्यात्ताम्रे वारि सृजेन्मधु॥

तन्त्रसार (पी० शास्त्रीका संस्करण), पृष्ठ ६५१

३—तेन क्षत्रियादीनां मुख्यस्य दानेऽधिकार:, न पाने।

४—पृष्ठ ५७—८

५—यदुक्तं परमं ब्रह्म निर्विकारं निरञ्जनम्। तस्मिन् प्रमदनं ज्ञानं तन्मद्यं परिकीर्त्तितम्॥ (विजयतन्त्र)

कुलकुण्डलिनीशक्तिर्देहिनां देहधारिणी। तया शिवस्य संयोगो मैथुनं परिकीर्त्तितम्॥ (विजयतन्त्र)

गंगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरत: सदा। तौ मत्स्यौ भक्षयेद्यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधक:॥ (आगमसार)

माशब्दाद् रसनाज्ञेया तदंशान् रसनाप्रियान्। सदा यो भक्षयेद्देवि स एव मांससाधक:॥ (आगमसार)

ऊपरके उद्धरण 'साधनकल्पलतिका' तथा वामाक्षेपा नामक दो बंगाली पुस्तकोंसे लिये गये हैं।

६—परानन्दस्याष्टविधहिंसनाभावान्मध्यमं पारानन्दो वर्जयेत्।

परानन्द सूत्र (गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज), पृष्ठ १३

इन प्रयोगोंसे जो पतन हो सकता है उससे जनताको बचानेके लिये अत्यधिक सावधानी और सतर्कता रखी गयी है। जो लोग इस पथपर चलना चाहते हैं उन्हें काफी चेतावनी दी गयी है। इस साधनपथमें आनेवाली कठिनाइयोंपर साधकका ध्यान विशेषरूपसे आकृष्ट किया गया है। मद्य, मांस आदि जिन वस्तुओंके कारण तन्त्रोंको लोग घृणाकी दृष्टिसे देखने लगे हैं, उन वस्तुओंका उपयोग धार्मिक कृत्योंमें यथेष्ट नियन्त्रणके साथ विहित है। केवल विषयवासनाकी तृप्ति एवं इन्द्रियोंकी प्रीतिके लिये इन वस्तुओंके सेवनकी बहुत ही कड़े शब्दोंमें निन्दा की गयी है। 'कुलार्णव'-तन्त्रमें लिखा है कि इन सब वस्तुओंके सेवनको ही धर्म नहीं मान लेना चाहिये; क्योंकि ऐसा होनेपर तो शराबी और मांसाहारी ही सबसे बड़े धार्मिक पुरुष समझे जाने लगेंगे[१]। इन्हीं वस्तुओंका धार्मिकरूपमें तथा साधारणरूपमें सेवन करनेमें जो अन्तर है वह लोगोंको अत्यन्त सूक्ष्म ही नहीं, अपितु एक प्रकारसे कल्पनाकी ही वस्तु प्रतीत होगा। परन्तु उक्त दोनों प्रकारके सेवनका अन्तर केवल स्वीकार ही नहीं किया गया है, अपितु उसपर बहुत अधिक जोर भी दिया गया है। उस समय इस बातका भी अनुभव किया गया कि सर्वसाधारणके लिये इस सूक्ष्म एवं महीन अन्तरको समझ सकना तथा हृदयंगम करना असम्भव होगा और फलतः लोग बहुधा न तो इन वस्तुओंके सेवनके नियमोंका पालन कर सकेंगे और न उनका सेवन करते समय मनको पूर्णतया शान्त ही रख सकेंगे, जिससे उन्हें लाभ होनेकी अपेक्षा हानि ही अधिक होगी। यही कारण है कि इस साधनाके मार्गमें आनेवाली कठिनाइयों तथा विघ्न-बाधाओंका बहुधा अतिरञ्जित वर्णन किया गया, जिससे वे लोग जिनका इस मार्गके प्रति आकर्षण हुआ हो, डर जायँ, सचेत हो जायँ। कौलमार्गकी उपासनामें ही पञ्चमकारों अर्थात् मत्स्य, मांस, मद्य, मुद्रा एवं मैथुनका विधान है। परंतु, यद्यपि इस उपासनाको परम लाभदायक ही नहीं, अपितु सर्वश्रेष्ठ माना गया है, फिर भी साथ-ही-साथ इसे स्पष्ट शब्दोंमें संसारकी कठिन-से-कठिन वस्तुओंसे भी अधिक कठिन बताया गया है। 'कुलार्णवतन्त्र' में तो यहाँतक लिखा है कि कौलमार्गपर चलना खाँड़ेकी धारपर चलने, बाघकी गर्दन पकड़ने तथा साँपको हाथमें लेनेकी अपेक्षा भी अधिक कठिन है।[२] इस उपासनासे सम्बन्धित क्रियाओंको सबके सामने करनेकी आज्ञा नहीं है, बल्कि इन्हें बड़े यत्नसे गुप्त रखनेकी आज्ञा है, जिससे साधारण कोटिके मनुष्योंमें उनका अनुकरण करनेकी लालसा उत्पन्न न हो। जो लोग इन वस्तुओंका सेवन केवल कामोपभोगके लिये करते हों उनके लिये प्रायश्चित्तके रूपमें कठोर तपश्चर्याका विधान है। उदाहरणतः जो व्यक्ति विषय-भोगके लिये मदिरा पिये, उसके मुँहमें गर्म-गर्म शराब ढाल देनेका विधान है, जिससे उसका मुख जलकर शुद्ध हो जाय।[३] जो लोग सांसारिक कामोंमें इन वस्तुओंका सेवन करते हैं, वे सदाके लिये रौरव आदि नरकमें ठेल दिये जाते हैं।[४]

इस विचित्र ढङ्गकी उपासनाका उन्हीं लोगोंके लिये विधान है जो आध्यात्मिक विकासकी बहुत ऊँची स्थितिमें पहुँच गये हों, जिनका आत्मसंयम पराकाष्ठाको पहुँच गया हो और जिनके मनमें विकारका बड़ा-से-बड़ा कारण उपस्थित होनेपर भी विकार न होता हो। इन प्रयोगोंके करनेके अधिकारी एक सच्चे कौलके जो लक्षण विभिन्न तन्त्रग्रन्थोंमें वर्णित हैं, उनसे इस बातका स्पष्टरूपसे पता लगता है और इन लक्षणोंको देखकर किसीके भी मनमें एक सच्चे कौलके प्रति श्रद्धा और आदरके भाव जागृत हुए बिना नहीं रह सकते। आध्यात्मिक साधनमें लगे हुए पुरुषके लिये यह साधना उसकी प्रायः अन्तिम और सबसे कठिन परीक्षाके रूपमें होती है। जो लोग इस भीषण एवं दुर्गम पथका अनुसरण करते हैं, उनका 'वीर' कहलाना उचित ही है। वे ही पदार्थ जो साधारणतः पतनका कारण माने जाते हैं, उनके लिये मोक्षका साधन बन

१—मद्यपानेन मनुजो यदि सिद्धिं लभेत वै। मद्यपानरताः सर्वे सिद्धिं गच्छन्तु पामराः॥
मांसभक्षणमात्रेण यदि पुण्या गतिर्भवेत्। लोके मांसाशिनः सर्वे पुण्यभाजो भवन्ति हि॥ (कुलार्णव २। ११७-८)

२—कृपाणधारागमनाम् व्याघ्रकण्ठावलम्बनात्। भुजङ्गधारणान्नूनमशक्यं कुलवर्त्तनम्॥ (२। १२२)

३—सुरापाने कामकृते ज्वलन्तीं तां विनिक्षिपेत्। मुखे तया विनिर्दग्धे ततः शुद्धिमवाप्नुयात्॥ (कुलार्णव २। १२९)

४—अर्थाद् वा कामतो वापि सौख्यादपि च यो नरः। लिङ्गयोनिरतो मन्त्री रौरवं नरकं व्रजेत्॥
(तन्त्रसार—पी० शास्त्रीका संस्करण, पृष्ठ ६४९)

जाते हैं।[१] इसीलिये कौलमार्गको अत्यन्त दुरधिगम्य—योगियोंके लिये भी अगम्य कहा गया है।[२] सच्चा कौल तो वह है जो उन वस्तुओंके सेवनसे भी विकारको प्राप्त न हो, जो देवताओंके मनमें भी विकार उत्पन्न कर देती हैं।[३] इसीलिये एक सुदक्ष एवं योग्य गुरुकी देख-रेख और तत्त्वावधानमें इन क्रियाओंके करनेका विधान है। एक रँगरूटके लिये जो इस उपासना-पद्धतिके रहस्योंसे सर्वथा अनभिज्ञ है, इस पूजाके द्वारा सफलता प्राप्त करनेकी चेष्टा उतनी ही हास्यास्पद है जितनी अपार समुद्रको तैरकर पार कर जानेकी चेष्टा।[४]

इस प्रकार यह कभी नहीं माना जा सकता, जैसा कि कुछ प्रसिद्ध विद्वानोंने कल्पना की है कि तन्त्रोंने इन प्रयोगोंके रूपमें व्यभिचारका प्रचार किया है अथवा यह कि वे प्रच्छन्नरूपमें कामशास्त्र ही हैं। वास्तवमें तो, जैसा कि ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट हो गया होगा, तन्त्रशास्त्रका ध्येय पूर्ण आत्मसंयम ही है, जो केवल विषयोंके त्यागसे ही नहीं, अपितु उनके उपभोगसे भी सिद्ध होता है।

किन्तु तान्त्रिक ग्रन्थों तथा तान्त्रिक गुरुओंका इस सम्बन्धमें चाहे जो आदेश हो, परन्तु इस सत्यको दुःखके साथ स्वीकार करना पड़ता है कि बहुत-से लोगोंकी वास्तविक क्रियाएँ इतनी गन्दी और धर्मविरुद्ध हैं कि जनसाधारणका उनके ही प्रति नहीं, अपितु समग्र तान्त्रिक सम्प्रदायके प्रति घृणाका भाव होना अन्याय्य नहीं कहा जा सकता। बात यह है कि शास्त्रके आदेशोंका अक्षरशः पालन करना वास्तवमें बहुत कठिन है और इस प्रकारके थोड़े-बहुत दुष्परिणामोंका होना अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि भ्रष्ट चरित्रके कुछ लोगोंने, जिनका इससे स्वार्थ सधता था, तान्त्रिक ग्रन्थोंमें रूपान्तर कर दिया हो अथवा समूचे ग्रन्थ ही नये रच डाले हों। कुछ तान्त्रिक ग्रन्थोंको ही देखनेसे यह पता चलता है कि अपेक्षाकृत प्राचीन कालमें भी इस प्रकारकी घटनाएँ हुआ करती थीं। कुलार्णव-तन्त्रमें लिखा है कि कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जो शास्त्रपरम्परासे सर्वथा अनभिज्ञ होनेके कारण कौलधर्मके नामपर मनमानी कपोलकल्पित बातोंका उपदेश किया करते थे।[५] वहींपर यह भी लिखा हुआ है कि आजकल भी ऐसे व्यक्ति हैं जो झूठमूठ अपनेको तन्त्रशास्त्रका विद्वान् प्रकट करते हैं और ऐसी अप्रामाणिक बातोंका प्रचार करते हैं जो तन्त्रशास्त्रके सिद्धान्तोंके सर्वथा प्रतिकूल है[६]।

इन सब बातोंसे प्रकट होता है कि सम्भवतः इन्हीं अशास्त्रीय विचारोंका समावेश हो जानेके कारण तन्त्रोंके दो भेद हो गये—वैदिक और अवैदिक-अर्थात् प्रामाणिक और अप्रामाणिक। विभिन्न सम्प्रदायोंमें विद्वेष होनेके कारण ही एक सम्प्रदायके ग्रन्थोंकी दूसरे सम्प्रदायने बुरी तरहसे छीछालेदर की और उसकी कटु शब्दोंमें निन्दा की है। इसलिये तन्त्रशास्त्रके वास्तवमें प्रामाणिक तथा उत्तम ग्रन्थोंका मिलना ही आपाततः असम्भव-सा दीखता है। परन्तु परिश्रमी विद्वानोंकी सूक्ष्मदर्शिनी बुद्धिके द्वारा कठिन-से-कठिन समस्या भी हल हो ही जाती है।

परन्तु कतिपय अशास्त्रीय क्रियाओं अथवा थोड़े-से अप्रामाणिक ग्रन्थोंके प्रचारके कारण समग्र तान्त्रिक सम्प्रदायको कोई न्यायतः दोषी नहीं ठहरा सकता। उक्त सम्प्रदायके कम-से-कम प्रसिद्ध एवं प्रमुख ग्रन्थोंके सम्यक् अध्ययनसे वास्तवमें अच्छी बातोंको बुरी वस्तुओंसे पृथक् किया जा सकता है, इसके सम्बन्धमें जो भ्रम फैले हुए हैं उनका निराकरण किया जा सकता है तथा इसके सिद्धान्तोंके वास्तविक स्वरूप समझाकर लोगोंके द्वारा इसकी समुचित कद्र करायी जा सकती है। वर्तमान युगका यह शुभ लक्षण है कि बहुत-से विद्वान् और संस्थाएँ निष्ठापूर्वक तान्त्रिक ग्रन्थोंके अध्ययन और प्रकाशनमें संलग्न हैं।

१—यैरेव पतनं द्रव्यैर्मुक्तिस्तैरेव साधनैः।

२—कौलो धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

—आचारसार या महाचीनाचारतन्त्रके ७ वें अध्यायका अन्तिम श्लोक, जो सब हस्तलिखित पुस्तकोंमें नहीं मिलता।

३—अहो पीतं महद्द्रव्यं मोहयेत्त्रिदशानपि।

तन्मद्यं कौलिकः पीत्वा विकारं नाप्नुयात्तु यः। मद्ध्यानैकपरो भूयात् स भक्तः स च कौलिकः॥

—परानन्दमत (गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, पृष्ठ १६)

४—कुलधर्ममजानन् यः संसारान्मोक्षमिच्छति। पारावारमपारं स पाणिभ्यां तर्तुमिच्छति॥ (कुलार्णव २। ४७)

५—बहवः कौलिकं धर्मं मिथ्याज्ञानविडम्बकाः। स्वबुद्ध्या कल्पयन्तीत्थं पारम्पर्यविवर्जिताः॥ (कुलार्णव २। ११६)

६—अद्यत्वेऽपि हि दृश्यन्ते केचिदागमिकच्छलात्। अनागमिकमेवार्थं व्याचक्षाणा विचक्षणाः॥

—यमुनाचार्यका 'आगमप्रामाण्य'

(काशी-संस्करण) पृष्ठ ४

शक्ति-सन्दर्भ

(लेखक—श्रीविनायकरावजी भट्ट)

सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिभूते सनातनि।
गुणाश्रये गुणमये नारायणि नमोऽस्तु ते॥

सकललोककल्याणनिमित्त, अनन्तशय्याविलसनशील, त्रिगुणातीत, सच्चिदानन्द, निराकार परब्रह्मको साकाररूपमें परिणत करनेवाली, अद्भुतलीलामयी महाशक्तिहीकी सत्ता सम्पूर्ण पदार्थोंमें चेतनारूपसे सर्वत्र विराजमान है।

श्रीगजाननमें पूज्यप्रमुखता, सरस्वतीमें सरसता, चतुराननमें सृष्टिरचनाचातुरी, त्रिलोचनमें संहारसामर्थ्य, विष्णुमें पालनप्रभुत्व, शेषमें वसुन्धरावहनशीलता, बृहस्पतिमें प्रज्ञा, इन्द्रमें ऐश्वर्य, असुरोंमें व्यामोह, कुबेरमें अतुल धनसम्पन्नता, धर्मराजमें न्यायनैपुण्य, विश्वकर्मामें शिल्पकौशल, मकरकेतुमें वशीकरण, अप्सराओंमें सौन्दर्य, कल्पद्रुममें मनोभिलाषपूर्तिक्षमता, सुपर्णमें सत्वरगति, सूर्यमें प्रकाश, चन्द्रमें आह्लादन, पृथिवीमें गन्ध, सलिलमें स्वाद, वायुमें वेग, अनलमें तेज, आकाशमें व्याप्ति, पञ्चभूतात्मक शरीरमें प्राण, सुधामें सञ्जीवन, नक्षत्रोंमें प्रभा, ध्रुवमें स्थिरता, सन्ध्यामें अरुणिमा, निशीथमें शान्ति, उष:कालमें रामणीयक, नृत्यमें आकर्षण, वाद्यमें विनोद, गानमें सम्मोहन, रसोंमें शृङ्गार, गद्यमें पदलालित्य, पद्यमें नवोक्ति, समुद्रोंमें गाम्भीर्य, तरङ्गिणियोंमें तरलता, सरोवरोंमें स्वच्छता, पद्मोंमें मञ्जुलता, पर्वतोंमें अचलता, जलप्रपातोंमें मनोरमता, मीनोंमें चञ्चलता, रत्नोंमें रुचिरता, मणियोंमें लावण्य, तरुओंमें सफलता, पल्लवोंमें नवलता, सुमनोंमें सौरभ, लताओंमें कोमलता, शस्यसमृद्ध क्षेत्रोंमें अभिरामता, वनोंमें नवीनता, उद्यानोंमें सुषमा, ज्योतिर्मयी वनस्पतियोंमें कान्ति, ओषधियोंमें प्रभाव, वसन्तमें श्री, ग्रीष्ममें ताप, वर्षामें जलदच्छटा, सौदामनीमें स्फूर्ति, शरदमें प्रसन्नता, सिंहोंमें पराक्रम, गजेन्द्रोंमें विशालता, भुजङ्गोंमें भीषणता, हरिणोंमें चपलता, गवादिक चतुष्पदोंमें सरलता, कोकिलाओंमें स्वरमाधुरी, मयूरोंमें मनोज्ञता, राजहंसोंमें शुक्लता, चक्रयुग्ममें अभिन्नता, श्रुतियोंमें शुचिता, उपनिषदोंमें ब्रह्मज्ञान, यज्ञोंमें इष्टपूर्ति, प्रतिमाओंमें प्रतिष्ठा, तीर्थोंमें पावनता, काम्य कर्मोंमें परोपकार, मन्त्रोंमें चमत्कार, गीतामें तत्त्वोपदेश, मोक्षसाधनोंमें हरिनाम-संकीर्तन, ऋषियोंमें तपोबल, मुनियोंमें त्रिकालज्ञता, आचार्योंमें महत्त्व, योगियोंमें सिद्धि, गुरुओंमें गौरव, बुधोंमें मनीषा, शिष्योंमें श्रद्धा, सम्राटोंमें प्रताप, नरेशोंमें प्रजापालनतत्परता, कवियोंमें प्रतिभा, समालोचकोंमें कुशाग्रता, शिशुओंमें सुकुमारता, युवकोंमें उत्साह, स्थविरोंमें सौम्यता, ब्रह्मचारियोंमें ब्रह्मवर्चस, गृहस्थोंमें धर्मपरायणता, वानप्रस्थोंमें चर्यासुचारुता, संन्यासियोंमें निरपेक्षता, ब्राह्मणोंमें आत्मानुशीलन, क्षत्रियोंमें शौर्य, वैश्योंमें अर्थप्राप्ति-प्रवीणत्व, शूद्रोंमें सेवारुचि, स्त्रियोंमें सतीत्व, पतिमें पत्नीव्रत, मातामें नि:स्वार्थ सन्ततिस्नेह, सुपुत्रमें मातृ-पितृभक्ति, सन्मित्रोंमें सौहार्द, सज्जनोंमें सदाचार, साधुओंमें परदु:खकातरता, दयावन्तोंमें करुणा, ईश्वर-भक्तोंमें भगवच्चरणकमलानुराग आदि-आदि अन्य गुण जिस दिव्य शक्तिद्वारा उद्बोधित और उद्भासित होते हैं उस विश्वविमोहिनी जगज्जननी योगमायाको अनेक नमस्कार।

श्रद्धा-शक्ति

(लेखक—पं०श्रीवसिष्ठनारायणजी त्रिपाठी)

'वीरभोग्या वसुन्धरा' का सिद्धान्त तो सबकी जिह्वापर रहता है; पर वीर कौन है, बली कौन है, शक्तिशाली कौन है—इस बातमें सदासे मतभेद रहा है। वैदिक युगमें कर्मकाण्डी याज्ञिक ही आदर्श वीर समझा जाता था। उपनिषत्कालमें 'उद्गीथ' अथवा 'ब्रह्म' का उपासक ही वास्तवमें शक्तिमान् माना जाता था। सूत्रकालमें आदर्श पुरुषकी कल्पना कुछ भिन्न ही थी। ज्ञानमें ही सच्ची शक्ति मानी जाती थी। व्यवहारमें भी '**बुद्धिर्यस्य बलं तस्य**' (बुद्धिसे ही मनुष्य बली होता है)-वाली कहावत काफी प्रसिद्ध है। इस व्यावहारिक जगत्में—इस भौतिक संसारमें सचमुच बुद्धिमान् ही वैभव और शक्तिसे सम्पन्न होता है। बुद्धिकी शक्तिसे ही मनुष्य इस सनातन संग्राममें विजयी होता है। पारमार्थिक लोकमें भले ही केवल ज्ञान, केवल भक्ति अथवा केवल कर्मका राज्य रहे, पर इस दुनियामें तो समन्वय-बुद्धि ही सफल बनाती है। अत: शक्तिशाली बननेके लिये बुद्धिका

अर्जन करना चाहिये।

क्या बुद्धि ही सब कुछ है? भौतिकतावादी और प्रत्यक्षवादी जनसमूह कहता है—हाँ! जिसमें जितनी ही अधिक मात्रामें बुद्धि होगी, वह उतना ही अधिक बड़ा होगा, उतना ही अधिक शक्तिमान् होगा। तर्क और बुद्धिको सर्वस्व न माननेवाले शास्त्रमें आस्था रखनेवाले भी तो यही कहते हैं कि—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति॥

जिसमें स्वयं बुद्धि नहीं है उसे शास्त्रसे क्या लाभ है? जो आँखोंसे रहित है वह दर्पणसे क्या लाभ उठा सकता है? अतः केवल अन्धविश्वासियोंको छोड़कर सभी एकमत होकर कहते हैं—'**बुद्धौ शरणमन्विच्छ**' (बुद्धिमें शरण लो)।

बुद्धिवादी निःसन्देह इहलौकिक उन्नतिकी चरम सीमापर पहुँच जाते हैं, पर महात्मा और महापुरुष सदा डंकेकी चोट कहते आये हैं कि वे लोग निःश्रेयसके अधिकारी नहीं हो पाते। काण्ट (Kant)-के समान युगप्रवर्तक दार्शनिकने स्पष्ट कह दिया था कि 'अमरत्व' और 'ईश्वर' की चर्चा भी करना बुद्धिवादके लिये सम्भव नहीं। श्रद्धा और विश्वास (Faith) ही प्रत्येकको उस अमरपुरीके द्वारपर पहुँचा सकता है। भारतके सन्त और साधु तो नित्य ही भाव और विश्वासकी महिमा गाया करते हैं। अतः चतुर मनुष्यको इस अलौकिक शक्तिको—श्रद्धासे उत्पन्न आध्यात्मिक शक्तिको न भूलना चाहिये। एक बड़े कविने कहा है कि 'श्रद्धा' मनुष्य-जीवनका मेरुदण्ड (Spinal Cord) है। जिस प्रकार मेरुदण्ड (रीढ़) के बिना मनुष्य अशक्त होता है, उसी प्रकार श्रद्धारहित मनुष्यका जीवन शक्ति और तेजसे हीन रहता है।

श्रद्धा ही इष्टकी प्राप्ति करा सकती है।

यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

श्रद्धा ही शक्ति है और श्रद्धावान् ही शक्तिमान् है।

शक्ति-तत्त्वका आर्य-ग्रन्थोंमें स्थान

(लेखक—वामकौलप्रवर्त्तकाचार्य पं० श्रीहरिदत्तजी शर्मा)

शक्ति परब्रह्म-तत्त्वको ही कहते हैं; अर्थात् एक ही चित्तत्त्व जो '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**', '**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**'—इत्यादि श्रुतियोंमें 'ब्रह्म' नामसे प्रतिपादित है वही चिदानन्दमयी शक्ति है। '**शक्लृ शक्तौ**' तथा '**शक् आमर्षणे**' धातुओंसे 'क्तिन्' प्रत्यय करनेपर 'शक्' प्रकृति और 'ति' प्रत्ययके संयोगसे 'शक्ति' शब्द पाणिनिव्याकरणद्वारा निष्पन्न होता है। इसके अनुसार 'शक्ति' शब्द सामर्थ्य और ज्ञानवाचक है।

केनोपनिषद्में लिखा है कि '**ब्रह्म देवेभ्यो विजिग्ये**'—अर्थात् 'ब्रह्म ही देवताओंके लिये विजयी हुआ।' परन्तु—

त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति।

देवताओंने समझा कि यह हमारी ही विजय है, हमारी ही महिमा है। अतः—

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति।

वह ब्रह्म उन देवताओंके इस मोहको जानकर उनके साररूपमें उनसे बाहर निकलकर सामर्थ्यरूपमें प्रकट हुआ। तब उन देवताओंने उसे न जाना कि यह कौन-सा पदार्थ प्रादुर्भूत हुआ है। तत्पश्चात्, '**तेऽग्निमब्रुवन्**' इत्यादि—अर्थात् देवताओंने अग्नि देवतासे कहा कि तुम्हें यह जो अभिमान है कि 'सब देवता मेरी ही भुक्त वस्तुका भोजन करते हैं, मैं सबको दग्ध कर सकता हूँ, मैं ही सबसे बड़ा हूँ; क्योंकि पृथिवीपर यज्ञ, हवनका मेरे ही ऊपर दारमदार है', इसलिये तुम जाओ और पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है। तब अग्निदेव उसके पास पहुँचे। उस यक्षने उनसे पूछा कि—'तुम कौन हो?' अग्निदेवने उत्तर दिया—'मेरा नाम' 'जातवेदा' है, अर्थात् जब मैं अरणिके मन्थनसे जात (उत्पन्न) होता हूँ तो मुझे बलि (हवि) प्राप्त होती है, '**जातो विन्दति बलिं जातवेदाः।**' मैं जठराग्निके रूपमें प्रज्वलित होता हूँ तो मुझे भोजन मिलता है। बडवाग्निरूपमें समुद्रका जल मिलता है, अगस्त्यरूपमें मुझे अन्तरिक्षगत जलकी प्राप्ति

होती है (इसी कारण अगस्त्यताराके उदय होनेसे दक्षिणायनमें वृष्टि बन्द हो जाती है)। सूर्यरूपमें मुझे सब पानी तथा सब देवताओंके नामसे मुझे हवि मिलता है। मैं सबको जानता हूँ, सर्वज्ञ हूँ—

जातं भूतं वर्त्तमानं चोत्पन्नं भावि च यज्जातं तद्वेत्तीति जातवेदाः।

मैं त्रिकालज्ञ हूँ, इससे सब कुछ कर सकता हूँ, सब कुछ भस्म कर देनेकी मुझमें शक्ति है।

यह सुनकर उस यक्षने अग्नि देवताके सामने एक तृण रख दिया। परन्तु शक्तिस्वरूप ब्रह्म उससे अलग था; इससे अग्निदेवता उस तृणको जला न सके, वह सामने ज्यों-का-त्यों पड़ा रह गया। (मण्डूक-वसा, चन्द्रकान्त मणि आदि ऐसे बहुत पदार्थ हैं, जिनमें अग्नि शमन करनेकी शक्ति होती है।) जलमें अग्नि-शमनकी शक्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है। भला, सर्वशक्तिकी मूर्ति ब्रह्मतत्त्वके सामने बेचारे अग्निदेवताकी शक्ति और सामर्थ्य ही क्या? विवश होकर वह देवताओंके पास लौट आये और उनसे बोले कि 'भाई, मैं न जान सका कि वह यक्ष क्या है?' तब देवताओंने वायुदेवसे कहा—'भाई, तुम जाकर देख आओ वह यक्ष क्या है?' तब वायुदेव यक्षके सामने पहुँचे। उसने पूछा—'तुम कौन हो?' वायुदेवने उत्तर दिया, 'मैं मातरिश्वा हूँ'। अन्तरिक्षमें जो वायु है वह मेरा श्वास है। चौरासी लाख योनिके प्राणियोंके प्राणापान, श्वासोच्छ्वास सब मेरे ही अधीन हैं। मैं अग्निका पिता हूँ ('**वायोरग्निः**'—ऋग्वेद), मेरे बिना अग्नि पैदा नहीं होता। मैं ही अग्निमय होकर ईंधन जलाने लगता हूँ।' यक्षने उसके आगे एक तृण फेंक दिया; परन्तु वायुदेव अपने सम्पूर्ण बलसे उसे उड़ा न सके और लौटकर कहने लगे—'भाई, मैं भी न जान सका कि वह यक्ष क्या है?' तब देवताओंने इन्द्रसे कहा कि 'हे इन्द्रदेव! अब आप ही जाइये, क्योंकि आप हमारे राजा हैं। आपके सामने इस यक्षका भेद खुल जायगा।' जब इन्द्रदेव वहाँ पहुँचे तो वह यक्ष अन्तर्धान हो गया।

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं ताꣳहोवाच किमेतद्यक्षमिति।

तब उसके सामने उसी आकाशमें एक स्त्री प्रादुर्भूत हुईं। मानो वह ब्रह्म ही एक साकार स्त्रीरूपमें दीख पड़ा। वह रूप अवर्णनीय था। अत्यन्त शोभायुक्त उमा—शिव अर्थात् ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत तीनों उकार—रुद्र, ईश्वर, महेशकी 'मा', लक्ष्मी, शोभा और ऐश्वर्यमयी, हैमवती, स्वर्णरञ्जित वस्त्रालङ्कारसे अलंकृत उस हिमालयकी पुत्रीसे इन्द्रदेवने पूछा कि वह यक्ष कौन था?

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति।

तब उस देवीने अपने स्वरूप उस ब्रह्मको परोक्षभावसे बतलाया। (क्योंकि निराकार निर्विशेष ब्रह्मशक्तिसे सगुण ब्रह्म छोटा है।) श्रुति भी कहती है—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड—साकार और उसके भीतरकी सृष्टि उस ब्रह्मका चतुर्थांश है और तीन अंश सच्चिदानन्द निर्विशेष उससे अतिरिक्त है। तथा '**परोक्षप्रिया वै देवाः**' —(शत० ब्राह्मण)। अर्थात् देवता परोक्षरूपमें ही रहना पसन्द करते हैं, सबकी दृष्टिका विषय नहीं बनते। अथर्ववेदके काण्ड ४, सूक्त ३० में भी इसी रहस्यको प्रकट किया गया है। यथा—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यह-
मादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यह-
मिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥

मैं रुद्रों, वसुओं, आदित्यों—अदिति-पुत्र सूर्यादि देवताओंके साथ तथा विश्वेदेवाके साथ चलती हूँ अर्थात् समस्त साकार देवता; उनके ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्डगत समस्त जड और चेतनके साथ मैं हूँ। प्रत्येक साकार देवताके साथ साकार स्त्रीरूपमें मैं हूँ। जडके साथ भी स्वातन्त्र्य, कार्यशक्ति, सूक्ष्म और स्तम्भित ज्ञानशक्ति मैं ही हूँ। मन्त्रका इतना अंश ब्रह्मका परोक्षरूपेण वर्णन करता है। ब्रह्मरूपता समानाधिकरण्य विभक्तिसे प्रत्यक्ष है। अर्थात् 'रुद्रादि' शब्दोंके आगे 'भिस्' लगाकर रुद्रादि पुरुषाकारके साथ भेदरूपसे स्त्रीरूप देवीका वर्णन किया गया है। 'अहं' शब्दके द्वारा '**अहं' मित्रा वरुणोभा,** इत्यादि प्रथमान्त पदोंसे '**मृद्घटः**' (मिट्टी ही घट है)- के समान मित्रा, वरुण, इन्द्राग्नि, अश्विनी आदि मैं ही हूँ। अर्थात् स्वातन्त्र्यसार चिन्मात्र ब्रह्मका स्वातन्त्र्य, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति—इन तीनों शक्तियोंके स्वरूपमें मैं ही हूँ। वस्तुतः अभावावच्छिन्न चैतन्य ही पशुपति

स्वातन्त्र्यशक्ति, ज्ञानशक्ति, कार्यशक्ति आदि छत्तीस तत्त्वोंसे, तुरीयके कुछ अंशसे ब्रह्माण्डाकार होता है। इसी कारण अपने स्थानमें देवतारूपसे शक्ति-ब्रह्म ही कहता है कि 'मैं ही सर्वरूपमें हूँ, मैं ही प्रत्येकमें सामर्थ्यरूप हूँ।' यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'अहं' शब्दसे स्त्रीरूप ही क्यों समझा जाय, जब यह शब्द तीनों लिङ्गोंमें व्यवहृत होता है? इसका उत्तर अग्रिम मन्त्रमें इस प्रकार मिलता है—

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां
चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा
भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः॥

अर्थात् मैं ही वसुओंमें राज्यशक्ति (स्वातन्त्र्यशक्ति), **सङ्गमनी** (कार्यशक्ति), **चिकितुषी** (ज्ञानशक्ति) हूँ। यज्ञियों अर्थात् यज्ञादिमें पूज्य (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, सूर्य, इन्द्रादि) विद्येश्वरोंमें पहली हूँ। **पुरुत्रा** अर्थात् सबकी रक्षा करनेवाली उस (**ताम्**) भगवती, शक्तिस्वरूप ब्रह्मको देवता लोग विद्येश्वर होकर भी विचित्र रचनामयी एवं विविधरूपमें स्थित समझते हैं, उसीमें श्रवणमननादिद्वारा प्रवेश करते हैं। अथर्ववेदका यह सम्पूर्ण सूक्त रात्रिसूक्तके नामसे प्रसिद्ध शक्तिसूक्त है तथा ऋग्वेदके श्रीसूक्तमें जो परिशिष्ट प्राप्त होता है उसमें सुवर्ण, रजत आदि रूपकमें जड और चेतनरूप भगवतीका वर्णन है—

कां सोऽस्मितां हिरण्यप्रकारामार्द्रां
ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम्।
पद्मे स्थितां पद्मवर्णां
तामिहोपह्वये श्रियम्॥

अर्थात् (**काम्**) किसी (**अस्मिताम्**) आनन्द-सम्मुग्ध तथा सुस्थ, स्निग्ध, प्रेमास्पद(**ज्वलन्तीम्**) प्रकाशशील जडस्वरूप और (**हिरण्यप्रकाराम्**) अपने लोकमें सुवर्णकी महलवाली (**तृप्तां तर्पयन्तीम्**) स्वयं तृप्त तथा औरोंको प्रसन्न करनेवाली, पद्माकार सिंहासनमें स्थित एवं यन्त्रोंमें पूज्यरूप अर्चावतारसे स्थित पद्मवर्णवाली उस श्री भगवतीका मैं आवाहन करता हूँ।

ऋग्वेदके आठवें अष्टकके अन्तिम सूक्तमें '**इयं शुष्मेभिः**' प्रभृति मन्त्रोंमें पहले नदीरूपमें और पीछे देवतारूपमें भगवती शक्तिके सरस्वती नामका वर्णन है। यास्कने भी लिखा है कि '**देवतावन्नदीवच्च निगमा भवन्ति।**' दैवतकाण्डमें भी भारती, इला, सरस्वती प्रभृति दैवत मन्त्र लिखकर देवतारूपसे व्याख्या की गयी है। सामवेद वाचंयम-व्रतमें '**हु वा ईवाचमित्यादि**' तथा 'ज्योतिष्टोम'में 'वाग्विसर्जनस्तोम' आता है। आरण्यगानमें भी इसके गान हैं। यजुर्वेद अध्याय २। २में '**सरस्वत्यै स्वाहा**' इस मन्त्रसे सरस्वत्याहुति दक्षिणाग्निमें दी जाती है। पाँचवें अध्यायके सोलहवें मन्त्रमें लिखा है—

इरावती धेनुमती हि भूत
सुयवसिनी मनवे दशस्या।
व्यस्कम्नां रोदसी विष्णवेते दाधर्त्थ
पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहा॥

अर्थात् 'हे' विष्णु वामनजी ('**इदं विष्णुर्विचक्रमे**'—इस पूर्व-मन्त्रके प्रकरणसे प्राप्त है) धरणिरूपा पृथिवीका देवता और अदिति-अन्तरिक्षका देवता दोनों देवताओंके अन्नादि धनवाले तुम्हीं हो। तुम्हीं गो आदि पशु, दुग्ध, जल, धान्यादि पदार्थ देनेवाली वस्तुओंसे युक्त अच्छे खाद्य पदार्थवाले हो। तुम्हीं (**मनवे**) ज्ञानयुक्त होकर दशस्या भूतयज्ञके साधन पदार्थोंके देनेवाले हो। तुम्हीं द्यावापृथिवीको धारण किये हुए हो।' श्रीकृष्णकी अष्टभुजी गोपालसुन्दरी मूर्तिके ध्यानके वर्णनमें आता है कि धरणी (**पृथिवी**) देवता और मा (**श्री**) देवता, दो भगवती स्त्रीके आकारमें साथ रहती हैं। मन्त्र-महोदधिमें लिखा है—

क्षीराम्भोधिस्थकल्पद्रुमवनविलसद्रत्नयुङ्मण्डपान्तः-
प्रोद्यच्छ्रीपीठसंस्थं करधृतजलजारीक्षुचापाङ्कुशेषम्।
पाशं वीणां सुवेणुं दधतमवनिमाशोभितं रक्तकान्तिं
ध्यायेद्गोपालमीशं विधिमुखविबुधैरीड्यमानं समन्तात्॥

सत्यलोककी सात कक्षाएँ है। उनमें शक्ति चित्का सदाशिवलोक, देवीलोक, महाविद्यालोक, अर्धनारीश्वर-लोक, महेशलोक, हरिहरलोक, ईश्वरलोक हैं। इनके नीचे वैकुण्ठलोक और गोलोक आदि अवतारलोक हैं। गोलोककी भी सात कक्षाएँ हैं। उनमें द्विभुज कृष्ण, राधा, राधाकृष्ण, चतुर्भुज कृष्ण, राधा चतुर्भुज कृष्ण, षड्भुजकृष्ण प्रभृतिके ऊपर सर्वान्तिम कक्षामें अष्टभुज कृष्णमूर्ति है। जिसके श्रीयन्त्रमण्डपमें बहुतेरी दिव्य रत्न-जटित शुभ मूर्तियाँ हैं। उस कृष्णमूर्तिके एक हाथमें शङ्ख, दूसरेमें कमल, तीसरेमें धनुष, चतुर्थमें बाण, पाँचवेंमें पाश, छठेमें अङ्कुश, सातवेंमें

बाँसुरी, आठवेंमें बेंतकी छड़ी है। उसका रङ्ग लाल है। उसकी एक ओर धरणी और दूसरी ओर कमलाजी दोनों भगवती हैं। देवता उसकी चारों ओरसे स्तुति करते हैं। इस प्रकार पूर्णाभिव्यक्त गोपालसुन्दरीका ध्यान करें।

वेदमें अदिति श्री और पृथिवीका द्यावापृथिवी-स्तम्भनकारक ध्यान वर्णित है। इस द्यावापृथिवी देवताको आहुति देनेकी विधि उस मन्त्रके अर्थमें आती है। यजु० अ० १७ मन्त्र ५५ में लिखा है—

पञ्च दिशो दैवीर्यक्षमवन्तु देवीरपामति दुर्मतिं बाधमानाः।

यज्ञकुण्ड-अग्निचयन प्रकरणमें इस मन्त्रद्वारा अग्निके सामने जाकर प्रार्थना करना होता है कि 'पाँच दिशा (पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊर्ध्व)-की देवी बाधा डालनेवाली दुष्ट मतिको हटाती हुई यज्ञकी रक्षा करे, जो देवी इन्द्र, यम, वरुण, सोम, ब्रह्म प्रभृति पाँच देवताओंकी स्त्रीस्वरूपिणी देवताशक्ति है। इसीसे शक्ति-ब्रह्मका रूप निराकार और साकार, स्त्री-पुरुषादि चेतन और जडस्वरूप भी है। यही कारण है कि मार्कण्डेयपुराणमें देवीके उपाख्यान सप्तशतीके पाँचवें अध्यायमें चौबीस रूपवाली भगवतीका निरूपण करते हुए अन्तमें स्पष्ट कह दिया है।

चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्॥
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

जो चेतन ब्रह्मके रूपमें व्यापक होकर सम्पूर्ण जगत्को व्याप्य बना रखती है उसे '**लं चित्यै नमः, हं चित्यै नमः, यं चित्यै नमः, रं चित्यै नमः, वं चित्यै नमः**' इन मन्त्रोंसे गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्यसे पञ्चोपचार पूजन करे।

दशोपनिषद्में भी दस महाविद्याका ब्रह्मरूपमें ही वर्णन है। इसके अतिरिक्त द्वितीया महाविद्या (तारा)-का एक स्वतन्त्र ही उपनिषद् है।

ब्रह्मसूत्रमें जगन्माताका स्वरूप

(लेखक—पण्डितप्रवर श्रीहाराणचन्द्रजी शास्त्री, भट्टाचार्य)

महर्षि बादरायणप्रणीत ब्रह्मसूत्र चार अध्यायोंमें विभक्त है। उनमें प्रथम अध्यायका नाम समन्वय अध्याय, द्वितीयका नाम अविरोध, तृतीयका नाम साधन और चतुर्थका नाम फल अध्याय है। इनमें प्रथम अध्यायमें समस्त श्रुतियोंका ब्रह्ममें समन्वय दिखाया गया है, द्वितीयमें युक्ति तथा शास्त्रके साथ प्रथम अध्यायमें प्रदर्शित समन्वयका विरोध-परिहार किया है, तृतीयमें ब्रह्मज्ञानके साधनका निरूपण है और चतुर्थमें ब्रह्मज्ञानके फलपर विचार किया गया है।

इस उत्तरमीमांसा-शास्त्रके प्रथम चार सूत्र 'चतुःसूत्री' नामसे प्रसिद्ध हैं; श्रीवल्लभाचार्यजीने अणुभाष्यमें द्वितीय तथा तृतीय सूत्रको मिलाकर एक ही सूत्र माना है, इस कारणसे उनके सिद्धान्तमें प्रथम तीन ही सूत्र हैं और वे 'त्रिसूत्री' कहे जाते हैं।

जिनके मतमें चार सूत्र प्रथम हैं, उनके मतमें प्रथम सूत्र (**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** १।१।१)-में ब्रह्मविचारकी प्रतिज्ञा की है, द्वितीय सूत्र (**जन्माद्यस्य यतः** १।१।२)-में ब्रह्मका लक्षण कहा है, तृतीय सूत्र (**शास्त्रयोनित्वात्** १।१।३)-में उन ब्रह्ममें शास्त्रको ही प्रमाण कहा और चतुर्थ सूत्र (**तत्तु समन्वयात्** १।१।४)-में समस्त शास्त्रोंका ब्रह्ममें तात्पर्य होनेसे ब्रह्म ही शास्त्रके प्रतिपाद्य हैं—इस बातका निरूपण कर तृतीय सूत्रमें प्रदर्शित शास्त्रकी ब्रह्ममें प्रमाणताका समर्थन किया है। शेष समस्त सूत्र चतुर्थ सूत्रमें प्रतिपादित सिद्धान्तके विस्तारमात्र हैं। इसीलिये विद्वद्वृन्द '**चतुःसूत्री**' को ही उत्तरमीमांसाका सार मानते हैं।

जिनके (वल्लभाचार्यके) मतसे 'त्रिसूत्री' है, उनके मतमें द्वितीय सूत्रका स्वरूप '**जन्माद्यस्य यतः, शास्त्रयोनित्वात्**' इस प्रकार है और इसी द्वितीय सूत्रमें ब्रह्मका लक्षण और प्रमाण साथ-ही-साथ कहा गया है; '**तत्तु समन्वयात्**' सूत्रमें ब्रह्मका समवायिकारणत्व सिद्ध किया गया है।

प्रसिद्ध भाष्यकारोंके व्याख्यानके अनुसार ब्रह्मसूत्रसे भगवती भवानीका ब्रह्मस्वरूप सिद्ध होता है। ब्रह्मसूत्रमें '**जन्माद्यस्य यतः**' (१।१।२) यह ब्रह्मलक्षण है, यह निर्विवाद है। इस सूत्रकी व्याख्या भगवान् शङ्करने इस प्रकार की है—

अस्य जगतो………जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद् ब्रह्म।

(शाङ्करभाष्य १।१।२)

त्वयैतद् धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत्।
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा॥

(स० श० १। ७५)

सप्तशतीके इस वाक्यसे जगत्के जन्म, स्थिति और लयका कारण भगवती आद्या शक्ति है, यह स्पष्ट है। बादरायणका ब्रह्मलक्षण भगवती भवानीमें पूर्णरूपसे मिलता है, इससे भगवती भवानी ब्रह्मस्वरूपिणी सिद्ध होती हैं। पूर्वोक्त सप्तशतीके वाक्यमें '**त्वयैतद् धार्यते विश्वम्**' कहकर जगज्जननीको विश्वके धारणमें भी कर्त्री बताया है; वह धारण भी पालनके ही अन्तर्गत है, धारण बिना पालन नहीं हो सकता; इसलिये ब्रह्मसूत्रके साथ उक्त सप्तशतीके वाक्यकी एकवाक्यता स्पष्ट है। [स्थिति और पालन समानार्थक हैं, इसलिये उनमें भेद नहीं मानना चाहिये।]

यहाँ यह शङ्का उठ सकती है—बादरायणकी उत्तरमीमांसा वेदके उत्तरभाग—ज्ञानकाण्डकी मीमांसा है, पुराणोंकी मीमांसा नहीं है। इसलिये व्याससूत्रमें पुराणके अभिप्रायसे यह ब्रह्मलक्षण नहीं बताया गया है, किन्तु श्रुतिके अनुसार ब्रह्मलक्षण कहा है; वह श्रुति यह है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म।

(तैत्तिरीय उपनिषद् ३। १)

यह शङ्का ठीक है। परन्तु भगवान् वेदव्यासने ही इसका समाधान किया है। व्यासजीने कहा है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति॥

(महाभारत १। १। २६७-२६८ वङ्गवासी संस्करण)

'इतिहास और पुराणसे वेदके अर्थका निर्णय करना चाहिये; जो अल्पश्रुत है—इतिहास तथा पुराण नहीं जानता, वेद उससे भयभीत रहता है कि यह मुझपर प्रहार करेगा—मेरे अर्थका अनर्थ कर डालेगा।'

व्यासजीकी इस उक्तिसे स्पष्ट होता है कि उन्होंने वेदकी व्याख्यारूपमें पुराण-इतिहासका निर्माण किया है— पुराण-इतिहास स्वयं व्यासजीसे निर्मित वेदभाष्य है। अब '**त्वयैतद् धार्यते विश्वम्**' इत्यादि सप्तशतीकी उक्तिके अनुसार उक्त तैत्तिरीय श्रुतिका तात्पर्य निर्धारण करनेपर दोनोंकी एकवाक्यतासे जगदम्बिका भवानी ब्रह्म सिद्ध होती हैं। कहना नहीं होगा कि 'सप्तशती' मार्कण्डेयपुराणके अन्तर्गत है और मार्कण्डेयपुराण अत्यन्त प्राचीन है।

केवल शङ्करभगवान्ने ही '**जन्माद्यस्य यतः**' सूत्रकी व्याख्यामें जगत्के जन्म, स्थिति, लयको ब्रह्मलक्षण नहीं कहा, भगवान् रामानुजाचार्य तथा भगवान् वल्लभाचार्य भी इस विषयमें शङ्करभगवत्पादके साथ एकमत हैं*।

भगवान् निम्बार्काचार्यने जन्म, स्थिति, लयके साथ मोक्षको भी लेते हुए जगत्के जन्म, स्थिति, लय तथा मोक्षका कारण परब्रह्म है—इस प्रकार व्याख्या की है। उनके भाष्यके अनुसार जगत्के जन्म, स्थिति, लय और मोक्ष ब्रह्मके लक्षण हैं। इसके अनुसार भी आद्याशक्तिके ब्रह्मस्वरूप होनेमें कुछ विरोध नहीं है। सप्तशतीके प्रारम्भमें ही मेधस् ऋषिने राजा सुरथ तथा वैश्यसे कहा है—

सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये॥

(१। ५६)

सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी॥

(१। ५७)

इससे जगदम्बिका मोक्षका कारण है, यह स्पष्ट हो गया।

भगवान् मध्वाचार्य '**जन्माद्यस्य यतः**' इस सूत्रकी व्याख्यामें लिखते हैं—

सृष्टिस्थितिसंहारनियमनज्ञानाज्ञानबन्धमोक्षा यतः।

इनके सिद्धान्तमें—जगत्के सृष्टि, स्थिति, लय, मोक्ष इनमें जिस प्रकार ब्रह्म कारण है, उसी प्रकार जगत्के नियमन, ज्ञान, अज्ञान और बन्धमें भी ब्रह्म कारण है। इससे सृष्टि, स्थिति, लय, नियमन, ज्ञान, अज्ञान, बन्ध, मोक्ष—ये आठ माध्वमतमें ब्रह्मलक्षणके अन्तर्गत हैं। भगवती भवानीमें ये आठों ही विद्यमान हैं—

त्वयैतद् धार्यते विश्वं त्वयैतत् सृज्यते जगत्।
त्वयैतत् पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा॥

(१। ७५)

* 'जन्मादीति सृष्टिस्थितिप्रलयम्।' (श्रीभाष्य १। १। २)
उत्पत्तिस्थितिनाशानां जगतः कर्तृ वै बृहत्। वेदेन बोधितं तद्धि नान्यथा भवितुं क्षमम्॥ (अणुभाष्य १। १। २)

सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये॥

(१।५६)

सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी॥
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी॥

(१।५७-५८)

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥

(१।५५)

सप्तशतीके ये श्लोक एक साथ पढ़नेसे मध्वाचार्यके सम्मत ब्रह्मलक्षण भगवतीमें पाये जाते हैं—प्रथम श्लोकमें जन्म, स्थिति, लयके साथ धारण भी कहा है। यहाँ भी धारण तथा नियमन एक ही वस्तु है। '**धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः**' (१।३।१६) सूत्रके शाङ्करभाष्यसे धारण और नियमन एक ही वस्तु है—यह स्पष्ट होता है—

यथोदकसन्तानस्य विधारयिता लोके सेतुः क्षेत्रसम्पदामसम्भेदाय, एवमयमात्मैषामध्यात्मादि-भेदभिन्नानां लोकानां वर्णाश्रमादीनां च विधारयिता सेतुरसम्भेदायासंकराय।

जिस प्रकार लोकमें जलोंके धारण करनेवाला सेतु (बाँध) खेतोंको परस्पर पृथक् करनेके लिये रहता है, उसी प्रकार परमात्मा आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक जगत् तथा वर्णाश्रमादि मर्यादाको परस्पर पृथक् करनेके लिये इनके धारण करनेवाले सेतुरूपी हैं।

जो सबको ठीक-ठीक मर्यादापर चलाता है, लोकमें उसीको नियामक (नियमनकर्ता) कहते हैं; और उसके कार्यको नियमन कहा जाता है; परमात्मा सबको अपनी-अपनी मर्यादापर धारण करते हैं, इसलिये वे विधारक सेतु हैं— इस प्रकार धारण तथा नियमन एक ही वस्तु सिद्ध होता है।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥

(१।५५)

इससे भगवती जीवोंके अज्ञानका कारण सिद्ध होती है।

सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी॥

(१।५७)

इसमें जगन्माताको मोक्षका कारण ज्ञानस्वरूप कहा है, इससे सूचित होता है, जीवोंको ज्ञान भी भगवतीकी कृपासे होता है।

मध्वाचार्यने कहा है, ज्ञान और अज्ञान दोनों ब्रह्मसे होते हैं। सप्तशतीमें भी वही कहा गया है। एक ही परमात्मा जीवके कर्मके अनुसार किसीको ज्ञान देते हैं और किसीको अज्ञानमें डालते हैं। इसमें जीवका कर्म ही मूल है, परमात्मा केवल विचार कर योग्यतानुसार फल देते हैं।

संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी॥

(१।५८)

सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये॥

(१।५६)

इनमें ऊपरके श्लोकांशमें जगज्जननीको बन्धका कारण कहा है और दूसरे श्लोकांशमें मोक्षदायिनी कहा है। इस प्रकार जगत्के जन्म, स्थिति, लय, नियमन, ज्ञान, अज्ञान, बन्ध, मोक्ष—इन सबकी हेतु जगदम्बिकाके सिद्ध होनेपर मध्वाचार्यके ब्रह्मलक्षण भी आद्याशक्ति भवानीमें मिलते हैं।

ऊपर प्रदर्शित मार्गसे ब्रह्मसूत्रके प्रसिद्ध भाष्यकारोंके अनुसार जगन्माताके ब्रह्मस्वरूप होनेमें कोई सन्देह नहीं है। वैष्णवोंने ब्रह्मको विष्णुस्वरूप तथा शैवोंने उनको शिवस्वरूप माना है; एक ही ब्रह्म भिन्न-भिन्न कार्यके लिये शास्त्रमें भिन्न-भिन्न नामसे कहे गये हैं—

यो ह खलु वावास्य राजसोंऽशोऽसौ स योऽयं ब्रह्माथ यो ह खलु वावास्य तामसोंऽशोऽसौ स योऽयं रुद्रोऽथ यो ह खलु वावास्य सात्त्विकोंऽशोऽसौ स एवं विष्णुः स वा एष एकस्त्रिधाभूतः।

(मैत्रायणि उपनिषद् ४।५)

रजोगुणका कार्य सृष्टि है, इसलिये रजोगुणरूप उपाधिसे ब्रह्म ब्रह्मा कहे जाते हैं; तमोगुणका कार्य संहार है, अतः तमोगुणरूप उपाधिके अनुसार ब्रह्म रुद्र (शिव) कहे जाते हैं; और सत्त्वगुणका कार्य पालन होनेसे सत्त्वगुणरूप उपाधिसे ब्रह्म विष्णु कहे जाते हैं।

जिस प्रकार एक ही मनुष्य कार्यके भेदसे पिता, पुत्र, पति, भाई इत्यादि भिन्न-भिन्न शब्दोंसे पुकारा जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म एक होते हुए भी ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—इन तीन नामोंके भागी हैं। पुराणोंमें विष्णुरूपमें भी दैत्य-संहार-कार्य देखते हैं; यद्यपि वह संहार साधुओंके पालनके लिये है तथापि संहार होनेसे तमोगुणका कार्य अवश्य है और उस स्थितिमें विष्णुमूर्तिमें होनेपर भी ब्रह्म रुद्र भी हैं। इसी प्रकार शिवजीने जगत्‌के पालनके लिये त्रिपुर-संहार किया है, इसलिये पालनकी दशामें शिवमूर्तिमें ही वे विष्णु भी हैं। इसी कारणसे वैष्णवोंके परममान्य बृहन्नारदीय पुराणमें शिव और विष्णुका अभेद कहा है—

शिव एव हरिः साक्षाद् हरिरेव शिवः स्वयम्।
तयोरन्तरकृद्याति नरकान् कोटिकोटिशः॥

(बृहन्नारदीय पुराण १४। २१४—एसियाटिक सोसाइटी संस्करण)

जगन्माता एक ही मूर्तिमें सृष्टि, स्थिति, लयकी कर्त्री होनेसे ब्रह्मा, विष्णु और शिव-स्वरूपा हैं—

त्वयैतद् धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत्।
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा॥

(सप्तशती १। ७५)

इसलिये हम भक्ति-विनम्र हृदयसे उनको नमस्कार करते हुए इस लेखको समाप्त करते हैं—

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

शक्तिशतकम्

(रचयिता—पं० श्रीकुञ्जबिहारीजी मिश्र महाराज)

विद्युन्निभां त्रिनयनां शशिखण्डभासि-
चूडां चतुर्भुजवतीं मणिरत्नहाराम्।
दिव्याम्बरामभयदाममरीगणाढ्या-
मम्बां गतोऽस्मि शरणं न भयं कुतो मे॥ १॥

मन्दस्मितद्विजविनिःसृतचन्द्रभासा
प्रोत्साहितानतसुरीकुमुदावलीं ताम्।
शम्भुप्रियां भुवनभूरुहमूलभूतां
मायां प्रणौमि मनसाखिलविश्वरूपाम्॥ २॥

जायां पुरासुरभिदो मधुसूदनस्य
मायां शिरीषकुसुमातिसुजातकायाम्।
छायां त्रितापघनघर्मविषण्णपुंसां
सायाह्नमेघललितां मनसा स्मरामि॥ ३॥

बालार्कबिम्बनिभदीप्तवपुर्मयूखैः
प्रोद्भासिताखिलदिगन्धतमःप्रचाराम्।
शश्वत्प्रसादसुमुखीं सहितां शिवेन
त्वां यः स्मरेन्न खलु तस्य कुतोऽपि भीतिः॥ ४॥

आधारचक्रनिलयां बिसतन्तुतन्वीं
विद्युत्प्रभां सकलमन्त्रमयीं पवित्राम्।
योगैकगम्यपरमामृतवर्षधारां
सारां महेशसखिकुण्डलिनीं नमामि॥ ५॥

वायुं निरुध्य करणैः सहितं मनोऽपि
सूक्ष्मामतीव परमामृततोयधाराम्।
पश्यन्ति कामपि कलां तव मातरार्य्यां
मूलाच्छिरःस्थपरमात्मपदं प्रयान्तीम्॥ ६॥

यद्बाहुदण्डबलवारिनिधौ निमग्नाः
शुम्भादिदैत्यपतयः प्रययुर्विनष्टिम्।
साहाय्यतः सुरगणा विपदन्तमापु-
र्यस्याश्च सास्तु मम तापविमोचनाय॥ ७॥

सामर्ग्यजुःप्रणयिनी प्रणवस्वरूपा
प्राणात्मिका प्रमितपुण्यपरैः प्रणम्या।
प्राणप्रदा प्रणततापविलोपयित्री
पापं विधूय परिपूरयतु प्रियं मे॥ ८॥

भालं भवानि तव चन्द्रकलावतंसं
सिन्दूरशोभमभिभूतसुवर्णपट्टम्।
कस्तूरिकातिलकमाशु मदीयमाधिं
व्याधिं च नाशयतु शञ्च सदा वितन्यात्॥ ९॥

विद्योतमानशतसूर्यसमानकान्ति
भ्राजत्त्रिनेत्रकुटिलभ्रुकुटीकरालम्।

शस्त्रास्त्रभूषितकरं रणदुर्निरीक्ष्यं
दिव्यं वपुर्जयति मङ्गलचण्डिकायाः ॥ १० ॥
ध्यायन् सदाशिवसतीममृताम्बुधारा-
मास्ते य आत्महितवित् स चिरं चिरायुः।
भूत्वा रमेद्गतभयो मनुजो महात्मा
स्वानन्दमृच्छति पुनः परमात्मनिष्ठम् ॥ ११ ॥
यायाः प्रपन्नजनतां जय देवि यायाः
कारुण्यमम्ब तव भास्करसन्निभायाः।
रूपं नमन्ति सुरचारणयक्षजाया
या ज्ञातरूपसमसुन्दरशुद्धकायाः ॥ १२ ॥
नागार्य्यटा घनघटाभवपुश्छटा सा
विद्युच्छटासमपटा विकटोत्कटानाम्।
दूरात्र्यटायुतकटा प्रतिसद्धटा भू-
यात्सङ्कटा सकलसङ्कटहारिणी वः ॥ १३ ॥
केचित्प्रधानं जगतो निधानं
वदन्ति मूलप्रकृतिं परेऽपि।
त्वामम्ब मायां महतीमधृष्यां
परात्मरूपावरणामिहैके ॥ १४ ॥
त्वामाश्रिताः कति न देवि जनाः प्रपूर्णाः
सम्पूर्णमङ्गलकलाभिरपारशोभे।
दिव्यातिदिव्यतरदिव्यगुणप्रभावे
दिव्ये दयामृतनिधे भव मेऽनुकूला ॥ १५ ॥

शक्ति-स्तवन

(रचयिता—पं० श्रीद्वारकाप्रसादजी शुक्ल 'शंकर', अडिशनल सबजज, गोण्डा)

(१)

तड़ित-विनिन्दक प्रभा है जाकी, तीन नेत्र, शोभित मयंक-कला जाके शुभ्र भाल है।
चारि भुज राजत, दुकूल दिव्य धारे, गरे भ्राजत विचित्र मणि-रत्नकी माल है॥
सेवत सदा ही देव-वधू अभय-दायिनीको, ऐसी मातु सोई हरै विपति उताल है।
आय ताकी शरन अभय हौं सब भाँति अब, जायो जग नाँहि जो देखावै दृग लाल है॥

(२)

मुख मंद हसित विनिस्सृत दशन-प्रभा, सोई चन्द्र-ज्योत्स्ना समान छबि छावै है।
करिकै प्रफुल्लित समागत प्रणति हेतु, अमरी कुमोदिनीन मोद सरसावै है॥
चर अरु अचर जगत जाको रूप, जाहि संसार-पादपको मूल श्रुति गावै है।
ऐसी शिववल्लभा अनादि महामाया, ताहि प्रेम-मद-मातो मन मस्तक नवावै है॥

(३)

जाया मधुसूदन सुरारि-रिपु कबौं हुती, मायारूपधारिणी शिरीष पुष्प कायाकी।
छाया शान्ति देनहारी व्याकुल त्रितापन ये, सायं तन मेघ सम रुचिर निकायाकी॥
दाया करि नैसुक निहारै जाकी ओर सोई, लहै सुख-सम्पति लजानी इन्द्रजायाकी।
माया-जाल छूटनकी आस दृढ़ धारे हिय, राखौं मन-मन्दिरमें मूर्ति महामायाकी॥

(४)

उद्यद्दिवाकर-किरण कमनीय काया, प्रभातें विदारित दिगंत तम-जाल है।
आतुर रहत सदा देन मन-भायो ताहि, जाको भक्तिभरित अगर्वनत भाल है॥
शङ्करसहित वाको सुमिरत सदा जौन, तासम न दूजो जग दीखत निहाल है।
बिहरै प्रसन्नमन ह्वैके तिहारो लाल, भयहीन सब ठौर और सब काल है॥

(५)

मूलाधारवासिनी मृणाल-तन्तु-सम सूक्ष्म, रक्तवर्ण कोटि तड़ितान-सी विकासमान।
प्रभव समस्त वाङ्मयकी विचित्रताका, आश्रय अखिल मन्त्र शुचि जो शुची समान॥

जानि जाहि योगी योग मारगते षट चक्रभेदन कै लहैं सुधा बरखा बिलासमान।
जग अरु देह सार रूपिणी महेशसखी देवि शक्ति कुंडलिनी मोंहि हो प्रकाशमान॥

(६)

प्राणायामद्वारा वायु, मन और इंद्रिन को, करिकै निरोध चित्तवृत्ति आर्य रोकते।
विद्युत करोर सम भासमान द्युति जाकी, अम्ब! ऐसी तेरी काऊ कलाको विलोकते॥
परम अमृत जल-धार-सम अति सूक्ष्म, हिय-चख हेरि होवैं परम अशोक ते।
सहसार पद्मवर्त्ती आत्मधाम जावै जब, चार दलवारे निज मूलाधार ओक ते॥

(७)

जाके बाहुदण्ड-बलबारिधि-निमग्न ह्वैकै, शुंभ आदि सबै असुराधिप अथै गये।
घोर अत्याचार सुर साँसति सकल दुःख, जाकी शक्तिशालितासे शेष ह्वै कथै गये॥
जाको गहि आश्रय समस्त देवगन लह्यो, बिपति बिहान दैत्य दर्प बिरथै गये।
ऐसी त्रयलोचनी त्रितापन बिमोचनीको, ध्याये नहिं काके दुःख-दारिद अथै गये॥

(८)

प्रणवस्वरूपा औ प्रणेत्री ऋक् यजु साम, प्राण ह्वै बिराजती सकल प्राणिगनमें।
प्रणवत सोई तोंहि किये जो अमित पुण्य, प्रणमनशीलके हरत पाप छनमें॥
प्राणको प्रदान करै, पापपुंज छारि देत, पारि देत पाला परिपंथिनके गनमें।
पूरै प्रिय वाञ्छित प्रणत-प्रणपालिका जो, पदपद्म ताको बसै नित मेरे मनमें॥

(९)

भूषित हिमांशु-कला भाल भवभामिनिको करत अनंद बन जन-कोकनदको।
शोभित सिंदूर विघ्न-तिमिर दिवाकरसो, जाते मिल्यो पद विघ्नहर एकरदको॥
मृगमद-तिलक ते लाञ्छित बिराजै जौन, लाजै जाहि लखि मृगलाञ्छन शरदको।
दूरि करि आधि अरु व्याधिन सकल, सोई मङ्गल करत जो हरत हेममदको॥

(१०)

शत भानु भासमान सदृश प्रभा है जाकी, भ्रुकुटी भयावनी त्रिनेत्रकी कराली है।
करवाल आदिक अनेक अस्त्र शस्त्र लसैं, जाके करजाल जो अतुल बलशाली है॥
जोई रण ठानि होय सामुहे न सकै देखि, ऐसी उग्र मूर्ति जो अमेय शक्तिवाली है॥
सोई दिव्य मूर्त्ति विकराल रणचण्डिका की, जयति सदाई और प्रणतप्रतिपाली है।

(११)

जानि सबै आतम विकास हित कर मर्म, शिव सती अमृत-प्रवाह ध्यान लावै है।
थोरे ही दिनन माँहि होत सो चिरायु नर, भयहीन ह्वैकै सब भाँति सुख पावै है॥
लहि सनमान जग सब भाँति पूजित ह्वै, ताकी आत्मउन्नति महान होत जावै है।
फिरि आत्मआनँद जो निष्ठ परमातमामें, ताको अपनाय सपना सो जग भावै है॥

(१२)

सुबरन शुद्ध सम काय कमनीय वारी, यक्ष-सुर-चारन-वधूटी रूप ध्यावैं जौन।
सोहै प्रातकालिक दिवाकर-किरन-सम, तम टारि मेरो हिय उज्ज्वल बनावै भौन॥
'जय होय जय होय मातु जनरंजनीकी', जाके दरबार सदा येई शब्द आवैं श्रौन।
सोई देवि देवैंगी कृपाकरावलम्ब मोंहि, आरत पुकार सुनि कबहूँ न धारै मौन॥

(१३)

सिंहवरवाहिनी सघन घटा कमनीय वपु शोभा पीत पट बिज्जु छटा छहरै।
विकट उत्कट गर्वपूर्ण भट जेते तासु, दूर ही ते हटकि हिलावै जौन दहरै॥

भटमानी कौन जो न लटि जात जाहि देखि, लटपट पगन परात परि कहरै।
भरै हियघटको निपट वीरतासों सोई, सानुकूल संकटा तिहारे संकट हरै॥

(१४)

कोऊ मातु तोकों जगतीनिधानभूत मानि, मूलप्रकृतिके नाम तें ही रहैं जानते।
परम अगम्य और गूढ़ कहि कोऊ सदा, तोकों महामायाकी उपाधि है बखानते॥
परमात्मरूपिणी पुकारि तासु आवरन, गुनि कोऊ कोऊ तोंकों यही सत्य मानते।
जानैं नहीं रावरी कृपाके बिन तू है काह, भावना प्रकल्पित वितानन को तानते॥

(१५)

मङ्गलमय सकल कलानि पूर्ण शोभा जामें, परम अपार प्रभा जगमग जगी रहै।
करिकै सहारो ऐसी पूर्ण को कहो तो कौन, ऐसो जग जाकी नहि पूर्णता सगी रहै॥
दिव्यहूतें दिव्यतर गुनन प्रभाववारी, देवीकी दयाकी दृष्टि नित ही पगी रहै।
करुणाकी खानि अपनाओ दया आनि जैसे, धेनुकी वृत्ति वत्स ही पर लगी रहै॥[१]

कालीतत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीप्रभातचन्द्र चक्रवर्ती, काव्यतीर्थ, एम० ए०, पी० आर० एस०, पी-एच० डी०)

सब पदार्थोंका, विशेषत: पारमार्थिक वस्तुका तत्त्व दुर्ज्ञेय और अनिर्वाच्य होता है। यदि यह कहें कि वस्तुका तत्त्वनिर्णय करना असाध्य है तो इसमें अत्युक्ति नहीं होगी। परन्तु तिसपर भी मनुष्य अपने प्राणके आवेगमें अनिर्देश्य वस्तुको भी अपनी क्षीण भाषामें चिरकालसे स्फुटित करनेकी चेष्टा करता आ रहा है। इससे मनुष्यके आत्मचित्तविनोदके अतिरिक्त और क्या फल हुआ है, इस बातको सर्वद्रष्टा और सर्वसाक्षी ही जानते हैं। जो सत्य है, वह सर्वदा ही स्वप्रकाश है। यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि तत्त्वानुसन्धानकी इच्छा मनुष्यका चिरन्तन स्वभाव है। स्वभावसिद्ध होनेके कारण ही यह क्षम्य है।

हम आज जिस तत्त्वकी आलोचनामें प्रवृत्त हो रहे हैं वह भी अनिर्वचनीय—'अवाङ्मनसगोचर' है। तथापि पुराण-तन्त्र-परिप्लावित भारतवर्षमें शक्तितत्त्वकी आलोचना कभी नवीन नहीं समझी जा सकती, यह सत्य है। कालीकी मूर्ति शक्तितत्त्वकी पूर्ण अभिव्यक्ति है। इसमें सृष्टि और संहारका कितना रहस्य छिपा हुआ है, उसको पूर्णत: व्यक्त नहीं किया जा सकता। कालीकी मूर्ति, कालीका ध्यान तथा कालिकाकी पूजा बहुत लोगोंके देखने और सुननेमें आती है। कालीके ध्यानगम्य रूप और उसके तात्पर्यके विषयमें हम इस प्रबन्धमें किञ्चित् आलोचना करेंगे।

स्थूल चक्षुकी बात तो दूर रहे, मानस नेत्रसे भी जिसके रूपकी कल्पना करनेके लिये उपयुक्त साधन-शक्ति हमारे पास नहीं है, उस भुवनमोहिनी जगदीश्वरीके रूपका वर्णन हम कैसे कर सकेंगे? जिसके रूपसे ही जगत्का रूप है, उस रूपकी कल्पना भी हम नहीं कर सकते। अरूप ही उसका प्रकृत रूप है। साधक साधनाके पथमें अरूपका रूप निर्माण कर डालता है।[२] ऐसी अवस्थामें हम यहाँ क्या लिखें? कालीतन्त्र, स्वतन्त्रतन्त्र, कालिकापुराण प्रभृतिमें जगदम्बाके जिस रूपका वर्णन वा उल्लेख है उसका ही केवल विश्लेषण करके दिखलानेकी यहाँ चेष्टा की जायगी।

पुराण और तन्त्रादिमें हम साधारणत: दक्षिणा, भद्र, गुह्य प्रभृति भेदसे कालीकी आठ प्रकारकी मूर्तिका उल्लेख पाते हैं[३]। इनमें दक्षिणा काली हमारे देशमें विशेषरूपसे पूजित और आराधित होती आ रही हैं। दस महाविद्याके अन्दर भी कालीका नाम ही सर्वप्रथम आता है। तन्त्रशास्त्र कालीको ही 'आद्याशक्ति महामाया'

१—शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाले 'शक्तिशतक' से

२—अरूपं भावनागम्यं परं ब्रह्म कुलेश्वरि। अरूपां रूपिणीं कृत्वा कर्मकाण्डरता नरा:॥ (कुलार्णव तन्त्र)

३—आकाशादि भेदसे शिवकी भी अष्ट मूर्तियाँ हैं।

के नामसे कीर्तन करते हैं। काली ही विश्वकी प्रसूति तथा जीव-जगत्की भुक्ति-मुक्ति-प्रदायिनी है, इस बातका हिन्दू श्रद्धाके साथ विश्वास करते हैं। मार्कण्डेयपुराणमें कहा है कि देवी नित्य अर्थात् उत्पत्तिविनाशरहित होनेपर भी देवताओंकी कार्यसिद्धिके लिये रूपविशेष धारण करके धराधाममें अवतीर्ण होती हैं[१]। शुम्भ नामक दैत्यके वधके समय महाशक्तिके शरीरकोषसे एक शिवा विनिर्गत हुई थी एवं इसी कारण देवी कृष्णवर्ण होकर कालिका नामको प्राप्त हुई थी।

तस्यां विनिर्गतायां तु कृष्णाभूत् सापि पार्वती।
कालिकेति समाख्याता हिमालयकृताश्रया॥

कालीतत्त्वको समझनेके लिये पहले कालतत्त्वका प्रसङ्ग आ उपस्थित होता है। कालीके साथ कालका घनिष्ठ सम्बन्ध ही इसका कारण जान पड़ता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि यह काल केवल काल नहीं है—वह महाकाल है। यहाँ प्रश्न होता है कि काल-शब्दसे हमारा क्या अभिप्राय है। जो सब पदार्थोंका कलन या विनाश-साधन करता है वही काल है (**कलनात्सर्वभूतानाम्**) जिसके द्वारा द्रव्यका उपचय या अपचय संघटित होता है उसे ही हम 'काल' कहते हैं[२]। काल नित्य और अखण्ड रूपसे खड़ा रहता है, दिन-रात और घड़ियोंका विभाग मनुष्यकी कल्पनामात्र है। सूर्यकी गतिकी सहायतासे हम कालका विभाग करते हैं। कृत्रिम होते हुए भी यह विभाग हमारे सामने वास्तविक-सा प्रतीत होता है। काली संहारकी मूर्ति है, इसी कारण इसके साथ सर्वोच्छेदकारी कालका सम्बन्ध है। कुछ देरतक स्थिर चित्तसे कालीकी मूर्तिका दर्शन करनेसे दर्शकके हृदयमें संहारकी विभीषिका स्वयं ही आ उपस्थित होती है, यह अति सत्य है। कालीकी कराल मूर्ति तथा कालकी रुद्र मूर्ति दोनों ही महाप्रलयकी सूचक हैं।

अब हम शक्तिकी दृष्टिसे कालतत्त्वके समझनेकी कुछ चेष्टा करेंगे। पहले ही यह याद रखना होगा कि जिसे हम 'काल' कहते हैं वह महाशक्तिके राज्यमें 'शक्तिविशेष' के सिवा और कुछ नहीं है। शक्तितत्त्वकी पर्यालोचना करनेपर यह ज्ञात होता है कि विश्वके यावत् पदार्थ ही शक्तिके उद्भूत रूप हैं। शक्तिमात्रासे ही सबकी उत्पत्ति होती है।[३] शक्ति ही जगत्का चरम उपादान है। संहारकी भैरवी मूर्ति ही कालका रूप है। कालके कराल कटाहमें जीव-जगत् निरन्तर ही निष्पेषित हो रहा है। कालगर्भसे सारे भूतपदार्थोंकी उत्पत्ति होती है तथा कालगर्भमें ही सबका लय हो जाता है। इसी कारण कहा गया है—

कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः।

विश्व-ब्रह्माण्ड कालके कवलमें निपतित है। कालशक्तिको अतिक्रम करनेका सामर्थ्य जीवमें नहीं है। अब यह प्रश्न है कि काली क्या है? काली किस तत्त्वका प्रतीक है? इसके उत्तरमें हम कह सकते हैं कि जो कालके ऊपर प्रतिष्ठित है अर्थात् जो कालशक्तिके अनधीन और नित्यसिद्धा महाशक्ति है, वही काली है। जो काल जगत्का आधार है (**कालो हि जगदाधारः**) उसका भी आश्रय है काली। साधारण दृष्टिसे काल सबका आधार होनेपर भी अद्वैत-भूमिमें उसकी पृथक् सत्ता नहीं रहती; वहाँ कालशक्तिका पराशक्तिमें लय हो जाता है। इस महाशक्तिको ही उपनिषद्में 'सर्वलोकप्रतिष्ठा' कहा गया है। देवीके माहात्म्यका वर्णन करते समय ऋषियोंने भी इसी परम तत्त्वका उल्लेख किया है—

'आधारभूता जगतस्त्वमेका।'

विश्वमें हम जिधर दृष्टिपात करते हैं, उधर ही शक्तिके विचित्र खेल देखते हैं। आकाश, वायु, ग्रह, नक्षत्र, सर्वत्र ही शक्तिकी अपूर्व लीला हो रही है। यहाँ हमें याद रखना होगा कि विश्वकी समस्त शक्तियाँ एक ही शक्ति-समुद्रकी विभिन्न तरङ्गें मात्र हैं। काली अनन्त शक्तिका आश्रय है। अग्निसे जिस प्रकार स्फुलिङ्ग चारों ओर छूट पड़ते हैं, सूर्यसे जिस प्रकार रश्मिजाल विकीर्ण होता है, उसी प्रकार महाशक्ति कालीसे अनन्त शक्तिकण उद्भूत होते हैं। माया, दिक् और काल सभी उसीकी शक्ति हैं। शक्तिसमूह उससे परमार्थतः अभिन्न होनेपर भी स्थूल दृष्टिसे पृथक् रूपमें प्रतिपन्न होता है।[४] शक्तिकी संख्या

१—देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा। उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते॥ (सप्तशती १। ६६)

२—सांख्यके मतसे आकाशतत्त्वसे कालकी उत्पत्ति होती है। नैयायिकोंके मतसे काल नित्य पदार्थ है।
'येन मूर्तीनामुपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते तं कालमाहुः' (महाभाष्य)

३—भर्तृहरि कहते हैं—'शक्तिमात्रासमूहस्य विश्वस्यानेकवर्मणः।' (वाक्यपदीय)

४—शक्तिभ्योऽपृथक्त्वेऽप्यारोपितः पृथक्त्वावभासः। (पुण्यराज)

अगणित है, द्रव्यमात्र ही शक्तिकी मूर्ति है। इनमें विचार करनेसे ईश्वरकी मायाशक्ति और कालशक्तिको ही प्रधान कहा जा सकता है। हम यहाँ प्रतिपाद्य विषयके लिये उपयोगी होनेके कारण कालशक्तिके विषयमें कुछ कहते हैं। अन्यान्य शक्तियाँ कालशक्तिके ही अधीन हैं।[1] घटके द्वारा जल लिया जाता है, परन्तु जल लेनेकी क्रियात्मिका घटशक्ति कालशक्तिद्वारा नियन्त्रित होती है। सारे व्यापार कालविशेषमें ही अनुष्ठित होते हैं। कालशक्तिका अवलम्बन करके ही महाशक्तिका 'अव्याहत कलासमूह' जन्मादि छः विकारावस्थाको प्राप्त होता है। कालमें ही सब पदार्थोंकी उत्पत्ति, सत्ता, वृद्धि, परिणाम, अपचय और नाश होता है। कालके विशाल उदरमें ही सब वस्तुओंका परिपाक होता है। काल ही भाव-पदार्थका प्रसवकर्ता तथा सब प्रभेदोंका हेतु है, इसे पूज्यपाद भर्तृहरिने बहुत अच्छे रूपमें कहा है—

अव्याहताः कला यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य यो नवः॥

(वाक्यपदीय)

अद्वैत-दृष्टिसे देखनेपर कालशक्ति परब्रह्म वा पराशक्तिसे अभिन्न है। ब्रह्माख्य कालशक्ति सब पदार्थोंका बीजस्वरूप है। क्योंकि इससे अनन्त कोटि वस्तुओंका उद्भव होता है। भोग, भोक्ता और भोग्य सभी कालके रूप हैं। समस्त दृश्यमान वस्तु एक ही तत्त्वके विभिन्न आकारमात्र हैं। पूज्यपाद भर्तृहरि कालशक्तिके स्वरूपका इस प्रकार निर्णय करते हैं—

एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः॥

(वाक्यपदीय)

इस प्रकार शक्तितत्त्वकी दृष्टिसे देखनेपर कालको शक्तिविशेषके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कालीको 'कालशक्तिका आश्रय' बतलाकर हमने यह देख लिया कि काली कालके अधीन नहीं है, अर्थात् वह कालकृत उपाधिसे वर्जित है। कालशक्ति अन्यत्र अव्याहत होनेपर भी महाशक्तिके निकट अत्यन्त विकल है। कालातीत वस्तु मानवी बुद्धिके लिये अगम्य है। मनुष्यके समस्त ज्ञान-विज्ञान कालिक अथवा काल-विशेषद्वारा नियमित हैं। इसीलिये हमने इस प्रबन्धके प्रारम्भमें कालीतत्त्वको दुर्ज्ञेय कहा है।

योगदर्शनमें भी ईश्वरको कालके द्वारा अनवच्छिन्न प्रतिपादित किया गया है।[2] जो क्लेशकर्मादिके द्वारा अपरामृष्ट तथा सर्वप्रकार ज्ञान और ऐश्वर्यकी पराकाष्ठा है वह किस प्रकार कालके अधीन होगा? काल या अन्य किसी पदार्थके अधीन होनेसे ईश्वरका ईश्वरत्व नहीं रह सकता। जिस महाशक्तिकी प्रेरणासे अग्नि, सूर्य प्रभृति देवता भयविह्वल होकर अपने-अपने कर्म-सम्पादनमें लगे रहते हैं, वह किस प्रकार तुच्छ कालके वशमें हो सकती[3] हैं? यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है। महाशक्तिरूपिणी कालीके सामने काल अति तुच्छ और निष्क्रिय है, इस बातको सिद्ध करनेके लिये ही महाकाल शवरूपमें देवीके श्रीचरणके नीचे निपतित रहता है।

कालका दूसरा नाम रुद्र या सदाशिव है। रुद्र या उग्र मूर्ति धारणकर सबका विनाश करनेके कारण ही उसका अन्वर्थ नाम रुद्र है। कालतत्त्वकी आलोचनामें हमने इसका तात्पर्य दिखलाया है। पुराणादिमें कालको सर्वान्तकृत् यम भी कहा गया है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः।

कालीकी मूर्तिमें जो संहारकी कराल विभीषिका वर्तमान है उसे तो सभी स्वीकार करेंगे। श्मशान, शव, शिवा, जलती हुई चिता, नरमुण्ड, रुधिर आदि सारे भयप्रद पदार्थ कालिकाके ध्यानमें देखे जाते हैं। यह है प्रलयकी भैरवी मूर्ति, ध्वंसका भीषण चित्र। देवीकी मूर्ति प्रलयकालीन मेघमालाके समान भयङ्कर कृष्णवर्णा (**महामेघप्रभां घोराम्**) है। उसका विश्वग्रासके लिये उद्यत वदनमण्डल अत्यन्त भयङ्कर है (**करालवदनां घोराम्**)। उसके मुक्त केशपाश, लोल रसना तथा विकट रव सभी आतङ्ककारी हैं। नृमुण्डगलित रुधिरधारासे उसका सर्वाङ्ग परिप्लुत है (**कण्ठावसक्तमुण्डालीगलद्रुधिर-चर्चिताम्**)। शवकरनिर्मित मेखलाके द्वारा उसका

१—कालाख्येन स्वातन्त्र्येण सर्वाः परतन्त्रा जन्मादिमय्यशक्तयः। (पुण्यराज)
२—'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (योगसूत्र १। २६)
३—'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः'। (कठोपनिषद् २। ६। ३)

कटिदेश आबद्ध है। एक तो रमणीमूर्ति, उसपर फिर दिगम्बरी! ऐसी मूर्तिको देखकर क्या किसीके चित्तमें भय नहीं हो सकता? महाशक्तिकी आवासभूमि श्मशान है। यह खूब ही उपयुक्त है। जिसके चरणके नीचे सर्वान्तकारी महाकाल है तथा जिसके हाथमें खड्ग और नृमुण्ड है उसके निवासयोग्य स्थान श्मशानके सिवा दूसरा कौन-सा हो सकता है? जगदीश्वरीका नाम '**श्मशानालयवासिनी**'[१] है। यह नाम सार्थक है, इसमें सन्देह ही क्या है?

हम पहले ही कह चुके हैं कि महाकाल शवरूप धारण करके महाशक्तिके चरणतलमें निपतित रहता है। इसी कारण ध्यानमें महामायाको '**शवासना**' या '**शवरूप-महादेवहृदयोपरिसंस्थिता**' कहा गया है। यहाँ भी एक महान् समस्या आ उपस्थित होती है। जो '**जगदुदय-रक्षाप्रलयकृत्**' है वे शिव क्यों शवका आकार धारणकर जगदम्बाके चरणोंतले पड़े हैं, इसका गूढ़ रहस्य खोलना बहुत कठिन काम है। साधक भक्त कहता है—

निपतित पति शवरूपे पाय। निगमे इहार निगूढ़ ना पाय॥

इस तत्त्वकी मीमांसा करते समय हमें सांख्योक्त प्रकृति-पुरुषवादका आश्रय ग्रहण करना होगा। शिव निष्क्रिय पुरुष[२] हैं, इसीलिये उनका शवका आकार है और काली है नियत क्रियाशीला आद्याप्रकृति वा आद्याशक्ति। त्रिगुणात्मिका प्रकृतिकी प्रवृत्तिका अन्त नहीं है। आचार्यपाद शङ्कर अपने प्रपञ्चसारतन्त्रमें इस महा-प्रकृतिको लक्ष्य करके ही कहते हैं—'**शाश्वती विश्वयोनिः।**' भगवती अपने ही भावमें विभोर होकर क्रीड़ासक्त बालककी भाँति अनन्त जगत्की सृष्टि कर उसका विनाश करती हैं। आनन्दमयीकी क्रिया वा लीलाका विराम नहीं है, यह अविच्छिन्न प्रवाहरूपसे चल रही है। पुरुषरूप सदाशिव चरणके नीचे आकर देवीकी इस अपूर्व सृष्टि और संहारकी लीला देखकर विमुग्ध हो रहे हैं। शिवकी इस निष्क्रिय वा निर्लिप्तावस्थाको हम दूसरी तरहसे भी हृदयङ्गम कर सकते हैं। महाशक्ति चिन्मयी है। जीव-जगत् उसके चित्-कणको पाकर ही सचेतन वा सजीव होता है। चैतन्य वा शक्तिशून्य होनेपर जीवमें और जड़में कोई भेद नहीं रहता। प्रलयकालमें चिदेकघना महामाया जब विश्वकी समस्त चैतन्यशक्तिको अपने भीतर प्रतिसंहृत करके अव्यक्त तत्त्वमें लीन होती है तब जगत् शिव वा शव हो जाता है। कालीमूर्ति इस संहारतत्त्वका ही प्रत्यक्ष प्रतीक है।

काली काले रंगकी क्यों बनीं? चन्द्र-सूर्य जिसके चक्षुस्वरूप हैं, तथा जिसकी दीप्तिसे जगत् उज्ज्वल है '**यस्य भासा सर्वमिदं विभाति**' उसका रूप प्रलयकालीन महामेघके समान मसीवर्ण क्यों है? इसके उत्तरमें हम कह सकते हैं कि कालीमें सब रूपोंका अवसान होनेके कारण ही वह कृष्णवर्णा हैं। जहाँ सब वर्ण अस्तमित हो जाते हैं वही काला है। जहाँ रूप अरूपमें लीन हो जाते हैं वही काल है। रूप और वर्णहीन आकाश हमें काला ही दीखता है। जहाँ दिक् और काल अन्तर्हित हैं, रूप और वर्ण निःशेषित हैं, वहाँ केवल काल है—इसलिये वहाँ कालेके अतिरिक्त अन्य रूपकी स्फूर्ति नहीं होती। सृष्टिके पूर्व अखिल चराचर विश्व अनन्त अन्धकारसे आच्छन्न था—'**तम आसीत्तमसा गूळहमग्रे।**' यह अन्धकार (Eternal darkness) ही कालीका यथार्थ रूप है। जब '**आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्**' तब सब कुछ काला था। यह काला रूप ही जगत्का आदिरूप है। सृष्टिके पूर्व आद्याशक्तिके सिवा और किसी पदार्थकी सत्ता न थी। क्योंकि कालीका रूप काला है। वृन्दावनके उस अप्राकृत वस्तुका रूप भी काला ही है। पूर्व कल्पोंमें विभिन्न वर्ण धारण करके द्वापरमें भगवान् कृष्णवर्ण हुए थे (**इदानीं कृष्णतां गतः**)।[३] अतः काला रूप उपेक्षाकी वस्तु नहीं है। जो साधक और

१—शाक्तसम्प्रदायवाले मानते हैं कि कैलासके समीप कोई श्मशान नामका प्रसिद्ध एक स्थान है, वहाँ विहार करनेके कारण ही महामायाको 'श्मशानालयवासिनी' कहा जाता है। इसी कारण 'श्मशानकाली' की एक भिन्न मूर्तिके होनेपर भी दक्षिणकालीके ध्यानमें भी हमें 'एवं सञ्चिन्तयेद्देवीं श्मशानालयवासिनीम्' ऐसा पाठ मिलता है।

२—शिवतत्त्व निष्क्रिय है। शिव शक्तिके अधीन है। कालिकापुराणमें लिखा है—'तदधीनस्तु शङ्करः।' शक्तिके बिना शिव कुछ नहीं कर सकता, इस बातको शङ्कराचार्यने अपनी सौन्दर्यलहरी नामक स्तोत्रमें स्पष्ट लिखा है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्। न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥

३—आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः। शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥ (श्रीमद्भा० १०।८।१३)

भक्त हैं वे इस कालेके भीतर ही विश्वका समस्त सौन्दर्य निरखा करते हैं। जो कालेके उपासक हैं, उन्हें दूसरा कोई रूप अच्छा ही नहीं लगता। भक्त कहता है—

बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो।

अथवा—

मोरे मन भावे साँवरो रूप, गोरो नाहिं सुहावे रे।

कृष्ण और कालीमें मूलतः कोई भेद नहीं है, इस बातको सम्भवतः बहुत लोग स्वीकार करेंगे। यह अभेद केवल वर्ण या रूपमें ही नहीं है। स्वभावकी दृष्टिसे देखनेपर भी दोनोंमें कोई पार्थक्य परिलक्षित नहीं होता। बीजमन्त्र भी दोनोंका एक ही है। दोनोंके रूपमें ऐसा सादृश्य होनेके कारण ही जान पड़ता है कि श्रीमतीकी लज्जा निवारणके लिये श्रीकृष्णने इतनी आसानीसे कालिकाकी मूर्ति धारण की थी।

समस्त वस्तुएँ दिक् और कालके द्वारा परिच्छिन्न हैं। यह पदार्थका चिरन्तन धर्म है। किन्तु कालीतत्त्व स्वतन्त्र है। काली कालशक्तिद्वारा अपरिच्छिन्न अर्थात् कालशक्तिके अनधीन है, यह हम पूर्व ही कह चुके हैं। अब हम यह देखेंगे कि वह दिक्शक्तिसे भी अतीत वस्तु है, ध्यानमें महाशक्तिको 'दिगम्बरी या दिगंशुका' कहा गया है। इसका तात्पर्य यही है कि जो सर्वव्यापिका महासत्ता है (**शक्त्या व्याप्तमिदं जगत्**) वह कभी दिक् या देशविशेषके द्वारा परिच्छिन्न नहीं होती। चिन्मयी सर्वत्र विराजमाना है, उसकी सत्ताको दिक् या काल कोई भी क्रम नियमित नहीं कर सकता। जो मायासे अतीत महामाया है वह किसी कालिक या दैशिक बन्धनके द्वारा सीमाबद्ध नहीं हो सकती, यह परम सत्य है। महाशक्ति सब प्रकारके आवरणसे मुक्त है। अद्वयतत्त्व असीम तथा पूर्वापरादि दिग्विभागसे विवर्जित है, इस बातका नन्दनन्दन बालगोपालको बाँधनेके समय श्रीमती यशोदा देवीने भलीभाँति अनुभव किया था—

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥

(श्रीमद्भागवत १०। ९। १३)

साधारणतः हम कालिकाके गलदेशमें नरमुण्डमाला विलम्बित देखते हैं। ध्यानमें भी आता है—'**मुण्डमालाविभूषिताम्।**' श्मशान जिसका निवासस्थल है तथा प्रमथनाथ जिसके पति हैं उसके गलेमें नरमुण्डमालाके स्थानमें हीरे या मणिमुक्ताकी माला क्यों शोभा पा सकती है? श्मशानवासिनीका यही उपयुक्त अलंकार है। वस्तुतः यह भ्रान्ति है, क्योंकि कालिकाकी मूर्ति जब नित्य और अनादि है, तब उसके गलेमें नरमुण्डमाला किस प्रकार सम्भव हो सकती है? मनुष्यसृष्टिके पूर्व भी जिसका नित्यसिद्ध रूप वर्तमान था, उसमें उत्तरकालीन उत्पन्न मनुष्यके मुण्ड कभी संयुक्त नहीं हो सकते। जिसकी मूर्ति नित्य[१] है, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग भूषण-वाहन भी सभी नित्य हैं। नित्यपदार्थमें कभी अनित्य वस्तुका संयोग नहीं देखा जाता। साधकश्रेष्ठ रामप्रसादने भी इस प्रकारकी युक्ति उठाकर कहा था—

संसार छिल ना यखन मुण्डमाला कोथाय पेलि?

'जब संसार ही नहीं था, तब तुमने यह मुण्डमाला कहाँसे पायी?' देवीके गलेमें जो हम देखते हैं वह वस्तुतः पचास वर्णमाला है। इस वर्णमालाका उल्लेख तन्त्रोक्त वाग्देवताके ध्यानमें आता है[२]। यह केवल वर्ण ही नहीं, मातृकावर्ण हैं। इनमें मातृकाशक्ति निहित है। यह क्षयरहित अक्षरतत्त्व है। साधनाकी दृष्टिसे देखनेपर प्रत्येक वर्ण जीवन्त और शक्तिविशेषका वाचक है। साधकके लिये बीजात्मक वर्णराशि महाशक्तिसम्पन्न है। वाच्यवाचकभावमें इनके साथ देवताका घनिष्ट सम्बन्ध है[३]। आगमशास्त्र-निष्णातबुद्धि पतञ्जलिने वर्णमालामें ब्रह्मज्योतिके ज्वलन्तरूपका प्रत्यक्ष किया था[४]। सर्वविद्याधिष्ठात्री महाशक्तिके गलेमें शक्त्यात्मक वर्णसमूह उज्ज्वल मुक्ताहारके समान सुशोभित हो रहे हैं। यह अर्थ तत्त्वार्थदर्शी पुरुषोंको प्रीतिप्रद होगा, ऐसी आशा है।

अब हम कालीमूर्तिको एक-दूसरे ही भावसे देखनेकी चेष्टा करेंगे। कालिकाके रूपका दर्शन करने या चिन्तन करनेपर सबसे पहले मनमें ध्वंसकी विभीषिका आ उपस्थित होती है। प्राण भयसे काँप उठते हैं। परन्तु इस

१—'नित्यैव सा जगन्मूर्तिः' (मार्कण्डेयपुराण)।
२—पञ्चाशल्लिपिभिरित्यादि।
३—तस्य वाचकः प्रणवः—(योगसूत्र)।
४—सोऽयं वाक्समाम्नायो वर्णसमाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः—(महाभाष्य)।

भयमें भी आनन्दकी अभयवाणी क्या नहीं सुनायी पड़ती? यहाँ भीति और प्रीति एक ही मूर्तिमें प्रकाशमान है। ऐसा न होनेसे भक्तलोग पाशमुक्तिके लिये इस भैरवी मूर्तिकी आराधना कर हृदयमें विपुल आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते। साधक, क्या तुम अपने मन-मन्दिरमें प्रलयके रौद्र रूपको अङ्कित कर सकते हो? क्या मसीवर्ण मेघमालाके भीषण गर्जन, विद्युत्पुञ्जकी सचकित क्रीड़ा, ग्रह-नक्षत्रकी कक्षच्युति तथा चतुर्दिक् संहारके ताण्डव नृत्यकी कल्पना कर सकते हो? यदि कर सकते हो तो इनके अन्दर चिदानन्दमयी मूर्तिको देखकर धन्य हो सकोगे। संहारकी विभीषिकासे आनन्दकी अभिव्यक्ति बड़ी ही मनोरम होती है। एक रूपसे एक ही साथ प्रीति और भीति उत्पन्न होती है, यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है। कालीमूर्तिके सिवा संसारमें और कहीं भी इस प्रकार भय और आनन्दका अपूर्व समावेश नहीं देखा जाता। सर्वसंहारिणी किस प्रकार आनन्दमयी भी है, यह निश्चय ही चिन्तनका विषय है। यहाँ हमें याद रखना होगा कि काली 'वराभयकरा' है, उसके दो हाथ जैसे असि और नृमुण्ड धारण करते हैं वैसे ही दूसरे दो हाथ वर और अभयदान करनेके निमित्त सर्वदा उद्यत रहते हैं। कालीमें विनाश और कारुण्य एकत्र मिला हुआ है। सबका संहार करनेवाली होनेके कारण उसमें करुणा या दया नहीं है, ऐसा कभी नहीं सोचा जा सकता। जगदम्बा सदैव ही जीवोंके दुःखसे कातर रहती है। सन्तानका दुःख—कष्ट दूरकर उसे अपनी शान्तिमय गोदमें लेनेके लिये वह सदा ही हाथ पसारे रहती है।

दारिद्र्यदुःखभयहारिणि का त्वदन्या
सर्वोपकारकरणाय सदार्द्रचित्ता॥

(मार्कण्डेयपुराण)

जो शक्तिमन्त्रके उपासक हैं तथा विश्वके समस्त पदार्थोंको मातृभावसे देखते हैं उनके सामने कालीमूर्त्ति सदा आनन्दमयी है। इसमें भीति या विस्मयका लेश भी नहीं है। उसकी इष्टदेवता करुणार्द्रचित्ता तथा जीवोंकी दुःखार्त्तिहारिणी है। जिनकी जिस प्रकारकी चित्तवृत्ति है वह उसी भावसे जगदीश्वरीका दर्शन करते हैं। किसीके सामने वह भैरवी, प्रलयविषाणनादिनी और किसीके सामने वह आनन्ददायिनी है। शुकदेव गोस्वामीने बड़ी ही सुन्दरताके साथ दिखलाया है कि किस प्रकार एक ही व्यक्ति विभिन्न प्रकृतिके मनुष्यके सामने एक ही समय विभिन्न रूपमें प्रकाशित हो सकता है। कंसवधके लिये उद्यत श्रीगोविन्द ही इसके दृष्टान्त हैं[1]। जिस मूर्तिके दर्शन कर कंस साक्षात् यम मानकर भयभीत होता है, वही मूर्ति गोपबालाओंको प्राणवल्लभरूपमें माधुर्यरससे परिप्लुत कर देती है। इस प्रकार विरुद्ध भावोंका समावेश भगवान्से अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हो सकता। परम तत्त्वमें ही सब विरोधोंका परिहार होता है।

हिन्दू जिन देवताओंकी मूर्तियोंका ध्यान वा पूजा करते हैं वे कल्पनाकी सृष्टि नहीं हैं, बल्कि वास्तविक हैं। मन्त्रपरिपूत विग्रहमें देवताका आविर्भाव होता है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सत्यका अपलाप कैसे किया जा सकता है? ऋषि-मुनियोंने ध्यानयोगके द्वारा जैसी देवमूर्तियोंका प्रत्यक्ष किया था, उन्होंने वही उन देवताओंके ध्यानमें बतलाया है। ध्यान मनःकल्पित वस्तु नहीं है, वह तो ऋषियोंकी प्रत्यक्ष दृष्टिका फल है। सिद्धपुरुष समाधिस्थदशामें विशुद्ध देवमूर्तिका दर्शन करते हैं तथा प्रयोजन होनेपर उसके साथ बातचीत भी कर सकते हैं। कालिकाकी जिस ध्यानोक्त मूर्तिकी बात हमने कही है वह भी सिद्ध पुरुषोंका प्रत्यक्ष देखा हुआ रूप है[2]। स्मरणातीत कालसे यह रूप साधकमण्डलीको दृष्टिगोचर होता आ रहा है। यह रूप ध्रुव सत्य है। जो मायिक जगत्की ऊपरी भूमिमें आरोहण कर सकते हैं उन्हें सारी अलौकिक बातें प्रत्यक्ष होती हैं। इस प्रकार

१—मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान् गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥

(श्रीमद्भागवत १०। ४३। १७)

२—हमारे देशके अनेकों महापुरुषोंने कालिकाके रूपका प्रत्यक्ष आँखोंसे दर्शन किया है, ऐसा सुना जाता है। बङ्गालके मेहार-प्रान्तमें साधकप्रवर सर्वानन्द और पूर्णानन्द वृक्षके तले जगज्जननी कालिकाका दर्शन प्राप्त कर कृतार्थ हो गये हैं। उनके रचे स्तवन ही इस बातके साक्षी हैं—

मया मेहारे सा भुवनजननी दर्शनमिता।

बङ्गालके रामप्रसाद, कमलाकान्त और रामकृष्ण परमहंसने जगदम्बाके रूपके प्रत्यक्ष दर्शन किये थे, इसपर तो प्रायः सभी विश्वास करेंगे।

अलौकिक प्रत्यक्ष अप्रामाणिक नहीं है, इस बातको शास्त्रकार भी स्वीकार करते हैं। काली अति प्राचीन देवता हैं। बहुत प्राचीन कालसे ही हिन्दू इस मूर्तिकी पूजा करते आ रहे हैं। कालीकी कराल-मूर्तिका विवरण हमें उपनिषद्में भी मिलता है।

काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।

(मुण्डकोपनिषद् १। २। ४)

साधनाकी दृष्टिसे देखनेपर कालीतत्त्वको साधनाका चरम स्तर वा शेषावस्था कह सकते हैं। सब प्रकार विकाररहित वा उपाधिमुक्त होनेपर साधक इस अवस्थाको प्राप्त होता है। दस महाविद्या-तत्त्वको जो लोग साधनाकी भिन्न-भिन्न अवस्था मानते हैं उनके मतसे कमलासे आरम्भ करके कालीपर्यन्त दस अवस्थाएँ जीवकी भोगवासनाकी एक-एक मूर्ति हैं। साधक अपनी साधनाके बलसे भोगैश्वर्यकामनाकी सीमाको छोड़कर गुरूपदिष्ट मार्गमें क्रमशः ऊर्ध्व स्तरपर चढ़ता रहता है तथा एक-एक करके विकार-ग्रन्थिको छिन्नकर अन्तमें कालीतत्त्वमें पहुँचकर वह परम निवृत्तिको अथवा वेदान्तकी भाषामें 'अपुनरावृत्ति' को प्राप्त करता है। साधनाकी जिस भूमिमें पदार्पण करनेसे क्षुत्तृषा, जरा-मरण प्रभृति विलुप्त हो जाते हैं, सर्व कर्मबन्धन शिथिल हो जाते हैं, वही कालीतत्त्व या परम पद है। प्रवृत्तिसमूहका आत्यन्तिक उच्छेद होनेपर जीवकोटि जब ईश्वरकोटिमें प्रविष्ट करती है तभी कालीतत्त्वका आभास फूट पड़ता है। चित्तवृत्तिका लय या वासनाका क्षय हुए बिना दिक्कालातीत चिन्मय भूमिमें गमन नहीं किया जा सकता, इसे बतलानेके लिये ही मानो कालिका संहारकी भैरवी मूर्ति धारण करती हैं।

जो लोग प्रतिमापूजक कहकर हिन्दुओंकी व्यर्थ निन्दा करते हैं, उनसे हम सगर्व कहेंगे कि धर्मप्राण हिन्दू कभी अचेतन वृक्ष, पत्थरकी वा मिट्टीकी प्रतिमाकी पूजा नहीं करते। वह यथोक्त विधानानुसार प्राण-प्रतिष्ठा करके मृण्मयी प्रतिमाको सचेतन करनेका कौशल जानते हैं। साधनाके बलसे वह हृदयके देवताको विग्रहमें लाकर स्थापित कर देते हैं। भक्तकी अभीष्ट-पूर्तिके लिये जगदीश्वरी मूर्तिमें आकर आविर्भूत होती हैं। सीमामें असीमका अनुभव करना ही मूर्तिपूजाका चरम उद्देश्य है। गायके समस्त शरीरमें दुग्धके वर्तमान होते हुए भी वह जैसे एकमात्र स्तनद्वारसे ही निकलता है उसी प्रकार परम देवताके सर्वव्यापक होनेपर भी उसका विकास या स्फुरण प्रतिमामें ही होता है।

गवां सर्वाङ्गजं क्षीरं स्रवेत् स्तनमुखाद्यथा।
तथा सर्वत्रगो देवः प्रतिमादिषु राजते॥

(कुलार्णवतन्त्र)

सहज साधनामें महाशक्ति या माँ

(लेखक—श्रीभीमचन्द्र चट्टोपाध्याय, बी० ए०, बी० एल०, बी० एस०-सी०, एम० आर० ई० ई०, एम० आई० ई०)

प्रेमके बिना साधना नहीं हो सकती तथा साधनाके लिये साध्यके साथ एक सम्बन्धस्थापनकी आवश्यकता होती है। कहा भी है कि—'**आदौ सम्बन्धस्थापनम्**।' इसीलिये हम उस महाशक्तिकी साधनामें उससे माँ वा आदरके भावसे कन्याके रूपमें सम्बन्ध स्थापन करते हैं। हम जानते हैं कि वह परब्रह्मरूप है—

न बाला न च त्वं वयस्या न वृद्धा
न च स्त्री न षण्ढः पुमान्नैव च त्वम्।
सुरो नासुरो नो नरो वा न नारी
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा॥

इसी कारण उस सर्वेश्वरको लोग प्रायः बाबा (पिता) नामसे सम्बोधन करते हैं, परन्तु—

बाबा बाबा सब कहे, मैया कहे न कोय।
बाबाके दरबारमें, मैया करे सो होय॥

बाबा ठहरे परमात्मस्वरूप निष्क्रिय शुद्ध, बुद्ध इत्यादि। उनके पास जायँ भी तो किस तरह? हम देखते हैं—'**आत्मा त्वं गिरिजा मतिः**'। अर्थात् जिस शुद्ध बुद्धिकी सहायतासे बाबाके समीप पहुँचना होता है, वह बुद्धि ही माँ है—

'या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता।'

अतः पिताके निकट पहुँचनेके लिये माताके ही शरणापन्न होना चाहिये, और असलमें माँके पहचान करा देनेसे ही तो वे पिता हैं, नहीं तो पिता हैं कहाँ? और यदि हैं भी तो इसका प्रमाण क्या है?

इधर यह भी देखा जाता है कि पिताके पुत्र-मुख

देखनेके बहुत ही पहले माँ उसे देखती है और तदनुकूल कर्तव्य स्थिर करती है। माता पुत्र-मुखको देखकर भीषण प्रसववेदनाको भी भूल जाती है।

स्वयं पूर्णब्रह्म श्रीरामचन्द्र माता जानकीको गर्भावस्थामें वनमें भेजनेसे नहीं हिचकते—यह नहीं सोचते कि पुत्रोंकी वनमें क्या दशा होगी? परन्तु माता जानकी पुत्रके भूमिष्ठ होते ही उस महावनमें मुनिकी कुटियामें सन्तानको अपने कलेजेसे लगाकर लालन-पालन करती है। इसी कारण आज भी सूर्यवंशका नाम बना हुआ है और इसी कारण आज भी भक्तवृन्द 'जय सीताराम' की ध्वनि करते हैं।

माँ कौन है? इसका उत्तर विशेषरूपसे श्रीचण्डीके द्वारा मिल सकता है। इसीसे यहाँ चण्डीमेंसे दो-एक बातें कहे बिना हमारा मन नहीं मानता।

त्वयैतद् धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत्।
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा॥
विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने।
तथा संहृतिरूपान्ते जगतोऽस्य जगन्मये॥

वेदान्तका यह स्थिर सिद्धान्त है—'**जन्माद्यस्य यतः।**' हे देवी! तुम (ब्राह्मीरूपसे) इस जगत्की सृष्टि करती हो, तुम्हीं (वैष्णवीरूपसे) इसका पालन करती हो तथा अन्तमें (रौद्रीरूपसे) तुम्हीं इसे भक्षण करती हो। इस प्रकार बार-बार क्रमशः सृष्टि-स्थिति-प्रलयरूप त्रिविध अवस्थापन्न इस विश्वको एकाकिनी होती हुई भी तुम ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्रीरूपमें धारण करती हो।

हे विश्वरूपे! सृष्टिकालमें तुम्हीं सृष्टिरूपमें (आप ही) अपनी सृष्टि करती हो। पालनकालमें तुम्हीं स्थितिरूपा हो और प्रलयकालमें तुम्हीं इस जगत्की संहाररूपा हो अर्थात् अपने-आपको अपने भीतर लीन कर लेती हो।

अचिन्त्यापि साकारशक्तिस्वरूपा
प्रतिव्यक्त्यधिष्ठानसत्त्वैकमूर्त्तिः।
गुणातीतनिर्द्वन्द्वबोधैकगम्या
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा॥

(महाकालसंहितामें महाकालीका स्तवन)

तुम अचिन्तनीय होते हुए भी साकार मूर्तिस्वरूपा हो। प्रत्येक प्राणीमें सत्त्वगुणरूपमें विशेषभावसे विराजमान रहती हो तथा गुणातीत हो। केवल तत्त्वज्ञानसे ही तुम जानी जाती हो, तुम्हीं परब्रह्मरूपसे प्रसिद्ध हो। तुम्हारा वर्णन करके क्या कोई पार पा सकता है?

विशुद्धा परा चिन्मयी स्वप्रकाशा-
मृतानन्दरूपा जगद्व्यापिका च।
तवेदृग्विधा या निजाकारमूर्तिः
किमस्माभिरन्तर्हृदि ध्यायितव्या॥

परन्तु एक ओर निराश होनेकी बात होते हुए भी दूसरी ओर मैं देखता हूँ कि 'मैं आदरणीया श्यामा माँको आदरपूर्वक हृदयमें बैठाता हूँ, उसे मन देखता है और मैं देखता हूँ, मानो मन और कुछ भी नहीं देखता।' प्रेम होनेसे माँको दर्शन देने ही पड़ेंगे, यद्यपि कोई भी शास्त्र माँको जान नहीं सकता।

न मीमांसका नैव कालादितर्का
न सांख्या न योगा न वेदान्तवेदाः।
न वेदा विदुस्ते निराकारभावं
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा॥
अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।

पुनः देखनेमें आता है—

मनस्त्वं व्योम त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां नहि परम्।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा
चिदानन्दाकारं शिवयुवतिभावेन बभृषे॥

माँ, तुम देखनेमें कैसी हो?

सौम्या सौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी।
परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी॥

ऐसा रूप कहाँ देखनेको मिलता है? एकमात्र माँमें। बालक अपनी माँको छोड़कर कभी भी और कहीं क्या ऐसा रूप देख सकता है? ऐसी सौम्यतरा सुन्दरी तो जननी ही है! विश्वमाता मानो बालकके सामने माँके रूपमें प्रकट हो रही हैं।

उस असीमको समझनेके लिये, उसे हृदयमें धारण करनेके लिये उसका वाहन बनना पड़ेगा। उसका वाहन क्या है? शास्त्र कहते हैं—

शवरूपमहादेवहृदयोपरि संस्थिताम्।

उसे वहन करनेके लिये किंवा आनन्दमयीके भावमें निमग्न होनेके लिये सर्वतोभावेन अहङ्कार, अभिमान एवं शुम्भ-निशुम्भरूप ममता और अहंताका वध करना होगा। अहङ्कारको दूर हटाये बिना माँको

आदरपूर्वक हृदयमें नहीं बैठाया जा सकता। इसके लिये तुम चेष्टा करके माँकी ओर देखते हुए रुदन करो, माँ शेष सब आप ही पूरा कर लेंगी। इस विषयमें मैं अपने 'कल्याण' के ईश्वराङ्कमें पूर्व ही लिख चुका हूँ।

लिखना बहुत सहज है, परन्तु करना भी असम्भव नहीं है। यदि कोई करना चाहे तो इसका उपाय जो मैंने माँसे सीखा है, उसे लिखता हूँ।

'आदौ सम्बन्धस्थापनम्', अर्थात् माँके साथ पहले सम्बन्ध पक्का कर लेना चाहिये। माँको अपने प्राण-प्राणमें, श्वास-श्वासमें, अणु-परमाणुमें मिला देना चाहिये। आप कह सकते हैं कि क्या यह आसान काम है? मैं कहूँगा, हाँ, माँसे हृदयके साथ प्रेम करनेपर माँ सहजमें मिल सकती हैं। तुम केवल प्रेम करो, शेष जो कुछ करना आवश्यक होगा, माँ आप ही कृपा करके पूरा करेंगी, तुम्हें उसके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम तो समुद्रशोष पक्षीकी तरह चेष्टा करते रहो, फिर माँ शुम्भ-निशुम्भका वध आप ही करेंगी।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥

(कठोपनिषद् १। २। २३)

यह आत्मा शास्त्रव्याख्या या अध्ययनादिद्वारा स्वकीय प्रज्ञाके बलसे या शास्त्रश्रवणद्वारा नहीं देखा जाता। किन्तु जो मुमुक्षु स्व-स्वरूप आत्माके दर्शनकी अभिलाषा करते हैं उन्हें वह आत्माके द्वारा ही लभ्य होता है। ईश्वर भक्तिभावसे आराधित होकर जिसे वरण करते हैं वही उन्हें प्राप्त कर सकता है। ईश्वर अपने स्वकीय प्रकृत स्वरूपको साधकके सामने विवृत या प्रकटित करते हैं। सिद्ध महापुरुष पुकार-पुकार कर कहते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(तुलसीदास)

आधीरात प्रभु दर्शन दीनो प्रेमनदीके तीरा।

(मीरा)

भावमयी माँको किसी यान्त्रिक (Mechanical) उपायके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता।

न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृन्मये।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावस्तु कारणम्॥

देवता काष्ठ, पाषाण या मृन्मय मूर्त्तिमें अधिष्ठित नहीं है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि सर्वव्यापिनी माँ इन वस्तुओंमें वस्तुतः हैं ही नहीं। वे हैं परन्तु प्रकट या इस प्रकार प्रकाशरूपमें नहीं रहतीं जिससे हम उनके अस्तित्वकी उपलब्धि कर सकें। देवताके ज्ञानके लिये भाव ही एकमात्र कारण है। यही बात कवि भी कहता है—

चर्व्य चोष्य लेह्य, पेय, चाओ ना चतुर्विध रस।
तुमि केवल भावग्राही, भावेर भावुक, भावेर बस॥

अब विचार कीजिये, उसे कहाँ ढूँढकर प्राप्त करें। श्रुति कहती है कि विश्वचैतन्यमें और हमारे चैतन्यमें कोई भेद नहीं है—

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥

(कठ० २। ४। १०)

इस प्रकार आत्मचैतन्यका सार्वकालिक एकत्व प्रदर्शित किया गया है। इहलोकमें जो आत्मा है, स्वर्गादि परलोकमें भी वही आत्मा है, एवं परलोकमें जो आत्मा है, इहलोकमें भी वही आत्मा अनुगत है। अथवा इस कार्योपाधिदेहमें जो चैतन्य है, अदृश्य कारणोपाधि (ईश्वरोपाधि) मायामें भी वही चैतन्य है। और कारणोपाधिमें जो चैतन्य है कार्योपाधिदेहमें भी वही चैतन्य अनुस्यूत है। जो लोग इस चैतन्यको नानाभावके समान देखते हैं, वे लोग मृत्युसे परे मृत्युको प्राप्त होते हैं। अर्थात् बारम्बार जन्म-मरण-प्रवाहको प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार हमें अपनी मातामें विश्वमाताको प्रत्यक्ष करना चाहिये—

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

देखना चाहिये। और उसकी कृपाको पकड़ना चाहिये। उसकी कृपाको पकड़ते ही इस बातकी अंशतः सामान्य उपलब्धि हो जायगी कि माँ हमपर कितना प्रेम करती हैं; सन्तानका माताके प्रति तो खिंचाव होता है, उसीके द्वारा वह माताको अपनी ओर खींच लाता है। माता कृपा करती हैं। लाखों बालकोंमें माँ अपने क्षुधार्त्त बालकको क्षणमात्रमें पहचान लेती है। आनन्दसे माताके स्तनसे दुग्धधारा बह निकलती है, बालकका भी सारा दुःख निवृत्त हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि माँके प्रति यह खिंचाव ही सर्व-दुःखोंकी निवृत्तिका चरम उपाय है। एक दृष्टान्त देखिये—छोटे-से बच्चे रामनारायणको छोड़कर उसकी माँ किसी कामसे अपने एक सम्बन्धीके घर चली गयी। राम खेलमें मग्न रहनेके कारण इस बातको नहीं जानता। खेल समाप्त होते ही उसे माताकी सुधि आयी (हम

भी ऐसा ही करते हैं)। माँको न पाकर राम जोरसे रोने लगा। कुछ ही क्षणोंके बाद वह अपनी माताको आते देख जल्दीसे दौड़कर उसके सामने गया और बोला, 'तू इतनी देर मुझे छोड़कर कहाँ चली गयी थी?' और लगा नोचने, दाँतसे काटने और कपड़े फाड़ने। अन्तमें उसने अपने नन्हे-नन्हे हाथोंसे माँकी पीठपर एक मुक्की जमा दी।

रामसे मैंने कहा, 'तू बड़ा ढीठ लड़का है जो माँको मारता है!' राम बोला, 'कहाँ, मैंने तो माँको मारा नहीं।' (आवेशमें जो कुछ किया था, सब भूल गया, झूठ नहीं बोलता है) माँ मुझे छोड़कर आँखोंसे ओझल क्यों चली गयी थी? ऐसा करनेसे माँ आगे अब मुझे छोड़कर कहीं नहीं जायगी, इस विश्वासने ही उससे वैसा करवाया था, और इसीसे उसने अपनी मातापर मुष्टिप्रहार किया था।

परन्तु माँने क्या किया? उसने गद्‌गद होकर बच्चेको गोदमें उठा लिया और उसका मुँह चूमती हुई बोली— 'नहीं बेटा, मैं तुझे छोड़कर कहीं नहीं गयी, तुझे छोड़कर (बिना देखे) क्या मैं रह सकती हूँ? देखता नहीं, मैं रात-दिन तेरे पास रहती हूँ।' इस प्रकार सान्त्वना देते हुए वह बारम्बार बच्चेका मुख चुम्बन करने लगी। देखने और विचार करनेका विषय है—बच्चा माँको मारता है और माँ बच्चेका मुँह चूमती है! क्यों? माँ देखती है कि मेरा शरणागत शिशु मेरे पलभर भी परे होनेपर कितना घबरा उठता है। इसीसे वह इतना स्नेह, इतनी प्रीति और इतना मुखचुम्बन करती है। साधक सर्वत्र ही—घर-घर माता यशोदा और नन्दनन्दनका दर्शन करता है।

मातृभक्त शिशु देखता है कि मैं पूर्णकी सन्तान हूँ, मुझे कोई कमी नहीं है, मुझे कोई भय नहीं है; क्योंकि मेरी माता सर्वदा सर्वतोभावेन मेरी रक्षा करती है। मेरी माँ असीम शक्तिमयी है। कोई व्याघ्र अथवा सशस्त्र सैनिक यदि उसपर आक्रमण करे तो वह माताके पास दौड़ जाता है या अन्तकालमें भी 'माँ' 'माँ' पुकारता हुआ देहत्याग करता है। वह समझता है कि मेरी माँ—

सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते।
भयेभ्यस्त्राहि नो देवि दुर्गे देवि नमोऽस्तु ते॥

समस्त जगत्‌में यही भाव भरा हुआ है। माँ है, इसीलिये शिशु किसी प्रकारके अभावका बोध नहीं करता। अभाव होते ही वह रो उठता है और उसके रोनेमात्रसे माँ उसके अभावको पूर्ण कर देती है। इस भावकी परिपक्वावस्था होनेपर शिशु जान सकता है कि— 'अरे मूर्ख! तू भगवान्‌को कहाँ खोजता है? ध्यान देकर देख, वह तेरे ही भीतर रहता है।' क्योंकि माँ शिशुके हृदयमें परिस्फुटित हो उठती हैं। माँको दूर खोजने जानेपर मन मानो कहीं खो जाता है। विश्वमाताको माँके भीतर देखा जा सकता है। प्रार्थना करनेपर माँ कृपा करती हैं, रोनेसे माँ सुनती हैं। याद रखना चाहिये कि बिना रोये माँ दूध नहीं देती!

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

अधिक बातोंमें वृथा समय नष्ट न हो, इसलिये बहुत थोड़ेमें भाव व्यक्त करनेके लिये हमारे शास्त्रोंमें बीजमन्त्रोंकी सृष्टि हुई है। समस्त शक्तिबीजोंका अर्थ यही है—'माँ! तुम परब्रह्मस्वरूप हो। मेरे ऊपर कृपा करो।' पुरश्चरणके लिये इसका एक लाख जप करना चाहिये। यही अन्यान्य धर्मावलम्बियोंकी अथवा हमारी कृपा-भिक्षा है। क्योंकि—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम्॥

हमलोग जिस प्रकार बालक, युवा, वृद्ध नानारूप धारण करते हैं, परन्तु मूलमें एक ही हैं—माता भी उसी प्रकार नाना वेषमें हमारे ऊपर कृपा करती हैं—एक अज्ञानसे ढके रहनेके कारण माँको पकड़ नहीं सकते, पहचान नहीं सकते, जान नहीं सकते कि एकमात्र वही घाट-बाट, वन-भवनमें सर्वत्र खेल करती हैं। हम नहीं समझ सकते कि वही विभिन्न रूपोंमें सर्वत्र विहरण कर रही हैं।

जननी जन्मकाले च स्नेहकाले च कन्यका।
भार्या भोगाय सम्पृक्ता अन्तकाले च कालिका॥
एकैव कालिका देवी विहरन्ती जगत्त्रये॥

माताकी गोदमें बैठा हुआ शिशु जिस प्रकार निःशङ्क चित्तसे माँके ऊपर निर्भर करता है तथा इसे हम अपने जन्मकालसे ही प्रत्यक्ष भी करते आ रहे हैं, उसी प्रकार साधक भी यदि लड़कपनसे ही माँके ऊपर सरल भावसे पूर्णतया निर्भर करना सीख ले तो वह एक-न-एक दिन साधनाके सर्वोच्च सोपानपर पहुँच जायगा। यही बात गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(१८। ६६, ६५)

माँके ऊपर निर्भर करनेसे देखा जाता है कि माँ अभावको दूर करती हैं। श्रीगीतामें लिखा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(९। २२)

माँके ऊपर सारा-का-सारा भार देनेसे ही माँ शिशुके भारको ले लेती हैं। असीमको समझनेके लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है।

जल और मनुष्यका आपेक्षिक वजन प्रायः समान होता है, इसीलिये मनुष्य यदि जलके ऊपर पूर्णरूपसे निर्भर करे तो वह डूब नहीं सकता। मैंने गङ्गास्नानके समय ऐसा करके बहुतोंको दिखलाया है। इस प्रकार निर्भर करके जलपर सो जानेसे सिर्फ नासिका और मस्तकका कुछ अंश जलके बाहर रहता है। परन्तु मनुष्य यदि इधर-उधर करता है या घबराकर अपने ऊपर निर्भर करना चाहता है तो उसी क्षण डूब जाता है। इसी कारण Prof. Ganot अपने प्रकृतिविज्ञानमें इस विषयका उल्लेख करते हैं। मैंने बाल्यावस्थामें इसे पढ़ा था। जलके ऊपर इस प्रकार निर्भर करनेसे जैसे जल मनुष्यकी प्राणरक्षा करता है, माँके ऊपर—भगवान्के ऊपर उसी प्रकार निर्भर करनेसे माँ या महाशक्ति उसी प्रकार सर्वतोभावेन साधककी रक्षा करती हैं। किन्तु आजन्म अभ्यास न करनेके कारण विपद्कालमें बहुत थोड़े ही लोग Prof. Ganot के उपदेशपर ध्यान देकर बच पाते हैं।

उपसंहारमें मुझे यही कहना है कि साधनाके सहज उपायकी खोज करनेपर पता लगता है कि जन्मसे ही हम माँके साथ सम्बन्ध स्थापन करना सीखते हैं। यह माँ ही अविसंवादिनी सम्राज्ञी हैं, माँ सब कुछ हैं। अत्यन्त शैशवसे माँ सर्वंसहा होकर हमारा पालन करती हैं। सर्वतोभावसे उसके प्रति प्रेम करना सीखना ही प्रधान कार्य है—यही स्वाभाविक है। माँ ईश्वर-प्रेमकी शिक्षा देती है और वही सर्वोच्च आदर्श है। संसारकी आवर्जनामें इस निकटवर्ती माँको छोड़कर दूसरे यान्त्रिक उपायोंसे वैसी सरलतासे, वैसे प्रेमसे और वैसे अविच्छिन्न भावके विनिमयसे अन्य पार्थिव वस्तुके द्वारा हम सुखी होना चाहते हैं, यह क्या कभी सम्भव है?

घर-घर माताएँ हैं तथा घर-घर शिशु, पुत्र, कन्याएँ हैं। उनकी क्रियाओंको, उनकी सरलता, प्रेम और निर्भरताको देख-देखकर कार्य करनेसे साधन सहज हो जायगा और सरल शिशुकी भाँति माँकी यथार्थ भक्ति करनेसे ही महाशक्ति जगन्माता सन्तुष्ट होकर दर्शन देंगी, अपनी मूर्ति प्रकाशित करेंगी और ज्ञान प्रदान करेंगी—यही बात श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (कठ०)
शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते॥

लक्ष्मी-पार्वती-संवाद

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

शिष्ट पुरुषोंके सब कार्य लोकहितके लिये हुआ करते हैं। लक्ष्मी और पार्वती दोनों जगदीश्वरी हैं, अतएव इनका व्यापार लोकहितार्थ हो तो इसमें कहना ही क्या? एक दिन दोनोंमें इस प्रकार बात-चीत हुई।

पार्वतीने कहा—हे विष्णुप्रिये! आज आप मुझे अपना और अपने भर्ताका स्वरूप सुनाइये। क्योंकि आपका और आपके स्वामीका स्वरूप जाने बिना भक्त आपकी भक्ति नहीं कर सकते। आपका स्वरूप मालूम होनेपर ही तो लोगोंके मनमें आपके प्रति भक्ति उत्पन्न हो सकती है, और आपकी भक्तिसे ही जीवोंका कल्याण होना सम्भव है।

पार्वतीके ऐसे हितकारी वचन सुनकर विष्णु-भगवान्की अर्धांगिनी जगज्जननी लक्ष्मीजीने अपने और अपने स्वामीके स्वरूपका यों वर्णन किया। उन्होंने कहा—हे माहेश्वरी! विष्णुभगवान् एक, अद्वितीय, सच्चिदानन्द, परम ब्रह्म हैं; सर्व उपाधियोंसे मुक्त हैं; सत्तामात्र हैं; मन-वाणीके अविषय हैं; निष्कल, निरञ्जन, निर्विकार, निर्मल और शान्त हैं; सर्वव्यापी, सबके आत्मा, स्वप्रकाश और सब दोषोंसे रहित हैं। मैं उनकी पराशक्ति

हूँ; वेदवेत्ता मुझे मूलप्रकृति कहते हैं। विष्णुभगवान्के सान्निध्यमात्रसे मैं इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करती हूँ, अनेकावतार भी मैं ही धारण करती हूँ। मुझ शक्तिके ही प्रभावसे महाविष्णु बन्धमोक्षमयी परम अद्भुत लीलाएँ करते हैं। यह दृश्यमान जगत् उनका पहला अवतार है। इस मुख्य अवतारमेंसे ही विष्णुभगवान्के अनेकों अवतार हुआ करते हैं। मेरे प्रभावसे ही शुद्धस्वरूप होनेपर भी वह ईश्वरकी उपाधि धारण करते हैं और स्वयं जीव भी बन जाते हैं। बन्धन, मोक्ष, सुख, दुःख, हानि-लाभ सब मैं ही दिखलाती हूँ।

पृथ्वी बनकर मैं ही चराचर जीवोंको, नदी, पर्वत और समुद्रोंको धारण करती हूँ। मैं ही जल होकर वर्षा करके अन्नादिकी उत्पत्ति करती हूँ और उसके द्वारा जीवोंका पालन करती हूँ। अग्नि और सूर्यके रूपमें मैं ही समस्त ब्रह्माण्डमें उजेला करती हूँ और फलादिको पकाती हूँ। वायुके रूपमें मैं ही सबका जीवन हूँ और आकाश बनकर मैं ही सबको अवकाश देती हूँ। मैं ही मुण्डमाला धारण करनेवाली, शवके ऊपर आरूढ़ होकर हाथोंमें खड्ग धारण करनेवाली कालिका हूँ। गोकुलको आनन्द देनेवाले गोपाल, नन्दबालक, रासके अधिष्ठाता, गोविन्द, श्यामसुन्दरदेव मैं ही हूँ। मैं ही पञ्चानन, त्रिलोचन, व्योमकेश, उमाकान्त, भूतनाथ, वृषध्वज हूँ। मैं ही लक्ष्मीकान्त, जनार्दन, शङ्खचक्रगदाधारी, मनोरम विष्णु हूँ। मैं ही कुण्डली माता, शब्द-ब्रह्म-स्वरूपिणी योगेश्वरी, महादेवी, निर्वाण-पद देनेवाली हूँ। मैं ही सबको अभीष्ट फल देनेवाली, सर्वविद्यामयी, मूल अविद्यासे मुक्त करनेवाली ब्रह्मविद्या हूँ। मैं ही सबकी रक्षा करनेवाली महेश्वरी, सबकी गति और सबकी परम सुहृद् हूँ। ब्राह्मणोंको शम, दम आदि गुण मैं ही देती हूँ। मेरे प्रभावसे ही क्षत्रिय शूर, वीर, धीर और उदार होते हैं। वैश्योंका धन और ऐश्वर्य मैं ही हूँ। मैं ही शूद्रोंका शोक मिटाती हूँ। ब्रह्मचारियोंको इस लोकमें विद्या और परलोकमें उच्च स्थितिकी प्राप्ति मैं ही कराती हूँ। गृहस्थोंसे दान-धर्म, आतिथ्य-सत्कार आदि कराकर इस लोकमें उनकी कीर्ति बढ़ाती हूँ और परलोकमें उन्हें दिव्य भोग प्रदान करती हूँ। वानप्रस्थोंको उनके तपके फलस्वरूप जनलोक आदिकी प्राप्ति मैं ही कराती हूँ। संन्यासियोंको ब्रह्मलोकमें मैं ही ले जाती हूँ। योगियोंको अठारह सिद्धियाँ मैं ही देती हूँ। भक्तोंको भगवान्के नित्य-विहारस्थल श्वेतद्वीपमें मैं ही ले जाती हूँ और ज्ञानियोंको मैं ही तीनों तापोंसे मुक्तकर परमानन्दकी प्राप्ति कराती हूँ।

देश, काल और वस्तु मैं ही हूँ। सत्त्व, रज और तम; ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय; प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय; ध्याता, ध्यान और ध्येय मैं ही हूँ। समष्टि-व्यष्टि मैं ही हूँ। स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों देह मैं ही हूँ। तीनों देहोंके अभिमानी—विश्व, तैजस और प्राज्ञ तथा तीनों देहोंकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों अवस्थाएँ मैं ही हूँ। मैं ही देखती हूँ, दीखती हूँ और दिखाती हूँ। चारों वेद, छहों शास्त्र, अठारहों पुराण और अठारहों उपपुराण सब मेरे ही रचे हुए हैं। इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और मोहकशक्ति मैं ही हूँ। सारांश यह है कि दृश्य और द्रष्टारूप अथवा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूप यह सारा जगत् मेरा ही पसारा है। पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चमहाभूत, पञ्चप्राण, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय और पञ्चविषय—ये सब मेरे ही रूप हैं।

विष्णुभगवान्की मुझ वैष्णवी मायासे मोहित पुरुष इस मेरी क्रियाका आरोप विष्णुभगवान्में करते हैं, अर्थात् मेरे रचे हुए जगत्को विष्णुका रचा हुआ मानते हैं। पारमार्थिक रूपसे विष्णुभगवान् तो न चलते हैं, न ठहरते हैं, न शोक करते हैं, न इच्छा करते हैं, न त्यागते हैं और न कोई अन्य क्रिया करते हैं, बल्कि आनन्दस्वरूप, अविचल और परिणामहीन रहते हैं। यह केवल मुझ मायाशक्तिके गुणोंसे व्याप्त होनेके कारण ही क्रिया करते हुए-से प्रतीत होते हैं।

हम दोनोंके स्वरूपको जो भाग्यवान् अधिकारी गुरु और शास्त्रके उपदेशद्वारा जान लेता है, वह न हर्ष करता है, न शोक करता है, न भय करता है, न जन्म लेता है और न मरता है; वरं अजर, अमर, निर्भय, निःशोक और मोहरहित हो जाता है। हे बहिन! अब आप भी अपने मुख-कमलसे अपना और अपने भर्त्ताका स्वरूप सुनाइये।

तब पार्वतीने कहा—हे बहिन! मैं स्वभावसे ही वामा यानी सुन्दरी हूँ, मन-वाणीसे अगोचर हूँ, वामदेवकी वामाङ्गी हूँ और उनके वाम-भागमें विराजमान हूँ। इसलिये वेदवेत्ता मुझे गौरी कहते हैं। कहनेका तात्पर्य

यह है कि मैं मन और वाणीके विषयमें न आनेवाली ब्रह्माकार वृत्ति हूँ और स्वभावसे ही अत्यन्त कमनीय हूँ। इसलिये परम शुद्ध होनेके कारण शिवभक्त मुझे गौरी कहते हैं। मैं वामदेव नामक सुखरूप आत्माके सुखरूप वाम अङ्गमें विराजती हूँ—इसी कारण मुझको वामाङ्गी अर्थात् सुखस्वरूपिणी कहते हैं; क्योंकि वामाङ्गी कहलानेमें देहकी सुन्दरता कारण नहीं है, बल्कि सुखरूप शिवका वाम अङ्ग ही सुन्दरताका कारण है।

मैं ब्रह्मवादियोंमें सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मवादिनी हूँ; क्योंकि मैं अपने कटाक्षमात्रसे सर्वत्र शिव नामक ब्रह्मको देखती हूँ। अर्थात् मैं ब्रह्माकार होकर ब्रह्मको जानती हूँ और जीवको उत्थानकी दशामें ब्रह्म कहती हूँ। इसलिये ब्रह्मवादीलोग मुझ ब्रह्मवादिनी भवानीको सबसे श्रेष्ठ मानते हैं। विवेकी पुरुषोंमें रहनेवाली मुझ ब्रह्माकारवृत्तिरूपी भवानीकी सबसे अधिक श्रेष्ठताका एक यह भी कारण है कि अपने धर्ममेघसमाधि नामक कटाक्षसे जाग्रदादि सब अवस्थाओंमें तथा जगत्के सब पदार्थोंमें शिव नामक ब्रह्मका सर्वदा अखण्ड दर्शन करती हूँ।

मुझ ब्रह्माकारवृत्तिका शिवमें सदा ही ऐसा प्रेमभाव रहता है कि वह शिव ही मुझे प्रिय हैं, वही मेरे पालक हैं, यानी उन्हींकी सत्तासे मेरी सत्ता है, वही मेरे आत्मा हैं, अथवा यों कहना चाहिये कि वही मेरे पारमार्थिक स्वरूप हैं, उनके बिना मेरी कोई स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं, वही मेरे गृहेश्वर अर्थात् घरके ईश्वर हैं। भाव यह है कि जब मैं ब्रह्मत्वको स्वीकार करती हूँ और अपनी सुध-बुध भूल जाती हूँ तब मुझ अन्धीभूतको हाथ पकड़कर चलानेवाले वह सदाशिव ही हैं। मैंने सब प्रकारसे अपने स्वामीको आत्मसमर्पण कर दिया है। इसलिये मैं शैलकन्या बहुत ही धन्य और कृतकृत्य हो गयी हूँ।

पर्वत नामक अज्ञानसे मैं ब्रह्माकारवृत्ति उत्पन्न हुई हूँ, इसलिये वेदवेत्ता मुझे पार्वती कहते हैं। मैंने सर्वत्र केवल उन्हीं परमेश्वरको देखा है यानी प्रपञ्चका त्याग कर केवल उन्हींका साक्षात्कार किया है, उन्हींका ऐक्यभावनारूपी आलिङ्गन किया है, उन्हींका अनुभव किया है, उन्हींको आदरकी दृष्टिसे देखा है और उन्हींका अपने हृदयमन्दिरमें चिन्तन किया है।

मैं पार्वती (ब्रह्माकारवृत्ति) शिव-स्वरूप ब्रह्मको पातिव्रत-प्रेमसे भजती हूँ अर्थात् समझती हूँ कि मुझ ब्रह्माकारवृत्तिको सदा ही अपने पतिका व्रत धारण करना चाहिये अर्थात् मुझे सदा ही अखण्ड एकरस बना रहना चाहिये। यही कारण है कि ऋषिप्रणीत लौकिक शास्त्रोंमें, वेदोंमें और साधारण लोगोंमें जहाँ-तहाँ मुझ ब्रह्माकार-वृत्तिकी महिमा अथवा सौभाग्य गाया गया है।

समस्त तीर्थोंके स्नान, सम्पूर्ण पृथिवीके दान, सम्पूर्ण यज्ञोंके अनुष्ठान, सम्पूर्ण देवोंके पूजन और सम्पूर्ण पितरोंके तर्पणसे भी वह फल नहीं प्राप्त होता जो फल एक बार अखण्ड ब्रह्माकारवृत्ति बनानेवाले महात्माओंको प्राप्त होता है।

महेश्वर सदाशिव आत्मदेवका अनुभव कर लेना ही योगेश्वरोंका योग है, उसी योगसे सम्पन्न हुई मैं भवानी नामक ब्रह्माकारवृत्ति दिव्य योगिनी कहलाती हूँ। मुझ पार्वती नामक वृत्तिके सामने आकर वह परमेश्वर सदा ही नाचता रहता है। जिसके हृदयमें ऐसा अनन्य प्रेम हो, भला उसके सामने वह परमेश्वर क्यों न नाचने लगे? वह तो नाचेगा ही।

जिस प्रकार एकात्मभाव प्राप्त होनेपर भी ब्रह्म तथा ब्रह्मज्ञानी अपना-अपना भिन्न स्वरूप धारण किये रहते हैं, उसी प्रकार सच्चिदानन्दरूपमें वास्तविक एकात्मभाव प्राप्त होनेपर भी लौकिक दृष्टिसे मैं भवानी और शङ्कर अपना-अपना भिन्न स्वरूप धारण किये रहते हैं।

हे बहिन! मैं ब्रह्माकारवृत्तिरूपी पार्वती दोनों ही दृष्टियोंसे स्तुति अथवा आदरकी पात्र हूँ। क्योंकि मुझ पार्वतीका सकल जगदानन्ददायक ब्रह्ममें अपूर्व स्नेह है तथा मुझ विद्वन्मनोविनोदिनी पार्वती नामक वृत्तिपर वह शङ्करभगवान् भी अत्यन्त स्नेह रखते हैं। इसलिये मुमुक्षु बहिनों अथवा भाइयोंको ब्रह्माकारवृत्ति बनानेका विशेष ध्यान रखना चाहिये।

हे बहिन! मुमुक्षुओंको उचित है कि शङ्करदेवसे भी अधिक मुझ ब्रह्माकारवृत्तिरूपी पार्वतीकी पूजा (आदर) किया करें। क्योंकि जो शङ्कर स्वयं आनन्दस्वरूप हैं, उन आत्म-शङ्करके भी आनन्दको मैं वृत्ति बढ़ा देती हूँ।

मैं वृत्तिरूपी पार्वती अपने विषय ब्रह्मानन्दको भी भोगती हूँ और आत्मानन्दको भी लेती रहती हूँ। इस प्रकार मुझ वृत्तिकी महिमासे यह आनन्द दुगुना हो जाता है। यही कारण है कि सामान्य आनन्दस्वरूप ब्रह्मकी अपेक्षा आनन्दको अधिक कर देनेवाली मुझ ब्रह्माकारवृत्तिका ही विशेष आदर मुमुक्षुओंको करना चाहिये।

मुझ ब्रह्माकारवृत्तिरूपी पार्वतीको साक्षात् परब्रह्मस्वरूप

ही समझना चाहिये। मेरी ब्रह्मरूपतामें अथवा शिवरूपतामें सन्देह करनेका कोई भी कारण नहीं है। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी और सदाशिव मुझ वृत्तिरूपी पार्वतीपर सदा ही अपना प्रगाढ़ प्रेम रखते हैं।

इस प्रकार लक्ष्मी-पार्वतीका संवाद समाप्त हुआ। लक्ष्मीके कथनसे सिद्ध है कि शक्तिमान् और शक्ति दोनों एक ही हैं, ब्रह्मके अज्ञानसे दोनोंमें भेद भासता है और ब्रह्मके ज्ञानसे भेद निवृत्त हो जाता है। ब्रह्म निष्क्रिय है, वह कुछ नहीं करता; सृष्टिकी रचना आदि ब्रह्मकी शक्ति ही करती है। ब्रह्मके अज्ञानसे शक्तिका कर्म ब्रह्ममें आरोपित किया जाता है। ब्रह्म कुछ नहीं करता, शक्ति ही सब कुछ करती है—ऐसा ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है।

पार्वतीके कथनसे सिद्ध होता है कि साक्षात् मुक्ति-पद दिलानेवाला ब्रह्मभाव ही है; इसलिये मुमुक्षुओंको ब्रह्मभाव ही प्रिय होना चाहिये। ब्रह्माकारवृत्ति और ब्रह्मभावमें कोई भेद नहीं है। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्माकारवृत्तिपर बहुत ही अनुराग रखते हैं और सर्वदा उसे बढ़ाते रहते हैं। इस वृत्तिको बढ़ाते-बढ़ाते अन्तमें वे पूर्ण ब्रह्मभाव प्राप्त कर लेते हैं। इसी कारण ब्रह्मभावके समान ही यह वृत्ति भी मुमुक्षुओंको प्रिय होती है और होनी भी चाहिये। सबका सार यह है—

कुं०—शिव-शक्ती दो देखती, वृत्ती विषयाकार।
देखत दोनों एक ही, वृत्ती ब्रह्माकार॥
वृत्ती ब्रह्माकार, भेद-भ्रम शीघ्र मिटाती।
सबै उपाधिन त्याग, जीवको ब्रह्म बनाती॥
'जयदेवी' तज भेद, भेद नाहीं है रत्ती।
कर मन ब्रह्माकार, एक भासे शिव-शक्ती॥

बौद्ध और जैन-धर्ममें शक्ति-उपासना

(लेखक—दीवान बहादुर श्रीनर्मदाशंकर देवशंकर मेहता, बी० ए०)

१— शाक्त-सम्प्रदाय और बौद्ध-धर्म

शून्यताबोधितो बीजं बीजाद् बिम्बं प्रजायते।
बिम्बे च न्यासविन्यासस्तस्मात् सर्वं प्रतीत्यजम्॥

(महासुखप्रकाश)

ब्राह्मणों और बौद्धोंके बीच दर्शनशास्त्रमें और आचारशास्त्रमें परस्पर बहुत आदान-प्रदान हुआ है। ज्यों-ज्यों बौद्ध-साहित्यका संस्करण होता जा रहा है; जैसे-जैसे अश्वघोष (ई० स० ७८), नागार्जुन (२५०—३२०), असङ्ग (३१०—३९०), वसुबन्धु (३९०—४५०), दिङ्नाग (४५०—५२०), शङ्करस्वामी (नैयायिक) (ई० स० ५५०) बुद्धघोष, धर्मकीर्ति आदि शङ्कराचार्यसे पूर्वभावी बौद्ध विचारकोंके ग्रन्थ प्रसिद्धिमें आते-जाते हैं, और ज्यों-ज्यों बौद्ध-शिलालेख और स्तूप, विहार आदिके अवशेष प्राप्त होते जाते हैं त्यों-ही-त्यों इस सम्बन्धमें हमारी आँखें खुलती जा रही हैं। बौद्ध-धर्मको हिन्दू-धर्मसे अलग करना बहुत कठिन कार्य है। भारतवर्षमें बौद्ध-धर्म हिन्दू-धर्मके सम्प्रदायरूपसे प्रकट होकर उसीमें मिल गया है। बौद्ध-धर्मका तन्त्रसम्प्रदाय इस बातकी साक्षी देता है।

ब्राह्मणोंके प्राचीन वेद-धर्ममें कर्मसे पितृयान और उपासनासे देवयानकी प्राप्ति मानी जाती थी। पितृयानमें गति करानेवाले साधनको धूममार्ग अर्थात् अविद्याका मार्ग कहते थे और देवयानमें गति करनेवाले साधनको अर्चिर्मार्ग अर्थात् विद्याका मार्ग। यान अर्थात् वाहन, गतिका साधन अथवा जानेका मार्ग—ऐसा अर्थ होता है। भगवान् बुद्धके निर्वाणके बाद बौद्ध-शासनके दो मुख्य विभाग हो गये। प्रथम विभागके लङ्का आदि दक्षिणापथके अनुयायियोंने अर्हत्के समान प्रत्येक बुद्धकी निर्वाण-भावना स्वीकार की; दूसरे विभागके अर्थात् तिब्बत आदि उत्तरापथके और चीन, जापान आदि पूर्वीय देशोंके अनुयायियोंने बोधिसत्वकी लोकोत्तर कल्याण करनेकी और बुद्धकी त्रिकाय (धर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय)-की भावना अङ्गीकार की। प्राचीन दक्षिणापथके बौद्धोंके सम्प्रदायका नाम 'हीनयान' पड़ा और उत्तरापथके तथा पूर्वीय देशोंके अनुयायियोंके सम्प्रदायका 'महायान'। महायान-मतका साहित्य ई० स० पूर्वकी पहली-दूसरी सदीसे निर्माण होना शुरू हुआ और जिन-जिन देशोंके मनुष्य बौद्ध-धर्मकी उस मर्यादामें आये, उनके अपने मूलधर्मके संस्कारोंका प्रवेश भी उसमें नामान्तर और रूपान्तरसे होता गया। इस नवीन धर्मके मुख्य सूत्रोंका नामनिर्देश वसुबन्धु यों करता है—

१-अमितार्थसूत्र, २-उत्तमसूत्र, ३-महावैपुलसूत्र,

४-बोधिसत्वयान, ५-बुद्धयान, ६-बुद्धगुह्योपदेश, ७-सर्वबुद्धानां पिटकम्, ८-सर्वबुद्धानां गुह्यस्थानम्, ९-सर्वबुद्धगर्भस्थान, १०-सर्वबुद्धतीर्थ, ११-सर्वबुद्धधर्मचक्र, १२-सर्वबुद्धानां धीरधातु, १३-सर्वबुद्धानां उपायकौशल्य-सूत्रम्, १४-एकयान उपदेशसूत्र, १५-परमार्थस्थान, १६-सद्धर्मपुण्डरीक, १७-उत्तमधर्म।

इसके सिवा ललितविस्तर, लङ्कावतारसूत्र आदि विज्ञानवादके मूल प्रस्थानरूप सूत्र भी रचे जा चुके थे। ई० स० की चौथी-पाँचवीं सदीमें लङ्कावतारसूत्रका भाषान्तर चीनी भाषामें हो चुका था।

मूल आर्य सर्वास्तिवादीके सात आन्तर-सम्प्रदाय और आर्यसम्मितीय मतके तीन आन्तर-पन्थोंका समुच्चय वैभाषिक व्यूहमें हुआ। आर्यमहासन्धिकके पाँच आन्तर-पन्थ और आर्यस्थविरके तीन आन्तर-पन्थ सौतान्त्रिक व्यूहमें गये। इस प्रकार कुल मिलाकर अठारह सम्प्रदाय हीनयानके हुए। उपर्युक्त नवधर्मके सूत्रोंमेंसे कनिष्कके राज्यकालमें योगाचार और माध्यमिक ये दो शाखाएँ हुईं, जो क्रमसे विज्ञानवाद और शून्यवादकी सहायक मानी जाती हैं। महायानयोगाचारशाखाके मुख्य दार्शनिक साहित्य-रचयिता मैत्रेय (ई० स० २७०—३५०), असंग (ई० स० ३७०—३९०) और वसुबन्धु (ई० स० ३९०—४९०) हुए। महायान-माध्यमिकशाखाके साहित्यकी रचना करनेवाले नागार्जुन, आर्यदेव (३२०), शान्तिदेव (६५०) आदि हुए। परन्तु इस दर्शन-साहित्यके साथ व्यवहारधर्मके साहित्य-रचनाकी जरूरत थी। इस व्यवहारधर्म और आचारधर्मका बौद्धोंका साहित्य ब्राह्मणोंके तन्त्रशास्त्रके अनुसार बना। कारण, ब्राह्मणोंके वैदिक शाखाके अनुयायी वर्णाश्रमधर्मके आग्रही थे, परन्तु तन्त्रशाखाके अनुयायी, खास करके शैव और शाक्त, वर्णाश्रमधर्मके इतने आग्रही नहीं थे; इसलिये हिन्दुओंकी तन्त्रशाखाका साहित्य बौद्धोंको अधिक सुगम और सरल हो गया।

महायान-शाखाके तान्त्रिकोंकी एक मुख्य शाखाका नाम वज्रयान या मन्त्रयान है। वज्रयान या मन्त्रयानके नौ आन्तर-सम्प्रदाय हैं—(१) श्रावकयान, (२) प्रत्येकबुद्धयान, (३) बोधिसत्वयान, (४) क्रियातन्त्रयान, (५) चर्या अथवा उपायतन्त्रयान, (६) योगतन्त्रयान, जिसके तीन विशेष विभाग हैं, (७) महायोगतन्त्रयान, (८) अनुत्तर-योगतन्त्रयान और (९) अतियोगतन्त्रयान।

इन नव यानोंमेंसे पहले तीन यान भगवान् बुद्धके परिनिर्वाणके बादकी तीन समितियोंमें निश्चित-से हो गये थे। तत्पश्चात् पद्मसम्भव नामके बौद्ध गुरु तिब्बत गये, उसके बाद शेष छः यानोंका उपदेश हुआ प्रतीत होता है।

प्रत्येक यानके साहित्यमें चार सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है—(१) दृष्टिपाद, (२) ध्यानपाद, (३) चर्यापाद, (४) फलपाद।* जो योग्य विधिके अनुसार बौद्ध-शास्त्रकी दृष्टि प्राप्त करे, ध्यान तथा आचार प्राप्त करे, उसीको फल प्राप्त हो—ऐसा वर्णन करनेवाले पिछले तीन यान हैं। उनमें भी महायोगतन्त्रयान (सातवाँ) पितृप्रधानतन्त्र माना जाता है। क्योंकि उसमें पुरुषभावसे बोधिचित्तकी भावना की गयी है। अनुत्तरतन्त्रयान (आठवाँ) मातृप्रधान तन्त्र है, क्योंकि उसमें स्त्रीभावसे बोधिचित्तकी भावना होती है। और अतियोगतन्त्र (नवम) अद्वैतभावसम्बन्धी है। ये तीनों तन्त्र (महायोग, अनुत्तर अथवा अनुयोग और अतियोग) बौद्ध-सिद्धान्तको आचारमें अनुभव करनेकी रीतिकी शिक्षा देते हैं। इन तीनों तन्त्रयानोंको वज्रयान अथवा मन्त्रयान कहते हैं, क्योंकि इन तीनोंमें मन्त्रका वज्रके समान अमोघ साधन बरता गया है।

नवाँ अतियोगतन्त्र अधिकांशमें गौडपादके अजातवादके साथ मिलता-जुलता है और अद्वैत-सिद्धान्तका स्थापन करता है। जगत्का सत्यत्व, जगत्का सत्यासत्यपन, जगत्का विज्ञानरूप, जगत्का शून्यरूप—इन चार भूमिकाओंमें बौद्धमतकी सौत्रान्तिक, वैभाषिक योगाचार और माध्यमिक प्रक्रियाएँ चढ़ती हुई चलती हैं। उनमें अन्तिम कक्षा उस शून्यवादके माध्यमिककी है। उसमें भूत-भौतिक बाह्य पदार्थ और चित्त-चैत्यरूप आभ्यन्तर पदार्थ वास्तविक सत्य नहीं परन्तु दिखौआमात्र हैं; पर जिन भूत-भौतिक पदार्थोंका और चित्त-चैत्यका निषेध किया जाता है उसका अधिकरण मन-वाणीसे अगोचर है। उस पदार्थका वर्णन किसी भी प्रकारके गुण और नामसे नहीं हो सकता, इसीसे उसे माध्यमिक लोग शून्य कहते हैं। सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक दृश्य जगत् उस वस्तुमें लीन हो जाता है। इसीलिये उसे 'शून्य' संज्ञा दी गयी है।

बौद्धोंकी यह वस्तुशून्यता वेदान्तियोंके ब्रह्मभावके समान है। बौद्ध इस अन्तिम तत्त्वको केवलशून्य नहीं, परन्तु विवर्तशून्य मानते हैं। इससे संसारी पुद्गल

* इनके साथ शैवशास्त्रके विद्यापाद, क्रियापाद, योगपाद और चर्यापादकी तुलना कीजिये।

(हिन्दुओंका जीव) जब तन्त्र-साधनाके द्वारा चित्त और चित्तके विलासोंका शमन करता है, तभी उसे शून्यताका अथवा बोधिचित्तका सत्य अनुभव जाग्रत् होता है। इस तन्त्र-साधनामें जो विज्ञानके रूप प्रकट होते हैं उनको 'देवता' संज्ञा दी जाती है; और जिस यानमें इन देवताओंका उदय और अस्त समझा जाता है उसे वज्रयान कहते हैं। जैसे हीरे अथवा वज्रको काटना कठिन है, उसी प्रकार इस यानका साधक किसीसे भी नहीं डिगता। अडिग, अचल, स्थाणु, स्थिर—इस अर्थमें बौद्ध-शास्त्रमें 'वज्र' शब्द रूढ़ हुआ है। जैसे कि वज्रासन, वज्रज्ञान, वज्रचित्त।

जब विज्ञानमय स्कन्धमें कोई भी कल्पना न उत्पन्न हो और चित्त निष्पन्द हो जाय तब वज्रज्ञान होता है। इस अचल समाधिप्रज्ञा (वज्रसत्त्व)-की प्रतीति करानेके लिये पाँच ध्यानी बुद्धकी मूर्तियाँ कल्पित की गयी हैं। यह भावना सद्योजातादि पाँच मुखवाले शिवकी मूर्तिके समान है। पूर्व दिशामें वज्रसत्त्व ध्यानी, दक्षिणमें रत्नसम्भव ध्यानी, पश्चिममें अमिताभ ध्यानी, उत्तरमें अमोघसिद्धि ध्यानी और उसके ऊपर वज्रधर ध्यानी बुद्धकी भावना स्वीकार की गयी है।

ध्यानी बुद्धके एक हाथमें घण्ट और दूसरे हाथमें वज्र दिखाया जाता है। घण्ट समाधिप्रज्ञाका सूचक है। समाधिप्रज्ञाका फल शून्यता (हिन्दुओंकी असम्प्रज्ञात समाधि) और उसका उपाय वह करुणा है। मूल वस्तु करुणासे भरपूर है और उसका भाव संयुक्त नर-नारीके रूपमें दिखाया जाता[1] है। बौद्धगण इस तन्त्रयानके नरदेवताको वज्रधर और नारी-देवताको वज्रवाराही कहते हैं।

शून्यता और करुणाका योग वज्रधर-वज्रवाराहीके युग्मसे दिखाकर बौद्ध बुद्ध-भावको प्राप्त करनेकी तन्त्र-साधनाका निर्माण करते हैं। इस साधनामें हिन्दुओंके तन्त्रोंकी तरह मण्डलरचना, बीजन्यास, मन्त्रजप, मुद्राप्रदर्शन, उपचार, अभिषेक, ध्यान आदि सब वैसे ही किये जाते हैं। बौद्धोंका क्रियाकलाप हिन्दू तान्त्रिकोंके-जैसा ही होता है। मन्त्र भी संस्कृतमें होते हैं। केवल बुद्धदेवताके नामका[2] अन्तर होता है। इस साधनाकी अवधिमें भावनाका अन्तिम फल अपने लिये प्रकट होनेवाला है, इसका निर्देश किया जाता है। जैसे कि—

ॐ स्वभावशुद्धः सर्वधर्मस्वभावशुद्धोऽहम्।

'मैं स्वभावशुद्ध हूँ, सर्व धर्मोंके स्वभाव मेरेमें नहीं हैं, ऐसा हूँ।'

ॐ शून्यताज्ञानवज्रस्वभावात्मकोऽहम्।

'मैं सर्व धर्म और पुद्गलकी वास्तव सत्ताके बिना शून्य स्वभावका, अचल ज्ञानका स्वभावरूप हूँ।'

वज्रयानकी मन्त्रसाधनाद्वारा तीन प्रकारकी बुद्धकायाके अनुभवका वर्णन किया जाता है। बुद्धकी प्रथम कायाको 'धर्मकाय' कहते हैं। वह सर्वरूपी द्रव्यसे पर, मन-वाणीसे समझमें न आने योग्य है और जिसमेंसे संसार प्रसव होता है ऐसी निर्वाण भूमिकाकी वस्तु है। यह वस्तु वेदान्तकी कारण-भूमिकाके ब्रह्मस्वरूपके साथ मिलती है। उस निर्वाणभूमिकाकी धर्मकायापर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान-स्कन्धोंके रूपवाली दूसरी काया रची जाती है; उसे सम्भोगकाया कहते हैं। यह सम्भोगकाया बोधिसत्त्वोंके मानसप्रत्यक्षका विषयरूप होती है। वह धर्मधातुका व्यक्त रूप है। यह सम्भोगकाया हिन्दू-धर्मके कार्यब्रह्म अथवा सगुण ब्रह्मके लीलावपु-जैसी है। तीसरी कायाको निर्माणकाया कहते हैं। यह काया मनुष्य-शरीरद्वारा प्रकट होती है।

धर्मकाया अद्वैत-भूमिकाकी है और वह बुद्धदशाकी है। सम्भोगकाया भेदाभेदवाली है और वह बोधिसत्त्वोंके ज्ञानका विषयरूप बनती है। निर्माणकायामें बुद्धतत्त्व घनरूप धारण करता है और अनेक प्राणियोंके लौकिक ज्ञानका विषयरूप बनता है। इस त्रिकायकी प्रक्रियाके साथ वेदान्तके ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट्की भावना तुलना करने योग्य है। तन्त्रशास्त्रमें ऐसे उपास्यदेवकी कायाकी रचनाको आभासरूपा माना गया है। मूल चितिशक्ति स्वरूपमें किसी भी प्रकारकी विकृतिको प्राप्त हुए बिना अपने स्वच्छन्द स्वातन्त्र्य बलके द्वारा छत्तीस

१—इसके साथमें हिन्दुओंके अर्धनारीश्वरके—शिवशक्तिके सामरस्यकी भावनाका मिलान कीजिये। तिब्बतमें ऐसी मूर्तियोंको 'यब्-युम्' कहते हैं।

२—जैसे—'ॐ सर्वतथागतश्रीचक्रसम्भारमण्डलचक्रसर्वयोगिनीभ्यः अर्घ्यं प्रतिष्ठापयामि स्वाहा।………पाद्यं प्रतिष्ठापयामि स्वाहा' आदि।

तत्त्वोंके रूपमें आभास प्राप्त करती है और अनेक भुवनोंको रचकर कार्याकार भासमान होती है—ऐसा तान्त्रिक सिद्धान्त है[१]।

उपर्युक्त बौद्धतन्त्रप्रक्रियाके सार-संग्रहसे यह समझमें आता है कि मन्त्रशक्तिका स्वीकार वज्रयानके तीनों तन्त्रोंमें किया गया है। शाक्त-साधनाका निरूपण हिन्दू-तन्त्रोंके अनुसार है, केवल देवताका नामभेद है; परन्तु वस्तुके नामभेदसे वस्तुस्वरूप नहीं बदलता, यह बात प्रत्येक विवेकी पुरुष सरलतासे समझ सकता है।

श्रीचक्रसम्भार नामक बौद्ध-तन्त्रके गुरुओंकी परम्परा देखनेसे मालूम होता है कि ई० स० १२३३ से पहले उन्नीस गुरु हो गये हैं। यदि इनमें तीस-तीस वर्षका अन्तर माना जाय तो ई० स० के १२३३ से पाँच सौ सत्तर वर्ष पूर्व मन्त्रयानका प्रवेश हिन्दुस्तानमेंसे तिब्बतमें हुआ मालूम होता है। अर्थात् ई० स० छ: सौ तिरसठके समय शाक्त-सम्प्रदाय वहाँ स्थापित हुआ हो, ऐसा निश्चित अनुमान होता है। बौद्धोंके दूसरे तन्त्रग्रन्थ अभीतक नहीं देखे गये हैं, परन्तु ऐसा माननेमें कारण है कि प्रज्ञापारमिता आदि सूत्रोंके रचनाकालमें मन्त्रयानका प्रवेश तिब्बतमें हो गया था।

बौद्धोंकी वज्रवाराही देवी प्राय: ब्राह्मणोंकी वाराही अथवा दण्डिनीके साथ मिलती-जुलती है। उपासनाक्रम भी लगभग एक-सा ही है। बौद्धोंकी विशेष देवीका दूसरा रूप तारा है। ताराकी उपासना हिन्दुओंमें भी प्रचलित है। ब्राह्मण और बौद्ध ॐकार अथवा प्रणवको 'तार' कहते हैं। उस देवताकी पत्नीका नाम तारा रखा गया है। बौद्धोंकी तारादेवीके सम्बन्धमें विपुल संस्कृत साहित्य है। मेरी जानकारीमें लगभग तैंतीस ग्रन्थ ताराके[२] सम्बन्धमें हैं। इन सब ग्रन्थोंमें ताराके दिव्य स्वरूपकी भावनाके सिवा उपासनाके पञ्चाङ्गोंका अर्थात् पटल, पद्धति, कवच, नामसहस्र और स्तोत्रका सविस्तर वर्णन है। जैसे ब्राह्मणोंका श्रीविद्या और कालीविद्याका विपुल साहित्य है, वैसा ही तारा-विद्याका बौद्धोंका भी है। महायानकी तारादेवीके जैसी ही हीनयानकी 'मणिमेखला' देवी है। लङ्का, श्याम आदि देशोंमें वह समुद्रकी देवीके रूपमें पूजी जाती है। महाजनक जातक (महानिपात) और शङ्खजातक (दशनिपात)-में इस समुद्र देवताका उल्लेख है, और यह समुद्रके तूफानके समय रक्षा करनेवाली देवी मानी जाती है।

तार-ताराका युग्म शिवशक्तिके युग्मके समान है। बौद्धोंमें शून्यता (समाधिप्रज्ञा) और करुणाका सामरस्य वज्रयानके प्रेमपञ्चक नामक स्तोत्रमें वर्णित हुआ है।

सम्यक्बोधि अथवा निराभास चितिका नाम शून्यता है। यह शून्यता मानो कामिनी है और उसका प्रतिभास मानो कान्त है। यदि प्रतिभासरूपी वर न हो तो शून्यता नामकी कामिनी मृतकके समान है और यदि शून्यताके बिना प्रतिभास नामक कान्त नायक हो तो उसे बद्ध दशाका समझना चाहिये। शून्यता बिना प्रतिभासका जीवन नहीं, और प्रतिभासके बिना शून्यता निरर्थक है। इससे इस वर-वधूको गुरुने दम्पतीभावमें जोड़ दिया और उसके द्वारा ये सहजानन्दको भोगनेवाले हो गये। सर्व भावोंमें इस शून्यता और प्रतिभासका प्रवेश है और उससे इस विश्वका अलौकिक विभ्रम चलता रहता है। इस प्रकारके भाव इस प्रेमपञ्चकमें हैं।[३]

२— शाक्त-सम्प्रदाय और जैन-धर्म

क्षीराम्भोधेर्विनिर्यान्तीं प्लावयन्तीं सुधाम्बुभिः।
भाले शशिकलां ध्यायेत् सिद्धिसोपानपद्धतिम्॥

(हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र)

जैन-धर्म ईश्वरवादी नहीं, परन्तु तीर्थङ्करवादी है, जो चौबीस तीर्थङ्करोंकी पूजा-भक्ति हिन्दुओंके देवताओंकी तरह ही करता है। जैनियोंके तीर्थस्थानोंमें देवीकी मूर्तियोंका स्थापन प्राय: अधिक भागमें देखा जाता है।

१—इस प्रकरणको लिखनेमें श्रीचक्रसम्भार नामक बौद्धतन्त्रका आधार लिया गया है।

२—१-उग्रतारापञ्चाङ्ग, २-ताराकल्प, ३-ताराकल्पलता, ४-तारकवच, ५-तारातत्त्व, ६-तारातन्त्र, ७-तारापञ्जिका, ८-तारापञ्चाङ्ग, ९-तारापद्धति, १०-तारापाराजिका, ११-तारापूजनवल्लरी, १२-तारापूजनन्यासविधि, १३-तारापूजाप्रयोग, १४-तारापूजारसायन, १५-ताराप्रदीप, १६-ताराभक्ततरङ्गिणीनाटक, १७-ताराभक्तिसुधार्णव, १८-तारामूलबोध, १९-तारारहस्य, २०-तारारहस्यवृत्तिका, २१-तारार्चनचन्द्रिका, २२-तारार्चनतरङ्गिणी, २३-तारार्णव, २४-ताराविकल्प, २५-ताराविलासोदय, २६-ताराषट्पदी, २७-ताराअष्टोत्तरशतनामस्तोत्र, २८-तारासहस्रनाम, २९-तारासूत्र, ३०-तारास्तोत्र, ३१-तारिणीपारिजात, ३२-स्रग्धरास्तोत्र, ३३-स्रग्धरास्तोत्रटीका।

३—देखिये—अद्वयवज्रसंग्रह ५८।

गुजरातमें अम्बाजी माताके स्थानके पास ही कुम्भारिया ग्राम है, उसमें अति आश्चर्यकारक जैनोंके मन्दिर हैं। इस स्थानमें कुन्दनपुर नामका प्राचीन नगर था, जिसका पीछेसे कुम्भारिया नाम पड़ गया मालूम होता है। इस स्थानमें प्राचीन कालमें रुक्मिणीके पिताका राज्य था। यहींसे भगवान् श्रीकृष्णने रुक्मिणीका हरण किया था—ऐसी लोकमान्यता है। कहा जाता है कि विमलशा नामक एक सेठ देवीभक्त थे। उनपर माताजी प्रसन्न हुईं और भण्डारा नामक पहाड़से, जो गह्वरसे पश्चिमकी तरफ है, देवीकी कृपासे विमलशाको बहुत-सा धन प्राप्त हुआ। इसी धनसे उन्होंने कुम्भारियाके मन्दिर तथा पास ही आबूपर जगत्प्रसिद्ध देलवाड़ाके जैन-मन्दिर बनवाये। पीछेसे विमलशाके ऊपर माताका कोप होनेसे कुम्भारिया ग्रामके सब मन्दिर जल गये, सिर्फ साढ़े तीन मन्दिर बचे। इस बातमें जो कुछ भी सत्य हो, किन्तु इतना तो समझमें आता है कि विमलशा सेठ स्वयं जैन-धर्मी होंगे, किन्तु लोकप्रसिद्ध देवीके स्थानोंमें देवीकी भक्तिका अपमान न किया जाय—ऐसा उनका उदार आशय रहा होगा। जैन-शासनके साथ शाक्त-मतका कोई भी सम्बन्ध न होता तो इस लोकरीतिका मन्तव्य, जो अभीतक जैनोंमें प्रचलित है, कभी टिकता नहीं। जैन यति मलीन विद्याके उपासक हैं, हिन्दुओंका ऐसा मानना उनकी बेसमझी है। परन्तु जैन यति तान्त्रिक उपासना करनेवाले थे, इस बातको नहीं भूलना चाहिये। अब यह विचारणीय प्रश्न है कि जैन-शासनमें शक्तिकी तान्त्रिक उपासना और भक्तिका किस प्रकार प्रवेश हुआ है।

जैन-शासनमें तीर्थङ्करविषयक ध्यानयोगका विधान है। उस ध्यानके धर्मध्यान और शुक्लध्यान—ऐसे दो मुख्य विभाग हैं। उसमें धर्मध्यानके ध्येयस्वरूपपर बने हुए चार विभाग हैं—(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ और (४) रूपवर्जित। जिसमें ध्येय अर्थात् ध्यानका आलम्बन पिण्डमें हो ऐसे ध्यानको पिण्डस्थ ध्यान कहते हैं; जिसमें शब्द-ब्रह्मके वर्ण, पद, वाक्यके ऊपर रचित भावना करनी होती है उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं; जिसमें आकारवाले अर्हत्की भावना होती है उसे रूपस्थ ध्यान कहते हैं और जिसमें निराकार आत्मचिन्तन होता है उसे रूपवर्जित ध्यान कहते हैं। इस चार प्रकारके ध्यानमें पृथिवी, जल, वायु आदिकी धारणाका क्रम पिण्डस्थ ध्यानयोगमें होता है और इस पिण्डस्थ ध्यानमें अपने आत्माको सर्वज्ञकल्प (सर्वज्ञसम) और कल्याणगुणयुक्त अपने देहमें सतत ध्यान करनेवालेको मन्त्रमण्डलकी नीची शक्तियाँ, शाकिनी आदि क्षुद्र योगिनियाँ बाध नहीं कर सकतीं और हिंस्रस्वभावके प्राणी अगर उसके पास आकर खड़े हो जायँ तो स्तम्भित हो खड़े रह जाते हैं।* जैन ध्यानयोगका हेमचन्द्रसूरिके अध्यात्मोपनिषद् नामान्तरवाले योगशास्त्रमें अच्छी तरहसे प्रतिपादन किया गया है।

पिण्डस्थ ध्यानके बाद दूसरा ध्यान पदस्थ वर्गका होता है। इस ध्यानमें हिन्दुओंके षट्चक्रवेधकी पद्धतिके अनुसार वर्णमयी देवताका चिन्तन होता है। इस ध्यानयोगमें हिन्दुओंके मन्त्रशास्त्रकी सम्पूर्ण पद्धति स्वीकार की हुई प्रतीत होती है। नाभिस्थानमें षोडश दलमें सोलह स्वरमात्राएँ, हृदय-स्थानमें चौबीस दलमें मध्य कर्णिकाके साथमें पचीस अक्षर और मूलपङ्कजमें 'अ क च ट त प य श'—इस वर्णाष्टकको बनाकर मातृकाध्यानका विधान किया गया है। इस मातृकाध्यानको सिद्ध करनेवालेको नष्ट पदार्थोंका तत्काल भान होता है। फिर नाभिस्कन्दके नीचे अष्टदल पद्मकी भावना करके, उसमें वर्गाष्टक बनाकर प्रत्येक दलकी सन्धिमें माया प्रणवके साथ 'अर्हन्' पद बनाकर ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत उच्चारसे नाभि, हृदय, कण्ठ आदि स्थानोंको सुषुम्णा-मार्गसे अपने जीवको ऊर्ध्वगामी करना और उसके अन्तरमें अन्तरात्माका शोधन होता है। ऐसा चिन्तन करना। तत्पश्चात् षोडशदल पद्ममें सुधासे प्लावित अपने अन्तरात्माको सोलह विद्यादेवियोंके साथ सोलह दलोंमें बैठाकर अपनेको अमृतभाव मिलता है, ऐसी भावना करना। अन्तमें ध्यानके आवेशसे सोऽहम्, सोऽहम्, शब्दसे अपनेको अर्हत्के रूपमें अनुभव करनेके लिये मूर्धामें प्रयत्न करना। इस प्रकार जो अपने आत्माको, जिस परमात्मामेंसे राग, द्वेष और मोह निवृत्त हो गये हैं, जो सर्वदर्शी है और जिसे देवता भी नमस्कार करते हैं, ऐसे धर्मदेशको करनेवाले अर्हत् देवके साथ एकीभावको प्राप्त हुआ अनुभव कर सकें वे पिण्डस्थ ध्येय सिद्ध किये हुए समझे जा सकते हैं।

इस सामान्य प्रक्रियाके सिवा और भी अनेक मन्त्रोंकी परम्परासे शक्तियुक्त आत्मस्वरूपकी भावनाओंका

* देखिये—हेमचन्द्रकृतयोगशास्त्र सप्तमप्रकाश, श्लोक २७-२८, तथा अष्टमप्रकाश, श्लोक ५।

विधान योगशास्त्रके अष्टम प्रकाशमें कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरिने किया है[१]।

इस मन्त्र-शक्तिकी प्रक्रियाका हेमचन्द्रसूरि (१०८८—११७२)-ने स्वयं आविष्कार नहीं किया, परन्तु प्राचीन गणधरोंद्वारा स्वीकृत मन्त्र-सम्प्रदायकी रीतिके आधारपर ही इसका वर्णन किया गया है। ऐसा उनके योगशास्त्रके आठवें प्रकाशके अन्तिम श्लोकोंसे स्पष्ट विदित होता है।

पदस्थ ध्यानयोगका फल वर्णन करते हुए हेमचन्द्रसूरि कहते हैं—ध्यानसे योगी वीतराग होता है। इसके अतिरिक्त श्रमको तो केवल ग्रन्थ-विस्तार ही समझना चाहिये। मन्त्र-विद्याके वर्ण और पदकी आवश्यकता हो तो विश्लेष करना, अर्थात् बिना सन्धिवाले पदोंको भी प्रयोगमें लाना चाहिये, क्योंकि वैसा करनेसे लक्ष्य वस्तु अधिक स्पष्ट होती है। इस जैन-शासनमें मन्त्ररूपी तत्त्वरत्न प्राचीन गणधरोंके प्रमुख पुरुषोंद्वारा उद्धार किये हुए हैं। इनका अपने हृदयदर्पणमें बुद्धिमानोंको प्रकाश हो, अत: ये मन्त्र अनेक भवके क्लेशोंका नाश करनेके लिये प्रकाशित किये गये हैं।

योगशास्त्रके नवम और दशम प्रकाशमें रूपस्थ और रूपवर्जित ध्यानके प्रकारोंका वर्णन है। परन्तु उसके साथ शक्तिवादका सम्बन्ध नहीं है। उसके बादकी शुक्लध्यानकी प्रक्रिया भी शक्तिवादके साथ सम्बन्ध नहीं रखती।

सारांश यह है कि पिण्डस्थ और पदस्थ ध्यान-योगमें जैनोंको तन्त्र-साधना और तन्त्र-शक्तिका स्वीकार है और मूल वस्तुकी शक्तिका देवता-भावसे अङ्गीकार प्रतीत होता है।

जैन-शासनके सिद्धान्तमें इस शक्ति-स्वीकारसे उसका सदुपयोग और दुरुपयोग होना स्वाभाविक है। हिन्दुओंमें भी दक्षिण मार्ग और वाम मार्ग हैं, बौद्धोंमें भी वज्रयानकी मलिन और शुद्ध पद्धतियाँ हैं; वैसे ही जैनोंमें भी मलिन विद्या और शुद्ध विद्याका होना सम्भव है। हेमचन्द्रसूरिने शुद्ध विद्यापर ही जोर दिया है।

जैन कविगण शाक्त-सम्प्रदायके सारस्वतकल्पको स्वीकार करते हैं, सारांश यह कि सरस्वतीकी उपासनाको प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं। सिद्धसारस्वताचार्य श्रीबालचन्द्र-सूरिके 'वसन्तविलास' महाकाव्यके मङ्गलाचरणमें शाक्तपद्धतिका अनुमोदन करनेवाले निम्नलिखित श्लोक हैं—

चेतोऽञ्चलं चञ्चलतां विमोच्य
सङ्कोच्य पञ्चापि समं समीरान्।
पश्यन्ति यन्मूर्धनि शाश्वत-
श्रिसारस्वतं ज्योतिरुपास्महे तत्॥
ज्योतिस्तडिद्दण्डवती सुषुम्णा
कादम्बिनी मूर्ध्नि यदाभ्युदेति।
विशारदानां रसनाप्रणाली
तदा कवित्वामृतमुद्गृणाति॥

चित्तरूपी वस्त्रकी चञ्चलता त्यागकर तथा प्राणादि पञ्चवायुके व्यापारको स्तम्भित करके, मूर्धप्रदेशमें जो स्थिर शोभावाली सरस्वतीका तेजोमण्डल देखते हैं, उस ज्योतिर्मण्डलकी हम उपासना करते हैं। जब सुषुम्णा नामकी नाड़ीरूपी बादली सरस्वतीके तेजोमय बिजलीके दण्डसे भेदन होकर मूर्धामें आकर निवास करती है, उस समय विद्यारहित मनुष्योंकी भी रसना अर्थात् जिह्वारूपी नालीमें कवित्वका जल बहने लग जाता है।[२]

सरस्वतीदेवीकी उपासनासे ये बालचन्द्र कवि अपनेको दिव्य कवित्वशक्ति प्राप्त होनेका स्पष्ट निर्देश करते हैं।

सरस्वतीकी पूजाके अतिरिक्त जैनोंमें प्रत्येक तीर्थंकरकी शासन-देवता मानी जाती है। श्वेताम्बर-मतानुसार ये चौबीस देवता नीचे अनुसार हैं—

१-चक्रेश्वरी, २-अजितबला, ३-दुरितारी, ४-कालिका, ५-महाकाली, ६-श्यामा, ७-शान्ता, ८-ज्वाला, ९-सुतारका, १०-अशोका, ११-श्रीवत्सा, १२-चण्डा, १३-विजया, १४-अङ्कुशा, १५-पन्नगा, १६-निर्वाणी, १७-बला, १८-धारिणी, १९-धरणप्रिया, २०-नरदत्ता, २१-गान्धारी, २२-अम्बिका, २३-पद्मावती और २४-सिद्धायिका।

सरस्वतीके सोलह विद्याव्यूह माने जाते हैं। उनके नाम ये हैं—

१-रोहिणी, २-प्रज्ञप्ति, ३-वज्रशृंखला, ४-कुलिशांकुशा, ५-चक्रेश्वरी, ६-नरदत्ता, ७-काली, ८-महाकाली, ९-गौरी, १०-गान्धारी, ११-सर्वास्त्रमहाज्वाला, १२-मानवी, १३-वैरोप्या, १४-अछुप्ता (अच्युता), १५-मानसी और १६-महामानसिका।

ऊपरके विवरणसे स्पष्ट होता है कि शक्तिकी उपासना जैनोंमें इष्ट मानी गयी है।[३]

१—इन मन्त्रोंमें प्रणव (ॐ) माया (ह्रीं) आदि बीजाक्षर शाक्त-तन्त्रके जैसे-के-तैसे स्वीकार किये गये हैं। केवल मुख्य देवतारूपमें 'अरिहंताणम्' यह जैनपञ्चाक्षरी ली गयी है।

२—देखिये—वसन्तविलास १। ७०—७३।

३—श्रीफॉर्बस गुजराती सभाद्वारा प्रकाशित 'शाक्त-सम्प्रदाय' नामक पुस्तकसे। लेखके आरम्भमें कुछ अंश छोड़ दिया गया है।

श्रीशतचण्डी-विधि और सप्तशती-महायन्त्र

किसी शिवालय अथवा दुर्गामन्दिरके निकट एक सुन्दर मण्डप बनावे, जिसमें दरवाजा और वेदी भी बनी हो। उसके चारों ओर तोरण (बन्दनवारें) लगावे और ध्वजारोपण भी करे। मण्डपके अन्तर्गत पश्चिम भाग या मध्य भागमें होमकुण्ड बनावे। स्नान और नित्यक्रियासे निवृत्त हो दस उत्तम ब्राह्मणोंका वरण करे। वे ब्राह्मण जितेन्द्रिय, सदाचारी, कुलीन, सत्यवादी तथा बोधयुक्त हों; साथ ही सलज्ज, दयालु और प्रतिदिन दुर्गासप्तशतीका पाठ करनेवाले हों। उन्हें विधिपूर्वक (पाद्य, अर्घ्य, आचमनीयके अनन्तर) मधुपर्क निवेदन करके सुवर्णवस्त्रादिदानपूर्वक जपके लिये आसन और माला दे तथा हविष्यभोजन अर्पण करे। वे विचारशील ब्राह्मण हविष्यान्न भोजन तथा भूमिपर ही शयन करें और मन्त्रार्थ-चिन्तनमें चित्त लगाये हुए पृथक्-पृथक् मार्कण्डेयपुराणोक्त चण्डिकास्तवका दस-दस बार पाठ करें। इसके अतिरिक्त प्रत्येकको एक-एक हजार नवार्णमन्त्रका जप करना चाहिये।

यह जप सम्पुट-पाठसे[1] पृथक् करना उचित है। एक सहस्र जप प्रत्येक ब्राह्मणके लिये अनिवार्य है। शक्ति-सम्प्रदायवालोंका कथन है कि शतचण्डीका आरम्भ ऐसे समयसे करना चाहिये जिससे कि कुल सौ पाठ अष्टमी, नवमी, चतुर्दशी अथवा पूर्णिमा—इन्हीं तिथियोंमें समाप्त हो।

इस अनुष्ठानमें यजमानको नव कुमारियोंका पूजन करना चाहिये, जो कि दो वर्षसे लेकर दस वर्षतककी उम्रवाली हों। उनके नाम क्रमशः निम्न प्रकारसे हैं—(१) कुमारी, (२) त्रिमूर्ति, (३) कल्याणी, (४) रोहिणी, (५) कालिका, (६) शाम्भवी (७) दुर्गा, (८) चण्डिका और (९) सुभद्रा।

इन्हीं नाम-मन्त्रोंसे इनकी पूजा करनी चाहिये। इनमें हीनाङ्गी, अधिकाङ्गी, कुष्ठ और फोड़ोंवाली, अन्धी,कानी, कुरूपा, केकरी (ऐंचातानी), कुबड़ी, अधिक रोमवाली, दासीसे उत्पन्न हुई तथा रोगिणी—ये कन्याएँ वर्जित हैं।

अपने सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धिके लिये ब्राह्मण-कन्याका, यशके लिये क्षत्रिय-कन्याका, धनके लिये वैश्य-कन्याका और पुत्रके निमित्त शूद्र-कन्याका पूजन करना चाहिये।

गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, भक्ष्य, भोज्य तथा वस्त्राभरणोंसे अपनी शक्तिके अनुसार कन्याओंका पूजन करे। दो वर्षकी उम्रवाली कन्या कुमारी कही गयी है, तीन वर्षवाली त्रिमूर्ति, चार वर्षवाली कल्याणी, पाँच वर्षवाली रोहिणी, छः वर्षवाली काली, सात वर्षवाली चण्डिका, आठ वर्षवाली शाम्भवी, नौ वर्षवाली दुर्गा और दस वर्षकी उम्रवाली सुभद्रा कहलाती है। नाम-मन्त्रोंसे ही इनकी पूजा करनी चाहिये।[2]

इनका आवाहन करनेके निमित्त शङ्करजीका कहा हुआ मन्त्र बतलाया जा रहा है—'मैं मन्त्राक्षरमयी, लक्ष्मीरूपिणी,मातृरूपधारिणी तथा साक्षात् नव दुर्गा-स्वरूपिणी कन्याका आवाहन करता हूँ।' इस समय कुमारी आदि कन्याओंके पूजनका मन्त्र बतलाता हूँ—'हे कौमारि! हे जगदम्ब! तुम जगत्की पूजनीया, वन्दनीया और सर्वशक्तिस्वरूपिणी हो, मेरी की हुई पूजाको अङ्गीकार करो, मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। मैं त्रिपुररूपिणी, त्रिपुरकी आधारभूता, तीन वर्षकी अवस्थावाली, ज्ञानमयी, त्रिभुवनवन्दिता भगवती त्रिमूर्तिकी पूजा करता हूँ। जो कलारूपिणी होनेपर भी कलातीत है, उस करुणाभरे हृदयवाली शिवारूपा कल्याणजननी भगवती कल्याणीका मैं पूजन करता हूँ। अणिमा आदि गुणोंकी आश्रयभूता, अकारादि अक्षरमयी, अनन्तशक्तिसम्पन्ना लक्ष्मीरूपा रोहिणीकी मैं आराधना करता हूँ। जो इच्छानुसार विचरण करनेवाली, सुन्दरी, कान्तिमती, कालचक्रमयी, कामदायिनी और करुणा करनेमें उदार है, उस कालिका भवानीकी मैं पूजा करता हूँ। जो अत्यन्त कुपित, वीरभावसे युक्त, चण्ड, मायाविनी तथा चण्ड-मुण्ड नामक दैत्योंका नाश करनेवाली है उस प्रचण्ड पराक्रमवाली चण्डिका देवीकी मैं अर्चना करता हूँ। सदा आनन्द देनेवाली, शान्तिमयी, सर्वदेववन्दिता, सर्वभूतमयी, लक्ष्मीरूपा शाम्भवीकी मैं आराधना कर रहा हूँ। दुर्गम और दुस्तर कार्यमें सांसारिक कष्टोंको नष्ट करनेवाली, दुर्गतिनाशिनी दुर्गाकी मैं भक्तिपूर्वक पूजा करता हूँ। जिसकी सोनेकी-सी आभा है, जो परम सुन्दरी तथा

१—प्रत्येक मन्त्रके आदि-अन्तमें किसी बीज अथवा अन्य मन्त्रका उच्चारण करनेसे वह मन्त्र सम्पुटित होता है।

२—जैसे—कुमारीकी पूजा 'कुमार्यै नमः' इस मन्त्रसे करनी उचित है, इसी प्रकार अन्य कन्याओंके नामसे ही पूजन विहित है।

सुख-सौभाग्यको देनेवाली है, उस कल्याणजननी सुभद्रा देवीकी मैं पूजा करता हूँ।—इन पुराणोक्त मन्त्रोंद्वारा कन्याओंका पूजन करना चाहिये। **इति कुमारी-पूजा।**

अथ महायन्त्रादि-पूजनप्रकार

वेदीपर सुन्दर सर्वतोभद्रमण्डल बनाकर उसपर विधिपूर्वक कलश-स्थापन करे और कलशके ऊपर भगवती पार्वतीजीका आवाहन करे। उनके समक्षमें नाना उपचारोंद्वारा कन्याओं, ब्राह्मणों तथा नवार्ण मन्त्रद्वारा आवरणदेवताओंका पूजन करे। फिर सम्प्रदायके अनुसार ॐकारपीठ, पूर्णपीठ और कामपीठका अर्चन करे। पीठकी पूर्वादि दिशाओंमें गणेश आदि चारकी स्थापना करे। उनके नाम ये हैं—गणेश, क्षेत्रपाल, दो पादुकाएँ और तीन बटुक। आग्नेय आदि चारों कोणोंमें जया, विजया, जयन्ती और अपराजिता—इन चार देवियोंकी आराधना करे।

उपर्युक्त यन्त्रमें पूर्व कोणमें सरस्वतीसहित ब्रह्मा, नैर्ऋत्यमें श्रीसहित विष्णु और वायव्यमें उमासहित शिवकी स्थापना करे। षट्कोणचक्रके मध्यवर्ती मध्यबीजमें 'श्रीं महालक्ष्मी' और दायीं-बायीं ओर क्रमशः 'ह्रीं महाकाली' तथा 'ऐं महालक्ष्मी' का आवाहन करे। उत्तर दिशामें सिंह और दक्षिणमें महिषका स्थापन करे। छहों कोणोंमें पूर्वादि क्रमसे नन्दजा, रक्तदन्तिका, शाकम्भरी, दुर्गा, भीमा और भ्रामरीको स्थापित करे। इनकी पूजा आदि कार्योंमें इनके नामोंके अनुस्वाररहित प्रथम वर्ण और प्रणवविशिष्ट नाममन्त्रोंको ग्रहण करना चाहिये। जैसे—भ्रामरीकी पूजामें '**ॐ भ्रां भ्रामर्यै नमः**' इत्यादि रूपसे सर्वत्र समझ लेना चाहिये। फिर अष्टदलोंमें क्रमशः ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही, ऐन्द्री और चामुण्डाकी पूजा भी पूर्वोक्त रीतिसे नाममन्त्रोंद्वारा ही करे।

तदनन्तर अष्टदलकमलके किञ्जल्कोंमें पूर्वादि क्रमसे विष्णुमाया आदि चौबीस देवियोंकी आराधना करे। प्रत्येक दलमें तीन किञ्जल्क समझे। १. विष्णुमाया, २. चेतना, ३. बुद्धि , ४. निद्रा, ५. क्षुधा, ६. छाया, ७. शक्ति, ८. तृष्णा, ९. क्षान्ति, १०. जाति, ११. लज्जा, १२. शान्ति, १३. श्रद्धा, १४. कान्ति, १५. लक्ष्मी, १६. धृति, १७. वृत्ति, १८. स्मृति, १९. दया, २०. तुष्टि, २१. पुष्टि, २२. माता, २३. भ्रान्ति, २४.चिति—ये ही चौबीस देवियाँ हैं।

'सप्तशतीस्तोत्रके पाँचवें अध्यायमें इन चौबीस देवियोंका पाठ नहीं है'—ऐसा समझनेकी भूल न करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे कात्यायनी-तन्त्रसे विरोध पड़ता है। कमलनालके मूलमें माधव आदि चारकी पूजा करके आधार, कूर्म, शेष और पृथ्वीकी भी पूजा करे। गृहकोणोंमें गणेश, क्षेत्रपाल, बटुक तथा योगिनियोंकी और पूर्वादि दिशाओंमें इन्द्रादि देवताओंकी पूजा करनी चाहिये। इसी प्रकार चार दिनोंतक करे। उनमें भी प्रथम दिन सप्तशतीस्तोत्रका एक पाठ, दूसरे दिन दो, तीसरे दिन तीन और चौथे दिन चार पाठ प्रत्येक ब्राह्मण करे। पाँचवें दिन हवन होना चाहिये।

होम-द्रव्य

विधिपूर्वक स्थापित हुए अग्निमें तीन बार मधुसे भिगोये हुए हविष्य, द्राक्षा, केला, मातुलिङ्ग, ईख, नारियल, तिल, जातीफल, आम तथा अन्य मधुर द्रव्योंसे दस आवृत्ति सप्तशतीके प्रत्येक मन्त्रपर हवन करे और एक सहस्र नवार्ण मन्त्रसे भी हवन करे। फिर आवरणदेवताओंके लिये उनके नाममन्त्रोंद्वारा हवन करके यथोचितरूपसे पूर्णाहुति दे। तत्पश्चात् ब्राह्मणवृन्द देवताओंसहित अग्निका विसर्जन करके यजमानको कलशके जलसे अभिषित करे। यजमान प्रत्येक ब्राह्मणको एक-एक अशर्फी अथवा सुवर्ण दक्षिणारूपमें दान करे। फिर नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्योंद्वारा सौ ब्राह्मणोंको भोजन करावे और उन्हें दक्षिणा देकर आशीर्वाद ले। इस प्रकार करनेपर जगत् अपने वशमें होता है और सभी उपद्रव नष्ट हो जाते हैं। **इति शतचण्डीविधिः।**

'कल्याण'के पाठकों और अधिकारी साधकोंके समक्ष 'श्रीसप्तशतीमहायन्त्र'का शुद्ध स्वरूप निवेदन करनेके प्रयोजनसे साथमें विधानरूपसे 'शतचण्डीविधि'का पूरा प्रयोग ऊपर दे दिया गया है। बात यह है कि 'ऋग्वेदीय ब्रह्मकर्मसमुच्चय' नामक ग्रन्थ (निर्णयसागर-यन्त्रालय)को देखते हुए हमारी दृष्टिमें मुद्रित '**दुर्गासप्तशती-महायन्त्रम्**' का चित्र आया और पूरी तरह देखनेपर उसमें कई दोष अवगत हुए। क्योंकि 'शतचण्डीविधि' के वर्णन तथा अन्य तन्त्रसिद्ध महापुरुषोंके दीप्त अनुभवसे उस मुद्रित यन्त्रमें कुछ दोषपूर्ण भेद था। जैसे—सबसे अन्दरके छोटे त्रिकोणमें महाकाली आदि तीन महाशक्तियोंके

जो तीन बीज कोणोंमें रखे हुए हैं वे अलग-अलग निज शक्तिके साथ कोणके अन्तर्गत न होकर एक ही पंक्तिमें उस मुद्रित यन्त्रमें थे और इसपर भी 'श्रीं' के स्थानपर 'क्लीं' बीज अप्रासङ्गिकरूपसे था। इसके अतिरिक्त एक बड़ी अशुद्धि और थी। वह यह कि अष्टदलकी शक्तियोंका आरम्भ पूर्व दिशास्थ कमल-दलसे '**ब्रां ब्राह्म्यै नमः**' न होकर उस यन्त्रमें पश्चिम दिशास्थ कमलसे किया गया है। यह एक महान् त्रुटि है। 'तन्त्र' में किसी भी बातका इधर-से-उधर हेरफेर होना अथवा जरा-सा भी अन्यथारूपसे प्रयुक्त होना महान् दोष माना गया है। सब किया-कराया एकदम व्यर्थ हो जाता है। इन भावोंकी प्रेरणासे 'सप्तशती-महायन्त्र' का शुद्ध रूप 'श्रीशक्ति-अङ्क' के पाठकोंके सामने उपस्थित किया गया है। इसकी अनिवार्यता 'शतचण्डी' के अनुष्ठानमें होती है, जिसकी शास्त्रीय विधि पूरे तौरपर ऊपर अङ्कित है। 'शतचण्डी' श्रीदुर्गासप्तशतीका परम अस्त्र है, और उसकी शक्ति तथा प्रयोग सन्निहित हैं इस महायन्त्रमें। साधन-सिद्ध ग्रहीताके पास इस महायन्त्रका होना अखिल ब्रह्माण्डको अपने हस्तगत करना है। इस महायन्त्रने ब्रह्माण्डकी प्रत्येक बातको पूर्णताके साथ अपने अन्तर्गत रख छोड़ा है। और इस प्रकार उस साधकका जीवन दिव्य और पूर्ण हो जाता है। पूर्ण इसलिये कि इस छविमें समस्त भागवत-शक्तियोंका समावेश है। माँकी समस्त शक्तियोंसे भगवती दुर्गाका स्वरूप प्रत्येक भावसे पूर्ण है। किसी एक दिशा अथवा स्तरके भावमें माँ दुर्गा सीमित नहीं हैं। केवल ज्ञान, केवल बल अथवा केवल प्रेमसे वह बँधी हुई नहीं हैं। वह हैं अखण्डरूपसे समस्त भावोंको धारण किये हुए। इसीसे वह दुर्गा हैं—दुर्गमनीया। पूर्णा हैं; समस्त संख्याओंकी परम शिरोमणि अखण्ड नौ रूपसे अपनेको यत्र-तत्र विस्तृत किये हुए हैं—'**नवदुर्गाः प्रकीर्तिताः।**' माँकी ही करुणा एवं कृपाका बल—अपने अहङ्कारका नहीं—साधककी उचित अग्रगति करता है।

उपर्युक्त यन्त्रको साफ कागजपर अन्तरस्थ छोटे समत्रिकोणसे बनाना आरम्भ करे। पूर्व दिशा अपने सामने रहे! उसके बाद बाह्य षट् समकोण बनाकर (रक्तवर्ण), चारों ओर कृष्णवर्णका घेरा खींचकर उसके बाहर अष्ट कमलदल लाल रंगसे बनावे, और तदनन्तर घेरेके बाहर २४ कमलदल बनाकर और प्रतिकोण तथा कमलदलके अन्दर लिखित शक्तियोंको साथ-ही-साथ भरकर बाहर चारों द्वारयुक्त पीले रंगके चतुरस्रसे वेष्टित कर दे।

ऋष्यादिन्यास, करन्यासादि, जिनका पूरा विधान तन्त्र-ग्रन्थोंमें है, करके अनुष्ठानको आरम्भ करना चाहिये।

भोजपत्रपर यदि अङ्कित करना हो तो केशरयुक्त चन्दनसे बिल्व-लेखनीद्वारा अङ्कित करना चाहिये।

—'माता-सेवक'

श्रीराधावन्दना

श्रीवृषभानु कुमारिके, पग बंदौं कर जोर।
जे निसि-बासर उर धरैं, ब्रज बसि नंदकिसोर॥ १॥
कीरति कीरति कुँवरिकी, कहि कहि थके गनेस।
दस सत मुख बरनन करत, पार न पावत सेस॥ २॥
अज सिव सिद्ध सुरेस मुख, जपत रहत निसि जाम।
बाधा जनकी हरत है, राधा राधा नाम॥ ३॥
राधा राधा जे कहैं, ते न परैं भवफंद।
जासु कंधपर कमल कर, धरे रहत ब्रजचंद॥ ४॥
राधा राधा कहत हैं, जे नर आठो जाम।
ते भवसिंधु उलंघिके, बसत सदा ब्रजधाम॥ ५॥

श्रीदुर्गासप्तशती[१] और श्रीमद्भगवद्गीता

(लेखक—पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी)

श्रीव्यास-रचित मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशती विविधपुरुषार्थसाधिका, कर्मभक्तिज्ञानोत्तमसिद्धान्तप्रतिपादिका, वेदवेदान्ततत्त्वप्रकाशिका, सकलभक्ताभीष्टवरप्रदा, अभयदा एवं अशरणशरणदा है।

इसमें जिस विशद, विमल चरित्रत्रयका वर्णन[२] है उसका समन्वय भगवान् श्रीकृष्णद्वारा उपदिष्ट उन्हीं महर्षि भगवान् वेदव्यासजीकी विशाल बुद्धिकी कृति श्रीमद्भगवद्गीताके काण्डत्रयसे भलीभाँति होता है। इसका मूल कारण यह है कि दोनों सप्तशतियोंकी भित्ति वेदोपनिषद् ही है। और मन्त्र-ब्राह्मणोंमें परब्रह्म परमेश्वर परमात्माके नामसे और तन्त्र-शास्त्रमें[३] परम भावके नामसे एक ही परम तत्त्वका वर्णन है। श्रीकृष्ण[४] और श्रीकृष्णाकी[५] लीलाओंके उद्देश्यमें अन्तर क्या हो सकता है।

ऋग्वेदमें शक्तिरूपसे परब्रह्मका जो वर्णन है, उसका सारांश इस प्रकार है—'ब्रह्मद्वेषियोंके संहारार्थ, श्रीभगवती रुद्रके लिये धनुष चढ़ाती है और जनोंके लिये संग्राम उत्पन्न करती है। वह समस्त देशकी स्वामिनी है, उसके पास सब धन एकत्र हैं, उसके ज्ञानसे परे कोई वस्तु नहीं है तथा जो यज्ञके योग्य हैं उनमें वही एक प्रधान है, उसका वास समुद्रमें है, और वह त्रैलोक्यमें व्याप्त है।' उपर्युक्त देवी ही विश्वेश्वरी (सारे देशकी स्वामिनी) लक्ष्मी (समग्रधनसम्पन्ना) एवं सरस्वती (पराज्ञानशक्ति) आदि नामोंसे व्यपदिष्ट हुई हैं।

अस्त्र-शस्त्र-धारिणी श्रीभगवतीके जिस युद्धका वर्णन वेदमें समासरूपसे है, उसीको श्रीवेदव्यासजीने अपने ज्ञानचक्षुद्वारा देखकर पुराणोंमें व्यासरूपसे लिखा है।

वेदभगवान्ने जिस शक्तिका वर्णन किया है और जिसको अध्यात्मवादियोंने[६] (हैमवती) ब्रह्मविद्यारूपमें, वेदान्तियोंने[७] सृष्टिरचनाके कारणभूत लीलारूपमें, योगियोंने[८] चित्-शक्तिके स्वरूपमें, पूर्वमीमांसकोंने[९] धर्म तथा मन्त्रके रूपमें, नैयायिकोंने[१०] नित्यताको परमाणुके रूपमें तथा सांख्यदर्शनाचार्योंने[११] सृष्टिकर्तृत्वके रूपमें, वैष्णवभक्तोंने[१२]

१— इसमें ५३५ श्लोक, १०८ अर्ध श्लोक और ५७ 'उवाच', सब मिलाकर ७०० की संख्या है।

२— प्रथममध्यमोत्तमचरित्राणि—कर्मयोग, उपासनायोग और ज्ञानयोगके उच्चतम सिद्धान्तके लीलारूप हैं।

३— देवीविष्णुशिवादीनामेकत्वं परिचिन्तयेत्। भेदकृन्नरकं याति रौरवं नात्र संशयः॥ (मुण्डमाला)

४— 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।'
—से स्पष्ट है कि आत्ममायासे अवतरित परब्रह्म ही श्रीकृष्ण हैं।

५— ख्यात्यै तथैव कृष्णायै धूम्रायै सततं नमः॥ तस्यां विनिर्गतायां तु कृष्णाभूत् सापि पार्वती।
कालिकेति समाख्याता हिमालयकृताश्रया॥ (दुर्गा ५। १२, ८८)

प्रकृति+पुरुष=ब्रह्मके संयोगसे कार्य प्रकृति करती है। अतएव ब्रह्म+माया=प्रकृति+पुरुष=कृष्ण=कृष्णा (दुर्गा) है। अतः यहाँ गीता-सांख्य-सिद्धान्त एक ही है।

६— स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं ताᳬहोवाच किमेतद्यक्षमिति ॥ ३। १२॥ सा ब्रह्मेति होवाच ४। ५ (केनोपनिषद्)

७— लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् (ब्र० सू० अ० २ पा० १ सू० ३३) लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद्यस्मान्महतो भूताद्योनेः सम्भवः (शां० भाष्य १। १। ३)

८— पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति (यो० द० पा० ४। ३४)

९— अथातो धर्मजिज्ञासा॥ १॥ चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥ २॥ स एव ब्रह्म धर्मः स च धर्म्यभिन्न एव 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इति श्रुतेः, तस्यैव धर्मत्वाच्छक्तिरिति संज्ञा।

१०— सर्वं नित्यं पञ्चभूत नित्यत्वात् (न्याय० अ० ४। १। २९)
जलादिपरमाणुरूपस्य नित्यत्वम्॥

११— सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रकृतेर्महान् (सां० सू० १। ६१)
मूले मूलाभावादमूलं मूलम्॥ १। ६७॥

१२— आह्लादिनी शक्तिः।
राधा रासेश्वरी रासवासिनी रसिकेश्वरी। कृष्णवामांशसम्भूता परमानन्दरूपिणी॥

श्रीराधिकाजीके स्वरूपमें, कविकुलचूड़ामणि कालिदासजीने[१] परमेश्वरके साथमें सम्पृक्तरूपमें, गोस्वामी तुलसीदासजीने[२] अभिन्नभावसे सीतारामके रूपमें और श्रीमद्भगवद्गीतामें[३] भगवान् श्रीकृष्णने मातारूपमें वर्णन किया है, उसी परमा परमेश्वरीको विनीतभावसे प्रणाम कर, इस सप्तशतीके रहस्यके लेखको लेखक कल्याणार्थ प्रारम्भ करता है।

प्रथम चरित्र

दूसरे मनुके राज्याधिकारमें 'सुरथ' नामक चैत्रवंशोद्भव राजा क्षितिमण्डलका अधिपति हुआ। शत्रुओं तथा दुष्ट मन्त्रियोंके कारण उसका राज्य, कोषादि उसके हाथसे निकल गया। फिर वह मेधा नामक ऋषिके आश्रममें पहुँचा और वहाँ भी मोहवश प्रजा, पुर, शूर, हस्ती, धन, कोष और दासोंकी अर्थात् अल्प नाशवान्[४] पदार्थोंकी चिन्तामें लगकर दु:खी हुआ। केवल आत्मज्ञ पुरुष ही स्वराट्[५] होता है। सुरथकी वही दशा हुई जो भगवद्भक्ति-विहीन पुरुषोंकी होती है।

इसी आश्रममें 'समाधि' नामके वैश्यसे राजा सुरथकी भेंट हुई। यद्यपि यह वैश्य अपने धन-लोलुप स्त्री-पुत्रों-द्वारा घरसे बहिष्कृत कर दिया गया था, तब भी उनके दुर्व्यवहारको विस्मृत कर उनके वियोगमें दु:खी था।

इस प्रकार ये दोनों दु:खी होकर, 'मेधा' ऋषिके समीप पहुँचे। वहाँ दोनों शास्त्रानुसार सम्भाषण करके बैठ गये। राजाने ऋषिसे कहा—'जिस विषयमें हम दोनोंको दोष दीखता है उसकी ओर भी ममतावश हमारा मन जाता है। मुनिवर! यह क्या बात है कि ज्ञानी (बुद्धिमान्) पुरुषोंको भी मोह होता है।'

महर्षि उनको मोहका कारण बतलाते हुए कहने लगे—'इसमें कुछ आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि ज्ञानियोंको भी मोह होता है, क्योंकि महामाया भगवती अर्थात् भगवान् विष्णुकी योगनिद्रा (तमोगुणप्रधान शक्ति) ज्ञानी (बुद्धिमान्) पुरुषोंके चित्तको भी बलपूर्वक खींचकर मोहयुक्त कर देती है;[६] वही भक्तोंको वर प्रदान करती है, और वही 'परमा'[७] अर्थात् ब्रह्मज्ञानरूपा है।

राजाने भगवतीकी ऐसी महिमा सुनकर, ऋषिसे 'हे द्विज! हे ब्रह्मविदां वर! (ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ)' के सम्बोधनसे, तीन प्रश्न किये—

(१) वह महामायादेवी कौन है? (२) वह कैसे उत्पन्न हुई और (३) उसका कर्म तथा प्रभाव क्या है? मुनिने उत्तर दिया—

'नित्यैव सा[८] जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्॥'

अर्थात् वह जगन्मूर्ति नित्या है और उसीसे यह सब व्याप्त है। तब भी उसकी उत्पत्ति देवताओंकी कार्यसिद्धिके अर्थ कही जाती है।

अब प्रथम चरित्रके वर्णनके पूर्व यह कहना आवश्यक है कि इसमें 'मेधा', 'सुरथ' और 'समाधि', जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके नाम आये हैं, उनका आध्यात्मिक अर्थ क्या है।

(१) **'मेधा**—'आत्मज्ञान[९] लक्षणवाला।'

(२) 'सुरथ'[१०]—**'सुष्ठु रम्यतेऽत्र इति सुरथः, अतः सत्यप्रवृत्तिमार्गपथिकः।'**

१—वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ (रघु०)

२—गिरा अरथ जलबीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

३—पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः। (गीता ९। १७)

४—गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति। (छा० उप० ७। २४। २)

५—आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति। (छा० उप० ७। २५। २)

६—महात्मा तुलसीदासजी अपने रामचरितमानसमें कहते हैं—

बोले बिहसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥

७—'परमा' शब्द वेदमें शक्तिके वर्णनमें है। यथा—

'विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्।' (देखिये पं० राजारामकृत वेदोपदेश पृष्ठ ९२)

८—मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। (गीता ९। ४)

प्रकृतिपुरुषयोरन्यत्सर्वमनित्यम् (सा० द० ५। ७२)

९—मेधया आत्मज्ञानलक्षणया प्रज्ञया। (शाङ्करभाष्य गीता १८। १०)

१०—रमन्तेऽस्मिन् इति रथः। शोभनो रथो यस्य स सुरथः। (दुर्गा स० श०, शान्तनवी टीका)

(३) '**समाधि**[१]—' पुरुषके भोगार्थ जिसमें सब कुछ स्थापित किया जाता है, उसे समाधि कहते हैं। अतएव समाधिका अर्थ निवृत्तिमार्ग-जिज्ञासु हुआ; और इन दोनों जिज्ञासुओंके लिये मेधा-ऋषिकी शरणमें जाना ही श्रेय था। श्रीगीतामें 'बुद्धि' (अर्थात् मेधा) की शरणमें जानेका आदेश[२] है।

ऊपरके संवादके शब्द आध्यात्मिक और अनुबन्धचतुष्टयके द्योतक होनेसे सरस[३], सार्थक[४], सगर्भ[५] और सहेतु[६] हैं।

दुर्गासप्तशतीके चरित्रत्रयका प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मविद्या है और श्रीमद्भगवद्गीताके प्रत्येक अध्यायमें भी 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' कथन होनेसे दोनों सप्तशतियाँ गुह्य ब्रह्मविद्याविषयक हैं, यह तुलनात्मक रहस्य निकलता है। इस तात्पर्यका निर्णय उपक्रमोपसंहारादि षट्[७] लिङ्गसे भी होता है। सूतसंहितामें भी ऐसी उक्ति है—

पार्वती परमा विद्या ब्रह्मविद्याप्रदायिनी।

प्रथम चरित्रकी संक्षिप्त कथा

जब प्रलयके पश्चात् भगवान् विष्णु शेष-शय्यापर

और—

स्वारोचिषेऽन्तरे पूर्वं चैत्रवंशसमुद्भवः। सुरथो नाम राजाभूत् समस्ते क्षितिमण्डले॥ (दुर्गा० १। ४)

इसी तरह इस श्लोकमें स्वारोचिषे=ब्रह्मप्रभामें, अन्तरे=(सामासिक) आत्मामें, चैत्रवंशः=जीवः, कर्मसञ्चय करनेवाला प्राणी। क्षितिमण्डले=क्षरसङ्घाते=शरीरे इत्यादि आध्यात्मिक अर्थ बनते हैं। (शब्दार्थचिन्तामणिकोष)

१— समाधिः—समाधीयते सर्वमस्मिन्—

अर्थात्—

समाधीयतेऽस्मिन् पुरुषोपभोगाय सर्वमिति समाधिः। (शाङ्करभाष्य)

२— बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ (गीता २। ४९)

३— उत्तरमें मेधा ऋषि 'परमा' अर्थात् ब्रह्मज्ञानरूप भगवतीका वर्णन करने लगे, अर्थात् इसका प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मविद्या है। और ब्रह्मज्ञान (रसो वै सः) रसयुक्त वा सरस है।

४— राजा अपनेको तथा वैश्यको मोहग्रस्त कहता है। और बिना ब्रह्मविद्याके शोक-मोह दूर होता नहीं; इसलिये यहाँ ब्रह्मविद्याके द्वारा मोह-मुक्त होकर ब्रह्मविद्यासाक्षात्कार करना ही प्रयोजन है और प्रयोजन अर्थको कहते हैं। इस कारण सार्थक है।

५— 'यह क्या बात है कि ज्ञानी (बुद्धिमान्) जनोंको भी मोह होता है?' यह कहकर विषयोंमें दोष दिखाते हुए राजाने अपनेको एवं वैश्यको गुप्तरूपसे ज्ञानी कह ब्रह्मविद्याका अधिकारी बतलाया। अतएव ये शब्द सगर्भ हैं।

'क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसंयुतः।'

तथा—

'वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः।'

—के अनुकूल दोनों ज्ञानी अर्थात् शास्त्रसम्पन्न हैं।

६— ऋषिके प्रति 'ब्रह्मविदां वर' शब्दका प्रयोग करके राजाने यह बतलाया कि ब्रह्मज्ञोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण उनमें ब्रह्मविद्याके प्रतिपादन करनेकी पूर्ण योग्यता है। इस प्रकार प्रतिपादकका प्रतिपाद्य (विषय)-से सम्बन्ध है। एतदर्थ राजाका ऋषिको 'ब्रह्मविदां वर' कहकर सम्बोधन करना हेतुसहित अर्थात् सहेतु है।

७— यथा (१) उपक्रम—'सावर्णिः सूर्यतनयः'

तथा मेधा ऋषि पहले प्रथम अध्यायमें ही महामाया भगवती अर्थात् ब्रह्मविद्याके प्रभावका वर्णन करते हैं। देखिये—दुर्गासप्तशती अ० १ श्लोक० ५४ से ५८ तक।

(२) उपसंहार—'सावर्णिर्भविता मनुः'।

और महर्षि मेधा अन्तमें भी (अर्थात् बारहवें तथा तेरहवें अध्यायमें भी) उसी भगवतीके प्रभावका वर्णन करते हैं। देखिये दुर्गासप्तशती अ० १२ श्लोक ३६ से ३९ तक और अध्याय १३ श्लोक ३-४।

(३) अभ्यास—दुर्गासप्तशतीके पहले, चौथे, पाँचवें और ग्यारहवें अध्यायमें उसी महामाया भगवतीकी बारंबार स्तुति की गयी है और उसीका प्रभाव-वर्णन है।

(४) अपूर्वता—गुह्य ब्रह्मविद्याका चरित्ररूपसे वर्णन करना ही अपूर्वता है।

(५) अर्थवाद—रुचिप्रवर्धक युद्धविषयक वर्णन ही अर्थवाद है।

(६) फल—वैश्य और राजाकी अभीष्ट फल-प्राप्ति, मोह-विमुक्ति तथा ब्रह्मविद्या-साक्षात्कार ही फल है।

योगनिद्रामें निमग्न हुए, तब उनके कर्ण-मलसे मधु और कैटभ नामक दो असुर उत्पन्न होकर, हरि-नाभि-कमल-स्थित ब्रह्माजीको ग्रसने चले। तब ब्रह्माजी भगवान्की योगनिद्राकी षट् तुरीया[१] शक्तिके रूपमें सुन्दर सरस स्तुति परम प्रेमपूर्वक करने लगे और उसमें उन्होंने ये तीन प्रार्थनाएँ[२] कीं—(१) भगवान् विष्णुको जगा दीजिये। (२) उन्हें असुरद्वयके संहारार्थ उद्यत कीजिये और (३) असुरोंको विमोहित करके भगवान्द्वारा उनका नाश करवाइये। श्रीभगवतीने स्तुतिसे प्रसन्न होकर ब्रह्माजीको दर्शन दिये। उससे (योगनिद्रासे) मुक्त होकर श्रीभगवान् उठे और असुरोंसे युद्ध करने लगे। तदुपरान्त असुरयुगल योगनिद्राके द्वारा मोहित हुए और उन्होंने भगवान्से वरदान माँगनेको कहा। अन्तमें उसी वरदानके अनुसार वे भगवान्के हाथों मारे गये।

इस कथासे तीन बातोंका निष्कर्ष निकलता है—

(१) ब्रह्माको गुणत्रयसे परे परमभाव-परमाशक्तिका ज्ञान। (२) प्रकृतिके गुणत्रयका कार्य, उसके कर्तृत्वका भान और (ब्रह्माका) अपने सृष्टिकर्तृत्वमें निरहङ्कारत्व और (३) मधु[३]-कैटभ[४] अर्थात् सुकृत-दुष्कृतमें निर्ममत्व तथा उसके निर्मूलनका प्रयत्न।

इसीकी श्रीमद्भगवद्गीतामें तीन श्लोकोंद्वारा इस प्रकार व्याख्या की गयी है। (१) जो ज्ञानी पुरुष गुणोंके अतिरिक्त[५] किसी अन्यको कर्ता नहीं जानता और आत्माको गुणोंसे परे साक्षीरूप समझता है वह मेरे रूपको प्राप्त करता है। (२) प्रकृतिके (सत्त्व, रज और तम) गुणत्रयद्वारा समस्त कर्म होते हैं। अहङ्कारसे मूढात्मा 'मैं करता हूँ' ऐसा समझता है[६]। (३) बुद्धियुक्त पुरुष सुकृत-दुष्कृतको छोड़ता है।[७] इसी बातको योगदर्शनमें इस प्रकार कहा है कि विवेकियोंके लिये पुण्य और पाप अर्थात् सुख-दुःख (सुकृत-दुष्कृत) दोनों ही (दुष्कृत) दुःखरूप हैं।[८]

इसी बातके समर्थनमें मुण्डकोपनिषद्में 'पुण्य-पापको छोड़कर निरञ्जन विद्वान् परम साम्यावस्थाको प्राप्त होता है' कहा है। यथा—

१—तुरीय चैतन्यकी छः शक्तियाँ हैं—ज्ञान, इच्छा, क्रिया, मात्रिका, कुण्डलिनी और परा।

(व्यष्टिसमष्टिभेदेन संज्ञा अनन्तास्तन्त्रान्तरादवगन्तव्याः, त्रितयसमष्टित्वादेवैषा तुरीयेति शक्तिर्निर्दिश्यते। गुप्तवतीटीकायाम्)

(१) ज्ञान—'महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः।'

(२) इच्छा—'प्रकृतिस्त्वं च सर्वस्य गुणत्रयविभाविनी'

(३) क्रिया—'त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत्। त्वयैतत्पाल्यते देवि……।'

(४) मात्रिका—'सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता। अर्धमात्रास्थिता नित्या' इत्यादि (तुर्याभिधा चतुर्धरी टीका)

(५) कुण्डलिनी—'सोऽपि निद्रावशं नीतः……कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः।'

(६) परा—'परापराणां परमा'

२—वास्तवमें प्रकृति-गुणोंके यही कार्य हैं। इस विषयमें गीता और सांख्यदर्शनका मतैक्य है। (१) ज्ञान कराना सत्त्वगुणका काम है, (२) उद्यत करना, कर्मारम्भ, प्रवृत्ति आदि रजोगुणका कार्य है और (३) मोहन करना तमोगुणका कृत्य है। देखिये श्रीमद्भगवद्गीता चौदहवें अध्यायके श्लोक ८, ११ और १२।

३—'मधु मिष्टं कर्मफलम्' (कठोपनिषद्भाष्य २-१)

४—'अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम्।' (बृहदा० ब्राह्मण २, अ० ६, मन्त्र १५) 'तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।' (गीता १४। १५)

तत्र भाष्ये—तामसस्य कर्मणः=अधर्मस्येति अर्थात् दुष्कृतस्य। कैटभः=दुष्कृतः।

५—नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ (गीता १४। १९)

६—प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥ (गीता ३। २७)

७—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। (गीता २। ५०)

८—'ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्। परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।'
(योगदर्शन-साधनपाद, १४ वाँ, १५ वाँ सूत्र)

और दुर्गासप्तशतीमें भी मधु-कैटभके नाशका माहात्म्य सुननेका प्रथम फल दुष्कृतका नाश ही कहा गया है (सुकृत तथा दुष्कृत दोनों ही शान्ति-मार्गमें दुष्कृतरूप हैं)—

'न तेषां दुष्कृतं किञ्चित्……।' (श्रीदुर्गा १२। २—५)

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।
(मुण्ड० ३। १। ३)

अतएव इसी साम्यावस्थानन्दगत ब्रह्माजी इसके विघ्न मधु-कैटभरूप सुख-दुःखको निर्मूल करनेके लिये परमाकी प्रेममयी स्तुति करने लगे।

इस कथासे श्रीब्रह्माजीने यह उपदेश दिया कि 'जो भगवतीकी आराधना करते हैं एवं कर्तृत्वके अभिमान तथा सुकृत-दुष्कृतरूपी कर्मफलको त्यागकर अपने विहित कर्ममें प्रवृत्त रहते हैं उनका जीवन शान्तिपूर्वक निर्विघ्न रूपसे व्यतीत होता है।' यही ब्राह्मी स्थिति[१] है, जिसे पाकर मनुष्य मोह-ग्रस्त नहीं होता। महर्षि मेधा सुरथ तथा समाधि दोनों जिज्ञासुओंके मोहके निराकरणार्थ कर्मके उच्चतम सिद्धान्तका निरूपण करके उपासना तथा ज्ञानयोगके तत्त्वको भगवतीके अन्यान्य प्रभावोंद्वारा वर्णन करने लगे।

मध्यम चरित्रकी कथाका सारांश

इस कथामें ऋषिने सुरथ तथा समाधिके प्रति मोह-जनित सकामोपासनाद्वारा अर्जित फलोपभोगके निरा-करणके लिये निष्कामोपासनाका उपदेश किया है।

प्राचीन कालमें महिष नामक एक अति बलवान् असुरने जन्म लिया। वह अपनी शक्तिसे इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, यम, वरुण, अग्नि, वायु तथा अन्य सुरोंको हराकर स्वयं इन्द्र बन गया और उसने समस्त देवताओंको स्वर्गसे निकाल दिया। अपने स्वर्ग-सुख—भोगैश्वर्यसे वञ्चित होकर दुःखी देवगण साधारण मनुष्योंकी भाँति मर्त्यलोकमें भटकने लगे। अन्तमें व्याकुल होकर वे लोग ब्रह्माजीके साथ भगवान् विष्णु और शिवजीके निकट गये और उनके शरणागत होकर उन्होंने अपनी कष्ट-कथा कही।

देव-वर्गकी करुण कहानी सुन लेनेपर हरि-हरके मुखसे महत्तेज प्रकट हुआ। इसके पश्चात् ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, यमादि देवताओंके शरीरसे भी तेज निकला। वह सब एक होकर, तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाली एक दिव्य देवीके रूपमें परिणत हो गया।

विधि-हरि-हर त्रिदेवों तथा अन्य प्रमुख सुरोंने अपने-अपने अस्त्र-शस्त्रोंमेंसे दिव्य प्रकाशमयी उस तेजोमूर्तिको अमोघ अस्त्र-शस्त्र दिये। तब श्रीभगवती अट्टहास करने लगीं। उनके उस शब्दसे समस्त लोक कम्पायमान हो गये।

तब असुरराज महिष[२] 'आह यह क्या है?' ऐसा कहता हुआ सम्पूर्ण असुरोंको साथ लेकर उस शब्दकी ओर दौड़ा। वहाँ पहुँचकर उसने उस महाशक्ति देवीको देखा, जिसकी कान्ति त्रैलोक्यमें फैली है और जो अपनी सहस्र भुजाओंसे दिशाओंके[३] चारों तरफ फैलकर स्थित है। इसके बाद असुर देवीसे युद्ध करने लगे।

श्रीभगवती और उसके वाहन सिंह[४] ने कई कोटि असुरसैन्यका विनाश किया। तत्पश्चात् श्रीभगवतीके द्वारा चिक्षुर, चामर, उदग्र,[५] कराल, बाष्कल, ताम्र, अन्धक, अतिलोम, उग्रास्य, उग्रवीर्य, महाहनु, विडालास्य, महासुर दुर्धर और दुर्मुख—चौदह असुर-सेनानी मारे गये। अन्तमें महिषासुर महिष, हस्ती, मनुष्यादिके रूप धारण करके श्रीभगवतीसे युद्ध करने लगा और मारा गया।

अपने समग्र शत्रुओंके मारे जानेपर देवगणने आह्लादित

१— यहाँ ब्राह्मीमें श्लेष है। ज्ञानयोगमें 'ब्रह्मणि भवा इयं स्थितिः' और कर्मयोगमें 'ब्रह्मणः (ब्रह्माकी) स्थितिः' ऐसा अर्थ है। कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ (गीता २। ४७)

२— देवता कामसे पूजे जाते हैं, यथा निरुक्ते—'यत्काम' ऋषिर्यस्यां देवतायामर्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति' और स्वर्गके भोगैश्वर्यप्रसक्त देवतालोग कामके वशमें हैं। यही काम महिषरूप है, क्योंकि मंहयति पूजयति देवाननेनेति महिषः कामः इति कोषः। यथा गीता अ० ३। ४३-४४।

३— 'सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥' (गीता ११। ४६)
तथा 'व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।' (गीता ११। २०)-का ही भाव श्री दु० स० के 'दिशो भुजसहस्रेण समन्ताद्व्याप्य संस्थिताम्॥ (२। ३९)-में है।

४— मध्यम तथा उत्तम चरित्रमें श्रीभगवतीका वाहन जो सिंह है वह धर्म है। यथा-''''सिंहं समग्रं धर्ममीश्वरम्'।—श्रीदुर्गासप्तशती (वैकृतिकरहस्यम्)

५— इन चौदह द्वन्द्वोंमें उदग्र, उग्रास्य, वाष्कलादि सात तथा दुर्मुख, दुर्धर करालादि सात ये सुख-दुःख द्वन्द्व हैं। उदग्र—मान-दुर्मुख-अपमानादिका अर्थ संक्षेपतः गीताके सप्तद्वन्द्वोंसे मिलता-जुलता है।

होकर आद्याशक्तिकी स्तुति की और वर माँगा—

'जब-जब हमलोग विपद्ग्रस्त हों तब-तब हमें आपदाओंसे विमुक्त करें और जो मनुष्य आपके इस पवित्र चरित्रको प्रेमपूर्वक पढ़ें या सुनें वे सम्पूर्ण सुख और ऐश्वर्योंसे सम्पन्न[१] हों।'

श्रीभगवती देवताओंको ईप्सित वरदान देकर अन्तर्धान हो गयीं। इस चरित्रमें मेधाऋषिने इन्द्रादि देवगणके राज्याधिकारका अपहरण, आत्मशक्तिद्वारा उनके दुःखोंका निराकरण तथा पुनः स्वराज्य-प्राप्तिका वर्णन करके सुरथ राजाके शोक-मोहके निवारणके लिये उसी आत्मशक्तिकी भक्तिका उपदेश किया है।

उपर्युक्त कथामें पाँच बातें हैं, जिनका श्रीमद्भगवद्गीतामें क्रमशः इस तरह वर्णन किया है।

(१) **देवासुरसंग्राम**—पृथ्वीके प्राणी और स्वर्गके समस्त सुर-समूहके ऊपर प्रकृतिज गुणत्रयका प्रभाव पड़ता[२] है। जो प्राणी शास्त्रानुकूल विधिपूर्वक श्रीकृष्णोपासनाद्वारा स्वर्ग चाहते हैं उन्हें स्वर्ग-भोग प्राप्त होता है[३]।

जो शास्त्र-विरुद्ध घोर तप करके आत्माको क्लेश पहुँचाते हैं वे असुर[४] हैं। वे देवताओंकी श्रद्धासहित उपासना करके उनसे वरद्वारा स्वर्गादि देव-भोग[५] प्राप्त करते हैं; परन्तु वह फल भी श्रीकृष्णविहित[६] ही होता है।

इसी तरह इन दोनों सुरासुर सकामोपासकोंका मिलन देवलोकमें हो जाता है और परमभावको न जाननेसे इच्छाद्वेषादिवश अर्थात् प्रकृतिके विकारवश शान्तिरहित जीवन—युद्ध-युक्त जीवनमें समय व्यतीत करते हैं[७]।

(२) **देवताओंका पराजय**—जिस प्रकार पिण्डमें कभी सत्त्वगुण तथा रजोगुणको तमोगुण दबा लेता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्डमें गुणत्रयकी लीला[८] हुआ करती है।

इच्छा[९]-द्वेष और उससे उत्पन्न हुए द्वन्द्वोंके[१०] वशीभूत होकर स्वर्ग-भोग-प्राप्त प्राणी श्रीकृष्णाराधनाको भूल जाते हैं और अपने पुण्य-कर्मोंके क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त[११] होते हैं। यही दशा तमोगुण असुरोंसे परास्त सकामोपासक सात्त्विक सुरोंकी हुई।

(३) **हरि-हरकी शरणमें जाना**—जिन पुण्यात्माओंके पाप बीत गये हैं, और जो इच्छाद्वेषजनित द्वन्द्वोंसे विनिर्मुक्त हैं वे दृढ़व्रती होकर परब्रह्म परमात्माकी उपासना करते हैं[१२]।

और जो दत्तचित्त होकर सर्वदा परमात्माका स्मरण करता है उस एकाग्र चित्तवाले योगीको वह सुलभतापूर्वक

१—दुर्गासप्तशती

२—देखिये गीता १८। ४०

३— ,, ,, ९। २०

४— ,, ,, १७। ५-६

५— ,, ,, ९। २३; ७। १५—२३ और ४। १२

और कालीपुराण तथा देवीभागवतमें रम्भासुरका तपस्याद्वारा वर प्राप्त करनेकी कथा देखिये।

६—देखिये गीता ७। २२

७—देखिये गीता अ० १० के १४ वें श्लोकका उत्तरार्ध तथा १३। ६ और

'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी' (गीता २। ७०)

८—देखिये गीता अ० १४। १० और ७। १३

९—भगवान् श्रीकृष्णने इच्छा-द्वेष अर्थात् काम-क्रोधको, जो रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं, महापापी शत्रु बतलाया है। ये उसी प्रकार ज्ञानको ढक लेते हैं, जिस प्रकार असुरोंने देवताओंका दमन किया था। और इन्हींको भगवान्ने दुरासद रिपु कहकर मारनेकी आज्ञा दी है। देखिये गीता ३। ३७, ३९-४०

१०—सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-आत्मसंस्तुति, मान-अपमान, मित्र-शत्रु, शीत-उष्ण (हर्ष-विषाद) और लोष्ट-अश्म-काञ्चन ये सात मुख्य द्वन्द्व गीतामें आये हैं, ये उपासनाके विघ्न हैं और इन्हींसे सब मोहको प्राप्त होकर परमात्माको भूल जाते हैं। देखिये गीता ७। २७

११—देखिये गीता अ० ९। २१

१२—देखिये गीता ७। २८

मिल जाता है[१]। इसी कारण श्रीब्रह्माजी सब देवताओंको ईश्वरकोटिके परमभावज्ञ निरीह कामारि[२] श्रीहरि-हरकी शरणमें ले गये। वहाँ उनके द्वारा परमभावकी सुलभता थी। अर्थात् आत्मशक्तिका सुखपूर्वक प्रत्यक्ष अनुभव था।[३]

(४) **ब्रह्मा, विष्णु, शङ्करादिके तेजके एकत्वसे देवताओंका विजयी और असुरोंका पराभूत होना**—ब्रह्मा, विष्णु, शङ्करके तेजके एकत्वसे जो परम तेजोमयी देवीमूर्ति हुई। पुनः उस पार्वतीके स्वरूपसे अनेक देवियोंकी उत्पत्ति तथा उसीमें लय होना आदिको श्रीआद्याशक्तिने इस तरहसे कहा है—

'इस संसारमें मैं एक[४] ही हूँ। मुझसे दूसरा कौन है?'

एकमेवाद्वितीयमिति श्रुतेः। परमात्मरूपाहमेकैवास्मि।

मैं अपनी विभूतिद्वारा बहुत-से रूपोंमें स्थित थी; अब उन रूपोंको अपनेमें लय करके एकाकी स्थित हूँ। अर्थात् भगवतीकी[५] विभूति तेजोरूपसे समस्त देवादिमें व्याप्त है। अपनी विभूतिसे वह बहुत होती है; वास्तवमें एक ही है। यथा—**'एकोऽहं बहु स्याम्।'** यही बात श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कही है—'मेरी दिव्य विभूतियाँ अनन्त हैं; जो पदार्थ ऐश्वर्यमान्, कान्तिमान् और श्रीमान् हैं, वे सब मेरे तेजोंऽशसे उत्पन्न[६] हुए हैं।'

असुरोंका पराजित होना—देवताओंने धर्माचरणसे स्वर्ग प्राप्त किया था। परन्तु वे स्वर्गीय भोगैश्वर्यप्रसक्त होकर परमभावकी उपासनाको विस्मृत कर बैठे थे, इसी कारण वे निजाधिकारोंसे च्युत हुए। पीछे जब वे श्रीहरि-हरकी शरणमें गये और उन्होंने श्रीभगवतीका साक्षात्कार किया, तब उस आद्याशक्तिने उनकी रक्षा और असुरोंका नाश किया। यही बात गीतामें पायी जाती है। जब-जब धर्मकी ग्लानि होती है तब-तब भगवान् साधुजनोंका त्राण और दुष्कृतों (दुष्टों)-का नाश तथा धर्मकी स्थापना करनेके निमित्त अवतार[७] लेते हैं। और यदि कोई दुराचारी भी सबको त्यागकर उनकी आराधना करता है तो वह भी शीघ्र धर्मात्मा होकर[८] मोक्ष प्राप्त करता है और उसका कभी नाश नहीं होता अर्थात् परमात्माका भक्त कभी विनाशको प्राप्त नहीं होता[९]।

महिष काम अथवा इच्छाको कहते हैं। यही परमात्मामें लगी रहे तब कल्याणदायिनी है और जब भोगादिमें लगी रहे तब विघ्नस्वरूपा है। देववर्ग भी स्वर्ग-भोगैश्वर्यकी इच्छाके वशीभूत थे। श्रीभगवतीके दर्शन करनेपर देवगणकी रक्षा हुई और युद्धमें असुरोंने भी भगवतीका साक्षात्कार किया। इसलिये उनके पापोंका क्षय होकर उन्हें पुनः स्वर्ग प्राप्त हुआ।[१०] इसका कारण यह है कि श्रीकृष्ण वा श्रीकृष्णाके सम्मुख[११] होनेपर सब पाप दूर होकर असुरभावका नाश होता है। यहाँ दुष्टोंके नाशसे उनकी दुष्टताके नाशका तात्पर्य है।

(५) **देवताओंकी स्तुति और वरप्राप्ति**—भगवती आत्मशक्तिकी स्तुति जो पुनः देवताओंने की उससे स्पष्ट है कि वे अपनी भूल समझ गये; अर्थात् उनकी इस स्तुतिसे यह प्रकट[१२] होता है कि देववृन्द दोषवश

१—देखिये, गीता ८। १४

२—जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।

३—देखिये, गीता ९। २

४—श्रीदुर्गासप्तशती, अ० १०। ५—८ देखिये।

५—भगवान्ने गीताके दसवें अध्यायमें ब्रह्मा, विष्णु, शङ्कर, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, यम, वरुण, वायु, अग्नि आदि देवताओंको अपना ही स्वरूप बतलाया है, अर्थात् 'ये सब मैं हूँ' कहा है और अपने एक अंशमें समस्त विश्वका स्थित होना कथन किया है।

६—देखिये. गीता १०। ४०-४१

७—देखिये, गीता ४। ७-८

८—देखिये, गीता ९। ३०

९—देखिये, गीता ९। ३१

१०—यह बात देवताओंकी स्तुतिसे सिद्ध है। देखिये, दुर्गासप्तशती ४। १९

११—गोस्वामी तुलसीदासजीने भी लिखा है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

१२—(१) देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या।

(२) यस्याः प्रभावमतुलं भगवाननन्तो ब्रह्मा हरश्च न हि वक्तुमलं बलं च।

(३) 'हेतुः समस्तजगतां त्रिगुणापि दोषैर्न ज्ञायसे·····'

(४) 'स्वर्गं प्रयाति च ततो भवतीप्रसादाल्लोकत्रयेऽपि फलदा ननु देवि तेन।'

यानी काम, क्रोध, राग, द्वेषादिके वशीभूत होकर उस आद्याशक्तिको नहीं जानते थे। इस बातके समर्थनमें गीताका यह वचन है—'समस्त जीवधारी (भूत) इच्छा तथा द्वेषसे उत्पन्न हुए द्वन्द्वद्वारा मोहित होकर मुझे भूल जाते हैं[१]।'

पीछे देववर्ग परमभावको जानकर मोह-मुक्त हुए। यही बात गीतामें कही है—'जो मुझे जानता है वह मोह-रहित है। वह सब पापोंसे विमुक्त हो जाता है।' देवगण यह भी जानने लगे कि 'उनमें जो शक्ति है वह सब उसी परमेश्वरीकी है और स्वर्ग-प्राप्त भोगैश्वर्यका कारण जो फल है, उसको देनेवाली नि:सन्देह तीनों लोकोंमें वही परमा पराशक्ति है।' यह भी मानने लगे। देवताओंकी प्रार्थनापर भगवतीने उन्हें वर[२] दिया कि जब-जब विपद्ग्रस्त होकर वे उसका स्मरण करेंगे, तब-तब वह उनका सङ्कट दूर करेगी।[३]

उत्तम चरित्र

मध्यम चरित्रमें मोहका कारण कर्मफलासक्त देवोंद्वारा दिखाया जाकर, उत्तम चरित्रमें परानिष्ठा ज्ञानके बाधक आत्ममोहन अहंकारादिके निराकरणका वर्णन किया गया है।

कथाका सारांश

पूर्वकालमें शुम्भ और निशुम्भ दो महापराक्रमी असुर हुए। उन्होंने इन्द्रका त्रैलोक्यका राज्य और यज्ञोंका भाग छीन लिया। वे दोनों ही सूर्य, चन्द्र, कुबेर, यम, वरुण, पवन और अग्निके अधिकारोंके अधिपति बन बैठे; और उन्होंने सुरसमाजको स्वर्गसे निकाल दिया। तब सशोक अमर्त्य मर्त्य-लोकमें आये। बारंबार दु:सह दु:खसे दयनीय दशा-अधिगत त्रिदशोंको दर्पादि दुर्दान्त दानवोंके नितान्त दमनका कार्य अनिवार्य प्रतीत हुआ; और वे हिमाद्रिपर जाकर दयार्द्रहृदया श्रीदुर्गादेवीके पादपद्मद्वयकी दिव्य ज्ञानमयी वन्दना करने लगे। श्रीभगवती पार्वती अपने वचनानुसार[४] हिमालय-पर्वतपर गङ्गाजीके किनारे प्रकट हुईं; और उन्होंने सुरोंसे पूछा—'तुम किसकी स्तुति कर रहे हो?' उनके इतना कहते ही उनके शरीरसे शिवा निकलकर कहने लगी—'ये शुम्भ-निशुम्भसे रणपरास्त निरस्तशासन पाकशासनादि मेरी स्तुति कर रहे हैं।'

पार्वतीके शरीरसे अम्बिका उत्पन्न हुईं; एतदर्थ ये कौशिकी नामसे प्रसिद्ध हैं। और भगवती पार्वतीके शरीरसे शिवाके निकल जानेपर उनका वर्ण कृष्ण हो गया। अतएव ये कालिकाके नामसे विख्यात होकर हिमालयपर रहने लगीं। तत्पश्चात् परम सुन्दरी अम्बिकाको शुम्भ-निशुम्भके भृत्य चण्ड-मुण्डने देखा। और उन दोनोंने शुम्भसे जाकर उसके अतुल सौन्दर्यकी प्रशंसा की। उसने अपने भृत्योंकी बात सुनकर सुग्रीव नामक असुरको अम्बिकाको ले आनेके लिये भेजा।

सुग्रीवने भगवतीके पास पहुँचकर शुम्भ-निशुम्भके बलैश्वर्यकी बड़ी प्रशंसा की और उससे परिग्रहकी बात कही।

भगवतीने उत्तर दिया—'जो मुझे संग्राममें पराभूत करके मेरे बल-दर्पको नष्ट करेगा उसीको मैं पतिरूपमें स्वीकार करूँगी, यही मेरी अटल प्रतिज्ञा है।'

सुग्रीवने शुम्भ-निशुम्भके निकट जाकर भगवती अम्बिकाकी प्रतिज्ञा विस्तारपूर्वक कह सुनायी। असुरेन्द्रोंने कुपित होकर धूम्रलोचन नामक असुरको भेजा। भगवतीने धूम्रलोचनको हुङ्कारसे[५] भस्म कर दिया। और उन्होंने तथा उनके वाहन सिंहने असुर-सेनाका विनाश किया। तदुपरान्त असुरराज शुम्भने चण्ड-मुण्ड दोनोंको बहुत बड़ी सेनाके साथ भगवती कौशिकीको पकड़ लाने अथवा मार डालनेके लिये भेजा। वे सब हिमालयपर

१—देखिये, गीता ७। २७।

२—भगवान् कहते हैं—'मुझे जो जिस तरह भजता है उसे मैं उसी तरह फल देता हूँ।' (गीता ४। ११)

३—भगवतीका साक्षात्कार होनेपर भी देवगण अपनी भोगासक्ति-प्रकृतिवश स्वर्ग-भोगके लिये लालायित हुए तथा संकटग्रस्त होनेपर रक्षा करनेका वर माँगा; यही सकाम वासना है।

सदृशं चेष्टते स्वस्या: प्रकृतेर्ज्ञानवानपि। प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रह: किं करिष्यति॥ (गीता ३। ३३)

४—भगवान् कृष्ण कहते हैं—'जो सबको त्यागकर योगद्वारा केवल मेरा ही चिन्तन और स्मरण करते हैं, जो मुझमें दत्तचित्त हैं उन्हें मैं शीघ्र मृत्युरूप संसारसागरसे बचा लेता हूँ।' देखिये, गीता १२। ६।

५—हुं क्रोधे दु:खे·····इति कोषे।

जाकर भगवतीको पकड़नेका प्रयत्न करने लगे। तब अम्बिकाने शत्रुओंपर अत्यन्त कोप किया, और उसके ललाटसे एक भयानक कालीदेवी प्रकट हुई। उसने असुर-सेनाका विनाश किया और चण्ड-मुण्डका सिर काटकर अम्बिकाके पास ले गयी; इसी कारण उसका नाम चामुण्डा पड़ा।

चण्ड-मुण्डके वधका समाचार सुनकर असुरेशोंने एक बड़ी सेना, जिसमें सात सेनानायकोंका विभाग था, भगवतीसे युद्ध करनेके लिये भेजी। उस समय ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, महावराह, नृसिंह और स्वामिकार्तिक, इन सात प्रमुख देवोंकी शक्तियाँ असुर-सेनासे युद्ध करनेके लिये आयीं। फिर अम्बिकाके शरीरसे अत्यन्त भयङ्कर शक्ति निकली; और भगवतीने शुम्भ-निशुम्भके पास शिवजीको दूतरूपमें भेजकर उनसे कहलाया—'यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो देवताओंको उनके छीने हुए लोक एवं यज्ञाधिकार लौटा दो और पातालमें जाकर रहो।'

बलसे उन्मत्त शुम्भ-निशुम्भने देवीकी बात नहीं मानी और युद्धस्थलमें सेनासहित उपस्थित हुए। भगवतीने देवशक्तियोंकी सहायतासे असुरसैन्यका संहार करना प्रारम्भ किया और असुर-युगलका रक्तबीज नामक एक सेनाध्यक्ष भगवती और देवशक्तियोंसे युद्ध करने लगा। उसके शरीरसे शोणितके जितने बिन्दु पृथ्वीपर गिरते थे, उतने ही रक्तबीज उत्पन्न हो जाते थे। अन्तमें देवीने चामुण्डाको आज्ञा दी कि वह अपने मुखका विस्तार करके रक्तबीजके शरीरके रक्तको अपने मुखमें ले और उससे उत्पन्न असुरोंको भक्षण करे। चामुण्डाने ऐसा ही किया और भगवतीने उस असुरका सिर काट डाला। तत्पश्चात् निशुम्भ भगवतीसे युद्ध करने लगा और मारा गया। तब शुम्भने क्रोधित होकर अम्बिकासे कहा—'तू दूसरोंके बलका सहारा लेकर अभिमान करती है।'

श्रीभगवतीने उत्तर दिया—'संसारमें मैं एक ही हूँ; ये समस्त विभूतियाँ मेरी रूपान्तरमात्र हैं। ये मुझसे ही प्रकट हुई हैं और मुझमें ही विलुप्त हो जायँगी।'

इसके बाद सातों शक्तियाँ, जो देवीके शरीरसे निकली थीं, उसीमें प्रविष्ट हो गयीं और शुम्भ भी देवीके युद्धकौशलसे मारा गया। देवगणने हर्षित होकर ३४ श्लोकोंमें अम्बिकाकी स्तुति की। अन्तमें देवी प्रसन्न होकर बोली—'संसारका उपकार करनेवाला वर माँगो।'

देवताओंने कहा—'जब-जब हमारे शत्रु उत्पन्न हों तब-तब उनका नाश हो।'

भगवती आद्याशक्तिने 'एवमस्तु' कहा और भविष्यमें सात बार भक्त-रक्षणार्थ अवतार लेनेकी कथा तथा दुर्गाचरित्रके पाठका माहात्म्य वर्णन करके अन्तर्धान हो गयी।

यह चरित्र ज्ञानकाण्डका है और इसमें चार विषय हैं—(१) देवताओंका सात्त्विक ज्ञानसे स्तुति करना, (२) ज्ञानके विरोधी अहङ्कारका नाश, (३) भगवतीका अद्वैतभाव और (४) स्तुति-विवरण।

(१) देवताओंको भगवतीकी उपासनाका ज्ञान था। इसी हेतु उनको अब श्रीब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन तत्त्वज्ञ ईश्वरकोटिके देवताओंके निकट जानेकी आवश्यकता न थी; और वे जगज्जननी भगवतीकी स्तुति ज्ञान-दृष्टिसे करनेको प्रवृत्त हुए। सात्त्विक ज्ञानका लक्षण श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार कहा है—'जिस ज्ञानद्वारा मनुष्य समस्त पृथक्-पृथक् भूतोंमें एक ही अभिन्न अविनाशी परमात्माके दर्शन करता है, वह सात्त्विक ज्ञान* है।'

अतएव देवगण '**या देवी सर्वभूतेषु**' इत्यादि स्तुतिसे सब भूतोंमें उसी आद्याशक्तिका एक अव्यय, अविनाशी भाव जानकर २३ मातृगणोंद्वारा उसकी वन्दना करने लगे।

(२) परमार्थ-पथ-तत्पर प्रपन्न पुरन्दरादि देवोंने शुम्भ-निशुम्भादि विपक्षियोंके क्षयकी कांक्षा प्रकट करते हुए प्राञ्जलि हो पुष्कल पुनीत प्रार्थनाएँ करके परमा पार्वतीका प्रत्यक्ष किया; और श्रीभगवतीने शुम्भ, निशुम्भ, रक्तबीज, धूम्रलोचन, चण्ड, मुण्ड तथा सुग्रीवप्रमुख सात असुरोंको पराजित करके देवताओंकी रक्षा की।

इसीका आध्यात्मिक रहस्य गीतामें इस प्रकार है—'जो अहङ्कार, बल, दर्प, काम एवं क्रोधका अवलम्बन करते हैं, वे अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझसे द्वेष करते हैं अर्थात् मेरी आज्ञाका उल्लंघन करते हैं और सन्मार्गमें स्थित पुरुषोंके गुणोंको सहन न करके उनकी निन्दा करते हैं। और जिसने अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह एवं ममत्व (इन सातों)-का त्याग कर

* सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते। अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ (गीता १८। २०)

दिया है, वह शान्त ब्रह्मभूयपदको प्राप्त होता है।' श्रीदुर्गासप्तशतीके उत्तम चरित्रमें वर्णित सात प्रधान असुरोंकी इन सातोंके साथ इस प्रकार तुलना होती है।

गीताके असुर	दुर्गासप्तशतीके असुर
१-अहङ्कार	= शुम्भ—शुम्भ हिंसायां, भावे घञ्। आत्मघ्नद्वैतभावसम्पन्नः अहङ्कारः। (बृहदा० ४। ५)
२- ममत्व	= निशुम्भ—नि+शुम्भ हिसायां। भावे धञ्।
३- काम	= रक्तबीज—रक्तमनुरागः, बीजं कारणमस्य (रज्यते अनेनेति रागः, कामः)।
४- क्रोध	= धूम्रलोचन—धूम्रवर्णं रक्तकृष्णवर्णं लोचनं यस्य सः।
५- बल	= चण्ड—चडि कोपे।
६- दर्प	= मुण्ड—मुडि खण्डने।
७- परिग्रह	= सुग्रीव।

कथा क्रमसे—

(१) **परिग्रह**—सुग्रीव भगवतीके निकट जाकर परिग्रहकी बात कहता है—

परमैश्वर्यमतुलं प्राप्स्यसे मत्परिग्रहात्।
एतद् बुद्ध्या समालोच्य मत्परिग्रहतां व्रज॥

(दुर्गासप्तशती ५। ११४)

एतदर्थ सुग्रीव परिग्रह है।

भगवती उसके उत्तरमें बल और दर्पकी बात कहती हैं। यथा—

यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति॥

(दुर्गासप्तशती ५। १२०)

(२-३) **बल-दर्प**—कामना और आसक्तिसे युक्त जो सामर्थ्य है उसका नाम बल[१] है; और सहर्ष होनेवाला तथा धर्मोल्लङ्घनका हेतु जो गर्व है उसकी संज्ञा दर्प[२] है। अतः ये दोनों आसुरी सम्पत्तिके अन्तर्गत होनेके कारण असुर हैं। और कामना-शक्तियुक्त सामर्थ्य तथा धर्मोल्लङ्घन-हेतु गर्व अर्थात् बल-दर्परूपी चण्ड-मुण्डने ही भगवतीको देखकर असुरराज शुम्भसे आसक्तिपूर्ण शब्दोंमें उसके सौन्दर्यका वर्णन किया था। पीछे परिग्रहरूप सुग्रीवके लौट आनेपर शुम्भने भगवतीको बल-दर्पपूर्वक पकड़ लानेके लिये इन्हीं दोनोंको भेजा। फलतः ये दोनों भगवती अम्बिकाद्वारा मारे गये।

(४) **क्रोध**—क्रोधरूपी धूम्रलोचन अक्षरार्थसे असुर है।

(५) **काम**—रक्तबीज काम है। पूर्वजन्ममें रक्तबीज रम्भ था और इसीका पुत्र महिषासुर था। महिषासुरका प्रतिपादन मध्यम चरित्रमें इच्छारूपसे किया जा चुका है। इच्छाका ही दूसरा नाम काम है।

संगसे[३] कामकी उत्पत्ति होती है। अतएव जब रक्तबीजका रक्त-बिन्दु भूमिपर गिरता था तो अनेक रक्तबीज उत्पन्न हो जाते थे। इसका यही आध्यात्मिक रहस्य है।

(६-७) **अहंकार-ममत्व**—दोनों शुम्भ-निशुम्भ ही अहंकार और ममत्व हैं। ये '**अहम्**' और '**मम**' दोनों एक ही '**अस्मत्**' शब्दसे उत्पन्न होनेके कारण, शुम्भ-निशुम्भकी तरह भाई-भाई हैं । और इन्हीं शुम्भ-निशुम्भ अर्थात् अहंकार-ममत्वके वशमें समस्त त्रैलोक्य-प्राणी हुए।

शुम्भ और निशुम्भकी '**अहम्**' और '**मम**' के साथ जो तुलना की गयी है उसके उदाहरणके लिये श्रीदुर्गासप्तशती ५वें अध्यायके १०८से ११४ पर्यन्त श्लोक पठनीय हैं। इन सात श्लोकोंमें शुम्भके लिये '**मम**' और '**अहम्**' शब्दोंका प्रयोग अनेक बार हुआ है।

इस समस्त विवेचनासे यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार श्रीगीतामें अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, ममत्व और परिग्रहका त्याग करके ब्रह्मभूत होनेका उपदेश है उसी प्रकार श्रीदुर्गासप्तशतीमें श्रीआद्याशक्तिद्वारा उपर्युक्त सात असुरोंके पराजयोपरान्त देवताओंके परमभावके ज्ञानसे शान्ति[४] प्राप्त होनेका वर्णन है।

(३) इसी परमभावको श्रीजगदम्बिकाने शुम्भके प्रति कहा है—'मैं इस संसारमें एक ही हूँ और मुझसे दूसरा कौन है? मैं अपनी विभूतिद्वारा बहुत-से रूपोंसे यहाँ

१—बलं सामर्थ्यं कामरागादियुक्तं न इतरच्छरीरादिसामर्थ्यं स्वाभाविकत्वेन तत्यागस्याशक्यत्वात्।

२—दर्पो नाम हर्षानन्तरभावी धर्मातिक्रमहेतुः 'हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममतिक्रामति।'

(गीता-श्रीशाङ्करभाष्य, अ० १८। ५३)

३—संगात् सञ्जायते कामः। (गीता २। ६२)

४—देखिये, दुर्गासप्तशती, अ० १०। २८ से ३१ (…शमं ययुः…………)।

स्थित थी, उन सबको अपनेमें लय करके अब अकेली स्थित हूँ।' इसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है।

अहं च जगती चैका जगती मन्मयी यतः।[१]

(४) अहङ्कार, बल, दर्प आदि सात असुरों तथा उनके सेनासमूहके विनाशोपरान्त देवगण प्रसन्न हुए और हर्षनिर्भरमानस होकर, ज्ञानियोंकी रीतिपर अतिशय सुन्दर आध्यात्मिक स्तुति करने लगे, जिसका आधार योगदर्शन और गीता है।

देववृन्दने श्रीभगवती चण्डिकाकी स्तुति जगत् अर्थात् दृश्य और परमात्मा अर्थात् द्रष्टा दोनों रूपसे की है।

(क) दृश्यरूपसे—योगदर्शनके[२] दृश्य—प्रकाश, क्रिया, स्थिति, भूत, भोग और अपवर्गके साथ श्रीदुर्गासप्तशतीके ग्यारहवें अध्यायके पहलेसे सातवें श्लोकतक वर्णित स्तुतिकी समानता '**देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद……प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वम्**', '**महीस्वरूपेण यतः स्थितासि। अपां स्वरूपस्थितया……**' और '**भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी**' पदोंद्वारा सिद्ध होती है।

(ख) द्रष्टारूपसे—

श्रीदुर्गासप्तशतीके ग्यारहवें अध्यायमें आठवें श्लोकसे तेईसवें श्लोकतक जो नारायणी-स्तुति है, वह श्रीमद्भगवद्गीताके '**वासुदेवःसर्वमिति**'[३] के अनुकूल ही है।

उपर्युक्त स्तुतिमें श्रीगीताके तेरहवें अध्यायके २४, २८, ३१ और ३४ वें श्लोकका निष्कर्ष भलीभाँति प्रतिपादित है।

प्रकृति-पुरुष तथा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ज्ञान ही भगवान् श्रीकृष्णके मतानुसार ज्ञान है। देवताओंने उपर्युक्त स्तुति करनेके पश्चात् श्रीभगवतीसे जगदुपकारक वर माँगा। तदुपरान्त भगवतीने अपने भविष्यके सात अवतारोंकी कथा कही। यथा—(१) विन्ध्याचलनिवासिनी, (२) रक्तदन्तिका, (३) शताक्षी, (४) शाकम्भरी, (५) दुर्गा, (६) भीमा और (७) भ्रामरी[४]। अन्तमें भगवतीने यह वर प्रदान किया—

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्॥[५]

उपसंहार

भगवती चण्डिका अपनी स्तुतिका माहात्म्य और उसका फल तथा पूजाविधि कहकर अन्तर्धान हो गयी। और मेधा ऋषिने उसी महाशक्तिको धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-फल-प्रदा कहकर यह उपदेश किया—'हे महाराज! आप उसी परमेश्वरीकी शरणमें[६] जाइये। वह अपनी आराधनासे प्रसन्न होकर मनुष्योंको भोग, स्वर्ग एवं मोक्ष प्रदान करती है।'

राजा और वैश्य श्रीभगवतीके चरित्र तथा महर्षि मेधाके उपदेशको सुनकर उस महादेवी भगवतीको प्रसन्न करनेके लिये नदीतटपर महती तपश्चर्या एवं उपासना करने लगे। जगद्धात्री चण्डिकाने प्रसन्न होकर उन दोनोंको दर्शन दिये और कहा—'मैं तुम दोनोंसे प्रसन्न हूँ, तुम जो कुछ माँगोगे वही मैं तुम्हें दूँगी।' आद्या देवीकी बात सुन राजाने यह विचार[७] किया—'मेरे लिये अपना क्षात्रकर्म करना ही उचित है। अपने आश्रित जनोंको कष्टमें छोड़कर अकेले वनमें चले आना क्षात्र-धर्मके[८] विरुद्ध है। यदि मैं ब्रह्माजीके समान अपने कर्तृत्वके अहंकारको भुलाकर उसी महामायाकी आराधना करता तो वह महाशक्ति, जैसे उसने मधु-कैटभसे ब्रह्माकी रक्षा

१—शान्तनवी टीका श्रीदु० स० श० अ० १०। ३।

२—देखिये, योगदर्शनके दूसरे पादका १८ वाँ सूत्र।

३—देखिये, गीता ७। १९।

४—श्रीभगवतीके भविष्यके सातों अवतारों, तीनों रूपों, (महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती) अस्त्र-शस्त्र तथा प्रत्येक चरित्रके ऋषि, देवता इत्यादिके आध्यात्मिक रहस्यका वर्णन, स्थानाभावके कारण यहाँ न किया जाकर, किसी दूसरे लेखमें हरिकृपासे विस्तारपूर्वक किया जायगा।—लेखक

५—यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ (गीता ४। ७)

६—शरणागतिका उपदेश श्रीमद्भगवद्गीतामें भी है।

यथा—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ (१८। ६२)

७—लेखकके मतमें।

८—क्षदति रक्षति जनान्
क्षतात् त्रायते, इति वा } क्षत्रियः।

की थी, वैसे हमारी भी करती। राजधर्मका आदर्श कर्मयोगके उत्तम सिद्धान्तपर स्थित है। अतएव मुझे चाहिये कि जिस प्रकार इन्द्रादि देवताओंने अधिकारसे निकला हुआ स्वराज्य भगवतीकी कृपासे प्राप्त किया था, उसी प्रकार अपने गये हुए राज्यको पुनः प्राप्त करूँ और न्यायनीतिसे अपनी समस्त प्रजाको सुखी बनाऊँ।'

इस विचारके पश्चात् राजाने आगामी जन्ममें अखण्ड राज्य और इस जन्ममें निजबलसे शत्रु-शक्तिका नाश करके अपना गया हुआ राज्य प्राप्त करनेका वर माँगा।

महादेवी भगवतीने उसे कुछ ही दिनोंमें शत्रुओंपर विजयी होकर स्वराज्य प्राप्त करने तथा दूसरे जन्ममें भूमण्डलपर सूर्य-सुत सावर्णि नामक मनु होनेका वर प्रदान किया।

जब श्रीभगवतीने वैश्यवर्यसे वर माँगनेको कहा तो उसने विचार किया, यह संसार दुःखमय है। देवताओंका कई बार अधिकारच्युत होना और सुरथ राजाका राज्यभ्रष्ट होना प्रमाणित करता है कि सांसारिक भोगैश्वर्य अनित्य है। जिस तुच्छ सांसारिक सुखमें मेरा मोह था, वह वास्तवमें दुःखरूप ही था। जब त्रैलोक्यपर्यन्तका सुख अनित्य है, तब मुझे इससे विरक्त होकर इस परमेश्वरीकी अनुकम्पासे ऐसा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, जिससे नित्य अक्षय सुखस्वरूपमें प्रविष्ट हो सकूँ। निवृत्ति-मार्ग-पथिक ज्ञाननिष्ठ समाधि वैश्यने अपने नाम और जातिको सार्थक करनेवाले उपर्युक्त विचारके अनन्तर श्रीदेवीसे मोहविनाशक ज्ञान माँगा। उसे मनोवाञ्छित वरकी संसिद्धिके लिये ज्ञान देकर श्रीदुर्गा शीघ्र अन्तर्धान हो गयी।[१]

अब लेखक भी ब्रह्मविदांवर, क्षीणकल्मष, छिन्नद्वैध, यतात्मा, सर्वभूतहितरत, आत्मरत, आत्मतृप्त, आत्मसन्तुष्ट मेधा ऋषिको नतमस्तक होकर प्रणाम करके, इस परम गुह्याध्यात्मतत्त्वशालिनी, निखिललोककल्याणदायिनी दुर्गा-सप्तशतीके रहस्यविषयक निबन्धको समाप्त करता है। श्रीदुर्गासप्तशतीके अथाह और अपार माहात्म्यका वर्णन मेरे लिये ऐसा ही है—***'जिमि पिपीलिका सागर थाहा।'***

तथापि—***'तदपि कहे बिन रहा न कोई'*** के अनुसार अपने विचारका सारांशमात्र विज्ञजनोंको अवश्य रुचिकर होगा, ऐसा समझकर उनकी सेवामें प्रस्तुत करता हूँ कि सनातनधर्माचरणचतुर पुरुष इसको सुचारुरूपसे श्रवण[२]-मननकर, चतुरानन चक्रधर चन्द्रधरार्चित श्रीचण्डिकाके चरणचिन्तनमें दत्तचित्त हो और अचिरकालमें साक्षात्कारद्वारा चरितार्थ-जीवन होकर चरम लक्ष्यको पहुँचें, पहुँच रहे हैं तथा पहुँचेंगे।

देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद
प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य।
प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं
त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

जैन-धर्ममें शक्ति-पूजा

(लेखक—श्रीपूर्णचन्द्रजी नाहर)

शक्तिकी उपासनाका यदि बाह्य रूप लिया जाय तो वह जैन-धर्ममें नहीं है। हिन्दू अथवा बौद्ध-तन्त्रोंमें शक्तिका जो स्वरूप मिलता है वह जैन-धर्मके सिद्धान्तोंमें नहीं पाया जाता। आत्माकी जो सहज स्वाभाविक शक्ति है और जो अनन्त कही गयी है, उसकी अभिव्यक्तिके अतिरिक्त कोई दूसरी स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। इसके तीन स्वरूप हैं— सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चरित्र और इन तीनोंकी अभिव्यक्तिके प्रकार भी असंख्य हैं। यही जब अलौकिक रूप धारण कर लेती हैं तब उन्हें शास्त्रीय भाषामें 'लब्धि' अथवा चमत्कार कहते हैं।

हिन्दू-धर्मके अनुसार 'शक्ति' ईश्वरत्वका सर्वोच्च

१- राजा कर्मयोगकी ओर एवं वैश्य ज्ञानयोगकी ओर निष्ठा रखता था; इसी कारण उन्होंने दो प्रकारके वर माँगे, और भगवतीने राजाको समृद्ध्यानन्दका और वैश्यको शान्त्यानन्दका वर प्रदान किया।

यथा—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (गीता ३। ३)

२- आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति। (बृह० २। ४। ५)

स्वरूप है—इसे ही प्रकृतिका व्यक्त—साकार स्वरूप समझिये अथवा ईश्वरकी सर्वव्यापक शक्ति समझिये। शक्ति-उपासनाके विधि-विधानोंका निर्माण तो बहुत पहले ही हो चुका था और अथर्ववेदके समयसे ही हम शाक्त-धर्म अथवा आगम-सम्प्रदायका आविर्भाव पाते हैं। धीरे-धीरे हिन्दू-धर्मसे यह मत बौद्ध-धर्ममें प्रवेश कर गया और आगे चलकर कुछ अंशोंमें जैन-धर्मके मतावलम्बियोंपर भी इसने कुछ प्रभाव डाला। तन्त्र-शास्त्रके सिद्धान्तों तथा साधनका इतना अधिक प्रचार हुआ कि प्राय: सभी धर्म और सम्प्रदायोंपर इसका प्रभाव पड़े बिना न रहा! परन्तु जैन-धर्ममें 'आगम-सम्प्रदाय'-जैसी कोई वस्तु नहीं है।

हिन्दू-धर्म तथा बौद्ध-धर्ममें पुरुष और स्त्री-शक्तिका 'महाशक्ति'-रूपमें जो विचित्र वर्णन मिलता है, वह जैन-धर्ममें नहीं है। जैन-शास्त्र पृथिवीके ऊपर और नीचेके देवी-देवताओंके निवास तथा श्रेणियोंका वर्णन करते हैं। उनकी पूजा-अर्चा और वरदानसे सभी प्रकारके सांसारिक उद्देश्यों और कामनाओंकी पूर्ति हो सकती है—ऐसा माना गया है। जैन-धर्मके श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें शक्ति-उपासनाका यही रूप है।

यक्ष और यक्षिणी, योगिनी, शासनदेवी तथा अन्य देवियोंकी उपासना-अर्चाके अनेक रूप जैन-धर्ममें प्रचलित हैं और इन शक्तियोंका आवाहन सामान्यतया मन्दिरोंकी प्रतिष्ठा और मूर्तियोंकी स्थापना अथवा किसी तप-अनुष्ठानके प्रारम्भ और समाप्तिमें किया जाता है।

शक्ति-उपासनाका विधान तन्त्रोंमें मिलता है और हिन्दू-धर्म तथा बौद्ध-धर्ममें तन्त्र-साहित्यका भरपूर भण्डार मिलता है। परन्तु जैन-धर्ममें एक भी तन्त्र नहीं मिलता। 'शक्ति' का दर्शन यन्त्रोंमें और श्रवण मन्त्रोंमें होता है और भिन्न-भिन्न देशोंमें भिन्न-भिन्न संकेतों और रूपोंमें इसकी अभिव्यक्ति हुई है। जैन-धर्ममें भी ऐसे यन्त्रों और मन्त्रोंकी कमी नहीं है, परन्तु शक्ति-उपासनाको किसी प्रकार प्रोत्साहन अथवा समर्थन नहीं मिलता और जैन-धर्ममें 'शक्ति-पूजा'का प्रचार उठ रहा है।

शक्तिके विभिन्न वाहनोंका रहस्य

(लेखक—श्रीपरमानन्दजी शास्त्री 'आनन्द')

इस चराचरात्मक प्रकृति-नटीके रङ्गमञ्चकी सुषमा नितान्त अनिर्वचनीय है, जिसको सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी त्रिविध शक्तिने अपना रखा है। भारतीय प्राचीन दार्शनिकोंने शक्ति और शक्त—इन दोनोंहीको संसारका कारण मान लिया है, जो वस्तुत: तथ्य ही है।

तन्त्रोंमें प्रधानरूपसे अष्ट शक्ति निर्धारित हैं। वे क्रमश: ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही, ऐन्द्री और चामुण्डा हैं।

इन अष्ट शक्तियोंमें प्रथम ब्राह्मी शक्ति है। ब्राह्मी सृष्टि-शक्तिको कहते हैं। अखण्ड चैतन्य-समुद्रके जिस अंशमें सृष्टिक्रिया प्रकाशित हो उस चैतन्यांशका नाम ब्रह्मा है। अर्थात् आत्मा जहाँ सृष्टिक्रियाका अभिमान करे उसे ब्रह्मा कहते हैं और उस चेतनाधिष्ठानसे जो क्रियाशक्ति प्रकाशित हो वही 'ब्राह्मी' है। इसका वाहन हंस है। हंस जीवको कहते हैं। व्यष्टि मन समष्टि मनका अंशमात्र होनेके कारण समष्टि मन विराट् मन है, इसीमें सृष्टिक्रिया प्रकाशित होती है। मनका धर्म कल्पना है एवं कल्पना शक्तिरूपा है। इसीको क्रियाशक्ति कहते हैं, जो ब्राह्मी नामक है। यह हंसवाहिनी है। प्रति जीवमें जो विभिन्न संकल्प देखा जाता है उसके मध्य होकर ही यह समष्टि मनका प्रकाश समझा जाता है। अत: जीव ही सृष्टिशक्तिका परिचालक है। यदि जीव नहीं हो तो सृष्टिशक्तिके ज्ञानका उपाय हो ही नहीं सकता। इस कारण सृष्टिशक्तिरूपिणी ब्राह्मीका वाहन जीवरूपी हंसका होना ही उचित है। जीव श्वास-प्रश्वासके द्वारा दिन-रातमें इक्कीस हजार छ: सौ हंस-मन्त्रका जप कर लेता है। अत: उसे तान्त्रिक शब्दोंमें 'अजपा' कहते हैं। यही कारण है कि जीव हंस कहा जाता है।

द्वितीय शक्ति माहेश्वरी है। माहेश्वरी लयशक्तिको कहते हैं। अखण्ड चैतन्य-समुद्रके जिस अंशमें प्रलय-भावका प्रकाश हो, उस चैतन्यांशका नाम महेश्वर है अर्थात् आत्मा जहाँपर प्रलयक्रियाका अभिमान करे उस

स्थानमें वह 'महेश्वर' नामसे पुकारा जाता है। उस चेतनाधिष्ठानसे जो प्रलयरूप क्रियाशक्ति प्रकाशित हो, वही माहेश्वरीशक्ति है। इसका वाहन वृष (बैल) है। 'वृष' शब्दका अर्थ धर्म होता है। इसके तप, शौच, दया, दान—ये चार चरण हैं। धर्म सत्त्वगुणसे उत्पन्न होता है और सत्त्व शुभ्रवर्ण है। इस कारण—

'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते।'

इस नियमसे धर्म भी श्वेतवर्ण ही हो सकता है, यही हेतु है कि धर्मको वृषकी उपाधि शास्त्रकारोंने दी है।

ज्ञानशक्तिके द्वारा ही प्रलय हो सकता है, इस कारण ज्ञानशक्तिको ही यदि माहेश्वरी कहा जाय तो कोई भी आपत्ति नहीं हो सकती। धर्मके ही आश्रयसे ज्ञानशक्ति परिचालित होती है एवं शास्त्रीय विधि-निषेध-परिचालनरूप धर्मका यथारीति अर्जन नहीं होनेसे ज्ञानशक्तिका विकास नहीं हो सकता। अतः माहेश्वरी-शक्तिका यथार्थ वाहन वृषके अतिरिक्त हो ही नहीं सकता। इसी तात्पर्यसे तन्त्रमें माहेश्वरीका वाहन वृष ही लिखा गया है।

× × × ×

तृतीय शक्ति कौमारी है। जो असुरविजयिनी शक्ति आसुरिक वृत्तिपुञ्जोंका दमन करती हुई देवशक्तिसमूहोंका परिचालन करे, वही कौमारी शक्ति है। उससे अधिष्ठित चैतन्यशक्ति ही कुमार है। इसका वाहन मयूर है। मयूर साँपका भक्षक एक पक्षी है। टेढ़ी चालवालेको सर्प कहते हैं। साधारणतः इन्द्रियवृत्तिसमूह विषयाभिमुख विसर्पितभावसे—वक्रगतिसे परिचालित होता है। जब कोई साधक उनके विलयके हेतु बल वा सामर्थ्यका अर्जन करता है तो वह मयूरधर्मी होता है। इस तरहका मयूरधर्मी जीव ही पूर्वोक्त कौमारी शक्तिका वाहन है। आत्माका जो अंश देवभावसमूहके आसुरी भावोंका विमर्दन करता हुआ परिचालित करता है उस अंशको कुमार एवं उस अधिष्ठान चेतनका अवलम्बन कर जो शक्ति देवभावोंको परिचालित करती है वही कौमारी शक्ति है, अतः उपर्युक्त प्रकारसे कौमारी शक्तिका मयूरवाहन होना ही सर्वथा युक्त है।

× × × ×

चतुर्थ शक्ति वैष्णवी है। जो चैतन्य-सत्ता स्थिति-शक्तिसे अभिमान करे वही विष्णु है, उसी अधिष्ठान चैतन्यका आश्रय ले जो शक्ति जगत्की स्थिति वा पालन करे वही वैष्णवी शक्ति है। इसका वाहन गरुड़ है। श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धमें लिखा है—**'त्रिवृद्वेदः सुपर्णस्तु यज्ञं वहति पूरुषम्'** त्रिवृत् वेदरूपी गरुड़ यज्ञपुरुष विष्णुको ढोता है। इस गरुड़ पक्षीके ज्ञान और कर्म—ये दो पाँख हैं। योगवासिष्ठमें लिखा है—

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम्॥
केवलात् कर्मणो ज्ञानान्नहि मोक्षोऽभिजायते।
किन्तु ताभ्यां भवेन्मोक्षः साधनं तूभयं विदुः॥

अर्थात् जिस प्रकार पक्षिगण दोनों पाँखोंके सहारे आकाशमें भ्रमण करनेमें समर्थ होते हैं उसी प्रकार साधक ज्ञान एवं कर्म-साधनसे विष्णुके परम पदको पाते हैं।

जीव जब वेदोक्त कर्मकाण्डके ज्ञानमय अनुष्ठानोंमें तत्पर होता है तब वह पक्षी होता है। वेदप्रतिपादित कर्म और ज्ञान—ये ही दो गरुड़के पक्ष हैं। इसके अतिरिक्त गरुड़का एक और धर्म 'पन्नगाशनत्व' है। कर्मसमूह जितना ही ज्ञानमय होता है उतना ही संसारासक्त देहात्मबोधरूपी कुटिलगति सर्प विलयको पाता है, यही इस गरुड़का भक्ष्य सर्प है। मनुष्य जब इस प्रकार गरुड़भावका सर्वतोभावेन लाभ करता है तब देख पाता है कि—जगद्व्यापक वैष्णवी शक्ति उसपर ही आसीन है। इस प्रकार वैष्णवी शक्तिका गरुड़ वाहन भी निरतिशय सारगर्भित ही है।

× × × ×

पञ्चम शक्ति वाराही है। 'वाराह' शब्दका अर्थ एक कल्पपरिमित काल है। क्योंकि 'वर' शब्दका अर्थ श्रेष्ठ अर्थात् आत्मा है, उसे जो आहत अर्थात् आवृत करे उसीका नाम वराह है। काल-सत्ता ही सर्वप्रथम आत्माको आवृत करती है, इस कारण काल-शक्तिका ही नाम है वराह। यही पृथिवीको पातालसे दाँतोंद्वारा निकालना है। उस अधिष्ठान चैतन्यके आधारपर जो आधारशक्ति निर्भर है वही वाराही शक्ति है। इसका कोई वाहन नहीं है, क्योंकि यह किसी आधारपर प्रकाशित नहीं होती।

× × × ×

षष्ठ शक्ति नारसिंही है। नृसिंह स्वरूपज्ञानको कहते

हैं, क्योंकि आत्मस्वरूपविषयक ज्ञानके उदय होनेसे ही मनुष्य श्रेष्ठत्व लाभ करता है। 'नृ' शब्दका अर्थ मनुष्य एवं 'सिंह' शब्द श्रेष्ठार्थवाचक है, इस कारण नृसिंह स्वरूपज्ञानको कहा जाता है। यही हिरण्यकशिपुको मारना है। 'हिरण्य'का शब्दार्थ आत्मा है। जो हिरण्य यानी निर्विकल्प परमात्माको काशित अर्थात् विषयाभिमानरूपसे प्रकटित करे वही हिरण्यकशिपु है। इस असुरको एकमात्र आत्मस्वरूपविषयक यथार्थ ज्ञान ही विनष्ट कर सकता है। इसी नृसिंहकी शक्तिको नारसिंही कहते हैं। ब्रह्मविद्या ही नारसिंही शक्ति है, क्योंकि इसीके प्रभावसे जीव नृसिंह अर्थात् स्वात्मविषयक यथार्थ ज्ञानवान् होता है। यह भी किसी आधारपर प्रकाशित नहीं होती, इस कारण वाहन-विहीन है। अथवा केवल ज्ञानसे मुक्ति-लाभ नहीं होता, किन्तु ज्ञान एवं कर्म—इन दोनोंहीसे मोक्ष-लाभ होता है।

× × × ×

सप्तम शक्ति ऐन्द्री है। हस्तेन्द्रियके अधिपतिका नाम इन्द्र है, इस हेतु इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्यवर्गके अधिपतिको इन्द्र कह सकते हैं। इनकी शक्तिको ऐन्द्री कहते हैं। इसका वाहन गजराज ऐरावत है। ईर् धातुका अर्थ गति अथवा वेग है, अत: 'रावान्' शब्दका अर्थ गतिविशिष्ट होता है। रावान्-सम्बन्धी वस्तुको ऐरावत कहते हैं। यह ऐरावत ऐन्द्रीका वाहन है। इन्द्रकी शक्ति तड़ित्-शक्ति है, इसलिये तड़ित्-शक्ति ही ऐन्द्री है और ऐरावत इसका परिचालक है। जिस स्थूल गमनशील पदार्थका अवलम्बन कर तड़ित्-शक्ति परिचालित है उसीका नाम ऐरावत है। इस कारण ऐन्द्री शक्तिका ऐरावत वाहन होना भी उचित ही है।

× × × ×

अष्टम शक्ति चामुण्डा है। प्रकृतिका नाम चण्ड एवं निवृत्तिका नाम मुण्ड है। ये परस्परमें सोदर भाई हैं। इनका विनाश करनेवाली प्रलयशक्तिको ही चामुण्डा कहते हैं। 'चण्डमुण्ड' शब्दके अनन्तर हननार्थबोधक 'आ' धातुसे चण्ड-मुण्डा-शब्द बनता है और पृषोदरादित्वात् चामुण्डा बन जाता है। चामुण्डा किसी अवलम्बको लेकर प्रकाशित नहीं होती, बल्कि स्वप्रकाश है; इस कारण शास्त्रकारोंने इसका वाहन नहीं लिखा है।

× × × ×

पाठको! हमारे शास्त्रकारोंका जो कुछ कथन है वह गम्भीर एवं रहस्यपूर्ण है, इसको आप भलीभाँति समझ गये होंगे। अत: मैं अपने लेखका शरीर बहुत विस्तीर्ण नहीं कर विराम लेता हूँ, आप सहृदय क्षमा प्रदान करते हुए एक नारेसे जगदम्बाका गुणगान करेंगे।

शक्ति-पूजा

(लेखक—श्रीभगवानदासजी केला)

संसारमें शक्ति-पूजा कबसे प्रचलित हुई, इसका ठीक-ठीक ज्ञान न होनेपर भी अनुमानसे यह तो कहा ही जा सकता है कि जबसे मानव-जातिने कुछ होश सँभाला तभीसे इसका श्रीगणेश हो गया होगा। वास्तवमें शक्ति-पूजा मनुष्यके लिये नितान्त स्वाभाविक है। यह संसारके सभी देशोंमें रही है, अत: सार्वभौमिक है। प्रत्येक जाति अपना विकास और उन्नति चाहती है, उसकी प्राप्तिका उपाय शक्ति-पूजा ही है।

शक्तिको हम भिन्न-भिन्न रूपोंमें देखते हैं, भले ही यह भेदभावकी दृष्टि हमारी अल्पज्ञताकी सूचक हो। और हाँ, विचार करनेपर मालूम भी यही होता है कि अपने भिन्न रूपोंमें मूलशक्ति एक ही वस्तु है, सबमें एक है और एकमें ही सब हैं। एक जगह बिजलीका लैम्प जलकर अन्धकारको दूर करता है, दूसरी जगह बिजलीसे आटा पिसता है और हमारी क्षुधा निवारण होती है, तीसरी जगह बिजलीकी रेल हमें भू-माताके विविध स्थलोंका परिचय कराती है, चौथी जगह बिजलीके इञ्जिनसे मुद्रणयन्त्रका काम होता है जिससे हमारा अज्ञानान्धकार दूर होता है, पाँचवीं जगह विद्युत्-धारा हमारे शरीरकी बीमारियोंको दूरकर हमें आरोग्य प्रदान करती है। इन सबमें बिजलीकी शक्ति एक ही है। नाम और रूपमें भेद दीखते हुए भी ज्ञानवान्के लिये तो अभेद ही है।

सृष्टिके लिये उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय सभी आवश्यक हैं और उपयोगी भी—यह बात एक वैज्ञानिक भलीभाँति जानता है। परन्तु साधारण संसारी जीव इन

भिन्न-भिन्न दशाओंमें एकरूपताका अनुभव नहीं करता। वह उत्पत्तिको बहुत चाहता है, स्थिति भी उसे अच्छी लगती है, पर प्रलयसे तो घबराता है; विज्ञान-चक्षुवालेके लिये ब्रह्मा, विष्णु और महेशके उपर्युक्त कार्य एक-दूसरेके पूरक हैं, विरोधी कदापि नहीं। शाक्त, वैष्णव और शैवका भेद हमारे धार्मिक भावोंकी सङ्कीर्णता है, अन्यथा शक्तिके एक रूपके उपासकको दूसरे रूपके उपासकके प्रति स्नेह-श्रद्धाका व्यवहार करना चाहिये। शक्ति सौम्य हो या उग्र; हिंसक हो या अहिंसक, देश-कालके अनुसार प्रत्येक अपने-अपने प्रसंगमें कल्याणकारी हो सकती और होती है।

शक्तिसाधकोंको इतिहासमें अच्छा स्थान मिलता रहा है और मिलता रहेगा। सिकन्दर, सीज़र, शार्लमेन और नेपोलियनको कैसे भुलाया जा सकता है? राम, कृष्ण और गौतम बुद्धकी पूजा प्रत्येक विचारवान् करेगा। ईसा और मुहम्मदको केवल ईसाइयों या मुसलमानोंके लिये ही परिमित करना हमारी भूल है। अमानुल्ला, कमालपाशा, जगलुलपाशा, रोमां रोलां, तिलक और गान्धीके आदर-सत्कारके लिये भौगोलिक सीमाएँ निर्धारित नहीं की जा सकतीं; पक्षपात और अज्ञान भले ही अपना क्षुद्र प्रयत्न जारी रखे।

शक्तिसाधक एक-दूसरेके विरुद्ध क्षेत्रोंमें खड़े होकर भी एक-दूसरेके गुणोंकी कदर करते हैं। भारतीय नरेश पोरसकी प्रशंसा सिकन्दरसे और राणा प्रतापकी अकबरसे सुनिये, नेपोलियनकी वीरता वैलिंगटनको ही ठीक मालूम है, महारानी लक्ष्मीबाईका शौर्य बतलानेके लिये योग्य अधिकारी तत्कालीन अंगरेज सेनापति ही है। फिर रामके भक्त रावणके पाण्डित्य और तप-वैभवको क्यों भूल जाते हैं? नृसिंहावतारको माननेवाले हिरण्यकशिपुकी तपस्याकी अवहेलना नहीं कर सकते। शिवाजी हों या गुरु गोविन्दसिंह, शक्तिके सभी साधक हमारे लिये पूजनीय हैं।

हम अपना विकास चाहते हैं तो हमें शक्ति-पूजक होना चाहिये। प्रधान शक्ति स्त्री-जाति है। भगवती सीता, राधा, दुर्गा, उमा, लक्ष्मी, सरस्वती आदिके गुणोंका विवेचन और कीर्तन करते हुए हमें महिलाशक्तिका उत्थान और समादर करना चाहिये। महिलाशक्तिका उत्थान होनेपर किसी भी देश और जातिका भविष्य उज्ज्वल होना अनिवार्य है। माताकी प्रेमपूर्ण पुकार कायर सन्तानको भी सिंहसमान शूर बना देती है। भारतीय इतिहासमें अनेक स्त्रियोंने अपने पतिका कठोर कर्तव्यपालनमें न केवल साथ दिया है, वरं आवश्यकता होनेपर उनके निरुत्साहित हृदयमें आशा और उत्साहका सञ्चार किया है, उनको धैर्य प्रदान किया है और उनको पराजित होते-होते बचाकर विजयश्रीसे कृतार्थ किया है। हम इन बातोंकी उपेक्षा क्यों करें और महिलाशक्तिकी जागृतिमें जी-जानसे कटिबद्ध क्यों न हों?

शक्तिकी पूजामें, विघ्न प्रमाणित होनेवाली बातोंसे हमें सावधान रहना चाहिये। मद्य-मांस तो वर्जित ही हैं; आलस्य, भोग, लोभ, मोह, विलासिताको भी स्थान नहीं मिलना चाहिये; तप, संयम, विवेक, सहिष्णुतासे ही पूजा सफल हो सकती है। शक्तिमाता! तू हमें अपने योग्य पूजक बना!

महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती

(लेखक—पं० श्रीहरिवक्षजी जोशी काव्य-सांख्य-स्मृति-तीर्थ)

महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती—ये तीनों नाम जगन्नियन्ता परमात्माकी चितिशक्तिके हैं। शास्त्रकारोंका दृढ़ विश्वास है कि परमात्माको स्वरचित सृष्टिकी मर्यादारक्षार्थ युग-युगमें अपनी अलौकिकी योगमायाका आश्रय कर पुरुष या स्त्रीरूपसे अवतीर्ण होना पड़ता है। जब वे पुरुषवेषमें अवतार लेते हैं तब जगत् उनकी ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि नामोंसे स्तुति करता है और जब वे स्त्रीरूपसे जगत्में अवतीर्ण होते हैं तब उन्हें महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती कहते हैं। जिस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश—रज, सत्त्व और तम:प्रधान हैं, उसी प्रकार चितिशक्तिके ये तीनों रूप भी सत्त्व, रज, तम आदि गुणोंकी अधिकताके अनुसार वेष धारण करते हुए तत्तद्गुणानुरूप कार्य करते हैं। चितिशक्तिके तम:प्रधान रौद्ररूपको महाकाली कहते हैं, जो प्रधानतया दुष्टोंका संहार करती है। सत्त्वप्रधान वैष्णवरूपको महालक्ष्मी कहते हैं जो जगत्का पालन करती है। रज:प्रधान

ब्राह्मीशक्तिको सरस्वती कहते हैं, जो प्रधानतया जगत्‌की उत्पत्ति और उसमें ज्ञानका सञ्चार करती है। दुर्गासप्तशतीमें चितिशक्तिके इन तीनों स्वरूपोंकी उत्पत्तिकथा इस प्रकार है—

स्वारोचिष-मन्वन्तरमें चक्रवर्ती राजा सुरथ राज्य करता था। एक समय शत्रुओंद्वारा पराजित होकर वह अपने राज्यमें आकर शासन करने लगा, परन्तु वहाँपर भी उसके शत्रुओंने आक्रमण कर दिया, जिससे दुःखी होकर वह शिकारके बहानेसे वनमें जाकर मेधा मुनिके आश्रममें रहने लगा। परन्तु वहाँ भी उसे रात-दिन अपने राज्य-कोष आदिकी ही चिन्ता घेरे रहती थी। एक समय राजा आश्रमके निकट घूम रहा था कि उसकी दृष्टि एक वैश्यपर पड़ी। उसे उदास देख राजाने पूछा कि 'तुम कौन हो और यहाँ किसलिये आये हो? तुम्हारा मुख उदास और चिन्तित क्यों प्रतीत होता है?' राजाके वचन सुनकर विनीतभावसे वैश्य कहने लगा कि महाराज! मेरा नाम समाधि है। मैं उच्च कुलमें उत्पन्न वैश्य हूँ; परन्तु दुर्भाग्यवश मेरे दुष्ट पुत्रोंने मेरा धन छीनकर मुझे निकाल दिया, जिससे मैं इस वनमें भटकता फिरता हूँ। मुझे अपने स्वजनोंके कुशल-समाचार नहीं प्राप्त होनेसे मैं सर्वदा चिन्तित रहता हूँ। यद्यपि अर्थलोलुप पुत्रोंने मुझे निकाल दिया, फिर भी मेरा चित्त उनके मोहको नहीं छोड़ता। इस प्रकार परस्पर बातें करते वे दोनों आश्रममें गये और राजाने ऋषिके आगे विनीतभावसे कहा कि 'क्या कारण है कि मेरा सम्पूर्ण राज्य छिन जानेपर भी अभीतक उसमें मेरी आसक्ति बनी हुई है और यही दशा इस वैश्यकी हो रही है? आप हमें उपदेश देकर चिन्तासे छुड़ाइये।'

मुनिने कहा—'राजन्! महामायाकी विचित्र लीलाके द्वारा समस्त प्राणी ममता और मोहके गर्त्तमें पड़े हुए हैं—

महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत्।
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा॥
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।
तया विसृज्यते विश्वं जगदेतच्चराचरम्॥

'जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् मोहित हो रहा है वह भगवान् विष्णुकी महामाया है। वह महामाया देवी भगवती ज्ञानियोंके चित्तको भी बलपूर्वक आकर्षण-कर मोहमें डाल देती है। उसीके द्वारा यह सम्पूर्ण चराचर जगत् रचा गया है। वह जिसपर प्रसन्न होती है उसे मुक्ति प्रदान करती है और वही संसारके बन्धनका हेतु है। मुक्तिकी हेतुभूत सनातना पराविद्या वही है।'

राजाने पूछा—महाराज! जिसका आपने वर्णन किया वह महामाया देवी कौन है और कैसे उत्पन्न हुई है? उसके गुण, कर्म, प्रभाव और स्वरूप कैसे हैं?

ऋषिने कहा—वह नित्या है, समस्त जगत् उसकी मूर्ति है, उसके द्वारा यह चराचर जगत् व्याप्त है। फिर भी देवकार्य करनेके लिये वह जब प्रकट होती है तब उसे उत्पन्न हुई कहते हैं।

महाकालीकी उत्पत्ति

प्रलयकालमें सम्पूर्ण संसारके जलमग्न होनेपर भगवान् विष्णु शेषशय्यापर योगनिद्रामें सो रहे थे। उस समय भगवान्‌के कर्णकीटसे उत्पन्न मधु और कैटभ नामक दो घोर राक्षस ब्रह्माको मारनेको उद्यत हो गये। भगवान्‌के नाभिकमलमें स्थित प्रजापति ब्रह्माने असुरोंको देखकर भगवान्‌को जगानेके लिये एकाग्रहृदयसे हरिभगवान्‌के नेत्रकमलस्थित योगनिद्राकी स्तुति की—

'हे देवि! तू ही इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाली है; तू ही महाविद्या, महामाया, महामेधा, महास्मृति और महामोहस्वरूपा है; दारुण कालरात्रि, महारात्रि और मोहरात्रि भी तू ही है। तूने जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाले साक्षात् भगवान् विष्णुको भी योगनिद्रावश कर दिया है और विष्णु, शङ्कर एवं मैं (ब्रह्मा) शरीर ग्रहण करनेको बाधित किये गये हैं। ऐसी महामायाशक्तिकी स्तुति कौन कर सकता है? हे देवि! अपने प्रभावसे इन असुरोंको मोहित कर मारनेके लिये भगवान्‌को जगा।'

इस प्रकार स्तुति करनेपर वह महामाया भगवती भगवान्‌के नेत्र, मुख, नासिका, बाहु तथा हृदयसे बाहर निकलकर प्रत्यक्ष खड़ी हो गयी। भगवान् भी उठे और देखा कि दो भयङ्कर राक्षस ब्रह्माको खानेके लिये उद्यत हो रहे हैं। ब्रह्माकी रक्षाके लिये स्वयं भगवान् उनसे युद्ध करने लगे। युद्ध करते-करते पाँच हजार वर्ष बीत गये, परन्तु वे राक्षस नहीं मरे। तब महामायाने उन राक्षसोंकी बुद्धि मोहित कर दी, जिससे वे अभिमानपूर्वक विष्णुभगवान्‌से कहने लगे कि 'हम तुम्हारे युद्धसे अति सन्तुष्ट हुए हैं, तुम ईप्सित वर माँगो।' भगवान् कहने लगे—'यदि आप

मुझे वर ही देना चाहते हैं तो यही वर दीजिये कि आप दोनों मेरे द्वारा मारे जायँ।' मधु-कैटभने 'तथास्तु' कहा और बोले कि 'जहाँ पृथ्वी जलसे ढकी हुई हो वहाँ हमको नहीं मारना।' अन्तमें भगवान्ने उनके सिरोंको अपनी जंघाओंपर रखकर चक्रसे काट डाला। इस प्रकार देवकार्य सिद्ध करनेके लिये उस सच्चिदानन्दरूपिणी चितिशक्तिने महाकालीका रूप धारण किया, जिसका स्वरूप और ध्यान इस प्रकार है—

खड्गं चक्रगदेषुचापपरिघाञ्छूलं भुशुण्डीं शिरः
शङ्खं संदधतीं करैस्त्रिनयनां सर्वाङ्गभूषावृताम्।
नीलाश्मद्युतिमास्यपाददशकां सेवे महाकालिकां
यामस्तौत्स्वपिते हरौ कमलजो हन्तुं मधुं कैटभम्॥

खड्ग, चक्र, गदा, धनुष, बाण, परिघ, शूल, भुशुण्डी, कपाल और शङ्खको धारण करनेवाली, सम्पूर्ण आभूषणोंसे सुसज्जित, नीलमणिके समान कान्तियुक्त, दस मुख, दस पादवाली महाकालीका मैं ध्यान करता हूँ, जिसकी स्तुति विष्णुभगवान्‌की योगनिद्रास्थितिमें ब्रह्माजीने की थी।

महालक्ष्मीकी उत्पत्ति

एक समय देवता और दानवोंमें सौ वर्षतक घोर युद्ध हुआ। देवताओंका राजा इन्द्र था और दानवोंका महिषासुर। पराक्रमी दानवोंद्वारा देवताओंको पराजितकर महिषासुर स्वयं इन्द्र बन बैठा। तब सम्पूर्ण देवगण पद्मयोनि ब्रह्माजीको आगे कर भगवान् विष्णु और शङ्करके पास गये और उन्हें अपनी सम्पूर्ण विपत्ति-गाथा सुनायी। देवताओंकी आर्तवाणीको सुनकर भगवान् विष्णु तथा शङ्कर कुपित हुए और उनकी भृकुटी चढ़ गयी। उनके शरीरसे एक महान् तेजपुञ्ज निकला और वह एकत्रित होकर प्रज्वलित पर्वतकी तरह सम्पूर्ण दिशाओंको देदीप्यमान करता हुआ नारी-शरीर बन गया। उस भगवतीको देखकर सब देवता प्रसन्न हुए और उसे अपने-अपने शस्त्र समर्पण कर दिये। तब प्रसन्न होकर देवीने अट्टहास किया, जिससे समस्त दिशाएँ गूँज उठीं, समुद्र उछलने लगे, पृथिवी काँप उठी और पर्वत भी डगमगाने लगे, देवताओंने जयध्वनि की और मुनिगण स्तुति करने लगे। उस भयङ्कर गर्जनाको सुनकर महिषासुर क्रोधित होकर अस्त्र-शस्त्र-सुसज्जित दानव-सेनाको लेकर वहाँ आया और तेजपुञ्ज महालक्ष्मीको उसने देखा। तदनन्तर असुरोंका देवीके साथ अति भयङ्कर युद्ध हुआ, जिसमें सम्पूर्ण दानव मारे गये। महिषासुर भी अनेक प्रकारकी माया करके थक गया और अन्तमें महालक्ष्मीके द्वारा मारा गया। देवताओंने भगवतीकी विविध प्रकारसे स्तुति की। इस प्रकार महालक्ष्मीने रूप धारण किया, जिसका स्वरूप और ध्यान इस प्रकार है—

अक्षस्त्रक्परशुं गदेषुकुलिशं पद्मं धनुष्कुण्डिकां
दण्डं शक्तिमसिं च चर्म जलजं घण्टां सुराभाजनम्।
शूलं पाशसुदर्शने च दधतीं हस्तैः प्रसन्नाननां
सेवे सैरिभमर्दिनीमिह महालक्ष्मीं सरोजस्थिताम्॥

स्वहस्तकमलमें अक्षमाला, परशु, गदा, बाण, वज्र, कमल, धनुष, कुण्डिका, शक्ति, खड्ग, चर्म, शङ्ख, घण्टा, सुधापात्र, शूल, पाश और सुदर्शनचक्रको धारण करनेवाली, कमलस्थित, महिषासुरमर्दिनी महालक्ष्मीका हम ध्यान करते हैं।

महासरस्वतीकी उत्पत्ति

पूर्वकालमें शुम्भ और निशुम्भने इन्द्रादि देवताओंके सम्पूर्ण अधिकार छीन लिये तथा वे स्वयं ही यज्ञभोक्ता बन बैठे। तब अपने अधिकारोंको पुनः प्राप्त करनेके लिये देवताओंने हिमालयपर जाकर देवी भगवतीकी अनेक प्रकारसे स्तुति की। उस समय पतितपावनी भगवती पार्वती आयीं और उनके शरीरमेंसे शिवा प्रकट हुईं। सरस्वतीदेवी पार्वतीके शरीरकोषसे निकली थीं। इसलिये उनका कौशिकी नाम प्रसिद्ध हुआ। कौशिकीके निकल जानेके बाद पार्वतीका शरीर काला पड़ गया, इसलिये उन्हें कालिका कहते हैं। तदनन्तर भगवती कौशिकी परम सुन्दर रूप धारण कर बैठी हुई थीं कि उन्हें चण्ड-मुण्ड नामक शुम्भ-निशुम्भके दूतोंने देखा। उन्होंने जाकर शुम्भ-निशुम्भसे कहा कि 'हे दानवपति! हिमालयपर एक अति लावण्यमयी परम मनोहरा रमणी बैठी है। वैसा मनोज्ञ रूप आजतक किसीने नहीं देखा। आपके पास ऐरावत हाथी, पारिजात तरु, उच्चैःश्रवा अश्व, ब्रह्माका विमान, कुबेरका खजाना, वरुणका सुवर्णवर्षी छत्र तथा अन्य विविध रत्न विद्यमान हैं, पर ऐसा स्त्रीरत्न नहीं है; अतः आप उसे ग्रहण कीजिये।' दूतोंकी वाणी सुनकर शुम्भ-निशुम्भने अपने सुग्रीव नामक दूतको उस देवीको प्रसन्न करके अपने पास लानेको कहा। दूतने जाकर देवीको शुम्भ-निशुम्भका आदेश सुनाया और उनके ऐश्वर्यकी बहुत प्रशंसा की। देवीने कहा कि तुम कहते हो सो सब सत्य है; परन्तु मैंने पहले एक प्रतिज्ञा कर ली थी, वह यह है कि—

यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति॥

'जो मुझे संग्राममें जीतकर मेरे दर्पको चूर्ण करेगा वही मेरा पति होगा। अतः तुम अपने स्वामीको जाकर मेरी प्रतिज्ञा सुना दो कि मुझे युद्धमें जीतकर मेरा पाणिग्रहण कर ले।' दूतने देवीको बहुत समझाया, परन्तु देवीने नहीं माना। तब कुपित होकर दूतने सम्पूर्ण वृत्तान्त शुम्भ-निशुम्भको जा सुनाया, जिससे कुपित होकर उन्होंने अपने सेनापति धूम्रलोचनको देवीके साथ युद्ध करनेके लिये भेजा। परन्तु देवीने थोड़े ही समयमें उसे सेनासहित मार डाला। इसी प्रकार चण्ड और मुण्डको भी देवीने मार डाला। तब क्रुद्ध होकर उन्होंने अपनी समस्त सेना लेकर देवीको चारों ओरसे घेर लिया। भगवतीने घण्टाध्वनि की, जिससे सम्पूर्ण दिशाएँ गूँज उठीं। इसी समय ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कार्तिकेय और इन्द्रादिके शरीरोंसे शक्तियाँ निकलकर चण्डिकाके पास आयीं। वे देवियाँ जिसकी शक्ति थीं। तत्तत् शक्तिके अनुरूप स्वरूप, भूषण और वाहनसे युक्त थीं। उन शक्तियोंके मध्यमें स्वयं महादेवजी आये और देवीसे बोले कि 'मुझे प्रसन्न करनेके लिये सम्पूर्ण दानवोंका संहार कीजिये।' उसी समय देवीके शरीरसे अति भीषण चण्डिका-शक्ति प्रकट हुई और शिवजीसे बोली कि 'हे भगवन्! आप हमारे दूत बनकर दानवोंके पास जाइये और उन्हें कह दीजिये कि यदि तुम जीना चाहते हो तो त्रैलोक्यका राज्य इन्द्रको समर्पितकर पाताललोकको चले जाओ।' शिवजीने शुम्भ-निशुम्भको देवीकी आज्ञा सुनायी, पर वे बलगर्वित दानव कब माननेवाले थे। निदान आपसमें युद्ध छिड़ गया और अस्त्र-शस्त्र-प्रहार होने लगे। शक्तियोंद्वारा आहत होकर दानव-सेना गिरने लगी। तब क्रुद्ध होकर रक्तबीज युद्धभूमिमें आया। इस दानवके रक्तसे उत्पन्न दानव-समूहसे सम्पूर्ण युद्ध-स्थल भर गया, जिससे देवगण काँप उठे। तब चण्डिकाने कालीसे कहा कि तुम अपना मुख फैलाकर इसके शरीरसे निकले हुए रक्तका पान करो, जब यह क्षीणरक्त होगा तब मारा जायगा। फिर देवीने रक्तबीजपर शूल-प्रहार किया। उससे जो रक्त निकला उसे काली पीती गयी। क्षीणरक्त होते ही देवीके प्रहारसे वह धराशायी हो गया। तत्पश्चात् शुम्भ और निशुम्भ भी युद्ध-भूमिमें मारे गये। देवगण हर्षित होकर जयध्वनि करने लगे। इस प्रकार महासरस्वतीने रूप धारण किया, जिसका स्वरूप और ध्यान इस प्रकार है—

घण्टाशूलहलानि शङ्खमुसले चक्रं धनुः सायकं
हस्ताब्जैर्दधतीं घनान्तविलसच्छीतांशुतुल्यप्रभाम्।
गौरीदेहसमुद्भवां त्रिनयनामाधारभूतां महा-
पूर्वामत्र सरस्वतीमनुभजे शुम्भादिदैत्यार्दिनीम्॥

'स्वहस्तकमलमें घण्टा, त्रिशूल, हल, शंख, मुसल, चक्र, धनुष और बाणको धारण करनेवाली, गौरी-देहसे उत्पन्न, त्रिनेत्रा, मेधास्थित चन्द्रमाके समान कान्तिवाली, संसारकी आधारभूता, शुम्भादि दैत्यमर्दिनी महासरस्वतीको हम नमस्कार करते हैं।'

देवतागण महासरस्वतीकी स्तुति करने लगे—'हे देवी! आप अनन्त पराक्रमशाली वैष्णवी शक्ति हैं, संसारकी आदिकारण महामाया आप ही हैं। आपके द्वारा समस्त संसार मोहित हो रहा है। आप ही प्रसन्न होनेपर मुक्तिकी दाता हैं। हे देवि! सम्पूर्ण विद्याएँ आपके ही भेद हैं, सम्पूर्ण स्त्रियाँ आपका ही स्वरूप हैं। आपके द्वारा समस्त संसार व्याप्त है। कौन ऐसी विशेषता है कि जिससे हम आपकी स्तुति करें! हे देवि! आप प्रसन्न हों और शत्रुओंके भयसे सर्वदा हमारी रक्षा करें। आप समस्त संसारके पापोंका और उत्पातके परिणामस्वरूप उपसर्गोंका नाश कर दीजिये।' देवताओंकी स्तुति सुनकर भगवती प्रसन्न होकर कहने लगीं—'हे देवगण! तुम्हारी की हुई स्तुतिके द्वारा एकाग्र-चित्त होकर जो मेरा स्तवन करेगा उसकी समस्त बाधाएँ मैं अवश्य नष्ट कर दूँगी।' यह कहकर देवगणके देखते-देखते ही भगवती अन्तर्धान हो गयीं।

मेधा ऋषिने देवीकी उत्पत्ति और देवादिकृत स्तुति सुनाकर कहा कि 'हे राजन्! तुम और यह वैश्य तथा अन्य विवेकीजन इस महामाया भगवतीकी मायासे मोहित हो रहे हैं, अतः तुम उसी परमेश्वरीकी शरण ग्रहण करो। आराधना करनेसे वह मनुष्योंको शीघ्र ही भोग, स्वर्ग और मोक्षकी दाता है।' ऋषिके वचन सुनकर वे दोनों नदीके किनारे जाकर देवीकी पार्थिव मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करने लगे। देवीको प्रसन्न करनेके लिये उन्होंने अनेक संयम-नियमोंका पालन करते हुए तीन वर्षतक कठोर तपस्या की। उनके तपको देखकर भगवती प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष आ खड़ी हुई और बोली—'मैं तुम दोनोंपर प्रसन्न हूँ। मन-इच्छित वर माँग लो!' तब राजाने अपने राज्य और वैश्यने ज्ञान-प्राप्तिकी याचना की। देवीने 'तथास्तु' कहा। दोनोंके मनोरथ पूर्ण हुए, वैश्य मुक्त हो गया और राजाने अपना राज्य प्राप्त किया और दूसरे जन्ममें सूर्यपुत्र होकर सावर्णिमनु हुआ।

शक्तिपूजा और प्रस्तरकला

(लेखक—पं० श्रीवासुदेवजी उपाध्याय, एम० ए०)

संसारमें केवल एक हिन्दूधर्म ही ऐसा है जिसमें पूजाको विशेष महत्ता दी गयी है। विशिष्ट योगियोंके अतिरिक्त सर्वसाधारणके लिये ईश्वरप्राप्तिके साधनोंमें पूजाका महत्त्वपूर्ण स्थान है। धर्मग्रन्थोंमें उपासनाके सगुण तथा निर्गुण प्रकारके विधानोंके उल्लिखित होनेपर भी सगुणने ही अधिकतर मनुष्योंका ध्यान आकर्षित किया। पूजाके भावके साथ-ही-साथ प्रस्तरकलाका भी प्रारम्भ हुआ, क्योंकि बिना धार्मिक भावके शिल्पी अपने कौशलका प्रदर्शन नहीं कर सकता। यद्यपि प्रस्तरकलामें ध्यानमें मग्न योगियोंकी भी मूर्तियाँ मिलती हैं, लेकिन ईश्वरके अवतारों तथा अन्य भावोंका जो चित्र शिल्पकार भावुकजनोंके सम्मुख उपस्थित करता है, वह अवर्णनीय है।

शक्तिकी उत्पत्ति

बहुत प्राचीन कालसे ही ब्रह्मकी त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश)-का भाव हिन्दूधर्ममें समाविष्ट था; परन्तु प्रस्तरकलामें ब्रह्माकी उतनी मूर्त्तियाँ नहीं पायी जातीं, जितनी कि वैष्णव तथा शैव मूर्त्तियाँ! वेदान्तके साथ सांख्यने भी पुरुष और प्रकृतिके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया, जिस कारणसे हमारी प्रस्तरकलामें भी नये विचारका समावेश हुआ। हमारे ऋषियोंने पुरुष और प्रकृतिको ईश्वर तथा शक्ति भी कहा है। हिन्दू विष्णु तथा शिवको ईश्वर मानते हैं और उनकी कोमल (Feminine) प्रतिकृतिको शक्ति कहकर पुकारते हैं। यही कारण है कि शक्तिपूजा विष्णु तथा शिवसे सम्बद्ध है। प्रस्तरकलामें इस सम्बन्धका दिग्दर्शन पूर्णरूपसे पाया जाता है। शिल्पमें न केवल उन देवों (विष्णु तथा शिव)-की शक्ति लक्ष्मी और पार्वतीकी मूर्तियाँ ही पायी जाती हैं, परन्तु ईश्वर और शक्तिका विचार इतने ऊँचे स्थानतक पहुँचा है कि दोनोंका समावेश एक ही मूर्तिमें किया गया है। काश्मीरमें प्रस्तरकी तथा नेपालमें धातुओंकी अर्धनारीश्वर (शिव)-की बहुत ही सुन्दर मूर्तियाँ मिली हैं जो उपर्युक्त भावकी पुष्टि करती हैं। हिन्दुओंके इस ईश्वर तथा शक्तिपूजाका प्रभाव बौद्धधर्मपर भी पड़ा, जिसके कारण महायानकी उत्पत्ति हुई। बौद्धधर्ममें शक्तिको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ जिसमें 'तारा' का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

महालक्ष्मी

वैष्णवों तथा शैवोंकी भाँति शक्तिपूजक शाक्त कहलाते हैं। शक्तिपूजाके कारण एक नये मन्त्रशास्त्रकी उत्पत्ति हुई या यों कहा जाय कि मन्त्रशास्त्रके कारण शक्तिपूजाकी वृद्धि हुई। शाक्त लोगोंका विश्वास है कि शक्ति ही सबसे महान् शक्तिशालिनी है, जिसके बिना ब्रह्म भी कार्य सम्पादन नहीं कर सकता। उस महान् शक्तिको 'महालक्ष्मी' के नामसे पुकारते हैं। देवीमाहात्म्यमें महालक्ष्मीसे ही समग्र देवी-देवताओंकी उत्पत्तिका वर्णन मिलता है। इसका निम्न प्रकारसे उल्लेख कर सकते हैं—

महालक्ष्मी

- सरस्वती
  - गौरी
  - विष्णु
- लक्ष्मी
  - लक्ष्मी
  - हिरण्यगर्भ
- महाकाली
  - सरस्वती
  - रुद्र

शिल्पशास्त्रमें महालक्ष्मीका वर्णन इस प्रकार है—

वरं त्रिशूलं खेटञ्च पानपात्रञ्च बिभ्रती।
नीलकण्ठे च नागं हि महालक्ष्मी सुखप्रदा॥
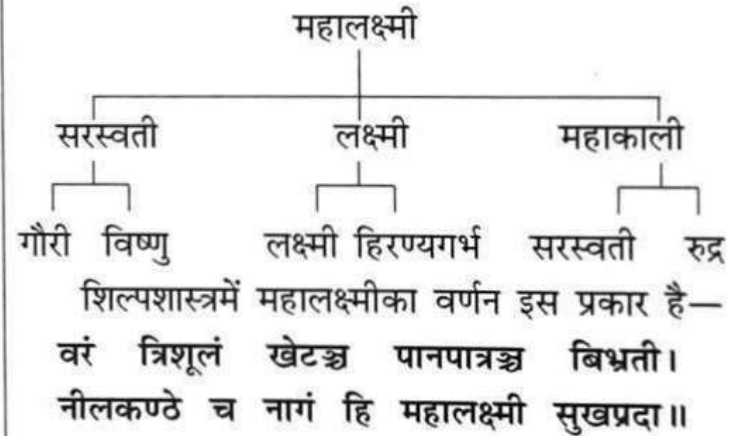
(रूपमण्डन)

प्रस्तरकलामें भी इस महालक्ष्मीका विशेष स्थान है। बम्बई प्रान्तमें स्थित कोल्हापुर नामक स्थानमें एक सुन्दर मन्दिरमें महालक्ष्मीकी भव्य मूर्ति प्रतिष्ठित है। उस मूर्तिकी चार भुजाएँ हैं, जिनमें पात्र, गदा, बिल्व तथा खेटकके चिह्न हैं। इस मूर्तिके मस्तकपर शिवलिङ्ग दृष्टिगोचर होता है। यह स्थान धार्मिक यात्राका एक मुख्य केन्द्र है।

योगशक्ति

वैष्णव तथा शैव-सम्बन्धी शक्तिमूर्तियोंके विवरणसे पूर्व योगशास्त्रमें शक्तिके स्थानसे परिचित होना आवश्यक प्रतीत होता है। योगशास्त्रमें कुण्डलिनीसे ही शक्तिकी समता बतलाते हैं। कुण्डलिनीके मुख्य छः स्थान हैं जो चक्र या यन्त्रके रूपमें दिखलाये जाते हैं। ये यन्त्र बीजाक्षरसे संयुक्त रहते हैं। इनके मुख्य यन्त्रको श्रीचक्र कहते हैं। यह मेरु,

कैलास तथा भू:के रूपमें शिल्पमें दिखलाया जाता है। यह यन्त्र पत्थर या धातुके ऊपर खोदा जाता है, जिसे मनुष्य भूत-प्रेतोंको दूर करनेके लिये पहनते हैं। यों तो भारतमें यन्त्रकी पूजा सर्वसाधारणमें पायी जाती है परन्तु दक्षिण भारतके मन्दिरोंमें इस शक्तिपीठालयकी स्थापना पायी जाती है, जिसकी प्रतिदिन पूजा की जाती है।

ऊपर कहा गया है कि प्रत्येक देवताकी कोमल *शक्ति-मूर्ति* (Feminine) प्रतिकृति शक्तिरूपमें पायी जाती है। इसी कारणसे साधारणतया प्रस्तरकलामें प्रत्येक देवके साथ उसकी स्त्रीकी भी मूर्ति दिखलायी जाती है। देवियोंकी मूर्तियाँ देवताओंके साथ दो भुजाओंकी पायी जाती हैं। एक हाथमें कमल तथा दूसरा हाथ नीचे लटका रहता है। परन्तु जब शक्तिकी मूर्ति देवके समीप बैठी दिखलायी जाती है या स्वतन्त्ररूपसे खड़ी रहती है तो शिल्पी उसे द्विभंग या समभंग अवस्थामें दिखलाते हैं। किसी मूर्तिमें देव शक्तिको आलिङ्गन करता दिखलायी पड़ता है। जैसे—गणेश, शिव, सूर्य आदि। इस प्रकारके उदाहरणोंके होते हुए श्रीशक्तिका अधिकांश सम्बन्ध शिवसे प्रतीत होता है। उत्तरकामिकागम नामके ग्रन्थमें चतुर्भुजी और त्रिनेत्रा देवीका वर्णन मिलता है—

चतुर्भुजा त्रिनेत्रा च सुप्रसन्नैकवक्त्रका।
दुकूलवसना देवी करण्डमुकुटान्विता॥
वरदाभयसंयुक्ता पाशाङ्कुशकरान्विता।

इस देवीको शिवकी पत्नी कहा जाता है। दूसरी देवीकी मूर्तियाँ भी मिलती हैं। प्रस्तरकलामें इनके छ: हाथ दिखलाये गये हैं। उनमें पाश, अङ्कुश, शङ्ख और चक्र या शिवके अन्य शस्त्र रहते हैं। दूसरे दो हाथ अभय तथा वरद मुद्रामें पाये जाते हैं। ये देवियाँ शिवके आसनमें बैठी हुई मिलती हैं। इस प्रकार कितनी ही मूर्तियाँ हैं जो शिवकी शक्ति हैं और शिवके साथ उनकी मूर्तियाँ बनायी जाती हैं।

शैव शक्तिके अतिरिक्त वैष्णव शक्तियाँ भी पायी जाती हैं। प्रस्तरकलामें एक विशेष शक्तिकी मूर्ति मिलती है, जिसे विष्णुकी अनुजा कहते हैं। सुप्रभेदागम नामक ग्रन्थमें इसका सुन्दर वर्णन मिलता है। इस देवीके छ: या आठ हाथ होते हैं। इसके हाथ शङ्ख-चक्रसहित तथा अभय-मुद्रामें मिलते हैं। यह सुन्दर देवी आभूषणोंसे सुसज्जित महिष, सिंह या कमलपर स्थित दिखलायी जाती है। दक्षिण-भारतके महाबलिपुरम् मन्दिरमें ऐसी ही सुन्दर पत्थरकी मूर्ति प्रतिष्ठित है। इस देवीकी मूर्तिको सुप्रभेदागम 'आदि-शक्ति'के नामसे पुकारता है।

आदिशक्तेः समुद्भूतां विष्णुप्राणानुजां शुभाम्।
शङ्खचक्रधरां देवीं धनु:सायकधारिणीम्॥
खड्गखेटकसंयुक्तां शूलपाशसमायुताम्।
चतुर्भुजां वा कुर्वीत सर्वाभरणभूषिताम्॥
श्यामवर्णां सुवदनां महिषस्य शिर:स्थिताम्।
सिंहारूढां च वा कुर्यात्पद्मासनसमागताम्॥

शक्तियोंका नामकरण

हिन्दूधर्ममें शक्तिकी पूजा अनेक प्रकारकी पायी जाती है। धर्मशास्त्रकारोंने शक्तिकी अवस्था या कार्यके अनुसार नाम-भेद किया है। एक वर्षकी शक्तिका नाम सन्ध्या, दो वर्षकी सरस्वती, सात सालकी चण्डिका, आठ वर्षकी शाम्भवी, नववर्षीया दुर्गा, दस वर्षकी गौरी, तेरह वर्षकी महालक्ष्मी तथा षोडशवर्षीया शक्तिका नाम ललिता आदि मिलते हैं। अवस्थाके अतिरिक्त विशेष कार्य सम्पादन करनेसे उस शक्तिका नाम कार्यानुरूप पड़ता है। जब शक्तिके द्वारा महिषासुर नष्ट किया गया तो उस शक्तिका नाम महिषासुरमर्दिनी रखा गया। इसी प्रकार सूर्यकी शक्ति जब अन्धकारको नष्ट करती है तो उसे उषाके नामसे पुकारते हैं।

शिव-शक्ति

शक्तिका सबसे अधिक सम्बन्ध शिवसे है। साधारणतया शैव शक्तियाँ दुर्गाके नामसे प्रसिद्ध हैं। दोनोंके संहारकारी स्वभावके कारण यह नामकरण युक्तिसंगत प्रतीत होता है। आगममें नवदुर्गाका नाम मिलता है तथा दूसरी नवदुर्गाकी मूर्तियाँ एक स्थानपर एकत्रित भी मिलती हैं। आगममें नवदुर्गाके नाम निम्न प्रकारसे उल्लिखित हैं—

(१) नीलकण्ठी
(२) क्षेमङ्करी
(३) हरसिद्धि
(४) रुद्रांश-दुर्गा
(५) वन-दुर्गा
(६) अग्नि-दुर्गा
(७) जप-दुर्गा
(८) विन्ध्यवासिनी दुर्गा
(९) रूपमारी-दुर्गा

इन सब दुर्गा देवियोंके तीन नेत्र तथा चार भुजाएँ होती हैं। प्रस्तरकलामें इनकी मूर्ति नहीं पायी जाती, केवल विन्ध्यवासिनीकी मूर्ति संयुक्तप्रान्तके मिर्जापुर जिलेमें विन्ध्याचल पर्वतपर पायी जाती है। इनके तीन

नेत्र स्पष्टरूपसे दिखलायी पड़ते हैं। दूसरी नवदुर्गाकी मूर्ति एक साथ पायी जाती है। मध्यमें स्थित दुर्गाका नाम भद्रकाली है; प्रस्तरकलामें इस देवीकी अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। भद्रकालीकी अठारह भुजाएँ हैं। अन्य देवियोंके सोलह भुजाएँ होती हैं। ये रुद्रचण्डा, प्रचण्डा, चण्डनायिका आदि नामोंसे पुकारी जाती हैं। विष्णुधर्मोत्तरमें भद्रकालीका यों वर्णन मिलता है—

अष्टादशभुजा कार्या भद्रकाली मनोहरा।
आलीढस्वासनस्था च चतुःसिंहे रथे स्थिता॥
अक्षमाला त्रिशूलं च खड्गश्चन्द्रश्च यादव।
बाणचापे च कर्तव्ये शङ्खपद्मे तथैव च॥

विष्णुधर्मोत्तरके वर्णनानुसार प्रस्तरकलामें भद्रकालीकी मूर्तिका अभाव-सा है। दक्षिण-भारतसे भद्रकालीकी एक मूर्ति मिली है, जिसके तीन नेत्र तथा चार भुजाएँ हैं। उन भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, त्रिशूल तथा डमरू दिखलाया गया है। यह मूर्ति कमलासनपर खड़ी है; इसके प्रभामण्डलमें आठ छोटी-छोटी मूर्तियोंके आकार बनाये गये हैं, जिससे नवदुर्गाकी गणना होती है। यों तो अनेक दुर्गा, रम्भा, मङ्गला, अम्बा आदिके वर्णन मिलते हैं परन्तु उनमें महाकाली, कात्यायनी या महिषासुरमर्दिनीकी अनेक सुन्दर मूर्तियाँ मिलती हैं। दक्षिणमें मद्रास प्रान्तसे महाकालीकी एक मूर्ति मिली है जो कमलासनपर बैठी है और भद्रकालीकी तरह अस्त्र ग्रहण किये है। किसी-किसी स्थानसे अष्टभुजी मूर्ति भी मिलती है। भारतमें महिषासुर-मर्दिनीकी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। शिल्पशास्त्रके विभिन्न ग्रन्थोंमें महिषासुरमर्दिनीके लिये विभिन्न नाम पाये जाते हैं। 'रूपमण्डन' में इसे कात्यायनी कहा गया है तथा विष्णु-धर्मोत्तरमें इसका चण्डिकाके नामसे उल्लेख मिलता है। इससे प्रकट होता है कि इन दुर्गाका नाम कात्यायनी या चण्डिका था परन्तु महिषासुरके मारनेके कारण इनका नाम महिषासुरमर्दिनी पड़ गया। दोनों ग्रन्थोंके वर्णनमें अधिक भिन्नता नहीं है। संक्षेप वर्णन इस प्रकार मिलता है—

कात्यायनीं ततो वक्ष्ये दशहस्तां महाभुजाम्।
तेजःप्रतापदां नित्यं नृपाणां सुखबोधिनीम्॥
त्रिभङ्गिस्थानसंस्थानां महिषासुरमर्दिनीम्।

(रूपमण्डन)

निगद्यते ह्यथो चण्डी हेमाभा सा सुरूपिणी।
त्रिनेत्रा यौवनस्था च क्रुद्धा चोर्ध्वस्थिता मता॥

(विष्णुधर्मोत्तर)

प्रस्तरकलामें महिषासुरमर्दिनी दुर्गाकी मूर्ति अनेकों प्रकारकी मिलती है। दक्षिण-भारतकी मूर्तियाँ दशभुजी होती हैं। उनके हाथोंमें वैसे ही अस्त्र-शस्त्र मिलते हैं, जिनका वर्णन पुस्तकोंमें मिलता है। जैसे दायें हाथमें त्रिशूल, खड्ग, बाण, चक्र तथा शक्त्यायुध और बायें हाथमें खेट, पाश, अंकुश, घण्टा तथा परशु दिखलायी पड़ता है। किरीट-मुकुट धारण किये हुए महिषासुरमर्दिनीका शरीर त्रिभङ्ग अवस्थामें दिखलायी पड़ता है। इतनी समता होते हुए भी किसी मूर्तिमें देवी सिंहपर बैठी हुई दिखलायी गयी हैं तथा अन्य किसीमें खड़ी हैं। इनका एक पैर सिंहपर अवलम्बित रहता है तथा दूसरा महिषासुरके शरीरके समीप स्थित दिखलायी पड़ता है। इन सब मूर्तियोंके अतिरिक्त काशीके भारत-कला-भवनमें खड़ी अष्टभुजी महिषासुरमर्दिनीकी मूर्ति है। वराह तथा वामनपुराणमें इसका भिन्न-भिन्न कथानक मिलता है, जिसका वर्णन यहाँ अप्रासङ्गिक होगा। इन कथानकोंका आधार जो कुछ भी हो परन्तु कलामें तो बहुत ही भव्य महिषासुरमर्दिनीकी मूर्ति मिलती है। दुर्गाका महिषासुरके साथ युद्ध तथा आकाशमें इसे देखनेके लिये सब देवताओंके अवतरणका सुन्दर दृश्य प्रस्तरकलामें दिखलायी पड़ता है।

पार्वती

यों तो शक्तिकी सहस्रों मूर्तियाँ भिन्न-भिन्न रूपमें पूजी जाती हैं तथा अम्बा, नन्दा, मङ्गला, त्रिपुरा, रौद्री, वामा, योगेश्वरी, काली, जयन्ती आदि शक्तियोंका वर्णन मिलता है; परन्तु शिवसम्बन्धी शक्तियोंमें पार्वतीको मुख्य स्थान मिला है। गौरीकी ही पूजा पार्वतीके रूपमें होती है। भारतमें ऐसा कोई ही स्थान होगा जहाँपर शिव-पार्वतीकी पूजा न होती हो। प्रस्तरकलामें शिव-पार्वतीका रूप अनेक प्रकारसे दिखलाया गया है। इलोराकी गुफामें एक बहुत ही सुन्दर विचित्र पार्वतीकी मूर्ति मिली है। यह केवल पार्वतीकी मूर्ति है। कमलासनपर खड़ी चतुर्भुजी मूर्ति है। मस्तकपर सुन्दर किरीट-मुकुट शोभायमान है। दायें हाथोंमें रुद्राक्षमाला तथा शिवलिङ्ग है और बायें हाथोंमें कमण्डलु तथा गणेशकी मूर्ति धारण किये हैं। ऐसी मूर्ति उत्तरी भारतमें प्रायः नहीं देखी जाती।

वैष्णव-शक्ति

इन शक्तियोंके अतिरिक्त कुछ शक्तियोंका सम्बन्ध विष्णुपूजासे भी है। उन सबमें लक्ष्मीकी प्रधानता मानी जाती है। लक्ष्मीकी मूर्ति विष्णुके साथ या पृथक् भी पूजित होती है। लक्ष्मी श्री, पद्मा या कमला नामसे भी पुकारी जाती है। जब लक्ष्मीकी मूर्ति विष्णुके साथ मिलती है, उसमें दो भुजाएँ पायी जाती हैं। कमलासनपर बैठी हुई, विष्णुके साथ खड़ी या शेषशायी भगवान्के पैरोंके समीप बैठी मूर्तियाँ मिलती हैं। यदि लक्ष्मीकी मूर्ति पृथक् मिलती है तो वह चतुर्भुजी होती है। दायें हाथोंमें कमल तथा बिल्वफल होता है और बायें हाथोंमें अमृतघट और शङ्ख दिखलायी पड़ता है। यह चतुर्भुजी मूर्ति कमलासनपर बैठी हुई मिलती है, तथा दोनों ओर चार परिचारिकाएँ तथा दो हाथी लक्ष्मीकी मूर्तिपर पानी गिराते रहते हैं। दक्षिण-भारतके महाबलिपुरम् तथा इलोराकी गुफामें ऐसी ही सुन्दर मूर्तियाँ मिली हैं जिनको श्रीके नामसे उल्लिखित किया गया है। उत्तरी भारतमें ऐसी मूर्तिको गजलक्ष्मीके नामसे पुकारते हैं। ये मूतियाँ कमलासनपर खड़ी दिखलायी गयी हैं, जिनको हाथी पानीसे स्नान करा रहे हैं। उत्तरी भारतके भावमयी एक सुन्दर मूर्ति काशीके भारत-कला-भवनमें सुरक्षित है।

अन्य शक्तियाँ

विष्णु तथा लक्ष्मीकी पूजाके अतिरिक्त भगवान्के अवतारोंकी शक्तियोंकी भी पूजा होती है। रामकी पत्नी सीता और कृष्णशक्ति राधाकी पूजा भारतमें प्रचलित है, परन्तु प्रस्तरकलामें इनका महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। इन शक्तियोंको छोड़कर कुछ ऐसी भी अन्य देवोंकी शक्तियाँ हैं जिनकी पूजा होती है। ब्रह्माकी शक्ति सरस्वतीकी पूजा समस्त विद्वत्समाजद्वारा की जाती है। इनकी मूर्ति पृथक् मिलती है। कलामें कमलासनपर बैठी, चतुर्भुजी मूर्ति मिलती है। इसके सिरपर मुकुट तथा उसके निकट पूजा-निमित्त एकत्रित कुछ मुनि भी दिखलाये गये हैं। दायें दोनों हाथ रुद्राक्षमालायुक्त तथा व्याख्यान-मुद्रामें रहते हैं और बायें हाथोंमें पुस्तक तथा कमल दिखलायी पड़ता है। इसके अतिरिक्त शिल्पकारोंने विष्णुधर्मोत्तरके वर्णनानुसार सरस्वतीकी मूर्ति वीणा तथा कमण्डलुके साथ भी दिखलायी है। सूर्यकी मूर्तिके साथ उनकी शक्ति उषाकी भी मूर्ति मिलती है। हिन्दुओंमें एक विचित्र शक्ति 'तुलसी' की पूजा करते हैं जिनका सम्बन्ध किसी देवसे नहीं है। प्रस्तरकलामें तो इस मूर्तिका सर्वथा अभाव ही है, परन्तु तुलसी-माहात्म्यमें निम्नलिखित वर्णन मिलता है—

ध्यायेच्च तुलसीं देवीं श्यामां कमललोचनाम्।
प्रसन्नां पद्मकह्लारवराभयचतुर्भुजाम्॥

सप्तमातृका

इन उपर्युक्त शक्तियोंके विवेचनके पश्चात् एक सम्मिलित शक्तियोंका भी वर्णन समुचित प्रतीत होता है। ये सम्मिलित शक्तियाँ सप्तमातृकाके नामसे पुकारी जाती हैं। नामसे ही स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसमें सात शक्तियाँ सम्मिलित हैं, जो ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्री तथा चामुण्डाके नामसे प्रसिद्ध हैं। ये शक्तियाँ क्रमशः ब्रह्मा, शिव, कुमार, विष्णु, वराह, इन्द्र तथा यमकी देवियाँ हैं। इन्हीं देवताओंके वाहन तथा आयुधोंसे इन देवियोंका समीकरण किया जाता है। प्रस्तरकलामें इनकी चतुर्भुजी मूर्ति मिलती है। शिल्पशास्त्रमें कुछ देवियोंका भिन्न वर्णन मिलता है। जैसे कौमारीके छः मुख तथा बारह हाथ आदि-आदि। परन्तु कलामें प्रायः सब शक्तियोंमें समता दिखलायी पड़ती है। दक्षिणमें इलोराकी गुहामें सप्तमातृकाकी सुन्दर मूर्तियाँ मिलती हैं। उत्तरी भारतमें मथुरा तथा काशी-कला-भवनमें इनकी मूर्ति सुरक्षित है। कलाभवनमें एक बहुत सुन्दर वैष्णवीकी मूर्ति है, जो अकेले शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म लिये बैठी है। परन्तु इसे सप्तमातृकामें स्थान देनेके लिये शिल्पकारोंने इस वैष्णवीके दोनों तरफ छः शक्तियोंकी छोटी-छोटी मूर्तियाँ बना दी हैं। ऐसी मूर्तिमें उस विशिष्ट देवीको ही प्रधान स्थान दिया जाता है।

शक्तिपूजाकी प्राचीनता

इस वर्णनको समाप्त करते हुए कुछ शक्ति-पूजाकी प्राचीनताकी ओर दृष्टि डालना अप्रासङ्गिक न होगा। मेरा विचार केवल कला-कौशलमें ही सीमित होगा। यह प्रायः सभी जानते हैं कि किसी धर्म या मतकी प्रधानता उसी अवस्थामें होती है जब वह राजासे साहाय्य पाता है या राजधर्मके रूपमें रहता है। कला-कौशलमें सबसे प्राचीन मूर्तियाँ बौद्ध-धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली मिलती हैं। भारतके सम्राटोंने ईसवी सन्से पूर्व शताब्दियोंमें बौद्ध-धर्मकी सहायता की, भारतमें स्थित रहनेसे भले ही उनपर यदा-कदा हिन्दूधर्मका आभास दिखलायी

पड़ता है। ईसवी सन्‌के पूर्व प्रथम शताब्दीमें विदेशी शक राजा अयसके सिक्केपर गजलक्ष्मीकी मूर्ति मिलती है, जिसे हिन्दूधर्मके प्रभावके अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता। ईसवी सन्‌की कई शताब्दियोंतक भारतीय राजाओंने हिन्दू-धर्मको अपनाया, परन्तु उस समयमें भी शक्ति-पूजाका प्रचार नहीं दिखलायी देता। भारतके इतिहासमें तीसरीसे कई शताब्दियोंतक यद्यपि गुप्तकाल 'स्वर्णयुग' माना जाता है परन्तु उस समय वैष्णवधर्मकी ही प्रधानता थी। तथापि उस समय शक्तिपूजा भी प्रायः पर्याप्त मात्रामें मिलती है। गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य)-की उदयगिरिगुहामें महिषासुरमर्दिनीकी मूर्ति मिलती है। भुमरासे भी षड्भुजी महिषासुरमर्दिनीकी मूर्ति प्राप्त है। सप्तमातृकाकी भी मूर्ति उदयगिरिकी गुहामें मिलती है। छठी शताब्दीकी लिपिमें वज्रान्तपकी एक मुहर मिली है जिसपर गजलक्ष्मीका चित्र है। इसके पश्चात् भारतीय मध्य-युगमें शक्तिपूजाका विशेष प्रचार हुआ। सारे भारतमें शक्ति-मूर्तियोंका बृहत् आयोजन था। हर एक स्थानमें मध्ययुगकी अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं या यों कहिये कि सबकी गणना मध्यकालीन प्रस्तरकलामें होती है। इलोराकी गुहाओंमें पार्वती, महिषासुरमर्दिनी तथा सप्तमातृकाओंकी मूर्तियाँ मिलती हैं। दक्षिणके चोल राजाओंके समकालीन बहुत मूर्तियाँ मिलती हैं। इतना ही नहीं, इसी युगमें भारतसे बाहर भी जावा, बाली आदि अनेक द्वीपोंमें शक्तिपूजा तथा मूर्तियोंका प्रचार था।

गीताके शक्ति-मन्त्रमें शक्तियाँ

(लेखक—पं० श्रीबाबूरामजी शुक्ल कविसम्राट्, पद्यार्थवाचस्पति)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

(१) **अन्वय—सर्वधर्मान् परित्यज्य एकं मां शरणं व्रज। सर्वपा (सर्वरक्षिणी), अपेभ्या (अपगतः इभ्यः स्वामी यस्याः सा, सर्वस्वामिनीत्यर्थः), उमा (पार्वती), त्वा (त्वाम्) उक्षयिष्यामि (पालयिष्यामि), मा शुचः।**

अर्थ—सब धर्मोंको छोड़कर तू मेरी शरणमें आ जा। सबकी रक्षा करनेवाली और सर्वेश्वरी मैं उमा तेरी रक्षा करूँगी, पालन करूँगी। चिन्ता न कर।

(२) **अन्वय—सर्वधर्मान्.....व्रज। मा (लक्ष्मीः) अहं त्वा सर्वपापेभ्यः (सर्वपापानि विनाश्य—ल्यब्लोपे पञ्चमी) उक्षयिष्यामि (पालयिष्यामि)।**

अर्थ—सब धर्मोंको छोड़कर तू मेरी शरणमें आ जा। मैं लक्ष्मी तेरे समस्त पापोंका विनाशकर तेरी रक्षा करूँगी।............

(३) **अन्वय—सर्वधर्मान्.....व्रज। अहं तु आसर्वपा (आः ब्रह्मा तस्य सर्वपा पत्नीति यावत्) अपेभ्यः (अरक्षेभ्यः शत्रुभ्यः) त्वां मोक्षयिष्यामि मा शुचः।**

अर्थ—सब धर्मोंको......आ जा। मैं ब्रह्माजीकी पत्नी ब्रह्माणी तुझे शत्रुओं (के भय)-से मुक्त कर दूँगी।........

इस प्रकार इस श्लोकमें शिव, ब्रह्मा और विष्णु—तीनोंकी शक्तियोंके वाक्य गतार्थ हो जाते हैं। अब इस एक ही श्लोकमें उक्त तीनों देवियोंकी शरणागतिका किस प्रकार उपदेश हुआ है, उसे भी देखिये।

(४) **अन्वय—सर्वधर्मान् परित्यज्य मा (महाकाल्या सह) क्विबन्तोऽत्र 'मा*', न टाबन्तः। मे (महालक्ष्मीमहासरस्वत्यौ) शरणं व्रज। देवीत्रयं शरणं प्रपद्यस्व। तदा अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि। मा शुचः। इति मन्त्रदेवतोक्तिः।**

अर्थ—सारे धर्मोंको छोड़कर तू महाकालीसहित महालक्ष्मी और महासरस्वतीकी शरण जा। ऐसा करनेपर मैं तुझे सारे पापोंसे मुक्त कर दूँगा।...............

* तृतीयैकवचनान्तश्च, अतो धातोरित्याकारलोपात्।

दयामयी माँ लक्ष्मी

(लेखक—श्री० ति० पे० रंगाचार्य, 'रा० विशारद')

स्वस्ति श्रीर्दिशतादशेषजगतां सर्गोपसर्गस्थितिः
स्वर्गं दुर्गतिमापवर्गिकपदं सर्वं च कुर्वन् हरिः।
यस्या वीक्ष्य मुखं तदिङ्गितपराधीनो विधत्तेऽखिलं
क्रीडेयं खलु नान्यथास्य रसदा स्यादैकरस्यात्तया॥

संसारकी रचना विचित्र है। इसकी कल्पनाशक्ति अलौकिक है। यही लोकोत्तर शक्ति सर्ग, स्थिति और लयकी जन्मदात्री है। यही शक्ति साक्षात् लक्ष्मीके नामसे पुकारी जाती है—

सिद्धिबुद्धिप्रदे देवि भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी।
मन्त्रमूर्त्ते सदा देवि महालक्ष्मि नमोऽस्तु ते॥
आद्यन्तरहिते देवि आदिशक्ते महेश्वरि।
योगजे योगसम्भूते महालक्ष्मि नमोऽस्तु ते॥

—इत्यादि श्लोकोंमें आदिशक्ति, भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी और सर्वशक्तियुक्ता माता लक्ष्मी ही बतलायी गयी हैं।

यद्भ्रूभङ्गाः प्रमाणं स्थिरचररचनातारतम्ये मुरारे-
र्वेदान्तास्तत्त्वचिन्तां मुरभिदुरसि यत्पादचिह्नैस्तरन्ति।

—आदिके अनुसार इस समस्त सृष्टिमें कालनियम अटलरूपसे चलता है। युगका परिवर्तन होते-होते आज इस घोर कलियुगके आ जानेपर अधिकांश मनुष्य पुण्यहीन, दुराचारी, असत्यवादी, परनिन्दक, परद्रव्यकी इच्छा करनेवाले, परायी स्त्रीसे प्रेम करनेवाले, मूर्ख, नास्तिक, पशुओंकी-सी जड बुद्धिवाले, कामपरायण और कामनाओंके दास बन गये हैं। इनकी परलोकमें और दूसरे जन्ममें क्या दशा होगी?

यह निश्चय है कि सब जीवोंका ईश्वरसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी सम्बन्धका अवलम्बन करके श्रीलक्ष्मीजी चेतनोंको ईश्वरके आश्रयमें पहुँचाती हैं। प्राणी तथा ईश्वरके बीच जब घनिष्ठ सम्बन्ध स्थिर है, तब लक्ष्मीजीकी पुरुषकारता तथा सहानुभूतिकी क्या आवश्यकता है? संसारमें पिता और पुत्रका सम्बन्ध और प्रेम बहुत ही दृढ़ है। तथापि पिताका शुष्क-हृदयगत प्रेम निदाघ-ऊसर क्षेत्रका बीज है और माताकी सहज मालिन्यरहित दया करुणा-वृष्टिसे सींचती रहती है। जगज्जननी होनेके कारण उनके वात्सल्यमें मार्दव है। सर्वेश्वरका हृदय कठिन और करुणासे संकीर्ण रहता है। लक्ष्मीजीका तो केवल मार्दवयुत ही है। चेतनोंका दुःख इनसे नहीं सहा जाता। चाहे हृदयदौर्बल्यके कारण हो, चाहे पापभारसे तहतक ही पहुँच गया हो, जो परमात्मासे विमुख होकर दूर रहता है, उसको भी भगवान्‌के सम्मुख लानेकी चेष्टा माता करती रहती हैं। ईश्वरमें पुरुष होनेके कारण स्वाभाविक काठिन्य पाया जाता है और जगत्पिता होनेके कारण हितदृष्टि भी होती है। अतः वे अपराधियोंको बड़ी कठोरताके साथ दण्ड देकर शिक्षा देते हैं। अतएव अपराधी इस चेतनको (सर्वेश्वरके आश्रयमें) माता लक्ष्मीजीकी पुरुषकारता और सहायताकी आवश्यकता होती है। अब यह सवाल उठ सकता है कि पुरुषकारभूता श्रीलक्ष्मीजी ही कैसे हैं?

इसके लिये तीन प्रधान गुणोंकी उपस्थिति अनिवार्य है—(१) कृपा, (२) पारतन्त्र्य, (३) अनन्यार्हता। कृपा अर्थात् दूसरोंको दुःखमें देख न सकना, पारतन्त्र्य अर्थात् पराधीनता और अनन्यार्हता अर्थात् अन्य किसीके भी अर्ह नहीं है, लायक नहीं है।

संसारके दुःखी चेतनोंको ईश्वर-प्राप्तिका प्रयत्न करनेके लिये इनकी कृपा चाहिये। स्वच्छन्द पुरुषको काबूमें लानेमें उसका अनुवर्तन करना ही बड़ा काम देता है। इसके लिये पारतन्त्र्यकी जरूरत है। 'इनकी सिफारिश हमारे हितके लिये ही है। वह हमारे लायक है, अन्योंके नहीं।' ऐसा समझकर ईश्वर लक्ष्मीजीके कहनेके अनुसार काम करनेका मानो बीड़ा-सा उठाये हुए मालूम होते हैं। इससे लक्ष्मीजीमें अनन्यार्हताका भी उचित स्थान मालूम पड़ता है।

ईश्वर और लक्ष्मीजीकी कृपामें बड़ा अन्तर है। ईश्वर निरंकुश—स्वतन्त्र हैं, निग्रहानुग्रहसमर्थ हैं। जीवोंको उनके कर्मके अनुसार दण्ड देनेवाले भी हैं, इसलिये कृपा हमेशा उनके काबूमें नहीं रह सकती। किन्तु लक्ष्मीजी केवल दयामूर्ति हैं। दण्डनीय बुद्धि उनमें स्वप्नमें भी नहीं आती। अतएव वह दयाका अवतार ही मानी जाती हैं। जो सम्बन्ध जीवोंका ईश्वरके साथ होता है, उससे कहीं विलक्षण सम्बन्ध लक्ष्मीजीसे है। इसी सम्बन्धके बलसे उनका पारतन्त्र्य और अनन्यार्हता सिद्ध होती है। केवल

स्वरूपसे ही नहीं, बल्कि '**ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ**' पृथिवी तथा लक्ष्मी तुम्हारी पत्नी हैं; 'विष्णुपत्नी'— विष्णुजीकी पत्नी हैं—

'**अहंता ब्रह्मणस्तस्य साहमस्मि सनातनी**'

ब्रह्मकी सहायिका शक्ति-सी बनकर हमेशा ब्रह्मके साथ रहनेवाली हैं तथा '**श्रीवत्सवक्षा नित्यश्रीः**' श्रीवत्सको छातीपर धारण करनेवाले और सदा लक्ष्मीके साथ रहनेवाले—इत्यादि प्रमाणोंसे ईश्वर और लक्ष्मीजीका निरन्तर सामीप्य सिद्ध होता है, जिससे ईश्वरकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये चेतनोंको अन्य पुरुषकारकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

'**क्षिपामि**' (डाल दूँगा) '**न क्षमामि**' (क्षमा नहीं करूँगा) आदि वचन कहते हुए निरादर करनेवाले भगवान्‌को समझा-बुझाकर '**एन्नडि यारदु शेय्यार**' (तामिल) 'मेरे भक्त अपराधी नहीं हैं' कहती हुई जीवोंको ईश्वरका कृपापात्र बनाती हैं। पाञ्चरात्रागममें ईश्वर स्वयं कहते हैं—

मत्प्राप्तिं प्रति जन्तूनां संसारे पततामथ।
लक्ष्मीः पुरुषकारत्वे निर्दिष्टा परमर्षिभिः॥
ममापि च मतं ह्येतन्नान्यथालक्षणं भवेत्॥

संसारमें जितने प्राणी मेरा कृपापात्र बनना चाहते हैं, महर्षियोंने सिद्ध किया है कि उनके लिये लक्ष्मीजी ही पुरुषकारभूता हैं। मेरी भी यही इच्छा है और उसका यही उत्तम लक्षण है।

'अहं मत्प्राप्त्युपायो वै साक्षाल्लक्ष्मीपतिः स्वयम्।
लक्ष्मीः पुरुषकारेण वल्लभा प्राप्तियोगिनी।
एतस्याश्च विशेषोऽयं निगमार्तेषु (निगमान्तेषु) शब्द्यते॥'

लक्ष्मीपति मैं ही प्राप्य हूँ। मेरी पत्नी लक्ष्मी पुरुषकार देती है। मैं उपाय हूँ; वह पुरुषकार है।

'अकिञ्चनैकशरणाः...........................।
लक्ष्मीं पुरुषकारेण वृतवन्तो वराननाम्॥'

—इत्यादि भगवान्‌के वचन ही श्रीलक्ष्मीजीकी महिमा प्रकट करते हैं। आदिशक्ति लक्ष्मीजीकी कृपाके बिना ईश्वरप्राप्ति असम्भव है। क्योंकि—

अण्डानावरणैः सहस्रमकरोत्तान् भूर्भुवः सर्वतः
श्रीरङ्गेश्वरि देवि ते विहतये संकल्पमानः प्रियः।

(गुणरत्नकोष)

स्वतः श्रीस्त्वं विष्णोस्त्वमसि तत एवैष भगवान्
त्वदायत्तर्धित्वेऽप्यभवदपराधीनविभवः ॥

(गुणरत्नकोष)

अकारार्थो विष्णुर्जगदुदयरक्षाप्रलयकृद्
यकारार्थो जीवस्तदुपकरणं वैष्णवमिदम्।
उकारोऽनन्यार्हं नियमयति सम्बन्धमनयो-
स्त्रयीसारस्त्र्यात्मा प्रणव इममर्थं समदिशत्॥

(अष्टश्लोकी)

इन बातोंसे ईश्वरसे श्रीलक्ष्मीजीका क्या सम्बन्ध है, यह साबित होता है। हाँ, इनकी कृपा आदि गुणोंका साक्षात् प्रमाण कहाँ मिलता है? पुराणोंमें भगवान्‌की लीलाओंका वर्णन है। परन्तु आजकल इतिहास-पुराण ग्रन्थोंपरसे लोगोंकी श्रद्धा घटती जाती है। यही कारण है कि जनसाधारणमेंसे स्वधर्मका ज्ञान नष्ट हो रहा है और धार्मिक प्रवृत्ति भी मन्द हो गयी है। धार्मिक शिक्षाका पुराणोंसे बढ़कर श्रेष्ठ साधन और कोई नहीं है। इनमें प्रधानता इतिहासरत्न श्रीरामायणको दी गयी है।

देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी।
विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषात्मनस्तनुम्॥

(वि० पु० १। ९। १४५)

ईश्वर जिस तरहका अवतार ग्रहण करते हैं, उसीके अनुकूल श्रीलक्ष्मीजी देह धारण करती हैं। अतः—

राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि।
अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषानपायिनी॥

इसके अनुसार श्रीरामावतारमें सीतारूपा लक्ष्मीजी अपने '**देव्या कारुण्यरूपया**' (लक्ष्मीतं० २८। १४) वाक्यको पूर्णतया सिद्ध करती हैं।

स्वप्नके अपशकुनसे भयभीत होकर जब त्रिजटा काँपने लगी तो सीताजी कहती हैं कि '**भवेयं शरणं हि वः**'-तुम्हें कष्टकालमें सहारा देनेके लिये मैं हूँ, डरो मत।

रावणके वधके बाद अन्य राक्षसोंका चित्रवध करनेका हुक्म जब हनुमान्‌जीने माँगा तब सहज करुणामयी सीताजीने '**राजसंश्रयवश्यानाम्**' '**मर्षयामीह दुर्बला**' '**कार्यं कारुण्यमार्गेण न कश्चिन्नापराध्यति**' इत्यादि वाक्योंसे उन्हें प्रसन्न कर बेचारे राक्षसोंको बचाया।

एक बार जब जयन्तने काकके रूपमें आकर सीताजीपर अत्याचार किया तो '**कः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना**'-श्रीरामने उसपर ब्रह्मास्त्र छोड़ा।

उसके भयानक तापसे पीड़ित होकर काक तीनों लोकमें घूम आया, किन्तु कहीं उसे आश्रय न मिला। तब अन्तमें वापस आकर उसने श्रीरामकी ही शरण ली। तब—

पुरतः पतितं देवी धरण्यां वायसं तदा।
तच्छिरः पादयोस्तस्य योजयामास जानकी॥

सीताजीने, श्रीरामचन्द्रजीके आश्रयमें आकर दूर पड़े हुए काकका सिर श्रीरामचन्द्रजीके पादमूलमें रखकर उसकी रक्षा करनेके लिये कहा।

तमुत्थाप्य करेणाथ कृपापीयूषसागरः।
ररक्ष रामो गुणवान् वायसं दययैक्षत॥

श्रीरामचन्द्रजीने दयासिन्धु होनेके कारण उसे आश्रय देकर रक्षा की।

ऐसी कृपामयी श्रीलक्ष्मीजीकी महिमाका वर्णन कहाँतक किया जा सकता है? 'कल्याण' के पाठकोंका कल्याण करनेवाली कल्याणी श्रीलक्ष्मीजीकी महिमा अद्भुत और अलौकिक है।

शक्ति-उपासना और उसका रूप-स्वरूप

(लेखक—श्रीजुगलकिशोरजी 'विमल')

भारतवर्षमें शक्तिकी उपासनाका मार्ग प्राचीन कालसे विद्यमान है। इस मार्गके अनुयायी बड़े-बड़े साधु-महात्मा हो गये हैं। परन्तु वर्तमान कालमें इस उपासनाके रूप और स्वरूपमें प्राय: ऐसा परिवर्तन देखनेमें आता है जिससे विदित होता है कि इस मार्गके साधारण उपासक अधिकांशमें इस उपासनाके वास्तविक रूप और स्वरूपसे अपरिचित हैं। अत: इस लेखमें इस उपासनाके रूप-स्वरूपपर कुछ विचार किया जायगा। आशा है, सज्जन पाठक इस विषयपर निष्पक्ष भावसे मनन करेंगे और इस लेखमें जितनी त्रुटियाँ होंगी उन्हें केवल क्षमा ही नहीं करेंगे, बल्कि उनपर प्रकाश डालकर लेखक और उसके समान गति रखनेवालोंको कृतार्थ करेंगे। यह स्मरण रहे कि लेखकका किसी विशेष सम्प्रदायसे सम्बन्ध नहीं है, इसलिये इस लेखमें किसीका पक्ष नहीं लिया गया है।

'शक्ति-उपासना' शब्द दो शब्दोंसे मिलकर बना है—'शक्ति' और 'उपासना'। उपासनाका अर्थ होता है 'पास बैठना'। इसका अभिप्राय होता है, 'वह साधन, जिससे उपास्य (जिसके पास बैठा जाय)-की प्राप्ति हो।' 'शक्ति' मनुष्य-शरीरमें मौजूद रहनेवाला वह तत्त्व है जिसकी सहायतासे मायाको अधीन किया जाता है। अत: 'शक्ति-उपासना' उन साधनोंको कहते हैं जिनसे माया अपने अधीन हो जाय। मायाके अधीन हो जानेपर जीव निर्बन्ध होकर मुक्ति प्राप्त करता है। इस दृष्टिसे शक्ति-उपासनाको मुक्तिप्राप्तिका एक मार्ग कहा जा सकता है। परन्तु इस उपासनाका प्रचलित रूप इस उद्देश्यकी पूर्ति नहीं करता। इस कारण इस उपासनाके रूप-स्वरूपका विवेचन करना अति आवश्यक है।

मानवी शरीर एक लघु ब्रह्माण्ड है। ब्रह्माण्डमें रहनेवाले सभी पदार्थ लघुरूपमें इसके भीतर वर्तमान हैं। इसलिये प्रत्येक उपासक, जो किसी भी उपायसे कुछ प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है, वह अपने साधनद्वारा अपने इच्छित पदार्थको अपने ही भीतरसे समेटकर इकट्ठा करता है और उसको अपने वशमें लाकर उसका प्रयोग करता है। अत: जो मायाको जीतनेकी शक्ति प्राप्त करनेका इच्छुक है, वह शक्ति-उपासनासे अपने भीतर रहनेवाले उस शक्ति-तत्त्वको प्रबल बनाकर काममें लाता है, जिससे माया उसके अधीन हो जाती है।

अब प्रश्न उठता है कि वे साधन कौन-से हैं जिनसे साधक मायाको अपने अधीन रखनेकी शक्ति प्राप्त करता है; क्योंकि इन्हीं साधनोंके रूप-स्वरूपको जानना शक्ति-उपासनाका रूप-स्वरूप जानना है।

शास्त्रकारोंने इस शक्तिको प्राप्त करनेके दो उपाय बतलाये हैं—एक योग-साधन और दूसरा मन्त्र-जाप। योगकी अष्टाङ्गयोग, लययोग, सुरतशब्दयोग, राजयोग, हंसयोग आदि कितनी ही शाखाएँ हैं। इनमें मन्त्र-योग भी सम्मिलित है। इस दृष्टिसे मन्त्र-जापको भी योगके ही अन्तर्गत मान सकते हैं। ऐसी दशामें शक्ति पानेका उपाय केवल योगसाधनको ही माना जाय तो इसमें कोई गलती न होगी। वर्तमान कालमें मन्त्रयोगके अतिरिक्त योगसाधनकी सभी शाखाओंका पालन करना साधारणत: गृहस्थ-आश्रममें कठिन हो रहा है। इसके क्या कारण हैं, यह बतलाना इस लेखका विषय नहीं; इसलिये यहाँ

केवल मन्त्रयोगपर ही विचार किया जाता है।

मन्त्रोंके दो भाग हैं—एक वेदोक्त, दूसरा साबर। वेदोक्त मन्त्रसे आध्यात्मिक उन्नति होती है और साबर-मन्त्रसे दैविक अथवा भौतिक उन्नति। अतः यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि वेदोक्त मन्त्रोंका पद साबर-मन्त्रोंसे बहुत ऊँचा है। वेदोक्त मन्त्रोंके जपसे शीघ्र ही फल मिलता है; परन्तु मन्त्र-जपकी सफलता दो नियमोंपर निर्भर करती है—(१) मन्त्रोंका उच्चारण बिलकुल शुद्ध होना चाहिये। उच्चारणमें तनिक-सी अशुद्धि होते ही मन्त्रका फल नष्ट हो जाता है। यही कारण है कि छान्दोग्य-उपनिषद्में मन्त्रोंके शुद्ध उच्चारणपर बहुत अधिक ज़ोर दिया गया है। (२) मन्त्र-जप विधिपूर्वक होना चाहिये। विधि-भङ्ग जप-मन्त्रको निष्फल बना देता है। आजकल वेदोक्त मन्त्रोंका जप प्रायः लुप्त-सा हो गया है। साबर-मन्त्र ही अधिकतर प्रचलित हैं। परन्तु इनके विषयमें जो नियम निश्चित किये गये हैं, उनपर ध्यान बहुत कम दिया जाता है। इस कारण वे अपना प्रभाव नहीं दिखाते और साधक हताश होकर कहने लगते हैं कि मन्त्र-जप केवल ढोंग है, इससे कोई लाभ नहीं। जाप करना केवल अपने समयको नष्ट करना है, केवल मूर्ख लोग इनपर विश्वास करते हैं। कोई-कोई श्रद्धालु इतना ही कहकर मौन हो जाते हैं कि मन्त्रोंको महादेवजीने कील दिया है, इसलिये वे अब अपना प्रभाव नहीं दिखा सकते। परन्तु यह सब बातें कपोल-कल्पित हैं और मूल सिद्धान्तोंको न जाननेके कारण ही कही जाती हैं। मन्त्र-प्रभावका इस लेखसे विशेष सम्बन्ध है, इस कारण उसपर सूक्ष्म विचार करना यहाँ अति आवश्यक है।

यह बात किसीसे छिपी नहीं है कि जो भी शब्द उच्चारण किये जाते हैं वे उच्चारण-कर्त्ताके उच्चारण करते ही वायुमण्डलमें एक प्रकम्पन पैदा करते हैं। मुखसे उच्चारण करनेसे बाहरके वायुमण्डलमें, और हृदयमें उच्चारण करनेसे भीतरके वायुमण्डलमें यह प्रकम्पन पैदा होता है। अतः मुखसे उच्चारण होनेवाले शब्द हृदयसे उच्चारण होनेवाले शब्दोंकी अपेक्षा कम प्रभाव दिखाते हैं। इस प्रकम्पनसे जो चिह्न वायुमण्डलमें बनते हैं, वे वायुमण्डलमें तबतक घूमते रहते हैं जबतक कोई पदार्थ उनको अपने भीतर नहीं सोख लेता या वे फैलते-फैलते इतने मन्द नहीं हो जाते कि उनका भाव भी अभावके ही समान हो जाता है। शब्दोंसे उत्पन्न होनेवाला प्रकम्पन उच्चारण-भेदके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारका चिह्न पैदा करता है। साथ ही नियमित शब्दोंके नियमित उच्चारणसे नियमित चिह्न बनते हैं। इन नियमोंपर यदि आपको विश्वास न हो तो आप ग्रामोफ़ोन, टॉकीज़, टेलीफोन, लाउडस्पीकर, ब्रॉडकास्टर आदि यन्त्रोंके आधारभूत सिद्धान्तपर मनन कीजिये। आपको मालूम हो जायगा कि ऊपर लिखे हुए सिद्धान्तोंके कारण ही इन यन्त्रोंका आविष्कार हुआ है। ऐसी स्थितिमें यह मानना पड़ेगा कि मन्त्र-उच्चारणसे कुछ फल तो निकलना ही चाहिये। किसी विशेष मन्त्रसे क्या फल निकलता है, यह बात उसका उपयोग किये बिना मालूम नहीं हो सकती। हाँ, यह अवश्य है कि मन्त्र-उच्चारण शुद्ध होनेपर फल सदा ही एक निकलेगा। इसके अतिरिक्त लेखक यह कहनेका साहस करता है कि ऋषियों, मुनियों और योगियोंने जो कुछ उनके फल बतलाये हैं वे सर्वथा सत्य हैं। यदि उनका बतलाया हुआ फल किसी साधकको प्राप्त नहीं होता तो जानना चाहिये कि साधनमें ही त्रुटि हुई है। अब, वह फल क्या है, इसका वर्णन किया जाता है।

जिन अक्षरोंसे शब्द बनता है, उनके उच्चारणके पाँच स्थान हैं—ओठ, जीभ, दाँत, तालु और कण्ठ। प्रत्येक स्थान एक-एक तत्त्वका स्थल है। ओठ पृथिवी-तत्त्वका, जीभ जल-तत्त्वका, दाँत अग्नि-तत्त्वका, तालु वायु-तत्त्वका और कण्ठ आकाश-तत्त्वका स्थान है। मन्त्रोंके ऐसे अक्षर या शब्द जिनका उच्चारण ओठसे होता है, पृथिवी-तत्त्वका विकास करके जपकर्त्तामें पृथिवी-तत्त्वको प्रबल बनाते हैं। इसी प्रकार जीभसे उच्चारण होनेवाले अक्षर वा शब्द जलतत्त्वका, दाँतसे उच्चारण होनेवाले अग्नि-तत्त्वका, तालुसे उच्चारण होनेवाले वायु-तत्त्वका और कण्ठसे उच्चारण होनेवाले आकाश-तत्त्वका विकास करते हैं। शरीररूपी ब्रह्माण्डके अन्तर्गत तीन ब्रह्माण्ड हैं। शरीरका मध्य-भाग 'स्वब्रह्माण्ड', ऊपरका भाग 'पराब्रह्माण्ड' और नीचेका भाग 'अपराब्रह्माण्ड' कहलाता है। स्व-ब्रह्माण्डका सम्बन्ध विराट्-तत्त्वसे, पराका विद्युत्-तत्त्वसे और अपराका शून्यतत्त्वसे है। स्वमें कारणशक्तियाँ, परामें सूक्ष्म शक्तियाँ और अपरामें स्थूल शक्तियाँ वास

करती हैं। मन्त्रोंके जिन अक्षरों वा शब्दोंसे स्वमें प्रकम्पन होता है उनसे विराट्-तत्त्व-सम्बन्धित कारण-शक्तियोंका विकास होता है। जिनसे परामें प्रकम्पन होता है उनसे विद्युत्-सम्बन्धित सूक्ष्म शक्तियोंका, और जिनसे अपरामें प्रकम्पन होता है उनसे शून्य-तत्त्व-सम्बन्धित स्थूल शक्तियोंका विकास होता है। उदाहरणार्थ, '**राम्**' के उच्चारणसे परामें प्रकम्पन होता है, अत: उसके उच्चारणसे सूक्ष्म शक्तियाँ जागृत होती हैं।'**ह्रीम्**' के उच्चारणसे स्वमें प्रकम्पन होता है, अत: उसके उच्चारणसे कारणशक्तियाँ जागृत होती हैं और '**श्रीम्**' के उच्चारणसे अपरामें प्रकम्पन होता है, अत: उससे स्थूल शक्तियाँ जाग्रत् होती हैं। ये शक्तियाँ जब पूर्णरूपसे जाग्रत् हो जाती हैं, तब ये साधकके भावके अनुसार एक विशेष रूप धारण करके उसके सम्मुख प्रकट होती हैं। साधक शक्तिके उस रूपसे जो कुछ वर माँगता है, शक्तिद्वारा वही वरदान पाकर उसकी मनोकामना पूरी होती है। इस भाँति मन्त्र-जपसे सब कामनाओंकी पूर्ति होती है। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि जितेन्द्रिय हुए बिना इस सिद्धिका प्राप्त होना असम्भव है।

शक्तिका जिस समय उपर्युक्त रूपमें साक्षात्कार होता है, उस समय यह कोई नियम नहीं है कि वह शक्ति देवीरूप ही हो। साधककी भावना होनेपर उसका देवरूप भी होता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहा जा सकता है कि साधक जिस देवी-देवताको इस प्रकार सिद्ध करता है उसको वही देवी-देवता दर्शन देकर मनोवाञ्छित वरदान देते हैं।

इस लेखको समाप्त करनेसे पहले यह निवेदन करना उचित है कि साबर-मन्त्र दो प्रकारके होते हैं—दैविक और पैशाचिक। दैविक सिद्धिका जो कुछ वर्णन ऊपर किया गया है वह वेदोक्त और दैविक साबर-मन्त्रोंपर लागू है। पैशाचिक साबर-मन्त्रकी सिद्धिमें इतना भेद है कि सिद्धि होनेपर शक्ति स्वयं रूप धारण करके प्रकट नहीं होती और न कोई वरदान देती है, बल्कि इस सिद्धिसे साधक अपनी शक्तिद्वारा किसी पिशाचको, जो उसके सिद्ध वायु-मण्डलके भीतर प्रवेश कर जाता है, अपने अधीन करके उससे मनमाना कर्म कराता है। परन्तु ये मनमाने कर्म ऐसी सिद्धिमें शुभ-श्रेणीके नहीं होते और साधकका अन्त कष्टदायक होता है। शरीर छूटनेपर उसे स्वयं पिशाच-योनिमें जाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त दूसरा भेद यह होता है कि दैविक सिद्धिसे जो फल मिलता है, साधकको उसका बदला चुकाना नहीं पड़ता। परन्तु पैशाचिक सिद्धिमें उसे सदैव बदला चुकाना पड़ता है। यदि साधक कोई वस्तु अपने वा किसी दूसरेके हेतु अपनी सिद्धिके बलसे मँगवाता है तो दैविक सिद्धिद्वारा मँगवानेपर उसे उसका मूल्य चुकाना नहीं पड़ता। बिना मूल्य दिये ही वह उसका उपयोग कर सकता वा करा सकता है। परन्तु पैशाचिक सिद्धिमें उसे उस वस्तुका मूल्य चुकाये बिना उसके उपभोग करने वा करानेका अधिकार नहीं होता।

यह है शक्ति-उपासनाका एक सच्चा रूप-स्वरूप। इस उपासनासे उपासक सब कुछ प्राप्त कर सकता है; परन्तु उसकी कामनाकी पूर्ति सदैव दूसरेके हाथमें रहती है। यही कारण है कि यदि उपासक अपनी शक्तिका दुरुपयोग करता है वा अपनेसे प्रबल किसी दूसरे उपासकके विरुद्ध काममें लाता है तो उसकी सिद्धि नष्ट हो जाती है और उसे पुन: सिद्धि प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना पड़ता है। परन्तु श्रीमद्भगवद्गीताकी बतलायी हुई दोनों निष्ठाओं (योग और ज्ञान-मार्ग)-के उपासकोंकी सिद्धि इस प्रकार नष्ट नहीं हो सकती और न वे उपासक स्वयं किसीके अधीन होकर रहते हैं। उन्हें जो कुछ करना होता है उसे वे स्वतन्त्र रहकर अपने बलपर करते हैं।

शरण

काहूको सरन संभु गिरिजा गनेस सेस,
काहूको सरन है कुबेर ऐसे धोरीको।
काहूको सरन मच्छ कच्छ बलराम राम,
काहूको सरन गोरी साँवरी-सी जोरीको॥
काहूको सरन बोध बावन बराह व्यास,
ये ही निरधार सदा रहें मति मोरीको।
आनँदकरन बिधिबंदित चरन एक,
हठीको सरन बृषभानुकी किसोरीको॥

षडध्व

(लेखक—सर जॉन वुडरफ)

'अध्व' का अर्थ है मार्ग और मन्त्राध्व कहते हैं मन्त्रविद्या अथवा मन्त्रविज्ञानको। ये मार्ग शब्द और अर्थकी दृष्टिसे तीन-तीन प्रकारके हैं। शब्दके तीन अध्व हैं—वर्ण, पद और मन्त्र (पदसमूह)। इनमेंसे पिछले दोनों क्रमशः पहले दोनोंके आश्रित हैं अर्थात् पद वर्णके और मन्त्र पदके आश्रित है। जिस ग्रन्थसे मैंने निम्नाङ्कित सारणी ली है उसमें इनको क्रमशः इक्यावन, इक्यासी और ग्यारहकी संख्यासे सूचित किया है। शेष तीन अध्व, जिनका अर्थसे सम्बन्ध है, कला (५), तत्त्व (३६) और भुवन (२२४) हैं। इनमें भी दूसरा और तीसरा क्रमशः पहले और दूसरेके आश्रित हैं। षडध्वविज्ञानका यों तो शैव और शाक्त दोनों सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंमें उल्लेख मिलता है, किन्तु शाम्भवदर्शनमें इसका विशेषरूपसे उल्लेख पाया जाता है। इस शाम्भवदर्शनमें शैव और शाक्त दोनों दर्शनोंकी एकवाक्यता पायी जाती है। शाक्त लोग शिव और शक्ति दोनोंकी उपासना करते हैं किन्तु वे शक्तिको विशेष महत्त्व देते हैं। इसी प्रकार शिवोपासक शक्तिसहित शिवकी उपासना करते हैं, यद्यपि वे शिवको प्रधान मानते हैं। शाम्भवदर्शनमें शिव और शक्ति दोनोंका समन्वय कर दिया गया है और इनका समन्वित रूप दोनोंकी अपेक्षा अधिक उदात्त हो गया है। इसी प्रकार कुलका अर्थ है शक्ति और अकुल नाम है शिवका, अतएव कुलीन कहते हैं उसको जो दोनोंकी अभेदरूपमें उपासना करे।

कला कहते हैं शक्तिके सामान्य एवं परात्पर रूपको। परन्तु उसका अधिक प्रचलित अर्थ है शक्तिका अन्यतम विशिष्ट स्वरूप और व्यापार। पाँच प्रधान कलाएँ, जो तत्त्वसमुदायका सम्पिण्डित रूप हैं, ये हैं—शान्त्यातीताकला, शान्तिकला, विद्याकला, प्रतिष्ठाकला और निवृत्तिकला। ये कतिपय तत्त्वोंकी शक्तियाँ हैं और विस्तारकी प्रक्रियाकी दो अवस्थाएँ हैं। तत्त्वोंकी संख्या ३६ हैं और वे तीन वर्गोंमें विभक्त हैं, जिनके नाम हैं—शुद्ध तत्त्व, शुद्धाशुद्ध तत्त्व और अशुद्ध तत्त्व। इनके और प्रकारसे भी तीन वर्ग किये गये हैं जो शिवतत्त्व, विद्यातत्त्व और आत्मतत्त्वके नामसे पुकारे जाते हैं। सिद्धान्त-सारावली तथा अन्य ग्रन्थोंके अनुसार पहले वर्गमें शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व शामिल हैं, दूसरे वर्गमें सदाशिवसे लेकर शुद्धविद्यातककी गणना है और तीसरे वर्गमें मायासे लेकर पृथिवीतत्त्वतक अन्तर्भूत हैं। यहाँ मैं पाठकोंको एक बात बतला देना चाहता हूँ। वह यह है कि मैंने अपने 'शक्ति और शाक्त' नामक ग्रन्थमें तत्त्वोंकी जो तालिका दी है उसमें एक भूल रह गयी है, जो उस समय मेरे ध्यानमें नहीं आयी। वहाँ मैंने शुद्ध, शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध तत्त्वको शिव, विद्या एवं आत्मतत्त्वका ही नामान्तर माना है, किन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। शुद्ध तत्त्वमें वे सभी तत्त्व अन्तर्गत हैं जो उस कोष्ठकके अन्दर दिये गये हैं; किन्तु शिवतत्त्वमें शुद्ध तत्त्वोंमेंसे केवल पहले दो ही तत्त्वोंका अर्थात् शिव और शक्ति-तत्त्वका अन्तर्भाव है। शुद्ध तत्त्वोंमें इन दोके अतिरिक्त विद्यातत्त्व भी शामिल है और मायासे लेकर पृथिवीपर्यन्त आत्मतत्त्वके अन्तर्गत हैं।

भुवनका अर्थ है जगत् अथवा लोक। '**अस्माद्भवतीति भुवनम्**' अर्थात् इससे जो कुछ उत्पन्न होता है उसका नाम भुवन है। ये भुवन भी शुद्ध, शुद्धाशुद्ध एवं अशुद्धभेदसे तीन प्रकारके हैं। निम्नाङ्कित तालिकामें जिसे मैंने स्वर्गीय टी० ए० गोपीनाथ रावके "Elements of Hindu Iconography" नामक ग्रन्थ (भाग २, जिल्द २) के पृ० ३९२—३९७ से लिया है, इन भुवनोंको सम्बन्धित कलाओं एवं तत्त्वोंके साथ दिखाया गया है।

कला	तत्त्व	भुवन-संख्या	भुवनोंके नाम
	(१) शुद्ध तत्त्व		
१-शान्त्यातीताकला	१-शिव-तत्त्व	१०	अनाश्रित, अनाथ, अनन्त, व्योमरूपिणी, व्यापिनी, ऊर्ध्वगामिनी, मोचिका, रोचिका, दीपिका और इन्धिका (इनमेंसे पाँच शाक्त-भुवन हैं और शेष पाँच नादोर्ध्व-भुवन हैं)।
	२-शक्ति-तत्त्व	५ १५	शान्त्यातीता, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति (ये बैन्दवपूर कहलाते हैं)।

कला	तत्त्व	संख्या	भुवन
२-शान्तिकला	३-सदाशिव-तत्त्व	१	सदाशिव-भुवन
	४-ईश्वर-तत्त्व	८	शिखण्डी, श्रीकण्ठ, त्रिमूर्ति, एकनेत्र, एकरुद्र, शिवोत्तम, सूक्ष्म और अनन्त।
	५-शुद्ध विद्या-तत्त्व	९	मनोन्मनी, सर्वभूतदमनी, बलप्रमथनी, बलविकरणी, कलविकरणी, काली, रौद्री, ज्येष्ठा और वामा।
		१८	

(२) शुद्धाशुद्ध तत्त्व

कला	तत्त्व	संख्या	भुवन
३-विद्याकला	६-माया	८	अङ्गुष्ठमात्र, ईशान, एकेक्षण, एकपिङ्गल, उद्भव, भव, वामदेव और महाद्युति।
	७-काल	२	शिखेश और एकवीर।
	८-कला	२	पञ्चान्तक और शूर।
	९-विद्या	२	पिङ्ग और ज्योति।
	१०-नियति	२	संवर्त और क्रोध।
	११-राग	५	एकशिव, अनन्त, अज, उमापति और प्रचण्ड।
	१२-पुरुष	६	एकवीर, ईशान, भव, ईश, उग्र, भीम और वाम।
		२७	

(३) अशुद्ध तत्त्व

कला	तत्त्व	संख्या	भुवन
४-प्रतिष्ठाकला	१३-प्रकृति	८	श्रीकण्ठ, औम, कौमार, वैष्णव, ब्रह्म, भैरव, कृत और अकृत।
	१४-बुद्धि	८	ब्राह्म, प्रजेश, सौम्य, ऐन्द्र, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच।
	१५-अहङ्कार	१	स्थलेश्वर एक भुवन है।
	१६-मन, १७-श्रोत्र, १८-त्वक्, १९-चक्षु, २०-जिह्वा, २१-नासिका	१	स्थूलेश्वर एक भुवन है।
	२२-वाक्, २३-पाणि, २४-पाद, २५-पायु, २६-उपस्थ	१	शङ्कुकर्ण एक भुवन है।
	२७-शब्द, २८-स्पर्श, २९-रूप, ३०-रस, ३१-गन्ध	५	कालञ्जर, मण्डलेश्वर, माकोट, द्राविड और छगलाण्ड—ये पाँच भुवन हैं।
	३२-आकाश	८	स्थाणु, स्वर्णाक्ष, भद्रकर्ण, गोकर्ण, महालय, अविमुक्त, रुद्रकोटि, और वस्त्रपाद।
	३३-वायु	८	भीमेश्वर, महेन्द्र, अट्टहास, विमलेश, नल, नाकल, कुरुक्षेत्र और गया।
	३४-तेजस्	८	भैरव, केदार, महाकाल, मध्यमेश, अम्रातक, जल्पेश, श्रीशैल और हरिश्चन्द्र।
	३५-जल	८	लकुलीश, पारभूति, डिण्डी मुण्डी, विधि, पुष्कर, नैमिष, प्रभास और अमरेश।
		५६	

५-निवृत्तिकला	३६-पृथ्वी	१०८	भद्रकालीसे लेकर कालाग्नितक।
	कुल मिलाकर	२२४	
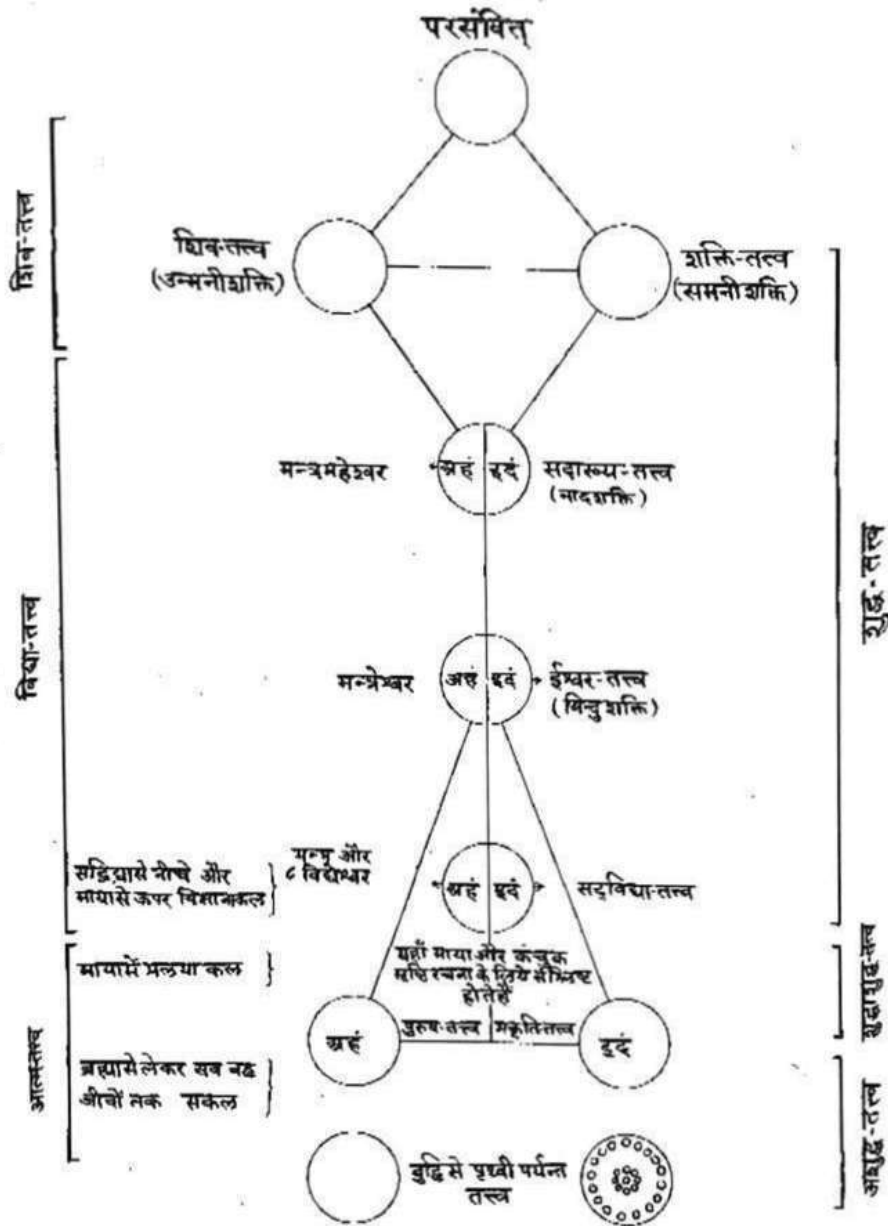
इस प्रकार आद्य एवं परात्पर शिवतत्त्व तथा संयुक्त शक्तितत्त्वसे सम्बन्धित भुवनोंके नाम अनाश्रित, अनाथ, अनन्त, व्योमरूपिणी, व्यापिनी, ऊर्ध्वगामिनी, मोचिका, रोचिका, दीपिका और इन्धिका हैं। अनाश्रितका अर्थ है आधाररहित एवं स्वाश्रित। अनाथ कहते हैं पतिहीनको, क्योंकि यहाँ उनके ऊपर किसीका प्रभुत्व नहीं है। अनन्तका अर्थ है जिसका अन्त न हो। सर्वगत आकाश ही व्योमरूपिणी है। व्यापिनीका अर्थ है सर्वव्यापक। ऊर्ध्वगामिनीका अर्थ स्पष्ट है। मोचिकाका अर्थ है सारे बन्धनोंसे मुक्त। रोचिकाका अर्थ है रमणीय अथवा रमणीयताका उद्गमस्थान। दीपिका कहते हैं प्रकाश करनेवालेको और इन्धिकाका अर्थ है सारे मलोंका नाश करनेवाला, जला डालनेवाला। कला शान्त्यातीता (जिसका अर्थ है शान्तिके परमधामके परे रहनेवाली) तथा शिव और शक्तिके संयुक्त तत्त्वोंके भुवन यही हैं। इनमेंसे पाँचको शाक्त और शेष पाँचको नादोर्ध्व (अर्थात् नादके ऊपर रहनेवाले) भुवन कहते हैं। शेष दूसरे-दूसरे दिव्य विग्रह हैं जो अपने-अपने अभिमानी दिव्य आत्माओं अथवा पुरुषोंके नामसे पुकारे जाते हैं। इन सारे भुवनोंको परमशिवने उनके अन्दर रहनेवाली आत्माओंके भोगके लिये रचा है। इन आत्माओंकी मनुष्यसे लेकर परमेश्वर तथा परमेश्वरीतक असंख्य श्रेणियाँ हैं। शुद्ध भुवनोंमें रहनेवाली आत्माएँ सर्वथा शुद्ध हैं और

शेष शुद्धाशुद्ध अथवा अशुद्ध हैं। मल अज्ञानरूप है और उसके मल, माया और कर्म—ये तीन भेद हैं। इस प्रकार पशु अथवा भूतप्राणियोंकी तीन श्रेणियाँ हैं, जिनके नाम हैं—विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल; इनमेंसे विज्ञानाकल पशु मलसंज्ञक अज्ञानसे आवृत हैं, प्रलयाकल जीव मल और माया दोनोंसे आच्छन्न हैं और सकल प्राणी मल, माया और कर्म—इन तीनों प्रकारके अज्ञानसे आच्छादित हैं। विज्ञानाकलसे ऊपरकी श्रेणीके जीव 'मन्त्र' कहलाते हैं। जब मलरूप आवरण जीवको त्यागनेकी अवस्थामें पहुँच जाता है तब उसकी परिपाकावस्था कही जाती है। वे विज्ञानाकल जीव जिनका मल भलीभाँति परिपक्व हो गया है, विद्येश्वर कहलाते हैं। वे आठ प्रकारके हैं और उनके नाम और वर्ण इस प्रकार हैं—

संख्या	नाम	वर्ण
१	अनन्तेश	शोण (रुधिर-जैसा)
२	सूक्ष्म	श्वेत
३	शिवोत्तम	नील
४	एकनेत्र	पीत
५	एकरुद्र	कृष्ण
६	त्रिमूर्ति	लोहित
७	श्रीकण्ठ	रक्त
८	शिखण्डी	श्याम

जिस ग्रन्थसे ऊपरकी तालिकाएँ ली गयी हैं उसमें इन विद्येश्वरोंके ध्यानके लिये पूर्वकारण, अंशुमभेदागम, कामिक आदि कई दक्षिणागमोंका भी उल्लेख है। इन आगमोंसे यह स्पष्ट होगा कि इनके वर्ण आदिका वर्णन सबमें एक-सा नहीं है।

ये विद्येश्वर उच्च आध्यात्मिक स्थितिमें पहुँची हुई आत्माएँ हैं और इनकी सहायतासे निम्न श्रेणीके जीव भी आध्यात्मिक विकासकी ऊँची भूमिकाओंपर पहुँच सकते हैं। विद्येश्वरोंके आगे मन्त्रेश्वरोंका स्थान है। इन्हें शुद्ध तनु, शुद्ध करण, शुद्ध भुवन और शुद्ध भोग प्राप्त होते हैं, जिससे वे धीरे-धीरे मलसे मुक्त हो जाते हैं। मन्त्रेश्वरोंसे ऊपर मन्त्र-माहेश्वर हैं और इनमें भी आगे नित्य और अजन्मा शिव-तत्त्व एवं शक्तितत्त्व हैं।

'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' (३)-में सदाशिव-तत्त्वका उस 'चिद्-विशेषत्व' के रूपमें वर्णन हुआ है जिसका स्वरूप है मन्त्र-माहेश्वर नामक चैतन्य-वर्गकी भावराशिका अनुभव। विद्येश्वरोंके सम्बन्धमें उसी ग्रन्थ (३। १—६)-में यह लिखा है कि यद्यपि उनका 'अहम्'-भाव शुद्ध रहता है, किन्तु द्वैतवादियोंके ईश्वरोंकी भाँति वे दृश्य पदार्थोंको अपनेसे भिन्न रूपमें देखते हैं। इससे भी ऊँची स्थिति वह है जिसमें द्रष्टा और दृश्य एकरूप हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न तत्त्वोंमें जीवोंकी जो भिन्न-भिन्न अवस्थिति है, उसका विवरण यों है—

सदाख्यतत्त्वमें मन्त्र-माहेश्वर हैं; ईश्वर-तत्त्वमें महेश्वर हैं; शुद्धविद्या-तत्त्वमें मन्त्र हैं (अनन्तादि आठ विद्येश्वर मन्त्रोंसे भिन्न हैं); विज्ञानाकलोंकी अवस्थिति शुद्ध विद्यासे नीचे परन्तु मायासे ऊपर है; प्रलयाकल मायामें स्थित हैं और सकलोंमें ब्रह्मासे लेकर वे सभी जीव आ जाते हैं जो मुक्त नहीं हुए हैं।

समग्र शाम्भवदर्शनका आधार चिद्विशेषत्वका तत्त्व अर्थात् शुद्ध चित्से उतरकर स्थूल जड़ जगत्के ज्ञानतककी स्थितियाँ हैं। प्रत्येक स्थिति अपनी पूर्वगामिनी स्थितिकी अपेक्षा अज्ञानसे अधिक घिरती जाती है, यहाँतक कि जड़ प्रकृतिसे सम्पर्क हो जाता है। शास्त्रोंमें इन आठ भूमिकाओंके नाम इस प्रकार बताये गये हैं—चित्, चिति, चित्त, चैतन्य, चेतना, इन्द्रिय-कर्म, देह और कला। विन्दुकी अवस्थामें स्थित चेतनाका नाम चित् है। चितिका दूसरा नाम व्यापिनी है। आन्तरिक एवं बाह्य क्रियाशीलता ही चित्तका स्वरूप है। बाहरसे मुड़कर भीतरकी ओर जानेवाले बोधका नाम चैतन्य है; उस बोधकी धारणा ही चेतना है। छठा है इन्द्रिय-व्यापारके द्वारा जो अनुभव होता है, उसीको इन्द्रिय-कर्म कहते हैं। शरीरका ही नाम देह है तथा चन्द्र, सूर्य और अग्निकी अड़तीस कलाएँ आदि जो शरीरकी सूक्ष्म क्रियाशील शक्तियाँ हैं उन्हींको कला कहते हैं। चन्द्रमा सत्त्वप्रधान है और अग्नि है तम:प्रधान। सूर्यकी राजसिक क्रिया इन दो विरोधी गुणोंके बीचकी स्थिति है। पृथिवीसे लेकर ऊपरके तत्त्वोंके स्वामी इस प्रकार हैं—पृथिवीसे लेकर प्रधान (प्रकृति)-तकके ब्रह्मा हैं; पुरुषसे लेकर कलातकके स्वामी हैं विष्णु; मायाके स्वामी रुद्र हैं; और सदाख्यतत्त्वतक फैले हुए जो लोक हैं उनके स्वामी हैं ईश। इनके पश्चात् आते हैं अनाश्रित शिव और परशिव।*

---

* लेखककी आज्ञासे उनकी Garland of letter नामक पुस्तकसे अनुवादित।

आराधना

(१)

आवाहन-पूजन

छलक रहे हैं अपलक देखनेको नेत्र,
ललक रहे ये मेरे सकल करण हैं।
आँसू है पदार्घ, मन-मानिककी दक्षिणा है,
सतत प्रदक्षिणामें निरत चरण हैं॥
वाहनको हंस*, अवगाहनको मानस है,
आसन कमल-दल विमल वरण हैं।
पूजाका अखिल उपकरण सजा है अंब!
आ जा, आज आये हम तेरी ही शरण हैं॥

(२)

सुरसरि-वारि चारु चरण पखारनेको,
तारक-समूह श्वेत कुसुम-कनक ये।
देव-वृंद-सहित अखंड नभमंडलमें-
वंदन-निरत हैं सनंदन-सनक ये॥
गाते जड-जंगम उमंगित गुणोंके गान,
अनहद-नाद साम-ध्वनिकी भनक ये।
द्योतित अमंद चंद-चंदन गिराके भाल,
कंठमें स्यमन्तक-से अन्तक-जनक ये॥

(३)

स्तवन

विश्व-वरवीणाकी मनोज्ञ मूर्छना हो, ज्ञान-
दीपकी शिखा हो, तम-तोम-परिभूति हो।
दिव्य जन्म-कर्मका तुम्हारे कौन जाने मर्म,
कवि-प्रतिभाकी तुम पावन प्रसूति हो॥
परम प्रभूति हो, विभूति भव्य जीवनकी,
विभव-विहीनकी अमिट भवभूति हो।
चाहता न कौन है सहानुभूति तेरी देवि!
मर-नरलोककी अमर अनुभूति हो॥

(४)

पाकर तुम्हारी करुणाकी एक बूँद अंब!
ज्ञानका अपार पारावार है छलकता।
वाणीमें अगम निगमागम निवास करें,
तत्त्व परमाणुमें महानका झलकता॥
संतत अनंत रसमय उर-अन्तरसे-
भव्य भावनाओंका प्रवाह है ढलकता।
आते दृष्टिमें हैं दृश्य सृष्टिके रहस्यभरे,
कान्त-कल्पनाकी ओर हृदय ललकता॥

(५)

करके रसीली रसनामें तू निवास सदा,
धाक कवि-जनकी जमाती धनी-मानीमें।
धोती है कलंक मूकताका गिरा होके अर्थ—
अमित लखाती है तरंगसम पानीमें॥
जड जगतीमें एक तू ही चेतनाका अंश,
भ्रंशसे रहित, इस ध्वंसकी निशानीमें।
तेरी ही दयाका तारतम्य दीखता है देवि!
मूढ़ अभिमानीमें, यतीमें, गूढ़ ज्ञानीमें॥

(६)

याचना

तुम तो अपार महासागरमयी हो शान्त,
धूलिमें पड़ा मैं दूर छोटा-सा फुहारा हूँ।
चाह मिलनेकी है; अथाह बननेको, किन्तु-
स्पंदन-प्रवाह-हीन दीन बे-सहारा हूँ॥
साध पूर्ण कैसे हो? अबाध गति मेरी नहीं
एक आध पलका पथिक पड़ा हारा हूँ।
आकर समोद मुझे गोदमें बिठा लो अंब!
दोषी हूँ मनुज किन्तु तनुज तुम्हारा हूँ॥

पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

---

* जीव।

भारतमें विद्युत्-शक्तिका उपयोग

(लेखक—पं० श्रीदयाशङ्करजी दुबे, एम० ए०, एल-एल० बी०)

संसारमें शक्तिकी उपासना सर्वत्र हो रही है। प्रत्येक देश या राष्ट्र अपनेको अधिक शक्तिशाली बनानेका प्रयत्न कर रहा है। जो देश या राष्ट्र सबसे अधिक शक्तिशाली होता है वह सबसे अच्छी दशामें रहता है, उसके निवासियोंको सब तरहकी सुविधाएँ प्राप्त रहती हैं और वे अधिक सुखी रहते हैं। जिनके पास शक्ति नहीं है, जो कमज़ोर हैं वे नाना प्रकारके कष्टोंको सहकर अपना दुःखमय जीवन व्यतीत करते हैं। भारतवासियोंमें, विशेषकर हिन्दुओंमें शक्तिके उपासकोंकी कमी नहीं है। परन्तु शक्तिके उपासक होनेपर भी हमलोग शक्तिकी अवहेलना या तिरस्कार करते हैं, इसीलिये हमारी दशा आजकल बहुत खराब हो गयी है। यह जानते हुए भी कि सङ्घशक्तिका बहुत महत्त्व है, हमलोग ज़रा-ज़रा-सी बातोंपर आपसमें बहुत झगड़ते हैं, जिससे हममें एकताका अब बहुत कुछ अभाव हो गया है। सङ्घशक्तिके तिरस्कारके कारण ही हमलोग पराधीन हैं और उससे होनेवाले नाना प्रकारके दुःखोंको उठा रहे हैं। हम यह जानते हैं कि सूर्यके प्रकाशमें कई प्रकारके रोगोंके नाश करनेकी अद्भुत शक्ति है। परन्तु हमलोग इस शक्तिका बिलकुल उपयोग न कर उसकी अवहेलना करते हैं। इसका यह परिणाम हुआ है कि हमलोग अधिकाधिक रोगोंके शिकार बन रहे हैं। हमलोग यह भी जानते हैं कि बरसातके जलमें खेतीकी उपज बढ़ानेकी शक्ति है। हमलोग उस जलके अधिकांश भागको नदियोंद्वारा समुद्रमें व्यर्थ ही बिना उपयोग किये बह जाने देते हैं। उसका नहरोंद्वारा सिंचाईके लिये काफी उपयोग नहीं करते। इसका परिणाम यह होता है कि भारतके कई भागोंमें पानीकी कमीके कारण फसल बरबाद हो जाती है। जहाँ-जहाँ बड़े-बड़े तालाब बनाकर अथवा नदियोंसे नहर निकालकर सिंचाई की जा रही है, वहाँ-वहाँ मरुभूमि भी बगीचोंमें परिवर्तित हो गयी है। हमलोग यह जानते हैं कि शिक्षामें मनुष्यको उन्नतिके शिखरपर पहुँचानेकी अद्भुत शक्ति है। भारतके नब्बे प्रति सैकड़ासे अधिक व्यक्तियोंको शिक्षासे वञ्चित रखकर हमलोग इस शक्तिका निरादर कर रहे हैं, अवहेलना कर रहे हैं। शिक्षाके इस अभावके कारण भारतके मजदूरोंकी कार्यक्षमता और मजदूरी बहुत कम हो गयी है, और वे दिन-पर-दिन अधिक गरीब होते जा रहे हैं।

उपर्युक्त उदाहरणोंसे यह स्पष्टरूपसे विदित होता है कि हमलोग शक्तिके उपासक (शाक्त) कहे जानेपर भी शक्तिका निरादर, तिरस्कार या अवहेलना करते हैं, इसीलिये गरीब हैं, दुःखी हैं। संसारके अन्यदेशवासी शाक्त न होनेपर भी शक्तिके सच्चे उपासक हैं। वे शक्तिका पूरा आदर करते हैं, प्रतिदिन अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं, इसलिये वे सुखी हैं और उत्तम दशामें हैं। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, भारतवासियोंकी वर्तमान दुर्दशाका एक प्रधान कारण शक्तिका तिरस्कार, अनादर या अवहेलना है।

इस लेखमें हम 'कल्याण' के पाठकोंका ध्यान भारतमें विद्युत्-शक्तिकी अवहेलनाकी ओर विशेषरूपसे आकर्षित करते हैं। यहाँ हम यह बतलानेका प्रयत्न करते हैं कि भारतमें आजकल विद्युत्-शक्तिका कितना कम उपयोग किया जाता है, उसका कितना अधिक उपयोग बढ़ाया जा सकता है और उसके अधिक उपयोगसे देशकी आर्थिक दशा कैसे सुधारी जा सकती है।

विद्युत् अर्थात् बिजली कई प्रकारसे उत्पन्न की जाती है। वह दो वस्तुओंके रगड़से पैदा होती है। रासायनिक प्रयोगसे भी वह पैदा होती है। परन्तु सबसे अधिक मात्रामें सबसे सस्ती लागतपर उसे उत्पन्न करनेका साधन है जलप्रपात। भारतमें जलप्रपातोंकी कमी नहीं है। हिमालय पर्वतमें असंख्य जलप्रपात हैं। अन्य पर्वतों और नदियोंमें जलप्रपातोंकी संख्या भी कुछ कम नहीं है। सन् १९२०-२१ में भारत-सरकारने अपने विशेषज्ञोंद्वारा इस बातकी जाँच करायी कि भारतके भिन्न-भिन्न भागोंमें जलप्रपातोंद्वारा कितनी बिजली तैयार की जा सकती है। इस जाँचकी रिपोर्टसे यह मालूम हुआ कि भारतीय बड़े-बड़े जलप्रपातोंद्वारा जो बिजली उत्पन्न की जा सकती है उसमें उतनी शक्ति होगी जितनी दो करोड़ सत्तर लाख घोड़ोंमें है अर्थात् उस बिजलीके द्वारा उतना काम लिया जा सकेगा जितना कि दो करोड़

सत्तर लाख घोड़ोंसे चौबीसों घण्टे काम करानेसे लिया जा सकता है। यह शक्ति इतनी अधिक है कि उससे भारतके सब वर्तमान और भावी उद्योग-धन्धे चलाये जा सकते हैं, भारतके सब नगरोंमें रोशनी कम खर्चेसे पहुँचायी जा सकती है और बिजलीका उपयोग बहुत सस्ते दरपर ग्रामोंमें छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे चलाने, कुँओंसे पानी निकालने, गन्नेका रस निकालने, आटेकी चक्कियाँ चलानेके लिये भी किया जा सकता है। इस रिपोर्टके प्रकाशित होनेके बारह वर्ष बादतक भी भारत-सरकार तथा भारतीय जनता विद्युत्-शक्तिका पूर्णरूपसे उपयोग करनेका बहुत कम प्रयत्न कर पायी है। अभीतक हम केवल इस शक्तिके एक प्रतिशत भागका ही उपयोग कर सके हैं। शेष निन्यानवे प्रतिशत शक्ति व्यर्थ ही नष्ट हो रही है। इससे हमारी विद्युत्-शक्ति-सम्बन्धी अवहेलना स्पष्टरूपसे विदित होती है।

अब हम पाठकोंको उन कार्योंका दिग्दर्शन कराते हैं जो भारतमें उत्पन्न हो सकनेवाली विद्युत्-शक्तिके केवल एक प्रतिशत भागके उपयोग करनेसे हो रहे हैं। पूनाके पास पश्चिमीय घाटपर लोनावला नामक एक स्टेशन है। इसके पास ही एक जलप्रपात था। बम्बईकी सुप्रसिद्ध टाटा कम्पनीका ध्यान इस जलप्रपातसे बिजली उत्पन्न करनेकी ओर सबसे प्रथम आकर्षित हुआ। उसने करोड़ों रुपयोंकी पूँजी लगाकर यह कार्य आरम्भ कर दिया। जिस स्थानसे जलका स्रोत इस जलप्रपातमें आता था वह इससे पाँच मील दूर था। वह तीन तरफ पहाड़ियोंसे घिरा था। वर्षामें जो कुछ जल इन पहाड़ियोंपर गिरता था, वह इस छोटी नदीद्वारा बह जाता था। टाटा कम्पनीने इस नदीके उद्गम-स्थानपर, जो तीन तरफ पहाड़ियोंसे घिरा था, चौथी तरफ एक बड़ी और पक्की दीवाल बनवायी, जिससे वहाँ एक बड़ी झील बन गयी। इसमें सैकड़ों फुट गहरा पानी इकट्ठा हो गया। इस झीलसे निर्दिष्ट परिमाणमें पानी अब नदीमें जाता है, जिसके दोनों किनारे तीन मीलतक पक्के बाँध दिये गये हैं। तीन मीलके बाद नदीका जल एक छोटे तालाबमें इकट्ठा होता है, वहाँसे वह दो बड़े नलोंमें जाता है। इन नलोंकी मोटाई करीब बारह फुट है अर्थात् ये नल इतने बड़े हैं कि ऊँचे-से-ऊँचे मनुष्य अपने सिरपर बोझा लेकर खड़े-खड़े इनके अन्दरसे आसानीसे निकल सकते हैं। ये दोनों नल दो मीलतक जाते हैं। वहाँपर जल फिर एक छोटे तालाबमें इकट्ठा होता है। वहाँसे जल छः नलोंमें जाता है। इन नलोंकी मोटाई करीब तीन फुट है। ये नल उसी मार्गसे जाते हैं जिससे पहले नदी बहती थी। जहाँ पहले जलप्रपात था वहाँ अब ये छः नल दिखायी देते हैं। पहाड़ीके नीचे खोपोली नामक स्थानमें, जहाँपर टाटा कम्पनीका बिजलीका कारखाना है, छः बड़ी-बड़ी मशीनें रखी हुई हैं। इन मशीनोंपर नलोंसे जल बड़े वेगसे गिरता है; उससे मशीनें चलने लगती हैं और बिजली उत्पन्न हो जाती है। इन छः मशीनोंद्वारा इतनी बिजली पैदा होती है जिसकी शक्ति इक्यासी हजार घोड़ोंकी शक्तिके बराबर है। मशीनोंको चलानेके बाद जल नदीके पुराने मार्गमें आ मिलता है और फिर वह समुद्रमें चला जाता है। टाटा कम्पनीने अब बिजलीके दो और कारखाने पश्चिमीय घाटपर खोल दिये हैं। इन तीनों कारखानोंसे जो बिजली पैदा होती है वह तारद्वारा चालीस-पचास मील बम्बई भेज दी जाती है। इस बिजलीके उपयोगसे बम्बई शहरकी कायापलट ही हो गयी है। वहाँके प्रायः सब कारखानोंमें बिजलीका उपयोग होने लगा है, यहाँतक कि अब रेल भी वहाँ बिजलीद्वारा ही चलती है। अब इस शहरमें कोयलेका उपयोग बहुत कम हो गया है।

युक्तप्रान्तमें जलप्रपातसे बिजली उत्पन्न करनेके कार्यको प्रान्तीय सरकारने अपने हाथमें लिया है। हरिद्वारसे श्रीगङ्गाजीकी एक बड़ी नहर निकाली गयी है। अलीगढ़के पास सुमेरामें इस नहरके जलकी सतह हरिद्वारके जलकी सतहसे एक सौ छियालिस फुट नीचे है। यह निचाई तेरह जगहोंपर है। इसका लाभ उठाकर इस नहरद्वारा बिजली उत्पन्न करनेका प्रयत्न आरम्भ हो गया है। भादराबाद (हरिद्वारके पास), पालरा (खुरजाके पास) और भोला (मेरठके पास)-में बिजलीके कारखाने तैयार हो गये हैं, और इनके द्वारा बिजनौर, मुरादाबाद, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, बुलन्दशहर और अलीगढ़ जिलोंके प्रायः सब शहरों और बड़े ग्रामोंमें रोशनी तथा अन्य कार्योंके लिये बिजलीका उपयोग किया जा रहा है। इस प्रान्तमें नहरोंके जलप्रपातोंसे और भी अधिक बिजली उत्पन्न करनेका प्रयत्न शीघ्र ही किया जानेवाला है। युक्तप्रान्तके उपर्युक्त जिलोंके बड़े-बड़े ग्रामोंमें

विद्युत्-शक्तिका उपयोग गहरे कुँओं, खासकर पातालफोड़ी कुँओंसे पानी उलीचनेके लिये किया जा रहा है। कहीं-कहीं गन्ना पेरनेकी चरखियाँ और कहीं-कहीं आटा पीसनेकी चक्कियाँ भी बिजलीकी सहायतासे चलायी जा रही हैं। इस प्रकार बिजलीके उपयोगसे ग्रामवासियोंको भी बहुत लाभ हो रहा है।

पंजाबप्रान्तमें भी नहरोंके जलप्रपातोंका उपयोग बिजली उत्पन्न करनेके लिये प्रान्तीय सरकारद्वारा किया जा रहा है। करीब साढ़े पाँच करोड़ रुपयोंकी पूँजीसे बिजलीके कारखाने तैयार किये जा रहे हैं, जो सन् १९३७ तक तैयार हो जायँगे। इन कारखानोंद्वारा पंजाबप्रान्तके अधिकांश शहरों और बड़े-बड़े ग्रामोंमें बिजली पहुँचायी जायगी। सन् १९३७ तक तो दिल्ली शहरको भी इन कारखानोंसे बिजली प्राप्त हो सकेगी।

भारतमें उत्पन्न हो सकनेवाली विद्युत्-शक्तिके केवल एक प्रतिशत भागके उपयोगसे जो लाभ देशको हो रहा है उसका दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। यदि उसका कम-से-कम पचास प्रतिशत भाग ही उपयोगमें आने लगे तो देशको क्या लाभ होगा, इसका अनुमान पाठक स्वयं कर लें। हमारी समझमें तो उससे देशभरकी कायापलट हो जायगी, शहरों और ग्रामोंमें छोटे-छोटे उद्योग-धन्धोंकी वृद्धि होगी, नगरवासी और ग्रामवासियों दोनोंको लाभ होगा और इस गरीब देशकी गरीबी भी कुछ अंशमें दूर हो सकेगी। प्रान्तीय सरकारोंको इस कार्यकी तरफ़ विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये। देशके धनवान् सज्जनोंको भी टाटा कम्पनीका अनुकरण कर अपना तथा देशका भला करना चाहिये।

अन्तमें पाठकोंसे मेरा नम्र निवेदन यही है कि वे शक्तिके सच्चे उपासक बननेका प्रयत्न करें। शाक्त कहलानेपर भी वे शक्तिकी ऐसी अवहेलना, तिरस्कार या अनादर न करें, जैसी वे आजकल कर रहे हैं।

महास्वप्न

(लेखक—पं० श्रीरूपनारायणजी त्रिपाठी 'मृदु')

मा! उस मेरे महास्वप्नका,
कभी न हो अवसान।
जिसकी चित्र-पटीपर आ तुम,
होती अन्तर्धान।
बज उठते हैं हृदय-यंत्रके
प्रमुदित, पुलकित, तार।
देख तुम्हारी पावन प्रतिमा,
रंजित-रूप, अपार।

एक समय ऊषानिल जब था,
परस रहा स्वप्नोंके तार।
उसी समय आ पड़ी कानमें,
नूपुरकी रुन-झुन झंकार।
चढ़ी मरालीपर, किरणोंके—
कनक-मार्गसे तू आई।
मेरे मानसके शतदलने,
सुख, श्री, सौरभ बिखराई।

इंदु-कुंदु-सा तेज-पुंज-तन,
रंजित-वासंती सारी।
करमें पुस्तक, वरवीणाकी,
कंपित-स्वर-लहरी प्यारी।
तन्मयताके मंजु मुकुरमें,
देखा कण-कण तव आभास।
उरमें लसित वैजयंती थी,
दिशिमें था सौंदर्य-विलास।

कलित कमल-वनमें जो गाया,
तूने मा जीवनका गान।
उसकी लयपर नाच रहे थे,
ये मेरे हर्षाकुल प्रान।
हाय! हो गया निमिषमात्रमें,
उस मधु-प्रातःका अवसान।
पड़ा कानमें फिर भारतका,
अनमिल, अनियंत्रित दुख-गान!

ज्योत्स्नाके फेनिल-प्रवाहमें
बहता जाता था संसार।
नीलांगनमें खेल रहा था,
राकाशशि, हिमशिशु सुकुमार।
दृष्टि पड़ी, सित क्षीर-सिंधुपर,
हा! महान विस्मय, साकार!!
अरुण-कंज-आसीन हुई आ,
एक मूर्त्ति मृदु, भव्य, अपार।
शुभ-वसना, सरोजहस्ता, था—
झलमल उर पर हीरक-हार।
हेम-कुंभसे गिरा रहे थे,
मत्त दंतिगण, शुचि जल-धार।
तनकी द्युतिसे चमक रही थी,
दिव्याभरणोंकी जाली!
सुस्मृति मेरी सिहर उठी, कह—
'जय लक्ष्मी! मा!! छबिवाली।'
राकाके उस नाट्य-भवनमें
देखा मैंने वह अभिनय।
किंतु प्रभातीने, मंदिरकी,
खड़ा किया ला यह विस्मय!
देखा—विधवाके बच्चे हैं,
करते सकरुण हाहाकार!
अर्ध नग्न हैं, अर्ध क्षुधित हैं,
सहते भीषण शीत-प्रहार!!

माधवकी मधुमय रजनी थी,
ओढ़े सौरभ-पट सोती।
छाया-पथपर बिखर गये थे,
कितने चमकीले मोती।
निद्रा-नटी सजाने आयी,
स्वप्नोंके नव पट छबिमान।
रंगमंचको मुखरित करके
श्रवित हुआ डमरू-आह्वान।
कर-करवाल, केसरी वाहन,
उरपर आर्द्र-मुंड-माला!
था अति भीषण रूप भयंकर,
मानो देही तम काला!
लप-लप जिह्वा थी करती,
आँखें बरसाती थीं ज्वाला!
नाच रही थीं साथ पिशाची,
पीकर उष्ण रुधिर-हाला!!
तेरे दलको मा! विलोक मैं,
रणोत्साहसे उबल पड़ा।
लेकर मानो असि अमोघ
शैया-समीप हो गया खड़ा!
किंतु चेतनाके जगमें देखा,
मैं हूँ निर्जीव बना!
कायरताका कठिन जाल है,
मेरे चारों ओर तना!!

अयि वरदे! वरदे भर जाओ,
प्राणोंमें नव-जीवन-सार!
दीन देशके शून्य भवनमें,
आओ माँ बैठो साकार!!

श्रीयन्त्रका स्वरूप

(लेखक—श्रीललिताप्रसादजी डबराल, व्याकरणाचार्य)

[**उपक्रमणिका**—अति प्राचीन कालसे ही भारतवर्षमें श्रीविद्याकी उपासना प्रचलित है। श्रीमत् शङ्कराचार्यके परमगुरु गोडपादस्वामी, स्वयं शङ्कराचार्य तथा तदनुवर्ती सुरेश्वर, पद्मपाद, विद्यारण्य स्वामी प्रभृति अनेकों वेदान्ती आचार्य श्रीविद्याके उपासक थे। मीमांसकोंमें आचार्यप्रवर खण्डदेवके शिष्य शम्भु भट्ट, भास्करराय प्रभृति भी इसी विद्याके उपासक थे। महाप्रभु चैतन्यदेवके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायगत सिद्धान्तके मूलमें भी इसी साधनाका प्रभाव स्पष्टत: अथवा किसी-किसी स्थानमें अर्द्धप्रच्छन्न भावमें परिलक्षित होता है। महाप्रभु श्रीचैतन्यके नित्यसङ्गी नित्यानन्द महाप्रभु श्रीविद्याके उपासक थे, यह सर्ववादिसम्मत है। शैवाचार्यगणमें अभिनवगुप्त प्रभृति शिवोपासनाके साथ-साथ श्रीविद्याकी भी उपासना करते थे, ऐसी प्रसिद्धि है। आज भी भारतवर्षमें अनेकों स्थानोंमें यह सम्प्रदायक्रम म्लानभावमें होनेपर भी अविच्छिन्नरूपमें चला आ रहा है।

दस महाविद्यामें षोडशी नाम्नी तृतीया महाविद्या ही श्रीविद्याका स्वरूप है। सुन्दरी, ललिता, त्रिपुरासुन्दरी प्रभृति इसीके अपर नाम हैं। इस उपासनाके तत्त्वको समझनेके लिये सर्वप्रथम देवीके स्वरूपभूत चक्र वा यन्त्रको अच्छी तरहसे समझना होगा। पाँच शक्तिचक्ररूप अधोमुख त्रिकोण और चार शिवचक्रमय ऊर्ध्वमुख त्रिकोणके एकत्र सम्मिलित होनेसे श्रीचक्र निर्मित होता है। इस चक्रके तत्त्व और लेखनप्रकारको साधारणत: बहुतेरे मनुष्य नहीं जानते और इसे अच्छी तरहसे समझे बिना शक्तिसाधनाकी एक दिशाका बिलकुल ही ज्ञान नहीं होता। 'कल्याण' सम्पादकके अनुरोधसे मैंने श्रीयुत पं० ललिताप्रसाद डब्राल महाशयसे इस विषयमें सविशेष अनुसन्धानपूर्वक एक संक्षिप्त निबन्ध लिखनेके लिये अनुरोध किया था। इन्होंने 'मातृचक्रविवेक'* नामक ग्रन्थके सम्पादन-समयमें 'श्रीचक्र' एवं 'श्रीविद्या' के सम्बन्धमें विशेषरूपसे आलोचना की थी, इसी कारण इनके ऊपर यह भार दिया गया। किस प्रणालीसे और किन मूल ग्रन्थोंके आधारपर तत्त्वविश्लेषणपूर्वक इस निबन्धकी रचना करनी होगी, यह भी स्पष्टरूपसे उन्हें बतला दिया गया था। आशा है कि इनके इस सुलिखित और सुचिन्तित निबन्धको पढ़कर शक्तितत्त्व-जिज्ञासु अनेकों पाठकोंकी तृप्ति होगी। कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकारका जटिल विषय सामयिक पत्रिकाके परिसरमें सम्यक्‌रूपसे आलोचित नहीं हो सकता। तथापि विन्दु, त्रिकोण प्रभृति चक्रतत्त्वोंके स्वरूप तथा चक्र अङ्कित करनेकी शास्त्रीय प्रणालीको इन्होंने जिस प्रकारसे विभिन्न स्थानोंसे संग्रह करके उपस्थित किया है, वह जिज्ञासु साधकोंके लिये बहुत ही उपकारक होगी—ऐसी आशा की जाती है। —**गोपीनाथ कविराज**]

श्रीयन्त्र

यह एक अति विस्तृत और महागहन विषय है, और मैं एक अल्पज्ञ पुरुष हूँ। इसलिये इस लेखमें जहाँ पाठकोंके मनको उद्विग्न करनेवाला विस्तार (अत्युक्ति) दोष कम मिलेगा वहाँ विषयकी गहनताका बढ़ जाना पूर्ण सम्भव है। अत: सहृदय पाठकवर्गसे सानुनय निवेदन है कि 'विश्व गुण-दोषमय है', ऐसा विचारकर मेरे इस दु:साहसको क्षमा करेंगे। जिस प्रकार बिना घाटके तैरना न जाननेवाले पुरुषके लिये अति गम्भीर जलाशयमें अवगाहन करना कभी सम्भव नहीं हो सकता, उसी प्रकार मेरे-जैसे शक्ति-तत्त्वके अभिज्ञानसे हीन साधकके लिये इस गहन विषयका अवान्तर विषय (वस्तु)-विभाग-सूचीकी सहायताके बिना अवगाहन करना तो दूर रहा, स्पर्श करना भी गगनकुसुमके समान है। अतएव पहले अवान्तर विषय-सूची और सङ्केतमात्रका निर्देशकर पीछे तदनुसार प्रत्येक विषयका संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

नव चक्र

१- **विन्दु तथा महाविन्दु**—मूल कारण; महात्रिपुरसुन्दरी; कामेश्वर-कामेश्वरी-सामरस्य; जगत्‌की मूलयोनि तथा शिवभाव।

२- **त्रिकोण**—आद्या विमर्शशक्ति या जीवभाव; शब्द-अर्थरूप सृष्टिकी कारणात्मिका पराशक्ति; अहंभाव एवं जीव-तत्त्व।

३- **अष्टार**—पुर्यष्टक; कारणशरीर—लिङ्गशरीरका कारण।

४- **अन्तर्दशार**—इन्द्रियवासना (लिङ्गशरीर)।

५- **बहिर्दशार**—तन्मात्रा तथा पञ्चभूत (इन्द्रियविषय)।

६- **चतुर्दशार**—जाग्रत् स्थूल शरीर।

७- **अष्टदल**—अष्टारवासना।

८- **षोडशदल**—दशारद्वयवासना।

९- **भूपुर**—विन्दु, त्रिकोण, अष्टदल, षोडशदल—इन चारोंकी समष्टि; प्रमातृपुर और प्रमाणपुरका—पशुपदीय प्रकृति, मन, बुद्धि, अहङ्कार और शिवपदीय शुद्ध विद्यादितत्त्वचतुष्टयका—सामरस्य।

नव चक्रोंके यथाक्रम नाम-संकेत तथा देवता इस प्रकार हैं—

चक्र-नाम	अधिष्ठात्री देवता
१-सर्वानन्दमय	महात्रिपुरसुन्दरी।
२-सर्वसिद्धिप्रद	त्रिपुराम्बा।
३-सर्वरोगहर	त्रिपुरसिद्धा।
४-सर्वरक्षाकर	त्रिपुरमालिनी।
५-सर्वार्थसाधक	त्रिपुराश्री।
६-सर्वसौभाग्यदायक	त्रिपुरवासिनी।
७-सर्वसंक्षोभणकारक	त्रिपुरसुन्दरी।
८-सर्वाशापरिपूरक	त्रिपुरेशी।
९-त्रैलोक्यमोहन	त्रिपुरा।

* सम्प्रति यह ग्रन्थ काशी, संस्कृत-कॉलेजकी 'सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला' में प्रकाशित हो गया है।

यही नवावरण-पूजाके नव देवता हैं। मतान्तरसे इन्हें प्रकटा, गुप्ता, गुप्ततरा, परा, सम्प्रदाया, कुलकौला, निगर्भा, अतिरहस्या, परापररहस्या, परापरातिरहस्या इत्यादि नामसे भी पुकारते हैं।

श्रीयन्त्रका शब्दार्थ

श्रीयन्त्रका सरल अर्थ है—श्रीका यन्त्र अर्थात् गृह। नियमनार्थक यम् धातुसे बना 'यन्त्र' शब्द गृह अर्थको ही प्रकट करता है। क्योंकि गृहमें ही सब वस्तुओंका नियन्त्रण होता है। श्रीविद्याको ढूँढ़नेके लिये उसके गृह 'श्रीयन्त्र' की ही शरण लेनी होगी। आगे श्री अर्थात् श्रीविद्याके परिचयसे ज्ञात होगा कि वह उपास्य और उपेय दोनों हैं। उपेय वस्तुको उसके अनुकूल स्थानमें ही अन्वेषण करनेसे सिद्धि होती है, अन्यथा मनुष्य उपहासास्पद बनता है। आदिकवि श्रीवाल्मीकिजीने श्रीसीताजीके अन्वेषणमें तत्पर श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा कहलाया है—

यस्य सत्त्वस्य या योनिस्तस्यां तत्परिमार्ग्यते।

अर्थात् जिस प्राणीकी जो योनि होती है, वह उसीमें ढूँढ़ा जा सकता है। भगवान् शङ्कराचार्यने भी यन्त्रका उद्धार देते हुए '**तव शरणकोणाः परिणताः**' इस वाक्यमें यन्त्रके अर्थमें गृहवाचक 'शरण' पदका ही प्रयोग किया है। इस न्यायसे उत्तरभारत एवं दक्षिणभारतमें स्थित श्रीनगर नामक स्थानोंकी भी सार्थकता सिद्ध होती है, क्योंकि इतिहास इस बातका साक्षी है कि इन नगरोंमें श्रीविद्याके उपासक अधिक संख्यामें मिलते थे और अब भी थोड़े-बहुत पाये जाते हैं। अस्तु, यह विश्व ही श्रीविद्याका गृह है। यहाँ विश्व-शब्दसे पिण्डाण्ड एवं ब्रह्माण्ड दोनोंका ग्रहण है। मायाण्ड प्रकृत्यण्ड भी स्थूल-सूक्ष्मरूपसे इन्हींके अन्तर्गत आ जाता है—यह आगे चलकर तत्तद्विशेष यन्त्रोंके विवरणसे विशेषतया स्पष्ट हो जायगा।

भैरवयामलतन्त्रमें लिखा है—

चक्रं त्रिपुरसुन्दर्या ब्रह्माण्डाकारमीश्वरि।

अर्थात् हे ईश्वरि! त्रिपुरसुन्दरीका चक्र ब्रह्माण्डाकार है। भावनोपनिषद्‌में भी कहा है—

'नवचक्रमयो देहः।'

अब संक्षेपमें 'श्री' शब्दके अर्थका निर्वचन किया जाता है। '**श्रयते या सा श्रीः**'—अर्थात् जो श्रयण की वही श्री है। श्रयणार्थक धातु सकर्मक है, अतः वह कर्मकी अपेक्षा रखता है। आगम अर्थात् गुरूपदेश तथा प्राचीन परम्परागत व्यवहारके अनुसार श्रीका श्रयण-कर्म हरि (ब्रह्मरे)-के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता। अतः जो नित्य परब्रह्मका आश्रयण करती है, वही श्री है। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि यह ब्रह्मको श्रयण करनेवाली वस्तु यदि नित्य है तो द्वैत हो जाता है और यदि अनित्य है तो घटपटादिकी भाँति यह भी ब्रह्माश्रित हुई, फिर इसे अलग पदार्थ माननेकी क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार प्रकाश या उष्णता अग्निसे अभिन्न है और उसके बिना नहीं ठहर सकती, उसी प्रकार ब्रह्मसे उसकी शक्ति श्री भी अभिन्न है और उससे कभी अलग नहीं हो सकती। आगम कहते हैं—

न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः।
नानयोरन्तरं किञ्चिच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥

श्रीके ही कारण ब्रह्मको अनन्तशक्ति अथवा सृष्टि, स्थिति और पालन करनेवाला कहते हैं। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥

यह महाशक्ति विश्रमण-अवस्था (प्रलय)-में प्रकाशमय ब्रह्मरूप होकर रहती है। इस अवस्थामें शक्तिका पृथक् विवेक नहीं रहता। अनावृत आकाशस्थ प्रकाशकी भाँति यह ब्रह्ममें लीन हुई रहती है, तब इसका महाविन्दुरूप या परब्रह्म परमात्मरूपसे वर्णन करते हैं। इसी कारण प्रलयकालमें अनन्तशक्ति ब्रह्मके अविनाशी होनेके कारण सदा वर्तमान रहनेपर भी सृष्टि नहीं होती। क्योंकि ब्रह्मको अनन्तशक्ति देनेवाली इस महाशक्तिके उस कालमें तल्लीन हो जानेके कारण ब्रह्म अशक्त-सा हो जाता है। जिस प्रकार दिनमें भी निरावरण आकाशमें सूर्यका आतप बिना पक्षी, मकान, छाता आदिके स्वयं प्रकाशित नहीं होता, इसी प्रकार अनन्तशक्ति ब्रह्मके रहते भी इस शक्तियोंकी भी शक्तिके (जिसे आगममें विमर्शशक्ति भी कहते हैं) सम्मुख हुए बिना उस (ब्रह्म)-में कोई शक्ति नहीं आ सकती, क्योंकि वह स्वयं निर्गुण, निष्कल, निरञ्जन है। इस अवस्थाका आगमिकोंने इस प्रकार वर्णन किया है—

अचिन्त्यामिताकारशक्तिस्वरूपा
प्रतिव्यक्त्यधिष्ठानसत्तैकमूर्तिः ।
गुणातीतनिर्द्वन्द्वबोधैकगम्या
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा॥

इस प्रकारकी श्रीको जानना प्रत्येक मुमुक्षुका कर्त्तव्य है। कामकलाविलास आगममें लिखा है—

विदिता येन स मुक्तो भवति महात्रिपुरसुन्दरीरूपः।

अतः इस प्रकारकी श्रीसुन्दरीके यन्त्र (गृह)-का ज्ञान प्राप्त करना बहुत आवश्यक है। यह श्रीयन्त्ररूप श्रीत्रिपुरसुन्दरीका गृह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा प्रमाता, प्रमेय, प्रमाणरूपसे त्रिपुरात्मक तथा सूर्य-चन्द्र-अग्नि-भेदसे त्रिखण्डात्मक कहलाता है—

पुरत्रयञ्च चक्रस्य सोमसूर्यानलात्मकम्।

तथा—

त्रिखण्डं मातृकाचक्रं सोमसूर्यानलात्मकम्॥

इस प्रकार श्रीचक्र जैसे विश्वमय है, वैसे ही शब्द-सृष्टिमें मातृकामय है। इससे यह सिद्ध हुआ कि श्रीयन्त्र ब्रह्माण्ड एवं पिण्डाण्ड-स्वरूप है। इसमें शब्दार्थ-भेदसे द्विविध सृष्टि है—अर्थ-सृष्टि तत्त्वात्मिका है और शब्द-सृष्टि मातृकारूप है। मातृकाके भी स्वर, स्पर्श और व्यापक (अन्तःस्थ ऊष्म) तीन खण्ड चान्द्र, सौर, आग्नेयरूप हैं। यह हुई ब्रह्माण्डकी बात। पिण्डाण्डमें भी सिर, हृदय, मूलाधारान्त तीन भाग तेजस्त्रयात्मक हैं, हाथ मध्यभागकी शाखा हैं और पैर अन्त्य भागकी। श्रीचक्र भी—

चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।
शिवशक्त्यात्मकं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः॥

—के अनुसार पाँच[1] शक्ति तथा चार[2] वह्नि (शिव)-से बना हुआ तेजस्त्रयात्मक होनेसे तथा प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयरूपसे पुरत्रयात्मक है। इनमें विन्दु, त्रिकोण, अष्टार और अष्टदलरूप आग्नेयखण्ड प्रमातृपुर है; दशारद्वय और चतुरस्त्ररूप सौरखण्ड प्रमाणपुर है, तथा चतुर्दशार एवं षोडशदलरूप चान्द्रखण्ड प्रमेयपुर है। इसी प्रकार वामा, ज्येष्ठा और रौद्री (इच्छा, ज्ञान और क्रिया) रूपसे भी वह त्रितयात्मक है। नाद, विन्दु और कलारूपसे भी त्रिरूप है। इस श्रीयन्त्रकी शरीरस्थ नव चक्रोंके साथ तान्त्रिक इस प्रकार ऐक्य-भावना करते हैं।

यद्यपि लिङ्ग-शरीरमें सुषुम्णा-नाड़ीको आश्रयण किये हुए बत्तीस पद्म हैं, तथापि यहाँ नव चक्रोंके सादृश्यसे नव पद्मोंका ही उल्लेख किया जाता है। सुषुम्णाके दोनों भागोंमें ऊर्ध्व एवं अधोमुख दो सहस्त्रार हैं और मध्यमें इस प्रकार नव चक्र हैं—

शरीरस्थान	चक्रनाम	दल-संख्या	श्रीचक्रनाम
१-भ्रूमध्य	आज्ञाचक्र	द्विदल	विन्दु
२-लम्बिका	इन्द्रयोनि	अष्टदल	त्रिकोण
३-कण्ठ	विशुद्धि	षोडशदल	अष्टकोण
४-हृदय	अनाहत	द्वादशदल	अन्तर्दशार
५-नाभि	मणिपूर	दशदल	बहिर्दशार
६-वस्ति	स्वाधिष्ठान	षट्‌दल	चतुर्दशार
७-मूलाधार	मूलाधार	चतुर्दल	अष्टदल
८-तदधोदेश	कुल	षट्‌दल	षोडशदल
९-तदधोदेश	अकुल	सहस्त्रदल	भूपुर

ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित महाविन्दु सहस्त्रार है। इस प्रकार श्रीचक्र और शरीरचक्रका ऐक्यसम्पादन होता है। इसी प्रकार मातृकाचक्रका भी इन दोनों चक्रोंके साथ ऐक्य पाया जाता है। षोडशदल और चतुर्दशार स्वरमय हैं, दशारद्वय क से लेकर न पर्यन्त बीस वर्णमय है, अष्टार अन्तःस्थ और ऊष्मरूप है, चतुरस्त्र प से लेकर म पर्यन्त वर्णमय है, अष्टदल अकचटतपादि वर्गाष्टकरूप है, विन्दु क्षकाररूप, त्रिकोण मकाररूप और महाविन्दु क्षकार-मकार-समष्टिरूप है। शरीरचक्रमें कण्ठमें स्वर, हृदयमें क से ठ पर्यन्त, नाभिमें ड से फ पर्यन्त, स्वाधिष्ठानमें ब से ल पर्यन्त, मूलाधारमें व से स पर्यन्त वर्ण, तथा आज्ञामें ह और क्ष ये दो वर्ण हैं।

श्रीयन्त्रकी आकृति अन्यत्र दिखलायी गयी है। इसकी रचना दो-दो त्रिकोणोंके परस्पर श्लेषसे होती है। इस प्रकार इसमें नव त्रिकोण होते हैं। इस प्रकारकी रचनासे पिण्डाण्डके भीतर ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्डके भीतर पिण्डाण्डका समावेश सूचित होता है।

श्रीयन्त्रको सृष्टि, स्थिति, प्रलयात्मक माना गया है। इसमें विन्दुचक्र शिवकी मूल प्रकृतिसे बना होनेके कारण प्रकृतिस्वरूप है। शेष आठ चक्र प्रकृति-विकृति

१—त्रिकोण, अष्टार, अन्तर्दशार, बहिर्दशार और चतुर्दशार—ये पाँच अधोमुख त्रिकोण शक्तिचक्र हैं।
२—विन्दु, अष्टदल, षोडशदल, भूपुर या चतुरस्त्र—ये चार ऊर्ध्वमुख त्रिकोण वह्नि (शिव) चक्र हैं।

उभयात्मक हैं। सम्पूर्ण श्रीचक्र इस प्रकार भी त्रितयात्मक है। विन्दु, त्रिकोण, अष्टार सृष्टिचक्र हैं, दशारद्वय और चतुर्दशार स्थितिचक्र हैं तथा अष्टदल, षोडशदल और भूपुर (चतुरस्र) संहारचक्र हैं। अर्थात् विन्द्वादि भूपुरान्त चक्रको सृष्टिक्रम तथा भूपुरादि विन्द्वन्त चक्रको संहारक्रम कहते हैं, जैसा कि लेखनप्रकारसे विदित होगा। इस प्रत्येक खण्डमें आदि-मध्य-अन्त या इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपसे त्रिपुटी समझनी चाहिये। यह सामान्यतया श्रीचक्रका संक्षिप्त परिचय है। अब विन्दुसे लेकर भूपुरपर्यन्त विशेष चक्रोंका विवरण दिया जायगा।

विन्दुचक्र (पूर्णाहन्ता या शिवभाव)

श्रीयन्त्रके शब्दार्थके निर्वचनके प्रसङ्गमें दिखलाया जा चुका है कि प्रलयकालमें, जिसे सुषुप्ति भी कहते हैं, सकल स्थूल-सूक्ष्म जगत्‌के परम कारणमें लीन हो जानेसे ब्रह्म एकमात्र स्वरूपावस्थित रहता है। चक्रमें इस दशाकी वासना महाविन्दुसे व्यवहृत की जाती है; उस समय भास्यभासक, स्रष्टव्य-स्रष्टृभाव कुछ भी नहीं रहता। इसे ही 'शिव-विश्राम' कहते हैं। मातृकाचक्रविवेकमें लिखा है—

सुप्त्याह्वयं किमपि विश्रमणं शिवस्य।

तथा श्रुति भी कहती है—

सुषुप्तिकाले सकले विलीने
तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति। इत्यादि।

यह प्रलय दो प्रकारका होता है—एक प्रति पिण्डाण्डमें होनेवाला दैनिक प्रलय और दूसरा ब्रह्माण्डमें होनेवाला प्रलय, जो कल्पके अन्तमें होता है। जिस प्रकार पिण्डकी सुषुप्तिका काल-परिमाण निर्धारित नहीं है, केवल अनादि अविद्या-परम्परासे जीव अनुवर्तमान वासनावश सुषुप्तिसे उठकर जाग्रत्‌का व्यवहार करने लगता है तथा सुषुप्ति-कालकी सुखमय सत्ता (सच्चिदानन्दरूपता)-को 'सुखसे सोया'—इस सुखपरामर्शके द्वारा निर्धारित करता है, इसी प्रकार इस विश्वको वह आदिविमर्शमयी महाशक्ति अपने आकर (गर्भ)-में लीनकर प्रकाशमय हो जाती है और कुछ काल* निस्तब्धरूपसे विश्राम करके विश्व-सृजनकी इच्छासे पुनः प्रकाशसे बाहर-सी होकर परब्रह्मके सम्मुख होती है और ब्रह्मको अपने सम्मुख करती है। दोनों दर्पणके समान निर्मल होनेके कारण परस्पर प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, तब दोनों (शिव-शक्ति)-के सम्पुटरूप अहं-विमर्शमयी आद्याशक्तिका प्रादुर्भाव होता है। सम्पूर्ण विश्व इसीके अन्तर्भूत होता है। कामकलाविलासमें लिखा है—

चित्तमयोऽहङ्कारः सुव्यक्ताहार्णसमरसाकारः।
शिवशक्तिमिथुनपिण्डः कवलीकृत भुवनमण्डलो जयति॥

इसे ही श्रुति, आगम आदिमें ईक्षण, स्फुरण या विश्वसृजनके नामसे अभिहित किया गया है। श्रुति कहती है—'**तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय।**' अपनी शक्तिमें प्रतिबिम्बित ब्रह्ममें शक्तिका प्रतिबिम्ब पड़नेसे सर्वप्रथम पूर्णाहंभावविमर्श उत्पन्न होता है। वही समस्त विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कारण है और शब्दार्थसृष्टिका बीज है, जिसे श्रुतिमें नाम-रूपकी अव्याकृत-अवस्था कहा गया है। प्रसिद्ध तान्त्रिक नागानन्दने कहा है—

विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहारेण वा अकृत्रिमोऽहमिति स्फुरणम्।

अर्थात् '**अहम्**' इस प्रकारका स्वाभाविक स्फुरण (ज्ञान) ही विमर्श-शक्ति है। यही शक्ति जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कारण है। यद्यपि पूर्णाहंभाव या शुद्धाहन्ता ही ब्रह्मरूप है तथापि जैसे सम्मुखस्थ दर्पणमें प्रतिबिम्बित हुए बिना अपना मुख नहीं दीख पड़ता, उसी प्रकार विमर्शशक्तिमें प्रतिबिम्बित हुए बिना आत्माकी स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। अतः अहंभाव विमर्शमय है। लिखा भी है—'**नास्त्येव सा चिदपि यद्यविमृष्टरूपा।**' सुरेश्वराचार्य भी बृहदारण्यवार्तिकमें लिखते हैं—'**विना त्वात्मा त्वया नहि।**' इस अहंभावरूप शिवशक्ति-सम्पुटमें अ, ह और अनुस्वार—ये तीन वर्ण हैं। इनमें अकार प्रकाशरूप है—

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः।

हकार विमर्श (शक्ति) रूप है—

हकारोऽन्त्यकलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः।

अनुस्वार विन्दुरूप है और उन दोनोंके अविवेक—पार्थक्यके अभाव अर्थात् एकरूपताका सूचक है। अतएव इस पूर्णाहन्ताको शिवभाव अथवा मोक्ष कहा गया है।

मोचयति चोन्नमिताहमशात्। (मातृकाचक्रविवेक)

* यह अवस्था देशकालादि सर्वविध परिच्छेदसे शून्य है। अतः यहाँ कालकी कल्पना कल्पित ही समझनी चाहिये।

जीवपाशको ही पशुपाश या बन्धन कहते हैं, पूर्णाहन्तासे इस पाशसे छुटकारा मिल जाता है—

'अहमि प्रलयं कुर्वन्निदमः प्रतियोगिनः।'

अद्वैतमतके मूर्धाभिषिक्त दृष्टि-सृष्टिवाद-सिद्धान्तके अनुसार अहंभाव ही सृष्टि, स्थिति आदि सब प्रपञ्चोंका मूल है। सम्पूर्ण विश्व इसी अहंभावमें है। तान्त्रिक सिद्धान्तके अनुसार भी अहंभाव ही सकल विश्व है। सृष्टि, स्थिति, संहारात्मक सकल विश्वको कुक्षिमें लिये हुए इसी अहंभावका द्योतक विन्दु है, जो यन्त्रका सर्वस्व है। महाविन्दुसे विन्दुतक पहुँचनेमें अनन्त कलाओंसे व्याप्त उन्मनी, समनी आदि अर्धविन्दुतक नौ अवस्थाओंके द्योतक नौ चक्र और हैं। इनमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म-क्रमसे कुछ-न-कुछ कालका सम्पर्क तन्त्रोंमें दिखलाया गया है; परन्तु महाविन्दु देश-कालका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रखता—

देशकालानवच्छिन्नं तदूर्ध्वं परमं महत्।
निसर्गसुन्दरं तत्तु परानन्दविघूर्णितम्॥

विन्दु और महाविन्दुके अन्तर्गत इन अवस्थाओंके योगिमात्रगम्य होनेसे प्रकृत लेखमें विन्दुसे ही प्रारम्भ किया गया है। इस विन्दु (अहंभाव)-में बीजरूपसे सारे प्रपञ्चके आ जानेसे समस्त चक्र इसीके अन्तर्गत आ जाते हैं। इसलिये विन्दु-चक्र ही प्रधान चक्र है। इसमें श्रीकामेश्वरके साथ श्रीकामेश्वरी सर्वदा नित्यानन्दमय हो विहार करती हैं, इससे इसका नाम सर्वानन्दमय चक्र भी* है।

त्रिकोणचक्र (शक्ति या जीवभाव)

यद्यपि विवर्तवाद या मायावादके मतसे आद्य सिसृक्षा-कालमें ही अक्रम-सृष्टिका प्रादुर्भाव सम्भव है, तथा कणादमतके अनुयायी **'इच्छामात्र प्रभोः सृष्टिः'**—यह कहकर क्रम-सृष्टिका समर्थन करते हैं, तथापि प्रसिद्ध लोकक्रमसे सिद्ध सामान्य-विशेष भावको लेकर स्पष्ट प्रतिपत्तिके लिये त्रिकोणादि-क्रम दिखलाना आचार्योंको अभीष्ट है। विन्दुचक्रके विवरणमें पहले कहा जा चुका है कि विमर्शशक्ति सृष्टि उत्पन्न करनेकी इच्छासे विन्दुरूपमें प्रकट होती है—

विचिकीर्षुर्घनीभूता सा चिदभ्येति विन्दुताम्।

इस विन्दुभावमें समस्त प्रपञ्चवासना तथा ज्ञेय-ज्ञातृ-ज्ञानभाव वट-बीजके अन्तर्गत बीज और वृक्षकी भाँति सूक्ष्मभावसे लीन रहता है।

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्॥

पश्चात् अन्तर्लीन जगत्‌को व्यक्त करनेकी इच्छासे वह विन्दु त्रिकोणरूपमें परिणत हो जाता है या अपने रश्मिस्वरूप त्रिकोणको प्रकट करता है—

कालेन भिद्यमानस्तु स विन्दुर्भवति त्रिधा।

इस त्रिकोणसे स्थूल बाह्य सृष्टिका आध्यात्मिक रहस्य प्रकट हो जाता है।

सृष्टि शब्द-अर्थ-भेदसे दो प्रकारकी है। तान्त्रिकोंका सिद्धान्त है कि अर्थ-सृष्टि भी शब्दमूलक ही है। क्योंकि संसारका ऐसा कोई भी व्यवहार नहीं है जो शब्दपूर्वक न हो। सब प्रकारके अर्थके पूर्व शब्दका ही उदय होता है, तथा शब्द बिना अर्थके भी अतीत अनागत विषयों एवं सर्वथा असत् शशशृङ्गादिको भी अपनी वृत्तिसे कल्पित कर देता है। अतः शब्द ही अर्थ-सृष्टिका भी मूल है। प्रलयकालमें समस्त अर्थप्रपञ्चजाल परावाक्‌रूप शब्दब्रह्ममें लीन हो जाता है और सृष्टिकालमें पुनः प्रकट हो जाता है—

विश्रान्तमात्मनि पराह्वयवाचि सुप्तौ
विश्वं वमत्यथ विबोधपदे विमर्शः।

(मातृकाचक्रविवेक)

इस विन्दुरूप परावाक् (मूलकारणभूत विन्दु)-से पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीरूप त्रिपुटीके द्वारा त्रिकोणात्मक शब्दसृष्टि अभिव्यक्त होती है। विन्दुरूप परावाक् ही कारण-विन्दु है और पश्यन्ती आदि तीनों कार्य-विन्दु कहलाते हैं। इन चारोंको क्रमशः शान्ता, वामा, ज्येष्ठा और रौद्री तथा अम्बिका, इच्छा, ज्ञान और क्रिया भी कहा गया है। इनके अधिदैवत अव्यक्त (मूल-प्रकृति), ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट् हैं। अधिभूत कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और औड्यानकी पूजाओंसे परिभाषित चार पीठ हैं। इनका अध्यात्म मूलाधारस्थ कुण्डलिनी-

* भैरवयामल-तन्त्रमें लिखा है—

कलाविद्यापराशक्तेः.............................। ....श्रीचक्राकाररूपिणी॥
तन्मध्ये वैन्दवस्थानं तत्रास्ते परमेश्वरी। सदाशिवेन सम्पृक्ता सर्वतत्त्वातिगा सती॥

शक्ति है। कुण्डलिनीका परिज्ञान ही तन्त्रका मुख्य प्रतिपाद्य है। यही परावाक् अथवा विन्दुतत्त्वका अध्यात्म-रूप है। यथा—

या मात्रा त्रपुसीलता तनुलसत्तन्तुस्थितिस्पर्द्धिनी
वाग्बीजे प्रथमे स्थिता तव सदा तां मन्महे ते वयम्।
शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननव्यापारबद्धोद्यमा
ज्ञात्वेत्थं न पुनः स्पृशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं नराः॥

जब यह विन्दु पूर्वोल्लिखित पश्यन्ती आदि कार्य-विन्दुओंके सृजनमें प्रवृत्त होता है तब यह अव्यक्त कारणविन्दु 'रव' नामसे पुकारा जाता है और यही रव शब्द कहलाता है।

स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते।

जब यह निष्पन्द रवात्मक शब्दब्रह्म वक्ताकी इच्छासे उत्पन्न प्रयत्नमात्रसे संस्कृत हो शरीर-वायुद्वारा नाभिमें आता है तब वह केवल मनोमात्रविमर्शसे युक्त अ,क,च,ट,त आदि वर्णविशेषशून्य स्पन्दात्मक प्रकाशमात्र कार्यविन्दु 'पश्यन्ती वाक्' कहलाता है। और जब यह रवात्मकब्रह्म पश्यन्तीरूपको प्राप्त होकर शरीर-वायुसे हृदयतक आता है तब वह निश्चयात्मिका बुद्धिसे युक्त होकर अ,क,च,ट,त आदि वर्णविशेषके सहित स्पन्दसे प्रकाशित हो नादरूप 'मध्यमा वाक्' होता है! एवं जब वह रवात्मक शब्द मध्यमारूपको प्राप्त होकर हृदयस्थ वायुसे प्रेरित हो मुखपर्यन्त आता है तब कण्ठ-ताल्वादि स्थानोंसे स्पृष्ट होकर दूसरे मनुष्योंके श्रोत्रेन्द्रियसे सुननेयोग्य अ,क,च,ट,त आदि वर्णोंके स्पष्ट प्रकाशरूपमें बीजात्मक 'वैखरी वाक्' कहलाता है। आचार्योंने कहा भी है—

मूलाधारात् प्रथममुदितो यश्च भावः पराख्यः
पश्चात् पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ् मध्यमाख्यः।
व्यक्ते वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्णा
बद्धस्तस्माद्भवति पवनप्रेरिता वर्णसंज्ञा॥

वर्णोंकी अभिव्यक्ति तत्तत्स्थानोंसे हुए बिना वह दूसरोंके द्वारा ग्रहणयोग्य नहीं हो सकती, इसलिये मुखसे नीचे नाभिपर्यन्त स्रोतोमार्गसे अवरुद्ध होनेसे वर्णाभिव्यक्ति नहीं होती। परन्तु मध्यमामें वह मूल अव्यक्त रव बुद्धियुक्त होता है, अतः बुद्धि रखनेवाले सभी जीव अपने-अपने भीतर मध्यमा वाक्का अनुभव कर सकते हैं। एवं पश्यन्ती-रवमें तो केवल मनका ही सम्बन्ध होता है, इसलिये मनःप्रणिधानमें समर्थ योगी ही पश्यन्ती-रवका प्रकाश प्राप्त कर सकते हैं, साधारण जन नहीं। परावाक् तो मन और बुद्धिसे भी अतीत है, अतः मन-बुद्धिको भी भेदन करके देखनेवाले पूर्णाहंभावको प्राप्त परमज्ञानी ही परावाक्के प्रकाशका अनुभव करते हैं। वस्तुतः यही परावाक् पूर्णतारूप अहंभाव और प्रकाशरूप है; परन्तु साधारण लोगोंको '**अयं घटः, अयं पटः**' (यह घट है, यह पट है) इत्यादि अन्यापेक्ष होनेसे अपूर्णरूप नानाभाव (इदमंश)-के द्वारा ही सत्ताका प्रकाश मिलता है; इसीलिये वे विकल्प-व्याधिसे* ग्रस्त रहते हैं। ज्ञानी इस नानाभाव (अपूर्णता)-का त्याग कर शुद्ध परावाक्रूप पूर्णाहंभावको ही ग्रहण करते हैं। इसी कारण अज्ञानी बद्ध कहलाते हैं और ज्ञानी मुक्त कहलाते हैं। यही परावाक् शब्द, अर्थ, मन्त्र, चक्र, देह आदि सकलस्वरूप तथा सबका मूल कारण है—

सावश्यं विज्ञेया यत्परिणामादभूदेषा।
अर्थमयी शब्दमयी चक्रमयी देहमय्यपि च॥

इस महाशक्तिका गुणगान आचार्योंने इस प्रकार किया है—

शब्दानां जननी त्वमत्र भुवने वाग्वादिनीत्युच्यसे
त्वत्तः केशववासवप्रभृतयोऽप्याविर्भवन्ति स्फुटम्।
लीयन्ते खलु यत्र कल्पविरमे ब्रह्मादयस्तेऽप्यमी
सा त्वं काचिदचिन्त्यरूपमहिमा शक्तिः परा गीयसे॥

इस प्रकार सब मन्त्रों तथा कादिविद्या, हादिविद्या, षोडशी, पञ्चदशी, बाला, महात्रिपुरसुन्दरी, भुवनेश्वरी आदि विद्याओंकी जननी भी परावाक् है।

जिस प्रकार विन्दुरूप परावाक् सकल शब्दोंकी जननी है, उसी प्रकार वह सकल अर्थरूप ३६ तत्त्वोंकी भी माता है। तान्त्रिकमतानुसार वे ३६ तत्त्व ये हैं—पञ्चमहाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच इन्द्रियोंके विषय, मन, बुद्धि, अहङ्कार, प्रकृति, पुरुष, कला, अविद्या, राग, काल, नियति, माया, शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति और शिव। यह हुई अर्थसृष्टि; एवं विन्दु ही सम्पूर्ण चक्रका मूल है, इसलिये चक्रसृष्टि भी इसीसे हुई है। देह भी नवचक्रमय है, अतः देहसृष्टिका

* अपूर्णमन्यता व्याधिः कार्पण्यैकनिदानभूः।
क्लेशावहोजुगुप्सा·····························। इत्यादि

कारण भी यह विन्दु ही है।

अब हम अपने प्रकृत विषय—त्रिकोणपर आते हैं। इस त्रिकोणको उपर्युक्त विवरणके अनुसार योनिचक्र या शक्तिचक्र एवं जीवत्रिकोण या विसर्ग भी कहते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि विन्दु शिव-स्वरूप है, यही तुरीया-अवस्था है। जीव त्रिकोण है, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिकी तीन अवस्थाएँ ही तीन कोण हैं। वह शक्ति जो अन्तर्मुख होकर शुद्धाहंभावको प्राप्त हुई शिवरूपसे विश्राम लेती है तथा बहिर्मुख होकर जीवभावसे संसरण करती है, शिव-जीवकी समष्टिभूत क्ष्मात्माशक्ति, त्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुरा, श्री आदि शब्दोंसे तन्त्रोंमें वर्णित हुई है।

इससे सिद्ध हुआ कि वस्तुतः शिव और जीव भिन्न-भिन्न नहीं हैं, बल्कि अन्तर्मुख और बहिर्मुख-दृष्टिसे एक ही महाशक्तिके दो नाम हैं। तथा इसके साथ ही यह भी ज्ञात हो गया कि तत्त्वतः विन्दु और त्रिकोणमें भी कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि विन्दु कारण है और त्रिकोण कार्य है, और कार्य-कारणका तादात्म्य माना जाता है—

आद्या कारणमन्या कार्यं त्वनयोर्यतस्ततो हेतोः।
सैवेयं नहि भेदस्तादात्म्यं हेतुहेतुमतोः॥

(कामकलाविलास)

इस महाशक्तिके पर, अपर एवं परापर-विलाससे ही '**अहम्**' (उत्तम पुरुष), '**इदम्**' (प्रथम पुरुष) और '**त्वम्**' (मध्यम पुरुष)-का व्यवहार होता है। जब यह शक्ति दूसरेकी अपेक्षा न रख पूर्णाहंभावसे '**सोऽहम्**' रूप विमर्श या स्पन्दका प्रकाश करती है तब शिवतत्त्वके नामसे अभिहित होती है, और जब अन्यापेक्ष होकर '**स इदम्**' रूप अपूर्ण विमर्शसे विलास करती है तब शुद्ध विद्या कहलाती है। तथा जब '**स इदम्—अहमिदम्**' इन दोनों भावोंमें समान गुणप्रधानरूपसे उदासीन होकर विलास करती है तब सदाशिव या महेश्वर-संज्ञाको प्राप्त होती है।

सदाशिव और ईश्वर-अवस्थामें इतना ही अन्तर होता है कि सदाशिव-दशामें '**अहम्**' के अधिकरणभूत चिन्मात्रमें 'अहमिदम्' इत्याकारक '**इदम्**' अंशका उल्लास होता है और ईश्वर-दशामें '**इदमहम्**' इत्याकारक विमर्शके अन्तर्गत '**इदम्**' अधिकरणमें '**अहम्**' अंशका स्पष्ट उल्लास होता है। परन्तु शुद्ध विद्या-दशामें ग्राह्य-ग्राहक-भावका सामानाधिकरण्य हो जाता है।

सामानाधिकरण्यं हि सद्विद्याहमिदंधियोः।

तथा वैयधिकरण्य (वैषम्य)-से '**इदम्**' में ग्राह्य-बुद्धि और '**अहम्**' में ग्राहक-बुद्धिका होना ही अशुद्ध विद्या या माया है।

जब उपर्युक्त त्रिविध विलास सामानाधिकरण्य अर्थात् शुद्ध विद्यासे होते हैं तब शिवतत्त्वके विधायक शुद्ध विद्या, ईश्वर या सदाशिव कहलाते हैं और जब वही त्रिविध विलास अशुद्ध विद्या या मायासे जनित होते हैं तो जीवके 'मैं, तू, वह' रूपी व्यवहारके प्रयोजक हो जाते हैं। और वह त्रिकोण-शक्ति मातृ-मेय-मान, ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान, हरि-हर-हिरण्यगर्भ, इच्छा-ज्ञान-क्रिया, मन-बुद्धि-अहङ्कार (अन्तःकरणत्रय), सत्त्व-रज-तम (गुणत्रय) इत्यादि त्रिपुटी-भावसे पूर्ण हो जाती है।

इस त्रिपुटीसे शून्य अकोणाकार विन्दु ही पूर्वोक्त त्रिपुटीके उद्भावनार्थ त्रिकोणकी आकृति धारण करता है। अर्थात् एक ही विन्दु त्रिकोणमें विभक्त हो जाता है। शास्त्र भी कहते हैं—

सेयं त्रिकोणरूपं माता त्रिगुणरूपिणी माता।

(कामकलाविलास)

इस महात्रिकोणमें श्रीकामेश्वर तथा कामेश्वरीरूप आश्रयाश्रयिभावापन्न तेज इच्छादि शक्ति-त्रयरूपसे स्थित है—

इच्छादिशक्तित्रितयं पशोः सत्वादिसंज्ञकम्।
महत् त्र्यस्त्रं चिन्तयामि गुरुवक्त्रादनुत्तरात्॥

अष्टार (नवयोन्यात्मक) चक्र

हम पहले ही कह आये हैं कि श्रीचक्र विश्व (ब्रह्माण्ड या पिण्डाण्ड) ही है। इसमें विन्दु शिव है और जीव त्रिकोण—यह भी बतलाया गया है। ये दोनों चक्र जड, चेतन एवं उभयात्मक विश्वके त्रिपुटीरूप, जड-चेतनरूप, शिव-शक्तिरूप एवं चित् और चैत्यके पारस्परिक संश्लेषको सूचित करते हैं। इनमें विन्दु अन्तर्मुख विलास करनेवाली महाशक्तिका अधिष्ठान है, तथा त्रिकोण बहिर्मुख विलास करनेवाली विमर्श-शक्तिका अधिष्ठान है। यद्यपि '**इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिः**' के अनुसार इनमें किसी क्रमकी अपेक्षा नहीं है तथापि कल्पित क्रमको लेकर ही अष्टारवासनाके सम्बन्धमें अब कुछ विवेचना की जाती है। क्षकार शिवरूप है, यह

कूटाक्षर है; अतः शिवतत्त्व भी कूटतत्त्व है। इसमें शुद्ध विद्या, ईश्वर, सदाशिवके साथ चार तत्त्व हैं। यह चार तत्त्वोंका चतुरस्र शिव-चतुरस्र कहलाता है। जीवके विषयमें पहले ही कह चुके हैं कि वह शिवरूप ही है। केवल बहिर्मुख उपाधिके कारण ही वह जीव-संज्ञाको प्राप्त होता है। इस उपाधिका प्रयोजक है माया और उससे प्रसूत अन्तःकरणत्रय। मतान्तरसे कला, राग, अविद्यादि कञ्चुक ही इसका प्रयोजक है। यह जीव-चतुरस्र नामक दूसरा चतुरस्र है। इन दोनोंके मेलसे अष्टकोणात्मक अष्टार बनता है, जो शिव और जीव दोनों भावोंको सम्पादन करनेवाली सामग्रीको उत्पन्न करता है। यह अर्थके अनुसार तत्त्व-सृष्टि हुई। शब्दसृष्टिमें भी तान्त्रिक रहस्यके अनुसार जीव-चतुरस्र—यवर्ग, और शिव-चतुरस्र—शवर्गको प्रादुर्भूत करनेवाला यह अष्टार-चक्र है। इस प्रकार अष्टारकी आठ योनियाँ और त्रिकोणकी एक योनि मिलकर नव योनि-चक्र कहलाता है। इसके साथ एक मध्यका विन्दु मिला देनेसे एक ही विन्दुके दस भेद हो जाते हैं। यह चक्र प्रधान चक्र माना गया है। इसमें शिव और जीव दोनोंके चतुरस्र मिले हैं और इसकी प्रधान देवता श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी भी शिवजीव दोनोंका समष्टिरूप है। अतएव प्रधान देवताका पूजन अष्टारमें ही कहा गया है। शास्त्रमें भी लिखा है—

श-ष-स-यवर्गमयं तद्वसुकोणविस्तारः।
नवकोणमध्यं चेत्यस्मिंश्चिद्दीपदीपिते दशके॥

(कामकलाविलास)

यह चक्रत्रितय प्रमातृपुर, स्वप्रवासना तथा अग्नि-खण्ड कहलाता है। योगिनीहृदयकारके मतसे ये तीनों चक्र सृष्टिचक्र हैं। इनमें विन्दुचक्र सृष्टि-सृष्टि अर्थात् इच्छारूप है, त्रिकोणचक्र सृष्टि-स्थिति अर्थात् ज्ञानरूप है, और अष्टारचक्र सृष्टि-संहार अर्थात् क्रियारूप है। विन्दुको सर्वानन्दमय चक्र, त्रिकोणको सर्वसिद्धिप्रदायक चक्र तथा अष्टारको सर्वरक्षाकर चक्र कहते हैं।

पाश[1], अङ्कुश[2], धनुष[3], बाण—ये चार आयुध हैं। आश्रयरूप श्रीकामेश्वर तथा आश्रयिरूप श्रीकामेश्वरी इन दोनों तेजोंके पृथक्-पृथक् संयोगसे आठ आयुध उत्पन्न हुए, जो अष्टारमें स्थित हैं। उपर्युक्त रीतिसे वामा, ज्येष्ठा, रौद्री तथा इच्छा, ज्ञान, क्रियारूप त्रिकोण ही तीन प्रकारसे विभक्त होकर दो शक्ति[4] और एक वह्निके संयोगसे अष्टारचक्र बन जाता है। पुनः वही अष्टारचक्र त्रिधा विभक्त हो वह्नि-शक्तिरूपसे नवचक्रात्मक बन जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि स्वयं अष्टारचक्र ही श्रीचक्र है।

चितिश्चैत्यश्च चैतन्यं चेतनाद्वयकर्म च।
जीवः कला च देवेशि सूक्ष्मं पुर्यष्टकं मतम्॥

(स्वच्छन्दसंग्रह)

इस शास्त्र-वचनके अनुसार पूर्वोक्त युगल तेज ही अपने सूक्ष्मरूप पुर्यष्टकमें विभक्त होकर वशिन्यादि[5] देवताओंके रूपसे अष्टारमें अधिष्ठित होता है। अष्टारचक्रका यह संक्षिप्त परिचय हुआ। शास्त्र कहते हैं—

अष्टारव्यपदेशोऽयं चिन्निर्वाणैषणादिकम्।
सूक्ष्मं पुर्यष्टकं देव्या मतिरेषा हि गौरवी॥

अन्तर्दशार तथा बहिर्दशार-चक्र

अबतक शिव, जीव तथा शिव-तत्त्वके घटक शुद्ध-विद्यादि चार तत्त्व तथा जीवभावके हेतुभूत माया, कला, रागादि छः कञ्चुक—यों मिलाकर कुल दस तत्त्वों तथा दस मूल अक्षर य, र, ल, व, श, ष, स, ह, क्ष और मके प्रादुर्भावक्रमके विषयमें विवेचना की गयी है। अर्थात् कारण, लिङ्ग और स्थूल, इन त्रिविध शरीरोंमेंसे केवल कारण-शरीरकी ही अबतक आलोचना की गयी है। अब अन्तर्दशार तथा बहिर्दशारके द्वारा लिङ्ग-शरीरके प्रादुर्भावकी बात लिखी जायगी। अन्तर्दशारके दस कोण पञ्चज्ञानेन्द्रियों और पञ्चकर्मेन्द्रियोंसे घटित

१—इच्छा ही बन्धन है; पाश इच्छारूप है।

२—ज्ञान बन्धमोचक है, अतः अङ्कुश ही ज्ञान हुआ—

इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम्। क्रियाशक्तिमये वाणधनुषी दधदुज्ज्वलम्॥

३—'शब्दस्पर्शादयो वाणा मनस्तस्याभवद्धनुः।' इस वचनसे शब्दादि बाणोंका मनोरूप धनुषसे सन्धान करना क्रियाशक्तिका ही व्यापार है। अतः धनुष-बाण दोनों क्रियारूप हैं।

४—शक्ति और वह्निका अर्थ यन्त्रलेखन-परिभाषामें देखिये।

५—वशिनी, कामेश्वरी, मोदिनी, विमला, अरुणा, जयिनी, सर्वेश्वरी, कौलिनी, ये आठ वाग्देवता कहलाती हैं।

हैं। सुभगोदयमें लिखा है—

अन्तर्दशारवसुधाज्ञानकर्मेन्द्रियाणि च।
महात्रिपुरसुन्दर्या इति सञ्चिन्तयाम्यहम्॥

उपर्युक्त अष्टारचक्रमें कामेश्वर-कामेश्वरीरूप जो तेजयुग्म वशिन्यादिरूपमें अथवा पुर्यष्टक (कारण) रूपमें स्थित था वही युग्म अन्तर्दशारमें इन्द्रियरूपसे दशधा विभक्त हो जाता है और सर्वज्ञादि[1] दस देवताओंके रूपमें पूजा जाता है। इसका नाम सर्वरक्षाकर-चक्र है। क्योंकि द्विविध इन्द्रियोंसे ही सबकी रक्षा होती है।

इसी प्रकार बहिर्दशारके दस कोण पूर्वोक्त दस इन्द्रियोंके विषयों—गन्ध, रसादि तथा वचनादानादिके आभ्यन्तररूप आकाशादि दस विषयोंसे बने हैं—

बाह्यो दशारभागोऽयं बुद्धिकर्माक्षगोचरः।

इस बहिर्दशारचक्रको सर्वार्थसाधक-चक्रके नामसे पुकारते हैं, क्योंकि विषय ही सर्व अर्थोंके साधक हैं। इस चक्रमें[2] उपर्युक्त तेजोयुग्म ही दशधा विभक्त होकर सर्वसिद्धिप्रदादि दस देवताओंके रूपमें पूजा जाता है। इस बहिर्दशारके चारों विदिक् कोणोंमें चार मर्मस्थान हैं। इनके अन्तर्भागमें चार त्रिकोणोंकी भावना की जाती है। इन चार त्रिकोणोंका एक चतुरस्र माना जाता है। इसके एक-एक कोणमें प्रकृति, अहङ्कार, बुद्धि और मन[3]— ये चार तत्त्व तथा प,फ,ब,भ, ये चार मातृका-मन्त्र हैं। मकार जीवरूप त्रिकोणमें संश्लिष्ट है, अन्तर्दशारमें टवर्ग तथा तवर्ग और बहिर्दशारमें कवर्ग, चवर्ग कुल मिलकर बीस मातृका बीज दोनों दशारोंके बीस कोणोंमें हुए। इनमें चतुरस्रोंके चार बीज मिला देनेसे चौबीस[4] वर्ण होते हैं। इन चौबीस वर्णोंमें दो-दो वर्णोंके संयोगसे एक ग्राह्य (बाह्य विषय), और दूसरा ग्राहक (आभ्यन्तररूप तन्मात्रा तथा इन्द्रिय)-से सूर्यकी बारह कलाएँ बनती हैं। इनमें प+फ और ब+भ के संयोगसे प्रकृति और मनरूप दो कलाएँ बनती हैं जो चतुरस्रकी प्रधान कलाएँ हैं, क्योंकि चतुरस्र बिम्बचक्र है; शेष दस कलाएँ इन्द्रिय-तन्मात्रारूप अवयव-कलाएँ हैं, यह बिम्बचक्रकी रश्मिके रूपमें दशारद्वयमें रहती हैं। इसलिये दशारद्वय और चतुरस्र सौरखण्ड प्रमाणपुर एवं जागरात्मक कहलाता है। यहाँ यह ध्यान रखनेकी बात है कि जब अन्तर्दशारके तत्त्व (विषय) बहिर्दशार (इन्द्रियों)-के तत्त्वोंको अपनी व्याप्तिसे आच्छन्न नहीं करते अर्थात् जब विषय अपने-अपने निकट आभ्यन्तररूपमें विलीन रहते हैं तब दस इन्द्रिय और शब्द-स्पर्शादि पञ्चतन्मात्रा, मन तथा पुरुष—इन सतरह तत्त्वोंका लिङ्ग-शरीर बनता है। मूल कारणरूप सूक्ष्म विन्दु (अव्यक्त) क्रमशः बाह्यरूपमें

१—सर्वज्ञादि दस देवताओंके नाम ये हैं—सर्वज्ञा, सर्वशक्ति, सर्वैश्वर्यप्रदा, सर्वज्ञानमयी, सर्वव्याधिविनाशिनी, सर्वाधारस्वरूपा, सर्वपापहरा, सर्वानन्दमयी, सर्वरक्षास्वरूपिणी और सर्वेप्सितफलप्रदा।

२—इनके नाम ये हैं—सर्वसिद्धिप्रदा, सर्वसम्पत्प्रदा, सर्वप्रियङ्करी, सर्वमङ्गलकारिणी, सर्वकामप्रदा, सर्वसौभाग्यदायिनी, सर्वमृत्युप्रशमनी, सर्वविघ्ननिवारिणी, सर्वाङ्गसुन्दरी और सर्वदुःखविमोचिनी।

३—उत्पत्तिक्रम—प्रकृति, मन, बुद्धि, अहङ्कार, इस प्रकार प्रसिद्ध है। परन्तु उपर्युक्त स्थलमें अर्थकी दृष्टिसे ही क्रम रखा गया है। जड होनेके कारण अहङ्कार साक्षात् प्रकृति-धर्म है, अहङ्कार और मनसे बुद्धि बनती है, सब इन्द्रियोंका प्रवर्त्तक होनेसे मन पुरुषसे अधिक सम्पर्क रखता है, इसलिये यहाँ प्रकृति, अहङ्कार, बुद्धि, मन, पुरुष—यह क्रम रखा गया है।

४—आद्याशक्तिके बहिर्मुख विलाससे चित्-शक्ति चैत्यमें लीन हो जाती है और चैत्य ही बहिर्व्याप्त रहता है। इसी दशाको तन्त्रोंमें पशु-दशाके नामसे पुकारते हैं। इसमें तत्त्व और बीजका क्रम निम्नलिखित कोष्ठके अनुसार रहता है—

क	ख	ग	घ	ङ
पृथ्वी,	जल,	तेज,	वायु,	आकाश
च	छ	ज	झ	ञ
गन्ध,	रस,	रूप,	स्पर्श,	शब्द
ट	ठ	ड	ढ	ण
पायु	उपस्थ,	हाथ,	पैर,	वाक्
त	थ	द	ध	न
नाक,	जिह्वा,	आँख,	त्वक्,	कान
प	फ	ब	भ	म
प्रकृति,	अहङ्कार,	बुद्धि,	मन,	पुरुष

विकसित होता हुआ इन्द्रियादि रूपको प्राप्त होकर लिङ्गशरीरमें परिणत हो जाता है। इसी प्रकार वह अन्त्य अवयवीतक विकसित होकर बाह्यरूपमें परिणत होता हुआ स्थूल शरीर बन जाता है। इन्हीं अवस्थाओंकी सूचना चतुरस्रगर्भित दशारद्वयसे होती है। स्थूल शरीरद्वारा जाग्रत्-व्यवहारका प्रवर्त्तक सूर्य है, इसमें जड (चन्द्रकला) और अजड (वह्निकला)—दोनोंका समावेश रहता है। जाग्रत्पुररूप उपर्युक्त त्रिचक्र, इन्द्रिय और विषय[१]—(चेतन और जड) दोनोंका सम्मिश्रण है। यह दशारद्वयका संक्षिप्त परिचय हुआ।

चतुर्दशार-चक्र

पुनः उपर्युक्त कामेश्वर-कामेश्वरीरूप तेजोयुग्म चतुर्दशार-के चौदह कोणोंमें विभक्त होकर सर्वसंक्षोभिणी[२] आदि चतुर्दश शक्तियोंके रूपमें पूजा जाता है। ये चौदह शक्तियाँ पिण्डाण्डमें दस इन्द्रिय तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्काररूप अन्तःकरणचतुष्टयके साथ चौदह करणोंमें रहती हैं। सुभगोदयमें लिखा है—'**चतुर्दशारवसुधाकरणानि चतुर्दश।**' यह चतुर्दशार चान्द्रखण्ड तथा जड होनेसे सुषुप्तिपुर कहलाता है। चन्द्रकी सोलह कलाएँ होती हैं। चौदह कोणोंसे चौदह कलाएँ—स्वरवर्गमें अकारसे लेकर औकारतक ह्रस्व और दीर्घ मिलाकर चौदह वर्ण होते हैं तथा अं और अः—अनुस्वार-विसर्ग मिलाकर मातृकावर्णके सोलह स्वर प्रादुर्भूत होते हैं। विन्दुसे लेकर चतुर्दशारतक प्रधान श्रीचक्रका संक्षिप्त परिचय यहाँतक दिया गया।

अष्टदल, षोडशदल तथा भूपुर (चतुरस्र)

विन्दु-चक्र-वासनामें कहा जा चुका है तथा आगे चक्रलेखनप्रकारमें भी बताया जायगा कि सम्पूर्ण श्रीचक्र विन्दुरूप ही है। शक्तिके द्वारा विन्दुसे चतुर्दशारतककी कल्पना होती है। समस्त विश्वके शिव-शक्त्यात्मक होनेके कारण त्रिकोणसे लेकर चतुर्दशारतक शक्तिचक्र शिवचक्र[३]से गर्भित हैं। केवल बुद्धिविशदता तथा स्पष्ट ज्ञानके लिये इनका पृथक् विवेचन किया जाता है। लेखनप्रकारके अनुसार चतुर्दशार-चक्रके बाहर बने हुए अष्टदल पद्म-चक्रमें अनङ्गकुसुमादि[४] आठ देवियोंकी पूजा की जाती है। उपर्युक्त तेजोमिथुन ही इन देवियोंके रूपमें पूजित होता है। इस चक्रका नाम सर्वसंक्षोभण-चक्र है। तन्त्रमें क्षोभ सृष्टिको कहते हैं। कारणात्मक होनेसे ही यह सृष्टिकारक है। ये अष्टदल अष्टार-चक्रके अन्तर्भूत हैं; अतः आग्नेय खण्ड और प्रमातृपुर हैं। इसमें विन्दुरूप वह्निकी आठ कलाएँ होती हैं। यह विन्दु अभेदप्रमाता है। विसर्गरूप चतुर्दशारके बाह्यभागमें स्थित विन्दु अष्टदलके अष्टार-चक्रके अन्तर्भूत होनेके कारण चतुर्दशारके अभ्यन्तरस्थ हो जाता है तथा विसर्गात्मक षोडशदलके अभ्यन्तर रहता है। लोकप्रसिद्ध वर्णानुक्रममें भी 'अः' विसर्गके पूर्व ही 'अं' अनुस्वार (विन्दु) आता है तथा विलोम पाठमें विसर्ग बाह्य हो जाता है, इस प्रकार विन्दु-विसर्ग परस्पर बाह्याभ्यन्तर होते हुए तान्त्रिक सिद्धान्तके गूढ़तम रहस्यका द्योतन करते हैं। सारांश यह है कि विसर्गका बहिर्भाव पशुभावके विकासका और विन्दुका बहिर्भाव शिवभावकी अभिवृद्धिका सूचक है। अष्टदल पद्म अव्यक्तादि आठ कारणोंसे बना है। शास्त्रमें लिखा भी है—

वसुच्छदनपद्माङ्कदेशो यश्चक्रगो विभुः।
अव्यक्ताद्याः प्रकृतयो भूतात्मा निश्चिनोम्यहम्॥

इसी प्रकार षोडशदल-कमल विसर्गरूप चन्द्रकी षोडश कलायुक्त है। यह चक्र विकाररूप अन्त्यावयवीसे घटित है। सुभगोदयमें लिखा है—

षोडशच्छदपद्माङ्कदेशो भूताक्षमानसम्।
विकारात्मकमापन्नं देव्याः सम्भावयाम्यहम्॥

इस चक्रमें कार्याकर्षिणी आदि सोलह शक्तियोंके रूपमें उपर्युक्त तेजोमिथुनकी पूजा होती है। कुछ तान्त्रिक इन्हें नित्यातादात्म्यके नामसे भी पुकारते हैं, सोलह स्वर

१—इन्द्रिय और मन विषयग्राहक होनेसे इनमें औपचारिक चेतनत्व माना जाता है।

२—सर्वसंक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्वाह्लादनकारिणी, सर्वसंमोहिनी, सर्वस्तम्भनकारिणी, सर्वजम्भिनी, सर्ववशङ्करी, सर्वरञ्जिनी, सर्वोन्मादनरूपिणी, सर्वार्थसाधनी, सर्वसम्पत्प्रपूरणी, सर्वमन्त्रमयी, सर्वद्वन्द्वक्षयंकरी—ये १४ शक्तियाँ हैं।

३—त्रिकोणे वैन्दवं श्लिष्टमष्टारेऽष्टदलाम्बुजम्।
दशारयोः षोडशारं भूगृहं भुवनास्रके॥

४—अनङ्गकुसुमा, अनङ्गमेखला, अनङ्गमदना, मदनातुरा, अनङ्गरेखा, अनङ्गवेगिनी, अनङ्गाकुशा, अनङ्गमालिनी—ये आठ देवियाँ हैं।

ही इसके षोडशदल हैं। इसका एक नाम सर्वाशापरिपूरक भी है। क्योंकि कार्याकर्षिणी[१] आदि नित्याओंकी तृप्तिसे ही सारी आशाएँ पूर्ण होती हैं। इस जडात्मक चान्द्र-खण्डका सौर-खण्डरूप दशारद्वयमें अन्तर्भाव है। सूर्य चन्द्राग्निका सम्मिश्रण ही है और इसके आग्नेय खण्डमें उपर्युक्त चतुरस्त्र अवस्थित है। अब अन्तिम भूपुर-चक्रकी विवेचना की जाती है। इसका आकारभेद लेखन-प्रकारमें कहा जायगा। यहाँ केवल पूजनीय देवता तथा चक्रवासनाके विषयमें कुछ कहा जायगा।

भूपुर-चक्रमें उपर्युक्त तेजोमिथुनकी अणिमादि[२] दस सिद्धियों, ब्राह्मी[३] आदि अष्ट लोकमाताओं तथा मतान्तरसे मुद्राओंके[४] रूपमें पूजा की जाती है। इसको त्रैलोक्य-मोहन-चक्र कहते हैं। इस चक्रको तन्त्रोंमें श्रीगङ्गा-यमुना-सङ्गमरूप तीर्थराज[५] प्रयाग कहा गया है। इसमें चित्-चैत्यरूपी दो श्वेत एवं कृष्ण नदियोंका सङ्गम होता है। सारांश यह है कि यह भूपुर अर्थात् चतुरस्त्र-चक्र जड-चेतन तथा शिव-जीव दोनोंकी समष्टि है। तन्त्रोंमें इसकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है। वह्नि (अष्टार)-चक्रके अन्तर्गत चित्स्वरूप विन्दु-चक्र अपनी रश्मि—त्रिकोणके द्वारा आक्रान्त है। तथा चिद्रूप चन्द्र चतुर्दशार-चक्रके अन्तर्गत अष्टदलके बाहर अपनी किरण—षोडशदलसे आच्छन्न है। बिम्ब मध्यमें रहता है और किरणें चारों ओर बाहर छिटकी रहती हैं—इस सामान्य नियमके अनुसार विन्दुसे बाहर त्रिकोण और अष्टदलसे बाहर षोडशदल अवस्थित रहता है। इस प्रकार विन्दु और अष्टदल दोनों बिम्ब अपने-अपने प्रभा-चक्र त्रिकोण और षोडशदलके साथ दशारचक्रके मध्यमें चतुरस्त्रके एक-एक कोणके रूपमें परिणत होते हैं। इसीसे इस चक्रकी तीर्थराजके साथ उपमा सुसङ्गत प्रतीत होती है। इसी कारण यह यन्त्र पूजापद्धतिमें सर्वप्रथम पूजनीय[६] माना जाता है। पूजन दशार-चक्रके[७] मध्य ही होना चाहिये, केवल व्युत्पत्तिके लिये ही

१—कार्याकर्षिणी, बुद्ध्याकर्षिणी, अहङ्काराकर्षिणी, शब्दाकर्षिणी, स्पर्शाकर्षिणी, रूपाकर्षिणी, रसाकर्षिणी, गन्धाकर्षिणी, चित्ताकर्षिणी, धैर्याकर्षिणी, स्मृत्याकर्षिणी, नामाकर्षिणी, बीजाकर्षिणी, आत्माकर्षिणी, अमृताकर्षिणी तथा शरीराकर्षिणी—ये षोडश नित्या कहलाती हैं।

२—अणिमा, लघिमा, महिमा, ईशित्व, वशित्व, प्राकाम्य, भुक्ति, इच्छा, प्राप्ति और सर्वकाम (मुक्ति)-ये दस सिद्धियाँ हैं।

३—ब्राह्मी, माहेशी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्री, चामुण्डा, महालक्ष्मी—ये आठ लोकमाताएँ हैं।

४—मुद्राएँ दस हैं—त्रिखण्डा, सर्वसंक्षोभिणी, द्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्ववशङ्करी, उन्मादिनी, महाङ्कुशा, खेचरी, बीज और योनि। मुद्राओंके विषयमें विशेष वर्णन 'नित्याषोडशिकार्णव' के तृतीय विश्राममें विस्तारपूर्वक लिखा मिलता है। जब विमर्शशक्ति स्वयं अपने भीतर विश्वप्रकाशन तथा इदंरूपसे परामर्शनरूप सृष्टि अर्थात् शिवसे लेकर क्षितिपर्यन्त तत्त्वोंमें परिणत होनेकी इच्छा करती है तब क्रियारूपमें वह संविद्रूप अम्बिका पराशक्ति विश्वके मोदन और द्रावणके कारण 'मुद्रा' संज्ञाको प्राप्त होती है। योगिनीहृदयमें लिखा है—

चिदात्मभित्तौ विश्वस्य प्रकाशामर्शने यदा। करोति स्वेच्छया पूर्णविचिकीर्षासमन्विता॥
क्रियाशक्तिस्तु विश्वस्य मोदनाद् द्रावणात्तथा······। मुद्राख्या इति······························॥

यह मुद्राका सामान्य अर्थ है।

'प्रतिचक्रं तु मुद्रास्तु चक्रसंकेतचोदिताः।'

—के अनुसार मुद्रा प्रत्येक चक्रमें उसके नाम-रूपके अनुसार पूजी जाती है। पराशक्तिके त्रिकलात्मिका होनेसे त्रिखण्डा मुद्रा होती है; यह सकल यन्त्रकी व्यापक मुद्रा है, क्योंकि यन्त्र ही त्रिकोणमय है। यही मुद्रा अपनी खण्डत्रयात्मकताको छोड़कर योनिप्रचुररूपको प्राप्त होनेसे सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा कहलाती है। यह वामा शक्ति प्रधान होनेके कारण सृष्टिरूप है। यह त्रैलोक्यमोहन चतुरस्त्र चक्रमें स्थित है। इस निर्मित विश्वका पालन करनेवाली स्थूलनादकलारूपा ज्येष्ठाशक्ति ही कामाकर्षिण्यादिस्वरूपभूत द्राविणी मुद्रा है। यह सर्वाशापूरकचक्रमें स्थित है। सर्वाकर्षिणी मुद्रा सृष्टिस्थितिसाम्यरूपा है। यह सर्वसंक्षोभणचक्रमें रहती है। सर्ववशङ्करीमुद्रा चतुर्दशारचक्रमें, उन्मादिनी मुद्रा बहिर्दशारचक्रमें, महाङ्कुशा अन्तर्दशारमें, खेचरीमुद्रा सर्वरोगहर (अष्टार)-चक्रमें, बीजमुद्रा त्रिकोणमें तथा योनिमुद्रा सर्वानन्दमय विन्दुचक्रमें स्थित है।

५—मातृकाचक्रविवेकमें लिखा है—

तस्माच्चतुष्पदमिदं चतुरस्त्रबिम्बं चिच्चैत्यनिर्जरसरिद्यमुनाप्रयागः।

६—अर्च्यं भवेत् प्रथमतोऽथ तदङ्गभूतचिच्चैत्यचक्रयजनं त्विति पूर्वतस्तत्।

७—अन्तःस्थमेव चतुरस्त्रमुषोर्बुधेन्द्वोरर्कात्मकं चिदचिदुद्भवमेतदङ्गम्।
एवं च सत्यपि जडाजडसारमेतत् प्रागेव पूज्यमिति पूर्णपदे कृतं तत्॥
(मातृकाचक्रविवेक ५। ३२)

उसका सबसे बाह्य कक्षामें करना लिखा है।

संक्षिप्त पूजन-रहस्य

तन्त्रशास्त्रमें श्रीयन्त्रका पूजन बाह्य और आभ्यन्तर-भेदसे दो प्रकारका बतलाया गया है। बाह्य पूजाका क्रम इस प्रकार है। पहले पीठादिके ऊपर श्रीयन्त्रको लेखनविधिके अनुसार लिखना होता है। परन्तु इसके लिखनेके पूर्व साधकको योग्य गुरुसे दीक्षा लेकर शुभ मुहूर्तमें उपासना करना आवश्यक है; अन्यथा इससे फल मिलना तो दूर रहा, उलटे अनिष्ट होनेकी सम्भावना रहती है। यन्त्रको लिखनेके बाद गुरुकी बतलायी विधिसे षोढान्यासादि करके श्रीचक्रन्यास तथा भूतशुद्धि आदिसे अपना शरीर शुद्धकर '**देवो भूत्वा यजेद्देवम्**' के अनुसार तत्तद् यन्त्रोंमें तत्तद् देवताओंका आवरण-पूजन करे। इसके बाद गुरुपादुका-पूजन करना आवश्यक है। तदनन्तर बलिपूजोपहार चढ़ाकर यन्त्रका विसर्जन करना चाहिये। यही बाह्य पूजा है। आभ्यन्तर पूजाके विषयमें तन्त्रराजमें लिखा है—

ज्ञाता स्वात्मा भवेज्ज्ञानमर्घ्यं ज्ञेयं हविः स्मृतम्।
श्रीचक्रपूजनं तेषामेकीकरणमीरितम्॥

अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तथा होता, अर्घ्य, हवि—इन त्रिपुटियोंकी अभेद-भावना ही आभ्यन्तर पूजा है। यह भावना अधिकारिभेदसे तीन प्रकारकी कही गयी है—सकल-भावना, सकल-निष्कल-भावना और निष्कल-भावना। इनमें निष्कल-भावना उत्तम अधिकारीके लिये है। इसमें केवल महाविन्दुमें ही विन्दु आदि नव चक्रोंके पारस्परिक भेदके बिना निर्विषयक संविन्मात्रात्मक (चित्स्वरूप) कामकलाकी भावना करनी पड़ती है। यह सर्वोत्तम साधना है। मध्य श्रेणीके साधकके लिये विन्दुसे लेकर अर्द्धचन्द्र, पादचन्द्र, कलाचन्द्र, नाद-शक्ति, व्यापिका, रोधिनी, समना, उन्मना आदि नव चक्रोंमें श्रीके उपर्युक्त नव चक्रोंकी ऐक्य-भावना करना उत्तम है। इसीको सकल-निष्कल-भावना कहते हैं। तृतीय श्रेणीके उपासकको श्रीयन्त्रके सामान्य विवेचनमें कथित शरीर-चक्रोंके साथ ऐक्यभावना करनी चाहिये। यही सकल-भावना है। इस भावनाभेदसे अधिकारी भी विज्ञानकेवल, शुद्ध, अशुद्ध, तीन प्रकारके होते हैं।

अब समस्त चक्रोंकी एक महाविन्दुमें अन्तर्भाव-प्रक्रियाका दिग्दर्शन कराते हैं। जिस प्रकार एक विन्दुमें ही श्रीचक्रान्तर्गत नवों चक्रोंका अन्तर्भाव है वैसे ही एक ही सहस्रारात्मविन्दुमें शरीरस्थ षट्चक्रोंका भी अन्तर्भाव है। विन्दु मूलाधार आदि चक्रोंकी समष्टि, जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और संहारका कारण, शिवकी शक्तिविशेष है। वह एक होती हुई भी सहस्रदलकमलके मध्य चार द्वारोंसे बनी कर्णिकाके बीचमें चतुष्कोणात्मक शक्ति-तत्त्वके रूपमें स्थित है। उसके मध्यमें नादरूप शिव-तत्त्व है। वह भी चार प्रकारका है। शिव-शक्ति दोनों शब्दार्थरूप होनेके कारण कलात्मक हैं। नाद-कलाका मिश्रणरूप अतिरिक्त पदार्थ माना जाता है। यह विन्दु पुनः दशधा विभक्त होता है—

दशधा भिद्यते विन्दुरेक एव परात्मकः।
चतुर्धाधारकमले षोढाधिष्ठानपङ्कजे॥
उभयाकाररूपत्वादितरेषां तदात्मना॥

सारांश यह है कि एक ही विन्दु चतुर्दल मूलाधार-चक्रमें मन, बुद्धि, अहङ्कार (चित्त), प्रकृति-भेदसे चार प्रकारका बन जाता है। तथा षड्दल स्वाधिष्ठानमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य या मायादि षट्कञ्चुकरूपमें वह छः प्रकारका हो जाता है। ये दस विन्दु ही संसार-कारण-विन्दु हैं। ये शरीरस्थ दो चक्र ही उपर्युक्त दश-विन्दुरूप हो जाते हैं। इसके आगे इन दोनों प्रकारके कमलोंका मिश्रण नाभिप्रदेशके दशदल मणिपूरक नामक चक्रमें होता है। उसके और आगे हृदय-प्रदेशमें द्वादश-दल अनाहतचक्र है। यह मणिपूरके दशदल तथा उसके मूलभूत दो दलोंसे मिलकर बनता है। अतः मणिपूर ही अनाहतकी प्रकृति हुआ। कण्ठप्रदेशमें षोडशदल विशुद्धिचक्र है। मणिपूरके द्वादशदल तथा मूलाधारके चार दल मिलकर ही विशुद्धिके षोडशदल बनते हैं। भ्रूमध्यमें आज्ञाचक्र, मूलाधार और स्वाधिष्ठान प्राकृतिक होनेसे द्विदल-चक्र होता है। इस प्रकार मणिपूर, विशुद्धि, अनाहत, आज्ञा—ये चारों चक्र मूलाधार और स्वाधिष्ठानसे उद्भूत होनेके कारण इन दोनोंके अन्तर्भूत हैं और ये दोनों चक्र सहस्रारात्मक विन्दु-भेद होनेके कारण सहस्रारके ही अन्तर्भूत हैं—इस प्रकार सब चक्रोंका ऐक्य हो जाता है और एक ही विन्दु दशधा होकर सर्वमय हो जाता है।

श्रीयन्त्रका लेखन-प्रकार

कुलाचार, समयाचार, सम्प्रदाय तथा आचार्य-भेदसे श्रीयन्त्र-लेखनके नाना प्रकार आगम-शास्त्रोंमें तथा साधकोंमें उपलब्ध होते हैं। विस्तारभयसे यहाँ केवल लेखनप्रणालीका

॥ श्रीयन्त्रम् ॥
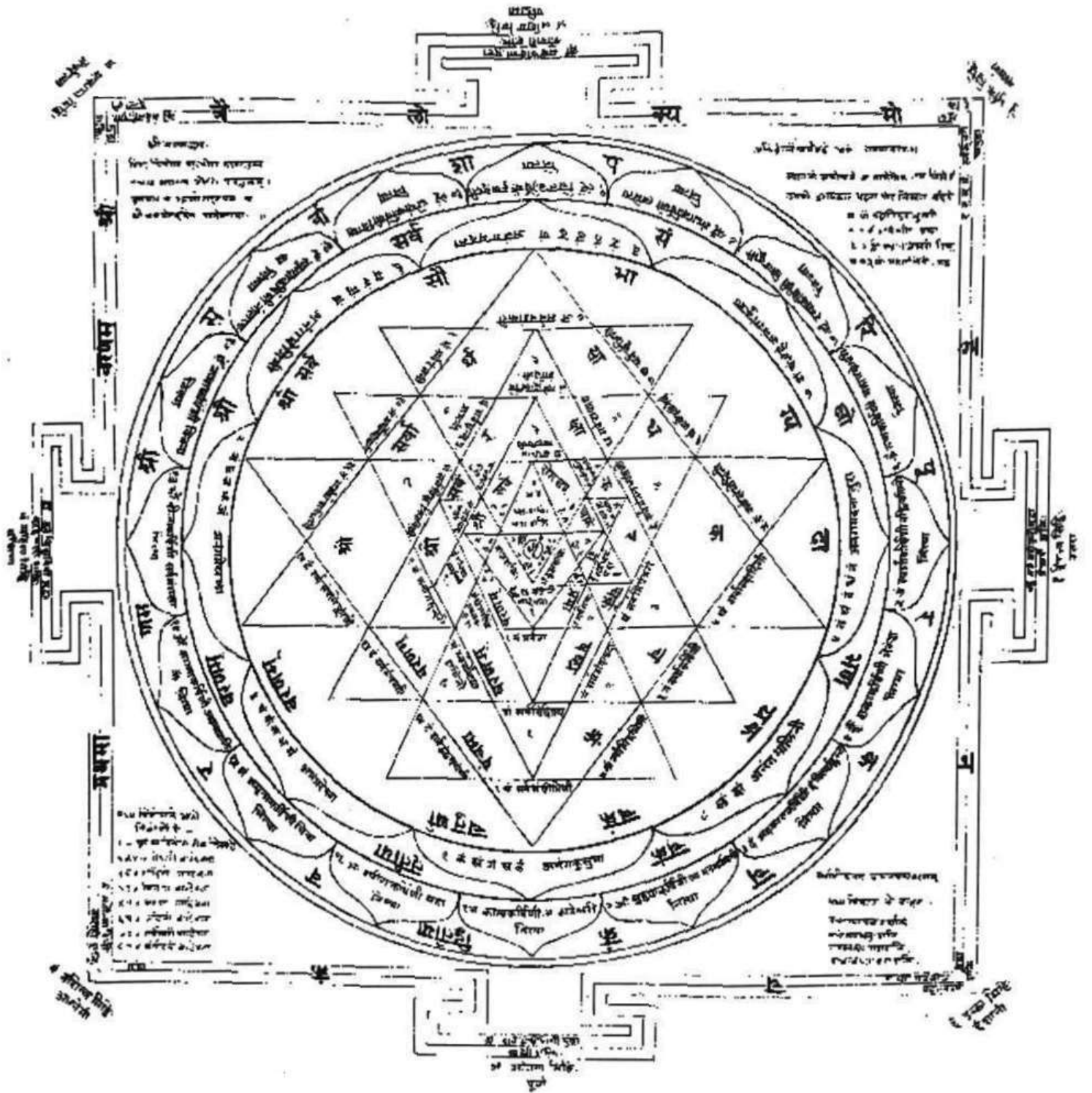
उपयोगी स्वरूपमात्र दिखलाया जाता है। श्रीयन्त्र विन्दु, त्रिकोण, अष्टार, अन्तर्दशार, बहिर्दशार, चतुर्दशार, अष्टदलपद्म, षोडशदलपद्म और चतुरस्र—इन नव चक्रोंसे बनता है[१]। कोई-कोई आचार्य षोडशदलपद्मके अनन्तर वृत्तत्रयको भी अतिरिक्त चक्र मानते[२] हैं। उनके मतसे विन्दु सर्वव्यापक चक्र है, अतः वे उसकी गणना नव चक्रोंमें नहीं करते। बहुत-से आचार्य तथा आधुनिक साधक चतुर्दशारके अनन्तर एक मर्यादा-वृत्त और अष्टदलकर्णिकाके लिये एक वृत्त तथा अष्टदलके बाद भी षोडशदलकर्णिका, तदनन्तर मर्यादा-वृत्त—इस प्रकार वृत्तत्रय बनाते हैं। कोई-कोई मर्यादा-वृत्त न देकर केवल कर्णिका-वृत्त ही देते हैं। और षोडशदलके अनन्तर अतिरिक्त वृत्तत्रय देते हैं। कुछ उपासक वृत्त देते ही नहीं। इसी प्रकारका मतभेद चतुरस्रके विषयमें भी पाया जाता है। कोई एकरेखात्मक चार द्वारयुक्त चतुरस्र मानते हैं, कोई तत्तद् दिशाओंमें विभिन्न संख्याओंसे दो द्वारयुक्त चतुरस्र लिखते हैं। कोई-कोई चार रेखाओंका चतुर्द्वार तथा द्वादशद्वार भी लिखते हैं। अधिकतर त्रिरेखात्मक चतुर्द्वारयुक्त चतुरस्र ही पाया जाता है। अस्तु, बिन्दुसे चतुर्दशारतक ही प्रधान यन्त्र माना जाता है, क्योंकि यथार्थ श्रीयन्त्र शिवशक्तिका सम्पुटस्वरूप है[३]। चतुर्दशारतक ही नवों चक्रोंका अन्तर्भाव है। इनमें त्रिकोण, अष्टकोण, अन्तर्दशार, बहिर्दशार और चतुरस्र—ये पाँच शक्तिचक्र[४] हैं और विन्दु, अष्टदल, षोडशदल और चतुरस्र—ये चार शिवचक्र[५] उन पाँचोंके अन्तर्भूत हैं। अर्थात् त्रिकोणमें विन्दु, अष्टारमें अष्टदल, दोनों दशारमें षोडशार तथा चतुर्दशारमें चतुरस्र अन्तर्भूत[६] है।

इस प्रकार इसमें शिव-शक्तिका पारस्परिक अविनाभावरूप सम्मिश्रण है[७]। इस अविनाभावको जाननेवाला ही चक्रज्ञ कहलाता है। भैरवयामलमें भी लिखा है—

न शिवेन विना शक्तिः शिवोऽपि न तया विना।

इससे स्पष्ट है कि शिव-शक्तिका पृथक् रहना सङ्गत भी नहीं है। अतः शिवचक्रोंको चतुर्दशारके बाहर लिखना केवल शिष्य-बुद्धि-विकासके लिये है। इसलिये चतुर्दशारतक ही प्रधान यन्त्रकी सीमा है, यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

अब वामकेश्वर-तन्त्रके आधारपर जो प्रायः सर्वत्र प्रचलित है, लेखन-प्रकारका दिग्दर्शन करानेके लिये सर्वप्रथम तदुपयोगिनी परिभाषाओंका उल्लेख किया जाता है—

दिशा—'यदाशाभिमुखो मन्त्री' के अनुसार जिस दिशाकी ओर मुँह करके साधक यन्त्र लिखे उसे पूर्व समझना चाहिये और शेष दिशाओंकी कल्पना भी उसीसे कर लेनी चाहिये। जैसे—
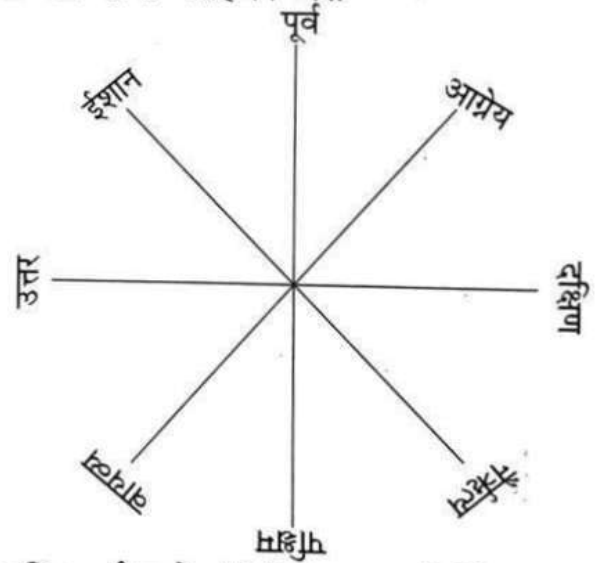
शक्ति—ईशानसे अग्निकोणतक एक सीधी रेखा खींचकर दोनों कोणोंसे दो आड़ी रेखाएँ खींचकर पश्चिममें जोड़ दे। इससे जो अपने सम्मुख अधोमुख त्रिकोण बनेगा वह

१—चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः।
चतुश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाश्रत्रिवलयत्रिरेखाभिः सार्धं तव शरणकोणाः परिणताः॥ (सौन्दर्यलहरी ५१)

२—विन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्ममन्वस्रनागदलसंयुतषोडशारम्।
वृत्तत्रयञ्च धरणीसदनत्रयञ्च श्रीचक्रराजमुदितं परदेवतायाः॥ (यामल)

३—चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः। नवचक्रैश्च संसिद्धं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः॥ (भैरवयामल)

४—त्रिकोणमष्टकोणञ्च दशकोणद्वयं तथा। चतुर्दशारञ्चैतानि शक्तिचक्राणि पञ्च च॥

५—विन्दुश्चाष्टदलं पद्मं पद्मं षोडशपत्रकम्। चतुरस्रञ्च चत्वारि शिवचक्राण्यनुक्रमात्॥

६—त्रिकोणे वैन्दवं श्लिष्टमष्टारेऽष्टदलाम्बुजम्। दशारयोः षोडशारं भूगृहं भुवनास्रके॥

७—शैवानामपि शाक्तानाञ्चक्राणाञ्च परस्परम्। अविनाभावसम्बन्धं यो जानाति स चक्रवित्॥

शक्ति-त्रिकोण[१] कहलाता है। इसीको शक्ति, पार्वती, योनि आदि शब्दोंसे व्यक्त किया जाता है। जैसे—
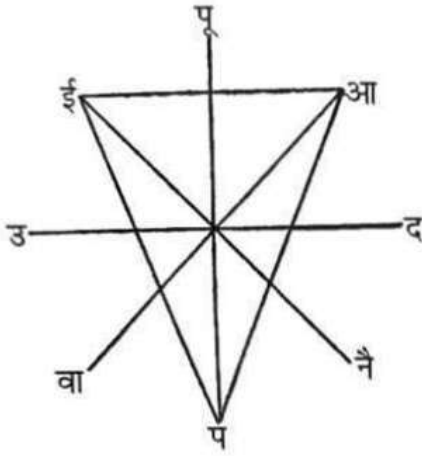
शिव—वायव्यसे नैर्ऋत्यकोणतक एक सीधी रेखा खींचकर, इन दोनों कोणोंसे दो रेखाएँ ऊपरकी ओर ले जाकर पूर्व-दिशामें मिला देनेसे जो ऊर्ध्वमुख-त्रिकोण[२] बनता है, उसे शिव या वह्नि अथवा इनके पर्याय महेश्वर, अग्नि आदि शब्दोंसे व्यक्त किया जाता है। जैसे—
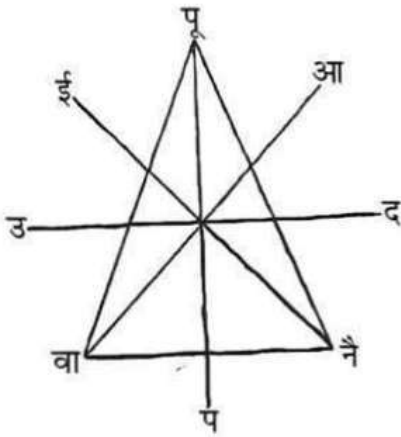
इस प्रकार शक्तिके तीन कोण ईशान, आग्नेय और पश्चिम तथा शिवके तीन कोण वायव्य, नैर्ऋत्य और पूर्वकोणके नामसे ख्यात हैं।

पार्श्वरेखा—वाम और दक्षिण आड़ी रेखाएँ पार्श्वरेखा कहलाती हैं। कहीं-कहीं इनको ऊर्ध्व और अधोरेखा भी कहते हैं।

तिर्यक्‌रेखा—ईशानसे आग्नेयतक और वायव्यसे नैर्ऋत्यतक खींची हुई रेखाएँ तिर्यक् रेखाएँ कहलाती हैं। इन्हें पूर्व-रेखा और पश्चिम-रेखा भी कहते हैं।

भेदन—एक रेखाके ऊपर दूसरी रेखाका आ जाना 'भेदन' कहलाता है।

सन्धि—भेदन करनेवाली दोनों रेखाओंके संयोगको 'सन्धि' कहते हैं।

मर्म—भेदन करनेवाली तीन रेखाओंके संयोगको मर्म कहते हैं।

ग्रन्थि—मर्म और सन्धिको ग्रन्थि कहते हैं।

डमरू—शक्तिके पश्चिम-कोण तथा वह्निके पूर्व-कोणके मिलनेसे बनता है।

वृत्त—चन्द्राकार रेखाको 'वृत्त' कहते हैं।

परिवेष—चतुरस्त्र रेखाको कहते हैं।

भूपुर—त्रिरेखात्मक वृत्तको कहते हैं।

यहाँतक परिभाषा-प्रकरण हुआ, अब लेखन-प्रकार आरम्भ किया जाता है। सर्वप्रथम शक्ति-त्रिकोण बनाकर उसको मध्य-भागमें उत्तरसे दक्षिणकी ओर एक तिर्यक्‌रेखासे भेदन करे। इस तिर्यक्‌रेखाके दोनों सिरोंसे दो पार्श्व-रेखाएँ खींचकर प्रथम शक्तिके पश्चिम कोणके पश्चिमकी ओर मिला दे।
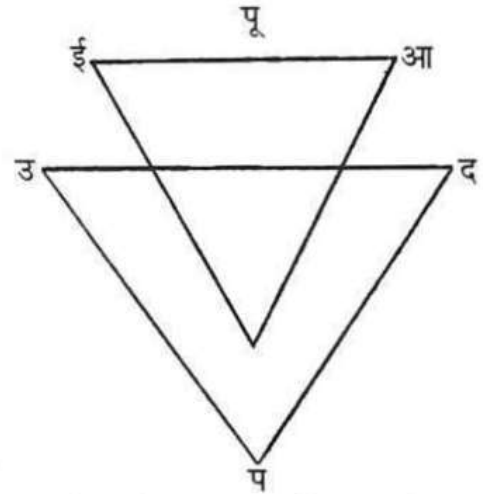
यह दूसरी शक्ति बन गयी। यद्यपि इस क्रममें बिन्दु-लेखन नहीं आया तथापि पूजा-क्रमके अनुसार प्रथम शक्तिके भेदनसे बने हुए त्रिकोणके मध्यमें बिन्दु रख देना चाहिये। तदनन्तर प्रथम शक्तिकी तिर्यक्‌रेखाके मध्यभागसे कुछ ऊपर पूर्वकी ओरसे दोनों भागोंमें सन्धि तथा मर्म बनाती हुई दो पार्श्व-रेखाएँ खींचे। इसी प्रकार प्रथम शक्तिके पश्चिम कोणको पश्चिम ओरसे स्पर्श करती

१—ईशानादग्निपर्यन्तामृजुरेखां समालिखेत्। ईशादग्रेस्तदग्राभ्यां रेखे आकृष्य देशिकः॥
एकीकुर्याच्च वारुण्यां शक्तिरेखामतः प्रिये। त्रिकोणाकाररेखेयम्.................... ॥ (ज्ञानार्णव)

२—रेखां कृत्वा महेशानि वायुराक्षसकोणगाम्। रेखे आकृष्य कोणाभ्यां तदग्रात् पूर्वगे कुरु॥
वह्निमण्डलमेतत्तु पूर्वाग्रं वीरवन्दिते॥ (ज्ञानार्णव)

हुई वायव्यसे नैर्ऋत्यकी ओर एक तिर्यक्‌रेखा खींचे और उन पार्श्वरेखाओंको इसके दोनों सिरोंमें जोड़ दे। यह प्रथम वह्नि बन गया।
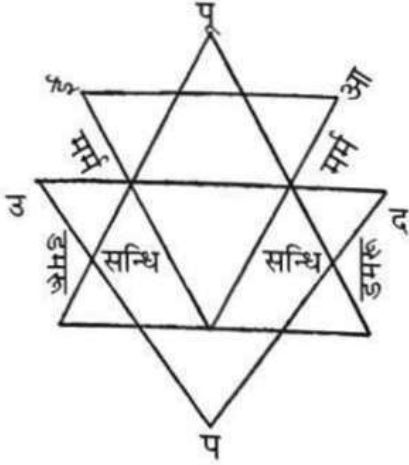
इस प्रकार आठों दिशाओंमें आठ त्रिकोणोंसे अष्टार और मध्यमें एक त्रिकोण और उसके मध्यमें बिन्दु होनेसे बिन्दु, कोण तथा अष्टार—तीन यन्त्र बन गये। इन तीन यन्त्रोंसे बना हुआ यह चक्र नवयोनिचक्रके नामसे भी विख्यात है। इसमें नौ त्रिकोण, छः सन्धि, दो मर्म और दो डमरू हैं। प्रथम शक्तिकी वाम एवं दक्षिण-रेखाओंसे वह्निकी पार्श्व-रेखाओंका दोनों दिशाओंमें संयोग होनेसे और पुनः द्वितीय शक्तिकी तिर्यक्-रेखाके द्वारा भेदन होनेसे उत्तर-दक्षिण मर्म बन गये। इसी प्रकार सन्धि और डमरूकी प्रक्रिया समझनी चाहिये।

अब अन्तर्दशारकी विधि बतलायी जाती है। उपर्युक्त नवयोन्यात्मक चक्रमें पहली शक्तिकी तिर्यक्‌रेखाको दोनों सिरोंकी ओर कुछ बढ़ावे और उस बढ़ी हुई रेखाके दोनों सिरोंसे दो पार्श्व-रेखा दूसरी शक्तिके पश्चिम कोणसे कुछ पश्चिममें जोड़ दे। यह तीसरी शक्ति बन गयी। इस तीसरी शक्तिके भीतर पूर्व-त्रिकोणको छोड़कर सारा यन्त्र आ जाता है। जैसे—
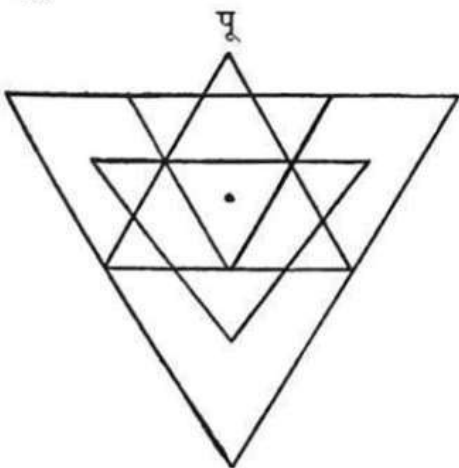
अब प्रथम वह्निकी तिर्यक्‌रेखाको उसी प्रकार दोनों ओर बढ़ावे और उस बढ़ी हुई रेखाके दोनों सिरोंसे दो पार्श्व-रेखाएँ खींचकर प्रथम वह्निके पूर्व-कोणके कुछ पूर्वकी ओर ले जाकर मिला दे। इस प्रकार दूसरा वह्नि त्रिकोण बन गया। जैसे—
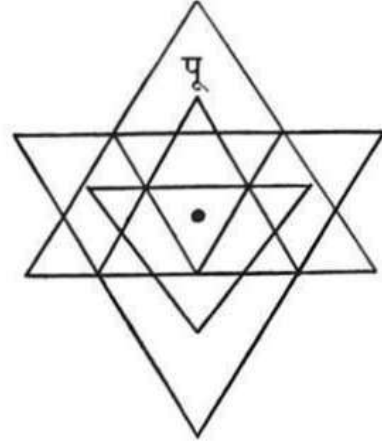
इस चक्रमें छः कोण और बढ़ गये, तीसरी शक्ति और दूसरे वह्निके संयोगसे दोनों पार्श्वोंमें दो डमरू बन गये। इसी प्रकार सन्धि और मर्म आदि भी समझ लेने चाहिये। पुनः प्रथम शक्तिकी पार्श्व-रेखाओंको क्रमशः ईशान और आग्नेय कोणमें ऊपर प्रथम वह्निके पूर्व-कोणतक बढ़ाकर प्रथम वह्निके पूर्व कोणको स्पर्श करती हुई तिर्यक्-रेखासे उक्त पार्श्व-रेखाओंके सिरोंको जोड़ दे। इसी प्रकार प्रथम वह्निकी दोनों पार्श्व-रेखाओंको वायव्य तथा नैर्ऋत्य-कोणमें द्वितीय शक्तिके पश्चिम-कोणतक बढ़ाकर इसी कोणको स्पर्श करती हुई तिर्यक्‌रेखासे बढ़ी हुई पार्श्व-रेखाओंके सिरोंको जोड़ दे। इस प्रकार चार कोण और बढ़ जानेसे अन्तर्दशार बन जाता है। जैसे—
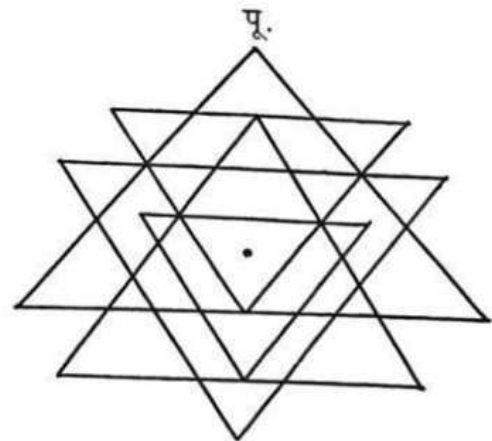
अब बहिर्दशारकी विधि लिखते हैं—प्रथम वह्नि और द्वितीय वह्निकी मध्यवर्तिनी आद्य-शक्तिकी पूर्व-दिशामें स्थित तिर्यक्‌रेखाके दोनों कोणोंको (अन्तर्दशारके

द्वितीय और दशम कोणको) क्रमशः ईशान और आग्नेयकी ओर बढ़ाकर ईशान-आग्नेय कोण बनाती हुई दो पार्श्व-रेखाएँ नीचेकी ओर खींचकर तृतीय शक्तिके पश्चिम कोणसे कुछ पश्चिमकी ओर ले जाकर मिला दे। यह बहिर्दशार बनानेवाली चतुर्थ शक्ति बन गयी। तदनन्तर प्रथम वह्निकी पश्चिम रेखाके दोनों कोणोंको (अर्थात् अन्तर्दशारके पाँचवें और सातवें कोणोंको) उत्तर-दक्षिणकी ओर बढ़ाकर, उत्तर-दक्षिण कोण बनाती हुई, उसके दोनों सिरोंसे दो पार्श्व-रेखाएँ चतुर्थ शक्तिकी दोनों पार्श्व-रेखाओंको भेदन करती हुई द्वितीय वह्निके पूर्व-कोणसे पूर्वकी ओर ले जाकर मिला दे। यह बहिर्दशारका घटक तृतीय वह्नि बन गया। इस प्रकार अन्तर्दशारके ऊपर ऐसा षट्कोण बन गया। तदनन्तर आद्य-शक्तिकी वाम और दक्षिण-रेखाओंको ईशान और अग्निकोणकी ओर द्वितीय वह्निके पूर्व-कोणके बराबरतक बढ़ाकर उनके सिरोंको द्वितीय वह्निके पूर्व-कोणको स्पर्श करती हुई तिर्यक्-रेखासे जोड़ दे तथा आद्य वह्निकी दोनों पार्श्व-रेखाओंको क्रमशः नीचे वायव्य-नैर्ऋत्यकोणकी ओर तृतीय शक्तिके पश्चिम-कोणके बराबरतक बढ़ाकर उक्त कोणको स्पर्श करती हुई एक तिर्यक्-रेखा खींचकर उसके द्वारा उक्त पार्श्व-रेखाओंके सिरोंको जोड़ दे। इस प्रकार बहिर्दशार बन गया। जैसे—
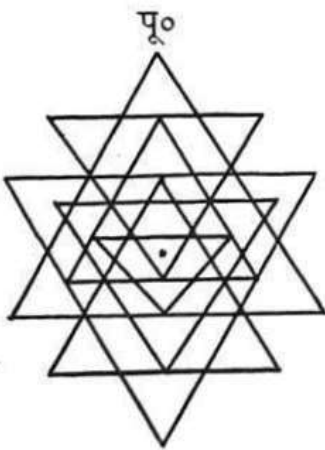
अब चतुर्दशार लिखनेकी विधि बतलायी जाती है। चतुर्थ शक्तिकी पूर्वकी पूर्व-दिशामें स्थित तिर्यक्रेखाको (अर्थात् बहिर्दशारके तीसरे और नवम कोणको) क्रमशः उत्तर-दक्षिणकी ओर बढ़ाकर उस बढ़ी हुई रेखाके दोनों सिरोंसे दो पार्श्व-रेखाएँ नीचेकी ओर खींचकर चतुर्थ शक्तिके पश्चिम-कोणसे पश्चिममें ले जाकर मिला दे। यह चतुर्दशार बनानेवाली पञ्चम शक्ति बन गयी। इसी प्रकार तृतीय वह्निकी पश्चिम दिशामें स्थित तिर्यक्-रेखाके दोनों कोणों (अर्थात् बहिर्दशारके चौथे, आठवें कोणों)-को क्रमशः वायव्य-नैर्ऋत्यकी ओर बढ़ाकर बढ़ी हुई रेखाके दोनों अग्र-कोणोंसे पूर्वकी ओर दो पार्श्वरेखाएँ पञ्चम शक्तिकी पार्श्व-रेखाओंको भेदन करती हुई खींचकर तृतीय वह्निके पूर्वकोणके पूर्वमें ले जाकर मिला दे। यह चतुर्थ वह्नि बन गया। इस पञ्चम शक्ति और चतुर्थ वह्निके योगसे चतुर्दशारका सम्पादक षट्कोण बन गया। तदनन्तर चतुर्थ शक्तिकी पार्श्व-रेखाओंको क्रमशः ईशान-आग्नेयकी ओर बढ़ावे और इसी प्रकार आद्य-शक्तिकी पूर्व-रेखाके दोनों सिरोंको क्रमशः ईशान-आग्नेयकी ओर बढ़ाकर चतुर्थ शक्तिकी पार्श्वरेखाओंके सिरोंसे जोड़ दे। पुनः आद्यशक्तिकी दोनों पार्श्व-रेखाओंको यहाँतक बढ़ावे कि वे चतुर्थ वह्निकी पार्श्व-रेखाओंको भेदन करती हुई तृतीय वह्निके पूर्वकोणके बराबर पहुँच जायँ। फिर उक्त कोणको स्पर्श करती हुई एक पूर्व-रेखा खींचकर उससे इन पार्श्व-रेखाओंके सिरोंको जोड़ दे। इस प्रकार चक्रके पूर्वभागमें चार कोण और बढ़ जाते हैं। तदनन्तर तृतीय वह्निकी पार्श्वरेखाओंको क्रमशः वायव्य-नैर्ऋत्यकी ओर बढ़ावे और आद्यवह्निकी पश्चिम रेखाके दोनों कोणोंको क्रमशः वायव्य-नैर्ऋत्यकी ओर बढ़ाकर उक्त पार्श्व-रेखाओंको इस रेखासे मिला दे। इसी प्रकार आद्य-वह्निकी पार्श्व-रेखाओंको क्रमशः वायव्य-नैर्ऋत्यकी ओर चतुर्थ शक्तिके पश्चिम कोणके बराबरतक बढ़ावे और इस कोणको स्पर्श करती हुई एक पश्चिम-रेखा खींचकर उससे उक्त रेखाओंके सिरोंको मिला दे। इस प्रकार चतुर्दशार बन जाता है। जैसे—
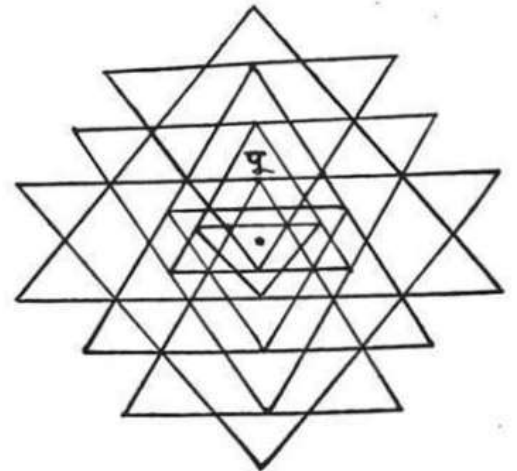
अब इसके बाह्य भागमें शिव-चक्र-लेखनकी विधि

॥ हादिविद्यायुतं श्रीचक्रम् ॥
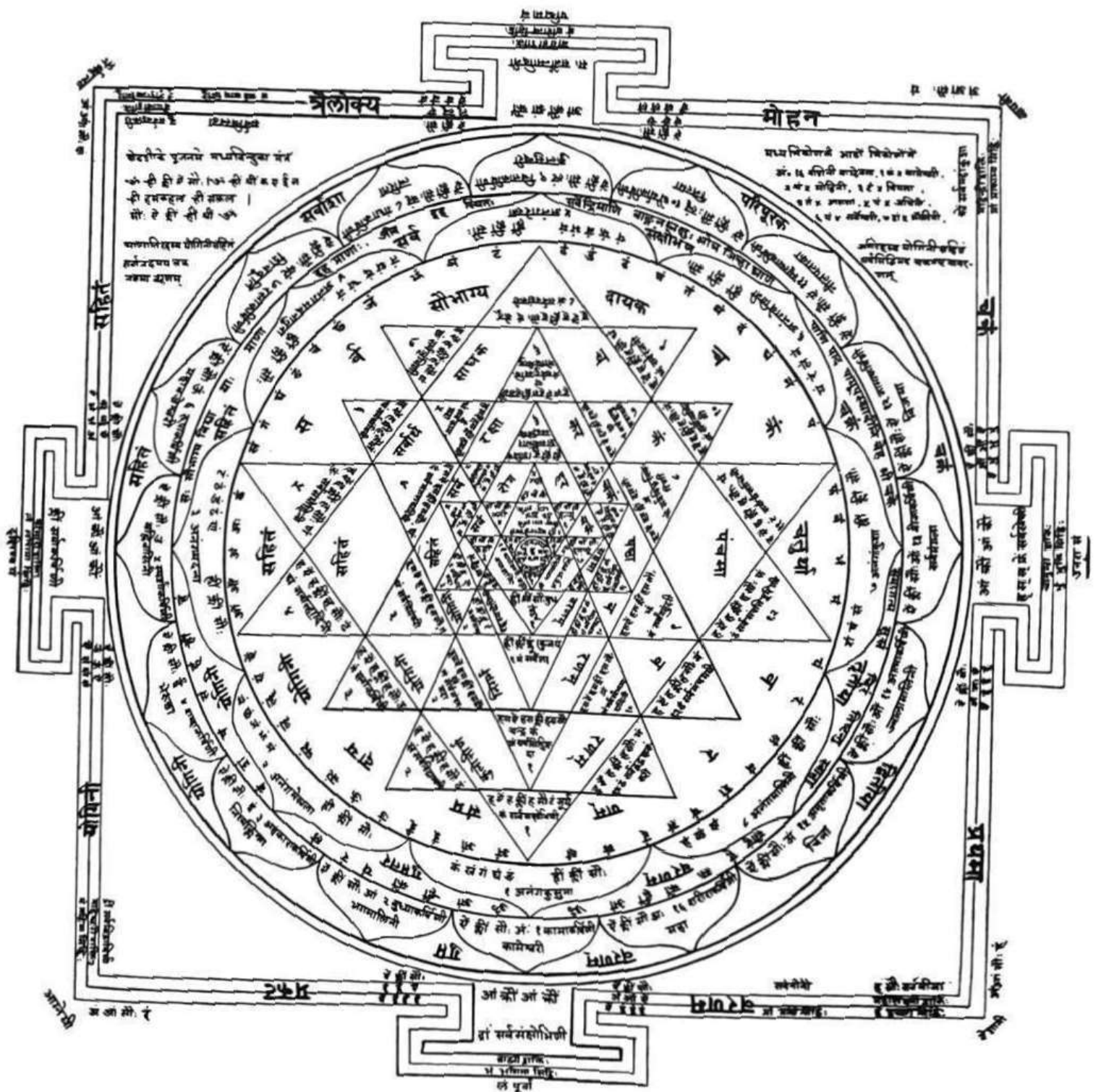
लिखते हैं। पूर्व लिखे अनुसार मर्यादावृत्त और कर्णिकावृत्त बनाकर अथवा न बनाकर इस सम्पूर्ण चक्रको सोलह भागोंमें विभाजित करे और फिर एक-एकके अन्तरसे अष्टदल-कमल बनावे। तदनन्तर मतान्तरसे कर्णिकावृत्त बनाकर इसके बत्तीस भाग करके एक-एक भागके अन्तरसे षोडशदल कमल बनावे। इसके बाद मतान्तरसे मर्यादावृत्त या वृत्तत्रय देकर भूपुरके लिये चार द्वारसहित या मतभेदसे बिना द्वार एक रेखा, तीन रेखा या चार रेखा खींचे। इस प्रकार सम्पूर्ण श्रीयन्त्र बन जाता है।

उपर्युक्त लेखनविधिको कोई-कोई आचार्य सृष्टि-क्रमका लेखन कहते हैं। समयाचार-मतवाले सृष्टि-क्रमसे लिखित श्रीयन्त्रको ही पूज्य मानते हैं। इससे ज्ञात होता है कि कुलाचारमें लिखनेकी विधि संहार-क्रमसे ही है। इसका उल्लेख श्रीभगवच्छङ्कराचार्यप्रणीत सौन्दर्यलहरीके ग्यारहवें श्लोकके व्याख्यानमें श्रीलक्ष्मीधरने किया है। संहार-क्रमके अनुसार वृत्तसे प्रारम्भ करके विन्दुपर समाप्त किया जाता है। परन्तु जिस क्रमका सङ्केत श्रीलक्ष्मीधरने किया है तथा जो क्रम इस लेखमें वामकेश्वरतन्त्रके अनुसार दिखलाया गया है—इन दोनोंमें प्रथम त्रिकोणका नियत परिमाण ज्ञात न होनेसे मर्म-सन्धिका ठीक-ठीक निर्माण नहीं हो सकता। जिनका यथोचित समावेश होना परमावश्यक है। इसमें व्यतिक्रम होनेसे प्रायश्चित्त लिखा है*। इसलिये दूसरा प्रकार जिसे संहार-चक्र भी कहते हैं, सप्रमाण साधकोंकी सुविधाके लिये लिखा जाता है। आचार्योंका मत है कि समयाचारी सृष्टिक्रम तथा कुलाचारी संहार-क्रम दोनोंमें लिखितका ही पूजन करना चाहिये। उपासक अपने पूजासनके सम्मुख पूर्वकी ओर आवश्यक पात्रादिके स्थापनके लिये हाथभर भूमि छोड़कर हस्तप्रमाण या यथेच्छ वेदी बनावे। अथवा स्वर्णादिनिर्मित पट्ट रखकर उसमें श्रीयन्त्रकी रचना करे। वेदीका मध्यभाग समतल बनाकर ठीक मध्यमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर एक सीधी आड़ी रेखा (ब्रह्मसूत्र) बनावे। इस सूत्रको बहत्तर भागोंमें बाँट दे। पूर्व और पश्चिम दोनों ओर एक-एक किनारे क्रमशः साढ़े बारह-बारह अंश (भाग) छोड़कर ऐसा वृत्त खींचे जिसके मध्यमें पूर्वसे पश्चिम दोनों ओर साढ़े बाईस-बाईस अंश हों। अर्थात् मध्यभाग कुल मिलाकर पैंतालीस अंश हो। इस वृत्तके बाहरी भागमें दोनों ओर साढ़े चार-चार अंशोंमें कर्णिकासहित अष्टदल तथा पाँच-पाँच अंशोंमें कर्णिकासहित षोडशदल एवं अवशिष्ट चार-चार अंशोंमें मर्यादावृत्त देकर चतुरस्र (भूपुर) बनावे।

अब वृत्तके मध्यभागमें विन्दुसे लेकर चतुर्दशारतक बनानेके लिये इस वृत्तके बीचमें भी एक ब्रह्मसूत्र देकर उसे अड़तालीस भागोंमें बाँट दें। इस ब्रह्मसूत्रके भागोंके आधारपर पूर्वसे पश्चिमकी ओर क्रमशः छः, छः, पाँच, पाँच, तीन, तीन, तीन, तीन, छः-छः भागोंके अन्तरसे नौ तिर्यक् रेखाएँ खींचे। इससे छठे भागमें मर्यादावृत्त होगा। इन सब रेखाओंका समान आयाम अभीष्ट नहीं है, इसलिये विभिन्न मानसे विभिन्न रेखाओंके दोनों सिरोंको बराबर मिटा दे। मिटानेका मान इस प्रकार है—प्रथम, नवम सूत्रके दोनों ओर पाँच-पाँच अंश मिटावे; तीसरी, सातवीं रेखाको वृत्ततक ही रहने दे तथा चौथी, छठी रेखाको दोनों ओर सोलह-सोलह अंश मिटावे। एवं पञ्चम रेखाको दोनों ओरसे अठारह-अठारह अंश मिटावे।

अब उपर्युक्त रेखाओंके परस्पर संयोगसे त्रिकोण बनानेकी विधि लिखते हैं। इस क्रममें रेखाओंकी गणना पश्चिमकी ओरसे करनी चाहिये, अर्थात् बनानेमें जो रेखा नवम थी उसे त्रिकोण-विधि और मार्जन-विधिमें प्रथम, तथा प्रथमको नवम समझनी चाहिये। तृतीय रेखाके वृत्तसे सटे हुए दोनों कोणोंसे पूर्वकी ओर दो पार्श्वरेखाएँ खींचकर वृत्ततक पहुँचे हुए ब्रह्मसूत्रमें उन्हें त्रिकोण बनाता हुआ मिला दे। पुनः सप्तम सूत्रके वृत्तसे लगे हुए दोनों कोणोंसे दो पार्श्वरेखाएँ पश्चिम ओर ले जाकर वृत्तमें ब्रह्मसूत्रसे मिलावे। इससे षट्कोण बन जायगा।

पुनः प्रथम पश्चिम रेखाके मध्यसे दो पार्श्वरेखाएँ खींचकर अष्टम रेखाके दोनों अग्रकोणोंमें जोड़ दे, इस प्रकार इन दोनों रेखाओंसे पूर्वरचित षट्कोणके पश्चिम

---

* षड्रेखासन्धिमर्माख्यं सन्ध्याख्यं द्वयसङ्गमात्। तच्चतुर्विंशतियुतं चक्रं सर्वार्थसिद्धिदम्॥
अन्यथा भिन्नमर्यादायुतचक्रसमर्चनात्। शस्त्राद्वधं महाव्याधिं दारिद्र्यमयशो मृतिम्॥
तस्माल्लक्षणसंयुक्तमुक्तरूपं विधाय वै। चक्रं तत्रैव तां नित्यमर्चयन् मत्समो भवेत्॥

भागमें पूर्वकी ओर दो मर्मस्थान बन जायँगे। तदनन्तर नवम रेखाके मध्यसे दो पार्श्वरेखाएँ पश्चिमकी ओर खींचकर द्वितीय रेखाके दोनों कोणोंसे मिला दे। इससे षट्कोणके पश्चिम भागमें दो मर्म और बन जायँगे।

पुनः नवम रेखाके दोनों अग्रकोणोंसे दो पार्श्वरेखाएँ पश्चिमकी ओर ले जाकर चतुर्थ रेखाके मध्यमें मिला दे। इन दोनों रेखाओंको खींचते समय ध्यान रखना चाहिये कि सप्तम, अष्टम तिर्यक्रेखाके सन्धिस्थानोंका भेदन होनेसे चार मर्म-स्थान बनने चाहिये। पुनः सप्तम सूत्रके मध्यसे पश्चिमकी ओर दोनों पार्श्वमें दो-दो मर्म बनाती हुई दो आड़ी रेखाएँ खींचकर प्रथम पश्चिम रेखाके दोनों कोणोंसे जोड़ दे। इससे भी चार मर्म और बन जायँगे। पुनः अष्टम तिर्यक्रेखाके मध्यसे दो पार्श्वरेखाएँ पश्चिम ओर खींचकर चतुर्थ तिर्यक्रेखाके दोनों कोणोंसे मिला दे। फिर छठी तिर्यक् रेखाके दोनों अग्रभागोंसे दो पार्श्वरेखाएँ पश्चिम और द्वितीय रेखाके मध्यमें त्रिकोणके रूपमें मिला दे। तथा पञ्चम तिर्यक्रेखाके दोनों अग्रकोणोंसे दो पार्श्वरेखाएँ पश्चिमकी ओर खींचकर सप्तम तिर्यक्रेखाके मध्यमें त्रिकोणके रूपमें मिलावे। अन्तमें ब्रह्मसूत्रको मिटा दे। इससे चतुर्दशारपर्यन्त श्रीयन्त्र बन जायगा। तदनन्तर अष्टदल आदि तीनों चक्रोंका पूर्ववत् निर्माण करे।

मातेश्वरी ब्रह्मविद्याके पुजारी

(लेखक—स्वामी श्रीनित्यानन्दजी भारती)

भगवती मातेश्वरी 'उमा' ने मर्त्यलोकके मनुष्योंका उद्धार करनेका सङ्कल्प किया। वह ऐसे स्थानपर जा बैठी जहाँ पहुँचना सर्वसाधारणकी शक्तिसे परे है। उसका ऐसा करनेका उद्देश्य अपने पुत्रोंकी परीक्षा लेना था, यह सिद्ध करना था कि माता क्यों प्यारी होती है और कौन पुत्र है जो सर्वस्व त्यागकर माताको रिझाने और उसका आशीर्वाद प्राप्त करनेका अभिलाषी है? उपनिषद्में भी इस उपाख्यानको स्थान दिया गया है, वहाँ स्पष्ट है कि 'उमादेवी' ब्रह्मविद्या ही थी और उसीके समझानेपर उत्कृष्ट जिज्ञासुको ब्रह्मज्ञान हुआ था। वास्तवमें ब्रह्मविद्या ही माता है, क्योंकि इसी मातासे हमको अपने पिताका पूरा-पूरा पता लग सकता है। आज भी यह माता बड़े ऊँचे शिखरपर बैठी है और अनेकों मत-मतान्तरों, भाषाओं और जातियोंके मनुष्योंसे परिपूजित हो रही है। आओ, हम भी प्यारी माताके पास चलें और उसको प्रसन्न करें, जिससे हमें भी जगत्पिता परमेश्वरका हाँ, अपने सच्चे पिताका पूरा और सच्चा पता लग सके। आओ, उस मार्गको खोजें जिसका आश्रय लेकर मातेश्वरीके भवनतक पहुँचा जा सकता है। भगवद्भक्तोंका मार्ग पकड़ो और सरपट चले चलो। वह देखो! कैसा ज्योतिर्मय शुभ्र भवन है। भगवती जगदम्बाके कैसे-कैसे पुजारी खड़े हैं, माताको रिझा रहे हैं—मना रहे हैं। कोई चैनकी वंशी बजा रहे हैं, कोई दुःखकी कथा सुना रहे हैं और कोई आनन्दसागरमें डुबकी लगा रहे हैं। वह देखो, ब्रह्मविद्याके ज्योतिर्मय शुभ्र भवनमें कैसी-कैसी अलौकिक, दिव्य और भव्य मूर्तियाँ अपनी-अपनी विशेषताके साथ कैसे जगमगा रही हैं। ज्ञाननेत्रसे काम लेनेपर स्पष्ट दिखायी देगा।

एक छोटा-सा बालक घर-बार त्यागकर महाकराल मृत्युके गालसे ब्रह्मविद्याको निकाल रहा है। मृत्यु कहता है 'मैं तुझे अलौकिक अप्सराएँ देता हूँ, धन-सम्पत्तिके पर्वत देता हूँ, अमर जीवन देता हूँ—अधिक क्या, जो माँगो सब कुछ देता हूँ परन्तु ब्रह्मविद्याको मत लो, हाथ जोड़ता हूँ, पाँवों पड़ता हूँ—यह विद्या मत चाहो।' परन्तु देखो, उस बालकका दिल नहीं मानता, वह ठोकर मारता है धन-सम्पत्तिपर! वह थूकता है विषयविकारोंपर! वह धिक्कार करता है अप्सराओंपर और लात मारता है लम्बे जीवनपर! वह अपना बालहठ नहीं छोड़ता। कहता है यही लूँगा, यही लूँगा, यह ही लूँगा। जानते हो यह कौन है? यह है नचिकेता। इसको बालक नहीं समझना। यह पिताका भी पिता है। इसको श्रद्धासे नमस्कार करो, यह त्यागका अवतार है!

वह देखो, एक छोटा-सा बच्चा—नहीं-नहीं देवता—हाथमें तूँबा लिये छोटी-छोटी सुनहरी जटा धारण किये गहरे जङ्गलमें भागा जा रहा है। सिंह गर्जते हैं—यह नहीं डरता; हाथी इसको डराते हैं—यह परवा नहीं करता;

विपत्तियाँ इसको खा जाना चाहती हैं परन्तु यह उनके हाथसे निकल जाता है; पर्वत और नदियाँ इसका मार्ग रोकती हैं—यह उनके सिरपर पैर रखकर तीव्र गतिसे आगे निकल जाता है। न दिन देखता है, न रात! वर्षा हो, सरदी हो, बरफ पड़ती हो या गरम लू चलती हो—यह रुकनेका नाम नहीं लेता; जानते हो यह कौन है? यह है धुनका धनी ध्रुव! यह भगवान्‌के दर्शन करना चाहता है। वह देखो, इसकी समाधि लग गयी, भगवान्‌के दर्शन हो गये, अब भगवान्‌की गोदमें जा पहुँचा। सच्चे पितासे सच्चे पुत्रका मिलाप हो गया। आओ, इस निष्पाप, निष्कपट भक्तको श्रद्धासे नमस्कार करें! यह बच्चा नहीं किन्तु पूज्योंका पूज्य है, यह धृति और निश्चयकी मूर्ति है।

इधर देखो, एक सुन्दर बालक खड़ा है। इसको हलाहल विष पिलाया गया परन्तु यह नहीं मरा, कोड़ोंसे पिटवाया गया—यह नहीं मरा, पर्वतोंसे गिराया गया—यह नहीं मरा, कुत्तोंसे फड़वाया गया—यह नहीं मरा। अधिक क्या, इसको जलते हुए खम्भोंसे बाँधकर जलाया गया—यह नहीं मरा। अपने भगवान्‌के नामपर यह सब कुछ सह गया। यह भक्त प्रह्लाद है! इसको दैत्यका पुत्र नहीं कहना!—यह देवताओंका भी देवता है। आओ, इसको श्रद्धासे नमस्कार करें! यह तितिक्षा और शुद्ध निष्काम भक्तिका ज्वलन्त दृष्टान्त है।

वह देखो, एक देवी खड़ी है! इसको जगत्पति—सच्चे पतिसे मिलनेकी धुन लग गयी। इसने घर-बार त्याग दिया और राजसुखपर लात मारकर यह साधनी हो गयी। राजाने दण्ड दिया—इसने धन्यवाद किया; इसको भूखों मरनेपर बाधित किया गया—इसने सहर्ष स्वीकार किया; इसके लिये काले-काले विषके प्याले भेजे गये—इसने पी लिये; इसको अपमानित किया गया—इसने सहन कर लिया; इसको गालियाँ दी गयीं—इसने उत्तर नहीं दिया; इसपर गन्दे लाञ्छन लगाये गये—यह पी गयी; इसको डराया-धमकाया गया, परन्तु इसने ध्यान नहीं दिया, इसको प्रेमसे अनेक प्रकारसे समझाया गया परन्तु यह किसी प्रकारसे नहीं मानी। इसने तिरियाहठ नहीं छोड़ा। जानते हो, यह देवी कौन है? यह मीराबाई है! यह रानी नहीं—प्रभुप्रेमकी दीवानी और मस्तानी है—प्रभुकी ही महारानी है। आओ, इस माताके चरणोंपर श्रद्धासे नमस्कार करें। यह भक्तिका स्वरूप है, प्रेमकी मूर्ति है।

आगे बढ़ो। वह देखो, कोई पीताम्बर धारण किये वीणा बजाता और हरिगुण गाता आनन्दमग्न हो रहा है। इसने ऋग्वेद पढ़ लिया—इसको शान्ति न मिली; इसने यजुर्वेद जान लिया—इसकी प्यास नहीं बुझी; इसने सामवेद सुन लिया—इसकी तृष्णा नहीं मिटी; इसने अथर्ववेद समझ लिया—इसको तृप्ति नहीं हुई; इसने इतिहास-पुराण पढ़ लिये—इसके संशय न मिटे; अधिक क्या, इसने चतुर्दश विद्याएँ सीख लीं परन्तु इसको सन्तोष नहीं हुआ; इसने चिकित्सा जान ली पर इसके हृदयका रोग नहीं मिटा। यह भगवान् सनत्कुमारकी शरणमें गया, वहाँ इसे ब्रह्मविद्या मिल गयी, बस, यह कृतकृत्य हो गया। अब यह मस्त है। जानते हो यह कौन है? यह देवर्षि नारद है। आओ, इस आत्मज्ञानीकी आरती उतारें!

वह देखो, कोई दिगम्बर महात्मा खड़ा है। आँधी आती है—यह नहीं हिलता; भूख लगती है—यह नहीं माँगता; प्यास सताती है—यह नहीं बोलता; लोग कहते हैं यह चाण्डाल है—यह कुछ नहीं कहता; वर्षा आती है—यह भीगता है; सरदी पड़ती है—यह सहता है; गरमी जलाती है—यह ध्यान नहीं देता; इसको फूलोंके हार पहनाये जाते हैं—यह दृष्टि नहीं देता। लोग कहते हैं—अटारीपर बैठ जा। यह कहता है—मेरे लिये सर्वत्र अटारी है। लोग कहते हैं—शरीरको कष्ट मत दे। यह कहता है शरीर जड है, इसको कष्ट कैसा? लोग कहते हैं—आत्माको दुःख मत दे। यह कहता है—आत्मातक दुःख नहीं पहुँचते। लोग कहते हैं आरामसे रह। यह कहता है मुझसे बढ़कर आराम किसको है। लोग कहते हैं—व्यर्थ जीवन नष्ट मत कर। यह कहता है—इन्द्रियारामी ही जीवनको नष्ट करता है, आत्मज्ञानी नहीं; लोग पूछते हैं—आत्मा क्या है? यह कहता है जिसके होनेसे आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, हाथ पकड़ते हैं और पैर चलते हैं वह आत्मा है। हाँ, जिसकी शक्तिसे मन सोचता है और बुद्धि निश्चय करती है वह आत्मा है। लोग कहते हैं—वह शक्तिशाली आत्मा कहाँ है? यह हँसता है और कहता है—'भोले भैया! वह तू ही है।' जानते हो यह कौन है? यह है दत्तात्रेय अवधूत! यह

त्रिगुणातीत है। आओ इस देवताका अर्चन करें। यह ब्रह्मविद्याका सच्चा स्वरूप ही है।

इधर देखो, एक नवयुवक खड़ा है। यह नंगी स्त्रियोंको देखता है परन्तु इसका मन विकृत नहीं होता; इसका राजद्वारपर तिरस्कार होता है—यह आनन्दमग्न रहता है। यह राजाके महलमें जाता है—इसे छत्तीस प्रकारके भोजन खिलाये जाते हैं, रेशमके वस्त्र पहिनाये जाते हैं, इसकी प्रतिष्ठा होती है, इसके लिये उत्तमोत्तम महल बनाये जाते हैं, यह सबमें निर्विकार विक्षोभरहित रहता है। लोग सोते हैं—यह जागता है; लोग जागते हैं—यह सोता है। इसकी दुनिया निराली है। लोगोंका दिन चढ़ता है—इसकी रात्रि आती है; लोगोंकी रात्रि आती है तो इसका दिन होता है। यह सोते हुओंको जगाता फिरता है और जागते हुओंको दौड़ाता है। इसकी दुनियामें—स्त्री स्त्री नहीं, पुरुष पुरुष नहीं। इसको बस, एक ही दीखता है—यह एकका ही ग्राहक है—इसकी दृष्टिमें एकता है—इसकी सृष्टिमें समता है। जानते हो यह देवता कौन है! यह है युवकशिरोमणि अवधूत शुकदेव। आओ, इस ब्रह्मज्ञानीको प्रणाम करें!

उधर देखो, एक तेजस्वी वृद्ध बैठा है! इसके मुखमण्डलसे प्रभा निकल रही है। इसने वेद पढ़े, इसने वेद पढ़ाये, इसने ब्राह्मणग्रन्थोंका निर्माण किया, इसने ऋषियोंका कल्याण किया, ऋषियोंने प्रश्न किये—इसने समाधान किये। बड़े-बड़े राजाओंने इसका सम्मान किया—इसने उनको परमार्थका उपदेश दिया, इसने वेदमन्त्रोंका सरस व्याख्यान किया, संसारने इसको सिर आँखोंपर लिया। इसने उपनिषदोंकी रचना की—लोगोंने इसकी ब्रह्मसे उपमा दी। जानते हो, यह कौन है? यह ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य है। यह ऋषियोंका ऋषि, मुनियोंका मुनि और आचार्योंका आचार्य है। आओ, इस महानुभावकी पूजा करें—यह वेदमाताका प्यारा पुत्र है।

वह देखो, कोई अलौकिक व्यक्ति खड़ा है। यह देवताओंका राजा है—इसके हृदयमें परमदेवके जाननेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी, इसने स्वर्गलोकपर लात मार दी, अप्सराओंका त्याग कर दिया और अमर जीवनसे विरक्त हो गया। आचार्य प्रजापतिका पता पूछता हुआ आया, आचार्यने कहा—क्या तुम इन्द्र नहीं हो? बोला—हाँ, भगवन्! इन्द्र ही हूँ। 'स्वर्गका राजसुख किसलिये छोड़ दिया?' 'भगवन्! आत्माको जानना चाहता हूँ।' 'अप्सराओंको क्यों त्याग दिया?' 'महाराज! आत्मज्ञानकी इच्छा है।' 'ऐसा है तो बत्तीस वर्षतक लँगोटा कसकर पड़े रहो और शम, दम, तितिक्षा, ब्रह्मचर्यादिकी योग्यता दिखाओ। उसके बाद ब्रह्मविद्या बतायी जायगी।' बत्तीस वर्ष बीत गये। आचार्यने कहा—'नहीं, बत्तीस वर्ष और ब्रह्मचारी रहो।' वह भी हो गये, आचार्यने कहा—'नहीं, बत्तीस वर्ष और लगाओ।' इसने वह भी पूरे किये, प्रजापतिने कहा—'अभी कसर है।' इसने सिर झुका दिया, फिर पाँच वर्ष ब्रह्मचारी रहा और अपने अटल धैर्यसे आत्मतत्त्वको पहचाननेकी योग्यता प्राप्त की। फिर ऋषिने इसको आत्मज्ञान समझाया। यह देवराज इन्द्र है! यह देवताओंका देवता है। आओ, इस देवताको श्रद्धासे नमस्कार करें।

उधर देखो, सूर्यके समान यह कौन चमक रहा है? जानते हो यह कौन है? अहा, इसने आठ वर्षकी आयुमें वेद पढ़ लिये, सोलह वर्षकी अवस्थामें वेदान्त, उपनिषद् और योगशास्त्रको समझ लिया। युवावस्था आनेसे पहले ही इसने विषयोंपर विजय प्राप्त करनेके शस्त्रास्त्र संग्रह कर लिये—यह आदित्य ब्रह्मचारी बना, इसने अविद्यान्धकारके विध्वंस करनेकी प्रतिज्ञा कर ली, बड़े-बड़े विद्वान् इसको जीतनेके लिये आये और परास्त होकर गये—गुरु बनने आये, शिष्य बनकर गये। इसके मार्गमें जो भी आया वह पछाड़ खाकर गिरा। इसने पूर्व-पश्चिम जीता, इसने उत्तर-दक्षिण जीता। कौन था जिसको इसने न जीता? यह ब्रह्मविद्याका आचार्य है, यह उपनिषद्का व्याख्याता है, यह जगद्गुरु है। इसको संसार 'भगवान् शङ्कराचार्य' के नामसे याद करता है। आओ, इस महानुभावको साष्टाङ्ग नमस्कार करें।

दूसरी ओर चलो। यह देखो, कोई नंगे सिर, नंगे पैर खड़ा है। इसके हाथमें शूलीका तख्ता है, इसने सदा ईश्वरको याद किया, इसने सदा लोगोंको परमार्थका उपदेश दिया, इसने जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्यका पालन किया। इसने कहा—कामी-क्रोधी ईश्वरको नहीं पा सकते। इसने कहा—भगवान्‌को पापी नहीं छू सकता। इसने कहा—दुनिया छोड़ दो और परमेश्वरको ग्रहण कर लो। इसने कहा—मैं और मेरा पिता (जीव और ब्रह्म) एक हैं। इसने पर्वतके शिखरपर चढ़कर उपदेश दिया—

लोगोंने स्वीकार न किया। जानते हो यह कौन है? यह है ईसामसीह। यह ईसाइयोंका आचार्य है। आओ, इस ईश्वरभक्त देवको नमस्कार करें।

यह देखो, तारे-से चमक रहे हैं, इस ओरका 'मंसूर' है। यह ब्रह्मविद्याका अद्वितीय श्रद्धालु है, यह सदा अनलहक अर्थात् **'अहं ब्रह्मास्मि'** की घोषणा करता रहा। इसको राजाने कहा—अनलहक मत कहो। इसने कहा—मैं रुक नहीं सकता। राजाने कहा—शूलीपर चढ़ा दिये जाओगे। यह बोला—मैं झूठ बोलकर जीना पसन्द नहीं करता। इस सत्यके अवतारने शूलीपर चढ़ना स्वीकार कर लिया पर ब्रह्मका निरादर नहीं किया। दूसरी ओर 'बुस्तामी' है। इसने अरबकी संतप्त भूमिमें तपोमय जीवन व्यतीत किया, इसने चालीस वर्षतक शीतल जल नहीं पिया, यह सदा गरम पानी पीता रहा। जङ्गलमें मनुष्यसे परे रहना और ईश्वरचिन्तन करना इसका काम है। यह मस्त फ़क़ीर है—बल्कि सच्चा अवधूत है। बीचमें देखो 'शम्स तबरेजी' खड़ा है। यह ब्रह्मविद्याके गूढ़ रहस्योंका सरल व्याख्यान करनेमें प्रसिद्ध है। इसकी खाल खिंचवायी गयी परन्तु यह ज्ञानमार्गसे विचलित नहीं हुआ। इसके पीछे 'मस्त शरमद' खड़ा है। यह दिगम्बर महात्मा है। यह 'गीता'का भक्त था, इसी अपराधपर इस महात्माको शूली दी गयी, परन्तु इसने ब्रह्मविद्याका अपमान नहीं होने दिया। आओ, इनकी पूजा करें। अहा! इधर देखो, कितने चन्द्रमा-जैसे चमक रहे हैं। वह देखो—अद्वैतका 'प्रेमी गुरु नानक निरङ्कारी' प्रभुभक्तिका उपदेश कर रहा है। इसने मक्का फेर दिया था। वह देखो, स्वामी रामकृष्ण परमहंस खड़ा है। इसने बड़े-बड़े नास्तिकोंको ईश्वरभक्त बना दिया। वह देखो 'विवेकानन्द' बैठा है। इसने पृथ्वीको हिला दिया। यह देखो, कोई मस्तीमें झूम रहा है। यह 'रामतीर्थ' है। यह ब्रह्मविद्याका सच्चा पुजारी है। आओ श्रद्धा-भक्तिसे इनको नमस्कार करें और इन महात्माओंसे आशीर्वाद प्राप्त करें, जिससे हमारी भी आत्मामें निष्ठा दृढ़ हो सके।

शक्ति ही ब्रह्म है

(लेखक—ठाकुर श्रीसूर्यनारायणसिंहजी)

एकैव सा महाशक्तिः तया सर्वमिदं ततम्।

एक ही महाशक्ति भिन्न-भिन्न नामों एवं रूपोंमें प्रकट होकर भिन्न-भिन्न कार्योंका सम्पादन करती है। एक ओर रचनात्मक कार्य करती है तो दूसरी ओर विध्वंसात्मक कार्योंके द्वारा सृष्टिको व्यवस्थित तथा नियन्त्रित करती है। एक ओर वह विश्वप्रसूताके रूपमें माता कहलाती है तो दूसरी ओर जगत्-रक्षक तथा पालकके रूपमें जगत्पिता कहलाती है। एक ओर लक्ष्मीरूपमें जगत्को सरस, सुरम्य एवं सुखपूर्ण बनाती है तो दूसरी ओर अलक्ष्मीरूपमें ऐश्वर्योन्मत्त, स्वेच्छाचारी और कुमार्गरत प्राणियोंको नाना प्रकारके दण्ड देकर उन्हें सुमार्गपर लाती है। वही अचिन्त्य विराट्शक्ति एक ओर भगवान् और दूसरी ओर भगवतीके नामसे विख्यात होती है। ईश्वर-ईश्वरी, महेश्वर-महेश्वरी, ब्रह्म-शक्ति सब कुछ वही है। वही आदिपुरुषके रूपमें एक ओर मुमुक्षुओंको तारती है और दूसरी ओर आदिशक्तिके रूपमें भक्तोंका त्रयताप निवारण करती है।

आदिशक्तिका अर्थ है 'आरम्भिक शक्ति' और आदिपुरुषका अर्थ है 'आरम्भिक व्यापक'। व्यापकत्व भी एक शक्ति है, शक्तिरहित व्यापक नहीं हो सकता। ईश्वर व्यापकत्व शक्तिसे ही तो सर्वव्यापक है और संज्ञाकी भिन्नतासे संज्ञी भिन्न नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, जल, नीर; क्षीर, दूध; गिरि, भूधर; रवि, दिनकर; शशि, चन्द्र; विधाता, ब्रह्मा, हरि, विष्णु; हर, शिव आदि शब्दोंमें भेद होनेपर भी वाच्यार्थमें भेद नहीं है। इसी तरह ब्रह्म और शक्तिमें लिङ्ग-भेद तथा नाम-भेद होनेपर भी अनन्यता तथा एकरूपतामें कोई भेद नहीं है। यदि शक्ति और ब्रह्ममें भेद माना जाय तो ब्रह्मकी भिन्न-भिन्न शक्तियोंकी पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। इस तरह एक ब्रह्मके स्थानमें अनेक ब्रह्मकी कल्पना करनी पड़ेगी और शक्तियोंके पृथक्-पृथक् होनेसे शक्तिमान्के अभावमें धारकका लोप हो जायगा। अतएव ब्रह्म और शक्तिमें सदा अभेद-सम्बन्ध मानना ही यथार्थ और समुचित है।

शास्त्रोंमें कहा है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

उस ईश्वरका कोई कार्य-कारण नहीं; उससे अधिक या उसके समान कोई नहीं; वह पराशक्ति (ब्रह्म) अनेक प्रकारसे सुना जाता है। ज्ञान, बल और क्रिया उसकी स्वाभाविक शक्ति है।

यदि ब्रह्मसे ज्ञानशक्ति निकल जाय तो ब्रह्म अज्ञानी, बल निकल जाय तो अशक्त और क्रियाशक्ति निकल जाय तो अकर्मण्य हो जायगा। ब्रह्मको आनन्दमय भी कहा गया है—'**आनन्दमयो अभ्यासात्**'—(वेदान्त)। यदि उससे आनन्दशक्ति पृथक् कर दी जाय तो वह निरानन्द हो जायगा। इस तरह ब्रह्ममें ब्रह्मकी परिभाषा घट नहीं सकेगी। इससे सिद्ध होता है कि स्वभाव और स्वभाववान्‌का तादात्म्य अविच्छिन्न, नित्य सम्बन्ध है। यहाँपर कोई यह कह सकता है कि संसारमें शक्ति और शक्तिमान्‌में सदा भेद देखा जाता है; किन्तु वास्तवमें संयोग-सम्बन्धका तिरोभाव या नाश होता है, समवायका नहीं। आत्मा और आत्माकी चैतन्यता सदा अभिन्न और अविच्छिन्न है, या यों कहें कि चैतन्यता ही ब्रह्म है। वेदशास्त्रोंमें शक्तिका रूप चैतन्यता ही माना है। दुर्गासप्तशतीका श्लोक है—

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

अर्थात् 'जो देवी सब भूतोंमें चेतनारूपसे विद्यमान है, उसे नमस्कार है।' श्वेताश्वतर उपनिषद्‌के छठें अध्यायमें वर्णन है कि 'दिव्य गुणयुक्त अकेला, सर्वभूतोंमें छिपा, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वकर्मफलदाता, सर्वाधिकारी होकर निवास करनेवाला, सदा देखनेवाला चेता (चैतन्य) सत्, रज, तमसे रहित है।' फिर प्रथम अध्यायमें कहा गया है कि 'ऋषियोंने ध्यानयोगके द्वारा देवात्मशक्ति (भगवान्‌की आत्मशक्ति)-को देखा।' इन सब प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि चैतन्य ब्रह्म ही आदिशक्ति है।

ब्रह्मके दो भेद हैं—निर्गुण और सगुण। निर्गुण ब्रह्म संकल्पशक्तिसे रहित मूकवत्, जडवत् और सृष्टि, पालन, नाश, अनन्तत्व, व्यापकत्व, ईश्वरत्व, निर्विशेषत्व प्रभृति दैवी शक्तियोंसे शून्य रहता है। वही फिर चित्-शक्ति (जो निर्गुणावस्थामें भी ब्रह्मको सगुणरूप देती रहती है)-की प्रेरणासे नित्यबुद्ध, नित्यशुद्ध, दयामय, उत्पादक, पोषक, नाशक, सर्वगत, सर्वात्म, '**सत्यं शिवं सुन्दरम्**' के रूपमें परिणत होता है। '**एकोऽहं बहु स्याम्**'—इस प्रकार इच्छा करनेहीसे वह आनन्दशक्ति ईश्वर एकसे अनेक रूपोंमें विभाजित हो जाता है; किन्तु उसके निज स्वरूपमें कोई विकार नहीं होता। वह सदा अभेदमय, अविकारी और एकरस रहता है। काल जिस तरह कल्प, मन्वन्तर, चतुर्युग, शताब्दि, वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिन, पहर, घड़ी, पल, विपल आदि कई भागोंमें विभाजित होनेपर भी एकरस, अखण्ड रहता है, ठीक उसी प्रकार विकृत सृष्टिमें अनेकत्व भास होनेपर भी वह चित्-शक्ति, सच्चिदानन्दस्वरूपिणी माता सदा एकरस, अविच्छिन्न रहती है। दृश्यादृश्य सारी सृष्टि शक्तिमय है। देव, दैत्य, मानव, पशु, पक्षी, कृमि, स्थावर, जङ्गम प्रभृति सब कुछ शक्तिसे ही उत्पन्न है और उसीके द्वारा पोषित हो रहा है तथा सदा शक्तिकी प्राप्तिके लिये ही प्रयत्नशील है। यह एक सर्वमान्य, विज्ञानसिद्ध सिद्धान्त है कि जो जिससे उत्पन्न होता है वह अन्तमें उसीकी इच्छा करते हुए उसीमें विलीन हो जाता है। अतएव सबमें शक्तिकी चाह होनेसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि सम्पूर्ण सृष्टि शक्तिसे उत्पन्न है।

'शक्ति' शब्दके स्त्रीलिङ्ग और 'ब्रह्म' शब्दके पुँल्लिङ्ग होनेसे स्त्रीत्व तथा पुरुषत्वका निरूपण ब्रह्मशक्तिमें नहीं होता। एक ही सूत्र कुर्त्ता, मुरैठा, अंगोछा आदि नामोंमें पुरुषवाचक और टोपी, साड़ी, धोती, पगड़ी आदि नामोंमें स्त्रीवाचक कहा जाता है; किन्तु सूत्र वास्तवमें स्त्रीत्व और पुरुषत्वसे रहित होता है। इसी प्रकार एक ही चैतन्य विभिन्न नाम-रूपोंसे स्त्रीवाचक और पुरुषवाचक शब्दोंमें व्यवहृत होनेपर भी वस्तुतः स्त्रीत्व तथा पुरुषत्वसे रहित है। शास्त्रग्रन्थोंमें कई जगह ईश्वरके लिये '**त्वमेव माता च पिता त्वमेव**', '**माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः**', '**त्वं हि माता त्वं हि पिता**' आदि वाक्योंका व्यवहार हुआ है। इस तरह भगवान्‌को माता और पिता दोनों कहा गया है। हम बहुधा परस्पर दो पर्यायवाची शब्दोंको विभिन्न लिङ्गोंमें व्यवहृत होते देखते हैं; किन्तु

उससे अर्थमें कोई भेद नहीं आता। जैसे शक्ति, बल, बुद्धि, ज्ञान आदि। इसी तरह ब्रह्म और शक्तिकी संज्ञाओंमें भिन्नता होनेपर भी मूलतः उनमें स्वरूपभेद नहीं है।

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।

शक्ति वस्तुतः ब्रह्मस्वरूपिणी है, यह बात वेदशास्त्रके मतसे सिद्ध है। ऋग्वेद मं० १० सूक्त १२५ में कहा है—

'मैं सबकी ईश्वरी, स्वामिनी हूँ; उपासकोंको धन देनेवाली, सूर्य-चन्द्रादि नक्षत्रोंको चलानेवाली, परब्रह्म ज्ञानस्वरूप मैं ही हूँ; ऐसी गुणोंवाली, सच्चिदानन्दस्वरूपिणी, सब प्राणियोंमें चैतन्यरूपसे रहनेवाली मुझको सब कर्मोंमें विधान करते हैं।' 'विश्वकी सृष्टि मैं ही करती हूँ, मैं किसी अन्य अधिष्ठाताकी अपेक्षा नहीं रखती, स्वयं अपनी इच्छासे अत्यन्त द्रुतगतिसे प्रवृत्तिमार्गको चलाती हूँ, पृथिवीसे आकाशपर्यन्त दृश्यादृश्य, स्थूल, सूक्ष्म संसारसे पृथक् निर्विकार, अकल्पित, असङ्ग, एकरस, अचल ब्रह्म चैतन्यरूपा मैं ही हूँ।' इनके सिवा और भी ऐसे मन्त्र आये हैं, जिनसे शक्ति और ब्रह्मका अभेद प्रकट होता है।

देवीभागवतके चतुर्थ अध्यायमें ऐसा वर्णन आता है कि ब्रह्माने विष्णुभगवान्से पूछा कि आप किसका ध्यान और तपस्या करते हैं। तब विष्णुभगवान्ने उत्तर दिया कि यद्यपि संसारासक्त लोग तुम्हें स्रष्टा, मुझे पालक और शिवको नाशक शक्ति समझते हैं; किन्तु वेदपारङ्गत व्यक्ति तुम्हारी राजस, मेरी पालक और शिवकी संहारक शक्तिको पराशक्तिके आश्रित समझते हैं। शक्तिकी ही प्रेरणासे मैं क्षीरशायी होता, युद्ध करता और पालन करता हूँ। अतः मैं उस आदिशक्तिका ही ध्यान करता हूँ। देवीभागवतमें अन्यत्र भी विश्वप्रसूता, सर्वभूतेश, माहेश्वरी, सच्चिदानन्दस्वरूपिणी, सृष्टिस्थितिसंहारकारिणी, ब्रह्मस्वरूपिणी, चैतन्यरूपा, आत्मस्वरूपिणी, ब्रह्मा, विष्णु, शिवरूपा आदि नामोंसे सम्बोधितकर देवीकी स्तुति की गयी है। देवीभागवतके सातवें स्कन्धके ३२ वें अध्यायमें स्वयं देवीने अपना स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—'मैं ही चिच्छक्ति, परमब्रह्मस्वरूपिणी हूँ; मैं अग्निकी उष्णता, सूर्यकी किरणों, कमलकी शोभाके समान ब्रह्मसे अभिन्न हूँ। मैं ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गौरी, ब्रह्माणी, वैष्णवी, सूर्य, तारागण, चन्द्रमा, पशु, पक्षी, चाण्डाल, व्याधा, क्रूरकर्मा, सत्यकर्मा, महाजन, स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग, दृश्यादृश्य, श्रव्य, स्पर्शनीय सब कुछ हूँ।'

अतएव उपर्युक्त युक्ति और वेदादि शास्त्र ग्रन्थोंके प्रमाणोंसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि वास्तवमें त्रिकालाबाधित शक्ति ही ब्रह्म है।

नवदुर्गा और दस महाविद्याके ध्यान

नवदुर्गाके नाम ये हैं—१ शैलपुत्री, २ ब्रह्मचारिणी, ३ चन्द्रघण्टा, ४ कूष्माण्डा, ५ स्कन्दमाता, ६ कात्यायनी, ७ कालरात्रि, ८ महागौरी, ९ सिद्धिदात्री।

ध्यान

(१) वन्दे वाञ्छितलाभाय चन्द्रार्धकृतशेखराम्।
वृषारूढां शूलधरां शैलपुत्रीं यशस्विनीम्॥

(२) दधाना करपद्माभ्यामक्षमालाकमण्डलू।
देवी प्रसीदतु मयि ब्रह्मचारिण्यनुत्तमा॥

(३) पिण्डजप्रवरारूढा चण्डकोपास्त्रकैर्युता।
प्रसादं तनुते मह्यं चन्द्रघण्टेति विश्रुता॥

(४) सुरासम्पूर्णकलशं रुधिराप्लुतमेव च।
दधाना हस्तपद्माभ्यां कूष्माण्डा शुभदास्तु मे॥

(५) सिंहासनगता नित्यं पद्माञ्चितकरद्वया।
शुभदास्तु सदा देवी स्कन्दमाता यशस्विनी॥

(६) चन्द्रहासोज्ज्वलकरा शार्दूलवरवाहना।
कात्यायनी शुभं दद्याद्देवी दानवघातिनी॥

(७) एकवेणी जपाकर्णपूरा नग्ना खरास्थिता।
लम्बोष्ठी कर्णिकाकर्णी तैलाभ्यक्तशरीरिणी॥
वामपादोल्लसल्लोहलताकण्टकभूषणा।
वर्धन्मूर्धध्वजा कृष्णा कालरात्रिर्भयङ्करी॥

(८) श्वेते वृषे समारूढा श्वेताम्बरधरा शुचिः।
महागौरी शुभं दद्यान्महादेवप्रमोददा॥

(९) सिद्धगन्धर्वयक्षाद्यैरसुरैरमरैरपि।
सेव्यमाना सदा भूयात् सिद्धिदा सिद्धिदायिनी॥

दस महाविद्याके नाम ये हैं—१ काली, २ तारा, ३ षोडशी (त्रिपुरसुन्दरी), ४ भुवनेश्वरी, ५ छिन्नमस्ता, ६ त्रिपुरभैरवी, ७ धूमावती, ८ बगला, ९ मातङ्गी और १० कमला। कहते हैं कि जब सतीने

दक्षयज्ञमें जाना चाहा तब शिवजीने निषेध किया। इसपर भगवतीने पहले कालीमूर्ति प्रकट की फिर दसों दिशाओंमें दस मूर्तियोंमें आविर्भूत होकर अपना प्रभाव दिखलाया। यही दस महाविद्या हैं। इनकी उत्पत्तिमें मतभेद भी है।

ध्यान

(१) शवारूढां महाभीमां घोरदंष्ट्रां वरप्रदाम्।
हास्ययुक्तां त्रिनेत्रां च कपालकर्त्रिकाकराम्॥
मुक्तकेशीं ललज्जिह्वां पिबन्तीं रुधिरं मुहुः।
चतुर्बाहुयुतां देवीं वराभयकरां स्मरेत्॥

(२) प्रत्यालीढपदार्पिताङ्घ्रिशवहृद्घोराट्टहासा परा
खड्गेन्दीवरकर्त्रिखर्प्परभुजा हुङ्कारबीजोद्भवा।
खर्वा नीलविशालपिङ्गलजटाजूटैकनागैर्युता
जाड्यन्न्यस्य कपालके त्रिजगतां हन्त्युग्रतारा स्वयम्॥

(३) बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहां त्रिलोचनाम्।
पाशाङ्कुशशरांश्चापान् धारयन्तीं शिवां भजे॥

(४) उद्यदिनद्युतिमिन्दुकिरीटां तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्ताम्।
स्मेरमुखीं वरदाङ्कुशपाशाभीतिकरां प्रभजे भुवनेशीम्॥

(५) छिन्नमस्तां करे वामे धारयन्तीं स्वमस्तकम्।
प्रसारितमुखीं भीमां लेलिहानाग्रजिह्विकाम्॥
पिबन्तीं रौधिरीं धारां निजकण्ठविनिर्गताम्।
विकीर्णकेशपाशाञ्च नानापुष्पसमन्विताम्॥
दक्षिणे च करे कर्त्रीं मुण्डमालाविभूषिताम्।
दिगम्बरीं महाघोरां प्रत्यालीढपदे स्थिताम्॥
अस्थिमालाधरां देवीं नागयज्ञोपवीतिनीम्।
डाकिनीवर्णिनीयुक्तां वामदक्षिणयोगतः॥

(६) उद्यद्भानुसहस्रकान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिकां
रक्तालिप्तपयोधरां जपवटीं विद्यामभीतिं वरम्।
हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियं
देवीं बद्धहिमांशुरत्नमुकुटां वन्दे समन्दस्मिताम्॥

(७) विवर्णा चञ्चला दुष्टा दीर्घा च मलिनाम्बरा।
विवर्णकुण्डला रूक्षा विधवा विरलद्विजा॥
काकध्वजरथारूढा विलम्बितपयोधरा।
सूपहस्तातिरूक्षाक्षी धृतहस्ता वरान्विता॥
प्रवृद्धघोणा तु भृशं कुटिला कुटिलेक्षणा।
क्षुत्पिपासार्दिता नित्यं भयदा कलहप्रिया॥

(८) मध्येसुधाब्धिमणिमण्डपरत्नवेदी-
सिंहासनोपरिगतां परिपीतवर्णाम्।
पीताम्बराभरणमाल्यविभूषिताङ्गीं
देवीं स्मरामि धृतमुद्गरवैरिजिह्वाम्॥
जिह्वाग्रमादाय करेण देवीं
वामेन शत्रून् परिपीडयन्तीम्।
गदाभिघातेन च दक्षिणेन
पीताम्बराढ्यां द्विभुजां नमामि॥

(९) श्यामाङ्गीं शशिशेखरां त्रिनयनां रत्नसिंहासनस्थिताम्।
वेदैर्बाहुदण्डैरसिखेटकपाशाङ्कुशधराम् ॥

(१०) कान्त्या काञ्चनसन्निभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजै-
र्हस्तोत्क्षिप्तहिरण्मयामृतघटैरासिच्यमानां श्रियम्।
बिभ्राणां वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः किरीटोज्ज्वलां
क्षौमाबद्धनितम्बबिम्बललितां वन्देऽरविन्दस्थिताम्॥

देवकृत देवीस्तुति

वर्ष ९	ब्रह्मरूपे सदानन्दे परानन्दस्वरूपिणी । द्रुतसिद्धिप्रदे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥	भाद्रपद
अङ्क २	शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे । सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥	१९९१

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

प्रसिद्धान् सिद्धान् वा शिशुतरुणवृद्धानपि जनानुदारान् वा दाराननवरतमाराधनपरान्।
चिदानन्दात्मेयं भुवनजननी संविदमला हरन्ती हृच्छल्यान्नयति किल कल्याणपदवीम्॥

वर्ष ९ } गोरखपुर, भाद्रपद १९९१, सितम्बर १९३४ { संख्या २ पूर्ण संख्या ९८

देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद
प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य।
प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं
त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य॥

माताकी दया

(लेखक—श्रीअरविन्द)

इस जीवनमें सब प्रकारके भय, सङ्कट और सर्वनाशसे बेलाग—बेचोट बचकर आगे बढ़े चलनेके लिये दो ही चीजोंकी आवश्यकता है और ये दोनों चीजें ऐसी हैं जो सदा एक-दूसरेके साथ रहती हैं—(१) भगवती माताकी दया और (२) तुम्हारी ओरसे, ऐसा अन्त:करण जो विश्वास, सचाई और शरणागतिसे पूर्ण हो। तुम्हारा विश्वास विशुद्ध, निश्छल और पूर्ण होना चाहिये। मनमें और प्राणोंमें यदि ऐसा अहंकारयुक्त विश्वास हो कि जिसमें बड़े बननेकी वासना, अभिमान, वृथाडम्बर, मानसिक प्रगल्भता, प्राणोंकी स्वेच्छाचारिता, व्यक्तिगत माँग निम्न प्रकृतिके क्षुद्र सन्तोष प्राप्त करनेकी कामनाके कलङ्क लगे हुए हों तो ऐसा विश्वास ऊर्ध्वगमनाक्षम और धूमाच्छन्न अग्निशिखाके सदृश है जो ऊपर स्वर्गकी ओर उज्ज्वलित नहीं हो सकती। यह समझो कि तुम्हें जो जीवन मिला है वह ईश्वरी कार्यके लिये है, ईश्वरी तत्त्वको प्रकट करनेमें सहायक होनेके लिये है। और किसी बातकी इच्छा मत करो, केवल यही चाहो कि ईश्वरी चैतन्यकी ही पवित्रता, शक्ति, ज्योति, विशालता, शान्ति और आनन्द प्राप्त हो और वह तुम्हारे मन, प्राण और शरीरको पलटकर दिव्य और पूर्ण बनाये बिना नहीं छोड़ें। और कोई चीज मत माँगो, केवल यही इच्छा करो कि वह दिव्य, आध्यात्मिक और विज्ञानमय सत्य तुम्हें प्राप्त हो; पृथिवीपर और तुम्हारे अन्दर और उन सबोंके अन्दर जो ऊपरसे पुकारे गये हैं और चुन लिये गये हैं, इस सत्यकी सिद्धि हो और इसकी सृष्टिके लिये और विरोधी शक्तियोंपर इसकी विजयप्राप्तिके लिये जिन अवस्थाओंकी जरूरत है वे तैयार हो जायँ।

तुम्हारी सहृदयता और शरणागति असली और पूरी होनी चाहिये। आत्मसमर्पण करते हो तो पूरे तौरपर करो, इसमें अपनी कोई खास माँग मत रखो, अपने लिये कुछ अलग करके मत रखो—ऐसा आत्मसमर्पण करो कि तुम्हारे अन्दर जो कुछ भी है वह भगवती माताका हो जाय और अहङ्कारके लिये कुछ भी बचा न रहे या किसी अन्य शक्तिको भी कुछ न मिले।

जितनी ही अधिक तुम्हारी श्रद्धा बढ़ेगी, सचाई बढ़ेगी, शरणागति पूरी होगी, उतनी ही अधिक तुम्हारे ऊपर दया रहेगी और तुम्हारी रक्षा होगी। और जब भगवती माताकी दयादृष्टि और रक्षक हस्त तुम्हारे ऊपर है तब कौन है जो तुम्हारे ऊपर आघात कर सके, या जिससे तुम्हें डरनेकी जरूरत हो? माताकी थोड़ी-सी भी दया, उसके रक्षक हाथका जरा-सा भी स्पर्श तुम्हें सारी कठिनाइयों, विघ्न-बाधाओं और सङ्कटोंके पार कर देगा; जब तुम ऊपर-नीचे, अगल-बगल, आगे-पीछे सर्वत्र माताकी ही सत्ताको देख रहे हो, तब तो तुम अपने रास्तेपर निर्भय और निश्चिन्त होकर आगे बढ़े चले जा सकते हो, क्योंकि यह रास्ता तो उन्हींका है, माताके इस मार्गमें किसी विभीषिकाकी परवा नहीं, किसी शत्रुका भय नहीं, चाहे वह कितना ही बलवान् हो—इस दुनियाका हो या दूसरी किसी भी छिपी दुनियाका। माताके वरद हस्तका स्पर्श कठिनाइयोंको महान् लाभके सुअवसर बना देता है और दुर्बलताको निष्कम्प बलमें परिणत कर देता है। भगवती माताकी दया ही तो भगवान्की '**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्**' महाशक्ति है—और आज या कल उसका प्रभावकार्य होगा ही, वह भगवान्का अमिट आदेश है, उसको कोई मिटा नहीं सकता, उसकी गतिको कोई रोक नहीं सकता।

शक्ति-सम्बन्धी साहित्य

(लेखक—दीवानबहादुर श्रीनर्मदाशंकर देवशंकरजी मेहता, बी० ए०)

(१) वैदिक धर्ममें शक्तिवाद

प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। धीनामवित्र्यवतु (ऋ० ६। ६१। ४)

परमेश्वरकी 'आनन्दमयी चिच्छक्ति' के स्वरूपबोधक मन्त्र वेदमें अनेकों मिलते हैं। इस अखण्ड आनन्द और चैतन्यको स्फुरित करनेवाली शक्तिका रहस्यनाम अदिति रखा गया है, उसे 'देवतामयी' कहा जाता है। अदिति गन्धर्व, मनुष्य, पितर, असुर और सम्पूर्ण भूतोंकी माता बतलायी गयी है। उसे मही अथवा पृथिवी, सावित्री, गायत्री, सरस्वती आदि नामोंसे विशेष स्पष्ट किया गया है। उसके प्रकाशवाले पुत्रोंको आदित्य कहते हैं। उसकी विरोधिनी मलिनसत्वाको दिति कहते हैं और उसके पुत्रोंको दैत्य कहते हैं। दितिविरुद्ध अदिति, दैत्यविरुद्ध आदित्य, असुरविरुद्ध देव आदि अनेक रूपकोंद्वारा शक्तिके पाशमें डालनेवाले और पाशसे छुड़ानेवाले बहुत-से पराक्रमोंका वर्णन है। सारांश, अदितिमें[1] शक्तिका सर्वांश मातृभाव ग्रथित है।

उषादेवीके अत्यन्त चमत्कृतिवाले सूक्तोंमें शक्तिका कुमारीभाव चित्रित किया गया है। सूर्यादेवीके सूक्तोंमें शक्तिका पत्नीभाव वर्णित है। अम्भृण मुनिकी पुत्रीद्वारा रचित वाक्सूक्त[2] भी शक्तिवादका स्थापक है। ऋग्वेदके परिशिष्टमें लक्ष्मीसूक्त आता है।

यजुर्वेदके अग्निरहस्यकाण्डके यज्ञवेदीकी ईंटोंके रखनेके मन्त्रोंमें एक मन्त्रमें कहते हैं—

'मैं इस जगत्को उत्पन्न करनेवाले सविता देवताकी प्रार्थनीय और विचित्र चिच्छक्तिको विश्वजन्या सुमतिरूपसे कहती हूँ। इस चिच्छक्तिरूप गायका कण्व मुनिने अच्छी प्रकारसे दोहन किया था और उसकी सहस्रधारासे पृथिवीरूपी गाय बलवान् और हृष्ट-पुष्ट हुई है[3] ....जो आद्याशक्ति एकरूपा थी वह बहुरूपा हुई, वह चार अञ्चलवाली गाय हुई। सूर्यपत्नी बनकर, नववधू होकर उसने नये-नये जड जगत्को उत्पन्न किया और साथ ही उसने चर जीवोंको भी प्रकट किया[4]।'

श्वेताश्वतर-शाखाके मन्त्रोपनिषद्में कहते हैं—

'जिस समय सर्वत्र अज्ञानका अन्धकार था और जब अहोरात्रिका भेद नहीं था, जिस समय जगत्-कारण सत् अर्थात् व्यक्त नहीं था और असत् अर्थात् अव्यक्त भी नहीं था, जब केवल ब्रह्म शान्त अर्थात् शिवरूपसे स्थिर था, तब जगत्का प्रसव करनेवाले सविताका प्रार्थनीय अक्षर तेज उन्मुख हुआ और उसमेंसे प्राचीन कल्पकी पुरातन प्रज्ञा अथवा स्फुरणा[5] प्रकट हुई।'

सामवेदकी ताण्डि-शाखाके छान्दोग्य उपनिषद्में जगत्-कारणको 'सत्' संज्ञा दी गयी है और जीवके लयका वर्णन करते हुए कहा गया है कि जब जीवकी वाणी मनमें शान्त होती है, मन प्राणमें शान्त होता है, प्राण अध्यक्ष चेतनमें शान्त होता है और अध्यक्ष क्षेत्रज्ञ परादेवतामें लीन होता है तभी हे श्वेतकेतु! जो इस सूक्ष्मताकी अवधि आती है उस सूक्ष्मतम वस्तुसे यह सम्पूर्ण दृश्यजगत् आत्मभावसे भरा रहता है। वह सूक्ष्मतम वस्तु ही वास्तविक आत्मा है और वह सूक्ष्मतम वस्तु तू स्वयं[6] ही है।

काठकशाखाके उपनिषद्में कहते हैं—'जिसका भेद न हो ऐसी अदिति नामकी शक्ति देवतामयी है, वह प्राणसे प्रकट होती है और चिदम्बरकी विज्ञानमयी गुहामें प्रविष्ट हुई अनेक भूत अर्थात् प्राणियोंके रूपमें प्रकट होती है। यह वास्तविक सत्य निर्णय है[7]।'

१—देखिये अदिति-सूक्त ऋ० १। ९२, ११३; तथा काठक २। ४। ७; और नारायण उप० २८

२—देखिये ऋ० वेद १०। २६

३—देखिये शुक्ल यजुर्वेद अ० १७ मन्त्र ७४

४—देखिये 'वधूर्जजान.........'।-देवीसूक्त

५—देखिये श्वेताश्वतर-उप० ४। १८

६—देखिये छान्दोग्य-उप० ६। ८। ६

७—काठकोपनिषद् २। ४। ७

(२) ब्राह्मण और आरण्यकमें शक्तिवाद

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो लोको ज्योतिषावृतः ॥

(तैत्तिरीय आ० प्र० १ अ० २८)

संहिताकालमें एक सत् ब्रह्मकी व्यापक देवतामयी शक्तिका स्पष्ट उपास्यरूप ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थोंमें प्रकट हुआ है। उसमें वेदत्रयीके ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थोंमें ब्रह्मचैतन्यकी शुद्ध शक्तिका गायत्री, सावित्री, सरस्वती इत्यादि नामोंसे व्यवहार किया है। उसमें सद्ब्रह्मके स्वरूपका गायत्रीमन्त्रके गानद्वारा रक्षण करनेवाली शक्तिको गायत्री कहा गया है। उसके अध्यात्मतेजकी भर्ग संज्ञा दी गयी है। वह तेज इस विश्वका भरण करता है, विश्वमें रमण करता है और अन्तमें विश्वका उसमें लय अथवा गति होती है; इसलिये गायत्री देवी भरण, रमण और गमन करनेवाली होनेसे भर्गमयी, तेजोमयी, ज्योतिर्मयी इत्यादि नामोंसे व्यवहृत हुई है। उसमेंसे विश्वका प्रसव होता है। इससे उसको सावित्री कहते हैं। उसमेंसे ब्रह्मवस्तुका आनन्दरूप प्रवाह—सरः बहता है इससे उसको सरस्वती नाम दिया गया है। ब्रह्मशक्ति प्राणमयी, जीवनमयी, आनन्दमयी होनेसे और ब्रह्मके स्वभावधर्मोंको प्रकट करनेवाली होनेसे सच्चिदानन्दमयी मानी जाती है, और उन स्वभावधर्मोंको व्यक्त अथवा प्रकट करनेका अन्तर्बल जिस धर्मीमें रहता है उसे परब्रह्म इत्यादि नामोंसे पुकारा जाता है।

यह गायत्री नाम्नी ब्रह्मशक्ति त्रिलोकीकी रचना करती है और त्रिलोकीसे परे भी है। साथ ही वह वेदत्रयीका साररूप है, अतः वेदत्रयीके रहस्यका ज्ञान करानेवाली भी है। चौबीस अक्षरोंसे बनी हुई, तीन पादोंमें रची हुई, तीन व्याहृतियोंमें बीजभावसे रही हुई और प्रणवकी तीन मात्राओंसे प्रसूतिबल प्राप्त करनेवाली यह शक्ति द्विजोंका परम दैवत* है।

इस आद्या शक्तिको मायारूपा अर्थात् मिथ्या नहीं माना गया है। यदि अग्निके दाह-प्रकाशधर्मको मिथ्या माना जाय तो अग्निका स्वरूप ही स्थिर नहीं हो सकता; इसी प्रकार सत् वस्तुके स्वयं स्फुरण-सामर्थ्य (चिति)-को और स्वयं तृप्ति दिखानेवाले वेग (आनन्द)-को मिथ्या मान लिया जाय तो ब्रह्मवस्तुका स्वरूप ही नहीं बनता। ब्रह्मवस्तुके स्वभावधर्म और औपाधिकधर्म पृथक्-पृथक् हैं। जो स्वभावधर्म हैं वे ब्रह्मकी शक्तिरूप हैं और जो औपाधिक धर्म हैं वे ब्रह्मके गुण हैं। जिस प्रकार महासमुद्रमें अन्तःस्पन्द होनेपर उसकी तरङ्गमयी स्थिति हो जाती है और पुनः निस्तरङ्ग स्थिति हो जाती है। दोनों ही अवस्थाओंमें जिस प्रकार समुद्रका समुद्रत्व एकरस रहता है, इसी प्रकार ब्रह्मचैतन्यकी स्पन्दवाली अर्थात् स्वयं स्वरूपको जाननेवाली स्थिति (जिसे विमर्श कहते हैं) और पुनः अन्तर्मुख होनेकी स्थिति ब्रह्मके ब्रह्मत्वको बाध करनेवाली नहीं है। एक ही वस्तु अनेकाकार भासती है। उसमें जो वस्तु भासती है वह मिथ्या नहीं परन्तु सत्य है; हाँ, उसके आकारोंमें सत्यत्व-बुद्धिका होना भ्रम है। अतएव शक्तिवादमें ब्रह्मका विश्वमय भासना मिथ्या नहीं है, परन्तु उसमें जो भेद भासमान होते हैं उन्हें स्वतन्त्र सत्य माननेवाली बुद्धि भ्रमरूपा है। विश्वरूपमें भासनेकी ब्रह्मसामर्थ्यरूप शक्ति ब्रह्मपक्षपातिनी है। और उन आभासोंमें होनेवाली सत्यत्वबुद्धि मिथ्या-माया है। सारांश यह कि जो वस्तु अनेकाकार भासती है वह स्वयं सत्य है, परन्तु उन आकारोंमें सत्यत्वबुद्धि मिथ्या है। इसलिये शाक्त-अद्वैतमें यह विश्व ब्रह्मरूप होनेसे ब्रह्ममयीका विलास है अर्थात् अधिकरणकी चमत्कृति है। इसलिये विश्वका अनुभव ब्रह्मरूप होनेसे सत्य है यानी विश्व सत्य है। परन्तु विश्वके आभास ब्रह्मवस्तुसे पृथक् सत्य पदार्थ हैं, ऐसा मानना भ्रान्तिमय है और इसीसे यह संसार मायामय है। शाक्त-अद्वैती इस प्रकार अनुभवमें आनेवाले विश्वको सत्य मानते हैं और आभासमें सत्यत्वबुद्धिको अर्थात् संसरणको मिथ्या मानते हैं। लौकिक भ्रममें भी सीपीमें चाँदीकी प्रतीति होनेमें दर्शन तो वास्तविक सीपीका ही होता है, अतः अधिकरण सत्य है; परन्तु उसमें जो चाँदीका आभास होता है अर्थात् जो अध्यस्तरूपसे अधिकरणको दबाकर ऊपर उतराता रहता है उसे सत्य मानना भ्रान्ति है। इस प्रकार ब्रह्मवस्तुकी यह अधिकरणरूपसे रहनेकी और अन्यथा विश्वरूपसे प्रतीत होनेकी सामर्थ्य कहीं बाहरसे माँगकर नहीं लायी गयी है। क्योंकि **एकोऽहं बहु स्याम्—**

* गायत्रीके रहस्यविवरणके लिये देखिये गोपथब्राह्मण १। ३०। ३८; गायत्री-उपनिषद्; छान्दोग्य ३। १२; बृहदारण्यक अ० ५। १४; मैत्रायणी-प्रपाठक ५।

यह अनेकाकार होनेका आत्मस्वभाव आत्माकी स्वयम्भू शक्ति है, औपाधिक नहीं। वह स्वयं अपने सच्चिदानन्द-स्वभावका आवरण कर अनेक रूपसे विक्षिप्त होता है, जिससे अपनेको ढकनेका और अन्यथा दिखानेका बल ब्रह्मवस्तुका स्वाभाविक है। इसलिये इस शक्तिको आत्माकी स्वयम्भू दिव्यशक्ति (**देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्**) कहते हैं और वह स्वाभाविकी (**स्वाभाविकी ज्ञान-बलक्रिया च**) ज्ञान, इच्छा और क्रियारूपमें विभक्त होकर श्वेताश्वतर उपनिषद्में वर्णित हुई है।

ब्रह्मकी आद्याशक्तिके तीन विभागोंको प्राचीन उपनिषदोंमें अनेक नामोंसे कहा गया है। ऋग्वेदकी ऐतरेय शाखाके ब्राह्मणके उपनिषद्में कहा है, '**स ऐक्षत—**' 'उस परमात्माने संकल्प किया अथवा दृष्टि खोली। यह भीतरकी इच्छा-शक्तिका केन्द्रीभाव कहलाता है और इसे पीछेके तन्त्रशास्त्रोंमें परविन्दु कहा गया है। क्योंकि उस स्थितिमें ब्रह्मचैतन्यने एक केन्द्रमें घनीभूत होकर पहले संकल्प किया, उसके बाद उस परमात्मा अथवा ब्रह्मने कामको वेग दिया और बहुत गहरा निरीक्षण किया (**सोऽकामयत। तपोऽकुरुत**)। इस आदि-इच्छा होनेके बाद ज्ञानरूप वेगसे ब्रह्म '**तपसा अचीयत**' अर्थात् तपके द्वारा एकीकरणको प्राप्त होकर घनरूप हुआ और उसमेंसे प्राण-तत्त्वकी अभिव्यक्ति हुई। ब्रह्मवस्तुकी परविन्दु अवस्थामेंसे जो आद्य क्षोभ होकर प्राणतत्त्वका उदय हुआ उसे तन्त्रशास्त्रमें अपरविन्दु कहते हैं और व्याकरणागममें तथा मन्त्रशास्त्रमें उसे शब्दब्रह्म कहते हैं। इस प्राणतत्त्वके भेदके बाद पन्द्रह कलाओंमें सृष्टिकी रचनामें लगी हुई ब्रह्मवस्तुकी तीसरी शक्तिको क्रियाशक्ति कहते हैं, और वह स्रष्टव्य पदार्थोंके नियमोंमें आस्तिक्यबुद्धि (श्रद्धा) उत्पन्न करती है, पृथिव्यादि पाँच तत्त्वोंमें भोग्य जगत्को और उसे भोगनेके साधन 'करणों' को प्रकट करती है, आन्तर मनको बाह्य वेग प्रदान करती है, बाह्य क्रियाएँ कराती है और उसके सुख-दुःखादि विविध फलोंको प्रकट करती है। पृथिव्यादि पञ्चभूतमात्रा, इन्द्रियसमूह और मनसहित सात कलाओंसे कार्यकारणसङ्घात[१—८] अर्थात् देहरूप साधन निर्मित होता है; श्रद्धासे[९] उस शरीरमें स्थित चेतन कर्म करता है; उस कर्मसे नये-नये नाम[१०] धारणकर भोग्य पदार्थोंको (अन्न[११]) भोगता है; भोगसे पुनः-पुनः नयी-नयी क्रिया करनेकी शक्ति[१२] प्राप्त करता है और अनुभवसे (तप[१३]) ज्ञान दीप्ति करता है, मन्त्रादि[१४] दिव्य साधन प्राप्त करता है और पृथिव्यादि अनेक लोकोंमें[१५] जन्म-जन्मान्तर ग्रहण करता है। इस प्रकार क्रियाशक्ति पन्द्रह कलाओंके द्वारा भुवनोंको रचकर भोग्य, भोगसाधन, भोगभूमि आदि ब्रह्मवस्तुके आद्य सङ्कल्पको सृष्टिमें सफल बनाती है। ब्रह्मवस्तुकी इस क्रियाशक्तिको तन्त्रमें नाद कहते हैं और जिस द्रव्यमें उस नादकी लहरी जागृत होती है उसे बीज कहते हैं। औपनिषद् सिद्धान्तके इन मूल ईक्षण, तप और सर्जन नामक सूत्रोंमेंसे इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्तिके पारिभाषिक नाम वेदान्तशास्त्रमें प्रकट हुए हैं और बिन्दु, बीज, नाद— ये तन्त्रशास्त्रके यानी शक्तिवादके पारिभाषिक नाम प्रकट हुए हैं। इन सम्पूर्ण विचारोंके बीजक हमें आरण्यकके उपासना-प्रकरणोंमें मिल जाते हैं। और व्याकरणागमका[२] शब्द-ब्रह्मवाद उस शाक्तवादका प्राथमिक रूप है। ब्रह्मवस्तु खूब भरकर विश्वाकार बननेके लिये एक केन्द्रमें आती है उसका नाम परबिन्दु है और उसमेंसे ब्रह्मका प्रकाश आन्तर स्वरूपको परामर्श करनेवाले विमर्शरूपमें (**विशेषेण मृष्यते अनुभूयते**)—अपनेको भलीभाँति पहचान ले, ऐसी चैतन्यकी स्थिति (Self-consciousness) जागृत रहती है। उसमेंसे द्रव्यक्षोभ होनेसे जो अव्यक्त बिन्दु जागृत होता है उसका नाम अपरबिन्दु अथवा शब्दब्रह्मचैतन्य है। उस अपरबिन्दुका भेद होनेसे जडांशमेंसे बीज, अजडांशमेंसे बिन्दु अथवा अणु और जडाजड-अंशमेंसे नाद जागृत होता है। इन तीन भूमिकाओंको शक्तिवादमें इच्छा, ज्ञान, क्रिया नाम्नी परब्रह्म अथवा परशिवकी स्वाभाविकी अध्यात्मशक्ति माना जाता है। शक्तिके स्फुरणवाले ब्रह्मचैतन्यको शिव कहते हैं और वह शक्तिमान् कहलाता है। ब्रह्मवस्तुके परबिन्दु, अपरबिन्दु और उसके तीन विभाग-बिन्दु, बीज, नादको संक्षेपमें समझानेके लिये वेदवादियोंने एक प्रतीककी रचना की, जिसे त्रिपुरधाम कहते हैं, जैसे शिवका प्रतीक अथवा पूज्य आकृति लिङ्गात्मक है, जैसे विष्णुका प्रतीक अथवा पूज्य चिह्न शालग्रामकी शिला है, वैसे ही शक्तिका

१—देखिय प्रश्नोपनिषद् ६। ४।

२—देखिये वाक्यपदीयकी ब्रह्मकाण्ड और उसपर पुण्यराजकी टीका, देखिये वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा।

प्रतीक अथवा पूज्य आकृति सबिन्दु त्रिकोण[१] है। इसमें मध्य बिन्दु परबिन्दुका सूचक है और तीनों कोनोंके सिरे अपरबिन्दुके बिन्दु (चिदंश), बीज (अचिदंश) और नाद (चिदचिदंश)-के सूचक हैं। इस सम्पूर्ण आकृतिकी अधिष्ठातृदेवता अथवा देवीको त्रिपुरा कहते हैं। इस मूल प्रतीकका सर्वांश विवरण या प्रस्तार श्रीचक्र और उसको समझानेवाली विद्या श्रीविद्या कहलाती है।

इस त्रिपुरधामकी अधिष्ठात्री देवीको त्रिपुराके अतिरिक्त आरण्यक ग्रन्थोंमें सुभगा, सुन्दरी, अम्बिका आदि भी कहा गया है। यह धर्म, अर्थ, काम—इन तीन पुरुषार्थोंको सिद्ध करती है और ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य—छः भग अर्थात् दिव्य गुणोंको प्रदान करती है, इसलिये इसे सुभगा कहते हैं। इसकी उपासनाका वर्णन करनेवाले वेदकाण्डको सौभाग्यकाण्ड कहते हैं और वह अथर्ववेदका भाग माना जाता है। उस काण्डके मन्त्र इधर-उधर कई उपनिषदोंमें संगृहीत हुए जान पड़ते हैं और कितने ही मन्त्र आरण्यकमें यज्ञप्रक्रियामें अभी मिले ही पड़े हैं। उन मन्त्रोंका मौलिक अर्थ यज्ञविद्याविषयक लगनेपर भी उनका आध्यात्मिक अर्थ देवीकी उपासनाविषयक है। उन्हीं मन्त्रोंसे सम्बन्ध रखनेवाले परशुरामादिके कल्पसूत्र हैं और उनकी अनुष्ठानपद्धति अनेक ग्रन्थों, आगमों, यामलों और तन्त्रग्रन्थोंमें पायी जाती है। इस शक्तिवादके रहस्यका साहित्य उपनिषदोंमें है और अभी शक्तिविषयक उपनिषद् सर्वांशमें प्रकाशित भी नहीं हुए हैं।

जगत्की उत्पत्ति करनेवाली इच्छाशक्तिको त्रिपुरा नाम दिया गया है। इसमें नीचेके तीन भुवन (भूः, भुवः और स्वः) और उसके भोक्तृ-भोग्य पदार्थ जिसमें समा जाते हैं, उस त्रिलोकीकी भावनाको जगानेवाली लोकप्रसिद्ध त्रिपदा गायत्री सांख्यशास्त्रके चौबीस अक्षरोंके द्वारा चौबीस तत्त्वोंको स्पष्ट करनेवाली (शांखायनसगोत्रा गायत्री) है। उस त्रिपदाके अतिरिक्त (त्रिपाद ऊर्ध्वनारायणस्वरूपका ज्ञान करानेवाली) गायत्री[२] संसारके राग और भौतिक रजोगुणके द्वारा परवस्तुका बोध करनेवाली 'त्रिपुरा' है। उसका दूसरा नाम श्रीविद्या है। अपरा त्रिपुराको ब्रह्मवादीगण अपर ब्रह्म कहते हैं और परा त्रिपुराको परब्रह्म। अपरा त्रिपुराकी उपासना सरजो ब्रह्मलोक अर्थात् मैथुनी सृष्टिके लोकमें या पितृयानमें ले जाती है और वह लोक पुनरावृत्तिवाला है। परा त्रिपुराकी उपासना विरजो ब्रह्मलोक अर्थात् दिव्य सृष्टिके लोकमें या देवयानमें ले जानेवाली होती है और वह अपुनरावृत्तिवाला लोक है। मध्यम यान सूर्यलोक अर्थात् महेन्द्रलोक (महः) का है[३]।

(३) शक्तिवादका उपनिषत्साहित्य वेदांगसहित

कासि त्वं महादेवि। साब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी।

(देव्युपनिषद्)

ब्रह्मचैतन्यके स्वभावधर्म अर्थात् शक्तिके बोधक उपनिषद् निम्नलिखित हैं—

१ त्रिपुरा
२ त्रिपुरातापिनी
३ देवी
} ये तीनों १०८ उपनिषदोंके समूहमें ८३, ८४, ८५ की संख्याके हैं।
४ बह्वृच .... समुच्चयमें १११ की संख्याका है।
५ भावना .... समुच्चयमें ८७ की संख्याका है।
६ सरस्वतीहृदय समुच्चयमें ११० की संख्याका है।
७ सीता .... १०८ उपनिषदोंके समूहमें ४७ की संख्याका है।
८ सौभाग्यलक्ष्मी—उपनिषदोंके समूहमें १०९ की संख्याका है।
९ काली .... Tantrik Texts की ११वीं जिल्दमें प्रकाशित है।
१० तारा .... ,,
११ अद्वैतभाव .... ,,
१२ अरुणा .... ,,
१३ कौल .... ,,
१४ श्रीविद्यातारक .... अप्रकाशित है, गायकवाड़-पुस्तकालयकी सूचीमें १८३७ की संख्यामें है।

इन उपनिषदोंमें काली, कौल और श्रीविद्यातारक नामक उपनिषद् वेदकी शाखासाहित्यमें नहीं मिलते, इससे इनको तन्त्रशास्त्रके उदयके बादके मानना चाहिये। परन्तु दूसरे अधिकांश उपनिषद् मन्त्र अथवा ब्राह्मणसमूहमें

१—देखिये त्रिपुरमहोपनिषद्का 'तिस्रःपुरः' आदि प्रथम मन्त्र।
२—'परोरजसेऽसावदोम्' जिसे गायत्रीका गुप्त चतुर्थ पाद कहते हैं।
३—सरजो ब्रह्मलोक और विरजो ब्रह्मलोकके भेदके लिये देखिये प्रश्नोपनिषद् १। १५-१६।

मिलते हैं, इसलिये मूलमें निश्चय ही ये वेदसाहित्यके हैं। त्रिपुराका दूसरा नाम त्रिपुरामहोपनिषद् है। उसमें सोलह मन्त्र हैं। वे ऋचाएँ हैं। शाकलसंहिता और कौषीतकी ब्राह्मणके साथ सम्बन्ध रखनेवाले आरण्यकमें बह्वृच ब्राह्मणोंके पाठमें ये मन्त्र आते हैं। साथ ही शांखायन कल्पसूत्रके साथ* इन मन्त्रोंका विनियोग समझा जाता है, जिससे मालूम होता है कि ये निश्चय ही श्रौतसाहित्यके मन्त्र हैं। इस उपनिषद्पर अप्पय्य दीक्षित, भास्करराय और रामानन्दके भाष्य हैं।

त्रिपुरातापिनीमें मूल श्रीविद्याकी पञ्चादशाक्षरीका उद्धार है। उसमें देवीकी स्थूल पूजनपद्धति तथा सूक्ष्म पद्धति दी गयी है। तीन देवी-मन्त्रोंका उसमें उद्धार है। गायत्री-मन्त्रका शक्तिवादमें तात्पर्य दिखाया गया है और अन्तमें निर्गुण ब्रह्मविद्याका भी प्रतिपादन है। उसपर अप्पय्य दीक्षित और भास्करराय आदिके भाष्य हैं। नृसिंहतापिनीकी जैसी ही उसकी रचना है। नृसिंहतापिनी अनुष्टुप्पर रची हुई विद्या है और त्रिपुरातापिनी त्रिपदा गायत्रीपर रचित है।

देव्युपनिषद्में वाक्सूक्तके तथा श्रीसूक्तके मन्त्र हैं और साथ ही उसमें श्रीविद्याकी पञ्चदशी भी है। यह उपनिषद् अथर्ववेदके सौभाग्यकाण्डका माना जाता है।

बह्वृच उपनिषद्में शक्ति-सम्प्रदायकी कादि और हादि विद्याका उद्धार है और ललितारूपसे परब्रह्मका चिन्तन है। शक्तिके मूल पञ्चादशाक्षरी मन्त्रमें, जिस मतमें 'क' वर्ण आरम्भमें आया है, उसे कादि मत कहते हैं और जिसमें 'ह' वर्ण आदिमें आया है उसे हादि मत कहते हैं।

भावनोपनिषद् देवीके परस्वरूपका भान करानेवाला है; उसमें श्रीविद्याकी अध्यात्मप्रतिष्ठा है। इसपर अप्पय्य दीक्षित और भास्कराचार्यके भाष्य हैं। शाक्त अद्वैतवादकी भित्ति इसी उपनिषद्पर है।

सरस्वतीहृदयमें ऋग्वेदसंहिताके सरस्वती-सम्बन्धी सारभूत मन्त्र हैं और उसका तान्त्रिक विनियोग है। संहितामें होनेके कारण मन्त्रोंके प्राचीन होनेमें किंचित् भी सन्देह नहीं है।

सीतोपनिषद् वैष्णवागमके बादका है और रामभक्तिकी व्यापकताके पश्चात्का मालूम होता है। संहिता-ब्राह्मणमें उसका स्थान नहीं मिलता।

सौभाग्यलक्ष्मीमें श्रीसूक्त, जो ऋग्वेदके चौथे अष्टकके चौथे अध्यायके चौंतीसवें वर्गमें आया है और जो खिल अथवा परिशिष्ट सूक्तोंमें आया है, उसका तान्त्रिक विनियोग है और नवचक्रमें देवीकी उपासना किस प्रकार करनी चाहिये, यह समझाया गया है।

काली, तारा, अद्वैतभाव, कौल और श्रीविद्यातारक प्राचीन नहीं किन्तु वाममार्गके प्रचारके बादके मालूम होते हैं। इनमें तारा तो बौद्धोंकी देवी है।

अरुणोपनिषद् तैत्तिरीय आरण्यकके अन्तर्गत है। यह उपनिषद् १०८ उपनिषदोंके समुच्चयमें आनेवाले आरुणिकोपनिषद्से पृथक् है। उस अरुणा नामक शाक्त उपनिषद्की टीका, लक्ष्मीधरकी जो सौन्दर्यलहरीपर टीका है, उसके अन्तर्गत हुई है।

वेदके छः अङ्गोंमें व्याकरणागम मुखरूप माना जाता है। व्याकरणागममें याक्को चैतन्यकी शक्तिके रूपसे स्वीकृत किया है और उसका आधार ऋग्वेदकी श्रुतियोंमें है, ऐसा माना जाता है। ऋग्वेदके एक मन्त्रमें (अ० २। ३। २२। ५) कहा है कि 'वागदेवीके चार पाद हैं, उसे बुद्धिमान् ब्राह्मण जानते हैं। उसके तीन पाद गुहामें गुप्त हैं और सिर्फ उसके चौथे पादको ही मनुष्य प्राणी जानते हैं।' इस मन्त्रके अनेकों विवरण हुए हैं। मन्त्रशास्त्रानुसार वाक् ब्रह्मतत्त्वकी शक्ति है। उसके परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये चार रूप उसके चार पाद हैं। इनमें परा, पश्यन्ती और मध्यमा—ये तीनों बुद्धि, मन और प्राणकी गुहामें गुप्त रहनेवाले पाद हैं और केवल प्रत्यक्ष वैखरी वाणी मनुष्यकी समझवाला पाद है। वैयाकरण लोग जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा—इस प्रकार शब्दके चार पाद मानते हैं। निरुक्तकार नाम, आख्यान, उपसर्ग और निपात—ऐसे चार पाद मानते हैं। परन्तु मूल श्रुतिका तात्पर्य पुण्यराजकृत भर्तृहरिके वाक्यपदीयके विवरणसे ऐसा समझा जाता है कि चैतन्यका बहिर्गामी वेग वाक् है। पुण्यराजके शब्दोंमें कहें तो प्रत्यगात्मा जो अन्तर्निष्ठ है उसका अन्य प्राणीको प्रबोध देनेके प्रयत्नका नाम शक्ति है और वह आत्म-वस्तुमेंसे स्रवित होता है। अर्थसे अपृथक् यह शक्ति सूक्ष्म वाक्देवी है। भर्तृहरिके ब्रह्मकाण्डमें इस आत्मचैतन्यकी शक्तिको सम्पूर्ण शब्दों

* देखिये त्रिपुरोपनिषद्पर भास्कररायका भाष्य।

और अर्थोंकी प्रकृति कहा है—(वा० प० १-१०)। 'यह देवीवाक् इस प्रपञ्चमें बिखरी हुई दीखती है' (वा० प० १। १५६)। सारांश यह कि व्याकरणागमके अनुसार शब्दब्रह्म अथवा वाक्मूल परब्रह्मका अपररूप है और उस अपरब्रह्मको जाननेवाला परब्रह्मका अनुभव कर सकता है। यह शब्द-ब्रह्म या अपरब्रह्मशक्तिका पर्याय है। शब्द कूटस्थ स्फोटरूप है या वर्णात्मक है, यह एक विवादका विषय है; परन्तु स्फोटात्मक अथवा वर्णात्मक शब्द मूल ब्रह्मकी शक्ति है, इस विषयमें विषाद नहीं है। वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषामें शक्तिवादका आश्रय लेकर यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि परमेश्वरकी सर्जन करनेकी इच्छासे मायावृत्ति प्रकट होती है। उसमेंसे तीन गुणोंवाला अव्यक्त बिन्दु प्रकट होता है। इस बिन्दुरूप अव्यक्तको ही शक्तितत्त्व समझना चाहिये। उस बिन्दुका जड अंश बीज, चैतन्य अंश (अपर) बिन्दु और मिश्र अंश नाद है।

(४) शक्तिवादका सूत्रसाहित्य

अथातः शक्तिजिज्ञासा। (अगस्त्यसूत्र १)

वेदके कर्मपर श्रौत, गृह्य और धर्म—इन तीन शाखाओंपर जो सूत्र हैं उन्हें कल्पसूत्र कहते हैं। इसी प्रकार शक्तिविषयक सौभाग्यकाण्डपर भी बड़ा भारी सूत्रसाहित्य है। परशुरामका दशखण्डी कल्पसूत्र है। ग्रन्थ बहुत छोटा है, परन्तु उसपर शाक्तोंके आचार-विचारोंकी रचना हुई है। उसमें (१) दीक्षाखण्ड, (२) गणेशपद्धति, (३) ललिताक्रम, (४) पन्द्रह नित्या तथा प्रधान देवताका लयाङ्गपूजन, (५) श्रीचक्रपूजनपद्धति, (६) काम्यप्रयोग, (७) निष्कामप्रयोग, (८) सम्पूर्ण मन्त्रोंकी सामान्य पद्धति, (९) समयाचारसंग्रह, (१०) कौलाचारसंग्रह—इतने विषय हैं। शाक्तमतके अनुभवी विद्वानोंका कथन है कि मूल दत्तसंहितामें अठारह हजार श्लोक थे। परशुरामने उसका छः हजार सूत्रोंमें संक्षेप किया और उसमें पचास काण्ड थे। हारीतगोत्रके सुमेधाने इसका भी संक्षेप किया और वह इस समय दशखण्डीके नामसे प्रसिद्ध है। भास्करराय (ई० स० १६६८—१७६४)-के शिष्य उमानन्दनाथने नित्योत्सव नामक सूत्रपर निबन्ध लिखा है, और उनकी शिष्यपरम्परामें रामेश्वरने (ई० स० १७३१) सूत्रपर वृत्ति लिखी है। परशुरामकल्पसूत्र 'गायकवाड़ संस्कृतग्रन्थावलि' से प्रकाशित हुआ है।

फिर जैसे वेदके ज्ञानकाण्डपर जैमिनिका प्रातिशाख्य-ब्रह्मसूत्र है और शाखापर ब्रह्मवादका बादरायणरचित ब्रह्मसूत्र है, उसी प्रकार शाक्तसिद्धान्तको स्थापित करनेवाले अगस्त्यमुनिके शक्तिसूत्र हैं। इनके सिवा भरद्वाजके भी शक्तिधर्मके सूत्र हैं। ये सूत्र अभी प्रकाशित नहीं हुए, परन्तु मूलग्रन्थोंको प्राप्त करके पढ़े गये हैं।

इसके सिवा नागानन्दके भी शक्तिसूत्र हैं, ऐसा भास्कररायकी सप्तशतीकी टीका तथा ललितासहस्रनामकी टीकासे समझमें आता है। त्रिकदर्शन, जो काश्मीरमें प्रकट हुआ है, उसकी परम्परामें प्रत्यभिज्ञामतके शक्तिसूत्र हैं और उसके कर्ता क्षेमराज हैं। ये 'काश्मीरग्रन्थावलि' से प्रकाशित हुए हैं।

महर्षि अङ्गिराके दैवीमीमांसादर्शनके सूत्र हैं, उसके पहले पादका नाम रसपाद है, और उसमें परमेश्वरके रसात्मक स्वरूपका प्रतिपादन किया गया है। दूसरे पादका नाम उत्पत्तिपाद है, उसमें शाक्त-अद्वैतानुसारिणी शक्तिवादकी प्रक्रिया है, और ब्रह्म तथा शक्तिका अभेद प्रतिपादन किया गया है।

श्रीशङ्कराचार्यके परमगुरु श्रीगौडपादाचार्यके भी श्रीविद्यारत्नसूत्र हैं, वे 'प्रिंसेस आफ वेल्स सरस्वतीभवन ग्रन्थावलि' से कुछ वर्ष पहले प्रकाशित हुए थे। उनपर शङ्कराण्यकी टीका है।

इस मीमांसासे स्पष्ट मालूम होता है कि वेदवादके सूत्रोंकी तरह शाक्तवादका भी विपुल सूत्रसाहित्य है, और उसकी खोज होना बहुत आवश्यक है।

(५) शक्तिवादका आगमसाहित्य अथवा तन्त्रसाहित्य

तन्त्रकृत्तन्त्रसम्पूज्या तन्त्रेशी तन्त्रसम्मता।
तन्त्रेशा तन्त्रवित्तन्त्रसाध्या तन्त्रस्वरूपिणी॥

(ब्रह्मयामल)

श्रौतकाल पूर्ण होनेके बाद उसके अनुसन्धानमें आगम-ग्रन्थोंका आविर्भाव हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद्में पञ्चामृत विद्याका वर्णन है। उसमें सूर्यबिम्बको देवमधु संज्ञा दी गयी है, और वह अपनी पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—चार दिशाओंकी किरणोंद्वारा ब्रह्माण्डमें मधुरसका प्रसरण करता है। पूर्व दिशाकी किरणें ऋग्वेदरूपी पुष्पका रस खींचती हैं और उसमेंसे जो मधु उत्पन्न होता है उससे वसु देवता अग्निद्वारा तृप्त होते हैं; दक्षिण

दिशाकी किरणें यजुर्वेदके पुष्परसको चूसती हैं और उससे उत्पन्न अमृतसे रुद्रदेवता इन्द्रद्वारा पुष्ट होते हैं; पश्चिम दिशाकी किरणें सामवेदके पुष्पोंका रस खींचती हैं और उसके अमृतसे आदित्य देवता वरुणद्वारा तृप्त होते हैं, और उत्तर दिशाकी किरणें अथर्ववेदके पुष्पोंके सारको खींचती हैं और उसके अमृतसे मरुत् देवता सोमद्वारा पुष्ट होते हैं। विद्यारूपी अमृत अथवा मधुके आधारपुष्प ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदमें अवस्थित हैं और उनके सारको भगवान् सूर्य अपने बिम्बमें खींचकर उससे वसु, रुद्र, आदित्य और मरुत्—इन देवताओंके गण अनुक्रमसे अग्नि, इन्द्र, वरुण और सोम—इन चार अध्यक्षोंद्वारा मधुरस भोगकर तृप्त होते हैं। इन चार मुखोंके रूपकवाले ब्रह्मदेवको चारों वेदोंका प्रवर्तक माना गया है। परन्तु उसी उपनिषद्‌में सूर्यके ऊर्ध्वमुखका वर्णन है। उसकी किरणें परोरजा कहलाती हैं, क्योंकि उसमें रजस् अर्थात् रजोगुण या रागका स्पर्श नहीं है। उसकी किरणें 'गुह्य आदेश' को खींचती हैं और उसे ब्रह्मतत्त्वके पुष्पमेंसे खींचती हैं, और उसका जो मधु होता है उसे प्रणवद्वारा साध्य देवता अर्थात् सिद्धजन भोगते हैं। इस 'गुह्य आदेश' को आगम कहते हैं, और जो चारों वेदोंमें प्रकट आदेश है उसे निगम कहते हैं। आगमवादी इस ऊर्ध्वमुखको परमेश्वरका अर्थात् शिवका पञ्चम मुख कहते हैं और वह ऊर्ध्वस्रोतद्वारा ब्रह्मविद्या चार वेदोंमें ही समाप्त नहीं हो जाती, परन्तु देश, काल और निमित्तोंके परिवर्तनसे युगानुसार सिद्धजनोंद्वारा प्रकट होती है। इसीलिये माण्डूक्य-उपनिषद्‌को आगमप्रकरण ही कहते हैं। आगमका लक्षण वाचस्पति मिश्रने इस प्रकार किया है कि जिससे भोग और मोक्ष दोनोंका स्वरूप समझा जा सके वह आगम है। प्राचीन वेदसाहित्य कर्मकाण्डद्वारा केवल स्वर्गादि भोग-साधनोंका स्वरूप समझाता है अथवा ज्ञानकाण्डद्वारा केवल मोक्षका स्वरूप और उसके साधन बतलाता है। परन्तु पञ्चम आगमसाहित्य भोग और मोक्षकी एकवाक्यता करके क्रमपूर्वक व्यवहारसुख और परमार्थसुख दोनों दे सकता है।

इस आगमसाहित्यका आविर्भाव बुद्धनिर्वाणके बाद कई सदियोंतक हुआ ज्ञात होता है, और प्रत्येक देवतावादके विषयका आगमसाहित्य है। शैव-सम्बन्धी शैवागमसाहित्य, वैष्णव-सम्बन्धी सात्वततन्त्र अथवा पाञ्चरात्रसाहित्य, सौर-सम्बन्धी सौर-साहित्य और गाणपत्य-सम्बन्धी गाणपत्य आगमसाहित्य है। जैन और बौद्ध भी इसी प्रकार अपने-अपने आगमसाहित्यको मानते हैं। इस सम्पूर्ण साहित्यमें शक्तिवाद रूपान्तरसे प्रविष्ट मालूम होता है और उसके विचार या क्रियाकी पद्धति जिसमें सविस्तर वर्णन की गयी हो ऐसे ग्रन्थोंको 'तन्त्र' कहा गया है। देवताके स्वरूप, गुण, कर्म आदिका चिन्तन जिसमें किया गया हो, तद्विषयक मन्त्रोंका उद्धार किया गया हो, उन मन्त्रोंको किस प्रकारके यन्त्रमें संयोजित कर देवताका ध्यान करना, यह बताया गया हो, उस-उस देवताकी उपासनाके पाँच अङ्ग—पटल, पद्धति, कवच, नामसहस्र और स्तोत्र व्यवस्थितरूपसे जिसमें दिखाये हों ऐसे ग्रन्थोंको तन्त्र कहते हैं। इन तन्त्रोंका विपुल साहित्य था, परन्तु अब उसके केवल खण्डमात्र ही उपलब्ध होते हैं। नालन्दाके बौद्ध विद्यापीठमें तन्त्रोंका अध्यापन होता था। मुसलमान राज्यके आक्रमणके समय बौद्ध और हिन्दुओंके बहुत-से तन्त्रग्रन्थ नष्ट हो गये। श्रीरसिकमोहन चट्टोपाध्यायने इस होलीकी आगमें पड़े हुए तन्त्रग्रन्थोंमेंसे कुछका रक्षण किया है, और आर्थर एवलेन (सर जॉन वुडरफका गुप्त नाम)-ने भी बहुत-से तन्त्रोंका उद्धार किया है। इस तन्त्रसाहित्यके गहरे अभ्यासियोंका साम्प्रदायिक मन्तव्य ऐसा है कि सृष्टिके आरम्भसे ही सुयोग्य गुरु-शिष्य-परम्परासे यह 'गुह्य आदेश' चला आता है, इसका आत्यन्तिक नाश न कभी हुआ और न होना ही सम्भव है। युगधर्मके अनुसार वे आदेश दिव्यगुरु, सिद्धगुरु या मनुष्यगुरुद्वारा प्रकट होते हैं और उसका सम्प्रदाय प्रजाके अमुक विभागमें कायम रहता है। जिस प्रकार माताके जारको जाननेवाला पुत्र उस गुप्त बातको किसीके सामने प्रकट नहीं करता, वैसे ही तान्त्रिक भी योग्य अधिकार बिना किसीके सामने कुछ भी नहीं कहता और योग्य अधिकारका विश्वास होनेपर भी वह उस गुह्य आदेशको शिष्यके प्रति उतना ही प्रकट करता है जितना उसके लिये उपयोगी हो। फिर वह शिष्य अपनी साधन-सिद्धिके क्रमसे सिद्धिपदको प्राप्त करता है और अन्तमें पूर्णाभिषिक्त होता है।

विमलानन्द स्वामीका (जो एक अनुभवी तान्त्रिक मालूम होते हैं) कथन है कि ब्रह्मविद्या चारों युगोंमें उपासनाद्वारा आगम अथवा तन्त्रद्वारा प्रकट हुई है।

सत्ययुगमें जब देवताओंके लिये सकाम कर्म बहुत होते थे तब यह ब्रह्मविद्या उमा हैमवतीद्वारा इन्द्रादि देवताओंके सामने प्रकाशित हुई थी, अम्भृण मुनिकी पुत्रीको वाक्सूक्तमें प्रकट हुई थी। त्रेतायुगमें, जब पशुयज्ञकी अतिशयता हुई तब यह ब्रह्मविद्या वसिष्ठ, विश्वामित्र, जनक, परशुराम आदि ब्रह्मर्षि और राजर्षियोंद्वारा प्रकट हुई थी। वसिष्ठ मुनिके चीनाचारद्वारा तन्त्र प्रकाश करनेकी बात मानी ही जाती है; विश्वामित्रकी तन्त्रविद्या गन्धर्वतन्त्रके प्रथम पटलमें है और प्रसिद्ध गायत्रीकी सम्पूर्ण रहस्यपद्धति विश्वामित्रने ही रची थी, ऐसा मालूम होता है। आज भी विश्वामित्रका गायत्रीस्तवराज इसकी साक्षी दे रहा है। विदेहराज जनकके तान्त्रिक जीवनके अनेकों प्रसङ्ग गार्गी, सुलभा आदिके आख्यानोंमें पाये जाते हैं। कालिकुलसर्वस्वमें परशुरामके तान्त्रिकत्वका वर्णन है और उनका कल्पसूत्र दशखण्डी अबतक विद्यमान है। द्वापरयुगमें जब हविर्यज्ञकी अतिशयता हुई तब ब्रह्मविद्याका स्थापन श्रीकृष्णने आगमद्वारा किया था। भगवद्गीता श्रीकृष्णका प्रसिद्ध आदेश है और गुह्य आदेश राधातन्त्रमें, देवीभागवतमें और महाभारतके अनुशासनपर्व (अ० १४)-में समाया हुआ ज्ञात होता है। विराटपर्वके छठे अध्यायमें देखा जाता है कि पाण्डव, राजर्षि भीष्म, वेदव्यास, शुकदेव, असित, देवल, दुर्वासा आदि शक्तिवादके रहस्यको जानते थे। अन्तके युग इस वर्तमान कलिमें दुर्गापूजा तथा अनेक व्रत आदिमें तन्त्रमार्ग मिला हुआ मालूम होता है। यह अलग बात है कि साधन करनेवाले लोग अपने साधनके तन्त्रानुसारी मर्मको नहीं समझते, परन्तु तान्त्रिक कर्म और उपासना वैदिक कर्म और उपासनाके साथ चारों ओरसे गुँथी हुई है। यह आगमशास्त्र शक्तिविषयक तीन व्यूहोंमें बँटा हुआ है। सत्त्वादि तीन गुणोंके आधारपर इन तीन व्यूहोंको तन्त्र, यामल और डामर कहते हैं। प्रत्येकमें चौंसठ ग्रन्थोंका समास कर सम्पूर्ण साहित्य एक सौ बानवे ग्रन्थोंमें ग्रथित माना जाता है। साहित्यके इन तीन व्यूहोंको पृथ्वीके तीन विभाग कल्पितकर तीन खण्डोंमें बाँट दिया गया है। पहले खण्डको अश्वक्रान्त, दूसरेको रथक्रान्त और तीसरेको विष्णुक्रान्त कहते हैं। भूमण्डलके इस प्रत्येक विभागमें कौन-कौन-से प्रदेश आते हैं इस बातके निश्चित करनेका साधन मुझे आजतक नहीं मिला। परन्तु यह व्यूह खास करके सम्पूर्ण जम्बूद्वीप अर्थात् एशियाखण्डकके लिये लागू पड़ता है; और उसमें चीन, जापान आदि प्रदेशोंके तान्त्रिक आचार अथवा देवतावादका समास मालूम होता है। उदाहरणार्थ, दस महाविद्याओंमेंसे तारा देवी बौद्धोंकी मुख्य देवता है और उसकी उपासना मुख्यतया बौद्ध देशोंमें होती है और भारतवर्षमें उसका गौण प्रचार है। ज्येष्ठा नामकी देवीकी मूर्तियाँ खुदाईमें निकली हैं और इससे अनुमान होता है कि उस देवीकी पूजापद्धतिका अच्छा प्रचार रहा होगा।

मुख्य चौंसठ तन्त्रग्रन्थोंका पूरा पता अभी नहीं लग सका है, तथापि मुख्य तन्त्रोंके देखनेसे मालूम होता है वे नीचे लिखे अनुसार हैं। यह सूची वामकेश्वर तन्त्रानुसार और (ई० स० १७२४) भास्कररायके मतानुसार दी गयी है। कुलचूड़ामणि तन्त्र तथा सौन्दर्यलहरीके टीकाकार लक्ष्मीधरके (ई० स० १२६८—१३७९) मतानुसार जहाँ नामभेद हैं वहाँ वे कोष्ठके अन्दर नामभेद लिख दिये गये हैं।

१ महामाया (कुलचूड़ामणि तन्त्रानुसार मायोत्तर), २ शम्बर (कु० चू० तन्त्रानुसार महासारस्वत), ३ योगिनीजालशम्बर, ४ तत्त्वशम्बर (सौन्दर्यलहरीके टीकाकार लक्ष्मीधरके मतानुसार नं० २, ३, ४ एकतन्त्र हैं, शम्बर वामजुष्ट और वामदेव पृथक् तन्त्र माने गये हैं); ५—१२ भैरवाष्टक-असिताङ्ग, चरु, चण्ड, क्रोध, उन्मत्त, कपालि, भीषण, संहार, १३—२० बहुरूपाष्टक—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, माहेन्द्री, चामुण्डा, शिवदूती; २१—२८ यामलाष्टक—ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, रुद्रयामल, लक्ष्मीयामल, उमायामल, स्कन्दयामल, गणेशयामल, ग्रहयामल; २९ महोच्छ्रय (कु० चू० तन्त्रानुसार तन्त्रज्ञान, सौ० ल० टी० लक्ष्मीधरके मतानुसार चन्द्रज्ञान—नित्या षोडशीका), ३० वातुल [कु० चू० तन्त्रानुसार वासुकि, सौ० ल० टी० लक्ष्मीधरके मतानुसार मालिनी (समुद्रयानविद्या)], ३१ वातुलोत्तर (कु० चू० तन्त्रानुसार महासम्मोहन), (सौ० ल० टी० लक्ष्मीधरके मतानुसार महासम्मोहन-वाममार्गका), ३२ हृद्भेद (कापालिक मतका), ३३ मन्त्रभेद [अभिचारविरुद्ध प्रयोगका] (कु० चू० तन्त्रानुसार महासूक्ष्म), ३४ गुह्यतन्त्र [अभिचारविरुद्ध प्रयोगोंका], ३५ कामिक [कामशास्त्रका], ३६ कलावाद (कु० चू० तन्त्रानुसार कलापक अथवा कलापद),
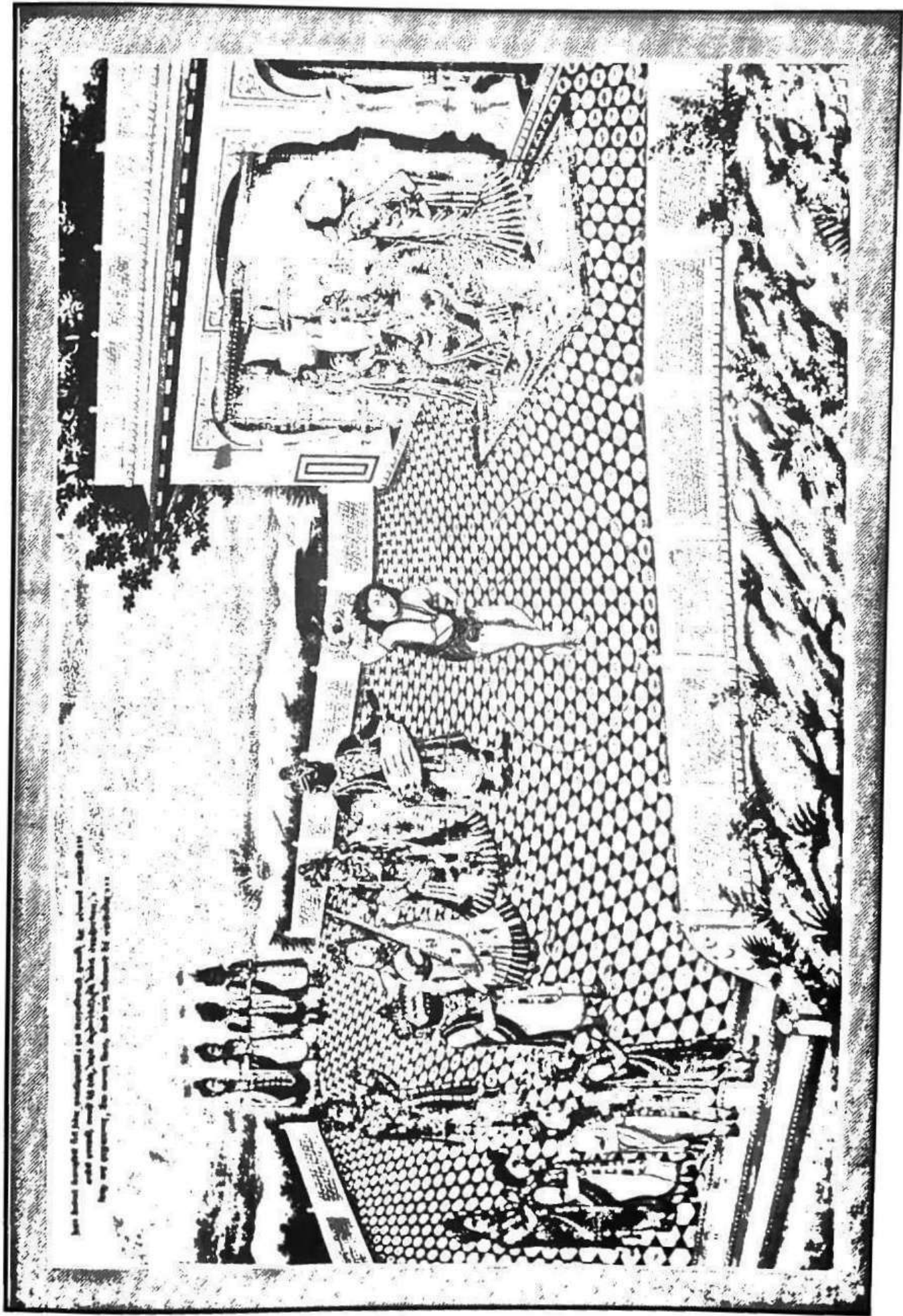
उमाके सामने शिवका प्रदोष-नृत्य

श्रीसरस्वती देवीकी झाँकी—बीकानेर
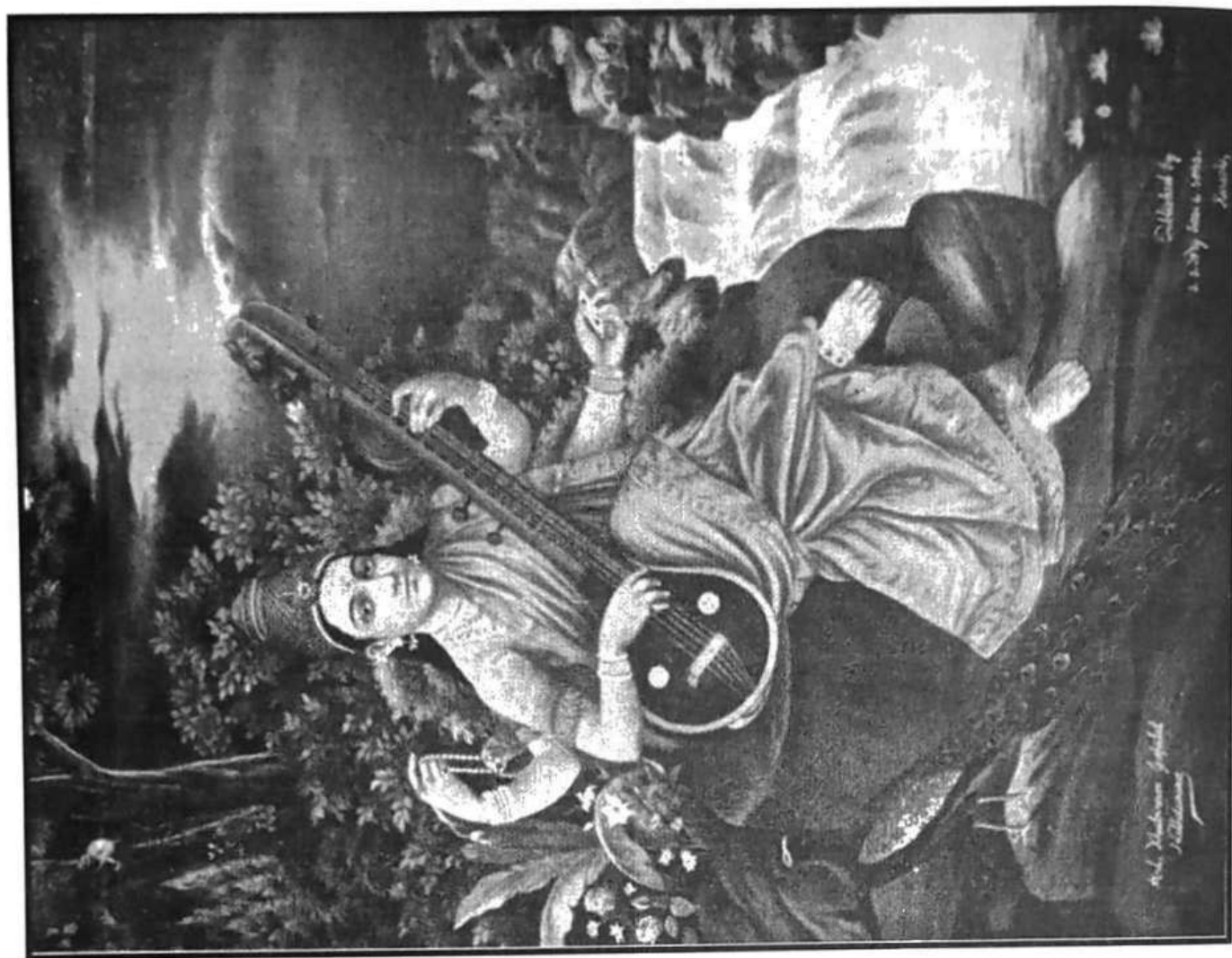
श्रीसरस्वती देवी

३७ कलासार [वर्णोत्कर्ष-विद्या], ३८ कुब्जिकामत (आयुर्वेदविषयक), ३९ तन्त्रोत्तर (कु० चू० तन्त्रानुसार वाहन), ४० वीणातन्त्र (यक्षिणी-प्रयोगका), ४१ त्रोडल, ४२ त्रोडलोत्तर [नं० ४१, ४२ गुटिका, अञ्जन और पादुका-सिद्धिके प्रयोगोंके हैं], ४३ पञ्चामृत [पञ्च भूतोंके देहस्थ पुट किस प्रकार अजरामर रहते हैं इस विषयका], ४४ सूर्यभेद, ४५ भूतोड्डामर [नं० ४४, ४५ मारणादि प्रयोगोंके है], ४६ कुलसार, ४७ कुलोड्डीश, ४८ कुलचूड़ामणि (कु० चू० तन्त्रानुसार वाहनोत्तर), ४९ ···· ५० महाकालीमत (कु० चू० तन्त्रानुसार मातृभेद), ५१ महालक्ष्मीमत (सौ० ल० टी० लक्ष्मीधरके मतानुसार अरुणेश), ५२ सिद्धयोगेश्वरीमत (सौ० ल० टी० लक्ष्मीधरके मतानुसार मोहिनीश), ५३ कुरूपिकामत (सौ० ल० टी० लक्ष्मीधरके मतानुसार विकुण्ठेश्वर), ५४ देवरूपिकामत (सौ० ल० टी० लक्ष्मीधरके मतानुसार देवीमत), ५५ सर्ववीरमत, ५६ विमलामत [नं० ५०—५६ ये सात कापालिक मतके हैं], ५७ आम्नाय—पूर्वाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, दक्षिणाम्नाय, उत्तराम्नाय, ५८ निरुत्तर, ५९ वैशेषिक, ६० शानार्णव, ६१ वीरावलि (जैनतन्त्र) (कु० चू० तन्त्रानुसार विश्वात्मक), ६२ अरुणेश, ६३ मोहिनीश, ६४ विशुद्धेश्वर।

इन चौंसठ तन्त्रोंमें अनेकों व्यावहारिक तथा पारमार्थिक विद्याओंका समास हुआ मालूम होता है। इनमें ब्रह्मका स्वरूप, ब्रह्मविद्या और शक्तितत्त्व, जगत्‌की सृष्टि और संहारक्रमका वर्णन, तत्त्वविभाग—इतने विषय परमार्थसम्बन्धी हैं और शेष विषय व्यवहारके—धर्म, अर्थ और कामको सिद्ध करनेवाले हैं। इस तन्त्रसाहित्यके विचारकोंके आचारभेद सात प्रकारके होते हैं—(१) वैदिक, (२) वैष्णव, (३) शैव, (४) दक्षिण, (५) वाम, (६) सिद्धान्त और (७) कौल। इन सबका तात्त्विक सिद्धान्त शाक्त अद्वैतवादका है। लक्ष्मीधर तान्त्रिकोंके सामयिक, कौल और मिश्र—ऐसे तीन भेद करते हैं।

सामयिक मतोंका साहित्य पाँच शुभागमोंमें बँटा हुआ है, ऐसा लक्ष्मीधर बतलाते हैं; और उसकी पाँच संहिताएँ हैं, और उनके कर्त्ता वसिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन और सनत्कुमार—ये पाँच माने जाते हैं। इन पाँच शुभागमोंके आधारपर शङ्कराचार्यने सौन्दर्यलहरी नामक ग्रन्थमें श्रीविद्याका समुद्धार किया मालूम होता है और उनके परमगुरु गौडपादाचार्यने इस सामयिक सिद्धान्तके विषयमें सुभगोदय नामक ग्रन्थ लिखा है। मुझे पाँच शुभागम उपलब्ध नहीं हो सके।

सामयिकके सिद्धान्ती लक्ष्मीधर आदि समयमार्गके तन्त्रोंको शुद्ध मानते हैं और आचारमें क्रमपूर्वक १-वैदिक, २-वैष्णव, ३-शैव, ४-दक्षिण, ५-वाम, ६-सिद्धान्त और ७-कौलको चढ़ते-उतरते मानते हैं। अर्थात् वैदिकोंका आचार शुद्ध है और वैष्णव, शैव, दक्षिण, वाम, सिद्धान्त और कौल क्रमसे नीचे उतरते हुए हैं। कौलोंका ऐसा मन्तव्य है कि कौलाचार श्रेष्ठ है और सिद्धान्त, वाम, दक्षिण, शैव, वैष्णव और वैदिक उत्तरोत्तर नीचे दर्जेके हैं।

कौलोंके आचार पञ्चमकारसे सम्बन्धित स्थूल भूमिकाके होनेके कारण और फिर पशुबुद्धिके मनुष्योंके लिये नियम-विधिको समझे बिना अध:पतन करानेवाले होनेके कारण सामयिकोंके निन्दापात्र बने हैं; इधर कौलाचार्य सामयिकोंको प्रच्छन्न तान्त्रिक कहकर उनकी निन्दा करते हैं। × × × × ×

(६) शक्तिवादका निबन्ध अथवा विवरण-रूप साहित्य और पौराणिक साहित्य

वागुद्भूता पराशक्तिर्या चिद्रूपा पराभिधा।
वन्दे तामनिशं भक्त्या श्रीकण्ठार्धशरीरिणीम्॥

(सूतसंहिता)

ऊपर लिखे अनुसार श्रौत, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्र और आगम अर्थात् तन्त्र नामक शक्तिवादके साहित्यपर भाष्य, वृत्ति, टीका, निबन्ध, विवरण और स्तोत्र इत्यादि रूपसे विपुल साहित्यकी तान्त्रिकोंने रचना की है।

श्रौत, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्-साहित्यके अन्तर्गत शक्तिवादके मूलवाङ्मयपर सायणाचार्य (ई० स० १३००), उपनिषद्ब्रह्म (ई० स० १७५०), अप्पय्य दीक्षित (ई० स० १५२०—१५९६), भास्करराय (ई० स० १७२४) और कौलाचार्य सदानन्दके भाष्य उपलब्ध हैं। इनमें पहले दोनों शाङ्करमतानुयायी वेदान्ती हैं, अप्पय्य दीक्षित शिवाद्वैती हैं, भास्करराय शाक्त अद्वैती और सदानन्द कौल अद्वैती हैं। अप्पय्य दीक्षितकी आनन्दलहरी और उसपरकी टीका शाक्तवादके गम्भीर मर्मको प्रकाशित करनेवाली है; और भास्कररायके श्रीसूत्रपर, कौल उपनिषद्पर, त्रैपुर महोपनिषद्पर, ललिता-सहस्रनामपर (सौभाग्यभास्कर), सप्तशतीपर गुप्तवती आदि भाष्य, तथा योगिनीहृदयतन्त्र (वामकेश्वरतन्त्रका

एक भाग) परकी सेतुबन्धटीका आदि ग्रन्थ अपूर्व चमत्कृतियुक्त और अति गुप्त रहस्यके बोधक हैं। उनका वरिवस्यारहस्य नामक प्रकरणग्रन्थ मन्त्रशास्त्र और उपासनाको परिस्फुट करनेवाला अपूर्व विद्वत्तासे भरा हुआ है।

भास्कररायकी शिष्यपरम्परामें उमानन्दनाथने श्रीविद्या-सम्बन्धी नित्योत्सव नामक निबन्ध लिखा है। और उसकी परम्परामें रामेश्वरने (ई० स० १८३१) परशुरामके कल्पसूत्रपर वृत्ति लिखी है। गौडपादके श्रीविद्यासूत्रपर शङ्कारण्यकी टीका है।

रहस्यस्तोत्रोंमें लघुपञ्चस्तवी, जिसके एक-दो स्तोत्र प्रसिद्ध कवि कालिदासनिर्मित माने जाते हैं, गौडपादका सुभगोदय, शङ्कराचार्यकी सौन्दर्यलहरी, आनन्दलहरी, अप्पय्य दीक्षितकी आनन्दलहरी, दुर्वासाका त्रिपुरामहिम्नःस्तोत्र, ललितात्रिशती (जिसपर शङ्कराचार्यका भाष्य है), आर्यापञ्चाशत् आदि ग्रन्थ विशेष अध्ययन करनेयोग्य हैं।

पौराणिक साहित्यमें देवीभागवत और नीलकण्ठकी टीका, ब्रह्माण्डपुराणके दूसरे भागके अन्तर्गत ललितासहस्र नामक ३२० श्लोकोंका प्रकरण, मार्कण्डेयपुराणमें देवीमाहात्म्य अथवा सप्तशती; सूतसंहिताके यज्ञवैभवखण्डके सैंतालीसवें अध्यायमें आया हुआ शक्तिस्तोत्र आदि शक्तिवादके स्वरूपको समझानेवाले हैं। देवीगीता नामक प्रकरण देवीभागवतमें है। शक्तिगीता-ग्रन्थ आधुनिक मालूम होता है[1]।

कूर्मपुराणमें—शिवमें परब्रह्मका स्वरूप विशेषरूपसे विकसित है, ऐसा प्रतिपादन करके शक्तिकी महिमाका गान किया गया है। अर्धनारीश्वर देवता पुरुष और स्त्रीरूपमें विभक्त होता है और परमेश्वरीकी आठ हजार नामोंसे स्तुति की गयी है। अर्धनारीश्वरके पुरुष-अंशमेंसे रुद्र उत्पन्न हुए और स्त्री-अंशमेंसे शक्तियाँ प्रकट हुईं, ऐसा वर्णन है।

कालिकापुराण शक्तिवादका स्वतन्त्र पुराण[2] है। शाक्तोंकी प्रयोगपद्धतियाँ योगिनीतन्त्र, वाराहीतन्त्र, कात्यायनी-तन्त्र, मरीचितन्त्र, डामरतन्त्र, हरगौरीतन्त्र, शक्तिसङ्गमतन्त्र, लक्ष्मीतन्त्र आदि ग्रन्थोंमें हैं। पुराण-टीकाकार नीलकण्ठका शक्तितत्त्वविमर्शिनी नामक निबन्ध विचारोंसे भरपूर है।

इसके सिवा काश्मीरियोंके उत्तराम्नायविषयक नीचेके ग्रन्थ शक्तिवादको अति स्पष्ट करनेवाले हैं—

[1]संवित्सिद्धि, [2]अजडप्रमातृसिद्धि, [3]तन्त्रालोक, [4]तन्त्रसार, [5]तन्त्रसुद्धा, [6]तन्त्रवटधानिका, [7]परात्रिंशिका, [8]प्रत्यभिज्ञासूत्र, (वृत्ति तथा विमर्शिनी तथा हृदयसहित) [9]महार्थमञ्जरी, [10]मालिनीविजय, [11]कामकलाविलास (इस ग्रन्थका कामशास्त्रके साथ किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है; परन्तु मन्त्रबीजका उदय किस प्रकार होता है, इसका वर्णन हादिमतके अनुसार है), [12]स्पन्दकारिका और [13]स्पन्दसन्दोह।

यह प्रत्यभिज्ञावाद अथवा संवित्सिद्धान्त शक्तिवादके आधारपर रचा हुआ है और इसका काश्मीरी शैवोंके त्रिकदर्शनके साथ गहरा सम्बन्ध है। उस वादके मुख्य प्रवर्तक अभिनवगुप्त (ई० स० ९९३), क्षेमराज आदि मालूम होते हैं। कौलमतके प्रसिद्ध शास्त्रविचारक पूर्णानन्द अथवा जगदानन्द गौडाचार्य ई० स० १४४८—१५२६ में हुए हैं और उनका श्रीतत्त्वचिन्तामणि नामक बृहत् ग्रन्थ अभीतक अप्रकाशित है। उसका षष्ठ प्रकरण—षट्चक्रनिरूपण प्रकाशित हुआ है। पूर्णानन्द स्वामीके श्यामा-रहस्य, शाक्तक्रम, तत्त्वानन्दतरङ्गिणी, योगसार, कालिकाकारकूट ग्रन्थोंका सन्धान प्राप्त किया जा सका है।

रहस्य-ग्रन्थोंमें श्यामारहस्यके सिवा तारारहस्य और त्रिपुरारहस्य भी विचारणीय हैं[3]।

१—देवीमाहात्म्यका एक श्लोक ई० स० ६०८ में एक लेखमें खुदा हुआ है (D.R. Bhandarkar J.B.R.A.S.23. 1909 P. 73.F.)। बाणकविका चण्डीशतक इसी माहात्म्यके आधारपर रचित है।

२—महाभागवत नामक एक पुराण व्यासरचित माना जाता है, उसमें अधिकांशमें शक्तिसम्बन्धी रहस्य और तत्त्वका ही वर्णन है। देवीपुराण नामक एक उपपुराण भी शक्ति-सम्बन्धी प्राप्त होता है। इनके सिवा अन्यान्य प्रायः सभी पुराणों तथा महाभारतमें भी देवीसम्बन्धी अनेकों प्रसंग हैं।—सम्पादक

१ काश्मीर संस्कृत सिरीज सं० ३६; २ का० सं० सि० सं० ३४; ३ का० सं० सि० सं० २८-३३; ४ का० सं० सि० सं० २०; ५ त्रिवेन्द्रम् सं० सि० सं० ४४; ६ अभिनवगुप्तका तन्त्रालोकका संक्षेप; ७ काश्मीर सं० सि० सं० २१; ८ का० सं० सि० सं० २६, २७, ३; ९ त्रिवेन्द्रम् सं० सि० सं० ६६; १० का० सं० सि० सं० ३८; ११ का० सं० सि० सं० १३; १२-१३ का० सं० सि० सं० १५—१९।

३—श्रीफार्बस गुजराती सभाद्वारा प्रकाशित शाक्तसम्प्रदाय नामक ग्रन्थसे—इस लेखमें कहीं-कहीं कुछ बातें छोड़ दी गयी हैं—'शाक्तसम्प्रदाय' नामक गुजराती पुस्तक शक्तिप्रेमियोंको अवश्य पढ़नी चाहिये।

बंगालके कतिपय शाक्त साधक

(लेखक—पं० श्रीचन्द्रदीपनारायणजी त्रिपाठी)

यों तो भारतमें सर्वत्र शक्तिकी उपासना होती है, किन्तु बंगाल प्रान्तमें इसका विशेष प्रचार देखा जाता है। एक तरहसे यह कहा जा सकता है कि बंगालमें मुख्यत: शक्तिकी ही पूजा होती है। फलत: उस प्रान्तमें अनेक प्रसिद्ध-प्रसिद्ध शक्तिके पीठस्थान पाये जाते हैं और समय-समयपर ऐसे अनेक सन्त महात्मा तथा महापुरुष हो गये हैं जिन्होंने शक्ति-उपासनाके द्वारा परम सिद्धि प्राप्त की है। आज हम इस लेखमें बंगालके दो-चार शक्ति-उपासक साधकोंका संक्षिप्त परिचय 'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंके सम्मुख रखनेकी चेष्टा करेंगे।

भक्त चण्डीदास

भक्तकवि चण्डीदासके पद बंगालमें बड़ी श्रद्धा और भक्तिके साथ गाये जाते हैं। इन्होंने अपने पदोंके द्वारा श्रीकृष्ण-भक्तिका प्रचार किया था, किन्तु थे वह शाक्त। उन्होंने माता विशालाक्षीकी आज्ञासे ही बंगालमें श्रीकृष्ण-लीलाका प्रचार किया था।

वीरभूमि जिलाके नान्नूर गाँवमें दुर्गादास वाक्ची नामक एक ब्राह्मण रहते थे। उनका विवाह बाँकुड़ा जिलाके छातना गाँवमें हुआ था। लगभग वि० सं० १४६० शाकेमें ससुरालमें ही दुर्गादासके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। यही नवजात बालक भक्तप्रवर चण्डीदास हुआ।

चण्डीदास अभी छोटे बच्चे ही थे कि उनके माता-पिता परलोक सिधार गये। इस तरह चण्डीदास निराश्रय हो गये और विद्योपार्जनसे वञ्चित ही रहे। कुछ बड़े होनेपर उनके गाँवके ब्राह्मणोंने दयाकर उनका यज्ञोपवीत संस्कार कर दिया। जब उन्होंने युवावस्थामें पदार्पण किया तो वह वहाँके विशालाक्षी देवीके मन्दिरमें पुजारी नियुक्त हो गये और अपने पिताकी तरह यथाविधि भगवतीकी पूजा करने लगे।

चण्डीदास एकान्त मनसे, हार्दिक श्रद्धा-भक्तिके साथ माताकी सेवा करने लगे और तान्त्रिक साधनामें प्रवृत्त हो गये। कुछ दिनों साधना करनेके बाद एक दिन उन्हें माँ विशालाक्षीकी मूर्तिके भीतर श्रीकृष्णकी मूर्ति दिखायी पड़ी। उनका भेदज्ञान दूर हो गया और उन्होंने अनुभव किया कि काली और कृष्ण एक ही हैं। तबसे उनका मन राधा-कृष्णके प्रेमसे ओतप्रोत हो गया। एक दिन तो माता विशालाक्षीकी आज्ञासे एक डाकिनीने चण्डीदासके पास आकर अपना परिचय देते हुए कहा—'देवीकी आज्ञा है—तुम कृष्णलीलाका प्रचार करो।' इतना कहकर डाकिनीने चण्डीदासको वैष्णवधर्मका मर्म सुनाया और 'सहज भजन' साधनाका उपदेश दिया।

चण्डीदास दूसरे दिनसे राधाकृष्णके प्रेममें निमग्न हो गये। उनके अन्दर अपूर्व कवित्व-शक्ति थी और गानेका भी अच्छा अभ्यास था। वह कृष्णलीला-सम्बन्धी पद रच-रचकर कीर्तन करने लगे। उनका कीर्तन सुनकर पाषाणके समान कठोर हृदय भी विगलित हो जाता था।

इन्हीं दिनों चण्डीदासको दोषारोपण करके विशालाक्षीके मन्दिरसे निकाल दिया गया। किन्तु इस घटनासे उन्हें तनिक भी चिन्ता न हुई। वह गाँवसे बाहर निर्जन स्थानमें झोंपड़ी डालकर रहने लगे और अपनी साधना करने लगे। वह कलङ्क लग जानेके कारण गाँवके लोगोंकी सहानुभूति अब उनके साथ न थी। उनके दु:ख-सुखकी चिन्ता करना तो दूर, लोग मन-ही-मन उनसे घृणा ही करते थे और उनकी परछाईंसे भी दूर ही रहते थे। फलस्वरूप उन्हें अब अन्न-वस्त्रका भी घाटा रहने लगा। दूर-दूरके गाँवोंसे भिक्षाटन करके कितने दिन काम चल सकता था? एक समय तो उन्हें कई दिनोंतक अन्न नहीं मिला और वह भूखसे मरणासन्न अवस्थाको प्राप्त हो गये। उस दिन उन्होंने निश्चय किया कि कल प्रात: अवश्य इस स्थानको छोड़ देंगे और किसी दूर देशमें जाकर जीवनयापन करेंगे।

गाँवके लोगोंको भला इसकी क्या चिन्ता थी? किन्तु दयामयी माता विशालाक्षी अपने प्यारे भक्त पुत्रको कैसे छोड़ सकती थीं? उसी रात उन्होंने गाँवके मुखियाको स्वप्नमें दर्शन देकर आदेश दिया—'अरे पिशाच! तुमलोगोंके झूठा अपवाद लगाकर कष्ट पहुँचानेके कारण मेरा सेवक देश छोड़कर चला जा रहा है। अगर कुशल चाहते हो तो सब लोग मिलकर उसे प्रसन्न करो।' बस, फिर क्या था? सबेरा होते-न-होते मुखिया महाशय गाँवभरके लोगोंको साथ लेकर चण्डीदासकी कुटियामें

पहुँच गये और सब लोगोंने हाथ जोड़कर चण्डीदाससे क्षमा माँगी। चण्डीदासने तुरन्त उठकर सबको प्रेमके साथ आलिंगन किया। उनका व्यवहार देखकर सब लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और सब लोगोंने उनसे वैष्णवधर्मकी दीक्षा ले ली।

तबसे चण्डीदास निर्विघ्नरूपसे श्रीकृष्णलीलामृतका रसास्वादन मृत्युपर्यन्त वैष्णव भक्तोंको कराते रहे। उनके भक्तिभरे पद बँगला भाषाके अमूल्य रत्न हैं। वैष्णव भक्त उन पदोंको गा-गाकर आत्मविभोर हो जाते हैं और कितने ही अभक्त सच्चे भक्त बन जाते हैं। उन्होंने वि० सं० १५३४ शाकेमें श्रीवृन्दावन-धाममें इहलीला समाप्त की। आज भी वहाँ उनकी समाधि विद्यमान है।

साधक कमलाकान्त

कमलाकान्त एक प्रसिद्ध देवीभक्त तथा कवि हो गये हैं। इनका जन्म वर्दवान जिलेके अम्बिका कालना गाँवमें वि० सं० १८३० में हुआ था। बचपनमें ही इनके पिताने इनके हृदयमें धर्मका बीजारोपण कर दिया था जो समय पाकर अंकुरित हुआ और वह सात्त्विक, अभिमानशून्य और परम देवीभक्त हो गये।

कमलाकान्त स्वयं भजन बनाकर माताके सामने गाया करते थे। कहते हैं, उनमें पदरचना करनेकी इतनी विलक्षण शक्ति थी कि जब कभी कोई उनसे अनुरोध करता, उसी क्षण वह किसी भी सुर-तालका श्यामाविषयक पद रच डालते और गाकर सुना देते। उनकी इस शक्तिकी प्रशंसा धीरे-धीरे उस समयके वर्दवाननरेश स्व० महाराज तेजश्चन्द्र बहादुरके कानों पहुँची। उन्होंने कमलाकान्तके पद सुननेकी इच्छा प्रकट की। जब कमलाकान्तने आकर उन्हें अपने पद सुनाये तो महाराज उनपर मुग्ध हो गये। उन्होंने उन्हें अपनी राजसभाके सभापति-पदपर ला बैठाया। आगे चलकर महाराजने उनकी भगवतीमें अनन्य भक्ति देखकर अपना गुरुतक स्वीकार किया और उनके लिये कोटालहाट नामक गाँवमें एक सुन्दर-सा मकान बनवा दिया जहाँ रहकर वह शान्तिपूर्वक साधना कर सकें। महाराजने उनके आवश्यक खर्चके लिये मासिक वृत्ति भी निर्धारित कर दी।

तबसे कमलाकान्त सपत्नीक उसी स्थानमें रहकर साधन-भजन करने लगे। आगे चलकर महाराजकी ओरसे उन्हींके स्थानमें प्रतिवर्ष कालीपूजा भी बड़े समारोहके साथ होने लगी। महाराज प्रतिवर्ष माताकी पूजा करने, दीन-दुखियोंको खिलाने-पिलाने आदि अनेक सत्कर्मोंमें बहुत-सा धन व्यय करते। उस पूजामें महाराजके शत्रु-मित्र, आस्तिक-नास्तिक, धनी-गरीब, स्त्री-पुरुष सब तरहके हजारों आदमी भाग लेते और भगवती कालीका दर्शन कर तथा भक्त कमलाकान्तके भजन-कीर्तन सुनकर अपना जन्म सफल करते।

साधारणतया 'कामिनी-काञ्चन' को साधन-मार्गका परम बाधक समझा जाता है। किन्तु कमलाकान्तकी दृष्टिमें बात ऐसी नहीं थी। एक बार किसी आदमीने कमलाकान्तको स्त्रीके साथ रहते जानकर व्यङ्गसे पूछा—'आप कामिनी-काञ्चनमें अनुरक्त रहकर किस प्रकार साधन-पूजन करते हैं?' इसके उत्तरमें कमलाकान्तने कहा—'रमणीहृदय सरलता, कोमलता, धर्मभीरुता आदि नाना प्रकारके सद्गुणोंका आधार है। रमणी सर्वदा संसारके मङ्गलसाधनमें रत रहती है। वह स्निग्ध, प्रेममय और कमनीय गुणोंसे सुशोभित होती है। एकमात्र रमणीहृदय ही पुरुषकी उग्र और कठोर प्रकृतिको संयमित कर सकता है। शास्त्रोंमें कहा गया है कि '**स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु**' अर्थात् साध्वी रमणीमात्र उसी महाशक्तिस्वरूपिणी जगदम्बाके अंशसे प्रादुर्भूत हुई है। अतएव सती-साध्वी स्त्री संसारमें साधन और भजनके पथके लिये सहाय-स्वरूपिणी, आनुकूल्यरूपिणी है, वह कभी विघ्नकारिणी नहीं होती। इस प्रकारकी साधन-भजनमें सहायिका अर्धाङ्गिनी कभी 'कामिनी-काञ्चन' वाली 'कामिनी' नहीं हो सकती। वह 'कामिनी' तो इससे एकदम भिन्न है।' वास्तवमें जो साधक अपनी सहधर्मिणीको इस रूपमें देखता हो, उसके लिये वह भला कैसे बाधक हो सकती है?

किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि कमलाकान्त संसारके मोह-जालमें फँसे हुए थे। वह वास्तवमें एक सच्चे साधक थे। वह सर्वदा माया-ममताके एकदम पार विवेक-स्रोतमें गोते लगाया करते थे। कहते हैं, जिस समय उनकी परमप्रिया पत्नीका देहावसान हुआ, उस समय वह लेशमात्र भी दुःखित न हुए। वह मुँहपर अग्नि देते समय स्वरचित भजन गा-गाकर नृत्य करने लगे। भला 'कामिनी-काञ्चन' में अनुरक्त व्यक्तिमें ऐसी क्षमता कहाँसे आयी जो पत्नी-वियोगके समय प्रसन्नचित्त होकर

भगवती कालीकी प्रार्थनामें मग्न हो जाय? वह तो शोकमें आर्त्तनाद करता हुआ और पृथिवीपर अचेत विह्वल अवस्थामें लोटता हुआ ही देखा जाता है।

एक समयकी बात है कि रातके समय कमलाकान्त अकेले एक सुनसान मैदानसे होकर गुजर रहे थे। वहाँपर कुछ डाकुओंने उन्हें घेर लिया। उन्होंने देखा कि अब तो इनसे निस्तार पाना बड़ा कठिन है। किन्तु सच्चे भक्तके पास भय कहाँ? वह एकदम निर्भीक होकर, आनन्दमें नाचते हुए भगवतीकी प्रार्थना करने लगे। उनके करुण, भक्तिरससे लबालब भरे हुए पद सुनकर डाकुओंका मन भी पसीज गया। उनका वैर-भाव न मालूम कहाँ छू-मन्तरकी तरह गायब हो गया। वे लूटने-मारनेकी जगह श्रद्धा-भक्तिके साथ उनके पैरोंपर लोट गये और उनसे क्षमा माँग वहाँसे भाग गये।

कमलाकान्त माँ कालीके एकनिष्ठ भक्त थे। मरते-दम भी उन्होंने किसी दूसरे देवताकी पूजा करने या तीर्थाटन करनेकी इच्छा न की। जिन दिनों वह मृत्यु-शय्यापर पड़े थे, उन दिनों उनके समीप महाराज तेजश्चन्द्र भी उपस्थित थे। महाराज गुरुदेवको अन्तिम समय पावन गङ्गातीरपर ले जानेकी तैयारी करने लगे। किन्तु कमलाकान्तने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने इस पदको गाते-गाते इहलीला समाप्त की—

कि गरज केन गंगातीरे जाबो।
आमि केले मायेर छेले हये विमातार कि शरण लबो॥

अर्थात् क्या मतलब है, क्यों मैं गङ्गातीर जाऊँ? मैं काली मैयाका पुत्र होकर क्या विमाताकी शरण लूँगा? धन्य हैं ऐसे भक्त जो इतनी प्रगाढ़ निष्ठा, भक्ति और श्रद्धा-विश्वासके साथ अपने आराध्यदेवकी उपासना करते हैं। स्थूल शरीरमें न रहनेपर भी अपने भक्तिमय पदोंके रूपमें आज भी कमलाकान्त इस संसारमें मौजूद हैं और साधन-पथके पथिकोंको अग्रसर होनेमें सतत सहायक हो रहे हैं। इसीको तो सच्चा जीवन कहते हैं।

साधक रामप्रसाद

वैष्णव कवि चण्डीदासकी तरह शाक्त कवि रामप्रसादकी अमरवाणी भी सदा ही बंगालके कोने-कोनेमें गूँजा करती है। रामप्रसाद केवल उच्चकोटिके कवि ही नहीं थे, बल्कि तान्त्रिक साधनामें भी उनकी अच्छी गति थी। इनका जन्म हालीसहरके पास कुमारहट्ट नामक गाँवमें वि० सं० १७८० के लगभग एक वैद्यवंशमें हुआ था। बचपनमें इनके माता-पिताने इन्हें संस्कृत और फारसीकी पूरी शिक्षा दिलायी और लगभग बाईस वर्षकी उम्रमें इनकी शादी कर दी। इन्हीं दिनों इनका झुकाव तान्त्रिक साधनाकी ओर हुआ और वह एक सुयोग्य गुरुसे दीक्षा लेकर साधना करने लगे। किन्तु कुछ ही दिनों बाद इनके पिताका देहान्त हो गया और परिवारके भरण-पोषणका बोझ इन्हींपर आ पड़ा। घरमें कोई स्थायी सम्पत्ति न होनेके कारण आखिर नौकरीके लिये वह कलकत्ते आये और एक सम्भ्रान्त व्यक्तिके यहाँ खाता लिखनेके कामपर नियुक्त हो गये। मगर इनका मन तो जगन्माताके पवित्र चरणोंमें रहता था, अतएव हिसाब-किताब लिखनेकी जगह बहीपर ही माताका नाम और गुणगान लिखने लगे। जब इनके उच्च कर्मचारीने यह देखा तो वह बहुत रंज हुआ और उसने सारी बात मालिकको सुना दी। माताकी प्रेरणासे दयालु मालिकने रामप्रसादकी भक्ति देखकर क्रोधित होनेके बदले उन्हें तीस रुपये मासिक वृत्ति जन्मभरके लिये देकर घर वापस भेज दिया। फिर तो रामप्रसाद घर लौट आये और 'पञ्चमुण्डी' का आसन बनाकर साधना करने लगे। उन्होंने इस स्थानमें लगातार पन्द्रह वर्षोंतक साधना की और माताके गुणगानमें कितनी ही कविताएँ बनायीं। इस साधनामें ही उनका भेदाभेद-ज्ञान एकदम दूर हो गया और उन्होंने कालीके अन्दर ही शिव-विष्णु और राम-कृष्णके दर्शन किये। उन्होंने इसी समय एक गीतकी रचना की जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। वह गीत इस प्रकार है—

मन करो ना द्वेषाद्वेषि, यदि हबि रे वैकुण्ठवासी।
आमि वेदागम पुराणे करिलाम कत खोंज-तालासि।
ऐ ये काली, कृष्ण, शिव, राम, सकल आमार एलोकेशी।
शिवरूपे धर शिंगा, कृष्णरूपे बाजाओ बाँशी।
ओ मा रामरूपे धर धनु, कालीरूपे करे असि।

भावार्थ यह है कि 'मन तू द्वेषाद्वेषी छोड़ दे। मैंने वेद, शास्त्र, पुराण सब खोजकर देख लिया; काली, कृष्ण, शिव, राम—ये सब मेरी माता ही हैं। ऐ माता! तुम्हीं शिवरूपमें शृङ्ग, कृष्णरूपमें वंशी, रामरूपमें धनुष और कालीरूपमें तलवार धारण करती हो।'

अबतक रामप्रसादकी साधना और कवित्वशक्तिकी ख्याति सर्वत्र फैल चुकी थी और उससे मुग्ध होकर

कृष्णनगरके राजा महाराज कृष्णचन्द्रने उन्हें अपनी सभामें नौकर रखना चाहा। किन्तु जगन्माताके सच्चे सेवक रामप्रसादने राजाकी सेवामें रहना स्वीकार नहीं किया। अन्तमें राजाने एक सौ बीघा माफी जमीन उन्हें दी।

इन्हीं दिनों रामप्रसादकी माताका स्वर्गवास हो गया। रामप्रसाद उनके श्राद्धादि कर्मसे निवृत्त होकर एक श्मशानघाटमें जाकर शवसाधना करने लगे। इस साधनामें माताने अनेक भयानक रूप दिखाये, किन्तु रामप्रसाद तनिक भी विचलित न हुए। अन्तमें प्रसन्न होकर माँ कालीने जगज्जननीरूपमें प्रकट होकर भक्तको दर्शन दिये। रामप्रसादने तब बड़ी भक्तिके साथ प्रणामपूजा करके इस प्रकार वन्दना की—

आद्याशक्ति भक्ति उक्ति युक्ति मुक्तिदायिका,
सिद्धविद्या राजा साध्या शैलसुता बालिका।
हास्य आस्य सुप्रकाश्य दृश्य चारु नासिका,
त्वं नमामि विश्वरूपा देहि ज्ञानचन्द्रिका॥

भक्त रामप्रसाद इस प्रकार बराबर शक्ति-साधना और माताके गुणगानमें लगे रहते थे। इन्होंने अपने जीवनमें लगभग एक लाख पदोंकी रचना की थी। इनके गानेकी शैली इतनी मनोहर थी कि मनुष्य तो क्या, साक्षात् माँ जगदीश्वरी भी मुग्ध हो जातीं। एक बारकी बात है कि रामप्रसाद सपरिवार नौकापर कहीं जा रहे थे। सन्ध्याके शान्त वातावरणमें उन्होंने नौकाकी छतपर बैठकर एक गाना गाया। गाना समाप्त होते ही नदी-किनारेके पासके जङ्गलसे मानो किसीने नारी-स्वरमें कहा—'भक्त! इस ओर फिरकर गाओ न।' रामप्रसादने जो सिर उठाकर देखा तो उधर एक टूटा-फूटा मन्दिर दिखायी दिया, जहाँसे यह शब्द आ रहा था। उन्होंने जोरसे कहा—'अगर गाना सुननेका इतना शौक है तो तुम्हीं क्यों नहीं जरा इधर फिरकर देखती?' और इसके बाद वह सपरिवार नाव तीरपर लगाकर मन्दिरमें पहुँचे। कहते हैं, माताकी मूर्ति वास्तवमें उसी रुख घूम गयी थी। फिर तो भक्तने गद्गद होकर बार-बार प्रणाम किया और स्तुति की। वहाँसे लौटकर महाराज कृष्णचन्द्रसे कहकर उन्होंने मन्दिरके जीर्णोद्धार और पूजाका प्रबन्ध करा दिया।

इसी तरह एक बार रामप्रसाद अपने एक घरका बेड़ा बाँध रहे थे। घरके भीतर थे रामप्रसाद और बाहर थी उनकी पुत्री जगदीश्वरी। लड़की बाहरसे रस्सी पकड़ा दिया करती थी और रामप्रसाद बाँधते जाते थे। रामप्रसाद बेड़ा बाँधते जाते थे और साथ-ही-साथ माताका गुणगान करते जाते थे। उनका ध्यान माताके चरणोंमें रम गया था और बाँधनेका काम आप-से-आप यन्त्रकी भाँति चल रहा था। इसी बीच जगदीश्वरीको उसकी माँने बुला लिया; किन्तु बेड़ा बाँधनेका काम चलता ही रहा। सर्वान्तर्यामी माँ स्वयं कन्याके स्थानमें बैठकर रस्सी पकड़ाने लगीं। थोड़ी देर बाद जब जगदीश्वरी आयी तो उसने देखा कि उसके न रहनेपर भी रामप्रसादने बहुत-सी रस्सियाँ बाँध दी हैं। उसने आश्चर्यके साथ पूछा—'बाबूजी! मेरी गैरहाजिरीमें रस्सी किसने पकड़ायी?' तब रामप्रसादका ध्यान टूटा और उन्होंने पुत्रीकी ओर देखते हुए पूछा—'क्यों, क्या तुम इतनी देरतक यहाँ नहीं थी?' लड़कीने कहा, 'ना, मैं तो माँके बुलानेपर खाने चली गयी थी।' तब रामप्रसादने तुरन्त ताड़ लिया कि स्वयं जगन्माता जगदीश्वरीने उपस्थित होकर यह काम किया है। उन्होंने अफसोस करते हुए कहा—'मेरी बेटी इतने समीप आकर अन्तमें धोखा देकर भाग गयी।'

भक्त रामप्रसादके जीवनमें कई बार माताने उन्हें दर्शन दिये और उनकी प्रार्थनाके अनुसार लोगोंका कल्याण किया। इतने उच्च कोटिके साधक होनेपर भी रामप्रसाद बराबर ही लौकिक आचार-अनुष्ठानका पूरा-पूरा पालन करते थे। उन्होंने कभी शास्त्रीय आज्ञाओंका उल्लंघन नहीं किया। वह शाक्त होनेपर भी अन्य उपासनामार्गोंके प्रति आदरका भाव रखते थे। वह दुःखी गरीबोंके प्रति सदा दयाका भाव रखते थे और यथासाध्य सेवा-सहायता किया करते थे। यही कारण था कि तीस रुपये मासिक वृत्ति और सौ बीघा माफी जमीन होनेपर भी उनके घरमें कभी-कभी भोजनके लिये अन्न भी घट जाता था। किन्तु फिर भी रामप्रसाद इसकी कोई परवा न करते और अपने धर्मपर अटल बने रहते। उन्हें एकमात्र माता जगदीश्वरीका भरोसा था और वास्तवमें वही बराबर उनके योगक्षेमकी चिन्ता रखतीं और यथासमय सहायता किया करतीं।

इस तरह भक्त रामप्रसाद प्रायः बहत्तर वर्षकी उम्रतक साधु-सा जीवन व्यतीत करते रहे। अन्तमें

कार्तिकमासकी कृष्ण चतुर्दशीके दिन उन्होंने विधिवत् मातृपूजा की। अमावस्याकी रात समाप्त होनेपर जब प्रतिमाविसर्जनकी तैयारी होने लगी तो उन्होंने अपनी समाधि भङ्ग होनेपर अपनी स्त्री सर्वाणीसे कहा, 'देखो, सर्वाणी, आज हमलोगोंका शेष दिन है। चलो, हँसते-हँसते माताका अनुगमन करें।' यह कहकर रामप्रसाद गाना गाते हुए घरसे निकल पड़े। उनके पीछे-पीछे सर्वाणी, उनका पुत्र और गाँवके सैकड़ों आदमी आँसू बहाते हुए चले। ज्यों-ज्यों रामप्रसाद नदीतटके समीप पहुँचते जाते थे, त्यों-त्यों उनके कण्ठसे अपूर्व सङ्गीतलहरी निकलती जाती थी। उस समयके उस मनोहर गीतको सुनकर मनुष्यकी कौन कहे, वनके पशु-पक्षी भी स्तब्ध होकर जहाँ-के-तहाँ बैठ रहे। नदीतटपर पहुँचनेपर धीरे-धीरे रामप्रसाद सर्वाणीके साथ गर्दनभर पानीमें चले गये। फिर पति-पत्नी आमने-सामने मुस्कराते हुए खड़े हो गये और एक-दूसरेको एकटक देखने लगे। इसी समय हठात् उनके मस्तकसे एक ज्योतिर्मय चीज बाहर निकल गयी और दोनों पति-पत्नी जगज्जननीकी अमर गोदीमें सर्वदाके लिये पहुँच गये।

श्रीश्रीरामकृष्ण परमहंस

बंगालके प्रमुख शक्तिसाधकोंमें श्रीश्रीरामकृष्ण परमहंसदेवका भी एक विशेष स्थान है। इनका नाम न केवल भारतमें, प्रत्युत अमेरिका आदि विदेशोंमें भी लोग जानते हैं। इनका जन्म वि० सं० १८९० में बंगालके हुगली जिलेके अन्तर्गत कामारपूकुर नामक गाँवमें हुआ था। इनके पिताका नाम खुदीराम चट्टोपाध्याय तथा माताका नाम चन्द्रमणि देवी था। इनका बचपनका नाम गदाधर था। ये अपने तीन भाइयोंमें सबसे छोटे थे। इनके दो सहोदर भ्राताओंका नाम था—रामकुमार और रामेश्वर।

सत्रह वर्षकी उम्रमें गदाधर अपने बड़े भाई रामकुमारके साथ कलकत्ते चले आये। रामकुमार कलकत्तेमें लोगोंके घर ठाकुरजीकी पूजा किया करते और क्रिया-कर्म कराया करते थे। फलतः गदाधरके पल्ले भी यही काम पड़ा। वह एक घरमें पुजारी नियुक्त हो गये। इस काममें रहते-रहते कुछ दिनोंमें गदाधरका स्वभाव ऐसा बन गया कि सिवा पूजा-पाठ और धर्मचर्चाके उनका मन और किसी काममें नहीं लगता था। उनका मन संसारसे एकदम उदासीन रहने लगा; न तो धन पैदा करनेकी रुचि उनमें दिखायी देती थी और न सुखभोगकी लालसा। वह सर्वदा ठाकुरजीकी पूजा-अर्चा, सेवा-शुश्रूषा करनेमें लगे रहते, रात-दिन केवल उन्हीं बातोंकी आलोचना किया करते, आठों पहर धर्मचर्चामें व्यस्त रहते।

कलकत्तेकी विख्यात रानी रासमणिके घरमें रामकुमार और गदाधरका बड़ा मान था, रानी रासमणि दोनों भाइयोंकी गुरुकी भाँति भक्ति करती थीं। उन्होंने गङ्गाजीके तटपर दक्षिणेश्वरमें अपने बगीचेमें महामायाकी प्रतिष्ठा की और रामकुमारको वहाँका पुजारी नियुक्त किया। कुछ दिन बाद गदाधर भी वहीं आकर रहने लगे और पीछे वहाँके पुजारी नियुक्त हो गये। इस शान्त, स्निग्ध और पवित्र उपवनमें माताके चरणतलमें आकर गदाधरके मन-प्राण एकदम भक्तिविभोर हो गये, उनका मन भगवद्दर्शनके लिये व्याकुल हो उठा। रात-दिन बस इसी चिन्तामें वह रहने लगे कि किस तरह इस विश्वब्रह्माण्डके स्रष्टाका साक्षात्कार होगा, किस तरह उस **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'**, प्रेममय भगवान्के पादपङ्कज प्राप्त होंगे। कभी-कभी वह दैनिक पूजा-पाठ करना भी भूल जाते और माताके सम्मुख बैठकर केवल यही कहते हुए रोया करते, 'हे माँ! मेरे इस छोटे-से जीवनका एक दिन तो वृथा ही चला गया, फिर भी तुमने दर्शन नहीं दिये।' ऐसे समय उन्हें यह भी पता न चलता कि किस प्रकार दिन बीत गया और कब रात समाप्त हो गयी। कभी-कभी वह लगातार कई दिनोंतक भूख, प्यास और नींदका त्याग कर केवल रोया करते और चिल्लाया करते, 'माँ! मुझे दर्शन दो—मैं केवल तुम्हें ही चाहता हूँ।'

बड़े भाई रामकुमारने गदाधरको एकदम विरक्त होते देख उन्हें संसारजालमें फँसानेके लिये शारदा नामकी एक छः वर्षकी बालिकाके साथ उनका विवाह कर दिया। किन्तु गदाधरके हृदयमें जो भक्तिकी स्रोतस्विनी प्रबल वेगसे प्रवाहित होने लगी थी, वह इस सामान्य बालूके बाँधसे कैसे रुक सकती थी? विवाहके बाद दक्षिणेश्वर आकर वह दूने उत्साहके साथ माँ कालीकी सेवामें जुट गये। कुछ समय बाद एक दिन उन्होंने अपनी सहधर्मिणीके पास जाकर कहा—'अगर तुम मेरे साथ अपने विवाह-सम्बन्धको भूल जाओ और मुझे आज्ञा दो तो मैं एकाग्र मनसे माताके श्रीचरणकी पूजा कर सकूँ।' शारदा देवीने यह सुनकर पतिदेवको नाना

प्रकारसे उत्साहित किया और शक्ति-पूजाकी आज्ञा दे दी। पीछे चलकर उस देवीने अपने पतिका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया और वह भी अपने पतिदेवके समान आज भी बंगालमें 'माता ठाकुरानी' के नामसे पूजित होती हैं।

पत्नीसे आज्ञा ले लेनेके बाद तो मानो गदाधर—(पीछे) रामकृष्णका सारा बन्धन छिन्न-भिन्न हो गया, उनकी सारी कठिनाइयाँ काफूर हो गयीं। वह पहलेसे भी अधिक उत्साहके साथ माँ कालीका भजन-पूजन करने लगे। माँ कालीके नाममें मानो वह पागल हो उठे। उन्हें अपने शरीरतककी सुध न रही। 'यह देह तो देह नहीं, यह तो हमारी माँका वासस्थान है'—इस भावको मनमें दृढ़तासे बैठाकर, बाह्य संसारसे एकदम उदासीन होकर, एक मनसे वह 'माँ माँ' पुकारने लगे। जब पूजा करने बैठ जाते तो फिर वह पूजा समाप्त ही नहीं होती थी—लगातार पूजा करते ही जाते थे। पूजा करते-करते आत्मविस्मृत होकर माताकी पूजाका फूल कभी-कभी अपने ही सिरपर चढ़ाने लगते थे। जब आरती करने लगते तो बस आरती ही करते रहते—कब आरती बन्द होगी इसकी कुछ सम्भावना नहीं रहती। और जब ध्यान करने बैठ जाते तो फिर एकदम ज्ञानशून्य हो जाते। दिन हो, रात हो, ठाँव हो, कुठाँव हो, जहाँ ध्यान लगाकर बैठ जाते बस वहीं निश्चल पत्थरकी मूर्तिकी भाँति ध्यानमें मग्न हो जाते, कोई कुछ समझ नहीं पाता था कि उनका ध्यान कब टूटेगा, कब उन्हें होश होगा। उनका न तो दूसरा कोई जप था, न तप था; न पूजा थी, न पाठ था; न क्रिया थी, न कर्म था—रात-दिन केवल आकुल होकर वह 'माँ माँ' पुकारा करते थे।

रामकृष्णकी यह दशा देखकर रानी रासमणिने पूजाके लिये दूसरा पुजारी नियुक्त कर दिया और उन्हें एक महापुरुष समझकर उनकी सेवा-शुश्रूषाका भी प्रबन्ध कर दिया। अब रामकृष्णका वह बोझ भी हलका हो गया और उनकी साधना अबाध गतिसे चलने लगी। वह इस तरह प्राय: चालीस वर्षकी अवस्थातक दक्षिणेश्वरमें कालीकी उपासना करते रहे और अन्तमें उन्होंने माँ कालीको अपनी अटूट श्रद्धा और अगाध भक्तिसे प्रसन्न करके ही छोड़ा। कहते हैं, महामाया साक्षात् उन्हें दर्शन दिया करती थीं और बराबर उनकी रक्षा किया करती थीं। उन सर्वशक्तिमयी परमेश्वरीकी कृपासे परमहंस रामकृष्णके अन्दर अलौकिक तेज, ज्ञान और आनन्दका भण्डार भर गया, वे ज्ञानानन्दस्वरूप हो गये।

रामकृष्ण परमहंसकी साधना ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती गयी, ज्यों-ज्यों माँ कालीकी कृपा उनपर होती गयी, त्यों-ही-त्यों उनका प्रकाश भी चारों ओर फैलने लगा। लोगोंमें इस बातकी चर्चा बड़े जोरोंके साथ होने लगी कि दक्षिणेश्वरमें एक महापुरुषका आविर्भाव हुआ है। दल-के-दल लोग देशके कोने-कोनेसे तथा विदेशोंसे भी दक्षिणेश्वरमें आने लगे और उनके उपदेशोंसे लाभ उठाने लगे। उनके सबसे बड़े शिष्य स्वामी विवेकानन्द थे, जिन्होंने अपने महान् गुरुका सन्देश न केवल भारत, वरं सारे संसारको सुनाया और उनके नामपर देश-विदेशमें ऐसी अनेक संस्थाएँ खोलीं जो आज भी नि:स्वार्थभावसे जनताकी भौतिक और आध्यात्मिक सेवा कर रही हैं।

परमहंस रामकृष्ण इस तरह अपने अन्तिम समयतक लोगोंकी ज्ञानपिपासा बुझाते रहे और आध्यात्मिक साधनामें सहायता करते रहे।

आखिर १६ अगस्त वि० सं० १९४३ को रामकृष्ण परमहंस अनन्त परमात्मसत्तामें सर्वदाके लिये लीन हो गये।

महात्मा वामा क्षेपा

बंगाल प्रान्तके वीरभूमि जिलेमें 'तारापीठ' नामक एक प्रसिद्ध शक्तिपीठ है। इसी पीठस्थानमें वामा क्षेपा नामक एक सिद्ध महात्मा हो गये हैं। तारापुरके पास ही अटला नामका एक छोटा-सा गाँव है। वहाँ सर्वानन्द चट्टोपाध्याय नामक एक निष्ठावान् ब्राह्मण रहा करते थे। सर्वानन्दके दो पुत्र और दो कन्याएँ थीं। पुत्रोंका नाम था—वामाचरण और रामचन्द्र। वामाचरण ही आगे चलकर वामा क्षेपाके नामसे प्रसिद्ध हुए।

वामाचरणका जन्म वि० सं० १८९१ सालमें हुआ था। बचपनमें इनका अधिकांश समय खेल-कूदमें ही बीता। पठन-पाठनमें इनका चित्त नहीं लगता था। किन्तु इनके खेलमें एक विशेषता थी। वह देवी-देवताओंकी मूर्त्ति बनाकर खेला करते थे। कालीपूजाके अवसरपर

काली, जगद्धात्रीपूजाके समय जगद्धात्री, इसी तरह जिस समय जो पर्व आता, उस समय उसीके अनुसार प्रतिमा बनाकर अपने समवयस्क बालकोंके साथ धूप, दीप, नैवेद्य लेकर विधिवत् पूजा करते थे। यह देखकर उनके पिताको बड़ी खुशी होती थी और वह पुत्रको और भी उत्साहित करते थे। अतएव वामाचरणका बचपन सुखपूर्वक बीत रहा था; किन्तु इसी बीच हठात् उनके पिताका देहावसान हो गया। अब अपढ़ बालक वामाचरणपर ही गृहस्थीका सारा बोझ आ पड़ा। उनके पिता ऐसी कोई सम्पत्ति नहीं छोड़ गये थे, जिससे गुजारा हो सके। किन्तु वामाचरणको भगवान्पर—माँ कालीपर पूरा भरोसा था। वह शक्तिके अनन्य उपासक थे। जब उनकी माताने उनसे कहा कि 'अगर तुम दो पैसे पैदा नहीं करोगे तो घरमें इतने लोग क्या खाकर जीवित रहेंगे?' तब उन्होंने सहज ढंगसे यही उत्तर दिया कि 'माँ, अन्नपूर्णाके राज्यमें भी क्या कोई अन्नके बिना मर सकता है? जिन्होंने पैदा किया है वे ही आहार भी देंगी। तुम एकमन होकर माँको पुकारो, वही अन्न-वस्त्र देंगी।' वास्तवमें अब वामाचरणको एकमात्र सहारा जगज्जननी महाशक्तिका ही रह गया था। वह प्राय: नित्य तारादेवीके दर्शन करने जाया करते थे और उन्हींका नाम जपा करते थे। जब कभी संसारचिन्तासे वह कातर होते, सीधे माँ ताराके दरबारमें दौड़ आते और दोनों हाथ जोड़कर माताके सामने निवेदन करते, 'माँ तारा! तुम तो सब लोगोंके कष्टोंका निवारण करती हो, क्या हमारा कष्ट दूर नहीं करोगी?' बस, इतनी प्रार्थना करके वह घर लौट आते और वहाँ पहुँचनेपर देखते कि चाहे जैसे हो, उनकी सारी आवश्यकताएँ पूरी हो गयी हैं।

इस तरह प्राय: दो वर्ष बीत गये। वामाचरण केवल 'तारा-तारा' जपा करते और माताके दर्शन किया करते! घर-गृहस्थीकी मानो उन्हें कोई चिन्ता ही नहीं थी। एक दिन उनकी माताने फिर उनसे कहा—'वामा! अब तुम बच्चे नहीं हो, शादी-विवाहके योग्य हो गये, पागलपन छोड़ो, काम-धामकी खोज करो, और कितने दिनोंतक इस प्रकार रहोगे?' माताकी यही बात वामाचरणके लिये प्रधान उपदेश या मूलमन्त्र हो गयी। उन्होंने मनमें सोचा कि माताने मुझे काम करनेको कहा है, मैं व्यर्थके काममें समय नष्ट न कर उत्तम काम ही करूँगा। इस प्रकार निश्चय कर उन्होंने एक दिन अपनी मातासे कहा, 'माँ, अब मैं काम करना चाहता हूँ।' माताको पुत्रकी बात सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने चाहा कि पुत्र घरपर ही रहकर खेती-बारी करे। किन्तु वामाचरणको यह बात पसन्द न थी। आखिर यह तय पाया कि वामाचरण पासके ही किसी स्थानमें पूजा-पाठका काम करें। इस तरह पन्द्रह वर्षकी उम्रमें वामाचरण एक मन्दिरमें नौकर हो गये और उन्हें पूजाके लिये फूल आदि जुटानेका काम मिला। कुछ दिन वहाँ रहनेपर उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि वहाँके पुजारीमें वास्तविक श्रद्धा-भक्ति नहीं। अतएव उन्होंने मन्दिरके मालिकसे यह कहकर कि ऐसे पुजारीके लिये मैं सामग्री नहीं जुटा सकता, नौकरी छोड़ दी। उसके बाद कई जगह नौकरीके लिये भटकते रहे; किन्तु अपढ़ होनेके कारण उन्हें कहीं काम न मिला। लाचार होकर वह घर लौट आये। उनकी यह दशा देखकर गाँवके लोग उन्हें 'क्षेपा' (पागल) कहकर पुकारने लगे और तबसे उनका नाम ही 'वामा क्षेपा' पड़ गया।

तारापुरमें उन दिनों मोक्षदानन्द नामक एक साधु प्रधान कौलिकके पदपर थे। उनका ध्यान वामा क्षेपाकी ओर आकृष्ट हुआ। वामा क्षेपा प्राय: ही तारापुरमें आकर रहते थे और माताकी आराधना किया करते थे। उनके कार्योंसे मोक्षदानन्द बहुत सन्तुष्ट हुए। फलत: उसके थोड़े ही दिनों बाद मोक्षदानन्दके स्वर्गवासी होनेपर करीब अठारह वर्षकी उम्रमें वामा क्षेपा ही वहाँके महन्त बना दिये गये। वामाचरण अब निश्चिन्तभावसे तारादेवीकी उपासनामें ही रहने लगे। वह तो बचपनसे ही तारादेवीके अनन्य भक्त थे। माताकी भी उनपर अपार कृपा थी।

इसके कुछ ही दिन बाद हठात् एक दिन उनकी माताका स्वर्गवास हो गया। इसकी उन्हें बिलकुल खबर न थी। तारापुर द्वारका नदीके दूसरे किनारेपर है। जब माताका शव अन्तिम संस्कारके लिये द्वारका नदीके किनारे आया तो इस पार लोगोंका हरिनाम सुनकर वह चौंक पड़े। अब उन्हें मालूम हुआ कि मेरी ही माताकी मृत्यु हुई है। मातृप्रेम उनके हृदयमें बड़े वेगसे उमड़ पड़ा और वह अन्तिम दर्शनके लिये व्याकुल हो उठे। उस समय बड़े जोरका तूफान चल रहा था, नदी अपने पूर्ण वेगसे प्रवाहित हो रही थी, ऊँची-ऊँची तरङ्गें उठ रही थीं, चारों ओर जगह-जगह भँवर चक्कर काट रहे
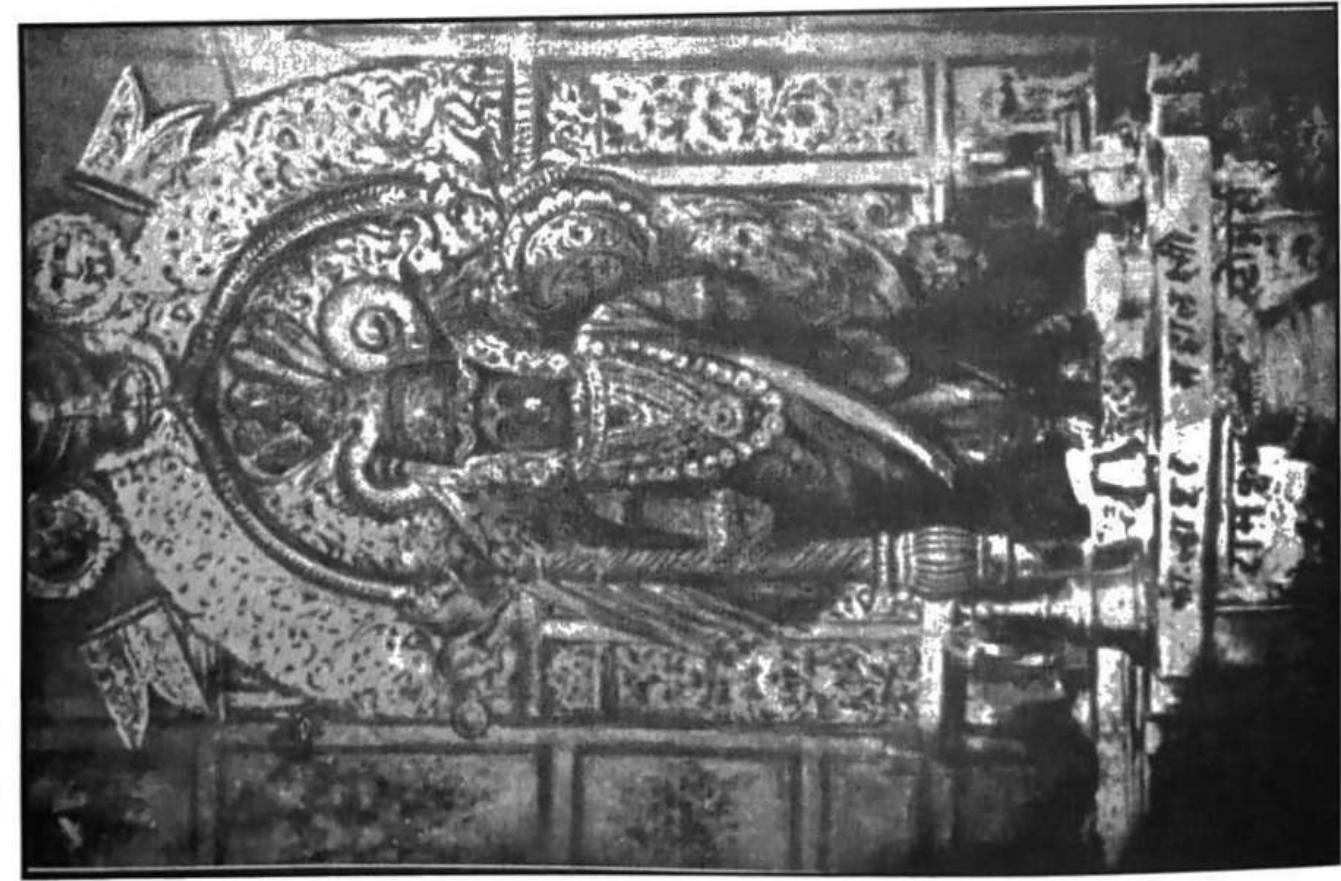
श्रीकरवीरनिवासिनी श्रीमहाकाली

गिरनारपर दत्तात्रेयका स्थान

धूम्रलोचनवध
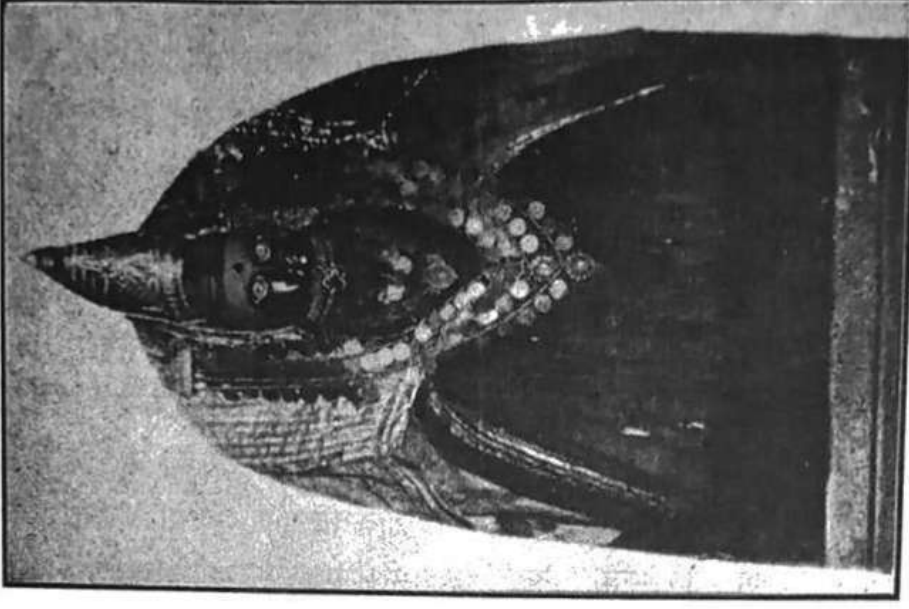
श्रीतुलजाभवानीमन्दिर
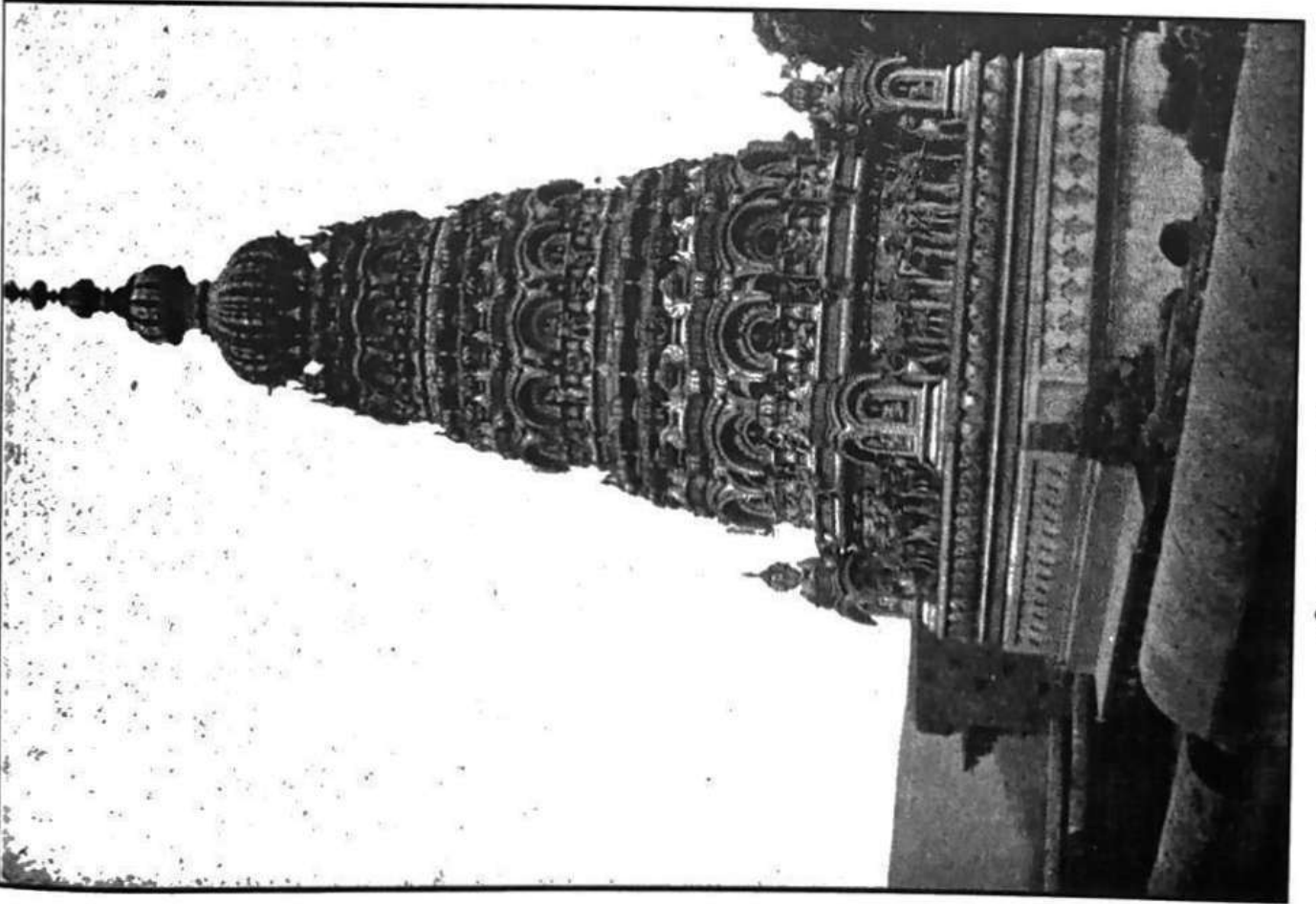
श्रीतुलजाभवानीजी

थे, भला ऐसे समय नदीको कौन पार करे? नदीके दोनों किनारोंपर बहुत-से लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो खड़े थे। किन्तु वामाचरणको क्या चिन्ता? उन्होंने तो सर्वशक्तिमयी आद्याशक्तिका स्मरण किया और नदीमें अपनेको फेंक दिया। लोग सोचने लगे बस, वामा क्षेपाका भी आज अन्त हुआ। किन्तु यह देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ कि थोड़े ही समयके भीतर वामाचरण सकुशल दूसरे पार पहुँच गये। वामाचरणने तुरन्त माताका शव पीठपर उठा लिया और वह पुनः नदीमें कूद पड़े। इस बार तो सब लोग उनके जीवनसे पूर्ण निराश हो गये। एक शवको पीठपर लेकर ऐसे समय वामाचरण नदी पार कर जायँगे—यह कोई स्वप्नमें भी सोच नहीं सकता था। किन्तु वामाचरणको इससे क्या? उन्हें तो सब शक्तियोंकी स्वामिनी तारामाताका भरोसा था और इसी बूतेपर उन्होंने ऐसा दुस्साहस किया था। माता उनकी रक्षा करनेके लिये उतनी ही तत्पर थीं। कुछ ही क्षण बाद लोगोंने आश्चर्यसे आँखें फाड़-फाड़कर वामाचरणको शव लिये पानीसे निकलते देखा। तारापीठके महाश्मशानमें तारादेवीके सामने वामाचरणने अपनी माताकी चिता सजायी और आग लगा दी। चिता जलने लगी और वामाचरण माताके सामने नृत्य करने लगे।

श्राद्धसे तीन दिन पहले वामा पागल अपने घर आये और उन्होंने अपने भाईसे कहा कि आसपासके गाँवोंमें जितने ब्राह्मण हों सबको निमन्त्रण दे आओ; देखना, एक भी आदमी छूट न जाय। पागलकी बातें सुनकर सब हँस पड़े। घरमें तो खानेका ठिकाना नहीं, निमन्त्रण दे आओ सैकड़ोंको! वामाचरण स्वयं घूमकर निमन्त्रण दे आये। श्राद्धके दिन काँवर-का-काँवर सब सामान आने लगा और सारा घर आटा, घी, तरकारी आदि सामानोंसे भर गया। जब ब्राह्मणोंके भोजनका समय उपस्थित हुआ और सब लोग आ-आकर इकट्ठे हुए तो आसमानमें घनघोर घटा छा गयी। मालूम हुआ, आज इन्द्रभगवान् प्रलय करनेपर ही तुले हुए हैं। सब लोग बड़ी चिन्तामें पड़ गये कि ब्राह्मणोंको भोजन कैसे कराया जाय? वामाचरणने आसमानकी ओर देखा और बड़े करुण स्वरमें प्रार्थना की, 'माँ! क्या इतने ब्राह्मण दरवाजेपरसे भूखे ही लौट जायँगे? तुम तो माँ! कभी मेरी बात नहीं टालती।' मानो सचमुच दयामयी माताने भक्तकी पुकार सुन ली। न मालूम, कहाँसे एक ऐसा हवाका झोंका आया, जो सब बादलोंको उड़ा ले गया और तुरन्त आसमान साफ हो गया। सब ब्राह्मणोंने आनन्दसे खुले आँगनमें बैठकर भोजन किया और इस तरह श्राद्ध-कर्म निर्विघ्न समाप्त हुआ।

श्राद्ध सम्पन्न हो जानेपर वामा क्षेपा तारापुर चले आये और शक्तिसाधनामें निमग्न हो गये। यद्यपि वह कुछ पढ़े-लिखे नहीं थे, फिर भी माताकी कृपासे सारे शास्त्र मानो उनके नेत्रोंके सामने रहते थे। वह लोगोंके मनकी बात, दूर देशकी बात, भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंकी बातें अनायास जान जाते थे। उनके जीवनमें उनकी अलौकिक शक्तियोंके अनेक प्रमाण लोगोंको देखनेमें आये। उन शक्तियोंके द्वारा वह प्रायः ही लोककल्याण किया करते थे। एक समय किसी आदमीसे एक संन्यासीने हरद्वारमें बताया कि एक सप्ताहके अन्दर सर्पके काटनेसे तुम्हारी मृत्यु हो जायगी। उस आदमीको पीछे यह बात भी मालूम हुई कि इस विपत्तिसे रक्षा करनेवाले एकमात्र वामा क्षेपा ही हैं। वह आदमी दौड़ा हुआ तारापुर पहुँचा और वामा क्षेपाके पैरोंमें गिर पड़ा। वही उसकी मृत्युका सातवाँ दिन था। वामा क्षेपाने उस आदमीके चारों ओर लकीर खींचकर कहा कि बस यहीं पड़े रहो और निरन्तर माँको पुकारते रहो। उस आदमीने वैसा ही किया। आधी रातको निश्चित समयपर साँपने आकर उस आदमीको काट लिया और वह मर गया। वामा क्षेपाने माँ ताराके सामने गिरकर प्रार्थना की और उस आदमीको जिला दिया।

एक बार एक यक्ष्माका रोगी उनकी शरणमें आया। वह दवा करते-करते हार गया था। अब उसके जीनेकी कोई आशा न थी। वामाचरणने शरणार्थीको उठाया और उसकी पीठमें तीन मुक्के मारते हुए कहा—'जा बेटा, तू दूर हो।' बस, उसी दिनसे वह असाध्य रोग दूर ही हो गया। इसी तरह अपने एक सेवकका कुष्ठ रोग उन्होंने एक मुट्ठी श्मशानकी राख मलकर अच्छा कर दिया। इतना सब करनेपर भी वह कभी किसीसे पूजामें कुछ नहीं लेते थे। बहुत-से लोगोंने उन्हें द्रव्य देनेकी चेष्टा की, किन्तु उन्होंने बराबर ही अस्वीकार कर दिया।

इस प्रकार वामा क्षेपाने प्रायः ७७ वर्षकी उम्रतक

लोकोपकारका काम किया। वह एक योगी थे—सिद्ध पुरुष थे। फलतः उन्हें यह पहले ही मालूम हो गया कि अमुक समयमें मेरा देहावसान होगा। उन्होंने मृत्युके दिन अपने मन्दिरके कतिपय व्यक्तियोंको बुलाकर कहा—'अरे, तुमलोग मुझे श्मशान-घाट ले जा रहे हो?' उस समय किसीने उनकी इस बातका अर्थ न समझा अथवा उन्हें पागल समझकर उसपर विचार करनेकी आवश्यकता ही न समझी। वामा क्षेपा यह कहकर आसन लगाकर बैठ गये और माताके चरणोंमें ध्यान लगाकर समाधिस्थ हो गये। दूसरे दिन लोगोंने देखा—वामाचरण योगासन लगाये बैठे हैं; किन्तु उनके शरीरमें जीवनी-शक्ति नहीं। इस तरह बंगालके एक महान् योगी वि० सं० १९६८ के श्रावणमासमें योगमार्गसे दिव्यत्वको प्राप्त हो गये। लोगोंने उन्हें उसी तरह उठाकर श्मशान-घाटमें पहुँचाया और समाधि दे दी। उनकी समाधिपर एक मन्दिर बनवा दिया गया है।

भारतवर्षके प्रधान शक्तिपीठ

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम० ए०)

भारतीय शक्तिपीठों अथवा प्रधान देवी-मन्दिरोंकी उत्पत्तिके विषयमें पौराणिक तथा तान्त्रिक विचार विस्तार-पूर्वक अपने 'श्रीज्वालामुखीयात्रा' शीर्षक लेखके उपोद्घातमें मैं 'कल्याण' की कार्तिक संवत् १९९० की संख्यामें दे चुका हूँ। अतः दुबारा उन्हें लिखनेकी आवश्यकता नहीं समझता। केवल इतना ही और कहना है कि 'तन्त्रचूडामणि' में पीठोंकी संख्या बावन दी है, 'शिवचरित्र' में इक्यावन और 'देवीभागवत' में एक सौ आठ। 'कालिकापुराण' में छब्बीस उपपीठोंका वर्णन है। पर साधारणतया पीठोंकी संख्या इक्यावन मानी जाती है। इनमेंसे अनेक पीठ तो इस समय अज्ञात हैं। जिनका पता चलता है, तथा जो अन्य प्रसिद्ध देवीतीर्थ वर्तमान कालमें पूजे जाते हैं उन्हें लेकर मैंने इस लेखके साथ दिये हुए मानचित्रको बनाया है। मानचित्रमें दिये स्थानोंके विषयमें अकारादिक्रमसे निम्नलिखित सूक्ष्म विवरण दिया जाता है।

(१) अल्मोड़ा—जिस पहाड़ीपर अल्मोड़ेका नगर बसा हुआ है उसके विषयमें लिखा है कि **'कौशिकीशाल्मलीमध्ये पुण्यः काषायपर्वतः'** (स्कन्दपुराण-मानसखण्ड, अध्याय ५२)। कौशिकी और शाल्मलीको इस समय कोसी तथा स्वाल कहते हैं। इस अल्मोड़ेके काषाय पर्वतपर नगरसे आठ मीलपर कौशिकी देवीका स्थान है। भगवती कौशिकीकी उत्पत्ति 'दुर्गासप्तशती' के पाँचवें अध्यायमें दी हुई है। इस स्थानपर दूर-दूरसे आकर उपासक लोग पुरश्चरण इत्यादि करते हैं। काठगोदाम स्टेशनसे अल्मोड़ेको मोटर जाती है।

(२) आबू—यहाँ अर्बुदा देवीका मन्दिर ५१ प्रधान पीठोंमें है। यह मन्दिर नगरके वायव्य कोणमें एक ऊँची पहाड़ीपर स्थित है। ऊपर चढ़नेके लिये सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। मन्दिरसे नगरका दृश्य अत्यन्त नयनाभिराम प्रतीत होता है। दूरसे जो मन्दिर दीखता है वह केवल आवरण-सा है, क्योंकि मुख्य स्थान मन्दिरसे लगी हुई एक गुफामें है। गुफाके भीतर निरन्तर दीपक जलता रहता है और इसीके प्रकाशसे भगवतीके दर्शन होते हैं। यहाँ चैत्री पूर्णिमा तथा विजयादशमीके अवसरोंपर बड़े मेले लगते हैं। आबू-रोड स्टेशन B.B.C.I. की देहली-बम्बईवाली छोटी लाइनपर है। यहाँसे आबू पर्वतको मोटरें जाती हैं।

(३) उज्जैन—यह नगर सम्राट् विक्रमादित्यकी राजधानी रह चुका है। यह भी प्रधान शक्तिपीठोंमें है। यहाँका महाकालेश्वर शिवलिङ्ग द्वादश ज्योतिर्लिङ्गोंमेंसे है। इसी शिवमन्दिरके समीप रुद्रसागरके उस पार महाराज विक्रमादित्यकी कुलदेवी हरसिद्धि माताका प्राचीन मन्दिर है। यहाँ भी दूर-दूरसे लोग पुरश्चरणके लिये आते हैं और इस सिद्धपीठके सम्बन्धमें अनेकानेक चमत्कारिक कथाएँ कही जाती हैं। उज्जैनमें क्षिप्रा-तटका दृश्य बड़ा ही हृदयग्राही है।

(४) ओंकारेश्वर—पाठकगण 'शिवाङ्क' में ओंकारेश्वर ज्योतिर्लिङ्गका विवरण पढ़ चुके होंगे। उस विवरणमें मान्धाता पर्वतकी परिक्रमाका भी उल्लेख मिलेगा। ओंकारेश्वरके मन्दिरसे लगभग ३ मील पूर्व नर्मदाके तटपर एक महत्त्वपूर्ण शक्तिपीठ है। यह स्थान 'सातमात्रा' के नामसे पुकारा जाता है। पर इसका शुद्ध नाम सप्तमातृका है। सप्तमातृकाएँ

कल्याण—

भगवतीप्रसाद सिंह
डिप्टी कलक्टर
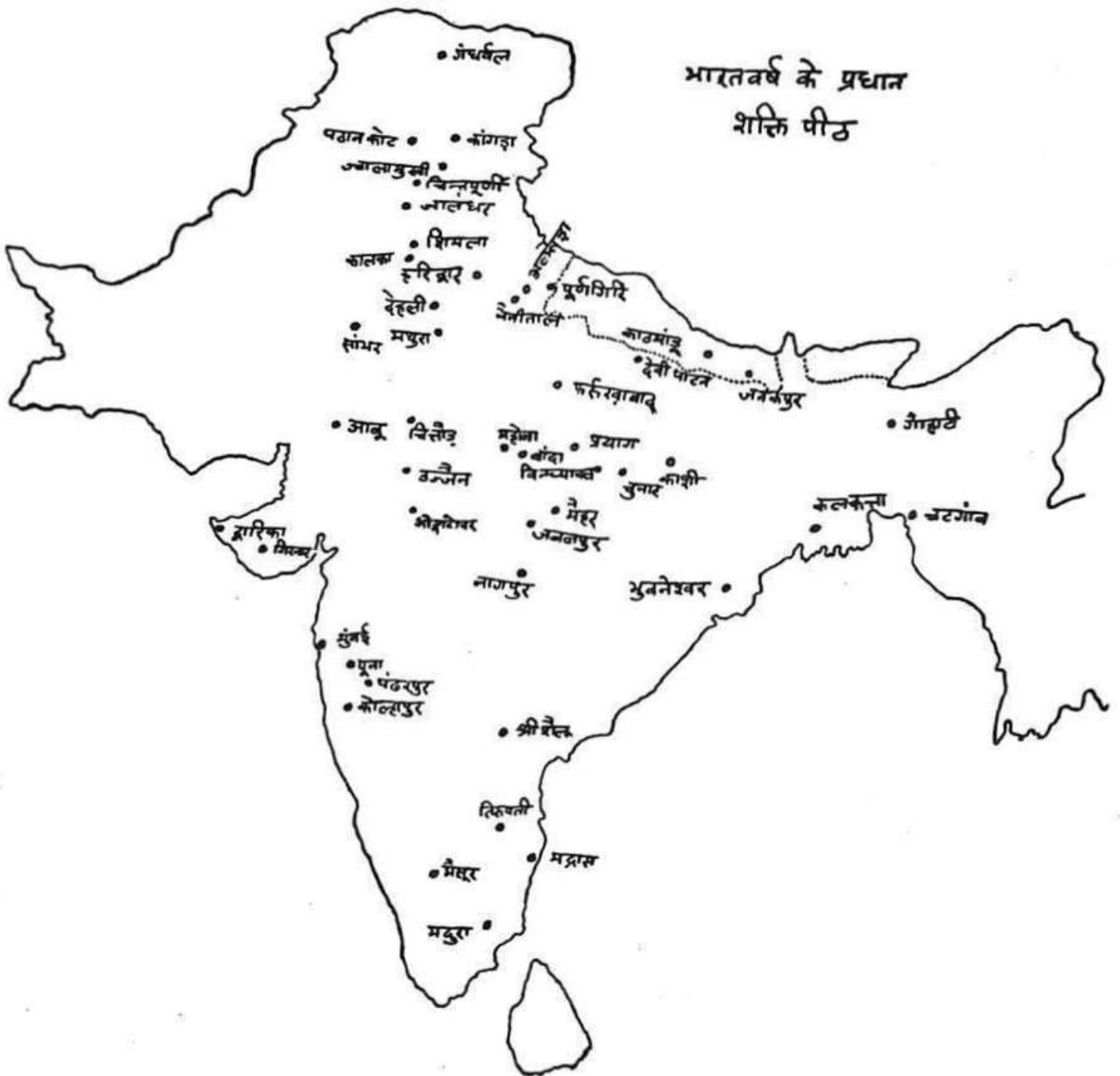
ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही, ऐन्द्री हैं। (इनकी उत्पत्तिके विषयमें दुर्गासप्तशती अध्याय ८ देखिये।) इस तीर्थमें इन सात मातृकाओंके मन्दिर हैं। यहाँका दृश्य परम मनोहर तथा श्रद्धोत्पादक है।

(५) कलकत्ता—हावड़ा स्टेशनसे पाँच मील दूरपर भागीरथीके आदि स्रोतपर कालीघाट नामक स्थान है। इसीके ऊपर सुप्रसिद्ध कालीजीका मन्दिर है। यह स्थान भी प्रधान शक्तिपीठोंमें है। मन्दिरमें त्रिनयना माता रक्ताम्बरा, मुण्डमालिनी तथा मुक्तकेशी विराजमान हैं। सारा बङ्गाल प्रान्त बड़ी श्रद्धासे भगवतीकी पूजा तथा आराधना करता है। इस पीठके चमत्कार अगणित हैं और बराबर होते रहते हैं। परमहंस रामकृष्णपर जैसी काली माताकी असीम कृपा रही है, उससे पाठक अनभिज्ञ न होंगे। कलकत्तेमें हजारभुजा काली, सर्वमङ्गला, तारासुन्दरी, सिंहवाहिनी आदि अन्य प्रसिद्ध शक्तिपीठ भी हैं।

(६) काठमाण्डू—नैपालराज्यकी अधिष्ठात्री भगवती गुह्येश्वरीका मन्दिर वागमती नदीके गुह्येश्वरीघाटपर श्रीपशुपतिनाथके मन्दिरसे दो फर्लांगकी दूरीपर स्थित है। बीचमें पक्का रास्ता बना हुआ है। सारा नैपालराज्य इन गुह्य कालिकाकी अनन्यभक्तिसे वन्दना करता है। नवरात्रके अवसरोंपर स्वयं नैपाल-सम्राट् सकुटुम्ब नित्यप्रति वागमतीमें स्नान कर भगवतीके दर्शन करते हैं।

(७) कालका—देहलीसे जो लाइन शिमलेको जाती है उसपर कालका नामक प्रसिद्ध जंकशन है। यहाँपर भगवती कालिकाका एक प्राचीन मन्दिर है। दुर्गासप्तशतीके पाँचवें अध्यायमें लिखा है कि शुम्भ-निशुम्भद्वारा पीड़ित देवताओंने हिमालय-पर्वतपर जाकर विष्णुमायाकी स्तुति करना आरम्भ किया। इसी अवसरपर पार्वतीजी उधरसे होकर निकलीं। उन्होंने स्तुतिमें लगे हुए देवगणोंसे पूछा कि आपलोग किसकी स्तुति कर रहे हैं। इतना पूछते ही भगवती पार्वतीके शरीरसे शिवा माता निकल पड़ीं और उन्होंने पार्वतीजीको उत्तर दिया कि ये देवगण मेरी स्तुति कर रहे हैं। भगवती पार्वतीके शरीरकोशसे प्रकट होनेके कारण शिवा माताका नाम कौशिकी पड़ा। (अल्मोड़ेमें कौशिकीके पीठका विवरण ऊपर दिया जा चुका है) और—

तस्यां विनिर्गतायां तु कृष्णाभूत्सापि पार्वती।
कालिकेति समाख्याता हिमाचलकृताश्रया॥

अर्थात् निज शरीरसे कौशिकीके अलग हो जानेपर पार्वती श्यामवर्णा हो गयीं और उन्होंने हिमालयमें निवास ग्रहण किया। यही श्यामवर्णा पार्वती कालकाकी देवी हैं।

(८) काशी—काशीमें जो शक्ति-त्रिकोण है उसके कोनोंपर क्रमशः दुर्गाजी (महाकाली), महालक्ष्मी तथा वागीश्वरी (महासरस्वती) विराजमान हैं। लक्ष्मीकुण्डपर महालक्ष्मीजीकी जो मूर्ति है उसके साथ-साथ भी महाकाली तथा महासरस्वतीकी मूर्तियाँ हैं। वागीश्वरीकी प्राचीन प्रतिमा मन्दिरके नीचे एक पक्की गुफाके भीतर है। इन तीन शक्तिपीठोंके साथ एक-एक कुण्डकी स्थिति काशीखण्डमें उल्लिखित है। दुर्गाकुण्ड तथा लक्ष्मीकुण्ड तो अबतक विद्यमान हैं पर वागीश्वरीकुण्ड पचास-साठ वर्ष हुए पट गया। उसके स्थानपर अब एक उद्यान है। इन तीनों देवियोंके आसपास (क्रमशः भदैनी, रामापुरा तथा जैतपुरा मुहल्लोंमें) काशीके प्राचीन ब्राह्मणोंकी बस्तियाँ हैं और समस्त नगरकी पुरोहिती उन्हीं ब्राह्मणोंकी है।

इन प्रधान शक्तिपीठोंके अतिरिक्त काशीमें सुप्रसिद्ध नवदुर्गाओंके (शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी, सिद्धिदात्री) स्थान हैं। जहाँ नवरात्रमें बराबर दिवसके अनुसार मेला लगता है और हजारों भक्तगण दर्शनको जाते हैं। कूष्माण्डा तथा स्कन्दमाता उपर्युक्त दुर्गाजी तथा वागीश्वरी ही हैं और महागौरी काशीकी अधिष्ठात्री केन्द्रस्थ भगवती अन्नपूर्णा हैं। यही इस महापीठकी देवी हैं।

इनके अतिरिक्त चौंसट्ठी, काली, विशालाक्षी, वाराही, त्रिपुरा, मङ्गलागौरी, संकटा, पीताम्बरा इत्यादि अनेक और शक्तिपीठ हैं। इनमें वाराही तथा सङ्कटाके स्थान बड़े सिद्धिप्रद हैं और सैकड़ों भक्तोंपर इन देवियोंने चमत्कारिक दयादृष्टि की है। वाराहीजीका मन्दिर मीरघाटपर एक घरके नीचे गुफामें है। पूजाके लिये सूर्योदयके पूर्व थोड़ी देरको मन्दिर खुलता है, अन्यथा दिनभर बन्द रहता है।

वाराणसीके इन शक्तिपीठोंकी महिमा अपार है और प्रायः समस्त भारतवर्षसे लोग यहाँ उपासना अथवा अनुष्ठानके लिये बराबर आते हैं।

(९) काँगड़ा—काँगड़ा पठानकोट-योगीन्द्रनगर लाइनपर एक स्टेशन है। यहाँ भगवती विद्येश्वरीका बहुत प्राचीन

श्रीकालीजी—कलकत्ता

श्रीसतीमन्दिर—कनखल

काँगड़ादेवीका मन्दिर—कांगड़ा
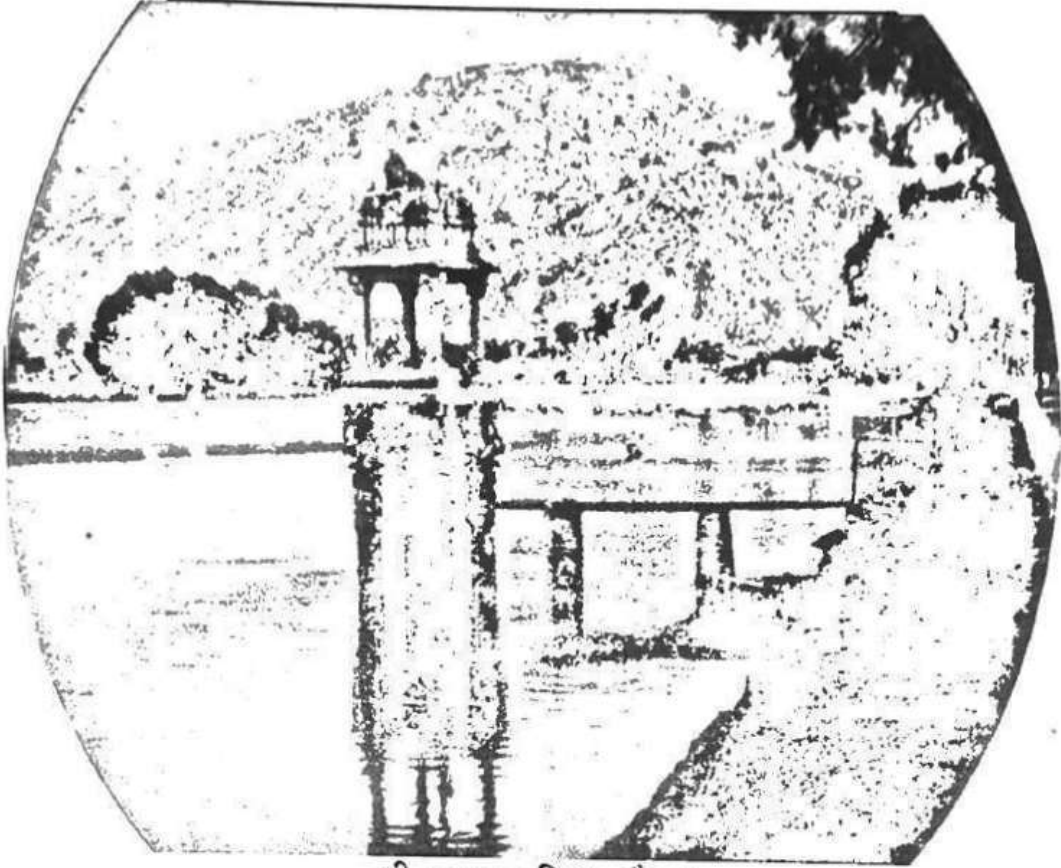
श्रीचामुण्डामन्दिर—मैसूर
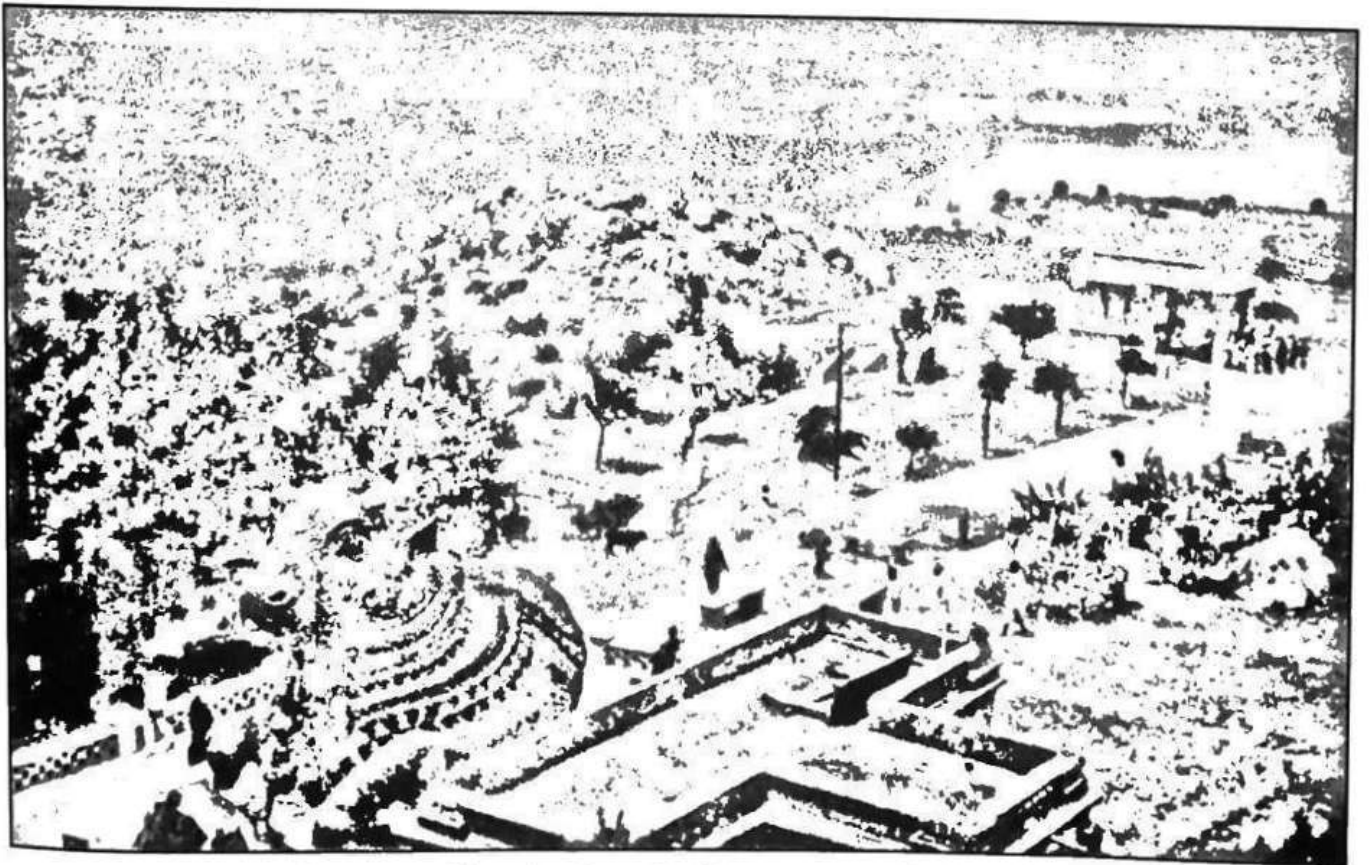
श्रीचामुण्डाजीके मन्दिरके समीप विशालकाय नन्दीमूर्ति—मैसूर

श्रीत्रिपुरासुन्दरी—तिरवा

कालीखोह—विन्ध्याचल

Durga Kund & Temple, Benares.
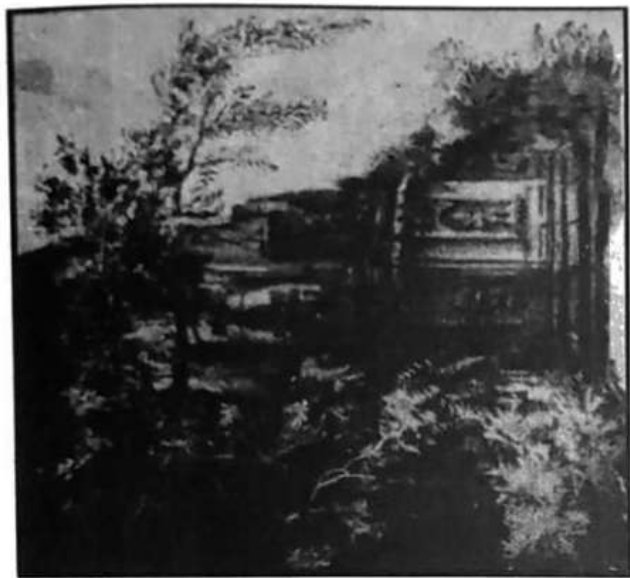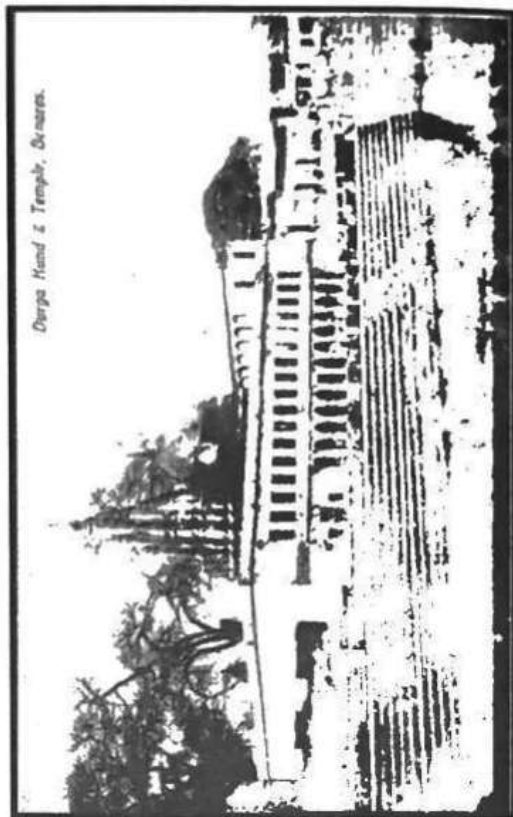
दुर्गाकुण्ड और मन्दिर—काशी

श्रीकामाख्यामन्दिर—गौहाटी

श्रीगुह्येश्वरीमन्दिर—नेपाल

मन्दिर है। इनको नगरकोटकी देवी भी कहते हैं। देवीजीका पुराना मन्दिर सन् १९०५ के भूकम्पमें गिर गया था, अब नया मन्दिर धीरे-धीरे एक ट्रस्टद्वारा तैयार कराया जा रहा है। यह स्थान प्रधान पीठोंमें है और यहाँ सतीके मुण्डका गिरना बतलाया जाता है। मूर्ति भी मुण्डकी ही है और उसके ऊपर सुवर्णछत्र शोभायमान है। भगवतीके सम्मुख चाँदीसे मढ़े हुए स्थानमें प्रसिद्ध वाग्यन्त्र बना हुआ है। यहाँ तथा ज्वालामुखी और चिन्तपूर्णीके स्थानोंपर समस्त पञ्जाब तथा अन्य समीपवर्ती प्रान्तोंसे प्रतिवर्ष लाखों यात्री दर्शनार्थ आते हैं। देवीजीके मन्दिरके अहातेमें एक कुण्ड भी है और उसके पास कई प्राचीन यूपस्तम्भ रखे हैं।

(१०) **कोल्हापुर**—'देवीभागवत' तथा 'मत्स्यपुराण' में वर्णित महालक्ष्मीका स्थान यहाँपर है। यह भी सिद्धपीठोंमें है। महाराष्ट्रप्रान्तभरमें इतना सिद्ध अन्य देवीपीठ नहीं। प्रतिवर्ष लाखों यात्री यहाँ दर्शनको आते हैं। कोल्हापुरमें छत्रपति महाराज शिवाजीके वंशज राज्य करते हैं और नगर रेलवे लाइनपर है।

(११) **गन्धर्वल**—यह स्थान काश्मीरकी राजधानी श्रीनगरसे पन्द्रह मील उत्तरको है। इसीके समीप काश्मीरका प्रसिद्ध क्षीरभवानी अर्थात् योगमायाका मन्दिर है। चारों ओर जल है, बीचमें एक टापू-सा है। ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमीको यहाँ बड़ा मेला लगता है और उस अवसरपर यहाँ बहुत हवन-पूजन होता है। प्राचीन आर्य-संस्कृति यहाँ जीती-जागती दिखायी देती है। बड़े-बड़े सौम्यवर्ण तिलकधारी पण्डित लोग शुद्ध वेदमन्त्रोंसे अर्चनामें तत्पर दीखते हैं। कहा जाता है कि क्षीरभवानीके मण्डपके चारों ओर जो कुण्ड बना है उसका जल रंग बदलता है और इसीसे शुभाशुभका विचार होता है। स्वर्गीय काश्मीर-नरेशको इस स्थानके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। यहाँ अगणित चेनारके पेड़ हैं, जिनकी छाया बड़ी ही ठंढी तथा स्वास्थ्यप्रद है।

(१२) **गिरनार**—काठियावाड़ प्रान्तका सुप्रसिद्ध अम्बादेवीका मन्दिर जूनागढ़-राज्यमें गिरनार पर्वतपर है। पर्वतकी चढ़ाई बड़ी ऊँची है और प्राय: छ हजार सीढ़ियाँ पार करनेपर पर्वतके तीनों शिखरोंकी यात्रा होती है। प्रत्येक चार-पाँच सीढ़ियोंके बाद एक चौड़ी सीढ़ी मिलती है, जिसपर यात्री लोग विश्राम कर लेते हैं। इस पर्वतके तीनों शिखरोंपर क्रमशः अम्बादेवी, गोरक्षनाथ तथा दत्तात्रेयके स्थान मिलते हैं। अम्बादेवीकी विशाल मूर्ति इस भयानक वन्य प्रदेशमें बड़ी ही उग्र प्रतीत होती है। इस जङ्गलमें अनेकानेक सिंह विद्यमान हैं। इसी पर्वतपर एक गुफामें कालीजीकी मूर्ति भी है, जहाँ अनेक उपासक मिलते हैं।

(१३) **गौहाटी**—गौहाटीसे दो मील पश्चिम नीलगिरि अथवा नीलकूट पर्वतपर प्रधान सिद्धपीठ है, जिसे भगवती कामाख्या अथवा कामाक्षा कहते हैं। 'कालिकापुराण' के अनुसार इस स्थानपर सतीकी योनि गिरी थी। अत: यहाँका प्रधान तीर्थ एक अँधेरी गुफाके भीतर स्थिर योनिपीठ है। इस स्थलपर केवल कुण्ड-सा है, जो पुष्पाच्छादित रहता है। पासहीमें एक मन्दिरमें भगवतीकी मूर्ति भी है। यह पीठ महाक्षेत्र कहा जाता है और इस महत्त्वके अन्य पीठ श्रीविन्ध्यवासिनीक्षेत्र तथा श्रीज्वालामुखीमें ही हैं। इस पीठके विषयमें कहा गया है कि भगवती प्रतिमास रजस्वला होती हैं। उस समय पण्डे लोग शुद्ध वस्त्र भगवतीके योनिस्थ रजमें रँग लेते हैं और उसे यात्रियोंको प्रसादवत् देते हैं। यात्रियोंको यहाँ पण्डोंहीके यहाँ निवास करना होता है। यहाँसे सोलह मीलपर सुप्रसिद्ध कामरूप नामक स्थान है, जहाँकी स्त्रियोंके विषयमें अनेकानेक ऐन्द्रजालिक कथाएँ प्रचलित हैं। कामाक्षामें यथासाध्य संख्यामें कुमारिकाओंको भोजन करानेकी प्रथा है।

(१४) **चटगाँव**—यहाँसे चौबीस मीलपर सीताकुण्ड नामक तीर्थ है। उसीके समीप चन्द्रशेखर पर्वतके शिखरपर भगवती भवानीका मन्दिर है जो इक्यावन शक्तिपीठमें गिना जाता है। इस स्थानपर बाडवकुण्डमें निरन्तर आग निकलती रहती है और समीपहीमें पत्थरसे आग निकला करती है।

(१५) **चित्तौड़**—इस ऐतिहासिक दुर्गके भीतर एक प्राचीन मन्दिर भगवती कालिकाका है। इनको यदि श्मशानकाली कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी, क्योंकि इस दुर्गकी रक्षामें न जाने कितनी राजपूत वीराङ्गनाओंने अग्निमें अपनी आहुति दी और न जाने कितने रणबाँकुरे वीरोंने केसरिया बाना पहनकर अपने प्राण रणमें उत्सर्ग किये। इस मन्दिरमें अखण्ड दीप जलता है और यहाँके प्रत्येक स्तम्भपर अगणित मूर्तियाँ तथा बेल-बूटे बने हैं।

इस दुर्गमें तुलजा भवानी तथा अन्नपूर्णाके मन्दिर भी हैं।

(१६) चिन्तपूर्णी—जालन्धरसे ज्वालामुखी जाते हुए होशियारपुरसे तीस मीलपर चिन्तपूर्णीका स्थान सघन पर्वतीय प्रदेशमें स्थित है। सुप्रसिद्ध काँगड़ेकी घाटीमें जो शक्तित्रिकोण है, उसके प्रत्येक सिरेपर क्रमशः चिन्तपूर्णी, ज्वालामुखी तथा काँगड़ेकी विद्येश्वरी विराजमान हैं। इन तीनों सिद्धपीठोंमें प्रतिवर्ष लाखों यात्री आते हैं।

(१७) चुनार—चुनार स्टेशनसे दो-तीन मील दक्षिण विन्ध्यपर्वतकी एक सुरम्य खोहमें भगवती दुर्गाजीका स्थान है। मन्दिरका प्रवेशद्वार एक खिड़की-सा है और उसमें बैठकर भीतर जाना होता है। भीतर पर्याप्त स्थान है। दुर्गामाताकी प्रतिमा बड़ी ही श्रद्धोत्पादक है। यह स्थान अनुष्ठान इत्यादिके लिये अनुपम है। मन्दिरके समीप झरनेका जल नालेके रूपमें बहता है और इसी नालेके पास एक खुली गुफा या दालानमें अनेकानेक प्राचीन तथा विचित्र लेख खुदे हैं। यह स्थान बड़ा स्वास्थ्यवर्धक है।

(१८) जनकपुर—जनकपुररोड स्टेशन है। वहाँसे नेपालराज्यमें इस स्थानको जाना होता है। इसी स्थानपर जनकनन्दिनी सीताजीका प्रादुर्भाव हुआ था। दूर-दूरसे यात्रीगण (अधिकांश मिथिला तथा बिहारप्रान्तसे) यहाँ दर्शनको आते हैं।

(१९) जबलपुर—यहाँसे बारह मीलपर सुप्रसिद्ध भेड़ाघाट नामक नर्मदाका प्रपात है जिसे देखने विदेशोंसे भी लोग आते हैं। नर्मदाके किनारे दोनों ओर लगभग मीलभरतक बराबर ऊँची-ऊँची संगमर्मरकी चट्टानें हैं। इन्हींपर गौरीशङ्करजीके मन्दिरमें चौंसठ योगिनियोंके स्थान हैं। मूर्तियाँ मनुष्याकार हैं और तन्त्रोक्त विधिसे बनी हैं। खेद है कि आततायी यवनोंने इनको भग्न कर डाला है। किन्तु फिर भी यहाँ अनेक यात्रीगण आते हैं।

(२०) ज्वालामुखी—इस महापीठका विस्तृत विवरण सं० १९९० के 'कल्याण' की कार्तिकवाली संख्यामें निकल चुका है। इस स्थानपर अनादिकालसे पृथ्वीमेंसे कई अग्निशिखाएँ निकल रही हैं।

(२१) जालन्धर—शक्तिपीठोंके वर्णनमें इस स्थानका नाम भी आता है, पर इस समय जालन्धर नामक नगरमें कोई प्रधान देवीपीठ नहीं मालूम होता। अतः अनुमान किया जाता है कि प्राचीन जालन्धरसे त्रिगर्त प्रदेश (वर्तमान काँगड़ेकी घाटी) मानना चाहिये। इस त्रिगर्त प्रदेशमें चिन्तपूर्णी, ज्वालामुखी तथा नगरकोटकी देवीके स्थानोंसे जो शक्तित्रिकोण बनता है वह परम पुनीत माना जाता है।

(२२) तिरुपती—यहाँकी सुप्रसिद्ध बालाजीकी मूर्ति दक्षिणभारतका महाक्षेत्र है। वहाँसे तीन मील दूरपर चिन्तानूर नामक स्थानमें श्रीपद्मावतीका मन्दिर है।

(२३) द्वारका—इस धाममें श्रीरुक्मिणी देवी तथा श्रीसत्यभामाजीके प्रसिद्ध मन्दिर हैं। इन मन्दिरोंके राजसी ठाट भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके समयकी द्वारकाके वैभवकी याद दिलाते हैं।

(२४) देवीपाटन—किंवदन्ती है कि भगवती पटेश्वरीकी स्थापना महाभारत-कालमें राजा कर्णद्वारा हुई थी। सम्राट् विक्रमादित्यने तीर्थोद्धारके समय यहाँ भी दूसरा मन्दिर बनवा दिया। कालान्तरमें नाथसम्प्रदायके कनफटे योगियोंकी यह गद्दी हो गयी और अब भी यह स्थान उन्हींकी देख-रेखमें है। पटेश्वरीदेवीका मन्दिर एक टीलेपर बना हुआ है और समीपमें एक कुण्ड भी है। चैत्रकी नवरात्रमें यहाँ एक बहुत बड़ा मेला लगता है, जिसमें अवध तथा नैपालसे लाख-डेढ़ लाख आदमी आते हैं। इस मेलेमें नैपाली टाँगनोंकी बड़ी बिक्री होती है।

(२५) देहली—भारतकी इस प्राचीन तथा आधुनिक राजधानीमें दो प्राचीन शक्तिपीठ विद्यमान हैं। कुतुबमीनारके पास योगमायाका मन्दिर है। कहते हैं कि भगवती योगमाया पृथिवीराजकी इष्टदेवी थीं। मन्दिरके भीतर कोई मूर्ति नहीं। केवल, कामाक्षापीठकी तरह भगवती योनिरूपा-सी विराजमान हैं। दूसरा स्थान यहाँसे लगभग छः-सात मीलपर ओखला नामक ग्राममें एक टीलेपर कालिका मन्दिर है। मन्दिर अठपहल है और अपने ढंगका निराला है। इस प्रदेशमें देवीको बड़े-बड़े पंखे चढ़ानेकी प्रथा प्रचलित है।

(२६) नागपुर—मध्य-भारतके इस नगरमें सहस्र-चण्डीका तथा रुक्मिणीजीके दो प्रसिद्ध मन्दिर हैं, जिनके दर्शनोंको इस प्रान्तके अनेकानेक यात्री आते हैं।

(२७) नैनीताल—संयुक्त प्रान्तीय पर्वतीय नगरोंमें यह स्थान बड़ा ही मनोरम है। यहाँपर पर्वतके ऊपर एक बड़ी लम्बी-चौड़ी झील है, जिसमें सदैव अगाध जल भरा रहता है। इस ह्रदका प्राचीन नाम स्कन्दपुराणके
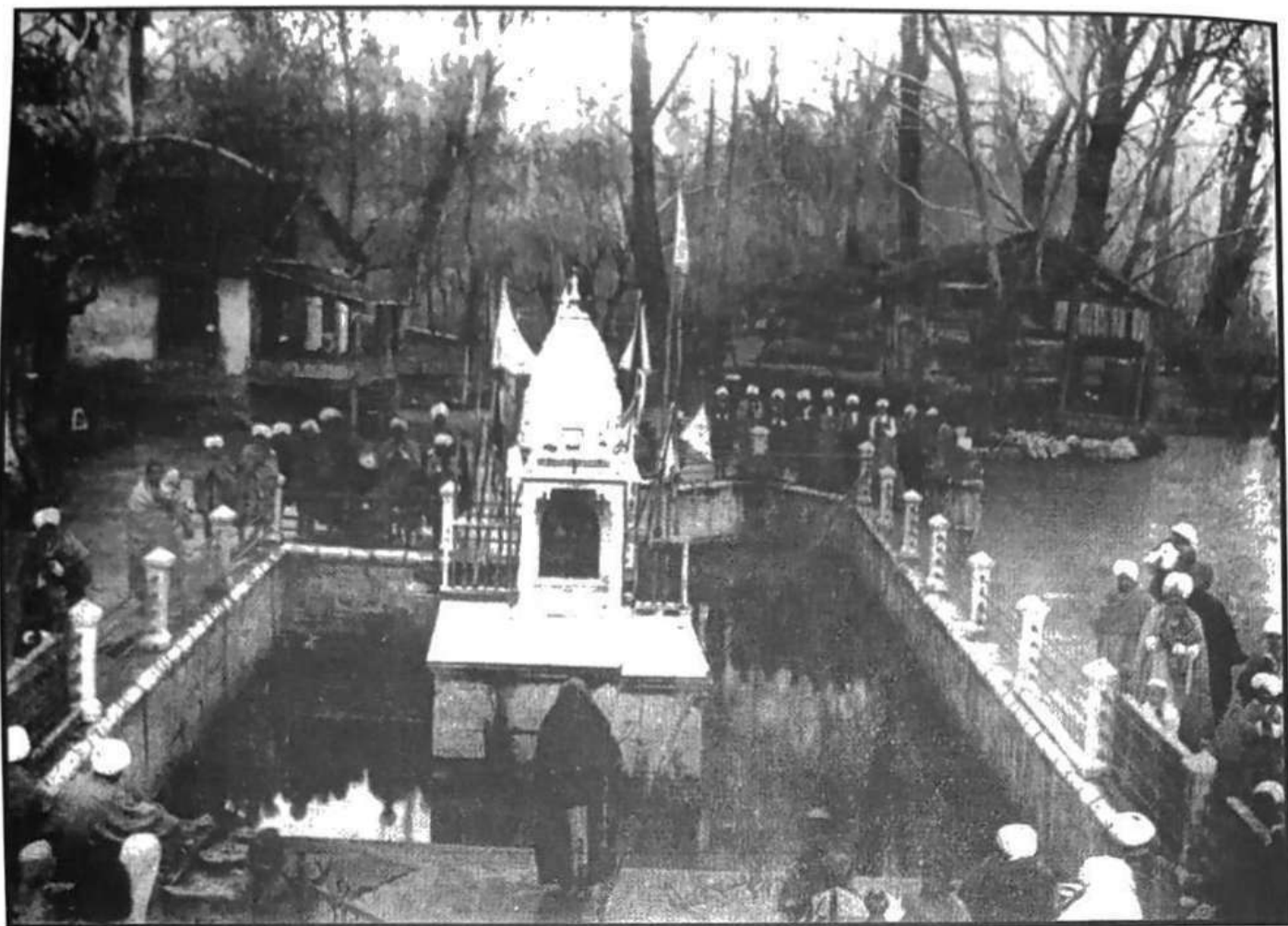
श्रीक्षीरभवानी
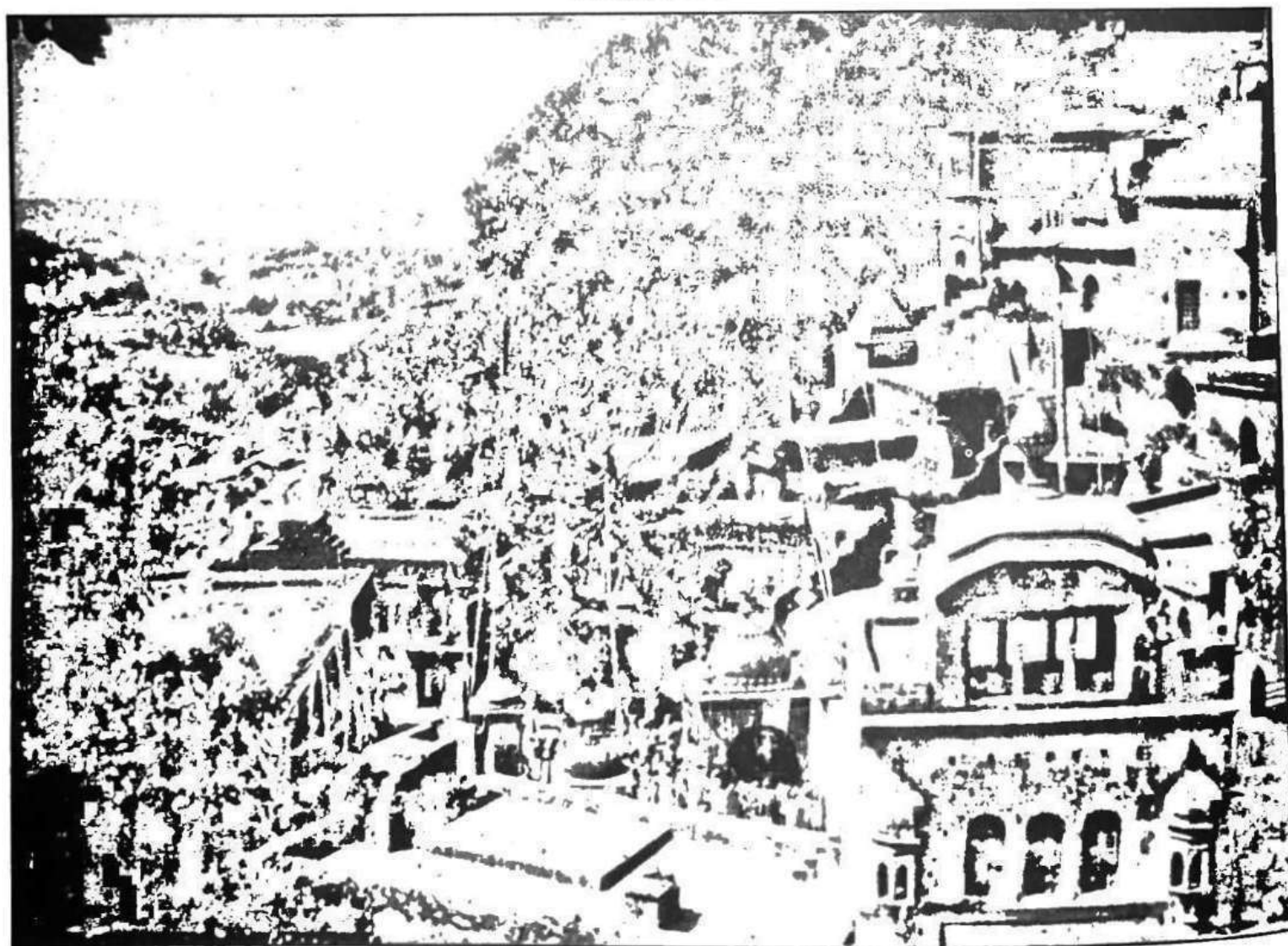
श्रीज्वालाजी
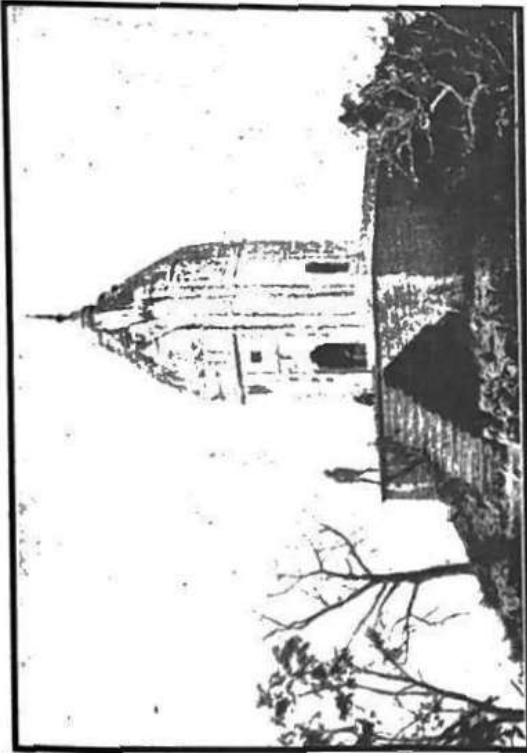
श्रीचण्डीदेवीमन्दिर—हरिद्वार

श्रीनैनीदेवीमन्दिर—नैनीताल
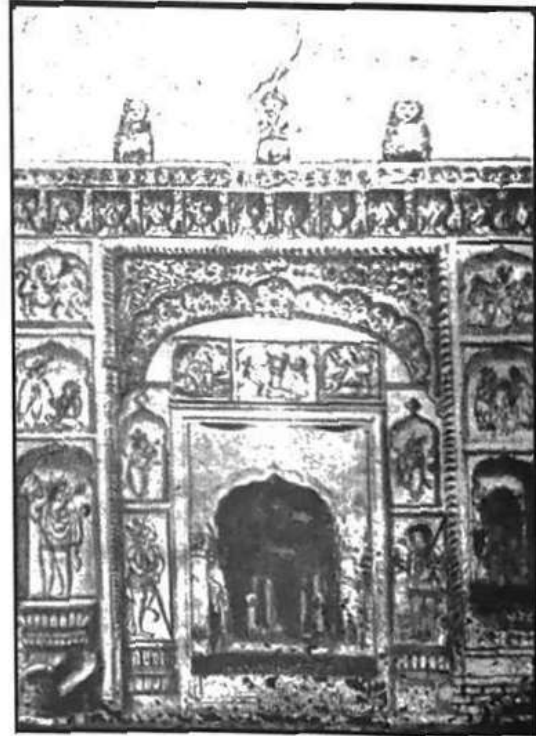
श्रीचिन्तपूर्णीजी देवी—होशियारपुर

श्रीसारिका चक्रेश्वर—हरिप्रभात (काश्मीर)

अनुसार त्रिऋषिसरोवर है। ये तीन ऋषि अत्रि, पुलस्त्य तथा पुलह थे। इसके मल्लीतालवाले किनारेपर प्राचीन नयना देवीका मन्दिर है। सन् १८८० ई० में इस स्थानपर पहाड़ फट पड़ा था, जिससे प्राचीन मन्दिर दब गया। वर्तमान मन्दिर पचास वर्ष पुराना है। इस कुमाऊँ प्रदेशमें भगवती नयना देवीका बड़ा मान है और इन्हींके कारण इस स्थानको नैनीताल कहते हैं।

(२८) **पठानकोट**—यह 'पठान' शब्द मुसल्मान जातिसे सम्बन्ध नहीं रखता। इसका शुद्ध रूप 'पथ' है; क्योंकि इस नगरमें प्राचीन कालसे कई बड़ी-बड़ी सड़कें मिलती हैं। यह प्राचीन हिन्दू राजाओंके समयका एक किला ध्वस्त अवस्थामें विद्यमान है। इसमें एक बड़ा प्राचीन देवीका स्थान है। त्रिगर्त पर्वतीय प्रदेशके द्वारपर स्थित इन पठानकोटकी देवीकी आराधना अनन्त कालसे होती आ रही है।

(२९) **पण्ढरपुर**—महाराष्ट्र प्रदेशके इस महत्त्वशाली क्षेत्रका विस्तृत विवरण ज्येष्ठ संवत् १९९१ की संख्यामें निकल चुका है। यहाँपर श्रीविठोबाके सुप्रसिद्ध मन्दिरमें उनकी पटरानियाँ रुक्मिणी, सत्यभामा, महालक्ष्मी तथा राधिका पृथक्-पृथक् अपने मन्दिरोंमें विराजमान हैं।

(३०) **प्रयाग**—इलाहाबादके जिलेमें कड़ा नामक स्थानपर कोई चार सौ वर्ष हुए बाबा मलूकदासजी हो गये हैं। ये बड़े ही प्रसिद्ध सन्त थे और इनके अनेकानेक पद तथा 'बानियाँ' अबतक प्रचलित हैं। बाबाजी खत्री थे (इस लेखका परम सौभाग्य है कि मातृपक्षसे उसका सम्बन्ध इन महात्मासे है) और भगवती चण्डिकाके उपासक थे। उनकी गद्दियाँ भारतवर्षमें कई स्थानोंपर हैं। कड़ेकी देवी विशेषरूपसे प्रसिद्ध हैं और दूर-दूरसे खत्रीलोग अपने बालकोंके क्षौर-संस्कारके लिये अथवा दर्शनोंको इस स्थानपर आते हैं।

(३१) **पूना**—यहाँका सुप्रसिद्ध पार्वती-मन्दिर समस्त महाराष्ट्र प्रदेशमें मान्य है। इसकी पर्वतीय स्थिति तथा सुन्दर शिल्पकला बड़ी ही नयनाभिराम हैं।

इसी जिलेमें प्रतापगढ़ नामक स्थानमें छत्रपति महाराज शिवाजीकी इष्टदेवी भगवती भवानीका प्राचीन मन्दिर है। कथा है कि शिवाजी महाराजकी उग्र तपस्यासे प्रसन्न हो भगवतीने प्रकट होकर उनको प्रसादरूप एक खड्ग प्रदान किया था। इसी खड्गसे महाराज जगद्विजयी हुए थे। ऐसी ही खड्ग-प्रदानकी कथा गुरु गोविन्दसिंहके विषयमें भी प्रचलित है। पाश्चात्त्य साहित्यमें भी आर्थरके खड्ग एक्सकेलिवर (Excaliber) तथा ओरलैण्डोके खड्ग डुरिंडना (Durindana)-के अमोघत्वके सम्बन्धमें भी लोगोंके ऐसे ही विचार हैं। भगवती भवानी महाराज शिवाजीके वंशज कोल्हापुरके महाराजाओंकी इष्टदेवी हैं और राज्यका 'निशान' यही खड्ग है जिसके नीचे 'जय भवानी' लिखा रहता है।

(३२) **पूर्णगिरि**—अल्मोड़े जिलेमें पीलीभीत होती हुई लाइन टनकपुरतक जाती है। (पूर्णगिरि अथवा पुण्यागिरि) टनकपुरसे आठ-नौ मीलपर शारदानदीके किनारे नेपाल राज्यकी सरहदपर है। मार्ग बड़ा ही सुन्दर है और यहाँकी सघन वनराजिको देखकर कभी तृप्ति नहीं हो सकती। मार्गमें टुन्नास नामक स्थानपर ठहरनेके लिये दो धर्मशालाएँ हैं। पूर्ण शैलकी शोभा अवर्णनीय है। इस पर्वतके सुन्दर बाँस तथा अन्य वृक्ष भगवतीके समझकर नहीं काटे जाते। यदि किसीने धृष्टता कर इस प्रथाका उल्लंघन किया तो उसे उन्हीं बाँसोंमें पैदा होकर साँप, बिच्छू, गोजर सताते हैं। पर्वतकी चढ़ाई देखनेमें तो खड़ी है पर भगवतीकी कृपासे सब लोग सकुशल यात्रा कर आते हैं। पर्वतपर अनेक मन्दिर हैं, पर तीन हजार फीट ऊँचे शिखरपर भगवती कालिकाका मुख्य स्थान है। प्राचीन पीठ ढका हुआ रहता है। प्रार्थना करनेपर पण्डाजी उसका दर्शन भी करा देते हैं।

इस पर्वतपर रजस्वला स्त्री अथवा अपवित्र स्थितिवाला पुरुष नहीं चढ़ सकता। कहते हैं कि यदि अवज्ञावश ये चढ़ने लगें तो अन्धे हो जाते हैं। यह स्थान प्रधान शक्तिपीठोंमें गिना जाता है। यहाँ नवरात्रके अवसरोंपर हजारों यात्रीगण दूर-दूरसे आते हैं।

(३३) **फर्रुख़ाबाद**—इस जिलेमें तिरवा नामक स्थानपर बड़े-से श्रीयन्त्रके ऊपर भगवती महात्रिपुरसुन्दरीकी मूर्ति बनी है, जिसका विस्तृत विवरण अन्यत्र दिये हुए 'श्रीयन्त्र' नामक लेखमें मिलेगा जो शक्त्यङ्कमें छपा है। जनसाधारण इसको अन्नपूर्णाका मन्दिर कहते हैं।

इसी जिलेमें कन्नौज (कान्यकुब्ज) नामक नगरमें अनेक देवीमन्दिर हैं जो सैकड़ों वर्ष पुराने हैं। सिंहवाहिनी इत्यादिके स्थान तो कम-से-कम चौदह-पन्द्रह सौ वर्ष पुराने हैं। क्षेमकलीका स्थान महाराज

जयचन्दके समयका है। इसी कन्नौजमें समस्त पूर्वीय खत्रियोंके देवठे (देवस्थान) हैं, जहाँ अब भी दूर-दूरसे मुण्डन, यज्ञोपवीत इत्यादिके समय आना पड़ता है। दुर्दान्त यवनोंके शासनकालसे इन खत्रियोंके पुरोहितोंको शिवा अथवा चण्डिकाकी चल मूर्तियाँ रखनी पड़ी हैं और ये ही अबतक प्रचलित हैं। कहीं-कहीं तो इस चल मूर्तिका रखना भी कठिन हो गया। वहाँ केवल देवीकी चुन्नी (रक्ताम्बर) ही पूजी जाने लगी।

(३४) **बाँदा**—यहाँका माहेश्वरी देवीका मन्दिर बहुत प्राचीन है। इस स्थानपर बड़े-बड़े उपासकोंने तपस्या की है। इसीके समीप वामदेवेश्वर पर्वतपर जो अपूर्व वामदेव लिङ्ग है उसीसे इस नगरका नाम बाँदा पड़ा है।

(३५) **भुवनेश्वर**—इस स्थानका प्राचीन नाम एकाम्र-कानन है। यह क्षेत्र भी इक्यावन शक्तिपीठोंमें है। यहाँ देवीपादहरा सरोवरके तटपर पृथक्-पृथक् एक सौ आठ योगिनियोंके मन्दिर हैं। भुवनेश्वरका विस्तृत विवरण कल्याणके 'शिवाङ्क' में निकल चुका है।

(३६) **मथुरा**—इस स्थानके प्रधान शक्तिपीठ महाविद्या तथा बरसानेके मन्दिर हैं। महाविद्याका स्थान मथुराहीमें है। एक ऊँचे टीलेपर प्राचीन मन्दिर बना हुआ है। भगवतीकी मूर्ति बड़ी विशाल है। नेत्रकी ज्योति विशेषतया प्रभावशाली है। बरसानेमें भी एक ऊँचे दुर्ग-सदृश मन्दिरपर श्रीराधिका रानीका प्राचीन पीठस्थल है। होलीके अवसरपर यहाँ जो माधुर्य बरसता है उसकी उपमा त्रैलोक्यमें नहीं। विस्तारभयसे इस महोत्सवका विवरण नहीं दिया जाता।

(३७) **मदुरा**—यहाँके ग्यारह मंजिलवाले मीनाक्षी देवीके मन्दिरका कुछ विवरण कल्याणके 'शिवाङ्क' में निकल चुका है। दक्षिण-भारतमें जितनी प्रतिष्ठा इस मन्दिरकी है उतनी अन्य किसी मन्दिरकी नहीं। इस मन्दिरके द्वारपर अष्टलक्ष्मियोंकी मूर्तियाँ बनी हैं। प्रत्येक खम्भेपर एक मूर्ति है और इन्हीं खम्भोंपर छत खड़ी है। उस छतपर पार्वतीके जन्म, उनकी तपस्या, शिव-विवाह, षडानन-जन्मादिकी कथाएँ खुदी हैं। इसी मन्दिरके भीतर जो '**पद्मम्**' तडाग है उसके चारों ओर खम्भोंपर भगवान् शङ्करकी लीलाएँ मूर्तिरूपमें खुदी हैं। इस मन्दिरकी नवग्रह-मूर्तियाँ भी विशेषरूपेण द्रष्टव्य हैं।

(३८) **मद्रास**—इस नगरके Mint Street अथवा साहूकारपेठमें सुप्रसिद्ध माता कुड़िका मन्दिर है। मन्दिरके सामने स्त्रियाँ कण्डेकी आँचसे मीठा चावल पकाकर देवीको भोग लगाती हैं। इस मन्दिरके प्रति मद्रासियोंकी बड़ी श्रद्धा है। वन्दनाकी विधि यहाँकी विचित्र है। देवीके सम्मुख आते ही दर्शक अपने सिरमें घूँसे मारता है और अपना कान पकड़कर नाचने लगता है।

(३९) **महोबा**—इस स्थानके प्रसिद्ध देवीमन्दिरोंका विस्तृत विवरण कल्याणकी पौष सं० १९९० की संख्यामें निकल चुका है।

(४०) **मुम्बई**—इस विख्यात नगरीमें मुम्बादेवी, कालबादेवी और महालक्ष्मीके प्रधान शक्तिपीठ हैं। मुम्बादेवीकी पूजामें जीवबलि नहीं दी जाती। कालबादेवीकी मूर्ति अत्यन्त प्राचीन है। महालक्ष्मीका मन्दिर समुद्रतटपर बड़े ही सुहावने स्थानपर बना है। मुम्बादेवीके समीप एक विशाल तालाब भी है। इन स्थानोंके अतिरिक्त प्रसिद्ध बाबुलनाथके ऊँचे पर्वतीय मन्दिरमें जो प्रधान देवीमूर्ति है, उसके सौन्दर्य तथा गम्भीरताका वर्णन नहीं हो सकता।

(४१) **मैसूर**—इस राज्यकी अधिष्ठात्री भगवती चामुण्डा हैं जिनका सुविशाल मन्दिर मैसूरसे लगी हुई एक पहाड़ीपर है। रास्तेमें पक्की सीढ़ियाँ बनी हैं। भगवतीके मन्दिरके समीप एक विशालकाय नन्दीमूर्ति बनी है जिसे देखकर दर्शकलोग आश्चर्यान्वित होते हैं। चामुण्डाको यहाँ भेरुण्डा भी कहते हैं और मैसूरराज्यका विख्यात गण्डभेरुण्डा 'चिह्न' चामुण्डाहीका द्योतक है।

(४२) **मैहर**—मैहरमें एक पहाड़ीपर सुप्रसिद्ध वीर आल्हाकी इष्टदेवी शारदाका मन्दिर है। यह स्थान बड़ा ही सिद्ध माना जाता है। इस स्थानके सम्बन्धकी कुछ चमत्कारिक बातें मेरे 'महोबा और उसके देवस्थान' शीर्षक लेखमें सं० १९९० पौषके 'कल्याण' में मिलेंगी।

(४३) **विन्ध्याचल**—जो देवी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके स्थानपर वसुदेवद्वारा कारागारमें लायी गयी थीं और जिन्होंने कंसके हाथसे छूटकर आकाशवाणी की थीं, वही श्रीविन्ध्यवासिनी हैं। यह तीर्थ महाप्रधान शक्तिपीठोंमें है। यहीं भगवतीने शुम्भ तथा निशुम्भको मारा था। इस क्षेत्रमें जो शक्तित्रिकोण है उसके कोनोंपर क्रमशः विन्ध्यवासिनी (महालक्ष्मी), कालीखोहकी काली (महाकाली) तथा पर्वतपरकी अष्टभुजा (महासरस्वती)

श्रीजानकी-मन्दिर—जनकपुर
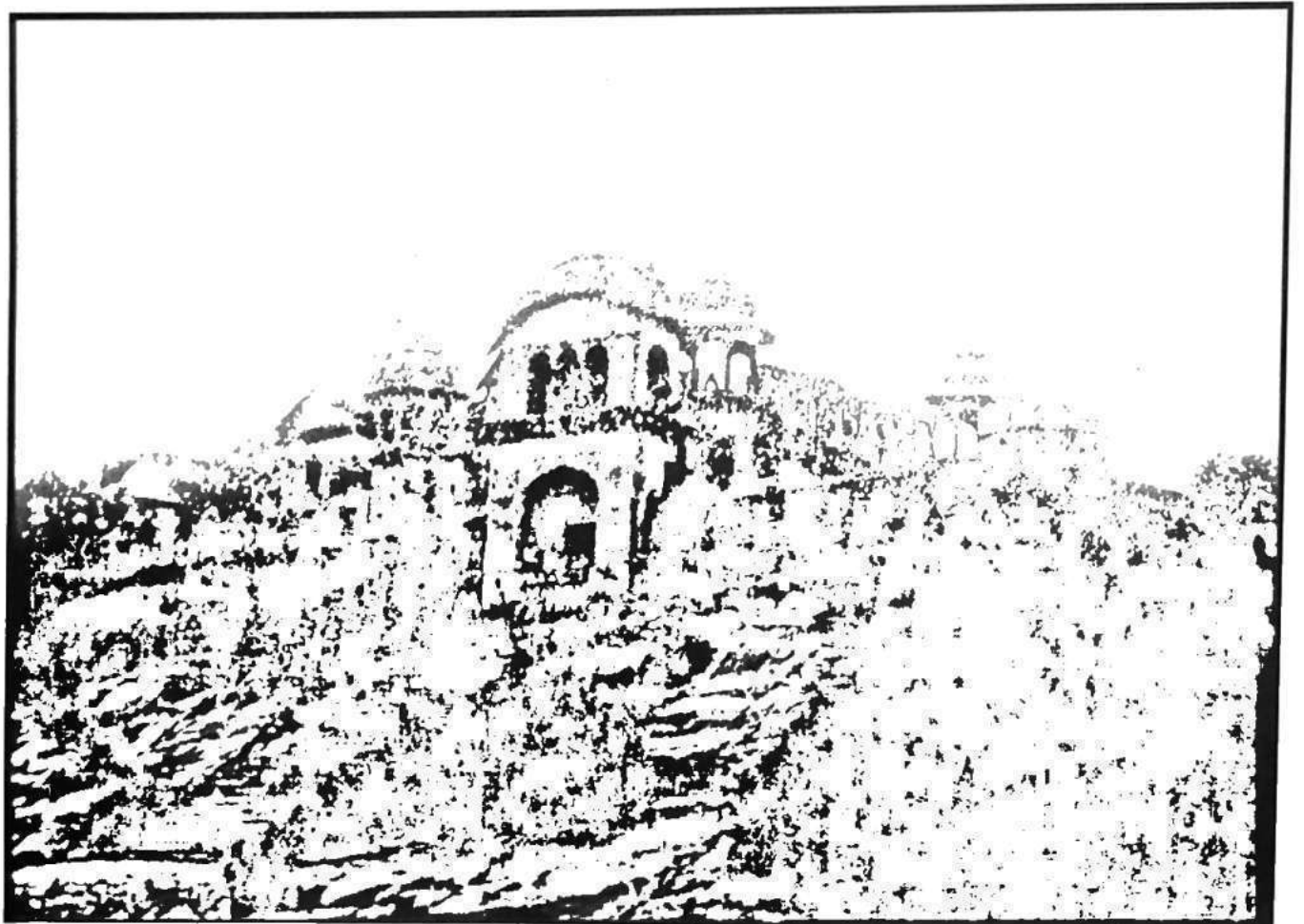
श्रीराधिका-मन्दिर—बरसाना
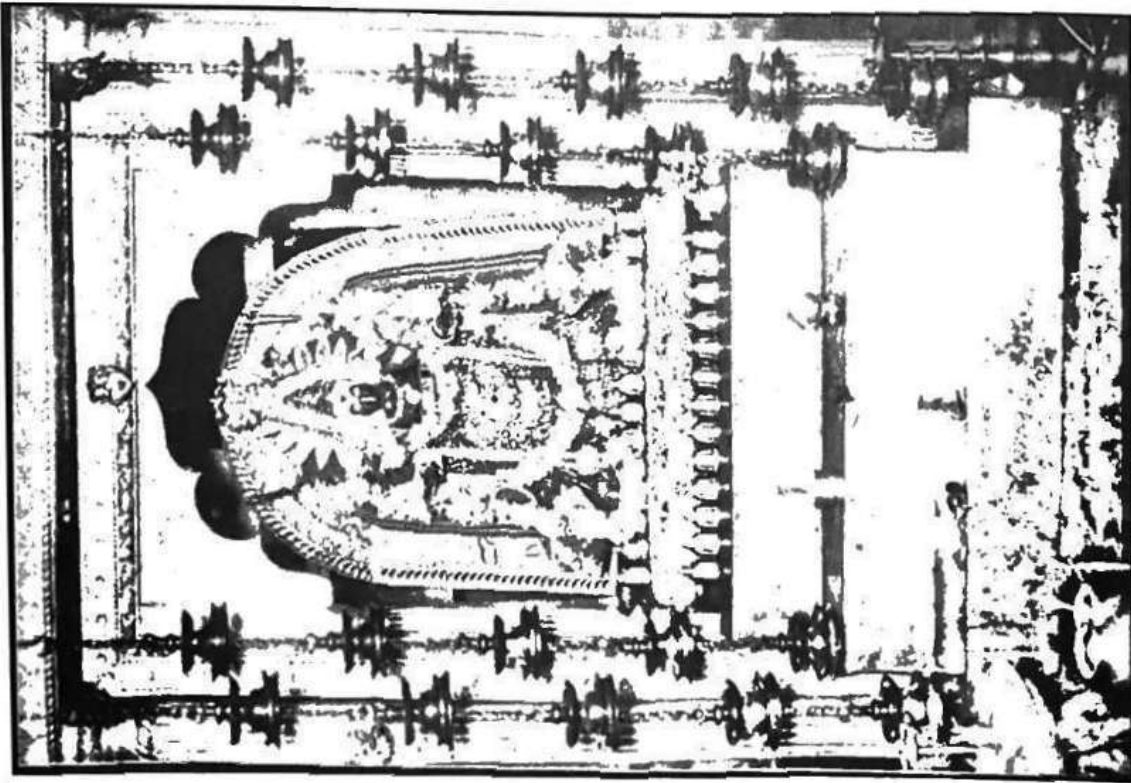
श्रीमहालक्ष्मी (Bandivde, Goa)
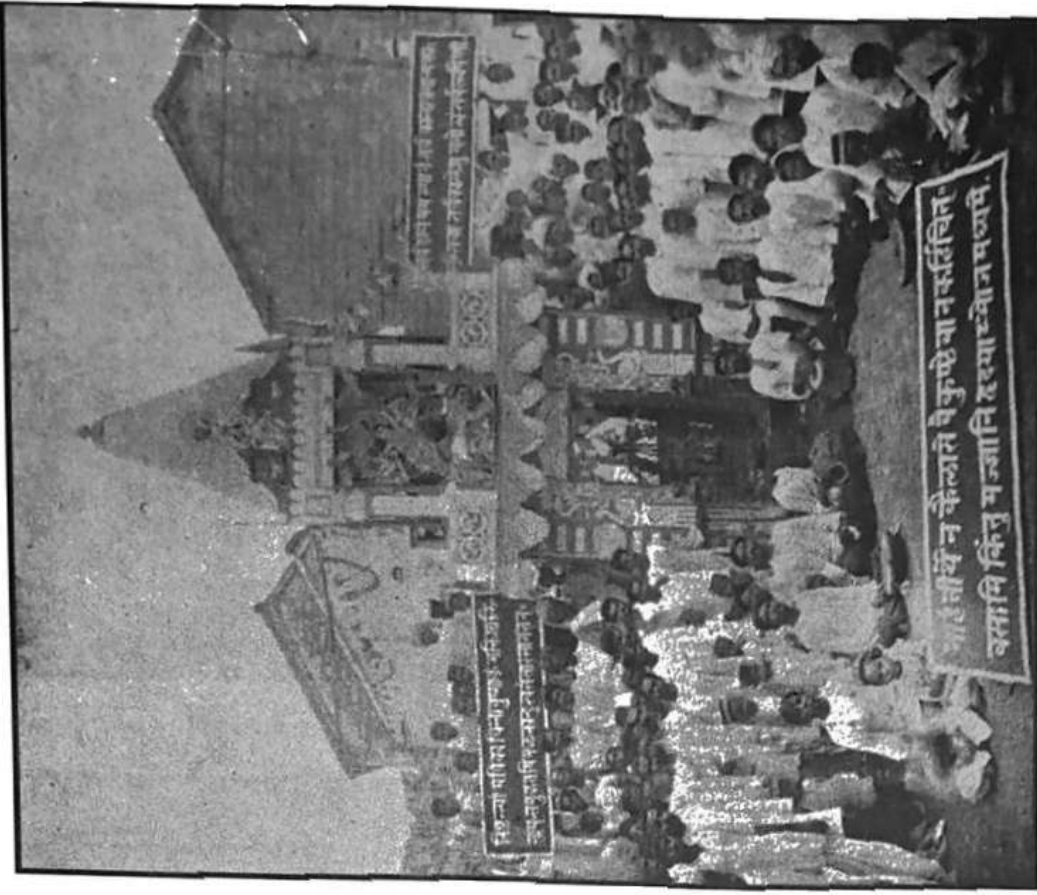
नवरात्र-उत्सव। कुतियाना—जूनागढ़
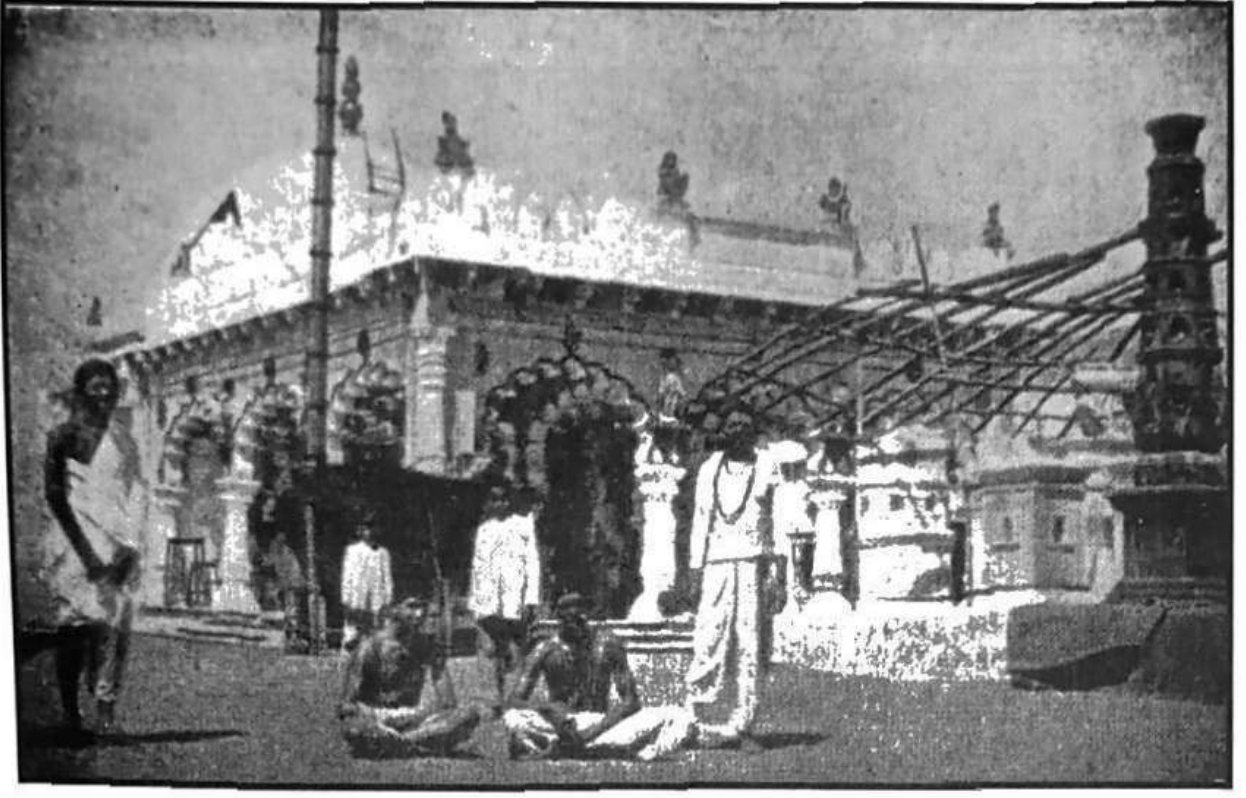
श्रीमहालक्ष्मीमन्दिर—बम्बई

श्रीकालबादेवी—बम्बई

श्रीविठोबा और श्रीरुक्मिणीमन्दिर—पण्ढरपुर

श्रीपार्वतीमन्दिर—पूना

भवानीमन्दिर—प्रतापगढ़
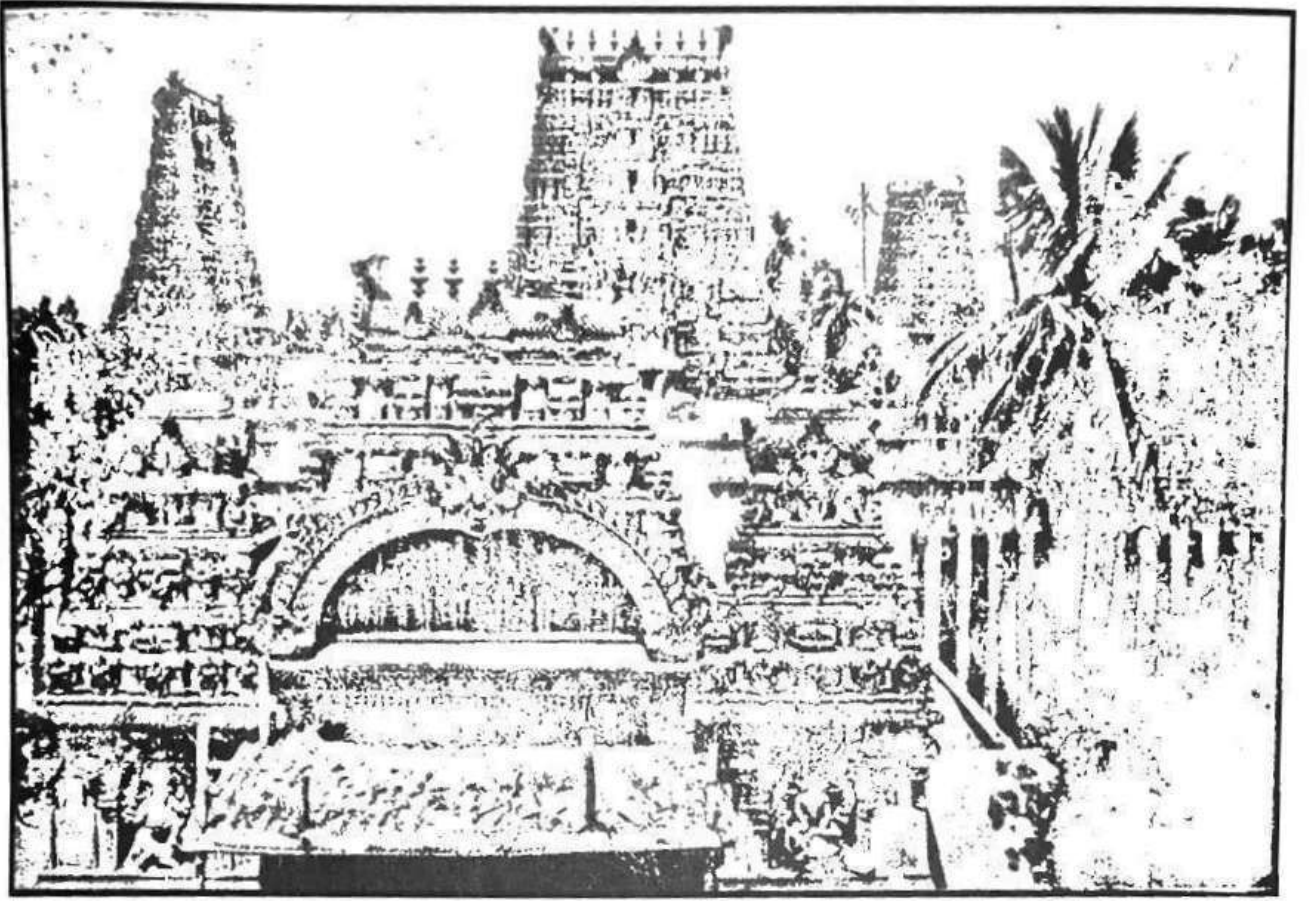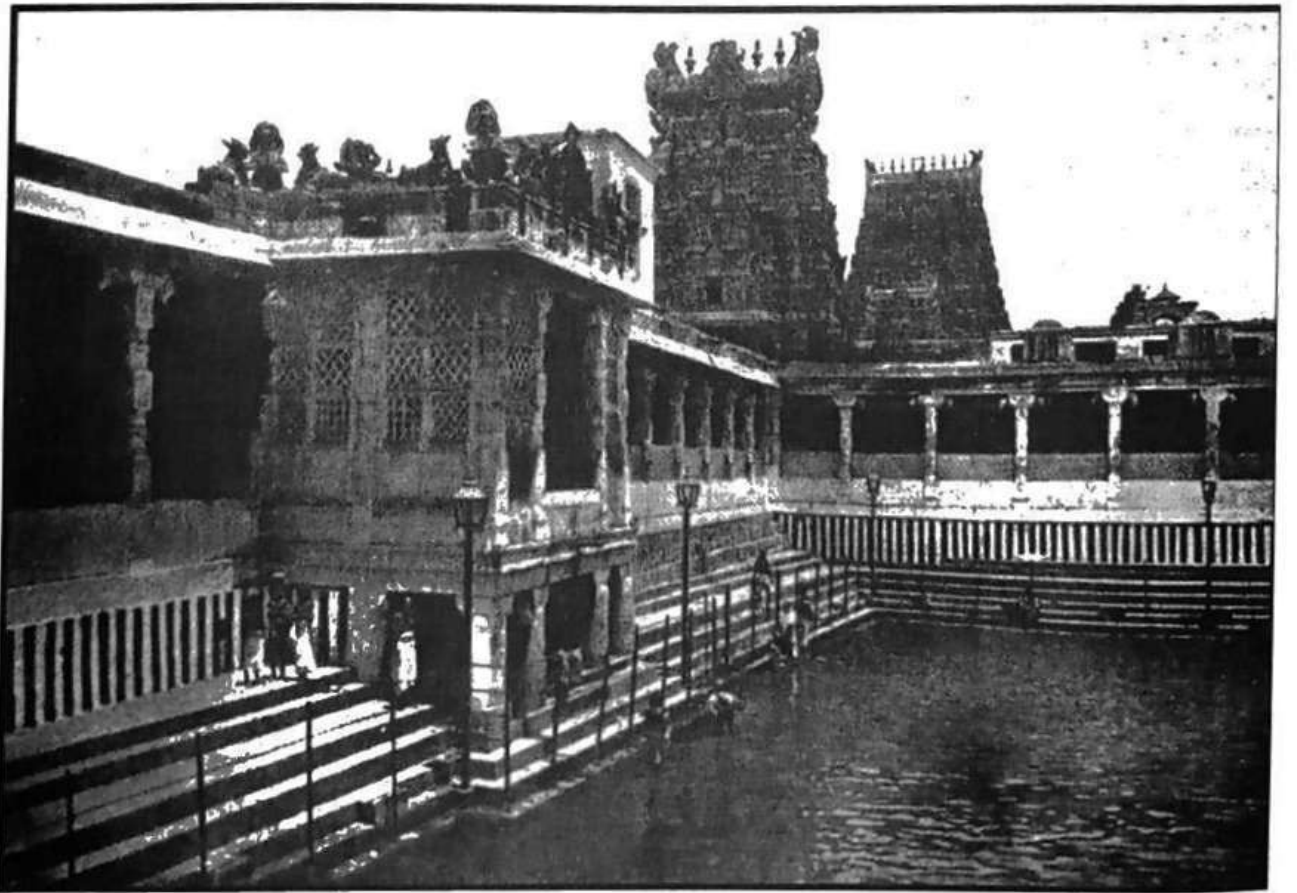
श्रीमीनाक्षी-मन्दिरका द्वार

श्रीमीनाक्षी-स्वर्णकमल-सरोवर

श्रीमीनाक्षी-मन्दिर गोपुर

श्रीसर्वमंगलादेवी-मन्दिर—काशीपुर
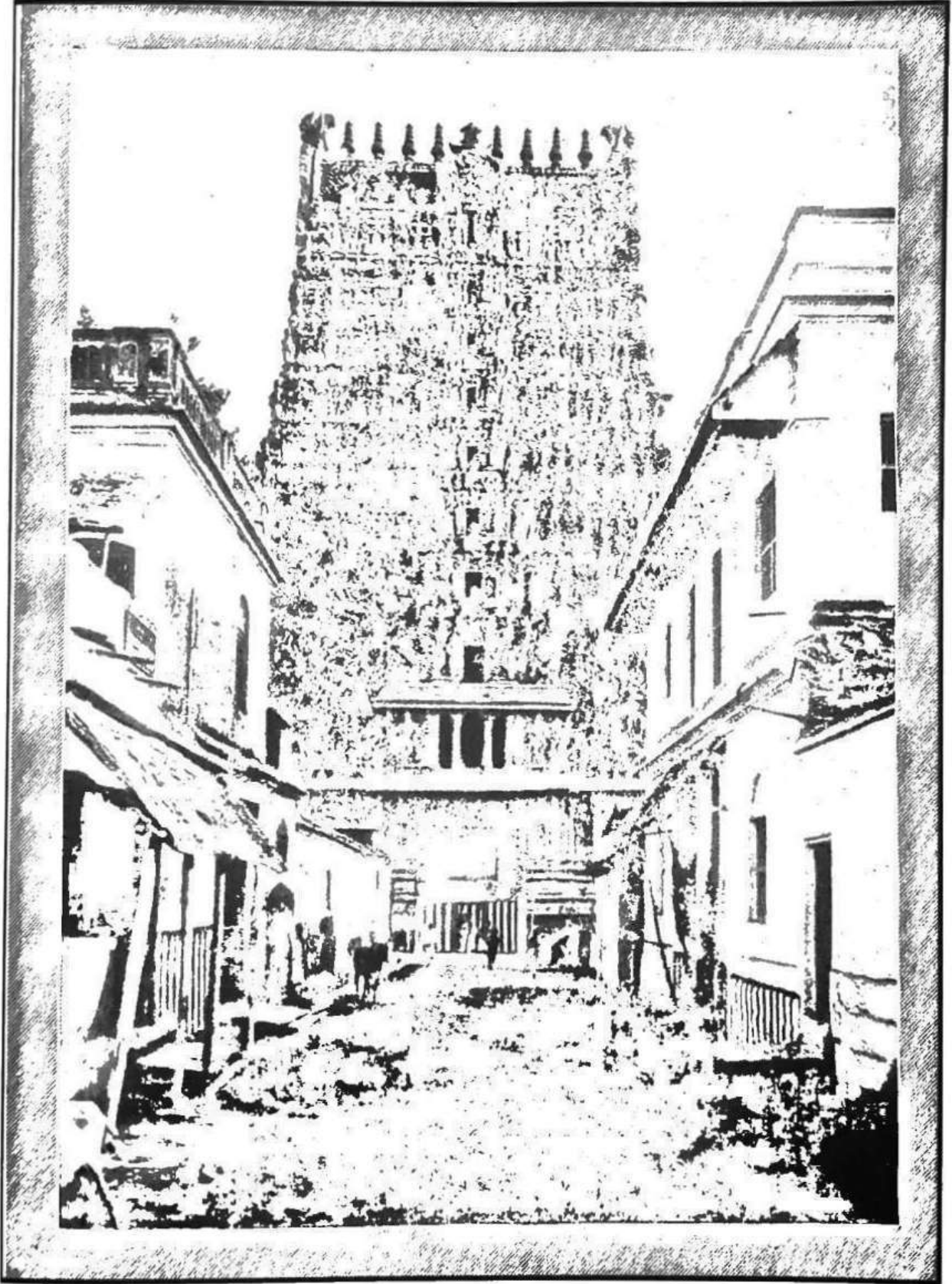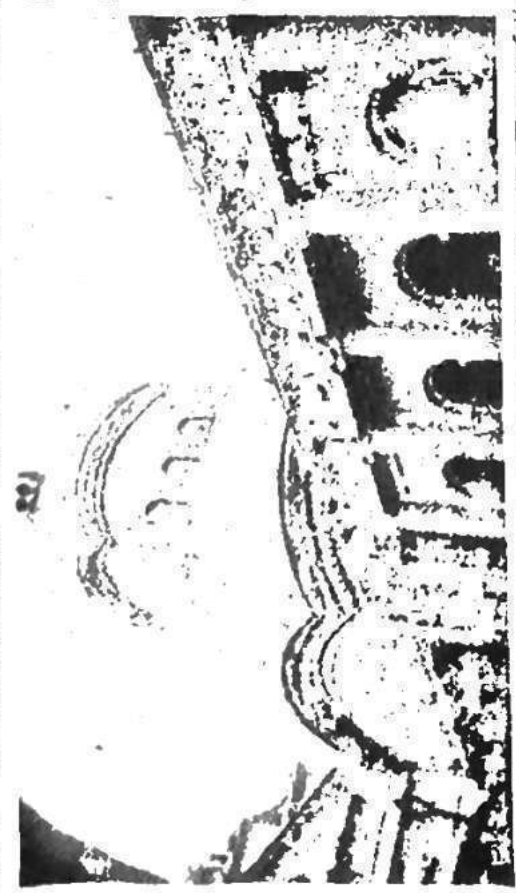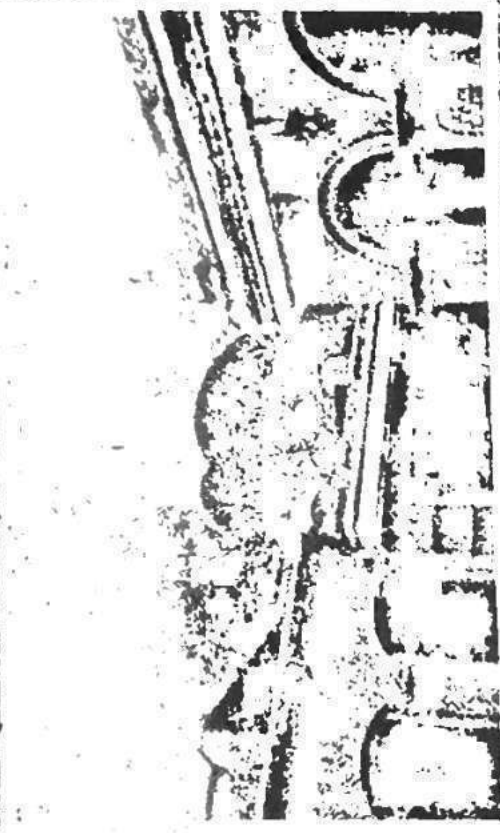
कलकत्ता

श्रीदक्षिणेश्वरी काली
(परमहंस रामकृष्णकी इष्टदेवी)
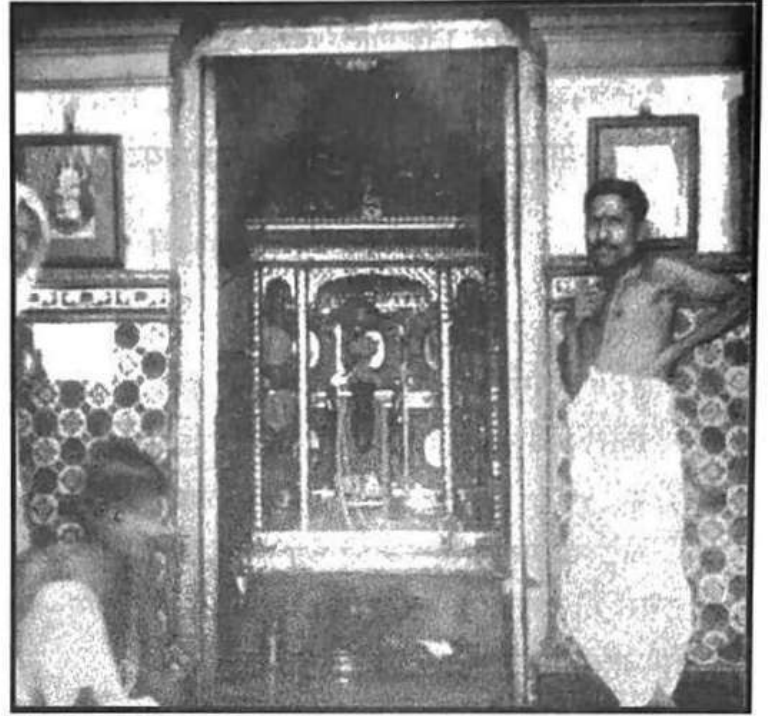
श्रीतारासुन्दरी देवी

श्रीसिंहवाहिनी देवी (मल्लिक घरानेकी)

श्रीतारासुन्दरी-मन्दिर

विराजमान हैं। इस तीर्थके चमत्कारों तथा सौन्दर्यके विषयमें यहाँ लिखनेसे लेखके विस्तारका भय है। उपर्युक्त त्रिकोणके अतिरिक्त मन्दिरके समीप ही दूसरा शक्ति-त्रिकोण है। बड़े त्रिकोणकी यात्रा चार-पाँच मील लम्बी है। काशीसे प्राय: प्रति श्रावण हजारों भक्तजन इस स्थानकी यात्रा करते हैं। उनका प्रसिद्ध जयजयकार यों है—

बोलेगा सो निहाल होगा।
बोल साँचे दरबारकी जय॥
हे दर्बाराँवाली तेरी सदा जय।
फिर बोले लौंकड़े बीरकी जय॥
हे बीर साहब तेरी सदा जय।
जङ्गलमें मङ्गल करनेवाली तेरी सदा जय॥

उत्तरी हिन्दुस्तानके लाखों यात्री प्रतिवर्ष इस पुण्य-क्षेत्रकी यात्रा करते हैं।

(४४) **शिमला**—यह प्रदेश भी एक प्रसिद्ध शक्तिस्थल है। शिमलेमें कोटीकी देवी वायसरायके स्थानके समीप ही विराजमान हैं। तारादेवी नामक स्टेशनके पास ताराका प्राचीन स्थान है और कण्डाघाट स्टेशनके पास भी एक प्राचीन देवीमन्दिर है। इन स्थानोंपर हजारों यात्री प्रतिवर्ष यात्रा करते हैं और यहाँ बड़े-बड़े मेले लगते हैं।

(४५) **श्रीशैल**—यहाँके ज्योतिर्लिङ्गका विवरण कल्याणके 'शिवाङ्क' में निकल चुका है। यहींपर ब्रह्मारांबा देवीका सुविख्यात शक्तिपीठ है। इन्हींके नामपर इस पर्वतका नाम ब्रह्मगिरि पड़ा है। इस स्थानके प्राकृतिक सौन्दर्यकी छटा वर्णनातीत है यह क्षेत्र इक्यावन शक्तिपीठोंमें है।

(४६) **साँभर**—यह वही स्थान है जहाँसे नमक बनकर आता है। नमकके विशाल कारखानेके पास एक प्राचीन देवीका मन्दिर है। इन्हें माताजी कहते हैं। सरकारी प्रबन्ध होनेपर भी इस स्थानकी आराधना-पूजाके लिये समुचित व्यवस्था की गयी है। राजपूतानेमें इस क्षेत्रका बड़ा मान है।

(४७) **हरिद्वार**—इस पुण्यक्षेत्रमें भी एक शक्तित्रिकोण है। इसके एक कोनेपर नीलपर्वतपर स्थित भगवती चण्डीदेवी हैं। दूसरेपर दक्षेश्वरके स्थानवाली पार्वती हैं। (यहींपर सती योगाग्रिद्वारा भस्म हुई थीं, जिससे प्रधान शक्तिपीठोंकी उत्पत्ति हुई) और तीसरेपर बिल्वपर्वतवासिनी मनसादेवी हैं। इन तीनों स्थानोंके प्राकृतिक सौन्दर्यके विषयमें जितना भी लिखा जाय उतना ही थोड़ा है।

शक्तिपीठ

दक्षयज्ञके बाद विष्णुके चक्रसे सतीका अङ्ग-प्रत्यङ्ग जहाँ-जहाँ गिरा था, वे सब स्थान देवीपीठके नामसे विख्यात हुए। इन सब स्थानोंकी पूज्यता और पवित्रताके सम्बन्धमें इस प्रकार लिखा है—सत्ययुगमें एक समय दक्षप्रजापतिने शिवजीसे अपमानित हो बृहस्पति नामक एक यज्ञका आरम्भ किया। प्रजापति दक्षने उस यज्ञमें शिवजी और अपनी कन्या सतीको छोड़कर सभी देवी-देवताओंको निमन्त्रण दिया। पित्रालयमें महासमारोहसे यज्ञ हो रहा है, यह सुनकर सतीने निमन्त्रण नहीं पानेपर भी पितृगृह जा यज्ञ देखना चाहा और शिवजीके निकट अपना अभिप्राय प्रकट किया। शिवजी पहले तो राजी न हुए, पर पीछे सतीके विशेष आग्रह करनेपर उन्हें जानेकी अनुमति दे दी। सती अनुचरोंके साथ पितृगृह पहुँचीं तो दक्षने किसी प्रकार उनका आदर न किया। केवल इतना ही नहीं, वे क्रोधसे अधीर हो शिवजीकी निन्दा करने लगे। सतीको पिताके मुखसे पतिकी इस प्रकार निन्दा सुनना असह्य हुआ। वे यज्ञकुण्डमें कूद पड़ीं। शिवजी यह वृत्तान्त सुनते ही पागलकी तरह वहाँ पहुँच गये और वीरभद्रादि अनुचरोंके साथ जाकर दक्षको मार डाला और इनका यज्ञ विध्वंस कर दिया। शिवजी सतीकी मृत देहको कन्धेपर रख चारों ओर उद्भटभावमें नाचते हुए घूमने लगे। यह देखकर भगवान् विष्णुने अपने चक्रसे सतीका अङ्ग-प्रत्यङ्ग काट डाला। अङ्ग-प्रत्यङ्ग इक्यावन खण्डोंमें विभक्त हो जिस-जिस स्थानपर गिरे थे, वहाँ एक-एक भैरव और एक-एक शक्ति नाना प्रकारकी मूर्त्ति धारणकर अवस्थान करती हैं, उन्हीं सब स्थानोंका नाम महापीठ पड़ा है। किस-किस स्थानपर कौन-कौन अङ्ग गिरा था तथा कौन-कौन भैरव और

शक्ति वहाँ रहती हैं, तन्त्रचूडामणिमें इस विषयमें जो कुछ लिखा है, उसकी तालिका नीचे दी गयी है।

स्थान	अङ्ग तथा अङ्गभूषण	शक्ति	भैरव
१—हिङ्गुला	ब्रह्मरन्ध्र	कोट्टवीशा	भीमलोचन
२—शर्करार	तीन चक्षु	महिषमर्दिनी	क्रोधीश
३—सुगन्धा	नासिका	सुनन्दा	त्र्यम्बक
४—काश्मीर	कण्ठदेश	महामाया	त्रिसन्ध्येश्वर
५—ज्वालामुखी	महाजिह्वा	सिद्धिदा	उन्मत्त भैरव
६—जलन्धर	स्तन	त्रिपुरमालिनी	भीषण
७—वैद्यनाथ	हृदय	जयदुर्गा	वैद्यनाथ
८—नेपाल	जानु	महामाया	कपाली
९—मानस	दक्षिणहस्त	दाक्षायणी	अमर
१०—उत्कलमें विरजाक्षेत्र	नाभिदेश	विमला	जगन्नाथ
११—गण्डकी	गण्डस्थल	गण्डकी	चक्रपाणि
१२—बहुला	वाम बाहु	बहुलादेवी	भीरुक
१३—उज्जयिनी	कूर्पर	मङ्गलचण्डिका	कपिलाम्बर
१४—त्रिपुरा	दक्षिणपाद	त्रिपुरसुन्दरी	त्रिपुरेश
१५—चहल	दक्षिणबाहु	भवानी	चन्द्रशेखर
१६—त्रिस्रोता	वामपाद	भ्रामरी	भैरवेश्वर
१७—कामगिरि	योनिदेश	कामाख्या	उमानन्द
१८—प्रयाग	हस्ताङ्गुलि	ललिता	भव
१९—जयन्ती	वाम जङ्घा	जयन्ती	क्रमदीश्वर
२०—युगाद्या	दक्षिणाङ्गुष्ठ	भूतधात्री	क्षीरखण्डक
२१—कालीपीठ	दक्षिणपादाङ्गुलि	कालिका	नकुलीश
२२—किरीट	किरीट	विमला	संवर्त्त
२३—वाराणसी	कर्णकुण्डल	विशालाक्षी मणिकर्णी	कालभैरव
२४—कन्याश्रम	पृष्ठ	सर्वाणी	निमिष
२५—कुरुक्षेत्र	गुल्फ	सावित्री	स्थाणु
२६—मणिबन्ध	दो मणिबन्ध	गायत्री	सर्वानन्द
२७—श्रीशैल	ग्रीवा	महालक्ष्मी	शम्बरानन्द
२८—काञ्ची	अस्थि	देवगर्भा	रुरु
२९—कालमाधव	नितम्ब	काली	असिताङ्ग
३०—शोणदेश	नितम्बक	नर्मदा	भद्रसेन
३१—रामगिरि	अन्य स्तन	शिवानी	चण्डभैरव
३२—वृन्दावन	केशपाश	उमा	भूतेश
३३—शुचि	ऊर्ध्वदन्त	नारायणी	संहार
३४—पञ्चसागर	अधोदन्त	बाराही	महारुद्र
३५—करतोयातट	तल्प	अर्पणा	वामनभैरव
३६—श्रीपर्वत	दक्षिण गुल्फ	श्रीसुन्दरी	सुन्दरानन्दभैरव

३७—विभाष	वाम गुल्फ	कपालिनी	सर्वानन्द
३८—प्रभास	उदर	चन्द्रभागा	वक्रतुण्ड
३९—भैरवपर्वत	ऊर्ध्व ओष्ठ	अवन्ती	लम्बकर्ण
४०—जनस्थल	दोनों चिबुक	भ्रामरी	विकृताक्ष
४१—सर्वशैल	वाम गण्ड	राकिनी	वत्सनाभ
४२—गोदावरीतीर	गण्ड	विश्वेशी	दण्डपाणि
४३—रत्नावली	दक्षिण स्कन्ध	कुमारी	शिव
४४—मिथिला	वाम स्कन्ध	उमा	महोदर
४५—नलहाटी	नला	कालिकादेवी	योगेश
४६—कर्णाट	कर्ण	जयदुर्गा	अभीरु
४७—वक्रेश्वर	मन:	महिषमर्दिनी	वक्रनाथ
४८—यशोर	पाणिपद्म	यशोरेश्वरी	चण्ड
४९—अट्टहास	ओष्ठ	फुल्लरा	विश्वेश
५०—नन्दिपुर	कण्ठहार	नन्दिनी	नन्दिकेश्वर
५१—लङ्का	नूपुर	इन्द्राक्षी	राक्षसेश्वर
विराट	पादाङ्गुलि	अम्बिका	अमृत
मगध	दक्षिणजङ्घा	सर्वानन्दकरी	व्योमकेश

किसी-किसी ग्रन्थमें शेषोक्त दो पीठोंका उल्लेख नहीं है। इक्यावन पीठ ही अनेक पुस्तकोंमें गृहीत हुए हैं।

देवीभागवतमें एक सौ आठ पीठस्थानोंका उल्लेख देखनेमें आता है। तन्त्रचूडामणिमें स्थान, अङ्ग, भैरव और शक्ति नामका जैसा विशेषरूपसे उल्लेख किया गया है, देवीभागवतमें वैसा नहीं है। इसमें महर्षि वेदव्यासने जनमेजयके प्रश्नानुसार पीठस्थान और वहाँके अधि-देवताका नाम उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

स्थान	देवता
१—वाराणसी	विशालाक्षी
२—नैमिषारण्य	लिङ्गधारिणी
३—प्रयाग	ललिता
४—गन्धमादन	कामुकी
५—दक्षिणमानस	कुमुदा
६—उत्तरमानस	विश्वकामा
७—गोमन्त	गोमती
८—मन्दर	कामचारिणी
९—चैत्ररथ	मदोत्कटा
१०—हस्तिनापुर	जयन्ती
११—कान्यकुब्ज	गौरी
१२—मलय	रम्भा
१३—एकाग्र	कीर्तिमती
१४—विश्व	विश्वेश्वरी
१५—पुष्कर	पुरुहूता
१६—केदार	सन्मार्गदायिनी
१७—हिमवतपृष्ठ	मन्दा
१८—गोकर्ण	भद्रकर्णिका
१९—स्थानेश्वर	भवानी
२०—बिल्वक	बिल्वपत्रिका
२१—श्रीशैल	माधवी
२२—भद्रेश्वर	भद्रा
२३—वराहशैल	जया
२४—कमलालय	कमला
२५—रुद्रकोटि	रुद्राणी
२६—कालञ्जर	काली
२७—शालग्राम	महादेवी
२८—शिवलिङ्ग	जलप्रिया
२९—महालिङ्ग	कपिला
३०—माकोट	मुकुटेश्वरी
३१—मायापुरी	कुमारी
३२—सन्तान	ललिताम्बिका

३३—गया	मङ्गला
३४—पुरुषोत्तम	विमला
३५—सहस्राक्ष	उत्पलाक्षी
३६—हिरण्याक्ष	महोत्पला
३७—विपाशा	अमोघाक्षी
३८—पुण्ड्रवर्द्धन	पाटला
३९—सुपार्श्व	नारायणी
४०—त्रिकटु	रुद्रसुन्दरी
४१—विपुल	विपुला
४२—मलयाचल	कल्याणी
४३—सह्याद्रि	एकवीरा
४४—हरिश्चन्द्र	चन्द्रिका
४५—रामतीर्थ	रमणी
४६—यमुना	मृगावती
४७—कोटितीर्थ	कोटवी
४८—मधुवन	सुगन्धा
४९—गोदावरी	त्रिसन्ध्या
५०—गङ्गाद्वार	रतिप्रिया
५१—शिवकुण्ड	शुभानन्दा
५२—देविकातट	नन्दिनी
५३—द्वारावती	रुक्मिणी
५४—वृन्दावन	राधा
५५—मथुरा	देवकी
५६—पाताल	परमेश्वरी
५७—चित्रकूट	सीता
५८—विन्ध्य	विन्ध्यवासिनी
५९—करवीर	महालक्ष्मी
६०—विनायक	उमादेवी
६१—वैद्यनाथ	आरोग्या
६२—महाकाल	महेश्वरी
६३—उष्णतीर्थ	अभया
६४—विन्ध्यपर्वत	नितम्बा
६५—माण्डव्य	माण्डवी
६६—माहेश्वरीपुर	स्वाहा
६७—छगलण्ड	प्रचण्डा
६८—अमरकण्टक	चण्डिका
६९—सोमेश्वर	वरारोहा
७०—प्रभास	पुष्करावती
७१—सरस्वती	देवमाता
७२—तट	पारावारा
७३—महालय	महाभागा
७४—पयोष्णी	पिङ्गलेश्वरी
७५—कृतशौच	सिंहिका
७६—कार्त्तिक	अतिशाङ्करी
७७—उत्पलावर्त्तक	लीला (लोला)
७८—शोणसङ्गम	सुभद्रा
७९—सिद्धवन	लक्ष्मी
८०—भरताश्रम	अनङ्गा
८१—जालन्धर	विश्वमुखी
८२—किष्किन्धापर्वत	तारा
८३—देवदारुवन	पुष्टि
८४—काश्मीरमण्डल	मेधा
८५—हिमाद्रि	भीमादेवी
८६—विश्वेश्वर	तुष्टि
८७—शङ्खोद्धार	धरा
८८—पिण्डारक	धृति
८९—चन्द्रभागा	कला
९०—अच्छोद	शिवधारिणी
९१—वेणा	अमृता
९२—बदरी	उर्वशी
९३—उत्तरकुरु	ओषधि
९४—कुशद्वीप	कुशोदका
९५—हेमकूट	मन्मथा
९६—कुमुद	सत्यवादिनी
९७—अश्वत्थ	वन्दनीया
९८—कुबेरालय	निधि
९९—वेदवदन	गायत्री
१००—शिवसन्निधि	पार्वती
१०१—देवलोक	इन्द्राणी
१०२—ब्रह्मामुख	सरस्वती
१०३—सूर्यविम्ब	प्रभा
१०४—मातृमध्य	वैष्णवी
१०५—सतीमध्य	अरुन्धती
१०६—स्त्रीमध्य	तिलोत्तमा
१०७—चित्रमध्य	ब्रह्मकला
१०८—सर्वप्राणीवर्ग	शक्ति

देवीगीतामें देवीपीठोंकी संख्या ७२ दी गयी है, कुछ अन्य ग्रन्थोंमें भी पीठोंकी संख्या भिन्न-भिन्न दी गयी है।

गुजरातमें शक्तिके तीन महापीठ

[उपर्युक्त शीर्षकके तथा श्रीअम्बिकाजी, श्रीकालीजी और श्रीबालाबहुचराजीके सम्बन्धमें अलग-अलग कई महानुभावोंके लेख आये हैं। सब लेखोंका छापना असम्भव था, इसलिये सबका सार लेकर यह लेख लिखा गया। भूल-चूकके लिये लेखक महोदय क्षमा करें। प्रधान लेखकोंमें मुख्य पं० श्रीजयदत्तजी शास्त्री दार्शनिकशिरोमणि, श्रीकनिष्ठ केशवजी, श्री एच० एम० वच्छराजानी नृसिंहगढ़, श्रीचुन्नीलाल वनमालीदास पटेल, श्रीहिमतलाल भूषणदास पटेल, श्रीभोगीलाल कृपाशंकर त्रवाडी, श्रीमथुरादास लोचनदास, श्रीकाशीराम चौधरी आदि हैं, हम इन सबके कृतज्ञ हैं। —सम्पादक]

गुजरातमें अम्बिका, कालिका तथा श्रीबालाबहुचरा—ये तीन मुख्य देवीके पीठस्थान हैं। इनके सिवा गौणरूपसे अनेकों शक्तिपीठ हैं, जैसे कच्छमें आशापुरा, भुजसे थोड़ी दूरपर रुद्राणी, काठियावाड़में द्वारकाके नजदीक अभयमाता, हलवदके पास सुन्दरी, वढवाणमें बुट माता, नर्मदातटपर अनसूया, पेटलादके नजदीक आशापुरी, घोघाके समीप खोडियार माता और थाना जिलामें कोलियोकी माता महालक्ष्मी डुंगराल प्रदेशमें हैं। इसके अतिरिक्त गाँवोंमें सड़कोंपर शास्ता देवीके मन्दिरोंके ध्वंसावशिष्ट पाये जाते हैं। शास्ताके वाहन सिंह और हाथीकी प्रतिमा भी देखनेमें आती है। शास्ता नामकी देवी शक्तिका ही एक रूप है। शास्ताका दूसरा रूप 'शासना' है। सोजित्रा गाँवके समीप एक मन्दिरमें इस देवीकी पूजा जैनी लोग करते हैं।

शक्तिके विभिन्न रूपोंकी स्थापना विभिन्न प्रकारसे सब प्रदेशोंमें पायी जाती है। भारतवर्षके बावन महापीठ बावन वर्णोंका बोध करानेवाले हैं। गुजरातमें इन नाना प्रकारके शक्तिपीठोंके अस्तित्वसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि शाक्तसम्प्रदाय बहुत ही व्यापक और पुरातन है। नीचे मुख्य तीन महापीठोंका अलग-अलग संक्षिप्त वर्णन दिया जाता है।

आरासुरी अम्बिकाजी

पुराणोंमें लिखा है कि श्रीविष्णुभगवान्के चक्रसे कट-कटकर देवीके देहके पृथक्-पृथक् अवयव भूतलपर स्थान-स्थानपर गिरे और गिरते ही वे पाषाणमय हो गये। भूतलके ये स्थान महातीर्थ और मुक्तिक्षेत्र हैं। ये सिद्धपीठ कहलाते हैं और देवताओंके लिये भी दुर्लभ प्रदेश हैं।* अर्बुदारण्य प्रदेशके आरासुर (आरासन) नामके रमणीय पर्वतशिखरपर श्रीअम्बिकाजीका भुवनमोहन स्थान विद्यमान है। यहाँ सतीके हृदयका एक भाग गिरा था। अतएव उसी अङ्गकी पूजा अब भी होती है।

दिल्लीसे अहमदाबादको जानेवाली बी० बी० सी० आई० रेलवे लाइनपर आबूरोड एक स्टेशन है। वहाँसे आरासुरतक करीब चौदह मीलका रास्ता है। यह रास्ता बड़े ही सुन्दर घने जंगलोंमें होकर जाता है। सवारीके लिये बैलगाड़ी और घोड़ागाड़ीके अतिरिक्त नियमित मोटर-सर्विसका भी प्रबन्ध है। पैदल जानेमें भी कोई असुविधा नहीं होती। मजदूर आसानीसे मिल जाते हैं, जो यात्रियोंका सामान बहुत कम मजदूरीमें पर्वततक स्वयं पहुँचा देते हैं, उनके साथ-साथ जानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। रास्तेमें नाना प्रकारके पुष्पोंकी सुगन्ध और छोटे-बड़े झरनोंके सुन्दर दृश्य मनको ऐसा मुग्ध कर देते हैं कि पैदल चलनेवाले यात्रीको मार्गके कष्टका कुछ भी अनुभव नहीं होता। रास्ता निरापद है, चोर-डाकू या जंगली जानवरका कोई भय नहीं रहता है। शिखरपर पहुँचते ही यात्री वहाँके अलौकिक दृश्यको देखकर भावोन्मत्त हो जाते हैं। मार्गमें गगनचुम्बी पर्वतश्रेणी, लता-पत्र-पुष्प-विचित्रा वनभूमि, छोटे-बड़े झरनोंका वक्र प्रवाह, श्वापदोंसे भरा हुआ गहन कानन, शस्य श्यामल कृषिक्षेत्र, ताल-तमाल-नारिकेल-परिवेष्टित ग्राम, साधु-संन्यासियोंके योगाश्रम प्रभृति प्राकृतिक दृश्य यात्रियोंके मनको आनन्दसे आप्लावित कर देते हैं। छोटे-छोटे लड़के भी श्रीमाताजीकी कृपासे पैदल आनन्दपूर्वक खेलते-कूदते चले जाते हैं। मार्गमें बालकोंकी 'जय अम्बे,

* विष्णुचक्रेण संछिन्नास्तद्देहावयवाः पृथक्। निपेतुः पृथिवीपृष्ठे स्थाने स्थाने महामुने॥
महातीर्थानि तान्येव मुक्तिक्षेत्राणि भूतले। सिद्धपीठा हि ते देशा देवानामपि दुर्लभाः॥
भूमौ पतितास्ते तु छायाङ्गावयवाः क्षणात्। जग्मुः पाषाणतां सर्वलोकानां हितहेतवे॥
आरासनेऽर्बुदाङ्के क्षेत्रे जालन्धरे तथा। क्रमशः पतितौ तस्याः कुचौ तु वामदक्षिणौ॥

जय अम्बे' की ध्वनि बहुत ही प्यारी लगती है। आबूरोड स्टेशनसे तीन मीलकी दूरीपर एक तेलिया नामक नदी मिलती है। जिसको तेल लगाना या तेलका बना हुआ पदार्थ खाना होता है, वह यहीं लगा-खा लेता है क्योंकि इसके आगे तेलका व्यवहार बिलकुल ही नहीं होता। इसके आगे रास्तेमें दो जगह भीलोंकी चौकियाँ हैं, वहाँ फी आदमी एक आना कर देना पड़ता है। बारह मीलकी दूरीपर पर्वतकी तलहटीमें बसे हुए घर मिलते हैं, जिसे श्रीअम्बिकाजीका नगर कहते हैं। नगरमें प्रवेश करनेपर श्रीहनुमान्मन्दिर तथा भैरवमन्दिर मिलता है।

आरासुर पर्वतके सफेद होनेके कारण श्रीअम्बिकाजी 'धोळा गढवाली' माताके नामसे पुकारी जाती हैं। भगवतीजीका मन्दिर संगमरमर पत्थरसे बना हुआ है और बहुत ही प्राचीन है। मन्दिरके चारों ओर धनी पुरुषोंने अपनी-अपनी कामना-सिद्धिके उपलक्ष्यमें लाखों रुपये व्यय करके धर्मशालाएँ बनवा दी हैं। ऐसी धर्मशालाओंकी संख्या साठके करीब है। इससे यह स्थान एक छोटा-सा सैनिटोरियम बन गया है। धर्मशालाओंमें उनके मालिकोंकी ओरसे यात्रियोंके लिये पलंग, बिछौना, बरतन वगैरह सब प्रकारकी सुविधा रहती है। साधारण मनुष्योंको तो घरसे भी अधिक यहाँ आराम मिलता है।

गुजरात प्रान्तभरके बच्चोंका मुण्डनसंस्कार प्राय: यहाँ ही होता है। कहते हैं कि श्रीकृष्णभगवान्का मुण्डन-संस्कार यहीं हुआ था। गुजरातमें कदाचित् ही कोई ग्राम होगा जहाँ इस पीठके उपासक न हों। उपासकोंमें केवल हिन्दू ही नहीं, बल्कि पारसी, जैन और मुसलमान आदि भी हैं। इस स्थानका इतना बड़ा माहात्म्य है कि प्रतिवर्ष लाखों यात्री दूर-दूरसे श्रीअम्बा माताके दर्शनके लिये आते हैं, सहस्रों मनुष्योंकी कामनाएँ माताजीकी कृपासे पूरी हो जाती हैं। पुत्रहीनोंको पुत्रकी प्राप्ति होती है; धनहीनोंको धनकी, रोगियोंको स्वास्थ्यकी प्राप्ति होती है। मनौती करनेवालेकी जब मनोकामना पूरी हो जाती है तो वह जबतक श्रीमाताजीका दर्शन नहीं कर लेता, तबतक कोई नियम ले लेता है और प्राणपणसे उसका पालन करता है।

मन्दिरमें जिनका पूजन होता है, वे महादेवजीकी पत्नी हिमाचल और मैनाजीकी पुत्री दुर्गादेवी हैं। इनको 'भवानी' अर्थात् काम करनेकी शक्ति या 'अम्बा' यानी जगत्की माता भी कहते हैं, यह मन्दिर बहुत प्राचीन है। आँगनमें जो चौके जड़े हुए हैं, वे इतने घिस गये हैं कि उन्हें देखकर सहज ही मालूम हो जाता है कि मन्दिर कितना पुराना है और कितने लोग माताजीके दर्शन करने आते हैं।

माताजीका दर्शन सबेरे ८ बजेसे लेकर १२ बजेतक होता है। भोजनका थाल रखनेके बाद बन्द हो जाता है और फिर शामको सूर्यास्तके समय बड़े ठाटके साथ आरती होती है। उस समय बहुत भीड़ होती है। मन्दिरमें बेशुमार छत्र और सभामण्डपमें बहुत-से घण्टे लटकते हुए दिखायी देते हैं, जिन्हें श्रद्धालु यात्रियोंने लगवाया है। आरतीके समय दर्शनार्थी यात्री इन सब घण्टोंको बजाते हुए ध्यानमग्न हो जाते हैं।

माताजीको तीनों समय तीन तरहकी पोशाक पहनायी जाती हैं। इससे वे सबेरे बाला, दोपहरको युवा और शामको वृद्धाके रूपमें दिखायी देती हैं। इसीसे कहा गया है—

जैसे दिलसे देख लो, देखो वैसा रूप।
ब्रह्मरूपसे देखकर देखो ब्रह्मस्वरूप॥

वास्तवमें माताजीकी कोई आकृति नहीं है; केवल एक बीसायन्त्र है, जो शृङ्गारकी विभिन्नताके कारण ऐसा दिखायी देता है।

जबतक यात्री माताजीके दरबारमें रहते हैं, तबतक खाने, जलाने और सिरमें लगानेके काममें तेलकी जगह घीका ही व्यवहार किया जाता है। पति-पत्नी साथ आनेपर भी यहाँ जबतक रहते हैं, ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं।

माताजीके मन्दिरके पास एक विशाल चौक है, इसे चाचर कहते हैं। इस चाचरमें रातको एक बहुत बड़ा तवा घीसे भरकर जलाया जाता है, इसे भी चाचर कहते हैं।

रजस्वला स्त्री और सूतक लगे हुए लोग माताजीके चाचरमें नहीं जा सकते। ऐसे लोगोंके रहनेके लिये अलग धर्मशालाएँ बनी हैं। यदि कोई रजस्वला स्त्री चाचरमें चली जाती है तो रातके समय जलते हुए घीमें धड़ाका होने लगता है और उसमेंसे ज्वाला और धुआँ निकलने लगता है, जब रजस्वला स्त्री वहाँसे चली जाती है तब ये उपद्रव शान्त हो जाते हैं। इसी प्रकार दिनके

समय माताजीके मन्दिरपर लगे हुए तीनों त्रिशूल डोलने लगते हैं।

माताजीको थाल रखानेवालेको कोठारीसे पहले ही आज्ञापत्र ले लेना पड़ता है। आज्ञापत्र मिल जानेपर पुजारी एक चाँदीका बरतन दे देता है और उसीमें रखकर भोगकी सामग्री एक निश्चित समयपर ली जाती है। भोग लगनेके समय ब्राह्मण लोग शोला (एक प्रकारका पवित्र वस्त्र) पहनकर माताजीका पादपूजन कर सकते हैं और पास जाकर दर्शन कर सकते हैं; क्योंकि उस समय भीड़ नहीं रहती। यात्री एक, तीन, पाँच या सात दिन लगातार रह सकते हैं। सबेरे आठ बजेकी आरतीके बाद आबूरोडकी ओर वापस जाते हैं, जिनको जल्दी होती है, वे पिछली रातको ही निकल जाते हैं। रवाना होनेसे पहले मोदीका हिसाब चुका देना चाहिये। मोदीखानेका नियम यह है कि यात्री जिस दिन आता है, उस दिन जिस मोदीकी बारी होती है, वही मोदी उसे सब चीजें जबतक वह रहता है, देता है। सब चीजोंका भाव राज्यकी ओरसे नियत कर दिया जाता है, पण्डेलोग अधिकतर सिद्धपुरके उदीच्य ब्राह्मण हैं। यात्री लोग उनसे दुर्गापाठ, रुद्री, मन्त्र-जप आदि कराते हैं और ब्राह्मणभोजन कराते और दक्षिणा देते हैं। इसीसे उनकी जीविका चलती है।

माताजीके चाचरमें हिन्दूके सिवा अन्य जातिका कोई आदमी नहीं जा सकता। कुछ समय पूर्व एक यूरोपियन सज्जन आये थे। कहते हैं कि रोके जानेपर भी उन्होंने माताजीकी परीक्षाके लिये चाचरपर जाना चाहा। वे सीढ़ियोंपर चढ़ ही रहे थे कि अकस्मात् ऐसे गिरे मानो किसीने उठाकर नीचे फेंक दिया हो। उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। तबसे ऐसे अन्यधर्मी सज्जनोंके दूरसे दर्शनकी सुविधाके लिये सामने चाचरसे दूर एक ऊँची बैठक बना दी गयी है, वहाँसे ये लोग दर्शन कर सकते हैं।

साधारणतः श्रीअम्बाजीके यहाँ प्रत्येक पूर्णिमाको मेला लगता है, परन्तु भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक और चैत्रकी पूर्णिमाको विशेषरूपसे भारी मेला लगता है। इन मेलोंमें प्रत्येक गाँवसे सैकड़ों मनुष्य संघके रूपमें आते हैं। संघके मुख्य व्यक्तिको संघवी कहते हैं। भाद्रपदके मेलेमें इन संघोंकी संख्या विशेष दर्शनीय होती है। शरत्पूर्णिमाकी चन्द्रकिरणोंसे स्थान अत्यधिक सुहावना हो उठता है। सम्भ्रान्तकुलकी कुलवधुएँ रात-रातभर चाचरमें श्रीमाताजीका स्तवन-गान करती हैं। इस स्तवन-गानको 'गरबा' कहते हैं। यह स्तवनका दृश्य यात्रियोंके मनमें भावोंकी पवित्र मन्दाकिनी बहा देता है। चाचरमें होम किये जानेवाले घृतको माताजीके भील लूट सकते हैं। इसलिये यात्री जब चाचरमें घी डालते हैं तब भील लोग बीचमें कटोरा रख देते हैं। यहाँकी भीलप्रजा माता अम्बिकाजीको बहुत प्यारी है।

माताजीके गढ़के भीतर ही एक गहरी बावली है, उसीसे पीनेका पानी लिया जाता है। इसे लोग 'कलोधर वाव' कहते हैं। अब धर्मशालाओंमें भी कुएँ बन गये हैं।

मन्दिरके पृष्ठभागकी ओर थोड़ी दूरपर पवित्र, मधुर जलका एक मानसरोवर है, उसके दक्षिण ओर वाम भागके दृश्योंके छायाचित्र अन्यत्र देखिये। मानसरोवरके दक्षिण पार्श्वमें स्थित श्रीअजाई माता हैं। अजाई माता श्रीजगदम्बा अम्बिकाजीकी बहिन कहलाती हैं।

यहाँसे एक कोसपर एक छोटी-सी पहाड़ीपर 'गब्बर' (गह्वर) नामका स्थान है। वहाँ जानेके लिये भी नाकेपर टैक्स देकर रसीद लेनी पड़ती है। उसका चढ़ाव मुश्किल होनेके कारण यह कहावत प्रसिद्ध हो गयी है कि—

'जो जाय गब्बर वह हो जब्बर।'

गब्बरपर जानेका मार्ग बहुत ही कठिन है परन्तु श्रद्धाबलसे बहुत छोटे-छोटे बच्चे भी उसपर चढ़ जाते हैं।

उपर्युक्त गब्बर शिखरके विषयमें एक कथा प्रसिद्ध है। कहते हैं, पुरातन कालमें एक ग्वालेकी गायोंमें माताजीकी गाय भी अज्ञातरूपसे जङ्गलमें चरने जाती थी। बहुत दिनोंतक चराई नहीं मिलनेके कारण एक दिन सायंकालको वह ग्वाला उस गायके पीछे-पीछे उसके मालिकके घर चला। वह गायके साथ एक सुन्दर मन्दिरके पास आ पहुँचा। मन्दिरमें एक दिव्य रमणी सुन्दर वस्त्र पहने झूलेपर झूल रही थी। ग्वालेके चराई माँगनेपर उसने कुछ जौ उसके कम्बलमें डाल दिये। ग्वाला असन्तुष्ट होकर जौ बाहर फेंककर चलता बना। घर पहुँचनेपर उसने सारा वृत्तान्त अपनी स्त्रीसे कहा। स्त्री बुद्धिमती थी, ग्वालेकी बात सुनकर वह चकित हो

गयी। उसने कम्बलका वह कोना दिखलानेके लिये कहा जिसमें जौ डाला गया था। उसे देखते ही उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा, क्योंकि कम्बलमें जो आठ-दस जौके दाने बच रहे थे वह सोनेके थे। पीछे ग्वालेने बहुतेरा ढूँढ़ा पर न तो उसे वह मन्दिर ही मिला और न वह दिव्य रमणी ही दीख पड़ी। बेचारा पछताकर रह गया!

'गब्बर' पर चढ़नेके रास्तेपर एक मीलके बाद एक गुफा आती है। उसे माईका द्वार कहते हैं। सुनते हैं कि इसी द्वारसे भगवतीके मन्दिरमें जाना होता था। पर्वतके भीतर देवीका एक मन्दिर है उसमें देवीका झूला है, सुनते हैं भक्तोंको कभी-कभी आज भी देवीके झूलेकी ध्वनि सुन पड़ती है। द्वार तो सत्ययुगमें ही बन्द हो गया था, ऐसी जनश्रुति है।

'गब्बर' के शिखरपर तीन स्थान हैं। एक माताके खेलनेकी जगह। यहाँ पत्थरपर पैरकी छोटी-छोटी अँगुलियोंके चिह्न दीख पड़ते हैं। दूसरा स्थान पारस-पीपला है और तीसरा श्रीकृष्णभगवान्का ज्वारा है, इसी स्थानपर यशोदाजीने श्रीकृष्णजीका मुण्डन करवाया था।

श्रीअम्बामाताजीके चमत्कारकी अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। अभी सं० १९८७ विक्रमीके भाद्रपदकी पूर्णिमाकी यात्रामें आते समय सीनोर ग्रामके पट्टीदारका एक तीन-चार वर्षका लड़का रातके समय रोह स्टेशनके आगे चलती गाड़ीसे गिर गया। जंजीर खींचकर गाड़ी खड़ी कराकर रात्रिमें खोजनेसे उसका कुछ भी पता नहीं लगा। प्रात:काल वह लड़का रेलवे लाइनसे कुछ दूरपर रोता हुआ पाया गया। अपनी माताको देखकर उसने रोते हुए कहा कि रातभर तो तू मेरे पास बैठी रही, अभी कहाँ चली गयी थी? लड़केकी इस बातको सुनकर सबको मालूम हो गया कि श्रीमाताजीने ही उसकी रक्षा की थी। इस प्रकारके चमत्कार यहाँ आये दिन होते ही रहते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टिसे भी इस पीठका महत्त्व कुछ कम नहीं है। प्रात:स्मरणीय वीरवर मेवाड़ाधिपति महाराणा प्रताप जब अपनी टेकपर अड़े अकबरसे युद्ध करते वन-वन भ्रमण करते रहते थे, उस समयकी बात है। उन्होंने अपनी रानी ईडरनरेशकी कन्यासे एक निश्चित तिथिको ईडरमें मिलनेका वादा कर लिया था। अकबरको इसकी खबर लग गयी थी, और उसने ईडरपर उनको पकड़नेके लिये घेरा भी डलवा दिया था। महाराणा अनेक बाधाओंके कारण निश्चित तिथिकी सन्ध्यातक अपना वादा पूरा नहीं कर सके। इससे वह बड़े चिन्तित हुए। उधर बादशाहके द्वारा ईडरपर घेरा डालनेकी बात भी उन्हें मालूम हो गयी थी। महाराणा धर्मसङ्कटमें थे। घोर अँधियारी रात्रि थी और मूसलाधार वृष्टि हो रही थी, बड़े-बड़े नदी-नाले उमड़ रहे थे। पहाड़ी मार्गद्वारा मेवाड़से पचास कोस दूर ईडरको उसी रात पहुँचना था। महाराणाने अपने अश्व चेतकको बढ़ाया और अनेक सङ्कटोंका सामना करते हुए वह साभ्रमती (साबरमती) नदीके तीरपर पहुँचे। नदी उमड़ी हुई बड़े ही तीव्र वेगसे बह रही थी। चेतक नदीमें उतरा और सर्पकी भाँति आगे बढ़ा परन्तु मँझधारामें जाते ही एक बहते हुए पेड़की डालमें उसकी टाँग अड़ गयी और वह डूबने लगा। तब शक्तिपूजक महाराणाने बड़े ही भक्तिभावसे श्रीअम्बा माताका स्मरण किया और कहा कि 'हे भगवती! यदि मैं रानीसे मिलकर और बादशाहके घेरेको तोड़कर लौटा तो अपनी शक्तिरूपी तलवार तेरी चरणोंमें भेंट कर दूँगा।' बस, क्या था, उसी क्षण जगदम्बाकी कृपासे अश्वका पैर छूट गया और महाराणाजी निश्चित समयपर ईडर पहुँच गये, और रानीसे मिलकर बादशाहका घेरा तोड़कर जब लौटे तो श्रीअम्बाजीके दर्शनके लिये आये और उन्होंने अपनी तलवार भगवतीके चरणोंमें अर्पित की। वह तलवार आज भी मातृमन्दिरमें विद्यमान है और उसकी नित्य पूजा होती है।

कहा जाता है कि राजा भीमकी राजधानी कुन्दनपुर यहीं था। श्रीरुक्मिणीजी यहीं अम्बाका दर्शन करने आयी थीं और श्रीकृष्णभगवान्ने रुक्मिणीका अपहरण भी यहीं किया था।

कुछ शताब्दियों पहले मन्दसोरके सेठ अखैरामजी व्यापारी बिसानगर वैश्यका जहाज रात्रिके समय तूफान आनेके कारण समुद्रमें डूबने लगा। तब सेठजीने अम्बाजीको याद किया और अपनी सम्पत्तिका आधा हिस्सा जगदम्बाके दरबारमें अर्पण करनेका सङ्कल्प किया। इतना करते ही भगवतीने त्रिशूलके द्वारा जहाजको उठाकर तुरन्त किनारे लगा दिया और उसी रातको पुजारीको यह वृत्तान्त सूचित कर पोशाक बदल देनेकी
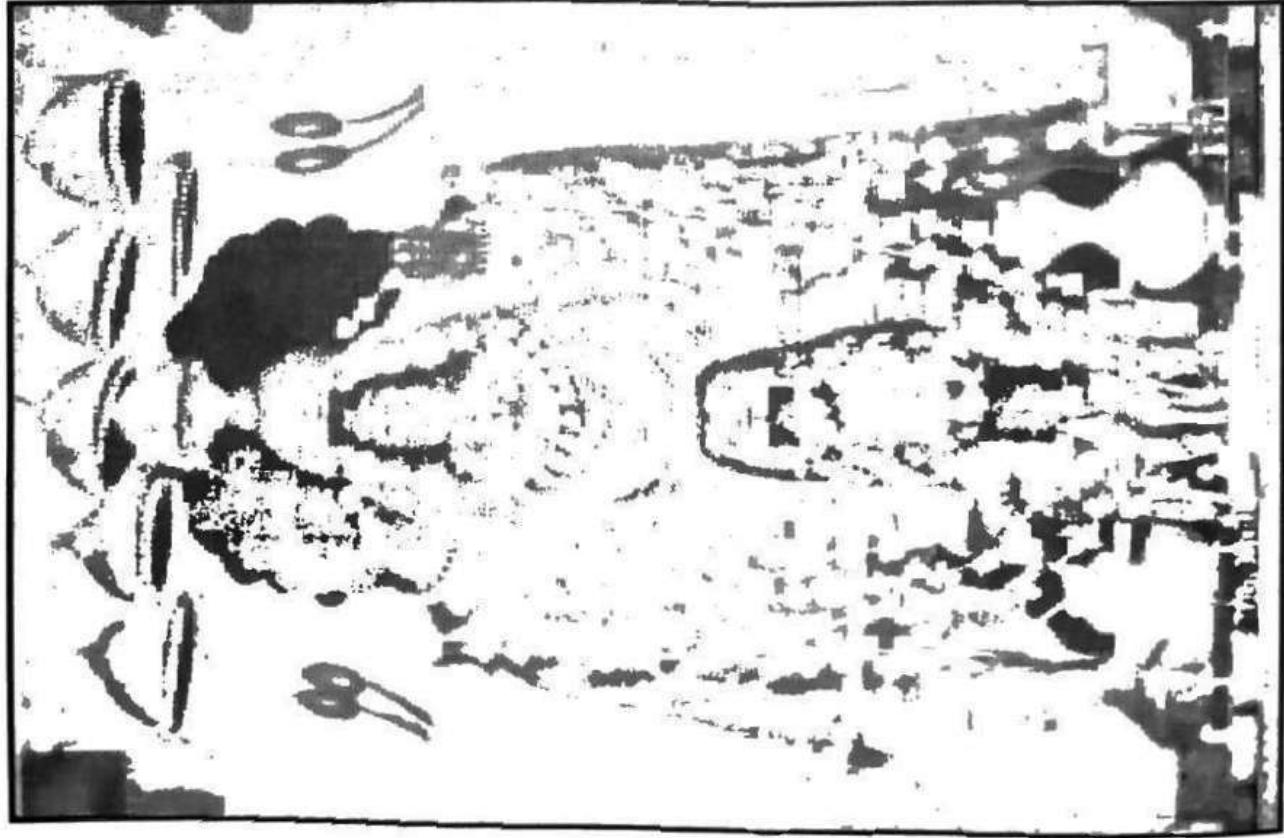
श्रीअम्बाजी भवानी
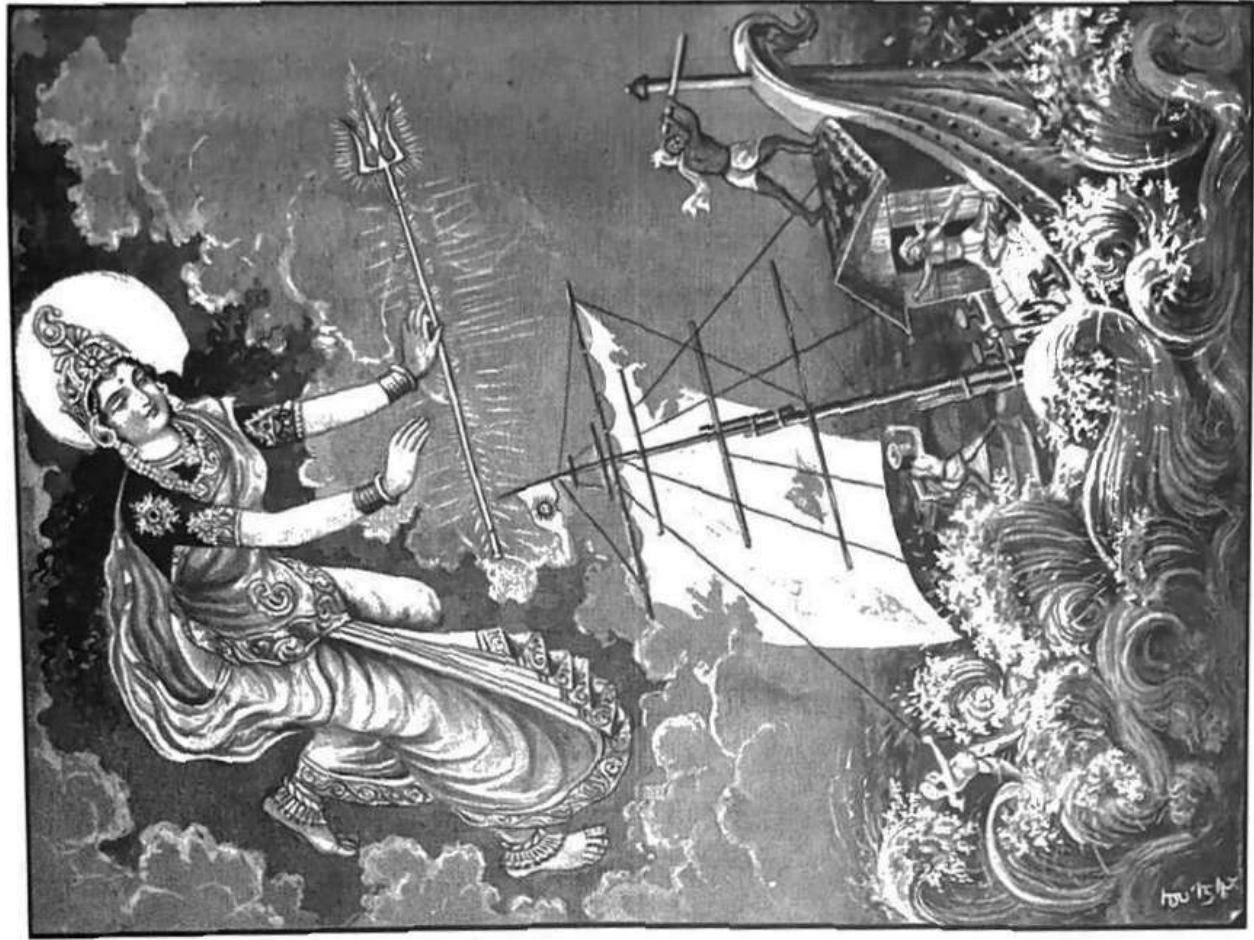
श्रीअखैराम सेठके डूबते हुए जहाजका अम्बाजीद्वारा बचाया जाना

कुम्भारियाजी जैनमन्दिर
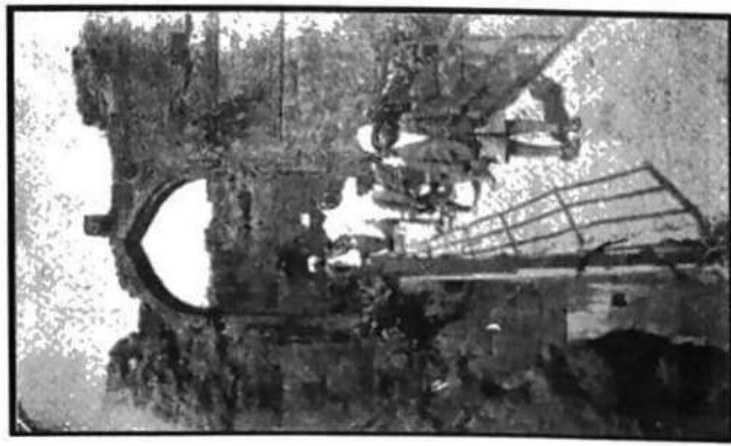
श्रीबालाका मानसरोवर

लक्कड़पुल पावागढ़ दरवाजा
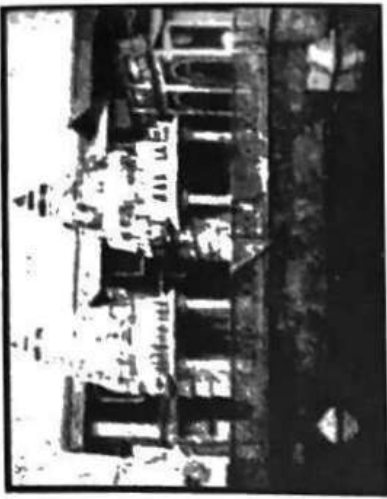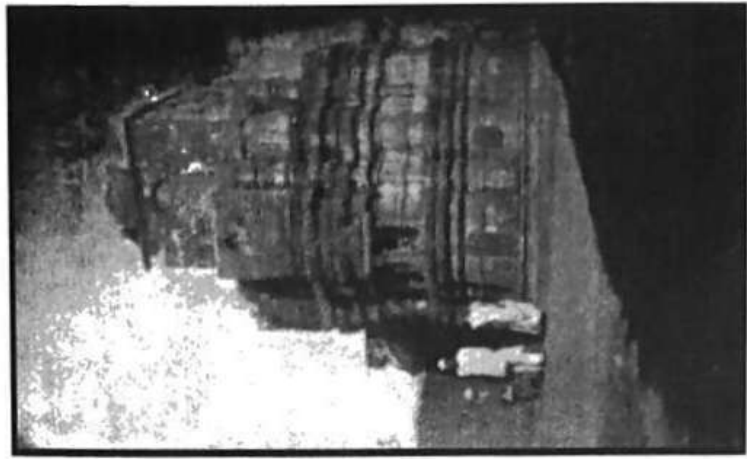
पावागढ़ पहाड़

श्रीमहाकालीमन्दिर—पावागढ़
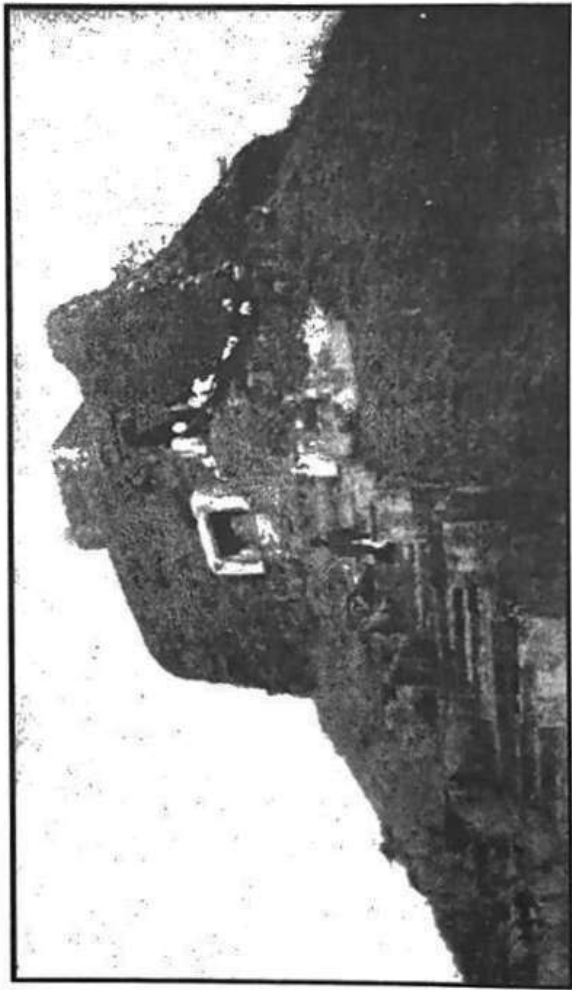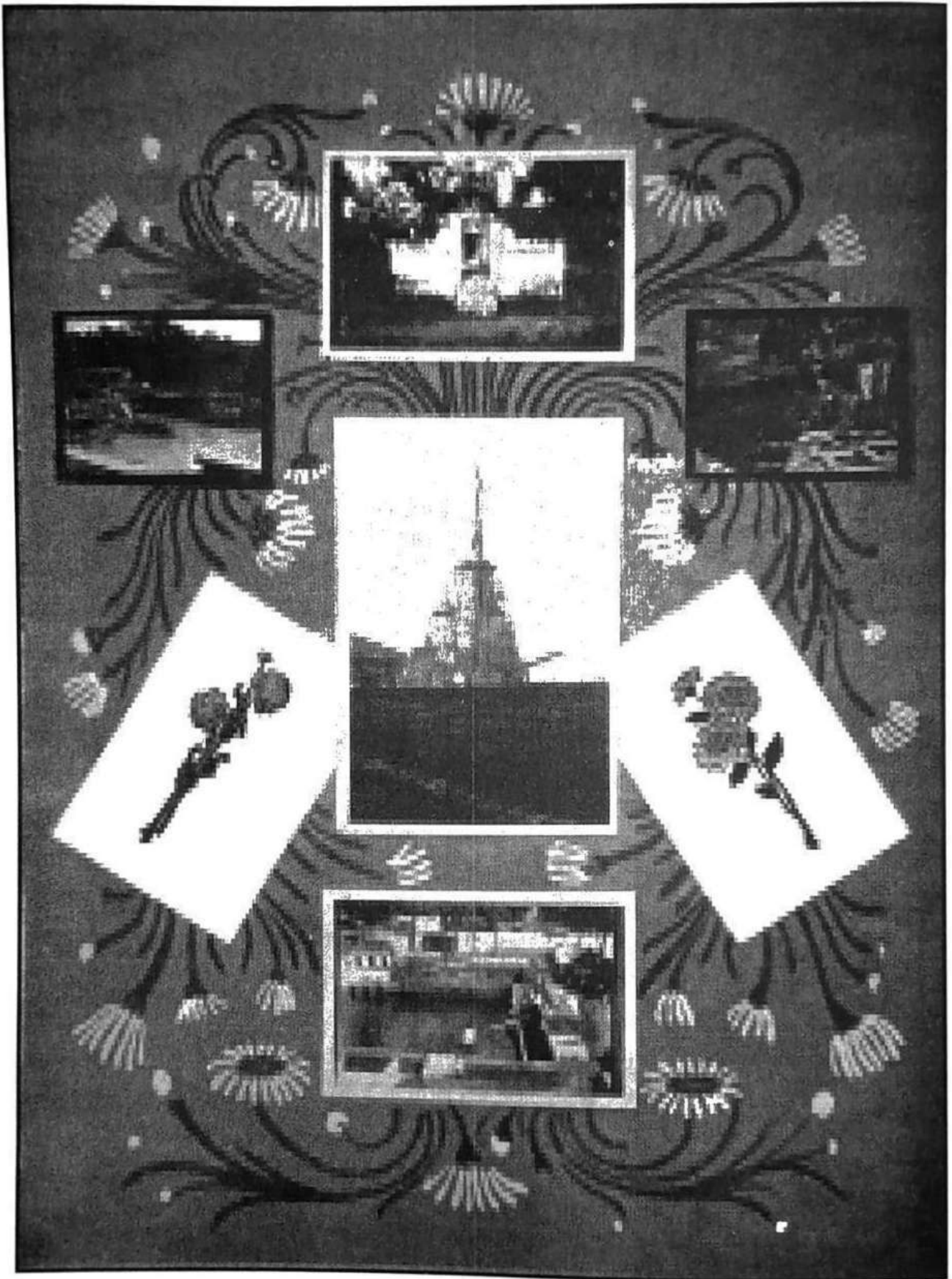
कल्याण—

(१) अजाईमाता

(२) मानसरोवर—बायें भागका दृश्य

(३) कोटेश्वरकुण्ड

(४) श्रीअम्बिकाजीके मन्दिरका शिखर

(५) मानसरोवरके दाहिने भागका दृश्य

कल्याण—

(१) गब्बरगढ़

(२) माईगृहद्वार (३) शक्तिसेवकमण्डल, अम्बिकाजीका उत्सव (४) कृष्णज्वारा

(५) माईजीका त्रिशूल (६) चामुण्डाकी टेकरी (७) चामुण्डाजीका द्वार

आज्ञा दी। पुजारीने मन्दिर खोलकर देखा तो माताजीकी पोशाक भींग रही थी और त्रिशूल कुछ टेढ़ा हो रहा था। कपड़े निचोड़कर आचमन लेनेपर जल खारा लगा। आबूके पास खारा पानी कहाँसे आता? माताजीके दिये हुए स्वप्न और प्रत्यक्षकी इस घटनाकी खबर दाँता महाराजको दी गयी। दाँता महाराज वहाँ आये। इक्कीस दिनोंके बाद सेठ अखैराम वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने सम्पत्तिका आधा भाग माताकी सेवामें अर्पण किया। हवन कराकर माताजीको एक हीरा भेंट किया जो अभीतक शृङ्गारमें चढ़ता है। और उनकी ओरसे अखण्ड घृतदीप प्रारम्भ किया गया जो उनके वंशजोंद्वारा अबतक जारी है।

श्रीअम्बाजीसे करीब तीन मील दूर उदुम्बर वन है, वहाँ भगवान् कोटीश्वर शङ्करका मन्दिर है। यहींसे सरस्वती नदी निकलती है जो सिद्धपुर पाटण होते हुए कच्छके मैदानमें लीन होती है। कोटीश्वर महादेवके मन्दिरके समीप पहाड़से जो झरना निकलता है वह पहले एक कुण्डमें आता है, इसे कोटीश्वरकुण्ड कहते हैं और फिर यहाँसे गोमुखद्वारा बाहर निकलता है। कोटीश्वरके पास श्रीमधुसूदनका मन्दिर है, यहीं श्रीतण्डी-ऋषिका आश्रम है। यहाँ दान-पुण्य-हवनादिका बड़ा माहात्म्य पुराणोंमें वर्णित है। पूर्वजन्मके भील और भीलनी इसी कोटीश्वरकी आराधनासे दूसरे जन्ममें नल और दमयन्ती नामसे उत्पन्न हुए थे। श्रीअम्बाजीसे कोटीश्वरतक जानेके लिये मोटरसर्विस है। रास्तेमें विमलशाहके बनवाये हुए जैनमन्दिर हैं, जिन्हें कुँभारियाजी कहते हैं। ये मन्दिर आबूके देहलवाड़ेके जैनमन्दिरोंसे करीब पचीस वर्ष पूर्व निर्मित हुए थे। इनमें भारतीय शिल्पकलाके उत्तम नमूने देखनेमें आते हैं। देश-विदेशसे दूर-दूरके यात्री इन्हें देखनेके लिये आते हैं। अभी-अभी इन मन्दिरोंकी मरम्मतमें अहमदाबादके जैनसङ्घने तीन लाख रुपये खर्च किये हैं। इससे इनकी उत्कृष्टताका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। कुँभारियाजीके मन्दिर तथा आबूके देहलवाड़ेके मन्दिरोंके बनवानेमें जो द्रव्य लगा था वह श्रीअम्बाजीकी कृपासे विमलशाहको गह्वरके निकटवर्ती भण्डारा नामक शिखरसे मिला था। इसीके उपलक्ष्यमें जैनमन्दिर कुँभारियामें भगवतीकी मूर्ति पधरायी गयी है।

माताजी श्रीअम्बिकाजीसे राजधानी दांताभवानगढ़ १४ मील दूर है। इस रास्तेमें तीन माइलपर पत्थरका एक बड़ा भारी त्रिशूल आता है। इस स्थानपर यात्री एक श्रीफल चढ़ाकर आगे बढ़ते हैं। यह बहुत ही विकट स्थान है।

श्रीअम्बिकाजीसे ईडरके गढ़की ओर १२ मीलतक पैदल जानेपर एक पहाड़ आता है, इसे चामुण्डाकी टेकरी कहते हैं। यहाँ एक पाँच मीलके लगभग बड़े विस्तारवाला सरोवर है।

यहाँ चामुण्डा माताके मन्दिरमें जानेका द्वार है। यह मन्दिर बहुत ही छोटा और पुराना है!

अम्बिकाजीका यह प्रसिद्ध और जाग्रत् तीर्थस्थान दाँता-स्टेटकी हुकूमतमें है। दाँतानरेश पमारवंशके क्षत्रिय हैं। ये शकप्रवर्तक श्रीमान् विक्रमादित्य, विद्या-विलासी महाराज भोज और वीरवर जगदेव पमारके वंशधर हैं तथा श्रीअम्बा भवानीके एकमात्र उपासक हैं। वर्तमान दाँतानरेन्द्र श्रीमान् भवानीसिंहजी बहादुर अपने पूर्वपुरुषोंके सदृश वीर, विद्यानुरागी, अत्यन्त उदारहृदय तथा श्रीजगदम्बा माताके कृपापात्र परम भक्त हैं। यात्रियोंके कष्टनिवारणार्थ आप सदा तैयार रहते हैं। यहाँ भीलोंकी विशेष बस्तियाँ होनेपर भी यात्री निर्भय होकर चलते हैं, आभूषणोंसे लदी स्त्रियाँ घने जङ्गलके मार्गमें अकेली यात्रा कर सकती हैं। रास्तेमें ऐसा कड़ा राज्यप्रबन्ध है कि यदि कोई यात्री रास्तेमें कोई वस्तु भूल जाय तो वह उसे उसके डेरेपर ही मिल जायगी।

यहाँ यात्रियोंकी सुविधाके लिये राज्यकी ओरसे एक डिस्पेंसरी भी खोली गयी है। पोस्टआफिसका भी प्रबन्ध हो गया है। राज्यकी ओरसे टेलीफोनका भी प्रबन्ध है, उसका प्रयोग प्रजा और यात्री दोनोंके लिये अबाधित कर दिया गया है। ऐसे धर्मप्रिय नरेन्द्र इस धर्मस्थानके प्रबन्धक हैं, यह सोनेमें सुगन्ध है। जगदम्बा इन्हें दीर्घायु तथा धर्मकार्यमें विशेष उत्साह प्रदान करें, यही प्रार्थना है।

पावागढ़की श्रीमहाकालीजी

बड़ौदा शहरसे तीस मील दूर ईशान कोणमें पावागढ़ नामक एक पहाड़ी है। गोधरा जानेवाली लाइनमें चम्पानेर स्टेशन पड़ता है, वहाँसे चाँपानेर जाना पड़ता है। मोटर-सर्विस भी है। रेल और मोटर दोनोंमें किराया बड़ौदेसे केवल बारह आने लगते हैं। आश्विन शुक्ल प्रतिपदासे दशमीतक यहाँ बड़ा भारी मेला लगता है। स्टेशनके पास दो बड़ी धर्मशालाएँ हैं, वहाँ यात्रियोंके ठहरनेमें बड़ी सुविधा होती है। दो-चार पण्डोंके घर भी यात्री लोग ठहरते हैं।

पावागढ़की तलहटीमें चम्पानेर नामके प्राचीन नगरके द्वार आदिका कुछ भग्नावशेष आज भी वर्तमान है। यहाँ रेलवे स्टेशन होनेके बाद दो-चार दूकानें भी लग गयी हैं। लोकल बोर्डने एक प्राइमरी स्कूल भी खोला है। चम्पानेरके द्वारके पास उसके विजेता सुल्तान महम्मद वेगकी बनवायी एक बड़ी मस्जिद अभी अच्छी हालतमें मौजूद है। इसके पास ही एक कुण्ड है, जिसमें यात्री लोग स्नान करते हैं। चम्पानेरके किलेमें पाषाणके महलों और मकानोंके टुकड़े जहाँ-तहाँ पड़े हैं।

चम्पानेर शहर अणहिलपुर पाटनके बसानेवाले राजा वनराज चावड़ाके चम्पा नामक मन्त्रीने बसाया था। चम्पानेरसे पावागढ़तक चढ़नेके लिये केवल एक ही मार्ग होनेसे यात्रियोंको बड़ी सुविधा होती है। पहाड़के शिखरपर समुद्रतलसे २८३० फीटकी ऊँचाईपर श्रीमहाकालीजीका प्रसिद्ध मन्दिर है। चम्पानेरके अन्तिम राजाके जीवनके साथ श्रीमहाकालीजीकी कथाका सम्बन्ध होनेसे उसका थोड़ा-सा दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है।

चम्पानेरके अन्तिम राजा जयसिंहदेव थे। उनको पताइ रावल भी कहते थे। वे चौहान वंशके थे। चौहान वंशके आदिपुरुष अणहल चौहान थे। अजयपाल चौहानने अजमेरमें राज्य स्थापित किया। उनके वंशज माणिक्यरायने सम्भर राज्य स्थापित किया और माणिक्यरायके वंशज विशलदेवने गुजरातमें विसनगर बसाया था। इन्हींके वंशमें दिल्लीके अन्तिम हिन्दू सम्राट् महाराजा पृथ्वीराज चौहान हुए। उनके वंशज खेंगारजीने मालवा प्रदेशमें राज्य स्थापन किया। उनके समयमें चौहान लोग 'खींची चौहान' कहलाने लगे। इसी वंशमें उत्पन्न हुए हमीररायने अलाउद्दीन खिलजीके साथ रणथम्भोरमें युद्ध किया था। हमीररायके वंशज पालनदेवने चम्पानेर और पावागढ़ विजयकर चम्पानेरमें राज्य किया। उनके वंशमें रामदेव, चांगदेव, चचिंगदेव, सोमँगदेव, पालनसिंह (दूसरे), जीतकरण, कंपुरावल, वीरधवल, शिवराज, राघवदेव, त्रिंवकभूप, गंगदास और अन्तिम राजा जयसिंहदेव हुए।

सन् १४८३ ई० के मार्च मासमें १७ वीं तारीखको सुल्तान महम्मद बेगढ़ाकी फौजने चम्पानेरपर चढ़ाई कर किलेको घेर लिया। १४८४ ई० के नवम्बर मासतक युद्ध चलता रहा। १७ वीं नवम्बरको जयसिंहदेव मारे गये और पावागढ़ एवं चम्पानेरपर मुसलमानोंका अधिकार हो गया। जयसिंहदेवके तीन लड़के थे, उनमें पहला युद्धमें मारा गया, तीसरा कैद किया गया और दूसरा पुत्र जिसका नाम रायसिंह था भाग गया। रायसिंहके दो पुत्र हुए—बड़े पुत्र पृथ्वीराजके वंशज छोटा उदयपुरमें राज्य कर रहे हैं और द्वितीय पुत्र डूँगरसिंहके वंशज देवगढ़ बारियामें राज्य कर रहे हैं। जनश्रुति है कि श्रीकालिका माताजीके शापसे ही यह नगर ध्वंस हो गया। श्रीकालीजीके मन्दिरके पास आश्विन शुक्ल पक्षकी नवरात्रिमें बराबर गरबा होता है। इसमें नगरकी तथा राजमहलकी स्त्रियाँ एक साथ इकट्ठी होकर श्रीमाताजीका स्तवनगान करती हैं। शारदी चन्द्रिकामें यह उत्सव बड़ा ही सुहावना होता है। सारी दर्शकमण्डली श्रीमाताजीके भावमें उन्मत्त होकर आनन्दसुधाका पान करने लगती है। सुनते हैं, इसी प्रकारके आनन्दोत्सवमें एक बार जब गरबा हो रहा था तब स्त्रियोंके प्रेमसे प्रसन्न हो स्वयं माताजी एक दिव्य रमणीका वेष धारणकर आयीं और स्त्रियोंमें शामिल होकर गरबा गाने लगीं। उस अवसरपर चम्पानेरका राजा पताई जयसिंह भी आया हुआ था। वह माताजीके गरबाके माधुर्यको सुनकर तथा उनकी दिव्य सौन्दर्यछटाको देखकर मोहित हो गया। पीछे जब सब स्त्रियाँ चली गयीं तो राजाने श्रीकालिकाका हाथ पकड़ लिया। माताजीने कहा—'मैं प्रसन्न हूँ तू वर माँग।' राजा कामोन्मत्त हो रहा था, उसकी समझमें कुछ न आया और उसने पागलकी भाँति भोगेच्छासे प्रेरित हो माताको पटरानी बनाना चाहा। बस, फिर क्या था, कालिकाने
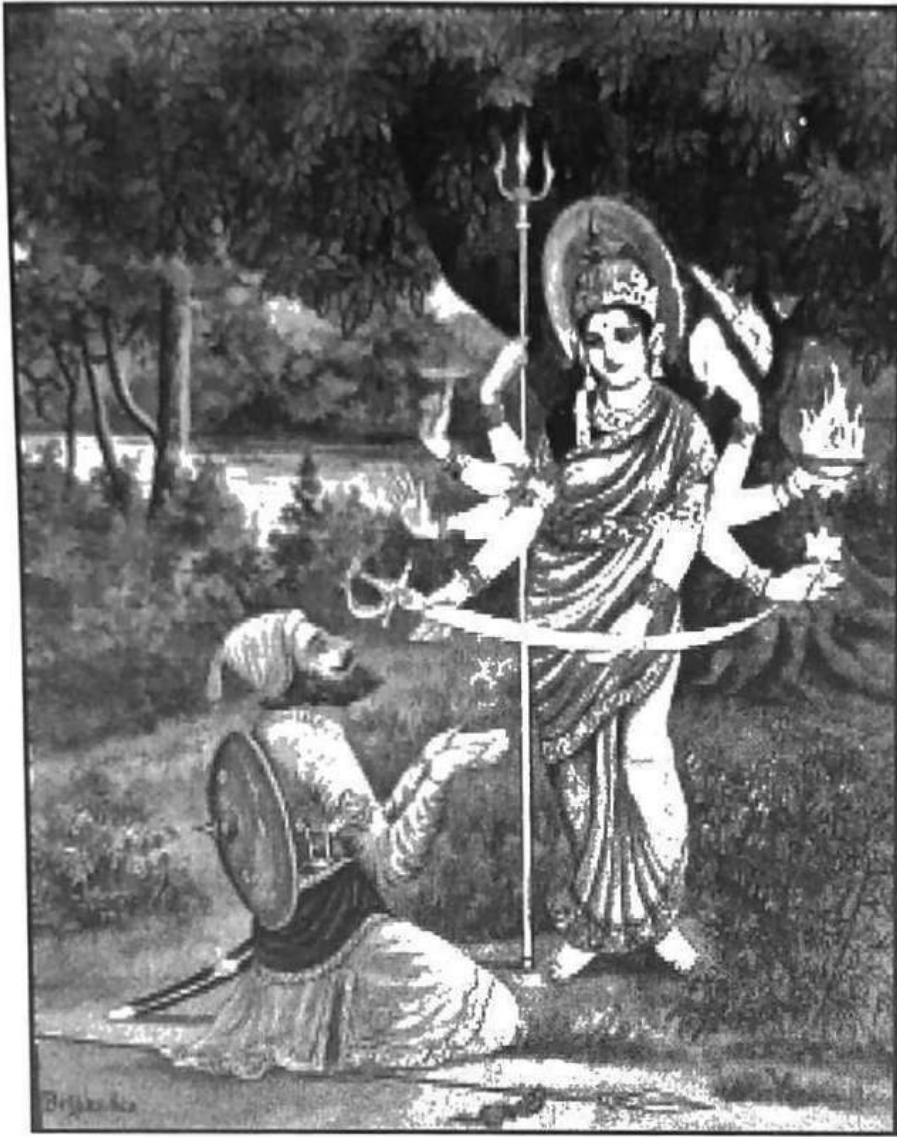
शिवाजीपर भवानीकी कृपा

श्रीबालात्रिपुरसुन्दरी—चुंवाळपीठ

श्रीबालाबहुचराजीका मन्दिर

कल्याण—

श्रीरेणुका देवी
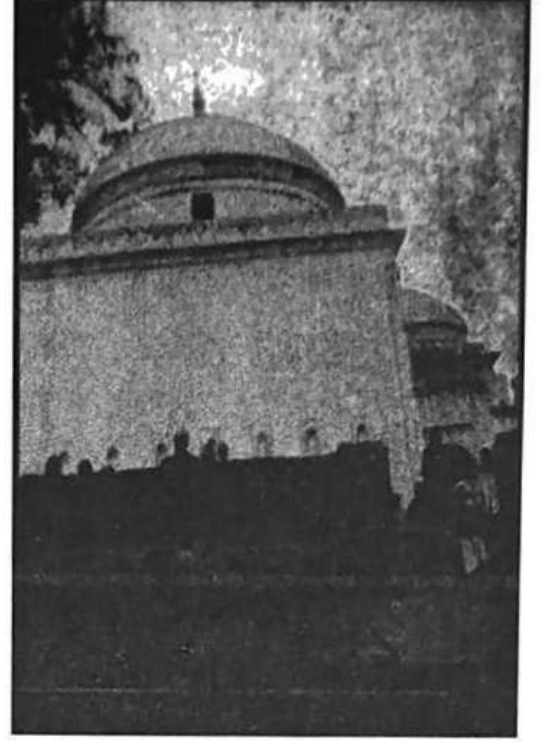
श्रीकुबेरनाथ महादेव

श्रीशिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्दस्वामी

पं० बटुकनाथजी भट्ट

क्रुद्ध हो शाप दिया—'जा, छः महीनेके अन्दर तेरा सर्वनाश हो जायगा।' और इतना कहकर अदृश्य हो गयीं। मन्दिरमें सिंह-गर्जन होने लगा, पहाड़ जमीनमें धँसने लगा और श्रीकालिकाकी मूर्ति भी पहाड़में प्रवेश करने लगी। मन्दिरके पिछले हिस्सेमें एक महात्मा रहते थे, उन्होंने कालिकासे विनती की और देवीके सिरपर हाथ रखकर कहा—'माँ, अब क्षमा करो।' बस, देवी उसी रूपमें पहाड़के साथ वैसी ही अवस्थामें रह गयीं। आज भी देवीका सिर्फ सिर ही दिखलायी देता है। पावागढ़के नष्ट होनेपर अहमदाबाद, सूरत और आधुनिक बड़ौदा शहर बसे। अस्तु!

चम्पानेरके पुराने किलेके भग्नावशेष और नगरके मकानोंके टूटे-फूटे पत्थरोंको देखते हुए यात्री आगे बढ़ते हैं। वहाँसे दो फर्लांगकी दूरीपर एक छोटी नदी बहती हुई मिलती है। वहाँसे ९६९ फीट ऊपर जानेपर छासियूँ तालाब (तक्रकुण्ड) मिलता है। चम्पानेरसे एक मील चार फर्लांगकी दूरीपर १३२५ फीटकी ऊँचाईपर विश्वामित्री नदीका उत्पत्तिस्थान आता है। सुनते हैं, इस स्थानपर श्रीविश्वामित्र मुनिके तपस्या करनेके कारण ही इस नदीका नाम विश्वामित्री पड़ा है। यह स्थान बड़ा ही सुन्दर, शान्त, निर्जन और वनकी वृक्ष-लताओंसे आच्छादित है। इसी स्थानपर खापरा और जह्वारिया नामक दो प्रसिद्ध लुटेरोंके बनाये हुए गढ़ हैं। इन गढ़ोंको देखकर प्राचीन कालकी सुन्दर शिल्पकलाका स्मरण हो आता है। एक मील पाँच फर्लांगकी दूरीपर माची नामक स्थान है, यहाँ एक छोटी-सी धर्मशाला तथा 'तैलतालाब' नामका एक तालाब भी है। इस तालाबका जल देखनेमें तेलके रंगका मालूम होता है। दो मील एक फर्लांगकी दूरीपर २०२५ फीटकी ऊँचाईपर जानेसे एक खाईं मिलती है। उसपर एक लकड़ीका पुल बँधा हुआ है। इसी पुलके ऊपरसे रास्ता जाता है। यहाँ पताई राजाके महलका भग्नावशेष और गुहामन्दिर हैं। श्रीभद्रकालीजीका मन्दिर भी यहाँ जीर्ण-शीर्ण दशामें पड़ा है। दो मील पाँच फर्लांगकी दूरीपर २४४० फीटकी ऊँचाईपर जानेपर जैनदेवालय, पुराने राजाओंके धनसंग्रहके कोठार और दो कुण्ड मिलते हैं। तीन मीलकी दूरीपर एक दूसरा जैनदेवालय मिलता है। उससे कुछ दूर आगे जानेपर २६०० फीटकी ऊँचाईपर 'दुधियातालाब' और जैनमन्दिरकी रक्षा करनेवालोंके रहनेकी जगह मिलती है। इस तालाबका जल दूध-जैसा सफेद दिखलायी देता है, पीनेमें शीतल और बड़ा सुस्वादु है। यहाँसे पत्थरकी २३० सीढ़ियाँ ऊपर चढ़नेपर कुल तीन मील तीन फर्लांगका रास्ता तय करनेपर समुद्रकी सतहसे २८३० फीटकी ऊँचाईपर पावागढ़के अन्तिम शिखरपर श्रीमहाकालीजीका विशाल देवालय स्थित है। ये सीढ़ियाँ सुप्रसिद्ध राजा महादजी सेंधियाकी बनवायी हुई हैं। यात्री सबेरे सात बजे पर्वतपर चढ़ना प्रारम्भ करे तो दस बजेतक वह शिखरपर चढ़ जा सकता है।

मन्दिरकी बँधाई बहुत ही सादी और बारीक है। रंगमण्डपके ऊपर गुम्बज है। गर्भगृहमें तीन मूर्तियाँ हैं। दाहिनी ओर श्रीमहाकालीजी, बाँयीं ओर श्रीबहुचराजीका यन्त्र और मध्यमें श्रीकालिका माताजी विराजमान हैं। यहाँ माता कालीजीका यजन-पूजन दक्षिण मार्गसे षोडशोपचार आदि दूसरे-दूसरे मिश्रोपचारसे होता है। कलकत्तेकी कालीजीकी भाँति यहाँ बीभत्स और भयङ्कर हत्याकाण्ड नहीं होते। सारांश, यहाँ पशुबलि नहीं होती। यहाँ नवरात्रमें बड़ा भारी मेला लगता है। माताजीको प्रतिवर्ष हालोलके भण्डारसे २९०० रुपये और देवगढ़ बारियाके राज्यसे २००० रुपये मिलते हैं। इस धनसे माताजीका भोग, चोपदार, शतचण्डी और पुजारीकी वृत्ति चलती है। माताजीकी महिमा बहुत बड़ी है। श्रीकालिका माताकी कृपासे बहुतोंकी कामनाएँ पूरी हुई हैं। इस दिव्य स्थानका दर्शन करके सनातनी जनताको अपना जीवन सफल अवश्य करना चाहिये।

श्रीबाला बहुचराजी

चुवाळमें गायकवाड़ सरकारकी सीमामें श्रीबहुचराजी विराजमान हैं। अहमदाबादसे मेहसाना होते हुए श्रीबहुचराजी स्टेशनतक जाना होता है। स्टेशनसे श्रीमाताजीके स्थानतक जाते समय रास्तेमें एक बहुत बड़ा तालाब आता है। उसके आगे श्रीमाताजीके कोटका दरवाजा है, उसके बाद मानसरोवर आता है, जिसमें स्नान करके यात्री श्रीमाताजीका दर्शन-पूजन करते हैं।

श्रीबाला बहुचराजीका यह प्रसिद्ध स्थान अत्यन्त ही प्राचीन है। यह पूर्ण ब्रह्ममय, तेजस्विनी गायत्रीका

साक्षात् दिव्य स्थान है। श्रीमद्भागवतमें इस स्थानके विषयमें इस प्रकार उल्लेख आता है—

इति प्रभाष्य तं देवी माया भगवती भुवि।
बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह॥

श्रीकृष्णके जन्मसमय यशोदाजीकी मायारूपी जो पुत्री देवकीके पास आयी थी उसी बालाके नामपर श्रीबालाजीका नाम प्रसिद्ध है। बहुतेरे राक्षसोंको भक्षण करके विचरण करनेके कारण बहुचरी नाम पड़ा है। श्रीबालाजीके पीठस्थानके चमत्कारके सम्बन्धमें बहुत-सी कथाएँ प्रचलित हैं।

अलाउद्दीन द्वितीयने पाटणको जीतकर गुजरातमें हिन्दुओंके मन्दिरोंको तोड़ना शुरू किया। उसने सिद्धपुरके प्रसिद्ध रुद्रमालको तोड़ डाला। बहुचराजीकी ख्याति सुनकर वह उनको तोड़नेके लिये अपनी सेनाके साथ आया। माताजीका वाहन कुक्कुट (मुर्गा) माना जाता है। माताजीके बहुतेरे मुर्गे वहाँ फिर रहे थे। मुसलमानोंने उन्हें पकड़कर मारकर खा लिया। केवल एक मुर्गा वहाँ उनकी भूलसे बच गया। रात होनेपर जब सब मुसलमान सो गये, तब वह बचा हुआ मुर्गा 'कुकड़ूँ कू-कुकुडूँ कू बहुचरीकी' कहकर बाँग देने लगा। इसपर जितने मुर्गे मारे गये थे सब मुसलमान सैनिकोंके पेटोंमें 'कुकड़ूँ कू-कुकड़ूँ कू' बोलने लगे और उनके पेट फाड़-फाड़कर बाहर निकल आये। इस चमत्कारको देखकर बाकी मुसलमान-सेना भयसे भाग खड़ी हुई।

एक दूसरी चमत्कारकी कथा इस प्रकार सुनी जाती है। एक सोलङ्की वंशके राजाको कोई सन्तान न थी। रानीने एक लड़कीके जन्म लेनेपर राजवंशके चालू रखनेके लिये यह घोषित कर दिया कि कुँवर उत्पन्न हुआ है। और उसका नाम तेजमल रखा गया। उसके बड़े होनेपर पाटणके चावडा वंशके राजाकी लड़कीसे उसकी शादी हुई। जब लड़की ससुरार आयी तो उसे पता चला कि उसका पति पुरुष नहीं, बल्कि स्त्री है। पीछे मैके जानेपर उसने सारी बातें वहाँ कह सुनायी। वहाँवालोंने कुँवरकी परीक्षा करनेके विचारसे उसे बुलाया। नकली कुँवर अपने श्वशुरके यहाँ जानेमें पहले तो बहुतेरे बहाने करता रहा। पर अन्तमें लाचार होकर वह एक घोड़ीपर सवार होकर चला। वहाँ उसकी परीक्षाके लिये खुले स्थानमें ठहरानेका प्रबन्ध किया गया था। कुँवरि घबड़ाया और अपनी प्रतिष्ठा बचानेके खयालसे बहाना करके वहाँसे अपनी घोड़ीपर सवार हो भाग निकली। पकड़े जानेके भयसे वह घोड़ीको बड़ी ही तेजीसे दौड़ाती ले जा रही थी। उसके पीछे-पीछे उसकी एक कुतिया भी दौड़ी चली जा रही थी। चैत्रमासकी कड़ी धूप थी। वह बेचारी आफतकी मारी चुवाळके उष्ण प्रदेशमें दौड़ती चली जा रही थी। इतनेमें एक तालाब रास्तेमें दिखलायी दिया। वहाँ उसने घोड़ीको पानी पिलानेके लिये खड़ा किया और स्वयं विश्राम करनेके लिये एक पेड़के नीचे बैठ रही। इतनेमें कुतिया थकी-माँदी दौड़ती हुई आ पहुँची और पानी देखकर तालाबमें घुस गयी। जब वह पानीसे बाहर निकली तो कुँवरिको यह देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि वह कुतिया कुत्ता बन गयी थी। उसने अपनी घोड़ीको भी परीक्षाके लिये पानीमें उतारा और जब उसे घोड़ेके रूपमें बदलते देखा तो उसने स्वयं कपड़े उतारकर एक डुबकी उस तालाबमें लगायी और श्रीबहुचरा माताके प्रतापसे तुरन्त पुरुषरूपमें परिणत हो गयी। वही तालाब आजकल मानसरोवरके नामसे प्रसिद्ध है।

चैत्र, आश्विन और आषाढ़ी पूर्णिमाको यहाँ बड़ा भारी मेला लगता है। बहुत दूर-दूरसे लोग श्रीबहुचरा माताजीका दर्शन-पूजन करने आते हैं। चैत्रकी पूर्णिमाके मेलेमें तो एक लाखसे भी अधिक मनुष्योंकी भीड़ होती है। इससे माताजीकी महिमाका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। यहाँ यन्त्रका पूजन होता है, यह यन्त्र पहले स्फटिकका था, पीछे घिस जानेपर उसके ऊपर चाँदीका पत्रा चढ़ाया गया है। माताजीके पास दो अखण्ड दीप जलते रहते हैं। श्रीमाता बहुचराजीका इधर इतना अधिक प्रभाव है कि कोई गाँव ऐसा न होगा जहाँ इस देवीका स्थान न हो। अहमदाबाद शहरमें तो कुक्कुट-वाहिनी बालाजीके बीससे भी अधिक स्थान होंगे। इसके सिवा जंगल और पर्वतशिखरपर भी अनेकों स्थान पाये जाते हैं। गुजरातमें शक्तिकी महिमा और शक्तिपूजाकी प्रधानताका यह भी एक ज्वलन्त प्रमाण है।

काशीमें देवियोंके मन्दिर और उनकी यात्रा

(लेखक—पं० श्रीशालिग्रामजी शर्मा)

जिस प्रकारका घनिष्ठ सम्बन्ध पिण्डाण्डका ब्रह्माण्डसे है, वैसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध काशीका समस्त भारतवर्षसे है। हिन्दूधर्मके जितने तीर्थ हैं, जितने देवता हैं, जितने मत हैं, वे सब-के-सब काशीमें येन केन प्रकारेण अविकलरूपसे उपस्थित हैं। यद्यपि काशी त्रिपुरारि-राजनगरी है तथापि यहाँ सभी देवताओंके मन्दिर हैं और वे सब यथासमय नित्य और नैमित्तिकरूपसे माने और पूजे जाते हैं। अतः इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि यहाँ देवियोंके अनेक प्राचीन और अर्वाचीन मन्दिर हैं। अर्वाचीन मन्दिर हम उन्हें कहते हैं जिनका उल्लेख काशीखण्ड आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें नहीं आया है। इस लघुकाय लेखमें हम प्राचीन मन्दिरोंका ही वर्णन देनेवाले हैं। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि इन अर्वाचीन मन्दिरोंमें भी अनेक मन्दिर बहुत अच्छे और प्रसिद्ध हैं। इनमें दशाश्वमेधकी कालीजी, संकटाघाटपर पीताम्बरा, पञ्चगङ्गाघाटपर गायत्री देवी, महाराजा अमेठीद्वारा स्थापित बालात्रिपुरसुन्दरी, रानी भवानीद्वारा स्थापित तारा देवी आदि विशेष उल्लेखके योग्य हैं।

देवियोंके प्राचीन मन्दिर जितने काशीमें हैं उन सबका यथोचित वर्णन बिना विस्तारके असम्भव है। इसलिये उनमेंसे चुनकर कुछ प्रधान-प्रधानका वर्णन संक्षेपसे हम नीचे देते हैं—

अन्नपूर्णादेवी—यह काशीके सबसे प्रसिद्ध स्थानोंमें है। यही महागौरीके नामसे प्रसिद्ध है। इनका मन्दिर विश्वनाथजीके पास ही है। यों तो इनका दर्शन नित्य ही किया जाता है तथापि नवरात्रमें विशेषकर अष्टमीके दिन इनके दर्शनका विशेष माहात्म्य है। कार्तिक शुक्ल प्रतिपदाके दिन अन्नकूट-महोत्सव भी बड़े समारोहके साथ मनाया जाता है। दर्शकोंकी अपार भीड़ उस दिन एकत्र हो जाती है।

दुर्गादेवी—यह भी बहुत प्रसिद्ध मन्दिर है। यह विश्वविद्यालयके मार्गपर स्थित है। मन्दिरके उत्तर ओर एक विशाल पक्का तालाब है, जो दुर्गाकुण्डके नामसे प्रसिद्ध है। नवरात्रमें, श्रावणमासमें तथा प्रति भौमवारको यहाँ मेला-सा लगा रहता है।

महालक्ष्मी—महालक्ष्मीजीका मन्दिर लकशाके समीप लक्ष्मी-कुण्ड महल्लेमें है। इस महल्लेका नाम यहाँके तालाबके नामसे पड़ा हुआ है। यह तालाब लक्ष्मीजीके मन्दिरके नीचे है। किसी समय यह बहुत ही सुन्दर सरोवर रहा होगा। इस समय भी बुरा नहीं है किन्तु स्वच्छताका अभाव है। भाद्र शुक्ल अष्टमीसे आश्विन कृष्ण अष्टमीतक सोलह दिवस लक्ष्मीजीका मेला होता है, जो सोरहियाके नामसे प्रसिद्ध है। इस अवसरपर बहुत-सी वस्तुओंका विक्रय होता है। मिट्टीके पात्र यहाँके बहुत प्रसिद्ध हैं।

चतुःषष्ठी—यह मन्दिर चौसट्ठी घाटपर है। होलीके दूसरे दिन यहाँ बड़ा मेला होता है, उसको धुरड्डीका मेला कहते हैं। समस्त नगरके लोग उमड़ पड़ते हैं।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक देवियोंके मन्दिर काशीमें विराजमान हैं; जैसे लक्ष्मणबालाघाटपर मङ्गला-गौरी, ललिताघाटपर ललितादेवी; धर्मकूपके समीप विशालाक्षी देवी इत्यादि। अब हम इनको छोड़कर कुछ देवीयात्राओंका वर्णन देते हैं। यहाँकी देवीयात्राओंमें दो यात्राएँ बहुत प्रसिद्ध हैं—

नवगौरीयात्रा तथा नवदुर्गायात्रा

नवगौरीयात्रा—यह यात्रा शुक्ल पक्ष द्वितीयाको प्रतिमास करनी चाहिये। नवगौरियोंके नाम और उनके स्थान नीचे दिये जाते हैं—

नाम—	स्थान—
(१) मुखनिर्मालिकागौरी	गायघाटके ऊपर हनुमान्‌जीके मन्दिरमें हैं।
(२) ज्येष्ठागौरी	कर्णघण्टा महल्लेमें ज्येष्ठेश्वर महादेवके समीप।
(३) सौभाग्यगौरी	विश्वनाथजीके मन्दिरमें।
(४) शृंगारगौरी	विश्वनाथजीके मन्दिरमें।
(५) विशालाक्षीगौरी	मीरघाटपर।
(६) ललितागौरी	ललिताघाटपर।
(७) भवानीगौरी	कालिकागलीमें।
(८) मङ्गलागौरी	लक्ष्मणबालाघाटपर।
(९) महालक्ष्मी	लक्ष्मीकुण्डपर।
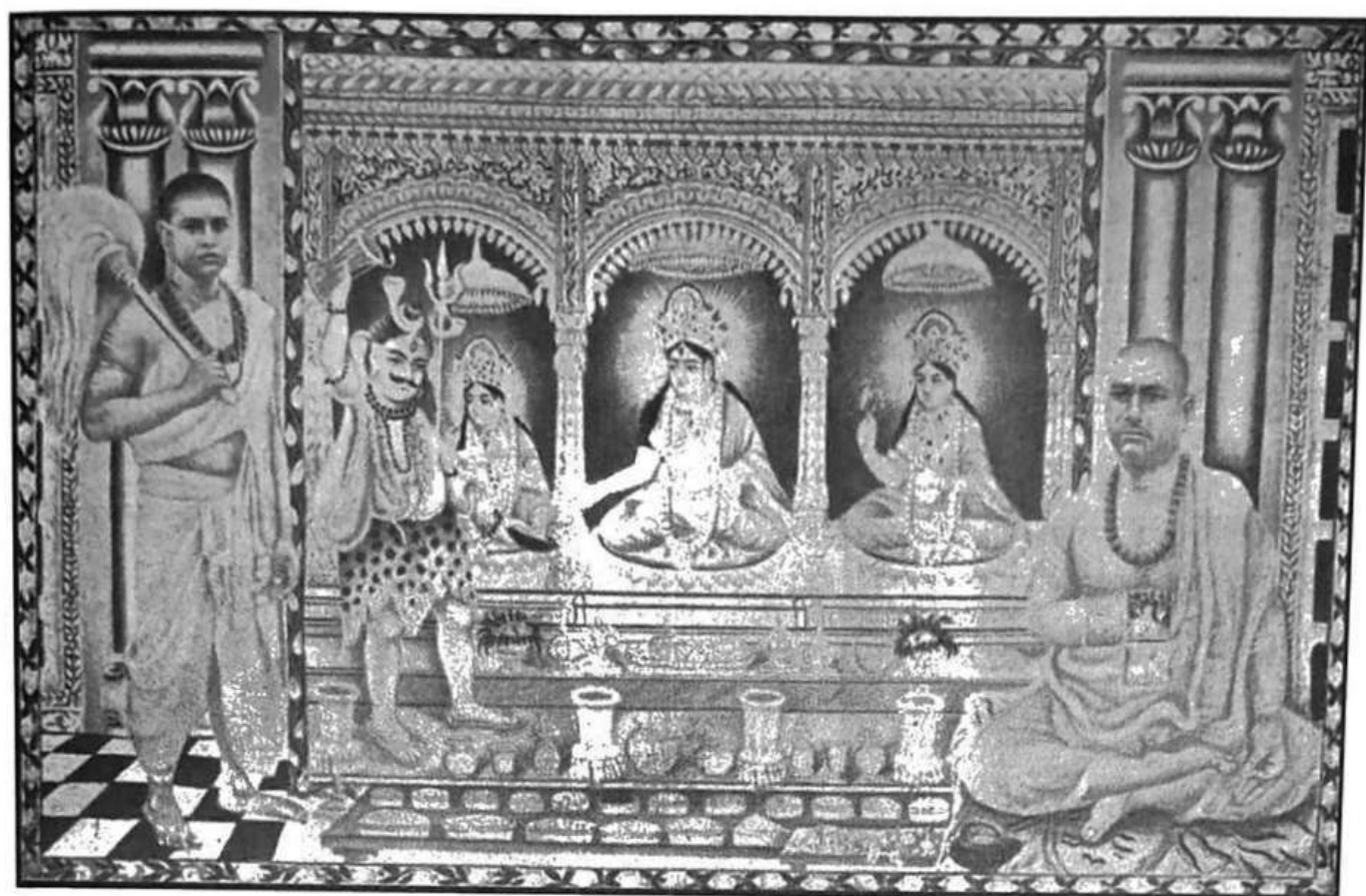
श्रीश्रीअन्नपूर्णाजी

श्रीअन्नपूर्णाजीके मन्दिरमें श्रीलक्ष्मीजी और सरस्वतीजी

काशी
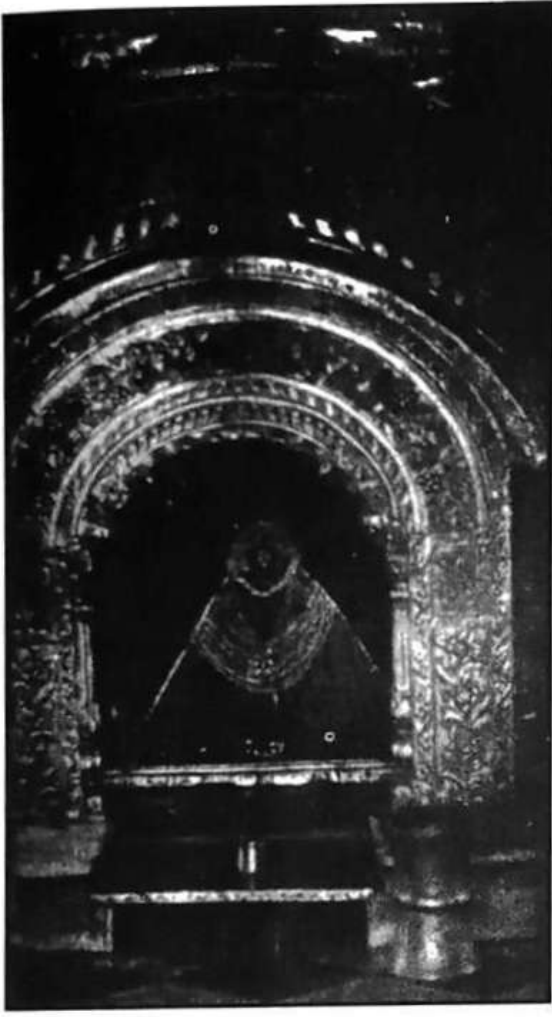
श्रीदुर्गाजी

श्रीराजराजेश्वरीजी—ललिताघाट

श्रीविशालाक्षीजी

श्रीसंकटाजी

नवदुर्गायात्रा—यह यात्रा नवरात्रके नौ दिनोंमें क्रमसे की जाती है। नवों दुर्गाओंके नाम तथा स्थान नीचे दिये जाते हैं—

नाम—	स्थान—
(१) शैलपुत्री	अलईपुर स्टेशनके उत्तर वरणा नदीके तटपर स्थित है।
(२) ब्रह्मचारिणी	दुर्गाघाटपर।
(३) चन्द्रघण्टा	चौकके पूर्व एक गलीमें।
(४) कूष्माण्डदुर्गा	दुर्गाकुण्डपर प्रसिद्ध दुर्गाजी।
(५) स्कन्दमाता	जैतपुराके समीप बाघेश्वरीके नामसे प्रसिद्ध हैं।
(६) कात्यायनी	संकटाघाटके पास आत्मवीरेश्वरके मन्दिरमें।
(७) कालरात्री	कालिकागलीमें।
(८) महागौरी	यही अन्नपूर्णाजीके नामसे प्रसिद्ध हैं।
(९) सिद्धिदात्री	सिद्धमाताकी गलीमें अथवा सिद्धेश्वरीमहालमें।

इसके अतिरिक्त और भी अनेक देवीयात्राएँ काशीमें हैं, किन्तु वे इतनी प्रसिद्ध नहीं हैं।

श्रीकामाख्या महापीठ[1]

(लेखक—पं० श्रीपद्मनाथ भट्टाचार्य विद्याविनोद, एम० ए०)

योनिपीठं कामगिरौ कामाख्या यत्र देवता।
× × × उमानन्दोऽथ भैरवः॥

दक्षयज्ञमें शिवकी निन्दा सुनकर जब सतीने प्राणत्याग कर दिया तब उनके मृत देहको कन्धेपर लेकर महादेव उन्मत्तभावसे नृत्य करने लगे। उस समय नारायणने सुदर्शन-चक्रसे सतीके शरीरको इक्यावन भागोंमें काट-काटकर गिरा दिया, वे अंश इक्यावन जगह गिरे, इसीसे इक्यावन शक्तिपीठोंका उद्भव हुआ। समस्त शक्तिपीठोंमें महादेव भी भैरवरूपसे विराजमान हुए। कामरूपक्षेत्रमें देवीका महामुद्रा गिरा, उसीसे 'कामाख्या' महापीठकी उत्पत्ति हुई। समस्त भारतमें जितने शक्तिस्थान हैं, उनमें कामाख्याधाम ही सर्वश्रेष्ठ है।

दक्षयज्ञकी घटना आदिसत्ययुगमें घटित हुई। पीठकी सृष्टि उस प्राचीन कालमें होनेपर भी मध्ययुगमें प्रायः समस्त पीठ लुप्त हो गये थे। इस घोर कलिकालमें तन्त्रके अवलम्बनके बिना दूसरी गति नहीं है और तन्त्रोक्त साधन-भजन शक्तिपीठमें ही अच्छी तरह हो सकते हैं। इसीलिये कलिमलकलुषित जनोंके प्रति करुणा कर श्रीश्रीभगवतीने अपने पीठोंको अब एक-एक करके प्रकाशित कर दिया, जिससे जीवोंके उद्धारका मार्ग उन्मुक्त हो गया।

कालिकापुराणमें[2] लिखा है कि त्रेतायुगमें वराहपुत्र नरक जब नारायणके द्वारा कामरूपराज्यमें राजपदको प्राप्त हुआ, तब भगवान्ने नरकको यह उपदेश दिया कि 'तुम कामाख्याके प्रति भक्तिभाव बनाये रखना।' जबतक उसने इस उपदेशका पालन किया तबतक वह सुखपूर्वक स्वच्छन्द राज्य करता रहा। पीछे बाणासुरके परामर्शसे नरक देवद्रोही होकर 'असुर' संज्ञाको प्राप्त हो गया। एक कथा है कि नरकने कामाख्या देवीके निकट विवाहका प्रस्ताव किया। देवीने कहा, 'मैं सहमत हूँ, परन्तु आज रातभरमें ही इस धामके मार्ग, घाट, मन्दिर प्रभृति सब बना देने होंगे।' नरकने विश्वकर्माको बुलाकर इन सबके बनानेमें लगा दिया। काम प्रायः समाप्त होनेको ही था कि मुर्गेने रात्रिके अवसानकी सूचना दी, अतएव विवाह नहीं हुआ। आजकल भी कामाख्या पर्वतका नीचेसे लेकर मन्दिरपर्यन्त जो पत्थरका बँधा हुआ रास्ता है, वह नरकासुरके पथके नामसे पुकारा जाता है। परन्तु जिस मन्दिरमें माताकी महामुद्रा विराजमान है, उसे कामदेवका मन्दिर कहते हैं। मन्दिरके सम्बन्धमें नरकासुरका नाम सुननेमें नहीं आता। जो हो, नरकासुरके अत्याचारसे कामाख्याके दर्शनमें बाधा होनेसे महर्षि वसिष्ठने क्रोधित होकर शाप दे दिया, जिसके फलस्वरूप कामाख्यापीठका लोप हो गया।

ईसाकी सातवींसे बारहवीं शताब्दीपर्यन्त कामरूपाधिपति

१—लेखकद्वारा प्रणीत 'प्रबन्धाष्टक' नामक ग्रन्थान्तर्भूत 'कामाख्यामहापीठ' नामक प्रबन्धसे सङ्कलित।

२—कालिकापुराणमें कामाख्या तथा कामरूपक्षेत्रका विस्तृत विवरण है।

राजाओंके दिये हुए ताम्रशासनोंमें कामाख्याका कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु वनमाल और इन्द्रपालके शासनमें 'कामेश्वरमहागौरी' का उल्लेख मिलता है। ये सम्भवतः उन राजाओंके इष्टदेवता (शिवशक्ति) थे[१]। जान पड़ता है कि महापीठके लुप्त होनेपर उसके अधिष्ठातृ देवदेवी इस छद्मनामसे पूजे जाते थे।

ईसाकी सोलहवीं शताब्दीके प्रथमांशमें कामरूप प्रदेशके छोटे-छोटे राज्योंके राजालोगोंमें एकाधिपत्य-प्राप्तिके लिये संग्राम चल रहा था। उसमें कोचराज विश्वसिंह[२] विजयी होकर प्रायः समस्त कामरूपके एकछत्र अधिपतिरूपमें प्रतिष्ठित हुए। किंवदन्ती है कि जब यह युद्ध चल रहा था तब एक दिन अपने साथियोंको कहीं खोकर विश्वसिंह अपने भाईके साथ उनको खोजनेके लिये घूमते-घूमते नीलाचलके शिखरपर पहुँचकर एक वटवृक्षके नीचे विश्रामार्थ बैठ गये। उस जगह उस समय कोई बस्ती नहीं थी! उन्होंने एक वृद्धा स्त्रीको वहाँ देखा और उसकी सहायतासे जल प्राप्तकर अपनी पिपासाको शान्त किया। वटवृक्षके नीचे एक मिट्टीका टीला था। वृद्धाके द्वारा उन्हें ज्ञात हुआ कि वहाँ स्थानीय कोचजातिके लोग पूजा चढ़ाया करते हैं। पूजाका उपकरण स्त्रियोंके योग्य परिधेय वस्त्र, अलङ्कार तथा बलि होता है। वृद्धाने फिर कहा कि वहाँके देवता बड़े ही जाग्रत् हैं, जो जैसा मनोरथ करता है उसका वही मनोरथ सफल होता है। तब विश्वसिंहने भी अपने साथियोंके शीघ्र मिलनेकी कामना की; कामना करते ही वे वहाँ आ पहुँचे। अब विश्वसिंहको स्थानमाहात्म्यमें विश्वास हो गया और उन्होंने यह मनौती की कि 'मेरे राज्यमें कोई उपद्रव नहीं रहेगा तो, मैं यहाँपर देवताके लिये एक सोनेका मन्दिर बनवा दूँगा।'

शीघ्र ही राज्यमें शान्ति स्थापित हो गयी। विश्वसिंहने राज्यके पण्डितोंको बुलाकर उन्हें तथ्यका पता लगानेमें नियुक्त किया। पण्डितोंने निश्चय किया कि वही कामाख्या-पीठ है।[३]

विश्वसिंहने मन्दिर बनानेके लिये वटवृक्षको कटा डाला और उस मिट्टीके टीलेको भी खुदवा दिया। खुदते ही वहाँ कामदेवके बनवाये हुए मूल मन्दिरका निम्नभाग बाहर निकल आया। राजाने उसीके ऊपर नया मन्दिर बनवाया। सोनेके मन्दिरके बदलेमें प्रत्येक ईंटके भीतर एक-एक रत्ती सोना देकर मन्दिर बनवाया गया।

विश्वसिंहकी मृत्युके बाद उनके बनाये मन्दिरको कालापहाड़ने तोड़ दिया था, तब फिर विश्वसिंहके पुत्र प्रसिद्ध नृपति नरनारायणने (नामान्तर मल्लदेव) अपने अनुज शुक्लध्वज (चिलाराय) द्वारा १४८० शकमें (१५६५ ई० में) वर्तमान मन्दिरका पुनः निर्माण कराया।[४]

नरनारायण और उसके छोटे भाई चिलारायकी (युगल) मूर्ति मन्दिरमें एक साथ पीठके सामने खड़ी बनी हुई है। भक्तिमान् राजाने कामाख्याकी सेवा-पूजा भलीभाँति परिचालन करनेके लिये केन्दुकलाई नामक एक साधक ब्राह्मणको नियुक्त किया था। कहते हैं कि जब वह ब्राह्मण घण्टा बजाकर देवीकी सान्ध्य आरती करता तब देवी मूर्तिमती होकर वाद्यके तालपर नृत्य करने लगती। यह समाचार नर-नारायणको मिला। उसने देवीको उसी अवस्थामें दिखानेके लिये पुजारी ब्राह्मणपर जोर दिया। ब्राह्मणने राजाको आरती करते समय मन्दिरकी खिड़कीके छेदसे ताकनेके लिये कहा। सर्वान्तर्यामिनी भगवतीसे यह बात छिपी न रही। अत्यन्त क्रुद्ध होकर देवीने केन्दुकलाईका शिरश्छेद कर दिया तथा राजाको यह शाप दिया कि इस राजवंशका कोई भी पुरुष कामाख्यामें आकर दर्शन करना तो दूर रहा, नीलाचलकी ओर दृष्टिपात भी न कर सकेगा। दृष्टिपात करनेसे ही उसका सिर कट जायगा। आज भी कोचराजवंशीय कोई पुरुष इस अञ्चलमें आकर नीलाचलकी ओर

१—कल्याणके 'शिवाङ्क' में कामरूपके राजाओंके इष्टदेवके सम्बन्धमें यथोचित आलोचना की गयी है। पाठक वहाँ देख सकते हैं।

२—योगिनीतन्त्रमें विश्वसिंहको महादेवके पुत्र नामसे उल्लेख किया गया है। आज भी विश्वसिंहके वंशज कोचविहारके राजा 'शिवगोत्र' के नामसे प्रसिद्ध हैं।

३—इसीके उपलक्ष्यमें उमानन्द भैरव तथा पीठाङ्गीभूत अन्यान्य देवताओंके स्थान भी निर्दिष्ट किये गये।

४—मन्दिरके भीतर एक शिलालेखमें तीन श्लोक हैं। उनमेंसे समयनिर्देशक श्लोक यहाँ उद्धृत किया जाता है—

प्रासादमद्रिदुहितुश्चरणारविन्दभक्त्याकरोत्तदनुजा वरनीलशैले।
श्रीशुक्लदेव इममुल्लसितोपलेन शाके तुरङ्गगजवेदशशाङ्कसंख्ये॥

श्रीयोगमायामन्दिर, दिल्ली

श्रीकालिकामन्दिर, दिल्ली
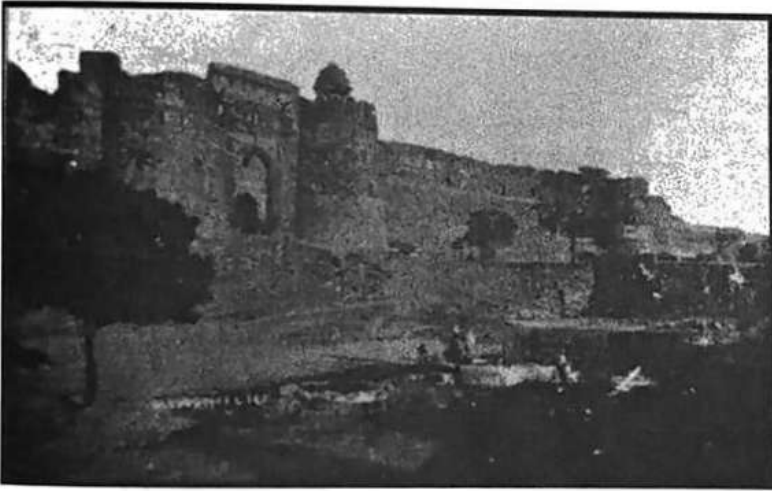
पाण्डवोंका किला
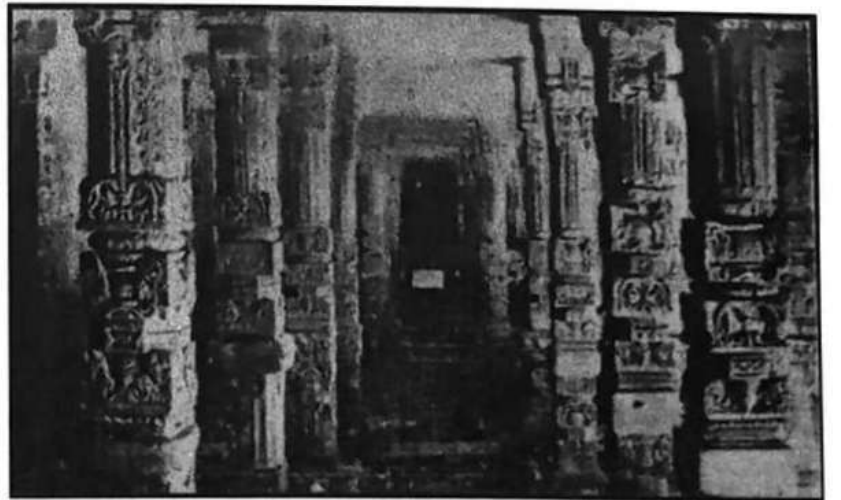
पृथ्वीराजमन्दिर

कल्याण—

(१) तान्त्रिकीदेवी (२) भैरव (३) वानरीदेवी

(४) तान्त्रिक ताम्रयन्त्र (पृष्ठभाग) (५) तान्त्रिक ताम्रयन्त्र (सम्मुख भाग)

दृष्टिपात नहीं करता।

ऐसी अवस्थामें कोचविहारके राजा भी कामाख्या देवीकी सेवा-पूजादिके सम्बन्धमें क्रमशः उदासीन हो गये। एक शताब्दीके पश्चात् कामरूप अञ्चलका यह अंश आहोम राजाओंके अधिकारमें आ गया तथा कुछ समय बाद नदिया शान्तिपुरसे एक शाक्त साधकको बुलाकर राजगुरुके पदपर नियुक्त किया गया। वे ही कामाख्या पहाड़पर अधिष्ठित हुए। इसी कारण वे तथा उनके वंशज 'पर्वतीया गोसाईं' के नामसे पुकारे जाते हैं।

आहोम राजगण—विशेषतः पर्वतीया गोसाईंके द्वारा शक्तिमन्त्रमें प्रथम दीक्षित राजा शिवसिंह—बहुतेरी देवत्र और ब्रह्मत्र भूमि दान कर गये हैं। आजकल जिस प्रकार कामाख्याकी पूजार्चना होती है, वह पर्वतीया गोसाइयोंके द्वारा व्यवस्थित है तथा महापीठके समस्त कार्यक्रमके सम्पादनार्थ जिस प्रकारका बन्दोबस्त प्रचलित है, वह आहोम राजाओंके द्वारा ही चलाया हुआ है।

प्राचीन मूर्ति और यन्त्र

(लेखक—श्रीपूर्णचन्द्रजी नाहर, एम० ए०, बी० एल०)

(१) बानरी देवी

यह पाषाणकी मूर्ति कोई शक्तिदेवीकी मालूम होती है। देवीके चार हाथ हैं, जिनमें त्रिशूल, खड्ग आदि धारण किये हैं और एक हाथमें स्तनके पास सुरापात्र लिये हुए है। देवीका मुख मर्कटकी तरह है और सुखासनमें बैठी हुई है। मर्कटकी तरह एक पशुवाहनपर एक पाँव रखा हुआ है। नीचे कमलकी पँखड़ियाँ बनी हैं। देवी सालङ्कारा है और वस्त्रके चिह्न भी हैं। मस्तकके केश दो गुच्छोंमें नागपाशसे बँधे हुए हैं और गलेमें नरमुण्डकी माला भी धारण किये हुए हैं। मूर्तिके ऊपरी भागमें हाथोंमें पुष्पकी माला लिये हुए दोनों तरफ विद्याधरकी मूर्तियाँ हैं। इसकी लम्बाई साढ़े चौदह इञ्च और चौड़ाई साढ़े आठ इञ्च है।

शक्तिमूर्त्तियोंमें यह मूर्त्ति अपूर्व है और अभीतक ऐसा दूसरा नमूना देखनेमें नहीं आया है। यह मूर्त्ति युक्त-प्रदेशसे उपलब्ध हुई थी।

(२) तान्त्रिक देवी

इस धातुमूर्तिकी विलक्षणता चित्रसे स्पष्ट है। मैंने इस तान्त्रिक देवीको बङ्ग देशमें संग्रह किया था, परन्तु मुझे अद्यावधि इस देवीका परिचय अज्ञात है।

(३) भैरव

यह पाषाणकी भैरवदेवकी विकट मूर्ति मुझे उत्तर बङ्गसे प्राप्त हुई थी। देव जिस आसनमें हैं उसे प्रत्यालीढ आसन कहते हैं और आप कमलदलोंपर खड़े हैं। मूर्तिकी भीषणता सिरसे पैरतक पूर्णरूपसे विद्यमान है। अट्टहास्यके साथ बड़ी-बड़ी निकली हुई आँखें, चौड़ी नासिका, मुण्डमाला धारण किये हुए भैरव, दाहिने पाँवसे एक मुण्डको कुचल रहा है। इसके चार हाथ हैं और यह सालङ्कार और सवस्त्र है। मूर्ति कुछ खण्डित होनेके कारण हाथोंके अस्त्र-शस्त्र स्पष्ट नहीं मालूम होते। मस्तकके ऊपर कई चिह्नोंके अतिरिक्त अग्निज्वाला खुदी हुई है। चरणचौकीमें हाथ जोड़े हुए सेवकोंके अतिरिक्त मध्यमें एक भाजनमें तीन नरमुण्ड हैं और दाहिने तरफ एक मुख और बायीं ओर एक ढेर मालूम होता है। मूर्तिमें एक पङ्क्तिका लेख है जो अस्पष्ट है परन्तु अक्षर ई० दशम शताब्दिके लगभगके ज्ञात होते हैं। इस मूर्तिकी लम्बाई साढ़े पन्द्रह इञ्च और चौड़ाई साढ़े आठ इञ्च है।

(४) तिब्बतका तान्त्रिक ताम्रयन्त्र

मैंने इस कवचको तिब्बतियोंसे लिया था। बौद्धोंकी तान्त्रिक मूर्तियोंमें शक्तिपूजाकी जितनी मूर्तियाँ हैं उनमेंसे यह भी एक अपूर्व नमूना है। यन्त्र ताँबेका बना हुआ है और शरीरमें बाँधनेके लिये इसके दोनों तरफ कड़े हैं। मूर्ति सामनेके भागमें है और पिछले भागमें वज्रयुगलके चिह्नके साथ बीजमन्त्र खुदा हुआ है। इसकी चौड़ाई लगभग साढ़े तीन इञ्च और लम्बाई साढ़े चार इञ्च है।

चित्रसे इस कवचके देव और शक्तिका दृश्य और उनका कृशाङ्ग और पद्मासनमें बैठे हुएका भाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मूर्तिके दाहिने तरफ प्रार्थनायन्त्र या 'चक्र' (Praying wheel) और उसके नीचे 'वज्र' (Tunderbolt) बना हुआ है। बायीं तरफ 'वज्रकटार' (Thunderboltdagger) और उसके नीचे 'घण्टा' (Bell) है। मूर्तिके ऊपरी भागमें अप्सरा और गन्धर्व दुन्दुभि बजा रहे हैं। पृष्ठभागमें वज्रचिह्नके चारों कोनोंमें तिब्बतीय अक्षरोंमें यथाक्रम **'ओं आं हूं ह्रीं'** खुदा हुआ है।

दिल्लीके दो प्रसिद्ध शक्तिपीठ

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम० ए०, आचार्य, शास्त्री)

१—श्रीयोगमायामन्दिर

श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धान्तर्गत द्वितीय अध्यायमें श्रीयोगमायाके चरित्रका उल्लेख है जिसका भाव इस प्रकार है—

मथुरामें देवकीजीके सप्तम गर्भमें जब शेषजी आये तब उनकी रक्षाके विचारसे त्रिजगन्निवास वासुदेव श्रीमन्नारायणने अपने नित्यधाममें भगवती योगमायासे कहा, 'हे देवि! आप मथुरा जाइये और देवकीगर्भगत शेषजीको रोहिणीजीके गर्भमें सुरक्षित कीजिये। मैं देवकीका अष्टम पुत्र बनूँगा और आप नन्दपत्नी यशोदाजीकी पुत्री बनिये।' भगवदाज्ञाको शिरोधार्यकर देवी योगमायाने गर्भसङ्कर्षणरूप, जगत्रयीदुष्कर, अदृष्टश्रुतपूर्व कार्य किया और जिस परम पुनीत निशीथको शेषपर्यङ्कशायी भगवान्ने देवकी-जठरशय्याको त्यागा, उसी रात्रिको उस त्रिभुवनजननीने भी यशोदाजीको अपनी जननी बनाया। धन्य, अज्ञेय और अतर्क्य है भगवल्लीला अघटनघटनापटीयसी भक्त-कल्याणकारिणी! वही एक परमात्मा भक्तानुग्रहार्थ भाई-बहिनके प्राकृत रूपमें संसारमें दृग्गोचर हुआ।

इन्हीं योगमायाने कंसको अष्टभुजरूपसे दर्शन दिया था।

दिव्यस्त्रगम्बरालेपरत्नाभरणभूषिता ।
धनुःशूलेषुचर्मासिशङ्खचक्रगदाधरा ॥
सिद्धचारणगन्धर्वैरप्सरःकिन्नरोरगैः ।
उपाहृतोरुबलिभिः स्तूयमानेदमब्रवीत् ॥

और तदनन्तर वे, मार्कण्डेयपुराणानुसार, दैत्यदलके दर्पको चूर्ण करनेके लिये विन्ध्याचलको चली गयीं। यथा—

नन्दगोपगृहे जाता यशोदागर्भसम्भवा।
ततस्तौ नाशयिष्यामि विन्ध्याचलनिवासिनी॥

अबसे पाँच सहस्र वर्ष पूर्व देवी योगमायाका इस प्रकार गोकुलमें अवतार हुआ था। सर्वप्रथम इनकी अर्चनाका आयोजन महाभारतकथाके प्रसिद्ध नायक महाराज युधिष्ठिरने किया था। युधिष्ठिरस्थापित देवविग्रह अब भी विराजमान है किन्तु न जाने अबतक कितने भक्त धनाढ्योंने मन्दिर-मूर्तिका जीर्णोद्धार किया है। आधुनिक देवीभवनका निर्माण लाला सेदमलजीद्वारा सन् १८२७ में हुआ था और अब भी भक्तजनताका विचार मन्दिरसौन्दर्यकी वृद्धिकी ओर है। यह देवीप्रासाद दिल्लीके प्रसिद्ध लौहस्तम्भसे लगभग २६० गजके अन्तरपर विराजमान है। पूजाकृत्य-निर्वाहार्थ मन्दिरके समीप ही एक गम्भीर सुस्वादुतोय कूप है तथा आगन्तुक दर्शकोंके विश्रामके लिये इतस्ततः अनेकों कमरे भी बने हुए हैं। मन्दिरकी ऊँचाई बयालीस फीट है।

भवनकी प्राचीनताका प्रबल प्रमाण है यहाँकी लिङ्ग-पूजा। निराकार प्रतीकद्वारा ही यहाँ देवीकी वन्दना और स्तुति-सपर्या सम्पन्न होती है। इसी प्रतीकको सुन्दर वस्त्रालङ्कारोंसे सुशोभित करते हैं तथा इसीके ऊपर घण्टाच्छत्रव्यजन-निधानका सम्प्रति विधान है। प्रासादद्वार-देशपर प्रस्तरनिर्मित सिंहयुगल स्थित हैं। अर्चा-चर्चा सत्त्वगुणमयी सामग्रीसे ही होती है। मांस-मदिराका मन्दिरमें प्रवेश नहीं है।

कुछ ही वर्ष पूर्व मन्दिरद्वारपर निम्नांकित पद्यार्ध लिखा गया है—

'योगमाये महालक्ष्मि नारायणि नमोऽस्तु ते॥'

२—श्रीकालिकामन्दिर

परम प्राचीन कालमें एक बार दैत्योंसे पराजित देवताओंने जगन्मातासे सहायताके लिये प्रार्थना की। भक्तिवश वे माता पार्वतीजीके शरीरकोशसे प्रकट हुईं और उन्होंने दृप्त दैत्ययूथके रणगर्वको खर्व करनेके लिये अपने ललाटसे एक अद्भुत परन्तु परम भयावह रूप प्रकट किया, जिसका नाम आगे चलकर काली (कालिका) हुआ।

श्रीकृष्णभगवान्ने महाभारतके प्रसिद्ध युद्धसे पूर्व अर्जुनसे इन्हीं रणचण्डी कालीकी आराधना करनेके लिये कहा था। अर्जुनकी भक्तिमयी प्रार्थनासे वे प्रकट हुई थीं और अपने भक्तको विजयका शुभाशीर्वाद देकर अन्तर्हित हो गयीं।

जनश्रुति ऐसी है कि दिल्लीसे छः या सात मीलके अन्तरपर जो कालिकामन्दिर अवस्थित है वह पाण्डवोंका बनवाया हुआ है। रणक्षेत्रमें दुर्दान्त शत्रुओंपर विजय दिलानेवाली जगदम्बिका कालिकाकी पूजाके लिये अवश्य सिंहासनलाभानन्तर पाण्डुनन्दनोंने यह मन्दिर बनवाया होगा, जिसका जीर्णोद्धार समय-समयपर होता रहा। इदानीन्तन भवन १७६४ में बनाया गया था। मन्दिरमें देवीकी साकार, वस्त्राभरणभूषिता प्रतिमा है जिनकी अभ्यर्थनाके उपलक्ष्यमें अहर्निश अखण्ड दीपज्योतिका आयोजन है। द्वारपर दो व्याघ्र अवस्थित हैं।

प्रति मङ्गलवार यहाँ मेला लगता है, जिसमें दिल्लीकी तथा आस-पासकी जनता उपस्थित होकर देवीगुणग्रामके गानसे भक्तिमन्दाकिनीमें अवगाहन करती है।

श्रीओसम मातृमाता

महाभारतके युगका पुराना यह स्थान काठियावाड़में गोण्डल स्टेटके महालगाम पाटणवालके समीप ओसम नामके पहाड़पर विद्यमान है। इस प्रभावशाली स्थानको सारे बम्बई इलाकेमें शायद ही कोई आदमी न जानता हो। महाभारतकालमें इस पहाड़के आस-पास बारह-बारह कोसतक बड़ा सघन वन था। उसे हिडम्ब वनके नामसे पुकारते थे।

इस पहाड़पर हिडम्ब नामक राक्षस अपनी बहिन हिडम्बाके साथ रहता था। उसके निवासस्थानके समीप एक गुफामें देवीजीका स्थान था। इन्हीं देवीकी कृपासे यहींपर भीमसेनने हिडम्बको मारकर प्रतिज्ञानुसार उसकी बहिन हिडम्बासे विवाह किया था, जिससे प्रसिद्ध घटोत्कचका जन्म हुआ था।

इस पहाड़का पूर्वभाग हेडम्बा-टोंक नामसे प्रसिद्ध है। जिस गुफामें देवी प्रतिष्ठित थीं, वहाँ अबसे ढाई सौ वर्ष पूर्व मन्दिरनिर्माणका शिलालेख मन्दिरमें दिखलायी देता है। उस गुफामें छत्तीस वर्गफीटका एक गढ़ा है। उसका पानी कभी सूखता नहीं है, ऐसा पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे पुजारियोंका अनुभव चला आता है।

कालक्रमसे इस पहाड़के किनारेका कुछ भाग टूट गया है। परन्तु हेडम्बाटोंक तथा भैरवटोंक नामक शिखर अभीतक वैसे ही खड़े हैं।

इस पहाड़की ऊँचाई आठ सौ पचास फीट है और घेरा छः मील है। यात्रियोंके पर्वतके ऊपर जानेकी सुविधाके लिये स्टेटकी ओरसे पत्थरकी सीढ़ियाँ बनवा दी गयी हैं और गोण्डलके वर्तमान महाराज श्रीभगवतसिंहजी बहादुरने यात्रियोंकी विशेष सुविधाके लिये पहाड़की तलेटीसे श्रीओसम मातृमाताके स्थानतक पक्की सड़क बनवानेका भी विचार किया है।

यहाँका जलवायु स्वास्थ्यप्रद है। क्षयरोग तथा संग्रहणीके लिये बहुत ही लाभदायक स्थान होनेके कारण पर्वतके ऊपर एक सैनिटोरियम बनानेका भी निश्चय हुआ है।

यहाँके प्रायः सभी हिन्दुओंकी इष्टदेवता, कुलदेवी श्रीओसम मातृमाता हैं। आस-पासके समस्त हिन्दू भाई श्रीमाताजीका पूजन करते हैं तथा मनौती करके अपनी मनोकामना पूरी करते हैं। प्रतिवर्ष ब्राह्मण और क्षत्रिय-जातिके लोग श्रावण अमावस्याके दिन पर्वतके ऊपर इकट्ठे होते हैं और जिलावार बनी हुई विभिन्न सात धर्मशालाओंमें तीन दिनतक निवासकर श्रावण शुक्ल द्वितीयाके दिन श्रीमातृमाताके पास यज्ञ करके जाते हैं।

इस स्थानकी आबादी तथा सेवा-पूजाके लिये गोण्डल स्टेटकी ओरसे दो सौ पचीस एकड़ जमीन श्रीजगदम्बार्पण की हुई है तथा श्रीमहाराजकी ओरसे घीकी अखण्ड ज्योति श्रीमाताजीके सम्मुख दिन-रात जलती रहती है।

श्रीआरासुरी माता

(लेखक—श्रीहेमचन्द्र शर्मा भट्ट, वैद्य)

गुजरातमें श्रीआरासुरी अम्बाजीका प्रसिद्ध स्थान है। आश्चर्यकी बात है कि उन्हीं अम्बाजीकी मूर्ति सूरत (सूर्यपुर)-में भी विराजमान है। ऐसा दृश्य अन्य किसी भी स्थानमें नहीं है। यह मूर्ति नहीं है परन्तु देवीजीका यन्त्र है, जिसपर कपड़े पहनाये गये हैं। अनेकों दर्शनार्थी नर-नारी आते हैं और देवीजीकी भक्ति करके अपनी मनोकामना पूर्ण करते हैं। यह देवीजीका स्थान सूरतके सैयदपुरा बोरडी शेरीमें है।

औदीच्य सहस्त्रब्राह्मण जातिके श्रीहरिशंकर मौक्तिक-राम नामक एक सज्जन यहाँ रहते थे, उनकी धर्मपत्नीका नाम रेवागौरी था। देवीभक्त ज्येष्ठारामजी (जेठालाल) इसी दम्पतिके पुत्ररत्न हैं। ये पूर्व संस्कारवश जन्मसे ही देवीभक्त थे। ज्येष्ठारामजीके पिता श्रीहरिशंकर अत्यन्त सरल प्रकृतिके सदाचारी एवं आरासुरमें विराजित श्रीअम्बाजीके एकनिष्ठ उपासक थे। देवी प्रत्यक्ष होकर इनसे पूजा ग्रहण करती थीं।

माता-पिता ही बालकोंके प्रथम गुरु होते हैं, उन्हींकी बातोंका अनुकरण बालक किया करता है। ज्येष्ठारामजीके माता-पिता देवीभक्त थे, वे निरन्तर देवीके नाम और गुणोंका गान किया करते थे। ज्येष्ठारामजी भी उनसे देवीके नामगुण सुन-सुनकर तथा उनके द्वारा किये जानेवाले यजन देखकर वही सीखने लगे।

श्रीअम्बाका यन्त्र, अम्बाका नाम, अम्बाका जय-जयकार और अम्बाके आरासुरस्थानके मनन, श्रवण और निदिध्यासनसे ज्येष्ठारामजी अम्बामय हो गये हैं। इनकी दृढ़ श्रद्धा है कि अम्बायन्त्र चैतन्य है और वही सच्ची ज्योति-स्वरूप जगज्जननी आद्याशक्ति हैं। ये ही यहाँ देवीजीके प्रधान उपासक हैं।

दर्शन करनेपर मुझसे पण्डितजीने कहा 'अम्बा! अम्बा!! कहो, त्रिकाल इन्हींका यजन करो'। इसके साथका छायाचित्र इन्हींके यजनस्थानका है।

आरासुरके गौरवमें जो देवीका दृश्य होता है वह मैंने इस स्थानपर देखा। वहाँ बहुत दुःखी मनुष्य दर्शनके लिये आते हैं, थोड़ेमें ही मनुष्योंका मनोरथ भी पूर्ण होता है। मैंने भी उनका चमत्कार देखा है।

शक्तिसञ्चयसे महाशक्तिपूजा

संयम, सात्त्विक आहार, नियमित परिश्रम, अहिंसा, मातृपितृगुरुसेवा, दीनसेवा, पवित्रता और ब्रह्मचर्य आदिके द्वारा शरीरको स्वस्थ रखो और उसमें शुद्ध शक्ति सञ्चय करो।

संयम, सात्त्विक आहार, अहिंसा, पवित्रता और ब्रह्मचर्यके साथ ही विवेक, वैराग्य, कामनादमन, सौम्यभाव, सर्वत्र भगवत्-दृष्टि, दया, मैत्री, उपेक्षा, प्रसन्नता, निरपेक्षता, परहितव्रत, निरभिमानिता, निर्भीकता, सन्तोष, सरलता, मृदुता और भगवच्चिन्तन आदिके द्वारा मनको शुद्ध करो और उसमें शुद्ध शक्ति सञ्चय करो।

सत्य, सुखकर, हितकर, प्रिय, परोपकारमय और भगवन्नामगुण और यश गान करनेवाले वचनोंद्वारा वाणीको शुद्ध करो और वाक्‌में शुद्ध शक्ति सञ्चय करो।

जब तुम्हारे शरीर, मन और वाणी शुद्ध होकर तीनों शक्तिके भाण्डार बन जायँगे तभी तुम वास्तवमें स्वतन्त्र होकर महाशक्तिकी सच्ची उपासना कर सकोगे और तभी तुम्हारा जन्म-जीवन सफल होगा। याद रखो, जिस पवित्रात्मा पुरुषके शरीर, इन्द्रियाँ और मन अपने वशमें हैं और शुद्ध हो चुके हैं, वही स्वतन्त्र है। परन्तु जो किसी भी नियमके अधीन न रहकर शरीर, इन्द्रियों और मनका गुलाम बना हुआ मनमानी करना चाहता है, कर सकता है, या करता है, वह तो उच्छृङ्खल है। उच्छृङ्खलतासे तीनोंकी शक्तियोंका नाश होता है और वह फिर महाशक्तिकी उपासना नहीं कर सकता। महाशक्तिकी उपासनाके बिना मनुष्यका जन्म-जीवन व्यर्थ है और पशुसे भी गया-बीता है। अतएव शक्ति-सञ्चय करके स्वतन्त्र बनो। 'शिव'

श्रीवरदायिनी

(लेखक—श्रीनटवरलाल मणिशंकर द्विवेदी)

जगत्के सार्वभौम सृष्टिविज्ञानका दीर्घ दृष्टिसे विचार करनेपर आधाराधेय सम्बन्धसे सम्बद्ध यह समस्त विश्व एक ही तन्तुसे बद्ध दीखता है, जिसे वेदकालसे आजतक समस्त वेदवेत्ता महापुरुष और तत्त्ववेत्ता योगीश्वर अनन्त नामोंसे सम्बोधन करते हैं—वह हैं 'त्रैलोक्यनाथो हरि।' भारतवर्षके अतिरिक्त अन्य देशोंमें भी पृथक्-पृथक् नामसे समस्त जीव उसी एक तत्त्वको सम्बोधित करते हैं, जो इस विश्वका आधाररूप है। वस्तु एक होते हुए भी देशभेदसे, स्वभावभेदसे और प्रकृतिभेदसे वह विभिन्न रूपोंमें पूजी जाती है, स्मरण की जाती है और सेवित होती है। इस अद्भुत वस्तुकी अनन्तताको वेद भी 'नेति-नेति' शब्दोंसे सूचित करता है। इस समस्त जगत्के स्वामी (आधारस्वरूप)-को पुरुष कहें या ईश्वर; शिव कहें या जीव; विष्णु कहें या ब्रह्म अथवा जिस किसी नामसे भी चाहें पुकारें—वह विश्वाधार प्रभु एक ही है। आधारस्वरूप प्रभुसे आधेयरूपमें रहनेवाला यह विश्व प्रकृतिरूपमें परिगणित होता है। उसी प्रकृतितत्त्वमें महालक्ष्मी, महाकाली, महासरस्वती, दुर्गा आदि विभिन्न नामोंसे सम्बोधित महामायाका समावेश होता है। क्योंकि—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

—इत्यादि चर्मचक्षुओंसे दृष्ट समस्त वस्तुएँ वही है, वही विश्व है, वही प्रकृति है, वही जगदम्बा है, वही माया है, वही जगनर्तकी है, वही वरदायिनी है और वही विश्वमोहिनी महामाया है। यह महामाया—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

—के अनुसार दुरत्यय होनेपर भी भोगापवर्गदायिनी भगवती, और गुणमयी होनेपर भी गुणातीता जगज्जननी है। इस दशपथगामिनी विश्वविलासिनी भगवतीके भारतवर्षमें असंख्य पीठ हैं। इन पीठोंमें भगवतीके अद्‌भुत ऐश्वर्य अब भी दृष्टिगोचर होते हैं। उनमेंसे एक स्थलका वर्णन यहाँ किया जाता है।

बड़ौदाराज्यके कलोल तालुकामें रुपाल नामका एक गाँव है। इस गाँवसे थोड़ी ही दूर दक्षिणमें 'श्रीवरदायिनी' नामक भगवतीका एक रमणीय स्थान है। उस देवालयमें सफेद पत्थरकी भगवतीकी एक चतुर्भुजी प्रतिमा है। उसके दर्शनके लिये प्रतिदिन बड़ी संख्यामें लोग आते हैं। यहाँ प्रतिवर्ष एक बड़ा उत्सव होता है। साथ ही एक भारी मेला भी लगता है। इस मेलेमें देशदेशान्तरसे हजारों यात्री आते हैं। यह स्थान अत्यन्त प्राचीन और दर्शनीय है। पीठाधीश्वरी भगवती वरदायिनीकी उत्पत्ति और चरित्रका वर्णन एक प्राचीन हस्तलिखित 'श्रीवरदायिनी-माहात्म्य' नामक ग्रन्थसे यहाँ लिखा जाता है।

पूर्वकालमें श्रीविष्णुभगवान्की काँखसे एक दुर्मद नामका असुर प्रकट हुआ। आसुरी स्वभावके कारण चित्शक्तिको भूलकर और विश्वमें मेरे समान और कोई नहीं है, ऐसा समझकर वह देवताओंको अत्यन्त पीड़ा देने लगा। उस समय ब्रह्मादि देवगण एकत्र होकर श्रीविष्णुभगवान्के पास गये। उनसे श्रीविष्णुभगवान्ने कहा कि मेरे मदसे मस्त हुआ यह दैत्य श्रीभगवती महामायाके अतिरिक्त और किसीके द्वारा विजित नहीं हो सकता। इसलिये मैं जो मन्त्र बतलाता हूँ, उसे स्मरण करो। मन्त्रस्मरणके प्रभावसे भगवती अवश्य ही प्रकट होंगी और तुम्हारे समस्त संकटोंको दूर करेंगी। ऐसा कहकर उन्होंने नीचे लिखा मन्त्र प्रदान किया—

'ॐ ह्रीं क्लीं श्रीं भगवतीवरदायिन्यै नमः।'

इस मन्त्रको ग्रहणकर ब्रह्मादि देवगण भगवतीके मन्त्रका जप तथा स्तुति करने लगे। आर्त्तभावसे की हुई स्तुतिके प्रभावसे श्रीभगवती प्रकट हुईं। देवताओंको वरदान देनेके लिये तत्पर हुई देवीको देखकर श्रीविष्णु-भगवान्ने उन्हें 'वरदायिनी' नाम प्रदान किया। प्रसन्न हुई भगवतीने देवताओंको आश्वासन देते हुए यह वरदान दिया कि, 'मैं अवश्य ही दुर्मद दैत्यको मारूँगी।' ऐसा कहकर अपने शरीरसे समस्त शक्तिको प्रकटकर अर्बुदारण्यके दक्षिण दण्ढाव्य क्षेत्रमें भगवतीने इस दैत्यका विध्वंस कर विश्राम किया। इस स्थानमें देवताओंने श्रीभगवती वरदायिनीकी स्थापना की। उपर्युक्त ग्रन्थमें इस चरित्रको आद्यचरित्रके नामसे वर्णन किया गया है।

त्रेतायुगमें भगवान् श्रीरामचन्द्र मर्यादापुरुषोत्तम-स्वरूपमें राजा दशरथके गृहमें कौसल्याके उदरको निमित्त बनाकर

अपनी शक्तिसे प्रकट हुए। दानवकुलका संहार करनेके लिये कैकेयी माताको निमित्त बनाकर भगवान् रामचन्द्रजी सीता तथा लक्ष्मणके साथ चौदह वर्षके लिये वनवास गये और वनमें घूमते-घूमते दण्ढाव्य क्षेत्रमें अर्वुदारण्यके दक्षिण आ पहुँचे, जहाँ शृङ्गी ऋषिका आश्रम था। वहाँ ऋषिको प्रणाम करनेके पश्चात् ऋषिके द्वारा ही उन्हें ज्ञात हुआ कि वहीं श्रीवरदायिनी भगवतीका अति उत्तम स्थान है, जिसके आश्रयसे अतुलित सामर्थ्यकी प्राप्ति होती है, इसलिये वहाँ जाकर देवीके दर्शनसे कृतार्थ होना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्र और शृङ्गी ऋषि दोनों भगवतीके स्थानपर गये। वहाँ भगवान्ने अत्यन्त आर्त्त और विनीतभावसे जगदम्बाकी स्तुति की। इस स्तुतिके प्रभावसे भगवतीने प्रसन्न होकर एक अजेय बाण प्रदान करके कहा कि इससे यदि कोई देवीभक्त होगा तो भी उसका अवश्य ही ध्वंस हो जायगा। इस देव्यास्त्रको ग्रहणकर श्रीभगवान् लङ्का पहुँचे और सीताहरणके कारण राक्षसाधम रावणको इस बाणसे नष्ट कर दिया तथा सीताको लेकर अयोध्या लौट आये। इस चरित्रको उपर्युक्त ग्रन्थमें त्रेताचरित्रके नामसे वर्णन किया गया है।

द्वापरयुगमें पाण्डवोंने वनवासके समय गुप्तवासके लिये इस स्थानमें आकर भगवतीसे इस प्रकार प्रार्थना की थी—'हे देवि! यदि हमारा गुप्तवास निर्विघ्न पूर्ण हो जायगा तो हम सोनेकी पञ्चबली (पल्ली) बनावेंगे और उसके ऊपर घीका होम करेंगे।' इस प्रार्थनासे प्रसन्न होकर देवीने प्रत्येकको गुप्तनिवासके लिये वस्त्र प्रदान किया तथा भीमको एक अजेय हार देकर कहा कि 'जिस योद्धाके साथ इस हारको पहनकर तुम मल्लयुद्ध करोगे उसका पराजय होगा।' इसके उपरान्त देवीने अर्जुनको बृहन्नला बननेके लिये अपना वस्त्र प्रदान किया। तत्पश्चात् भगवतीका स्तवन करते हुए वे एक वर्ष आनन्दसे बिताकर प्रकट हुए तथा हस्तिनापुर जानेके पहले भगवतीको स्वर्णकी पञ्चबली बनाकर उसके ऊपर घीका हवन किया एवं उस स्थानमें भगवतीका एक बड़ा मन्दिर बनवाकर उसमें एक सुन्दर चतुर्भुजी मूर्तिका स्थापन किया। इस प्रकार उपर्युक्त ग्रन्थमें वर्णन आता है। इस चरित्रका नाम वहाँ द्वापरचरित्र लिखा हुआ है। पञ्चबलीका विधान तो अबतक कायम है।

इसके सिवा इस कलियुगमें पाटणनरेश राजा सिद्धराज जयसिंहकी बाल्यावस्थामें उनके पिता करणसिंहका देहान्त हो गया और उनकी माता मीणलदेवी देशाटन करनेके लिये निकलीं। उन्हें रास्तेमें यह समाचार मिला कि धारा नगरीका राजा यशोवर्मा पाटणमें आकर खण्डणी ले गया है। यह सुनकर बालक सिद्धराज क्रोधित हो उठा और बोला कि, 'जब मैं यशोवर्माको मारूँगा तभी अन्न ग्रहण करूँगा।' यह प्रतिज्ञा करके वह चला और तीसरे दिन उसने भगवतीके स्थानके समीप सेनासमेत आ डेरा डाला। रातको जब सेना सोयी हुई थी उस समय एक अद्भुत घटना घटी। भगवतीके स्थानमें एक रत्नजटित तेजोमय रथ आया और मन्दिरमें प्रविष्ट हुआ। उस समय बालक सिद्धराज जगा हुआ था। उसने भी रथके पीछे-पीछे मन्दिरमें प्रवेश किया और भगवतीको प्रत्यक्ष सामने देख नम्रतापूर्वक उसने भगवतीसे प्रार्थना की—'हे जगदम्बिके! मेरा आज उपवासका तीसरा दिन है।' यह सुनकर देवीने कहा कि, 'हे बालक राजा सिद्धराज! तुम कल सबेरे गोबरका किला बनाओ और उसमें यशोवर्मा राजाकी प्रतिमा भी गोबरकी ही बनाओ तथा उसे वध करके किलेका नाश करके भोजन करो, इससे तुम्हारी प्रतिज्ञा पूर्ण होगी। फिर तुम अवश्य यशोवर्माका नाश करोगे।' ऐसा वरदान देकर देवी अन्तर्धान हो गयी। प्रात:काल राजाने उपर्युक्त तैयारी करके यशोवर्माके पुतलेका शिरच्छेद कर डाला। तत्पश्चात् भोजन किया और उसके बाद दूसरे ही दिन धारा नगरमें आकर यशोवर्माको परास्त किया और उसके बाद इस स्थानमें आकर नवरात्रिका व्रत किया। नवमीके दिन रातके बारह बजे पञ्चबली बनाकर उसपर पर्याप्त घीका होम किया। तथा पाण्डवोंके समयका सुन्दर मन्दिर जो जीर्ण हो गया था उसका उद्धार किया। वही मन्दिर आज भी वर्तमान है, ऐसा सुना जाता है। यह स्थान बहुत ही प्राचीन और उत्तम है। बहुतेरे अधिकारी, विद्वान् और धनी गृहस्थ यहाँ आते हैं तथा इस स्थानका दृश्य देखकर आनन्दित होते हैं। सं० १९३० में इस मन्दिरका मरम्मत रूपालगाँवकी ओरसे हुआ है। प्रत्येक वर्ष आश्विन शुक्ल प्रतिपदासे नवमीतक यहाँ भारी मेला लगता है। जगदम्बाका अद्भुत प्रभाव मेलेके समय देखा जाता है।
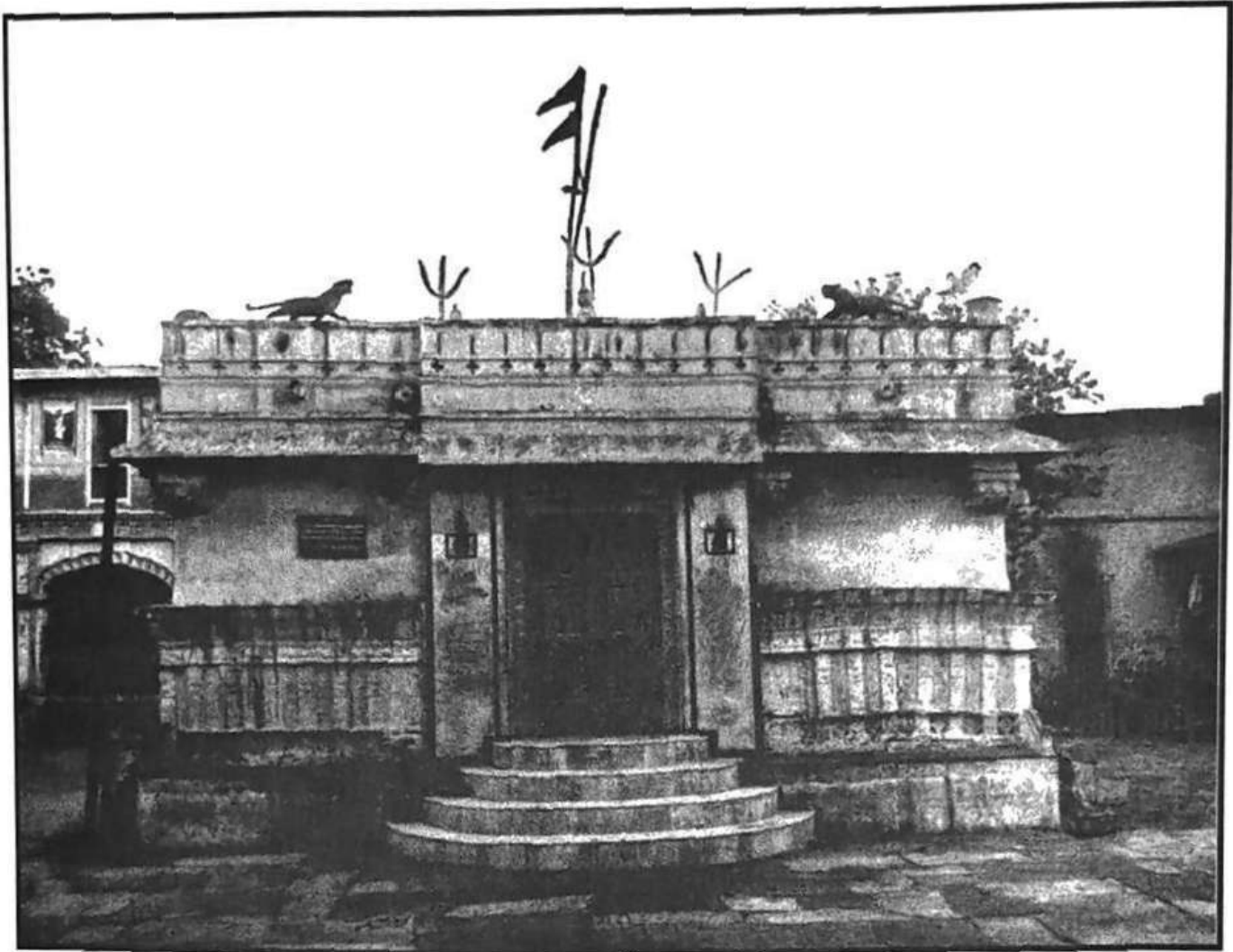
श्रीअम्बाजी माताजीका मुख्य मन्दिर—खेडब्रह्मा

श्रीओसम मातृमाता

आरासुरी अम्बाजी—सूरत
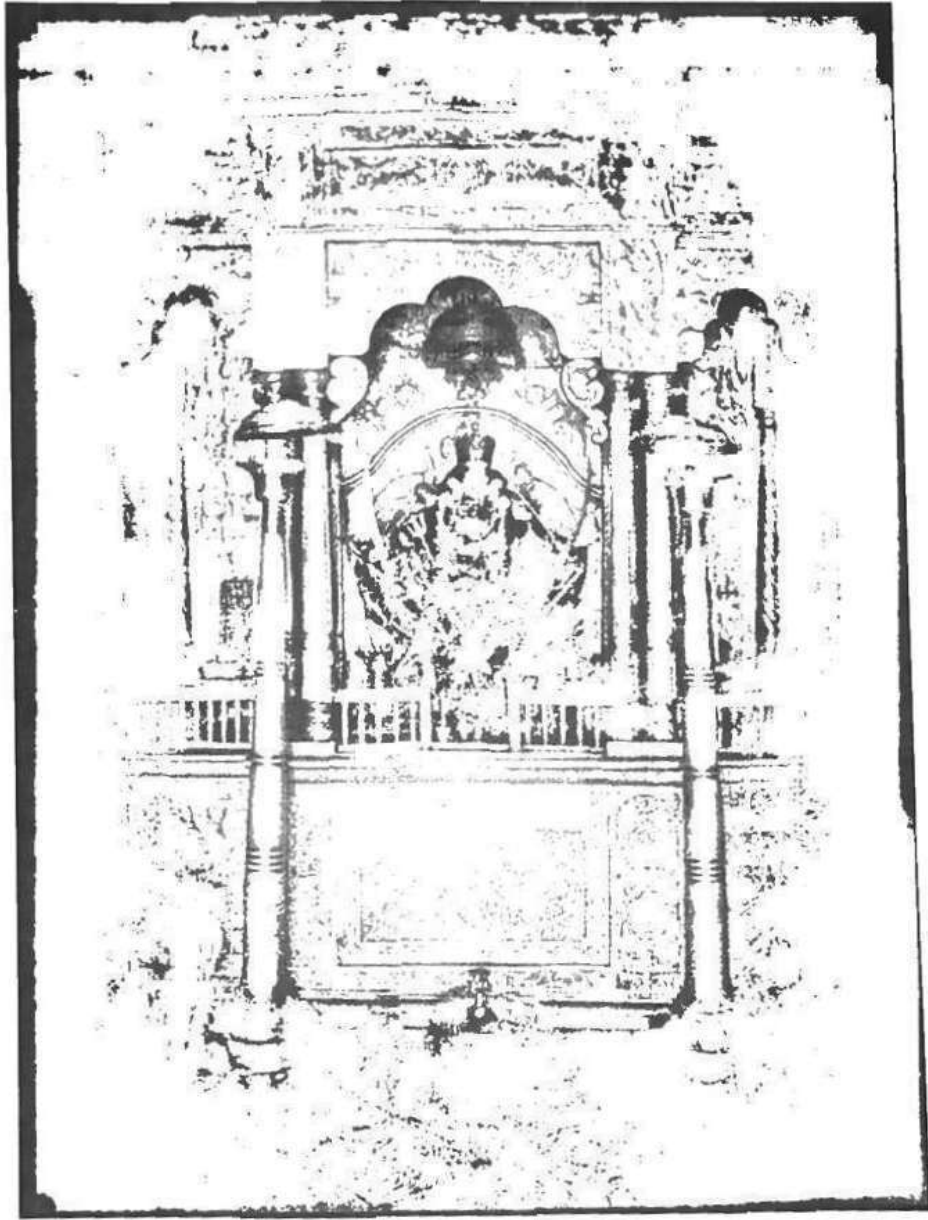
श्रीअम्बाजी माताजी—खेडब्रह्मा

श्रीमहिषासुरमर्दिनी और श्रीब्रह्माणीजी—खेडब्रह्मा

श्रीवरदायिनीजी—रूपाल
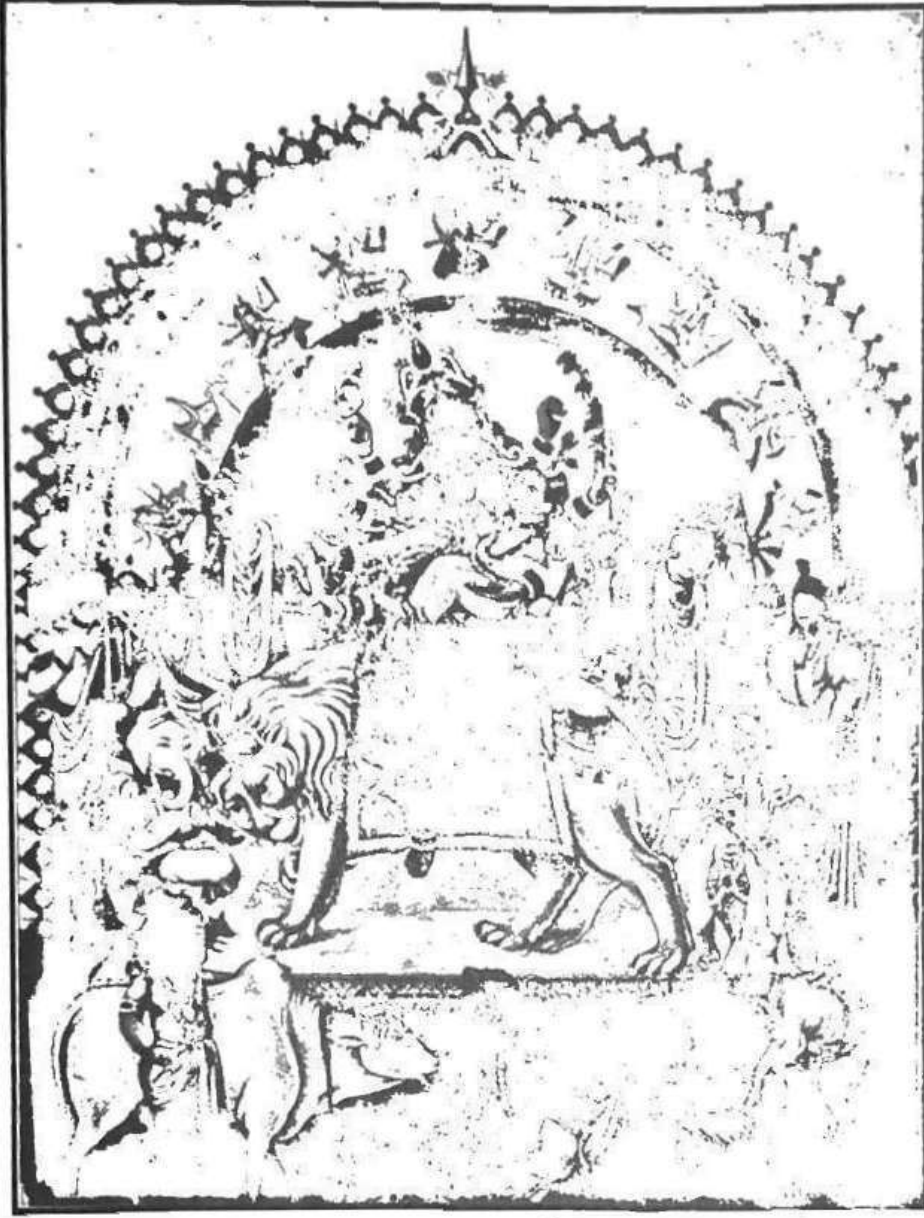
दसभुजा दुर्गा

श्रीगणेशजननी

श्रीकृष्णकाली
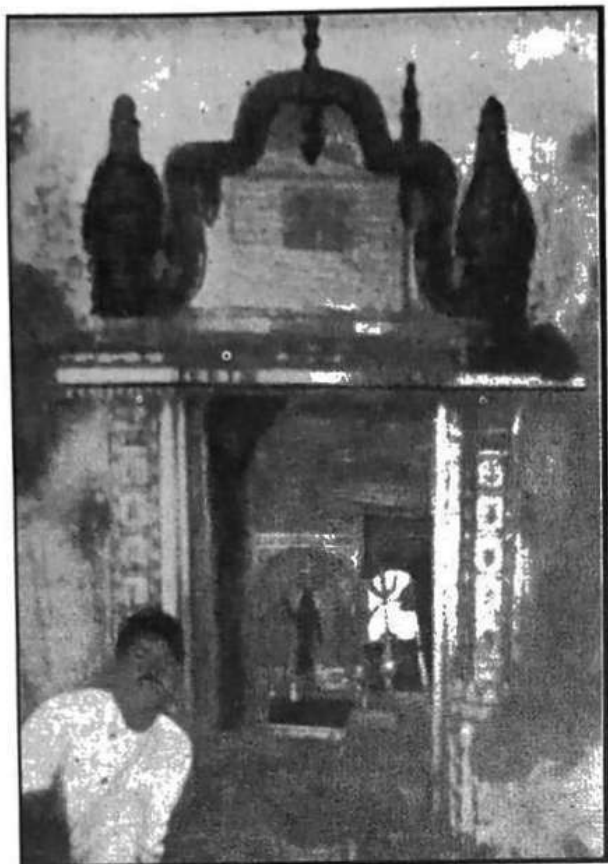
श्रीकरणीजीका मन्दिर

श्रीनेड़ीजीका मन्दिर
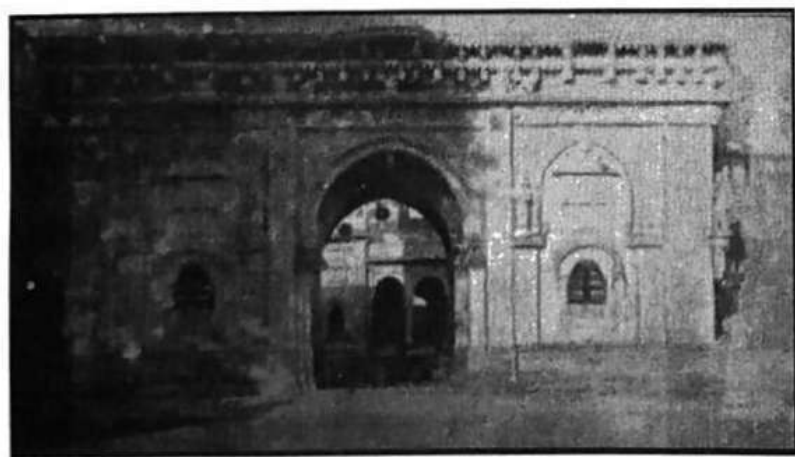
श्रीकरणीजीके मन्दिरका अग्रभाग

श्रीदधिमथी देवी

जगदम्बा श्रीकरणी देवी

[माताजी श्रीकरणीजीके सम्बन्धमें कई लेख आये हैं जिनमें मास्टर छगनलालजी, पं० भूरीदत्तजी शास्त्री और पं० रामदेवजी शर्माके मुख्य हैं। सब लेख अलग-अलग न देकर सबका सार संक्षेपमें यहाँ दिया जाता है—सम्पादक]

बीकानेर शहरसे बीस मील दक्षिण बीकानेर-रेलवेका एक स्टेशन देशनोक है। यहाँपर स्टेशनके पास ही श्रीकरणी देवीका प्रसिद्ध मन्दिर है। श्रीकरणी देवी कोई पौराणिक देवी नहीं हैं। यह मनुष्यदेहमें अवतरित हुई थीं और इन्होंने अपनी दैवी शक्तियोंका परिचय देकर लोगोंके मनमें विश्वास जमा दिया कि यह कोई साधारण जीव नहीं, बल्कि साक्षात् महामायाकी अवतार हैं। इनकी कथा यहाँ बहुत संक्षेपमें पाठकोंकी जानकारीके लिये दी जाती है।

जोधपुर राज्यके अन्तर्गत सुआप नामक एक गाँव था। प्राय: ५०० वर्ष पूर्व यहाँ मेहोजी नामके एक चारण रहते थे। वह अत्यन्त ही सात्त्विक वृत्तिवाले तथा भगवतीके उपासक थे। उनके लगातार छ: पुत्रियाँ उत्पन्न हुई थीं अतएव पति-पत्नी पुत्रके लिये बड़े लालायित थे। इस उद्देश्यसे मेहोजी माता भगवतीसे प्रार्थना किया करते थे और प्रतिवर्ष हिंगलाज जाकर दर्शन किया करते थे। कहते हैं, भगवतीने उनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया और वर माँगनेको कहा। मेहोजीने भगवतीको प्रणाम कर प्रार्थना की कि 'मैं चाहता हूँ कि मेरा नाम चले।' श्रीदेवी तथास्तु कहकर अन्तर्धान हो गयीं।

उसके बाद उनकी धर्मपत्नी देवलदेवीको गर्भ रहा। इस बार पति-पत्नीको आशा हुई कि श्रीदेवीकी कृपासे अवश्य ही पुत्ररत्न प्राप्त होगा, उन्होंने एक ज्योतिषीसे गणना भी करायी और उन्होंने भी आश्वासन दिया कि इस गर्भसे पुत्र उत्पन्न होगा। किन्तु भला माताकी इच्छा किसे मालूम थी? वह किस तरह नाम चलाना चाहती थीं, यह कौन कह सकता था? आश्विन शुक्ल ७ सं० १४४४ को उस गर्भसे पुन: एक पुत्री उत्पन्न हुई। कहते हैं, नवजात बालिकाने प्रसूतिगृहमें ही अपनी माताको चतुर्भुजी देवीके रूपमें दर्शन दिये थे।

बालिकाके जन्मसमयपर मेहोजीकी बहिन भी वहीं वर्तमान थीं। उन्होंने बालिकाको भूमिष्ठ होते देख, तुरन्त अपने भाईके पास आकर हाथकी अँगुली टेढ़ीकर कहा—'फिर वही पत्थर आ पड़ा।' यह सुनकर पिताका दिल उदास हो गया और उधर उनकी बहिनकी अँगुली जो टेढ़ी हुई थी, वह वैसी ही रह गयी। उस समय लोगोंने समझा, अँगुलीमें बादी आ गयी है।

बालिकाके जन्मके बादसे मेहोजीके दिन बदल गये। उनका घर धन-धान्य और पशुओंसे भर गया। सारी चिन्ताएँ दूर हो गयीं। मानो उनके घर साक्षात् लक्ष्मीजी आ विराजी हों। उन्होंने नवजात बालिकाका नाम रिधुबाई रखा और उसका लालन-पालन वे बड़ी तत्परता और प्रेमके साथ करने लगे। रिधुबाईका स्वरूप बहुत ही मनोहर श्यामवर्ण था और उसके चेहरेपर एक अपूर्व तेज दिखायी पड़ता था।

धीरे-धीरे रिधुबाई छ:-सात वर्षकी हुईं। इसी समय उनकी बुआ पुन: ससुरालसे लौटकर आयीं और उनके लिये कुछ गहने और कपड़े भी लायीं। वह अपनी भतीजीको बड़े स्नेहकी दृष्टिसे देखती थीं और बराबर उसे नहाने-धुलाने, खिलाने-पिलाने आदिका खयाल रखती थीं। एक दिन वह रिधुबाईको नहलाकर उनके सिरके बाल गूँथ रही थीं, उस समय उनकी टेढ़ी अँगुली बार-बार बालिकाके सिरमें लगती थी। उन्होंने पूछा—'बुआ! मेरे सिरमें यह बार-बार ठक्क-ठक्क क्या लगता है?' उनकी बुआने अपनी अँगुलीकी सारी पुरानी कहानी सुना दी। इसपर उन्होंने अँगुली दिखानेको कहा और बुआके दिखाते ही अँगुलीको अपने कोमल करस्पर्शद्वारा ठीक कर दिया। यह देख उनकी बुआ बड़ी चकित हुईं। किन्तु उन्होंने अपने दाँत दिखाकर मना किया कि यह बात किसीसे कहना नहीं, अन्यथा इन्हीं दाँतोंसे तुम्हें चबा डालूँगी। उनके सिंहनी-जैसे दाँत देखकर उनकी बुआ काँप गयीं और उन्होंने वचन दिया कि मैं किसीसे कुछ न कहूँगी। कहते हैं, उसके बाद ही रिधुबाईका नाम 'करणी' पड़ गया और वही नाम आजतक प्रसिद्ध है।

एक दिन देवीजी कुछ भोजनकी सामग्री लेकर अपने खेतको जा रही थीं। रास्तेमें जैसलमेरके महाराज शेखोजी अपनी असंख्य सेनाके साथ मिले। राजा

साहबने उन्हें देखकर उनसे प्रार्थना की कि 'मैं और मेरी सेना क्षुधासे व्याकुल हो रही हैं। गाँव यहाँसे दूर है। यदि आप कुछ भोजन दे दें तो बड़ी कृपा हो।' यह सुनकर देवीजीने कहा कि 'सेनासहित आप बैठकर भोजन कर लीजिये।' कहते हैं, उस थोड़ी-सी सामग्रीमेंसे ही देवीजीने सेनासहित राजाको भरपेट भोजन करा दिया। यह देखकर राजा अवाक् रह गये। राजाको इस प्रकार आश्चर्यान्वित देखकर देवीजीने कहा कि 'आश्चर्यकी कोई बात नहीं। सङ्कटकालमें मेरा स्मरण करना, मैं अवश्य तुम्हारी सहायता करूँगी।' राजा शेखोजी वहाँसे चलकर युद्धक्षेत्रमें पहुँचे और दैवात् उस युद्धमें उनकी सेना हार गयी तथा उनके रथका एक घोड़ा भी मारा गया। सङ्कटकाल उपस्थित देख राजाको देवीकी बात याद आयी और उन्होंने तुरन्त उनका स्मरण किया। कहते हैं, श्रीदेवीजी तुरन्त सिंहरूपमें प्रकट होकर रथमें जुत गयीं और उनकी कृपासे अन्तमें शेखोजीकी विजय हुई।

एक बार श्रीकरणी देवीके पिताको सर्पने डँस लिया। तब श्रीदेवीजीने उसे केवल अपने करकमलसे स्पर्श करके अच्छा कर दिया। इस तरह नाना प्रकारकी लीलाएँ करते हुए उन्होंने युवावस्थामें पदार्पण किया। पुत्रीको विवाह योग्य देखकर उनके पिताजीने साठीका (साठीका ग्राम बीकानेर-राज्यान्तर्गत देशनोकसे दस कोसपर है) ग्राममें दीपोजी नामक व्यक्तिको वर स्थिर किया। निश्चित तिथिपर बड़े समारोहके साथ उनका शुभ विवाह सम्पन्न हुआ। विवाहके बाद देवीजीने रह-सम्भाषणमें अपने पतिदेवसे कहा कि 'मेरे गर्भसे आपके कोई सन्तान नहीं हो सकती, अतएव आप मेरी बहिनसे दूसरी शादी कर लीजिये।' इतना कहकर उन्होंने दीपोजीको साक्षात् भगवतीरूपमें दर्शन दिये। तब उनके कथनानुसार दीपोजीने दूसरा विवाह उनकी बहिन गुलाबसे ही कर लिया जिसके गर्भसे चार पुत्र उत्पन्न हुए। ये चारों पुत्र देवीजीके ही कहलाते थे और उन्हींके साथ रहते थे। दीपोजीने आजन्म देवीजीको मातारूपमें ही देखा।

ससुरालमें भी उन्होंने कई चमत्कार दिखाये। एक दिन उनकी सासने कहा—'देखो बहू! यहाँ खूब सावधानीके साथ रहना। यहाँ बहुत अधिक बिच्छू होते हैं।' इसपर देवीजीने कहा—'यहाँ तो दर्शनको भी बिच्छू नहीं।' कहते हैं, उस दिनसे आज दिनतक वहाँ एक भी बिच्छू नहीं देखा गया। उसी दिन देवीजीने अपनी सासको साक्षात् दर्शन भी दिये। एक समय आप गाय दुह रही थीं कि उसी समय मुलतानके पास अपनी नौका डूबती देख सेठ झगड़साहने उनका स्मरण किया। तत्क्षण देवीजीने अपना हाथ फैलाकर नौकाको बचा लिया। श्रीदेवीजीने इस प्रकार अनेकों लीलाएँ करते हुए ससुरालमें प्राय: पचास वर्ष बिता दिये।

एक समय साठीका ग्राममें लगातार कई वर्षोंतक वर्षा न होनेके कारण दुर्भिक्ष पड़ गया। अन्नकी कौन कहे, जल मिलना भी दुश्वार था। गौओंका कष्ट देवीजीसे नहीं सहा गया। वह वहाँसे गौओंको साथ लेकर चल पड़ीं। वहाँसे चलकर वह पहले राठौर राजा कान्होजीकी राजधानी जांगलू आयीं। वहाँ कुएँकी खेलियाँ जलसे भरी थीं। देवीजीने राजकर्मचारियोंसे गायोंको जल पीने देनेके लिये प्रार्थना की; किन्तु राजाज्ञाके बिना उन्होंने जल पिलानेसे इनकार कर दिया। फिर राजासे पूछा गया, किन्तु वहाँसे भी सूखा ही उत्तर मिला। इसी बीच यह बात राजाके कनिष्ठ भ्राता रणमलजीके कानों पड़ी। वह देवीजीका आगमन सुन तुरन्त उनके सामने उपस्थित हुए और उन्होंने प्रणाम कर सेवकोचित आज्ञाकी प्रार्थना की। देवीजीने 'राजन्!' शब्दसे सम्बोधित कर गायोंको पानी पिलानेके लिये कहा। रणमलजीने तुरन्त आज्ञा दे दी और सब गायें पानी पीकर तृप्त हो गयीं। किन्तु कहते हैं, गायोंके पानी पी लेनेपर भी पानी ज्यों-का-त्यों भरा रहा, जरा भी कम न हुआ। यह देख रणमलजीकी श्रद्धा बहुत बढ़ गयी और वह उनके साथ हो लिये और देवीजीके बार-बार मने करनेपर भी वापस न लौटे।

वहाँसे चलकर देवीजी नेड़ी स्थानपर आयीं और जंगलमें गौओंके लिये घास आदिकी सुविधा देखकर वहीं रहने लगीं। जंगलके रक्षकोंको जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने देवीजीसे वहाँसे चले जानेके लिये कहा। किन्तु देवीजीने उनकी कोई परवा न की। फिर यह खबर राजाके पास भेजी गयी। यह स्थान भी कान्होजीके ही राज्यमें था। उन्होंने पहले दो राजपूत वीरोंके द्वारा कहलवाया; किन्तु देवीजीने कहा कि 'सियारो! जाओ, अपने राजाको भेज दो, तभी मैं जाऊँगी।' इतना कहते ही उन लोगोंका मुँह सियार-जैसा हो गया। फिर उन्होंने

बड़ी प्रार्थना की, तब देवीजीने कहा कि 'जाओ, मेरा संदेश राजाको सुना दो, उसके बाद मुँह ठीक हो जायगा।' ऐसा ही हुआ। परन्तु राजा क्रोधसे आगबबूला हो गये। उन्होंने सदलबल देवीजीपर आक्रमण कर दिया, परन्तु देवीजीके आगे उनकी एक न चली। अन्तमें उन्होंने देवीजीसे वहाँसे चले जानेको कहा। देवीजीने कहा, 'मेरी यह छोटी-सी पेटी गाड़ीपर रखवा दो, मैं चली जाऊँगी।' राजाने बड़ी चेष्टा की, अपने सब आदमी तथा अन्तमें हाथीतकको लगाया किन्तु वह बक्स जरा भी टस-से-मस न हुई। तब राजाने कहा कि 'यदि वास्तवमें तुममें शक्ति हो तो बताओ मेरी मृत्यु कब होगी।' देवीने कहा 'एक वर्षमें।' किन्तु राजाने कहा कि यह समय बड़ा लम्बा है, और पहले बताओ। देवीजीने धीरे-धीरे समय घटाकर एक घड़ीतक कह दिया, किन्तु राजा उतावले हो रहे थे, वह और भी जल्दी करनेका हठ करने लगे। बस, देवीजीने एक लकीर खींचकर उसे पार करनेको कहा और ज्यों ही उनके घोड़ेने पैर उठाया, देवीजीने सिंहरूपमें राजा और घोड़ा दोनोंका अन्त कर दिया। इस खबरको सुनकर राजमाता और रानी रोती-बिलखती वहाँ आयीं और राजाको जिला देनेकी प्रार्थना करने लगीं। उनके करुणक्रन्दनके कारण देवीजीका दिल पसीज गया और उन्होंने कहा कि 'उसके पास जाकर पुकारो, वह तुम्हारे साथ बातें करेगा। फिर उससे पूर्व ओर जानेको कहो, जबतक वह पीछे नहीं देखेगा, जीता रहेगा।' ऐसा ही हुआ। किन्तु एक मील दूर जानेपर राजाने पीछे मुड़कर देख लिया और वहीं फिर उनकी मृत्यु हो गयी। उस स्थानपर आज भी राजाका स्मारक बना हुआ है। राजाकी मृत्युके बाद देवीजीने अपने भक्त रणमलजीको राजा बनाकर भेजा और अपने मुँहसे निकले 'राजन्!' शब्दको सार्थक किया। देवीजीने उन्हें ऐसी शक्ति भी प्रदान की जिससे उन्होंने धीरे-धीरे जोधपुरका राज्य भी अपने अधिकारमें कर लिया।

इसके बाद देवीजी नेड़ीसे उठकर उसी स्थानपर चली आयीं जहाँ राजाकी मृत्यु हुई थी और वहींपर देशनोक नामक गाँव बसाया, नेड़ी स्थानसे चलते समय उन्होंने अपनी नेड़ी (मथानी, जिससे छाछ बिलोयी जाती है) वहाँ गाड़ दी। कहते हैं, वह हरी हो गयी और खेजड़ी-वृक्षके रूपमें आज भी वर्तमान है। इसी कारण इस स्थानका नाम पीछे नेड़ी पड़ गया।

जोधपुरके राजा जोधाजीके सुपुत्र बीकाजी अपने पितासे अनबन हो जानेके कारण आश्विन सुदी १० संवत् १५२२ को नया शहर बसानेके लिये जोधपुरसे चलकर देवीजीके पास आये। पहले यहींतक जोधपुरकी सीमा पड़ती थी। देवीजीने प्रसन्न होकर उन्हें राजा होनेका आशीर्वाद दिया। कुछ दिन बाद उन्होंने बीकानेर नगर बसाया और देवीजीकी कृपासे सब जगह अपना अधिकार जमाकर राजा बन गये। तभीसे श्रीकरणीदेवी बीकानेर-राज्यकी कुलदेवी बन गयीं और आजतक वहाँ उनकी बड़ी भक्तिभावसे पूजा होती है। वर्तमान महाराजा साहेब भी देवीजीके अनन्य भक्त हैं। आप अपनी सम्पूर्ण सम्पत्तिका मूल कारण श्रीकरणीजीको ही मानते हैं। आप बिना मातेश्वरीकी आज्ञाके विदेश नहीं पधारते। जब कभी आपका किसी दूर स्थानका दौरा होता है तो देशनोकमें माताजीके दर्शन करके ही पधारते हैं। जब आप कहींसे देशनोककी ओर पधारते हैं तो माताजीकी सीमा आनेपर गाड़ी खड़ी कराकर पन्द्रह मिनटतक प्रार्थना करते हैं। आपने दर्शनार्थियोंके लिये ॥-) में वापसी टिकट जारी करा दी है। आपके ही प्रबन्धसे दोनों नवरात्रोंमें यहाँ बड़ा भारी मेला लगता है। आपकी ओरसे बीच-बीचमें यहाँ शतचण्डी-अनुष्ठान होता रहता है। श्रीदेवीजीकी भी आपपर बड़ी कृपा रहती है। अस्तु।

श्रीदेवीजी देशनोकमें प्रायः ५० वर्षोंतक रहीं। उसके बाद एक समय जैसलमेरनरेशकी पीठपर एक फोड़ा हो गया, जो किसी तरह अच्छा न हुआ। अन्तमें राजाने श्रीदेवीजीको याद किया। देवीजी अपने सुपुत्र पूनोजी (वास्तवमें उनकी छोटी बहिनके सुपुत्र)-को साथ लेकर जैसलमेरके लिये रवाना हो गयीं। वहाँसे लगभग तीस कोस दूर चारणबास गाँवके पास आकर एक तालाबसे उन्होंने पूनोजीसे जल मँगाया। उस जलसे देवीजीने स्नान किया और उसी क्षण इस नश्वर शरीरको भी त्याग दिया। आज भी उस स्थानपर देवीजीका स्मारक एक चबूतरा वर्तमान है। इस घटनासे पूनोजीको बड़ा दुःख हुआ और वह विलाप करने लगे। तब ज्योतिःस्वरूप भगवतीने पूनोजीसे कहा कि 'तुम देशनोक लौट जाओ, मैं फिर वहीं तुमसे मिलूँगी।' पूनोजी तो वापस लौट आये और भगवतीने वहाँसे जैसलमेर जाकर

राजाका घाव अच्छा किया। राजा ज्यों ही देवीजीके आगमनकी सूचना देने अन्त:पुर गये, त्यों ही देवीजी वहाँसे चली आयीं। राजाके खोज करानेपर भी न मिलीं। देवीजी उसी शहरके बन्ना सुथार (बढ़ई)-के घर आयीं और उससे उन्होंने अपनी मूर्ति बनानेको कहा। बढ़ई अन्धा था। उसके यह कहनेपर कि 'मैं अन्धा हूँ, कैसे बनाऊँ?' भगवतीने उसकी आँखें ठीक कर दीं। बन्नाजीने फिर बड़ी भक्तिके साथ एक सुन्दर मूर्ति बनायी, मूर्ति बन जानेपर देवीजीने आज्ञा दी कि 'आज ही इसे देशनोक पहुँचा दो।' रास्ता बहुत लम्बा होनेके कारण बढ़ईने अपनी असमर्थता प्रकट की। तब देवीजीने कहा कि 'अच्छा, आज रातको अपनी चारपाईपर इस मूर्त्तिको रखकर सो जाना।' उसने ऐसा ही किया। दूसरे दिन सबेरे वह सोकर उठा तो उसने अपनेको देशनोकमें पाया। उसने अपनी सारी कहानी लोगोंको सुनायी, जिससे लोगोंकी श्रद्धा और भक्ति बहुत बढ़ गयी। फिर वही मूर्त्ति उस स्थानमें स्थापित की गयी, जहाँ माताजी बराबर बैठकर पूजा किया करती थीं। कहते हैं स्थापना और मन्दिर बनानेका काम स्वयं देवीजीने ही अपने हाथों किया। बिना मिट्टी और चूनेके वह स्थान पर्वतखण्डोंसे बना हुआ है। बहुत पीछे उसीके ऊपर विशाल मन्दिर बनवाया गया।

उसके बादसे अबतक भी माँ करणी देवीके चमत्कार अक्सर देखे जाते हैं। वह समय-समयपर अपने भक्तोंको दर्शन दिया करती हैं और उनकी सहायता भी करती हैं। महाराज सूरतसिंहजीके समयकी एक घटनाका हम यहाँ उल्लेख करते हैं। एक दिन एक चोर साधुके वेशमें मन्दिरमें आया और मौका देखकर एक सोनेका छत्र छिपाकर चलता बना। उसी रातको महाराजा साहबको स्वप्नमें देवीजीने दर्शन दिये और कहा कि अमुक व्यक्ति मेरा छत्र ले गया है, उससे वापस लेकर मन्दिरमें भेज दो। महाराजने सबेरा होते ही उस आदमीको गिरफ्तार कराया और उससे छत्र लेकर देवीजीके मन्दिरमें भेज दिया। साथ ही उन्होंने अपनी ओरसे एक बड़ा-सा स्वर्णछत्र बनवाकर देवीजीको भेंट किया। वह छत्र अब भी मन्दिरमें मौजूद है और बड़ी पूजाके समय निकाला जाता है। इस सम्बन्धका शिलालेख भी मन्दिरमें रखा हुआ है।

स्व० महाराज सूरतसिंहजीने देवीजीके मन्दिरका कोट बनवाया था। स्व० महाराज डूंगरसिंहजीने देवीजीके मन्दिरमें (जिसमें मूर्त्ति स्थापित है) सोनेके किवाड़ लगवाये थे और एक बड़ा-सा छत्र बनवा दिया था। वर्तमान महाराज श्रीमान् सर गंगासिंहजी बहादुरने मकरानेके पत्थरका चौक, लाल पत्थरकी दीवालें बनवायीं और सोनेके पूजाके पात्र प्रदान किये। मन्दिरका प्रवेशद्वार अभी हालमें सेठ श्रीचाँदमलजी ढड्ढा सी० आई० ई० ने बनवाया है। यों तो समूचा मन्दिर कारीगरीकी दृष्टिसे देखने योग्य है, परन्तु इस प्रवेशद्वारकी शोभा निराली है। संगमर्मर पत्थरपर नाना प्रकारके बेलबूटे, फलफूल, महराब, पशु-पक्षियोंके और देवी-देवताओंके चित्र इतने सुन्दर और सजीव बने हैं कि देखनेवाले आश्चर्यसागरमें डूब जाते हैं। कहते हैं, इस दरवाजेको बनानेमें एक लाखसे ऊपर खर्च पड़ा है। भारतीय शिल्पकलाका यह एक बहुत ही उत्तम नमूना समझा जाता है।

प्रवेशद्वारसे भीतर सहनमें घुसनेपर सामने योगमायाके दर्शन होते हैं। जिस ताखेमें यह प्रतिमा स्थापित है, कहते हैं, उसे माताजीने स्वयं अपने हाथों बनाया था। प्राय: धनी लोग देवीजीको छत्र चढ़ाया करते हैं, जिससे यहाँ छत्रोंकी भरमार है। श्रीदेवीजीकी मूर्ति सोनेके सिंहासनपर विराजमान है।

माताजीके मन्दिरमें काबे (चूहे) बहुत हैं, जो सर्वत्र मन्दिरभरमें स्वतन्त्रतापूर्वक विचरा करते हैं। इनकी अधिकताके मारे दर्शनार्थियोंको बहुत बच-बचकर मन्दिरमें चलना पड़ता है, जिसमें वे दबकर मर न जायँ। कहते हैं, देवीजीके वंशज चारण लोग ही मरनेपर काबा हुआ करते हैं और फिर काबेसे चारण होते हैं। यमराजपर क्रोधित होनेके कारण ही उन्होंने अपने वंशजोंके लिये ऐसा प्रबन्ध किया था। यही कारण है कि लोग इन्हें भी आदरकी दृष्टिसे देखते हैं और श्रद्धानुसार दूध, मिठाई आदि खिलाया करते हैं। इन चूहोंके कारण लोग इन्हें चूहोंवाली देवी भी कहते हैं। इन चूहोंके बीच कभी-कभी सफेद चूहेके रूपमें घूमती हुई देवीजी भी भक्तोंको दर्शन दिया करती हैं। सबसे विचित्र बात तो यह है कि इतने चूहे होनेपर भी यहाँ कभी प्लेगका प्रकोप नहीं होता। इस स्थानमें चीलको भी पवित्र माना जाता है और मन्दिरकी ध्वजापर उसका बैठना शुभ माना जाता है।

श्रीमहिषमर्दिनी—खजुराहो

श्रीगंगा—खजुराहो
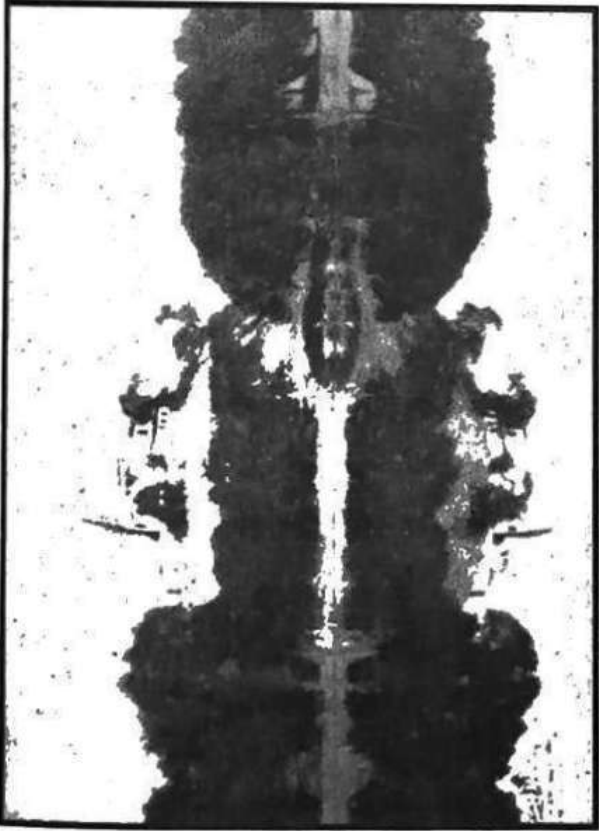
श्रीकालिकाजी—धार

श्रीएकलवीर्यदेवीजी
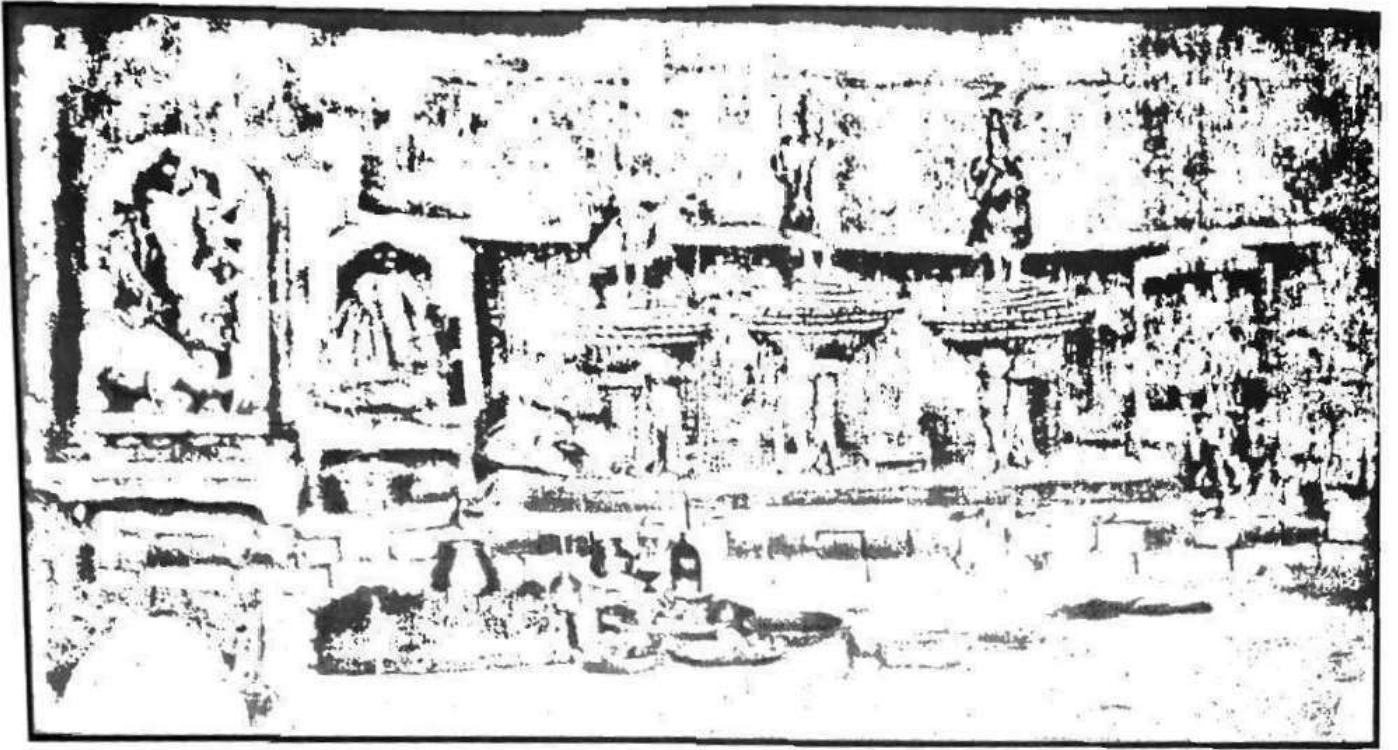
महिषमर्दिनी आदि छः देवियाँ

१—महिषमर्दिनी दुर्गा, २—काली, ३—नील सरस्वती, ४—उग्रतारा, ५—एकजटा, ६—त्रिपुरसुन्दरी
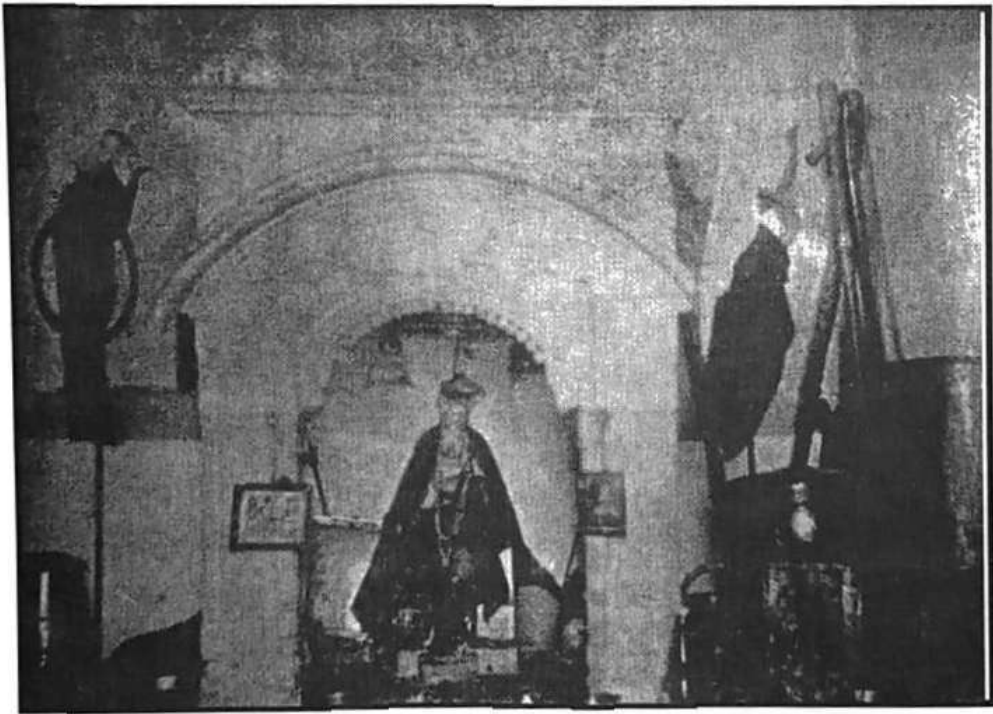
श्रीअन्नपूर्णाजी—सक्खर
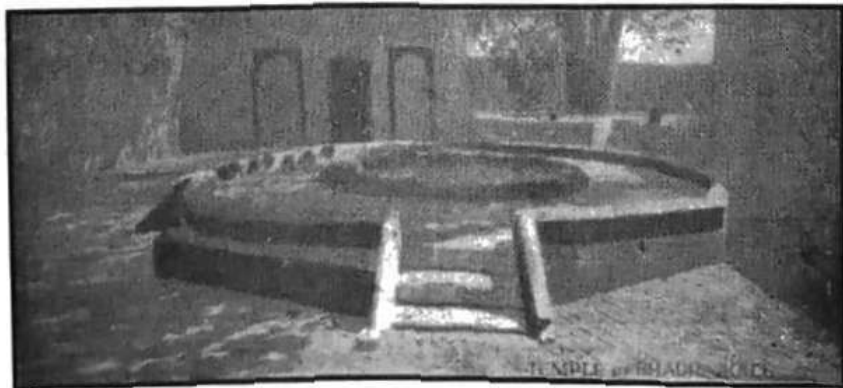
श्रीभद्रकालीमन्दिर—थानेश्वर

देवीजीका एक स्थायी कोष है, जिसकी कुंजी और हिसाबकी बहियाँ बन्ना सुथारके परिवारके जिम्मे रहती हैं। यह परिवार उसी समय देशनोकमें ही आकर बस गया था और तबसे वहीं है। यह कोष दो ओसवाल, एक सुथार, एक किलेदार और चार चारणोंकी उपस्थितिमें खोला जाता है। इस कोषसे पुजारी आदि चारणोंको कुछ वेतन नहीं मिलता, केवल शादी-विवाह या श्राद्ध आदि विशेष अवसरोंपर सहायता दी जाती है। कोषसे मन्दिरके प्रबंधके लिये जो नौकर-चाकर हैं, उन्हें तनख्वाह दी जाती है या मन्दिरके सम्बन्धमें दूसरे खर्च होते हैं। देवीजीपर जो कुछ चढ़ौती आती है, वह उनके पूजा करनेवाले चारणोंको (जो उन्हींके वंशके होते हैं) बाँट दी जाती है। देशनोक गाँव देवीजीका बसाया हुआ होनेसे राज्यकी ओरसे वहाँ किसीसे बेगार नहीं ली जाती। वहाँपर चुंगीसे जो लगभग छः हजार सालाना आय होती है, वह भी वहाँके चारणोंमें बाँट दी जाती है।

यात्रियोंकी सुविधाके लिये स्टेशनके पास ही बीकानेरके सुप्रसिद्ध मोहता-परिवारने एक बड़ी धर्मशाला बनवा दी है। देशनोकके तेमड़ेजीके मन्दिरमें माताजीकी वह छोटी-सी पूजाकी पेटी भी रखी है, जिसे कान्होजीने उठानेका प्रयत्न किया था।

देशनोकसे एक मील पश्चिम नेड़ी स्थान है। यहाँ भी एक मन्दिर है और उसके अन्दर एक गहरी गुफा है। यहाँपर भी एक भक्त सेठने एक धर्मशाला बनवा दी है। इसी धर्मशालामें श्रीकरणीजीके अनन्य भक्त आत्मस्वरूपजी महाराज रहते हैं। आपको माताजीके अनेक दृष्टान्त मिले हैं, जिससे अब आप कहीं दूसरी जगह नहीं जाते, केवल माता श्रीकरणीजीकी उपासनामें ही जीवन व्यतीत करते हैं। आप अपनी भक्ति, त्याग, गम्भीरता आदि सद्गुणोंके लिये प्रसिद्ध हैं और आपकी सत्तासे यह स्थान और भी रमणीक बन गया है।

श्रीउग्रतारा-स्थान

(लेखक—श्रीहरिनन्दनजी ठाकुर)

इस धर्मप्रधान भारतभूमिके प्रत्येक भागमें अनेकानेक पवित्र, पापनाशक तथा प्रभावशाली तीर्थस्थान, देवालय तथा सिद्धपीठ विद्यमान हैं। परन्तु देशकी विशालता, स्थानोंकी अधिकता तथा कतिपय पीठोंकी गुप्तताके कारण आज कितने ही स्थानोंका किसीको पता भी नहीं है। आज हम ऐसे ही एक सिद्धपीठका विवरण पाठकोंके सामने रखनेका प्रयत्न करेंगे।

बिहार प्रान्तके भागलपुर जिलेमें 'महिषी' नामक गाँव है, जो बी० एन० डब्ल्यू० रेलवेके सहर्षा जंकशनसे पश्चिमकी ओर प्रायः ८ मील दूर है। प्राचीन प्रदेशविभागके अनुसार यह स्थान मिथिलामें पड़ता है। इसीसे मिथिलामें इस स्थानका नाम अधिक प्रसिद्ध है। वहाँके लोग इसे 'श्रीउग्रतारास्थान' के नामसे जानते हैं।

यह स्थान एक प्राचीन शक्तिपीठ माना जाता है। कहते हैं, इस स्थानपर 'सती' के शवका नेत्रभाग गिरा था। तान्त्रिक लोगोंका कहना है कि इस स्थानमें ब्रह्मर्षि वसिष्ठजीने द्वितीया महाविद्या श्रीताराजीकी आराधना की थी और माताको प्रसन्नकर अभीष्ट फल प्राप्त किया था। नीलतन्त्रके महाचीनक्रमान्तर्गत ताराचारदर्शके बाईसवें पटलमें इस स्थानका विस्तृत उल्लेख है।

यहाँपर श्रीतारा, श्रीएकजटा एवं नीलसरस्वतीकी प्रतिमाएँ एक तन्त्रोक्त यन्त्रपर स्थित हैं। मूर्तियाँ भीतरसे पोली मालूम होती हैं और इनके प्रत्येक अवयव अपने-अपने स्थानमें अलगसे बनाकर जोड़े हुए मालूम होते हैं। श्रीतारादेवीके शीर्षस्थानपर 'अक्षोभ्य' गुरुकी प्रतिमा भी सुशोभित है तथा उसके ऊपर सर्पका फन बना हुआ है। महाशक्तिके इन तीनों पाषाणविग्रहोंमें असाधारण कोमलता और कान्ति दिखायी पड़ती है। ये तीनों देवियाँ यहाँपर कुमारीरूपमें हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ महिषमर्दिनी दुर्गा, काली, त्रिपुरसुन्दरी देवियों तथा तारकेश्वर और तारानाथकी भी मूर्तियाँ हैं। तन्त्रग्रन्थोंके वर्णनसे मालूम होता है कि यहाँपर और भी देवताओंके स्थान और कुण्ड आदि थे, किन्तु आजकल कुछका तो पता ही नहीं लगता और कुछका भग्नावशेष पड़ा है।

इस स्थानमें पहले कोई मन्दिर नहीं था; मूर्त्तियाँ पेड़के नीचे ही थीं। किन्तु लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्व

दरभंगाकी महारानी पद्मावतीने यहाँपर एक विशाल मन्दिर और तालाब बनवा दिया। महारानीका नैहर इसी स्थानमें था। उनके पतिदेवको कुष्ठरोग था। उसीके शमनके लिये उन्होंने माता श्रीतारादेवीकी शरण ली और उनकी सेवामें वह तत्पर हुईं। भूकम्पके कारण आजकल मन्दिर और तालाब दोनों बहुत बुरी दशामें हैं। उनके पुनर्निर्माणकी नितान्त आवश्यकता है। वहाँपर साधकोंके रहने योग्य भी कोई स्थान नहीं है। क्या ही अच्छा हो कि हम हिन्दुओंका ध्यान ऐसे प्राचीन सिद्धपीठकी ओर आकर्षित हो और उसका शीघ्र जीर्णोद्धार हो जाय, अन्यथा धीरे-धीरे इसके नष्ट हो जानेकी ही आशङ्का है।

पहले ही कहा जा चुका है कि यह एक सिद्धपीठ है और इसकी बड़ी महिमा है। श्रीदेवीके चमत्कारकी बातें भी बहुत सुनी जाती हैं। कहते हैं, स्व० दरभंगानरेश महाराजाधिराज रामेश्वरसिंहजी भी इस देवीके भक्त थे और यदा-कदा इस स्थानमें दर्शन तथा पूजापाठके लिये आया करते थे। एक बार वह एक काशीजीके विद्वान् पण्डितके साथ यहाँपर आये। महाराजने पण्डितजीसे पूछा—'इन मूर्तियोंके दर्शन करनेसे आपको कैसा मालूम होता है?' पण्डितजीने चट उत्तर दे डाला—'ये त्रिपुरसुन्दरीकी सभाकी नर्त्तकियाँ मालूम होती हैं।' उसी रात उक्त पण्डितजी विक्षिप्तप्राय होकर वहाँसे भाग निकले और एकदम काशी जा पहुँचे। फिर प्रकृतिस्थ होनेपर उन्होंने महाराजको तार दिया कि 'महाशक्तिकी महिमामयी मूर्त्तियोंके विषयमें मेरा मत मान्य नहीं है। आप स्वयं इस विषयमें विचार कर लें। मैं आत्मविस्मृत होकर काशी चला आया।' कहते हैं, पण्डितजी कुछ दिनों बाद फिर यहाँ आये और उन्होंने स्वरचित स्तोत्र सुनाकर श्रीदेवीको प्रसन्न किया।

इसी यात्रामें महाराजने देवियोंके पादतलका यन्त्र खुदवाना शुरू किया। किन्तु अभी थोड़ा ही खोदा गया था कि खोदनेवाला अन्धा हो गया और उसकी जीभ निकल आयी। महाराजकी भी चित्तवृत्ति कुछ खराब हो गयी। तब वह काम बन्द करा दिया गया। भक्तोंकी कामनाएँ पूरी होनेकी तो बहुत-सी घटनाएँ सुनी जाती हैं।

यह मन्दिर बाबू श्रीजगदीशनन्दनसिंहजी मधुवनी छोटा तरफ दरभंगाकी जमींदारीमें है। उक्त बाबू साहेबके पितामह योगिराट् बाबू दुर्गासिंहजी इसके संस्थापक थे जिनको १०४ वर्ष और ६ महीने हुए हैं। यह स्थान अति पवित्र, उग्र और दर्शनीय है।

इस पवित्र मूर्तिसे करीब पचीस मील पूर्व बराहपुर नामक गाँव है, जहाँ श्रीचण्डी देवीका एक बहुत प्राचीन मन्दिर है और लगभग तीस मील दक्षिण, बी० एन० डब्ल्यू० रेलवेके धमाराघाट नामक स्टेशनके समीप श्रीकात्यायनी देवीका स्थान है। ये दोनों स्थान भी जागृत माने जाते हैं और मिथिलाके साधक इन स्थानोंके प्रति भी विशेष श्रद्धा रखते हैं।

तू ही

दोहा—चिंता बिघनबिनासिनी कमलासनी सकत्त।
बीसहथी हंसबाहिनी माता देहु सुमत्त॥

भुजंगप्रयात

नमो आद अनाद तुँहीं भवानी। तुँहीं योगमाया तुँहीं बाकबानी॥
तुँहीं धर्ण आकास बिभो पसारे। तुँहीं मोहमाया बिसे सूल धारे॥
तुँहीं चार बेदं खटं भाप चिन्हीं। तुँहीं ग्यान बिग्यानमें सर्ब भिन्हीं॥
तुँहीं बेद बिद्या चहुदे प्रकासी। कलामंड चौबीसकी रूपरासी॥
तुँहीं बिस्वकर्ता तुँहीं बिस्वहर्ता। तुँहीं स्थावरं जंगमंमें प्रवर्ता॥
दुर्गा देबि बंदे सदा देव रायं। जपे जाप जालंधरी तो सहायं॥

दोहा—करै बीनती बंदिजन सनमुख रहै सुजान।
प्रगट अंबिका मुख कहै माँग चंद बरदान॥

—चन्दबरदाई

श्रीश्रीराजराजेश्वरी श्रीविद्यामन्दिर

(लेखक—पं० श्रीभगवतीप्रसादजी शुक्ल)

श्रीश्रीराजराजेश्वरी श्रीविद्यामन्दिर बाँगरमऊ, जिला उन्नावमें है। यह ई० आई० आर० रेलवेके बालामऊ कानपुर ब्रांच लाइनपर है। कानपुरसे बाँगरमऊके बारह आने और बालामऊसे नौ आने रेलकिराया है। यह मन्दिर अपने ढंगका निराला है। नीचे मन्दिरके बरामदेसे लगे हुए दोनों ओर दो शिवजीके मन्दिर हैं। पूर्वके मन्दिरमें शिवजीकी लिङ्गमूर्ति है, जिसमें श्वेत, रक्त, पीत—तीनों रंग हैं और चन्द्रबिन्दु, कामिनीतत्त्व इत्यादि चिह्न स्पष्ट बने हुए हैं। ऐसी सुन्दर मूर्ति प्रायः देखनेमें नहीं आती। पश्चिमके मन्दिरमें रक्तवर्ण पञ्चमुख चतुर्भुज शिवजीकी अष्टधातुकी मूर्ति है, जिसके हाथमें शूल, कपाल, पाश और मुद्गर हैं। मन्दिरके पीछे भोग आदिके लिये घर बने हुए हैं। सामने पुष्पोद्यान है। मन्दिरके दूसरे तल्लेमें बारादरी और तीसरे तल्लेमें चतुर्द्वार मन्दिर है।

मन्दिरके भीतर अत्यन्त मनोहर अष्टधातुकी बनी जगदम्बाकी मूर्ति है। ऐसी अद्भुत मूर्ति शायद भारतके अन्य किसी स्थानमें नहीं है। आसनके नीचे ब्रह्मा चतुर्दल (मूलाधार) कमलपर विराजमान हैं और कमलके एक-एक दलपर 'वं शं षं सं' एक-एक बीजाक्षर लिखा हुआ है। उसके बाद षट्दल (स्वाधिष्ठान) कमलपर विष्णु भगवान् आसीन हैं और कमलके प्रत्येक दलपर 'बं भं मं यं रं लं' अक्षर लिखे हुए हैं। बीचमें सदाशिव षोडशदल (विशुद्धाख्य) कमलपर विराजमान हैं और प्रत्येक दलपर 'अं' से 'अः' तकके सोलह वर्ण लिखे हुए हैं। उसकी बायीं ओर नीलवर्ण दशदल (मणिपूर) कमलपर 'डं' से 'फं' तकके बीजाक्षरोंके सहित रुद्रमूर्ति है। उसके वाम पार्श्वमें द्वादशदल (अनाहत) रक्त कमलपर 'कं' से 'ठं' पर्यन्त बीजाक्षर हैं, जिसपर ईश्वरकी मूर्ति प्रतिष्ठित है। इन पञ्च देवताओंके ऊपर द्विदल (आज्ञा) श्वेत कमल है, जिसमें 'हं क्षं' बीजाक्षर हैं और जिसके ऊपर सदाशिव लेटे हुए हैं। उनकी नाभिसे एक कमल निकला है, जिसपर जगदम्बाकी युवती मूर्ति सम्पूर्ण शृङ्गारके साथ विराजमान है। मूर्ति एकदम सजीव मालूम होती है।

यह मूर्ति सम्पूर्णतया योगशास्त्रके अनुसार मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्या और आज्ञाचक्रके ऊपर द्वादशदल कमलपर और वेदके अनुसार भूर्भुवः स्वः महः जनः तपः और सत्यलोकपर है। यह मूर्ति वैदिक, तन्त्र और योगकी विधिसे बनायी गयी है।

बड़ौदेकी श्रीअम्बामाता

(लेखक—श्रीहिम्मतलाल व्रजभूषणदास, मन्त्री श्रीत्रिम्बकनाथ-सेवामण्डल)

श्रीमन्त गायकवाड़ सरकारकी राजधानी बड़ौदा शहरमें माण्डवीके समीप घड़ियालीपोलके नाकेपर भगवती श्रीअम्बाजी माता विराजमान हैं। यहाँ माताजीकी सुन्दर प्रभावशाली मूर्ति है।

जगत्प्रसिद्ध परदुःखभञ्जन महाराज वीर विक्रमादित्यकी इष्टदेवी श्रीहरसिद्धिमाता थीं और वीर वैताल उनके मददगार थे। इन दोनों देवोंकी सहायता और कृपासे महाराज विक्रमादित्यने बहुत-से परोपकारके काम किये। महाराज विक्रमादित्यकी मृत्यु इसी माण्डवीके समीप हुई थी। इससे वीर वैताल उनकी ओर पीठकर यहाँ बैठा है, ऐसी दन्तकथा प्रचलित है। वही श्रीहरसिद्धिमाताजी श्रीअम्बाजी माताके नामसे पूजी जाती हैं। मन्दिर बहुत सुन्दर है। सिंहासनपर श्रीमाताजी विराजमान हैं। दोनों ओर दो देवियाँ हैं। चैत्र शुक्ल ५ के दिन माताजीका पाटोत्सव धूमधामसे होता है, उस अवसरपर अन्नकूट भी होता है। मन्दिरका प्रबन्ध तथा पूजन तपोधन ब्राह्मण करते हैं।
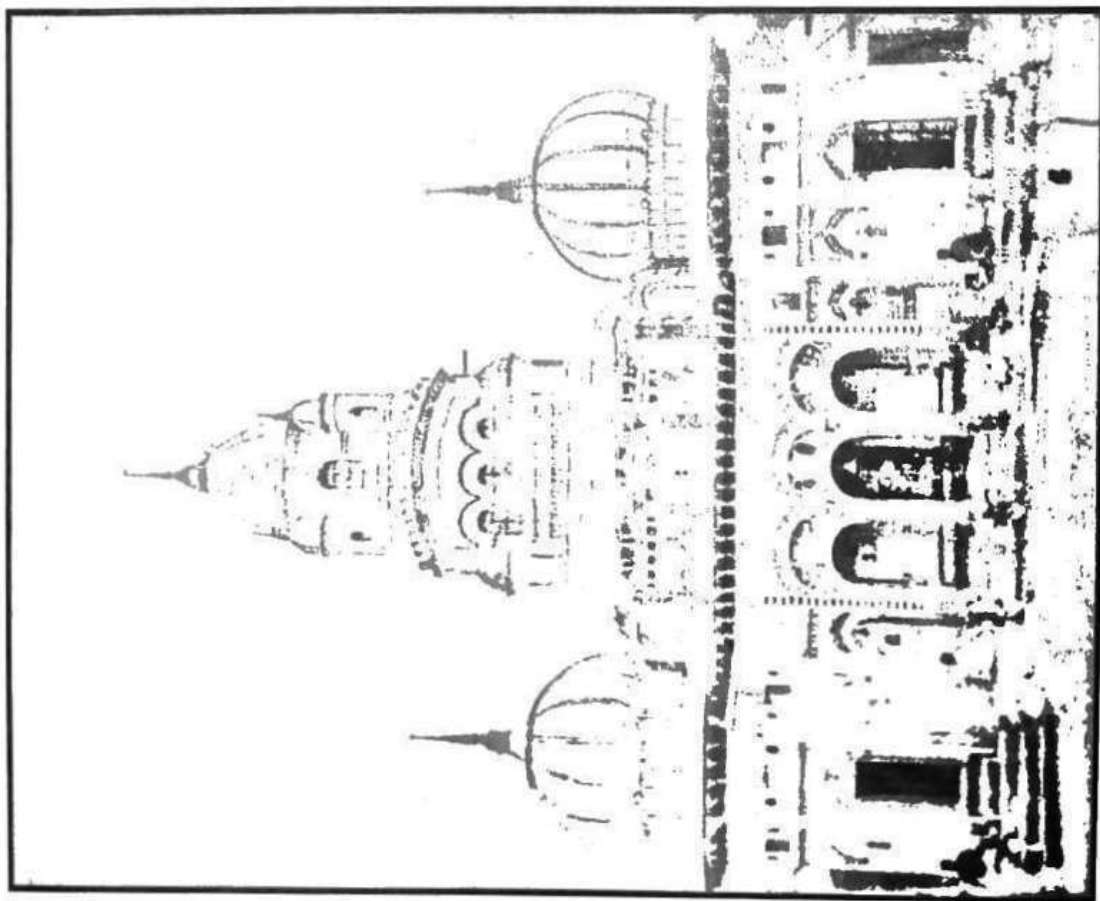
श्रीराजराजेश्वरी श्रीविद्यामन्दिर—बाँगरमऊ
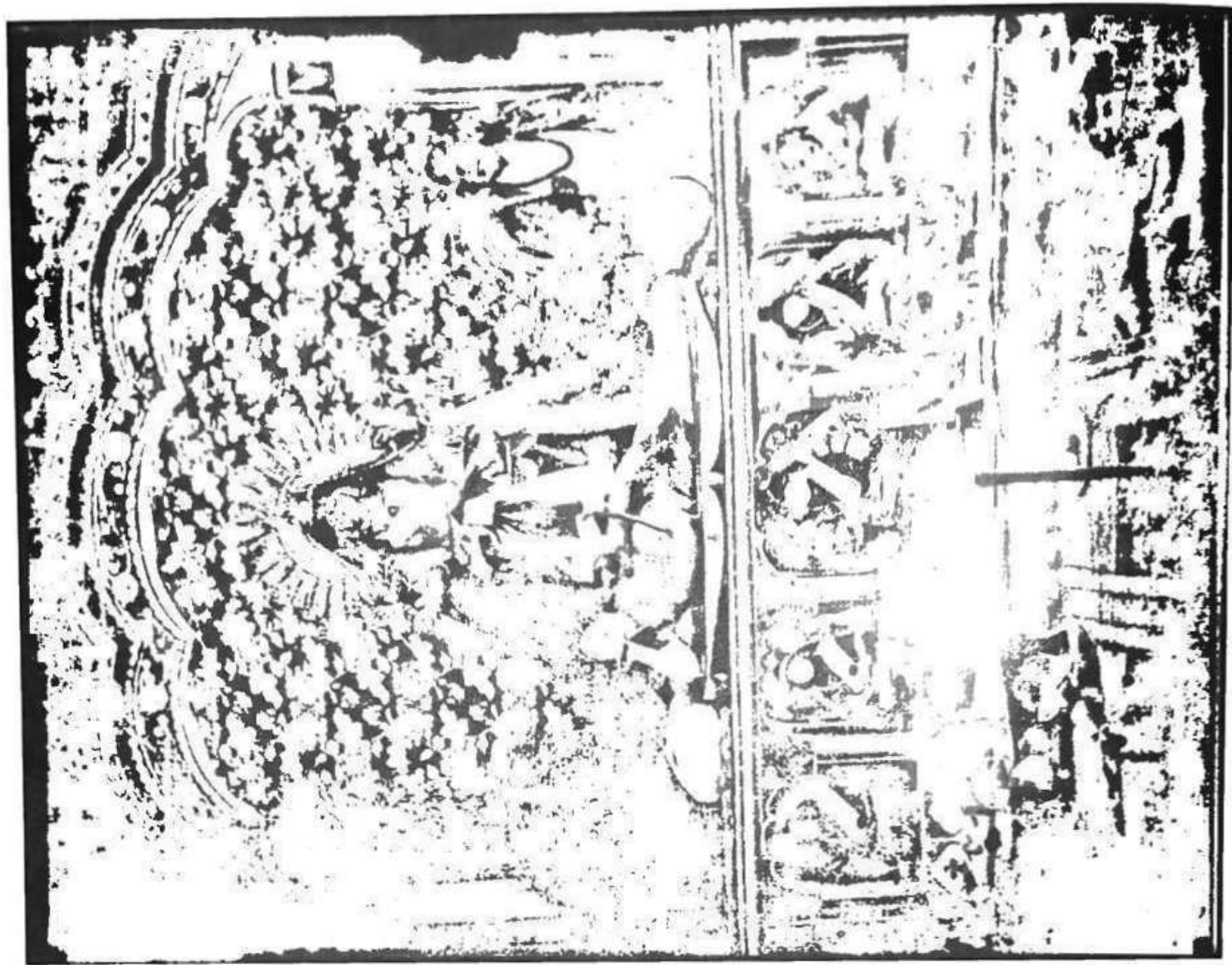
श्रीराजराजेश्वरी श्रीविद्या—बाँगरमऊ
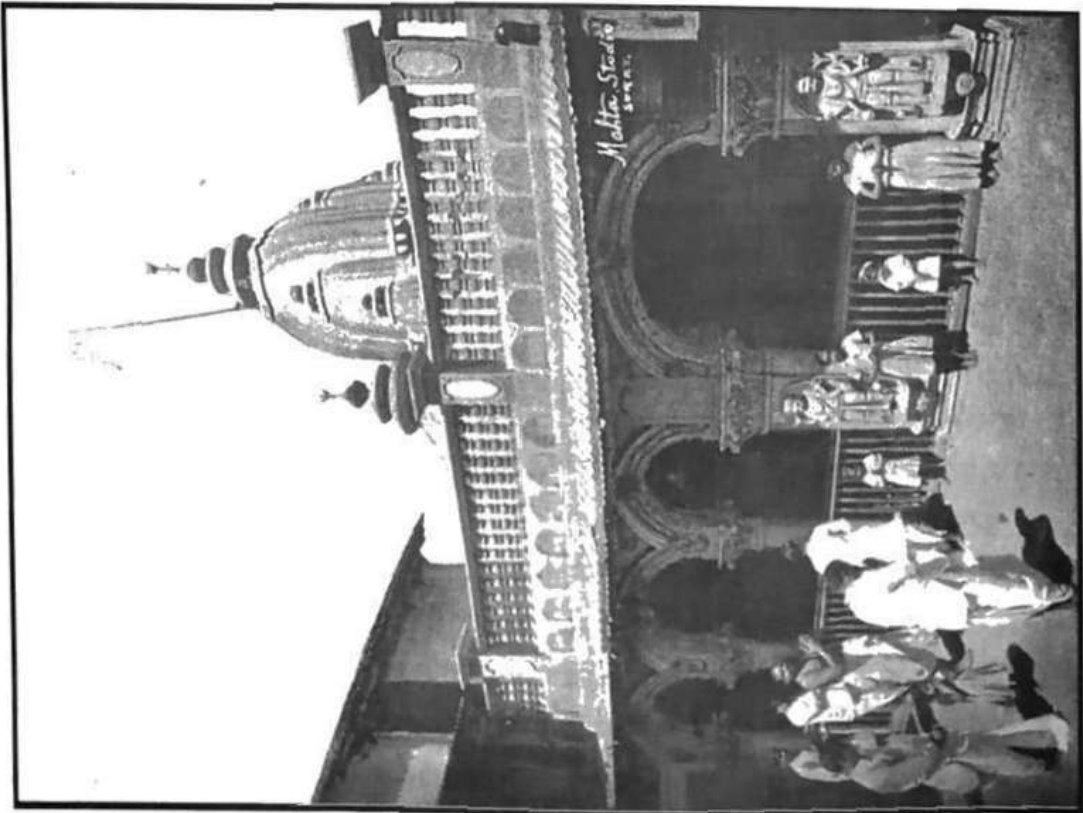
श्रीअम्बिकामन्दिर—सूरत

श्रीअम्बिकादेवी—सूरत

श्रीअम्बाजी माता बड़ौदा

उत्तराखण्डका देवीस्थान

(लेखक—चतुर्वेदी डॉ० पं० श्रीविशालमणिजी शर्मा, उपाध्याय)

श्रीकेदारनाथजीके रास्तेमें जो प्रसिद्ध तीर्थ नारायणकोटि है, उससे दो मील दूर, मन्दाकिनी गङ्गाके उस पार, सुप्रसिद्ध सरस्वती गङ्गाके तीरपर महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वतीके प्रसिद्ध स्थान हैं। उत्तराखण्ड (गढ़वाल) प्रान्तका यह एक प्रमुख स्थान है। यहाँपर एक मठ भी है। यह एक सिद्ध स्थान माना जाता है। भूतपूर्व महाराजा दरभङ्गाने दो बार यहाँकी यात्रा की थी। कहते हैं, उन्हें यहाँपर कुछ दृष्टान्त हुआ था। इसी स्थानपर सरकारी अफसर कसम दिलाते हैं।

१-सरस्वती गंगातीरपर मठसहित भगवती-मन्दिर

श्रीपूर्णागिरिपीठ

(लेखक—श्रीदुर्गाशङ्करजी शुक्ल)

यों तो भारतमें प्रधान-प्रधान इक्यावन शक्तिपीठ माने जाते हैं; किन्तु उनमें सर्वप्रधान चार माने जाते हैं, जिनमें एक श्रीपूर्णागिरिपीठ भी है। यह स्थान जिला नैनीतालमें है। यात्री पीलीभीत होकर रुहेलखण्ड-कुमाऊँ-रेलवेकी ब्रांच लाइनसे टनकपुर मंडी पहुँचते हैं और वहाँसे पैदल जाना पड़ता है। पहले तीन साढ़े तीन मील समतल भूमि पार करनेके बाद पहाड़की चढ़ाई शुरू हो जाती है। प्रायः तीन खोले (जलसंपात) पार करनेपर बाँसीकी कठिन चढ़ाई आरम्भ हो जाती है और मंडीसे दस-बारह मील जानेपर टुन्नासमें यात्री विश्राम करते हैं। यहाँपर भैरवका स्थान तथा एक धर्मशाला है। उसके ऊपर एकके बाद एक-दो बावलियाँ मिलती हैं। कहते हैं, ऊपरवाली देवीकी बावलीमें यदि अपवित्र बर्तन कोई डाल दे तो उसका जलस्रोत ही बन्द हो जाता है। टुन्नासपर विश्राम करनेके बाद दूसरे दिन प्रातःकाल स्नान करके यात्री दर्शनके लिये रवाना होते हैं। लगभग डेढ़ फर्लांगकी चढ़ाईके बाद श्रीकालीजीका स्थान आता है। यहाँपर किसी भक्तका चढ़ाया हुआ एक ताँबेका मन्दिर रखा हुआ है। वहाँसे आगे कुछ उतरनेपर प्रधान पीठकी पर्वतश्रेणी मिलती है। इनमें एक पर्वत तो बिलकुल नङ्गा है, उसपर कहीं-कहीं घास मिलती है और कहीं-कहीं जरा अड़ने लायक जगह दिखायी पड़ती है, नहीं तो सब जगह एक-सा सपाटा है, न कोई वृक्ष है न लता। केवल भगवतीके नामजपके भरोसे यात्री इस पर्वतको पहले पार किया करते थे। इधर कुछ ही वर्षोंसे किसी भक्तने रास्ता और सीढ़ियाँ बनवा दी हैं और पकड़नेके लिये लोहेकी जंजीरें लगवा दी हैं। इस कारण यहाँकी यात्रा अब बहुत सुगम हो गयी है। इस पहाड़के समाप्त

होनेपर एक छोटा-सा चबूतरा-सा मिलता है, जो थोड़ा नीचा-ऊँचा है। यहाँ कोई मन्दिर या मकान वगैरह नहीं है। चित्रमें जहाँ लिङ्ग और त्रिशूलादि दिखायी पड़ रहे हैं, यही प्रधान पीठस्थान है, जिसकी पूजा होती है। पीठके ठीक बगलमें एक वृक्ष है, जिसमें बहुत-से घण्टे लटक रहे हैं। यह पेड़ न मालूम कबसे यहाँ खड़ा है। इसकी डाल सूखकर गिर पड़ी है और इसमें फल, फूल, पत्ते कभी नहीं दिखायी पड़ते, फिर भी यह अचल अटलभावसे माताकी सेवा कर रहा है, मानो वह कोई देवीका अनन्य भक्त हो जो धूप, शीत और बरसातका कोई खयाल न कर निरन्तर अपनी पूजामें निमग्न है। इस स्थानकी यात्रा चैत्रके नवरात्रमें होती है।

श्रीपूर्णागिरिपीठ

श्रीकेदारमण्डल शक्तिपीठ

(लेखक—पं० श्रीमहिमानन्दजी शर्मा, शास्त्री, मैठाणी)

भारतवर्षमें ऐसा कौन हिन्दू होगा जिसने उत्तराखण्डका नाम न सुना हो? इस उत्तराखण्डमें ही केदारनाथ आदि हिन्दुओंके कितने ही प्रसिद्ध तीर्थ हैं। आज हम यहाँ केवल केदारमण्डल शक्तिपीठका ही संक्षिप्त परिचय देनेकी चेष्टा करेंगे।

कालीमठ

सत्ययुगमें एक बार रक्तबीज नामक एक दैत्य उत्पन्न हुआ, जो देवताओंको बहुत कष्ट पहुँचाया करता था। तब इन्द्रादि देवताओंने शिवजीकी आज्ञाके अनुसार हिमालयमें भगवतीकी तपस्या की, जिससे प्रसन्न होकर महामायाने उसके नाशके लिये कालीरूपमें दर्शन दिया और देवताओंको अभय दान दिया। तबसे वही स्थान कालीक्षेत्रके नामसे प्रसिद्ध हुआ। यह स्थान मन्दाकिनीके उस तटपर, केदारनाथ (हिमालय) पर्वतके उस भागमें है, जिसके आगे कोई बस्ती नहीं है, बल्कि घोर जंगल और बर्फीली चट्टानें हैं। यह हरिद्वारसे एक सौ चालीस मील दूर और समुद्रकी सतहसे लगभग नौ हजार फीटकी ऊँचाईपर है। यह स्थान भारतके प्रमुख शक्तिपीठोंमें है और बहुत ही सिद्ध-स्थान समझा जाता है। यहाँपर महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वतीके तीन विशाल मन्दिर हैं और एक कुण्ड है। यह कुण्ड बराबर एक पत्थरसे ढका रहता है, केवल शारदीय और वासन्ती नवरात्रोंमें खुलता है, जब कि यहाँ बड़े ठाट-बाटसे पूजा होती है। यहाँ दोनों नवरात्रोंकी अष्टमीको मेला लगता है। इन दिनोंको सपाद लक्ष आहुतियोंके द्वारा हवन किया जाता है। पूजा-अर्चाके लिये पाँच गाँवोंकी जागीर मन्दिरको मिली हुई है। इस स्थानपर दुर्गापाठ करनेका बड़ा माहात्म्य है। कहते हैं, स्वर्गीय महाराज दरभङ्गाको यहाँपर अनुष्ठान-पूजा करानेसे पुत्र प्राप्त हुआ था।

कालीमठसे तीन मीलकी दूरीपर कालशिला नामक स्थान है। इसपर विभिन्न देवियोंके चौंसठ यन्त्र मौजूद
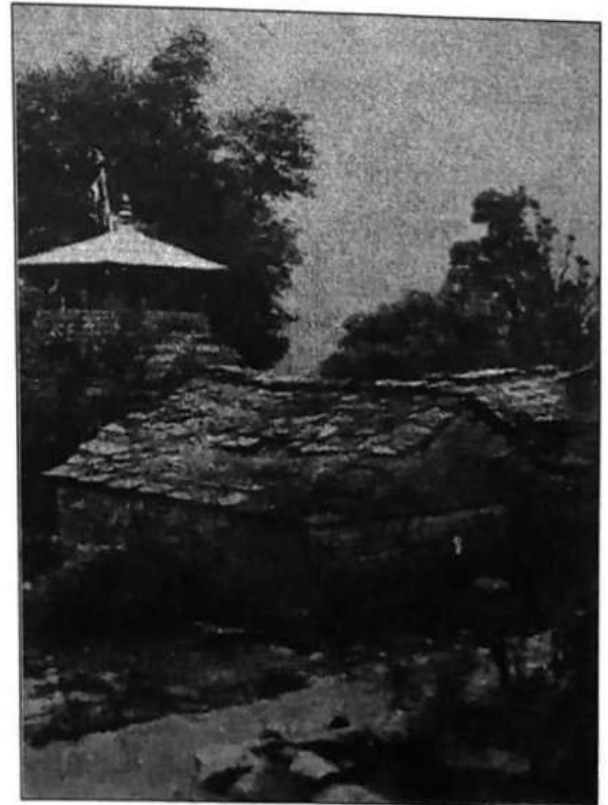
कालीमठ

हैं। कहते हैं, रक्तबीजके युद्धके समय इसी स्थानसे सब शक्तियाँ उत्पन्न हुई थीं। लोगोंका विश्वास है कि इस स्थानपर जप-तप-पूजा करनेसे बहुत शीघ्र ही फल मिलता है। यहाँपर कई धाराएँ हैं। इस स्थानको मातङ्गशिला भी कहते हैं।

राकेश्वरी

कालीमन्दिरसे चार मीलकी दूरीपर श्रीराकेश्वरीदेवीका दिव्य स्थान है। यहाँ एक विशाल मन्दिर बना हुआ है और भोगरागके लिये प्राचीन समयसे मन्दिरको जागीर मिली हुई है। आजकल इस स्थानको राँसी नामसे पुकारते हैं।

श्रीललिता देवी

गुप्तकाशीसे एक मील आगे नाला नामक गाँव है। यहींपर श्रीललिता देवीका मन्दिर है। कहते हैं राजा नलने वनवासके समय यहाँ आकर भगवती ललिता देवीकी पूजा-अर्चना की थी और माताकी कृपासे पुनः राज्य और स्त्री-पुत्र प्राप्त किया था। देवीका मन्दिर विशाल है और पूजापाठके लिये जागीरमें गाँव मिला हुआ है।

भगवती दुर्गा

बाणासुरकी राजधानी शोणितपुर (जिसे अब वामसू कहते हैं)-के समीप भगवती दुर्गाका विशाल मन्दिर है। यहाँ और भी बहुतेरे छोटे-छोटे देवालय हैं। यहाँपर प्रत्येक बारहवें वर्ष हरद्वारके कुम्भके साल ही शरद् और वसन्त ऋतुमें बृहत् उत्सव होता है। अर्द्धकुम्भीके साल भी साधारण उत्सव मनाया जाता है। इस मन्दिरको भी जागीर मिली हुई है।

कोटिमाहेश्वरी

कालीमठसे दो मील दूर श्रीकोटिमाहेश्वरीका मन्दिर है। इस स्थानपर यात्री पितरोंका तर्पण तथा पिण्डदान करते हैं। इस मन्दिरके पास भी जागीर है।

महिषमर्दिनी

केदारलाइनपर मैखचण्डीपर भगवती महिषमर्दिनीका विशाल मन्दिर और झूला है। भगवतीने इसी स्थानपर महिषासुरका वध किया था और उसका शरीर टुकड़े-टुकड़े काटकर इसी पर्वतपर फेंक दिया था। इसी कारण देवीका नाम महिषमर्दिनी और पर्वतका नाम महिषखण्ड पड़ा। यहाँ शरद् और वसन्त ऋतुकी नवरात्रोंमें मेला लगता है और हिंडोलेपर भगवतीका रथ झुलाया जाता है। भगवतीकी पूजाके लिये जागीर मिली हुई है।

गौरीकुण्ड

केदारनाथसे पहले यह स्थान पड़ता है। यहाँसे एक दिनमें लोग केदारनाथ पहुँचते हैं। यहाँपर दो कुण्ड—एक शीतल जलका और दूसरा तप्त जलका—और एक गौरी माताका मन्दिर है। शीतल जलके कुण्डको अमृतकुण्ड और तप्त जलके कुण्डको गौरीकुण्ड कहते हैं। गौरीकुण्डका जल पहले तो इतना गर्म मालूम होता है कि घुसनेकी हिम्मत नहीं होती; किन्तु घुस जानेपर फिर उतना गर्म नहीं मालूम होता। केदारनाथके यात्री यहींपर क्षौरकर्म कराते हैं।

गौरीकुण्ड
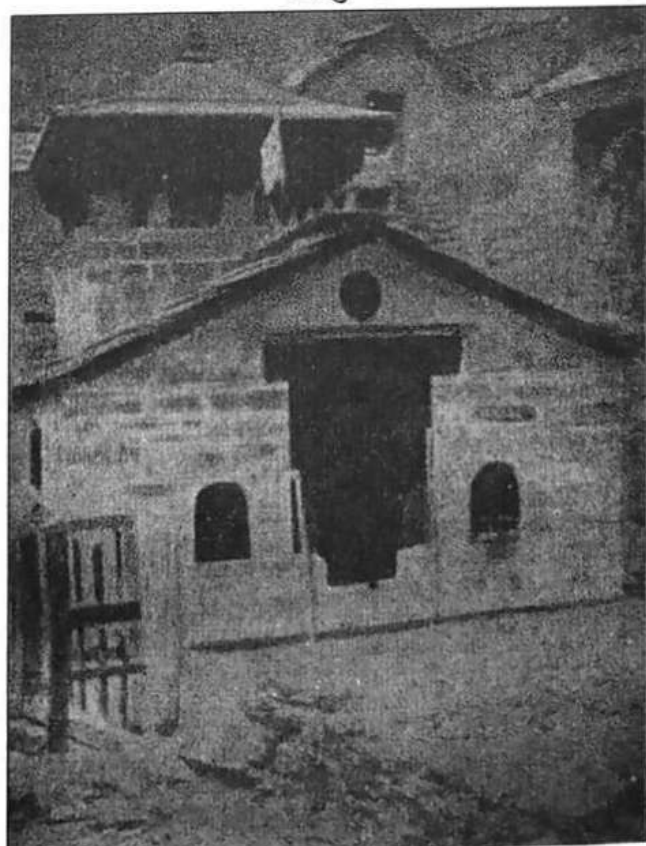
यदि सर्वेश्वरी माँकी कृपा चाहते हो तो आसुरी संपत्तिका त्याग करो, विषयसुखोंसे मनको हटाओ और एक चित्तसे माँका सतत स्मरण करो।

जालन्धरपीठ

(लेखक—स्वामी श्रीतारानन्दजी तीर्थ)

त्रिगर्तप्रदेशमें जालन्धरपीठ नामक एक प्राचीन और सुप्रसिद्ध शक्तिपीठ है। कहते हैं, यहाँ सतीके शवका स्तनभाग पतित हुआ था, जिससे इसे स्तनपीठ भी कहते हैं। लोगोंका विश्वास है कि इस पीठमें सम्पूर्ण देवी, देवता और तीर्थ अंशरूपमें निवास करते हैं, यहाँ पशुकी भी मृत्यु होनेसे उसे सद्गति प्राप्त होती है और इसी कारण यहाँ व्यास, वसिष्ठ, मनु, जमदग्नि, परशुराम आदि ऋषि-महर्षियोंने शक्तिकी उपासना की थी। आज भी यहाँ असंख्य देवी-देवताओंके स्थान और ऋषिमुनियोंके आश्रम मौजूद हैं, जिनके लोग दर्शन किया करते हैं। कहते हैं जलन्धर दैत्यका वध करनेके कारण महादेवजीको जो पाप लगा उसकी शान्तिके लिये उन्हें इसी पवित्र पीठकी शरण लेनी पड़ी थी। यहीं श्रीतारा देवीकी उपासना करनेसे उनका पाप दूर हुआ था। इस पीठका विस्तार प्रायः बारह योजन माना जाता है।

इस पीठकी अधिष्ठात्री देवी त्रिशक्ति—काली, तारा और त्रिपुरा हैं; फिर भी स्तनपीठाधिष्ठात्री श्रीव्रजेश्वरी ही मुख्य मानी जाती हैं। इन्हें विद्याराज्ञी भी कहते हैं। स्तनपीठमें विद्याराज्ञीके चक्र तथा आद्या त्रिपुराकी पिण्डीकी स्थापना है। इनके अतिरिक्त इस पीठके अन्तर्गत अम्बिका, जालपा, ज्वालामुखी, आशापूर्णी, चामुण्डा, तारिणी, अष्टभुजा आदि अनेक देवियों तथा केदारनाथ, वैद्यनाथ, सिद्धनाथ, महाकाल, कुञ्जेश्वर, कालेश्वर, करवीरेश्वर, त्रिलोकनाथ, वीरभद्रेश्वर, नन्दिकेश्वर, पल्लीकेश्वर आदि शिवके स्थान और व्यासाश्रम, मन्वाश्रम (मनाली) जमदग्न्याश्रम, परशुरामाश्रम आदि अनेक ऋषियोंके आश्रम मौजूद हैं। इस स्थानमें वाणगङ्गा, गुप्तगङ्गा, निर्गुण, आस्वाद्यतोया, पुनर्णवा, शिवगङ्गा, विनोदा, क्षीरगङ्गा, कथौद्य, मालिनी आदि नदी-नाले आकर पिपासा नामक नदीमें मिल जाते हैं। इस स्थानका प्राकृतिक दृश्य भी बड़ा ही मनोहर है।

जालन्धरपीठ

आदिशक्ति

तू ही आदिशक्ति! चराचरमें समानी एक, तू ही सर्व व्याप्त नित्य पूरन अखंडी है।
तू ही जन पोषक जगमातु सुखदाई औ, तू ही प्राणिधात्री सब पालत बृह्मंडी है॥
'विश्वनाथ' तू ही मुक्तिदाई भक्तिरूपा है, तू ही रिद्धि सिद्धि शक्ति परम अखंडी है।
तू ही स्वातंत्र्य हेतु अरिदल नासिबेको, कैटभ विमर्दनि प्रचंड रण चंडी है॥

कुँअर विश्वनाथसिंह समथर

श्रीहरसिद्धि देवी

(लेखक—श्रीहरिसिंहजी हाड़ा)

अवन्तिकापुरी (उज्जैन)-में रुद्रसागर नामक तालाबके पश्चिम तटपर माता श्रीहरसिद्धि देवीका मन्दिर है। कहते हैं, सतीके देहत्यागके बाद जब भगवान् शङ्कर उनके शवको कन्धेपर लेकर, शोकमें पागल होकर घूमने लगे तब भगवान् विष्णुने चक्रसे शवको टुकड़े-टुकड़े करके काट डाला। इस तरह सतीके विभिन्न अङ्ग विभिन्न स्थानोंमें जाकर गिरे जो पीछे प्रधान देवीपीठ माने गये। उन स्थानोंमें एक स्थान यह भी है। यहाँपर सतीकी केहुनी गिरी थी इसीसे यहाँ देवीकी कोई प्रतिमा नहीं, वरं केहुनी ही है। उज्जयिनीके माहात्म्यमें श्रीहरसिद्धि देवीका वर्णन इस प्रकार आया है—

प्राचीन कालमें चण्ड, प्रचण्ड नामक दो राक्षस थे, जिन्होंने अपने बल-पराक्रमसे सारे संसारको कँपा दिया था। एक बार ये दोनों कैलासपर गये। जब ये दोनों अन्दर जाने लगे तो द्वारपर नन्दीगणने इन्हें रोका, जिससे क्रोधित होकर इन्होंने नन्दीगणको घायल कर डाला। जब भगवान् शङ्करको यह बात मालूम हुई तो उन्होंने चण्डीका स्मरण किया। देवीने तुरन्त प्रकट होकर शिवजीकी आज्ञाके अनुसार उन राक्षसोंका वध कर डाला। शिवजीने देवीकी विजयपर प्रसन्न होकर कहा कि अबसे संसारमें तुम्हारा नाम 'हरसिद्धि' प्रसिद्ध होगा और
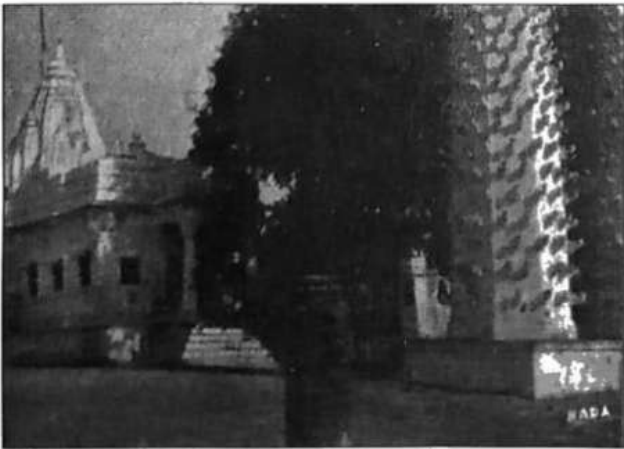
श्रीहरसिद्धि देवी उज्जैन

लोग इसी नामसे तुम्हारी पूजा करेंगे। तबसे माता हरसिद्धि उज्जैनके महाकालवनमें ही विराजती हैं।

इस मन्दिरके चारों ओर पत्थरकी मजबूत चहारदीवारी है, जिसमें चार प्रवेशद्वार हैं। मन्दिरका द्वार पूर्वकी ओर है। मन्दिरमें देवीजीकी प्रतिमाके बदले श्रीयन्त्र बना हुआ है। इस स्थानके पीछे भगवती अन्नपूर्णाकी सुन्दर प्रतिमा है।

मन्दिरके पूर्वद्वारसे लगा हुआ सप्तसागर तालाब है और दक्षिण-पूर्व कोनेमें कुछ दूरीपर एक बावली है, जिसमें एक स्तम्भ बना हुआ है। जगमोहनके ठीक सामने दो बड़े-बड़े दीपस्तम्भ बने हुए हैं। प्रतिवर्ष आश्विन-मासकी नवरात्रमें पाँच दिनतक इनपर दीपमालाएँ लगायी जाती हैं। उस समय सरकारी बैंड और नगारा भी बजता रहता है। उस समय यहाँकी शोभा अपूर्व दिखायी पड़ती है। इन दिनों यहाँ हजारों यात्री दर्शनार्थी आते हैं।

कहते हैं, विक्रमी संवत्के प्रवर्त्तक सम्राट् विक्रमादित्यकी आराध्या देवी यह श्रीहरसिद्धि ही थीं। वह इन्हींकी कृपासे निर्विघ्न शासनकार्य चलाया करते थे! महाराज माताजीके इतने बड़े भक्त थे कि वह हर बारहवें साल स्वयं अपने हाथों अपना सिर उनके चरणोंपर चढ़ाया करते थे और माताकी कृपासे उनका सिर फिर पैदा हो जाता था। इस तरह राजाने ग्यारह बार पूजा की और बार-बार जीवित हो गये। बारहवीं बार जब उन्होंने पूजा की तो सिर वापस नहीं हुआ और इस तरह उनका जीवन समाप्त हो गया। आज भी मन्दिरके एक कोनेमें ग्यारह सिन्दूर लगे हुए रुण्ड रखे हुए हैं। लोगोंका कहना है कि ये विक्रमके कटे हुए मुण्ड हैं। किन्तु इस विषयमें कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं पाया जाता। यह देवी परमारवंशीय राजाओंकी कुलपूज्या हैं। यहाँके पुजारी दशनामी गोसाईं हैं।

यह देवी आज भी बहुत सिद्ध मानी जाती हैं। लोगोंका विश्वास है कि उनकी शरणमें जाने और मनौती मनानेपर अवश्य ही सब प्रकारकी मनोकामना पूरी होती है। यह देवी वैष्णवी हैं। इनकी पूजामें पशुबलि नहीं चढ़ायी जाती।

गढ़की कालिका

उज्जैनमें एक दूसरा देवीस्थान कालिकाजीका भी

है। यह स्थान शहरसे एक मील दूर 'गढ़' पर है। इसीसे 'गढ़की कालिका' के नामसे देवीको पुकारा जाता है। इन्हें महाकाली भी कहते हैं। कहते हैं, महाकवि कालिदासकी यही आराध्या देवी थीं।

कालिकाजीकी मूर्ति बहुत विशाल और भव्य है। मन्दिर पुराने ढंगका है। मन्दिरके प्रवेशद्वारके आगे देवीके वाहन सिंहकी प्रतिमा बनी है और आसपास दोनों ओर धर्मशालाएँ बनी हैं। हर वर्ष नवरात्रमें बड़े धूम-धामके साथ श्रीकालिकाजीकी पूजा होती है।
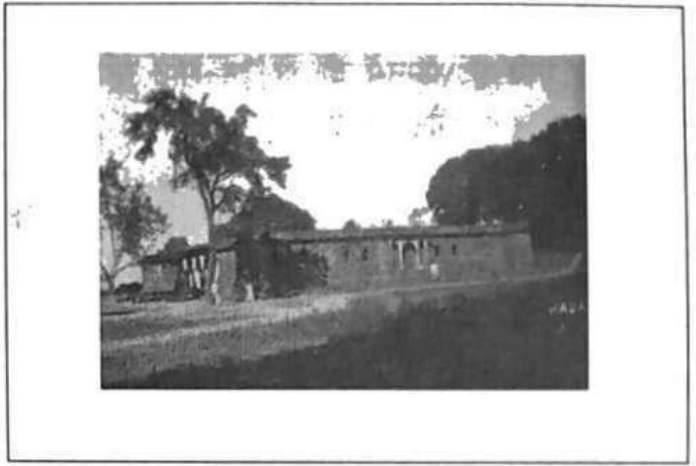
श्रीकालिकाजी उज्जैन

देवी कनकावती (करेडीमाता)

(लेखक—श्रीउत्सवलालजी तिवारी, विशारद)

मालवा भारतका एक प्राचीन और प्रसिद्ध प्रान्त है। इसके अन्दर कितने ही ऐसे स्थान हैं, जो भारतीय गौरवके प्रदर्शक, प्राचीनताके उदाहरणस्वरूप और धार्मिकताकी प्रतिमूर्ति हैं। उन स्थानोंमेंसे बहुत कम स्थान ऐसे हैं जिनका पता वर्तमान जगत्को है। निश्चय ही ऐसे स्थानोंके इतिहासके सङ्कलनकी ओर लोगोंका ध्यान आकर्षित हुआ है और कुछ कार्य भी होने लगा है, किन्तु अभीतक यह काम राजनीतिक और सत्तात्मक दृष्टिसे ही किया गया है या किया जा रहा है; अब धार्मिक दृष्टिसे भी प्रयत्न होने लगा है, यह आनन्दकी बात है।

भारतके प्रत्येक शहर, कस्बे और गाँवमें जो प्राचीन स्मारक (Relics) भूगर्भान्त हो गये हैं, उनके विषयमें कई भ्रामक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं, जिससे वास्तविक इतिहासका पता लगना अत्यन्त दुष्कर हो गया है। यही बात मालवान्तर्गत संस्थानोंके विषयमें भी लागू होती है। यहाँके भी कई स्थान अपना स्वतन्त्र इतिहास रखते हैं। ऐसे ही स्थानोंमें एक 'देवी कनकावती' का स्थान भी है।

देवी कनकावती, मालवा

विशाल विन्ध्यपर्वतकी उत्तरतटीय श्रेणियोंका दृश्य इस स्थानके आसपास अत्यन्त चित्ताकर्षक दिखायी पड़ता है। यहाँ कई भग्नस्तूप अपनी प्राचीनताका परिचय देते हैं और यह बतलाते हैं कि प्राचीन कालमें यहाँ कोई सुदृढ़ दुर्ग और सुन्दर जनस्थान अवश्य था। इसी स्थानके आसपास अवन्तिकाक्षेत्र, माहिष्मती, विदिशा नगरी, विदर्भ (निमाड प्रदेश) और बादशाही शाजापुरकी प्राचीन बस्ती है। इसके पास ही 'पाण्डवखोह' है, जहाँ पाण्डवोंने वनवासके कुछ दिन व्यतीत किये थे, 'गवलिया-खोह', जहाँ ग्वालप ऋषिने कुछ दिनों तपश्चर्या की थी, गिरिवर, जहाँ श्रीबजरङ्गकी चमत्कारिक मूर्ति है तथा अन्य कई प्राचीन देवस्थान हैं। देवीजीके मन्दिरके आसपास चारों ओर दो-दो, तीन-तीन मीलतक कई मूर्तियाँ हैं और सतियोंके स्तूप बने हुए हैं। मन्दिरके
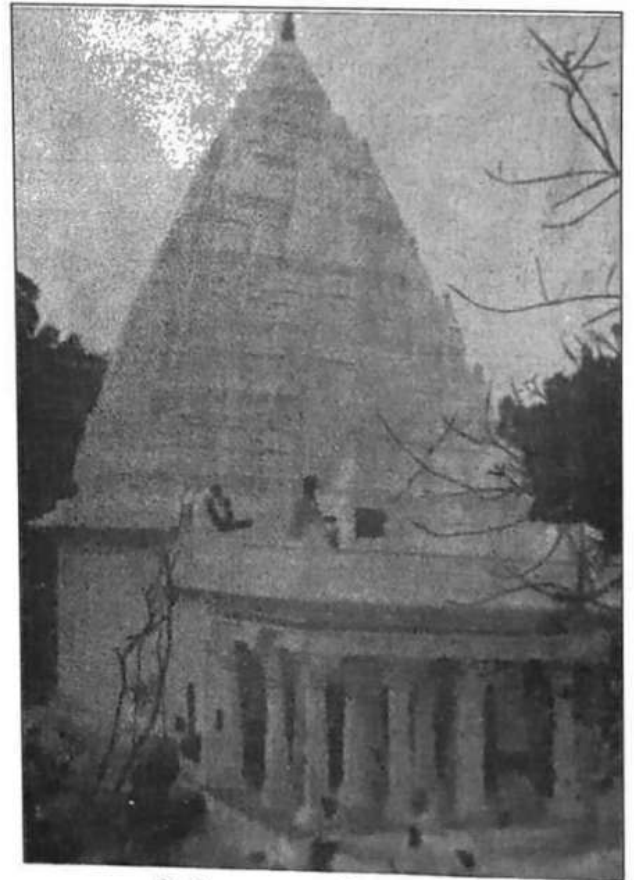
अन्दर और बाहर जलकूप बना है और सिंहद्वारपर चार शिलालेख लगे हैं, जिनमें दो तो टूट-फूट गये हैं और दोपर इतना तेल और सिन्दूर लोगोंने देवता समझकर चुपड़ दिया है कि उनके लेख अत्यन्त अस्पष्ट हो गये हैं और कुछ समझमें नहीं आता।

यह मन्दिर कब बना और किसने इसे बनाया, इसका कुछ भी पता नहीं लगता। इसके विषयमें कितनी ही किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। कहते हैं, प्राचीन समयमें बनजारे (व्यापारीसंघ) बैलोंपर माल लादकर यहाँ आते थे और यहीं बाजार लगता था। वे व्यापारी अपनी आयका कुछ भाग धर्मार्थ अपने मुखियाके पास जमा कर दिया करते थे, जो उस रकमको किसी सुरक्षित स्थानमें गाड़ देता था। एक बार जब उसने गढ़ा खोदना शुरू किया तो उसे उस स्थानमें बहुत-सा धन गड़ा हुआ मिला। जब यह बात सबको मालूम हुई तो लोगोंने व्यापारियोंसे कहा कि वह स्थान अष्टभुजा देवीका है। यह सुनकर उस व्यापारीसंघने उस देवीस्थानपर उस प्राप्त धनसे एक सुन्दर मन्दिर बनवा दिया और उसी स्थानके आसपास अपना बाजार भी लगाना प्रारम्भ कर दिया। फलतः आज भी होलिकोत्सवके पश्चात्, रंगपञ्चमीके उपरान्त जो प्रथम मङ्गलवार आता है, उस दिन यहाँ एक बड़ा मेला लगता है, जो 'करेडीमाताका मेला' कहलाता है। इसमें दूर-दूरसे व्यापारी और दर्शक आते हैं। यह मन्दिर आजकल इन्दौरराज्यके अन्तर्गत है, अतएव मेलेमें इन्दौरराज्यकी तरफसे पर्याप्त प्रबन्ध रहता है। इस मन्दिरके पास ही 'करेडी' नामका एक गाँव है, इससे इस मन्दिरको 'करेडीमाताका मन्दिर' भी कहते हैं।

कोई-कोई कहते हैं कि जब श्रीछत्रपति शिवाजी महाराजने बादशाही स्थान शाजापुरपर विजयपताका फहरायी थी और विजयचिह्न अङ्कित किया था, जो आज भी वहाँ ओंकारेश्वर महादेवके मन्दिरके पास विद्यमान है, तब उन्होंने श्रीदेवीके दर्शन भी किये थे। कहते हैं, स्वप्नमें स्वयं देवीने उन्हें राजमुकुट पहनाया था। इसीसे महाराज शिवाजीने इस स्थानको चमत्कारिक समझकर यहाँ अपना एक सुदृढ़ दुर्ग बनवा दिया।

इस मन्दिरके आसपास जो टूटी-फूटी मूर्तियाँ पड़ी हैं, उनमें सर्पोंके चिह्न बहुत बने हैं। इस कारण लोगोंका अनुमान है कि किसी समय यहाँ नागवंशीय राजाओंका राज्य था और यह मन्दिर भी उनके अधिकारमें था। खैर, बात जो कुछ हो, इनसे यह अवश्य मालूम होता है कि यह मन्दिर बहुत प्राचीन है।

वर्तमान समयमें देवीके पूजनादिका प्रबन्ध इन्दौर-राज्यकी ओरसे है। इसके लिये पुजारियोंको माफी जमीन मिली है। लगभग तीन सौ वर्षोंसे शाजापुरका एक औदीच्य ब्राह्मण परिवार प्रति मङ्गलवारको देवीके मन्दिरमें सप्तशतीका पाठ और पूजन करता आ रहा है।

मन्दिरके पास ही एक जलाशय (तालाब) और एक जलकूप है, जिनका पानी अत्यन्त आरोग्यवर्द्धक है। इस मन्दिरसे दस-बारह मीलकी दूरीपर ही उज्जैनकी कालिका और देवासकी भगवती देवीका मन्दिर है। इन भगवती, कालिका और अष्टभुजावाली देवीके दर्शन करनेके लिये की गयी यात्राको 'त्रिकोण' यात्रा कहते हैं। कहते हैं, पौराणिकोंने इन्हें ही कौशिकी, कात्यायनी और चण्डिका आदि लिखा है। कौशिकीने जिस समय चण्ड, मुण्ड नामक राक्षसोंसे युद्ध किया था, उस समय उनके ललाटसे कालीकी उत्पत्ति हुई। अष्टभुजावाली देवीकी उत्पत्ति गोकुलमें यशोदाके गर्भसे ठीक उसी समय हुई थी, जिस समय मथुरामें देवकीके गर्भसे श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए थे। वसुदेवजी रातों-रात गोकुल जाकर श्रीकृष्णको वहाँ रख आये और उस महामायाको अपने यहाँ ले आये। दूसरे दिन सबेरे जब कंसने उन्हें पटककर जानसे मार डालना चाहा तो वह आसमानमें उड़ गयीं और कंसको सावधान करती गयीं। उन्हींकी पूजा भारतमें कई जगह अष्टभुजावाली देवीके नामसे होती है। यहाँपर देवीकी अष्टभुजावाली मूर्ति बड़ी ही भव्य है और सिंहपर सवार है। उनके एक हाथमें कटोरीके आकारका खप्पर है, जिसमें कहते हैं, बारहों महीने पानी भरा रहता है। इस चमत्कारपूर्ण विशेषताको देखनेके लिये बहुत दूर-दूरसे दर्शक आते हैं। मन्दिरकी बनावट भी सुन्दर और प्राचीन कलाका अच्छा नमूना है। मन्दिरके आसपास जो खँडहर है, उसे खोदनेसे कहीं-कहीं चार-चार, पाँच-पाँच गज लम्बी देवताओंकी मूर्तियाँ निकलती हैं। कहीं चौक और दालान दिखायी पड़ते हैं, कहीं सतियोंके पक्के चबूतरे निकलते हैं, कहीं सुन्दर मकानोंके भग्नावशेष पाये जाते हैं। यह स्थान, श्रीदेवीकी मूर्ति और मन्दिर सब दर्शनीय हैं। यहाँपर पहुँचनेके लिये इन्दौर, तराना, उज्जैन, महिदपुर और शाजापुरसे रास्ते हैं; किन्तु आगरा-बम्बई रोडपर स्थित शाजापुर शहरसे आने-जानेका मार्ग अधिक समीपका है।

श्रीदेवीजीका मन्दिर, महिदपुर

(लेखक—श्रीराधाकृष्ण गान्धी 'सन्तोषी')

शहर महिदपुर (मालवा)-से एक मील दूर महिदपुर किलेके सामने दक्षिणकी ओर एक ऊँचे टीलेपर श्रीदेवीका एक प्राचीन मन्दिर है। इस मन्दिरके एक ओर पुराने स्कूलकी इमारत तथा तीन ओर ईंटका टूटा-फूटा परकोटा है। पश्चिम ओर कुछ दूरीपर श्रीक्षिप्राजीका रमणीय घाट है। यहाँका प्राकृतिक दृश्य बड़ा सुन्दर और मनोहर है। इस मन्दिरको किसने और कब बनवाया था, इसका कुछ भी पता नहीं लगता।

मन्दिरके भीतर श्रीदेवीकी श्यामवर्ण चतुर्भुजी मूर्ति है, जिसके हाथोंमें शङ्ख, गदा, ढाल है। सिरके ऊपर जलाधारीसहित भगवान् आशुतोषका एक छोटा-सा सुन्दर बाण है, जिसपर शेषजी अपना फन फैलाये हुए हैं। प्रतिमा बड़ी ही सुन्दर और चित्ताकर्षक है। यहाँपर आश्विनमासमें विशेषरूपसे पूजा होती है और सुदी १ से ९ तक मन्दिरमें अखण्ड ज्योति जला करती है। अष्टमीके दिन हवन होता है और उस दिन रातके जागरणका माहात्म्य है। इन्हीं दिनों अधिक लोग दर्शनके लिये आते हैं।

यह मन्दिर होल्करराज्यमें पड़ता है। मन्दिरकी पूजा-अर्चाके लिये राज्यकी ओरसे मासिक रुपयेकी व्यवस्था है और कुछ माफी जमीन मिली हुई है।

श्रीदेवीजीका मन्दिर, महिदपुर

अम्बिकास्थान

(लेखक—श्रीगौरीशङ्करजी गनेड़ीवाला)

श्रीदुर्गासप्तशतीमें वर्णित राजा सुरथ और समाधि वैश्यका नाम प्राय: सब लोग जानते ही हैं। राजा अपने शत्रुओंसे हारकर और मन्त्री-पुत्रादिद्वारा राजसिंहासनसे उतार दिये जानेपर, तथा समाधि अपने पुत्रोंद्वारा घरसे निकाले जानेपर एक ही स्थानमें पहुँचे और दोनों आदमी साथ ही मेधस् मुनिके आश्रममें गये। वहाँ मुनिको उन लोगोंने अपनी कष्टकहानी सुनायी और उपदेशके लिये प्रार्थना की। मुनिने उन लोगोंको जीवनका वास्तविक रूप और सच्चा ज्ञान बतलाते हुए उन्हें महामाया आद्याशक्तिकी शरणमें जानेकी सलाह दी। बस, वहाँसे वे दोनों किसी नदीके तटपर एक गहन वनमें चले आये और जगन्माताकी एक मिट्टीकी मूर्त्ति बनाकर उनकी आराधना और तपस्या करने लगे, जहाँ अन्तमें भगवती

महीमयी

अम्बिकाने साक्षात् प्रकट होकर उन्हें दर्शन दिये और उनकी मनोकामना पूरी की।

बहुत-से लोगोंका विश्वास है कि यह तपोभूमि बी० एन० डब्ल्यू० रेलवेके दिघवारा (सारन) स्टेशनसे दो-ढाई मील पश्चिम गङ्गातटपर है, जहाँ आज दिन भी अम्बिकाजीका एक भव्य मन्दिर वर्तमान है। इस स्थानपर चैत्र और आश्विनके नवरात्रोंमें मेला लगता है और दूर-दूरसे दर्शनार्थी बहुत बड़ी संख्यामें आया करते हैं। यह महीमयीदेवी कहलाती हैं। कोई-कोई इन देवीजीका स्थान खरीदमें बतलाते हैं।

कंकाली देवी

(लेखक—श्रीराधाकृष्णजी भार्गव)

श्रीमधुपुरीमें एक बहुत प्राचीन शक्तिका मन्दिर है। जिस स्थानपर यह मन्दिर स्थित है उसको 'कंकाली टीला' कहते हैं। इसी स्थानपर पहले जैनियोंका मन्दिर था और बौद्धोंका विहार था। कंकाली टीलेकी निकली हजारों मूर्तियाँ मथुरा, लखनऊ, कलकत्ता एवं लन्दनतकके अजायबघरोंको सुशोभित कर रही हैं। आरकोलॉजिकल विभागने अच्छी तरह इस भूमिको चारों ओरसे खोद डाला है परन्तु यह मन्दिर अभी ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। कारण यह है कि देवीजी अपने मन्दिरका जीर्णोद्धारतक नहीं करने देतीं। इस भूमिके स्वामी पण्डित तुलारामने श्रीदेवीजीके मन्दिरके पीछे नींव खुदवाना आरम्भ किया तो जमीनमेंसे 'बन्द करो, बन्द करो' की आवाज खोदनेवालोंको सुनायी दी। उन्होंने पं० तुलारामजीको इस बातकी सूचना दी। परन्तु उन्होंने खुदाई बन्द नहीं की। परिणाम यह हुआ कि पं० तुलारामकी खुदाई आरम्भ करनेके ठीक पाँचवें दिन अनायास मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् किसीका साहस उस मन्दिरको छेड़नेका नहीं हुआ। पं० तुलारामने इस भूमिको राजा सेठ लक्ष्मणदास सी० आई० ई० से खरीदा था और उक्त राजा साहबने कई बार उद्योग किया परन्तु देवीजीको हटाकर मन्दिर वह भी नहीं बनवा सके। इस स्थानपर बहुधा सन्त-महात्मा आते रहते हैं और भूमिको अलौकिक बताते हैं। थोड़े ही दिन हुए श्रीदेवीजीने सेंदूरका चोला जो बहुत दिनका चढ़ा हुआ और बहुत पुष्ट था, छोड़ दिया, जिसके भीतरसे तीन दिव्य मूर्तियाँ पाषाणकी निकली हैं।

१. श्रीकंकाली—कंकालकी माला धारण किये हुए वक्रमुखी सिंहपर सवार है। आकृति अत्यन्त क्रोधित है।

२. श्रीमहादुर्गा—प्रसन्नवदना सिंहारूढ़ है और आगे लांगुरिया ध्वजा हाथमें लिये हुए है।

३. सिंहशार्दूल—बिना किसी सवारके है।

कंकाली देवी
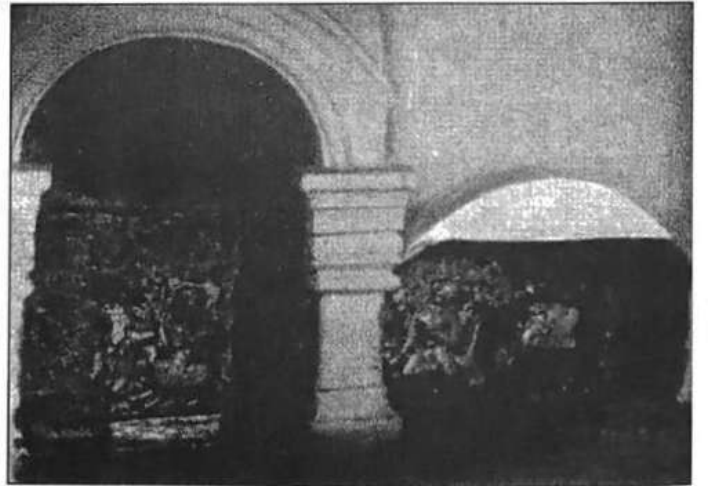
श्रीमहादुर्गा और सिंहशार्दूल

इस वर्ष वर्षाके कारण मन्दिरकी छत गिर गयी थी। अस्तु, पुरानी नींवपर ही मन्दिर ज्यों-का-त्यों पटवा दिया गया है।

एक लोकोक्ति यह भी है कि श्रीयशोदाजीके गर्भसे जो कन्या उत्पन्न हुई थी और जिसको श्रीवसुदेवजी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके बदले ले आये थे, उस कन्याको राजा कंसने इसी स्थानपर पत्थरपर दे मारा था और इसी कारण यह कंसकालीके नामसे प्रसिद्ध हुई। समय पाकर कंसकालीका अपभ्रंश कंकाली हो गया।

श्रीदुर्गामन्दिर, रामनगर

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मीदत्तजी मिश्र, रामनगर)

रामनगर (बनारस)-के प्रसिद्ध स्व० महाराज श्रीमान् चेतसिंहजीने सन् १७७० में राजतिलक होनेके बाद सुमेरमन्दिर, तालाब और रामबाग बनवाना शुरू किया। महाराजने बड़े शौकके साथ यह काम शुरू किया था और उनकी इच्छा थी कि ये चीजें उत्तम-से-उत्तम तैयार हों। मन्दिरमें कारीगरीका काम करनेके लिये दूर-दूरसे बड़े कुशल कारीगर बुलाये गये थे। तालाब और रामबागका काम तो थोड़े दिनोंमें पूरा हो गया, किन्तु मन्दिरका काम अधिक बारीक होनेके कारण अभी चल ही रहा था। इसी बीच अंगरेजोंके साथ झगड़ा हो जानेके कारण महाराजको ग्वालियर चला जाना पड़ा और मन्दिरका काम बीचमें ही रुक गया। उसके बाद सन् १८५५ ई० तक मन्दिर ज्यों-का-त्यों पड़ा रहा। इस समय स्व० महाराज श्रीमान् ईश्वरीप्रसादनारायणसिंह बहादुर काशीके राज्यसिंहासनपर विराजमान थे। इन्होंने एक बार श्रीकाष्ठजिह्वा देवतीर्थ स्वामीजीके दर्शन किये और अपने दुःख-सुखकी बात कही। श्रीस्वामीजीने उन्हें श्रीदुर्गाजीका एक पद बनाकर नित्य पाठ करनेके लिये दिया और साथ ही सुमेरमन्दिर बनवाकर उसमें श्रीदुर्गापञ्चायतनकी स्थापना करनेकी आज्ञा दी। महाराजने तुरन्त उसके अनुसार मन्दिरको पूरा कराकर वैशाख शुक्ल १२ सन् १९१२ वि० को श्रीदुर्गापञ्चायतनकी स्थापना करायी और उसी समय मन्दिरके भोगराग, पुजारी, सिपाही आदिके खर्चके लिये एक गाँव मन्दिरके सपुर्द कर दिया। कहते हैं, माता दुर्गाजीकी कृपासे महाराजके सारे मनोरथ पूरे हो गये।

श्रीदुर्गाजीका यह मन्दिर कलाकी दृष्टिसे भी उच्च कोटिका समझा जाता है। मन्दिरके ऊपर चारों ओर हिन्दूधर्मानुसार भगवान्‌के अवतार तथा देवी-देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाले अनगिनत चित्र बने हुए हैं जो बड़े ही सुन्दर और कलापूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त तरह-तरहके बेल-बूटे और अन्य प्रकारके भी चित्र अङ्कित हैं, जो मन्दिरकी शोभा बढ़ा रहे हैं।

वर वाहन ते वर वाहन ते वर वीरनको रनमैं छरकी।
वर भारती ते वर भारती ते वर मूरति राजति औढरकी॥
वर तातन ते कवि देवी यहै बरदा तर ऊपर भूपरकी।
वर माँहि बराबरिको करिहै वरवरनिनि है वरदावरकी॥
जहँ ललाम लीला ललित लखत लोग लय लाय।
पद पावन पावत परम परत न पुनि भव आय॥

सुमेरमंदिरका चित्र
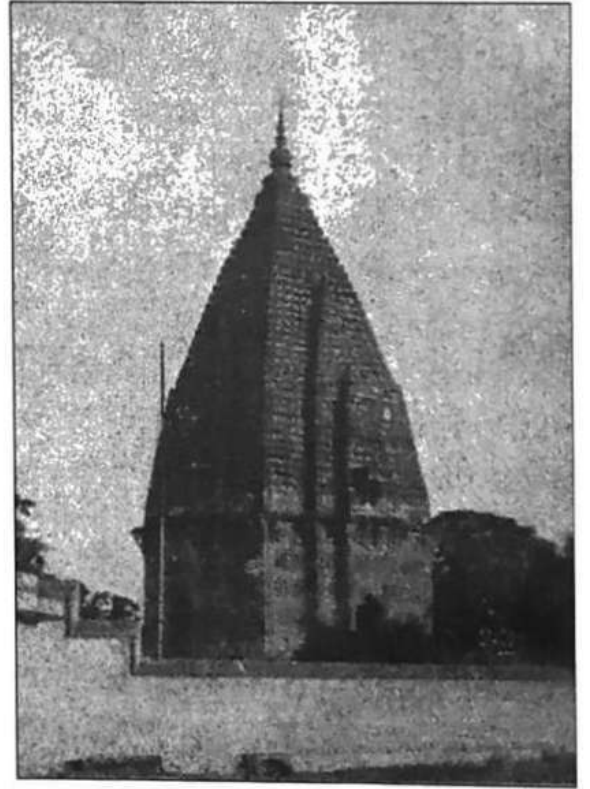
श्रीदुर्गामन्दिर, रामनगर

महादेवी आद्या शक्ति

(लेखक—श्रीसूर्यनारायणसिंहजी)

श्रीदुर्गासप्तशती तथा अन्य पुराणोक्त राजा सुरथ और समाधि बनियाके मेधस् मुनिकी शरणमें जानेकी कथा प्रसिद्ध है। कहते हैं, राजा सुरथका मकान बलिया जिलाके अन्तर्गत सुरहा झीलके अन्तर्गत था और वहाँसे वह तीन योजन (बारह कोस)-की दूरीपर गहन वनमें गये थे। यह गहन वन सम्भवतः बलियाका वर्तमान खरीद परगना था और मेधस् मुनिका आश्रम कहीं इधर ही था। मुनिकी आज्ञासे राजा सुरथ और समाधिने सरयू

नदीके तटपर ही जगन्माता आद्या शक्तिकी मृत्तिकामयी मूर्ति बनाकर आराधना की और कठिन तपश्चर्या की। उनकी पूजा-अर्चा तथा तपसे प्रसन्न होकर महामाया साक्षात् प्रकट हुईं और उन्होंने दोनों भक्तोंको मुँहमाँगा वरदान दे उनका मनोरथ पूरा किया। कहते हैं, राजाने अन्तमें श्रीदेवीसे यह भी प्रार्थना की कि इस शुभ घटनाकी स्मृतिमें आपकी पापनाशक, देवदुर्लभ भव्य मूर्त्ति कलिमलनाशके हेतु इसी स्थानपर स्थित हो जाय। भक्तकी इस प्रार्थनापर एक स्वर्णमयी मूर्त्ति तुरन्त प्रकट हो गयी और वह आजतक मनीयरके पास वर्तमान है।

यह मूर्ति महादेवी आद्याशक्तिकी मालूम होती है और देखनेहीसे उसकी प्राचीनताका बोध होता है। यह चतुर्भुजी मूर्त्ति कमलासनपर बैठी हुई योगमुद्रासे युक्त है। इसके एक हाथमें शूल, दूसरेमें अमृतका घड़ा, तीसरेमें खप्पर और चौथेमें अभयमुद्रा है। इस तेजोपुञ्ज मूर्त्तिके सामने जाते ही श्रद्धासे मस्तक नत हो जाता है, मानो साक्षात् देवीके ही दर्शन हुए हों। दर्शनमात्रसे कुछ समयके लिये षट्विकार तिरोहित हो जाते हैं और अलौकिक पवित्रता तथा आनन्दका अनुभव होता है। उस समय सहसा यह विश्वास होने लगता है कि यह स्थान वास्तवमें कोई सिद्धपीठ है। कहते हैं, श्रीदेवीकी ऐसी अलौकिक मूर्त्ति कहीं देखनेको नहीं मिलती। यहाँपर अभीतक सरयूजीके तटपर राजा सुरथ तथा समाधिद्वारा पूजित वह मृत्तिकामूर्त्ति भी वर्तमान है। यहाँपर राजाका बनवाया हुआ एक तालाब भी भग्नावस्थामें पाया जाता है।

देवीमन्दिर, मनीयर

श्रीलयराई देवी

(लेखक—श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)

यस्याः कृपापाङ्गतरङ्गभङ्गी
सद्योऽनलं स्पर्शसुखं विधत्ते।
सा वैष्णवी शक्तिरुरुप्रभावा
वर्वर्ति लोके लयराम्बिकाख्या॥

यह देवीका स्थान गोवा प्रान्तमें अति प्रसिद्ध है। प्रतिवर्ष वैशाख शुक्ला पञ्चमीको यहाँ हजारों यात्री आते हैं। पञ्चमीके रातको गाँवसे बाहर एक वटवृक्षके नीचे लकड़ियोंका ढेर जमाकर उसमें आग लगा दी जाती है। कई घण्टे लकड़ियाँ जलनेपर जब उसके अंगारे हो जाते हैं तब हजारों व्रत लिये हुए लोग नंगे पाँव उनपरसे चलते हैं। इस अद्भुत चमत्कारको देखनेके लिये ईसाई आदि परधर्मी लोग भी आया करते हैं और यह दृश्य देखकर बड़ा अचरज मानते हैं। अन्यान्य देवीस्थानोंकी भाँति यहाँ नवरात्रमें पशुबलि नहीं दी जाती। मदिरा भी नहीं चढ़ती। इस गाँवमें देवीकी सम्मानरक्षाके लिये कोई मनुष्य घोड़ेपर चढ़कर नहीं निकलता।

श्रीदेवीमन्दिर, बेरी

(लेखक—श्रीबुद्धरामजी छारिया)

बेरी (रोहतक)-में श्रीदेवीका एक प्राचीन भव्य मन्दिर है। इस बातका कुछ भी पता नहीं कि इस मन्दिरको किसने और कब बनवाया, किन्तु कहते हैं, इस देवीकी स्थापना दुर्वासा ऋषिने की थी। यह मन्दिर पहले जंगलमें था; किन्तु आज वह जंगल सुरम्य स्थानमें परिणत हो गया है। जब यहाँ जंगल था, तब रातमें मन्दिरमें जानेमें लोगोंको भय मालूम होता था, अतएव लोगोंने एक सुन्दर-सा मन्दिर गाँवमें भी बनवा लिया और तबसे श्रीदेवीजीकी प्रतिमा सबेरे पाँच बजे बाहर आती है और बारह बजे दिनको फिर भीतर चली जाती है।
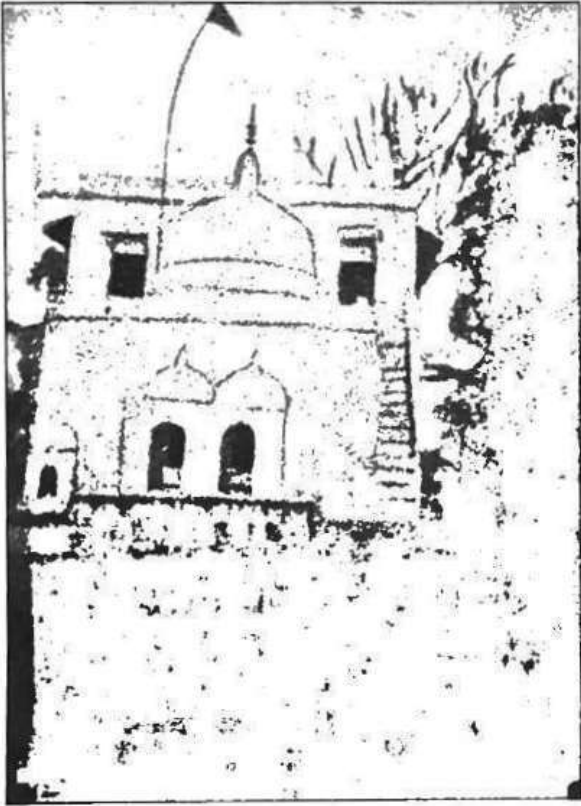
देवीमन्दिर, बेरी

श्रीदेवीजीकी पूजा प्रात:-सायं दोनों समय विधिपूर्वक होती है, जिसमें गाँवके बहुतेरे आदमी शामिल होते हैं। मन्दिरमें लगभग बीस मन वजनका एक घण्टा है, जिसकी आवाज बहुत दूरतक सुनायी पड़ती है। मन्दिरमें बारहों मास अखण्डरूपसे घीका दीपक जला करता है। इस देवीको कभी पशुबलि नहीं दी जाती। यहाँपर आश्विन और चैत्र शुक्ल ७ और ८ को, सालमें दो बार मेला लगता है, जिनमें हजारों दर्शक दूर-दूरके स्थानोंसे आते हैं।

भगवती बगलामुखी, होशंगाबाद

(लेखक—श्री पी० एम० कालेलकर)

काशीनिवासी पं० श्रीविजयनारायणजी मन्त्रतन्त्र-शास्त्रीने फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी सं० १९८१ वि० को होशंगाबादमें श्रीबगलामुखी भगवतीकी स्थापना की। यह स्थान दुर्गाकुटीके नामसे विख्यात है। यहाँपर
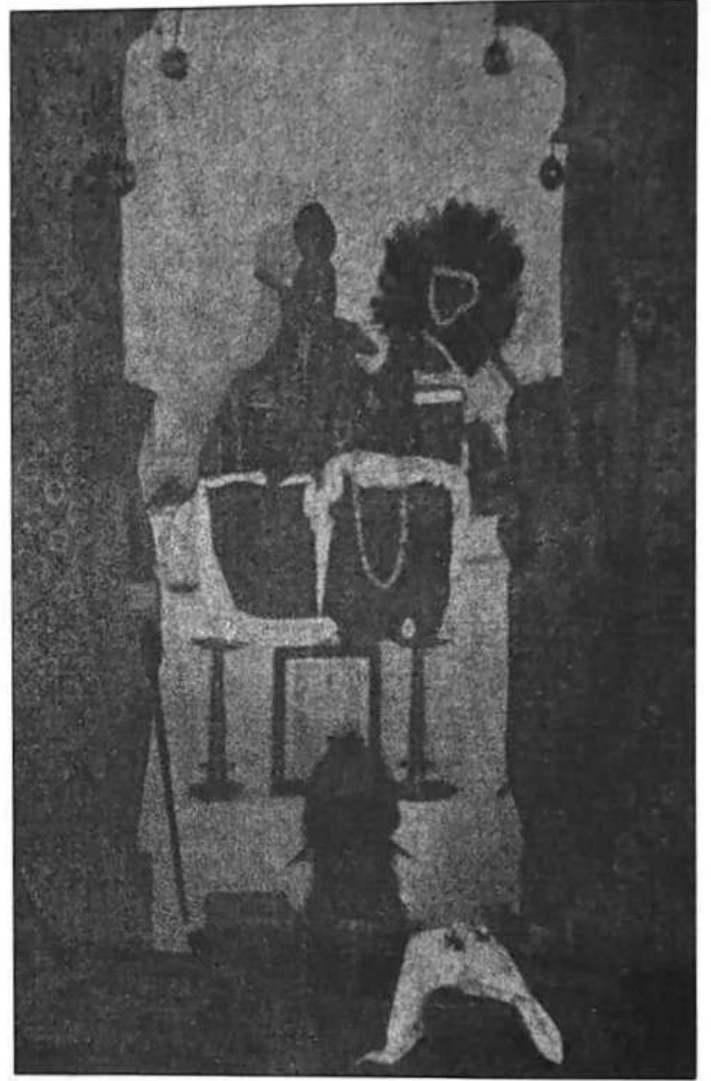
भगवती बगलामुखी, होशंगाबाद

सालमें तीन बार दोनों नवरात्रों तथा महाशिव-रात्रिके दिन तान्त्रिक रीतिके अनुसार श्रीशास्त्रीजीद्वारा भगवतीका पूजन होता है, जिसमें बहुत-से लोग सम्मिलित होते हैं। कहते हैं, भगवतीकी कृपासे अनेक दु:खी मनुष्योंका दु:ख शमन हुआ है। श्रीशास्त्रीजी देवीजीके अनन्य उपासक हैं, देवीजीकी भी आपपर बराबर कृपा रहती है, जिसे प्राय: यहाँके सब लोग जानते हैं।

श्रीकूलकुल्या देवी

(लेखक—पं० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय, शास्त्री 'राम')

बौद्धोंके प्रधान तीर्थ कुशीनगर (कसिया)-से छः मील दूर अग्निकोणकी ओर एक प्राचीन वन है। यद्यपि इस वनका अधिक भाग काटकर आजकल खेत बना लिया गया है तथापि इसका दीर्घ विस्तार दस मीलसे कम नहीं है। यह वन मेखलाकी भाँति दो छोटी नदियोंसे कुण्डलित है। यहाँका प्राकृतिक सौन्दर्य बड़ा ही मनोहर है।

इसी वनके मध्यभागमें नदीतटके समीप एक महामहिम श्रीदुर्गाका स्थान है। कुल्या (छोटी नदी)-के कूलपर निवास होनेके कारण इनका नाम 'कूलकुल्या' (कुलकुला) पड़ गया है और इसी नामके आधारपर इस वनको 'कुलकुलास्थान' कहते हैं। कहते हैं, यह देवी मन्दिरमें रहना पसन्द नहीं करतीं, इसी कारण एक छोटी चहारदीवारीके अन्दर चबूतरेपर इनका स्थान है। यहाँपर प्रतिवर्ष चैत्र रामनवमीके अवसरपर सप्ताहोंतक एक बहुत बड़ा मेला लगता है, अब कुछ वर्षोंसे रियासत दिलीपनगर (कुँड़वा)-के सुप्रबन्धसे पशुओंकी प्रदर्शिनी भी होती है। जिनके पशु अधिक पुष्ट होते हैं, उन्हें उपहार दिया जाता है। इस नवीन आयोजनके लिये वहाँके धर्मप्रेमी तथा प्रजावत्सल रईस बाबू श्रीसम्पतिकुमार सिंहजी विशेष धन्यवाद देने योग्य हैं। यहाँपर अन्य शक्तिपीठोंकी तरह पशुबलि नहीं होती। जिन्होंने अज्ञानवश कभी यहाँ पशुबलि दी, उनका अमङ्गल ही हुआ है। यह देवी बहुत जागृत मानी जाती हैं। आज भी अनेक साधक श्रीदेवीकी शरणमें रहकर जप-तप किया करते हैं।

देवीके स्थानसे दो-तीन बीघे दूर दक्षिण ओर कूलकुल्येश्वरनाथका प्राचीन मन्दिर है। इसकी स्थापना कब हुई थी और किसने की, इसका पता नहीं लगता। यहाँ शिवरात्रिके दिन मेला लगता है।

कूलकुल्या देवीकी मृन्मयी मूर्ति
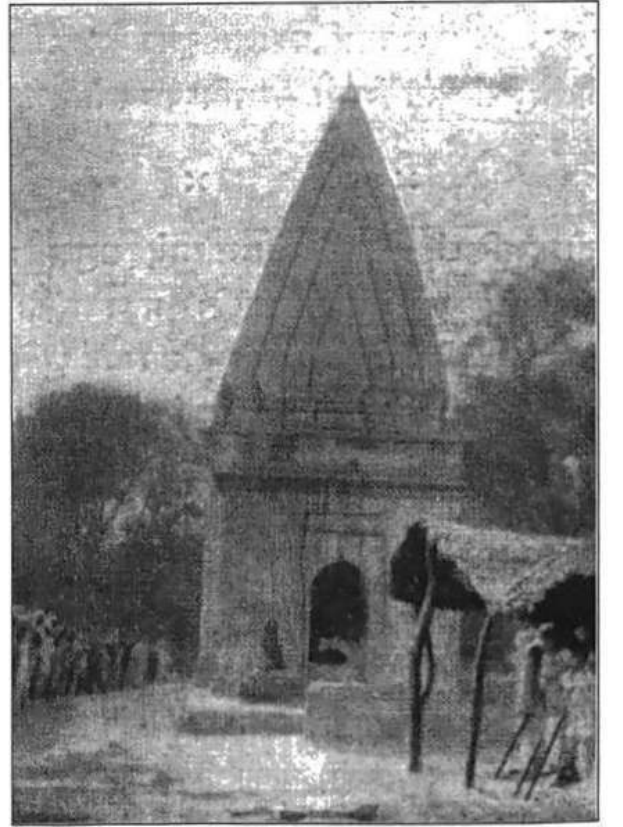
कूलकुल्येश्वर महादेव

सहारनपुरमें दो पौराणिक शक्तिपीठ

(लेखक—पं०श्रीकन्हैयालालजी मिश्र 'प्रभाकर', विद्यालंकार, एम० आर० ए० एस०)

संस्कारवश मुझे एक ऐसे वंशमें जन्म लेने और ऐसे पिताकी गोदमें खेलनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, जो अपने नगरमें अपनी आस्तिकता और पाण्डित्यके लिये प्रसिद्ध थे।

फलस्वरूप मैं ग्यारह-बारह वर्षकी ही उम्रमें 'दुर्गासप्तशती' का पाठ करने लगा था; तबसे अबतक मैं इस ग्रन्थके सैकड़ों पाठ कर चुका हूँ, पर मैंने जब इसे पढ़ा, तभी मुझे एक नये रस और नये आनन्दका ही अनुभव हुआ।

लेखक पुराणोंको भारतीय इतिहासकी आधारशिला मानता है और उसका विश्वास है कि इनके आधारपर अध्यवसायपूर्वक खोज होनेपर हम अनेक ऐतिहासिक महापुरुषों और स्थानोंका पता पा सकते हैं। ऐसे ही दो स्थानोंका वर्णन यहाँ दिया जाता है—

देवशत्रु महाबल शुम्भ और निशुम्भके वधके बाद देवताओंकी प्रार्थनाके उत्तरमें, भगवती कल्याणसुन्दरीने देवताओंको आश्वासन देते हुए स्वयं श्रीमुखसे कहा है—

भूयश्च शतवार्षिक्यामनावृष्ट्यामनम्भसि।
मुनिभिः संस्तुता भूमौ सम्भविष्याम्ययोनिजा॥

× × × ×

ततोऽहमखिलं लोकमात्मदेहसमुद्भवैः।
भरिष्यामि सुराः शाकैरावृष्टेः प्राणधारकैः॥
शाकम्भरीति विख्यातिं तदा यास्याम्यहं भुवि।
तत्रैव च वधिष्यामि दुर्गमाख्यं महासुरम्॥
दुर्गादेवीति विख्यातं तन्मे नाम भविष्यति॥

अर्थात् 'भविष्यमें एक बार बड़ी भारी अनावृष्टि होगी—अकाल पड़ेगा। उस समय मैं मुनियोंके आह्वानपर 'अयोनिज' रूपसे उत्पन्न हूँगी और 'अपनी देहसे' इतना शाक उत्पन्न करूँगी कि उससे वृष्टि होनेतक संसारके प्राणोंकी रक्षा होगी। इसके बाद वहीं—उसके आसपास ही—दुर्ग नामके राक्षसका वध करनेके कारण दुर्गाके नामसे मेरी प्रसिद्धि होगी।'

इस प्रकरणमें शाकद्वारा अकालपीड़ित जनताकी रक्षा और दुर्ग नामक राक्षसका वध—ये दो घटनाएँ इतिहासप्रेमी पाठकोंका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करनेवाली हैं। मेरा विश्वास है कि ये दोनों घटनाएँ सहारनपुर जिलेमें ही घटित हुई थीं।

अपने इस विश्वासको सिद्ध करनेके लिये मुझे अधिक ऊहापोहकी आवश्यकता नहीं, सहारनपुर जिलेमें स्थित शाकम्भरी और दुर्गाके प्रसिद्ध मन्दिर स्वयं इसकी पुष्टि कर रहे हैं।

शाकम्भरीपीठ

सहारनपुरसे उत्तरकी ओर कुछ ही मीलपर शाकम्भरीका प्रख्यात मन्दिर है। यह स्थान दो पहाड़ियोंके बीचमें बना हुआ है और इस मन्दिरके सामने ही एक पहाड़ी झरना बहता है। दृश्य इतना मनोरम और प्राकृतिक है कि यहाँ आकर नास्तिकमें भी भावुकता जाग उठती है।

प्रतिवर्ष यहाँ आश्विन शुक्ल चतुर्दशीको एक मेला लगता है। इसमें दूर-दूरके हजारों यात्री भगवतीके दर्शनार्थ एकत्रित होते हैं। तीन-चार दिन बड़ी चहल-पहल रहती है।

आस्तिक जनतामें यह एक सिद्धपीठ माना जाता है और अनेक उपासक वर्षमें यहाँ आकर विविध अनुष्ठान करते रहते हैं।

इस पहाड़पर 'सराल' नामका एक फल (मूल) बहुत होता है, जो मूलीके ढंगका, पर खानेमें मीठा होता है। जमीनको जरा कुरेदते ही निकल आता है। इस मेलेका यह प्रसाद है और इस अवसरपर सैकड़ों मन बिकता है।

इस फलकी बहुतायतसे शाकद्वारा अकाल-पीड़ितोंकी रक्षाका बहुत सुन्दर सामञ्जस्य होता है।

अलङ्कारोंके प्रेमी और नवरुचि पाठकोंके लिये उक्त श्लोकोंमें 'अयोनिजा' और **'आत्मदेहसमुद्भवैः'** विशेषण बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

वे प्रकृतिके विराट् स्वरूपके साथ इस घटनाका सम्बन्ध कर अपनेको सन्तुष्ट कर सकते हैं और इस इतिहासको आजकी भाषामें वे यों कह सकते हैं कि किसी समय देशमें भारी अकाल पड़ा होगा, पर झरनेकी तराईके कारण यहाँ उस वर्ष भी बहुत 'सराल' हुई होगी और उन्हें खाकर देशके हजारों आदमियोंने प्राणरक्षा की

होगी। उसी दिनकी स्मृतिमें श्रद्धालु आस्तिक जनता यह मेला मनाती है।

देवबन्द-दुर्गापीठ

इससे कुछ मील दूरीपर जिलेके प्रसिद्ध कस्बे देवबन्द (N.W.Ry.)-में दुर्गाका मन्दिर है। इस नगरके नामकरणका इस स्थानसे खास सम्बन्ध है। यहाँ हजारों वर्ष पहले बहुत भयंकर वन था, जिसे लोग 'देवीवन' कहते थे। बादमें इस नगरका नाम भी सामीप्यसे देवीवन पड़ा और जो मुसलमानी साम्राज्य-कालमें देवबन्द हो गया।

इस मन्दिरके चारों ओर प्रकृतिका विशाल प्राङ्गण है। सामने अठारह बीघेका एक मनोहर तालाब (देवीकुण्ड) है, जो वर्षमें एक बार गङ्गानहरके पवित्र जलसे भर दिया जाता है। इस तालाबके दो किनारोंपर पक्के घाट हैं और बहुत-से अन्य मन्दिर तथा मकान बने हुए हैं। इनमें गत पन्द्रह वर्षोंसे एक उच्च कोटिका संस्कृतविद्यालय (श्रीदेवीकुण्ड संस्कृतविद्यालय) स्थापित है। इससे इस स्थानकी पवित्रता, सौन्दर्य और उपयोगिता और भी बढ़ गयी है।

यहाँ भी चैत्र शुक्ल चतुर्दशीको जिला नुमायशोंके ढंगपर एक बड़ा मेला लगता है, जो आठ-दस दिनतक रहता है। इसमें भी दूर-दूरके यात्री आते हैं।

इन दोनों स्थानोंका पारस्परिक सम्बन्ध इससे सिद्ध है कि जनसाधारणमें 'इन दोनों देवियोंके सगी बहन होने' की किंवदन्ती प्रसिद्ध है और शाकम्भरीके मेलेमें, मन्दिरके ठीक सामने केवल देवबन्दनिवासी ही ठहर सकते हैं।

इन स्थानोंकी प्राचीनता तो मार्कण्डेयपुराण (दुर्गा-सप्तशती)-के उपर्युक्त वर्णनसे सिद्ध ही है, पर वर्तमान मन्दिरोंकी प्राचीनताका विश्वसनीय अनुमान स्थापत्य-कलाके विशेषज्ञ कर सकते हैं।

कुछ भी हो, इस विवेचनसे इतना तो अवश्य सिद्ध है कि मार्कण्डेयपुराणवर्णित शाकम्भरी और दुर्गाके ऐतिहासिक शक्तिपीठ ये ही हैं।

क्या ही अच्छा हो कि हम पुराणोंपर शास्त्रार्थ करना बन्दकर अब उनमें निहित ऐतिहासिक रत्नोंके अन्वेषणमें ध्यान लगावें।

देवीकुण्डका सिंहावलोकन

देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या
निःशेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या ।
तामम्बिकामखिलदेवमहर्षिपूज्यां
भक्त्या नताः स्म विदधातु शुभानि सा नः॥

मोरवी प्रान्तान्तर्गत श्रीत्रिपुरसुन्दरीका प्राचीन मन्दिर

(लेखक—दवे पं० कन्हैयालाल जयशङ्कर शर्मा)

सौराष्ट्र देशमें उपमच्छू नदीके किनारे मोरवी नगरी स्थित है। कहते हैं कि प्राचीन कालमें गो-ब्राह्मणकी रक्षामें सतत लीन रहनेवाला धर्मधुरन्धर मयूरध्वज नामका राजा इस देशमें राज्य करता था। उसी राजाके नामसे इस नगरीका नाम मोरवी पड़ा है। उसके बाद अनेकों धर्मात्मा राजाओंके द्वारा यह नगरी प्रतिपालित तथा विस्तारको प्राप्त होती रही। मध्ययुगमें दुर्भाग्यवश किसी समय वह विधर्मी राजाओंके हाथोंमें जा पड़ी। गो-ब्राह्मणसे द्वेष करनेवाले केवल अपनी वासनाकी पूर्तिमें रत रहनेवाले नृपतिवेशधारी पुरुषोंके साथ चिरसम्बन्ध बनाये रखनेमें अक्षम यह पृथ्वी सनातनधर्मकी रक्षामें लीन रहनेवाले जाडेजा वंशधरोंके द्वारा उसी प्रकार अधिकृत हुई जिस प्रकार सिंह शृगालोंके बीचमें अपना भाग ग्रहण करता है। उसके पश्चात् इस नगरीमें उत्तरोत्तर अनेकों धीर-वीर धार्मिक राजा उत्पन्न होकर अपनी बुद्धिके प्रभावसे इस नगरीको समृद्धिशालिनी बनाते रहे। सम्प्रति महाराज श्री ७ लक्षधीरजी बहादुर के. सी. एस. आई. वेदधर्मकी रक्षामें रत हो सर्वदा सावधानतापूर्वक अपने देशके हितचिन्तनमें लगे हुए सुखप्रद जनप्रिय कृतियोंके द्वारा सतत प्रजाका पालन करते हैं। जगदम्बाके चरणकमलके मकरन्दके लिये आप सदा मधुपवत् आचरण करते हैं। इतना ही नहीं, समस्त राजपरिवारकी भी इष्टदेवता जगदम्बा ही हैं। इस कारण अनेकों शतचण्डी, सहस्रचण्डी अनुष्ठानादि दुर्गापूजाके द्वारा भगवतीका पूजन-तर्पण होता है। जब यह मोरवी नगरी छोटी थी तब नगरसे बाहर पश्चिम दिशामें ग्रामदेवता त्रिपुराबाला श्रीबहुचरा माताका छोटा-सा प्राचीन मन्दिर था। नवरात्र आदि भगवतीके पर्व-दिनोंमें मन्दिरके छोटे होनेके कारण भगवतीके पूजनार्चन, यशोगानमें सेवकोंको अधिकतासे कठिनाई देखकर सेवकोंने विशाल मन्दिर बनानेका विचार किया। तब भक्तवत्सला करुणावरुणालया भगवतीने अपने सेवकोंके हृद्गत भावोंको जानकर रघुनाथात्मज कामेश्वर शर्माकी पतिव्रता धर्मपत्नी गोदावरीके चित्तमें प्रेरणा की। उसने अपने दिवङ्गत पतिके आत्माकी शान्तिके लिये बाईस हजार रुपये व्यय करके एक सुविशाल मनोरम मन्दिर बनवाया और उसे कामेश्वराश्रमके नामसे स्थापित कर अपने पतिके नामको अमर कर दिया। आज भी उसकी पूर्वावस्थाका स्मरण दिलानेके लिये 'त्रिपुरा-बालालघुमन्दिर' उसी प्रकार सुरक्षित है, और उसके समीप ही भगवतीका यह विशाल नया मन्दिर बना है। वहाँ सुन्दर श्रीचक्र बनवाकर स्थापित कराया, जिसमें भगवतीका पूजनार्चन करनेसे सेवकोंको अनायास ही सुख प्राप्त होता है। बहुचरा माता ही त्रिपुराबाला हैं। त्रिपुराबाला और श्रीमहा-विद्यामें अंशांशीभावसे अभेद है, क्योंकि त्रिपुराबालायन्त्रका अन्तर्भाव श्रीयन्त्रमें ही होता है। अत: उपासकोंने श्रीयन्त्रकी प्रतिष्ठा करनेका विचार किया। जगदम्बाप्रतिमाकी अपेक्षा श्रीयन्त्रस्थापनका विशेष फल यही है कि मूर्तिपूजनकी अपेक्षा यन्त्रपूजन श्रेष्ठ समझा जाता है। परमानन्दतन्त्र (शास्त्र)-में लिखा है कि—

आदर्शे चैकगुणितं पुस्तके द्विगुणं फलम्।
प्रतिमायां चतुर्धा स्याच्छालग्रामेषु षोडश॥
शिवनाम्नि शतगुणं पूजनात् पुरुषार्थकम्।
सहस्रधा नार्मदे तु फलं देवि प्रचक्षते॥
कुण्डल्यां लक्षगुणितं देवतादर्शनं भवेत्।
चक्रराजे तु या पूजा सानन्तफलदायिनी॥

श्रीचक्रका अभिषिक्त जल सिरपर सिञ्चन करने और उसका पान करनेसे अखिल ब्रह्माण्डके अन्तर्गत स्थित गङ्गा आदि सहस्र तीर्थस्थानोंके स्नानका फल प्राप्त होता है। श्रीचक्रके दर्शनका भी महान् फल शास्त्रोंमें प्राप्त होता है। यथा—

सम्यक्च्छतक्रतून् कृत्वा यत्फलं समवाप्नुयात्।
तत्फलं लभते कृत्वा भक्त्या श्रीचक्रदर्शनम्॥

यही परदेवता श्रीमहाविद्या, त्रिपुरसुन्दरी, ललिताम्बाके नामसे पुकारी जाती है। अत: सब देवोंमें शक्ति ही सर्वश्रेष्ठा, सर्वोपास्या है, वही सर्वकामनाकी इच्छा रखनेवाले तथा मुमुक्षुओंके हितार्थ उत्कृष्ट देवता है और उपासनाकी इच्छा रखनेवालोंके आश्रयण करनेयोग्य है।

यही देवी ब्रह्मस्वरूपा है, इसीसे प्रकृति-पुरुषात्मक जगत् उत्पन्न होता है। यही भुवनेश्वरी, ब्रह्मरूपिणी, तुर्यातीता, विश्वमोहिनी है।

अतएव 'मोक्षप्राप्तिके लिये प्रपञ्चोल्लासवर्जित अन्तर्यामिरूपमें स्थित इस भगवतीरूपकी ही आराधना

करनी चाहिये।'

ब्रह्मकी उपासनामें भी केवल ब्रह्मका ही नहीं, बल्कि शक्तिविशिष्ट ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि शक्तिका उसमें व्यतिरेक नहीं है और केवल ब्रह्मकी उपासना हो भी नहीं सकती। उसी प्रकार मायोपासनामें केवल मायाका ही अवस्थान नहीं है जिससे केवल उसीकी उपासना की जाय। बल्कि ब्रह्मयुक्त मायाका ही अवस्थान है। भगवतीके मायारूपके प्रतिपादनमें भी भगवतीका ब्रह्मस्वरूप ही सिद्ध होता है। शास्त्रमें लिखा है—

पावकस्योष्णतेवेयमुष्णांशोरिव दीधितिः।
चन्द्रस्य चन्द्रिकेवेयं शिवस्य सहजा ध्रुवा॥

अतएव भगवतीके स्वरूपके प्रतिपादनमें जो माया, शक्ति, कला आदि शब्दोंका प्रयोग हुआ है उसे लक्षणासे मायाविशिष्ट, शक्तिविशिष्ट, कलाविशिष्ट ब्रह्मका बोधक समझना चाहिये। और इसी प्रकार जो मायाविशिष्ट, शक्तिविशिष्ट ब्रह्म है उसे भी भगवतीपद-वाच्य समझना चाहिये।

यह जगदम्बा ही सुखसे उपासित होने योग्य है। क्योंकि यह साधकके ज्ञात, अज्ञात अपराधोंकी ओर ध्यान नहीं देती है—

अपराधो भवत्येव साधकस्य पदे पदे।
कोऽपरः सहते लोके केवलं मातरं विना॥

× × ×

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति॥

दयारूपी अमृतकी निधि जगदम्बाको भक्त भाव या अभावसे शुद्ध या अशुद्ध जो कुछ भी अर्पण करता है, उसके अणुमात्र उपहारको भी बहुत मानकर दयामयी माता उसका उद्धार करती हैं। उदाहरणस्वरूप ध्रुवसन्धि नामक राजाके पुत्र सुदर्शनके अनुस्वाररहित कामरागबीजके उच्चारणमात्रसे ही उसे विपद्जालसे मुक्तकर, शत्रुद्वारा अपहृत राज्यको उसे पुनः लौटाकर जगदम्बाने अपनी कृपा प्रदर्शित की थी। सत्यव्रत नामका विद्याविहीन ब्राह्मणपुत्र अपर वनमें व्याघ्रादिको देखकर आश्चर्यचकित हो अनुस्वारहीन वाग्बीजका उच्चारणकर भगवतीके कृपा-पीयूषकी वृष्टिसे महान् हो गया और उसने अपनी मनोकामना पूरी की। देवीभागवतमें भी लिखा है—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि प्राप्यं सुदुर्लभम्।
प्रसन्नायां शिवायां यदप्राप्यं नृपसत्तम॥

भक्तवत्सला जगदम्बाकी उपासनाकी महिमा सर्वशास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। भगवतीके पादपद्मोंमें जिनका विश्वास नहीं है वे बड़े ही मन्दभागी हैं। उनको उद्देश्यकर शास्त्र उच्च स्वरसे पुकारकर कहते हैं—

ते मन्दास्तेऽतिदुर्भाग्या रोगैस्ते समुपद्रुताः।
येषां चित्ते न विश्वासो भवेदम्बार्चनादिषु॥

श्रुति, स्मृति तथा तन्त्रग्रन्थोंमें जिसकी महिमा वर्णित है, वही यन्त्रराज भगवतीके पूजन-अर्चनादिके लिये उत्तम आलम्बनस्वरूप श्रीयन्त्र है। क्योंकि इस यन्त्रराजमें श्रुतिकी **'एकोऽहं बहु स्याम्'** उक्तिका अनुसरण कर जगदम्बाकी नाना विभूतिरूपमें आवरणके साथ साधक अर्चन-पूजन करते हैं। सब यन्त्रोंमें श्रीयन्त्र ही मुख्य यन्त्र है क्योंकि इसमें ब्रह्मके साथ शक्तिकी उपासनाका विधान किया गया है। कहा भी है कि **'श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः।'** इसमें एक सौ तिरपन देवताओंका भगवतीकी विभूतिरूपमें अर्चन होता है। जैसे—बिन्दुके चारों ओर षडङ्ग युवतियाँ ६, महात्र्यस्त्र रेखामें नित्याः १६, उसके पृष्ठभागमें दिव्यसिद्ध १९, तथा त्रैलोक्यमोहन, सर्वाशापरिपूरक, सर्वसंक्षोभिणी, सर्व-सौभाग्यदायक, सर्वार्थसाधक, सर्वरक्षाकर, सर्वरोगहर, सर्वसिद्धिप्रद, सर्वानन्दमय चक्रोंमें क्रमशः प्रकट २८, गुप्त १६, गुप्ततर ८, सम्प्रदाय १४, कुलकौल १०, निगर्भ १०, रहस्य ८, अतिरहस्य ८, परापररहस्य १, योगिनियाँ एवं नव आवरण चक्रोंमें ९ चक्रैश्वर्य, कुल मिलकर १५३ देवता होते हैं।

इस स्थापित यन्त्रराजके पृष्ठभागमें अम्बिका बहुचरा, कामेश्वरी आदिके चित्र (जिन्हें गुजरातीमें आङ्गी कहते हैं) यन्त्रराजके दर्शनके समय ध्यानकी सुगमताके लिये स्थापित किये गये हैं। भगवतीमहोत्सवके दिन इनकी ही प्रतिकृतियाँ स्थापित की जाती हैं।

इसके अतिरिक्त भगवतीके मन्दिरमें चारों ओर ध्यानोक्त काली, तारा, श्रीविद्या, भुवनेश्वरी, त्रिपुरभैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, पीताम्बरा, मातङ्गी, कमला प्रभृति दस महाविद्याके परम सुन्दर मनोहर चित्र स्थापित किये गये हैं। वैकृतिकरहस्यमें वर्णित महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वतीके चित्र, ध्यानोक्त गायत्रीका चित्र, भैरवी और भद्रकालीके चित्र उपासकोंके दर्शन तथा ध्यानके लिये योग्य स्थानमें मन्दिरमें सन्निविष्ट किये गये हैं। ये चित्र यहाँ प्रकाशित हैं।

जगदम्बाके भक्त प्रत्येक उत्सवमें श्रीत्रिपुरसुन्दरीका बड़े ही उत्साहसे आवरणके सहित अर्चन करते हैं, और प्रत्येक रविवारको रात्रिमें पराम्बा भगवतीका नाना प्रकारके वाद्योंके साथ यशोगान करके कृतकृत्य होते हैं। आश्विनमासके शारद नवरात्रमें श्रद्धापूर्वक परम उत्साहसे महान् उत्सव किया जाता है, जिसमें भक्तजन प्रतिदिन सावरण पराम्बाका अर्चन, दुर्गापाठ, नवार्णजप आदि भजन, उपासना किया करते हैं। रात्रिमें अत्यन्त प्रेमसे भगवतीका यशोगान करते हुए भक्त लोग मन्दिरके आँगनमें बहि:शालामें भगवतीकी प्रतिमाके चारों ओर नाना प्रकारके दीपोंसे दीप्तकर मण्डलाकारमें परिक्रमा करते हैं। जिसके श्रवण-दर्शनजनित पुण्यसे अपने आत्माको पवित्र करनेवाले सहस्त्रों भाग्यवान् सन्त आते हैं और इस अवसरपर इतनी भीड़ होती है कि लोगोंको पैर रखनेको भी जगह नहीं मिलती। अष्टमीके दिन तो स्वयं मोरवीनरेश भी जगदम्बाका यशोगान श्रवण करने आते हैं। महाष्टमीके दिन जगदम्बाके प्रीत्यर्थ होम होता है। तथा माघ, चैत्र और आषाढ़के नवरात्रमें, एवं अन्नकूटादिमें अनेक उत्सव पूर्ण उत्साहसे विधिपूर्वक किये जाते हैं।

यहाँ सनातनधर्मावलम्बी सज्जनोंके लाभार्थ श्रीसनातनधर्मीय बहुचराम्बिकापुस्तकालय भी स्थापित है, जिसमें सभाष्य वेद, उपनिषद् तथा अष्टादश पुराण, याज्ञवल्क्यादि स्मृति, इतिहास, मन्त्रशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, कर्मकाण्ड, आयुर्वेद, सभाष्य षड्दर्शन, नीति, नाटक, चम्पू, काव्य, कोश, व्याकरण आदिके शुभ संस्कारपोषक ग्रन्थ सङ्कलित हैं। यही नहीं, आधुनिक इतिहास और उपन्यासादिके सुन्दर ग्रन्थ भी सङ्कलित किये गये हैं जिनसे बहुतेरे पाठक लाभ उठाते हैं। प्रतिदिन सायङ्काल श्रीमद्भगवद्गीताका भी यहाँ प्रवचन होता है। संस्कृतके विद्यार्थियोंके लिये यहाँ छात्रावासका प्रबन्ध है। इस मन्दिरके जीर्णोद्धारके अनन्तर जगदम्बाके प्रति इस नगरकी जनताकी भक्ति शुक्ल पक्षके चन्द्रमाके समान बढ़ने लगी है। क्योंकि अम्बिकाके गुणकीर्तनके लिये भक्तोंने अन्य भी आश्रम स्थापित किये हैं जहाँ प्रत्येक रविवार और गुरुवारको भगवतीके उपासक एकत्र होकर जगदम्बाका यशोगान करते हैं, तथा वार्षिकोत्सव आदिमें बड़े ही उत्साहसे नाना प्रकारका भगवतीके भजन-पूजनका आयोजन उपस्थितकर जगदम्बाके संकीर्तनादिसे अपने जन्मको सफल करते हैं। कुछ उपासक तो अपने घरमें ही भगवतीके श्रीयन्त्रका स्थापनकर प्रतिदिन उसका सावरण अर्चना करते हैं, और कुछ भगवतीकी प्रतिमा स्थापितकर उनके पूजनार्चनमें लगे रहते हैं। कुछ दुर्गापाठ करते हैं, कुछ देवीभागवतका पारायण करते हैं, और कुछ भगवतीके नामकीर्तनके परम आनन्दका अनुभव करते हैं और अपनेको कृतकृत्य बनाते हैं।

इस मन्दिरमें जगदम्बाके पूजनार्चनके निमित्त तथा नवरात्र,अन्नकूटादि उत्सवके निमित्त सब प्रकारका व्यय, मन्दिरका जीर्णोद्धार करनेवाली गङ्गास्वरूपा गोदावरी बाई भक्तिपूर्ण हृदयसे करती हैं। वह अपने पतिके उपार्जित द्रव्यका सदुपयोग करती हुई अपने दिवंगत पतिकी तथा अपनी श्रेय:साधना करती हैं।

श्रीसप्तशृङ्गी देवी

(प्रे०—श्रीडालचन्द चौथमल)

'कल्याण' मासिकके 'शक्ति-अङ्क' के लिये शक्तिदेवीके किसी स्थानका परिचय पानेकी 'कल्याण' की इच्छा जानकर मैं यहाँ उन देवी और उनके स्थानका यथामति परिचय देता हूँ जिन्हें सप्तशृङ्गी देवी कहते हैं। मैं लेखक नहीं, इसलिये शब्दरचनादि अनेक दोष मेरे लेखमें होंगे, उन्हें पाठक क्षमा करेंगे।

हिन्दुस्थानमें जो अनेक प्रेक्षणीय ऐतिहासिक और दैविक स्थान हैं उनमें सप्तशृङ्गीदेवीका भी एक स्थान है, जो महाराष्ट्रके नासिक जिलेमें है। इस जिलेके हिंडोरी और कलवण तालुकोंकी सीमापर सह्याद्रि-पर्वतमालाके एक पर्वतका जो भाग है उसीको सप्तशृङ्ग गढ़ कहते हैं। इसकी ऊँचाई समुद्रकी सतहसे ५२५० फुट है। इसके दो भाग हैं, पहला भाग २५०० फुट ऊँचा है और दूसरा भाग वहाँसे २७५० फुट। भगवतीका स्थान इसी दूसरे भागमें है। इसकी सींगोंकी-सी सात चोटियाँ हैं, इसलिये इसे सप्तशृङ्ग कहते हैं। यहाँकी जलवायु महाबलेश्वरकी-सी है।

इस पर्वतपर जानेके लिये कई रास्ते हैं, पर सबसे

शान्तादुर्गा—कैवल्यपुर (गोआ)

श्रीलयराई—शिरोग्राम

श्रीमहालसा—महादल (गोआ)

श्रीसप्तशृङ्गी देवी

श्रीमहालक्ष्मीजी—मालेगाँव
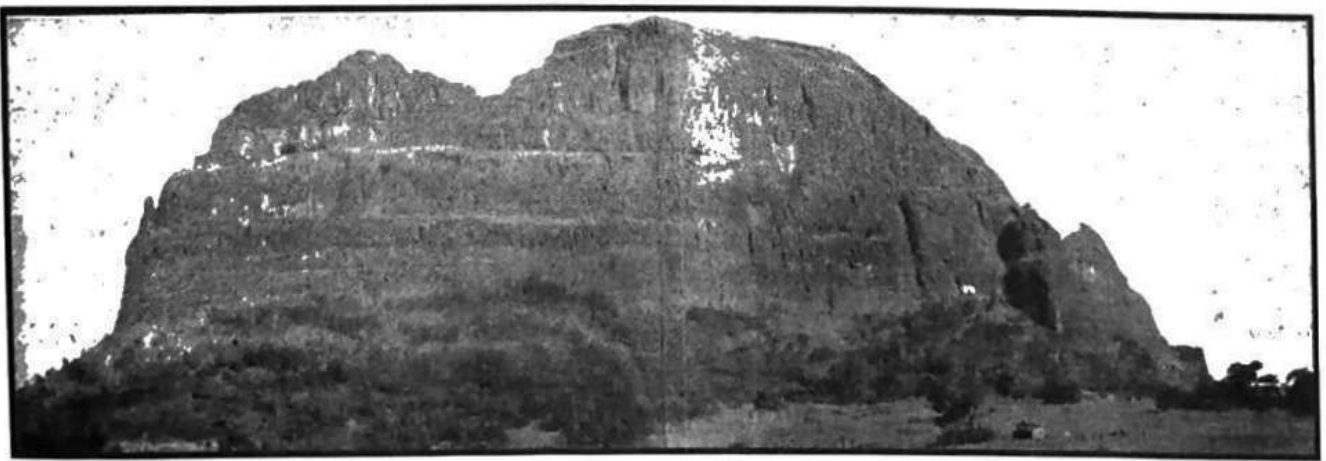
श्रीसप्तशृङ्गीदेवीका पहाड़

सरल और सुविधाजनक मार्ग नासिकसे होकर है। नासिक रेलवे स्टेशनसे नासिकतक मोटर तथा ताँगे मिलते हैं। फिर नासिकसे गढ़तक जानेके लिये मोटरें मिलती हैं। नासिकमें गङ्गाका जो बड़ा पुल है उसीके समीप मोटरस्टैंड है। वहींसे मालेगाँव, कलवण इत्यादि स्थानोंको मोटरें जाती हैं। यात्राके दिनोंमें मोटरें चाहे जब मिलती हैं, अन्य दिनोंमें प्रातः, सायं और मध्याह्नमें। नासिकसे गढ़पर जानेके दो मार्ग हैं—एक गढ़के दक्षिण भागसे और दूसरा उत्तर भागसे।

१-दक्षिण भागसे जानेका मार्ग—नासिकसे मोटरपर सवार होकर चले। गढ़से दो मील इधर वणी नामका एक ग्राम है। यहाँ ठहरना पड़ता है। रहनेका सब प्रबन्ध पण्डे लोग करते हैं। पण्डोंके पास चार-पाँच सौ वर्षके पुराने लेख मिलते हैं। जो पण्डा जिस यात्रीके पूर्वजोंका लेख अपनी बहीमें दिखा देगा वही उस यात्रीका पुरोहित माना जायगा। यदि किसी यात्रीके पूर्वजोंका कोई ऐसा लेख न मिले तो जिस यात्रीको जो ब्राह्मण पहले दर्शन दे वही उसका पुरोहित माना जायगा, यही नियम है। यहाँसे फिर बैलगाड़ीमें बैठकर या पैदल पर्वतकी दक्षिण तलेटीपर जाते हैं। तलेटीमें चण्डिकापुर नामक एक ग्राम है। लोगोंके ठहरनेके लिये एक सरकारी धर्मशाला है। इसी स्थानसे पर्वतपर चढ़ना होता है। सामान आदि तथा अशक्त मनुष्योंको झम्पान या पालनेमें बैठाकर ढो ले जानेके लिये कुली मिलते हैं। डेढ़-दो मीलतक ऐसी चढ़ाई है कि चढ़ते-चढ़ते लोगोंका जी ऊब जाता है, इससे पहाड़के इस हिस्सेको 'रडतोंडी' (रोदनतुण्ड) कहते हैं। इसके बाद पहाड़में पैडियाँ खुदी हुई हैं। कुल ३६० पैडियाँ हैं। प्रत्येक पैडी चार फुट लम्बी एक फुट चौड़ी और एक-डेढ़ फुट ऊँची है। कहते हैं कि हर पैडीके लिये सोनेका एक-एक कड़ा देकर नासिकके तिलभाण्डेश्वर-मन्दिर-के समीप रहनेवाले कोन्हेर गिरभाजी नामके किसी सज्जनने पैड़ियाँ खुदवायीं। पैडियोंपर कहीं-कहीं खुदे हुए शिलालेखोंमें भी इनका नाम है। इन पैडियोंसे चढ़कर ऊपर जाते हुए रास्तेमें गरुड, शीतला देवी और कूर्मकी मूर्तियाँ हैं। ३५० पैडियाँ लाँघ जानेपर श्रीगणेशजीकी बड़ी भव्य मूर्तिके दर्शन होते हैं। यहाँ विश्रामके लिये कुछ काल ठहरे बिना कोई ऊपर नहीं चढ़ सकता। यहाँसे पर्वतके नीचेका भाग बड़ा ही मनोहर दीखता है। यहाँका शुद्ध पवन और सुन्दर पवित्र दृश्य थके हुए यात्रियोंकी थकावट दूर कर देते हैं। गणेशस्थानसे दस पैडियाँ और चढ़ जानेपर एक छोटा-सा तालाब है। उसे गणेशतीर्थ कहते हैं। यहाँसे फिर उत्तर ओर जाना पड़ता है। यह पर्वतका मध्यभाग है, यहाँ समतल भूमि है। रास्तेमें कई तलाव हैं जिनके चन्द्रतीर्थ, गङ्गा-यमुनातीर्थ, कालिकातीर्थ, सूर्यतीर्थ इत्यादि नाम हैं। गङ्गातीर्थका जल अत्यन्त शीतल, पाचक, रोगनाशक और आरोग्य-वर्द्धक है। इसके आगे पर्वत-वासियोंकी झोपड़ियाँ हैं और यात्रियोंके ठहरनेके लिये दो धर्मशालाएँ हैं—एक चाँदवडकर साहुकारकी और दूसरी सरकारकी बनवायी हुई। यह पचास-साठ झोपड़ियोंका गाँव है। गाँवमें जो ब्राह्मण हैं वे भिक्षावृत्तिसे रहनेवाले और देवीके पुजारी हैं। इस समतल भूमिके पश्चिम ओर एक बड़े पर्वतका एक भाग है। उसीके उत्तर भागमें बीचोबीच देवीका स्थान है। वहाँ पैडियोंसे चढ़कर जाना होता है। ये ४५० पैडियाँ हैं।

२-उत्तरभागसे जानेका मार्ग—नासिकसे मोटरपर सवार होकर चले और नाँदूरी ग्राममें उतरे। यहाँसे गढ़पर जानेका सीधा समतल मार्ग है। इस मार्गमें न पहाड़ी चढ़ाई है न पैड़ियोंकी। गाय, बैल आदि पशु इसी रास्तेसे गढ़पर चढ़ जाते हैं। गढ़के पृष्ठभागपर पहुँचनेपर वहाँके अधिवासियोंके घर हैं और फिर देवीके स्थानमें जानेके लिये वे ही ४५० पैड़ियाँ हैं जिनका ऊपर उल्लेख हुआ है।

देवीका स्थान बहुत ही सुन्दर और रमणीक है। बड़ी भव्य मूर्ति धारण किये हुई भगवती, पूर्वाभिमुख एक कानपर हाथ रखे मानो संसारका सङ्कट निवारण करनेके लिये यहाँ खड़ी हैं। भगवतीकी मूर्तिमें यह चमत्कार देखनेमें आता है कि प्रातःकाल एक रूप है और मध्याह्नमें दूसरा और सायंकाल फिर तीसरा रूप है। यहाँ बहुतोंने बहुत तप करके बड़ा प्रसाद पाया है।

इसके अतिरिक्त इस पर्वत और इसके पृष्ठभागपर अनेक प्रकारकी वनस्पतियाँ हैं। नवनाथोंमेंसे मत्स्येन्द्रनाथकी यहाँ समाधि है। पृष्ठभागपर जो तलाव हैं उनके जल भिन्न-भिन्न गुणधर्मयुक्त हैं। कुछका स्थान-माहात्म्य है,

कुछका पान-माहात्म्य। शिवालय-तीर्थका जल सदा हरा दिखायी देता है। भगवतीके स्थानके पीछे जो ताम्बूल-तीर्थ है उसका जल सदा लाल रहता है, उसकी मिट्टी भी लाल ही है। घरमें जहाँ लाल रंग देना हो वहाँ इस मिट्टीसे काम लिया जा सकता है।

चैत्र शु० ५ के दिन भगवतीके दर्शनोंका मेला लगता है। दो-तीन लाख आदमी एकत्र होते हैं। दूसरा मेला आश्विन शु० १५ को लगता है इसके अतिरिक्त जब जिसको सुविधा हुई तभी वह सप्तशृङ्गी देवीके दर्शनोंका आनन्द ले सकता है। मेलोंमें नासिकके लोकलबोर्डसे यात्रियोंसे एक-एक पैसा कर वसूल किया जाता है, अन्य समयोंमें नहीं।

श्रीशान्तादुर्गा (कैवल्यपुर)

(लेखक—श्रीनारायण भास्कर नाईक गोमन्तक)

श्रीशान्तादुर्गा देवीमूर्तिकी प्रथम स्थापना उत्तर-पूर्व भारतके 'तिर्हुत' स्थानमें हुई। पीछे जब गोमन्तक बसाया जाने लगा तब यहाँ जो देविभक्त थे उन्होंने छासठ भागके केकोशी (गोवा) स्थानमें भगवतीको लाकर उनकी स्थापना करनेका कार्य किया। इसके पश्चात् जब गोमन्तक प्रदेशपर पुर्तगीजोंका अधिकार हुआ और हिन्दुओंका धर्मच्छल होने लगा तब देवीका यह स्थान बदला और कैवल्यपुर (कवळें) स्थानमें श्रीशान्तादुर्गा देवीकी स्थापना हुई। तबसे भगवती इसी स्थानमें हैं।

सन् १५६४ ई० में कवळें (कैवल्यपुर)-में श्रीशान्तामैयाका एक छोटा-सा मन्दिर बनवाया गया। तबसे इस देवस्थानकी बड़ी उन्नति हुई। श्रीनारोराम मन्त्रीने सन् १७३९ में इस देवस्थानके लिये मराठा सरकारसे कई जमीनें प्राप्त कीं। इस समय इस भू-सम्पत्तिके अतिरिक्त इस देवस्थानकी और भी बहुत-सी आय है और अनेक बहुमूल्य रत्न आदि तथा अन्य द्रव्य भी है। इस देवस्थानकी महाजनमण्डलीमें अनेक बड़े-बड़े प्रसिद्ध व्यक्ति और धनीमानी पुरुष हैं।

इस समय देवीका जो भव्य और सुन्दर मन्दिर है वह कुछ ही वर्ष पूर्व बना है। मन्दिरके अगल-बगलकी अग्रशालाएँ, ऊँचे-ऊँचे दीपस्तम्भ, सीढ़ी उतरकर नीचेका सुन्दर सरोवर, नौबतखाना इत्यादि दृश्य प्रेक्षणीय हैं। प्रतिवार्षिक श्रीरामनौमी, वसन्तपूजा, नागपञ्चमी, अनन्त-चतुर्दशी, दुर्गानवरात्र, विजयदशमी, कोजागरी, वनभोजन, नौकाक्रीडन, माघमासारम्भका जनोत्सव, महाशिवरात्रि, सुप्रतिष्ठोत्सव, होली आदि महोत्सव इस देवस्थानमें विशेषरूपसे होते हैं।

यह स्थान गोवा प्रान्तमें फोंडा महालके कवळें ग्राममें है, वाफरके दुर्भाट नामक बन्दरके समीप है। मडगाँव या पणजीसे भी एक रास्ता है।

श्रीज्वालामुखीक्षेत्र

(लेखक—पं० श्रीभैरवदत्तजी शर्मा)

श्रीज्वालामुखीक्षेत्र बहुत प्रसिद्ध है और प्राचीन स्थान है। यह काँगड़ा जिलेमें एक पर्वतकी सुरम्य तलहटीमें स्थित है। यहाँ प्रतिवर्ष भारतके कोने-कोनेसे हजारोंकी संख्यामें यात्री लोग आते हैं और श्रीदुर्गाजीकी सेवा-पूजा करके कृतार्थ होते हैं।

कहते हैं, यह स्थान महाभारतके युगका है; पुराणों तथा तन्त्रग्रन्थोंमें इस स्थानका वर्णन मिलता है। शिवपुराण तथा देवीभागवतके अनुसार भगवती ज्वालामुखी सतीका ही एक तेजोमय रूप है। कहते हैं, इस स्थानपर सतीजीकी जीभ गिरी थी। जहाँ-तहाँ इस देवीकी बड़ी महिमा गायी है और यह बहुत ही जागृत स्थान समझा जाता है।

इस स्थानपर यों तो बराबर ही यात्री आते रहते हैं, किन्तु दोनों नवरात्रोंमें विशेषरूपसे लोग आते हैं। इन दोनों अवसरोंपर यहाँ बड़ा भारी मेला लगता है। आजकल यहाँकी यात्रा बहुत सुगम हो गयी है। ज्वालामुखी स्थानसे तेरह मीलकी दूरीपर ज्वालामुखीरोड रेलवे-स्टेशन बन गया है और वहाँसे बराबर मोटरलारियाँ

देवीके स्थानतक जाती हैं।

ज्वालामुखी एक छोटा-सा कसबा है, जहाँ यात्रियोंको आवश्यक सब सामग्री मिल जाती है। श्रीदेवीजीका मन्दिर दर्शनीय है। मन्दिरके अहातेमें एक छोटी नदीके पुलपरसे होकर जाना पड़ता है। मन्दिरके भीतर आँगन सङ्गमरमरका बना है और मन्दिरके सामने श्रीदेवीका शयनगृह बड़ा सुन्दर-सा बना है। एक ओर शीतल जलका एक कुण्ड है, जो बराबर पानीसे भरा रहता है। इसीमें स्नान करके या हाथ-पैर धोकर लोग मन्दिरमें दर्शन करने जाते हैं।

मन्दिरके भीतर ज्योतियोंके दर्शन होते हैं। ये ज्योतियाँ अहर्निश बिना किसी सहायताके जलती रहती हैं। भगवतीकी इन ज्योतियोंको दूध पिलाया जाता है। ये ज्योतियाँ स्वयं प्रकाशमान हैं। जब दूध ढाला जाता है तो बत्ती उसमें तैरने लगती है और कुछ देरतक नाचती रहती है। वह दृश्य बहुत ही भव्य और हृदयमें माता ज्वालामुखीके लिये श्रद्धा-भक्ति उद्बोधित करनेवाला होता है। इन ज्योतियोंकी संख्या अधिक-से-अधिक तेरह और कम-से-कम तीन होती है। श्रीदेवीको पेड़े, बतासेका भोग लगाया जाता है।

भावनाशक्ति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भावना अन्त:करणकी एक वृत्ति है। सङ्कल्प, चिन्तन, मनन आदि इसीके नाम हैं। भावना तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। आत्माका कल्याण करनेवाली जो ईश्वरविषयक भावना है वह सात्त्विकी है। सांसारिक विषयभोगोंकी राजसी, एवं अज्ञानसे भरी हुई हिंसात्मक भावना तामसी है। संसारके बन्धनसे छुड़ानेवाली होनेके कारण सात्त्विकी भावना उत्तम और ग्राह्य है, एवं राजसी, तामसी भावना अज्ञान और दु:खोंके द्वारा बाँधनेवाली होनेके कारण निकृष्ट एवं त्याज्य है।

स्वभावके अनुसार भावना, भावनाके अनुसार इच्छा, इच्छाके अनुसार कर्म, कर्मोंके संस्कारोंके अनुसार स्वभाव, एवं स्वभावके अनुसार पुन: भावना होती है। इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है। उत्तम कर्म एवं उत्तम भावनासे[१] बुरे कर्म एवं बुरी भावनाका[२] नाश हो जाता है। फिर अन्त:करण पवित्र होनेपर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इसलिये हमलोगोंको उत्तम कर्म एवं उत्तम भावनाकी वृद्धिके लिये सदा सत्पुरुषोंका सङ्ग[३] करना चाहिये। क्योंकि मनुष्यपर सङ्गका बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। सत्सङ्गके प्रभावसे दुष्ट मनुष्य भी उत्तम एवं कुसङ्गके प्रभावसे अच्छा साधक पुरुष भी बुरा बन जाता है। अतएव कल्याण चाहनेवाले पुरुषको दुराचारी, नास्तिक, दुष्ट स्वभाववाले नीच पुरुषोंके सङ्गसे सदा बचकर रहना चाहिये, यानी उनकी उपेक्षा करनी चाहिये। किन्तु उनमें घृणा या द्वेषबुद्धि भी कभी नहीं करनी चाहिये। घृणा और द्वेष करना मानसिक पाप है, इससे अन्त:करण दूषित होता है, और उससे बुरे सङ्कल्प पैदा होकर मनुष्यका पतन कर देते हैं।

याद रखनेकी बात है कि बुरे सङ्गका प्रभाव तुरन्त होता है एवं अच्छे सङ्गका प्रभाव कुछ विलम्बसे होता है। इसके सिवा उत्तम पुरुष संसारमें हैं भी बहुत कम। फिर उनका मिलना दुर्लभ है एवं मिलनेपर भी उनमें प्रेम और श्रद्धा होना कठिन है। श्रद्धाकी कमी, हृदयकी मलिनता, साधनोंकी कठिनाई, आलस्य तथा अकर्मण्यता और स्वभावके प्रतिकूल होनेके कारण सत्पुरुषोंके उपदेशका प्रभाव विलम्बसे होता है।

साधनमें सुगम, सुखकी प्रतीति, मन, इन्द्रिय और स्वभावके अनुकूल होनेके कारण कुसंगका असर तुरन्त

१—शास्त्रानुकूल यज्ञ, दान, तप, सेवा और भक्ति आदि उत्तम कर्म एवं भगवान्‌के नाम, रूप और गुणका चिन्तन करना आदि उत्तम भावना है।

२—झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि बुरे कर्म एवं अज्ञान और आसक्तिसे विषयोंका तथा द्वेषबुद्धिसे जीवोंका अहित चिन्तन करना आदि बुरी भावना है।

३—सत्पुरुषोंके गुण, आचरण और उनके द्वारा दी हुई शिक्षाकी आलोचना एवं सत्-शास्त्रका अध्यास करना भी सत्सङ्गके ही समान है।

पड़ता है। किन्तु ऐसा समझकर हमलोगोंको निराश नहीं होना चाहिये क्योंकि ईश्वरकी प्राप्ति असाध्य नहीं है। गुणातीत अव्यक्तके उपासकोंके लिये वह कष्टसाध्य, (गी० १२। ५) और सगुणके उपासकोंके लिये सुखसाध्य (गी० १२। ७) बतलायी गयी है।

जो मनुष्य किसी भी कार्यको असम्भव नहीं मानते, उनके लिये कष्टसाध्य कार्य भी सुखसाध्य बन जाते हैं। यूरोपमें नेपोलियन बोनापार्टने यह बात प्रत्यक्ष करके दिखला दी थी कि संसारमें उत्साह एक ऐसी वस्तु है, जो अल्प बलवालेको भी महान् वीर और धीर बना देती है। कहाँ तो यूरोपके बड़े-बड़े राजाओंकी बड़ी भारी सेना और कहाँ अकेले नेपोलियनके इने-गिने मनुष्योंका छोटा-सा दल! केवल उत्साहके बलपर उसने सारे यूरोपको हिला दिया था। नेपोलियनका यह सिद्धान्त था कि पुरुष-प्रयत्नसाध्य कोई कैसा भी कठिन कार्य क्यों न हो, उसको असाध्य मानकर छोड़ देना अपनी कायरता और मूर्खताका परिचय देना है। नेपोलियनके हृदयरूपी कोशमें असम्भव शब्दको कहीं स्थान ही नहीं था। नेपोलियनने जैसे सांसारिक विजयके लिये कोशिश की थी, वैसे ही कल्याणकी इच्छावाले भाइयोंको बहुत उत्साहके साथ भगवत्प्राप्तिके लिये तत्पर होकर साधनकी चेष्टा करनी चाहिये। क्योंकि मनुष्यशरीर बहुत दुर्लभ है, और यह भगवान्की बड़ी भारी दयासे ही मिलता है।

असंख्यकोटि जीवोंमें मनुष्यसंख्या परिमित है, इससे सिद्ध है कि मनुष्यका शरीर मिलना बहुत ही कठिन है। मनुष्योंमें भी बहुत-से नास्तिक हो जाते हैं, जो ईश्वरको भी नहीं मानते और माननेवालोंमें भी कितने ही ईश्वरकी प्राप्तिको भूलसे असम्भव समझकर उससे उपराम रहते हैं। कितने ही लोग कष्टसाध्य समझते हैं इसलिये उत्साहके साथ साधन न करनेके कारण ईश्वरकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाते हैं। जो सुगम समझते हैं वे परमात्माकी कृपासे परमात्माको सहज ही प्राप्त कर सकते हैं।

यद्यपि हमलोग अधिकारी नहीं, किन्तु भगवान्ने जब हमलोगोंको मनुष्यशरीर दे दिया तो फिर हमलोग अपनेको अनधिकारी भी क्यों समझें? प्रभु बड़े दयालु हैं, महापापी पुरुषोंको भी वे आत्मोद्धारके लिये मनुष्यका शरीर देकर मौका देते हैं।

'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥'

(तु० रा० उ०)

इतना ही नहीं, जो प्रेमपूर्वक अनन्यभावसे भजते हैं उनको अपनी प्राप्तिके लिये वे सब प्रकारसे सहायता भी करते हैं। (देखिये, गीता अ० १०। १० एवं ९। २२)

साधनमें लगानेके लिये भगवान् उत्साह भी दिलाते हैं।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥

(गीता २। ३)

'हे अर्जुन! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, यह तेरे योग्य नहीं है। हे परंतप! तुच्छ हृदयकी दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो।'

इसलिये हमलोगोंको भी हृदयकी कायरता (कमजोरी)-को त्यागकर अर्जुनकी भाँति भगवान्के वचनोंमें विश्वास करके श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्की भक्तिके लिये कटिबद्ध होकर कोशिश करनी चाहिये। भगवान्के अंश होनेके नाते भी हमलोगोंको अपनी कमजोरी नहीं माननी चाहिये। अग्निकी चिनगारीकी भाँति जीवात्मा परमात्माका ही अंश है (गीता १५। ७)। जैसे अग्निकी छोटी-सी भी चिनगारी वायुके बलसे सारे ब्रह्माण्डको जला सकती है ऐसे ही यह जीवात्मा सत्संगरूपी वायुके बलसे समस्त पापोंको जलाकर संसारसमुद्रको गोपदकी भाँति लाँघ सकता है। समुद्र लाँघनेके समय हनूमान् जिस प्रकार अपनी शक्तिको भूला हुआ था, वैसे ही हमलोग अपनी शक्तिको भूले हुए हैं। और जाम्बवन्तके याद दिलानेपर जैसे हनूमान् तुरन्त समुद्रको लाँघ गया, वैसे ही हमलोगोंको भी महात्मा पुरुषोंके वचनोंको सुनकर संसार-समुद्रको गोपदकी भाँति लाँघनेके लिये कोशिश करनी चाहिये। सारे बन्दरोंमेंसे समुद्र लाँघनेकी शक्ति केवल हनूमान्की ही थी। वैसे ही सारे जीवोंके अन्दर संसार-समुद्रके लाँघनेकी शक्ति केवल मनुष्यकी ही बतलायी गयी है। जैसे श्रीरामचन्द्रजीने हनूमान्को ही पात्र समझकर अपनी अँगूठी दी थी, वैसे ही भगवान्ने मनुष्यको ही आत्मोद्धारका अधिकार दिया है।

ऐसे परम दुर्लभ मनुष्यशरीरको पाकर आत्मोद्धारके लिये तन्मय होकर वैसे ही कोशिश करनी चाहिये जैसे संसारी मनुष्य अर्थ और कामके लिये तन्मय होकर चेष्टा करते हैं।

संसारके अर्थ और भोगोंमें जिनकी प्रीति है वे रात-दिन अर्थ और भोगोंका ही चिन्तन करते रहते हैं। उनकी अर्थ और भोगोंमें ही दृढ़ भावना हो रही है। कामी पुरुषोंको सारा संसार प्रायः स्त्रीमय दीखता है, यानी उनके मनमें प्रायः स्त्रीका ही चिन्तन होता रहता है। लोभी पुरुषोंकी वृत्ति अर्थमयी बन जाती है, वे जो भी कुछ कार्य करते हैं, उनमें रुपयोंके हानि-लाभको ही प्रधानता देते हैं। रुपयोंका लाभ ही उनकी दृष्टिमें लाभ है और रुपयोंकी हानि ही उनकी दृष्टिमें हानि है, क्योंकि वे अर्थके दास हैं। जब वे कोई कार्य करना चाहते हैं तो उसके पूर्व ही उनके हृदयमें यह भाव पैदा होता है कि इस कामके करनेमें हमें क्या लाभ होगा। लाभ-हानिका निश्चय करके ही वे उस कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, नहीं तो नहीं। प्रभुके भक्तोंको इन अर्थी पुरुषोंसे भी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। अर्थी पुरुष जिस प्रकार अर्थके लिये कार्यमें प्रवृत्त होते हैं वैसे ही प्रभुके भक्तोंको प्रभुके लिये प्रवृत्त होना चाहिये। श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

यह संसार भगवान्‌मय है किन्तु मनुष्यको भ्रमसे अपनी-अपनी भावनाके अनुसार नाना रूपसे दीखता है। जैसे कोई एक महान् पुरुष है, वह किसीकी दृष्टिमें महात्मा, किसीकी दृष्टिमें अभिमानी, किसीकी दृष्टिमें लोभी, किसीकी दृष्टिमें पाखण्डी और किसीकी दृष्टिमें भोगी दीखता है। अपने-अपने भावोंके अनुसार ही लोगोंको नाना प्रकारसे प्रतीति होती है।

साक्षात् भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण भक्तोंको ईश्वर, स्त्रियोंको कामदेव, दुष्टोंको काल, राजाओंको वीर, माता-पिताओंको बालक और योगियोंको ब्रह्म इत्यादि रूपसे दीखते थे—

जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥
देखहिं रूप महा रनधीरा। मनहुँ बीर रसु धरें सरीरा॥
रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट कालसम देखा॥
हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुख दाता॥

(तु० रामायण)

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥

(श्रीमद्भा० १०। ४३। १७)

'रंग-भूमिमें पहुँचनेपर बलदेवजीसहित भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी मल्लोंको वज्र-जैसे, साधारण पुरुषोंको पुरुषश्रेष्ठ, स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेव, गोपगणको स्वजन, दुष्ट राजाओंको शासन करनेवाले, अपने माता-पिताको बालक, कंसको साक्षात् मृत्यु, विद्वानोंको विश्वरूप, योगियोंको परम तत्त्व परब्रह्म और यादवोंको परम देवतारूपसे विदित हुए।'

एक युवती सुन्दरी स्त्री सिंहकी भावनामें उसका खाद्य पदार्थ है, वह उसे खानेकी दृष्टिसे देखता है, वहाँ रूप, रंग और रमणीयताका कोई मूल्य नहीं है। किन्तु कामी पुरुषको वही रमणीय और सुन्दर दीखती है, वह उसके रूपलावण्यको देखकर मुग्ध हो जाता है। वही स्त्री पुत्रको माताके रूपमें दूध पिलानेवाली, शरीरका पोषण करनेवाली और जीवनका आधार दीखती है। एवं वैराग्यवान् विरक्त पुरुषको वही त्याज्यरूप और ज्ञानीको परमात्माके रूपमें प्रतीत होती है। वस्तु एक होनेपर भी अपनी-अपनी भावनाके अनुसार वह भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतीत होती है।

इसी प्रकार यह सारा संसार वस्तुतः एक परमात्माका स्वरूप होनेपर भी भ्रमसे अपनी-अपनी भावनानुसार भिन्न-भिन्न रूपमें प्रतीत होता है। जिसकी जैसी भावना होती है उसको यह वैसा ही दीखता है। किसीको सत् दीखता है, तो किसीको असत् तथा किसी-किसीको परमात्मामय दीखता है। परिणाम भी प्रायः भावनाके अनुसार ही देखनेमें आता है।

भूत, भविष्य, वर्तमान कालके दुःखोंका चिन्तन करनेसे मनुष्य तत्काल ही दुःखी-सा हो जाता है, सुखोंका स्मरण करनेसे सुखी-सा हो जाता है।

नित्य चेतन, आनन्दस्वरूप यह जीवात्मा भी परमात्माका अंश* होनेके कारण परमात्माका ही स्वरूप है पर यह भूलसे अपनेको देहस्वरूप मानने लग गया है।

आपने भावते भूलि पर्‌यो भ्रम, देह स्वरूप भयो अभिमानी।
आपने भावते चंचलता अति, आपने भावते बुद्धि बिरानी॥
आपने भावते आप बिसारत, आपने भावते आतमज्ञानी।

* ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥ (तु० रामायण)
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (गी० १५। ७)

सुन्दर जैसो ही भाव है आपनो, तैसो हि होइ गयो यह प्रानी॥

(सुन्दरविलास)

इस भूलको मिटानेके लिये सबसे उत्तम उपाय भगवान्‌की अनन्य भक्ति है। सर्वशक्तिमान् वासुदेवको ही अपना स्वामी मानते हुए स्वार्थ और अभिमानको त्यागकर, श्रद्धा और प्रेमभावसे निरन्तर उसका सर्वत्र चिन्तन करना अनन्य भक्ति है। भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे सारे दुःख, अवगुण और पापोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है, फिर मनुष्यका अन्तःकरण पवित्र हो जाता है, उसकी सारी भूलें एवं संशय मिट जाते हैं, उसको सारा संसार भगवद्रूप दीखने लग जाता है। उसकी वाणी और सङ्कल्प सत्य हो जाते हैं, भगवान्‌की भक्तिके प्रतापसे उसके लिये विष भी अमृत बन जाता है।

गरल सुधा सम अरि हित होई।

(तुलसी० उ०)

भक्त प्रह्लादने यह बात प्रत्यक्ष दिखला दी कि विष भी उनके लिये अमृत हो गया, अग्नि शीतल हो गयी, अस्त्र-शस्त्र निरर्थक हो गये। सर्पोंके विषका कुछ भी असर नहीं हुआ। कहाँतक कहें, जड स्तम्भमें भी चेतनमय, सर्वशक्तिमान् भगवान् नरसिंहके रूपमें प्रत्यक्ष प्रकट हो गये। प्रह्लाद भगवान्‌के भक्त थे, उनका सङ्कल्प सत्य और अन्तःकरण पवित्र था, इसीसे ऐसा हुआ। यह सब उत्तम भावनाका फल है। अतएव मनुष्यको अपनी उत्तम-से-उत्तम भावना बनानेके लिये कोशिश करते रहना चाहिये। विज्ञानानन्दघन परमात्माको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी समझकर प्रभावसहित उसके नाम, रूप और गुणोंका निष्काम भावसे चिन्तन करना, या सारे संसारको प्रभुके अन्तर्गत देखना, एवं सम्पूर्ण संसारको प्रभुमय देखना, या जहाँ दृष्टि एवं मन जाय वहीं प्रभुका चिन्तन करना सबसे उत्तम भावना है। इसलिये हर समय हमलोगोंको प्रभुका ही चिन्तन करते रहना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करनेसे यह सम्पूर्ण जगत् आनन्दमय प्रभुके रूपमें प्रतीत होने लगेगा। क्योंकि वस्तुतः यह प्रभुका ही स्वरूप है। भगवान्‌ने भी कहा है—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९), इसीलिये इस प्रकारका अभ्यास करनेसे प्रभुकी प्राप्ति यहीं हो सकती है। यदि अभ्यासकी कमीके कारण प्रभुकी प्राप्ति यहाँ नहीं हुई तो आगे हो सकती है, क्योंकि यह मनुष्य जैसा सङ्कल्प करता हुआ जाता है आगे जाकर वह उसीको प्राप्त होता है। कहा भी है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीताथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत॥

(छान्दो० ३। १४। १)

'यह सारा जगत् ब्रह्मका ही स्वरूप है, क्योंकि ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है, ब्रह्ममें ही स्थित है तथा ब्रह्ममें ही लीन होता है। इसलिये शान्त होकर उपासना करनी चाहिये यानी शान्तचित्तसे संसारमें ब्रह्मकी भावना करनी चाहिये। यह पुरुष निश्चय सङ्कल्पमय है। इसलिये इस लोकमें मनुष्य जैसे सङ्कल्पवाला होता है यानी जैसा सङ्कल्प करता है, मरकर वह आगे जाकर वैसे ही बन जाता है (फिर वहाँ जाकर पुनः) वह वैसा ही सङ्कल्प करता है।'

क्योंकि यह नियम है कि मनुष्य सदा जिसका चिन्तन करता है अन्तकालमें भी प्रायः उसीका चिन्तन होता है, और अन्तकालमें जिस वस्तुका चिन्तन करता हुआ शरीर त्याग कर जाता है, वह उसीको प्राप्त होता है।

भगवान्‌ने कहा है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

इसलिये भी मनुष्यको नित्य-निरन्तर परमात्माका ही चिन्तन करना चाहिये। नित्य-निरन्तर परमात्माका चिन्तन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति सुलभतासे होती है। परमात्मा सर्वव्यापी होनेके कारण उनका नित्य-निरन्तर चिन्तन होना कठिन भी नहीं है। सर्वत्र परमेश्वर-बुद्धि करना ही सबसे उत्तम और सद्भावना है, इसलिये जिसकी सर्वत्र परमेश्वरबुद्धि हो जाती है, उसीकी विशेष प्रशंसा की गयी है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेवके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं, इस प्रकार मुझको भजता है वह महात्मा अति दुर्लभ है।'

अतएव हमलोगोंको सर्वत्र भगवत्-बुद्धि करनेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये, इससे बढ़कर और कुछ भी कर्तव्य नहीं है।

शक्तिचालीसी

(प्रेषक—वैद्यभूषण श्रीहनुमानप्रसादजी गुप्त विशारद,'प्रेमयोगी मान')

(उर्दू भाषामें)

श्रीदुर्गायै नमः

[जिस तरह गीता इत्यादि पवित्र ग्रन्थोंके अनुवाद फ़ारसी, उर्दूमें हुए हैं उसी तरह योग्य व्यक्तियोंद्वारा संस्कृत स्तोत्रोंके अनुवाद एवं स्वतन्त्र स्तोत्र भी अन्य भाषाओंमें लिखे गये हैं। प्रस्तुत पुस्तक '**शक्तिचालीसी**' अनुमानतः सौ वर्ष पूर्व उर्दू रामायणके रचयिता (स्वर्गवासी) लाला शङ्करदयाल 'खुश्तर' द्वारा लिखी गयी थी जो मुझे अपने माननीय मित्र हकीम मनमोहनलालजी राजवैद्यके पास देखनेको मिली। इसमें उर्दूके ४० मोखम्मस (पाँच चरणका छन्द) हैं जो स्तोत्ररूपमें विशेष आकर्षक है। इसकी रचनाशैली, शब्दविन्यास, प्रासादपूर्ण मर्मस्पर्शी भावोंको देखकर सहसा हृदयोद्रेक होने लगता और शान्त होकर पाठ करनेकी प्रबल इच्छा हो उठती है। पाठक स्वयं अनुभव करेंगे। कठिन शब्दोंके भावपूर्ण अर्थ भी दे दिये गये हैं। इसके पाठ करनेसे कितनी ही बार अभीष्ट फल प्राप्त होते देखा गया है।—प्रेषक]

नमस्कार उसको ही जिससे है पैदा ख़ल्क़[१]में हर शै[२]।
पये[३] क़त्ले[४] सितमगारां जो पै दर[५] पै रहे दरपै[६]॥
मचा जब गुल[७] कि अय दुर्गा ये हंगामेतरहहुम[८] है।
मददकी बरमला[९] सब देवता कहने लगे जय जय॥
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ १॥

तू वेदोंमें है विद्या और दानाओंमें[१०] दानाई।
तनो[११] मन्दोमें ताक़त है तवानोंमें[१२] तवानाई॥
दिलोंमें भक्ति शिवमें शक्ति गोयाओंमें[१३] गोयाई।
समाई अल्गरज़[१४] हर रंगमें हर शक्लमें माई॥
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ २॥

तुई गुलमें बशक्ले रंगो बूयेगुल दरआई है।
तुई मुलमें[१५] वरंगे नश्श्ये[१६] सहबा समाई है॥
निगाहेदीदये[१७] दिलमें बशक्ले रोशनाई[१८] है।
शिनासाईकी[१९] ताक़त कब किसी मर्दुमने[२०] पाई है॥
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ३॥

बसी है ताज़गी होकर चमनमें गुलमें बू होकर।
बशर[२१] के दिलमें मेहरो[२२] उल्फ़तो[२३] आदात ख़ू होकर॥
सदफ़में[२४] आबताब और मोतियोंमें आबरू होकर।
निगहमें बनके बीनाई[२५] ज़बाँमें गुफ़्त[२६] गू होकर॥
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ४॥

बशरमें है तबीअत और तबीअतमें कशिश[२७] होकर।
कहीं शक्ले अता होकर कहीं शक्ले खलिश[२८] होकर॥
दिलोंमें नीयत और नीअतमें है दादोदहिश[२९] होकर।
क़मरमें[३०] ताब दुरमे[३१] आब बिजलीमें तपिश होकर॥
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ५॥

नफ़ीसोंमें नफ़ासत है तो मरग़ूबोंमें मरग़ूबी।
शरीफ़ोंमें शराफ़त और महबूबोंमें महबूबी॥
शजर[३२] में ताज़गी गुलमें महक गुलज़ारमें[३३] ख़ूबी।
दिले दरयामें शक्ले मौज[३४] मौजोंमें खुशस्लूबी[३५]॥
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ६॥

नुमायां[३६] है ज़नबमें[३७] रासमें[३८] कैवांमें[३९] नैय्यरमें[४०]।
ज़ोहलमें[४१] ज़ोहरामें[४२] मिर्रीखमें[४३] माहेमुनव्वरमें[४४]॥
शजरमें शाखमें गुलमें समरमें[४५] बर्गमें[४६] बरमें।
चमनमें दश्तमें[४७] कोहसारमें[४८] दीवारमें दरमें॥
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ७॥

नुमायां गुलमें गुलके रंगो बूमें गुल्के रूमें[४९] है।
तनेख़ाकीमें दिलमें जानमें जीमें जिगरमें है॥
निगहमें मरदुमकमें[५०] चश्ममें तारे नज़रमें है।
कहीं आतिशमें[५१] है पिनहां कहीं पैदा शररमें[५२] है॥
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ८॥

मुजस्सिम[५३] नूरेक़ुदरत[५४] नामुजस्सिम सूरते बू है।
बगलमें शक्ले दिल मिस्ले जिगर हमदोशपहलू है॥
जमीं क्या बल्कि अफ़लाके[५५] ज़मींपर गुल यह हरसू है।
तुही तू है, तुही तू है तुही तू है तुही तू है॥

१—दुनियाँ। २—पदार्थ। ३—वास्ते। ४—दुष्टोंके मारने। ५—निरन्तर। ६—उद्यत। ७—शोर। ८—कृपाका समय। ९—प्रकट। १०—बुद्धिमान्। ११—पहलवानों। १२—तन्दुरुस्त। १३—वक्ताओं। १४—परिणामतः। १५—मद्य। १६—दूसरे प्रकारकी मद्य। १७— दिलके आँखकी नजर। १८—रोशनी। १९—पहिचान। २०—मनुष्य। २१—मनुष्य। २२—कृपा। २३—प्रेम। २४—मोती। २५—दर्शनशक्ति। २६—बातचीत। २७—आकर्षण। २८—कष्ट। २९—देन-लेन। ३०—चन्द्र। ३१—मोती। ३२—वृक्ष। ३३—बाग। ३४—लहर। ३५—सौन्दर्य। ३६—प्रकट। ३७—एक सितारा। ३८—एक सितारा। ३९—सातवाँ आकाश। ४०—सूर्य। ४१—शनि ग्रह। ४२—शुक्र ग्रह। ४३—मङ्गल ग्रह। ४४—प्रकाशमान चन्द्र। ४५—फल। ४६—पत्ते। ४७—जङ्गल। ४८—पहाड़। ४९—फूलका चेहरा। ५०—पुतली। ५१—अग्नि। ५२—चिनगारी। ५३—सशरीर। ५४—दिव्य प्रकाश। ५५—आकाशोंकी भूमि।

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ९॥

अयां[१] मरदुम[२] सिफ़त पिनहां[३] मिसाले नूरे मरदुम हो।
कहीं ज़ाहिर कहीं मख़फ़ी[४] कहीं पैदा कहीं गुम हो॥
गुबांरे[५] मासियत, गर्देख़ता[६] धोनेको कुल्ज़म हो[७]।
तुम्हीं तुम हो तुम्हीं तुम हो तुम्हीं तुम हो तुम्हीं तुम हो॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ १०॥

यही नूरे मुबारक दीदये मरदुमका तारा है।
इसीसे रौशन् अफ़लाके[८] बरींपर यह सितारा है॥
कहीं पिनहां कहीं हर जुज़ोकुलमें आशिकारा[९] है।
हरइक जा अल्ग़रज़ रौशन ये नूरे आलम आरा है॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ११॥

पनाहेदामने[१०] दौलतमें गर्दिशसे फ़लक आया।
बजोशे मादरी मादरने लुत्फ़[११] उसपर भी फरमाया॥
छुटा क़ैदे अलमसे इस्मे[१२] अक़दस लब पै जब लाया।
महामाया महामाया महामाया महामाया॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ १२॥

सिपहरे[१३] मेहर हो औनैय्यरे[१४] फैज़ो अता देवी।
बिनाये बख्शिशो शाहंशहे अरजो[१५], समाँ देवी॥
मददके वक्त मुश्किलमें पुकारा जिसने या देवी।
महादेवी महादेवी महादेवी महादेवी॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ १३॥

तुही है किशवरे[१६] कौनेनकी फ़रमांर[१७] वा शक्ती।
तुही लश्करकुशो[१८], दुश्मनकुशो[१९] किशवरकुशा[२०] शक्ती॥
ज़बांपर है सदाशिव विष्णु ब्रह्मादिकके या शक्ती।
महाशक्ती महाशक्ती महाशक्ती महाशक्ती॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ १४॥

जो दे मम्लूकसे[२१] मालिकको निस्बत[२२] है ये नादानी।
सदाशिव इन्द्र सन्कादिक तुम्हें कहते हैं लासानी[२३]॥
जनाबे विष्णु खुद फ़रमाते हैं वक्ते सनाख्वानी[२४]।
महारानी महारानी महारानी महारानी॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ १५॥

किसी बेइल्मने[२५] गर सिद्क़नीयतसे[२६] कहा विद्या।
तुफ़ैले[२७] नामसे हासिल हुई लाइन्तहा[२८] विद्या॥
मिली मुक्त उसको जो शामोसेहर[२९] कहता रहा विद्या।
महाविद्या महाविद्या महाविद्या महाविद्या॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ १६॥

यमे फ़ैजो करम[३०] हो चश्मये जूदो[३१] सखा काली।
अतापाशो[३२] ख़तापोशो[३३] जहाँ हाजतरवा[३४] काली॥
उसे कब कालका खटका रहा जिसने कहा काली।
महाकाली महाकाली महाकाली महाकाली॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ १७॥

सरापा रोशनी अक्से[३५] कफ़कसे चाँदने पाई।
तजल्ली[३६] नक्शे[३७] पासे नैय्यरे आज़मके[३८] हाथ आई॥
छुटा अन्दोहसे[३९] जिसने कहा वक्ते जेवीं[४०] साई।
महामायी महामायी महामायी महामायी॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ १८॥

बक़ा[४१] ज़ाते मुबारकको[४२] फ़क़त है और सब फ़ानी।
तुम्हींसे आसमाँपर चेहरये[४३] नैय्यर है नूरानी[४४]॥
मिटे कुल्फ़त[४५] पुकारे गरबशर वक्ते परेशानी।
जगतरानी, जगतरानी, जगतरानी, जगतरानी॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ १९॥

मोहाफ़िज़[४६] तुम हो दिलकी रूहतनकी[४७] जानकी दुर्गा।
मोआविन[४८] हो अजलसे[४९] वक्ते फिक्रोबेकसी[५०] दुर्गा॥
रहे बेख़ौफ़ इन्सां लबसे[५१] गर निकले कभी दुर्गा।
सिरी दुर्गा सिरी दुर्गा सिरी दुर्गा सिरी दुर्गा॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ २०॥

अगर वह नख्ले[५२] क़ुदरत रंगो बू ज़ाहिर न फ़रमाता।
गुलिस्तानेदो[५३] आलम किस रविशसे[५४] ताज़गी[५५] पाता॥
फला फूला वो नख्लआसा[५६] कहा जिसने किया दाता।
जगतमाता, जगतमाता, जगतमाता, जगतमाता॥

१—प्रकट। २—मनुष्य। ३—गुप्त। ४—गुप्त। ५—पापोंकी स्याही। ६—अपराधोंकी धूल। ७—लाल सागर। ८—ऊँचा आकाश। ९—प्रकट। १०—चरणशरण। ११—कृपा। १२—पवित्र नाम। १३—कृपाकी ढाल। १४—दानका सूर्य। १५—पृथ्वी। आकाश। १६—समस्त ब्रह्माण्डका बादशाह। १७—विधायक। १८ ,१९ २०—सेना, शत्रु, लोकोंकी नाशक। २१—मालिकोंका मालिक। २२—तुलना। २३—अद्वितीय। २४—स्तुति। २५—मूर्ख। २६—निष्कपट। २७—नामप्रताप। २८—अपरिमित। २९—सायंप्रात:। ३०—दया कृपासिन्धु। ३१—दया कृपा। ३२—दयालु। ३३—पापनाशक। ३४—अभीष्ट फलद। ३५—हथेली। ३६—प्रकाश। ३७—चरणचिह्न। ३८—सूर्य। ३९—दुःख। ४०—प्रणामके समय। ४१—अमरत्व। ४२—अस्तित्व। ४३—सूर्य। ४४—प्रकाशमान। ४५—कष्ट। ४६—रक्षक। ४७— आत्मा। ४८—सहायक। ४९—आदि। ५०—दीनता। ५१—ओंठ। ५२—आपकी मायाका वृक्ष। ५३—सारे संसारका बाग। ५४—भाँति। ५५ उन्नति। ५६—आशावृक्ष।

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ २१॥

मचा जब गुल कि दस्ते[१] शुंभसे तकलीफ़ पायी है।
दोहाई है दोहाई है दोहाई है दोहाई है॥
महारानीने की इस रंगसे जंग आज़माई है।
कि पीरेचर्ख़की[२] अक्ले रसा चक्करमें आई है॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ २२॥

मुक़ाबिल मिस्ले आईना दग़ासे जब कि शुंभ आया।
तो कैसे कैसे किस किस सूरतोंसे क़त्ल फ़रमाया॥
हुये आसारेमहशर[३] तब ये लबपर हर बशर लाया।
तरह्हुमहो तरह्हुमहो तरह्हुमहो महामाया॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ २३॥

लड़ा जब चंडमुंड आकर तो कैसे शानसे मारा।
मियाने[४] सेहने मक़तल खींच खंजर म्यानसे मारा॥
दिलावर जिस क़दर राक्षस थे सबको जानसे मारा।
बहुत तीर अफ़गनों[५]को एकदममें बानसे मारा॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ २४॥

ग़ज़बसे रज़्मगहमें[६] रक्तबीज इक आनमें मारा।
मिटाया दो जहांसे ख़दशओ[७] ख़ौफ़ो ख़ललसारा॥
बजुज़ ज़ाते मुबारिक कौर हो सकता था रज़्मआरा।
करा[८] हिम्मत करा कुदरत करा ताक़त करा यारा॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ २५॥

लड़ाई की उरूसे[९] फ़तहसे मिल मिलके देवीने।
सदा कुश्तोंके[१०] पुल बाँधे हैं पलमें मेरी देवीने॥
दिया पानी न पीने सरकशों[११]को हिलके देवीने।
निकाले हौसले सब रज़्मगहमें दिलके देवीने॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ २६॥

दग़ामें आबो ताबो तेज़िवो शमशीर हैं दुर्गा।
कहीं बुर्रिश[१२] कहीं खूंरेज़िये शमशीर हैं दुर्गा॥
शररबारी शररअंगेज़िये शमशीर हैं दुर्गा।
खमो[१३]चम और क़यामत खेज़िये[१४] शमशीर हैं दुर्गा॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ २७॥

ज़फ़र[१५]में क़ब्ज़ये[१६] ख़ंजरमें हरदम धाक रहती है।
ज़मीं दिलसे फ़िदाये नक़्श पाये पाक रहती है॥
जेबीने[१७] अर्शआलापर क़दमकी ख़ाक रहती है।
दिलेरी और शुजाअ़त बस्तये फ़ितराक रहती है॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ २८॥

मियाने रज़्मगह हैं जौहरे तेग़े दोदमकाली।
मियाने रज़्मगह हैं कुल्ज़में[१८] जाहो हशम काली॥
पये बेचारगां[१९] हैं दाफ़ये[२०] अन्दोहो ग़म काली।
मुईनो[२१] चारा साज़ो राफ़ओ जौरो सितम काली॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ २९॥

सदा बानावरीमें मुश्तहिर[२२] है आनबान उनकी।
है नाविक[२३] कहकशां क़ौसे[२४] कज़ह अदना कमां उनकी॥
सिवा[२५] अन्दाज़ये वह्मो गुमांसे भी है शां उनकी।
जेबीनो[२६] सरसे चौखट चूमता है आसमां उनकी॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ३०॥

सवारी शेर नरकी भगवतीको दिलसे प्यारी है।
रविश[२७] पर जिसके सदके तौसने[२८] वादे बहारी है॥
हर इक मजबूरकी मंजूर ख़ातिर पासदारी है।
करम है हिल्म है पासेसखुन है बुर्दबारी है॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ३१॥

जो हैं ख़ाक ऊफ़तादा उनपे चश्मे सरफ़राज़ी है।
तबीअतमें तरह्हुम इस्तआनत चारासाज़ी है॥
सखा है जूद है मेहरो वफ़ है पाकवाज़ी है।
तहम्मुल है अता है हिल्म है आजिज़नेवाज़ी है॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ३२॥

अज़लसे[२९] है पसन्दे ख़ातिरे आतिर ख़ता पोशी।
सदा मद्देनज़र है शेवये असियां[३०] खतापोशी॥
करे जो ज़िक्रे दुर्गा वारेग़मसे हो सुबुकदोशी[३१]।
हमेशा शाहिदे मतलबसे हासिल हो हमाग़ोशी॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ३३॥

जो है मशहूर आलमलामकां[३२] वह खाना[३३] है उनका।
ये शमये[३४] नैय्यरे आज़म भी इक परवाना है उनका॥
ये महताबे फ़लक इक मशग़ला काशाना है उनका।
अज़लसे पंजये खुरशीद रौशन शाना है उनका॥

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ३४॥

१— शुम्भदैत्यके हाथसे। २— वृद्ध आकाश। ३— प्रलयचिह्न। ४— रणांगणके मध्य। ५— वाणवेधकों। ६— युद्धस्थल। ७— शंका, भय। ८— धन्य धन्य। ९— दुलहिन। १०— घायलों, कटे हुए। ११— दुष्ट। १२— काटछाँट। १३— काटछाँट। १४— प्रलयंकरी। १५— विजय। १६— मूठ। १७— अष्टम आकाशका मस्तक। १८— ऐश्वर्यसिंधु। १९— दीनोंके वास्ते। २०— दुःखनाशक। २१— अत्याचारनाशक एवं दीनसहायक। २२— प्रसिद्ध। २३— आकाश गंगातीर है (वाण)। २४— इन्द्रधनुष उनका लघु धनुष है। २५— उनका ऐश्वर्य विचार एवं ध्यानशक्तिसे परे। २६— माथा-मस्तक। २७— चाल। २८— घोड़ा। २९— आदि। ३०— पाप। ३१— छुटकारा। ३२— शून्यलोक। ३३— घर। ३४— दीपक।

हुदूदे फ़ह्मो दानिशसे जियादा शाने मादर है।
अजलसे चर्खें हफ्तुम कुर्सिये ऐवाने मादर है॥
ज़मी पापोश गर्दूं तावये फ़रमाने मादर है।
हुजूमें देवता परवर्देये[1] दामाने मादर है॥
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ३५॥

अज़ीज़े जानदिल मतबूआ खातिर नाम है उनका।
हरइकपर चश्मे बख़शिश है ये फ़ैज़ेआम है उनका॥
जिलाना मारना आराम देना काम है उनका।
ज़माना सब मुतीओ बन्दये बेदाम है उनका॥
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ३६॥

अगर हो चश्मे रहमत, ग़म ख़यालो ख्वाब हो जावे।
हुबाबे[2] आब शक्ले लूलुये[3] शादाब हो जावे॥
मिसाले फ़र्शे नैय्यर हल्क़ये-गरदाब हो जावे।
हर इक ज़र्रा क़रीबे मेहरे[4] आलमताब हो जावे॥
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ३७॥

इधर भी चश्मे रहमतख़ेज़का जल्द इक इशारा हो।
खुलें बस दिलकी आँखें रूये वहदतका[5] नज़ारा हो॥
नज़रमें जागुज़ीं[6] हरदम जमाले आलम आरा हो।
ये नूरे पाक मेरी आँखकी पुतलीका तारा हो॥
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ३८॥

करे जो पाठ बहरे ग़मसे बेड़ा पार हो जावे।
बसिद्क़े दिल पढ़े बेकार गर बाकार हो जावे॥
ज़रो ज़ोरो ज़मीं हासिल हो क़िस्मत यार हो जावे।
ये मिसरअ् पढ़ते-पढ़ते मुनइमो[7] ज़रदार हो जावे॥
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ३९॥

पढ़े जो शक्तिचालीसी रुखे मतलब नज़र आये।
फले फूले निहाले मुस्तमंदीमें[8] समर आये॥
ये ख्वाहिश 'शंकरदयाल' की है भक्ति उसको मिल जाये।
बहम हो नक़्द फ़रहत लबपै यह मिसरअ वो जब लाये॥
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै॥ ४०॥

क्षमायाचना

गत वर्ष 'शिवाङ्क' के प्रकाशित होनेसे कुछ पहले ही कतिपय महानुभावोंने अगले वर्ष 'शक्ति-अङ्क' निकालनेकी राय दी थी। 'शिवाङ्क' के प्रकाशित होनेके बाद बहुत-सी सम्मतियाँ इसके समर्थनमें आयीं, और श्रीभगवान्‌की प्रेरणासे 'शक्ति-अङ्क' प्रकाशित करनेका विचार स्थिर हो गया। गत वर्ष जैसे श्रीशिवरूप भगवान्‌की कृपासे और उन्हींकी शक्तिसे 'शिवाङ्क' का कार्य सम्पन्न हुआ था, उसी प्रकार इस बार श्रीशक्तिरूप भगवान्‌की कृपासे और उन्हींकी शक्तिसे 'शक्ति-अङ्क' भी इस रूपमें निकल सका। सच्चिदानन्द, सर्वगुणाधार, गुणातीत, सर्वशक्तिमान्, एक ही परमतत्त्व अपनी लीलासे विभिन्न पुरुष और नारीरूपोंमें पूजित होते हैं। वही श्रीमहाविष्णु हैं, वही श्रीनारायण हैं, वही श्रीमहाशिव हैं, वही ब्रह्म हैं, वही ब्रह्मा हैं, वही श्रीराम हैं, वही श्रीकृष्ण हैं, वही श्रीमहालक्ष्मी, श्रीमहाकाली, श्रीमहासरस्वती, श्रीसीता, श्रीराधा, श्रीउमा हैं। अकेले पुरुषरूपमें या अकेले मातृरूपमें और समस्त युग्मरूपोंमें एक ही लीलाविहारी परमात्मा लीला कर रहे हैं। श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीशक्ति आदि भगवत्स्वरूप उपासनाके लिये पृथक्-पृथक् हैं और साधक भक्तको अपने एक इष्टरूपकी ही अनन्यभावसे उपासना करनी चाहिये परन्तु वस्तुतः हैं सब एक ही। एक ही नित्य सत्य तत्त्वके अनेकों स्वरूप हैं और सभी पूर्ण एवं सनातन हैं। भक्त चाहे जिस रूपमें अपने इष्टरूप भगवान्‌को पूजकर परमात्माके परमधाममें पहुँचकर शाश्वती शान्ति प्राप्त कर सकता है। अवश्य ही मातृरूपकी उपासनामें साधकको स्नेहकी सुधाधारा अपेक्षाकृत बहुत अधिक प्राप्त होती है, क्योंकि मातृहृदय स्वाभाविक ही स्नेहसे भरा होता है, फिर समस्त विश्वके सम्पूर्ण मातृहृदयोंका सारा स्नेह जिन आदिशक्ति जगन्माताके स्नेहसागरकी एक बूँदके बराबर भी नहीं है उस जगज्जननीके स्नेहका तो कहना ही क्या है? आनन्दकी बात है कि इस बार 'कल्याण' के पाठक भगवान्‌के उस स्नेहसुधार्णव मातृरूपके दर्शनकर विशेष स्नेहभाजन बन सकेंगे।

इस 'शक्ति-अङ्क' के लिये जिन-जिन सामग्रियोंकी आवश्यकता थी और जिन-जिनका इस अङ्कमें समावेश हो सका है, उन सबका संग्रह भी भगवतीकी दया और

१—पाले हुए। २—पानीका बुलबुला। ३—मोती। ४—चन्द्रमा। ५—अद्वैत। ६—स्थित। ७—धनाढ्य। ८—अभिलाषाका वृक्ष।

प्रेरणासे ही हुआ है। कुछ ऐसे दुर्लभ विषयोंकी भी इस अङ्कमें समालोचना हुई है जिनसे मैं और सम्पादन-विभागके मेरे अन्यान्य मित्रगण प्रायः अपरिचित थे। वस्तुतः समस्त सामग्री माताकी प्रेरणासे अपने-आप एकत्र होती गयी और आज यह माँके द्वारा रचित सुमन-गुच्छ माँके ही वरद हस्तोंमें सादर समर्पित है।

इस बार जितने लेख आये, उतने इससे पहले किसी भी विशेषाङ्कके लिये नहीं आये। अधिक लेखोंके छापनेके लोभ और लेखकोंके प्रति कर्तव्यानुरोधसे 'शक्ति-अङ्क' बहुत ही बड़ा हो गया। परिशिष्टाङ्कसमेत ७०० पृष्ठ हो गये। इसपर भी इतने लेख और कविताएँ रह गयीं जिन सबके छापनेसे शायद इतने ही बड़े दो विशेषाङ्क और छप सकते हैं। लेख अब भी आ ही रहे हैं। रंगीन चित्रोंकी संख्या भी इस बार बहुत अधिक बढ़ गयी। मैं अपने कृपालु लेखकों और कवियोंके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हुआ अपनी अनेकों अक्षम्य भूलोंके लिये सबसे हाथ जोड़कर और सिर नवाकर क्षमायाचना करता हूँ। बहुत अधिक लेखोंके आ जानेके कारण बहुत-से कम्पोज हुए लेख भी नहीं छापे जा सके। लेखकोंने अपना बहुमूल्य समय देकर और बड़े परिश्रमसे सामग्री संग्रह करके छपनेकी आशासे ही लेख लिखनेकी कृपा की थी। कुछ निस्पृही महात्माओंको छोड़कर शेष किन्हीं भी लेखक या कविके परिश्रमसे लिखे हुए लेख या कविताका न छपना उनके लिये बड़े दुःखका कारण हो सकता है, इस बातको मैं भलीभाँति जानता हूँ तथापि मुझे बाध्य होकर यह दुःखदायी कार्य करना पड़ा है। एक लेखक महानुभावने उनका लेख न छपनेके कारण बहुत ही नाराज होकर लिखा है कि 'कल्याणमें सभी लेख देवगुरु बृहस्पतिके लिखे छपते हैं, मेरा लेख मनुष्यलिखित था, इससे नहीं छपा। किसीके सिरको लट्ठसे फोड़कर फिर उसे क्षमा माँग लेनेमें क्या लगता है।' पर दुःख है कि सिवा क्षमा माँगनेके हमलोगोंके पास और कोई साधन ही नहीं है। हमारे लिये यह बड़े ही संकोच और लज्जाकी बात है कि प्रार्थना करके माँगे हुए लेखोंमेंसे भी कई लेख नहीं छापे जा सके। आशा है, लेखक महोदय परिस्थितिको समझकर उदारतापूर्वक क्षमा करेंगे। स्थानाभाव और अन्यान्य कारणोंसे लेखोंमें काट-छाँट भी की गयी है। कई लेख अधूरे ही छपे हैं। कुछका केवल अंशमात्र ही छपा है। इन सब अपराधोंके लिये कृपालु लेखकोंसे मैं पुनः करबद्ध क्षमायाचना करता हूँ।

जिन सम्मान्य महानुभावोंने 'शक्ति-अङ्क' के सम्पादनमें सत्परामर्श देकर, लेखकोंके नाम-पते बतलाकर, लेखकोंसे लेखके लिये अनुरोधकर, लेख लिखवाकर, चित्र प्रदानकर, ब्लाक देकर, सामग्रीसंग्रहमें सहयोग देकर तथा अन्यान्य प्रकारसे कृपापूर्वक सहायता की है, उनकी पूरी सूची तो बहुत लम्बी है। मैं उन समस्त महानुभावोंका हृदयसे कृतज्ञ हूँ। उन सज्जनोंमेंसे निम्नलिखित नाम विशेष उल्लेखयोग्य हैं।

महा० पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम० ए०, प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज काशी, श्रीभगवतीप्रसाद सिंहजी डिप्टीकलेक्टर, शक्तिसेवकमण्डल नडियाद, दीवानसाहेब दाँताभवनगढ़, श्रीनन्दकिशोर मुखोपाध्याय एम० ए०, डॉ० श्रीहीरानन्दजी शास्त्री एम० ए०, डी० लिट्०, दीवानबहादुर के० एस० रामस्वामी शास्त्री रिटायर्ड जज, श्रीपूर्णचन्द्रजी नाहर, श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत, श्रीलक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर, श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी, पं० श्रीईश्वरीदत्त दौर्गादत्ति, सर जान उडरफ, मेसर्स लूजक कम्पनी लन्दन, मैनेजर श्रीशृंगेरीमठ, पं० श्रीपद्मनाभ भट्टाचार्य एम० ए० विद्याविनोद, सेक्रेटरी फार्बस गुजराती सभा बम्बई, पं० श्रीदयाशङ्करजी दुबे एम० ए०, एल-एल० बी०, पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज एम० ए०, शास्त्री, आचार्य, स्वामी श्रीहरनामदासजी शक्कर, श्रीगौरीशङ्करजी गनेड़ीवाला, श्रीडालचन्दजी चौथमलजी, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल मालेगाँव, भारतधर्ममहामण्डल, गोवर्धनदासजी खत्री व्रजवासी, फ्रेण्ड एण्ड कम्पनी मथुरा, श्रीकनिष्ठ केशवजी, रावबहादुर जक्काल, महाराज-कुमार भैंसरोडगढ़, पं० श्रीरामशङ्करजी मिश्र 'श्रीपति', पं० श्रीद्वारकाप्रसादजी शुक्ल सबजज, गोंडा, पं० श्रीसीतारामजी चतुर्वेदी एम० ए०, पं० श्रीविशालमणिजी शर्मा, पं० श्रीगोपीवल्लभजी उपाध्याय, श्रीगोपाल चैतन्यदेवजी ब्रह्मचारी, श्रीएस० एम० मेहता, श्रीहेमचन्द्र शर्मा भट्ट, श्रीओंकारसिंहजी, श्री बी० पारखजीवाला, श्रीरामकृष्ण कालिया, स्वामी श्रीतारानन्दजी तीर्थ, पं० श्रीउत्सवलालजी तिवारी, श्रीनटवरलाल मणिशङ्कर, श्रीशान्तिलाल पार्वतीशङ्कर,

पं० श्रीरामप्रसादजी गोस्वामी, श्रीइन्दुलाल बापालाल मेहता, श्रीरतनगिरि भगवानगिरि, पं०श्रीलक्ष्मीदत्तजी मिश्र, श्रीनारायण भास्कर नाइक, श्रीदिगम्बरदासजी, श्रीगङ्गाप्रसादजी मोदी, श्रीएस० डी० खन्ना, पं० श्रीजयकृष्ण मगनलाल, पं० श्रीगोविन्दनारायणजी शर्मा आसोपा, पं० श्रीभगवतीप्रसादजी शुक्ल, पं० श्रीदुर्गाशङ्करजी शुक्ल, श्रीहरिनन्दनजी ठाकुर, श्रीहरिसिंहजी हाडा, श्रीयोगप्रकाशजी ब्रह्मचारी, पं० श्रीकन्हैयालालजी मिश्र 'प्रभाकर', श्रीवी० एम० कालेलकर, पं० श्रीमहिमानन्दजी शर्मा मैठाणी, पं० श्रीभैरवदत्तजी शर्मा, श्रीत्र्यम्बक भास्कर शास्त्री खरे, पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल, पं० श्रीरामेश्वरजी त्रिवेदी, भारतविजय प्रिंटिंगप्रेस बड़ौदा, श्रीशारदाप्रसादजी रसेन्द्र, श्रीचुन्नीलालजी रामचन्द्र, श्रीमुनिलालजी, श्रीराधाकृष्णजी गान्धी 'सन्तोषी', पं० श्रीकन्हैयालाल जयशङ्करजी दुबे बहुचराम्बिकापुस्तकालय मोरवी, सद्भक्तिप्रसारकमण्डली, पं० श्रीनारायणजी शास्त्री खिस्ते, श्रीसाँवलजी नागर, श्रीशिवकुमारजी केडिया, श्रीबुधरामजी छारिया, मियाँ बसन्तसिंहजी जागीरदार, श्रीभगवानजी भानजी कनोजिया, श्रीकल्याणजी ओवरसियर, पं० श्रीहनूमानजी शर्मा चौमू, श्रीत्र्यम्बकनाथ सेवामण्डल, पं० श्रीउमाशङ्करजी शुक्ल, श्रीचुन्नीलाल वनमालीदास पटेल, श्रीमोतीलालजी मेहता, श्रीभारतभानुजी, श्रीसुन्दरलाल प्रभुराम मनियार, श्रीमणिलाल एम० जोशी, ट्रष्टी अम्बाजी मन्दिर खेडब्रह्मा, श्रीयशवन्तरावभोगीलाल फडिया, पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे, श्रीबालकृष्णजी खेमका, पं० श्रीराधेश्यामजी द्विवेदी, श्रीसोहनलालजी गोयलीय, 'कुमार' कार्यालय बड़ौदा, श्रीराधाकृष्णजी भार्गव, श्रीशारदाप्रसादजी सतना, श्रीविष्णुरङ्गाजी शेल्डेकर आदि।

इनके सिवा सम्पादन-विभागके मेरे मित्र पं० चिम्मनलालजी गोस्वामी एम० ए० शास्त्री, पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम० ए०, पं० श्रीगौरीशङ्करजी द्विवेदी साहित्यरत्न और पं० श्रीचन्द्रदीपजी त्रिपाठीसे इस अंकके सम्पादनमें बड़ी भारी सहायता मिली है, इन सब मित्रोंकी सहायता न मिलती तो 'शक्त्यङ्क' का सम्पादन बहुत ही कठिन होता।

इस अंकके लिये जितने विषय सोचे गये थे उनमेंसे बहुत-से रह गये हैं। विषयकी गम्भीरताके कारण किसी-किसी लेखकी भाषा भी कठिन हो गयी है। मतविभिन्नताके कारण कुछ लेखोंमें परस्पर भेद भी दिखलायी देता है परन्तु असल बात यह है कि सभी लेखोंमें भक्तोंके द्वारा अपनी-अपनी भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारसे सच्चिदानन्दरूपिणी भगवतीकी या भगवान्‌की स्तुति गायी गयी है। इसलिये भगवती प्रसन्न ही होंगी और भगवती या भगवान्‌के भक्तोंको भी प्रसन्न ही होना चाहिये।

'शक्ति-अङ्क' में प्रकाशित सभी मत न तो कल्याण-सम्पादकके हैं और न कल्याणके ही। अपनी-अपनी रुचिके अनुसार सबने माताकी महिमा गायी है।

शक्तिकी महिमाको विविध भावोंसे व्यक्त करना, भगवान् शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, भगवती शक्ति, उमा, लक्ष्मी, सीता, राधा आदिके भेदको दूर करनेकी चेष्टा करना, वैष्णव, शैव और शाक्त सम्प्रदायोंके पारस्परिक कलहको किसी अंशमें मिटाना, शक्तिपूजा सभी सम्प्रदायोंमें है—इस बातको सिद्ध करना, शक्तितत्त्वके नामपर एक ही परमात्माका विविध भावसे गुणगान करना, भगवान्‌के प्रति, विशेषकर भगवान्‌के सगुण साकार रूपोंके प्रति शिथिल होती हुई लोगोंकी श्रद्धाको पुनः बढ़ाना और दृढ़ करना, शक्तिपूजाके नामपर होनेवाली पशुहिंसाको बन्द कराना, तन्त्रके असली शुद्ध सात्त्विक स्वरूपको प्रकट करना, पञ्चमकारके नामपर होनेवाले पापोंका विरोध करना, शक्ति-उपासनाके दुर्लभ मन्त्रादि प्रकाशित करना और भवदुःखसे दुःखी निरुपाय जीवोंको स्नेहमयी मातृरूपा भगवतीके नित्य अनन्तानन्द प्रदान करनेवाले चरणोंकी ओर आकर्षित कर उनका कल्याण करना 'शक्त्यङ्क' के प्रकाशनका मुख्य उद्देश्य था। पता नहीं इसमें कहाँतक सफलता हुई है। शक्त्यङ्क-जैसा कुछ हुआ है आप लोगोंके सामने है। इसके अच्छे-बुरे या उपयोगी-अनुपयोगी होनेका निर्णय आपलोग ही करें। अवश्य ही ऐसे गम्भीर और शास्त्रीय विषयके विशेषाङ्कका सम्पादन करनेमें मुझ-सरीखे साधनाहीन और विद्याहीन व्यक्तिका प्रवृत्त होना अनधिकार चेष्टा और धृष्टता है। इसके लिये माननीय गुरुजन, महात्मा, सन्त, ज्ञानी, भक्त, भगवत्प्रेमी, तत्त्वज्ञ और विद्वज्जन कृपापूर्वक क्षमा करें और मुझे दीन समझकर ऐसा आशीर्वाद दें जिससे श्रीभगवान्‌के चरणोंमें मेरी अहैतुकी प्रीति दिनोंदिन बढ़ती जाय।

विनीत—सम्पादक

आरती

जगजननी जय! जय!! (माँ! जगजननी जय! जय!!)
भयहारिणि, भवतारिणि, भवभामिनि जय! जय!!
तू ही सत-चित-सुखमय शुद्ध ब्रह्मरूपा।
सत्य सनातन सुन्दर पर-शिव सुरभूपा॥ १ ॥ जग०
आदि अनादि अनामय अविचल अविनाशी।
अमल अनन्त अगोचर अज आनँदराशी॥ २ ॥ जग०
अविकारी, अघहारी, अकल, कलाधारी।
कर्त्ता विधि, भर्त्ता हरि, हर सँहारकारी॥ ३ ॥ जग०
तू विधिवधू, रमा, तू उमा, महामाया।
मूल प्रकृति विद्या तू, तू जननी, जाया॥ ४ ॥ जग०
राम, कृष्ण तू, सीता, व्रजरानी राधा।
तू वाञ्छाकल्पद्रुम, हारिणि सब बाधा॥ ५ ॥ जग०
दश विद्या, नव दुर्गा, नाना शस्त्रकरा।
अष्टमातृका, योगिनि, नव नव रूप धरा॥ ६ ॥ जग०
तू परधामनिवासिनि, महाविलासिनि तू।
तु ही श्मशानविहारिणि, ताण्डवलासिनि तू॥ ७ ॥ जग०
सुर-मुनि-मोहिनि सौम्या तू शोभाऽऽधारा।
विवसन विकट-सरूपा, प्रलयमयी धारा॥ ८ ॥ जग०
तू ही स्नेह-सुधामयि, तू अति गरलमना।
रत्नविभूषित तू ही, तू ही अस्थि-तना॥ ९ ॥ जग०
मूलाधारनिवासिनि, इह-पर-सिद्धिप्रदे।
कालातीता काली, कमला तू वरदे॥ १० ॥ जग०
शक्ति शक्तिधर तू ही नित्य अभेदमयी।
भेदप्रदर्शिनि वाणी विमले! वेदत्रयी॥ ११ ॥ जग०
हम अति दीन दुखी माँ! विपत-जाल घेरे।
हैं कपूत अति कपटी, पर बालक तेरे॥ १२ ॥ जग०
निज स्वभाववश जननी! दयादृष्टि कीजै।
करुणा कर करुणामयि!चरण-शरण दीजै॥ १३ ॥ जग०